कल्याण

अग्निपुराण — गर्गसंहिता

नरसिंहपुराण अङ्क

वर्ष ४५ संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय-जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय माँ तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम ॥

[संस्करण १,७१,०००]

जो भक्तिभावसे भगवान् श्रीकृष्णका प्रसाद और चरणोदक लेते हैं, वे इस पृथ्वीको पावन करनेवाले बन जाते हैं—इसमें संशय नहीं है। गङ्गा पापका, चन्द्रमा तापका और कल्पवृक्ष दीनताके अभिशापका अपहरण करता है; परंतु सत्सङ्ग पाप, ताप और दैन्य—तीनोंका तत्काल नाश कर देता है। मनुष्योंके पितृगण पिण्ड पानेकी इच्छासे तभीतक संसारमें चक्कर लगाते हैं, जबतक कि उनके कुलमें कृष्णभक्त पुत्र जन्म नहीं लेता। वह कैसा गुरु, कैसा पिता, कैसा बेटा, कैसा मित्र, कैसा राजा और कैसा बन्धु है, जो श्रीहरिमें मन नहीं लगा देता? जो विद्या, धन, देह और कलाका अभिमान रखनेवाले हैं तथा रूप आदि विषय एवं स्त्री-पुत्रोंमें नित्यबुद्धि रखते हैं और जो फलकी कामनासे अन्य देवताओंकी ओर देखते रहते हैं, भगवान् केशवका भजन नहीं करते, वे जीते-जी मरे हुएके समान हैं।

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु. १०.००
विदेशमें रु. १६.००
(२८ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका
भारतमें रु. १…
विदेशमें रु. १…
(१८ शिलि…)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नित्यलीलालीन श्रीपोद्दारजीके प्रति भक्तिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि

'कल्याण'के श्रद्धालु एवं भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको यह जानकर दुःख होगा कि उन सबके एवं हमारे परम श्रद्धास्पद एवं प्रीतिभाजन, 'कल्याण'के माध्यमसे लाखों नर-नारियोंको कल्याणका पथ दिखानेवाले, जनता-जनार्दनके परम सेवक, सौजन्य, विनय, निरहंकारता आदि दुर्लभ गुणोंकी खान, स्नेहमूर्ति, दयामूर्ति, मानवताके सच्चे पुजारी, सर्वभूतसुहृद्, आर्त-त्राणपरायण, परदुःखकातर, अर्थियोंको अपने पूर्वजन्मका ऋणी मानकर उनकी आवश्यकताओं-को पूर्ण करनेमें सदा सचेष्ट रहनेवाले विश्वबन्धु, सभी धर्मोंका आदर करते हुए तथा किसीको भी हीन न मानते हुए भी आर्य वैदिक सनातनधर्मके कट्टर उपासक एवं पोषक, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के सिद्धान्तको अपने जीवनमें उतारनेवाले आदर्श भगवद्भक्त एवं भगवत्प्रेमी, सर्वत्र अपने इष्टदेवको देखनेवाले, सबके भाईजी, स्वनामधन्य भगवत्स्वरूप श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६ की चैत्र कृष्णा १०, चन्द्रवार, २२ मार्च सन् १९७१ ई० को प्रातःकाल सात बजकर पचपन मिनटपर ७९ वर्षकी आयुमें अपने बृहत्परिवारको बिलखता छोड़कर यहाँसे चल बसे। यों तो वे सालभरसे अधिक समयसे अस्वस्थ थे, परंतु लगभग एक माससे उनका स्वास्थ्य अधिक चिन्ताजनक हो गया था। उनके पेटमें पथरी, कैन्सर आदि असाध्य रोगोंके लक्षण प्रकट हो रहे थे, जिनके कारण उदरमें अन्तिम दिनोंमें भयानक वेदना तथा सारे शरीरमें जलन रहती थी। परंतु व्याधिमें भी भगवान्‌का दर्शन करते रहनेके कारण वे उस असह्य वेदना एवं शारीरिक कष्टको आदर्श धैर्यके साथ सहन करते रहे। अन्ततक उन्होंने किसी ऐसी औषधका सेवन नहीं किया, जिसमें जीवहिंसा होती हो। कई दिनोंसे आहारके नामपर उनके पेटमें कुछ भी नहीं जा पा रहा था। किंतु अन्त-तक उनकी चेतना अक्षुण्ण बनी रही और वे सबको आश्वासन एवं शिक्षा देते रहे। सेवा करनेवाले आत्मीय जनोंके प्रति भी कृतज्ञता प्रकाश करते रहे। शारीरिक सेवा वे प्रायः किसीसे भी नहीं कराते थे। केवल अन्तिम दिनोंमें बहुत अधिक अशक्त हो जानेके कारण अपने परिवारके अत्यन्त निकटवर्ती आत्मीय जनोंसे ही उन्होंने सेवा लेना स्वीकार किया।

श्रीपोद्दारजी आधुनिक जगत्‌के बहुत उच्च कोटिके गृहस्थ संत थे। परंतु वे आत्म-ख्यापनसे कोसों दूर रहते थे। अपने मुखसे अथवा लेखनीसे कभी उन्होंने अपने उत्कर्षको व्यक्त नहीं होने दिया। अपनी लोकोत्तर महानता एवं पारमार्थिक परमोच्च स्थितिको उन्होंने सदा ही गुप्त रखा और अपने लोगोंपर भी बहुत कम व्यक्त होने दिया। वे जगत्‌में एक महान् उद्देश्यको लेकर आये थे और भगवान्‌की ओरसे आह्वान होते ही आसक्तिशून्य हो, सब कुछ छोड़कर यहाँसे चल दिये। 'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरु'के माध्यमसे, अनेकों बहुमूल्य पुस्तकोंद्वारा तथा दैनिक प्रवचन और स्वर्गाश्रम आदि स्थानोंमें एवं

विशेष अवसरोंपर व्याख्यान देकर उन्होंने भगवद्भक्ति, भगवत्प्रेम एवं भगवत्तत्त्व तथा लौकिक व्यवहार, राजनीति आदि विषयोंपर जो अद्भुत प्रकाश डाला है, वह जगत्के लिये एक अमूल्य सम्पत्ति बन गयी है और शताब्दियोंतक भावी पीढ़ियोंका उससे कल्याण होता रहेगा। 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंके रूपमें ही—जिन्हें अपने-अपने विषयके विश्वकोष कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी—वे इतने अमूल्य साहित्यका संग्रह कर गये हैं, जिससे भारतीय आर्य संस्कृतिके अद्वितीय महत्त्वको हृदयंगम करनेमें बड़ी सहायता मिलेगी। इस नास्तिकताके युगमें, जब कि भौतिकवादका सर्वत्र बोलबाला है, 'कल्याण'-जैसा पत्र निकालकर, जिसके आज पौने दो लाखके लगभग ग्राहक हैं, उन्होंने पत्रकारिताके क्षेत्रमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की; परंतु यह सब हुआ भगवत्कृपासे ही। हमारे भाईजी तो भगवान्के एक यन्त्र थे। उनके माध्यमसे सब कुछ किया-कराया स्वयं भगवान्ने ही। उनके एक अत्यन्त निकटस्थ संतके शब्दोंमें 'श्रीपोद्दारजीके चले जानेसे रागमार्गका सूर्य अस्त हो गया।' वे तो जगत्का अशेष मङ्गल करके चले गये। उन्होंने जीवनका ध्येय प्राप्त कर लिया था और भगवत्कृपासे अर्जित अपनी दीर्घकालीन आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं ज्ञानकी ज्योतिका जगत्में विस्तार करके चल दिये। दुःख हमलोगोंके लिये है, जो सदाके लिये उनके सत्परामर्श एवं सदुपदेशसे वञ्चित हो गये। हम बिलखते हुए हृदयसे उस महान् भगवद्विभूतिके प्रति अपनी क्षुद्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं और भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि वे हमें इन नित्यलीलालीन महापुरुषके पद-चिह्नोंका अनुसरण करनेकी क्षमता प्रदान करें। 'कल्याण' तो उनके न रहनेसे मानो निष्प्राण-सा हो गया है। परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन प्रातःस्मरण श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके वियोगका घाव तो अभी भरा ही न था कि श्रीपोद्दारजी भी हमें अनाथ छोड़कर चल बसे। दैवकी इस निष्ठुर दुरभिसंधिके लिये हम क्या कहें।

श्रीपोद्दारजीकी भगवन्मयी दृष्टिमें कोई अपना और पराया नहीं था। सारा विश्व उनका परिवार था। परंतु लौकिक दृष्टिसे वे अपने पीछे अपनी वृद्धा परम सती धर्म-पत्नी, एक भक्तिमती एवं उन्हींके पदचिह्नोंपर चलनेवाली सौभाग्यवती पुत्री, उसके भाग्यवान् पति, दो दौहित्र तथा दो दौहित्रियाँ छोड़ गये हैं। उन सबके प्रति, जो उनके वियोगसे अत्यन्त दुखी हैं—हम अपनी हार्दिक सहानुभूति एवं समवेदना प्रकट किये बिना नहीं रह सकते। भगवान् उन सबको, विशेषकर उनकी धर्मपत्नी एवं लाड़िली एकमात्र पुत्रीको—इस महान् दुःखको सहन करनेकी क्षमता प्रदान करें।

उनका मर्माहत एवं असहाय क्षुद्र बन्धु एवं अङ्गीकृत लघु सेवक—

चिम्मनलाल गोस्वामी

'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) यह 'अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराणाङ्क' नामक विशेषाङ्क प्रस्तुत है । इसमें अग्निपुराणके माहात्म्यसहित २०१ से ३८३ तक अन्तिम १८३ अध्यायों, श्रीगर्गसंहिताके दशम एवं अन्तिम अश्वमेधखण्डके ६२ अध्यायों एवं माहात्म्यके चार अध्यायोंका अनुवाद एवं श्रीनरसिंह-पुराणके ६८ अध्यायोंमेंसे ५२ का मूलसहित अनुवाद है। शेष अध्याय परिशिष्टाङ्कके रूपमें फरवरीके अङ्कमें दिये गये हैं । अग्निपुराणमें राजधर्म, राजनीति, धनुर्वेद, युद्धविद्या, अर्थशास्त्र एवं आयुर्वेद आदि लौकिक विषयोंके साथ-साथ धर्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, देवपूजा एवं योग आदि पारमार्थिक विषयोंका भी बड़ा ही सुन्दर एवं संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक विवेचन है, जिसे पढ़कर हृदयंगम करनेसे मनुष्य जागतिक एवं पारमार्थिक उभयविध कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है । गर्गसंहिता तो भगवान् श्रीकृष्णकी रसमयी लीलासे ओतप्रोत है ही । नरसिंहपुराणमें भी सृष्टि, प्रलय, युगों एवं मन्वन्तरोंका निरूपण एवं प्रख्यात राजवंशोंका वर्णन आदि अन्य पौराणिक विषयोंके साथ-साथ चिरजीवी मार्कण्डेय मुनिका इतिहास तथा विभिन्न अवतार-चरित्रोंका बड़ा ही सरस वर्णन है, जिसे पढ़नेसे हृदयमें भक्ति-रसकी धारा फूट पड़ती है । भोगबहुल पाश्चात्त्य सभ्यताकी चकाचौंधमें पड़े हुए हमारे देशवासियोंकी आँखें खोलने तथा उन्हें भोगपरायणताकी अन्धपरम्परासे लौटाकर धर्म-मर्यादित भोग एवं परमार्थकी ओर मोड़नेके लिये पुराण-साहित्यके प्रसार-प्रचारकी बड़ी आवश्यकता है । इसी दृष्टिको सामने रखकर उक्त तीनों ग्रन्थोंका प्रकाशन 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें किया जा रहा है । आशा है, प्रेमी पाठक हमारे इस पुनीत उद्देश्यको हृदयंगम कर इसे आगे बढ़ानेमें सहायक बनेंगे और इस प्रकार भगवत्प्रीतिका अर्जन करेंगे ।

(२) इस विशेषाङ्कमें ७०६ से कुछ अधिक पृष्ठोंकी पाठ्य सामग्री है । सूची आदि अलग हैं । बहुत-से बहुरंगे चित्र भी हैं । अवश्य ही हम जितने और जैसे चित्र देना चाहते थे, उतने और वैसे परिस्थितिवश नहीं दिये जा सके । पर जो दिये गये हैं, वे सुन्दर तथा उपयोगी हैं । अग्निपुराणके अन्तिम अध्यायोंमें कथाभाग बहुत कम रहनेसे चित्र बहुत कम दिये जा सके हैं । नरसिंहपुराणका समावेश पीछे होनेके कारण उसके चित्र भी तैयार नहीं हो सके । अधिकांश चित्र गर्गसंहितासे सम्बन्धित होनेके कारण उसीमें दिये गये हैं । परिस्थिति समझकर पाठक महोदय क्षमा करें ।

(३) कागज, डाक-महसूल, वेतन आदिका व्यय बढ़ जानेके कारण गत वर्ष 'कल्याण' में बहुत घाटा रहा । इस वर्ष कागजोंका मूल्य और बढ़ गया है । वी० पी०, रजिस्ट्री, लिफाफे आदिमें भी डाक-महसूल बढ़ रहा है । कर्मचारियोंका वेतन-व्यय भी बहुत बढ़ा है । कम वजनके छपाईके कागज बहुत कम बनने लगे हैं और अधिक वजनके लेनेपर खर्च और भी बढ़ जायगा । इन सब खर्चोंकी बढ़ी रकमोंको जोड़नेपर तो 'कल्याण' का वर्तमान १०.०० रुपया वार्षिक मूल्य लगभग पौनी कीमतके बराबर होगा । इस अवस्थामें 'कल्याण' के प्रेमी ग्राहकों तथा पाठकोंको चाहिये कि वे प्रयत्न करके अधिक-से-अधिक ग्राहक बनाकर रुपये भिजवानेकी कृपा करें ।

(४) इस बार भी विशेषाङ्क इतनी अधिक देरसे जा रहा है, जिसकी कल्पना भी नहीं थी । अनिवार्य परिस्थितिके कारण ही ऐसा हुआ है । ग्राहक महानुभावोंको व्यर्थ ही बहुत परेशान होना पड़ा, हमें इस बातका बड़ा खेद है । ग्राहकोंकी सहज प्रीति तथा आत्मीयताके भरोसे ही हमारी

विशेष अवसरोंपर व्याख्यान देकर उन्होंने भगवद्भक्ति, भगवत्प्रेम एवं भगवत्तत्त्व तथा लौकिक व्यवहार, राजनीति आदि विषयोंपर जो अद्भुत प्रकाश डाला है, वह जगत्के लिये एक अमूल्य सम्पत्ति बन गयी है और शताब्दियोंतक भावी पीढ़ियोंका उससे कल्याण होता रहेगा। 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंके रूपमें ही—जिन्हें अपने-अपने विषयके विश्वकोष कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी—वे इतने अमूल्य साहित्यका संग्रह कर गये हैं, जिससे भारतीय आर्य संस्कृतिके अद्वितीय महत्त्वको हृदयंगम करनेमें बड़ी सहायता मिलेगी। इस नास्तिकताके युगमें, जब कि भौतिकवादका सर्वत्र बोलबाला है, 'कल्याण'-जैसा पत्र निकालकर, जिसके आज पौने दो लाखके लगभग ग्राहक हैं, उन्होंने पत्रकारिताके क्षेत्रमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की; परंतु यह सब हुआ भगवत्कृपासे ही। हमारे भाईजी तो भगवान्के एक यन्त्र थे। उनके माध्यमसे सब कुछ किया-कराया स्वयं भगवान्ने ही। उनके एक अत्यन्त निकटस्थ संतके शब्दोंमें 'श्रीपोद्दारजीके चले जानेसे रागमार्गका सूर्य अस्त हो गया।' वे तो जगत्का अशेष मङ्गल करके चले गये। उन्होंने जीवनका ध्येय प्राप्त कर लिया था और भगवत्कृपासे अर्जित अपनी दीर्घकालीन आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं ज्ञानकी ज्योतिका जगत्में विस्तार करके चल दिये। दुःख हमलोगोंके लिये है, जो सदाके लिये उनके सत्परामर्श एवं सदुपदेशसे वञ्चित हो गये। हम बिलखते हुए हृदयसे उस महान् भगवद्विभूतिके प्रति अपनी क्षुद्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं और भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि वे हमें इन नित्यलीलालीन महापुरुषके पद-चिह्नोंका अनुसरण करनेकी क्षमता प्रदान करें। 'कल्याण' तो उनके न रहनेसे मानो निष्प्राण-सा हो गया है। परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन प्रातःस्मरण श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके वियोगका घाव तो अभी भरा ही न था कि श्रीपोद्दारजी भी हमें अनाथ छोड़कर चल बसे। दैवकी इस निष्ठुर दुरभिसंधिके लिये हम क्या कहें।

श्रीपोद्दारजीकी भगवन्मयी दृष्टिमें कोई अपना और पराया नहीं था। सारा विश्व उनका परिवार था। परंतु लौकिक दृष्टिसे वे अपने पीछे अपनी वृद्धा परम सती धर्म-पत्नी, एक भक्तिमती एवं उन्हींके पदचिह्नोंपर चलनेवाली सौभाग्यवती पुत्री, उसके भाग्यवान् पति, दो दौहित्र तथा दो दौहित्रियाँ छोड़ गये हैं। उन सबके प्रति, जो उनके वियोगसे अत्यन्त दुखी हैं—हम अपनी हार्दिक सहानुभूति एवं समवेदना प्रकट किये बिना नहीं रह सकते। भगवान् उन सबको, विशेषकर उनकी धर्मपत्नी एवं लाड़िली एकमात्र पुत्रीको—इस महान् दुःखको सहन करनेकी क्षमता प्रदान करें।

उनका मर्माहत एवं असहाय क्षुद्र बन्धु एवं अङ्गीकृत लघु सेवक—

चिम्मनलाल गोस्वामी

'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) यह 'अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराणाङ्क' नामक विशेषाङ्क प्रस्तुत है । इसमें अग्निपुराणके माहात्म्यसहित २०१ से ३८३ तक अन्तिम १८३ अध्यायों, श्रीगर्गसंहिताके दशम एवं अन्तिम अश्वमेधखण्डके ६२ अध्यायों एवं माहात्म्यके चार अध्यायोंका अनुवाद एवं श्रीनरसिंह-पुराणके ६८ अध्यायोंमेंसे ५२ का मूलसहित अनुवाद है। शेष अध्याय परिशिष्टाङ्कके रूपमें फरवरीके अङ्कमें दिये गये हैं। अग्निपुराणमें राजधर्म, राजनीति, धनुर्वेद, युद्धविद्या, अर्थशास्त्र एवं आयुर्वेद आदि लौकिक विषयोंके साथ-साथ धर्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, देवपूजा एवं योग आदि पारमार्थिक विषयोंका भी बड़ा ही सुन्दर एवं संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक विवेचन है, जिसे पढ़कर हृदयंगम करनेसे मनुष्य जागतिक एवं पारमार्थिक उभयविध कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है। गर्गसंहिता तो भगवान् श्रीकृष्णकी रसमयी लीलासे ओतप्रोत है ही। नरसिंहपुराणमें भी सृष्टि, प्रलय, युगों एवं मन्वन्तरोंका निरूपण एवं प्रख्यात राजवंशोंका वर्णन आदि अन्य पौराणिक विषयोंके साथ-साथ चिरजीवी मार्कण्डेय मुनिका इतिहास तथा विभिन्न अवतार-चरित्रोंका बड़ा ही सरस वर्णन है, जिसे पढ़नेसे हृदयमें भक्ति-रसकी धारा फूट पड़ती है। भोगबहुल पाश्चात्त्य सभ्यताकी चकाचौंधमें पड़े हुए हमारे देशवासियोंकी आँखें खोलने तथा उन्हें भोगपरायणताकी अन्धपरम्परासे लौटाकर धर्म-मर्यादित भोग एवं परमार्थकी ओर मोड़नेके लिये पुराण-साहित्यके प्रसार-प्रचारकी बड़ी आवश्यकता है। इसी दृष्टिको सामने रखकर उक्त तीनों ग्रन्थोंका प्रकाशन 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें किया जा रहा है। आशा है, प्रेमी पाठक हमारे इस पुनीत उद्देश्यको हृदयंगम कर इसे आगे बढ़ानेमें सहायक बनेंगे और इस प्रकार भगवत्प्रीतिका अर्जन करेंगे।

(२) इस विशेषाङ्कमें ७०६ से कुछ अधिक पृष्ठोंकी पाठ्य सामग्री है। सूची आदि अलग हैं। बहुत-से बहुरंगे चित्र भी हैं। अवश्य ही हम जितने और जैसे चित्र देना चाहते थे, उतने और वैसे परिस्थितिवश नहीं दिये जा सके। पर जो दिये गये हैं, वे सुन्दर तथा उपयोगी हैं। अग्निपुराणके अन्तिम अध्यायोंमें कथाभाग बहुत कम रहनेसे चित्र बहुत कम दिये जा सके हैं। नरसिंहपुराणका समावेश पीछे होनेके कारण उसके चित्र भी तैयार नहीं हो सके। अधिकांश चित्र गर्गसंहितासे सम्बन्धित होनेके कारण उसीमें दिये गये हैं। परिस्थिति समझकर पाठक महोदय क्षमा करें।

(३) कागज, डाक-महसूल, वेतन आदिका व्यय बढ़ जानेके कारण गत वर्ष 'कल्याण' में बहुत घाटा रहा। इस वर्ष कागजोंका मूल्य और बढ़ गया है। वी० पी०, रजिस्ट्री, लिफाफे आदिमें भी डाक-महसूल बढ़ रहा है। कर्मचारियोंका वेतन-व्यय भी बहुत बढ़ा है। कम वजनके छपाईके कागज बहुत कम बनने लगे हैं और अधिक वजनके लेनेपर खर्च और भी बढ़ जायगा। इन सब खर्चोंकी बढ़ी रकमोंको जोड़नेपर तो 'कल्याण' का वर्तमान १०.०० रुपया वार्षिक मूल्य लगभग पौनी कीमतके बराबर होगा। इस अवस्थामें 'कल्याण' के प्रेमी ग्राहकों तथा पाठकोंको चाहिये कि वे प्रयत्न करके अधिक-से-अधिक ग्राहक बनाकर रुपये भिजवानेकी कृपा करें।

(४) इस बार भी विशेषाङ्क इतनी अधिक देरसे जा रहा है, जिसकी कल्पना भी नहीं थी। अनिवार्य परिस्थितिके कारण ही ऐसा हुआ है। ग्राहक महानुभावोंको व्यर्थ ही बहुत परेशान होना पड़ा, हमें इस बातका बड़ा खेद है। ग्राहकोंको सहज प्रीति तथा आत्मीयताके भरोसे ही हमारी

उनसे क्षमाकी प्रार्थना है। इस देरीके कारण फरवरीका अङ्क भी साथ ही भेजा जा रहा है।

(५) 'कल्याण'का विशेषाङ्क तो निकल गया है; पर इस समय देशमें चारों ओर जैसी अशान्ति, अव्यवस्था, उच्छृङ्खलता, अनियमितता, अनुशासनहीनता आदिका विस्तार हो रहा है, उसे देखते कहा नहीं जा सकता कि 'कल्याण' का प्रकाशन कबतक हो सकेगा या किस रूपमें होगा। अतएव ग्राहकोंको यह मानकर संतोष करना चाहिये कि उनके भेजे हुए दस रुपयेके पूरे मूल्यका उन्हें यह विशेषाङ्क मिल गया है। अगले अङ्क भेजे जा सकें तो अवश्य जायेंगे, नहीं तो उनके लिये मनमें क्षोभ न करें। परिस्थितिवश ही ऐसी प्रार्थना करनी पड़ रही है।

(६) जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

(७) मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'मैनेजर, कल्याण'के नाम भेजें। उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें।

(८) ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'अग्निपुराण-गर्ग संहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे। आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये।

(९) 'अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग तीन सप्ताह तो लग ही सकते हैं। ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार जायगा। इसलिये यदि कुछ देर हो जाय, तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

(१०) 'कल्याण-व्यवस्था-विभाग', 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी) और 'साधक-संघ' के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर केवल 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

(११) 'कल्याण-सम्पादन-विभाग' के नाम भेजे जानेवाले पत्रादिपर पो० गीतावाटिका (गोरखपुर) पता लिखना चाहिये।

(१२) सजिल्द अङ्क भी देरसे ही जा सकेंगे। ग्राहक महोदय क्षमा करें।

॥ श्रीहरिः ॥

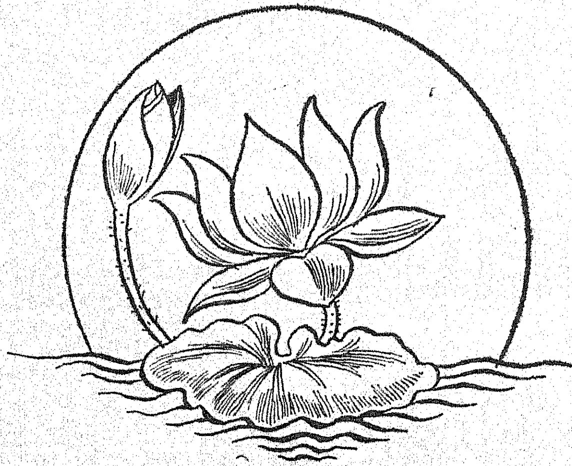


अग्निपुराणकी विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

दुरंगा चित्र



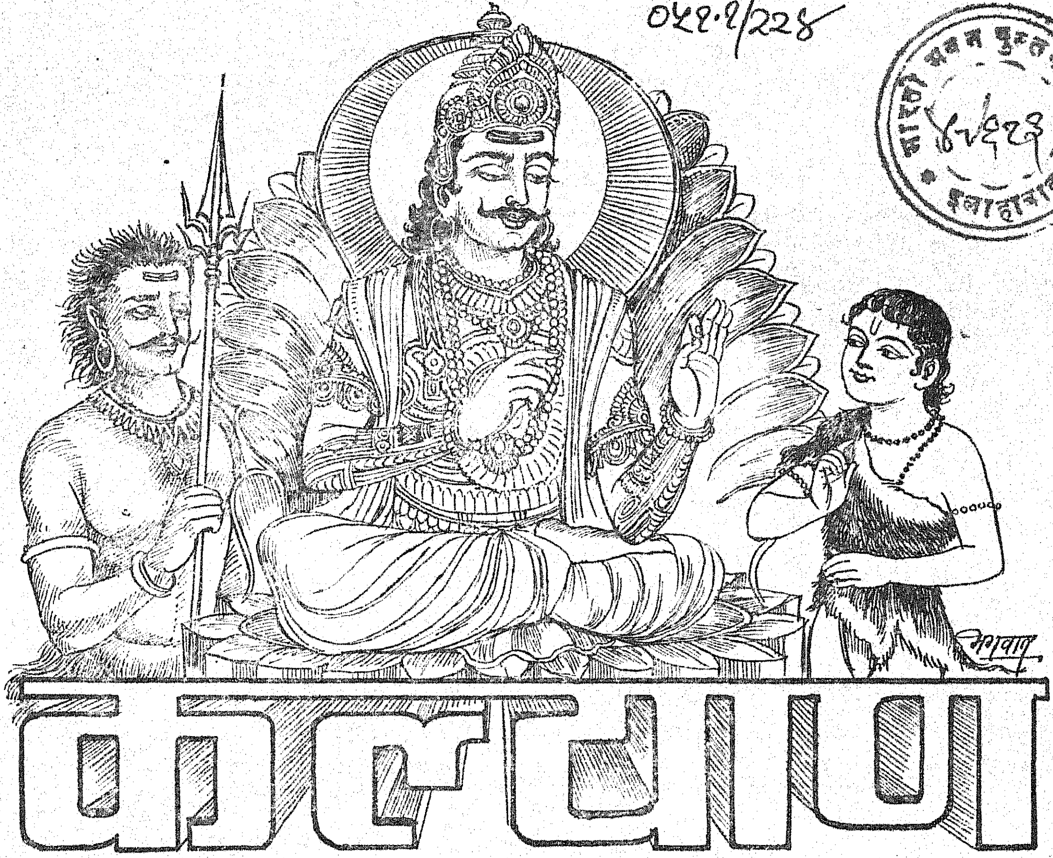


त्रैलोक्यमोहन भगवान् विष्णु

[अग्नि० अध्याय ३०७

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥





कल्याण

अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६, जनवरी १९७१ { संख्या १ पूर्ण संख्या ५३०

यमराजका नचिकेताको उपदेश

नास्ति विष्णुसमं ध्येयं तपो नानशनात्परम् । नास्त्यारोग्यसमं धन्यं नास्ति गङ्गासमा सरित् ॥
न सोऽस्ति बान्धवः कश्चिद्विष्णुं मुक्त्वा जगद्गुरुम् । अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे ॥
इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ।

(अग्निपुराण, ३८२ । १४-१५½)

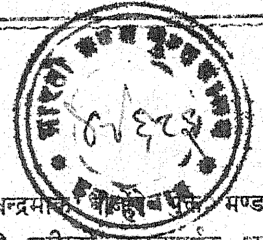
विष्णुके समान कोई ध्येय नहीं है, निराहार रहनेसे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है, आरोग्यके समान कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं है और गङ्गाजीके तुल्य दूसरी कोई नदी नहीं है । जगद्गुरु भगवान् विष्णुको छोड़कर दूसरा कोई बान्धव नहीं है । नीचे-ऊपर, आगे, देह, इन्द्रिय, मन तथा मुख—सबमें और सर्वत्र भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं—इस प्रकार भगवान्का चिन्तन करते हुए जो प्राणोंका परित्याग करता है, वह साक्षात् श्रीहरिके स्वरूपमें मिल जाता है ।

भगवान् विष्णुका स्वरूप और उनकी प्राप्तिके उपाय

यत्तद्ब्रह्म यतः सर्वं यत्सर्वं तस्य संस्थितम् ॥
अग्राह्यकमनिर्देश्यं सुप्रतिष्ठं च यत्परम् ।
परापरस्वरूपेण विष्णुः सर्वहृदिस्थितः ॥
यज्ञेशं यज्ञपुरुषं केचिदिच्छन्ति तत्परम् ।
केचिद्विष्णुं हरं केचित्केचिद्ब्रह्माणमीश्वरम् ॥
इन्द्रादिनामभिः केचित्सूर्यं सोमं च कालकम् ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद्विष्णुं वदन्ति च ॥
स विष्णुः परमं ब्रह्म यतो नावर्तते पुनः ।
सुवर्णादिमहादानपुण्यतीर्थावगाहनैः ॥
ध्यानैर्व्रतैः पूजया च धर्मश्रुत्या तदाप्नुयात् ।

(अग्निपुराण, ३८२ । १६–२०½)

वह जो सर्वत्र व्यापक ब्रह्म है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो सर्वस्वरूप है तथा यह सब कुछ जिसका संस्थान (आकार-विशेष) है; जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है, जिसका किसी नाम आदिके द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, जो सुप्रतिष्ठित एवं सबसे परे है, उस परापर ब्रह्मके रूपमें सक्षात् भगवान् विष्णु ही सबके हृदयमें विराजमान हैं । वे यज्ञके स्वामी तथा यज्ञस्वरूप हैं। उन्हें कोई तो परब्रह्मरूपसे प्राप्त करना चाहते हैं, कोई विष्णुरूपसे, कोई शिवरूपसे, कोई ब्रह्मारूपसे और कोई ईश्वररूपसे, कोई इन्द्रादि नामोंसे तथा कोई सूर्य, चन्द्रमा और कालरूपसे उन्हें पाना चाहते हैं। मनीषीलोग ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सारे जगत्को विष्णुका ही स्वरूप कहते हैं । वे भगवान् विष्णु परब्रह्म परमात्मा हैं, जिनके पास पहुँच जानेपर (जिन्हें जान लेने या पा लेनेपर) फिर वहाँसे इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता । सुवर्ण-दान आदि बड़े-बड़े दान तथा पुण्य-तीर्थोंमें स्नान करनेसे, ध्यान लगानेसे, व्रत करनेसे, पूजासे और धर्मकी बातें सुनने (एवं उनका पालन करने) से उनकी प्राप्ति होती है ।



दो सौ एकवाँ अध्याय

नवव्यूहार्चन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं नवव्यूहार्चनकी विधि बताऊँगा, जिसका उपदेश भगवान् श्रीहरिने नारदजीके प्रति किया था। पद्ममय मण्डलके बीचमें 'अं' बीजसे युक्त वासुदेवकी पूजा करे (यथा—अं वासुदेवाय नमः)। 'आं' बीजसे युक्त संकर्षणका अग्निकोणमें, 'अं' बीजसे युक्त प्रद्युम्नका दक्षिणमें, 'अः' बीजवाले अनिरुद्धका नैर्ऋत्यकोणमें, प्रणवयुक्त नारायणका पश्चिममें, तत्सद् ब्रह्मका वायव्यकोणमें, 'हूं' बीजसे युक्त विष्णुका और 'क्ष्रौं' बीजसे युक्त नृसिंहका उत्तर दिशामें, पृथ्वी और वराहका ईशानकोणमें तथा पश्चिम द्वारमें पूजन करे॥ १—३॥

'कं टं शं सं'—इन बीजोंसे युक्त पूर्वाभिमुख गरुड़का दक्षिण दिशामें पूजन करे। 'खं छं वं हुं फट्' तथा 'खं ठं फं शं'—इन बीजोंसे युक्त गदाकी चन्द्रमण्डलमें पूजा करे। 'बं णं मं क्षं' तथा 'शं धं दं भं हं'—इन बीजोंसे युक्त श्रीदेवीका कोणभागमें पूजन करे। दक्षिण तथा उत्तर दिशामें 'गं डं बं शं'—इन बीजोंसे युक्त पुष्टिदेवीकी अर्चना करे। पीठके पश्चिम भागमें 'धं वं'—इन बीजोंसे युक्त वनमालाका पूजन करे। 'सं हं लं'—इन बीजोंसे युक्त श्रीवत्सकी पश्चिम दिशामें पूजा करे और 'छं तं यं'—इन बीजोंसे युक्त कौस्तुभका जलमें पूजन करे॥ ४—६॥

फिर दशमाङ्ग-क्रमसे विष्णुका और उनके अधोभागमें भगवान् अनन्तका उनके नामके साथ 'नमः' पद जोड़कर पूजन करे। दस* अङ्गादिका तथा महेन्द्र आदि दस दिक्पालोंका पूर्वादि दिशाओंमें पूजन करे। पूर्वादि दिशाओंमें चार कलशोंका भी पूजन करे। तोरण, वितान (चँदोवा) तथा अग्नि, वायु और चन्द्रमाके [illegible] मण्डलोंका क्रमशः ध्यान करके अपने शरीरको वन्दनापूर्वक अमृतसे प्लावित करे। आकाशमें स्थित आत्माके सूक्ष्मरूपका ध्यान करके यह भावना करे कि वह चन्द्रमण्डलसे झरे हुए श्वेत अमृतकी धारामें निमग्न है। प्लवनसे जिसका संस्कार किया गया है, वह अमृत ही आत्माका बीज है। उस अमृतसे उत्पन्न होनेवाले पुरुषको आत्मा (अपना स्वरूप) माने। यह भावना करे कि 'मैं स्वयं ही विष्णुरूपसे प्रकट हुआ हूँ।' इसके बाद द्वादश बीजोंका न्यास करे। क्रमशः वक्षःस्थल, मस्तक, शिखा, पृष्ठभाग, नेत्र तथा दोनों हाथोंमें हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र—इन अङ्गोंका न्यास करे। दोनों हाथोंमें अस्त्रका न्यास करनेके पश्चात् साधकके शरीरमें दिव्यता आ जाती है॥ ७—१२॥

जैसे अपने शरीरमें न्यास करे, वैसे ही देवताके विग्रहमें भी करे तथा शिष्यके शरीरमें भी उसी तरह न्यास करे। हृदयमें जो श्रीहरिका पूजन किया जाता है, उसे 'निर्माल्यरहित पूजा' कहा गया है। मण्डल आदिमें निर्माल्यसहित पूजा की जाती है। दीक्षाकालमें शिष्योंके नेत्र बँधे रहते हैं। उस अवस्थामें इष्टदेवके विग्रहपर वे जिस फूलको फेंकें, तदनुसार ही उनका नामकरण करना चाहिये। शिष्योंको वामभागमें बैठाकर अग्निमें तिल, चावल और घीकी आहुति दे। एक सौ आठ आहुतियाँ देनेके पश्चात् कायशुद्धिके लिये एक सहस्र आहुतियोंका हवन करे। नवव्यूहकी मूर्तियों तथा अङ्गोंके लिये सौसे अधिक आहुतियाँ देनी चाहिये। तदनन्तर पूर्णाहुति देकर गुरु उन शिष्योंको दीक्षा दे तथा शिष्योंको चाहिये कि वे धनसे गुरुकी पूजा करें॥ १३—१६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नवव्यूहार्चनवर्णन' नामक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २०१॥

दो सौ दोवाँ अध्याय

देवपूजाके योग्य और अयोग्य पुष्प

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! भगवान् श्रीहरि पुष्प, गन्ध, धूप, दीप और नैवेद्यके समर्पणसे ही प्रसन्न हो जाते हैं। मैं तुम्हारे सम्मुख देवताओंके योग्य एवं अयोग्य पुष्पोंका वर्णन करता हूँ। पूजनमें मालती-पुष्प उत्तम है। तमाल-पुष्प भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। मल्लिका (मोतिया) समस्त पापोंका नाश करती है तथा यूथिका (जूही) विष्णुलोक

* पाँच अङ्गन्यास तथा पाँच करन्यास।

प्रदान करनेवाली है। अतिमुक्तक (मोगरा) और लोध्रपुष्प विष्णुलोककी प्राप्ति करानेवाले हैं। करवीर-कुसुमोंसे पूजन करनेवाला वैकुण्ठको प्राप्त होता है तथा जपा-पुष्पोंसे मनुष्य पुण्य उपलब्ध करता है। पावन्ती, कुब्जक और तगर-पुष्पोंसे पूजन करनेवाला विष्णुलोकका अधिकारी होता है। कर्णिकार (कनेर)द्वारा पूजन करनेसे वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है एवं कुरुण्ट (पीली कटसरैया)के पुष्पोंसे किया हुआ पूजन पापोंका नाश करनेवाला होता है। कमल, कुन्द एवं केतकीके पुष्पोंसे परमगतिकी प्राप्ति होती है। बाणपुष्प, बर्बर-पुष्प और कृष्ण तुलसीके पत्तोंसे पूजन करनेवाला श्रीहरिके लोकमें जाता है। अशोक, तिलक तथा आटरूष (अडूसे)के फूलोंका पूजनमें उपयोग करनेसे मनुष्य मोक्षका भागी होता है। बिल्वपत्रों एवं शमीपत्रोंसे परमगति सुलभ होती है। तमालदल तथा भृङ्गराज-कुसुमोंसे पूजन करनेवाला विष्णुलोकमें निवास करता है। कृष्ण तुलसी, शुक्ल तुलसी, कल्हार, उत्पल, पद्म एवं कोकनद—ये पुष्प पुण्यप्रद माने गये हैं ॥ १—७ ॥

भगवान् श्रीहरि सौ कमलोंकी माला समर्पण करनेसे परम प्रसन्न होते हैं। नीप, अर्जुन, कदम्ब, सुगन्धित बकुल (मौलसिरी), किंशुक (पलाश), मुनि (अगस्त्यपुष्प), गोकर्ण, नागकर्ण (रक्त एरण्ड), संध्यापुष्पी (चमेली), बिल्वातक, रञ्जनी एवं केतकी तथा कूष्माण्ड, ग्रामकर्कटी, कुश, काश, सरपत, विभीतक, मरुआ तथा अन्य सुगन्धित पत्रोंद्वारा भक्तिपूर्वक पूजन करनेसे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं। इनसे पूजन करनेवालेके पाप नाश होकर उसको भोग-मोक्षकी प्राप्ति होती है। लक्ष स्वर्णभारसे पुष्प उत्तम है, पुष्पमाला उससे भी करोड़गुनी श्रेष्ठ है, अपने तथा दूसरोंके उद्यानके पुष्पोंकी अपेक्षा वन्य पुष्पोंका तिगुना फल माना गया है ॥ ८—११½ ॥

झड़कर गिरे, अधिकाङ्ग एवं मसले हुए पुष्पोंसे श्रीहरिका पूजन न करे। इसी प्रकार कचनार, धत्तूर, गिरिकर्णिका (सफेद किणही), कुटज, शाल्मलि (सेमर) एवं शिरीष (सिरस) वृक्षके पुष्पोंसे भी श्रीविष्णुकी अर्चना न करे। इनसे पूजा करनेवालेका नरक आदिमें पतन होता है। विष्णु भगवान्का सुगन्धित रक्तकमल तथा नीलकमल-कुसुमोंसे पूजन होता है। भगवान् शिवका आक, मदार, धत्तूर-पुष्पोंसे पूजन किया जाता है; किंतु कुटज, कर्कटी एवं केतकी (केवड़े)के फूल शिवके ऊपर नहीं चढ़ाने चाहिये। कूष्माण्ड एवं निम्बके पुष्प तथा अन्य गन्धहीन पुष्प 'पैशाच' माने गये हैं ॥ १२—१५ ॥

अहिंसा, इन्द्रियसंयम, क्षमा, ज्ञान, दया एवं स्वाध्याय आदि आठ भावपुष्पोंसे देवताओंका यजन करके मनुष्य भोग-मोक्षका भागी होता है। इनमें अहिंसा प्रथम पुष्प है, इन्द्रिय-निग्रह द्वितीय पुष्प है, सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंपर दया तृतीय पुष्प है, क्षमा चौथा विशिष्ट पुष्प है। इसी प्रकार क्रमशः शम, तप एवं ध्यान पाँचवें, छठे और सातवें पुष्प हैं। सत्य आठवाँ पुष्प है। इनसे पूजित होनेपर भगवान् केशव प्रसन्न हो जाते हैं। इन आठ भावपुष्पोंसे पूजा करनेपर ही भगवान् केशव संतुष्ट होते हैं। नरश्रेष्ठ! अन्य पुष्प तो पूजाके बाह्य उपकरण हैं, श्रीविष्णु तो भक्ति एवं दयासे समन्वित भाव-पुष्पोंद्वारा पूजित होनेपर परितुष्ट होते हैं ॥ १६—१९ ॥

जल वारुण पुष्प है; घृत, दुग्ध, दधि सौम्य पुष्प हैं; अन्नादि प्राजापत्य पुष्प हैं, धूप-दीप आग्नेय पुष्प हैं, फल-पुष्पादि पञ्चम वानस्पत्य पुष्प हैं, कुशमूल आदि पार्थिव पुष्प हैं; गन्ध-चन्दन वायव्य कुसुम हैं, श्रद्धादि भाव वैष्णव प्रसून हैं। ये आठ पुष्पिकाएँ हैं, जो सब कुछ देनेवाली हैं। आसन (योगपीठ), मूर्ति-निर्माण, पञ्चाङ्गन्यास तथा अष्टपुष्पिकाएँ—ये विष्णुरूप हैं। भगवान् श्रीहरि पूर्वोक्त अष्टपुष्पिकाद्वारा पूजन करनेसे प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीविष्णुका 'वासुदेव' आदि नामोंसे एवं श्रीशिवका 'ईशान' आदि नाम-पुष्पोंसे भी पूजन किया जाता है ॥ २०—२३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुष्पाध्याय' नामक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

दो सौ तीनवाँ अध्याय

नरकोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं नरकोंका वर्णन करता हूँ। भगवान् श्रीविष्णुका पुष्पादि उपचारोंसे पूजन करनेवाले नरकको नहीं प्राप्त होते। आयुके समाप्त होनेपर मनुष्य न चाहता हुआ भी प्राणोंसे बिछुड़ जाता है। देहधारी जीव जल, अग्नि, विष, शस्त्राघात, भूख, व्याधि या पर्वतसे पतन—किसी-न-किसी निमित्तको पाकर प्राणोंसे हाथ धो

बैठता है। वह अपने कर्मोंके अनुसार यातनाएँ भोगनेके लिये दूसरा शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार पापकर्म करनेवाला दुःख भोगता है, परंतु धर्मात्मा पुरुष सुखका भोग करता है। मृत्युके पश्चात् पापी जीवको यमदूत बड़े दुर्गम मार्गसे ले जाते हैं और वह यमपुरीके दक्षिण द्वारसे यमराजके पास पहुँचाया जाता है। वे यमदूत बड़े डरावने होते हैं। परंतु धर्मात्मा मनुष्य पश्चिम आदि द्वारोंसे ले जाये जाते हैं। वहाँ पापी जीव यमराजकी आज्ञासे यमदूतोंद्वारा नरकोंमें गिराये जाते हैं; किंतु वसिष्ठ आदि ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित धर्मका आचरण करनेवाले स्वर्गमें ले जाये जाते हैं। गोहत्यारा 'महावीचि' नामक नरकमें एक लाख वर्षतक पीड़ित किया जाता है। ब्रह्मघाती अत्यन्त दहकते हुए 'ताम्रकुम्भ' नामक नरकमें गिराये जाते हैं और भूमिका अपहरण करनेवाले पापीको महाप्रलय कालतक 'रौरव-नरक'में धीरे-धीरे दुःसह पीड़ा दी जाती है। स्त्री, बालक अथवा वृद्धोंका वध करनेवाले पापी चौदह इन्द्रोंके राज्यकालपर्यन्त 'महारौरव'नामक रौद्र नरकमें क्लेश भोगते हैं। दूसरोंके घर और खेतको जलानेवाले अत्यन्त भयंकर 'महारौरव' नरकमें एक कल्पपर्यन्त पकाये जाते हैं। चोरी करनेवालेको 'तामिस्र' नामक नरकमें गिराया जाता है। इसके बाद उसे अनेक कल्पोंतक यमराजके अनुचर भालोंसे बींधते रहते हैं और फिर 'महातामिस्र' नरकमें जाकर वह पापी सर्पों और जोंकों द्वारा पीड़ित किया जाता है। मातृघाती आदि मनुष्य 'असिपत्रवन' नामक नरकमें गिराये जाते हैं। वहाँ तलवारोंसे उनके अङ्ग तबतक काटे जाते हैं, जबतक यह पृथ्वी स्थित रहती है। जो इस लोकमें दूसरे प्राणियोंके हृदयको जलाते हैं, वे अनेक कल्पोंतक 'करम्भवालुका' नरकमें जलती हुई रेतमें भुने जाते हैं। दूसरोंको बिना दिये अकेले मिष्टान्न भोजन करनेवाला 'काकोल' नामक नरकमें कीड़ा और विष्ठाका भक्षण करता है। पञ्चमहायज्ञ और नित्यकर्मका परित्याग करनेवाला 'कुट्टल' नामक नरकमें जाकर मूत्र और रक्तका पान करता है। अभक्ष्य वस्तुका भक्षण करनेवालेको महादुर्गन्धमय नरकमें गिरकर रक्तका आहार करना पड़ता है ॥ १-१२ ॥

दूसरोंको कष्ट देनेवाला 'तैलपाक' नामक नरकमें तिलोंकी भाँति पेरा जाता है। शरणागतका वध करनेवालेको भी 'तैलपाक'में पकाया जाता है। यज्ञमें कोई चीज देनेकी प्रतिज्ञा करके न देनेवाला 'निरुच्छ्वास'में, रस-विक्रय करनेवाला 'वज्रकटाह' नामक नरकमें और असत्यभाषण करनेवाला 'महापात' नामक नरकमें गिराया जाता है ॥१३-१४॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाला 'महाज्वाल'में, अगम्या स्त्रीके साथ गमन करनेवाला 'क्रकच'में, वर्णसंकर संतान उत्पन्न करनेवाला 'गुडपाक'में, दूसरोंके मर्मस्थानोंमें पीड़ा पहुँचानेवाला 'प्रतुद'में, प्राणिहिंसा करनेवाला 'क्षारहृद'में, भूमिका अपहरण करनेवाला 'क्षुरधार'में, गौ और स्वर्णकी चोरी करनेवाला 'अम्बरीष'में, वृक्ष काटनेवाला 'वज्रशस्त्र'में, मधु चुरानेवाला 'परीताप'में, दूसरोंका धन अपहरण करनेवाला 'कालसूत्र'में, अधिक मांस खानेवाला 'कश्मल'में और पितरोंको पिण्ड न देनेवाला 'उग्रगन्ध' नामक नरकमें यमदूतोंद्वारा ले जाया जाता है। घूस खानेवाले 'दुर्धर' नामक नरकमें और निरपराध मनुष्योंको कैद करनेवाले 'लौहमय मंजूष' नामक नरकमें यमदूतोंद्वारा ले जाकर कैद किये जाते हैं। वेदनिन्दक मनुष्य 'अप्रतिष्ठ' नामक नरकमें गिराया जाता है। झूठी गवाही देनेवाला 'पूतिवक्त्र'में, धनका अपहरण करनेवाला 'परिलुण्ठ'में, बालक, स्त्री और वृद्धकी हत्या करनेवाला तथा ब्राह्मणको पीड़ा देनेवाला 'कराल'में, मद्यपान करनेवाला ब्राह्मण 'विलेप'में और मित्रोंमें परस्पर भेदभाव करानेवाला 'महाप्रेत' नरकको प्राप्त होता है। परायी स्त्रीका उपभोग करनेवाले पुरुष और अनेक पुरुषोंसे सम्भोग करनेवाली नारीको 'शाल्मल' नामक नरकमें जलती हुई लौहमयी शिलाके रूपमें अपनी उस प्रिया अथवा प्रियका आलिङ्गन करना पड़ता है ॥ १५-२१ ॥

नरकोंमें चुगली करनेवालोंकी जीभ खींचकर निकाल ली जाती है, परायी स्त्रियोंको कुदृष्टिसे देखनेवालोंकी आँखें फोड़ी जाती हैं, माता और पुत्रीके साथ व्यभिचार करनेवाले धधकते हुए अंगारोंपर फेंक दिये जाते हैं, चोरोंको छुरोंसे काटा जाता है और मांस-भक्षण करनेवाले नरपिशाचोंको उन्हींका मांस काटकर खिलाया जाता है। मासोपवास, एकादशीव्रत अथवा भीष्मपञ्चकव्रत करनेवाला मनुष्य नरकोंमें नहीं जाता ॥ २२-२३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'एक सौ चवालीस नरकोंके स्वरूपका वर्णन' नामक दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

दो सौ चारवाँ अध्याय

मासोपवास-व्रत

अग्निदेव कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ ! अब मैं तुम्हारे सम्मुख सबसे उत्तम मासोपवास-व्रतका वर्णन करता हूँ । वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान करके, आचार्यकी आज्ञा लेकर, कृच्छ्र आदि व्रतोंसे अपनी शक्तिका अनुमान करके मासोपवास-व्रत करना चाहिये । वानप्रस्थ, संन्यासी एवं विधवा स्त्री—इनके लिये मासोपवास-व्रतका विधान है ॥ १-२ ॥

आश्विनके शुक्ल पक्षकी एकादशीको उपवास रखकर तीस दिनोंके लिये निम्नलिखित संकल्प करके मासोपवास-व्रत ग्रहण करे—'श्रीविष्णो ! मैं आजसे लेकर तीस दिनतक आपके उत्थानकालपर्यन्त निराहार रहकर आपका पूजन करूँगा । सर्वव्यापी श्रीहरे ! आश्विन शुक्ल एकादशीसे आपके उत्थानकाल कार्तिक शुक्ल एकादशीके मध्यमें यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो (आपकी कृपासे) मेरा व्रत भङ्ग न हो* ।' व्रत करनेवाला दिनमें तीन बार स्नान करके सुगन्धित द्रव्य और पुष्पोंद्वारा प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल श्रीविष्णुका पूजन करे तथा विष्णु-सम्बन्धी गान, जप और ध्यान करे । व्रती पुरुष बकवादका परित्याग करे और धनकी इच्छा भी न करे । वह किसी भी व्रतहीन मनुष्यका स्पर्श न करे और शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंमें लगे हुए लोगोंका चालक—प्रेरक न बने । उसे तीस दिनतक देवमन्दिरमें ही निवास करना चाहिये । व्रत करनेवाला मनुष्य कार्तिकके शुक्लपक्षकी द्वादशीको भगवान् श्रीविष्णुकी पूजा करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे । तदनन्तर उन्हें दक्षिणा देकर और स्वयं पारण करके व्रतका विसर्जन करे । इस प्रकार तेरह पूर्ण मासोपवास-व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाला भोग और मोक्ष—दोनोंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३-९ ॥

(उपर्युक्त विधिसे तेरह मासोपवास-व्रतोंका अनुष्ठान करनेके बाद व्रत करनेवाला व्रतका उद्यापन करे ।) वह वैष्णव-यज्ञ करावे, अर्थात् तेरह ब्राह्मणोंका पूजन करे । तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर किसी ब्राह्मणको तेरह ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र, पात्र, आसन, छत्र, पवित्री, पादुका, योगपट्ट और यज्ञोपवीतोंका दान करे ॥ १०-१२ ॥

तत्पश्चात् शय्यापर अपनी और श्रीविष्णुकी स्वर्णमयी प्रतिमाका पूजन करके उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान करे एवं उस ब्राह्मणका वस्त्र आदिसे सत्कार करे । तदनन्तर व्रत करनेवाला यह कहे—'मैं सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर ब्राह्मणों और श्रीविष्णु भगवान्‌के कृपा-प्रसादसे विष्णुलोकको जाऊँगा । अब मैं विष्णुस्वरूप होता हूँ ।' इसके उत्तरमें ब्राह्मणोंको कहना चाहिये—'देवात्मन् ! तुम विष्णुके उस रोग-शोक-रहित परमपदको जाओ-जाओ और वहाँ विष्णुका स्वरूप धारण करके विमानमें प्रकाशित होते हुए स्थित होओ ।' फिर व्रत करनेवाला द्विजोंको प्रणाम करके वह शय्या आचार्यको दान करे । इस विधिसे व्रत करनेवाला अपने सौ कुलोंका उद्धार करके उन्हें विष्णुलोकमें ले जाता है । जिस देशमें मासोपवास-व्रत करनेवाला रहता है, वह देश पापरहित हो जाता है । फिर उस सम्पूर्ण कुलकी तो बात ही क्या है, जिसमें मासोपवास-व्रतका अनुष्ठान करनेवाला उत्पन्न हुआ होता है । व्रतयुक्त मनुष्यको मूर्च्छित देखकर उसे घृतमिश्रित दुग्धका पान कराये । निम्नलिखित वस्तुएँ व्रतको नष्ट नहीं करतीं—ब्राह्मणकी अनुमतिसे ग्रहण किया हुआ हविष्य, दुग्ध, आचार्यकी आज्ञासे ली हुई ओषधि, जल, मूल और फल । 'इस व्रतमें भगवान् श्रीविष्णु ही महान् ओषधिरूप हैं'—इसी विश्वाससे व्रत करनेवाला इस व्रतसे उद्धार पाता है ॥ १३-१८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मासोपवास-व्रतका वर्णन' नामक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

---

* अद्यप्रभृत्यहं विष्णो यावदुत्थानकं तव । अर्चये त्वामनश्नन् हि यावत्त्रिंशद्दिनानि तु ॥
कार्तिकाश्विनयोर्विष्णो यावदुत्थानकं तव । म्रियेऽ यद्यन्तराले ऽहं व्रतभङ्गो न मे भवेत् ॥
(अग्नि० २०४ । ४-५)

दो सौ पाँचवाँ अध्याय

भीष्मपञ्चकव्रत

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं सब कुछ देनेवाले व्रतराज 'भीष्मपञ्चक'के विषयमें कहता हूँ। कार्तिकके शुक्लपक्षकी एकादशीको यह व्रत ग्रहण करे। पाँच दिनोंतक तीनों समय स्नान करके पाँच तिल और यवोंके द्वारा देवता तथा पितरोंका तर्पण करे। फिर मौन रहकर भगवान् श्रीहरिका पूजन करे। देवाधिदेव श्रीविष्णुको पञ्चगव्य और पञ्चामृतसे स्नान करावे और उनके श्रीअङ्गोंमें चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्योंका आलेपन करके उनके सम्मुख घृतयुक्त गुग्गुल जलावे ॥ १—३ ॥

प्रातःकाल और रात्रिके समय भगवान् श्रीविष्णुको दीपदान करे और उत्तम भोज्य-पदार्थका नैवेद्य समर्पित करे। व्रती पुरुष 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षरमन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे। तदनन्तर घृतसिक्त तिल और जौका अन्तमें 'स्वाहा'से संयुक्त 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रसे हवन करे। पहले दिन भगवान्‌के चरणोंका कमलके पुष्पोंसे, दूसरे दिन घुटनों और सक्थिभाग (दोनों ऊरुओं)का बिल्वपत्रोंसे, तीसरे दिन नाभिका भृङ्गराजसे, चौथे दिन बाणपुष्प, बिल्वपत्र और जपापुष्पोंद्वारा एवं पाँचवें दिन मालती-पुष्पोंसे सर्वाङ्गका पूजन करे। व्रत करनेवालेको भूमिपर शयन करना चाहिये। एकादशीको गोमय, द्वादशीको गोमूत्र, त्रयोदशीको दधि, चतुर्दशीको दुग्ध और अन्तिम दिन पञ्चगव्यका आहार करे। पौर्णमासीको 'नक्तव्रत' करना चाहिये। इस प्रकार व्रत करनेवाला भोग और मोक्ष—दोनोंको प्राप्त कर लेता है। भीष्मपितामह इसी व्रतका अनुष्ठान करके भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हुए थे, इसीसे यह 'भीष्मपञ्चक'के नामसे प्रसिद्ध है। ब्रह्माजीने भी इस व्रतका अनुष्ठान करके श्रीहरिका पूजन किया था। इसलिये यह व्रत पाँच उपवास आदिसे युक्त है ॥ ४—९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'भीष्मपञ्चक-व्रतका कथन' नामक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

दो सौ छठा अध्याय

अगस्त्यके उद्देश्यसे अर्घ्यदान एवं उनके पूजनका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! महर्षि अगस्त्य साक्षात् भगवान् विष्णुके स्वरूप हैं। उनका पूजन करके मनुष्य श्रीहरिको प्राप्त कर लेता है। जब सूर्य कन्या-राशिको प्राप्त न हुए हों (किंतु उसके निकट हों) तब ३¼ दिनतक उपवास रखकर अगस्त्यका पूजन करके उन्हें अर्घ्यदान दे। पहले दिन जब चार घंटा दिन बाकी रहे, तब व्रत आरम्भ करके प्रदोषकालमें अगस्त्य मुनिकी काश-पुष्पमयी मूर्तिको कलशपर स्थापित करे और उस कलशस्थित मूर्तिका पूजन करे। अर्घ्य देनेवालेको रात्रिमें जागरण भी करना चाहिये ॥ १-२½ ॥ (अगस्त्यके आवाहनका मन्त्र यह है—)

अगस्त्य मुनिशार्दूल तेजोराशे महामते।
इमां मम कृतां पूजां गृह्णीष्व प्रियया सह।

मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आप तेजःपुञ्जमय और महाबुद्धिमान् हैं। अपनी प्रियतमा पत्नी लोपामुद्राके साथ मेरे द्वारा की गयी इस पूजाको ग्रहण कीजिये ॥ ३½ ॥

इस प्रकार अगस्त्यका आवाहन करे और उन्हें गन्ध, पुष्प, फल, जल आदिसे अर्घ्यदान दे। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यकी ओर मुख करके चन्दनादि उपचारोंद्वारा उनका पूजन करे। दूसरे दिन प्रातःकाल कलशस्थित अगस्त्यकी मूर्तिको किसी जलाशयके समीप ले जाकर निम्नलिखित मन्त्रसे उन्हें अर्घ्य समर्पित करे ॥ ४½ ॥

काशपुष्पप्रतीकाश अग्निमारुतसम्भव ॥
मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते।
आतापिर्भक्षितो येन वातापिश्च महासुरः ॥
समुद्रः शोषितो येन सोऽगस्त्यः सम्मुखोऽस्तु मे।
अगस्तिं प्रार्थयिष्यामि कर्मणा मनसा गिरा ॥
अर्चयिष्याम्यहं मैत्रं परलोकाभिकाङ्क्षया।

काशपुष्पके समान उज्ज्वल, अग्नि और वायुसे प्रादुर्भूत, मित्रावरुणके पुत्र, कुम्भसे प्रकट होनेवाले अगस्त्य! आपको नमस्कार है। जिन्होंने राक्षसराज आतापी और वातापीका

भक्षण कर लिया था तथा समुद्रको सुखा डाला था, वे अगस्त्य मेरे सम्मुख प्रकट हों। मैं मन, कर्म और वचनसे अगस्त्यकी प्रार्थना करता हूँ। मैं उत्तम लोकोंकी आकाङ्क्षासे अगस्त्यका पूजन करता हूँ॥ ५-७½॥

चन्दन-दान-मन्त्र

द्वीपान्तरसमुत्पन्नं देवानां परमं प्रियम्॥
राजानं सर्ववृक्षाणां चन्दनं प्रतिगृह्यताम्।

जम्बूद्वीपके बाहर उत्पन्न, देवताओंके परमप्रिय, समस्त वृक्षोंके राजा चन्दनको ग्रहण कीजिये॥ ८½॥

पुष्पमाला-अर्पण

धर्मार्थकाममोक्षाणां भाजनी पापनाशिनी॥
सौभाग्यारोग्यलक्ष्मीदा पुष्पमाला प्रगृह्यताम्।

महर्षि अगस्त्य! यह पुष्पमाला धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंको देनेवाली एवं पापोंका नाश करनेवाली है। सौभाग्य, आरोग्य और लक्ष्मीकी प्राप्ति करानेवाली इस पुष्पमालाको आप ग्रहण कीजिये॥ ९½॥

धूपदान-मन्त्र

धूपोऽयं गृह्यतां देव! भक्तिं मे ह्यचलां कुरु॥
ईप्सितं मे वरं देहि परत्र च शुभां गतिम्।

भगवन्! अब यह धूप ग्रहण कीजिये और आपमें मेरी भक्तिको अविचल कीजिये। मुझे इस लोकमें मनोवाञ्छित वस्तुएँ और परलोकमें शुभगति प्रदान कीजिये॥ १०½॥

वस्त्र, धान्य, फल, सुवर्णसे युक्त अर्घ्य-दान-मन्त्र

सुरासुरैर्मुनिश्रेष्ठ सर्वकामफलप्रद॥
वस्त्रधान्यफलैर्हेम्ना दत्तस्त्वर्घ्यो ह्ययं मया।

देवताओं तथा असुरोंसे भी समादृत मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आप सम्पूर्ण अभीष्ट फल प्रदान करनेवाले हैं। मैं आपको वस्त्र, धान्य, फल और सुवर्णसे युक्त यह अर्घ्य प्रदान करता हूँ॥ ११½॥

फलार्घ्यदान-मन्त्र

अगस्त्यं बोधयिष्यामि यन्मया मनसोद्धृतम्।
फलैरर्घ्यं प्रदास्यामि गृहाणार्घ्यं महामुने॥

महामुने! मैंने मनमें जो अभिलाषा कर रक्खी थी, तदनुसार मैं अगस्त्यजीको जगाऊँगा। आपको फलार्घ्य अर्पित करता हूँ, इसे ग्रहण कीजिये॥ १२॥

(केवल द्विजोंके लिये उच्चारणीय अर्घ्यदानका वैदिक मन्त्र)

अगस्त्य एवं खनमानो खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमीहमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रतेजाः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥

महर्षि अगस्त्य इस प्रकार प्रजा-संतति तथा बल एवं पुष्टिके लिये सचेष्ट हो कुदाल या खनित्रसे धरतीको खोदते रहे। उन उग्रतेजस्वी ऋषिने दोनों वर्णों (सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्ति) का पोषण किया। देवताओंके प्रति उनकी सारी आशीःप्रार्थना सत्य हुई॥ १३॥

(तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्रसे लोपामुद्राको अर्घ्यदान दे)

राजपुत्रि नमस्तुभ्यं मुनिपत्नि महाव्रते।
अर्घ्यं गृह्णीष्व देवेशि लोपामुद्रे यशस्विनि॥

महान् व्रतका पालन करनेवाली राजपुत्री अगस्त्यपत्नी देवेश्वरी लोपामुद्रे! आपको नमस्कार है। यशस्विनि! इस अर्घ्यको ग्रहण कीजिये॥ १४॥

अगस्त्यके लिये पञ्चरत्न, सुवर्ण और रजतसे युक्त एवं सप्तधान्यसे पूर्ण पात्र तथा दधि-चन्दनसे समन्वित अर्घ्य प्रदान करे। स्त्रियों और शूद्रोंको 'काशपुष्पप्रतीकाश' आदि पौराणिक मन्त्रसे अर्घ्य देना चाहिये॥ १५½॥

विसर्जन-मन्त्र

अगस्त्य मुनिशार्दूल तेजोराशे च सर्वदा॥
इमां मम कृतां पूजां गृहीत्वा व्रज शान्तये।

मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आप तेजःपुञ्जसे प्रकाशित और सब कुछ देनेवाले हैं। मेरे द्वारा की गयी इस पूजाको ग्रहणकर शान्तिपूर्वक पधारिये॥ १६½॥

इस प्रकार अगस्त्यका विसर्जन करके उनके उद्देश्यसे किसी एक धान्य, फल और रसका त्याग करे। तदनन्तर ब्राह्मणोंको घृतमिश्रित खीर और लड्डू आदि पदार्थोंका भोजन करावे और उन्हें गौ, वस्त्र, सुवर्ण एवं दक्षिणा दे। इसके बाद उस कुम्भका मुख घृतमिश्रित खीरयुक्त पात्रसे ढककर, उसमें सुवर्ण रखकर वह कलश ब्राह्मणको दान दे। इस प्रकार सात वर्षोंतक अगस्त्यको अर्घ्य देकर सभी लोग सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। इससे स्त्री सौभाग्य और पुत्रोंको, कन्या पतिको और राजा पृथ्वीको प्राप्त करता है॥ १७-२०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अगस्त्यके लिये अर्घ्यदानका वर्णन' नामक दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ॥ २०६॥

दो सौ सातवाँ अध्याय

कौमुद-व्रत

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं 'कौमुद'व्रतके विषयमें कहता हूँ । इसे आश्विनके शुक्लपक्षमें आरम्भ करना चाहिये । व्रत करनेवाला एकादशीको उपवास करके एकमास-पर्यन्त भगवान् श्रीहरिका पूजन करे ॥ १ ॥

व्रती निम्नलिखित मन्त्रसे संकल्प करे—

आश्विने शुक्लपक्षेऽहमेकाहारो हरिं जपन् ।
मासमेकं भुक्तिमुक्त्यै करिष्ये कौमुदं व्रतम् ॥

मैं आश्विनके शुक्ल पक्षमें एक समय भोजन करके भगवान् श्रीहरिके मन्त्रका जप करता हुआ भोग और मोक्षकी प्राप्तिके लिये एक मासपर्यन्त कौमुद-व्रतका अनुष्ठान करूँगा॥२॥

तदनन्तर व्रतके समाप्त होनेपर एकादशीको उपवास करे और द्वादशीको भगवान् श्रीविष्णुका पूजन करे । उनके श्रीविग्रहमें चन्दन, अगर और केसरका अनुलेपन करके कमल, उत्पल, कह्लार एवं मालती पुष्पोंसे विष्णुकी पूजा करे । व्रत करनेवाला वाणीको संयममें रखकर तैलपूर्ण दीपक प्रज्वलित करे और दोनों समय खीर, मालपूए तथा लड्डुओंका नैवेद्य समर्पित करे । व्रती पुरुष 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर-मन्त्रका निरन्तर जप करे । अन्तमें ब्राह्मण-भोजन कराके क्षमा-प्रार्थनापूर्वक व्रतका विसर्जन करे । 'देवजागरणी' या 'हरिप्रबोधिनी' एकादशीतक एक मास-पर्यन्त उपवास करनेसे 'कौमुदव्रत' पूर्ण होता है । इतने ही दिनोंका पूर्वोक्त मासोपवास भी होता है । किंतु इस कौमुद-व्रतसे उसकी अपेक्षा अधिक फल भी प्राप्त होता है ॥ ३—६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कौमुद-व्रतका वर्णन' नामक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

दो सौ आठवाँ अध्याय

व्रतदानसमुच्चय

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं सामान्य व्रतों और दानोंके विषयमें संक्षेपपूर्वक कहता हूँ । प्रतिपदा आदि तिथियों, सूर्य आदि वारों, कृत्तिका आदि नक्षत्रों, विष्कम्भ आदि योगों, मेष आदि राशियों और ग्रहण आदिके समय उस कालमें जो व्रत, दान एवं तत्सम्बन्धी द्रव्य एवं नियमादि आवश्यक हैं, उनका भी वर्णन करूँगा । व्रतदानोपयोगी द्रव्य और काल सबके अधिष्ठातृ देवता भगवान् श्रीविष्णु हैं । सूर्य, शिव, ब्रह्मा, लक्ष्मी आदि सभी देव-देवियाँ श्रीहरिकी ही विभूति हैं । इसलिये उनके उद्देश्यसे किया गया व्रत, दान और पूजन आदि सब कुछ देनेवाला होता है ॥ १—३ ॥

श्रीविष्णु-पूजन-मन्त्र

जगत्पते समागच्छ आसनं पाद्यमर्घ्यकम् ।
मधुपर्कं तथाऽऽचामं स्नानं वस्त्रं च गन्धकम् ।
पुष्पं धूपं च दीपं च नैवेद्यादि नमोऽस्तु ते ॥

जगत्पते ! आपको नमस्कार है । आइये और आसन, पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य ग्रहण कीजिये ॥ ४—५ ॥

पूजा, व्रत और दानमें उपर्युक्त मन्त्रसे श्रीविष्णुकी अर्चना करनी चाहिये । अब दानका सामान्य संकल्प भी सुनो—'आज मैं अमुक गोत्रवाले अमुक शर्मा आप ब्राह्मण देवताको समस्त पापोंकी शान्ति, आयु और आरोग्यकी वृद्धि, सौभाग्यके उदय, गोत्र और संततिके विस्तार, विजय एवं धनकी प्राप्ति, धर्म, अर्थ और कामके सम्पादन तथा पापनाशपूर्वक संसारसे मोक्ष पानेके लिये विष्णुदेवता-सम्बन्धी इस द्रव्यका दान करता हूँ । मैं इस दानकी प्रतिष्ठा (स्थिरता) के लिये आपको यह अतिरिक्त सुवर्णादि द्रव्य समर्पित करता हूँ । मेरे इस दानसे सर्वलोकेश्वर भगवान् श्रीहरि सदा प्रसन्न हों । यज्ञ, दान और व्रतोंके स्वामी ! मुझे विद्या तथा यश आदि प्रदान कीजिये । मुझे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ तथा मनोऽभिलषित वस्तुसे सम्पन्न कीजिये' ॥ ६—१०½ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन इस व्रत-दान-समुच्चयका पठन अथवा श्रवण करता है, वह अभीष्ट वस्तुसे युक्त एवं पापरहित होकर भोग और मोक्ष दोनोंको प्राप्त करता है। इस प्रकार भगवान् वासुदेव आदिसे सम्बन्धित नियम और पूजनसे अनेक प्रकारके तिथि, वार, नक्षत्र, संक्रान्ति, योग और मन्वादि-सम्बन्धी व्रतोंका अनुष्ठान सिद्ध होता है ॥ ११-१२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'व्रतदानसमुच्चयका वर्णन' नामक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

दो सौ नवाँ अध्याय

धनके प्रकार; देश-काल और पात्रका विचार; पात्रभेदसे दानके फल-भेद; द्रव्य-देवताओं तथा दान-विधिका कथन

अग्निदेव कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ! अब मैं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले दानधर्मोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। दानके 'इष्ट' और 'पूर्त' दो भेद हैं। दानधर्मका आचरण करनेवाला सब कुछ प्राप्त कर लेता है। बावड़ी, कुआँ, तालाब, देवमन्दिर, अन्नका सदावर्त तथा बगीचे आदि बनवाना 'पूर्तधर्म' कहा गया है, जो मुक्ति प्रदान करनेवाला है। अग्निहोत्र तथा सत्यभाषण, वेदोंका स्वाध्याय, अतिथिसत्कार और बलिवैश्वदेव—इन्हें 'इष्टधर्म' कहा गया है। यह स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। ग्रहणकालमें, सूर्यकी संक्रान्तिमें और द्वादशी आदि तिथियोंमें जो दान दिया जाता है, वह 'पूर्त' है। वह भी स्वर्ग प्रदान करनेवाला है। देश, काल और पात्रमें दिया हुआ दान करोड़गुना फल देता है। सूर्यके उत्तरायण और दक्षिणायन प्रवेशके समय, पुण्यमय विषुवकालमें, व्यतीपात, तिथिक्षय, युगारम्भ, संक्रान्ति, चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा, द्वादशी, अष्टकाश्राद्ध, यज्ञ, उत्सव, विवाह, मन्वन्तरारम्भ, वैधृतियोग, दुःस्वप्नदर्शन, धन एवं ब्राह्मणकी प्राप्तिमें दान दिया जाता है। अथवा जिस दिन श्रद्धा हो उस दिन या सदैव दान दिया जा सकता है। दोनों अयन और दोनों विषुव—ये चार संक्रान्तियाँ, 'षडशीतिमुखा' नामसे प्रसिद्ध चार संक्रान्तियाँ तथा 'विष्णुपदा' नामसे विख्यात चार संक्रान्तियाँ—ये बारहों संक्रान्तियाँ ही दानके लिये उत्तम मानी गयी हैं। कन्या, मिथुन, मीन और धनु राशियोंमें जो सूर्यकी संक्रान्तियाँ होती हैं वे 'षडशीतिमुखा' कही जाती हैं, वे छियासीगुना फल देनेवाली हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन-सम्बन्धिनी (मकर एवं कर्ककी) संक्रान्तियोंके अतीत और अनागत (पूर्व तथा पर) घटिकाएँ पुण्य मानी गयी हैं। कर्क-संक्रान्तिकी तीस-तीस घड़ी और मकर संक्रान्तिकी बीस-बीस घड़ी पूर्व और परकी भी पुण्यकार्यके लिये विहित हैं। तुला और मेषकी संक्रान्ति वर्तमान होनेपर उसके पूर्वापरकी दस-दस घड़ीका समय पुण्यकाल है। 'षडशीतिमुखा' संक्रान्तियोंके व्यतीत होनेपर साठ घड़ीका समय पुण्यकालमें ग्राह्य है। 'विष्णुपदा' नामसे प्रसिद्ध संक्रान्तियोंके पूर्वापरकी सोलह-सोलह घड़ियोंको पुण्यकाल माना गया है। श्रवण, अश्विनी और धनिष्ठाको एवं आश्लेषाके मस्तकभाग अर्थात् प्रथम चरणमें जब रविवारका योग हो, तब यह 'व्यतीपातयोग' कहलाता है ॥ १—१३ ॥

कार्तिकके शुक्लपक्षकी नवमीको कृतयुग और वैशाखके शुक्लपक्षकी तृतीयाको त्रेता प्रारम्भ हुआ। अब द्वापरके विषयमें सुनो—माघमासकी पूर्णिमाको द्वापरयुग और भाद्रपदके कृष्णपक्षकी त्रयोदशीको कलियुगकी उत्पत्ति जाननी चाहिये। मन्वन्तरोंका आरम्भकाल या मन्वादि तिथियाँ इस प्रकार जाननी चाहिये—आश्विनके शुक्लपक्षकी नवमी, कार्तिककी द्वादशी, माघ एवं भाद्रपदकी तृतीया, फाल्गुनकी अमावास्या, पौषकी एकादशी, आषाढ़की दशमी, माघमासकी सप्तमी, श्रावणके कृष्णपक्षकी अष्टमी, आषाढ़की पूर्णिमा, कार्तिक, फाल्गुन एवं ज्येष्ठकी पूर्णिमा ॥ १४—१८ ॥

मार्गशीर्षमासकी पूर्णिमाके बाद जो तीन अष्टमी तिथियाँ आती हैं, उन्हें तीन 'अष्टका' कहा गया है। अष्टमीका 'अष्टका' नाम है। इन अष्टकाओंमें दिया हुआ दान अक्षय होता है। गया, गङ्गा और प्रयाग आदि तीर्थोंमें तथा मन्दिरोंमें किसीके बिना माँगे दिया हुआ दान उत्तम जाने। किंतु कन्यादानके लिये यह नियम लागू नहीं है। दाता पूर्वाभिमुख होकर दान दे और लेनेवाला उत्तराभिमुख होकर उसे ग्रहण करे। दान देनेवालेकी आयु बढ़ती है, किंतु लेनेवालेकी भी आयु क्षीण नहीं होती। अपने और प्रतिग्रहीता-

के नाम एवं गोत्रका उच्चारण करके देय वस्तुका दान किया जाता है। कन्यादानमें इसकी तीन आवृत्तियाँ की जाती हैं। स्नान और पूजन करके हाथमें जल लेकर उपर्युक्त संकल्पपूर्वक दान दे। सुवर्ण, अश्व, तिल, हाथी, दासी, रथ, भूमि, गृह, कन्या और कपिला गौका दान—ये दस 'महादान' हैं। विद्या, पराक्रम, तपस्या, कन्या, यजमान और शिष्यसे मिला हुआ सम्पूर्ण धन दान नहीं, शुल्करूप है। शिल्पकलासे प्राप्त धन भी शुल्क ही है। व्याज, खेती, वाणिज्य और दूसरेका उपकार करके प्राप्त किया हुआ धन, पासे, जूए, चोरी आदि प्रतिरूपक (स्वाँग बनाने) और साहसपूर्ण कर्मसे उपार्जित किया हुआ धन तथा छल-कपटसे पाया हुआ धन—ये तीन प्रकारके धन क्रमशः सात्त्विक, राजस एवं तामस—तीन प्रकारके फल देते हैं। विवाहके समय मिला हुआ, ससुरालको विदा होते समय प्रीतिके निमित्त प्राप्त हुआ, पतिद्वारा दिया गया, भाईसे मिला हुआ, मातासे प्राप्त हुआ तथा पितासे मिला हुआ—ये छः प्रकारके धन 'स्त्री-धन' माने गये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके अनुग्रहसे प्राप्त हुआ धन शूद्रका होता है। गौ, गृह, शय्या और स्त्री—ये अनेक व्यक्तियोंको नहीं दी जानी चाहिये। इनको अनेक व्यक्तियोंके साझेमें देना पाप है। प्रतिज्ञा करके फिर न देनेसे प्रतिज्ञाकर्ताके सौ कुलोंका विनाश हो जाता है। किसी भी स्थानपर उपार्जित किया हुआ पुण्य देवता, आचार्य एवं माता-पिताको प्रयत्नपूर्वक समर्पित करना चाहिये। दूसरेसे लाभकी इच्छा रखकर दिया हुआ धन निष्फल होता है। धर्मकी सिद्धि श्रद्धासे होती है; श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल भी अक्षय होता है। जो ज्ञान, शील और सद्गुणोंसे सम्पन्न हो एवं दूसरोंको कभी पीड़ा न पहुँचाता हो, वह दानका उत्तम पात्र माना गया है। अज्ञानी मनुष्योंका पालन एवं त्राण करनेसे वह 'पात्र' कहलाता है। माताको दिया गया दान सौगुना और पिताको दिया हुआ हजारगुना होता है। पुत्री और सहोदर भाईको दिया हुआ दान अनन्त एवं अक्षय होता है। मनुष्येतर प्राणियोंको दिया गया दान सम होता है, न्यून या अधिक नहीं। पापात्मा मनुष्यको दिया गया दान अत्यन्त निष्फल जानना चाहिये। वर्णसंकरको दिया हुआ दान दुगुना, शूद्रको दिया हुआ दान चौगुना, वैश्य अथवा क्षत्रियको दिया हुआ आठगुना, ब्राह्मणब्रुव* (नाममात्रके ब्राह्मण) को दिया हुआ दान सोलहगुना और वेदपाठी ब्राह्मणको दिया हुआ दान सौगुना फल देता है। वेदोंके अभिप्रायका बोध करानेवाले आचार्यको दिया हुआ दान अनन्त होता है। पुरोहित एवं याजक आदिको दिया हुआ दान अक्षय कहा गया है। धनहीन ब्राह्मणोंको और यज्ञकर्ता ब्राह्मणको दिया हुआ दान अनन्त फलदायक होता है। तपोहीन, स्वाध्यायरहित और प्रतिग्रहमें रुचि रखनेवाला ब्राह्मण जलमें पत्थरकी नौकापर बैठे हुएके समान है; वह उस प्रस्तरमयी नौकाके साथ ही डूब जाता है। ब्राह्मणको स्नान एवं जलका उपस्पर्शन करके प्रयत्नपूर्वक पवित्र हो दान ग्रहण करना चाहिये। प्रतिग्रह लेनेवालेको सदैव गायत्रीका जप करना चाहिये एवं उसके साथ-ही-साथ प्रतिगृहीत द्रव्य और देवताका उच्चारण करना चाहिये। प्रतिग्रह लेनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणसे दान ग्रहण करके उच्चस्वरमें, क्षत्रियसे दान लेकर मन्दस्वरमें तथा वैश्यका प्रतिग्रह स्वीकार करके उपांशु (ओठोंको बिना हिलाये) जप करे। शूद्रसे प्रतिग्रह लेकर मानसिक जप और स्वस्तिवाचन करे ॥ १९—३९½ ॥

मुनिश्रेष्ठ! अभयके सर्वदेवगण देवता हैं, भूमिके विष्णु देवता हैं, कन्या और दास-दासीके देवता प्रजापति कहे गये हैं, गजके देवता भी प्रजापति ही हैं। अश्वके यम, एक खुरवाले पशुओंके सर्वदेवगण, महिषके यम, उष्ट्रके निर्ऋति, धेनुके रुद्र, बकरेके अग्नि, भेड़, सिंह एवं वराहके जलदेवता, वन्य-पशुओंके वायु, जलपात्र और कलश आदि जलाशयोंके वरुण, समुद्रसे उत्पन्न होनेवाले रत्नों तथा स्वर्ण-लौहादि धातुओंके अग्नि, पक्वान्न और धान्योंके प्रजापति, सुगन्धके गन्धर्व, वस्त्रके बृहस्पति, सभी पक्षियोंके वायु, विद्या एवं विद्याङ्गोंके ब्रह्मा, पुस्तक आदिकी सरस्वती देवी, शिल्पके विश्वकर्मा एवं वृक्षोंके वनस्पति देवता हैं। ये समस्त द्रव्य-देवता भगवान् श्रीहरिके अङ्गभूत हैं ॥ ४०—४६ ॥

छत्र, कृष्णमृगचर्म, शय्या, रथ, आसन, पादुका तथा वाहन—इनके देवता 'ऊर्ध्वाङ्गिरा' (उत्तानाङ्गिरा) कहे गये हैं। युद्धोपयोगी सामग्री, शस्त्र और ध्वज आदिके सर्वदेवगण देवता हैं। गृहके भी देवता सर्वदेवगण ही हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंके देवता विष्णु अथवा शिव हैं; क्योंकि कोई

* गर्भाधानादिभिर्मन्त्रैर्वेदोपनयनेन च। नाध्यापयति नाधीते स भवेद्ब्राह्मणब्रुवः॥ (व्यासस्मृति ४। ४२)
'जिसके गर्भाधानके संस्कार और वेदोक्त यज्ञोपवीत-संस्कार हुए हैं, परंतु जो अध्ययन-अध्यापनका कार्य नहीं करता, वह 'ब्राह्मणब्रुव' कहलाता है।'

भी वस्तु उनसे भिन्न नहीं है। दान देते समय पहले द्रव्यका नाम ले। फिर 'ददामि' (देता हूँ) ऐसा कहे । फिर संकल्पका जल दान लेनेवालेके हाथमें दे। दानमें यही विधि बतलायी गयी है। प्रतिग्रह लेनेवाला यह कहे—'विष्णु दाता हैं, विष्णु ही द्रव्य हैं और मैं इस दानको ग्रहण करता हूँ; यह धर्मानुकूल प्रतिग्रह कल्याणकारी हो। दाताको इससे भोग और मोक्षरूप फलोंकी प्राप्ति हो।' गुरुजनों (माता-पिता) और सेवकोंके उद्धारके लिये देवताओं और पितरोंका पूजन करना हो तो उसके लिये सबसे प्रतिग्रह ले; परंतु उसे अपने उपयोगमें न लावे। शूद्रका धन यज्ञकार्यमें ग्रहण न करे; क्योंकि उसका फल शूद्रको ही प्राप्त होता है ॥ ४७—५२ ॥

वृत्तिरहित ब्राह्मण शूद्रसे गुड़, तक्र, रस आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है। जीविकाविहीन द्विज सबका दान ले सकता है; क्योंकि ब्राह्मण स्वभावसे ही अग्नि और सूर्यके समान पवित्र है। इसलिये आपत्तिकालमें निन्दित पुरुषोंको पढ़ाने, यज्ञ कराने और उनसे दान लेनेसे उसको पाप नहीं लगता। कृतयुगमें ब्राह्मणके घर जाकर दान दिया जाता है, त्रेतामें अपने घर बुलाकर, द्वापरमें माँगनेपर और कलियुगमें अनुगमन करनेपर दिया जाता है। समुद्रका पार मिल सकता है, किंतु दानका अन्त नहीं मिल सकता। दाता मन-ही-मन सत्पात्रके उद्देश्यसे निम्नलिखित संकल्प करके भूमिपर जल छोड़े—'आज मैं चन्द्रमा अथवा सूर्यके ग्रहण या संक्रान्तिके समय गङ्गा, गया अथवा प्रयाग आदि अनन्तगुणसम्पन्न तीर्थदेशमें अमुक गोत्रवाले वेद-वेदाङ्गवेत्ता महात्मा एवं सत्पात्र अमुक शर्माको विष्णु, रुद्र अथवा जो देवता हों, उन देवता-सम्बन्धी अमुक महाद्रव्य कीर्ति, विद्या, महती कामना, सौभाग्य और आरोग्यके उदयके लिये, समस्त पापोंकी शान्ति एवं स्वर्गके लिये, भोग और मोक्षके प्राप्त्यर्थ आपको दान करता हूँ। इससे देवलोक, अन्तरिक्ष और भूमि-सम्बन्धी समस्त उत्पातोंका विनाश करनेवाले मङ्गलमय श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों और मुझे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी प्राप्ति कराकर ब्रह्मलोक प्रदान करें।'

(तदनन्तर यह संकल्प पढ़े) 'अमुक नाम और गोत्रवाले ब्राह्मण अमुक शर्माको मैं इस दानकी प्रतिष्ठाके निमित्त सुवर्णकी दक्षिणा देता हूँ।' इस दान-वाक्यसे समस्त दान दे ॥ ५३—६३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दान-परिभाषा आदिका वर्णन' नामक दो सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०९ ॥

दो सौ दसवाँ अध्याय

सोलह महादानोंके नाम; दस मेरुदान, दस धेनुदान और विविध गोदानोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं सभी प्रकारके दानोंका वर्णन करता हूँ। सोलह महादान होते हैं। सर्वप्रथम तुलापुरुषदान, फिर हिरण्यगर्भदान, ब्रह्माण्डदान, कल्पवृक्षदान, पाँचवाँ सहस्र गोदान, स्वर्णमयी कामधेनुका दान, सातवाँ स्वर्णनिर्मित अश्वका दान, स्वर्णमय अश्वयुक्त रथका दान, स्वर्णरचित हस्तिरथका दान, पाँच हलोंका दान, भूमिदान, विश्वचक्रदान, कल्पलतादान, उत्तम सप्तसमुद्रदान, रत्नधेनुदान और जलपूर्ण कुम्भदान। ये दान शुभ दिनमें मण्डलाकार मण्डपमें देवताओंका पूजन करके ब्राह्मणको देने चाहिये। मेरुदान भी पुण्यप्रद है। 'मेरु' दस माने गये हैं, उन्हें सुनो—धान्यमेरु एक हजार द्रोण धान्यका उत्तम माना गया है, पाँच सौ द्रोणका मध्यम और ढाई सौ द्रोणका अधम माना गया है। लवणाचल सोलह द्रोणका बनाना चाहिये, वही उत्तम माना गया है। गुड़-पर्वत दस भारका उत्तम माना गया है, पाँच भारका मध्यम और ढाई भारका निकृष्ट कहा जाता है। स्वर्णमेरु सहस्र पलका उत्तम, पाँच सौ पलका मध्यम और ढाई सौ पलका निकृष्ट माना गया है। तिलपर्वत क्रमशः दस द्रोणका उत्तम, पाँच द्रोणका मध्यम और तीन द्रोणका निकृष्ट कहा गया है। कार्पास- (रूई) पर्वत बीस भारका उत्तम, दस भारका मध्यम तथा पाँच भारका निकृष्ट है। बीस घृतपूर्ण कुम्भोंका उत्तम घृताचल होता है। रजत-पर्वत दस हजार पलका उत्तम माना गया है। शर्कराचल आठ भारका उत्तम, चार भारका मध्यम और दो भारका मन्द माना गया है ॥ १—९½ ॥

अब मैं दस धेनुओंका वर्णन करता हूँ, जिनका दान करके मनुष्य भोग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है। पहली गुड़धेनु होती है, दूसरी घृतधेनु, तीसरी तिलधेनु, चौथी जलधेनु, पाँचवीं क्षीरधेनु, छठी मधुधेनु, सातवीं शर्कराधेनु, आठवीं दधिधेनु, नवीं रसधेनु और दसवीं गोरूपेण कल्पित कृष्णाजिनधेनु। इनके दानकी विधि यह बतलायी जाती है

कि तरल पदार्थ-सम्बन्धी धेनुओंके प्रतिनिधिरूपसे घड़ोंमें उन पदार्थोंको भरकर कुम्भदान करने चाहिये और अन्य धातुओं-के रूपमें उन-उन द्रव्योंकी राशिका दान करना चाहिये ॥ १०—१२½ ॥

(कृष्णाजिनधेनुके दानकी विधि यह है—) गोबरसे लिपी-पुती भूमिपर सब ओर दर्भ बिछाकर उसके ऊपर चार हाथका कृष्णमृगचर्म रक्खे। उसकी ग्रीवा पूर्व दिशाकी ओर होनी चाहिये। इसी प्रकार गोवत्सके स्थानपर छोटे आकारका कृष्णमृगचर्म स्थापित करे। वत्ससहित धेनुका मुख पूर्वकी ओर और पैर उत्तर दिशाकी ओर समझे। चार भार गुड़की गुड़धेनु सदा ही उत्तम मानी गयी है। एक भार गुड़का गोवत्स बनावे। दो भारकी गौ मध्यम होती है। उसके साथ आधे भारका बछड़ा होना चाहिये। एक भारकी गौ कनिष्ठ कही जाती है। इसके चतुर्थांशका वत्स इसके साथ देना चाहिये। गुड़धेनु अपने गुड़संग्रहके अनुसार बना लेनी चाहिये ॥ १३—१६½ ॥

पाँच गुञ्जाका एक 'माशा' होता है, सोलह माशेका एक 'सुवर्ण' होता है, चार सुवर्णका 'पल' और सौ पलकी 'तुला' मानी गयी है। बीस तुलाका एक 'भार' होता है एवं चार आढक (चौंसठ पल) का एक 'द्रोण' होता है ॥ १७-१८ ॥

गुड़निर्मित धेनु और वत्सको श्वेत एवं सूक्ष्म वस्त्रसे ढकना चाहिये। उनके कानोंके स्थानमें सीप, चरणस्थानमें ईख, नेत्रस्थानमें पवित्र मौक्तिक, अलकोंके स्थानपर श्वेतसूत्र, गलकम्बलके स्थानपर सफेद कम्बल, पृष्ठभागके स्थानपर ताम्र, रोमस्थानपर श्वेत चँवर, भौंहोंके स्थानपर विद्रुममणि, स्तनोंके स्थानपर नवनीत, पुच्छस्थानपर रेशमी वस्त्र, अक्षि-गोलकोंके स्थानपर नीलमणि, शृङ्ग और शृङ्गाभरणोंके स्थानपर सुवर्ण एवं खुरोंकी जगह चाँदी रक्खे। दन्तस्थानपर विविध फल और नासिका-स्थानपर सुगन्धित द्रव्य स्थापित करे—साथमें काँसेकी दोहनी भी रक्खे। द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार धेनुकी रचना करके निम्नलिखित मन्त्रोंसे उसकी पूजा करे—"जो समस्त भूतप्राणियोंकी लक्ष्मी हैं, जो देवताओंमें भी स्थित हैं, वे धेनुरूपिणी देवी मुझे शान्ति प्रदान करें। जो अपने शरीरमें स्थित होकर 'रुद्राणी'के नामसे प्रसिद्ध हैं और शंकरकी सदा प्रियतमा पत्नी हैं, वे धेनुरूपधारिणी देवी मेरे पापोंका विनाश करें। जो विष्णुके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके रूपसे सुशोभित होती हैं, जो अग्निकी स्वाहा और चन्द्रमा, सूर्य एवं नक्षत्र-देवताओंकी शक्तिके रूपमें स्थित हैं, वे धेनुरूपिणी देवी मुझे लक्ष्मी प्रदान करें। जो चतुर्मुख ब्रह्माकी सावित्री, धनाध्यक्ष कुबेरकी निधि और लोकपालोंकी लक्ष्मी हैं, वे धेनुदेवी मुझे अभीष्ट वस्तु प्रदान करें। देवि! आप पितरोंकी 'स्वधा' एवं यज्ञभोक्ता अग्निकी 'स्वाहा' हैं। आप समस्त पापोंका हरण करनेवाली एवं धेनुरूपसे स्थित हैं, इसलिये मुझे शान्ति प्रदान करें।" इस प्रकार अभिमन्त्रित की हुई धेनु ब्राह्मणको दान दे। अन्य सब धेनुदानोंकी भी साधारणतया यही विधि है। इससे मनुष्य सम्पूर्ण यज्ञोंका फल प्राप्त कर पापरहित हुआ भोग और मोक्ष—दोनोंको सिद्ध कर लेता है ॥ १९—२९ ॥

सोनेके सींगोंसे युक्त चाँदीके खुरोंवाली सीधी-सादी दुधारू गौ, काँसेकी दोहनी, वस्त्र एवं दक्षिणाके साथ देनी चाहिये। ऐसी गौका दान करनेवाला उस गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है। यदि कपिलाका दान किया जाय तो वह सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देती है ॥ ३०-३१ ॥

स्वर्णमय शृङ्गोंसे युक्त, रजतमण्डित खुरोंवाली कपिला गौका काँसेके दोहनपात्र और यथाशक्ति दक्षिणाके साथ दान करके मनुष्य भोग और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'उभय-तोमुखी' * गौका दान करके दाता बछड़ेसहित गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने युगोंतक स्वर्गमें जाकर सुख भोगता है। उभयतोमुखी गौका भी दान पूर्वोक्त विधिसे ही करना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

मरणासन्न मनुष्यको भी पूर्वोक्त विधिसे ही बछड़ेसहित गौका दान करना चाहिये। (और यह संकल्प करना चाहिये-) 'अत्यन्त भयंकर यमलोकके प्रवेशद्वारपर तप्तजलसे युक्त वैतरणी नदी प्रवाहित होती है। उसको पार करनेके लिये मैं इस कृष्णवर्णा वैतरणी गौका दान करता हूँ' ॥ ३४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'महादानोंका वर्णन' नामक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

---

* पादद्वयं मुखं योन्यां प्रसवन्त्याः प्रदृश्यते। तदा च द्विमुखी गौः स्याद्देया यावन्न सूयते ॥ (बृहत्पराशरसंहिता १०। ४४)

"जब प्रसव करती हुई गौकी योनिमें प्रसव होते हुए वत्सके दो पैर और मुख दिखायी देते हैं, उस समय वह 'उभयतोमुखी' कही जाती है; उसका तभीतक दान करना चाहिये, जबतक पूर्ण प्रसव नहीं हो जाता।"

दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय

नाना प्रकारके दानोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! जिसके पास दस गौएँ हों, वह एक गौ; जिसके पास सौ गौएँ हों, वह दस गौएँ; जिसके पास एक हजार गौएँ हों, वह सौ गौओंका दान करे तो उन सबको समान फल प्राप्त होता है। कुबेरकी राजधानी अलकापुरी, जहाँ स्वर्णनिर्मित भवन हैं एवं जहाँ गन्धर्व और अप्सराएँ विहार करती हैं, सहस्र गौओंका दान करनेवाले वहीं जाते हैं। मनुष्य सौ गौओंका दान करके नरक-समुद्रसे मुक्त हो जाता है और बछियाका दान करके स्वर्गलोकमें पूजित होता है। गोदानसे दीर्घायु, आरोग्य, सौभाग्य और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। 'जो इन्द्र आदि लोकपालोंकी मङ्गलमयी राजमहिषी हैं, वे देवी इस महिषीदानके माहात्म्यसे मुझे सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करें। जिनका पुत्र धर्मराजकी सहायतामें नियुक्त है एवं जो महिषासुरकी जननी हैं, वे देवी मुझे वर प्रदान करें।' उपर्युक्त मन्त्र पढ़कर महिषीदान करनेसे सौभाग्यकी प्राप्ति होती है। वृषदानसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १–६ ॥

'संयुक्त हलपङ्क्ति' नामक दान समस्त फलोंको प्रदान करता है। काठके बने हुए दस हलोंकी पङ्क्ति, जो सुवर्णमय पट्टसे परस्पर जुड़ी हो और प्रत्येक हलके साथ आवश्यक संख्यामें बैल भी हों तो उसका दान 'संयुक्त हलपङ्क्ति' नामक दान कहा गया है। वह दान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें पूजित होता है। ज्येष्ठपुष्कर-तीर्थमें दस कपिला गौओंका दान किया जाय तो उसका फल अक्षय बतलाया गया है। वृषोत्सर्ग करनेसे भी अक्षय फलकी प्राप्ति होती है। साँड़को चक्र और त्रिशूलसे अङ्कित करके यह मन्त्र पढ़कर छोड़े—'देवेश्वर ! तुम चार चरणोंसे युक्त साक्षात् धर्म हो। ये तुम्हारी चार प्रियतमाएँ हैं। पितरों, मनुष्यों और ऋषियोंका पोषण करनेवाले वेदमूर्ति वृष ! तुम्हारे मोचनसे मुझे अमृतमय शाश्वत लोकोंकी प्राप्ति हो। मैं देवऋण, भूतऋण, पितृऋण एवं मनुष्यऋणसे मुक्त हो जाऊँ। तुम साक्षात् धर्म हो; तुम्हारा आश्रय ग्रहण करनेवालोंको जो गति प्राप्त होती हो, वह नित्य गति मुझे भी प्राप्त हो' ॥ ७–११½ ॥

जिस मृत व्यक्तिके एकादशाह, षाण्मासिक अथवा वार्षिक श्राद्धमें वृषोत्सर्ग किया जाता है, वह प्रेतलोकसे मुक्त हो जाता है। दस हाथके डंडेसे तीस डंडेके बराबरकी भूमिको 'निवर्तन' कहते हैं। दस निवर्तन भूमिकी 'गोचर्म' संज्ञा है। इतनी भूमिका दान करनेवाला मनुष्य अपने समस्त पापोंका नाश कर देता है। जो गौ, भूमि और सुवर्णयुक्त कृष्णमृगचर्मका दान करता है, वह सम्पूर्ण पापोंके करनेपर भी ब्रह्माका सायुज्य प्राप्त कर लेता है। तिल एवं मधुसे भरा पात्र मगधदेशीय मानके अनुसार एक प्रस्थ (चौसठ पल) कृष्णतिलका दान करे। इसके साथ उत्तम गुणोंसे युक्त शय्या देनेसे दाताको भोग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १२–१६ ॥

अपनी स्वर्णमयी प्रतिमा बनवाकर दान करनेवाला स्वर्गमें जाता है। विशाल गृहका निर्माण कराके उसका दान देनेवाला भोग एवं मोक्ष—दोनोंको प्राप्त करता है। गृह, मठ, सभाभवन (धर्मशाला) एवं आवासस्थानका दान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोगता है। गोशाला बनवाकर दान करनेवाला पापरहित होकर स्वर्गको प्राप्त होता है। यम-देवता-सम्बन्धी महिषदान करनेसे मनुष्य निष्पाप होकर स्वर्गलोकको जाता है। देवताओंसहित ब्रह्मा, शिव और विष्णुके बीचमें पाशधारी यमदूतकी (स्वर्णादिमयी) मूर्तियाँ स्थापित करके यमदूतके सिरका छेदन करे; फिर उस मूर्तिमण्डलका ब्राह्मणको दान कर दे। ऐसा करनेसे दाता तो स्वर्गलोकका भागी होता है, किंतु इस 'त्रिपुरुष' नामक दानको ग्रहण करके द्विज पापका भागी होता है। चाँदीका चक्र बनवाकर, उसे जलमें रखकर उसके निमित्तसे होम करे। पश्चात् वह चक्र ब्राह्मणको दान कर दे। यह महान् 'कालचक्रदान' माना गया है ॥ १७–२१ ॥

जो अपने वजनके बराबर लोहेका दान करता है, वह नरकमें नहीं गिरता। जो पचास पलका लौहदण्ड वस्त्रसे ढककर ब्राह्मणको दान करता है, उसे यमदण्डसे भय नहीं होता। दीर्घायुकी इच्छा रखनेवाला मृत्युञ्जयके उद्देश्यसे फल, मूल एवं द्रव्यको एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् दान करे। कृष्णतिलका पुरुष निर्मित करे। उसके

चाँदीके दाँत और सोनेकी आँखें हों । वह मालाधारी दीर्घाकार पुरुष दाहिने हाथमें खड्ग उठाये हुए हो। लाल रंगके वस्त्र धारण किये जपापुष्पोंसे अलंकृत एवं शङ्खकी मालासे विभूषित हो। उसके दोनों चरणोंमें पादुकाएँ हों और पार्श्वभागमें काला कम्बल हो। वह कालपुरुष बायें हाथमें मांस-पिण्ड लिये हो। इस प्रकार कालपुरुषका निर्माण कर गन्धादि द्रव्योंसे उसकी पूजा करके ब्राह्मणको दान करे। इससे दाता मानव मृत्यु और व्याधिसे रहित होकर राजराजेश्वर होता है। ब्राह्मणको दो बैलोंका दान देकर मनुष्य भोग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है॥२२—२८½॥

जो मनुष्य सुवर्णदान करता है, वह सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है। सुवर्णके दानमें उसकी प्रतिष्ठाके लिये चाँदीकी दक्षिणा विहित है। अन्य दानोंकी प्रतिष्ठाके लिये सुवर्णकी दक्षिणा प्रशस्त मानी गयी है। सुवर्णके सिवा, रजत, ताम्र, तण्डुल और धान्य भी दक्षिणाके लिये विहित हैं। नित्य श्राद्ध और नित्य देवपूजन—इन सबमें दक्षिणाकी आवश्यकता नहीं है। पितृकार्यमें रजतकी दक्षिणा धर्म, काम और अर्थको सिद्ध करनेवाली है। भूमिका दान देनेवाला महाबुद्धिमान् मनुष्य सुवर्ण, रजत, ताम्र, मणि और मुक्ता—इन सबका दान कर लेता है, अर्थात् इन सभी दानोंका पुण्यफल पा लेता है। जो पृथ्वीदान करता है, वह शान्त अन्तःकरणवाला पुरुष पितृलोकमें स्थित पितरोंको और देवलोकमें निवास करनेवाले देवताओंको पूर्णरूपसे तृप्त कर देता है। शस्यशाली खर्वट, ग्राम और खेटक (छोटा गाँव), सौ निवर्तनसे अधिक या उसके आधे विस्तारमें बने हुए गृह आदि अथवा गोचर्म (दस निवर्तन) के मापकी भूमिका दान करके मनुष्य सब कुछ पा लेता है। जिस प्रकार तैल-बिन्दु जल या भूमिपर गिरकर फैल जाता है, उसी प्रकार सभी दानोंका फल एक जन्मतक रहता है। स्वर्ण, भूमि और गौरी कन्याके दानका फल सात जन्मोंतक स्थिर रहता है। कन्यादान करनेवाला अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका नरकसे उद्धार करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।* दक्षिणासहित हाथीका दान करनेवाला निष्पाप होकर स्वर्गलोकमें जाता है। अश्वका दान देकर मनुष्य दीर्घ आयु, आरोग्य, सौभाग्य और स्वर्गको प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठ ब्राह्मणको दासीदान करनेवाला अप्सराओंके लोकमें जाकर सुखोपभोग करता है। जो पाँच सौ पल ताँबेकी थाली या ढाई सौ पल, सवा सौ पल अथवा उसके भी आधे (६२½) पलोंकी बनी थाली देता है, वह भोग तथा मोक्षका भागी होता है॥ २९—३९½॥

बैलोंसे युक्त शकटदान करनेसे मनुष्य विमानद्वारा स्वर्गलोकको जाता है। वस्त्रदानसे आयु, आरोग्य और अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है। धान, गेहूँ, अगहनीका चावल और जौ आदिका दान करनेवाला स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। आसन, धातुनिर्मित पात्र, लवण, सुगन्धियुक्त चन्दन, धूप-दीप, ताम्बूल, लोहा, चाँदी, रत्न और विविध दिव्य पदार्थोंका दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष भी प्राप्त करता है। तिल और तिलपात्रका दान देकर मनुष्य स्वर्ग-सुखका भागी होता है। अन्नदानसे बढ़कर कोई दान न तो है, न था और न होगा ही। हाथी, अश्व, रथ, दास-दासी और गृहादिके दान—ये सब अन्नदानकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं हैं। जो पहले बड़ा-से-बड़ा पाप करके फिर अन्नदान कर देता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर अक्षय लोकोंको पा लेता है। जल और प्याऊका दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष—दोनोंको सिद्ध कर लेता है। (शीतकालमें) मार्ग आदिमें अग्नि और काष्ठका दान करनेसे मनुष्य तेजोयुक्त होता है और स्वर्गलोकमें देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओं-द्वारा विमानमें सेवित होता है॥ ४०—४७॥

घृत, तैल और लवणका दान देनेसे सब कुछ मिल जाता है। छत्र, पादुका और काष्ठ आदिका दान करके स्वर्गमें सुखपूर्वक निवास करता है। प्रतिपदा आदि पुण्यमयी तिथियोंमें, विष्कम्भ आदि योगोंमें, चैत्र आदि मासोंमें, संवत्सरारम्भमें और अश्विनी आदि नक्षत्रोंमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा लोकपाल आदिकी अर्चना करके दिया गया दान महान् फलप्रद है। वृक्ष, उद्यान, भोजन, वाहन आदि तथा पैरोंमें मालिशके लिये तेल आदि देकर मनुष्य भोग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है॥ ४८—५०॥

इस लोकमें गौ, पृथ्वी और विद्याका दान—ये तीनों समान फल देनेवाले हैं। वेद-विद्याका दान देकर मनुष्य पापरहित हो ब्रह्मलोकमें प्रवेश करता है। जो

---

* त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य कन्यादो ब्रह्मलोकभाक्॥ (२११। ३७)

(योग्य शिष्यको) ब्रह्मज्ञान प्रदान करता है, उसने तो मानो सप्तद्वीपवती पृथ्वीका दान कर दिया। जो समस्त प्राणियोंको अभयदान देता है, वह मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। पुराण, महाभारत अथवा रामायणका लेखन करके उस पुस्तकका दान करनेसे मनुष्य भोग और मोक्षकी प्राप्ति कर लेता है। जो वेद आदि शास्त्र और नृत्य-गीतका अध्यापन करता है, वह स्वर्गगामी होता है। जो उपाध्यायको वृत्ति और छात्रोंको भोजन आदि देता है, उस धर्म एवं कामादि पुरुषार्थोंके रहस्यदर्शी मनुष्यने क्या नहीं दे दिया* ॥ ५१—५५ ॥

सहस्र वाजपेय यज्ञोंमें विधिपूर्वक दान देनेसे जो फल होता है, विद्यादानसे मनुष्य वह सम्पूर्ण फल प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो शिवालय, विष्णुमन्दिर तथा सूर्यमन्दिरमें ग्रन्थवाचन करता है, वह सभी दानोंका फल प्राप्त करता है †। त्रैलोक्यमें जो ब्राह्मणादि चार वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चार आश्रम हैं, वे तथा ब्रह्मा आदि समस्त देवगण विद्यादानमें प्रतिष्ठित हैं। विद्या कामधेनु है और विद्या उत्तम नेत्र है। गान्धर्व आदि उपवेदोंका दान करनेसे मनुष्य गन्धर्वोंके साथ प्रमुदित होता है, वेदाङ्गोंके दानसे स्वर्गलोकको प्राप्त करता है और धर्मशास्त्रके दानसे धर्मके सांनिध्यको प्राप्त होकर दाता प्रमुदित होता है। सिद्धान्तोंके दानसे मनुष्य निस्संदेह मोक्ष प्राप्त करता है। पुस्तक-प्रदानसे विद्यादानके फलकी प्राप्ति होती है। इसलिये शास्त्रों और पुराणोंका दान करनेवाला सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जो शिष्योंको शिक्षादान करता है, वह पुण्डरीकयागका फल प्राप्त करता है ॥ ५६—६२ ॥

जीविका-दानके तो फलका अन्त ही नहीं है। जो अपने पितरोंको अक्षय लोकोंकी प्राप्ति कराना चाहें, उन्हें इस लोकके सर्वश्रेष्ठ एवं अपनेको प्रिय लगनेवाले समस्त पदार्थोंका पितरोंके उद्देश्यसे दान करना चाहिये। जो विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवी और गणेश आदि देवताओंकी पूजा करके पूजा-द्रव्यका ब्राह्मणको दान करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है। देवमन्दिर एवं देवप्रतिमाका निर्माण करानेवाला समस्त अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करता है। मन्दिरमें झाड़ू-बुहारी और प्रक्षालन करनेवाला पुरुष पापरहित हो जाता है। देवप्रतिमाके सम्मुख विविध मण्डलोंका निर्माण करनेवाला मण्डलाधिपति होता है। देवताको गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा, घण्टा, ध्वजा, चँदोवा और वस्त्र आदि समर्पित करनेसे एवं उनके दर्शन और उनके सम्मुख गाने-बजानेसे मनुष्य भोग और मोक्ष—दोनोंको प्राप्त करता है। भगवान्‌को कस्तूरी, सिंहलदेशीय चन्दन, अगुरु, कपूर तथा मुस्त आदि सुगन्धि-द्रव्य और विजयगुग्गुल समर्पित करे और संक्रान्ति आदिके दिन एक प्रस्थ घृतसे स्नान कराके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। 'स्नान' सौ पलका और पचीस पलका 'अभ्यङ्ग' मानना चाहिये। 'महास्नान' हजार पलका कहा गया है। भगवान्‌को जलस्नान करानेसे दस अपराध, दुग्धस्नान करानेसे सौ अपराध, दुग्ध एवं दधि दोनोंसे स्नान करानेसे सहस्र अपराध और घृतस्नान करानेसे दस हजार अपराध विनष्ट हो जाते हैं। देवताके उद्देश्यसे दास-दासी, अलंकार, गौ, भूमि, हाथी-घोड़े और सौभाग्य-द्रव्य देकर मनुष्य धन और दीर्घायुसे युक्त होकर स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ॥ ६३—७२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाना प्रकारके दानोंकी महिमाका वर्णन' नामक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

दो सौ बारहवाँ अध्याय

विविध काम्य-दान एवं मेरुदानोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं आपके सम्मुख काम्य-दानोंका वर्णन करता हूँ, जो समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। प्रत्येक मासमें प्रतिदिन पूजन करते हुए एक दिन विशेषरूपसे पूजन किया जाता है। इसे 'काम्य-पूजन' कहते हैं। वर्षके समाप्त होनेपर गुरुपूजन एवं महापूजनके साथ व्रतका विसर्जन किया जाता है ॥ १½ ॥

* वृत्तिं दद्यादुपाध्याये छात्राणां भोजनादिकम्। किमदत्तं भवेत्तेन धर्मकामादिदर्शिना ॥ (२११। ५५)

† शिवालये विष्णुगृहे सूर्यस्य भवने तथा। सर्वदानप्रदः स स्यात् पुस्तकं वाचयेत्तु यः ॥ (२११। ५७)

जो मार्गशीर्ष मासमें शिवका पूजन करके पिष्ट (आटा) निर्मित अश्व एवं कमलका दान करता है, वह चिरकालतक सूर्यलोकमें निवास करता है । पौष मासमें पिष्टमय हाथीका दान देकर मनुष्य अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है । माघमें पिष्टमय अश्वयुक्त रथका दान देनेवाला नरकमें नहीं जाता । फाल्गुनमें पिष्टनिर्मित बैलका दान देकर मनुष्य स्वर्गको प्राप्त होता है तथा दूसरे जन्ममें राज्य प्राप्त करता है । चैत्र मासमें दास-दासियोंसे युक्त एवं ईख (गुड)से भरा हुआ घर देकर मनुष्य चिरकालतक स्वर्गलोकमें निवास करता है और उसके बाद राजा होता है । वैशाखमें सप्तधान्यका दान देकर मनुष्य शिवके सायुज्यको प्राप्त कर लेता है । ज्येष्ठ तथा आषाढ़में अन्नकी बलि देनेवाला शिवस्वरूप हो जाता है । श्रावणमें पुष्परथका दान देकर मनुष्य स्वर्गके सुखोंका उपभोग करनेके पश्चात् दूसरे जन्ममें राज्यलाभ करता है और दो सौ फलोंका दान देनेवाला अपने सम्पूर्ण कुलका उद्धार करके राजपदको प्राप्त होता है । भाद्रपदमें धूपदान करनेवाला स्वर्गको प्राप्त होकर दूसरे जन्ममें राज्यका उपभोग करता है । आश्विनमें दुग्ध और घृतसे परिपूर्ण पात्रका दान स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है । कार्तिकमें गुड़, शक्कर और घृतका दान देकर मनुष्य स्वर्गलोकमें निवास करता है और दूसरे जन्ममें राजा होता है ॥ २—८½ ॥

अब मैं बारह प्रकारके मेरुदानोंके विषयमें कहूँगा, जो भोग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले हैं । कार्तिककी पूर्णिमाको मेरुव्रत करके ब्राह्मणको 'रत्नमेरु'का दान करना चाहिये । अब क्रमशः सब मेरुओंका प्रमाण सुनिये । हीरे, माणिक्य, नीलमणि, वैदूर्यमणि, स्फटिकमणि, पुखराज, मरकतमणि और मोती—इनका एक प्रस्थका मेरु उत्तम माना गया है । इससे आधे परिमाणका मेरु मध्यम और मध्यमसे आधा निकृष्ट होता है । रत्नमेरुका दान करनेवाला धनकी कंजूसीका परित्याग कर दे । द्वादशदल कमलका निर्माण करके उसकी कर्णिकापर मेरुकी स्थापना करे । इसके ब्रह्मा, विष्णु और शिव देवता हैं । मेरुसे पूर्व दिशामें तीन दल हैं, उनमें क्रमशः माल्यवान्, भद्राश्व तथा ऋक्ष पर्वतोंका पूजन करे । मेरुसे दक्षिणवाले दलोंमें निषध, हेमकूट और हिमवान्‌की पूजा करे । मेरुसे उत्तरवाले तीन दलोंमें क्रमशः नील, श्वेत और श्रृङ्गीका पूजन करे तथा पश्चिमवाले दलोंमें गन्धमादन, वैकङ्क एवं केतुमालकी पूजा करे । इस प्रकार बारह पर्वतोंसे युक्त मेरु पर्वतका पूजन करना चाहिये ॥९—१४½॥

उपवासपूर्वक रहकर स्नानके पश्चात् भगवान् विष्णु अथवा शिवका पूजन करे । भगवान्‌के सम्मुख मेरुका पूजन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उसका ब्राह्मणको दान कर दे ॥ १५½ ॥

दानका संकल्प करते समय देश-कालके उच्चारणके पश्चात् कहे—'मैं इस द्रव्यनिर्मित उत्तम मेरु पर्वतका, जिसके देवता भगवान् विष्णु हैं, अमुक गोत्रवाले ब्राह्मणको दान करता हूँ । इस दानसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय और मुझे उत्तम भोग एवं मोक्षकी प्राप्ति हो' ॥ १६½ ॥

इस प्रकार दान करनेवाला मनुष्य अपने समस्त कुलका उद्धार करके देवताओंद्वारा सम्मानित हो विमानपर बैठकर इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक तथा श्रीवैकुण्ठधाममें क्रीडा करता है । संक्रान्ति आदि अन्य पुण्यकालोंमें मेरुका दान करना-कराना चाहिये ॥ १७—१८ ॥

एक सहस्र पल सुवर्णके द्वारा महामेरुका निर्माण करावे । वह तीन शिखरोंसे युक्त होना चाहिये और उन शिखरोंपर ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी स्थापना करनी चाहिये । मेरुके साथवाला प्रत्येक पर्वत सौ-सौ पल सुवर्णका बनवाये । मेरुको लेकर उसके सहवर्ती पर्वत तेरह माने गये हैं । उत्तरायण अथवा दक्षिणायनकी संक्रान्तिमें या सूर्य-चन्द्रके ग्रहणकालमें विष्णुकी प्रतिमाके सम्मुख 'स्वर्णमेरु'की स्थापना करे । तदनन्तर श्रीहरि और स्वर्णमेरुकी पूजा कर उसे ब्राह्मणको समर्पित करे । ऐसा करनेसे मनुष्य चिरकालतक विष्णुलोकमें निवास करता है । जो बारह पर्वतोंसे युक्त 'रजतमेरु'का संकल्पपूर्वक दान करता है, वह उतने वर्षोंतक राज्यका उपभोग करता है, जितने कि इस पृथ्वीपर परमाणु हैं । इसके सिवा वह पूर्वोक्त फलको भी प्राप्त कर लेता है । 'भूमिमेरु'का दान विष्णु एवं ब्राह्मणकी पूजा करके करना चाहिये । एक नगर, जनपद अथवा ग्रामके आठवें अंशसे 'भूमिमेरु'की कल्पना करके अवशिष्ट अंशसे शेष बारह अंशोंकी कल्पना करनी चाहिये । भूमिमेरुके दानका भी फल पूर्ववत् होता है ॥ १९—२३½ ॥

बारह पर्वतोंसे युक्त मेरुका हाथियोंद्वारा निर्माण करके तीन पुरुषोंसहित उस 'हस्तिमेरु'का दान करे । वह दान देकर मनुष्य अक्षय फलका भागी होता है ॥ २४½ ॥

पंद्रह अश्वोंका 'अश्वमेरु' होता है । इसके साथ बारह पर्वतोंके स्थान बारह घोड़े होने चाहिये । श्रीविष्णु आदि

देवताओंके पूजनपूर्वक अश्वमेरुका दान करनेवाला इस जन्ममें विविध भोगोंका उपभोग करके दूसरे जन्ममें राजा होता है । 'गोमेरु'का भी अश्वमेरुकी संख्याके परिमाण एवं विधिसे दान करना चाहिये । एक भार रेशमी वस्त्रोंका 'वस्त्रमेरु' होता है । उसे मध्यमें रखकर अन्य बारह पर्वतोंके स्थानपर बारह वस्त्र रक्खे । इसका दान करके मनुष्य अक्षय फलकी प्राप्ति करता है । पाँच हजार पल घृतका 'आज्य-पर्वत' माना गया है । इसका सहवर्ती प्रत्येक पर्वत पाँच सौ पल घृतका होना चाहिये । इस आज्य-पर्वतपर श्रीहरिका यजन करे । फिर श्रीविष्णुके सम्मुख इसे ब्राह्मणको दानकर मनुष्य इस लोकमें सर्वस्व पाकर श्रीहरिके परमधाम-को प्राप्त होता है । उसी प्रकार 'खण्ड (खाँड) मेरु'का निर्माण एवं दान करके मनुष्य पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति कर लेता है ॥ २५—२९ ॥

पाँच खारी धान्यका 'धान्यमेरु' होता है । इसके साथ अन्य बारह पर्वत एक-एक खारी धान्यके बनाने चाहिये । उन सबके तीन-तीन स्वर्णमय शिखर होने चाहिये । सबपर ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनोंका पूजन करना चाहिये । श्रीविष्णुका विशेषरूपसे पूजन करना चाहिये । इससे अक्षय फलकी प्राप्ति होती है ॥ ३०½ ॥

इसी प्रमाणके अनुसार 'तिलमेरु'का निर्माण करके दशांशके प्रमाणसे अन्य पर्वतोंका निर्माण करे । उसके एवं अन्य पर्वतोंके भी पूर्वोक्त प्रकारसे शिखर बनाने चाहिये । इस तिलमेरुका दान करके मनुष्य बन्धु-बान्धवोंके साथ विष्णुलोकको प्राप्त होता है ॥ ३१—३२ ॥

(तिलमेरुका दान करते समय निम्नलिखित मन्त्रको पढ़े—) "विष्णुस्वरूप तिलमेरुको नमस्कार है । ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिसके शिखर हैं, जो पृथ्वीकी नाभिपर स्थित है, जो सहवर्ती बारहों पर्वतोंका प्रभु, समस्त पापोंका अपहरण करनेवाला, शान्तिमय, विष्णुभक्त है, उस तिलमेरुको नमस्कार है । वह मेरी सर्वथा रक्षा करे । मैं निष्पाप होकर पितरोंके साथ श्रीविष्णुको प्राप्त होता हूँ । 'ॐ नमः' तुम विष्णुस्वरूप हो, विष्णुके सम्मुख मैं विष्णुस्वरूप दाता विष्णुस्वरूप ब्राह्मण-का भक्तिपूर्वक भोग एवं मोक्षकी प्राप्तिके हेतु तुम्हारा दान करता हूँ" ॥ ३३—३५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मेरुदानका वर्णन' नामक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

दो सौ तेरहवाँ अध्याय

पृथ्वीदान तथा गोदानकी महिमा

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं 'पृथ्वीदान' के विषयमें कहता हूँ । 'पृथ्वी' तीन प्रकारकी मानी गयी है । सौ करोड़ योजन विस्तारवाली सप्तद्वीपवती समुद्रोंसहित जम्बूद्वीपपर्यन्त पृथ्वी उत्तम मानी गयी है । उत्तम पृथ्वीकी पाँच भार सुवर्णसे रचना करे । उसके आधेमें कूर्म एवं कमल बनवाये । यह 'उत्तम पृथ्वी' बतलायी गयी है । इसके आधेमें 'मध्यम पृथ्वी' मानी जाती है । इसके तीसरे भागमें निर्मित पृथ्वी 'कनिष्ठ' मानी गयी है । इसके साथ पृथ्वीके तीसरे भागमें कूर्म और कमलका निर्माण करना चाहिये ॥ १—३½ ॥

एक हजार पल सुवर्णसे मूल, दण्ड, पत्ते, फल, पुष्प और पाँच स्कन्धोंसे युक्त कल्पवृक्षकी कल्पना करे । विद्वान् ब्राह्मण यजमानके द्वारा संकल्प कराके पाँच ब्राह्मणोंको इसका दान करावे । इसका दान करनेवाला ब्रह्मलोकमें पितृगणोंके साथ चिरकालतक आनन्दका उपभोग करता है । पाँच सौ पल सुवर्णसे कामधेनुका निर्माण कराके विष्णुके सम्मुख दान करे । ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि समस्त देवता गौमें प्रतिष्ठित हैं । धेनुदान करनेसे अपने-आप समस्त दान हो जाते हैं । यह सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको सिद्ध करनेवाला एवं ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला है । श्रीविष्णुके सम्मुख कपिला गौका दान करनेवाला अपने सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर देता है । कन्याको अलंकृत करके दान करनेसे अश्वमेध-यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है । जिसमें सभी प्रकारके सस्य (अनाजोंके पौधे) उपज सकें, ऐसी भूमिका दान देकर मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है । ग्राम, नगर अथवा खेटक (छोटे गाँव) का दान देनेवाला सुखी होता है । कार्तिककी पूर्णिमा आदिमें वृषोत्सर्ग करनेवाला अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ४—१० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पृथ्वीदानका वर्णन' नामक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

दो सौ चौदहवाँ अध्याय

नाड़ीचक्रका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं नाड़ीचक्रके विषयमें कहता हूँ, जिसके जाननेसे श्रीहरिका ज्ञान हो जाता है । नाभिके अधोभागमें कन्द (मूलाधार) है, उससे अङ्कुरोंकी भाँति नाड़ियाँ निकली हुई हैं । नाभिके मध्यमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ स्थित हैं । इन नाड़ियोंने शरीरको ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब ओरसे व्याप्त कर रक्खा है और ये चक्राकार होकर स्थित हैं । इनमें प्रधान दस नाड़ियाँ हैं—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पृथा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और दसवीं शङ्खिनी । ये दस प्राणोंका वहन करनेवाली प्रमुख नाड़ियाँ बतलायी गयीं । प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दस 'प्राणवायु' हैं । इनमें प्रथम वायु प्राण दसोंका स्वामी है । यह प्राण—रिक्तताकी पूर्ति प्रति प्राणोंको प्राणयन (प्रेरण) करता है और सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित रहकर अपान-वायुद्वारा मल-मूत्रादिके त्यागसे होनेवाली रिक्तताको नित्य पूर्ण करता है । जीवमें आश्रित यह प्राण श्वासोच्छ्वास और कास आदिद्वारा प्रयाण (गमनागमन) करता है, इसलिये इसे 'प्राण' कहा गया है । अपानवायु मनुष्योंके आहारको नीचेकी ओर ले जाता है और मूत्र एवं शुक्र आदिका भी नीचेकी ओर वहन करता है, इस अपानयनके कारण इसे 'अपान' कहा जाता है । समानवायु मनुष्योंके खाये-पीये और सूँघे हुए पदार्थोंको एवं रक्त, पित्त, कफ तथा वातको सारे अङ्गोंमें समानभावसे ले जाता है, इस कारण उसे 'समान' कहा गया है । उदान-नामक वायु मुख और अधरोंको स्पन्दित करता है, नेत्रोंकी अरुणिमाको बढ़ाता है और मर्मस्थानोंको उद्विग्न करता है, इसीलिये उसका नाम 'उदान' है । 'व्यान' अङ्गोंको पीड़ित करता है । यही व्याधिको कुपित करता है और कण्ठको अवरुद्ध कर देता है । व्यापनशील होनेसे इसे 'व्यान' कहा गया है । 'नागवायु' उद्गार (डकार-वमन आदि)में और 'कूर्मवायु' नयनोंके उन्मीलन (खोलने)में प्रवृत्त होता है । 'कृकर' भक्षणमें और 'देवदत्त' वायु जँभाईमें अधिष्ठित है । 'धनंजय' पवनका स्थान घोष है । वह मृत शरीरका भी परित्याग नहीं करता । इन दसोंद्वारा जीव प्रयाण करता है, इसलिये प्राणभेदसे नाड़ीचक्रके भी दस भेद हैं ॥ १—१४ ॥

संक्रान्ति, विषुव, दिन, रात, अयन, अधिमास, ऋण, ऊनरात्र एवं धन—ये सूर्यकी गतिसे होनेवाली दस दशाएँ शरीरमें भी होती हैं । इस शरीरमें हिक्का (हिचकी) ऊनरात्र, विजृम्भिका (जँभाई) अधिमास, कास (खाँसी) ऋण और निःश्वास 'धन' कहा जाता है । शरीरगत वामनाड़ी 'उत्तरायण' और दक्षिणनाड़ी 'दक्षिणायन' है । दोनोंके मध्यमें नासिकाके दोनों छिद्रोंसे निर्गत होनेवाली श्वासवायु 'विषुव' कहलाती है । इस विषुववायुका ही अपने स्थानसे चलकर दूसरे स्थानसे युक्त होना 'संक्रान्ति' है । द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ ! शरीरके मध्यभागमें 'सुषुम्णा' स्थित है, वामभागमें 'इड़ा' और दक्षिणभागमें 'पिङ्गला' है । ऊर्ध्वगतिवाला प्राण 'दिन' माना गया है और अधोगामी अपानको 'रात्रि' कहा गया है । एक प्राणवायु ही दस वायुके रूपमें विभाजित है । देहके भीतर जो प्राणवायुका आयाम (बढ़ना) है, उसे 'चन्द्रग्रहण' कहते हैं । वही जब देहसे ऊपरतक बढ़ जाता है, तब उसे 'सूर्यग्रहण' मानते हैं ॥ १५—२० ॥

साधक अपने उदरमें जितनी वायु भरी जा सके, भर ले । वह देहको पूर्ण करनेवाला 'पूरक' प्राणायाम है । श्वास निकलनेके सभी द्वारोंको रोककर, श्वासोच्छ्वासकी क्रियासे शून्य हो परिपूर्ण कुम्भकी भाँति स्थित हो जाय—इसे 'कुम्भक' प्राणायाम कहा जाता है । तदनन्तर मन्त्रवेत्ता साधक ऊपरकी ओर एक ही नासारन्ध्रसे वायुको निकाले । इस प्रकार उच्छ्वास-योगसे युक्त हो वायुका ऊपरकी ओर विरेचन (निःसारण) करे (यह 'रेचक' प्राणायाम है) । यह श्वासोच्छ्वासकी क्रियाद्वारा अपने शरीरमें विराजमान शिवस्वरूप ब्रह्मका ही ('सोऽहं' 'हंसः'के रूपमें) उच्चारण होता है, अतः तत्त्ववेत्ताओंके मतमें वही 'जप' कहा गया है । इस प्रकार एक तत्त्ववेत्ता योगीन्द्र श्वास-प्रश्वासद्वारा दिन-रातमें इक्कीस हजार छः सौकी संख्यामें मन्त्र-जप करता है । यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाली 'अजपा' नामक गायत्री है । जो इस अजपाका जप करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । चन्द्रमा, अग्नि तथा सूर्यसे युक्त मूलाधार-निवासिनी आद्या कुण्डलिनी-शक्ति हृदयप्रदेशमें अङ्कुरके आकारमें स्थित है । सात्त्विक पुरुषोंमें उत्तम वह योगी सृष्टिक्रमका अवलम्बन करके सृष्टिन्यास करे

तथा ब्रह्मरन्ध्रवर्ती शिवसे कुण्डलिनीके मुखभागमें झरते हुए अमृतका चिन्तन करे। शिवके दो रूप हैं—सकल और निष्कल। सगुण साकार देहमें विराजित शिवको 'सकल' जानना चाहिये और जो देहसे रहित हैं, वे 'निष्कल' कहे गये हैं। वे 'हंस-हंस'का जप करते हैं। 'हंस' नाम है—'सदाशिव'का। जैसे तिलोंमें तेल और पुष्पोंमें गन्धकी स्थिति है, उसी प्रकार अन्तर्यामी पुरुष (जीवात्मा)में बाहर और भीतर भी सदाशिवका निवास है। ब्रह्माका स्थान हृदयमें है, भगवान् विष्णु कण्ठमें अधिष्ठित हैं, तालुके मध्यभागमें रुद्र, ललाटमें महेश्वर और प्राणोंके अग्रभागमें सदाशिवका स्थान है। उनके अन्तमें परात्पर ब्रह्म विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव—इन पाँच रूपोंमें 'सकल' (साकार या सगुण) परमात्माका वर्णन किया गया है। इसके विपरीत परमात्मा, जो निर्गुण निराकाररूप है, उसे 'निष्कल' कहा गया है॥ २१—२२॥

जो योगी अनाहत नादको प्रासादतक उठाकर अनवरत जप करता है, वह छः महीनोंमें ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। गमनागमनके ज्ञानसे समस्त पापोंका क्षय होता है और योगी अणिमा आदि सिद्धियों, गुणों और ऐश्वर्यको छः महीनोंमें ही प्राप्त कर लेता है। मैंने स्थूल, सूक्ष्म और परके भेदसे तीन प्रकारके प्रासादका वर्णन किया है। प्रासादको ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीन रूपोंमें लक्षित करे। 'ह्रस्व' पापोंको दग्ध कर देता है, 'दीर्घ' मोक्षप्रद होता है और 'प्लुत' आप्यायन(तृप्तिप्रदान)करनेमें समर्थ है। वह मस्तकपर बिन्दु (अनुस्वार)से विभूषित होता है। ह्रस्व-प्रासाद-मन्त्रके आदि और अन्तमें 'फट्' लगाकर जप किया जाय तो वह मारण कर्ममें हितकारक होता है। यदि उसके आदि-अन्तमें 'नमः' पद जोड़कर जपा जाय तो वह आकर्षण-साधक बताया गया है। महादेवजीके दक्षिणामूर्तिरूप-सम्बन्धी मन्त्रका खड़े होकर यदि पाँच लाख जप किया जाय तथा जपके अन्तमें घीका दस हजार होम कर दिया जाय तो वह मन्त्र आप्यायित (सिद्ध) हो जाता है। फिर उससे वशीकरण, उच्चाटन आदि कार्य कर सकते हैं॥ २३—२८½॥

जो ऊपर शून्य, नीचे शून्य और मध्यमें भी शून्य है, उस निःशून्य निरामय मन्त्रको जो जानता है, वह द्विज निश्चय ही मुक्त हो जाता है। पाँच मन्त्रोंके मेलसे महाकलेवरधारी अड़तीस कलाओंसे युक्त प्रासादमन्त्रको जो नहीं जानता है, वह आचार्य नहीं कहलाता है। जो ओंकार, गायत्री तथा रुद्रादि मन्त्रोंको जानता है, वही गुरु है॥ २९—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाडीचक्रकथन' नामक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१४॥

दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय

संध्या-विधि

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! जो पुरुष ॐकारको जानता है, वह योगी और विष्णुस्वरूप है। इसलिये सम्पूर्ण मन्त्रोंके सारस्वरूप और सब कुछ देनेवाले ॐकारका अभ्यास करना चाहिये। समस्त मन्त्रोंके प्रयोगमें ॐकारका सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है। जो कर्म उससे युक्त है, वही पूर्ण है। उससे विहीन कर्म पूर्ण नहीं है। आदिमें ॐकारसे युक्त ('भूः भुवः स्वः'—ये) तीन शाश्वत महाव्याहृतियों एवं ('तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्' इस) तीन पदोंसे युक्त गायत्रीको ब्रह्माका (वेद अथवा ब्रह्माका) मुख जानना चाहिये। जो मनुष्य नित्य तीन वर्षोंतक आलस्यरहित होकर गायत्रीका जप करता है, वह वायुभूत और आकाशस्वरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है। एकाक्षर ॐकार ही परब्रह्म है और प्राणायाम ही परम तप है। गायत्री-मन्त्रसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मौन रहनेसे सत्यभाषण करना ही श्रेष्ठ है*॥ १—५॥

गायत्रीकी सात आवृत्ति पापोंका हरण करनेवाली है, दस आवृत्तियोंसे वह जपकर्ताको स्वर्गकी प्राप्ति कराती है और बीस आवृत्ति करनेपर तो स्वयं सावित्री देवी जप करनेवालेको ईश्वरलोकमें ले जाती है। साधक गायत्रीका एक सौ आठ बार जप करके संसार-सागरसे तर जाता है। रुद्र-मन्त्रोंके जप तथा कूष्माण्ड-मन्त्रोंके जपसे गायत्री-मन्त्रका जप श्रेष्ठ है। गायत्रीसे श्रेष्ठ कोई भी जप करनेयोग्य मन्त्र नहीं है तथा

* एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते॥
(२१५। ५)

व्याहृति-होमके समान कोई होम नहीं है। गायत्रीके एक चरण, आधा चरण, सम्पूर्ण ऋचा अथवा आधी ऋचाका भी जप करनेमात्रसे गायत्री देवी साधकको ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णकी चोरी एवं गुरुपत्नीगमन आदि महापातकोंसे मुक्त कर देती है ॥ ६–९ ॥

कोई भी पाप करनेपर उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तिलोंका हवन और गायत्रीका जप बताया गया है। उपवासपूर्वक एक सहस्र गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाला अपने पापोंको नष्ट कर देता है। गो-वध, पितृवध, मातृवध, ब्रह्महत्या अथवा गुरुपत्नीगमन करनेवाला, ब्राह्मणकी जीविकाका अपहरण करनेवाला, सुवर्णकी चोरी करनेवाला और सुरापान करनेवाला महापातकी भी गायत्रीका एक लाख जप करनेसे शुद्ध हो जाता है। अथवा स्नान करके जलके भीतर गायत्रीका सौ बार जप करे। तदनन्तर गायत्रीसे अभिमन्त्रित जलके सौ आचमन करे। इससे भी मनुष्य पापरहित हो जाता है। गायत्रीका सौ बार जप करनेपर वह समस्त पापोंका उपशमन करनेवाली मानी गयी है और एक सहस्र जप करनेपर उपपातकोंका भी नाश करती है। एक करोड़ जप करनेपर गायत्री देवी अभीष्ट फल प्रदान करती है। जपकर्ता देवत्व और देवराजत्वको भी प्राप्त कर लेता है ॥ १०–१३½ ॥

आदिमें ॐकार, तदनन्तर 'भूर्भुवः स्वः' का उच्चारण करना चाहिये। उसके बाद गायत्री-मन्त्रका एवं अन्तमें पुनः ॐकारका प्रयोग करना चाहिये। जपमें मन्त्रका यही स्वरूप बताया गया है।* गायत्री-मन्त्रके विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द और सविता देवता हैं। उपनयन, जप एवं होममें इनका विनियोग करना चाहिये †। गायत्री-मन्त्रके चौबीस अक्षरोंके अधिष्ठातृदेवता क्रमशः ये हैं—अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, यम, जलपति, गुरु, पर्जन्य, इन्द्र, गन्धर्व, पूषा, मित्र, वरुण, त्वष्टा, वसुगण, मरुद्गण, चन्द्रमा, अङ्गिरा, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, प्रजापतिसहित समस्त देवगण, रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु। गायत्री-जपके समय उपर्युक्त देवताओंका उच्चारण किया जाय तो वे जपकर्ताके पापोंका विनाश करते हैं ॥ १४–१८½ ॥

गायत्री-मन्त्रके एक-एक अक्षरका अपने निम्नलिखित अङ्गोंमें क्रमशः न्यास करे। पैरोंके दोनों अङ्गुष्ठ, गुल्फद्वय, नलक (दोनों पिण्डलियाँ), घुटने, दोनों जाँघें, उपस्थ, वृषण, कटिभाग, नाभि, उदर, स्तनमण्डल, हृदय, ग्रीवा, मुख (अधरोष्ठ), तालु, नासिका, नेत्रद्वय, भ्रूमध्य, ललाट, पूर्व आनन (उत्तरोष्ठ), दक्षिण पार्श्व, उत्तर पार्श्व, सिर और सम्पूर्ण मुखमण्डल। गायत्रीके चौबीस अक्षरोंके वर्ण क्रमशः इस प्रकार हैं—पीत, श्याम, कपिल, मरकतमणिसदृश, अग्नितुल्य, रुक्मसदृश, विद्युत्प्रभ, धूम्र, कृष्ण, रक्त, गौर, इन्द्रनीलमणिसदृश, स्फटिकमणितुल्य, स्वर्णिम, पाण्डु, पुखराजतुल्य, अखिलद्युति, हेमाभधूम्र, रक्तनील, रक्तकृष्ण, सुवर्णाभ, शुक्ल, कृष्ण और पलाशवर्ण। गायत्री ध्यान करनेपर पापोंका अपहरण करती और हवन करनेपर सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको प्रदान करती है। गायत्री-मन्त्रसे तिलोंका होम सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला है। शान्तिकी इच्छा रखनेवाला जौका और दीर्घायु चाहनेवाला घृतका हवन करे। कर्मकी सिद्धिके लिये सरसोंका, ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये दुग्धका, पुत्रकी कामना करनेवाला दधिका और अधिक धान्य चाहनेवाला अगहनीके चावलका हवन करे। ग्रहपीड़ाकी शान्तिके लिये खैर वृक्षकी समिधाओंका, धनकी कामना करनेवाला बिल्वपत्रोंका, लक्ष्मी चाहनेवाला कमल-पुष्पोंका, आरोग्यका इच्छुक और महान् उत्पातसे आतङ्कित मनुष्य दूर्वाका, सौभाग्याभिलाषी गुग्गुलका और विद्याकामी खीरका हवन करे। दस हजार आहुतियोंसे उपर्युक्त कामनाओंकी सिद्धि होती है और एक लाख आहुतियोंसे साधक मनोऽभिलषित वस्तुको प्राप्त करता है। एक करोड़ आहुतियोंसे होता ब्रह्महत्याके महापातकसे मुक्त हो अपने कुलका उद्धार करके श्रीहरिस्वरूप हो जाता है। ग्रह-यज्ञ-प्रधान होम हो, अर्थात् ग्रहोंकी शान्तिके लिये हवन किया जा रहा हो तो उसमें भी गायत्री-मन्त्रसे दस हजार आहुतियाँ देनेपर अभीष्ट फलकी सिद्धि होती है ॥ १९–३० ॥

संध्या-विधि

गायत्रीका आवाहन करके ॐकारका उच्चारण करना चाहिये। गायत्री मन्त्रसहित ॐकारका उच्चारण करके शिखा

---

* ॐकारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्तथैव च ॥
गायत्री प्रणवश्चान्ते जपे चैव मुदाहृतम् । (२१५ । १४-१५)

—इसके अनुसार जपनीय मन्त्रका पाठ यों होगा—'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ।'

† गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्री छन्दः सविता देवताग्नि-र्मुखमुपनयने जपे होमे वा विनियोगः ।

बाँधे । फिर आचमन करके हृदय, नाभि और दोनों कंधोंका स्पर्श करे । प्रणवके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, अग्नि अथवा परमात्मा देवता हैं । इसका सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भमें प्रयोग होता है[1] । निम्नलिखित मन्त्रसे गायत्री देवीका ध्यान करे—

शुक्ला चाग्निमुखी दिव्या कात्यायनसगोत्रजा ।
त्रैलोक्यवरणा दिव्या पृथिव्याधारसंयुता ॥
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा ॥

तदनन्तर निम्नाङ्कित मन्त्रसे गायत्री देवीका आवाहन करे—

'ॐ तेजोऽसि महोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामाऽसि । विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुः ओम् अभि भूः ।

आगच्छ वरदे देवि जपे मे संनिधौ भव ।
गायन्तं त्रायसे यस्माद् गायत्री त्वं ततः स्मृता ॥

समस्त व्याहृतियोंके ऋषि प्रजापति ही हैं; वे सब— व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपोंसे परब्रह्मस्वरूप एकाक्षर ॐ-कारमें स्थित हैं ।

सप्तव्याहृतियोंके क्रमशः ये ऋषि हैं—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ तथा कश्यप । उनके देवता क्रमशः ये हैं—अग्नि, वायु, सूर्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्वदेव । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये क्रमशः सात व्याहृतियोंके छन्द हैं । इन व्याहृतियोंका प्राणायाम और होममें विनियोग होता है[2] ।

ॐ आपो हि ष्ठा मयो भुवः, ॐ ता न ऊर्जे दधातन, ॐ महेरणाय चक्षसे, ॐ यो वः शिवतमो रसः, ॐ तस्य भाजयतेह नः, ॐ उशतीरिव मातरः, ॐ तस्मा अरं गमाम वः, ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ, ॐ आपो जनयथा च नः ।

इन तीन ऋचाओंका तथा 'ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ।' इस मन्त्रका 'हिरण्यवर्णाः शुचयः' इत्यादि पावमानी ऋचाओंका उच्चारण करके (पवित्रों अथवा दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंद्वारा) जलके आठ छींटे ऊपर उछाले । इससे जीवनभरके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २१—४१ ॥

जलके भीतर 'ऋतं च०'—इस अघमर्षण-मन्त्रका तीन बार जप करे[3] ।

'आपो हि ष्ठा' आदि तीन ऋचाओंके सिन्धुद्वीप ऋषि, गायत्री छन्द और जल देवता माने गये हैं । ब्राह्मस्नानके लिये मार्जनमें इसका विनियोग किया जाता है[4] ।

(अघमर्षण-मन्त्रका विनियोग इस प्रकार करना चाहिये—) इस अघमर्षण-सूक्तके अघमर्षण ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और भाववृत्त देवता हैं । पापनिःसारणके कर्ममें इसका प्रयोग किया जाता है[5] ।

'ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।' यह गायत्री-मन्त्रका शिरोभाग है । इसके प्रजापति ऋषि हैं । यह छन्दरहित यजुर्मन्त्र है; क्योंकि यजुर्वेदके मन्त्र किसी नियत अक्षरवाले छन्दमें आबद्ध नहीं हैं । शिरोमन्त्रके ब्रह्मा, अग्नि, वायु और सूर्य देवता माने गये हैं[6] । प्राणायामसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जलकी उत्पत्ति होती है तथा उसी जलसे शुद्धि होती है । इसलिये जलका आचमन निम्नलिखित मन्त्रसे करे—

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । तपो यज्ञो वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्[7] ॥

१. ॐकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो वर्णः सर्वकर्मारम्भे विनियोगः ।

२. सप्तव्याहृतीनां विश्वामित्रजमदग्निभरद्वाजगौतमात्रिवसिष्ठकश्यपा ऋषयो गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांस्यग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवता अनादिष्टप्रायश्चित्ते प्राणायामे विनियोगः ।

३. ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत । ततः समुद्रो अर्णवः । समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

४. आपो हिष्ठेत्यादि तृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः, गायत्री छन्दः, आपो देवता ब्राह्मस्नानाय मार्जने विनियोगः ।

५. अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षण ऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाववृत्तो देवता अघमर्षणे विनियोगः ।

६. शिरसः प्रजापतिर्ऋषिरत्रिपदा गायत्री छन्दो ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवता यजुःप्राणायामे विनियोगः ।

७. इसका पाठ आजकलकी संध्याप्रतियोंमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ॥

'उदुत्यं जातवेदसं०'—इस मन्त्रके प्रस्कण्व ऋषि कहे गये हैं। इसका गायत्री छन्द और सूर्य देवता हैं। इसका अतिरात्र और अग्निष्टोम-यागमें विनियोग होता है (परंतु संध्योपासनामें इसका सूर्योपस्थान-कर्ममें विनियोग किया जाता है[8]।) 'चित्रं देवानां०'—इस ऋचाके कौत्स ऋषि कहे गये हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् और देवता सूर्य माने गये हैं। यहाँ इसका भी विनियोग सूर्योपस्थानमें ही है[9] ॥ ४२—५० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'संध्याविधिका वर्णन' नामक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

दो सौ सोलहवाँ अध्याय

गायत्री-मन्त्रके तात्पर्यार्थका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! इस प्रकार संध्याका विधान करके गायत्रीका जप और स्मरण करे। यह अपना गान करनेवाले साधकोंके शरीर और प्राणोंका त्राण करती है, इसलिये इसे 'गायत्री' कहा गया है। सविता (सूर्य) से इसका प्रकाशन—प्राकट्य हुआ है, इसलिये यह 'सावित्री' कहलाती है। वाक्स्वरूपा होनेसे 'सरस्वती' नामसे भी प्रसिद्ध है ॥ १-२ ॥

'तत्' पदसे ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अभिहित है। 'भर्गः' पद तेजका वाचक है; क्योंकि 'भा' धातु दीप्त्यर्थक है और उसीसे 'भर्ग' शब्द सिद्ध है। 'भातीति भर्गः'—इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति है। अथवा 'भ्रस्ज पाके'—इस धातुसूत्रके अनुसार पाकार्थक 'भ्रस्ज' धातुसे भी 'भर्ग' शब्द निष्पन्न होता है; क्योंकि सूर्यदेवका तेज ओषधि आदिको पकाता है। 'भ्राज्' धातु भी दीप्त्यर्थक होता है। 'भ्राजते इति भर्गः'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'भ्राज' धातुसे भी 'भर्ग' शब्द बनता है। 'बहुलं छन्दसि'—इस वैदिक व्याकरणसूत्रके अनुसार उक्त सभी धातुओंसे आवश्यक प्रत्यय, आगम एवं विकारकी ऊहा करनेसे 'भर्ग' शब्द बन सकता है। 'वरेण्य'का अर्थ है—'सम्पूर्ण तेजोंसे श्रेष्ठ परमपदस्वरूप'। अथवा स्वर्ग एवं मोक्षकी कामना करनेवालेके द्वारा सदा ही वरणीय होनेके कारण भी वह 'वरेण्य' कहलाता है; क्योंकि 'वृञ्' धातु वरणार्थक है। 'धीमहि' पदका यह अभिप्राय है कि 'हम जाग्रत् और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंसे अतीत नित्य शुद्ध, बुद्ध, एकमात्र सत्य एवं ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरका मुक्तिके लिये ध्यान करते हैं' ॥ ३—६½ ॥

जगत्की सृष्टि आदिके कारण भगवान् श्रीविष्णु ही वह ज्योति हैं। कुछ लोग शिवको वह ज्योति मानते हैं, कुछ लोग शक्तिको मानते हैं और कोई सूर्यको तथा कुछ अग्निहोत्री वेदज्ञ अग्निको वह ज्योति मानते हैं। वस्तुतः अग्नि आदि रूपोंमें स्थित विष्णु ही वेद-वेदाङ्गोंमें 'ब्रह्म' माने गये हैं। इसलिये 'देवस्य सवितुः'—अर्थात् जगत्के उत्पादक श्रीविष्णुदेवका ही वह परमपद माना गया है; क्योंकि वे स्वयं ज्योतिःस्वरूप भगवान् श्रीहरि महत्तत्त्व आदिका प्रसव (उत्पत्ति) करते हैं। वे ही पर्जन्य, वायु, आदित्य एवं शीत-ग्रीष्म आदि ऋतुओंद्वारा अन्नका पोषण करते हैं। अग्निमें विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाओंकी उत्पत्ति होती है। 'धीमहि'पद धारणार्थक 'डुधाञ्' धातुसे भी सिद्ध होता है। इसलिये हम उस तेजका मनसे धारण-चिन्तन करते हैं—यह भी अर्थ होगा। (यः) परमात्मा श्रीविष्णुका वह तेज (नः) हम सब प्राणियोंकी (धियः) बुद्धि-वृत्तियोंको (प्रचोदयात्) प्रेरित करे। वे ईश्वर ही कर्मफलका भोग करनेवाले समस्त प्राणियोंके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणामोंसे युक्त समस्त कर्मोंमें विष्णु, सूर्य और अग्निरूपसे स्थित हैं। यह प्राणी ईश्वरकी प्रेरणासे ही शुभाशुभ कर्मानुसार स्वर्ग अथवा नरकको प्राप्त होता है। श्रीहरि द्वारा महत्तत्त्व आदि रूपसे निर्मित यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरका आवासस्थान है। वे सर्वसमर्थ हंसस्वरूप परम पुरुष स्वर्गादि लोकोंसे क्रीड़ा करते हैं, इसलिये वे 'देव'[10] कहलाते हैं। आदित्यमें जो 'भर्ग' नामसे प्रसिद्ध दिव्य तेज है, वह उन्हींका स्वरूप है। मोक्ष चाहनेवाले

८. उदुत्यमिति प्रस्कण्व ऋषिर्गायत्री छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

९. चित्रमित्यस्य कौत्स ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

१०. 'देव' शब्द क्रीडार्थक 'दिवु' धातुसे बनता है।

पुरुषोंको जन्म-मरणके कष्टसे और दैहिक, दैविक तथा भौतिक त्रिविध दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये ध्यानस्थ होकर इन परमपुरुषका सूर्यमण्डलमें दर्शन करना चाहिये । वे ही 'तत्त्वमसि' आदि औपनिषद महावाक्योंद्वारा प्रतिपादित सच्चित्स्वरूप परब्रह्म हैं। सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले सविता देवताका जो सबके लिये वरणीय भर्ग है, वह विष्णुका परमपद है और वही गायत्रीका ब्रह्मरूप 'चतुर्थ पाद' है । 'धीमहि' पदसे यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये कि देहादिकी जाग्रत्-अवस्थामें सामान्य जीवसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त मैं ही ब्रह्म हूँ और आदित्यमण्डलमें जो पुरुष है, वह भी मैं ही हूँ—मैं अनन्त सर्वतः परिपूर्ण ओम् (सच्चिदानन्द) हूँ । 'प्रचोदयात्' पदके कर्तारूपसे उन परमेश्वरको ग्रहण करना चाहिये, जो सदा यज्ञ आदि शुभ कर्मोंके प्रवर्तक हैं ॥ ७—१८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गायत्री-मन्त्रके तात्पर्यका वर्णन' नामक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

दो सौ सत्रहवाँ अध्याय

गायत्रीसे निर्वाणकी प्राप्ति

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! किसी अन्य वसिष्ठने गायत्री-जपपूर्वक लिङ्गमूर्ति शिवकी स्तुति करके भगवान् शंकरसे निर्वाणस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्ति की ॥ १ ॥

(वसिष्ठने कहा—) कनकलिङ्गको नमस्कार, वेदलिङ्गको नमस्कार, परमलिङ्गको नमस्कार और आकाशलिङ्गको नमस्कार है। मैं सहस्रलिङ्ग, वह्निलिङ्ग, पुराणलिङ्ग और वेदलिङ्ग शिवको बारंबार नमस्कार करता हूँ। पातालिङ्ग, ब्रह्मलिङ्ग, सप्तद्वीपोर्ध्व-लिङ्गको बारंबार नमस्कार है। मैं सर्वात्मलिङ्ग, सर्वलोकाङ्गलिङ्ग, अव्यक्तलिङ्ग, बुद्धिलिङ्ग, अहंकारलिङ्ग, भूतलिङ्ग, इन्द्रियलिङ्ग, तन्मात्रलिङ्ग, पुरुषलिङ्ग, भावलिङ्ग, रजोर्ध्वलिङ्ग, सत्त्वलिङ्ग, भवलिङ्ग, त्रैगुण्यलिङ्ग, अनागतलिङ्ग, तेजोलिङ्ग, वायूर्ध्वलिङ्ग, श्रुतिलिङ्ग, अथर्वलिङ्ग, सामलिङ्ग, यज्ञाङ्गलिङ्ग, यज्ञलिङ्ग, तत्त्वलिङ्ग और देवानुगतलिङ्गरूप आप शंकरको बारंबार नमस्कार करता हूँ। प्रभो ! आप मुझे परमयोगका उपदेश कीजिये और मेरे समान पुत्र प्रदान कीजिये । भगवन् ! मुझे अविनाशी परब्रह्म एवं परमशान्तिकी प्राप्ति कराइये । मेरा वंश कभी क्षीण न हो और मेरी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहे ॥ २—१२ ॥

अग्निदेव कहते हैं—प्राचीनकालमें श्रीशैलपर वसिष्ठके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये और वसिष्ठको वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गायत्री-निर्वाणका कथन' नामक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

दो सौ अठारहवाँ अध्याय

राजाके अभिषेककी विधि

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! पूर्वकालमें परशुरामजीके पूछनेपर पुष्करने उनसे जिस प्रकार राजधर्मका वर्णन किया था, वही मैं तुमसे बतला रहा हूँ ॥ १ ॥

पुष्करने कहा—राम ! मैं सम्पूर्ण राजधर्मोंसे संगृहीत करके राजाके धर्मका वर्णन करूँगा । राजाको प्रजाका रक्षक, शत्रुओंका नाशक और दण्डका उचित उपयोग करनेवाला होना चाहिये। वह प्रजाजनोंसे कहे कि 'धर्म-मार्गपर स्थित रहनेवाले आप सब लोगोंकी मैं रक्षा करूँगा' और अपनी इस प्रतिज्ञाका सदा पालन करे। राजाको वर्षफल बतानेवाले एक ज्यौतिषी तथा ब्राह्मण पुरोहितका वरण कर लेना चाहिये । साथ ही सम्पूर्ण राजशास्त्रीय विषयों तथा आत्माका ज्ञान रखनेवाले मन्त्रियोंका और धार्मिक लक्षणोंसे सम्पन्न राजमहिषी-का भी वरण करना उचित है। राज्यभार ग्रहण करनेके एक वर्ष बाद राजाको सब सामग्री एकत्रित करके अच्छे समयमें विशेष समारोहके साथ अपना अभिषेक कराना चाहिये । पहलेवाले राजाकी मृत्यु होनेपर शीघ्र ही राजासन ग्रहण करना उचित है; ऐसे समयमें कालका कोई नियम नहीं है । ज्यौतिषी और पुरोहितके द्वारा तिल, सर्षप आदि

सामग्रियोंका उपयोग करते हुए राजा स्नान करे तथा भद्रासनपर विराजमान होकर समूचे राज्यमें राजाकी विजय घोषित करे। फिर अभयकी घोषणा कराकर राज्यके समस्त कैदियोंको बन्धनसे मुक्त कर दे। पुरोहितके द्वारा अभिषेक होनेसे पहले इन्द्र देवताकी शान्ति करानी चाहिये। अभिषेकके दिन राजा उपवास करके वेदीपर स्थापित की हुई अग्निमें मन्त्रपाठपूर्वक हवन करे। विष्णु, इन्द्र, सविता, विश्वेदेव और सोम-देवतासम्बन्धी वैदिक ऋचाओंका तथा स्वस्त्ययन, शान्ति, आयुष्य तथा अभय देनेवाले मन्त्रोंका पाठ करे ॥ २-८ ॥

तत्पश्चात् अग्निके दक्षिण किनारे अपराजिता देवी तथा सुवर्णमय कलशकी, जिसमें जल गिरानेके लिये अनेकों छिद्र बने हुए हों, स्थापना करके चन्दन और फूलोंके द्वारा उनका पूजन करे। यदि अग्निकी शिखा दक्षिणावर्त हो, तपाये हुए सोनेके समान उसकी उत्तम कान्ति हो, रथ और मेघके समान उससे ध्वनि निकलती हो, धुआँ बिल्कुल नहीं दिखायी देता हो, अग्निदेव अनुकूल होकर हविष्य ग्रहण करते हों, होमाग्निसे उत्तम गन्ध फैल रही हो, अग्निसे स्वस्तिकके आकारकी लपटें निकलती हों, उसकी शिखा स्वच्छ हो और ऊँचेतक उठती हो तथा उसके भीतरसे चिनगारियाँ नहीं छूटती हों तो ऐसी अग्नि-ज्वाला श्रेष्ठ एवं हितकर मानी गयी है ॥ ९-११ ॥

राजा और आगके मध्यसे बिल्ली, मृग तथा पक्षी नहीं जाने चाहिये। राजा पहले पर्वतशिखरकी मृत्तिकासे अपने मस्तककी शुद्धि करे। फिर बाँबीकी मिट्टीसे दोनों कान, भगवान् विष्णुके मन्दिरकी धूलिसे मुख, इन्द्रके मन्दिरकी मिट्टीसे ग्रीवा, राजाके आँगनकी मृत्तिकासे हृदय, हाथीके दाँतोंद्वारा खोदी हुई मिट्टीसे दाहिनी बाँह, बैलके सींगसे उठायी हुई मृत्तिकाद्वारा बायीं भुजा, पोखरेकी मिट्टीसे पीठ, दो नदियोंके संगमकी मृत्तिकासे पेट तथा नदीके दोनों किनारोंकी मिट्टीसे अपनी दोनों पसलियोंका शोधन करे। वेश्याके दरवाजेकी मिट्टीसे राजाके कटिभागकी शुद्धि की जाती है, यज्ञशालाकी मृत्तिकासे वह दोनों ऊरु, गोशालाकी मिट्टीसे दोनों घुटनों, घुड़सारकी मिट्टीसे दोनों जाँघ तथा रथके पहियेकी मृत्तिकासे दोनों चरणोंकी शुद्धि करे। इसके बाद पञ्चगव्यके द्वारा राजाके मस्तककी शुद्धि करनी चाहिये। तदनन्तर चार अमात्य भद्रासनपर बैठे हुए राजाका कलशोंद्वारा अभिषेक करें। ब्राह्मणजातीय सचिव पूर्व दिशाकी ओरसे घृतपूर्ण सुवर्णकलशद्वारा अभिषेक आरम्भ करे। क्षत्रिय दक्षिणकी ओर खड़ा होकर दूधसे भरे हुए चाँदीके कलशसे, वैश्य पश्चिम दिशामें स्थित हो ताम्र कलश एवं दहीसे तथा शूद्र उत्तरकी ओरसे मिट्टीके घड़ेके जलसे राजाका अभिषेक करे ॥ १२—१९ ॥

तदनन्तर बह्वृचों (ऋग्वेदी विद्वानों) में श्रेष्ठ ब्राह्मण मधुसे और 'छन्दोग' अर्थात् सामवेदी विप्र कुशके जलसे नरपतिका अभिषेक करे। इसके बाद पुरोहित जल गिरानेके अनेकों छिद्रोंसे युक्त (सुवर्णमय) कलशके पास जा, सदस्योंके बीच विधिवत् अग्निरक्षाका कार्य सम्पादन करके, राज्याभिषेकके लिये जो मन्त्र बताये गये हैं, उनके द्वारा अभिषेक करे। उस समय ब्राह्मणोंको वेद-मन्त्रोच्चारण करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् पुरोहित वेदीके निकट जाय और सुवर्णके बने हुए सौ छिद्रोंवाले कलशसे अभिषेक आरम्भ करे। **'या ओषधीः०'**—इत्यादि मन्त्रसे ओषधियोंद्वारा, **'अथेत्युक्त्वाः०'**—इत्यादि मन्त्रोंसे गन्धोंद्वारा, **'पुष्पवतीः०'**—आदि मन्त्रसे फूलोंद्वारा, **'ब्राह्मणः०'**—इत्यादि मन्त्रसे बीजोंद्वारा, **'आशुः शिशानः०'** आदि मन्त्रसे रत्नोंद्वारा तथा **'ये देवाः०'**—इत्यादि मन्त्रसे कुशयुक्त जलोंद्वारा अभिषेक करे। यजुर्वेदी और अथर्ववेदी ब्राह्मण **'गन्धद्वारां दुराधर्षां'**—इत्यादि मन्त्रसे गोरोचनद्वारा मस्तक तथा कण्ठमें तिलक करे। इसके बाद अन्यान्य ब्राह्मण सब तीर्थोंके जलसे अभिषेक करें ॥ २०—२६ ॥

उस समय कुछ लोग गीत और बाजे आदिके शब्दोंके साथ चँवर और व्यजन धारण करें। राजाके सामने सर्वौषधि-युक्त कलश लेकर खड़े हों। राजा पहले उस कलशको देखें, फिर दर्पण तथा घृत आदि माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन करें। इसके बाद विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओं तथा ग्रहपतियोंका पूजन करके राजा व्याघ्रचर्मयुक्त आसनपर बैठे। उस समय पुरोहित मधुपर्क आदि देकर राजाके मस्तकपर मुकुट बाँधे। पाँच प्रकारके चमड़ोंके आसनपर बैठकर राजाको मुकुट बँधाना चाहिये। **'ध्रुवाद्यैः०'**—इत्यादि मन्त्रके द्वारा उन आसनोंपर बैठे। वृष, वृषभदंश, वृक, व्याघ्र और सिंह—इन्हीं पाँचोंके चर्मका उस समय आसनके लिये उपयोग किया जाता है। अभिषेकके बाद प्रतीहार अमात्य और सचिव आदिको दिखाये—प्रजाजनोंसे उनका परिचय दे। तदनन्तर राजा गौ, बकरी, भेड़ तथा गृह आदि

दान करके सांवत्सर (ज्यौतिषी) और पुरोहितका पूजन करे। फिर पृथ्वी, गौ तथा अन्न आदि देकर अन्यान्य ब्राह्मणोंकी भी पूजा करे। तत्पश्चात् अग्निकी प्रदक्षिणा करके गुरु (पुरोहित) को प्रणाम करे। फिर बैलकी पीठका स्पर्श करके, गौ और बछड़ेकी पूजाके अनन्तर अभिमन्त्रित अश्वपर आरूढ़ होवे। उससे उतरकर हाथीकी पूजा करके, उसके ऊपर सवार हो और सेना साथ लेकर प्रदक्षिण-क्रमसे सड़कपर कुछ दूरतक यात्रा करे। इसके बाद दान आदिके द्वारा सबको सम्मानित करके विदा कर दे और स्वयं राजधानीमें प्रवेश करे ॥ २७—३५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राज्याभिषेकका कथन' नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय

राजाके अभिषेकके समय पढ़नेयोग्य मन्त्र

पुष्करने कहा—अब मैं राजा और देवता आदिके अभिषेक-सम्बन्धी मन्त्रोंका वर्णन करूँगा, जो सम्पूर्ण पापोंको दूर करनेवाले हैं। कलशसे कुशयुक्त जलद्वारा राजाका अभिषेक करे; इससे सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है ॥ १ ॥

(उस समय निम्नाङ्कित मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये—) "राजन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सम्पूर्ण देवता तुम्हारा अभिषेक करें। भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इन्द्र आदि दस दिक्पाल, रुद्र, धर्म, मनु, दक्ष, रुचि तथा श्रद्धा—ये सभी सदा तुम्हें विजय प्रदान करनेवाले हों। भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरीचि और कश्यप आदि ऋषि-महर्षि प्रजाका शासन करनेवाले भूपतिकी रक्षा करें। अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले 'बर्हिषद्' और 'अग्निष्वात्त' नामवाले पितर तुम्हारा पालन करें। क्रव्याद (राक्षस), आवाहन किये हुए आज्यपा (घृतपान करनेवाले देवता और पितर), सुकाली (सुकाल लानेवाले देवता) तथा धर्मप्रिया लक्ष्मी आदि देवियाँ प्रवृद्ध अग्नियोंके साथ तुम्हारा अभिषेक करें। अनेकों पुत्रोंवाले प्रजापति, कश्यपके आदित्य आदि प्रिय पुत्रगण, अग्निनन्दन कृशाश्व तथा अरिष्टनेमिकी पत्नियाँ भी तुम्हारा अभिषेक करें। चन्द्रमाकी अश्विनी आदि भार्याएँ, पुलहकी प्रिय पत्नियाँ और भूता, कपिशा, दंष्ट्री, सुरसा, सरमा, दनु, श्येनी, भाषी, क्रौञ्ची, धृतराष्ट्री तथा शुकी आदि देवियाँ एवं सूर्यके सारथि अरुण—ये सब तुम्हारे अभिषेकका कार्य सम्पन्न करें। आयति, नियति, रात्रि, निद्रा, लोकरक्षामें तत्पर रहनेवाली उमा, मेना और शची आदि देवियाँ, धूमा, ऊर्णा, नैर्ऋती, जया, गौरी, शिवा, ऋद्धि, वेला, नड्वला, असिक्नी, ज्योत्स्ना, देवाङ्गनाएँ तथा वनस्पति—ये सब तुम्हारा पालन करें ॥ २–११ ॥

"महाकल्प, कल्प, मन्वन्तर, युग, संवत्सर, वर्ष, दोनों अयन, ऋतु, मास, पक्ष, रात-दिन, संध्या, तिथि, मुहूर्त तथा कालके विभिन्न अवयव (छोटे-छोटे भेद) तुम्हारी रक्षा करें। सूर्य आदि ग्रह और स्वायम्भुव आदि मनु तुम्हारी रक्षा करें। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, ब्रह्मपुत्र, धर्मपुत्र, रुद्रपुत्र, दक्षपुत्र, रौच्य तथा भौत्य—ये चौदह मनु तुम्हारे रक्षक हों। विश्वभुक्, विपश्चित्, शिखी, विभु, मनोजव, ओजस्वी, बलि, अद्भुत शान्तियाँ, वृष, ऋतधामा, दिवःस्पृक्, कवि, इन्द्र, रैवन्त, कुमार कार्तिकेय, वत्सविनायक, वीरभद्र, नन्दी, विश्वकर्मा, पुरोजव, देववैद्य अश्विनीकुमार तथा ध्रुव आदि आठ वसु—ये सभी प्रधान देवता यहाँ पदार्पण करके तुम्हारे अभिषेकका कार्य सम्पन्न करें। अङ्गिराके कुलमें उत्पन्न दस देवता और चारों वेद सिद्धिके लिये तुम्हारा अभिषेक करें। आत्मा, आयु, मन, दक्ष, मद, प्राण, हविष्मान्, गरिष्ठ, ऋत और सत्य—ये तुम्हारी रक्षा करें तथा क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काल, काम और धुरि—ये तुम्हें विजय प्रदान करें। पुरूरवा, आर्द्रवा, विश्वेदेव, रोचन, अङ्गारक (मङ्गल) आदि ग्रह, सूर्य, निर्ऋति तथा यम—ये सब तुम्हारी रक्षा करें। अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, धूमकेतु, रुद्रके पुत्र, भरत, मृत्यु, कापालि, किंकिणि, भवन, भावन, स्वजन्य, स्वजन, क्रतुश्रवा, मूर्धा, याजन और उशना—ये तुम्हारी रक्षा करें। प्रसव, अव्यय, दक्ष, भृगुवंशी ऋषि, देवता, मनु, अनुमन्ता, प्राण, नव, बलवान् अपान वायु, वीतिहोत्र, नय, साध्य, हंस, विभु, प्रभु और नारायण—संसारके हितमें लगे रहनेवाले ये श्रेष्ठ देवता तुम्हारा पालन करें। धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, भास्कर और विष्णु—ये बारह सूर्य तुम्हारी रक्षा करें। एकज्योति, द्विज्योति, त्रिज्योति,

चतुर्ज्योति, एकशक्र, द्विशक्र, महाबली त्रिशक्र, इन्द्र, पतिकृत्, मित, सम्मित, महाबली अमित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, अतिमित्र, अनुमित्र, पुरुमित्र, अपराजित, ऋत, ऋतवाक्, धाता, विधाता, धारण, ध्रुव, इन्द्रके परम मित्र महातेजस्वी विधारण, इदृक्ष, अदृक्ष, एतादृक्, अमिताशन, क्रीडित, सदृक्ष, सरभ, महातपा, धर्ता, धुर्य, धुरि, भीम, अभिमुक्त, अक्षपात, सह, धृति, वसु, अनाधृष्य, राम, काम, जय और विराट्—ये उनचास मरुत् नामक देवता तुम्हारा अभिषेक करें तथा तुम्हें लक्ष्मी प्रदान करें । चित्राङ्गद, चित्ररथ, चित्रसेन, कलि, ऊर्णायु, उग्रसेन, धृतराष्ट्र, नन्दक, हाहा, हूहू, नारद, विश्वावसु और तुम्बुरु—ये गन्धर्व तुम्हारे अभिषेकका कार्य सम्पन्न करें और तुम्हें विजयी बनावें । प्रधान-प्रधान मुनि तथा अनवद्या, सुकेशी, मेनका, सहजन्या, क्रतुस्थला, घृताची, विश्वाची, पुञ्जिकस्थला, प्रम्लोचा, उर्वशी, रम्भा, पञ्चचूडा, तिलोत्तमा, चित्रलेखा, लक्ष्मणा, पुण्डरीका और वारुणी—ये दिव्य अप्सराएँ तुम्हारी रक्षा करें ॥ १९–३८ ॥

“प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाण और उसका पुत्र—ये तथा दूसरे-दूसरे दानव और राक्षस तुम्हारे अभिषेकका कार्य सिद्ध करें । हेति, प्रहेति, विद्युत्, स्फूर्जथु, अग्रक, यक्ष, सिद्ध, मणिभद्र और नन्दन—ये सब तुम्हारी रक्षा करें । पिङ्गाक्ष, द्युतिमान्, पुष्पदन्त, जयावह, शङ्ख, पद्म, मकर और कच्छप—ये निधियाँ तुम्हें विजय प्रदान करें । ऊर्ध्वकेश आदि पिशाच, भूमि आदिके निवासी भूत और मातृकाएँ, महाकाल एवं नृसिंहको आगे करके तुम्हारा पालन करें । गुह, स्कन्द, विशाख, नैगमेय—ये तुम्हारा अभिषेक करें । भूतल एवं आकाशमें विचरनेवाली डाकिनी तथा योगिनियाँ, गरुड, अरुण तथा सम्पाति आदि पक्षी तुम्हारा पालन करें । अनन्त आदि बड़े-बड़े नाग, शेष, वासुकि, तक्षक, ऐरावत, महापद्म, कम्बल, अश्वतर, शङ्ख, कर्कोटक, धृतराष्ट्र, धनंजय, कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक तथा अञ्जन नामक नाग सदा और सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें । ब्रह्माजीका वाहन हंस, भगवान् शंकरका वृषभ, भवानी दुर्गाका सिंह और यमराजका भैंसा—ये सभी वाहन तुम्हारा पालन करें । अश्वराज उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि वैद्य, कौस्तुभमणि, शङ्खराज पाञ्चजन्य, वज्र, शूल, चक्र और नन्दक खड्ग आदि अस्त्र तुम्हारी रक्षा करें । दृढ़ निश्चय रखनेवाले धर्म, चित्रगुप्त, दण्ड, पिङ्गल, मृत्यु, काल, वालखिल्य आदि मुनि, व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि, पृथु, दिलीप, भरत, दुष्यन्त, अत्यन्त बलवान् शत्रुजित्, मनु, ककुत्स्थ, अनेना, युवनाश्व, जयद्रथ, मांधाता, मुचुकुन्द और पृथ्वीपति पुरूरवा—ये सब राजा तुम्हारे रक्षक हों । वास्तुदेवता और पचीस तत्त्व तुम्हारी विजयके साधक हों । रुक्मभौम, शिलाभौम, पाताल, नीलमृत्तिक, पीतरक्त, क्षिति, श्वेतभौम, रसातल, भूर्लोक, भुवर् आदि लोक तथा जम्बूद्वीप आदि द्वीप तुम्हें राज्यलक्ष्मी प्रदान करें । उत्तरकुरु, रम्य, हिरण्मय, भद्राश्व, केतुमाल, बलाहक, हरिवर्ष, किंपुरुष, इन्द्रद्वीप, कशेरुमान्, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्यक, गान्धर्व, वारुण और नवम आदि वर्ष तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हें राज्य प्रदान करनेवाले हों । हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, शृङ्गवान्, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन, महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान् गिरि, विन्ध्य और पारियात्र—ये सभी पर्वत तुम्हें शान्ति प्रदान करें । ऋक् आदि चारों वेद, छहों अङ्ग, इतिहास, पुराण, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद और धनुर्वेद आदि उपवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द—ये छः अङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ तुम्हारी रक्षा करें ॥ ३९–६० ॥

“सांख्य, योग, पाशुपत, वेद, पाञ्चरात्र—ये ‘सिद्धान्त-पञ्चक’ कहलाते हैं । इन पाँचोंके अतिरिक्त गायत्री, शिवा, दुर्गा, विद्या तथा गान्धारी नामवाली देवियाँ तुम्हारी रक्षा करें और लवण, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध तथा जलसे भरे हुए समुद्र तुम्हें शान्ति प्रदान करें । चारों समुद्र और नाना प्रकारके तीर्थ तुम्हारी रक्षा करें । पुष्कर, प्रयाग, प्रभास, नैमिषारण्य, गयाशीर्ष, ब्रह्मशिरतीर्थ, उत्तरमानस, कालोदक, नन्दिकुण्ड, पञ्चनदतीर्थ, भृगुतीर्थ, अमरकण्टक, जम्बूमार्ग, विमल, कपिलाश्रम, गङ्गाद्वार, कुशावर्त, विन्ध्य, नीलगिरि, वराह पर्वत, कनखल तीर्थ, कालञ्जर, केदार, रुद्रकोटि, महातीर्थ वाराणसी, बदरिकाश्रम, द्वारका, श्रीशैल, पुरुषोत्तमतीर्थ, शालग्राम, वाराह, सिंधु और समुद्रके संगमका तीर्थ, फल्गुतीर्थ, बिन्दुसर, करवीराश्रम, गङ्गानदी, सरस्वती, शतद्रु, गण्डकी, अच्छोदा, विपाशा, वितस्ता, देविका नदी, कावेरी, वरुणा, निश्चिरा, गोमती नदी, पारा, चर्मण्वती, रूपा, महानदी, मन्दाकिनी, तापी, पयोष्णी, वेणा, वैतरणी, गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, अरणी, चन्द्रभागा, शिवा तथा गौरी आदि पवित्र नदियाँ तुम्हारा अभिषेक और पालन करें” ॥ ६१–७२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें ‘अभिषेक-सम्बन्धी मन्त्रोंका वर्णन’ नामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

दो सौ बीसवाँ अध्याय

राजाके द्वारा अपने सहायकोंकी नियुक्ति और उनसे काम लेनेका ढंग

पुष्कर कहते हैं—अभिषेक हो जानेपर उत्तम राजाके लिये यह उचित है कि वह मन्त्रीको साथ लेकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे। उसे ब्राह्मण या क्षत्रियको, जो कुलीन और नीतिशास्त्रका ज्ञाता हो, अपना सेनापति बनाना चाहिये। द्वारपाल भी नीतिज्ञ होना चाहिये। इसी प्रकार दूतको भी मृदुभाषी, अत्यन्त बलवान् और सामर्थ्यवान् होना उचित है ॥ १-२ ॥

राजाको पान देनेवाला सेवक, स्त्री या पुरुष कोई भी हो सकता है। इतना अवश्य है कि उसे राजभक्त, क्लेश-सहिष्णु और स्वामीका प्रिय होना चाहिये। सांधिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव[1]) उसे बनाना चाहिये, जो संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छहों गुणोंका समय और अवसरके अनुसार उपयोग करनेमें निपुण हो। राजाकी रक्षा करनेवाला प्रहरी हमेशा हाथमें तलवार लिये रहे। सारथि सेना आदिके विषयमें पूरी जानकारी रक्खे। रसोइयोंके अध्यक्षको राजाका हितैषी और चतुर होनेके साथ ही सदा रसोईघरमें उपस्थित रहना चाहिये। राजसभाके सदस्य धर्मके ज्ञाता हों। लिखनेका काम करनेवाला पुरुष कई प्रकारके अक्षरोंका ज्ञाता तथा हितैषी हो। द्वार-रक्षामें नियुक्त पुरुष ऐसे होने चाहिये, जो स्वामीके हितमें संलग्न हों और इस बातकी अच्छी तरह जानकारी रक्खें कि महाराज कब-कब उन्हें अपने पास बुलाते हैं। धनाध्यक्ष ऐसा मनुष्य हो, जो रत्न आदिकी परख कर सके और धन बढ़ानेके साधनोंमें तत्पर रहे। राजवैद्यको आयुर्वेदका पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। इसी प्रकार गजाध्यक्षको भी गजविद्यासे परिचित होना आवश्यक है। हाथी-सवार परिश्रमसे थकनेवाला न हो। घोड़ोंका अध्यक्ष अश्वविद्याका विद्वान् होना चाहिये। दुर्गके अध्यक्षको भी हितैषी एवं बुद्धिमान् होना आवश्यक है। शिल्पी अथवा कारीगर वास्तुविद्याका ज्ञाता हो। जो मशीनसे हथियार चलाने, हाथसे शस्त्रोंका प्रयोग करने, शस्त्रको न छोड़ने, छोड़े हुए शस्त्रको रोकने या निवारण करनेमें तथा युद्धकी कलामें कुशल और राजाका हित चाहनेवाला हो, उसे ही अस्त्राचार्यके पदपर नियुक्त करना चाहिये। रनिवासका अध्यक्ष वृद्ध पुरुषको बनाना चाहिये। पचास वर्षकी स्त्रियाँ और सत्तर वर्षके बूढ़े पुरुष अन्तःपुरके सभी कार्योंमें लगाये जा सकते हैं। शस्त्रागारमें ऐसे पुरुषको रखना चाहिये, जो सदा सजग रहकर पहरा देता रहे। भृत्योंके कार्योंको समझकर उनके लिये तदनुकूल जीविकाका प्रबन्ध करना उचित है। राजाको चाहिये कि वह उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कार्योंका विचार करके उनमें ऐसे ही पुरुषोंको नियुक्त करे। पृथ्वीपर विजय चाहनेवाला भूपाल हितैषी सहायकोंका संग्रह करे। धर्मके कार्योंमें धर्मात्मा पुरुषोंको, युद्धमें शूरवीरोंको और धनोपार्जनके कार्योंमें अर्थकुशल व्यक्तियोंको लगावे। इस बातका ध्यान रक्खे कि सभी कार्योंमें नियुक्त हुए पुरुष शुद्ध आचार-विचार रखनेवाले हों ॥ ३—१२ ॥

स्त्रियोंकी देख-भालमें नपुंसकोंको नियुक्त करे। कठोर कर्मोंमें तीखे स्वभाववाले पुरुषोंको लगावे। तात्पर्य यह कि राजा धर्म-अर्थ अथवा कामके साधनमें जिस पुरुषको जहाँके लिये शुद्ध एवं उपयोगी समझे, उसकी वहीं नियुक्ति करे। निकृष्ट श्रेणीके कामोंमें वैसे ही पुरुषोंको लगावे। राजाके लिये उचित है कि वह तरह-तरहके उपायोंसे मनुष्योंकी परीक्षा करके उन्हें यथायोग्य कार्योंमें नियोजित करे। मन्त्रीसे सलाह ले, कुछ व्यक्तियोंको यथोचित वृत्ति देकर हाथियोंके जंगलमें तैनात करे तथा उनका पता लगाते रहनेके लिये कई उत्साही अध्यक्षोंको नियुक्त करे। जिसको जिस काममें निपुण देखे, उसको उसीमें लगावे और बाप-दादोंके समयसे चले आते हुए भृत्योंको सभी तरहके कार्योंमें नियुक्त करे। केवल उत्तराधिकारी-के कार्योंमें उनकी नियुक्ति नहीं करे; क्योंकि वहाँ वे सब-के-सब एक समान हैं। जो लोग दूसरे राजाके आश्रयसे हटकर अपने पास शरण लेनेकी इच्छासे आवें, वे दुष्ट हों या साधु, उन्हें यत्नपूर्वक आश्रय दे। दुष्ट साबित होनेपर उनका विश्वास न करे और उनकी जीविकावृत्तिको अपने ही अधीन रक्खे। जो लोग दूसरे देशोंसे अपने पास आये हों, उनके विषयमें गुप्तचरोंद्वारा सभी बातें जानकर उनका यथावत् सत्कार करे। शत्रु, अग्नि, विष, साँप और तलवार एक ओर तथा दुष्ट स्वभाववाले भृत्य दूसरी ओर, इनमें दुष्ट भृत्योंको ही अधिक भयंकर समझना चाहिये। राजाको चारचक्षु होना

१. वह मन्त्री, जिसको दूसरे देशके राजाओंसे सुलहकी बातचीत करने या युद्ध छेड़नेका अधिकार दिया गया हो।

उचित है। अर्थात् उसे गुप्तचरोंद्वारा सभी बातें देखनी—उनकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। इसलिये वह हमेशा सबकी देखभालके लिये गुप्तचर तैनात किये रहे। गुप्तचर ऐसे हों, जिन्हें दूसरे लोग पहचानते न हों, जिनका स्वभाव शान्त एवं कोमल हो तथा जो परस्पर एक-दूसरेसे भी अपरिचित हों। उनमें कोई वैश्यके रूपमें हो, कोई मन्त्र-तन्त्रमें कुशल, कोई ज्योतिषी, कोई वैद्य, कोई संन्यास-वेषधारी और कोई बलाबलका विचार करनेवाले व्यक्तिके रूपमें हो। राजाको चाहिये कि किसी एक गुप्तचरकी बातपर विश्वास न करे। जब बहुतोंके मुखसे एक तरहकी बात सुने, तभी उसे विश्वसनीय समझे। भृत्योंके हृदयमें राजाके प्रति अनुराग है या विरक्ति, किस मनुष्यमें कौन-से गुण तथा अवगुण हैं, कौन शुभचिन्तक हैं और कौन अशुभ चाहनेवाले—अपने भृत्यवर्गको वशमें रखनेके लिये राजाको ये सभी बातें जाननी चाहिये। वह ऐसा कर्म करे, जो प्रजाका अनुराग बढ़ानेवाला हो। जिससे लोगोंके मनमें विरक्ति हो, ऐसा कोई काम न करे। प्रजाका अनुराग बढ़ानेवाली लक्ष्मीसे युक्त राजा ही वास्तवमें राजा है। वह सब लोगोंका रञ्जन करने—उनकी प्रसन्नता बढ़ानेके कारण ही 'राजा' कहलाता है॥ १३—२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजाकी सहायसम्पत्तिका वर्णन' नामक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२०॥

दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय

अनुजीवियोंका राजाके प्रति कर्तव्यका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—भृत्यको राजाकी आज्ञाका उसी प्रकार पालन करना चाहिये, जैसे शिष्य गुरुकी और साध्वी स्त्रियाँ अपने पतिकी आज्ञाका पालन करती हैं। राजाकी बातपर कभी आक्षेप न करे, सदा ही उसके अनुकूल और प्रिय वचन बोले। यदि कोई हितकी बात बतानी हो और वह सुननेमें अप्रिय हो तो उसे एकान्तमें राजासे कहना चाहिये। किसी आयके काममें नियुक्त होनेपर राजकीय धनका अपहरण न करे; राजाके सम्मानकी उपेक्षा न करे। उसकी वेश-भूषा और बोल-चालकी नकल करना उचित नहीं है। अन्तःपुरके सेवकोंके अध्यक्षका कर्तव्य है कि वह ऐसे पुरुषोंके साथ न बैठे, जिनका राजाके साथ वैर हो तथा जो राजदरबारसे अपमानपूर्वक निकाले गये हों। भृत्यको राजाकी गुप्त बातोंको दूसरोंपर प्रकट नहीं करना चाहिये। अपनी कोई कुशलता दिखाकर राजाको विशेष सम्मानित एवं प्रसन्न करना चाहिये। यदि राजा कोई गुप्त बात सुनावें तो उसे लोगोंमें प्रकाशित न करे। यदि वे दूसरेको किसी कामके लिये आज्ञा दे रहे हों तो स्वयं ही उठकर कहे—'महाराज! मुझे आदेश दिया जाय, कौन-सा काम करना है, मैं उसे करूँगा।' राजाके दिये हुए वस्त्र-आभूषण तथा रत्न आदिको सदा धारण किये रहे। बिना आज्ञाके दरवाजे-पर अथवा और किसी अयोग्य स्थानपर, जहाँ राजाकी दृष्टि पड़ती हो, न बैठे। जँभाई लेना, थूकना, खाँसना, क्रोध प्रकट करना, खाटपर बैठना, भौंहें टेढ़ी करना, अधोवायु छोड़ना तथा डकार लेना आदि कार्य राजाके निकट रहनेपर न करे। उनके सामने अपना गुण प्रकट करनेके लिये दूसरोंको ही युक्तिपूर्वक नियुक्त करे। शठता, लोलुपता, चुगली, नास्तिकता, नीचता तथा चपलता—इन दोषोंका राजसेवकोंको सदा त्याग करना चाहिये। पहले स्वयं प्रयत्न करके अपनेमें वेदविद्या एवं शिल्पकलाकी योग्यताका सम्पादन करे। उसके बाद अपना धन बढ़ानेकी चेष्टा करनेवाले पुरुष-को अभ्युदयके लिये राजाकी सेवामें प्रवृत्त होना चाहिये। उनके प्रिय पुत्र एवं मन्त्रियोंको सदा नमस्कार करना उचित है। केवल मन्त्रियोंके साथ रहनेसे राजाका अपने ऊपर विश्वास नहीं होता; अतः उनके हार्दिक अभिप्रायके अनुकूल सदा प्रिय कार्य करे। राजाके स्वभावको समझनेवाले पुरुषके लिये उचित है कि वह विरक्त राजाको त्याग दे और अनुरक्त राजासे ही आजीविका प्राप्त करनेकी चेष्टा करे। बिना पूछे राजाके सामने कोई बात न कहे; किंतु आपत्तिके समय ऐसा करनेमें कोई हर्ज नहीं है। राजा प्रसन्न हो तो वह सेवकके विनययुक्त वचनको मानता है, उसकी प्रार्थनाको स्वीकार करता है। प्रेमी सेवकको किसी रहस्य-स्थान (अन्तःपुर) आदि-में देख ले तो भी उसपर शङ्का-संदेह नहीं करता है। वह दरबारमें आये तो राजा उसकी कुशल पूछता है, उसे बैठनेके लिये आसन देता है। उसकी चर्चा सुनकर वह प्रसन्न होता है। वह कोई अप्रिय बात भी कह दे तो वह बुरा नहीं मानता, उलटे प्रसन्न होता है। उसकी दी हुई छोटी-मोटी

वस्तु भी राजा बड़े आदरसे ले लेता है और बातचीतमें उसे याद रखता है। उक्त लक्षणोंसे राजा अनुरक्त है या विरक्त यह जानकर अनुरक्त राजाकी सेवा करे। इसके विपरीत जो विरक्त हो, उसका साथ छोड़ दे ॥ १-१४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अनुजीविवृत्त कथन' नामक दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

दो सौ बाईसवाँ अध्याय

राजाके दुर्ग, कर्तव्य तथा साध्वी स्त्रीके धर्मका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—अब मैं दुर्ग बनानेके विषयमें कहूँगा। राजाको दुर्गदेश (दुर्गम प्रदेश अथवा सुदृढ़ एवं विशाल किले) में निवास करना चाहिये। साथ रहनेवाले मनुष्योंमें वैश्यों और शूद्रोंकी संख्या अधिक होनी चाहिये। दुर्ग ऐसे स्थानमें रहे, जहाँ शत्रुओंका जोर न चल सके। दुर्गमें थोड़े-से ब्राह्मणोंका भी रहना आवश्यक है। राजाके रहनेके लिये वही देश श्रेष्ठ माना गया है, जहाँ बहुत-से काम करनेवाले लोग (किसान-मजदूर) रहते हों, जहाँ पानीके लिये वर्षाकी राह नहीं देखनी पड़ती हो, नदी-तालाब आदिसे ही पर्याप्त जल प्राप्त होता रहता हो। जहाँ शत्रु पीड़ा न दे सकें, जो फल-फूल और धन-धान्यसे सम्पन्न हो, जहाँ शत्रु-सेनाकी गति न हो सके और सर्प तथा लुटेरोंका भी भय न हो। तत्पश्चात् राजाको निम्नाङ्कित छः प्रकारके दुर्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर निवास करना चाहिये। भृगुनन्दन! धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग और पर्वतदुर्ग— ये ही छः[1] प्रकारके दुर्ग हैं। इनमें पर्वतदुर्ग सबसे उत्तम है। वह शत्रुओंके लिये अभेद्य तथा रिपुवर्गका भेदन करनेवाला है। दुर्ग ही राजाका पुर या नगर है। वहाँ हाट-बाजार तथा देवमन्दिर आदिका होना आवश्यक है। जिसके चारों ओर यन्त्र लगे हों, जो अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हो, जहाँ जलका सुपास हो तथा जिसके वन और पानीसे भरी खाइयाँ हों, वह दुर्ग उत्तम माना गया है ॥ १-६ ॥

अब मैं राजाकी रक्षाके विषयमें कुछ निवेदन करूँगा— राजा पृथ्वीका पालन करनेवाला है, अतः विष आदिसे उसकी रक्षा करनी चाहिये। शिरीष वृक्षकी जड़, छाल, पत्ता, फूल और फल—इन पाँचों अङ्गोंको गोमूत्रमें पीसकर सेवन करनेसे विषका निवारण होता है। शतावरी, गुडुचि और चौराई विषका नाश करनेवाली है। कोषातकी (कड़वी तरोई), कलहारी (करिआरी), ब्राह्मी, चित्रपटोलिका (कड़वी परोरी), मण्डूकपर्णी (ब्राह्मीका एक भेद), वाराहीकन्द, आँवला, आनन्दक, भाँग और सोमराजी (बकुची)—ये दवाएँ विष दूर करनेवाली हैं। विषनाशक माणिक्य और मोती आदि रत्न भी विषका निवारण करनेवाले हैं * ॥ ७-१० ॥

१. बालूसे भरी हुई मरुभूमिको 'धन्वदुर्ग' कहते हैं। ग्रीष्मकालमें वह शत्रुओंके लिये दुर्गम होता है। जमीनके अंदर जो निवास करनेयोग्य स्थान बनवाया जाता है, उसे 'महीदुर्ग' कहते हैं। अपने निवास-स्थानके चारों ओर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित भारी सेनाका होना 'नरदुर्ग' कहा गया है। दूरतक घने वृक्षों और पानीसे घिरे हुए प्रदेशों अथवा दुर्गम पर्वतमालाओंसे घिरे हुए स्थानको क्रमशः 'वृक्षदुर्ग', 'जलदुर्ग' एवं 'पर्वतदुर्ग' कहा जाता है।

* यहाँ लिखी हुई दवाओंका प्रयोग किसी अच्छे वैद्यकी सलाह लिये बिना नहीं करना चाहिये; क्योंकि यहाँ संक्षेपमें औषधोंका नाममात्र बताया गया है। सेवन-विधि आयुर्वेदके अन्य ग्रन्थोंमें देखनी चाहिये। उपर्युक्त दवाओंमें शतावरीकी जड़, गुर्चकी लती और चौराईकी जड़का विषनिवारणके लिये उपयोग किया जाता है। कोषातकी या कड़वी तरोईका फल, बीज इस कार्यके लिये उपयोगी है। एक वैद्यका कहना है कि कड़वी तरोईका दो बीज चबाकर दूधमें अच्छी तरह मिलावे और उसे छानकर पी ले तो वमन और विरेचन—दोनों होते हैं और तबतक होते रहते हैं, जबतक कि पेटके अंदरका दोष पूर्णरूपसे निकल नहीं जाता। कलिहारी भी एक प्रकारका विष है और 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार उपयोगमें लाया जाता है। ब्राह्मीकी गुणकारिता तो प्रसिद्ध ही है। कड़वी परोरीको भी 'त्रिदोषनाशन' बताया गया है। इस कार्यमें इसका मूल ही ग्राह्य है। वाराहीकन्द संजीवनकारी औषधोंमें गिना गया है। यह अष्टवर्गमें प्रतिनिधि औषधके रूपमें गृहीत है। ऋद्धि और वृद्धि नामक दवाके स्थानपर इसका उपयोग किया जाता है। विष-निवारणके कार्यमें इसका मूल ग्राह्य है। इसी प्रकार आँवलेका फल, भाँगकी पत्ती और बकुचीके फल विष दूर करनेके लिये उपयोगी होते हैं। विषनाशक रत्नोंमें मोती और माणिक्य आदिका ग्रहण है। आयुर्वेदोक्त रीतिसे तैयार किया हुआ इनका भस्म विधिपूर्वक सेवन करनेसे लाभकारी होता है।

राजाको वास्तुके लक्षणोंसे युक्त दुर्गमें रहकर देवताओंका पूजन, प्रजाका पालन, दुष्टोंका दमन तथा दान करना चाहिये। देवताके धन आदिका अपहरण करनेसे राजाको एक कल्पतक नरकमें रहना पड़ता है। उसे देवपूजामें तत्पर रहकर देवमन्दिरोंका निर्माण कराना चाहिये। देवालयोंकी रक्षा और देवताओंकी स्थापना भी राजाका कर्तव्य है। देवविग्रह मिट्टीका भी बनाया जाता है। मिट्टीसे काठका, काठसे ईंटका, ईंटसे पत्थरका और पत्थरसे सोने तथा रत्नका बना हुआ विग्रह पवित्र माना गया है। प्रसन्नतापूर्वक देवमन्दिर बनवानेवाले पुरुषको भोग और मोक्षकी प्राप्ति होती है। देवमन्दिरमें चित्र बनवावे, गाने-बजाने आदिका प्रबन्ध करे, दर्शनीय वस्तुओंका दान दे तथा तेल, घी, मधु और दूध आदिसे देवताको नहलावे तो मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है। ब्राह्मणोंका पालन और सम्मान करे; उनका धन न छीने। यदि राजा ब्राह्मणका एक सोना, एक गौ अथवा एक अङ्गुल जमीन भी छीन ले, तो उसे महाप्रलय होनेतक नरकमें डूबे रहना पड़ता है। ब्राह्मण सब प्रकारके पापोंमें प्रवृत्त तथा दुराचारी हो तो भी उससे द्वेष नहीं करना चाहिये। ब्राह्मणकी हत्यासे बढ़कर भारी पाप दूसरा कोई नहीं है। महाभाग ब्राह्मण चाहें तो जो देवता नहीं हैं, उन्हें भी देवता बना दें और देवताको भी देवपदसे नीचे उतार दें; अतः सदा ही उनको नमस्कार करना चाहिये ॥ ११—१७½ ॥

यदि राजाके अत्याचारसे ब्राह्मणीको रुलाई आ जाय तो वह उसके कुल, राज्य तथा प्रजा—सबका नाश कर डालती है। इसलिये धर्मपरायण राजाको उचित है कि वह साध्वी स्त्रियोंका पालन करे। स्त्रीको घरके काम-काजमें चतुर और प्रसन्न होना चाहिये। वह घरके प्रत्येक सामानको साफ-सुथरा रखे; खर्च करनेमें खुले हाथवाली न हो। कन्याको उसका पिता जिसे दान कर दे, वही उसका पति है। अपने पतिकी उसे सदा सेवा करनी चाहिये। स्वामीकी मृत्यु हो जानेपर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाली स्त्री स्वर्गलोकमें जाती है। वह दूसरेके घरमें रहना पसंद न करे और लड़ाई-झगड़ेसे दूर रहे। जिसका पति परदेशमें हो, वह स्त्री शृङ्गार न करे, सदा अपने स्वामीके हितचिन्तनमें लगी रहकर देवताओंकी आराधना करे। केवल मङ्गलके लिये सौभाग्यचिह्नके रूपमें दो-एक आभूषण धारण किये रहे। जो स्त्री स्वामीके मरनेपर उसके साथ ही चिताकी आगमें प्रवेश कर जाती है, उसे भी स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है। लक्ष्मीकी पूजा और घरकी सफाई आदि रखना गृहिणीका मुख्य कार्य है। कार्तिककी द्वादशीको विष्णुकी पूजा करके बछड़ेसहित गौका दान करना चाहिये। सावित्रीने अपने सदाचार और व्रतके प्रभावसे पतिकी मृत्युसे रक्षा की थी। मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमीको सूर्यकी पूजा करनेसे स्त्रीको पुत्रोंकी प्राप्ति होती है; इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १८—२६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दुर्ग-सम्पत्ति-वर्णन तथा नारीधर्मका कथन' नामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२२ ॥

दो सौ तेईसवाँ अध्याय

राष्ट्रकी रक्षा तथा प्रजासे कर लेने आदिके विषयमें विचार

पुष्कर कहते हैं—(राज्यका प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिये—) राजाको प्रत्येक गाँवका एक-एक अधिपति नियुक्त करना चाहिये। फिर दस-दस गाँवोंका तथा सौ-सौ गाँवोंका अध्यक्ष नियुक्त करे। सबके ऊपर एक ऐसे पुरुषको नियुक्त करे, जो समूचे राष्ट्रका शासन कर सके। उन सबके कार्योंके अनुसार उनके लिये पृथक्-पृथक् भोग (भरण-पोषणके लिये वेतन आदि)का विभाजन करना चाहिये तथा प्रतिदिन गुप्तचरोंके द्वारा उनके कार्योंकी देख-भाल एवं परीक्षण करते रहना चाहिये। यदि गाँवमें कोई दोष उत्पन्न हो—कोई मामला खड़ा हो तो ग्रामाधिपतिको उसे शान्त करना चाहिये। यदि वह उस दोषको दूर करनेमें असमर्थ हो जाय तो दस गाँवोंके अधिपतिके पास जाकर उनसे सब बातें बतावे। पूरी रिपोर्ट सुनकर वह दस गाँवका स्वामी उस दोषको मिटानेका उपाय करे ॥ १—३½ ॥

जब राष्ट्र भलीभाँति सुरक्षित होता है, तभी राजाको उससे धन आदिकी प्राप्ति होती है। धनवान् धर्मका उपार्जन करता है, धनवान् ही कामसुखका उपभोग करता है। जैसे गर्मीमें नदीका पानी सूख जाता है, उसी प्रकार धनके बिना सब कार्य चौपट हो जाते हैं। संसारमें पतित और निर्धन मनुष्योंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। लोग पतित मनुष्यके हाथसे कोई

वस्तु नहीं लेते और दरिद्र अपने अभावके कारण स्वयं ही नहीं दे पाता। धनहीनकी स्त्री भी उसकी आज्ञाके अधीन नहीं रहती; अतः राष्ट्रको पीड़ा पहुँचानेवाला—उसे कंगाल बनानेवाला राजा अधिक कालतक नरकमें निवास करता है। जैसे गर्भवती पत्नी अपने सुखका खयाल छोड़कर गर्भके बच्चेको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करती है, उसी प्रकार राजाको भी सदा प्रजाकी रक्षाका ध्यान रखना चाहिये। जिसकी प्रजा सुरक्षित नहीं है, उस राजाके यज्ञ और तपसे क्या लाभ ? जिसने प्रजाकी भलीभाँति रक्षा की है, उसके लिये स्वर्गलोक अपने घरके समान हो जाता है। जिसकी प्रजा अरक्षित-अवस्थामें कष्ट उठाती है, उस राजाका निवासस्थान है—नरक। राजा अपनी प्रजाके पुण्य और पापमेंसे भी छठा भाग ग्रहण करता है। रक्षा करनेसे उसको प्रजाके धर्मका अंश प्राप्त होता है और रक्षा न करनेसे वह लोगोंके पापका भागी होता है। जैसे परस्त्रीलम्पट दुराचारी पुरुषोंसे डरी हुई पतिव्रता स्त्रीकी रक्षा करना धर्म है, उसी प्रकार राजाके प्रिय व्यक्तियों, चोरों और विशेषतः राजकीय कर्मचारियोंके द्वारा चूसी जाती हुई प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये। उनके भयसे रक्षित होनेपर प्रजा राजाके काम आती है। यदि उसकी रक्षा नहीं की गयी तो वह पूर्वोक्त मनुष्योंका ही ग्रास बन जाती है। इसलिये राजा दुष्टोंका दमन करे और शास्त्रमें बताये अनुसार प्रजासे कर ले। राज्यकी आधी आय सदा खजानेमें रख दिया करे और आधा ब्राह्मणको दे दे। श्रेष्ठ ब्राह्मण उस निधिको पाकर सब-का-सब अपने हाथमें ले ले और उसमेंसे चौथा, आठवाँ तथा सोलहवाँ भाग निकालकर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दे। धनको धर्मके अनुसार सुपात्रके हाथमें ही देना चाहिये। झूठ बोलनेवाले मनुष्यको दण्ड देना उचित है। राजा उसके धनका आठवाँ भाग दण्डके रूपमें ले ले। जिस धनका स्वामी लापता हो, उसे राजा तीन वर्षोंतक अपने अधिकारमें रक्खे। तीन वर्षके पहले यदि धनका स्वामी आ जाय तो वह उसे ले सकता है। उससे अधिक समय बीत जानेपर राजा स्वयं ही उस धनको ले ले। जो मनुष्य (नियत समयके भीतर आकर) 'यह मेरा धन है'—ऐसा कहकर उसका अपनेसे सम्बन्ध बतलाता है, वह विधिपूर्वक (राजाके सामने जाकर) उस धनका रूप और उसकी संख्या बतलावे। इस प्रकार अपनेको स्वामी सिद्ध कर देनेपर वह उस धनको पानेका अधिकारी होता है। जो धन छोटे बालकके हिस्सेका हो, उसकी राजा तबतक रक्षा करता रहे, जबतक कि उसका समावर्तन-संस्कार न हो जाय, अथवा जबतक उसकी बाल्यावस्था न निवृत्त हो जाय। इसी प्रकार जिनके कुलमें कोई न हो और उनके बच्चे छोटे हों, ऐसी स्त्रियोंकी भी रक्षा आवश्यक है ॥ ४—१९ ॥

पतिव्रता स्त्रियाँ भी यदि विधवा तथा रोगिणी हों तो उनकी रक्षा भी इसी प्रकार करनी चाहिये। यदि उनके जीते-जी कोई बन्धु-बान्धव उनके धनका अपहरण करें तो धर्मात्मा राजाको उचित है कि उन बान्धवोंको चोरका दण्ड दें। यदि साधारण चोरोंने प्रजाका धन चुराया हो तो राजा स्वयं उतना धन प्रजाको दे तथा जिन्हें चोरोंसे रक्षा करनेका काम सौंपा गया हो, उनसे चुराया हुआ धन राजा वसूल करे। जो मनुष्य चोरी न होनेपर भी अपने धनको चुराया हुआ बताता हो, वह दण्डनीय है; उसे राज्यसे बाहर निकाल देना चाहिये। यदि घरका धन घरवालोंने ही चुराया हो तो राजा अपने पाससे उसको न दे। अपने राज्यके भीतर जितनी दूकानें हों, उनसे उनकी आयका बीसवाँ हिस्सा राजाको टैक्सके रूपमें लेना चाहिये। परदेशसे माल मँगानेमें जो खर्च और नुकसान बैठता हो, उसका ब्यौरा बतानेवाला बीजक देखकर तथा मालपर दिये जानेवाले टैक्सका विचार करके प्रत्येक व्यापारीपर कर लगाना चाहिये, जिससे उसको लाभ होता रहे—वह घाटेमें न पड़े। आयका बीसवाँ भाग ही राजाको लेना चाहिये। यदि कोई राजकर्मचारी इससे अधिक वसूल करता हो तो उसे दण्ड देना उचित है। स्त्रियों और साधु-संन्यासियोंसे नावकी उतराई (खेवा) नहीं लेनी चाहिये। यदि मल्लाहोंकी गलतीसे नावपर कोई चीज नुकसान हो जाय तो वह मल्लाहोंसे ही दिलानी चाहिये। राजा शूकधान्य[1]का छठा भाग और शिम्बिधान्य[2]का आठवाँ भाग करके रूपमें ग्रहण करे। इसी प्रकार जंगली फल-मूल आदिमेंसे देश-कालके अनुरूप उचित कर लेना चाहिये। पशुओंका पाँचवाँ और सुवर्णका छठा भाग राजाके लिये ग्राह्य है। गन्ध, ओषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, बाँस, वेणु, चर्म, बाँसको चीरकर बनाये हुए टोकरे तथा पत्थरके बर्तनोंपर और मधु, मांस एवं घीपर भी आमदनीका छठा भाग ही कर लेना उचित है ॥ २०—२९ ॥

१. 'शूकधान्य' वह अन्न है, जिसके दाने बालों या सीकोंसे लगते हैं—जैसे गेहूँ, जौ आदि।

२. वह अन्न, जिसके पौधेमें फली (छीमी) लगती हो—जैसे चना, मटर आदि।

ब्राह्मणोंसे कोई प्रिय वस्तु अथवा कर नहीं लेना चाहिये जिस राजाके राज्यमें श्रोत्रिय ब्राह्मण भूखसे कष्ट पाता है, उसका राज्य बीमारी, अकाल और लुटेरोंसे पीड़ित होता रहता है। अतः ब्राह्मणकी विद्या और आचरणको जानकर उसके लिये अनुकूल जीविकाका प्रबन्ध करे तथा जैसे पिता अपने औरस पुत्रका पालन करता है, उसी प्रकार राजा विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणकी सर्वथा रक्षा करे। जो राजासे सुरक्षित होकर प्रतिदिन धर्मका अनुष्ठान करता है, उस ब्राह्मणके धर्मसे राजाकी आयु बढ़ती है तथा उसके राष्ट्र एवं खजानेकी भी उन्नति होती है। शिल्पकारोंको चाहिये कि महीनेमें एक दिन बिना पारिश्रमिक लिये केवल भोजन स्वीकार करके राजाका काम करें। इसी प्रकार दूसरे लोगोंको भी, जो राज्यमें रहकर अपने शरीरके परिश्रमसे जीविका चलाते हैं, महीनेमें एक दिन राजाका काम करना चाहिये ॥ ३०—३४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मका कथन' नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२३ ॥

दो सौ चौबीसवाँ अध्याय

अन्तःपुरके सम्बन्धमें राजाके कर्तव्य; स्त्रीकी विरक्ति और अनुरक्तिकी परीक्षा तथा सुगन्धित पदार्थोंके सेवनका प्रकार

पुष्कर कहते हैं—अब मैं अन्तःपुरके विषयमें विचार करूँगा। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन पुरुषार्थ 'त्रिवर्ग' कहलाते हैं। इनकी एक-दूसरेके द्वारा रक्षा करते हुए स्त्रीसहित राजाओंको इनका सेवन करना चाहिये। 'त्रिवर्ग' एक महान् वृक्षके समान है। 'धर्म' उसकी जड़, 'अर्थ' उसकी शाखाएँ और 'काम' उसका फल है। मूलसहित उस वृक्षकी रक्षा करनेसे ही राजा फलका भागी हो सकता है। राम! स्त्रियाँ कामके अधीन होती हैं, उन्हींके लिये रत्नोंका संग्रह होता है। विषयसुखकी इच्छा रखनेवाले राजाको स्त्रियोंका सेवन करना चाहिये, परंतु अधिक मात्रामें नहीं। आहार, मैथुन और निद्रा—इनका अधिक सेवन निषिद्ध है; क्योंकि इनसे रोग उत्पन्न होता है। उन्हीं स्त्रियोंका सेवन करे अथवा पलंगपर बैठावे, जो अपनेमें अनुराग रखनेवाली हों। परंतु जिस स्त्रीका आचरण दुष्ट हो, जो अपने स्वामीकी चर्चा भी पसंद नहीं करती, बल्कि उनके शत्रुओंसे एकता स्थापित करती है, उद्दण्डतापूर्वक गर्व धारण किये रहती है, चुम्बन करनेपर अपना मुँह पोंछती या धोती है, स्वामीकी दी हुई वस्तुका अधिक आदर नहीं करती, पतिके पहले सोती है, पहले सोकर भी उनके जागनेके बाद ही जागती है, जो स्पर्श करनेपर अपने शरीरको कँपाने लगती है, एक-एक अङ्गपर अवरोध उपस्थित करती है, उनके प्रिय वचनको भी बहुत कम सुनती है और सदा उनसे पराङ्मुख रहती है, सामने जाकर कोई वस्तु दी जाय, तो उसपर दृष्टि नहीं डालती, अपने जघन (कटिके अग्रभाग) को अत्यन्त छिपाने— पतिके स्पर्शसे बचानेकी चेष्टा करती है, स्वामीको देखते ही जिसका मुँह उतर जाता है, जो उनके मित्रोंसे भी विमुख रहती है, वे जिन-जिन स्त्रियोंके प्रति अनुराग रखते हैं, उन सबकी ओरसे जो मध्यस्थ (न अनुरक्त न विरक्त) दिखायी देती है तथा जो शृङ्गारका समय उपस्थित जानकर भी शृङ्गार-धारण नहीं करती, वह स्त्री 'विरक्त' है। उसका परित्याग करके अनुरागिणी स्त्रीका सेवन करना चाहिये। अनुरागवती स्त्री स्वामीको देखते ही प्रसन्नतासे खिल उठती है, दूसरी ओर मुख किये होनेपर भी कनखियोंसे उनकी ओर देखा करती है, स्वामीको निहारते देख अपनी चञ्चल दृष्टि अन्यत्र हटा ले जाती है, परंतु पूरी तरह हटा नहीं पाती तथा अनुनन्दन ! अपने गुप्त अङ्गोंको भी वह कभी-कभी व्यक्त कर देती है और शरीरका जो अंश सुन्दर नहीं है, उसे प्रयत्नपूर्वक छिपाया करती है, स्वामीके देखते-देखते छोटे बच्चेका आलिङ्गन और चुम्बन करने लगती है, बात-चीतमें भाग लेती और सत्य बोलती है, स्वामीका स्पर्श पाकर जिसके अङ्गोंमें रोमाञ्च और स्वेद प्रकट हो जाते हैं, जो उनसे अत्यन्त सुलभ वस्तु ही माँगती है और स्वामीसे थोड़ा पाकर भी अधिक प्रसन्नता प्रकट करती है, उनका नाम लेते ही आनन्दविभोर हो जाती तथा विशेष आदर करती है, स्वामीके पास अपनी अङ्गुलियोंके चिह्नसे युक्त फल भेजा करती है तथा स्वामीकी भेजी हुई कोई वस्तु पाकर उसे आदरपूर्वक छातीसे लगा लेती है, अपने आलिङ्गनोंद्वारा मानो स्वामीके शरीरपर अमृतका लेप कर देती है, स्वामीके

सो जानेपर सोती और पहले ही जग जाती है तथा स्वामीके ऊरुओंका स्पर्श करके उन्हें सोतेसे जगाती है ॥ १–१७½ ॥

राम ! दहीकी मलाईके साथ थोड़ा-सा कपित्थ (कैथ)-का चूर्ण मिला देनेसे जो घी तैयार होता है, उसकी गन्ध उत्तम होती है। घी, दूध आदिके साथ जौ, गेहूँ आदिके आटेका मेल होनेसे उत्तम खाद्य-पदार्थ तैयार होता है। अब भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें गन्ध छोड़नेका प्रकार दिखलाया जाता है। शौच, आचमन, विरेचन, भावना, पाक, बोधन, धूपन और वासन—ये आठ प्रकारके कर्म बतलाये गये हैं। कपित्थ, बिल्व, जामुन, आम और करवीरके पल्लवोंसे जलको शुद्ध करके उसके द्वारा जो किसी द्रव्यको धोकर या अभिषिक्त करके पवित्र किया जाता है, वह उस द्रव्यका 'शौचन' (शोधन अथवा पवित्रीकरण) कहलाता है। इन पल्लवोंके अभावमें कस्तूरीमिश्रित जलके द्वारा द्रव्योंकी शुद्धि होती है। नख, कुट, घन (नागरमोथा), जटामांसी, स्पृक्क, शैलेयज (शिलाजीत), जल, कुमकुम (केसर), लाक्षा (लाह), चन्दन, अगुरु, नीरद, सरल, देवदारु, कपूर, कान्ता, वाल (सुगन्धवाला), कुन्दुरुक, गुग्गुल, श्रीनिवास और करायल—ये धूपके इक्कीस द्रव्य हैं। इन इक्कीस धूप-द्रव्योंमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार दो-दो द्रव्य लेकर उनमें करायल मिलावे। फिर सबमें नख (एक प्रकारका सुगन्धद्रव्य), पिण्याक (तिलकी खली) और मलय-चन्दनका चूर्ण मिलाकर सबको मधुसे युक्त करे। इस प्रकार अपने इच्छानुसार विधिवत् तैयार किये हुए धूपयोग होते हैं। त्वचा (छाल), नाड़ी (डंठल), फल, तिलका तेल, केसर, ग्रन्थिपर्वा, शैलेय, तगर, विष्णुकान्ता, चोल, कपूर, जटामांसी, सुरा, कुट—ये सब स्नानके लिये उपयोगी द्रव्य हैं। इन द्रव्योंमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार तीन द्रव्य लेकर उनमें कस्तूरी मिला दे। इन सबसे मिश्रित जलके द्वारा यदि स्नान करे तो वह कामदेवको बढ़ानेवाला होता है। त्वचा, सुरा, नलद—इन सबको समान मात्रामें लेकर इनमें आधा सुगन्धवाला मिला दे। फिर इनके द्वारा स्नान करनेपर शरीरसे कमलकी-सी गन्ध उत्पन्न होती है। इनके ऊपर यदि तेल लगाकर स्नान करे तो शरीरका रंग कुमकुमके समान हो जाता है। यदि उपर्युक्त द्रव्योंमें आधा तगर मिला दिया जाय तो शरीरसे चमेलीके फूलकी भाँति सुगन्ध आती है। उनमें व्यामक नामवाली ओषध मिला देनेसे मौलसिरीके फूलोंकी-सी मनोहारिणी सुगन्ध प्रकट होती है। तिलके तेलमें मंजिष्ठा, तगर, चोल, त्वचा, व्याघ्रनख, नख और गन्धपत्र छोड़ देनेसे बहुत ही सुन्दर और सुगन्धित तेल तैयार हो जाता है। यदि तिलोंको सुगन्धित फूलोंसे वासित करके उनका तेल पेरा जाय तो निश्चय ही वह तेल फूलके समान ही सुगन्धित होता है। इलायची, लवंग, कक्कोल (कबाबचीनी), जायफल और कपूर—ये स्वतन्त्ररूपसे एक-एक भी यदि जायफलकी पत्तीके साथ खाये जायँ तो मुँहको सुगन्धित रखनेवाले होते हैं। कपूर, केसर, कान्ता, कस्तूरी, मेउड़का फल, कबाबचीनी, इलायची, लवंग, जायफल, सुपारी, त्वक्पत्र, त्रुटि (छोटी इलायची), मोथा, लता, कस्तूरी, लवंगके काँटे, जायफलके फल और पत्ते, कटुफल—इन सबको एक-एक पैसेभर एकत्रित करके इनका चूर्ण बना ले और उसमें चौथाई भाग वासित किया हुआ खैरसार मिलावे। फिर आमके रसमें घोटकर इनकी सुन्दर-सुन्दर गोलियाँ बना ले। वे सुगन्धित गोलियाँ मुँहमें रखनेपर मुख-सम्बन्धी रोगोंका विनाश करनेवाली होती हैं। पूर्वोक्त पाँच पल्लवोंके जलसे धोयी हुई सुपारीको यथाशक्ति ऊपर बतायी हुई गोलीके द्रव्योंसे वासित कर दिया जाय तो वह मुँहको सुगन्धित रखनेवाली होती है। कटुक और दाँतनको यदि तीन दिनतक गोमूत्रमें भिगोकर रखा जाय तो वे सुपारीकी ही भाँति मुँहमें सुगन्ध उत्पन्न करनेवाले होते हैं। त्वचा और जंगी हर्रेको बराबर मात्रामें लेकर उनमें आधा भाग कपूर मिला दे तो वे मुँहमें डालनेपर पानके समान मनोहर गन्ध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार राजा अपने सुगन्ध आदि गुणोंसे स्त्रियोंको वशीभूत करके सदा उनकी रक्षा करे। कभी उनपर विश्वास न करे। विशेषतः पुत्रकी मातापर तो बिल्कुल विश्वास न करे। सारी रात स्त्रीके घरमें न सोवे; क्योंकि उनका दिलाया हुआ विश्वास बनावटी होता है ॥ १८–४२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मका कथन' नामक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥



दो सौ पचीसवाँ अध्याय

राज-धर्म—राजपुत्र-रक्षण आदि

पुष्कर कहते हैं—राजाको अपने पुत्रकी रक्षा करनी चाहिये तथा उसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और धनुर्वेदकी शिक्षा देनी चाहिये। साथ ही अनेक प्रकारके शिल्पोंकी शिक्षा देनी भी आवश्यक है। शिक्षक विश्वसनीय और प्रिय वचन बोलनेवाले होने चाहिये। राजकुमारकी शरीर-रक्षाके लिये कुछ रक्षकोंको नियुक्त करना भी आवश्यक है। क्रोधी, लोभी तथा अपमानित पुरुषोंके संगसे उसको दूर रखना चाहिये। गुणोंका आधान करना सहज नहीं होता, अतः इसके लिये राजकुमारको सुखोंसे बाँधना चाहिये। जब पुत्र शिक्षित हो जाय तो उसे सभी अधिकारोंमें नियुक्त करे। मृगया, मद्यपान और जुआ—ये राज्यका नाश करनेवाले दोष हैं। राजा इनका परित्याग करे ॥ १-४ ॥

दिनका सोना, व्यर्थ घूमना और कटुभाषण करना छोड़ दे। परायी निन्दा, कठोर दण्ड और अर्थदूषणका भी परित्याग करे। सुवर्ण आदिकी खानोंका विनाश और दुर्ग आदिकी मरम्मत न कराना—ये अर्थके दूषण कहे गये हैं। धनको थोड़ा-थोड़ा करके अनेकों स्थानोंपर रखना, अयोग्य देश और अयोग्य कालमें अपात्रको दान देना तथा बुरे कामोंमें धन लगाना—यह सब भी अर्थका दूषण (धनका दुरुपयोग) है। काम, क्रोध, मद, मान, लोभ और दर्पका त्याग करे। तत्पश्चात् भृत्योंको जीतकर नगर और देशके लोगोंको वशमें करे। इसके बाद बाह्यशत्रुओंको जीतनेका प्रयत्न करे। बाह्यशत्रु भी तीन प्रकारके होते हैं—एक तो वे हैं, जिनके साथ पुश्तैनी दुश्मनी हो; दूसरे प्रकारके शत्रु हैं—अपने राज्यकी सीमापर रहनेवाले सामन्त तथा तीसरे हैं—कृत्रिम—अपने बनाये हुए शत्रु। इनमें पूर्व-पूर्व शत्रु गुरु (भारी या अधिक भयानक) हैं। महाभाग! मित्र भी तीन प्रकारके बतलाये जाते हैं—बाप-दादोंके समयके मित्र, शत्रुके सामन्त तथा कृत्रिम ॥ ५-१० ॥

धर्मज्ञ परशुरामजी! राजा, मन्त्री, जनपद, दुर्ग, दण्ड (सेना), कोष और मित्र—ये राज्यके सात अङ्ग कहलाते हैं। राज्यकी जड़ है—स्वामी (राजा); अतः उसकी विशेषरूपसे रक्षा होनी चाहिये। राज्याङ्गके विद्रोहीको मार डालना उचित है। राजाको समयानुसार कठोर भी होना चाहिये और कोमल भी। ऐसा करनेसे राजाके दोनों लोक सुधरते हैं। राजा अपने भृत्योंके साथ हँसी-परिहास न करे; क्योंकि सबके साथ हँस-हँसकर बातें करनेवाले राजाको उसके सेवक अपमानित कर बैठते हैं। लोगोंको मिलाये रखनेके लिये राजाको बनावटी व्यसन भी रखना चाहिये। वह मुसकाकर बोले और ऐसा बर्ताव करे, जिससे सब लोग प्रसन्न रहें। दीर्घसूत्री (कार्यारम्भमें विलम्ब करनेवाले) राजाके कार्यकी अवश्य हानि होती है, परंतु राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापकर्म तथा अप्रिय भाषणमें दीर्घसूत्री (विलम्ब लगानेवाले) राजाकी प्रशंसा होती है। राजाको अपनी मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिये। उसके गुप्त रहनेसे राजापर कोई आपत्ति नहीं आती ॥ ११-१६ ॥

राजाका राज्य-सम्बन्धी कोई कार्य पूरा हो जानेपर ही दूसरोंको मालूम होना चाहिये। उसका प्रारम्भ कोई भी जानने न पावे। मनुष्यके आकार, इशारे, चाल-ढाल, चेष्टा, बातचीत तथा नेत्र और मुखके विकारोंसे उसके भीतरकी बात पकड़में आ जाती है। राजा न तो अकेले ही किसी गुप्त विषयपर विचार करे और न अधिक मनुष्योंको ही साथ रक्खे। बहुतोंसे सलाह अवश्य ले, किंतु अलग-अलग। [सबको एक साथ बुलाकर नहीं।] मन्त्रीको चाहिये कि राजाके गुप्त विचारको दूसरे मन्त्रियोंपर भी न प्रकट करे। मनुष्योंका सदा कहीं, किसी एकपर ही विश्वास जमता है, इसलिये एक ही विद्वान् मन्त्रीके साथ बैठकर राजाको गुप्त मन्त्रका निश्चय करना चाहिये। विनयका त्याग करनेसे राजाका नाश हो जाता है और विनयकी रक्षासे उसे राज्यकी प्राप्ति होती है। तीनों वेदोंके विद्वानोंसे त्रयीविद्या, सनातन दण्डनीति, आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) तथा अर्थशास्त्रका ज्ञान प्राप्त करे। साथ ही वार्ता (कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य आदि) के प्रारम्भ करनेका ज्ञान लोकसे प्राप्त करे। अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला राजा ही प्रजाको अधीन रखनेमें समर्थ होता है। देवताओं और समस्त ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये तथा उन्हें दान भी देना चाहिये। ब्राह्मणको दिया हुआ दान अक्षय निधि है; उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। संग्राममें पीठ न दिखाना, प्रजाका पालन करना

और ब्राह्मणोंको दान देना—ये राजाके लिये परम कल्याणकी बातें हैं। दीनों, अनाथों, वृद्धों तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेमका निर्वाह तथा उनके लिये आजीविकाका प्रबन्ध करे। वर्ण और आश्रम-धर्मकी रक्षा तथा तपस्वियोंका सत्कार राजाका कर्तव्य है। राजा कहीं भी विश्वास न करे, किंतु तपस्वियोंपर अवश्य विश्वास करे। उसे यथार्थ युक्तियोंके द्वारा दूसरोंपर अपना विश्वास जमा लेना चाहिये। राजा बगुलेकी भाँति अपने स्वार्थका विचार करे और [अवसर पानेपर] सिंहके समान पराक्रम दिखावे। भेड़ियेकी तरह झपटकर शत्रुको विदीर्ण कर डाले, खरगोशकी भाँति छलाँगें भरते हुए अदृश्य हो जाय और सूअरकी भाँति दृढ़तापूर्वक प्रहार करे। राजा मोरकी भाँति विचित्र आकार धारण करे, घोड़ेके समान दृढ़ भक्ति रखनेवाला हो और कोयलकी तरह मीठे वचन बोले। कौएकी तरह सबसे चौकन्ना रहे; रातमें ऐसे स्थानपर रहे, जो दूसरोंको मालूम न हो; जाँच या परख किये बिना भोजन और शय्याको ग्रहण न करे। अपरिचित स्त्रीके साथ समागम न करे; बेजान-पहचानकी नावपर न चढ़े। अपने राष्ट्रकी प्रजाको चूसनेवाला राजा राज्य और जीवन—दोनोंसे हाथ धो बैठता है। महाभाग! जैसे पाला हुआ बछड़ा बलवान् होनेपर काम करनेके योग्य होता है, उसी प्रकार सुरक्षित राष्ट्र राजाके काम आता है। यह सारा कर्म दैव और पुरुषार्थके अधीन है। इनमें दैव तो अचिन्त्य है, किंतु पुरुषार्थमें कार्य करनेकी शक्ति है। राजाके राज्य, पृथ्वी तथा लक्ष्मीकी उत्पत्तिका एकमात्र कारण है—प्रजाका अनुराग। [अतः राजाको चाहिये कि वह सदा प्रजाको संतुष्ट रक्खे।] ॥ १७—३३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मका कथन' नामक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय

पुरुषार्थकी प्रशंसा; साम आदि उपायोंका प्रयोग तथा राजाकी विविध देवरूपताका प्रतिपादन

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! दूसरे शरीरसे उपार्जित किये हुए अपने ही कर्मका नाम 'दैव' समझिये। इसलिये मेधावी पुरुष पुरुषार्थको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। दैव प्रतिकूल हो तो उसका पुरुषार्थसे निवारण किया जा सकता है तथा पहलेके सात्त्विक कर्मसे पुरुषार्थके बिना भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। भृगुनन्दन! पुरुषार्थ ही दैवकी सहायतासे समयपर फल देता है। दैव और पुरुषार्थ—ये दोनों मनुष्यको फल देनेवाले हैं। पुरुषार्थद्वारा की हुई कृषिसे वर्षाका योग प्राप्त होनेपर समयानुसार फलकी प्राप्ति होती है। अतः धर्मानुष्ठान-पूर्वक पुरुषार्थ करे; आलसी न बने और दैवका भरोसा करके बैठा न रहे ॥ १—४ ॥

साम आदि उपायोंसे आरम्भ किये हुए सभी कार्य सिद्ध होते हैं। साम, दान, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल—ये सात उपाय बतलाये गये हैं। इनका परिचय सुनिये। तथ्य और अतथ्य—दो प्रकारका 'साम' कहा गया है। उनमें 'अतथ्य साम' साधु पुरुषोंके लिये कलङ्कका ही कारण होता है। अच्छे कुलमें उत्पन्न, सरल, धर्मपरायण और जितेन्द्रिय पुरुष सामसे ही वशमें होते हैं। अतथ्य सामके द्वारा तो राक्षस भी वशीभूत हो जाते हैं। उनके किये हुए उपकारोंका वर्णन भी उन्हें वशमें करनेका अच्छा उपाय है। जो लोग आपसमें द्वेष रखनेवाले तथा कुपित, भयभीत एवं अपमानित हैं, उनमें भेदनीतिका प्रयोग करे और उन्हें अत्यन्त भय दिखावे। अपनी ओरसे उन्हें आशा दिखावे तथा जिस दोषसे वे दूसरे लोग डरते हों, उसीको प्रकट करके उनमें भेद डाले। शत्रुके कुटुम्बमें भेद डालनेवाले पुरुषकी रक्षा करनी चाहिये। सामन्तका कोप बाहरी कोप है तथा मन्त्री, अमात्य और पुत्र आदिका कोप भीतरी कोपके अन्तर्गत है; अतः पहले भीतरी कोपको शान्त करके सामन्त आदि शत्रुओंके बाह्य कोपको जीतनेका प्रयत्न करे ॥ ५—११ ॥

सभी उपायोंमें 'दान' श्रेष्ठ माना गया है। दानसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सफलता प्राप्त होती है। ऐसा कोई भी नहीं है, जो दानसे वशमें न हो जाता हो। दानी मनुष्य ही परस्पर सुसंगठित रहनेवाले लोगोंमें भी भेद डाल सकता है। साम, दान और भेद—इन तीनोंसे जो कार्य न सिद्ध हो सके, उसे 'दण्ड'के द्वारा सिद्ध करना चाहिये। दण्डमें सब कुछ स्थित है। दण्डका अनुचित प्रयोग अपना ही नाश कर डालता है। जो दण्डके योग्य नहीं हैं, उनको दण्ड देनेवाला, तथा जो दण्डनीय हैं, उनको दण्ड न देनेवाला राजा नष्ट हो जाता है। यदि राजा दण्डके द्वारा सबकी

रक्षा न करे तो देवता, दैत्य, नाग, मनुष्य, सिद्ध, भूत और पक्षी—ये सभी अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर जायँ। चूँकि यह उद्दण्ड पुरुषोंका दमन करता और अदण्डनीय पुरुषोंको दण्ड देता है, इसलिये दमन और दण्डके कारण विद्वान् पुरुष इसे 'दण्ड' कहते हैं ॥ १२-१६ ॥

जब राजा अपने तेजसे इस प्रकार तप रहा हो कि उसकी ओर देखना कठिन हो जाय, तब वह 'सूर्यवत्' होता है। जब वह दर्शन देनेमात्रसे जगत्को प्रसन्न करता है, तब 'चन्द्रतुल्य' माना जाता है। राजा अपने गुप्तचरोंके द्वारा समस्त संसारमें व्याप्त रहता है, इसलिये वह 'वायुरूप' है तथा दोष देखकर दण्ड देनेके कारण 'सर्वसमर्थ यमराज'के समान माना गया है। जिस समय वह खोटी बुद्धिवाले दुष्टजनको अपने कोपसे दग्ध करता है, उस समय साक्षात् 'अग्निदेव'का रूप होता है तथा जब ब्राह्मणोंको दान देता है, उस समय उस दानके कारण वह धनाध्यक्ष 'कुबेर-तुल्य' हो जाता है। देवता आदिके निमित्त घृत आदि हविष्यकी घनी धारा बरसानेके कारण वह 'वरुण' माना गया है। भूपाल अपने 'क्षमा' नामक गुणसे जब सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है, उस समय 'पृथ्वीका स्वरूप' जान पड़ता है तथा उत्साह, मन्त्र और प्रभुशक्ति आदिके द्वारा वह सबका पालन करता है, इसलिये साक्षात् 'भगवान् विष्णु'का स्वरूप है ॥ १७-२० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सामादि उपायोंका कथन' नामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२६ ॥

दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय

अपराधोंके अनुसार दण्डके प्रयोग

पुष्कर कहते हैं—राम! अब मैं दण्डनीतिका प्रयोग बतलाऊँगा, जिससे राजाको उत्तम गति प्राप्त होती है। तीन जौका एक 'कृष्णल' समझना चाहिये, पाँच कृष्णलका एक 'माष' होता है; साठ कृष्णल [अथवा बारह माष] 'आधे कर्ष'के बराबर बताये गये हैं। सोलह माषका एक 'सुवर्ण' माना गया है। चार सुवर्णका एक 'निष्क' और दस निष्कका एक 'धरण' होता है। यह ताँबे, चाँदी और सोनेका मान बताया गया है ॥ १-३ ॥

परशुरामजी! ताँबेका जो 'कर्ष' होता है, उसे विद्वानोंने 'कार्षिक' और 'कार्षापण' नाम दिया है। ढाई सौ पण (पैसे) 'प्रथम साहस' दण्ड माना गया है, पाँच सौ पण 'मध्यम साहस' और एक हजार पण 'उत्तम साहस' दण्ड बताया गया है। चोरोंके द्वारा जिसके धनकी चोरी नहीं हुई है तो भी जो चोरीका धन वापस देनेवाले राजाके पास जाकर झूठ ही यह कहता है कि 'मेरा इतना धन चुराया गया है', उसके कथनकी असत्यता सिद्ध होनेपर उससे उतना ही धन दण्डके रूपमें वसूल करना चाहिये। जो मनुष्य चोरीमें गये हुए धनके विपरीत जितना धन बतलाता है, अथवा जो जितना झूठ बोलता है—उन दोनोंसे राजाको दण्डके रूपमें दूना धन वसूल करना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही धर्मको नहीं जानते। झूठी गवाही देनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंको कठोर दण्ड देना चाहिये; किंतु ब्राह्मणको केवल राज्यसे बाहर कर देना उचित है। उसके लिये दूसरे किसी दण्डका विधान नहीं है। धर्मज्ञ! जिसने धरोहर हड़प ली हो, उसपर धरोहरके रूपमें रक्खे हुए वस्त्र आदिकी कीमतके बराबर दण्ड लगाना चाहिये; ऐसा करनेसे धर्मकी हानि नहीं होती। जो धरोहरको नष्ट करा देता है, अथवा जो धरोहर रक्खे बिना ही किसीसे कोई वस्तु माँगता है—उन दोनोंको चोरके समान दण्ड देना चाहिये; या उनसे दूना जुर्माना वसूल करना चाहिये। यदि कोई पुरुष अनजानमें दूसरेका धन बेच देता है तो वह [भूल स्वीकार करनेपर] निर्दोष माना गया है; परंतु जो जान-बूझकर अपना बताते हुए दूसरेका सामान बेचता है, वह चोरके समान दण्ड पानेका अधिकारी है। जो अग्रिम मूल्य लेकर भी अपने हाथका काम बनाकर न दे, वह भी दण्ड देनेके ही योग्य है। जो देनेकी प्रतिज्ञा करके न दे, उसपर राजाको सुवर्ण (सोलह माष) का दण्ड लगाना चाहिये। जो मजदूरी लेकर काम न करे, उसपर आठ कृष्णल जुर्माना लगाना चाहिये। जो असमयमें भृत्यका त्याग करता है, उसपर भी उतना ही दण्ड लगाना चाहिये। कोई वस्तु खरीदने या बेचनेके बाद जिसको कुछ पश्चात्ताप हो, वह धनका स्वामी दस दिनके भीतर दाम लौटाकर माल ले सकता है। [अथवा

खरीददारको ही यदि माल पसंद न आवे तो वह दस दिनके भीतर उसे लौटाकर दाम ले सकता है ।] दस दिनसे अधिक हो जानेपर यह आदान-प्रदान नहीं हो सकता । अनुचित आदान-प्रदान करनेवालेपर राजाको छः सौका दण्ड लगाना चाहिये ॥ ४—१४½ ॥

जो वरके दोषोंको न बताकर किसी कन्याका वरण करता है, उसको वचनद्वारा दी हुई कन्या भी नहीं दी हुईके ही समान है । राजाको चाहिये कि उस व्यक्तिपर दो सौका दण्ड लगावे । जो एकको कन्या देनेकी बात कहकर फिर दूसरेको दे डालता है, उसपर राजाको उत्तम साहस (एक हजार पण) का दण्ड लगाना चाहिये । वाणीद्वारा कहकर उसे कार्य-रूपमें सत्य करनेसे निस्संदेह पुण्यकी प्राप्ति होती है । जो किसी वस्तुको एक जगह देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे लोभवश दूसरेके हाथ बेच देता है, उसपर छः सौका दण्ड लगाना चाहिये । जो ग्वाला मालिकसे भोजन-खर्च और वेतन लेकर भी उसकी गाय उसे नहीं लौटाता, अथवा अच्छी तरह उसका पालन-पोषण नहीं करता, उसपर राजा सौ सुवर्णका दण्ड लगावे । गाँवके चारों ओर सौ धनुषके घेरेमें तथा नगरके चारों ओर दो सौ या तीन सौ धनुषके घेरेमें खेती करनी चाहिये, जिसे खड़ा हुआ ऊँट न देख सके । जो खेत चारों ओरसे घेरा न गया हो, उसकी फसलको किसीके द्वारा नुकसान पहुँचनेपर दण्ड नहीं दिया जा सकता । जो भय दिखाकर दूसरोंके घर, पोखरे, बगीचे अथवा खेतको हड़पनेकी चेष्टा करता है, उसके ऊपर राजाको पाँच सौका दण्ड लगाना चाहिये । यदि उसने अनजानमें ऐसा किया हो तो दो सौका ही दण्ड लगाना उचित है । सीमाका भेदन करनेवाले सभी लोगोंको प्रथम श्रेणीके साहस (ढाई सौ पण) का दण्ड देना चाहिये ॥ १५—२२ ॥

परशुरामजी ! ब्राह्मणको नीचा दिखानेवाले क्षत्रियपर सौका दण्ड लगाना उचित है । इसी अपराधके लिये वैश्यसे दो सौ जुर्माना वसूल करे और शूद्रको कैदमें डाल दे । क्षत्रियको कलङ्कित करनेपर ब्राह्मणको पचासका दण्ड, वैश्यपर दोषारोपण करनेसे पचीसका और शूद्रको कलङ्क लगानेपर उसे बारहका दण्ड देना उचित है । यदि वैश्य क्षत्रियका अपमान करे तो उसपर प्रथम साहस (ढाई सौ पण) का दण्ड लगाना चाहिये और शूद्र यदि क्षत्रियको गाली दे तो उसकी जीभको सजा देनी चाहिये । ब्राह्मणोंको उपदेश करनेवाला शूद्र भी दण्डका भागी होता है । जो अपने शास्त्रज्ञान और देश आदिका झूठा परिचय दे, उसे दूने साहसका दण्ड देना उचित है । जो श्रेष्ठ पुरुषोंको पापाचारी कहकर उनके ऊपर आक्षेप करे, वह उत्तम साहसका दण्ड पानेके योग्य है । यदि वह यह कहकर कि 'मेरे मुँहसे प्रमादवश ऐसी बात निकल गयी है', अपना प्रेम प्रकट करे तो उसके लिये दण्ड घटाकर आधा कर देना चाहिये । माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, श्वसुर तथा गुरुपर आक्षेप करनेवाला और गुरुजनोंको रास्ता न देनेवाला पुरुष भी सौका दण्ड पानेके योग्य है । जो मनुष्य अपने जिस अङ्गसे दूसरे ऊँचे लोगोंका अपराध करे, उसके उसी अङ्गको बिना विचारे शीघ्र ही काट डालना चाहिये । जो घमंडमें आकर किसी उच्च पुरुषकी ओर थूके, राजाको उसके ओठ काट लेना उचित है । इसी प्रकार यदि वह उसकी ओर मुँह करके पेशाब करे तो उसका लिङ्ग और उधर पीठ करके अपशब्द करे तो उसकी गुदा काट लेनेके योग्य है । इतना ही नहीं, यदि वह ऊँचे आसनपर बैठा हो तो उस नीचके शरीरके निचले भागको दण्ड देना उचित है । जो मनुष्य दूसरेके जिस किसी अङ्गको घायल करे, उसके भी उसी अङ्गको कुतर डालना चाहिये । गौ, हाथी, घोड़े और ऊँटको हानि पहुँचानेवाले मनुष्योंके आधे हाथ और पैर काट लेने चाहिये । जो किसी (पराये) वृक्षके फल तोड़े, उसपर सुवर्णका दण्ड लगाना उचित है । जो रास्ता, खेतकी सीमा अथवा जलाशय आदिको काटकर नष्ट करे, उससे नुकसानका दूना दण्ड दिलाना चाहिये । जो जान-बूझकर या अनजानमें जिसके धनका अपहरण करे, वह पहले उसके धनको लौटाकर उसे संतुष्ट करे । उसके बाद राजाको भी जुर्माना दे । जो कुएँपरसे दूसरेकी रस्सी और घड़ा चुरा लेता तथा पौसले नष्ट कर देता है, उसे एक मासतक कैदकी सजा देनी चाहिये । प्राणियोंको मारनेपर भी यही दण्ड देना उचित है । जो दस घड़ेसे अधिक अनाजकी चोरी करता है, वह प्राणदण्ड देनेके योग्य है । बाकीमें भी अर्थात् दस घड़ेसे कम अनाजकी चोरी करनेपर भी, जितने घड़े अन्नकी चोरी करे, उससे ग्यारह गुना अधिक उस चोरपर दण्ड लगाना चाहिये । सोने-चाँदी आदि द्रव्यों, पुरुषों तथा स्त्रियोंका अपहरण करनेपर अपराधीको वधका दण्ड देना चाहिये । चोर जिस-जिस अङ्गसे जिस प्रकार मनुष्योंके प्रतिकूल चेष्टा करता है, उसके उसी-उसी अङ्गको वैसी ही निष्ठुरताके साथ कटवा

डालना राजाका कर्तव्य है। इससे चोरोंको चेतावनी मिलती है। यदि ब्राह्मण बहुत थोड़ी मात्रामें शाक और धान्य आदि ग्रहण करता है तो वह दोषका भागी नहीं होता। गो-सेवा तथा देव-पूजाके लिये भी कोई वस्तु लेनेवाला ब्राह्मण दण्डके योग्य नहीं है। जो दुष्ट पुरुष किसीका प्राण लेनेके लिये उद्यत हो, उसका वध कर डालना चाहिये। दूसरोंके घर और क्षेत्रका अपहरण करनेवाले, परस्त्रीके साथ व्यभिचार करनेवाले, आग लगानेवाले, जहर देनेवाले तथा हथियार उठाकर मारनेको उद्यत हुए पुरुषको प्राणदण्ड देना ही उचित है॥ २३—३९॥

राजा गौओंको मारनेवाले तथा आततायी पुरुषोंका वध करे। परायी स्त्रीसे बातचीत न करे और मना करनेपर किसीके घरमें न घुसे। स्वेच्छासे पतिका वरण करनेवाली स्त्री राजाके द्वारा दण्ड पानेके योग्य नहीं है, किंतु यदि नीच वर्णका पुरुष ऊँचे वर्णकी स्त्रीके साथ समागम करे तो वह वधके योग्य है। जो स्त्री अपने स्वामीका उल्लङ्घन [करके दूसरेके साथ व्यभिचार] करे, उसको कुत्तोंसे नोचवा देना चाहिये। जो सजातीय परपुरुषके सम्पर्कसे दूषित हो चुकी हो, उसे [सम्पत्तिके अधिकारसे वञ्चित करके] शरीर-निर्वाहमात्रके लिये अन्न देना चाहिये। पतिके ज्येष्ठ भ्राताके व्यभिचार करके दूषित हुई नारीके मस्तकका बाल मुँडवा देना चाहिये। यदि ब्राह्मण वैश्यजातिकी स्त्रीसे और क्षत्रिय नीच जातिकी स्त्रीके साथ समागम करें तो उनके लिये भी यही दण्ड है। शूद्राके साथ व्यभिचार करनेवाले क्षत्रिय और वैश्यको प्रथम साहस (ढाई सौ पण) का दण्ड देना उचित है। यदि वेश्या एक पुरुषसे वेतन लेकर लोभवश दूसरेके पास चली जाय तो वह दूना वेतन वापस करे और दण्ड भी दूना दे। स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य तथा सहोदर भाई यदि अपराध करें तो उन्हें रस्सी अथवा बाँसकी छड़ीसे पीट देना चाहिये। प्रहार पीठपर ही करना उचित है, मस्तकपर नहीं। मस्तकपर प्रहार करनेवालेको चोरका दण्ड मिलता है॥ ४०—४६॥

जो रक्षाके कामपर नियुक्त होकर प्रजासे रुपये ऐंठते हों, उनका सर्वस्व छीनकर राजा उन्हें अपने राज्यसे बाहर कर दे। जो लोग किसी कार्यार्थीके द्वारा उसके निजी कार्यमें नियुक्त होकर वह कार्य चौपट कर डालते हैं, राजाको उचित है कि उन क्रूर और निर्दयी पुरुषोंका सारा धन छीन ले। यदि कोई मन्त्री अथवा प्राड्विवाक (न्यायाधीश) विपरीत कार्य करे तो राजा उसका सर्वस्व लेकर उसे अपने राज्यसे बाहर निकाल दे। गुरुपत्नीगामीके शरीरपर भगका चिह्न अङ्कित करा दे। सुरापान करनेवाले महापातकीके ऊपर शराबखानेके झंडेका चिह्न दगवा दे। चोरी करनेवालेपर कुत्तेका नाखून गोदवा दे और ब्रह्महत्या करनेवालेके भालपर नरमुण्डका चिह्न अङ्कित कराना चाहिये। पापाचारी नीचोंको राजा मरवा डाले और ब्राह्मणोंको देश-निकाला दे दे तथा महापातकी पुरुषोंका धन वरुण देवताके अर्पण कर दे (जलमें डाल दे)। गाँवमें भी जो लोग चोरोंको भोजन देते हों तथा चोरीका माल रखनेके लिये घर और खजानेका प्रबन्ध करते हों, उन सबका भी वध करा देना उचित है। अपने राज्यके भीतर अधिकारके कार्यपर नियुक्त हुए सामन्त नरेश भी यदि पापमें प्रवृत्त हों तो उनका अधिकार छीन लेना चाहिये। जो चोर रातमें सेंध लगाकर चोरी करते हैं, राजाको उचित है कि उनके दोनों हाथ काटकर उन्हें तीखी शूलीपर चढ़ा दे। इसी प्रकार पोखरा तथा देवमन्दिर नष्ट करनेवाले पुरुषोंको भी प्राणदण्ड दे। जो बिना किसी आपत्तिके सड़कपर पेशाब, पाखाना आदि अपवित्र वस्तु छोड़ता है, उसपर कार्षापणोंका दण्ड लगाना चाहिये तथा उसीसे वह अपवित्र वस्तु फेंकवाकर वह जगह साफ करानी चाहिये। प्रतिमा तथा सीढ़ीको तोड़नेवाले मनुष्योंपर पाँच सौ कर्षका दण्ड लगाना चाहिये। जो अपने प्रति समान बर्ताव करनेवालोंके साथ विषमताका बर्ताव करता है, अथवा किसी वस्तुकी कीमत लगानेमें बेईमानी करता है, उसपर मध्यम साहस (पाँच सौ कर्ष) का दण्ड लगाना चाहिये। जो लोग बनियोंसे बहुमूल्य पदार्थ लेकर उसकी कीमत रोक लें, राजा उनपर पृथक्-पृथक् उत्तम साहस (एक हजार कर्ष) का दण्ड लगावे। जो वैश्य अपने सामानोंको खराब करके, अर्थात् बढ़िया चीजोंमें घटिया चीजें मिलाकर उन्हें मनमाने दामपर बेचे, वह मध्यम साहस (पाँच सौ कर्ष) का दण्ड पानेके योग्य है। जालसाजको उत्तम साहस (एक हजार कर्ष) का और कलहपूर्वक अपकार करनेवालेको उससे दूना दण्ड देना उचित है। अभक्ष्य-भक्षण करनेवाले ब्राह्मण अथवा शूद्रपर कृष्णलका दण्ड लगाना चाहिये। जो तराजूपर शासन करता है, अर्थात् डंडी मारकर कम तौल देता है, जालसाजी करता है तथा ग्राहकोंको हानि पहुँचाता है—इन सबको—और जो इनके साथ व्यवहार करता है, उसको भी उत्तम साहसका दण्ड दिलाना चाहिये। जो स्त्री जहर देनेवाली, आग लगानेवाली तथा पति, गुरु, ब्राह्मण और संतानकी हत्या

करनेवाली हो, उसके हाथ, कान, नाक और ओठ कटवाकर, बैलकी पीठपर चढ़ाकर उसे राज्यसे बाहर निकाल देना चाहिये। खेत, घर, गाँव और जंगल नष्ट करनेवाले तथा राजाकी पत्नीसे समागम करनेवाले मनुष्य घास-फूसकी आगमें जला देने योग्य हैं। जो राजाकी आज्ञाको घटा-बढ़ाकर लिखता है तथा परस्त्रीगामी पुरुषों और चोरोंको बिना दण्ड दिये ही छोड़ देता है, वह उत्तम साहसके दण्डका अधिकारी है। राजाकी सवारी और आसनपर बैठनेवालेको भी उत्तम साहसका ही दण्ड देना चाहिये। जो न्यायानुसार पराजित होकर भी अपनेको अपराजित मानता है, उसे सामने आनेपर फिर जीते और उसपर दूना दण्ड लगावे। जो आमन्त्रित नहीं है, उसको बुलाकर लानेवाला पुरुष वधके योग्य है। जो अपराधी दण्ड देनेवाले पुरुषके हाथसे छूटकर भाग जाता है, वह पुरुषार्थसे हीन है। दण्डकर्ताको उचित है कि ऐसे भीरु मनुष्यको शारीरिक दण्ड न देकर उसपर मनका दण्ड लगावे ॥ ४७—६७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दण्ड-प्रणयनका कथन' नामक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय

युद्ध-यात्राके सम्बन्धमें विचार

पुष्कर कहते हैं—जब राजा यह समझ ले कि किसी बलवान् आक्रन्द (राजा) के द्वारा मेरा पार्ष्णिग्राह[1] राजा पराजित कर दिया गया है तो वह सेनाको युद्धके लिये यात्रा करनेकी आज्ञा दे। पहले इस बातको समझ ले कि मेरे सैनिक खूब हृष्ट-पुष्ट हैं, भृत्योंका भलीभाँति भरण-पोषण हुआ है, मेरे पास अधिक सेना मौजूद है तथा मैं मूलकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ हूँ; इसके बाद सैनिकोंसे घिरकर शिविरमें जाय। जिस समय शत्रुपर कोई संकट पड़ा हो, दैवी और मानुषी आदि बाधाओंसे उसका नगर पीड़ित हो, तब युद्धके लिये यात्रा करनी चाहिये। जिस दिशामें भूकम्प आया हो, जिसे केतुने अपने प्रभावसे दूषित किया हो, उसी ओर आक्रमण करे। जब सेनामें शत्रुको नष्ट करनेका उत्साह हो, योद्धाओंके मनमें विपक्षियोंके प्रति क्रोधका भाव प्रकट हुआ हो, शुभसूचक अङ्ग फड़क रहे हों, अच्छे स्वप्न दिखायी देते हों तथा उत्तम निमित्त और शकुन हो रहे हों, तब शत्रुके नगरपर चढ़ाई करनी चाहिये। यदि वर्षाकालमें यात्रा करनी हो तो जिसमें पैदल और हाथियोंकी संख्या अधिक हो, ऐसी सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दे। हेमन्त और शिशिर ऋतुमें ऐसी सेना ले जाय, जिसमें रथ और घोड़ोंकी संख्या अधिक हो। वसन्त और शरद्के आरम्भमें

[1] १-२. अग्निपुराणके दो सौ तैंतीसवें और दो सौ चालीसवें अध्यायोंमें, महाभारत-शान्तिपर्वमें तथा 'कामन्दक-नीतिसार'के आठवें सर्गमें द्वादश राजमण्डलका वर्णन आया है। उसमें 'विजिगीषु'को बीचमें रखकर उसके सम्मुखकी दिशामें पाँच राजमण्डलोंका और पीछेकी दिशामें चार राजमण्डलोंका विचार किया गया है। अगल-बगलके दो बड़े राज्य, 'मध्यम' और 'उदासीन मण्डल' कहे गये हैं। यथा—

		अरिमित्रमित्र ६		
		मित्रमित्र ५		
		अरिमित्र ४		
		मित्र ३		
	म	अरि २	म	
उदासीन १२	ध्य	विजिगीषु १	ध्य	उदासीन १२
	म ११	पार्ष्णिग्राह ७	म ११	
		आक्रन्द ८		
		९ पार्ष्णिग्राहासार		
		१० आक्रन्दासार		

इस चित्रमें विजिगीषुके पीछेवाला पार्ष्णिग्राह राजाका मण्डल है, जो विजिगीषुका शत्रुराज्य है। आक्रन्द विजिगीषुका मित्र होता है। पुष्कर कहते हैं—जब कोई बलवान् आक्रन्द (मित्र) पार्ष्णिग्राह (शत्रु) को उसके राज्यपर चढ़ाई करके दबा दे तो उस शत्रुके दुर्बल पड़ जानेपर विजिगीषु अपने मित्रोंके सहयोगसे तथा अपनी प्रबल सेनाद्वारा अपने सामनेवाले शत्रु-राज्यपर चढ़ाई कर सकता है।

चतुरङ्गिणी सेनाको युद्धके लिये नियुक्त करे। जिसमें पैदलोंकी संख्या अधिक हो, वही सेना सदा शत्रुओंपर विजय पाती है। यदि शरीरके दाहिने भागमें कोई अङ्ग फड़क रहा हो तो उत्तम है। बायें अङ्ग, पीठ तथा हृदयका फड़कना अच्छा नहीं है। इस प्रकार शरीरके चिह्नों, फोड़े-फुंसियों तथा फड़कने आदिके शुभाशुभ फलोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। स्त्रियोंके लिये इसके विपरीत फल बताया गया है। उनके बायें अङ्गका फड़कना शुभ होता है॥ १–८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'युद्धयात्राका वर्णन' नामक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२८॥

दो सौ उनतीसवाँ अध्याय

अशुभ और शुभ स्वप्नोंका विचार

पुष्कर कहते हैं—अब मैं शुभाशुभ स्वप्नोंका वर्णन करूँगा तथा दुःस्वप्न-नाशके उपाय भी बतलाऊँगा। नाभिके सिवा शरीरके अन्य अङ्गोंमें तृण और वृक्षोंका उगना, काँसके बर्तनोंका मस्तकपर रखकर फोड़ा जाना, माथा मुँड़ाना, नग्न होना, मैले कपड़े पहनना, तेल लगाना, कीचड़ लपेटना, ऊँचेसे गिरना, विवाह होना, गीत सुनना, वीणा आदिके बाजे सुनकर मन बहलाना, हिंडोलेपर चढ़ना, पद्म और लोहोंका उपार्जन, सर्पोंको मारना, लाल फूलसे भरे हुए वृक्षों तथा चाण्डालको देखना, सूअर, कुत्ते, गदहे और ऊँटोंपर चढ़ना, चिड़ियोंके मांसका भक्षण करना, तेल पीना, खिचड़ी खाना, माताके गर्भमें प्रवेश करना, चितापर चढ़ना, इन्द्रके उपलक्ष्यमें खड़ी की हुई ध्वजाका टूट पड़ना, सूर्य और चन्द्रमाका गिरना, दिव्य, अन्तरिक्ष और भूलोकमें होनेवाले उत्पातोंका दिखायी देना, देवता, ब्राह्मण, राजा और गुरुओंका कोप होना, नाचना, हँसना, ब्याह करना, गीत गाना, वीणाके सिवा अन्य प्रकारके बाजोंका स्वयं बजाना, नदीमें डूबकर नीचे जाना, गोबर, कीचड़ तथा स्याही मिलाये हुए जलसे स्नान करना, कुमारी कन्याओंका आलिङ्गन, पुरुषोंका एक-दूसरेके साथ मैथुन, अपने अङ्गोंकी हानि, वमन और विरेचन करना, दक्षिण दिशाकी ओर जाना, रोगसे पीड़ित होना, फलोंकी हानि, धातुओंका भेदन, घरोंका गिरना, घरोंमें झाड़ू देना, पिशाचों, राक्षसों, वानरों तथा चाण्डाल आदिके साथ खेलना, शत्रुसे अपमानित होना, उसकी ओरसे संकटका प्राप्त होना, गेरुआ वस्त्र धारण करना, गेरुए वस्त्रोंसे खेलना, तेल पीना या उसमें नहाना, लाल फूलोंकी माला पहनना और लाल ही चन्दन लगाना—ये सब बुरे स्वप्न हैं। इन्हें दूसरोंपर प्रकट न करना अच्छा है। ऐसे स्वप्न देखकर फिरसे सो जाना चाहिये। इसी प्रकार स्वप्नदोषकी शान्तिके लिये स्नान, ब्राह्मणोंका पूजन, तिलोंका हवन, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्यके गणोंकी पूजा, स्तुतिका पाठ तथा पुरुषसूक्त आदिका जप करना उचित है। रातके पहले प्रहरमें देखे हुए स्वप्न एक वर्षतक फल देनेवाले होते हैं, दूसरे प्रहरके स्वप्न छः महीनेमें, तीसरे प्रहरके तीन महीनेमें, चौथे प्रहरके पंद्रह दिनोंमें और अरुणोदयकी वेलामें देखे हुए स्वप्न दस ही दिनोंमें अपना फल प्रकट करते हैं॥ १–१७॥

यदि एक ही रातमें शुभ और अशुभ—दोनों ही प्रकारके स्वप्न दिखायी पड़ें तो उनमें जिसका पीछे दर्शन होता है, उसीका फल बतलाना चाहिये। अतः शुभ स्वप्न देखनेके पश्चात् सोना अच्छा नहीं माना जाता है। स्वप्नमें पर्वत, महल, हाथी, घोड़े और बैलपर चढ़ना हितकर होता है। परशुरामजी! यदि पृथ्वीपर या आकाशमें सफेद फूलोंसे भरे हुए वृक्षोंका दर्शन हो, अपनी नाभिसे वृक्ष अथवा तिनका उत्पन्न हो, अपनी भुजाएँ और मस्तक अधिक दिखायी दें, सिरके बाल पक जायँ तो उसका फल उत्तम होता है। सफेद फूलोंकी माला और श्वेत वस्त्र धारण करना, चन्द्रमा, सूर्य और ताराओंको पकड़ना, परिमार्जन करना, इन्द्रकी ध्वजाका आलिङ्गन करना, ध्वजाको ऊँचे उठाना, पृथ्वीपर पड़ती हुई जलकी धाराको अपने ऊपर रोकना, शत्रुओंकी बुरी दशा देखना, वाद-विवाद, जूआ तथा संग्राममें अपनी विजय देखना, खीर खाना, रक्तका देखना, खूनसे नहाना, सुरा, मद्य अथवा दूध पीना, अस्त्रोंसे घायल होकर धरतीपर छटपटाना, आकाशका स्वच्छ होना तथा गाय, भैंस, सिंहिनी, हथिनी और घोड़ीको मुँहसे दुहना—ये सब उत्तम स्वप्न हैं। देवता, ब्राह्मण और गुरुओंकी प्रसन्नता, गौओंके सींग अथवा चन्द्रमासे गिरे हुए जलके द्वारा अपना अभिषेक होना—ये स्वप्न राज्य प्रदान करनेवाले हैं, ऐसा समझना चाहिये। परशुरामजी! अपना राज्याभिषेक होना, अपने

मस्तकका काटा जाना, मरना, आगमें पड़ना, गृह आदिमें लगी हुई आगके भीतर जलना, राजचिह्नोंका प्राप्त होना, अपने हाथसे वीणा बजाना—ऐसे स्वप्न भी उत्तम एवं राज्य प्रदान करनेवाले हैं। जो स्वप्नके अन्तिम भागमें राजा, हाथी, घोड़ा, सुवर्ण, बैल तथा गायको देखता है, उसका कुटुम्ब बढ़ता है। बैल, हाथी, महलकी छत, पर्वत-शिखर तथा वृक्षपर चढ़ना, रोना, शरीरमें घी और विष्ठाका लग जाना तथा अगम्या स्त्रीके साथ समागम करना—ये सब शुभ स्वप्न हैं॥ १८—३१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शुभाशुभ स्वप्न एवं दुःस्वप्न-निवारण' नामक दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२९॥

दो सौ तीसवाँ अध्याय

अशुभ और शुभ शकुन

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! श्वेत वस्त्र, स्वच्छ जल, फलसे भरा हुआ वृक्ष, निर्मल आकाश, खेतमें लगे हुए अन्न और काला धान्य—इनका यात्राके समय दिखायी देना अशुभ है। रूई, तृणमिश्रित सूखा गोबर (कंडा), धन, अङ्गार, गुड़, करायल, मूँड़ मुड़ाकर तेल लगाया हुआ नग्न साधु, लोहा, कीचड़, चमड़ा, बाल, पागल मनुष्य, हिंजड़ा, चाण्डाल, श्वपच आदि, बन्धनकी रक्षा करनेवाले मनुष्य, गर्भिणी स्त्री, विधवा, तिलकी खली, मृत्यु, भूसी, राख, खोपड़ी, हड्डी और फूटा हुआ बर्तन—युद्धयात्राके समय इनका दिखायी देना अशुभ माना जाता है। बाजोंका वह शब्द, जिसमें फूटे हुए झाँझकी भयंकर ध्वनि सुनायी पड़ती हो, अच्छा नहीं माना गया है। 'चले आओ'—यह शब्द यदि सामनेकी ओरसे सुनायी पड़े तो उत्तम है, किंतु पीछेकी ओरसे शब्द हो तो अशुभ माना गया है। 'जाओ'—यह शब्द यदि पीछेकी ओरसे हो तो उत्तम है; किंतु आगेकी ओरसे हो तो निन्दित होता है। 'कहाँ जाते हो? ठहरो, न जाओ; वहाँ जानेसे तुम्हें क्या लाभ है?'—ऐसे शब्द अनिष्टकी सूचना देनेवाले हैं। यदि ध्वजा आदिके ऊपर चील आदि मांसाहारी पक्षी बैठ जायँ, घोड़े, हाथी आदि वाहन लड़खड़ाकर गिर पड़ें, हथियार टूट जायँ, द्वार आदिके द्वारा मस्तकपर चोट लगे तथा छत्र और वस्त्र आदिको कोई गिरा दे तो ये सब अपशकुन मृत्युका कारण बनते हैं। भगवान् विष्णुकी पूजा और स्तुति करनेसे अमङ्गलका नाश होता है। यदि दूसरी बार इन अपशकुनोंका दर्शन हो तो घर लौट जाय॥ १—८½॥

यात्राके समय श्वेत पुष्पोंका दर्शन श्रेष्ठ माना गया है। भरे हुए घड़ेका दिखायी देना तो बहुत ही उत्तम है। मांस, मछली, दूरका कोलाहल, अकेला वृद्ध पुरुष, पशुओंमें बकरे, गौ, घोड़े तथा हाथी, देवप्रतिमा, प्रज्वलित अग्नि, दूर्वा, ताजा गोबर, वेश्या, सोना, चाँदी, रत्न, वच, सरसों आदि ओषधियाँ, मूँग, आयुधोंमें तलवार, छाता, पीढ़ा, राजचिह्न, जिसके पास कोई रोता न हो ऐसा शव, फल, घी, दही, दूध, अक्षत, दर्पण, मधु, शङ्ख, ईख, शुभसूचक वचन, भक्त पुरुषोंका गाना-बजाना, मेघकी गम्भीर गर्जना, बिजलीकी चमक तथा मनका संतोष—ये सब शुभ शकुन हैं। एक ओर सब प्रकारके शुभ शकुन और दूसरी ओर मनकी प्रसन्नता—ये दोनों बराबर हैं॥ ९—१३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शकुन-वर्णन' नामक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३०॥

दो सौ इकतीसवाँ अध्याय

शकुनके भेद तथा विभिन्न जीवोंके दर्शनसे होनेवाले शुभाशुभ फलका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—राजाके ठहरने, जाने अथवा प्रश्न करनेके समय होनेवाले शकुन उसके देश और नगरके लिये शुभ और अशुभ फलकी सूचना देते हैं। शकुन दो प्रकारके होते हैं—'दीप्त' और 'शान्त'। दैवका विचार करनेवाले ज्यौतिषियोंने सम्पूर्ण दीप्त शकुनोंका फल अशुभ तथा शान्त शकुनोंका फल शुभ बतलाया है। वेलादीप्त, दिग्दीप्त, देशदीप्त, क्रियादीप्त, रुतदीप्त और जातिदीप्तके भेदसे दीप्त शकुन छः प्रकारके बताये गये हैं। उनमें पूर्व-पूर्वको अधिक प्रबल समझना चाहिये। दिनमें विचरनेवाले प्राणी रात्रिमें और रात्रिमें चलनेवाले प्राणी दिनमें विचरते दिखायी दें तो उसे

'वेलादीप्त' जानना चाहिये। इसी प्रकार जिस समय नक्षत्र, लग्न और ग्रह आदि क्रूर अवस्थाको प्राप्त हो जायँ, वह भी 'वेलादीप्त'के ही अन्तर्गत है। सूर्य जिस दिशाको जानेवाले हों, वह 'धूमिता', जिसमें मौजूद हों, वह 'ज्वलिता' तथा जिसे छोड़ आये हों, वह 'अङ्गारिणी' मानी गयी है। ये तीन दिशाएँ 'दीप्त' और शेष पाँच दिशाएँ 'शान्त' कहलाती हैं। दीप्त दिशामें जो शकुन हो, उसे 'दिग्दीप्त' कहा गया है। यदि गाँवमें जंगली और जंगलमें ग्रामीण पशु-पक्षी आदि मौजूद हों तो वह निन्दित देश है। इसी प्रकार जहाँ निन्दित वृक्ष हों, वह स्थान भी निन्द्य एवं अशुभ माना गया है ॥ १-७ ॥

विप्रवर! अशुभ देशमें जो शकुन होता है, उसे 'देश-दीप्त' समझना चाहिये। अपने वर्णधर्मके विपरीत अनुचित कर्म करनेवाला पुरुष 'क्रियादीप्त' बतलाया गया है। [उसका दिखायी देना 'क्रियादीप्त' शकुनके अन्तर्गत है।] फटी हुई भयंकर आवाजका सुनायी पड़ना 'रुतदीप्त' कहलाता है। केवल मांसभोजन करनेवाले प्राणीको 'जातिदीप्त' समझना चाहिये। [उसका दर्शन भी 'जातिदीप्त' शकुन है।] दीप्त अवस्थाके विपरीत जो शकुन हो, वह 'शान्त' बतलाया गया है। उसमें भी उपर्युक्त सभी भेद यत्नपूर्वक जानने चाहिये। यदि शान्त और दीप्तके भेद मिले हुए हों तो उसे 'मिश्र शकुन' कहते हैं। इस प्रकार विचारकर उसका फलाफल बतलाना चाहिये ॥ ८-१० ॥

गौ, घोड़े, ऊँट, गदहे, कुत्ते, सारिका (मैना), गृहगोधिका (गिरगिट), चटक (गौरैया), भास (चील या मुर्गा) और कछुए आदि प्राणी 'ग्रामवासी' कहे गये हैं। बकरा, मेढ़ा, तोता, गजराज, सूअर, भैंसा और कौआ—ये ग्रामीण भी होते हैं और जंगली भी। इनके अतिरिक्त और सभी जीव जंगली कहे गये हैं। बिल्ली और मुर्गा भी ग्रामीण तथा जंगली होते हैं; उनके रूपमें भेद होता है, इसीसे वे सदा पहचाने जाते हैं। गोकर्ण (खच्चर), मोर, चक्रवाक, गदहे, हारीत, कौए, कुलाह, कुक्कुभ, बाज, गीदड़, खञ्जरीट, वानर, शतघ्न, चटक, कोयल, नीलकण्ठ (श्येन), कपिञ्जल (चातक), तीतर, शतपत्र, कबूतर, खञ्जन, दात्यूह (जलकाक), शुक, राजीव, मुर्गा, भरदूल और सारंग—ये दिनमें चलनेवाले प्राणी हैं। वागुरी, उल्लू, शरभ, क्रौञ्च, खरगोश, कछुआ, लोमासिका और पिङ्गलिका—ये रात्रिमें चलनेवाले प्राणी बताये गये हैं। हंस, मृग, बिलाव, नेवला, रीछ, सर्प, वृकारि, सिंह, व्याघ्र, ऊँट, ग्रामीण सूअर, मनुष्य, श्वाविद, वृषभ, गोमायु, वृक, कोयल, सारस, घोड़े, गोधा और कौपीनधारी पुरुष—ये दिन और रात दोनोंमें चलनेवाले हैं ॥ ११-१९ ॥

युद्ध और युद्धकी यात्राके समय यदि ये सभी जीव झुंड बाँधकर सामने आवें तो विजय दिलानेवाले बताये गये हैं; किंतु यदि पीछेसे आवें तो मृत्युकारक माने गये हैं। यदि नीलकण्ठ अपने घोंसलेसे निकलकर आवाज देता हुआ सामने स्थित हो जाय तो वह राजाको अपमानकी सूचना देता है और जब वह वामभागमें आ जाय तो कलहकारक एवं भोजनमें बाधा डालने-वाला होता है। यात्राके समय उसका दर्शन उत्तम माना गया है; उसके बायें अङ्गका अवलोकन भी उत्तम है। यदि यात्राके समय मोर जोर-जोरसे आवाज दे तो चोरोंके द्वारा अपने धनकी चोरी होनेका संदेश देता है ॥ २०-२२ ॥

परशुरामजी! प्रस्थानकालमें यदि मृग आगे-आगे चले तो वह प्राण लेनेवाला होता है। रीछ, चूहा, सियार, बाघ, सिंह, बिलाव, गदहे—ये यदि प्रतिकूल दिशामें जाते हों, गदहा जोर-जोरसे रेंकता हो और कपिञ्जल पक्षी बायीं अथवा दाहिनी ओर स्थित हो तो ये सभी उत्तम माने गये हैं। किंतु कपिञ्जल पक्षी यदि पीछेकी ओर हो तो उसका फल निन्दित है। यात्राकालमें तीतरका दिखायी देना अच्छा नहीं है। मृग, सूअर और चितकबरे हिरन—ये यदि बायें होकर फिर दाहिने हो जायँ तो सदा कार्यसाधक होते हैं। इसके विपरीत यदि दाहिनेसे बायें चले जायँ तो निन्दित माने गये हैं। बैल, घोड़े, गीदड़, बाघ, सिंह, बिलाव और गदहे यदि दाहिनेसे बायें जायँ तो ये मनोवाञ्छित वस्तुकी सिद्धि करनेवाले होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। शृगाल, श्याममुख, छुच्छु (छछूँदर), पिङ्गल, गृहगोधिका, शूकरी, कोयल तथा पुँल्लिङ्ग नाम धारण करनेवाले जीव यदि वामभागमें हों तथा स्त्रीलिङ्ग नामवाले जीव, भास, कारुष, बंदर, श्रीकर्ण, छित्त्वर, कपि, पिप्पीक, रुरु और श्येन—ये दक्षिण दिशामें हों तो शुभ हैं। यात्राकालमें जातिक, सर्प, खरगोश, सूअर तथा गोधाका नाम लेना भी शुभ माना गया है ॥ २३-२९ ॥

रीछ और वानरोंका विपरीत दिशामें दिखायी देना अनिष्टकारक होता है। प्रस्थान करनेपर जो कार्यसाधक बलवान् शकुन प्रतिदिन दिखायी देता हो, उसका फल विद्वान् पुरुषोंको उसी दिनके लिये बतलाना चाहिये, अर्थात् जिस-जिस दिन शकुन दिखायी देता है, उसी-उसी दिन उसका फल होता है। परशुरामजी! पागल, भोजनार्थी बालक तथा वैरी पुरुष यदि

गाँव या नगरकी सीमाके भीतर दिखायी दें तो इनके दर्शनका कोई फल नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये । यदि सियारिन एक, दो, तीन या चार बार आवाज लगावे तो वह शुभ मानी गयी है । इसी प्रकार पाँच और छः बार बोलनेपर वह अशुभ और सात बार बोलनेपर शुभ बतायी गयी है । सात बारसे अधिक बोले तो उसका कोई फल नहीं होता । यदि रास्तेमें सूर्यकी ओर उठती हुई कोई ऐसी ज्वाला दिखायी दे, जिसपर दृष्टि पड़ते ही मनुष्योंके रोंगटे खड़े हो जायँ और सेनाके वाहन भयभीत हो उठें, तो वह भय बढ़ानेवाली — महान् भयकी सूचना देनेवाली होती है, ऐसा समझना चाहिये । यदि पहले किसी उत्तम देशमें सारङ्गका दर्शन हो तो वह मनुष्यके लिये एक वर्षतक शुभकी सूचना देता है । उसे देखनेसे अशुभमें भी शुभ होता है । अतः यात्राके प्रथम दिन मनुष्य ऐसे गुणवाले किसी सारङ्गका दर्शन करे तथा अपने लिये एक वर्षतक उपर्युक्त रूपसे शुभ फलकी प्राप्ति होनेवाली समझे ॥ ३०—३६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शकुन-वर्णन' नामक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३१ ॥

दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय

कौए, कुत्ते, गौ, घोड़े और हाथी आदिके द्वारा होनेवाले शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—जिस मार्गसे बहुतेरे कौए शत्रुके नगरमें प्रवेश करें, उसी मार्गसे घेरा डालनेपर उस नगरके ऊपर अपना अधिकार प्राप्त होता है । यदि किसी सेना या समुदायमें बायीं ओरसे भयभीत कौआ रोता हुआ प्रवेश करे तो वह आनेवाले अपार भयकी सूचना देता है । छाया (तम्बू, रावटी आदि), अङ्ग, वाहन, उपानह, छत्र और वस्त्र आदिके द्वारा कौएको कुचल डालनेपर अपने लिये मृत्युकी सूचना मिलती है । उसकी पूजा करनेपर अपनी भी पूजा होती है तथा अन्न आदिके द्वारा उसका इष्ट करनेपर अपना भी शुभ होता है । यदि कौआ दरवाजेपर बारंबार आया-जाया करे तो वह उस घरके किसी परदेशी व्यक्तिके आनेकी सूचना देता है तथा यदि वह कोई लाल या जली हुई वस्तु मकानके ऊपर डाल देता है तो उससे आग लगनेकी सूचना मिलती है ॥ १—४ ॥

भृगुनन्दन ! यदि वह मनुष्यके आगे कोई लाल वस्तु डाल देता है तो उसके कैद होनेकी बात बतलाता है और यदि कोई पीले रंगका द्रव्य सामने गिराता है तो उससे सोने-चाँदीकी प्राप्ति सूचित होती है । सारांश यह कि वह जिस द्रव्यको अपने पास ला देता है, उसकी प्राप्ति और जिस द्रव्यको अपने यहाँसे उठा ले जाता है, उसकी हानिकी ओर संकेत करता है । यदि वह अपने आगे कच्चा मांस लाकर डाल दे तो धनकी, मिट्टी गिरावे तो पृथ्वीकी और कोई रत्न डाल दे तो महान् साम्राज्यकी प्राप्ति होती है । यदि यात्रा करनेवालेकी अनुकूल दिशा (सामने) की ओर कौआ जाय तो वह कल्याणकारी और कार्यसाधक होता है, परंतु यदि प्रतिकूल दिशाकी ओर जाय तो उसे कार्यमें बाधा डालनेवाला तथा भयंकर जानना चाहिये । यदि कौआ सामने काँव-काँव करता हुआ आ जाय तो वह यात्राका विघातक होता है । कौएका वामभागमें होना शुभ माना गया है और दाहिने भागमें होनेपर वह कार्यका नाश करता है । वामभागमें होकर कौआ यदि अनुकूल दिशाकी ओर चले तो 'श्रेष्ठ' और दाहिने होकर अनुकूल दिशाकी ओर चले तो 'मध्यम' माना जाता है; किंतु वामभागमें होकर यदि वह विपरीत दिशाकी ओर जाय तो यात्राका निषेध करता है । यात्राकालमें घरपर कौआ आ जाय तो वह अभीष्ट कार्यकी सिद्धि सूचित करता है । यदि वह एक पैर उठाकर एक आँखसे सूर्यकी ओर देखे तो भय देनेवाला होता है । यदि कौआ किसी वृक्षके खोखलेमें बैठकर आवाज दे तो वह महान् अनर्थका कारण है । ऊसर भूमिमें बैठा हो तो भी अशुभ होता है, किंतु यदि वह कीचड़में लिपटा हुआ हो तो उत्तम माना गया है । परशुरामजी ! जिसकी चोंचमें मल आदि अपवित्र वस्तुएँ लगी हों, वह कौआ दीख जाय तो सभी कार्योंका साधक होता है । कौएकी भाँति अन्य पक्षियोंका भी फल जानना चाहिये ॥ ५—१३ ॥

यदि सेनाकी छावनीके दाहिने भागमें कुत्ते आ जायँ तो वे ब्राह्मणोंके विनाशकी सूचना देते हैं । इन्द्रध्वजके स्थानमें हों तो राजाका और गोपुर (नगरद्वार) पर हों तो नगराधीशकी मृत्यु सूचित करते हैं । घरके भीतर भूँकता हुआ कुत्ता आवे तो गृहस्वामीकी मृत्युका कारण होता है । वह जिसके बायें अङ्गको सूँघता है, उसके कार्यकी

सिद्धि होती है। यदि दाहिने अङ्ग और बायीं भुजाको सूँघे तो भय उपस्थित होता है। यात्रीके सामनेकी ओरसे आवे तो यात्रामें विघ्न डालनेवाला होता है। भृगुनन्दन! यदि कुत्ता राह रोककर खड़ा हो तो मार्गमें चोरोंका भय सूचित करता है; मुँहमें हड्डी लिये हो तो उसे देखकर यात्रा करनेपर कोई लाभ नहीं होता तथा रस्सी या चिथड़ा मुखमें रखनेवाला कुत्ता भी अशुभसूचक होता है। जिसके मुँहमें जूता या मांस हो, ऐसा कुत्ता सामने हो तो शुभ होता है। यदि उसके मुँहमें कोई अमाङ्गलिक वस्तु तथा केश आदि हो तो उससे अशुभकी सूचना मिलती है। कुत्ता जिसके आगे पेशाब करके चला जाता है, उसके ऊपर भय आता है; किंतु मूत्र त्यागकर यदि वह किसी शुभ स्थान, शुभ वृक्ष तथा माङ्गलिक वस्तुके समीप चला जाय तो वह उस पुरुषके कार्यका साधक होता है। परशुरामजी! कुत्तेकी ही भाँति गीदड़ आदि भी समझने चाहिये॥ १४—२०॥

यदि गौएँ अकारण ही डकराने लगें तो समझना चाहिये कि स्वामीके ऊपर भय आनेवाला है। रातमें उनके बोलनेसे चोरोंका भय सूचित होता है और यदि वे विकृत स्वरमें क्रन्दन करें तो मृत्युकी सूचना मिलती है। यदि रातमें बैल गर्जना करे तो स्वामीका कल्याण होता है और साँड आवाज दे तो राजाको विजय प्रदान करता है। यदि अपनी दी हुई तथा अपने घरपर मौजूद रहनेवाली गौएँ अभक्ष्य-भक्षण करें और अपने बछड़ोंपर भी स्नेह करना छोड़ दें तो गर्भक्षयकी सूचना देनेवाली मानी गयी हैं। पैरोंसे भूमि खोदनेवाली, दीन तथा भयभीत गौएँ भय लानेवाली होती हैं। जिनका शरीर भीगा हो, रोम-रोम प्रसन्नतासे खिला हो और सींगोंमें मिट्टी लगी हुई हो, वे गौएँ शुभ होती हैं। विज्ञ पुरुषको भैंस आदिके सम्बन्धमें भी यही सब शकुन बताना चाहिये॥ २१—२४½॥

जीन कसे हुए अपने घोड़ेपर दूसरेका चढ़ना, उस घोड़ेका जलमें बैठना और भूमिपर एक ही जगह चक्कर लगाना अनिष्टका सूचक है। बिना किसी कारणके घोड़ेका सो जाना विपत्तिमें डालनेवाला होता है। यदि अकस्मात् जई और गुड़की ओरसे घोड़ेको अरुचि हो जाय, उसके मुँहसे खून गिरने लगे तथा उसका सारा बदन काँपने लगे तो ये सब अच्छे लक्षण नहीं हैं; इनसे अशुभकी सूचना मिलती है। यदि घोड़ा बगुलों, कबूतरों और सारिकाओंसे खिलवाड़ करे तो मृत्युका संदेश देता है। उसके नेत्रोंसे आँसू बहे तथा वह जीभसे अपना पैर चाटने लगे तो विनाशका सूचक होता है। यदि वह बायें टापसे धरती खोदे, बायीं करवटसे सोये अथवा दिनमें नींद ले तो शुभकारक नहीं माना जाता। जो घोड़ा एक बार मूत्र करनेवाला हो, अर्थात् जिसका मूत्र एक बार थोड़ा-सा निकलकर फिर रुक जाय तथा निद्राके कारण जिसका मुँह मलिन हो रहा हो, वह भय उपस्थित करनेवाला होता है। यदि वह चढ़ने न दे, अथवा चढ़ते समय उलटे घरमें चला जाय या सवारकी बायीं पसलीका स्पर्श करने लगे तो वह यात्रामें विघ्न पड़नेकी सूचना देता है। यदि शत्रु-योद्धाको देखकर हींसने लगे और स्वामीके चरणोंका स्पर्श करे तो वह विजय दिलानेवाला होता है॥ २५—३१॥

यदि हाथी गाँवमें मैथुन करे तो उस देशके लिये हानिकारक होता है। हथिनी गाँवमें बच्चा दे या पागल हो जाय तो राजाके विनाशकी सूचना देती है। यदि हाथी चढ़ने न दे, उलटे हथिसारमें चला जाय या मदकी धारा बहाने लगे तो वह राजाका घातक होता है। यदि दाहिने पैरको बायेंपर रखे और सूँड़से दाहिने दाँतका मार्जन करे तो वह शुभ होता है॥ ३२—३४॥

अपना बैल, घोड़ा अथवा हाथी शत्रुकी सेनामें चला जाय तो अशुभ होता है। यदि थोड़ी ही दूरमें बादल घिरकर अधिक वर्षा करे तो सेनाका नाश होता है। यात्राके समय अथवा युद्धकालमें ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हों, सामनेसे हवा आ रही हो और छत्र आदि गिर जायँ तो भय उपस्थित होता है। लड़नेवाले योद्धा हर्ष और उत्साहसे भरे हों और ग्रह अनुकूल हों तो यह विजयका लक्षण है। यदि कौए और मांसाहारी जीव-जन्तु योद्धाओंका तिरस्कार करें तो मण्डलका नाश होता है। पूर्व, पश्चिम एवं ईशान दिशा प्रसन्न तथा शान्त हों तो प्रिय और शुभ फलकी प्राप्ति करानेवाली होती हैं॥ ३५—३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शकुन-वर्णन' नामक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३२॥

दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय

यात्राके मुहूर्त और द्वादश राजमण्डलका विचार

पुष्कर कहते हैं—अब मैं राजधर्मका आश्रय लेकर सबकी यात्राके विषयमें बताऊँगा। जब शुक्र अस्त हों अथवा नीच स्थानमें स्थित हों, विकलाङ्ग (अन्ध) हों, शत्रु-राशिपर विद्यमान हों अथवा वे प्रतिकूल स्थानमें स्थित या विध्वस्त हों तो यात्रा नहीं करनी चाहिये। बुध प्रतिकूल स्थानमें स्थित हों तथा दिशाका स्वामी ग्रह भी प्रतिकूल हो तो यात्रा नहीं करनी चाहिये। वैधृति, व्यतीपात, नाग, शकुनि, चतुष्पाद तथा किंस्तुघ्नयोगमें भी यात्राका परित्याग कर देना चाहिये। विपत्, मृत्यु, प्रत्यरि और जन्म—इन ताराओंमें, गण्डयोगमें तथा रिक्ता तिथिमें भी यात्रा न करे ॥ १—४ ॥

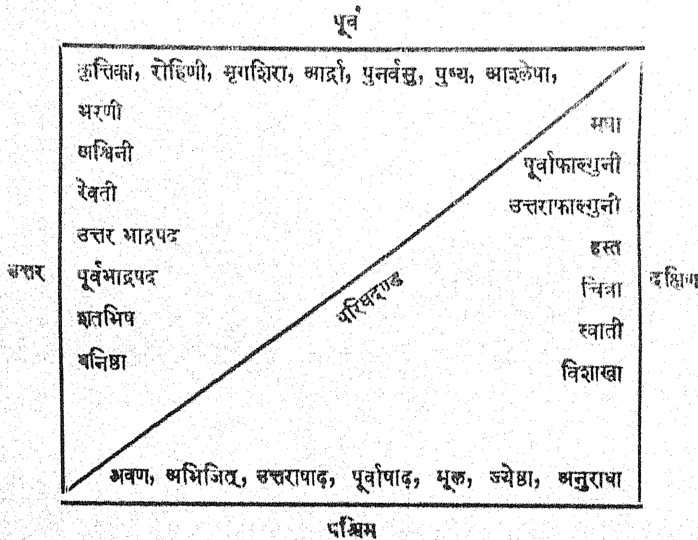
उत्तर और पूर्व—इन दोनों दिशाओंकी एकता कही गयी है। इसी तरह पश्चिम और दक्षिण—इन दोनों दिशाओं-की भी एकता मानी गयी है। वायव्यकोणसे लेकर अग्निकोण-तक जो परिघ-दण्ड रहता है, उसका उल्लङ्घन करके यात्रा नहीं करनी चाहिये। रवि, सोम और शनैश्चर—ये दिन यात्रा-के लिये अच्छे नहीं माने गये हैं ॥ ५-६ ॥

कृत्तिकासे लेकर सात नक्षत्रसमूह पूर्व दिशामें रहते हैं। मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिण दिशामें रहते हैं; अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम दिशामें रहते हैं तथा धनिष्ठा आदि सात नक्षत्र उत्तर दिशामें रहते हैं। (अग्निकोणसे वायुकोणतक परिघ-दण्ड रहा करता है; अतः इस प्रकार यात्रा करनी चाहिये, जिससे परिघ-दण्डका उल्लङ्घन न हो।)* पूर्वोक्त नक्षत्र उन-उन दिशाओंके द्वार हैं; सभी द्वार उन-उन दिशाओंके लिये उत्तम हैं। अब मैं तुम्हें छायाका मान बताता हूँ ॥ ७½ ॥

रविवारको बीस, सोमवारको सोलह, मङ्गलवारको पंद्रह, बुधको चौदह, बृहस्पतिको तेरह, शुक्रको बारह तथा शनिवार-को ग्यारह अङ्गुल 'छायामान' कहा गया है, जो सभी कर्मोंके लिये विहित है। जन्म-लग्नमें तथा सामने इन्द्रधनुष उदित हुआ हो तो मनुष्य यात्रा न करे। शुभ शकुन आदि होनेपर श्रीहरिका स्मरण करते हुए विजययात्रा करनी चाहिये ॥ ८—१०½ ॥

परशुरामजी ! अब मैं आपसे मण्डलका विचार बतलाऊँगा; राजाकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये। राजा, मन्त्री, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र और जनपद—ये राज्यके सात अङ्ग बतलाये जाते हैं। इन सात अङ्गोंसे युक्त राज्यमें विघ्न डालनेवाले पुरुषों-का विनाश करना चाहिये। राजाको उचित है कि अपने सभी मण्डलोंमें वृद्धि करे। अपना मण्डल ही यहाँ सबसे पहला

* पूर्व नक्षत्रमें पश्चिम या दक्षिण जानेसे परिघदण्डका लङ्घन होगा। चक्र देखिये—



मण्डल है। सामन्त-नरेशोंको ही उस मण्डलका शत्रु जानना चाहिये। 'विजिगीषु' राजाके सामनेका सीमावर्ती सामन्त उसका शत्रु है। उस शत्रु-राज्यसे जिसकी सीमा लगी है, वह उक्त शत्रुका शत्रु होनेसे विजिगीषुका मित्र है। इस प्रकार शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र—ये पाँच मण्डलके आगे रहनेवाले हैं। इनका वर्णन किया गया; अब पीछे रहनेवालोंको बताता हूँ; सुनिये ॥ ११—१५½ ॥

पीछे रहनेवालोंमें पहला 'पार्ष्णिग्राह' है और उसके पीछे रहनेवाला 'आक्रन्द' कहलाता है। तदनन्तर इन दोनोंके पीछे रहनेवाले 'आसार' होते हैं, जिन्हें क्रमशः 'पार्ष्णिग्राहासार' और 'आक्रन्दासार' कहते हैं। नरश्रेष्ठ! विजयकी इच्छा रखनेवाला राजा, शत्रुके आक्रमणसे युक्त हो अथवा उससे मुक्त, उसकी विजयके सम्बन्धमें कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। विजिगीषु तथा शत्रु दोनोंके असंगठित रहनेपर उनका निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ तटस्थ राजा 'मध्यस्थ' कहलाता है। जो बलवान् नरेश इन तीनोंके निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ हो, उसे 'उदासीन' कहते हैं। कोई भी किसीका शत्रु या मित्र नहीं है; सभी कारणवश ही एक-दूसरेके शत्रु और मित्र होते हैं। इस प्रकार मैंने आपसे यह बारह राजाओंके मण्डलका वर्णन किया है ॥ १६—२० ॥

शत्रुओंके तीन भेद जानने चाहिये—कुल्य, अनन्तर और कृत्रिम। इनमें पूर्व-पूर्व शत्रु भारी होता है। अर्थात् 'कृत्रिम'-की अपेक्षा 'अनन्तर' और उसकी अपेक्षा 'कुल्य' शत्रु बड़ा माना गया है; उसको दबाना बहुत कठिन होता है। 'अनन्तर' (सीमाप्रान्तवर्ती) शत्रु भी मेरी समझमें 'कृत्रिम' ही है। पार्ष्णिग्राह राजा शत्रुका मित्र होता है, तथापि प्रयत्नसे वह शत्रुका शत्रु भी हो सकता है। इसलिये नाना प्रकारके उपायोंद्वारा अपने पार्ष्णिग्राहको शान्त रक्खे—उसे अपने वशमें किये रहे। प्राचीन नीतिज्ञ पुरुष मित्रके द्वारा शत्रुको नष्ट करा डालनेकी प्रशंसा करते हैं। सामन्त (सीमा-निवासी) होनेके कारण मित्र भी आगे चलकर शत्रु हो जाता है; अतः विजय चाहनेवाले राजाको उचित है कि यदि अपनेमें शक्ति हो तो स्वयं ही शत्रुका विनाश करे; [मित्रकी सहायता न ले] क्योंकि मित्रका प्रताप बढ़ जानेपर उससे भी भय प्राप्त होता है और प्रतापहीन शत्रुसे भी भय नहीं होता। विजिगीषु राजाको धर्म-विजयी होना चाहिये तथा वह लोगोंको इस प्रकार अपने वशमें करे, जिससे किसीको उद्वेग न हो और सबका उसपर विश्वास बना रहे ॥ २१—२६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यात्रामण्डलचिन्ता आदिका कथन' नामक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय

दण्ड, उपेक्षा, माया और साम आदि नीतियोंका उपयोग

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! साम, भेद, दान और दण्डकी चर्चा हो चुकी है और अपने राज्यमें दण्डका प्रयोग कैसे करना चाहिये?—यह बात भी बतलायी जा चुकी है। अब शत्रुके देशमें इन चारों उपायोंके उपयोगका प्रकार बतला रहा हूँ ॥ १ ॥

'गुप्त' और 'प्रकाश'—दो प्रकारका दण्ड कहा गया है। लूटना, गाँवको गर्दमें मिला देना, खेती नष्ट कर डालना और आग लगा देना—ये 'प्रकाश दण्ड' हैं। जहर देना, चुपकेसे आग लगाना, नाना प्रकारके मनुष्योंके द्वारा किसीका वध करा देना, सत्पुरुषोंपर दोष लगाना और पानीको दूषित करना—ये 'गुप्त दण्ड' हैं ॥ २–३ ॥

भृगुनन्दन! यह दण्डका प्रयोग बताया गया; अब 'उपेक्षा'की बात सुनिये—जब राजा ऐसा समझे कि युद्धमें मेरा किसीके साथ वैर-विरोध नहीं है, व्यर्थका लगाव अनर्थका ही कारण होगा; संधिका परिणाम भी ऐसा ही (अनर्थकारी) होनेवाला है; सामका प्रयोग यहाँ किया गया, किंतु लाभ न हुआ; दानकी नीतिसे भी केवल धनका क्षय ही होगा तथा भेद और दण्डके सम्बन्धसे भी कोई लाभ नहीं है; उस दशामें 'उपेक्षा'का आश्रय ले [अर्थात् संधि-विग्रहसे अलग हो जाय]। जब ऐसा जान पड़े कि अमुक व्यक्ति शत्रु हो जानेपर भी मेरी कोई हानि नहीं कर सकता तथा मैं भी इस समय इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उस समय 'उपेक्षा' कर जाय। उस अवस्थामें राजाको उचित है कि वह अपने शत्रुको अवज्ञा (उपेक्षा) से ही उपहत करे ॥४–७॥

अब मायामय (कपटपूर्ण) उपायोंका वर्णन करूँगा। राजा झूठे उत्पातोंका प्रदर्शन करके शत्रुको उद्वेगमें डाले।

शत्रुकी छावनीमें रहनेवाले स्थूल पक्षीको पकड़कर उसकी पूँछमें जलता हुआ लूक बाँध दे; वह लूक बहुत बड़ा होना चाहिये। उसे बाँधकर पक्षीको उड़ा दे और इस प्रकार यह दिखावे कि 'शत्रुकी छावनीपर उल्कापात हो रहा है।' इसी प्रकार और भी बहुत-से उत्पात दिखाने चाहिये। भाँति-भाँतिकी माया प्रकट करनेवाले मदारियोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुओंको उद्विग्न करे। ज्यौतिषी और तपस्वी जाकर शत्रुसे कहें कि 'तुम्हारे नाशका योग आया हुआ है।' इस तरह पृथ्वीपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले राजाको उचित है कि अनेकों उपायोंसे शत्रुको भयभीत करे। शत्रुओंपर यह भी प्रकट करा दे कि 'मुझपर देवताओंकी कृपा है—मुझे उनसे वरदान मिल चुका है।' युद्ध छिड़ जाय तो अपने सैनिकोंसे कहे—'वीरो! निर्भय होकर प्रहार करो, मेरे मित्रोंकी सेनाएँ आ पहुँचीं; अब शत्रुओंके पाँव उखड़ गये हैं—वे भाग रहे हैं'—यों कहकर गर्जना करे, किलकारियाँ भरे और योद्धाओंसे कहे—'मेरा शत्रु मारा गया।' देवताओंके आदेशसे वृद्धिको प्राप्त हुआ राजा कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धमें पदार्पण करे॥ ८—१३½॥

अब 'इन्द्रजाल'के विषयमें कहता हूँ। राजा समयानुसार इन्द्रकी मायाका प्रदर्शन करे। शत्रुओंको दिखावे कि 'मेरी सहायताके लिये देवताओंकी चतुरङ्गिणी सेना आ गयी।' फिर शत्रु-सेनापर रक्तकी वर्षा करे और मायाद्वारा यह प्रयत्न करे कि महलके ऊपर शत्रुओंके कटे हुए मस्तक दिखायी दें॥ १४-१५½॥

अब मैं छः गुणोंका वर्णन करूँगा; इनमें 'संधि' और 'विग्रह' प्रधान हैं। संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—ये छः गुण कहे गये हैं। किसी शर्तपर शत्रुके साथ मेल करना 'संधि' कहलाता है। युद्ध आदिके द्वारा उसे हानि पहुँचाना 'विग्रह' है। विजयाभिलाषी राजा जो शत्रुके ऊपर चढ़ाई करता है, उसीका नाम 'यात्रा' अथवा 'यान' है। विग्रह छेड़कर अपने ही देशमें स्थित रहना 'आसन' कहलाता है। [आधी सेनाको किलेमें छिपाकर] आधी सेनाके साथ युद्धकी यात्रा करना 'द्वैधीभाव' कहा गया है। उदासीन अथवा मध्यम राजाकी शरण लेनेका नाम 'संश्रय' है॥ १६—१९½॥

जो अपनेसे हीन न होकर बराबर या अधिक प्रबल हो, उसीके साथ संधिका विचार करना चाहिये। यदि राजा स्वयं बलवान् हो और शत्रु अपनेसे हीन—निर्बल जान पड़े, तो उसके साथ विग्रह करना ही उचित है। हीनावस्थामें भी यदि अपना पार्ष्णिग्राह विशुद्ध स्वभावका हो, तभी बलिष्ठ राजाका आश्रय लेना चाहिये। यदि युद्धके लिये यात्रा न करके बैठे रहनेपर भी राजा अपने शत्रुके कार्यका नाश कर सके तो पार्ष्णिग्राहका स्वभाव शुद्ध न होनेपर भी वह विग्रह ठानकर चुपचाप बैठा रहे। अथवा पार्ष्णिग्राहका स्वभाव शुद्ध न होनेपर राजा द्वैधीभाव-नीतिका आश्रय ले। जो निस्संदेह बलवान् राजाके विग्रहका शिकार हो जाय, उसीके लिये संश्रय-नीतिका अवलम्बन उचित माना गया है। यह 'संश्रय' साम आदि सभी गुणोंमें अधम है। संश्रयके योग्य अवस्थामें पड़े हुए राजा यदि युद्धकी यात्रा करें तो वह उनके जन और धनका नाश करनेवाली बतायी गयी है। यदि किसीकी शरण लेनेसे पीछे अधिक लाभकी सम्भावना हो तो राजा संश्रयका अवलम्बन करे। सब प्रकारकी शक्तिका नाश हो जानेपर ही दूसरेकी शरण लेनी चाहिये॥ २०—२५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'षाड्गुण्यका वर्णन' नामक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३४॥

दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय

राजाकी नित्यचर्या

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! अब निरन्तर किये जाने योग्य कर्मका वर्णन करता हूँ, जिसका प्रतिदिन आचरण करना उचित है। जब दो घड़ी रात बाकी रहे तो राजा नाना प्रकारके वाद्यों, बन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुतियों तथा मङ्गल गीतोंकी ध्वनि सुनकर निद्राका परित्याग करे। तत्पश्चात् गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों) से मिले। वे गुप्तचर ऐसे हों, जिन्हें कोई भी यह न जान सके कि ये राजाके ही कर्मचारी हैं। इसके बाद विधिपूर्वक आय और व्ययका हिसाब सुने। फिर शौच आदिसे निवृत्त होकर राजा स्नानगृहमें प्रवेश करे। वहाँ नरेशको पहले दन्तधावन (दाँतुन) करके फिर स्नान करना चाहिये। तत्पश्चात् संध्योपासना करके भगवान् वासुदेवका पूजन करना उचित है। तदनन्तर राजा पवित्रता-

पूर्वक अग्निमें आहुति दे; फिर जल लेकर पितरोंका तर्पण करे। इसके बाद ब्राह्मणोंका आशीर्वाद सुनते हुए उन्हें सुवर्णसहित दूध देनेवाली गौ दान दे ॥ १—५ ॥

इन सब कार्योंसे अवकाश पाकर चन्दन और आभूषण धारण करे तथा दर्पणमें अपना मुँह देखे। साथ ही सुवर्णयुक्त घृतमें भी मुँह देखे। फिर दैनिक-कथा आदिका श्रवण करे। तदनन्तर वैद्यकी बतायी हुई दवाका सेवन करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करे। फिर गुरुके पास जाकर उनका दर्शन करे और उनका आशीर्वाद लेकर राजसभामें प्रवेश करे ॥ ६-७ ॥

महाभाग ! सभामें विराजमान होकर राजा ब्राह्मणों, अमात्यों तथा मन्त्रियोंसे मिले। साथ ही द्वारपालने जिनके आनेकी सूचना दी हो, उन प्रजाओंको भी बुलाकर उन्हें दर्शन दे; उनसे मिले। फिर इतिहासका श्रवण करके राज्यका कार्य देखे। नाना प्रकारके कार्योंमें जो कार्य अत्यन्त आवश्यक हो, उसका निश्चय करे। तत्पश्चात् प्रजाके मामले-मुकदमोंको देखे और मन्त्रियोंके साथ गुप्त परामर्श करे। मन्त्रणा न तो एकके साथ करे, न अधिक मनुष्योंके साथ; न मूर्खोंके साथ और न अविश्वसनीय पुरुषोंके साथ ही करे। उसे सदा गुप्तरूपसे ही करे; दूसरोंपर प्रकट न होने दे। मन्त्रणाको अच्छी तरह छिपाकर रक्खे, जिससे राज्यमें कोई बाधा न पहुँचे। यदि राजा अपनी आकृतिको परिवर्तित न होने दे—सदा एक रूपमें रहे तो यह गुप्त मन्त्रणाकी रक्षाका सबसे बड़ा उपाय माना गया है; क्योंकि बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष आकार और चेष्टाएँ देखकर ही गुप्त-मन्त्रणाका पता लगा लेते हैं। राजाको उचित है कि वह ज्यौतिषियों, वैद्यों और मन्त्रियोंकी बात माने। इससे वह ऐश्वर्यको प्राप्त करता है; क्योंकि ये लोग राजाको अनुचित कार्योंसे रोकते और हितकर कामोंमें लगाते हैं ॥ ८—१२½ ॥

मन्त्रणा करनेके पश्चात् राजाको रथ आदि वाहनोंके हाँकने और शस्त्र चलानेका अभ्यास करते हुए कुछ कालतक व्यायाम करना चाहिये। युद्ध आदिके अवसरोंपर वह स्नान करके भलीभाँति पूजित हुए भगवान् विष्णुका, हवनके पश्चात् प्रज्वलित हुए अग्निदेवका तथा दान-मान आदिसे सत्कृत ब्राह्मणोंका दर्शन करे। दान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर राजा भलीभाँति जाँचे-बूझे हुए अन्नका भोजन करे। भोजनके अनन्तर पान खाकर बायीं करवटसे थोड़ी देरतक लेटे। प्रतिदिन शास्त्रोंका चिन्तन और योद्धाओं, अन्न-भण्डार तथा शस्त्रागारका निरीक्षण करे। दिनके अन्तमें सायं-संध्या करके अन्य कार्योंका विचार करे और आवश्यक कामोंपर गुप्तचरोंको भेजकर रात्रिमें भोजनके पश्चात् अन्तःपुरमें जाकर रहे। वहाँ संगीत और वाद्योंसे मनोरञ्जन करके सो जाय तथा दूसरोंके द्वारा आत्मरक्षाका पूरा प्रबन्ध रक्खे। राजाको प्रतिदिन ऐसा ही करना चाहिये ॥ १३—१७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'प्रात्यहिक राजकर्मका कथन' नामक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय

संग्राम-दीक्षा—युद्धके समय पालन करनेयोग्य नियमोंका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी ! अब मैं रणयात्राकी विधि बतलाते हुए संग्रामकालके लिये उचित कर्तव्योंका वर्णन करूँगा। जब राजाकी युद्धयात्रा एक सप्ताहमें होनेवाली हो, उस समय पहले दिन भगवान् विष्णु और शंकरजीकी पूजा करनी चाहिये। साथ ही मोदक (मिठाई) आदिके द्वारा गणेशजीका पूजन करना उचित है। दूसरे दिन दिक्पालोंकी पूजा करके राजा शयन करे। शय्यापर बैठकर अथवा उसके पहले देवताओंकी पूजा करके निम्नाङ्कित [भाववाले] मन्त्रका स्मरण करे—"भगवान् शिव ! आप तीन नेत्रोंसे विभूषित, 'रुद्र'के नामसे प्रसिद्ध, वरदायक, वामन, विकटरूपधारी और स्वप्नके अधिष्ठाता देवता हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। भगवन् ! आप देवाधिदेवोंके भी स्वामी, त्रिशूलधारी और वृषभपर सवारी करनेवाले हैं। सनातन परमेश्वर ! मेरे सो जानेपर स्वप्नमें आप मुझे यह बता दें कि 'इस युद्धसे मेरा इष्ट होनेवाला है या अनिष्ट ?' उस समय पुरोहितको 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति०' (यजु० ३४ । १)—इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। तीसरे दिन दिशाओंकी रक्षा करनेवाले रुद्रों तथा दिशाओंके अधिपतियोंकी पूजा करे; चौथे दिन ग्रहों और पाँचवें दिन अश्विनीकुमारोंका यजन करे। मार्गमें जो देवी, देवता तथा नदी आदि पड़ें, उनका भी पूजन करना चाहिये। द्युलोकमें, अन्तरिक्षमें तथा भूमिपर निवास करनेवाले देवताओंको बलि अर्पण करे। रातमें भूत-

गणोंको भी बलि दे । भगवान् वासुदेव आदि देवताओं तथा भद्रकाली और लक्ष्मी आदि देवियोंकी भी पूजा करे । इसके बाद सम्पूर्ण देवताओंसे प्रार्थना करे ॥ १—८ ॥

'वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, नरसिंह, वराह, शिव, ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात, सूर्य, सोम, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, गणेश, कार्तिकेय, चण्डिका, उमा, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, ब्रह्माणी आदि गण, रुद्र, इन्द्रादि देव, अग्नि, नाग, गरुड तथा द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं भूमिपर निवास करनेवाले अन्यान्य देवता मेरी विजयके साधक हों । मेरी दी हुई यह भेंट और पूजा स्वीकार करके सब देवता युद्धमें मेरे शत्रुओंका मर्दन करें । देवगण ! मैं माता, पुत्र और भृत्योंसहित आपकी शरणमें आया हूँ । आपलोग शत्रु-सेनाके पीछे जाकर उनका नाश करनेवाले हैं, आपको हमारा नमस्कार है । युद्धमें विजय पाकर यदि लौटूँगा तो आपलोगोंको इस समय जो पूजा और भेंट दी है, उससे भी अधिक मात्रामें पूजा चढ़ाऊँगा' ॥ ९—१४ ॥

छठे दिन राज्याभिषेककी भाँति विजय-स्नान करना चाहिये तथा यात्राके सातवें दिन भगवान् त्रिविक्रम (वामन)-का पूजन करना आवश्यक है । नीराजनके लिये बताये हुए मन्त्रोंद्वारा अपने आयुध और वाहनकी भी पूजा करे । साथ ही ब्राह्मणोंके मुखसे 'पुण्याह' और 'जय' शब्दके साथ निम्नाङ्कित भाववाले मन्त्रका श्रवण करे—'राजन् ! द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमिपर निवास करनेवाले देवता तुम्हें दीर्घायु प्रदान करें । तुम देवताओंके समान सिद्धि प्राप्त करो । तुम्हारी यह यात्रा देवताओंकी यात्रा हो तथा सम्पूर्ण देवता तुम्हारी रक्षा करें ।' यह आशीर्वाद सुनकर राजा आगे यात्रा करे । **'धन्वना गा०'** (यजु० २९ । ३९) इत्यादि मन्त्रद्वारा धनुष-बाण हाथमें लेकर 'तद्विष्णोः०' (यजु० ६ । ५) इस मन्त्रका जप करते हुए शत्रुके सामने दाहिना पैर बढ़ाकर बत्तीस पग आगे जाय; फिर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तरमें जानेके लिये क्रमशः हाथी, रथ, घोड़े तथा भार ढोनेमें समर्थ जानवरपर सवार होवे और जुझाऊ बाजोंके साथ आगेकी यात्रा करे; पीछे फिरकर न देखे ॥ १५—२० ॥

एक कोस जानेके बाद ठहर जाय और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करे । पीछे आती हुई अपनी सेनाकी रक्षा करते हुए ही राजाको दूसरेके देशमें यात्रा करनी चाहिये । विदेशमें जानेपर भी अपने देशके आचारका पालन करना राजाका कर्तव्य है । वह प्रतिदिन देवताओंका पूजन करे, किसीकी आय नष्ट न होने दे और उस देशके मनुष्योंका कभी अपमान न करे । विजय पाकर पुनः अपने नगरमें लौट आनेपर राजा देवताओंकी पूजा करे और दान दे । जब दूसरे दिन संग्राम छिड़नेवाला हो तो पहले दिन हाथी, घोड़े आदि वाहनोंको नहलावे तथा भगवान् नृसिंहका पूजन करे । रात्रिमें छत्र आदि राजचिह्नों, अस्त्र-शस्त्रों तथा भूतगणोंकी अर्चना करके सबेरे पुनः भगवान् नृसिंहकी एवं सम्पूर्ण वाहन आदिकी पूजा करे । पुरोहितके द्वारा हवन किये हुए अग्निदेवका दर्शन करके स्वयं भी उसमें आहुति डाले और ब्राह्मणोंका सत्कार करके धनुष-बाण ले, हाथी आदिपर सवार हो युद्धके लिये जाय । शत्रुके देशमें अदृश्य रहकर प्रकृति-कल्पना (मोर्चाबंदी) करे । यदि अपने पास थोड़े-से सैनिक हों तो उन्हें एक जगह संगठित रखकर युद्धमें प्रवृत्त करे और यदि योद्धाओंकी संख्या अधिक हो तो उन्हें इच्छानुसार फैला दे [अर्थात् उन्हें बहुत दूरमें खड़ा करके युद्धमें लगावे] ॥ २१—२७ ॥

थोड़े-से सैनिकोंका अधिक संख्यावाले योद्धाओंके साथ युद्ध करनेके लिये 'सूचीमुख' नामक व्यूह उपयोगी होता है । व्यूह दो प्रकारके बताये गये हैं—प्राणियोंके शरीरकी भाँति और द्रव्यस्वरूप । गरुडव्यूह, मकरव्यूह, चक्रव्यूह, श्येनव्यूह, अर्धचन्द्र-व्यूह, वज्रव्यूह, शकटव्यूह, सर्वतोभद्रमण्डलव्यूह और सूची-व्यूह—ये नौ व्यूह प्रसिद्ध हैं । सभी व्यूहोंके सैनिकोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया जाता है । दो पक्ष, दो अनुपक्ष और एक पाँचवाँ भाग भी अवश्य रखना चाहिये । योद्धाओंके एक या दो भागोंसे युद्ध करे और तीन भागोंको उनकी रक्षाके लिये रखे । स्वयं राजाको कभी व्यूहमें नियुक्त नहीं करना चाहिये; क्योंकि राजा ही सबकी जड़ है, उस जड़के कट जानेपर सारे राज्यका विनाश हो जाता है; अतः स्वयं राजा युद्धमें प्रवृत्त न हो । वह सेनाके पीछे एक कोसकी दूरीपर रहे । वहाँ रहते हुए राजाका यह कार्य बताया गया है कि वह युद्धसे भागे हुए सिपाहियोंको उत्साहित करके धैर्य बँधावे । सेनाके प्रधान (अर्थात् सेनापति) के भागने या मारे जानेपर सेना नहीं ठहर पाती । व्यूहमें योद्धाओंको न तो एक-दूसरेसे सटाकर खड़ा करे और न बहुत दूर-दूरपर ही; उनके बीचमें इतनी ही दूरी रहनी चाहिये, जिससे एक-दूसरेके हथियार आपसमें टकराने न पावें ॥ २८—३५ ॥

जो शत्रु-सेनाकी मोर्चाबंदी तोड़ना चाहता हो, वह अपने संगठित योद्धाओंके द्वारा ही उसे तोड़नेका प्रयत्न करे तथा शत्रुके द्वारा भी यदि अपनी सेनाके व्यूह-भेदनके लिये प्रयत्न हो रहा हो तो उसकी रक्षाके लिये संगठित वीरोंको ही नियुक्त करना चाहिये। अपनी इच्छाके अनुसार सेनाका ऐसा व्यूह बनावे, जो शत्रुके व्यूहमें घुसकर उसका भेदन कर सके। हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये चार रथ नियुक्त करे। रथकी रक्षाके लिये चार घुड़सवार, उनकी रक्षाके लिये उतने ही ढाल लेकर युद्ध करनेवाले सिपाही तथा ढालवालोंके बराबर ही धनुर्धर वीरोंको तैनात करे। युद्धमें सबसे आगे ढाल लेनेवाले योद्धाओंको स्थापित करे। उनके पीछे धनुर्धर योद्धा, धनुर्धरोंके पीछे घुड़सवार, घुड़सवारोंके पीछे रथ और रथोंके पीछे राजाको हाथियोंकी सेना नियुक्त करनी चाहिये॥३६—३९॥

पैदल हाथीसवार और घुड़सवारोंको प्रयत्नपूर्वक धर्मानुकूल युद्धमें संलग्न रहना चाहिये। युद्धके मुहानेपर शूरवीरोंको ही तैनात करे, डरपोक स्वभाववाले सैनिकोंको वहाँ कदापि न खड़ा होने दे। शूरवीरोंको आगे खड़ा करके ऐसा प्रबन्ध करे, जिससे वीर स्वाभाववाले योद्धाओंको केवल शत्रुओंका जत्थामात्र दिखायी दे [उनके भयंकर पराक्रमपर उनकी दृष्टि न पड़े]; तभी वे शत्रुओंको भगानेवाला पुरुषार्थ कर सकते हैं। भीरु पुरुष आगे रहें तो वे भागकर सेनाका व्यू स्वयं ही तोड़ डालते हैं; अतः उन्हें आगे न रक्खे। शूरवीर आगे रहनेपर भीरु पुरुषोंको युद्धके लिये सदा उत्साह ही प्रदान करते रहते हैं। जिनका कद ऊँचा, नासिका तोतेके समान नुकीली, दृष्टि सौभाग्य तथा दोनों भौंहें मिली हुई हों, जो क्रोधी, कलहप्रिय, सदा हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले तथा कामपरायण हों, उन्हें शूरवीर समझना चाहिये ॥ ४०—४३½ ॥

संगठित वीरोंमेंसे जो मारे जायँ अथवा घायल हों, उनको युद्धभूमिसे दूर हटाना, युद्धके भीतर जाकर हाथियोंको पानी पिलाना तथा हथियार पहुँचाना—ये सब पैदल सिपाहियोंके कार्य हैं। अपनी सेनाका भेदन करनेकी इच्छा रखनेवाले शत्रुओंसे उसकी रक्षा करना और संगठित होकर युद्ध करनेवाले शत्रु-वीरोंका व्यूह तोड़ डालना—यह ढाल लेकर युद्ध करनेवाले योद्धाओंका कार्य बताया गया है। युद्धमें विपक्षी योद्धाओंको मार भगाना धनुर्धर वीरोंका काम है। अत्यन्त घायल हुए योद्धाको युद्धभूमिसे दूर ले जाना, फिर युद्धमें आना तथा शत्रुकी सेनामें त्रास उत्पन्न करना—यह सब रथी वीरोंका कार्य बतलाया जाता है। संगठित व्यूहको तोड़ना, टूटे हुएको जोड़ना तथा चहारदीवारी, तोरण (सदर दरवाजा), अट्टालिका और वृक्षोंको भङ्ग कर डालना—यह अच्छे हाथीका पराक्रम है। ऊँची-नीची भूमिको पैदल सेनाके लिये उपयोगी जानना चाहिये, रथ और घोड़ोंके लिये समतल भूमि उत्तम है तथा कीचड़से भरी हुई युद्धभूमि हाथियोंके लिये उपयोगी बतायी गयी है ॥ ४४—४९½ ॥

इस प्रकार व्यूह-रचना करके जब सूर्य पीठकी ओर हों तथा शुक्र, शनैश्चर और दिक्पाल अपने अनुकूल हों, सामनेसे मन्द-मन्द हवा आ रही हो, उस समय उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा नाम एवं गोत्रकी प्रशंसा करते हुए सम्पूर्ण योद्धाओंमें उत्तेजना भरता रहे। साथ ही यह बात भी बताये कि 'युद्धमें विजय होनेपर उत्तम-उत्तम भोगोंकी प्राप्ति होगी और मृत्यु हो जानेपर स्वर्गका सुख मिलेगा।' वीर पुरुष शत्रुओंको जीतकर मनोवाञ्छित भोग प्राप्त करता है और युद्धमें प्राणत्याग करनेपर उसे परमगति मिलती है। इसके सिवा वह जो स्वामीका अन्न खाये रहता है, उसके ऋणसे छुटकारा पा जाता है; अतः युद्धके समान श्रेष्ठ गति दूसरी कोई नहीं है। शूरवीरोंके शरीरसे जब रक्त निकलता है, तब वे पापमुक्त हो जाते हैं। युद्धमें जो शस्त्र-प्रहार आदिका कष्ट सहना पड़ता है, वह बहुत बड़ी तपस्या है। रणमें प्राण-त्याग करनेवाले शूरवीरके साथ हजारों सुन्दरी अप्सराएँ चलती हैं। जो सैनिक हतोत्साह होकर युद्धसे पीठ दिखाते हैं, उनका सारा पुण्य मालिकको मिल जाता है और स्वयं उन्हें पग-पगपर एक-एक ब्रह्महत्याके पापका फल प्राप्त होता है। जो अपने सहायकोंको छोड़कर चल देता है, देवता उसका विनाश कर डालते हैं। जो युद्धसे पीछे पैर नहीं हटाते, उन बहादुरोंके लिये अश्वमेध यज्ञका फल बताया गया है ॥ ५०—५६ ॥

यदि राजा धर्मपर दृढ़ रहे तो उसकी विजय होती है। योद्धाओंको अपने समान योद्धाओंके साथ ही युद्ध करना चाहिये। हाथीसवार आदि सैनिक हाथीसवार आदिके ही साथ युद्ध करें। भागनेवालोंको न मारें। जो लोग केवल युद्ध देखनेके लिये आये हों, अथवा युद्धमें सम्मिलित होनेपर भी जो शस्त्रहीन एवं भूमिपर गिरे हुए हों, उनको भी नहीं मारना चाहिये। जो योद्धा शान्त हो या थक गया हो, नींदमें पड़ा हो तथा नदी या जंगलके बीचमें उतरा हो, उसपर भी

प्रहार न करे। दुर्दिनमें शत्रुके नाशके लिये कूटयुद्ध (कपटपूर्ण संग्राम) करे। दोनों बाहें ऊपर उठाकर जोर-जोरसे पुकारकर कहे—'यह देखो, हमारे शत्रु भाग चले, भाग चले। इधर हमारी ओर मित्रोंकी बहुत बड़ी सेना आ पहुँची; शत्रुओंकी सेनाका संचालन करनेवाला मार गिराया गया। यह सेनापति भी मौतके घाट उतर गया। साथ ही शत्रुपक्षके राजाने भी प्राणत्याग कर दिया' ॥ ५७—६० ॥

भागते हुए विपक्षी योद्धाओंको अनायास ही मारा जा सकता है। धर्मके जाननेवाले परशुरामजी! शत्रुओंको मोहित करनेके लिये कृत्रिम धूपकी सुगन्ध भी फैलानी चाहिये। विजयकी पताकाएँ दिखानी चाहिये, बाजोंका भयंकर समारोह करना चाहिये। इस प्रकार जब युद्धमें विजय प्राप्त हो जाय तो देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। अमात्यके द्वारा किये हुए युद्धमें जो रत्न आदि उपलब्ध हों, वे राजाको ही अर्पण करने चाहिये। शत्रुकी स्त्रियोंपर किसीका भी अधिकार नहीं होता। स्त्री शत्रुकी हो तो भी उसकी रक्षा ही करनी चाहिये। संग्राममें सहायकोंसे रहित शत्रुको पाकर उसका पुत्रकी भाँति पालन करना चाहिये। उसके साथ पुनः युद्ध करना उचित नहीं है। उसके प्रति देशोचित आचारादिका पालन करना कर्तव्य है ॥ ६१—६४ ॥

युद्धमें विजय पानेके पश्चात् अपने नगरमें जाकर 'ध्रुव' संज्ञक नक्षत्र (तीनों उत्तरा और रोहिणी) में राजमहलके भीतर प्रवेश करे। इसके बाद देवताओंका पूजन और सैनिकोंके परिवारके भरण-पोषणका प्रबन्ध करना चाहिये। शत्रुके यहाँसे मिले हुए धनका कुछ भाग भृत्योंको भी बाँट दे। इस प्रकार यह रणकी दीक्षा बतायी गयी है; इसके अनुसार कार्य करनेसे राजाको निश्चय ही विजयकी प्राप्ति होती है ॥ ६५-६६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रणदीक्षा-वर्णन' नामक दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय

लक्ष्मीस्तोत्र और उसका फल

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! पूर्वकालमें इन्द्रने राज्यलक्ष्मीकी स्थिरताके लिये जिस प्रकार भगवती लक्ष्मीकी स्तुति की थी, उसी प्रकार राजा भी अपनी विजयके लिये उनका स्तवन करे ॥ १ ॥

इन्द्र बोले—जो सम्पूर्ण लोकोंकी जननी हैं, समुद्रसे जिनका आविर्भाव हुआ है, जिनके नेत्र खिले हुए कमलके समान शोभायमान हैं तथा जो भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें विराजमान हैं, उन लक्ष्मीदेवीको मैं प्रणाम करता हूँ। जगत्‌को पवित्र करनेवाली देवि! तुम्हीं सिद्धि हो और तुम्हीं स्वधा, स्वाहा, सुधा, संध्या, रात्रि, प्रभा, भूति, मेधा, श्रद्धा और सरस्वती हो। शोभामयी देवि! तुम्हीं यज्ञविद्या, महाविद्या, गुह्यविद्या तथा मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाली आत्मविद्या हो। आन्वीक्षिकी (दर्शन-शास्त्र), त्रयी (ऋक्, साम, यजु), वार्ता (जीविका-प्रधान कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य कर्म) तथा दण्डनीति भी तुम्हीं हो। देवि! तुम स्वयं सौम्यस्वरूपवाली (सुन्दरी) हो; अतः तुमसे व्याप्त होनेके कारण इस जगत्‌का रूप भी सौम्य—मनोहर दिखायी देता है। भगवति! तुम्हारे सिवा दूसरी कौन स्त्री है, जो कौमोदकी गदा धारण करनेवाले देवाधिदेव भगवान् विष्णुके अखिल यज्ञमय विग्रहको, जिसका योगीलोग चिन्तन करते हैं, अपना निवास-स्थान बना सके। देवि! तुम्हारे त्याग देनेसे समस्त त्रिलोकी नष्टप्राय हो गयी थी; किंतु इस समय पुनः तुम्हारा ही सहारा पाकर यह समृद्धिपूर्ण दिखायी देती है। महाभागे! तुम्हारी कृपादृष्टिसे ही मनुष्योंको सदा स्त्री, पुत्र, गृह, मित्र और धन-धान्य आदिकी प्राप्ति होती है। देवि! जिन पुरुषोंपर आपकी दयादृष्टि पड़ जाती है, उन्हें शरीरकी नीरोगता, ऐश्वर्य, शत्रुपक्षकी हानि और सब प्रकारके सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं। मातः! तुम सम्पूर्ण भूतोंकी जननी और देवाधिदेव विष्णु सबके पिता हैं। तुमने और भगवान् विष्णुने इस चराचर जगत्‌को व्याप्त कर रखा है। सबको पवित्र करनेवाली देवि! तुम मेरी मान प्रतिष्ठा, खजाना, अन्न-भण्डार, गृह, साज-सामान, शरीर और स्त्री—किसीका भी त्याग न करो। भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें वास करनेवाली लक्ष्मी! मेरे पुत्र, मित्रवर्ग, पशु तथा आभूषणोंको भी न त्यागो। विमलस्वरूपा देवि! जिन मनुष्योंको तुम त्याग देती हो, उन्हें सत्य, समता, शौच तथा

शील आदि सद्गुण भी तत्काल ही छोड़ देते हैं। तुम्हारी कृपादृष्टि पड़नेपर गुणहीन मनुष्य भी तुरंत ही शील आदि सम्पूर्ण उत्तम गुणों तथा पीढ़ियोंतक बने रहनेवाले ऐश्वर्यसे युक्त हो जाते हैं। देवि! जिसको तुमने अपनी दयादृष्टिसे एक बार देख लिया, वही श्लाघ्य (प्रशंसनीय), गुणवान्, धन्यवादका पात्र, कुलीन, बुद्धिमान्, शूर और पराक्रमी हो जाता है। विष्णुप्रिये! तुम जगत्‌की माता हो। जिसकी ओरसे तुम मुँह फेर लेती हो, उसके शील आदि सभी गुण तत्काल दुर्गुणके रूपमें बदल जाते हैं। कमलके समान नेत्रोंवाली देवि! ब्रह्माजीकी जिह्वा भी तुम्हारे गुणोंका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। मुझपर प्रसन्न हो जाओ तथा कभी भी मेरा परित्याग न करो ॥ २–१७ ॥

पुष्कर कहते हैं—इन्द्रके इस प्रकार स्तवन करनेपर भगवती लक्ष्मीने उन्हें राज्यकी स्थिरता और संग्राममें विजय आदिका अभीष्ट वरदान दिया। साथ ही अपने स्तोत्रका पाठ या श्रवण करनेवाले पुरुषोंके लिये भी उन्होंने भोग तथा मोक्ष मिलनेके लिये वर प्रदान किया। अतः मनुष्यको चाहिये कि सदा ही लक्ष्मीके इस स्तोत्रका पाठ और श्रवण करे* ॥ १८-१९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'श्रीस्तोत्रका वर्णन' नामक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

---

* पुष्कर उवाच—

राज्यलक्ष्मीस्थिरत्वाय यथेन्द्रेण पुरा श्रियः। स्तुतिः कृता तथा राजा जयार्थं स्तुतिमाचरेत् ॥

इन्द्र उवाच—

नमस्ये सर्वलोकानां जननीमब्धिसम्भवाम्। श्रियमुन्निद्रपद्माक्षीं विष्णुवक्षःस्थलस्थिताम् ॥
त्वं सिद्धिस्त्वं स्वधा स्वाहा सुधा त्वं लोकपावनि। संध्या रात्रिः प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती ॥
यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने। आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी ॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्त्वमेव च। सौम्या सौम्यं जगद्रूपं त्वयैतद्देवि पूरितम् ॥
का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमयं वपुः। अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्यं गदाभृतः ॥
त्वया देवि परित्यक्तं सकलं भुवनत्रयम्। विनष्टप्रायमभवत् त्वयेदानीं समेधितम् ॥
दाराः पुत्रास्तथागारं सुहृद्धान्यधनादिकम्। भवत्येतन्महाभागे नित्यं त्वद्वीक्षणान्नृणाम् ॥
शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः सुखम्। देवि त्वद्दृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम् ॥
त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता। त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम् ॥
मानं कोषं तथा कोष्ठं मा गृहं मा परिच्छदम्। मा शरीरं कलत्रं च त्यजेथाः सर्वपावनि ॥
मा पुत्रान् मा सुहृद्वर्गान् मा पशून् मा विभूषणम्। त्यजेथा मम देवस्य विष्णोर्वक्षःस्थलालये ॥
सत्येन समशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणैः। त्यज्यन्ते ते नराः सद्यः संत्यक्ता ये त्वयामले ॥
त्वयावलोकिताः सद्यः शीलाद्यैरखिलैर्गुणैः। कुलैश्वर्यैश्च युज्यन्ते पुरुषा निर्गुणा अपि ॥
स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान्। स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥
सद्यो वैगुण्यमायान्ति शीलाद्याः सकला गुणाः। पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णुवल्लभे ॥
न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वापि वेधसः। प्रसीद देवि पद्माक्षि मास्मांस्त्याक्षीः कदाचन ॥

पुष्कर उवाच

एवं स्तुता ददौ श्रीश्च वरमिन्द्राय चेप्सितम्। सुस्थिरत्वं च राज्यस्य संग्रामविजयादिकम् ॥
स्वस्तोत्रपाठश्रवणकर्तॄणां भुक्तिमुक्तिदम्। श्रीस्तोत्रं सततं तस्मात् पठेच्च शृणुयान्नरः ॥
(अग्निपुराण २३७। १–१९)

दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय

श्रीरामके द्वारा उपदिष्ट राजनीति

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! मैंने तुमसे पुष्करकी कही हुई नीतिका वर्णन किया है । अब तुम लक्ष्मणके प्रति श्रीरामचन्द्रद्वारा कही गयी विजयदायिनी नीतिका निरूपण सुनो । यह धर्म आदिको बढ़ानेवाली है ॥ १ ॥

श्रीराम कहते हैं—लक्ष्मण ! न्याय (धान्यका छठा भाग लेने आदि) के द्वारा धनका अर्जन करना, अर्जित किये हुए धनको व्यापार आदि द्वारा बढ़ाना, उसकी स्वजनों और परजनोंसे रक्षा करना तथा उसका सत्पात्रमें नियोजन करना (यज्ञादिमें तथा प्रजापालनमें लगाना एवं गुणवान् पुत्रको सौंपना)—ये राजाके चार प्रकारके व्यवहार बताये गये हैं । [राजा नय और पराक्रमसे सम्पन्न एवं भलीभाँति उद्योगशील होकर स्वमण्डल एवं परमण्डलकी लक्ष्मीका चिन्तन करे ।] नयका मूल है, विनय और विनयकी प्राप्ति होती है, शास्त्रके निश्चयसे । इन्द्रिय-जयका ही नाम विनय है; जो उस विनयसे युक्त होता है, वही शास्त्रोंको प्राप्त करता है । [जो शास्त्रमें निष्ठा रखता है, उसीके हृदयमें शास्त्रके अर्थ (तत्त्व) स्पष्टतया प्रकाशित होते हैं । ऐसा होनेसे स्वमण्डल और परमण्डलकी 'श्री' प्रसन्न (निष्कण्टकरूपसे प्राप्त) होती है—उसके लिये लक्ष्मी अपना द्वार खोल देती हैं] ॥ २-३ ॥

शास्त्रज्ञान, आठ गुणोंसे युक्त बुद्धि[1], धृति (उद्वेगका अभाव), दक्षता (आलस्यका अभाव), प्रगल्भता (सभामें बोलने या कार्य करनेमें भय अथवा संकोचका न होना), धारणशीलता (जानी-सुनी बातको भूलने न देना), उत्साह (शौर्यादि गुण[2]), प्रवचन-शक्ति, दृढ़ता (आपत्तिकालमें क्लेश सहन करनेकी क्षमता), प्रभाव (प्रभु-शक्ति), शुचिता (विविध उपायोंद्वारा परीक्षा लेनेसे सिद्ध हुई आचार-विचारकी शुद्धि), मैत्री (दूसरोंको अपने प्रति आकृष्ट कर लेनेका गुण), त्याग (सत्पात्रको दान देना), सत्य (प्रतिज्ञापालन), कृतज्ञता (उपकारको न भूलना), कुल (कुलीनता), शील (अच्छा स्वभाव) और दम (इन्द्रियनिग्रह तथा क्लेशसहनकी क्षमता)—ये सम्पत्तिके हेतुभूत गुण हैं[3] ॥ ४-५ ॥

विस्तृत विषयरूपी वनमें दौड़ते हुए तथा निरङ्कुश होनेके कारण विप्रमाथी (विनाशकारी) इन्द्रियरूपी हाथीको ज्ञानमय अङ्कुशसे वशमें करे । काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद—ये 'षड्वर्ग' कहे गये हैं । राजा इनका सर्वथा त्याग कर दे । इन सबका त्याग हो जानेपर वह सुखी होता है ॥ ६-७ ॥

राजाको चाहिये कि वह विनय-गुणसे सम्पन्न हो आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या एवं तर्कविद्या), वेदत्रयी, वार्ता (कृषि, वाणिज्य और पशुपालन) तथा दण्डनीति—इन चार विद्याओंका उनके विद्वानों तथा उन विद्याओंके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले कर्मठ पुरुषोंके साथ बैठकर चिन्तन करे (जिससे लोकमें इनका सम्यक् प्रचार और प्रसार हो) । 'आन्वीक्षिकी'से आत्मज्ञान एवं वस्तुके यथार्थ स्वभावका बोध होता है । धर्म और अधर्मका ज्ञान 'वेदत्रयी'पर अवलम्बित है, अर्थ और अनर्थ 'वार्ता'के सम्यक् उपयोगपर निर्भर हैं तथा न्याय और अन्याय 'दण्डनीति'के समुचित प्रयोग और अप्रयोग-पर आधारित हैं ॥ ८-९ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—कष्ट न पहुँचाना, मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण करना, बाहर और भीतरसे पवित्र रहना एवं शौचाचारका पालन करना, दीनोंके प्रति दयाभाव रखना तथा क्षमा (निन्दा आदिको सह लेना)—ये चारों वर्णों तथा आश्रमोंके सामान्य धर्म कहे गये हैं । राजाको चाहिये कि वह प्रजापर अनुग्रह करे और सदाचारके

---

१. बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, धारण करना (याद रखना), अर्थ-विज्ञान (विविध साध्य-साधनोंके स्वरूपका विवेक), ऊह (वितर्क), अपोह (अयुक्ति-युक्तका त्याग) तथा तत्त्वज्ञान (वस्तुके स्वभावका निर्णय) । जैसा कि कौटिल्यने कहा है—

'शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः' (कौटि० अर्थ० ६ । १ । ९६)

२. उत्साहके सूचक चार गुण हैं—दक्षता (आलस्यका अभाव), शीघ्रकारिता, अमर्ष (अपमानको न सह सकना) तथा शौर्य ।

३. यहाँ धारणशीलता बुद्धिसे और दक्षता उत्साहसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण हैं; अतः इनका वहीं अन्तर्भाव हो सकता था; तथापि इनका जो पृथक् उपादान हुआ है, वह इन गुणोंकी प्रधानता सूचित करनेके लिये है ।

पालनमें संलग्न रहे । मधुर वाणी, दीनोंपर दया, देश-कालकी अपेक्षासे सत्पात्रको दान, दीनों और शरणागतोंकी रक्षा* तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग—ये सत्पुरुषोंके आचार हैं । यह आचार प्रजासंग्रहका उपाय है, जो लोकमें प्रशंसित होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा भविष्यमें भी अभ्युदयरूप फल देनेवाला होनेके कारण हितकारक है । यह शरीर मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे घिरा हुआ है । आज या कल इसका विनाश निश्चित है । ऐसी दशामें इसके लिये कौन राजा धर्मके विपरीत आचरण करेगा ? ॥ १०—१२½ ॥

राजाको चाहिये कि वह अपने लिये सुखकी इच्छा रखकर दीन-दुखी लोगोंको पीड़ा न दे; क्योंकि सताया जानेवाला दीन-दुखी मनुष्य दुःखजनित क्रोधके द्वारा अत्याचारी राजाका विनाश कर डालता है । अपने पूजनीय पुरुषको जिस तरह सादर हाथ जोड़ा जाता है, कल्याणकामी राजा दुष्टजनको उससे भी अधिक आदर देते हुए हाथ जोड़े । (तात्पर्य यह है कि दुष्टको सामनीतिसे ही वशमें किया जा सकता है ।) साधु सुहृदों तथा दुष्ट शत्रुओंके प्रति भी सदा प्रिय वचन ही बोलना चाहिये । प्रियवादी 'देवता' कहे गये हैं और कटुवादी 'पशु' ॥ १३—१५½ ॥

बाहर और भीतरसे शुद्ध रहकर राजा आस्तिकता (ईश्वर तथा परलोकपर विश्वास) द्वारा अन्तःकरणको पवित्र बनाये और सदा देवताओंका पूजन करे । गुरुजनोंका देवताओंके समान ही सम्मान करे तथा सुहृदोंको अपने तुल्य मानकर उनका भलीभाँति सत्कार करे । वह अपने ऐश्वर्यकी रक्षा एवं वृद्धिके लिये गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणामद्वारा अनुकूल बनाये । अनूचान (साङ्गवेदके अध्येता) की-सी चेष्टाओंद्वारा विद्यावृद्ध सत्पुरुषोंका साम्मुख्य प्राप्त करे । सुकृतकर्म (यज्ञादि पुण्यकर्म तथा गन्ध-पुष्पादि-समर्पण) द्वारा देवताओंको अपने अनुकूल करे । सद्भाव (विश्वास) द्वारा मित्रका हृदय जीते, सम्भ्रम (विशेष आदर) से बान्धवों (पिता और माताके कुलोंके बड़े-बूढ़ों) को अनुकूल बनाये । स्त्रीको प्रेमसे तथा भृत्यवर्गको दानसे वशमें करे । इनके अतिरिक्त जो बाहरी लोग हैं, उनके प्रति अनुकूलता दिखाकर उनका हृदय जीते ॥ १६—१८½ ॥

दूसरे लोगोंके कृत्योंकी निन्दा या आलोचना न करना, अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुरूप धर्मका निरन्तर पालन, दीनोंके प्रति दया, सभी लोक-व्यवहारोंमें सबके प्रति मीठे वचन बोलना, अपने अनन्य मित्रका प्राण देकर भी उपकार करनेके लिये उद्यत रहना, घरपर आये हुए मित्र या अन्य सज्जनोंको भी हृदयसे लगाना—उनके प्रति अत्यन्त स्नेह एवं आदर प्रकट करना, आवश्यकता हो तो उनके लिये यथाशक्ति धन देना, लोगोंके कटु व्यवहार एवं कठोर वचनको भी सहन करना, अपनी समृद्धिके अवसरोंपर निर्विकार रहना (हर्ष या दर्पके वशीभूत न होना), दूसरोंके अभ्युदयपर मनमें ईर्ष्या या जलन न होना, दूसरोंको ताप देनेवाली बात न बोलना, मौनव्रतका आचरण (अधिक वाचाल न होना), बन्धुजनोंके साथ अटूट सम्बन्ध बनाये रखना, सज्जनोंके प्रति चतुरश्रता (अवक्र—सरलभावसे उनका समाराधन), उनकी हार्दिक सम्मतिके अनुसार कार्य करना—ये महात्माओंके आचार हैं ॥ १९—२२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रामोक्तनीतिका वर्णन' नामक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय

श्रीरामकी राजनीति

श्रीराम कहते हैं—लक्ष्मण ! स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री), राष्ट्र (जनपद), दुर्ग (किला), कोष (खजाना), बल (सेना) और सुहृत् (मित्रादि)—ये राज्यके परस्पर उपकार करनेवाले सात अङ्ग कहे गये हैं । राज्यके अङ्गोंमें राजा और मन्त्रीके बाद राष्ट्र प्रधान एवं अर्थका साधन है, अतः उसका सदा पालन करना

* यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'शरणागतोंकी रक्षा तो दयाका ही कार्य है, अतः दयासे ही वह सिद्ध है, फिर उसका अलग कथन क्यों किया गया ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि दयाके दो भेद हैं—'उत्कृष्टा' और 'अनुत्कृष्टा' । इनमें जो उत्कृष्टा दया है, उसके द्वारा दीनोंका उद्धार होता है और अनुत्कृष्टा दयासे उपगत या शरणागतकी रक्षा की जाती है—यही सूचित करनेके लिये उसका अलग प्रतिपादन किया गया है ।

चाहिये । (इन अङ्गोंमें पूर्व-पूर्व अङ्ग परकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।) ॥ १½ ॥

कुलीनता, सत्त्व (व्यसन और अभ्युदयमें भी निर्विकार रहना), युवावस्था, शील (अच्छा स्वभाव), दाक्षिण्य (सबके अनुकूल रहना या उदारता), शीघ्रकारिता (दीर्घसूत्रताका अभाव), अविसंवादिता (वाक्छलका आश्रय लेकर परस्पर विरोधी बातें न करना), सत्य (मिथ्याभाषण न करना), वृद्धसेवा (विद्यावृद्धोंकी सेवामें रहना और उनकी बातोंको मानना), कृतज्ञता (किसीके उपकारको न भुलाकर प्रत्युपकारके लिये उद्यत रहना), दैवसम्पन्नता (प्रबल पुरुषार्थसे दैवको भी अनुकूल बना लेना), बुद्धि (शुश्रूषा आदि आठ गुणोंसे युक्त प्रज्ञा), अक्षुद्रपरिवारता (दुष्ट परिजनोंसे युक्त न होना), शक्यसामन्तता (आसपासके माण्डलिक राजाओंको वशमें किये रहना), दृढ़भक्तिता (सुदृढ़ अनुराग), दीर्घदर्शिता (दीर्घकालमें घटित होनेवाली बातोंका अनुमान कर लेना), उत्साह, शुद्धचित्तता, स्थूललक्षता (अत्यन्त मनस्वी होना), विनीतता (जितेन्द्रियता) और धार्मिकता—ये अच्छे आभिगामिक[1] गुण हैं ॥ २—४½ ॥

जो सुप्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न, क्रूरतारहित, गुणवान् पुरुषोंका संग्रह करनेवाले तथा पवित्र (शुद्ध) हों, ऐसे लोगोंका आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाला राजा अपना परिवार बनाये ॥ ५½ ॥

वाग्मी (उत्तम वक्ता—ललित, मधुर एवं अल्पाक्षरों-द्वारा ही बहुत-से अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाला), प्रगल्भ (सभामें सबको निगृहीत करके निर्भय बोलनेवाला), स्मृतिमान्[2] (स्वभावतः किसी बातको न भूलनेवाला), उदग्र (ऊँचे कदवाला), बलवान् (शारीरिक बलसे सम्पन्न एवं युद्ध आदिमें समर्थ), वशी (जितेन्द्रिय), दण्डनेता (चतुरङ्गिणी सेनाका समुचित रीतिसे संचालन करनेमें समर्थ), निपुण (व्यवहारकुशल), कृतविद्य (शास्त्रीयविद्यासे सम्पन्न), स्ववग्रह (प्रमादसे अनुचित कर्ममें प्रवृत्त होनेपर वहाँसे सुखपूर्वक निवृत्त किये जाने योग्य), पराभियोगप्रसह (शत्रुओंद्वारा छेड़े गये युद्धादिके कष्टको दृढ़तापूर्वक सहन करनेमें समर्थ—सहसा आत्मसमर्पण न करनेवाला), सर्वदृष्टप्रतिक्रिय (सब प्रकारके संकटोंके निवारणके अमोघ उपायको तत्काल जान लेनेवाला), परच्छिद्रान्ववेक्षी (गुप्तचर आदिके द्वारा शत्रुओंके छिद्रोंके अन्वेषणमें प्रयत्नशील), संधिविग्रहतत्त्ववित् (अपनी तथा शत्रुकी अवस्थाके बलाबल-भेदको जानकर संधि-विग्रह आदि छहों गुणोंके प्रयोगके ढंग और अवसरको ठीक-ठीक जाननेवाला), गूढमन्त्रप्रचार (मन्त्रणा और उसके प्रयोगको सर्वथा गुप्त रखनेवाला), देशकालविभागवित् (किस प्रकारकी सेना किस देश और किस कालमें विजयिनी होगी—इत्यादि बातोंको विभागपूर्वक जाननेवाला), आदाता सम्यगर्थानाम् (प्रजा आदिसे न्यायपूर्वक धन लेनेवाला), विनियोक्ता (धनको उचित एवं उत्तम कार्यमें लगानेवाला), पात्रवित् (सत्पात्रका ज्ञान रखनेवाला), क्रोध, लोभ, भय, द्रोह, स्तम्भ (मान) और चपलता (बिना विचारे कार्य कर बैठना)—इन दोषोंसे दूर रहनेवाला, परोपताप (दूसरोंको पीड़ा देना), पैशुन्य (चुगली करके मित्रोंमें परस्पर फूट डालना), मात्सर्य (डाह), ईर्ष्या, (दूसरोंके उत्कर्षको न सह सकना) और अनृत[3] (असत्यभाषण)—इन दुर्गुणोंको लाँघ जानेवाला, वृद्धजनोंके उपदेशको मानकर चलनेवाला, श्लक्ष्ण (मधुरभाषी), मधुरदर्शन (आकृतिसे सुन्दर एवं सौम्य दिखायी देनेवाला), गुणानुरागी (गुणवानोंके गुणोंपर रीझनेवाला) तथा मितभाषी (नपी-तुली बात कहनेवाला) राजा श्रेष्ठ है । इस प्रकार यहाँ राजाके आत्मसम्पत्ति-सम्बन्धी गुण (उसके स्वरूपके उपपादक गुण) बताये गये हैं ॥ ६—१०½ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न, बाहर-भीतरसे शुद्ध, शौर्य-सम्पन्न, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंको जाननेवाले, स्वामिभक्त तथा दण्डनीतिका समुचित प्रयोग जाननेवाले लोग राजाके सचिव (अमात्य[4]) होने चाहिये ॥ ११½ ॥

---

१. इन गुणोंसे युक्त राजा सबके लिये अभिगम्य—मिलने योग्य होता है ।

२. स्मृति बुद्धिका गुण है, जिसकी गणना आभिगामिक गुणोंमें हो चुकी है । उसका पुनः यहाँ ग्रहण उसकी श्रेष्ठता और अनिवार्यता सूचित करनेके लिये है ।

३. आभिगामिक गुणोंमें 'सत्य' आ चुका है, यहाँ भी अनृत-त्याग कहकर जो पुनः उसका ग्रहण किया गया है, यह दोनों जगह उसकी अङ्गता प्रदर्शित करनेके लिये है ।

४. कौटिल्यने भी ऐसा ही कहा है—

'अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तान् अमात्यान् कुर्वीत ।'

(कौटि० अर्थ० १ । ८ । ४)

जिसे अन्यायसे हटाना कठिन न हो, जिसका जन्म उसी जनपदमें हुआ हो, जो कुलीन (ब्राह्मण आदि), सुशील, शारीरिक बलसे सम्पन्न, उत्तम वक्ता, सभामें निर्भीक होकर बोलनेवाला, शास्त्ररूपी नेत्रसे युक्त, उत्साहवान् (उत्साहसम्बन्धी त्रिविध[1] गुण—शौर्य, अमर्ष एवं दक्षतासे सम्पन्न), प्रतिपत्तिमान् (प्रतिभाशाली, भय आदिके अवसरोंपर उनका तत्काल प्रतिकार करनेवाला), स्तब्धता (मान) और चपलतासे रहित, मैत्र (मित्रोंके अर्जन एवं संग्रहमें कुशल), शीत-उष्ण आदि क्लेशोंको सहन करनेमें समर्थ, शुचि (उपधाद्वारा परीक्षासे प्रमाणित हुई शुद्धिसे सम्पन्न), सत्य (झूठ न बोलना), सत्त्व (व्यसन और अभ्युदयमें भी निर्विकार रहना), धैर्य, स्थिरता, प्रभाव तथा आरोग्य आदि गुणोंसे सम्पन्न, कृतशिल्प (सम्पूर्ण कलाओंके अभ्याससे सम्पन्न), दक्ष (शीघ्रतापूर्वक कार्य-सम्पादनमें कुशल), प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्), धारणान्वित (अविस्मरणशील), दृढ़भक्ति (स्वामीके प्रति अविचल अनुराग रखनेवाला) तथा किसीसे वैर न रखनेवाला और दूसरोंद्वारा किये गये विरोधको शान्त कर देनेवाला पुरुष राजाका बुद्धिसचिव एवं कर्मसचिव होना चाहिये ॥१२—१४½॥

स्मृति (अनेक वर्षोंकी बीती बातोंको भी न भूलना)' अर्थ-तत्परता (दुर्गादिकी रक्षा एवं संधि आदिमें सदैव तत्पर रहना), वितर्क (विचार), ज्ञाननिश्चय (यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है—इस प्रकारका निश्चय), दृढ़ता तथा मन्त्रगुप्ति (कार्यसिद्धि होनेतक मन्त्रणाको अत्यन्त गुप्त रखना)—ये 'मन्त्रिसम्पत्'के गुण कहे गये हैं ॥ १५½ ॥

पुरोहितको तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तथा दण्डनीतिके ज्ञानमें भी कुशल होना चाहिये; वह सदा अथर्ववेदोक्त विधिसे राजाके लिये शान्तिकर्म एवं पुष्टिकर्मका सम्पादन करे[2] ॥ १६½ ॥

बुद्धिमान् राजा तत्तद् विद्याके विद्वानोंद्वारा उन अमात्योंके शास्त्रज्ञान तथा शिल्पकर्म—इन दो गुणोंकी परीक्षा करे[3] । यह परोक्ष या आगम प्रमाणद्वारा परीक्षण है ॥ १७½ ॥

कुलीनता, जन्मस्थान तथा अवग्रह (उसे नियन्त्रित रखनेवाले बन्धुजन)—इन तीन बातोंकी जानकारी उसके आत्मीयजनोंके द्वारा प्राप्त करे । (यहाँ भी आगम या परोक्ष प्रमाणका ही आश्रय लिया गया है ।) परिकर्म (दुर्गादि-निर्माण) में दक्षता (आलस्य न करना), विज्ञान (बुद्धिसे अपूर्व बातको जानकर बताना) और धारयिष्णुता (कौन कार्य हुआ और कौन-सा कर्म शेष रहा इत्यादि बातोंको सदा स्मरण रखना)—इन तीन गुणोंकी भी परीक्षा करे । प्रगल्भता (सभा आदिमें निर्भीकता), प्रतिभा (प्रत्युत्पन्नमतिता), वाग्मिता (प्रवचनकौशल) तथा सत्यवादिता—इन चार गुणोंको बातचीतके प्रसङ्गोंमें स्वयं अपने अनुभवसे जाने ॥ १८—१९½ ॥

उत्साह (शौर्यादि), प्रभाव, क्लेश सहन करनेकी क्षमता, धैर्य, स्वामिविषयक अनुराग और स्थिरता—इन गुणोंकी परीक्षा आपत्तिकालमें करे । राजाके प्रति दृढ़भक्ति, मैत्री तथा आचार-विचारकी शुद्धि—इन गुणोंको व्यवहारसे जाने ॥ २०-२१ ॥

आसपास एवं पड़ोसके लोगोंसे बल, सत्त्व (सम्पत्ति और विपत्तिमें भी निर्विकार रहनेका स्वभाव), आरोग्य, शील, अस्तब्धता (मान और दर्पका अभाव) तथा अचापल्य (चपलताका अभाव एवं गम्भीरता)—इन गुणोंको जाने । वैर न करनेका स्वभाव, भद्रता (भलमनसाहत) तथा क्षुद्रता (नीचता) को प्रत्यक्ष देखकर जाने । जिनके गुण और बर्ताव प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनके कार्योंसे सर्वत्र उनके गुणोंका अनुमान करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

जहाँ खेतीकी उपज अधिक हो, विभिन्न वस्तुओंकी खानें हों, जहाँ विक्रयके योग्य तथा खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हों, जो गौओंके लिये हितकारिणी (घास आदिसे युक्त) हो, जहाँ पानीकी बहुतायत हो, जो पवित्र जनपदोंसे घिरी हुई हो, जो सुरम्य हो, जहाँके जंगलोंमें

---

१. कौटिल्यने भी ऐसा ही कहा है—

'शौर्यममर्षो दाक्ष्यं चोत्साहगुणाः ।' (कौटि० अर्थ० ६ । ९ । ९६)

२. यही अभिप्राय लेकर कौटिल्यने कहा है—

'पुरोहितम् उदितोदितकुलशीलं साङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणाम् आथर्वभिरुपायैः प्रतिकर्तारं प्रकुर्वीत ।' (कौटि० अर्थ० १ । ९ । ५०)

३. राजाओंके लिये तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान । जैसा कि कौटिल्यका कथन है—

'प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः ।' इनमें स्वयं देखा हुआ 'प्रत्यक्ष', दूसरोंके द्वारा कथित 'परोक्ष' तथा किये गये कर्मसे अकृत कर्मका अवेक्षण 'अनुमान' है ।

हाथी रहते हों, जहाँ जलमार्ग (पुल आदि) तथा स्थलमार्ग (सड़कें) हों, जहाँकी सिंचाई वर्षापर निर्भर न हो अर्थात् जहाँ सिंचाईके लिये प्रचुर मात्रामें जल उपलब्ध हो, ऐसी भूमि ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये प्रशस्त मानी गयी है ॥ २४-२५ ॥

['जो भूमि कँकरीली और पथरीली हो, जहाँ जंगल-ही-जंगल हों, जो सदा चोरों और लुटेरोंके भयसे आक्रान्त हो, जो रूक्ष (ऊसर) हो, जहाँके जंगलोंमें काँटेदार वृक्ष हों तथा जो हिंसक जन्तुओंसे भरी हो, वह भूमि नहींके बराबर है ।']

[जहाँ सुखपूर्वक आजीविका चल सके, जो पूर्वोक्त उत्तम भूमिके गुणोंसे सम्पन्न हो] जहाँ जलकी अधिकता हो, जिसे किसी पर्वतका सहारा प्राप्त हो, जहाँ शूद्रों, कारीगरों और वैश्योंकी बस्ती अधिक हो, जहाँके किसान विशेष उद्योगशील एवं बड़े-बड़े कार्योंका आयोजन करनेवाले हों, जो राजाके प्रति अनुरक्त, उनके शत्रुओंसे द्वेष रखनेवाला और पीड़ा तथा करका भार सहन करनेमें समर्थ हो, हृष्ट-पुष्ट एवं सुविस्तृत हो, जहाँ अनेक देशोंके लोग आकर रहते हों, जो धार्मिक, पशु-सम्पत्तिसे भरा-पूरा तथा धनी हो और जहाँके नायक (गाँवोंके मुखिया) मूर्ख और व्यसनग्रस्त हों, ऐसा जनपद राजाके लिये प्रशस्त कहा गया है । [मुखिया मूर्ख और व्यसनी हो तो वह राजाके विरुद्ध आन्दोलन नहीं कर सकता] ॥ २६-२७ ॥

जिसकी सीमा बहुत बड़ी एवं विस्तृत हो, जिसके चारों ओर विशाल खाइयाँ बनी हों, जिसके प्राकार (परकोटे) और गोपुर (फाटक) बहुत ऊँचे हों, जो पर्वत, नदी, मरुभूमि अथवा जंगलका आश्रय लेकर बना हो, ऐसे पुर (दुर्ग) में राजाको निवास करना चाहिये । जहाँ जल, धान्य और धन प्रचुरमात्रामें विद्यमान हों, वह दुर्ग दीर्घकालतक शत्रुके आक्रमणका सामना करनेमें समर्थ होता है । जलमय, पर्वतमय, वृक्षमय, ऐरिण (उजाड़ या वीरान स्थानपर बना हुआ) तथा धान्वन (मरुभूमि या बालुकामय प्रदेशमें स्थित)—ये पाँच प्रकारके दुर्ग हैं । [दुर्गका विचार करनेवाले उत्तम बुद्धिमान् पुरुषोंने इन सभी दुर्गोंको प्रशस्त बतलाया है]॥ २८-२९ ॥

[जिसमें आय अधिक हो और खर्च कम, अर्थात् जिसमें जमा अधिक होता हो और जिसमेंसे धनको कम निकाला जाता हो, जिसकी ख्याति खूब हो तथा जिसमें धनसम्बन्धी देवता (लक्ष्मी, कुबेर आदि) का सदा पूजन किया जाता हो, जो मनोवाञ्छित द्रव्योंसे भरा-पूरा हो, मनोरम हो और] विश्वस्त जनोंकी देख-रेखमें हो, जिसका अर्जन धर्म एवं न्यायपूर्वक किया गया हो तथा जो महान् व्ययको भी सह लेनेमें समर्थ हो—ऐसा कोष श्रेष्ठ माना गया है । कोषका उपयोग धर्मादिकी वृद्धि तथा भृत्योंके भरण-पोषण आदिके लिये होना चाहिये ॥ ३० ॥

जो बाप-दादोंके समयसे ही सैनिक सेवा करते आ रहे हों, वशमें रहते (अनुशासन मानते) हों, संगठित हों, जिनका वेतन चुका दिया जाता हो—बाकी न रहता हो, जिनके पुरुषार्थकी प्रसिद्धि हो, जो राजाके अपने ही जनपदमें जन्मे हों, युद्धकुशल हों और कुशल सैनिकोंके साथ रहते हों, नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हों, जिन्हें नाना प्रकारके युद्धोंमें विशेष कुशलता प्राप्त हो तथा जिनके दलमें बहुत-से योद्धा भरे हों, जिन सैनिकोंद्वारा अपनी सेनाके घोड़े और हाथियोंकी आरती उतारी जाती हो, जो परदेश-निवास, युद्धसम्बन्धी आयास तथा नाना प्रकारके क्लेश सहन करनेके अभ्यासी हों तथा जिन्होंने युद्धमें बहुत श्रम किया हो, जिनके मनमें दुविधा न हो तथा जिनमें अधिकांश क्षत्रिय जातिके लोग हों, ऐसी सेना या सैनिक दण्डनीतिविशारदोंके मतमें श्रेष्ठ है ॥ ३१—३३ ॥

जो त्याग (अलोभ एवं दूसरोंके लिये सब कुछ उत्सर्ग करनेका स्वभाव), विज्ञान (सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीणता) तथा सत्त्व (विकारशून्यता)—इन गुणोंसे सम्पन्न, महापक्ष (महान् आश्रय एवं बहुसंख्यक बन्धु आदिके वर्गसे सम्पन्न), प्रियंवद (मधुर एवं हितकर वचन बोलनेवाला), आयतिक्षम (सुस्थिर स्वभाव होनेके कारण भविष्यकालमें भी साथ देनेवाला), अद्वैध (दुविधामें न रहनेवाला) तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हो—ऐसे पुरुषको अपना मित्र बनाये । मित्रके आनेपर दूरसे ही अगवानीमें जाना, स्पष्ट एवं प्रिय वचन बोलना तथा सत्कारपूर्वक मनोवाञ्छित वस्तु देना—ये मित्रसंग्रहके तीन प्रकार हैं । धर्म, काम और अर्थकी प्राप्ति—ये मित्रसे मिलनेवाले तीन प्रकारके फल हैं । चार प्रकारके मित्र जानने चाहिये—औरस (माता-पिताके सम्बन्धसे युक्त), मित्रताके सम्बन्धसे बँधा हुआ, कुलक्रमागत तथा संकटसे बचाया हुआ । सत्यता (झूठ न बोलना), अनुराग और दुःख-सुखमें समानरूपसे भाग लेना—ये मित्रके गुण हैं ॥ ३४—३७ ॥

अब मैं अनुजीवी (राजसेवक) जनोंके बर्तावका वर्णन करूँगा। सेवकोचित गुणोंसे सम्पन्न पुरुष राजाका सेवन करे। दक्षता (कौशल तथा शीघ्रकारिता), भद्रता (भलमनसाहत या लोकप्रियता), दृढ़ता (सुस्थिर स्नेह एवं कर्मोंमें दृढ़तापूर्वक लगे रहना), क्षमा (निन्दा आदिको सहन करना), क्लेशसहिष्णुता (भूख-प्यास आदिके क्लेशको सहन करनेकी क्षमता), संतोष, शील और उत्साह—ये गुण अनुजीवीको अलंकृत करते हैं ॥ ३८½ ॥

सेवक यथासमय न्यायपूर्वक राजाकी सेवा करे; दूसरेके स्थानपर जाना, क्रूरता, उद्दण्डता या असभ्यता और ईर्ष्या—इन दोषोंको वह त्याग दे। जो पद या अधिकारमें अपनेसे बड़ा हो, उसका विरोध करके या उसकी बात काटकर राज-सभामें न बोले। राजाके गुप्त कर्मों तथा मन्त्रणाको कहीं प्रकाशित न करे। सेवकको चाहिये कि वह अपने प्रति स्नेह रखनेवाले स्वामीसे ही जीविका प्राप्त करनेकी चेष्टा करे; जो राजा विरक्त हो—सेवकसे घृणा करता हो, उसे सेवक त्याग दे ॥३९—४१॥

यदि राजा अनुचित कार्यमें प्रवृत्त हो तो उसे मना करना और यदि न्याययुक्त कर्ममें संलग्न हो तो उसमें उसका साथ देना—यह थोड़ेमें बन्धु, मित्र और सेवकोंका श्रेष्ठ आचार बताया गया है ॥ ४२ ॥

राजा मेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको आजीविका प्रदान करनेवाला हो। उसके यहाँ आयके जितने द्वार (साधन) हों, उन सबपर वह विश्वस्त एवं जाँचे-परखे हुए लोगोंको नियुक्त करे। [जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जल लेता है, उसी प्रकार राजा उन आयुक्त पुरुषोंद्वारा धन ग्रहण करे] ॥४३॥

[जिन्हें उन-उन कर्मोंके करनेका अभ्यास तथा यथार्थ ज्ञान हो, जो उपधाद्वारा शुद्ध प्रमाणित हुए हों तथा जिनके ऊपर जाने-समझे हुए गणक आदि करणवर्गकी नियुक्ति कर दी गयी हो तथा] जो उद्योगसे सम्पन्न हों, ऐसे ही लोगोंको सम्पूर्ण कर्मोंमें अध्यक्ष बनाये। खेती, व्यापारियोंके उपयोगमें आनेवाले स्थल और जलके मार्ग, पर्वत आदि दुर्ग, सेतुबन्ध (नहर एवं बाँध आदि), कुञ्जरबन्धन (हाथी आदिके पकड़नेके स्थान), सोने-चाँदी आदिकी खानें, वनमें उत्पन्न सार-दारु आदि (साखू, शीशम आदि) की निकासीके स्थान तथा शून्य स्थानोंको बसाना—आयके इन आठ द्वारोंको 'अष्टवर्ग' कहते हैं। अच्छे आचार-व्यवहारवाला राजा इस अष्टवर्गकी निरन्तर रक्षा करे ॥ ४४-४५ ॥

आयुक्तक (रक्षाधिकारी राजकर्मचारी), चोर, शत्रु, राजाके प्रिय सम्बन्धी तथा राजाके लोभ—इन पाँचोंसे प्रजाजनोंको पाँच प्रकारका भय प्राप्त होता है। इस भयका निवारण करके राजा उचित समयपर प्रजासे कर ग्रहण करे। राज्यके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। राजाका अपना शरीर ही 'आभ्यन्तर राज्य' है तथा राष्ट्र या जनपदको 'बाह्य राज्य' कहा गया है। राजा इन दोनोंकी रक्षा करे ॥ ४६-४७ ॥

जो पापी राजाके प्रिय होनेपर भी राज्यको हानि पहुँचा रहे हों, वे दण्डनीय हैं। राजा उन सबको दण्ड दे तथा विष आदिसे अपनी रक्षा करे। स्त्रियोंपर, पुत्रोंपर तथा शत्रुओं-पर कभी विश्वास न करे ॥ ४८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मकथन' नामक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

दो सौ चालीसवाँ अध्याय

द्वादशराजमण्डल-चिन्तन*

श्रीराम कहते हैं—राजाको चाहिये कि वह मुख्य द्वादश राजमण्डलका चिन्तन करे। १. अरि, २. मित्र, ३. अरिमित्र, तत्पश्चात् ४. मित्रमित्र तथा ५. अरिमित्रमित्र—ये क्रमशः विजिगीषुके सामनेवाले राजा कहे गये हैं। विजिगीषुके पीछे

* यदि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको नौ हजार योजनके क्षेत्रफलवाले चक्रवर्ति-क्षेत्रपर विजय प्राप्त करना हो, तो उसे अपने आगेके पाँच तथा पीछेके चार राजाओंकी ओर ध्यान देना होगा। इसी तरह अगल-बगलके उस राज्यपर भी विचार करना होगा, जिसकी सीमा अपने राज्यसे तथा शत्रुके राज्यसे भी मिलती होगी; ऐसे राज्यकी 'मध्यम' संज्ञा है। इस सम्पूर्ण मण्डलसे बाहर जो प्रबल राज्य या राजा है—उसकी संज्ञा 'उदासीन' है। विजिगीषुके सामनेके जो पाँच राज्य हैं, उनके नामोंका क्रमशः इस प्रकार व्यवहार होगा—(१) शत्रु-राज्य, (२) मित्र-राज्य, (३) शत्रुके मित्रका राज्य, (४) मित्रके मित्रका राज्य तथा (५) शत्रुके

क्रमशः चार राजा होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— १.पार्ष्णिग्राह, उसके बाद २.आक्रन्द, तदनन्तर इन दोनोंके आसार अर्थात् ३.पार्ष्णिग्राहासार एवं ४.आक्रन्दासार। अरि और विजिगीषु—दोनोंके राज्यसे जिसकी सीमा मिलती है, वह राजा 'मध्यम' कहा गया है। अरि और विजिगीषु—ये दोनों यदि परस्पर मिले हों—संगठित हो गये हों तो मध्यम राजा कोष और सेना आदिकी सहायता देकर इन दोनोंपर अनुग्रह करनेमें समर्थ होता है और यदि ये परस्पर संगठित न हों तो वह मध्यम राजा पृथक्-पृथक् या बारी-बारीसे इन दोनोंका वध करनेमें समर्थ होता है। इन सबके मण्डलसे बाहर जो अधिक बलशाली या अधिक सैनिक-शक्तिसे सम्पन्न राजा है, उसकी 'उदासीन' संज्ञा है। विजिगीषु, अरि और मध्यम—ये परस्पर संगठित हों तो उदासीन राजा इनपर अनुग्रहमात्र कर सकता है और यदि ये संगठित न होकर पृथक्-पृथक् हों तो वह 'उदासीन' इन सबका वध कर डालनेमें समर्थ हो जाता है ॥ १—४½ ॥

मित्रके मित्रका राज्य। विजिगीषुके पीछेके जो चार राज्य हैं, वे क्रमशः—१.पार्ष्णिग्राह, २.आक्रन्द, ३.पार्ष्णिग्राहासार, ४.आक्रन्दासार—इन नामोंसे व्यवहृत होंगे। विजिगीषुसहित इन सबकी संख्या बारह होती है। सम्भावनात्मक संख्या दी गयी है। यदि विजिगीषु इससे अधिकके क्षेत्रको अपनी विजयका लक्ष्य बनाता है तो इसी ढंगसे अन्य राज्य भी इसी मण्डलमें परिगणित होंगे और द्वादशकी जगह अधिक राज-मण्डल भी हो सकते हैं। नीचे द्वादशात्मक राजमण्डलका एक परिचयात्मक क्रम दिया जाता है—

द्वादश राजमण्डल

अग्रदिशा

		अरिमित्रमित्र ६		
		मित्रमित्र ५		
		अरिमित्र ४		
		मित्र ३		
		अरि २		
उदासीन १२	मध्यम ११	विजिगीषु १	मध्यम ११	उदासीन १२
		पार्ष्णिग्राह ७		
		आक्रन्द ८		
		पार्ष्णिग्राहासार ९		
		आक्रन्दासार १०		

लक्ष्मण! अब मैं तुम्हें संधि, विग्रह, यान और आसन आदिके विषयमें बता रहा हूँ। किसी बलवान् राजाके साथ युद्ध ठन जानेपर यदि अपने पक्षकी अवस्था शोचनीय हो तो अपने कल्याणके लिये संधि कर लेनी चाहिये। १. कपाल, २. उपहार, ३. संतान, ४. संगत, ५. उपन्यास, ६. प्रतीकार, ७. संयोग, ८. पुरुषान्तर, ९. अदृष्टनर, १०. आदिष्ट, ११. आत्मामिष, १२. उपग्रह, १३. परिक्रय, १४. उच्छिन्न, १५. परदूषण तथा १६. स्कन्धोपनेय—ये संधिके सोलह भेद बतलाये गये हैं।* जिसके साथ संधि की जाती है, वह 'संधेय' कहलाता

* इन सोलह संधियोंका परिचय इस प्रकार है—

१. समान शक्ति तथा साधनवाले दो राजाओंमें जो बिना किसी शर्तके संधि की जाती है, उसे 'समसंधि' या 'कपालसंधि' कहते हैं। 'कपालसंधि' उसका नाम इसलिये हुआ कि वह दो कपालोंको जोड़नेके समान है। दो कपालोंके योगसे घड़ा बनता है। यदि एक कपाल फूट जाय और उसके स्थानपर दूसरा कपाल जोड़ा जाय तो वह बाहरसे जुड़ा हुआ दीखनेपर भी भीतरसे पूरा-पूरा नहीं जुड़ता। इसी तरह जो संधि समान शक्तिशाली पुरुषोंमें स्थापित होती है, वह कुछ कालके लिये कामचलाऊ ही होती है। हृदयका मेल न होनेके कारण वह टिक नहीं पाती।

२. संधेयकी इच्छाके अनुसार पहले ही द्रव्य आदिका उपहार देनेके बाद जो उसके साथ संधि की जाती है, वह उपहार-संधि कही गयी है।

३. कन्यादान देकर जो संधि की जाती है, वह संतानहेतुक होनेके कारण संतानसंधि कहलाती है।

४. चौथी संगतसंधि कही गयी है, जो सत्पुरुषोंके साथ मैत्रीपूर्वक स्थापित होती है। इसमें देने-लेनेकी कोई शर्त नहीं होती। उसमें दोनों पक्षोंके अर्थ (कोष) और प्रयोजन (कार्य) समान होते हैं। परस्पर अत्यन्त विश्वासके साथ दोनोंके हृदय एक हो जाते हैं। उस दशामें दोनों अपना खजाना एक-दूसरेके लिये खोल देते हैं और दोनों एक-दूसरेके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समानरूपसे प्रयत्नशील होते हैं। यह संधि जीवनपर्यन्त सुस्थिर रहती है। सब संधियोंमें इसीका स्थान ऊँचा है। जैसे टूटे हुए सुवर्णके टुकड़ोंको गलाकर जोड़ा जाय तो वे पूर्णरूपसे जुड़ जाते हैं, उसी तरह संगतसंधिमें दोनों पक्षोंकी संगति अटूट हो जाती है। इसीलिये इसे सुवर्णसंधि या काञ्चनसंधि भी कहते हैं। यह सम्पत्ति और विपत्तिमें भी, कैसे ही कारण क्यों न हों, उनके द्वारा अभेद्य रहती है।

है। उसके दो भेद हैं—अभियोक्ता और अनभियोक्ता। उक्त संधियोंमेंसे उपन्यास, प्रतीकार और संयोग—ये तीन संधियाँ अनभियोक्ता (अनाक्रमणकारी) के प्रति करनी चाहिये। शेष सभी अभियोक्ता (आक्रमणकारी) के प्रति कर्तव्य हैं ॥ ५-८ ॥

परस्परोपकार, मैत्र, सम्बन्धज तथा उपहार—ये ही चार संधिके भेद जानने चाहिये—ऐसा अन्य लोगोंका मत है* ॥ ९ ॥

बालक, वृद्ध, चिरकालका रोगी, भाई-बन्धुओंसे बहिष्कृत, डरपोक, भीरु सैनिकोंवाला, लोभी-लालची सेवकोंसे घिरा हुआ, अमात्य आदि प्रकृतियोंके अनुरागसे वञ्चित, अत्यन्त विषयासक्त, अस्थिरचित्त और अनेक लोगोंके सामने मन्त्र प्रकट करनेवाला, देवताओं और ब्राह्मणोंका निन्दक, दैवका मारा हुआ, दैवको ही सम्पत्ति और विपत्तिका कारण मानकर स्वयं उद्योग न करनेवाला, जिसके ऊपर दुर्भिक्षका संकट आया हो वह, जिसकी सेना कैद कर ली गयी हो अथवा शत्रुओंसे घिर गयी हो वह, अयोग्य देशमें स्थित (अपनी सेनाकी पहुँचसे बाहरके स्थानमें विद्यमान), बहुत-से शत्रुओंसे युक्त, जिसने अपनी सेनाको युद्धके योग्य कालमें नहीं नियुक्त किया है वह, तथा सत्य और धर्मसे भ्रष्ट—ये बीस पुरुष ऐसे हैं, जिनके साथ संधि न करे, केवल विग्रह करे ॥ १०—१३½ ॥

एक-दूसरेके अपकारसे मनुष्योंमें विग्रह (कलह या युद्ध) होता है। राजा अपने अभ्युदयकी इच्छासे अथवा

---

५. भविष्यमें कल्याण करनेवाली एकार्थसिद्धिके उद्देश्यसे जो संधि की जाय, अर्थात् अमुक शत्रु हम दोनोंको हानि पहुँचानेवाला है, अतः हम दोनों मिलकर उसका उच्छेद करें, इससे हम दोनोंको समानरूपसे लाभ होगा—ऐसा उपन्यास (उल्लेख) करके जो संधि की जाय, उसे उपन्यास कहा गया है।

६. मैंने पहले इसका उपकार किया है, संकटकालमें इसे सहायता दी है, अब यह ऐसे ही अवसरपर मेरी भी सहायता करके उस उपकारका बदला चुकायेगा—इस उद्देश्यसे जो संधि की जाती है, अथवा मैं इसका उपकार करता हूँ, यह मेरा भी उपकार करेगा—इस अभिप्रायसे जो संधि स्थापित की जाती है, उसका नाम प्रतीकारसंधि है—जैसे श्रीराम और सुग्रीवकी संधि।

७. एकपर ही चढ़ाई करनेके लिये जब शत्रु और विजिगीषु दोनों जाते हैं, उस समय यात्राकालमें जो उन दोनोंमें संगठन या साँठ-गाँठ हो जाती है, ऐसी संधिको संयोग कहते हैं।

८. जहाँ दो राजाओंमें एक नतमस्तक हो जाता है और दूसरा यह शर्त रखता है कि मेरे और तुम्हारे दोनों सेनापति मिलकर मेरा अमुक कार्य सिद्ध करें, तो उस शर्तपर होनेवाली संधि पुरुषान्तर कही जाती है।

९. अकेले तुम मेरा अमुक कार्य सिद्ध करो, उसमें मैं अथवा मेरी सेनाका कोई योद्धा साथ नहीं रहेगा—जहाँ शत्रु ऐसी शर्त सामने रक्खे, वहाँ उस शर्तपर की जानेवाली संधि 'अदृष्ट-पुरुष' कही जाती है। उसमें एक पक्षका कोई भी पुरुष देखनेमें नहीं आता, अतएव उसका नाम अदृष्टपुरुष है।

१०. जहाँ अपनी भूमिका एक भाग देकर शेषकी रक्षाके लिये बलवान् शत्रुके साथ संधि की जाती है, उसे आदिष्ट कहा गया है।

११. जहाँ अपनी सेना देकर संधि की जाती है, वहाँ अपने आपको ही आमिष (भोग्य) बना देनेके कारण उस संधिका नाम आत्मामिष है।

१२. जहाँ प्राणरक्षाके लिये सर्वस्व अर्पण कर दिया जाता है, वह संधि उपग्रह कही गयी है।

१३. जहाँ कोषका एक भाग, कुप्य (वस्त्र, कम्बल आदि) अथवा सारा ही खजाना देकर शेष प्रकृति (अमात्य, राष्ट्र आदि) की रक्षा की जाती है, वहाँ मानो उस धनसे उन शेष प्रकृतियोंका क्रय किया जाता है; अतएव उस संधिको परिक्रय कहते हैं।

१४. जहाँ सारभूत भूमि (कोष आदिकी अधिक वृद्धि करानेवाले भूभाग) को देकर संधि की जाती है, वह अपना उच्छेद करनेके समान होनेसे उच्छिन्न कहलाती है।

१५. अपनी सम्पूर्ण भूमिसे जो भी फल या लाभ प्राप्त होता है, उसको कुछ अधिक मिलाकर देनेके बाद जो संधि होती है, वह परदूषण कही गयी है।

१६. जहाँ परिगणित फल (लाभ) खण्ड-खण्ड करके अर्थात् कई किश्तोंमें बाँटकर पहुँचाये जाते हैं, वैसी संधि स्कन्धोपनेय कही गयी है।

* 'परस्परोपकार' ही प्रतीकार है; 'मैत्र' का ही नाम 'संगत' संधि है। सम्बन्धजको ही 'संतान' कहा गया है और 'उपहार' तो पूर्वकथित 'उपहार' है ही। इन्हींमें अन्य सबका समावेश है।

शत्रुसे पीड़ित होनेपर यदि देश-कालकी अनुकूलता और सैनिक-शक्तिसे सम्पन्न हो तो विग्रह प्रारम्भ करे ॥ १४-१५॥

सप्ताङ्ग राज्य, स्त्री (सीता आदि-जैसी असाधारण देवी), जनपदके स्थानविशेष, राष्ट्रके एक भाग, ज्ञानदाता उपाध्याय आदि और सेना—इनमेंसे किसीका भी अपहरण विग्रहका कारण है (इस प्रकार छः हेतु बताये गये)। इनके सिवा मद (राजा दम्भोद्भव आदिकी भाँति शौर्यादि-जनित दर्प), मान (रावण आदिकी भाँति अहंकार), जनपदकी पीड़ा (जनपद-निवासियोंका सताया जाना), ज्ञानविघात (शिक्षा-संस्थाओं अथवा ज्ञानदाता गुरुओंका विनाश), अर्थविघात (भूमि, हिरण्य आदिको क्षति पहुँचाना), शक्तिविघात (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह-शक्तियोंका अपक्षय), धर्मविघात, दैव (प्रारब्धजनित दुरवस्था), सुग्रीव आदि-जैसे मित्रोंके प्रयोजनकी सिद्धि, माननीय जनोंका अपमान, बन्धुवर्गका विनाश, भूतानुग्रह-विच्छेद (प्राणियोंको दिये गये अभयदानका खण्डन—जैसे एकने किसी वनमें वहाँके जन्तुओंको अभय देनेके लिये मृगयाकी मनाही कर दी, किंतु दूसरा उस नियमको तोड़कर शिकार खेलने आ गया—यही 'भूतानुग्रहविच्छेद' है), मण्डलदूषण (द्वादशराजमण्डलमेंसे किसीको विजिगीषुके विरुद्ध उभाड़ना), एकार्थाभिनिवेशित्व (जो भूमि या स्त्री आदि अर्थ एकको अभीष्ट है, उसीको लेनेके लिये दूसरेका भी दुराग्रह)—ये बीस विग्रहके कारण हैं ॥१६—१८॥

सापत्न (रावण और विभीषणकी भाँति सौतेले भाइयोंका वैमनस्य), वास्तुज (भूमि, सुवर्ण आदिके हरणसे होनेवाला अमर्ष), स्त्रीके अपहरणसे होनेवाला रोष, कटुवचनजनित क्रोध तथा अपराधजनित प्रतिशोधकी भावना—ये पाँच प्रकारके वैर अन्य विद्वानोंने बताये हैं* ॥ १९ ॥

(१) जिस विग्रहसे बहुत कम लाभ होनेवाला हो, (२) जो निष्फल हो, (३) जिसमें फलप्राप्तिमें संदेह हो, (४) जो तत्काल दोषजनक (विग्रहके समय मित्रादिके साथ विरोध पैदा करनेवाला), (५) भविष्यकालमें भी निष्फल, (६) वर्तमान और भविष्यमें भी दोषजनक हो, (७) जो अज्ञात बल-पराक्रमवाले शत्रुके साथ किया जाय एवं (८) दूसरोंके द्वारा उभाड़ा गया हो, (९) जो दूसरोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये किया (१०) किसी साधारण स्त्रीको पानेके लिये किया जा रहा हो, (११) जिसके दीर्घकालतक चलते रहनेकी सम्भावना हो, (१२) जो श्रेष्ठ द्विजोंके साथ छेड़ा गया हो, (१३) जो वरदान आदि पाकर अकस्मात् दैवबलसे सम्पन्न हुए पुरुषके साथ छिड़नेवाला हो, (१४) जिसके अधिक बलशाली मित्र हों, ऐसे पुरुषके साथ जो छिड़नेवाला हो, (१५) जो वर्तमान कालमें फलद, किंतु भविष्यमें निष्फल हो तथा (१६) जो भविष्यमें फलद, किंतु वर्तमानमें निष्फल हो—इन सोलह प्रकारके विग्रहोंमें कभी हाथ न डाले। जो वर्तमान और भविष्यमें परिशुद्ध—पूर्णतः लाभदायक हो, वही विग्रह राजाको छेड़ना चाहिये ॥ २०—२४ ॥

राजा जब अच्छी तरह समझ ले कि मेरी सेना हृष्ट-पुष्ट अर्थात् उत्साह और शक्तिसे सम्पन्न है तथा शत्रुकी अवस्था इसके विपरीत है, तब वह उसका निग्रह करनेके लिये विग्रह आरम्भ करे। जब मित्र, आक्रन्द तथा आक्रन्दासार—इन तीनोंकी राजाके प्रति दृढ़भक्ति हो तथा शत्रुके मित्र आदि विपरीत स्थितिमें हों अर्थात् उसके प्रति भक्तिभाव न रखते हों, तब उसके साथ विग्रह आरम्भ करे ॥ २५½ ॥

[जिसके बल एवं पराक्रम उच्च कोटिके हों, जो विजिगीषु-के गुणोंसे सम्पन्न हो और विजयकी अभिलाषा रखता हो तथा जिसकी अमात्यादि प्रकृति उसके सद्गुणोंसे उसमें अनुरक्त हो, ऐसे राजाका युद्धके लिये यात्रा करना 'यान' कहलाता है।] विगृह्यगमन, संधायगमन, सम्भूयगमन, प्रसङ्गतः गमन तथा उपेक्षापूर्वक गमन—ये नीतिज्ञ पुरुषोंद्वारा यानके पाँच भेद कहे गये हैं † ॥ २६½ ॥

---

* सापत्न-वैरमें पूर्वोक्त एकार्थाभिनिवेशका अन्तर्भाव हो जाता है, स्त्री और वास्तुके अपहरणजनित वैरमें पूर्वकथित स्त्रीस्थानापहारज वैरका अन्तर्भाव है। वाग्जात वैरमें पूर्वोक्त ज्ञानापहारज और अपमानजनित वैर अन्तर्भूत होते हैं और अपराधजनित वैरमें पूर्वोक्त शेष १४ कारणोंका समावेश हो जाता है।

† बलवान् राजा जब समस्त शत्रुओंके साथ विग्रह आरम्भ करके युद्धके लिये यात्रा करता है, तब उसकी उस यात्राको नीतिशास्त्रके विद्वान् 'विगृह्यगमन' कहते हैं; अथवा शत्रुके समस्त मित्रोंको अर्थात् उसके आगे और पीछेके शुभचिन्तकोंको अपने सामने और पीछेवाले मित्रोंद्वारा छेड़े गये विग्रहमें फँसाकर शत्रुपर जो चढ़ाई की जाती है, उसे 'विगृह्यगमन' या 'विगृह्ययान' कहते हैं। जब अपनी सेनामें अवरोध उत्पन्न करनेवाले सभी प्रकारके शत्रुओंके साथ संधि करके जो एकमात्र किसी अन्य शत्रुपर

जब विजिगीषु और शत्रु—दोनों एक-दूसरेकी शक्तिका विघात न कर सकनेके कारण आक्रमण न करके बैठ रहें तो इसे 'आसन' कहा जाता है; इसके भी 'यान'की ही भाँति पाँच भेद होते हैं—१. विगृह्य आसन, २. संधाय आसन, ३. सम्भूय आसन, ४. प्रसङ्गासन तथा ५. उपेक्षासन।* ॥२७१॥

आक्रमण किया जाता है, वह 'संधायगमन' कहा जाता है। अथवा अपने पार्ष्णिग्राह संज्ञावाले पृष्ठवर्ती शत्रुके साथ संधि करके जो अन्यत्र—अपने सामनेवाले शत्रुपर आक्रमणके लिये यात्रा की जाती है, विजिगीषुकी उस यात्राको भी 'संधायगमन' कहते हैं। सामूहिक लाभमें समानरूपसे भागी होनेवाले सामन्तोंके साथ, जो शक्ति और शुद्धभावसे युक्त हों, एकीभूत होकर—मिलकर जो किसी एक ही शत्रुपर चढ़ाई की जाती है, उसका नाम 'सम्भूयगमन' है। अथवा जो विजिगीषु और उसके शत्रु दोनोंकी प्रकृतियोंका विनाश करनेके कारण दोनोंका शत्रु हो, उसके प्रति विजिगीषु तथा शत्रु दोनोंका मिलकर युद्धके लिये यात्रा करना 'सम्भूयगमन' है। इसके उदाहरण हैं—सूर्य और हनुमान्। हनुमान् बाल्यावस्थामें लोहित सूर्यमण्डलको उदित हुआ देख, 'यह क्या है'—इस बातको जाननेके लिये बालोचित चपलतावश उछलकर उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़े। निकट पहुँचनेपर उन्होंने देखा कि भानुको ग्रहण करनेके लिये स्वर्भानु (राहु) आया है। फिर तो उसे ही अपना प्रतिद्वन्द्वी जान हनुमान्जी उसपर टूट पड़े। उस समय सूर्यने भी अपने प्रमुख शत्रु राहुको दबानेके लिये अपने भोले-भाले शत्रु हनुमान्जीका ही साथ दिया। एकपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थित हुआ राजा यदि प्रसङ्गवश उसके विरोधी दूसरे पक्षको अपने आक्रमणका लक्ष्य बना लेता है तो उसकी उस यात्राको 'प्रसङ्गतःगमन' या 'प्रसङ्गयान' कहते हैं। इसके दृष्टान्त हैं राजा शल्य। वे दुर्योधनपर पाण्डवपक्षसे आक्रमणके लिये चले थे, किंतु मार्गमें दुर्योधनके अति सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर माँगनेके लिये कहकर उसकी प्रार्थनासे उसीके सेनापति हो गये और अपने भानजे युधिष्ठिरको ही अपने आक्रमणका लक्ष्य बनाया। शत्रुके प्रति आक्रमण करनेवाले विजिगीषुको रोकनेके लिये यदि उस शत्रुके बलवान् मित्र आ पहुँचें तो उस शत्रुकी उपेक्षा करके उसके उन मित्रोंपर ही चढ़ाई करना 'उपेक्षायान' कहलाता है—जैसे इन्द्रकी आज्ञासे निवातकवचोंका वध करनेके लिये प्रस्थित हुए अर्जुनको रोकनेके निमित्त जब हिरण्यपुरवासी 'कालकंज' नामक असुर आ पहुँचे, तब अर्जुन उन निवातकवचोंकी उपेक्षा करके कालकंजोंपर ही टूट पड़े और उनको परास्त करनेके बाद ही उन्होंने निवातकवचोंका वध किया।

* जब शत्रु और विजिगीषु परस्पर आक्रमण करके कारणवशात् युद्ध बंद करके बैठ जायँ तो इसे 'विगृह्यासन' कहते हैं। यह एक प्रकार है। विजिगीषु शत्रुके किसी प्रदेशको क्षति पहुँचाकर जब स्वतः युद्धसे विरत होकर बैठ जाता है, तब यह भी 'विगृह्यासन' कहलाता है।

यदि शत्रु दुर्गके भीतर स्थित होनेके कारण पकड़ा न जा सके, तो उसके आसार (मित्रवर्ग) तथा वीवध (अनाजकी फसल आदि) को नष्ट करके उसके साथ विग्रह छोड़कर बैठ रहे। दीर्घकालतक ऐसा करनेसे प्रजा आदि प्रकृतियाँ उस शत्रु राजासे विरक्त हो जाती हैं। अतः समयानुसार वह वशीभूत हो जाता है। शत्रु और विजिगीषु समान बलशाली होनेके कारण युद्ध छिड़नेपर जब समानरूपसे क्षीण होने लगें, तब परस्पर संधि करके बैठ जायँ। यह 'संधाय आसन' कहलाता है। पूर्वकालमें निवातकवचोंके साथ जब दिग्विजयी रावणका युद्ध होने लगा, तब दोनों पक्ष ब्रह्माजीके वरदानसे शक्तिशाली होनेके कारण एक-दूसरेको परास्त न कर सके। उस दशामें ब्रह्माजीको ही बीचमें डालकर रावण संधि करके बैठ रहा। यह 'संधाय आसन'का उदाहरण है।

विजिगीषु और उसके शत्रुको उदासीन और मध्यमसे आक्रमणकी समानरूपसे शङ्का हो, तब उन दोनोंको मिल जाना चाहिये। इस प्रकार मिलकर बैठना 'सम्भूय आसन' कहलाता है। जब मध्यम और उदासीनमेंसे कोई-सा भी विजिगीषु और उसके शत्रु—दोनोंका विनाश करना चाहता हो, तब वह उन दोनोंका शत्रु समझा जाता है; उस दशामें विजिगीषु अपने शत्रुके साथ मिलकर दोनोंके ही अधिक बलवान् शत्रुभूत उस मध्यम या उदासीनका सामना करें। यही 'सम्भूय आसन' है।

यदि विजिगीषु किसी अन्य शत्रुपर आक्रमणकी इच्छा रखता हो; किंतु कार्यान्तर (अर्थलाभ या अनर्थ-प्रतिकार) के प्रसङ्गसे अन्यत्र बैठ रहे तो इसे 'प्रसङ्गासन' कहते हैं।

अधिक शक्तिशाली शत्रुकी उपेक्षा करके अपने स्थानपर बैठे रहना 'उपेक्षासन' कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्णने जब पारिजातहरण किया था, उस समय उन्हें अधिक शक्तिशाली जानकर इन्द्रदेव उपेक्षा करके बैठ रहे, यह उपेक्षासनका उदाहरण है। इसका एक दूसरा उदाहरण रुक्मी है। महाभारत-युद्धमें वह क्रथ और कैशिकोंकी सेना लेकर बारी-बारीसे कौरवों और पाण्डवोंके पास गया और बोला, 'यदि तुम डरे हुए हो तो हम तुम्हारी सहायता करके तुम्हें विजय दिलायें।' उसकी इस बातपर दोनोंने उसकी उपेक्षा कर दी। अतः वह किसी ओरसे युद्ध न करके अपने घरपर ही बैठा रहा।

दो बलवान् शत्रुओंके बीचमें पड़कर वाणीद्वारा दोनोंको ही आत्मसमर्पण करे—'मैं और मेरा राज्य दोनोंके ही हैं', यह संदेश दोनोंके ही पास गुप्तरूपसे भेजे और स्वयं दुर्गमें छिपा रहे। यह 'द्वैधीभाव'की नीति है। जब उक्त दोनों शत्रु पहलेसे ही संगठित होकर आक्रमण करते हों, तब जो उनमें अधिक बलशाली हो, उसकी शरण ले। यदि वे दोनों शत्रु परस्पर मन्त्रणा करके उसके साथ किसी भी शर्तपर संधि न करना चाहते हों, तब विजिगीषु उन दोनोंके ही किसी शत्रुका आश्रय ले अथवा किसी भी अधिक शक्तिशाली राजाकी शरण लेकर आत्मरक्षा करे॥ २८-३०॥

यदि विजिगीषुपर किसी बलवान् शत्रुका आक्रमण हो और वह उच्छिन्न होने लगे तथा किसी उपायसे उस संकटका निवारण करना उसके लिये असम्भव हो जाय, तब वह किसी कुलीन, सत्यवादी, सदाचारी तथा शत्रुकी अपेक्षा अधिक बलशाली राजाकी शरण ले। उस आश्रयदाताके दर्शनके लिये उसकी आराधना करना, सदा उसके अभिप्रायके अनुकूल चलना, उसीके लिये कार्य करना और सदा उसके प्रति आदरका भाव रखना—यह आश्रय लेनेवालेका व्यवहार बतलाया गया है॥ ३१-३२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'षाड्गुण्य-कथन' नामक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४०॥

दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय

मन्त्रविकल्प

श्रीराम कहते हैं—लक्ष्मण! प्रभावशक्ति और उत्साह-शक्तिसे मन्त्रशक्ति श्रेष्ठ बतायी गयी है। प्रभाव और उत्साहसे सम्पन्न शुक्राचार्यको देवपुरोहित बृहस्पतिने मन्त्र-बलसे जीत लिया॥ १॥

जो विश्वसनीय होनेके साथ-ही-साथ नीतिशास्त्रका विद्वान् हो, उसीके साथ राजा अपने कर्तव्यके विषयमें मन्त्रणा करे। [जो विश्वसनीय होनेपर भी मूर्ख हो तथा विद्वान् होनेपर भी अविश्वसनीय हो, ऐसे मन्त्रीको त्याग दे। कौन कार्य किया जा सकता है और कौन अशक्य है, इसका स्वच्छ बुद्धिसे विवेचन करे।] जो अशक्य कार्यका आरम्भ करते हैं, उन्हें क्लेश उठानेके सिवा कोई फल कैसे प्राप्त हो सकता है?॥ २-३॥

अविज्ञात (परोक्ष) का ज्ञान, विज्ञातका निश्चय, कर्तव्यके विषयमें दुविधा उत्पन्न होनेपर संशयका उच्छेद (समाधान) तथा शेष (अन्तिम निश्चित कर्तव्य) की उपलब्धि—ये सब मन्त्रियोंके ही अधीन हैं। सहायक, कार्यसाधनके उपाय, देश और कालका विभाग, विपत्तिका निवारण तथा कर्तव्यकी सिद्धि—ये मन्त्रियोंकी मन्त्रणाके पाँच अङ्ग हैं॥ ४॥

मनकी प्रसन्नता, श्रद्धा (कार्यसिद्धिके विषयमें दृढ़ विश्वास), ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंकी स्वविषयक व्यापारमें क्षमता, सहाय-सम्पत्ति (सहायकोंका बाहुल्य अथवा सत्त्वादि गुणोंका योग) तथा उत्थान-सम्पत्ति (शीघ्रतापूर्वक उत्थान करनेका स्वभाव)—ये मन्त्रद्वारा निश्चित करके आरम्भ किये जानेवाले कर्मोंकी सिद्धिके लक्षण हैं॥ ५॥

मद (मदिरा आदिका नशा), प्रमाद (कार्यान्तरके प्रसङ्गसे असावधानी), काम (कामभावनासे प्रेरित होकर स्त्रियोंपर विश्वास), स्वप्नावस्थामें किये गये प्रलाप, खंभे आदिकी ओटमें छुके-छिपे लोग, पार्श्ववर्तिनी कामिनियाँ तथा उपेक्षित प्राणी (तोता, मैना, बालक, बहरे आदि)—ये मन्त्रका भेदन करनेमें कारण बनते हैं॥ ६॥

सभामें निर्भीक बोलनेवाला, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, प्रवचन-कुशल, शस्त्र और शास्त्रमें परिनिष्ठित तथा दूतोचित कर्मके अभ्याससे सम्पन्न पुरुष राजदूत होनेके योग्य होता है। निसृष्टार्थ (जिसपर संधि-विग्रह आदि कार्यको इच्छानुसार करनेका पूरा भार सौंपा गया हो, वह), मितार्थ (जिसे परिमित कार्य-भार दिया गया हो, यथा—इतना ही करना या इतना ही बोलना चाहिये), तथा शासनहारक (लिखित आदेशको पहुँचानेवाला)—ये दूतके तीन भेद कहे गये हैं॥ ७-८॥

दूत अपने आगमनकी सूचना दिये बिना शत्रुके दुर्ग तथा संसद्में प्रवेश न करे (अन्यथा वह संदेहका पात्र बन जाता है)। वह कार्यसिद्धिके लिये समयकी प्रतीक्षा करे

तथा शत्रु राजाकी आज्ञा लेकर वहाँसे विदा हो । उसे शत्रुके छिद्र (दुर्बलता) की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। उसके कोष, मित्र और सेनाके विषयमें भी वह जाने तथा शत्रुकी दृष्टि एवं शरीरकी चेष्टाओंसे अपने प्रति राग और विरक्तिका भी अनुमान कर लेना चाहिये ॥ ९-१० ॥

वह उभय पक्षोंके कुलकी (यथा 'आप उदितोदित कुलके रत्न हैं' आदि), नामकी (यथा 'आपका नाम दिग्दिगन्तमें विख्यात है' इत्यादि), द्रव्यकी (यथा 'आपका द्रव्य परोपकारमें लगता है' इत्यादि) तथा श्रेष्ठ कर्मकी (यथा 'आपके सत्कर्मकी श्रेष्ठ लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं' आदि कहकर) बड़ाई करे। इस तरह चतुर्विध स्तुति करनी चाहिये। तपस्वीके वेषमें रहनेवाले अपने चरोंके साथ संवाद करे। अर्थात् उनसे बात करके यथार्थ स्थितिको जाननेकी चेष्टा करे ॥ ११ ॥

चर दो प्रकारके होते हैं—प्रकाश (प्रकट) और अप्रकाश (गुप्त) । इनमें जो प्रकाश है, उसकी 'दूत' संज्ञा है और अप्रकाश 'चर' कहा गया है । वणिक् (वैदेहक), किसान (गृहपति), लिङ्गी (मुण्डित या जटाधारी तपस्वी), भिक्षुक (उदास्थित), अध्यापक (छात्रवृत्तिसे रहनेवाला—कार्पटिक)—इन चारोंकी स्थितिके लिये संस्थाएँ हैं। इनके लिये वृत्ति (जीविका) की व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे ये सुखसे रह सकें* ॥ १२ ॥

जब दूतकी चेष्टा विफल हो जाय तथा शत्रु व्यसनग्रस्त हो, तब उसपर चढ़ाई करे ॥ १२½ ॥

जिससे अपनी प्रकृतियाँ व्यसनग्रस्त हो गयी हों, उस कारणको शान्त करके विजिगीषु शत्रुपर चढ़ाई करे। व्यसन दो प्रकारके होते हैं—मानुष और दैव । अनय और अपनय दोनोंके संयोगसे प्रकृति-व्यसन प्राप्त होता है । अथवा केवल दैवसे भी उसकी प्राप्ति होती है । वह श्रेय (अभीष्ट अर्थ) को व्यस्त (क्षिप्त या नष्ट) कर देता है, इसलिये 'व्यसन' कहलाता है । अग्नि (आग लगना), जल (अतिवृष्टि या बाढ़), रोग, दुर्भिक्ष (अकाल पड़ना) और मरक (महामारी)—ये पाँच प्रकारके 'दैव-व्यसन' हैं। शेष 'मानुष-व्यसन' हैं । पुरुषार्थ अथवा अथर्ववेदोक्त शान्तिकर्मसे दैव-व्यसनका निवारण करे । उत्थान-शीलता (दुर्गादि-निर्माण-विषयक चेष्टा) अथवा नीति—संधि या साम आदिके प्रयोगके द्वारा मानुष-व्यसनकी शान्ति करे ॥ १३–१५½ ॥

मन्त्र (कार्यका निश्चय), मन्त्रफलकी प्राप्ति, कार्यका अनुष्ठान, भावी उन्नतिका सम्पादन, आय-व्यय, दण्डनीति, शत्रुका निवारण तथा व्यसनको टालनेका उपाय, राजा एवं राज्यकी रक्षा—ये सब अमात्यके कर्म हैं । यदि अमात्य व्यसनग्रस्त हो तो वह इन सब कर्मोंको नष्ट कर देता है† ॥ १६-१७½ ॥

सुवर्ण, धान्य, वस्त्र, वाहन तथा अन्यान्य द्रव्योंका संग्रह जनपदवासिनी प्रजाके कर्म हैं । यदि प्रजा व्यसनग्रस्त हो तो वह उपर्युक्त सब कार्योंका नाश कर डालती है ॥ १८½ ॥

आपत्तिकालमें प्रजाजनोंकी रक्षा, कोष और सेनाकी रक्षा, गुप्त या आकस्मिक युद्ध, आपत्तिग्रस्त जनोंकी रक्षा, संकटमें पड़े हुए मित्रों और अमित्रोंका संग्रह तथा सामन्तों और वनवासियोंसे प्राप्त होनेवाली बाधाओंका निवारण भी दुर्गका आश्रय लेनेसे होता है । नगरके नागरिक भी शरण लेनेके लिये दुर्गपतियोंका कोष आदिके द्वारा उपकार करते हैं । (यदि दुर्ग विपत्तिग्रस्त हो जाय तो ये सब कार्य विपन्न हो जाते हैं ।) ॥ १९–२०½ ॥

भृत्यों (सैनिक आदि) का भरण-पोषण, दानकर्म, भूषण, हाथी-घोड़े आदिका खरीदना, स्थिरता, शत्रुपक्षकी लुब्ध प्रकृतियोंमें धन देकर फूट डालना, दुर्गका संस्कार (मरम्मत और सजावट), सेतुबन्ध (खेतीके लिये जलसंचय करनेके निमित्त बाँध आदिका निर्माण), वाणिज्य, प्रजा और मित्रोंका संग्रह, धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धि—ये सब कार्य कोषसे सम्पादित होते हैं । कोषसम्बन्धी व्यसनसे राजा इन सबका नाश कर देता है; क्योंकि राजाका मूल है—कोष ॥ २१-२२ ॥

* यहाँ कोष्ठमें दिये गये 'वैदेहक' आदि शब्द 'वणिक्' आदि संस्थाओंके चरोंके नामान्तर हैं ।

† इन कर्मोंमें मन्त्र या कार्यका निश्चय मन्त्रीके अधीन है, शत्रुओंको दूरसे ही भगाकर मन्त्रसाध्य फलकी प्राप्ति दूतके अधीन है, कार्यका अनुष्ठान (दुर्गादिकर्मकी प्रवृत्ति) अध्यक्षके अधीन है, आयति अथवा भावी उन्नतिका सम्पादन अमात्योंके अधीन है, आय और व्यय अक्षपटलिक (अर्थमन्त्री) के अधीन हैं, दण्डनीति धर्मस्थ (न्यायाधिकारी) के हाथमें है तथा शत्रुओंका निवारण मित्र-साध्य कर्म है—ऐसा विभाग जयमङ्गलाकारने किया है ।

मित्र, अमित्र (अपकारकी इच्छावाले शत्रु), सुवर्ण और भूमिको अपने वशमें करना, शत्रुओंको कुचल डालना, दूरके कार्यको शीघ्र पूरा करा लेना इत्यादि कार्य दण्ड (सेना) द्वारा साध्य हैं। उसपर संकट आनेसे ये सब कार्य बिगड़ जाते हैं ॥ २३ ॥

'मित्र' विजिगीषुके विचलित होनेवाले मित्रोंको रोकता है—उनमें सुस्थिर स्नेह पैदा करता है, उसके शत्रुओंका नाश करता है तथा धन आदिसे विजिगीषुका उपकार करता है। ये सब मित्रसे सिद्ध होनेवाले कार्य हैं। मित्रके व्यसनग्रस्त होनेपर ये कार्य नष्ट होते हैं ॥ २४ ॥

यदि राजा व्यसनी हो तो समस्त राजकार्योंको नष्ट कर देता है। कठोर वचन बोलकर दूसरोंको दुःख पहुँचाना, अत्यन्त कठोर दण्ड देना, अर्थदूषण (वाणीद्वारा पहलेकी दी हुई वस्तुको न देना, दी हुईको छीन लेना, चोरी आदिके द्वारा धनका नाश होना तथा प्राप्त हुए धनको त्याग देना)*, मदिरापान, स्त्रीविषयक आसक्ति, शिकार खेलनेमें अधिक तत्पर रहना और जूआ खेलना—ये राजाके व्यसन हैं ॥ २५½ ॥

आलस्य (उद्योगशून्यता), स्तब्धता (बड़ोंके सामने उद्दण्डता या मान-प्रदर्शन), दर्प (शौर्यादिका अहंकार), प्रमाद (असावधानता), बिना कारण वैर बाँधना—ये तथा पूर्वोक्त कठोर वचन बोलना आदि राजव्यसन सचिवके लिये दुर्व्यसन बताये गये हैं ॥ २६½ ॥

अनावृष्टि (और अतिवृष्टि) तथा रोगजनित पीड़ा आदि राष्ट्रके लिये व्यसन कहे गये हैं। यन्त्र (शतघ्नी आदि), प्राकार (चहारदीवारी) तथा परिखा (खाईं) का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना, अस्त्र-शस्त्रोंका अभाव हो जाना तथा घास, ईंधन एवं अन्नका क्षीण हो जाना दुर्गके लिये व्यसन बताया गया है ॥ २७-२८ ॥

असद्व्यय किंवा अपव्ययके द्वारा जिसे खर्च कर दिया गया हो, जिसे मण्डलके अनेक स्थानोंमें थोड़ा-थोड़ा करके बाँट दिया गया हो, रक्षक आदिने जिसका भक्षण कर लिया हो, जिसे संचय करके रक्खा नहीं गया हो, जिसे चोर आदिने चुरा लिया हो तथा जो दूरवर्ती स्थानमें रक्खा गया हो, ऐसा कोष व्यसनग्रस्त बताया जाता है ॥ २९ ॥

जो चारों ओरसे अवरुद्ध कर दी गयी हो, जिसपर घेरा पड़ गया हो, जिसका अनादर या असम्मान हुआ हो, जिसका ठीक-ठीक भरण-पोषण नहीं किया गया हो, जिसके अधिकांश सैनिक रोगी, थके-माँदे, चलकर दूरसे आये हुए तथा नवागत हों, जो सर्वथा क्षीण और प्रतिहत हो चली हो, जिसके आगे बढ़नेका वेग कुण्ठित कर दिया गया हो, जिसके अधिकांश लोग आशाजनित निर्वेद (खेद एवं विरक्ति) से भरे हों, जो अयोग्य भूमिमें स्थित, अनृतप्राप्त (अविश्वस्त) हो गयी हो, जिसके भीतर स्त्रियाँ अथवा स्त्रैण हों, जिसके हृदयमें कुछ काँटा-सा चुभ रहा हो तथा जिस सेनाके पीछे दुष्ट पार्ष्णिग्राह (शत्रु) की सेना लगी हुई हो, उस सेनाकी इस दुरवस्थाको 'बलव्यसन' कहा जाता है ॥ ३०—३३ ॥

जो दैवसे पीड़ित, शत्रुसेनासे आक्रान्त तथा पूर्वोक्त काम, क्रोध आदिसे संयुक्त हो, उस मित्रको व्यसनग्रस्त बताया गया है। उसे उत्साह एवं सहायता दी जाय तो वह शत्रुओंसे युद्धके लिये उद्यत एवं विजयी हो सकता है ॥ ३४ ॥

अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता तथा दण्डविषयक अत्यन्त क्रूरता—ये तीन क्रोधज व्यसन हैं। मृगया, जूआ, मद्यपान तथा स्त्रीसङ्ग—ये चार प्रकारके कामज व्यसन हैं ॥ ३५ ॥

वाणीकी कठोरता लोकमें अत्यन्त उद्वेग पैदा करनेवाली और अनर्थकारिणी होती है। अर्थहरण, ताड़न और वध—यह तीन प्रकारका दण्ड असिद्ध अर्थका साधक होनेसे सत्पुरुषोंद्वारा 'शासन' कहा गया है। उसको युक्तिसे ही प्राप्त कराये। जो राजा युक्त (उचित) दण्ड देता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। जो क्रोधवश कठोर दण्ड देता है, वह राजा प्राणियोंमें उद्वेग पैदा करता है। उस दण्डसे उद्विग्न हुए मनुष्य विजिगीषुके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, उनसे वृद्धिको प्राप्त हुए शत्रु उक्त राजाके विनाशमें कारण होते हैं ॥ ३६-३७½ ॥

दूषणीय मनुष्यके दूषण (अपकार) के लिये उससे प्राप्त होनेवाले किसी महान् अर्थका विघातपूर्वक परित्याग नीति-तत्त्वज्ञ विद्वानोंद्वारा 'अर्थदूषण' कहा जाता है ॥ ३८½ ॥

* पूर्वप्रवृत्त अर्थका उच्छेद होनेसे 'अदान', उसका पण्यागार आदिसे आकर्षण 'आदान', स्वयं उपार्जित धनका अग्नि आदिसे विध्वंस 'विनाश' तथा कहींसे प्राप्त धनके विघातपूर्वक उसका त्याग 'परित्याग' नामक अर्थदूषण है। (जयमङ्गला)

दौड़ते हुए यान (अश्व आदि) से गिरना, भूख-प्यासका कष्ट उठाना आदि दोष मृगयासे प्राप्त होते हैं। किसी छिपे हुए शत्रुसे मारे जानेकी भी सम्भावना रहती है। श्रम या थकावटपर विजय पानेके लिये किसी सुरक्षित वनमें राजा शिकार खेले ॥ ३९½ ॥

जूएमें धर्म, अर्थ और प्राणोंके नाश आदि दोष होते हैं; उसमें कलह आदिकी भी सम्भावना रहती है। स्त्रीसम्बन्धी व्यसनमें प्रत्येक कर्तव्य-कार्यके करनेमें बहुत अधिक विलम्ब होता है—ठीक समयसे कोई काम नहीं हो पाता तथा धर्म और अर्थको भी हानि पहुँचती है। मद्यपानके व्यसनसे प्राणोंका नाशतक हो जाता है, नशेके कारण कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय नहीं हो पाता ॥ ४०-४१ ॥

सेनाकी छावनी कहाँ और कैसे पड़नी चाहिये, इस बातको जो जानता है तथा भले-बुरे निमित्त (शकुन) का ज्ञान रखता है, वह शत्रुपर विजय पा सकता है। स्कन्धावार (सेनाकी छावनी) के मध्यभागमें खजानासहित राजाके ठहरनेका स्थान होना चाहिये। राजभवनको चारों ओरसे घेरकर क्रमशः मौल (पिता-पितामहके कालसे चली आती हुई मौलिक सेना), भृत (भोजन और वेतन देकर रखी हुई सेना), श्रेणि (जनपदनिवासियोंका दल अथवा कुविन्द आदिकी सेना), मित्रसेना, द्विषद्बल (राजाकी दण्डशक्तिसे वशीभूत हुए सामन्तोंकी सेना) तथा आटविक (वन्यप्रदेशके अधिपतिकी सेना)—इन सेनाओंकी छावनी डाले ॥ ४२-४३ ॥

(राजा और उसके अन्तःपुरकी रक्षाकी सुव्यवस्था करनेके पश्चात्) सेनाका एक चौथाई भाग युद्धसज्जासे सुसज्जित हो सेनापतिको आगे करके प्रयत्नपूर्वक छावनीके बाहर रातभर चक्कर लगाये। वायुके समान वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए घुड़सवार दूर सीमान्तपर विचरते हुए शत्रुकी गतिविधिका पता लगायें। जो भी छावनीके भीतर प्रवेश करें या बाहर निकलें, सब राजाकी आज्ञा प्राप्त करके ही वैसा करें ॥ ४४-४५ ॥

साम, दान, दण्ड, भेद, उपेक्षा, इन्द्रजाल और माया—ये सात उपाय हैं; इनका शत्रुके प्रति प्रयोग करना चाहिये। इन उपायोंसे शत्रु वशीभूत होता है ॥ ४६ ॥

सामके पाँच भेद बताये गये हैं—१. दूसरेके उपकारका वर्णन, २. आपसके सम्बन्धको प्रकट करना (जैसे 'आपकी माता मेरी मौसी हैं' इत्यादि), ३. मधुरवाणीमें गुणकीर्तन करते हुए बोलना, ४. भावी उन्नतिका प्रकाशन (यथा—'ऐसा होनेपर आगे चलकर हम दोनोंका बड़ा लाभ होगा' इत्यादि) तथा ५. मैं आपका हूँ—यों कहकर आत्मसमर्पण करना ॥ ४७½ ॥

किसीसे उत्तम (सार), अधम (असार) तथा मध्यम (सारासार) भेदसे जो द्रव्य-सम्पत्ति प्राप्त हुई हो, उसको उसी रूपमें लौटा देना—यह दानका प्रथम भेद है। २. बिना दिये ही जो धन किसीके द्वारा ले लिया गया हो, उसका अनुमोदन करना (यथा 'आपने अच्छा किया जो ले लिया। मैंने पहलेसे ही आपको देनेका विचार कर लिया था')—यह दानका दूसरा भेद है। ३. अपूर्व द्रव्यदान (भाण्डागारसे निकालकर दिया गया नूतन दान), ४. स्वयंग्राहप्रवर्तन (किसी दूसरेसे स्वयं ही धन ले लेनेके लिये प्रेरित करना। यथा 'अमुक व्यक्तिसे अमुक द्रव्य ले लो, वह तुम्हारा ही हो जायगा') तथा ५. दातव्य ऋण आदिको छोड़ देना या न लेना—इस प्रकार ये दानके पाँच भेद कहे गये हैं ॥ ४८-४९½ ॥

स्नेह और अनुरागको दूर कर देना, परस्पर संघर्ष (कलह) पैदा करना तथा धमकी देना—भेदज्ञ पुरुषोंने भेदके ये तीन प्रकार बताये हैं ॥ ५०½ ॥

वध, धनका अपहरण और बन्धन एवं ताड़न आदिके द्वारा क्लेश पहुँचाना—ये दण्डके तीन भेद हैं। वधके दो प्रकार हैं—(१) प्रकाश (प्रकट) और (२) अप्रकाश (गुप्त)। जो सब लोगोंके द्वेषपात्र हों, ऐसे दुष्टोंका प्रकटरूपमें वध करना चाहिये; किंतु जिनके मारे जानेसे लोग उद्विग्न हो उठें, जो राजाके प्रिय हों तथा अधिक बलशाली हों, वे यदि राजाके हितमें बाधा पहुँचाते हैं तो उनका गुप्तरूपसे वध करना उत्तम कहा गया है। गुप्तरूपसे वधका प्रयोग यों करना चाहिये—विष देकर, एकान्तमें आग आदि लगाकर, गुप्त मनुष्योंद्वारा शस्त्रका प्रयोग कराकर अथवा शरीरमें फोड़ा पैदा करनेवाले उबटन लगवाकर राज्यके शत्रुको नष्ट करे। जो जातिमात्रसे भी ब्राह्मण हो, उसे प्राणदण्ड न दे। उसपर सामनीतिका प्रयोग करके उसे वशमें लानेकी चेष्टा करे ॥ ५१—५३ ॥

प्रिय वचन बोलना 'साम' कहलाता है। उसका प्रयोग इस तरह करे, जिससे चित्तमें अमृतका-सा लेप होने लगे।

अर्थात् वह हृदयमें स्थान बना ले। ऐसी स्निग्ध दृष्टिसे देखे, मानो वह सामनेवालेको प्रेमसे पी जाना चाहता हो तथा इस तरह बात करे, मानो उसके मुखसे अमृतकी वर्षा हो रही हो ॥ ५४ ॥

जिसपर झूठा ही कलङ्क लगाया गया हो, जो धनका इच्छुक हो, जिसे अपने पास बुलाकर अपमानित किया गया हो, जो राजाका द्वेषी हो, जिसपर भारी कर लगाया गया हो, जो विद्या और कुल आदिकी दृष्टिसे अपनेको सबसे बड़ा मानता हो, जिसके धर्म, काम और अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये हों, जो कुपित, मानी और अनादृत हो, जिसे अकारण राज्यसे निर्वासित कर दिया गया हो, जो पूजा एवं सत्कारके योग्य होनेपर भी असत्कृत हुआ हो, जिसके धन तथा स्त्रीका हरण कर लिया गया हो, जो मनमें वैर रखते हुए भी ऊपरसे सामनीतिके प्रयोगसे शान्त रहता हो, ऐसे लोगोंमें, तथा जो सदा शङ्कित रहते हों, उनमें, यदि वे शत्रुपक्षके हों तो फूट डाले और अपने पक्षमें इस तरहके लोग हों तो उन्हें यत्नपूर्वक शान्त करे। यदि शत्रुपक्षसे फूटकर ऐसे लोग अपने पक्षमें आयें तो उनका सत्कार करे ॥ ५५—५७½ ॥

समान तृष्णाका अनुसंधान (उभयपक्षको समानरूपसे लाभ होनेकी आशाका प्रदर्शन), अत्यन्त उग्रभय (मृत्यु आदिकी विभीषिका) दिखाना तथा उच्चकोटिका दान और मान—ये भेदके उपाय कहे गये हैं ॥ ५८½ ॥

शत्रुकी सेनामें जब भेदनीतिद्वारा फूट डाल दी जाती है, तब वह घुन लगे हुए काष्ठकी भाँति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो जाती है। प्रभाव, उत्साह तथा मन्त्रशक्तिसे सम्पन्न एवं देश-कालका ज्ञान रखनेवाला राजा दण्डके द्वारा शत्रुओंका अन्त कर दे। जिसमें मैत्रीभाव प्रधान है तथा जिसका विचार कल्याणमय है, ऐसे पुरुषको सामनीतिके द्वारा वशमें करे ॥ ५९-६० ॥

जो लोभी हो और आर्थिक दृष्टिसे क्षीण हो चला हो, उसको दानद्वारा सत्कारपूर्वक वशमें करे। परस्पर शङ्कासे जिनमें फूट पड़ गयी हो तथा जो दुष्ट हों, उन सबको दण्डका भय दिखाकर वशमें ले आये। पुत्र और भाई आदि बन्धुजनोंको सामनीतिद्वारा एवं धन देकर वशीभूत करे। सेनापतियों, सैनिकों तथा जनपदके लोगोंको दान और भेदनीतिके द्वारा अपने अधीन करे। सामन्तों (सीमावर्ती नरेशों), आटविकों (वन्यप्रदेशके शासकों) तथा यथासम्भव दूसरे लोगोंको भी भेद और दण्डनीतिसे वशमें करे ॥ ६१-६२ ॥

देवताओंकी प्रतिमाओं तथा जिनमें देवताओंकी मूर्ति खुदी हो, ऐसे खंभोंके बड़े-बड़े छिद्रोंमें छिपकर खड़े हुए मनुष्य 'मानुषी माया' हैं।* स्त्रीके कपड़ोंसे ढँका हुआ अथवा रात्रिमें अद्भुतरूपसे दर्शन देनेवाला पुरुष भी 'मानुषी माया' है। वेताल, मुखसे आग उगलनेवाले पिशाच तथा देवताओंके समान रूप धारण करना इत्यादि 'मानुषी माया' है। इच्छानुसार रूप धारण करना, शस्त्र, अग्नि, पत्थर और जलकी वर्षा करना तथा अन्धकार, आँधी, पर्वत और मेघोंकी सृष्टि कर देना—यह 'अमानुषी माया' है। पूर्वकल्पकी चतुर्युगीमें जो द्वापर आया था, उसमें पाण्डुवंशी भीमसेनने स्त्रीके समान रूप धारण करके अपने शत्रु कीचकको मारा था ॥ ६३—६५ ॥

अन्याय (अदण्ड्यदण्डन आदि), व्यसन (मृगया आदि) तथा बड़ेके साथ युद्धमें प्रवृत्त हुए आत्मीय-जनको न रोकना 'उपेक्षा' है। पूर्वकल्पवर्ती भीमसेनके साथ युद्धमें प्रवृत्त हुए अपने भाई हिडिम्बको हिडिम्बाने मना नहीं किया, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये उसकी उपेक्षा कर दी ॥ ६६ ॥

मेघ, अन्धकार, वर्षा, अग्नि, पर्वत तथा अन्य अद्भुत वस्तुओंको दिखाना, दूर खड़ी हुई ध्वजशालिनी सेनाओंका दर्शन कराना, शत्रुपक्षके सैनिकोंको कटे, फाड़े तथा विदीर्ण किये गये और अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए दिखाना—यह सब 'इन्द्रजाल' है। शत्रुओंको डरानेके लिये इस इन्द्रजालकी कल्पना करनी चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'साम आदि उपायोंका कथन' नामक दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४१ ॥

---

* वहाँ छिपे हुए मनुष्य यथासमय निकलकर शत्रुपर टूट पड़ते हैं या वहींसे शत्रुके विनाशकी सूचना देते हैं। शत्रुपर यह प्रभाव डालते हैं कि विजिगीषुकी सेवासे प्रसन्न होकर हम देवता ही उसकी सहायता कर रहे हैं।

दो सौ बयालीसवाँ अध्याय

सेनाके छः भेद, इनका बलाबल तथा छः अङ्ग

श्रीराम कहते हैं—छः प्रकारकी सेनाको कवच आदिसे संनद्ध एवं व्यूहबद्ध करके इष्ट देवताओंकी तथा संग्रामसम्बन्धी दुर्गा आदि देवियोंकी पूजा करनेके पश्चात् शत्रुपर चढ़ाई करे। मौल, भृत, श्रेणि, सुहृद्, शत्रु तथा आटविक—ये छः प्रकारके सैन्य हैं।* इनमें परकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व सेना श्रेष्ठ कही गयी है। इनका व्यसन भी इसी क्रमसे गरिष्ठ माना गया है। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवार—ये सेनाके चार अङ्ग हैं; किंतु मन्त्र और कोष—इन दो अङ्गोंके साथ मिलकर सेनाके छः अङ्ग हो जाते हैं॥ १-२॥

नदी-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग तथा वन-दुर्ग—इनमें जहाँ-जहाँ (सामन्त तथा आटविक आदिसे) भय प्राप्त हो, वहाँ-वहाँ सेनापति संनद्ध एवं व्यूहबद्ध सेनाओंके साथ जाय। एक सेनानायक उत्कृष्ट वीर योद्धाओंके साथ आगे जाय (और मार्ग एवं सेनाके लिये आवास-स्थानका शोध करे)। विजिगीषु राजा और उसका अन्तःपुर सेनाके मध्यभागमें रहकर यात्रा करे। खजाना तथा फल्गु (असार एवं बेगार करनेवालोंकी) सेना भी बीचमें ही रहकर चले। स्वामीके अगल-बगलमें घुड़सवारोंकी सेना रहे। घुड़सवार सेनाके उभय पार्श्वोंमें रथसेना रहे। रथ-सेनाके दोनों तरफ हाथियोंकी सेना रहनी चाहिये। उसके दोनों बगल आटविकों (जंगली लोगों) की सेना रहे। यात्राकालमें प्रधान एवं कुशल सेनापति स्वयं स्वामीके पीछे रहकर सबको आगे करके चले। थके-माँदे (हतोत्साह) सैनिकोंको धीरे-धीरे आश्वासन देता रहे। उसके साथकी सारी सेना कमर कसकर युद्धके लिये तैयार रहे। यदि आगेकी ओरसे शत्रुके आक्रमणका भय सम्भावित हो तो महान् मकर-व्यूहकी रचना करके आगे बढ़े। (यदि तिर्यग् दिशासे भयकी सम्भावना हो तो) खुले या फैले पंखवाले श्येन पक्षीके आकारकी व्यूह-रचना करके चले। (यदि एक आदमीके ही चलनेयोग्य पगडंडी-मार्गसे यात्रा करते समय सामनेसे भय हो तो) सूची-व्यूहकी रचना करके चले तथा उसके मुखभागमें वीर योद्धाओंको खड़ा करे। पीछेसे भय हो तो शकटव्यूहकी[2], पार्श्वभागसे भय हो तो वज्रव्यूहकी[3] तथा सब ओरसे भय होनेपर 'सर्वतोभद्र[4]' नामक व्यूहकी रचना करे॥ ३—८॥

जो सेना पर्वतकी कन्दरा, पर्वतीय दुर्गम स्थान एवं गहन वनमें, नदी एवं घने वनसे संकीर्ण पथपर फँसी हो, जो विशाल मार्गपर चलनेसे थकी हो, भूख-प्याससे पीड़ित हो, रोग, दुर्भिक्ष (अकाल) एवं महामारीसे कष्ट पा रही हो, लुटेरोंद्वारा भगायी गयी हो, कीचड़, धूल तथा पानीमें फँस गयी हो, विक्षिप्त हो, एक-एक व्यक्तिके ही चलनेका मार्ग होनेसे जो आगे न बढ़कर एक ही स्थानपर एकत्र हो गयी हो, सोयी हो, खाने-पीनेमें लगी हो, अयोग्य भूमिपर स्थित हो, बैठी हो, चोर तथा अग्निके भयसे डरी हो, वर्षा और आँधीकी चपेटमें आ गयी हो तथा इसी तरहके अन्यान्य संकटोंमें फँस गयी हो, ऐसी अपनी सेनाकी तो सब ओरसे रक्षा करे तथा शत्रुसेनाको घातक प्रहारका निशाना बनाये॥ ९—११½॥

जब आक्रमणके लक्ष्यभूत शत्रुकी अपेक्षा विजिगीषु राजा देश-कालकी अनुकूलताकी दृष्टिसे बढ़ा-चढ़ा हो तथा शत्रुकी प्रकृतिमें फूट डाल दी गयी हो और अपना बल अधिक हो तो शत्रुके साथ प्रकाश-युद्ध (घोषित या प्रकट संग्राम) छेड़ दे। यदि विपरीत स्थिति हो तो कूट-युद्ध (छिपी लड़ाई) करे। जब शत्रुकी सेना पूर्वोक्त बलव्यसन (सैन्य-संकट) के अवसरों या स्थानोंमें फँसकर व्याकुल हो तथा युद्धके अयोग्य भूमिमें स्थित हो और सेनासहित विजिगीषु अपने अनुकूल भूमिपर

* मूलभूत पुरुषके सम्बन्धोंसे चली आनेवाली वंशपरम्परागत सेना 'मौल' कही गयी है। आजीविका देकर जिसका भरण-पोषण किया गया हो, वह 'भृत' बल है। जनपदके अन्तर्गत जो व्यवसायियों तथा कारीगरोंका संघ है, उनकी सेना 'श्रेणिबल' है। सहायताके लिये आये हुए मित्रकी सेना 'सुहृद्‌बल' है। अपनी दण्डशक्तिसे वशमें की गयी सेना 'शत्रुबल' है तथा स्वमण्डलके अन्तर्गत अटवी (जंगल) का उपभोग करनेवालोंको 'आटविक' कहते हैं। उनकी सेना 'आटविक बल' है।

१. उसका मुख विस्तृत होनेसे वह पीछेकी समस्त सेनाकी रक्षा करता है।

२. शकट-व्यूह पीछेकी ओरसे विस्तृत होता है।

३. वज्रव्यूहमें दोनों ओर विस्तृत मुख होते हैं।

४. सर्वतोभद्रमें सभी दिशाओंकी ओर सेनाका मुख होता है।

स्थित हो, तब वह शत्रुपर आक्रमण करके उसे मार गिराये। यदि शत्रु-सैन्य अपने लिये अनुकूल भूमिमें स्थित हो तो उसकी प्रकृतियोंमें भेदनीतिद्वारा फूट डलवाकर, अवसर देख शत्रुका विनाश कर डाले ॥ १२-१३½ ॥

जो युद्धसे भागकर या पीछे हटकर शत्रुको उसकी भूमिसे बाहर खींच लाते हैं, ऐसे वनचरों (आटविकों) तथा अमित्र सैनिकोंने पाशभूत होकर जिसे प्रकृतिप्रग्रहसे (स्वभूमि या मण्डलसे) दूर—परकीय भूमिमें आकृष्ट कर लिया है, उस शत्रुको प्रकृष्ट वीर योद्धाओंद्वारा मरवा डाले। कुछ थोड़े-से सैनिकोंको सामनेकी ओरसे युद्धके लिये उद्यत दिखा दे और जब शत्रुके सैनिक उन्हींको अपना लक्ष्य बनानेका निश्चय कर लें, तब पीछेसे वेगशाली उत्कृष्ट वीरोंकी सेनाके साथ पहुँचकर उन शत्रुओंका विनाश करे। अथवा पीछेकी ओर ही सेना एकत्र करके दिखाये और जब शत्रु-सैनिकोंका ध्यान उधर ही खिंच जाय, तब सामनेकी ओरसे शूरवीर बलवान् सेनाद्वारा आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दे। सामने तथा पीछेकी ओरसे किये जानेवाले इन दो आक्रमणोंद्वारा अगल-बगलसे किये जानेवाले आक्रमणोंकी भी व्याख्या हो गयी अर्थात् बायीं ओर कुछ सेना दिखाकर दाहिनी ओरसे और दाहिनी ओर सेना दिखाकर बायीं ओरसे गुप्तरूपसे आक्रमण करे। कूटयुद्धमें ऐसा ही करना चाहिये। पहले दूष्यबल, अमित्रबल तथा आटविकबल—इन सबके साथ शत्रुसेनाको लड़ाकर थका दे। जब शत्रुबल श्रान्त, मन्द (हतोत्साह) और निराक्रन्द (मित्ररहित एवं निराश) हो जाय और अपनी सेनाके वाहन थके न हों, उस दशामें आक्रमण करके शत्रुवर्गको मार गिराये। अथवा दूष्य एवं अमित्र सेनाको युद्धसे पीछे हटने या भागनेका आदेश दे दे और जब शत्रुको यह विश्वास हो जाय कि मेरी जीत हो गयी, अतः वह ढीला पड़ जाय, तब मन्त्रबलका आश्रय ले प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करके उसे मार डाले। स्कन्धावार (सेनाके पड़ाव), पुर, ग्राम, सस्यसमूह तथा गौओंके व्रज (गोष्ठ)—इन सबको लूटनेका लोभ शत्रु-सैनिकोंके मनमें उत्पन्न करा दे और जब उनका ध्यान बँट जाय, तब स्वयं सावधान रहकर उन सबका संहार कर डाले। अथवा शत्रु राजाकी गायोंका अपहरण करके उन्हें दूसरी ओर (गायोंको छुड़ानेवालोंकी ओर) खींचे और जब शत्रुसेना उस लक्ष्यकी ओर बढ़े, तब उसे मार्गमें ही रोककर मार डाले। अथवा अपने ही ऊपर आक्रमणके भयसे रातभर जागनेके श्रमसे दिनमें सोयी हुई शत्रुसेनाके सैनिक जब नींदसे व्याकुल हों, उस समय उनपर धावा बोलकर मार डाले। अथवा रातमें ही निश्चिन्त सोये हुए सैनिकोंको तलवार हाथमें लिये हुए पुरुषोंद्वारा मरवा दे ॥ १४-२२½ ॥

जब सेना कूच कर चुकी हो तथा शत्रुने मार्गमें ही घेरा डाल दिया हो तो उसके उस घेरे या अवरोधको नष्ट करनेके लिये हाथियोंको ही आगे-आगे ले चलना चाहिये। वन-दुर्गमें, जहाँ घोड़े भी प्रवेश न कर सकें, वहाँ हाथियोंकी ही सहायतासे सेनाका प्रवेश होता है—वे आगेके वृक्ष आदिको तोड़कर सैनिकोंके प्रवेशके लिये मार्ग बना देते हैं। जहाँ सैनिकोंकी पंक्ति ठोस हो, वहाँ उसे तोड़ देना हाथियोंका ही काम है तथा जहाँ व्यूह टूटनेसे सैनिकपंक्तिमें दरार पड़ गयी हो, वहाँ हाथियोंके खड़े होनेसे छिद्र या दरार बंद हो जाती है। शत्रुओंमें भय उत्पन्न करना, शत्रुके दुर्गके द्वारको माथेकी टक्कर देकर तोड़ गिराना, खजानेको सेनाके साथ ले चलना तथा किसी उपस्थित भयसे सेनाकी रक्षा करना—ये सब हाथियोंद्वारा सिद्ध होनेवाले कर्म हैं ॥ २३-२४ ॥

अभिन्न सेनाका भेदन और भिन्न सेनाका संधान—ये दोनों कार्य (गजसेनाकी ही भाँति) रथसेनाके द्वारा भी साध्य हैं। वनमें कहाँ उपद्रव है, कहाँ नहीं है—इसका पता लगाना, दिशाओंका शोध करना (दिशाका ठीक ज्ञान रखते हुए सेनाको यथार्थ दिशाकी ओर ले चलना) तथा मार्गका पता लगाना—यह अश्वसेनाका कार्य है। अपने पक्षके वीवध[1] और आसार[2]की रक्षा, भागती हुई शत्रु-सेनाका शीघ्रतापूर्वक पीछा करना, संकटकालमें शीघ्रतापूर्वक भाग निकलना, जल्दीसे कार्य सिद्ध करना, अपनी सेनाकी जहाँ दयनीय दशा हो, वहाँ उसके पास पहुँचकर सहायता करना, शत्रुसेनाके अग्रभागपर आघात करना और तत्काल ही घूमकर उसके पिछले भागपर भी प्रहार करना—ये अश्वसेनाके कार्य हैं। सर्वदा शस्त्र धारण किये रहना (तथा शस्त्रोंको पहुँचाना)—ये पैदल सेनाके कार्य हैं। सेनाकी छावनी डालनेके योग्य स्थान तथा मार्ग आदिकी खोज करना विष्टि (बेगार) करनेवाले लोगोंका काम है ॥ २५-२७ ॥

जहाँ मोटे-मोटे ठूँठ, बाँबियाँ, वृक्ष और झाड़ियाँ हों, जहाँ काँटेदार वृक्ष न हों, किंतु भाग निकलनेके लिये

१. आगे जाती हुई सेनाको पीछेसे बराबर वेतन और भोजन पहुँचाते रहनेकी जो व्यवस्था है, उसका नाम 'वीवध' है।

२. मित्र-सेनाको 'आसार' कहते हैं।

मार्ग हों तथा जो अधिक ऊँची-नीची न हो, ऐसी भूमि पैदल सेनाके संचार योग्य बतायी गयी है। जहाँ वृक्ष और प्रस्तरखण्ड बहुत कम हों, जहाँकी दरारें शीघ्र लाँघने योग्य हों, जो भूमि मुलायम न होकर सख्त हो, जहाँ कंकड़ और कीचड़ न हो तथा जहाँसे निकलनेके लिये मार्ग हो, वह भूमि अश्वसंचारके योग्य होती है। जहाँ ठूँठ वृक्ष और खेत न हों तथा जहाँ पङ्कका सर्वथा अभाव हो—ऐसी भूमि रथ-संचारके योग्य मानी गयी है। जहाँ पैरोंसे रौंद डालनेयोग्य वृक्ष और काट देनेयोग्य लताएँ हों; कीचड़ न हो, गर्त या दरार न हो, जहाँके पर्वत हाथियोंके लिये गम्य हों, ऐसी भूमि ऊँची-नीची होनेपर भी गजसेनाके योग्य कही गयी है ॥ २८-३०½ ॥

जो सैन्य अश्व आदि सेनाओंमें भेद (दरार या छिद्र) पड़ जानेपर उन्हें ग्रहण करता—सहायताद्वारा अनुगृहीत बनाता है, उसे 'प्रतिग्रह' कहा गया है। उसे अवश्य संघटित करना चाहिये; क्योंकि वह भारको वहन या सहन करनेमें समर्थ होता है। प्रतिग्रहसे शून्य व्यूह भिन्न-सा दीखता है ॥ ३१-३२ ॥

विजयकी इच्छा रखनेवाला बुद्धिमान् राजा प्रतिग्रहसेनाके बिना युद्ध न करे। जहाँ राजा रहे, वहीं कोष रहना चाहिये; क्योंकि राजत्व कोषके ही अधीन होता है। विजयी योद्धाओं-को उसीसे पुरस्कार देना चाहिये। भला ऐसा कौन है, जो दाताके हितके लिये युद्ध न करेगा? शत्रुपक्षके राजाका वध करने-पर योद्धाको एक लाख मुद्राएँ पुरस्कारमें देनी चाहिये। राजकुमारका वध होनेपर इससे आधा पुरस्कार देनेकी व्यवस्था रहनी चाहिये। सेनापतिके मारे जानेपर भी उतना ही पुरस्कार देना उचित है। हाथी तथा रथ आदिका नाश करनेपर भी उचित पुरस्कार देना आवश्यक है ॥३३-३४½॥

पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवार—ये सब सैनिक इस तरहसे (अर्थात् एक दूसरेसे इतना अन्तर रखकर) युद्ध करें, जिससे उनके व्यायाम (अङ्गोंके फैलाव) तथा विनिवर्तन (विश्रामके लिये पीछे हटने) में किसी तरहकी बाधा या रुकावट न हो। समस्त योद्धा पृथक्-पृथक् रहकर युद्ध करें। घोल-मेल होकर जूझना संकुलावह (घमासान एवं रोमाञ्चकारी) होता है। यदि महासंकुल (घमासान) युद्ध छिड़ जाय तो पैदल आदि असहाय सैनिक बड़े-बड़े हाथियोंका आश्रय लें ॥ ३५-३६½ ॥

एक-एक घुड़सवार योद्धाके सामने तीन-तीन पैदल पुरुषोंको प्रतियोद्धा अर्थात् अग्रगामी योद्धा बनाकर खड़ा करे। इसी रीतिसे पाँच-पाँच अश्व एक-एक हाथीके अग्रभागमें प्रतियोद्धा बनाये। इनके सिवा हाथीके पादरक्षक भी उतने ही हों, अर्थात् पाँच अश्व और पंद्रह पैदल। प्रतियोद्धा तो हाथीके आगे रहते हैं और पादरक्षक हाथीके चरणोंके निकट खड़े होते हैं। यह एक हाथीके लिये व्यूह-विधान कहा गया है। ऐसा ही विधान रथव्यूहके लिये भी समझना चाहिये[1] ॥ ३७-३८½ ॥

एक गजव्यूहके लिये जो विधि कही गयी है, उसीके अनुसार नौ हाथियोंका व्यूह बनाये। उसे 'अनीक' जानना चाहिये। (इस प्रकार एक अनीकमें पैंतालीस अश्व तथा एक सौ पैंतीस पैदल सैनिक प्रतियोद्धा होते हैं और इतने ही अश्व तथा पैदल—पादरक्षक हुआ करते हैं।) एक अनीकसे दूसरे अनीककी दूरी पाँच धनुष बतायी गयी है। इस प्रकार अनीक-विभागके द्वारा व्यूह-सम्पत्ति स्थापित करे ॥३९-४०॥

व्यूहके मुख्यतः पाँच अङ्ग हैं। १. 'उरस्य', २. 'कक्ष', ३. 'पक्ष'—इन तीनोंको एक समान बताया जाता है। अर्थात् मध्यभागमें पूर्वोक्त रीतिसे नौ हाथियोंद्वारा कल्पित एक अनीक सेनाको 'उरस्य' कहा गया है। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें एक-एक अनीककी दो सेनाएँ 'कक्ष' कहलाती हैं। कक्षके बाह्यभागमें दोनों ओर जो एक-एक अनीककी दो सेनाएँ हैं, वे 'पक्ष' कही जाती हैं। इस प्रकार इस पाँच अनीक सेनाके व्यूहमें ४५ हाथी, २२५ अश्व, ६७५ पैदल सैनिक प्रतियोद्धा और इतने ही पादरक्षक होते हैं। इसी तरह उरस्य, कक्ष, पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह तथा कोटि—इन सात अङ्गोंको लेकर व्यूहशास्त्रके विद्वानोंने व्यूहको सात अङ्गोंसे युक्त कहा है[2]। ॥ ४१½ ॥

उरस्य, कक्ष, पक्ष तथा प्रतिग्रह आदिसे युक्त यह व्यूहविभाग बृहस्पतिके मतके अनुसार है। शुक्रके मतमें यह व्यूहविभाग कक्ष और प्रकक्षसे रहित है। अर्थात् उनके मतमें व्यूहके पाँच ही अङ्ग हैं ॥ ४२½ ॥

१. व्यूह दो प्रकारके होते हैं—'शुद्ध' और 'व्यामिश्र'। शुद्धके भी दो भेद हैं—गजव्यूह तथा रथव्यूह। मूलमें जो विधान गजव्यूहके लिये कहा गया है, उसीका अतिदेश रथव्यूहके लिये भी समझना चाहिये। व्यामिश्र आगे बतलायेंगे।

२. उरस्य, कक्ष, पक्ष, प्रोरस्य, प्रकक्ष, प्रपक्ष तथा प्रतिग्रह—ये सप्ताङ्ग व्यूहवादियोंके मतमें व्यूहके सात अङ्गोंके नाम हैं।

सेनापतिगण उत्कृष्ट वीर योद्धाओंसे घिरे रहकर युद्धके मैदानमें खड़े हों। वे अभिन्नभावसे संघटित रहकर युद्ध करें और एक-दूसरेकी रक्षा करते रहें ॥ ४३½ ॥

सारहीन सेनाको व्यूहके मध्यभागमें स्थापित करना चाहिये। युद्धसम्बन्धी यन्त्र, आयुध और औषध आदि उपकरणोंको सेनाके पृष्ठभागमें रखना उचित है। युद्धका प्राण है नायक—राजा या विजिगीषु। नायकके न रहने या मारे जानेपर युद्धरत सेना मारी जाती है ॥ ४४½ ॥

हृदयस्थान (मध्यभाग) में प्रचण्ड हाथियोंको खड़ा करे। कक्षस्थानोंमें रथ तथा पक्षस्थानोंमें घोड़े स्थापित करे। यह 'मध्यभेदी' व्यूह कहा गया है ॥ ४५½ ॥

मध्यदेश (वक्षःस्थान) में घोड़ोंकी, कक्षभागोंमें रथोंकी तथा दोनों पक्षोंके स्थानमें हाथियोंकी सेना खड़ी करे। यह 'अन्तभेदी' व्यूह बताया गया है। रथकी जगह (अर्थात् कक्षोंमें) घोड़े दे दे तथा घोड़ोंकी जगह (मध्यदेशमें) पैदलोंको खड़ा कर दे। यह अन्य प्रकारका 'अन्तभेदी' व्यूह है। रथके अभावमें व्यूहके भीतर सर्वत्र हाथियोंकी ही नियुक्ति करे (यह व्यामिश्र या घोल-मेल युद्धके लिये उपयुक्त नीति है) ॥ ४६-४७½ ॥

[रथ, पैदल, अश्व और हाथी—इन सबका विभाग करके व्यूहमें नियोजन करे।] यदि सेनाका बाहुल्य हो तो वह व्यूह 'आवाप' कहलाता है। मण्डल, असंहत, भोग तथा दण्ड—ये चार प्रकारके व्यूह 'प्रकृतिव्यूह' कहलाते हैं। पृथ्वीपर रक्खे हुए डंडेकी भाँति बायेंसे दायें या दायेंसे बायेंतक लंबी जो व्यूह-रचना की जाती हो, उसका नाम 'दण्ड' है। भोग (सर्प-शरीर) के समान यदि सेनाकी मोर्चे-बंदी की गयी हो तो वह 'भोग' नामक व्यूह है। इसमें सैनिकोंका अन्वावर्तन होता है। गोलाकार खड़ी हुई सेना, जिसका सब ओर मुख हो, अर्थात् जो सब ओर प्रहार कर सके, 'मण्डल' नामक व्यूहसे बद्ध कही गयी है। जिसमें अनीकोंको बहुत दूर-दूर खड़ा किया गया हो, वह 'असंहत' नामक व्यूह है ॥ ४८-४९½ ॥

'दण्डव्यूह'के सत्रह भेद हैं—प्रदर, दृढक, असह्य, चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ, श्येन, विजय, संजय, विशाल-विजय, सूची, स्थूणाकर्ण, चमूमुख, झषास्य, वलय तथा सुदुर्जय। जिसके पक्ष, कक्ष तथा उरस्य—तीनों स्थानोंके सैनिक सम स्थितिमें हों, वह तो 'दण्डप्रकृति' है; परंतु यदि कक्षभागके सैनिक कुछ आगेकी ओर निकले हों और शेष दो स्थानोंके सैनिक भीतरकी ओर दबे हों तो वह व्यूह शत्रुका प्रदरण (विदारण) करनेके कारण 'प्रदर' कहलाता है। यदि पूर्वोक्त दण्डके कक्ष और पक्ष दोनों भीतरकी ओर प्रविष्ट हों और केवल उरस्य भाग ही बाहरकी ओर निकला हो तो वह 'दृढक' कहा गया है। यदि दण्डके दोनों पक्षमात्र ही निकले हों तो उसका नाम 'असह्य' होता है। प्रदर, दृढक और असह्यको क्रमशः विपरीत स्थितिमें कर दिया जाय, अर्थात् उनमें जिस भागको अतिक्रान्त (निर्गत) किया गया हो, उसे 'प्रतिक्रान्त' (अन्तः-प्रविष्ट) कर दिया जाय तो तीन अन्य व्यूह—'चाप', 'चापकुक्षि' तथा 'प्रतिष्ठ' नामक हो जाते हैं। यदि दोनों पंख निकले हों तथा उरस्य भीतरकी ओर प्रविष्ट हो तो 'सुप्रतिष्ठित' नामक व्यूह होता है। इसीको विपरीत स्थितिमें कर देनेपर 'श्येन' व्यूह बन जाता है ॥ ५०—५३ ॥

आगे बताये जानेवाले स्थूणाकर्ण ही जिस खड़े डंडेके आकारवाले दण्डव्यूहके दोनों पक्ष हों, उसका नाम 'विजय' है। (यह साढ़े तीन व्यूहोंका संघ है। इसमें १७ 'अनीक' सेनाएँ उपयोगमें आती हैं।) दो चाप-व्यूह ही जिसके दोनों पक्ष हों, वह ढाई व्यूहोंका संघ एवं तेरह अनीक सेनासे युक्त व्यूह 'संजय' कहलाता है। एकके ऊपर एकके क्रमसे स्थापित दो स्थूणाकर्णोंको 'विशाल विजय' कहते हैं। ऊपर-ऊपर स्थापित पक्ष, कक्ष आदिके क्रमसे जो दण्ड ऊर्ध्वगामी (सीधा खड़ा) होता है, वैसे लक्षणवाले व्यूहका नाम 'सूची' है। जिसके दोनों पक्ष द्विगुणित हों, उस दण्ड-व्यूहको 'स्थूणाकर्ण' कहा गया है। जिसके तीन-तीन पक्ष निकले हों, वह चतुर्गुण पक्षवाला ग्यारह अनीकसे युक्त व्यूह 'चमूमुख' नामवाला है। इसके विपरीत लक्षणवाला अर्थात् जिसके तीन-तीन पक्ष प्रतिक्रान्त (भीतरकी ओर प्रविष्ट) हों, वह व्यूह 'झषास्य' नाम धारण करता है। इसमें भी ग्यारह अनीक सेनाएँ नियुक्त होती हैं। दो दण्डव्यूह मिलकर दस अनीक सेनाओंका एक 'वलय' नामक व्यूह बनाते हैं। चार दण्डव्यूहोंके मेलसे बीस अनीकोंका एक 'दुर्जय' नामक व्यूह बनता है। इस प्रकार क्रमशः इनके लक्षण कहे गये हैं ॥ ५४½ ॥

गोमूत्रिका, अहिसंचारी, शकट, मकर तथा परि-पतन्तिक—ये भोगके पाँच भेद कहे गये हैं। मार्गमें चलते समय गायके मूत्र करनेसे जो रेखा बनती है, उसकी आकृतिमें सेनाको खड़ी करना—'गोमूत्रिका' व्यूह है। सर्पके संचरण-

स्थानकी रेखा-जैसी आकृतिवाला व्यूह 'अहिसंचारी' कहा गया है। जिसके कक्ष और पक्ष आगे-पीछेके क्रमसे दण्डव्यूहकी भाँति ही स्थित हों, किंतु उरस्यकी संख्या दुगुनी हो, वह 'शकट-व्यूह' है। इसके विपरीत स्थितिमें स्थित व्यूह 'मकर' कहलाता है। इन दोनों व्यूहोंमेंसे किसीके भी मध्यभागमें हाथी और घोड़े आदि आवाप मिला दिये जायँ तो वह 'परिपतन्तिक' नामक व्यूह होता है॥ ५५-५६½ ॥

मण्डल-व्यूहके दो ही भेद हैं—सर्वतोभद्र तथा दुर्जय। जिस मण्डलाकार व्यूहका सब ओर मुख हो, उसे 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। इसमें पाँच अनीक सेना होती है। इसीमें आवश्यकतावश उरस्य तथा दोनों कक्षोंमें एक-एक अनीक बढ़ा देनेपर आठ अनीकका 'दुर्जय' नामक व्यूह बन जाता है। अर्धचन्द्र, उद्धान तथा वज्र—ये 'असंहत' के भेद हैं। इसी तरह कर्कटशृङ्गी, काकपादी और गोधिका भी असंहतके ही भेद हैं। अर्धचन्द्र तथा कर्कटशृङ्गी—ये तीन अनीकोंके व्यूह हैं, उद्धान और काकपादी—ये चार अनीक सेनाओंसे बननेवाले व्यूह हैं तथा वज्र एवं गोधिका—ये दो व्यूह पाँच अनीक सेनाओंके संघटनसे सिद्ध होते हैं। अनीककी दृष्टिसे तीन ही भेद होनेपर भी आकृतिमें भेद होनेके कारण ये छः बताये गये हैं। दण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले १७, मण्डलके २, असंहतके ६ और भोगके समराङ्गणमें ५ भेद कहे गये हैं॥ ५७—६०॥

पक्ष आदि अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गकी सेनाद्वारा शत्रुके व्यूहका भेदन करके शेष अनीकोंद्वारा उसे घेर ले अथवा उरस्यगत अनीकसे शत्रुके व्यूहपर आघात करके दोनों कोटियों (प्रपक्षों) द्वारा घेरे। शत्रु-सेनाकी दोनों कोटियों (प्रपक्षों) पर अपने व्यूहके पक्षोंद्वारा आक्रमण करके शत्रुके जघन (प्रोरस्य) भागको अपने प्रतिग्रह तथा दोनों कोटियोंद्वारा नष्ट करे। साथ ही, उरस्यगत सेनाद्वारा शत्रुपक्षको पीड़ा दे। व्यूहके जिस भागमें सारहीन सैनिक हों, जहाँ सेनामें फूट या दरार पड़ गयी हो तथा जिस भागमें दूष्य (क्रुद्ध, लुब्ध आदि) सैनिक विद्यमान हों, वहीं-वहीं शत्रु-सेनाका संहार करे और अपने पक्षके वैसे स्थानोंको सबल बनाये। बलिष्ठ सेनाको उससे भी अत्यन्त बलिष्ठ सेनाद्वारा पीड़ित करे। निर्बल सैन्यदलको सबल सैन्यद्वारा दबाये। यदि शत्रु-सेना संघटितभावसे स्थित हो तो प्रचण्ड गजसेनाद्वारा उस शत्रु-वाहिनीका विदारण करे॥ ६१—६४॥

पक्ष, कक्ष और उरस्य—ये सम स्थितिमें वर्तमान हों तो 'दण्डव्यूह' होता है। दण्डका प्रयोग और स्थान व्यूहके चतुर्थ अङ्गद्वारा प्रदर्शित करे। दण्डके समान ही दोनों पक्ष यदि आगेकी ओर निकले हों तो 'प्रदर' या 'प्रदारक' व्यूह बनता है। वही यदि पक्ष-कक्षद्वारा अतिक्रान्त (आगेकी ओर निकला) हो तो 'दृढ' नामक व्यूह होता है। यदि दोनों पक्षमात्र आगेकी ओर निकले हों तो वह व्यूह 'असह्य' नाम धारण करता है। कक्ष और पक्षको नीचे स्थापित करके उरस्यद्वारा निर्गत व्यूह 'चाप' कहलाता है। दो दण्ड मिलकर एक 'वलय-व्यूह' बनाते हैं। यह व्यूह शत्रुको विदीर्ण करनेवाला होता है। चार वलय-व्यूहोंके योगसे एक 'दुर्जय' व्यूह बनता है, जो शत्रुवाहिनीका मर्दन करनेवाला होता है। कक्ष, पक्ष तथा उरस्य जब विषमभावसे स्थित हों तो 'भोग' नामक व्यूह होता है। इसके पाँच भेद हैं—सर्पचारी, गोमूत्रिका, शकट, मकर और परिपतन्तिक। सर्प-संचरणकी आकृतिसे सर्पचारी, गोमूत्रके आकारसे गोमूत्रिका, शकटकी-सी आकृतिसे शकट तथा इसके विपरीत स्थितिसे मकर-व्यूहका सम्पादन होता है। यह भेदोंसहित 'भोग-व्यूह' सम्पूर्ण शत्रुओंका मर्दन करनेवाला है। चक्रव्यूह तथा पद्मव्यूह आदि मण्डलके भेद-प्रभेद हैं। इसी प्रकार सर्वतोभद्र, वज्र, अक्षवर, काक, अर्धचन्द्र, शृङ्गार और अचल आदि व्यूह भी हैं। इनकी आकृतिके ही अनुसार ये नाम रक्खे गये हैं। अपनी मौजके अनुसार व्यूह बनाने चाहिये। व्यूह शत्रुसेनाकी प्रगतिको रोकनेवाले होते हैं॥ ६५—७२॥

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! श्रीरामने रावणका वध करके अयोध्याका राज्य प्राप्त किया। श्रीरामकी बतायी हुई उक्त नीतिसे ही पूर्वकालमें लक्ष्मणने इन्द्रजित्का वध किया था॥ ७३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजनीति-कथन' नामक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४२॥



दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय

पुरुष-लक्षण-वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! मैंने श्रीरामके प्रति वर्णित राजनीतिका प्रतिपादन किया। अब मैं स्त्री-पुरुषोंके लक्षण बतलाता हूँ, जिसका पूर्वकालमें भगवान् समुद्रने गर्गमुनिको उपदेश दिया था ॥ १ ॥

समुद्रने कहा—उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले गर्ग ! मैं स्त्री-पुरुषोंके लक्षण एवं उनके शुभाशुभ फलका वर्णन करता हूँ। एकाधिक, द्विशुक्ल, त्रिगम्भीर, त्रित्रिक, त्रिप्रलम्ब, त्रिकव्यापी, त्रिवलीयुक्त, त्रिविनत, त्रिकालज्ञ एवं त्रिविपुल पुरुष शुभ लक्षणोंसे समन्वित माना जाता है। इसी प्रकार चतुर्लेख, चतुस्सम, चतुष्किष्कु, चतुर्दंष्ट्र, चतुष्कृष्ण, चतुर्गन्ध, चतुर्ह्रस्व, पञ्चसूक्ष्म, पञ्चदीर्घ, षडुन्नत, अष्टवंश, सप्तस्नेह, नवामल, दशपद्म, दशव्यूह, न्यग्रोधपरिमण्डल, चतुर्दशसमद्वन्द्व एवं षोडशाक्ष पुरुष प्रशस्त है ॥ २—६½ ॥

धर्म, अर्थ तथा कामसे संयुक्त धर्म 'एकाधिक' माना गया है। तारकाहीन नेत्र एवं उज्ज्वल दन्तपङ्क्तिसे सुशोभित पुरुष 'द्विशुक्ल' कहलाता है। जिसके स्वर, नाभि एवं सत्त्व—तीनों गम्भीर हों, वह 'त्रिगम्भीर' होता है। निर्मत्सरता, दया, क्षमा, सदाचरण, शौच, स्पृहा, औदार्य, अनायास (अथक श्रम) तथा शूरता—इनसे विभूषित पुरुष 'त्रित्रिक' माना गया है। जिस मनुष्यके वृषण (लिङ्ग) एवं भुजयुगल लंबे हों, वह 'त्रिप्रलम्ब' कहा जाता है। जो अपने तेज, यश एवं कान्तिसे देश, जाति, वर्ग एवं दसों दिशाओंको व्याप्त कर लेता है, उसको 'त्रिकव्यापी' कहते हैं। जिसके उदरमें तीन रेखाएँ हों, वह 'त्रिवलीमान्' होता है। अब 'त्रिविनत' पुरुषका लक्षण सुनो। वह देवता, ब्राह्मण तथा गुरुजनोंके प्रति विनीत होता है। धर्म, अर्थ एवं कामके समयका ज्ञाता 'त्रिकालज्ञ' कहा जाता है। जिसका वक्षःस्थल, ललाट एवं मुख विस्तारयुक्त हो, वह 'त्रिविपुल' तथा जिसके हस्तयुगल एवं चरणयुगल ध्वज-छत्रादिसे चिह्नित हों, वह पुरुष 'चतुर्लेख' होता है। अङ्गुलि, हृदय, पृष्ठ एवं कटि—ये चारों अङ्ग समान होनेसे प्रशस्त होते हैं। ऐसा पुरुष 'चतुस्सम' कहा गया है। जिसकी ऊँचाई छानबे अङ्गुलकी हो, वह 'चतुष्किष्कु' प्रमाणवाला एवं जिसकी चारों दंष्ट्राएँ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हों, वह 'चतुर्दंष्ट्र' होता है। अब मैं तुमको 'चतुष्कृष्ण' पुरुषके विषयमें कहता हूँ। उसके नयनतारक, भ्रू-युगल, श्मश्रु एवं केश कृष्ण होते हैं। नासिका, मुख एवं कक्षयुग्ममें उत्तम गन्धसे युक्त मनुष्य 'चतुर्गन्ध' कहलाता है। लिङ्ग, ग्रीवा तथा जङ्घा-युगलके ह्रस्व होनेसे पुरुष 'चतुर्ह्रस्व' होता है। अङ्गुलिपर्व, नख, केश, दन्त तथा त्वचा सूक्ष्म होनेपर पुरुष 'पञ्चसूक्ष्म' एवं हनु, नेत्र, ललाट, नासिका एवं वक्षःस्थलके विशाल होनेसे 'पञ्चदीर्घ' माना जाता है। वक्षःस्थल, कक्ष, नख, नासिका, मुख एवं कृकाटिका (गर्दनकी घंटी)—ये छः अङ्ग उन्नत एवं त्वचा, केश, दन्त, रोम, दृष्टि, नख एवं वाणी—ये सात स्निग्ध होनेपर शुभ होते हैं। जानुद्वय, ऊरुद्वय, पृष्ठ, हस्तद्वय एवं नासिकाको मिलाकर कुल 'आठ वंश' होते हैं। नेत्रद्वय, नासिकाद्वय, कर्णयुगल, शिश्न, गुदा एवं मुख—ये स्थान निर्मल होनेसे पुरुष 'नवामल' होता है। जिह्वा, ओष्ठ, तालु, नेत्र, हाथ, पैर, नख, शिश्नाग्र एवं मुख—ये दस अङ्ग पद्मके समान कान्तिसे युक्त होनेपर प्रशस्त माने गये हैं। हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, कर्ण, हृदय, सिर, ललाट, उदर एवं पृष्ठ—ये दस बृहदाकार होनेपर सम्मानित होते हैं। जिस पुरुषकी ऊँचाई भुजाओंके फैलानेपर दोनों मध्यमा अङ्गुलियोंके मध्यमान्तरके समान हो, वह 'न्यग्रोधपरि-मण्डल' कहलाता है। जिसके चरण, गुल्फ, नितम्ब, पार्श्व, वङ्क्षण, वृषण, स्तन, कर्ण, ओष्ठ, ओष्ठान्त, जङ्घा, हस्त, बाहु एवं नेत्र—ये अङ्ग-युग्म समान हों, वह पुरुष 'चतुर्दशसमद्वन्द्व' होता है। जो अपने दोनों नेत्रोंसे चौदह विद्याओंका अवलोकन करता है, वह 'षोडशाक्ष' कहा जाता है। दुर्गन्धयुक्त, मांसहीन, रूक्ष एवं शिराओंसे व्याप्त शरीर अशुभ माना गया है। इसके विपरीत गुणोंसे सम्पन्न एवं उत्फुल्ल नेत्रोंसे सुशोभित शरीर प्रशस्त होता है। धन्य पुरुषकी वाणी मधुर एवं चाल मतवाले हाथीके समान होती है। प्रतिरोमकूपसे एक-एक रोम ही निर्गत होता है। ऐसे पुरुषकी बार-बार भयसे रक्षा होती है ॥ ७—२६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुरुष-लक्षणवर्णन' नामक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय

स्त्रीके लक्षण

समुद्र कहते हैं—गर्गजी ! शरीरसे उत्तम श्रेणीकी स्त्री वह है, जिसके सम्पूर्ण अङ्ग मनोहर हों, जो मतवाले गजराजकी भाँति मन्दगतिसे चलती हो, जिसके ऊरु और जघन (नितम्बदेश) भारी हों तथा नेत्र उन्मत्त पारावतके समान मदभरे हों, जिसके केश सुन्दर नीलवर्णके, शरीर पतला और अङ्ग लोमरहित हों, जो देखनेपर मनको मोह लेनेवाली हो; जिसके दोनों पैर समतल भूमिका पूर्णरूपसे स्पर्श करते हों और दोनों स्तन परस्पर सटे हुए हों, नाभि दक्षिणावर्त हो, योनि पीपलके पत्तेकी-सी आकारवाली हो, दोनों गुल्फ भीतर छिपे हुए हों—मांसल होनेके कारण वे उभड़े हुए न दिखायी देते हों, नाभि अँगूठेके बराबर हो तथा पेट लंबा या लटकता हुआ न हो । रोमावलियोंसे रूक्ष शरीरवाली रमणी अच्छी नहीं मानी गयी है । नक्षत्रों, वृक्षों और नदियोंके नामपर जिनके नाम रक्खे गये हों तथा जिसे कलह सदा प्रिय लगता हो, वह स्त्री भी अच्छी नहीं है । जो लोलुप न हो, कटुवचन न बोलती हो, वह नारी देवता आदिसे पूजित 'शुभलक्षणा' कही गयी है । जिसके कपोल मधूक-पुष्पोंके समान गोरे हों, वह नारी शुभ है । जिसके शरीरकी नस-नाड़ियाँ दिखायी देती हों और जिसके अङ्ग अधिक रोमावलियोंसे भरे हों, वह स्त्री अच्छी नहीं मानी गयी है । जिसकी कुटिल भौंहें परस्पर सट गयी हों, वह नारी भी अच्छी श्रेणीमें नहीं गिनी जाती । जिसके प्राण पतिमें ही बसते हों तथा जो पतिको प्रिय हो, वह नारी लक्षणोंसे रहित होनेपर भी शुभलक्षणोंसे सम्पन्न कही गयी है । जहाँ सुन्दर आकृति है, वहाँ शुभ गुण हैं । जिसके पैरकी कनिष्ठिका अँगुली धरतीका स्पर्श न करे, वह नारी मृत्युरूपा ही है ॥ १—६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'स्त्रीके लक्षणोंका वर्णन' नामक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय

चामर, धनुष, बाण तथा खड्गके लक्षण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! सुवर्णदण्डभूषित चामर उत्तम होता है । राजाके लिये हंसपक्ष, मयूरपक्ष या शुकपक्षसे निर्मित छत्र प्रशस्त माना गया है । बकपक्षसे निर्मित छत्र भी प्रयोगमें लाया जा सकता है, किंतु मिश्रित पक्षोंका छत्र नहीं बनवाना चाहिये । तीन, चार, पाँच, छः, सात या आठ पर्वोंसे युक्त दण्ड प्रशस्त है ॥ १-२½ ॥

भद्रासन पचास अङ्गुल ऊँचा एवं क्षीरकाष्ठसे निर्मित हो । वह सुवर्णचित्रित एवं तीन हाथ विस्तृत होना चाहिये । द्विजश्रेष्ठ ! धनुषके निर्माणके लिये लौह, श्रृङ्ग या काष्ठ—इन तीन द्रव्योंका प्रयोग करे । प्रत्यञ्चाके लिये तीन वस्तु उपयुक्त हैं—वंश, भङ्ग एवं चर्म ॥ ३-४½ ॥

दारुनिर्मित श्रेष्ठ धनुषका प्रमाण चार हाथ माना गया है । उसीमें क्रमशः एक-एक हाथ कम मध्यम तथा अधम होता है । मुष्टिग्राहके निमित्त धनुषके मध्यभागमें द्रव्य निर्मित करावे ॥ ५-६ ॥

धनुषकी कोटि कामिनीकी भ्रूलताके समान आकारवाली एवं अत्यन्त संयत बनवानी चाहिये । लौह या श्रृङ्गके धनुष पृथक्-पृथक् एक ही द्रव्यके या मिश्रित भी बनवाये जा सकते हैं । श्रृङ्गनिर्मित धनुषको अत्यन्त उपयुक्त तथा सुवर्ण-बिन्दुओंसे अलंकृत करे । कुटिल, स्फुटित या छिद्रयुक्त धनुष निन्दित होता है । धातुओंमें सुवर्ण, रजत, ताम्र एवं कृष्ण लौहका धनुषके निर्माणमें प्रयोग करे । शार्ङ्गधनुषोंमें—महिष, शरभ एवं रोहिण मृगके श्रृङ्गोंसे निर्मित चाप शुभ माना गया है । चन्दन, वेतस, साल, धव तथा अर्जुन वृक्षके काष्ठसे बना हुआ दारुमय शरासन उत्तम होता है । इनमें भी शरद्-ऋतुमें काटकर लिये गये पके बाँसोंसे निर्मित धनुष सर्वोत्तम माना जाता है । धनुष एवं खड्गकी भी त्रैलोक्यमोहन-मन्त्रोंसे पूजा करे ॥ ७—११ ॥

लोहे, बाँस, सरकंडे अथवा उससे भिन्न किसी और वस्तुके बने हुए बाण सीधे, स्वर्णाभ, स्नायुश्लिष्ट, सुवर्णपुङ्खभूषित, तैलधौत, सुनहले एवं उत्तम पङ्खयुक्त होने चाहिये । राजा यात्रा एवं अभिषेकमें धनुष-बाण आदि अस्त्रों तथा पताका, अस्त्रसंग्रह एवं दैवज्ञका भी पूजन करे ॥ १२-१३½ ॥

एक समय भगवान् ब्रह्माने सुमेरु पर्वतके शिखरपर आकाशगङ्गाके किनारे एक यज्ञ किया था। उन्होंने उस यज्ञमें उपस्थित हुए लौहदैत्यको देखा। उसे देखकर वे इस चिन्तामें डूब गये कि 'यह मेरे यज्ञमें विघ्नरूप न हो जाय।' उनके चिन्तन करते ही अग्निसे एक महाबलवान् पुरुष प्रकट हुआ और उसने भगवान् ब्रह्माकी वन्दना की। तदनन्तर देवताओंने प्रसन्न होकर उसका अभिनन्दन किया। इस अभिनन्दनके कारण ही वह 'नन्दक' कहलाया और खड्गरूप हो गया। देवताओंके अनुरोध करनेपर भगवान् श्रीहरिने उस नन्दक खड्गको निजी आयुधके रूपमें ग्रहण किया। उन देवाधिदेवने उस खड्गको उसके गलेमें हाथ डालकर पकड़ा, इससे वह खड्ग म्यानके बाहर हो गया। उस खड्गकी कान्ति नीली थी, उसकी मुष्टि रत्नमयी थी। तदनन्तर वह बढ़कर सौ हाथका हो गया। लौहदैत्यने गदाके प्रहारसे देवताओंको युद्धभूमिसे भगाना आरम्भ किया। भगवान् विष्णुने उस लौहदैत्यके सारे अङ्ग उक्त खड्गसे काट डाले। नन्दकके स्पर्शमात्रसे छिन्न-भिन्न होकर उस दैत्यके सारे लौहमय अङ्ग भूतलपर गिर पड़े। इस प्रकार लोहासुरका वध करके भगवान् श्रीहरिने उसे वर दिया कि 'तुम्हारा पवित्र अङ्ग (लोह) भूतलपर आयुधके निर्माणके काम आयेगा।' फिर श्रीविष्णुके कृपा-प्रसादसे ब्रह्माजीने भी उन सर्वसमर्थ श्रीहरिका यज्ञके द्वारा निर्विघ्न पूजन किया। अब मैं खड्गके लक्षण बतलाता हूँ ॥ १४—२०½ ॥

खटीखट्टर देशमें निर्मित खड्ग दर्शनीय माने गये हैं। ऋषीक देशके खड्ग शरीरको चीर डालनेवाले तथा शूर्पारक-देशीय खड्ग अत्यन्त दृढ़ होते हैं। बङ्गदेशके खड्ग तीखे एवं आघातको सहन करनेवाले तथा अङ्गदेशीय खड्ग तीक्ष्ण कहे जाते हैं। पचास अङ्गुलका खड्ग श्रेष्ठ माना गया है। इससे अर्ध-परिमाणका मध्यम होता है। इससे हीन परिमाणका खड्ग धारण न करे ॥ २१—२३ ॥

द्विजोत्तम ! जिस खड्गका शब्द दीर्घ एवं किंकिणीकी ध्वनिके समान होता है, उसको धारण करना श्रेष्ठ कहा जाता है। जिस खड्गका अग्रभाग पद्म-पत्र, मण्डल या करवीर-पत्रके समान हो तथा जो घृत-गन्धसे युक्त एवं आकाशकी-सी कान्तिवाला हो वह प्रशस्त होता है। खड्गमें समाङ्गुलपर स्थित लिङ्गके समान व्रण (चिह्न) प्रशंसित है। यदि वे काक या उलूकके समान वर्ण या प्रभासे युक्त एवं विषम हों, तो मङ्गलजनक नहीं माने जाते। खड्गमें अपना मुख न देखे। जूँठे हाथोंसे उसका स्पर्श न करे। खड्गकी जाति एवं मूल्य भी किसीको न बतलाये तथा रात्रिके समय उसको सिरहाने रखकर न सोवे ॥ २४—२७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'चामर आदिके लक्षणोंका कथन' नामक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

दो सौ छियालीसवाँ अध्याय

रत्न-परीक्षण

अग्निदेव कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ ! अब मैं रत्नोंके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ। राजाओंको ये रत्न धारण करने चाहिये—वज्र (हीरा), मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धसस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, शुभसौगन्धिक, गञ्ज, शङ्ख, ब्रह्ममय, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, मरकत, तुष्यक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजङ्गमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, भ्रामर और उत्पल। श्री एवं विजयकी प्राप्तिके लिये पूर्वोक्त रत्नोंको सुवर्णमण्डित कराके धारण करना चाहिये। जो अन्तर्भागमें प्रभायुक्त, निर्मल एवं सुसंस्थान हों, उन रत्नोंको ही धारण करना चाहिये। प्रभाहीन, मलिन, खण्डित और किरकिरीसे युक्त रत्नोंको धारण न करे। सभी रत्नोंमें हीरा धारण करना श्रेष्ठ है। जो हीरा जलमें तैर सके, अभेद्य हो, षट्कोण हो, इन्द्रधनुषके समान निर्मल प्रभासे युक्त हो, हल्का तथा सूर्यके समान तेजस्वी हो अथवा तोतेके पङ्खोंके समान वर्णवाला हो, स्निग्ध, कान्तिमान् तथा विभक्त हो, वह शुभ माना गया है। मरकतमणि सुवर्ण-चूर्णके समान सूक्ष्म बिन्दुओंसे विभूषित होनेपर श्रेष्ठ बतलायी गयी है। स्फटिक और पद्मराग अरुणिमासे युक्त तथा अत्यन्त निर्मल होनेपर उत्तम कहे जाते हैं। मोती शुक्तिसे उत्पन्न होते हैं, किंतु शङ्खसे बने मोती उनकी अपेक्षा निर्मल एवं उत्कृष्ट होते हैं। ऋषिप्रवर ! हाथीके दाँत और कुम्भस्थलसे उत्पन्न, सूकर, मत्स्य और वेणुनागसे उत्पन्न एवं मेघोंद्वारा उत्पन्न मोती

अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं। मौक्तिकमें सूतत्व (गोलाई), शुक्लता, स्वच्छता एवं महत्ता—ये गुण होते हैं। उत्तम इन्द्रनीलमणि दुग्धमें रखनेपर अत्यधिक प्रकाशित एवं सुशोभित होती है। जो रत्न अपने प्रभावसे सबको रञ्जित करता है, उसे बहुमूल्य समझे। नील एवं रक्त आभावाला वैदूर्य श्रेष्ठ होता है। यह हारमें पिरोने योग्य है ॥ १—१५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रत्न-परीक्षा-कथन' नामक दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४६ ॥

दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय

गृहके योग्य भूमि; चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डल और वृक्षारोपणका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं वास्तुके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ। वास्तुशास्त्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं काले रंगकी भूमि निवास करनेयोग्य है। जिस भूमिमें घृतके समान गन्ध हो वह ब्राह्मणोंके, रक्तके समान गन्ध हो वह क्षत्रियोंके, अन्नकी-सी गन्ध हो वह वैश्योंके और मद्यतुल्य गन्ध हो वह शूद्रोंके वास करनेयोग्य मानी गयी है। इसी प्रकार रसमें ब्राह्मण आदिके लिये क्रमशः मधुर, कषाय और अम्ल आदि स्वादसे युक्त भूमि होनी चाहिये। चारों वर्णोंको क्रमशः कुश, सरपत, कास तथा दूर्वासे संयुक्त भूमिमें घर बनाना चाहिये। पहले ब्राह्मणोंका पूजन करके शल्यरहित भूमिमें खात (कुण्ड) बनावे ॥ १—३ ॥

फिर चौंसठ पदोंसे समन्वित वास्तुमण्डलका निर्माण करे। उसके मध्यभागमें चार पदोंमें ब्रह्माकी स्थापना करे। उन चारों पदोंके पूर्वमें गृहस्वामी 'अर्यमा' बतलाये गये हैं। दक्षिणमें विवस्वान्, पश्चिममें मित्र और उत्तर दिशामें महीधरको अङ्कित करे। ईशानकोणमें आप तथा आपवत्सको, अग्निकोणमें सावित्र एवं सविताको, पश्चिमके समीपवर्ती नैर्ऋत्यकोणमें जय और इन्द्रको और वायव्यकोणमें रुद्र तथा व्याधिको लिखे। पूर्व आदि दिशाओंमें कोणवर्ती देवताओंसे पृथक् निम्नाङ्कित देवताओंका लेखन करे—पूर्वमें महेन्द्र, रवि, सत्य तथा भृश आदिको, दक्षिणमें गृहक्षत, यम, भृङ्ग तथा गन्धर्व आदिको, पश्चिममें पुष्पदन्त, असुर, वरुण और पापयक्ष्मा आदिको, उत्तर दिशामें भल्लाट, सोम, अदिति एवं धनदको तथा ईशानकोणमें नाग और करग्रहको अङ्कित करे। प्रत्येक दिशाके आठ देवता माने गये हैं। उनमें प्रथम और अन्तिम देवता वास्तुमण्डलके गृहस्वामी कहे गये हैं। पूर्व दिशाके प्रथम देवता पर्जन्य हैं, दूसरे करग्रह (जयन्त), महेन्द्र, रवि, सत्य, भृश, गगन तथा पवन हैं। कुछ लोग आग्नेयकोणमें गगन एवं पवनके स्थानपर अन्तरिक्ष और अग्निको मानते हैं। नैर्ऋत्यकोणमें मृग और सुग्रीव—इन दोनों देवताओंको, वायव्यकोणमें रोग एवं मुख्यको, दक्षिणमें पूषा, वितथ, गृहक्षत, यम, भृङ्ग, गन्धर्व, मृग एवं पितरको स्थापित करे। वास्तुमण्डलके पश्चिम भागमें दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, असुर, वरुण, पापयक्ष्मा और शोष स्थित हैं। उत्तर दिशामें नागराज, मुख्य, भल्लाट, सोम, अदिति, कुबेर, नाग और अग्नि (करग्रह) सुशोभित होते हैं। पूर्वदिशामें सूर्य और इन्द्र श्रेष्ठ हैं। दक्षिण दिशामें गृहक्षत पुण्यमय हैं, पश्चिम दिशामें सुग्रीव उत्तम और उत्तरद्वारपर पुष्पदन्त कल्याणप्रद है। भल्लाटको ही पुष्पदन्त कहा गया है ॥ ४—१५ ॥

इन वास्तुदेवताओंका मन्त्रोंसे पूजन करके आधारशिलाका न्यास करे। तदनन्तर निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे नन्दा आदि देवियोंका पूजन करे—'वसिष्ठनन्दिनी नन्दे ! मुझे धन एवं

पुत्र-पौत्रोंसे संयुक्त करके आनन्दित करो। भार्गवपुत्रि जये! आपके प्रजाभूत हमलोगोंको विजय प्रदान करो। अङ्गिरसतनये पूर्णे! मेरी कामनाओंको पूर्ण करो। कश्यपात्मजे भद्रे! मुझे कल्याणमयी बुद्धि दो। वसिष्ठपुत्रि नन्दे! सब प्रकारके बीजोंसे युक्त एवं सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न इस मनोरम नन्दनवनमें विहार करो। प्रजापतिपुत्रि! देवि भद्रे! तुम उत्तम लक्षणों एवं श्रेष्ठ व्रतको धारण करनेवाली हो; कश्यपनन्दिनि! इस भूमिमय चतुष्कोणभवनमें निवास करो। भार्गवतनये देवि! तुम सम्पूर्ण विश्वको ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली हो; श्रेष्ठ आचार्योंद्वारा पूजित एवं गन्ध और मालाओंसे अलंकृत मेरे गृहमें निवास करो। अङ्गिरा ऋषिकी पुत्रि पूर्णे! तुम भी सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त तथा क्षतिरहित मेरे घरमें रमण करो। इष्टके! मैं गृहप्रतिष्ठा करा रहा हूँ, तुम मुझे अभिलषित भोग प्रदान करो। देशस्वामी, नगरस्वामी और गृहस्वामीके संचयमें मनुष्य, धन, हाथी-घोड़े और पशुओंकी वृद्धि करो' ॥ १६—२२½ ॥

गृहप्रवेशके समय भी इसी प्रकार शिलान्यास करना चाहिये। घरके उत्तरमें प्लक्ष (पाकड़) तथा पूर्वमें वटवृक्ष शुभ होता है। दक्षिणमें गूलर और पश्चिममें पीपलका वृक्ष उत्तम माना जाता है। घरके वामपार्श्वमें उद्यान बनावे। ऐसे घरमें निवास करना शुभ होता है। लगाये हुए वृक्षोंको ग्रीष्मकालमें प्रातः-सायं, शीतऋतुमें मध्याह्नके समय तथा वर्षाकालमें भूमिके सूख जानेपर सींचना चाहिये। वृक्षोंको वायविडंग और घृतमिश्रित शीतल जलसे सींचे। जिन वृक्षोंके फल लगने बंद हो गये हों, उनको कुलथी, उड़द, मूँग, तिल और जौ मिले हुए जलसे सींचना चाहिये। घृतयुक्त शीतल दुग्धके सेचनसे वृक्ष सदा फल-पुष्पसे युक्त रहते हैं। मत्स्यवाले जलके सेचनसे वृक्षोंकी वृद्धि होती है। भेड़ और बकरीकी लेंडीका चूर्ण, जौका चूर्ण, तिल, अन्य गोबर आदि खाद एवं जल—इन सबको सात दिनतक ढककर रक्खे। इसका सेचन सभी प्रकारके वृक्षोंके फल-पुष्प आदिकी वृद्धि करनेवाला है। आम्रवृक्षोंका शीतल जलसे सेचन उत्तम माना गया है। अशोक वृक्षके विकासके लिये कामिनियोंके चरणका प्रहार प्रशस्त है। खजूर और नारियल आदि वृक्ष लवणयुक्त जलसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। वायविडंग तथा जलके द्वारा सेचन सभी वृक्षोंके लिये उत्तम दोहद है ॥ २३—३१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वास्तुलक्षण-कथन' नामक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय

विष्णु आदिके पूजनमें उपयोगी पुष्पोंका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! पुष्पोंसे पूजन करनेपर भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण कार्योंमें सिद्धि प्रदान करते हैं। मालती, मल्लिका, यूथिका, गुलाब, कनेर, पावन्ती, अतिमुक्तक, कर्णिकार, कुरण्टक, कुब्जक, तगर, नीप (कदम्ब), बाण, वनमल्लिका, अशोक, तिलक, कुन्द और तमाल—इनके पुष्प पूजाके लिये उपयोगी माने गये हैं। बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्गराजके पत्र, तुलसी, कृष्णतुलसी तथा वासक (अडूसा) के पत्र पूजनमें ग्राह्य माने गये हैं। केतकीके पत्र और पुष्प; पद्म एवं रक्तकमल—ये भी पूजामें ग्रहण किये जाते हैं। मदार, धत्तूर, गुञ्जा, पर्वतीय मल्लिका, कुटज, शाल्मलि और कटेरीके फूलोंका पूजामें प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रस्थमात्र घृतसे भगवान् विष्णुका अभिषेक करनेपर करोड़ गौओंके दान करनेका फल मिलता है। एक आढ़क घृतसे अभिषेक करनेवाला राज्य तथा घृतमिश्रित दुग्धसे अभिषेक करनेवाला स्वर्गको प्राप्त करता है ॥ १—६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुष्पादिसे पूजनके फलका कथन' नामक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४८ ॥

दो सौ उनचासवाँ अध्याय

धनुर्वेदका वर्णन—युद्ध और अस्त्रके भेद, आठ प्रकारके स्थान, धनुष, बाणको ग्रहण करने और छोड़नेकी विधि आदिका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदका वर्णन करता हूँ । धनुर्वेद पाँच प्रकारका होता है । रथ, हाथी, घोड़े और पैदल-सम्बन्धी योद्धाओंका आश्रय लेकर इसका वर्णन किया गया है । यन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तसंधारित, अमुक्त और बाहुयुद्ध—ये ही धनुर्वेदके पाँच प्रकार कहे गये हैं । उसमें भी शस्त्र-सम्पत्ति

१. 'धनुर्वेद' यजुर्वेदका उपवेद है । प्राचीनकालमें प्रायः सभी सभ्य देशोंमें इस विद्याका प्रचार था । भारतवर्षमें इस विद्याके बड़े-बड़े ग्रन्थ थे, जिन्हें क्षत्रियकुमार अभ्यासपूर्वक पढ़ते थे । आजकल वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं । कुछ थोड़े-से ग्रन्थोंमें इस विद्याका संक्षिप्त वर्णन मिलता है । जैसे शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार, अग्निपुराण, वीरचिन्तामणि, वृद्ध शार्ङ्गधर, युद्धजयार्णव, युक्तिकल्पतरु तथा नीतिमयूख आदि । 'धनुर्वेद-संहिता' नामक एक अलग भी पुस्तक मिलती है । नेपाल (काठमाण्डू) गोरखनाथ मठके महन्थ योगी नरहरिनाथने भी धनुर्वेदकी एक प्राचीन पुस्तक उपलब्ध की है । कुछ विद्वान् ब्रह्मा और महेश्वरसे इस उपवेदका प्रादुर्भाव मानते हैं, परंतु मधुसूदन सरस्वतीका कथन है कि 'विश्वामित्रने जिस धनुर्वेदका प्रकाश किया था, यजुर्वेदका उपवेद वही है ।' 'वीरचिन्तामणि'में धनुर्वेदकी बड़ी प्रशंसा की गयी है । 'धनुर्वेद-संहिता'में लिखा है कि "दुष्टों, दस्युओं और चोर आदिसे साधुपुरुषोंका संरक्षण और धर्मानुसार प्रजापालन 'धनुर्वेद'का प्रयोजन है" । अग्निपुराणके इन चार अध्यायोंमें धनुर्वेद-विषयक महत्त्वपूर्ण बातोंपर संक्षेपसे ही प्रकाश डाला गया है । धनुर्वेदपर इस समय जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनसे अग्निपुराणगत धनुर्वेदका पाठ नहीं मिलता । विश्वकोषमें 'धनुर्वेद' शब्दपर अग्निपुराणके ये ही चार अध्याय उद्धृत किये गये हैं । कतिपय हस्तलिखित प्रतियोंके अनुसार जो पाठ-भेद उपलब्ध हुए हैं, उन्हें दृष्टिमें रखते हुए इन अध्यायोंका अविकल अनुवाद करनेकी चेष्टा की गयी है । साङ्गवेद विद्यालय, काशीके नैयायिक विद्वान् श्रीहेनूवर शास्त्री काश्मीर-पुस्तकालयसे अग्निपुराणके धनुर्वेद-प्रकरणपर कुछ पाठभेद संग्रह करके लाये थे, उससे भी इस प्रकरणको लगानेमें सहयोग मिला है । तथापि कुछ शब्द अस्पष्ट रह गये हैं । माननीय विद्वानोंको धनुर्वेदके विषयमें विशेष ध्यान देकर अनुसंधान करना-कराना चाहिये, जिससे भारतकी इस प्राचीन विद्याका पुनरुद्धार हो सके ।

(अनुवादक)

२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २२०, श्लोक ७२में लिखा है कि 'शत्रुदमन बालक अभिमन्युने वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुनसे चार पादों और दशविध अङ्गोंसे युक्त दिव्य एवं मानुष—सब प्रकारके धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया ।' इन चार पादोंको स्पष्ट करते हुए आचार्य नीलकण्ठने 'मन्त्रमुक्त', 'पाणिमुक्त', 'मुक्तामुक्त' और 'अमुक्त'—इन चार नामोंका निर्देश किया है । परंतु मधुसूदन सरस्वतीने अपने 'प्रस्थानभेद'में धनुर्वेदका जो संक्षिप्त विवरण दिया है, उसमें चार पादोंका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—दीक्षापाद, संग्रहपाद, सिद्धिपाद और प्रयोगपाद । पूर्वोक्त मन्त्रमुक्त आदि भेद आयुधोंके हैं, वे पादोंके नाम नहीं हैं । अग्निपुराणमें चार पादोंके नामका निर्देश नहीं है । 'मन्त्रमुक्त'के स्थानपर यहाँ 'यन्त्रमुक्त' पाठ है और 'मुक्तामुक्त'के स्थानपर 'मुक्तसंधारित' । इन चारोंके साथ बाहुयुद्धको भी जोड़कर अग्निपुराणमें धनुर्वेद, अस्त्र या युद्धके पाँच प्रकार ही निर्दिष्ट किये गये हैं । अतः धनुर्वेदके चार पाद उपर्युक्त दीक्षा आदि ही ठीक जान पड़ते हैं ।

३. महाभारतमें 'चतुष्पादं दशविधम्' कहकर धनुर्वेदके दस प्रकार कहे गये हैं । परंतु अग्निपुराणसे उसका कोई विरोध नहीं है । अग्निपुराणमें अस्त्र या युद्धके पाँच प्रकारोंकी दृष्टिमें रखकर ही वे भेद निर्दिष्ट हुए हैं । किंतु महाभारतमें धनुर्वेदके दस अङ्गोंको लेकर ही दस भेदोंका कथन हुआ है । उन दस अङ्गोंके नाम नीलकण्ठने इस प्रकार लिखे हैं—आदान, संधान, मोक्षण, निवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल तथा रहस्य । इन सबका परिचय इस प्रकार है—तरकससे बाणको निकालना 'आदान' है । उसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर रखना 'संधान' है । लक्ष्यपर छोड़ना 'मोक्षण' कहा गया है । यदि बाण छोड़ देनेके बाद यह मालूम हो जाय कि हमारा विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है, तो वीर पुरुष मन्त्रशक्तिसे उस बाणको लौटा लेते हैं । इस प्रकार छोड़े हुए अस्त्रको लौटा लेना 'निवर्तन' कहलाता है । धनुष या उसकी प्रत्यञ्चाके धारण अथवा शरसंधानकालमें धनुष और प्रत्यञ्चाके मध्यदेशको 'स्थान' कहा गया है । तीन या चार अँगुलियोंका सहयोग ही 'मुष्टि' है । तर्जनी और मध्यमा अँगुलीसे अथवा मध्यमा

और अस्त्र-सम्पत्तिके भेदसे युद्ध दो प्रकारका बताया गया है। ऋजुयुद्ध और मायायुद्धके भेदसे उसके पुनः दो भेद हो जाते हैं। क्षेपणी (गोफन आदि), धनुष एवं यन्त्र आदिके द्वारा जो अस्त्र फेंका जाता है, उसे 'यन्त्रमुक्त' कहते हैं। (यन्त्रमुक्त अस्त्रका जहाँ अधिक प्रयोग हो, वह युद्ध भी 'यन्त्रमुक्त' ही कहलाता है।) प्रस्तरखण्ड और तोमर-यन्त्र आदिको 'पाणिमुक्त' कहा गया है। भाला आदि जो अस्त्र शत्रुपर छोड़ा जाय और फिर उसे हाथमें ले लिया जाय, उसे 'मुक्तसंधारित' समझना चाहिये। खड्ग (तलवार आदि) को 'अमुक्त' कहते हैं और जिसमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग न करके मल्लोंकी भाँति लड़ा जाय, उस युद्धको 'नियुद्ध' या 'बाहुयुद्ध' कहते हैं ॥ १—५ ॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाला पुरुष श्रमको जीते और योग्य पात्रोंका संग्रह करे। जिनमें धनुष-बाणका प्रयोग हो, वे युद्ध श्रेष्ठ कहे गये हैं; जिनमें भालोंकी मार हो, वे मध्यम कोटिके हैं। जिनमें खड्गोंसे प्रहार किया जाय, वे निम्नश्रेणीके युद्ध हैं और बाहुयुद्ध सबसे निकृष्ट कोटिके अन्तर्गत हैं। धनुर्वेदमें क्षत्रिय और वैश्य—इन दो वर्णोंका भी गुरु[4] ब्राह्मण ही बताया गया है। आपत्तिकालमें स्वयं शिक्षा लेकर शूद्रको भी युद्धका अधिकार प्राप्त है। देश या राष्ट्रमें रहनेवाले वर्णसंकरोंको भी युद्धमें राजाकी सहायता करनी चाहिये[5] ॥ ६—८ ॥

स्थान-वर्णन[6]—अङ्गुष्ठ, गुल्फ, पार्ष्णिभाग और पैर—ये एक साथ रहकर परस्पर सटे हुए हों तो लक्षणके अनुसार इसे 'समपद'नामक स्थान कहते हैं। दोनों पैर बाह्य अङ्गुलियों-के बलपर स्थित हों, दोनों घुटने स्तब्ध हों तथा दोनों पैरोंके बीचका फासला तीन बित्ता हो, तो यह 'वैशाख'नामक स्थान कहलाता है। जिसमें दोनों घुटने हंसपंक्तिके आकारकी भाँति दिखायी देते हों और दोनोंमें चार बित्तेका अन्तर हो, वह 'मण्डल' स्थान माना गया है। जिसमें दाहिनी जाँघ और घुटना स्तब्ध (तना हुआ) हो और दोनों पैरोंके बीचका विस्तार पाँच बित्तेका हो, उसे 'आलीढ'नामक स्थान कहा गया है। इसके विपरीत जहाँ बायीं जाँघ और घुटना स्तब्ध हों तथा दोनों पैरोंके बीचका विस्तार पाँच बित्ता हो, वह 'प्रत्यालीढ'नामक स्थान है। जहाँ बायाँ पैर टेढ़ा और दाहिना सीधा हो तथा दोनों गुल्फ और पार्ष्णिभाग पाँच अङ्गुलके अन्तरपर स्थित हों तो यह बारह अङ्गुल बड़ा 'स्थानक' कहा गया है। यदि बायें पैरका घुटना सीधा हो और दाहिना पैर भलीभाँति फैलाया गया हो अथवा दाहिना घुटना कुब्जाकार एवं निश्चल हो या घुटनेके साथ ही दायाँ चरण दण्डाकार विशाल दिखायी दे तो ऐसी स्थितिमें 'विकट'नामक स्थान कहा गया है। इसमें दोनों पैरोंका अन्तर दो हाथ बड़ा होता है। जिसमें दोनों घुटने दुहरे और दोनों पैर उत्तान हो जायँ, इस विधानके योगसे जो 'स्थान' बनता है, उसका नाम 'सम्पुट' है। जहाँ कुछ घूमे हुए दोनों पैर समभावसे दण्डके समान विशाल एवं स्थिर दिखायी दें, वहाँ दोनोंके बीचकी लंबाई सोलह

और अङ्गुष्ठसे बाणका संधान करना 'प्रयोग' कहलाता है। स्वतः या दूसरेसे प्राप्त होनेवाले व्याघात (प्रत्यञ्चाके आघात) और बाणके आघातको रोकनेके लिये जो दस्ताने आदिका प्रयोग किया जाता है, उसका नाम 'प्रायश्चित्त' है। चक्राकार घूमते हुए रथके साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्यका वेध 'मण्डल' कहलाता है। शब्दके आधारपर लक्ष्य बींधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्योंको बींध डालना—ये सब 'रहस्य'के अन्तर्गत हैं।

४. 'गुरु' शब्दका अर्थ है—धनुर्वेदकी शिक्षा देनेवाला आचार्य। 'धनुर्वेदसंहिता'में सात प्रकारके युद्धोंका उल्लेख करके उन सातोंके ज्ञाताको 'आचार्य' कहा गया है—'आचार्यः सप्तयुद्धः स्यात्'। धनुष, चक्र, कुन्त, खड्ग, क्षुरिका, गदा और बाहु—इन सातोंसे किये जानेवाले युद्धको ही 'सात प्रकारका युद्ध' कहते हैं।

५. 'वीरचिन्तामणि'के ६-७ श्लोकोंमें कहा गया है कि 'आचार्य ब्राह्मण शिष्यको धनुष, क्षत्रियको खड्ग, वैश्यको कुन्त (भाला) और शूद्रको गदाकी शिक्षा प्रदान करे।' इससे भी सूचित होता है कि अस्त्र-विद्या और युद्धकी शिक्षा सभी वर्णके लोगोंको दी जाती थी। अग्निपुराणके अनुसार वर्णसंकर भी इसकी शिक्षा पाते थे और युद्धमें राष्ट्रकी रक्षाके लिये राजाकी सहायता करते थे।

६. 'वीरचिन्तामणि' आदि ग्रन्थोंमें आठ प्रकारके 'स्थानों', पाँच प्रकारकी 'मुष्टियों' तथा पाँच तरहके 'व्याम' का वर्णन उपलब्ध होता है। अग्निपुराणमें 'मुष्टि' और 'व्याम'के भेद नहीं हैं। अगले अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'सिंहकर्ण' नामक मुष्टिकी चर्चा अवश्य की गयी है। परंतु स्थानके आठों भेदोंका लक्षणसहित वर्णन उपलब्ध होता है। इस वर्णनको देखते हुए 'स्थान' शब्दका अभिप्राय योद्धाओंके युद्धस्थलमें खड़े होनेका ढंग जान पड़ता है। योद्धाओंको किस-किस ढंगसे खड़ा होना चाहिये और कौन-सा ढंग कब उपयोगी होता है—इसीकी ओर इस प्रसङ्गमें संकेत किया गया है।

अङ्गुलकी ही देखी गयी है । यह स्थानका यथोचित स्वरूप है ॥ ९—१८ ॥

ब्रह्मन् ! योद्धाओंको चाहिये कि पहले बायें हाथमें धनुष और दायें हाथमें बाण लेकर उसे चलायें और उन छोड़े हुए बाणोंको स्वस्तिकाकार करके उनके द्वारा गुरुजनोंको प्रणाम करें । धनुषका प्रेमी योद्धा 'वैशाख' स्थानके सिद्ध हो जानेपर 'स्थिति' (वर्तमान) या 'आयति' (भविष्य) में जब आवश्यकता हो, धनुषपर डोरीको फैलाकर धनुषकी निचली कोटि और बाणके फलदेशको धरतीपर टिकाकर रक्खे और उसी अवस्थामें मुड़ी हुई दोनों भुजाओं एवं कलाइयोंद्वारा नापे । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वसिष्ठ ! उस योद्धाके बाणसे धनुष सर्वथा बड़ा होना चाहिये और मुष्टिके सामने बाणके पुङ्ख तथा धनुषके डंडेमें बारह अङ्गुलका अन्तर होना चाहिये । ऐसी स्थिति हो तो धनुर्दण्डको प्रत्यञ्चासे संयुक्त कर देना चाहिये । वह अधिक छोटा या बड़ा नहीं होना चाहिये ॥ १९—२३ ॥

धनुषको नाभिस्थानमें और बाण-संचयको नितम्बपर रखकर उठे हुए हाथको आँख और कानके बीचमें कर ले तथा उस अवस्थामें बाणको फेंके । पहले बाणको मुट्ठीमें पकड़े और उसे दाहिने स्तनाग्रकी सीधमें रक्खे । तदनन्तर उसे प्रत्यञ्चापर ले जाकर उस मौर्वी (डोरी या प्रत्यञ्चा)को खींचकर पूर्णरूपसे फैलावे । प्रत्यञ्चा न तो भीतर हो न बाहर; न ऊँची हो न नीची, न कुबड़ी हो न उत्तान, न चञ्चल हो न अत्यन्त आवेष्टित । वह सम, स्थिरतासे युक्त और दण्डकी भाँति सीधी होनी चाहिये । इस प्रकार पहले इस मुष्टिके द्वारा लक्ष्यको आच्छादित करके बाणको छोड़ना चाहिये ॥ २४—२७ ॥

धनुर्धर योद्धाको यत्नपूर्वक अपनी छाती ऊँची रखनी चाहिये और इस तरह झुककर खड़ा होना चाहिये, जिससे शरीर त्रिकोणाकार जान पड़े । कंधा ढीला, ग्रीवा निश्चल और मस्तक मयूरकी भाँति शोभित हो । ललाट, नासिका, मुख, बाहुमूल और कोहनी—ये सम अवस्थामें रहें । ठोढ़ी और कंधेमें तीन अङ्गुलका अन्तर समझना चाहिये । पहली बार तीन अङ्गुल, दूसरी बार दो अङ्गुल और तीसरी बार ठोढ़ी तथा कंधेका अन्तर एक ही अङ्गुलका बताया गया है ॥ २८—३० ॥

बाणको पुङ्खकी ओरसे तर्जनी एवं अँगूठेसे पकड़े । फिर मध्यमा एवं अनामिकासे भी पकड़ ले और तबतक वेगपूर्वक खींचता रहे, जबतक पूरा-पूरा बाण धनुषपर न आ जाय । ऐसा उपक्रम करके विधिपूर्वक बाणको छोड़ना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

सुव्रत ! पहले दृष्टि और मुष्टिसे आहत हुए लक्ष्यको ही बाणसे विदीर्ण करे । बाणको छोड़कर पिछला हाथ बड़े वेगसे पीठकी ओर ले जाय; क्योंकि ब्रह्मन् ! यह ज्ञात होना चाहिये कि शत्रु इस हाथको काट डालनेकी इच्छा करते हैं । अतः धनुर्धर पुरुषको चाहिये, धनुषको खींचकर कोहनीके नीचे कर ले और बाण छोड़ते समय उसके ऊपर करे । धनुःशास्त्र-विशारद पुरुषोंको यह विशेषरूपसे जानना चाहिये । कोहनीका आँखसे सटाना मध्यम श्रेणीका बचाव है और शत्रुके लक्ष्यसे दूर रखना उत्तम है ॥ ३३—३५ ॥

उत्तम श्रेणीका बाण बारह मुष्टियोंके मापका होना चाहिये । ग्यारह मुष्टियोंका 'मध्यम' और दस मुष्टियोंका 'कनिष्ठ' माना गया है । धनुष चार हाथ लंबा हो तो 'उत्तम', साढ़े तीन हाथका हो तो 'मध्यम' और तीन हाथका हो तो 'कनिष्ठ' कहा गया है । पैदल योद्धाके लिये सदा तीन हाथके ही धनुष-को ग्रहण करनेका विधान है । घोड़े, रथ और हाथीपर श्रेष्ठ धनुषका ही प्रयोग करनेका विधान किया गया है ॥ ३६-३७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका वर्णन' नामक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

दो सौ पचासवाँ अध्याय

लक्ष्यवेधके लिये धनुष-बाण लेने और उनके समुचित प्रयोग करनेकी शिक्षा तथा वेध्यके विविध भेदोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन् ! द्विजको चाहिये कि पूरी लंबाईवाले धनुषका निर्माण कराकर, उसे अच्छी तरह धो-पोंछकर रङ्गभूमिमें स्थापित करे तथा गदा आदि आयुधोंको भलीभाँति साफ करके रक्खे ॥ १ ॥

तत्पश्चात् बाणोंका संग्रह करके, कवच-धारणपूर्वक एकाग्रचित्त हो, तूणीर ले, उसे पीठकी ओर दाहिनी काँखके पास दृढ़ताके साथ बाँधे । ऐसा करनेसे विलक्ष्य बाण भी उस तूणीरमें सुस्थिर रहता है । फिर दाहिने हाथसे तूणीरके

भीतरसे बाणको निकाले । उसके साथ ही बायें हाथसे धनुषको वहाँसे उठा ले और उसके मध्यभागमें बाणका संधान[1] करे ॥ २–४ ॥

चित्तमें विषादको न आने दे—उत्साह-सम्पन्न हो, धनुषकी डोरीपर बाणका पुङ्खभाग रक्खे, फिर 'सिंहकर्ण'[2] नामक मुष्टिद्वारा डोरीको पुङ्खके साथ ही दृढ़तापूर्वक दबाकर समभावसे संधान करे और बाणको लक्ष्यकी ओर छोड़े । यदि बायें हाथसे बाणको चलाना हो तो बायें हाथमें बाण ले और दाहिने हाथसे धनुषकी मुट्ठी पकड़े । फिर प्रत्यञ्चापर बाणको इस तरह रक्खे कि खींचनेपर उसका फल या पुङ्ख बायें कानके समीप आ जाय । उस समय बाणको बायें हाथकी (तर्जनी और अङ्गुष्ठके अतिरिक्त) मध्यमा अंगुलीसे भी धारण किये रहे । बाण चलानेकी विधिको जाननेवाला पुरुष उपर्युक्त मुष्टिके द्वारा धनुषको दृढ़तापूर्वक पकड़कर, मनको दृष्टिके साथ ही लक्ष्यगत करके बाणको शरीरके दाहिने भागकी ओर रखते हुए लक्ष्यकी ओर छोड़े ॥ ५–७ ॥

धनुषका दण्ड इतना बड़ा हो कि भूमिपर खड़ा करनेपर उसकी ऊँचाई ललाटतक आ जाय । उसपर लक्ष्यवेधके लिये सोलह अङ्गुल लंबे चन्द्रक (बाणविशेष) का संधान करे और उसे भलीभाँति खींचकर लक्ष्यपर प्रहार करे । इस तरह एक बाणका प्रहार करके फिर तत्काल ही तूणीरसे अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी अङ्गुलिद्वारा बारंबार बाण निकाले । उसे मध्यमा अङ्गुलिसे भी दबाकर काबूमें करे और शीघ्र ही दृष्टिगत लक्ष्यकी ओर चलावे । चारों ओर तथा दक्षिण ओर लक्ष्यवेधका क्रम जारी रक्खे । योद्धा पहलेसे ही चारों ओर बाण मारकर सब ओरके लक्ष्यको वेधनेका अभ्यास करे ॥ ८-१० ॥

तदनन्तर वह तीक्ष्ण, परावृत्त, गत, निम्न, उन्नत तथा क्षिप्र वेधका अभ्यास बढ़ावे[3] । वेध्य लक्ष्यके ये जो उपर्युक्त स्थान हैं, इनमें सत्त्व (बल एवं धैर्य) का पुट देते हुए विचित्र एवं दुस्तर रीतिसे सैकड़ों बार हाथसे बाणोंके निकालने एवं छोड़नेकी क्रियाद्वारा धनुषका तर्जन करे—उसपर टङ्कार[4] दे ॥ ११-१२ ॥

विप्रवर ! उक्त वेध्यके अनेक भेद हैं । पहले तो दृढ़, दुष्कर तथा चित्र दुष्कर—ये वेध्यके तीन भेद हैं । ये

१. 'वासिष्ठ-धनुर्वेद'के अनुसार 'संधान' तीन प्रकारके हैं—अध, ऊर्ध्व और सम । इनका क्रमशः तीन कार्योंमें ही उपयोग करना चाहिये । दूरके लक्ष्यको मार गिराना हो तो 'अधःसंधान' उपयोगी होता है । लक्ष्य निश्चल हो तो 'समसंधान'से उसका वेध करना चाहिये तथा चञ्चल लक्ष्यका वेध करनेके लिये 'ऊर्ध्वसंधान'से काम लेना चाहिये ।

२. महर्षि वसिष्ठकृत 'धनुर्वेद-संहिता'में 'मुष्टि'के पाँच भेद बताये गये हैं—पताका, वज्रमुष्टि, सिंहकर्ण, मत्सरी तथा काकतुण्डी । वहीं 'सिंहकर्ण'नामक मुष्टिका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—('अङ्गुष्ठमध्यदेशे तु तर्जन्यग्रं शुभं स्थितम् । सिंहकर्णः स विज्ञेयो दृढलक्ष्यस्य वेधने ॥' अर्थात् "धनुष पकड़ते समय अङ्गुष्ठके मध्यदेशमें तर्जनीके अग्रभागको भलीभाँति टिकाकर जो मुष्टि बाँधी जाती है, उसका नाम 'सिंहकर्ण' जानना चाहिये । वह दृढ़लक्ष्यके वेधके लिये उपयोगी है ।"

३. 'वासिष्ठ-धनुर्वेद'में 'वेध' तीन प्रकारका बताया गया है—पुष्पवेध, मत्स्यवेध और मांसवेध । फलरहित बाणसे फूलको वेधना 'पुष्पवेध' है । फलयुक्त बाणसे मत्स्यका भेदन करना 'मत्स्यवेध' है । तदनन्तर मांसके प्रति लक्ष्यका स्थिरीकरण 'मांसवेध' कहलाता है । इन वेधोंके सिद्ध हो जानेपर मनुष्योंके बाण उनके लिये सर्वसाधक होते हैं—एतैर्वेधैः कृतैः पुंसां शराः स्युः सर्वसाधकाः ।

४. 'वीरचिन्तामणि'में 'श्रमकरण' (धनुष चलानेके परिश्रमपूर्वक अभ्यास) के प्रकरणमें इस तरहकी बातें लिखी हैं । यथा—पहले धनुषको चढ़ाकर शिखा बाँध ले, पूर्वोक्त स्थानभेदमेंसे किसी एकका आश्रय ले, खड़ा हो, बाणके ऊपर हाथ रक्खे । धनुषके तोलनपूर्वक उसे बायें हाथमें ले । तदनन्तर बाणका आदान करके संधान करे । एक बार धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचकर भूमिवेधन करे । पहले भगवान् शंकर, विघ्नराज गणेश, गुरुदेव तथा धनुष-बाणको नमस्कार करे । फिर बाण खींचनेके लिये गुरुसे आज्ञा माँगे । प्राणवायुके प्रयत्न (पूरक प्राणायाम) के साथ बाणसे धनुषको पूरित करे । कुम्भक प्राणायामके द्वारा उसे स्थिर करके रेचक प्राणायाम एवं हुंकारके साथ वायु एवं बाणका विसर्जन करे । सिद्धिकी इच्छावाले धनुर्धर योद्धाको यह अभ्यास-क्रिया अवश्य करनी चाहिये । छः मासमें 'मुष्टि' सिद्ध होती है और एक वर्षमें 'बाण' । 'नाराच' तो उसीके सिद्ध होते हैं, जिसपर भगवान् महेश्वरकी कृपा हो जाय । अपनी सिद्धि चाहनेवाला योद्धा बाणको फूलकी भाँति धारण करे । फिर धनुषको सर्पकी भाँति दबावे तथा लक्ष्यका बहुमूल्य धनकी भाँति चिन्तन करे, इत्यादि ।

तीनों ही भेद दो-दो प्रकारके होते हैं। 'नतनिम्न' और 'तीक्ष्ण'—ये 'दृढ़वेध्य'के दो भेद हैं। 'दुष्करवेध्य'के भी 'निम्न' और 'ऊर्ध्वगत'—ये दो भेद कहे गये हैं तथा 'चित्रदुष्कर' वेध्यके 'मस्तकपतन' और 'मध्य'—ये दो भेद बताये गये हैं॥ १३-१४½ ॥

इस प्रकार इन वेध्यगणोंको सिद्ध करके वीर पुरुष पहले दायें अथवा बायें पार्श्वसे शत्रुसेनापर चढ़ाई करे। इससे मनुष्यको अपने लक्ष्यपर विजय प्राप्त होती है। प्रयोक्ता पुरुषोंने वेध्यके विषयमें यही विधि देखी और बतायी है॥ १५-१६ ॥

योद्धाके लिये उस वेध्यकी अपेक्षा भ्रमणको अधिक उत्तम बताया गया है। वह लक्ष्यको अपने बाणके पुङ्खभागसे आच्छादित करके उसकी ओर दृढ़तापूर्वक शर-संधान करे। जो लक्ष्य भ्रमणशील, अत्यन्त चञ्चल और सुस्थिर हो, उसपर सब ओरसे प्रहार करे। उसका भेदन और छेदन करे तथा उसे सर्वथा पीड़ा पहुँचाये॥ १७-१८ ॥

कर्मयोगके विधानका ज्ञाता पुरुष इस प्रकार समझ-बूझकर उचित विधिका आचरण (अनुष्ठान) करे। जिसने मन, नेत्र और दृष्टिके द्वारा लक्ष्यके साथ एकता-स्थापनकी कला सीख ली है, वह योद्धा यमराजको भी जीत सकता है। (पाठान्तरके अनुसार वह श्रमको जीत लेता है—युद्ध करते-करते थकता नहीं।)॥ १९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका कथन' नामक दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५० ॥

दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय

पाशके निर्माण और प्रयोगकी विधि तथा तलवार और लाठीको अपने पास रखने एवं शत्रुपर चलानेकी उपयुक्त पद्धतिका निर्देश

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! जिसने हाथ, मन और दृष्टिको जीत लिया है, ऐसा लक्ष्यसाधक नियत सिद्धिको पाकर युद्धके लिये वाहनपर आरूढ़ हो। 'पाश' दस हाथ बड़ा, गोलाकार और हाथके लिये सुखद होना चाहिये। इसके लिये अच्छी मूँज, हरिणकी ताँत अथवा आकके छिलकोंकी डोरी तैयार करानी चाहिये। इनके सिवा अन्य सुदृढ़ (पट्टसूत्र आदि) वस्तुओंका भी सुन्दर पाश बनाया जा सकता है। उक्त सूत्रों या रस्सियोंको कई आवृत्ति लपेटकर खूब बट ले। विज्ञ पुरुष तीस आवृत्ति करके बटे हुए सूत्र या रस्सीसे ही पाशका निर्माण करे॥ १—३ ॥

शिक्षकोंको पाशकी शिक्षा देनेके लिये कक्षाओंमें स्थान बनाना चाहिये। पाशको बायें हाथमें लेकर दाहिने हाथसे उधेड़े। उसे कुण्डलाकार बना, सब ओर घुमाकर शत्रुके मस्तकके ऊपर फेंकना चाहिये। पहले तिनकेके बने और चमड़ेसे मढ़े हुए पुरुषपर उसका प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् उछलते-कूदते और जोर-जोरसे चलते हुए मनुष्योंपर सम्यक्‌रूपसे विधिवत् प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर लेनेपर ही पाशका प्रयोग करे। सुशिक्षित योद्धाको पाशद्वारा यथोचित रीतिसे जीत लेनेपर ही शत्रुके प्रति पाश-बन्धनकी क्रिया करनी चाहिये॥ ४—६½ ॥

तदनन्तर कमरमें म्यानसहित तलवार बाँधकर उसे बायीं ओर लटका ले और उसकी म्यानको बायें हाथसे दृढ़ताके साथ पकड़कर दायें हाथसे तलवारको बाहर निकाले। उस तलवारकी चौड़ाई छः अंगुल और लंबाई या ऊँचाई सात हाथकी हो॥ ७-८ ॥

लोहेकी बनी हुई कई शलाकाएँ और नाना प्रकारके कवच अपने आधे या समूचे हाथमें लगा ले; अगल-बगलमें और ऊपर-नीचे भी शरीरकी रक्षाके लिये इन सब वस्तुओंको विधिवत् धारण करे॥ ९ ॥

युद्धमें विजयके लिये जिस विधिसे जैसी योजना बनानी चाहिये, वह बताता हूँ, सुनो। तूणीरके चमड़ेसे मढ़ी हुई एक नयी और मजबूत लाठी अपने पास रख ले। उस लाठीको दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे उठाकर वह जिसके ऊपर जोरसे आघात करेगा, उस शत्रुका अवश्य नाश हो जायगा। इस क्रियामें सिद्धि मिलनेपर वह दोनों हाथोंसे लाठीको शत्रुके ऊपर गिरावे। इससे अनायास ही वह उसका वध कर सकता है। इस तरह युद्धमें सिद्धिकी बात बतायी गयी। रणभूमिमें भलीभाँति संचरणके लिये अपने वाहनोंसे श्रम कराते रहना चाहिये, यह बात तुम्हें पहले बतायी गयी है॥ १०—१२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका कथन' नामक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५१ ॥

दो सौ बावनवाँ अध्याय

तलवारके बत्तीस हाथ, पाश, चक्र, शूल, तोमर, गदा, परशु, मुद्गर, भिन्दिपाल, वज्र, कृपाण, क्षेपणी, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्धके दाँव और पैंतरोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन् ! भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, विप्लुत, प्लुत (या सृत), सम्पात, समुदीर्ण, श्येनपात, आकुल, उद्धूत, अवधूत, सव्य, दक्षिण, अनालक्षित, विस्फोट, करालेन्द्र, महासख, विकराल, निपात, विभीषण, भयानक, समग्र, अर्ध, तृतीयांश, पाद, पादार्ध, वारिज, प्रत्यालीढ़, आलीढ़, वराह और लुलित—ये रणभूमिमें दिखाये जानेवाले ढाल तलवारके बत्तीस हाथ (या चलानेके ढंग) हैं; इन्हें जानना चाहिये ॥ १-४ ॥

परावृत्त, अपावृत्त, गृहीत, लघु, ऊर्ध्वक्षिप्त, अधःक्षिप्त, संधारित, विधारित, श्येनपात, गजपात और ग्राह-ग्राह्य—ये युद्धमें 'पाश' फेंकनेके ग्यारह प्रकार हैं ॥ ५-६ ॥

ऋजु, आयत, विशाल, तिर्यक् और भ्रामित—ये पाँच कर्म 'व्यस्तपाश'के लिये महात्माओंने बताये हैं ॥ ७ ॥

छेदन, भेदन, पात, भ्रमण, शमन, विकर्तन तथा कर्तन—ये सात कर्म 'चक्र'के हैं ॥ ८ ॥

आस्फोट, क्ष्वेडन, भेद, त्रास, आन्दोलितक और आघात—ये छः 'शूल'के कर्म जानो ॥ ९ ॥

द्विजोत्तम ! दृष्टिघात, भुजाघात, पार्श्वघात, ऋजुपात, पक्षपात और इषुपात—ये 'तोमर' के कार्य कहे गये हैं ॥१०॥

विप्रवर ! आहत, विद्दृत, प्रभूत, कमलासन, ततोर्ध्वगात्र, नमित, वामदक्षिण, आवृत्त, परावृत्त, पादोद्धूत, अवप्लुत, हंसमर्द (या हंसमार्ग) तथा विमर्द—ये 'गदा-सम्बन्धी' कर्म कहे गये हैं ॥ ११-१२ ॥

कराल, अवघात, दंशोपप्लुत, क्षिप्तहस्त, स्थित और शून्य—ये 'फरसे'के कर्म समझने चाहिये ॥ १३ ॥

विप्रवर ! ताड़न, छेदन, चूर्णन, प्लवन तथा घातन—ये 'मुद्गर'के कर्म हैं ॥ १४ ॥

संश्रान्त, विश्रान्त, गोविसर्ग तथा सुदुर्धर—ये 'भिन्दिपाल'के कर्म हैं और 'लगुड'के भी वे ही कर्म बताये गये हैं ॥१५॥

द्विजोत्तम ! अन्त्य, मध्य, परावृत्त तथा निदेशान्त—ये 'वज्र' और 'पट्टिश'के कर्म हैं ॥ १६ ॥

हरण, छेदन, घात, भेदन, रक्षण, पातन तथा स्फोटन—ये 'कृपाण'के कर्म कहे गये हैं ॥ १७ ॥

त्रासन, रक्षण, घात, बलोद्धरण और आयत—ये 'क्षेपणी' (गोफन) के कार्य कहे गये हैं। ये ही 'यन्त्र'के भी कर्म हैं ॥ १८ ॥

संत्याग, अवदंश, वराहोद्धूतक, हस्तावहस्त, आलीन, एकहस्त, अवहस्तक, द्विहस्त, बाहुपाश, कटिरेचितक, उद्गत, उरोघात, ललाटघात, भुजाविधमन, करोद्धूत, विमान, पादाहति, विपादिक, गात्रसंश्लेषण, शान्त, गात्रविपर्यय, ऊर्ध्वप्रहार, घात, गोमूत्र, सव्य, दक्षिण, पारक, तारक, दण्ड (गण्ड), कबरीबन्ध, आकुल, तिर्यग्बन्ध, अपामार्ग, भीमवेग, सुदर्शन, सिंहाक्रान्त, गजाक्रान्त और गर्दभाक्रान्त—ये 'गदायुद्ध'के हाथ जानने चाहिये। अब 'मल्लयुद्ध'के दाव-पेंच बताये जाते हैं ॥ १९-२३½ ॥

आकर्षण, विकर्षण, बाहुमूल, ग्रीवाविपरिवर्त, सुदारुण पृष्ठभङ्ग, पर्यासन, विपर्यास, पशुमार, अजाविक, पादप्रहार, आस्फोट, कटिरेचितक, गात्राश्लेष, स्कन्धगत, महीव्याजन, उरोल्लाटघात, विसपष्टकरण, उद्धूत, अवधूत, तिर्यङ्मार्गगत, गजस्कन्ध, अवक्षेप, अपराङ्मुख, देवमार्ग, अधोमार्ग, अमार्गगमनाकुल, यष्टिघात, अवक्षेप, वसुधादारण, जानुबन्ध, भुजाबन्ध, सुदारुण गात्रबन्ध, विपृष्ठ, सोदक, श्वभ्र तथा भुजावेष्टित ॥ २४-२९½ ॥

युद्धमें कवच धारण करके, अस्त्र-शस्त्रसे सम्पन्न हो, हाथी आदि वाहनोंपर चढ़कर उपस्थित होना चाहिये। हाथीपर उत्तम अङ्कुश धारण किये दो महावत या चालक रहने चाहिये। उनमेंसे एक तो हाथीकी गर्दनपर सवार हो और दूसरा उसके कंधेपर। इनके अतिरिक्त सवारोंमें दो धनुर्धर होने चाहिये और दो खड्गधारी ॥ ३०-३१ ॥

प्रत्येक रथ और हाथीकी रक्षाके लिये तीन-तीन घुड़सवार सैनिक रहें तथा घोड़ेकी रक्षाके लिये तीन-तीन धनुर्धर पैदल-सैनिक रहने चाहिये। धनुर्धरकी रक्षाके लिये चर्म या ढाल

लिये रहनेवाले योद्धाकी नियुक्ति करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

जो प्रत्येक शस्त्रका उसके अपने मन्त्रोंसे पूजन करके 'त्रैलोक्यमोहन-कवच' का पाठ करनेके अनन्तर युद्धमें जाता है, वह शत्रुओंपर विजय पाता और भूतलकी रक्षा करता है। (पाठान्तरके अनुसार शत्रुओंपर विजय पाता और उन्हें निश्चय ही मार गिराता है।) ॥ ३३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका कथन' नामक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

दो सौ तिरपनवाँ अध्याय

व्यवहारशास्त्र तथा विविध व्यवहारोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं व्यवहारका वर्णन करता हूँ, जो नय और अनयका विवेक प्रदान करनेवाला है। उसके चार चरण, चार स्थान और चार साधन बतलाये गये हैं। वह चारका हितकारी, चारमें व्याप्त और चारका कर्ता कहा जाता है। वह आठ अङ्ग, अठारह पद, सौ शाखा, तीन योनि, दो अभियोग, दो द्वार और दो गतियोंसे युक्त है ॥ १-२½ ॥

धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन—ये व्यवहार-दर्शनके चार चरण हैं। इनमें उत्तरोत्तर पाद पूर्व-पूर्व पादके साधक हैं। इन सबमें 'धर्म'का आधार सत्य है, 'व्यवहार' का आधार साक्षी (गवाह) है, 'चरित्र' पुरुषोंके संग्रहपर आधारित है और 'शासन' राजाकी आज्ञापर अवलम्बित है। साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार उपायोंसे साध्य होनेके कारण वह 'चार साधनोंवाला' है। चारों आश्रमोंकी रक्षा करनेसे वह 'चतुर्हित' है। अभियोक्ता, साक्षी, सभासद और राजा—इनमें एक-एक चरणसे उसकी स्थिति है—इसलिये उसे 'चतुर्व्यापी' माना गया है। वह धर्म, अर्थ, यश और लोकप्रियता—इन चारोंकी वृद्धि करनेवाला होनेसे 'चतुष्कारी' कहा जाता है राजपुरुष, सभासद, शास्त्र, गणक, लेखक, सुवर्ण, अग्नि और जल—इन आठ अङ्गोंसे युक्त होनेके कारण वह 'अष्टाङ्ग' है। काम, क्रोध और लोभ—इन तीन कारणोंसे मनुष्यकी इसमें प्रवृत्ति होती है, इसीलिये व्यवहारको 'त्रियोनि' कहा जाता है; क्योंकि ये तीनों ही विवाद करानेवाले हैं। अभियोगके दो भेद हैं—(१) शङ्काभियोग और (२) तत्त्वाभियोग। इसी दृष्टिसे वह दो अभियोगवाला है। 'शङ्का' असत् पुरुषोंके संसर्गसे होती है और 'तत्त्वाभियोग' होढा (चिह्न या प्रमाण) देखनेसे होता है। यह दो पक्षोंसे सम्बन्धित होनेके कारण 'दो द्वारोंवाला' कहा जाता है। इनमें पूर्ववादी[1] 'पक्ष' और उत्तरवादी[2] 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। 'भूत' और 'छल'—इनका अनुसरण करनेसे यह दो गतियोंसे युक्त माना जाता है ॥ ३-१२ ॥

कैसा ऋण देय है, कैसा ऋण अदेय है—कौन दे, किस समय दे, किस प्रकारसे दे, ऋण देनेकी विधि या पद्धति क्या है तथा उसे लेने या वसूल करनेका विधान क्या है? इन सब बातोंका विचार[3] 'ऋणादान' कहा गया है। जब कोई मनुष्य किसीपर विश्वास करके शङ्कारहित होकर उसके पास अपना कोई द्रव्य धरोहरके तौरपर देता है, तब उसे विद्वान् लोग 'निक्षेप' नामक व्यवहारपद कहते हैं। जब वणिक् आदि अनेक मनुष्य मिलकर सहकारिता या साझेदारीके तौरपर कोई कार्य करते हैं तो उसको 'सम्भूय-समुत्थान' संज्ञक विवादपद बतलाते हैं। यदि कोई मनुष्य पहले विधिपूर्वक किसी द्रव्यका दान देकर पुनः उसे रख

१. अभियोगका उपस्थापक या 'मुद्दई'।

२. अभियोगका प्रतिवादी या 'मुद्दालेह'।

३. ऋणादानके सात प्रकार हैं—१—अमुक प्रकारका ऋण 'देय' है, २—अमुक प्रकारका ऋण 'अदेय' है, ३—अमुक अधिकारीको ऋण देनेका अधिकार है, ४—अमुक समयमें ऋण देना चाहिये, ५—इस प्रकारसे ऋण दिया जाना चाहिये—ये पाँच अधमर्ण (ऋण लेनेवाले) व्यक्तिको लक्ष्य करके विचारणीय हैं और शेष दो बातें साहूकारके लिये विचारणीय हैं—६—साहूकार किस विधानसे ऋण दे तथा ७—किस विधानसे उसको वसूल करे। इन्हीं सातों बातोंको इस श्लोकमें स्पष्ट किया गया है। 'नारद-स्मृति'में भी इसका इसी रूपमें उल्लेख हुआ है। इन सब बातोंके विचार-पूर्वक जो ऋणका आदान-प्रदान होता है, उसे 'ऋणादान' नामक व्यवहारपद समझना चाहिये।

लेनेकी इच्छा करे, तो वह **'दत्ताप्रदानिक'** नामक विवादपद कहा जाता है। जो सेवा स्वीकार करके भी उसका सम्पादन नहीं करता या उपस्थित नहीं होता, उसका यह व्यवहार **'अभ्युपेत्य अशुश्रूषा'** नामक विवादपद होता है। भृत्योंको वेतन देने-न-देनेसे सम्बन्ध रखनेवाला विवाद **'वेतनानपाकर्म'** माना गया है। धरोहरमें रक्खे हुए या खोये हुए पराये द्रव्यको पाकर अथवा चुराकर स्वामीके परोक्षमें बेचा जाय तो यह **'अस्वामिविक्रय'** नामक विवादपद है। यदि कोई व्यापारी किसी पण्य-द्रव्यका मूल्य लेकर विक्रय कर देनेके बाद भी खरीददारको वह द्रव्य नहीं देता है तो उसको **'विक्रीयासम्प्रदान'** नामक विवादपद कहा जाता है। यदि ग्राहक किसी वस्तुका मूल्य देकर खरीदनेके बाद उस वस्तुको ठीक नहीं समझता, तो उसका यह आचरण **'क्रीतानुशय'** नामक विवादपद कहलाता है। यदि ग्राहक या खरीददार मूल्य देकर वस्तुको खरीद लेनेके बाद यह समझता है कि यह खरीददारी ठीक नहीं है, (अतः वह वस्तु लौटाकर दाम वापस लेना चाहता है) तो उसी दिन यदि वह लौटा दे तो विक्रेता उसका मूल्य पूरा-पूरा लौटा दे; उसमें काट-छाट न करे[4] ॥१२--२१॥

पाखण्डी और नैगम आदिकी स्थितिको 'समय' कहते हैं। इससे सम्बद्ध विवादपदको **'समयानपाकर्म'** कहा जाता है। (याज्ञवल्क्यने इसे **'संविद्-व्यतिक्रम'** नाम दिया है।) क्षेत्रके अधिकारको लेकर सेतु, केदार (मेड़) और क्षेत्र सीमाके घटने-बढ़नेके विषयमें जो विवाद होता है, वह **'क्षेत्रज'** कहा गया है। जो स्त्री और पुरुषके विवाहादिसे सम्बन्धित विवादपद हैं, उसे **'स्त्री-पुंस योग'** कहते हैं। पुत्रगण पैतृक धनका जो विभाजन करते हैं, विद्वानोंने उसको **'दायभाग'** नामक व्यवहार-पद माना है। बलके अभिमानसे जो कर्म सहसा किया जाता है, उसे **'साहस'** नामक विवादपद बतलाया गया है। किसीके देश, जाति एवं कुल आदिपर दोषारोपण करके प्रतिकूल अर्थसे युक्त व्यंग्यपूर्ण वचन कहना **'वाक्-पारुष्य'** माना गया है। दूसरेके शरीरपर हाथ-पैर या आयुधसे प्रहार अथवा अग्नि आदिसे आघात करना **'दण्ड-पारुष्य'** कहलाता है। पासे, वध्र (चमड़ेकी पट्टी) और शलाका (हाथीदाँतकी गोटियाँ) से जो क्रीडा होती है, उसको **'द्यूत'** कहा जाता है। (घोड़े आदि) पशुओं और (बटेर आदि) पक्षियोंसे होनेवाली क्रीडाको **'प्राणिद्यूत'** समझना चाहिये। राजाकी आज्ञाका उल्लङ्घन और उसका कार्य न करना यह **'प्रकीर्णक'** नामक व्यवहारपद जानना चाहिये। यह विवादपद राजापर आश्रित है। इस प्रकार व्यवहार अठारह पदोंसे युक्त है। इनके भी सौ भेद माने गये हैं। मनुष्योंकी क्रियाके भेदसे यह सौ शाखाओंवाला कहा जाता है ॥ २२--३१ ॥

राजा क्रोधरहित होकर ज्ञान-सम्पन्न ब्राह्मणोंके साथ व्यवहारका विचार करे और ऐसे मनुष्योंको सभासद बनाये, जो वेदवेत्ता, लोभरहित और शत्रु एवं मित्रको समान दृष्टिसे देखनेवाले हों। यदि राजा कार्यवश स्वयं व्यवहारका विचार न कर सके तो सभासदोंके साथ विद्वान् ब्राह्मणको नियुक्त करे। यदि सभासद राग, लोभ या भयसे धर्मशास्त्र एवं आचारके विरुद्ध कार्य करे, तो राजा प्रत्येक सभासदपर अलग-अलग विवादसे दुगुना अर्थदण्ड करे। यदि कोई मनुष्य दूसरोंके द्वारा धर्मशास्त्र और समयाचारके विरुद्ध मार्गसे धर्षित किया गया हो और वह राजाके समीप आवेदन

---

४. 'नारदस्मृति'में भी इन श्लोकोंका ठीक ऐसा ही पाठ है। वहाँ इस विषयमें कुछ अधिक बातें बतायी गयी हैं, जो इस प्रकार हैं—

द्वितीयेऽह्नि ददत् क्रेता मूल्यात् त्रिंशांशमाहरेत्।
द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत् ॥

'यदि ग्राहक नापसंद माल [पहले ही दिन न लौटाकर] दूसरे दिन लौटावे तो वह वस्तुके पूरे मूल्यका $\frac{1}{3}$ अर्थात् ३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत हरजानाके तौरपर विक्रेताको दे। यदि वह तीसरे दिन लौटाये तो इससे दूनी रकम हर्जानेके तौरपर दे। इसके बाद 'अनुशय' का अधिकार समाप्त हो जाता है। फिर तो ग्राहकको माल लेना ही पड़ेगा।'

याज्ञवल्क्य और मिताक्षराकारकी दृष्टिमें यह नियम बीज आदिसे भिन्न वस्तुओंपर लागू होता है। बीज, लोहा, बैल-घोड़े आदि वाहन, मोती-मूँगा आदि रत्न, दासी, दूध देनेवाली भैंस आदि तथा दास—इनके परीक्षणका काल अधिक है। यथा—बीजके परीक्षणका समय दस दिन, लोहेके एक दिन, बैल आदिके पाँच दिन, रत्नके एक सप्ताह, दासीके एक मास, दूध देनेवाली भैंस आदिके तीन दिन तथा दासके परीक्षणका समय पंद्रह दिनतक है। इस समयके भीतर ही ये ठीक न जँचें तो इनको लौटाया जा सकता है; अन्यथा नहीं। मनुने गृह, क्षेत्र आदि वस्तुओंको दस दिनके अंदर ही लौटानेका आदेश दिया है। इसके बाद लौटानेका अधिकार नहीं रह जाता है।

करे तो उसको 'व्यवहार' (पैद) कहते हैं । वादीने जो निवेदन किया हो, राजा उसको वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदिसे चिह्नित करके प्रतिवादीके सामने लिख ले।[1] (वादीके आवेदन या बयानको 'भाषा', 'प्रतिज्ञा' अथवा 'पक्ष' कहते हैं ।) प्रतिवादी वादीका आवेदन सुनकर उसके सामने ही उसका उत्तर[2] लिखावे । तब वादी उसी समय अपने निवेदनका प्रमाण लिखावे । निवेदनके प्रमाणित हो जानेपर वादी जीतता है, अन्यथा पराजित हो जाता है ॥ ३२–३७ ॥

इस प्रकार विवादमें चार पाद (अंश[3]) से युक्त व्यवहार दिखाया गया है । जबतक अभियुक्तके वर्तमान अभियोगका निर्णय (फैसला) न हो जाय, तबतक उसके ऊपर दूसरे अपराधका मामला न चलाये । जिसपर किसी दूसरेने अभियोग कर दिया हो, उसपर भी कोई वादी दूसरा अभियोग न चलावे । आवेदनके समय जो कुछ कहा गया हो, अपने उस कथनके विपरीत (विरुद्ध) कुछ न कहे । (हिंसा आदि) का अपराध बन जाय तो पूर्व अभियोगका फैसला होनेके पहले ही मामला चलाया जा सकता है ॥३८-३९॥

सभासदोंसहित सभापति या प्राड्विवाकको चाहिये कि वह वादी और प्रतिवादी दोनोंके सभी विवादोंमें जो निर्णयका कार्य है, उसके सम्पादनमें समर्थ पुरुषको 'प्रतिभू' बनावे ।[4] अर्थीके द्वारा लगाये गये अभियोगको यदि प्रत्यर्थीने अस्वीकार कर दिया और अर्थीने गवाही आदि देकर अपने दावेको पुनः उससे स्वीकार करा लिया, तब प्रत्यर्थी अर्थीको अभियुक्त धन दे और दण्डस्वरूप उतना ही धन राजाको भी दे । यदि अर्थी अपने दावेको सिद्ध न कर सका तो स्वयं मिथ्याभियोगी (झूठा मुकदमा चलानेवाला) हो गया; उस दशामें वही अभियुक्त धनराशिसे दूना धन राजाको अर्पित करे ॥४०½ ॥

हत्या या डकैती-चोरी, वाक्पारुष्य (गाली-गलौज), दण्डपारुष्य (निर्दयतापूर्वक की हुई मारपीट), दूध देनेवाली गायके अपहरण, अभिशाप (पातकका अभियोग), अत्यय (प्राणघात) एवं धनातिपात तथा स्त्रियोंके चरित्र-सम्बन्धी विवाद प्राप्त होनेपर तत्काल अपराधीसे उत्तर माँगे, विलम्ब न करे । अन्य प्रकारके विवादोंमें उत्तरदानका समय वादी, प्रतिवादी, सभासद् तथा प्राड्विवाककी इच्छाके अनुसार रक्खा जा सकता है ॥ ४१½ ॥

[दुष्टोंकी पहचान इस प्रकार करे—] अभियोगके विषयमें बयान या गवाही देते समय जो एक जगहसे दूसरी जगह जाता-आता है, स्थिर नहीं रह पाता, दोनों गलफर चाटता है, जिसके भाल-देशमें पसीना हुआ करता है, चेहरेका रंग फीका पड़ जाता है, गला सूखनेसे वाणी अटकने लगती है, जो बहुत तथा पूर्वापर-विरुद्ध बातें कहा करता है, जो दूसरेकी बातका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाता और किसीसे दृष्टि नहीं मिला पाता है, जो ओठ टेढ़े-मेढ़े किया करता है, इस प्रकार जो स्वभावसे ही मन, वाणी, शरीर तथा क्रिया-सम्बन्धी विकारको प्राप्त होता है, वह 'दुष्ट' कहा गया है ॥४२-४३½ ॥

जो संदिग्ध अर्थको, जिसे अधमर्णने अस्वीकार कर दिया है, बिना किसी साधनके मनमाने ढंगसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है तथा जो राजाके बुलानेपर उसके समक्ष कुछ भी नहीं कह पाता है, वह भी हीन और दण्डनीय माना गया है ॥ ४४½ ॥

दोनों वादियोंके पक्षोंके साधक साक्षी मिलने सम्भव हो तो पूर्ववादीके साक्षियोंसे ही पूछे, अर्थात् उन्हींकी गवाही ले । जो वादीके उत्तरमें यह कहे कि 'मैंने बहुत पहले इस क्षेत्रको दानमें पाया था और तभीसे यह हमारे उपयोगमें है', वही यहाँ पूर्ववादी है; जिसने पहले अभियोग दाखिल किया है, वह नहीं । यदि कोई यह कहे कि 'ठीक है कि यह सम्पत्ति इसे दानमें मिली थी और इसने इसका उपयोग भी किया है, तथापि इसके यहाँसे अमुकने वह क्षेत्र-सम्पत्ति खरीद ली

---

१. मिताक्षराकारने व्यवहारके सात अङ्ग बताये हैं । यथा—प्रतिज्ञा, उत्तर, संशय, हेतु-परामर्श, प्रमाण, निर्णय एवं प्रयोजन ।

२. उत्तरके चार भेद हैं—'सम्प्रतिपत्ति', 'मिथ्या', 'प्रत्यवस्कन्दन' तथा 'प्राङ्न्याय' । उत्तर वह अच्छा माना गया है, जो पक्षके खण्डनमें समर्थ, न्यायसंगत, संदेहरहित, पूर्वापर-विरोधसे वर्जित तथा सुबोध हो—उसे समझनेके लिये व्याख्या अथवा टीका-टिप्पणी न करनी पड़े ।

३. १–भाषापाद, २–उत्तरपाद, ३–क्रियापाद और ४–साध्य-सिद्धिपाद ।

४. प्रतिभूके अभावमें वेतन देकर रक्षक-पुरुषोंकी नियुक्ति करनी चाहिये । जैसा कि कात्यायनका कथन है—

अथ चेत् प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोगस्तु वादिनः ।
स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद् भृत्याय वेतनम् ॥

और उसने 'पुनः इसे मुझको दे दिया' तब पूर्वपक्ष असाध्य होनेके कारण दुर्बल पड़ जाता है। ऐसा होनेपर उत्तरवादीके साक्षी ही प्रष्टव्य हैं; उन्हींकी गवाही ली जानी चाहिये॥४५½॥

यदि विवाद किसी शर्तके साथ किया गया हो, अर्थात् यदि किसीने कहा हो कि 'यदि मैं अपना पक्ष सिद्ध न कर सकूँ तो पाँच सौ पण अधिक दण्ड दूँगा, तब यदि वह पराजित हो जाय तो उसके पूर्वकृत पणरूपी दण्डका धन राजाको दिलवावे। परंतु जो अर्थी धनी है, उसे राजा विवादका आस्पदभूत धन ही दिलवावे॥ ४६½॥

राजा छल छोड़कर वास्तविकताका आश्रय ले व्यवहारोंका अन्तिम निर्णय करे। यथार्थ वस्तु भी यदि लेखबद्ध न हुई हो तो व्यवहारमें वह पराजयका कारण बनती है। सुवर्ण, रजत और वस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ अर्थीके द्वारा अभियोग-पत्रमें लिखा दी गयी हैं, परंतु प्रत्यर्थी उन सबको अस्वीकार कर देता है, उस दशामें यदि साक्षी आदिके प्रमाणसे एक वस्तुको भी प्रत्यर्थीने स्वीकार कर लिया, तब राजा उससे अभियोग-पत्रमें लिखित सारी वस्तुएँ दिलवाये। यदि कोई वस्तु पहले नहीं लिखायी गयी और बादमें उसकी भी वस्तु-सूचीमें चर्चा की गयी हो तो उसको राजा नहीं दिलवावे। यदि दो स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्र-वचनोंमें परस्पर विरोधकी प्रतीति होती हो तो उस विरोधको दूर करनेके लिये विषय-व्यवस्थापना आदिमें उत्सर्गापवाद-लक्षण न्यायको बलवान् समझना चाहिये। एक वाक्य उत्सर्ग या सामान्य है और दूसरा अपवाद अथवा विशेष है, अतः अपवाद उत्सर्गका बाधक हो जाता है। उस न्यायकी प्रतीति कैसे होगी? व्यवहारसे। अन्वय-व्यतिरेक-लक्षण जो वृद्धव्यवहार है, उससे उक्त न्यायका अवगमन हो जायगा। इस कथनका भी अपवाद है। अर्थ-शास्त्र और धर्मशास्त्रके वचनोंमें विरोध होनेपर अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र ही बलवान् है; यह ऋषि-मुनियोंकी बाँधी मर्यादा है॥ ४७–४९½॥

[अर्थी या वादी पुरुष सप्रमाण अभियोग-पत्र उपस्थित करे, यह बात पहले कही गयी है। प्रमाण दो प्रकारका होता है—'मानुष-प्रमाण' और 'दैविक-प्रमाण'। 'मानुष-प्रमाण' तीन प्रकारका होता है, वही यहाँ बताया जाता है—] लिखित, भुक्ति और साक्षी—ये तीन 'मानुष-प्रमाण' कहे गये हैं। (लिखितके दो भेद हैं—'शासन' और 'चीरक'। 'शासन' का लक्षण पहले कहा गया है और 'चीरक'का आगे बताया जायगा।) 'भुक्ति'का अर्थ है—उपभोग (कब्जा)। (साक्षियोंके स्वरूप-प्रकार आगे बताये जायँगे।) यदि मानुष-प्रमाणके इन तीनों भेदोंमेंसे एककी भी उपलब्धि न हो तो आगे बताये जानेवाले दिव्य प्रमाणोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करना आवश्यक बताया जाता है॥ ५०½॥

ऋण आदि समस्त विवादोंमें उत्तर क्रिया बलवती मानी गयी है। यदि उत्तर क्रिया सिद्ध कर दी गयी तो उत्तरवादी विजयी होता है और पूर्ववादी अपना पक्ष सिद्ध कर चुका हो तो भी वह हार जाता है। जैसे किसीने सिद्ध कर दिया कि 'अमुकने मुझसे सौ रुपये लिये हैं; अतः वह उतने रुपयोंका देनदार है'; तथापि लेनेवाला यदि यह जवाब लगा दे कि 'मैंने लिया अवश्य था, किंतु अमुक तिथिको सारे रुपये लौटा दिये थे' और यदि उत्तरदाता प्रमाणसे अपना यह कथन सिद्ध कर दे, तो अर्थी या पूर्ववादी पराजित हो जाता है; परंतु 'आधि' (किसी वस्तुको गिरवी रखने), प्रतिग्रह लेने अथवा खरीदनेमें पूर्वक्रिया ही प्रबल होती है। जैसे किसी खेतको उसके मालिकने किसी धनीके यहाँ गिरवी रखकर उससे कुछ रुपये ले लिये। फिर उसी खेतको दूसरेसे भी रुपये लेकर उसने उसके यहाँ गिरवी रख दिया, ऐसे मामलोंमें जहाँ पहले खेतको गिरवी रक्खा है, उसीका स्वत्व प्रबल माना जायगा, दूसरेका नहीं॥ ५१½॥

यदि भूमि-स्वामीके देखते हुए कोई दूसरा उसकी भूमिका उपभोग करता है और वह कुछ नहीं बोलता तो बीस वर्षोंतक ऐसा होनेपर वह भूमि उसके हाथसे निकल जाती है। इसी प्रकार हाथी, घोड़े आदि धनका कोई दस वर्षतक उपभोग करे और स्वामी कुछ न बोले तो वह उपभोक्ता ही उस धनका स्वामी हो जाता है, पहलेके स्वामीको उस धनसे हाथ धोना पड़ता है॥ ५२½॥

आधि, सीमा और निक्षेप-सम्बन्धी धनको, जड और बालकोंके धनको तथा उपनिधि, राजा, स्त्री एवं श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके धनको छोड़कर ही पूर्वोक्त नियम लागू होता है, अर्थात् इनके धनका उपभोग करनेपर भी कोई उस धनका स्वामी नहीं हो सकता। आधिसे लेकर श्रोत्रिय-पर्यन्त धनका चिरकालसे उपभोगके बलपर अपहरण करनेवाले पुरुषसे उस विवादास्पद धनको लेकर राजा धनके असली स्वामीको दिलवा दे और अपहरण करनेवालेसे उस धनके बराबर ही दण्डस्वरूप धन राजाको दिलवाया जाय।

अथवा अपहरणकर्ताकी शक्तिके अनुसार अधिक या कम धन भी दण्डके रूपमें लिया जाय। स्वत्वका हेतुभूत जो प्रतिग्रह और क्रय आदि है, उसको 'आगम' कहते हैं। वह 'आगम' भोगकी अपेक्षा भी अधिक प्रबल माना गया है। स्वत्वका बोध करानेके लिये आगमसापेक्ष भोग ही प्रमाण है। परंतु पिता, पितामह आदिके क्रमसे जिस धनका उपभोग चला आ रहा है, उसको छोड़कर अन्य प्रकारके उपभोगमें ही आगमकी प्रबलता है; पूर्व-परम्परा-प्राप्त भोग तो आगमसे भी प्रबल है; परंतु जहाँ थोड़ा-सा भी उपभोग नहीं है, उस आगममें भी कोई बल नहीं है॥ ५३—५५½॥

विशुद्ध आगमसे भोग प्रमाणित होता है। जहाँ विशुद्ध आगम नहीं है, वह भोग प्रमाणभूत नहीं होता है। जिस पुरुषने भूमि आदिका आगम (अर्जन) किया है, वही 'कहाँसे तुम्हें क्षेत्र आदिकी प्राप्ति हुई'—यह पूछे जानेपर लिखितादि प्रमाणोंद्वारा आगम (प्रतिग्रह आदि जनित अर्जन) का उद्धार (साधन) करे। (अन्यथा वह दण्डका भागी होता है।) उसके पुत्र अथवा पौत्रको आगमके उद्धारकी आवश्यकता नहीं है। वह केवल भोग प्रमाणित करे। उसके स्वत्वकी सिद्धिके लिये परम्परागत भोग ही प्रमाण है॥ ५६-५७½॥

जो अभियुक्त व्यवहारका निर्णय होनेसे पहले ही परलोकवासी हो जाय, उसके धनके उत्तराधिकारी पुत्र आदि ही लिखितादि प्रमाणोंद्वारा उसके धनागमका उद्धार (साधन) करें; क्योंकि उस व्यवहार (मामले) में आगमके बिना केवल भोग प्रमाण नहीं हो सकता॥ ५८½॥

जो मामले बलात्कारसे अथवा भय आदि उपाधिके कारण चलाये गये हों, उन्हें लौटा दे। इसी प्रकार जिसे केवल स्त्रीने चलाया हो, जो रातमें प्रस्तुत किया गया हो, घरके भीतर घटित घटनासे सम्बद्ध हो अथवा गाँव आदिके बाहर निर्जन स्थानमें किया गया हो तथा किसी शत्रुने अपने द्वेषपात्रपर कोई अभियोग लगाया हो—इस तरहके व्यवहारोंको न्यायालयमें विचारके लिये न ले—लौटा दे॥ ५९½॥

[अब यह बताते हैं कि किनका चलाया हुआ अभियोग सिद्ध नहीं होता—] जो मादक द्रव्य पीकर मत्त हो गया हो, वात, पित्त, कफ, सन्निपात अथवा ग्रहावेशके कारण उन्मत्त हो, रोग आदिसे पीड़ित हो, इष्टके वियोग अथवा अनिष्टकी प्राप्तिसे दुःखमग्न हो, नाबालिग हो और शत्रु आदिसे डरा हुआ हो, ऐसे लोगोंद्वारा चलाया हुआ व्यवहार 'असिद्ध' माना गया है। जिनका अभियुक्त-वस्तुसे कोई सम्बन्ध न हो, ऐसे लोगोंका चलाया हुआ व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता (विचारणीय नहीं समझा जाता)॥६०½॥

यदि किसीका चोरोंद्वारा अपहृत सुवर्ण आदि धन शौल्किक (टैक्स लेनेवाले) तथा स्थानपाल आदि राजकर्म-चारियोंको प्राप्त हो जाय और राजाको समर्पित किया जाय तो राजा उसके स्वामी—धनाधिकारीको वह धन लौटा दे। यह तभी करना चाहिये, जब धनका स्वामी खोयी हुई वस्तुके रूप, रंग और संख्या आदि चिह्न बताकर उसपर अपना स्वत्व सिद्ध कर सके। यदि वह चिह्नोंद्वारा उस धनको अपना सिद्ध न कर सके तो मिथ्यावादी होनेके कारण उससे उतना ही धन दण्डके रूपमें वसूल करना चाहिये॥६१½॥

राजाको चाहिये कि वह चोरोंद्वारा चुराया हुआ द्रव्य उसके अधिकारी राज्यके नागरिकको लौटा दे। यदि वह नहीं लौटाता है तो जिसका वह धन है, उसका सारा पाप राजा अपने ऊपर ले लेता है॥ ६२॥

[अब ऋणादान-सम्बन्धी व्यवहारपर विचार करते हैं—] यदि कोई वस्तु बन्धक रखकर ऋण लिया जाय तो ऋणमें लिये हुए धनका $\frac{1}{80}$ भाग प्रतिमास ब्याज धर्मसंगत होता है; अन्यथा बन्धकरहित ऋण देनेपर ब्राह्मणादि वर्णोंके क्रमसे प्रतिशत कुछ-कुछ अधिक ब्याज लेना भी धर्मसम्मत है। अर्थात् ब्राह्मणसे जितना ले क्षत्रियसे, वैश्यसे और शूद्रसे क्रमशः उससे कुछ-कुछ अधिक प्रतिशत सूद या वृद्धिकी रकम ली जा सकती है॥ ६३॥

ऋणके रूपमें प्रयुक्त मादा पशुओंके लिये वृद्धिके रूपमें उसकी संतति ही ग्राह्य है। तेल, घी आदि रस-द्रव्य किसीके यहाँ चिरकालतक रह गया और बीचमें यदि उसकी वृद्धि (सूद—वृद्धिकी रकम) नहीं ली गयी तो वह बढ़ते-बढ़ते आठगुनातक हो सकती है। इससे आगे उसपर वृद्धि नहीं लगायी जाती। इसी प्रकार वस्त्र, धान्य तथा सुवर्ण—इनकी क्रमशः चौगुनी, तिगुनी और दुगुनी तक वृद्धि हो सकती है, इससे आगे नहीं॥ ६४॥

व्यापारके लिये दुर्गम वनप्रदेशको लाँघकर यात्रा करनेवाले लोग ऋणदाताको दस प्रतिशत ब्याज दें और जो समुद्रकी यात्रा करनेवाले हैं, वे बीस प्रतिशत वृद्धि प्रदान करें। अथवा सभी वर्णके लोग अबन्धक या सबन्धक ऋणमें अपने लिये धनके स्वामीद्वारा नियत की हुई वृद्धि सभी जातियोंके लिये दें ॥ ६५ ॥

ऋण लेनेवाले पुरुषने पहले जो धन लिया है और जो साक्षी आदिके द्वारा प्रमाणित है, उसको वसूल करनेवाला धनी राजाके लिये वाच्य (निवारणीय) नहीं होता; अर्थात् राजा उस न्यायसंगत धनको वसूल करनेसे उस ऋणदाताको न रोके। (यदि वह अप्रमाणित या अदत्त धनकी वसूली करता है तो वह अवश्य राजाके द्वारा निवारणीय है।) जो पूर्वोक्त रूपसे न्यायसंगत धनकी वसूली करनेपर भी ऋणदाताके विरुद्ध शिकायत लेकर राजाके पास जाय, वह राजाके द्वारा दण्ड पानेके योग्य है। राजा उससे वह धन अवश्य दिलवावे ॥ ६६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'व्यवहारकथन' नामक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२५३॥

दो सौ चौवनवाँ अध्याय

ऋणादान तथा उपनिधि-सम्बन्धी विचार

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यदि ऋण लेनेवाले पुरुषके अनेक ऋणदाता साहु हों और वे सब-के-सब एक ही जातिके हों तो राजा उन्हें ग्रहणक्रमके अनुसार ऋण लेनेवालेसे धन दिलवावे। अर्थात् जिस धनीने पहले ऋण दिया हो, उसे पहले और जिसने बादमें दिया हो, उसे बादमें ऋणग्राही पुरुष ऋण लौटाये। यदि ऋणदाता धनी अनेक जातिके हों तो ऋणग्राही पुरुष सबसे पहले ब्राह्मण-धनीको धन देकर उसके बाद क्षत्रिय आदिको देय-धन अर्पित करे। राजाको चाहिये कि वह ऋण लेनेवालेसे उसके द्वारा गृहीत धनके प्रमाणद्वारा सिद्ध हो जानेपर दस प्रतिशत धन दण्डके रूपमें वसूल करे तथा जिसने अपना धन वसूल कर लिया है, उस ऋणदाता पुरुषसे पाँच प्रतिशत धन ग्रहण कर ले और उस धनको न्यायालयके कर्मचारियोंके भरण-पोषणमें लगावे ॥ १-२ ॥

यदि ऋण लेनेवाला पुरुष ऋणदाताकी अपेक्षा हीन जातिका हो और निर्धन होनेके कारण ऋणकी अदायगी न कर सके, तब ऋणदाता उससे उसके अनुरूप कोई काम करा ले और इस प्रकार उस ऋणका भुगतान कर ले। यदि ऋण लेनेवाला ब्राह्मण हो और वह भी निर्धन हो गया हो तो उससे कोई काम न लेकर उसे अवसर देना चाहिये और धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसके पास आय हो, वैसे-वैसे (उसके कुटुम्बको कष्ट दिये बिना) ऋणकी वसूली करे। जो वृद्धिके लिये ऋणके रूपमें दिये हुए अपने धनको लोभवश ऋणग्राहीके लौटानेपर भी नहीं लेता है, उसके देय-धनको यदि किसी मध्यस्थके यहाँ रख दिया जाय तो उस दिनसे उसपर वृद्धि नहीं होती—ब्याज नहीं बढ़ता; परंतु उस रखे हुए धनको भी ऋणदाताके माँगनेपर न दिया जाय तो उसपर पूर्ववत् ब्याज बढ़ता ही रहता है ॥ ३-४ ॥

दूसरेका द्रव्य जब खरीद आदिके बिना ही अपने अधिकारमें आता है तो उसे 'रिक्थ' कहते हैं। विभागद्वारा जो उस रिक्थको ग्रहण करता है, वह 'रिक्थग्राह' कहलाता है। जो जिसके द्रव्यको रिक्थके रूपमें ग्रहण करता है, उसीसे उसके ऋणको भी दिलवाया जाना चाहिये। उसी तरह जो जिसकी स्त्रीको ग्रहण करता है, वही उसका ऋण भी दे। रिक्थ-धनका स्वामी यदि पुत्रहीन है तो उसका ऋण वह कृत्रिम पुत्र चुकावे, जो एकमात्र उसीके धनपर जीवन-निर्वाह करता है। संयुक्त परिवारमें समूचे कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये एक साथ रहनेवाले बहुत-से लोगोंने या उस कुटुम्बके एक-एक व्यक्तिने जो ऋण लिया हो, उसे उस कुटुम्बका मालिक दे। यदि वह मर गया या परदेश चला गया तो उसके धनके भागीदार सभी लोग मिलकर वह ऋण चुकावें। पतिके किये हुए ऋणको स्त्री न दे, पुत्रके किये हुए ऋणको माता न दे, पिता भी न दे तथा स्त्रीके द्वारा किये गये ऋणको पति न दे; किंतु यह नियम समूचे कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये किये गये ऋणपर लागू नहीं होता है। ग्वाले, शराब बनानेवाले, नट, धोबी तथा व्याधकी स्त्रियोंने जो ऋण लिया हो, उसे उनके पति अवश्य दें; क्योंकि उनकी वृत्ति (जीविका) उन स्त्रियोंके ही अधीन होती है। यदि पति

मुमूर्षु हो या परदेश जानेवाला हो, उसके द्वारा नियुक्त स्त्रीने जो ऋण लिया हो, वह भी यद्यपि पतिका ही किया हुआ ऋण है, तथापि उसे पत्नीको चुकाना होगा; अथवा पतिके साथ रहकर भार्याने जो ऋण किया हो, वह भी पति और पुत्रके अभावमें उस भार्याको ही चुकाना होगा; जो ऋण स्त्रीने स्वयं किया हो, उसकी देनदार तो वह है ही। इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारके पतिकृत ऋणको चुकानेका भार स्त्रीपर नहीं है ॥ ३-९ ॥

यदि पिता ऋण करके बहुत दूर परदेशमें चला गया, मर गया अथवा किसी बड़े भारी संकटमें फँस गया तो उसके ऋणको पुत्र और पौत्र चुकावें। (पिताके अभावमें पुत्र और पुत्रके अभावमें पौत्र उस ऋणकी अदायगी करे।) यदि वे अस्वीकार करें तो अर्थी न्यायालयमें अभियोग उपस्थित करके साक्षी आदिके द्वारा उस ऋणकी यथार्थता प्रमाणित कर दे। उस दशामें तो पुत्र-पौत्रोंको वह ऋण देना ही पड़ेगा। जो ऋण शराब पीनेके लिये लिया गया हो, परस्त्री-लम्पटताके कारण कामभोगके लिये किया गया हो, जूएमें हारनेपर जो ऋण लिया गया हो, जो धन दण्ड और शुल्कका शेष रह गया हो तथा जो व्यर्थका दान हो, अर्थात् धूर्तों और नट आदिको देनेके लिये किया गया हो, इस तरहके पैतृक ऋणको पुत्र कदापि न दे। भाइयोंके, पति-पत्नीके तथा पिता-पुत्रके अविभक्त धनमें 'प्रातिभाव्य' ऋण और साक्ष्य नहीं माना गया है ॥ १०-१२ ॥

विश्वासके लिये किसी दूसरे पुरुषके साथ जो समय—शर्त या मर्यादा निश्चित की जाती है, उसका नाम है—'प्रातिभाव्य'। वह विषय-भेदसे तीन प्रकारका होता है। जैसे—(१) दर्शनविषयक प्रातिभाव्य। अर्थात् कोई दूसरा पुरुष यह उत्तरदायित्व ले कि जब-जब आवश्यकता होगी, तब-तब इस व्यक्तिको मैं न्यायालयके सामने उपस्थित कर दूँगा अर्थात् दिखाऊँगा—हाजिर कर दूँगा। ('दर्शन-प्रतिभू'को आजकलकी भाषामें 'हाजिर-जामिन' कहते हैं।) (२) प्रत्ययविषयक प्रातिभाव्य। 'प्रत्यय' कहते हैं विश्वासको। 'विश्वास-प्रतिभू'को 'विश्वास-जामिन' कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि 'आप मेरे विश्वासपर इसको धन दीजिये, यह आपको ठगेगा नहीं; क्योंकि यह अमुकका बेटा है। इसके पास उपजाऊ भूमि है और इसके अधिकारमें एक बड़ा-सा गाँव भी है' इत्यादि। (३) दानविषयक प्रातिभाव्य। 'दान-प्रतिभू'को 'माल-जामिन' कहते हैं। 'दान-प्रतिभू' यह जिम्मेदारी लेता है कि 'यदि यह लिया हुआ धन नहीं देगा तो मैं स्वयं ही अपने पाससे दूँगा'—इत्यादि। इस प्रकार दर्शन (उपस्थिति), प्रत्यय (विश्वास) तथा दान (वसूली) के लिये प्रातिभाव्य किया जाता है—जामिन देनेकी आवश्यकता पड़ती है। इनमेंसे प्रथम दो, अर्थात् 'दर्शन-प्रतिभू' और 'विश्वास-प्रतिभू'—इनकी बात झूठी होनेपर, स्वयं धनी ऋण चुकानेके लिये विवश है, अर्थात् राजा उनसे धनीको वह धन अवश्य दिलवावे; परंतु जो तीसरा 'दान-प्रतिभू' है, उसकी बात झूठी होनेपर वह स्वयं तो उस धनको लौटानेका अधिकारी है ही, किंतु यदि वह बिना लौटाये ही विलुप्त हो जाय तो उसके पुत्रोंसे भी उस धनकी वसूली की जा सकती है। जहाँ 'दर्शन-प्रतिभू' अथवा 'विश्वास-प्रतिभू' परलोकवासी हो जायँ, वहाँ उनके पुत्र उनके दिलाये हुए ऋणको न दें; परंतु जो स्वयं लौटा देनेके लिये जिम्मेदारी ले चुका है, वह 'दान-प्रतिभू' यदि मर जाय तो उसके पुत्र अवश्य उसके दिलाये हुए ऋणको दें। यदि एक ही धनको दिलानेके लिये बहुतसे प्रतिभू (जामिनदार) बन गये हों, तो उस धनके न मिलनेपर वे सभी उस ऋणको बाँटकर अपने-अपने अंशसे चुकावें। यदि सभी प्रतिभू एक-से ही हों, अर्थात् जैसे ऋणग्राही सम्पूर्ण धन लौटानेको उद्यत रहा है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रतिभू यदि सम्पूर्ण धन लौटानेके लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो तो धनी पुरुष अपनी रुचिके अनुसार उनमें-से किसी एकसे ही अपना सारा धन वसूल कर सकता है। ऋण देनेवाले धनीके द्वारा दबाये जानेपर प्रतिभू राजाके आदेशसे सबके सामने उस धनीको जो धन देता है, उससे दूना धन ऋण लेनेवाले लोग उस प्रतिभूको लौटावें ॥ १३-१६ ॥

मादा पशुओंको यदि ऋणके रूपमें दिया गया हो तो उस धनकी वृद्धिके रूपमें केवल उनकी संतति ली जा सकती है। धान्यकी अधिक-से-अधिक वृद्धि तीनगुनेतक मानी गयी है। वस्त्र वृद्धिके क्रमसे बढ़ता हुआ चौगुना तथा रस (घी, तेल आदि) अधिक-से-अधिक आठगुना तक हो सकता है। यदि कोई वस्तु बन्धक रखकर ऋण लिया गया हो और उस ऋणकी रकम ब्याजके द्वारा बढ़ते-बढ़ते दूनी हो गयी हो, उस दशामें भी ऋणग्राही यदि सारा धन लौटाकर उस वस्तुको छुड़ा नहीं लेता है, तो वह वस्तु नष्ट हो जाती है—उसके हाथसे निकलकर ऋणदाताकी अपनी वस्तु हो जाती है। जो धन समय-विशेषपर लौटानेकी शर्तपर लिया जाता है और उसके लिये कोई जेवर आदि बन्धक रक्खा जाता है, वह समय बीत जानेपर वह बन्धक नष्ट हो जाता

है, फिर वापस नहीं मिलता । परंतु जिसका फलमात्र भोगनेके योग्य होता है, वह बगीचा या खेत आदि बन्धकके रूपमें रक्खा गया हो तो वह कभी नष्ट नहीं होता; उसपर मालिकका स्वत्व बना ही रहता है ॥ १७-१८ ॥

यदि कोई गोपनीय आधि (बन्धकमें रक्खी हुई वस्तु—ताँबेकी कराही आदि) ऋणदाताके उपभोगमें आये तो उसपर दिये हुए धनके लिये ब्याज नहीं लगाया जा सकता। यदि बन्धकमें कोई उपकारी प्राणी (बैल आदि) रक्खा गया हो और उससे काम लेकर उसकी शक्ति क्षीण कर दी गयी हो तो उसपर दिये गये ऋणके ऊपर वृद्धि नहीं जोड़ी जा सकती। यदि बन्धककी वस्तु नष्ट हो जाय—टूट-फूट जाय तो उसे ठीक कराकर लौटाना चाहिये और यदि वह सर्वथा विलुप्त (नष्ट) हो जाय तो उसके लिये भी उचित मूल्य आदि देना चाहिये । यदि दैव अथवा राजाके प्रकोपसे वह वस्तु नष्ट हुई हो तो उसपर उक्त नियम लागू नहीं होता। उस दशामें ऋणग्राही धनीको वृद्धिसहित धन लौटाये अथवा वृद्धि रोकनेके लिये दूसरी कोई वस्तु बन्धक रक्खे। 'आधि' चाहे गोप्य हो या भोग्य, उसके स्वीकार (उपभोग) मात्रसे आधि-ग्रहणकी सिद्धि हो जाती है । उस आधिकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनेपर भी यदि वह काल-वश निस्सार हो जाय—वृद्धिसहित मूलधनके लिये पर्याप्त न रह जाय तो ऋणग्राहीको दूसरी कोई वस्तु आधिके रूपमें रखनी चाहिये अथवा धनीको उसका धन लौटा देना चाहिये ॥ १९—२० ॥

सदाचारको ही बन्धक मानकर उसके द्वारा जो द्रव्य अपने या दूसरेके अधीन किया जाता है, उसको 'चरित्र-बन्धककृत' धन कहते हैं[1]। ऐसे धनको ऋणग्राही वृद्धिसहित धनीको लौटावे या राजा ऋणग्राहीसे धनीको वृद्धिसहित वह धन दिलवाये । यदि 'सत्यङ्कारकृत' द्रव्य बन्धक रक्खा गया हो तो धनीको द्विगुण धन लौटाना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि बन्धक रखते समय ही यह बात कह दी गयी हो कि 'ऋणकी रकम बढ़ते-बढ़ते दूनी हो जाय तो भी मैं दूना द्रव्य ही दूँगा। मेरी बन्धक रक्खी हुई वस्तुपर धनीका अधिकार नहीं होगा'—इस शर्तके साथ जो ऋण लिया गया हो वह 'सत्यङ्कारकृत' द्रव्य कहलाता है । इसका एक दूसरा स्वरूप भी है । क्रय-विक्रय आदिकी व्यवस्था (मर्यादा) के निर्वाहके लिये जो दूसरेके हाथमें कोई आभूषण इस शर्तके साथ समर्पित किया जाता है कि व्यवस्था-भङ्ग करनेपर दुगुना धन देना होगा, उस दशामें जिसने वह भूषण अर्पित किया है, यदि वही व्यवस्था भङ्ग करे तो उसे वह भूषण सदाके लिये छोड़ देना पड़ेगा। यदि दूसरी ओरसे व्यवस्था भङ्ग की गयी तो उसे उस भूषणको द्विगुण करके लौटाना होगा । यह भी 'सत्यङ्कारकृत' ही द्रव्य है। यदि धन देकर बन्धक छुड़ानेके लिये ऋणग्राही उपस्थित हो तो धनदाताको चाहिये कि वह उसका बन्धक लौटा दे। यदि सूदके लोभसे वह बन्धक लौटानेमें आनाकानी करता या विलम्ब लगाता है तो वह चोरकी भाँति दण्डनीय है। यदि धन देनेवाला कहीं दूर चला गया हो तो उसके कुलके किसी विश्वसनीय व्यक्तिके हाथमें वृद्धिसहित मूलधन रखकर ऋणग्राही अपना बन्धक वापस ले सकता है। अथवा उस समय तक उस बन्धकको छुड़ानेका जो मूल्य हो, वह निश्चित करके उस बन्धकको धनीके लौटनेतक उसीके यहाँ रहने दे, उस दशामें उस धनपर आगे कोई वृद्धि नहीं लगायी जा सकती। यदि ऋणग्राही दूर चला गया हो और नियत समय-तक न लौटे तो धनी ऋणग्राहीके विश्वसनीय पुरुषों और गवाहोंके साथ उस बन्धकको बेचकर अपना प्राप्तव्य धन ले ले (यदि पहले बताये अनुसार ऋण लेते समय ही केवल द्रव्य लौटानेकी शर्त हो गयी हो, तब बन्धकको नहीं बेचा या नष्ट किया जा सकता है) । जब किया हुआ ऋण अपनी वृद्धिके क्रमसे दूना होकर आधिपर चढ़ जाय और धनिकको आधिसे दूना धन प्राप्त हो गया हो तो वह आधिको छोड़ दे (ऋणग्राहीको लौटा दे) ॥ २१—२४ ॥

'उपनिधि-प्रकरण'—यदि निक्षेप-द्रव्यके आधार-भूत बासन या पेटी आदिमें धरोहरकी वस्तु रखकर उसे सील-मोहरसहित बंद करके वस्तुका स्वरूप या संख्या बताये बिना ही विश्वास करके किसी दूसरेके हाथमें रक्षाके लिये उसे दिया जाता है तो उसे 'उपनिधि-द्रव्य' कहते हैं।

१. जैसे धनीके सदाचारसे प्रभावित हो ऋणग्राही बहुत अधिक मूल्यकी वस्तु उसके यहाँ बन्धक रखकर स्वल्प ही ऋण लेता है, उसे यह विश्वास है कि धनी मेरी बहुमूल्य वस्तु नष्ट नहीं करेगा; इसी प्रकार ऋणग्राहीके सद्भावपर विश्वास रखकर धनी स्वल्प मूल्यकी वस्तु बन्धकके तौरपर लेकर अधिक धन ऋणमें दे देता है, अथवा कुछ भी बन्धक न रखकर पर्याप्त ऋण दे देता है, ये सब 'चरित्रबन्धककृत' धनकी श्रेणीमें आते हैं ।

उसे स्थापकके माँगनेपर ज्यों-का-त्यों लौटा देना चाहिये[२]। यदि उपनिधिकी वस्तु राजाने बलपूर्वक ले ली हो या दैवी बाधा (आग लगने आदि) से नष्ट हुई हो, अथवा उसे चोर चुरा ले गये हों तो जिसके यहाँ वह वस्तु रक्खी गयी थी, उसको वह वस्तु देने या लौटानेके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता । यदि स्वामीने उस वस्तुको माँगा हो और धरोहर रखनेवालेने नहीं दिया हो, उस दशामें यदि राजा आदिकी बाधासे उस वस्तुका नाश हुआ हो तो रखनेवाला उस वस्तुके अनुरूप मूल्य मालधनीको देनेके लिये विवश किया जा सकता है । और राजाको उससे उतना ही दण्ड दिलाया जाय । जो मालधनीकी अनुमति लिये बिना स्वेच्छासे उपनिधिकी वस्तुको भोगता या उससे व्यापार करता है, वह दण्डनीय है । यदि उसने उस वस्तुका उपभोग किया है तो वह सूदसहित उस वस्तुको लौटाये और यदि व्यापारमें लगाकर लाभ उठाया है तो लाभसहित वह वस्तु मालधनीको लौटाये और उतना ही दण्ड राजाको दे । याचित[३], अन्वाहित[४], न्यास[५] और निक्षेप[६] आदिमें यह उपनिधि-सम्बन्धी विधान ही लागू होता है ॥ २५—२८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेयमहापुराणमें 'व्यवहारका कथन' नामक दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५४ ॥

दो सौ पचपनवाँ अध्याय

साक्षी, लेखा तथा दिव्यप्रमाणोंके विषयमें विवेचन

'साक्षी-प्रकरण'

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! तपस्वी, कुलीन, दानशील, सत्यवादी, कोमलहृदय, धर्मात्मा, पुत्रयुक्त, धनी, पञ्चयज्ञ आदि वैदिक क्रियाओंसे युक्त अपनी जाति और वर्गके पाँच या तीन साक्षी होने चाहिये । अथवा सभी मनुष्य सबके साक्षी हो सकते हैं; किंतु स्त्री, बालक, वृद्ध, जुआरी, मत्त (शराब आदि पीकर मतवाला), उन्मत्त (भूत या ग्रहके आवेशसे युक्त), अभिशस्त (पातकी), रंगमञ्चपर उतरनेवाला चारण, पाखण्डी, कूटकारी (जालसाज), विकलेन्द्रिय (अंधा, बहरा आदि), पतित, आप्त (मित्र या सगे-सम्बन्धी), अर्थ-सम्बन्धी (विवादास्पद अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला), सहायक, शत्रु, चोर, साहसी (दुस्साहसपूर्ण कार्य करनेवाला), दृष्टदोष (जिसका पूर्वापर-विरुद्ध बोलनेका स्वभाव देखा गया हो, वह) तथा निर्धूत (भाई-बन्धुओंसे परित्यक्त) आदि साक्षी बनानेयोग्य नहीं हैं । वादी और प्रतिवादी—दोनोंके मान लेनेपर एक भी धर्मवेत्ता पुरुष साक्षी हो सकता है । किसी स्त्रीको बलपूर्वक पकड़ लेना, चोरी करना, किसीको कटुवचन सुनाना या कठोर दण्ड देना तथा हत्या आदि दुःसाहसपूर्ण कार्य करना—इन अपराधोंमें सभी साक्षी बनाये जा सकते हैं ॥ १—५ ॥

जो मनुष्य साक्षी होना स्वीकार करके तीन पक्षके भीतर गवाही नहीं देता है, राजा छियालीसवें दिन उससे सारा ऋण सूदसहित वादीको दिलावे और अपना दशांश भाग भी उससे वसूल करे । जो नराधम जानते हुए भी साक्षी नहीं होता, वह कूटसाक्षी (झूठी गवाही देनेवालों) के समान दण्ड और पापका भागी होता है । न्यायाधिकारी वादी एवं प्रतिवादीके समीप-स्थित साक्षियोंको यह वचन सुनावे—'पातकियों और महापातकियोंको तथा आग लगानेवालों और स्त्री एवं बालकोंकी हत्या करनेवालोंको जो लोक (नरक) प्राप्त होते हैं, झूठी गवाही देनेवाला मनुष्य उन सभी लोकों

२. जो वस्तु बिना गिनती या स्वरूप बताये सील-मोहर करके धरोहर रक्खी जाती है, उसे 'उपनिधि' समझे और जो गिनकर, दिखाकर रक्खी जाती है, उसे 'निक्षेप' माना जाता है । जैसा कि नारदका वचन है—'असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते । तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥' ३. विवाह आदि उत्सवोंमें मँगनीके तौरपर माँगकर लाये हुए वस्त्र और आभूषण आदिको 'याचित' कहते हैं । ४. एकके हाथमें रक्खी हुई वस्तुको वहाँसे लेकर दूसरेके हाथमें रक्खी जाय तो उसे 'अन्वाहित' कहते हैं । ५. घरके मालिकके परोक्षमें ही घरवालोंके हाथमें जो धरोहरकी वस्तु यह कहकर दी जाती है कि गृहस्वामीके आनेपर उन्हें यह वस्तु दे दी जाय तो उसको 'न्यास' कहते हैं । ६. सबके सामने गिनकर, दिखाकर जो वस्तु धरोहर रक्खी जाती है, उसका नाम 'निक्षेप' है ।

(नरकों) को प्राप्त होता है । तुमने सैकड़ों जन्मोंमें जो कुछ भी पुण्य अर्जित किया है, वह सब उसीको प्राप्त हुआ समझो, जिसे तुम असत्यभाषणसे पराजित करोगे ।' साक्षियोंकी बातोंमें द्विविधा (परस्पर विरुद्धभाव) हो तो उनमेंसे बहुसंख्यक साक्षियोंका वचन ग्राह्य होता है । यदि समान संख्यावाले साक्षियोंकी बातोंमें विरोध हो, अर्थात् जहाँ दो एक तरहकी बात कहते हों और दो दूसरे तरहकी बात, वहाँ गुणवानोंकी बातको प्रमाण मानना चाहिये । यदि गुणवानोंकी बातोंमें भी विरोध उपस्थित हो तो उनमें जो सबसे अधिक गुणवान् हो, उसकी बातको विश्वसनीय एवं ग्राह्य माने । साक्षी जिसकी प्रतिज्ञा (दावा) को सत्य बतायें, वह विजयी होता है । वे जिसके दावेको मिथ्या बतलायें, उसकी पराजय निश्चित है ॥ ६–११½ ॥

साक्षियोंके साक्ष्य देनेपर भी यदि गुणोंमें इनसे श्रेष्ठ अन्य पुरुष अथवा पूर्वसाक्षियोंसे दुगुने साक्षी उनके साक्ष्यको असत्य बतलावें तो पूर्वसाक्षी कूट (झूठे) माने जाते हैं । उन लोगोंको, जो कि धनका प्रलोभन देकर गवाहोंको झूठी गवाही देनेके लिये तैयार करते हैं तथा जो उनके कहनेसे झूठी गवाही देते हैं, उनको भी पृथक्-पृथक् दण्ड दे । विवादमें पराजित होनेपर जो दण्ड बताया गया है, उससे दूना दण्ड झूठी गवाही दिलानेवाले और देनेवालेसे वसूल करना चाहिये । यदि दण्डका भागी ब्राह्मण हो तो उसे देशसे निकाल देना चाहिये । जो अन्य गवाहोंके साथ गवाही देना स्वीकार करके, उसका अवसर आनेपर रागादि दोषोंसे आक्रान्त हो अपने साक्षीपनको दूसरे साक्षियोंसे अस्वीकार करता है, अर्थात् यह कह देता है कि 'मैं इस मामलेमें साक्षी नहीं हूँ'; वह विवादमें पराजय प्राप्त होनेपर जो नियत दण्ड है, उससे आठगुना दण्ड देनेका अधिकारी है । उससे उतना दण्ड वसूल करना चाहिये । परंतु जो ब्राह्मण उतना दण्ड देनेमें असमर्थ हो, उसको देशसे निर्वासित कर देना चाहिये । जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रके वधकी सम्भावना हो, वहाँ (उनके रक्षार्थ) साक्षी झूठ बोले (कदापि सत्य न कहे । यदि किसी हत्यारेके विरुद्ध गवाही देनी हो तो सत्य ही कहना चाहिये) ॥ १२–१५ ॥

लेखा-प्रकरण

धनी और अधमर्ण (साहु और खदुका) के बीच जो सुवर्ण आदि द्रव्य परस्पर अपनी ही रुचिसे इस शर्तके साथ कि 'इतने समयमें इतना देना है और प्रतिमास इतनी वृद्धि चुकानी है', व्यवस्थापूर्वक रक्खा जाता है, उस अर्थको लेकर कालान्तरमें कोई मतभेद या विवाद उपस्थित हो जाय तो उसमें वास्तविक तत्त्वका निर्णय करनेके लिये कोई लेखापत्र तैयार कर लेना चाहिये । उसमें पूर्वोक्त योग्यतावाले साक्षी रहें और धनी (साहु) का नाम भी पहले लिखा गया हो । लेखामें संवत्, मास, पक्ष, दिन, तिथि, साहु और खदुकाके नाम, जाति तथा गोत्रके उल्लेखके साथ-साथ शाखा-प्रयुक्त गौण नाम (बह्वृच, कठ आदि) तथा धनी और ऋणीके अपने-अपने पिताके नाम आदि लिखे रहने चाहिये । लेखामें वाञ्छनीय विषयका उल्लेख पूर्ण हो जानेपर ऋण लेनेवाला अपने हाथसे लेखापर यह लिख दे कि 'अमुकका पुत्र मैं अमुक इस लेखामें जो लिखा गया है, उससे सहमत हूँ ।' तदनन्तर साक्षी भी अपने हाथसे यह लिखे कि 'आज मैं अमुकका पुत्र अमुक इस लेखाका साक्षी होता हूँ ।' साक्षी सदा समसंख्या (दो या चार) में होने चाहिये । लिपिज्ञानशून्य ऋणी अपनी सम्मति किसी दूसरे व्यक्तिसे लिखवा ले और अपढ़ साक्षी अपना मत सब साक्षियोंके समीप दूसरे साक्षीसे लिखवाये । अन्तमें लेखक (कातिब) यह लिख दे कि 'आज अमुक धनी और अमुक ऋणीके कहनेपर अमुकके पुत्र मुझ अमुकने यह लेखा लिखा ।' साक्षियोंके न होनेपर भी ऋणीके हाथका लिखा हुआ लेखा पूर्ण प्रमाण माना जाता है, किंतु वह लेखा बल अथवा छलके प्रयोगसे लिखवाया गया न हो । लेखा लिखकर लिया हुआ ऋण तीन पीढ़ियोंतक ही देय होता है, परंतु बन्धककी वस्तु तबतक धनीके उपभोगमें आती है, जबतक कि लिया हुआ ऋण चुका नहीं दिया जाता है । यदि लेखापत्र देशान्तरमें हो, उसकी लिखावट दोषपूर्ण अथवा संदिग्ध हो, नष्ट हो गया हो, घिस गया हो, अपहृत हो गया हो, छिन्न-भिन्न अथवा दग्ध हो गया हो, तब धनी ऋणीकी अनुमतिसे दूसरा लेखा तैयार करवावे । संदिग्ध लेखकी शुद्धि स्वहस्तलिखित आदिसे होती है, अर्थात् लेखक अपने हाथसे दूसरा लेखा लिखकर दिखावे । जब दोनोंके अक्षर समान हों, तब संदेह दूर हो जाता है । 'आदि' पदसे यह सूचित किया गया है कि साक्षी और लेखकसे दूसरा कुछ लिखवाकर यह देखा जाय कि दोनों लेखोंके अक्षर मिलते हैं या नहीं । यदि मिलते हों तो पूर्वलेखाके शुद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं रह

जाता है। युक्तिप्राप्ति[1], क्रिया[2], चिह्न[3], सम्बन्ध[4] और आगम[5]—इन हेतुओंसे भी लेखाकी शुद्धि होती है। ऋणी जब-जब ऋणका धन धनीको दे, तब-तब लेखा-पत्रकी पीठपर लिख दिया करे। अथवा धनी जब-जब जितना धन पावें, तब-तब अपने हाथसे लेखाकी पीठपर उसको लिखकर अङ्कित कर दे। ऋणी जब ऋण चुका दे तो लेखाको फाड़ डाले, अथवा (लेखा किसी दुर्गम स्थानमें हो या नष्ट हो गया, तो) ऋणशुद्धिके लिये धनीसे भरपाई लिखवा ले। यदि लेखापत्रमें साक्षियोंका उल्लेख हो तो उनके सामने ऋण चुकावे ॥ १६—२७ ॥

दिव्य-प्रकरण

तुला, अग्नि, जल, विष तथा कोष—ये पाँच दिव्य-प्रमाण धर्मशास्त्रमें कहे गये हैं, जो संदिग्ध अर्थके निर्णय अथवा संदेहकी निवृत्तिके लिये देने चाहिये। जब अभियोग बहुत बड़े हों और अभियोक्ता परले सिरेपर, अर्थात् व्यवहारके जय-पराजय-लक्षण चतुर्थपादमें पहुँच गया हो, तभी इन दिव्य-प्रमाणोंका आश्रय लेना चाहिये। वादी और प्रतिवादी—दोनोंमेंसे कोई एक परस्पर बातचीत करके, स्वीकृति देकर अपनी रुचिके अनुसार दिव्य-प्रमाणके लिये प्रस्तुत हो और दूसरा सम्भावित शारीरिक या आर्थिक दण्डके लिये तैयार रहे। राजद्रोह या महापातकका संदेह होनेपर शीर्षक स्थितिमें आये बिना भी तुला आदि दिव्य-प्रमाणोंको स्वीकार करे। एक हजार पणसे कमके अभियोगमें अग्नि, विष और तुला—इन दिव्य प्रमाणोंको ग्रहण न करावे; किंतु राजद्रोह और महापातकके अभियोगमें सत्पुरुष सदा इन्हीं प्रमाणोंका वहन करे। सहस्र पणके अभियोगमें तुला आदि तीन दिव्य-प्रमाणोंको प्रस्तुत करे, किंतु अल्प अभियोगमें भी कोश कराये। शपथ ग्रहण करनेवालेके शुद्ध प्रमाणित होनेपर उसे वादीसे पचास पण दिलावे और दोषी प्रमाणित होनेपर उसे दण्ड दे। न्यायाधिकारी दिव्य-प्रमाणके लिये प्रस्तुत मनुष्यको पहले दिन उपवास करवाये तथा दूसरे दिन सूर्योदयके समय वस्त्रसहित स्नान कर लेनेपर बुलाये। फिर राजा और ब्राह्मणोंके सम्मुख उससे सभी दिव्य-प्रमाण ग्रहण करावे। किसी भी जाति अथवा वयकी स्त्री, किसी भी जातिका सोलह वर्षकी अवस्थासे कमका बालक, कम-से-कम अस्सी वर्षकी अवस्थाका बूढ़ा, अन्ध (नेत्रहीन), पङ्गु (पादरहित), जातिमात्रका ब्राह्मण तथा रोगी—इन सबकी शुद्धिके लिये, अर्थात् इनपर लगे हुए अपराधविषयक संदेहका निवारण करनेके लिये 'तुला' नामक दिव्य-प्रमाण ही ग्राह्य है। क्षत्रियके लिये अग्नि (गरम किया हुआ फाल और तपाया हुआ माष), वैश्यके लिये जलमात्र तथा शूद्रके लिये सात जौ विष—इनकी शुद्धिके लिये आवश्यक बताये गये हैं ॥ २८—३३ ॥

तुला-दिव्यप्रमाण

जो तराजू उठाना या तौलना जानते हों, ऐसे लोगोंसे अभियुक्तको तुलाके एक पलड़ेमें बैठाकर दूसरे पलड़ेमें कोई मिट्टी या प्रस्तरका उतने ही वजनका टुकड़ा रखकर उससे उसको ठीक-ठीक तौले। फिर जिस संनिवेशमें वह बराबर तौला गया है, उसमें सफेद खड़ियासे रेखा करके उस व्यक्तिको उतार लिया जाय। उतरनेपर वह निम्नाङ्कित प्रार्थना-वाक्य पढ़कर तुलाको अभिमन्त्रित करे—'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों संध्या-काल और धर्म—ये सब मनुष्यके वृत्तान्तको जानते हैं। तुले! तुम सत्यका धाम (स्थान) हो, पूर्वकालमें देवताओंने तुम्हारा निर्माण किया है। अतः कल्याणि! तुम सत्यको प्रकट करो और मुझे संशयसे मुक्त कर दो। मातः! यदि मैं पापी या अपराधी हूँ तो मेरा पलड़ा नीचे कर दो और यदि मैं दोष-रहित हूँ तो मुझे ऊपर उठा दो' ॥ ३४—३७ ॥

अग्नि-दिव्यप्रमाण

अग्निका दिव्य ग्रहण करनेवालेके हाथोंमें धान मसलकर, हाथोंके काले तिल आदि चिह्नोंको देखकर उन्हें महावर आदिसे रँग दे। फिर उसके हाथोंकी अञ्जलिमें पीपलके सात पत्ते रखले। हाथसहित उन पत्तोंको धागेसे आवेष्टित कर दे। इसके बाद दिव्य ग्रहण करनेवाला अग्निकी प्रार्थना करे—'अग्निदेव! आप सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरते हैं। आप सबको पवित्र करनेवाले और सब कुछ जाननेवाले हैं। आप साक्षीकी भाँति मेरे पुण्य और पापका निरीक्षण करके सत्यको प्रकट कीजिये' ॥ ३८-३९ ॥

---

१. इस देशमें इस कालमें इस पुरुषके पास इतने द्रव्यका होना सम्भव है—इसे 'युक्तिप्राप्ति' कहते हैं। २. साक्षियोंका उल्लेख 'क्रिया' है। ३. असाधारण लिङ्ग—जैसे 'श्री', 'ओम्' आदिका उल्लेख 'चिह्न' कहलाता है। ४. अर्थी और प्रत्यर्थी—दोनोंमें पहले भी परस्पर विश्वासपूर्वक देन-लेनका व्यवहार होना 'सम्बन्ध' है। ५. इस व्यक्तिको इतने धनकी प्राप्तिका उपाय सम्भावनासे परे नहीं है, यह निर्णय 'आगम' कहलाता है।

शपथ ग्रहण करनेवालेके ऐसा कहनेपर उसके दोनों हाथोंमें पचास पलका जलता हुआ लौहपिण्ड रख दे। दिव्य ग्रहण करनेवाला मनुष्य उसे लेकर धीरे-धीरे सात मण्डलोंतक चले। मण्डलकी लंबाई और चौड़ाई सोलह-सोलह अङ्गुलकी हो तथा एक मण्डलसे दूसरे मण्डलकी दूरी भी उतनी ही हो। तदनन्तर शपथ करनेवाला अग्निपिण्डको गिराकर हाथोंमें पुनः धान मसले। यदि हाथ न जले हों तो शपथ करनेवाला मनुष्य शुद्ध माना जाता है। यदि लौहपिण्ड बीचमें ही गिर पड़े या कोई संदेह हो तो शपथकर्ता पूर्ववत् लौहपिण्ड लेकर चले॥ ४०—४२॥

जल-दिव्य

जलका दिव्य ग्रहण करनेवालेको निम्नाङ्कित रूपसे वरुणदेवकी प्रार्थना करनी चाहिये—'वरुण! आप पवित्रोंमें भी पवित्र हैं और सबको पवित्र करनेवाले हैं। मैं शुद्धिके योग्य हूँ। मेरी शुद्धि कीजिये। सत्यके बलसे मेरी रक्षा कीजिये।'—इस प्रार्थना-मन्त्रसे जलको अभिमन्त्रित करके वह मनुष्य नाभिपर्यन्त जलमें खड़े हुए पुरुषकी जङ्घा पकड़कर जलमें डूबे। उसी समय कोई व्यक्ति बाण चलावे। जबतक एक वेगवान् मनुष्य उस छूटे हुए बाणको ले आवे, तबतक यदि शपथकर्ता जलमें डूबा रहे तो वह शुद्ध होता है*॥४३-४४½॥

विष-दिव्य

विषका दिव्य-प्रमाण ग्रहण करनेवाला इस प्रकार विषकी प्रार्थना करे—'विष! तुम ब्रह्माके पुत्र हो और सत्यधर्ममें अधिष्ठित हो; इस कलङ्कसे मेरी रक्षा एवं सत्यके प्रभावसे मेरे लिये अमृतरूप हो जाओ।'—ऐसा कहकर शपथकर्ता हिमालयपर उत्पन्न शार्ङ्ग विषका भक्षण करे। यदि विष बिना वेगके पच जाय, तो न्यायाधिकारी उसकी शुद्धिका निर्देश करें॥ ४५-४६½॥

कोश-दिव्य

कोश-दिव्य लेनेवालेके लिये न्यायाधिकारी उग्र देवताओंका पूजन करके उनके अभिषेकका जल ले आवे। फिर शपथ-कर्ताको यह बतलाकर उसमेंसे तीन पसर जल पिला दे। यदि चौदहवें दिनतक राजा अथवा देवतासे घोर पीडा न प्राप्त हो, तो वह निःसंदेह शुद्ध होता है॥ ४७-४८½॥

अल्प मूल्यवाली वस्तुके अभियोगमें संदेह उपस्थित होनेपर सत्य, वाहन, शस्त्र, गौ, बीज, सुवर्ण, देवता, गुरुचरण एवं इष्टापूर्त आदि पुण्यकर्म इनकी सहजसाध्य शपथ विहित है॥ ४९-५०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दिव्य-प्रमाण-कथन' नामक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५५॥

दो सौ छप्पनवाँ अध्याय

पैतृक धनके अधिकारी; पत्नियोंका धनाधिकार; पितामहके धनके अधिकारी; विभाज्य और अविभाज्य धन; वर्णक्रमसे पुत्रोंके धनाधिकार; बारह प्रकारके पुत्र और उनके अधिकार; पत्नी-पुत्री आदिके, संसृष्टीके धनका विभाग; क्लीब आदिका अनधिकार; स्त्रीधन तथा उसका विभाग

दाय-विभाग-प्रकरण

['दाय' शब्दसे वह धन समझना चाहिये, जिसपर स्वामीके साथ सम्बन्धके कारण दूसरोंका स्वत्व हो जाता है। 'दाय'के दो भेद हैं—'अप्रतिबन्ध' और 'सप्रतिबन्ध'। पुत्रों और पौत्रोंका पुत्रत्व और पौत्रत्वके कारण पिता और पितामहके धनपर अनायास ही स्वत्व होता है, इसलिये वह 'अप्रतिबन्ध

* मिताक्षरामें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तीन बाण छोड़नेपर एक वेगवान् मनुष्य मध्यम बाणके गिरनेके स्थानपर जाकर उसे लेकर वहीं खड़ा हो जाता है। दूसरा वेगवान् पुरुष जहाँसे बाण छोड़ा गया है, उस मूलस्थानपर खड़ा हो जाता है। इस प्रकार उन दोनोंके स्थित हो जानेपर तीन बार ताली बजती है। तीसरी तालीके बजते ही जिसकी शुद्धि अपेक्षित है, वह पुरुष पानीमें डूबता है। उसी समय मूलस्थानपर खड़ा हुआ पुरुष बड़े वेगसे दौड़कर मध्यम शरपातस्थानतक जाता है। उसके वहाँ पहुँचते ही जो बाण लेकर पहलेसे खड़ा है, वह बड़े वेगसे दौड़कर मूलस्थानपर आ जाता है। वहाँ पहुँचकर वह डूबे हुए मनुष्यकी ओर देखता है। यदि उसके अङ्ग डूबे हुए ही रहें, दृष्टिमें न आवें तो उसकी शुद्धि मानी जाती है।

दाय' है। चाचा और भाई आदिको पुत्र और स्वामीके अभावमें धनपर अधिकार प्राप्त होता है, इसलिये वह 'सप्रतिबन्ध दाय' है। इसी प्रकार उनके पुत्र आदिके लिये भी समझ लेना चाहिये। जिसके अनेक स्वामी हैं, ऐसे धनको बाँटकर एक-एकके अंशको पृथक्-पृथक् व्यवस्थित कर देना 'विभाग' कहलाता है। इस अध्यायमें दाय-विभाग और स्वत्वपर विचार किया गया है, जो धर्मशास्त्रकारों एवं महर्षियोंको अभिमत है।]

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यदि पिता अपने जीवनमें सब पुत्रोंमें धनका विभाजन करे तो वह इच्छानुसार ज्येष्ठ पुत्रको श्रेष्ठ भाग दे या सब पुत्रोंको समांश भागी बनाये[1]। यदि पिता सब पुत्रोंको समान भाग दे, तो अपनी उन स्त्रियोंको भी समान भाग दे, जिनको पति अथवा श्वशुरकी ओरसे स्त्रीधन न मिला हो। जो पुत्र धनोपार्जनमें समर्थ होनेके कारण पैतृक धनकी इच्छा न रखता हो, उसे भी थोड़ा-बहुत धन देकर विभाजनका कार्य पूर्ण करना चाहिये। पिताके द्वारा दिया हुआ न्यूनाधिक भाग, यदि धर्मसम्मत है, तो वह पितृकृत होनेसे निवृत्त नहीं हो सकता, ऐसा स्मृतिकारोंका मत है। माता-पिताकी मृत्युके पश्चात् पुत्र पिताके धन और ऋणको बराबर-बराबर बाँट लें[2]। माता-द्वारा लिये गये ऋणको चुकानेके बाद बचा हुआ मातृधन पुत्रियाँ आपसमें बाँट लें[3]। उनके अभावमें पुत्र आदि उस धनका विभाग कर लें। पैतृक धनको हानि न पहुँचाकर जो धन स्वयं उपार्जित किया गया हो, मित्रसे मिला हो और विवाहमें प्राप्त हुआ हो, भाई आदि दायाद उसके अधिकारी नहीं होते। यदि सब भाइयोंने सम्मिलित रहकर धनकी वृद्धि की हो तो उस धनमें सबका समान भाग माना जाता है॥ १—५½॥

[यहाँतक पैतृक सम्पत्तिमें पुत्रोंका विभाग किस प्रकार हो, यह बतलाया गया। अब पितामहके धनमें पौत्रोंका विभाग कैसे हो, इस विषयमें विशेष बात बताते हैं—]

यद्यपि पितामहके धनमें पौत्रोंका पुत्रोंके समान जन्मसे ही स्वत्व है, तथापि यदि वे पौत्र अनेक पितावाले हैं तो उनके पिताओंको द्वार बनाकर ही पितामहके द्रव्यका विभाजन होगा। सारांश यह कि यदि संयुक्त परिवारमें रहते हुए ही अनेक भाई अनेक पुत्रोंको उत्पन्न करके परलोकवासी हो गये और उनमें-से एकके दो, दूसरेके तीन और तीसरेके चार पुत्र हों, तो उन पौत्रोंकी संख्याके अनुसार पितामहकी सम्पत्तिका बँटवारा नहीं होगा, अपितु उन पौत्रोंके पिताओंकी संख्याके अनुसार होगा। जिसके दो पुत्र हैं, उसे अपने पिताका एक अंश प्राप्त है, जिसके तीन पुत्र हैं, उसे भी अपने पिताका एक अंश प्राप्त होगा और जिसे चार हैं, उसे भी अपने पिताका एक ही अंश मिलेगा। पितामहद्वारा अर्जित भूमि, निबन्ध और द्रव्यमें पिता और पुत्र दोनोंका समान स्वामित्व है। धनका विभाग होनेके बाद भी सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न हुआ पुत्र विभागका अधिकारी होता है। अथवा आय और व्ययका संतुलन करनेके बाद दृश्य धनमें उसका विभाग होता है। पिता-पितामह आदिके क्रमसे आया हुआ जो द्रव्य दूसरोंने हर लिया हो और असमर्थतावश पिता आदिने उसका उद्धार नहीं किया हो, उसे पुत्रोंमेंसे एक कोई भी पुत्र अन्य बन्धुओंकी अनुमति लेकर यदि अपने प्रयाससे प्राप्त कर ले तो वह उस धनको स्वयं ले ले, अन्य दायादोंको न बाँटे। परंतु खेतका उद्धार करनेपर उद्धारकर्ता उसका चौथाई अंश स्वयं ले, शेष भाग सब भाइयोंको बराबर-बराबर बाँट दे। इसी तरह विद्यासे (शास्त्रोंको पढ़ने-पढ़ाने या उसकी व्याख्या करनेसे) जो धन प्राप्त हो, उसको भी दायादोंमें न बाँटे। माता-पिता अपनी जो वस्तु जिसे दे दें, वह उसीका धन होगा। यदि पिताके मरनेपर पुत्रगण पैतृक धनका विभाजन करें तो माता भी पुत्रोंके समान भागकी अधिकारिणी होती है। विभाजनके समय जिन भाइयोंके विवाह आदि संस्कार न हुए हों, उनके संस्कार वे भाई, जिनके संस्कार पहले हो चुके हैं, संयुक्त धनसे करें।

१. पिताके द्वारा स्वयं उपार्जित किया हुआ जो धन है, उसका बँटवारा वह अपनी रुचिके अनुसार कर सकता है। जिस पुत्रपर अधिक संतुष्ट हो, उसे वह अधिक दे सकता है और जिसके व्यवहारसे उसको संतोष न हो, उसे कम भी दे सकता है। परंतु जो पिता-पितामहोंकी परम्परासे आया हुआ धन है, उसमें विषम विभाजन नहीं चल सकता। उसमें वह सब पुत्रोंको समांशभागी ही बनावे।

२. यद्यपि शास्त्रोंमें पैतृकधनका विषम-विभाजन भी मिलता है, तथापि वह ईर्ष्या और कलहका मूल होनेके कारण लोक-विद्विष्ट है; अतः व्यवहारमें लानेयोग्य नहीं है; इसलिये सम-विभाजन ही सर्वसम्मत है।

३. माताका ऋण भी पुत्र ही मातृधनसे चुका दें, पत्नियाँ नहीं। ऋण चुकानेसे अवशिष्ट धन पुत्रियोंमें बँट जाना चाहिये।

अविवाहिता बहिनोंके भी विवाह-संस्कार सब भाई अपने भागका चतुर्थांश देकर करें। ब्राह्मणसे ब्राह्मणी आदि विभिन्न वर्णोंकी स्त्रियोंमें उत्पन्न हुए पुत्र वर्णक्रमसे चार, तीन, दो और एक भाग प्राप्त करें। इसी प्रकार क्षत्रियसे क्षत्रिया आदिमें उत्पन्न तीन, दो एवं एक भाग और वैश्यसे वैश्यजातीय एवं शूद्रजातीय स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र क्रमशः दो और एक अंशके अधिकारी होते हैं। धनविभागके पश्चात् जो धन भाइयोंद्वारा एक-दूसरेसे अपहृत किया गया दृष्टिगोचर हो, उसे सब भाई पुनः समान अंशोंमें विभाजित कर लें, यह शास्त्रीय मर्यादा है। पुत्रहीन पुरुषके द्वारा दूसरेके क्षेत्रमें नियोगकी विधिसे उत्पन्न पुत्र धर्मके अनुसार दोनों पिताओंके धन और पिण्डदानका अधिकारी है॥ ६–१४॥

अपने समान वर्णकी स्त्री जब धर्मविवाहके अनुसार ब्याहकर लायी जाती है तो उसे 'धर्मपत्नी' कहते हैं। अपनी धर्मपत्नीसे स्वकीय वीर्यद्वारा उत्पादित पुत्र 'औरस' कहलाता है। यह सब पुत्रोंमें मुख्य है। दूसरा 'पुत्रिकापुत्र' है। यह भी औरसके ही समान है। अपनी स्त्रीके गर्भमें किसी सगोत्र या सपिण्ड पुरुषके द्वारा अथवा देवरके द्वारा उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है। पतिके घरमें छिपे तौरपर जो सजातीय पुरुषसे उत्पन्न होता है, वह 'गूढज' माना गया है। अविवाहिता कन्यासे उत्पन्न पुत्र 'कानीन' कहलाता है। वह नानाका पुत्र माना गया है। जो अक्षतयोनि अथवा क्षतयोनिकी विधवासे सजातीय पुरुषद्वारा उत्पन्न पुत्र है, उसको 'पौनर्भव' कहते हैं। जिसे माता अथवा पिता किसीको गोद दे दें, वह 'दत्तक' पुत्र कहा गया है। जिसे किसी माता-पिताने खरीदा और दूसरे माता-पिताने बेचा हो, वह 'क्रीत-पुत्र' माना गया है। किसीको स्वयं धन आदिका लोभ देकर पुत्र बनाया गया हो तो वह 'कृत्रिम' कहा गया है। जो माता-पितासे रहित बालक 'मुझे अपना पुत्र बना लें'—ऐसा कहकर स्वयं आत्मसमर्पण करता है, वह 'दत्तात्मा' पुत्र है। जो विवाहसे पूर्व ही गर्भमें आ गया और गर्भवतीके विवाह होनेपर उसके साथ परिणीत हो गया, वह 'सहोढज' पुत्र माना गया है। जिसे माता-पिताने त्याग दिया हो, वह समान वर्णका पुत्र यदि किसीने ले लिया तो वह उसका 'अपविद्ध पुत्र' माना गया है। ये जो पूर्वकथित बारह पुत्र हैं, इनमेंसे पूर्व-पूर्वके अभावमें उत्तर-उत्तर पिण्डदाता और धनांशभागी होता है। मैंने सजातीय पुत्रोंमें धन-विभागकी यह विधि बतलायी है॥ १५–१९½॥

शूद्रके धनविभागकी विशेष विधि—

शूद्रद्वारा दासीमें उत्पन्न पुत्र भी पिताकी इच्छासे धनमें भाग प्राप्त करेगा। पिताकी मृत्युके पश्चात् शूद्रकी विवाहिता पत्नीसे उत्पन्न पुत्र अपने पिताके दासीपुत्रको भी भाईकी हैसियतसे आधा भाग दे। यदि शूद्रकी परिणीतासे कोई पुत्र न हो तो वह भ्रातृहीन दासीपुत्र पूरे धनपर अधिकार कर ले; (परंतु यह तभी सम्भव है, जब उसकी परिणीताकी पुत्रियोंके पुत्र न हों। उनके होनेपर तो वह आधा भाग ही पा सकता है।) जिसके पूर्वोक्त बारह प्रकारके पुत्रोंमेंसे कोई नहीं है, ऐसा पुत्रहीन पुरुष यदि स्वर्गवासी हो जाय तो उसके धनके भागी क्रमशः पत्नी, पुत्रियाँ, माता-पिता, सहोदर भाई, असहोदर भाई, भ्रातृपुत्र, गोत्रज (सपिण्ड या समानोदक) पुरुष, बन्धु-बान्धव[४] (आचार्य), शिष्य तथा सजातीय सहपाठी होते हैं—इनमें पूर्व-पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तर धनके भागी होते हैं। सब वर्णोंके लिये धनके विभाजनकी यही विधि शास्त्रविहित है॥ २०–२३॥

वानप्रस्थ, संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके धनके अधिकारी क्रमशः एक आश्रममें रहनेवाला धर्मभ्राता, श्रेष्ठ शिष्य और आचार्य[५] होते हैं। बँटे हुए धनको फिर मिला दिया जाय तो वह 'संसृष्ट' कहलाता है। ऐसा संसृष्ट धन जिन लोगोंके पास है, वे सभी 'संसृष्टी' कहे गये हैं। 'संसृष्टत्व-सम्बन्ध' जिस किसीके साथ नहीं हो सकता, किंतु पिता, भाई अथवा पितृव्य (चाचा) के साथ ही हो सकता है। यदि कोई संसृष्टी मर जाय तो उसके हिस्सेका धन दूसरा संसृष्टी पुरुष मृत-संसृष्टीकी मृत्युके बाद उसकी भार्यासे उत्पन्न हुए पुत्रको दे दे। पुत्र न हो तो वह संसृष्टी स्वयं ही ले ले। पत्नी आदिको वह धन नहीं मिल सकता। यदि सहोदर संसृष्टी मर जाय तो दूसरा सहोदर संसृष्टी उसकी मृत्युके पश्चात् पैदा हुए पुत्रको उसका अंश दे दे। यदि

४. बन्धु-बान्धव तीन प्रकारके हैं—अपने बन्धु-बान्धव, पिताके बन्धु-बान्धव तथा माताके बन्धु-बान्धव। इनमें यही क्रम अभीष्ट है। अर्थात् पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तर धनके भागी होते हैं।

५. यहाँ श्लोकमें आचार्य, शिष्य और धर्मभ्राता—इस क्रमसे उल्लेख है, परंतु मिताक्षराकारने यह निर्णय दिया है कि यहाँ विलोम-क्रम लेना चाहिये।

पुत्र न हो तो वह स्वयं ही उस संसृष्टीके अंशको ले ले; असहोदर भाई संसृष्टी होनेपर भी उसे नहीं ले सकता। अन्य माताके पेटसे पैदा हुआ सौतेला भाई भी यदि संसृष्टी हो तो वह संसृष्टी भ्राताके धनको ले सकता है। यदि वह असंसृष्टी है तो उस धनको नहीं ले सकता। अथवा असंसृष्टी भी उस संसृष्टीके धनको ले सकता है, जबकि वह संसृष्टी उस असंसृष्टीका सहोदर भाई रहा हो ॥ २४—२६ ॥

नपुंसक, पतित, उसका पुत्र, पङ्गु, उन्मत्त, जड, अन्ध, असाध्य रोगसे ग्रस्त और आश्रमान्तरमें गये हुए पुरुष केवल भरण-पोषण पानेके योग्य हैं। उन्हें हिस्सा बँटानेका अधिकार नहीं है। इन लोगोंके औरस एवं क्षेत्रज पुत्र क्लीबत्व आदि दोषोंसे रहित होनेपर भाग लेनेके अधिकारी होंगे। इनकी पुत्रियोंका भी तबतक भरण-पोषण करना चाहिये, जबतक कि वे पतिके अधीन न कर दी जायँ। इन क्लीब, पतित आदिकी पुत्रहीन सदाचारिणी स्त्रियोंका भी भरण-पोषण करना चाहिये। यदि वे व्यभिचारिणी या प्रतिकूल आचरण करनेवाली हों तो उनको घरसे निर्वासित कर देना चाहिये ॥ २७—२९ ॥

स्त्रीधन

जो पिता-माता, पति और भाईने दिया हो, जो विवाहकालमें अग्निके समीप मामा आदिकी ओरसे मिला हो तथा जो आधिवेदनिक[१] आदि धन हो, वह 'स्त्रीधन' कहा गया है। जिसे कन्याकी माताके बन्धु-बान्धवोंने दिया हो, जिसे पिताके बन्धु-बान्धवोंने दिया हो तथा जो वर-पक्षकी ओरसे कन्याके लिये शुल्करूपमें मिला हो एवं विवाहके पश्चात् पतिकुलसे जो वधूको भेंट मिला हो, वह सब 'स्त्रीधन' कहा गया है। यदि स्त्री संतानहीना हो—जिसके बेटी, दौहित्री, दौहित्र, पुत्र और पौत्र कोई भी न हों, ऐसी स्त्री यदि दिवंगत हो जाय तो उसके पति आदि बान्धवजन उसका धन ले सकते हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—इन चार प्रकारके विवाहोंकी विधिसे विवाहित स्त्रियोंके निस्संतान मर जानेपर उनका धन पतिको प्राप्त होता है। यदि वे संतानवती रही हों तो उनका धन उनकी पुत्रियोंको प्राप्त होता है और शेष चार गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाहकी विधिसे विवाहित होकर मरी हुई संतानहीना स्त्रियोंका धन उनके पिताको प्राप्त होता है ॥ ३०—३२ ॥

जो कन्याका वाग्दान करके कन्यादान नहीं करता, वह राजाके द्वारा दण्डनीय होता है तथा वाग्दानके निमित्त वरने अपने सम्बन्धियों और कन्या-सम्बन्धियोंके स्वागत-सत्कारमें जो धन खर्च किया हो, वह सब सूदसहित कन्या-दाता वरको लौटावे। यदि वाग्दत्ता कन्याकी मृत्यु हो जाय, तो वर अपने और कन्यापक्ष दोनोंके व्ययका परिशोधन करके जो अवशिष्ट व्यय हो, वही कन्यादातासे ले। दुर्भिक्षमें, धर्मकार्यमें, रोग या बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये यदि पति दूसरा कोई धन प्राप्त न होनेपर स्त्रीधनको ग्रहण करे, तो पुनः उसे लौटानेको बाध्य नहीं है। जिस स्त्रीको श्वशुर अथवा पतिसे स्त्रीधन न प्राप्त हुआ हो, उस स्त्रीके रहते हुए दूसरा विवाह करनेपर पति 'आधिवेदनिक'के समान धन दे। अर्थात् 'अधिवेदन' (द्वितीय विवाह) में जितना धन खर्च होता हो, उतना ही धन उसे भी दिया जाय। यदि उसे पति और श्वशुरकी ओरसे स्त्रीधन प्राप्त हुआ हो, तब आधिवेदनिक धनका आधा भाग ही दिया जाय। विभागका अपलाप होनेपर यदि संदेह उपस्थित हो तो कुटुम्बीजनों, पिताके बन्धु-बान्धवों, माताके बन्धु-बान्धवों, पूर्वोक्त लक्षणवाले साक्षियों तथा अभिलेख—विभागपत्रके सहयोगसे विभागका निर्णय जानना चाहिये। इसी प्रकार यौतक (दहेजमें मिले हुए धन) तथा पृथक् किये गये गृह और क्षेत्र आदिके आधारपर भी विभागका निर्णय जाना जा सकता है ॥ ३३—३६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दाय-विभागका कथन' नामक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५६ ॥



१. जिसके विवाहके बाद पति दूसरा विवाह करे, वह स्त्री 'अधिविन्ना' कहलाती है। ऐसे विवाहके लिये उससे आज्ञा ली जाती है और इस आज्ञाके निमित्त उसको जो धन दिया जाता है, वह 'अधिवेदन-निमित्तक' होनेके कारण 'आधिवेदनिक' कहा गया है।

दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय

सीमा-विवाद, स्वामिपाल-विवाद, अस्वामिविक्रय, दत्ताप्रदानिक, क्रीतानुशय, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, संविद्व्यतिक्रम, वेतनादान तथा द्यूतसमाह्वयका विचार

सीमा-विवाद

दो गाँवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले खेतकी सीमाके विषयमें विवाद उपस्थित होनेपर तथा एक ग्रामके अन्तर्वर्ती खेतकी सीमाका झगड़ा खड़ा होनेपर सामन्त (सब ओर उस खेतसे सटकर रहनेवाले), स्थविर (वृद्ध) आदि, गोप (गायके चरवाहे), सीमावर्ती किसान तथा समस्त वनचारी मनुष्य—ये सब लोग पूर्वकृत स्थल (ऊँची भूमि) कोयले, धानकी भूसी तथा बरगद आदिके वृक्षोंद्वारा सीमाका निश्चय करें । वह सीमा कैसी हो, इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—वह सीमा सेतु (पुल), वल्मीक (बाँबी), चैत्य (पत्थरके चबूतरे या देवस्थान), बाँस और बालू आदिसे उपलक्षित होनी चाहिये ॥ १-२ ॥

सामन्त अथवा निकटवर्ती ग्रामवाले चार, आठ अथवा दस मनुष्य लाल फूलोंकी माला और लाल वस्त्र धारण करके, सिरपर मिट्टी रखकर सीमाका निर्णय करें । सीमा-विवादमें सामन्तोंके असत्य-भाषण करनेपर राजा सबको अलग-अलग मध्यम साहसका दण्ड दे । सीमाका ज्ञान करानेवाले चिह्नोंके अभावमें राजा ही सीमाका प्रवर्तक होता है । आराम (बाग), आयतन (मन्दिर या खलिहान), ग्राम, वापी या कूप, उद्यान (क्रीडावन), गृह और वर्षाके जलको प्रवाहित करनेवाले नाले आदिकी सीमाके निर्णयमें भी यही विधि जाननी चाहिये । मर्यादाका भेदन, सीमाका उल्लङ्घन एवं क्षेत्रका अपहरण करनेपर राजा क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम साहसका दण्ड दे। यदि सार्वजनिक सेतु (पुल या बाँध) और छोटे क्षेत्रमें अधिक जलवाला कुआँ बनाया जा रहा हो तथा वह दूसरेकी कुछ भूमि अपनी सीमामें ले रहा हो, परंतु उससे हानि तो बहुत कम हो और बहुत-से लोगोंकी अधिक भलाई हो रही हो तो उसके निर्माणमें रुकावट नहीं डालनी चाहिये । जो क्षेत्रके स्वामीको सूचना दिये बिना उसके क्षेत्रमें सेतुका निर्माण करता है, वह उस सेतुसे प्राप्त फलका उपभोग स्वयं

---

१. 'सीमा' कहते हैं—क्षेत्र आदिकी मर्यादाको । वह चार प्रकारकी होती है—जनपद-सीमा, ग्राम-सीमा, क्षेत्र-सीमा और गृह-सीमा। वह यथासम्भव पाँच लक्षणोंसे युक्त होती है, जैसा कि नारदजीने बताया है—'ध्वजिनी', 'मत्स्यिनी', 'नैधानी', 'भयवर्जिता' तथा 'राजशासननीता' । इनमेंसे जो सीमा वृक्ष आदिसे लक्षित या प्रकाशित हो, वह 'ध्वजिनी' कही गयी है । 'मत्स्य' शब्द जलका उपलक्षण है । अतः 'मत्स्यिनी'का अर्थ है—जलवती । वहाँ जलसे वह सीमा उपलक्षित होती है । 'नैधानी' कहते हैं—धानकी भूसी या कोयले आदि गाड़कर निश्चित की हुई सीमाको । 'भयवर्जिता' वह सीमा है, जिसे अर्थी और प्रत्यर्थी दोनोंने मिलकर अपनी स्वीकृतिसे निर्धारित किया हो । जहाँ सीमाका ज्ञापक कोई चिह्न न हो, वहाँ राजाकी इच्छासे जो सीमा निर्मित होती है, उसको 'राजशासननीता' कहते हैं । भूमि-सम्बन्धी विवादके छः हेतु हैं । आधिक्य, न्यूनता, अंशका होना, न होना, अभोग-भुक्ति तथा मर्यादा—ये भूमि-विवादके छः कारण हैं, ऐसा कात्यायनका मत है । जैसे एक कहता है कि 'मेरी भूमि यहाँ पाँच हाथसे अधिक है' तो दूसरा कहता है, 'अधिक नहीं है'—यह 'आधिक्य'को लेकर विवाद हुआ । इसी तरह यदि एक कहे, 'मेरी भूमि यहाँ तीन हाथ है' और दूसरा कहे कि 'नहीं, तीन हाथसे कम है', तो यह 'न्यूनता'को लेकर विवाद हुआ। एक कहता है, 'मेरे हिस्सेमें इतनी भूमि है' और दूसरा कहता है, 'यहाँ तुम्हारा हिस्सा ही नहीं है' तो यह अंशविषयक 'अस्तित्व' और 'नास्तित्व'को लेकर विवाद हुआ । एकका आरोप है कि 'यह मेरी भूमि है, पहले तुम्हारे उपभोगमें कभी नहीं रही । इस समय तुम बलपूर्वक इसे अपने उपभोगमें ला रहे हो' । दूसरा कहता है, 'नहीं, सदासे या चिरकालसे यह भूमि मेरे अधिकारमें है'—यह 'अभोगभुक्ति' विषयक विवाद हुआ । एक कहता है, 'यह सीमा है' और दूसरा कहता है, 'नहीं, यह है' तो वह 'सीमाविषयक' विवाद हुआ ।

२. सीमाके परिचायक चिह्न दो प्रकारके होने चाहिये—'प्रकाश' और 'अप्रकाश' । बरगद, पीपल, पलाश, सेमल, साखू, ताड़, दूधवाले वृक्ष, गुल्म, वेणु, शमी और लताबेलोंसे युक्त-स्थल—ये सब 'प्रकाश चिह्न' हैं । पोखरे, कुआँ, बावड़ी, झरने और देवमन्दिर आदि भी प्रकाश-चिह्नके ही अन्तर्गत हैं । सीमा-ज्ञानके लिये कुछ छिपे हुए चिह्न भी होने चाहिये । जैसे—पत्थर, हड्डी, गौके बाल, धानकी भूसी, राख, खोपड़ी, कर्सी, ईंटा, कोयला, कंकड़ और बालू—भूमिमें गाड़ दिये जायँ ।

नहीं कर सकता, क्षेत्रका स्वामी ही उसके फलका भोगी-भागी होगा और उसके अभावमें राजाका उसपर अधिकार होगा। जो कृषक किसीके खेतमें एक बार हल चलाकर भी उसमें स्वयं खेती न करे और दूसरेसे भी न कराये, राजा उससे क्षेत्रस्वामीको कृषिका सम्भावित फल दिलाये और खेतको दूसरे किसानसे जुतवाये ॥ ३–९ ॥

स्वामिपाल-विवाद

[अब गाय-भैंस या भेड़-बकरी चरानेवाले चरवाहे जब किसीके खेत चरा दें तो उन्हें किस प्रकार दण्ड देना चाहिये—इसका विचार किया जाता है—] राजा दूसरेके खेतकी फसलको नष्ट करनेवाली भैंसपर आठ माष (पणका बीसवाँ भाग) दण्ड लगावे। गौपर उससे आधा और भेड़-बकरीपर उससे भी आधा दण्ड लगावे। यदि भैंस आदि पशु खेत चरकर वहीं बैठ जायँ, तो उनपर पूर्वकथितसे दूना दण्ड लगाना चाहिये। जिसमें अधिक मात्रामें तृण और काष्ठ उपजता है, ऐसा भूप्रदेश जब स्वामीसे लेकर उसे सुरक्षित रक्खा जाता है तो उसे 'विवीत' (रक्षित या रखांतु) कहते हैं। उस रखांतुको भी हानि पहुँचानेपर इन भैंस आदि पशुओंपर अन्य खेतोंके समान ही दण्ड समझे। इसी अपराधमें गदहे और ऊँटोंपर भी भैंसके समान ही दण्ड लगाना चाहिये। जिस खेतमें जितनी फसल पशुओंके द्वारा नष्ट की जाय, उसका सामन्त आदिके द्वारा अनुमानित फल गो-स्वामीको क्षेत्रस्वामीके लिये दण्डके रूपमें देना चाहिये और चरवाहोंको तो केवल शारीरिक दण्ड देना (कुछ पीट देना चाहिये)। यदि गो-स्वामीने स्वयं चराया हो तो उससे पूर्वोक्त दण्ड ही वसूल करना चाहिये, ताड़ना नहीं देनी चाहिये। यदि खेत रास्तेपर हो, गाँवके समीप हो अथवा ग्रामके 'विवीत' (सुरक्षित) भूमिके निकट हो और वहाँ चरवाहे अथवा गो-स्वामीकी इच्छा न होनेपर भी अनजानेमें पशुओंने चर लिया अथवा फसलको हानि पहुँचा दी तो उसमें गो-स्वामी तथा चरवाहा—दोनोंमेंसे किसीका दोष नहीं माना जाता, अर्थात् उसके लिये दण्ड नहीं लगाना चाहिये; किंतु यदि स्वेच्छासे जान-बूझकर खेत चराया जाय तो चरानेवाला और गो-स्वामी दोनों चोरकी भाँति दण्ड पानेके अधिकारी हैं। साँड़, वृषोत्सर्गकी विधिसे या देवी-देवताको चढ़ाकर छोड़े गये पशु, दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई गाय तथा अपने यूथसे बिछुड़कर दूसरे स्थानपर आया हुआ पशु—ये दूसरेकी फसल चर लें तो भी दण्डनीय नहीं हैं, छोड़ देने योग्य हैं। जिसका कोई चरवाहा न हो, ऐसे देवोपहत तथा राजोपहत पशु भी छोड़ ही देने योग्य हैं। गोप (चरवाहा) प्रातःकाल गौओंके स्वामीके सँभलाये हुए पशु सायंकाल उसी प्रकार लाकर स्वामीको सौंप दे। वेतन-भोगी ग्वालेके प्रमादसे मृत अथवा खोये हुए पशु राजा उससे पशु-स्वामीको दिलाये। गोपालकके दोषसे पशुओंका विनाश होनेपर उसके ऊपर साढ़े तेरह पण दण्ड लगाया जाय और वह स्वामीको नष्ट हुए पशुका मूल्य भी दे। ग्रामवासियोंकी इच्छासे अथवा राजाकी आज्ञाके अनुसार गोचारणके लिये भूमि छोड़ दे; उसे जोते-बोये नहीं। ब्राह्मण सदा, सभी स्थानोंसे तृण, काष्ठ और पुष्प ग्रहण कर सकता है। ग्राम और क्षेत्रका अन्तर सौ धनुषके प्रमाणका हो, अर्थात् गाँवके चारों ओर सौ-सौ धनुष भूमि परती छोड़ दी जाय और उसके बादकी भूमिपर ही खेती की जाय। खर्वट (बड़े गाँव) और क्षेत्रका अन्तर दो सौ धनुष एवं नगर तथा क्षेत्रका अन्तर चार सौ धनुष होना चाहिये ॥ १०–१८ ॥

अस्वामिविक्रय

[अब अस्वामिविक्रय नामक व्यवहारपदपर विचार आरम्भ करते हैं—नारदजीने 'अस्वामिविक्रय'का लक्षण इस प्रकार बताया है—

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा ।
विक्रीयतेऽसमक्षं यत् स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥

अर्थात् धरोहरके तौरपर रक्खे हुए पराये द्रव्यको खोया हुआ पाकर अथवा स्वयं चुराकर जो स्वामी-के परोक्षमें बेच दिया जाता है, वह 'अस्वामिविक्रय' कहलाता है।' द्रव्यका स्वामी अपनी वस्तु दूसरेके द्वारा बेची हुई यदि किसी खरीददारके पास देखे तो उसे अवश्य पकड़े—अपने अधिकारमें ले ले। यहाँ 'विक्रीत' शब्द 'दत्त' और 'आहित' का भी उपलक्षण है। अर्थात् यदि कोई दूसरेकी रक्खी हुई वस्तु उसे बताये बिना दूसरेके यहाँ रख दे या दूसरेको दे दे तो उसपर यदि स्वामीकी दृष्टि पड़ जाय तो स्वामी उस वस्तुको हठात् ले ले या अपने अधिकारमें कर ले; क्योंकि उस वस्तु-से उसका स्वामित्व निवृत्त नहीं हुआ। यदि खरीददार उस वस्तुको खरीदकर छिपाये रक्खे, किसीपर प्रकट न करे तो उसका अपराध माना जाता है। तथा जो हीन पुरुष है, अर्थात् उस द्रव्यकी प्राप्तिके उपायसे रहित है, उससे एकान्तमें कम मूल्यमें और असमयमें (रात्रि आदिमें) उस वस्तुको खरीदनेवाला मनुष्य चोर होता है, अर्थात् चोरके समान दण्डनीय

होता है। अपनी खोयी हुई या चोरीमें गयी हुई वस्तु जिसके पास देखे, उसे स्थानपाल आदि राजकर्मचारीसे पकड़वा दे। यदि उस स्थान अथवा समयमें राजकर्मचारी न मिले तो चोरको स्वयं पकड़कर राजकर्मचारीको सौंप दे। यदि खरीददार यह कहे कि 'मैंने चोरी नहीं की है, अमुकसे खरीदी है', तो वह बेचनेवालेको पकड़वा देनेपर शुद्ध (अभियोगसे मुक्त) हो जाता है। जो नष्ट या अपहृत वस्तुका विक्रेता है, उसके पाससे द्रव्यका स्वामी द्रव्य, राजा अर्थदण्ड और खरीदनेवाला अपना दिया हुआ मूल्य पाता है। वस्तुका स्वामी लेख्य आदि आगम या उपभोगका प्रमाण देकर खोयी हुई वस्तुको अपनी सिद्ध करे। सिद्ध न करनेपर राजा उससे वस्तुका पञ्चमांश दण्डके रूपमें ग्रहण करे। जो मनुष्य अपनी खोयी हुई अथवा चुरायी गयी वस्तुको राजाको बिना बतलाये दूसरेसे ले ले, राजा उसपर छानबे पणका अर्थदण्ड लगावे। शौल्किक (शुल्कके अधिकारी) या स्थानपाल (स्थानरक्षक) जिस खोये अथवा चुराये गये द्रव्यको राजाके पास लायें, उस द्रव्यको एक वर्षके पूर्व ही वस्तुका स्वामी प्रमाण देकर प्राप्त कर ले; एक वर्षके बाद राजा स्वयं उसे ले ले। घोड़े आदि एक खुरवाले पशु खोनेके बाद मिलें, तो स्वामी उनकी रक्षाके निमित्त चार पण राजाको दे; मनुष्यजातीय द्रव्यके मिलनेपर पाँच पण; भैंस, ऊँट और गौके प्राप्त होनेपर दो-दो पण तथा भेड़-बकरीके मिलनेपर पणका चतुर्थांश राजाको अर्पित करे॥ १९—२५॥

दत्ताप्रदानिक

['दत्ताप्रदानिक'का स्वरूप नारदने इस प्रकार बताया है "जो असम्यग्रूपसे (अयोग्य मार्गका आश्रय लेकर) कोई द्रव्य देनेके पश्चात् फिर उसे लेना चाहता है, उसे 'दत्ताप्रदानिक' नामक व्यवहारपद कहा जाता है।" इस प्रकरणमें इसीपर विचार किया जाता है।]

जीविकाका उपरोध न करते हुए ही अपनी वस्तुका दान करे; अर्थात् कुटुम्बके भरण-पोषणसे बचा हुआ धन ही देनेयोग्य है। स्त्री और पुत्र किसीको न दे। अपना वंश होनेपर किसीको सर्वस्वका दान न करे। जिस वस्तुको दूसरेके लिये देनेकी प्रतिज्ञा कर ली गयी हो, वह वस्तु उसीको दे, दूसरेको न दे। प्रतिग्रह प्रकटरूपमें ग्रहण करे। विशेषतः स्थावर भूमि, वृक्ष आदिका प्रतिग्रह तो सबके सामने ही ग्रहण करना चाहिये। जो वस्तु जिसे धर्मार्थ देनेकी प्रतिज्ञा की गयी हो, वह उसे अवश्य दे दे और दी हुई वस्तुका कदापि फिर अपहरण न करे—उसे वापस न ले॥ २६-२७॥

क्रीतानुशय

[अब 'क्रीतानुशय' बताया जाता है। इसका स्वरूप नारदजीने इस प्रकार कहा है—"जो खरीददार मूल्य देकर किसी पण्य वस्तुको खरीदनेके बाद उसे अधिक महत्त्वकी वस्तु नहीं मानता है, अतः उसे लौटाना चाहता है तो यह मामला 'क्रीतानुशय' नामक विवादपद कहलाता है। ऐसी वस्तुको जिस दिन खरीदा जाय, उसी दिन अविकृतरूपसे मालधनीको लौटा दिया जाय। यदि दूसरे दिन लौटावे तो क्रेता मूल्यसे $\frac{1}{30}$ वाँ भाग छोड़ दे। यदि तीसरे दिन लौटावे तो $\frac{1}{15}$ वाँ भाग छोड़ दे। इसके बाद वह वस्तु खरीददारकी ही हो जाती है, वह उसे लौटा नहीं सकता।"] अब बीज आदिके विषयमें बताते हैं—॥ २७$\frac{1}{2}$॥

बीजकी दस दिन, लोहेकी एक दिन, वाहनकी पाँच दिन, रत्नोंकी सात दिन, दासीकी एक मास, दूध देनेवाले पशुकी तीन दिन और दासकी एक पक्षतक परीक्षा होती है। सुवर्ण अग्निमें डालनेपर क्षीण नहीं होता; परंतु चाँदी प्रतिशत दो पल, राँगे और सीसेमें प्रतिशत आठ पल, ताँबेमें पाँच पल और लोहेमें दस पल कमी होती है। ऊन और रूईके स्थूल सूतसे बुने हुए कपड़ेमें सौ पलमें दस पलकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार मध्यम सूतमें पाँच पल और सूक्ष्म सूतमें तीन पलकी वृद्धि जाननी चाहिये। कार्मिक (अनेक रङ्गके चित्रोंसे युक्त) और रोमबद्ध (किनारेपर गुच्छोंसे युक्त) वस्त्रमें तीसवाँ भाग क्षय होता है। रेशम और वल्कलके बुने हुए वस्त्रमें न तो क्षय होता है और न वृद्धि ही। उपर्युक्त द्रव्योंके नष्ट होनेपर द्रव्य-ज्ञानकुशल व्यक्ति देश, काल, उपयोग और नष्ट हुए वस्तुके सारासारकी परीक्षा करके जितनी हानिका निर्णय कर दें, राजा उस हानिकी शिल्पियोंसे अवश्य पूर्ति कराये॥ २८—३२॥

अभ्युपेत्याशुश्रूषा

[सेवा स्वीकार करके जो उसे नहीं करता है, उसका यह बर्ताव 'अभ्युपेत्याशुश्रूषा' नामक व्यवहारपद है।] जो बलपूर्वक दास बनाया गया है और जो चोरोंके द्वारा चुराकर किसीके हाथ बेचा गया है—ये दोनों दासभावसे मुक्त हो सकते हैं। यदि स्वामी इन्हें न छोड़े तो राजा अपनी शक्तिसे इन्हें दासभावसे छुटकारा दिलाये। जो स्वामीको प्राणसंकटसे बचा दे, वह भी दासभावसे मुक्त कर देनेयोग्य

है। जो स्वामीसे भरण-पोषण पाकर उसका दास्य स्वीकार करके कार्य कर रहा है, वह भरण-पोषणमें स्वामीका जितना धन खर्च करा चुका है, उतना धन वापस कर दे तो दास-भावसे छुटकारा पा जाता है। जितना धन लेकर स्वामीने किसीको किसी धनीके पास बन्धक रख दिया है, अथवा जितना धन देकर किसी धनीने किसी ऋणग्राहीको ऋणदातासे छुड़ाया है, उतना धन सूदसहित वापस कर देनेपर आहित दास भी दासत्वसे छुटकारा पा सकता है। प्रव्रज्यावसित (संन्यासभ्रष्ट अथवा आरूढ़पतित) मनुष्य यदि इसका प्रायश्चित्त न कर ले तो मरणपर्यन्त राजाका दास होता है। चारों वर्ण अनुलोमक्रमसे ही दास हो सकते हैं, प्रतिलोमक्रमसे नहीं। विद्यार्थी विद्याग्रहणके पश्चात् गुरुके घरमें आयुर्वेदादि शिल्प-शिक्षाके लिये यदि रहना चाहे तो समय निश्चित करके रहे। यदि निश्चित समयसे पहले वह शिल्प-शिक्षा प्राप्त कर ले तो भी उतने समयतक वहाँ अवश्य निवास करे। उन दिनों वह गुरुके घर भोजन करे और उस शिल्पसे उपार्जित धन गुरुको ही समर्पित करे ॥ ३३-३५ ॥

संविद्-व्यतिक्रम

[नियत की हुई व्यवस्थाका नाम 'समय' या 'संविद्' है। उसका उल्लङ्घन 'संविद्-व्यतिक्रम' कहलाता है। यह विवादका पद है।]

राजा अपने नगरमें भवन-निर्माण कराकर उनमें वेदविद्या-सम्पन्न ब्राह्मणोंको जीविका देकर बसावे और उनसे प्रार्थना करे कि 'आप यहाँ रहकर अपने धर्मका अनुष्ठान कीजिये।' ब्राह्मणोंको अपने धर्ममें बाधा न डालते हुए जो सामयिक और राजाद्वारा निर्धारित धर्म हो, उसका भी यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। जो मनुष्य समूह या संस्थाका द्रव्यग्रहण और मर्यादाका उल्लङ्घन करता हो, राजा उसका सर्वस्व छीनकर उसे राज्यसे निर्वासित कर दे। अपने समाजके हितैषी मनुष्योंके कथनानुसार ही सब मनुष्योंको कार्य करना चाहिये। जो मनुष्य समाजके विपरीत आचरण करे, राजा उसे प्रथम साहसका दण्ड[1] दे। समूहके कार्यकी सिद्धिके लिये राजाके पास भेजा हुआ मनुष्य राजासे जो कुछ भी मिले, वह समाजके श्रेष्ठ व्यक्तियोंको बुलाकर समर्पित कर दे। यदि वह स्वयं लाकर नहीं देता तो राजा उससे ग्यारहगुना धन दिलावे। जो वेदज्ञान-सम्पन्न, पवित्र अन्तःकरणवाले, लोभ-शून्य तथा कार्यका विचार करनेमें कुशल हों, उन समूहके हितैषी मनुष्योंका वचन सबके लिये पालनीय है। 'श्रेणी' (एक व्यापारसे जीविका चलानेवाले), 'नैगम' (वेदोक्त धर्मका आचरण करनेवाले), 'पाखण्डी' (वेदविरुद्ध आचरणवाले) और 'गण' (अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले)—इन सब लोगोंके लिये भी यही विधि है। राजा इनके धर्मभेद और पूर्ववृत्तिका संरक्षण करे ॥ ३६-४२ ॥

वेतनादान

जो भृत्य वेतन लेकर काम छोड़ दे, वह स्वामीको उस वेतनसे दुगुना धन लौटाये। वेतन न लिया हो तो वेतनके समान धन उससे ले। भृत्य सदा खेती आदिके सामानकी रक्षा करे। जो वेतनका निश्चय किये बिना भृत्यसे काम लेता है, राजा उसके वाणिज्य, पशु और शस्यकी आयका दशांश भृत्यको दिलाये। जो भृत्य देश-कालका अतिक्रमण करके लाभको अन्यथा (औसतसे भी कम) कर देता है, उसे स्वामी अपने इच्छानुसार वेतन दे। परंतु औसतसे अधिक लाभ प्राप्त करानेपर भृत्यको वेतनसे अधिक दे। वेतन निश्चित करके दो मनुष्योंसे एक ही काम कराया जाय और यदि वह काम उनसे समाप्त न हो सके तो जिसने जितना काम किया हो, उसको उतना वेतन दे और यदि कार्य सिद्ध हो गया हो तो पूर्वनिश्चित वेतन दे। यदि भारवाहकसे राजा और देवता-सम्बन्धी पात्रके सिवा दूसरेका पात्र फूट जाय तो राजा भारवाहकसे पात्र दिलाये। यात्रामें विघ्न करनेवाले भृत्यपर वेतनसे दुगुना अर्थदण्ड करे। जो भृत्य यात्रारम्भके समय काम छोड़ दे, उससे वेतनका सातवाँ भाग, कुछ दूर चलकर काम छोड़ दे, उससे चतुर्थ भाग और जो मार्गके मध्यमें काम छोड़ दे, उससे पूरा वेतन राजा स्वामीको दिलावे। इसी प्रकार भृत्यका त्याग करनेवाले स्वामीसे राजा भृत्यको दिलाये ॥ ४३-४८ ॥

द्यूत-समाह्वय

[जूएमें छलसे काम लेना 'द्यूतसमाह्वय' है। प्राणिभिन्न पदार्थ—सोना, चाँदी आदिसे खेला जानेवाला जूआ 'द्यूत' कहलाता है। किंतु प्राणियोंको घुड़दौड़ आदिमें दाँवपर लगाकर खेला जाय तो उसको 'समाह्वय' कहा जाता है।] परस्परकी स्वीकृतिसे जुआरियोंद्वारा कल्पित पण (शर्त) को 'ग्लह' कहते हैं। जो जुआरियोंको खेलनेके लिये सभा-भवन प्रदान करता है, वह 'सभिक' कहलाता है। 'ग्लह' या दाँवमें सौ

---

१. 'नारदस्मृति'में कहा है कि 'प्रथम' साहसका दण्ड सौ पण, 'मध्यम' साहसका दण्ड पाँच सौ पण और 'उत्तम' साहसका दण्ड एक हजार पण है।

होता है। अपनी खोयी हुई या चोरीमें गयी हुई वस्तु जिसके पास देखे, उसे स्थानपाल आदि राजकर्मचारीसे पकड़वा दे। यदि उस स्थान अथवा समयमें राजकर्मचारी न मिले तो चोरको स्वयं पकड़कर राजकर्मचारीको सौंप दे। यदि खरीददार यह कहे कि 'मैंने चोरी नहीं की है, असुकसे खरीदी है', तो वह बेचनेवालेको पकड़वा देनेपर शुद्ध (अभियोगसे मुक्त) हो जाता है। जो नष्ट या अपहृत वस्तुका विक्रेता है, उसके पाससे द्रव्यका स्वामी द्रव्य, राजा अर्थदण्ड और खरीदनेवाला अपना दिया हुआ मूल्य पाता है। वस्तुका स्वामी लेख्य आदि आगम या उपभोगका प्रमाण देकर खोयी हुई वस्तुको अपनी सिद्ध करे। सिद्ध न करनेपर राजा उससे वस्तुका पञ्चमांश दण्डके रूपमें ग्रहण करे। जो मनुष्य अपनी खोयी हुई अथवा चुरायी गयी वस्तुको राजाको बिना बतलाये दूसरेसे ले ले, राजा उसपर छानबे पणका अर्थदण्ड लगावे। शौल्किक (शुल्कके अधिकारी) या स्थानपाल (स्थानरक्षक) जिस खोये अथवा चुराये गये द्रव्यको राजाके पास लायें, उस द्रव्यको एक वर्षके पूर्व ही वस्तुका स्वामी प्रमाण देकर प्राप्त कर ले; एक वर्षके बाद राजा स्वयं उसे ले ले। घोड़े आदि एक खुरवाले पशु खोनेके बाद मिलें, तो स्वामी उनकी रक्षाके निमित्त चार पण राजाको दे; मनुष्यजातीय द्रव्यके मिलनेपर पाँच पण; भैंस, ऊँट और गौके प्राप्त होनेपर दो-दो पण तथा भेड़-बकरीके मिलनेपर पणका चतुर्थांश राजाको अर्पित करे ॥ १९–२५ ॥

दत्ताप्रदानिक

['दत्ताप्रदानिक'का स्वरूप नारदने इस प्रकार बताया है "जो असम्यग्रूपसे (अयोग्य मार्गका आश्रय लेकर) कोई द्रव्य देनेके पश्चात् फिर उसे लेना चाहता है, उसे 'दत्ताप्रदानिक' नामक व्यवहारपद कहा जाता है।" इस प्रकरणमें इसीपर विचार किया जाता है।]

जीविकाका उपरोध न करते हुए ही अपनी वस्तुका दान करे; अर्थात् कुटुम्बके भरण-पोषणसे बचा हुआ धन ही देनेयोग्य है। स्त्री और पुत्र किसीको न दे। अपना वंश होनेपर किसीको सर्वस्वका दान न करे। जिस वस्तुको दूसरेके लिये देनेकी प्रतिज्ञा कर ली गयी हो, वह वस्तु उसीको दे, दूसरेको न दे। प्रतिग्रह प्रकटरूपमें ग्रहण करे। विशेषतः स्थावर भूमि, वृक्ष आदिका प्रतिग्रह तो सबके सामने ही ग्रहण करना चाहिये। जो वस्तु जिसे धर्मार्थ देनेकी प्रतिज्ञा की गयी हो, वह उसे अवश्य दे दे और दी हुई वस्तुका कदापि फिर अपहरण न करे—उसे वापस न ले ॥ २६-२७ ॥

क्रीतानुशय

[अब 'क्रीतानुशय' बताया जाता है। इसका स्वरूप नारदजीने इस प्रकार कहा है—"जो खरीददार मूल्य देकर किसी पण्य वस्तुको खरीदनेके बाद उसे अधिक महत्त्वकी वस्तु नहीं मानता है, अतः उसे लौटाना चाहता है तो यह मामला 'क्रीतानुशय' नामक विवादपद कहलाता है। ऐसी वस्तुको जिस दिन खरीदा जाय, उसी दिन अविकृतरूपसे मालधनीको लौटा दिया जाय। यदि दूसरे दिन लौटावे तो क्रेता मूल्यसे $\frac{1}{30}$ वाँ भाग छोड़ दे। यदि तीसरे दिन लौटावे तो $\frac{1}{15}$ वाँ भाग छोड़ दे। इसके बाद वह वस्तु खरीददारकी ही हो जाती है, वह उसे लौटा नहीं सकता।"] अब बीज आदिके विषयमें बताते हैं—॥ २७$\frac{1}{2}$ ॥

बीजकी दस दिन, लोहेकी एक दिन, वाहनकी पाँच दिन, रत्नोंकी सात दिन, दासीकी एक मास, दूध देनेवाले पशुकी तीन दिन और दासकी एक पक्षतक परीक्षा होती है। सुवर्ण अग्निमें डालनेपर क्षीण नहीं होता; परंतु चाँदी प्रतिशत दो पल, राँगे और सीसेमें प्रतिशत आठ पल, ताँबेमें पाँच पल और लोहेमें दस पल कमी होती है। ऊन और रूईके स्थूल सूतसे बुने हुए कपड़ेमें सौ पलमें दस पलकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार मध्यम सूतमें पाँच पल और सूक्ष्म सूतमें तीन पलकी वृद्धि जाननी चाहिये। कार्मिक (अनेक रङ्गके चित्रोंसे युक्त) और रोमबद्ध (किनारेपर गुच्छोंसे युक्त) वस्त्रमें तीसवाँ भाग क्षय होता है। रेशम और वल्कलके बुने हुए वस्त्रमें न तो क्षय होता है और न वृद्धि ही। उपर्युक्त द्रव्योंके नष्ट होनेपर द्रव्य-ज्ञानकुशल व्यक्ति देश, काल, उपयोग और नष्ट हुए वस्तुके सारासारकी परीक्षा करके जितनी हानिका निर्णय कर दें, राजा उस हानिकी शिल्पियोंसे अवश्य पूर्ति कराये ॥२८–३२॥

अभ्युपेत्याशुश्रूषा

[सेवा स्वीकार करके जो उसे नहीं करता है, उसका यह बर्ताव 'अभ्युपेत्याशुश्रूषा' नामक व्यवहारपद है।] जो बलपूर्वक दास बनाया गया है और जो चोरोंके द्वारा चुराकर किसीके हाथ बेचा गया है—ये दोनों दासभावसे मुक्त हो सकते हैं। यदि स्वामी इन्हें न छोड़े तो राजा अपनी शक्तिसे इन्हें दासभावसे छुटकारा दिलाये। जो स्वामीको प्राणसंकटसे बचा दे, वह भी दासभावसे मुक्त कर देनेयोग्य

है। जो स्वामीसे भरण-पोषण पाकर उसका दास्य स्वीकार करके कार्य कर रहा है, वह भरण-पोषणमें स्वामीका जितना धन खर्च करा चुका है, उतना धन वापस कर दे तो दास-भावसे छुटकारा पा जाता है। जितना धन लेकर स्वामीने किसीको किसी धनीके पास बन्धक रख दिया है, अथवा जितना धन देकर किसी धनीने किसी ऋणग्राहीको ऋणदातासे छुड़ाया है, उतना धन सूदसहित वापस कर देनेपर आहित दास भी दासत्वसे छुटकारा पा सकता है। प्रव्रज्यावसित (संन्यासभ्रष्ट अथवा आरूढ़पतित) मनुष्य यदि इसका प्रायश्चित्त न कर ले तो मरणपर्यन्त राजाका दास होता है। चारों वर्ण अनुलोमक्रमसे ही दास हो सकते हैं, प्रतिलोमक्रमसे नहीं। विद्यार्थी विद्याग्रहणके पश्चात् गुरुके घरमें आयुर्वेदादि शिल्प-शिक्षाके लिये यदि रहना चाहे तो समय निश्चित करके रहे। यदि निश्चित समयसे पहले वह शिल्प-शिक्षा प्राप्त कर ले तो भी उतने समयतक वहाँ अवश्य निवास करे। उन दिनों वह गुरुके घर भोजन करे और उस शिल्पसे उपार्जित धन गुरुको ही समर्पित करे ॥ ३३—३५ ॥

संविद्-व्यतिक्रम

[नियत की हुई व्यवस्थाका नाम 'समय' या 'संविद्' है। उसका उल्लङ्घन 'संविद्-व्यतिक्रम' कहलाता है। यह विवादका पद है।]

राजा अपने नगरमें भवन-निर्माण कराकर उनमें वेदविद्या-सम्पन्न ब्राह्मणोंको जीविका देकर बसावे और उनसे प्रार्थना करे कि 'आप यहाँ रहकर अपने धर्मका अनुष्ठान कीजिये।' ब्राह्मणोंको अपने धर्ममें बाधा न डालते हुए जो सामयिक और राजाद्वारा निर्धारित धर्म हो, उसका भी यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। जो मनुष्य समूह या संस्थाका द्रव्यग्रहण और मर्यादाका उल्लङ्घन करता हो, राजा उसका सर्वस्व छीनकर उसे राज्यसे निर्वासित कर दे। अपने समाजके हितैषी मनुष्योंके कथनानुसार ही सब मनुष्योंको कार्य करना चाहिये। जो मनुष्य समाजके विपरीत आचरण करे, राजा उसे प्रथम साहसका[1] दण्ड दे। समूहके कार्यकी सिद्धिके लिये राजाके पास भेजा हुआ मनुष्य राजासे जो कुछ भी मिले, वह समाजके श्रेष्ठ व्यक्तियोंको बुलाकर समर्पित कर दे। यदि वह स्वयं लाकर नहीं देता तो राजा उससे ग्यारहगुना धन दिलावे। जो वेदज्ञान-सम्पन्न, पवित्र अन्तःकरणवाले, लोभ-शून्य तथा कार्यका विचार करनेमें कुशल हों, उन समूहके हितैषी मनुष्योंका वचन सबके लिये पालनीय है। 'श्रेणी' (एक व्यापारसे जीविका चलानेवाले), 'नैगम' (वेदोक्त धर्मका आचरण करनेवाले), 'पाखण्डी' (वेदविरुद्ध आचरणवाले) और 'गण' (अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले)—इन सब लोगोंके लिये भी यही विधि है। राजा इनके धर्मभेद और पूर्ववृत्तिका संरक्षण करे ॥ ३६—४२ ॥

वेतनादान

जो भृत्य वेतन लेकर काम छोड़ दे, वह स्वामीको उस वेतनसे दुगुना धन लौटाये। वेतन न लिया हो तो वेतनके समान धन उससे ले। भृत्य सदा खेती आदिके सामानकी रक्षा करे। जो वेतनका निश्चय किये बिना भृत्यसे काम लेता है, राजा उसके वाणिज्य, पशु और शस्यकी आयका दशांश भृत्यको दिलाये। जो भृत्य देश-कालका अतिक्रमण करके लाभको अन्यथा (औसतसे भी कम) कर देता है, उसे स्वामी अपने इच्छानुसार वेतन दे। परंतु औसतसे अधिक लाभ प्राप्त करानेपर भृत्यको वेतनसे अधिक दे। वेतन निश्चित करके दो मनुष्योंसे एक ही काम कराया जाय और यदि वह काम उनसे समाप्त न हो सके तो जिसने जितना काम किया हो, उसको उतना वेतन दे और यदि कार्य सिद्ध हो गया हो तो पूर्वनिश्चित वेतन दे। यदि भारवाहकसे राजा और देवता-सम्बन्धी पात्रके सिवा दूसरेका पात्र फूट जाय तो राजा भारवाहकसे पात्र दिलाये। यात्रामें विघ्न करनेवाले भृत्यपर वेतनसे दुगुना अर्थदण्ड करे। जो भृत्य यात्रारम्भके समय काम छोड़ दे, उससे वेतनका सातवाँ भाग, कुछ दूर चलकर काम छोड़ दे, उससे चतुर्थ भाग और जो मार्गके मध्यमें काम छोड़ दे, उससे पूरा वेतन राजा स्वामीको दिलावे। इसी प्रकार भृत्यका त्याग करनेवाले स्वामीसे राजा भृत्यको दिलाये ॥ ४३—४८ ॥

द्यूत-समाह्वय

[जूएमें छलसे काम लेना 'द्यूतसमाह्वय' है। प्राणिभिन्न पदार्थ—सोना, चाँदी आदिसे खेला जानेवाला जूआ 'द्यूत' कहलाता है। किंतु प्राणियोंको घुड़दौड़ आदिमें दाँवपर लगाकर खेला जाय तो उसको 'समाह्वय' कहा जाता है।] परस्परकी स्वीकृतिसे जुआरियोंद्वारा कल्पित पण (शर्त) को 'ग्लह' कहते हैं। जो जुआरियोंको खेलनेके लिये सभा-भवन प्रदान करता है, वह 'सभिक' कहलाता है। 'ग्लह' या दाँवमें सौ

1. 'नारदस्मृति'में कहा है कि 'प्रथम' साहसका दण्ड सौ पण, 'मध्यम' साहसका दण्ड पाँच सौ पण और 'उत्तम' साहसका दण्ड एक हजार पण है।

या इससे अधिक वृद्धि (लाभ) प्राप्त करनेवाले धूर्त जुआरीसे 'सभिक' प्रतिशत पाँच पण अपने भरण-पोषणके लिये ले। फिर दूसरी बार उतनी ही वृद्धि प्राप्त करनेवाले अन्य जुआरीसे प्रतिशत दस पण ग्रहण करे। राजाके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित द्यूतका अधिकारी सभिक राजाका निश्चित भाग उसे दे। जीता हुआ धन जीतनेवालेको दिलाये और क्षमा-परायण होकर सत्य-भाषण करे। जब द्यूतका सभिक और प्रख्यात जुआरियोंका समूह राजाके समीप आय तथा राजाको उनका भाग दे दिया गया हो तो राजा जीतनेवालेको जीतका धन दिला दे, अन्यथा न दिलाये। द्यूत-व्यवहारको देखनेवाले सभासदके पदपर राजा उन जुआरियोंको ही नियुक्त करे तथा साक्षी भी द्यूतकारोंको ही बनाये। कृत्रिम पाशोंसे छलपूर्वक जुआ खेलनेवाले मनुष्योंके ललाटमें चिह्न करके राजा उन्हें देशसे निर्वासित कर दे। चोरोंको पहचाननेके लिये द्यूतमें एक ही किसीको प्रधान बनावे, यही विधि 'प्राणि-द्यूत-समाह्वय' (घुड़दौड़) आदिमें भी जाननी चाहिये ॥ ४९—५३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सीमा-विवादादिके कथनका निर्णय' नामक दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५७ ॥

दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय

व्यवहारके वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, विक्रियासम्प्रदान, सम्भूय-समुत्थान, स्तेय, स्त्री-संग्रहण तथा प्रकीर्णक—इन विवादास्पद विषयोंपर विचार

वाक्पारुष्य

[अब 'वाक्पारुष्य' (कठोर गाली देने आदि) के विषयमें विचार किया जाता है। इसका लक्षण नारदजीने इस प्रकार बताया है—"देश, जाति और कुल आदिको कोसते हुए उनके सम्बन्धमें जो अश्लील और प्रतिकूल अर्थवाली बात कही जाती है, उसको 'वाक्पारुष्य' कहते हैं।" प्रतिकूल अर्थवालीसे तात्पर्य है—उद्वेगजनक वाक्यसे। जैसे कोई कहे—'गौडदेशवाले बड़े झगड़ालू होते हैं', तो यह देशपर आक्षेप हुआ। 'ब्राह्मण बड़े लालची होते हैं'—यह जातिपर आक्षेप हुआ, तथा 'विश्वामित्रगोत्रीय बड़े क्रूर चरित्रवाले होते हैं'—यह कुलपर आक्षेप हुआ। यह 'वाक्पारुष्य' तीन प्रकारका होता है—'निष्ठुर', 'अश्लील' और 'तीव्र'। इनका दण्ड भी उत्तरोत्तर भारी होता है। आक्षेपयुक्त वचनको 'निष्ठुर' कहते हैं, जिसमें अभद्र बात कही जाय, वह 'अश्लील' है और जिससे किसीपर पातकी होनेका आरोप हो, वह वाक्य 'तीव्र' है। जैसे किसीने कहा—'तू मूर्ख है, मौगड़ है, तुझे धिक्कार है'—यह साक्षेप वचन 'निष्ठुर'की कोटिमें आता है, किसीकी माँ-बहिनके लिये गाली निकालना 'अश्लील' है और किसीको यह कहना कि 'तू शराबी है, गुरुपत्नीगामी है'—ऐसा कटुवचन 'तीव्र' कहा गया है। इस तरह वाक्पारुष्यके अपराधोंपर दण्डविधान कैसे किया जाता है, इसीका यहाँ विचार है—]

जो न्यूनाङ्ग (लँगड़े-लूले आदि) हैं, न्यूनेन्द्रिय (अन्धे-बहरे आदि) हैं तथा जो रोगी (दूषित चर्मवाले, कोढ़ी आदि) हैं, उनपर सत्यवचन, असत्यवचन अथवा अन्यथा-स्तुतिके द्वारा कोई आक्षेप करे तो राजा उसपर साढ़े बारह पण दण्ड लगाये। ("इन महोदयकी दोनों आँखें नहीं हैं, इसलिये लोग इन्हें 'अंधा' कहते हैं"—यह सत्यवचनद्वारा आक्षेप हुआ। "इनकी आँखें तो सही-सलामत हैं, फिर भी लोग इन्हें 'अंधा' कहते हैं"—यह असत्यवचनद्वारा आक्षेप हुआ। 'तुम विकृताकार होनेसे ही दर्शनीय हो गये हो' यह 'अन्यथास्तुति' है।) ॥ १ ॥

जो मनुष्य किसीपर आक्षेप करते हुए इस प्रकार कहे कि 'मैं तेरी बहिनसे, तेरी माँसे समागम करूँगा' तो राजा उसपर पचीस पणका अर्थदण्ड लगाये। यदि गाली देनेवालेकी अपेक्षा गाली पानेवाला अधम[1] है तो उसको गाली देनेके अपराधमें श्रेष्ठ पुरुषपर उक्त दण्डका आधा लगेगा तथा परायी स्त्री एवं उच्चजातिवालेको अधमके द्वारा गाली दी गयी हो तो उसके ऊपर पूर्वोक्त दण्ड दुगुना लगाया जाय। वर्ण और जातिकी लघुता और श्रेष्ठताको देखकर राजा दण्डकी व्यवस्था करे। वर्णोंके 'प्रातिलोम्यापवाद'में अर्थात् निम्नवर्णके पुरुषद्वारा उच्चवर्णके पुरुषपर आक्षेप किये जानेपर दुगुने और तिगुने दण्डका विधान है। जैसे ब्राह्मणको कटुवचन सुनानेवाले क्षत्रियपर पूर्वोक्त द्विगुण दण्ड, पचास पणसे दुगुने दण्ड सौ पण, लगाये

१. गुण और आचरणकी दृष्टिसे गिरा हुआ।

जाने चाहिये तथा वही अपराध करनेवाले वैश्यपर तिगुने; अर्थात् डेढ़ सौ पण दण्ड लगने चाहिये। इसी तरह 'आनुलोम्यापवाद'में, अर्थात् उच्चवर्णद्वारा हीनवर्णके मनुष्यपर आक्षेप किये जानेपर क्रमशः आधे-आधे दण्डकी कमी हो जाती है। अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियपर आक्रोश करे तो पचास पण दण्ड दे, वैश्यपर करे तो पचीस पण और यदि शूद्रपर करे तो साढ़े बारह पण दण्ड दे। यदि कोई मनुष्य वाणी-द्वारा दूसरोंको इस प्रकार धमकावे कि 'मैं तुम्हारी बाँह उखाड़ लूँगा, गर्दन मरोड़ दूँगा, आँखें फोड़ दूँगा और जाँघ तोड़ डालूँगा' तो राजा उसपर सौ पणका दण्ड लगावे और जो पैर, नाक, कान और हाथ आदि तोड़नेको कहे, उसपर पचास पणका अर्थदण्ड लागू करे। यदि असमर्थ मनुष्य ऐसा कहे, तो राजा उसपर दस पण दण्ड लगावे और समर्थ मनुष्य असमर्थको ऐसा कहे, तो उससे पूर्वोक्त सौ पण दण्ड वसूल करे। साथ ही असमर्थ मनुष्यकी रक्षाके लिये उससे कोई 'प्रतिभू' (जमानतदार) भी माँगे। किसीको पतित सिद्ध करनेके लिये आक्षेप करनेवाले मनुष्यको मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये तथा उपपातकका मिथ्या आरोप करनेवालेपर प्रथम साहसका दण्ड लगाना चाहिये। वेदविद्या-सम्पन्न ब्राह्मण, राजा अथवा देवताकी निन्दा करनेवालोंको उत्तम साहस, जातियोंके सङ्घकी निन्दा करनेवालेको मध्यम साहस और ग्राम या देशकी निन्दा करनेवालेको प्रथम साहसका दण्ड देना चाहिये ॥ २-८ ॥

दण्डपारुष्य

[अब 'दण्डपारुष्य' प्रस्तुत किया जाता है। नारदजीके कथनानुसार उसका स्वरूप इस प्रकार है—"दूसरोंके शरीरपर, अथवा उसकी स्थावर-जङ्गम वस्तुओंपर हाथ, पैर, अस्त्र-शस्त्र तथा पत्थर आदिसे जो चोट पहुँचायी जाती है तथा राख, धूल और मल-मूत्र आदि फेंककर उसके मनमें दुःख उत्पन्न किया जाता है, यह दोनों ही प्रकारका व्यवहार 'दण्डपारुष्य' कहलाता है।" उसके तीन कारण बताये जाते हैं—'अवगोरण' (मारनेके लिये उद्योग), 'निःसङ्गपातन' (निष्ठुरतापूर्वक नीचे गिरा देना) और 'क्षतदर्शन' (रक्त निकाल देना)। इन तीनोंके द्वारा हीन द्रव्यपर, मध्यम द्रव्यपर और उत्तम द्रव्यपर जो आक्रमण होता है, उसको दृष्टिमें रखकर 'दण्डपारुष्य'के तीन भेद किये जाते हैं। 'दण्डपारुष्य'का निर्णय करके उसके लिये अपराधीको दण्ड दिया जाता है। उसके स्वरूपमें संदेह होनेपर निर्णयके कारण बता रहे हैं—]

यदि कोई मनुष्य राजाके पास आकर इस आशयका अभियोगपत्र दे कि 'अमुक व्यक्तिने एकान्त स्थानमें मुझे मारा है', तो राजा इस कार्यमें चिह्नोंसे, युक्तियोंसे, आशय (जनप्रवादसे) तथा दिव्य-प्रमाणसे निश्चय करे। 'अभियोग लगानेवालेने अपने शरीरपर घावका कपटपूर्वक चिह्न तो नहीं बना लिया है', इस संदेहके कारण उसका परीक्षण (छान-बीन) आवश्यक है। दूसरेके ऊपर राख, कीचड़ या धूल फेंकनेवालेपर दस पण और अपवित्र वस्तु या थूक डालनेवाले, अथवा अपने पैरकी एड़ी छुआ देनेवालेपर राजा बीस पण दण्ड लगाये। यह दण्ड समान वर्णवालोंके प्रति ऐसा अपराध करनेवालोंके लिये ही बताया गया है। परायी स्त्रियों और अपनेसे उत्तम वर्णवाले पुरुषोंके प्रति पूर्वोक्त व्यवहार करनेपर मनुष्य दुगुने दण्डका भागी होता है और अपनेसे हीन वर्णवालोंके प्रति ऐसा व्यवहार करनेपर मनुष्य आधा दण्ड पानेका अधिकारी होता है। यदि कोई मोह एवं मदके वशीभूत (नशेमें) होकर ऐसा अपराध कर बैठे तो उसे दण्ड नहीं देना चाहिये ॥ ९-११ ॥

ब्राह्मणेतर मनुष्य अपने जिस अङ्गसे ब्राह्मणको पीड़ा दे—मारे-पीटे, उसका वह अङ्ग छेदन कर देने योग्य है। ब्राह्मणके वधके लिये शस्त्र उठा लेनेपर उस पुरुषको प्रथम साहसका दण्ड मिलना चाहिये। यदि उसने मारनेकी इच्छासे शस्त्र आदिका स्पर्शमात्र किया हो तो उसे प्रथम साहसके आधे दण्डसे दण्डित करना चाहिये। अपने समान जातिवाले मनुष्यको मारनेके लिये हाथ उठानेवालेको दस पण, लात उठानेवालेको बीस पण और एक-दूसरेके वधके लिये शस्त्र उठानेपर सभी वर्णके लोगोंको मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये। किसीके पैर, केश, वस्त्र और हाथ—इनमेंसे कोई-सा भी पकड़कर खींचने या झटका देनेपर अपराधीको दस पणका दण्ड लगावे। इसी तरह दूसरेको कपड़ेमें लपेटकर जोर-जोरसे दबाने, घसीटने और पैरोंसे आघात करनेपर आक्रामकसे सौ पण वसूल करे। जो किसी-पर लाठी आदिसे ऐसा प्रहार करे कि उसे दुःख तो हो, किंतु शरीरसे रक्त न निकले, तो उस मनुष्यपर बत्तीस पण दण्ड लगावे। यदि उस प्रहारसे रक्त निकल आवे तो अपराधीपर इससे दूना, चौसठ पण, दण्ड लगाया जाना चाहिये। किसीके हाथ-पाँव अथवा दाँत तोड़नेवाले, नाक-कान काटनेवाले, घावको

कुचल देनेवाले या मारकर मृतकतुल्य बना देनेवालेपर मध्यम साहस—पाँच सौ पणका दण्ड लगाया जाय। किसीकी चेष्टा, भोजन या वाणीको रोकनेवाले, आँख, जिह्वा आदिको फोड़ने या छेदनेवाले या कंधा, भुजा और जाँघ तोड़नेवालेको भी मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये। यदि बहुत-से मनुष्य मिलकर एक मनुष्यका अङ्ग-भङ्ग करें तो जिस-जिस अपराधके लिये जो-जो दण्ड बताया गया है, उससे दूना दण्ड प्रत्येकको दे। परस्पर कलह होते समय जिसने जिसकी जो वस्तु हड़प ली हो, राजाकी आज्ञासे उसे उसकी वह वस्तु लौटा देनी होगी और अपहरणके अपराधमें उस अपहृत वस्तुके मूल्य-से दूना दण्ड राजाके लिये देना होगा। जो मनुष्य किसीपर प्रहार करके उसे घायल कर दे, वह उसके घाव भरने और स्वस्थ होनेतक औषध, पथ्य एवं चिकित्सामें जितना व्यय हो, उसका भार वहन करे। साथ ही जिस कलहके लिये जो दण्ड बताया गया है, उतना अर्थदण्ड भी चुकाये। नावसे लोगोंको पार उतारनेवाला नाविक यदि स्थलमार्गका शुल्क ग्रहण करता है तो उसपर दस पण दण्ड लगाना चाहिये। यदि यजमानके पास वैभव हो और पड़ोसमें विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण बसते हों तो श्राद्ध आदिमें उनको निमन्त्रण न देनेपर उस यजमानपर भी वही दण्ड लगाना चाहिये। किसीकी दीवारपर मुद्गर आदिसे आघात करने-वालेपर पाँच पण, उसे विदीर्ण करनेवालेपर दस पण तथा उसको फोड़ने या दो टूक करनेवालेपर बीस पण दण्ड लगाया जाय और वह दीवार गिरा देनेवालेसे पैंतीस पण दण्ड वसूल किया जाय। साथ ही उस दीवारके मालिकको नये सिरेसे दीवार बनानेका व्यय उससे दिलाया जाय। किसीके घरमें दुःखोत्पादक वस्तु—कण्टक आदि फेंकनेवालेपर सोलह पण और शीघ्र प्राण हरण करनेवाली वस्तु—विषधर सर्प आदि फेंकनेपर मध्यम साहस—पाँच सौ पण दण्ड देनेका विधान है। क्षुद्र पशुको पीड़ा पहुँचानेवालेपर दो पण, उसके शरीरसे रुधिर निकाल देनेवालेपर चार पण, सींग तोड़नेवालेपर छः पण तथा अङ्ग-भङ्ग करनेवालेपर आठ पण दण्ड लगावे। क्षुद्र पशुका लिङ्ग-छेदन करने या उसको मार डालनेपर मध्यम साहसका दण्ड दे और अपराधीसे स्वामीको उस पशुका मूल्य दिलाये। महान् पशु—हाथी-घोड़े आदिके प्रति दुःखोत्पादन आदि पूर्वोक्त अपराध करनेपर क्षुद्र पशुओंकी अपेक्षा दूना दण्ड जानना चाहिये। जिनकी डालियाँ काटकर अन्यत्र लगा दी जानेपर अङ्कुरित हो जाती हैं, वे बरगद आदि वृक्ष 'प्ररोहिशाखी' कहलाते हैं। ऐसे प्ररोही वृक्षोंकी तथा जिनकी डालियाँ अङ्कुरित नहीं होतीं, परंतु जो जीविका चलानेके साधन बनते हैं, उन आम आदि वृक्षोंकी शाखा, स्कन्ध तथा मूलसहित समूचे वृक्षका छेदन करनेपर क्रमशः बीस पण, चालीस पण और अस्सी पण दण्ड लगानेका विधान है॥ १२—२५॥

साहस-प्रकरण

[अब 'साहस' नामक विवादपदका विवेचन करनेके लिये पहले उसका लक्षण बताते हैं—]सामान्य द्रव्य अथवा परकीय द्रव्यका बलपूर्वक अपहरण 'साहस' कहलाता है। [यहाँ यह कहा गया कि राजदण्डका उल्लङ्घन करके, जन-साधारणके आक्रोशकी कोई परवा किये बिना राजकीय पुरुषोंसे भिन्न लोगोंके सामने जो मारण, अपहरण तथा परस्त्रीके प्रति बलात्कार आदि किया जाता है, वह सब 'साहस'की कोटिमें आता है।] जो दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करता है, उसके ऊपर उस अपहृत द्रव्यके मूल्यसे दूना दण्ड लगाना चाहिये। जो 'साहस' (लूट-पाट, डकैती आदि) कर्म करके उसे स्वीकार नहीं करता—'मैंने नहीं किया है'—ऐसा उत्तर देता है, उसके ऊपर वस्तुके मूल्यसे चौगुना दण्ड लगाना उचित है॥ २६॥

जो मनुष्य दूसरेसे डकैती आदि 'साहस' करवाता है, उससे उस साहसके लिये कथित दण्डसे दूना दण्ड लेना चाहिये। जो ऐसा कहकर कि "मैं तुम्हें धन दूँगा, तुम 'साहस' (डकैती आदि) करो", दूसरेसे 'साहस'का काम कराता है, उससे साहसिकके लिये नियत दण्डकी अपेक्षा चौगुना दण्ड वसूल करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष (आचार्य आदि) की निन्दा या आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले, भ्रातृपत्नी (भौजाई या भयहु) पर प्रहार करनेवाले, प्रतिज्ञा करके न देनेवाले, किसीके बंद घरका ताला तोड़कर खोलनेवाले तथा पड़ोसी और कुटुम्बीजनोंका अपकार करनेवालेपर राजा पचास पणका दण्ड लगावे, यह शास्त्रका निर्णय है॥२७-२८॥

[बिना नियोगके] स्वेच्छाचारपूर्वक विधवासे गमन करनेवाले, संकटग्रस्त मनुष्यके पुकारनेपर उसकी रक्षाके लिये दौड़कर न जानेवाले, अकारण ही लोगोंको रक्षाके लिये पुकारनेवाले, चाण्डाल होकर श्रेष्ठ जातिवालोंका स्पर्श करनेवाले, दैव एवं पितृकार्यमें संन्यासीको भोजन करानेवाले, शूद्र, अनुचित शपथ करनेवाले, अयोग्य (अनधिकारी) होनेपर भी योग्य (अधिकारी) के कर्म

(वेदाध्ययनादि) करनेवाले, बैल एवं क्षुद्र पशु—बकरे आदिको बधिया करनेवाले, साधारण वस्तुमें भी ठगी करनेवाले तथा दासीका गर्भ गिरानेवालेपर एवं पिता-पुत्र, बहिन-भाई, पति-पत्नी तथा आचार्य-शिष्य–ये. पतित न होते हुए भी यदि एक-दूसरेका त्याग करते हों तो इनके ऊपर भी सौ पण दण्ड लगावे। यदि धोबी दूसरोंके वस्त्र पहने तो तीन पण और यदि बेचे, भाड़ेपर दे, बन्धक रखे या मँगनी दे, तो दस पण अर्थदण्डके योग्य होता है[1]। तोलनदण्ड, शासन, मान (प्रस्थ, द्रोण आदि) तथा नाणक (मुद्रा आदिसे चिह्नित निष्क आदि)—इनमें जो कूटकारी (मानके वजनमें कमी-बेशी तथा सुवर्णमें ताँबे आदिकी मिलावट करनेवाला) हो तथा उससे कूट-तुला आदि व्यवहार करता हो, उन दोनोंको पृथक्-पृथक् उत्तम साहसके दण्डसे दण्डित करना चाहिये। सिक्कोंकी परीक्षा करते समय यदि पारखी असली सिक्केको नकली या नकली सिक्केको असली बतावे तो राजा उससे भी प्रथम साहसका दण्ड वसूल करे। जो वैद्य आयुर्वेदको न जाननेपर भी पशुओं, मनुष्यों और राजकर्मचारियोंकी मिथ्या चिकित्सा करे, उसे क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम साहसके दण्डसे दण्डित करे। जो राजपुरुष कैद न करनेयोग्य (निरपराध) मनुष्योंको राजाकी आज्ञाके बिना कैद करता है और बन्धनके योग्य बन्दीको उसके अभियोगका निर्णय होनेके पहले ही छोड़ देता है, उसे उत्तम साहसका दण्ड देना चाहिये। जो व्यापारी कूटमान अथवा तुलासे धान-कपास आदि पण्यद्रव्यका अष्टमांश हरण करता है, वह दो सौ पणके दण्डसे दण्डनीय होता है। अपहृत द्रव्य यदि अष्टमांशसे अधिक या कम हो तो दण्डमें भी वृद्धि और कमी करनी चाहिये। ओषधि, घृत, तेल, लवण, गन्धद्रव्य, धान्य और गुड़ आदि पण्यवस्तुओंमें जो निस्सार वस्तुका मिश्रण कर देता है, राजा उसपर सोलह पण दण्ड लगावे ॥ २९—३९ ॥

यदि व्यापारीलोग संगठित होकर राजाके द्वारा निश्चित किये हुए भावको जानते हुए भी लोभवश कारु और शिल्पियोंको पीड़ा देनेवाले मूल्यकी वृद्धि या कमी करें तो राजा उनपर एक हजार पणका दण्ड लागू करे। राजा निकटवर्ती हो तो उनके द्वारा जिस वस्तुका जो मूल्य निर्धारित कर दिया गया हो, व्यापारीगण प्रतिदिन उसी भावसे क्रय-विक्रय करें; उसमें जो बचत हो, वही बनियोंके लिये लाभकारक मानी गयी है। व्यापारी देशज वस्तुपर पाँच प्रतिशत लाभ रक्खे और विदेशी द्रव्यको यदि शीघ्र ही क्रय-विक्रय कर ले तो उसपर दस प्रतिशत लाभ ले। राजा दूकानका खर्च पण्यवस्तुपर रखकर उसका भाव इस प्रकार निश्चित करे, जिससे क्रेता और विक्रेताको लाभ हो ॥ ४०—४३ ॥

विक्रीयासम्प्रदान

[प्रसङ्गप्राप्त 'साहस'का प्रकरण समाप्त करके अब 'विक्रीयासम्प्रदान' आरम्भ करते हैं। नारदजीके वचनानुसार 'विक्रीयासम्प्रदान'का स्वरूप इस प्रकार है—"मूल्य लेकर पण्यवस्तुका विक्रय करके जब खरीददारको वह वस्तु नहीं दी जाती है, तब वह 'विक्रीयासम्प्रदान' (बेचकर भी वस्तुको न देना) नामक विवादास्पद कहलाता है।" विक्रेय वस्तु 'चल' और 'अचल'के भेदसे दो प्रकारकी होती है। फिर उसके छः भेद किये गये हैं—गणित, तुलित, मेय, क्रियोपलक्षित, रूपोपलक्षित और दीप्तिसे उपलक्षित। सुपारीके फल आदि 'गणित' हैं; क्योंकि वे गिनकर बेचे जाते हैं। सोना, कस्तूरी और केसर आदि 'तुलित' हैं; क्योंकि वे तौलकर बेचे जाते हैं। शाली (अगहनी धान) आदि 'मेय' हैं; क्योंकि वे पात्रविशेषसे माप कर दिये जाते हैं। 'क्रियोपलक्षित' वस्तुमें घोड़े, भैंस आदिकी गणना है; क्योंकि उनकी चाल और दोहन आदिकी क्रियाको दृष्टिमें रखकर ही उनका क्रय-विक्रय होता है। 'रूपोपलक्षित' वस्तुमें पण्यस्त्री (वेश्या) आदिकी गणना है; क्योंकि उनके रूपके अनुसार ही उनका मूल्य होता है। 'दीप्तिसे उपलक्षित' वस्तुओंमें हीरा, मोती, मरकत और पद्मराग आदिकी गणना है। इन छहों प्रकारकी पण्यवस्तुको बेचकर, मूल्य लेकर भी यदि क्रेताको वह वस्तु नहीं दी जाती तो विक्रेताको किस प्रकार दण्डित करना चाहिये, यह बताते हैं—]

जो व्यापारी मूल्य लेकर भी ग्राहकको माल न दे, उससे वृद्धिसहित वह माल ग्राहकको दिलाया जाय। यदि ग्राहक

१. उपर्युक्त अपराधोंके लिये जो राजदण्ड है, वही मूलमें बताया गया है; परंतु जो वस्त्र उसने गायब कर दिया हो, उसका मूल्य वह वस्त्र-स्वामीको अलगसे दे। मनुजीने यह व्यवस्था दी है कि 'यदि वस्त्र एक बारका धुला है तो धोबी उसके मूल्यका अष्टमांश कम करके शेष मूल्य स्वामीको चुकावे। इसी तरह कई बारके धुले हुए वस्त्रका पादांश, तृतीयांश इत्यादि कम करके वह लौटावे।'

परदेशका हो तो उसके देशमें ले जाकर बेचनेसे जो लाभ होता है, उस लाभसहित वह वस्तु राजा व्यापारीसे ग्राहकको दिलावे। यदि पहला ग्राहक मालमें किसी प्रकार संदेह होनेपर वस्तुको न लेना चाहे तो व्यापारी उस बेची हुई वस्तुको भी दूसरेके हाथ बेच सकता है। यदि विक्रेताके देनेपर भी ग्राहक न ले और वह पण्यवस्तु राजा या दैवकी बाधासे नष्ट हो जाय तो वह हानि क्रेताके ही दोषसे होनेके कारण वही उस हानिको सहन करेगा, बेचनेवाला नहीं। यदि ग्राहकके माँगनेपर भी उस बेची हुई पण्यवस्तुको बेचनेवाला नहीं दे और वह पण्यद्रव्य राजा या दैवके कोपसे उपहत हो जाय तो वह हानि विक्रेताकी होगी॥ ४४—४६॥

जो व्यापारी किसीको बेची हुई वस्तु दूसरेके हाथ बेचता है, अथवा दूषित वस्तुको दोषरहित बतलाकर बेचता है, राजा उसपर वस्तुके मूल्यसे दुगुना अर्थदण्ड लगावे। जान-बूझकर खरीदे हुए पण्यद्रव्योंका मूल्य खरीदनेके बाद यदि बढ़ गया या घट गया तो उससे होनेवाले लाभ या हानिको जो ग्राहक नहीं जानता, उसे 'अनुशय' (माल लेनेमें आनाकानी) नहीं करनी चाहिये। विक्रेता भी यदि बढ़े हुए दामके कारण अपनेको लगे हुए घाटेको नहीं जान पाया है तो उसे भी माल देनेमें आनाकानी नहीं करनी चाहिये। इससे यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि खरीद-बिक्रीके पश्चात् यदि ग्राहकको घाटा दिखायी दे तो वह माल लेनेमें आपत्ति कर सकता है। इसी तरह विक्रेता उस भावपर माल देनेमें यदि हानि देखे तो वह उस मालको रोक सकता है। यदि अनुशय न करनेकी स्थितिमें क्रेता या विक्रेता अनुशय करें तो उनपर पण्यवस्तुके मूल्यका छठा अंश दण्ड लगाना चाहिये॥ ४७-४८॥

सम्भूयसमुत्थान

जो व्यापारी सम्मिलित होकर लाभके लिये व्यापार करते हैं, वे अपने नियोजित धनके अनुसार अथवा पहलेके समझौतेके अनुसार लाभ-हानिमें भाग ग्रहण करें। यदि उनमें कोई अपने साझीदारोंके मना-करनेपर या उनके अनुमति न देनेपर, अथवा प्रमादवश किसी वस्तुमें हानि करेगा, तो क्षतिपूर्ति उसे ही करनी होगी। यदि उनमें-से कोई पण्यद्रव्यकी विप्लवोंसे रक्षा करेगा तो वह दशमांश लाभका भागी होगा॥ ४९-५०॥

पण्यद्रव्योंका मूल्य निश्चित करनेके कारण राजा मूल्यका बीसवाँ भाग अपने शुल्कके रूपमें ग्रहण करे। यदि कोई व्यापारी राजाके द्वारा निषिद्ध एवं राजोपयोगी वस्तुको लाभके लोभसे किसी दूसरेके हाथ बेचता है तो राजा उससे वह वस्तु बिना मूल्य दिये ले सकता है। जो मनुष्य शुल्कस्थानमें वस्तुका मिथ्या परिमाण बतलाता है, अथवा वहाँसे खिसक जानेकी चेष्टा करता है तथा जो कोई बहाना बनाकर किसी विवादास्पद वस्तुका क्रय-विक्रय करता है—इन सबपर पण्यवस्तुके मूल्यसे आठगुना दण्ड लगाना चाहिये। यदि संघबद्ध होकर काम करनेवालोंमेंसे कोई देशान्तरमें जाकर मृत्युको प्राप्त हो जाय तो उसके हिस्सेके द्रव्यको दायाद (पुत्र आदि), बान्धव (मातुल आदि) अथवा ज्ञाति (सजातीय-सपिण्ड) आकर ले लें। उनके न होनेपर उस धनको राजा ग्रहण करे। संघबद्ध होकर काम करने-वालोंमें जो कुटिल या वञ्चक हो, उसे किसी तरहका लाभ दिये बिना ही संघसे बाहर कर दे। उनमेंसे जो अपना कार्य स्वयं करनेमें असमर्थ हो, वह दूसरेसे करावे। होता आदि ऋत्विजों, किसानों तथा शिल्पकर्मोपजीवी नट, नर्तकादिकोंके लिये भी रहन-सहनका ढंग उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट कर दिया गया॥ ५१—५४॥

स्तेय-प्रकरण

[अब 'स्तेय' अथवा चोरीके विषयमें बताया जाता है। मनुजीने 'साहस' और 'चोरी'में अन्तर बताते हुए लिखा है—"जो द्रव्य-रक्षकोंके समक्ष बलात्कारपूर्वक पराये धनको लूटा जाता है, वह 'साहस' या 'डकैती' है। तथा जो पराया धन स्वामीकी दृष्टिसे बचकर या किसीको चकमा देकर हड़प लिया जाता है, तथा 'मैंने यह कर्म किया है'—यह बात भयके कारण छिपायी जाती है, किसीपर प्रकट नहीं होने दी जाती, वह सब 'स्तेय' (चोरी) कर्म है।" चोरको कैसे पकड़ना चाहिये, यह बात बता रहे हैं—]

किसीके यहाँ चोरी होनेपर ग्राहक—राजकीय कर्मचारी या आरक्षा-विभागका सिपाही ऐसे व्यक्तिको पकड़े, जो लोगोंमें चोरीके लिये विख्यात हो—जिसे सब लोग चोर कहते हैं, अथवा जिसके पास चोरीका चिह्न—चोरी गया हुआ माल मिल जाय, उसे पकड़े। अथवा चोरीके दिनसे ही चोरके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए पता लग जानेपर उस चोरको बंदी बनावे। जो पहले भी चौर्य-कर्मका अपराधी रहा हो तथा जिसका कोई शुद्ध—निश्चित निवासस्थान न हो, ऐसे व्यक्तिको भी संदेहमें कैद करे। जो पूछनेपर

अपनी जाति और नाम आदिको छिपावें, जो द्यूतक्रीडा, वेश्यागमन और मद्यपानमें आसक्त हों, चोरीके विषयमें पूछनेपर जिनका मुँह सूख जाय और स्वर विकृत हो जाय, जो दूसरोंके धन और घरके विषयमें पूछते फिरें, जो गुप्तरूपसे विचरण करें, जो आय न होनेपर भी बहुत व्यय करनेवाले हों तथा जो विनष्ट द्रव्यों (फटे-पुराने वस्त्रों और टूटे-फूटे बर्तन आदि) को बेचते हों—ऐसे अन्य लोगोंको भी चोरीके संदेहमें पकड़ लेना चाहिये । जो मनुष्य चोरीके संदेहमें पकड़ा गया हो, वह यदि अपनी निर्दोषिताको प्रमाणित न कर सके तो राजा उससे चोरीका धन दिलाकर उसे चोरका दण्ड दे । राजा चोरसे चोरीका धन दिलाकर उसे अनेक प्रकारके शारीरिक दण्ड देते हुए मरवा डाले । यह दण्ड बहुमूल्य वस्तुओंकी भारी चोरी होनेपर ही देनेयोग्य है; किंतु यदि चोरी करनेवाला ब्राह्मण हो तो उसके ललाटमें दाग देकर उसको अपने राज्यसे निर्वासित कर दे । यदि गाँवमें मनुष्य आदि किसी प्राणीका वध हो जाय, अथवा धनकी चोरी हो जाय और चोरके गाँवसे बाहर निकल जानेका कोई चिह्न न दिखायी दे तो सारा दोष ग्रामपालपर आता है । वही चोरको पकड़कर राजाके हवाले करे । यदि ऐसा न कर सके तो जिसके घरमें धनकी चोरी हुई है, उस गृहस्वामीको चोरीका सारा धन अपने पाससे दे । यदि चोरके गाँवसे बाहर निकल जानेका कोई चिह्न वह दिखा सके तो जिस भूभागमें चोरका प्रवेश हुआ है, उसका अधिपति ही चोरको पकड़वावे, अथवा चोरीका धन अपने पाससे दे । यदि विवीत-स्थानमें अपहरणकी घटना हुई है तो विवीत-स्वामीका ही सारा दोष है । यदि मार्गमें या विवीत-स्थानसे बाहर दूसरे क्षेत्रमें चोरीका कोई माल मिले या चोरका ही चिह्न लक्षित हो तो चोर पकड़नेके कामपर नियुक्त हुए मार्गपालका अथवा उस दिशाके संरक्षकका दोष होता है । यदि गाँवसे बाहर, किंतु ग्रामकी सीमाके अंदरके क्षेत्रमें चोरी आदिकी घटना घटित हो तो उस ग्रामके निवासी ही क्षतिपूर्ति करें । उनपर यह उत्तरदायित्व तभीतक आता है, जबतक चोरका पदचिह्न सीमाके बाहर गया हुआ नहीं दिखायी देता । यदि सीमाके बाहर गया दिखायी पड़े, तो जिस ग्राम आदिमें उसका प्रवेश हो, वहींके लोग चोरको पकड़वाने और चोरीका माल वापस देनेके लिये जिम्मेदार हैं । यदि अनेक गाँवोंके बीचमें एक कोसकी सीमासे बाहर हत्या और चोरीकी घटना घटित हुई हो और अधिक जनसमूहकी दौड़-धूपसे चोरका पदचिह्न मिट गया हो तो पाँच गाँवके लोग अथवा दस गाँवके लोग मिलकर चोरको पकड़वाने तथा चोरीका माल वापस देनेका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें । बंदीको गुप्तरूपसे जेलसे छुड़ाकर भगा ले जानेवाले, घोड़ों और हाथियोंकी चोरी करनेवाले तथा बलपूर्वक किसीकी हत्या करनेवाले लोगोंको राजा शूलीपर चढ़वा दे । राजा वस्त्र आदिकी चोरी करनेवाले और गठरी आदि काटनेवाले चोरोंके प्रथम अपराधमें क्रमशः अङ्गुष्ठ और तर्जनी कटवा दे और दूसरी बार वही अपराध करनेपर उन दोनोंको क्रमशः एक हाथ तथा एक पैरसे हीन कर दे । जो मनुष्य जान-बूझकर चोर या हत्यारेको भोजन, रहनेके लिये स्थान, सर्दीमें तापनेके लिये अग्नि, प्यासे हुएको जल, चोरी करनेके तौर-तरीकेकी सलाह, चोरीके साधन और उसी कार्यके लिये परदेश जानेके लिये मार्गव्यय देता है, उसको उत्तम साहसका दण्ड देना चाहिये । दूसरेके शरीरपर घातक शस्त्रसे प्रहार करने तथा गर्भवती स्त्रीके गर्भ गिरानेपर भी उत्तम साहसका ही दण्ड देना उचित है । किसी भी पुरुष या स्त्रीकी हत्या करनेपर उसके शील और आचारको दृष्टिमें रखते हुए उत्तम या अधम साहसका दण्ड देना चाहिये । जो पुरुषकी हत्या करनेवाली तथा दूसरोंको जहर देकर मारनेवाली है, ऐसी स्त्रीके गलेमें पत्थर बाँधकर उसे पानीमें फेंक देना चाहिये; (परंतु यदि वह गर्भवती हो तो उस समय उसे ऐसा दण्ड न दे ।) विष देनेवाली, आग लगानेवाली तथा अपने पति, गुरु या संतानको मारनेवाली स्त्रीके कान, हाथ, नाक और ओठ काटकर उसे साँड़ोंसे कुचलवाकर मरवा डाले । खेत, घर, वन, ग्राम, रक्षित भूभाग अथवा खलिहानमें आग लगानेवाले या राजपत्नीसे समागम करनेवाले मनुष्यको सूखे नरकुल या सरकंडों-तिनकोंसे ढककर जला दे ॥ ५५—६७ ॥

स्त्री-संग्रहण

[अब 'स्त्रीसंग्रहण' नामक विवादपर विचार किया जाता है । परायी स्त्री और पराये पुरुषका मिथुनीभाव (परस्पर आलिङ्गन) 'स्त्री-संग्रहण' कहलाता है । दण्डनीयताकी दृष्टिसे इसके तीन भेद हैं—प्रथम, मध्यम और उत्तम । अयोग्य देश और कालमें, एकान्त स्थानमें, बिना कुछ बोले-चाले परायी स्त्रीको कटाक्षपूर्वक देखना और हास्य करना 'प्रथम साहस' माना गया है । उसके पास सुगन्धित वस्तु—इत्र-फुलेल आदि, फूलोंके हार, धूप, भूषण और वस्त्र भेजना

तथा उन्हें खाने-पीनेका प्रलोभन देना 'मध्यम साहस' कहा गया है। एकान्त स्थानोंमें एक साथ एक आसनपर बैठना, आपसमें सटना, एक-दूसरेके केश पकड़ना आदिको 'उत्तम संग्रहण' या 'उत्तम साहस' माना गया है। संग्रहणके कार्यमें प्रवृत्त पुरुषको बंदी बना लेना चाहिये—यह बात निम्नाङ्कित श्लोकमें बता रहे हैं—]

केशग्रहणपूर्वक परस्त्रीके साथ क्रीड़ा करनेवाले पुरुषको व्यभिचारके अपराधमें पकड़ना चाहिये। सजातीय नारीसे समागम करनेवालेको एक हजार पण; अपनेसे नीच जातिकी स्त्रीसे सम्भोग करनेवालेको पाँच सौ पण एवं उच्चजातिकी नारीसे संगम करनेवालेको वधका दण्ड दे और ऐसा करनेवाली स्त्रीके नाक-कान आदि कटवा डाले। जो पुरुष परस्त्रीकी नीवी (कटिवस्त्र), स्तन, कञ्चुकी, नाभि और केशोंका स्पर्श करता है, अनुचित देशकालमें सम्भाषण करता है, अथवा उसके साथ एक आसनपर बैठता है, उसे भी व्यभिचारके दोषमें पकड़ना चाहिये। जो स्त्री मना करनेपर भी परपुरुषके साथ सम्भाषण करे, उसको सौ पण और जो पुरुष निषेध करनेपर भी परस्त्रीके साथ सम्भाषण करे तो उसे दो सौ पणका दण्ड देना चाहिये। यदि वे दोनों मना करनेके बाद भी सम्भाषण करते पाये जायँ तो उन्हें व्यभिचारका दण्ड देना चाहिये। पशुके साथ मैथुन करनेवालेपर सौ पण तथा नीचजातिकी स्त्री या गौसे समागम करनेवालेपर पाँच सौ पणका दण्ड करे। किसीकी अवरुद्धा (खरीदी हुई) दासी तथा रखेल स्त्रीके साथ उसके समागमके योग्य होनेपर भी समागम करनेवाले पुरुषपर पचास पणका दण्ड लगाना चाहिये। दासीके साथ बलात्कार करनेवालेके लिये दस पणका विधान है। चाण्डाली या संन्यासिनीसे समागम करनेवाले मनुष्यके ललाटमें 'भग'का चिह्न अङ्कित करके उसे देशसे निर्वासित कर दे ॥ ६८—७३ ॥

प्रकीर्णक-प्रकरण

जो मनुष्य राजाज्ञाको न्यूनाधिक करके लिखता है, अथवा व्यभिचारी या चोरको छोड़ देता है, राजा उसे उत्तम साहसका दण्ड दे। ब्राह्मणको अभक्ष्य पदार्थका भोजन कराके दूषित करनेवाला उत्तम साहसके दण्डका भागी होता है। कृत्रिम स्वर्णका व्यवहार करनेवाले तथा मांस बेचनेवालेको एक हजार पणका दण्ड दे और उसे नाक, कान और हाथ—इन तीन अङ्गोंसे हीन कर दे। यदि पशुओंका स्वामी समर्थ होते हुए भी अपने दाढ़ों और सींगोंवाले पशुओंसे मारे जाते हुए मनुष्यको छुड़ाता नहीं है तो उसको प्रथम साहसका दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि पशुके आक्रमणका शिकार होनेवाला मनुष्य जोर-जोरसे चिल्लाकर पुकारे कि 'अरे! मैं मारा गया। मुझे बचाओ', उस दशामें भी यदि पशुओंका स्वामी उसके प्राण नहीं बचाता तो वह दूने दण्डका भागी होता है। जो अपने कुलमें कलङ्क लगनेके डरसे घरमें घुसे हुए जार (परस्त्रीलम्पट) को चोर बताता है, अर्थात् 'चोर-चोर' कहकर निकालता है, उसपर पाँच सौ पण दण्ड लगाना चाहिये। जो राजाको प्रिय न लगनेवाली बात बोलता है, राजाकी ही निन्दा करता है तथा राजाकी गुप्त मन्त्रणाका भेदन करता—शत्रुपक्षके कानोंतक पहुँचा देता है, उस मनुष्यकी जीभ काटकर उसे राज्यसे निकाल देना चाहिये। मृतकके अङ्गसे उतारे गये वस्त्र आदिका विक्रय करनेवाले, गुरुकी ताड़ना करनेवाले तथा राजाकी सवारी और आसनपर बैठनेवालेको राजा उत्तम साहसका दण्ड दे। जो क्रोधमें आकर किसीकी दोनों आँखें फोड़ देता है, उस अपराधीको, जो राजाके अनन्य हितचिन्तकोंमें न होते हुए भी राजाके लिये अनिष्टसूचक फलादेश करता है, उस ज्यौतिषीको तथा जो ब्राह्मण बनकर जीविका चला रहा हो, उस शूद्रको आठ सौ पणके दण्डसे दण्डित करना चाहिये। जो मनुष्य न्यायसे पराजित होनेपर भी अपनी पराजय न मानकर पुनः न्यायके लिये उपस्थित होता है, उसको धर्मपूर्वक पुनः जीतकर उसके ऊपर दुगुना दण्ड लगावे। राजाने अन्यायपूर्वक जो अर्थदण्ड लिया हो, उसे तीसगुना करके वरुणदेवताको निवेदन करनेके पश्चात् स्वयं ब्राह्मणोंको बाँट दे। जो राजा धर्मपूर्वक व्यवहारोंको देखता है, उसे धर्म, अर्थ, कीर्ति, लोकपंक्ति, उपग्रह (अर्थसंग्रह), प्रजाओंसे बहुत अधिक सम्मान और स्वर्गलोकमें सनातन स्थान—ये सात गुण प्राप्त होते हैं ॥ ७४—८३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वाक्पारुष्यादि प्रकरणोंका कथन' नामक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

दो सौ उनसठवाँ अध्याय

ऋग्विधान—विविध कामनाओंकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त होनेवाले ऋग्वेदीय मन्त्रोंका निर्देश

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं महर्षि पुष्करके द्वारा परशुरामजीके प्रति वर्णित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका विधान कहता हूँ, जिसके अनुसार मन्त्रोंके जप और होमसे भोग एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

पुष्कर बोले—परशुराम ! अब मैं प्रत्येक वेदके अनुसार तुम्हारे लिये कर्तव्यकर्मोंका वर्णन करता हूँ। पहले तुम भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले 'ऋग्विधान'को सुनो। गायत्री-मन्त्रका विशेषतः प्राणायामपूर्वक जलमें खड़े होकर तथा होमके समय जप करनेवाले पुरुषकी समस्त मनोवाञ्छित कामनाओंको गायत्री देवी पूर्ण कर देती हैं। ब्रह्मन् ! जो दिनभर उपवास करके केवल रात्रिमें भोजन करता और उसी दिन अनेक बार स्नान करके गायत्री-मन्त्रका दस सहस्र जप करता है, उसका वह जप समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। जो गायत्रीका एक लाख जप करके हवन करता है, वह मोक्षका अधिकारी होता है। 'प्रणव' परब्रह्म है। उसका जप सभी पापोंका हनन करनेवाला है। नाभिपर्यन्त जलमें स्थित होकर ॐकारका सौ बार जप करके अभिमन्त्रित किये गये जलको जो पीता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। गायत्रीके प्रथम अक्षर प्रणवकी तीन मात्राएँ—अकार, उकार और मकार—ये ही 'ऋक्', 'साम' और 'यजुष्'—तीन वेद हैं, ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनों देवता हैं तथा ये ही गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—तीनों अग्नियाँ हैं। गायत्रीकी जो सात महाव्याहृतियाँ हैं, वे ही सातों लोक हैं। इनके उच्चारणपूर्वक गायत्री-मन्त्रसे किया हुआ होम समस्त पापोंका नाश करनेवाला होता है। सम्पूर्ण गायत्री-मन्त्र तथा महाव्याहृतियाँ—ये सब जप करनेयोग्य एवं उत्कृष्ट मन्त्र हैं। परशुरामजी ! अघमर्षण-मन्त्र **'ऋतं च सत्यं च०'** (१० । १९० । १–३) इत्यादि जलके भीतर डुबकी लगाकर जपा जाय तो सर्वपापनाशक होता है। **'अग्निमीळे पुरोहितम्०'** (ऋग्वेद १ । १ । १) —यह ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र अग्निदेवताका सूक्त है। अर्थात् 'अग्नि' इसके देवता हैं। जो मस्तकपर अग्निका पात्र धारण करके एक वर्षतक इस सूक्तका जप करता है, तीनों काल स्नान करके हवन करता है, गृहस्थोंके घरमें चूल्हेकी आग बुझ जानेपर उनके यहाँसे भिक्षान्न लाकर उससे जीवननिर्वाह करता है तथा उक्त प्रथम सूक्तके अनन्तर जो वायु आदि देवताओंके सात सूक्त (१ । १ । २ से ८ सूक्त) कहे गये हैं, उनका भी जो प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर जप करता है, वह मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो मेधा (धारण-शक्ति) को प्राप्त करना चाहे, वह प्रतिदिन **'सदसस्पतिं०'** (१ । १८ । ६ से ८) इत्यादि तीन ऋचाओंका जप करे ॥ २–११ ॥

'अम्बयो यन्त्यध्वभिः०' (१ । २३ । १६ से २४) आदि—ये नौ ऋचाएँ अकालमृत्युका नाश करनेवाली कही गयी हैं। कैदमें पड़ा हुआ या अवरुद्ध (नजरबंद) द्विज **'शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः०'** (१ । २४ । १२–१४) इत्यादि तीन ऋचाओंका जप करे। इसके जपसे पापी समस्त पापोंसे छूट जाता है और रोगी रोगरहित हो जाता है। जो शाश्वत कामनाकी सिद्धि एवं बुद्धिमान् मित्रकी प्राप्ति चाहता हो, वह प्रतिदिन इन्द्रदेवताके **'इन्द्रस्य०'** आदि सोलह ऋचाओंका जप करे। **'हिरण्यस्तूपः०'** (१० । १४९ । ५) इत्यादि मन्त्रका जप करनेवाला शत्रुओंकी गतिविधिमें बाधा पहुँचाता है। **'ये ते पन्थाः०'** (१ । ३५ । ११) का जप करनेसे मनुष्य मार्गमें क्षेमका भागी होता है। जो रुद्रदेवता-सम्बन्धिनी छः ऋचाओंसे प्रतिदिन शिवकी स्तुति करता है, अथवा रुद्रदेवताको चरु अर्पित करता है, उसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो प्रतिदिन **'उद्वयं तमसः०'** (१ । ५० । १०) तथा **'उदुत्यं जातवेदसम्०'** (१ । ५० । १)—इन ऋचाओंसे प्रतिदिन उदित होते हुए सूर्यका उपस्थान करता है तथा उनके उद्देश्यसे सात बार जलाञ्जलि देता है, उसके मानसिक दुःखका विनाश हो जाता है। **'द्विषन्तं०'** इत्यादि आधी ऋचासे लेकर **'यद्विप्राः०'** इत्यादि मन्त्रतकका जप और चिन्तन करे। इसके प्रभावसे अपराधी मनुष्य सात ही दिनोंमें दूसरोंके विद्वेषका पात्र हो जाता है ॥ १२–१७½ ॥

आरोग्यकी कामना करनेवाला रोगी **'पुरीष्यासोऽग्नयः०'**

(३ । २२ । ४)—इस ऋचाका जप करे। इसी ऋचाका आधा भाग शत्रुनाशके लिये उत्तम है। अर्थात् शत्रुकी बाधा दूर करनेके लिये इसका जप करना चाहिये। इसका सूर्योदयके समय जप करनेसे दीर्घ आयु, मध्याह्नमें जप करनेसे अक्षय तेज और सूर्यास्तकी वेलामें जप करनेसे शत्रुनाश होता है। **'नव यः०'** (८ । ९३ । २) आदि सूक्तका जप करनेवाला शत्रुओंका दमन करता है। सुपर्ण-सम्बन्धिनी ग्यारह ऋचाओंका जप सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला है। अध्यात्मका प्रतिपादन करनेवाली **'क०'** आदि ऋचाओंका जप करनेवाला मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १८—२१ ॥

'आ नो भद्राः०' (१ । ८९ । १)—इस ऋचाके जपसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती है। हाथमें समिधा लिये **'त्वं सोम०'** (९ । ८६ । २४)—इस ऋचासे शुक्लपक्षकी द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन करे। जो हाथमें समिधा लेकर उक्त मन्त्रसे चन्द्रमाका उपस्थान करता है, उसे निस्संदेह वस्त्रोंकी प्राप्ति होती है। दीर्घ आयु चाहनेवाला **'इमं०'** (१।९४) आदि कौत्ससूक्तका सदा जप करे। जो मध्याह्नकालमें **'अप नः शोशुचदघम्०'** (१ । ९७ । १ से ८ तक) इत्यादि ऋचाके द्वारा सूर्यदेवकी स्तुति करता है, वह अपने पापोंको उसी प्रकार त्याग देता है, जैसे कोई मनुष्य तिनकेसे सींकको अलग कर लेता है। यात्री **'जातवेदसे०'**—(१ । ९९ । १)—इस मङ्गलमयी ऋचाका मार्गमें जप करे। ऐसा करके वह समस्त भयोंसे छूट जाता और कुशलपूर्वक घर लौट आता है। प्रभातकालमें इसका जप करनेसे दुःस्वप्नका नाश होता है। **'प्र मन्दिने पितुमदर्चता०'** (१ । १०१ । १)—इस ऋचाका जप करनेसे प्रसव करनेवाली स्त्री सुखपूर्वक प्रसव करती है। **'इन्द्रम्०'**(१ । १०६ । १) इत्यादि ऋचाका जप करते हुए सात बार बलिवैश्वदेव-कर्म करके घृतका होम करनेसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूट जाता है। **'इमाम्०'**—(१० । ८५ । ४५)—इस ऋचाका सदा जप करनेवाला अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। तीन दिन उपवास करके पवित्रतापूर्वक **'मा नस्तोके०'** (१ । ११४ । ८-९) आदि दो ऋचाओंद्वारा गूलरकी घृतयुक्त समिधाओंका हवन करे। ऐसा करनेसे मनुष्य मृत्युके समस्त पाशोंका छेदन करके रोगहीन जीवन बिताता है। दोनों बाँहें ऊपर उठाकर इसी **'मा नस्तोके०'** (१ । ११४ । ८) आदि ऋचासे भगवान् शंकरकी स्तुति करके शिखा बाँध लेनेपर मनुष्य सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके लिये अजेय हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जो मनुष्य हाथमें समिधाएँ लेकर **'चित्रं देवानाम्०'** (१ । ११५ । १) इत्यादि मन्त्रसे प्रतिदिन तीनों संध्याओंके समय भगवान् भास्करका उपस्थान करता है, वह मनोवाञ्छित धन प्राप्त कर लेता है। **'स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिम्०'** (२ । १५ । ९) आदि ऋचाका प्रातः, मध्याह्न और अपराह्नमें जप करनेसे सम्पूर्ण दुःस्वप्नका नाश होता है एवं उत्तम भोजनकी प्राप्ति होती है। **'उभे पुनामि रोदसी०'** (१ । १३३ । १)—यह मन्त्र राक्षसोंका विनाशक कहा गया है। **'उभयासो जातवेदः०'** (२ । २ । १२-१३) आदि ऋचाओंका जप करनेवाला मनोऽभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करता है। **'तमागन्म सोमरयः०'** (८ । १९ । ३२) ऋचाका जप करनेवाला मनुष्य आततायीके भयसे छुटकारा पाता है ॥ २२—३४ ॥

'कया शुभा सवयसः०' (१ । १६५ । १)—इस ऋचाका जप करनेवाला अपनी जातिमें श्रेष्ठताको प्राप्त करता है। **'इमं नु सोमम्०'** (१ । १७९ । ५)—इस ऋचाका जप करनेसे मनुष्यको समस्त कामनाओंकी प्राप्ति होती है। **'पितुं नु स्तोषं०'** (१ । १८७ । १) ऋचासे नित्य उपस्थान करनेपर नित्य अन्न उपस्थित होता है। **'अग्ने नय सुपथा०'** (१ । १८९ । १)—इस सूक्तसे घृतका होम किया जाय तो वह परलोकमें उत्तम मार्ग प्रदान करनेवाला होता है। जो सदा सुश्लोकका जप करता है, वह वीरोंको न्यायके मार्गपर ले जाता है। **'कङ्कतो न कङ्कतो०'** (१ । १९१ । १)—इस सूक्तका जप सब प्रकारके विघ्नोंका प्रभाव दूर कर देता है। **'यो जात एव प्रथमो०'** (२ । १२)—इस सूक्तका जप करनेवाला सभी कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। **'गणानां त्वा०'** (२ । २३ । १) सूक्तके जपसे उत्तम स्निग्ध पदार्थ प्राप्त होता है। **'यो मे राजन्०'** (२ । २८ । १०)—यह ऋचा दुःस्वप्नोंका शमन करनेवाली है। मार्गमें प्रस्थित हुआ जो मनुष्य अपने सामने प्रशस्त या अप्रशस्त शत्रुको खड़ा हुआ देखे, वह **'कुविदङ्ग०'** इत्यादि मन्त्रका जप करे, इससे उसकी रक्षा हो जाती है। बाईसवें उत्तम आध्यात्मिक सूक्तका पर्वकालमें जप करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। **'कृणुष्व पाजः०'** (४ । ४ । १)—इस सूक्तका जप करते हुए एकाग्रचित्तसे घीकी आहुति देनेवाला पुरुष शत्रुओंके प्राण ले सकता है तथा राक्षसोंका भी विनाश कर सकता है। जो स्वयं **'परि०'** इत्यादि सूक्तसे प्रतिदिन अग्निका उपस्थान करता है, विश्वतोमुख अग्निदेव स्वयं उसकी सब ओरसे

रक्षा करते हैं। **'हंसः शुचिषत्०'** (४ । ४० । ५) इत्यादि मन्त्रका जप करते हुए सूर्यका दर्शन करे। ऐसा करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥ ३५—४३ ॥

कृषिमें संलग्न गृहस्थ मौन रहकर क्षेत्रके मध्यभागमें विधिवत् स्थालीपाक होम करे। ये आहुतियाँ **'इन्द्राय स्वाहा। मरुद्भ्यः स्वाहा। पर्जन्याय स्वाहा। एवं भगाय स्वाहा।'**—कहकर उन-उन देवताओंके निमित्त अग्निमें डाले। फिर जैसे स्त्रीकी योनिमें बीज-वपनके लिये जननेन्द्रियका व्यापार होता है, उसी तरह किसान धान्यका बीज बोनेके लिये हराईके साथ हलका संयोग करे और **'शुनासीराविमां०'** (४ । ५७ । ५)—इस ऋचाका जप भी करावे। इसके बाद गन्ध, माल्य और नमस्कारके द्वारा इन सबके अधिष्ठाता देवताओंकी पूजा करे। ऐसा करनेपर बीज बोने, फसल काटने और फसलको खेतसे खलिहानमें लानेके समय किया हुआ सारा कर्म अमोघ होता है, कभी व्यर्थ नहीं जाता। इससे सदैव कृषिकी वृद्धि होती है। **'समुद्रादूर्मिर्मधुमान्०'** (४ । ५८ । १) इस सूक्तके जपसे मनुष्य अग्निदेवसे अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति करता है। जो **'विश्वानि नो दुर्गहा०'** (५ । ४ । ९-१०) आदि दो ऋचाओंसे जो अग्निदेवका पूजन करता है, वह सम्पूर्ण विपत्तियोंको पार कर जाता है और अक्षय यशकी प्राप्ति करता है। इतना ही नहीं, वह विपुल लक्ष्मी और उत्तम विजयको भी हस्तगत कर लेता है। **'अग्ने त्वम्०'** (५।२४।१)—इस ऋचासे अग्निकी स्तुति करनेपर मनोवाञ्छित धनकी प्राप्ति होती है। संतानकी अभिलाषा रखनेवाला वरुणदेवता-सम्बन्धी तीन ऋचाओंका नित्य जप करे ॥ ४४—५० ॥

'स्वस्ति न इन्द्रो०' (१ । ८९ । ६—८) आदि तीन ऋचाओंका सदा प्रातःकाल जप करे। यह महान् स्वस्त्ययन है। **'स्वस्ति पन्थामनु चरेम०'** (५ । ५१ । १५)—इस ऋचाका उच्चारण करके मनुष्य मार्गमें सकुशल यात्रा करता है। **'वि जिहीष्व वनस्पते०'** (५ । ७८ । ५) के जपसे शत्रु रोगग्रस्त हो जाते हैं। इसके जपसे गर्भवेदनासे मूर्च्छित स्त्रीको गर्भके संकटसे भलीभाँति छुटकारा मिल जाता है। वृष्टिकी कामना करनेवाला निराहार रहकर भीगे वस्त्र पहने हुए **'अच्छा वद०'** (५ । ८३) आदि सूक्तका प्रयोग करे। इससे शीघ्र ही प्रचुर वर्षा होती है। पशुधनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य **'मनसः कामम्०'** (श्रीसूक्त १०) इत्यादि ऋचाका जप करे। संतानाभिलाषी पुरुष पवित्र व्रत ग्रहण करके **'कर्दमेन०'** (श्रीसूक्त ११)—इस मन्त्रसे स्नान करे। राज्यकी कामना रखनेवाला मानव **'अश्वपूर्वां०'** (श्रीसूक्त ३) इत्यादि ऋचाका जप करता हुआ स्नान करे। ब्राह्मण विधिवत् रोहितचर्मपर, क्षत्रिय व्याघ्रचर्मपर एवं वैश्य बकरेके चर्मपर स्नान करे। प्रत्येकके लिये दस-दस सहस्र होम करनेका विधान है। जो सदा अक्षय गोधनकी अभिलाषा रखता हो, वह गोष्ठमें जाकर **'आ गावो अग्मन्नुत भद्रम्०'** (६ । २८ । १) ऋचाका जप करता हुआ लोकमाता गौको प्रणाम करे और गोचरभूमितक उसके साथ जाय। राजा **'उप०'** आदि तीन ऋचाओंसे अपनी दुन्दुभियोंको अभिमन्त्रित करे। इससे वह तेज और बलकी प्राप्ति करता है और शत्रुपर भी काबू पाता है। दस्युओंसे घिर जानेपर मनुष्य हाथमें तृण लेकर **'रक्षोघ्न-सूक्त'**(१०।८७)का जप करे। **'ये के च ज्मा०'** (६।५२।१५)—इस ऋचाका जप करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। राजा 'जीमूत-सूक्त'से सेनाके सभी अङ्गोंको उसके चिह्नके अनुसार अभिमन्त्रित करे। इससे वह रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करनेमें समर्थ होता है। **'प्राग्नये'** (७।५) आदि तीन सूक्तोंके जपसे मनुष्यको अक्षय धनकी प्राप्ति होती है। **'अमीवहा०'** (७ । ५५)—इस सूक्तका पाठ करके रात्रिमें भूतोंकी स्थापना करे। फिर संकट, विषम एवं दुर्गम स्थलमें, बन्धनमें या बन्धनमुक्त अवस्थामें, भागते अथवा पकड़े जाते समय सहायताकी इच्छासे इस सूक्तका जप करे। तीन दिन नियमपूर्वक उपवास रखकर खीर और चरु पकावे। फिर **'त्र्यम्बकं यजामहे०'** (७ । ५९ । १२) मन्त्रसे उसकी सौ आहुतियाँ भगवान् महादेवके उद्देश्यसे अग्निमें डाले तथा उसीसे पूर्णाहुति करे। दीर्घकालतक जीवित रहनेकी इच्छावाला पुरुष स्नान करके **'तच्चक्षुर्देवहितम्०'** (७ । ६६ । १६)—इस ऋचासे उदय-कालिक एवं मध्याह्नकालिक सूर्यका उपस्थान करे। **'न हि०'** आदि चार ऋचाओंके पाठसे मनुष्य महान् भयसे मुक्त हो जाता है। **'पर ऋणा सावीः०'** (२।२८।९-१०) आदि दो ऋचाओंसे होम करनेपर ऐश्वर्यकी उपलब्धि होती है। **'इन्द्रासोमा तपतम्०'** (७।१०४) से प्रारम्भ होनेवाला सूक्त शत्रुओंका विनाश करनेवाला कहा गया है। मोहवश जिसका व्रत भङ्ग हो गया अथवा व्रात्य-संसर्गके कारण जो पतित हो गया है, वह उपवास करके **'त्वमग्ने व्रतपा०'** (८ । ११ । १)—इस ऋचासे घृतका होम करे। **'आदित्य'** और **'सम्राजा'**—इन दोनों ऋचाओंका जप करनेवाला शास्त्रार्थमें विजयी होता है। **'मही०'** आदि चार ऋचाओंके जपसे महान् भयसे मुक्ति

मिलती है। **'यदि०'** इत्यादि ऋचाका जप करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। इन्द्रदेवतासम्बन्धिनी बयालीसवीं ऋचाका जप करनेसे शत्रुओंका विनाश होता है। **'वाचं मही०'**—इस ऋचाका जप करके मनुष्य आरोग्यलाभ करता है। प्रयत्नपूर्वक पवित्र हो **'शं नो भव०'** (८ । ४८ । ४-५)—इन दो ऋचाओंके जपपूर्वक भोजन करके हृदयका हाथसे स्पर्श करे। इससे मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता। स्नान करके **'उत्तमेदम्०'**—इस मन्त्रसे हवन करके पुरुष अपने शत्रुओंका विनाश कर डालता है। **'शंनो अग्नि०'** (७ । ३५)—इस सूक्तसे हवन करनेपर मनुष्य धन पाता है। **'कन्या वाखायती०'** (८ । ९१)—इस सूक्तका जप करके वह दिग्भ्रमके दोषसे छुटकारा पाता है। सूर्योदयके समय **'यदद्यकच्च०'** (८ । ९३ । ४)—इस ऋचाका जप करनेसे सम्पूर्ण जगत् वशीभूत हो जाता है। **'यद्वाग्०'** (८ । १०० । १०)—इत्यादि ऋचाके जपसे वाणी संस्कारयुक्त होती है। **'वचोविद्म्'** (८ । १०१ । १६) ऋचाका मन-ही-मन जप करनेवाला वाक्-शक्ति प्राप्त करता है। पावमानी ऋचाएँ परम पवित्र मानी गयी हैं। वैखानस-सम्बन्धिनी तीस ऋचाएँ भी परम पवित्र मानी गयी हैं। ऋषिश्रेष्ठ परशुराम! **'परस्य०'** इत्यादि बासठ ऋचाएँ भी पवित्र कही गयी हैं। **'स्वादिष्ठया०'** (९ । १-६७) इत्यादि सरसठ सूक्त समस्त पापोंके नाशक, सबको पवित्र करनेवाले तथा कल्याणकारी कहे गये हैं। छः सौ दस पावमानी ऋचाएँ कही गयी हैं। इनका जप और इनसे हवन करनेवाला मनुष्य भयंकर मृत्युभयको जीत लेता है। पाप-भयके विनाशके लिये **'आपो हि ष्ठाः'** (१० । ९ । १–३) इत्यादि ऋचाका जलमें स्थित होकर जप करे। **'प्र देवत्रा ब्रह्मणे०'** (१० । ३० । १)—इस ऋचाका मरु-प्रदेशमें मनुष्य प्राणान्तक भयके उपस्थित होनेपर नियमपूर्वक जप करे। उससे शीघ्र भयमुक्त होकर मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। **'प्रा वेपा मा बृहतः०'** (१० । ३४ । १)—इस एक ऋचाका प्रातःकाल सूर्योदयके समय मानसिक जप करे। इससे द्यूतमें विजयकी प्राप्ति होती है। **'मा प्र गाम०'** (१० । ५७ । १)—इस ऋचाका जप करनेसे पथभ्रान्त मनुष्य उचित मार्गको पा जाता है। यदि अपने किसी प्रिय सुहृद्की आयु क्षीण हुई जाने तो स्नान करके **'यत्ते यमं०'** (१० । ५८ । १)—इस मन्त्रका जप करते हुए उसके मस्तकका स्पर्श करे। पाँच दिनतक हजार बार ऐसा करनेसे वह लंबी आयु प्राप्त करता है। विद्वान् पुरुष **'इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा०'** (१० । ६१ । १)—इस ऋचासे घृतकी एक हजार आहुतियाँ दे। पशुओंकी इच्छा करनेवालेको गोशालामें और अर्थकामीको चौराहेपर हवन करना चाहिये। **'वयःसुपर्णा०'** (१० । ७३ । ११)—इस ऋचाका जप करनेवाला लक्ष्मीको प्राप्त करता है। **'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि०'** (१० । ८८ । १) —इस मन्त्रका जप करके मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसके रोग नष्ट हो जाते हैं तथा उसकी जठराग्नि प्रबल हो जाती है। **'या ओषधयः०'** यह मन्त्र स्वस्त्ययन (मङ्गल-कारक) है। इसके जपसे रोगोंका विनाश हो जाता है। वृष्टिकी कामना करनेवाला **'बृहस्पते अति यदर्यो०'** (२ । २३ । १५) आदि ऋचाका प्रयोग करे। **'सर्वत्र०'** इत्यादि मन्त्रके जपसे अनुपम पराशान्तिकी प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये। संतानकी कामनावाले पुरुषके लिये 'संकाश्य-सूक्त'का जप सदा हितकर बताया गया है। **'अहं रुद्रेभिर्वसुभिः०'** (१० । १२५ । १)—इस ऋचाके जपसे मानव प्रवचनकुशल हो जाता है। **'रात्री व्यख्यदायती०'** (१० । १२७ । १)—इस ऋचाका जप करनेवाला विद्वान् पुरुष पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता। रात्रिके समय 'रात्रिसूक्त'-का जप करनेवाला मनुष्य रात्रिको कुशलपूर्वक व्यतीत करता है। **'कल्पयन्ती०'**—इस ऋचाका नित्य जप करनेवाला शत्रुओंका विनाश करनेमें समर्थ होता है। 'दाक्षायणसूक्त' महान् आयु एवं तेजकी प्राप्ति कराता है। **'उत देवाः०'** (१० । १३७ । १) —यह रोगनाशक मन्त्र है। व्रतधारणपूर्वक इसका जप करना चाहिये। अग्निसे भय होनेपर **'अयमग्ने जरिता त्वे०'** (१० । १४२ । १) इत्यादि ऋचाका जप करे। जंगलोंमें **'अरण्यान्यरण्यानि०'** (१० । १४६ । १)—इस मन्त्रका जप करे तो भयका नाश होता है। ब्राह्मीको प्राप्त करके ब्रह्म-सम्बन्धिनी दो ऋचाओंका जप करे और पृथक्-पृथक् जलसे ब्राह्मीलता एवं शतावरीको ग्रहण करे। इससे मेधाशक्ति और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। **'शास इत्था०'** (१० । १५२ । १) —यह ऋचा शत्रुनाशिनी मानी गयी है। संग्राममें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वीरको इसका जप करना चाहिये। **'ब्रह्मणाग्निः संविदानः०'** (१० । १६२ । १)—यह ऋचा गर्भमृत्युका निवारण करनेवाली है ॥ ५१–९१ ॥

'अपेहि०' (१० । १६४)—इस सूक्तका पवित्र होकर जप करना चाहिये। यह दुःस्वप्नको नाश करनेवाला है। **'येनेदम्०'** इत्यादि ऋचाका जप करके साधक परम

समाधिमें स्थिर होता है। 'मयोभूर्वातः०' (१०।१६९।१) —यह ऋचा गौओंके लिये परम मङ्गलकारक है। इसके द्वारा शाम्बरी माया अथवा इन्द्रजालका निवारण करे। 'महि त्रीणाम-वोऽस्तु०' (१०।१८५।१)—इस कल्याणकारी ऋचाका मार्गमें जप करे। द्वेषपात्रके प्रति विद्वेष रखनेवाला पुरुष 'प्राग्नये०' (१०।१८७।१) इत्यादि ऋचाका जप करे; इससे शत्रुओंका नाश होता है। 'वास्तोष्पते०' आदि चार मन्त्रोंसे गृहदेवताका पूजन करे। यह जपकी विधि बतायी गयी है। अब हवनमें जो विशेष विधि है, वह जाननी चाहिये। होमके अन्तमें दक्षिणा देनी चाहिये। होमसे पापकी शान्ति, अन्नसे होमकी शान्ति और स्वर्णदानसे अन्नकी शान्ति होती है। इससे मिलनेवाले ब्राह्मणोंके आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाते। यजमानको सब ओरसे बाह्य स्नान करना चाहिये। सिद्धार्थक (सरसों), यव, धान्य, दुग्ध, दधि, घृत, क्षीरवृक्षकी समिधाएँ हवनमें प्रयुक्त होनेपर सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाली हैं तथा अभिचारमें कण्टकयुक्त समिधा, राई, रुधिर एवं विषका हवन करे। होमकालमें शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त अन्न, भिक्षान्न, सत्तू, दूध, दही एवं फल-मूलका भोजन करना चाहिये। यह 'ऋग्विधान' कहा गया है॥ ९२—९८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ऋग्विधानका कथन' नामक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५९॥

दो सौ साठवाँ अध्याय

यजुर्विधान—यजुर्वेदके विभिन्न मन्त्रोंका विभिन्न कार्योंके लिये प्रयोग

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! अब मैं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले 'यजुर्विधान'का वर्णन करता हूँ, सुनो। ॐकार-संयुक्त महाव्याहृतियाँ समस्त पापोंका विनाश करनेवाली और सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली मानी गयी हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा एक हजार घृताहुतियाँ देकर देवताओंकी आराधना करे। परशुराम! इससे मनोवाञ्छित कामनाकी सिद्धि होती है; क्योंकि यह कर्म अभीष्ट मनोरथ देनेवाला है। शान्तिकी इच्छावाला पुरुष प्रणवयुक्त व्याहृति-मन्त्रसे जौकी आहुति दे और जो पापोंसे मुक्ति चाहता हो, वह उक्त मन्त्रसे तिलोंद्वारा हवन करे। धान्य एवं पीली सरसोंके हवनसे समस्त कामनाओंकी सिद्धि होती है। परधनकी कामनावालेके लिये गूलरकी समिधाओंद्वारा होम प्रशस्त माना गया है। अन्न चाहनेवालेके लिये दधिसे, शान्तिकी इच्छा करनेवालेके लिये दुग्धसे एवं प्रचुर सुवर्णकी कामना करनेवालेके लिये अपामार्गकी समिधाओंसे हवन करना उत्तम माना गया है। कन्या चाहनेवाला एक सूत्रमें ग्रथित दो-दो जातीपुष्पोंको घीमें डुबोकर उनकी आहुति दे। ग्रामाभिलाषी तिल एवं चावलोंका हवन करे। वशीकरण कर्ममें शाखोट (सिंहोर), वासा (अडूसा) और अपामार्ग (चिचिड़ा या ऊँगा) की समिधाओंका होम करना चाहिये। भृगुनन्दन! रोगका नाश करनेके लिये विष एवं रक्तसे सिक्त समिधाओंका हवन प्रशस्त है। शत्रुओंके वधकी इच्छासे उक्त समिधाओंका क्रोधपूर्वक भलीभाँति हवन करे। द्विज सभी धान्योंसे राजाकी प्रतिमाका निर्माण करे और उसका हजार बार हवन करे। इससे राजा वशमें हो जाता है। वस्त्राभिलाषीको पुष्पोंसे हवन करना चाहिये। दूर्वाका होम व्याधिका विनाश करनेवाला है। ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ वासोऽग्र्य (उत्तम वस्त्र) अर्पण करनेका विधान है। विद्वेषण-कर्मके लिये प्रत्यङ्गिराप्रोक्त विधिके अनुसार स्थापित अग्निमें धानकी भूसी, कण्टक और भस्मके साथ काक और उलूकके पंखोंका हवन करे। ब्रह्मन्! चन्द्रग्रहणके समय कपिला गायके घीसे गायत्री-मन्त्रद्वारा आहुति देकर उस घीमें वचाका चूर्ण मिलाकर 'सम्पात' नामक आहुति दे और अवशिष्ट वचाको लेकर उसे गायत्री-मन्त्रसे एक सहस्र बार अभिमन्त्रित करे। फिर उस वचाको खानेसे मनुष्य मेधावी होता है। लोहे या खदिर काष्ठकी ग्यारह अङ्गुल लंबी कील 'द्विषतो वधोऽसि०' (१।२८) आदि मन्त्रका जप करते हुए शत्रुके घरमें गाड़ दे। यह मैंने तुमसे शत्रुओंका नाश और उच्चाटन करनेवाला कर्म बतलाया है। 'चक्षुष्पा०' (२।१६) इत्यादि मन्त्र अथवा चाक्षुषी-जपसे मनुष्य अपनी खोयी हुई नेत्रज्योतिको पुनः पा लेता है। 'उपयुञ्जत०' इत्यादि अनुवाक अन्नकी प्राप्ति करानेवाला है। 'तनूपा अग्नेऽसि०' (३।१७) इत्यादि मन्त्रद्वारा दूर्वाका होम करनेसे मनुष्यका संकट दूर हो जाता है। 'भेषजमसि०' (३।५९) इत्यादि मन्त्रसे दधि एवं घृतका हवन किया जाय तो वह पशुओंपर आनेवाली महामारी रोगोंको दूर कर देता है। 'त्र्यम्बकं

यजामहे०' (३ । ६०)—इस मन्त्रसे किया हुआ होम सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला है। कन्याका नाम लेकर अथवा कन्याके उद्देश्यसे यदि उक्त मन्त्रका जप और होम किया जाय तो वह कन्याकी प्राप्ति करानेवाला उत्तम साधन है। भय उपस्थित होनेपर 'त्र्यम्बकं०' (३ । ६०) मन्त्रका नित्य जप करनेवाला पुरुष सब प्रकारके भयोंसे छुटकारा पा जाता है। परशुराम! घृतसहित धतूरेके फूलकी उक्त मन्त्रसे आहुति देकर साधक अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो 'त्र्यम्बक' मन्त्रसे गुग्गुलकी आहुति देता है, वह स्वप्नमें भगवान् शंकरका दर्शन पाता है। 'युञ्जते मनः०' (५ । १४) —इस अनुवाकका जप करनेसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती है। 'विष्णो रराटमसि०' (५ । २१) आदि मन्त्र सम्पूर्ण बाधाओंका निवारण करनेवाला है। यह मन्त्र राक्षसोंका नाशक, कीर्तिवर्द्धक एवं विजयप्रद है। 'अयं नो अग्निः०' (५ । ३७) इत्यादि मन्त्र संग्राममें विजय दिलानेवाला है। स्नानकालमें 'इदमापः प्रवहत०' इत्यादि (६ । १७) मन्त्रका जप पापनाशक है। दस अङ्गुल लंबी लोहेकी सुईको 'विश्वकर्मन् हविषा०' (१७ । २२)—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके जिस कन्याके द्वारपर गाड़ दे, वह कन्या दूसरे किसीको नहीं दी जा सकती। 'देव सवितः०' (११ । ७)—इस मन्त्रसे होम करनेपर मनुष्य प्रचुर अन्न-राशिसे सम्पन्न होता है॥१—२२॥

धर्मज्ञ जमदग्निनन्दन! बलकी इच्छा रखनेवाला श्रेष्ठ द्विज 'अग्नौ स्वाहा०' मन्त्रसे तिल, यव, अपामार्ग एवं तण्डुलोंसे युक्त हवन-सामग्रीद्वारा होम करे। विप्रवर! इसी मन्त्रसे गोरोचनको सहस्र बार अभिमन्त्रित करके उसका तिलक करनेसे मनुष्य लोकप्रिय हो जाता है। रुद्र-मन्त्रोंका जप सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला है। उनके द्वारा किया गया होम सम्पूर्ण कर्मोंका साधक और सर्वत्र शान्ति प्रदान करनेवाला है। धर्मज्ञ भृगुनन्दन! बकरी, भेड़, घोड़े, हाथी, गौ, मनुष्य, राजा, बालक, नारी, ग्राम, नगर और देश यदि विविध उपद्रवोंसे पीड़ित एवं रोगग्रस्त हो गये हों, अथवा महामारी या शत्रुओंका भय उपस्थित हो गया हो तो घृतमिश्रित खीरसे रुद्रदेवताके लिये किया गया होम परम शान्तिदायक होता है। रुद्रमन्त्रोंसे कूष्माण्ड एवं घृतका होम सम्पूर्ण पापोंका विनाश करता है। नरश्रेष्ठ! जो मानव केवल रातमें सत्तू, जौकी लप्सी एवं भिक्षान्न भोजन करते हुए एक मासतक बाहर नदी या जलाशयमें स्नान करता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है। 'मधुवाता०' (१३ । २७) इत्यादि मन्त्रसे होम आदिका अनुष्ठान करनेपर सब कुछ मिलता है। 'दधिक्राव्णो०' (२३ । ३२) —इस मन्त्रसे हवन करके गृहस्थ पुत्रोंको प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार 'घृतवती भुवनानामभि०' (३४ । ४५)—इस मन्त्रसे किया गया घृतका होम आयुको बढ़ानेवाला है। 'स्वस्ति न इन्द्रो०' (२५ । १९)—यह मन्त्र समस्त बाधाओंका निवारण करनेवाला है। 'इह गावः प्रजायध्वम्०'—यह मन्त्र पुष्टिवर्धक है। इससे घृतकी एक हजार आहुतियाँ देनेपर दरिद्रताका विनाश होता है। 'देवस्य त्वा०'—इस मन्त्रसे स्रुवाद्वारा अपामार्ग और तण्डुलका हवन करनेपर मनुष्य विकृत अभिचारसे शीघ्र छुटकारा पा जाता है, इसमें संशय नहीं है। 'रुद्र यत्ते०' (१० । २०) मन्त्रसे पलाशकी समिधाओंका हवन करनेसे सुवर्णकी उपलब्धि होती है। अग्निके उत्पातमें मनुष्य 'शिवो भव०' (११ । ४५) मन्त्रसे धान्यकी आहुति दे। 'या सेनाः०' (११ । ७७)—इस मन्त्रसे किया गया हवन चोरोंसे प्राप्त होनेवाले भयको दूर करता है। ब्रह्मन्! जो मनुष्य 'यो अस्मभ्यमरातीयात्०' (११ । ८०)—इस मन्त्रसे काले तिलोंकी एक हजार आहुति देता है, वह विकृत अभिचारसे मुक्त हो जाता है। 'अन्नपते०' (११ । ८३)—इस मन्त्रसे अन्नका हवन करनेसे मनुष्यको प्रचुर अन्न प्राप्त होता है। 'हंसः शुचिषत्०' (१० । २४) इत्यादि मन्त्रका जलमें किया गया जप समस्त पापोंका नाश करता है। 'चत्वारि शृङ्गा० (१७ । ९१) इत्यादि मन्त्रका जलमें किया गया जप समस्त पापोंका अपहरण करनेवाला है। 'देवा यज्ञमतन्वत०' (१९ । १२) इसका जप करके साधक ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। 'वसन्तो स्यासीद्' (३१ । १४) इत्यादि मन्त्रसे घृतकी आहुति देनेपर भगवान् सूर्यसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति होती है। 'सुपर्णोऽसि० (१७ । ७२) इत्यादि मन्त्रसे साध्यकर्म व्याहृति-मन्त्रोंसे साध्यकर्मके समान ही होता है। 'नमः स्वाहा०' आदि मन्त्रका तीन बार जप करके मनुष्य बन्धनसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जलके भीतर 'द्रुपदादिव मुमुचानः०' (२० । २०) इत्यादि मन्त्रकी तीन आवृत्तियाँ करके मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। 'इह गावः प्रजायध्वम्०'—इस मन्त्रसे घृत, दधि, दुग्ध अथवा खीरका हवन करनेपर बुद्धिकी वृद्धि होती है। 'शं नो देवीः०' (३६ । १२)—इस मन्त्रसे पलाशके फलोंकी आहुति देनेसे मनुष्य आरोग्य, लक्ष्मी और दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। 'ओषधीः प्रतिमोदध्वम्०' (१२ । ७७)—इस

मन्त्रसे बीज बोने और फसल काटनेके समय होम करनेपर अर्थकी प्राप्ति होती है। **'अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो०'** (३४। ४०) मन्त्रसे पायसका होम करनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है। **'तस्मा अरं गमाम०'** (३६। १६) इत्यादि मन्त्रसे होम करनेपर बन्धनग्रस्त मनुष्य मुक्त हो जाता है। **'युवा सुवासा०'** (तै० ब्रा० ३। ६। १३) इत्यादि मन्त्रसे हवन करनेपर उत्तम वस्त्रोंकी प्राप्ति होती है। **'मुञ्चन्तु मा शपथ्यात्०'** (१२। ९०) इत्यादि मन्त्रसे हवन करनेपर शाप या शपथ आदि समस्त किल्बिषोंका नाश होता है। **'मा मा हिंसी-ज्जनिता:०'** (१२। १०२) इत्यादि मन्त्रसे घृतमिश्रित तिलोंका होम शत्रुओंका विनाश करनेवाला होता है। **'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो०'** (१३। ६) इत्यादि मन्त्रसे घृतका होम एवं **'कृणुष्व पाज:०'** (१३। ९) इत्यादि मन्त्रसे खीरका होम अभिचारका उपसंहार करनेवाला है। **'काण्डात् काण्डात्०'** (१३। २०) इत्यादि मन्त्रसे दूर्वाकाण्डकी दस हजार आहुतियाँ देकर होता ग्राम या जनपदमें फैली हुई महामारीको शान्त करे। इससे रोगपीड़ित मनुष्य रोगसे और दुःखग्रस्त मानव दुःखसे छुटकारा पाता है। परशुराम! **'मधुमान्नो वनस्पति:०'** (१३। २९) इत्यादि मन्त्रसे उदुम्बरकी एक हजार समिधाओंका हवन करके मनुष्य धन प्राप्त करता है तथा महान् सौभाग्य एवं व्यवहारमें विजय लाभ करता है **'अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा०'** (वा० १३। ३०) इत्यादि मन्त्रसे हवन करके मनुष्य निश्चय ही पर्जन्यदेवसे वर्षा करवा सकता है। धर्मज्ञ परशुराम! **'अप: पिबन् औषधी:०'** (१४। ८) इत्यादि मन्त्रसे दधि, घृत एवं मधुका हवन करके यजमान तत्काल महा-वृष्टि करवाता है। **'नमस्ते रुद्र०'** (१६। १) इत्यादि मन्त्रसे आहुति दी जाय तो यह कर्म समस्त उपद्रवोंका नाशक, सर्वशान्तिदायक तथा महापातकोंका निवारक कहा गया है। **'अध्यवोचदधिवक्ता०'** (१६। ५) इत्यादि मन्त्रसे आहुति देनेपर व्याधिग्रस्त मनुष्यकी रक्षा होती है। इस मन्त्रसे किया गया हवन राक्षसोंका नाशक, कीर्तिकारक तथा दीर्घायु एवं पुष्टिका वर्धक है। मार्गमें सफेद सरसों फेंकते हुए इसका जप करनेवाला राहगीर सुखी होता है। धर्मज्ञ भृगुनन्दन! **'असौ यस्ताम्र:०'** (१६। ६)—इसका पाठ करते हुए नित्य प्रातःकाल एवं सायंकाल आलस्यरहित होकर भगवान् सूर्यका उपस्थान करे। इससे वह अक्षय अन्न एवं दीर्घ आयु प्राप्त करता है। **'प्रमुञ्च धन्वन्०'** (१६। ९-४१) इत्यादि छः मन्त्रोंसे किया गया आयुधोंका अभिमन्त्रण युद्धमें शत्रुओंके लिये भयदायक है, इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। **'मा नो महान्तम्०'** (१६। १५) इत्यादि मन्त्रका जप एवं होम बालकोंके लिये शान्तिकारक होता है। **'नमो हिरण्यबाहवे०'** (१६। १७) इत्यादि सात अनुवाकोंसे कड़ुए तेलमें मिलायी गयी राईकी आहुति दे तो वह शत्रुओंका नाश करनेवाली होती है। **'नमो व: किरिकेभ्यो०'** (१६।४६)—इस अर्धमन्त्रसे एक लाख कमलपुष्पों-का हवन करके मनुष्य राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है तथा बिल्वफलोंसे उतनी ही आहुतियाँ देनेपर उसे सुवर्णराशिकी उपलब्धि होती है। **'इमा रुद्राय०'** (१६। ४८) मन्त्रसे तिलोंका होम करनेपर धनकी प्राप्ति होती है। एवं इसी मन्त्रसे घृतसिक्त दूर्वाका हवन करनेपर मनुष्य समस्त व्याधियों-से मुक्त होता है। परशुराम! **'आशु: शिशान:०'** (१७। ३३) —यह मन्त्र आयुधोंकी रक्षा एवं संग्राममें सम्पूर्ण शत्रुओंका विनाश करनेवाला है। धर्मज्ञ द्विजश्रेष्ठ! **'वाजश्च मे०'** (१८। १५–१९) इत्यादि पाँच मन्त्रोंसे घृतकी एक हजार आहुतियाँ दे। इससे मनुष्य नेत्ररोगसे मुक्त हो जाता है। **'शं नो वनस्पते०'** (१९। ३८) इस मन्त्रसे घरमें आहुति देनेपर वास्तुदोषका नाश होता है। **'अग्न आयूंषि०'** (१९। ३८) इत्यादि मन्त्रसे घृतका हवन करके मनुष्य किसीका द्वेषपात्र नहीं होता। **'अपां फेनेन०'** (१९। ७१) मन्त्रसे लाजाका होम करके योद्धा विजय प्राप्त करता है। **'भद्रा उत प्रशस्तयो०'** (१४। ३९) इत्यादि मन्त्रके जपसे इन्द्रियहीन अथवा दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य समस्त इन्द्रियोंकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। **'अग्निश्च पृथिवी च०'** (२६। १) इत्यादि मन्त्र उत्तम वशीकरण है। **'अध्वना०'** (५। ३३) आदि मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य व्यवहार (मुकदमे) में विजयी होता है। कार्यके आरम्भमें **'ब्रह्म क्षत्रं पवते०'** (१९। ५) इत्यादि मन्त्रका जप सिद्धि प्रदान करता है। **'संवत्सरोऽसि०'** (२७। ४५) इत्यादि मन्त्रसे घृतकी एक लाख आहुतियाँ देनेवाला रोगमुक्त हो जाता है। **'केतुं कृण्वन्०'** (२९। ३७) इत्यादि मन्त्र संग्राममें विजय दिलानेवाला है। **'इन्द्रोऽग्निर्धर्म:०'** मन्त्र युद्धमें धर्मसंगत विजयकी प्राप्ति कराता है। **'धन्वना गा०'** (२९। ३९) मन्त्रका धनुष ग्रहण करनेके समय जप करना उत्तम माना गया है। **'वक्ष्यन्तीव०'**—यह मन्त्र धनुषकी प्रत्यञ्चाको अभिमन्त्रित करनेके लिये है, ऐसा जानना चाहिये। **'अहिरिव भोगै:०'** (२९। ५१) मन्त्रका बाणोंको अभिमन्त्रित

करनेमें प्रयोग करे। 'बह्वीनां पिता०' (२९।४२)—यह तूणीरको अभिमन्त्रित करनेका मन्त्र बतलाया गया है। 'युञ्जन्त्यस्य०' (२३ । ६) इत्यादि मन्त्र अश्वोंको रथमें जोतनेके लिये उपयोगी बताया गया है। 'आशुः शिशानः०' (१७ । ३३)—यह मन्त्र यात्रारम्भके समय मङ्गलके रूपमें पठनीय कहा जाता है। 'विष्णोः क्रमोऽसि०' (१२ । ५) मन्त्रका पाठ रथारोहणके समय करना उत्तम है। 'आजङ्घन्ति०' (२९ । ५०)—इस मन्त्रसे अश्वको प्रेरित करनेके लिये प्रथम बार चाबुकसे हाँके। 'याः सेना अभित्वरीः०' (११ । ७७) इत्यादि मन्त्रका शत्रुसेनाके सम्मुख जप करे। 'दुन्दुभ्यः०' इत्यादि मन्त्रसे दुन्दुभि या नगारेको पीटे। इन मन्त्रोंसे पहले हवन करके तब उपर्युक्त कर्म करनेपर योद्धाको संग्राममें विजय प्राप्त होती है। विद्वान् पुरुष 'यमेन दत्तं०' (२९ । १३)—इस मन्त्रसे एक करोड़ आहुतियाँ देकर संग्रामके लिये शीघ्र ही विजयप्रद रथ उत्पन्न कर सकता है। 'आकृष्णेन०' (३४ । ३१) इत्यादि मन्त्रसे साध्यकर्म व्याहृतियोंके समान ही होता है। 'यज्जाग्रतो०' (३४ । १) इत्यादि शिवसंकल्प-सम्बन्धी सूक्तोंके जपसे साधकका मन एकाग्र होता है। 'पञ्चनद्यः०' (३४ । ११) इत्यादि मन्त्रसे पाँच लाख घीकी आहुतियाँ देनेपर लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। 'यदाबध्नन् दाक्षायणाः०' (३४ । ५२)—इस मन्त्रसे हजार बार अभिमन्त्रित करके सुवर्णको धारण करे। यह प्रयोग शत्रुओंका निवारण करनेवाला होता है। 'इमं जीवेभ्यः०' (३५ । १५) मन्त्रसे शिला अथवा ढेलेको अभिमन्त्रित करके घरमें चारों ओर फेंक दे। ऐसा करनेवालेको रातमें चोरोंसे भय नहीं होता। 'परीमे गामनेषत०' (३५ । १८)—यह उत्तम वशीकरण-मन्त्र है। इस मन्त्रके प्रयोगसे मारनेके लिये आया हुआ मनुष्य भी वशमें हो जाता है। धर्मात्मन्! उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित भक्ष्य, ताम्बूल, पुष्प आदि किसीको दे दिया जाय तो वह शीघ्र ही देनेवालेके वशीभूत हो जायगा। 'शं नो मित्रः०' (३६ । ९)—यह मन्त्र सदैव सभी स्थानोंपर शान्ति प्रदान करनेवाला है। 'गणानां त्वा गणपतिं०' (२३ । १९)—इस मन्त्रसे चौराहेपर सप्तधान्यका हवन करके होता सम्पूर्ण जगत्‌को वशीभूत कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। 'हिरण्यवर्णाः शुचयः०'—इस मन्त्रका अभिषेकमें प्रयोग करना चाहिये। 'शं नो देवीरभीष्टये०' (३६ । १२)—यह मन्त्र परम शान्तिकारक है। 'एकचक्र०' इत्यादि मन्त्रसे आज्यभागपूर्वक ग्रहोंके लिये घीकी आहुति देनेपर साधकको शान्ति प्राप्त होती है और निस्संदेह उसे ग्रहोंका कृपाप्रसाद सुलभ हो जाता है। 'गाव उपावतावतम्०' (३३ । २९) एवं 'भग प्रणेतः०' (३४ । ३६—३७) इत्यादि दो मन्त्रोंसे घृतका हवन करके मनुष्य गौओंकी प्राप्ति करता है। 'प्रवाद्दां षः सोषन्०'-इस मन्त्रका ग्रहयज्ञमें प्रयोग होता है। 'देवेभ्यो वनस्पते०' इत्यादि मन्त्रका वृक्षयज्ञमें विनियोग होता है। गायत्रीको विष्णुरूपा जाने। समस्त पापोंका प्रशमन एवं समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला विष्णुका परमपद भी वही है॥ २३—८४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यजुर्वेद-विधान-कथन' नामक दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६०॥

दो सौ इकसठवाँ अध्याय

सामविधान—सामवेदोक्त मन्त्रोंका भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये प्रयोग

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! मैंने तुम्हें 'यजुर्विधान' कह सुनाया, अब मैं 'सामविधान' कहूँगा। 'वैष्णवी-संहिता'का जप करके उसका दशांश होम करे। इससे मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका भागी होता है। 'छान्दसी संहिता'का विधिपूर्वक जप करके मानव भगवान् शंकरको प्रसन्न कर लेता है। 'स्कन्द-संहिता' और 'पितृ-संहिता'का जप करनेसे प्रसन्नताकी प्राप्ति होती है। 'यत इन्द्र भजामहे०' (१२२१)—इस मन्त्रका जप हिंसा-दोषका नाश करनेवाला है। 'अग्निस्तिग्मेन०' (२२) इत्यादि मन्त्रका जप करनेवाला अवकीर्णी (जिसका ब्रह्मचर्यावस्थामें ही ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया हो, वह) पुरुष भी अपने पाप-दोषसे मुक्त हो जाता है। 'परीतोऽषिञ्चता सुतम्०' (५१२) इत्यादि साममन्त्र समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, ऐसा जानना चाहिये। जिसने प्रमादवश निषिद्ध वस्तुका विक्रय कर लिया हो, वह उसके प्रायश्चित्तरूपसे 'घृतवती भुवना०' (३७८) इत्यादि मन्त्रका जप करे। 'अद्य नो देव सवितः०' (१४१)—यह मन्त्र दुःस्वप्नोंका नाश करनेवाला है। भृगुश्रेष्ठ परशुराम! 'अबोध्यग्निः०' (१७४६) इत्यादि मन्त्रसे विधिवत् घृतका

हवन करे। फिर शेष घृतसे मेखलाबन्ध (करधनी आदि) का सेचन करे। वह मेखलाबन्ध ऐसी स्त्रियोंको धारण करावे, जिनके गर्भ गिर जाते रहे हों। तदनन्तर बालकके उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वोक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित मणि पहनावे। 'सोमं राजानम्०' (९१) मन्त्रके जपसे रोगी व्याधियोंसे छुटकारा पाता है। सर्प-सामका प्रयोग करनेवालेको कभी सर्पोंसे भय नहीं प्राप्त होता। ब्राह्मण 'मा पापत्वाय नोः०' (९१८)—इस मन्त्रसे सहस्र आहुतियाँ देकर शतावरीयुक्त मणि बाँधनेसे शस्त्रभयको नहीं प्राप्त होता। 'दीर्घतमसोऽर्कः०'—इस साम-मन्त्रसे हवन करनेपर प्रचुर अन्नकी प्राप्ति होती है। 'समन्या यन्ति०' (६०७)—इस सामका जप करनेवाला प्याससे नहीं मर सकता। 'त्वमिमा ओषधीः०' (६०४)—इस मन्त्रका जप करनेसे मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता। मार्गमें 'देवव्रत-साम'का जप करके मानव भयसे छुटकारा पा जाता है। 'यदिन्द्रो अनुनयत्०' (१४८)—यह मन्त्र हवन करनेपर सौभाग्यकी वृद्धि करता है। परशुराम! 'भगो न चित्रो०' (४४९)—इस मन्त्रका जप करके नेत्रोंमें लगाया गया अञ्जन हितकारक एवं सौभाग्यवर्द्धक होता है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। 'इन्द्र'—इस पदसे प्रारम्भ होनेवाले मन्त्रवर्गका जप करे। इससे सौभाग्यकी वृद्धि होती है। 'परि प्रिया दिवः कविः०' (४७६)—यह मन्त्र, जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उस स्त्रीको सुनावे। परशुराम! ऐसा करनेसे वह स्त्री उसे चाहने लगती है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। 'रथन्तर-साम' एवं 'वामदेव्य-साम' ब्रह्मतेजकी वृद्धि करनेवाले हैं। 'इन्द्रमिद्गाथिनो०' (१९८) इत्यादि मन्त्रका जप करके घृतमें मिलाया हुआ वचा-चूर्ण प्रतिदिन बालकको खिलाये। इससे वह श्रुतिधर हो जाता है, अर्थात् एक बार सुननेसे ही उसे शास्त्रकी पंक्तियाँ याद हो जाती हैं। 'रथन्तर-साम'का जप एवं उसके द्वारा होम करके पुरुष निस्संदेह पुत्र प्राप्त कर लेता है। 'मयि श्रीः०' (मयि वर्चो अथो०) (६०२)—यह मन्त्र लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाला है। इसका जप करना चाहिये। प्रतिदिन 'वैरूप्याष्टक' (वैरूप्य सामके आठ मन्त्र) का पाठ करनेवाला लक्ष्मीकी प्राप्ति करता है। 'सप्ताष्टक'का प्रयोग करनेवाला समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल आलस्यरहित होकर 'गव्यो षु णो यथा०' (१८६)—इस मन्त्रसे गौओंका उपस्थान करता है, उसके घरमें गौएँ सदा बनी रहती हैं। 'वात आ वातु भेषजम्०' (१८४) मन्त्रसे एक द्रोण घृतमिश्रित यवोंका विधिपूर्वक होम करके मनुष्य सारी मायाको नष्ट कर देता है। 'प्र दैवोदासो०' (५१) आदि सामसे तिलोंका होम करके मनुष्य अभिचार-कर्मको शान्त कर देता है। 'अभि त्वा शूर नोनुमो०' (२३३)—इस सामको अन्तमें वषट्कारसे संयुक्त करके [इससे वासक (अडूसा) वृक्षकी एक हजार समिधाओंका होम युद्धमें विजयकी प्राप्ति करानेवाला है।] उसके साथ 'वामदेव्य-साम'का सहस्र बार जप और उसके द्वारा होम किया जाय तो वह युद्धमें विजयदायक होता है। विद्वान् पुरुष सुन्दर पिष्टमय हाथी, घोड़े एवं मनुष्योंका निर्माण करे। फिर शत्रुपक्षके प्रधान-प्रधान वीरोंको लक्ष्यमें रखकर उन पसीजे हुए पिष्टमय पुरुषोंके छूरेसे टुकड़े-टुकड़े कर डाले। तदनन्तर मन्त्रवेत्ता पुरुष उन्हें सरसोंके तेलमें भिगोकर 'अभि त्वा शूर नोनुमो०' (२३३)—इस मन्त्रसे उनका क्रोधपूर्वक हवन करे। बुद्धिमान् पुरुष यह अभिचार-कर्म करके संग्राममें विजय प्राप्त करता है। गारुड, वामदेव्य, रथन्तर एवं बृहद्रथ-साम निस्संदेह समस्त पापोंका शमन करनेवाले कहे गये हैं॥ १—२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'साम-विधान' नामक दो सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६१॥

दो सौ बासठवाँ अध्याय

अथर्व-विधान—अथर्ववेदोक्त मन्त्रोंका विभिन्न कर्मोंमें विनियोग

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! 'सामविधान' कहा गया। अब मैं 'अथर्वविधान' का वर्णन करूँगा। शान्तातीय-गणके उद्देश्यसे हवन करके मानव शान्ति प्राप्त करता है। भैषज्यगणके उद्देश्यसे होम करके होता समस्त रोगोंको दूर करता है। त्रिसप्तीयगणके उद्देश्यसे आहुतियाँ देनेवाला सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। अभयगणके उद्देश्यसे होम करनेपर मनुष्य किसी स्थानपर भी भय नहीं प्राप्त करता। परशुराम! अपराजितगणके उद्देश्यसे हवन करनेवाला कभी पराजित नहीं होता। आयुष्यगणके उद्देश्यसे आहुतियाँ देकर मानव दुर्मृत्युको दूर कर देता है। स्वस्त्ययनगणके उद्देश्यसे हवन

करनेपर सर्वत्र मङ्गलकी प्राप्ति होती है। शर्मवर्मगणके उद्देश्यसे होम करनेवाला कल्याणका भागी होता है। वास्तोष्पत्यगणके उद्देश्यसे आहुतियाँ देनेपर वास्तुदोषकी शान्ति होती है। रौद्रगणके लिये हवन करके होता सम्पूर्ण दोषोंका विनाश कर देता है। निम्नाङ्कित अठारह प्रकारकी शान्तियोंमें इन दस गणोंके द्वारा होम करना चाहिये। (वे अठारह शान्तियाँ ये हैं—) वैष्णवी, ऐन्द्री, ब्राह्मी, रौद्री, वायव्या, वारुणी, कौबेरी, भार्गवी, प्राजापत्या, त्वाष्ट्री, कौमारी, आग्नेयी, मारुद्‌गणी, गान्धर्वी, नैर्ऋतिकी, आङ्गिरसी, याम्या एवं कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पार्थिवी शान्ति ॥ १—८½ ॥

'यस्त्वां मृत्युः०' इत्यादि आथर्वण-मन्त्रका जप मृत्युका नाश करनेवाला है। 'सुपर्णस्त्वा०' (४।६।३)—इस मन्त्रसे होम करनेपर मनुष्यको सर्पोंसे बाधा नहीं प्राप्त होती। 'इन्द्रेण दत्तो०' (२।२९।४)—यह मन्त्र सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाला है। 'इन्द्रेण दत्तो०'—यह मन्त्र समस्त बाधाओंका भी विनाश करनेवाला है। 'इमा या देवी' (२।१०।४)—यह मन्त्र सभी प्रकारकी शान्तियोंके लिये उत्तम है। 'देवा मरुतः'—यह मन्त्र समस्त कामनाओंको सिद्ध करनेवाला है। 'यमस्य लोकाद्०' (१९।५६।१)—यह मन्त्र दुःस्वप्नका नाश करनेमें उत्तम है। 'इन्द्रश्च पञ्च वणिजः०'—यह मन्त्र परमपुण्यका लाभ करानेवाला है। 'कामो मे वाजी०' मन्त्रसे हवन करनेपर स्त्रियोंके सौभाग्यकी वृद्धि होती है। 'तुभ्यमेव०' (२।२८।१) इत्यादि मन्त्रको नित्य दस हजार जप करते हुए उसका दशांश हवन करे एवं 'अग्ने गोभिर्नः०' मन्त्रसे होम करे तो उत्तम मेधाशक्तिकी वृद्धि होती है। 'ध्रुवं ध्रुवेण०' (७।८४।१) इत्यादि मन्त्रसे होम किया जाय तो वह स्थानकी प्राप्ति कराता है। 'अलक्त-जीवेति शुना०'—यह मन्त्र कृषि-लाभ करानेका साधन है। 'अहं ते भग्नः'—यह मन्त्र सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला है। 'ये मे पाशाः०' मन्त्र बन्धनसे छुटकारा दिलाता है। 'शपत्व-हन्०'—इस मन्त्रका जप एवं होम करनेसे मनुष्य अपने शत्रुओंका विनाश कर सकता है। 'त्वमुत्तमम्०'—यह मन्त्र यश एवं बुद्धिका विस्तार करनेवाला है। 'यथा मृगाः०' (५।२१।४)—यह मन्त्र स्त्रियोंके सौभाग्यको बढ़ानेवाला है। 'येन चेह दिशं चैव०'—यह मन्त्र गर्भकी प्राप्ति करानेवाला है। 'अयं ते योनिः०' (३।२०।१)—इस मन्त्रके अनुष्ठानसे पुत्रलाभ होता है। 'शिवः शिवाभिः०' इत्यादि मन्त्र सौभाग्यवर्धक है। 'बृहस्पतिर्नः परि पातु०' (७।५१।१) इत्यादि मन्त्रका जप मार्गमें मङ्गल करनेवाला है। 'मुञ्चामि त्वा०' (३।११।१)—यह मन्त्र अपमृत्युका निवारक है। अथर्वशीर्षका पाठ करनेवाला समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह मैंने तुमसे प्रधानतया मन्त्रोंके द्वारा साध्य कुछ कर्म बताये हैं। परशुराम! यज्ञ-सम्बन्धी वृक्षोंकी समिधाएँ सबसे मुख्य हविष्य हैं। इसके सिवा घृत, धान्य, श्वेत सर्षप, अक्षत, तिल, दधि, दुग्ध, कुश, दूर्वा, बिल्व और कमल—ये सभी द्रव्य शान्ति-कारक एवं पुष्टिकारक बताये गये हैं। धर्मज्ञ! तेल, कण, राई, रुधिर, विष एवं कण्टकयुक्त समिधाओंका अभिचार-कर्ममें प्रयोग करे। जो मन्त्रोंके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगको जानता है, वही उन-उन मन्त्रोंद्वारा कथित कर्मोंका अनुष्ठान करे ॥ ९—२५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अथर्वविधान' नामक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

दो सौ तिरसठवाँ अध्याय

नाना प्रकारके उत्पात और उनकी शान्तिके उपाय

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! प्रत्येक वेदके 'श्रीसूक्त'-को जानना चाहिये। वह लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाला है। 'हिरण्यवर्णां हरिणीं' इत्यादि पंद्रह ऋचाएँ ऋग्वेदीय श्रीसूक्त हैं। 'रथे०',—(२९।४३) 'अश्वराजाय०',—(३०।१८) 'वाजः०' (१८।३४) एवं 'चतस्रः०'—(१८।३२)—ये चार मन्त्र यजुर्वेदीय श्रीसूक्त हैं। 'आवन्तीय-साम' सामवेदीय श्रीसूक्त है तथा 'श्रियं धातर्मयि धेहि' यह अथर्ववेदका श्रीसूक्त कहा गया है। जो भक्तिपूर्वक श्रीसूक्तका जप एवं होम करता है, उसे निश्चय ही लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। श्रीदेवीकी प्रसन्नताके लिये कमल, बेल, घी अथवा तिलकी आहुति देनी चाहिये ॥ १—३½ ॥

प्रत्येक वेदमें एक ही 'पुरुषसूक्त' मिलता है, जो सब कुछ देनेवाला है। जो स्नान करके 'पुरुषसूक्त'के एक-एक मन्त्रसे भगवान् श्रीविष्णुको एक-एक जलाञ्जलि और एक-एक फूल समर्पित करता है, वह पापरहित होकर दूसरोंके भी पापका नाश करनेवाला हो जाता है। स्नान करके इस

सूक्तके एक-एक मन्त्रके साथ श्रीविष्णुको फल समर्पित करके पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका भागी होता है। 'पुरुषसूक्त'के जपसे महापातकों और उपपातकोंका नाश हो जाता है। कृच्छ्रव्रत करके शुद्ध हुआ मनुष्य स्नानपूर्वक 'पुरुषसूक्त'का जप एवं होम करके सब कुछ पा लेता है ॥ ४-६½ ॥

अठारह शान्तियोंमें समस्त उत्पातोंका उपसंहार करनेवाली अमृता, अभया और सौम्या—ये तीन शान्तियाँ सर्वोत्तम हैं। 'अमृता शान्ति' सर्वदैवत्या, 'अभया' ब्रह्मदैवत्या एवं 'सौम्या' सर्वदैवत्या है। इनमेंसे प्रत्येक शान्ति सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली है। भृगुश्रेष्ठ! 'अभया' शान्तिके लिये वरुणवृक्षके मूलभागकी मणि बनानी चाहिये। 'अमृता'शान्तिके लिये दूर्वामूलकी मणि एवं 'सौम्या'शान्तिके लिये शङ्खमणि धारण करे। इसके लिये उन-उन शान्तियोंके देवताओंसे सम्बद्ध मन्त्रोंको सिद्ध करके मणि बाँधनी चाहिये। ये शान्तियाँ दिव्य, आन्तरिक्ष एवं भौम उत्पातोंका शमन करनेवाली हैं। 'दिव्य', 'आन्तरिक्ष' और 'भौम'—यह तीन प्रकारका अद्भुत उत्पात बताया जाता है, सुनो। ग्रहों एवं नक्षत्रोंकी विकृतिसे होनेवाले उत्पात 'दिव्य' कहलाते हैं। अब 'आन्तरिक्ष' उत्पातका वर्णन सुनो। उल्कापात, दिग्दाह, परिवेश, सूर्यपर घेरा पड़ना, गन्धर्व नगरका दर्शन एवं विकारयुक्त वृष्टि—ये अन्तरिक्ष-सम्बन्धी उत्पात हैं। भूमिपर एवं जंगम प्राणियोंसे होनेवाले उपद्रव तथा भूकम्प—ये 'भौम' उत्पात हैं। इन त्रिविध उत्पातोंके दीखनेके बाद एक सप्ताहके भीतर यदि वर्षा हो जाय तो वह 'अद्भुत' निष्फल हो जाता है। यदि तीन वर्षतक अद्भुत उत्पातकी शान्ति नहीं की गयी तो वह लोकके लिये भयकारक होता है। जब देवताओंकी प्रतिमाएँ नाचती, काँपती, जलती, शब्द करती, रोती, पसीना बहाती या हँसती हैं, तब प्रतिमाओंके इस विकारकी शान्तिके लिये उनका पूजन एवं प्राजापत्य-होम करना चाहिये। जिस राष्ट्रमें बिना जलाये ही घोर शब्द करती हुई आग जल उठती है और इन्धन डालनेपर भी प्रज्वलित नहीं होती, वह राष्ट्र राजाओंके द्वारा पीड़ित होता है ॥ ७-१६ ॥

भृगुनन्दन! अग्नि-सम्बन्धी विकृतिकी शान्तिके लिये अग्निदैवत्य-मन्त्रोंसे हवन बताया गया है। जब वृक्ष असमयमें ही फल देने लगें तथा दूध और रक्त बहावें तो वृक्षजनित भौम-उत्पात होता है। वहाँ शिवका पूजन करके इस उत्पातकी शान्ति करावे। अतिवृष्टि और नावृष्टि—दोनों ही दुर्भिक्षका कारण मानी गयी हैं। वर्षा ऋतुके सिवा अन्य ऋतुओंमें तीन दिनतक अनवरत वृष्टि होनेपर उसे भयजनक जानना चाहिये। पर्जन्य, चन्द्रमा एवं सूर्यके पूजनसे वृष्टि-सम्बन्धी वैकृत्य (उपद्रव)का विनाश होता है। जिस नगरसे नदियाँ दूर हट जाती हैं या अत्यधिक समीप चली आती हैं और जिसके सरोवर एवं झरने सूख जाते हैं, वहाँ जलाशयोंके इस विकारको दूर करनेके लिये वरुणदेवता-सम्बन्धी मन्त्रका जप करना चाहिये। जहाँ स्त्रियाँ असमयमें प्रसव करें, समयपर प्रसव न करें, विकृत गर्भको जन्म दें या युग्म-संतान आदि उत्पन्न करें, वहाँ स्त्रियोंके प्रसव-सम्बन्धी वैकृत्यके निवारणार्थ साध्वी स्त्रियों और ब्राह्मण आदिका पूजन करे ॥ १७-२२½ ॥

जहाँ घोड़ी, हथिनी या गौ एक साथ दो बच्चोंको जनती हैं या विकारयुक्त विजातीय संतानको जन्म देती हैं, छः महीनोंके भीतर प्राणत्याग कर देती हैं अथवा विकृत गर्भका प्रसव करती हैं, उस राष्ट्रको शत्रुमण्डलसे भय होता है। पशुओंके इस प्रसव-सम्बन्धी उत्पातकी शान्तिके उद्देश्यसे होम, जप एवं ब्राह्मणोंका पूजन करना चाहिये। जब अयोग्य पशु सवारीमें आकर जुत जाते हैं, योग्य पशु यानका वहन नहीं करते हैं एवं आकाशमें तूर्यनाद होने लगता है, उस समय महान् भय उपस्थित होता है। जब वन्यपशु एवं पक्षी ग्राममें चले जाते हैं, ग्राम्यपशु वनमें चले जाते हैं, स्थलचर जीव जलमें प्रवेश करते हैं, जलचर जीव स्थलपर चले जाते हैं, राजद्वारपर गीदड़ियाँ आ जाती हैं, मुर्गे प्रदोषकालमें शब्द करें, सूर्योदयके समय गीदड़ियाँ रुदन करें, कबूतर घरमें घुस आवें, मांसभोजी पक्षी सिरपर मँडराने लगें, साधारण मक्खी मधु बनाने लगें, कौए सबकी आँखोंके सामने मैथुनमें प्रवृत्त हो जायँ, दृढ़ प्रासाद, तोरण, उद्यान, द्वार, परकोटा और भवन अकारण ही गिरने लगें, तब राजाकी मृत्यु होती है। जहाँ धूल या धुएँसे दशों दिशाएँ भर जायँ, केतुका उदय, ग्रहण, सूर्य और चन्द्रमामें छिद्र प्रकट होना,—ये सब ग्रहों और नक्षत्रोंके विकार हैं। ये विकार जहाँ प्रकट होते हैं, वहाँ भयकी सूचना देते हैं। जहाँ अग्नि प्रदीप्त न हो, जलसे भरे हुए घड़े अकारण ही चूने लगें तो इन उत्पातोंके फल मृत्यु, भय और महामारी आदि होते हैं। ब्राह्मणों और देवताओंकी पूजासे तथा जप एवं होमसे इन उत्पातोंकी शान्ति होती है ॥ २३-३३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'उत्पात-शान्तिका कथन' नामक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६३ ॥

दो सौ चौंसठवाँ अध्याय

देवपूजा तथा वैश्वदेव-बलि आदिका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—परशुराम ! अब मैं देवपूजा आदि कर्मका वर्णन करूँगा, जो उत्पातोंको शान्त करनेवाला है। मनुष्य स्नान करके 'आपो हि ष्ठा०' (यजु० ३६ । १४–१६) आदि तीन मन्त्रोंसे भगवान् श्रीविष्णुको अर्घ्य समर्पित करे। फिर 'हिरण्यवर्णा०' (ऋक्० प० ११।११।१–३) आदि तीन मन्त्रोंसे पाद्य समर्पित करे। 'शं नो आपः०'—इस मन्त्रसे आचमन एवं 'इदमापः०' (यजु० ६ । १७) मन्त्रसे अभिषेक अर्पण करे। 'रथे०, अक्षेषु० एवं चलसः'—इन तीन मन्त्रोंसे भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें चन्दनका अनुलेपन करे। फिर 'युवा सुवासाः०' (ऋक्० ३ । ८ । ४) मन्त्रसे वस्त्र और 'पुष्पवती०' (अथर्व० ८ । ७ । २७) इत्यादि मन्त्रसे पुष्प एवं 'धूरसि०' (यजु० १ । ८) आदि मन्त्रसे धूप समर्पित करे। 'तेजोऽसि शुक्रमसि०' (यजु० १ । ३१)—इस मन्त्रसे दीप तथा 'दधिक्राव्णो०' (यजु० २३ । ३२) मन्त्रसे मधुपर्क निवेदन करे। नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर 'हिरण्यगर्भः०' आदि आठ ऋचाओंका पाठ करके अन्न एवं सुगन्धित पेय पदार्थका नैवेद्य समर्पित करे। इसके अतिरिक्त भगवान्‌को चामर, व्यजन, पादुका, छत्र, यान एवं आसन आदि जो कुछ भी समर्पित करना हो, वह सावित्र-मन्त्रसे अर्पण करे। फिर 'पुरुषसूक्त'का जप करे और उसीसे आहुति दे। भगवद्विग्रहके अभावमें वेदिकापर स्थित जलपूर्ण कलशमें, अथवा नदीके तटपर, अथवा कमलके पुष्पमें भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे उत्पातोंकी शान्ति होती है ॥ १–७ ॥

(**काम्य बलिवैश्वदेव-प्रयोग**) भूमिस्थ वेदीका मार्जन एवं प्रोक्षण करके उसके चारों ओर कुशको बिछावे। फिर उसपर अग्निको प्रदीप्त करके उसमें होम करे[1]। महाभाग परशुराम ! मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सब प्रकारकी रसोईमेंसे अग्राशन निकालकर गृहस्थ द्विज क्रमशः वासुदेव आदिके लिये आहुतियाँ दे। मन्त्रवाक्य इस प्रकार हैं—

'प्रभवे अव्ययाय देवाय वासुदेवाय नमः स्वाहा। अग्नये नमः स्वाहा। सोमाय नमः स्वाहा। मित्राय नमः स्वाहा। वरुणाय नमः स्वाहा। इन्द्राय नमः स्वाहा। इन्द्राग्नीभ्यां नमः स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः स्वाहा। प्रजापतये नमः स्वाहा। अनुमत्यै नमः स्वाहा। धन्वन्तरये नमः स्वाहा। वास्तोष्पतये नमः स्वाहा। देव्यै[2] नमः स्वाहा। एवं अग्नये स्विष्टकृते नमः स्वाहा।' इन देवताओंको उनका चतुर्थ्यन्त नाम लेकर एक-एक ग्रास अन्नकी आहुति दे। तत्पश्चात् निम्नाङ्कित रीतिसे बलि समर्पित करे ॥ ८–१२ ॥

धर्मज्ञ ! पहले अग्निदिशासे आरम्भ करके तक्षा, उपतक्षा, अश्वा, ऊर्णा, निरुन्धी, धूम्रिणीका, अस्वपन्ती तथा मेघपत्नी—इनको बलि अर्पित करे। भृगुनन्दन ! ये ही समस्त बलिभागिनी देवियोंके नाम हैं। क्रमशः आग्नेय आदि दिशाओंसे आरम्भ करके इन्हें बलि दे। (बलि-समर्पणके वाक्य इस प्रकार हैं—**तक्षायै नमः आग्नेय्याम्, उपतक्षायै नमः याम्ये, अश्वाभ्यो-नमः नैर्ऋत्ये, ऊर्णाभ्यो नमः वारुण्याम्, निरुन्ध्यै नमः वायव्ये, धूम्रिणीकायै नमः उदीच्याम्, अस्वपन्त्यै नमः ऐशान्याम्, मेघपत्न्यै नमः प्राच्याम्।**) भार्गव ! तदनन्तर नन्दिनी आदि शक्तियोंको बलि अर्पित करे। यथा—**नन्दिन्यै नमः, सुभगायै नमः (अथवा सौभाग्यायै नमः), सुमङ्गल्यै नमः, भद्रकाल्यै[3] नमः।** इन चारोंके लिये पूर्वादि चारों दिशाओंमें बलि देकर किसी खम्भे या खूँटेपर लक्ष्मी[4]

---

[1] यहाँ मूलमें संक्षेपसे अग्निस्थापनकी विधि दी गयी है। इसे विशदरूपमें इस प्रकार समझे—पहले भूमिस्थ वेदीपर कुशोंसे सम्मार्जन करके उन कुशोंको ईशान दिशामें फेंक दे; इसके बाद उस वेदीपर शुद्ध जल छिड़के। तदनन्तर स्रुवाके मूलभागसे उस वेदीपर तीन उत्तरोत्तर रेखाएँ अङ्कित करे। उन रेखाओंकी लंबाई प्रादेशमात्र हो। उल्लेखन-क्रमसे रेखाओंके ऊपरसे थोड़ी-थोड़ी मिट्टी अनामिका एवं अङ्गुष्ठद्वारा उठाकर बायें हाथपर रक्खे और उन सबको एक साथ फेंक दे। तत्पश्चात् गोबर और जलसे उस वेदीको लीपे और उसके ऊपर कांस्यपात्रमें अग्नि मँगाकर स्थापित करे। उस अग्निके ऊपर कुछ काष्ठकी समिधाएँ रखकर अग्निको प्रज्वलित करे। वेदीके चारों ओर कुश बिछा दे। फिर प्रज्वलित अग्निमें होम करे।

[2] मनुस्मृतिके अनुसार यह आहुति 'द्यावा-पृथिवी' के लिये दी जाती है। यथा—'द्यावापृथिवीभ्यां नमः स्वाहा।'

[3] मनुस्मृतिके अनुसार भद्रकालीको बलि वास्तुपुरुषके चरणकी दिशा—दक्षिण-पश्चिममें देनी चाहिये।

[4] लक्ष्मीको वास्तुपुरुषके शिरोभाग उत्तर-पूर्वमें बलि दी जाती है।

आदिके लिये बलि दे। यथा—**श्रियै नमः, हिरण्यकेश्यै नमः** तथा **वनस्पतये नमः**। द्वारपर दक्षिणभागमें '**धर्ममयाय नमः**', वामभागमें '**अधर्ममयाय नमः**', घरके भीतर '**ध्रुवाय नमः**', घरके बाहर '**मृत्यवे नमः**' तथा जलाशयमें '**वरुणाय नमः**'—इस मन्त्रसे बलि अर्पित करे। फिर घरके बाहर '**भूतेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे भूतबलि दे। घरके भीतर '**धनदाय नमः**' कहकर कुबेरको बलि दे। इसके बाद मनुष्य घरसे पूर्वदिशामें '**इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे इन्द्र और इन्द्रके पार्षदपुरुषोंको बलि अर्पित करे। तत्पश्चात् दक्षिणमें '**यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे, '**वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे पश्चिममें, '**सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे उत्तरमें और '**ब्रह्मणे वास्तोष्पतये नमः, ब्रह्मपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे गृहके मध्यभागमें बलि दे। '**विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे घरके आकाशमें ऊपरकी ओर बलि अर्पित करे। '**स्थण्डिलाय नमः**'—इस मन्त्रसे पृथ्वीपर बलि दे। तत्पश्चात् '**दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे दिनमें बलि दे तथा '**रात्रिचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे रात्रिमें बलि अर्पित करे। घरके बाहर जो बलि दी जाती है, उसे प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल देते रहना चाहिये। यदि दिनमें श्राद्ध-सम्बन्धी पिण्डदान किया जाय तो उस दिन सायंकालमें बलि नहीं देनी चाहिये॥ १३—२२॥

पितृ-श्राद्धमें दक्षिणाग्र कुशोंपर पहले पिताको, फिर पितामहको और उसके बाद प्रपितामहको पिण्ड देना चाहिये। इसी प्रकार पहले माताको, फिर पितामहीको, फिर प्रपितामहीको पिण्ड अथवा जल दे। इस प्रकार 'पितृयाग' करना चाहिये॥ २३½॥

बने हुए पाकमेंसे बलिवैश्वदेव करनेके बाद पाँच बलियाँ दी जाती हैं। उनमें सर्वप्रथम 'गो-बलि' है; किंतु यहाँ पहले 'काकबलि'का विधान किया गया है—

काकबलि

इन्द्रवारुणवायव्या याम्या वा नैर्ऋताश्च ये॥
ते काकाः प्रतिगृह्णन्तु इमं पिण्डं मयोद्धृतम्।[1]

'जो इन्द्र, वरुण, वायु, यम एवं निर्ऋति देवताकी दिशामें रहते हैं, वे काक मेरेद्वारा प्रदत्त यह पिण्ड ग्रहण करें।' इस मन्त्रसे काकबलि देकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे कुत्तोंके लिये अन्नका ग्रास दे॥ २४-२५॥

कुक्कुर-बलि

विवस्वतः कुले जातौ द्वौ श्यामशबलौ शुनौ।[2]
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि रक्षतां पथि मां सदा॥

'श्याम और शबल (काले और चितकबरे) रंगवाले दो श्वान विवस्वान्‌के कुलमें उत्पन्न हुए हैं। मैं उन दोनोंके लिये पिण्ड प्रदान करता हूँ। वे लोक-परलोकके मार्गमें सदा मेरी रक्षा करें॥ २६॥

गो-ग्रास

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पापनाशनाः।[3]
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

'त्रैलोक्यजननी, सुरभिपुत्री गौएँ सबका हित करनेवाली, पवित्र एवं पापोंका विनाश करनेवाली हैं। वे मेरे द्वारा दिये हुए ग्रासको ग्रहण करें।' इस मन्त्रसे गो-ग्रास देकर स्वस्त्ययन करे। फिर याचकोंको भिक्षा दिलवे। तदनन्तर दीन प्राणियों एवं अतिथियोंका अन्नसे सत्कार करके गृहस्थ स्वयं भोजन करे॥ २७-२८॥

(अनाहिताग्नि पुरुष निम्नलिखित मन्त्रोंसे जलमें अन्नकी आहुतियाँ दे—)

ॐ भूः स्वाहा। ॐ भुवः स्वाहा। ॐ स्वः स्वाहा। ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा। ॐ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा। यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा। ॐ प्रजापतये स्वाहा।

यह मैंने तुमसे विष्णुपूजन एवं बलिवैश्वदेवका वर्णन किया॥ २९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'देवपूजा और वैश्वदेव-बलिका वर्णन' नामक दो सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६४॥

---

१. उत्तरार्धके स्थानमें यह पाठान्तर उपलब्ध होता है—वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयोज्झितम्।

२. कहीं-कहीं—द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ। ताभ्यामन्नं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ॥—ऐसा पाठ मिलता है।

३. पाठान्तर—'पुण्यराशयः।'

दो सौ पैंसठवाँ अध्याय

दिक्पालस्नानकी विधिका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—परशुराम ! अब मैं सम्पूर्ण अर्थोंको सिद्ध करनेवाले शान्तिकारक स्नानका वर्णन करता हूँ; सुनो । बुद्धिमान् पुरुष नदीतटपर भगवान् श्रीविष्णु एवं ग्रहोंको स्नान करावे । ज्वरजनित पीड़ा आदिमें तथा विघ्न-राज एवं ग्रहोंके कष्टसे पीड़ित होनेपर उस पीड़ासे छूटने-वाले पुरुषको देवालयमें स्नान करना चाहिये । विद्याप्राप्तिकी अभिलाषा रखनेवाले छात्रको किसी जलाशय अथवा घरमें ही स्नान करना चाहिये तथा विजयकी कामनावाले पुरुष-के लिये तीर्थजलमें स्नान करना उचित है । जिस नारीका गर्भ स्खलित हो जाता हो, उसे पुष्करिणीमें स्नान कराये । जिस स्त्रीके नवजात शिशुकी जन्म लेते ही मृत्यु हो जाती हो, वह अशोकवृक्षके समीप स्नान करे । रजोदर्शनकी कामना करनेवाली स्त्री पुष्पोंसे शोभायमान उद्यानमें और पुत्राभिलाषिणी समुद्रमें स्नान करे । सौभाग्यकी कामनावाली स्त्रियोंको घरमें स्नान करना चाहिये । परंतु जो सब कुछ चाहते हों, ऐसे सभी स्त्री-पुरुषोंको भगवान् विष्णुके अर्चाविग्रहोंके समीप स्नान करना उत्तम है । श्रवण, रेवती एवं पुष्य नक्षत्रोंमें सभीके लिये स्नान करना प्रशस्त है ॥ १—४½ ॥

काम्यस्नान करनेवाले मनुष्यके लिये एक सप्ताह पूर्वसे ही उबटन लगानेका विधान है । पुनर्नवा (गदहपूर्णा), रोचना, सताङ्ग (तिनिश) एवं अगुरु वृक्षकी छाल, मधूक (महुआ), दो प्रकारकी हल्दी (सोंठहल्दी और दारुहल्दी), तगर, नागकेसर, अम्बरी, मञ्जिष्ठा (मजीठ), जटामाँसी, यासक, कर्दम (दक्ष-कर्दम), प्रियंगु, सर्षप, कुष्ठ (कूट), बला, ब्राह्मी, कुङ्कुम एवं सक्तुमिश्रित पञ्चगव्य—इन सबका उबटन करके स्नान करे ॥ ५—७½ ॥

तदनन्तर ताम्रपत्रपर अष्टदल पद्म-मण्डलका निर्माण करके पहले उसकी कर्णिका (के मध्यभाग) में श्री-विष्णुका, उनके दक्षिणभागमें ब्रह्माका तथा वामभागमें शिवका अङ्कन और पूजन करे । फिर पूर्व आदि दिशाओंके दलोंमें क्रमशः इन्द्र आदि दिक्पालोंको आयुधों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित अङ्कित करे । तदनन्तर पूर्वादि दिशाओं और अग्नि आदि कोणोंमें भी आठ स्नान-मण्डलोंका निर्माण करे । उन मण्डलोंमें विष्णु, ब्रह्मा, शिव एवं इन्द्र आदि देवताओंका उनके आयुधों-सहित पूजन करके उनके उद्देश्यसे होम करे । प्रत्येक देवताके निमित्त समिधाओं, तिलों या घृतोंकी १०८ (एक सौ आठ) आहुतियाँ दे । फिर भद्र, सुभद्र, सिद्धार्थ, पुष्टिवर्धन, अमोघ, चित्रभानु, पर्जन्य एवं सुदर्शन—इन आठ कलशोंकी स्थापना करे और उनके भीतर अश्विनीकुमार, रुद्र, मरुद्गण, विश्वेदेव, दैत्य, वसुगण तथा मुनिजनों एवं अन्य देवताओंका आवाहन करे । उनसे प्रार्थना करे कि 'आप सब लोग प्रसन्नतापूर्वक इन कलशोंमें आविष्ट हो जायँ ।' इसके बाद उन कलशोंमें जयन्ती, विजया, जया, शतावरी, शतपुष्पा, विष्णुक्रान्ता नामसे प्रसिद्ध अपराजिता, ज्योतिष्मती, अतिबला, उशीर, चन्दन, केसर, कस्तूरी, कपूर, वालक, पत्रक (पत्ते), त्वचा (छाल), जायफल, लवङ्ग आदि ओषधियाँ तथा मृत्तिका और पञ्चगव्य डाले । तत्पश्चात् ब्राह्मण साध्य मनुष्यको भद्रपीठ-पर बैठाकर इन कलशोंके जलसे बलपूर्वक स्नान करावे । राज्याभिषेकके मन्त्रोंमें उक्त देवताओंके उद्देश्यसे पृथक्-पृथक् होम करना चाहिये । तत्पश्चात् पूर्णाहुति देकर आचार्यको दक्षिणा दे । पूर्वकालमें देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रका इसी प्रकार अभिषेक किया था, जिससे वे दैत्योंका वध करनेमें समर्थ हो सके । यह मैंने संग्राम आदिमें विजय आदि प्रदान करनेवाला 'दिक्पालस्नान' कहा है ॥ ८—१८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दिक्पाल-स्नानकी विधिका वर्णन' नामक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६५ ॥

दो सौ छासठवाँ अध्याय

विनायक-स्नान-विधि

पुष्कर कहते हैं—परशुराम ! जो मनुष्य विघ्नराज विनायकद्वारा पीड़ित हैं, उनके लिये सर्व-मनोरथ-साधक स्नानकी विधिका वर्णन करता हूँ । कर्ममें विघ्न और उसकी सिद्धिके लिये विष्णु, शिव और ब्रह्माजीने विनायकको

पुष्पदन्त आदि गणोंके अधिपतिपदपर प्रतिष्ठित किया है। विघ्नराज विनायकके द्वारा जो ग्रस्त है, उस पुरुषके लक्षण सुनो। वह स्वप्नमें बहुत अधिक स्नान करता है और वह भी गहरे जलमें। (उस अवस्थामें वह यह भी देखता है कि पानीका स्रोत मुझे बहाये लिये जाता है, अथवा मैं डूब रहा हूँ।) वह मूँड़ मुँड़ाये (और गेरुआँ वस्त्र धारण करनेवाले) मनुष्योंको भी देखता है। कच्चे मांस खानेवाले गीधों एवं व्याघ्र आदि पशुओंकी पीठपर चढ़ता है। (चाण्डालों, गदहों और ऊँटोंके साथ एक स्थानपर बैठता है।) जाग्रत्-अवस्थामें भी जब वह कहीं जाता है तो उसे यह अनुभव होता है कि शत्रु मेरा पीछा कर रहे हैं। उसका चित्त विक्षिप्त रहता है। उसके द्वारा किये हुए प्रत्येक कार्यका आरम्भ निष्फल होता है। वह अकारण ही खिन्न रहता है। विघ्नराजकी सतायी हुई कुमारी कन्याको जल्दी वर ही नहीं मिलता है और विवाहिता स्त्री भी संतान नहीं पाती। श्रोत्रियको आचार्यपद नहीं मिलता। शिष्य अध्ययन नहीं कर पाता। वैश्यको व्यापारमें और किसानको खेतीमें लाभ नहीं होता है। राजाका पुत्र भी राज्यको हस्तगत नहीं कर पाता है। ऐसे पुरुषको (किसी पवित्र दिन एवं शुभ मुहूर्तमें) विधिपूर्वक स्नान कराना चाहिये। हस्त, पुष्य, अश्विनी, मृगशिरा तथा श्रवण नक्षत्रमें किसी भद्रपीठपर स्वस्तिवाचनपूर्वक बिठाकर उसे स्नान करानेका विधान है। पीली सरसों पीसकर उसे घीसे ढीला करके उबटन बनावे और उसको उस मनुष्यके सम्पूर्ण शरीरमें मले। फिर उसके मस्तकपर सर्वौषधिसहित सब प्रकारके सुगन्धित द्रव्यका लेप करे। चार कलशोंके जलसे उनमें सर्वौषधि छोड़कर स्नान कराये। अश्वशाला, गजशाला, वल्मीक (बाँबी), नदी-संगम तथा जलाशयसे लायी गयी पाँच प्रकारकी मिट्टी, गोरोचन, गन्ध (चन्दन, कुङ्कुम, अगुरु आदि) और गुग्गुल—ये सब वस्तुएँ भी उन कलशोंके जलमें छोड़े। आचार्य पूर्वदिशावर्ती कलशको लेकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे यजमानका अभिषेक करे—

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्॥
तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते।

'जो सहस्रों नेत्रों (अनेक प्रकारकी शक्तियों) से युक्त हैं, जिसकी सैकड़ों धाराएँ (बहुतसे प्रवाह) हैं और जिसे महर्षियोंने पावन बनाया है, उस पवित्र जलसे मैं (विनायकजनित उपद्रवसे ग्रस्त) तुम्हारा (उक्त उपद्रवकी शान्तिके लिये) अभिषेक करता हूँ। यह पावन जल तुम्हें पवित्र करे'॥ १—९½॥

(तदनन्तर दक्षिण दिशामें स्थित द्वितीय कलश लेकर नीचे लिखे मन्त्रको पढ़ते हुए अभिषेक करे—)

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः।
भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः॥

'राजा वरुण, सूर्य, बृहस्पति, इन्द्र, वायु तथा सप्तर्षिगणने तुम्हें कल्याण प्रदान किया है'॥ १०½॥

(फिर तीसरा पश्चिम कलश लेकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे अभिषेक करे—)

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि॥
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तु सर्वदा।

'तुम्हारे केशोंमें, सीमन्तमें, मस्तकपर, ललाटमें, कानोंमें और नेत्रोंमें भी जो दुर्भाग्य (या अकल्याण) है, उसे जलदेवता सदाके लिये शान्त करें'॥ ११½॥

(तत्पश्चात् चौथा कलश लेकर पूर्वोक्त तीनों मन्त्र पढ़कर अभिषेक करे।) इस प्रकार स्नान करनेवाले यजमानके मस्तकपर बायें हाथमें लिये हुए कुशोंको रखकर आचार्य उसपर गूलरकी स्रुवासे सरसोंका तेल उठाकर डाले॥ १२-१३॥

(उस समय निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़े—)

'ॐ मिताय स्वाहा। ॐ सम्मिताय स्वाहा। ॐ शालाय स्वाहा। ॐ कण्टकाय स्वाहा। ॐ कूष्माण्डाय स्वाहा। ॐ राजपुत्राय स्वाहा।'

इस प्रकार स्वाहासमन्वित इन मितादि नामोंके द्वारा सरसोंके तैलकी मस्तकपर आहुति दे। मस्तकपर तैल डालना ही हवन है॥ १४-१५॥

(मस्तकपर उक्त होमके पश्चात् लौकिक अग्निमें भी स्थालीपाककी विधिसे चरु तैयार करके उक्त छः मन्त्रोंसे ही उसी अग्निमें हवन करे।) फिर होमशेष चरुद्वारा 'नमः' पदयुक्त इन्द्रादि नामोंको बलि-मन्त्र बनाकर उनके उच्चारणपूर्वक उन्हें बलि अर्पित करे। तत्पश्चात् सूपमें सब ओर कुश बिछाकर, उसमें कच्चे-पके चावल, पीसे हुए तिलसे मिश्रित भात तथा भाँति-भाँतिके पुष्प, तीन प्रकारकी (गौड़ी, माधवी तथा पैष्टी) सुरा, मूली, पूरी, मालपूआ, पीठेकी मालाएँ, दही-मिश्रित अन्न, खीर, मीठा,

लड्डू और गुड़—इन सबको एकत्र रखकर चौराहेपर रख दे और उसे देवता, सुपर्ण, सर्प, ग्रह, असुर, यातुधान, पिशाच, नागमाता, शाकिनी, यक्ष, वेताल, योगिनी और पूतना आदिको अर्पित करे। तदनन्तर विनायकजननी भगवती अम्बिकाको दूर्वादल, सर्षप एवं पुष्पोंसे भरी हुई अर्घ्यरूप अञ्जलि देकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे उनका उपस्थान करे—'सौभाग्यवती अम्बिके ! मुझे रूप, यश, सौभाग्य, पुत्र एवं धन दीजिये। मेरी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण कीजिये[1]।' इसके बाद ब्राह्मणोंको भोजन करावे तथा आचार्यको दो वस्त्र दान करे। इस प्रकार विनायक और ग्रहोंका पूजन करके मनुष्य धन और सभी कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है ॥ १६—२० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विनायक-स्नानकथन' नामक दो सौ छासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

दो सौ सरसठवाँ अध्याय

माहेश्वर-स्नान आदि विविध स्नानोंका वर्णन; भगवान् विष्णुके पूजनसे तथा गायत्रीमन्त्रद्वारा लक्ष-होमादिसे शान्तिकी प्राप्तिका कथन

पुष्कर कहते हैं—अब मैं राजा आदिकी विजयश्रीको बढ़ानेवाले 'माहेश्वर-स्नान'का वर्णन करता हूँ, जिसका पूर्वकालमें शुक्राचार्यने दानवेन्द्र बलिको उपदेश किया था। प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व भद्रपीठपर आचार्य जलपूर्ण कलशोंसे राजाको स्नान करावे ॥ १½ ॥

(स्नानके समय निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करे)

'ॐ नमो भगवते रुद्राय च बलाय च पाण्डरोच्चिलभस्मानुलिप्तगात्राय (तद्यथा[2]) जय-जय सर्वान् शत्रून् मूकयस्व कलहविग्रहविवादेषु भञ्जय भञ्जय। ॐ मथ मथ। सर्वप्रत्यर्थिकान् सोऽसौ युगान्तकाले दिधक्षति। इमां पूजां रौद्रमूर्तिः सहस्रांशुः शुक्लः स ते रक्षतु जीवितम्। संवर्तकाग्नितुल्यश्च त्रिपुरान्तकरः शिवः। सर्वदेवमयः सोऽपि तव रक्षतु जीवितम् ॥ लिखि लिखि खिलि स्वाहा।'

'धवल भस्मका अनुलेपन अपने अङ्गोंमें लगाये महाबलशाली भगवान् रुद्रको नमस्कार है। आपकी जय हो, जय हो। समस्त शत्रुओंको गूँगा कर दीजिये। कलह, युद्ध एवं विवादमें भग्न कीजिये, भग्न कीजिये। मथ डालिये, मथ डालिये। जो प्रलयकालमें सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देना चाहते हैं, वे रुद्र समस्त प्रतिपक्षियोंको भस्म कर डालें। इस पूजाको स्वीकार करके वे रौद्रमूर्ति, सहस्र किरणोंसे सुशोभित, शुक्लवर्ण शिव तुम्हारे जीवनकी रक्षा करें। प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी, सर्वदेवमय, त्रिपुरनाशक शिव तुम्हारे जीवनकी रक्षा करें।' इस प्रकार मन्त्रसे स्नान करके तिल एवं तण्डुलका होम करे। फिर त्रिशूलधारी भगवान् शिवको पञ्चामृतसे स्नान कराके उनका पूजन करे ॥ २—६½ ॥

अब मैं तुम्हारे सम्मुख सदा विजयकी प्राप्ति करानेवाले अन्य स्नानोंका वर्णन करता हूँ। घृत-स्नान आयुकी वृद्धि करनेमें उत्तम है। गोमयसे स्नान करनेपर लक्ष्मीप्राप्ति, गोमूत्रसे स्नान करनेपर पाप-नाश, दुग्धसे स्नान करनेपर बलवृद्धि एवं दधिसे स्नान करनेपर सम्पत्तिकी वृद्धि होती है। कुशोदकसे स्नान करनेपर पापनाश, पञ्चगव्यसे स्नान करनेपर समस्त अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति, शतमूलसे स्नान करनेपर सभी कामनाओंकी सिद्धि तथा गोशृङ्गके जलसे स्नान करनेपर पापोंकी शान्ति होती है। पलाश, बिल्वपत्र, कमल एवं कुशके जलसे स्नान करना सर्वप्रद है। वचा, दो प्रकारकी हल्दी और मोथा-मिश्रित जलसे किया गया स्नान राक्षसोंके विनाशके लिये उत्तम है। इतना ही नहीं, वह आयु, यश, धर्म और मेधाकी भी वृद्धि करनेवाला है। स्वर्णजलसे किया गया स्नान मङ्गलकारी होता है। रजत और ताम्रजलसे किये गये स्नानका भी यही फल है। रत्नमिश्रित जलसे स्नान करनेपर विजय, सब प्रकारके गन्धोंसे मिश्रित जलद्वारा स्नान करनेपर सौभाग्य, फलोदकसे

१. रूपं देहि यशो देहि सौभाग्यं सुभगे मम। पुत्रं देहि धनं देहि सर्वान् कामांश्च देहि मे ॥
(अग्निपु० २६६। १९)

२. यद्यपि 'तद्यथा' यह पाठ अग्निपुराणकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, परंतु यह अधिक प्रतीत होता है।

स्नान करनेपर आरोग्य तथा धात्रीफलके जलसे स्नान करनेपर उत्तम लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। तिल एवं श्वेत सर्षपके जलसे स्नान करनेपर लक्ष्मी, प्रियंगुजलसे स्नान करनेपर सौभाग्य, पद्म, उत्पल तथा कदम्बमिश्रित जलसे स्नान करनेपर लक्ष्मी एवं बला-वृक्षके जलसे स्नान करनेपर बलकी प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीविष्णुके चरणोदकद्वारा स्नान सब स्नानोंसे श्रेष्ठ है ॥ ७-१३½ ॥

एकाकी मनुष्य मनमें एक कामना लेकर विधिपूर्वक एक ही स्नान करे। वह 'आक्रन्दयति०' आदि सूक्तसे अपने हाथमें मणि (मनका) बाँधे। वह मणि कूट, पाट, वचा, सोंठ, शङ्ख अथवा लोहे आदिकी होनी चाहिये। समस्त कामनाओंके ईश्वर भगवान् श्रीहरि ही हैं, अतः उनके पूजनसे ही मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य घृतमिश्रित दुग्धसे स्नान कराके श्रीविष्णुका पूजन करता है, वह पित्तरोगका नाश कर देता है। उनके उद्देश्यसे पाँच मूँगोंकी बलि देकर मनुष्य अतिसारसे छुटकारा पाता है। भगवान् श्रीहरिको पञ्चगव्यसे स्नान करानेवाला वातरोगका नाश करता है। द्विस्नेह-द्रव्यसे स्नान कराके अतिशय श्रद्धा-पूर्वक उनका पूजन करनेवाला कफ-सम्बन्धी रोगसे मुक्त हो जाता है। घृत, तैल एवं मधुद्वारा कराया गया स्नान 'त्रिरस-स्नान' माना गया है, घृत और जलसे किया गया स्नान 'द्विस्नेह स्नान' है तथा घृत-तेल-मिश्रित जलका स्नान 'समल-स्नान' है। मधु, ईखका रस और दूध—इन तीनोंसे मिश्रित जलद्वारा किया गया स्नान 'त्रिमधुर-स्नान' है। घृत, इक्षुरस तथा शहद यह 'त्रिरस-स्नान' लक्ष्मीकी प्राप्ति करानेवाला है। कर्पूर, उशीर एवं चन्दनसे किया गया अनुलेप 'त्रिशुक्ल' कहलाता है। चन्दन, अगुरु, कर्पूर, कस्तूरी एवं कुङ्कुम—इन पाँचोंके मिश्रणसे किया गया अनुलेपन यदि विष्णुको अर्पित किया जाय तो वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला है। कर्पूर, चन्दन एवं कुङ्कुम अथवा कस्तूरी, कपूर और चन्दन—यह 'त्रिसुगन्ध' समस्त कामनाओंको प्रदान करनेवाला है। जायफल, कर्पूर और चन्दन—ये 'शीतत्रय' माने गये हैं। पीला, सुग्गापंखी, शुक्ल, कृष्ण एवं लाल—ये पञ्च वर्ण कहे गये हैं ॥ १४-२४ ॥

श्रीहरिके पूजनमें उत्पल, कमल, जातीपुष्प तथा त्रिशीत उपयोगी होते हैं। कुङ्कुम, रक्त कमल और लाल उत्पल ये 'त्रिरक्त' कहे जाते हैं। श्रीविष्णुका धूप-दीप आदिसे पूजन करनेपर मनुष्योंको शान्तिकी प्राप्ति होती है। चार हाथके चौकोर कुण्डमें आठ या सोलह ब्राह्मण तिल, घी और चावलसे लक्षहोम या कोटिहोम करें। ग्रहोंकी पूजा करके गायत्री-मन्त्रसे उक्त होम करनेपर क्रमशः सब प्रकारकी शान्ति सुलभ होती है ॥ २५-२७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'माहेश्वर-स्नान तथा लक्षकोटिहोम आदिका कथन' नामक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६७ ॥

दो सौ अड़सठवाँ अध्याय

सांवत्सर-कर्म; इन्द्र-शचीकी पूजा एवं प्रार्थना; राजाके द्वारा भद्रकाली तथा अन्यान्य देवताओंके पूजनकी विधि; वाहन आदिका पूजन तथा नीराजना

पुष्कर करते हैं—अब मैं राजाओंके करनेयोग्य सांवत्सर-कर्मका वर्णन करता हूँ। राजाको अपने जन्मनक्षत्रमें नक्षत्र-देवताका पूजन करना चाहिये। वह प्रत्येक मासमें, संक्रान्तिके समय सूर्य और चन्द्रमा आदि देवताओंकी अर्चना करे। अगस्त्य-ताराका उदय होनेपर अगस्त्यकी एवं चातुर्मास्यमें श्रीहरिका यजन करे। श्रीहरिके शयन और उत्थापनकालमें, अर्थात् हरिशयनी एकादशी और हरिप्रबोधिनी एकादशीके अवसरपर, पाँच दिनतक उत्सव करे। भाद्रपदके शुक्लपक्षमें, प्रतिपदा तिथिको शिविरके पूर्वदिग्भागमें इन्द्र-पूजाके लिये भवन-निर्माण करावे। उस भवनमें इन्द्रध्वज (पताका) की स्थापना करके वहाँ प्रतिपदासे लेकर अष्टमी-तक शची और इन्द्रकी पूजा करे। अष्टमीको वाद्यघोषके साथ उस पताकामें ध्वजदण्डका प्रवेश करावे। फिर एकादशीको उपवास रखकर द्वादशीको ध्वजका उत्तोलन करे। फिर एक कलशपर वस्त्रादिसे युक्त देवराज इन्द्र एवं शचीकी स्थापना करके उनका पूजन करे ॥ १-५ ॥

(इन्द्रदेवकी इस प्रकार प्रार्थना करे—)

'शत्रुविजयी वृत्रनाशन पाकशासन ! महाभाग देवदेव ! आपका अभ्युदय हो। आप कृपापूर्वक इस भूतलपर पधारे हैं। आप सनातन प्रभु, सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले,

अनन्त तेजसे सम्पन्न, विराट् पुरुष तथा यश एवं विजयकी वृद्धि करनेवाले हैं। आप उत्तम वृष्टि करनेवाले इन्द्र हैं, समस्त देवता आपका तेज बढ़ायें। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, विनायक, आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, भृगुकुलोत्पन्न महर्षि, दिशाएँ, मरुद्गण, लोकपाल, ग्रह, यक्ष, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, श्रीदेवी, भूदेवी, गौरी, चण्डिका एवं सरस्वती—ये सभी आपके तेजको प्रदीप्त करें। शचीपते इन्द्र! आपकी जय हो। आपकी विजयसे मेरा भी सदा शुभ हो। आप नरेशों, ब्राह्मणों एवं सम्पूर्ण प्रजाओंपर प्रसन्न होइये। आपके कृपाप्रसादसे यह पृथ्वी सदा सस्यसम्पन्न हो। सबका विघ्नरहित कल्याण हो तथा ईतियाँ पूर्णतया शान्त हों।' इस अभिप्रायवाले मन्त्रसे इन्द्रकी अर्चना करनेवाला भूपाल पृथ्वीपर विजय प्राप्त करके स्वर्गको प्राप्त होता है॥ ६—१२½॥

आश्विन मासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको किसी पटपर भद्रकालीका चित्र अङ्कित करके राजा विजयकी प्राप्तिके लिये उसकी पूजा करे। साथ ही आयुध, धनुष, ध्वज, छत्र, राजचिह्न (मुकुट, छत्र तथा चँवर आदि) तथा अस्त्र-शस्त्र आदिकी पुष्प आदि उपचारोंसे पूजा करे। रात्रिके समय जागरण करके देवीको बलि अर्पित करे। दूसरे दिन पुनः पूजन करे। (पूजाके अन्तमें इस प्रकार प्रार्थना करे—) 'भद्रकालि, महाकालि, दुर्गतिहारिणि दुर्गे, त्रैलोक्यविजयिनि चण्डिके ! मुझे सदा शान्ति और विजय प्रदान कीजिये'॥ १३—१५½॥

अब मैं 'नीराजन'की विधि कहता हूँ। ईशानकोणमें देवमन्दिरका निर्माण करावे। वहाँ तीन दरवाजे लगाकर मन्दिरके गर्भगृहमें सदा देवताओंकी पूजा करे। जब सूर्य चित्रा नक्षत्रको छोड़कर स्वाती नक्षत्रमें प्रवेश करते हैं, उस समयसे प्रारम्भ करके जबतक स्वातीपर सूर्य स्थित रहें, तबतक देवपूजन करना चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अग्नि, वायु, विनायक, कार्तिकेय, वरुण, विश्रवाके पुत्र कुबेर, यम, विश्वेदेव एवं कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील—इन आठ दिग्गजोंकी गृह आदिमें पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर पुरोहित घृत, समिधा, श्वेत सर्षप एवं तिलोंका होम करे। आठ कलशोंकी पूजा करके उनके जलसे उत्तम हाथियोंको स्नान कराये। तदनन्तर घोड़ोंको स्नान कराये और उन सबके लिये ग्रास दे। पहले हाथियोंको तोरणद्वारसे बाहर निकाले; परंतु गोपुर आदिका उल्लङ्घन न करावे। तदनन्तर सब लोग वहाँसे निकलें और राजचिह्नोंकी पूजा घरमें ही की जाय। शतभिषा नक्षत्रमें वरुणका पूजन करके रात्रिके समय भूतोंको बलि दे। जब सूर्य विशाखा नक्षत्रपर जाय, उस समय राजा आश्रममें निवास करे। उस दिन वाहनोंको विशेषरूपसे अलंकृत करना चाहिये। राजचिह्नोंकी पूजा करके उन्हें उनके अधिकृत पुरुषोंके हाथोंमें दे। धर्मज्ञ परशुराम! फिर कालज्ञ ज्यौतिषी हाथी, अश्व, छत्र, खड्ग, धनुष, दुन्दुभि, ध्वजा एवं पताका आदि राजचिह्नोंको अभिमन्त्रित करे। फिर उन सबको अभिमन्त्रित करके हाथीकी पीठपर रक्खे। ज्यौतिषी और पुरोहित भी हाथीपर आरूढ़ हों। इस प्रकार अभिमन्त्रित वाहनोंपर आरूढ़ होकर तोरण-द्वारसे निष्क्रमण करें। इस प्रकार राजद्वारसे बाहर निकलकर राजा हाथीकी पीठपर स्थित रहकर विधिपूर्वक बलि-वितरण करे। फिर नरेश सुस्थिरचित्त होकर चतुरङ्गिणी सेनाके साथ सर्वसैन्यसमूहके द्वारा जयघोष कराते हुए दिग्दिगन्तको प्रकाशित करनेवाले जलते मसालोंके समूहकी तीन बार परिक्रमा करे। इस प्रकार पूजन करके राजा जनसाधारणको विदा करके राजभवनको प्रस्थान करे। मैंने यह समस्त शत्रुओंका विनाश करनेवाली 'नीराजना' नामक शान्ति बतलायी है, जो राजाको अभ्युदय प्रदान करनेवाली है॥ १६—३१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नीराजनाविधिका वर्णन' नामक दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६८॥

दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय

छत्र, अश्व, ध्वजा, गज, पताका, खड्ग, कवच और दुन्दुभिकी प्रार्थनाके मन्त्र

पुष्कर कहते हैं—परशुराम ! अब मैं छत्र आदि राजोपकरणोंके प्रार्थनामन्त्र बतलाता हूँ, जिनसे उनकी पूजा करके नरेशगण विजय आदि प्राप्त करते हैं॥ ½॥

छत्र-प्रार्थना-मन्त्र

'महामते छत्रदेव ! तुम हिम, कुन्द एवं चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिसे सुशोभित और पाण्डुर-वर्णकी-सी

आभावाले हो। ब्रह्माजीके सत्यवचन तथा चन्द्र, वरुण और सूर्यके प्रभावसे तुम सतत वृद्धिशील होओ। जिस प्रकार मेघ मङ्गलके लिये इस पृथ्वीको आच्छादित करता है, उसी प्रकार तुम विजय एवं आरोग्यकी वृद्धिके लिये राजाको आच्छादित करो' ॥ १—३ ॥

अश्व-प्रार्थना-मन्त्र

'अश्व! तुम गन्धर्वकुलमें उत्पन्न हुए हो, अतः अपने कुलको दूषित करनेवाला न होना। ब्रह्माजीके सत्यवचनसे तथा सोम, वरुण एवं अग्निदेवके प्रभावसे, सूर्यके तेजसे, मुनिवरोंके तपसे, रुद्रके ब्रह्मचर्यसे और वायुके बलसे तुम सदा आगे बढ़ते रहो। याद रक्खो, तुम अश्वराज उच्चैःश्रवाके पुत्र हो; अपने साथ ही प्रकट हुए कौस्तुभरत्नका स्मरण करो। (तुम्हें भी उसीकी भाँति अपने यशसे प्रकाशित होते रहना चाहिये।) ब्रह्मघाती, पितृघाती, मातृहन्ता, भूमिके लिये मिथ्याभाषण करनेवाला तथा युद्धसे पराङ्मुख क्षत्रिय जितनी शीघ्रतासे अधोगतिको प्राप्त होता है, तुम भी युद्धसे पीठ दिखानेपर उसी दुर्गतिको प्राप्त हो सकते हो; किंतु तुम्हें वैसा पाप या कलङ्क न लगे। तुरंगम! तुम युद्धके पथपर विकारको न प्राप्त होना। समराङ्गणमें शत्रुओंका विनाश करते हुए अपने स्वामीके साथ तुम सुखी होओ' ॥ ४—८½ ॥

ध्वजा-प्रार्थना-मन्त्र

'महापराक्रमके प्रतीक इन्द्रध्वज! भगवान् नारायणके ध्वज विनतानन्दन पक्षिराज गरुड तुममें प्रतिष्ठित हैं। वे सर्पशत्रु, विष्णुवाहन, कश्यपनन्दन तथा देवलोकसे हठात् अमृत छीन लानेवाले हैं। उनका शरीर विशाल और बल एवं वेग महान् है। वे अमृतभोगी हैं। उनकी शक्ति अप्रमेय है। वे युद्धमें दुर्जय रहकर देवशत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। उनकी गति वायुके समान तीव्र है। वे गरुड तुममें प्रतिष्ठित हैं। देवाधिदेव भगवान् विष्णुने इन्द्रके लिये तुममें उन्हें स्थापित किया है, तुम सदा मुझे विजय प्रदान करो। मेरे बलको बढ़ाओ। घोड़े, कवच तथा आयुधोंसहित हमारे योद्धाओंकी रक्षा करो और शत्रुओंको जलाकर भस्म कर दो' ॥ ९—१३ ॥

गज-प्रार्थना-मन्त्र

'कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील—ये आठ देवयोनिमें उत्पन्न गजराज हैं। इनके ही पुत्र और पौत्र आठ वनोंमें निवास करते हैं। भद्र, मन्द, मृग एवं संकीर्णजातीय गज वन-वनमें उत्पन्न हुए हैं। हे महागजराज! तुम अपनी योनिका स्मरण करो। वसुगण, रुद्र, आदित्य एवं मरुद्गण तुम्हारी रक्षा करें। गजेन्द्र! अपने स्वामीकी रक्षा करो और अपनी मर्यादाका पालन करो। ऐरावतपर चढ़े हुए वज्रधारी देवराज इन्द्र तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहे हैं, ये तुम्हारी रक्षा करें। तुम युद्धमें विजय पाओ और सदा स्वस्थ रहकर आगे बढ़ो। तुम्हें युद्धमें ऐरावतके समान बल प्राप्त हो। तुम चन्द्रमासे कान्ति, विष्णुसे बल, सूर्यसे तेज, वायुसे वेग, पर्वतसे स्थिरता, रुद्रसे विजय और देवराज इन्द्रसे यश प्राप्त करो। युद्धमें दिग्गज दिशाओं और दिक्पालोंके साथ तुम्हारी रक्षा करें। गन्धर्वोंके साथ अश्विनीकुमार सब ओरसे तुम्हारा संरक्षण करें। मनु, वसु, रुद्र, वायु, चन्द्रमा, महर्षिगण, नाग, किंनर, यक्ष, भूत, प्रमथ, ग्रह, आदित्य, मातृकाओंसहित भूतेश्वर शिव, इन्द्र, देवसेनापति कार्तिकेय और वरुण तुममें अधिष्ठित हैं। वे हमारे समस्त शत्रुओंको भस्मसात् कर दें और राजा विजय प्राप्त करें' ॥ १४—२३ ॥

पताका-प्रार्थना-मन्त्र

'पताके! शत्रुओंने सब ओर जो घातक प्रयोग किये हों, शत्रुओंके वे प्रयोग तुम्हारे तेजसे अभिहत होकर नष्ट हो जायँ। तुम जिस प्रकार कालनेमिवध एवं त्रिपुरसंहारके युद्धमें, हिरण्यकशिपुके संग्राममें तथा सम्पूर्ण दैत्योंके वधके समय सुशोभित हुई हो, आज उसी प्रकार सुशोभित होओ। अपने प्रणका स्मरण करो। इस नीलोज्ज्वलवर्णकी पताकाको देखकर राजाके शत्रु युद्धमें विविध भयंकर व्याधियों एवं शस्त्रोंसे पराजित होकर शीघ्र नष्ट हो जायँ। तुम पूतना, रेवती, लेखा और कालरात्रि आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो। पताके! हम तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं, हमारे सम्पूर्ण शत्रुओंको दग्ध कर डालो। सर्वमेध महायज्ञमें देवाधिदेव भगवान् रुद्रने जगत्‌के सारतत्त्वसे तुम्हारा निर्माण किया था' ॥ २४—२८½ ॥

खड्ग-प्रार्थना-मन्त्र

'शत्रुसूदन खड्ग! तुम इस बातको याद रक्खो कि नारायणके 'नन्दक' नामक खड्गकी दूसरी मूर्ति हो। तुम

नीलकमलदलके समान श्याम एवं कृष्णवर्ण हो। दुःस्वप्नोंका विनाश करनेवाले हो। प्राचीनकालमें स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माने असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल—ये तुम्हारे आठ नाम बतलाये हैं। कृत्तिका तुम्हारा नक्षत्र है, देवाधिदेव महेश्वर तुम्हारे गुरु हैं, सुवर्ण तुम्हारा शरीर है और जनार्दन तुम्हारे देवता हैं। खड्ग! तुम सेना एवं नगरसहित राजाकी रक्षा करो। तुम्हारे पिता देवश्रेष्ठ पितामह हैं। तुम सदा हमलोगोंकी रक्षा करो' ॥ २९—३३ ॥

कवच-प्रार्थना-मन्त्र

'हे वर्म! तुम रणभूमिमें कल्याणप्रद हो। आज मेरी सेनाको यश प्राप्त हो। निष्पाप! मैं तुम्हारे द्वारा रक्षा पानेके योग्य हूँ। मेरी रक्षा करो। तुम्हें नमस्कार है' ॥ ३४ ॥

दुन्दुभि-प्रार्थना-मन्त्र

'दुन्दुभे! तुम अपने घोषसे शत्रुओंका हृदय कम्पित करनेवाली हो; हमारे राजाकी सेनाओंके लिये विजयवर्धक बन जाओ। मोददायक दुन्दुभे! जैसे मेघकी गर्जनासे श्रेष्ठ हाथी हर्षित होते हैं, वैसे ही तुम्हारे शब्दसे हमारा हर्ष बढ़े। जिस प्रकार मेघकी गर्जना सुनकर स्त्रियाँ भयभीत हो जाती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे नादसे युद्धमें उपस्थित हमारे शत्रु त्रस्त हो उठें' ॥ ३५—३७ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्रोंसे राजोपकरणोंकी अर्चना करे एवं विजयकार्यमें उनका प्रयोग करे। दैवज्ञ राजपुरोहितको रक्षा-बन्धन आदिके द्वारा राजाकी रक्षाका प्रबन्ध करके प्रतिवर्ष विष्णु आदि देवताओं एवं राजाका अभिषेक करना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छत्र आदिकी प्रार्थनाके मन्त्रका कथन' नामक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

दो सौ सत्तरवाँ अध्याय

विष्णुपञ्जरस्तोत्रका कथन

पुष्कर कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ परशुराम! पूर्वकालमें भगवान् ब्रह्माने त्रिपुरसंहारके लिये उद्यत शंकरकी रक्षाके लिये 'विष्णुपञ्जर' नामक स्तोत्रका उपदेश किया था। इसी प्रकार बृहस्पतिने बल दैत्यका वध करनेके लिये जानेवाले इन्द्रकी रक्षाके लिये उक्त स्तोत्रका उपदेश दिया था। मैं विजय प्रदान करनेवाले उस विष्णुपञ्जरका स्वरूप बतलाता हूँ, सुनो ॥ १-२ ॥

"मेरे पूर्वभागमें चक्रधारी विष्णु एवं दक्षिणपार्श्वमें गदाधारी श्रीहरि स्थित हैं। पश्चिमभागमें शार्ङ्गपाणि विष्णु और उत्तरभागमें नन्दक-खड्गधारी जनार्दन विराजमान हैं। भगवान् हृषीकेश दिक्कोणोंमें एवं जनार्दन मध्यवर्ती अवकाशमें मेरी रक्षा कर रहे हैं। वराहरूपधारी श्रीहरि भूमिपर तथा भगवान् नृसिंह आकाशमें प्रतिष्ठित होकर मेरा संरक्षण कर रहे हैं। जिसके किनारेके भागोंमें छुरे जुड़े हुए हैं, वह यह निर्मल 'सुदर्शनचक्र' घूम रहा है। यह जब प्रेतों तथा निशाचरोंको मारनेके लिये चलता है, उस समय इसकी किरणोंकी ओर देखना किसीके लिये भी बहुत कठिन होता है। भगवान् श्रीहरिकी यह 'कौमोदकी' गदा सहस्रों ज्वालाओंसे प्रदीप्त पावकके समान उज्ज्वल है। यह राक्षस, भूत, पिशाच और डाकिनियोंका विनाश करनेवाली है। भगवान् वासुदेवके शार्ङ्गधनुषकी टंकार मेरे शत्रुभूत मनुष्य, कूष्माण्ड, प्रेत आदि और तिर्यग्योनिगत जीवोंका पूर्णतया संहार करे। जो भगवान् श्रीहरिकी खड्गधारामयी उज्ज्वल ज्योत्स्नामें स्नान कर चुके हैं, वे मेरे समस्त शत्रु उसी प्रकार तत्काल शान्त हो जायँ, जैसे गरुडके द्वारा मारे गये सर्प शान्त हो जाते हैं ॥ ३—८ ॥

"जो कूष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, प्रेत, विनायक, क्रूर मनुष्य, शिकारी पक्षी, सिंह आदि पशु एवं डँसनेवाले सर्प हों, वे सब-के-सब सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णके शङ्खनादसे आहत हो सौम्यभावको प्राप्त हो जायँ। जो मेरी चित्तवृत्ति और स्मरणशक्तिका हरण करते हैं, जो मेरे बल और तेजका नाश करते हैं तथा जो मेरी कान्ति या तेजको विलुप्त करनेवाले हैं, जो उपभोग-सामग्रीको हर लेनेवाले तथा शुभ लक्षणोंका नाश करनेवाले हैं, वे कूष्माण्डगण श्रीविष्णुके सुदर्शन-चक्रके वेगसे आहत होकर विनष्ट हो जायँ। देवाधिदेव भगवान् वासुदेवके संकीर्तनसे मेरी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको स्वास्थ्यलाभ हो। मेरे आगे-पीछे, दायें-बायें तथा कोणवर्तिनी दिशाओंमें सब

जगह जनार्दन श्रीहरिका निवास हो। सबके पूजनीय, मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले अनन्तरूप परमेश्वर जनार्दनके चरणोंमें प्रणत होनेवाला कभी दुःखी नहीं होता। जैसे भगवान् श्रीहरि परब्रह्म हैं, उसी प्रकार वे परमात्मा केशव भी जगत्स्वरूप हैं—इस सत्यके प्रभावसे तथा भगवान् अच्युतके नामकीर्तनसे मेरे त्रिविध पापोंका नाश हो जाय'' ॥ ९—१५ ॥*

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विष्णुपञ्जरस्तोत्रका कथन' नामक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

दो सौ एकहत्तरवाँ अध्याय

वेदोंके मन्त्र और शाखा आदिका वर्णन तथा वेदोंकी महिमा

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! वेदमन्त्र सम्पूर्ण विश्वपर अनुग्रह करनेवाले तथा चारों पुरुषार्थोंके साधक हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। इनके मन्त्रोंकी संख्या एक लाख है। ऋग्वेदकी एक शाखा 'सांख्यायन' और दूसरी शाखा 'आश्वलायन' है। इन दो शाखाओंमें एक सहस्र तथा ऋग्वेदीय ब्राह्मणभागमें दो सहस्र मन्त्र हैं। श्रीकृष्णद्वैपायन आदि महर्षियोंने ऋग्वेदको प्रमाण माना है। यजुर्वेदमें उन्नीस सौ मन्त्र हैं। उसके ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें एक हजार मन्त्र हैं और शाखाओंमें एक हजार छियासी। यजुर्वेदमें मुख्यतया काण्वी, माध्यन्दिनी, कठी, माध्यकठी, मैत्रायणी, तैत्तिरीया एवं वैशम्पायनीया—ये शाखाएँ विद्यमान हैं। सामवेदमें कौथुमी और आथर्वणायनी (राणायनीया)—ये दो शाखाएँ मुख्य हैं। इसमें वेद, आरण्यक, उक्था और ऊह—ये चार गान हैं। सामवेदमें नौ हजार चार सौ पचीस मन्त्र हैं। वे ब्रह्मसे सम्बन्धित हैं। यहाँतक सामवेदका मान बताया गया ॥ १—७ ॥

अथर्ववेदमें सुमन्तु, जाजलि, श्लोकायनि, शौनक, पिप्पलाद और मुञ्जकेश आदि शाखाप्रवर्तक ऋषि हैं। इसमें सोलह हजार मन्त्र और सौ उपनिषद् हैं। व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर भगवान् श्रीविष्णुने ही वेदोंकी शाखाओंका विभाग आदि किया है। वेदोंके शाखाभेद आदि इतिहास और पुराण सब विष्णुस्वरूप हैं। भगवान् व्याससे लोमहर्षण

श्रीविष्णुपञ्जरस्तोत्र

पुष्कर उवाच—

त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं ब्रह्मणा विष्णुपञ्जरम्। शंकरस्य द्विजश्रेष्ठ रक्षणाय निरूपितम् ॥
वागीशेन च शक्रस्य बलं हन्तुं प्रयास्यतः। तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि तत् त्वं शृणु जयादिमत् ॥
विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्री हरिर्दक्षिणतो गदी। प्रतीच्यां शार्ङ्गधृग् विष्णुर्जिष्णुः खड्गी ममोत्तरे ॥
हृषीकेशो विकोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः। क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नरसिंहोऽम्बरे मम ॥
क्षुरान्तममलं चक्रं भ्रमत्येतत् सुदर्शनम्। अस्यांशुमाला दुष्प्रेक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान् ॥
गदा चेयं सहस्रार्चिः प्रदीप्तपावकोज्ज्वला। रक्षोभूतपिशाचानां डाकिनीनां च नाशनी ॥
शार्ङ्गविस्फूर्जितं चैव वासुदेवस्य मद्रिपून्। तिर्यङ्मनुष्यकूष्माण्डप्रेतादीन् हन्त्वशेषतः ॥
खड्गधारोज्ज्वलज्योत्स्नानिर्धूता ये समाहिताः। ते यान्तु शाम्यतां सद्यो गरुडेनेव पन्नगाः ॥
ये कूष्माण्डास्तथा यक्षा ये दैत्या ये निशाचराः। प्रेता विनायकाः क्रूरा मनुष्या जम्भगाः खगाः ॥
सिंहादयश्च पशवो दंदशूकाश्च पन्नगाः। सर्वे भवन्तु ते सौम्याः कृष्णशङ्खरवाहताः ॥
चित्तवृत्तिहरा ये मे ये जनाः स्मृतिहारकाः। बलौजसां च हर्तारश्छायाविभ्रंशकाश्च ये ॥
ये चोपभोगहर्तारो ये च लक्षणनाशकाः। कूष्माण्डास्ते प्रणश्यन्तु विष्णुचक्ररवाहताः ॥
बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा। ममास्तु देवदेवस्य वासुदेवस्य कीर्तनात् ॥
पृष्ठे पुरस्तान्मम दक्षिणोत्तरे विकोणतश्चास्तु जनार्दनो हरिः। तमीड्यमीशानमनन्तमच्युतं जनार्दनं प्रणिपतितो न सीदति॥
यथा परं ब्रह्म हरिस्तथा परो जगत्स्वरूपश्च स एव केशवः। सत्येन तेनाच्युतनामकीर्तनात् प्रणाशयेत्तु त्रिविधं ममाशुभम्॥

(अग्निपु० २७० । १—१५)

सूतने पुराण आदिका उपदेश पाकर उनका प्रवचन किया। उनके सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शिंशपायन, कृतव्रत और सावर्णि—ये छः शिष्य हुए। शिंशपायन आदिने पुराणोंकी संहिताका निर्माण किया। भगवान् श्रीहरि ही 'ब्राह्म' आदि अठारह पुराणों एवं अष्टादश विद्याओंके रूपमें स्थित हैं। वे सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्च तथा मूर्त-अमूर्त स्वरूप धारण करनेवाले विद्यारूपी श्रीविष्णु 'आग्नेय महापुराण'में स्थित हैं। उनको जानकर उनकी अर्चना एवं स्तुति करके मानव भोग और मोक्ष—दोनोंको प्राप्त कर लेता है। भगवान् विष्णु विजयशील, प्रभावसम्पन्न तथा अग्नि-सूर्य आदिके रूपमें स्थित हैं। वे भगवान् विष्णु ही अग्निरूपसे देवता आदिके मुख हैं। वे ही सबकी परमगति हैं। वे वेदों तथा पुराणोंमें 'यज्ञमूर्त्ति'के नामसे गाये जाते हैं। यह 'अग्निपुराण' श्रीविष्णुका ही विराट्रूप है। इस अग्नि-आग्नेय पुराणके निर्माता और श्रोता श्रीजनार्दन ही हैं। इसलिये यह महापुराण सर्ववेदमय, सर्वविद्यामय तथा सर्वज्ञानमय है। यह उत्तम एवं पवित्र पुराण पठन और श्रवण करनेवाले मनुष्योंके लिये सर्वात्मा श्रीहरिस्वरूप है। यह 'आग्नेय-महापुराण' विद्यार्थियोंके लिये विद्याप्रद, अर्थार्थियोंके लिये लक्ष्मी और धन-सम्पत्ति देनेवाला, राज्यार्थियोंके लिये राज्यदाता, धर्मार्थियोंके लिये धर्मदाता, स्वर्गार्थियोंके लिये स्वर्गप्रद और पुत्रार्थियोंके लिये पुत्रदायक है। गोधन चाहनेवालेको गोधन और ग्रामाभिलाषियोंको ग्राम देनेवाला है। यह कामार्थी मनुष्योंको काम, सम्पूर्ण सौभाग्य, गुण तथा कीर्त्ति प्रदान करनेवाला है। विजयाभिलाषी पुरुषोंको विजय देता है, सब कुछ चाहनेवालोंको सब कुछ देता है, मोक्षकामियोंको मोक्ष देता है और पापियोंके पापोंका नाश कर देता है॥ ८—२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वेदोंकी शाखा आदिका वर्णन' नामक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२७१॥

दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय

विभिन्न पुराणोंके दान तथा महाभारत-श्रवणमें दान-पूजन आदिका माहात्म्य

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! पूर्वकालमें लोकपितामह ब्रह्माने मरीचिके सम्मुख जिसका वर्णन किया था, पचीस हजार श्लोकोंसे समन्वित उस 'ब्रह्मपुराण' को लिखकर ब्राह्मणको दान दे। स्वर्गाभिलाषी वैशाखकी पूर्णिमाको जलधेनुके साथ 'ब्रह्मपुराण'का दान करे। 'पद्मपुराण'में जो पद्मसंहिता (भूमिखण्ड) है, उसमें बारह[1] हजार श्लोक हैं। ज्येष्ठ मासकी पूर्णिमाको गौके साथ इसका दान करना चाहिये। महर्षि पराशरने वाराह-कल्पके वृत्तान्तको अभिगत करके तेईस हजार श्लोकोंका 'विष्णु-पुराण' कहा है। इसे आषाढ़की पूर्णिमाको जलधेनु-सहित प्रदान करे। इससे मनुष्य भगवान् विष्णुके परम-पदको प्राप्त होता है। चौदह हजार श्लोकोंवाला 'वायुपुराण' भगवान् शंकरको अत्यन्त प्रिय है। इसमें वायुदेवने श्वेतकल्पके प्रसङ्गसे धर्मका वर्णन किया है। इस पुराणको लिखकर श्रावणकी पूर्णिमाको गुड़धेनुके साथ ब्राह्मणको दान करे। गायत्री-मन्त्रका आश्रय लेकर निर्मित हुए जिस पुराणमें भागवत-धर्मका विस्तृत वर्णन है, सारस्वत-कल्पका प्रसङ्ग कहा गया है तथा जो वृत्रासुर-वधकी कथासे युक्त है—उस पुराणको 'भागवत' कहते हैं। इसमें अठारह हजार श्लोक हैं। इसको सोनेके सिंहासनके साथ भाद्रपदकी पूर्णिमाको दान करे। जिसमें देवर्षि नारदने बृहत्कल्पके वृत्तान्तका आश्रय लेकर धर्मोंकी व्याख्या की है, वह 'नारदपुराण' है। उसमें पचीस हजार श्लोक हैं। आश्विन मासकी पूर्णिमाको धेनुसहित उसका दान करे। इससे आत्यन्तिक सिद्धि प्राप्त होती है। जिसमें पक्षियोंके द्वारा धर्माधर्मका विचार किया गया है, नौ हजार श्लोकोंवाले उस 'मार्कण्डेयपुराण'का कार्तिककी पूर्णिमाको दान करे। अग्निदेवने वसिष्ठ मुनिको जिसका श्रवण कराया है, वह 'अग्निपुराण' है। इस ग्रन्थको लिखकर मार्गशीर्षकी पूर्णिमा तिथिमें ब्राह्मणके हाथमें दे। इस पुराणका दान सब कुछ देनेवाला है। इसमें बारह हजार ही श्लोक हैं और यह पुराण सम्पूर्ण विद्याओंका बोध करानेवाला है। 'भविष्य-पुराण' सूर्य-सम्भव है। इसमें सूर्यदेवकी महिमा बतायी गयी है। इसमें चौदह हजार श्लोक हैं। इसे भगवान् शंकरने मनुसे कहा है। गुड़ आदि वस्तुओंके साथ पौषकी पूर्णिमाको इसका दान करना चाहिये। सावर्ण्य-मनुने नारदसे

[1] द्वादशैव सहस्राणि पद्माख्या या तु संहिता। (पद्मपु० भूमिखण्ड)

'ब्रह्मवैवर्तपुराण'का वर्णन किया है। इसमें रथन्तर-कल्पका वृत्तान्त है और अठारह हजार श्लोक हैं। माघ मासकी पूर्णिमाको इसका दान करे। वराहके चरित्रसे युक्त जो 'वाराहपुराण' है, उसका भी माघ मासकी पूर्णिमाको दान करे। ऐसा करनेसे दाता ब्रह्मलोकका भागी होता है। जहाँ अग्निमय लिङ्गमें स्थित भगवान् महेश्वरने आग्नेय-कल्पके वृत्तान्तोंसे युक्त धर्मोंका विवेचन किया है, वह ग्यारह हजार श्लोकोंवाला 'लिङ्गपुराण' है। फाल्गुनकी पूर्णिमाको तिलधेनुके साथ उसका दान करके मनुष्य शिवलोकको प्राप्त होता है। 'वाराहपुराण'में भगवान् श्रीविष्णुने भूदेवीके प्रति मानव-जगत्की प्रवृत्तिसे लेकर वराह-चरित्र आदि उपाख्यानोंका वर्णन किया है। इसमें चौबीस हजार श्लोक हैं। चैत्रकी पूर्णिमाको 'गरुडपुराण' का सुवर्णके साथ दान करके मनुष्य विष्णुपदको प्राप्त होता है। 'स्कन्दमहापुराण' चौरासी हजार श्लोकोंका है। कुमार स्कन्दने तत्पुरुष-कल्पकी कथा एवं शैवमतका आश्रय लेकर इस महापुराणका प्रवचन किया है। इसका भी चैत्रकी पूर्णिमाको दान करना चाहिये। दस हजार श्लोकोंसे युक्त 'वामनपुराण' धर्मार्थ आदि पुरुषार्थोंका अवबोधक है। इसमें श्रीहरिकी धौमकल्पसे सम्बन्धित कथाका वर्णन है। शरत्-पूर्णिमामें विषुव-संक्रान्तिके समय इसका दान करे। 'कूर्मपुराण' में आठ हजार श्लोक हैं। कूर्मावतार श्रीहरिने इन्द्रद्युम्नके प्रसङ्गसे रसातलमें इसको कहा था। इसका सुवर्णमय कच्छपके साथ दान करना चाहिये। मत्स्यरूपी श्रीविष्णुने कल्पके आदिकालमें मनुको तेरह हजार श्लोकोंसे युक्त 'मत्स्यपुराण' का श्रवण कराया था। इसे हेमनिर्मित मत्स्यके साथ प्रदान करे। आठ हजार श्लोकोंवाले 'गरुड-पुराण'का भगवान् श्रीविष्णुने तार्क्ष्यकल्पमें प्रवचन किया था। इसमें विश्वाण्डसे गरुडकी उत्पत्तिकी कथा कही गयी है। इसका स्वर्णहंसके साथ दान करे। भगवान् ब्रह्माने ब्रह्माण्डके माहात्म्यका आश्रय लेकर जिसे कहा है, बारह हजार श्लोकोंवाले उस 'ब्रह्माण्डपुराण'को भी लिखकर ब्राह्मणके हाथमें दान करे॥ १—२२½ ॥

महाभारत-श्रवणकालमें प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर पहले कथावाचकका वस्त्र, गन्ध, माल्य आदिसे पूजन करे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको खीरका भोजन करावे। प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर गौ, भूमि, ग्राम तथा सुवर्ण आदिका दान करे। महाभारतके पूर्ण होनेपर कथावाचक ब्राह्मण और महाभारत-संहिताकी पुस्तकका पूजन करे। ग्रन्थको पवित्र स्थानपर रेशमी वस्त्रसे आच्छादित करके पूजन करना चाहिये। फिर भगवान् नर-नारायणकी पुष्प आदिसे पूजा करे। गौ, अन्न, भूमि, सुवर्णके दानपूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराकर क्षमा-प्रार्थना करे। श्रोताको विविध रत्नोंका महादान करना चाहिये। प्रत्येक मासमें कथावाचकको दो या तीन माशे सुवर्णका दान करे और अयनके प्रारम्भमें भी पहले उसके लिये सुवर्णके दानका विधान है। द्विजश्रेष्ठ! समस्त श्रोताओंको भी कथावाचकका पूजन करना चाहिये। जो मनुष्य इतिहास एवं पुराणोंका पूजन करके दान करता है, वह आयु, आरोग्य, स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है *॥ २३—२९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुराणदान आदिके माहात्म्यका कथन' नामक दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७२॥

* इस अध्यायमें विभिन्न पुराणोंकी जो श्लोक-संख्याएँ दी गयी हैं, वे अन्य पुराणोंके वर्णनोंसे बहुत अंशमें मेल नहीं खाती हैं तथा उपलब्ध पुराणोंको देखनेसे भी इन वर्णनोंकी प्रायः संगति नहीं बैठती है। पद्मपुराणमें जहाँ छप्पन हजार श्लोक हैं, वहाँ इसमें बारह हजार ही श्लोक बताये गये हैं। सम्भव है, केवल पद्मसंहिता (भूमिखण्ड) के ही इतने श्लोक कहे गये हों। विष्णुपुराणमें पाँच हजार श्लोक उपलब्ध होते हैं, किंतु इसमें तेईस हजार श्लोक कहे गये हैं। यदि विष्णुधर्मोत्तरपुराणके भी श्लोक इसके साथ सम्मिलित कर लिये जायँ तो उक्त संख्या संगत हो सकती है। वाराहपुराणके चौबीस हजार श्लोक बताये गये हैं, किंतु वर्तमान पुस्तकोंमें उतने श्लोक नहीं मिलते। गरुडपुराणमें आठ हजार श्लोक बताये गये हैं, परंतु उपलब्ध गरुडपुराणमें इससे दूनेसे भी अधिक श्लोक मिलते हैं। यह भी सम्भव है कि भूलसे गरुडपुराणकी जगह वाराहपुराण और वाराहपुराणके स्थानमें गरुडपुराण लिख गया हो।

दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय

सूर्यवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं तुमसे सूर्यवंश तथा राजाओंके वंशका वर्णन करता हूँ। भगवान् विष्णुके नाभि-कमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीके पुत्रका नाम मरीचि है। मरीचिसे कश्यप तथा कश्यपसे विवस्वान् (सूर्य) का जन्म हुआ है। सूर्यकी तीन स्त्रियाँ हैं—संज्ञा, राज्ञी और प्रभा। इनमेंसे 'राज्ञी' रैवतकी पुत्री हैं। उन्होंने 'रेवन्त' नामवाले पुत्रको जन्म दिया है। सूर्यकी 'प्रभा' नामवाली पत्नीसे 'प्रभात' नामवाला पुत्र हुआ। 'संज्ञा' विश्वकर्माकी पुत्री है। उनके गर्भसे वैवस्वत मनु तथा जुड़वीं संतान यम और यमुनाकी उत्पत्ति हुई है। (संज्ञाकी छायाको भी, जो स्त्रीरूपमें प्रतिष्ठित थी, 'छाया-संज्ञा' कहते हैं।) छाया-संज्ञाने सूर्यके अंशसे सावर्णि मनु तथा शनैश्चर नामक पुत्रको और तपती एवं विष्टि नामवाली कन्याओंको जन्म दिया। तदनन्तर (अश्वारूपधारिणी) संज्ञासे दोनों अश्विनी-कुमारोंकी उत्पत्ति हुई ॥ १—४ ॥

वैवस्वत मनुके दस पुत्र हुए, जो उन्हींके समान तेजस्वी थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नृग, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ दिष्ट, करूष और पृषध्र—ये दसों महाबली राजा अयोध्यामें हुए। मनुकी इला नामवाली एक कन्या भी थी, जिसके गर्भसे बुधके अंशसे पुरूरवाका जन्म हुआ। पुरूरवाको उत्पन्न करके इला पुरुषरूपमें परिणत हो गयी। उस समय उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्नसे उत्कल, गय और विनताश्व—इन तीन राजाओंका जन्म हुआ। उत्कलको उत्कलप्रान्त (उड़ीसा) का राज्य मिला, विनताश्वका पश्चिमदिशापर अधिकार हुआ तथा राजाओंमें श्रेष्ठ गय पूर्वदिशाके राजा हुए, जिनकी राजधानी गयापुरी थी। राजा सुद्युम्न वसिष्ठ ऋषिके आदेशसे प्रतिष्ठानपुरमें[१] आ गये और उसीको अपनी राजधानी बनाया। उन्होंने वहाँका राज्य पाकर उसे पुरूरवाको दे दिया। नरिष्यन्तके पुत्र 'शक' नामसे प्रसिद्ध हुए। नाभागसे परमवैष्णव अम्बरीषका जन्म हुआ। वे प्रजाओंका अच्छी तरह पालन करते थे। राजा धृष्टसे धार्ष्टक-वंशका विस्तार हुआ। सुकन्या और आनर्त—ये दो शर्यातिकी संतानें हुईं। आनर्तसे 'रेव' नामक नरेशकी उत्पत्ति हुई। आनर्तदेशमें उनका राज्य था और कुशस्थली उनकी राजधानी थी। रेवके पुत्र रैवत हुए, जो 'ककुद्मी' नामसे प्रसिद्ध और धर्मात्मा थे। वे अपने पिताके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े थे, अतः कुशस्थलीका राज्य उन्हींको मिला ॥५—१२½॥

एक समयकी बात है—वे अपनी कन्या रेवतीको साथ लेकर ब्रह्माजीके पास गये और वहाँ संगीत सुनने लगे। वहाँ ब्रह्माजीके समयसे दो ही घड़ी बीती, किंतु इतनेहीमें मर्त्यलोकके अंदर अनेक युग समाप्त हो गये। संगीत सुनकर वे बड़े वेगसे अपनी पुरीको लौटे, परंतु अब उसपर यदुवंशियोंका अधिकार हो गया था। उन्होंने कुशस्थलीकी जगह द्वारका नामकी पुरी बसायी थी, जो बड़ी मनोरम और अनेक द्वारोंसे सुशोभित थी। भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वासुदेव आदि वीर उसकी रक्षा करते थे। वहाँ जाकर रैवतने अपनी कन्या रेवतीका बलदेवजीसे विवाह कर दिया और संसारकी अनित्यता जानकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर जाकर तपस्या करने लगे। अन्तमें उन्हें विष्णुधामकी प्राप्ति हुई ॥ १३—१६ ॥

नाभागके दो पुत्र हुए, जो वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। वे (अपनी विशेष तपस्याके कारण) ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए। करूषके पुत्र 'कारूष' नामसे प्रसिद्ध क्षत्रिय हुए, जो युद्धमें मतवाले हो उठते थे। पृषध्रने भूलसे अपने गुरुकी गायकी हिंसा कर डाली थी, अतः वे शापवश शूद्र हो गये। मनुपुत्र इक्ष्वाकुके पुत्र विकुक्षि हुए, जो (कुछ कालके लिये) देवताओंके राज्यपर आसीन हुए थे। विकुक्षिके पुत्र ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थका पुत्र सुयोधन नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसके पुत्रका नाम 'पृथु' था। पृथुसे विश्वगश्वका[२] जन्म हुआ। उसका पुत्र आयु और आयुका पुत्र युवनाश्व हुआ। युवनाश्वसे श्रावन्तकी[३] उत्पत्ति हुई, जिन्होंने पूर्वदिशामें श्रावन्तिकी[४] नामकी पुरी बसायी।

१. गङ्गा-यमुनाके संगमके समीप बसा हुआ वर्तमान झूसी ग्राम ही पहलेका 'प्रतिष्ठानपुर' है।

२. विष्णुपुराणमें 'विश्वगश्व' नाम मिलता है और श्रीमद्भागवतमें 'विश्वरन्धि'।

३—४. विष्णुपुराणमें 'शावस्त' तथा 'शावस्ती' नाम मिलते हैं।

श्रावन्तसे बृहदश्व और बृहदश्वसे कुवलाश्व नामक राजाका जन्म हुआ। इन्होंने पूर्वकालमें धुन्धु नामसे प्रसिद्ध दैत्यका वध किया था, अतः उसीके नामपर ये 'धुन्धुमार' कहलाये। धुन्धुमारसे तीन पुत्र हुए। वे तीनों ही राजा थे। उनके नाम थे—दृढाश्व, दण्ड और कपिल। दृढाश्वसे हर्यश्व और प्रमोदकने जन्म ग्रहण किया। हर्यश्वसे निकुम्भ और निकुम्भसे संहताश्वकी उत्पत्ति हुई। संहताश्वके दो पुत्र हुए—अकृशाश्व तथा रणाश्व। रणाश्वके पुत्र युवनाश्व और युवनाश्वके पुत्र राजा मांधाता हुए। मांधाताके भी दो पुत्र हुए, जिनमें एकका नाम पुरुकुत्स था और दूसरेका नाम मुचुकुन्द ॥ १७—२४॥

पुरुकुत्ससे त्रसद्दस्युका जन्म हुआ। वे नर्मदाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। उनका दूसरा नाम 'सम्भूत' भी था। सम्भूतके सुधन्वा और सुधन्वाके पुत्र त्रिधन्वा हुए। त्रिधन्वाके तरुण और तरुणके पुत्र सत्यव्रत थे। सत्यव्रतसे सत्यरथ हुए, जिनके पुत्र हरिश्चन्द्र थे। हरिश्चन्द्रसे रोहिताश्वका जन्म हुआ, रोहिताश्वसे वृक हुए, वृकसे बाहु और बाहुसे सगरकी उत्पत्ति हुई। सगरकी प्यारी पत्नी प्रभा थी, जो प्रसन्न हुए और्व मुनिकी कृपासे साठ हजार पुत्रोंकी जननी हुई तथा उनकी दूसरी पत्नी भानुमतीने राजासे एक ही पुत्रको उत्पन्न किया, जिसका नाम असमञ्जस था। सगरके साठ हजार पुत्र पृथ्वी खोदते समय भगवान् कपिलके क्रोधसे भस्म हो गये। असमञ्जसके पुत्र अंशुमान् और अंशुमान्के दिलीप हुए। दिलीपसे भगीरथका जन्म हुआ, जिन्होंने गङ्गाको पृथ्वीपर उतारा था। भगीरथसे नाभाग और नाभागसे अम्बरीष हुए। अम्बरीषके सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीपके पुत्र श्रुतायु हुए। श्रुतायुके ऋतुपर्ण और ऋतुपर्णके पुत्र कल्माषपाद थे। कल्माषपादसे सर्वकर्मा और सर्वकर्मासे अनरण्य हुए। अनरण्यके निघ्न और निघ्नके पुत्र दिलीप हुए। राजा दिलीपके रघु और रघुके पुत्र अज थे। अजसे दशरथका जन्म हुआ। दशरथके चार पुत्र हुए—वे सभी भगवान् नारायणके स्वरूप थे। उन सबमें ज्येष्ठ श्रीरामचन्द्रजी थे। उन्होंने रावणका वध किया था। रघुनाथजी अयोध्याके सर्वश्रेष्ठ राजा हुए। महर्षि वाल्मीकिने नारदजीके मुँहसे उनका प्रभाव सुनकर (रामायणके नामसे) उनके चरित्रका वर्णन किया था। श्रीरामचन्द्रजीके दो पुत्र हुए, जो कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले थे। वे सीताजीके गर्भसे उत्पन्न होकर कुश और लवके नामसे प्रसिद्ध हुए। कुशसे अतिथिका जन्म हुआ। अतिथिके पुत्र निषध हुए। निषधसे नलकी उत्पत्ति हुई (ये सुप्रसिद्ध राजा दमयन्तीपति नलसे भिन्न हैं); नलसे नभ हुए। नभसे पुण्डरीक और पुण्डरीकसे सुधन्वा उत्पन्न हुए। सुधन्वाके पुत्र देवानीक और देवानीकके अहीनाश्व हुए। अहीनाश्वसे सहस्राश्व और सहस्राश्वसे चन्द्रालोक हुए। चन्द्रालोकसे तारापीड, तारापीडसे चन्द्रगिरि और चन्द्रगिरिसे भानुरथका जन्म हुआ। भानुरथका पुत्र श्रुतायु नामसे प्रसिद्ध हुआ। ये इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा सूर्यवंशका विस्तार करनेवाले माने गये हैं ॥२५—३९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सूर्यवंशका वर्णन' नामक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७३ ॥

दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय

सोमवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं सोमवंशका वर्णन करूँगा, इसका पाठ करनेसे पापका नाश होता है। विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्माके पुत्र महर्षि अत्रि हुए। अत्रिसे सोमकी उत्पत्ति हुई। सोमने राजसूय यज्ञ किया और उसमें तीनों लोकोंके राज्यका उन्होंने दक्षिणारूपसे दान कर दिया। जब यज्ञके अन्तमें अवभृथ-स्नान समाप्त हुआ तो उनका रूप देखनेकी इच्छासे नौ देवियाँ चन्द्रमाके पास आयीं और कामबाणसे संतप्त होकर उनकी सेवा करने लगीं। लक्ष्मी (कान्ति) नारायणको छोड़कर चली आयीं। सिनीवाली कर्दमको, द्युति अग्निको और पुष्टि अपने अविनाशी पति धाताको त्यागकर आ गयीं। प्रभा प्रभाकरको और कुहू हविष्मान्को छोड़कर स्वयं सोमके पास चली आयीं। कीर्तिने अपने स्वामी जयन्तको छोड़ा और वसुने मरीचिनन्दन कश्यपको तथा धृति भी उस समय अपने पति नन्दिको त्यागकर सोमकी ही सेवामें संलग्न हो गयीं ॥ १—५ ॥

चन्द्रमाने भी उस समय उन देवियोंको अपनी ही पत्नीकी भाँति सकामभावसे अपनाया। सोमके इस प्रकार

अत्याचार करनेपर भी उस समय उन देवियोंके पति शाप तथा शस्त्र आदिके द्वारा उनका अनिष्ट करनेमें समर्थ न हो सके; अपितु सोम ही अपनी तपस्याके प्रभावसे 'भू' आदि सातों लोकोंके एकमात्र स्वामी हुए। इस अनीतिसे ग्रस्त होकर चन्द्रमाकी बुद्धि विनयसे भ्रष्ट होकर भ्रान्त हो गयी और उन्होंने अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीका अपमान करके उनकी यशस्विनी पत्नी ताराका बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इसके कारण देवताओं और दानवोंमें संसारका विनाश करनेवाला महान् युद्ध हुआ, जो 'तारकामय संग्राम'के नामसे विख्यात है। अन्तमें ब्रह्माजीने (चन्द्रमाकी ओरसे युद्धमें सहायता पहुँचानेवाले) शुक्राचार्यको रोककर तारा बृहस्पतिजीको दिला दी। देवगुरु बृहस्पतिने ताराको गर्भिणी देखकर कहा—'इस गर्भका त्याग कर दो।' उनकी आज्ञासे ताराने उस गर्भका त्याग किया, जिससे बड़ा तेजस्वी कुमार प्रकट हुआ। उसने पैदा होते ही कहा—'मैं चन्द्रमाका पुत्र हूँ।' इस प्रकार सोमसे बुधका जन्म हुआ। उनके पुत्र पुरूरवा हुए; उर्वशी नामकी अप्सराने स्वर्ग छोड़कर पुरूरवाका वरण किया॥ ६—१२॥

महामुने! राजा पुरूरवाने उर्वशीके साथ उनसठ वर्षोंतक विहार किया। पूर्वकालमें एक ही अग्नि थे। राजा पुरूरवाने ही उन्हें (गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि-भेदसे) तीन रूपोंमें प्रकट किया। राजा योगी थे। अन्तमें उन्हें गन्धर्वलोककी प्राप्ति हुई। उर्वशीने राजा पुरूरवासे आयु, दृढायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, दिविजात और शतायु—इन आठ पुत्रोंको उत्पन्न किया। आयुके नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, दम्भ और विपाप्मा—ये पाँच पुत्र हुए। रजिसे सौ पुत्रोंका जन्म हुआ। वे 'राजेय'के नामसे प्रसिद्ध थे। राजा रजिको भगवान् विष्णुसे वरदान प्राप्त हुआ था। उन्होंने देवासुर-संग्राममें देवताओंकी प्रार्थनासे दैत्योंका वध किया था। इन्द्र राजा रजिके पुत्रभावको प्राप्त हुए। रजि स्वर्गका राज्य इन्द्रको देकर स्वयं दिव्यलोकवासी हो गये। कुछ कालके बाद रजिके पुत्रोंने इन्द्रका राज्य छीन लिया। इससे वे मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए। तदनन्तर देवगुरु बृहस्पतिने ग्रह-शान्ति आदिकी विधिसे रजिके पुत्रोंको मोहित करके राज्य लेकर इन्द्रको दे दिया। उस समय रजिके पुत्र अपने धर्मसे भ्रष्ट हो गये थे। राजा नहुषके सात पुत्र हुए। उनके नाम थे—यति, ययाति, उत्तम, उद्धव, पञ्चक, शर्याति और मेघपालक। यति कुमारावस्थामें होनेपर भी भगवान् विष्णुका ध्यान करके उनके स्वरूपको प्राप्त हो गये। उस समय शुक्राचार्यकी कन्या देवयानी तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा—ये दो राजा ययातिकी पत्नियाँ हुईं। राजाके इन दोनों स्त्रियोंसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। देवयानीने यदु और तुर्वसुको जन्म दिया और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। इनमेंसे यदु और पूरु—ये दो ही सोमवंशका विस्तार करनेवाले हुए॥ १३—२३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सोमवंशका वर्णन' नामक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७४॥

दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय

यदुवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यदुके पाँच पुत्र थे—नीलाञ्जिक, रघु, क्रोष्टु, शतजित् और सहस्रजित्। इनमें सहस्रजित् सबसे ज्येष्ठ थे। शतजित्के हैहय, रेणुहय और हय—ये तीन पुत्र हुए। हैहयके धर्मनेत्र और धर्मनेत्रके पुत्र संहत हुए। संहतके पुत्र महिमा तथा महिमाके भद्रसेन थे। भद्रसेनके दुर्गम और दुर्गमसे कनकका जन्म हुआ। कनकसे कृतवीर्य, कृताग्नि, करवीरक और चौथे कृतौजा नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। कृतवीर्यसे अर्जुन हुए। अर्जुनने तपस्या की, इससे प्रसन्न होकर भगवान् दत्तात्रेयने उन्हें सातों द्वीपोंकी पृथ्वीका आधिपत्य, एक हजार भुजाएँ और संग्राममें अजेयताका वरदान दिया। साथ ही यह भी कहा—'अधर्ममें प्रवृत्त होनेपर भगवान् विष्णुके (अवतार श्रीपरशुरामजीके) हाथसे तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।' राजा अर्जुनने दस हजार यज्ञोंका अनुष्ठान किया। उनके स्मरणमात्रसे राष्ट्रमें किसीके धनका नाश नहीं होता था। यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञानके द्वारा कोई भी राजा कृतवीर्यकुमार अर्जुनकी गतिको नहीं पा सकता। कार्तवीर्य अर्जुनके सौ पुत्र थे, उनमें पाँच प्रधान थे। उनके नाम हैं—शूरसेन, शूर, धृष्टोक्त, कृष्ण और जयध्वज। जयध्वज अवन्ती-देशके महाराज थे। जयध्वजसे तालजङ्घका जन्म हुआ और तालजङ्घसे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए, जो

तालजङ्घके ही नामसे प्रसिद्ध थे। हैहयवंशी क्षत्रियोंके पाँच कुल हैं—भोज, अवन्ति, वीतिहोत्र, स्वयंजात और शौण्डिकेय। वीतिहोत्रसे अनन्तकी उत्पत्ति हुई और अनन्तसे दुर्जय नामक राजाका जन्म हुआ॥ १—११॥

अब क्रोष्टुके वंशका वर्णन करूँगा, जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णुने अवतार धारण किया था। क्रोष्टुसे वृजिनीवान् और वृजिनीवान्से स्वाहाका जन्म हुआ। स्वाहाके पुत्र रुषद्गु और उनके पुत्र चित्ररथ थे। चित्ररथसे शशबिन्दु उत्पन्न हुए, जो चक्रवर्ती राजा थे। वे सदा भगवान् विष्णुके भजनमें ही लगे रहते थे। शशबिन्दुके दस हजार पुत्र थे। वे सब-के-सब बुद्धिमान्, सुन्दर, अधिक धनवान् और अत्यन्त तेजस्वी थे; उनमें पृथुश्रवा ज्येष्ठ थे। उनके पुत्रका नाम सुयज्ञ था। सुयज्ञके पुत्र उशना और उशनाके तितिक्षु हुए। तितिक्षुसे मरुत्त और मरुत्तसे कम्बलबर्हिष (जिनका दूसरा नाम रुक्मकवच था) हुए। रुक्मकवचसे रुक्मेषु, पृथुरुक्मक, हवि, ज्यामघ और पापघ्न आदि पचास पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें ज्यामघ अपनी स्त्रीके वशीभूत रहनेवाला था। उससे उसकी पत्नी शैब्याके गर्भसे विदर्भकी उत्पत्ति हुई। विदर्भके कौशिक, लोमपाद और क्रथ नामक पुत्र हुए। इनमें लोमपाद ज्येष्ठ थे। उनसे कृतिका जन्म हुआ। कौशिकके पुत्रका नाम चिदि हुआ। चिदिके वंशज राजा 'चैद्य'के नामसे प्रसिद्ध हुए। विदर्भपुत्र क्रथसे कुन्ति और कुन्तिसे धृष्टकका जन्म हुआ। धृष्टकके पुत्र धृति और धृतिके विदूरथ हुए। ये 'दशार्ह' नामसे भी प्रसिद्ध थे। दशार्हके पुत्र व्योम और व्योमके पुत्र जीमूत कहे जाते हैं। जीमूतके पुत्रका नाम विकल हुआ और उनके पुत्र भीमरथ नामसे प्रसिद्ध हुए। भीमरथसे नवरथ और नवरथसे दृढ़रथ हुए। दृढ़रथसे शकुन्ति तथा शकुन्तिसे करम्भ उत्पन्न हुए। करम्भसे देवरातका जन्म हुआ। देवरातके पुत्र देवक्षेत्र कहलाये। देवक्षेत्रसे मधु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और मधुसे द्रवरसने जन्म ग्रहण किया। द्रवरसके पुरुहूत और पुरुहूतके पुत्र जन्तु थे। जन्तुके पुत्रका नाम सात्वत था। ये यदुवंशियोंमें गुणवान् राजा थे। सात्वतके भजमान, वृष्णि, अन्धक तथा देवावृध—ये चार पुत्र हुए। इन चारोंके वंश विख्यात हैं। भजमानके बाह्य, वृष्टि, कृमि और निमि नामक पुत्र हुए। देवावृधसे बभ्रुका जन्म हुआ। उनके विषयमें इस श्लोकका गान किया जाता है—'हम जैसा दूरसे सुनते हैं, वैसा ही निकटसे देखते भी हैं। बभ्रु मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं और देवावृध देवताओंके समान हैं।' बभ्रुके चार पुत्र हुए। वे सभी भगवान् वासुदेवके भक्त थे। उनके नाम हैं—कुकुर, भजमान, शिनि और कम्बलबर्हिष। कुकुरके धृष्णु नामक पुत्र हुए। धृष्णुसे धृति नामवाले पुत्रकी उत्पत्ति हुई। धृतिसे कपोतरोमा और उनके पुत्र तित्तिरि हुए। तित्तिरिके पुत्र नर और उनके पुत्र आनकदुन्दुभि नामसे विख्यात हुए। आनकदुन्दुभिकी परम्परामें पुनर्वसु और उनके पुत्र आहुक हुए। ये आहुकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। आहुकसे देवक और उग्रसेन हुए। देवकसे देववान्, उपदेव, सहदेव और देवरक्षित—ये चार पुत्र हुए। इनकी सात बहिनें थीं, जिनका देवकने वसुदेवके साथ ब्याह कर दिया। उन सातोंके नाम हैं—देवकी, श्रुतदेवी, मित्रदेवी, यशोधरा, श्रीदेवी, सत्यदेवी और सातवीं सुरापी। उग्रसेनके नौ पुत्र हुए, जिनमें कंस ज्येष्ठ था। शेष आठ पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—न्यग्रोध, सुनामा, कङ्क, राजा शङ्कु, सुतनु, राष्ट्रपाल, युद्धमुष्टि और सुमुष्टिक। भजमानके पुत्र विदूरथ हुए, जो रथियोंमें प्रधान थे। उनके पुत्र राजाधिदेव और शूर नामसे विख्यात हुए। राजाधिदेवके दो पुत्र हुए, शोणाश्व और श्वेतवाहन। शोणाश्वके शमी और शत्रुजित् आदि पाँच पुत्र हुए। शमीके पुत्र प्रतिक्षेत्र, प्रतिक्षेत्रके भोज और भोजके हृदिक हुए। हृदिकके दस पुत्र थे, जिनमें कृतवर्मा, शतधन्वा, देवार्ह और भीषण आदि प्रधान हैं। देवार्हसे कम्बलबर्हि और कम्बलबर्हिसे असमौजाका जन्म हुआ। असमौजाके सुदंष्ट्र, सुवास और धृष्ट नामक पुत्र हुए। धृष्टकी दो पत्नियाँ थीं—गान्धारी और माद्री। इनमें गान्धारीसे सुमित्रका जन्म हुआ और माद्रीने युधाजित्को उत्पन्न किया। धृष्टसे अनमित्र और शिनिका भी जन्म हुआ। शिनिसे देवमीढुष उत्पन्न हुए। अनमित्रके पुत्र निघ्न और और निघ्नके प्रसेन तथा सत्राजित् हुए। इनमें प्रसेनके भाई सत्राजित्को सूर्यसे स्यमन्तकमणि प्राप्त हुई थी, जिसे लेकर प्रसेन जंगलमें मृगयाके लिये विचर रहे थे। उन्हें एक सिंहने मारकर वह मणि ले ली। तत्पश्चात् जाम्बवान्ने उस सिंहको मार डाला (और मणिको अपने अधिकारमें कर लिया)। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जाम्बवान्को युद्धमें परास्त किया और उनसे जाम्बवती तथा मणिको पाकर वे द्वारकापुरीको लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने वह मणि सत्राजित्को दे दी, किंतु (मणिके लोभसे) शतधन्वाने सत्राजित्को मार डाला। श्रीकृष्णने शतधन्वाको मारकर वह मणि छीन ली और यशके भागी हुए। उन्होंने बलराम और मुख्य यदुवंशियोंके सामने

वह मणि अक्रूरको अर्पित कर दी। इससे श्रीकृष्णके मिथ्या कलङ्कका मार्जन हुआ। जो इस प्रसङ्गका पाठ करता है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। सत्राजित्‌को भङ्गकार नामसे प्रसिद्ध पुत्र और सत्यभामा नामकी कन्या हुई, जो भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी हुई थी। अनमित्रसे शिनिका जन्म हुआ। शिनिके पुत्र सत्यक हुए। सत्यकसे सात्यकिकी उत्पत्ति हुई। वे 'युयुधान' नामसे भी प्रसिद्ध थे। उनके धुनि नामक पुत्र हुआ। धुनिका पुत्र युगन्धर हुआ। युधाजित्‌से स्वाह्यका जन्म हुआ। स्वाह्य-से ऋषभ और क्षेत्रककी उत्पत्ति हुई। ऋषभसे श्वफल्क उत्पन्न हुए। श्वफल्कके पुत्रका नाम अक्रूर हुआ और अक्रूरसे सुधन्वकका जन्म हुआ। शूरसे वसुदेव आदि पुत्र तथा पृथा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो महाराज पाण्डुकी प्यारी पत्नी हुई। पाण्डुकी पत्नी कुन्ती (पृथा) के गर्भ और धर्मके अंशसे युधिष्ठिर हुए, वायुके अंशसे भीमसेन और इन्द्रके अंशसे अर्जुनका जन्म हुआ। (पाण्डुकी दूसरी पत्नी) माद्रीके पेटसे (अश्विनीकुमारोंके अंशसे) नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। वसुदेवसे रोहिणीके गर्भसे बलराम, सारण और दुर्गम—ये तीन पुत्र हुए तथा देवकीके उदरसे पहले सुषेणका जन्म हुआ, फिर कीर्तिमान्, भद्रसेन, जारुख्य, विष्णुदास और भद्रदेह उत्पन्न हुए। इन छहों बच्चोंको कंसने मार डाला। तत्पश्चात् बलराम और कृष्णका प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तमें कल्याणमय वचन बोलनेवाली सुभद्राका जन्म हुआ। भगवान् श्रीकृष्णसे चारुदेष्ण और साम्ब आदि पुत्र उत्पन्न हुए। साम्ब आदि रानी जाम्बवतीके पुत्र थे॥ १२—५१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यदुवंशका वर्णन' नामक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७५॥

दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय

श्रीकृष्णकी पत्नियों तथा पुत्रोंके संक्षेपसे नामनिर्देश तथा द्वादश-संग्रामोंका संक्षिप्त परिचय

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! महर्षि कश्यप वसुदेवके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और नारियोंमें श्रेष्ठ अदितिका देवकीके रूपमें आविर्भाव हुआ था। वसुदेव और देवकीसे भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ। वे बड़े तपस्वी थे। धर्मकी रक्षा, अधर्मका नाश, देवता आदिका पालन तथा दैत्य आदिका मर्दन—यही उनके अवतारका उद्देश्य था। रुक्मिणी, सत्यभामा और नग्नजित् कुमारी सत्या—ये भगवान्‌की प्रिय रानियाँ थीं। इनमें भी सत्यभामा उनकी आराध्य देवी थीं। इनके सिवा गन्धार-राजकुमारी लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, देवी कालिन्दी, जाम्बवती, सुशीला, माद्री, कौसल्या, विजया और जया आदि सोलह हजार देवियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ थीं। रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे और सत्यभामाने भीम आदिको जन्म दिया था। जाम्बवतीके गर्भसे साम्ब आदिकी उत्पत्ति हुई थी। ये तथा और भी बहुत-से श्रीकृष्णके पुत्र थे। परम बुद्धिमान् भगवान्‌के पुत्रोंकी संख्या एक करोड़ अस्सी हजारके लगभग थी। समस्त यादव भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित थे। प्रद्युम्नसे विदर्भ-राजकुमारी रुक्मवतीके गर्भसे अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ। अनिरुद्धको युद्ध बहुत ही प्रिय था। अनिरुद्धके पुत्र वज्र आदि हुए। सभी यादव अत्यन्त बलवान् थे। यादवोंकी संख्या कुल मिलाकर तीन करोड़ थी। उस समय साठ लाख दानव मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए थे, जो लोगोंको कष्ट पहुँचा रहे थे। उन्हींका विनाश करनेके लिये भगवान्‌का अवतार हुआ था। धर्म-मर्यादाकी रक्षा करनेके लिये ही भगवान् श्रीहरि मनुष्यरूपमें प्रकट होते हैं॥ १—९॥

देवता और असुरोंमें अपने दायभागके लिये बारह संग्राम हुए हैं। उनमें पहला 'नारसिंह' और दूसरा 'वामन' नामवाला युद्ध है। तीसरा 'वाराह-संग्राम' और चौथा 'अमृत-मन्थन' नामक युद्ध है। पाँचवाँ 'तारकामय संग्राम' और छठा 'आजीवक' नामक युद्ध हुआ। सातवाँ 'त्रैपुर' आठवाँ 'अन्धक-वध' और नवाँ 'वृत्रविघातक संग्राम' है। दसवाँ 'जित्', ग्यारहवाँ 'हालाहल' और बारहवाँ 'घोर कोलाहल' नामक युद्ध हुआ है॥ १०—१२॥

प्राचीनकालमें देवपालक भगवान् नरसिंहने हिरण्यकशिपुका हृदय विदीर्ण करके प्रह्लादको दैत्योंका राजा बनाया था। फिर देवासुर-संग्रामके अवसरपर कश्यप और अदितिसे वामनरूपमें प्रकट होकर भगवान्‌ने बल और प्रतापमें बढ़े-चढ़े हुए राजा बलिको छला और इन्द्रको त्रिलोकीका राज्य दे दिया। 'वाराह' नामक युद्ध उस समय हुआ था, जबकि भगवान्‌ने वाराह अवतार धारण करके हिरण्याक्षको मारा, देवताओंकी रक्षा की

और जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार किया। उस समय देवाधिदेवोंने भगवान्‌की स्तुति की ॥ १३—१५ ॥

एक बार देवता और असुरोंने मिलकर मन्दराचलको मथानी और नागराज वासुकिको नेती (बन्धनकी रस्सी) बना समुद्रको मथकर अमृत निकाला, किंतु भगवान्‌ने वह सारा अमृत देवताओंको ही पिला दिया। (उस समय देवताओं और दैत्योंमें घोर युद्ध हुआ था।) तारकामय-संग्रामके अवसरपर भगवान् ब्रह्माने इन्द्र, बृहस्पति, देवताओं तथा दानवोंको युद्धसे रोककर देवताओंकी रक्षा की और सोमवंशको स्थापित किया। आजीवक-युद्धमें विश्वामित्र, वसिष्ठ और अत्रि आदि ऋषियोंने राग-द्वेषादि दानवोंका निवारण करके देवताओंका पालन किया। पृथ्वीरूपी रथमें वेदरूपी घोड़े जोतकर भगवान् शंकर उसपर बैठे (और त्रिपुरका नाश करनेके लिये चले)। उस समय देवताओंके रक्षक और दैत्योंका विनाश करनेवाले भगवान् श्रीहरिने शंकरजीको शरण दी और बाण बनकर स्वयं ही त्रिपुरका दाह किया। गौरीका अपहरण करनेकी इच्छासे अन्धकासुरने रुद्रदेवको बहुत कष्ट पहुँचाया—यह जानकर रेवतीमें अनुराग रखनेवाले श्रीहरिने उस असुरका विनाश किया (यही आठवाँ संग्राम है)। देवताओं और असुरोंके युद्धमें वृत्रका नाश करनेके लिये भगवान् विष्णु जलके फेन होकर इन्द्रके वज्रमें लग गये। इस प्रकार उन्होंने देवराज इन्द्र और देवधर्मका पालन करनेवाले देवताओंको संकटसे बचाया। ('जित्' नामक दसवाँ संग्राम वह है, जब कि) भगवान् श्रीहरिने परशुराम अवतार धारणकर शाल्व आदि दानवोंपर विजय पायी और दुष्ट क्षत्रियोंका विनाश करके देवता आदिकी रक्षा की। (ग्यारहवें संग्रामके समय) मधुसूदनने हालाहल विषके रूपमें प्रकट हुए दैत्यका शंकरजीके द्वारा नाश कराकर देवताओंका भय दूर किया। देवासुर-संग्राममें जो 'कोलाहल' नामका दैत्य था, उसको परास्त करके भगवान् विष्णुने धर्मपालनपूर्वक सम्पूर्ण देवताओंकी रक्षा की। राजा, राजकुमार, मुनि और देवता—सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं। मैंने यहाँ जिनको बतलाया और जिनका नाम नहीं लिया, वे सभी श्रीहरिके ही अवतार हैं ॥ १६—२५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'द्वादश-संग्रामोंका वर्णन' नामक दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७६ ॥

दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय

तुर्वसु आदि राजाओंके वंशका तथा अङ्गवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! तुर्वसुके पुत्र वर्ग और वर्गके पुत्र गोभानु हुए। गोभानुसे त्रैशानि, त्रैशानिसे करंधम और करंधमसे मरुत्तका जन्म हुआ। उनके पुत्र दुष्यन्त हुए। दुष्यन्तसे वरूथ और वरूथसे गाण्डीरकी उत्पत्ति हुई। गाण्डीरसे गान्धार हुए। गान्धारके पाँच पुत्र हुए, जिनके नामपर गन्धार, केरल, चोल, पाण्ड्य और कोल—इन पाँच देशोंकी प्रसिद्धि हुई। ये सभी महान् बलवान् थे। द्रुह्युसे बभ्रुसेतु और बभ्रुसेतुसे पुरोवसुका जन्म हुआ। उनसे गान्धार नामक पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। गान्धारोंने धर्मको जन्म दिया और धर्मसे घृत उत्पन्न हुए। घृतसे विदुष और विदुषसे प्रचेता हुए। प्रचेताके सौ पुत्र हुए, जिनमें अनड्, सुभानु, चाक्षुष और परमेषु—ये प्रधान थे। सुभानुसे कालानल और कालानलसे सृञ्जय उत्पन्न हुए। सृञ्जयके पुरंजय और पुरंजयके पुत्र जनमेजय थे। जनमेजयके पुत्र महाशाल और उनके पुत्र महामना हुए। ब्रह्मन् ! महामनासे उशीनरका जन्म हुआ और महामनाकी 'नृगा' नामवाली पत्नीके गर्भसे राजा नृगका जन्म हुआ। नृगकी 'नरा' नामक पत्नीसे नरकी उत्पत्ति हुई और कृमि नामवाली स्त्रीके गर्भसे कृमिका जन्म हुआ। इसी प्रकार नृगके दशा नामकी पत्नीसे सुव्रत और दृषद्वतीसे शिवि उत्पन्न हुए। शिविके चार पुत्र हुए—पृथुदर्भ, वीरक, कैकेय और भद्रक—इन चारोंके नामसे श्रेष्ठ जनपदोंकी प्रसिद्धि हुई। उशीनरके पुत्र तितिक्षु हुए, तितिक्षुसे रुषद्रथ, रुषद्रथसे पैल और पैलसे सुतपा नामक पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। सुतपासे महायोगी बलिका जन्म हुआ। बलिसे अङ्ग, बङ्ग, सुम्यक, पुण्ड्र और कलिङ्ग नामक पुत्र उत्पन्न हुए। ये सभी 'बालेय' कहलाये। बलि योगी और बलवान् थे। अङ्गसे दधिवाहन, दधिवाहनसे राजा दिविरथ और दिविरथसे धर्मरथ उत्पन्न हुए। धर्मरथके पुत्रका नाम चित्ररथ हुआ। चित्ररथके सत्यरथ और उनके पुत्र लोमपाद हुए। लोमपादका पुत्र चतुरङ्ग और चतुरङ्गका पुत्र पृथुलाक्ष हुआ। पृथुलाक्षसे चम्प, चम्पसे हर्यङ्ग और हर्यङ्गसे भद्ररथ हुआ।

भद्ररथके पुत्रका नाम बृहत्कर्मा था । बृहत्कर्मासे बृहद्भानु, बृहद्भानुसे बृहात्मवान्, उनसे जयद्रथ और जयद्रथसे बृहद्रथकी उत्पत्ति हुई । बृहद्रथसे विश्वजित् और विश्वजित्-का पुत्र कर्ण हुआ । कर्णका वृषसेन और वृषसेनका पुत्र पृथुसेन था । ये अङ्गवंशमें उत्पन्न राजा बतलाये गये । अब मुझसे पूरुवंशका वर्णन सुनो ॥ १—१७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजवंशका वर्णन' नामक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय

पूरुवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! पूरुसे जनमेजय हुए, जनमेजयसे प्राचीवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । प्राचीवान्से मनस्यु और मनस्युसे राजा वीतमयका जन्म हुआ । वीतमयसे शुन्धु हुआ, शुन्धुसे बहुविध नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई । बहुविधसे संयाति और संयातिका पुत्र रहोवादी हुआ । रहोवादीके पुत्रका नाम भद्राश्व था । भद्राश्वके दस पुत्र हुए—ऋचेयु, कृषेयु, संनतेयु, घृतेयु, चितेयु, स्थण्डिलेयु, धर्मेयु, संनतेयु (दूसरा), कृतेयु और मतिनार । मतिनारके तंसुरोध, प्रतिरथ और पुरस्त—ये तीन पुत्र हुए । प्रतिरथसे कण्व और कण्वसे मेधातिथिका जन्म हुआ । तंसुरोधसे चार पुत्र उत्पन्न हुए—दुष्यन्त, प्रवीरक, सुमन्त और वीरवर अनय । दुष्यन्तसे भरतका जन्म हुआ । भरत शकुन्तलाके महाबली पुत्र थे । राजा भरतके नामपर उनके वंशज क्षत्रिय 'भारत' कहलाते हैं । भरतके पुत्र अपनी माताओंके क्रोधसे नष्ट हो गये, तब राजाके यज्ञ करनेपर मरुद्गणोंने बृहस्पतिके पुत्र भरद्वाजको ले आकर उन्हें पुत्ररूपसे अर्पण किया । (भरतवंश 'वितथ' हो रहा था, ऐसे समयमें भरद्वाज आये, अतः) वे 'वितथ' नामसे प्रसिद्ध हुए । वितथने पाँच पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम ये हैं—सुहोत्र, सुहोता, गय, गर्भ तथा कपिल । इनके सिवा उनसे महात्मा और सुकेतु—ये दो पुत्र और उत्पन्न हुए । तत्पश्चात् उन्होंने कौशिक और गृत्सपतिको भी जन्म दिया । गृत्सपतिके अनेक पुत्र हुए, उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—सभी थे । काश और दीर्घतमा भी उन्हींके पुत्र थे । दीर्घतमाके धन्वन्तरि हुए और धन्वन्तरिका पुत्र केतुमान् हुआ । केतुमान्से हिमरथका जन्म हुआ, जो 'दिवोदास'के नामसे भी प्रसिद्ध हैं । दिवोदाससे प्रतर्दन तथा प्रतर्दनसे भर्ग और वत्स नामक दो पुत्र हुए । वत्ससे अनर्क और अनर्कसे क्षेमककी उत्पत्ति हुई । क्षेमकके वर्षकेतु और वर्षकेतुके पुत्र विभु बतलाये गये हैं । विभुसे आनर्त और सुकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुए । सुकुमारसे सत्यकेतुका जन्म हुआ । राजा वत्ससे वत्सभूमि नामक पुत्रकी भी उत्पत्ति हुई थी । वितथकुमार सुहोत्रसे बृहत् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । बृहत्के तीन पुत्र हुए—अजमीढ, द्विमीढ और पराक्रमी पुरुमीढ । अजमीढकी केशिनी नामवाली पत्नीके गर्भसे प्रतापी जह्नुका जन्म हुआ । जह्नुसे अजकाश्वकी उत्पत्ति हुई और अजकाश्वका पुत्र बलाकाश्व हुआ । बलाकाश्वके पुत्रका नाम कुशिक हुआ । कुशिकसे गाधि उत्पन्न हुए, जिन्होंने इन्द्रत्व प्राप्त किया था । गाधिसे सत्यवती नामकी कन्या और विश्वामित्र नामक पुत्रका जन्म हुआ । देवरात और कतिमुख आदि विश्वामित्रके पुत्र हुए । अजमीढसे शुनःशेप और अष्टक नामवाले अन्य पुत्रोंकी भी उत्पत्ति हुई । उनकी नीलिनी नामवाली पत्नीके गर्भसे एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम शान्ति था । शान्तिसे पुरुजाति, पुरुजातिसे बाह्याश्व और बाह्याश्वसे पाँच राजा उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मुकुल, सृञ्जय, राजा बृहदिषु, यवीनर और कृमिल ।—ये 'पाञ्चाल' नामसे विख्यात हुए । मुकुलके वंशज 'मौकुल्य' कहलाये । वे क्षात्रधर्मसे युक्त ब्राह्मण हुए । मुकुलसे चञ्चाश्वका जन्म हुआ और चञ्चाश्वसे एक पुत्र और एक जुड़वीं संतान पैदा हुई । पुत्रका नाम दिवोदास था और कन्याका अहल्या । अहल्याके गर्भसे शरद्वत् (गौतम) द्वारा शतानन्दकी उत्पत्ति हुई । शतानन्दसे सत्यधृक् हुए । सत्यधृक्से भी दो जुड़वीं संतानें पैदा हुईं । उनमें पुत्रका नाम कृप और कन्याका नाम कृपी था । दिवोदाससे मैत्रेय और मैत्रेयसे सोमक हुए । सृञ्जयसे पञ्चधनुषकी उत्पत्ति हुई । उनके पुत्रका नाम सोमदत्त था । सोमदत्तसे सहदेव, सहदेवसे सोमक और सोमकसे जन्तु हुए । जन्तुके पुत्रका नाम पृषत् हुआ । पृषत्से द्रुपदका जन्म हुआ तथा द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न था और धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतुकी उत्पत्ति हुई । महाराज अजमीढकी धूमिनी नामवाली पत्नीसे ऋक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १—२५ ॥

ऋक्षसे संवरण और संवरणसे कुरुका जन्म हुआ, जिन्होंने प्रयागसे जाकर कुरुक्षेत्र तीर्थकी स्थापना की। कुरुसे सुधन्वा, सुधनु, परीक्षित् और रिपुञ्जय—ये चार पुत्र हुए। सुधन्वासे सुहोत्र और सुहोत्रसे च्यवन उत्पन्न हुए। च्यवनकी पत्नी महारानी गिरिकाके वसुश्रेष्ठ उपरिचरके अंशसे सात पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम इस प्रकार हैं—बृहद्रथ, कुश, वीर, यदु, प्रत्यग्रह, बल और मत्स्यकाली। राजा बृहद्रथसे कुशाग्रका जन्म हुआ। कुशाग्रसे वृषभकी उत्पत्ति हुई और वृषभके पुत्रका नाम सत्यहित हुआ। सत्यहितसे सुधन्वा, सुधन्वासे ऊर्ज, ऊर्जसे सम्भव और सम्भवसे जरासंध उत्पन्न हुआ। जरासंधके पुत्रका नाम सहदेव था। सहदेवसे उदापि और उदापिसे श्रुतकर्माकी उत्पत्ति हुई। कुरुनन्दन परीक्षित्के पुत्र जनमेजय हुए। वे बड़े धार्मिक थे। जनमेजयसे त्रसद्दस्युका जन्म हुआ। राजा अजमीढके जो जह्नु नामवाले पुत्र थे, उनके सुरथ, श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन—ये चार पुत्र उत्पन्न हुए। परीक्षित्कुमार जनमेजयके दो पुत्र और हुए—सुरथ तथा महिमान्। सुरथसे विदूरथ और विदूरथसे ऋक्ष हुए। इस वंशमें ये ऋक्ष नामसे प्रसिद्ध द्वितीय राजा थे। इनके पुत्रका नाम भीमसेन हुआ। भीमसेनके पुत्र प्रतीप और प्रतीपके शंतनु हुए। शंतनुके देवापि, बाह्लिक और सोमदत्त—ये तीन पुत्र थे। बाह्लिकसे सोमदत्त और सोमदत्तसे भूरि, भूरिश्रवा तथा शलका जन्म हुआ। शंतनुसे गङ्गाजीके गर्भसे भीष्म उत्पन्न हुए तथा उनकी काल्या (सत्यवती) नामवाली पत्नीसे विचित्रवीर्यकी उत्पत्ति हुई। विचित्रवीर्यकी पत्नीके गर्भसे श्रीकृष्णद्वैपायनने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरको जन्म दिया। पाण्डुकी रानी कुन्तीके गर्भसे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए तथा उनकी माद्री नामवाली पत्नीसे नकुल और सहदेवका जन्म हुआ। पाण्डुके ये पाँच पुत्र देवताओंके अंशसे प्रकट हुए थे। अर्जुनके पुत्रका नाम अभिमन्यु था। वे सुभद्राके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। अभिमन्युसे राजा परीक्षित्का जन्म हुआ। द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी थी। उसके गर्भसे युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, सहदेवसे श्रुतशर्मा और नकुलसे शतानीककी उत्पत्ति हुई। भीमसेनका एक दूसरा पुत्र भी था, जो हिडिम्बाके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। उसका नाम था घटोत्कच। ये भूतकालके राजा हैं। भविष्यमें भी बहुत-से राजा होंगे, जिनकी कोई गणना नहीं हो सकती। सभी समयानुसार कालके गालमें चले जाते हैं। विप्रवर! काल भगवान् विष्णुका ही स्वरूप है, अतः उन्हींका पूजन करना चाहिये। उन्हींके उद्देश्यसे अग्निमें हवन करो; क्योंकि वे भगवान् ही सब कुछ देनेवाले हैं॥ २६–४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कुरुवंशका वर्णन' नामक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७८॥

दो सौ उनासीवाँ अध्याय*

सिद्ध ओषधियोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं आयुर्वेदका वर्णन करूँगा, जिसे भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुतसे कहा था। यह आयुर्वेदका सार है और अपने प्रयोगोंद्वारा मृतकको भी जीवन प्रदान करनेवाला है॥ १॥

सुश्रुतने कहा—भगवन्! मुझे मनुष्य, घोड़े और हाथीके रोगोंका नाश करनेवाले आयुर्वेद-शास्त्रका उपदेश कीजिये। साथ ही सिद्ध योगों, सिद्ध मन्त्रों और मृतसंजीवन-कारक औषधोंका भी वर्णन कीजिये॥ २॥

धन्वन्तरि बोले—सुश्रुत! वैद्य ज्वराक्रान्त व्यक्तिके बलकी रक्षा करते हुए, अर्थात् उसके बलपर ध्यान रखते हुए लङ्घन (उपवास) करावे। तदनन्तर उसे सोंठसे युक्त लाल मण्ड (धानके लावेका माँड़) तथा नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, सुगन्धबाला और सोंठके साथ शृत (अर्धपक्व) जलको प्यास और ज्वरकी शान्तिके लिये दे। छः[1] दिन बीत जानेके बाद चिरायता-जैसे द्रव्योंका काढ़ा अवश्य दे॥ ३-४॥

* दो सौ उनासीवें अध्यायसे वैद्यक अथवा आयुर्वेदका प्रकरण आरम्भ होता है। इसका संशोधन वाराणसेय संस्कृत वि० वि० वाराणसी आयुर्वेदविभागके प्राध्यापक आचार्य पं० श्रीगोमतीप्रसादजीने किया है। आप सुप्रसिद्ध आयुर्वेदधन्वन्तरि स्व० पं० श्रीसत्यनारायणजी शास्त्रीके शिष्य हैं।

१. छः दिन उपलक्षणमात्र है। जबतक ज्वरकी सामता (अपरिपक्वावस्था) रहे, तबतक प्रतीक्षा करके जब उसकी निरामता (परिपक्वावस्था) हो जाय, तब तिक्त (चिरायता आदि) दे।

ज्वर निकालनेके लिये (आवश्यकता हो तो) स्नेहन (पसीना) करावे। रोगीके दोष (वातादि) जब शान्त हो जायँ, तब विरेचन-द्रव्य देकर विरेचन कराना चाहिये। साठी, तिन्नी, लाल अगहनी और प्रमोदक (धान्यविशेष) के तथा ऐसे ही अन्य धान्योंके भी पुराने चावल ज्वरमें (ज्वरकालमें मण्ड आदिके लिये) हितकर होते हैं। यवके बने (बिना भूसीके) पदार्थ भी लाभदायक हैं। मूँग, मसूर, चना, कुलथी, मोंठ, अरहर, खेखशा, कायफर, उत्तम फलके सहित परवल, नीमकी छाल, पित्तपापड़ा एवं अनार भी ज्वरमें हितकारक होते हैं ॥ ५—७ ॥

रक्तपित्त नामक रोग यदि अधोग (नीचेकी गतिवाला) हो तो वमन हितकर होता है तथा ऊर्ध्वग (ऊपरकी ओर गतिवाला) हो तो विरेचन लाभदायक होता है। इसमें बिना सोंठके षडङ्ग (मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्य—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन एवं सुगन्धवाला)से बना क्वाथ देना चाहिये। इस रोगमें (जौका) सत्तू, गेहूँका आटा, धानका लावा, जौके बने विभिन्न पदार्थ, अगहनी धानका चावल, मसूर, मोंठ, चना और मूँग खानेयोग्य हैं। घी एवं दूधसे तैयार किये गये गेहूँके पदार्थ—दलिया, हलुवा आदि भी लाभकारी होते हैं। बलवर्धक रस तथा छोटी मक्खियोंका मधु भी हितकर होता है। अतिसारमें पुराना अगहनीका चावल लाभदायक होता है ॥ ८—१० ॥

गुल्मरोगमें जो अन्न कफकारक न हो तथा पठानी लोधकी छालके क्वाथसे सिद्ध किया गया हो, वही देना चाहिये। उस रोगमें वायुकारक अन्नको त्याग दे एवं वायुसे रोगीको बचाये। रोगको मिटानेके लिये यह प्रयत्न सर्वथा करनेयोग्य है ॥ ११ ॥

उदर-रोगमें दूधके साथ बाटी खाय। घीसे पकाया हुआ बथुवा, गेहूँ, अगहनी-चावल तथा तिक्त औषध उदर-रोगियोंके लिये हितकर हैं ॥ १२ ॥

गेहूँ, चावल, मूँग, पलाशबीज, खैर, हर्रें, पञ्चकोल (पिप्पली, पीपलामूल, चाभ, चित्ता, सोंठ), जांगल-रस, नीमका पञ्चाङ्ग (फूल, पत्ती, फल, छाल एवं मूल), आँवला, परवल, बिजौरा नीबूका रस, काला या सफेद जीरा, (पाठान्तरके अनुसार चमेलीकी पत्ती), सूखी मूली तथा सेंधा नमक—ये कुष्ठ रोगियोंके लिये हितकारक हैं। पीनेके लिये खदिरोदक (खैर मिलाकर तैयार किया गया जल) प्रशस्त माना गया है। पेया बनानेके लिये मसूर एवं मूँगका प्रयोग होना चाहिये। खानेके लिये पुराने चावलका उपयोग उचित है। नीम तथा पित्तपापड़ाका शाक और जांगल-रस—ये सब कुष्ठमें हितकर होते हैं। वायविडङ्ग, काली मिर्च, मोथा, कूट, पठानी लोध, हुरहुर, मैनसिल तथा वच—इन्हें गोमूत्रमें पीसकर लगानेसे कुष्ठरोगका नाश होता है ॥ १३—१६ ॥

प्रमेहके रोगियोंके लिये पूआ, कूट, कुल्माष (घुघुरी) और जौ आदि लाभदायक हैं। जौके बने भोज्य पदार्थ, मूँग, कुलथी, पुराना अगहनीका चावल, तिक्त-रूक्ष एवं तिक्त हरे शाक हितकर हैं। तिल, सहजन, बहेड़ा और इंगुदीके तेल भी लाभदायक हैं ॥ १७-१८ ॥

मूँग, जौ, गेहूँ, एक वर्षतक रखे हुए पुराने धानका चावल तथा जांगल-रस—ये राजयक्ष्माके रोगियोंके भोजनके लिये प्रशस्त हैं ॥ १९ ॥

श्वास-कास (दमा और खाँसी) के रोगियोंको कुलथी, मूँग, रास्ना, सूखी मूली, मूँगका पूआ, दही और अनारके रससे सिद्ध किये गये विष्किर, जांगल-रस, बिजौरेका रस, मधु, दाख और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल) से संस्कृत जौ, गेहूँ और चावल खिलाये। दशमूल, बला (बरियार या खरेटी), रास्ना और कुलथीसे बनाये गये तथा पूपरससे युक्त क्वाथ श्वास और हिचकीका कष्ट दूर करनेवाले हैं ॥ २०—२२ ॥

सूखी मूली, कुलथी, मूल (दशमूल), जांगल-रस, पुराना जौ, गेहूँ और चावल सबके साथ लेना चाहिये। इससे भी श्वास और कासका नाश होता है। शोथमें गुड़सहित हर्रे या गुड़सहित सोंठ खानी चाहिये। चित्रक तथा मट्ठा—दोनों ग्रहणी रोगके नाशक हैं ॥ २३-२४ ॥

निरन्तर वातरोगसे पीड़ित रहनेवालोंके लिये पुराना जौ, गेहूँ, चावल, जांगल-रस, मूँग, आँवला, खजूर, मुनक्का, छोटी बेर, मधु, घी, दूध, शक्र (इन्द्रयव), नीम, पित्त-पापड़ा, वृष (बलकारक द्रव्य) तथा तक्रारिष्ट हितकर हैं ॥ २५-२६ ॥

हृदयके रोगी विरेचन-योग्य होते हैं अर्थात् उनका विरेचन कराना चाहिये। हिचकीवालोंके लिये पिप्पली हितकर है। छाछ-आरनाल, सीधु तथा मोती ठंढे जलसे लें। यह हिक्का (हिचकी) रोगोंमें विशेष लाभप्रद है ॥ २७ ॥

मदात्यय-रोगमें मोती, नमकयुक्त जीरा तथा मधु हितकर हैं। उरःक्षत रोगी मधु और दूधसे लाहको लेवे। मांस-रस (जटामांसीके रस) के आहार और अग्निसंरक्षण (बुभुक्षा-वर्द्धक

भोगों) से क्षयको जीते। क्षयरोगीके लिये भोजनमें लाल अगहनी धानका चावल, नीवार, कलम (रोपा धान) आदि हितकारी हैं ॥ २८-२९ ॥

अर्श (बवासीर) में यवान्न-विकृति, नीम, मांस (जटामांसी), शाक, संचर नमक, कचूर, हर्रे, माँड तथा जल मिलाया हुआ मट्ठा हितकारक है ॥ ३० ॥

मूत्रकृच्छ्रमें मोथा, हल्दीके साथ चित्रकका लेप, यवान्न-विकृति, शालिधान्य, बथुआ, सुवर्च्चल (संचर नमक), त्रपु (लाह), दूध, ईखके रस और घीसे युक्त गेहूँ—ये खानेके लिये लाभकारी हैं तथा पीनेके लिये मण्ड और सुरा आदि देने चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

छर्दि (कै, वमन) के लिये लाजा (लावा), सत्तू, मधु, परूषक (फालसा), बैंगनका भर्ता, शिखि-पंख (मोरकी पाँख) तथा पानक (विशेष प्रकारका पेय) लाभदायक है ॥ ३३ ॥

अगहनीके चावलका जल, गरम या शीत-गरम दूध तृष्णाका नाशक है। मोथा और गुड़से बनी हुई गुटिका (गोली) मुखमें रक्खी जाय तो तृष्णानाशक है। यवान्न-विकृति, पूप (पूआ), सूखी मूली, परवलका शाक, वेत्राग्र (बेंतके अग्रभागका नरम हिस्सा) और करेल ऊरुस्तम्भ (जाँघके जकड़ने) का विनाशक है। विसर्पी (फोड़े-फुंसी आदिके रूपमें सारे शरीरमें फैलनेवाले रोगका रोगी) मूँग, अरहर, मसूरके यूष, तिलयुक्त जांगल-रस, सेंधा नमक-सहित घृत, दाख, सोंठ, आँवला और उन्नावके यूषके साथ पुराने गेहूँ, जौ और अगहनी धानके चावल आदि अन्नका सेवन करे तथा चीनीके साथ मधु, मुनक्का एवं अनारसे बना जल पीये ॥ ३४—३७ ॥

वातरक्तके रोगीके लिये लाल साठीका चावल, गेहूँ, यव, मूँग आदि हल्का अन्न देवे। काकमाची (काली मकोय), वेत्राग्र, बथुआ, सुवर्च्चला आदि शाक देवे। मधु और मिश्री-सहित जल पिलावे। नासिकाके रोगोंमें दूर्वासे सिद्ध घृत लाभदायक है। आँवलेके रससे या भृङ्गराजके रससे सिद्ध किये हुए तेलका नस्य दिया जाय तो वह सिरके समस्त कृमिरोगोंमें लाभप्रद है ॥ ३८—४० ॥

विप्रवर! शीतल जलके साथ लिया गया अन्नपान और तिलोंका भक्षण दाँतोंको मजबूत बनानेवाला तथा परम तृप्ति-कारक है। तिलके तेलसे किया गया कुल्ला दाँतोंको अधिक मजबूत करनेवाला है। सब प्रकारके कृमियोंके नाशके लिये बायविडंगका चूर्ण तथा गोमूत्रका प्रयोग करे। आँवलेको घीमें पीसकर यदि उसका सिरपर लेपन किया जाय तो वह शिरो-रोगके नाशके लिये उत्तम माना गया है। चिकना और गरम भोजन भी इसके लिये हितकर होता है ॥ ४१—४३ ॥

द्विजोत्तम! कानमें दर्द हो तो बकरेके मूत्र तथा तेलसे कानोंको भर देना उत्तम है। यह कर्णशूलका नाश करनेवाला है। सब प्रकारके सिरके भी इस रोगमें लाभदायक हैं। गिरिमृत्तिका (पहाड़ी मिट्टी), सफेद चन्दन, लाख, मालतीकलिका (चमेलीकी कली) सबको पीसकर बनायी हुई बत्ती उरःक्षत तथा शुक्र-दोषोंको नष्ट करती है। व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीपल) और त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेड़ा) तथा तूतिया थोड़ा जल मिलाकर आँखमें डाले। यह और रसाञ्जन (रसोत) भी आँखके सब रोगोंका नाश करनेवाला है। लोध, काँजी और सेंधा नमकको घीमें भूनकर शिलापर पीसकर आँखोंपर लेप करनेसे सब प्रकारके नेत्र-रोगोंमें लाभ होता है। आश्च्योतन (आँसू गिरना) तो बंद ही हो जाता है। गिरिमृत्तिका और सफेद चन्दनका बाहरी लेप आँखोंको लाभ पहुँचाता है तथा नेत्र-रोगोंके नाशके लिये त्रिफलाका सदा सेवन करे (उसके जलसे आँखोंको धोना उत्तम माना गया है।) ॥ ४४—४८ ॥

दीर्घजीवी होनेकी इच्छावालेको रातमें त्रिफला घृत-मधुके साथ खाना चाहिये। शतावरी-रसमें सिद्ध दूध तथा घी वृष्य है (बलकारक एवं आयुवर्धक है)। कलम्बिका (करमीका शाक) और उड़द भी वृष्य होते हैं। दूध एवं घृत भी वृष्य हैं। पूर्ववत् मुलहठीके सहित त्रिफला आयुको बढ़ानेवाली है। महुवाके फूलके रसके साथ त्रिफला ली जाय तो वह बुढ़ापाके चिह्न—झुर्री पड़ने और बालोंके पकने-गिरने आदिका निवारण करती है ॥ ४९-५०½ ॥

विप्रवर! वचसे सिद्ध घृत भूतदोषका नाश करनेवाला है। उसका कव्य बुद्धिको देनेवाला तथा सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है। खरेटीके (पत्थरपर पीसे हुए) कल्कसे सिद्ध क्वाथद्वारा बनाया हुआ अञ्जन नेत्रोंके लिये हितकारी है। रास्ना या सहचरी (झिण्टी) से सिद्ध तैल वात-रोगियोंके लिये हितकर है। जो अन्न श्लेष्माकारी न हो, वह व्रणरोगोंमें श्रेष्ठ माना गया है। सक्तुपिण्डी तथा आमड़ा पाचनके लिये श्रेष्ठ हैं। नीमका चूर्ण घावके भेदन (फोड़ने) में तथा रोपण (घाव भरने) में श्रेष्ठ है। उसी प्रकार सूच्युपचार (सूची-

कर्म) भी व्रणको फोड़ने या बहानेमें सहायक हैं। बलिकर्म-विशेषसे सूतिकाको लाभ होता है तथा रक्षा-कर्म प्राणियोंके लिये सदा हित करनेवाला है। नीमके पत्तोंको खाना साँपसे डँसे हुएकी दवा है। (पीसकर लगाया हुआ) पताल नीमका पत्ता, पुराना तैल अथवा पुराना घी केशके लिये हितकर होते हैं ॥ ५१–५६ ॥

जिसे बिच्छूने काटा हो, उसके लिये मोरपंख और घृतका धूम लाभदायक है। अथवा आकके दूधसे पीसे हुए पलाश-बीजका लेप करनेसे बिच्छूका जहर उतर जाता है। बिच्छूके काटे हुएको पीपल या बड़ी हरड़ जायफलके साथ पिलाये। आकका दूध, तिल, तैल, पलल और गुड़—इनको समान मात्रामें लेकर पिलानेसे कुत्तेका भयंकर विष शीघ्र ही दूर होता है। चौराईका मूल और निशोथ समान मात्रामें घीके साथ पीनेसे मनुष्य अति बलवान्, सर्पविष और कीटोंके विषोंपर भी शीघ्र ही काबू पा लेता है। श्वेत चन्दन, पद्माख, कूठ, लताम्बु (जूहीका पानी), उशीर (खस), पाटला, निर्गुण्डी, शारिवा, सेलु (सेरुकी)—ये मकड़ीके विषका नाश करनेवाले औषध हैं। द्विजश्रेष्ठ ! गुड़सहित सोंठ शिरोविरेचनके लिये हितकारक हैं ॥ ५७–६१ ॥

स्नेहपानमें तथा वस्तिकर्ममें तैल और घृत सर्वोत्तम है। अग्नि पसीना करानेमें तथा शीतजल स्तम्भनमें श्रेष्ठ हैं। इसमें संशय नहीं कि निशोथ रेचनमें श्रेष्ठ है और मैनफल वमनमें। वस्ति, विरेचन एवं वमन, तैल, घृत एवं मधु—ये तीन क्रमशः वात, पित्त एवं कफके परम औषध हैं ॥ ६२-६३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सिद्ध औषधियोंका वर्णन' नामक दो सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

दो सौ अस्सीवाँ अध्याय
सर्वरोगहर औषधोंका वर्णन

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत ! शारीर, मानस, आगन्तुक और सहज—ये चार प्रकारकी व्याधियाँ हैं। ज्वर और कुष्ठ आदि 'शारीर' रोग हैं, क्रोध आदि 'मानस' रोग हैं, चोट आदिसे उत्पन्न रोग 'आगन्तुक' कहे जाते हैं तथा भूख, बुढ़ापा आदि 'सहज' (स्वाभाविक) रोग हैं। 'शारीर' तथा 'आगन्तुक' व्याधिके नाशके लिये रविवारको ब्राह्मणकी पूजा करके उसे घृत, गुड़, नमक और सुवर्णका दान करे। जो सोमवारको ब्राह्मणके लिये उबटन देता है, वह सब रोगोंसे छूट जाता है। शनिवारको तैलका दान करे। आश्विनके महीनेमें गोरस—गायका घी, दूध और दही तथा अन्न देनेवाला सब रोगोंसे छुटकारा पा जाता है। घृत तथा दूधसे शिवलिङ्गको स्नान करानेसे मनुष्य रोगहीन हो जाता है। त्रिमधुर (शर्करा, गुड़, मधु) में डुबायी हुई दूर्वाका गायत्री-मन्त्रसे हवन करनेपर मनुष्य सब रोगोंसे छूट जाता है। जिस नक्षत्रमें रोग पैदा हो, उसी शुभ नक्षत्रमें स्नान करे तथा बलि दे। भगवान् विष्णुका स्तोत्र 'मानस-रोग' आदिको दूर लेनेवाला है। अब वात, पित्त एवं कफ—इन दोषोंका तथा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि धातुओंका वर्णन सुनो ॥ १–६ ॥

सुश्रुत ! खाया हुआ अन्न पक्वाशयसे दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। एक अंशसे वह किट्ट होता है और दूसरे अंशसे रस। किट्टभाग मल है, जो विष्ठा, मूत्र तथा स्वेदरूपमें परिणत होता है। वही नेत्रमल, नासामल, कर्णमल तथा देहमल कहलाता है। रस अपने समस्त भागसे रुधिररूपमें परिणत हो जाता है। रुधिरसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा, मज्जासे शुक्र, शुक्रसे राग (रंग या वर्ण) तथा ओजस् उत्पन्न होता है। चिकित्सकको चाहिये कि देश, काल, पीड़ा, बल, शक्ति, प्रकृति तथा भेषजके बलको समझकर तदनुकूल चिकित्सा करे। औषध प्रारम्भ करनेमें रिक्ता (४, १४, ९) तिथि, भौमवार एवं मन्द, दारुण तथा उग्र नक्षत्रको त्याग देवे। विष्णु, गौ, ब्राह्मण, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवोंकी पूजा करके रोगीके उद्देश्यसे निम्नाङ्कित मन्त्रका उच्चारण करते हुए औषध प्रारम्भ करे—॥ ७–१२ ॥

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयश्चौषधीग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा ।
सुधैवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥

'ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, भूमि, चन्द्रमा, सूर्य, अनिल, अनल, ऋषि, ओषधिसमूह तथा भूत-समुदाय—ये तुम्हारी रक्षा करें। जैसे ऋषियोंके लिये रसायन, देवताओंके लिये अमृत तथा श्रेष्ठ नागोंके

लिये सुधा ही उत्तम एवं गुणकारी है, उसी प्रकार यह औषध तुम्हारे लिये आरोग्यकारक एवं प्राणरक्षक हो' ॥ १३-१४ ॥

देश—बहुत वृक्ष तथा अधिक जलवाला देश 'अनूप' कहलाता है। वह वात और कफ उत्पन्न करनेवाला होता है। जांगल देश 'अनूप' देशके गुण-प्रभावसे रहित होता है। थोड़े वृक्ष तथा थोड़े जलवाला देश 'साधारण' कहा जाता है। जांगल देश अधिक पित्त उत्पन्न करनेवाला तथा साधारण देश मध्यमपित्तका उत्पादक है ॥ १५-१६ ॥

वात, पित्त, कफके लक्षण—वायु रूक्ष, शीत तथा चल है। पित्त उष्ण है तथा कटुत्रय (सोंठ, मिर्च, पीपली) पित्तकर हैं। कफ स्थिर, अम्ल, स्निग्ध तथा मधुर है। समान वस्तुओंके प्रयोगसे इनकी वृद्धि तथा असमान वस्तुओंके प्रयोगसे हानि होती है। मधुर, अम्ल एवं लवण रस कफकारक तथा वायुनाशक हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस वायुकी वृद्धि करते हैं तथा कफनाशक हैं। इसी तरह कटु, अम्ल तथा लवण रस पित्त बढ़ानेवाले हैं। तिक्त, स्वादु (मधुर) तथा कषाय रस पित्तनाशक होते हैं। यह गुण या प्रभाव रसका नहीं, उसके विपाकका माना गया है। उष्णवीर्य कफनाशक तथा शीतवीर्य पित्तनाशक होते हैं। सुश्रुत ! ये सब प्रभावसे ही वैसा कार्य करते हैं ॥ १७—२१ ॥

शिशिर, वसन्त तथा शरद्‌में क्रमशः कफके चय, प्रकोप तथा प्रशमन बताये गये हैं। अर्थात् कफका चय शिशिर ऋतुमें, प्रकोप वसन्त ऋतुमें तथा प्रशमन ग्रीष्म ऋतुमें होता है। सुश्रुत ! वायुका संचय ग्रीष्ममें, प्रकोप वर्षा तथा रात्रिमें और शमन शरद्‌में कहा गया है। इसी प्रकार पित्तका संचय वर्षामें, प्रकोप शरद्‌में तथा शमन हेमन्तमें कहा गया है। वर्षासे हेमन्तपर्यन्त (वर्षा, शरद्, हेमन्त—ये) तीन ऋतुएँ 'विसर्ग-काल' कही गयी हैं तथा शिशिरसे ग्रीष्मपर्यन्त तीन ऋतुओंको (औषध लेनेके निमित्त) 'आदान (काल)' कहा गया है। विसर्ग-कालको 'सौम्य' और आदानकालको 'आग्नेय' कहा गया है। वर्षा आदि तीन ऋतुओंमें चलता हुआ चन्द्रमा ओषधियोंमें क्रमशः अम्ल, लवण तथा मधुर रसोंको उत्पन्न करता है। शिशिर आदि तीन ऋतुओंमें विचरता हुआ सूर्य क्रमशः तिक्त, कषाय तथा कटु रसोंको बढ़ाता है। रातें ज्यों-ज्यों बढ़ती हैं, त्यों-त्यों ओषधियोंका बल बढ़ता है ॥ २२—२८ ॥

जैसे-जैसे रातें घटती हैं, वैसे-वैसे मनुष्योंका बल क्रमशः घटता है। रातमें, दिनमें तथा भोजनके बाद, आयुके आदि, मध्य और अवसान-कालमें कफ, पित्त एवं वायु प्रकुपित होते हैं। प्रकोपके आदिकालमें इनका संचय होता है तथा प्रकोपके बाद इनका शमन कहा गया है। विप्रवर ! अधिक भोजन और अधिक उपवाससे तथा मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकनेसे सभी रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये पेटके दो भागोंको अन्नसे तथा एक भागको जलसे पूरा करे। अवशिष्ट एक भागको वायु आदिके संचरणके लिये रिक्त रक्खे। व्याधिका निदान तथा विपरीत औषध करना चाहिये, इन सबका सार यही है, जो मैंने बतलाया है ॥ २९—३३½ ॥

नाभिके ऊपर पित्तका स्थान है तथा नीचे श्रोणी एवं गुदाको वातका स्थान कहा गया है। तथापि ये सभी समस्त शरीरमें घूमते हैं। उनमें भी वायु विशेषरूपसे सम्पूर्ण शरीरमें संचरण करती है। [इस विषयका सुस्पष्ट वर्णन सुश्रुतमें इस प्रकार है—**दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः। तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः।** (सुश्रुत, सूत्रस्थान अध्याय २१, सूत्र) 'इसके बाद दोषोंके स्थानोंका वर्णन करूँगा—उनमें संक्षेपसे (रहस्य यह है कि) वायुका स्थान श्रोणि एवं गुदा है, उसके ऊपर एवं नाभि (ग्रहणी) के नीचे पक्वाशय है, पक्वाशय एवं आमाशयके मध्यमें पित्तका स्थान है। श्लेष्माका स्थान आमाशय है'] ॥ ३४-३५ ॥

देहके मध्यमें हृदय है, जो मनका स्थान है। जो स्वभावतः दुर्बल, थोड़े बालवाला, चञ्चल, अधिक बोलनेवाला तथा विषमानल है—जिसकी जठराग्नि कभी ठीकसे पाचनक्रिया करती है, कभी नहीं करती तथा जो स्वप्नमें आकाशमें उड़नेवाला है, वह वात प्रकृतिका मनुष्य है। समय (अवस्था) से पूर्व ही जिसके बाल पकने—झरने लगे, जो क्रोधी हो, जिसे पसीना अधिक होता हो, जो मीठी वस्तुएँ खाना पसंद करता हो और स्वप्नमें अग्निको देखनेवाला हो, वह पित्त प्रकृतिका है। जो दृढ़ अङ्गोंवाला, स्थिरचित्त, सुन्दर, कान्तियुक्त, चिकने केश तथा स्वप्नमें स्वच्छ जलको देखनेवाला है, वह कफ प्रकृतिवाला मनुष्य कहा जाता है। इसी प्रकार तामस, राजस तथा सात्त्विक—तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं ॥ ३६—३९ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! सभी मनुष्य वात, पित्त और कफवाले हैं।

मैथुनसे और भारी काममें लगे रहनेसे रक्तपित्त होता है। कदन्नके भोजनसे तथा शोकसे वायु कुपित होती है। द्विजोत्तम! जलन पैदा करनेवाले पदार्थों तथा कटु, तिक्त, कषायरससे युक्त पदार्थोंके सेवनसे, मार्गमें चलनेसे तथा भयसे पित्त प्रकुपित होता है। अधिक जल पीनेवालों, भारी अन्न भोजन करनेवालों, खाकर तुरंत सो जानेवालों तथा आलसियोंका कफ प्रकुपित होता है। उत्पन्न हुए वातादि रोगोंको लक्षणोंसे जानकर उनका शमन करे॥ ४०—४३॥

अस्थिभङ्ग (हड्डियोंका टूटना या व्यथित होना), मुखका कसैला स्वाद होना, मुँह सूखना, जँभाई आना तथा रोएँ खड़े हो जाना—ये वायुजनित रोगके लक्षण हैं। नाखून, आँखें एवं नस-नाड़ियोंका पीला हो जाना, मुखमें कड़ुवापन प्रतीत होना, प्यास लगना तथा शरीरमें दाह या गर्मी मालूम होना—ये पित्तव्याधिके लक्षण हैं॥ ४४-४५॥

आलस्य, प्रसेक (मुँहमें पानी आना), भारीपन, मुँहका मीठा होना, उष्णकी अभिलाषा (धूपमें या आगके पास बैठनेकी इच्छा होना या उष्णपदार्थोंको ही खानेकी कामना)—ये कफज व्याधिके लक्षण हैं। स्निग्ध और गरम-गरम भोजन करनेसे, तेलकी मालिशसे तथा तैल-पान आदिसे वातरोगका निवारण होता है। घी, दूध, मिश्री आदि एवं चन्द्रमाकी किरण आदि पित्तको दूर करता है। शहदके साथ त्रिफलाका तैल लेने तथा व्यायाम आदिसे कफका शमन होता है। सब रोगोंकी शान्तिके लिये भगवान् विष्णुका ध्यान एवं पूजन सर्वोत्तम औषध है॥ ४६—४८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सर्वरोगहर ओषधियोंका वर्णन' नामक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८०॥

दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय

रस आदिके लक्षण[1]

भगवान् धन्वन्तरिने कहा—सुश्रुत! अब मैं ओषधियोंके रस आदिके लक्षणों और गुणोंका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। जो ओषधियोंके रस, वीर्य और विपाकको जानता है, वही चिकित्सक राजा आदिकी रक्षा कर सकता है॥ १॥

महाबाहो! मधुर, अम्ल और लवण रस चन्द्रमासे उत्पन्न कहे गये हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस अग्निसे उत्पन्न माने गये हैं। द्रव्यका विपाक तीन प्रकारका होता है—कटु, अम्ल और लवणरूप। वीर्य दो प्रकारके कहे गये हैं—शीत और उष्ण। द्विजोत्तम! ओषधियोंका प्रभाव अकथनीय है। मधुर, तिक्त और कषायरस 'शीतवीर्य' कहे गये हैं एवं शेष रस 'उष्णवीर्य' माने गये हैं; किंतु गुडूची (गिलोय) तिक्तरसवाली होनेपर भी अत्यन्त वीर्यप्रद होनेसे उष्ण है॥ २—५॥

मानद! इसी प्रकार हरड़ कषायरससे युक्त होनेपर भी 'उष्णवीर्य' होती है तथा मांस (जटामांसी) मधुररससे युक्त होनेपर भी 'उष्णवीर्य' ही कहा गया है। लवण और मधुर—ये दोनों रस विपाकमें मधुर माने गये हैं। अम्लोष्णका विपाक भी मधुर होता है। शेष रस विपाकमें कटु हैं। इसमें संशय नहीं है कि विशेष वीर्ययुक्त द्रव्यके विपाकमें उसके प्रभावके कारण विपरीतता भी हो जाती है; क्योंकि शहद मधुर होनेपर भी विपाकमें कटु माना गया है॥ ६—८॥

द्रव्यसे सोलहगुना जल लेकर क्वाथ करे। प्रक्षिप्त द्रव्य-से चारगुना जल शेष रहनेपर (क्वाथको) छानकर पीवे। यह क्वाथके निर्माणकी विधि है। जहाँ क्वाथकी विधि न बतलायी गयी हो, वहाँ इसीको प्रमाण जानना चाहिये॥ ९॥

स्नेह (तैल या घृत) पाककी विधिमें स्नेहसे चौगुना[2] कषाय (क्वथित द्रव्य) अथवा बराबर-बराबर तैल एवं विभिन्न

---

१. दो सौ इक्यासीवें अध्यायमें कथित 'रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभावका वर्णन' विस्तारपूर्वक सुश्रुत-संहिता'के सूत्रस्थानके ४० एवं ४२ वें अध्यायोंमें तथा 'चरकसंहिता'के सूत्रस्थानके २६वें अध्यायमें है। तदनुसार ही यहाँका वर्णन है।

२. २८१ अध्यायके १० वें श्लोकमें दो प्रकारकी युक्तियाँ मिल रही हैं—(१) तैल-निर्माणमें तैलसे चौगुना कषाय, (२) तैलके समान। इसमें संशयकी कोई बात नहीं है, यदि एक ही प्रकारका कषाय मिलाना हो तो चौगुना चाहिये एवं यदि अनेक प्रकारके कषायोंका सम्मिश्रण करना हो तो तैलके बराबर-बराबर भी ले सकते हैं, किंतु एक बात ध्यानमें रहे कि योगमें कषाय तैलसे चतुर्गुण अवश्य होना चाहिये।

द्रव्योंके क्वाथ लेने चाहिये। तैलका परिपाक तब समझना चाहिये, जब कि उसमें डाली हुई ओषधियाँ उफनते हुए तैलमें गलकर ऐसी हो जायँ, कि उन्हें ठंढा करके यदि हाथपर रगड़ा जाय तो उनकी बत्ती-सी बन जाय। विशेष बात यह है कि उस बत्तीका सम्बन्ध अग्निसे किया जाय तो चिड़चिड़ाहट-की प्रतीति न हो, तब सिद्धतैल मानना चाहिये ॥१०-११½॥

सुश्रुत ! लेह्य (चाटनेयोग्य) औषधद्रव्योंमें भी इसीके समान प्रक्षेप आदि होते हैं। निर्मल तथा उचित औषध-प्रक्षेपद्वारा निर्मित क्वाथ उत्तम होता है (तथा उसका प्रयोग लेह्य आदिमें करना चाहिये)। चूर्णकी मात्रा एक अक्ष (तोला) और क्वाथकी मात्रा चार पल[3] है। यह मध्यम मात्रा (साधारण मात्रा) बतलायी गयी है। वैसे मात्राका परिमाण कोई निश्चित परिमाण नहीं है। महाभाग ! रोगीकी अवस्था, बल, अग्नि, देश, काल, द्रव्य और रोगका विचार करके मात्राकी कल्पना होती है। उसमें सौम्य रसोंको प्रायः धातुवर्द्धक जानना चाहिये ॥१२—१५॥

मधुर रस तो विशेषतया शरीरके धातुओंकी वृद्धिके लिये जानना चाहिये। दोष, धातु और द्रव्य[4] समानगुणयुक्त होनेपर शरीरकी वृद्धि करते हैं और इसके विपरीत होनेपर क्षयकारक होते हैं। नरश्रेष्ठ ! इस शरीरमें तीन प्रकारके उपस्तम्भ (खंभे) कहे गये हैं—आहार, मैथुन और निद्रा। मनुष्य इनके प्रति सदा सावधानी रक्खे। इनके पूर्णतया परित्याग या अत्यन्त सेवनसे शरीर क्षयको प्राप्त होता है। कृश शरीरका 'बृंहण' (पोषण), स्थूल शरीरका 'कर्षण' और मध्यम शरीरका 'रक्षण' करना चाहिये। ये शरीरके तीन भेद माने गये हैं। 'तर्पण' और 'अतर्पण'—इस प्रकार आहारादि उपक्रमोंके दो भेद होते हैं। मनुष्य-को सदा 'हिताशी' होना चाहिये (हितकारी पदार्थोंको ही खाना चाहिये) और 'मिताशी' बनना चाहिये (परिमित भोजन करना चाहिये) तथा 'जीर्णाशी' होना चाहिये (पूर्वभुक्त अन्नका परिपाक हो जानेपर ही पुनः भोजन करना चाहिये) ॥ १६—२० ॥

नरश्रेष्ठ ! ओषधियोंकी निर्माण-विधि पाँच प्रकारकी मानी गयी है—रस, कल्क, क्वाथ, शीतकषाय तथा फाण्ट। औषधोंको निचोड़नेसे 'रस' होता है, मन्थनसे 'कल्क' बनता है, औटानेसे 'क्वाथ' होता है, रात्रिभर रखनेसे 'शीत' और तत्काल जलमें कुछ गरम करके छान लेनेसे 'फाण्ट' होता है ॥ २१-२२½ ॥

(इस प्रकार) चिकित्साके एक सौ आठ साधन हैं। जो वैद्य उनको जानता है, वह अजेय होता है। अर्थात् वह चिकित्सामें कहीं असफल नहीं होता है। वह 'बाहुशौण्डिक' कहा जाता है। आहार-शुद्धि अग्निके संरक्षण, संवर्द्धन एवं संशुद्धि आदिके लिये आवश्यक है; क्योंकि मनुष्योंके बलका अग्नि ही मूल आधार है। बलके लिये सैन्धव लवणसे युक्त त्रिफला, कान्ति-प्रद उत्तम पेय, जाङ्गल-रस, सैन्धवयुक्त दही और दुग्ध तथा पिप्पली (पीपल) का सेवन करना चाहिये ॥ २३—२५ ॥

मनुष्यको चाहिये कि जो रस (या धातु आदि) अधिक हो गये, अर्थात् बढ़ गये हैं, उन्हें सम करे—साम्यावस्थामें लावे। वातप्रधान प्रकृतिके मनुष्यको अपनी परिस्थितिके अनुसार ग्रीष्म ऋतुमें अङ्गमर्दन करना चाहिये। शिशिर ऋतुमें साधारण या अधिक, वसन्त ऋतुमें मध्यम और ग्रीष्म ऋतुमें विशेषरूपसे अङ्गोंका मर्दन करे। पहले त्वचाका, उसके बाद मर्दन करनेयोग्य अङ्गका मर्दन करे ॥ २६-२७ ॥

स्नायु एवं रुधिरसे परिपूर्ण शरीरमें अस्थिसमूह अत्यन्त मांसल-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार कंधे, बाहु, जानुद्वय तथा जङ्घाद्वय भी मांसल प्रतीत होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य शत्रुके समान इनका मर्दन करे। जत्रु (हँसलीका भाग), वक्षःस्थल (छाती) इन्हें पूर्ववत् साधारण प्रकारसे मले तथा समस्त अङ्ग-संधियोंको खूब मलकर उन्हें (अङ्ग-संधियोंको) फैला दे। किंतु उनका प्रसारण हठात् एवं क्रमविरुद्ध न करे। मनुष्य अजीर्णमें भोजनोपरान्त और तत्काल जल पीकर परिश्रम न करे ॥ २८—३० ॥

---

३. कलिङ्गमानसे एक 'पल' चार तोलेका होता है।

४. २८१ वें अध्यायके १६-१७ श्लोकोंपर विमर्श—

(१) सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।

(२) ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु।

(३) तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः।

उक्त तीनों सूत्र 'चरक-संहिता', सूत्र-स्थानके हैं। तथा—'अष्टाङ्ग-हृदय'कार लिखते हैं—'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतै-र्विपर्ययः।'

उक्त पङ्क्तियोंका निष्कर्ष यही है कि समान द्रव्य, गुण या कर्मवाली वस्तुओंसे समान गुण-धर्मवाले रस-रक्तादिकी वृद्धि होती है तथा विपरीतसे इनका ह्रास होता है।

दिनके चार भाग (प्रहर) होते हैं। प्रथम प्रहरार्धके व्यतीत हो जानेपर व्यायाम न करे। शीतल जलसे एक बार स्नान करे। उष्ण जल थकावटको दूर करता है। हृदयके श्वासको अवरुद्ध न करे। व्यायाम कफको नष्ट करता है तथा मर्दन वायुका नाश करता है। स्नान पित्ताधिक्यका शमन करता है। स्नानके पश्चात् धूपका सेवन प्रिय है। व्यायामका सेवन करनेवाले मनुष्य धूप और परिश्रमयुक्त कार्य-को सहन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ३१—३३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रसादि लक्षणोंका वर्णन' नामक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

दो सौ बयासीवाँ अध्याय

आयुर्वेदोक्त वृक्ष-विज्ञान

धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत ! अब मैं वृक्षायुर्वेदका वर्णन करूँगा। क्रमशः गृहके उत्तर दिशामें प्लक्ष (पाकड़), पूर्वमें वट (बरगद), दक्षिणमें आम्र और पश्चिममें अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष मङ्गल माना गया है। घरके समीप दक्षिण दिशामें उत्पन्न हुए काँटेदार वृक्ष भी शुभ हैं। आवास-स्थानके आसपास उद्यानका निर्माण करे अथवा सब ओरका भाग पुष्पित तिलोंसे सुशोभित करे ॥ १-२ ॥

ब्राह्मण और चन्द्रमाका पूजन करके वृक्षोंका आरोपण करे। वृक्षारोपणके लिये तीनों उत्तरा, स्वाती, हस्त, रोहिणी, श्रवण और मूल—ये नक्षत्र अत्यन्त प्रशस्त हैं। उद्यानमें पुष्करिणी (बावली) का निर्माण करावे और उसमें नदीके प्रवाहका प्रवेश करावे। जलाशयारम्भके लिये हस्त, मघा, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, शतभिषा, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा-भाद्रपदा और उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र उपयुक्त हैं ॥ ३—५ ॥

वरुण, विष्णु और इन्द्रका पूजन करके इस कर्मको आरम्भ करे। नीम, अशोक, पुन्नाग (नागकेसर), शिरीष, प्रियङ्गु, अशोक[1], कदली (केला), जम्बू (जामुन), वकुल (मौलसिरी) और अनार वृक्षोंका आरोपण करके ग्रीष्म ऋतुमें प्रातःकाल और सायंकाल, शीत ऋतुमें दिनके समय एवं वर्षा ऋतुमें रात्रिके समय भूमिके सूख जानेपर वृक्षोंको सींचे। वृक्षोंके मध्यमें बीस हाथका अन्तर 'उत्तम', सोलह हाथका अन्तर 'मध्यम' और बारह हाथका अन्तर 'अधम' कहा गया है। बारह हाथ अन्तरवाले वृक्षोंको स्थानान्तरित कर देना चाहिये। घने वृक्ष फलहीन होते हैं। पहले उन्हें काट-छाँटकर शुद्ध करे ॥ ६—९ ॥

फिर विडङ्ग, घृत और पङ्क-मिश्रित शीतल जलसे उनको सींचे। वृक्षोंके फलोंका नाश होनेपर कुलथी, उड़द, मूँग, जौ, तिल और घृतसे मिश्रित शीतल जलके द्वारा यदि सेचन किया जाय तो वृक्षोंमें सदा फलों एवं पुष्पोंकी वृद्धि होती है। भेड़ और बकरीकी विष्ठाका चूर्ण, जौका चूर्ण, तिल और जल—इनको एकत्र करके सात दिनतक एक स्थानपर रक्खे। उसके बाद इससे सींचना सभी वृक्षोंके फल और पुष्पोंको बढ़ानेवाला है ॥ १०—१२ ॥

मछलीके जल (जिसमें मछली रहती हों) से सींचनेपर वृक्षोंकी वृद्धि होती है। विडंगचावलके साथ यह जल वृक्षोंका दोहद (अभिलषित-पदार्थ) है। इसका सेचन साधारणतया सभी वृक्ष-रोगोंका विनाश करनेवाला है ॥ १३-१४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वृक्षायुर्वेदका वर्णन' नामक दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८२ ॥

दो सौ तिरासीवाँ अध्याय

नाना रोगनाशक ओषधियोंका वर्णन

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—अडूसा, मुलहठी या कचूर[2], दोनों प्रकारकी हल्दी और इन्द्रयव—इनका क्वाथ बालकोंके सभी प्रकारके अतिसारमें तथा स्तन्य (माताके दूधके) दोषोंमें प्रशस्त है। पीपल और अतीसके सहित

१. २८२वें अध्यायमें ६-७ दोनों श्लोकोंमें अशोक वृक्षका नाम है, पुनरुक्ति-दोष नहीं है। कारण यह है कि अशोक 'श्वेत' तथा 'रक्त' दो प्रकारका होता है। दोनों भवनके पास प्रशस्त हैं।

२. प्रथम श्लोकमें 'सिंही शटी' तथा 'सिंही यष्टी' दोनों पाठ हैं, जो युक्तियुक्त हैं। 'शटी'का अर्थ 'कचूर' है तथा 'यष्टी'का अर्थ 'मुलहठी' है।

काकड़ाश्रृंगीका अथवा केवल एक अतीसका चूर्ण करके बालकोंको मधुके साथ चटावे। इससे खाँसी, वमन और ज्वर नष्ट होता है। बालकोंको दुग्ध, घृत अथवा तैलके साथ वचका सेवन करावे अथवा मुलहठी और शङ्खपुष्पीको दूधके साथ बालक पिये। इससे बालकोंकी वाक्शक्ति एवं रूपसम्पत्तिके साथ-साथ आयु, बुद्धि और कान्तिकी भी वृद्धि होती है। वच, कलिहारी, अडूसा, सोंठ, पीपल, हल्दी, कूट, मुलहठी और सैन्धव—इनका चूर्ण बालकोंको प्रातःकाल पिलावे। इसका सेवन बुद्धिवर्द्धक है। देवदारु, बड़ा सहजन, त्रिफला और नागरमोथा—इनका क्वाथ अथवा पीपल और मुनक्काका कल्क सभी प्रकारके कृमिरोगोंका नाशक है। शुद्ध राँगेको त्रिफला, भृङ्गराज तथा अदरखके रस या मधु-घृतमें अथवा भेड़के मूत्र या गोमूत्रमें अञ्जन करनेसे नेत्ररोगोंमें लाभ होता है। दूर्वारसका नस्य नाकसे बहनेवाले रक्तरोग (नाशा)को शान्त करनेमें उत्तम है॥ १—७॥

लहसुन, अदरख और सहजनके रससे कानको भर देनेपर अथवा अदरखके रस या तैलसे कानको भर देनेपर वह कर्णशूलका नाशक तथा ओष्ठ-रोगोंको दूर करनेवाला होता है। जायफल, त्रिफला, व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल), गोमूत्र, हल्दी, गोदुग्ध तथा बड़ी हर्रेके कल्कसे सिद्ध किया हुआ तिलका तैल कवल (कुल्ला) करनेसे दन्तपीड़ाका नाशक है। काँजी, नारियलका जल, गोमूत्र, सुपारी तथा सोंठ—इनके क्वाथका कवल मुखमें रखनेसे जिह्वाके रोगका नाश होता है। कलिहारीके कल्क (पिसे हुए द्रव्य)में निर्गुण्डीके रसके साथ सिद्ध किया हुआ तैलका नस्य लेने (नाकमें डालने)से गण्डमाला और गलगण्डरोगका नाश होता है। सभी चर्मरोगोंको नष्ट करनेवाले आक, काटा, करञ्ज, थूहर, अमलतास और चमेलीके पत्तोंको गोमूत्रके साथ पीसकर उबटन लगाना चाहिये। वाकुचीको तिलोंके साथ एक वर्षतक खाया जाय तो वह सालभरमें कुष्ठरोगका नाश कर देती है। हर्रे, भिलावा, तैल, गुड़ और पिण्डखजूर—ये कुष्ठनाशक औषध हैं। । पाठा, चित्रक, हल्दी, त्रिफला और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल)—इनका चूर्ण तक्रके साथ पीनेसे अथवा गुड़के साथ हरीतकी खानेसे अर्शरोगका नाश होता है। प्रमेह-रोगीको त्रिफला, दारुहल्दी, बड़ी इन्द्रायण और नागरमोथा—इनका क्वाथ या आँवलेका रस हल्दी, कल्क और मधुके साथ पीना चाहिये। अडूसेकी जड़ गिलोय और अमलतासके क्वाथमें शुद्ध एरण्डका तेल मिलाकर पीनेसे वातरक्तका नाश होता है और पिप्पली प्लीहारोगको नष्ट करती है॥ ८—१६॥

पेटके रोगीको थूहरके दूधमें अनेक बार भावना दी हुई पिप्पलीका सेवन करना चाहिये। चित्रक, विडङ्ग तथा त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल)के कल्कसे सिद्ध दूध अरुचि-रोगका निवारण करता है। पीपलामूल, वच, हर्रे, पीपल और विडङ्गको घीमें मिलाकर रक्खे। (उसके सेवनसे) या केवल तक्रके एक मासतक सेवनसे ग्रहणी, अर्श, पाण्डु, गुल्म और कृमिरोगोंका नाश होता है। त्रिफला, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता—इनका क्वाथ शहदके साथ पीनेसे कामलासहित पाण्डुरोगका नाश होता है। अडूसेके रसको मिश्री और शहद मिलाकर पीनेसे या शतावरी, दाख, खरेटी और सोंठ—इनसे सिद्ध किया हुआ दूध पीनेसे रक्त-पित्तरोगका नाश होता है। क्षयरोगके रोगीको शतावरी, विदारीकंद, बड़ी हर्रे, तीनों खरेटी, असगन्ध, गदहपूर्ना तथा गोखरूके चूर्णको शहद और घीके साथ चाटना चाहिये॥ १७—२१॥

हर्रे, सहजन, करञ्ज, आक, दालचीनी, पुनर्नवा, सोंठ और सैन्धव—इनका गोमूत्रके साथ योग करके लेप किया जाय तो यह विद्रधिकी गाँठको पकानेके लिये उत्तम उपाय है। निशोथ, जीवन्ती, दन्तीमूल, मञ्जिष्ठा, दोनों हल्दी, रसाञ्जन और नीमके पत्तेका लेप भगन्दरमें श्रेष्ठ है। अमलतास, हरिद्रा, लाक्षा और अडूसा—इनके चूर्णको गोघृत और शहदके साथ बत्ती बनाकर नासूरमें देवे। इससे नासूरका शोधन होकर घाव भर जाता है। पिप्पली, मुलहठी, हल्दी, लोध, पद्मकाष्ठ, कमल, लालचन्दन एवं मिर्च—इनके साथ गोदुग्धमें सिद्ध किया हुआ तैल घावको भरता है। श्रीताड़, कपासकी पत्तियोंकी भस्म, त्रिफला, गोलमिर्च, खरेटी और हल्दी—इनका गोला बनाकर घावका स्वेदन करे और इन ओषधियोंके तेलको घावपर लगाये। दूधके साथ कुम्भीसार[3] (गुग्गुलसार)को आगपर जलाकर व्रणपर लेप

---

३. दो सौ तिरासीवें अध्यायके २७ वें श्लोकमें दो प्रकारके पाठ सम्भव तथा युक्तियुक्त हैं—(१) कुम्भीसारं पयोयुक्तं वह्निदग्धव्रणे लिपेत्। (२) कुम्भीसारं पयोयुक्तं वह्निदग्धे व्रणे लिपेत्। यहाँ 'कुम्भीसार' पदका अर्थ है—गुग्गुलका सार; क्योंकि 'वाचस्पत्यम्' कोषमें औषधवर्गमें 'कुम्भी'से गुग्गुलका ग्रहण किया जाता है तथा 'कुम्भं त्रिवृति गुग्गुलौ'—यह 'विश्वप्रकाश'में भी मिलता है। मेरे गुरुदेव प्रातःस्मरणीय

करे। (अथवा गुग्गुलसारको दूधमें मिलाकर आगसे जले हुए व्रणपर लेप करे।) अथवा जलकुम्भीको जलाकर दूधमें मिलाकर लगानेसे सभी प्रकारके व्रण ठीक होते हैं। इसी प्रकार नारियलके जड़की मिट्टीमें घृत मिलाकर सेक करनेसे व्रणका नाश होता है ॥ २२–२७ ॥

सोंठ, अजमोद, सेंधानमक, इमलीकी छाल—इन सबके समान भाग हरेंको तक्र या गरम जलके साथ पीनेसे अतिसारका नाश होता है। इन्द्रयव, अतीस, सोंठ, बेलगिरि और नागरमोथाका क्वाथ आमसहित जीर्ण अतिसारमें और शूलसहित रक्तातिसारमें भी पिलाना चाहिये। ठंडे थूहरमें सेंधा नमक भरकर आगमें जला ले। फिर यथोचित मात्रामें उदरशूलवालेको गरम जलके साथ दे। अथवा सेंधा नमक, हींग, पीपल, हरें—इनका गरम जलके साथ सेवन करावे ॥ २८–३० ॥

बरकी बरोह, कमल और धानकी खीलका चूर्ण—इनको शहदमें भिगोकर, कपड़ेमें पोटली बनाकर, मुखमें रखकर उसे चूसे तो इससे प्यास र होती है। अथवा कुटकी, पीपल, मीठा कूट एवं धानका लावा मधुके साथ मिलाकर, पोटलीमें रखकर मुँहमें रक्खे और चूसे तो प्यास दूर हो जाती है। पाठा, दारुहल्दी, चमेलीके पत्र, मुनक्काकी जड़ और त्रिफला—इनका क्वाथ बनाकर उसमें शहद मिला दे। इसको मुखमें धारण करनेसे मुखपाक-रोग नष्ट होता है। पीपल, अतीस, कुटकी, इन्द्रयव, देवदारु, पाठा और नागर-मोथा—इनका गोमूत्रमें बना क्वाथ मधुके साथ लेनेपर सब प्रकारके कण्ठरोगोंका नाश होता है। हरें, गोखरू, जवासा, अमलतास एवं पाषाण-भेद—इनके क्वाथमें शहद मिलाकर पीनेसे मूत्रकृच्छ्रका कष्ट दूर होता है। बाँसका छिलका और वरुणकी छालका क्वाथ शर्करा और अश्मरीरोगका विनाश करता है। श्लीपद-रोगसे युक्त मनुष्य शाखोटक (सिंहोर) की छालका क्वाथ मधु और दुग्धके साथ पान करे। उड़द, मदारकी पत्ती तथा दूध, तैल, मोम एवं सैंधव लवण —इनका योग पादरोगनाशक है। सोंठ, काला नमक और हींग—इनका चूर्ण या सोंठके रसके साथ सिद्ध किया घी अथवा इनका क्वाथ पीनेसे मलबन्ध-दोष और तत्सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं। गुल्मरोगी सर्जक्षार, चित्रक, हींग और अजमोद—इनके रसके साथ या विडंग एवं चित्रकके साथ तक्रपान करे। आँवला, परवल और मूँग—इनके क्वाथका घृतके साथ सेवन विसर्परोगका अपहरण करनेवाला है। अथवा सोंठ, देवदारु और पुनर्नवा या बंशलोचन—इनका दुग्धयुक्त क्वाथ उपकारक है। गोमूत्रके साथ सोंठ, मिर्च, पीपल, लोहचूर, यवक्षार तथा त्रिफलाका क्वाथ शोथ (सूजन)को शान्त करता है। गुड़, सहिजन एवं निशोथ, सैंधव लवण— इनका चूर्ण (या क्वाथ) भी शोथको शान्त करता है ॥ ३१–४० ॥

निशोथ एवं गुड़के साथ त्रिफलाका क्वाथ विरेचन करनेवाला है। वच और मैनफलके क्वाथका जल वमनकारक होता है। भृंगराजके रसमें भावित त्रिफला सौ पल, बायविडंग और लोहचूर दस भाग एवं शतावरी, गिलोय और चित्रक पचीस पल ग्रहण करके उसका चूर्ण बना ले। उस चूर्णको मधु, घृत और तेलके साथ चाटनेसे मनुष्य वली और पलितसे रहित होता है। अर्थात् उसके मुँहपर झुर्रियाँ नहीं होतीं और बाल नहीं पकते। इसके सिवा वह सम्पूर्ण रोगोंसे मुक्त होकर सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। मधु और शर्कराके साथ त्रिफलाका सेवन सर्वरोगनाशक है। त्रिफला और पीपलका मिश्री, मधु और घृतके साथ भक्षण करनेपर भी पूर्वोक्त सभी फल या लाभ प्राप्त होते हैं। हरें, चित्रक, सोंठ, गिलोय और मुसलीका चूर्ण गुड़के साथ खानेपर रोगोंका नाश होता है और तीन सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त होती है। जपा-पुष्पको थोड़ा मसलकर जलमें मिला ले। उस चूर्णजल-को थोड़ी-सी मात्रामें तेलमें मिला देनेपर तैल घृताकार हो जाता है। जलगोह* (बिल्ली) की जरायु (गर्भकी झिल्ली) की धूप देनेसे चित्र दिखलायी नहीं देता। फिर शहदकी धूप देनेसे पूर्ववत् दिखायी देने लगता है। पाड़रकी जड़, कपूर, जोंक और मेढकका तेल—इनको पीसकर दोनों पैरोंमें लगाकर मनुष्य जलते हुए अङ्गारोंपर चल सकता है। तृणोत्थापन (तृणोंको आगमें ऊपर फेंकता-उछालता हुआ) आश्चर्यजनक खेल दिखलाता हुआ चल सकता है। विषोंका रोकना (अथवा विष एवं ग्रह-निवारण), रोगका नाश एवं

श्रीसत्यनारायण शास्त्रीजी अग्निदग्धमें इस प्रकारका लेप बतलाया करते थे—राल, चूनेका पानी, तीसीका तेल, धवका फूल—इनसे एक प्रकारका मलहम बनाकर अग्निदग्धपर लेप किया जाय तो दाहप्रशमनके साथ-साथ आगे सफेद दाग होनेका भी भय नहीं रहता तथा अग्निदाहका दिखायी देना भी बंद हो जाता है।

* 'ओतुर्विडालो मार्जारो वृषदंशक आखुभाक्।'
(अमरकोष, सिंहादिवर्ग)

तुच्छ क्रीड़ाएँ कामनापरक हैं। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों सिद्धियोंके देनेवाले कर्मोंको मैंने तुम्हें बतलाया है, जो छः कर्मोंसे युक्त हैं। मन्त्र, ध्यान, औषध, कथा, मुद्रा और यज्ञ—ये छः जहाँ मुष्टि (भुजाके रूपसे सहायक) हैं, वह कार्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चतुर्वर्ग फलको देनेवाला कर्म बताया गया। इसे जो पढ़ेगा वह स्वर्गमें जायगा॥ ४१—५१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नानारोगहारी औषधियोंका वर्णन' नामक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८३॥

दो सौ चौरासीवाँ अध्याय

मन्त्ररूप औषधोंका कथन

धन्वन्तरिजी कहते हैं—सुश्रुत! 'ओंकार' आदि मन्त्र आयु देनेवाले तथा सब रोगोंको दूर करके आरोग्य प्रदान करनेवाले हैं। इतना ही नहीं, देह छूटनेके पश्चात् वे स्वर्गकी भी प्राप्ति करानेवाले हैं। 'ओंकार' सबसे उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य अमर हो जाता है—आत्माके अमरत्वका बोध प्राप्त करता है, अथवा देवतारूप हो जाता है। गायत्री भी उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य भोग और मोक्षका भागी होता है। '**ॐ नमो नारायणाय।**'—यह अष्टाक्षर-मन्त्र समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है। '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।**'—यह द्वादशाक्षर-मन्त्र सब कुछ देनेवाला है। '**ॐ हूं विष्णवे नमः।**'—यह मन्त्र उत्तम औषध है। इस मन्त्रका जप करनेसे देवता और असुर श्रीसम्पन्न तथा नीरोग हो गये। जगत्के समस्त प्राणियोंका उपकार तथा धर्माचरण—यह महान् औषध है। '**धर्मः, सद्धर्मकृत्, धर्मी**'—इन धर्म-सम्बन्धी नामोंके जपसे मनुष्य निर्मल (शुद्ध) हो जाता है। **श्रीदः, श्रीशः, श्रीनिवासः, श्रीधरः, श्रीनिकेतनः, श्रियःपतिः** तथा **श्रीपरमः**'—इन श्रीपति-सम्बन्धी नामात्मक मन्त्रपदोंके जपसे मनुष्य लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) को पा लेता है॥ १—५½॥

'**कामी, कामप्रदः, कामः, कामपालः, हरिः, आनन्दः, माधवः**'—श्रीहरिके इन नाम-मन्त्रोंके जप और कीर्तनसे समस्त कामनाओंकी पूर्ति हो जाती है। '**रामः, परशुरामः, नृसिंहः, विष्णुः, त्रिविक्रमः**'—ये श्रीहरिके नाम युद्धमें विजयकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंको जपने चाहिये। नित्य विद्याभ्यास करनेवाले छात्रोंको सदा '**श्रीपुरुषोत्तम**' नामका जप करना चाहिये। '**दामोदरः**' नाम बन्धन दूर करनेवाला है। '**पुष्कराक्षः**'—यह नाम-मन्त्र नेत्र-रोगोंका निवारण करनेवाला है। '**हृषीकेशः**'—इस नामका स्मरण भयहारी है। औषध देते और लेते समय इन सब नामोंका जप करना चाहिये॥ ६—९॥

औषधकर्ममें '**अच्युत**'—इस अमृत-मन्त्रका भी जप करे। संग्राममें '**अपराजित**'का तथा जलसे पार होते समय '**श्रीनृसिंह**'का स्मरण करे। जो पूर्वादि दिशाओंकी यात्रामें क्षेत्रकी कामना रखनेवाला हो, वह क्रमशः 'चक्री', 'गदी', 'शार्ङ्गी' और 'खड्गी'का चिन्तन करे। व्यवहारोंमें (मुकदमोंमें) भक्ति-भावसे '**सर्वेश्वर अजित**' का स्मरण करे। '**नारायण**'का स्मरण हर समय करना चाहिये। भगवान् **नृसिंह**को याद किया जाय तो वे सम्पूर्ण भीतियोंको भगानेवाले हैं। '**गरुडध्वजः**'—यह नाम विषका हरण करनेवाला है। '**वासुदेव**' नामका तो सदा ही जप करना चाहिये। धान्य आदिको घरमें रखते समय तथा शयन करते समय भी '**अनन्त**' और '**अच्युत**' का उच्चारण करे। दुःस्वप्न दीखनेपर 'नारायण'का तथा दाह आदिके अवसरपर '**जलशायी**'का स्मरण करे। विद्यार्थी '**हयग्रीव**' का चिन्तन करे। पुत्रकी प्राप्तिके लिये '**जगत्सूति** (जगत्-स्रष्टा)' का तथा शौर्यकी कामना हो तो '**श्रीबलभद्र**' का स्मरण करे। इनमेंसे प्रत्येक नाम अभीष्ट मनोरथको सिद्ध करनेवाला है॥ १०—१४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मन्त्ररूप औषधका कथन' नामक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८४॥

दो सौ पचासीवाँ अध्याय

मृतसंजीवनकारक सिद्ध योगोंका कथन

धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत ! अब मैं आत्रेयके द्वारा वर्णित मृतसंजीवनकारक दिव्य सिद्ध योगोंको कहता हूँ, जो सम्पूर्ण व्याधियोंका विनाश करनेवाले हैं ॥ १ ॥

आत्रेयने कहा—वातज्वरमें बिल्वादि पञ्चमूल—बेल, सोनापाठा, गम्भार, पाटल एवं अरणीका काढ़ा दे और पाचनके लिये पिप्पलीमूल, गिलोय और सोंठ—इनका क्वाथ दे। आँवला, अभया (बड़ी हर्रे), पीपल एवं चित्रक—यह आमलक्यादि क्वाथ सब प्रकारके ज्वरोंका नाश करनेवाला है। बिल्वमूल, अरणी, सोनापाठा, गम्भारी, पाटल, शालपर्णी, गोखरू, पृष्ठपर्णी, बृहती (बड़ी कटेर) और कण्टकारिका (छोटी कटेर)—ये दशमूल कहे गये हैं। इनका क्वाथ तथा कुशके मूलका क्वाथ ज्वर, अपाचन, पार्श्वशूल और कास (खाँसी) का नाश करनेवाला है। गिलोय, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, चिरायता और सोंठ—यह 'पञ्चभद्र क्वाथ' वात और पित्तज्वरमें देना चाहिये ॥ २—५ ॥

निशोथ, विशाला (इन्द्रवारुणी), कुटकी, त्रिफला और अमलतास—इनका क्वाथ यवक्षार मिलाकर पिलावे। यह विरेचक और सम्पूर्ण ज्वरोंको शान्त करनेवाला है। देवदारु, खरेटी, अडूसा, त्रिफला और व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीपल), पद्मकाष्ठ, वायविडङ्ग और मिश्री—इन सबका समान भाग चूर्ण पाँच प्रकारके कास-रोगोंका मर्दन करता है। रोगी मनुष्य हृदयरोग, ग्रहणी, पार्श्वरोग, हिक्का, श्वास और कासरोगके विनाशके लिये दशमूल, कचूर, रास्ना, पीपल, बिल्व, पोकरमूल, काकड़ासिंगी, भुईं आँवला, भार्गी, गिलोय और पान—इनसे विधिवत् सिद्ध किया हुआ क्वाथ या यवागूका पान करे। मुलहठी (चूर्ण) के साथ मधु, शर्कराके साथ पीपल, गुड़के साथ नागर (सोंठ) और तीनों लवण (सेंधानमक, बिड्नमक और कालानमक)—ये हिक्का (हिचकी) का नाश करनेवाले हैं। कारवी अजाजी (कालाजीरा, सफेदजीरा), काली मिर्च, मुनक्का, वृक्षाम्ल (इमली), अनारदाना, कालानमक और गुड़—इन सबके समानभागसे तैयार चूर्णका शहदके साथ निर्मित 'कारव्यादि वटी' सब प्रकारके अरुचि-रोगोंका नाश करती है। अदरखके रसके साथ मधु मिलाकर रोगीको पिलाये। इससे अरुचि, श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम) और कफविकारोंका नाश होता है ॥ ६—१२ ॥

वट—वटाङ्कुर, काकड़ासिंगी, शिलाजीत, लोध, अनारदाना और मुलहठी—इनका चूर्ण बनाकर उस चूर्णके समान मात्रामें मिश्री मिला मधुके साथ अवलेह (चटनी) का निर्माण करे। इस 'वटशुङ्गादि'के अवलेहको चावलके पानीके साथ लिया जाय तो उससे प्यास और छर्दि (वमन) का प्रशमन होता है। गिलोय, अडूसा, लोध और पीपल—इनका चूर्ण शहदके साथ कफयुक्त रक्त, प्यास, खाँसी एवं ज्वरको नष्ट करनेवाला है। इसी प्रकार समभाग मधुसे मिश्रित अडूसेका रस और ताम्रभस्म कासको नष्ट करता है। शिरीषपुष्पके स्वरसमें भावित सफेद मिर्चका चूर्ण कासमें (तथा सर्पविषमें) हितकर है। मसूर सभी प्रकारकी वेदनाको नष्ट करनेवाला है तथा चौराईका साग पित्तदोषको दूर करनेवाला है। मेउड़, शारिवा, सेरुकी एवं अङ्कोल—ये विषनाशक औषध हैं। सोंठ, गिलोय, छोटी कटेरी, पोकरमूल, पीपलामूल और पीपल—इनका क्वाथ मूर्छा और मदात्यय रोगमें लेना चाहिये। हींग, कालानमक, एवं व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल)—ये सब दो-दो पल लेकर चार सेर घृत और घृतसे चौगुने गोमूत्रमें सिद्ध करनेपर उन्मादका नाश करते हैं। शङ्खपुष्पी, वच और मीठा कूटसे सिद्ध ब्राह्मी रसको मिलाकर इन सबकी गुटिका बना ले तो वह पुराने उन्माद और अपस्मार रोगका नाश करती है और उत्तम मेधावर्धक औषध है। हर्रेके साथ पञ्चगव्य या घृतका प्रयोग कुष्ठनाशक है। परवलकी पत्ती, त्रिफला, नीमकी छाल, गिलोय, पृश्निपर्णी, अडूसेके पत्ते तथा करञ्ज—इनसे सिद्ध किया घृत कुष्ठरोगका मर्दन करता है। इसे 'वज्रक' कहते हैं। नीमकी छाल, परवल, कण्टकारि-पञ्चाङ्ग, गिलोय और अडूसा—सबको दस-दस पल लेकर भलीभाँति कूट ले। फिर सोलह सेर जलमें क्वाथ बनाकर उसमें सेरभर घृत और (बीस तोले) त्रिफला-चूर्णका कल्क बनाकर डाल दे और चतुर्थांश शेष रहनेतक पकाये। यह 'पञ्चतिक्त घृत' कुष्ठनाशक है। यह अस्सी प्रकारके वातरोग, चालीस प्रकारके पित्तरोग और बीस प्रकारके कफरोग, खाँसी, पीनस (बिगड़ी जुकाम), बवासीर और व्रणरोगोंका नाश करता है। जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार यह योगराज निःसंदेह अन्य रोगोंका भी विनाश कर देता है ॥ १३—२४½ ॥

उपदंशकी शान्तिके लिये त्रिफलाके क्वाथ या भृङ्गराजके रससे व्रणोंका प्रक्षालन करे (धोये) । परवलकी पत्तीके चूर्णके साथ अनारकी छालका चूर्ण अथवा गजपीपर या त्रिफलाका चूर्ण पाउडरके रूपमें ही उसपर छोड़े । त्रिफला, लोहचूर्ण, मुलहठी, आर्कव (कुकुरमाँगरा), नील कमल, कालीमिर्च और सैन्धव-नमकसहित पकाये हुए तैलके मर्दनसे वमनकी शान्ति होती है । दुग्ध, मार्कव-रस, मुलहठी और नील कमल—इनको दो सेर लेकर तबतक पकाये, जबतक एक पाव तैल शेष रह जाय । इस तैलका नस्य (वृद्धावस्थाके चिह्न) पलित (बाल पकने) का नाशक है । नीमकी छाल, परवलकी पत्ती, त्रिफला, गिलोय, खैरकी छाल, अडूसा अथवा चिरायता, पाठा, त्रिफला और लाल चन्दन—ये दोनों योग ज्वरको नष्ट करते हैं तथा कुष्ठ, फोड़ा-फुन्सी, चकत्ते आदिको भी मिटा देते हैं । परवलकी पत्ती, गिलोय, चिरायता, अडूसा, मजीठ एवं पित्तपापड़ा—इनके क्वाथमें खदिर मिलाकर लिया जाय तो वह ज्वर तथा विस्फोटक रोगोंको शान्त करता है ॥ २५—३१ ॥

दशमूल, गिलोय, हर्रे, दारुहल्दी, गदहपूर्णा, सहजना एवं सोंठ ज्वर, विद्रधि तथा सोथ-रोगोंमें हितकर है । महुवा और नीमकी पत्तीका लेप व्रणशोधक होता है । त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेरा), खैर (कत्था), दारुहल्दी, बरगदकी छाल, बरियार, कुशा, नीमके पत्ते तथा मूलीके पत्ते—इनका क्वाथ शरीरके बाह्य-शोधनके लिये हितकर है । करञ्ज, नीम तथा मेउड़का रस घावके कृमियोंको नष्ट करता है । धायका फूल, सफेद चन्दन, खरेटी, मजीठ, मुलहठी, कमल, देवदारु तथा मेदाका घृतसहित लेप व्रणरोपण (घावको भरनेवाला) है । गुग्गुल, त्रिफला, पीपल, सोंठ, मिर्च, पीपर—इनका समान भाग ले और इन सबके समान घृत मिलाकर प्रयोग करे । इस प्रयोगसे मनुष्य नाड़ीव्रण, दुष्टव्रण, शूल और भगन्दर आदि रोगोंको दूर करे । गोमूत्रमें भिगोकर शुद्ध की हुई हरीतकी (छोटी हर्रे) को (रेंडीके) तेलमें भूनकर सेंधा नमकके साथ प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे । ऐसी हरीतकी कफ और वातसे होनेवाले रोगोंको नष्ट करती है । सोंठ, मिर्च, पीपल और त्रिफलाका क्वाथ यवक्षार और लवण मिलाकर पीये । कफप्रधान और वातप्रधान प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये यह विरेचन है और कफवृद्धिको दूर करता है । पीपल, पीपलामूल, वच, चित्रक, सोंठ—इनका क्वाथ अथवा किसी प्रकारका पेय बनाकर पीये । यह आमवातका नाशक है । रास्ना, गिलोय, रेंड़की छाल, देवदारु और सोंठ—इनका क्वाथ सर्वाङ्ग-वात तथा संधि, अस्थि और मज्जागत आमवातमें पीना चाहिये । अथवा सोंठके जलके साथ दशमूल-क्वाथ पीना चाहिये । सोंठ एवं गोखरूका क्वाथ प्रतिदिन प्रातः-प्रातः सेवन किया जाय तो वह आमवातके सहित कटिशूल और पाण्डुरोगका नाश करता है । शाखा एवं पत्रसहित प्रसारिणी (छुईमुई) का तैल भी उक्त रोगमें लाभकर है । गिलोयका स्वरस, कल्क, चूर्ण या क्वाथ दीर्घकालतक सेवन करके रोगी वातरक्त-रोगसे छुटकारा पा जाता है । वर्धमान पिप्पली या गुड़के साथ हर्रेका सेवन करना चाहिये । (यह भी वात-रक्तनाशक है ।) पटोलपत्र, त्रिफला, राई, कुटकी और गिलोय—इनका पाक तैयार करके उसके सेवनसे दाहयुक्त वात-रक्तरोग शीघ्र नष्ट होता है । गुग्गुलको ठंढे-गरमजलसे और त्रिफलाको समशीतोष्ण जलसे, अथवा खरेटी, पुनर्नवा, एरण्डमूल, दोनों कटेरी, गोखरूका क्वाथ हींग तथा लवणके साथ लेनेपर वह वातजनित पीड़ाको शीघ्र ही दूर कर देता है । एक तोला पीपलामूल, सैन्धव, सौवर्चल, विड्, सामुद्र एवं औद्भिद—पाँचों नमक, पिप्पली, चित्ता, सोंठ, त्रिफला, निशोथ, वच, यवक्षार, सर्जक्षार, शीतला, दन्ती, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) और काकड़ासिंगी—इनकी बेरके समान गुटिका बनाये और काँजीके साथ उसका सेवन करे । शोथ तथा उससे हुए पाकमें भी इसका सेवन करे । उदरवृद्धिमें भी निशोथका प्रयोग विहित है । दारुहल्दी, पुनर्नवा तथा सोंठ—इनसे सिद्ध किया हुआ दुग्ध शोथनाशक है तथा मदार, गदहपूर्ना एवं चिरायताके क्वाथसे सेक (करनेपर) शोथका हरण होता है ॥ ३२—५१ ॥

जो मनुष्य त्रिकटुयुक्त घृतको तिगुने पलाशभस्मयुक्त जलमें सिद्ध करके पीता है, उसका अर्शरोग निस्संदेह नष्ट हो जाता है । फूल प्रियङ्गु, कमल, सँभालू, वायविडङ्ग, चित्रक, सैन्धवलवण, रास्ना, दुग्ध, देवदारु और वचसे सिद्ध चौगुना कटुद्रव्ययुक्त तैल मर्दन करनेसे (या जलके साथ ही पीसकर लेप करनेसे) गलगण्ड और गण्डमाल-रोगोंका नाश हो जाता है ॥ ५२—५४ ॥

कचूर, नागकेसर, कुमुदका पकाया हुआ क्वाथ तथा क्षीरविदारी, पीपल और अडूसाका कल्क दूधके साथ पकाकर लेनेसे क्षयरोगमें लाभ होता है ॥ ५५ ॥

वचा, विड्लवण, अभया (बड़ी हर्रे), सोंठ, हींग, कूठ, चित्रक और अजवाइन—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच और चार भाग ग्रहण करके चूर्ण बनावे। वह चूर्ण गुल्मरोग, उदररोग, शूल और कासरोगको दूर करता है। पाठा, दन्तीमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल), त्रिफला और चित्ता—इनका चूर्ण गोमूत्रके साथ पीसकर गुटिका बना ले। यह गुटिका गुल्म और प्लीहा आदिका नाश करनेवाली है। अडूसा, नीम और परवलके पत्तोंके चूर्णका त्रिफलाके साथ सेवन करनेपर वात-पित्त रोगोंका शमन होता है। वायविडङ्गका चूर्ण शहदके साथ लिया जाय तो वह कृमिनाशक है। विडङ्ग, सेंधानमक, यवक्षार एवं गोमूत्रके साथ ली गयी हर्रे भी (कृमिघ्न है)। शल्लकी (शालविशेष), बेर, जामुन, प्रियाल, आम्र और अर्जुन—इन वृक्षोंकी छालका चूर्ण मधुमें मिलाकर दूधके साथ लेनेसे रक्तातिसार दूर होता है। कच्चे बेलका सूखा गूदा, आमकी छाल, धायका फूल, पाठा, सोंठ और मोचरस (कदली स्वरस) —इन सबका समान भाग लेकर चूर्ण बना ले और गुड़मिश्रित तक्रके साथ पीये। इससे दुस्साध्य अतिसारका भी अवरोध हो जाता है। चाँगेरी, बेर, दहीका पानी, सोंठ और यवक्षार—इनका घृतसहित क्वाथ पीनेसे गुदभ्रंश रोग दूर होता है। वायबिडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा तथा इन्द्रयव—इनके क्वाथमें मिर्चका चूर्ण मिलाकर पीनेसे शोथयुक्त अतिसारका नाश होता है ॥ ५६—६३ ॥

शर्करा, सैन्धव और सोंठके साथ अथवा पीपल, मधु एवं गुड़के सहित प्रतिदिन दो हर्रेका भक्षण करे तो इससे मनुष्य सौ वर्ष (अधिक काल) तक सुखपूर्वक जीवित रह सकता है। पिप्पलीयुक्त त्रिफला भी मधु और घृतके साथ प्रयोगमें लायी जानेपर वैसा ही फल देती है। आँवलेके स्वरससे भावित आँवलेके चूर्णको मधु, घृत तथा शर्कराके साथ चाटकर दुग्धपान करे। इससे मनुष्य स्त्रियोंका (प्रिय) प्रभु बन सकता है। उड़द, पीपल, अगहनीका चावल, जौ और गेहूँ—इन सबका चूर्ण समान मात्रामें लेकर घृतमें उसकी पूरी बना ले। उसका भोजन करके शर्करायुक्त मधुर दुग्धपान करे। निस्संदेह इस प्रयोगसे मनुष्य गौरैया पक्षीके समान दस बार स्त्री-सम्भोग करनेमें समर्थ हो सकता है। मजीठ, धायके फूल, लोध, नीलकमल—इनको दूधके साथ देना चाहिये। यह स्त्रियोंके प्रदररोगको दूर करता है। पीली कटसरैया, मुलहठी और श्वेतचन्दन—ये भी प्रदर-रोगनाशक हैं। श्वेतकमल और नीलकमलकी जड़ तथा मुलहठी, शर्करा और तिल—इनका चूर्ण गर्भपातकी आशङ्का होनेपर गर्भको स्थिर करनेमें उत्तम योग है। देवदारु, अभ्रक, कूठ, खस और सोंठ—इनको काँजीमें पीसकर तैल मिलाकर लेप करनेसे शिरोरोगका नाश करता है। सैन्धवलवणको तैलमें सिद्ध करके छान ले। जब तैल थोड़ा गरम रह जाय तो उसको कानमें डालनेसे कर्णशूलका शमन होता है। लहसुन, अदरख, सहजन और केला—इनमेंसे प्रत्येकका रस (कर्णशूलहारी है।) बरियार, शतावरी, रास्ना, गिलोय, कटसरैया और त्रिफला—इनसे सिद्ध घृतका या इनके सहित घृतका पान तिमिररोगका नाश करनेमें परम उत्तम माना गया है। त्रिफला, त्रिकटु एवं सैन्धवलवण—इनसे सिद्ध किये हुए घृतका पान मनुष्यको करना चाहिये। यह चक्षुष्य (आँखोंके लिये हितकर), हृद्य (हृदयके लिये हितकर), विरेचक, दीपन और कफरोगनाशक है। गायके गोबरके रसके साथ नीलकमलके परागकी गुटिकाका अञ्जन दिनौंधी और रतौंधीके रोगियोंके लिये हितकर है। मुलहठी, बच, पिप्पली-बीज, कुरैयाकी छालका कल्क और नीमका क्वाथ घोट देनेसे वह वमनकारक होता है। खूब चिकना तथा रेड़ी-जैसे तैलसे स्निग्ध किया गया या पकाया हुआ यवका पानी विरेचक होता है। किंतु इसका अनुचित प्रयोग मन्दाग्नि, उदरमें भारीपन और अरुचिको उत्पन्न करता है। हर्रे, सैन्धव लवण और पीपल—इनके समान भागका चूर्ण गर्म जलके साथ ले। यह नाराच-संज्ञक चूर्ण सर्वरोगनाशक तथा विरेचक है ॥ ६४—७८ ॥

महर्षि आत्रेयने मुनिजनोंके लिये जिन सिद्ध योगोंका वर्णन किया था, समस्त योगोंमें श्रेष्ठ उन सर्वरोगनाशक योगोंका ज्ञान सुश्रुतने प्राप्त किया ॥ ७९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मृतसंजीवनीकारक सिद्ध योगोंका कथन' नामक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

दो सौ छियासीवाँ अध्याय

मृत्युंजय योगोंका वर्णन

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत ! अब मैं मृत्युंजय-कल्पोंका वर्णन करता हूँ, जो आयु देनेवाले एवं सब रोगोंका मर्दन करनेवाले हैं। मधु, घृत, त्रिफला और गिलोयका सेवन करना चाहिये। यह रोगको नष्ट करनेवाली है तथा तीन सौ वर्षतककी आयु दे सकती है। चार तोले, दो तोले अथवा एक तोलेकी मात्रामें त्रिफलाका सेवन वही फल देता है। एक मासतक बिल्व-तैलका नस्य लेनेसे पाँच सौ वर्षकी आयु और कवित्व-शक्ति उपलब्ध होती है। भिलावा एवं तिलका सेवन रोग, अपमृत्यु और वृद्धावस्थाको दूर करता है। वाकुचीके पञ्चाङ्गके चूर्णको खैर (कत्था) के क्वाथके साथ छः मासतक प्रयोग करनेसे रोगी कुष्ठपर विजयी होता है। नीली कटसरैयाके चूर्णका मधु या दुग्धके साथ सेवन हितकर है। खाँडयुक्त दुग्धका पान करनेवाला सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्रातःकाल मधु, घृत और सोंठका चार तोलेकी मात्रामें सेवन करनेवाला मनुष्य मृत्यु-विजयी होता है। ब्राह्मीके चूर्णके साथ दूधका सेवन करनेवाले मनुष्यके चेहरेपर झुर्रियाँ नहीं पड़ती हैं और उसके बाल नहीं पकते हैं; वह दीर्घजीवन लाभ करता है। मधुके साथ उचटा (भुईं आँवला) को एक तोलेकी मात्रामें खाकर दुग्धपान करनेवाला मनुष्य मृत्युपर विजय पाता है। मधु, घी अथवा दूधके साथ मेउड़के रसका सेवन करनेवाला रोग एवं मृत्युको जीतता है। छः मासतक प्रतिदिन एक तोले भर पलाश-तैलका मधुके साथ सेवन करके दुग्धपान करनेवाला पाँच सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। दुग्धके साथ काँगनीके पत्तोंके रसका या त्रिफलाका प्रयोग करे। इससे मनुष्य एक हजार वर्षोंकी आयु प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार मधुके साथ घृत और चार तोलेभर शतावरी-चूर्णका सेवन करनेसे भी सहस्रों वर्षोंकी आयु प्राप्त हो सकती है। घी अथवा दूधके साथ मेउड़की जड़का चूर्ण या पत्रस्वरस रोग एवं मृत्युका नाश करता है। नीमके पञ्चाङ्ग-चूर्णको खैरके क्वाथ (काढ़े) की भावना देकर भृङ्गराजके रसके साथ एक तोलाभर सेवन करनेसे मनुष्य रोगको जीतकर अमर हो सकता है। रुदन्तिका-चूर्ण घृत और मधुके साथ सेवन करनेसे या केवल दुग्धाहारसे मनुष्य मृत्युको जीत लेता है। हरीतकीके चूर्णको भृङ्गराज-रसकी भावना देकर एक तोलेकी मात्रामें घृत और मधुके साथ सेवन करनेवाला रोगमुक्त होकर तीन सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त कर सकता है। गेठी, लोहचूर्ण, शतावरी समान भागसे भृङ्गराज-रस तथा घीके साथ एक तोला मात्रामें सेवन करनेसे मनुष्य पाँच सौ वर्षकी आयु प्राप्त करता है। लौहभस्म तथा शतावरीको भृङ्गराजके रसमें भावना देकर मधु एवं घीके साथ लेनेसे तीन सौ वर्षकी आयु प्राप्त होती है। ताम्रभस्म, गिलोय, शुद्ध गन्धक समान भाग घीकुँवारके रसमें घोटकर दो-दो रत्तीकी गोली बनाये। इसका घृतसे सेवन करनेसे मनुष्य पाँच सौ वर्षकी आयु प्राप्त करता है। असगन्ध, त्रिफला, चीनी, तैल और घृतमें सेवन करनेवाला सौ वर्षतक जीता है। गदहपूर्नाका चूर्ण एक पल मधु, घृत और दुग्धके साथ भक्षण करनेवाला भी शतायु होता है। अशोककी छालका एक पल चूर्ण मधु और घृतके साथ खाकर दुग्धपान करनेसे रोगनाश होता है। निम्बके तैलकी मधुसहित नस्य लेनेसे मनुष्य सौ वर्ष जीता है और उसके केश सदा काले रहते हैं। बहेड़ेके चूर्णको एक तोला मात्रामें शहद, घी और दूधसे पीनेवाला शतायु होता है। मधुरादिगणकी ओषधियों और हरीतकीको गुड़ और घृतके साथ खाकर दूधके सहित अन्न भोजन करनेवालेके केश सदा काले रहते हैं तथा वह रोगरहित होकर पाँच सौ वर्षोंका जीवन प्राप्त करता है। एक मासतक सफेद पेठेके एक पल चूर्णको मधु, घृत और दूधके साथ सेवन करते हुए दुग्धान्नका भोजन करनेवाला नीरोग रहकर एक सहस्र वर्षकी आयुका उपभोग करता है। कमलगन्धका चूर्ण भाँगरेके रसकी भावना देकर मधु और घृतके साथ लिया जाय तो वह सौ वर्षोंकी आयु प्रदान करता है। कड़वी तुम्बीके एक तोलेभर तेलका नस्य दो सौ वर्षोंकी आयु प्रदान करता है। त्रिफला, पीपल और सोंठ—इनका प्रयोग तीन सौ वर्षोंकी आयु प्रदान करता है। इनका शतावरीके साथ सेवन अत्यन्त बलप्रद और सहस्र वर्षोंकी आयु प्रदान करनेवाला है। इनका चित्रकके साथ तथा सोंठके साथ विडंगका प्रयोग भी पूर्ववत् फलप्रद है। त्रिफला, पीपल और सोंठ—इनका लोह, भृङ्गराज, खरेटी, निम्ब-पञ्चाङ्ग, खैर, निर्गुण्डी, कटेरी, अडूसा और पुनर्नवाके साथ या इनके रसकी भावना देकर या इनके संयोगसे वटी या चूर्णका निर्माण करके उसका घृत, मधु, गुड़ और जलादि अनुपानोंके साथ सेवन करनेसे पूर्वोक्त

फलकी प्राप्ति होती है। 'ॐ हूं सः'—इस मन्त्र*से अभिमन्त्रित योगराज मृतसंजीवनीके समान होता है। उसके सेवनसे मनुष्य रोग और मृत्युपर विजय प्राप्त करता है। देवता, असुर और मुनियोंने इन कल्प-सागरोंका सेवन किया है॥ १—२३॥

गजायुर्वेदका वर्णन पालकाप्यने अङ्गराज (लोमपाद) से किया था॥ २४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मृत्युंजय-कल्प-कथन' नामक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८६॥

दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय

गज-चिकित्सा

पालकाप्यने कहा—लोमपाद! मैं तुम्हारे सम्मुख हाथियोंके लक्षण और चिकित्साका वर्णन करता हूँ। लम्बी सूँड़वाले, दीर्घ श्वास लेनेवाले, आघातको सहन करनेमें समर्थ, बीस या अठारह नखोंवाले एवं शीतकालमें मदकी धारा बहानेवाले हाथी प्रशस्त माने गये हैं। जिनका दाहिना दाँत उठा हो, गर्जना मेघके समान गम्भीर हो, जिनके कान विशाल हों तथा जो त्वचापर सूक्ष्म-बिन्दुओंसे चित्रित हों, ऐसे हाथियोंका संग्रह करना चाहिये; किंतु जो ह्रस्वाकार और लक्षणहीन हों, ऐसे हाथियोंका संग्रह कदापि नहीं करना चाहिये। पार्श्वगर्भिणी हस्तिनी और मूढ़ उन्मत्त हाथियोंको भी न रखे। वर्ण, सत्त्व, बल, रूप, कान्ति, शारीरिक संगठन एवं वेग— इस प्रकारके सात गुणोंसे युक्त गजराज सम्मुख युद्धमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता है। गजराज ही शिविर और सेनाकी परम शोभा हैं। राजाओंकी विजय हाथियोंके अधीन है॥ १—५½॥

हाथियोंके सभी प्रकारके ज्वरोंमें अनुवासन देना चाहिये। घृत और तैलके अभ्यङ्गके साथ स्नान वात-रोगको नष्ट करनेवाला है। राजाओंको हाथियोंके स्कन्ध-रोगोंमें पूर्ववत् अनुवासन देना चाहिये। द्विजश्रेष्ठ! पाण्डुरोगमें गोमूत्र, हरिद्रा और घृत दे। बद्धकोष्ठ (कब्जियत) में तैलसे पूरे शरीरका मर्दन करके स्नान कराना या क्षरण कराना प्रशस्त है। हाथीको पञ्चलवण (कालानमक, सेंधा नमक, संचर नोन, समुद्रलवण और काचलवण) युक्त वारुणी मदिराका पान करावे। मूर्च्छा-रोगमें हाथीको वायविडंग, त्रिफला, त्रिकटु और सैन्धव लवणके ग्रास बनाकर खिलाये तथा मधुयुक्त जल पिलाये। शिरःशूलमें अभ्यङ्ग और नस्य प्रशस्त है। हाथियोंके पैरके रोगोंमें तैलयुक्त पोटलीसे मर्दनरूप चिकित्सा करे। तदनन्तर कल्क और कषायसे उनका शोधन करना चाहिये। जिस हाथी-को कम्पन होता हो, उसको पीपल और मिर्च मिलाकर मोर, तीतर और बटेरके मांसके साथ भोजन करावे। अतिसाररोगके शमनके लिये गजराजको नेत्रबाला, बेलका सूखा गूदा, लोध, धायके फूल और मिश्रीकी पिंडी बनाकर खिलावे। करग्रह (सूँडके रोग) में लवणयुक्त घृतका नस्य देना चाहिये। उत्कर्णक रोगमें पीपल, सोंठ, कालाजीरा और नागरमोथासे साधित यवागू एवं वाराही-कंदका रस दे। दशमूल, कुलथी, अम्लवेत और काकमाचीसे सिद्ध किया हुआ तैल मिर्चके साथ प्रयोग करनेसे गलग्रह-रोगका नाश होता है। मूत्रकृच्छ्र-रोगमें अष्टलवणयुक्त सुरा एवं घृतका पान करावे अथवा खीरेके बीजोंका क्वाथ दे। हाथीको चर्मदोषमें नीम या अडूसेका क्वाथ पिलावे। कृमियुक्त कोष्ठकी शुद्धिके लिये गोमूत्र और वायविडंग प्रशस्त हैं। सोंठ, पीपल, मुनक्का और शर्करासे शृत जलका पान क्षतदोषका क्षय करनेवाला है तथा मांस-रस भी लाभदायक है। अरुचिरोगमें सोंठ, मिर्च एवं पिप्पलीयुक्त मूँग-भात प्रशंसित है। निशोथ, त्रिकटु, चित्रक, दन्ती, आक, पीपल, दुग्ध और गजपीपल— इनसे सिद्ध किया हुआ स्नेह गुल्मरोगका अपहरण करता है। इसी प्रकार (गजचिकित्सक) भेदन, द्रावण, अभ्यङ्ग, स्नेहपान और अनुवासनके द्वारा सभी प्रकारके विद्रधिरोगों-का विनाश करे॥ ६—२१॥

हाथीके कटुरोगोंमें मूँगकी दाल या मूँगके साथ मुलहठी मिलावे और नेत्रबाला एवं बेलकी छालका लेप करे। सभी प्रकारके शूलोंका शमन करनेके लिये दिनके पूर्वभागमें इन्द्रयव, हींग, धूपसरल, दोनों हल्दी और दारुहल्दीकी

* 'ॐ हूं सः'—ऐसा पाठ ही प्रतियोंमें उपलब्ध है। परंतु मृत्युंजय मन्त्र 'ॐ जूं सः' ऐसा है।

पिंडी दे। हाथियोंके उत्तम भोजनमें साठी चावल, मध्यम भोजनमें जौ और गेहूँ एवं अधम भोजनमें अन्य भक्ष्य-पदार्थ माने गये हैं। जौ और ईख हाथियोंका बल बढ़ानेवाले हैं तथा सूखा तृण उनके धातुको प्रकुपित करनेवाला है। मदक्षीण हाथीको दुग्ध पिलाना प्रशस्त है तथा दीपनीय द्रव्योंसे पकाया हुआ मांसरस भी लाभप्रद है। गुग्गुल, गठिवन, करकोल्यादिगण और चन्दन—इनका मधुके साथ प्रयोग करे। इससे पिण्डोद्रेक रोगका नाश होता है। कुटकी, मत्स्य, वायविडंग, लवण, कोशातकी (झिमनी) का दूध और हल्दी—इनका धूप हाथियोंके लिये विजय-प्रद है। पीपल और चावल तथा तेल, माध्वीक (महुआ या अङ्गूरके रससे निर्मित सुरा) तथा मधु—इनका नेत्रोंमें परिषेक दीपनीय माना गया है। गौरैया चिड़िया और कबूतरकी बीट, गूलर, सूखा गोबर एवं मदिरा—इनका मञ्जन हाथियोंको अत्यन्त प्रिय है। हाथीके नेत्रोंको इससे अञ्जित करनेपर वह संग्रामभूमिमें शत्रुओंको मसल डालता है। नीलकमल, नागरमोथा और तगर—इनको चावलके जलमें पीस ले। यह हाथियोंके नेत्रोंको परम शान्ति प्रदान करता है। नख बढ़नेपर उनके नख काटने चाहिये और प्रतिमास तैलका सेक करना चाहिये। हाथियों-का शयन-स्थान सूखे गोबर और धूलसे युक्त होना चाहिये। शरद् और ग्रीष्म ऋतुमें इनके लिये घृतका सेक उपयुक्त है॥ २२—३३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गज-चिकित्साका कथन' नामक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८७॥

दो सौ अठासीवाँ अध्याय

अश्ववाहन-सार

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत! अब मैं अश्ववाहनका रहस्य और अश्वोंकी चिकित्साका वर्णन करूँगा। धर्म, कर्म और अर्थकी सिद्धिके लिये अश्वोंका संग्रह करना चाहिये। घोड़ेके ऊपर प्रथम बार सवारी करनेके लिये अश्विनी, श्रवण, हस्त, उत्तराषाढ़, उत्तरभाद्रपद और उत्तर-फाल्गुनी नक्षत्र प्रशस्त माने गये हैं। घोड़ोंपर चढ़नेके लिये हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु उत्तम हैं। ग्रीष्म, शरद् एवं वर्षा ऋतुमें घुड़सवारी निषिद्ध है। घोड़ोंको तीखे और लचीले डंडोंसे न मारे। उनके मुखपर प्रहार न करे। जो मनुष्य घोड़ेके मनको नहीं समझता तथा उपायोंको जाने बिना ही उसपर सवारी करता है तथा घोड़ेको कीलों और अस्थियोंसे भरे हुए दुर्गम, कण्टकयुक्त, बालू और कीचड़से आच्छन्न पथपर, गड्ढों या उन्नत भूमियोंसे दूषित मार्गपर ले जाता है एवं पीठपर काठीके बिना ही बैठ जाता है, वह मूर्ख अश्वका ही वाहन बनता है, अर्थात् वह अश्वके अधीन होकर विपत्तिमें फँस जाता है। कोई बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सुकृती अश्ववाहक अश्वशास्त्रको पढ़े बिना भी केवल अभ्यास और अध्यवसायसे ही अश्वको अपना अभिप्राय समझा देता है। अथवा घोड़ेके अभिप्रायको समझकर दूसरोंको उसका ज्ञान करा देता है॥ १—६½॥

अश्वको नहलाकर पूर्वाभिमुख खड़ा करे। फिर उसके शरीरमें आदिमें 'ॐ' और अन्तमें 'नमः' शब्द जोड़कर अपने बीजाक्षरसे युक्त मन्त्र बोलकर देवताओंकी क्रमशः योजना (न्यास या भावना) करे*। अश्वके चित्तमें ब्रह्मा, बलमें विष्णु, पराक्रममें गरुड, पार्श्वभागमें रुद्रगण, बुद्धिमें बृहस्पति, मर्मस्थानमें विश्वेदेव, नेत्रावर्त और नेत्रमें चन्द्रमा-सूर्य, कानोंमें अश्विनीकुमार, जठराग्निमें स्वधा, जिह्वामें सरस्वती, वेगमें पवन, पृष्ठभागमें स्वर्गपृष्ठ, खुराग्रमें समस्त पर्वत, रोमकूपोंमें नक्षत्रगण, हृदयमें चन्द्रकला, तेजमें अग्नि, श्रोणिदेशमें रति, ललाटमें जगत्पति, ह्रेषित (हिनहिनाहट) में नवग्रह एवं वक्षःस्थलमें वासुकिका न्यास करे। अश्वारोही उपवासपूर्वक अश्वकी अर्चना करे एवं उसके दक्षिण कर्णमें निम्नलिखित मन्त्रका जप करे—॥ ७–१२॥

"तुरंगम! तुम गन्धर्वराज हो। मेरे वचनको सुनो। तुम गन्धर्वकुलमें उत्पन्न हुए हो। अपने कुलको दूषित न करना। अश्व! ब्राह्मणोंके सत्यवचन, सोम, गरुड, रुद्र, वरुण और पवनके बल एवं अग्निके तेजसे युक्त अपनी जातिका स्मरण करो। याद करो कि 'तुम राजेन्द्रपुत्र हो।' सत्यवाक्यका स्मरण करो। वरुणकन्या वारुणी और कौस्तुभ-मणिको याद करो। जब दैत्यों और देवताओंद्वारा क्षीरसमुद्र-का मन्थन हो रहा था, उस समय तुम देवकुलमें प्रादुर्भूत हुए थे। अपने वाक्यका पालन करो। तुम अश्ववंशमें उत्पन्न

* यथा 'ॐ ब्रह्मणे नमः चित्ते, ॐ विं विष्णवे नमः बले।' इत्यादि।

हुए हो। सदाके लिये मेरे मित्र बनो। मित्र! तुम यह सुनो। मेरे लिये सिद्ध वाहन बनो। मेरी रक्षा करते हुए मेरी विजयकी रक्षा करो। समराङ्गणमें मेरे लिये तुम सिद्धिप्रद हो जाओ। पूर्वकालमें तुम्हारे पृष्ठभागपर आरूढ़ होकर देवताओंने दैत्योंका संहार किया था। आज मैं तुम्हारे ऊपर आरूढ़ होकर शत्रुसेनाओंपर विजय प्राप्त करूँगा"॥ १३—१९॥

अश्वारोही वीर अश्वके कर्णमें उसका जप करके शत्रुओंको मोहित करता हुआ अश्वको युद्धस्थलमें लाये और उसपर आरूढ़ हो युद्ध करते हुए विजय प्राप्त करे। श्रेष्ठ अश्वारोही घोड़ोंके शरीरसे उत्पन्न दोषोंको भी प्रायः यत्नपूर्वक नष्ट कर देते हैं तथा उनमें पुनः गुणोंका विकास करते हैं। श्रेष्ठ अश्वारोहियोंद्वारा अश्वमें उत्पादित गुण स्वाभाविक-से दीखने लगते हैं। कुछ अश्वारोही तो घोड़ोंके सहज गुणोंको भी नष्ट कर देते हैं। कोई अश्वोंके गुण और कोई उनके दोषोंको जानता है। वह बुद्धिमान् पुरुष धन्य है, जो अश्व-रहस्यको जानता है। मन्दबुद्धि मनुष्य उनके गुण-दोष दोनोंको ही नहीं जानता। जो कर्म और उपायसे अनभिज्ञ है, अश्वका वेगपूर्वक वाहन करनेमें प्रयत्नशील है, क्रोधी एवं छोटे अपराधपर कठोर दण्ड देता है, वह अश्वारोही कुशल होनेपर भी प्रशंसित नहीं होता है। जो अश्वारोही उपायका जानकार है, घोड़ेके चित्तको समझनेवाला है, विशुद्ध एवं अश्वदोषोंका नाश करनेवाला है, वह सम्पूर्ण कर्मोंमें निपुण सवार सदा गुणोंके उपार्जनमें लगा रहता है। उत्तम अश्वारोही अश्वको उसकी लगाम पकड़कर बाह्यभूमिमें ले जाय। वहाँ उसकी पीठपर बैठकर दायें-बायेंके भेदसे उसका संचालन करे। उत्तम घोड़ेपर चढ़कर सहसा उसपर कोड़ा नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि वह ताड़नासे डर जाता है और भयभीत होनेसे उसको मोह भी हो जाता है। अश्वारोही प्रातःकाल अश्वको उसकी वल्गा (लगाम) उठाकर प्लुतगतिसे चलाये। संध्याकालमें यदि घोड़ेके पैरमें नाल न हो तो लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलाये, अधिक वेगसे न दौड़ाये॥ २०—२८॥

ऊपर जो कानमें जपनेकी बात तथा अश्व-संचालनके सम्बन्धमें आवश्यक विधि कही गयी है, इससे अश्वको आश्वासन प्राप्त होता है, इसलिये उसके प्रति यह 'सामनीति'का प्रयोग हुआ। जब एक अश्व दूसरे अश्वके साथ (रथ आदिमें) नियोजित होता है, तो उसके प्रति यह 'भेद-नीति'का बर्ताव हुआ। कोड़े आदिसे अश्वको पीटना—यह उसके ऊपर 'दण्ड-नीति'का प्रयोग है। अश्वको अनुकूल बनानेके लिये जो काल-विलम्ब सहन किया जाता है या उसे चाल सीखनेका अवसर दिया जाता है, यह उस अश्वके प्रति 'दान-नीति'का प्रयोग समझना चाहिये॥ २९॥

पूर्व-पूर्व नीतिकी शुद्धि (सफल उपयोग) हो जानेपर उत्तरोत्तर नीतिका प्रयोग करे। घोड़ेकी जिह्वाके नीचे बिना योगके ग्रन्थि बाँधे। अधिक-से-अधिक सौगुने सूतको बँटकर बनायी गयी वल्गा (लगामको) घोड़ेके दोनों गल्फरोंमें घुसा दे। फिर धीरे-धीरे वाहनको भुलावा देकर लगाम ढीली करे। जब घोड़ेकी जिह्वा आहीनावस्थाको प्राप्त हो, तब जिह्वातलकी ग्रन्थि खोल दे। जबतक अश्व स्तोभ (स्थिरता) का त्याग न करे, तबतक गाढ़ताका मोचन करे—लगामको अधिक न कसे। उरस्त्राणको तबतक खूब कसा-कसा रक्खे, जबतक अश्व मुखसे लार गिराता रहे। जो स्वभावसे ही ऊपर मुँह किये रहे, उसी अश्वका उरस्त्राण खूब कसकर श्रेष्ठ घुड़सवार उसे अपनी दृष्टिके संकेतपर लीलापूर्वक चला सकता है॥ ३०—३३½॥

जो पहले घोड़ेके पिछले दायें पैरसे दाईं वल्गा संयोजित कर देता है, उसने उसके दायें पैरको काबूमें कर लिया। इसी क्रमसे जो बायीं वल्गासे घोड़ेके बायें पैरको संयुक्त कर देता है, उसने भी उसके वाम पैरपर नियन्त्रण पा लिया। यदि अगले पैर परित्यक्त हुए तो आसन सुदृढ़ होता है। जो पैर दुष्कर मोटनकर्ममें अपहृत हो गये, अथवा बायें पैरमें हीन अवस्था आ गयी, उस स्थितिका नाम 'नाटकायन' है। हनन और गुणन कर्मोंमें 'खलीकार' होता है। बारंबार मुख-व्यावर्तन अश्वका स्वभाव है। ये सब लक्षण उसके पैरोंपर नियन्त्रण पानेके कारणभूत नहीं हैं। जब देख ले कि घोड़ा पूर्णतः विश्वस्त हो गया है, तब आसनको जोरसे दबाकर अपना पैर उसके मुखसे अड़ा दे; ऐसा करके उसकी ग्राह्यताका अवलोकन हितकारी होता है। रानोंद्वारा जोरसे दबाकर लगाम खींचकर उसके बन्धनसे जो घोड़ेके दो पैरोंको गृहीत—आकर्षित किया जाता है, वह 'उद्वक्रन' कहलाता है। लगामसे घोड़ेके चारों पैरोंको संयुक्त कर उसे यथेष्ट ढीली करके बाह्य पार्ष्णिभागोंके प्रयोगसे जहाँ घोड़ेको मोड़ा जाता है, उसे 'मोट्टन' (या ताड़न) माना गया है॥ ३४—४१॥

बुद्धिमान् घुड़सवार इस क्रमसे प्रलय तथा अविप्लवको जान ले। फिर चतुर्थ मोटन क्रियाद्वारा इस विधिका सम्पादन होता है। जो घोड़ा लघुमण्डलमें मोटन और उद्वक्रनद्वारा

अपने पैरको भूमिपर नहीं रखता—भूमिस्पर्शके बिना ही चक्कर पूरा कर लेता है, वह सफल माना गया है; उसे इस प्रकारकी पादगति ग्रहण करानी—सिखानी चाहिये। आसनमें खूब कसकर निबद्ध करके जिसे शिक्षा दी जाती है, तथापि जो मन्दगतिसे ही चलता है, फिर संग्रहण करके (पकड़कर) जिसे अभीष्ट चाल ग्रहण करायी जाती है, उसकी उस शिक्षण-क्रियाको 'संग्रहण' कहा गया है। जो घोड़ा स्थानमें स्थित होकर भी व्यग्रचित्त हो जाय और उसके पार्श्वभागमें ऍड़ लगाकर लगाम खींचकर उसे कण्टकपान (लगामके लोहेका आस्वादन) कराया जाय तथा इस प्रकार पार्श्वभागमें किये गये इस पाद-प्रहारसे जो खलीकृत होकर चाल सीखे, उसका वह शिक्षण 'खलीकार' माना गया है। तीनों प्रकारकी गतियोंसे भी जो मनोवाञ्छित पैर (चाल) नहीं पकड़ पाता है, उस दशामें डंडेसे मारकर जहाँ वह पादग्रहण कराया जाता है, वह क्रिया 'हनन' कही गयी है ॥ ४२—४७ ॥

जब दूसरी वल्गा (लगाम) के द्वारा चार बार खलीकृत करके अश्वको अन्यत्र ले जाकर उच्छ्वासित करके वह चाल ग्रहण करायी जाती है, तब उस क्रियाको 'उच्छ्वास' नाम दिया जाता है। स्वभावसे ही अश्व अपना मुख बाह्य दिशाकी ओर घुमा देता है। उसे यत्नपूर्वक उसी दिशाकी ओर मोड़कर, वहीं नियुक्त करके जब अश्वको वैसी गति ग्रहण करायी जाती है, तब इस यत्नको 'मुखव्यावर्तन' कहते हैं। क्रमशः तीनों ही गतियोंमें चलनेकी रीति ग्रहण कराकर फिर उसे मण्डल आदि पञ्चधाराओंमें चलनेका अभ्यास कराये। ऊपर उठे हुए मुखसे लेकर घुटनोंतक जब अश्व शिथिल हो जाय, तब उसे गतिकी शिक्षा देनेके लिये बुद्धिमान् पुरुष उसके ऊपर सवारी करे तथा जबतक उसके अङ्गोंमें हल्कापन या फुर्ती न आ जाय, तबतक उसे दौड़ाता रहे। जब घोड़ेकी गर्दन कोमल, मुख हल्का और शरीरकी सारी संधियाँ शिथिल हो जायँ, तब वह सवारके वशमें होता है; उसी अवस्थामें अश्वका संग्रह करे। जब वह पिछला पाद (गति-ज्ञान) न छोड़े, तब वह साधु (अच्छा) अश्व होता है। उस समय दोनों हाथोंसे लगाम खींचे। लगाम खींचकर ऐसा कर दे, जिससे घोड़ा ऊपरकी ओर गर्दन उठाकर एक पैरसे खड़ा हो जाय। जब भूतलपर स्थित हुए पिछले दोनों पैर आकाशमें उठे हुए दोनों अग्रिम पैरोंके आश्रय बन जायँ, उस समय अश्वको मुट्ठीसे संधारण करे। सहसा इस प्रकार खींचनेपर जो घोड़ा खड़ा नहीं होता, शरीरको झकझोरने लगता है, तब उसको मण्डलाकार दौड़ाकर साधे—वशमें करे। जो घोड़ा कंधा कँपाने लगे, उसे लगामसे खींचकर खड़ा कर देना चाहिये ॥ ४८—५६ ॥

गोबर, नमक और गोमूत्रका क्वाथ बनाकर उसमें मिट्टी मिला दे और घोड़ेके शरीरपर उसका लेप करे। यह मक्खी आदिके काटनेकी पीड़ा तथा थकावटको दूर करनेवाला है। सवारको चाहिये कि वह 'भद्र' आदि जातिके घोड़ोंको माँड़ दे। इससे सूक्ष्म कीट आदिके दंशनका कष्ट दूर होता है। भूखके कारण घोड़ा उत्साहशून्य हो जाता है, अतः माँड़ देना इसमें भी लाभदायक है। घोड़ेको उतनी ही शिक्षा देनी चाहिये, जिससे वह वशीभूत हो जाय। अधिक सवारीमें जोते जानेपर घोड़े नष्ट हो जाते हैं। यदि सवारी ली ही न जाय तो वे सिद्ध नहीं होते। उनके मुखको ऊपरकी ओर रखते हुए ही उनपर सवारी करे। मुट्ठीको स्थिर रखते हुए दोनों घुटनोंसे दबाकर अश्वको आगे बढ़ाना चाहिये। गोमूत्राकृति, वक्रता, वेणी, पद्ममण्डल और मालिका—इन चिह्नोंसे युक्त अश्व 'पञ्चोलूखलिक' कहे गये हैं। ये कार्यमें अत्यन्त गर्वीले कहे गये हैं। इनके छः प्रकारके लक्षण बताये जाते हैं—संक्षिप्त, विक्षिप्त, कुञ्चित, आञ्चित, वल्गित और अवल्गित। गलीमें या सड़कपर सौ धनुषकी दूरीतक दौड़ानेपर 'भद्र' जातीय अश्व सुसाध्य होता है। 'मन्द' अस्सी धनुषतक और 'दण्डैक-मानस' नब्बे धनुषतक चलाया जाय तो साध्य होता है। 'मृगजङ्घ' या मृगजातीय अश्व संकर होता है; वह इन्हींके समन्वयके अनुसार अस्सी या नब्बे धनुषकी दूरीतक हाँकनेपर साध्य होता है ॥ ५७—६३ ॥

शक्कर, मधु और लाजा (धानका लावा) खानेवाला ब्राह्मणजातीय अश्व पवित्र एवं सुगन्धयुक्त होता है, क्षत्रिय-अश्व तेजस्वी होता है, वैश्य-अश्व विनीत और बुद्धिमान् हुआ करता है और शूद्र-अश्व अपवित्र, चञ्चल, मन्द, कुरूप, बुद्धिहीन और दुष्ट होता है। लगामद्वारा पकड़ा जाने-पर जो अश्व लार गिराने लगे, उसे रस्सी और लगाम खोलकर पानीकी धारासे नहलाना चाहिये। अब अश्वके लक्षण बताऊँगा, जैसा कि शालिहोत्रने कहा था ॥ ६४—६६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अश्ववाहन-सार-वर्णन' नामक दो सौ अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८८ ॥



दो सौ नवासीवाँ अध्याय

अश्व-चिकित्सा

शालिहोत्र कहते हैं—सुश्रुत ! अब मैं अश्वोंके लक्षण एवं चिकित्साका वर्णन करता हूँ । जो अश्व हीनदन्त, विषमदन्तयुक्त या बिना दाँतका, कराली (दोसे अधिक दन्तपङ्क्तियोंसे युक्त, कृष्णतालु, कृष्णवर्णकी जिह्वासे युक्त, युग्मज (जुडवाँ पैदा), जन्मसे ही बिना अण्डकोषका, दो खुरोंवाला, शृङ्गयुक्त, तीन रङ्गोंवाला, व्याघ्रवर्ण, गर्दभवर्ण, भस्मवर्ण, सुवर्ण या अग्निवर्ण, ऊँचे ककुदवाला, श्वेतकुष्ठग्रस्त, कौवे जिसपर आक्रमण करते हों, जो खरसार अथवा वानरके समान नेत्रोंवाला हो या जिसके अयाल, गुह्याङ्ग तथा नथुने कृष्णवर्णके हों, यवके ढूँड़के समान कठोर केश हों, जो तीतरके समान रंगवाला हो, विषमाङ्ग हो, श्वेत चरणवाला हो तथा जो ध्रुव (स्थिर) आवर्तोंसे रहित हो तथा अशुभ आवर्तोंसे युक्त हो, ऐसे अश्वका परित्याग करना चाहिये ॥ १–५ ॥

नाक तथा नाकके पास (ऊपर) दो-दो, मस्तक एवं वक्षःस्थलमें दो-दो तथा प्रयाण (पीठ और पिछले भाग), ललाट और कण्ठदेशमें (भी दो-दो)—इस प्रकार अश्वोंके दस आवर्त (भँवरी-चिह्न) शुभ माने गये हैं । ओष्ठ-प्रान्तमें, ललाटमें, कानके मूलमें, निगालक (गर्दन)में, अगले पैरोंके ऊपर मूलमें तथा गलेमें स्थित आवर्त श्रेष्ठ कहे जाते हैं । शेष अङ्गोंके आवर्त अशुभ होते हैं । शुक, इन्द्रगोप (बीरबधूटी), एवं चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त, काकवर्ण, सुवर्णवर्ण तथा चिकने घोड़े सदैव प्रशस्त माने जाते हैं । जिन राजाओंके पास लंबी ग्रीवावाले, भीतरकी ओर धँसी आँखवाले, छोटे कानवाले, किंतु देखनेमें मनोहर घोड़े हों, वहाँ विजयकी अभिलाषा छोड़ दे । घोड़े-हाथी यदि पाले जायँ तो शुभप्रद होते हैं; परंतु यदि उचित पालन न हो तो दुःखप्रद होते हैं । घोड़े लक्ष्मीके पुत्र, गन्धर्वरूपमें पृथ्वीके उत्तम रत्न हैं । अश्वमेधमें पवित्र होनेके कारण ही अश्वका उपयोग किया जाता है ॥ ६–१०½ ॥

मधुके साथ अडूसा, नीमकी छाल, बड़ी कटेरी और गिलोय—इनकी पिण्डी तथा सिरका स्वेद—ये नासिकामलको नाश करनेवाले हैं । हींग, पीकरमूल, सोंठ, अम्लवेत, पीपल तथा सैन्धवलवण—ये गरम जलके साथ देनेपर शूलका नाश करते हैं । सोंठ, अतीस, मोथा, अनन्तमूल या दूब और बेल—इनका क्वाथ घोड़ेको पिलाया जाय तो वह उसके सभी प्रकारके अतिसारको नष्ट करता है । प्रियङ्गु, कालीसर तथा पर्याप्त शर्करासे युक्त बकरीका गरम किया हुआ दूध पी लेनेपर घोड़ेकी थकावट दूर हो जाती है । अश्वको द्रोणीमें तैलबस्ति देनी चाहिये अथवा कोष्ठमें उत्पन्न शिराओंका वेधन करना चाहिये । इससे उसको सुख प्राप्त होता है ॥ ११–१५½ ॥

अनारकी छाल, त्रिफला, त्रिकटु तथा गुड़—इनको सम मात्रामें ग्रहण करके इनका पिण्ड बनाकर घोड़ेको दे । यह अश्वोंकी कृशताको दूर करनेवाला है । घोड़ा प्रियङ्गु, लोध तथा मधुके साथ अडूसेके रस या पञ्चकोलादि (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता तथा सोंठ) युक्त दुग्धका पान करे तो वह कासरोगसे मुक्त हो जाता है । प्रस्कन्ध (छलाँग आदि दौड़) से हुए सभी प्रकारके कष्टमें पहले शोधन श्रेयस्कर होता है । तदनन्तर अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, स्नेहन, नस्य और वर्तिकाका प्रयोग श्रेष्ठ माना जाता है । ज्वरयुक्त अश्वोंकी दुग्धसे ही चिकित्सा करे । लोधमूल, करञ्जमूल, बिजौरा नीबू, चित्रक, सोंठ, कूट, वच एवं रास्ना—इनका लेप शोथ, (सूजन)का नाश करनेवाला है । घोड़ेको निराहार रखकर मजीठ, मुलहठी, मुनक्का, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, लालचन्दन, खीरेके मूल और बीज, सिंहाड़ेके बीज और कसेरु—इनसे युक्त बकरीका दूध पकाकर अत्यन्त शीतल करके शक्करके साथ पिलानेसे वह घोड़ा रक्तप्रमेहसे छुटकारा पाता है ॥ १६–२२ ॥

मन्या, ठुड्डी तथा ग्रीवाकी शिराओंके शोथ तथा गलग्रहरोगमें उन-उन स्थानोंपर कटुतैलका अभ्यङ्ग प्रशस्त है । गलग्रहरोग और शोथ प्रायः गलदेशमें ही होते हैं । चिरचिरा, चित्रक, सैन्धव तथा सुगन्ध घासका रस, पीपल

---

१. नकुलकृत अश्वशास्त्रमें 'खरसार' अश्वका वर्णन इस प्रकार है—

नगरे राष्ट्रे निवसेद् यस्य विनश्यत्यसौ राजा ।
खरसारः खरवर्णस्तु मण्डलैर्यो भवेत्तथा हानैः ॥

'गर्दभके समान वर्ण एवं उसीके समान रंगवाले आवर्तोंसे युक्त अश्व 'खरसार' कहलाता है । ऐसा अश्व जिस राजाके नगर या राष्ट्रमें निवास करता है, वह राजा नाशको प्राप्त होता है ।'

और हींगके साथ इनका नस्य देनेसे अश्व कभी विषादयुक्त नहीं होता है। हल्दी, दारुहल्दी, मालकाँगनी, पाठा, पीपल, कूट, वच तथा मधु—इनका गुड़ एवं गोमूत्रके साथ जिह्वापर लेप जिह्वास्तम्भमें हितकर है। तिल, मुलहठी, हल्दी और नीमके पत्तोंसे निर्मित पिण्डी मधुके साथ प्रयोग करनेपर व्रणका शोधन और घृतके साथ प्रयुक्त होनेपर घावको भरती है। जो घोड़े अधिक चोटके कारण तीव्र वेदनासे युक्त होकर लँगड़ाने लगते हैं, उनके लिये तैलसे परिषेक-क्रिया शीघ्र ही रोगनाश करनेवाली होती है। वात, पित्त, कफ दोषोंके द्वारा अथवा क्रोधके कारण चोट पा जानेसे पके, फूटे स्थानोंके व्रणके लिये यह क्रम है। पीपल, गूलर, पाकर, मुलहठी, वट और बेल—इनका अत्यधिक जलमें सिद्ध क्वाथ थोड़ा गरम हो तो वह व्रणका शोधन करनेवाला है। सौंफ, सोंठ, रास्ना, मजीठ, कूट, सैन्धव, देवदारु, वच, हल्दी, दारुहल्दी, रक्तचन्दन—इनका स्नेह क्वाथ करके गिलोयके जलके साथ या दूधके साथ उद्वर्तन, वस्ति अथवा नस्यरूपमें प्रयोग सभी लिङ्गित दोषोंमें करना चाहिये। नेत्ररोगयुक्त अश्वके नेत्रान्तमें जोंकद्वारा अभिस्रावण कराना चाहिये। खैर, गूलर और पीपलकी छालके क्वाथसे नेत्रोंका शोधन होता है॥ २३—३२½॥

युक्तावलम्बी अश्वके लिये आँवला, जवासा, पाठा, प्रियङ्गु, कुङ्कुम और गिलोय—इनका समभाग ग्रहण करके निर्मित किया हुआ कल्क हितकर है। कर्णसम्बन्धी दोषमें एवं उपद्रवमें, शिल (अनियमित वृत्ति)में, शुष्क-शेपमें (लिङ्ग सूखनेकी दशामें) और शीघ्र (हानि) करनेवाले दोषमें तत्काल वेधन करना चाहिये। गायका गोबर, मजीठ, कूट, हल्दी, तिल और सरसों—इनको गोमूत्रमें पीसकर मर्दन करनेसे खुजलीका नाश होता है। शालकी छालका क्वाथ शीतल हो जानेपर मधु और शर्करासहित नासिकामें डालनेसे एवं उसी प्रकार पिलानेसे घोड़ेका रक्तपित्त नष्ट होता है। घोड़ोंको सातवें-सातवें दिन नमक देना चाहिये॥ ३३—३७॥

अश्वोंके अधिक भोजन हो जानेपर वारुणी (मदिरा), शरद् ऋतुमें जीवनीयगणके[२] द्रव्य [जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (वनमूँग), माषपर्णी (वनउरद), जीवन्ती तथा मुलहठी], मधु, दाख, शक्कर, पिपली और पद्माखसहित प्रतिपानमें देना चाहिये। हेमन्त ऋतुमें अश्वोंको वायबिडंग, पीपल, धनियाँ, सौंफ, लोध, सैन्धवलवण और चित्रकसे समन्वित प्रतिपान देना चाहिये। वसन्त ऋतुमें लोध, प्रियङ्गु, मोथा, पीपल, सोंठ और मधुसे युक्त प्रतिपान कफनाशक माना गया है। ग्रीष्म ऋतुमें प्रतिपानके लिये प्रियङ्गु, पीपल, लोध, मुलहठी, सोंठ और गुड़के सहित मदिरा दे। वर्षा ऋतुमें अश्वोंके लिये प्रतिपान तैल, लोध, लवण, पीपल और सोंठसे समन्वित होना चाहिये। ग्रीष्म ऋतुमें बढ़े हुए पित्तके प्रकोपसे पीड़ित, शरत्कालमें रक्तघनत्वसे युक्त अश्वको एवं प्रावृट् (वर्षाके प्रारम्भ)में जिन घोड़ोंका गोबर फूट गया है, उन्हें घृत पिलाना चाहिये। कफ एवं वातकी अधिकता होनेपर अश्वोंको तैलपान कराना चाहिये। जिनके शरीरमें स्नेहतत्त्वके प्राबल्यसे कोई कष्ट उत्पन्न हो, उनका रूक्षण करना चाहिये। मट्ठाके साथ भोजन तथा तीन दिन तक यवागू पिलानेसे अश्वोंका रूक्षण होता है। अश्वोंके वस्तिकर्मके लिये शरद्-ग्रीष्ममें घृत, हेमन्त-वसन्तमें तैल तथा वर्षा एवं शिशिर ऋतुओंमें घृत-तैल दोनोंका प्रयोग करना चाहिये। जिन घोड़ोंको स्नेह (तैल-घृतादि) पान कराया गया है, उनके लिये (गुरु-भारी) या अभिष्यन्दी (कफकारक) भोजन—भात आदि, व्यायाम, स्नान, धूप तथा वायुरहित स्थान वर्जित हैं। वर्षा ऋतुमें घोड़ेको दिनमें एक बार स्नान और पान करावे, किंतु घोर दुर्दिनके समय केवल पान ही प्रशस्त है। समशीतोष्ण ऋतुमें दो बार और एक बार स्नान विहित है। ग्रीष्म ऋतुमें तीन बार स्नान और प्रतिपान उचित होता है। पूर्णजलमें बहुत देरतक स्नान कराना चाहिये॥ ३८—४९॥

घोड़ेको प्रतिदिन चार आढ़क भूसासे रहित जौ खिलावे। उसको चना, धान, मूँग या मटर भी खानेको दे। अश्वको (एक) दिन-रातमें पाँच सेर दूब खिलावे। सूखी दूब होनेपर आठ सेर अथवा भूसा हो तो चार सेर देना चाहिये। दूर्वा पित्तका, जौ कासका, भूसी कफाधिक्यका, अर्जुन श्वासका एवं मानकन्द बलक्षयका नाश करता है। दूर्वाभोजी अश्वको कफज, वातज, पित्तज और संनिपातज रोग पीड़ित नहीं कर सकते। दुष्ट घोड़ोंके आगे-पीछे दोनों ओर दो रज्जुबन्धन करने चाहिये। गर्दनमें भी बन्धन करना चाहिये। घोड़े आस्तरण-

---

२. जीवकर्षभको मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति।
(च० सं०, सू० स्था० ४ अ०)

युक्त और धूपित स्थानमें बसाने चाहिये। जहाँ कि उपायपूर्वक घासें रक्खी हों। (वह अश्वशाला) प्रदीपसे आलोकित तथा सुरक्षित होनी चाहिये। घुड़सालमें मयूर, अज, वानर और मृगोंको रखना चाहिये ॥ ५०—५६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अश्व-चिकित्साका कथन' नामक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८९ ॥

दो सौ नब्बेवाँ अध्याय

अश्व-शान्ति

शालिहोत्र कहते हैं—सुश्रुत! अब मैं घोड़ोंके रोगोंका मर्दन करनेवाली 'अश्वशान्ति'का वर्णन करूँगा; जो नित्य, नैमित्तिक और काम्यके भेदसे तीन प्रकारकी मानी गयी है; इसे सुनो। किसी शुभ दिनको श्रीधर (विष्णु), श्री (लक्ष्मी) तथा उच्चैःश्रवाके पुत्र हयराजकी पूजा करके सविता-देवता-सम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा घीका हवन करे। तदनन्तर ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। इससे अश्वोंकी वृद्धि होती है। (शुभ दिनसे आरम्भ करके इस कर्मको प्रतिदिन चालू रक्खा जाय तो यह 'नित्य अश्व-शान्ति' है) ॥ १-२½ ॥

(अश्व-समृद्धिकी कामनासे) आश्विनके शुक्लपक्षकी पूर्णिमाको नगरके बाह्यदेशमें शान्ति-कर्म करे। उसमें विशेषतः अश्विनीकुमारों तथा वरुण-देवताका पूजन करे। तत्पश्चात् श्रीदेवीको वेदीपर पद्मासनके ऊपर अङ्कित करके उन्हें चारों ओरसे वृक्षकी शाखाओंद्वारा आवृत कर दे। उनकी सभी दिशाओंमें समस्त रसोंसे परिपूर्ण कलशोंको वस्त्र-सहित स्थापित करे। इसके बाद श्रीदेवीका पूजन करके उनकी प्रसन्नताके लिये जौ और घीका हवन करे। फिर अश्विनीकुमारों और अश्वोंकी अर्चना करे तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। (यह काम्य शान्ति हुई) । अब नैमित्तिक शान्तिका वर्णन सुनो ॥ ३—५½ ॥

मकर आदिकी संक्रान्तियोंमें अश्वोंका पूजन करे। साथ ही कमलपुष्पोंद्वारा विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, शंकर, चन्द्रमा, सूर्य, अश्विनीकुमार, रेवन्त तथा उच्चैःश्रवाकी अर्चना करे। इसके सिवा कमलके दस दलोंपर दस दिक्पालोंकी भी पूजा करे। प्रत्येक अर्चनीय देवताके निमित्त वेदीपर जलपूर्ण कलश स्थापित करे और उन कलशोंमें अधिष्ठित देवोंकी पूजा करे। इन देवताओंके उत्तरभागमें इन सबके निमित्त तिल, अक्षत, घी और पीली सरसोंकी आहुतियाँ दे। एक-एक देवताके निमित्त सौ-सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। अश्व-सम्बन्धी रोगोंके निवारणके लिये उपवासपूर्वक यह शान्तिकर्म करना उचित है ॥ ६—८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अश्व-शान्तिका कथन' नामक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय

गज-शान्ति

शालिहोत्र कहते हैं—मैं गजरोगोंका प्रशमन करनेवाली गज-शान्तिके विषयमें कहूँगा। किसी भी शुक्ला पञ्चमीको विष्णु, लक्ष्मी तथा नागराज ऐरावतकी पूजा करे। फिर ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र, कुबेर, यमराज, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, शेषनाग, पर्वत, विरूपाक्ष, महापद्म, भद्र, सुमनस और देवजातीय आठ हाथियोंका पूजन करे। उन आठ नागोंके नाम ये हैं—कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील। तत्पश्चात् होम करे और दक्षिणा दे। शान्ति-कलशके जलसे हाथियोंका अभिषेक किया जाय तो वे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। (यह नित्य विधि है) अब नैमित्तिक शान्तिकर्मके विषयमें सुनो ॥ १—४½ ॥

मकर आदिकी संक्रान्तियोंमें हाथियोंका नगरके बहिर्भागमें ईशानकोणमें (पूजन करे)। वेदी या पद्मासनपर अष्टदल कमलका निर्माण करके उसमें केसरके स्थानपर श्रीविष्णु और लक्ष्मीकी अर्चना करे। तदनन्तर अष्टदलोंमें क्रमशः ब्रह्मा, सूर्य, पृथ्वी, स्कन्द, अनन्त, आकाश, शिव तथा चन्द्रमाकी पूजा करे। उन्हीं आठ दलोंमें पूर्वादिके क्रमसे इन्द्रादि दिक्पालोंका भी पूजन करे। देवताओंके साथ कमलदलोंमें उनके वज्र, शक्ति, दण्ड, तोमर, पाश, गदा, शूल और

पद्म आदि अस्त्रोंकी अर्चना करनी चाहिये । दलोंके बाह्यभागमें चक्रमें सूर्य और अश्विनीकुमारोंकी पूजा करे । अष्टवसुओं एवं साध्यदेवोंका दक्षिणभागमें तथा भार्गवाङ्गिरस देवताओंका नैर्ऋत्यकोणमें यजन करे । वायव्यकोणमें मरुद्गणोंका, दक्षिण-भागमें विश्वेदेवोंका एवं रौद्रमण्डल (ईशान) में रुद्रोंका पूजन करना चाहिये । वृत्तरेखाके द्वारा निर्मित अष्टदल कमलके बहिर्भागमें सरस्वती, सूत्रकार और देवर्षियोंकी अर्चना करे । पूर्वभागमें नदी, पर्वतों एवं ईशान आदि कोणोंमें महाभूतोंकी पूजा करे । तदनन्तर पद्म, चक्र, गदा तथा शङ्खसे सुशोभित चतुष्कोण एवं चतुर्द्वारयुक्त भूपुरमण्डलका निर्माण करके आग्नेय आदि कोणोंमें कलशोंकी भी स्थापना करे तथा चारों ओर पताकाओं और तोरणोंका निवेश करे । सभी द्वारोंपर ऐरावत आदि नागराजोंका पूजन करे । पूर्वादि दिशाओंमें समस्त देवताओंके लिये पृथक्-पृथक् सर्वौषधियुक्त पात्र रक्खे । हाथियोंका पूजन करके उनकी परिक्रमा करे । सभी देवताओंके उद्देश्यसे पृथक्-पृथक् सौ-सौ आहुतियाँ प्रदान करे । तदनन्तर नागराज, अग्नि और देवताओंको साथ लेकर बाजे बजाते हुए अपने घरोंको लौटना चाहिये । ब्राह्मणों एवं गज-चिकित्सक आदिको दक्षिणा देनी चाहिये । तत्पश्चात् कालज्ञ विद्वान् गजराजपर आरूढ़ होकर उसके कानमें निम्नाङ्कित मन्त्र कहे । उस नागराजके मृत्युको प्राप्त होनेपर शान्ति करके दूसरे हाथीके कानमें मन्त्रका जप करे—॥ ५—१५ ॥

"महाराजने तुमको 'श्रीगज'के पदपर नियुक्त किया है। अबसे तुम इस राजाके लिये 'गजाग्रणी' (गजोंके अगुआ) हो । ये नरेश आजसे गन्ध, माल्य एवं उत्तम अक्षतोंद्वारा तुम्हारा पूजन करेंगे । उनकी आज्ञासे प्रजाजन भी सदा तुम्हारा अर्चन करेंगे । तुमको युद्धभूमि, मार्ग एवं गृहमें महाराजकी सदा रक्षा करनी चाहिये । नागराज ! तिर्यग्भाव (टेढ़ापन) को छोड़कर अपने दिव्यभावका स्मरण करो । पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें देवताओंने ऐरावतपुत्र श्रीमान् अरिष्ट नागको 'श्रीगज'का पद प्रदान किया था । श्रीगजका वह सम्पूर्ण तेज तुम्हारे शरीरमें प्रतिष्ठित है । नागेन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारा अन्तर्निहित दिव्यभावसम्पन्न तेज उद्बुद्ध हो उठे । तुम रणाङ्गणमें राजाकी रक्षा करो" ॥ १६—२० ॥

राजा पूर्वोक्त अभिषिक्त गजराजपर शुभ मुहूर्तमें आरोहण करे । शस्त्रधारी श्रेष्ठ वीर उसका अनुगमन करें । राजा हस्तिशालामें भूमिपर अङ्कित कमलके बहिर्भागमें दिक्पालोंका पूजन करे । केसरके स्थानपर महाबली नागराज, भूदेवी और सरस्वतीका यजन करे । मध्यभागमें गन्ध, पुष्प और चन्दनसे डिण्डिमकी पूजा एवं हवन करके ब्राह्मणोंको रसपूर्ण कलश प्रदान करे । पुनः गजाध्यक्ष, गजरक्षक और ज्यौतिषीका सत्कार करे । तदनन्तर, डिण्डिम गजाध्यक्षको प्रदान करे । वह भी इसको बजावे । गजाध्यक्ष नागराजके जघनप्रदेशपर आरूढ़ होकर शुभ एवं गम्भीर स्वरमें डिण्डिमवादन करे ॥ २१—२४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गज-शान्तिका कथन' नामक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९१ ॥

दो सौ बानबेवाँ अध्याय

गवायुर्वेद

धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत ! राजाको गौओं और ब्राह्मणोंका पालन करना चाहिये । अब मैं 'गोशान्ति'का वर्णन करता हूँ । गौएँ पवित्र एवं मङ्गलमयी हैं । गौओंमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है । गौओंका गोबर और मूत्र अलक्ष्मी (दरिद्रता) के नाशका सर्वोत्तम साधन है । उनके शरीर-को खुजलाना, सींगोंको सहलाना और उनको जल पिलाना भी अलक्ष्मीका निवारण करनेवाला है । गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, दधि, घृत और कुशोदक—यह 'षडङ्ग' (पञ्चगव्य) पीनेके लिये उत्कृष्ट वस्तु तथा दुःस्वप्नों आदिका निवारण करनेवाला है । गोरोचना विष और राक्षसोंको विनाश करती है । गौओंको ग्रास देनेवाला स्वर्गको प्राप्त होता है । जिसके घरमें गौएँ दुःखित होकर निवास करती हैं, वह मनुष्य नरकगामी होता है । दूसरेकी गायको ग्रास देनेवाला स्वर्गको और गोहितमें तत्पर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है । गोदान, गो-माहात्म्य-कीर्तन और गोरक्षणसे मानव अपने कुलका उद्धार कर देता है । यह पृथ्वी गौओंके श्वाससे पवित्र होती है । उनके स्पर्शसे पापोंका क्षय होता है । एक दिन गोमूत्र, गोमय, घृत, दूध, दधि और कुशका जल एवं

एक दिन उपवास चाण्डालको भी शुद्ध कर देता है। पूर्वकालमें देवताओंने भी समस्त पापोंके विनाशके लिये इसका अनुष्ठान किया था। इनमेंसे प्रत्येक वस्तुका क्रमशः तीन-तीन दिन भक्षण करके रहा जाय, उसे 'महासान्तपन व्रत' कहते हैं। यह व्रत सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाला और समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है। केवल दूध पीकर इक्कीस दिन रहनेसे 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत' होता है। इसके अनुष्ठानसे श्रेष्ठ मानव सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्तकर पापमुक्त हो स्वर्गलोकमें जाते हैं। तीन दिन गरम गोमूत्र, तीन दिन गरम घृत, तीन दिन गरम दूध और तीन दिन गरम वायु पीकर रहे। यह 'तप्तकृच्छ्र व्रत' कहलाता है, जो समस्त पापोंका प्रशमन करनेवाला और ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला है। यदि इन वस्तुओंको इसी क्रमसे शीतल करके ग्रहण किया जाय, तो ब्रह्माजीके द्वारा कथित 'शीतकृच्छ्र' होता है, जो ब्रह्मलोकप्रद है ॥ १–११ ॥

एक मासतक गोव्रती होकर गोमूत्रसे प्रतिदिन स्नान करे, गोरससे जीवन चलावे, गौओंका अनुगमन करे और गौओंके भोजन करनेके बाद भोजन करे। इससे मनुष्य निष्पाप होकर गोलोकको प्राप्त करता है। गोमती-विद्याके जपसे भी उत्तम गोलोककी प्राप्ति होती है। उस लोकमें मानव विमानमें अप्सराओंके द्वारा नृत्य-गीतसे सेवित होकर प्रमुदित होता है। गौएँ सदा सुरभिरूपिणी हैं। वे गुग्गुलके समान गन्धसे संयुक्त हैं। गौएँ समस्त प्राणियोंकी प्रतिष्ठा हैं। गौएँ परम मङ्गलमयी हैं। गौएँ परम अन्न और देवताओंके लिये उत्तम हविष्य हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियोंको पवित्र करनेवाले दुग्ध और गोमूत्रका वहन एवं क्षरण करती हैं और मन्त्रपूत हविष्यसे स्वर्गमें स्थित देवताओंको तृप्त करती हैं। ऋषियोंके अग्निहोत्रमें गौएँ होमकार्यमें प्रयुक्त होती हैं। गौएँ सम्पूर्ण मनुष्योंकी उत्तम शरण हैं। गौएँ परम पवित्र, महामङ्गलमयी, स्वर्गकी सोपानभूत, धन्य और सनातन (नित्य) हैं। श्रीमती सुरभि-पुत्री गौओंको नमस्कार है। ब्रह्मसुताओंको नमस्कार है। पवित्र गौओंको बारंबार नमस्कार है। ब्राह्मण और गौएँ—एक ही कुलकी दो शाखाएँ हैं। एकके आश्रयमें मन्त्रकी स्थिति है और दूसरीमें हविष्य प्रतिष्ठित है। देवता, ब्राह्मण, गौ, साधु और साध्वी स्त्रियोंके बलपर यह सारा संसार टिका हुआ है, इसीसे वे परम पूजनीय हैं। गौएँ जिस स्थानपर जल पीती हैं, वह स्थान तीर्थ है। गङ्गा आदि पवित्र नदियाँ गोस्वरूपा ही हैं। सुश्रु मैंने यह गौओंके माहात्म्यका वर्णन किया; अब उनकी चिकित्सा सुनो ॥ १२—२२ ॥

गौओंके शृङ्गरोगोंमें सोंठ, खरेटी और जटामांसीको सिलपर पीसकर उसमें मधु, सैन्धव और तैल मिलाकर प्रयोग करे। सभी प्रकारके कर्णरोगोंमें मञ्जिष्ठा, हींग और सैन्धव डालकर सिद्ध किया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिये या लहसुनके साथ पकाया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिये। दन्तशूलमें बिल्वमूल, अपामार्ग, धानकी पाटला और कुटजका लेप करे। वह शूलनाशक है। दन्तशूलका हरण करनेवाले द्रव्यों और कूटको घृतमें पकाकर देनेसे मुखरोगोंका निवारण होता है। जिह्वा-रोगोंमें सैन्धव लवण प्रशस्त है। गलग्रह-रोगमें सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी और त्रिफला विहित है। हृद्रोग, वस्तिरोग, वातरोग और क्षयरोगमें गौओंको घृतमिश्रित त्रिफलाका अनुपान प्रशस्त बताया गया है। अतिसारमें हल्दी, दारुहल्दी और पाठा (नेमुक) दिलाना चाहिये। सभी प्रकारके कोष्ठगत¹ रोगोंमें, शाखा (पैर-पुच्छादि)-गत रोगोंमें एवं कास, श्वास एवं अन्य साधारण रोगोंमें सोंठ, भारङ्गी देनी चाहिये। हड्डी आदि टूटनेपर लवणयुक्त प्रियङ्गुका लेप करना चाहिये। तैल वातरोगका हरण करता है। पित्तरोगमें तैलमें पकायी हुई मुलहठी, कफरोगमें मधुसहित त्रिकटु (सोंठ, मिर्च और पीपल) तथा रक्तविकारमें मजबूत नखोंका भस्म हितकर है। भग्नक्षतमें तैल एवं घृतमें पकाया हुआ हरताल दे। उड़द, तिल, गेहूँ, दुग्ध, जल और घृत—इनका लवणयुक्त पिण्ड गोवत्सोंके लिये पुष्टिप्रद है। विषाणी बल प्रदान करनेवाली है। ग्रहबाधाके विनाशके लिये धूपका प्रयोग करना चाहिये। देवदारु, वचा, जटामांसी, गुग्गुल, हिंगु और सर्षप—इनकी धूप गौओंके ग्रहजनित रोगोंका नाश करनेमें हितकर है। इस धूपसे धूपित करके गौओंके गलेमें घण्टा बाँधना चाहिये। असगन्ध और तिलोंके साथ नवनीतका भक्षण करानेसे गौ दुग्धवती होती है। जो वृष घरमें मदोन्मत्त हो जाता है, उसके लिये हिङ्गु परम रसायन है ॥ २३–३५ ॥

पञ्चमी तिथिको सदा शान्तिके निमित्त गोमयपर भगवान् लक्ष्मी-नारायणका पूजन करे। यह 'अपरा शान्ति' कही

---

१. स्थानान्यामाशयपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥
(सु० चि० अ० २)

गयी है। आश्विनके शुक्लपक्षकी पूर्णिमाको श्रीहरिका पूजन करे। श्रीविष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, सूर्य, अग्नि और लक्ष्मीका घृतसे पूजन करे। दही भलीभाँति खाकर गोपूजन करके अग्निकी प्रदक्षिणा करे। गृहके बहिर्भागमें गीत और वाद्यकी ध्वनिके साथ वृषभयुद्धका आयोजन करे। गौओंको लवण और ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। मकरसंक्रान्ति आदि नैमित्तिक पर्वोंपर भी लक्ष्मीसहित श्रीविष्णुको भूमिस्थ कमलके मध्यमें और पूर्व आदि दिशाओंमें कमल-केसरपर देवताओंकी पूजा करे। कमलके बहिर्भागमें मङ्गलमय ब्रह्मा, सूर्य, बहुरूप, बलि, आकाश, विश्वरूपका तथा ऋद्धि, सिद्धि, शान्ति और रोहिणी आदि दिग्धेनु, चन्द्रमा और शिवका कृशर (खिचड़ी) से पूजन करे। दिक्पालोंकी कलशस्थ पद्मपत्रपर अर्चना करे। फिर अग्निमें सर्षप, अक्षत, तण्डुल और खैर-वृक्षकी समिधाओंका हवन करे। ब्राह्मणको सौ-सौ भर सुवर्ण और काँस्य आदि धातु दान करे। फिर क्षीरसंयुक्त गौओंकी पूजा करके उन्हें शान्तिके निमित्त छोड़े॥ ३६—४३॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! शालिहोत्रने सुश्रुतको 'अश्वायुर्वेद' और पालकाप्यने अङ्गराजको 'गवायुर्वेद'का उपदेश किया था॥ ४४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गवायुर्वेदका कथन' नामक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९२॥

दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय

मन्त्र-विद्या

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली मन्त्र-विद्याका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर उसका श्रवण कीजिये। द्विजश्रेष्ठ! बीससे अधिक अक्षरोंवाले मन्त्र 'मालामन्त्र,' दससे अधिक अक्षरोंवाले 'मन्त्र' और दससे कम अक्षरोंवाले 'बीजमन्त्र' कहे गये हैं। 'मालामन्त्र' वृद्धावस्थामें सिद्धिदायक होते हैं, 'मन्त्र' यौवनावस्थामें सिद्धिप्रद है। पाँच अक्षरसे अधिक तथा दस अक्षरतकके मन्त्र बाल्यावस्थामें सिद्धि प्रदान करते हैं[1]। अन्य मन्त्र अर्थात् एकसे लेकर पाँच अक्षरतकके मन्त्र सर्वदा और सबके लिये सिद्धिदायक होते हैं[2]॥ १-२½॥

मन्त्रोंकी तीन जातियाँ होती हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जिन मन्त्रोंके अन्तमें 'स्वाहा' पदका प्रयोग हो, वे स्त्रीजातीय हैं। जिनके अन्तमें 'नमः' पद जुड़ा हो, वे मन्त्र नपुंसक हैं। शेष सभी मन्त्र पुरुषजातीय हैं। वे वशीकरण और उच्चाटन-कर्ममें प्रशस्त माने गये हैं। क्षुद्रक्रिया तथा रोगके निवारणार्थ अर्थात् शान्तिकर्ममें स्त्रीजातीय मन्त्र उत्तम माने गये हैं[3]। इन सबसे भिन्न (विद्वेषण एवं अभिचार आदि) कर्ममें नपुंसक मन्त्र उपयोगी बताये गये हैं॥ ३-४½॥

मन्त्रोंके दो भेद हैं—'आग्नेय' और 'सौम्य'। जिनके आदिमें 'प्रणव' लगा हो, वे 'आग्नेय' हैं और जिनके अन्तमें 'प्रणव'का योग है, वे 'सौम्य' कहे गये हैं। इनका जप इन्हीं दोनोंके कालमें करना चाहिये (अर्थात् सूर्य-नाड़ी चलती हो तो 'आग्नेय-मन्त्र'का और चन्द्र-नाड़ी चलती हो तो 'सौम्य-मन्त्रों'का जप करे)[4]। जिस मन्त्रमें तार (ॐ),

---

१. 'महाकपिल' पञ्चरात्रमें तथा 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में मालामन्त्रोंको 'वृद्ध', मन्त्रोंको 'युवा' तथा पाँचसे अधिक और दस अक्षरतकके मन्त्रोंको 'बाल' बताया गया है। 'भैरवी-तन्त्र'में सात अक्षरवाले मन्त्रको 'बाल', आठ अक्षरवाले मन्त्रको 'कुमार', सोलह अक्षरोंके मन्त्रको 'तरुण' तथा चालीस अक्षरोंके मन्त्रको 'प्रौढ़' बताया गया है। इससे ऊपर अक्षर-संख्यावाला मन्त्र 'वृद्ध' कहा गया है।

२. 'शारदातिलक'की टीकामें उद्धृत 'प्रयोगसार'में शब्दभेदसे यही बात कही गयी है। 'श्रीनारायणीय-तन्त्र'में तो ठीक 'अग्निपुराण'की आनुपूर्वी ही प्रयुक्त हुई है।

३. 'कुल प्रकाश-तन्त्र'में स्त्रीजातीय मन्त्रोंको शान्तिकर्ममें उपयोगी बताया गया है। शेष बातें अग्निपुराणके ही अनुसार हैं—

स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता हृदयान्ता नपुंसकाः।
शेषाः पुमांस इत्युक्ताः स्त्रीमन्त्राश्चादिशान्तिके॥
नपुंसकाः स्मृता मन्त्रा विद्वेषे चाभिचारके।
पुमांसः स्युः स्मृताः सर्वे वश्योच्चाटनकर्मसु॥

(श्रीविद्यार्णवतन्त्र २ उच्छ्वास)

'प्रयोगसार'में—'वषट्' और 'फट्' जिनके अन्तमें लगें, वे 'पुँल्लिङ्ग' 'वौषट्' और 'स्वाहा' अन्तमें लगें, वे 'स्त्रीलिङ्ग' तथा 'हुं नमः' जिनके अन्तमें लगें, वे 'नपुंसक लिङ्ग' मन्त्र कहे गये हैं।

४. 'श्रीनारायणीय-तन्त्र'में भी यह बात इसी आनुपूर्वीमें कही गयी है।

अन्त्य (क्ष), अग्नि (र), वियत् (ह)—इनका बाहुल्येन प्रयोग हो, वह 'आग्नेय' माना गया है। शेष मन्त्र 'सौम्य' कहे गये हैं[5]। ये दो प्रकारके मन्त्र क्रमशः क्रूर और सौम्य कर्मोंमें प्रशस्त माने गये हैं।[6] 'आग्नेय मन्त्र' प्रायः अन्तमें 'नमः' पदसे युक्त होनेपर 'सौम्य' हो जाता है और 'सौम्य मन्त्र' भी अन्तमें 'फट्' लगा देनेपर 'आग्नेय' हो जाता है।[7] यदि मन्त्र सोया हो या सोकर तत्काल ही जगा हो तो वह सिद्धिदायक नहीं होता है। जब वाम-नाड़ी चलती हो तो वह 'आग्नेय मन्त्र'के सोनेका समय है और यदि दाहिनी नाड़ी (नासिकाके दाहिने छिद्रसे साँस) चलती हो तो वह उसके जागरणका काल है। 'सौम्य मन्त्र'के सोने और जागनेका समय इसके विपरीत है। अर्थात् वामनाड़ी (साँस) उसके जागरणका और दक्षिणनाड़ी उसके शयनका काल है। जब दोनों नाड़ियाँ साथ-साथ चल रही हों, उस समय आग्नेय और सौम्य—दोनों मन्त्र जगे रहते हैं। (अतः उस समय दोनोंका जप किया जा सकता है[8]।)

दुष्ट नक्षत्र, दुष्ट राशि तथा शत्रुरूप आदि अक्षरवाले मन्त्रोंको अवश्य त्याग देना चाहिये[9] ॥ ५–९½ ॥

(नक्षत्र-चक्र)

राज्यलाभोपकाराय प्रारभ्यारिः स्वरः कुरून् ॥
गोपालकुकुटीं प्रायात् फुल्लावित्युदिता लिपिः[10] ।

(साधकके नामके प्रथम अक्षरको तथा मन्त्रके आदि अक्षरको लेकर गणना करके यह जानना है कि उस साधकके लिये वह मन्त्र अनुकूल है या प्रतिकूल ? इसीके लिये उपर्युक्त श्लोक एक संकेत देता है—) 'राज्य' से लेकर 'फुल्लौ' तक लिपिका ही संकेत है। 'इत्युदिता लिपिः' इस प्रकार लिपि कही गयी है। 'नारायणीय-तन्त्र'में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अश्विनीसे लेकर उत्तरभाद्रपदातकके छब्बीस नक्षत्रोंमें 'अ' से लेकर 'ह' तकके अक्षरोंको बाँटना है। किस नक्षत्रमें कितने अक्षर लिये जायँगे, इसके लिये उपर्युक्त श्लोक संकेत देता है। 'रा' से 'ल्लौ' तक छब्बीस अक्षर हैं; वे छब्बीस नक्षत्रोंके प्रतीक हैं। तन्त्रशास्त्रियोंने अपने संकेत-वचनोंमें केवल व्यञ्जनोंको ग्रहण किया है और समस्त व्यञ्जनोंको कवर्ग, टवर्ग, पवर्ग तथा यवर्गमें बाँटा है। संकेत-लिपिका जो

५. 'शारदातिलक'में सौम्य-मन्त्रोंकी भी सुस्पष्ट पहचान दी गयी है—जिसमें 'सकार' अथवा 'वकार'का बाहुल्य हो, वह 'सौम्य-मन्त्र' है। जैसा कि वचन है—

'सौम्या भूयिष्ठेन्दुमृताक्षराः।' (२। ६१)

६. 'शारदातिलक'में भी 'विज्ञेयाः क्रूरसौम्ययोः'—कहकर इसी बातकी पुष्टि की गयी है। ईशानशम्भुने भी यही बात कही है—'स्यादाग्नेयैः क्रूरकार्यप्रसिद्धिः सौम्यैः सौम्यं कर्म कुर्याद् यथावत्'।

७. ईशानशम्भुने भी ऐसा ही कहा है—
आग्नेयोऽपि स्यात्तु सौम्यो नमोऽन्तः सौम्योऽपि स्यादग्निमन्त्रः फडन्तः।

'नारायणीय-तन्त्र'में यही बात यों कही गयी है—
आग्नेयमन्त्रः सौम्यः स्यात् प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः।
सौम्यमन्त्रस्तथाऽऽग्नेयः फटकारेणान्वितोऽन्ततः ॥

८. 'बृहन्नारायणीय-तन्त्र'में इसी भावकी पुष्टि निम्नाङ्कित श्लोकोंद्वारा की गयी है—

सुप्तः प्रबुद्धमात्रो वा मन्त्रः सिद्धिं न यच्छति।
स्वापकालो वामवहो जागरो दक्षिणावहः ॥
आग्नेयस्य मनोः सौम्यमन्त्रस्यैतद्विपर्ययः।
प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयावहः ॥
स्वापकाले तु मन्त्रस्य जपोऽनर्थफलप्रदः।

इसमें स्पष्ट कहा गया है कि मन्त्र जब सो रहा हो, उस समय उसका जप अनर्थ-फलदायक होता है। 'नारायणीय-तन्त्र'में 'स्वाप' और 'जागरणकाल'को और भी स्पष्टताके साथ बताया गया है। वामनाड़ी, इडानाड़ी और चन्द्रनाड़ी एक वस्तु है तथा दक्षिणनाड़ी, सूर्यनाड़ी एवं पिङ्गलानाड़ी एक अर्थके वाचक पद हैं। पिङ्गला-नाड़ीमें श्वास-वायु चलती हो तो 'आग्नेय मन्त्र' प्रबुद्ध होते हैं, इडानाड़ीमें श्वासवायु चलती हो तो 'सोममन्त्र' जाग्रत् रहते हैं। पिङ्गला और इडा दोनोंमें श्वासवायुकी स्थिति हो अर्थात् यदि सुषुम्णामें श्वासवायु चलती हो तो सभी मन्त्र प्रबुद्ध (जाग्रत्) होते हैं। प्रबुद्ध मन्त्र ही साधकोंको अभीष्ट फल देते हैं। यथा—

पिङ्गलायां गते वायौ प्रबुद्धा ह्यग्निरूपिणः।
इडां गते तु पवने बुध्यन्ते सोमरूपिणः ॥
पिङ्गलेडागते वायौ प्रबुद्धाः सर्व एव हि।
प्रबुद्धा मनवः सर्वे साधकानां फलन्त्युमे ॥

९. जैसा कि 'भैरवी-तन्त्र'में कहा गया है—
दुष्टर्क्षराशिमूलेभूतादिवर्णप्रचुरमन्त्रकम् ।
सम्यक् परीक्ष्य तं यत्नाद् वर्जयेन्मतिमान् नरः ॥

१०. 'श्रीरुद्रयामल'में तथा 'नारायणीय तन्त्र'में भी यह श्लोक आया है, जो लिपि (अक्षर) का संकेतमात्र है। इसमें शब्दार्थ अपेक्षित नहीं है। 'शारदातिलक'में दूसरा श्लोक संकेतके लिये प्रयुक्त हुआ है। इसमें छब्बीस नक्षत्रोंमें अक्षरोंके विभाजनका संकेत है, जो ज्यौतिषकी प्रक्रियासे भिन्न है।

अक्षर जिस वर्गका प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ अक्षर है, उससे उतनी ही संख्याएँ ली जायँगी। संयुक्ताक्षरोंमेंसे अन्तिम अक्षर ही गृहीत होगा। स्वरोंपर कोई संख्या नहीं है। उपर्युक्त श्लोकमें पहला अक्षर 'रा' है। यह यवर्गका दूसरा अक्षर है, अतः उससे दो संख्या ली जायगी। इस प्रकार 'रा' यह संकेत करता है कि अश्विनी-नक्षत्रमें दो अक्षर 'अ आ' गृहीत होंगे। दूसरा अक्षर है 'ज्य', यह संयुक्ताक्षर है, इसका अन्तिम अक्षर 'य' गृहीत होगा। वह अपने वर्गका प्रथम अक्षर है, अतः एकका बोधक होगा। इस प्रकार पूर्वोक्त 'ज्य' के संकेतानुसार भरणी नक्षत्रमें एक अक्षर 'इ' लिखा जायगा। इस बातको ठीकसे समझनेके लिये निम्नाङ्कित चक्र देखिये—

रा	२	अश्विनी	अ आ
ज्य	१	भरणी	इ
ला	३	कृत्तिका	ई उ ऊ
भो	४	रोहिणी	ऋ ॠ ऌ ॡ
प	१	मृगशिरा	ए
का	१	आर्द्रा	ऐ
रा	२	पुनर्वसु	ओ औ
य	१	पुष्य	क
प्रा	२	आश्लेषा	ख ग
र	२	मघा	घ ङ
भ्या	१	पूर्वाफाल्गुनी	च
रिः	२	उत्तराफाल्गुनी	छ ज
ख	२	हस्त	झ ञ
रः	२	चित्रा	ट ठ
कु	१	स्वाती	ड
रून्	२	विशाखा	ढ ण
गो	३	अनुराधा	त थ द
पा	१	ज्येष्ठा	ध
लान्	३	मूल	न प फ
कु	१	पूर्वाषाढ़ा	ब
कु	१	उत्तराषाढ़ा	भ
टी	१	श्रवण	म
प्रा	२	धनिष्ठा	य र
यान्	१	शतभिषा	ल
फु	२	पूर्वभाद्रपदा	व श
लौ	३	उत्तरभाद्रपदा	ष स ह

यह वर्णमाला नक्षत्रोंके साथ क्रमशः जोड़नी चाहिये। केवल 'अं अः'—ये दो अन्तिम स्वर रेवती नक्षत्रके साथ सदा जुड़े रहते हैं"[11] ॥ १०-११½ ॥

[इनके द्वारा जन्म, सम्पद्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र तथा अतिमित्र—इन तारोंका विचार किया जाता है। जहाँ साधकके नामका आदि अक्षर है, वहाँसे लेकर मन्त्रके आदि अक्षरतक गिने। उसमें नौका भाग देकर शेषके अनुसार जन्मादि तारोंको जाने।]

(बारह राशियोंमें वर्णोंका विभाजन)

वालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति भेदिताः।
लिप्यर्णा राशिषु ज्ञेयाः षष्ठे शार्दींश्च योजयेत् ॥१२॥

(जैसा कि पूर्व श्लोकमें संकेत किया है, उसी तरह 'वा' से लेकर 'भा' तकके बारह अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियों तथा ४ आदि संख्याओंकी ओर संकेत करते हैं—) वा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ भा ४। इन संख्याओंमें विभक्त हुए अकार आदि अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियोंमें स्थित जानने चाहिये। 'श ष स ह' इन अक्षरोंको (तथा स्वरान्त्य वर्णों 'अं अः' को) छठी कन्याराशिमें संयुक्त करना चाहिये[12]। क्षकारका मीनराशिमें प्रवेश है[13]। यथा—

४	अ आ इ ई	मेषराशि	१
३	उ ऊ ऋ	वृषराशि	२
३	ॠ ऌ ॡ	मिथुनराशि	३
२	ए ऐ	कर्कराशि	४
२	ओ औ	सिंहराशि	५
२	अं अः (श ष स ह ल)	कन्याराशि	६
५	क ख ग घ ङ	तुलाराशि	७
५	च छ ज झ ञ	वृश्चिकराशि	८
५	ट ठ ड ढ ण	धनुराशि	९
५	त थ द ध न	मकरराशि	१०
५	प फ ब भ म	कुम्भराशि	११
४	य र ल व (क्ष)	मीनराशि	१२

११. 'शारदातिलक'में भी यही बात कही गयी है—'स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतौ सदा' ॥ (२। १२५)

१२. 'शारदातिलक' २। १२७में यह श्लोक कुछ पाठान्तरके साथ ऐसा ही है। उसकी संस्कृत व्याख्यामें यही भाव व्यक्त किया गया है।

१३. जैसा कि आचार्योंने कहा है—'अमः शवर्गलेभ्यश्च संजाता कन्यका मता।' तथा—'चतुर्भिर्यादिभिः सार्धं स्याद् अकारस्तु मीनगाः।'

राशि-स्थानका उपयोग—साधकके नामका आदि अक्षर जहाँ हो, उस राशिसे मन्त्रके आदि अक्षरकी राशितक गिने। जो संख्या हो, उसके अनुसार फल जाने। यदि संख्या छठी, आठवीं अथवा बारहवीं हो तो वह निन्द्य है। इन बारह संख्याओंको 'बारह भाव' कहते हैं। उनकी विशेष संख्यासंज्ञा इस प्रकार है—तन, धन, सहज, सुहृद्, पुत्र, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय। मन्त्रके अक्षर यदि मृत्यु, शत्रु तथा व्यय भावके अन्तर्गत हैं तो वे अशुभ हैं।

(सिद्धादि मन्त्र-शोधन-प्रकार)

अ क थ ह	आ ख द क्ष	इ ग ध	ई घ न
उ ङ प	ऊ च फ	ऋ छ ब	ॠ ज भ
ऌ झ म	ॡ ञ य	ए ट र	ऐ ठ ल
ओ ड व	औ ढ श	अं ण ष	अः त स

चौकोर स्थानपर पाँच रेखाएँ पूर्वसे पश्चिमकी ओर तथा पाँच रेखाएँ उत्तरसे दक्षिणकी ओर खींचे। इस प्रकार सोलह कोष्ठ बनाये। इनमें क्रमशः सोलह स्वरोंको लिखा जाय। तदनन्तर उसी क्रमसे व्यञ्जन-वर्ण भी लिखे। तीन आवृत्ति पूर्ण होनेपर चौथी आवृत्तिमें प्रथम दो कोष्ठोंके भीतर क्रमशः 'ह' और 'क्ष' लिखकर सब अक्षरोंकी पूर्ति कर ले। इन सोलहमें प्रथम कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'सिद्ध', दूसरे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'साध्य', तीसरे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'सुसिद्ध' तथा चौथे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'अरि' मानी गयी हैं। जिस साधकके नामका आदि अक्षर जिस चतुष्कमें पड़े, वही उसके लिये 'सिद्ध चतुष्क' है, वहाँसे दूसरा उसके लिये 'साध्य,' तीसरा 'सुसाध्य' और चौथा चतुष्क 'अरि' है। जिस चतुष्कके जिस कोष्ठमें साधकका नाम है, वह उसके लिये 'सिद्ध-सिद्ध' कोष्ठ है। फिर प्रदक्षिणक्रमसे उस चतुष्कका दूसरा कोष्ठ 'सिद्धसाध्य', 'सिद्ध-सुसिद्ध' तथा 'सिद्ध-अरि' है। इसी चतुष्कमें यदि मन्त्रका भी आदि अक्षर हो तो इसी गणनाके अनुसार उसके भी 'सिद्ध-सिद्ध', 'सिद्ध-साध्य' आदि भेद जान लेने चाहिये। यदि इस चतुष्कमें अपने नामका आदि अक्षर हो और द्वितीय चतुष्कमें मन्त्रका आदि अक्षर हो तो पूर्व चतुष्कके जिस कोष्ठमें नामका आदि अक्षर है, उस दूसरे चतुष्कमें भी उसी कोष्ठसे लेकर प्रादक्षिण्य-क्रमसे 'साध्यसिद्ध' आदि भेदकी कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार सिद्धादिकी कल्पना करे। सिद्ध-मन्त्र अत्यन्त गुणोंसे युक्त होता है। 'सिद्ध-मन्त्र' जपमात्रसे सिद्ध अर्थात् सिद्धिदायक होता है; 'साध्य-मन्त्र' जप, पूजा और होम आदिसे सिद्ध होता है। 'सुसिद्ध मन्त्र' चिन्तनमात्रसे सिद्ध हो जाता है, परंतु 'अरि मन्त्र' साधकका नाश कर देता है। जिस मन्त्रमें दुष्ट अक्षरोंकी संख्या अधिक हो, उसकी सभीने निन्दा की है॥ १३—१५॥

शिष्यको चाहिये कि वह अभिषेकपर्यन्त दीक्षामें विधिवत् प्रवेश लेकर गुरुके मुखसे तन्त्रोक्त विधिका श्रवण करके गुरुसे प्राप्त हुए अभीष्ट मन्त्रकी साधना करे। जो धीर, दक्ष, पवित्र, भक्तिभावसे सम्पन्न, जप-ध्यान आदिमें तत्पर रहनेवाला, सिद्ध, तपस्वी, कुशल, तन्त्रवेत्ता, सत्यवादी तथा निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ हो, वह 'गुरु' कहलाता है। जो शान्त (मनको वशमें रखनेवाला), दान्त (जितेन्द्रिय), पटु (सामर्थ्यवान्), ब्रह्मचारी, हविष्यान्नभोजी, गुरुकी सेवामें संलग्न और मन्त्रसिद्धिके प्रति उत्साह रखनेवाला हो, वह 'योग्य' शिष्य है। उसको तथा अपने पुत्रको मन्त्रका उपदेश देना चाहिये। शिष्य विनयी तथा गुरुको धन देनेवाला हो। ऐसे शिष्यको गुरु मन्त्रका उपदेश दे और उसकी सुसिद्धिके लिये स्वयं भी एक सहस्रकी संख्यामें जप करे। अकस्मात् कहींसे सुना हुआ, छल अथवा बलसे प्राप्त किया हुआ, पुस्तकके पन्नेमें लिखा हुआ अथवा गाथामें कहा गया मन्त्र नहीं जपना चाहिये। यदि ऐसे मन्त्रका जप किया जाय तो वह अनर्थ उत्पन्न करता है। जो जप, होम तथा अर्चना आदि भूरि क्रियाओंद्वारा मन्त्रकी साधनामें संलग्न रहता है, उसके मन्त्र स्वल्पकालिक साधनसे ही सिद्ध हो जाते हैं। जिसने एक मन्त्रको भी विधिपूर्वक सिद्ध कर लिया है, उसके लिये इस लोकमें कुछ भी असाध्य नहीं है; फिर जिसने बहुत-से मन्त्र सिद्ध कर लिये हैं, उसके माहात्म्यका किस प्रकार वर्णन किया जाय? वह तो साक्षात् शिव ही है। एक अक्षरका मन्त्र दस लाख जप करनेसे सिद्ध हो जाता है। मन्त्रमें ज्यों-ज्यों अक्षरकी वृद्धि हो, त्यों-ही-त्यों उसके जपकी संख्यामें कमी होती है। इस नियमसे अन्य मन्त्रोंके जपकी संख्याके विषयमें स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिये। बीज-मन्त्रकी अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी संख्यामें मालामन्त्रोंके जपका विधान है। जहाँ जपकी संख्या नहीं बतायी गयी हो, वहाँ मन्त्र-जपादिके लिये एक सौ आठ या एक हजार आठ संख्या जाननी चाहिये।

सर्वत्र जपते दशांश हवन एवं तर्पणका विधान मिलता है ॥ १६–२५ ॥

जहाँ किसी द्रव्य-विशेषका उल्लेख न हो, वहाँ होममें घृतका उपयोग करना चाहिये। जो आर्थिक दृष्टिसे असमर्थ हो, उसके लिये होमके निमित्त जपकी संख्यासे दशांश जपका ही सर्वत्र विधान मिलता है। अङ्ग आदिके लिये भी जप आदिका विधान है। सशक्ति-मन्त्रके जपसे मन्त्रदेवता साधकको अभीष्ट फल देते हैं। वे साधकके द्वारा किये गये ध्यान, होम और अर्चन आदिसे तृप्त होते हैं। उच्चस्वरसे जपकी अपेक्षा उपांशु (मन्दस्वरसे किया गया) जप दसगुना श्रेष्ठ कहा गया है। यदि केवल जिह्वा हिलाकर जप किया जाय तो वह सौ गुना उत्तम माना गया है। मानस (मनके द्वारा किये जानेवाले) जपका महत्त्व सहस्रगुना उत्तम कहा गया है। मन्त्र-सम्बन्धी कर्मका सम्पादन पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख होकर करना चाहिये। मौन होकर विहित आहार ग्रहण करते हुए प्रणव आदि सभी मन्त्रोंका जप करना चाहिये। देवता तथा आचार्यके प्रति समान दृष्टि रखते हुए आसनपर बैठकर मन्त्रका जप करे। कुटी, एकान्त एवं पवित्र स्थान, देवमन्दिर, नदी अथवा जलाशय—ये जप करनेके लिये उत्तम देश हैं। मन्त्र-सिद्धिके लिये जौकी लप्सी, मालपूए, दुग्ध एवं हविष्यान्नका भोजन करे। साधक मन्त्रदेवताका उनकी तिथि, वार, कृष्णपक्षकी अष्टमी-चतुर्दशी तथा ग्रहण आदि पर्वोंपर पूजन करे। अश्विनीकुमार, यमराज, अग्नि, धाता, चन्द्रमा, रुद्र, अदिति, बृहस्पति, सर्प, पितर, भग, अर्यमा, सूर्य, त्वष्टा, वायु, इन्द्राग्नि, मित्र, इन्द्र, जल, निर्ऋति, विश्वेदेव, विष्णु, वसुगण, वरुण, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य और पूषा—ये क्रमशः अश्विनी आदि नक्षत्रोंके देवता हैं। प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशीपर्यन्त तिथियोंके देवता क्रमशः निम्नलिखित हैं—अग्नि, ब्रह्मा, पार्वती, गणेश, नाग, स्कन्द, सूर्य, महेश, दुर्गा, यम, विश्वदेव, विष्णु, कामदेव और ईश, पूर्णिमाके चन्द्रमा और अमावस्याके देवता पितर हैं। शिव, दुर्गा, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी और कुबेर—ये क्रमशः रविवार आदि वारोंके देवता हैं। अब मैं 'लिपिन्यास'का वर्णन करता हूँ ॥ २६–३६½ ॥

साधक निम्नलिखित प्रकारसे लिपि (मातृका) न्यास करे—'ॐ अं नमः, केशान्तेषु। ॐ आं नमः, मुखे। ॐ इं नमः, दक्षिणनेत्रे। ॐ ईं नमः, वामनेत्रे। ॐ उं नमः, दक्षिणकर्णे। ॐ ऊं नमः, वामकर्णे। ॐ ऋं नमः, दक्षिणनासापुटे। ॐ ॠं नमः, वामनासापुटे। ॐ ऌं नमः, दक्षिणकपोले। ॐ ॡं नमः, वामकपोले। ॐ एं नमः, ऊर्ध्वोष्ठे। ॐ ऐं नमः, अधरोष्ठे। ॐ ओं नमः, ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐ औं नमः, अधोदन्त-पङ्क्तौ। ॐ अं नमः, मूर्ध्नि। ॐ अः नमः, मुखवृत्ते। ॐ कं नमः, दक्षिणबाहुमूले। ॐ खं नमः, दक्षिणकूर्परे। ॐ गं नमः, दक्षिणमणिबन्धे। ॐ घं नमः, दक्षिण-हस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ङं नमः, दक्षिणहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ चं नमः, वामबाहुमूले। ॐ छं नमः, वामकूर्परे। ॐ जं नमः, वाममणिबन्धे। ॐ झं नमः, वामहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ञं नमः, वामहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ टं नमः, दक्षिण-पादमूले। ॐ ठं नमः, दक्षिणजानुनि। ॐ डं नमः, दक्षिणगुल्फे। ॐ ढं नमः, दक्षिणपादाङ्गुलिमूले। ॐ णं नमः, दक्षिणपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ तं नमः, वामपादमूले। ॐ थं नमः, वामजानुनि। ॐ दं नमः, वामगुल्फे। ॐ धं नमः, वामपादाङ्गुलिमूले। ॐ नं नमः, वाम-पादाङ्गुल्यग्रे। ॐ पं नमः, दक्षिणपार्श्वे। ॐ फं नमः, वामपार्श्वे। ॐ बं नमः, पृष्ठे। ॐ भं नमः, नाभौ। ॐ मं नमः, उदरे। ॐ यं त्वगात्मने नमः, हृदि। ॐ रं असृगात्मने नमः, दक्षांसे। ॐ लं मांसात्मने नमः, ककुदि। ॐ वं मेदात्मने नमः, वामांसे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः, हृदयादिदक्षहस्तान्तम्। ॐ षं मज्जात्मने नमः, हृदयादिवामहस्तान्तम्। ॐ सं शुक्रात्मने नमः, हृदयादिदक्षपादान्तम्। ॐ हं आत्मने नमः, हृदयादिवामपादान्तम्। ॐ ळं परमात्मने नमः, जठरे। ॐ क्षं प्राणात्मने नमः, मुखे।' इस प्रकार आदिमें 'प्रणव' और अन्तमें 'नमः' पद जोड़कर लिपीश्वरों—मातृकेश्वरोंका न्यास किया जाता है ॥ ३७–४० ॥

श्रीकण्ठ, अनन्त, सूक्ष्म, त्रिमूर्ति, अमरेश्वर, अर्घीश, भारभूति, तिथीश, स्थाणुक, हर, झिण्टीश, भौतिक, सद्योजात, अनुग्रहेश्वर, अक्रूर तथा महासेन—ये सोलह 'स्वर-मूर्तिदेवता' हैं। क्रोधीश, चण्डीश, पञ्चान्तक, शिवोत्तम, एकरुद्र, कूर्म, एकनेत्र, चतुरानन, अजेश, सर्वेश, सोमेश, लाङ्गलि, दारुक, अर्द्धनारीश्वर, उमाकान्त, आषाढी, दण्डी, अद्रि, मीन, मेष, लोहित, शिखी, छगलाण्ड, द्विरण्ड, महाकाल,

कपाली, भुजङ्गेश, पिनाकी, खड्गीश, बक, श्वेत, भृगु, नकुली, शिव तथा संवर्तक—ये 'व्यञ्जन-मूर्तिदेवता' माने गये हैं ॥ ४१–४६ ॥

उपर्युक्त श्रीकण्ठ आदि रुद्रोंका उनकी शक्तियोंसहित क्रमशः न्यास करे। [श्रीविद्यार्णव-तन्त्रमें इनकी शक्तियोंके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—पूर्णोदरी, विरजा, शाल्मली, लोलाक्षी, वर्तुलाक्षी, दीर्घघोणा, सुदीर्घमुखी, गोमुखी, दीर्घजिह्वा, कुण्डोदरी, ऊर्ध्वकेशी, विकृतमुखी, ज्वालामुखी, उल्कामुखी, श्रीमुखी तथा विद्यामुखी—ये रुद्रोंकी 'स्वर-शक्तियाँ' हैं। महाकाली, महासरस्वती, सर्वसिद्धि, गौरी, त्रैलोक्यविद्या, मन्त्रशक्ति, आत्मशक्ति, भूतमाता, लम्बोदरी, द्राविणी, नागरी, खेचरी, मञ्जरी, रूपिणी, वीरिणी, काकोदरी, पूतना, भद्रकाली, योगिनी, शङ्खिनी, गर्जिनी, कालरात्रि, कूर्दिनी, कपर्दिनी, वज्रिका, जया, सुमुखी, रेवती, माधवी, वारुणी, वायवी, रक्षोविदारिणी, सहजा, लक्ष्मी, व्यापिनी और महामाया—ये 'व्यञ्जनस्वरूपा रुद्रशक्तियाँ' कही गयी हैं।]

इनके न्यासकी विधि इस प्रकार है—'ह्सौं अं श्रीकण्ठाय पूर्णोदर्यै नमः। ह्सौं आं अनन्ताय विरजायै नमः।' इत्यादि। इसी तरह अन्य स्वरशक्तियोंका न्यास करना चाहिये। व्यञ्जन-शक्तियोंके न्यासके लिये यही विधि है। यथा—'ह्सौं कं क्रोधीशाय महाकाल्यै नमः। ह्सौं खं चण्डीशाय महासरस्वत्यै नमः।' इत्यादि। साधकको चाहिये कि उदयादि अङ्गोंका भी न्यास करे; क्योंकि सम्पूर्ण मन्त्र साङ्ग होनेपर ही सिद्धिदायक होते हैं। हृल्लेखाको व्योम-बीजसे युक्त करके इन अङ्गोंका न्यास करना चाहिये। हृदयादि अङ्ग मन्त्रोंको अन्तमें जोड़कर बोलना चाहिये। यथा—'ह्रां हृदयाय नमः। ह्रीं शिरसे स्वाहा। ह्रूं शिखायै वषट्। ह्रैं कवचाय हुम्। ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्रः अस्त्राय फट्।' यह 'षडङ्गन्यास' कहा गया है। पञ्चाङ्गन्यासमें नेत्रको छोड़ दिया जाता है। निरङ्ग-मन्त्रका उसके स्वरूपसे ही अङ्गन्यास करके क्रमशः वागीश्वरी देवी (ह्रीं) का एक लाख जप करे तथा यथोक्त (दशांश) तिलोंकी आहुति दे। लिपियोंकी अधिष्ठात्री देवी वागीश्वरी अपने चार हाथोंमें अक्षमाला, कलश, पुस्तक और कमल धारण करती हैं। कवित्व आदिकी शक्ति प्रदान करती हैं। इसलिये जपकर्मके आदिमें सिद्धिके लिये उनका न्यास करे। इससे अकवि भी निर्मल कवि होता है। मातृका-न्याससे सभी मन्त्र सिद्ध होते हैं ॥ ४७–५१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मन्त्र-परिभाषाका वर्णन' नामक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय

नाग-लक्षण *

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं नागोंकी उत्पत्ति, सर्पदंशमें अशुभ नक्षत्र आदि, सर्पदंशके विविध भेद, दंशके स्थान, मर्मस्थल, सूतक और सर्पदष्ट मनुष्यकी चेष्टा—इन सात लक्षणोंको कहता हूँ ॥ १ ॥

* अग्निपुराणमें जिस धन्वन्तरि-सुश्रुत-संवादद्वारा आयुर्वेदका प्रतिपादन किया गया है, वही विस्तारपूर्वक 'सुश्रुत' ग्रन्थमें वर्णित है। सर्पोंके सम्बन्धमें 'सुश्रुत' ग्रन्थमें (पू० तन्त्र, कल्पस्थान, अध्याय ४ में) जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश इस प्रकार है—सर्प दो प्रकारके हैं—'दिव्य' और 'भौम'। दिव्य सर्प वासुकि और तक्षक आदि हैं। वे इस पृथ्वीका बोझ उठानेवाले हैं; प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे कुपित हो जायँ तो फुफकार और दृष्टिमात्रसे सम्पूर्ण जगत्को दग्ध कर सकते हैं। वे सदा नमस्कारके ही योग्य हैं। उनके डसनेकी कोई दवा नहीं है। चिकित्सासे उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

परंतु जो भूमिपर उत्पन्न होनेवाले सर्प हैं, जिनकी दाढ़ोंमें विष होता है तथा जो मनुष्योंको काटते हैं, उनकी संख्या अस्सी है। उन सबके पाँच भेद हैं—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज। राजिमान्‌को ही अग्निपुराणमें 'राजिल' कहा गया है। इनमें 'दर्वीकर' छब्बीस, 'मण्डली' बाईस, 'राजिमान्' (या राजिल) दस, 'निर्विष' बारह तथा 'वैकरञ्ज' तीन प्रकारके होते हैं। वैकरञ्जोंद्वारा मण्डली तथा राजिलके संयोगसे उत्पन्न चित्रित सर्प सात प्रकारके माने गये हैं। मण्डलीके संयोगसे उत्पन्न चार और राजिलके संयोगसे उत्पन्न तीन। इस तरह इनके अस्सी प्रकार हुए।

दर्वीकर सर्प चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अङ्कुशका चिह्न धारण करनेवाले, फणयुक्त तथा शीघ्रगामी होते हैं। मण्डली सर्प विविध मण्डलोंसे चित्रित, मोटे तथा मन्दगामी हुआ करते हैं। वे अग्नि तथा सूर्यके तुल्य तेजस्वी जान पड़ते हैं। राजिमान् अथवा राजिल

शेष, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्खपाल एवं कुलिक—ये आठ नागोंमें श्रेष्ठ हैं।

सर्प चिकने होते हैं। वे तिरछी, ऊर्ध्वगामिनी एवं बहुरंगी रेखाओंद्वारा चित्रित-से जान पड़ते हैं। चरकने भी इन सर्पोंके विषयमें ऐसा ही, किंतु संक्षिप्त विवरण दिया है—

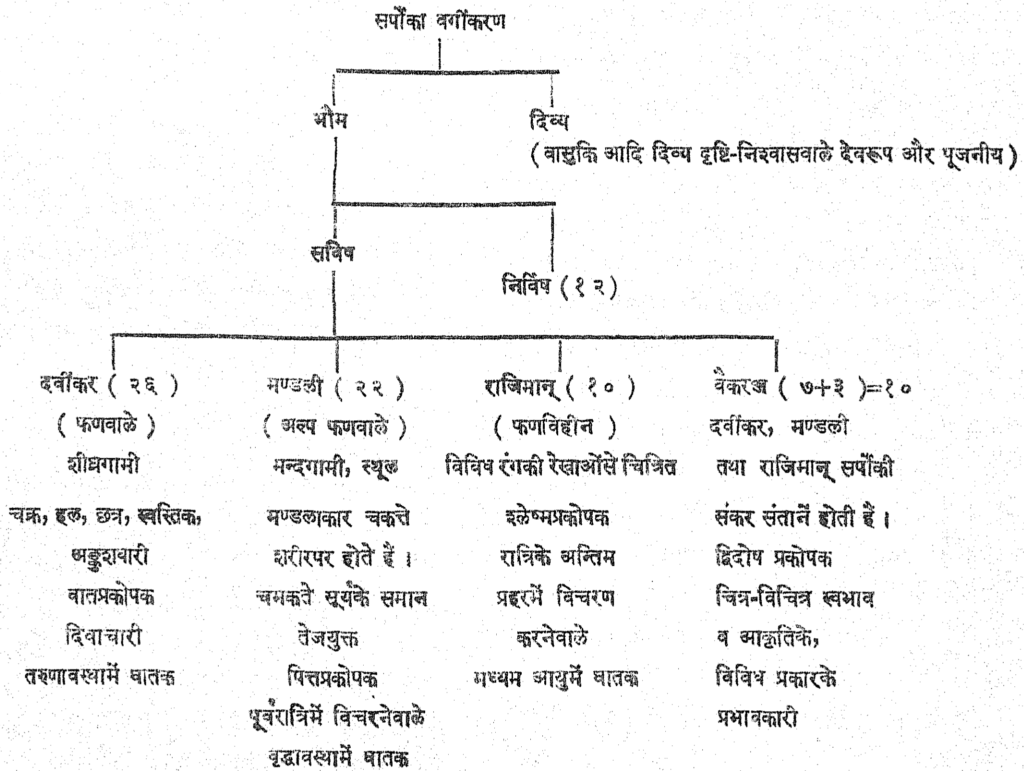
दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः। बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पतङ्गः स्यात्तु राजिमान्॥

'फणवाले (दर्वीकर) सर्प वायुको प्रकुपित करते हैं। मण्डली सर्पोंके दंशनसे पित्तका प्रकोप बढ़ता है तथा राजिमान् सर्प कफ-प्रकोपको बढ़ानेवाले होते हैं।' (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, कल्पस्थान ४। २९)

'राजिमान् सर्प रातके पिछले पहरमें, मण्डली सर्प रातके शेष तीन पहरोंमें और दर्वीकर सर्प दिनमें चरते और विचरते हैं।' (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, कल्पस्थान ४। ३१)

'दर्वीकर सर्प तरुणावस्थामें, मण्डली वृद्धावस्थामें और राजिमान् सर्प मध्यवयमें उग्र विषवाले होकर लोगोंकी मृत्युके कारण बनते हैं।' (सुश्रुत ४। ३२) मण्डली सर्पोंको गोनस भी कहते हैं।

'सुश्रुत-संहिता'की 'आयुर्वेद-तत्त्व-संदीपिका' व्याख्यामें सर्पोंका वर्गीकरण इस प्रकार दिया गया है—



'सुश्रुत-संहिता', पू० तन्त्र, कल्पस्थान, अध्याय ४ श्लोक २५ से २८ तक कुछ विशेष चिह्न और रंगोंके आधारपर सर्पोंमें ब्राह्मणादि जातियोंकी परिकल्पना की गयी है। जो सर्प मोती और चाँदीके समान सफेद, कपिल वर्णके सुनहरे रंगके तथा सुगन्धयुक्त होते हैं, वे जातिसे ब्राह्मण माने गये हैं। जो स्निग्ध वर्ण (चिकने), अत्यन्त क्रोधी, सूर्य और चन्द्रमाके समान आकृतिके या छत्र अथवा कमलके समान चिह्न धारण करनेवाले होते हैं, उन्हें क्षत्रिय जातिका सर्प मानना चाहिये। जो काले और वज्रके समान रंगवाले हैं अथवा जो कान्तिसे लाल, धूमिल एवं कबूतरके-से दिखायी देते हैं, वे सर्प वैश्य माने गये हैं। जिनका रंग भैंसों और चीतोंके समान हो, जो कठोर त्वचावाले हों, वे भाँति-भाँतिके विचित्र रंगवाले सर्प शूद्र जातिके होते हैं।

इन नागोंमेंसे दो नाग ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वैश्य और दो शूद्र कहे गये हैं[1] । ये चार वर्णोंके नाग क्रमशः दस सौ, आठ सौ, पाँच सौ और तीन सौ फणोंसे युक्त हैं। इनके वंशज पाँच सौ नाग हैं । उनसे असंख्य नागोंकी उत्पत्ति हुई है । आकारभेदसे सर्प फणी, मण्डली और राजिल—तीन प्रकारके माने जाते हैं । ये वात, पित्त और कफप्रधान हैं । इनके अतिरिक्त व्यन्तर, दोषमिश्र तथा दर्वीकर जातिवाले सर्प भी होते हैं । ये चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अङ्कुशके चिह्नोंसे युक्त होते हैं । गोनस सर्प विविध मण्डलोंसे चित्रित, दीर्घकाय और मन्दगामी होते हैं । राजिल सर्प स्निग्ध तथा ऊर्ध्वभाग और पार्श्वभागमें रेखाओंसे सुशोभित होते हैं । व्यन्तर सर्प मिश्रित चिह्नोंसे युक्त होते हैं । इनके पार्थिव, आप्य (जलसम्बन्धी), आग्नेय और वायव्य—ये चार मुख्य भेद और छब्बीस अवान्तर भेद हैं । गोनस सर्पोंके सोलह, राजिलजातीय सर्पोंके तेरह और व्यन्तर सर्पोंके इक्कीस भेद हैं । सर्पोंकी उत्पत्तिके लिये जो काल बताया गया है, उससे भिन्न कालमें जो सर्प उत्पन्न होते हैं, वे 'व्यन्तर' माने गये हैं । आषाढ़से लेकर तीन मासोंतक सर्पोंकी गर्भस्थिति होती है । गर्भस्थितिके चार मास व्यतीत होनेपर (सर्पिणी) दो सौ चालीस अंडे प्रसव करती है । सर्प-शावकके उन अंडोंसे बाहर निकलते ही उनमें स्त्री। पुरुष और नपुंसकके लक्षण प्रकट होनेसे पूर्व ही प्रायः सर्पगण उनको खा जाते हैं । कृष्णसर्प आँख खुलनेपर एक सप्ताहमें अंडेसे बाहर आता है । उसमें बारह दिनोंके बाद ज्ञानका उदय होता है । बीस दिनोंके बाद सूर्यदर्शन होनेपर उसके बत्तीस दाँत और चार दाढ़ें निकल आती हैं । सर्पकी कराली, मकरी, कालरात्रि और यमदूतिका—ये चार विषयुक्त दाढ़ें होती हैं । ये उसके वाम और दक्षिण पार्श्वमें स्थित होती हैं । सर्प छः महीनेके बाद केंचुलको छोड़ता है और एक सौ बीस वर्षतक जीवित रहता है । शेष आदि सात नाग क्रमशः रवि आदि वारोंके स्वामी माने गये हैं । वे वारेश दिन तथा रात्रिमें भी रहते हैं । (दिनके सात भाग करनेपर पहला भाग वारेशका होता है । शेष छः भागोंका अन्य छः नाग क्रमशः उपभोग करते हैं ।) शेष आदि सात नाग अपने-अपने वारोंमें उदित होते हैं, किंतु कुलिकका उदय सबके संधिकालमें होता है । अथवा महापद्म और शङ्खपालके साथ कुलिकका उदय माना जाता है । मतान्तरके अनुसार महापद्म और शङ्ख पालके मध्यकी दो घड़ियोंमें कुलिकका[2] उदय होता है ।

---

१. 'तन्त्रसार-संग्रह'की 'विषनारायणीय' टीकामें ब्राह्मण आदि वर्णवाले दो-दो नागोंके क्रमके विषयमें एक श्लोक उपलब्ध होता है—

आद्यन्तौ च तदाद्यन्तौ तदाद्यन्तौ च मध्यगौ ।

'आदि और अन्तके नाग ब्राह्मण हैं । उसके बाद पुनः आदि-अन्तके नाग क्षत्रिय हैं, तत्पश्चात् पुनः आदि-अन्तके नाग वैश्य हैं और मध्यवर्ती दो नाग शूद्र हैं ।'

'शारदातिलक' १० । ७ में इन नागोंको त्वरिता देवीका आभूषण बताया गया है । उक्त श्लोककी टीकामें उद्धृत 'नारायणीय-तन्त्र'के श्लोकोंमें इन नागोंका ध्यान इस प्रकार बताया गया है—

अनन्तकुलिकौ विप्रौ वह्निवर्णावुदाहृतौ ।
प्रत्येकं तु सहस्रेण फणानां समलंकृतौ ॥
वासुकिः शङ्खपालश्च क्षत्रियौ पीतवर्णकौ ।
प्रत्येकं तु फणासप्तशतसंख्याविराजितौ ॥
तक्षकश्च महापद्मो वैश्यावेतावुभौ स्मृतौ ।
नीलवर्णौ फणापञ्चशतौ तुङ्गोत्तमाङ्गकौ ॥
पद्मकर्कोटकौ शूद्रौ फणात्रिशतकौ सितौ ।

'अनन्त (शेषनाग) और कुलिक—ये दो नाग ब्राह्मण कहे गये हैं । इनकी अङ्गकान्ति अग्निके समान उज्ज्वल है । इनमेंसे प्रत्येक सहस्र फणोंसे समलंकृत है । वासुकि और शङ्खपाल—ये क्षत्रिय हैं । इनकी कान्ति पीली है । इनमेंसे प्रत्येक सात सौ फणोंद्वारा सुशोभित है । तक्षक और महापद्म—ये दो नाग वैश्य माने गये हैं । इनकी अङ्गकान्ति नीली है । इनके उन्नत मस्तक पाँच-पाँच सौ फणोंसे अलंकृत हैं । पद्म तथा कर्कोटक—ये दो नाग शूद्र हैं और उनकी कान्ति श्वेत है ।'

निम्नाङ्कित रीतिसे नागोंके वर्ण आदिको जानना चाहिये—

नागोंके नाम	वर्ण	रंग	फण
१—शेषनाग (अनन्त)	ब्राह्मण	अग्निके समान	१,०००
२—कुलिक	ब्राह्मण	उज्ज्वल	१,०००
१—वासुकि, २ शङ्खपाल	क्षत्रिय	पीत	७००
		अग्निपुराणके अनुसार	८००
१—तक्षक, २ महापद्म	वैश्य	नील	५००
१—पद्म, २ कर्कोटक	शूद्र	श्वेत	३००

२. प्रतिदिन दिनमानके सात भागोंमें वारेशसे आरम्भ कर कुलिकके सिवा अन्य सात नाग क्रमशः एक-एक अंशके स्वामी होते हैं। लोकप्रचलित फलित ग्रन्थोंमें शनिका अंश ही कुलिकका अंश माना गया है । इसलिये महापद्म और शङ्खपालके मध्यकी दो घड़ी ही सर्वसम्मत 'कुलिकोदयकाल' प्रतीत होता है ।

कुलिकोदयका समय सभी कार्योंमें दोषयुक्त माना गया है। सर्पदंशमें तो वह विशेषतः अशुभ है। कृत्तिका, भरणी, स्वाती, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपदा, अश्विनी, विशाखा, आर्द्रा, आश्लेषा, चित्रा, श्रवण, रोहिणी, हस्त नक्षत्र, शनि तथा मङ्गलवार एवं पञ्चमी, अष्टमी, षष्ठी, रिक्ता—चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी एवं शिवा (तृतीया) तिथि सर्पदंशमें निन्द्य मानी गयी हैं। पञ्चमी और चतुर्दशी तिथियोंमें सर्पका दंशन विशेषतः निन्दित है। यदि सर्प चारों संध्याओंके समय, दग्धयोग या दग्धराशिमें डँस ले, तो अनिष्टकारक होता है। एक, दो और तीन दंशनोंको क्रमशः 'दष्ट', 'विद्ध' और 'खण्डित' कहते हैं। सर्पका केवल स्पर्श हो, परंतु वह डँसे नहीं तो उसे 'अदंश' कहते हैं। इसमें मनुष्य सुरक्षित रहता है। इस प्रकार सर्पदंशके चार भेद हुए। इनमें तीन, दो एवं एक दंश वेदनाजनक और रक्तस्राव करनेवाले हैं। एक पैर और कूर्मके समान आकारवाले दंश मृत्युसे प्रेरित होते हैं। अङ्गोंमें दाह, शरीरमें चींटियोंके रेंगनेका-सा अनुभव, कण्ठशोथ एवं अन्य पीड़ासे युक्त और व्यथाजनक गाँठवाला दंशन विषयुक्त माना जाता है, इनसे भिन्न प्रकारका सर्पदंश विषहीन होता है। देवमन्दिर, शून्यगृह, वल्मीक (बाँबी), उद्यान, वृक्षके कोटर, दो सड़कों या मार्गोंकी संधि, श्मशान, नदी-सागर-संगम, द्वीप, चतुष्पथ (चौराहा), राजप्रासाद, गृह, कमलवन, पर्वतशिखर, बिलद्वार, जीर्णकूप, जीर्णगृह, दीवाल, शोभाञ्जन, श्लेष्मातक (लिसोड़ा) वृक्ष, जम्बूवृक्ष, उदुम्बर-वृक्ष, वेणुवन (बँसवारी), वटवृक्ष और जीर्ण प्राकार (चहारदीवारी) आदि स्थानोंमें सर्प निवास करते हैं। इन्द्रिय-छिद्र, मुख, हृदय, कक्ष, जत्रु (ग्रीवामूल), तालु, ललाट, ग्रीवा, सिर, चिबुक (ठुड्डी), नाभि और चरण—इन अङ्गोंमें सर्पदंश अशुभ है। विषचिकित्सककी सर्पदंशकी सूचना देनेवाला दूत यदि हाथोंमें फूल लिये हो, सुन्दर वाणी बोलता हो, उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, सर्पदष्ट मनुष्यके समान लिङ्ग एवं जातिका हो, श्वेतवस्त्रधारी हो, निर्मल और पवित्र हो, तो शुभ माना गया है। इसके विपरीत जो दूत मुख्यद्वारके सिवा दूसरे मार्गसे आया हो, शस्त्रयुक्त एवं प्रमादी हो, भूमिपर दृष्टि गड़ाये हो, गंदा या बदरंग वस्त्र पहने हो, हाथमें पाश आदि लिये हो, गद्गदकण्ठसे बोल रहा हो, सूखे काठपर बैठा हो, खिन्न हो तथा जो हाथमें काले तिल लिये हो या लाल रंगके धब्बेसे युक्त वस्त्र धारण किये हो अथवा भीगे वस्त्र पहने हुए हो, जिसके मस्तकके बालोंपर काले और लाल रंगके फूल पड़े हों, अपने कुचोंका मर्दन, नखोंका छेदन या गुदाका स्पर्श कर रहा हो, भूमिको पैरसे खुरच रहा हो, केशोंको नोंच रहा हो या तिनके तोड़ रहा हो, ऐसे दूत दोषयुक्त कहे गये हैं। इन लक्षणोंमेंसे एक भी हो तो अशुभ है ॥ २–२८ ॥

अपनी और दूतकी यदि इडा अथवा पिङ्गला या दोनों ही नाड़ियाँ चल रही हों, उन दोनोंके इन चिह्नोंसे डँसनेवाले सर्पको क्रमशः स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक जाने। दूत अपने जिस अङ्गका स्पर्श करे, रोगीके उसी अङ्गमें सर्पका दंश हुआ जाने। दूतके पैर चञ्चल हों तो अशुभ और यदि स्थिर हों तो शुभ माने गये हैं ॥ २९-३० ॥

किसी जीवके पार्श्वदेशमें स्थित दूत शुभ और अन्य भागोंमें स्थित अशुभ माना गया है। दूतके निवेदनके समय किसी जीवका आगमन शुभ और गमन अशुभ है। दूतकी वाणी यदि अत्यन्त दोषयुक्त हो अथवा सुस्पष्ट प्रतीत न होती हो तो वह निन्दित कही गयी है। उसके सुस्पष्ट एवं विभक्त वचनोंद्वारा यह ज्ञात होता है कि सर्पका दंशन विषयुक्त है अथवा विषरहित। दूतके वाक्यके आदिमें 'स्वर' और 'कादि' वर्गके भेदसे लिपिके दो प्रकार माने जाते हैं। दूतके वचनसे वाक्यके आरम्भमें स्वर प्रयुक्त हो, तो सर्पदष्ट मनुष्यकी जीवनरक्षा और कादिवर्गोंके प्रयुक्त होनेपर अशुभकी आशङ्का होती है। यह मातृका-विधान है। 'क' आदि वर्गोंमें आरम्भके चार अक्षर क्रमशः वायु, अग्नि, इन्द्र और वरुणदेवता-सम्बन्धी होते हैं। कादि वर्गोंके पञ्चम अक्षर नपुंसक माने गये हैं। 'अ' आदि स्वर ह्रस्व और दीर्घके भेदसे क्रमशः इन्द्र एवं वरुणदेवता-सम्बन्धी होते हैं। दूतके वाक्यारम्भमें वायु और अग्निदैवत्य अक्षर दूषित और ऐन्द्र अक्षर मध्यम फलप्रद हैं। वरुणदैवत्य वर्ण उत्तम और नपुंसक वर्ण अत्यन्त अशुभ हैं ॥ ३१–३५ ॥

विषचिकित्सकके प्रस्थानकालमें मङ्गलमय वचन, मेघ और गजराजकी गर्जना, दक्षिणपार्श्वमें फलयुक्त वृक्ष हो और वामभागमें किसी पक्षीका कलरव हो रहा हो, तो वह विजय या सफलताका सूचक है। प्रस्थानकालमें गीत आदिके शब्द शुभ होते हैं। दक्षिणभागमें अनर्थसूचक वाणी, चक्रवाकका रुदन—ऐसे लक्षण सिद्धिके सूचक हैं। पक्षियोंकी अशुभ ध्वनि और छींक—ये कार्यमें असिद्धि प्रदान करते

हैं। वेश्या, ब्राह्मण, राजा, कन्या, गौ, हाथी, ढोलक, पताका, दुग्ध, घृत, दही, शङ्ख, जल, छत्र, भेरी, फल, मदिरा, अक्षत, सुवर्ण और चाँदी—ये लक्षण सम्मुख होनेपर कार्यसिद्धिके सूचक हैं। काष्ठपर अग्निसे युक्त शिल्पकार, मैले कपड़ोंका बोझ ढोनेवाले पुरुष, गलेमें टंक (पाषाणभेदक शस्त्र) धारण किये हुए मनुष्य, शृगाल, गृध्र, उलूक, कौड़ी, तेल, कपाल और निषिद्ध भस्म—ये लक्षण नाशके सूचक हैं। विषके एक धातुसे दूसरे धातुमें प्रवेश करनेसे विषसम्बन्धी सात रोग होते हैं। विषदंश पहले ललाटमें, ललाटसे नेत्रमें और नेत्रसे मुखमें जाता है। मुखमें प्रविष्ट होनेके बाद वह सम्पूर्ण धमनियोंमें व्याप्त हो जाता है। फिर क्रमशः धातुओंमें प्रवेश करता है॥ ३६—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नागलक्षणकथन' नामक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९४॥

दो सौ पंचानबेवाँ अध्याय

दष्ट-चिकित्सा

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं मन्त्र, ध्यान और ओषधिके द्वारा साँपके द्वारा डँसे हुए मनुष्यकी चिकित्साका वर्णन करता हूँ। '**ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय**'—इस मन्त्रके जपसे विषका नाश होता है[1]। घृतके साथ गोबरके रसका पान करे। यह ओषधि साँपके डसे हुए मनुष्यके जीवनकी रक्षा करती है। विष दो प्रकारके कहे जाते हैं—'जङ्गम' विष, जो सर्प और मूषक आदि प्राणियोंमें पाया जाता है एवं दूसरा 'स्थावर' विष, जिसके अन्तर्गत शृङ्गी (सिंगिया) आदि विषभेद हैं॥ १-२॥

शान्तस्वरसे युक्त ब्रह्मा (क्षौं), लोहित (ह्रीं), तारक (ॐ) और शिव (ह्रौं)—यह चार अक्षरोंका वियति-सम्बन्धी नाममन्त्र है[2]। इसे शब्दमय तार्क्ष्य (गरुड) माना गया है॥ ३-४॥

'ॐ ज्वल महामते हृदयाय नमः, गरुड विशाल शिरसे स्वाहा, गरुड शिखायै वषट्, गरुडविषभञ्जन प्रभेदन प्रभेदन वित्रासय वित्रासय विमर्दय विमर्दय कवचाय हुम्, उग्ररूपधारक सर्वभयंकर भीषय भीषय सर्वं दह दह भस्मीकुरु कुरु स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट्। अप्रतिहतशासनं वं हुं फट्, अस्त्राय फट्।'

मातृकामय कमल बनावे। उसके आठों दिशाओंमें आठ दल हों। पूर्वादि दलोंमें दो-दोके क्रमसे समस्त स्वर-वर्णोंको लिखे। कवर्गादि सात वर्गोंके अन्तिम दो-दो अक्षरोंका भी प्रत्येक दलमें उल्लेख करे। उस कमलके केसरभागको वर्गके आदि अक्षरोंसे अवरुद्ध करे तथा कर्णिकामें अग्निबीज 'रं' लिखे। मन्त्रका साधक उस कमलको हृदयस्थ करके बायें हाथकी हथेलीपर उसका चिन्तन करे। अङ्गुष्ठ आदिमें वियति-मन्त्रके वर्णोंका न्यास करे और उनके द्वारा भेदित कलाओंका भी चिन्तन करे। तदनन्तर चौकोर 'भूपुर' नामक मण्डल बनावे, जो पीले रंगका हो और चारों ओरसे वज्रद्वारा चिह्नित हो। यह मण्डल इन्द्रदेवताका होता है। अर्धचन्द्राकार वृत्त जलदेवता-सम्बन्धी है। कमलका आधा भाग शुक्लवर्णका है। उसके देवता वरुण हैं। फिर स्वस्तिक-चिह्नसे युक्त त्रिकोणाकार तेजोमय वह्निदेवताके मण्डलका चिन्तन करे। वायुदेवताका मण्डल बिन्दुयुक्त एवं वृत्ताकार है। वह कृष्णमालासे सुशोभित है, ऐसा चिन्तन करे॥ ५—८॥

ये चार भूत अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका—इन चार अँगुलियोंके मध्यपर्वोंमें स्थित अपने निवासस्थानोंमें विराजमान हैं और सुवर्णमय नागवाहनसे इनके वासस्थान आवेष्टित हैं। इस प्रकार चिन्तनपूर्वक क्रमशः पृथ्वी आदि तत्त्वोंका अङ्गुष्ठ आदिके मध्यपर्वमें न्यास करे। साथ ही वियति-मन्त्रके चार वर्णोंको भी क्रमशः उन्हींमें विन्यस्त

---

१. 'सुश्रुत'में मन्त्रग्रहणकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'स्त्री, मांस और मधु (मद्य) का सेवन छोड़कर, मिताहारी और पवित्र होकर मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। मन्त्र-साधकको कुशके आसनपर बैठना और सोना चाहिये। मन्त्रकी सिद्धिके लिये वह यत्नपूर्वक गन्ध, माल्य, उपहार, बलि, जप और होमके द्वारा देवताओंका पूजन करे। अविधिपूर्वक उच्चारित अथवा स्वरवर्णसे हीन मन्त्र सिद्धिप्रद नहीं होते हैं। इसलिये मन्त्रप्रयोगके साथ-साथ औषध-उपचार आदिका क्रम भी चालू रखना चाहिये। (सुश्रुत, उत्तर तन्त्र, कल्पस्थान ५। १३)

२. इन चारों अक्षरोंका उद्धार 'तन्त्राभिधानकोष'के अनुसार किया गया है।

करे। इन वर्णोंकी कान्ति उनके सुन्दर मण्डलोंके समान है। इस प्रकार न्यास करनेके पश्चात् रूपरहित शब्दतन्मात्रमय शिवदेवताके आकाशतत्त्वका कनिष्ठाके मध्यपर्वमें चिन्तन करके उसके भीतर वेदमन्त्रके प्रथम अक्षरका न्यास करे। पूर्वोक्त नागोंके नामके आदि अक्षरोंका उनके अपने मण्डलोंमें न्यास करे। पृथ्वी आदि भूतोंके आदि अक्षरोंका अङ्गुष्ठ आदि अँगुलियोंके अन्तिम पर्वोंपर न्यास करे तथा विद्वान् पुरुष गन्धतन्मात्रादिके गन्धादि गुणसम्बन्धी अक्षरोंका पाँचों अँगुलियोंमें न्यास करे ॥ ९–१२ ॥

इस प्रकार न्यास-ध्यानपूर्वक तार्क्ष्य-मन्त्रसे रोगीके हाथका स्पर्शमात्र करके मन्त्रज्ञ विद्वान् उसके स्थावर-जंगम दोनों प्रकारके विषोंका नाश कर देता है। विद्वान् पुरुष पृथ्वीमण्डल आदिमें विन्यस्त वियति-मन्त्रके चारों वर्णोंका अपनी श्रेष्ठ दो अँगुलियोंद्वारा शरीरके नाभिस्थानों और पर्वोंमें न्यास करे। तदनन्तर गरुडके स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करे—'पक्षिराज गरुड दोनों घुटनोंतक सुनहरी आभासे सुशोभित हैं। घुटनोंसे लेकर नाभितक उनकी अङ्गकान्ति बर्फके समान सफेद है। वहाँसे कण्ठतक वे कुङ्कुमके समान अरुण प्रतीत होते हैं और कण्ठसे केशपर्यन्त उनकी कान्ति असित (श्याम) है। वे समूचे ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। उनका नाम चन्द्र है और वे नागमय आभूषणसे विभूषित हैं। उनकी नासिकाका अग्रभाग नीले रंगका है और उनके पंख बड़े विशाल हैं।' मन्त्रज्ञ विद्वान् अपने-आपका भी गरुडके रूपमें ही चिन्तन करे। इस तरह गरुडस्वरूप मन्त्रप्रयोक्ता पुरुषके वाक्यसे मन्त्र विषपर अपना प्रभाव डालता है। गरुडके हाथकी मुट्ठी रोगीके हाथमें स्थित हो तो वह उसके अङ्गुष्ठमें स्थित विषका विनाश कर देती है। मन्त्रज्ञ पुरुष अपने गरुडस्वरूप हाथको ऊपर उठाकर उसकी पाँचों अँगुलियोंके चालनमात्रसे विषसे उत्पन्न होनेवाले मदपर दृष्टि रखते हुए उस विषका स्तम्भन आदि कर सकता है ॥ १३–१७½ ॥

आकाशसे लेकर भू-बीजपर्यन्त जो पाँच बीज हैं, उन्हें 'पञ्चाक्षर मन्त्रराज' कहा गया है। (उसका स्वरूप इस प्रकार है—हं, यं, रं, वं, लं।) अत्यन्त विषका स्तम्भन करना हो तो इस मन्त्रके उच्चारणमात्रसे मन्त्रज्ञ पुरुष विषको रोक देता है। यह 'व्यत्यस्तभूषण' बीजमन्त्र है। अर्थात् इन बीजोंको उलट-फेरकर बोलना इस मन्त्रके लिये भूषणरूप है। इसको अच्छी तरह साध लिया जाय और इसके आदिमें 'संप्लवं प्लावय प्लावय'—यह वाक्य जोड़ दिया जाय तो मन्त्र प्रयोक्ता पुरुष इसके प्रयोगसे विषका संहार कर सकता है ॥ १८-१९½ ॥

इस मन्त्रके भलीभाँति जपसे अभिमन्त्रित जलके द्वारा अभिषेक करनेमात्रसे यह मन्त्र अपने प्रभावद्वारा उस रोगीसे डंडा उठवा सकता है, अथवा मन्त्रजपपूर्वक की गयी शङ्ख-भेर्यादिकी ध्वनिको सुननेमात्रसे यह प्रयोग रोगीके विषको अवश्य ही दग्ध कर देता है। यदि भू-बीज 'लं' तथा तेजोबीज 'रं' को उलटकर रक्खा जाय, अर्थात् 'हं, यं, लं, वं, '—इस प्रकार मन्त्रका स्वरूप कर दिया जाय तो उसका प्रयोग भी उपर्युक्त फलका साधक होता है। अर्थात् उससे भी विषका दहन हो जाता है। भू-बीज और वायु-बीजका व्यत्यय करनेसे जो मन्त्र बनता है वह (हं लं रं वं यं) विषका संक्रामक होता है, अर्थात् उसका अन्यत्र संक्रमण करा देता है। मन्त्र-प्रयोक्ता पुरुष रोगीके समीप बैठा हो या अपने घरमें स्थित हो, यदि गरुडके स्वरूपका चिन्तन तथा अपने-आपमें भी गरुडकी भावना करके 'रं वं'—इन दो ही बीजोंका उच्चारण (जप) करे तो इस कर्मको सफल बना सकता है। गरुड और वरुणके मन्दिरमें स्थित होकर उक्त मन्त्रका जप करनेसे मन्त्रज्ञ पुरुष विषका नाश कर देता है। 'स्वधा' और श्रीके बीजोंसे युक्त करके यदि इस मन्त्रको बोला जाय तो इसे 'जानुदण्डिमन्त्र' कहते हैं। इसके जपपूर्वक स्नान और जलपान करनेसे साधक सब प्रकारके विष, ज्वर, रोग और अपमृत्युपर विजय पा लेता है ॥ २०–२४ ॥

१–पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि वि वि स्वाहा।

२–पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि क्षि क्षि स्वाहा ॥

—ये दो पक्षिराज गरुडके मन्त्र हैं। इनके द्वारा अभिमन्त्रण करने, अर्थात् इनके जपपूर्वक रोगीको झाड़नेसे ये दोनों मन्त्र विषके नाशक होते हैं ॥ २५-२६ ॥

'पक्षिराजाय विद्महे पक्षिदेवाय धीमहि तन्नो गरुडः प्रचोदयात्।'—वह गरुड-गायत्रीमन्त्र है ॥ २७ ॥

उपर्युक्त दोनों पक्षिराज-मन्त्रोंको 'रं' बीजसे आवृत्त करके उनके पार्श्वभागमें भी 'रं' बीज जोड़ दे। तदनन्तर दन्त, श्री, दण्डि, काल और लाङ्गलीसे उन्हें युक्त कर दे और आदिमें पूर्वोक्त 'नीलकण्ठ-मन्त्र' जोड़ दे। इस प्रकार बताये गये मन्त्रका वक्षःस्थल, कण्ठ और शिखामें न्यास करे। उक्त दोनों मन्त्रोंका संस्कार करके उन्हें स्तम्भमें अङ्कित करे ॥ २८ ॥

इसके पश्चात् निम्नाङ्कित रूपसे न्यास करे—'हर हर

स्वाहा हृदयाय नमः । कपर्दिने स्वाहा शिरसे स्वाहा। नीलकण्ठाय स्वाहा शिखायै वषट् । कालकूटविषभक्षणाय हुं फट् कवचाय हुम् ।' इससे भुजाओं तथा कण्ठका स्पर्श करे । 'कृत्तिवाससे नेत्रत्रयाय वौषट् नीलकण्ठाय स्वाहा अस्त्राय फट्' ॥ २९ ॥

जिनके पूर्व आदि मुख क्रमशः श्वेत, पीत, अरुण और श्याम हैं, जो अपने चारों हाथोंमें क्रमशः अभय, वरद, धनुष तथा वासुकि नागको धारण करते हैं, जिनके गलेमें यज्ञोपवीत शोभा पाता है और पार्श्वभागमें गौरीदेवी विराजमान हैं, वे भगवान् रुद्र इस मन्त्रके देवता हैं। दोनों पैर, दोनों घुटने, गुह्यभाग, नाभि, हृदय, कण्ठ और मस्तक—इन अङ्गोंमें मन्त्रके अक्षरोंका न्यास करके दोनों हाथोंमें अङ्गुष्ठ आदि अँगुलियोंमें अर्थात् तर्जनीसे लेकर तर्जनीपर्यन्त अँगुलियोंमें मन्त्राक्षरोंका न्यास करके सम्पूर्ण मन्त्रका अङ्गुष्ठोंमें न्यास करे ॥३०—३२½॥

इस प्रकार ध्यान और न्यास करके शीघ्र ही बँधी हुई शूलमुद्राद्वारा विषका संहार करे । कनिष्ठा अँगुली ज्येष्ठासे बँध जाय और तीन अन्य अँगुलियाँ फैल जायँ तो 'शूलमुद्रा' होती है । विषका नाश करनेके लिये बायें हाथका और अन्य कार्योंमें दक्षिण हाथका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय चिः । अमलकण्ठाय चिः । सर्वज्ञकण्ठाय चिः । क्षिप क्षिप ॐ स्वाहा । अमलनीलकण्ठाय नैकसर्वविषापहाय । नमस्ते रुद्र मन्यवे ।

—इस मन्त्रको पढ़कर झाड़नेसे विष नष्ट हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है । रोगीके कानमें जप करनेसे अथवा मन्त्र पढ़ते हुए जूतेसे रोगीके पासकी भूमिपर पीटनेसे विष उतर जाता है । रुद्रविधान करके उसके द्वारा नीलकण्ठ महेश्वरका यजन करे । इससे विष-व्याधिका विनाश हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दष्ट-चिकित्साका कथन' नामक दो सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

दो सौ छियानबेवाँ अध्याय

पञ्चाङ्ग-रुद्रविधान

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं 'पञ्चाङ्ग-रुद्र-विधान' का वर्णन करता हूँ । यह परम उत्तम तथा सब कुछ प्रदान करनेवाला है। 'शिवसंकल्प' इसका हृदय, 'पुरुषसूक्त' शीर्ष, 'अद्भ्यः सम्भृतः०' (यजु० ३१ । १७) आदि सूक्त शिखा और 'आशुः शिशानः' आदि अध्याय इसका कवच है । शतरुद्रिय-संज्ञक रुद्रके ये पाँच अङ्ग हैं । रुद्रदेवका ध्यान करके इसके पञ्चाङ्गभूत रुद्रोंका क्रमशः जप करे । 'यज्जाग्रतो०' आदि छः ऋचाओंका शिवसंकल्प-सूक्त (यजु० ३४ । १—६) इसका हृदय है । इसके शिवसंकल्प ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द कहे गये हैं । 'सहस्रशीर्षा०' (यजु० ३१) से प्रारम्भ होनेवाला पुरुषसूक्त इसका शीर्षस्थानीय है । इसके नारायण ऋषि, पुरुष देवता और अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द जानने चाहिये । 'अद्भ्यः सम्भृतः०' आदि सूक्तके उत्तरगामी नर ऋषि हैं । इनमें क्रमशः पहले तीन मन्त्रोंका त्रिष्टुप् छन्द, फिर दो मन्त्रोंका अनुष्टुप् छन्द और अन्तिम मन्त्रका त्रिष्टुप् छन्द है तथा पुरुष इसके देवता हैं । 'आशुः शिशानः०' (यजु० १७ । ३३) आदि सूक्तमें बारह मन्त्रोंके इन्द्र देवता और त्रिष्टुप् छन्द हैं । इन सत्रह ऋचाओंके सूक्तके ऋषि 'प्रतिरथ' कहे गये हैं, किंतु देवता भिन्न-भिन्न माने गये हैं । कुछ मन्त्रोंके पुरुवित् देवता हैं । अवशिष्ट देवतासम्बन्धी मन्त्रोंका छन्द अनुष्टुप् कहा गया है । 'असौ यस्ताम्रो०' (यजु० १६ । ६) मन्त्रके पुरुलिङ्गोक्त देवता और पंक्ति छन्द हैं । 'मर्माणि ते०' (यजु० १७ । ४९) मन्त्रका त्रिष्टुप् छन्द और लिङ्गोक्त देवता हैं । सम्पूर्ण रुद्राध्यायके परमेष्ठी ऋषि, 'देवानाम्' इत्यादि मन्त्रोंके प्रजापति ऋषि और तीनों ऋचाओंके कुत्स ऋषि हैं। 'मा नो महान्तमुत मा नो०' (यजुर्वेद १६ । १५) और 'मा नस्तोके०' (यजु० १६ । १६) आदि दो मन्त्रोंके एकमात्र उमा तथा अन्य मन्त्रोंके रुद्र और रुद्रगण देवता हैं । सोलह ऋचाओंवाले आद्य अनुवाकके रुद्र देवता हैं । प्रथम मन्त्रका छन्द गायत्री, तीन ऋचाओंका अनुष्टुप्, तीन ऋचाओंका पंक्ति, सात ऋचाओंका अनुष्टुप् और दो मन्त्रोंका जगती छन्द है । 'नमो हिरण्यबाहवे०' (यजु० १६ । १७) मन्त्रसे लेकर

१. यह अङ्गन्यास 'शारदातिलक' और 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इसी प्रकार उपलब्ध है ।

'नमो वः किरिकेभ्यः०' (यजु० १६ । ४६) तक रुद्रगणकी तीन अशीतियाँ हैं। रुद्रानुवाकके पाँच ऋचाओंके रुद्र देवता हैं। बीसवीं ऋचा भी रुद्रदेवता-सम्बन्धिनी है। पहली ऋचाका छन्द बृहती, दूसरीका त्रिजगती, तीसरीका त्रिष्टुप् और शेष तीनका अनुष्टुप् छन्द है। श्रेष्ठ आचरणसे युक्त पुरुष इसका ज्ञान पाकर उत्तम सिद्धिका लाभ करता है। 'त्रैलोक्य-मोहन' मन्त्रसे भी विष-व्याधि आदिका विनाश होता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—'ह्रूं श्रीं ह्रीं ह्रूं त्रैलोकमोहनाय विष्णवे नमः।' (त्रैलोक्यमोहन विष्णुको नमस्कार है) निम्नाङ्कित आनुष्टुभ नृसिंह-मन्त्रसे भी विषव्याधिका विनाश होता है ॥ १–१६ ॥

(आनुष्टुभ नृसिंह-मन्त्र)

ॐ ह्रं ह्रं उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ॥

'जो उग्र, वीर, सर्वतोमुखी तेजसे प्रज्वलित, भयंकर तथा मृत्युकी भी मृत्यु होते हुए भी भक्तजनोंके लिये कल्याणस्वरूप हैं, उन महाविष्णु नृसिंहका मैं भजन करता हूँ।' हृदयादि पाँच अङ्गोंके न्याससे युक्त यही मन्त्र समस्त अर्थोंको सिद्ध करनेवाला है। श्रीविष्णुके द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर मन्त्र भी विष-व्याधिका नाश करनेवाले हैं। 'कुब्जिका त्रिपुरा गौरी चन्द्रिका विषहारिणी।'—यह प्रसादमन्त्र विषहारक तथा आयु और आरोग्यका वर्धक है। सूर्य और विनायकके मन्त्र भी विषहारी कहे गये हैं। इसी तरह समस्त रुद्रमन्त्र भी विषका नाश करनेवाले हैं ॥ १८–२१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पञ्चाङ्ग-रुद्रविधान' नामक दो सौ छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय

विषहारी मन्त्र तथा औषध

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'ॐ नमो भगवते रुद्राय चिछन्द-चिछन्द विषं ज्वलितपरशुपाणये स्वाहा।'—इस मन्त्रसे और 'ॐ नमो भगवते पक्षिरुद्राय दष्टकमुत्थापयोत्थापय, दष्टकं कम्पय कम्पय जल्पय जल्पय सर्पदष्टमुत्थापयोत्थापय लल लल बन्ध बन्ध मोचय मोचय वररुद्र गच्छ गच्छ वध वध त्रुट त्रुट बुक बुक भीषय भीषय मुष्टिना विषं संहर संहर ठ ठ।'—इस 'पक्षिरुद्र-मन्त्र'से सर्पदष्ट मनुष्यको अभिमन्त्रित करनेपर उसके विषका नाश हो जाता है। ॐ नमो भगवते रुद्र नाशय विषं स्थावरजङ्गमं कृत्रिमाकृत्रिमं विषमुपविषं नाशय नानाविषं दष्टकविषं नाशय धम धम दम दम वम वम मेघान्धकारधारावर्षकर्ष निर्विषीभव संहर संहर गच्छ गच्छ आवेशय आवेशय विषोत्थापनरूपं मन्त्राद् विषधारणम् 'ॐ क्षिप ॐ क्षिप स्वाहा' 'ॐ ह्रां ह्रीं ख्रीं सः ठं द्रौं ह्रीं ठः।'—यह मन्त्र जप आदिके द्वारा सिद्ध होनेपर सदैव सर्पोंको बाँध लेता है।

'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'—यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थोंको सिद्ध करनेवाला है। इसमें आदिके एक, दो, तीन और चौथा अक्षर बीजके रूपमें होगा। इससे हृदय, सिर, शिखा और कवचका न्यास होगा। फिर 'कृष्णचक्राय अस्त्राय फट्' बोलनेसे पञ्चाङ्गन्यासकी क्रिया पूरी होगी।

'ॐ नमो भगवते रुद्राय प्रेताधिपतये हुलु हुलु गर्ज गर्ज नागान् त्रासय त्रासय मुञ्च मुञ्च मोहय मोहय कट्ट कट्ट आविश आविश सुवर्णपतङ्ग रुद्रो ज्ञापयति स्वाहा ॥ १–५ ॥

यह 'पातालक्षोभ-मन्त्र' है। इसके द्वारा रोगीको अभिमन्त्रित करनेसे यह उसके लिये विषनाशक होता है। दंशक सर्पके डँस लेनेपर जलते काष्ठ, तप्त शिला, आगकी ज्वाला अथवा गरम कोकनद (कमल) आदिके द्वारा दंश-स्थानको जला दे—सेंक दे; इससे विषका उपशमन होता है। शिरीषवृक्षके बीज और पुष्प, आकके दूध और बीज एवं सोंठ, मिर्च तथा पीपल—ये पान, लेपन और अञ्जन आदिके द्वारा विषका नाश करते हैं। शिरीष-पुष्पके रससे भावित सफेद मिर्च पान, नस्य और अञ्जन आदिके द्वारा विषका उपसंहार करती है, इसमें संशय नहीं है। कड़वी तोरई, वच, हींग तथा शिरीष और आकका दूध, त्रिकटु और मेषशृङ्ग—इनका नस्य आदिके रूपमें प्रयोग होनेपर ये विषका हरण करते हैं। अङ्कोल और कड़वी तुम्बीके सर्वाङ्गके चूर्णसे नस्य लेनेसे विषका अपहरण होता है। इन्द्रायण, चित्रक, द्रोण (गूमा), तुलसी, धतूरा और सहा—इनके रसमें त्रिकटुके चूर्णको भिगोकर खानेसे विषका नाश होता है। कृष्णपक्षकी पञ्चमीको लाया हुआ शिरीषका पञ्चाङ्ग विषहारी है ॥६–१२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विषहारी मन्त्रौषधका कथन' नामक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९७ ॥

दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय

गोनसादि-चिकित्सा

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं तुम्हारे सम्मुख गोनस आदि जातिके सर्पोंके विषकी चिकित्साका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। '**ॐ ह्रां ह्रीं अमलपक्षि स्वाहा**'—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित ताम्बूलके प्रयोगसे मन्त्रवेत्ता मण्डली (गोनस) सर्पके विषका हरण करता है। लहसुन, अङ्कोल, त्रिफला, कूट, वच और त्रिकटु—इनका सर्पविषमें पान करे। सर्पविषमें स्नुहीदुग्ध, गोदुग्ध, गोदधि और गोमूत्रमें पकाया हुआ गोघृत पान करना चाहिये। राजिलजातीय सर्पके डँस लेनेपर सैन्धवलवण, पीपल, घृत, मधु, गोमय-रस और साहीकी आँतका भक्षण करना चाहिये। सर्पदष्ट मनुष्यको पीपल, शर्करा, दुग्ध, घृत और मधुका पान करना चाहिये। त्रिकटु, मयूरपिच्छ, बिडालकी अस्थि और नेवलेका रोम—इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर भेड़के दूधमें भिगोकर उसकी धूप देनेसे सभी प्रकारके विषोंका विनाश होता है। पाठा, निर्गुण्डी और अङ्कोलके पत्रको समान भागमें लेकर तथा सबके समान लहसुन लेकर बनाया हुआ धूप भी विषनाशक है। अगस्त्यके पत्तोंको काँजीमें पकाकर उसकी भापसे डसे हुए स्थानको सेंका जाय, इससे विष उतर जाता है॥ १–७॥

मूषक सोलह प्रकारके कहे गये हैं। कपासका रस तेलके साथ पान करनेसे 'मूषक-विष'का नाश होता है। फलिनी (फलिहारी) के फूलोंका सोंठ और गुड़के साथ भक्षण करना चाहिये। यह विषरोगनाशक है। लूताएँ (मकड़ी) बीस प्रकारकी कही गयी हैं। इनके विषकी सावधानीसे चिकित्सा करनी चाहिये। पद्म, पद्माक काष्ठ, पाटला, कूट, तगर, नेत्रबाला, खस, चन्दन, निर्गुण्डी, सारिवा और शेलु (लिसोडा)—ये लूता-विषहारी-गण हैं। गुञ्जा, निर्गुण्डी और अङ्कोलके पत्र, सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी, करञ्जकी छाल—इनको पकाकर 'लूताविष'से पीड़ित मनुष्यका पूर्वोक्त ओषधियोंसे युक्त जलके द्वारा सेचन करे॥ ८–१३॥

अब 'वृश्चिक-विष'का अपहरण करनेवाली ओषधियोंको सुनो। मञ्जिष्ठा, चन्दन, त्रिकटु तथा शिरीष, कुमुदके पुष्प—इन चारों योगोंको एकत्रित करना चाहिये। ये योग लेप आदि करनेपर वृश्चिक-विषका विनाश करते हैं।

'**ॐ नमो भगवते रुद्राय चिवि चिवि च्छिन्द च्छिन्द किरि किरि भिन्द भिन्द खड्गेन च्छेदय च्छेदय शूलेन भेदय भेदय चक्रेण दारय दारय ॐ हूं फट्।**'

इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित अगद (औषध) विषार्त मनुष्यको दे। यह गर्दभ आदिके विषका विनाश करता है। त्रिफला, खस, नागरमोथा, नेत्रबाला, जटामांसी, पद्मक और चन्दन—इनको बकरीके दूधके साथ पिलानेपर गर्दभ आदिके विषोंका नाश होता है। शिरीषका पञ्चाङ्ग और त्रिकटु गोजरके विषका हरण करता है। स्नुही-दुग्धके साथ सिरसकी छाल 'उन्दूरज दर्दुर' (मेढक)के विषका शमन करती है। त्रिकटु और तगरमूल घृतके साथ प्रयुक्त होनेपर 'मत्स्यविष'का नाश करते हैं। यवक्षार, त्रिकटु, वच, हींग, वायविडंग, सैन्धवलवण, तगर, पाठा, अतिबला और कूट—ये सभी प्रकारके 'कीट-विषों'का विनाश करते हैं। मुलहठी, त्रिकटु, गुड और दुग्धका—इनका योग 'पागल कुत्ते'के विषका हरण करता है॥ १४–१७॥

'**ॐ सुभद्रायै नमः, ॐ सुप्रभायै नमः**'—यह ओषधि उखाड़नेका मन्त्र है। भगवान् ब्रह्माने सुप्रभादेवीको आदेश दे रक्खा है कि मानवगण जो ओषधियाँ बिना विधि-विधानके ग्रहण करते हैं, तुम उन ओषधियोंका प्रभाव ग्रहण करो। इसलिये पहले सुप्रभादेवीको नमस्कार करके ओषधिके चारों ओर मुट्ठीसे जौ बिखेरकर पूर्वोक्त मन्त्रका दस बार जप करके ओषधिको नमस्कार करे और कहे—'तुम ऊर्ध्वनेत्रा हो; मैं तुम्हें उखाड़ता हूँ।' इस विधिसे ओषधिको उखाड़े और निम्नाङ्कित मन्त्रसे उसका भक्षण करे—

नमः पुरुषसिंहाय नमो गोपालकाय च।
आत्मनैवाभिजानाति रणे कृष्णः पराजयम्।
अनेन सत्यवाक्येन अगदो मेऽस्तु सिद्ध्यतु॥

'पुरुषसिंह भगवान् गोपालको बारंबार नमस्कार है। युद्धमें अपनी पराजयकी बात श्रीकृष्ण ही जानते हैं—इस सत्य वाक्यके प्रभावसे यह अगद मुझे सिद्धिप्रद हो।'

स्थावर विषकी ओषधि आदिमें निम्नलिखित मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये—

'ॐ नमो वैदूर्यमात्रे तत्र रक्ष रक्ष मां सर्वविषेभ्यो गौरि गान्धारि चाण्डालि मातङ्गिनि स्वाहा हरिमाये ।'

विषका भक्षण कर लेनेपर पहले वमन कराके विषयुक्त मनुष्यका शीतल जलसे सेचन करे । तदनन्तर उसको मधु और घृत पिलाये और उसके बाद विरेचन कराये ॥१८–२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गोनसादि-चिकित्सा-कथन' नामक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९८ ॥

दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय

बालादिग्रहहर बालतन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं बालादि ग्रहोंको शान्त करनेवाले 'बालतन्त्र'को कहता हूँ । शिशुको जन्मके दिन 'पापिनी' नामवाली ग्रही ग्रहण कर लेती है । उससे आक्रान्त बालकके शरीरमें उद्वेग बना रहता है । वह माँका दूध पीना छोड़ देता है, लार टपकाता है और बारंबार ग्रीवाको घुमाता है । यह सारी चेष्टा पापिनी ग्रहीके कारणसे ही होती है । इसके निवारणके लिये पापिनी ग्रही और मातृकाओंके उद्देश्यसे उनके योग्य विविध भक्ष्य पदार्थ, गन्ध, माल्य, धूप एवं दीपकी बलि प्रदान करे । पापिनी-द्वारा गृहीत शिशुके शरीरमें धातकी, लोध, मजीठ, तालीस-पत्र और चन्दनसे लेप करे और गुग्गुलसे धूप दे । जन्मके दूसरे दिन 'भीषणी' ग्रही शिशुको आक्रान्त करती है । उससे आक्रान्त शिशुकी ये चेष्टाएँ होती हैं—वह खाँसी और श्वाससे पीड़ित रहता है तथा अङ्गोंको बारंबार सिकोड़ता है । ऐसे बालकको बकरीके मूत्र, अपामार्ग और चन्दनके साथ घिसी हुई पिप्पलीका सेवन कराना—अनुलेप लगाना चाहिये । गोशृंग, गोदन्त तथा केशोंकी धूप दे एवं पूर्ववत् बलि प्रदान करे । तीसरे दिन 'घण्टाली' नामकी ग्रही बच्चेको ग्रहण करती है । उसके द्वारा गृहीत शिशुकी निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं । वह बारंबार रुदन करता है, जँभाइयाँ लेता है, कोलाहल करता है एवं त्रास, गात्रोद्वेग और अरुचिसे युक्त होता है—ऐसे शिशुको केसर, रसाञ्जन, गोदन्त और हस्तिदन्तको बकरीके दूधमें पीसकर लेप लगाये । नख, राई और बिल्वपत्रसे धूप दे तथा पूर्वोक्त बलि अर्पित करे । चौथी ग्रही 'काकोली' कही गयी है । इससे गृहीत बालकके शरीरमें उद्वेग होता है । वह जोर-जोरसे रोता है, मुँहसे गाज निकालता है और चारों दिशाओंमें बारंबार देखता है । इसकी शान्तिके लिये मदिरा और कुल्माष (चना या उड़द)-की बलि दे तथा बालकके गजदन्त, साँपकी केंचुल और अश्वमूत्रका प्रलेप करे । तदनन्तर राई, नीमकी पत्ती और भेड़ियेके केशसे धूप दे । 'हंसाधिका' पाँचवीं ग्रही है । इससे ग्रहीत शिशु जँभाई लेता, ऊपरकी ओर जोरसे साँस खींचता और मुट्ठी बाँधता है । ऐसी ही अन्य चेष्टाएँ भी करता है । 'हंसाधिका'को पूर्वोक्त बलि दे । इससे गृहीत शिशुके शरीरमें काकड़ासिंगी, बला, लोध, मैनसिल और तालीसपत्रका अनुलेपन करे । 'फट्कारी' छठी ग्रही मानी गयी है । इससे आक्रान्त बालक भयसे चिहुँकता, मोहसे अचेत होता और बहुत रोता है, आहारका त्याग कर देता है और अपने अङ्गोंको बहुत हिलाता-डुलाता है । 'फट्कारी'के उद्देश्यसे भी पूर्वोक्त बलि प्रदान करे । इससे गृहीत शिशुका राई, गुग्गुल, कूट, गजदन्त और घृतसे धूपन और अनुलेपन करे । 'मुक्तकेशी' नामकी ग्रही जन्मके सातवें दिन बालकपर आक्रमण करती है । इससे आक्रान्त बालक दुःखातुर रहता है । उसके शरीरसे सड़नेकी-सी गन्ध आती है । वह जृम्भा, कोलाहल, अत्यधिक रुदन और कासले पीड़ित रहता है । ऐसे बालकको व्याघ्रके नखोंकी धूप देकर बच, गोमय और गोमूत्रसे अनुलिप्त करे । 'श्रीदण्डी' नामवाली ग्रही शिशुको आठवें दिन पकड़ती है । इससे ग्रस्त बालक दिशाओंको देखता, जीभको हिलाता, खाँसता और रोता है । 'श्रीदण्डी'के उद्देश्यसे पूर्वोक्त पदार्थोंकी विविध बलि दे । इससे पीड़ित शिशुको हींग, बच, सफेद सर्षप और लहसुनसे धूपित तथा अनुलिप्त करे । 'ऊर्ध्वग्रही' नवीं महाग्रही है । इससे ग्रस्त बालक उद्वेग और दीर्घ उच्छ्वाससे युक्त होता है । वह अपनी दोनों मुट्ठियोंको चबाता है । ऐसे शिशुको लाल चन्दन, कूट, बच और सरसोंसे लेप और वानरके नख एवं रोमसे धूपन करे ।

दसवीं 'रोदनी' नामकी ग्रही है। इससे गृहीत शिशुकी निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं। वह सदा रोता है, उसका शरीर नील वर्ण और सुगन्धसे युक्त हो जाता है। ऐसे शिशुको निम्बका धूप और कूट, बच, राई तथा रालका लेपन करे। 'रोदनी' ग्रहीके उद्देश्यसे लाजा, कुल्माष, वन-मूँग और भातकी बलि दे। इस प्रकार ये धूपदान आदिकी क्रियाएँ शिशुके जन्मके तेरहवें दिनतक की जाती हैं। (शेष तीन दिनोंकी सारी क्रियाएँ दसवें दिनके समान समझनी चाहिये।) ॥ १–१८½ ॥

एक मासके शिशुको 'पूतना' नामकी ग्रही ग्रहण करती है। उसका स्वरूप शकुनि (पक्षिणी—बकी) का है। इससे पीड़ित बालक कौएके समान काँव-काँव करता, रोता, लंबी साँसें लेता, आँखोंको बारंबार मींचता और मूत्रके समान गन्धसे युक्त होता है। ऐसे बालकको गोमूत्रसे स्नान कराना और गोदन्तसे धूपित करना चाहिये। 'पूतना'के उद्देश्यसे ग्रामकी दक्षिणदिशामें करञ्जवृक्षके नीचे एक सप्ताहतक प्रतिदिन पीलवस्त्र, रक्तमाल्य, गन्ध, तैल, दीप, त्रिविध पायसान्न, तिल और पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। दो मासके शिशुको 'मुकुटा' नामकी ग्रही ग्रहण करती है। इससे आक्रान्त शिशुका शरीर पीला और ठण्ढा पड़ जाता है। उसको सर्दी होती है, नाकसे पानी गिरता है और मुख सूख जाता है। इस ग्रहीके निमित्त पुष्प, गन्ध, वस्त्र, मालपूए, भात और दीपककी बलि प्रदान करे। इससे ग्रस्त बालकको कृष्णागुरु और सुगन्धवाला आदिसे धूपित करे। बालकको तृतीय मासमें 'गोमुखी' ग्रहण करती है। इससे आक्रान्त शिशु बहुत नींद लेता है, बारंबार मलमूत्र करता है और जोर-जोरसे रोता है। 'गोमुखी'को पहले यव, प्रियङ्गु, कुल्माष, शाक, भात और दूधकी पूर्व दिशामें बलि देनी चाहिये। तदनन्तर मध्याह्नकालमें शिशुको पञ्चभङ्ग[1] या पञ्चपत्रसे स्नान कराकर घीसे धूपित करे। चतुर्थ मासमें 'पिङ्गला' नामकी ग्रही बालकको पीड़ित करती है। इससे गृहीत बालकका शरीर सफेद और दुर्गन्धयुक्त होकर सूखने लगता है। ऐसे शिशुकी मृत्यु अवश्य हो जाती है। पाँचवीं 'ललना' नामकी ग्रही होती है। इससे पीडित शिशुका शरीर शिथिल होता है और मुख सूखने लगता है। उसकी देह पीली पड़ जाती है और अपानवायु निकलती है। 'ललना'की शान्तिके लिये दक्षिणदिशामें पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। छठे मासमें 'पङ्कजा' नामकी ग्रही शिशुको पीड़ित करती है। इससे गृहीत शिशुकी चेष्टाएँ रुदन और विकृत स्वर आदि हैं। 'पङ्कजा'को भी पूर्वोक्त पदार्थ, भात, पुष्प, गन्ध आदिकी बलि प्रदान करे। सातवें महीनेमें 'निराहारा' नामकी ग्रही शिशुको ग्रहण करती है। इससे पीड़ित शिशु दुर्गन्ध और दन्तरोगसे युक्त होता है। 'निराहारा'के निमित्त मिष्टान्न और पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। आठवें मासमें 'यमुना' नामवाली ग्रही शिशुपर आक्रमण करती है। इससे पीड़ित शिशुके शरीरमें दाने (फोड़े-फुन्सियाँ) उभर आते हैं और शरीर सूख जाता है। इसकी चिकित्सा नहीं करानी चाहिये। नवम मासमें 'कुम्भकर्णी' नामवाली ग्रहीसे पीड़ित हुआ बालक ज्वर और सर्दीसे कष्ट पाता है तथा बहुत रोता है। 'कुम्भकर्णी'के शान्त्यर्थ पूर्वोक्त पदार्थ, कुल्माष (उड़द या चना) आदि पदार्थोंकी ईशानकोणमें बलि दे। दशम मासमें 'तापसी' ग्रही बालकपर आक्रमण करती है। इससे ग्रस्त बालक आहारका परित्याग कर देता है और आँखें मूँदे रहता है। 'तापसी'के उद्देश्यसे घण्टा, पताका, पिष्टान्न आदि पदार्थोंकी बलि प्रदान करे। ग्यारहवीं 'राक्षसी' नामकी ग्रही है। इससे गृहीत बालक नेत्ररोगसे पीड़ित होता है। उसकी चिकित्सा व्यर्थ होती है। बारहवें महीनेमें 'चञ्चला' ग्रही शिशुको ग्रहण करती है। इसके द्वारा आक्रान्त बालक दीर्घ निःश्वास और भय आदि चेष्टाओंसे युक्त होता है। इस ग्रहीके शान्त्यर्थ मध्याह्नके समय पूर्वदिशामें कुल्माष और तिल आदिकी बलि दे॥ १९–३२½॥

द्वितीय वर्षमें 'यातना' नामकी ग्रही शिशुको ग्रहण करती है। इससे शिशुको 'यातना' सहनी पड़ती है और उसमें रोदन आदि दोष प्रकट होते हैं। 'यातना' ग्रहीको तिलके गूदे और पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। स्नान आदि कर्म पूर्ववत् विधिसे करना चाहिये। तृतीय वर्षमें बालकपर 'रोदिनी' अधिकार करती है। इससे ग्रस्त बालक काँपता और रोता है तथा उसके पेशाबमें रक्त आता है। इसके उद्देश्यसे गुड़, भात, तिलका पूआ और पीसे हुए तिलकी बनी प्रतिमा दे। बालकको तिलमिश्रित जलसे स्नान कराकर पञ्चपत्र और राजफलके छिलकेसे धूप दे॥ ३३–३५॥

चतुर्थ वर्षमें 'चटका' नामकी राक्षसी शिशुको ग्रहण करती है। उससे ग्रस्त हुए बालकको ज्वर आता है

१. पलाश, गूलर, पीपल, वट और बेलके पत्ते 'पञ्चपत्र' या 'पञ्चभङ्ग' कहलाते हैं।

और सारे अङ्गोंमें व्यथा होती है। चटकाको पूर्वोक्त पदार्थ एवं तिल आदिकी बलि दे और बालकको स्नान कराकर उसके लिये धूपन करे। पञ्चम वर्षमें 'चञ्चला' शिशुपर अधिकार कर लेती है। इससे पीड़ित बालक ज्वर, भय और अङ्ग-शैथिल्यसे युक्त होता है। चञ्चलाको भात आदि पदार्थोंकी बलि दे और बालकको काकड़ासिंगीसे धूपित करे। साथ ही पलाश, गूलर, पीपल, बड़ और बिल्वपत्रके जलसे उसका अभिषेक किया जाय। छठे वर्षमें 'धावनी' नामकी ग्रही बालकपर आक्रमण करती है। उससे गृहीत बालकका शरीर नीरस होकर सूखने लगता है। उसके अङ्ग-अङ्गमें पीड़ा होती है। इसके उद्देश्यसे सात दिनतक पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि और बालकका भृङ्गराजसे स्नापन और धूपन करे॥ ३६—३८½॥

सप्तमें वर्षमें 'यमुना' ग्रहीसे पीड़ित बालक सर्दी, मुक्ता तथा अत्यन्त हास एवं रोदनसे युक्त होता है। इस ग्रहीके निमित्त पायस और पूर्वोक्त पदार्थ आदिकी बलि दे एवं बालकका पूर्ववत् विधिसे स्नापन और धूपन करे। अष्टम वर्षमें 'जातवेदा' नामकी ग्रही बालकपर अधिकार करती है। इससे पीड़ित बालक भोजन छोड़ देता है और बहुत रोता है। जातवेदाके निमित्त कृसर (खिचड़ी), मालपूए और दही आदिकी बलि प्रदान करे। बालकको स्नान कराके धूपित भी करे। नवम वर्षमें 'काला' नामकी ग्रही बालकको पकड़ती है। इससे ग्रस्त बालक अपनी भुजाओंको कँपाता है, गर्जना करता है और भयभीत रहता है। कालाके शान्त्यर्थ कृसर, मालपूए, सत्तू, कुल्माष और पायस (खीर) की बलि दे। दसवें वर्षमें 'कलहंसी' बालकको ग्रहण करती है। इससे उसके शरीरमें जलन होती है, अङ्ग दुर्बल हो जाते हैं और वह ज्वरग्रस्त रहता है। इसके निमित्त पाँच दिनतक पूरी, मालपूए, दधि और अन्नकी बलि देनी चाहिये। बालकका निम्बपत्रोंसे धूपन और कूटका अनुलेपन करे। ग्यारहवें वर्षमें कुमारको 'देवदूती' नामकी ग्रही ग्रहण करती है। इससे वह कठोर वचन बोलता है। 'देवदूती'के उद्देश्यसे पूर्ववत् बलिदान और लेपादिक करे। बारहवें वर्षमें 'बलिका'से आक्रान्त बालक श्वास-रोगसे युक्त होता है। इसके निमित्त भी पूर्वोक्त विधिसे बलि एवं लेपादि करे। तेरहवें वर्षमें 'वायवी' ग्रहीका आक्रमण होता है। इससे पीड़ित कुमार मुखरोग तथा अङ्गशैथिल्यसे युक्त होता है। वायवीको अन्न, गन्ध, माल्य आदिकी बलि दे और बालकको पञ्चपत्रसे स्नान करावे। राई और निम्बपत्रोंसे धूपित करे। चौदहवें वर्षमें 'यक्षिणी' बालकपर अधिकार करती है। इससे वह शूल, ज्वर, दाह आदिसे पीड़ित होता है। यक्षिणीके उद्देश्यसे पूर्वोक्त विविध भक्ष्य-पदार्थोंकी बलि विहित है। इसकी शान्तिके लिये पूर्ववत् स्नान आदि भी करने चाहिये। पंद्रहवें वर्षमें बालकको 'मुण्डिका' ग्रहीसे कष्ट प्राप्त होता है। उससे पीड़ित बालकके सदा रक्तपात होता रहता है। इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये॥ ३९—४७॥

सोलहवीं 'वानरी' नामकी ग्रही है। इससे पीड़ित नवयुवक भूमिपर गिरता है और सदा निद्रा तथा ज्वरसे पीड़ित रहता है। वानरीको तीन दिनतक पायस आदिकी बलि दे एवं बालकको पूर्ववत् स्नान आदि कर्म कराये। सत्रहवें वर्षमें 'गन्धवती' नामकी ग्रही आक्रमण करती है। इससे ग्रस्त बालकके शरीरमें उद्वेग बना रहता है और वह जोर-जोरसे रोता है। इस ग्रहीको कुल्माष आदिकी बलि दे और पूर्ववत् स्नान, धूपन तथा लेपन आदि कर्म करे। दिनकी स्वामिनी ग्रही 'पूतना' कही जाती है और वर्ष-स्वामिनी 'सुकुमारी'॥ ४८—५०॥

ॐ नमः सर्वमातृभ्यो बालपीडासंयोगं भुञ्ज भुञ्ज चुट चुट स्फोटय स्फोटय स्फुर स्फुर गृह्ण गृह्णाक्रन्दयाऽऽक्रन्दय एवं सिद्धरूपो ज्ञापयति। हर हर निर्दोषं कुरु कुरु बालिकां बालं स्त्रियं पुरुषं वा सर्वग्रहाणामुपक्रमात्। चामुण्डे नमो देव्यै हूं हूं ह्रीं अपसर अपसर दुष्टग्रहान् हूं तद्यथा गच्छन्तु गृह्यकाः, अन्यत्र पन्थानं रुद्रो ज्ञापयति॥ ५१—५२॥

—इस सर्वकामप्रद मन्त्रका बालग्रहोंके शान्त्यर्थ प्रयोग करे॥ ५३॥

ॐ नमो भगवति चामुण्डे मुञ्च मुञ्च बालं बालिकां वा बलिं गृह्ण गृह्ण जय जय वस वस॥ ५४॥

—इस रक्षाकारी मन्त्रका सर्वत्र बलिदानकर्ममें पाठ किया जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, पार्वती, लक्ष्मी एवं मातृकागण ज्वर तथा दाहसे पीड़ित इस कुमारको छोड़ दें और इसकी भी रक्षा करें। (इस मन्त्रसे भी बालग्रह-जनित पीड़ाका निवारण होता है।)॥ ५५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'बालादिग्रहहर बालतन्त्र-कथन' नामक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९९॥

तीन सौवाँ अध्याय

ग्रहबाधा एवं रोगोंको हरनेवाले मन्त्र तथा औषध आदिका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं ग्रहोंके उपहार और मन्त्र आदिका वर्णन करूँगा, जो ग्रहोंको शान्त करनेवाले हैं। हर्ष, इच्छा, भय और शोकादिसे, प्रकृतिके विरुद्ध तथा अपवित्र भोजनसे और गुरु एवं देवताके कोपसे मनुष्यको पाँच प्रकारके उन्माद होते हैं। वे वातज, कफज, पित्तज, सन्निपातज और आगन्तुक कहे जाते हैं। भगवान् रुद्रके कोधसे अनेक प्रकारके देवादि ग्रह उत्पन्न हुए। वे ग्रह नदी, तालाब, पोखरे, पर्वत, उपवन, पुल, नदी-संगम, शून्य गृह, बिलद्वार और एकान्तवर्ती इकले वृक्षपर रहते और वहाँ जानेवाले पुरुषोंको पकड़ते हैं। इसके सिवा वे सोयी हुई गर्भवती स्त्रीको, जिसका ऋतुकाल निकट है उस नारीको, नंगी औरतको तथा जो ऋतुस्नान कर रही हो, ऐसी स्त्रीको भी पकड़ते हैं। मनुष्योंके अपमान, वैर, विघ्न, भाग्यमें उलट-फेर इन ग्रहोंसे ही होते हैं। जो मनुष्य देवता, गुरु, धर्मादि तथा सदाचार आदिका उल्लङ्घन करता है, पर्वत और वृक्ष आदिसे गिरता है, अपने केशोंको बार-बार नोचता है तथा लाल आँखें किये रुदन और नर्तन करता है, उसको 'रूप'-ग्रहविशेषसे पीड़ित जानना चाहिये। जो मानव उद्वेगयुक्त, दाह और शूलसे पीड़ित, भूख-प्याससे व्याकुल और शिरोरोगसे आतुर होता और 'मुझे दो, मुझे दो'—यों कहकर याचना करता है, उसे 'बलिकामी' ग्रहसे पीड़ित जाने। स्त्री, माला, स्नान और सम्भोगकी इच्छासे युक्त मनुष्यको 'रतिकामी' ग्रहसे गृहीत समझना चाहिये ॥ १-८ ॥

व्योमव्यापी, महासुदर्शनमन्त्र, विटपनासिक, पातालनारसिंहादि मन्त्र तथा चण्डीमन्त्र—ये ग्रहोंका मर्दन—ग्रहपीड़ाका निवारण करनेवाले हैं[1] ॥ ९ ॥

(अब ग्रहपीडानाशन भगवान् सूर्यकी आराधना बतलाते हैं—) सूर्यदेव अपने दाहिने हाथोंमें पाश, अङ्कुश, अक्षमाला और कपाल तथा बायें हाथोंमें खट्वाङ्ग, कमल, चक्र और शक्ति धारण करते हैं। उनके चार मुख हैं। वे आठ भुजा और बारह नेत्र धारण करते हैं। सूर्यमण्डलके भीतर कमलके आसनपर विराजमान हैं और आदित्यादि देवगणोंसे घिरे हुए हैं। इस प्रकार उनका ध्यान और पूजन करके सूर्योदयकालमें उन्हें अर्घ्य दे। अर्घ्यदानका मन्त्र इस प्रकार है—श्वास (य), विष (ओं), अग्निमान् रण्डी (र्+औं), हृल्लेखा (ह्रीं)—ये संकेताक्षर हैं। इन सबको जोड़कर शुद्ध मन्त्र हुआ—) 'यौं रौं पूं ह्रीं कलशाकीय भूर्भुवः स्वरीं ज्वालिनी-कुलमुद्भर।' ॥ १०–१२½ ॥

ग्रहोंका ध्यान

सूर्यदेव कमलके आसनपर विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति अरुण है। वे रक्तवस्त्र धारण करते हैं। उनका मण्डल ज्योतिर्मय है। वे उदार स्वभावके हैं और दोनों हाथोंमें कमल धारण करते हैं। उनकी प्रकृति सौम्य है तथा सारे अङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। सूर्य आदि सभी ग्रह सौम्य, वलदायक तथा कमलधारी हैं। इन सबका वस्त्र विद्युत्-पुञ्जके समान प्रकाशमान है। चन्द्रमा श्वेत, मङ्गल और बुध लाल, बृहस्पति पीतवर्ण, शुक्र शुक्लवर्ण, शनैश्चर काले कोयलेके समान कृष्ण तथा राहु और केतु धूमके समान वर्णवाले बताये गये हैं। इन सबके बायें हाथ बायीं जाँघपर स्थित हैं और दाहिने हाथमें अभयमुद्रा शोभा पाती है। ग्रहोंके अपने-अपने नामके आदि अक्षर बिन्दुयुक्त होकर बीजमन्त्र होते हैं। 'फट्' का

---

1. 'सहस्रार हुं फट्'—यह 'सुदर्शन' या 'महासुदर्शनमन्त्र' है। यह व्यापक प्रभावशाली होनेके कारण 'व्योमव्यापी' कहा गया है। 'विटपनासिक' शब्द नृसिंहरूपकी उग्रताका सूचक है। बड़े-बड़े वृक्ष उनकी नासिकाके अन्तर्गत आ जाते हैं। पृथ्वी और पाताल लोकमें उनका प्रताप फैला हुआ है तथा पाताललोकमें उनका प्रादुर्भाव हुआ था, इसलिये भी उनको 'पातालनारसिंह' कहते हैं।

'पातालनारसिंहमन्त्र' इस प्रकार है—

'उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ॥'

दुर्गासप्तशतीके सभी मन्त्र यहाँ 'चण्डीमन्त्र' के नामसे अभिहित हुए हैं। 'नारसिंहादि' के आदि पदसे 'वीरनृसिंह' तथा 'सुदर्शन-नृसिंहादि' मन्त्र समझने चाहिये। 'वीरनृसिंह-मन्त्र' इस प्रकार है—'ॐ नमो भगवते वीरनृसिंहाय ज्वालामालापिनद्धाङ्गायाग्निनेत्राय सर्वभूतविनाशनाय दह दह पच पच रक्ष रक्ष ह्रीं ह्रीं फट् स्वाहा।' इसका एक दूसरा रूप इस प्रकार भी है—'ॐ नमो भगवते वीरनृसिंहाय ज्वालामालिने दीप्तदंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशनाय सर्वज्वरं विनाशय हन हन दह दह पच पच बन्ध बन्ध रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।' 'सुदर्शन-नृसिंहमन्त्र' इस प्रकार है—'ॐ सहस्रारज्वालावर्तिने क्षौं हन हन हुं फट् स्वाहा।'



भगवान् श्रीहरिका नारदजीको उपदेश [अग्नि०, अध्याय २०१

उच्चारण करके दोनों हाथोंका संशोधन करे । फिर अङ्गुष्ठसे लेकर करतलपर्यन्त करन्यास और नेत्ररहित हृदयादि पञ्चाङ्ग-न्यास करके भानुके मूल बीजस्वरूप तीन अक्षरों (ह्रां, ह्रीं, सः)[2] द्वारा व्यापकन्यास करे । उसका क्रम इस प्रकार है—मूलाधारचक्रसे पादाग्रपर्यन्त प्रथम बीजका, कण्ठसे मूलाधार-पर्यन्त द्वितीय बीजका और मूर्धासे लेकर कण्ठपर्यन्त तृतीय बीजका न्यास करे ।[3] इस प्रकार अङ्गन्याससहित व्यापकन्यासका सम्पादन करके अर्घ्यपात्रको अस्त्र-मन्त्रसे प्रक्षालित करे और पूर्वोक्त मूलमन्त्रका उच्चारण करके उस पात्रको जलसे भर दे । फिर उसमें गन्ध, पुष्प, अक्षत और दूर्वा डालकर पुनः उसे अभिमन्त्रित करे । उस अभिमन्त्रित जलसे अपना और पूजाद्रव्यका अवश्य ही प्रोक्षण करे ॥ १२—१९ ॥

तत्पश्चात् योगपीठकी कल्पना करके उस पीठके पायोंके रूपमें 'प्रभूत' आदिकी कल्पना करे । वे क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रभूत, विमल, सार, आराध्य और परमसुख । आग्नेयादि चार कोणोंमें और मध्यभागमें इनके नामके अन्तमें 'नमः' पद जोड़कर इनका आवाहन-पूजन करे । योगपीठके ऊपर हृदयकमलमें तथा दिशा-विदिशाओंमें दीप्ता आदि शक्तियोंकी स्थापना करे ।[4] पीठके ऊपरी भागमें हृदयकमलको स्थापित करके उसके केसरोंमें आठ शक्तियोंकी पूजा करनी चाहिये । 'रां दीप्तायै नमः पूर्वस्याम् । रीं सूक्ष्मायै नमः आग्नेयकेसरे । रूं जयायै नमः दक्षिणकेसरे । रैं भद्रायै नमः नैर्ऋत्यकेसरे । रैं विभूत्यै नमः पश्चिमकेसरे । रौं विमलायै नमः वायव्य-केसरे । रौं अमोघायै नमः उत्तरकेसरे । रं विद्युतायै नमः ईशानकेसरे । रः सर्वतोमुख्यै नमः मध्ये ।'—इस प्रकार शक्तियोंकी अर्चना करके 'ॐ ब्रह्मविष्णुशिवात्मकाय सौराय योगपीठाय नमः ।'—इस मन्त्रसे समस्त पीठकी पूजा करे । सुव्रत ! तत्पश्चात् रवि आदि मूर्तियोंका आवाहन करके उन्हें पाद्यादि समर्पित करे और क्रमशः हृदादि षडङ्गन्यासपूर्वक पूजन करे । 'खं कान्तौ' इत्यादि संकेतसे 'खं खखोल्काय नमः' यह मन्त्र प्रकट होता है । [यथा 'खं' मन्त्रका स्वरूप है—कान्त—'ख' है, दण्डिनी—'ख' है, चण्ड—'उकार' है (संधि करनेपर 'खो' हुआ) मज्जादशनसंयुता मांसा 'ल' दीर्घा—दीर्घस्वर आकारसे युक्त जल 'क' अर्थात् 'का' तथा वायु—'यकार' । इन सबके अन्तमें हृद्—नमः ।] इसके उच्चारणपूर्वक 'आदित्यमूर्तिं परिकल्पयामि, रविमूर्तिं परिकल्प-यामि, भानुमूर्तिं परिकल्पयामि, भास्करमूर्तिं परिकल्पयामि, सूर्यमूर्तिं परिकल्पयामि'—यों कहना चाहिये । इन मूर्तियोंके पूजनका मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ आदित्याय नमः । एं रवये नमः । ॐ भानवे नमः । ह्रूं भास्कराय नमः । अं सूर्याय नमः ।' अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, ईशानकोण और वायव्यकोण—इन चार कोणोंमें तथा मध्यमें हृदादि पाँच अङ्गोंकी उनके नाम-मन्त्रोंसे पूजा करनी चाहिये । वे कर्णिकाके भीतर ही उक्त दिशाओंमें पूजनीय हैं । अस्त्रकी पूजा अपने सामनेकी दिशामें करनी चाहिये । पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः चन्द्रमा, बुध, गुरु और शुक्र पूजनीय हैं तथा आग्नेय आदि कोणोंमें मङ्गल, शनैश्चर, राहु और केतुकी पूजा करनी चाहिये ॥ २०—२५½ ॥

पृश्निपर्णी, हींग, बच, चक्र (पित्तपापड़ा), शिरीष, लहसुन और आमय—इन ओषधियोंको बकरेके मूत्रमें पीसकर अञ्जन और नस्य तैयार कर ले । उस अञ्जन और नस्यके रूपमें उक्त औषधोंका उपयोग किया जाय तो वे ग्रहबाधाका निवारण करनेवाले होते हैं । पाठा, पथ्या (हर्रे), वचा, शिग्रु (सहिजन), सिन्धु (सेंधा नमक), व्योष (त्रिकटु)—इन औषधोंको पृथक्-पृथक् एक-एक पल लेकर उन्हें बकरीके एक आढ़क दूधमें पका ले और उस दूधसे घी निकाल ले । वह घी समस्त ग्रह-बाधाओंको हर लेता है । वृश्चिकाली (बिच्छू-घास), फला, कुट, सभी तरहके नमक तथा शार्ङ्ग—

२. इनका उद्धार 'शारदातिलक' में इस प्रकार है—

आकाशमग्निदीर्घेन्दुसंयुक्तं भुवनेश्वरी ।
सर्गान्वितो भृगुर्भानोरुप्यक्षरो मनुरीरितः ॥ १४ । ५८ ॥

३. जैसा कि 'शारदातिलक' में निर्देश किया गया है—

आधारादि पदाग्रान्तं कण्ठाद्याधारकावधि ।
मूर्धादि कण्ठपर्यन्तं क्रमाद् बीजत्रयं न्यसेत् ॥
(१४ । ५९)

४. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में 'प्रभूत' आदि पीठपादों और शक्तियोंकी स्थापना एवं पूजाके विषयमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

अग्निकोणे प्रभूतञ्च विमलं नैर्ऋते यजेत् ।
सारं वायव्यकोणे च समाराध्यं तथैशके ॥
सुखं परमपूर्वं च यजेन्मध्ये तु मन्त्रवित् ।
दलमूलेषु पूर्वादि मध्ये च विधिपूर्वकम् ।
दीप्तासूक्ष्मे जयाभद्रे विभूतिर्विमलान्विता ॥
अमोघा विद्युता चान्या नवमी सर्वतोमुखी ।
पीठशक्तिः क्रमादेता अग्निवर्णाः सुभूषिताः ॥

प्रभूत आदिके लिये पूजा-मन्त्र इस प्रकार है—'प्रभूताय नमः आग्नेये । विमलाय नमः नैर्ऋत्ये । साराय नमः वायव्ये । आराध्याय नमः ऐशान्याम् । परमसुखाय नमः मध्ये ।' शक्तियोंके पूजामन्त्र मूलमें ही दिये गये हैं ।

इनको जलमें पका ले। उस जलका अपस्मार रोग (मिरगी) के विनाशके लिये उपयोग करे। विदारीकंद, कुश, काश तथा ईखके क्वाथसे सिद्ध किया हुआ दूध रोगीको पिलाये। जेठीमधु और मथएके एक दोन रसमें घीको पकाकर दे। अथवा पञ्चगव्य घीका उस रोगमें प्रयोग करे। अब ज्वर-निवारक उपाय सुनो—॥ २६–३०॥

ज्वर-गायत्री

ॐ भस्मास्त्राय विद्महे। एकदंष्ट्राय धीमहि।
तन्नो ज्वरः प्रचोदयात्॥ ३१॥

(इस मन्त्रके जपसे ज्वर दूर होता है।) श्वास (दमा) का रोगी कृष्णोषण (काली मिर्च), हल्दी, रास्ना, द्राक्षा और तिलका तैल एवं गुड़का आस्वादन करे। अथवा वह रोगी जेठीमधु (मुलहठी) और घीके साथ भार्गीका सेवन करे या पाठा, तिक्ता (कुटकी), कणा (पिप्पली) तथा भार्गीको मधुके साथ चाटे। धात्री (आँवला), विश्वा (सोंठ), सिता (मिश्री), कृष्णा (पिप्पली), मुस्ता (नागरमोथा), खजूर मागधी (खजूर और पीपल[५]) तथा पीवरा (शतावर)—ये औषध हिक्का (हिचकी) दूर करनेवाले हैं। उपर्युक्त तीनों योग मधुके साथ लेने चाहिये। कामल-रोगसे ग्रस्त मनुष्यको जीरा, माण्डूकपर्णी, हल्दी और आँवलेका रस पिलाना चाहिये। त्रिकटु, पद्मकाष्ठ, त्रिफला, वायविडङ्ग, देवदारु तथा रास्ना—इन सबको सममात्रामें लेकर चूर्ण बना ले और खाँड मिलाकर उसे खाये। इस औषधसे अवश्य ही खाँसी दूर हो जाती है॥ ३२–३५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ग्रहबाधाहारी मन्त्र तथा औषधका कथन' नामक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३००॥

तीन सौ एकवाँ अध्याय

सिद्धि-गणपति आदि मन्त्र तथा सूर्यदेवकी आराधना

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! शार्ङ्ग (गकार), दण्डी (अनुस्वारयुक्त) हो, उसके साथ पद्मेश—विष्णु (ईकार) और पावक (रकार) हो तो इन चार स्वरोंको मेलसे पिण्डीभूत बीज (ग्रीं) प्रकट होता है। यह सर्वार्थ साधक माना गया है[१]। उपर्युक्त बीजके आदिमें क्रमशः दीर्घ स्वरोंको जोड़कर उनके द्वारा अङ्गन्यास करे। यथा—'ग्रां हृदयाय नमः। ग्रीं शिरसे स्वाहा। ग्रूं शिखायै वषट्। ग्रैं कवचाय हुम्। ग्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ग्रः अस्त्राय फट्।' ('ग' इस एकाक्षर बीजसे भी इसी प्रकार न्यास करना चाहिये। उसमें दीर्घ स्वर जोड़नेपर क्रमशः 'गां गीं गूं गैं गौं गः'—ये छः बीज बनेंगे।) अन्त (विसर्ग), विष (म्)—इनसे युक्त खान्त (ग) का उच्चारण किया जाय। ऐसा करनेसे 'गं', 'गः'—ये दो बीज प्रकट हुए। औकार और बिन्दुसे युक्त 'गौं' तीसरा बीज है। बिन्दु और कला दोनोंसे युक्त 'गंः'—

५. यहाँ पिप्पलीकानाम दुबारा आया है। जो द्रव्य दो बार आया हो, उसका दोभाग लिया जाता है।

१. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इस मन्त्रका उद्धार इस प्रकार मिलता है—

बिन्दुवामाक्ष्यग्नियुता स्मृतिर्मायाः सुमध्यगा। त्र्यक्षरः सिद्धिगणपः सर्वसिद्धिप्रदायकः॥

'स्मृतिर्गकारः। अग्नी रेफः। वामाक्ष ईकारः। बिन्दुरनुस्वारः। एतैः पिण्डितं बीजम् 'ग्रीम्' इति मायाबीजद्वयस्य मध्ये स्थापितं सत् त्र्यक्षरं भवेत्। ह्रीं ग्रीं ह्रीमिति।'

इसके अनुसार इस 'ग्रीं' बीजको आदि-अन्तमें 'ह्रीं' बीजसे सम्पुटित कर दिया जाय तो यह 'त्र्यक्षर मन्त्र' हो जाता है। अग्निपुराणमें इसके एकाक्षररूपको ही लिया है। यह एकाक्षर या त्र्यक्षर बीजमन्त्र 'सिद्धिगणपति'के नामसे प्रसिद्ध है और साधकोंको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाला है। कहीं-कहीं— 'शार्ङ्गी प्रीतियुतः प्रोक्तो गणेशस्यैकवर्णकः' ऐसा पाठ देखा जाता है। इसके अनुसार शार्ङ्गी—गकारको प्रीति—अनुस्वारसे युक्त कर दिया जाय तो 'गं' एक अक्षरका गणेश-बीज बनता है।

यह चौथा बीज और केवल गकार पाँचवाँ बीज है।[२] इस प्रकार विघ्नराज गणपतिके ये पाँच बीज हैं, जिनके पृथक् पृथक् फल देखे गये हैं ॥ १–३ ॥

गणेशसम्बन्धी मन्त्रोंके लिये सामान्य पञ्चाङ्गन्यास

'गणंजयाय स्वाहा हृदयाय नमः । एकदंष्ट्राय हुं फट् शिरसे स्वाहा । अचलकर्णिने नमो नमः शिखायै वषट् । गजवक्त्राय नमो नमः कवचाय हुम् । महोदरस्तायै चण्डाय हुं फट्, अस्त्राय फट् ।' यह सर्वसामान्य पञ्चाङ्ग है। उक्त एकाक्षर बीज-मन्त्रके एक लाख जपसे सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४-५ ॥

अष्टदल कमल बनाकर उसके दिग्वर्ती दलोंमें गणेशजीके चार विग्रहोंका पूजन करे। इसी प्रकार वहाँ क्रमशः पाँच अङ्गोंकी भी पूजा करनी चाहिये । विग्रहोंके पूजन-सम्बन्धी मन्त्र इस प्रकार हैं—**१ गणाधिपतये नमः । २ गणेश्वराय नमः । ३ गणनायकाय नमः । ४ गणक्रीडाय नमः ।** (हृदयादि चार अङ्गोंकी तो कोणवर्ती चार दलोंमें और अस्त्रकी मध्यमें पूजा करे ।) **'वक्रतुण्डाय नमः । एकदंष्ट्राय नमः । महोदराय नमः । गजवक्त्राय नमः । लम्बोदराय नमः । विकटाय नमः । विघ्नराजाय नमः । धूम्रवर्णाय नमः ।'**—इन आठ मूर्तियोंकी कमलचक्रके दिग्वर्ती तथा कोणवर्ती दलोंमें पूजा करे । फिर इन्द्रादि लोकपालों तथा उनके अस्त्रोंकी अर्चना करे। मुद्रा-प्रदर्शनद्वारा पूजन अभीष्ट है । मध्यमा तथा तर्जनीके मध्यमें अँगूठेको डालकर मुट्ठी बाँध लेना—यह गणेशजीके लिये मुद्रा है । उनका ध्यान इस प्रकार करे—'भगवान् गणेशके चार भुजाएँ हैं। वे एक हाथमें मोदक लिये हुए हैं और शेष तीन हाथोंमें दण्ड, पाश एवं अङ्कुशसे सुशोभित हैं । दाँतोंमें उन्होंने भक्ष्य-पदार्थ लड्डूको दबा रक्खा है और उनकी अङ्गकान्ति लाल है। वे कमल, पाश और अङ्कुशसे घिरे हुए हैं ॥ ६–१० ॥

गणेशजीकी नित्य पूजा करे, किंतु चतुर्थीको विशेषरूपसे पूजाका आयोजन करे । सफेद आककी जड़से उनकी प्रतिमा बनाकर पूजा करे । उनके लिये तिलकी आहुति देनेपर सम्पूर्ण मनोरथोंकी प्राप्ति होती है । यदि दही, मधु और घीसे मिले हुए चावलसे आहुति दी जाय तो सौभाग्यकी सिद्धि एवं वशित्वकी प्राप्ति होती है ॥ ११½ ॥

घोष (ह), असृक् (र), प्राण (य), शान्ति (औ), अत्री (उ) तथा दण्डी (अनुस्वार)—यह सब मिलकर सूर्यदेवका 'ह्यौं ॐ'—ऐसा 'मार्तण्डभैरव' नामक बीज होता है। इसको बिम्ब-बीजसे[४] सम्पुटित कर दिया जाय तो यह साधकोंको धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है । पाँच ह्रस्व अक्षरोंको आदिमें बीज बनाकर उनके द्वारा पाँच मूर्तियोंका न्यास करे । यथा—**'अं सूर्याय नमः । इं भास्कराय नमः । उं भानवे नमः । एं रवये नमः । ओं दिवाकराय नमः ।'**[५] दीर्घस्वरोंके बीजसे हृदयादि अङ्गन्यास करे । यथा—**'आं हृदयाय नमः ।'** इत्यादि । इस प्रकार न्यास करके ध्यान करे—'भगवान् सूर्य ईशान-कोणमें विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति सिन्दूरके सदृश अरुण है । उनके आधे वामाङ्गमें उनकी प्राणवल्लभा विराज रही हैं' ॥ १२-१३½ ॥

['श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' में मार्तण्डभैरव-बीजको ही दीर्घ स्वरोंसे युक्त करके उनके द्वारा हृदयादि-न्यासका विधान किया गया है । यथा—**'ह्यां हृदयाय नमः ।' 'ह्यीं शिरसे स्वाहा ।'** इत्यादि ।]

फिर ईशानकोणमें कृतान्तके लिये निर्माल्य और चण्डके लिये दीप्ततेज (दीपज्योति) अर्पित करे। रोचना, कुङ्कुम, जल, रक्त चन्दन, अक्षत, अङ्कुर, वेणुबीज, जौ, अगहनी धानका चावल, सावाँ, तिल तथा राई और जपाके फूल अर्घ्यपात्रमें डाले । फिर उस अर्घ्यपात्रको सिरपर रखकर दोनों घुटने धरतीपर टिका दे और सूर्यदेवको अर्घ्य अर्पित करे । अपने मन्त्रसे अभिमन्त्रित नौ कलशोंद्वारा ग्रहोंका पूजन करके ग्रहादिकी शान्तिके लिये शान्ति-कलशके जलसे स्नान एवं सूर्यमन्त्रका जप करनेसे मनुष्य सब कुछ पा सकता है। (एक सौ अड़तालीसवें अध्यायमें कथित) 'संग्रामविजय-मन्त्र'में बीजपोषक बिन्दुयुक्त अग्नि—रकार अर्थात् 'र' जोड़कर उस सम्पूर्ण मन्त्रका मूर्धासे लेकर चरणपर्यन्त व्यापकन्यास

---

२. 'नारायणीय तन्त्र'में यही बात इस प्रकार कही गयी है—
खान्तं सान्तविषं सबिन्दुसकलं बिन्द्वौयुतं केवलं ।
पञ्चैतानि पृथक् फलं विदधते बीजानि विघ्नेशितुः ॥

३. 'शारदातिलक' और 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में ऐसा ही उल्लेख है । वहाँ 'महोदरहस्ताय' के स्थानमें 'महोदराय' है ।

४. 'शारदातिलक'में बिम्बबीज 'ह्रिं' बताया गया है । उसका उद्धार यों किया गया है—'टान्तं दहननेत्रेन्दुसहितं तदुदीरितम् ।' (१४ । ९७)

५. सूर्यादि पाँच मूर्तियोंका उल्लेख 'शारदातिलक'में है ।

करके मूलमन्त्रका, अर्थात् उसके उच्चारणपूर्वक सूर्यदेवका 'आवाहनी' आदि मुद्राओंके प्रदर्शनपूर्वक पूजन करे। तदनन्तर यथोक्त अङ्गन्यास करके अपने-आपका रविके रूपमें चिन्तन करे। अर्थात् मेरी आत्मा सूर्यस्वरूप है, ऐसी भावना करे। मारण और स्तम्भनकर्ममें सूर्यदेवके पीतवर्णका, अप्यायनमें श्वेतवर्णका, शत्रुघातकी क्रियामें कृष्णवर्णका तथा मोहनकर्ममें इन्द्रधनुषके समान वर्णका चिन्तन करे। जो सूर्यदेवके अभिषेक, जप, ध्यान, पूजा और होमकर्ममें सदा तत्पर रहता है, वह तेजस्वी, अजेय तथा श्रीसम्पन्न होता है और युद्धमें विजय पाता है। ताम्बूल आदिमें उक्त मन्त्रका न्यास करके जपपूर्वक उसमें खसका इत्र डाले तथा अपने हाथमें भी 'संग्राम-विजय'के बीजोंका न्यास करके उस हाथसे किसीको वह ताम्बूल अर्पण करे, अथवा उस हाथसे किसीका स्पर्श कर ले तो वह उसके वशमें हो जाता है ॥ १४—२२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गणपति तथा सूर्यकी अर्चाका कथन' नामक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

तीन सौ दोवाँ अध्याय

नाना प्रकारके मन्त्र और औषधोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—'ऐं कुलजे ऐं सरस्वति स्वाहा'—यह ग्यारह अक्षरोंका मन्त्र मुख्य 'सरस्वतीविद्या' है। जो क्षारलवणसे रहित आहार ग्रहण करते हुए मन्त्रोंकी अक्षरसंख्याके अनुसार उतने लाख मन्त्रका जप करता है, वह बुद्धिमान् होता है। अत्रि (द्), अग्नि (र), वामनेत्र (ई) तथा बिन्दु (ं) 'द्रीं'—यह मन्त्र महान् विद्रावणकारी (शत्रुको मार भगानेवाला) है। वज्र और कमल धारण करनेवाले पीत वर्णवाले इन्द्रका आवाहन करके उनकी पूजा करे और घी तथा तिलकी एक लाख आहुतियाँ दे। फिर तिलमिश्रित जलसे इन्द्रदेवताका अभिषेक करे। ऐसा करनेसे राजा आदि अपने छीने गये राज्य आदि तथा राजपुत्र आदि (मनोवाञ्छित वस्तुओं) को पा सकते हैं। हृल्लेखा (ह्रीं)—यह 'शक्तिदेवा' नामसे प्रसिद्ध है। इसका उद्धार यों है—घोष (ह), अग्नि (र), दण्डी (ई), दण्ड (ं) 'ह्रीं'। शिवा और शिवका पूजन करके शक्तिमन्त्र (ह्रीं) का जप करे। अष्टमीसे लेकर चतुर्दशीतक आराधनामें संलग्न रहे। हाथोंमें चक्र, पाश, अङ्कुश एवं अभयकी मुद्रा धारण करनेवाली वरदायिनी देवीकी आराधना करके होम आदि करनेपर उपासकको सौभाग्य एवं कवित्व-शक्तिकी प्राप्ति होती है तथा वह पुत्रवान् होता है ॥ १—५ ॥

'ॐ ह्रीं ॐ नमः कामाय सर्वजनहिताय सर्वजनमोहनाय प्रज्वलिताय सर्वजनहृदयं ममाऽऽत्मगतं कुरु कुरु ॐ ॥'—इसके जप आदि करनेसे यह मन्त्र सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें कर सकता है ॥ ६-७ ॥

'ॐ ह्रीं चामुण्डे अमुकं दह दह पच पच मम वशमानयानय स्वाहा ॐ।' यह चामुण्डाका वशीकरणमन्त्र कहा गया है। स्त्रीको चाहिये कि वशीकरणके प्रयोगकालमें त्रिफलाके ठंडे पानीसे अपनी योनिको धोये। अश्वगन्धा, यवक्षार, हल्दी और कपूर आदिसे भी स्त्री अपनी योनिका प्रक्षालन कर सकती है। पिप्पलीके आठ तन्दुल, कालीमिर्चके बीस दाने और भटकटैयाके रसका योनिमें लेप करनेसे उस स्त्रीका पति आमरण उसके वशमें रहता है। कटीरमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च और पीपल) का लेप भी उसी तरह लाभदायक होता है। हिम, कैथका रस, मागधीपिप्पली, मुलहठी और मधु—इनके लेपका प्रयोग दम्पतिके लिये कल्याणकारी होता है। शक्कर मिला हुआ कदम्ब-रस और मधु—इसका योनिमें लेप करनेसे भी वशीकरण होता है। सहदेई, महालक्ष्मी, पुत्रजीवी, कृताञ्जलि (लजावती)—इन सबका चूर्ण बनाकर सिरपर डाला जाय तो इहलोकके लिये उत्तम वशीकरणका साधन है। त्रिफला और चन्दनका क्वाथ एक प्रस्थ अलग हो और दो कुडव अलग हो, भँगरैया तथा नागकेसरका रस हो, उतनी ही हल्दी, क्षम्बुक, मधु, घीमें पकायी हुई हल्दी और सूखी हल्दी—इन सबका लेप करे तथा बिदारीकंद और जटामांसीके चूर्णमें चीनी मिलाकर उसको खूब मथ दे। फिर दूधके साथ प्रतिदिन पीये। ऐसा करनेवाला पुरुष सैकड़ों स्त्रियोंके साथ सहवासकी शक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ८—१६ ॥

गुञ्जा, उड़द, तिल, चावल—इन सबका चूर्ण बनाकर दूध और मिश्री मिलाये। पीपल, बाँस और कुशकी जड़,

'वैष्णवी' और 'श्री' नामक ओषधियोंकी जड़ तथा दूर्वा और अश्वगन्धाका मूल—इन सबको पुत्रकी इच्छा रखनेवाली नारी दूधके साथ पीये। कौन्ती, लक्ष्मी, शिवा और धात्री (आँवलेका बीज), लोध्र और वटके अङ्कुरको स्त्री ऋतुकालमें घी और दूधके साथ पीये। इससे उसको पुत्रकी प्राप्ति होती है। पुत्रार्थिनी नारी 'श्री'नामक ओषधिकी जड़ और वटके अङ्कुरको दूधके साथ पीये। श्री, वटाङ्कुर और देवी—इनके रसका नस्य ले और पीये भी। 'श्री' और 'कमल'की जड़को, अश्वत्थ और उत्तरके मूलको दूधके साथ पीये। कपासके फल और पल्लवको दूधमें पीसकर तरल बनाकर पीये। अपामार्गके नूतन पुष्पाग्रको भैंसके दूधके साथ पीये। उपर्युक्त साढ़े पाँच श्लोकोंमें पुत्रप्राप्तिके चार योग बताये गये हैं ॥ १७-२१½ ॥

यदि स्त्रीका गर्भ गलित हो जाता हो तो उसे शकर, कमलके फूल, कमलगट्टा, लोध, चन्दन और सारिवालता—इनको चावलके पानीमें पीसकर दे या लाजा, यष्टि (मुलहठी), सिता (मिश्री), द्राक्षा, मधु और घी—इन सबका अवलेह बनाकर वह स्त्री चाटे ॥ २२-२३ ॥

आटरूप (अडूसा), कलाङ्गली, काकमाची, शिफा (जटामांसी)—इन सबको नाभिके नीचे पीसकर छाप दे तो स्त्री सुखपूर्वक प्रसव कर सकती है ॥ २४ ॥

लाल और सफेद जवाकुसुम, लाल चीता और हींगपत्री पीये। केसर, भटकटैयाकी जड़, गोपी, षष्ठी (साठीका तृण) और उत्पल—इनको बकरीके दूधमें पीसकर तैल मिलाकर लगाय तो सिरमें बाल उगते हैं। अगर सिरके बाल झड़ रहे हों तो यह उनको रोकनेका उपाय है ॥ २५-२६ ॥

आँवला और भँगरैयाका एक सेर तैल, एक आढक दूध, षष्ठी और अञ्जनका एक पल तैल—ये सब सिरके बाल, नेत्र और सिरके लिये हितकारक होते हैं ॥ २७ ॥

हल्दी, राजवृक्षकी छाल, चिञ्चा (इमलीका बीज), नमक, लोध और पीली खारी—ये गौओंके पेट फूलनेकी बीमारीको तत्काल रोक देते हैं ॥ २८ ॥

'ॐ नमो भगवते त्र्यम्बकायोपशमयोपशमय चुलु चुलु मिलि मिलि भिदि भिदि गोमानिनि चक्रिणि हूं फट्। अस्मिन् ग्रामे गोकुलस्य रक्षां कुरु शान्तिं कुरु कुरु कुरु ठ ठ ठ' ॥ २९-३० ॥

यह गोसमुदायकी रक्षाका मन्त्र है।

'घण्टाकर्ण महासेन वीर बड़े बलवान् कहे गये हैं। वे जगदीश्वर महामारीका नाश करनेवाले हैं, अतः मेरी रक्षा करें।' ये दोनों श्लोक और मन्त्र गोरक्षक हैं, इनको लिखकर घरपर टाँग देना चाहिये ॥ ३१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाना प्रकारके मन्त्र और ओषधोंका कथन' नामक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०२ ॥

तीन सौ तीनवाँ अध्याय

अष्टाक्षर मन्त्र तथा उसकी न्यासादि विधि

जब चन्द्रमा जन्म-नक्षत्रपर हों और सूर्य सातवीं राशिपर हो तो उसे 'पूषाका काल' समझना चाहिये। उस समय श्वासकी परीक्षा करे। जिसके कण्ठ और ओष्ठ अपने स्थानसे चलित हो रहे हों, जिसकी नाक टेढ़ी हो गयी और जीभ काली पड़ गयी हो, उसका जीवन अधिक-से-अधिक सात दिन और रह सकता है ॥ १-२ ॥

तार (ॐ), मेष (न), विष (म), दन्ती (ओ), दीर्घस्वरयुक्त 'न' तथा 'र' (ना रा), 'य णा', रस (य)—यह भगवान् विष्णुका अष्टाक्षर-मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) है।[1] इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—

'क्रुद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नमः। महोल्काय स्वाहा शिरसे स्वाहा। वीरोल्काय स्वाहा शिखायै वषट्। द्युल्काय

[1] 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के अनुसार इस मन्त्रका विनियोग-वाक्य इस प्रकार होना चाहिये—'ॐ अस्य श्रीअष्टाक्षरमहामन्त्रस्य साध्यनारायणऋषिः, गायत्री छन्दः, परमात्मा देवता सर्वाभीष्टसिद्धयर्थे जपे विनियोगः।' (द्रष्टव्यः सप्तविंश श्वास, श्लोक १३-१४)

स्वाहा कवचाय हुम् । सहस्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फट् ।'[2]—इन मन्त्रोंको क्रमशः पढ़ते हुए हृदय, सिर, शिखा, दोनों भुजा तथा सम्पूर्ण दिग्भागमें न्यास करे ॥ ३½ ॥

कनिष्ठासे लेकर कनिष्ठातक आठ अँगुलियोंके तीनों पर्वोंमें अष्टाक्षर मन्त्रके पृथक्-पृथक् आठ अक्षरोंको 'प्रणव' तथा 'नमः' से सम्पुटित करके बोलते हुए अङ्गुष्ठके अग्रभागसे उनका क्रमशः न्यास करे ।[3] तर्जनीमें, मध्यमासे युक्त अङ्गुष्ठमें, करतलमें तथा पुनः अङ्गुष्ठमें प्रणवका न्यास 'उत्तार' कहलाता है । अतः पूर्वोक्त न्यासके पश्चात् 'बीजोत्तार-न्यास' करे । अष्टाक्षर मन्त्रके वर्णोंका रंग यों समझे—आदिके पाँच अक्षर क्रमशः रक्त, गौर, धूम्र, हरित और सुवर्णमय कान्तिवाले हैं तथा अन्तिम तीन वर्ण श्वेत हैं । इस रूपमें इन वर्णोंकी भावना करके इनका क्रमशः न्यास करना चाहिये । न्यासके स्थान हैं—हृदय, मुख, नेत्र, मूर्धा, चरण, तालु, गुह्य तथा हस्त आदि ॥ ४—७ ॥

हाथोंमें और अङ्गोंमें बीजन्यास करके फिर अङ्गन्यास करे ।[4] जैसे अपने शरीरमें न्यास किया जाता है, उसी तरह देवविग्रहमें भी करना चाहिये । किंतु देवशरीरमें करन्यास नहीं किया जाता है । देवविग्रहके हृदयादि अङ्गोंमें विन्यस्त वर्णोंका गन्ध-पुष्पोंद्वारा पूजन करे । देवपीठपर धर्म आदि, अग्नि आदि तथा अधर्म आदिका भी यथास्थान न्यास करे । फिर उसपर कमलका भी न्यास करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

पीठपर ही कमलके दल, केसर, किञ्जल्कका व्यापक सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल तथा अग्निमण्डल—इन तीन मण्डलोंका पृथक्-पृथक् क्रमशः न्यास करे । वहाँ सत्त्व आदि तीन गुणोंका तथा केसरोंमें स्थित विमला आदि शक्तियोंका भी चिन्तन करे । उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या तथा ईशाना । ये आठ शक्तियाँ आठ दिशाओंमें स्थित हैं और नवीं अनुग्रहा शक्ति मध्यमें विराजमान है । योगपीठकी अर्चना करके उसपर श्रीहरिका आवाहन और पूजन करे ॥ १०—१२ ॥

पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, पीताम्बर तथा आभूषण—ये पाँच उपचार हैं । इन सबका मूल (अष्टाक्षर) मन्त्रसे समर्पण किया जाता है । पीठके पूर्व आदि चार दिशाओंमें वासुदेव आदि चार मूर्तियोंका तथा अग्नि आदि कोणोंमें क्रमशः श्री, सरस्वती, रति और शान्तिका पूजन करे ॥ १३-१४ ॥

इसी प्रकार दिशाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मका तथा विदिशाओं (कोणों) में मुसल, खड्ग, शार्ङ्गधनुष तथा वनमालाकी क्रमशः अर्चना करे ॥ १५ ॥

मण्डलके बाहर गरुडकी पूजा करके भगवान् नारायणदेवके सम्मुख विराजमान विष्वक्सेन तथा सोमेशका मध्यभागमें और आवरणसे बाहर इन्द्र आदि परिचारकवर्गके साथ भगवान्का सम्यक् पूजन करनेसे साधकको अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है ॥ १६-१७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अष्टाक्षर-पूजा-विधि-वर्णन' नामक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०३ ॥

---

२. इन मन्त्रोंके अन्तमें 'स्वाहा' पद जोड़नेके विषयमें 'त्रैलोक्यमोहन-तन्त्र'का निम्नाङ्कित वचन प्रमाण है—

'क्रुद्धोल्कादिपदैर्वह्निजायान्तैर्जातिसंयुतैः ।' 'तन्त्रप्रकाश'में भी ऐसा ही कहा गया है—

'एषां विभक्तियुक्तानां भवेदन्तेऽग्निवल्लभा ।'

३. 'नारायणीयतन्त्र'में भी ऐसा ही कहा है—

कनिष्ठादितदन्तानामङ्गुलीनां त्रिपर्वसु । ज्येष्ठाग्रेण नमस्तारकद्धानष्टाक्षरान् न्यसेत् ॥ इति ॥

४. 'शारदातिलक' पञ्चदश पटलके श्लोक पाँचकी व्याख्याके अनुसार हाथोंमें सृष्टि, स्थिति एवं संहारके क्रमसे न्यास करना चाहिये । दाहिनी तर्जनीसे लेकर वाम तर्जनीतक मन्त्रके आठ अक्षरोंका न्यास 'सृष्टिन्यास' है । दोनों तर्जनीसे आरम्भ कर दोनों कनिष्ठापर्यन्त दो आवृत्तिमें इन आठ अक्षरोंका न्यास 'स्थितिन्यास' है । दाहिनी कनिष्ठासे लेकर वाम कनिष्ठापर्यन्त न्यास 'संहारन्यास' है । 'क्रुद्धोल्काय' इत्यादिसे मूलमें जो हृदयादि न्यास कहा है, वही 'अङ्गन्यास' है । इस प्रकार कराङ्गन्यास करके पुनः अङ्गन्यास-की विधि 'शारदातिलक'की व्याख्यामें स्पष्ट की गयी है । यथा—'षडङ्गन्यास'की विधिसे छः अक्षरोंका अङ्गोंमें क्रमशः न्यास करके शेष दो अक्षरोंका उदर और पृष्ठमें न्यास करना चाहिये । प्रयोग इस प्रकार है—'ॐ हृदयाय नमः । नं शिरसे स्वाहा । मों शिखायै वषट् । नां कवचाय हुम् । रां नेत्राभ्यां वौषट् । यं अस्त्राय फट् । णां उदराय नमः । यं पृष्ठाय नमः ।' इति । ईशानशिव गुरुदेवका वचन भी ऐसा ही है ।

अस्य स्याद्धृदयं तारः शिरो नार्णः शिखा च मो । नावर्णः कवचं शस्त्रं रावर्णो नयनं परः ॥
उदरं पृष्ठमस्यौ च वर्णौ हि नमसा श्रुतौ ॥

तीन सौ चारवाँ अध्याय

पञ्चाक्षर-दीक्षा-विधान; पूजाके मन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—मेष (न) सर्गि विष—विसर्ग युक्त मकार (मः) षसे पहलेका अक्षर श और उसके साथ अक्षि—इकार (शि) दीर्घोदक (वा) मरुत् (य)—यह पञ्चाक्षर मन्त्र (नमः शिवाय[1]) शिवस्वरूप तथा शिवप्रदाता है। इसके आदिमें ॐ लगा देनेपर यह षडक्षर मन्त्र हो जाता है। इसका अर्चन (भजन) करके मनुष्य देवत्व आदि उत्तम फलोंको प्राप्त कर लेता है ॥ १½ ॥

ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही परम बुद्धिरूप है। वही सबके हृदयमें शिवरूपसे विराजमान है। वह शक्तिभूत सर्वेश्वर ही ब्रह्मा आदि मूर्तियोंके भेदसे भिन्न-सा प्रतीत होता है। मन्त्रके अक्षर पाँच हैं, भूतगण भी पाँच हैं तथा उनके मन्त्र और विषय भी पाँच हैं। प्राण आदि वायु पाँच हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच-पाँच हैं। ये सब-की-सब वस्तुएँ पञ्चाक्षर-ब्रह्मरूप हैं। इसी प्रकार यह सब कुछ अष्टाक्षर मन्त्ररूप भी है ॥ २-४ ॥

दीक्षा-स्थानका मन्त्रोच्चारणपूर्वक पञ्चगव्यसे प्रोक्षण करे। फिर वहाँ समस्त आवश्यक सामग्रीका संग्रह करके विधिपूर्वक शिवकी पूजा करे। तत्पश्चात् मूलमन्त्र, इष्ट-मूर्तिसम्बन्धी मन्त्र तथा अङ्गसम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा अक्षत छींटते हुए भूतापसारणपूर्वक रक्षात्मक क्रिया सम्पादित करे। फिर दूधमें चरु पकाकर उसके तीन भाग करे। उनमेंसे एक भाग तो इष्टदेवताको निवेदित कर दे, दूसरे भागकी आहुति दे और तीसरा शिष्यसहित स्वयं ग्रहण करे। फिर आचमन एवं सकलीकरण करके आचार्य शिष्यको हृदय-मन्त्रसे अभिमन्त्रित एक दन्तधावन दे, जो दूधवाले वृक्ष आदिका काष्ठ हो। उससे दाँतोंका शोधन करके, उसे चीरकर उसके द्वारा जीभ साफ करनेके बाद धोकर पृथ्वीपर फेंक दे ॥ ५-८ ॥

यदि पूर्वदिशासे फेंकनेपर वह दन्तकाष्ठ उत्तर या पश्चिम दिशाकी ओर जाकर गिरे तो शुभ होता है, अन्यथा अशुभ होता है। पुनः अपने सम्मुख आते हुए शिष्यको शिखा-बन्धके[2] द्वारा रक्षित करके ज्ञानी गुरु वेदीपर उसके साथ कुशके विस्तरपर सो जाय। शिष्य सोते समय रातमें जो स्वप्न देखे, उसे प्रातःकाल अपने गुरुको सुनावे ॥ ९-१० ॥

यदि स्वप्न शुभ एवं सिद्धिसूचक हुए तो उनसे मन्त्र तथा इष्टदेवके प्रति भक्ति बढ़ती है। तत्पश्चात् पुनः मण्डलार्चन करना चाहिये। 'सर्वतोभद्र' आदि मण्डल पहले बताये गये हैं। उन्हींमेंसे किसी एकका पूजन करना चाहिये। पूजित हुआ मण्डल सम्पूर्ण सिद्धियोंका दाता है ॥ ११ ॥

पहले स्नान और आचमन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक देहमें मिट्टी लगाये। फिर पूर्ववत् कल्पित शिवतीर्थमें साधक अघमर्षण-मन्त्रके जपपूर्वक स्नान करे। फिर विद्वान् पुरुष हस्ताभिषेक (हाथोंकी शुद्धि[3]) करके पूजागृहमें प्रवेश करे। मूलमन्त्रसे योगपीठपर कमलासनका न्यास (चिन्तन) करे। मूलसे ही पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम करे ॥ १२-१३ ॥

[सुषुम्णा नाड़ीके मार्गसे] जीवात्माको ऊपर ब्रह्मरन्ध्र-स्थित सहस्रारचक्रमें ले जाकर परमात्मामें योजित (स्थापित) कर दे। सिरसे लेकर शिखापर्यन्त जो बारह अङ्गुल विस्तृत स्थान है, वही 'ब्रह्मरन्ध्र' है। उसीमें स्थित परमात्माके भीतर जीवको ('हंसः सोऽहम्'—इस मन्त्रद्वारा) संयोजित करनेके पश्चात् [यह चिन्तन करे कि सम्पूर्ण भूतोंके तत्त्व बीजरूपसे अपने-अपने कारणमें संहारक्रमसे विलीन हो गये

---

१. 'शारदातिलक' तथा 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के अनुसार पञ्चाक्षर मन्त्रका विनियोग इस प्रकार है—'अस्य श्रीशिवपञ्चाक्षरमन्त्रस्य (षडक्षरमन्त्रस्य वा) वामदेव ऋषिः पङ्क्तिश्छन्दः सदाशिवो देवता चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धये जपे विनियोगः।' इसका न्यास यों होगा—'वामदेवाय ऋषये नमः शिरसि। पङ्क्तिच्छन्दसे नमः मुखे। श्रीसदाशिवदेवतायै नमः हृदि।'

२. मूलमन्त्रसे सजातीय शिखाबन्ध, यथा—'ह्रीं शिखायै वषट्' द्वारा अथवा अघोरादि मन्त्रोंद्वारा गुरु शिष्यकी शिखा बाँध दे। यही 'शिखाबन्धाभिरक्षण' अथवा शिष्यको शिखाबन्धके द्वारा रक्षित करना है। ('शारदातिलक'की व्याख्या)

३. करशुद्धिका एक प्रकार यह भी है—अङ्गुष्ठ आदि सभी अँगुलियोंमें, दोनों हाथोंके अन्तर्भागमें, बाह्यभागमें तथा दोनों हाथोंके पार्श्वभागमें पञ्चब्रह्म (कर)का व्यापकन्यास किया जाय।

हैं । इस प्रकार प्रकृतिपर्यन्त समस्त तत्त्वोंका परमात्मामें लय हो गया है । तदनन्तर] वायुबीज (यकार)के द्वारा वायुको प्रकट करके उसके द्वारा अपने शरीरको सुखा दे । इसके बाद अग्निबीज (रकार) से अग्नि प्रकट करके उसके द्वारा उस समस्त शुष्क शरीरको जलाकर भस्म कर दे । (उसमेंसे दग्ध हुए पापपुरुषके भस्मको विलगाकर) अपने शरीरके भस्मको अमृतबीज (वकार)से प्रकट अमृतकी धारासे आप्लावित कर दे ॥ १४ ॥

[इसके बाद विलीन हुए प्रत्येक तत्त्वके बीजको अपने-अपने स्थानपर पहुँचाकर दिव्य शरीरका निर्माण करे ।] दिव्य स्वरूपका ध्यान करके जीवात्माको पुनः ले आकर हृदयकमलमें स्थापित कर दे । ऐसा करनेसे आत्म-शुद्धि सम्पादित होती है । तदनन्तर न्यास करके पूजन आरम्भ करे ॥ १५ ॥

पञ्चाक्षर-मन्त्रके न, म आदि पाँच वर्ण क्रमशः कृष्ण, श्वेत, श्याम, रक्त और पीत कान्तिवाले हैं । नकारादि अक्षरोंसे क्रमशः अङ्गन्यास करे । उन्हीं अङ्गोंमें तत्पुरुष आदि पाँच मूर्तियोंका भी न्यास करना चाहिये ॥ १६ ॥

तदनन्तर अङ्गुष्ठसे कनिष्ठापर्यन्त पाँच अँगुलियोंमें क्रमशः अङ्गमन्त्रोंका सर्वतोभावेन न्यास[5] करके पाद, गुह्य, हृदय, मुख तथा मूर्धामें मन्त्राक्षरोंका न्यास[6] करे । इसके बाद मूर्धा, मुख, हृदय, गुह्य और पाद—इन अङ्गोंमें व्यापक-न्यास[7] करके मूलमन्त्रके अक्षरोंका तथा अङ्गमन्त्रोंका भी वहीं न्यास करें[8] । फिर अग्नि आदि कोणोंमें प्रकट पीठके धर्म आदि पादोंका, जो क्रमशः रक्त, पीत, श्याम और श्वेत वर्णके हैं, चिन्तन करके उनमें साध्यमन्त्रके अक्षरोंका न्यास करे तथा पूर्वादि दिशाओंमें स्थित अधर्म आदिका चिन्तन करके उनमें अङ्गमन्त्रोंका न्यास[9] करे । इस प्रकार योगपीठका चिन्तन करके उसके ऊपर अष्टदल कमलका और सूर्यमण्डल, सोम-मण्डल तथा अग्निमण्डल—इन तीन मण्डलोंका एवं सत्त्वादि गुणोंका चिन्तन करे ॥ १७-१९ ॥

इसके बाद अष्टदल कमलके पूर्वादि दलोंपर वामा आदि आठ शक्तियोंका तथा कर्णिकाके ऊपर नवीं (मनोन्मनी) शक्तिका न्यास या चिन्तन करे । इन शक्तियोंके नाम इस प्रकार हैं—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकारिणी, बलविकारिणी, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी तथा नवीं मनोन्मनी । ये शक्तियाँ ज्वालास्वरूपा हैं और इनकी कान्ति क्रमशः श्वेत, रक्त, सित, पीत, श्याम, अग्नि-सदृश, असित, कृष्ण तथा अरुण वर्णकी है । इस प्रकार इनका चिन्तन करे ॥ २०-२२ ॥

तदनन्तर 'अनन्तयोगपीठाय नमः' से योगपीठकी पूजा करके हृदयकमलमें शिवका आवाहन करे । यथा—

स्फटिकाभं चतुर्बाहुं फालशूलधरं शिवम् ।
साभयं वरदं पञ्चवदनं च त्रिलोचनम् ॥

'जिनकी कान्ति स्फटिकमणिके समान श्वेत है, जो चार भुजाओंसे सुशोभित हैं और उन हाथोंमें फाल, शूल तथा

---

४. इसका प्रयोग इस प्रकार है । पहले निम्नाङ्कित रूपसे मूर्तिसहित करन्यास करे—'नं तत्पुरुषाय नमः तर्जन्योः । मं अघोराय नमः मध्यमयोः । शिं सद्योजाताय नमः कनिष्ठिकयोः । वां वामदेवाय नमः अनामिकयोः । यं ईशानाय नमः अङ्गुष्ठयोः ।' तत्पश्चात् अङ्गन्याससहित मूर्तिन्यास करे । यथा—'नं तत्पुरुषाय हृदयाय नमः । मं अघोराय शिरसे स्वाहा । शिं सद्योजाताय शिखायै वषट् । वां वामदेवाय कवचाय हुम् । यं ईशानाय अस्त्राय फट् ।' करन्यासमें यहाँ मध्यमाके बाद कनिष्ठा, फिर अनामिका, तत्पश्चात् अङ्गुष्ठका क्रम 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के तीसवें श्वास तथा 'शारदातिलक' के अठारहवें पटलके अनुसार है ।

५. प्रयोग इस प्रकार है—नं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । मं तर्जनीभ्यां स्वाहा । शिं मध्यमाभ्यां वषट् । वां अनामिकाभ्यां हुम् । यं कनिष्ठिकाभ्यां फट् ।

६. नं पादयोः न्यस्यामि । मं गुह्ये न्यस्यामि । शिं हृदये न्यस्यामि । वां मुखे न्यस्यामि । यं मूर्ध्नि न्यस्यामि ।

७. व्यापकन्यास 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' (श्वास ३०) तथा 'शारदातिलक' (पटल १८) में इस प्रकार कहा गया है—

नमोऽस्तु स्थाणुभूताय ज्योतिर्लिङ्गामृतात्मने ।
चतुर्मूर्तिवपुश्छायाभासिताङ्गाय शम्भवे ॥

इति मन्त्रेण मूर्धादिपादपर्यन्तं व्यापकं न्यसेत् ।

८. नं मूर्ध्ने नमः । मं वक्त्राय स्वाहा । शिं हृदयाय वषट् । वां गुह्याय हुम् । यं पादाभ्यां फट् ।

९. नं धर्माय नमः (अग्निकोणपादे) । मं ज्ञानाय नमः (नैर्ऋत्यपादे) । शिं वैराग्याय नमः (वायव्यपादे) । वां यं ऐश्वर्याय नमः (ऐशानपादे) । अधर्माय नमः (पूर्वे) । अज्ञानाय स्वाहा (दक्षिणे) । अवैराग्याय वषट् (पश्चिमे) । अनैश्वर्याय हुं फट् (उत्तरे) ।

अभय एवं वरद मुद्राएँ धारण करते हैं, जिनके पाँच मुख और प्रत्येक मुखके साथ तीन-तीन नेत्र हैं, उन भगवान् शिवका मैं ध्यान एवं आवाहन करता हूँ।'

इसके बाद कमलदलोंमें तत्पुरुषादि पञ्चमूर्तियोंकी स्थापना करे। यथा—नं तत्पुरुषाय नमः (पूर्वे)। मं अघोराय नमः (दक्षिणे)। शिं सद्योजाताय नमः (पश्चिमे)। वां वामदेवाय नमः (उत्तरे)। यं ईशानाय नमः (ईशाने)।

तत्पुरुष चतुर्भुज हैं। उनका वर्ण श्वेत है। उनका स्थान कमलके पूर्ववर्ती दलमें है। अघोरके आठ भुजाएँ हैं और उनकी अङ्गकान्ति असित (श्याम) है। इनका स्थान दक्षिणदलमें है। सद्योजातके चार मुख और चार ही भुजाएँ हैं। उनका पीत वर्ण है और स्थान पश्चिमदलमें है। वामदेव-विग्रह स्त्री (देवी पार्वती) के साथ विलसित होता है। उनके भी मुख तथा भुजाएँ चार-चार ही हैं। कान्ति अरुण है। इनका स्थान उत्तरवर्ती कमलदलमें है। ईशानके पाँच मुख हैं। वे ईशान-दलमें स्थित हैं। उनका वर्ण गौर है तथा वे सब कुछ देनेवाले हैं॥ २३—२६॥

तत्पश्चात् इष्टदेवके अङ्गोंका यथोचित पूजन करे[10]। फिर अनन्त, सूक्ष्म, सिद्धेश्वर (अथवा शिवोत्तम) और एकनेत्रका पूर्वादि दिशाओंमें (नाममन्त्रसे) पूजन करे। एकरुद्र, त्रिनेत्र, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डीका ईशान आदि कोणोंमें पूजन करे। ये सब-के-सब विद्येश्वर हैं और कमल इनका आसन है। इनकी अङ्गकान्ति क्रमशः श्वेत, पीत, सित, रक्त, धूम्र, रक्त, अरुण और नील है। ये सभी चतुर्भुज हैं और चार हाथोंमें शूल, वज्र, बाण और धनुष लिये रहते हैं। इनके मुख भी चार-चार ही हैं। इसके बाद तृतीय अष्टदल-कमलमें उत्तरादि दलोंमें प्रदक्षिण-क्रमसे उमा, चण्डेश, नन्दीश्वर, महाकाल, गणेश्वर, वृषभ, भृङ्गिरिटि तथा स्कन्दका पूजन करे॥ २७—३०॥

तत्पश्चात् पूर्वादि दिशाओंमें चतुरस्र रेखापर इन्द्रादि दिक्पालों तथा उनके अस्त्र—वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा, शूल, चक्र और पद्मका पूजन करे[11]। इस प्रकार छः आवरणोंसहित इष्टदेवताकी पूजा करके गुरु अधिवासित शिष्यको पञ्चगव्यपान कराये। फिर आचमन कर लेनेपर उसका प्रोक्षण करे। इसके बाद नेत्रान्त अर्थात् नूतन शुक्ल वस्त्रकी पट्टीसे नेत्र-मन्त्र (वौषट्) का उच्चारण करते हुए गुरु शिष्यके नेत्रोंको बाँध दे। फिर उस शिष्यको मण्डपके दक्षिणद्वारमें प्रवेश कराये। वहाँ आसन आदि या कुशपर बैठे हुए शिष्यका गुरु शोधन करे। पूर्वोक्त रीतिसे शरीर आदि पाञ्चभौतिक तत्त्वोंका क्रमशः संहार करके शिष्यका परमात्मामें लय किया जाय; फिर सृष्टिमार्गसे देशिक शिष्यका पुनरुत्पादन करे। इसके बाद उस शिष्यके दिव्य शरीरमें न्यास करके उसे प्रदक्षिणक्रमसे पश्चिमद्वारपर लाकर उसके द्वारा पुष्पाञ्जलिका क्षेपण कराये। जिस देवताके ऊपर वे फूल गिरें, उसके नामको आदिमें रखते हुए शिष्यके नामका निर्देश करे। तत्पश्चात् (नेत्रका बन्धन खोलकर) यज्ञभूमिके पार्श्वभागमें सुन्दर नाभि और मेखलासे युक्त खुदे हुए कुण्डमें शिवाग्निको प्रकट कराकर, स्वयं उसका पूजन करके, फिर शिष्यसे भी उसकी अर्चना कराये। फिर ध्यान-द्वारा आत्मसदृश शिष्यको संहारक्रमसे अपनेमें लीन करके पुनः उसका सृष्टिक्रमसे उत्पादन करे। तदनन्तर उसके हाथमें अभिमन्त्रित कुश दे और हृदयादि मन्त्रोंद्वारा पृथिवी आदि तत्त्वोंके लिये आहुति प्रदान करे॥ ३१—३८॥

१०. उनके षडङ्ग-पूजनका क्रम यों है—द्वितीय अष्टदलकमलके केसरोंमें—ॐ हृदयाय नमः (दैवत्य रक्षायकेसरे)। नं शिरसे स्वाहा (वामाग्रकेसरे ईशाने)। मं शिखायै वषट् (पृष्ठदक्षिणे)। शिं कवचाय हुम् (पृष्ठवामे)। वां नेत्रत्रयाय वौषट् (अग्रे)। यं अस्त्राय फट् (अग्रादिचतुर्दिक्षु)। (श्रीविद्यार्णवतन्त्र)

११. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में पूजनके मन्त्र इस प्रकार दिये गये हैं—'देवाग्रभागमारभ्य लं इन्द्राय सुराधिपतये पीतवर्णाय वज्रहस्ताय ऐरावतवाहनाय नमः। रं अग्नये तेजोऽधिपतये रक्तवर्णाय शक्तिहस्ताय मेषवाहनाय नमः। हं यमाय प्रेताधिपतये कृष्णवर्णाय दण्डहस्ताय महिषवाहनाय नमः। क्षं नैर्ऋत्ये रक्षोऽधिपतये धूम्रवर्णाय खड्गहस्ताय प्रेतवाहनाय नमः। वं वरुणाय यादसाम्पतये शुक्लवर्णाय पाशहस्ताय मकरवाहनाय नमः। यं वायवे प्राणाधिपतये धूम्रवर्णाय अङ्कुशहस्ताय मृगवाहनाय नमः। सौं ईशानाय विद्याधिपतये स्फटिकवर्णाय शूलहस्ताय वृषभवाहनाय नमः। इति सम्पूज्य इन्द्रेशानयोर्मध्ये—आं ब्रह्मणे लोकाधिपतये रक्तवर्णाय पद्महस्ताय हंसवाहनाय नमः। निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये—ह्रीं अनन्ताय नागाधिपतये गौरवर्णाय चक्रहस्ताय गरुडवाहनाय नमः। इति सम्पूज्य द्वितीयवीथ्याम्—वज्राय नमः। शक्तये०। दण्डाय०। खड्गाय०। पाशाय०। अङ्कुशाय०। गदायै०। त्रिशूलाय०। पद्माय०। चक्राय०। इस प्रकार क्रमशः आयुधोंका उन-उन दिक्पालोंके निकटवर्ती स्थानमें पूजन करना चाहिये।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इनमेंसे प्रत्येकके लिये इनके नाम-मन्त्रसे सौ-सौ आहुतियाँ देकर आकाशतत्त्वके लिये मूलमन्त्र (ॐ नमः शिवाय) से सौ आहुतियाँ दे। इस प्रकार हवन करके उसकी पूर्णाहुति करे। फिर अस्त्र-मन्त्र (फट्) का उच्चारण करके आठ आहुतियाँ दे। तत्पश्चात् विशेष शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त (होम या गोदान) करे। अभिमन्त्रित कलशका पूजन कर पीठस्थित शिष्यका अभिषेक करे। फिर गुरु शिष्यको समयाचार सिखावे। शिष्य स्वर्ण-मुद्रा आदिके द्वारा अपने गुरुका पूजन करे। इस प्रकार यहाँ 'शिवपञ्चाक्षर' मन्त्रकी दीक्षा बतायी गयी। इसी तरह विष्णु आदि देवताओंके मन्त्रोंकी भी दीक्षा दी जाती है ॥ ३९—४१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पञ्चाक्षरमन्त्रकी दीक्षाके विधानका वर्णन' नामक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०४ ॥

तीन सौ पाँचवाँ अध्याय

पचपन विष्णुनाम

अग्निदेव कहते हैं—मुने! जो मनुष्य भगवान् विष्णुके निम्नाङ्कित पचपन नामोंका जप करता है, वह मन्त्रजप आदिके फलका भागी होता है तथा तीर्थोंमें पूजनादिके अक्षय पुण्यको प्राप्त करता है। पुष्करमें पुण्डरीकाक्ष, गयामें गदाधर, चित्रकूटमें राघव, प्रभासमें दैत्यसूदन, जयन्तीमें जय, हस्तिनापुरमें जयन्त, वर्धमानमें वाराह, काश्मीरमें चक्रपाणि, कुब्जाभ (या कुब्जाम्र) में जनार्दन, मथुरामें केशवदेव, कुब्जाम्रकमें हृषीकेश, गङ्गाद्वारमें जटाधर, शालग्राममें महायोग, गोवर्धनगिरिपर हरि, पिण्डारकमें चतुर्बाहु, शङ्खोद्धारमें शङ्खी, कुरुक्षेत्रमें वामन, यमुनामें त्रिविक्रम, शोणतीर्थमें विश्वेश्वर, पूर्वसागरमें कपिल, महासागरमें विष्णु, गङ्गासागर-सङ्गममें वनमाल, किष्किन्धामें रैवतकदेव, काशीतटमें महायोग, विरजामें रिपुंजय, विशाखयूपमें अजित, नेपालमें लोकभावन, द्वारकामें कृष्ण, मन्दराचलमें मधुसूदन, लोकाकुलमें रिपुहर, शालग्राममें हरिका स्मरण करे ॥ १—९ ॥

पुरुषवटमें पुरुष, विमलतीर्थमें जगत्प्रभु, सैन्धवारण्यमें अनन्त, दण्डकारण्यमें शार्ङ्गधारी, उत्पलावर्तकमें शौरि, नर्मदामें श्रीपति, रैवतकगिरिपर दामोदर, नन्दामें जलशायी, सिन्धुसागरमें गोपीश्वर, माहेन्द्रतीर्थमें अच्युत, सह्याद्रिपर देव-देवेश्वर, मागधवनमें वैकुण्ठ, विन्ध्यगिरिपर सर्वपापहारी, औण्ड्रमें पुरुषोत्तम और हृदयमें आत्मा विराजमान हैं। ये अपने नामका जप करनेवाले साधकोंको भोग तथा मोक्ष देनेवाले हैं, ऐसा जानो ॥ १०—१३ ॥

प्रत्येक वटवृक्षपर कुबेरका, प्रत्येक चौराहेपर शिवका, प्रत्येक पर्वतपर रामका तथा सर्वत्र मधुसूदनका स्मरण करे। धरती और आकाशमें नरका, वसिष्ठतीर्थमें गरुडध्वज-का तथा सर्वत्र भगवान् वासुदेवका स्मरण करनेवाला पुरुष भोग एवं मोक्षका भागी होता है। भगवान् विष्णुके इन नामोंका जप करके मनुष्य सब कुछ पा सकता है। उपर्युक्त क्षेत्रमें जो जप, श्राद्ध, दान और तर्पण किया जाता है, वह सब कोटिगुना हो जाता है। जिसकी वहाँ मृत्यु होती है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो इस प्रसंगको पढ़ेगा अथवा सुनेगा, वह शुद्ध होकर स्वर्ग (वैकुण्ठधाम) को प्राप्त होगा* ॥ १४—१७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विष्णुके पचपन नामविषयक' तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०५ ॥

* अग्निरुवाच—

जपन् वै पञ्चपञ्चाशद् विष्णुनामानि यो नरः। मन्त्रजप्यादिफलभाक् तीर्थेष्वर्चादि चाक्षयम् ॥
पुष्करे पुण्डरीकाक्षं गयायां च गदाधरम्। राघवं चित्रकूटे तु प्रभासे दैत्यसूदनम् ॥
जयं जयन्त्यां तद्वच्च जयन्तं हस्तिनापुरे। वाराहं वर्धमाने च काश्मीरे चक्रपाणिनम् ॥
जनार्दनं च कुब्जाभे मथुरायां च केशवम्। कुब्जाम्रके हृषीकेशं गङ्गाद्वारे जटाधरम् ॥
शालग्रामे महायोगं हरिं गोवर्धनाचले। पिण्डारके चतुर्बाहुं शङ्खोद्धारे च शङ्खिनम् ॥

तीन सौ छठा अध्याय

श्रीनरसिंह आदिके मन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—मुने ! स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, उत्सादन, भ्रामण, मारण तथा व्याधि—ये 'क्षुद्र'-संज्ञक अभिचारिक कर्म हैं । इनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो ? यह बात बताऊँगा; सुनो—॥ १ ॥

'ॐ नमो भगवते उन्मत्तरुद्राय भ्रम भ्रम भ्रामय भ्रामय अमुकं वित्रासय वित्रासय उद्भ्रामय उद्भ्रामय रुद्र रौद्रेण रूपेण हुं फट् स्वाहा'[1] ॥ २ ॥

श्मशान-भूमिमें रातको इस मन्त्रका तीन लाख जप करे । फिर चिताकी आगमें धतूरेकी समिधाओंद्वारा हवन करे । इस प्रयोगसे शत्रु सदा भ्रान्त होता—चक्करमें पड़ा रहता है । सुनहरे गेरूसे शत्रुकी प्रतिमा बनाकर उक्त मन्त्रका जप करे । फिर मन्त्रजपसे अभिमन्त्रित की हुई सोनेकी सूइयोंसे उस प्रतिमाके कण्ठ अथवा हृदयको बींधे । इस प्रयोगसे शत्रुकी मृत्यु हो जाती है । गधेका बाल (अथवा खराश्वा—मयूरशिखा नामक ओषधिके पत्ते), चिताका भस्म, ब्रह्मदण्डी (ब्रह्मदारु या तूतकी लकड़ी) तथा मर्कटी (करंजभेद)—इन सबको जलाकर भस्म (चूर्ण) बना ले । उस भस्म या चूर्णको उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उत्सादनका प्रयोग करनेवाला पुरुष शत्रुके घरपर अथवा उसके मस्तपर फेंक दे[2] ॥ ३–५ ॥

भृगु (स) आकाश (ह), दीप्त (दीर्घ आकारयुक्त) रेफसहित भृगु (स) अर्थात् (सहस्रा), फिर र, वर्म (हुम्) और फट् इस प्रकार सब मिलकर मन्त्र बना—'सहस्रार हुं फट् ।' इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—'आचक्राय स्वाहा, हृदयाय नमः । विचक्राय स्वाहा, शिरसे स्वाहा ।

वामनं च कुरुक्षेत्रे यमुनायां त्रिविक्रमम् । विश्वेश्वरं तथा शोणे कपिलं पूर्वसागरे ॥
विष्णुं महोदधौ विद्याद् गङ्गासागरसंगमे । वनमालं च किष्किन्ध्यां देवं रैवतकं विदुः ॥
काशीतटे महायोगं विरजायां रिपुंजयम् । विशाखयूपे ह्यजितं नेपाले लोकभावनम् ॥
द्वारकायां विद्धि कृष्णं मन्दरे मधुसूदनम् । लोकाकुले रिपुहरं शालग्रामे हरिं स्मरेत् ॥
पुरुषं पूरुषवटे विमले च जगत्प्रभुम् । अनन्तं सैन्धवारण्ये दण्डके शार्ङ्गधारिणम् ॥
उत्पलावर्तके शौरिं नर्मदायां श्रियः पतिम् । दामोदरं रैवतके नन्दायां जलशायिनम् ॥
गोपीश्वरं च सिन्ध्वब्धौ माहेन्द्रे चाच्युतं विदुः । सह्याद्रौ देवदेवेशं वैकुण्ठं मागधे वने ॥
सर्वपापहरं विन्ध्ये औण्ड्रे तु पुरुषोत्तमम् । आत्मानं हृदये विद्धि जपतां भुक्तिमुक्तिदम् ॥
वटे वटे वैश्रवणं चत्वरे चत्वरे शिवम् । पर्वते पर्वते रामं सर्वत्र मधुसूदनम् ॥
नरं भूमौ तथा व्योम्नि वसिष्ठे गरुडध्वजम् । वासुदेवं च सर्वत्र संस्मरन् भुक्तिमुक्तिभाक् ॥
नामान्येतानि विष्णोश्च जप्त्वा सर्वमवाप्नुयात् । क्षेत्रेष्वेतेषु यच्छ्राद्धं दानं जप्यं च तर्पणम् ॥
तत्सर्वं कोटिगुणितं मृतो ब्रह्ममयो भवेत् । यः पठेच्छृणुयाद्वापि निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥

(अग्निपु० ३०५ । १–१७)

१. 'तन्त्रसार-संग्रह' १७ वें पटल, श्लोक ३० में भी इस मन्त्रका यही रूप है । इस मन्त्रका अङ्गन्यास इस प्रकार करना चाहिये—'ॐ नमो भगवते हृदयाय नमः । उन्मत्तरुद्राय शिरसे स्वाहा । भ्रम भ्रम भ्रामय भ्रामय शिखायै वषट् । अमुकं वित्रासय वित्रासय कवचाय हुम् । उद्भ्रामयोद्भ्रामय नेत्रत्रयाय वौषट् । रुद्र रौद्रेण रूपेण हुं फट् स्वाहा अस्त्राय फट् ।'

२. 'तन्त्रसार-संग्रह'में इस श्लोकका पाठ इस प्रकार मिलता है—

सप्तग्रामोत्थवल्मीकमृत्स्नाविषतरुत्वचौ । कर्ण्यग्निमन्थवन्दाकौ पक्षौ मूकाह्विकाह्विपोः ॥
खरवालं चिताभस्म ब्रह्मदण्डी च मर्कटी । गृहे वा मूर्ध्नि तच्चूर्णं क्षिप्तमुत्सादनं रिपोः ॥

(१७ पटल, श्लोक ७०–७२)

'सात गाँवोंके बिमौटकी मिट्टी, विषवृक्षकी छाल, कर्णी (कमलगट्टा), अग्निमन्थवन्दाक (वस्तुविशेष), काकपंख, उल्लूकी

सुचक्राय स्वाहा, शिखायै वषट् । धीचक्राय स्वाहा, कवचाय हुम् । संचक्राय स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट् । ज्वालाचक्राय स्वाहा, अस्त्राय फट् ।' ये न्यास पूर्ववत् कहे गये हैं ।[3] अङ्गन्यासपूर्वक जपा हुआ सुदर्शनचक्र मन्त्र पूर्वोक्त 'क्षुद्र'-संज्ञक अभिचारों तथा ग्रहबाधाओंको हर लेनेवाला और समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है ॥ ६–८ ॥

उक्त सुदर्शन-मन्त्रके छः अक्षरोंका क्रमशः मूर्धा, नेत्र, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण—इन छः अङ्गोंमें न्यास करे । इसके बाद चक्रस्वरूप भगवान् विष्णुका ध्यान करे—'भगवान् चक्राकार कमलके आसनपर विराजमान हैं । उनकी आभा अग्निसे भी अधिक तेजस्विनी है । उनके मुखमें दाढ़ें हैं । वे चार भुजाधारी होते हुए भी अष्टबाहु हैं । वे अपने हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, मुशल, अङ्कुश, पाश और धनुष धारण करते हैं । उनके केश पिङ्गलवर्णके और नेत्र लाल हैं । उन्होंने अरोंसे त्रिलोकीको व्याप्त कर रखा है । चक्रकी नाभि (नाहा) उस अग्निसे आविद्ध (व्याप्त) है । उसके चिन्तनमात्रसे समस्त रोग तथा अरिष्टग्रह नष्ट हो जाते हैं । सम्पूर्ण चक्र पीतवर्णका है । उसके सुन्दर अरे रक्तवर्णके हैं । उन अरोंका अवान्तरभाग श्यामवर्णका है । चक्रकी नेमि श्वेतवर्णकी है । उसमें बाहरकी ओरसे कृष्णवर्णकी पार्थिवी रेखा है । अरोंसे युक्त जो मध्यभाग है, उसमें समस्त अकारादि वर्ण हैं ।' इस प्रकार दो चक्र-चिह्न अङ्कित करे ॥ ९—१२ ॥

आदि (उत्तरवर्ती) चक्रपर कलशका जल ले अपने आगे समीपमें ही स्थापित करे । दूसरे दक्षिण चक्रपर सुदर्शनकी पूजा करके वहाँ अग्निमें क्रमशः घी, अपामार्गकी समिधा, अक्षत, तिल, सरसों, खीर और गोघृत—सबकी आहुतियाँ दे । प्रत्येक वस्तुकी एक हजार आठ आहुतियाँ पृथक्-पृथक् देनी चाहिये ॥ १३-१४ ॥

विधि-विधानका ज्ञाता विद्वान् प्रत्येक द्रव्यका हुतशेष भाग कलशमें डाले । तदनन्तर एक प्रस्थ (सेर) अन्नद्वारा निर्मित पिण्ड उस कलशके भीतर रक्खे । फिर विष्णु आदि देवोंके लिये सब देय वस्तु वहीं दक्षिण भागमें स्थापित करे ॥ १५ ॥

इसके बाद 'सर्वशान्तिकर विष्णुजनों (भगवान् विष्णुके पार्षदों) को नमस्कार है । वे शान्तिके लिये यह उपहार ग्रहण करें । उनको नमस्कार है ।'—इस मन्त्रको पढ़कर हुतशेष जलसे बलि समर्पित करे । किसी काष्ठ-फलकपर या कलशमें अथवा दूधवाले वृक्षकी लकड़ीसे बनवाये हुए दधिपूर्ण काष्ठपात्रमें बलिकी वस्तु रखकर प्रत्येक दिशामें अर्पित करे । यह करके ही द्विजोंके द्वारा होम कराना चाहिये । दक्षिणासहित दो बार किया हुआ यह होम भूत-प्रेत आदिका नाशक होता है ॥ १६—१८ ॥

दही लगे हुए पत्तेपर लिखित मन्त्राक्षरोंद्वारा किया गया होम क्षुद्र रोगोंका नाशक होता है । दूर्वासे होम किया जाय तो वह आयुकी, कमलोंकी आहुति दी जाय तो वह श्री (ऐश्वर्य) की और गूलर-काष्ठसे हवन किया जाय तो वह पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला होता है । गोशालामें घीके द्वारा आहुति देनेसे गौओंकी प्राप्ति एवं वृद्धि होती है । इसी प्रकार सम्पूर्ण वृक्षोंकी समिधासे किया गया होम वृद्धिकी वृद्धि करनेवाला होता है ॥ १९-२० ॥

'ॐ क्ष्रौं नमो भगवते नारसिंहाय ज्वालामालिने दीप्तदंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशाय सर्वज्वरविनाशाय दह दह पच पच रक्ष रक्ष हुं फट्[4] ॥ २१ ॥

—यह भगवान् नरसिंहका मन्त्र समस्त पापोंका निवारण

पाँख, खरवाल, चिताभस्म, ब्रह्मदण्डी (शहतूतकी लकड़ी) और मर्कटी (करंज)—इन दस वस्तुओंका भस्म-चूर्ण यदि शत्रुके घरपर या उसके मस्तकपर डाल दिया जाय तो उसका उत्सादन (उजड़कर अन्यत्र जाना अथवा वहीं नष्ट हो जाना) होता है ।'

३. 'शारदातिलक'में यहाँ आत्मरक्षाके लिये दिग्बन्ध करने और अग्निमय प्राकार (चहारदिवारी) निर्माण करनेकी आवश्यकता बताते हुए दिग्बन्ध-मन्त्र एवं अग्नि-प्राकार-मन्त्र—दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—'ॐ ऐन्द्रीं (आग्नेयीम् इत्यादि) चक्रेण बध्नामि नमश्चक्राय स्वाहा'—यह 'दिग्बन्ध' है तथा 'ॐ त्रैलोक्यं रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।'—यह अग्निमय-प्राकारमन्त्र है । द्रष्टव्य—पटल १६, श्लोक ७५ ।

४. 'ॐ क्ष्रौं' ज्वालामालाओंसे समलंकृत दीप्तिमती दंष्ट्राओंसे देदीप्यमान, अग्निमय नेत्रवाले, सर्वराक्षससंहारक, सर्वभूत-विनाशक, सर्वज्वरापहारक भगवान् नरसिंहको नमस्कार है । जलाओ, जलाओ, पकाओ, पकाओ, मुझे बचाओ, बचाओ हुं फट् ।'
—यह इस मन्त्रका अर्थ है ।

करनेवाला है। इसका जप आदि किया जाय तो यह क्षुद्र महामारी, विष एवं रोगोंका हरण कर सकता है। चूर्णीभूत मण्डूक-वयस् (औषध-विशेष)से हवन किया जाय तो वह जलस्तम्भन और अग्नि-स्तम्भन करनेवाला होता है ॥ २१-२२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नरसिंह आदिके मन्त्रोंका कथन' नामक तीन सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥

तीन सौ सातवाँ अध्याय

त्रैलोक्यमोहन आदि मन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—मुने ! अब मैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये 'त्रैलोक्य-मोहन' नामक मन्त्रका वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

ॐ श्रीं ह्रीं ह्रूं ओम्, ॐ नमः पुरुषोत्तम पुरुषोत्तम-प्रतिरूप लक्ष्मीनिवास सकलजगत्क्षोभण सर्वस्त्रीहृदयदारण त्रिभुवनमदोन्मादकर सुरमनुजसुन्दरीजनमनांसि तापय तापय दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावयाकर्षयाकर्षय परमसुभग सर्वसौभाग्यकर काम-प्रदामुकं (शत्रुम्) हन हन चक्रेण गदया खड्गेन सर्वबाणै-र्भिन्द भिन्द पाशेन कट्ट कट्ट अङ्कुशेन ताडय ताडय त्वर त्वर किं तिष्ठसि यावत्तावत् समीहितं मे सिद्धं भवति हुं फट्, नमः[1] ॥ २ ॥

ॐ पुरुषोत्तम त्रिभुवनमदोन्मादकर हु फट् हृदयाय नमः। सुरमनुजसुन्दरीमनांसि तापय तापय शिरसे स्वाहा। दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावय कवचाय हुम्। आकर्षयाकर्षय महाबल हुं फट् नेत्रत्रयाय वौषट्। त्रिभुवनेश्वर सर्वजनमनांसि हन हन दारय दारय ॐ मम वशमानयानय हुं फट् अस्त्राय फट्। त्रैलोक्यमोहन हृषीकेशाप्रतिरूप सर्वस्त्रीहृदयाकर्षण आगच्छ-आगच्छ नमः। (सर्वाङ्गे) व्यापकम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार मूलमन्त्रयुक्त व्यापक न्यास बताया गया। फिर पूजन तथा पचास हजारकी संख्यामें जप करके अभिषेक करे। तत्पश्चात् वैदिक विधिसे स्थापित कुण्डाग्निमें सौ बार आहुति दे। दही, घी, खीर, सघृत चरु तथा औटाये हुए दूधकी पृथक्-पृथक् बारह-बारह आहुतियाँ मूलमन्त्रसे दे। फिर अक्षत, तिल और यवकी एक हजार आहुतियाँ देनेके पश्चात् त्रिमधु, पुष्प, फल, दही तथा समिधाओंकी सौ-सौ बार आहुतियाँ दे ॥ ४—६ ॥

तदनन्तर पूर्णाहुति-होम करके हुतावशिष्ट सघृत चरुका प्राशन करे-करायें। फिर ब्राह्मण-भोजन कराकर आचार्यको उचित दक्षिणा आदिसे संतुष्ट करे। यों करनेसे मन्त्र सिद्ध होता है। स्नान करके विधिवत् आचमन करे और मौनभावसे यागमन्दिरमें जाकर पद्मासनसे बैठे और तान्त्रिक विधिके अनुसार शरीरका शोषण करे। पहले राक्षसों तथा विघ्नकारक भूतोंका दमन करनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें सुदर्शनका न्यास करे। साथ ही यह भावना करे कि वह सुदर्शन अस्त्र पाँच क्लेशोंके बीजभूत, धूम्रवर्ण एवं प्रचण्ड अनिलरूप मेरे सम्पूर्ण पापको, जो नाभिमें स्थित है, शरीरसे अलग कर रहा है। फिर हृदयकमलमें स्थित 'रं' बीजका स्मरण करके ऊपर, नीचे तथा अगल-बगलमें फैली हुई अग्निकी ज्वालाओंसे उस पाप-पुञ्जको जलाकर भस्म कर दे। फिर मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) में अमृतका चिन्तन करके सुषुम्णानाड़ीके मार्गसे आती हुई अमृतकी धाराओंसे अपने शरीरको बाहर और भीतरसे भी आप्लावित करे ॥ ७—११ ॥

१. इस मन्त्रका अर्थ यों है—'ॐ श्रीं ह्रीं ह्रूं ओम् सच्चिदानन्दस्वरूप पुरुषोत्तम ! पुरुषोत्तमप्रतिरूप ! लक्ष्मीनिवास ! आप अपने सौन्दर्यसे सम्पूर्ण जगत्को क्षुब्ध कर देनेमें समर्थ हैं। समस्त स्त्रियोंके हृदयको दरण—उन्मथित कर देनेवाले हैं। त्रिभुवनको मदोन्मत्त कर देनेकी शक्ति रखते हैं। देवसुन्दरियों तथा मानवसुन्दरियोंके मनको (प्रीति-अग्निमें) तपाइये, तपाइये; उनके रागको उद्दीप्त कीजिये, उद्दीप्त कीजिये; सोखिये, सोखिये; मारिये, मारिये; उनका स्तम्भन कीजिये, स्तम्भन कीजिये; द्रवित कीजिये, द्रवित कीजिये; आकर्षित कीजिये, आकर्षित कीजिये। परम सौभाग्यनिधे ! सर्वसौभाग्यकारी प्रभो ! आप सबकी मनोवाञ्छित कामना पूर्ण करनेवाले हैं। मेरे अमुक शत्रुका हनन कीजिये, हनन कीजिये चक्रसे, गदासे और खड्गसे; समस्त बाणोंसे बेधिये, बेधिये। पाशसे आवृत कीजिये, बाँध लीजिये। अङ्कुशसे ताडित कीजिये, ताडित कीजिये। जल्दी कीजिये, जल्दी कीजिये। क्यों रुकते या ठहरते हैं ? जबतक मेरा सारा मनोरथ पूर्ण न हो जाय, तबतक यत्नशील रहिये। हुं फट् नमः ॥'

इस प्रकार शुद्धशरीर होकर मूलमन्त्रसे तीन बार प्राणायाम करे। फिर मस्तक और मुखपर तथा गुह्यभाग, ग्रीवा, सम्पूर्ण दिशा, हृदय, कुक्षि एवं समस्त शरीरमें हाथ रखकर उनमें शक्तिका न्यास करे। इसके बाद सूर्यमण्डलसे परमात्माका आवाहन करके ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे हृदय-कमलमें लाकर चिन्तन करे। वे परात्मा समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। प्रणवका उच्चारण करते हुए परात्माका स्मरण करना चाहिये॥ १२-१४॥

उनके स्मरणके लिये गायत्री-मन्त्र इस प्रकार है— **'त्रैलोक्यमोहनाय विद्महे। स्मराय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। इति।'** परात्माका अर्चन करनेके पश्चात् यज्ञ-सम्बन्धी द्रव्यों और शुद्ध पात्रका प्रोक्षण करे। विधिपूर्वक आत्मपूजा करके वेदीपर उसकी अर्चना करे॥ १५-१६॥

कूर्म-अनन्त आदिके रूपमें कल्पित पीठपर कमल एवं गरुड़के आसनपर विराजमान त्रैलोक्यमोहन भगवान् विष्णु सर्वाङ्गसुन्दर हैं और वयके अनुरूप लावण्य तथा यौवनको प्राप्त हैं। उनके अरुणनयन मदसे घूर्णित हो रहे हैं। वे परम उदार तथा स्मरसे विह्वल हैं। दिव्य माला, वस्त्र और अनुलेप उनकी शोभा बढ़ाते हैं। मुखपर मन्दहास्यकी छटा छिटक रही है। उनके परिवार और परिकर अनेक हैं। वे लोकपर अनुग्रह करनेवाले, सौम्य तथा सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं। उन्होंने हाथोंमें पाँच बाण धारण कर रखे हैं। उनकी समस्त इन्द्रियाँ पूर्णकाम हैं। उनके आठ भुजाएँ हैं। देवाङ्गनाएँ उन्हें घेरकर खड़ी हैं। उनकी दृष्टि लक्ष्मीदेवीके मुखपर गड़ी है। ऐसे भगवान्का भजन करे। उनके आठ हाथोंमें क्रमशः चक्र, शङ्ख, धनुष, खड्ग, गदा, मुसल, अङ्कुश और पाश शोभा पाते हैं। आवाहन आदिके द्वारा उनकी अर्चना करके अन्तमें उनका विसर्जन करना चाहिये॥ १७-२१॥

यह भी चिन्तन करे कि भगवान् अपने ऊरु तथा जंघापर श्रीलक्ष्मीजीको बैठाये हुए हैं और वे दोनों हाथोंसे पतिका आलिङ्गन करके स्थित हैं। उनके बायें हाथमें कमल है। वे शरीरसे हृष्ट-पुष्ट हैं तथा श्रीवत्स और कौस्तुभसे सुशोभित हैं। भगवान्के गलेमें वनमाला है और शरीरपर पीताम्बर शोभा पाता है। इस प्रकार चक्र आदि आयुधोंसे सम्पन्न श्रीहरिका पूजन करे॥ २२-२३॥

'ॐ सुदर्शन महाचक्रराज दह दह सर्वदुष्टभयं कुरु छिन्द छिन्द विदारय विदारय परमन्त्रान् ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतानि त्रासय त्रासय हुं फट् स्वाहा'—इस मन्त्रसे चक्र सुदर्शनकी पूजा करे।

'ॐ महाजलचराय हुं फट् स्वाहा। पाञ्चजन्याय नमः।'—इस मन्त्रसे शङ्खकी पूजा करे।

'महाखड्ग तीक्ष्ण छिन्द छिन्द हुं फट् स्वाहा खड्गाय नमः।'—इससे खड्गकी पूजा करे। **'शार्ङ्गाय सशराय नमः।'**[२]—इससे धनुष और बाणकी पूजा करे। **'ॐ भूतग्रामाय विद्महे। चतुर्विधाय धीमहि। तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्।'**—यह भूतग्राम[३]-गायत्री है। **'संवर्तक मुशल पोथय पोथय हुं फट् स्वाहा।'**[४]—इस मन्त्रसे मुशलकी पूजा करे। **'पाश बन्ध बन्धाकर्षयाकर्षय हुं फट्'**[५]—इस मन्त्रसे पाशका पूजन करे। **'अङ्कुश[६] कट्ट हुं फट्'**—इससे अङ्कुशकी पूजा करे।

भगवान्की भुजाओंमें स्थित अस्त्रोंका तत्तत्-अस्त्र-सम्बन्धी इन्हीं मन्त्रोंसे क्रमशः पूजन करे॥ २४-२७॥

'ॐ पक्षिराजाय हुं फट्'—इस मन्त्रसे पक्षिराज गरुडकी पूजा करे। कर्णिकामें पहले अङ्ग-देवताओंका विधिवत् पूजन करे। फिर पूर्व आदि दलोंमें लक्ष्मी आदि शक्तियों तथा चामरधारी तार्क्ष्य आदिकी अर्चना करे। शक्तियोंकी पूजाका प्रयोग अन्तमें करना चाहिये। पहले देवेश्वर इन्द्र आदि दण्डी-सहित पूजनीय हैं। लक्ष्मी और सरस्वती पीतवर्णकी हैं। रति, प्रीति और जया—ये शक्तियाँ श्वेतवर्णा हैं। कीर्ति

२. 'महाशार्ङ्गाय सशराय हुं फट् स्वाहा, शार्ङ्गाय नमः।'—यह सर्वसम्मत शार्ङ्गधनुष-सम्बन्धी मन्त्र है। (शारदातिलकसे)

३. यह 'भूतग्राम-गायत्री' क्रमप्राप्त गदामन्त्रके लिये आयी जान पड़ती है। इससे गदाका पूजन करना चाहिये। 'शारदा-तिलक'में कौमोदकी गदाके मन्त्रका स्वरूप यों उद्धृत हुआ है—'महाकौमोदकि महाबले सर्वासुरान्तकि प्रसीद प्रसीद हुं फट् स्वाहा, कौमोदक्यै नमः।'

४. 'संवर्तक महामुशल पोथय पोथय हुं फट् स्वाहा, मुशलाय नमः।'—यह पूरा-पूरा 'मुशल-मन्त्र' है।

५. पाशका सर्वसम्मत मन्त्ररूप 'शारदातिलक'में इस प्रकार वर्णित हुआ है—'महापाश बन्ध बन्ध आकर्षयाकर्षय हुं फट् स्वाहा, पाशाय नमः।'

६. अङ्कुश-मन्त्र भी अपने पूर्णरूपमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—'महाङ्कुश कट्ट कट्ट हुं फट् स्वाहा, अङ्कुशाय नमः।'

तथा कान्ति श्वेतवर्णा हैं। तुष्टि तथा पुष्टि—ये दोनों श्यामवर्णा हैं। इनमें स्मरभाव (प्रेममिलनकी उत्कण्ठा) उदित रहती है। लोकेश (ब्रह्माजी तथा दिक्पाल) पर्यन्त देवताओंकी पूजा करके अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये। निम्नाङ्कित मन्त्रका ध्यान और जप करे। उसके द्वारा होम और अभिषेक करे। (मन्त्र यों है—) '**ॐ श्रीं क्लीं ह्रीं हूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः।**'—इस मन्त्रद्वारा पूर्ववत् पूजन आदि करनेसे साधक सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जल तथा सम्मोहनी वृक्षके पुष्पद्वारा उक्त मन्त्रसे नित्य तर्पण करे। ब्रह्मा, इन्द्र, श्रीदेवी, दण्डी, बीजमन्त्र तथा त्रैलोक्यमोहन विष्णुका पूजन करके उक्त मन्त्रका तीन लाख जप करनेके पश्चात् कमलपुष्प, बिल्वपत्र तथा घीसे एक लाख होम करे। उक्त हवन-सामग्रीमें चावल, फल, सुगन्धित चन्दन आदि द्रव्य और दूर्वा भी मिला ले। इन सबके द्वारा हवनकर्म सम्पादित करके मनुष्य दीर्घ आयुकी उपलब्धि करता है। उस जप, अभिषेक तथा होमादि क्रियासे संतुष्ट होकर भगवान् विष्णु उपासकको अभीष्ट फल प्रदान करते हैं ॥ २८—३६ ॥

'**ॐ नमो भगवते वराहाय भूर्भुवःस्वःपतये भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा।**'—यह वराह भगवान्‌का मन्त्र है। इसका पञ्चाङ्ग-न्यास इस प्रकार है—'**ॐ नमो हृदयाय नमः। भगवते शिरसे स्वाहा। वराहाय शिखायै वषट्। भूर्भुवःस्वःपतये कवचाय हुम्। भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा अस्त्राय फट्।**' इस प्रकार पञ्चाङ्गन्यासपूर्वक वराह-मन्त्रका प्रतिदिन दस हजार बार जप करनेसे मनुष्य दीर्घ आयु तथा राज्य प्राप्त कर सकता है ॥ ३७-३८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्रैलोक्यमोहनमन्त्रका वर्णन' नामक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

तीन सौ आठवाँ अध्याय

त्रैलोक्यमोहिनी लक्ष्मी एवं भगवती दुर्गाके मन्त्रोंका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! वान्त (श्), वह्नि (र), वामनेत्र (ईकार) और दण्ड (अनुस्वार)—इनके योगसे '**श्रीं**' बीज बनता है, जो 'श्री' देवीका मन्त्र है और सब सिद्धियोंको देनेवाला है।

(इसका अङ्गन्यास इस प्रकार करना चाहिये—)

[प्रथम प्रकार] **महाश्रियै महाविद्युत्प्रभे स्वाहा, हृदयाय नमः। श्रियै देवि विजये स्वाहा, शिरसे स्वाहा। गौरि महाबले बन्ध-बन्ध स्वाहा, शिखायै वषट्। धृतिः स्वाहा, कवचाय हुम्।** महाकाये पद्महस्ते हुं फट्, **अस्त्राय फट्।** [दूसरा प्रकार] '**श्रियै स्वाहा, हृदयाय नमः। श्रीं फट्, शिरसे स्वाहा। श्रीं नमः, शिखायै वषट्। श्रियै** प्रसीद नमः, कवचाय **हुम्। श्रीं फट्,** अस्त्राय फट्।' [इसी तरह अन्यान्य प्रकार भी तन्त्र-ग्रन्थोंमें कहे गये हैं।] ॥ १-२ ॥

—इस प्रकार 'श्री'-मन्त्रके नौ अङ्गन्यास बतलाये गये हैं। उनमेंसे किसी एकका आश्रय ले[1]। पद्माक्षकी मालासे पूर्वोक्त मन्त्रका तीन लाख या एक लाख बार जप ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला है। साधक लक्ष्मी अथवा विष्णुके मन्दिरमें श्रीदेवीका पूजन करके धन प्राप्त कर सकता है। खदिरकाष्ठसे प्रज्वलित अग्निमें घृतमिश्रित तण्डुलोंकी एक लाख आहुतियाँ दे। इससे राजा वशीभूत हो जाता है तथा लक्ष्मीकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। श्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित सर्षपजलसे अभिषेक करनेपर सब प्रकारकी ग्रहबाधा शान्त होती है। एक लाख बिल्वफलोंका होम करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति और धनकी वृद्धि होती है ॥ ३—५½ ॥

साधक चार द्वारोंसे युक्त निम्नाङ्कित 'शक्रवेश्म'का चिन्तन करे। पूर्वद्वारपर क्रीड़ामें संलग्न दोनों भुजाओंको ऊपर उठाये हुए श्वेत कमलको धारण करनेवाली श्यामवर्णा वामनाकृति बलाकीका ध्यान करे। दक्षिणद्वारपर ऊपर उठाये हुए एक हाथमें रक्तकमल धारण करनेवाली श्वेताङ्गी वनमालिनीका चिन्तन करे। पश्चिमद्वारपर दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर श्वेत पुण्डरीकको धारण करनेवाली हरितवर्णा विभीषिका नामवाली श्रीदूतीका ध्यान करे। उत्तरद्वारपर शाङ्करीकी धारणा करे। 'शक्रवेश्म'के मध्यमें अष्टदल कमलका

---

१. 'शारदातिलक' ८। २ की टीकामें अग्निपुराणोक्त द्विविध अङ्गन्यास इसी प्रकार उद्धृत किये गये हैं। परंतु मूलमें 'षड् दीर्घयुक्त-बीजेन कुर्यादङ्गानि षट् क्रमात्।' कहा है; उसके अनुसार, 'श्रां हृदयाय नमः। श्रीं शिरसे स्वाहा। श्रूं शिखायै वषट्। श्रैं कवचाय हुम्। श्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। श्रः अस्त्राय फट्।' इस प्रकार न्यास करे।

निर्माण करे। कमलदलोंपर क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धका ध्यान करे। उनकी अङ्गकान्ति क्रमशः अञ्जन, दुग्ध, केसर और सुवर्णके समान है। वे सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित हैं। उस अष्टदल कमलके आग्नेय आदि दलोंपर गुग्गुल, कुरण्टक, दमक और सलिल नामक दिग्गजोंकी धारणा करे। ये चारों स्वर्ण-कलशोंको धारण करनेवाले हैं। कमलकी कर्णिकामें श्रीदेवीका स्मरण करे। वे चार भुजाओंसे युक्त हैं। उनकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान है। उनकी ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंमें कमल है तथा दक्षिणहस्तमें अभयमुद्रा और वामहस्तमें वरमुद्रा सुशोभित हो रही है। वे शुभ्र एवं सुवासित वस्त्र तथा गलेमें एक श्वेत माला धारण करती हैं। उन श्रीदेवीका ध्यान एवं सपरिवार पूजन करके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है[2] ॥ ९—१४½ ॥

पूर्वोक्त उपासनाके समय द्रोणपुष्प, कमल और बिल्वपत्रको सिरपर धारण न करे। पञ्चमी और सप्तमीके दिन क्रमशः लवण और आँवलेका परित्याग कर दे। साधक खीरका भोजन करके श्रीसूक्तका जप करे तथा श्रीसूक्तसे ही श्रीदेवीका अभिषेक करे। आवाहनसे लेकर विसर्जनपर्यन्त सभी उपचार-अर्पण श्रीसूक्तकी ऋचाओंसे करता हुआ ध्यानपूर्वक श्रीदेवीका पूजन करे। बिल्व, घृत, कमल और खीर—ये वस्तुएँ एक साथ या अलग-अलग भी श्रीदेवीके निमित्त होममें उपयुक्त हैं। यह होम लक्ष्मीकी प्राप्ति एवं वृद्धि करनेवाला है ॥ १५—१७ ॥

विषं (म), हिं, मज्जा (प), काल (म), अग्नि (र), अत्रि (द), निष्ठ (इ), नि, स्वाहा (**मर्दिषमर्दिनि** स्वाहा)—यह भगवती महिषमर्दिनी (महालक्ष्मी) का अष्टाक्षर-मन्त्र कहा गया है ॥ १८ ॥

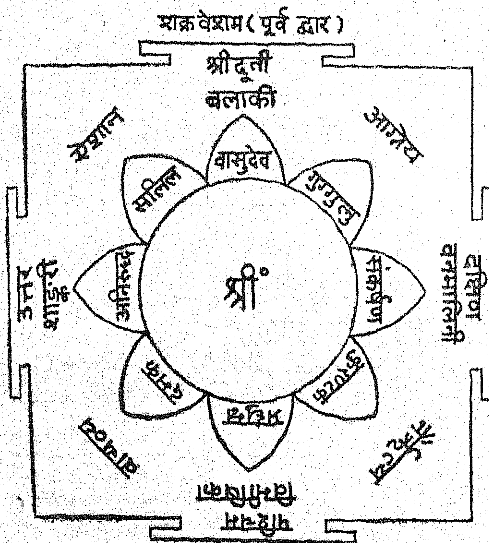
'**ॐ ह्रीं महामहिषमर्दिनि स्वाहा**।'—यह मूलमन्त्र है। इसका पञ्चाङ्गन्यास इस प्रकार करे—'**महिषमर्दिनि हुं फट्, हृदयाय नमः। महिषशत्रूत्सादिनि हुं फट्, शिरसे स्वाहा। महिषं भीषय हुं फट्, शिखायै वषट्। महिषं हन हन देवि हुं फट्, कवचाय हुम्। महिषसूदनि हुं फट्, अस्त्राय फट्।**'

यह अङ्गोंसहित 'दुर्गाहृदय' कहा गया है, जो सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाला है। दुर्गादेवीका निम्नाङ्कित प्रकारसे पीठ एवं अष्टदल-कमलपर पूजन करे ॥ १९-२० ॥

'**ॐ ह्रीं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा**'—यह दुर्गाका मन्त्र है। अष्टदलपद्मपर दुर्गा, वरवर्णिनी, आर्या, कनकप्रभा, कृत्तिका, अभयप्रदा, कन्यका और सुरूपा—इन शक्तियोंके क्रमशः आदिके सस्वर अक्षरोंमें बिन्दु लगाकर उन्हीं बीजमन्त्रोंसे युक्त नाममन्त्रोंद्वारा यजन करे। यथा—'**दुं दुर्गायै नमः**' इत्यादि। इनके साथ क्रमशः चक्र, शङ्ख, गदा, खड्ग, बाण, धनुष, अङ्कुश और खेट—इन अस्त्रोंकी भी अर्चना करे। अष्टमी आदि तिथियोंपर लोकेश्वरी दुर्गाकी पूजा करे। दुर्गाकी यह उपासना पूर्ण आयु, लक्ष्मी, (आत्मरक्षा) एवं युद्धमें विजय प्रदान करनेवाली है। साध्यके नामसे युक्त मन्त्रसे तिलका होम 'वशीकरण' करनेवाला है। कमलोंके हवनसे 'विजय' प्राप्त होती है। शान्तिकी कामना करनेवाला दूर्वासे हवन करे। पलाश-समिधाओंसे पुष्टि, काकपक्षके हवनसे मारण एवं विद्वेषणकर्म सिद्ध होते हैं। यह मन्त्र सभी प्रकारकी ग्रहबाधा एवं भयका हरण करता है ॥ २१—२६ ॥

'**ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा**'—यह अङ्गसहित 'जय दुर्गा' बतलायी गयी है। यह साधककी रक्षा करती है। '**मैं श्यामाङ्गी, त्रिनेत्रभूषिता, चतुर्भुजा, शङ्ख, चक्र, शूल एवं खड्गधारिणी रौद्ररूपिणी रणचण्डीस्वरूपा हूँ**'—ऐसा ध्यान करे। युद्धके प्रारम्भमें इस 'जयदुर्गा'का जप करे।

२. शक्रवेश्म-यन्त्रका इस प्रकार निर्माण करना चाहिये—



विजयके लिये खड्ग आदिपर दुर्गाका पूजन करे ॥२७-२९॥

'ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते चराचररक्षिणि स्वाहा ।'---युद्धके निमित्त इस मन्त्रका जप करे। इससे योद्धा शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता है॥ ३०-३१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'लक्ष्मी आदिकी पूजाका वर्णन' नामक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०८॥

तीन सौ नवाँ अध्याय

त्वरिता-पूजा

अग्निदेव कहते हैं—मुने! त्वरिता-विद्याका ज्ञान भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है; अतः अब उसीका वर्णन करूँगा। पहले '**ॐ आधारशक्त्यै नमः ।**'---इस मन्त्रसे आधारशक्तिका स्मरण और वन्दन करे। फिर महासिंहस्वरूप सिंहासनकी '**ॐ प्रीं पुरु पुरु महासिंहाय नमः ।**'[1]---इस मन्त्रसे और आसनस्वरूप कमलकी '**पद्माय नमः ।**'---इस मन्त्रसे पूजा करे। तदनन्तर मूलमन्त्रका उच्चारण करके त्वरितादेवीकी पूजा करे। यथा---'**ॐ ह्रीं हुं खे च च्छे क्षः स्त्री हूं क्षें ह्रीं फट्[2] त्वरितायै नमः ।**' इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है---**खे च हृदयाय नमः । च च्छे शिरसे नमः (शिरसे स्वाहा) । छे क्षः शिखायै नमः (शिखायै वषट्) । क्षः स्त्री कवचाय नमः (कवचाय हुम्) । स्त्री हूं नेत्राय (नेत्रत्रयाय) नमः (वौषट्) । हूं क्षें अस्त्राय नमः (अस्त्राय फट्)** ॥ १-२॥

[इसी प्रकार करन्यास करके निम्नाङ्कित गायत्रीका जप करे---]

'**ॐ त्वरिताविद्यां विद्महे । तूर्णविद्यां च धीमहि । तन्नो देवी प्रचोदयात् ।**'---यह '**त्वरिता-गायत्री मन्त्र**' है।

तदनन्तर पीठगत कमल-कर्णिकाके केसरोंमें पूर्वादि क्रमसे अङ्ग-देवताओंका पूजन करे। यथा---

'**खे च हृदयाय नमः (पूर्वे) । च च्छे शिरसे नमः (अग्निकोणे) । छे क्षः शिखायै नमः (दक्षिणे) । क्षः स्त्री कवचाय नमः (नैर्ऋत्ये) । स्त्री हूं नेत्रत्रयाय नमः (पश्चिमे) । हूं क्षें अस्त्राय नमः (वायव्ये) ।**' तत्पश्चात् उत्तरदिशामें '**श्रीप्रणीतायै नमः**'---इस मन्त्रसे श्रीप्रणीताका तथा

---

१. 'क्षं हुं हं वज्रदेह पुरु पुरु क्षिं क्षिं गर्ज गर्ज हं हुं क्षां पञ्चाननाय नमः ।'---यह पीठमन्त्र है। इससे देवीको आसन देना और आसनकी पूजा करनी चाहिये। (शा० ति० १० पटल)

२. त्वरिता-मन्त्रका विनियोग 'शारदातिलक' दशमपटलमें इस प्रकार बताया गया है---ॐ अस्य श्रीत्वरिताद्वादशाक्षर-मन्त्रस्यार्जुनऋषिर्विराट् छन्दः, त्वरिता देवता प्रणवो बीजं (केषांचिन्मते हुं बीजम्), ह्रीं शक्तिः (क्षें कीलकम्) समस्तपुरुषार्थ-फलप्राप्तये जपे विनियोगः ।' 'श्रीविद्यार्णव'में एक जगह 'ईश'को और दूसरी जगह 'सौरि'को ऋषि कहा है। वहाँ 'हुं' शक्ति, 'स्त्रीं' बीज और 'क्षें' कीलक बताया है।

ध्यान

श्यामां बर्हिकलापशेखरयुतामाबद्धपर्णांशुकां
गुञ्जाहारलसत्पयोधरभरामष्टाहिपान् बिभ्रतीम्।
ताटङ्काङ्गदमेखलागुणरणन्मञ्जीरतां प्रापितान्
कैरातीं वरदाभयोद्यतकरां देवीं त्रिनेत्रां भजे॥

[भगवान् शंकर और भगवती पार्वती अर्जुनपर कृपा करनेके लिये किरात और किरातीके वेषमें उनके समक्ष प्रकट हुए थे, उस रूपमें देवी पार्वती बहुत शीघ्र भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करती या करनेके लिये त्वरायुक्त (उतावली) रहती हैं, इसलिये इन्हें 'त्वरिता'की संज्ञा दी गयी है। उन्हींका ध्यान उपर्युक्त श्लोकमें किया गया है। उसका अर्थ यों है---]

'मैं किरातीके वेषमें प्रकट हुई त्रिनेत्रधारिणी देवी पार्वतीका भजन (चिन्तन) करता हूँ। उनकी अङ्गकान्ति श्यामा है तथा अवस्थामें भी वे श्यामा (सोलह वर्षकी तरुणी) हैं। मोर-पंखका मुकुट एवं वलय धारण करती हैं। कोमल पल्लवोंको जोड़कर बनाये हुए वस्त्रसे उनका कटिप्रदेश सुशोभित है। उनके पीन पयोधर गुञ्जाओंके हारसे विलसित हैं। आठ अहीश्वरोंको वे आभूषणोंके रूपमें धारण करती हैं; उनमेंसे दो कानोंके ताटङ्क बने हैं, दो भुजाओंमें बाजूबंदकी आवश्यकता पूरी करते हैं, दो कमरमें करधनीकी लड़ोंका काम देते हैं और दो पैरोंके खनखनाते मञ्जीर बन गये हैं। इस अनुपम वेशभूषासे विभासित त्वरितादेवीके उठे हुए हाथ वरद और अभयकी मुद्रासे मनोरम प्रतीत होते हैं।'

ऋष्यादिन्यास---'अर्जुनाय (सौरये ईशाय वा) ऋषये नमः, शिरसि। विराट्छन्दसे नमः, मुखे। त्वरितानित्यादेवतायै नमः, हृदि। ॐ बीजाय नमः, गुह्ये। ह्रीं (अथवा हुम्) शक्तये नमः, पादयोः। क्षें कीलकाय नमः, नाभौ।

ईशानकोणमें 'ॐ गायत्र्यै नमः' से गायत्रीका पूजन करे॥३½॥

तदनन्तर बाह्यगत तीन गोलाकार रेखाओंके बीचमें स्थित दो वीथियोंमेंसे देवीके सामनेवाले दलाग्रके बाह्यभागमें **'कोदण्डशरधारिण्यै फट्कार्यै नमः ।'** से फट्कारीकी पूजा करे। फिर उसके बाहरवाली वीथीमें देवीके सम्मुख **'गदापाणये किङ्कराय नमः ।'** से किङ्करकी पूजा करके कहे— **'किङ्कर रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञया स्थिरो भव ।'** इसके बाद द्वारके दक्षिणपार्श्वमें जयाकी और वामपार्श्वमें विजयाकी पूजा करे—**'जयायै नमः, विजयायै नमः।'** तत्पश्चात् कमलके पूर्वादि दलोंमें—**'हूंकार्यै नमः । खेचर्यै नमः । चण्डायै नमः। छेदिन्यै नमः। क्षेपिण्यै नमः । स्त्रीकार्यै नमः। हूंकार्यै नमः। क्षेमङ्कर्यै नमः।'** इन मन्त्रोंसे 'हूंकारी' आदि आठ मन्त्राक्षरशक्तियोंकी पूजा करनी चाहिये।

त्वरिता-विद्या 'तोतला', 'त्वरिता' और 'तूर्णा'—इन तीन नामोंसे कही जाती है। इसके अक्षरोंका सिर, भ्रू-युगल, ललाट, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य (मूलाधार), ऊरुद्वय, जानुद्वय, जङ्घाद्वय, ऊरुद्वय, चरणद्वयमें न्यास करके समस्त विद्याद्वारा व्यापकन्यास करना चाहिये[३] ॥ ४–६ ॥

त्वरितादेवी साक्षात् पर्वतराजनन्दिनीकी स्वरूपभूता हैं, इसलिये इनका नाम 'पार्वती' है। शबर (किरात) का वेष धारण करनेसे उनको 'शबरी' कहा गया है। वे सबकी स्वामिनी या सबपर शासन करनेमें समर्थ होनेसे 'ईशा' कही गयी हैं। उनके एक हाथमें वरदमुद्रा और दूसरेमें अभयमुद्रा शोभा पाती है। मोरपंखका कंगन पहननेसे उनका नाम 'मयूरवलया' है। मयूरपिच्छका मुकुट धारण करनेसे उन्हें 'पिच्छमौलि' कहा जाता है। नूतन पल्लव ही उनके वस्त्रके उपयोगमें आते हैं, अतः वे 'किसलयांशुका' कही गयी हैं। वे सिंहासनपर विराजमान होती हैं। मोरपंखका छत्र धारण करती हैं। त्रिनेत्रधारिणी तथा श्यामवर्णा देवी हैं। आपादतलल्म्बिनी माला (वनमाला) उनका आभूषण है। ब्राह्मणजातीय दो नाग (अनन्त और कुलिक) देवीके कानोंके आभूषण हैं। क्षत्रियजातिके दो नागराज (वासुकि और शङ्खपाल) उनके बाजूबंद बने हुए हैं। वैश्यजातीय दो नाग (तक्षक और महापद्म) त्वरितादेवीके कटिप्रदेशमें किङ्किणी बनकर रहते हैं और शूद्रजातीय दो सर्प (पद्म तथा कर्कोटक) देवीके चरणोंमें नूपुरकी शोभा प्रदान करते हैं। साधक स्वयं भी देवीस्वरूप होकर उनके मन्त्रका एक लाख जप करे। पूर्वकालमें देवेश्वर शिव किरातरूपमें प्रकट हुए थे। उस समय देवी पार्वती भी तदनुरूप ही किराती बन गयी थीं। सब प्रकारकी सिद्धियोंके लिये उनका ध्यान करे। उनके मन्त्रका जप करे तथा उनका पूजन करे। देवीकी आराधना विष आदि सब प्रकारके उपद्रवोंको हर लेती है ॥ ७–१०½ ॥

(पूर्ववर्णनके अनुसार) कमलके पूर्वादि दलके भीतर कर्णिकामें आठ सिंहासनोंपर निम्नाङ्कित देवियोंका क्रमशः पूजन करे। हृदयादि छः अङ्गोंसहित प्रणीता और गायत्रीका पूजन करे। पूर्वादि दलोंमें हूंकारी आदिकी पूजा करे। दलाग्रभागमें देवी त्वरिताके सम्मुख फट्कारीकी पूजा करे। इन सब देवियोंके नाममन्त्रके साथ 'श्रीं' बीज लगाकर उसीसे इनकी पूजा करनी चाहिये। हूंकारी आदिके आयुध और वर्ण उस-उस दिशाके दिक्पालोंके ही समान हैं। परंतु फट्कारी देवी धनुष धारण करती हैं। मण्डलके द्वार-भागोंमें जया तथा विजयाकी पूजा करे। ये दोनों देवियाँ सुनहरे रंगकी छड़ी धारण करती हैं। उनके बाह्यभागमें देवीके समक्ष द्वारपाल किङ्करका पूजन करना चाहिये, जिसे 'वर्वर' कहा गया है। उसका मस्तक मुण्डित है। (मतान्तरके अनुसार उसके सिरके केश ऊपरकी ओर उठे रहते हैं।) वह लगुडधारी है। उसका स्थान जया-विजयाके बाह्यभागमें है। इस प्रकार पूजन करके सिद्धिके लिये हवनीय द्रव्योंद्वारा योन्याकार कुण्डमें हवन करे ॥ ११–१४ ॥

उज्ज्वल धान्यसे हवन करनेपर सुवर्ण-लाभ होता है। गोधूमसे हवन करनेपर पुष्टि-सम्पत्ति प्राप्त होती है। जौ, धान्य (चावल) और तिलोंकी मिश्रित हवनसामग्रीसे हवन करनेपर सब प्रकारकी सिद्धि सुलभ होती है तथा ईतिभयका नाश हो जाता है। बहेड़ेका हवन किया जाय तो शत्रुको उन्माद हो जाता है। सेमरसे हवन करनेपर शत्रुके प्रति मारणका प्रयोग सफल होता है। जामुनके फलकी आहुतियाँ दी जायँ तो उनसे धन-धान्यकी प्राप्ति होती है। नील कमलके हवनसे तुष्टि होती है। लाल कमलोंद्वारा होम करनेसे महापुष्टि होती है। कुन्दके फूलोंसे होम किया जाय तो महान् अभ्युदय होता है। मल्लिका-कुसुमोंसे हवन करनेपर ग्राम या नगरमें क्षोभ होता है। कुमुद-कुसुमोंकी आहुतिसे साधक सब लोगोंका प्रिय हो जाता है ॥ १५–१७ ॥

३. 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'के अनुसार उक्त ग्यारह अङ्गोंमें ह्रीं सम्पुटित अक्षरोंका न्यास करना चाहिये। ऊरुद्वयको दो बार गिननेसे बारह अङ्ग होते हैं, उनमें मूलके बारह अक्षरोंका न्यास करे।

अशोक-सुमनोंसे होम किया जाय तो पुत्रकी और पाटलसे होम करनेपर उत्तम अङ्गनाकी प्राप्ति होती है। आम्रफलकी आहुतिसे आयु, तिलोंके हवनसे लक्ष्मी, बिल्वके होमसे श्री तथा चम्पाके फूलोंके हवनसे धनकी प्राप्ति होती है। महुएके फूलों और बेलके फलोंसे एक साथ होम करनेपर सर्वज्ञता-शक्ति सुलभ होती है। त्वरितामन्त्रके तीन लाख जप, होम, ध्यान तथा पूजनसे समस्त अभिलषित वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। मण्डलमें त्वरितादेवीकी अर्चना करके त्वरिता-गायत्रीसे पचीस आहुतियाँ दे। फिर मूलमन्त्रसे पल्लवोंकी तीन सौ आहुतियाँ देकर दीक्षा ग्रहण करे। दीक्षासे पूर्व पञ्चगव्य-पान कर ले। दीक्षितावस्थामें सदा चरु (हविष्य)का भोजन करना चाहिये ॥ १८–२० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरितापूजा-कथन' नामक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०९ ॥

तीन सौ दसवाँ अध्याय

अपरत्वरिता-मन्त्र एवं मुद्रा आदिका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब मैं दूसरी 'अपरा विद्या' का वर्णन करता हूँ, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है। धूलिसे निर्मित, वज्र-चिह्नसे आवृत और चौकोर भूपुरमण्डलमें त्वरितादेवीकी पूजा करे। उस मण्डलके भीतर योगपीठपर कमलका निर्माण भी होना चाहिये। मण्डलके पूर्वादि दिशाओं तथा कोणोंमें कुल मिलाकर आठ वज्र अङ्कित होंगे। मण्डलके भीतर वीथी, द्वार, शोभा तथा उपशोभाकी भी रचना करे। उसके भीतर उपासक मनुष्य त्वरितादेवीका चिन्तन करे। उनके अठारह भुजाएँ हैं। उनकी बायीं जङ्घा तो सिंहकी पीठपर प्रतिष्ठित है और दाहिनी जङ्घा उससे दुगुनी बड़ी आकृतिमें पीढ़े या खड़ाऊँपर अवलम्बित है। वे नागमय आभूषणोंसे विभूषित हैं। दायें भागके हाथोंमें क्रमशः वज्र, दण्ड, खड्ग, चक्र, गदा, शूल, बाण, शक्ति तथा वरद मुद्रा धारण करती हैं और वामभागके हाथोंमें क्रमशः धनुष, पाश, शर, घण्टा, तर्जनी, शङ्ख, अङ्कुश, अभयमुद्रा तथा वज्र नामक आयुध लिये रहती हैं ॥ १–५ ॥

त्वरितादेवीके पूजनसे शत्रुका नाश होता है। त्वरिताका आराधक राज्यको भी अनायास ही जीत लेता है। वह दीर्घायु तथा राष्ट्रकी विभूति बन जाता है। दिव्य और अदिव्य (दैविक और लौकिक) सभी सिद्धियाँ उसके अधीन हो जाती हैं। (त्वरिताको 'तोतला त्वरिता' भी कहते हैं। इस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—) 'तल' शब्दसे सातों पाताल, काल, अग्नि और सम्पूर्ण भुवन गृहीत होते हैं। ॐकारसे परमेश्वरसे लेकर जितना भी ब्रह्माण्ड है, उन सबका प्रतिपादन होता है। अपने मन्त्रके आदि अक्षर ॐकारसे देवी तलपर्यन्त 'तोय'का त्वरित भ्रामण (प्रक्षेपण) करती हैं, इसलिये वे 'तोतला त्वरिता' कही गयी हैं ॥ ६-७½ ॥

अब मैं त्वरिता-मन्त्रको प्रस्तुत करनेका प्रकार (अर्थात् मन्त्रोद्धार) बता रहा हूँ। भूतलपर स्वरवर्ग लिखे। (स्वरवर्गमें सोलह अक्षर हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। इसके बाद व्यञ्जन वर्णोंको भी वर्गक्रमसे लिखे—) कवर्गके लिये सांकेतिक नाम तालुवर्ग है। स्वरवर्ग पहला है और तालुवर्ग दूसरा। तीसरा जिह्वा-तालुकवर्ग है। (इसमें चवर्गके अक्षर संयोजित हैं।) चतुर्थ वर्ग तालु-जिह्वाग्र कहा गया है। (इसमें टवर्गके अक्षर हैं।) पञ्चम जिह्वादन्तक वर्ग है। (इसमें तवर्गके अक्षर हैं।) षष्ठ वर्गका नाम है—ओष्ठपुट-सम्पन्न। (इसमें पवर्गके अक्षर हैं।) सातवाँ मिश्रवर्ग है। (इसमें अन्तःस्थ—य, र, ल, वका समावेश है।) आठवाँ वर्ग ऊष्मा या शवर्ग है। इन्हीं वर्गोंके अक्षरोंसे मन्त्रका उद्धार करे ॥ ८–१० ॥

छठे स्वर ऊकारपर आरूढ़ ऊष्माका द्वितीय अक्षर हकार बिन्दु (अनुस्वार) से युक्त हो (हूं)। तालुवर्गका द्वितीय अक्षर 'खकार' ग्यारहवें स्वर 'एकार'से युक्त हो (खे)। जिह्वा-तालु-समायोगका केवल प्रथम अक्षर 'चकार' हो, उसके नीचे उसी वर्गका दूसरा अक्षर 'छकार' हो और वह ग्यारहवें स्वर 'एकार'से संयुक्त (च्छे) हो। तालुवर्गका प्रथम अक्षर 'क्' हो, फिर उसके नीचे ऊष्माका द्वितीय अक्षर 'ष्' को देखकर जोड़ दे और उसे सोलहवें स्वर—'अः'से संयुक्त करे (क्षः)। ऊष्माका तीसरा अक्षर 'स्' हो, उसके नीचे जिह्वादन्त-समायोगके प्रथम अक्षर 'तकार'को जोड़े। उसके नीचे मिश्रवर्गका दूसरा अक्षर 'रकार' जोड़े

और उसे चौथे स्वर 'ईकार'से जोड़ दे—(स्त्री)। तदनन्तर तालुवर्गके आदि अक्षर 'क्' के नीचे ऊष्माका द्वितीय अक्षर 'ष्' जोड़ दे और उसको ग्यारहवें स्वरसे मिला दे—(क्षे)। इसके बाद ऊष्माके अन्तिम अक्षर 'हकार'को अनुस्वारयुक्त करके पाँचवें स्वरपर आरूढ़ कर दे (हुं)। ओष्ठसम्पुटयोगसे दूसरा अक्षर 'फ्' और जिह्वाग्र तालुयोगसे द्वितीय अक्षर 'ट्' को पञ्चम 'ण' के रूपमें परिणत करके जोड़ना चाहिये । स्वर तथा अर्द्ध-व्यञ्जन वर्णोंके साथ उद्धृत हुए—ये अक्षर 'तोतला त्वरिता'के मन्त्र हैं। इनके आदिमें ॐकार और अन्तमें 'नमः' जोड़नेपर जो मन्त्र बने, उसका तो जप करे, किंतु अग्निकार्य (हवन) में 'नमः' को हटाकर 'स्वाहा' जोड़ देना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि '**ॐ हूं खे च्छे क्षः स्त्री क्षे हुं फट् नम**।'—यह जपमन्त्र है और '**ॐ हूं खे च्छे क्षः स्त्री क्षे हुंफट् स्वाहा**'—यह हवनोपयोगी मन्त्र है) ॥ ११–१८ ॥

इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—**ॐ ह्रीं हूं हः, हृदयाय नमः। ह्रां हः शिरसे स्वाहा। ह्रीं ज्वल ज्वल शिखायै वषट्। हनु हनु (अथवा हुलु हुलु), कवचाय हुम्। ह्रीं श्रीं क्षूं नेत्रत्रयाय वौषट्** ।' नवाँ (फ) और आधा अक्षर (ट्) रूप जो तोतला-त्वरिता-विद्या है, उसीको देवीका नेत्र कहा गया है। '**क्षौं हः खौं हूं फट् अस्त्राय फट्** ।' ये गुह्य अङ्गमन्त्र हैं। इनका पहले न्यास करे ॥ १९-२० ॥

त्वरिताके अङ्गोंका वर्णन आगे चलकर करूँगा। इस समय त्वरिता-विद्याके अङ्गोंका वर्णन मुझसे सुनो—प्रथम दो बीजाक्षर या मन्त्राक्षर हृदय हैं, तीसरा और चौथा—ये दो अक्षर स्थिर हैं; पाँचवाँ और छठा—ये अक्षर शिखाके मन्त्र कहे गये हैं। सातवाँ और आठवाँ कवच-मन्त्र हैं, नवाँ और आधा अक्षर तारक (फट्) है। यही नेत्र कहा गया है। (प्रयोग—**ॐ हूं हृदयाय नमः। खे च्छे शिरसे स्वाहा। क्षः स्त्री शिखायै वषट्। क्षे हुम् कवचाय हुम्। फट् नेत्रत्रयाय वौषट्**।) ॥ २१-२२ ॥

'**तोतले वज्रतुण्डे ख ख हूं**'—इन दस अक्षरोंसे युक्त 'वज्रतुण्डिका' नामक 'इन्द्रदूतिका विद्या' है। '**खेचरि ज्वालिनि ज्वाले ख ख**'—इन दस अक्षरोंसे युक्त 'ज्वालिनी विद्या' है। '**वर्चे शरविभीषणि** (अथवा शबरि भीषणि) **ख खे**'—यह दशाक्षरा 'शबरी विद्या' है। '**छे छेदनि करालिनि ख ख**'—यह दशाक्षरा 'कराली विद्या' है। '**क्षः श्रव द्रव प्लवङ्गि ख खे**'—यह दशाक्षरा 'प्लवङ्गदूती विद्या' है। '**स्त्रीबलं कलिधुननि शासी**'—यह दशाक्षरा 'श्वसनवेगिका विद्या' है। '**क्षे पक्षे कपिले हंस**'—यह दशाक्षरा 'कपिलादूतिका विद्या' है। '**हूं तेजोवति रौद्रि मातङ्गि**'—यह दशाक्षरा 'रौद्री' दूतिका है '**पुटे पुटे ख ख खड्गे फट्**'—यह दशाक्षरा 'ब्रह्मदूतिका विद्या' है। 'वैताली'में उक्त सभी मन्त्र दशाक्षर होते हैं। अन्य विस्तारकी बातें पुआलकी भाँति सारहीन हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिये। न्यास आदिमें हृदयादि अङ्गोंका उपयोग है। नेत्रका सुधी पुरुष मध्यमें न्यास करे ॥ २३–२८ ॥

पैरसे लेकर मस्तकतक तथा मस्तकसे लेकर पैरोंतक चरण, जानु, ऊरु, गुह्य, नाभि, हृदय तथा कण्ठदेशसे मुखमण्डलपर्यन्त ऊपर-नीचे आदिबीजसे निर्गत सोमरूप 'अकार', जो अमृतकी धारा एवं सुवाससे परिपूर्ण है, ब्रह्मरन्ध्रसे मुझमें प्रवेश कर रहा है, ऐसा साधक चिन्तन करे। मन्त्रोपासक मूर्धा, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य, ऊरु, जानु और पैरोंमें तथा तर्जनी आदिमें आदिबीजका बारंबार न्यास करे। ऊपर अमृतमय सोम है, नीचे बीजाक्षर-रूप शरीर-कमल है। इस गूढ़ रहस्यको जो जानता है, उसकी मृत्यु नहीं होती है। इस मन्त्रके जपसे रोग-व्याधिका अभाव हो जाता है। न्यास और ध्यानपूर्वक त्वरितादेवीका पूजन और उनके मन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे* ॥२९–३३॥

* 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में त्वरिता-नित्याका प्रयोग संक्षेपसे इस प्रकार उपलब्ध होता है—अन्यत्र कथित आसनादि योगपीठन्यासान्त कर्म करके त्वरिता-विद्याद्वारा तीन प्राणायाम करके निम्नाङ्कित रूपसे विनियोग करे—'अस्य त्वरितामन्त्रस्य सौरिर्ऋषिर्विराट्छन्दः त्वरिता नित्या देवता स्त्री कवचम् ॐ बीजं हुं शक्तिः क्षे कीलकम् ममाभीष्टसिद्धये जपे विनियोगः ।' इसका न्यासवाक्य इस प्रकार है—'सौरये ऋषये नमः शिरसि । विराट्छन्दसे नमः मुखे । त्वरितानित्यादेवतायै नमः हृदि । ॐ बीजाय नमः गुह्ये । हुं शक्तये नमः पादयोः । क्षे कीलकाय नमः नाभौ ।' अग्निपुराणमें दशाक्षरा 'तोतला-त्वरिता'का मन्त्र है । परंतु 'श्रीविद्यार्णव'में द्वादशाक्षरा त्वरिता-विद्या बतायी गयी है। यथा—'ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्षः स्त्री हुं क्षे ह्रीं फट् ।' आदिके तीन और अन्तके दो अक्षर छोड़कर जो शेष सात अक्षर बचते हैं, उन्हींसे दो-दो अक्षर जोड़ते हुए न्यास करे। यथा—ॐ खे च हृदयाय नमः। च छे शिरसे स्वाहा। छे क्षः शिखायै वषट् । क्षः स्त्री कवचाय हुम्। स्त्री हूं नेत्रत्रयाय वौषट् । हूं क्षे अस्त्राय फट् ।' इसी तरह करन्यास भी करे । तत्पश्चात्—'शिरसि—ह्रीं ॐ ह्रीं नमः ।

अब मैं 'प्रणीता' आदि मुद्राओंका वर्णन करूँगा। 'प्रणीता' मुद्राएँ पाँच प्रकारकी मानी गयी हैं—'प्रणीता', 'सबीजा प्रणीता', 'भेदनी', 'कराली' और 'वज्रतुण्डा'। दोनों हाथोंको परस्पर ग्रथित करके बीचमें अँगूठोंको डाल दे और तर्जनीको ऊपर लगाये रक्खे, इसका नाम 'प्रणीता' है। इसे हृदय-देशमें लगाये। इसी मुद्रामें कनिष्ठिका अँगुलीको ऊपरकी ओर उठाकर मध्यमें रक्खे तो वह द्विजोंद्वारा 'सबीजा'के नामसे मानी जाती है। यदि तर्जनीके बीचमें अनामिकाको परस्पर संलग्न करके अङ्गुष्ठके अग्रभागको मध्यभागमें रक्खे तो वह 'भेदनी' मुद्रा कही गयी है। उस मुद्राको नाभि-देशमें निबद्ध करके अङ्गुष्ठका जल छिड़के। उसीको मन्त्र-साधकके हृदयमें योजित करनेपर 'कराली' नामक महामुद्रा होती है। फिर पूर्ववत् ब्रह्मलग्ना ज्येष्ठाको ऊपर उठाये तो वह 'वज्रतुण्डा मुद्रा' होती है। उसको वज्रदेशमें आबद्ध करे। दोनों हाथोंसे मणिबन्ध (कलाई) को बाँधे और तीन-तीन अँगुलियोंको फैलाये रक्खे, इसे 'वज्रमुद्रा' कहते हैं। दण्ड, खड्ग, चक्र और गदा आदि मुद्राएँ उनकी आकृतिके अनुसार बतायी गयी हैं। अङ्गुष्ठसे तीन अँगुलियोंको आक्रान्त करे, वे तीनों ऊर्ध्वमुख हों तो 'त्रिशूलमुद्रा' होती है। एकमात्र मध्यमा अँगुली ऊपरकी ओर उठी रहे तो 'शक्ति-मुद्रा' सम्पादित होती है। बाण, वरद, धनुष, पाश, भार, घण्टा, शङ्ख, अङ्कुश, अभय और पद्म—ये (प्रणीतासे लेकर पद्मतक कुल) अठाईस मुद्राएँ कही गयी हैं। ग्रहणी, मोक्षणी, ज्वालिनी, अमृता और अभया—ये पाँच 'प्रणीता' नामवाली मुद्राएँ हैं। इनका पूजन और होममें उपयोग करना चाहिये ॥ ३४—३७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरितामन्त्र तथा मुद्रा आदिका वर्णन' नामक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय

त्वरिता-मन्त्रके दीक्षा-ग्रहणकी विधि

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब सिंहासनपर स्थित वज्रसे व्याप्त कमलमें मन्त्र-न्यासपूर्वक दीक्षा आदिका विधान बताऊँगा ॥ १ ॥

'हे हे हुति वज्रदन्त पुरु पुरु लुलु गर्ज गर्ज इह सिंहास-नाय नमः।'[1] यह सिंहासनके पूजनका मन्त्र है। चार रेखा खड़ी और चार रेखा तिरछी या (पड़ी) खींचे। इस प्रकार नौ भागोंके विभाग करके विद्वान् पुरुष नौ कोष्ठ बनाये। प्रत्येक दिशाके कोष्ठ तो रख ले और कोणवर्ती कोष्ठ मिटा दे। अब बाह्य दिशामें जो कोष्ठ बच जाते हैं, उनके कोणोंतक जो रेखाएँ आयी हैं, उनकी संख्याएँ आठ कही गयी हैं। बाह्य-कोष्ठके बाह्य-भागमें ठीक बीचों-बीचमें वज्रका मध्यवर्ती शृङ्ग होता है। बाह्यरेखाके दो भाग करनेपर जो रेखार्द्ध बनता है,

ललाटे—ह्रीं हुं ह्रीं नमः। कण्ठे—ह्रीं खे ह्रीं नमः। हृदि—ह्रीं च ह्रीं नमः। नाभौ—ह्रीं छे ह्रीं नमः। मूलाधारे—ह्रीं क्षः ह्रीं नमः। ऊरुद्वये—ह्रीं स्त्री ह्रीं नमः। जानुद्वये—ह्रीं हूं ह्रीं नमः। जङ्घाद्वये—ह्रीं क्षे ह्रीं नमः। पादद्वये—ह्रीं फट् ह्रीं नमः।' इस प्रकार 'ह्रीं' बीजसे सम्पुटित अक्षरोंका न्यास करके समस्त विद्या (द्वादशाक्षरविद्या) द्वारा व्यापकन्यास करे। तदनन्तर ध्यानादि मानसपूजनान्त कर्म करके स्वर्णादि पट्टपर कुङ्कुम आदिद्वारा पश्चिमादि द्वारोंसे युक्त दो चतुरस्र रेखा बनाकर, उसके भीतर दो वृत्त बनाकर उसमें अष्टदलकमल अङ्कित करे। फिर पूर्ववत् आत्मपूजान्त कर्म करके भुवनेश्वरी-पीठकी अर्चनाके बाद मूलविद्यासे मूर्तिनिर्माण कर आवाहनादि पुष्पोपचार अर्पित करे। कर्णिकामें षडङ्ग, गुरुपङ्क्तित्रयकी पूजाके बाद बाहरकी वृत्तत्रयान्तरालगत दो वीथियोंमें देवीके अग्रवर्ती दलके अग्रभागमें फटकारीका, बाह्यवीथी—देवीके अग्रभागमें ह्री किंकराका, द्वारपार्श्वमें जया-विजयाका, आठ दलोंमें क्रमशः हुंकारी, खेचरी, चण्डा, छेदिनी, क्षेपिणी, स्त्रीकारी, हूंकारी एवं क्षेमकारीकी पूजा करे। फिर पूर्ववत् लोकपालादिकोंकी पूजा करके पूजा समाप्त करे।

१. पूनासे प्रकाशित 'अग्निपुराण'के प्राचीन और नवीन संस्करणोंमें 'सिंहासन-मन्त्र'का पाठ इस प्रकार मिलता है—'तु तु हेवि वजदेवि पुरु पुरु लुलु गर्ज गर्ज ह ह सिंहाय नमः।'

उतना ही बड़ा शृङ्ग होना चाहिये। बाहरी रेखा टेढ़ी होनी चाहिये। विद्वान् पुरुष उसे द्विभङ्गी बनाये। मध्यवर्ती कोष्ठको कमलकी आकृतिमें परिणत करे। वह पीले रंगकी कर्णिकासे सुशोभित हो। काले रंगके चूर्णसे कुलिशचक्र बनाकर उसके ऊपरी सिरे या शृङ्गकी आकृति खड्गाकार बनाये। चक्रके बाह्यभागमें चौकोर (भूपुर-चक्र) लिखे, जो वज्रसम्पुटसे चिह्नित हो। भूपुरके द्वारपर मन्त्रोपासक चार वज्रसम्पुट दिखाये। पद्म और वामवीथी सम होनी चाहिये। कमलका भीतरी भाग (कर्णिका) और केसर लाल रंगके लिखे और मण्डलमें स्त्रियोंको दीक्षित करके मन्त्र-जपका अनुष्ठान करवाये तो राजा शीघ्र ही परराष्ट्रोंपर विजय पाता है और यदि अपना राज्य छिन गया हो तो उसे भी वह शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रणव-मन्त्र (ॐकार) से संदीप्त (अतिशय तेजस्विनी) की हुई मूर्तिको हुंकारसे नियोजित करे। ब्रह्मन्! वायु तथा आकाशके बीज (यं हं) से सम्पुटित मूलविद्याका उच्चारण करके आदि और अन्तमें भी कर्णिकामें पूजन करे। इस प्रकार प्रदक्षिणा-क्रमसे आदिसे ही एक-एक अक्षररूप बीजका उच्चारण करते हुए कमलदलोंमें पूजन करना चाहिये॥ २—११॥

दलोंमें विद्याके अङ्गोंकी पूजा करे। आग्नेय दिशासे लेकर वामक्रमसे नैर्ऋत्य-दिशातक हृदय, सिर, शिखा, कवच तथा नेत्र—इन पाँच अङ्गोंकी पूजा करके मध्यभाग (कर्णिका) में पुनः नेत्रकी तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें अस्त्रकी पूजा करनी चाहिये। गुह्याङ्गमें रक्षाकी तथा केसरोंमें वाम-दक्षिण-पार्श्वमें विद्यमान पाँच-पाँच द्युतियोंकी अपने-अपने नाम-मन्त्रोंसे पूजा करे। गर्भमण्डलके बाह्यभागमें आठ लोकपालोंका न्यास करे। वर्णान्त (क्ष या ह) को अग्नि (र) के ऊपर चढ़ाकर उसे छठे स्वर (ऊ) से विभेदित करे और पंद्रहवें स्वर (ं) बिन्दुओंको उसके सिरपर चढ़ाकर उस (क्ष्रूं) (अथवा ह्रूं) बीजको[२] आदिमें रखकर दिक्पालोंके अपने-अपने नाममन्त्रोंसे संयुक्त करके उनकी पूजा करे। फिर शीघ्र ही सिंहासनपर कमलकी कर्णिकामें गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन करे। इससे श्रीकी प्राप्ति होती है॥ १२—१५॥

तदनन्तर एक सौ आठ मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित आठ कलशोंद्वारा कमलको वेष्टित कर दे। फिर एक हजार बार मन्त्र-जप करके दशांश होम करे। पहले अग्नि-मन्त्र (रं) से कुण्डमें अग्निको ले जाय और हृदयमन्त्र (नमः) से उसको वहाँ स्थापित करे। साथ ही कुण्डके भीतर अग्नियुक्त शक्तिका ध्यान करे। तदनन्तर उस शक्तिमें गर्भाधान, पुंसवन तथा जातकर्म-संस्कारके उद्देश्यसे हृदयमन्त्रद्वारा एक सौ आठ बार होम करे। फिर गुह्याङ्गके द्वारसे नूतन अग्निके जन्म होनेकी भावना करे। फिर मूलविद्याके उच्चारणपूर्वक पूर्णाहुति दे। इससे शिवाग्निका जन्म सम्पादित होता है। फिर मूलमन्त्रसे उसमें सौ आहुतियाँ दे। तत्पश्चात् अङ्गोंके उद्देश्यसे दशांश होम करे। इसके बाद शिष्यको देवीके हाथमें सौंपे और उसका मण्डलमें प्रवेश कराये। फिर अस्त्र-मन्त्रसे ताड़न करके गुह्याङ्गोंका न्यास करे। विद्याके अङ्गोंसे संनद्ध शिष्यको विद्याङ्गोंमें नियोजित करे। उसके द्वारा पुष्पका प्रक्षेप करवाये तथा उसे अग्निकुण्डके समीप ले जाय। तदनन्तर जौ, धान्य, तिल और घीसे मूलविद्याके उच्चारणपूर्वक सौ आहुतियाँ दे। प्रथम होम स्थावरयोनिमें पहुँचाकर उससे मुक्ति दिलाता है और दूसरा सरीसृप (साँप-बिच्छू आदि) की योनिसे। तदनन्तर क्रमशः पक्षी, मृग, पशु और मानव-योनिकी प्राप्ति और उससे मुक्ति होती है। फिर क्रमशः ब्रह्मपद, विष्णुपद तथा अन्तमें रुद्रपदकी प्राप्ति होती है। अन्तमें पूर्णाहुति कर देनी चाहिये। एक आहुतिसे शिष्य दीक्षित होता है और उसे मोक्षप्राप्तिका अधिकार मिल जाता है। अब मोक्ष कैसे होता है, यह सुनो॥ १६—२४॥

जब मन्त्रोपासक सुमेरुपर सदाशिवपदमें स्थित हो तो दूसरे दिन स्वस्थचित्त होकर अकर्म और कर्मक्षयके लिये एक हजार आहुतियाँ दे। फिर पूर्णाहुति करके मन्त्रयोगी पुरुष धर्म-अधर्मसे लिप्त नहीं होता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। वह उस परमपदको पहुँच जाता है, जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं लौटता। जैसे जलमें डाला हुआ जल उसमें मिलकर एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव शिवमें मिलकर शिवरूप हो जाता है। जो कलशोंद्वारा अभिषेक करता है, वह विजय तथा राज्य आदि सब अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न कुमारी कन्याका पूजन करे तथा गुरु आदिको दक्षिणा दे। प्रतिदिन पूजा करके एक सहस्र आहुतियाँ अग्निमें देनी चाहिये। तिल और घीसे पूर्ण आहुति देनेपर त्वरिता देवी लक्ष्मी एवं अभिमत वस्तु देती हैं। वे विपुल भोग प्रदान करती हैं तथा और भी जो कुछ साधक चाहता है, उसे माता त्वरिता पूर्ण करती हैं।

---

२. तन्त्रशास्त्रमें वर्णमालाका अन्तिम अक्षर 'क्ष' है, इसके अनुसार 'क्ष्रूं' बीज बनता है। यदि वर्णान्त शब्दसे 'ह' लिया जाय तो 'ह्रूं' बीज बनेगा।

मन्त्रके जितने अक्षर हैं, उतने लाख जप करनेसे मनुष्य निधियोंका अधिपति होता है, दुगुना जप करनेपर राज्यकी प्राप्ति होती है, त्रिगुण जप करे तो यक्षिणी सिद्ध हो जाती है, चौगुने जपसे ब्रह्मपद, पाँचगुने जपसे विष्णुपद तथा छः-गुने जपसे महासिद्धि सुलभ होती है। मन्त्रके एक लाख जपसे मनुष्य अपने पापोंका नाश कर देता है, दस बार जप करनेसे देहशुद्धि होती है, सौ बारके जपसे तीर्थस्नानका फल होता है। वेदीपर पट या प्रतिमा रखकर उसके समक्ष सौ हजार अथवा दस हजारकी संख्यामें जप करके हवन करना बताया गया है। इस प्रकार विधानपूर्वक जप करके एक लाख हवन करे। तिल, जौ, लावा, धान, गेहूँ, कमल-पुष्प (पाठान्तरके अनुसार आमके फल) तथा श्रीफल (बेल)—इन सबको एकत्र करके इनमें घी मिलावे और उस होम-सामग्रीसे हवन करके व्रत करे। रातमें कवच आदिसे संनद्ध हो खड्ग, धनुष तथा बाण आदि लेकर एक वस्त्र धारण करके उपर्युक्त वस्तुओंसे ही देवीकी पूजा करे। वस्त्रका रंग चितकबरा, लाल, पीला, काला अथवा नीला होना चाहिये। मन्त्रवेत्ता विद्वान् दक्षिणदिशामें आकर मण्डपके द्वारपर दूती-मन्त्रसे बलि अर्पित करे। यह बलि द्वार आदिमें अथवा एक वृक्षवाले श्मशानमें भी दी जा सकती है। ऐसा करनेसे साधक राजा हो समस्त कामनाओंका तथा सारी पृथ्वीके राज्यका उपभोग कर सकता है॥ २५—३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता-मूलमन्त्रकी दीक्षा आदिका कथन' नामक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३११॥

तीन सौ बारहवाँ अध्याय

त्वरिता-विद्यासे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब मैं विद्याप्रस्तावका वर्णन करूँगा, जो धर्म, काम आदिकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है। नौ कोष्ठोंके विभागसे विद्याभेदकी उपलब्धि होती है। अनुलोम-विलोमयोग, समास-व्यासयोग, कर्णाविकर्णयोग, अध-ऊर्ध्व-विभागयोग तथा त्रित्रिकयोगसे देवीके द्वारा जिसके शरीरकी सुरक्षा सम्पादित हुई है, वह साधक सिद्धिदायक मन्त्रों तथा बहुत-से निर्गत प्रस्तावोंको जानता है। शास्त्र-शास्त्रमें मन्त्र बताये गये हैं, किंतु वहाँ उनके प्रयोग दुर्लभ हैं। प्रथम गुरु वर्ण ही होता है। उसका पूर्वकालमें वर्णन नहीं हुआ है। वहाँ प्रस्तावमें एकाक्षर, द्व्यक्षर तथा त्र्यक्षर मन्त्र प्रकट हुए। चार-चार खड़ी तथा पड़ी रेखाएँ खींचे। इस प्रकार नौ कोष्ठ होते हैं। मध्यकोष्ठसे आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे मन्त्रके अक्षरोंका उनमें न्यास करे। तदनन्तर प्रस्ताव-भेदन करे। प्रस्ताव-क्रमयोगसे जो प्रस्तावको प्राप्त करता है, उस साधककी मुट्ठीमें सारी सिद्धियाँ आ जाती हैं। सारी त्रिलोकी उसके चरणोंमें झुक जाती है। वह नौ खण्डोंमें विभक्त जम्बूद्वीपकी सम्पूर्ण भूमिपर अधिकार प्राप्त कर लेता है। कपाल (खप्पर) पर अथवा श्मशानके वस्त्र (शवके ऊपरसे उतारे हुए कपड़े) पर सत्र ओर शिवतत्त्व लिखकर मन्त्रवेत्ता पुरुष बाहर निकले और मध्यभागमें कर्णिकाके ऊपर अभीष्ट व्यक्तिविशेषका भोजपत्रपर नाम लिखकर रख दे। फिर खैरकी लकड़ीसे तैयार किये गये अङ्गारोंद्वारा उस भोजपत्रको तपाकर दोनों पैरोंके नीचे दबा दे। यह प्रयोग एक ही सप्ताहमें चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिभुवनको भी चरणोंमें ला सकता है। वज्रसम्पुट गर्भसे युक्त द्वादशारचक्रके मध्यमें द्वेष्य व्यक्तिका नाम लिखकर रक्खे। उस नामको 'सदाशिव' मन्त्रसे विदर्भित (कुशोंद्वारा मार्जित) कर दे। उक्त द्वादशारचक्र तथा नाम आदिका उल्लेख हल्दीसे दीवारपर, काष्ठफलकपर अथवा शिलापट्टपर करना चाहिये। ऐसा करनेसे शत्रुके मुख, गमनशक्ति तथा सेनाका भी स्तम्भन (अवरोध) हो जाता है॥ १—१२॥

श्मशानके वस्त्रपर विषमिश्रित रक्तसे षट्कोणचक्रका उल्लेख कर उसके मध्यमें शत्रुका नाम लिखे। फिर उस चक्रको चारों ओर शक्तिबीजसे योजित करके उसपर डंडा रख दे। फिर साधक श्मशानभूमिपर रक्खे हुए उस शत्रुपर शीघ्र दण्डसे प्रहार करे। यह प्रयोग उस शत्रु-राजाके राष्ट्रको खण्डित कर देता है। इसी तरह चक्राकार मण्डल बनाकर उसके मध्यभागमें शत्रुके नामको स्थापित कर दे। चक्रकी धारामें शक्तिबीजका न्यास करे। शत्रुका नाम लेकर उसपर भावनाद्वारा उक्त चक्रधारसे प्रहार करे। इससे शत्रुका हरण होता है। इसी प्रकार खड्गके मध्यभागमें गरुडबीजके साथ

शत्रुका नाम लिखकर उसका पूर्ववत् विदर्भीकरण करे । उक्त नाम श्मशानभूमिकी चिताके कोयलेसे लिखना चाहिये । उसपर चिताके भस्मसे प्रहार करे । ऐसा करनेसे साधक एक ही सप्ताहमें शत्रुके देशको अपने अधिकारमें कर लेता है । वह छेदन, भेदन और मारणमें शिवके समान शक्तिशाली हो जाता है । तारक (फट्) को नेत्र कहा गया है । उसका शान्ति-पुष्टिकर्ममें नियोग करे । यह दहनादि प्रयोग शाकिनीको भी आकर्षित कर लेता है । पूर्वोक्त नौ चक्रोंमें मध्यगत मन्त्राक्षरसे लेकर पश्चिमदिशावर्ती कोष्ठतकके दो अक्षरोंको वक्रतुण्ड-मन्त्रके साथ जपनेसे कुष्ठ आदि जितने भी चर्मगत रोग हैं, उन सबका नाश हो जाता है, इसमें संशय नहीं है । (यह अध-ऊर्ध्व-विभागयोग है ।) मध्यकोष्ठसे उत्तरवर्ती कोष्ठतकके दो अक्षरवाले मन्त्रको 'करालीबन्ध'के साथ जप करे तो वह द्व्यक्षरी-विद्या, यदि साक्षात् शिव प्रतिवादी हों तो उनसे भी अपनी रक्षा करवाती है । इसी प्रकार पश्चिमगत मन्त्राक्षरको आदिमें रखकर उत्तर कोष्ठतकके मन्त्राक्षरोंको 'वक्रतुण्ड-मन्त्र'के साथ जप किया जाय तो ज्वर तथा खाँसीका नाश होता है । उत्तरकोष्ठसे लेकर मध्यमकोष्ठतकके मन्त्राक्षरोंका एक-एक साथ जप किया जाय तो साधककी इच्छासे वटके बीजमें गुरुता (भारीपन) आ सकती है । इसी तरह पूर्वादि-मध्यमान्त अक्षरोंके जपसे वह तत्काल उसमें लघुता (हलकापन) ला सकता है । भोजपत्रपर गोरोचनाद्वारा वज्रसे व्याप्त भूपुरचक्र लिखकर, अनुलोमक्रमसे स्थित मन्त्रबीजोंको लिखकर, उसे मन्त्रवत् धारण करके साधक अपने शरीरकी रक्षा करे । भावपूर्वक सुवर्णमें मढ़ाकर धारण किया गया यह 'रक्षायन्त्र' मृत्युका भी नाश करनेवाला होता है । वह विघ्न, पाप तथा शत्रुओंका दमन करनेवाला है तथा सौभाग्य और दीर्घायु देनेवाला है । यह 'रक्षायन्त्र' धारण किया जाय तो वह जूआ तथा युद्धमें भी विजयदायक होता है । इन्द्रकी सेनाके साथ संग्राम हो तो उसमें भी वह विजय दिलाता है, इसमें संशय नहीं है । यह 'रक्षायन्त्र' वन्ध्याको भी पुत्र देनेवाला तथा दूसरी चिन्तामणिके समान मनोवाञ्छाकी पूर्ति करनेवाला है । इससे रक्षित हुआ मनुष्य परराष्ट्रोंपर भी अधिकार पाता है तथा राज्य और पृथ्वीको जीत लेता है । **'फट् खीं क्षें हूं'**— इन चार अक्षरोंका एक लाख जप करनेसे यक्ष आदि भी वशीभूत हो जाते हैं ॥ १३—२५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता-विद्यासे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन' नामक तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

तीन सौ तेरहवाँ अध्याय

नाना मन्त्रोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् विनायक (गणेश) के पूजनकी विधि बताऊँगा । योगपीठपर प्रथम तो आधारशक्तिकी पूजा करे । फिर अग्नि आदि कोणों तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य— इन आठकी अर्चना करे । तदनन्तर कन्द, नाल, पद्म, कर्णिका, केसर और सत्त्वादि तीन गुणोंकी और पद्मासनकी पूजा करे । इसके बाद तीव्रा, ज्वालिनी, नन्दा, सुयशा (भोगदा), कामरूपिणी, उग्रा, तेजोवती, सत्या तथा विघ्ननाशिनी—इन नौ शक्तियोंकी पूजा करे । तत्पश्चात् गणेशजीकी मूर्तिका अथवा मूर्तिके अभावमें ध्यानोक्त गणपति-मूर्तिका पूजन करे । इसके बाद हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करनी चाहिये । पूजनके प्रयोगवाक्य इस प्रकार हैं— **'गणंजयाय हृदयाय नमः । एकदन्ताय उत्कटाय शिरसे स्वाहा । अचलकर्णिने शिखायै वषट् । गजवक्त्राय हुं फट् कवचाय हुम् । महोदराय दण्डहस्ताय अस्त्राय फट् ।'**[1]

१. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में पञ्चाङ्गन्यासके जो प्रयोगवाक्य दिये गये हैं, वे यहाँके मूलभागसे कुछ भिन्नता रखते हैं । उनमें करन्यास एवं अङ्गन्यास एक साथ निर्दिष्ट हैं, यथा—'अङ्गुष्ठयोः गणंजयाय स्वाहा हृदयाय नमः । तर्जन्योः एकदंष्ट्राय हुं फट् शिरसे स्वाहा । मध्यमयोः अचलकर्णिने नमो नमः शिखायै वषट् । अनामिकयोः गजवक्त्राय नमो नमः कवचाय हुम् । कनिष्ठिकयोः महोदराय चण्डाय हुं फट् अस्त्राय फट् ।' इसमें करन्यासगत वाक्योंमें करतल-करपृष्ठको और अङ्गन्यासगत वाक्योंमें नेत्रको छोड़ दिया गया है । षडङ्गपक्षमें हृदयादि अङ्गोंका न्यास अथवा पूजन बीजमन्त्रसे करना चाहिये । यथा—'गां हृदयाय नमः । गीं शिरसे स्वाहा । गूं शिखायै वषट् ।

—इन पाँच अङ्गोंमेंसे चारकी तो पूर्वादि चार दिशाओंमें और पाँचवेंकी मध्यभागमें पूजा करे ॥ १-४ ॥

तदनन्तर गणंजय, गणाधिप, गणनायक, गणेश्वर, वक्रतुण्ड, एकदन्त, उत्कट, लम्बोदर, गजवक्त्र और विकटानन—इन सबकी पद्मदलोंमें पूजा करे । फिर मध्यभागमें—'**हूं विघ्ननाशनाय नमः । महेन्द्राय-धूम्रवर्णाय नमः ।**'—यों बोलकर विघ्ननाशन एवं धूम्रवर्णकी पूजा करे । फिर बाह्यभागमें विघ्नेशका पूजन करे ॥ ५-६ ॥

अब मैं 'त्रिपुराभैरवी'के पूजनकी विधि बताऊँगा । इसमें आठ भैरवोंका पूजन करना चाहिये । उनके नाम इस प्रकार हैं—असिताङ्गभैरव, रुरुभैरव, चण्डभैरव, क्रोधभैरव, उन्मत्तभैरव, कपालिभैरव, भीषणभैरव तथा संहारभैरव । ब्राह्मी आदि मातृकाएँ भी पूजनीय हैं । (उनके नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा तथा महालक्ष्मी) । 'अकार' आदि ह्रस्व स्वरोंके बीजको आदिमें रखकर भैरवोंकी पूजा करनी चाहिये तथा 'आकार' आदि दीर्घ अक्षरोंके बीजको आदिमें रखकर 'ब्राह्मी' आदि मातृकाओंकी अर्चना करनी चाहिये[2] । अग्नि आदि चार कोणोंमें चार वटुकोंका पूजन कर्तव्य है । समयपुत्र वटुक, योगिनीपुत्र वटुक, सिद्धपुत्र वटुक तथा चौथा कुलपुत्र वटुक—ये चार वटुक हैं । इनके अनन्तर आठ क्षेत्रपाल पूजनीय हैं । इनमें 'हेतुक' क्षेत्रपाल प्रथम हैं और 'त्रिपुरान्त' द्वितीय । तीसरे 'अग्निवेताल' चौथे, 'अग्निजिह्व', पाँचवें 'कराल' तथा छठे 'काललोचन' हैं । सातवें 'एकपाद' तथा आठवें 'भीमाक्ष' कहे गये हैं । (ये सभी क्षेत्रपाल यक्ष हैं ।) इन सबका पूजन करके त्रिपुरादेवीके प्रेतरूप पद्मासनकी पूजा करे । यथा—'**ऐं क्षैं प्रेतपद्मासनाय नमः । ॐ ऐं ह्रीं हसौः त्रिपुरायै प्रेतपद्मासनसमास्थितायै नमः ।**'—इस मन्त्रसे प्रेतपद्मासनपर विराजमान त्रिपुराभैरवीकी पूजा[3] करे । उनका ध्यान इस प्रकार है—'त्रिपुरादेवी

गैं कवचाय हुम् । गौं नेत्रत्रयाय वौषट् । गः अस्त्राय फट् ।' इनमेंसे चार अङ्गोंका तो आराध्यदेवताके चारों दिशाओंमें और नेत्र तथा अस्त्रका मध्यवर्ती स्थान-देवताके अग्रभागमें पूजन करना चाहिये ।

२. 'शारदातिलक'के नवम पटलमें कहा गया है कि आठ मातृकाओंका कमलके आठ दलोंमें पूजन करे । मातृकाएँ अपने-अपने भैरवके अङ्कमें विराजती हैं । 'दीर्घाद्या मातरः प्रोक्ता ह्रस्वाद्या भैरवाः स्मृताः ।'—अर्थात् दीर्घ-स्वरोंको बीजके रूपमें नामके आदिमें लगाकर मातृकाओंकी पूजा करनी चाहिये और ह्रस्व अक्षरोंको आदिमें बीजके रूपमें जोड़कर भैरवोंका पूजन होना चाहिये।' यहाँ ह्रस्व और दीर्घ अक्षर पारिभाषिक लिये गये हैं । इनका परिचय देते हुए राघवभट्टने 'शा० ति०' की 'पदार्थादेश' नामक टीकामें लिखा है कि 'अ इ उ ऋ ऌ ए ओ अं'—ये आठ अक्षर 'ह्रस्व' के नामसे उपयोगमें लाये जाते हैं और 'आ ई ऊ ॠ ॡ ऐ औ अः'—ये आठ अक्षर दीर्घ-स्वरके नामसे । इनके प्रयोगवाक्य 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इस प्रकार दिये गये हैं—'आं ब्राह्म्यै नमः । अं असिताङ्गभैरवाय नमः । ईं माहेश्वर्यै नमः । इं रुरुभैरवाय नमः । ऊं कौमार्यै नमः । उं चण्डभैरवाय नमः । ॠं वैष्णव्यै नमः । ऋं क्रोधभैरवाय नमः । ॡं वाराह्यै नमः, ऌं उन्मत्तभैरवाय नमः । ऐं इन्द्राण्यै नमः । एं कपालिभैरवाय नमः । औं चामुण्डायै नमः । ओं भीषणभैरवाय नमः । अः महालक्ष्म्यै नमः । अं संहारभैरवाय नमः ।' इस प्रकार भैरवके अङ्कमें स्थित मातृकाओंका प्रदक्षिणक्रमसे पूजन करना चाहिये ।

३. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के २५-वें श्वासमें त्रिपुरादेवीके पूजनका क्रम यों बताया गया है—प्रातःकृत्य और प्राणायाम करके पीठन्यास करे । अन्यत्र बताये हुए क्रमसे आधारशक्ति आदिकी अर्चनाके पश्चात् हृदयकमलके पूर्वादि केसरोंमें इच्छा, ज्ञाना, क्रिया, कामिनी, कामदायिनी, रति, रतिप्रिया और नन्दाका पूजन करे तथा मध्यभागमें मनोन्मनीका । उसके ऊपर 'ऐं परायै अपरायै परापरायै हसौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः ।'—इस प्रकार न्यास करके मस्तकपर दक्षिणामूर्ति ऋषिका, मुखमें पङ्क्ति छन्दका, हृदयमें त्रिपुरभैरवी देवताका, गुह्यमें वाग्भव बीजका, चरणोंमें तार्तीय शक्तिका तथा सर्वाङ्गमें कामराज कीलकका न्यास करे । तत्पश्चात् वाग्भवबीज (ह्स्रैं नमः) का नाभिसे चरणपर्यन्त, कामबीज (ह सकल रीं नमः) का हृदयसे नाभिपर्यन्त तथा तार्तीय बीज (ह्स्रौः) का सिरसे हृदयपर्यन्त न्यास करे । इसी तरह आद्यबीजका दाहिने हाथमें, द्वितीय बीजका बायें हाथमें तथा तृतीय बीजका दोनों हाथोंमें न्यास करे । इसी क्रमसे मस्तक, मूलाधार और हृदयमें उक्त तीनों बीजोंका न्यास करना चाहिये । दायें कान, बायें कान और चिबुकमें भी उक्त तीनों बीजोंका क्रमशः न्यास करे । फिर आगे बताये जानेवाले तीन-तीन अङ्गोंमें क्रमशः तीनों बीजोंका न्यास करे । यह 'नवयोनिन्यास' है । यथा—दायाँ गाल, बायाँ गाल और मुख । दायाँ नेत्र, बायाँ नेत्र और नासिका । दायाँ कंधा, बायाँ कंधा और पेट । दायीं कोहनी, बायीं कोहनी और कुक्षि । दायाँ घुटना, बायाँ घुटना और लिङ्ग । दायाँ पैर, बायाँ पैर तथा गुह्य भाग । दायाँ पार्श्व, बायाँ पार्श्व और हृदय । दायाँ स्तन, बायाँ स्तन और कण्ठ ।

बायें हाथमें अभय एवं पुस्तक (विद्या) धारण करती हैं तथा दायें हाथमें वरदमुद्रा एवं माला (जपमालिका)। देवी बाणसमूहसे भरा तरकस और धनुष भी लिये रहती हैं।' मूलमन्त्रसे हृदयादि-न्यास करे[४] ॥ ७—१२ ॥

(अब प्रयोगविधि बतायी जाती है—) गोसमूहके मध्यमें स्थित हो, श्मशान आदिके वस्त्रपर चिताके कोयलेसे अष्टदल-कमलका चक्र लिखे या लिखावे। उसमें द्वेषपात्रका नाम लिखकर लपेट दे। फिर चिताकी राखको सानकर एक मूर्ति बनावे। उसमें द्वेषपात्रकी स्थितिका चिन्तन करके उक्त यन्त्रको नीले रंगके डोरेसे लपेटकर मूर्तिके पेटमें घुसेड़ दे। ऐसा करनेसे उस व्यक्तिका उच्चाटन हो जाता है ॥१३-१४॥

ज्वालामालिनी-मन्त्र

'ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते स्वाहा।' इस मन्त्रका जप करते हुए युद्धमें जानेवाले पुरुषको प्रत्यक्ष विजय प्राप्त होती है ॥ १५-१६ ॥

श्रीमन्त्र

'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं श्रियै नमः' ॥ १७ ॥

चतुर्दल कमलमें उत्तरादि दलके क्रमसे क्रमशः घृणिनी, सूर्या, आदित्या और प्रभावती—इन चार श्रीदेवियोंका उक्त मन्त्रसे पूजन करके मन्त्र जपनेसे श्रीकी प्राप्ति होती है। ये सभी श्रीदेवियाँ सुवर्णगिरिके समान परम सुन्दर कान्तिवाली हैं ॥१८॥

गौरीमन्त्र

'ॐ ह्रीं गौर्यै नमः।'

—इस मन्त्रद्वारा जप, होम, ध्यान तथा पूजन किया जाय तो यह साधकको सब कुछ प्रदान करनेवाला है। गौरीदेवीकी अङ्गकान्ति अरुणाभ गौर है। उनके चार भुजाएँ हैं। वे दाहिने दो हाथोंमें पाश तथा वरदमुद्रा धारण करती हैं और बायें दो हाथोंमें अङ्कुश एवं अभय। शुद्ध चित्तसे गौरी-देवीकी प्रार्थना (आराधना) करनेवाला बुद्धिमान् पुरुष सौ वर्षोंतक जीवित रहता है तथा उसे चोर आदिका भय नहीं प्राप्त होता है। युद्धस्थलमें इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित जलको पी लेनेसे अपने ऊपर क्रोधसे भरा हुआ पुरुष भी प्रसन्न हो जाता है। इस मन्त्रसे अञ्जन और तिलक लगानेपर वशीकरण सिद्ध होता है तथा जिह्वाग्रपर इसके लेखसे (अथवा जपसे भी) कवित्व-शक्ति प्रस्फुटित होती है। इसके जपसे स्त्री-पुरुषके जोड़े वशमें हो जाते हैं। इसके जपसे सूक्ष्म योनियोंके भी दर्शन होते हैं। स्पर्श करनेमात्रसे मनुष्य वशमें हो जाता है। इस मन्त्रद्वारा तिलकी आहुति देनेपर सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं। इस मन्त्रसे सात बार अभिमन्त्रित करके अन्नका भोजन करनेवाले पुरुषके पास सदा श्री (धन-सम्पत्ति) बनी रहती है। इसके आदिमें लक्ष्मी-बीज (श्रीं) और वैष्णव-बीज (क्लीं) जोड़ दिया जाय तो यह 'अर्धनारीश्वर-मन्त्र' हो जाता है। अनङ्गरूपा, मदनातुरा, पवनवेगा, भुवनपाला, सर्वसिद्धिदा, अनङ्गमदना और अनङ्ग-मेखला—ये शक्तियाँ हैं। इनके नाममन्त्रोंके जपसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। कमलके दलोंमें ह्रीं, स्वर, कादि व्यञ्जन लिखकर बीचमें अभीष्ट स्त्रीका नाम लिखे। षट्कोण-चक्र या कलशमें भी लिख सकते हैं। लिखकर उसके उद्देश्यसे जप करनेपर 'वशीकरण' होता है ॥ १९—२६ ॥

नित्यक्लिन्ना-मन्त्र

'ॐ ह्रीं ऐं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा।'[५]

[किसी-किसीने इस मन्त्रको पञ्चदशाक्षर भी माना है। उस दशामें 'स्वाहा' से पहले 'ऐं ह्रीं' जोड़ा जाता है।] यह छः अङ्गोंवाला मूलमन्त्र है (तीन बीज और तीन पद मिलाकर छः अङ्ग होते हैं)। लाल रंगके त्रिकोण-चक्रमें अष्टदल कमलका चिन्तन करके उसमें 'द्राविणी' आदिका पूजन करे। पूर्वादि दिशाओंमें 'द्राविणी' आदि चार शक्तियों तथा ईशानादि कोणोंमें 'अपरा' आदि चार शक्तियोंका चिन्तन-पूजन करना चाहिये। उनके क्रमानुसार नाम यों जानने चाहिये—द्राविणी, वामा, ज्येष्ठा, आह्लादकारिणी, अपरा, क्षोभिणी, रौद्री तथा गुणशक्ति। देवीका ध्यान इस प्रकार करे—'वे रक्तवर्णा हैं और उसी रंगके वस्त्राभूषण धारण करती हैं। उनके दो हाथोंमें पाश और अङ्कुश हैं, दो हाथोंमें कपाल तथा कल्पवृक्ष हैं तथा दो हाथोंसे उन्होंने वीणा ले रक्खी है।' नित्या, अभया, मङ्गला, नववीरा, सुमङ्गला, दुर्भगा और मनोन्मनी तथा द्रावा—इन आठ देवियोंका पूर्वादि दिशाके कमल-दलोंमें पूजन करे। ['श्री-

४. मूलमन्त्र बीजत्रयात्मक है। यथा—ह्स्त्रैं नमः। ह्स कल रीं नमः। ह्सौः नमः।

५. अग्निपुराणकी छपी प्रतियोंमें 'ॐ ह्रीं छं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं ओं'—ऐसा पाठ मिलता है; परंतु अन्य तन्त्रोंमें 'छं' की जगह 'ऐं' मिलता है। उद्धारस्थलमें 'वाग्भवं' कहा गया है, जो 'ऐं' का ही वाचक है और अन्तमें अग्निवधू (स्वाहा) का ही उल्लेख है; अतः वही रूप लिया गया है।

विद्यार्णवतन्त्र' में ये नाम इस प्रकार मिलते हैं—नित्या, सुभद्रा, समङ्गला, वनचारिणी, सुभगा, दुर्भगा, मनोन्मनी तथा रुद्ररूपिणी ।] इनके बाह्यभागमें पाँच दलोंमें कामदेवोंका पूजन होता है । '**ॐ ह्रीं अनङ्गाय नमः । ॐ ह्रीं स्मराय नमः । ॐ ह्रीं मन्मथाय नमः । ॐ ह्रीं माराय नमः । ॐ ह्रीं कामाय नमः ।**' ये ही पाँच काम हैं । कामदेवोंके हाथोंमें पाश, अङ्कुश, धनुष और बाणका चिन्तन करे । इनके भी बाह्यभागमें दस दलोंमें क्रमशः रति-विरति, प्रीति-विप्रीति, मति-दुर्मति, धृति-विधृति, तुष्टि-वितुष्टि—इन पाँच कामवल्लभाओंका पूजन करे ॥ २७–३३ ॥

'**ॐ छं (ऐं) नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं ओं (स्वाहा) अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह क्षः ॐ छं (ऐं) नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा**' । यह 'नित्यक्लिन्ना-विद्या' है ॥ ३४ ॥

सिंहासनपर आधारशक्ति तथा पद्मका पूजन करके उसके दलोंमें हृदय आदि अङ्गोंकी स्थापना एवं पूजन करनेके अनन्तर मध्यकर्णिकामें देवीकी पूजा करनी चाहिये ॥ ३५ ॥

गौरीमन्त्र (२)

'**ॐ ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हुं फट् स्वाहा**' ॥ ३६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाना प्रकारके मन्त्रोंका वर्णन' नामक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१३ ॥

तीन सौ चौदहवाँ अध्याय

त्वरिताके पूजन तथा प्रयोगका विज्ञान

निग्रहयन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—मुने ! '**ॐ ह्रीं हूं खे च च्छे क्षः स्त्री हूं क्षे ह्रीं फट् त्वरितायै नमः ।**'—इस मन्त्रसे न्यासपूर्वक त्वरितादेवीकी पूजा करे । उनके द्विभुज या अष्टभुज रूपका ध्यान करे । आधारशक्ति तथा अष्टदल कमलका पूजन करे । सिंहासन और उसके ऊपर विराजित त्वरितादेवीकी तथा उनके चारों ओर हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करे[1] । पूर्वादि दिशाओंमें हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करके मण्डलमें प्रणीता तथा गायत्रीकी पूजा करे । (देवीके अग्रभागके केसरसे लेकर प्रदक्षिणक्रमसे छः केसरोंमें छः अङ्गोंका पूजन करके अवशिष्ट दोमें प्रणीता तथा गायत्रीका पूजन करना चाहिये ।) इसके बाद आठ दलोंमें हुंकारी, खेचरी, चण्डा, छेदिनी, क्षेपिणी, स्त्री, हूंकारी तथा क्षेमंकरीकी पूजा करे । फिर मध्यभागमें देवीके सामने फट्कारीकी अर्चना करे । देवीके सम्मुखवर्ती द्वारके दक्षिण तथा वामपार्श्वमें जया एवं विजयाकी पूजा करके द्वाराग्रभागमें '**किंकराय रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञया स्थिरो भव हुं फट् किंकराय नमः ।**' इस मन्त्रसे किंकरका पूजन करना चाहिये ॥ १–४ ॥

त्वरिता-मन्त्रसे तिलोंद्वारा होम करनेसे सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होती है । नामोच्चारणपूर्वक देवीके आभूषण-स्वरूप आठ नागोंकी पूजा करनी चाहिये । यथा—**अनन्ताय नमः स्वाहा । कुलिकाय नमः स्वधा । वासुकिराजाय स्वाहा । शङ्खपालाय वौषट् । तक्षकाय वषट् । महापद्माय नमः । कर्कोटनागाय स्वाहा । पद्माय नमः फट्**[2] ॥ ५-६½ ॥

१. 'सारसंग्रह' तथा 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' आदिमें जो मन्त्रोद्धार किया गया है, उससे उपर्युक्त द्वादशाक्षर-बीज ही 'त्वरिता-विद्या'के नामसे प्रसिद्ध होते हैं । अग्निपुराणकी आजकलकी छपी प्रतियोंमें मन्त्रका शुद्ध रूप नहीं रह गया है, अतः तन्त्रान्तरसे मिलाकर ही शुद्ध रूपका यहाँ ग्रहण किया गया है । न्यासकी विधि पहले बता चुके हैं, अतः यहाँ संकेतमात्र किया गया है । तन्त्रोंमें देवीके द्विभुज, अष्टभुज तथा अष्टादशभुज रूप भी वर्णित हुए हैं । यहाँ मूलमें द्विभुज तथा अष्टभुज रूपकी ओर संकेत है । आधारशक्ति आदिका पूजन भी पूर्ववत् समझना चाहिये । सिंहासनका मन्त्र इस प्रकार है—'क्षं हुं हं वज्रदेह मुरु मुरु क्षि गुल गुल गर्ज गर्ज हं हुं क्षां पञ्चाननाय नमः ।' एक-एक अक्षरका उद्धार करके यह मन्त्रस्वरूप निश्चित हुआ है, अतः इसीको शुद्ध मानकर अन्यत्रके विकृत पाठको भी शुद्ध किया जा सकता है । यहाँ कही हुई अधिकांश बातें पिछले तीन सौ नवें अध्यायमें आ गयी हैं ।

२. 'नारायणीय-तन्त्र'में ब्राह्मण-नागोंको कुण्डलोंके स्थानमें चिन्तनीय बताया है, क्षत्रिय-नाग दोनों भुजाओंमें केयूरका काम करते हैं, वैश्य-नाग कटिबन्ध (करधनी) की आवश्यकता पूर्ण करते हैं तथा शूद्र-नाग दोनों पैरोंमें नूपुर बनकर शोभा बढ़ाते हैं । इनका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—'अनन्त और कुलिक

निग्रहयन्त्र[३]

दस खड़ी रेखाएँ खींचकर उनपर दस पड़ी रेखाएँ खींचे तो इक्यासी पद (कोष्ठ) बन जाते हैं। इन पदोंद्वारा 'निग्रहचक्र'का निर्माण करे। यह चक्र वस्त्रपर, वेदीपर, वृक्षके तनेपर, शिलापट्टपर तथा यष्टिकाओंपर भी लिखा जा सकता है। इसके मध्यवर्ती कोष्ठमें साध्य (शत्रु आदि) का नाम लिखे। (उस नामको दो 'रं' बीजोंद्वारा आवेष्टित कर दे। अर्थात् दो 'रं' बीजोंके बीचमें 'साध्य-नाम' लिखना चाहिये।) उसके पार्श्वभागकी पूर्वादि दिशाओंकी चार पङ्क्तिकाओंमें 'भ्रूं क्ष्रूं छ्रूं ह्रूं'—इन चार बीजोंको लिखे। फिर ईशान आदि कोणोंमें भीतरकी ओर 'कालरात्रि-मन्त्र' (काली-आनुष्टुभ सर्वतोभद्र) लिखे तथा बाहरकी ओर 'यमराज-मन्त्र' (यम-आनुष्टुभ) का उल्लेख करे। (यदि साध्य-व्यक्ति पुरुष है, तब तो यही क्रम ठीक है। यदि वह स्त्री हो तो उसपर निग्रहके लिये भीतरकी ओर 'यम-आनुष्टुभ' मन्त्र लिखा जाय और बाहरकी ओर 'काली-आनुष्टुभ' मन्त्रका उल्लेख किया जाय—यह 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में विशेष बात कही गयी है) ॥ ७-९ ॥

काली-आनुष्टुभ मन्त्र

का ली मा र र मा ली का लीनमोक्षक्षमोनली ।
मामोदेततदेमोमा रक्षतत्वत्वतक्षर ॥ १० ॥

यम-आनुष्टुभ-मन्त्र

यमावाटटवामाय माटमोटटमोटमा ।
वामोभूरिरिभूमोवा टटरीत्वत्वरीटट ॥ ११ ॥

यम-मन्त्रके बाह्यभागमें चारों ओर 'रं' लिखे, फिर उस 'रं' के नीचे 'यं' लिखे। इससे 'मारणात्मक निग्रह-यन्त्र' सम्पादित होता है। नीमकी गोंद, मज्जा, रक्त तथा विषसे मिश्रित स्याहीमें थोड़ा चिताका कोयला कूट-पीसकर मिला दे और उसे पिङ्गलवर्णकी दावातमें रक्खे। फिर कौएके पंखकी कलमसे उक्त 'निग्रह-यन्त्र'को लिखकर उसे श्मशानभूमिमें या चौराहेपर किसी गड्ढेमें नीचेकी ओर गाड़ दे, अथवा बाँबीकी मिट्टीमें उसे डाल दे, अथवा बहेड़ेके वृक्षकी डालीके नीचे भूमिमें गाड़ दे। ऐसा करनेसे सभी शत्रुओंका नाश हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

३—निग्रह-यन्त्र

र रं रं रं रं रं रं रं रं

ईशान यं यं यं यं यं यं यं यं यं अग्नि

[illegible]	[illegible]	य	मा	वा	ट	[illegible]	मा	ट	मो	ट	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	ट	वा	मा	य	[illegible]	ट	मो	ट	मा	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	का	ली	मा	र	[illegible]	ली	न	मो	क्ष	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	र	मा	ली	का	[illegible]	क्ष	मो	न	ली	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	रं सा ध्य रं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	भ्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	क्ष्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	छ्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	ह्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

वायव्य [illegible] नैर्ऋत्य

अनुग्रह-चक्र

शुक्लपक्षमें भोजपत्रपर, भूमिपर तथा दीवारपर लाक्षाके रङ्गसे, कुङ्कुमसे अथवा खड़िया मिट्टीके चन्दनसे 'अनुग्रह-चक्र' लिखे (यह 'अनुग्रह-चक्र' पूर्वोक्त निग्रह-चक्रकी भाँति

ब्राह्मण-नाग हैं। इनका वर्ण अग्निके समान तेजस्वी है। ये दोनों नाग सहस्र-सहस्र फणोंसे समलंकृत हैं। वासुकि और शङ्खपाल क्षत्रिय हैं। इनकी अङ्गकान्ति पीली है। ये दोनों सात-सात सौ फण धारण करते हैं। तक्षक और महापद्म वैश्य-नाग हैं। इनका रंग नीला है। इन दोनोंने पाँच-पाँच सौ फण धारण कर रक्खे हैं। पद्म तथा कर्कोटक शूद्र-नाग हैं। इनकी अङ्गकान्ति श्वेत है तथा ये तीन-तीन सौ फण धारण करते हैं। त्वरितादेवीके वामहस्तमें वरदमुद्रा और दाहिने हाथमें अभयमुद्रा शोभा पाती है।

४. नमक, ऊसरकी मिट्टी, स्रोतका जल, गृहधूम (घरकी कालिख), चित्रक, चिताका कोयला और नीमकी गोंद—इनसे युक्त जो स्याही है, उसे 'विष' कहा गया है।

५. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इस 'अनुग्रह-यन्त्र'के लेखनके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

कुङ्कुमैर्लाक्षया वापि लिखितं स्वर्णपट्टके ।
धवले वसने वापि लेखिन्या स्वर्णजातया ॥
सम्पूज्य जपसंसिद्धं स्थापयेद् यत्र तत्र वै ।
भवेल्लक्ष्मीरतिस्फीता नीरोगाश्च प्रजास्तथा ॥
गजाश्वपशवस्त्वन्ये प्राणिनः सुखिनो भृशम् ।
भूतप्रेतपिशाचादिपीडासु बिभृयादिदम् ॥
अलक्ष्मीशान्तये वश्यसिद्धये सर्वसम्पदे ।

इक्यासी पदोंका होना चाहिये ।) मध्यकोष्ठमें साध्य व्यक्तिका नाम लिखे । उस नामको 'ठं ठं' के मध्यमें रक्खे । पूर्वादि वीथीमें 'जूं सः वषट्' का उल्लेख करे । ईशान आदि कोणसे आरम्भ करके वीथीको छोड़ते हुए अग्निकोणपर्यन्त लक्ष्मीका आनुष्टुभ-मन्त्र (जो सर्वतोभद्रबन्धमें निबद्ध है) लिखे । यह ऊपरकी चार पङ्क्तियोंमें पूरा हो जायगा । तत्पश्चात् नीचेकी चार पङ्क्तियोंमें सबसे नीचेके नैर्ऋत्यकोणस्थ कोष्ठसे आरम्भ करके दाहिनेसे बायें पार्श्वकी ओर लिखे । निचली पङ्क्तिके बाद ऊपरी पङ्क्तिमें भी बायेंसे दाहिने लिखे । इस तरह चार पङ्क्तियोंमें वही 'लक्ष्मी-मन्त्र' पूरा लिख दे । वह मन्त्र इस प्रकार है—

'श्री सा मा या या मा सा श्री, सा नो या ज्ञे ज्ञे या नो सा । मा या ली ला ला ली या मा, या ज्ञे ला ली ली ला ज्ञे या ॥'

चक्रके बहिर्भागमें चारों ओर त्वरिता-मन्त्र लिखे । प्रत्येक दिशामें एक बार, इस प्रकार चार बार वह मन्त्र लिखा जायगा । फिर उस चौकोर चक्रको इस प्रकार गोल रेखासे घेर दे, जिससे वह कलशके भीतर हो जाय । उक्त कलशके नीचे एक कमल बनाकर उसीपर उस कमलको स्थापित किया हुआ दिखाये । (ऊपरकी ओर कलशके मुखकी-सी आकृति बना दे । दो वृत्ताकार रेखाओंसे कलशकी आकृति स्पष्ट करनी चाहिये । कलशके मुखपर दो आड़ी रेखाएँ खींचकर उन रेखाओंके बीचमें 'ववववव'—इस प्रकारकी माला-सी बनाकर उस मालासे घटको परिपूरित दिखाये । इस प्रकार इस चक्रका मनोरथ-पूर्तिके लिये तन्त्र-शास्त्रोक्त रीतिसे प्रयोग करे ।) ॥ १५—१८ ॥

कमलपर स्थापित पद्मचक्र लिखकर उसे धारण किया जाय तो वह मृत्युको जीतनेवाला तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है । वह शान्तिके साधनोंमें भी परम शान्तिप्रद है । सौभाग्य आदि देनेवाला है[5] ॥ १९ ॥

बारह खड़ी रेखाओंपर बारह पड़ी रेखाएँ खींचकर बराबर-बराबर एक सौ इक्कीस कोष्ठ बनावे । उसके मध्य-कोष्ठमें साध्यका नाम लिखे । फिर ईशानकोणवाले कोष्ठसे आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे बारह बार त्वरिता-विद्याके अक्षर लिखे । मायाबीज (ह्रीं) को छोड़कर ही मन्त्र लिखना चाहिये । रेखाओंके अग्रभागोंपर बारंबार त्रिशूल अङ्कित करे । इस यन्त्रको जपद्वारा सिद्ध कर ले । मध्यकोष्ठमें साध्य-नामके पहले 'ॐ' तथा अन्तमें 'हुं फट्' जोड़ दे । त्वरिता-विद्याके वर्णोंको क्रमसे ही लिखना चाहिये । अन्तमें नीचेकी ओर 'वषट्' जोड़ देना चाहिये । यह 'प्रत्यङ्गिरा-विद्या' कहलाती है, जो सम्पूर्ण मनोरथ एवं प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली है ॥ २०-२१ ॥

इक्यासी कोष्ठवाले चक्रमें आदिसे ही वर्णक्रमके अनुसार सम्पूर्ण चक्रोंमें त्वरिता-विद्याके अक्षर लिखे । छः बार मन्त्र लिखनेके बाद अन्तके शेष कोष्ठोंमें साध्यका नाम तथा उसके अन्तमें 'वषट्' लिखे । यह दूसरी 'प्रत्यङ्गिरा-विद्या' है, जो समस्त कार्य आदिकी सिद्धि करनेवाली है । चौंसठ कोष्ठवाले चक्रोंमें भी 'निग्रह-चक्र' और 'अनुग्रह-चक्र' लिखे । वह 'अमृती विद्या' है । उसके मध्यकोष्ठमें 'क्रीं सा हूं' और साध्य-नाम लिखे । (पाठान्तरके अनुसार उस चक्रके मध्यभागमें साध्यका नाम तथा नामके उभय पार्श्वमें 'ह्रीं' लिखे ।) उसके बाह्यभागमें द्वादशदल कमल बनाकर उसके दलोंमें त्वरिता-विद्याको विलोमक्रमसे लिखे । अर्थात् पहले 'फट्' लिखे, फिर पूर्व-पूर्वके अक्षर । फिर उसे ह्रींकारयुक्त तीन वृत्ताकार पङ्क्तियोंसे वेष्टित करे । कुम्भाकार चक्रके भीतर लिखित इस विद्याको धारण किया जाय तो

अर्थात् रोली अथवा लाक्षा (महावर) के रससे सोनेके पत्रपर या श्वेत वस्त्रपर सोनेकी ही लेखनीसे इस अनुग्रह-यन्त्रको लिखे । लिखकर इसकी पूजा करके त्वरिता-मन्त्रके जपद्वारा इसे सिद्ध कर ले । जपसिद्ध-यन्त्रको जहाँ रक्खा जायगा, वहाँ अत्यन्त वृद्धिशीला लक्ष्मीका वास होगा । वहाँकी समस्त प्रजाएँ नीरोग होंगी । हाथी, घोड़े तथा अन्य पशु-प्राणी अत्यन्त सुखी होंगे । भूत, प्रेत तथा पिशाच आदिकी बाधा प्राप्त होनेपर इस यन्त्रको धारण करना चाहिये । दरिद्रताकी शान्ति, वशीकरणकी सिद्धि तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंकी प्राप्तिके लिये भी इस यन्त्रको धारण करना आवश्यक है ।

६. इस चक्रकी विधि 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में इस प्रकार दी गयी है—दस दलवाला पद्म बनाकर उसकी कर्णिकामें माया-बीजके उदरमें साध्य-नाम लिखकर उसके दलोंमें मूल त्वरिता-विद्याके प्रणवादि दस वर्णोंको लिखे । माया-बीजके अक्षर छोड़ दे । इस कमलचक्रके बाह्यभागमें षट्कोण तथा उसके भी बाह्यभागमें चौकोर मण्डल बनावे ।

७. इस यन्त्रका उल्लेख 'शारदातिलक'के दशम पटलमें उपलब्ध होता है ।

यह समस्त शत्रुओंका नाश करनेवाली और सब कुछ देनेवाली होती है। यदि रोगीके कानमें इसका जप किया जाय तो उसकी विष भी शान्त हो जाते हैं। यदि इसके अक्षरोंसे अङ्कित (अथवा इस मन्त्रसे अङ्कित) डंडोंद्वारा इसके शरीरपर ठोंका जाय तो उससे भी विषका शमन हो जाता है ॥ २२—२५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता-मन्त्रके प्रयोगोंका वर्णन' नामक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१४ ॥

तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय

स्तम्भन आदिके मन्त्रोंका कथन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब मैं स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, विद्वेषण तथा उच्चाटनके प्रयोग बताता हूँ। विषव्याधि, आरोग्य, मारण तथा उसके शमनके प्रयोग भी बता रहा हूँ। भोजपत्रपर ताड़की कलमसे 'कूर्मचक्र' लिखे। वह छः अङ्गुलके मापका होना चाहिये। तदनन्तर द्विज उसके मुख तथा चारों पैरोंमें मन्त्रका न्यास करे। चारों पैरोंमें 'क्रीं' तथा मुखमें 'ह्रीं' लिखे। गर्भस्थानमें त्वरिता-विद्याका उल्लेख करके पृष्ठभागमें साध्य-नाम लिखे। फिर मालामन्त्रोंसे वेष्टित करके उस यन्त्रको ईंटके ऊपर स्थापित करे। तत्पश्चात् उसे ढककर कूर्मपीठगत 'करालमन्त्र'से अभिमन्त्रित करे। महाकूर्मका पूजन करके चरणोदकको शत्रुके उद्देश्यसे फेंके तथा शत्रुका स्मरण करके उसे सात बार बायें पैरसे ताड़ित करे। इससे मुखभागसे शत्रुका स्तम्भन होता है ॥ १—५½ ॥

भैरवकी मूर्ति लिखकर उसके चारों ओर निम्नाङ्कित मालामन्त्र लिखे—

'ॐ शत्रुमुखस्तम्भनी कामरूपा आलीढकरी। ह्रीं फें फेत्कारिणी मम शत्रूणां देवदत्तानां मुखं स्तम्भय स्तम्भय मम सर्वविद्वेषिणां मुखस्तम्भनं कुरु कुरु ॐ हूं फें फेत्कारिणि स्वाहा।'

इसके बाद 'फट्' और हेतु (प्रयोगका उद्देश्य) लिखकर उक्त मन्त्रका जप करते हुए उस महाबली भैरवके बाम हाथमें 'नग' (पर्वत या वृक्ष) और दाहिने हाथमें 'शूल' लिखे। तदनन्तर 'अघोरमन्त्र' लिखे। इससे वह संग्राममें शत्रुओंको स्तम्भित कर देता है ॥ ६—९ ॥

'ॐ नमो भगवत्यै भगमालिनि विस्फुर विस्फुर, स्पन्द स्पन्द, नित्यक्लिन्ने द्रव द्रव हूं सः क्रींकाराक्षरे स्वाहा।'

—इस मन्त्रका जप करते हुए रोचना आदिसे तिलक करनेपर मनुष्य सारे जगत्‌को मोहित कर सकता है ॥ १०-११ ॥

'ॐ फें हूं फट् फेत्कारिणि ह्रीं ज्वल ज्वल, त्रैलोक्यं मोहय मोहय, गुह्यकालिके स्वाहा।'

—इससे तिलक करके मनुष्य राजा आदिको भी वशमें कर लेता है ॥ १२½ ॥

जहाँ गधा बैठा हो उस स्थानकी धूल, शवके ऊपर चढ़ा हुआ फूल तथा स्त्रीके रजमें संलग्न वस्त्रका टुकड़ा लेकर रातमें शत्रुकी शय्या आदिपर फेंक दे। इससे उसके स्वजनोंमें विद्वेष उत्पन्न हो जाता है। गायका खुर और शृङ्ग, घोड़ेकी टापका कटा हुआ टुकड़ा तथा साँपका सिर—इन सबको कूटकर एकमें मिला दे और द्वेषपात्रके घरोंपर फेंक दे। इससे शत्रुवर्गका उच्चाटन होता है। कनेरकी पीली शिफा (मूल या जड़) मारणके प्रयोगमें संसिद्ध (सफल) है। साँप और छछूँदरका रक्त तथा कनेरका बीज भी मारणरूपी प्रयोजनका साधक है। मरे हुए गिरगिट, भ्रमर, केकड़ा और बिच्छूका चूरन बनाकर तेलमें डाल दे। उस तेलको अपने शरीरमें लगानेवाला मनुष्य कोढ़ी हो जायगा ॥ १३—१६ ॥

'ॐ नवग्रहाय सर्वशत्रून् मम साधय साधय, मारय मारय ओं सौं मं बुं गुं शुं शं रां कें ॐ स्वाहा।'

इस मन्त्रको भोजपत्र या नवग्रह-प्रतिमापर लिखकर आक (मदार) के सौ फूलोंसे पूजा करके शत्रु-मारणके उद्देश्यसे उस यन्त्र या प्रतिमाको श्मशानभूमिमें गाड़ दे। इससे समस्त ग्रह साधकके शत्रुको मार डालते हैं ॥ १७-१८ ॥

'ॐ कुञ्जरी ब्रह्माणी, ॐ मञ्जरी माहेश्वरी, ॐ वेताली कौमारी, ॐ काली वैष्णवी, ॐ अघोरा वाराही, ॐ वेतालीन्द्राणी, ॐ उर्वशी चामुण्डा, ॐ वेताली चण्डिका, ॐ जयाली यक्षिणी, नवमातरो हे मम शत्रुं गृह्णत गृह्णत।'

भोजपत्रपर इस मन्त्रको लिखे। 'शत्रु' पदके स्थानमें शत्रुके नामका निर्देश करे। फिर श्मशान-भूमिमें उस यन्त्रकी पूजा करे तो शत्रुकी मृत्यु हो जाती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'स्तम्भन आदिके मन्त्रका कथन' नामक तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

तीन सौ सोलहवाँ अध्याय

त्वरिता आदि विविध मन्त्र एवं कुब्जिका-विद्याका कथन

अग्निदेव कहते हैं—मुने ! पहले 'हुं' रक्खे, फिर 'खे च च्छे'—ये तीन पद जोड़कर मन्त्रकी शोभा बढ़ावे। तत्पश्चात् 'क्षः स्त्रीं हूं क्षे' लिखकर अन्तमें 'फट्' जोड़ दे। (कुल मिलाकर) 'हुं खे च च्छे क्षः स्त्रीं हूं क्षे ह्रीं फट्।' यह दशाक्षरा त्वरिता-विद्या हुई। यह विद्या समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाली तथा विष, सर्पादिका मर्दन करनेवाली है। 'खे च च्छे'—यह त्र्यक्षर-विद्या काल (अथवा काले साँप) के डँसे हुएको भी जीवन देनेवाली है ॥ १-२ ॥

'ॐ हूं खे क्षः'—इस चतुरक्षरी विद्याका प्रयोग विष एवं सर्पदंशकी पीड़ाको नष्ट करनेवाला है। (पाठान्तर 'विषशत्रुप्रमर्दनः'के अनुसार उक्त विद्याका प्रयोग विष एवं शत्रुकी बाधाको दूर करनेवाला है।) 'स्त्रीं हूं फट्'—इस विद्याका प्रयोग पाप तथा रोग आदिपर विजय दिलाता है। 'खे च'—इस द्व्यक्षर मन्त्रका प्रयोग शत्रु एवं दुष्ट आदिकी बाधाको दूर करता है। 'हूं स्त्रीं ॐ'—इस मन्त्रका प्रयोग स्त्री आदिको वशमें करनेवाला है। 'खे स्त्रीं खे'—इस मन्त्रका प्रयोग कालसर्पद्वारा डँसे गये मनुष्यके जीवनकी रक्षा करता है तथा शत्रुओंपर विजय दिलाता है। 'क्षः स्त्रीं क्षः'—इसका प्रयोग वशीकरण तथा विजयका साधक है ॥ ३—५ ॥

कुब्जिका-विद्या

'ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें ह्सौः ॐ नमो भगवति ह्स्ख्फ्रें कुब्जिके ह्स्रां ह्स्रीं अघोरे घोरे अघोरमुखि छ्रां छ्रीं किणि किणि विच्चे ह्सौः ह्स्ख्फ्रें श्रीं ह्रीं ऐं ॐ'—यह श्रीमती कुब्जिका-विद्या सब कार्योंको सिद्ध करनेवाली मानी गयी है ॥ ६ ॥*

अब उन मन्त्रोंका वर्णन किया जायगा, जिनका उपदेश भगवान् शंकरने स्कन्दको दिया था ॥ ७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता आदि नाना मन्त्रोंका तथा कुब्जिका-विद्याका वर्णन' नामक तीन सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१६ ॥

तीन सौ सत्रहवाँ अध्याय

सकलादि मन्त्रोंके उद्धारका क्रम

भगवान् शिव कहते हैं—स्कन्द ! सकल, निष्कल, शून्य, कलाढ्य, समलंकृत, क्षपण, क्षय, अन्तःस्थ, कण्ठोष्ठ तथा आठवाँ शिव—ये प्रासादपरासंज्ञक[1] मन्त्रके आठ स्वरूप माने गये हैं। ('कलाढ्य' सकलके और 'शून्य' निष्कलके अन्तर्गत है।) यह शब्दमय मन्त्र साक्षात् सदाशिवरूप है। इसके जपसे सम्पूर्ण सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ १-२ ॥

अमृत, अंशुमान्, इन्द्र, ईश्वर, उग्र, ऊहक, एकपाद, ऐल, ओज, औषध, अंशुमान् और वशी—ये क्रमशः अकार आदि बारह स्वरोंके वाचक हैं (यथा—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः)। तथा आगे जो शब्द दिये जा रहे हैं, वे ककार आदि अक्षरोंके सूचक हैं। कामदेव, शिखण्डी, गणेश, काल, शंकर, एकनेत्र, द्विनेत्र,

---

* यह मन्त्र अग्निपुराणकी विभिन्न पोथियोंमें विभिन्न रूपसे छपा है। कोई भी शुद्ध नहीं है, अतः 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' (अष्टम श्वास)में जो इसका शुद्ध पाठ मिलता है, वही यहाँ रक्खा गया है। वहीं इसका विनियोग-वाक्य यों दिया गया है—'अस्य श्रीकुब्जिकामन्त्रस्य रुद्र ऋषिर्गायत्री छन्दः कुब्जिका देवता ह्सौः बीजं ह्स्ख्फ्रें शक्तिः ह्स्रूं कीलकम्, श्रीविद्याङ्गत्वेन विनियोगः।' पूनावाले अग्निपुराणमें इस मन्त्रका पाठ यों है—'ऐं ह्रीं श्रीं स्फ्रयैं भगवति अम्बिके कुब्जिके स्फ्रयैं स्फं स्फम् कं सं वं रण नमो घोरमुखिच्छां छीं किणि किणि बिच्छू स्फों ह्रूं श्रीं ह्रीम् ऐं।' यही मन्त्र कुछ पाठान्तरके साथ चौखम्भावाले संस्करणमें भी है। दोनों जगहका पाठ अशुद्ध ही है। पिछले १४३, १४४ अध्यायोंमें भी कुब्जिकाका प्रसङ्ग द्रष्टव्य है।

१. 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में 'प्रसादपरा-संज्ञक' मन्त्रका उद्धार प्राप्त होता है। उसके अनुसार इसका स्वरूप है—'हसौं'। यही यदि सादि हो जाय, अर्थात् 'सहौं'के रूपमें लिखा जाय तो 'परा-प्रसाद-मन्त्र' कहलाता है। केवल 'हौं' हो अर्थात् सकारसे संयुक्त न हो तो वह शुद्ध 'प्रासाद-मन्त्र' है।

त्रिशिख, दीर्घबाहु, एकपाद, अर्धचन्द्र, वलय, योगिनीप्रिय, शक्तीश्वर, महाग्रन्थि, तर्पक, स्थाणु, दन्तुर, निधीश, नन्दि, पद्म, शाकिनीप्रिय, मुखबिम्ब, भीषण, कृतान्त (यम), प्राण, तेजस्वी, शक्र, उदधि, श्रीकण्ठ, सिंह, शशाङ्क, विश्वरूप तथा नारसिंह (क्ष)। विश्वरूप अर्थात् हकार-को बारह मात्राओंसे युक्त करके लिखे। (इस प्रकार ये बारह बीज होते हैं, जो अङ्गन्यास एवं करन्यासके उपयोगमें आते हैं।) ॥ ३–८ ॥

विश्वरूप (ह) को अंशुमान् (अनुस्वार) तथा ओज (ओकार) से युक्त करके रक्खा जाय; उसमें शशिबीज (स) का योग न किया जाय तो 'हों'—यह प्रथम बीज उद्धृत होता है, जो 'ईशान' से सम्बद्ध है। उपर्युक्त बारह बीजोंमें पाँच ह्रस्वयुक्त बीज माने जाते हैं—और छः दीर्घ-बीज। पहली और ग्यारहवीं मात्रामें एक ही 'हं' बीज बनता है। 'हं हिं हुं हें हों'—ये पाँच ह्रस्वयुक्त बीज हैं तथा शेष दीर्घयुक्त। ह्रस्व बीजोंमें विलोम-गणनासे (हों) प्रथम है। शेष क्रमशः तृतीय, पञ्चम, सप्तम और नवम कहे गये हैं। द्वितीय आदि दीर्घ हैं। तृतीय बीज है—'हें'। यह तत्पुरुष-सम्बन्धी बीज है, ऐसा जानो। पाँचवाँ बीज 'हुं' है, जो दक्षिणदिशावर्ती मुख—'अघोर'का बीज है। सातवाँ बीज है—'हिं'। इसे 'वामदेवका बीज' जानना चाहिये। इसके बाद रस (अमृत) संज्ञक मात्रा (अकार) से युक्त सानुस्वार हकार अर्थात् 'हं' बीज है; वह उपर्युक्त गणना-क्रमसे नवाँ है और 'सद्योजात'से सम्बद्ध है। इस प्रकार उक्त पाँच बीजोंसे युक्त 'ईशान' आदि मुखोंको 'ब्रह्मपञ्चक' कहा गया है। इनके आदिमें 'प्रणव' तथा अन्तमें 'नमः' जोड़ दे। 'ईशान' आदि नामोंका चतुर्थ्यन्त प्रयोग करे तो सभी उनके लिये पूजोपयुक्त मन्त्र हो जाते हैं। यथा—'ॐ हों ईशानाय नमः।' इत्यादि। इसी प्रकार 'ॐ हं सद्योजाताय नमः।' यह सद्योजात-देवताका मन्त्र है। द्वितीय, चतुर्थ आदि मात्राएँ दीर्घ हैं, अतः उनका हृदयादि अङ्गोंमें न्यास किया जाता है। द्वितीय बीजको बोलकर हृदय और अङ्ग-मन्त्र (नमः) बोलकर हृदयमें न्यास करे। यथा—'हां हृदयाय नमः, हृदि।' चतुर्थ बीज 'शिरोमन्त्र' है, जो हकारमें ईश्वर तथा अंशुमान् (ं) जोड़नेसे सम्पन्न होता है। यथा—'हीं शिरसे स्वाहा, शिरसि।' विश्वरूप (ह) में ऊहक (ऊ) तथा अनुस्वार जोड़नेपर छठा बीज 'हूं' बनता है। उसे 'शिखामन्त्र' जानना चाहिये। यथा—'हूं शिखायै वषट्, शिखायाम् हुम्।' अर्थात् कवचका मन्त्र आठवाँ बीज 'हैं' है। यथा—'हैं कवचाय हुम्—बाहुमूलयोः।' दसवाँ बीज 'हौं' नेत्र-मन्त्र कहा गया है। यथा—'हौं नेत्रत्रयाय वौषट्, नेत्रयोः।' अस्त्र-मन्त्र वशी (विसर्गयुक्त) है। शिखिध्वज! इसे शिवसंज्ञक माना गया है। यथा—'हः अस्त्राय फट्।' (इससे चारों ओर तर्जनी और अङ्गुष्ठद्वारा ताली बजाये।) हृदयादि अङ्गोंकी छः जातियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट् तथा फट्। अब मैं 'प्रासाद-मन्त्र' बताता हूँ। 'हौं हौं हूं'—ये प्रासादमन्त्रके तीन बीज हैं। इसे 'कुटिल' संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार यह प्रासाद-मन्त्र समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला है। हृदय-शिखा आदि बीजोंका पूर्वोक्त रीतिसे उद्धार करके फट्कारपर्यन्त सब अङ्गोंका न्यास करना चाहिये। अर्धचन्द्राकार आसन दे। 'भगवान् पशुपति कामपूरक देवता हैं तथा सर्पोंसे विभूषित हैं।' इस प्रकार ध्यान करके महापाशुपतास्त्र[2] मन्त्रका जप करे। यह समस्त शत्रुओंका मर्दन करनेवाला है। यह 'सकल (कलारहित) प्रासाद-मन्त्र'का वर्णन किया गया। अब 'निष्कल'-मन्त्र कहा जाता है ॥ ९–१९ ॥

औषध (औ), विश्वरूप (ह), ग्यारहवीं मात्रा, सूर्यमण्डल (अनुस्वार) इनसे युक्त अर्धचन्द्र (अनुनासिक) एवं नादसे युक्त जो 'हौं' मन्त्र है। यह 'निष्कल प्रासाद-मन्त्र' है; इसे संज्ञाविहीन 'कुटिल' भी कहते हैं। 'निष्कल प्रासाद-मन्त्र' भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। सदाशिवस्वरूप 'प्रासाद-मन्त्र' ईशानादि पाँच ब्रह्ममूर्तियोंसे युक्त होता है; अतः वह 'पञ्चाङ्ग' या 'साङ्ग' कहा गया है[3]। अंशुमान् (अनुस्वर), विश्वरूप (ह) तथा अमृत (अ)—इन तीनोंके योगसे व्यक्त हुआ 'हं' बीज 'शून्य' नामसे अभिहित होता है। (यह 'हिं हुं हें हों'—इन सबका उपलक्षण है।) ईशान आदि ब्रह्मात्मक अङ्गों (मुखों)

---

२. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में महापाशुपतास्त्र-मन्त्र इस प्रकार उद्धृत किया गया है—'ॐ श्लीं हसकलह्रीं पशुहसकलह्रीं हुं सकल ह्रीं फट्।'

३. साङ्ग-मन्त्रके बीज ह्रस्व स्वरोंसे मंडित होते हैं। न्यास तथा पूजनके लिये उनका स्वरूप यों समझना चाहिये—'हों ईशानायोर्ध्ववक्त्राय नमः। हें तत्पुरुषाय पूर्ववक्त्राय नमः। हुं अघोराय दक्षिणवक्त्राय नमः। हिं वामदेवाय उत्तरवक्त्राय नमः। हं सद्योजाताय पश्चिमवक्त्राय नमः।'

से रहित होनेपर ही उसकी शून्य संज्ञा होती है। ईशानादि मूर्तियाँ इन बीजोंके अमृततरु हैं। इनका पूजन समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाला है॥ २०—२२॥

अंशुमान् (अनुस्वार) युक्त विश्वरूप (ह) यदि ऊहक (ऊ) के ऊपर अधिष्ठित हो तो वह 'हूं' बीज 'कलाढ्य' कहा गया है। वह 'सकल'के ही अन्तर्गत है। सकलके ही पूजन और अङ्गन्यास आदि सदा होते हैं (इसी तरह जो 'शून्य' कहा गया है, वह 'निष्कल'के ही अन्तर्गत है।)। नरसिंह यमराजके ऊपर बैठे हों, अर्थात् क्षकार मकारके ऊपर चढ़ा हो, साथ ही तेजस्वी (र) तथा प्राण (य) का भी योग हो, फिर ऊपर अंशुमान् (अनुस्वार) हो तथा नीचे ऊहक (दीर्घ ऊकार) हो तो 'क्ष्म्र्यूं'—यह बीज उद्धृत होता है। इसकी 'समलंकृत' संज्ञा है। यह ऊपर और नीचे भी मात्रासे अलंकृत होनेके कारण 'समलंकृत' कहा गया है। यह भी 'प्रासादपर' नामक मन्त्रका एक भेद है। चन्द्रार्धाकार बिन्दु और नादसे युक्त ब्रह्मा एवं विष्णुके नामोंसे विभूषित क्रमशः उदधि (व) और नरसिंह (क्ष) को बारह मात्राओंसे भेदित करे। ऐसा करनेपर पूर्ववत् ह्रस्वस्वरोंसे युक्त बीज ईशानादि ब्रह्मात्मक अङ्ग होंगे तथा दीर्घस्वरोंसे युक्त बीजसहित मन्त्र हृदयादि अङ्गोंमें विन्यस्त किये जायँगे[4]॥ २३—२५½॥

अब दस बीजरूप प्रणव बताये जाते हैं—ओजको अनुस्वारसे युक्त करके 'ओम्' इस प्रथम वर्णका उद्धार करे। अंशुमान् और अंशुका योग 'आं' यह नायकस्वरूप द्वितीय वर्ण है। अंशुमान् और ईश्वर—'ईं'—यह तृतीय वर्ण है, जो मुक्ति प्रदान करनेवाला है। अंशु (अनुस्वार) से आक्रान्त ऊहक अर्थात् 'ऊं' यह चतुर्थ वर्ण है। सानुस्वार वरुण (व्), प्राण (य्) और तेजस् (र)—अर्थात् 'व्र्यूं' इसे पञ्चम बीजाक्षर बताया गया है। तत्पश्चात् सानुस्वार कृतान्त (मकार) अर्थात् 'मं' यह षष्ठ बीज है। सानुस्वार उदक और प्राण (व्यं) सप्तम बीजके रूपमें उद्धृत हुआ है। इन्दुयुक्त पद्म—'पं' आठवाँ तथा एकपादयुक्त नन्दीश 'नें' नवाँ बीज है। अन्तमें प्रथम बीज 'ओम्' का ही उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार जो दशबीजात्मक मन्त्र है, इसे 'क्षपण' कहा गया है। इसका पहला, तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ तथा नवाँ बीज क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजातस्वरूप है। द्वितीय आदि बीज हृदयादि अङ्गन्यासमें उपयुक्त होते हैं। दसों प्रणवात्मक बीजोंके एक साथ उच्चारणपूर्वक 'अस्त्राय फट्' बोलकर अस्त्रन्यास करे[5]। ईशानादि मूर्तियोंके अन्तमें 'नमः' जोड़कर ही बोलना चाहिये, अन्यथा नहीं। द्वितीय बीजसे लेकर नवम बीजतकके जो आठ बीज हैं, वे आठ विद्येश्वररूप हैं। उनके नाम ये हैं—अनन्तेश, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकमूर्ति, एकरूप, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी—ये आठ विद्येश्वर कहे गये हैं। शिखण्डीसे लेकर अनन्तेशपर्यन्त विलोम-क्रमसे बीजमन्त्रोंका सम्बन्ध जोड़ना चाहिये[6]। (यही प्रासाद-मन्त्रका 'क्षय' नामक भेद है।) इस तरह यहाँ मूर्ति-विद्या बतायी गयी॥ २६—३४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सकलादि मन्त्रोंके उद्धारका वर्णन' नामक तीन सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१७॥

---

४. यथा—वौं ब्रह्मणे क्षौं विष्णवे ईशानाय नमः। वें ब्रह्मणे क्षें विष्णवे तत्पुरुषाय नमः। वुं ब्रह्मणे क्षुं विष्णवे अघोराय नमः। विं ब्रह्मणे क्षिं विष्णवे वामदेवाय नमः। वं ब्रह्मणे क्षं विष्णवे सद्योजाताय नमः। ये पूजनके मन्त्र हैं। अङ्गन्यास—वां ब्रह्मणे क्षां विष्णवे हृदयाय नमः। वीं ब्रह्मणे क्षीं विष्णवे शिरसे स्वाहा। वूं ब्रह्मणे क्षूं विष्णवे शिखायै वषट्। वैं ब्रह्मणे क्षैं विष्णवे कवचाय हुम्। वौं ब्रह्मणे क्षौं विष्णवे नेत्रत्रयाय वौषट्। वः ब्रह्मणे क्षः विष्णवे अस्त्राय फट्।

५. यथा—ओम् ईशानाय नमः। ईं तत्पुरुषाय नमः। व्र्यूं अघोराय नमः। व्यं वामदेवाय नमः। नें सद्योजाताय नमः॥ अङ्गन्यासका क्रम इस प्रकार है—आं हृदयाय नमः। ऊँ शिरसे स्वाहा। मं शिखायै वषट्। पं कवचाय हुम्। ओम् नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं आं ईं ऊँ व्र्यूं मं व्यं पं नें ओम् अस्त्राय फट्। इसी क्रमसे करन्यास भी कर सकते हैं।

६. यथा—आं शिखण्डिने नमः। ईं श्रीकण्ठाय नमः। ऊँ त्रिमूर्तये नमः। व्र्यूं एकरूपाय नमः। मं एकमूर्तये नमः। इत्यादि

तीन सौ अठारहवाँ अध्याय

अन्तःस्थ, कण्ठोष्ठ तथा शिवस्वरूप मन्त्रका वर्णन; अघोरास्त्र-मन्त्रका उद्धार; 'विघ्नमर्द' नामक मण्डल तथा गणपति-पूजनकी विधि

भगवान् शिव कहते हैं—स्कन्द ! जिसके ऊपर तेज (र्) हो, ऐसे विश्वरूप (ह्) को उद्धृत करके फिर नरसिंह (क्ष) के नीचे कृतान्त (म्) रक्खे। उसके अन्तमें 'प्रणव' लगा दे। ऐसा कर 'र्ह्क्ष्म्रौं' बना। इसके बाद ऊहक (ऊ), अंशुमान् (ं) तथा विश्व (ह) को संयुक्त करे। इससे 'हूं' बनेगा। ये दोनों क्रमशः अन्तःस्थ और कण्ठोष्ठ कहे गये हैं। [(र्) अन्तःस्थ वर्ण आदिमें होनेसे उस पूरे मन्त्रकी 'अन्तःस्थ' संज्ञा हुई है। दूसरे मन्त्रमें ह् कण्ठ-स्थानीय है और ऊकार ओष्ठस्थानीय; अतः उसे 'कण्ठोष्ठ' नाम दिया गया है।] इनके अन्तमें 'नमः' जोड़ देनेसे ये दोनों मन्त्र चार अक्षरवाले हो जाते हैं। यथा—'ॐ र्ह्क्ष्म्रौं नमः। ॐ हूं नमः।' विश्वरूप (हकार) कारण माना गया है। उसे बारह मात्राओंसे गुणित करे। इन बारहमेंसे पाँच ह्रस्व-बीजोंद्वारा पूर्ववत् 'ईशान' आदि पाँच ब्रह्ममूर्तियोंकी पूजा करे और दीर्घात्मक छः बीजोंद्वारा पहलेकी ही भाँति यहाँ अङ्गन्यासका कार्य सम्पन्न करे॥ १—३॥

[अब अघोरास्त्र-मन्त्रका उद्धार करते हैं—]

'ह्रीं' लिखकर दो बार 'स्फुर-स्फुर' लिखे। इसके बाद इन दोनोंके आदिमें 'प्र' जोड़कर पुनरुल्लेख करे—'प्रस्फुर प्रस्फुर।' तत्पश्चात् 'कह', 'वम' और 'बन्ध'—इन तीनों पदोंको दो-दो बार लिखे। फिर दो बार 'घातय' लिखकर अन्तमें 'हुं फट्' का उच्चारण करे। (सब जोड़नेपर ऐसा बनता है—'ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोर घोरतरतनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध बन्ध घातय घातय हुं फट्।'—इक्यावन अक्षरोंका मन्त्र है।) इस प्रकार 'अघोरास्त्र-मन्त्र' होता है। (इसके विनियोग और न्यास आदिकी विधि 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'के २०वें श्वासमें द्रष्टव्य है।) अब 'शिव-गायत्री' बतायी जाती है। 'महेशाय विद्महे। महादेवाय धीमहि। तन्नः शिवः प्रचोदयात्।'—यह 'शिव-गायत्री' (ही पूर्वाध्यायमें कथित प्रासाद-मन्त्रका आठवाँ भेद 'शिव-रूप' है।) सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली है॥ ४—७॥

यात्रामें तथा विजय आदिके कार्यमें पहले गणकी पूजा करनी चाहिये; इससे 'श्री'की प्राप्ति होती है। पहले चौकोर क्षेत्रको सब ओरसे बारह-बारह कोष्ठोंमें विभाजित करे। [ऐसा करनेसे एक सौ चौवालीस पदोंका चतुष्कोण क्षेत्र बनेगा।] मध्यवर्ती चार पदोंमें त्रिकोणकी रचना करके उसके बीचमें तीन दलोंसे युक्त कमल लिखे। उसके पृष्ठभागमें पदिका और वीथीके भागमें तीन दलवाला अक्षयुक्त कमल बनावे। तदनन्तर वसुदेव-पुत्रों (वासुदेव, संकर्षण और गद) से, जो तीन दलवाले कमलोंसे सुशोभित हैं, पादपट्टिकाका निर्माण करे। उसके ऊपर भागमात्रके प्रमाणसे एक वेदीकी रचना करे। पूर्वादि दिशाओंमें द्वार तथा कोणभागोंमें उपद्वारकी रचना करे। इस प्रकार द्वारों तथा उपद्वारोंसे रचित मण्डल विघ्ननाशक है। मध्यमें जो कमल है, वह आरक्त वर्णका हो। उसके बाहरके कमल भी वैसे ही हों। वीथी श्वेतवर्णकी होनी चाहिये। द्वारोंका रंग अपने इच्छा-नुसार रख सकते हैं। कर्णिका पीले रंगसे रँगी जायगी तथा केसर भी पीले ही होंगे। यह 'विघ्नमर्द' नामक मण्डल है। इसके मध्यभागमें गणपतिका पूजन करे। नामका आदि अक्षर अनुस्वारसहित बोलकर आदिमें 'ॐ' और अन्तमें 'नमः' जोड़ दे। (यथा—'ॐ गं गणपतये नमः।') ह्रस्वान्त बीजोंसे युक्त ईशान-तत्पुरुषादि मन्त्रोंसे ब्रह्ममूर्तियोंका पूजन तथा दीर्घान्त बीजोंसे हृदय, सिर आदि अङ्गोंमें न्यास करे। उपर्युक्त मण्डलकी पूर्वदिशागत पङ्क्तिमें गज, गजशीर्ष (गजानन), गाङ्गेय, गणनायक, गगनग तथा गोपति—इन नामोंका उल्लेख करे। इनमेंसे अन्तिम दो नामोंकी तीन आवृत्तियाँ होंगी। (इस प्रकार ये दस नाम दस कोष्ठोंमें लिखे जायँगे और किनारेके एक-एक कोष्ठ खाली रहेंगे, जो दक्षिण-उत्तरकी नामावलीसे भरेंगे।)॥ ८—१५॥

विचित्रांश, महाकाय, लम्बोष्ठ, लम्बकर्ण, लम्बोदर, महाभाग, विकृत (विकट), पार्वती-प्रिय, भयावह, भद्र, भगण और

१. अग्निपुराणकी उपलब्ध पुस्तकें लिखावट या छपाईके दोषसे 'अघोरास्त्र-मन्त्र' पूरा व्यक्त नहीं कर पाती हैं। 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'के अनुसार किंचिन्मात्र संशोधनसे मन्त्र स्पष्ट हो जाता है; अतः यहाँ शुद्ध पाठ दिया गया है।

भयसूदन—ये बारह नाम दक्षिण दिशाकी पङ्क्तिमें लिखे। पश्चिममें देवत्रास, महानाद, भासुर, विघ्नराज, गणाधिप, उद्भटस्वन, उद्भटशुण्ड, महाशुण्ड, भीम, मन्मथ, मधुसूदन तथा सुन्दर और भावपुष्ट—ये नाम लिखे। फिर उत्तर दिशामें ब्रह्मेश्वर, ब्राह्म-मनोवृत्ति, संलय, लय, नृत्यप्रिय, लोल, विकर्ण, वत्सल, कृतान्त, कालदण्ड तथा कुम्भका पूर्ववत् उल्लेख करके इन सबका यजन करे ॥ १६—२० ॥

पूर्वोक्त मन्त्रका दस हजार जप और उसके दशांशसे होम करे। शेष नाम-मन्त्रोंका दस-दस बार जप करके उनके लिये एक-एक बार आहुति दे। तत्पश्चात् पूर्णाहुति देकर अभिषेक करे। इससे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होता है। साधक भूमि, गौ, अश्व, हाथी तथा वस्त्र आदि देकर गुरुदेवकी पूजा करे ॥ २१-२२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गणपति-पूजनके विधानका कथन' नामक तीन सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१८ ॥

तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय

वागीश्वरीकी पूजा एवं मन्त्र आदि

भगवान् शिव कहते हैं—स्कन्द! अब मैं मण्डल-सहित 'वागीश्वरी-पूजन'की विधि बता रहा हूँ। ऊहक (ऊ) को काल (घ) से संयुक्त करके उसका चन्द्रमा (अनुस्वार) से योग करें तो वह एकाक्षर मन्त्र बनेगा (घूं)। निषादपर ईश्वर (ई) का योग करके उसे बिन्दु-विसर्गसे समन्वित करे। इस एकाक्षर मन्त्रका उपदेश सबको नहीं देना चाहिये। वागीश्वरीदेवीका ध्यान इस प्रकार करे—'देवीकी अङ्गकान्ति कुन्दकुसुम तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल है। वे पचास वर्णोंका मालामय रूप धारण करती हैं। मुक्ताकी माला तथा श्वेतपुष्पके हारोंसे सुशोभित हैं। उनके चार हाथोंमें क्रमशः वरद, अभय, अक्षमाला तथा पुस्तक शोभा पाते हैं। वे तीन नेत्रोंसे युक्त हैं।' इस प्रकार ध्यान करके उक्त एकाक्षर-मन्त्रका एक लाख जप करे। 'देवी पैरोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त अथवा कंधोंतक ककारसे लेकर क्षकारतककी वर्णमाला धारण करती हैं'—इस प्रकार उनके स्वरूपका स्मरण करे ॥ १—४ ॥

गुरु दीक्षा देने या मन्त्रोपदेश करनेके लिये एक मण्डल बनाये। वह सूर्याग्र हो और इन्दुसे विभक्त हो। दो भागोंमें कमल बनाये। वह कमल साधकके लिये हितकर होता है। फिर वीथी और पाया बनाये। चार पदोंमें आठ कमल बनाये। उनके बाह्यभागमें वीथी और पदिकाका निर्माण करे। दो-दो पदोंद्वारा प्रत्येक दिशामें द्वार बनाये। इसी तरह उपद्वारोंका भी निर्माण करे। कोणोंमें दो-दो पट्टिकाएँ निर्मित करे। अब नौ कमल (वर्णाब्ज तथा दिशाओंसे सम्बद्ध कमल) श्वेतवर्णके रक्खे। कर्णिकापर सोनेके रंगका चूर्ण गिराकर उसे पीली कर दे। केसरोंको अनेक रंगोंसे रँगकर कोणोंको लाल रंगसे भरे। व्योमरेखान्तर काला रक्खे द्वारोंका मान इन्द्रके हाथीके मानके अनुसार रक्खे। मध्यकमलमें सरस्वतीको, पूर्वगत कमलमें वागीशीको, फिर अग्नि आदि कोणोंके क्रमसे हृल्लेखा, चित्रवागीशी, गायत्री, विश्वरूपा, शाङ्करी, मति और धृतिको स्थापित करके उन सबका पूजन करे। नामके आदिमें 'ह्रीं' तथा नामके आदि अक्षरको बीज-रूपमें बोलकर पूजा करनी चाहिये। यथा—पूर्वमें 'ह्रीं वां वागीश्यै नमः' इत्यादि। सरस्वती ही वागीश्वरीके रूपमें ध्येय हैं। जप पूरा करके कपिला गायके घीसे हवन करे। ऐसा करनेवाला साधक संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओंमें काव्य-रचना करनेवाला कवि होता है और काव्यशास्त्र आदिका विद्वान् हो जाता है ॥ ५—११ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वागीश्वरी-पूजा' नामक तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१९ ॥

तीन सौ बीसवाँ अध्याय

सर्वतोभद्र आदि मण्डलोंका वर्णन

भगवान् शिव कहते हैं—स्कन्द! अब मैं 'सर्वतोभद्र' नामक आठ प्रकारके मण्डलोंका वर्णन करता हूँ। पहले शङ्कु या कीलसे प्राचीदिशाका साधन करे। इस प्राचीका निश्चय हो जानेपर विद्वान् पुरुष विषुवकालमें चित्रा और

स्वाती नक्षत्रके अन्तरसे, अथवा प्रत्यक्ष सूतको लेकर पूर्वसे पश्चिमतक उसे फैलाकर मध्यमें दो कोटियोंको अङ्कित करे। उन दोनोंके मध्यभागसे उत्तर-दक्षिणकी लंबी रेखा खींचे। दो मत्स्योंका निर्माण करे तथा उन्हें दक्षिणसे उत्तरकी ओर आस्फालित करे। क्षतपद क्षेत्रके आधे मानसे कोण सम्पात करे। इस तरह चार बार सूत्रके क्षेत्रमें आस्फालनसे एक चौकोर रेखा बनती है। उसमें चार हाथका शुभ भद्रमण्डल बनाये। आठ पदोंमें सब ओरसे विभक्त चौसठ पदवालेमेंसे बीस पदवाले क्षेत्रमें बाहरकी ओर एक वीथीका निर्माण करे। यह वीथी एक सन्त्रकी होगी। कमलके मानसे दो पदोंका द्वार बनाये। द्वार कपोलयुक्त होना चाहिये। कोणबन्धके कारण उसकी विचित्र शोभा हो, ऐसा द्विपदका द्वार-निर्माणमें उपयोग करे। कमल श्वेतवर्णका हो, कर्णिका पीतवर्णसे रँगी जाय, केसर चित्रवर्णका हो, अर्थात् उसके निर्माणमें अनेक रंगोंका उपयोग किया जाय। वीथीको लाल रंगसे भरा जाय। द्वार लोकपाल-स्वरूप होता है। नित्य तथा नैमित्तिक विधिमें कोणोंका रंग लाल होना चाहिये। अब कमलका वर्णन सुनो। कमलके दो भेद हैं—'असंसक्त' तथा 'संसक्त'। 'असंसक्त' मोक्षकी तथा संसक्त भोगकी प्राप्ति करानेवाला है। 'असंसक्त' कमल मुमुक्षुओंके लिये उपयुक्त है। संसक्त कमलके तीन भेद हैं—बाल, युवा तथा वृद्ध। वे अपने नामके अनुसार फलसिद्धि प्रदान करनेवाले हैं ॥ १–९ ॥

कमलके क्षेत्रमें दिशा तथा कोणदिशाकी ओर सूत-चालन करे तथा कमलके समान पाँच वृत्त निर्माण करे। प्रथम वृत्तमें नौ पुष्करोंसे युक्त कर्णिका होगी, दूसरेमें चौबीस केसर रहेंगे, तीसरेमें दलोंकी संधि होगी, जिसकी आकृति हाथीके कुम्भस्थलके सदृश होगी, चौथे वृत्तमें दलोंके अग्रभाग होंगे तथा पाँचवें वृत्तमें आकाशमात्र 'शून्य' रहेगा। इसे 'संसक्त कमल' कहा गया है। 'असंसक्त कमल'में दलाग्रभागपर जो दिशाओंके भाग हैं, उनके विस्तारके अनुसार दो भाग छोड़कर आठ भागोंसे दल बनाये। संधि-विस्तारसूत्रसे उसके मानके अनुसार दलकी रचना करे। इसमें बायेंसे दक्षिणके क्रमसे प्रवृत्त होना चाहिये। इस तरह यह 'वृद्ध संसक्त कमल' बनता है ॥ १०–१४ ॥

अथवा संधिके बीचसे सूतको अर्धचन्द्राकार घुमाये या दो संधियोंके अग्रवर्ती सूतको (अर्धचन्द्राकार) घुमाये। ऐसा करनेसे 'बालपद्म' बनता है। संधिसूत्रके अग्रभागसे पृष्ठभागकी ओर सूत घुमाये। वह तीक्ष्ण अग्रभागवाला 'युवा' संज्ञक है। ऐसे कमलसे भोग और मोक्षकी उपलब्धि होती है। छम (छः) मुखवाले स्कन्द! मुक्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले आराधनात्मक कर्ममें 'वृद्ध कमल'का उपयोग करना चाहिये तथा वशीकरण आदिमें 'बालपद्म'का। 'नवनाभ' कमलचक्र नौ हाथोंका होता है। उसमें मन्त्रात्मक नौ भाग होते हैं। उसके मध्यभागमें कमल होता है। उस कमलके ही मानके अनुसार उसमें पट्टिका, वीथी और द्वारके साथ कण्ठ एवं उपकण्ठके निर्माणकी बात भी कही गयी है। उसके बाह्यभागमें वीथीकी स्थिति मानी गयी है। पाँच भागमें तो वीथी होती है और अपने चारों ओर वह दस भागका स्थान लिये रहती है। उसके आठ दिशाओंमें आठ कमल होते हैं तथा वीथीसहित एक द्वारपद्म भी होता है। उसके बाह्यभागमें पाँच पदोंकी वीथी होती है, जो लता आदिसे विभूषित हुआ करती है। द्वारके कण्ठमें कमल होता है। द्वारका ओष्ठ और कण्ठभाग एक-एक पदका होता है। कपोल-भाग एक पदका बनाना चाहिये। तीन दिशाओंमें तीन द्वार स्पष्ट होते हैं। कोणबन्ध तीन पट्टियों, दो पद तथा वज्र-चिह्नसे युक्त होता है। मध्यकमल शुक्लवर्णका होता है तथा शेष दिशाओंके कमल पूर्वादिक्रमसे पीत, रक्त, नील, पीत, शुक्ल, धूम्र, रक्त तथा पीतवर्णके होते हैं। यह कमलचक्र मुक्तिदायक है ॥ १५–२२ ॥

पूर्व आदि दिशाओंमें आठ कमलोंका तथा शिव-विष्णु आदि देवताओंका यजन करे। विष्णु आदिका पूजन प्रासादके मध्यवर्ती कमलमें करके पूर्वादि कमलोंमें इन्द्र आदि लोकपालोंकी पूजा करे। इनकी बाह्यवीथीकी पूर्वादि दिशामें उन-उन इन्द्र आदि देवताओंके वज्र आदि आयुधोंकी पूजा करे। वहाँ विष्णु आदिकी पूजा करके साधक अश्वमेधयज्ञके फलका भागी होता है। पवित्रारोपण आदिमें महान् मण्डलकी रचना करे। आठ हाथ लंबे क्षेत्रका छब्बीससे विवर्तन (विभाजन) करे। मध्यवर्ती दो पदोंमें कमल-निर्माण करे। तदनन्तर एक पदकी वीथी हो। तत्पश्चात् दिशाओं तथा विदिशाओंमें आठ नीलकमलोंका निर्माण करे। मध्यवर्ती कमलके ही मानसे उसमें कुल तीस पद्म निर्मित किये जायँ। वे सब दलसंधिसे रहित हों तथा नीलवर्णके 'इन्दीवर' संज्ञक कमल हों। उसके पृष्ठभागमें एक पदकी वीथी हो। उसके ऊपर स्वस्तिकचिह्न बने हों। तात्पर्य यह कि वीथीके ऊपरी भाग या बाह्यभागमें दो-दो पदोंके विभक्त स्थानोंमें कुल आठ स्वस्तिक लिखे जायँ। तदनन्तर पूर्ववत् बाह्यभागमें वीथिका रहे। द्वार, कमल तथा उपकण्ठ सब कुछ रहने चाहिये। कोणका रंग लाल और वीथीका पीला होना चाहिये। मण्डलके

बीचका कमल नीलवर्णका होगा । कार्तिकेय ! विचित्र रंगोंसे युक्त स्वस्तिक आदि मण्डल सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है ॥ २३–२९½ ॥

'पञ्चाब्ज-मण्डल' पाँच हाथके क्षेत्रको सब ओरसे दससे विभाजित करके बनाया जाता है । इसमें दो पदोंका कमल, उसके बाह्यभागमें वीथी, फिर पट्टिका, फिर चार दिशाओंमें चार कमल होते हैं । इन चारोंके बाद पृष्ठभागमें वीथी हो, जो एक पद अथवा दो पदोंके स्थानमें बनायी गयी हो । कण्ठ और उपकण्ठसे युक्त द्वार हों और द्वारके मध्यभागमें कमल हो । इस पञ्चाब्ज-मण्डलमें पूर्ववर्ती कमल श्वेत और पीतवर्णका होता है । दक्षिणदिग्वर्ती कमल वैदूर्यमणिके रंगका, पश्चिमवर्ती कमल कुन्दके समान श्वेत-वर्णका तथा उत्तरदिशाका कमल शङ्खके सदृश उज्ज्वल होता है । शेष सब विचित्र वर्णके होते हैं ॥ ३०–३३ ॥

अब मैं दस हाथके मण्डलका वर्णन करता हूँ, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है । उसको विकार-संख्या (२४) द्वारा सब ओर विभक्त करके चौकोर क्षेत्र बना ले । इसमें दो-दो पदोंका द्वार होगा । पूर्वोक्त चक्रोंकी भाँति इसके भी मध्यभागमें कमल होगा । अब मैं 'विघ्नध्वंस-चक्र' का वर्णन करता हूँ । चार हाथका पुर (चौकोर क्षेत्र) बनाकर उसके मध्यभागमें दो हाथके घेरेमें वृत्त (गोलाकार चक्र) बनाये । एक हाथकी वीथी होगी, जो सब ओरसे स्वस्तिक-चिह्नोंद्वारा घिरी रहेगी । एक-एक हाथमें चारों ओर द्वार बनेंगे । चारों दिशाओंमें वृत्त होंगे, जिनमें कमल अङ्कित रहेंगे । इस प्रकार इस चक्रमें पाँच कमल होंगे, जिनका वर्ण श्वेत होगा । मध्यवर्ती कमलमें निष्कल (निराकार परमात्मा) का पूजन करना चाहिये । पूर्वादि दिशाओंमें हृदय आदि अङ्गोंकी तथा विदिशाओंमें अस्त्रोंकी पूजा होनी चाहिये । पूर्ववत् 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्ममय मुखोंका भी पूजन आवश्यक है ॥ ३४–३७ ॥

अब मैं 'बुद्ध्याधार-चक्र'का वर्णन करता हूँ । सौ पदोंके क्षेत्रमेंसे मध्यवर्ती पंद्रह पदोंमें एक कमल अङ्कित करे । फिर आठ दिशाओंमें एक-एक करके आठ शिवलिङ्गोंकी रचना करे । मेखलाभागसहित कण्ठकी रचना दो पदोंमें होगी । आचार्य अपनी बुद्धिका सहारा लेकर यथास्थान लता आदिकी कल्पना करे । चार, छः, पाँच और आठ आदि कमलोंसे युक्त मण्डल होता है । बीस-तीस आदि कमलोंवाला भी मण्डल होता है । १२१२० कमलोंसे युक्त भी सम्पूर्ण मण्डल हुआ करता है । १२० कमलोंके मण्डलका भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है । श्रीहरि, शिव, देवी तथा सूर्यदेवके १४४० मण्डल हैं । १७ पदोंद्वारा सत्रह पदोंका विभाग करनेपर २८९ पद होते हैं । उक्त पदोंके मण्डलमें लतालिङ्गका उद्भव कैसे होता है, यह सुनो । प्रत्येक दिशामें पाँच, तीन, एक, तीन और पाँच पदोंको मिटा दे । ऊपरके दो पदोंसे लिङ्ग तथा पार्श्ववर्ती दो-दो कोष्ठकोंसे मन्दिर बनेगा । मध्यवर्ती दो पदोंका कमल हो । फिर एक कमल और होगा । लिङ्गके पार्श्वभागोंमें दो 'भद्र' बनेंगे । एक पदका द्वार होगा; उसका लोप नहीं किया जायगा । उस द्वारके पार्श्वभागोंमें छः-छः पदोंका लोप करनेसे द्वारशोभा बनेगी । शेष पदोंमें श्रीहरिके लिये लहलहाती लताएँ होंगी । ऊपरके दो पदोंका लोप करनेसे श्रीहरिके लिये 'भद्राष्टक' बनेंगे । फिर चार पदोंका लोप करनेसे रश्मिमालाओंसे युक्त शोभास्थान बनेगा । पचीस पदोंसे कमल, फिर पीठ, अपीठ तथा दो-दो पदोंको रखकर (एकत्र करके) आठ उपशोभाएँ बनेंगी । देवी आदिका सूचक 'भद्रमण्डल' बीचमें विस्तृत और प्रान्तभागमें लघु होता है । बीचमें नौ पदोंका कमल बनता है तथा चारों कोणोंमें चार 'भद्रमण्डल' बनते हैं । शेष त्रयोदश पदोंका 'बुद्ध्याधार-मण्डल' है । इसमें एक सौ साठ पद होते हैं । 'बुद्ध्याधार-मण्डल' भगवान् शिव आदिकी आराधनाके लिये प्रशस्त है ॥ ३८–४८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मण्डलविधानका वर्णन' नामक तीन सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२० ॥

तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय

अघोरास्त्र आदि शान्ति-विधानका कथन

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द ! पहले समस्त कर्मोंमें 'अस्त्रयाग' करना चाहिये । यह सिद्धि प्रदान करनेवाला है । मध्यभागमें शिव, विष्णु आदिके अस्त्रकी पूजा करनी चाहिये तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः इन्द्रादि दिक्पालोंके वज्र आदि अस्त्रोंका पूजन करना चाहिये । भगवान् शंकरके पाँच मुख तथा दस हाथ हैं । उनके इस स्वरूपका ध्यान करते हुए

युद्धसे पूर्व पूजा कर ली जाय तो विजयकी प्राप्ति होती है। ग्रहपूजा करते समय नवग्रहचक्रके मध्यमें सूर्यदेवकी तथा पूर्वादि दिशाओंमें सोम आदिकी अर्चना करनी चाहिये। ग्रहोंकी पूजा करनेसे सभी ग्रह एकादश (ग्यारहवें) स्थानमें स्थित होते हैं और उस स्थानमें स्थितकी भाँति उत्तम फल देते हैं॥ १-२½ ॥

अब मैं समस्त उत्पातोंका नाश करनेवाली 'अस्त्रशान्ति'का वर्णन करूँगा। यह शान्ति ग्रहरोग आदिको शान्त करनेवाली तथा महामारी एवं शत्रुका मर्दन करनेवाली है। विघ्नकारक गणोंके द्वारा उत्पादित उपतापको भी शान्त करती है। मनुष्य 'अघोरास्त्र'का जप करे। एक लाख जप करनेसे ग्रहबाधा आदिका निवारण होता है और तिलसे दशांश होम कर दिया जाय तो उत्पातोंका नाश होता है। एक लाख जप-होमसे दिव्य उत्पातका तथा आधे लक्ष जप-होमसे आकाशज उत्पातका विनाश होता है। घीकी एक लाख आहुति देनेसे भूमिज उत्पातके निवारणमें सफलता प्राप्त होती है। घृतमिश्रित गुग्गुलके होमसे सम्पूर्ण उत्पात आदिका शमन हो जाता है। दूर्वा, अक्षत तथा घीकी आहुति देनेसे सारे रोग दूर होते हैं। केवल घीकी एक सहस्र आहुतिसे बुरे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। वही आहुति यदि दस हजारकी संख्यामें दी जाय तो ग्रहदोषका शमन होता है। घृतमिश्रित जौकी दस हजार आहुतियोंसे विनायकजनित पीड़ाका निवारण होता है। दस हजार घीकी आहुतिसे तथा गुग्गुलकी भी दस सहस्र आहुतिसे भूत-वेताल आदिकी शान्ति होती है। यदि कोई बड़ा भारी वृक्ष आँधी आदिसे स्वतः उखड़कर गिर जाय, घरमें सर्पका कङ्काल हो तथा वनमें प्रवेश करना पड़े तो दूर्वा, घी और अक्षतके होमसे विघ्नकी शान्ति होती है। उल्कापात या भूकम्प हो तो तिल और घीसे होम करनेसे कल्याण होता है। वृक्षोंसे रक्त बहे, असमयमें फल-फूल लगें, राष्ट्रभङ्ग हो, मारणकर्म हो, जब मनुष्य-पशु आदिके लिये महामारी आ जाय तो तिलमिश्रित घीसे अर्धलक्ष आहुति देनी चाहिये। इससे दोषोंका शमन होता है। यदि हाथीके लिये महामारी उपस्थित हो, हथिनीके दाँत बढ़ जायँ अथवा हथिनीके गण्डस्थलसे मद फूटकर बहने लगे तो इन सब दोषोंकी शान्तिके लिये दस हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। इससे अवश्य शान्ति होती है॥ ३-१२½ ॥

जहाँ असमयमें गर्भपात हो या जहाँ बालक जन्म लेते ही मर जाता हो तथा जिस घरमें विकृत अङ्गवाले शिशु उत्पन्न होते हों तथा जहाँ समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही बालकका जन्म होता हो, वहाँ इन सब दोषोंके शमनके लिये दस हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। सिद्धि-साधनमें तिलमिश्रित घीसे एक लाख हवन किया जाय तो वह उत्तम है, मध्यम सिद्धिके साधनमें अर्धलक्ष और अधम सिद्धिके लिये पचीस हजार आहुति देनी चाहिये। जैसा जप हो, उसके अनुसार ही होम होना चाहिये। इससे संग्राममें विजय प्राप्त होती है। न्यासपूर्वक तेजस्वी पञ्चमुखका ध्यान करके 'अघोरास्त्र'[1]का जप करना चाहिये॥ १३-१६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अघोरास्त्र आदि विविध शान्तिका कथन' नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२१ ॥

तीन सौ बाईसवाँ अध्याय

पाशुपतास्त्र-मन्त्रद्वारा शान्तिका कथन

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! अब मैं पाशुपतास्त्र-मन्त्रसे शान्ति तथा पूजा आदिकी बात बताऊँगा। शान्ति और जप आदि पूर्ववत् (पूर्व अध्यायमें कहे अनुसार) कर्तव्य हैं। इस मन्त्रके आंशिक पाठ या जपसे पूर्वकृत पुण्यका नाश होता है; किंतु फडन्त-सम्पूर्ण मन्त्रका जप आपत्ति आदिका निवारण करनेवाला है॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते महापाशुपतायातुलबलवीर्यपराक्रमाय त्रिपञ्चनयनाय नानारूपाय नानाप्रहरणोद्यताय सर्वाङ्गरक्ताय भिन्नाञ्जनचयप्रख्याय श्मशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिकृन्तनरताय सर्वसिद्धिप्रदाय भक्तानुकम्पिनेऽसंख्यवक्त्रभुजपादाय तस्मिन् सिद्धाय वेतालवित्रासिने शाकिनीक्षोभजनकाय व्याधिनिग्रहकारिणे पापभञ्जनाय सूर्यसोमाग्निनेत्राय विष्णु-

1. अघोरास्त्र-मन्त्रको ३१८वें अध्यायमें स्पष्ट कर दिया गया है।

कवचाय खड्गवज्रहस्ताय यमदण्डवरुणपाशाय रुद्रशूलाय ज्वलज्जिह्वाय सर्वरोगविद्रावणाय ग्रहनिग्रहकारिणे दुष्टनागक्षयकारिणे। ॐ कृष्णपिङ्गलाय फट्। हूंकारास्त्राय फट्। वज्रहस्ताय फट्। शक्तये फट्। दण्डाय फट्। यमाय फट्। खड्गाय फट्। नैर्ऋताय फट्। वरुणाय फट्। वज्राय फट्। पाशाय फट्। ध्वजाय फट्। अङ्कुशाय फट्। गदायै[1] फट्। कुबेराय फट्। त्रिशूलाय फट्। मुद्गराय फट्। चक्राय फट्। पद्माय फट्। नागास्त्राय फट्। ईशानाय फट्। खेटकास्त्राय फट्। मुण्डाय फट्। मुण्डास्त्राय फट्। कङ्कालास्त्राय फट्। पिच्छिकास्त्राय फट्। क्षुरिकास्त्राय फट्। ब्रह्मास्त्राय फट्। शक्त्यस्त्राय फट्। गणास्त्राय फट्। सिद्धास्त्राय फट्। पिलिपिच्छास्त्राय फट्। गन्धर्वास्त्राय फट्। पूर्वास्त्रायै[2] फट्। दक्षिणास्त्राय फट्। वामास्त्राय फट्। पश्चिमास्त्राय फट्। मन्त्रास्त्राय फट्। शाकिन्यस्त्राय फट्। योगिन्यस्त्राय फट्। दण्डास्त्राय फट्। महादण्डास्त्राय फट्। नमोऽस्त्राय फट्[3]। शिवास्त्राय फट्। ईशानास्त्राय फट्। पुरुषास्त्राय[4] फट्। अघोरास्त्राय फट्[5]। सद्योजातास्त्राय फट्। हृदयास्त्राय फट्। महास्त्राय फट्। गरुडास्त्राय फट्। राक्षसास्त्राय फट्। दानवास्त्राय फट्। क्षौं नरसिंहास्त्राय फट्। त्वष्ट्रस्त्राय फट्। सर्वास्त्राय फट्। नः[6] फट्। वः[7] फट्। पः फट्। फः फट्[8]। मः फट्। श्रीः[9] फट्। पेः[10] फट्। भूः फट्। भुवः फट्। स्वः फट्। महः फट्। जनः फट्। तपः फट्। सत्यं फट्। सर्वलोक फट्। सर्वपाताल फट्। सर्वतत्त्व[11] फट्। सर्वप्राण फट्। सर्वनाडी फट्। सर्वकारण फट्। सर्वदेव फट्। ह्रीं फट्। श्रीं फट्। हूं[12] फट्। स्त्रुं फट्[13]। स्वां[14] फट्। लां फट्। वैराग्याय फट्। मायास्त्राय फट्। कामास्त्राय फट्। क्षेत्रपालास्त्राय फट्। हुंकारास्त्राय फट्। भास्करास्त्राय फट्। चन्द्रास्त्राय फट्। विघ्नेश्वरास्त्राय फट्। गौः गां फट्। स्त्रौं स्त्रौं फट्। हौं हौं[15] फट्। भ्रामय भ्रामय फट्। संतापय संतापय फट्। छादय छादय फट्। उन्मूलय उन्मूलय फट्। त्रासय त्रासय फट्। संजीवय संजीवय फट्। विद्रावय विद्रावय फट्। सर्वदुरितं नाशय नाशय फट्।

इस पाशुपत-मन्त्रकी एक बार आवृत्ति करनेसे ही यह मनुष्य सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश कर सकता है, सौ आवृत्तियोंसे समस्त उत्पातोंको नष्ट कर सकता है तथा युद्ध आदिमें विजय पा सकता है ॥ २ ॥

इस मन्त्रद्वारा घी और गुग्गुलके होमसे मनुष्य असाध्य कार्योंको भी सिद्ध कर सकता है। इस पाशुपतास्त्र[16]-मन्त्रके पाठमात्रसे समस्त क्लेशोंकी शान्ति हो जाती है ॥ ३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पाशुपतास्त्र-मन्त्रद्वारा शान्तिका कथन' नामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२२ ॥

तीन सौ तेईसवाँ अध्याय

गङ्गा-मन्त्र, शिवमन्त्रराज, चण्डकपालिनी-मन्त्र, क्षेत्रपाल-बीजमन्त्र, सिद्धविद्या, महामृत्युंजय, मृतसंजीवनी, ईशानादि मन्त्र तथा इनके छः अङ्ग एवं अघोरास्त्रका कथन

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! 'ॐ हूं हं सः'—इस मन्त्रसे मृत्युरोग आदि शान्त हो जाते हैं। इस मन्त्रद्वारा दूर्वाकी एक लाख आहुतियाँ दी जायँ तो उससे साधक शान्ति तथा पुष्टिका भी साधन कर सकता है। षडानन! अथवा केवल

१. पाठान्तर—क्रूराय फट्। २. पाठा० मूर्वास्त्राय। ३. पा० नानास्त्राय फट्। ४. इससे पहले पूनाकी प्रतिमें—महादण्डास्त्राय फट्। नामास्त्राय फट्—इतना अधिक पाठ है। ५. पाठा० वामदेवास्त्राय फट्। ६. पूनाकी प्रतिमें इससे पूर्व 'खः फट्'—इतना अधिक है। ७. पूनाकी प्रतिमें यह नहीं है। ८. पूनाकी प्रतिमें 'भः फट्। पः फट्' ऐसा पाठ है। ९. पाठा० स्त्रः। १०. पाठा० हैः। ११. पाठा० सत्त्व। १२. पाठा० हूं। १३. स्तुं। १४. आं। १५. पाठा० ह्रौं। १६. 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' (३० वें श्वास) में तथा 'शारदातिलक' (२० वें पटल) में एक षडक्षर पाशुपत-मन्त्र भी वर्णित है। यथा—'ॐ श्लीं पशु हुं फट्।' इसके जप और प्रयोगकी विधि वहीं द्रष्टव्य है।

प्रणव (ॐ) अथवा माया (ह्रीं) के जपसे ही दिव्य, अन्तरिक्षगत तथा भूमिगत उत्पातोंकी शान्ति होती है। उत्पातवृक्षके शमनका भी यही उपाय है॥ १-२॥

(गङ्गा-सम्बन्धी वशीकरणमन्त्र)

'ॐ नमो भगवति गङ्गे कालि कालि महाकालि महाकालि मांसशोणितभोजने रक्तकृष्णमुखि वशमानय मानुषान् स्वाहा।'—इस मन्त्रका एक लाख जप करके दशांश आहुति देकर मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंमें सिद्धि पा सकता है। इन्द्र आदि देवताओंको भी वशमें ला सकता है, फिर इन साधारण मनुष्योंको वशमें लाना कौन बड़ी बात है? यह विद्या अन्तर्धानकरी, मोहनी, जृम्भनी, शत्रुओंको वशमें लानेवाली तथा शत्रुकी बुद्धिको मोहमें डाल देनेवाली है। यह कामधेनु-विद्या सात प्रकारकी कही गयी है॥ ३—५½॥

अब मैं 'मन्त्रराज'का वर्णन करूँगा, जो शत्रुओं तथा चोर आदिको मोह लेनेवाला है। यह साक्षात् शिव (मेरे) द्वारा पूजित है। इसका सभी महान् भयके अवसरोंपर स्मरण करना चाहिये। एक लाख जप करके तिलोंद्वारा हवन करनेसे यह मन्त्र सिद्ध होता है। अब इसका उद्धार सुनो॥ ६-७॥

'ॐ हले शूले एहि ब्रह्मसत्येन विष्णुसत्येन रुद्रसत्येन रक्ष मां वाचेश्वराय स्वाहा' ॥ ८॥

भगवती शिवा दुर्गम संकटसे तारती—उद्धार करती है, इसलिये 'दुर्गा' मानी गयी है॥ ९॥

'ॐ ह्रीं चण्डकपालिनि दन्तान् किट किट क्षिट क्षिट गुह्ये फट् ह्रीम्' ॥ १०॥

—इस मन्त्रराजके जपपूर्वक चावल धोकर उसको इस मन्त्रके तीस बार जपद्वारा अभिमन्त्रित करे। फिर वह चावल चोरोंमें बँटवा दे। उस चावलको दाँतोंसे चबानेपर उनके श्वेत दन्त गिर जाते हैं तथा वे मनुष्य चोरीके पापसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाते हैं॥ ११-१२॥

(क्षेत्रपालबलि-मन्त्र)

'ॐ ज्वलल्लोचन कपिलजटाभारभास्वर विद्रावण त्रैलोक्यडामर डामर दर दर भ्रम भ्रम आकट्ट आकट्ट तोटय तोटय मोटय मोटय दह दह पच पच एवं सिद्धिरुद्रो ज्ञापयति यदि ग्रहोऽपगतः स्वर्गलोकं देवलोकं वाऽऽरामविहाराचलं तथापि तमावर्तयिष्यामि बलिं गृह्ण गृह्ण ददामि ते स्वाहा। इति' ॥ १३॥

—इस मन्त्रसे क्षेत्रपालको बलि देकर न्यास करनेसे अनिष्ट ग्रह रोता हुआ चला जाता है। साधकके शत्रु नष्ट हो जाते हैं तथा रणभूमिमें शत्रु-समुदायका विनाश हो जाता है॥ १४॥

'हंस' बीजका न्यास करके साधक तीन प्रकारके विष अथवा विघ्नका निवारण कर देता है। अगुरु, चन्दन, कुष्ठ (कूट), कुङ्कुम, नागकेसर, नख तथा देवदारु—इन सबको सममात्रामें कूट-पीसकर धूप बना ले। फिर इसमें मधुमक्खीके शहदका योग कर दे। उसकी सुगन्धसे शरीर तथा वस्त्र आदिको धूपित या वासित करनेसे मनुष्य विवाद, स्त्रीमोहन, शृंगार तथा कलह आदिके अवसरपर शुभ फलका भागी होता है। कन्यावरण तथा भाग्योदय-सम्बन्धी कार्यमें भी उसे सफलता प्राप्त होती है। मायामन्त्र **(ह्रीं)** से मन्त्रित हो, रोचना, नागकेसर, कुङ्कुम तथा मैनसिलका तिलक ललाटमें लगाकर मनुष्य जिसकी ओर देखता है, वही उसके वशमें हो जाता है। शतावरीके चूर्णको दूधके साथ पीया जाय तो वह पुत्रकी उत्पत्ति करानेवाला होता है। नागकेसरके चूर्णको घीमें पकाकर खाया जाय तो वह भी पुत्रकारक होता है। पलाशके बीजको पीसकर पीनेसे भी पुत्रकी प्राप्ति होती है॥ १५—२०॥

(वशीकरणके लिये सिद्ध-विद्या)

'ॐ उत्तिष्ठ चामुण्डे जम्भय जम्भय मोहय मोहय (अमुकं) वशमानय स्वाहा' ॥ २१॥

—यह छब्बीस अक्षरोंवाली 'सिद्ध-विद्या' है। (यदि किसी स्त्रीको वशमें करना हो तो) नदीके तीरकी मिट्टीसे लक्ष्मीजीकी मूर्ति बनाकर धतूरके रससे मदारके पत्तेपर उस अभीष्ट स्त्रीका नाम लिखे। इसके बाद मूत्रोत्सर्ग करनेके पश्चात् शुद्ध हो उक्त मन्त्रका जप करे। यह प्रयोग अभीष्ट स्त्रीको अवश्य वशमें ला सकता है॥ २२-२३॥

(महामृत्युंजय)

'ॐ जूं सः वषट्' ॥ २४॥

—यह 'महामृत्युंजय-मन्त्र' है, जो जप तथा होमसे पुष्टिकारक होता है॥ २५॥

(मृतसंजीवनी)

'ॐ हं सः हूं हूं सः, हः सौः' ॥ २६॥

—यह आठ अक्षरवाली 'मृतसंजीवनी-विद्या' है, जो

रणभूमिमें विजय दिलानेवाली है। 'ईशान' आदि मन्त्र भी धर्म-काम आदिको देनेवाले हैं ॥ २७ ॥

(ईशान आदि मन्त्र)

(ॐ) ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्[1] ॥ २८ ॥

(ॐ) तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्[2] ॥ २९ ॥

(ॐ) अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः[3] ॥ ३० ॥

(ॐ) वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः[4] ॥ ३१ ॥

(ॐ) सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमो भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः[5] ॥३२॥

अब मैं 'पञ्चब्रह्म'के छः अङ्गोंका वर्णन करूँगा, जो भोग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला है ॥ ३३ ॥

(ॐ) नमः परमात्मने पराय कामदाय परमेश्वराय योगाय योगसम्भवाय सर्वकराय कुरु कुरु सद्य सद्य भव भव भवोद्भव वामदेव सर्वकार्यकर पापप्रशमन सदाशिव प्रसन्न नमोऽस्तु ते (स्वाहा) ॥ ३४ ॥

—यह सतहत्तर अक्षरोंका हृदय-मन्त्र है, जो सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला है। [कोष्ठकमें दिये गये अक्षरोंको छोड़कर गिननेपर सतहत्तर अक्षर होते हैं।] ॥ ३५ ॥

(इस मन्त्रको पढ़कर 'हृदयाय नमः' बोलकर हृदयका स्पर्श करना चाहिये।)

'ॐ शिव शिवाय नमः।'—यह शिरोमन्त्र है, अर्थात् इसे पढ़कर 'शिरसे स्वाहा' बोलकर दाहिने हाथसे सिरका स्पर्श करना चाहिये। 'ॐ शिवहृदये ज्वालिनी स्वाहा, शिखायै वषट्' बोलकर शिखाका स्पर्श करे।

'ॐ शिवात्मक महातेजः सर्वज्ञ प्रभो संवर्तय महाघोर-कवच पिङ्गल आयाहि पिङ्गल नमो महाकवच शिवाज्ञया हृदयं बन्ध बन्ध घूर्णय घूर्णय चूर्णय चूर्णय सूक्ष्मासूक्ष्म वज्रधर वज्रपाशधनुर्वज्राशनिवज्रशरीर मच्छरीरमनुप्रविश्य सर्वदुष्टान स्तम्भय स्तम्भय हुम्[6]' ॥ ३६ ॥

—यह एक सौ पाँच अक्षरोंका कवच-मन्त्र है। अर्थात् इसे पढ़कर 'कवचाय हुम्' बोलते हुए दोनों हाथोंसे एक साथ दोनों भुजाओंका स्पर्श करे ॥ ३७ ॥

'ॐ ओजसे नेत्रत्रयाय वौषट्' ऐसा बोलकर दोनों नेत्रोंका स्पर्श करे। इसके बाद निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़कर अस्त्रन्यास करे—'ॐ ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोरघोरतरतनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध बन्ध घातय घातय हुं फट्।' यह (प्रणवसहित बावन अक्षरोंका) 'अघोरास्त्र-मन्त्र' है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अनेकविध मन्त्रोंके साथ ईशान आदि मन्त्र तथा छः अङ्गोंसहित अघोरास्त्रका कथन' नामक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२३ ॥

ईशान आदि मन्त्रोंके अर्थ—

१. जो सम्पूर्ण विद्याओंके ईश्वर, समस्त भूतोंके अधीश्वर, ब्रह्म वेदके अधिपति, ब्रह्म-बल-वीर्यके प्रतिपालक तथा साक्षात् ब्रह्मा एवं परमात्मा हैं, वे सच्चिदानन्दमय नित्य कल्याणस्वरूप शिव मेरे बने रहें ॥ २८ ॥

२. तत्पदार्थ—परमेश्वररूप अन्तर्यामी पुरुषको हम जानें, उन महादेवका चिन्तन करें; वे भगवान् रुद्र हमें सद्धर्मके लिये प्रेरित करते रहें ॥ २९ ॥

३. जो अघोर हैं, घोर हैं, घोरसे भी घोरतर हैं, उन सर्वव्यापी, सर्वसंहारी रुद्ररूपोंके लिये जो आपके ही स्वरूप हैं,—साक्षात् आपके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ३० ॥

४. प्रभो ! आप ही वामदेव, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, रुद्र, काल, कलविकरण, बलविकरण, बल, बलप्रमथन, सर्वभूतदमन तथा मनोन्मन आदि नामोंसे प्रतिपादित होते हैं; इन सभी नाम-रूपोंमें आपके लिये मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ ३१ ॥

५. मैं सद्योजात शिवकी शरण लेता हूँ। सद्योजातको मेरा नमस्कार है। किसी जन्म या जगत्‌में मेरा अतिभव—पराभव न करें। आप भवोद्भवको मेरा नमस्कार है ॥ ३२ ॥

६. पाठान्तर 'हूम्'।

तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय

कल्पाघोर रुद्रशान्ति

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द ! अब मैं 'कल्पाघोर-शिवशान्ति'का वर्णन करता हूँ। भगवान् अघोर शिव सात करोड़ गणोंके अधिपति हैं तथा ब्रह्महत्या आदि पापोंको नष्ट करनेवाले हैं। उत्तम और अधम—सभी सिद्धियोंके आश्रय तथा सम्पूर्ण रोगोंके निवारक हैं। भौम, दिव्य तथा आन्तरिक्ष—सभी उत्पातोंका मर्दन करनेवाले हैं। विष, ग्रह और पिशाचोंको भी अपना ग्रास बना लेनेवाले तथा सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। पापसमूहको पीड़ा देकर दूर भगानेके लिये वे उस प्रबल प्रायश्चित्तके प्रतीक हैं, जो दुर्भाग्य तथा दुःखका विनाशक है ॥ १—३ ॥

'एकवीर'का सर्वाङ्गमें न्यास करके सदा पञ्चमुख शिवका ध्यान करे। (विभिन्न कर्मोंमें उनके विभिन्न शुक्ल-कृष्ण आदि वर्णोंका ध्यान किया जाता है। यथा—) शान्ति तथा पुष्टि-कर्ममें भगवान् शिवका वर्ण शुक्ल है, ऐसा चिन्तन करे। वशीकरणमें उनके रक्तवर्णका, स्तम्भनकर्ममें पीतवर्णका, उच्चाटन तथा मारणकर्ममें धूम्रवर्णका, आकर्षणमें कृष्णवर्णका तथा मोहन-कर्ममें कपिलवर्णका चिन्तन करना चाहिये। [अघोरमन्त्र बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र बताया गया है।] वे बत्तीस अक्षर वेदोक्त अघोरशिवके रूप हैं। अतः उतने अक्षरोंके मन्त्रस्वरूप अघोरशिवकी अर्चना करनी चाहिये। इस मन्त्रका (बत्तीस) या तीस लाख जप करके उसका दशांश होम करे। यह होम गुग्गुलमिश्रित घीसे होना चाहिये। इससे मन्त्र 'सिद्ध' होता और साधक 'सिद्धार्थ' हो जाता है। वह सब कुछ कर सकता है। अघोरसे बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र भोग तथा मोक्ष देनेवाला नहीं है। इसके जपसे अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी होता तथा अस्नातक स्नातक हो जाता है। अघोरास्त्र तथा अघोर-मन्त्र—दोनों मन्त्रराज हैं। इनमेंसे कोई भी मन्त्र जप, होम तथा पूजनसे युद्धस्थलमें शत्रुसेनाको रौंद सकता है ॥ ४—८ ॥

अब मैं कल्याणमयी 'रुद्रशान्ति'का वर्णन करता हूँ, जो सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली है। पुत्रकी प्राप्ति, ग्रहबाधाके निवारण, विष एवं व्याधिके विनाश, दुर्भिक्ष तथा महामारीकी शान्ति, दुःस्वप्ननिवारण, बल आदि तथा राज्य आदिकी प्राप्ति और शत्रुओंके संहारके लिये इस 'रुद्रशान्ति'का प्रयोग करना चाहिये। यदि अपने बगीचेके किसी वृक्षमें असमयमें फल लग जाय तो वह भी अनिष्टकारक है; अतः उसकी शान्तिके लिये तथा समस्त ग्रहबाधाओंका नाश करनेके लिये भी उक्त शान्तिका प्रयोग किया जा सकता है। पूजन-कर्ममें मन्त्रके अन्तमें **'नमः'** बोलना चाहिये तथा हवन-कर्ममें **'स्वाहा'**। आप्यायन (तृप्ति) में मन्त्रान्तमें **'वषट्'** पदका प्रयोग करे और पुष्टि-कर्ममें **'वौषट्'** पदका। मन्त्रमें जो दो जगह 'च' का प्रयोग है, वहाँ आवश्यकताके अनुसार 'नमः', 'स्वाहा' आदि जातिका योग करना चाहिये ॥ ९—१२ ॥

रुद्रशान्ति-मन्त्र

ॐ रुद्राय च ते ॐ वृषभाय नमोऽविमुक्तायासम्भवाय पुरुषाय च पूज्यायेशानाय पौरुषाय पञ्च पञ्चोत्तरे विश्वरूपाय करालाय विकृतरूपायाविकृतरूपाय ॥ १३ ॥

उत्तरवर्ती कमलदलमें नियतितत्त्वकी स्थिति है, जल (वरुण) की दिशा पश्चिमके कमलदलमें कालतत्त्व है और नैर्ऋत्यकोणवर्ती दलमें मायातत्त्व अवस्थित है; उन सबमें देवताओंकी पूजा होती है। **'एकपिङ्गलाय श्वेतपिङ्गलाय कृष्णपिङ्गलाय नमः। मधुपिङ्गलाय नमः—मधुपिङ्गलाय।'** —इन सबकी पूजा नियतितत्त्वमें होती है। **'अनन्तायार्द्राय शुष्काय पयोगणाय (नमः)।'**—इनकी पूजा कालतत्त्वमें करे। **'करालाय विकरालाय (नमः)।'**—इन दोकी पूजा मायातत्त्वमें करे। **'सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय सहस्र-करचरणाय सहस्रलिङ्गाय (नमः)।'**—इनकी अर्चना विद्यातत्त्वमें करे। वह इन्द्रसे दक्षिण दिशाके दलमें स्थित है। वहीं छः पदोंसे युक्त षड्विध रुद्रका पूजन करे। यथा—**'एकजटाय द्विजटाय त्रिजटाय स्वाहाकाराय स्वधाकाराय वषट्काराय षड्रुद्राय।'** स्कन्द ! अग्निकोणवर्ती दलमें ईशतत्त्वकी स्थिति है। उसमें क्रमशः **'भूतपतये पशुपतये उमापतये कालाधिपतये (नमः)।'** बोलकर भूतपति आदिकी पूजा करे। पूर्ववर्ती दल सदाशिव-तत्त्वमें छः पूजनीयोंकी स्थिति है, जिनका निम्नाङ्कित मन्त्रमें नामोल्लेख है। यथा—**'उमायै कुरूपधारिणि ॐ कुरु कुरु रुहिणि रुहिणि रुद्रोऽसि देवानां देवदेव विशाख हन हन दह दह पच पच मथ मथ तुरु तुरु अरु अरु सुरु सुरु रुद्रशान्तिमनुस्मर**

कृष्णपिङ्गल अकालपिशाचाधिपति विघ्नेश्वराय नमः ।' कमलकी कर्णिकामें शिवतत्त्वकी स्थिति है। उसमें भगवान् उमा-महेश्वर पूजनीय हैं। मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ व्योमव्यापिने व्योमरूपाय सर्वव्यापिने शिवायानन्ताय नाथायानाश्रिताय शिवाय ।' (प्रणवको अलग गिननेपर इस मन्त्रमें कुल नौ पद हैं)—शिवतत्त्वमें व्योमव्यापी नामवाले शिवके नौ पदोंका पूजन करना चाहिये ॥ १४—२४ ॥

तदनन्तर योगपीठपर विराजमान शिवका नौ पदोंसे युक्त नाम बोलकर पूजन करे। मन्त्र इस प्रकार है—'शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्ययोगिने ध्यानाहाराय नमः। ॐ नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवाय ईशानमूर्धाय तत्पुरुषाय पञ्चवक्त्राय ।' स्कन्द! तत्पश्चात् 'सद्' नामक पूर्वदलमें नौ पदोंसे युक्त शिवका पूजन करे ॥ २५-२६ ॥

'अघोरहृदयाय वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्तये ॐ नमो नमः । गुह्यातिगुह्याय गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वयोगाधिकृताय ज्योतीरूपाय' ॥ २७।१ ॥

अग्निकोणवर्ती ईशतत्त्वमें तथा दक्षिणदिशावर्ती विद्यातत्त्वमें 'परमेश्वराय अचेतनाचेतन व्योमन् व्यापिन्नरूपिन् प्रमथतेजस्तेजः ।'—इस मन्त्रसे परमेश्वर शिवकी अर्चना करे ॥ २७ । २ ॥

नैर्ऋत्यकोणवर्ती मायातत्त्व तथा पश्चिमदिग्वर्ती कालतत्त्वमें निम्नाङ्कित मन्त्रद्वारा पूजन करे—

'ॐ ध्रु ध्रु वां वां अनिधान निधनोद्भव शिव सर्व परमात्मन् महादेव सद्भावेश्वर महातेज योगाधिपते मुञ्च मुञ्च प्रमथ प्रमथ ॐ सर्व सर्व ॐ भव भव ॐ भवोद्भव सर्वभूतसुखप्रद ॥' २८—३० ॥

वायुकोण तथा उत्तरवर्ती दलोंमें स्थित नियति एवं पुरुष—इन दोनों तत्त्वोंमें निम्नाङ्कित नौकी पूजा करे—

'सर्वसांनिध्यकर ब्रह्मविष्णुरुद्रपरानर्चितास्तुत स्तुत साक्षिन् साक्षिन् तुरु तुरु पतङ्ग पतङ्ग पिङ्ग पिङ्ग ज्ञान ज्ञान। शब्द शब्द सूक्ष्म सूक्ष्म शिव शिव सर्वप्रद सर्वप्रद ॐ नमः शिवाय ॐ नमो नमः शिवाय ॐ नमो नमः ॥ ३१ ॥

ईशानवर्ती प्राकृततत्त्वमें 'शब्द'से लेकर 'नमः' तकका मन्त्र पढ़कर पूजन, जप और होम करे। यह 'रुद्रशान्ति' ग्रहबाधा, रोग आदि तथा त्रिविध पीडाका शमन करनेवाली तथा सम्पूर्ण मनोरथोंकी साधिका है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रुद्रशान्ति-विधान-कथन' नामक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२४ ॥

तीन सौ पचीसवाँ अध्याय

रुद्राक्ष-धारण, मन्त्रोंकी सिद्धादि संज्ञा तथा अंश आदिका विचार

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! शैव-साधकको रुद्राक्षका कड़ा धारण करना चाहिये। रुद्राक्षोंकी संख्या विषम हो। उसका प्रत्येक मनका सब ओरसे सम और दृढ़ हो। रुद्राक्ष एकमुख, त्रिमुख या पञ्चमुख—जैसा भी मिल जाय, धारण करे। द्विमुख, चतुर्मुख तथा षण्मुख रुद्राक्ष भी प्रशस्त माना गया है। उसमें कोई क्षति या आघात न हो—वह फूटा या घुना न होना चाहिये। उसमें तीखे कण्टक होने चाहिये। दाहिनी बाँह तथा शिखा आदिमें चतुर्मुख रुद्राक्ष धारण करे। इससे अब्रह्मचारी भी ब्रह्मचारी तथा अस्नातक पुरुष भी स्नातक हो जाता है। अथवा शिव-मन्त्रकी पूजा करके सोनेकी अँगूठीको दाहिने हाथमें धारण करे ॥ १—३ ॥

शिव, शिखा, ज्योति तथा सावित्र—ये चार 'गोचर' हैं। 'गोचर'का अर्थ 'कुल' समझना चाहिये। उसीसे दीक्षित पुरुषको लक्ष्य करना चाहिये। शिवकुलमें प्राजापत्य, महीपाल, कापोत तथा ग्रन्थिक—ये चार गिने जाते हैं। कुटिल, वेताल, पद्म और हंस—ये चार 'शिखाकुल'में परिगणित होते हैं। धृतराष्ट्र, वक, काक और गोपाल—ये चार 'ज्योति' नामक कुलमें समझे जाते हैं। कुटिका, साठर, गुटिका तथा दण्डी—ये चार 'सावित्री-कुल'में गिने जाते हैं। इस प्रकार एक-एक कुलके चार-चार भेद हैं ॥ ४—६½ ॥

अब मैं 'सिद्ध' आदि अंशोंकी व्याख्या करता हूँ, जिससे मन्त्र उत्तम सिद्धिको देनेवाला होता है। पृथ्वीपर कूटयन्त्ररहित मातृका (अक्षर) लिखे। मन्त्राक्षरोंको विलग-विलग करके अनुस्वारको पृथक् ले जाय। साधकका भी जो नाम हो, उसके अक्षरोंको अलग-अलग करे। मन्त्रके आदि और अन्तमें

साधकके नामाक्षर जोड़े। फिर सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा अरि— इस संज्ञाके अनुसार अक्षरोंको क्रमशः गिने। मन्त्रके आदि तथा अन्तमें 'सिद्ध' हो तो वह शत-प्रतिशत सिद्धिदायक होता है। यदि आदि और अन्त दोनोंमें 'सिद्ध' (अक्षर) हों तो उस मन्त्रकी तत्काल सिद्धि होती है। यदि आदि और अन्त-में भी 'सुसिद्ध' हो तो उस मन्त्रको सिद्धवत् मान ले—वह मन्त्र अनायास ही सिद्ध हो गया—ऐसा समझ ले। यदि आदि और अन्त—दोनोंमें 'अरि' हो तो उस मन्त्रको दूरसे ही त्याग दे। 'सिद्ध' और 'सुसिद्ध'—एकार्थक हैं। 'अरि' और 'साध्य' भी एक-से ही हैं। यदि मन्त्रके आदि और अन्त अक्षरमें भी मन्त्र 'सिद्ध' हो और बीचमें सहस्रों 'रिपु'-अक्षर हों तो भी वे दोषकारक नहीं होते हैं। मायाबीज, प्रसादबीज और प्रणवके योगसे विख्यात मन्त्रमें अंशक होते हैं। वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रके अंश हैं। ब्रह्माका अंश 'ब्रह्मविद्या' कहलाता है। विष्णुका अंश 'वैष्णव' कहा गया है। रुद्रांशक मन्त्र 'वीर' कहलाता है। इन्द्रांशक मन्त्र 'ईश्वरप्रिय' होता है। नागांश-मन्त्र नागोंकी भाँति स्तब्ध नेत्रवाला माना गया है। यक्षके अंशका मन्त्र 'भूषणप्रिय' होता है। गन्धर्वोंके अंशका मन्त्र अत्यन्त गीत आदि चाहता है। भीमांश, राक्षसांश तथा दैत्यांश-मन्त्र युद्ध करानेवाला होता है। विद्याधरोंके अंशका मन्त्र अभिमानी होता है। पिशाचांश मन्त्र मलाक्रान्त होता है। मन्त्रका पूर्णतः निरीक्षण करके उपदेश देना चाहिये। एकाक्षरसे लेकर अनेक अक्षरोंतकके मन्त्रके अन्तमें यदि 'फट्'—यह पल्लव जुड़ा हो तो उसे 'मन्त्र' कहना चाहिये। पचास अक्षरोंतकके (**फट्काररहित**) मन्त्रकी 'विद्या' संज्ञा है। बीस अक्षरोंतककी विद्याको 'बाला विद्या' कहते हैं। बीस अक्षरोंतकके 'अस्त्रान्त' मन्त्रको 'रुद्रा' कहा गया है। इससे ऊपर तीन सौ अक्षरोंतकके मन्त्र 'वृद्ध' कहे जाते हैं। अकारसे लेकर हकारतकके अक्षर मन्त्रमें होते हैं। मन्त्रमें क्रमशः शुक्ल और कृष्ण—दो पक्ष होते हैं। अनुस्वार और विसर्गको छोड़कर दस स्वर होते हैं। ह्रस्वस्वर शुक्लपक्ष तथा दीर्घस्वर कृष्णपक्ष हैं। ये ही प्रतिपदा आदि तिथियाँ हैं। उदयकालमें शान्तिक आदि कर्म करावे तथा भ्रमितकालमें वशीकरण आदि। भ्रमितकाल एवं दोनों संध्याओंमें द्वेषण तथा उच्चाटन-सम्बन्धी कर्म करे। स्तम्भनकर्मके लिये सूर्यास्तकाल प्रशस्त है। इडा नाड़ी चलती हो तो शान्तिक आदि कर्म करे। पिङ्गला नाड़ी चलती हो तो आकर्षण-सम्बन्धी कार्य करे। विषुवकालमें जब दोनों नाड़ियाँ समान भावसे स्थित हों, तब मारण, उच्चाटन आदि पाँच कर्म पृथक्-पृथक् सिद्ध करे। तीन तल्ले गृहमें नीचेके तल्लेको 'पृथ्वी', बीच-वालेको 'जल' तथा ऊपरवालेको 'तेज' कहते हैं। जहाँ-जहाँ रन्ध्र (छिद्र या गवाक्ष) है, वहाँ बाह्यपार्श्वमें वायु और भीतरी पार्श्वमें आकाश है। पार्थिव अंशमें स्तम्भन, जलीय अंशमें शान्तिकर्म तथा तैजस अंशमें वशीकरण आदि कर्म करे। वायुमें भ्रमण तथा शून्य (आकाश) में पुण्यकर्म या पुण्यकालका अभ्यास करे ॥ ७—२३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अंशक आदिका कथन' नामक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२५ ॥

तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय

गौरी आदि देवियों तथा मृत्युंजयकी पूजाका विधान

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द ! अब मैं सौभाग्य आदिके निमित्त उमाकी पूजाका विधान बताऊँगा। उनके मन्त्र, ध्यान, आवरणमण्डल, मुद्रा तथा होमविधिका भी प्रतिपादन करूँगा ॥ १ ॥

'**गौं गौरीमूर्तये नमः**।'—यह गौरीदेवीका वाचक मूल-मन्त्र है।[1] '**ॐ ह्रीं सः शौं गौर्यै नमः**।' तीन अक्षरसे ही '**नमः**' आदिके योगपूर्वक षडङ्गन्यास करना चाहिये। प्रणवसे आसन और हृदय-मन्त्रसे मूर्तिकी उपकल्पना करे। 'ऊ' कालबीज तथा शिवबीजका उद्धार करे। दीर्घस्वरसे आक्रान्त प्राण—'**यां यीं**' इत्यादिसे जातियुक्त षडङ्गन्यास करे। प्रणवसे आसन तथा हृदय-मन्त्रसे मूर्तिन्यास करे। यह मैंने 'यामल-मन्त्र' कहा है। अब 'एकवीर' का वर्णन करता हूँ। सृष्टिन्याससे युक्त व्यापक-न्यास अग्नि, माया तथा कृशानुद्वारा करे। शिव-शक्तिमय बीज हृदयादिसे वर्जित है। गौरीकी सोने, चाँदी, लकड़ी अथवा पत्थर आदिकी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करे। अथवा पाँच पिण्डीवाली मृण्मयी प्रतिमा बनाये। चारों कोणोंमें

१. 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' में इसी मन्त्रको 'गौरीमन्त्र' कहा है। यहाँ मूलमें जो बीज दिये गये हैं, उनका उल्लेख वहाँ नहीं मिलता है।

अव्यक्त प्रतिमा रहे और मध्यभागमें पाँचवीं व्यक्त प्रतिमा स्थापित करे। आवरण-देवताओंके रूपमें क्रमशः ललिता आदि शक्तियोंकी पूजा करनी चाहिये। पहले वृत्ताकार अष्टदल कमल बनाकर आग्नेय आदि कोणवर्ती दलोंमें क्रमशः ललिता, सुभगा, गौरी और क्षोभणीकी पूजा करे। फिर पूर्वादि दलोंमें वामा, ज्येष्ठा, क्रिया और ज्ञानाका यजन करे। पीठयुक्त वामभागमें शिवके अव्यक्त रूपकी पूजा करनी चाहिये। देवीका व्यक्त रूप दो या तीन नेत्रोंवाला है। वह शुद्ध रूप भगवान् शंकरके साथ पूजित होता है। वे देवी दो पीठ या दो कमलोंपर स्थित होती हैं। वहाँ देवी दो, चार, आठ अथवा अठारह भुजाओंसे युक्त हैं, ऐसा चिन्तन करे। वे सिंह अथवा भेड़ियेको भी अपना वाहन बनाती हैं। अष्टादशभुजाके दायें नौ हाथोंमें नौ आयुध हैं, जिनके नाम यों हैं—स्रक् (हन्), अक्ष, सूत्र (पाश), कलिका, मुण्ड, उत्पल, पिण्डिका, बाण और धनुष। इनमेंसे एक-एक महान् वस्तु उनके एक-एक हाथकी शोभा बढ़ाते हैं। वामभागके नौ हाथोंमें भी प्रत्येकमें एक-एक करके क्रमशः नौ वस्तुएँ हैं। यथा—पुस्तक, ताम्बूल, दण्ड, अभय, कमण्डलु, गणेशजी, दर्पण, बाण और धनुष॥ २—१४॥

उनको 'व्यक्त' अथवा 'अव्यक्त' मुद्रा दिखानी चाहिये। आसन-समर्पणके लिये 'पद्म-मुद्रा' कही गयी है। भगवान् शिवकी पूजामें 'लिङ्ग-मुद्रा' का विधान है। यही 'शिवमुद्रा' है। 'आवाहनीमुद्रा' दोनोंके लिये है। शक्ति-मुद्रा 'योनि' नामसे कही गयी है। इनका मण्डल या मन्त्र चौकोर है। यह चार हाथ लंबा-चौड़ा हुआ करता है। मध्यवर्ती चार कोष्ठोंमें त्रिदल कमल अङ्कित करना चाहिये। तीनों कोणोंके ऊर्ध्वभागमें अर्धचन्द्र रहे। उसे दो पदों (कोष्ठों) को लेकर बनाया जाय। एकसे दूसरा दुगुना होना चाहिये। द्वारोंका कण्ठभाग दो-दो पदोंका हो; किंतु उपकण्ठ उससे दुगुना रहना चाहिये। एक-एक दिशामें तीन-तीन द्वार रखने चाहिये अथवा 'सर्वतोभद्र' मण्डल बनाकर उसमें पूजन करना चाहिये। अथवा किसी चबूतरे या वेदीपर देवताकी स्थापना करके पञ्चगव्य तथा पञ्चामृत आदिसे पूजन करे॥ १५—१८॥

पूजन करके उत्तराभिमुख हो उन्हें लाल रंगके फूल अर्पण करने चाहिये। घृत आदिकी सौ आहुतियाँ देकर पूर्णाहुति प्रदान करनेवाला साधक सम्पूर्ण सिद्धियोंका भागी होता है। फिर बलि अर्पित करके तीन या आठ कुमारियोंको भोजन करावे। पूजाका नैवेद्य शिवभक्तोंको दे; स्वयं अपने उपयोगमें न ले। इस प्रकार अनुष्ठान करके कन्या चाहनेवालेको कन्या और पुत्रहीनको पुत्रकी प्राप्ति होती है। दुर्भाग्यवाली स्त्री सौभाग्यशालिनी होती है। राजाको युद्धमें विजय तथा राज्यकी प्राप्ति होती है। आठ लाख जप करनेसे वाक्सिद्धि प्राप्त होती है तथा देवगण वशमें हो जाते हैं। इष्टदेवको निवेदन किये बिना भोजन न करे। बायें हाथसे भी अर्चना कर सकते हैं। विशेषतः अष्टमी, चतुर्दशी तथा तृतीयाको ऐसा करनेकी विधि है॥ १९—२२½॥

अब मैं मृत्युंजयकी पूजाका वर्णन करूँगा। कलशमें उनकी पूजा करे। हवनमें प्रणव मृत्युंजयकी मूर्ति है और **'ॐ जूं सः।'**—इस प्रकार मूलमन्त्र है। **'ॐ जूं सः वौषट्।'**—ऐसा कहकर अर्चनीय देवता मृत्युंजयको कुम्भमुद्रा दिखावे। इस मन्त्रका दस हजार बार जप करे तथा खीर, दूर्वा, घृत, अमृता (गुडुची), पुनर्नवा (गदहपूर्ना), पायस (पयःपक्व वस्तु) और पुरोडाशका हवन करे। भगवान् मृत्युंजयके चार मुख और चार भुजाएँ हैं। वे अपने दो हाथोंमें कलश और दो हाथोंमें वरद एवं अभयमुद्रा धारण करते हैं। कुम्भमुद्रासे उन्हें स्नान कराना चाहिये। इससे आरोग्य, ऐश्वर्य तथा दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। इस मन्त्रसे आमन्त्रित औषध शुभ-कारक होता है। भगवान् मृत्युंजय ध्यान किये जानेपर दुर्मृत्युको दूर करनेवाले हैं, इसलिये उनकी सदा पूजा होती है॥ २३—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गौरी आदिकी पूजाका वर्णन' नामक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२६॥

तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय

विभिन्न कर्मोंमें उपयुक्त माला, अनेकानेक मन्त्र, लिङ्ग-पूजा तथा देवालयकी महत्ताका विचार

भगवान् महेश्वर कहते हैं—कार्तिकेय! व्रतेश्वर और सत्य आदि देवताओंका पूजन करके उनको व्रतका समर्पण करना चाहिये। अरिष्ट-शान्तिके लिये अरिष्टमूलकी माला उत्तम है। कल्याणप्राप्तिके लिये सुवर्ण एवं रत्नमयी, मारणकर्ममें महाशङ्खमयी, शान्तिकर्ममें शङ्खमयी और पुत्रप्राप्तिके लिये मौक्तिकमयी मालासे जप करे।

स्फटिकमणिकी माला कोष-सम्पत्ति देनेवाली और रुद्राक्षकी माला मुक्तिदायिनी है। उसमें आँवलेके बराबर रुद्राक्ष उत्तम माना गया है। मेरुसहित या मेरुहीन माला भी जपमें ग्राह्य हैं। मानसिक जप करते समय मालाके मणियोंको अनामिका और अङ्गुष्ठसे सरकाना चाहिये। उपांशु जपमें तर्जनी और अङ्गुष्ठके संयोगसे मणियोंकी गणना करे; किंतु जपमें मेरुका कभी उल्लङ्घन न करे। यदि प्रमादवश माला गिर जाय, तो दो सौ बार मन्त्रजप करे। घण्टा सर्ववाद्यमय है। उसका वादन अर्थ-सिद्धि करनेवाला है। गृह और मन्दिरमें शिवलिङ्गकी, गोमय, गोमूत्र, वल्मीक-मृत्तिका, भस्म और जलसे शुद्धि करनी चाहिये॥ १—६॥

कार्तिकेय! '**ॐ नमः शिवाय**'—यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थोंको सिद्ध करनेवाला है। वेदमें 'पञ्चाक्षर' और लोकमें 'षडक्षर' माना गया है। परम अक्षर ओंकारमें शिव सूक्ष्म वटबीजमें वटवृक्षके समान स्थित हैं। शिवके क्रमशः '**ॐ नमः शिवाय**'—'**ईशानः सर्वविद्यानाम्**' आदि मन्त्र समस्त विद्याओंके समुदाय इस षडक्षर मन्त्रके भाष्य हैं। '**ॐ नमः शिवाय**'—यह मन्त्र ही परमपद है। इसी मन्त्रसे शिवलिङ्गका पूजन करना चाहिये; क्योंकि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्रदान करनेवाले भगवान् शिव सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये लिङ्गमें प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य शिवलिङ्गका पूजन नहीं करता है, वह धर्मकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है। लिङ्गपूजनसे भोग और मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये जीवनपर्यन्त शिवलिङ्गका पूजन करे। भले ही प्राण चले जायँ, किंतु उसका पूजन किये बिना भोजन न करे। मनुष्य रुद्रके पूजनसे रुद्र, श्रीविष्णुके यजनसे विष्णु, सूर्यकी पूजा करनेसे सूर्य और शक्तिकी अर्चनासे शक्तिका सारूप्य प्राप्त करता है। उसे सम्पूर्ण यज्ञ, तप, दान-की प्राप्ति होती है। मनुष्य लिङ्गकी स्थापना करके उससे करोड़गुना फल प्राप्त करता है। जो मनुष्य प्रतिदिन तीनों समय पार्थिव-लिङ्गका निर्माण करके बिल्वपत्रोंसे उसका पूजन करता है, वह अपनी एक सौ ग्यारह पीढ़ियोंका उद्धार करके स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। अपने धनसंचयके अनुसार भक्तिपूर्वक देवमन्दिर निर्माण कराना चाहिये। दरिद्र और धनिकको मन्दिर-निर्माणमें यथाशक्ति अल्प या अधिक व्यय करनेके समान फल मिलता है। संचित धनके दो भाग धर्मकार्यमें व्यय करके जीवन-निर्वाहके लिये समभाग रक्खें; क्योंकि जीवन अनित्य है। देवमन्दिर बनवानेवाला अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति करता है। मिट्टी, लकड़ी, ईंट और पत्थरसे मन्दिर-निर्माणका क्रमशः करोड़गुना फल है। आठ ईंटोंसे भी मन्दिरका निर्माण करनेवाला स्वर्गलोकको प्राप्त हो जाता है। क्रीडामें धूलिका मन्दिर बनानेवाला भी अभीष्ट मनोरथको प्राप्त करता है॥ ७—१९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'देवालय-माहात्म्य-वर्णन' नामक तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२७॥

तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय

छन्दोंके गण और गुरु-लघुकी व्यवस्था

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं वेदके मूलमन्त्रोंके अनुसार पिङ्गलोक्त छन्दोंका क्रमशः वर्णन करूँगा। मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण और तगण—ये आठ गण होते हैं। सभी गण तीन-तीन अक्षरोंके हैं। इनमें मगणके सभी अक्षर गुरु (SSS) और नगणके सब अक्षर लघु (|||) होते हैं। आदि गुरु (S||) होनेसे 'भगण' तथा आदि लघु (|SS) होनेसे 'यगण' होता है। इसी प्रकार अन्त्य गुरु (||S) होनेसे 'सगण' तथा अन्त्य लघु होनेसे 'तगण' (SS|) होता है। पादके अन्तमें वर्तमान ह्रस्व अक्षर विकल्पसे गुरु माना जाता है। विसर्ग, अनुस्वार, संयुक्त अक्षर (व्यञ्जन), जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीयसे अव्यवहित पूर्वमें स्थित होनेपर 'ह्रस्व' भी 'गुरु' माना जाता है, दीर्घ तो गुरु है ही। गुरुका संकेत 'ग' और लघुका संकेत 'ल' है। ये 'ग' और 'ल' गण नहीं हैं। 'वसु' शब्द आठकी और 'वेद' चारकी संज्ञा हैं, इत्यादि बातें लोकके अनुसार जाननी चाहिये॥ १—३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दस्सारका कथन' नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२८॥

तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय

गायत्री आदि छन्दोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—[गायत्री छन्दके आठ भेद हैं—आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची तथा ब्राह्मी] 'छन्द' शब्द अधिकारमें प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् इस पूरे प्रकरणमें छन्द-शब्दकी अनुवृत्ति होती है। 'दैवी' गायत्री एक अक्षरकी, 'आसुरी' पंद्रह अक्षरोंकी, 'प्राजापत्या' आठ अक्षरोंकी, 'याजुषी' छः अक्षरोंकी, 'साम्नी' गायत्री बारह अक्षरोंकी तथा 'आर्ची' अठारह अक्षरोंकी है। यदि साम्नी गायत्रीमें क्रमशः दो-दो अक्षर बढ़ाते हुए उन्हें छः कोष्ठोंमें लिखा जाय, इसी प्रकार आर्ची गायत्रीमें तीन-तीन, प्राजापत्या-गायत्रीमें चार-चार तथा अन्य गायत्रियोंमें अर्थात् दैवी और याजुषीमें क्रमशः एक-एक अक्षर बढ़ जाय एवं आसुरी गायत्रीका एक-एक अक्षर क्रमशः छः कोष्ठोंमें घटता जाय तो उन्हें 'साम्नी' आदि भेदसहित क्रमशः उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द जानना चाहिये। याजुषी, साम्नी तथा आर्ची—इन तीन भेदोंवाले गायत्री आदि प्रत्येक छन्दके अक्षरोंको पृथक्-पृथक् जोड़नेपर उन सबको 'ब्राह्मी-गायत्री', 'ब्राह्मी-उष्णिक्' आदि छन्द समझना चाहिये। इसी प्रकार याजुषीके पहले जो दैवी, आसुरी और प्राजापत्या नामक तीन भेद हैं, उनके अक्षरोंको पृथक्-पृथक् छः कोष्ठोंमें जोड़नेपर जितने अक्षर होते हैं, वे 'आर्षी गायत्री', 'आर्षी उष्णिक्' आदि कहलाते हैं। इन भेदोंको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये चौसठ कोष्ठोंमें लिखना चाहिये ॥ १—५ ॥ [कोष्ठक इस प्रकार है—]

	छन्द	गायत्री के अक्षर	उष्णिक के अक्षर	अनुष्टुप् के अक्षर	बृहती के अक्षर	पङ्क्ति के अक्षर	त्रिष्टुप् के अक्षर	जगती के अक्षर
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
४	प्राजा-पत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दस्सारका कथन' नामक तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२९ ॥

तीन सौ तीसवाँ अध्याय

'गायत्री'से लेकर 'जगती' तक छन्दोंके भेद तथा उनके देवता, स्वर, वर्ण और गोत्रका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—इस प्रकरणकी पूर्ति होनेतक **'पादः'** पदका अधिकार (अनुवर्तन) है। जहाँ गायत्री आदि छन्दोंमें किसी पादकी अक्षर-संख्या पूरी न हो, वहाँ **'इय्'**, 'उव्' आदिके द्वारा उसकी पूर्ति की जाती है। [जैसे **'तत्सवितुर्वरेण्यम्'** में आठ अक्षरकी पूर्तिके लिये **'वरेण्यम्'** के स्थानमें **'वरेणियम्'** समझ लिया जाता है। **'स्वःपते'** के स्थानमें **'सुवःपते'** माना जाता है।] गायत्री छन्दका एक पाद आठ अक्षरोंका होता है। अर्थात् जहाँ 'गायत्रीके पाद'का कथन हो, वहाँ आठ अक्षर ग्रहण करने चाहिये। [यही बात अन्य छन्दोंके पादोंके सम्बन्धमें भी है।] **'जगती'** छन्दका पाद बारह अक्षरोंका होता है। विराट्के पाद दस अक्षरोंके बताये गये हैं। **'त्रिष्टुप्'** छन्दका चरण ग्यारह अक्षरोंका है। जिस छन्दका जैसा पाद बताया गया है, उसीके अनुसार कोई छन्द एक पादका, कोई दो पादका, कोई तीनका और कोई चार पादका माना गया है। [जैसे आठ अक्षरके तीन पादोंका **'गायत्री'** छन्द और चार पादोंका **'अनुष्टुप्'** होता है।] **'आदि छन्द'** अर्थात् 'गायत्री' कहीं छः अक्षरके पादोंसे चार पादोंकी होती है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीलितः। दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः ॥'**] कहीं-कहीं गायत्री सात अक्षरके पादोंसे तीन पादकी होती है। [जैसे ऋग्वेदमें—**'युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाम्नाम् ॥'** (१ । १७ । ४)]

वह सात अक्षरोंवाली गायत्री 'पाद-निचृत्' संज्ञा धारण करती है। यदि गायत्रीका प्रथम पाद आठ अक्षरोंका, द्वितीय पाद सात अक्षरोंका तथा तृतीय पाद छः अक्षरोंका हो तो वह **'प्रतिष्ठा गायत्री'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥'** (१। २२। २१)] इसके विपरीत यदि गायत्रीका प्रथम पाद छः, द्वितीय पाद सात और तृतीय पाद आठ अक्षरोंका हो तो उसे **'वर्धमाना'** गायत्री कहते हैं। यदि तीन पादोंवाली गायत्रीका प्रथम पाद छः, द्वितीय पाद आठ और तीसरा पाद सात अक्षरोंका हो तो उसका नाम **'अतिपाद निचृत्'**[2] होता है। यदि दो चरण नौ-नौ अक्षरोंके हों और तीसरा चरण छः अक्षरोंका हो तो वह 'नागी' नामकी गायत्री होती है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥'** (४। १०। १)] यदि प्रथम चरण छः अक्षरोंका और द्वितीय-तृतीय नौ-नौ अक्षरोंके हों तो **'वाराही गायत्री'** नामक छन्द होता है। [जैसे सामवेदमें— **'अग्ने मृड महाँ अस्यय आदेवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्॥'** (२३)] अब तीसरे अर्थात् **'विराट्'** नामक भेदको बतलाते हैं। जहाँ दो ही चरणोंका छन्द हो, वहाँ यदि प्रथम चरण बारह और द्वितीय चरण आठ अक्षरका हो तो वह **'द्विपाद् विराट्'** नामक गायत्री छन्द है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो। राजा देवः समुद्रियः॥'** (९। १०७। १६)] ग्यारह अक्षरोंके तीन चरण होनेपर **'त्रिपाद् विराट्'** नामक गायत्री होती है। [उदाहरण ऋग्वेदमें— **'दुहीयन् मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै'॥** (१। १२०। ९)]॥ १—४॥

जब दो चरण आठ-आठ अक्षरोंके और एक चरण बारह अक्षरोंका हो तो वेदमें उसे **'उष्णिक्'** नाम दिया गया है। प्रथम और तृतीय चरण आठ अक्षरोंके हों और बीचका द्वितीय चरण बारह अक्षरोंका हो तो वह तीन पादोंका **'ककुप् उष्णिक्'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'सुदेवः समहासति सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः। यं त्रायध्वे स्यासते**[3]**।'** (५। ५३। १५)] जब प्रथम चरण बारह अक्षरोंका और द्वितीय-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो **'पुर उष्णिक्'** नामक तीन पादोंवाला छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।'** (१। २३। १९)] जब प्रथम और द्वितीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों और तृतीय चरण बारह अक्षरोंका हो तो **'परोष्णिक्'** छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥'** (१। ७९। ४)] सात-सात अक्षरोंके चार चरण होनेपर भी **'उष्णिक्'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें— **'नदं व ओदतीनां नदं यो युवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि।'** (८। ६९। २)]

आठ-आठ अक्षरके चार चरणोंका **'अनुष्टुप्'** नामक छन्द होता है। [जैसे यजुर्वेदमें— **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥'** (३१। १)] अनुष्टुप् छन्द कहीं-कहीं तीन चरणोंका भी होता है। **'त्रिपाद अनुष्टुप'** दो तरहके होते हैं। एक तो वह है, जिसके प्रथम चरणमें आठ तथा द्वितीय और तृतीय चरणोंमें बारह-बारह अक्षर होते हैं। दूसरा वह है, जिसका मध्यम अथवा अन्तिम पाद आठ अक्षरका हो तथा शेष दो चरण बारह-बारह अक्षरके हों। आठ अक्षरके मध्यम पादवाले **'त्रिपाद् अनुष्टुप्'**का उदाहरण [जैसे ऋग्वेदमें— **पर्यूषु प्र धन्व वाजसातय, परि वृत्राणि सक्षणिः। द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे॥'** (९। ११०। १)] तथा आठ अक्षरके अन्तिम चरणवाले **'त्रिपाद् अनुष्टुप्'**का उदाहरण [ऋग्वेदमें— **'मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो मा कुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः। स्तनाभुजो अशिश्वीः॥'** (१। १२०। ८)]

यदि एक चरण 'जगती'का (अर्थात् बारह अक्षरका) हो और शेष तीन चरण गायत्रीके (अर्थात् आठ-आठ अक्षरके) हों तो यह चार चरणोंका **'बृहती छन्द'** होता है। इसमें भी जब पहलेका स्थान तीसरा चरण ले ले अर्थात्

---

१. उदाहरण ऋग्वेदमें—त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ (६। १६। १)

२. ऋग्वेदे यथा—प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्निं रथं न वेद्यम्॥ (८। ८४। १)

३. इस मन्त्रमें 'मर्त्य' के स्थानमें व्यूहकी रीतिसे 'मर्तिय' मानने तथा 'अस्यासते' के स्थानमें 'अस्य आसते' इस प्रकार दीर्घ-व्यूह करनेसे पादकी पूर्ति होती है।

४. पाँचवें श्लोकमें 'उष्णिक्' छन्दका जो लक्षण दिया गया है, उसीसे यह भी गतार्थ हो जाता है। यहाँ 'परोष्णिक्' यह विशेष संज्ञा बतानेके लिये पुनः उल्लेख किया गया है।

वही जगतीका पाद हो और शेष तीन चरण गायत्रीके हों तो उसे **'पथ्या बृहती'** कहते हैं। [जैसे सामवेदमें— **'मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥'** (२४२)] जब पहलेवाला 'जगती'का चरण द्वितीय पाद हो जाय और शेष तीन गायत्रीके चरण हों तो **'न्यङ्कुसारिणी बृहती'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—**'मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः। वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी-सहस्रसातमः'** ॥ (१ । १७५ । १)] आचार्यक्रोष्टुकिके मतमें यह (न्यङ्कुसारिणी) 'स्कन्ध' या 'ग्रीवा' नामक छन्द है[5]। यास्काचार्यने इसे ही **'उरोबृहती'** नाम दिया है। जब अन्तिम (चतुर्थ) चरण 'जगती'का हो और आरम्भके तीन चरण गायत्रीके हों तो **'उपरिष्टाद् बृहती'** नामक छन्द होता है। वही 'जगती'का चरण जब पहले हो और शेष तीन चरण गायत्री छन्दके हों तो उसे **'पुरस्ताद् बृहती'** छन्द कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—**'महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः। भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥'** (१० । २२ । ३)] वेदमें कहीं-कहीं नौ-नौ अक्षरोंके चार चरण दिखायी देते हैं। वे भी 'बृहती' छन्दके ही अन्तर्गत हैं। [उदाहरणके लिये ऋग्वेदमें—**'तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम। देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम् ॥'** (१ । १८७ । ११)] जहाँ पहले दस अक्षरके दो चरण हों, फिर आठ-अक्षरोंके दो चरण हों, उसे भी **'बृहती'** छन्द कहते हैं। [जैसे सामवेदमें—**'अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य। आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः॥'** (४०)] केवल 'जगती' छन्दके तीन चरण हों तो उसे **'महाबृहती'** कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें— **'अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ, ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः। सदासरो वाजमच्छासनिष्यदत्'**[10] ॥ (९ । ११० । ४)] ताण्डी नामक आचार्यके मतमें यही 'सतो **'बृहती'** नामक छन्द है ॥ ५–१०½ ॥

जहाँ दो पाद बारह-बारह अक्षरोंके और दो आठ-आठ अक्षरोंके हों, वहाँ नामक छन्द होता **'पङ्क्ति'** है। यदि विषम पाद, अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण पूर्वकथनानुसार बारह-बारह अक्षरोंके हों और शेष दोनों आठ-आठ अक्षरोंके तो उसे **'सतःपङ्क्ति'** नामक छन्द कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—**'यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन। यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः॥'** (१ । ३६ । १०)] यदि वे ही चरण विपरीत अवस्थामें हों, अर्थात् प्रथम-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके और द्वितीय-चतुर्थ बारह-बारह अक्षरोंके तो भी वह छन्द **'सतःपङ्क्ति'** ही कहलाता है। जैसे ऋग्वेदमें—**'प्र ऋभ्ये श्रावयत्सखा विश्ववेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुतः। तं विश्वे मानुषा युगे, इन्द्रं हवन्ते तविषं यतास्रुचः ॥'** (८ । ४६ । १२)] जब पहलेके दोनों चरण बारह-बारह अक्षरोंके हों और शेष दोनों आठ-आठ अक्षरोंके, तो उसे **'प्रस्तारपङ्क्ति'** कहते हैं। [ग्यारहवें श्लोकमें बताये हुए 'पङ्क्ति' छन्दके लक्षणसे ही यह गतार्थ हो जाता है, तथापि विशेष संज्ञा देनेके लिये यहाँ पुनः उपादान किया गया है। मन्त्र-ब्राह्मणमें इसका उदाहरण इस प्रकार है— **'काम वेदते मदो नामासि समानया अमुं सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्मा अग्ने तपसा निर्मितोऽसि[11] ॥'**] जब अन्तिम दो चरण बारह-बारह अक्षरोंके हों और आरम्भके दोनों आठ-आठ अक्षरोंके तो **'आस्तारपङ्क्ति'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—**भद्रं नो अपि वातय, मनो दक्षमुत क्रतुम्। अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे ॥'** (१० । २५ । १)] यदि बारह अक्षरोंवाले दो चरण बीचमें हों और प्रथम एवं चतुर्थ चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो उसे **'विस्तार-पङ्क्ति'** कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—**'अग्ने तव श्रवो वयो, महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो। बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥'** (१० । १४० । १)] यदि बारह अक्षरोंवाले दो चरण बाहर हों, अर्थात् प्रथम एवं चतुर्थ चरणके रूपमें हों और बीचके द्वितीय-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो वह **'संस्तार-पङ्क्ति'** नामक छन्द होता है।

५. पिङ्गलसूत्रमें 'स्कन्धोग्रीवी' नाम आया है।

६. इसका उदाहरण सामवेदमें इस प्रकार है—'अग्ने जरित-र्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः। अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥ (३९)

७. आठवें श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'बृहती छन्द'का लक्षण दिया गया है, उसीसे यह भी गतार्थ हो जाता है; फिर भी विशेष संज्ञा देनेके लिये यहाँ पुनरुक्ति की गयी है।

८. ९–१०. इन सबमें व्यूहकी रीतिसे या 'निचृत्' मानकर पादपूर्ति की जाती है।

११. यहाँ 'नामा असि', 'निर्मितः असि'—इस प्रकार संधिव्यूहसे पादपूर्ति की जाती है। कात्यायनने इसे गायत्री छन्दमें गिना है। सायणने इसे 'द्विपदा' कहा है।

[जैसे ऋग्वेदमें—'**पितुभृतो न तन्तुमित् सुदानवः प्रतिदध्मो यजामसि । उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥**' (१० । १७२ । ३)]पाँच-पाँच अक्षरोंके चार पाद होनेपर '**अक्षर-पङ्क्ति**' नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**प्र शुक्रैतु[12] देवी मनीषा । अस्मत् सुतष्टो रथो न वाजी ॥**' (७ । ३४ । १)] पाँच अक्षरोंके दो ही चरण होनेपर '**अल्पशः-पङ्क्ति**' नामक छन्द कहलाता है। जहाँ पाँच-पाँच अक्षरोंके पाँच पाद हों, वहाँ '**पद-पङ्क्ति**' नामक छन्द जानना चाहिये। [जैसे ऋग्वेदमें—'**घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यं तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥**'[13] (४ । १० । ६)] जब पहला चरण चार अक्षरोंका, दूसरा छः अक्षरोंका तथा शेष तीन पाद पाँच-पाँच अक्षरोंके हों तो भी '**पद-पङ्क्ति**' छन्द ही होता है। आठ-आठ अक्षरोंके पाँच पादोंका '**पथ्यापङ्क्ति**' नामक छन्द कहा गया है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥**' (१ । ८२ । २)] आठ-आठ अक्षरोंके छः चरण होनेपर '**जगती-पङ्क्ति**' नामक छन्द होता है। [जैसे मन्त्रब्राह्मणमें—'**येन श्रियमकृणुतं येनापामृषतं सुराम्; येनाक्षामभ्यषिञ्चतम् । येनेमां पृथ्वीं महीं यद्वां तदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम् ॥**'] ॥ ११—१४ ॥

'त्रिष्टुप्' अर्थात् ग्यारह अक्षरोंका एक पाद हो और आठ-आठ अक्षरोंके चार पाद हों तो पाँच पादोंका '**त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती**' नामक छन्द होता है। इसी प्रकार जब एक चरण 'जगती' का अर्थात् बारह अक्षरोंका हो और चार चरण 'गायत्री' के (आठ-आठ अक्षरोंके) हों तो उस छन्दका नाम '**जगती-ज्योतिष्मती**' होता है। यदि पहला ही चरण ग्यारह अक्षरोंका हो और शेष चार चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो '**पुरस्ताज्ज्योति**'[14] नामक त्रिष्टुप् छन्द होता है और यदि पहला ही चरण बारह अक्षरोंका तथा शेष चार चरण आठ-आठके हों तो **पुरस्ताज्ज्योति**' नामक जगती छन्द[15] होता है। जब मध्यम चरण ग्यारह अक्षरों और आगे-पीछेके दो-दो चरण आठ-आठके हों तो '**मध्ये-ज्योति**'[16] नामक त्रिष्टुप् छन्द होता है; इसी प्रकार जब मध्यम चरण बारहका तथा आदि-अन्तके दो-दो चरण आठ-आठके हों तो 'मध्ये-ज्योति'[17] नामक जगती छन्द होता है। जब आरम्भके चार चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तथा अन्तिम चरण ग्यारह अक्षरोंका हो तो उसे '**उपरिष्टाज्ज्योति**'[18] नामक त्रिष्टुप् कहते हैं। इसी प्रकार जब आदिके चार चरण पूर्ववत् आठ-आठके हों और अन्तिम पाद बारह अक्षरोंका हो तो उसका नाम 'उपरिष्टाज्ज्योति'[19] जगती छन्द होता है ॥ १५½ ॥

गायत्री आदि सभी छन्दोंके एक पादमें यदि पाँच अक्षर हों तथा अन्य पादोंमें पहलेके अनुसार नियत अक्षर ही हों तो उस छन्दका नाम '**शङ्कुमती**' होता है। [जैसे प्रथम पाद पाँच अक्षरका और तीन चरण छः-छः अक्षरोंका होनेपर उसे 'शङ्कुमती गायत्री' कह सकते हैं।] जब एक चरण छः अक्षरोंका हो और अन्य चरणोंमें पहले बताये अनुसार नियत अक्षर ही हों तो उसका नाम '**ककुद्मती**' होगा। जहाँ तीन पादवाले छन्दके पहले और दूसरे चरणमें अधिक अक्षर हों और बीचवालेमें बहुत ही कम हों, वहाँ उस छन्दका नाम '**पिपीलिकमध्या**' होगा। [जैसे त्रिपदा गायत्रीके आदि और अन्त चरण आठ-

---

१२. यहाँ 'निचृत्' होनेसे एक अक्षरकी न्यूनता है।

१३. यहाँ 'भूरिक्' होनेसे एक अक्षरकी अधिकता है। अन्यत्र भी अक्षरोंकी न्यूनता या अधिकता दीखनेपर इसी प्रकार समझना चाहिये

१४. उदाहरण ऋग्वेदमें—तमु ष्टुहीन्द्रं यो ह स त्वा यः शूरो मघवा यो रथेष्ठाः। प्रतीचश्चिद् यो धीमान् वृषण्वान् ववव्रुषश्चित्तमसो विहन्ता ॥ (१ । १७३ । ५)

१५. उदाहरण ऋग्वेदमें—अबोध्याग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यूषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा। आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत् पृथक् ॥ (१ । १५७ । १)

१६. उदाहरण मन्त्रब्राह्मणमें—इमं तमुपस्थं मधुना संसृजामि। प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयं तेन पुंसोऽभिभवासि, सर्वान् कामान् वशिन्यसि राज्ञी ॥

१७. उदाहरण ऋग्वेदमें—बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा। भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि ॥ (६ । ४८ । ७)

१८. उदाहरण मन्त्र-ब्राह्मणमें—अग्निं क्रव्यादमकृण्वन्, गुहाना स्त्रीणामुपस्थम्। ऋषयः पुराणाः, तेन आज्यमकृण्वं त्रैशृङ्गं त्वयि तद्दधातु ।

१९. उदाहरण ऋग्वेदमें—नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम्। सर्वासामग्रभं नामा अरे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ॥ (१ । १९१ । १३)

आठ अक्षरके हों तथा बीचवाला चरण तीन, चार या पाँच अक्षरका हो तो उसे 'पिपीलिकमध्या' कहेंगे ।] इसके विपरीत जब आदि और अन्तवाले पादोंके अक्षर कम हों और बीचवाला पाद अधिक अक्षरोंका हो तो उस 'त्रिपाद् गायत्री' आदि छन्दको 'यवमध्या' कहते हैं । यदि 'गायत्री' या 'उष्णिक्' आदि छन्दोंमें केवल एक अक्षरकी कमी हो, उसकी 'निचृत्' यह विशेष संज्ञा होती है । एक अक्षरकी अधिकता होनेपर वह छन्द 'भूरिक्' नाम धारण करता है । इस प्रकार दो अक्षरोंकी कमी रहनेपर 'विराट्' और दो अक्षर अधिक होनेपर 'स्वराट्' संज्ञा होती है । संदिग्ध अवस्थामें आदि पादके अनुसार छन्दका निर्णय करना चाहिये । [जैसे कोई मन्त्र छब्बीस अक्षरका है, उसमें गायत्रीसे दो अक्षर अधिक हैं और उष्णिक्से दो अक्षर कम— ऐसी दशामें वह 'स्वराड् गायत्री' छन्द है या 'विराड् उष्णिक्' ?'—ऐसे संदेहयुक्त स्थलोंमें यदि मन्त्रका पहला चरण 'गायत्री'से मिलता हो तो उसे 'स्वराड् गायत्री' कहेंगे और यदि प्रथम पाद 'उष्णिक्'से मिलता हो तो उसे 'विराड् उष्णिक्' कह सकते हैं । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।] इसी प्रकार देवता, स्वर, वर्ण तथा गोत्र आदिके द्वारा संदिग्धस्थलमें छन्दका निर्णय हो सकता है । गायत्री आदि छन्दोंके देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र तथा विश्वेदेव । उक्त छन्दोंके स्वर हैं—'षड्ज' आदि । उनके नाम क्रमशः ये हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । श्वेत, सारंग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित (लाल) तथा गौर—ये क्रमशः गायत्री आदि छन्दोंके वर्ण हैं । 'कृति' नामवाले छन्दोंका वर्ण गोरोचनके समान है और अतिच्छन्दोंका वर्ण श्यामल है । अग्निवेश्य, काश्यप, गौतम, अङ्गिरा, भार्गव, कौशिक तथा वसिष्ठ—ये क्रमशः उक्त सात छन्दोंके गोत्र बताये गये हैं ॥ १६–२३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दस्सारका कथन' नामक तीन सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३० ॥

तीन सौ एकतीसवाँ अध्याय

उत्कृति आदि छन्द, गण-छन्द और मात्रा-छन्दोंका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी ! एक सौ चार अक्षरोंका 'उत्कृति' छन्द होता है । [जैसे यजुर्वेदमें—'**होता यक्षदश्विनौ छागस्य०** इत्यादि (२१ । ४१)] 'उत्कृति' छन्दमेंसे चार-चार घटाते जायँ तो क्रमशः निम्नाङ्कित छन्द होते हैं—सौ अक्षरोंकी 'अभिकृति'[1], छानबे अक्षरोंकी 'संस्कृति'[2], बानबे अक्षरोंकी 'त्रिकृति'[3], अठासी अक्षरोंकी 'आकृति'[4], चौरासी अक्षरोंकी 'प्रकृति'[5], अस्सी अक्षरोंकी 'कृति'[6], छिहत्तर अक्षरोंकी 'अधिकृति'[7], बहत्तर अक्षरोंकी 'धृति', अड़सठ अक्षरोंकी 'अत्यष्टि'[8], चौसठ अक्षरोंकी 'अष्टि'[9], साठ अक्षरोंकी 'अतिशक्वरी'[10], छप्पन अक्षरोंकी 'शक्वरी'[12], बावन अक्षरोंकी 'अतिजगती'[11,13] तथा अड़तालीस अक्षरोंकी 'जगती'[14] होती है । यहाँतक केवल वैदिक छन्द हैं । यहाँसे आगे लौकिक छन्दका अधिकार है । 'गायत्री'से लेकर 'त्रिष्टुप्' तक जो आर्षछन्द वैदिक छन्दोंमें गिनाये गये हैं, वे लौकिक छन्द भी हैं । उनके

१. 'अभिकृति' आदि छन्दोंके उदाहरणका प्रतीकमात्र यहाँ दिया जाता है, विशेष जानकारीके लिये वेदोंमें अनुसंधान करना चाहिये । यजुर्वेदे—'देवो अग्निः स्विष्टकृत् देवान्यक्षत्' इत्यादि (२१ । ५८) । २. यजुर्वेदे—'देवो अग्निः स्विष्टकृत्, सुद्रविणामन्द्रः कविः' इत्यादि । ३. 'इमे सोमाः सुरामाणाम्' इत्यादि । ४. 'भगा अनुप्रयुक्तामिन्द्रो यातु पुरोगवः' इत्यादि । ५. प्रकृतेरुदाहरणम्—'सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च' इत्यादि प्रातराचमनमन्त्रः । ६. यजुर्वेदे—'सुपर्णोऽसि गरुत्मॉस्त्रिः सत्रिवृत्ते शिरो गायत्रम्' इत्यादि (१७ । ७२) । ७. ऋग्वेदे—'स हि शर्धो न मारुतं तु विष्वणि' इत्यादि (१ । १२७ । ६) ।

८. ऋग्वेदे—'अवमह इन्द्र दादृहि श्रुधि नः शुशोच हि द्यौः०' इत्यादि (१ । १३३ । ६) । ९. ऋग्वेदे—'अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिः०' इत्यादि (१ । १३६ । २) । १०. ऋग्वेदे—'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तु विशुष्म' इत्यादि (२ । २२ । १) । ११. ऋग्वेदे—'साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ०' इत्यादि (२ । २२ । ३) । १२. ऋग्वेदे—'प्रोस्वस्मै पुरोरथं, इन्द्राय शषमर्चत०' इत्यादि । १३. मन्त्रब्राह्मणे—'मा ते गृहेषु निशि घोष उत्था०' इत्यादि । १४. सामवेदे—'इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया । भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि, अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥' (६६)

नाम इस प्रकार हैं—त्रिष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती, अनुष्टुप्, उष्णिक् और गायत्री । गायत्री छन्दमें क्रमशः एक-एक अक्षरकी कमी होनेपर 'सुप्रतिष्ठा', 'प्रतिष्ठा', 'मध्या', 'अत्युक्तात्युक्त' तथा 'आदि' नामक छन्द होते हैं ॥ १—४ ॥

छन्दके चौथाई भागको 'पाद' या 'चरण' कहते हैं । [छन्द तीन प्रकारके हैं—गणच्छन्द, मात्रा-छन्द और अक्षरच्छन्द] । पहले 'गणच्छन्द' दिखलाया जाता है । चार लघु अक्षरोंकी 'गण' संज्ञा होती है । ['आर्या'के लक्षणोंकी सिद्धि ही इस संज्ञाका प्रयोजन है ।] ये गण पाँच हैं । कहीं आदि गुरु (ऽ।।), कहीं मध्य गुरु (। ऽ ।), कहीं अन्त्य गुरु (।। ऽ), कहीं सर्वगुरु (ऽ ऽ) और कहीं चारों अक्षर लघु (।। ।।) होते हैं । [एक 'गुरु' दो 'लघु' अक्षरोंके बराबर होता है; अतः जहाँ सब लघु हैं, वहाँ चार अक्षर तथा जहाँ सब गुरु हैं, वहाँ दो अक्षर दिखाये गये हैं ।] अब 'आर्या'का लक्षण बताया जाता है । साढ़े सात गणोंकी, अर्थात् तीस मात्राओं या तीस लघु अक्षरोंकी आधी 'आर्या' होती है । [आर्यामें गुरुवर्णको दो मात्रा या दो लघु मानकर गिनना चाहिये ।] 'आर्या' छन्दके विषय गणोंमें जगण (। ऽ ।) का प्रयोग नहीं होता[1] । किंतु छठा गण अवश्य जगण (। ऽ ।) होना चाहिये[2] । अथवा वह नगण और लघु यानी सब-का-सब लघु भी हो सकता है । जब छठा गण सब-का-सब लघु हो तो उस गणके द्वितीय अक्षरसे सुबन्त या तिङन्तलक्षण पदसंज्ञाकी प्रवृत्ति होती है[3] । यदि छठा गण मध्य गुरु (। ऽ ।) अथवा सर्वलघु (।।।।) हो और सातवाँ गण भी सर्वलघु ही हो, तो सातवें गणके प्रथम अक्षरसे 'पद'संज्ञाकी प्रवृत्ति होती है[4] । इसी प्रकार जब आर्याके उत्तरार्ध-भागमें पाँचवाँ गण सर्वलघु हो तो उसके प्रथम अक्षरसे ही पदका आरम्भ होता है[5] । आर्याके उत्तरार्ध भागमें छठा गण एकमात्र लघु अक्षरका (।) होता है[6] । जिस आर्याके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें तीन-तीन गणोंके बाद पहले पादका विराम होता है, उसे 'पथ्या' माना गया है[7] ॥ ५—८ ॥

जिस आर्याके पूर्वार्धमें या उत्तरार्धमें अथवा दोनोंमें तीन गणोंपर पादविराम नहीं होता, उसका नाम 'विपुला' होता है । [इस प्रकार इसके तीन भेद होते हैं—१—आदि-विपुला, २—अन्त्यविपुला तथा ३—उभयविपुला । इनमें पहलीका नाम 'मुख-विपुला', दूसरीका 'जघनविपुला' तथा तीसरीका 'महाविपुला' है ।] इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—स्निग्धच्छायालावण्यलेपिनी किंचिदवनतवीणा ।
मुखविपुला सौभाग्यं लभते स्त्रीत्याह माण्डव्यः ॥
२—चित्तं हरन्ति हरिणीदीर्घदृशः कामिनां कलालापैः ।
नीवीविमोचनव्याजकथितजघना जघनविपुला ॥
३—या स्त्री कुचकलशनितम्बमण्डले जायते महाविपुला ।
गम्भीरनाभिरतिदीर्घलोचना भवति सा सुभगा ॥

—पहले पद्यमें पूर्वार्धमें, दूसरेमें उत्तरार्धमें तथा तीसरेमें दोनों जगह पाद-विराम तीन गणोंसे आगे होता है[8] । जिस

---

१. उदाहरण—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

२. सा जयति जगत्यार्या देवी दिवमुत्पतिष्णुरतिरुचिरा ।
याऽदृश्यत गगनतले कंसवधोत्पातविद्युदिव ॥

३. रूपान्तरेण देवीं तामेव स्तौमि सपदि किल मद्विधः ।
पादस्पर्शसुखादिव मीलितनयनोऽभवद् यस्याः ॥

यहाँ 'मि सपदि' यही छठा गण है, इसमें द्वितीय अक्षरसे पदका आरम्भ है ।

४. ब्रह्मक्षत्रकुलीनः प्रलीनसामन्तचक्रनुतचरणः ।
सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान् मुञ्जश्चिरं जयति ॥
जयति भुवनैकवीरः सीरायुधतुलितविपुलबलविभवः ।
अनवरतवित्तवितरणनिर्जितचम्पाधिपो मुञ्जः ॥

५-६. स जयति वाक्पतिराजः सकलार्थिमनोरथैककल्पतरुः ।
प्रत्यर्थिभूतपार्थिवलक्ष्मीहठहरणदुर्ललितः ॥

७. पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात् ।
यदि वचसा मनसा वा द्रुह्यति नित्यं न भूतेभ्यः ॥

८. 'पथ्या' और 'विपुला'में सहानवस्थारूप विरोध है; अतः ये दोनों छन्द एक साथ नहीं रह सकते । यदि एक अंशमें भी 'विपुला'का लक्षण संघटित हुआ तो उसका पथ्यात्व नष्ट हो जाता है; क्योंकि 'विपुला' छन्द उभयाश्रय है; वह पूर्वार्धमें, उत्तरार्धमें तथा दोनोंमें भी रह सकता है । अब 'विपुला'का जहाँ अंश भी हो, वहाँ 'पथ्या'का प्रवेश नहीं हो सकता । 'पथ्या' छन्द एक अंशसे भी विकल हो जाय तो वही 'विपुला'का विषय होता है; अतः वहाँ 'विपुला'की प्राप्ति अनिवार्य है । 'पथ्या' और 'चपला'में कोई विरोध नहीं है; अतः इनमें बाध्य-बाधकभाव नहीं होता । इस विषयका संक्षिप्त संग्रह नीचे लिखे श्लोकोंमें है—

एकैव भवति पथ्या विपुलास्तिस्रस्ततश्चतस्रस्ताः ।
चपलाभेदैस्त्रिभिरपि भिन्ना इति षोडशार्याः स्युः ॥
गीतिचतुष्टयमित्थं प्रत्येकं षोडशप्रकारं स्यात् ।
साकल्येनार्याणामशीतिरेवं विकल्पाः स्युः ॥

आर्या-छन्दमें द्वितीय तथा चतुर्थ गण गुरु अक्षरोंके बीचमें होनेके साथ ही जगण अर्थात् मध्यगुरु (। ऽ ।) हों, उसका नाम 'चपला' है। तात्पर्य यह है कि 'चपला' नामक आर्यामें प्रथम गण अन्त्यगुरु (। । ऽ), तृतीय गण दो गुरु (ऽ ऽ) तथा पञ्चम गण आदिगुरु (ऽ । ।) होता है। शेष गण पूर्ववत् रहते हैं। पूर्वार्धमें 'चपला'का लक्षण हो तो उस आर्याका नाम 'मुखचपला'[9] होता है। परार्धमें चपलाका लक्षण होनेपर उसे 'जघनचपला'[10] कहते हैं। पूर्वार्ध और परार्ध—दोनोंमें चपलाका लक्षण संघटित होता हो तो उसका नाम 'महाचपला'[11] है। जहाँ आर्याके पूर्वार्धके समान ही उत्तरार्ध भी हो, उसे 'गीति'[12] नाम दिया गया है। तात्पर्य यह कि उसके उत्तरार्धमें भी छठा गण मध्यगुरु (। ऽ ।) अथवा सर्वलघु (। । । ।) करना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ आर्याके उत्तरार्धके समान ही पूर्वार्ध भी हो, उसे 'उपगीति'[13] कहते हैं। आर्याके पूर्वोक्त क्रमको विपरीत कर देनेपर 'उद्गीति'[14]

'एक 'पथ्या', तीन 'विपुला', कुल चार भेद हुए। इनमेंसे प्रत्येक छन्द 'चपला'के तीन भेदोंसे भिन्न होकर बारह प्रकारका होता है। बारह ये और चार पहलेके—यों सोलह हुए। इन सोलहोंके 'गीति' आदि चार भेदोंद्वारा भेद होनेसे चौंसठ भेद होते हैं। पहलेके सोलह और चौंसठ—कुल अस्सी हुए। इस प्रकार 'आर्या'के अस्सी भेद हैं।'

९. पथ्यापूर्वक मुखचपलाका उदाहरण—

अतिदारुणा द्विजिह्वा परस्य रन्ध्रानुसारिणी कुटिला।
दूरात्परिहरणीया नारी नागीव मुखचपला ॥

आदिविपुलापूर्वक मुखचपलाका उदाहरण—

यस्याश्च लोचने पिङ्गले भ्रुवौ संगते मुखं दीर्घम्।
विपुलोन्नताश्च दन्ताः कान्तासौ भवति मुखचपला ॥

उभयविपुलापूर्वक मुख-चपलाका उदाहरण—

विपुलाभिजातवंशोद्भवापि रूपातिरेकरम्यापि।
निस्सार्यते गृहाद् वल्लभापि यदि भवति मुखचपला ॥

१०. पथ्यापूर्वक जघनचपलाका उदाहरण—

यत्पादस्य कनिष्ठा न स्पृशति महीमनामिका वाप।
सा सर्वधूर्तभोग्या भवेदवश्यं जघनचपला ॥

अन्त्यविपुलापूर्वक जघनचपलाका उदाहरण—

यस्याः पादाङ्गुष्ठं व्यतीत्य याति प्रदेशिनी दीर्घा।
विपुले कुले प्रसूतापि सा ध्रुवं जघनचपला स्यात् ॥

महाविपुलापूर्वक जघनचपलाका उदाहरण—

मकरध्वजसद्मनि दृश्यते स्फुटं तिलकलाञ्छनं यस्याः।
विपुलान्वयाभिजातापि जायते जघनचपलासौ ॥

११. पथ्यापूर्वक महाचपलाका उदाहरण—

हृदयं हरन्ति नार्यो मुनेरपि भ्रूकटाक्षविक्षेपैः।
दोर्मूलनाभिदेशं निदर्शयन्त्यो महाचपलाः ॥

विपुलापूर्वक महाचपलाका उदाहरण—

चिबुके कपोलदेशेऽपि कूपिका दृश्यते स्मिते यस्याः।
विपुलान्वयप्रसूतापि जायते सा महाचपला ॥

१२. पथ्या-गीतिका उदाहरण—

मधुरं वीणारणितं पञ्चमसुभगश्च कोकिलालापः।
गीतिः पौरवधूनामधुना कुसुमायुधं प्रबोधयति ॥

आदिविपुला-गीति—

इयमपरा विपुला गीतिरुच्यते सर्वलोकहितहेतोः।
यदनिष्टमात्मनस्तत्परेषु भवतापि मा क्वचित् कारि ॥

पथ्या महाचपला-गीतिका उदाहरण—

कामं चकास्ति गीतिर्मृगीदृशां सीधुपानचपलानाम्।
मुखं च मुक्तलज्जं निरर्गलोल्लापमणितरमणीयम् ॥

महाविपुला-महाचपला-गीतिका उदाहरण—

पञ्चेषुवल्लभः पञ्चमध्वनिस्तत्र भवति यदि विपुलः।
चपलं करोति कामाकुलं मनः कामिनामसौ गीतिः ॥

१३. पथ्योपगीतिका उदाहरण—

गान्धर्वं मकरध्वजदेवस्यास्त्रं जगद्विजयि।
इति समवेक्ष्य मुमुक्षुभिरुपगीतिस्त्यज्यते देशः ॥

महाविपुलोपगीतिका उदाहरण—

विपुलोपगीतिझंकारमुखरिते भ्रमरमालानाम्।
रैवतकोपवने वस्तुमस्तु सततं मम प्रीतिः ॥

पथ्या-महाचपलोपगीतिका उदाहरण—

विषयामिषाभिलाषः करोति चित्तं सदा चपलम्।
वैराग्यभावनानां तथोपगीत्या भवेत् स्वस्थम् ॥

महाविपुला महाचपलोपगीतिका उदाहरण—

विपुलोपगीति संत्यज्यतामिदं स्थानकं भिक्षो।
विषयाभिलाषदोषेण बाध्यते चञ्चलं चेतः ॥

१४. पथ्योद्गीतिका उदाहरण—

व्याध इवोद्गीतिरवैः प्रथमं तावन्मनो हरसि।
दुर्नयकर विश्राम्यसि पश्चात् प्राणेषु विप्रियैः शल्यैः ॥

महाविपुलोद्गीतिका उदाहरण—

एषा तवापरोद्गीतिरत्र विपुला परिभ्रमति।
तद्वल्लभापि यत्कीर्तिरखिलदिक्पालपार्श्वमुपयाति ॥

नाम पड़ता है। सारांश यह कि उसमें पूर्वार्धको उत्तरार्धमें और उत्तरार्धको पूर्वार्धमें रक्खा जाता है। यदि पूर्वार्धमें आठ गण हों तो 'आर्यागीति' नामक छन्द होता है। कोई विशेषता न होनेसे इसका उत्तरार्ध भी ऐसा ही समझना चाहिये। यहाँ भी छठे गणमें मध्यगुरु और सर्वलघु—इन दोनों विकल्पोंकी प्राप्ति थी, उसके स्थानमें केवल एक 'लघु' का विधान है॥ ९-१०३/४॥

अब 'मात्रा-छन्द' बतलाया जाता है। जहाँ विषम, अर्थात् प्रथम और तृतीय चरणमें चौदह लघु (मात्राएँ) हों और सम—द्वितीय, चतुर्थ चरणोंमें सोलह लघु हों तथा इनमेंसे प्रत्येक चरणके अन्तमें रगण (ऽ । ऽ), एक लघु और एक गुरु हो तो 'वैतालीय'[16] नामक छन्द होता है। [रगण, लघु और गुरु मिलाकर आठ मात्राएँ होती हैं, इनके सिवा प्रथम-तृतीय पादोंमें छः-छः मात्राएँ और द्वितीय-चतुर्थ चरणोंमें आठ-आठ मात्राएँ ही शेष रहती हैं। इन्हें जोड़कर ही चौदह-सोलह मात्राओंकी व्यवस्था की गयी है।] वैतालीय छन्दके अन्तमें एक गुरु और बढ़ जाय तो उसका नाम 'औपच्छन्दसक'[17] होता है॥ ११-१२॥

पूर्वोक्त वैतालीय छन्दके प्रत्येक चरणके अन्तमें जो रगण, लघु और गुरुकी व्यवस्था की गयी है, उसकी जगह यदि भगण और दो गुरु हो जायँ तो उस छन्दका नाम 'आपातलिका'[18] होता है। उपर्युक्त वैतालीय छन्दके अधिकारोंमें जो रगण आदिके द्वारा प्रत्येक चरणके अन्तमें आठ लकारों (मात्राओं) का नियम किया गया है, उनको छोड़कर प्रत्येक चरणमें जो 'लकार' शेष रहते हैं, उनमेंसे सम लकार विषम लकारके साथ मिल नहीं सकता। अर्थात् दूसरा तीसरेके और चौथा पाँचवेंके साथ संयुक्त नहीं हो सकता; उसे पृथक् ही रखना चाहिये। इससे विषम लकारोंका सम लकारोंके साथ मेल अनुमोदित होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें लगातार छः लकार पृथक्-पृथक् नहीं प्रयुक्त होने चाहिये। प्रथम और तृतीय चरणोंमें रुचिके अनुसार किया जा सकता है[19]। अब 'प्राच्यवृत्ति' नामक वैतालीय छन्दका दिग्दर्शन कराया जाता है। जब दूसरे और चौथे चरणमें चतुर्थ लकार (मात्रा) पञ्चम लकारके साथ संयुक्त

पथ्यामहाचपलोद्गीतिका उदाहरण—

उद्गीतिरत्र नित्यं प्रवर्तते कामचपलानाम्।
तस्मान्मुने विमुञ्च प्रदेशमेतं समेतमेताभिः॥

महाविपुला महाचपलोद्गीतिका उदाहरण—

विपुला पयोधरश्रोणिमण्डले चक्षुषोश्चपला।
उद्गीतिशालिनी कामिनी च सा बर्णिनां मनो हरति॥

१५. पथ्या आर्यागीतिका उदाहरण—

अजमजरममरमेकं प्रत्यक्चैतन्यमीश्वरं ब्रह्म परम्।
आत्मानं भावयती भवमुक्तिः स्याद्वितीयमार्यागीतिः॥

महाविपुला आर्यागीतिका उदाहरण—

विपुलाभिलाषमृगतृष्णिका ध्रुवं हन्ति हरिणमिव हतहृदयम्।
विपुलात्ममोक्षसुखकाङ्क्षिभिस्ततस्त्यज्यते विषयरससङ्गः॥

पथ्या जघनचपलार्यागीतिका उदाहरण—

वाताहतोर्मिमालाचपलं सम्प्रेक्ष्य विषयसुखमल्पतरम्।
मुक्त्वा समस्तसङ्गं तपोवनान्याश्रयन्ति तेनात्मविदः॥

महाविपुला महाचपला आर्यागीतिका उदाहरण—

चपलानि चक्षुरादीनि चित्तहारी च हन्त हतविषयगणः।
एकान्तशीलिनां योगिनामतो भवति परमसुखसम्प्राप्तिः॥

१६. वैतालीय छन्दके विभिन्न उदाहरण—

(क) क्षुत्क्षीणशरीरसंचया व्यक्तीभूतशिरोऽस्थिपञ्जराः।
केशैः परुषैस्तवारयो वैतालीयतनुं वितन्वते॥

(ख) तव तन्वि कटाक्षवीक्षितैः प्रसरद्भिः श्रवणान्तगोचरैः।
विशिखैरिव तीक्ष्णकोटिभिः प्रहतः प्राणिति दुष्करं नरः॥

(ग) शवशोणितपङ्कचर्चितं पुरुषान्त्रग्रथितोर्ध्वमूर्धजम्।
वपुरातपवह्निदीपितं वैतालीयमिदं विलोक्यताम्॥

१७. औपच्छन्दसकका उदाहरण—

वाक्यैर्मधुरैः प्रतार्य पूर्वं यः पश्चादभि संदधाति मित्रम्।
तं दुष्टमतिं विशिष्टगोष्ठ्यामौपच्छन्दसकं वदन्ति बाह्यम्॥

१८. आपातलिकाका उदाहरण—

पिङ्गलकेशी कपिलाक्षी वाचाटा विकटोन्नतदन्ती।
आपातलिका पुनरेषा नृपतिकुलेऽपि न भाग्यमुपैति॥

१९. वैतालीय छन्दमें इसका उदाहरण—

समरशिरसि सद्यते द्विषां नवनिशितायुधवृष्टिरग्रतः।
कुवलयदलदीर्घचक्षुषां प्रमदानां न कटाक्षवीक्षितम्॥

औपच्छन्दसकमें—

परयुवतिषु पुत्रभावमादौ कृत्वा प्रार्थयते पुनः पतित्वम्।
इदमपरमिहोच्यते विशेषादौपच्छन्दसकं खलस्य वृत्तम्॥

आपातलिकामें—

अभिरमयति किंनरकण्ठी हंसगतिः श्रवणायतनेत्रा।
बिम्बदकमलकोमलगात्री युवतिरियं हृदयं तरुणानाम्॥

हो तो उसका नाम 'प्राच्यवृत्ति'[20] होता है। [यद्यपि सम लकारका विषम लकारके साथ मिलना निषिद्ध किया गया है, तथापि वह सामान्य नियम है; प्राच्यवृत्ति आदि विशेष स्थलोंमें उस नियमका अपवाद होता है।] शेष लकार पूर्वोक्त प्रकारसे ही रहेंगे। जब प्रथम और तृतीय चरणमें दूसरा लकार तीसरेके साथ मिश्रित होता है, तब 'उदीच्यवृत्ति'[21] नामक वैतालीय कहलाता है। शेष लकार पूर्वोक्त रूपमें ही रहते हैं। जब दोनों लक्षणोंकी एक साथ ही प्रवृत्ति हो, अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें पञ्चम लकारके साथ चौथा मिल जाय और प्रथम एवं तृतीय चरणोंमें तृतीयके साथ द्वितीय लकार संयुक्त हो जाय तो 'प्रवृत्तिक'[22] नामक छन्द होता है। जिस वैतालीय छन्दके चारों चरण विषम पादोंके ही अनुसार हों, अर्थात् प्रत्येक पाद चौदह लकारोंसे युक्त हो तथा द्वितीय लकार तृतीयसे मिला हो, उसे 'चारुहासिनी'[23] कहते हैं। जब चारों चरण सम पादोंके लक्षणसे युक्त हों, अर्थात् सबमें सोलह लकार (मात्राएँ) हों और चतुर्थ लकार पञ्चमसे मिला हो तो उसका नाम 'अपरान्तिका'[24] है। जिसके प्रत्येक पादमें सोलह लकार हों, किंतु पादके अन्तिम अक्षर गुरु ही हों, उसे 'मात्रासमक'[25] नामक छन्द कहा गया है। साथ ही इस छन्दमें नवम लकार किसीसे मिला नहीं रहता। जिस 'मात्रासमक'के चरणमें बारहवाँ लकार अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है, किसीसे मिलता नहीं, उसका नाम 'वानवासिका'[26] है। जिसके चारों चरणोंमें पाँचवाँ और आठवाँ लकार लघुरूपमें ही स्थित रहता है, उसका नाम 'विश्लोक'[27] है। जहाँ नवाँ भी लघु हो, वह 'चित्रा'[28] नामक छन्द कहलाता है। जहाँ नवाँ लकार दसवेंके साथ मिलकर गुरु हो गया हो, वहाँ 'उपचित्रा'[29] नामक छन्द होता है। मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका, चित्रा और उपचित्रा—इन पाँचोंमें जिस-किसी भी छन्दके एक-एक पादको लेकर जब चार चरणोंका छन्द बनाया जाय, तब उसे 'पादाकुलक'[30] कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरणमें सोलह लघु स्वरूपसे ही स्थित हों, किसीसे मिलकर गुरु न हो गये हों, उस छन्दका नाम 'गीत्यार्या'[31] है। इसी गीत्यार्यामें जब आधे भागकी सभी मात्राएँ गुरुरूपमें हों और आधे भागकी मात्राएँ लघुरूपमें तो उसका नाम 'शिखा' होता है। इसीके दो भेद हैं—पूर्वार्धभागमें लघु-ही-लघु और उत्तरार्धमें गुरु-ही-गुरु हों तो उसका नाम 'ज्योति'[32],

२०. प्राच्यवृत्तिका उदाहरण—

विपुलार्थसुवाचकाक्षराः कस्य नाम न हरन्ति मानसम्।
रसभावविशेषपेशलाः प्राच्यवृत्तिकविकाव्यसम्पदः॥

२१. उदीच्यवृत्तिका उदाहरण—

अवाचकमनूर्जिताक्षरं श्रुतिदुष्टं यतिकष्टमक्रमम्।
प्रसादरहितं च नेष्यते कविभिः काव्यमुदीच्यवृत्तिभिः॥

२२. इदं भरतवंशभूभृतां श्रूयतां श्रुतिमनोरसायनम्।
पवित्रमधिकं शुभोदयं व्यासवक्त्रकथितं प्रवृत्तकम्॥

२३. मनाक्प्रसृतदन्तदीधितिः स्मरोल्लसितगण्डमण्डला।
कटाक्षललिता तु कामिनी मनो हरति चारुहासिनी॥

२४. स्थिरविलासनतमौक्तिकावली कमलकोमलाङ्गी मृगेक्षणा।
हरति कस्य हृदयं न कामिनः सुरतकेलिकुशलापरान्तिका॥

२५. अश्मश्रुमुखो विरलैर्दन्तैर्गम्भीराक्षो भितनासाग्रः।
निर्मांसहनुः स्फुटितैः केशैर्मात्रासमकं लभते दुःखम्॥

२६. मन्मथचापध्वनिरमणीयः सुरतमहोत्सवपटहनिनादः।
वनवासस्त्रीस्वनितविशेषः कस्य न चित्तं रमयति पुंसः॥

२७. आतर्गुणरहितं विश्लोकं दुर्नयचरणकदर्थितलोकम्।
जातं महितकुलेऽप्यविनीतं मित्रं परिहर साधुविगीतम्॥

२८. यदि वाञ्छसि परपदमारोढुं मैत्रीं परिहर सह वनिताभिः।
मुह्यति मुनिरपि विषयासङ्गाच्चित्रा भवति हि मनसो वृत्तिः॥

२९. यच्चित्तं गुरुसक्तमुदारं विद्याभ्यासमहाव्यसनं च।
पृथ्वी तस्य गुणैरुपचित्रा चन्द्रमरीचिनिभैर्भवतीयम्॥

३०. अलिवाचालितविकसितचूते काले मदनसमागमदूते।
स्मृत्वा कान्तां परिहृतसार्थः पादाकुलकं धावति पान्थः॥

(इसमें मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका और उपचित्राके चरण हैं।)

३१. मदकलखगकुलकलरवमुखरिणि
विकसितसरसिजपरिमलसुरभिणि।
गिरिवरपरिसरसरसि महति खलु
रतिरतिशयमिह मम हृदि विलसति॥

३२. यदि सुखमनुपममपरमभिलषसि
परिहर युवतिषु रतिमतिशयमिह।
आत्मज्योतिर्योगाभ्यासाद्
दृष्ट्वा दुःखच्छेदं कुर्याः॥

नाम पड़ता है। सारांश यह कि उसमें पूर्वार्धको उत्तरार्धमें और उत्तरार्धको पूर्वार्धमें रक्खा जाता है। यदि पूर्वार्धमें आठ गण हों तो 'आर्यागीति' नामक छन्द होता है। कोई विशेषता न होनेसे इसका उत्तरार्ध भी ऐसा ही समझना चाहिये। यहाँ भी छठे गणमें मध्यगुरु और सर्वलघु—इन दोनों विकल्पोंकी प्राप्ति थी, उसके स्थानमें केवल एक 'लघु' का विधान है॥ ९-१०३/४॥

अब 'मात्रा-छन्द' बतलाया जाता है। जहाँ विषम, अर्थात् प्रथम और तृतीय चरणमें चौदह लघु (मात्राएँ) हों और सम—द्वितीय, चतुर्थ चरणोंमें सोलह लघु हों तथा इनमेंसे प्रत्येक चरणके अन्तमें रगण (ऽ।ऽ), एक लघु और एक गुरु हो तो 'वैतालीय' नामक छन्द होता है। [रगण, लघु और गुरु मिलाकर आठ मात्राएँ होती हैं, इनके सिवा प्रथम-तृतीय पादोंमें छः-छः मात्राएँ और द्वितीय-चतुर्थ चरणोंमें आठ-आठ मात्राएँ ही शेष रहती हैं। इन्हें जोड़कर ही चौदह-सोलह मात्राओंकी व्यवस्था की गयी है।] वैतालीय छन्दके अन्तमें एक गुरु और बढ़ जाय तो उसका नाम 'औपच्छन्दसक'[17] होता है॥ ११-१२॥

पूर्वोक्त वैतालीय छन्दके प्रत्येक चरणके अन्तमें जो रगण, लघु और गुरुकी व्यवस्था की गयी है, उसकी जगह यदि भगण और दो गुरु हो जायँ तो उस छन्दका नाम 'आपातलिका'[18] होता है। उपर्युक्त वैतालीय छन्दके अधिकारोंमें जो रगण आदिके द्वारा प्रत्येक चरणके अन्तमें आठ लकारों (मात्राओं) का नियम किया गया है, उनको छोड़कर प्रत्येक चरणमें जो 'लकार' शेष रहते हैं, उनमेंसे सम लकार विषम लकारके साथ मिल नहीं सकता। अर्थात् दूसरा तीसरेके और चौथा पाँचवेंके साथ संयुक्त नहीं हो सकता; उसे पृथक् ही रखना चाहिये। इससे विषम लकारोंका सम लकारोंके साथ मेल अनुमोदित होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें लगातार छः लकार पृथक्-पृथक् नहीं प्रयुक्त होने चाहिये। प्रथम और तृतीय चरणोंमें रुचिके अनुसार किया जा सकता है[19]। अब 'प्राच्यवृत्ति' नामक वैतालीय छन्दका दिग्दर्शन कराया जाता है। जब दूसरे और चौथे चरणमें चतुर्थ लकार (मात्रा) पञ्चम लकारके साथ संयुक्त

पथ्यामहाचपलोद्गीतिका उदाहरण—

उद्गीतिरत्र नित्यं प्रवर्तते कामचपलानाम्।
तस्मान्मुने विमुञ्च प्रदेशमेतं समेतमेताभिः॥

महाविपुला महाचपलोद्गीतिका उदाहरण—

विपुला पयोधरश्रोणिमण्डले चक्षुषोश्चपला।
उद्गीतिशालिनी कामिनी च सा वर्णिनां मनो हरति॥

१५. पथ्या आर्यागीतिका उदाहरण—

अजमजरममरमेकं प्रत्यक्चैतन्यमीश्वरं ब्रह्म परम्।
आत्मानं भावयती भवमुक्तिः स्यादितीयमार्यागीतिः॥

महाविपुला आर्यागीतिका उदाहरण—

विपुलाभिलाषमृगतृष्णिका ध्रुवं हन्ति हरिणमिव हतहृदयम्।
विपुलात्ममोक्षसुखकाङ्क्षिभिस्ततस्त्यज्यते विषयरससङ्गः॥

पथ्या जघनचपलार्यागीतिका उदाहरण—

वाताहतोर्मिमालाचपलं सम्प्रेक्ष्य विषयसुखमल्पतरम्।
मुक्त्वा समस्तसङ्गं तपोवनान्याश्रयन्ति तेनात्मविदः॥

महाविपुला महाचपला आर्यागीतिका उदाहरण—

चपलानि चक्षुरादीनि चित्तहारी च हन्त हतविषयगणः।
एकान्तशीलिनां योगिनामतो भवति परमसुखसम्प्राप्तिः॥

१६. वैतालीय छन्दके विभिन्न उदाहरण—

(क) श्लक्ष्णीणशरीरसंचया व्यक्तीभूतशिरोऽस्थिपञ्जराः।
केशैः परुषैस्तवारयो वैतालीयतनुं वितन्वते॥

(ख) तव तन्वि कटाक्षवीक्षितैः प्रसरद्भिः श्रवणान्तगोचरैः।
विशिखैरिव तीक्ष्णकोटिभिः प्रहतः प्राणिति दुष्करं नरः॥

(ग) शवशोणितपङ्कचर्चितं पुरुषान्त्रग्रथितोर्ध्वमूर्धजम्।
वपुरातपवह्निदीपितं वैतालीयमिदं विलोक्यताम्॥

१७. औपच्छन्दसकका उदाहरण—

वाक्यैर्मधुरैः प्रतार्य पूर्वं यः पश्चादभि संदधाति मित्रम्।
तं दुष्टमतिं विशिष्टगोष्ठयामौपच्छन्दसकं वदन्ति बाह्यम्॥

१८. आपातलिकाका उदाहरण—

पिङ्गलकेशी कपिलाक्षी वाचाटा विकटोन्नतदन्ती।
आपातलिका पुनरेषा नृपतिकुलेऽपि न भाग्यमुपैति॥

१९. वैतालीय छन्दमें इसका उदाहरण—

समरशिरसि सह्यते द्विषां नवनिशितायुधवृष्टिरग्रतः।
कुवलयदलदीर्घचक्षुषां प्रमदानां न कटाक्षवीक्षितम्॥

औपच्छन्दसकमें—

परयुवतिषु पुत्रभावमादौ कृत्वा प्रार्थयते पुनः पतित्वम्।
इदमपरमिहोच्यते विशेषादौपच्छन्दसकं खलस्य वृत्तम्॥

आपातलिकामें—

अभिरमयति किंनरकण्ठी हंसगतिः श्रवणायतनेत्रा।
विशदकमलकोमलगात्री युवतिरियं हृदयं तरुणानाम्॥

हो तो उसका नाम 'प्राच्यवृत्ति'[२०] होता है। [यद्यपि सम लकारका विषम लकारके साथ मिलना निषिद्ध किया गया है, तथापि वह सामान्य नियम है; प्राच्यवृत्ति आदि विशेष स्थलोंमें उस नियमका अपवाद होता है।] शेष लकार पूर्वोक्त प्रकारसे ही रहेंगे। जब प्रथम और तृतीय चरणमें दूसरा लकार तीसरेके साथ मिश्रित होता है, तब 'उदीच्यवृत्ति'[२१] नामक वैतालीय कहलाता है। शेष लकार पूर्वोक्त रूपमें ही रहते हैं। जब दोनों लक्षणोंकी एक साथ ही प्रवृत्ति हो, अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें पञ्चम लकारके साथ चौथा मिल जाय और प्रथम एवं तृतीय चरणोंमें तृतीयके साथ द्वितीय लकार संयुक्त हो जाय तो 'प्रवृत्तिक'[२२] नामक छन्द होता है। जिस वैतालीय छन्दके चारों चरण विषम पादोंके ही अनुसार हों, अर्थात् प्रत्येक पाद चौदह लकारोंसे युक्त हो तथा द्वितीय लकार तृतीयसे मिला हो, उसे 'चारुहासिनी'[२३] कहते हैं। जब चारों चरण सम पादोंके लक्षणसे युक्त हों, अर्थात् सबमें सोलह लकार (मात्राएँ) हों और चतुर्थ लकार पञ्चमसे मिला हो तो उसका नाम 'अपरान्तिका'[२४] है। जिसके प्रत्येक पादमें सोलह लकार हों, किंतु पादके अन्तिम अक्षर गुरु ही हों, उसे 'मात्रासमक'[२५] नामक छन्द कहा गया है। साथ ही इस छन्दमें नवम लकार किसीसे मिला नहीं रहता। जिस 'मात्रासमक'के चरणमें बारहवाँ लकार अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है, किसीसे मिलता नहीं, उसका नाम 'वानवासिका'[२६] है। जिसके चारों चरणोंमें पाँचवाँ और आठवाँ लकार लघुरूपमें ही स्थित रहता है, उसका नाम 'विश्लोक'[२७] है। जहाँ नवाँ भी लघु हो, वह 'चित्रा'[२८] नामक छन्द कहलाता है। जहाँ नवाँ लकार दसवेंके साथ मिलकर गुरु हो गया हो, वहाँ 'उपचित्रा'[२९] नामक छन्द होता है। मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका, चित्रा और उपचित्रा—इन पाँचोंमें जिस-किसी भी छन्दके एक-एक पादको लेकर जब चार चरणोंका छन्द बनाया जाय, तब उसे 'पादाकुलक'[३०] कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरणमें सोलह लघु स्वरूपसे ही स्थित हों, किसीसे मिलकर गुरु न हो गये हों, उस छन्दका नाम 'गीत्यार्या'[३१] है। इसी गीत्यार्यामें जब आधे भागकी सभी मात्राएँ गुरुरूपमें हों और आधे भागकी मात्राएँ लघुरूपमें तो उसका नाम 'शिखा' होता है। इसीके दो भेद हैं—पूर्वार्धभागमें लघु-ही-लघु और उत्तरार्धमें गुरु-ही-गुरु हों तो उसका नाम 'ज्योति'[३२],

२०. प्राच्यवृत्तिका उदाहरण—

विपुलार्थसुवाच्यकाक्षराः कस्य नाम न हरन्ति मानसम्।
रसभावविशेषपेशलाः प्राच्यवृत्तिकविकाव्यसम्पदः॥

२१. उदीच्यवृत्तिका उदाहरण—

अवाचकमनूर्जिताक्षरं श्रुतिदुष्टं यतिकष्टमक्रमम्।
प्रसादरहितं च नेष्यते कविभिः काव्यमुदीच्यवृत्तिभिः॥

२२. इदं भरतवंशभूभृतां श्रूयतां श्रुतिमनोरसायनम्।
पवित्रमधिकं शुभोदयं व्यासवक्त्रकथितं प्रवृत्तकम्॥

२३. मनाक्प्रसृतदन्तदीधितिः स्मरोल्लसितगण्डमण्डला।
कटाक्षललिता तु कामिनी मनो हरति चारुहासिनी॥

२४. स्थिरविलासनतमौक्तिकावली कमलकोमलाङ्गी मृगेक्षणा।
हरति कस्य हृदयं न कामिनः सुरतकेलिकुशलापरान्तिका॥

२५. अश्मश्रुमुखो विरलैर्दन्तैर्गम्भीराक्षो मितनासाग्रः।
निर्मांसहनुः स्फुटितैः केशैर्मात्रासमकं लभते दुःखम्॥

२६. मन्मथचापध्वनिरमणीयः सुरतमहोत्सवपटहनिनादः।
वनवासस्त्रीस्वनितविशेषः कस्य न चित्तं रमयति पुंसः॥

२७. आतर्गुणरहितं विश्लोकं दुर्नयचरणकदर्थितलोकम्।
जातं महितकुलेऽप्यविनीतं मित्रं परिहर साधुविगीतम्॥

२८. यदि वाञ्छसि परपदमारोढुं मैत्रीं परिहर सह वनिताभिः।
मुह्यति मुनिरपि विषयासङ्गाच्चित्रा भवति हि मनसो वृत्तिः॥

२९. यच्चित्तं गुरुसक्तमुदारं विद्याभ्यासमहाव्यसनं च।
पृथ्वी तस्य गुणैरुपचित्रा चन्द्रमरीचिनिभैर्भवतीयम्॥

३०. अलिवाचालितविकसितचूते काले मदनसमागमदूते।
स्मृत्वा कान्तां परिहृतसार्थः पादाकुलकं धावति पान्थः॥

(इसमें मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका और उपचित्राके चरण हैं।)

३१. मदकलखगकुलकलरवमुखरिणि
विकसितसरसिजपरिमलसुरभिणि।
गिरिवरपरिसरसरसि महति खलु
रतिरतिशयमिह मम हृदि विलसति॥

३२. यदि सुखमनुपममपरमभिलषसि
परिहर युवतिषु रतिमतिशयमिह।
आत्मज्योतिर्योगाभ्यासाद्
दृष्ट्वा दुःखच्छेदं कुर्याः॥

बताया गया है। इसके विपरीत पूर्वार्धभागमें सब गुरु और उत्तरार्धमें सब लघु हों तो 'सौम्या[33]' नामक छन्द होता है। जब पूर्वार्धभागमें उन्तीस लकार और उत्तरार्धमें इकतीस लकार हों एवं अन्तिम दो लकारोंके स्थानमें एक-एक गुरु हो तो उसका नाम 'चूलिका[34]' होता है। छन्दकी मात्राओंसे उसके अक्षरोंमें जितनी कमी हो, उतनी गुरुकी संख्या और अक्षरोंसे जितनी कमी गुरुकी संख्यामें हो, उतनी लघुकी संख्या मानी गयी है। तात्पर्य यह है[35] कि यदि कोई पूछे, इस आर्यामें कितने लघु और कितने गुरु हैं तो उस आर्याको लिखकर उसकी सभी मात्राओंकी गणना करके कहीं लिख ले, फिर अक्षरोंकी संख्या लिख ले। मात्राके अङ्कोंमेंसे अक्षरोंके अङ्क घटा दे; जितना बचे, वह गुरुकी संख्या हुई। इसी प्रकार अक्षरसंख्यामें गुरुकी संख्या घटा देनेपर जो बचे, वह लघु अक्षरोंकी संख्या होगी[36]। इस प्रकार वर्ण आदिके अन्तरसे गुरु-लघु आदिका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १३—१८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दोजातिका निरूपण' नामक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३१ ॥

तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय

विषमवृत्तका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—[छन्द या पद्य दो प्रकारके हैं—'जाति' और 'वृत्त'। यहाँतक 'जाति' छन्दोंका निरूपण किया गया, अब 'वृत्त'का वर्णन करते हैं—] वृत्तके तीन भेद हैं—सम, अर्धसम तथा विषम। इन तीनोंका प्रतिपादन करता हूँ। 'समवृत्त'की संख्यामें उतनी ही संख्यासे गुणा करे। इससे जो गुणनफल हो, उसे अर्धसमवृत्तकी संख्या समझनी चाहिये। इसी प्रकार 'अर्धसमवृत्त'की संख्यामें भी उसी संख्यासे गुणा करनेपर जो अङ्क उपलब्ध हो, वह 'विषमवृत्त'की संख्या है। विषमवृत्त और अर्धसमवृत्तकी संख्यामेंसे मूलराशि घटा देनी चाहिये। इससे शुद्ध विषम और शुद्ध अर्धसम-वृत्तकी संख्याका ज्ञान होगा। [केवल गुणनसे जो संख्या ज्ञात होती है, वह मिश्रित होती है; उसमें अर्धसमके साथ सम और विषमके साथ अर्धसमकी संख्या भी सम्मिलित रहती है[1]।] जो अनुष्टुप् छन्द प्रत्येक चरणमें गुरु और

---

३३. सौम्यां दृष्टिं देहि स्नेहाद् देहेऽस्माकं मानं मुक्त्वा।
शशधरमुखि सुखमुपनय मम हृदि मनसिजरुजमपहर लघुतरमिह ॥

३४. रतिकरमलयमरुति शुभशशभृति समभिहतहिममहसि मधुसमये।
प्रवससि पथिक विरहितं कथमिह तु परिहृतयुवतिरतिचपलतया ॥

३५. 'एकोनत्रिंशदन्ते' इत्यादिकी व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है—एकतीस मात्राएँ एवं अन्तमें गुरु होनेसे 'चूलिका'का आधा भाग सम्पन्न होता है। इस प्रकार इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनोंमें ही इकतीस-इकतीस मात्राएँ होती हैं तथा अन्तिम दो मात्राएँ गुरुके रूपमें रहती हैं। इस छन्दमें पादकी व्यवस्था नहीं है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

घनपरिमलमिलदलिकुलमुखरितनिखिलकमलवनमलयजवने।
जनयति मनसि मम तु शशिमुखि मुदमतिशयितमिह मधुररयमधुना ॥

३६. उदाहरणार्थ यह 'आर्या' छन्द प्रस्तुत है—

स्तनयुगलमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः। चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ॥

इसमें मात्रासंख्या ५७ है, इसमेंसे अक्षरसंख्या चालीस घटी, शेष बचा १७। इतने गुरुवर्ण हैं। अक्षरसंख्या ४० में १७ गुरुसंख्या घटा दी गयी। शेष २३ लघुसंख्या है। इसी तरह अन्यत्र समझना चाहिये।

१. इन सब भेदोंको इस प्रकार समझना चाहिये। गायत्री छन्दमें कितने समवृत्त, कितने अर्धसमवृत्त और कितने विषमवृत्त होंगे, इसकी संख्या दी जाती है। गायत्री छन्द चौबीस अक्षरोंका है। इसके चार भाग करनेपर एक-एक पादमें छः-छः अक्षर हो सकते हैं। इसमें वर्णप्रस्तारके नियमानुसार प्रस्तार करनेपर सर्वगुरुसे लेकर सर्वलघुतक चौसठ भेद हो सकते हैं। ये सभी समवृत्तके भेद हैं। उपर्युक्त नियमानुसार समवृत्तकी संख्या चौसठमें चौसठका गुणा करनेपर

लघु अक्षरोंद्वारा समाप्त होता है, अर्थात् जिसके प्रत्येक पादमें अन्तिम दो वर्ण क्रमशः गुरु-लघु होते हैं, उसे 'समानी'[2] नाम दिया गया है। जिसके चारों चरणोंके अन्तिम वर्ण क्रमशः लघु और गुरु हों, उसकी 'प्रमाणी'[3] संज्ञा है। इन दोनोंसे भिन्न स्थितिवाला छन्द 'वितान' कहलाता है। [इसके अन्तिम दो वर्ण केवल लघु अथवा केवल गुरु भी हो सकते हैं।] यहाँसे तीन अध्यायोंतक 'पादस्य' इस पदका अधिकार है तथा 'पदचतुरूर्ध्वं' छन्दके पहलेतक 'अनुष्टुब्-वक्त्रम्' का अधिकार है। तात्पर्य यह कि आगे बताये जानेवाले कुछ अनुष्टुप् छन्द 'वक्त्र' संज्ञा धारण करते हैं। 'वक्त्र' जातिके छन्दमें पादके प्रथम अक्षरके पश्चात् सगण (।।ऽ) और नगण (।।।) नहीं प्रयुक्त होने चाहिये।[5] इन दोनोंके अतिरिक्त मगण आदि छः गणोंमेंसे किसी एक गणका प्रयोग हो सकता है। पादके चौथे अक्षरके बाद भगण (ऽ।।) का प्रयोग करना उचित है।[6] जिस 'वक्त्र' जातिके छन्दमें द्वितीय और चतुर्थ पादके चौथे अक्षरके बाद जगण (।ऽ।) का प्रयोग हो, उसे 'पथ्या वक्त्र' कहते हैं। किसी-किसीके मतमें इसके विपरीत न्यास करनेसे, अर्थात् प्रथम एवं तृतीय पादके बाद जगण (।ऽ।) का प्रयोग करनेसे 'पथ्या' संज्ञा होती है। जब विषम पादोंके चतुर्थ अक्षरके बाद नगण (।।।) हों तथा सम पादोंमें चतुर्थ अक्षरके बाद यगण (।ऽऽ) की ही स्थिति हो तो उस 'अनुष्टुब्वक्त्र' का नाम 'चपला' होता है। जब सम पादोंमें सातवाँ अक्षर लघु हो, अर्थात् चौथे अक्षरके बाद जगण (।ऽ।) हो तो उसका नाम 'विपुला' होता है। [यहाँ सम पादोंमें तो सप्तम लघु होगा ही, विषम पादोंमें भी यगणको बाधितकर अन्य गण हो सकते हैं—यही 'विपुला' और 'पथ्या' का भेद है।] सैतव आचार्यके मतमें विपुलाके सम और विषम सभी पादोंमें सातवाँ अक्षर लघु होना चाहिये। जब प्रथम और तृतीय पादोंमें चतुर्थ अक्षरके बाद यगणको बाध कर विकल्पसे भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।) और तगण (ऽऽ।) आदि हों तो 'विपुला' छन्द होता है।

इस प्रकार 'विपुला' अनेक प्रकारकी होती है। यहाँतक 'वक्त्र' जातिके छन्दोंका वर्णन किया गया। अनुष्टुप् छन्दके प्रथम पादके पश्चात् जब प्रत्येक चरणमें क्रमशः चार-चार अक्षर

४०९६ होती है। यह सममिश्रित अर्धसमवृत्तकी संख्या हुई। पुनः इसमें इतनी ही संख्यासे गुणा करनेपर १६७७७२१६ होता है। यह सम-अर्धसम-मिश्रित विषमवृत्तकी संख्या हुई। इसमें मूलराशि गुण्य अङ्क ४०९६ को घटा देनेपर १६७७३१२० होता है। यह शुद्ध विषमवृत्तकी संख्या हुई। इसी प्रकार ४०९६ में मूलराशि ६४ घटा देनेपर ४०३२ शेष रहा। यह 'शुद्ध अर्धसम-वृत्त'की संख्या हुई।

२. समानीका उदाहरण—

वासवोऽपि विक्रमेण यत्समानतां न याति।
तस्य वल्लभेश्वरस्य केन तुल्यता क्रियेत॥
ॐ नमो जनार्दनाय पापसंघमोचनाय।
दुष्टदैत्यमर्दनाय पुण्डरीकलोचनाय॥

३. प्रमाणीका उदाहरण—

सरोजयोनिरम्बरे रसातले तथाच्युतः।
तव प्रयाणमीक्षितुं क्षमौ न तौ बभूवतुः॥

४. वितानका उदाहरण—

तृष्णां त्यज धर्मं भज पापे हृदयं मा कुरु।
इष्टा यदि लक्ष्मीस्तव शिष्टामनिशं संश्रय॥
हृदयं यस्य विशालं गगनायोगसमानम्।
लभतेऽसौ मणिचित्रं नृपतिर्मूर्ध्नि वितानम्॥

५. नवधाराम्बुसंसिक्तं वसुधागन्धिनिःश्वासम्।
किंचिदुन्नतघोणाग्रं मही कामयते वक्त्रम्॥

६. दुर्भाषितेऽपि सौभाग्यं प्रायः प्रकुरुते प्रीतिः।
माधुर्यमनो हरन्त्येव दौर्लाल्त्योक्तिभिर्बालाः॥

७. उदाहरण—नित्यं नीतिनिषण्णस्य राज्ञो राष्ट्रं न सीदति।
न हि पथ्याशिनः काये जायन्ते व्याधिवेदनाः॥

८. " भर्तुराज्ञानुवर्तिनी या स्त्री स्यात् सा स्थिरा लक्ष्मीः।
स्वप्रभुत्वाभिमानिनी विपरीता परित्याज्या॥

९. " क्षीयमाणाग्रदशना वक्त्रनिर्मांसनासाग्रा।
कन्यका वाक्यचपला लभते धूर्तसौभाग्यम्॥

१०. " सैतवेन यथार्णवं तीर्णो दशरथात्मजः।
रक्षःक्षमकरीं पुनः प्रतिज्ञां स्वेन बाहुना॥

११. यगणके द्वारा उदाहरण—

इयं सखे चन्द्रमुखी स्मितज्योत्स्ना च मानिनी।
इन्दीवराक्षी हृदयं दंदहीति तथापि मे॥

इसी प्रकार अन्य भी बहुत-से उदाहरण हो सकते हैं। 'विपुला' छन्दके पादोंका चौथा अक्षर प्रायः गुरु ही होता है।

बढ़ते जायँ तो 'पदचतुरूर्ध्व'[12] नामक छन्द होता है। [तात्पर्य यह कि इसके प्रथम पादमें आठ अक्षर, द्वितीय पादमें बारह, तृतीय पादमें सोलह और चतुर्थ पादमें बीस अक्षर होते हैं।] उक्त छन्दके चारों चरणोंमें अन्तिम दो अक्षर गुरु हों तो उसकी 'आपीड'[13] संज्ञा होती है। [यहाँ अन्तिम अक्षरोंको गुरु बतलानेका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि शेष लघु ही होते हैं।] जब आदिके दो अक्षर गुरु और शेष सभी लघु हों तो उसका नाम 'प्रत्यापीड'[14] होता है। 'पदचतुरूर्ध्व' नामक छन्दके प्रथम पादका द्वितीय आदि पादोंके साथ परिवर्तन होनेपर क्रमशः 'मञ्जरी'[15], 'लवली'[16] तथा 'अमृतधारा'[17] नामक छन्द होते हैं। [अर्थात् जब प्रथम पादके स्थानमें द्वितीय पाद और द्वितीय पादके स्थानमें प्रथम पाद हों तो 'मञ्जरी' छन्द होता है। जब प्रथम पादके स्थानमें तृतीय पाद और तृतीय पादके स्थानमें प्रथम पाद हो तो 'लवली' छन्द होता है और जब प्रथम पादके

१२. तस्याः कटाक्षविक्षेपैः कम्पिततनुकुटिलैरतिदीर्घैः ।
तक्षकदष्ट इवेन्द्रियशून्यः क्षतचैतन्यः, पदचतुरूर्ध्वं न चलति पुरुषः पतति सहसैव ॥
—इसमें गुरु-लघुका विभाग नहीं होता ।

१३. कुसुमितसहकारे हतहिमभहिमशुचिशशाङ्के ।
विकसितकमलसरसि मधुसमयेऽस्मिन्, प्रवससि पथिकहतक यदि भवति तव विपत्तिः ॥

१४. चित्तं मम रमयति, कान्तं वनमिदमुपगिरिनदि ।
गुञ्जन्मधुकरकलरवकृतजनधृति, पुंस्कोकिलमुखरितसुरभिकुसुमचिततरुवति ॥

१५. जनयति महतीं प्रीतिं हृदये, कामिनां चूतमञ्जरी ।
मिलदलिचक्रचञ्चुपरिचुम्बितकेसरा, कोमलमलयवातपरिनर्तिततरुशिखरस्थिता ॥

१६. विरहविधुरहूणकाङ्गनाकपोलोपमं, परिणतिधरं पीतपाण्डुच्छवि ।
लवलीफलं निदाघे, भवति जगति हिमकरशीतलमतिस्वादूष्णहरम् ॥

१७. परिवाञ्छसि कर्णरसायनं सततममृतधाराभिर्यदि हृदि वा परमानन्दरसम् ।
चेतः शृणु धरणीधरवाणीममृतमयीं तत्काव्यगुणभूषणम् ॥

स्थानमें चतुर्थ पाद और चतुर्थ पादके स्थानमें प्रथम पाद हो तो 'अमृतधारा' नामक छन्द होता है।] अब 'उद्गता' छन्दका प्रतिपादन किया जाता है। जहाँ प्रथम चरणमें सगण (। । ऽ), जगण (। ऽ ।), सगण (। । ऽ) और एक लघु—ये दस अक्षर हों, द्वितीय पादमें भी नगण (। । ।), सगण (। । ऽ), जगण (। ऽ ।) और एक गुरु—ये दस ही अक्षर हों, तृतीय पादमें भगण (ऽ । ।), नगण (। । ।), जगण (। ऽ ।), एक लघु तथा एक गुरु—ये ग्यारह अक्षर हों तथा चतुर्थ चरणमें सगण (। । ऽ), जगण (। ऽ ।), सगण (। । ऽ), जगण (। ऽ ।) और एक गुरु—ये तेरह अक्षर हों, वह 'उद्गता'[18] नामवाला छन्द है। उद्गताके तृतीय चरणमें जब रगण (ऽ । ऽ), नगण (। । ।), भगण (ऽ । ।) और एक गुरु—ये दस अक्षर हों तथा शेष तीन पाद पूर्ववत् ही रहें तो उसका नाम 'सौरभ'[19] होता है। उद्गताके तृतीय पादमें जब दो नगण और दो सगण हों और शेष चरण ज्यों-के-त्यों रहें तो उसकी 'ललित'[20] संज्ञा होती है। जिसके प्रथम चरणमें यगण, सगण, जगण, भगण और दो गुरु (अठारह अक्षर) हों, द्वितीय चरणमें सगण, नगण, जगण, रगण और एक गुरु (तेरह अक्षर) हों, तृतीय चरणमें दो नगण और एक सगण (नौ अक्षर) हों तथा चतुर्थ चरणमें तीन नगण, एक जगण और एक भगण (पंद्रह अक्षर) हों, वह उपस्थित 'प्रचुपित'[21] नामक छन्द होता है। उक्त छन्दके तृतीय चरणमें जब क्रमशः दो नगण, एक सगण, फिर दो नगण और एक सगण

१८. मृगलोचना शशिमुखी च, रुचिरदशना नितम्बिनी ।
हंसललितगमना ललना, परिणीयते यदि भवेत् कुलोद्गता ॥

१९. विनिवारितोऽपि नयनेन, तदपि किमिहागतो भवान् ।
एतदेव तव सौरभकं यदुदीरितार्थमपि नावबुद्ध्यसे ॥

२०. सततं प्रियंवदमनूनममलहृदयं गुणोत्तरम् ।
सुललितमतिकमनीयतनुं पुरुषं त्यजन्ति न तु जातु योषितः ॥

२१. रामा कामकरेणुका मृगायतनेत्रा, हृदयं हरति पयोधरावनम्रा ।
इयमतिशयसुभगा, बहुविधनिधुवनकुशला कलिताङ्गी ॥

(अठारह अक्षर) हों तो वह 'वर्धमान'[22] छन्द नाम धारण करता है। उसी छन्दमें तृतीय चरणके स्थानमें जब तगण, जगण और रगण (ये नौ अक्षर) हों तो वह 'शुद्ध विराषभ'[23] छन्द कहलाता है। अब अर्धसमवृत्तका वर्णन करूँगा॥ १—१०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विषमवृत्तका वर्णन' नामक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३२॥

तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय

अर्धसम-वृत्तोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—जिसके प्रथम चरणमें तीन सगण, एक लघु और एक गुरु (कुल ग्यारह अक्षर) हों, दूसरे चरणमें तीन भगण एवं दो गुरु हों तथा पूर्वार्धके समान ही उत्तरार्ध भी हो, वह 'उपचित्रक'[1] नामक छन्द है। जिसके प्रथम पादमें तीन भगण एवं दो गुरु हों और द्वितीय पादमें एक नगण (। । ।), दो जगण (। ऽ ।) एवं एक जगण हो, वह 'द्रुतमध्या'[2] नामक छन्द होता है। [यहाँ भी प्रथम पादके समान तृतीय पाद और द्वितीय पादके समान चतुर्थ पाद जानना चाहिये। यही बात आगेके छन्दोंमें भी स्मरण रखनेयोग्य है।] जिसके प्रथम चरणमें तीन सगण और एक गुरु तथा द्वितीय चरणमें तीन भगण एवं दो गुरु हों, उस छन्दका नाम 'वेगवती'[3] है। जिसके पहले पादमें तगण (ऽऽ ।), जगण (। ऽ ।), रगण (ऽ । ऽ) और एक गुरु तथा दूसरे चरणमें मगण (ऽऽऽ), सगण (॥ऽ), जगण (। ऽ ।) एवं दो गुरु हों, वह 'भद्रविराट्'[4] नामक छन्द है। जिसके प्रथम पादमें सगण, जगण, सगण और एक गुरु तथा द्वितीय पादमें भगण, रगण, नगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'केतुमती'[5] है। जिसके पहले चरणमें दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों तथा दूसरे चरणमें जगण, तगण, जगण एवं दो गुरु हों, उसे 'आख्यानिकी'[6] कहते हैं। इसके विपरीत यदि प्रथम चरणमें जगण, तगण, जगण एवं दो गुरु हों और द्वितीय चरणमें दो तगण, एक जगण तथा दो गुरु हों तो उसकी 'विपरीताख्यानकी'[7] संज्ञा होती है। जिसके पहले पादमें तीन सगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा दूसरेमें नगण, भगण, भगण, एवं रगण मौजूद हों, उस छन्दका नाम 'हरिणप्लुता'[8] है। जिसके प्रथम चरणमें दो नगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु हो तथा दूसरे चरणमें एक नगण, दो जगण और एक रगण हो, वह 'अपरवक्त्र'[9] नामक छन्द है। जिसके प्रथम पादमें दो नगण, एक रगण और एक यगण हो तथा दूसरेमें एक

२२. बिम्बोष्ठी कठिनोन्नतस्तनावनताङ्गी, हरिणी शिशुनयना नितम्बगुर्वी।
जनयति मम मनसि मुदं मदिराक्षी, मदकलकरिगमना परिणतशशिवदना॥
२३. कन्येयं कनकोज्ज्वला मनोहरदीप्तिः शशिनिर्मलवदना विशालनेत्रा।
पीनोरुनितम्बशालिनी सुखयति हृदयमतिशयं तरुणानाम्॥

१. उपचित्रकमत्र विराजते चूतवनं कुसुमैर्विकसद्भिः। परपुष्टविघुष्टमनोहरं मन्मथकेलिनिकेतनमेतत्॥
२. यद्यपि शीघ्रगतिर्मृदुगामी बहुधनवानपि दुःखमुपैति। नातिशयत्वरिता न च मृद्वी नृपतिगतिः कथिता द्रुतमध्या॥
३. तव मुञ्ज नराधिपसेनां वेगवतीं सहते समरेषु। प्रलयोर्मिमिवाभिमुखीं तां कः सकलक्षितिभृन्निवहेषु॥
४. यत्पादतले चकास्ति चक्रं हस्ते वा कुलिशं सरोरुहं वा। राजा जगदेकचक्रवर्ती स्याच्छं भद्रविराट् समश्नुतेऽसौ॥
५. हतभूरिभूमिपतिचिह्नां युद्धसहस्रलब्धजयलक्ष्मीम्। सहते न कोऽपि वसुधायां केतुमतीं नरेन्द्र तव सेनाम्॥
६. भृङ्गावलीमङ्गलगीतनादैर्जनस्य चित्ते मुदमादधाति। आख्यानिकी च सरजन्मपाशमहोत्सवस्याश्रवणे क्वणन्ती॥
७. अलं तवालीकवचोभिरेभिः स्वार्थं प्रिये साधय कार्यमन्यत्। कथं कथावर्णनकौतुकं स्यादाख्यानिकी चेद् विपरीतवृत्तिः॥
आख्यानिकीके दोनों भेद उपजातिके अन्तर्गत हैं। यहाँ विशेष संज्ञा-विधानके लिये पढ़े गये हैं।
८. तव मुञ्ज नराधिप विद्विषां भयविवर्जितकेतुलघीयसाम्। रणभूमिपराङ्मुखवर्त्मनां भवति शीघ्रगतिर्हरिणीप्लुता॥
९. 'अपरवक्त्र' नामक छन्द 'वैतालीय' छन्दके अन्तर्गत है; फिर भी विशेष संज्ञा-विधानके लिये यहाँ पढ़ा गया है। उदाहरण—
सकृदपि कृपणेन चक्षुषा नरवर पश्यति यस्तवाननम्। न पुनरपरवक्त्रमीक्षते स हि सुखितोऽर्थिजनस्तथाविधः॥

नगण, दो जगण एक रगण और एक गुरु हो, उसका नाम 'पुष्पिताग्रा'[10] है। जिसके पहले चरणमें रगण, जगण, रगण, जगण हो तथा दूसरेमें जगण, रगण, जगण, रगण और एक गुरु हो उसे 'यवमती'[11] कहते हैं। जिसके प्रथम और तृतीय चरणोंमें अट्ठाईस लघु और अन्तमें एक गुरु हो तथा दूसरे एवं चौथे चरणोंमें तीस लघु एवं एक गुरु हो तो उसका नाम 'शिखा'[12] होता है। इसके विपरीत यदि प्रथम और तृतीय चरणोंमें तीस लघु और एक गुरु हो तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणोंमें अट्ठाईस लघुके साथ एक गुरु हो तो उसे 'खञ्जा'[13] कहते हैं। अब 'समवृत्त'का दिग्दर्शन कराया जाता है॥ १—६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अर्धसमवृत्तका वर्णन' नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३३॥

तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय

समवृत्तका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—'यति' नाम है विच्छेद या विरामका। [पादके अन्तमें श्लोकार्ध पूरा होनेपर तथा कहीं-कहीं पादके मध्यमें भी 'यति' होती है।] जिसके प्रत्येक चरणमें क्रमशः तगण और यगण हों, उसका नाम 'तनुमध्या'[1] है। [यह गायत्री छन्दका वृत्त है।] जिसके प्रत्येक चरणमें जगण, सगण और एक गुरु हो, उसे 'कुमारललिता'[2] कहते हैं। [यह उष्णिक् छन्दका वृत्त है। इसमें तीन, चार अक्षरोंपर विराम होता है।] दो भगण और दो गुरुसे जिसके चरण बनते हों, वह 'चित्रपदा'[3] है। [यह अनुष्टुप् छन्दका वृत्त है, इसमें पादान्तमें ही यति होती है।] जिसके प्रत्येक पादमें दो मगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'विद्युन्माला'[4] है। [इसमें चार-चार अक्षरोंपर विराम होता है। यह भी अनुष्टुप्का ही वृत्त है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, तगण, एक लघु और एक गुरु हो, उसको 'माणवकाक्रीडितक'[5] कहते हैं। [इसमें भी चार-चार अक्षरोंपर विराम होता है।] जिसके प्रति चरणमें रगण, नगण और सगण हो, वह 'हलमुखी'[6] नामक छन्द है। [इसमें तीन, पाँच, छः अक्षरोंपर विराम होता है, यह बृहती छन्दका वृत्त है।]॥ १-२॥

जिसके प्रत्येक चरणमें दो नगण और एक मगण हो, वह 'भुजङ्गशिशुभृता'[7] नामक छन्द है। [इसमें सात और दो अक्षरोंपर विराम है। यह भी बृहतीमें ही है।] मगण, नगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले छन्दको 'हंसरुत'[8] कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण और एक गुरु हों, वह 'शुद्धविराट्'[9] नामक छन्द कहा गया है। [यहाँसे इन्द्रवज्राके पहलेतकके छन्द पङ्क्ति छन्दके अन्तर्गत

१०. यह छन्द 'औपच्छन्दसक'के अन्तर्गत है, तो भी विशेष संज्ञा देनेके लिये इस प्रकरणमें इसका पाठ किया गया है। उदाहरण—

समसितदशना मृगायताक्षी सितसुभगा प्रियवादिनी विदग्धा। अपहरति नृणां मनांसि रामा भ्रमरकुलानि लतेव पुष्पिताग्रा॥

११. पद्मकं तु कोमले करे विभाति प्रशस्तमत्स्यलाञ्छनं च पदे यस्याः। सा यवान्विता भवेद्धनाधिका च समस्तबन्धुपूजिता प्रिया च पत्युः॥

१२. अभिमतबकुलकुसुमघनपरिमलमिलदलिमुखरितहरिति मधौ सहचरमलयपवनरयतरलितसरसिजरजसि शयतरणि वितते।

विकसित विविधकुसुमसुलभसुरभिशरमदननिहतसकलजने ज्वलयति मम हृदयमविरतमिह सुतनु तव विरहदहनविषमशिखा॥

१३. 'शिखा' छन्दके ही समान 'खञ्जा'का भी उदाहरण होगा। उसका सम इसका विषम होगा और उसका विषम इसका सम होगा।

१. उदाहरण—धन्या त्रिषु नीचा कन्या तनुमध्या। श्रोणीस्तनगुर्वी रामा रमणीया॥

२. उदाहरण—यदीह पतिसेवारता भवति योषा। कुमारललितासौ सदैव नमनीया॥

३. उदाहरण—यस्य मुखे प्रियवाणी चेतसि सज्जनता च। चित्रपदापि च लक्ष्मीस्तं पुरुषं न जहाति॥

४. उदाहरण—विद्युन्मालालोलान् भोगान् मुक्त्वा मुक्तौ यत्नं कुर्यात्। ध्यानोत्पन्नं निस्सामान्यं सौख्यं भोक्तुं यद्याकाङ्क्षेत्॥

५. उदाहरण—माणवकाक्रीडितकं यः कुरुते वृद्धवयाः। हास्यमसौ याति जने भिक्षुरिव स्त्रीचपलः।

६. उदाहरण—गण्डयोरतिशयकृशं यन्मुखं प्रकटदशनम्। आयतं कलहनिरतं तां स्त्रियं त्यज हलमुखीम्॥

७. उदाहरण—इयमधिकतरं रम्या विकचकुवलयश्यामा। रमयति हृदयं यूनां भुजगशिशुभृता नारी॥

८. उदाहरण—अभ्यागामिशिशुलक्ष्मीमञ्जीरक्वणिततुल्यम्। तीरे राजति नदीनां रम्यं हंसरुतमेतत्॥

९. विश्वं तिष्ठति कुक्षिकोटरे वक्त्रे यस्य सरस्वती सदा। अस्मद्वंशपितामहो गुरुर्ब्रह्मा शुद्धविराट् पुनातु नः॥

हैं; इसमें पादान्तमें विराम होता है ।] जिसके प्रत्येक पादमें मगण, नगण, यगण और एक गुरु हों, वह 'पणव[10]' नामक छन्द है । [इसमें पाँच-पाँचपर विराम होता है ।] रगण, जगण, रगण और एक गुरुयुक्त चरणवाले छन्दका नाम 'मयूरसारिणी[11]' है । [इसमें पादान्तमें विराम होता है ।] मगण, भगण, सगण और एक गुरुयुक्त चरणवाला छन्द 'मत्ता[12]' कहलाता है । [इसमें चार-छःपर विराम होता है ।] जिसके प्रत्येक पादमें तगण, दो जगण और एक गुरु हो, उसका नाम 'उपस्थिता[13]' है । [इसमें दो-आठपर विराम होता है ।] भगण, मगण, सगण और एक गुरुसे युक्त पादवाला छन्द 'रुक्मवती[14]' कहलाता है । [इसमें पादान्तमें विराम होता है ।] जिसके प्रत्येक चरणमें दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों उसका नाम 'इन्द्रवज्रा[15]' है । [इसमें पादान्तमें विराम होता है । यहाँसे 'वंशस्थ' के पहलेतकके छन्द बृहतीके अन्तर्गत हैं ।] जगण, तगण, जगण और दो गुरुसे युक्त पादोंवाला छन्द 'उपेन्द्रवज्रा[16]' कहलाता है । [इसमें भी पादान्तमें विराम होता है ।] जब एक ही छन्दमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा—दोनोंके चरण लक्षित हों, तब उस छन्दका नाम 'उपजाति[17]' होता है । [इन दोनोंके मेलसे जो उपजाति बनती है, उसके प्रस्तारसे चौदह भेद होते हैं । इसी प्रकार 'वंशस्थ' और 'इन्द्रवज्रा' तथा 'शालिनी' और 'वातोर्मी' के मेलसे भी उपजाति छन्द होता है ।] ॥ ३—५ ॥

तीन भगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले वृत्तका नाम 'दोधक[18]' है । [इसमें पादान्तमें विराम होता है ।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, तगण, तगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'शालिनी[19]' है । इसमें चार और सात अक्षरोंपर विराम होता है । जिसके प्रत्येक पादमें मगण, भगण, तगण एवं दो गुरु हों, उसे 'वातोर्मी[20]' छन्द नाम दिया गया है । इसमें भी चार-सातपर विराम होता है । प्रत्येक चरणमें मगण, भगण, तगण, नगण, एक लघु और एक गुरु होनेसे 'भ्रमरीविलसिता[21]' (या भ्रमरविलसिता) नामक छन्द होता है । इसमें भी चार और सात अक्षरोंपर ही विराम होता है । जिसके प्रति पादमें रगण, नगण, रगण, एक लघु और गुरु हों, उसे 'रथोद्धता[22]' कहते हैं । इसमें

---

१०. मीमांसारसममृतं पीत्वा शास्त्रोक्तिः पद्धरितरा भाति ।
एवं संसदि विदुषां मध्ये जल्पामो जयपणबन्धत्वात् ॥

११. उदाहरण—या वनान्तराण्युपैति कृष्णं द्रष्टुमुत्सुका शिखण्डमौलिम् ।
बर्हिणं विलोक्य राधिका मे सा मयूरसारिणी प्रणम्या ॥

१२. उदाहरण—स्वैरालापैः श्रुतिपुटपेयै-
र्गीतैः शौरेश्चरित विशेषैः ।
श्यामप्रेम्णा व्रजवनितानां
मध्ये मत्ता विलसति कापि ॥

१३. उदाहरण—एषा जगदेकमनोहरा कन्या कनकोज्ज्वलदीधितिः ।
लक्ष्मीरिव दानवसूदनं पुण्यैर्नरनाथमुपस्थिता ॥

१४. उदाहरण—पादतले पद्मोदरगौरे राजति यस्या ऊर्ध्वगरेखा ।
सा भवति स्त्री लक्षणयुक्ता रुक्मवती सौभाग्यवती च ॥

१५. उदाहरण—ये दुष्टदैत्या इह भूमिलोके द्वेषं व्यधुर्गोद्विजदेवसंघे ।
तानिन्द्रवज्रादपि दारुणाङ्गानजीघतद् यः सततं नमस्ते ॥

१६. उदाहरण—भवन्नखाः कुन्ददलश्रियो ये
नमन्ति लक्ष्मीस्तनलेखनेऽपि ।
उपेन्द्रवज्राधिककर्कशत्वं
कथं गतास्ते रिपुदारणायाम् ॥

१७. उदाहरण—तत्रोपजातिर्विविधा विदग्धैः
संयोज्यते तु व्यवहारकाले ।
अतः प्रयत्नः प्रथमं विधेयो
नृपेण पुंरत्नपरीक्षणाय ॥

१८. दोधकमर्थविरोधकमग्रं स्त्रीचपलं युधि कातरचित्तम् ।
स्वार्थपरं मतिहीनममात्यं मुञ्चति यो नृपतिः स सुखी स्यात् ॥

१९. शुद्धश्यामा स्निग्धमुग्धायताक्षी
पीनश्रोणिर्दक्षिणावर्तनाभिः ।
मध्ये क्षामा पीवरोरुस्तनी या
श्लाघ्या भर्तुः शालिनी कामिनी सा ॥

२०. यात्युत्सेकं सपदि प्राप्य किंचित्
स्याद् वा यस्याश्चपला चित्तवृत्तिः ।
या दीर्घाङ्गी स्फुटशब्दाट्टहासा
त्याज्या सा स्त्री द्रुतवातोर्मिमाला ॥

२१. किं ते वक्त्रं चलदलकचितं
किं वा पद्मं भ्रमरविलसितम् ।
इत्येवं मे जनयति मनसि
भ्रान्तिं कान्ते परिसर सरसि ॥

२२. या करोति विविधैर्नरैः समं
संगतिं परगृहे रता च या ।
म्लानयत्युभयतोऽपि बान्धवान्
मार्गधूलिरिव सा रथोद्धता ॥

भी पूर्ववत् चार और सात अक्षरोंपर विराम होता है। रगण, नगण, भगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले छन्दको 'स्वागता'[२३] कहते हैं। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जिसके प्रत्येक पादमें दो नगण, सगण और दो गुरु हों, उसे 'वृत्ता'[२४] (या 'वृन्ता') कहते हैं। [इसमें चार-सातपर-विराम होता है।] जिसके चरण रगण, जगण, रगण, एक लघु और एक गुरुसे युक्त हों, उसे 'श्येनी'[२५] नामक छन्द कहा गया है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जगण, रगण, जगण एवं दो गुरुसे युक्त चरणवाले छन्दका नाम 'रम्या'[२६] एवं 'विलासिनी' है। [यहाँ पादान्तमें ही विराम होता है।] ॥ ६—८ ॥

यहाँसे 'जगती' छन्दका अधिकार आरम्भ होता है [और 'प्रहर्षिणी'के पहलेतक रहता है]। जिसके प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण और रगण हों, उस छन्दका नाम 'वंशस्था'[२७] है। [यहाँ पादान्तमें विराम होता है।] दो तगण, जगण तथा रगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'इन्द्रवंशी'[२८] कहते हैं। [यहाँ भी पादान्तमें ही विराम होता है।] जिसके प्रत्येक पादमें चार सगण हों, उसका नाम 'तोटक'[२९] बताया गया है। जिसके प्रत्येक पादमें नगण, भगण, भगण और रगण हों, उसका नाम 'द्रुतविलम्बित'[३०] है। ['तोटक' और 'द्रुतविलम्बित' दोनोंमें पादान्त-विराम ही माना गया है।] जिसके सभी चरणोंमें दो-दो नगण, एक-एक मगण तथा एक-एक यगण हों, उस छन्दका नाम 'श्रीपुट'[३१] है। इसमें आठ और चार अक्षरोंपर विराम होता है। जगण, सगण, जगण, सगणसे युक्त पादोंवाले छन्दको 'जलोद्धतगति'[३२] कहते हैं। इसमें छः-छः अक्षरोंपर विराम होता है। दो नगण, एक मगण तथा एक रगणसे युक्त चरणवाले छन्दका नाम 'तत'[३३] है। नगण, यगण, नगण, यगणसे युक्त

---

२३. आहवं प्रविशतो यदि राहुः
पृष्ठतश्चरति वायुसमेतः।
प्राणवृत्तिरपि यस्य शरीरे
स्वागता भवति तस्य जयश्रीः॥

२४. द्विजगुरुपरिभवकारी यो
नरपतिरतियनलुब्धात्मा।
ध्रुवमिह निपतति पापोऽसौ
फलमिव पवनहतं वृन्तात्॥

२५. क्रूरदृष्टिरायताग्रनासिका
चञ्चला कठोरतीक्ष्णनादिनी।
युद्धकाङ्क्षिणी सदामिषप्रिया
श्येनिकेव सा विगर्हिताङ्गना॥

२६. विलासिनीविलासमोहितानां
नृणां हृदि क्व सत्त्वशालि धैर्यम्।
स उर्वशीवशीकृतो नरेन्द्र-
स्तदर्थमुन्मना चचार भूमौ॥

२७. विशुद्धवंशस्थमुदारचेष्टितं
गुणप्रियं मित्रमुपात्तसज्जनम्।
विपत्तिमग्नस्य करावलम्बनं
करोति यः प्राणपरिक्रयेण सः॥

२८. कुर्वीत यो देवगुरुद्विजन्मना-
मुर्वीपतिः पालनमर्थलिप्सया।
तस्येन्द्रवंशेऽपि गृहीतजन्मनः
संजायते श्रीः प्रतिकूलवर्तिनी॥

२९. अमुना यमुनाजलकेलिकृता
सहसा तरसा परिरभ्य धृता।
हरिणा हरिणाकुलनेत्रवती
न ययौ नवयौवनभारवती॥

३०. द्रुतगतिः पुरुषो धनभाजनं
भवति मन्दगतिश्च सुखोचितः।
द्रुतविलम्बितखेलगतिर्नृपः
सकलराज्यसुखं प्रियमश्नुते॥

३१. न विचलति कथंचिन्न्यायमार्गाद्
वसुनि शिथिलमुष्टिः पार्थिवो यः।
अमृतपुट इवासौ पुण्यकर्मा
भवति जगति सेव्यः सर्वलोकैः॥

३२. भनक्ति समरे बहूनपि रिपून्
हरिः प्रभुरसौ भुजोर्जितबलः।
जलोद्धतगतिर्यथैव मकर-
स्तरङ्गनिकरं करेण परितः॥

३३. कुरु करुणमियं गाढोत्कण्ठिका
यदुतनय चकोरी कामाधिका।
विरहदहनसङ्गादङ्गैः कृशा
पिबतु तव मुखेन्दोर्बिम्बं दृशा॥

पादवाला छन्द 'कुसुमविचित्रा'[34] कहलाता है। [इसमें भी छः-छः अक्षरोंपर विराम होता है।] जिसके प्रत्येक चरणमें दो नगण और दो रगण हों, उसका नाम 'चञ्चलाक्षिका'[35] है। [इसके भीतर सात-पाँचपर विराम होता है।] प्रत्येक पादमें चार यगण होनेसे 'भुजंगप्रयात'[36] और चार रगण होनेसे 'स्रग्विणी'[37] नामक छन्द होता है। [इन दोनोंमें पादान्त-विराम माना गया है।] जिसके प्रत्येक चरणमें सगण, जगण तथा दो सगण हों, उसकी 'प्रमिताक्षरा'[38] संज्ञा होती है। [इसमें भी पादान्तविराम ही अभीष्ट है।] भगण, मगण, सगण, मगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'कान्तोत्पीडा'[39] कहते हैं। [इसमें भी पादान्त-विराम माना गया है।] दो मगण और दो यगणयुक्त चरणवाले छन्दको 'वैश्वदेवी'[40] नाम दिया गया है। इसमें पाँच-सात अक्षरोंपर विराम होता है। यदि प्रत्येक पादमें नगण, जगण, भगण और यगण हों तो उस छन्दका नाम 'नवमालिनी'[41] होता है। यहाँतक 'जगती' छन्दका अधिकार है ॥ ९—१३ ॥

[अब 'अतिजगती' छन्दके अवान्तर भेद बतलाते हैं—] जिसके प्रत्येक चरणमें मगण, नगण, जगण, रगण तथा एक गुरु हों, उसकी 'प्रहर्षिणी'[42] संज्ञा है। इसमें तीन और दस अक्षरोंपर विराम होता है। जगण, भगण, सगण, जगण तथा एक गुरुसे युक्त चरणवाले छन्दका नाम 'रुचिरा'[43] है। इसमें चार तथा नौ अक्षरोंपर विराम माना गया है। मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरुयुक्त पादवाले छन्दको 'मत्तमयूर'[44] कहते हैं। इसमें चार और नौ अक्षरोंपर विराम होता है। तीन नगण, एक सगण और एक गुरुसे युक्त पादवाले छन्दकी 'गौरी'[45] संज्ञा है।

[अब शक्करीके अन्तर्गत विविध छन्दोंका वर्णन किया जाता है—] जिसके प्रत्येक पादमें मगण, तगण, नगण, सगण तथा दो गुरु हों और पाँच एवं नौ अक्षरोंपर विराम होता हो, उसका

---

३४. धृतनवहारं विगतविकारं
सदयमुदारं विमलविचारम्।
विरचितवेषं विबुधविशेषं
वरयति शय्या कुसुमविचित्रा ॥

३५. अतिसुरभिरभाजि पुष्पश्रिया-
मतनुतरतयेव संतानकः।
तरुणपरभृतः स्वनं रागिणा-
मतनुत रतये वसन्तानकः ॥

३६. पुरः साधुवद्भाति मिथ्या विनीतः
परोक्षे करोत्यर्थनाशं हताशः।
भुजंगप्रयातोपमं यस्य चित्तं
त्यजेत्तादृशं दुश्चरित्रं कुमित्रम् ॥

३७. यो रणे युद्धयते निर्भरं निर्भय-
स्त्यागिता यस्य सर्वस्वदानावधिः।
तं नरं वीरलक्ष्मीर्यशःस्रग्विणी
नूनमभ्येति सत्कीर्तिशुक्लांशुका ॥

३८. परिशुद्धवाक्यरचनातिशयं
परिषिञ्चती श्रवणयोरमृतम्।
प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती
तव भारती हरति मे हृदयम् ॥

३९. कान्तकरैरास्ता यदि कान्तोत्पीडां
सा मनुते क्रीडां मुदित स्वान्ता स्यात्।
स्नेहवती मान्या गृहिणी सम्राज्ञी
गेहगता देवी सदृशी सा नित्यम् ॥

४०. धन्यः पुण्यात्मा जायते कोऽपि वंशे
तादृक् पुत्रोऽसौ येन गोत्रं पवित्रम्।
गोविप्रज्ञातिस्वामिकार्ये प्रवृत्तः
शुद्धं श्राद्धादौ वैश्वदेवी भवेद् यः ॥

४१. धवलयशोऽङ्कुशेन परिवीता
सकलजनानुरागघुसृणाक्ता।
दृढगुणबद्धकीर्तिकुसुमौघै
स्तव नवमालिनीव नृपलक्ष्मीः ॥

४२. श्रीवृन्दावननवकुञ्जकेलिसद्मा
पद्माक्षी मुररिपुसङ्गशालिनी च।
श्रीराधा प्रियतममुष्टिमेयमध्या
मद्ध्याने भवतु मनःप्रहर्षिणी मे ॥

४३. मृगत्वचा रुचिरतराम्बरक्रियः
कपालभृत् कपिलजटाग्रपल्लवः।
ललाटदृग्दहनतृणीकृतस्मरः
पुनातु वः शिशुशशिशेखरः शिवः ॥

४४. व्यूढोरस्कः सिंहसमानानतमध्यः
पीनस्कन्धो मांसलहस्तायतबाहुः।
कम्बुग्रीवः स्निग्धशरीरस्तनुलोमा
भुङ्क्ते राज्यं मत्तमयूराकृतिनेत्रः ॥

४५. सकलभुवनजनगणनतपादा निजपदभजनशमितविषादा।
विजितसरसिरुहनयनपद्मा
भवतु सकलमिह जगति गौरी ॥

नाम 'असम्बाधा'[४६] है। जिसके प्रतिपादमें दो नगण, रगण, सगण और एक लघु और एक गुरु हों तथा सात-सात अक्षरोंपर विराम होता हो, वह 'अपराजिता'[४७] नामक छन्द है। दो नगण, भगण, नगण, एक लघु और एक गुरुसे युक्त पादवाले छन्दको 'प्रहरणकलिता'[४८] कहते हैं। इसमें सात-सातपर विराम होता है। तगण, भगण, दो जगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले छन्दकी 'वसन्ततिलका'[४९] संज्ञा है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] किसी-किसी मुनिके मतमें इसका नाम 'सिंहोन्नता' और 'उद्धर्षिणी' भी है॥ १४—१७॥

[इसके आगे 'अतिशक्करी'का अधिकार है।] जिसके प्रत्येक पादमें चार नगण और एक सगण हों, उसका नाम 'चन्द्रावर्ता'[५०] है। [इसमें सात-आठपर विराम होता है।] इसीमें जब छः और नौ अक्षरोंपर विराम हो तो इसका नाम 'माला'[५१] होता है। आठ और सातपर विराम होनेसे यह छन्द 'मणिगणनिकर'[५२] कहलाता है। दो नगण, मगण और दो यगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'मालिनी'[५३] कहते हैं। इसमें भी आठ और सात अक्षरोंपर ही विराम होता है। भगण, रगण, तीन नगण और एक गुरुसे युक्त चरणवाले छन्दको 'ऋषभगजविलसित'[५४] नाम दिया गया है। इसमें सात-नौ अक्षरोंपर विराम होता है। [यह 'अष्टि' छन्दके अन्तर्गत है।] यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, एक लघु तथा एक गुरुसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'शिखरिणी'[५५] कहते हैं। इसमें छः तथा ग्यारह अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरणमें जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ-नौ अक्षरोंपर विराम हो उसका नाम 'पृथ्वी'[५६] है—यह पूर्वकालमें आचार्य पिङ्गलने कहा है। मगण, रगण, नगण, भगण, नगण, एक लघु तथा एक गुरुसे युक्त पदवाले छन्दको 'वंशपत्रपतित'[५७]

---

४६. भङ्क्त्वा दुर्गाणि द्रुमवनमखिलं छित्त्वा
हत्वा तत्सैन्यं करितुरगबलं हित्वा।
येनासम्बाधा स्थितिरजनि विपक्षाणां
सर्वोर्वीनाथः स जयति नृपतिर्मुञ्जः॥

४७. फणिपतिवलयं जटामुकुटोज्ज्वलं
मनसिजमथनं त्रिशूलविभूषितम्।
स्मरसि यदि सखे शिवं शशिशेखरं
भवति तव तनुः परैरपराजिता॥

४८. सुरमुनिमनुजैरुपचितचरणां
रिपुभयचकितत्रिभुवनशरणम्।
प्रणमत महिषासुरवधकुपितां
प्रहरणकलितां पशुपतिदयिताम्॥

४९. उद्धर्षिणी जनदृशां स्तनभारगुर्वी
नीलोत्पलद्युतिमलिम्लुचलोचना च।
सिंहोन्नतत्रिकतटी कुटिलालकान्ता
कान्ता वसन्ततिलका नृपवल्लभासौ॥

५०. पटुजवपवनचलितजललहरी-
तरलितविहगनिचयरवमुखरम्।
विकसितकमलसुरभिशुचिसलिलं
विचरति पथिकमनसि शरदि सरः॥

५१. नवविकसितकुवलयदलनयनं अमृतमधुररसमयमृदुवचनम्।
मधुरिपुश्चिरजलजयुगचरणं परिसर शरणमशरणशरणम्॥

५२. कथमपि निपतितमतिमहति पदे
नरमनुसरति न फलमनुपचितम्।
अपि वरयुवतिषु कुचतटनिहतः
स्पृशति न वपुरिह मणिगणनिकरः॥

५३. अतिविपुलललाटं पीवरोरःकपाटं
सुघटितदशनोष्ठं व्याघ्रतुल्यप्रकोष्ठम्।
पुरुषमशनिलेखालक्षणं वीरलक्ष्मी-
रतिसुरभियशोभिर्मालिनीवाभ्युपैति॥

५४. आयतबाहुदण्डमुपचितपृथुहृदयं
पीनकटिप्रदेशमृषभगजविलसितम्।
वीरमुदारसत्त्वमतिशयगुणरसिकं
श्रीरतिचञ्चलापि न परिहरति पुरुषम्॥

५५. यशःशेषीभूते जगति नरनाथे गुणनिधौ
प्रवृत्ते वैराग्ये विषयरसनिष्क्रान्तमनसाम्।
इदानीमस्माकं घनतरुलतां निर्झरवतीं
तपस्तप्तुं चेतो भवति गिरिमालां शिखरिणीम्॥

५६. हताः समिति शत्रवस्त्रिभुवने प्रकीर्णं यशः
कृतश्च गुणिनां गृहे निरवधिर्महानुत्सवः।
त्वया कृतपरिग्रहे क्षितिपवीर सिंहासने
नितान्तनिरवग्रहा फलवती च पृथ्वी कृता॥

५७. अद्य कुरुष्व कर्म सुकृतं यदि परदिवसे
मित्र विधेयमस्ति भवतः किमु चिरयसि तत्।
जीवितमल्पकालकलनालघुतरतरलं
नश्यति वंशपत्रपतितं हिमसलिलमिव॥

कहते हैं। इसमें दस-सातपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरणमें नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, एक लघु तथा एक गुरु हों और छः, चार एवं सात अक्षरोंपर विराम हो, उसका नाम 'हरिणी'[५८] है। [शिखरिणीसे मन्दाक्रान्तातकका छन्द 'अत्यष्टि'के अन्तर्गत है।] मगण, भगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरुसे युक्त पादोंवाले छन्दको 'मन्दाक्रान्ता'[५९] कहते हैं। इसमें चार, छः और सात अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके पादोंमें मगण, तगण, नगण तथा तीन यगण हों, वह 'कुसुमितलतावेल्लिता'[६०] छन्द है। [यह 'धृति' छन्दके अन्तर्गत है।] इसमें पाँच, छः तथा सात अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण, भगण, दो तगण और एक गुरु हों, उसका नाम 'शार्दूलविक्रीडित'[६१] है। इसमें बारह तथा सात अक्षरोंपर विराम होता है। [यह छन्द 'अतिधृति'के अन्तर्गत है] ॥ १८—२३ ॥

'सुवदना'[६२] छन्द 'कृति'के अन्तर्गत है। इसके प्रत्येक पादमें मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, भगण, एक लघु और एक गुरु होते हैं। इसमें सात, सात, छःपर विराम होता है। जब कृतिके प्रत्येक पादमें क्रमशः गुरु और लघु अक्षर हों तो उसे 'वृत्त'[६३] छन्द कहते हैं। मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दका नाम 'स्रग्धरा'[६४] है। इसमें सात-सातके तीन विराम होते हैं। [यह 'प्रकृति' छन्दके अन्तर्गत है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, रगण, नगण, रगण, नगण, रगण, नगण तथा एक गुरु हों और दस-बारह अक्षरोंपर विराम होता हो, उसे 'सुभद्रक'[६५] छन्द कहते हैं। [यह 'आकृति' छन्दके अन्तर्गत है।] नगण, जगण, भगण, जगण, भगण, जगण, भगण, एक लघु और एक गुरुसे युक्त पादवाले छन्दकी 'अश्वललिता'[६६] संज्ञा है। इसमें ग्यारह-बारहपर विराम होता है। [यह 'विकृति'के अन्तर्गत है] ॥ २४-२५½ ॥

जिसके प्रत्येक चरणमें दो मगण, एक तगण, चार नगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ और पंद्रहपर विराम हो, उसे 'मत्तक्रीडा'[६७] (या मत्ताक्रीडा) कहते हैं। [यह भी 'विकृति'में ही है।] जिसके पृथक्-पृथक् सभी पादोंमें भगण, तगण, नगण, सगण, फिर दो भगण, नगण और यगण हों

---

५८. कुवलयदलश्यामा पीनोन्नतस्तनशालिनी
चकितहरिणीनेत्रच्छायामलिम्लुचलोचना ।
मनसिजधनुर्ज्यानिर्घोषैरिव श्रुतिपेशलै-
र्मनसि ललना लीलालापैः करोति ममोत्सवम् ॥

५९. प्रत्यादिष्टं समरशिरसः कां दिशं प्रप्य नष्टं
त्वं निःशेषं कुरु रिपुबलं मार्गमासाद्य सद्यः ।
किं नाश्रौषीः परिणतधियां नीतियोग्योपदेशं
मन्दाक्रान्ता भवति फलिनी नारिलक्ष्मीः क्षयाय ॥

६०. धन्या नामैताः कुसुमितलतावेल्लितोत्फुल्लवृक्षाः
सोत्कण्ठं कूजत्परभृतकलालापकोलाहलिन्यः ।
मध्वादौ माद्यन्मधुकरकलोद्गीतझंकाररम्या
ग्रामान्तस्रोतःपरिसरभुवः प्रीतिमुत्पादयन्ति ॥

६१. कम्बुग्रीवमुदग्रबाहुशिखरं रक्तान्तदीर्घेक्षणं
शालप्रांशुशरीरमायतभुजं विस्तीर्णवक्षःस्थलम् ।
कीलस्कन्धमनुद्धतं परिजने गम्भीरसत्यस्वरं
राज्यश्रीः समुपैति वीरपुरुषं शार्दूलविक्रीडितम् ॥

६२. या पीनोद्गाढतुङ्गस्तनजघनघनाभोगालसगति-
र्यस्याः कर्णावतंसोत्पलरुचिजयिनी दीर्घे च नयने ।
श्यामा सीमन्तिनीनां तिलकमिव मुखे या च त्रिभुवने
सम्प्राप्ता साम्प्रतं मे नयनपथमसौ दैवात् सुवदना ॥

६३. जन्तुमात्रदुःखकारिकर्म निर्मितं भवत्यनर्थहेतु
तेन सर्वमात्मतुल्यमीक्षमाण उत्तमं सुखं लभस्व ।
विद्धि बुद्धिपूर्वकं ममोपदेशवाक्यमेतदादरेण
वृत्तमेतदुत्तमं महाकुलप्रसूतजन्मनां हिताय ॥

६४. रेखाभ्रूः शुभ्रदन्तद्युतिहसितशरच्चन्द्रिका चारुमूर्ति-
र्माद्यन्मातङ्गलीलागतिरतिविपुलाभोगतुङ्गस्तनी या ।
रम्भास्तम्भोपमोरूरलिमलिनघनस्निग्धधम्मिल्लहस्ता
राधायै रक्तकण्ठी दिशतु नवमुदं स्रग्धरा कापि गोपी ॥

६५. भद्रकगीतिभिः सकृदपि स्तुवन्ति भव ये भवन्तमभवं
भक्तिभरावनम्रशिरसः प्रणम्य तव पादयोः सुकृतिनः ।
ते परमेश्वरस्य पदवीमवाप्य सुखमाप्नुवन्ति विपुलं
मर्त्यभुवं स्पृशन्ति न पुनर्मनोहरसुराङ्गनापरिवृताः ॥

६६. पवनविधूतवीचिचपलं विलोकयति जीवितं तनुभृतां
वपुरपि हीयमानमनिशं जरावनितया वशीकृतमिदम् ।
सपदि निपीडनव्यतिकरं यमादिव नराधिपामरयशः
परवनितामवेक्ष्य कुरुते तथापि हतबुद्धिरश्वललितम् ॥

६७. हृद्यं मद्यं पीत्वा नारी स्खलितगतिरतिशयरसिकहृदया
मत्ताक्रीडालोलैरङ्गैर्मुदमखिलविटजनमनसि कुरुते ।
वीतक्रीडारलीलालापैः श्रवणसुखसुभगसुललितवचना
नृत्यैर्गीतैर्भ्रूविक्षेपैः कलभणितविविधविहगकुलरुतैः ॥

तथा पाँच, सात, बारहपर विराम होता हो, उसकी 'तन्वी'[६८] संज्ञा है। [यह 'संस्कृति' छन्दके अन्तर्गत है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, मगण, सगण, भगण, चार नगण और एक गुरु हों तथा पाँच-पाँच, आठ और सातपर विराम होता हो, उस छन्दका नाम 'क्रौञ्चपदा'[६९] है। [यह 'अभिकृति' के अन्तर्गत है।] जिसके प्रतिपादमें दो मगण, तगण, तीन नगण, रगण, सगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ, ग्यारह और सातपर विराम होता हो, उस छन्दको 'भुजंगविजृम्भित'[७०] कहते हैं। [यह 'उत्कृति' छन्दके अन्तर्गत है।] जिसके प्रत्येक पादमें एक मगण, छः नगण, एक सगण और दोगुरु हों तथा नौ-छः-छः एवं पाँच अक्षरोंपर विराम होता हो, उसको 'अपवाह'[७१] या 'उपहाव' नाम दिया गया है। [यह भी 'उत्कृति' में ही है] ॥ २६—२८ ॥

[अब 'दण्डक' जातिका वर्णन किया जाता है—] जिसके प्रत्येक चरणमें दो नगण और सात रगण हों, उसका नाम 'दण्डक'[७२] है; इसीको 'चण्डवृष्टिप्रपात' भी कहते हैं। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] उक्त छन्दमें दो नगणके सिवा रगणमें वृद्धि करनेपर 'व्याल', 'जीमूत' आदि नामवाले 'दण्डक' बनते हैं। 'चण्डप्रपात' के बाद अन्य जितने भी भेद होते हैं, वे सभी दण्डक-प्रस्तार 'प्रचित'[७३] कहलाते हैं। अब 'गाथा-प्रस्तार' का वर्णन करते हैं ॥ २९-३० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समवृत्तनिरूपण' नामक तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३४ ॥

तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय

प्रस्तार-निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! इस छन्दःशास्त्रमें जिन छन्दोंका नामतः निर्देश नहीं किया गया है, किंतु जो प्रयोगमें देखे जाते हैं, वे सभी 'गाथा' नामक छन्दके अन्तर्गत हैं। अब 'प्रस्तार' बतलाते हैं। जिसमें सब अक्षर गुरु हों, ऐसे पादमें जो आदिगुरु हो, उसके नीचे लघुका उल्लेख करे। [यह 'एकाक्षर-प्रस्तार'की बात हुई। 'द्व्यक्षर-प्रस्तार'में] उसके बाद इसी क्रमसे वर्णोंकी स्थापना करे, अर्थात् पहले गुरु और उसके नीचे लघु[१] ॥ १ ॥

---

६८. चन्द्रमुखी सुन्दरघनजघना कुन्दसमानशिखरदशना या निष्कलवीणाश्रुतिसुखवचना त्रस्तकुरङ्गतरलनयनान्ता ।
निर्मुखपीनोन्नतकुचकलशा मत्तगजेन्द्रललितगतिभासा निर्भरलीलाचरितवितत्ये नन्दकुमार भवतु तव तन्वी ॥

६९. या कपिलाक्षी पिङ्गलकेशी कलिरुचिरनुदिनमनुनयकठिना दीर्घतराभिः स्थूलशिराभिः परिवृतवपुरतिशयकुटिलगतिः ।
आयतजङ्घा निम्नकपोला लघुतरकुचयुगपरिचितहृदया सा परिहार्या क्रौञ्चपदा स्त्री ध्रुवमिह निरवधिसुखमभिलषिता ॥

७०. ये संनद्धानेकानीकैर्नरतुरगकरिपरिवृतैः समं तव शत्रवो युद्धश्रद्धालुब्धात्मानस्त्वदभिमुखमपगतभियः पतन्ति धृतायुधाः ।
ये त्वां दृष्ट्वा संग्रामाग्रे नृपतिवर कृपणमनसश्चलन्ति दिगन्तरं किं वा सोढुं शक्यन्ते कैर्बहुभिरपि सविषविषमं भुजंगविजृम्भितम्॥

७१. श्रीकण्ठं त्रिपुरदहनममृतकिरणशकलललितशिरसं रुद्रं भूतेशं हतमुनिमखमखिलभुवननमितचरणयुगमीशानम् ।
सर्वज्ञं वृषभगमनमहिपतिकृतवलयरुचिरकरमाराध्यं तं वन्दे भवभयभिदमभिमतफलवितरणगुरुसुमया युक्तम् ॥

७२. दण्डकका उदाहरण:—

इह हि भवति दण्डकारण्यदेशे स्थितिः पुण्यभाजां मुनीनां मनोहारिणी त्रिदशविजयिवीर्य दृप्यद्दशग्रीवलक्ष्मीविरामेण रामेण संसेविते ।
जनकयजनभूमिसम्भूतसीमन्तिनीसीमसीतापदस्पर्शपूताश्रये भुवननिमितपादपद्माभिनानाम्बिकातीर्थयात्रागतानेकसिद्धाकुले ॥

७३. प्रचित दण्डकका उदाहरण:—

प्रथमकथितदण्डकश्चण्डवृष्टिप्रपाताभिधानो मुनेः पिङ्गलाचार्यनाम्नो मतः प्रचित इति ततः परं दण्डकानामियं जातिरेकैकरेफाभिवृद्ध्या यथेष्टं भवेत् ।
स्वरुचिविरचितसंज्ञया तद्विशेषैरशेषैः पुनः काव्यमन्येऽपि कुर्वन्तु वागीश्वराः ।
भवति यदि समानसंख्याक्षरैर्यत्र पादव्यवस्था ततो दण्डकः पूज्यतेऽसौ जनैः ॥

१. किस छन्दके कितने भेद हो सकते हैं, इसका ज्ञान करानेवाले प्रत्यय या प्रणालीको 'प्रस्तार' आदि कहते हैं। प्रस्तार आदि छः हैं—प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्व्यादिलगक्रिया, संख्या तथा अध्वयोग। एक अक्षरवाले छन्दका भेद जाननेके लिये पहले एक गुरु लिखकर उसके

[प्रस्तारके अनन्तर अब 'नष्ट' द्वारका वर्णन करते हैं। अर्थात् जब यह जाननेकी इच्छा हो कि गायत्री या अन्य

नीचे एक लघु लिखे। इस प्रकार एकाक्षर छन्दके दो ही भेद हुए। दो अक्षरके छन्दके भेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकाक्षर-प्रस्तारको ही दो बार लिखे; अर्थात् पहले एक गुरु और उसके नीचे एक लघु लिखकर नीचे एक तिरछी रेखा खींच दे। फिर उसके नीचे एक गुरु लिखकर उसके अधोभागमें भी एक लघु लिख दे। तत्पश्चात् पहली आवृत्तिमें द्वितीय अक्षरके स्थानपर गुरु और द्वितीय आवृत्तिमें द्वितीय अक्षरके स्थानपर लघुका उल्लेख कर रेखा हटा दे। इस प्रकार दो अक्षरवाले छन्दके चार भेद हुए। 'द्व्यक्षर-प्रस्तार'को भी पूर्ववत् दो आवृत्तियोंमें स्थापित करके प्रथम आवृत्तिमें तृतीय अक्षरोंकी जगह गुरु और द्वितीय आवृत्तिमें तृतीय अक्षरोंकी जगह लघु लिखना चाहिये। इस प्रकार 'त्र्यक्षर प्रस्तार'में आठ भेद होंगे। इसकी भी दो आवृत्तियाँ करके पूर्ववत् लघु-गुरु-स्थापन करनेसे सोलह भेद 'चतुरक्षर-प्रस्तार'के होंगे। इसी प्रक्रियासे 'पञ्चाक्षर-प्रस्तार'के ३२ और छः अक्षरवाले गायत्री आदि छन्दोंके प्रस्तारभेद ६४ होंगे। सप्ताक्षर आदिके भेद जाननेकी भी यही प्रणाली है। नीचे रेखाचित्रद्वारा इन सब भेदोंका स्पष्टीकरण किया जाता है—

एकाक्षर-प्रस्तारः—

ऽ	१
।	२

द्व्यक्षर-प्रस्तारः—

ऽऽ	१
।ऽ	२
ऽ।	३
।।	४

त्र्यक्षर-प्रस्तारः—

ऽऽऽ	१
।ऽऽ	२
ऽ।ऽ	३
।।ऽ	४
ऽऽ।	५
।ऽ।	६
ऽ।।	७
।।।	८

चतुरक्षर-प्रस्तारः—

ऽऽऽऽ	१
।ऽऽऽ	२
ऽ।ऽऽ	३
।।ऽऽ	४
ऽऽ।ऽ	५
।ऽ।ऽ	६
ऽ।।ऽ	७
।।।ऽ	८
ऽऽऽ।	९
।ऽऽ।	१०
ऽ।ऽ।	११
।।ऽ।	१२
ऽऽ।।	१३
।ऽ।।	१४
ऽ।।।	१५
।।।।	१६

किसी छन्दके समवृत्तोंमेंसे छठा भेद कैसा होगा, तब इसका उत्तर देनेकी प्रणालीपर विचार करते हैं—] नष्ट-संख्याको आधी करनेपर जब वह दो भागोंमें बराबर बँट जाय, तब एक लघु लिखना चाहिये। यदि आधा करनेपर विषम संख्या हाथ लगे तो उसमें एक जोड़कर सम बना ले और इस प्रकार पुनः आधा करे। ऐसी अवस्थामें एक गुरु अक्षरकी प्राप्ति होती है। उसे भी अन्यत्र लिख ले। जितने अक्षरवाले छन्दके भेदको जानना हो, उतने अक्षरोंकी पूर्ति होनेतक पूर्वोक्त प्रणालीसे गुरु-लघुका उल्लेख करता रहे। [जैसे गायत्री छन्दके छठे भेदका स्वरूप जानना हो तो छःका आधा करना होगा। इससे एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। बाकी रहा तीन; इसमें दोका भाग नहीं लग सकता, अतः एक जोड़कर आधा किया जायगा। इस दशामें एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। इस अवस्थामें चारका आधा करनेपर दो शेष रहा, दोका आधा करनेपर एक शेष रहा तथा एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। अब एक समसंख्या न होनेसे उसमें एक और जोड़ना पड़ा; इस दशामें एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। फिर दोका आधा करनेसे एक हुआ और उसमें एक जोड़ा गया। पुनः एक गुरु (ऽ) अक्षरकी प्राप्ति हुई। फिर यही क्रिया करनेसे एक गुरु (ऽ) और उपलब्ध हुआ। गायत्रीका एक पाद छः अक्षरोंका है, अतः छः अक्षर पूरे होनेपर यह प्रक्रिया बंद कर देनी पड़ी। उत्तर हुआ गायत्रीका छठा समवृत्त ।ऽ।ऽऽऽ इस प्रकार है।] [अब 'उद्दिष्ट' की प्रक्रिया बतलाते हैं। अर्थात् जब कोई यह पूछे कि अमुक छन्द प्रस्तारगत किस संख्याका है, तो उसके गुरु-लघु आदिका एक जगह उल्लेख कर ले। इनमें जो अन्तिम लघु हो, उसके नीचे १ लिखे। फिर विपरीतक्रमसे, अर्थात् उसके पहलेके अक्षरोंके नीचे क्रमशः दूनी संख्या लिखता जाय। जब यह संख्या अन्तिम अक्षरपर पहुँच जाय तो उस द्विगुणित संख्यामेंसे एक निकाल दे। फिर सबको जोड़नेसे जो संख्या

उपर्युक्त रेखाचित्रद्वारा समवृत्तोंकी संख्या जानी जाती है। इस समवृत्तकी संख्यामें उसीसे गुणा करनेपर समसहित अर्ध-समवृत्तकी संख्या ज्ञात होती है तथा पुनः उसीमें उसीसे गुणा करनेपर समार्धसमसहित विषमवृत्तकी संख्या जानी जाती है। इसका संकेत इस प्रकार है—

समवृत्त संख्या × (गुणे) समवृत्त संख्या=अर्धसमवृत्त संख्या। अर्धसमवृत्त संख्या × (गुणे) अर्धसमवृत्त संख्या=विषमवृत्त संख्या। इस प्रकार मिश्रित संख्याका ज्ञान होता है। शुद्ध संख्याके ज्ञानकी प्रणाली इस प्रकार है—अर्धसमवृत्त संख्या—समवृत्त संख्या=शुद्धार्ध समवृत्त संख्या। विषमवृत्त संख्या—अर्धसमवृत्त संख्या=शुद्धविषमवृत्त संख्या। नीचे इसकी तालिका दी जाती है—

	समवृत्त संख्या	समगुणित अर्धसमवृत्त संख्या	अर्धसमगुणित विषमवृत्त संख्या
एकाक्षर छन्दमें—	२	४	१६
द्व्यक्षर ,,	४	१६	२५६
त्र्यक्षर ,,	८	६४	४०९६
चतुरक्षर ,,	१६	२५६	६५५३६
पञ्चाक्षर ,,	३२	१०२४	१०४८५७६
षडक्षर ,,	६४	४०९६	१६७७७२१६

	समवृत्त	शुद्धार्ध समवृत्त	शुद्ध विषम वृत्त
एकाक्षर छन्दमें—	२	२	१२
द्व्यक्षर ,,	४	१२	२४०
त्र्यक्षर ,,	८	५६	४०३२
चतुरक्षर ,,	१६	२४०	६५२८०
पञ्चाक्षर ,,	३२	९९२	१०४७५५२
षडक्षर ,,	६४	४०३२	१६७३११२०

हो, वही उत्तर होगा । अथवा यदि वह संख्या गुरु अक्षरके स्थानमें जाती हो तो पूर्वस्थानकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे एक निकालकर रक्खे। फिर सबको जोड़नेसे अभीष्ट संख्या निकलेगी ।] उद्दिष्टकी संख्या बतलानेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस छन्दके गुरु-लघु वर्णोंको क्रमशः एक पङ्क्तिमें लिख ले और उनके ऊपर क्रमशः एकसे लेकर दूने-दूने अङ्क रखता जाय; अर्थात् प्रथमपर एक, द्वितीयपर दो, तृतीयपर चार—इस क्रमसे संख्या बैठाये। फिर केवल लघु अक्षरोंके अङ्कोंको जोड़ ले और उसमें एक और मिला दे तो वही उत्तर होगा। जैसे 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका किस संख्याका वृत्त है, यह जाननेके लिये तनुमध्याके गुरु-लघु वर्णों—तगण, यगण को ऽ ऽ । । ऽ ऽ इस प्रकार लिखना होगा । फिर क्रमशः अङ्क बिछानेपर १ २ ४ ८ १६ ३२ इस प्रकार होगा । इनमें केवल लघु अक्षरके अङ्क ४ । ८ जोड़नेपर १२ होगा । उसमें एक और मिला देनेसे १३ होगा, यही उत्तर है । तात्पर्य यह है कि 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका तेरहवाँ समवृत्त है। [अब बिना प्रस्तारके ही वृत्तसंख्या जाननेका उपाय बतलाते हैं। इस उपायका नाम 'संख्यान' है। जैसे कोई पूछे छः अक्षरवाले छन्दकी समवृत्त-संख्या कितनी होगी ? इसका उत्तर—] जितने अक्षरके छन्दकी संख्या जाननी हो, उसका आधा भाग निकाल दिया जायगा । इस क्रियासे दोको उपलब्धि होगी, [जैसे छः अक्षरोंमेंसे आधा निकालनेसे ३ बचा, किंतु इस क्रियासे जो दोकी प्राप्ति हुई] उसे अलग रक्खेंगे। विषम संख्यामेंसे एक घटा दिया जायगा। इससे शून्यकी प्राप्ति होगी। उसे दोके नीचे रख दें। [जैसे ३ से एक निकालनेपर दो बचा, किंतु इस क्रियासे जो शून्यकी प्राप्ति हुई, उसे २ के नीचे रक्खा गया। तीनसे एक निकालनेपर जो दो बचा था, उसे भी दो भागोंमें विभक्त करके आधा निकाल दिया गया। इस क्रियासे पूर्ववत् दोकी प्राप्ति हुई और उसे शून्यके नीचे रख दिया गया। अब एक बचा। यह विषम संख्या है—इसमेंसे एक बाद देनेपर शून्य शेष रहा। साथ ही इस क्रियासे शून्यकी प्राप्ति हुई, इसे पूर्ववत् २ के नीचे रख दिया गया।] शून्यके स्थानमें दुगुना करे। [इस नियमके पालनके लिये निचले शून्यको एक मानकर उसका दूना किया गया।] इससे प्राप्त हुए अङ्कको ऊपरके अर्धस्थानमें रक्खे और उसे उतनेसे ही गुणा करे। [जैसे शून्यस्थानको एक मानकर दूना करने और उसको अर्धस्थानमें रखकर उतनेसेही गुणा करनेपर ४ संख्या होगी। फिर शून्यस्थानमें उसे ले जाकर पूर्ववत् दूना करनेसे ८ संख्या हुई; पुनः इसे अर्धस्थानमें ले जाकर उतनी ही संख्यासे गुणा करनेपर ६४ संख्या हुई। यही पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर है। इसी नियमसे 'उष्णिक्'के १२८ और 'अनुष्टुप'के २५६ समवृत्त होते हैं।] इस प्रश्नको इस प्रकार लिखकर हल करे—

अर्धस्थान	२, ८ × ८	६४
शून्यस्थान	०, ४ × २	८
अर्धस्थान	२, २ × २	४
शून्यस्थान	०, १ × २	२

गायत्री आदि छन्दोंकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे दो घटा देनेपर जो संख्या हो, वह वहाँतकके छन्दोंकी संयुक्त संख्या होती है । जैसे गायत्रीकी वृत्त-संख्या ६४ को दूना करके २ घटानेसे १२६ हुआ। यह एकाक्षरसे लेकर षडक्षरपर्यन्त सभी अक्षरोंके छन्दोंकी संयुक्त संख्या हुई। जब छन्दके वृत्तोंकी संख्याको द्विगुणित करके उसे पूर्ण ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय, दो घटाया न जाय, तो वह अङ्क बादके छन्दकी वृत्तसंख्याका ज्ञापक होता है। गायत्रीकी वृत्तसंख्या ६४को दूना करनेसे १२८ हुआ। यह 'उष्णिह्' की वृत्त-संख्याका योग हुआ। [अब एकद्व्यादि लग क्रियाकी सिद्धिके लिये 'मेरु प्रस्तार' बताते हैं—] अमुक छन्दमें कितने लघु, कितने गुरु तथा कितने वृत्त होते हैं, इसका ज्ञान 'मेरु-प्रस्तार'से होता है। सबसे ऊपर एक चौकोर कोष्ठ बनाये । उसके नीचे दो कोष्ठ, उसके नीचे तीन कोष्ठ, उसके नीचे चार कोष्ठ आदि जितने अभीष्ट हों, बनाये। पहले कोष्ठमें एक संख्या रक्खे, दूसरी पङ्क्तिके दोनों कोष्ठोंमें एक-एक संख्या रक्खे; फिर तीसरी पङ्क्तिमें किनारेके दो कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचमें ऊपरके कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर पूरे-पूरे लिख दे। चौथी पंक्तिमें किनारेके कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचके दो कोष्ठोंमें ऊपरके दो-दो कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर लिखे । नीचेके कोष्ठोंमें भी यही रीति बरतनी चाहिये । उदाहरणके लिये देखिये—

किसी छन्दके समवृत्तोंमेंसे छठा भेद कैसा होगा, तब इसका उत्तर देनेकी प्रणालीपर विचार करते हैं—] नष्ट-संख्याको आधी करनेपर जब वह दो भागोंमें बराबर बँट जाय, तब एक लघु लिखना चाहिये। यदि आधा करनेपर विषम संख्या हाथ लगे तो उसमें एक जोड़कर सम बना ले और इस प्रकार पुनः आधा करे। ऐसी अवस्थामें एक गुरु अक्षरकी प्राप्ति होती है। उसे भी अन्यत्र लिख ले। जितने अक्षरवाले छन्दके भेदको जानना हो, उतने अक्षरोंकी पूर्ति होनेतक पूर्वोक्त प्रणालीसे गुरु-लघुका उल्लेख करता रहे। [जैसे गायत्री छन्दके छठे भेदका स्वरूप जानना हो तो छःका आधा करना होगा। इससे एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। बाकी रहा तीन; इसमें दोका भाग नहीं लग सकता, अतः एक जोड़कर आधा किया जायगा। इस दशामें एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। इस अवस्थामें चारका आधा करनेपर दो शेष रहा, दोका आधा करनेपर एक शेष रहा तथा एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। अब एक समसंख्या न होनेसे उसमें एक और जोड़ना पड़ा; इस दशामें एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। फिर दोका आधा करनेसे एक हुआ और उसमें एक जोड़ा गया। पुनः एक गुरु (ऽ) अक्षरकी प्राप्ति हुई। फिर यही क्रिया करनेसे एक गुरु (ऽ) और उपलब्ध हुआ। गायत्रीका एक पाद छः अक्षरोंका है, अतः छः अक्षर पूरे होनेपर यह प्रक्रिया बंद कर देनी पड़ी। उत्तर हुआ गायत्रीका छठा समवृत्त ।ऽ।ऽऽऽ इस प्रकार है।] [अब 'उद्दिष्ट' की प्रक्रिया बतलाते हैं। अर्थात् जब कोई यह पूछे कि अमुक छन्द प्रस्तारगत किस संख्याका है, तो उसके गुरु-लघु आदिका एक जगह उल्लेख कर ले। इनमें जो अन्तिम लघु हो, उसके नीचे १ लिखे। फिर विपरीतक्रमसे, अर्थात् उसके पहलेके अक्षरोंके नीचे क्रमशः दूनी संख्या लिखता जाय। जब यह संख्या अन्तिम अक्षरपर पहुँच जाय तो उस द्विगुणित संख्यामेंसे एक निकाल दे। फिर सबको जोड़नेसे जो संख्या

उपर्युक्त रेखाचित्रद्वारा समवृत्तोंकी संख्या जानी जाती है। इस समवृत्तकी संख्यामें उसीसे गुणा करनेपर समसहित अर्धसमवृत्तकी संख्या ज्ञात होती है तथा पुनः उसीमें उसीसे गुणा करनेपर समार्धसमसहित विषमवृत्तकी संख्या जानी जाती है। इसका संकेत इस प्रकार है—

समवृत्त संख्या × (गुणे) समवृत्त संख्या=अर्धसमवृत्त संख्या। अर्धसमवृत्त संख्या × (गुणे) अर्धसमवृत्त संख्या=विषमवृत्त संख्या। इस प्रकार मिश्रित संख्याका ज्ञान होता है। शुद्ध संख्याके ज्ञानकी प्रणाली इस प्रकार है—अर्धसमवृत्त संख्या—समवृत्त संख्या=शुद्धार्ध समवृत्त संख्या। विषमवृत्त संख्या—अर्धसमवृत्त संख्या=शुद्धविषमवृत्त संख्या। नीचे इसकी तालिका दी जाती है—

	समवृत्त संख्या	समगुणित अर्धसमवृत्त संख्या	अर्धसमगुणित विषमवृत्त संख्या
एकाक्षर छन्दमें—	२	४	१६
द्व्यक्षर ,,	४	१६	२५६
त्र्यक्षर ,,	८	६४	४०९६
चतुरक्षर ,,	१६	२५६	६५५३६
पञ्चाक्षर ,,	३२	१०२४	१०४८५७६
षडक्षर ,,	६४	४०९६	१६७७७२१६

	समवृत्त	शुद्धार्ध समवृत्त	शुद्ध विषम वृत्त
एकाक्षर छन्दमें—	२	२	१२
द्व्यक्षर ,,	४	१२	२४०
त्र्यक्षर ,,	८	५६	४०३२
चतुरक्षर ,,	१६	२४०	६५२८०
पञ्चाक्षर ,,	३२	९९२	१०४७५५२
षडक्षर ,,	६४	४०३२	१६७३११२०

हो, वही उत्तर होगा । अथवा यदि वह संख्या गुरु अक्षरके स्थानमें जाती हो तो पूर्वस्थानकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे एक निकालकर रक्खे। फिर सबको जोड़नेसे अभीष्ट संख्या निकलेगी ।] उद्दिष्टकी संख्या बतलानेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस छन्दके गुरु-लघु वर्णोंको क्रमशः एक पङ्क्तिमें लिख ले और उनके ऊपर क्रमशः एकसे लेकर दूने-दूने अङ्क रखता जाय; अर्थात् प्रथमपर एक, द्वितीयपर दो, तृतीयपर चार—इस क्रमसे संख्या बैठाये। फिर केवल लघु अक्षरोंके अङ्कोंको जोड़ ले और उसमें एक और मिला दे तो वही उत्तर होगा। जैसे 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका किस संख्याका वृत्त है, यह जाननेके लिये तनुमध्याके गुरु-लघु वर्णों—तगण, यगण को ऽ ऽ । । ऽ ऽ इस प्रकार लिखना होगा । फिर क्रमशः अङ्क बिछानेपर १ २ ४ ८ १६ ३२ इस प्रकार होगा । इनमें केवल लघु अक्षरके अङ्क ४ । ८ जोड़नेपर १२ होगा । उसमें एक और मिला देनेसे १३ होगा, यही उत्तर है । तात्पर्य यह है कि 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका तेरहवाँ समवृत्त है। [अब बिना प्रस्तारके ही वृत्तसंख्या जाननेका उपाय बतलाते हैं। इस उपायका नाम 'संख्यान' है। जैसे कोई पूछे छः अक्षरवाले छन्दकी समवृत्त-संख्या कितनी होगी ? इसका उत्तर—] जितने अक्षरके छन्दकी संख्या जाननी हो, उसका आधा भाग निकाल दिया जायगा। इस क्रियासे दोकी उपलब्धि होगी, [जैसे छः अक्षरोंमेंसे आधा निकालनेसे ३ बचा, किंतु इस क्रियासे जो दोकी प्राप्ति हुई] उसे अलग रक्खेंगे। विषम संख्यामेंसे एक घटा दिया जायगा। इससे शून्यकी प्राप्ति होगी। उसे दोके नीचे रख दें। [जैसे ३ से एक निकालनेपर दो बचा, किंतु इस क्रियासे जो शून्यकी प्राप्ति हुई, उसे २ के नीचे रक्खा गया। तीनसे एक निकालने-पर जो दो बचा था, उसे भी दो भागोंमें विभक्त करके आधा निकाल दिया गया। इस क्रियासे पूर्ववत् दोकी प्राप्ति हुई और उसे शून्यके नीचे रख दिया गया। अब एक बचा। यह विषम संख्या है—इसमेंसे एक बाद देनेपर शून्य शेष रहा। साथ ही इस क्रियासे शून्यकी प्राप्ति हुई; इसे पूर्ववत् २ के नीचे रख दिया गया।] शून्यके स्थानमें दुगुना करे। [इस नियमके पालनके लिये निचले शून्यको एक मानकर उसका दूना किया गया।] इससे प्राप्त हुए अङ्कको ऊपरके अर्धस्थानमें रक्खे और उसे उतनेसे ही गुणा करे। [जैसे शून्यस्थानको एक मानकर दूना करने और उसको अर्धस्थानमें रखकर उतनेसेही गुणा करनेपर ४ संख्या होगी। फिर शून्यस्थानमें उसे ले जाकर पूर्ववत् दूना करनेसे ८ संख्या हुई; पुनः इसे अर्धस्थानमें ले जाकर उतनी ही संख्यासे गुणा करनेपर ६४ संख्या हुई। यही पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर है। इसी नियमसे 'उष्णिक्'के १२८ और 'अनुष्टुप'के २५६ समवृत्त होते हैं।] इस प्रश्नको इस प्रकार लिखकर हल करे—

अर्धस्थान	२, ८ × ८	६४
शून्यस्थान	०, ४ × २	८
अर्धस्थान	२, २ × २	४
शून्यस्थान	०, १ × २	२

गायत्री आदि छन्दोंकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे दो घटा देनेपर जो संख्या हो, वह वहाँतकके छन्दोंकी संयुक्त संख्या होती है । जैसे गायत्रीकी वृत्त-संख्या ६४ को दूना करके २ घटानेसे १२६ हुआ। यह एकाक्षरसे लेकर षडक्षरपर्यन्त सभी अक्षरोंके छन्दोंकी संयुक्त संख्या हुई। जब छन्दके वृत्तोंकी संख्याको द्विगुणित करके उसे पूर्ण ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय, दो घटाया न जाय, तो वह अङ्क बादके छन्दकी वृत्तसंख्याका ज्ञापक होता है। गायत्रीकी वृत्तसंख्या ६४को दूना करनेसे १२८ हुआ। यह 'उष्णिह्' की वृत्त-संख्याका योग हुआ । [अब एकद्व्यादि लग क्रियाकी सिद्धिके लिये 'मेरु प्रस्तार' बताते हैं—] अमुक छन्दमें कितने लघु, कितने गुरु तथा कितने वृत्त होते हैं, इसका ज्ञान 'मेरु-प्रस्तार'से होता है। सबसे ऊपर एक चौकोर कोष्ठ बनाये । उसके नीचे दो कोष्ठ, उसके नीचे तीन कोष्ठ, उसके नीचे चार कोष्ठ आदि जितने अभीष्ट हों, बनाये। पहले कोष्ठमें एक संख्या रक्खे, दूसरी पङ्क्तिके दोनों कोष्ठोंमें एक-एक संख्या रक्खे, फिर तीसरी पङ्क्तिमें किनारेके दो कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचमें ऊपरके कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर पूरे-पूरे लिख दे। चौथी पंक्तिमें किनारेके कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचके दो कोष्ठोंमें ऊपरके दो-दो कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर लिखे । नीचेके कोष्ठोंमें भी यही रीति बरतनी चाहिये । उदाहरणके लिये देखिये—

किसी छन्दके समवृत्तोंमेंसे छठा भेद कैसा होगा, तब इसका उत्तर देनेकी प्रणालीपर विचार करते हैं—] नष्ट-संख्याको आधी करनेपर जब वह दो भागोंमें बराबर बँट जाय, तब एक लघु लिखना चाहिये। यदि आधा करनेपर विषम संख्या हाथ लगे तो उसमें एक जोड़कर सम बना ले और इस प्रकार पुनः आधा करे। ऐसी अवस्थामें एक गुरु अक्षरकी प्राप्ति होती है। उसे भी अन्यत्र लिख ले। जितने अक्षरवाले छन्दके भेदको जानना हो, उतने अक्षरोंकी पूर्ति होनेतक पूर्वोक्त प्रणालीसे गुरु-लघुका उल्लेख करता रहे। [जैसे गायत्री छन्दके छठे भेदका स्वरूप जानना हो तो छःका आधा करना होगा। इससे एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। बाकी रहा तीन; इसमें दोका भाग नहीं लग सकता, अतः एक जोड़कर आधा किया जायगा। इस दशामें एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। इस अवस्थामें चारका आधा करनेपर दो शेष रहा, दोका आधा करनेपर एक शेष रहा तथा एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। अब एक समसंख्या न होनेसे उसमें एक और जोड़ना पड़ा; इस दशामें एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। फिर दोका आधा करनेसे एक हुआ और उसमें एक जोड़ा गया। पुनः एक गुरु (ऽ) अक्षरकी प्राप्ति हुई। फिर यही क्रिया करनेसे एक गुरु (ऽ) और उपलब्ध हुआ। गायत्रीका एक पाद छः अक्षरोंका है, अतः छः अक्षर पूरे होनेपर यह प्रक्रिया बंद कर देनी पड़ी। उत्तर हुआ गायत्रीका छठा समवृत्त । ऽ । ऽ ऽ ऽ इस प्रकार है।] [अब 'उद्दिष्ट' की प्रक्रिया बतलाते हैं। अर्थात् जब कोई यह पूछे कि अमुक छन्द प्रस्तारगत किस संख्याका है, तो उसके गुरु-लघु आदिका एक जगह उल्लेख कर ले। इनमें जो अन्तिम लघु हो, उसके नीचे १ लिखे। फिर विपरीतक्रमसे, अर्थात् उसके पहलेके अक्षरोंके नीचे क्रमशः दूनी संख्या लिखता जाय। जब यह संख्या अन्तिम अक्षरपर पहुँच जाय तो उस द्विगुणित संख्यामेंसे एक निकाल दे। फिर सबको जोड़नेसे जो संख्या

उपर्युक्त रेखाचित्रद्वारा समवृत्तोंकी संख्या जानी जाती है। इस समवृत्तकी संख्यामें उसीसे गुणा करनेपर समसहित अर्ध-समवृत्तकी संख्या ज्ञात होती है तथा पुनः उसीमें उसीसे गुणा करनेपर समार्धसमसहित विषमवृत्तकी संख्या जानी जाती है। इसका संकेत इस प्रकार है—

समवृत्त संख्या × (गुणे) समवृत्त संख्या=अर्धसमवृत्त संख्या। अर्धसमवृत्त संख्या × (गुणे) अर्धसमवृत्त संख्या=विषमवृत्त संख्या। इस प्रकार मिश्रित संख्याका ज्ञान होता है। शुद्ध संख्याके ज्ञानकी प्रणाली इस प्रकार है—अर्धसमवृत्त संख्या—समवृत्त संख्या=शुद्धार्ध समवृत्त संख्या। विषमवृत्त संख्या—अर्ध-समवृत्त संख्या=शुद्धविषमवृत्त संख्या। नीचे इसकी तालिका दी जाती है—

	समवृत्त संख्या	समगुणित अर्धसमवृत्त संख्या	अर्धसमगुणित विषमवृत्त संख्या
एकाक्षर छन्दमें—	२	४	१६
द्व्यक्षर ,,	४	१६	२५६
त्र्यक्षर ,,	८	६४	४०९६
चतुरक्षर ,,	१६	२५६	६५५३६
पञ्चाक्षर ,,	३२	१०२४	१०४८५७६
षडक्षर ,,	६४	४०९६	१६७७७२१६

	समवृत्त	शुद्धार्ध समवृत्त	शुद्ध विषम वृत्त
एकाक्षर छन्दमें—	२	२	१२
द्व्यक्षर ,,	४	१२	२४०
त्र्यक्षर ,,	८	५६	४०३२
चतुरक्षर ,,	१६	२४०	६५२८०
पञ्चाक्षर ,,	३२	९९२	१०४७५५२
षडक्षर ,,	६४	४०३२	१६७३१२०

हो, वही उत्तर होगा । अथवा यदि वह संख्या गुरु अक्षरके स्थानमें जाती हो तो पूर्वस्थानकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे एक निकालकर रक्खे। फिर सबको जोड़नेसे अभीष्ट संख्या निकलेगी ।] उद्दिष्टकी संख्या बतलानेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस छन्दके गुरु-लघु वर्णोंको क्रमशः एक पङ्क्तिमें लिख ले और उनके ऊपर क्रमशः एकसे लेकर दूने-दूने अङ्क रखता जाय; अर्थात् प्रथमपर एक, द्वितीयपर दो, तृतीयपर चार—इस क्रमसे संख्या बैठाये। फिर केवल लघु अक्षरोंके अङ्कोंको जोड़ ले और उसमें एक और मिला दे तो वही उत्तर होगा। जैसे 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका किस संख्याका वृत्त है, यह जाननेके लिये तनुमध्याके गुरु-लघु वर्णों—तगण, यगण को ऽ ऽ । । ऽ ऽ इस प्रकार लिखना होगा । फिर क्रमशः अङ्क बिछानेपर १ २ ४ ८ १६ ३२ इस प्रकार होगा । इनमें केवल लघु अक्षरके अङ्क ४ । ८ जोड़नेपर १२ होगा । उसमें एक और मिला देनेसे १३ होगा, यही उत्तर है । तात्पर्य यह है कि 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका तेरहवाँ समवृत्त है। [अब बिना प्रस्तारके ही वृत्तसंख्या जाननेका उपाय बतलाते हैं। इस उपायका नाम 'संख्यान' है। जैसे कोई पूछे छः अक्षरवाले छन्दकी समवृत्त-संख्या कितनी होगी ? इसका उत्तर—] जितने अक्षरके छन्दकी संख्या जाननी हो, उसका आधा भाग निकाल दिया जायगा । इस क्रियासे दोकी उपलब्धि होगी, [जैसे छः अक्षरोंमेंसे आधा निकालनेसे ३ बचा, किंतु इस क्रियासे जो दोकी प्राप्ति हुई] उसे अलग रक्खेंगे। विषम संख्यामेंसे एक घटा दिया जायगा। इससे शून्यकी प्राप्ति होगी। उसे दोके नीचे रख दें। [जैसे ३ से एक निकालनेपर दो बचा, किंतु इस क्रियासे जो शून्यकी प्राप्ति हुई, उसे २ के नीचे रक्खा गया। तीनसे एक निकालनेपर जो दो बचा था, उसे भी दो भागोंमें विभक्त करके आधा निकाल दिया गया। इस क्रियासे पूर्ववत् दोकी प्राप्ति हुई और उसे शून्यके नीचे रख दिया गया। अब एक बचा। यह विषम संख्या है—इसमेंसे एक बाद देनेपर शून्य शेष रहा। साथ ही इस क्रियासे शून्यकी प्राप्ति हुई, इसे पूर्ववत् २ के नीचे रख दिया गया।] शून्यके स्थानमें दुगुना करे। [इस नियमके पालनके लिये निचले शून्यको एक मानकर उसका दूना किया गया।] इससे प्राप्त हुए अङ्कको ऊपरके अर्धस्थानमें रक्खे और उसे उतनेसे ही गुणा करे। [जैसे शून्यस्थानको एक मानकर दूना करने और उसको अर्धस्थानमें रखकर उतनेसेही गुणा करनेपर ४ संख्या होगी। फिर शून्यस्थानमें उसे ले जाकर पूर्ववत् दूना करनेसे ८ संख्या हुई; पुनः इसे अर्धस्थानमें ले जाकर उतनी ही संख्यासे गुणा करनेपर ६४ संख्या हुई। यही पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर है। इसी नियमसे 'उष्णिक्'के १२८ और 'अनुष्टुप'के २५६ समवृत्त होते हैं।] इस प्रश्नको इस प्रकार लिखकर हल करे—

अर्धस्थान	२, ८×८	६४
शून्यस्थान	०, ४×२	८
अर्धस्थान	२, २×२	४
शून्यस्थान	०, १×२	२

गायत्री आदि छन्दोंकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे दो घटा देनेपर जो संख्या हो, वह वहाँतकके छन्दोंकी संयुक्त संख्या होती है । जैसे गायत्रीकी वृत्त-संख्या ६४ को दूना करके २ घटानेसे १२६ हुआ। यह एकाक्षरसे लेकर षडक्षरपर्यन्त सभी अक्षरोंके छन्दोंकी संयुक्त संख्या हुई। जब छन्दके वृत्तोंकी संख्याको द्विगुणित करके उसे पूर्ण ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय, दो घटाया न जाय, तो वह अङ्क बादके छन्दकी वृत्तसंख्याका ज्ञापक होता है। गायत्रीकी वृत्तसंख्या ६४ को दूना करनेसे १२८ हुआ। यह 'उष्णिह्' की वृत्त-संख्याका योग हुआ। [अब एकद्व्यादि लग क्रियाकी सिद्धिके लिये 'मेरु प्रस्तार' बताते हैं—] अमुक छन्दमें कितने लघु, कितने गुरु तथा कितने वृत्त होते हैं, इसका ज्ञान 'मेरु-प्रस्तार'से होता है। सबसे ऊपर एक चौकोर कोष्ठ बनाये। उसके नीचे दो कोष्ठ, उसके नीचे तीन कोष्ठ, उसके नीचे चार कोष्ठ आदि जितने अभीष्ट हों, बनाये। पहले कोष्ठमें एक संख्या रक्खे, दूसरी पङ्क्तिके दोनों कोष्ठोंमें एक-एक संख्या रक्खे, फिर तीसरी पङ्क्तिमें किनारेके दो कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचमें ऊपरके कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर पूरे-पूरे लिख दे। चौथी पंक्तिमें किनारेके कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचके दो कोष्ठोंमें ऊपरके दो-दो कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर लिखे । नीचेके कोष्ठोंमें भी यही रीति बरतनी चाहिये । उदाहरणके लिये देखिये—

वर्णमेरु

	१	
एकाक्षर प्रस्तार	१ । १	२
द्व्यक्षर ,,	१ । २ । १	४
त्र्यक्षर ,,	१ । ३ । ३ । १	८
चतुरक्षर ,,	१ । ४ । ६ । ४ । १	१६
पञ्चाक्षर ,,	१ । ५ । १० । १० । ५ । १	३२
षडक्षर ,,	१ । ६ । १५ । २० । १५ । ६ । १	६४
सप्ताक्षर ,,	१ । ७ । २१ । ३५ । ३५ । २१ । ७ । १	१२८
अष्टाक्षर ,,	१ । ८ । २८ । ५६ । ७० । ५६ । २८ । ८ । १	२५६

इसमें चौथी पङ्क्तिमें १ सर्वगुरु, ३ एक लघु, तीन दो लघु और १ सर्वलघु अक्षर है। इसी प्रकार अन्य पङ्क्तियोंमें भी जानना चाहिये। इस प्रकार इसके द्वारा छन्दके लघु-गुरु अक्षरोंकी तथा एकाक्षरादि छन्दोंकी वृत्त-संख्या जानी जाती है। मेरु-प्रस्तारमें नीचेसे ऊपरकी ओर आधा-आधा अंगुल विस्तार कम होता जाता है। छन्दकी संख्याको दूनी करके एक-एक घटा दिया जाय तो उतने ही अंगुलका उसका अध्वा (प्रस्तारदेश) होता है। इस प्रकार यहाँ छन्दःशास्त्रका सार बताया गया ॥४-५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'प्रस्तार-निरूपण' नामक तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३५ ॥

तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय

शिक्षानिरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'शिक्षा'का वर्णन करता हूँ। वर्णोंकी संख्या तिरसठ अथवा चौसठ भी मानी गयी है। इनमें इक्कीस स्वर[1], पचीस स्पर्श[2], आठ यादि[3] एवं चार यम[4] माने गये हैं। अनुस्वार, विसर्ग, दो पराश्रित[5] वर्ण—जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (ˇक और ˇप) और दुःस्पृष्ट लकार—ये तिरसठ[6] वर्ण हैं। इनमें प्लुत लृकारको और गिन लिया जाय तो वर्णोंकी संख्या चौसठ हो जाती है। रङ्ग[7] (अनुनासिक) का उच्चारण 'खे अराँ' की तरह बताया गया है। हकार 'ङ' आदि पञ्चमाक्षरों और य, र, ल, व—इन अन्तःस्थ वर्णोंसे संयुक्त होनेपर 'उरस्य' हो जाता है। इनसे संयुक्त न होनेपर वह 'कण्ठस्थानीय' ही रहता है। आत्मा (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) संस्कार-रूपसे अपने भीतर विद्यमान घट-पटादि पदार्थोंको अपनी बुद्धिवृत्तिसे संयुक्त करके अर्थात् उन्हें एक बुद्धिका विषय बनाकर बोलने या दूसरोंपर प्रकट करनेकी इच्छासे मनको उनसे संयुक्त करता है। संयुक्त हुआ मन कायाग्नि—जठराग्निको आहत करता है। फिर वह जठरानल प्राणवायुको प्रेरित करता है। वह प्राणवायु हृदयदेशमें विचरता हुआ धीमी ध्वनिमें उस प्रसिद्ध स्वरको उत्पन्न करता है, जो प्रातःसवनकर्मके साधनभूत मन्त्रके लिये उपयोगी है तथा जो 'गायत्री' नामक छन्दके आश्रित है। तदनन्तर वह प्राणवायु कण्ठदेशमें भ्रमण करता हुआ 'त्रिष्टुप्' छन्दसे युक्त

१. अ, इ, उ, ऋ—इन चारों अक्षरोंके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद मिलाकर बारह स्वर होते हैं। ए, ओ, ऐ, औ—इनके दीर्घ और प्लुत भेद मिलकर आठ होते हैं। ये सब मिलकर बीस हुए तथा एक दुःस्पृष्ट 'ल' मिलानेसे कुल इक्कीस स्वर हुए। दो स्वरोंके मध्यमवर्ती 'ल' को 'दुःस्पृष्ट' कहते हैं।

२. कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्गके पचीस वर्णोंको 'स्पर्श' कहते हैं।

३. य, र, ल, व, श, ष, स, ह—ये आठ अक्षर 'यादि' कहे गये हैं।

४. वर्गोंमें पञ्चम वर्णके परे रहते आदिके चार वर्णों तथा पञ्चमके मध्यमें जो उन्हींके सदृश वर्ण उच्चारित होते हैं, उनको 'यम' कहते हैं। जैसा कि—भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—'वर्णेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः।' यथा—पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः इत्यादि।

५. क, ख तथा प, फ परे रहनेपर विसर्गके स्थानमें क्रमशः ˇक ˇख तथा ˇप ˇफ आदेश होते हैं, अतः ये दोनों 'पराश्रित' हैं। इन्हींको क्रमशः 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' कहते हैं।

६. 'ऌ' का 'ऋ' में ही अन्तर्भाव माननेपर उसकी पृथक् गणना न होनेसे वर्णसंख्या ६३तक हो जाती है।

७. नकारके स्थानमें 'ँ' होनेपर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा।'—इस सूत्रसे जो अनुनासिक किया जाता है, उसीका नाम 'रङ्ग' है।

माध्यंदिन-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी मध्यम स्वरको उत्पन्न करता है। इसके बाद उक्त प्राणवायु शिरोदेशमें पहुँचकर उच्चध्वनिसे युक्त एवं 'जगती' छन्दके आश्रित सायं-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी स्वरको प्रकट करता है। इस प्रकार ऊपरकी ओर प्रेरित वह प्राण, मूर्धामें टकराकर अभिघात नामक संयोगका आश्रय बनकर, मुखवर्ती कण्ठादि स्थानोंमें पहुँचकर वर्णोंको उत्पन्न करता है। उन वर्णोंके पाँच प्रकारसे विभाग माने गये हैं। स्वरसे, कालसे, स्थानसे, आभ्यन्तर प्रयत्नसे तथा बाह्य प्रयत्नसे उन वर्णोंमें भेद होता है। वर्णोंके उच्चारण-स्थान आठ हैं—हृदय, कण्ठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठद्वय तथा तालु। विसर्गका अभाव, विवर्तन, संधिका अभाव, शकारादेश, षकारादेश, सकारादेश, रेफादेश, जिह्वामूलीयत्व और उपध्मानीयत्व—ये 'ऊष्मा' वर्णोंकी आठ प्रकारकी गतियाँ हैं[८]। जिस उत्तरवर्ती पदमें आदि अक्षर 'उकार' हो, वहाँ गुण आदिके द्वारा यदि 'ओ'भावका प्रसंधान (परिज्ञान) हो रहा हो, तो उस 'ओकार'को स्वरान्त अर्थात् स्वर-स्थानीय जानना चाहिये। जैसे—'गङ्गोदकम्'। इस पदमें जो 'ओ' भावका प्रसंधान है, वह स्वरस्थानीय है। इससे भिन्न संधिस्थलमें जो 'ओभाव'का परिज्ञान होता है, वह 'ओ' भाव ऊष्माका ही गतिविशेष है, यह बात स्पष्टरूपसे जान लेनी चाहिये। जैसे—'शिवो वन्द्यः' इसमें जो ओकारका श्रवण होता है, वह ऊष्मस्थानीय ही है। (यह निर्णय किसी अन्य व्याकरणकी रीतिसे किया गया है, ऐसा जान पड़ता है।) जो वेदाध्ययन कुतीर्थसे प्राप्त हुआ है, अर्थात् आचारहीन गुरुसे ग्रहण किया गया है, वह दग्ध—नीरस-सा होता है। उसमें अक्षरोंको खींच-तानकर हठात् किसी अर्थतक पहुँचाया गया है। वह भक्षित-सा हो गया है, अर्थात् सम्प्रदाय-सिद्ध गुरुसे अध्ययन न करनेके कारण वह अभक्ष्य-भक्षणके समान निस्तेज है। इस तरहका उच्चारण या पठन पाप माना गया है। इसके विपरीत जो सम्प्रदायसिद्ध गुरुसे अध्ययन किया जाता है, तदनुसार पठन-पाठन शुभ होता है। जो उत्तम तीर्थ—सदाचारी गुरुसे पढ़ा गया है, सुस्पष्ट उच्चारणसे युक्त है, सम्प्रदायशुद्ध है, सुव्यवस्थित है, उदात्त आदि शुद्ध स्वरसे तथा कण्ठ-ताल्वादि शुद्ध स्थानसे प्रयुक्त हुआ है, वह वेदाध्ययन शोभित होता है। न तो विकराल आकृतिवाला, न लंबे ओठोंवाला, न अव्यक्त उच्चारण करनेवाला, न नाकसे बोलनेवाला एवं न गद्गद कण्ठ या जिह्वाबन्धसे युक्त मनुष्य ही वर्णोच्चारणमें समर्थ होता है। जैसे व्याघ्री अपने बच्चोंको दाढ़ोंसे पकड़कर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाती है, किंतु उन्हें पीड़ा नहीं देती, वर्णोंका ठीक इसी तरह प्रयोग करे, जिससे वे वर्ण न तो अव्यक्त (अस्पष्ट) हों और न पीड़ित ही हों। वर्णोंके सम्यक् प्रयोगसे मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। 'स्वर' तीन प्रकारके माने गये हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारणकालके भी तीन नियम हैं—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। अकार एवं हकार कण्ठस्थानीय हैं। इकार, चवर्ग, यकार एवं शकार—ये तालुस्थानसे उच्चरित होते हैं। उकार और पवर्ग—ये दोनों ओष्ठस्थानसे उच्चरित होनेवाले हैं। ऋकार, टवर्ग, रेफ एवं षकार—ये मूर्धन्य तथा ऌकार, तवर्ग, लकार और सकार—ये दन्तस्थानीय होते हैं। कवर्गका स्थान जिह्वामूल है। वकारको विद्वज्जन दन्त और ओष्ठसे उच्चरित होनेवाला बताते हैं। एकार और ऐकार कण्ठ-तालव्य तथा ओकार एवं औकार कण्ठोष्ठज माने गये हैं। एकार, ऐकार तथा ओकार और औकारमें कण्ठस्थानीय वर्ण अकारकी आधी मात्रा या एक मात्रा होती है। 'अयोगवाह'[१०] आश्रयस्थानके भागी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये। अच् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ)—ये स्वर स्पर्शाभावरूप 'विवृत' प्रयत्नवाले हैं। यण् (य, व, र, ल)' 'ईषत्स्पृष्ट' एवं शल् (श, ष, स, ह) 'अर्धस्पृष्ट' अर्थात् 'ईषद्विवृत' प्रयत्नवाले हैं। शेष 'हल्' अर्थात् क से लेकर म तकके अक्षर 'स्पृष्ट प्रयत्नवाले' माने गये हैं। इनमें बाह्य प्रयत्नके कारण वर्णभेद जानना

८. जहाँ सकारका 'रुत्व' 'यत्व' होकर 'लोपः शाकल्यस्य।' (पा.सू. ८। ३। १९) अथवा 'हलि सर्वेषाम्।' (पा.सू. ८। ३। २२) के नियमानुसार वैकल्पिक लोप होता है और उस दशामें संधि नहीं होती, वहाँ उस संधिके अभावको 'विवृत्ति' या 'विवर्तन' कहा गया है। जैसा कि 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा'में वर्णन है—

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये संधिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम्॥ (श्लो० ९४)

९. इन आठोंके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—शिवो वन्द्यः, क ईशः, हरिश्शेते, आविष्कृतम्, कस्कः, अहर्पतिः, कᳲ करोति, कᳲ पचति।

१०. अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यम—ये 'अयोगवाह' कहलाते हैं। वे जिस स्वरपर आश्रित होते हैं, उसीका स्थान उनका स्थान होता है। जैसे—'रामः' का विसर्ग कण्ठस्थानीय है और 'हरिः' का विसर्ग तालुस्थानीय।

चाहिये 'अम्' प्रत्याहारमें स्थित वर्ण (ञ, म, ङ, ण, न) अनुनासिक होते हैं। हकार और रेफ अनुनासिक नहीं होते। 'हकार, झकार तथा षकार' के 'संवार', 'घोष' और 'नाद' प्रयत्न हैं। 'यण्' और 'जश्'—इनके 'ईषन्नाद' अर्थात् 'अल्पप्राण' प्रयत्न हैं। ख, फ आदिका 'विवार', 'अघोष' और 'श्वास' प्रयत्न हैं। चर् (च, ट, त, क, प, श, ष, स) का 'ईषच्छ्वास' प्रयत्न जानना चाहिये। यह व्याकरण-शास्त्र वाणीका धाम कहा जाता है ॥ १—२२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शिक्षानिरूपण' नामक तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३६ ॥

तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय

काव्य आदिके लक्षण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'काव्य' और 'नाटक' आदिके स्वरूप तथा 'अलंकारों'का वर्णन करता हूँ। ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य—यही सम्पूर्ण वाङ्मय माना गया है[1]। शास्त्र, इतिहास तथा काव्य—इन तीनोंकी समाप्ति इसी वाङ्मयमें होती है। वेदादि शास्त्रोंमें शब्दकी प्रधानता है और इतिहास-पुराणोंमें अर्थकी। इन दोनोंमें 'अभिधा-शक्ति' (वाच्यार्थ) की ही मुख्यता होती है; अतः 'काव्य' इन दोनोंसे भिन्न है। [क्योंकि उसमें व्यङ्ग्य अर्थको प्रधानता दी जाती है[2]।] संसारमें मनुष्य-जीवन दुर्लभ है; उसमें भी विद्या तो और भी दुर्लभ है। विद्या होनेपर भी कवित्वका गुण आना कठिन है; उसमें भी काव्य-रचनाकी पूर्ण शक्तिका होना अत्यन्त कठिन है[3]। शक्तिके साथ बोध एवं प्रतिभा हो, यह और भी कठिन है; इन सबके होते हुए विवेकका होना तो परम दुर्लभ है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो, अविद्वान् पुरुषोंके द्वारा उसका अनुसंधान किया जाय तो उससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता[4]। 'श' आदि वर्ण, अर्थात् 'श ष स ह' तथा वर्गोंके द्वितीय एवं चतुर्थ अक्षर 'महाप्राण' कहलाते हैं*। वर्णोंके समुदायको 'पद' कहते हैं। इसके दो भेद हैं—'सुबन्त' और 'तिङन्त'। अभीष्ट अर्थसे व्यवच्छिन्न संक्षिप्त पदावलीका नाम 'वाक्य' है ॥ १—६ ॥

जिसमें अलंकार भासित होता हो, गुण विद्यमान हो तथा दोषका अभाव हो, ऐसे वाक्यको 'काव्य'[5] कहते हैं। लोक-व्यवहार तथा वेद (शास्त्र) का ज्ञान—ये काव्यप्रतिभाकी यो[6]नि हैं। सिद्ध किये

१. 'सरस्वती-कण्ठाभरण'के रचयिता महाराजाधिराज भोजदेवने अपने ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें 'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यम्' (१ । १) अग्निपुराणकी इस आनुपूर्वीको अविकलरूपसे उद्धृत किया है।

२. शब्दप्रधान वेदादिकी आज्ञाको भामह आदि आचार्योंने 'प्रभुसम्मित' और अर्थप्रधान इतिहास-पुराणोंकी आज्ञाको 'सुहृत्सम्मित' नाम दिया है। इसी तरह शब्द और अर्थको गौण करके जहाँ व्यङ्ग्यार्थको प्रधानता दी गयी है, उस काव्यके उपदेशको 'कान्तासम्मित' कहा है। यथा—

'प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः, सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयानां च करोतीति।' (काव्यप्रकाश—१ उल्लास)

३. साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने अपने ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमें 'काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्।'—यह लिखकर 'नरत्वं दुर्लभं लोके' इत्यादि श्लोकको पूर्णतः उद्धृत किया है।

४. भामहपर भी अग्निपुराणकी इन उक्तियोंका प्रभाव पड़ा है। उनका कहना है कि 'गुरुके उपदेशसे जडबुद्धि मनुष्य भी शास्त्रका अध्ययन तो कर लेते हैं, परंतु काव्य करनेकी शक्ति किसी विरले ही प्रतिभाशाली पुरुषमें होती है।' इस कथनमें 'शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा' की स्पष्टतः छाप है। भामहका श्लोक इस प्रकार है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥

* यह एक श्लोकका भाव शिक्षासे सम्बद्ध है। जान पड़ता है, लेखकके प्रमादसे उसका पाठ इस अध्यायमें समाविष्ट हो गया है।

५. अग्निपुराणकी इसी उक्तिको उपजीव्य मानकर भोजदेवने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में इस प्रकार लिखा है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
(१ । २)

६. भामहने इसी कथनको कुछ पल्लवित करके लिखा है कि 'व्याकरण, छन्द, कोष, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकव्यवहार,

मन्त्रके प्रभावसे जो काव्य निर्मित होता है, वह अयोनिज है। देवता आदिके लिये संस्कृत भाषाका और मनुष्योंके लिये तीन प्रकारकी प्राकृत भाषाका प्रयोग करना चाहिये। काव्य आदि तीन प्रकारके होते हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। पादविभागसे रहित पदोंका प्रवाह 'गद्य' कहलाता है। वह भी चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेदसे तीन प्रकारका होता है[९]। छोटी-छोटी कोमल पदावलीसे युक्त और अत्यन्त मृदु संदर्भसे पूर्ण गद्यको 'चूर्णक' कहते हैं। जिसमें बड़े-बड़े समासयुक्त पद हों, उसका नाम 'उत्कलिका' है[१०]। जो मध्यम श्रेणीके संदर्भसे युक्त हो तथा जिसका विग्रह अत्यन्त कुत्सित (क्लिष्ट) न हो, जिसमें पद्यकी छायाका आभास मिलता हो—जिसकी पदावली किसी पद्य या छन्दके खण्ड-सी जान पड़े, उस गद्यको 'वृत्तगन्धि' कहते हैं। यह सुननेमें अधिक उत्कट नहीं होता[११]। गद्य-काव्यके पाँच भेद माने जाते हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा एवं कथानिका[१२]। जहाँ गद्यके द्वारा विस्तारपूर्वक ग्रन्थ-निर्माता कविके वंशकी प्रशंसा की गयी हो, जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ (वियोग) और विपत्ति (मरणादि) प्रसङ्गोंका वर्णन हो, जहाँ वैदर्भी आदि रीतियों तथा भारती आदि वृत्तियोंकी प्रवृत्तियोंपर विशेषरूपसे प्रकाश पड़ता हो, जिसमें 'उच्छ्वास' के नामसे परिच्छेद (खण्ड) किये गये हों, जो 'चूर्णक' नामक गद्यशैलीके कारण अधिक

युक्ति (तर्क) तथा कलाओंका काव्य-रचनामें प्रवृत्त होनेवाले कविजनोंको मनन करना चाहिये। यथा—

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी॥

अग्निपुराणके 'वेदश्च लोकश्च' इस अंशको ही भामहने विशद किया है। आचार्य वामनने काव्याङ्गकी संज्ञा देकर काव्यरचनाके तीन हेतुओंका उल्लेख किया है—लोक, विद्या और प्रकीर्ण। 'लोक'से उन्होंने 'लोकवृत्त' लिया है। 'विद्या' शब्दसे शब्दस्मृति (व्याकरण), शब्दकोष, छन्दोविचिति, कलाशास्त्र, कामशास्त्र, तथा दण्डनीति आदिका ग्रहण किया है तथा 'प्रकीर्ण' शब्दसे प्रतिभा और अवधान (चित्तकी एकाग्रता) को लिया है। यथा—(काव्यालंकारसूत्राख्ये ग्रन्थे प्रथमेऽधिकरणे तृतीयाध्याये)—'लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि॥१॥' 'लोकवृत्तं लोकः॥२॥' 'शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः॥३॥' 'लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्॥११॥' इसी प्रकार आचार्य मम्मटने शक्ति (प्रतिभा) को तथा लोकवृत्त, व्याकरणादिशास्त्र तथा पूर्ववर्ती कवियोंके काव्य आदिके अवलोकनसे प्राप्त हुई व्युत्पत्तिको काव्यका हेतु बताया है। 'साथ ही काव्यवेत्ताओंकी शिक्षाके अनुसार किया जानेवाला अभ्यास भी काव्यनिर्माणमें हेतु होता है,' यह उनका कथन है। अन्यान्य परवर्ती आचार्योंने भी काव्यके इन हेतुओंपर विचार किया है। इन सबके मतोंपर अग्निपुराणके 'वेदश्च लोकश्च' इस कथनका ही प्रभाव परिलक्षित होता है।

७. मन्त्रसिद्धिसे भी अद्भुत काव्य-रचनाकी शक्तिका उदय होता है, इसकी चर्चा रसगङ्गाधरकारने भी की है। 'नैषध' महाकाव्यके रचयिता श्रीहर्षने भी अपने काव्यमें चिन्तामणि-बीजकी उपासनासे अकस्मात् श्लोक-रचनाकी शक्तिका आविर्भाव होना बताया है।

८. भामहने काव्यके दो भेद बताये हैं—गद्य और पद्य। फिर भाषाकी दृष्टिसे इनके तीन-तीन भेद और होते हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। वामनने 'काव्य गद्य पद्य च (३-२१)'—इस सूत्रके द्वारा काव्यके गद्य और पद्य दो ही मूलभेद माने हैं। दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में अग्निपुराणकथित गद्य, पद्य और मिश्र—तीनों भेदोंको उद्धृत किया है। भाषाकी दृष्टिसे भी उन्होंने काव्यके चार भेद माने हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। अग्निपुराणमें जो 'पादसंतानो गद्यम्।'—इस प्रकार गद्यका लक्षण किया है, दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में इसे अविकलरूपसे उद्धृत किया है।

९. आचार्य वामनने भी अग्निपुराणोक्त इन्हीं तीन गद्य-भेदोंका उल्लेख किया है। यथा—'गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च'।

१०. इसी भावकी छाया लेकर वामनने १।३ के २४-२५ वें सूत्रोंका निर्माण किया है—'अनाविद्धललितपदं चूर्णम्'॥२४॥ 'विपरीतमुत्कलिकाप्रायम्॥२५॥'

११. वामनने जिसमें किसी पद्यका भाग प्रतीत होता हो, ऐसे गद्यको 'वृत्तगन्धि' कहा है। यथा—'पद्यभागवद्वृत्तगन्धि॥१।३।२३॥' साहित्यदर्पणकारने भी 'वृत्तभागयुतम्' कहकर इसी भावकी पुष्टि की है। वामन और विश्वनाथ—दोनों ही स्पष्टतः अग्निपुराणके छायाग्राही हैं।

१२. विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'के छठे परिच्छेदमें 'कथा' और 'आख्यायिका'की चर्चा की है। उन्होंने गद्य-पद्यमय काव्योंके तीन भेद माने हैं—चम्पू, विरुद और करम्भक।

उत्कृष्ट जान पड़ता हो, अथवा जिसमें 'वक्त्र' या 'अपरवक्त्र' नामक छन्दका प्रयोग हुआ हो, उसका नाम 'आख्यायिका' है (जैसे 'कादम्बरी' आदि)। जिस काव्यमें कवि श्लोकोंद्वारा संक्षेपसे अपने वंशका गुणगान करता हो, जिसमें मुख्य अर्थको उपस्थित करनेके लिये कथान्तरका संनिवेश किया गया हो, जहाँ परिच्छेद हो ही नहीं, अथवा यदि हो भी तो कहीं लम्बकोंद्वारा ही हो, उसका नाम 'कथा' है (जैसे 'कथा-सरित्सागर' आदि) । उसके मध्यभागमें चतुष्पदी (पद्य) द्वारा बन्ध-रचना करे। जिसमें कथा खण्डमात्र हो, उसे 'खण्डकथा' कहते हैं । खण्डकथा और परिकथा—इन दोनों प्रकारकी कथाओंमें मन्त्री, सार्थवाह (वैश्य) अथवा ब्राह्मणको ही नायक मानते हैं। उन दोनोंका ही प्रधान रस 'करुण' जानना चाहिये । उसमें चार प्रकारका 'विप्रलम्भ' (विरह) वर्णित होता है। (प्रवास, शाप, मान एवं करुण-भेदसे विप्रलम्भके चार प्रकार हो जाते हैं।) उन दोनोंमें ही ग्रन्थके भीतर कथाकी समाप्ति नहीं होती । अथवा 'खण्डकथा' कथाशैलीका ही अनुसरण करती है। कथा एवं आख्यायिका दोनोंके लक्षणोंके मेलसे जो कथावस्तु प्रस्तुत होती है, उसे 'परिकथा' नाम दिया गया है । जिसमें आरम्भमें भयानक, मध्यमें करुण तथा अन्तमें अद्भुत रसको प्रकट करनेवाली रचना होती है, वह 'कथानिका' (कहानी) है। उसे उत्तम श्रेणीका काव्य नहीं माना गया है ॥ ७-२० ॥

चतुष्पदी नाम है-पद्यका [चार पादोंसे युक्त होनेसे उसे 'चतुष्पदी' कहते हैं]। उसके दो भेद हैं, 'वृत्त' और 'जाति'[13] । जो अक्षरोंकी गणनासे जाना जाय, उसे 'वृत्त' कहते हैं। यह भी दो प्रकारका है—'उक्थ' (वैदिक स्तोत्र आदि) और 'कृतिशेषज' (लौकिक)। जहाँ मात्राओंद्वारा गणना हो, वह पद्य 'जाति' कहलाता है। यह काश्यपका मत है। वर्णोंकी गणनाके अनुसार व्यवस्थित छन्दको 'वृत्त' कहते हैं। पिङ्गलमुनिने वृत्तके तीन भेद माने हैं,—सम, अर्धसम तथा विषम। जो लोग गम्भीर काव्य-समुद्रके पार जाना चाहते हैं, उनके लिये छन्दोविद्या नौकाके समान है। महाकाव्य, कलाप, पर्यायबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोष—ये सभी पद्योंके समुदाय हैं। अनेक सर्गोंमें रचा हुआ संस्कृतभाषाद्वारा निर्मित काव्य 'महाकाव्य' कहलाता है ॥ २१-२३ ॥

सर्गबद्ध रचनाको, जो संस्कृत भाषामें अथवा शुद्ध एवं परिमार्जित भाषामें लिखी गयी हो, 'महाकाव्य'[14] कहते हैं । महाकाव्यके स्वरूपका त्याग न करते हुए उसके समान अन्य रचना भी हो तो वह दूषित नहीं मानी जाती। 'महाकाव्य' इतिहासकी कथाको लेकर निर्मित होता है अथवा उसके अतिरिक्त किसी उत्तम आधारको लेकर भी उसकी अवतारणा की जाती है । उसमें यथास्थान गुप्तमन्त्रणा, दूतप्रेषण[15], अभियान और युद्ध आदिके वर्णनका समावेश होता है । वह अधिक विस्तृत नहीं होता । शक्वरी, अतिजगती, अतिशक्वरी, त्रिष्टुप् और पुष्पिताग्रा आदि तथा वक्त्र आदि मनोहर एवं समवृत्तवाले छन्दोंमें महाकाव्यकी रचना की जाती है। प्रत्येक सर्गके अन्तमें छन्द बदल देना उचित है । सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त नहीं होना चाहिये । 'अतिशक्वरी' और 'अष्टि'—इन दो छन्दोंसे एक सर्ग संकीर्ण होना चाहिये तथा दूसरा सर्ग मात्रिक छन्दोंसे संकीर्ण होना चाहिये। अगला सर्ग पूर्वसर्गकी अपेक्षा अधिकाधिक उत्तम होना चाहिये। 'कल्प' अत्यन्त निन्दित माना गया है। उसमें सत्पुरुषोंका विशेष आदर नहीं होता। नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रमा, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उद्यान, जलक्रीड़ा, मधुपान, सुरतोत्सव, दूती-वचन-विन्यास तथा कुलटाके चरित्र आदि अद्भुत वर्णनोंसे महाकाव्य पूर्ण होता है। अन्धकार, वायु तथा रतिको व्यक्त करनेवाले अन्य उद्दीपन-विभावोंसे भी वह अलंकृत होता है। उसमें सब प्रकारकी वृत्तियोंकी प्रवृत्ति होती है। वह सब प्रकारके भावोंसे प्रभावित होता है तथा सब प्रकारकी रीतियों तथा सभी रसोंसे उसका संस्पर्श होता है । सभी गुणों और अलंकारोंसे भी महाकाव्यको परिपुष्ट किया जाता है। इन सब विशेषताओंके कारण ही उस रचनाको 'महाकाव्य' कहते हैं तथा उसका निर्माता 'महाकवि' कहलाता है ॥ २४-३२ ॥

महाकाव्यमें उक्ति-वैचित्र्यकी प्रधानता होते हुए भी रस ही उसका जीवन है। उसकी स्वरूप-सिद्धि अपृथग्यत्नसे (अर्थात् सहजभावसे) साध्य वाग्वक्रिमा (वचनवैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति)-विषयक रससे होती है। महाकाव्यका फल है—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति[16] । वह नायकके नामसे ही

१३. 'पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।'—यह पद्यांश दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में ज्यों-का-त्यों ले लिया है ।

१४. भामहने अग्निपुराणके 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्'—इस उक्तिको अविकलरूपसे उद्धृत करके ही महाकाव्यके लक्षणका विस्तार किया है ।

१५. भामहने भी 'मन्त्रदूतप्रयाणादि'—इस आनुपूर्वीका अपने महाकाव्य-लक्षणमें उपयोग किया है ।

१६. 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः'—इस अंशको परवर्ती साहित्यालोचकोंने अग्निपुराणके इस कथनसे ही लिया है ।

सर्वत्र विख्यात होता है । प्रायः समान छन्दों अथवा वृत्तियोंमें महाकाव्यका निर्वाह किया जाता है । कौशिकी वृत्तिकी प्रधानता होनेसे काव्य-प्रबन्धमें कोमलता आती है । जिसमें प्रवासका वर्णन हो, उस रचनाको 'कलाप' कहते हैं । उसमें 'पूर्वानुराग' नामक श्रृङ्गाररसकी प्रधानता होती है । संस्कृत अथवा प्राकृतके द्वारा प्राप्ति आदिका वर्णन 'विशेषक' कहलाता है । जहाँ अनेक श्लोकोंका एक साथ अन्वय हो, उसे 'कुलक' कहते हैं । उसीका नाम 'संदानितक' भी है । एक-एक श्लोककी स्वतन्त्र रचनाको 'मुक्तक' कहते हैं । उसे सहृदयोंके हृदयमें चमत्कार उत्पन्न करनेमें समर्थ होना चाहिये । श्रेष्ठ कवियोंकी सुन्दर उक्तियोंसे सम्पन्न ग्रन्थको 'कोष' कहा गया है । वह ब्रह्मकी भाँति अपरिच्छिन्न रससे युक्त होता है तथा सहृदय पुरुषोंको रुचिकर प्रतीत होता है । सर्गमें जो भिन्न-भिन्न छन्दोंकी रचना होती है, वह आभासोपम शक्ति है । उसके दो भेद हैं—'मिश्र' तथा 'प्रकीर्ण' । जिसमें 'श्रव्य' और 'अभिनेय'—दोनोंके लक्षण हों, वह 'मिश्र' और सकल उक्तियोंसे युक्त काव्य 'प्रकीर्ण' कहलाता है ॥ ३३—३९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'काव्य आदिके लक्षण' नामक तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३७ ॥

तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय

नाटक-निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! 'रूपक'के सत्ताईस भेद माने गये हैं[1]—नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्णा, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्य तथा प्रेङ्खण । लक्षण दो प्रकारके होते हैं—सामान्य और विशेष । सामान्य लक्षण रूपकके सभी भेदोंमें व्याप्त होते हैं और विशेष लक्षण किसी-किसीमें दृष्टिगोचर होते हैं । रूपकके सभी भेदोंमें पूर्वरङ्ग[2]के निवृत्त हो जानेपर देश-काल, रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क और स्थिति—ये उनके सामान्य लक्षण हैं; क्योंकि इनका सर्वत्र उपसर्पण देखा जाता है । विशेष लक्षण यथावसर बताया जायगा । यहाँ पहले सामान्य लक्षण कहा जाता है; 'नाटक'को धर्म, अर्थ और कामका साधन माना गया है; क्योंकि वह करण है । उसकी इतिकर्तव्यता (कार्यारम्भकी विधि) यह है कि 'पूर्वरङ्ग'का विधिवत् सम्पादन किया जाय । 'पूर्वरङ्ग'के नान्दी आदि बाईस अङ्ग होते हैं[3] ॥ १—८ ॥

देवताओंको नमस्कार, गुरुजनकी प्रशस्ति तथा गौ, ब्राह्मण और राजा आदिके आशीर्वाद 'नान्दी' कहलाते हैं । रूपकोंमें 'नान्दीपाठ'के पश्चात् यह लिखा जाता है कि 'नान्द्यन्ते[4] सूत्रधारः' (नान्दीपाठके अनन्तर सूत्रधारका

१. भरतमुनिके नाट्यशास्त्र (१८ । २) में 'रूपक'के दस भेद बताये गये हैं—नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग । अग्निपुराणमें ये दस भेद तो मिलते ही हैं, सत्रह भेद और उपलब्ध होते हैं । इन्हींमें 'विलासिका' नामक एक भेद और जोड़कर विश्वनाथने सब भेदोंकी सम्मिलित संख्या अट्ठाईस कर दी है । उन्होंने प्रथम दस भेदोंको 'रूपक' और शेष अठारह भेदोंको 'उपरूपक' बताया है । अग्निपुराणोक्त 'कर्णा' नामक भेद 'साहित्यदर्पण'में 'प्रकरणी'के नामसे और 'भाणी' नामक भेद 'संलापक' नामसे लिखा गया है ।

२. 'रङ्ग' कहते हैं—'रङ्गशाला' या 'नृत्यस्थान'को । वहाँ जो सम्भावित विघ्न या उपद्रव हों, उनकी शान्तिके लिये सूत्रधार और नट आदि जो 'नान्दीपाठ' और 'स्तुति' आदि करते हैं, उसका नाम 'पूर्वरङ्ग' है ।

३. नाट्यशास्त्रके पाँचवें अध्याय (९—१७ तकके श्लोकों)में प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित, ज्येष्ठासारित, मध्यासारित, कनिष्ठासारित—ये ग्यारह 'बहिर्गीत' कहे गये हैं, जो परदेके भीतर ही रहकर अभिनेता या प्रयोगकर्ता प्रयोगमें लाते हैं । तदनन्तर परदा उठाकर सब लोग एक साथ गीतकी योजना करते हैं । उसके गीतक, वर्द्धमान, ताण्डव, उत्थापन, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्टा, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी और प्ररोचना—ये ग्यारह अङ्ग हैं । इन बाईस अङ्गोंका पूर्वरङ्गमें प्रयोग होता है ।

४. नाटकोंमें सबसे प्रथम 'नान्दीपाठ'का विधान भरतमुनिने किया है । जैसा कि नाट्यशास्त्रके प्रथम अध्यायमें उल्लेख है—

नान्दी कृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता ।
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा वेदसम्मता ॥

प्रवेश)। इसमें कविकी पूर्व गुरुपरम्पराका, वंशप्रशंसा, पौरुष तथा काव्यके सम्बन्ध और प्रयोजन—इन पाँच विषयोंका निर्देश करे। नटी, विदूषक और पारिपार्श्वक—ये सूत्रधारके साथ जहाँ अपने कार्यसे सम्बद्ध, प्रस्तुत विषयको उपस्थित करनेवाले विचित्र वाक्योंद्वारा परस्पर संलाप करते हैं, पण्डितजन उसको 'आमुख' जानें। उसको 'प्रस्तावना' भी कहा जाता है ॥ ९—१२ ॥

'आमुख'के तीन भेद होते हैं[५]—प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय। जब सूत्रधार उपस्थित काल (ऋतु आदि) का वर्णन करता है, तब उसका आश्रयभूत पात्र-प्रवेश 'प्रवृत्तक' कहलाता है। इसका बीजांशोंमें ही प्रादुर्भाव होता है। जब पात्र सूत्रधारके वाक्य अथवा वाक्यार्थको ग्रहण करके प्रवेश करता है, तब उसको 'कथोद्घात' कहा जाता है। जिस समय सूत्रधार एक प्रयोगमें दूसरे प्रयोगका वर्णन करे, उस समय यदि पात्र वहाँ प्रवेश करे, तो वह 'प्रयोगातिशय' होता है। 'इतिवृत्त' (इतिहास) को नाटक आदिका शरीर कहा जाता है। उसके दो भेद माने गये हैं—'सिद्ध' और 'उत्प्रेक्षित'। शास्त्रोंमें वर्णित इतिवृत्त 'सिद्ध' और कविकी कल्पनासे निर्मित 'उत्प्रेक्षित' कहा जाता है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ (प्रयोजनसिद्धिकी हेतुभूता) हैं[६]। चेष्टा (कार्यावस्थाएँ) भी पाँच ही मानी गयी हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति-सद्भाव, नियतफलप्राप्ति और पाँचवाँ फलयोग। रूपकमें मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये क्रमशः पाँच संधियाँ हैं[७]। जो अल्पमात्र वर्णित होनेपर भी बहुधा विसर्पण—अनेक अवान्तर कार्योंको उत्पन्न करता है, फलकी हेतुभूत उस अर्थप्रकृतिको 'बीज' कहा जाता है। जिसमें विविध वृत्तान्तों और रससे बीजकी उत्पत्ति होती है, काव्यके शरीरमें अनुगत उस संधिको 'मुख' कहते हैं। अभीष्ट अर्थकी रचना, कथावस्तुकी अखण्डता, प्रयोगमें अनुराग, गोपनीय विषयोंका गोपन, अद्भुत वर्णन, प्रकाश्य विषयोंका प्रकाशन—ये काव्याङ्गोंके छः फल हैं। जैसे अङ्गहीन मनुष्य किसी कार्यमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार अङ्गहीन काव्य भी प्रयोगके योग्य नहीं माना जाता। देश-कालके बिना किसी भी इतिवृत्तकी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः नियमपूर्वक उन दोनोंका उपादान 'पद' कहलाता है। देशोंमें भारतवर्ष और कालमें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरयुगको ग्रहण करना चाहिये। देश-कालके बिना कहीं भी प्राणियोंके सुख-दुःखका उदय नहीं होता। सृष्टिके आदिकालकी वार्ता अथवा सृष्टिपालन आदिकी वार्ता प्राप्त हो तो वह वर्णनीय है। ऐसा करनेमें कोई दोष नहीं है[८] ॥ १३—२७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाटकका निरूपण' नामक तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३८ ॥

तीन सौ उन्चालीसवाँ अध्याय

शृङ्गारादि रस, भाव तथा नायक आदिका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! वेदान्तशास्त्रमें जिस अक्षर (अविनाशी), सनातन, अजन्मा और व्यापक परब्रह्म परमेश्वरको अद्वितीय, चैतन्यस्वरूप और ज्योतिर्मय कहते हैं, उसका सहज (स्वरूपभूत) आनन्द कभी-कभी

५. विश्वनाथने अग्निपुराणके 'सहिताः सूत्रधारेण' इत्यादिसे लेकर 'प्रस्तावनापि सा' तककी पङ्क्तियोंको अपने ग्रन्थमें अविकलरूपसे उद्धृत किया है। अग्निपुराणमें प्रस्तावनाके 'प्रवृत्तक', 'कथोद्घात' और 'प्रयोगातिशय'—ये तीन भेद माने गये हैं। परंतु विश्वनाथने 'उद्घातक' और 'अवलगित'—ये दो भेद और जोड़कर पाँच भेद स्वीकार किये हैं।

६. इन पाँचों अर्थप्रकृतियोंको विश्वनाथने अपने ग्रन्थमें ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है।

७. विश्वनाथने 'निर्वहण'के स्थानमें 'उपसंहृति'का उल्लेख किया है।

८. इस प्रसङ्गके अनुशीलनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यासदेवपर भरतमुनिका प्रभाव पड़ा है और परवर्ती आलोचकोंके ग्रन्थ भरतमुनि एवं व्यासदेवसे भी प्रभावित हैं।

व्यञ्जित होता है, उस आनन्दकी अभिव्यक्तिका ही 'चैतन्य', 'चमत्कार' और 'रस'के नामसे वर्णन किया जाता है[1]। आनन्दका जो प्रथम विकार है, उसे 'अहंकार' कहा गया है। अहंकारसे 'अभिमान'का प्रादुर्भाव हुआ। इस अभिमानमें ही तीनों लोकोंकी समाप्ति हुई है ॥ १-३ ॥

अभिमानसे रतिकी उत्पत्ति हुई और वह व्यभिचारी आदि भाव-सामान्यके सहकारसे पुष्ट होकर 'श्रृङ्गार' के नामसे गायी जाती है। श्रृङ्गारके इच्छानुसार हास्य आदि अनेक दूसरे भेद प्रकट हुए हैं[2]। उनके अपने-अपने विशेष स्थायी भाव होते हैं, जिनका परिपोष (अभिव्यक्ति) ही उन-उन रसोंका लक्षण है ॥ ४-५ ॥

वे रस परमात्माके सत्त्वादि गुणोंके विस्तारसे प्रकट होते हैं। अनुरागसे श्रृङ्गार, तीक्ष्णतासे रौद्र, उत्साहसे वीर और संकोचसे बीभत्स रसका उदय होता है। श्रृङ्गार रससे हास्य, रौद्र रससे करुण रस, वीर रससे अद्भुत रस तथा बीभत्स रससे भयानक रसकी निष्पत्ति होती है। श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—ये नौ रस माने गये हैं। वैसे सहज रस तो चार (श्रृङ्गार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स) ही हैं। जैसे बिना त्यागके धनकी शोभा नहीं होती, वैसे ही रसहीन वाणीकी भी शोभा नहीं होती। अपार काव्यसंसारमें कवि ही प्रजापति है। उसको संसारका जैसा स्वरूप रुचिकर जान पड़ता है, उसके काव्यमें यह जगत् वैसे ही रूपमें परिवर्तित होता है। यदि कवि श्रृङ्गार-रसका प्रेमी है, तो उसके काव्यमें रसमय जगत्का प्राकट्य होता है। यदि कवि श्रृङ्गारी न हो तो निश्चय ही काव्य नीरस होगा। 'रस' भावहीन नहीं है और 'भाव' भी रससे रहित नहीं है; क्योंकि इन भावोंसे रसकी भावना (अभिव्यक्ति) होती है। **'भाव्यन्ते रसा एभिः।'** (भावित होते हैं रस इनके द्वारा)—इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे 'भाव' कहे गये हैं[3] ॥ ६-१२ ॥

'रति' आदि आठ स्थायी भाव होते हैं तथा 'स्तम्भ' आदि आठ सात्त्विक भाव माने जाते हैं। सुखके मनोऽनुकूल अनुभव (आनन्दकी मनोरम अनुभूति) को 'रति' कहा जाता है। हर्ष आदिके द्वारा चित्तके विकासको 'हास' कहा जाता है। अभीष्ट वस्तुके नाश आदिसे उत्पन्न मनकी विकलताको 'शोक' कहते हैं। अपने प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर कठोरताके उदयको 'क्रोध' कहते हैं। पुरुषार्थके अनुकूल मनोभावका नाम 'उत्साह' है ॥ १३-१५ ॥

चित्र आदिके दर्शनसे जनित मानसिक विकलताको 'भय' कहते हैं। दुर्भाग्यवाही पदार्थोंकी निन्दा 'जुगुप्सा' कहलाती है। किसी वस्तुके दर्शनसे चित्तका अतिशय आश्चर्यसे

---

१. भरतमुनिने रसनिष्पत्तिपर विचार किया, भावोंका भी विशद विवेचन किया, किंतु रसको ब्रह्मचैतन्यसे अभिन्न नहीं कहा; इस विषयमें वेदव्यासकी वाणी 'अग्निपुराण'में अधिक स्पष्ट हुई है। इन्होंने ब्रह्मके सहज आनन्दकी अभिव्यक्तिको ही 'चैतन्य', 'चमत्कार' तथा 'रस' नाम दिया है। वेदान्त-सूत्रकार वेदव्यासके समक्ष अवश्य ही 'रसो वै सः।'—यह औपनिषद वाणी भी रही है। भरतसूत्रके व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्तपादने, जिनके मतका विशद विवेचन आचार्य मम्मटने अपनी पीयूषवर्षिणी वाणीद्वारा 'काव्यप्रकाश'में किया है, यह वेदान्तदृष्टि ही अपनायी है, तथा 'रसो वै सः' का प्रमाणरूपमें उल्लेख करके 'चिदावरणभङ्ग' या 'भग्नावरणा चित्' को ही 'रस' माना है। भामहने महाकाव्यके लक्षणमें 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।'—यों लिखकर रसका योग तो स्वीकार किया है, किंतु रसके भव्य स्वरूपका कोई विवेचन नहीं किया है। अभिनवगुप्त, मम्मट तथा विश्वनाथने भी व्यासद्वारा निर्दिष्ट स्वरूपको ही स्वीकार किया है। ध्वनिवादी या व्यञ्जनावादी सहृदयोंने रसके उक्त महामहिम स्वरूपको ही आदर दिया तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है।

२. इस कथनके उपजीव्य हैं—भरतमुनि। उन्होंने श्रृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स रसोंसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रसकी उत्पत्ति मानी है। यथा—

श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥
(नाट्यशास्त्र ६। ३९)

३. भरतमुनिने नाट्यशास्त्रमें यह प्रश्न उठाया है कि 'किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानाम्।' (क्या रसोंसे भावोंकी अभिव्यक्ति होती है अथवा भावोंसे रसोंकी।) इसके उत्तरमें वे कहते हैं कि 'भावोंसे ही रसोंकी अभिव्यक्ति देखी जाती है, रसोंसे भावोंकी नहीं।' रसके उद्भावक होनेके कारण ही वे 'भाव' कहे जाते हैं। यह उत्तर ही अग्निपुराणकी उक्तियोंमें मुखरित हुआ है। 'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।'—यह उक्ति भी नाट्यशास्त्रकी कारिकाका ही अंश है। (देखिये ६। ३६।)।

पूरित हो जाना 'विस्मय' कहलाता है। 'स्तम्भ' आदि आठ सात्त्विक भाव हैं, जो रजोगुण और तमोगुणसे परे हैं। भय या रागादि उपाधियोंसे चेष्टाका अवरोध हो जाना 'स्तम्भ'⁴ कहलाता है। श्रम एवं राग आदिसे युक्त अन्तःकरणके क्षोभसे शरीरमें उत्पन्न जलको 'स्वेद' कहते हैं। हर्षादिसे शरीरका उच्छ्वसित होना और उसमें रोंगटे खड़े हो जाना 'रोमाञ्च' कहा गया है। हर्ष आदि तथा भय आदिके कारण वाणीका स्पष्ट उच्चारण न होना (गद्गद हो जाना) 'स्वरभेद' कहा गया है। चित्तके क्षोभसे उत्पन्न कम्पनको 'वेपथु' कहा गया है। विषाद आदिसे शरीरकी कान्तिका परिवर्तन 'वैवर्ण्य' कहा गया है। दुःख अथवा आनन्द आदिसे उद्भूत नेत्रजलको 'अश्रु' कहते हैं। उपवास आदिसे इन्द्रियोंकी संज्ञाहीनताको 'प्रलय' कहा जाता है॥ १६—२१ ॥

वैराग्य आदिसे उत्पन्न मानसिक खेदको 'निर्वेद' कहा जाता है। मानसिक पीड़ा आदिसे जनित शैथिल्यको 'ग्लानि' कहते हैं; वह शरीरमें ही व्याप्त होती है। अनिष्टप्राप्तिकी सम्भावनाको 'शङ्का' और मत्सर (दूसरेका उत्कर्ष सहन न करने) को 'असूया' कहा जाता है। मदिरा आदिके उपयोगसे उत्पन्न मानसिक मोह 'मद' कहलाता है। अधिक कार्य करनेसे शरीरके भीतर उत्पन्न क्लान्तिको 'श्रम' कहते हैं। शृङ्गार आदि धारण करनेमें चित्तकी उदासीनताको 'आलस्य' कहते हैं। धैर्यसे भ्रष्ट हो जाना 'दैन्य' तथा अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेसे जो बार-बार उसकी ओर ध्यान जाता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। किसी कार्य (भयसे छूटने या इष्टवस्तुको पाने आदि) के लिये उपाय न सूझना 'मोह' कहलाता है॥ २२—२५ ॥

अनुभूत वस्तुका चित्तमें प्रतिबिम्बित होना 'स्मृति' कहलाता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा अर्थोंके निश्चयको 'मति' कहते हैं। अनुराग आदिसे होनेवाला जो कोई अकथनीय मानसिक संकोच होता है, उसका नाम 'व्रीडा' या 'लज्जा' है। चित्तकी अस्थिरताको 'चपलता' और प्रसन्नताको 'हर्ष' कहते हैं। प्रतीकारकी आशासे उद्भूत अन्तःकरणकी विकलताको 'आवेश' कहा जाता है। कर्तव्यके विषयमें कुछ प्रतिभान न होना 'जडता' कही जाती है। अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे बढ़े हुए आनन्द या संतोषके अभ्युदयको 'धृति' कहते हैं। दूसरोंमें निकृष्टता और अपनेमें उत्कृष्टताकी भावनाको 'गर्व' कहा जाता है। इच्छित वस्तुके लाभमें दैव आदिसे जनित विघ्नके कारण जो दुःख होता है, उसे 'विषाद' कहते हैं। अभीष्ट पदार्थकी इच्छासे जो मनकी चञ्चल स्थिति होती है, उसका नाम 'उत्कण्ठा' या 'उत्सुकता' है। अस्थिर हो उठना चित्त और इन्द्रियोंका 'अपस्मार' है। युद्धमें बाधाओंके उपस्थित होनेसे स्थिर न रह पाना 'त्रास' माना गया है तथा चित्तके चमत्कृत होनेको 'वीप्सा' कहते हैं। क्रोधके शमन न होनेको 'अमर्ष' तथा चेतनताके उदयको 'प्रबोध' या 'जागरण' कहते हैं। चेष्टा और आकारसे प्रकट होनेवाले भावोंका गोपन 'अवहित्थ' कहलाता है। क्रोधसे गुरुजनोंपर कठोर वाग्दण्डका प्रयोग 'उग्रता' कहलाता है। चित्तके ऊहापोहको 'वितर्क' तथा मानस एवं शरीरकी प्रतिकूल परिस्थितिको 'व्याधि' कहते हैं। काम आदिके कारण असम्बद्ध प्रलाप करनेको 'उन्माद' कहा गया है। तत्त्वज्ञान होनेपर चित्तगत वासनाकी शान्तिको 'शम' कहते हैं। कविजनोंको काव्यादिमें रस एवं भावोंका निवेश करना चाहिये। जिसमें 'रति' आदि स्थायी भावोंकी विभावना हो, अथवा जिसके द्वारा इनकी विभावना हो, वह 'विभाव' कहा गया है; यह 'आलम्बन' और 'उद्दीपन'के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। 'रति' आदि भावसमूह जिसका आश्रय लेकर निष्पन्न होते हैं, वह 'आलम्बन' नामक विभाव है। यह नायक आदिका आलम्बन लेकर आविर्भूत होता है। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त—ये चार प्रकारके नायक माने गये हैं। ये धीरोदात्तादि नायक अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्टके भेदसे सोलह प्रकारके कहे जाते हैं। पीठमर्द, विट और विदूषक—ये तीनों शृङ्गाररसमें नायकके नर्मसचिव—अनुनायक होते हैं। 'पीठमर्द' श्रीमान् एवं 'नायक'के समान बलशाली (सहायक) होता है। 'विट' (धूर्त) नायकके देशका कोई व्यक्ति होता है। 'विदूषक' प्रहसनसे नायकको प्रसन्न करनेवाला होता है। नायककी नायिकाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—स्वकीया, परकीया एवं पुनर्भू। 'पुनर्भू' नायिका कौशिकाचार्यके मतसे है। कुछ 'पुनर्भू' नायिकाको न मानकर उसके स्थानपर 'सामान्या'की गणना करते हैं। इन्हीं नायिकाओंके अनेक भेद होते हैं। 'उद्दीपन विभाव' विविध संस्कारोंके रूपमें स्थित रहते हैं। ये 'आलम्बन विभाव'में भावोंको उद्दीप्त करते हैं॥ २६—४२ ॥

चौसठ कलाएँ कर्मादि एवं गीतिकादिके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। 'कुहक' और 'स्मृति' प्रायः हासोपहारक हैं। आलम्बन विभावके उद्बुद्ध संस्कारयुक्त भावोंके द्वारा स्मृति,

४. 'स्तम्भ'का यही लक्षण विश्वनाथने भी लिया है।

इच्छा, द्वेष और प्रयत्नके संयोगसे किये हुए मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीरके कार्यको विद्वज्जन 'अनुभाव' मानते हैं— **'स अत्र अनुभूयते उत अनुभवति ।'** (आलम्बनमें जो अनुभूयमान है, अथवा आलम्बनमें जो दर्शनके बाद प्रकट होता है)—इस प्रकार 'अनुभाव' शब्दकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) की जाती है। मानसिक व्यापारकी बहुलतासे युक्त कार्य 'मनका कार्य' कहा जाता है। वह 'पौरुष' (पुरुष-सम्बन्धी) एवं 'स्त्रैण' (स्त्री-सम्बन्धी)—दो प्रकारका होता है। वह इस प्रकार भी प्रसिद्ध है—॥ ४३—४६ ॥

शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य तथा तेज—ये आठ 'पौरुष कर्म' हैं। नीच जनोंकी निन्दा, उत्तम पुरुषोंसे स्पर्धा, शौर्य और चातुर्य—इनके कारण मानसिक कार्यके रूपमें शोभाका आविर्भाव होता है। जैसे— 'भवनकी शोभा होती है' ॥ ४७-४८ ॥

भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रगल्भता, उदारता, स्थिरता एवं गम्भीरता—ये बारह 'स्त्रियोंके विभाव' कहे गये हैं। विलास और हावको 'भाव' कहते हैं। यह 'भाव' किंचित् हर्षसे प्रादुर्भूत होता है। वाणीके योगको 'वागारम्भ' कहते हैं। उसके भी बारह भेद होते हैं। उनमें भाषणको 'आलाप', अधिक भाषणको 'प्रलाप', दुःखपूर्ण वचनको 'विलाप', बारंबार कथनको 'अनुलाप', कथोपकथनको 'संलाप', निरर्थक भाषणको 'अपलाप', वार्ताके परिवहनको 'संदेश' और विषयके प्रतिपादनको 'निर्देश' कहते हैं। तत्त्वकथनको 'अतिदेश' एवं निस्सार वस्तुके वर्णनको 'अपदेश' कहा जाता है। शिक्षापूर्ण वचनको 'उपदेश' और व्याजोक्तिको 'व्यपदेश' कहते हैं। दूसरोंको अभीष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिये उत्तम बुद्धिका आश्रय लेकर वागारम्भका व्यापार होता है। उसके भी रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति—ये तीन भेद होते हैं ॥ ४९—५४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शृङ्गारादि रस, भाव तथा नायक आदिका निरूपण' नामक तीन सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३९ ॥

तीन सौ चालीसवाँ अध्याय

रीति-निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'वाग्विद्या' (काव्यशास्त्र) के सम्यक् परिज्ञानके लिये 'रीति' का वर्णन करता हूँ। उसके भी चार भेद होते हैं—पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी तथा लाटी। इनमें 'पाञ्चाली रीति' उपचारयुक्त, कोमल एवं लघु-समासोंसे समन्वित होती है। 'गौडी रीति'में संदर्भकी अधिकता और लंबे-लंबे समासोंकी बहुलता होती है। वह अधिक उपचारोंसे युक्त नहीं होती। 'वैदर्भी रीति' उपचाररहित, सामान्यतः कोमल संदर्भोंसे युक्त एवं समासवर्जित होती है। 'लाटी रीति' संदर्भकी स्पष्टतासे युक्त होती है, किंतु उसमें समास अत्यन्त स्पष्ट नहीं होते। वह यद्यपि अनेक विद्वानोंद्वारा परित्यक्त है, तथापि अतिबहुल उपचारयुक्त लाटी रीतिकी रचना उपलब्ध होती है ॥ १—४ ॥

(अब वृत्तियोंका वर्णन किया जाता है—) जो क्रियाओंमें विषमताको प्राप्त नहीं होती, वह वाक्यरचना 'वृत्ति' कही गयी है। उसके चार भेद हैं—भारती, आरभटी, कैशिकी एवं सात्वती। 'भारती वृत्ति' वाचिक अभिनयकी प्रधानतासे युक्त होती है। यह प्रायः (नट) पुरुषके आश्रित होती है, किंतु कभी-कभी स्त्री (नटी)के आश्रित होनेपर यह प्राकृत उक्तियोंसे संयुक्त होती है। भरतके द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण इसे 'भारती' कहा जाता है। भारतीके चार अङ्ग माने गये हैं— वीथी, प्रहसन, आमुख एवं नाटकादिकी प्ररोचना। वीथीके तेरह अङ्ग होते हैं—उद्घातक, लपित, असत्प्रलाप, वाक्-श्रेणी, नालिका, विपण, व्याहार, त्रिगत, छल, अवस्यन्दित, गण्ड, मृदव एवं उचित। तापस आदिके परिहासयुक्त वचनको 'प्रहसन' कहते हैं। 'आरभटी वृत्ति'में माया, इन्द्रजाल और युद्ध आदिकी बहुलता मानी गयी है। आरभटी वृत्तिके भेद निम्नलिखित हैं—संक्षिप्तकार, पात तथा वस्तूत्थापन * ॥ ५—११ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रीतिनिरूपण' नामक तीन सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४० ॥

* अग्निपुराणमें काव्यशास्त्रके सम्यक् ज्ञानके लिये रीतिज्ञान आवश्यक बतलाया है; इसीका सहारा लेकर आचार्य वामनने 'रीतिरात्मा काव्यस्य ।'—इस सूत्रके द्वारा रीतिको 'काव्यका आत्मा' कहा है और विशिष्ट पद-रचनाका नाम 'रीति' दिया

तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय

नृत्य आदिमें उपयोगी आङ्गिक कर्म

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अब मैं 'अभिनय' में नृत्य आदिके समय शरीरसे होनेवाली विशेष चेष्टाको तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गके कर्मको बताता हूँ। इसे विद्वान् पुरुष 'आङ्गिक कर्म' मानते हैं। यह सब कुछ प्रायः अबलाजनोंके आश्रित होनेपर 'विच्छित्ति'-विशेषका पोषक होता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित,

---

है। अग्निपुराणमें रीतिके चार भेद उपलब्ध होते हैं—पाञ्चाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी, और इन चारोंके पृथक्-पृथक् लक्षण भी दिये हैं। यद्यपि वामनने इन चार भेदोंमेंसे 'लाटी' को ग्रहण नहीं किया है, तथापि परवर्ती आलोचकोंने लाटीपर भी विचार किया है। वामनने 'पाञ्चाली'का लक्षण किया है— 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।' अर्थात् 'माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणसे सम्पन्न रचना 'पाञ्चाली रीति' है।' अग्निपुराणमें 'उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा ।'—यों कहकर छोटे समासवाली मृदु रचनाको 'पाञ्चाली' बताया गया है। इसकी मृदुताको ही वामनने 'माधुर्य' नामसे व्यक्त किया है। छोटे समास-वाली रचनामें कर्कशताका अभाव होता है, अतः वह 'सुकुमार' मानी गयी है। इसी गुणका वामनने 'सौकुमार्य' शब्दसे बोध कराया है। व्यासजीने लंबे समासवाली रचनाको 'गौड़ीया' कहा है; उसीको शब्दान्तरसे वामनने 'ओजः-कान्तिमती' कहकर व्यक्त किया है। दीर्घसमासवाली रचनामें ही 'ओज' और 'कान्ति' नामक गुण प्रकट होते हैं। जो समाससे शून्य तथा कोमल संदर्भवाली रचना होती है, उसको 'वैदर्भी' कहा गया है। वैदर्भीके इसी लक्षणको वामनने 'समग्रगुणोपेता' कहकर व्यक्त किया है। उनकी रायमें वैदर्भी रीति सम्पूर्ण दोषोंसे रहित और समग्र गुणोंसे गुम्फित होती है। यथा—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता। विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भ रीतिरिष्यते ॥

भरतमुनिने वृत्तियोंकी उत्पत्ति भगवान् नारायणसे बतायी है और उनके चार भेद किये हैं—'भारती', 'सात्वती', 'कैशिकी' तथा 'आरभटी'। 'भारती'का प्राकट्य ऋग्वेदसे, 'सात्वती'का यजुर्वेदसे, 'कैशिकी'का सामवेदसे और 'आरभटी'का अथर्ववेदसे आविर्भाव माना है। जो प्रधान वाणी पुरुषद्वारा प्रयोगमें लायी जानेवाली, स्त्रीरहित, संस्कृत वाक्योंसे युक्त तथा भरतमुनिके शिष्योंसे प्रयुक्त है, वह 'भारती' नामवाली वृत्ति है; उसके चार अङ्ग हैं—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन (द्रष्टव्यः-नाट्यशास्त्रका बीसवाँ अध्याय)। अग्निपुराणका वृत्तिविचार भरत-मुनिके 'नाट्यशास्त्र'पर ही आधारित तथा अत्यन्त संक्षिप्त है।

१. भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र' (अध्याय २२) में 'सामान्य-अभिनय-निरूपणों'के प्रसङ्गमें 'अभिनय'के तीन स्वरूप वर्णित हैं—वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक। नाट्यमें सत्त्वकी प्रतिष्ठा है। सत्त्वका रूप अव्यक्त है। वह नवों रसोंमें स्थित रहता है। युवावस्थामें स्त्रियोंके मुख और अङ्गमें जो सात्त्विक विकार अधिकतर प्रकट होते हैं, उन्हें 'अलंकार' कहा गया है। वे अलंकार भावोंके आश्रित होते हैं। उनमेंसे पहले तीन 'अङ्गज अलंकार' हैं, दस 'स्वाभाविक अलंकार' हैं और सात 'अयत्नज' हैं। वे सब-के-सब रस और भावसे उपबृंहित होते हैं। भाव, हाव और हेला—ये परस्पर उदित हो, शरीरमें प्रकृतिस्थ होकर रहते हैं। ये तीनों सत्त्वके ही भेद हैं और अङ्गज अलंकार हैं। 'सत्त्व' देहात्मक होता है। 'सत्त्व'से 'भाव'का उत्थान होता है, 'भाव'से 'हाव'का और 'हाव'से 'हेला'का उद्भव कहा गया है। वाणी, अङ्ग और मुखरागके द्वारा तथा सत्त्व और अभिनयके द्वारा कविके आन्तरिक अभिप्रायको भावित (प्रकट) करनेवाला तत्त्व 'भाव' कहलाता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत— ये दस स्त्रियोंके स्वभावज चेष्टाविशेष या अलंकरण हैं। इनका विशद विवेचन श्लोक १२—२५ तक उपलब्ध होता है। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य—ये 'अयत्नज अलंकरण' हैं। इन सबका विवेचन श्लोक २६–३० तक उपलब्ध होता है। पुरुषमें शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज—ये आठ सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। यहाँ लीला-विलास आदि जो स्त्रियोंके अलंकरण कहे गये हैं, उनकी संख्या दस है; किंतु अग्निपुराणमें व्यासजीने 'क्रीडित' और 'केलि'—इन दोकी उद्भावना करके स्त्रियोंके स्वभावज अलंकरणों-को बारह बताया है। परवर्ती साहित्यदर्पणकारने इनके अतिरिक्त छः नूतन भावोंकी उद्भावना करके इन सबकी संख्या अठारह तक पहुँचा दी है। व्यासजीने दिग्दर्शनके लिये लीला-विलास आदि कुछ ही भावोंके संक्षिप्त लक्षण दिये हैं, किंतु कविराज विश्वनाथने अठारहों भावों या अलंकरणोंके उदाहरणसहित विस्तृत लक्षण प्रस्तुत किये हैं।

कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहृत, क्रीडित तथा केलि—ये नायिकाओंके यौवनकालमें सहजभावसे प्रकट होनेवाले बारह अलंकार हैं। आवरणसे आवृत स्थानमें प्रियजनोंकी चेष्टाके अनुकरणको 'लीला' कहते हैं। प्रियजनके दर्शन आदिसे जो मुख और नेत्र आदिकी चेष्टाओंमें कुछ विशेष चमत्कार लक्षित होता है, उसको सहृदयजन 'विलास' कहते हैं। हर्षमें होनेवाले हास और शुष्क रुदन आदिके मिश्रणको 'किलकिञ्चित' माना गया है। चित्तके किसी गर्वयुक्त विकारको 'बब्बोक' कहते हैं। (इस भावके उदय होनेपर अभीष्ट वस्तुमें भी अनादर प्रकट किया जाता है।) सौकुमार्य्यजनित चेष्टा-विशेषको 'ललित' कहते हैं। सिर, हाथ, वक्षःस्थल, पार्श्व-भाग—ये क्रमशः अङ्ग हैं। भ्रूलता (भौंह) आदिको 'प्रत्यङ्ग' या 'उपाङ्ग' जाना जाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके प्रयत्नजनित कर्म (चेष्टाविशेष) के बिना नृत्य आदिका प्रयोग सफल नहीं होता। वह कहीं मुख्यरूपसे और कहीं वक्ररूपसे साधित होता है। आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत, उत्क्षिप्त, अधोगत एवं लोलित—ये तेरह प्रकारके शिरःकर्म जानने चाहिये। भ्रूकर्म सात प्रकारका होता है। भ्रूसंचालनके कर्मोंमें पातन आदि कर्म मुख्य हैं। रस, स्थायी भाव एवं संचारी भावके सम्बन्धसे दृष्टिका 'अभिनय' तीन प्रकारका होता है। उसके भी छत्तीस भेद होते हैं—जिनमें दस भेद रससे प्रादुर्भूत होते हैं। कनीनिकाका कर्म भ्रमण एवं चलनादिके भेदसे नौ[5] प्रकारका माना गया है। मुखके छः तथा नासिकाकर्मके छः एवं निःश्वासके नौ भेद माने जाते हैं। ओष्ठकर्मके छः, पादकर्मके छः,

२. 'नाट्यशास्त्र' के आठवें अध्यायमें श्लोक १७ से ४० तक शिरःसंचालनके विविध प्रकारोंकी विशद व्याख्या दृष्टिगोचर होती है। 'आकम्पित' आदि जो तेरह प्रकार हैं, उनके नाममात्र अग्निपुराणमें वहींसे ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं। इन सबके लक्षणोंका विवेचन वहीं द्रष्टव्य है।

३. 'भ्रूसंचालन'के जिन सात कर्मोंकी यहाँ चर्चा की गयी है, उनके नाम 'नाट्यशास्त्र'में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—उत्क्षेप, पातन, भ्रुकुटी, चतुर, कुञ्चित, रेचित तथा सहज। दोनों ओरकी भौंहोंको एक साथ या बारी-बारीसे ऊपरको उठाना 'उत्क्षेप' है। इसी तरह उन्हें एक साथ या एक-एक करके नीचे लाना 'पातन' है। भौंहोंके मूलभागको ऊपर उठाना 'भ्रुकुटी' कही गयी है। दोनों ओरकी मनोहर और विस्तृत भौंहोंको तनिक-सा उठानेसे 'चतुर'कर्म सम्पादित होता है। एक या दोनों भौंहोंको मृदुलभावसे सिकोड़ना 'कुञ्चित' कहा गया है। एक ही भौंहके ललितउत्क्षेपसे 'रेचित' का सम्पादन होता है और भौंहोंका जो स्वाभाविक कर्म है, उसे 'सहज' कहा गया है। (नाट्य० ८। ११८—१२३)

४. कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा तथा बीभत्सा—ये आठ 'रसदृष्टियाँ' हैं। स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता तथा विस्मिता—ये आठ 'स्थायिभाव-सम्बन्धिनी' दृष्टियाँ हैं। शून्या, मलिना, श्रान्ता, ललिता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विशोका, त्रस्ता तथा मदिरा—ये संचारीभावसे सम्बन्ध रखनेवाली बीस प्रकारकी दृष्टियाँ हैं। इन सबका विवेचन 'नाट्यशास्त्र' में बड़े विस्तारके साथ किया गया है। (द्रष्टव्य—अध्याय आठ, श्लोक ४१—११४ तक)

५. भ्रमण, वलन, पात, चलन, सम्प्रवेशन, विवर्तन, समुद्वृत्त, निष्क्रास तथा प्राकृत—ये कनीनिकाके नौ कर्म हैं। नेत्रपुटके भीतर दोनों पुतलियोंका मण्डलाकार आवर्तन 'भ्रमण' माना गया है। त्रिकोणगमन 'वलन' कहलाता है। नीचेकी ओर खिसकना 'पातन' है। उनके कम्पनको 'चलन' जानना चाहिये। उनको भीतर घुसा देना 'प्रवेशन' कहलाता है। कटाक्ष करनेकी क्रियाको 'विवर्तन' कहते हैं। पुतलियोंका ऊँचे उठना 'समुद्वृत्त' कहलाता है, निकलना 'निष्क्राम' है और स्वाभाविकरूपसे उनकी स्थिति 'प्राकृत' कहलाती है।

६. विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, निवृत्त तथा उद्वाहि—ये मुखके छः कर्म हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ८, श्लोक १५३ से ५७ तक)

७. नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विघूर्णिता तथा स्वाभाविकी—इन छः प्रकारकी 'नासिका' मानी गयी हैं। (इसका लक्षण द्रष्टव्य—नाट्य० ८, श्लोक १२९—१३६ तक)

८. विवर्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, संदष्टक तथा समुद्ग—ये 'ओष्ठ' के छः कर्म हैं। (द्रष्टव्य— अध्याय ८, श्लोक १४१—१४७)

९. नाट्यशास्त्रमें 'पादकर्म'के छः भेदोंका उल्लेख है। उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अञ्चित, कुञ्चित तथा सूचीपाद—ये उन छहोंके नाम हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २६५—२८०)

चिबुक-क्रियाके सात[10] एवं ग्रीवाकर्मके नौ[11] भेद बताये गये हैं। हस्तका अभिनय प्रायः 'असंयुत' तथा 'संयुत'—दो प्रकारका होता है। पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्द्धचन्द्र, उत्कराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूच्यास्य, पद्मकोष, अतिशिरा, मृगशीर्षक, कामूल, काल्पद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, ऊर्णनाभ एवं ताम्रचूड—'असंयुत हस्त'के ये चौबीस भेद कहे गये हैं[12] ॥ १—१६ ॥

'संयुत हस्त'के तेरह भेद माने जाते हैं—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटक, वर्धमान, असङ्ग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त एवं बहिःस्तम्भ। संयुत करके परिवर्द्धनसे इसके अन्य भेद भी होते हैं ॥ १७-१८ ॥

वक्षःस्थलका अभिनय आभुग्ननर्तन आदि भेदोंसे पाँच[13] प्रकारका होता है। उदरकर्म[14] अनतिक्षाम, खल्व तथा पूर्ण—तीन प्रकारके होते हैं। पार्श्वभागोंके पाँच[15] कर्म तथा जङ्घाके[16] भी पाँच ही कर्म होते हैं। नाट्य-नृत्य आदिमें पादकर्मके अनेक भेद होते हैं ॥ १९—२१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेयमहापुराणमें 'नृत्य आदिमें उपयोगी विभिन्न अङ्गोंकी क्रियाओंका निरूपण' नामक तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४१ ॥

तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय

अभिनय और अलंकारोंका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'काव्य' अथवा 'नाटक' आदिमें वर्णित विषयोंको जो अभिमुख कर देता—सामने ला देता, अर्थात् मूर्तरूपसे प्रत्यक्ष दिखा देता है, पात्रोंके उस कार्यकलापको विद्वान् पुरुष 'अभिनय' मानते या कहते हैं। वह चार प्रकारसे सम्भव होता है। उन चारों अभिनयोंके नाम इस प्रकार हैं—सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य। स्तम्भ,स्वेद आदि 'सात्त्विक अभिनय' हैं; वाणीसे जिसका आरम्भ होता है, वह 'वाचिक अभिनय' है; शरीरसे आरम्भ किये जानेवाले अभिनयको 'आङ्गिक' कहते हैं तथा जिसका आरम्भ बुद्धिसे किया जाता है, वह 'आहार्य अभिनय' कहा गया है ॥ १-२ ॥

रसादिका आधान अभिमानकी सत्तासे होता है। उसके बिना सबकी स्वतन्त्रता व्यर्थ ही है। 'सम्भोग' और 'विप्रलम्भ'के भेदसे शृङ्गार दो प्रकारका माना जाता है। उनके भी 'प्रच्छन्न' एवं 'प्रकाश'—दो भेद होते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गारके चार भेद माने जाते हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुणात्मक ॥ ३—५ ॥

---

१०. कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहन, सम तथा दन्तक्रियादष्ट—ये सात प्रकारकी 'चिबुकक्रिया' हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ८, श्लोक १४७—१५३)

११. समा, नता, उन्नता, त्र्यश्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और निवृत्ता—ये 'ग्रीवा'के नौ भेद हैं। (द्रष्टव्य—श्लोक १७०—७६)

१२. हस्तकर्मके विशद विवेचनके लिये द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, नवम अध्याय।

१३. आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित तथा सम—ये 'वक्षःस्थल'के पाँच भेद हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २२३—२३२)

१४. कुछ लोग क्षाम, खल्व, सम तथा पूर्ण—ये 'उदर' के चार भेद मानते हैं।

१५. नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित तथा अपसृत—ये 'पार्श्वभाग' के पाँच कर्म हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २३३—२४०)

१६. नाट्यशास्त्रमें 'ऊरुकर्म' और 'जङ्घाकर्म' दोनों ही पाँच-पाँच बताये हैं। कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन और विवर्तन—ये पाँच 'ऊरुकर्म' हैं तथा आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त—ये पाँच 'जङ्घाकर्म' हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २५०—२६५)

इन पूर्वानुरागादिसे 'सम्भोग' शृङ्गारकी उत्पत्ति होती है। वह भी चार भागोंमें विभाजित होता है एवं पूर्वका अतिक्रमण नहीं करता। यह स्त्री और पुरुषका आश्रय लेकर स्थित होता है। उस शृङ्गारकी साधिका अथवा अभिव्यञ्जिका 'रति' मानी गयी है। उसमें वैवर्ण्य और प्रलयके सिवा अन्य सभी सात्त्विक भावोंका उदय होता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंसे, आलम्बन-विशेषसे तथा आलम्बन-विशेषके वैशेषिकसे शृङ्गाररस निरन्तर उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है। 'अभिनेय' शृङ्गारके दो भेद और जानने चाहिये—'वचनक्रियात्मक' तथा 'नेपथ्यक्रियात्मक' ॥ ६-८½ ॥

हास्यरस स्थायीभाव—हासके छः भेद माने गये हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। जिसमें मुस्कुराहटमात्र हो, दाँत न दिखायी दें—ऐसी हँसीको 'स्मित' कहते हैं। जिसमें दन्ताग्र कुछ दीख पड़ें और नेत्र प्रफुल्लित हो उठें, वह 'हसित' कहा जाता है। यह उत्तम पुरुषोंकी हँसी है। ध्वनियुक्त हासको 'विहसित' तथा कुटिलतापूर्ण दृष्टिसे देखकर किये गये अट्टहासको 'उपहसित' कहते हैं। यह मध्यम पुरुषोंकी हँसी है। बेमौके जोर-जोरसे हँसना (और नेत्रोंसे आँसूतक निकल आना—यह 'अपहसित' है और बड़े जोरसे ठहाका मारकर हँसना 'अतिहसित' कहा गया है[2]। (यह अधम जनोंकी हँसी है) ॥ ९-१०½ ॥

जो 'करुण' नामसे प्रसिद्ध रस है, वह तीन प्रकारका होता है। 'करुण' नामसे प्रसिद्ध जो रस है, उसका स्थायी भाव 'शोक' है। वह तीन हेतुओंसे प्रकट होनेके कारण 'त्रिविध' माना गया है—१—धर्मोपघातजनित, २—चित्तविलासजनित और ३—शोकदायकघटनाजनित। (प्रश्न) शोकजनित शोकमें कौन स्थायी भाव है? (उत्तर) जो पूर्ववर्ती शोकसे उद्भूत हुआ है, वही[3] ॥ ११-१२ ॥

अङ्गकर्म, नेपथ्यकर्म और वाक्कर्म—इनके द्वारा रौद्ररसके भी तीन भेद होते हैं। उसका स्थायी भाव 'क्रोध' है। इसमें स्वेद, रोमाञ्च और वेपथु आदि सात्त्विक भावोंका उदय होता है[4] ॥ १३ ॥

दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर—ये तीन 'वीर-रस'के भेद हैं। वीररसका निष्पादक हेतु 'उत्साह' माना गया है। जहाँ प्रारम्भमें वीरका ही अनुसरण किया जाता है, परंतु जो आगे चलकर भयका उत्पादक होता है, वह 'भयानक रस' है। उसका निष्पादक 'भय' नामक स्थायी भाव[6] है। बीभत्सरसके 'उद्वेजन' और

---

१. स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव हैं। इनमेंसे वैवर्ण्य और प्रलयका उद्गम सम्भोग-शृङ्गारमें नहीं होता।

२. 'नाट्यशास्त्र' अध्याय छः, श्लोक ४९—६१ में 'हास्यरस'का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। स्मित, हसित आदि छः भेदोंके भी विस्तृत लक्षण वहाँ दिये गये हैं।

३. अग्निपुराणमें 'करुणरस'का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। अतः उसके विभाव और अनुभावोंका परिचय देनेवाले दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि ।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति ॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥

(नाट्यशास्त्र ६ । ६२-६३)

४. 'रौद्ररस'के परिचायक श्लोक 'नाट्यशास्त्र'में इस प्रकार दिये गये हैं—

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः संजायते रौद्रः ॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥
इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥

(नाट्यशास्त्र ६ । ६४—६६)

५, 'वीररस'का अभिनय कैसे करना चाहिये, इसे भरत-मुनिने दो आर्याओंमें बताया है—

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥
स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥

(अध्याय ६ । ६७-६८)

६. 'भयानकरस' का विशद वर्णन 'नाट्यशास्त्र'में इस प्रकार किया गया है—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥

'क्षोभण'[6]—दो भेद माने गये हैं। पूति (दुर्गन्ध) आदिसे 'उद्वेजन' तथा रुधिरक्षरण आदिसे 'क्षोभण' होता है। 'जुगुप्सा' इसका स्थायी भाव है और सात्त्विक भावका इसमें अभाव होता है[7] ॥ १४—१६½ ॥

काव्य-सौन्दर्यकी अभिवृद्धि करनेवाले धर्मोंको 'अलंकार' कहते हैं। वे शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थ—इन तीनोंको अलंकृत करनेसे तीन प्रकारके होते हैं। जो अलंकार काव्यमें व्युत्पत्ति आदिसे शब्दोंको अलंकृत करनेमें सक्षम होते हैं, काव्यशास्त्रकी मीमांसा करनेवाले विद्वान् उनको 'शब्दालंकार' कहते हैं। छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्त और दुष्कर—ये संकरको छोड़कर शब्दालंकारके नौ भेद हैं। दूसरोंकी उक्तिके अनुकरणको 'छाया' कहते हैं। इस छायाके भी चार भेद जानने चाहिये। लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति एवं मत्तोक्तिका अनुकरण। आभाणक (कहावत) को 'लोकोक्ति' कहते हैं। ये उक्तियाँ सर्वसाधारणमें प्रचलित होती हैं। जो रचना लोकोक्तिका अनुसरण करती है, विद्वज्जन उसको 'लोकोक्ति छाया' कहते हैं। विदग्ध (नागरिक) को 'छेक' कहा जाता है। कलाकुशल बुद्धिको 'वैदग्ध्य' कहते हैं। उल्लेख करनेवाली रचनाको कविजन 'छेकोक्ति-छाया' मानते हैं। 'अर्भकोक्ति' सब विद्वानोंकी दृष्टिसे अव्युत्पन्न (मूढ़) पुरुषोंकी उक्तिका उपलक्षण मात्र है, अतः केवल उन मूढ़ोंकी उक्तिका अनुकरण करनेवाली रचना 'अर्भकोक्ति-छाया' कही जाती है। मत्त (पागल) की जो वर्णक्रमहीन अश्लीलतापूर्ण उक्ति होती है, उसको 'मत्तोक्ति' कहते हैं। उसका अनुकरण करनेवाली रचना 'मत्तोक्ति-छाया' मानी गयी है। यह यथावसर वर्णित होनेपर अत्यन्त सुशोभित होती है ॥ १७—२५ ॥

जो विशेष अभिप्रायोंके द्वारा कवित्वशक्तिको प्रकाशित करती हुई सहृदयोंको प्रमोद प्रदान करती है, वह 'मुद्रा' कही जाती है। हमारे मतसे वही 'शय्या' भी कही जाती है। जिसमें युक्तियुक्त अर्थविशेषका कथन हो तथा जो लोकप्रचलनके प्रयोजनकी विधिसे सामाजिकके हृदयको संतर्पित करे, उसको 'उक्ति' कहते हैं। उक्तिके अवान्तर भेदोंमें विधि-निषेध, नियम-अनियम तथा विकल्प-परिसंख्यासे सम्बद्ध छः प्रकारकी उक्तियाँ होती हैं। परस्पर पृथग्भूतके समान स्थित वाच्य और वाचक—दोनोंकी योजनाके लिये जो समर्थ हो, मनीषीजन उसे 'उक्ति' कहते हैं। युक्तिके विषय छः हैं—पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण और प्रपञ्च। 'गुम्फना' कहते हैं—रचनाचर्याको। वह 'शब्दार्थक्रमगोचरा', 'शब्दानुकारा' तथा 'अर्थानुपूर्व्यर्था'—इन तीन भेदोंसे युक्त है ॥ २६—३१ ॥

जिस वाक्यमें 'उक्ति' और 'प्रत्युक्ति' (प्रश्न और उत्तर) दोनों हों, उसे 'वाकोवाक्य' कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं—'ऋजूक्ति' और 'वक्रोक्ति'। इनमें पहली

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥
एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥
करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन ।
शुष्कौष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥
(६ । ६९—७२)

७. 'बीभत्सरस' के अभिनयका निर्देश करनेवाले दो श्लोक 'नाट्यशास्त्र'में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥
मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥
(६ । ७३-७४)

अग्निपुराणमें 'अद्भुतरसका' वर्णन छूट गया है या खण्डित हो गया है। अतः 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसम्भाव्यमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रक्षेपणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

भावाश्चास्य—स्तम्भाश्रुस्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमप्रहर्षचपलतोन्मादधृतिजडताप्रलयादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥

जो 'ऋजूक्ति' है, वह स्वाभाविक कथनरूपा है। ऋजूक्तिके भी दो भेद हैं—'अप्रश्नपूर्विका' और 'प्रश्नपूर्विका'। वक्रोक्तिके भी दो भेद हैं—'भङ्ग-वक्रोक्ति' और 'काकु-वक्रोक्ति' ॥ ३२-३३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अभिनय और अलंकारोंका निरूपण' नामक तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४२ ॥

तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय

शब्दालंकारोंका विवरण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! पद एवं वाक्यमें वर्णोंकी आवृत्तिको 'अनुप्रास'[1] कहते हैं। वृत्त्यनुप्रासके वर्णसमुदाय दो प्रकारके होते हैं—एकवर्ण और अनेकवर्ण[2] ॥ १ ॥

एकवर्णगत आवृत्तिसे पाँच वृत्तियाँ निर्मित होती हैं—मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा तथा परुषा[3] ॥ २ ॥

मधुरावृत्तिकी रचनामें वर्गान्त पञ्चम वर्णके नीचे उसी वर्गके अक्षर तथा 'र ण म न'—ये वर्ण ह्रस्व स्वरसे अन्तरित होकर प्रयुक्त होते हैं तथा दो नकारोंका संयोग भी रहा करता है ॥ ३ ॥

वर्ग्य वर्णोंकी आवृत्ति पाँचसे अधिक बार नहीं करनी चाहिये। महाप्राण (वर्गके दूसरे और चौथे अक्षर) और ऊष्मा (श ष स ह) इनके संयोगसे युक्त उत्तरोत्तर लघु अक्षरवाली रचना मधुरा[4] कही गयी है ॥ ४ ॥

ललितामें बकार और लकारका अधिक प्रयोग होता है। (बकारसे दन्त्योष्ठ्य वर्ण और लकारसे दन्त्यवर्ण समझने चाहिये[5]।) जिसमें ऊर्ध्वगत रेफसे संयुक्त पकार, णकार एवं वर्ग्य वर्ण प्रयुक्त होते हैं, किंतु टवर्ग और पञ्चम वर्ण

1. अनुप्रासका लक्षण अग्निदेवने 'स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।'—इस प्रकार कहा है। इसीका आधार लेकर आचार्य मम्मटने लिखा है कि 'सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते।' (पूर्वे विद्वांस इति शेषः)। 'वर्णसाम्यमनुप्रासः।' (का० प्र० ९। ७९), 'अनुप्रासः शब्दसाम्यम्।' (सा० द० १०। ३)—ये मम्मट और विश्वनाथकथित लक्षण भी उक्त अभिप्रायके ही पोषक हैं।

2. 'नाट्यशास्त्र' १६। ४० में भरतने उपमा, दीपक, रूपक और यमक—ये चार ही अलंकार माने हैं। व्यासजीने अनुप्रासका उल्लेख किया है। भामहने अपनेसे पूर्व अनुप्रासकी मान्यता स्वीकार की है। 'वृत्त्यनुप्रास'के अग्निपुराणोक्त लक्षणका भाव लेकर भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में इस प्रकार लिखा है—

मुहुरावर्त्यमानेषु यः स्ववर्णेषु वर्तते ।
काव्यव्यापी स संदर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते ॥
(२। ७८)

आचार्य मम्मटने 'एकस्याप्यसकृत्परः'—इस सूत्रभूत वाक्यके द्वारा अग्निपुराणोक्त लक्षणकी ओर ही संकेत किया है। इसी भावको कविराज विश्वनाथने निम्नाङ्कित शब्दोंमें विशद किया है—

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते (१०। ४)

3. अग्निपुराणमें जहाँ पाँच वृत्तियोंका उल्लेख है, वहाँ परवर्ती आलोचकोंने अन्यान्य वृत्तियोंका भी उल्लेख किया है। भोजराजने वृत्तिके तीन गुण बताये हैं—सौकुमार्य, प्रौढ़ि और मध्यमत्व। साथ ही वृत्तिके बारह भेदोंका उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता और अमिता। अग्निपुराणकथित पाँचों वृत्तियाँ भी इनके अन्तर्गत हैं। भद्राके स्थानमें कोमला वृत्ति समझनी चाहिये।

4. भोजराजने 'मधुरा' वृत्तिके उदाहरणके रूपमें निम्नाङ्कित श्लोक प्रस्तुत किया है—

स्मितचन्द्रलेखाचुम्बितलाञ्छितचम्पकः ।
अयं मधुकरैति त्वां चण्डि पङ्कजदन्तुरः ॥
(२। १९३)

5. भोजराजने इसमें तालव्य वर्णोंका भी समावेश माना है। 'ललिता' का उदाहरण इस प्रकार है—

द्राविडीनां ध्रुवं लीलारेचितभ्रूलते मुखे ।
आसज्य राज्यभारं स्वं सुखं स्वपिति मन्मथः ॥
(सर० कं० २। २००

नहीं रहते, वह 'प्रौढ़ा' वृत्ति कही जाती है। जिसमें अवशिष्ट असंयुक्त, रेफ, णकार आदि कोमल वर्ण प्रयुक्त होते हैं, वह 'भद्रा' अथवा 'कोमला वृत्ति'[७] मानी जाती है। जिसमें ऊष्मा वर्ण (श ष स ह) विभिन्न अक्षरोंसे संयुक्त होकर प्रयुक्त होते हैं, उसको 'परुषा' कहते हैं। परुषावृत्तिमें अकारके सिवा अन्य स्वरोंकी अत्यधिक आवृत्ति होती है। अनुस्वार, विसर्ग निरन्तर प्रयुक्त होनेपर परुषता प्रकट करते हैं। रेफसंयुक्त श, ष, स का प्रयोग, अधिक अकारका प्रयोग, अन्तःस्थ वर्णोंका अधिक निवेश तथा रेफ और अन्तःस्थसे भेदित एवं संयुक्त 'हकार' भी परुषताका कारण होता है। और प्रकारसे भी जो गुरु वर्ण है, वह यदि माधुर्यविरोधी वर्णसे संयुक्त हो, तो परुषता लानेवाला होता है। उस परुष-रचनामें वर्गका आदि अक्षर ही संयुक्त एवं गुरु हो तो श्रेष्ठ माना गया है। पञ्चम वर्ण यदि संयुक्त हो तो परुष-रचनामें उसे प्रशस्त नहीं माना गया है। किसीपर आक्षेप करना हो या किसी कठोर शब्दका अनुकरण करना हो, तो वहाँ 'परुषा वृत्ति' भी प्रयोगमें लायी जाती है। क च ट त प—इन पाँच वर्गों, अन्तःस्थ वर्णों और ऊष्मा अक्षरोंके क्रमशः आवर्तनसे जो वृत्ति होती है, उसके बारह भेद हैं—कर्णाटी, कौन्तली, कौंकी, कौंकणी, वाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औण्ड्री तथा पौण्ड्री[९] ॥ ५-१०½ ॥

अनेक वर्णोंकी जो आवृत्ति होती है, वह यदि भिन्न-भिन्न अर्थोंकी प्रतिपादिका हो, तो उसे 'यमक' कहते हैं[१०]। यमक दो प्रकारका होता है—'अव्यपेत' और 'व्यपेत'। निरन्तर आवृत्त होनेवाला 'अव्यपेत' और व्यवधानसे आवृत्त होनेवाला 'व्यपेत' कहा जाता है। स्थान और पादके भेदसे इन दोनोंके दो-दो भेद होनेपर कुल चार भेद हुए। आदि पादके आदि, मध्य और अन्तमें एक, दो और तीन वर्णोंकी पर्यायसे आवृत्ति होनेपर कुल सात भेद होते हैं। यदि सात पादोंमें उत्तरोत्तर पाद एक, दो और तीन पदोंसे आरम्भ हो तो अन्तिम पाद छः प्रकारका हो जाता है। तीसरा पाद पादके आदि, मध्य और अन्तमें आवृत्ति होनेसे तीन प्रकारका होता है। श्रेष्ठ यमकके निम्नलिखित दस भेद होते हैं—पादान्त यमक, काञ्ची यमक, समुद्ग यमक, विक्रान्त्य यमक, वक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पादादि यमक, आम्रेडित यमक, चतुर्व्यवसित यमक तथा माला[११]

---

६. भोजराजके मतसे इसमें प्रायः मूर्धन्य, अन्तःस्थ तथा संयोगपूर्व गुरुवर्णोंका प्रयोग होता है। यथा—

> क्रुत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यां मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः ।
> कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तं स्मरार्तं स्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वापमत्र ॥
> (सर० कं० २ । १९२)

७. कोमला या भद्राका उदाहरण—

> दारुणरणे रणन्तं करिदारणकारणं कृपाणं ते ।
> रमणकृते रणरणकी पश्यति तरुणीजनो दिव्यः ॥
> (सर० कं० २ । १९७)

८. परुषा। यथा—

> जहे निर्ह्रादिह्रादोऽसौ कह्लाराह्लादितह्रदः ।
> प्रसह्य मह्यां गर्ह्यत्वमर्ह्यणार्हैः शरन्मरुत् ॥
> (सर० कं० २ । १९९)

९. अग्निपुराणवर्णित इन वृत्तियोंके देश-भेदसे जो बारह भेद हैं, उन्हें भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में ज्यों-का-त्यों ले लिया है और अपनी ओरसे उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं (द्रष्टव्यः २ । ७८-८१ कारिकातक)।

१०. 'नाट्यशास्त्र'में भरतमुनिने 'शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।' (१ । ५९)—इस प्रकार 'यमक'का लक्षण किया है। इसीका आश्रय लेकर व्यासजीने 'अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थ-प्रतिपादिका । यमकं साव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद् द्विधा ॥'—ऐसा लक्षण किया है। इसीका आश्रय लेकर दण्डीने—'अव्यपेत-व्यपेतात्मा याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः । यमकं तत् ... ...॥'—ऐसा लक्षण प्रस्तुत किया है। (काव्यादर्श ३ । १) इन्हीं लक्षणोंको आधार बनाकर भोजराजने 'यमक'का लक्षण इस प्रकार किया है—

> विभिन्नार्थैकरूपाया याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
> अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते ॥ (२।५८)॥

११. यमकके जो 'पादान्त यमक' आदि दस भेद निरूपित हुए हैं, वे 'नाट्यशास्त्र' अध्याय १६, श्लोक ६०-६२ तक ज्यों-के-त्यों उपलब्ध होते हैं तथा श्लोक ६३ से ८६ तक इन सबके लक्षण और उदाहरण भी दिये गये हैं। उन सबको वहीं देखना चाहिये। केवल एक 'पादान्त-यमक'का लक्षण और उदाहरण यहाँ दिग्दर्शनमात्रके लिये दिया जाता है। जहाँ चारों पादोंके अन्तमें एक समान अक्षर प्रयुक्त होते हैं, उसे 'पादान्त-यमक' जानना चाहिये। जैसे—निम्नाङ्कित श्लोकके चारों पादोंके अन्तमें 'मण्डल'—इन तीन अक्षरोंकी समानरूपसे आवृत्ति हुई है—

> दिनक्षयात्संहृतरश्मिमण्डलं
> दिवीव लग्नं तपनीयमण्डलम् ।
> विभाति ताम्रं दिवि सूर्यमण्डलं
> यथा तरुण्याः स्तनभारमण्डलम् ॥
> (१६ । ६४)

यमक । इनके भी अन्य अनेक भेद[12] होते हैं ॥ ११–१७ ॥

सहृदयजन भिन्नार्थवाची पदकी आवृत्तिको 'स्वतन्त्र' एवं 'अस्वतन्त्र' पदके आवर्त्तनसे दो प्रकारकी मानते हैं । दो आवृत्त पदोंका समास होनेपर 'समस्ता' और उनके समासरहित रहनेपर 'व्यस्ता' आवृत्ति कही जाती है । एक पादमें विग्रह होनेसे असमासत्वप्रयुक्त 'व्यस्ता' जानी जाती है । यथासम्भव वाक्यकी भी आवृत्ति इस प्रकार होती है । अनुप्रास, यमक आदि अलंकार लघु होनेपर भी इस प्रकार सुधीजनोंद्वारा सम्मानित होते हैं । आवृत्ति पदकी हो या वाक्य आदिकी, जिस किसी आवृत्तिसे भी जो वर्णसमूह 'समान' अनुभवमें आता है, उस आवृत्तरूपको आदिमें रखकर जो सानुप्रास पदरचना की जाती है, वह सहृदयजनोंको रसास्वाद करानेवाली होती है । सहृदयजनोंकी गोष्ठीमें जिस वाग्बन्ध (पदरचना) को कौतूहलपूर्वक पढ़ा और सुना जाता है, उसे 'चित्र'[13] कहते हैं ॥ १८–२१½ ॥

आचार्य भामहने यमकके पाँच ही भेद दिये हैं—आदि यमक, मध्यान्त यमक, पादाभ्यास, आवली और समस्तपाद यमक । (द्रष्टव्य भामह 'काव्यालं०' द्वितीय परिच्छेद) । आचार्य वामनने 'पाद-यमक', एक पादके आदिमध्यान्त्य यमक, दो पादोंके आदिमध्यान्त्य यमक, एकान्तर पादान्त यमक, एकान्तर-पादादि मध्य यमक, द्विविध अक्षर यमक, त्रिविध भङ्गमार्ग-शृङ्खला, परिवर्तक और चूर्ण आदि भेद माने हैं ।

१२. 'सरस्वतीकण्ठाभरण'के रचयिता भोजराजने अग्निपुराणके इसी प्रसङ्गमें अपनी सुस्पष्ट वाणीद्वारा इस प्रकार कहा है—

विभिन्नार्थैकरूपाया याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते ॥
तदव्यपेतयमकं व्यपेतयमकं तथा ।
स्थानास्थानविभागाभ्यां पादभेदाच्च भिद्यते ॥
यत्र पादादिमध्यान्ताः स्थानं तेषूपकल्प्यते ।
तदव्यपेतमन्यद्वा तत्स्थानयमकं विदुः ॥
चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वतः ॥
अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन ॥
(२ । ५८–६२)

उपर्युक्त श्लोकोंके अनुसार यमकोंके भेद इस प्रकार बनते हैं—'स्थानयमक' और 'अस्थानयमक' । स्थानयमकोंमें चतुष्पाद यमक, त्रिपाद यमक, द्विपाद यमक और एकपाद यमक होते हैं । चतुष्पाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत मध्य यमक, अव्यपेत अन्त्य यमक, आदिमध्य यमक, आद्यन्त यमक, मध्यान्त यमक तथा आदिमध्यान्त यमक । त्रिपाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत मध्य यमक, अव्यपेत अन्त्य यमक, मध्य यमक, अन्त्य यमक । द्विपाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत मध्य यमक, अन्त्य यमक, आदि-मध्य-यमक इत्यादि । एकपाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत अन्त्य यमक, मध्य यमक । इसी प्रकार सकृत् आवृत्ति और असकृत् आवृत्तिमें भी अव्यपेत यमक होता है । 'अव्यपेत'का अर्थ है—अव्यवहित और 'व्यपेत'का अर्थ है—व्यवधानयुक्त । आवृत्तिकी एकरूपता और अधिकतामें भी अव्यपेत आदि, मध्यादि यमक होने सम्भव हैं । व्यपेत आदि यमक, मध्य यमक, अन्त्य यमक, आदिमध्य यमक, मध्यान्त्य यमक और आदिमध्यान्त्य यमक—ये चतुष्पाद यमकोंमें होते हैं । त्रिपाद और द्विपाद यमकोंमें भी व्यपेत आदि यमक, मध्य यमक और अन्त्य यमक होते हैं । आवृत्तिकी अधिकतामें भी आदि, मध्य यमकके व्यपेतरूप देखे जाते हैं । इसी तरह आवृत्तिकी एकरूपतामें भी आदि, मध्य तथा मध्यान्त्य यमक कविजनोंकी रचनाओंमें उपलब्ध हैं । इन सबमें आवृत्ति व्यवहित होती है, इसलिये इनको 'व्यपेत यमक' कहा जाता है । जहाँ आदि, मध्य और अन्तका नियम न हो, ऐसे यमकोंको 'अस्थानयमक' कहते हैं । इनके भी व्यपेत और अव्यपेत आदि बहुत-से स्थूल-सूक्ष्म भेद हैं । इन सबका विस्तार 'सरस्वती-कण्ठाभरण', द्वितीय परिच्छेदमें देखना चाहिये ।

१३. चित्रके छः भेद हैं—वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति और बन्ध । वर्णचित्रके चतुर्व्यञ्जन, त्रिव्यञ्जन, द्विव्यञ्जन, एकव्यञ्जन, क्रमस्थसर्वव्यञ्जन, छन्दोऽक्षरव्यञ्जन, षड्जादिस्वरव्यञ्जन, मुरजाक्षर व्यञ्जन । चतुःस्थान चित्रोंमें निष्कण्ठ्य, निस्तालव्य, निर्दन्त्य, निरोष्ठ्य, निर्मूर्धन्य । चतुःस्वरोंमें दीर्घस्वर, प्रति-व्यञ्जनविन्यस्त स्वर, अपास्तसमस्तस्वर । आकार-चित्रोंमें अष्टदल कमल, चतुर्दल कमल, षोडशदल कमल, चक्र, चतुरङ्ग । गति-चित्रोंमें गतप्रत्यागत, तुरङ्गपद, अर्द्धभ्रम, श्लोकार्द्धभ्रम, सर्वतोभद्र । बन्धचित्रोंमें द्विचतुष्कचक्रबन्ध, द्विशृङ्गारबन्धक, विविडितबन्ध, षड्यन्त्रबन्ध, व्योमबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, मुरजबन्ध, एकाक्षर मुरजबन्ध, मुरजप्रस्तार, पादगोमूत्रिका, अयुग्मपादगोमूत्रिका, युग्मपादगोमूत्रिका, श्लोकगोमूत्रिका, विपरीतगोमूत्रिका, भिन्नछन्दोगोमूत्रिका, संस्कृतप्राकृत-गोमूत्रिका, अर्धमूत्रिकाप्रस्तार, गोमूत्रिकाधेनु, शतधेनु, सहस्रधेनु, अयुत-धेनु, लक्षधेनु, कोटिधेनु, कामधेनु इत्यादि परिगणित चित्रोंके अतिरिक्त भी अनेक बन्ध होते हैं, जैसे—शरबन्ध, धनुर्बन्ध, मुसलबन्ध,

इनके मुख्य सात भेद होते हैं—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युताक्षर, दत्ताक्षर, च्युतदत्ताक्षर और समस्या। जिसमें समानान्तर-विन्यासपूर्वक उत्तर दिया जाय, वह 'प्रश्न' कहा जाता है और वह 'एकपृष्टोत्तर' और 'द्विपृष्टोत्तर'के भेदसे दो प्रकारका होता है। 'एकपृष्ट'के भी दो भेद हैं—'समस्त' और 'व्यस्त'। जिसमें दोनों अर्थोंके वाचक शब्द गूढ़ रहते हैं, उसे 'प्रहेलिका' कहते हैं। वह प्रहेलिका 'आर्थी' और 'शाब्दी'के भेदसे दो प्रकारकी होती है। अर्थबोधके सम्बन्धसे 'आर्थी' कही जाती है। शब्दबोधके सम्बन्धसे उसको 'शाब्दी' कहते हैं। इस प्रकार प्रहेलिकाके छः भेद बताये गये[१४] हैं। वाक्याङ्गके गुप्त होनेपर भी सन्निकृष्ट अपारमार्थिक अर्थ जिसके अङ्गमें आकाङ्क्षासे युक्त स्थित रहता है, वह 'गुप्त' कही जाती है। इसीको 'गूढ़' भी कहते हैं। जिसमें वाक्याङ्गकी विकलतासे अर्थान्तर-की प्रतीति विकलित अङ्गमें साकाङ्क्ष रहती है, वह 'च्युताक्षरा' कही जाती है। वह चार प्रकारकी होती है—स्वर, व्यञ्जन, बिन्दु और विसर्गकी च्युतिके भेदसे। जिसमें वाक्याङ्गके विकल अंशको पूर्ण कर देनेपर भी द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है, उसको 'दत्ताक्षरा' कहते हैं। उसके भी स्वर आदिके कारण पूर्ववत् भेद होते हैं। जिसमें लुप्तवर्णके स्थानपर अक्षरान्तरके रखनेपर भी अर्थान्तरका आभास होता है, वह 'च्युतदत्ताक्षरा' कही जाती है। जो किसी पद्यांशसे निर्मित और किसी पद्यसे सम्बद्ध हो, वह 'समस्या' कही जाती है। 'समस्या' दूसरेकी रचना होती है, उसकी पूर्ति अपनी कृति है। इस प्रकार अपनी तथा दूसरेकी कृतियोंके सांकर्यसे 'समस्या' पूर्ण होती है। पूर्वोक्त 'चित्र-काव्य' अत्यन्त क्लेशसाध्य होता है एवं दुष्कर होनेके कारण वह कविकी कवित्व-शक्तिका सूचक होता है। यह नीरस होनेपर भी सहृदयोंके लिये महोत्सवके समान होता है। वह नियम, विदर्भ और बन्धके भेदसे तीन प्रकारका होता है। रमणीय कविताके रचयिता कविकी प्रतिज्ञाको 'नियम' कहते हैं। नियम भी स्थान, स्वर और व्यञ्जनके अनुबन्धसे तीन प्रकारका होता है। काव्यमें प्रातिलोम्य और आनुलोम्यसे विकल्पना होती है। 'प्रातिलोम्य' और 'आनुलोम्य' शब्द और अर्थके द्वारा भी होता है। विविध वृत्तोंके वर्णविन्यासके द्वारा उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओंके चित्रकर्मादिकी कल्पनाको 'बन्ध' कहते हैं। बन्धके निम्नाङ्कित आठ भेद माने जाते हैं—गोमूत्रिका, अर्द्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, कमल, चक्र, चक्राब्जक, दण्ड और मुरज। जिसमें श्लोकके दोनों-दोनों अर्द्धभागों तथा प्रत्येक पादमें एक-एक अक्षरके व्यवधानसे अक्षरसाम्य प्रयुक्त हो, उसको 'गोमूत्रिका-बन्ध' कहते हैं। 'गोमूत्रिका-बन्ध'के दो भेद कहे जाते हैं—'पूर्वा गोमूत्रिका' जिसको कुछ काव्यवेत्ता 'अश्वपदा' भी कहते हैं, वह प्रति अर्द्धभागमें एक-एक अक्षरके बाद अक्षरसाम्यसे युक्त होती है। 'अन्त्या गोमूत्रिका' जिसको 'धेनुजालबन्ध' भी कहते हैं, वह प्रत्येक पदमें एक-एक अक्षरके अन्तरसे अक्षरसाम्यसमन्वित होती है ॥ २२—३८ ॥

पूर्वा (अश्वपदा) गोमूत्रिकाबन्ध

प्र बृ वे वि क स दृशा नं का श ने त्व वि षा दि भिः

वं बु षे वि क स हा नं यु प मा प्य वि षा वि भिः

अन्त्या (धेनुजाल) गोमूत्रिका बन्ध

कां हा नु लौ क त न या व्त न सा डि तो नि

तं हा न्य लौ चि त र या ञ्च न पी डि ता नि

पा था य पा य भ ष तौ न सु चि प्र ह्म री

सा यु म मा स्य भ य मो चु सु चा प क्ष री

गोमूत्रिका-बन्धके पूर्वोक्त दोनों भेदोंका क्रमशः अर्द्धभागों और अर्द्धपादोंमें विन्यास करना चाहिये ॥ ३८½ ॥

खड्गबन्ध, क्षुरिकाबन्ध आदि। इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक बन्ध विद्वानोंद्वारा ऊहनीय हैं। चित्रकाव्योंकी चर्चा दण्डीके 'काव्या-दर्श'में भी मिलती है और भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में उनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

१४. भोजराजके मतमें 'प्रहेलिका'के छः भेद यों होते हैं—च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, च्युतदत्ताक्षरा, अक्षरमुष्टिका, बिन्दुमती तथा अर्थवती। (सरस्वतीकण्ठाभरण, परिच्छेद २। १३३)

यहाँ क्रमशः नीचे-नीचे विन्यस्त वर्णोंका, नीचे-नीचे स्थित वर्णोंका जबतक चतुर्थ पाद पूर्ण न हो जाय, तबतक नयन करे। चतुर्थ पाद पूर्ण हो जानेपर प्रतिलोम-क्रमसे अक्षरोंको पादार्ध-पर्यन्त ऊपर ले जाय। इस तरह तीन प्रकारका 'सर्वतोभद्र-मण्डल' बनता है। कमलबन्धके तीन प्रकार हैं—चतुर्दल, अष्टदल और षोडशदल। चतुर्दल कमलको इस प्रकारसे आबद्ध किया जाता है—प्रथम पादके ऊपरी तीन पदोंवाले अक्षर सभी पादोंके अन्तमें रक्खे जाते हैं। पूर्वपादके अन्तिम वर्णको पिछले पादके आदिमें प्रातिलोम्यक्रमसे रक्खा जाय। अन्तिम पादके अन्तिम दो अक्षरोंको प्रथम पादके आदिमें निविष्ट किया जाय। यह स्थिति चतुर्दल कमलमें होती है। अष्टदल कमलमें अन्त्य पादके अन्तिम तीन अक्षरोंको प्रथम पादके आदिमें विन्यस्त किया जाता है। षोडशदल कमलमें दो अक्षरोंके बीचमें कर्णिका—मध्यवर्ती एक अक्षरका उच्चारण होता है। कर्णिकाके अन्तमें ऊपर पद्माकार अक्षरोंकी पङ्क्ति लिखे और उसे कर्णिकामें प्रविष्ट कराये। यह बात चतुर्दल कमलके विषयमें कही गयी है। कर्णिकामें एक अक्षर लिखे और दिशाओं तथा विदिशाओंमें दो-दो अक्षर लिखे; प्रवेश और निर्गमका मार्ग प्रत्येक दिशामें रक्खे। यह बात 'अष्टदल कमल'के विषयमें कही गयी है। चारों ओर विषम-वर्णोंका उतनी ही पत्रावली बनाकर न्यास करे और मध्यकर्णिकामें सम अक्षरोंका एक अक्षरके रूपमें न्यास करे। यह बात 'षोडशदल कमल'के विषयमें बतायी गयी है। 'चक्रबन्ध' दो प्रकारका होता है—एक चार अरोंका और दूसरा छः अरोंका। उनमें जो आदिम, अर्थात् चार अरोंवाला चक्र है, उसके पूर्वार्द्धमें समवर्णोंकी स्थापना करे और प्रत्येक पादके जो प्रथम, पञ्चम आदि विषमवर्ण हैं, उनको एवं चौथे और आठवें, दोनों समवर्णोंको क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिमके अरोंमें रक्खे ॥ ३१—४९ ॥

उत्तर पादार्धके चार अक्षरोंको नाभिमें रक्खे और उसके आदि अक्षरको पिछले दो अरोंमें ले जाय। शेष दो पदोंको नेमिमें स्थापित करे। तृतीय अक्षरको चतुर्थ पादके अन्तमें तथा प्रथम दो समवर्णोंको तीनों पादोंके अन्तमें रक्खे। यदि दसवाँ अक्षर सम हो तो उसे प्रथम अरेपर रक्खे और छः अक्षरोंको पश्चिम अरेपर स्थापित करे। वे दो-दोके अन्तरसे स्थापित होंगे। इस प्रकार 'बृहच्चक्र'का निर्माण होगा। यह 'बृहच्चक्र' बताया गया। सामनेके दो अरोंमें क्रमशः एक-एक पाद लिखे। नाभिमें दशम अक्षर अङ्कित करे और नेमिमें चतुर्थ चरणको ले जाय। श्लोकके आदि, अन्त और दशम अक्षर समान हों तथा दूसरे और चौथे चरणोंके आदि और अन्तिम अक्षर भी समान हों। प्रथम और चौथे चरणके प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण भी समान हों। द्वितीय चरणको विलोमक्रमसे पढ़नेपर यदि तृतीय चरण बन जाता हो तो उसे पत्रके स्थानमें स्थापित करे तो उस रचनाका नाम 'दण्डचक्राब्जबन्ध' समझना चाहिये। पूर्वदल (पूर्वार्द्ध) में दोनों चरणोंके द्वितीय अक्षर एक समान हों और उत्तरार्द्धमें दोनों चरणोंके सातवें अक्षर समान हों। साथ ही द्वितीय अक्षरोंकी दृष्टिसे भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध परस्पर समता रखते हों। दूसरे, छठे तथा चौथे, पाँचवें भी एक-दूसरेके तुल्य हों। उत्तरार्द्ध भागके सातवें अक्षर प्रथम और चतुर्थ चरणोंके उन्हीं अक्षरोंके समान हों तो उन तुल्य रूपवाले चतुर्थ और पञ्चम अक्षरकी क्रमशः योजना करनी चाहिये। क्रमपादगत जो चतुर्थ अक्षर हैं, उनको तथा दलान्त वर्णोंको पूर्ववत् स्थापित करना चाहिये। 'मुरज-बन्ध'में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनोंके अन्तिम और आदि अक्षर समान होते हैं। पादार्द्ध भागमें स्थित जो वर्ण है, उसे प्रातिलोम्यानुलोम्य-क्रमसे स्थापित करे। अन्तिम अक्षरको इस प्रकार निबद्ध करे कि वह चौथे चरणका आदि अक्षर बन जाय। चौथे चरणमें जो आदि अक्षर हो, उससे नवें तथा सोलहवें अक्षरसे पुटकके बीच-बीचमें चार-चार अक्षरोंका निवेश करे। ऐसा करनेसे उस श्लोकबन्धद्वारा मुरज (ढोल) की आकृति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय चक्र 'शार्दूलविक्रीडित' छन्दसे सम्पादित होता है। 'गोमूत्रिकाबन्ध' सभी छन्दोंसे निर्मित हो सकता है। अन्य सब बन्ध अनुष्टुप् छन्दसे निर्मित होते हैं। यदि इन बन्धोंमें कवि और काव्यका नाम न हो तो मित्रभाव रखनेवाले लोग संतुष्ट होते हैं तथा शत्रु भी खिन्न नहीं होता। बाण, धनुष, व्योम, खड्ग, मुद्गर, शक्ति, द्विशृङ्गाट, त्रिशृङ्गाट, चतुःशृङ्गाट, वज्र, मुसल, अङ्कुश, रथपद, नागपद, पुष्करिणी, असिपुत्रिका (कटारी या छुरी)—इन सबकी आकृतियोंमें चित्रबन्ध लिखे जाते हैं। ये तथा और भी बहुत-से 'चित्रबन्ध' हो सकते हैं, जिन्हें विद्वान् पुरुषोंको स्वयं जानना चाहिये ॥ ५०—६५ ॥*

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शब्दालंकारका कथन' नामक तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४३ ॥

* इस अध्यायके अन्तिम बीस-पचीस श्लोकोंका मूल अधिक स्पष्ट नहीं है। इनका आधार अन्वेषणीय है।

तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय

अर्थालंकारोंका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! अर्थोंका अलंकरण[1] 'अर्थालंकार' कहा जाता है। उसके बिना शब्द-सौन्दर्य भी मनको आकर्षित नहीं करता है। अर्थालंकारसे हीन सरस्वती विधवाके समान शोभाहीन है। अर्थालंकारके आठ भेद माने गये हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु और सम। पदार्थोंके स्वभावको 'स्वरूप' कहते हैं। उसके दो भेद बतलाये गये हैं—'निज' एवं 'आगन्तुक'। सांसिद्धिकको 'निज' तथा नैमित्तिकको 'आगन्तुक' कहा जाता है। धर्मकी समानताको 'सादृश्य'

---

१. 'अलंकार' शब्दकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे उपलब्ध होती है—(१) 'अलंकरणमलंकारः ।' (२) 'अलंक्रियते अनेन इति वा अलंकारः ।' (३) 'अलंकरोति इति अलंकारः' । प्रथम व्युत्पत्तिके अनुसार 'अलंकार' शब्द भावप्रधान है। दूसरीके अनुसार करण-प्रधान तथा तीसरीके अनुसार कर्तृप्रधान 'अण्'-प्रत्ययान्त है। 'अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते ।'—यों कहकर अग्निपुराणमें भावप्रधान 'अलंकार' शब्दकी ही व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है। दण्डीने काव्य-शोभाकारी धर्मोंको 'अलंकार' कहा है। (काव्यादर्श २ । १) वामनके मतमें सौन्दर्य और अलंकार पर्यायवाची शब्द हैं। [सौन्दर्यमलंकारः । १ । २] इन दोनोंने क्रमशः करण-प्रधान और भावप्रधान व्युत्पत्ति स्वीकार की है। किसी भी व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थोंका अलंकरण ही 'अर्थालंकार' है, इस मान्यतामें कोई बाधा नहीं आती। अतः दण्डी और वामनपर भी अग्निपुराणका ही प्रभाव मानना चाहिये। भामहने 'अलंकार' शब्दकी कोई सुस्पष्ट व्युत्पत्ति नहीं दी है। अतः उपर्युक्त व्युत्पत्तियोंपर अग्निपुराणोक्त व्युत्पत्तिका ही प्रभाव परिलक्षित होता है। मम्मटने 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।'—ऐसा लिखकर 'अलंकार' शब्दकी तीसरी व्युत्पत्ति स्वीकार की है। जैसे हार आदि शरीरके अलंकरणद्वारा शरीरीको अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकार काव्यके अलंकरणद्वारा काव्यात्मा रसका अलंकरण बनते हैं। अतः वे रसके उपकारी हैं। विश्वनाथका भी ऐसा ही मत है। भोजराजने—'अलमर्थमलंकर्तुं यद्व्युत्पत्त्यादि-वर्त्मना' इत्यादि लिखकर अग्निपुराणोक्त मतका ही अनुकरण किया है।

अलंकारोंकी संख्याके विषयमें अनेक मत उपलब्ध होते हैं। भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'में उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक—केवल इन चार अलंकारोंका ही उल्लेख है—'उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा । काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥' (ना० शा० १६ । ४३) यद्यपि भूषण, अक्षरसंघात, शोभा और उदाहरण आदि छत्तीस अलंकार 'नाट्यशास्त्र'में लक्षणसहित लिखे गये हैं तथापि वे विशेषतः नाट्योपयोगी हैं। उनका काव्य-बन्धोंमें भी यथासम्भव प्रयोग करनेकी प्रेरणा दी गयी है, तथापि काव्य-सम्बन्धी अलंकार चार ही भरतमुनिको पूर्वपरम्परासे प्राप्त रहे हैं, जिनका उन्होंने 'परिकीर्तिताः'—कहकर स्पष्टीकरण किया है। वामनने अलंकारोंके तैंतीस भेद दिखलाये हैं। दण्डीने पैंतीस, भामहने अड़तीस और उद्भटने चालीस प्रकारके अलंकारोंका वर्णन किया है। रुद्रटने अपने 'काव्यालंकार'में बावन तथा मम्मटने सड़सठ अलंकारभेद दिखलाये हैं। जयदेवके 'चन्द्रालोक'में अलंकारोंकी संख्या सौ हो गयी है और अप्पय्य दीक्षितके 'कुवलयानन्द'में वह संख्या बढ़कर एक सौ चौबीसतक पहुँच गयी है। सरस्वतीकण्ठाभरणकारने शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थोभयालंकार—इन तीन भेदोंमें अलंकारोंका विभाजन करके तीनोंकी ही पृथक्-पृथक् चौबीस-चौबीस संख्याएँ स्वीकार की हैं। इस प्रकार उन्होंने बहत्तर अलंकारोंके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। साहित्यदर्पणकारने सत्तहत्तर अर्थालंकारोंका उल्लेख करके उन सबके सोदाहरण लक्षण दिये हैं। इन सभी अलंकारोंके अवान्तरभेद और सांकर्यभेदसे इन सबकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। अग्निपुराणमें अर्थालंकारके मूलतः आठ भेद माने हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु और सम। फिर स्वरूपके दो भेद, सादृश्यके चार भेद, अतिशयके दो भेद और विभावनाके साथ विशेषोक्तिको जोड़कर दो भेद किये हैं। सादृश्यके चार भेद—उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तर-न्यास बताकर उपमाके लगभग उन्तीस भेदोंका उल्लेख किया है। इन भेदोंमें ही अन्य बहुत-से अलंकार समाविष्ट हो गये हैं, जो दूसरे-दूसरे नामोंसे व्यवहृत होते हैं। उन्होंने उपमाके जो अन्तिम पाँच भेद लिखे हैं, उनके नाम हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित्सदृशी। ये भेद भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'में भी वर्णित हैं और वहाँ उनके लक्षण तथा उदाहरण भी दिये गये हैं। अग्निपुराणमें इनके नाममात्रका संकलन वहींसे किया गया है, ऐसा जान पड़ता है।

कहते हैं। वह भी उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास-के भेदसे चार प्रकारका होता है। जिसमें भेद और सामान्य-धर्मके साथ उपमान एवं उपमेयकी सत्ता हो, उसको 'उपमा'[2] कहते हैं; क्योंकि यत्किञ्चिद्विवक्षित सारूप्यका आश्रय लेकर ही लोकयात्रा प्रवर्तित होती है। प्रतियोगी (उपमान)के समस्त और असमस्त होनेसे उपमा दो प्रकारकी मानी गयी है—'ससमासा' एवं 'असमासा'। 'घन इव श्यामः' इत्यादि पदोंमें समासके कारण वाचक शब्दके लुप्त होनेसे 'ससमासा उपमा' कही गयी है; इससे भिन्न प्रकारकी उपमा 'असमासा' है। कहीं उपमाद्योतक 'इवादि' पद, कहीं उपमेय और कहीं दोनोंके विरहसे 'ससमासा' उपमाके तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार 'असमासा' उपमाके भी तीन भेद हैं। विशेषणसे युक्त होनेपर उपमाके अठारह भेद होते हैं। जिसमें साधारण धर्मका कथन या ज्ञान होता है—उपमाके उस भेदविशेषको धर्म या वस्तुकी प्रधानताके कारण 'धर्मोपमा'[3] एवं 'वस्तूपमा'[4] कहा जाता है। जिसमें उपमान और उपमेयकी प्रसिद्धिके अनुसार परस्पर तुल्य उपमा दी जाती है, वह 'परस्परोपमा'[5] होती है। प्रसिद्धिके विपरीत उपमान और उपमेयकी विषमतामें जब उपमा दी जाती है, तब वह 'विपरीतोपमा'[6] कहलाती है। उपमा—जहाँ एक वस्तुसे ही उपमा देकर अन्य उपमानोंका व्यावर्तन-निराकरण किया जाता है, वहाँ 'नियमोपमा'[7] होती है। यदि उपमेयके गुणादि धर्मकी अन्य उपमानोंमें भी अनुवृत्ति हो तो उसे 'अनिर्यमोपमा'[8] कहते हैं॥ १—१२॥

एकसे भिन्न धर्मोंके साकुल्यका कीर्तन होनेसे 'समुच्चयोपमा'[9] होती है। जहाँ अनेक धर्मोंकी समानता होनेपर भी उपमानसे उपमेयकी विलक्षणता विवक्षित हो और इसके कारण जो अतिरिक्तत्वका कथन होता हो, उसे 'व्यतिरेकोपमा'[10] कहते

२. उपमाका अग्निपुराणोक्त लक्षण बहुत ही सीधा-सादा और स्पष्ट है। भरतमुनिने सादृश्यमूलक सभी अलंकारोंका 'उपमा' नाम दिया है—'यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते। उपमा नाम सा ज्ञेया।' (१६। ४१) व्यासजीने अपने लक्षणमें उपमान, उपमेय, सामान्य धर्म और भेदका उल्लेख किया है। भामहने भी इसीको आधार बनाकर 'यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः'—ऐसा लक्षण किया है। इसमें वाचक शब्द, सामान्य धर्म तथा भेद—तीनका उल्लेख किया है। उपमानोपमेयका होना तो स्वतःसिद्ध है। वामनने 'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।'—इस सूत्रके द्वारा उक्त अभिप्रायका ही पोषण किया है। दण्डीने जहाँ किसी तरह भी सादृश्यकी स्पष्ट प्रतीति होती हो, उसे 'उपमा' कहा है। मम्मटने 'साधर्म्यमुपमा भेदे', विश्वनाथने 'साम्यं वाच्य-मवैधर्म्यं वाक्यैक्यं उपमा द्वयोः।' तथा भोजराजने 'प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः। भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता॥'—ऐसा लक्षण किया है। इन सबने पूर्ववर्ती आचार्योंके ही मतोंका उपपादन किया है।

३. दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में अग्निपुराण-कथित उपमाके इन भेदोंको ग्रहण किया है और इनके सोदाहरण लक्षण भी दिये हैं। जहाँ तुल्यतया तुल्यधर्मका प्रदर्शन किया गया, वहाँ 'धर्मोपमा' होती है। जैसे 'तुम्हारी हथेली कमलके समान लाल है'—इसमें लालिमारूपी धर्मका स्पष्ट कथन होनेसे यहाँ 'धर्मोपमा' है।

४. जिसमें शब्दसे अनुपात्त-प्रतीयमान साधारण धर्म हो, केवल उपमान वस्तुका प्रतिपादन होनेसे वहाँ 'वस्तूपमा' होती है। जैसे—'तुम्हारा मुख कमलके समान है।'

५. 'परस्परोपमा' का दूसरा नाम 'अन्योन्योपमा' है। दण्डीने इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। जहाँ उपमान और उपमेय—दोनों एक-दूसरेके उपमेय तथा उपमान बनते हैं, वहाँ 'परस्परोपमा' होती है। जैसे—'तुम्हारे मुखके समान कमल है और कमलके समान तुम्हारा मुख है।'

६. दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में विपरीतोपमाका 'विपर्यासोपमा'के नामसे उल्लेख किया है। जहाँ प्रसिद्धिके विपरीत उपमानोपमेयभाव गृहीत होता है, वहाँ 'विपरीतोपमा' होती है। जैसे—'खिला हुआ कमल तुम्हारे मुखके समान प्रतीत होता था'—इत्यादि।

७. दण्डीने इसका उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'तुम्हारा मुख कमलके ही समान है, दूसरी किसी वस्तुके समान नहीं।'

८. इसका उदाहरण दण्डीके 'काव्यादर्श'में इस प्रकार दिया गया है—'कमल तो तुम्हारे मुखका अनुकरण करता ही है, यदि दूसरी वस्तुएँ (चन्द्र आदि) भी तुम्हारे मुखके समान हैं तो रहें।'

९. 'समुच्चयोपमा' का उदाहरण दण्डीने इस प्रकार किया है—'सुन्दरि! तुम्हारा मुख केवल कान्तिसे ही नहीं, आह्लादन-कर्मसे भी इन्दुका अनुसरण करता है।' यहाँ कान्तिगुण और आह्लादनकर्म—दोनोंका समुच्चय होनेके कारण 'समुच्चयोपमा' कही गयी है।

१०. 'व्यतिरेकोपमा' को ही अर्वाचीन आलंकारिकोंने 'व्यतिरेक' नामक अलंकार माना है। दण्डीने इसका उल्लेख नहीं किया है।

हैं। जहाँ बहुसंख्यक सदृश उपमानोंद्वारा उपमा दी जाय, उसे 'बहूपमा'[11] माना गया है। यदि उनमेंसे प्रत्येक उपमान भिन्न-भिन्न साधारण धर्मोंसे युक्त हो तो उसे 'मालोपमा'[12] कहा जाता है। उपमेयको उपमानका विकार बताकर तुलना की जाय तो 'विक्रियोपमा'[13] होती है। यदि कवि उपमानमें किसी ऐसे वैशिष्ट्यका, जो तीनों लोकोंमें असम्भव हो, आरोप करके उसके द्वारा उपमा देता है, तो वह 'अद्भुतोपमा'[14] कही जाती है। उपमानको आरोपित करके उससे अभिन्नरूपमें जो उपमेयका कीर्तन होता है और उससे जो भ्रम होनेका वर्णन किया जाता है, उसे 'मोहोपमा'[15] कहा जाता है। दो धर्मियोंमेंसे किसी एकका यथार्थ निश्चय न होनेसे 'संशयोपमा'[16] तथा पहले संशय होकर फिर निश्चय होनेसे 'निश्चयोपमा'[17] होती है। जहाँ वाक्यार्थको उपमान बनाकर उससे ही वाक्यार्थकी उपमा दी जाय, उसको 'वाक्यार्थोपमा'[18] कहते हैं। यह उपमा अपने उपमानकी दृष्टिसे दो प्रकारकी होती है—'साधारणी' और 'अतिशायिनी'। जो एकका उपमेय है, वही दूसरेका उपमान हो, अर्थात् दोनों एक-दूसरेके उपमान-उपमेय कहे गये हों तो उसे 'अन्योन्योपमा'[19] कहते हैं। इस प्रकार यदि उत्तरोत्तर क्रम

परंतु रुय्यक और मम्मटने इसका उदाहरण यों दिया है—'चन्द्रमा बारंबार क्षीण हो-होकर भी पुनः बढ़ जाता है; परंतु यौवन यदि चला गया तो फिर लौटता नहीं।' इसमें उपमानभूत चन्द्रमाकी अपेक्षा उपमेय यौवनकी अस्थिरता अधिक बतायी गयी है। अतः यहाँ 'व्यतिरेक' है।

११. 'तुम्हारा स्पर्श चन्दन, जल, चन्द्रकिरण तथा चन्द्रकान्त-मणि आदिके समान शीतल है'। यहाँ शीतलतामें सादृश्य रखने-वाले बहुत-से उपमानोंद्वारा उपमा दी गयी है, अतः 'बहूपमा' अलंकार है। दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में यही उदाहरण प्रस्तुत किया है। अर्वाचीन आचार्यलोग इसे 'मालोपमा' ही मानते हैं। उनकी 'मालोपमा' का लक्षण इस प्रकार है—'मालोपमा यदेकस्यो-पमानं बहु दृश्यते।'

१२. काव्यादर्शकार दण्डीने अग्निपुराणके ही पथका अनुसरण करते हुए 'बहूपमा' और 'मालोपमा' को अलग-अलग माना है। 'बहूपमा' के उदाहरणमें बहुत-से उपमानोंकी गणनामात्र करा दी गयी है, परंतु 'मालोपमा' में प्रत्येक उपमानके साथ साधर्म्यका अन्वय होता है। यही इन दोनोंमें भेद है। 'मालोपमा' का उदाहरण दण्डीने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'राजन्! जैसे प्रकाश सूर्यमें शोभाका आधान करता है, जैसे सूर्य दिनमें लक्ष्मीका आधान करते हैं तथा जैसे दिन आकाशमें प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार तुम्हारा बल, पराक्रम तुममें लक्ष्मीको प्रतिष्ठित करता है।' यहाँ प्रत्येक उपमानके साथ पृथक्-पृथक् साधर्म्यका अन्वय होनेसे 'मालोपमा' मानी गयी है।

१३. 'काव्यादर्श'में 'विक्रियोपमा' का उदाहरण इस प्रकार उपलब्ध होता है—'सुन्दरि! तुम्हारा मुख चन्द्रमण्डलसे उत्कीर्ण (खोदकर निकाला हुआ)-सा तथा कमलके गर्भसे उद्धृत किया हुआ-सा जान पड़ता है।' यहाँ चन्द्रमण्डल तथा कमलगर्भ—ये प्रकृति हैं और मुख इनका विकार है। अतः यहाँ 'विक्रियोपमा' हुई।

१४. इसका उदाहरण दण्डीने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'सुन्दरि! यदि कोई कमल चञ्चल लोचनोंसे युक्त हो जाय तो वह तुम्हारे मुखकी शोभाको धारण कर सकता है।'

१५. "सुन्दरि! मैं तुम्हारे मुखको 'यह चन्द्रमा है'—यों समझ लेता हूँ और तुम्हारे मुखके दर्शनकी आशासे बारंबार चन्द्रमाकी ओर दौड़ पड़ता हूँ।' यह वर्णन अग्निपुराणोक्त लक्षणको सामने रखकर किया गया है। अर्वाचीन आलंकारिक 'मोहोपमा' को 'भ्रान्तिमान्' अलंकारकी संज्ञा देते हैं।

१६. दण्डीने 'संशयोपमा' का जो उदाहरण दिया है, उसका भावार्थ इस प्रकार है—'जिसके भीतर भ्रमर मँडरा रहा हो, वह कमल है या कि चञ्चल लोचनोंसे युक्त तुम्हारा मुख है, इस संशयसे मेरा चित्त दोलायमान हो रहा है।' आधुनिक आलंकारिक इसीको 'संदेहालंकार' कहते हैं।

१७. दण्डीने इसे 'निर्णयोपमा' नाम दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण इस प्रकार है—'जिस कमलको चन्द्रमाने अभिभूत कर दिया था, उसकी कान्ति स्वयं चन्द्रमाको ही लज्जित कर दे, ऐसा नहीं हो सकता। अतः यह तुम्हारा मुख ही है (कमल नहीं है)।' अर्वाचीन आचार्यगण इसे 'निश्चयान्त संदेहालंकार' ही मानते हैं।

१८. दण्डीने भी 'वाक्यार्थोपमा' का ऐसा ही लक्षण किया है। वे भी इसके दो ही भेद मानते हैं। परंतु उनके दोनों भेदोंके नाम अग्निपुराणमें दिये गये नामोंसे भिन्न हैं। अग्निपुराणमें 'साधारणी' और 'अतिशायिनी'—ये दो भेद माने हैं, परंतु दण्डीने 'एकेवशब्दा' और 'अनेकेवशब्दा'—इस प्रकार दो भेदोंका उल्लेख किया है। इनके उदाहरण 'काव्यादर्श' (२। ४४-४५) में द्रष्टव्य हैं।

१९. काव्यादर्शमें इसका उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया

चलता जाय तो उसको 'गमनोपमा[२०]' कहा जाता है। इसके सिवा उपमाके और भी पाँच भेद होते हैं—प्रशस्त[२१], निन्दा[२२], कल्पिता[२३], सदृशी[२४] एवं किंचित्सदृशी[२५]। गुणोंकी समानता देखकर उपमेयका जो तत्त्व उपमानसे रूपित अभेदेन प्रतिपादित होता है, उसे 'रूपक[२६]' मानते हैं। अथवा भेदके तिरोहित होनेपर उपमा ही 'रूपक' हो जाती है। तुल्यधर्मसे युक्त दो पदार्थोंका एक साथ रहनेका वर्णन 'सहोक्ति[२७]' कहा जाता है ॥ १३—२३ ॥

पूर्ववर्णित वस्तुके समर्थनके लिये साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे जो अर्थान्तरका उपन्यास किया जाता है, उसे 'अर्थान्तरन्यास[२८]' कहते हैं। जिसमें चेतन या अचेतन पदार्थकी अन्यथास्थित परिस्थितिको दूसरी तरहसे माना जाता है, उसको 'उत्प्रेक्षा[२९]' कहते हैं। लोकसीमातीत वस्तु-

गया है—'तुम्हारे मुखके समान कमल है और कमलके समान तुम्हारा मुख है।' इसे ही 'उपमेयोपमा' भी कहते हैं।

२०. काव्यादर्शकारने 'गमनोपमा' का उल्लेख नहीं किया है। अग्निपुराणमें दिये गये लक्षणके अनुसार हम 'गमनोपमा'को 'अन्योन्योपमा' की माला कह सकते हैं। उदाहरणके लिये निम्नाङ्कित श्लोक द्रष्टव्य है—

कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि भवतीव कौमुदी।
अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाम्बुजं समम्॥

२१—२५. इससे पहले उपमाके अठारह भेद कहे गये हैं। इन्हीं भेदोंका विस्तार करके दण्डीने बत्तीस प्रकारकी उपमाएँ प्रदर्शित की हैं। उक्त भेदोंके अतिरिक्त जो उपमाके 'प्रशंसा' आदि पाँच भेद और कहे गये हैं, उनका आधार है—भरतका 'नाट्यशास्त्र' (द्रष्टव्य १६। ४६)। भरतमुनिने प्रशंसा आदि पाँचों भेदोंके जो उदाहरण दिये हैं, वे भी सोलहवें अध्यायके श्लोक सैंतालीससे इक्यावनतक द्रष्टव्य हैं।

२६. अग्निपुराणोक्त 'रूपक' का लक्षण नाट्यशास्त्रोक्त लक्षणका संक्षिप्त रूप है। अग्निपुराणके ही भावको लेकर दण्डीने 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते'—ऐसा लक्षण किया है। अर्वाचीन आलंकारिकोंने 'रूपक' के बहुत-से भेदों और उपभेदोंकी चर्चा की है। 'रूपक'का उदाहरण 'नाट्यशा०' १६। ५८ में द्रष्टव्य है।

२७. दण्डीने गुण और क्रियाका सहभावसे कथन 'सहोक्ति' माना है और 'सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः।' (इस समय मेरी लम्बी साँसोंके साथ ये रातें भी बहुत बड़ी हो गयी हैं) ऐसा उदाहरण दिया है।

२८. अर्थान्तरन्यासका जो लक्षण अग्निपुराणमें दिया गया है, लगभग इसीकी छायाको लेकर भामहने इस प्रकार अपने ग्रन्थमें उक्त अलंकारका लक्षण लिखा है—

उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥
(का० २। ७१)

वामनने इसमें सादृश्य, असादृश्य (साधर्म्य, वैधर्म्य) की चर्चा नहीं की है, परंतु 'पूर्वार्थानुगतः'—यह विशेषण देकर उसी अर्थको व्यक्त किया है। अर्थात् जिस अर्थान्तरका उपन्यास किया जाय, वह पूर्वोदित अर्थका अनुगामी होना चाहिये। यह अनुगमन सादृश्य अथवा वैसादृश्यसे ही सम्भव है। वामनने अग्निपुराण तथा भामहके भावोंको अपने सूत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः॥
(का० सू० ४। ३। २१)

काव्यादर्शकार दण्डीने इसके लक्षणको और भी स्वच्छरूपसे प्रस्तुत किया है। यथा—

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥
(२। १६९)

आचार्य मम्मटतक पहुँचते-पहुँचते इसका लक्षण पूर्णतः निखर उठा है। वे लिखते हैं—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥
(का० प्र० १०। १०९)

अर्थात्—सामान्य अथवा विशेषका उससे भिन्न विशेष और सामान्यसे जो समर्थन किया जाता है, वह 'अर्थान्तरन्यास' है। यह समर्थन साधर्म्य अथवा वैधर्म्यको लेकर किया जाता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यासके चार भेद होते हैं। इनके उदाहरण काव्यप्रकाशमें द्रष्टव्य हैं।

२९. इसी लक्षणको कुछ और विशद करते हुए भामहने इस प्रकार कहा है—

अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता
(का०

वामनने अग्निदेव तथा भामह—दोनोंके भा
सूत्रमें इस प्रकार संकलित किया है—

धर्मका कीर्तन 'अतिशयालंकार[30]' कहलाता है। यह 'सम्भव' और 'असम्भव'के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। जिसमें विशेष्यदर्शनके लिये गुण, जाति एवं क्रियादिकी विकलताका प्रदर्शन—अनपेक्षताका प्रकाशन हो, उसको 'विशेषोक्ति[31]' कहा जाता है। जिसमें प्रसिद्ध हेतुकी व्यावृत्तिपूर्वक (अर्थात् उसका अभाव दिखाते हुए) अन्य किसी कारणकी उद्भावना की जाय अथवा स्वाभाविकता स्वीकार की जाय अर्थात् बिना किसी कारणके ही स्वाभाविक रूपसे कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय, उसे विभावना[32] कहते हैं। परस्पर असंगत पदार्थोंका जहाँ युक्तिके द्वारा विरोधपूर्वक संगतिकरण किया जाय, वह 'विरोधालंकार[33]' होता है। जिसकी सिद्धि अभिलषित हो, ऐसे

अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ॥

(का० सू० ४ । ३ । ९)

दण्डीका लक्षण इस प्रकार है—

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।

अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥

(२ । २२१)

यही लक्षण अग्निपुराणमें भी है। दण्डीने उसे ज्यों-का-त्यों ले लिया है। अन्तर केवल इतना ही है कि अग्निपुराणमें 'मन्यते' क्रियाका प्रयोग है और काव्यादर्शमें 'उत्प्रेक्ष्यते' क्रियाका।

आचार्य मम्मटने थोड़े-से शब्दोंमें ही उत्प्रेक्षाका सर्वसम्मत रूप रख दिया है। यथा—

'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।'

(का० प्र० १० । ९२)

अर्थात्—'प्रकृत (वर्ण्य उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना 'उत्प्रेक्षा' कहलाती है।'

३०. यह अतिशय ही आगे चलकर 'अतिशयोक्ति'के नामसे प्रसिद्ध हुआ है। अग्निपुराणके इस सूक्ष्म लक्षणको आचार्य भामहने विशद करते हुए कहा है कि—किसी "कारणवश लोकोत्तर अर्थका बोधक जो वचन है, उसे 'अतिशयोक्ति' अलंकार मानते हैं। वामनने इसके असम्भव-पक्षको नहीं लिया है। वे सम्भाव्य धर्म तथा उसके उत्कर्षकी कल्पनाको ही 'अतिशयोक्ति' मानते हैं (४ । ३ । १०)। लोकसीमातीत होनेपर ही वस्तु-धर्ममें उत्कर्ष सिद्ध होता है। आचार्य दण्डीने अग्निपुराणोक्त लक्षणके केवल भावकी ही नहीं, शब्दकी भी छाया ली है। यथा—

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।

असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥

(काव्यादर्श २ । २१४)

आचार्य मम्मटके द्वारा 'अतिशयोक्ति'का विकसित स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। उपमानके द्वारा उपमेयका निगरण करके जो कल्पित अभेद-कथनरूप अध्यवसान करना है, वह एक प्रकारकी 'अतिशयोक्ति' है। प्रस्तुत अर्थका अन्यरूपसे वर्णन द्वितीय प्रकारकी, 'यदि' के समानार्थक शब्दको लगाकर की गयी कल्पना तृतीय प्रकारकी और कार्य-कारणके पौर्वापर्यका विपर्यय चतुर्थ प्रकारकी 'अतिशयोक्ति' है।

(का० प्र० १० । १००-१०१)

३१. दण्डीके 'काव्यादर्श'में अग्निपुराणकी ही शब्दावलीमें 'विशेषोक्ति' लक्षित करायी गयी है। भामहने भी अग्निपुराणके ही भाव तथा शब्दकी छाया ली है। यथा—

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।

विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥ (३ । २३)

वामनने भी "एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।" —इस सूत्रमें ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। अर्वाचीन आलंकारिकोंने "कारण प्राप्त होनेपर भी जो कार्यका न होना बताया जाय, उसे 'विशेषोक्ति' कहा है।" जैसा कि आचार्य मम्मटका कथन है—

'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ॥'

(१० । १०८)

३२. काव्यादर्शकार दण्डीने अग्निपुराणमें दिये गये लक्षणकी आनुपूर्वीको ही अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है। भामहने कारणभूत क्रियाका निषेध होनेपर भी उसके फलकी 'उद्भावना' को 'विभावना' माना है। इसी भावको वामनने भी अपने सूत्रमें अभिव्यक्त किया है। यथा—

'क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना ॥'

(काव्यालंकार, सू० ४ । ३ । १३)

आचार्य मम्मटने अपनी कारिकामें उक्त सूत्रका ही भाव ग्रहण किया है—

'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।'

'सरस्वतीकण्ठाभरण'के रचयिता राजा भोजने 'विभावना'के अपने लक्षणमें अग्निपुराणकी शब्दावलीको ही अविकलरूपसे ले लिया है।

३३. भामहने 'विरोध'का लक्षण इस प्रकार बताया है—"विशेषता बतानेके लिये किसी गुण या क्रियाके विरुद्ध अन्य क्रियाका वर्णन हो, तो उसे विद्वान् 'विरोध' कहते हैं"—

अर्थका साधक 'हेतु[३४]' अलंकार कहलाता है। उस 'हेतु' अलंकारके भी 'कारक' एवं 'ज्ञापक'—ये दो भेद हो जाते हैं। इनमें कारक-हेतु कार्य-जन्मके पूर्वमें और पश्चात् भी रहनेवाला है, जो 'पूर्वशेष' कहा जाता है और उन्हीं भेदोंमें कार्य-कारणभावसे अथवा किसी नियामक स्वभावसे या अविनाभावके दर्शनसे जो अविनाभावका नियम होता है, वह ज्ञापक हेतुका भेद है। 'नदीपूर' आदिका दर्शन ज्ञापकका उदाहरण है[३५] ॥ २४—३२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अर्थालंकारका वर्णन' नामक तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४४ ॥

तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय

शब्दार्थोभयालंकार

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'शब्दार्थालंकार' शब्द और अर्थ दोनोंको समानरूपसे अलंकृत करता है; जैसे एक ही अङ्गमें धारण किया हुआ हार कामिनीके कण्ठ एवं कुचमण्डलकी कान्तिको बढ़ा देता है। 'शब्दार्थालंकार'के छः भेद काव्यमें उपलब्ध होते हैं—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति। दूसरोंके मर्मस्थलको द्रवीभूत करनेवाले वाक्-कौशलको 'प्रशस्ति' कहते हैं। वह प्रशस्ति 'प्रेमोक्ति' एवं 'स्तुति'के भेदसे दो प्रकारकी मानी गयी है। प्रेमोक्ति और स्तुतिके पर्य्यायवाचक शब्द क्रमशः 'प्रियोक्ति' एवं 'गुण-कीर्तन' हैं। वाच्य-वाचककी सर्वसम्मत एवं रुचिकर संगतिको 'कान्ति' कहते हैं। यदि ओज एवं माधुर्ययुक्त संदर्भमें—वस्तुके अनुसार रीति एवं वृत्तिके अनुसार रसका प्रयोग हो तो औचित्यका प्रादुर्भाव होता है। अल्पसंख्यक शब्दोंसे अर्थ-बाहुल्यका संग्रह 'संक्षेप' तथा शब्द एवं वस्तुका अन्यूनाधिक्य 'यावदर्थता' कहा जाता है। अर्थ-प्राकट्यको 'अभिव्यक्ति' कहते हैं। उसके दो भेद हैं—'श्रुति' और 'आक्षेप'। शब्दके द्वारा अपने अर्थका उद्‌घाटन 'श्रुति' कहा जाता है। श्रुतिके दो भेद हैं—'नैमित्तिकी' और 'पारिभाषिकी'। 'संकेत' को परिभाषा कहते हैं। परिभाषाके सम्बन्धसे ही वह पारिभाषिकी है। पारिभाषिकीको 'मुख्या' और नैमित्तिकीको 'औपचारिकी' कहते हैं। [ये ही क्रमशः 'अभिधा' और 'लक्षणा' हैं।] उस औपचारिकीके भी दो भेद हैं। जिसके द्वारा अभिधेय अर्थसे स्खलित हुआ शब्द किसी निमित्तवश अमुख्य अर्थका बोधक होता है, वह वृत्ति 'औपचारिकी' है। ये ही दोनों भेद नैमित्तिकीके भी होते हैं। वह लक्षणायोगसे 'लाक्षणिकी'

गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा। या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥ (३। २५)

दण्डीने "जहाँ प्रस्तुत वस्तुकी विशेषता (उत्कर्ष) दिखानेके लिये परस्परविरुद्ध संसर्ग (एकत्र अवस्थान) प्रदर्शित किया जाय, वह 'विरोध' नामक अलंकार है"—ऐसा लक्षण किया है। वामनने 'विरुद्धाभासत्वं विरोधः।' (४। ३। १२)—ऐसा कहा है। 'काव्यप्रकाश'में 'विरुद्धः सोऽविरुद्धेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।'—ऐसा विरोधका लक्षण देखा जाता है। इन सबकी शब्दावलीमें किंचित् भेद होते हुए भी, अभिप्राय सबका एक ही जान पड़ता है। विरोधपूर्वक संगतिकरणको कुछ लोग 'असंगति' अलंकार भी मानते हैं।

३४. अग्निपुराणमें वर्णित 'हेतु' अलंकारको भामहने चमत्कार-शून्य बताकर अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने 'सूक्ष्म' और 'लेश'को भी अलंकार नहीं माना है। परंतु दण्डीने 'वाचामुत्तमभूषणम्'—यों कहकर इन तीनोंको उत्तम अलंकारकी कोटिमें रखा है। उन्होंने 'हेतु'का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है, परंतु अग्निपुराणोक्त कारक और ज्ञापक दोनों हेतुओंका उल्लेख किया है। अतः अग्निपुराणोक्त लक्षण ही उन्हें अभिमत है। अग्नि धूमका कारक हेतु है और धूम अग्निका ज्ञापक हेतु। इस प्रकार हेतुके दोनों भेद देखे जाते हैं। आचार्य दण्डी 'हेतु'में ही 'काव्यलिङ्ग', 'अनुमान' तथा कार्यकारणमूलक 'अर्थान्तरन्यास' का अन्तर्भाव मानते हैं। अतएव उन्होंने इन सबके पृथक् लक्षण आदि नहीं लिखे हैं। भोजराजने 'हेतु'का 'क्रियायाः कारणं हेतुः'—ऐसा लक्षण किया है।

३५. जैसे नदीके जलप्रवाहके दर्शनसे उसके उद्गम-स्थानकी सत्ता सिद्ध होती है तथा धूमके दर्शनसे अग्निकी सत्ता सूचित होती है। इस तरहके वर्णनोंमें ज्ञापक हेतु समझना चाहिये।

और गुणयोगसे 'गौणी' कहलाती है । अभिधेय अर्थके साथ सम्बद्ध रहकर जो अन्यार्थकी प्रतीति होती है, उसको 'लक्षणा' कहते हैं । अभिधेयके साथ सम्बन्ध, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य एवं क्रियायोगसे लक्षणा पाँच प्रकारकी मानी जाती है । गुणोंकी अनन्तता होनेसे उनकी विवक्षाके कारण गौणीके अनन्त भेद हो जाते हैं । लोकसीमाके पालनमें तत्पर कविद्वारा जब अप्रस्तुत वस्तुके धर्म प्रस्तुत वस्तुपर सम्यग्रूपसे आहित—आरोपित किये जाते हैं, तब उसे 'समाधि'[1] कहते हैं । जिसके द्वारा श्रुतिसे अनुपलब्ध अर्थ चैतन्ययुक्त होकर भासित होता है, वह 'आक्षेप'[2] कहा जाता है । इसको 'ध्वनि' भी माना गया है; क्योंकि वह ध्वनिसे ही व्यक्त होता है । इसमें ध्वनिके आश्रयसे शब्द और अर्थके द्वारा स्वतः संकलित अर्थ ही व्यञ्जित होता है । अभीष्ट कथनका विशेष विवक्षासे अर्थात् उसमें और भी उत्कर्षकी प्रतीति करानेके लिये जो प्रतिषेध-सा होता है, उसको 'आक्षेप'[3] कहते हैं । अधिकार (प्रकरण) से पृथक्, अर्थात् अप्रकृत या अप्रस्तुत अन्य वस्तुकी जो स्तुति की जाती है, उसे 'अस्तुतस्तोत्र'[4] (अप्रस्तुतप्रशंसा) कहते हैं । जहाँ किसी एक वस्तुके कहनेपर उसके समान विशेषणवाले दूसरे अर्थकी प्रतीति हो, उसे विद्वान् पुरुष अर्थकी संक्षिप्तताके कारण 'समासोक्ति'[5] कहते हैं । वास्तविक पदार्थका अपलाप या निषेध करके किसी अन्य पदार्थको सूचित करना 'अपह्नुति'[6] है । जो अभिधेय दूसरे प्रकारसे कहा जाता है अर्थात् सीधे न कहकर प्रकारान्तरसे घुमा-फिराकर प्रस्तुत

१. अग्निपुराणमें 'समाधि'का जो लक्षण किया गया है, वह भरतमुनिके निम्नाङ्कित श्लोकपर आधारित है—

अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते ।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते ॥
(नाट्य० १६ । १०२)

दण्डीने अग्निपुराणोक्त लक्षणको अविकलरूपसे अपने ग्रन्थमें ले लिया है । वामनने आरोहावरोहक्रमरूप 'समाधि'को शब्दगुण स्वीकार किया है, किंतु भोजराजने अग्निपुराण और दण्डीके ही भावको लेकर—'समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् ।'—यह लक्षण लिखा है । वाग्भट्टने भी यही बात कही है—'अन्यस्य धर्मो यत्रान्यत्रारोप्यते स समाधिः' ।

२. यहाँ आक्षेपको ध्वनिरूप बताया गया है; क्योंकि उससे अर्थविशेषका ध्वनन होता है ।

३. यह 'आक्षेपालंकार'का लक्षण है । आचार्य मम्मटने भी इसी भावका आश्रय लेकर कहा है कि—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

इस लक्षणमें उक्त विषय और वक्ष्यमाण विषयके भेदसे आक्षेपके दो प्रकार बताये गये हैं ।

४. इस 'अस्तुत-स्तोत्र'को ही परवर्ती आलंकारिकोंने 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' नाम दिया है; इसीको 'अन्योक्ति' भी कहते हैं । अग्निपुराणमें जो लक्षण दिया गया है, उसीको भामहने अविकल-रूपसे उद्धृत किया है । अन्तर इतना ही है कि वे 'अस्तुतस्तोत्र'के स्थानमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' लिखते हैं । उनका लक्षण इस प्रकार है—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा ॥
(३ । २९)

दण्डीने इसी भावको संक्षिप्त शब्दोंमें व्यक्त किया है—'अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ।' (२ । ३४०) वामनने उपमेयकी अनुक्तिमें 'समासोक्ति' और किंचिद् उक्तिमें 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' मानी है ।

५. आचार्य भामहने अपने ग्रन्थमें अग्निपुराणोक्त लक्षणको ज्यों-का-त्यों ले लिया है । अन्तर इतना ही है कि अग्निपुराणमें 'उदिता' है और भामहके ग्रन्थमें 'उद्दिष्टा' । वहाँ अन्तमें 'बुधैः' पदका प्रयोग है और यहाँ 'यथा'का । दण्डीने इसी भावको कुछ अधिक स्पष्टताके साथ इस प्रकार लिखा है—

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरुच्यते ॥
(२ । २०५)

'समासोक्ति'की गणना व्यङ्ग्य अलंकारोंमें होती है, इस दृष्टिसे अग्निपुराणोक्त लक्षणमें 'गम्यते'—इस क्रियापदका प्रयोग अधिक महत्त्वका है । अर्वाचीन आलंकारिक 'समासोक्ति'के लक्षणोंमें अप्रकृत व्यवहारके समारोपका भी उल्लेख करते हैं ।

६. काव्यादर्शकार दण्डीने अग्निपुराणोक्त लक्षणकी आनुपूर्वीको ही उद्धृत कर लिया है । अन्तर इतना ही है कि अग्निपुराणमें 'किंचिदन्यार्थसूचनम्' पाठ है और 'काव्यादर्शमें 'सूचनम्' के स्थानमें 'दर्शनम्' कर दिया गया है । भामहने शब्दान्तरसे इसी भावको प्रकट किया है—

किया जाता है, उसको 'पर्य्यायोक्ति' कहते हैं। इनमेंसे किसी भी एकका नाम 'ध्वनि'[८] है॥ १-१८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शब्दार्थोभयालंकारोंका कथन' नामक तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३४५॥

तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय

काव्यगुण-विवेक

अग्निदेव कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ! गुणहीन काव्य अलंकारयुक्त होनेपर भी सहृदयके लिये प्रीतिकारक नहीं होता, जैसे नारीके यौवनजनित लालित्यसे रहित शरीरपर हार भी भारस्वरूप हो जाता है। यदि कोई कहे कि 'गुण-निरूपणकी क्या आवश्यकता है? दोषोंका अभाव ही गुण हो जायगा' तो उसका ऐसा कथन उचित नहीं है; क्योंकि 'श्लेष' आदि गुण और 'गूढार्थत्व' आदि दोष पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। जो काव्यमें महती शोभाका आनयन करता है, उसको 'गुण' कहा जाता है। यह सामान्य और वैशेषिकके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। जो गुण सर्वसाधारण हो, उसे 'सामान्य' कहा जाता है। सामान्य गुण शब्द, अर्थ और शब्दार्थको प्राप्त होकर तीन प्रकारका हो जाता है। जो गुण काव्य-शरीरमें शब्दके आश्रित होता है, वह 'शब्दगुण' कहलाता है। शब्दगुणके सात भेद होते हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ओज और यौगिकी (समाधि)। शब्दोंका सुश्लिष्ट संनिवेश 'श्लेष'[३] कहा जाता

अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा। भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा॥ (२। २१)

इस लक्षणमें 'किंचिदन्तर्गतोपमा' यह अंश विशेष है। वामनने तुल्य वस्तुके द्वारा अन्य वाक्यार्थके अपलापको 'अपह्नुति' कहा है—'समानवस्तुनान्यापलापोऽपह्नुतिः।' (३।५)। परवर्ती आलंकारिकोंने प्रकृत वस्तुका निषेध करके अन्य वस्तुकी स्थापनाको 'अपह्नुति' कहा है।

७. भामहने भी 'पर्यायोक्ति'का यही लक्षण लिखा है।

८. प्राचीनोंने आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति तथा पर्यायोक्तिको 'ध्वनि' कहकर जो उसे अलंकारोंमें अन्तर्भूत करनेकी चेष्टा की है, उसका ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनने बड़ी प्रौढ़िके साथ खण्डन किया है।

१. इसी भावको लेकर वामनने कहा है—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

अर्थात्—'गुणरहित वचन नारीके यौवनरहित रूपकी भाँति मनोरम नहीं होता। यदि उसे अलंकृत भी किया जाय तो वे अलंकार अपना दुर्भाग्य सूचित करते हैं।'

२. भरतमुनिने काव्यार्थ-गुण दस माने हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

अग्निदेवने शब्दगुण सात, अर्थगुण छः और शब्दार्थ-गुण छः माने हैं। काव्यादर्शकार दण्डीने भी भरतोक्त दस गुणोंका ही उल्लेख किया है। वामनने बीस और भोजने अड़तालीस गुण प्रदर्शित किये हैं।

३. भामहने माधुर्य, प्रसाद और ओज—इन तीन गुणोंको ही स्वीकार किया है। वामनने शब्दगुण दस और अर्थगुण भी दस माने हैं। नाम दोनों विभागोंके एक ही हैं, केवल लक्षणमें अन्तर है। उन्होंने 'शब्दश्लेष'का लक्षण इस प्रकार किया है—'मसृणत्वं श्लेषः'। इसकी व्याख्या करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—"मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकवद् भासन्ते।—अर्थात् जिसके होनेपर बहुत-से पद एकपदके तुल्य प्रतीत होते हैं, उसका नाम 'मसृणत्व' है।' उदाहरणके लिये 'अस्त्युत्तरस्याम्'—यह पद्यांश है। इसमें दो पद संधियुक्त होकर एकपदवत् प्रतीत होते हैं। दण्डीने 'श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्'—यह श्लेषका लक्षण लिखा है। इसके अनुसार जिस वाक्यमें शिथिलता छू भी न गयी हो, वह 'श्लेष' है। इसका और वामनोक्त लक्षणका आधार अग्निपुराणका 'सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं शब्दानां श्लेषः।'—यह लक्षण ही है। भोजराजने इसीका भाव लेकर 'सुश्लिष्टपदता श्लेषः।'—यह लक्षण लिखा है।

है। जहाँ गुणादेश आदिके द्वारा पूर्वपदसम्बद्ध अक्षर संधिको प्राप्त नहीं होता, वहाँ 'लालित्य' गुण माना गया है। विशिष्ट लक्षणके अनुसार उल्लेखनीय उच्चभावव्यञ्जक शब्दसमूहको श्रेष्ठ पुरुष 'गाम्भीर्य' कहते हैं। वही अन्यत्र 'उत्तान शब्दक' या 'शब्दत्व' नामसे प्रसिद्ध है। जिसमें निष्ठुरतारहित कोमल अक्षरोंका बाहुल्य हो, उस शब्दसमूहको 'सौकुमार्य' गुणविशिष्ट माना गया है। जहाँ श्लाघ्य विशेषणोंसे युक्त उत्कृष्ट पदका प्रयोग हो, वहाँ 'औदार्य' गुण माना जाता है। समासोंका बाहुल्य 'ओज' कहलाता है। यह गद्य-पद्यरूप काव्यका प्राण है। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जो कोई भी प्राणी हैं, उनके 'पौरुष'का वर्णन एकमात्र 'ओज' गुणविशिष्ट पदावलीसे ही होता है। जिस-किसी भी शब्दके द्वारा वर्ण्यमान वस्तुका उत्कर्ष वहन करनेवाला गुण 'अर्थगुण' कहा जाता है। अर्थगुणके छः भेद प्रकाशित होते हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि एवं सामयिकता। क्रोध और ईर्ष्यामें भी आकारकी गम्भीरता तथा धैर्यधारणको 'माधुर्य' कहते हैं। अपेक्षित कार्यकी सिद्धिके लिये उद्योग 'संविधान' माना गया है। जो कठिनता आदि दोषोंसे रहित है तथा संनिवेश विशेषका तिरस्कार करके मृदुरूपमें ही भासित होता है, वह गुण 'कोमलता'के नामसे प्रसिद्ध है॥ १—१४॥

जिसमें स्थूललक्ष्यत्वकी प्रवृत्तिका लक्षण लक्षित होता है, आशय अत्यन्त सुन्दररूपमें प्रकट होता है, वह 'उदारता' नामक गुण है। इच्छित अर्थके प्रति निर्वाहका उपपादन करनेवाली हेतुगर्भिणी युक्तियोंको 'प्रौढि'[11] कहते हैं। स्वतन्त्र या परतन्त्र कार्यके बाह्य एवं आन्तरिक संयोगसे अर्थकी जो व्युत्पत्ति होती है, उसको 'सामयिकता' कहते हैं। जो शब्द एवं अर्थ—दोनोंको उपकृत करता है, वह 'उभयगुण' (शब्दार्थगुण) कहलाता है। साहित्यशास्त्रियोंने इसका विस्तार छः भेदोंमें किया है—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्तता, पाक और राग। सुप्रसिद्ध अर्थसे समन्वित पदोंका संनिवेश 'प्रसाद'[12] कहा जाता है। जिसके

४-५. 'लालित्य' नामक गुणका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। गाम्भीर्यका लक्षण भोजराजने इस प्रकार किया है—'ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्'। इसमें भी अग्निपुराणोक्त लक्षणकी भावच्छाया दीख पड़ती है।

६. भोजराजके 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम्।'—इस लक्षणमें अग्निपुराणकी शब्दावलीका ही समावेश किया गया है। दण्डीने भी इसी आनुपूर्वीमें 'सुकुमारता'को लक्षित कराया है। वामनने बन्धकी अकठोरताको ही 'सौकुमार्य' कहा है। उसका आधार भी अग्निपुराणोक्त लक्षण ही है।

७. काव्यादर्शकार दण्डीने 'औदार्यका' यही लक्षण थोड़े-से पदोंके हेर-फेरके साथ अपने ग्रन्थमें ले लिया है। भोजराजने वैभवके उत्कर्षका प्रतिपादन 'औदार्य' माना है, किंतु यह उनका अर्थगुण है—'भूत्युत्कर्ष उदारता।'—शब्दगुणान्तर्गत उदारताका लक्षण उनके मतमें 'विकटाक्षरबन्धत्व' है, जो वामनोक्त लक्षणसे मेल खाता है। वामनने ग्राम्यत्वदोषसे रहित रचनाको 'औदार्य-गुणशालिनी' स्वीकार किया है। यथा—'अग्राम्यत्वमुदारता।' (३। २। १२); किंतु यह उनके 'अर्थगुण'का लक्षण है। शब्दगुणके लक्षणमें वे बन्धकी विकटताको ही 'उदारता' मानते हैं।' जिसके होनेपर पद नृत्य करते-से प्रतीत होते हैं।

८—'काव्यादर्श'में भी 'ओज'का यही लक्षण उद्धृत किया गया है। वामनने निबन्धके गाढ़त्वको 'ओज' कहा है। यह गाढ़त्व समास-बाहुल्यसे ही आता है। अतः वामनने कोई नयी बात नहीं कही है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण'के निर्माता भोजराजने भी अग्निपुराणकी आनुपूर्वीमें ही 'ओजः समासभूयस्त्वम्।'—इस प्रकार 'ओज'का लक्षण लिखा है।

९. वामनने 'पृथक्-पदत्वं माधुर्यम्।'—यह लिखकर बताया है, जहाँ पद्यमें सभी पद पृथक्-पृथक् हों, समासमें आबद्ध होनेके कारण विकट या जटिल न हो जायँ, वहाँ 'माधुर्य' है। यह शब्दगत माधुर्यका लक्षण है। अर्थगत माधुर्य वे वहाँ मानते हैं, जहाँ उक्ति-वैचित्र्य हो। दण्डीने सरस वाक्यको 'मधुर' बताया है, परंतु राजा भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में अग्निपुराणोक्त लक्षणका ही भाव लेकर लिखा है—'माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधाद्यप्यतीव्रता'। यह अर्थगत माधुर्य है। शब्दगत माधुर्यका लक्षण वे भी वामनकी भाँति 'पृथक्पदत्व' ही मानते हैं।

१०. दण्डीने शब्दान्तरसे अपने लक्षणमें कुछ ऐसा ही भाव प्रकट किया है। उनका कहना है कि—"जिस वाक्यका उच्चारण करनेपर उसमें किसी उत्कृष्ट गुणकी प्रतीति हो, वहाँ 'उदारता' नामक गुण है। उसके द्वारा काव्यपद्धति 'कृतार्थ' (चमत्कार-कारिणी) होती है।"

११. भोजराजने इसी अभिप्रायको और भी सरल रीतिसे व्यक्त किया है—'विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता'।

१२. दण्डीने इसी लक्षणका भाव लेकर 'प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्'।—ऐसा लक्षण किया है। वामनने भी 'अर्थवैमल्यं

उक्त होनेपर कोई गुण उत्कर्षको प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, विद्वान् उसको 'सौभाग्य' या 'औदार्य' बतलाते हैं। तुल्य वस्तुओंका क्रमशः कथन 'यथासंख्य'[13] माना जाता है। समयानुसार वर्णनीय दारुण वस्तुका भी अदारुण शब्दसे वर्णन 'प्राशस्त्य' कहलाता है। किसी पदार्थकी उच्च परिणतिको 'पाक' कहते हैं। 'मृद्वीकापाक' एवं 'नारिकेलाम्बुपाक'के भेदसे 'पाक' दो प्रकारका होता है। आदि और अन्तमें भी जहाँ सौरस्य हो, वह 'मृद्वीकापाक' है। काव्यमें जो छायाविशेष (शोभाधिक्य) प्रस्तुत किया जाय, उसे 'राग' कहते हैं। यह राग अभ्यासमें लाया जानेपर सहज कान्तिको भी लाँघ जाता है, अर्थात् उसमें और भी उत्कर्ष ला देता है। जो अपने विशेष लक्षणसे अनुभवमें आता हो, उसे 'वैशेषिक गुण' जानना चाहिये। यह राग तीन प्रकारका होता है—हारिद्रराग, कौसुम्भराग और नीलीराग। (यहाँतक सामान्य गुणका विवेचन हुआ)। अब 'वैशेषिक'का परिचय देते हैं। वैशेषिक उसको जानना चाहिये, जो स्वलक्षण-गोचर हो—अनन्यसाधारण हो ॥ १५—२६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'काव्यगुणविवेककथन' नामक तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४६ ॥

तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय

काव्यदोष-विवेक

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'दृश्य' और 'श्रव्य' काव्यमें यदि 'दोष'[1] हो तो वह सहृदय सभ्यों (दर्शकों और पाठकों) के लिये उद्वेगजनक होता है। वक्ता, वाचक एवं वाच्य—इनमेंसे एक-एकके नियोगसे, दो-दोके नियोगसे और तीनोंके नियोगसे सात प्रकारके दोष[2] होते हैं। इनमें 'वक्ता' कविको माना गया है, जो विद्वान्, अविनीत, अज्ञ और ज्ञाताके भेदसे चार प्रकारका है। निमित्त और परिभाषा (संकेत) के अनुसार अर्थका स्पर्श करनेवाले शब्दको 'वाचक' कहते हैं। उसके दो भेद हैं—'पद' और 'वाक्य'। इन दोनोंके लक्षणोंका वर्णन पहले हो चुका है। पददोष दो प्रकारके होते हैं—असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व। व्याकरणशास्त्रसे विरुद्ध पदमें विद्वानोंने 'असाधुत्व' दोष माना है। काव्यकी व्युत्पत्ति-से सम्पन्न विद्वानोंद्वारा जिसका कहीं उल्लेख न किया गया हो, उसमें 'अप्रयुक्तत्व' दोष कहा जाता है। अप्रयुक्तत्वके

प्रसादः।'—यों कहकर इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है। भोजराजने भी 'व्यक्तं प्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते'—यों लिखकर पूर्वोक्त अभिप्रायका ही पोषण किया है।

१३. 'यथासंख्य'को अर्वाचीन आलंकारिकोंने गुण नहीं माना है, उसे अलंकारकी कोटिमें रक्खा है।

१. काव्यमें 'दोष'का परिहार अत्यन्त आवश्यक माना गया है। दण्डीने कहा है कि—'जिस प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठके एक दागसे भी अपनी कमनीयता खो बैठता है, उसी प्रकार कितना भी रमणीय काव्य क्यों न हो, थोड़े-से दोषसे भी दूषित होकर सहृदयोंके लिये अग्राह्य हो जाता है। अतः दोषकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।' (काव्या० १। ७) भामहने दोषयुक्त काव्यको कुपुत्रके समान निन्दाजनक माना है। वाग्भट (प्रथम) का कहना है कि दोषरहित काव्य ही कीर्तिका विस्तार करनेवाला है। अग्निपुराणमें नाटक और काव्यके दोषको सहृदयोंके लिये उद्वेगजनक कहा गया है। भरतमुनिने अपने 'नाट्यशास्त्र'में काव्यके दस दोष गिनाये हैं। यथा—निगूढ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसंधि तथा शब्दच्युति। अग्निपुराणमें इन सबका वर्णन तो है ही, अन्यान्य दोषोंकी भी विस्तारपूर्वक उद्भावना की गयी है। भामहके प्रथम निर्दिष्ट दस दोष भरतोक्त दोषोंपर ही आधारित हैं। दण्डीने भी किंचित् शब्दान्तरके साथ उन्हीं दस दोषोंको वर्जनीय बताया है। भामहने सबसे अधिक दोषोंकी उद्भावना की है, किंतु उनका कोई क्रमबद्ध वर्णन देखनेमें नहीं आता, यद्यपि उन्होंने अपना आधा ग्रन्थ दोषनिरूपणमें ही लगा दिया है।

२. अग्निपुराणमें पहले वक्तृ, वाचक और वाच्य—इन तीनोंमें एक-एक, दो-दो और तीनोंके नियोग (सम्बन्ध) से सात प्रकारके दोष माने हैं। यथा—वक्तृनियुक्तदोष, वाचकनियुक्तदोष, वाच्यनियुक्तदोष, वक्तृवाचकनियुक्तदोष, वाचकवाच्यनियुक्तदोष, वक्तृवाच्यनियुक्तदोष और वक्तृवाचकवाच्यनियुक्तदोष।

भी पाँच भेद होते हैं—छान्दसत्व, अविस्पष्टत्व, कष्टत्व, असामयिकत्व एवं ग्राम्यत्व। जिसका लोकभाषामें प्रयोग न हो, वह 'छान्दसत्व' दोष एवं जो बोधगम्य न हो, वह 'अविस्पष्टत्व' दोष कहलाता है। अविस्पष्टत्वके भेद निम्नलिखित हैं—गूढार्थता, विपर्यस्तार्थता तथा संशयितार्थता। जहाँ अर्थका क्लेशपूर्वक ग्रहण हो, वहाँ 'गूढार्थता' दोष होता है। जो विवक्षितार्थसे भिन्न शब्दार्थके ज्ञानसे दूषित हो उसे 'विपर्यस्तार्थता' कहते हैं। अन्यार्थत्व एवं असमर्थत्व—ये दोनों दोष भी 'विपर्यस्तार्थता'का ही अनुगमन करते हैं। जिसमें अर्थ संदिग्ध होता है, उसको 'संशयितार्थता' कहते हैं। यह सहृदयके लिये उद्वेगकारक न होनेपर दोष नहीं माना जाता। सुखपूर्वक उच्चारण न होना 'कष्टत्वदोष' माना जाता है। जो रचना समय—कविजन-निर्धारित मर्यादासे च्युत हो, उसमें 'असामयिकता' मानी जाती है। उस असामयिकताको मुनिजन 'नेया' कहते हैं। जिसमें निकृष्ट एवं दूषित अर्थकी प्रतीति होती है, उसमें 'ग्राम्यतादोष' होता है। निन्दनीय ग्राम्यार्थके कथनसे, उसके स्मरणसे तथा उसके वाचक पदके साथ समानता होनेसे 'ग्राम्यदोष' तीन प्रकारका है। 'अर्थदोष' साधारण और प्रातिस्विकके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो दोष अनेकवर्ती होता है, उसको 'साधारण' माना गया है। क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसंधि, पुनरुक्तता एवं व्यस्त-सम्बन्धताके भेदसे 'साधारण दोष' पाँच प्रकारके होते हैं। क्रियाहीनताको 'क्रियाभ्रंश', कर्त्ता आदि कारकके अभावको 'कारकभ्रंश' एवं संधिदोषको 'विसंधि' कहते हैं॥ १—१५॥

विसंधि दोष दो प्रकारका होता है—'संधिका अभाव' एवं 'विरुद्धसंधि'। विरुद्ध पदार्थान्तरकी प्रतीति होनेसे विरुद्धसंधिको कष्टकर माना गया है। बार-बार कथनको 'पुनरुक्तत्व' दोष कहते हैं। वह भी दो प्रकारका होता है—'अर्थावृत्ति' एवं 'पदावृत्ति'। 'अर्थावृत्ति' भी दो प्रकारकी होती है—काव्यमें प्रयुक्त अभीष्ट या विवक्षित शब्दके द्वारा एवं शब्दान्तरके द्वारा 'पदावृत्ति' में अर्थकी आवृत्ति नहीं होती, पदमात्रकी ही आवृत्ति होती है। जहाँ व्यवधानसे भली भाँति सम्बन्ध हो, वहाँ 'व्यस्त-सम्बन्धता' दोष होता है। सम्बन्धान्तरकी प्रतीतिसे, सम्बन्धान्तरजन्य होनेसे तथा इन दोनोंके अभावमें भी अन्तर्व्यवधानसे व्यस्त-सम्बन्धताके तीन भेद हो जाते हैं। बीचमें पद अथवा वाक्यसे व्यवधान होनेके कारण उक्त भेदोंमेंसे प्रत्येकके दो-दो भेद और होते हैं। पद और वाक्यमें अर्थ और अर्थ्यमानके भेदसे वाच्यार्थके दो भेद होते हैं। पदगत वाच्य 'व्युत्पादित' और 'व्युत्पाद्य'के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। यदि हेतु अभीष्टसिद्धिमें व्याघातकारी हो तो यह उसका दोष माना गया है। यह 'हेतुदोष' ग्यारह प्रकारका होता है—असमर्थत्व, असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कालातीतत्व, संकर, पक्षमें अभाव, सपक्षमें अभाव, विपक्षमें अस्तित्व और ग्यारहवाँ निरर्थत्व। वह इष्टव्याघातकारित्व दोष काव्य और नाटकोंमें तथा सहृदय सभासदोंमें (श्रोताओं, दर्शकों और पाठकोंमें) मार्मिक पीड़ा उत्पन्न करनेवाला है। निरर्थत्वदोष दुष्कर चित्र-बन्धादि काव्यमें दूषित नहीं माना जाता। पूर्वोक्त गूढार्थत्वदोष दुष्कर चित्रबन्धमें विद्वानोंके लिये दुःखप्रद नहीं प्रतीत होता। 'ग्राम्यत्व' भी यदि लोक और शास्त्र दोनोंमें प्रसिद्ध हो तो उद्वेगकारक नहीं जान पड़ता। क्रियाभ्रंशमें यदि क्रियाका अध्याहार करके उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सके तो वह दोष नहीं रह जाता। इसी तरह भ्रष्टकारकता दोष नहीं रह जाता, जब कि आक्षेपबलसे कारकका अध्याहार सम्भव हो जाय। जहाँ 'प्रगृह्य' संज्ञा होनेके कारण प्रकृतिभाव प्राप्त हो, वहाँ विसंधित्व दोष नहीं माना गया है। जहाँ संधि कर देनेपर उच्चारणमें कठिनाई आ जाय, वैसे दुर्वाच्य स्थलोंमें विसंधित्व दोषकारक नहीं है॥ १६—२७॥

'अनुप्रास' अलंकारकी योजनामें पदोंकी आवृत्ति तथा व्यस्त-सम्बन्धता शुभ है। अर्थात् दोष न होकर गुण है। अर्थसंग्रहमें अर्थावृत्ति दोषकारक नहीं होती। वह व्युत्क्रम (क्रमोल्लङ्घन) आदि दोषोंसे भी लिप्त नहीं होती। उपमान और उपमेयमें विभक्ति, संज्ञा, लिङ्ग और वचनका भेद होनेपर भी वह तबतक दोषकारक नहीं माना जाता, जबतक कि बुद्धिमान् पुरुषोंको उससे उद्वेगका अनुभव नहीं होता। (उद्वेगजनकता ही दूषकताका बीज है।) वह न हो तो माने गये दोष भी दोषकारक नहीं समझे जाते। अनेककी एकसे और बहुतोंकी बहुतोंसे दी गयी उपमा शुभ मानी गयी है। (अर्थात् यदि सहृदयोंको उद्वेग न हो तो लिङ्ग-वचनादिके भेद होनेपर भी दोष नहीं मानना चाहिये।) कविजनोंका परम्परानुमोदित सदाचार 'समय' कहा जाता है। जिसके द्वारा समस्त सिद्धान्तवादी निर्बाध संचरण करते हैं तथा जिसके ऊपर कुछ ही सिद्धान्तवादी चल पाते हैं—इस पक्षद्वयके कारण सामान्य [illegible]

विभक्त हो जाता है। यह मतभेद किसीको तो सिद्धान्तका आश्रय लेनेसे और किसीको भ्रान्तिसे होता है। किसी मुनिके सिद्धान्तका आधार तर्क होता है और किसीके मतका आलम्बन क्षणिक विज्ञानवाद। किसीका यह मत है कि पञ्चभूतोंके संघातसे शरीरमें चेतनता आ जाती है, कोई स्वतःप्रकाश ज्ञानको ही चैतन्यरूप मानते हैं। कोई प्रशांत स्थूलतावादी है और कोई शब्दानेकान्तवादी। शैव, वैष्णव, शाक्त तथा सौर सिद्धान्तोंको माननेवालोंका विचार है कि इस जगत्का कारण 'ब्रह्म' है। परंतु सांख्यवादी प्रधानतत्त्व (प्रकृति) को ही दृश्य जगत्का कारण मानते हैं। इस वाणीलोकमें विचरते हुए विचारक जो एक-दूसरेके प्रति विपर्यस्त दृष्टि रखते हुए परस्पर युक्तियोंद्वारा एक-दूसरेको बाँधते हैं, उनका वह भिन्न-भिन्न मत या मार्ग ही 'विशिष्ट समय' कहा गया है। यह विशिष्ट समय 'असत्के परिग्रह' तथा 'सत्के परित्याग'के कारण दो भेदोंमें विभक्त होता है। जो 'प्रत्यक्ष' आदि प्रमाणोंसे बाधित हो, उस मतको 'असत्' मानते हैं। कवियोंको वह मत ग्रहण करना चाहिये, जहाँ ज्ञानका प्रकाश हो। जो अर्थक्रियाकारी हो, वही 'परमार्थ सत्' है। अज्ञान और ज्ञानसे परे जो एकमात्र ब्रह्म है, वही परमार्थ सत् जाननेयोग्य है। वही सृष्टि, पालन और संहारका हेतुभूत विष्णु है, वही शब्द और अलंकाररूप है। वही अपरा और परा विद्या है। उसीको जानकर मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त होता है॥२८-४०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'काव्यदोषविवेकका' कथन नामक तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४७॥

तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय

एकाक्षरकोष

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं तुम्हें 'एकाक्षराभिधान' तथा मातृकाओंके नाम एवं मन्त्र बतलाता हूँ। सुनो—'अ' नाम है भगवान् विष्णुका। 'अ' निषेध अर्थमें भी आता है। 'आ' ब्रह्माजीका बोध कराता है। वाक्य-प्रयोगमें भी उसका उपयोग होता है। 'सीमा' अर्थमें 'आ' अव्ययपद है। क्रोध और पीड़ा अर्थमें भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'इ' काम-अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ई' रति और लक्ष्मीके अर्थमें आता है। 'उ' शिवका वाचक है। 'ऊ' रक्षक आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। 'ऋ' शब्दका बोधक है। 'ॠ' अदितिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ऌ', 'ॡ'—ये दोनों अक्षर दिति एवं कुमार कार्तिकेयके बोधक हैं। 'ए' का अर्थ है—देवी। 'ऐ' योगिनीका वाचक है। 'ओ' ब्रह्माजीका और 'औ' महादेवजीका बोध करानेवाला है। 'अं' का प्रयोग काम अर्थमें होता है। 'अः' प्रशस्त (श्रेष्ठ) का वाचक है। 'क' ब्रह्मा आदिके अर्थमें आता है। 'कु' कुत्सित (निन्दित) अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'खं'—यह पद शून्य, इन्द्रिय और सुखका वाचक है। 'ग' अक्षर यदि पुँल्लिङ्गमें हो तो गन्धर्व, गणेश तथा गायकका वाचक होता है। नपुंसकलिङ्ग 'ग' गीत अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'घ' घण्टा तथा करधनीके अग्रभागके अर्थमें आता है। 'ताडन' अर्थमें भी 'घ' आता है। 'ङ' अक्षर विषय, स्पृहा तथा भैरवका वाचक है। 'च' दुर्जन तथा निर्मल-अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'छ'का अर्थ छेदन है। 'जि' विजयके अर्थमें आता है। 'ज' पद गीतका वाचक है। 'झ'का अर्थ प्रशस्त, 'ञ'का बल तथा 'ट'का गायन है। 'ठ'का अर्थ चन्द्रमण्डल, शून्य, शिव तथा उद्बन्धन है। 'ड' अक्षर रुद्र, ध्वनि एवं त्रासके अर्थमें आता है। ढक्का और उसकी आवाजके अर्थमें 'ढ'का प्रयोग होता है। 'ण' निष्कर्ष एवं निश्चयके अर्थमें आता है। 'त'का अर्थ है—तस्कर (चोर) और सूअरकी पूँछ। 'थ' भक्षणके और 'द' छेदन, धारण तथा शोभनके अर्थमें आता है। 'ध' धाता (धारण करनेवाले या ब्रह्माजी) तथा धूस्तूर (धतूरे) के अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'न' का अर्थ समूह और सुगत (बुद्ध) है। 'प' उपवनका और 'फूः' झंझावातका बोधक है। 'फु' फूँकने तथा निष्फल होनेके अर्थमें आता है। 'वि' पक्षी तथा 'भ' ताराओंका बोधक है। 'मा' का अर्थ है—लक्ष्मी, मान और माता। 'य' योग, याता (यात्री अथवा दुर्गादिन) तथा 'ईरिण' नामक वृक्षके अर्थमें आता है॥१-१०॥

'र' का अर्थ है—अग्नि, बल और इन्द्र। 'ल' का विधाता, 'व' का विश्लेषण (वियोग या बिलगाव) और वरुण तथा 'श' का अर्थ शयन एवं सुख है। 'ष' का अर्थ श्रेष्ठ, 'स' का परोक्ष, 'सा' का लक्ष्मी, 'स'का बाल, 'ह'का धारण तथा रुद्र और 'क्ष' का क्षेत्र, अक्षर, नृसिंह, हरि, क्षेत्र तथा पालक है। एकाक्षरमन्त्र देवतारूप होता

है। वह भोग और मोक्ष देनेवाला है। '**क्ष्रौं हयशिरसे नमः**' यह सब विद्याओंको देनेवाला मन्त्र है। अकार आदि नौ अक्षर भी मन्त्र हैं; उन्हें उत्तम 'मातृका-मन्त्र' कहते हैं। इन मन्त्रोंको एक कमलके दलमें स्थापित करके इनकी पूजा करे। इनमें नौ दुर्गाओंकी भी पूजा की जाती है। भगवती, कात्यायनी, कौशिकी, चण्डिका, प्रचण्डा, सुरनायिका, उग्रा, पार्वती तथा दुर्गाका पूजन करना चाहिये। '**ॐ चण्डिकायै विद्महे भगवत्यै धीमहि तन्नो दुर्गा प्रचोदयात्**'—यह दुर्गा-मन्त्र है। षडङ्ग आदिके क्रमसे पूजन करना उचित है। अजिता, अपराजिता, जया, विजया, कात्यायनी, भद्रकाली, मङ्गला, सिद्धि, रेवती, सिद्ध आदि वटुक तथा एकपाद, भीमरूप, हेतुक, कापालिकका पूजन करे। मध्यभागमें नौ दिक्पालोंकी पूजा करनी चाहिये। मन्त्रार्थकी सिद्धिके लिये '**ह्रीं दुर्गे रक्षिणि स्वाहा**'—इस मन्त्रका जप करे। गौरीकी पूजा करे; धर्म आदिका, स्कन्द आदिका तथा शक्तियोंका यजन करे। प्रज्ञा, ज्ञानक्रिया, वाचा, वागीशी, ज्वालिनी, वामा, ज्येष्ठा, रौद्रा, गौरी, ह्री तथा पुरस्सरा देवीका '**ह्रीं: सः महागौरि रुद्रदयिते स्वाहा**'—इस मन्त्रसे महागौरीका तथा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, सुभगा, ललिता, कामिनी, काममाला और इन्द्रादि शक्तियोंका पूजन भी एकाक्षर मन्त्रोंसे होता है। गणेश-पूजनके लिये '**ॐ गं स्वाहा**' 'यह मूलमन्त्र है। अथवा—'**गं गणपतये नमः।**' से भी उनकी पूजा होती है। रक्त, शुक्ल, दन्त, नेत्र, परशु और मोदक—यह '**षडङ्ग**' कहा गया है। '**गन्धोल्काय नमः।**' से क्रमशः गन्ध आदि निवेदन करे। गज, महागणपति तथा महोल्क भी पूजनके योग्य हैं। '**कूष्माण्डाय, एकदन्ताय, त्रिपुरान्तकाय, श्यामदन्तविकटहरहासाय, लम्बनासाननाय, पद्मदंष्ट्राय, मेघोल्काय, धूमोल्काय, वक्रतुण्डाय, विघ्नेश्वराय, विकटोत्कटाय, गजेन्द्रगमनाय, भुजगेन्द्रहाराय, शशाङ्कधराय, गणाधिपतये स्वाहा।**'—इन मन्त्रोंके आदिमें 'क' आदि एकाक्षर बीज-मन्त्र लगाये और अन्तमें '**नमः**' एवं '**स्वाहा**' शब्दका प्रयोग करे। फिर इन्हीं मन्त्रोंद्वारा तिलोंसे होम आदि करके मन्त्रार्थभूत देवताका पूजन करे। अथवा द्विरेफ, द्विर्मुख एवं द्व्यक्ष आदि पृथक्-पृथक् मन्त्र हो सकते हैं। अब कुमार कार्तिकेयजीने कात्यायनको जिसका उपदेश किया था, वह व्याकरण बतलाऊँगा॥ ११—२८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'एकाक्षराभिधान' नामक तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४८॥

तीन सौ उनचासवाँ अध्याय

व्याकरण-सार

स्कन्द बोले—कात्यायन! अब मैं बोधके लिये तथा बालकोंको व्याकरणका ज्ञान करानेके लिये सिद्ध शब्दरूप सारभूत व्याकरणका वर्णन करता हूँ; सुनो। पहले प्रत्याहार आदि संज्ञाएँ बतलायी जाती हैं, जिनका व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रियामें व्यवहार होता है।

अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्, लण्, ञमङणनम्, झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्।

ये 'माहेश्वर सूत्र' एवं 'अक्षर-समाम्नाय' कहलाते हैं। इनसे 'अण्' आदि 'प्रत्याहार' बनते हैं। उपदेशावस्थामें[1] अन्तिम 'हल्'[2] तथा अनुनासिक 'अच्'[3] की 'इत्'[4] संज्ञा होती है। अन्तिम इत्संज्ञक वर्णके साथ गृहीत होनेवाला आदि वर्ण उन दोनोंके मध्यवर्ती अक्षरोंका तथा अपना भी ग्रहण करानेवाला होता है। इसीको 'प्रत्याहार'[5] कहते हैं, जैसा कि निम्नाङ्कित उदाहरणसे स्पष्ट होता है—अण्, एङ्, अट्, यय्, (अथवा यञ्),

१. 'उपदेश' कहते हैं—आदि उच्चारणको। यहाँ जो चौदह 'माहेश्वरसूत्र' हैं, वे ही 'उपदेश' पदसे गृहीत होते हैं।

२. 'हल्' का अर्थ है—व्यञ्जन वर्ण।

३. 'अच्' स्वर अक्षरोंका नाम है।

४. जिसकी 'इत्' संज्ञा होती है, उसका लोप हो जाता है। 'अइउण्' आदिमें जो अन्तिम णकार आदि हैं, उनकी भी 'इत्संज्ञा' होती है, अतः वे भी लुप्त ही समझने चाहिये। उनका ग्रहण केवल 'अण्' आदि प्रत्याहार-सिद्धिके लिये है। वे उन प्रत्याहारोंके अक्षरोंमें गिने नहीं जाते।

५. जिसमें अक्षरोंका प्रत्याहरण—संक्षेप किया गया हो, वह 'प्रत्याहार' कहलाता है। जैसे 'अक्' प्रत्याहारमें 'अ, इ, उ, ऋ लृ'—इतने वर्णोंका संक्षेप किया गया है। अर्थात् 'अक्' इस छोटे-से पदके उच्चारणसे उक्त पाँच अक्षरोंका ग्रहण होता है। 'प्रत्याहार' बनानेकी विधि इस प्रकार है—'अइउण्' आदि सूत्र उपदेश हैं; उनके अन्तिम हल् 'ण्' आदि हैं, उनकी 'इत्संज्ञा

छव्, झष्, भष्, अक्, इक्, उक्। अण्, इण्, यण्—ये तीनों पर णकार अर्थात् लण् सूत्रके णकारसे बनते हैं। अम्, यम्, ङम्, अच्, इच्, एच्, ऐच्, अय्, मय्, झय्, खय्, जश्, झर्, खर्, चर्, यर्, शर्, अश्, हश्, वश्, झश्, अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्—ये सभी प्रत्याहार हैं ॥ १—७ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'व्याकरण-सार-वर्णन' नामक तीन सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४९ ॥

तीन सौ पचासवाँ अध्याय

संधिके सिद्ध रूप

कुमार कार्तिकेय कहते हैं—कात्यायन ! अब सिद्ध संधिका वर्णन करूँगा। पहले 'स्वर[2]संधि' बतलायी जाती है— **दण्डाग्रम्, साऽऽगता, दधीदम्, नदीहते, मधूदकम्, पितॄषभः, लृकारः[3], तवेदम्, सकलोदकम्, अर्धर्चोऽयम्,**

होती है, यह बात बतायी जा चुकी है। अब अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण 'ण्' के साथ गृहीत होनेवाला आदिवर्ण 'अ' हो तो दोनों मिलकर 'अण्' हुआ। यह 'अण्' बीचके 'इ उ' का भी ग्रहण कराता है और अपना अर्थात् अकारका भी बोधक होता है। इसी प्रकार अन्तिम इत्संज्ञक 'ऐऔच्'का जो 'च्' है, उसके साथ आदि वर्ण 'अ' को ग्रहण करनेपर 'अच्' बनता है, जो 'अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ'—इन नौ स्वरोंका बोध कराता है। ऐसे ही 'हल्' सूत्रका अन्तिम अक्षर 'ल्' इत्संज्ञक है। इसके साथ आदिमें 'ह य व र ट्' का 'ह' गृहीत हुआ तो 'हल्' प्रत्याहार बना; यह 'हल्' 'ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह'—इन सभी व्यञ्जनवर्णोंका बोधक हुआ। इसी तरह अन्य प्रत्याहारोंको भी समझना चाहिये।

१. अक्षरोंके मेलनको 'संधि' कहते हैं, संधिके साधारणतया पाँच भेद माने जाते हैं—(१) स्वरसंधि, (२) व्यञ्जनसंधि, (३) अनुस्वारसंधि, (४) विसर्गसंधि और (५) स्वादिसंधि। अनुस्वारसंधिमें व्यञ्जनका 'अनुस्वार' और अनुस्वारका 'व्यञ्जन' बनता है; अतः उसका व्यञ्जनसंधिमें ही अन्तर्भाव हो सकता है। ऐसे ही स्वादिसंधि भी उसीके अन्तर्गत है; क्योंकि 'शिवोऽर्च्यः' इत्यादिमें विभक्ति-सकार आदि हलरूप ही हैं। इस प्रकार मुख्यतः तीन ही संधियाँ हैं—स्वर, व्यञ्जन और विसर्ग। कौमार-व्याकरणमें इन्हीं तीनोंका नामतः उल्लेख हुआ है। पाणिनि-व्याकरण तथा कौमार-व्याकरण—दोनों ही माहेश्वर सूत्रोंको आधार मानकर प्रवृत्त हुए हैं, अतः दोनोंकी प्रक्रियामें बहुत कुछ साम्य है।

२. जहाँ स्वर अक्षर विकृत हो वर्णान्तरसे मिले, वह 'स्वर-संधि' है; इसके मुख्यतः पाँच भेद हैं—यणादेश, अयाद्यादेश, य्-व्-लोपादेश, अवङ्ादेश तथा एकादेश। 'यणादेश'के भी चार भेद हैं—य् व् र् ल्। ये क्रमशः इ उ ऋ ऌ के स्थानमें कोई स्वर परे रहनेपर होते हैं। अयाद्यादेशके छः भेद हैं—अय्, अव्, आय्, आव्, यान्तादेश और वान्तादेश। पहलेवाले चार आदेश क्रमशः ए, ओ, ऐ, औके स्थानमें कोई स्वर परे रहनेपर होते हैं। 'यान्तादेश' ऐ, औके स्थानमें 'यादि' प्रत्यय परे रहनेपर होते हैं और 'वान्तादेश' ओ, औके स्थानमें यकारादि प्रत्यय परे होनेपर होते हैं। 'य्,- व्'-लोपादेश'में अवर्णपूर्वक पदान्त 'य् व्'का लोप होता है। 'अश्' प्रत्याहार परे होनेपर एङन्त 'गो' शब्दको 'अवङ्' आदेश होता है; 'अच्' परे रहनेपर तथा 'इन्द्र' शब्द परे रहनेपर भी यह आदेश होता है। जहाँ दो अक्षरोंके स्थानमें एक आदेश हो, वह 'एकादेश' है। एकादेश-संधिके भी पाँच भेद हैं—गुण, वृद्धि, पूर्वरूप, पररूप और दीर्घ। 'गुण-एकादेश' चार हैं—ए, ओ, अर, अल्। ये क्रमशः अ+इ, अ+उ, अ+ऋ तथा अ+ऌके स्थानमें होते हैं। वृद्धि-संधिके भेद तीन ही हैं—ऐ, औ, आर्। इनमें, पहला अ, आ, ए, ऐके स्थानमें; दूसरा अ, आ, ओ, औके स्थानमें, तथा तीसरा अ, आ, ऋ, ॠके स्थानमें होता है। पदान्त ए, ओ से परे 'अ' हो तो 'पूर्वरूप' होता है; यह 'अयादेश'का अपवाद है। अ से परे ए ओ और 'अ'के स्थानमें 'पररूप' होता है, यह वृद्धि तथा दीर्घका अपवाद है; अतः इसकी प्रवृत्तिके स्थल परिगणित होते हैं। अ-आ+अ-आ, इ-ई+इ-ई, उ-ऊ+ उ-ऊ, ऋ-ॠ + ऋ-ॠ तथा ऌ-ॡ + ऌ-ॡ के स्थानमें 'दीर्घ एकादेश' होता है। जैसे अ +अ=आ इत्यादि।

३. 'दण्डाग्रम्'से लेकर 'लृकारः'तक ऊपर बताये अनुसार 'दीर्घ एकादेश हुआ' है। यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः।' (६ । १ । १०१) —इस पाणिनि-सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। इस स्थलमें सबका पदच्छेदमात्र दिया जाता है। दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम्। इसमें 'दण्ड'के

तवल्कारः, सैषा, सैन्द्री, तवौदनम्, खट्वौवोऽभवत्,[5] इत्येवम्, व्यसुधीः, वस्वलंकृतम्, पित्रर्थोपवनम्, दात्री[6], नायकः, लावकः, नयः[7], त इह, तयिह इत्यादि[8]। तेऽत्र, योऽत्र जलेऽकजम्[9]। जहाँ संधि न होकर प्रकृत रूप ही रह जाता है, उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। उसके उदाहरण—नो अहो, ऐहि, अ अवेहि, इ इन्द्रकम्, उ उत्तिष्ठ, कवी एतौ, वायू एतौ, वने इमे, अमी एते, यज्ञभूते एहि देव इमं नय[10] ॥ १–५ ॥

'ड' में जो 'अ' है, वह और 'अग्रम्' का 'अ' मिलकर 'आ' हुआ; इसलिये 'दण्डाग्रम्' बना। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। सा+आगता=साऽऽगता। दधि+इदम्=दधीदम्, नदी+ईहते=नदीहते। मधु+उदकम्=मधूदकम्। पितृ+ऋषभः=पितॄषभः॥ लृ+लृकारः=लृकारः।

४. अब गुण-एकादेश ('आद्गुणः।'—पा० सू० ६।१।८७) के उदाहरण दिये जाते हैं—तव+इदम्=तवेदम्। यहाँ 'तव'के अन्तिम 'अ' और 'इदम्'के 'इ'के स्थानमें 'ए' हो गया है। इसी तरह अन्यत्र समझना चाहिये। सकल+उदकम्=सकलोदकम्। अर्ध+ऋचोऽयम्=अर्धर्चोऽयम्। तव+लृकारः=तवल्कारः।

५. वृद्धिसंधि ('वृद्धिरेचि।'—पा० सू० ६।१।८८), के उदाहरण—सा+एषा=सैषा। यहाँ आ+एके स्थानमें 'ऐ' हुआ है। एवमन्यत्र। सा+ऐन्द्री सैन्द्री। तव+ओदनम्=तवौदनम्। खट्वा+औघः खट्वौघः।

६. अब 'यणादेश'('इको यणचि।'—पा० सू० ६।१।७७) के उदाहरण दिये जाते हैं। इति+एवम्=इत्येवम्। यहाँ 'इति'के अन्तिम 'इकार'के स्थानमें 'य्' हुआ है। वि+असुधीः=व्यसुधीः। वसु+अलंकृतम्=वस्वलंकृतम्। यहाँ 'उ'के स्थानमें 'व्' हुआ है। पितृ+अर्थोपवनम्=पित्रर्थोपवनम्। दातृ+ई=दात्री। यहाँ 'ऋ'के स्थानमें 'र्' हुआ है। अन्यत्र चौथे 'यण्'के उदाहरणमें 'लाकृतिः' पद आता है, उसका पदच्छेद है—लृ+आकृतिः=लाकृतिः।

७. यह 'अयादेश-संधि' ('एचोऽयवायावः।'—पा० सू० ६।१।७८) है नै+अकः=नायकः। यहाँ 'नै'के 'ऐ'के स्थानमें 'आय्' हुआ है। लौ+अकः=लावकः ('औ'की जगह 'आव्')। ने+अः=नयः ('ए'के स्थानमें 'अय्'); अन्यत्र 'लवः', 'विष्णवे' आदि उदाहरण भी मिलते हैं। लो+अः=ल् अव् अः=लवः। विष्णो+ए=विष्णवे।

८. यह 'लोपादेश-संधि' ('लोपः शाकल्यस्य।'—पा० सू० ८।३।१९) है। ते+इह—इस अवस्थामें 'ए' की जगह हुआ—त्+अय+ इह बना। फिर 'लोपादेश'के नियमानुसार 'य्' का लोप हो गया—'त इह' बना। लोप न होनेपर 'तयिह' बना।

९.—यहाँ 'पूर्वरूप-संधि' ('एङः पदान्तादति।'—पा० सू० ६।१।१०९) है। ते + अत्र, यो + अत्र, जले + अकजम्—इन तीनों ही पदोंमें 'अ' अपने पहलेके अक्षरमें मिल गया है।

१०. अब 'प्रकृतिभाव'के उदाहरण देते हैं। 'नो अहो'—इस अवस्थामें ('एङः पदान्तादति' के अनुसार) 'पूर्वरूप एकादेश' प्राप्त था; किंतु यहाँ प्रकृतिभावका विधान है; यह पद ज्यों-का-त्यों रहेगा; इसमें संधिजनित विकृति नहीं होगी। प्रकृतिभावके लिये पाणिनिने कई नियम बनाये हैं। ('नो अहो'—जैसे स्थलोंके नियम इस प्रकार हैं—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।' (पा० सू० ६।१।१२५) 'प्लुत' तथा 'प्रगृह्य' संज्ञावाले पदोंका 'प्रकृतिभाव' होता है, उनमें संधि नहीं होती। 'दूराद्धूते च।' (पा० सू० ८।२।८४) दूरसे किसीको बुलाते समय जिस वाक्यका प्रयोग होता है, उसके अन्तिम स्वरकी 'प्लुत' संज्ञा होती है; क्योंकि उसका उच्चारण दीर्घतर स्वरमें होता है। 'प्रगृह्य' संज्ञाके अनेक भेद हैं—(१) ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन। (२) 'अदस्' शब्द-सम्बन्धी मकारके बाद होनेवाले ई और ऊ। (३) एक स्वरवाला आङ्वर्जित निपात। (४) ओकारान्त निपात। (द्रव्यार्थभिन्न 'च' आदि अव्यय तथा 'प्र' आदि उपसर्ग भी 'निपात' कहलाते हैं।) (५) सम्बोधन-निमित्तक ओकार 'वैकल्पिक प्रगृह्य' होता है; किंतु उसके बाद अवैदिक 'इति' शब्दका रहना आवश्यक है। (६) 'मय्' प्रत्याहारसे परे जो 'उकार' हो, वह भी 'वैकल्पिक प्रगृह्य' है; किंतु उसके बाद कोई भी स्वर रहना चाहिये। (इनके सिवा और भी कई नियम हैं, जो विस्तारभयसे नहीं दिये जाते।)। 'अहो + एहि' में 'अयाद्यादेश' के नियमानुसार 'ओ' की जगह 'अव्' प्राप्त था, किंतु 'अहो' पद 'ओकारान्त निपात' होनेसे 'प्रगृह्य' है; अतएव वह प्रकृतरूपमें रह गया। 'अ + अवेहि', इ + इन्द्रकम्, उ + उत्तिष्ठ—इनमें दीर्घ एकादेश प्राप्त था; किंतु नंबर ३ नियमके अनुसार 'प्रगृह्य' होनेसे यहाँ प्रकृतिभाव होता है। 'कवी + एतौ, वायू + एतौ' इनमें 'यणादेश' प्राप्त था और 'वने इमे' में 'अय्' आदेशकी प्राप्ति थी; किंतु नं० १ नियमके अनुसार प्रगृह्य होनेसे यहाँ भी प्रकृतरूप ही रह जाता है। 'कवी', 'वायू' और 'वने'—ये तीनों पद द्विवचनान्त हैं। 'अमी एते' में 'यण्' प्राप्त था; नं० २ नियमके अनुसार प्रगृह्य होनेसे प्रकृतिभाव हो गया। 'यज्ञभूते ! एहि' इसमें अयादेश और 'देव ! इमं नय' में गुण एकादेश प्राप्त था; किंतु प्लुत होनेसे यहाँ प्रकृतिभाव हुआ। दूरसे सम्बोधनका वाक्य है 'यज्ञभूते ! एहि' 'देव !' इमं नय।'

अब 'व्यञ्जनसंधि'का वर्णन करूँगा—वाग्यतः। अजेकमातृकः। षडेते। तदिमे। अबादि। वाङ्नीतिः। षण्मुखः। वाङ्मनसम्। इत्यादि। वाग्भावादिः। वाक्श्लक्ष्णम्। तच्छरीरकम्। तल्लुनाति। तच्चरेत्। कुङ्ङास्ते। सुगण्णिह। भवांश्चरन्। भवांश्छात्रः। भवांष्टीका। भवांष्ठकः। भवांस्तीर्थम्। भवांस्थेत्याह। भवाँल्लेखा। भवाञ्जयः। भवाञ्छेते भवाञ्च्शेते, भवाञ्शेते। भवाण्डीनः। त्वम्भर्ता। त्वङ्करिष्यसि इत्यादि ॥ ६-९॥

१. व्यञ्जनसंधिके बहुत-से प्रकार या भेद पाणिनिसूत्रोंमें वर्णित हैं। परंतु अग्निपुराणमें उल्लिखित इस कौमार-व्याकरणमें व्यञ्जनसंधिके सिद्ध रूपोंका जो उल्लेख मिलता है, उसके अनुसार व्यञ्जनसंधिके ग्यारह प्रकार निर्दिष्ट हुए हैं (१)—जश्त्वविधान [जो 'झलां जशोऽन्ते'—इस पाणिनिसूत्र (८।२।३९) में निर्दिष्ट है]। (२)—अनुनासिक-विधान [जो 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा'—इस पाणिनिसूत्र(८।४।४५) तथा 'प्रत्यये भाषायां च नित्यम्।' इस कात्यायन-वार्तिकद्वारा प्रतिपादित है]। (३)—छत्वविधान [जो 'शश्छोऽटि'(८।४।६३) 'छत्वममीति वाच्यम्।'—इन सूत्र-वार्तिकोंद्वारा निर्दिष्ट है]। (४)—श्चुत्वविधान [जो 'स्तोः श्चुना श्चुः।' इस पा० सूत्र (८।४।४०)में कहा गया है]। (५)—ष्टुत्वविधान [जो 'ष्टुना ष्टुः।' इस पा० सूत्र (८।४।४१)में वर्णित है]। (६) लकारात्मक परसवर्णविधान [जो 'तोर्लि' इस पा० सूत्र (८।४।६०) के नियमसे आबद्ध है]। (७)—ङमुडागमविधान [जो 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्।'] इस पा० सूत्र (८।३।३२) द्वारा कथित है]। (८)—नकारसत्वविधान [जो 'नश्छव्यप्रशान्।'—इस पा० सूत्र (८।३।७)के नियमानुसार सम्पादित होता है]। (९)—परसवर्णविधान [जो 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।' पा० सू० (८।४।५८) तथा 'वा पदान्तस्य।' (८।४।५९)—इन पा० सूत्रोंद्वारा कथित है]। १०—तुगागमविधान [जो 'शि तुक्।', (८।३।३१) 'छे च।', (६।१।७३) 'दीर्घात् (६।१।७५) तथा 'पदान्ताद्वा।'(६।१।७६)—इन सूत्रोंके नियमोंसे सम्बद्ध है]। ११—परसवर्णविधान [जो 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।'(८।४।५८)] 'वा पदान्तस्य' (८।४।५९)—इन पा० सूत्रोंद्वारा प्रतिपादित है'।

२. वाक् यतः=वाग्यतः। ('झलां जशोऽन्ते।' पा० सू० ८।२।३९) 'पदान्तमें 'झल्' के स्थानमें 'जश्' होता है'—इस नियमके अनुसार 'वाक्'के 'क्' का 'ग्' हो गया है। यद्यपि जश्में ज् ब् ग् ड् द्—ये पाँच अक्षर हैं, तथापि 'क्' के स्थानमें 'ग्' होनेका कारण है स्थानकी समानता। 'क्' और 'ग्' का स्थान एक है। दोनों ही कण्ठस्थानसे निकलते हैं। आगेके चार उदाहरणोंमें भी यही नियम है—अच्+एकमातृकः=अजेकमातृकः। यहाँ 'च्' के स्थानमें 'ज्' हो गया है। स्वरहीन अक्षर अपने बादवाले अक्षरसे मिल जाते हैं, अतः 'ज्' 'ए' में मिलकर 'जे' बन गया। 'षट् + एते'—इसमें 'ट्' के स्थानमें 'ड्' हुआ है। इसी तरह 'तत् + इमे' में 'त्' के स्थानमें 'द्' तथा 'अप् + आदि' में 'प्' के स्थानमें 'ब्' हुआ है। ये पूर्वनिर्दिष्ट जश्त्वविधानके उदाहरण हैं। अब अनुनासिक-विधानके उदाहरण दिये जाते हैं—वाक्+नीतिः=वाङ्नीतिः। पदान्त 'यर्' प्रत्याहारके अक्षरोंका विकल्पसे अनुनासिक होता है, कोई अनुनासिक अक्षर परे हो तब। यदि प्रत्यय अनुनासिक परे हो तो 'यर्' के स्थानमें नित्य अनुनासिक होता है। इस नियमके अनुसार 'क्'के स्थानमें उसी वर्गका अनुनासिक अक्षर 'ङ्' हो गया। अनुनासिक न होनेकी स्थितिमें पूर्वनियमानुसार 'जश्त्व' होता है। उस दशामें 'वाग्नीतिः' रूप होता है। षट्+मुखः=षण्मुखः (षड्मुखः)। उक्त नियमसे 'ट्' की जगह उसीके स्थान (मूर्धा) का अनुनासिक 'ण्' हुआ। जश्त्व होनेपर 'ड्' होता है। निम्नाङ्कित पदोंका पदच्छेद इस प्रकार है—वाक्+मनसम्=वाङ्मनसम्। वाक्+मात्रम्=वाङ्मात्रम्। अब छत्वविधानके उदाहरण देते हैं—वाक्+श्लक्ष्णम्=वाक्छ्लक्ष्णम्, वाक्श्लक्ष्णम्। यहाँ 'श्' के स्थानमें विकल्पेन 'छ्' हुआ है। नियम इस प्रकार है—'झय्' से परे 'श्' का 'छ्' हो जाता है, 'अम्' प्रत्याहार परे रहनेपर। श्चुत्वविधान—सकार-तवर्गके स्थानमें 'शकार' 'चवर्ग' होते हैं, शकार-चवर्गका योग होनेपर। 'तत्+शरीरम्'='तच्छरीरम्'। यहाँ 'शरीरम्'के शकारका योग होनेसे 'तत्' के 'त्' की जगह 'च्' हो गया। इसके बाद छत्व-विधानके नियमानुसार 'शकार'के स्थानमें 'छकार' हो गया। 'तल्लुनाति' यह लकारात्मक परसवर्णका उदाहरण है। नियम यह है कि 'तवर्गसे परे लकार हो तो उस तवर्गका 'परसवर्ण' होता है।' इसके अनुसार 'तत्+लुनाति' इस अवस्थामें 'त्' के स्थानमें 'ल्' हो गया। तत्+

चरेत्=तच्चरेत् । यहाँ श्चुत्वविधानके नियमानुसार पूर्ववत् 'त्' की जगह 'च्' हो गया है । क्रुङ्+आस्ते=क्रुङ्ङास्ते । यह ङमुडागम-विधानका उदाहरण है । नियम है कि ह्रस्व अक्षरसे परे यदि 'ङ् ण् न्'—ये व्यञ्जन हों और इनके बाद स्वर अक्षर हों तो उक्त 'ङ्' आदिकी जगह एक और 'ङ्' आदि बढ़ जाते हैं । अर्थात् वे ङ् ङ्, ण् ण् और न् न् हो जाते हैं । इस नियमसे उक्त उदाहरणमें एक 'ङ्' की जगह दो 'ङ् ङ्' हो गये हैं । इसी तरह 'सुगण्+इह' की जगह 'सुगण्णिह' बनता है । 'भवान्+चरन्=भवांश्चरन्'—यह नकाररुत्वविधानका उदाहरण है । नियम यह है—'प्रशान्' से भिन्न जो नकारान्त पद हैं, उनके 'न्' की जगह 'र्' हो जाता है, यदि बादमें 'छ् ठ् थ् च् ट् त्'—इनमेंसे कोई अक्षर विद्यमान हो, तब । इस नियमसे उक्त उदाहरणमें 'न्' के स्थानमें 'र्' हुआ । 'र्' का विसर्ग, विसर्गके स्थानमें 'स्' हुआ । 'स्' का श्चुत्व-विधानके अनुसार 'श्' हो गया । उसके पूर्व अनुस्वारका आगम होता है । कहीं-कहीं 'चिरम्' पाठ मिलता है । उस दशामें 'भवांश्चिरम्' रूप सिद्ध होगा । यदि 'चिरम्' के साथ परवर्ती 'भवान्' शब्द ले लिया जाय तो निम्नाङ्कितरूप सिद्ध होगा । 'चिरम्+भवान्=चिरंभवान्, चिरम्भवान्—यहाँ मकारके स्थानमें अनुस्वार हुआ है । अनुस्वारका वैकल्पिक परसवर्ण होनेपर 'चिरम्भवान्' रूप बनता है । 'मोऽनुस्वारः ।'—इस पा० सूत्र (८ । ३ । २३) के अनुसार मकारानुस्वारविधानका नियम इस प्रकार है—पदान्तमें 'म्' का अनुस्वार होता है, 'हल्' परे रहनेपर । ('नश्चापदान्तस्य झलि ।' पा० सू० ८ । ३ । २४) के अनुसार 'झल्' परे रहनेपर अपदान्त 'न् म्' के स्थानमें भी अनुस्वार होता है । 'न्' के अनुस्वारका—उदाहरण है—'यशांसि' । 'म्' के अनुस्वारका उदाहरण है 'आक्रंस्यते' । भवान्+छात्रः=भवांश्छात्रः । यहाँ पूर्ववत् नकाररुत्व-विधानके अनुसार नकारका रुत्व, विसर्ग, सकार तथा अनुस्वारागम होकर श्चुत्वविधानके अनुसार 'स्' के स्थानमें 'श्' हो गया है । भवान्+टीका=भवाँष्टीका । यहाँ भी 'न्' की जगह रुत्व, विसर्ग और सकार होकर अनुस्वारागम हुआ और ष्टुत्व-विधानके अनुसार 'स्' के स्थानमें 'ष्' हो गया । यही बात 'भवाँष्ठकः' के साधनमें भी समझनी चाहिये—भवान्+ठकः । भवान्+तीर्थम्—भवाँस्तीर्थम् । यहाँ भी नकारका रुत्व, विसर्ग, सकार और अनुस्वारागम समझना चाहिये । 'भवान्+था+इत्याह'—इसमें भी पूर्ववत् सब कार्य होंगे और था+इत्याहमें गुण एकादेश होनेपर 'भवांस्थेत्याह'—ऐसा रूप सिद्ध होगा । 'भवान्+लेखाः=भवाँल्लेखाः ।'—यहाँ लकारात्मक परसवर्ण सानुनासिक हुआ है । 'भवान्+जयः' इसमें श्चुत्व-विधानके अनुसार चवर्ग-योगके कारण तवर्गीय 'न्' की जगह चवर्गीय 'ञ्' हो गया है । 'भवान्+शेते' इस पदच्छेदमें 'भवाञ्छेते, भवाञ्शेते, भवाञ्च्शेते, भवाञ् शेते ।'—ये रूप बनते हैं । पहलेमें 'शि तुक् ।' पा० सू० (८ । ३ । ३१) के अनुसार 'शकार' परे रहते नान्त पदको 'तुक्'का आगम होता है । इसे 'नान्ततुगागम' कहा जा सकता है । इसी तरह ह्रस्व, दीर्घ और पदान्तसे परे भी तुगागम होते हैं । यहाँ 'नान्ततुगागम'के अनुसार 'तुक्' हुआ । 'उक्' की इत्संज्ञा हुई, लोप हुआ । 'भवान् त् शेते' रहा । श्चुत्वविधानके अनुसार 'त्' के स्थानमें 'च्' और 'न्' के स्थानमें 'ञ्' हुआ और 'श्' की जगह 'छ्' हुआ तो 'भवाञ्च्छेते' बना । 'झरो झरि सवर्णे ।' (पा० सू० ८ । ४ । ६५) के अनुसार 'झर्'का लोप होनेपर 'च्' अदृश्य हो जाता है, अतः 'भवाञ्छेते' रह जाता है । 'लोप' और 'छत्व' वैकल्पिक हैं, अतः इनके अभावमें 'भवाञ्च्शेते' बना । तुगागम भी वैकल्पिक है; उसके न होनेपर 'भवाञ् शेते' बना । भवान्+डीनः=भवाण्डीनः । यहाँ ष्टुत्वविधानके अनुसार 'न्' की जगह 'ण्' हो गया है । 'त्वं+भर्ता=त्वम्भर्ता', 'त्वं करिष्यसि=त्वङ्करिष्यसि'—ये दोनों वैकल्पिक परसवर्णके उदाहरण हैं । यहाँ अनुस्वारकी जगह 'वा पदान्तस्य ।' (पा० सू० ८ । ४ । ५९) के नियमानुसार परसवर्ण क्रमशः 'म्' और 'ङ्' हो गये हैं ।

'व्यञ्जनसंधि'के कुछ और भी भेद हैं, जो यहाँ कौमार-व्याकरणमें निर्दिष्ट नहीं हैं—जैसे 'पूर्वसवर्ण-संधि' । इसके दो प्रकारके स्थल हैं । 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८ । ४ । ६२)—इस सूत्रके अनुसार 'झय्' से परे हकारके स्थानमें पूर्वसवर्ण होता है । इसके 'वाग्घरिः' इत्यादि उदाहरण हैं । यहाँ 'वाक्+हरिः' इस अवस्थामें 'ह' की जगह पूर्वसवर्ण—'घ' हो गया है । 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ।'—इस पा० सूत्र (८ । ४ । ६१) के अनुसार 'उद्' उपसर्गसे परे 'स्थ' और 'स्तम्भ'के आदि वर्णकी जगह पूर्व-सवर्ण होता है । इसके उदाहरण हैं—उत्थानम्, उत्तम्भनम् । 'सम्'के मकारका भी रुत्वविधान होता है, 'सुट्' परे रहनेपर । इसके 'संस्कर्ता' आदि उदाहरण हैं ।

इसके बादकी पदावलियोंमें विसर्ग-संधि* जाननी चाहिये—कश्छिन्द्यात्[1] । कश्चरेत् । कष्टः[2] । कष्ठः[3] । कः[4] स्थः । कश्चलेत्[5] । कᳵखनेत्[6] । कᳵकरोति[7] । कᳶपठेत्[8] । कᳶफलेत्[9] । कश्श्वशुरः[10], कः श्वशुरः । कस्स्वरः[11], कः स्वरः । कः फलेत्[12] । कः शयिता[13] । कोऽत्र[14] योधः । क उत्तमः[15] । देवा[16] एते । भो[17] इह । स्वदेवा[18] यान्ति । भगो[19] व्रज । सुपूः[20] । सुदूरात्रिरत्र[21] । वायुर्याति[22] । पुनर्नहि[23] ।

---

* विसर्गसंधिके भी अनेक प्रकार-भेद हैं—यहाँ लगभग दस प्रकारकी कार्य-विधि वर्णित हुई है—(१) **विसर्गस्थाने सत्वविधान** (इसका विधायक है—'विसर्जनीयस्य सः ।' पा० सू० ८।३।३४) (२) **वैकल्पिकविसर्गत्वविधान** (इसका निर्देशक है—'वा शरि'—यह पा० सूत्र ८ । ३ । ३६) (३) **ᳵकᳶप-विधान** (यह 'कुप्वोः ᳵक ᳶपौ च ।'—इस पाणिनिसूत्र ८ । ३ । ३७ पर आधारित है) । (४) **रुत्वविधान** (इसका आधार है—'ससजुषो रुः ।' यह पा० सूत्र (८ । २ । ६६) । (५) **रोरुत्वविधान** (यह 'अतो रोरप्लुतादप्लुते ।' (६ । १ । ११३, हशि च ।' ६ । १ । ११४ इत्यादि सूत्रोंपर अवलम्बित है) । (६) **रोर्यत्व-विधान** (जो 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि ।' इस पा० सूत्र ८ । ३ । १७ तथा अतो रोरप्लुतादप्लुते ६ । १ । ११३ पर आधारित है) । (७) **यलोपविधान** (इसका आधार 'हलि सर्वेषाम्' यह पा० सूत्र ८ । ३ । २२ है ।) (८) **रकार-विसर्गविधान** (इसका विधायक 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।'—यह पा० सूत्र ८।३।१५ है) । (९) **सुलोपविधान** (इसके आधार हैं—'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ।' 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ।' इत्यादि ६ । १ । १३२, ३४ सूत्र) । (१०) **ढ्रलोपदीर्घविधान** (इसके आधारभूत पा० सूत्र हैं—'रोरि' । 'ढो ढे लोपः ।' ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।' ८ । ३ । १४, १३; ६ । ३ । १११) ।

१. 'कः+छिन्द्यात्'=कश्छिन्द्यात् । यहाँ विसर्गके स्थानमें 'स' और श्चुत्व-विधानके अनुसार 'स्' के स्थानमें 'श्' हुआ है । कः+चरेत्=कश्चरेत् । यहाँ भी पूर्ववत् विसर्गके स्थानमें 'स्' और श्चुत्वेन 'श्' हुआ है । २. 'कः+टः' कष्टः=', ३. कः + ठः" कष्ठः—इन दोनों उदाहरणोंमें विसर्गके स्थानमें सकार होकर ष्टुत्व-विधानके अनुसार 'सकार'के स्थानमें 'षकार' हो गया है । ४. कः+स्थः=कः स्थः, कस्स्थः । यहाँ वैकल्पिक विसर्गताका विधान है । 'वा शरि' (पा० सू० ८ । ३ । ३६) के नियमानुसार यदि विसर्गसे परे 'श', 'ष' और 'स'—ये अक्षर हों तो एक पक्षके मतानुसार उस विसर्गके स्थानमें 'स्' न होकर विसर्ग ही रह जाता है । पक्षान्तरसे 'सकार' हो जाता है । उक्त उदाहरणोंमें पहले विसर्गरूप, फिर सकाररूपका साक्षात्कार कराया गया है । ५. 'कः + चलेत्=कश्चलेत् ।' यहाँ भी सब बातें 'कश्चरेत्' के अनुसार समझनी चाहिये । ६-७. कः + खनेत्=क ᳵखनेत् । कः+करोति=क ᳵकरोति—इन दोनों उदाहरणोंमें 'ᳵक ᳶप'-विधान'के अनुसार विसर्गके स्थानमें ᳵक ᳵख हो गये हैं । कवर्ग और पवर्गके प्रथम-द्वितीय अक्षर परे हों तो विसर्गके स्थानमें क्रमशः ᳵक ᳶप होते हैं—ऐसा नियम है । ८-९. 'कः + पठेत्', 'कः + फलेत्'—इस अवस्थामें अभी बताये हुए नियमके अनुसार विसर्गकी जगह 'ᳶप ᳶफ'—हो गये हैं । १०-११. इन उदाहरणोंमें 'वा शरि' (पा० सू० ८ । ३ । ३६) के नियमानुसार एक पक्षमें विसर्गका विसर्ग ही रह गया है; पक्षान्तरमें 'विसर्ग'की जगह 'स्' होकर 'श्वशुरः' के शकारका योग मिलनेसे श्चुत्वेन 'स्' की जगह 'श्' हो गया है । 'स्वरः' के साथ विसर्गका सकार उसी रूपमें दृष्टिगोचर होता है । १२. 'कः + फलेत्'—इस जगह ᳶफ प्राप्त था; परंतु वह वैकल्पिक है; अतः पक्षान्तरके अनुसार विसर्गके स्थानमें विसर्ग ही रह गया है । १३. यहाँ भी वही बात है । विसर्गकी जगह 'स्' या 'श्' नहीं हुआ है । १४. 'कस् अत्र योधः ।' यह पदच्छेद है । यहाँ 'कस्' के सकारकी जगह 'रु' तथा 'रु' के स्थानमें 'उ' हुआ है; फिर गुण और पूर्वरूप होकर 'कोऽत्र योधः' बना है । रोरुत्व-विधानका नियम यह है—अप्लुत 'अ' से परे 'रु' हो तो उसकी जगह 'उ' होता है, अप्लुत अकार परे विद्यमान हो तब । १५. कस् उत्तमः—इस अवस्थामें 'स्' के स्थानमें 'रु' हुआ । फिर 'रोर्यत्वविधान'के अनुसार 'रु' के स्थानमें 'य' हो गया । फिर य-लोपविधानसे 'य्' का लोप हो गया । 'लोपः शाकल्यस्य ।' (८ । ३ । १९)—इस पा० सूत्रके अनुसार यहाँ 'य्' लोप हुआ है, अतः 'क उत्तमः' प्रयोग सिद्ध हुआ है । १६. देवास्+एते'—इस पदच्छेदमें 'स्'की जगह 'रु' और 'रु' की जगह 'य्' हो गया । फिर पूर्ववत् यलोप होनेसे 'देवा एते'—ऐसा प्रयोग सिद्ध हुआ । १७-१८-१९. 'भोस् इह', 'भगोस् व्रज' तथा 'अघोस् याहि', 'स्वदेवास् यान्ति'—इन वाक्योंमें 'स्' की जगह रुत्व-यत्व हुआ । फिर पहलेमें तो 'लोपः शाकल्यस्य ।'—इस सूत्रसे और अन्य उदाहरणोंमें 'हलि सर्वेषाम् ।' (पा० सू० ८ । ३ । २२)—इस सूत्रसे 'य' लोप होनेपर निर्दिष्ट रूप बनते हैं । २०. 'सुपूः' यहाँ 'सुपूर्'—इस अवस्थामें 'रकार' के स्थानमें 'विसर्ग' हुआ है । २१. 'सुदुर् + रात्रिरत्र'=सुदूरात्रिरत्र' । यहाँ 'रोरि'से 'र्' लोप होकर पूर्वस्वरको दीर्घत्व प्राप्त हुआ है । २२. इस उदाहरणमें 'वायुस्+याति'—ऐसा पदच्छेद है । यहाँ 'स्' के स्थानमें 'रु', उकारकी इत्संज्ञा और रेफका यकारसे मिलन हुआ है । २३. इस उदाहरणमें यह दिखाया गया है कि यहाँ 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।' (पा० सू० ८ । ३ । १५) से रकारका विसर्ग नहीं हो सकता; क्योंकि न

पुना[२४] राति। स यातीह[२५]। सैष[२६] याति। क ईश्वरः। ज्योती- रूपम्[२७]। तवच्छत्रम्[२८]। म्लेच्छधीः[२९]। छिद्रमांच्छिदत्॥१०—१३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'संधिसिद्धरूपकथन' नामक तीन सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५०॥

तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय

सुबन्त सिद्ध रूप

स्कन्द कहते हैं—कात्यायन! अब मैं तुम्हारे सम्मुख विभक्ति-सिद्ध रूपोंका वर्णन करता हूँ। विभक्तियाँ दो हैं—'सुप्' और 'तिङ्'। 'सुप्' विभक्तियाँ सात हैं। 'सु औ जस्'—यह प्रथमा विभक्ति है। 'अम् औट् शस्'—यह द्वितीया, 'टा भ्याम् भिस्'—यह तृतीया, 'ङे भ्याम् भ्यस्'—यह चतुर्थी, 'ङसि भ्याम् भ्यस्'—यह पञ्चमी, 'ङस् ओस् आम्'—यह षष्ठी तथा 'ङि ओस् सुप्'—यह सप्तमी विभक्ति है। ये सातों विभक्तियाँ प्रातिपदिक संज्ञावाले शब्दोंसे परे प्रयुक्त होती हैं॥ १-३॥

'प्रातिपदिक' दो प्रकारका होता है—'अजन्त' और 'हलन्त'। इनमेंसे प्रत्येक पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक-लिङ्गके भेदसे तीन-तीन प्रकारका है। उन पुँल्लिङ्ग आदि शब्दोंके नायकोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है। जो शब्द नहीं कहे गये हैं (किंतु जिनके रूप इन्हींके समान होते हैं) उन्हींके ये 'वृक्ष' आदि शब्द सामर्थ्यतः नायक हैं। 'वृक्ष' शब्द पेड़का वाचक है। यह अकारान्त पुँल्लिङ्ग है। इसके सात विभक्तियोंमें तथा सम्बोधनमें एकवचन, द्विवचन और बहुवचनके भेदसे कुल मिलाकर चौबीस रूप होते हैं। उन सबको यहाँ उद्धृत किया जाता है। **१—वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः। २—वृक्षम्, वृक्षौ, वृक्षान्। ३—वृक्षेण, वृक्षाभ्याम्, वृक्षैः। ४—वृक्षाय, वृक्षाभ्याम्, वृक्षेभ्यः। ५—वृक्षात्, वृक्षाभ्याम्, वृक्षेभ्यः। ६—वृक्षस्य, वृक्षयोः, वृक्षाणाम्। ७—वृक्षे, वृक्षयोः, वृक्षेषु।** सम्बोधने—**हे वृक्ष, हे वृक्षौ, हे वृक्षाः।** इसी प्रकार राम, देव, इन्द्र, वरुण, भव आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। 'देव' आदि शब्दोंके तृतीयाके एकवचनमें 'देवेन' तथा षष्ठीके बहुवचनमें 'देवानाम्' इत्यादि रूप होते हैं। वहाँ 'न' के स्थानमें 'ण' नहीं होता। रेफ और षकारके बाद जो 'न' हो, उसीके स्थानमें 'ण' होता है। अकारान्त शब्दोंमें जो सर्वनाम हैं, उनके रूपोंमें कुछ भिन्नता होती है। उस भिन्नताका परिचय देनेके लिये सर्वनामका 'प्रथम' या 'नायक' जो 'सर्व' शब्द है, उसके रूप यहाँ दिये जाते हैं; उसी तरह अन्य सर्वनामोंके भी रूप होंगे। यथा—**१—सर्वः सर्वौ सर्वे। २—सर्वम् सर्वौ सर्वान्। ३—सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः। ४—सर्वस्मै सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः। ५—सर्वस्मात् सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः।**

रेफ अवसानमें है और न उससे परे 'खर्' प्रत्याहारका ही कोई अक्षर है। २४. पुनर्+राति'—इस अवस्थामें 'रो रि।' (पा० सू० ८। ३। १४) से रकारका लोप हुआ और पूर्व 'अण्' को दीर्घत्व प्राप्त हुआ है। २५. 'सस् याति इह'—इस अवस्थामें 'एतत्तदोः सुलोपो।'—इस (पा० सूत्र ६। १। १३२) के अनुसार 'तत्'-शब्दसम्बन्धी 'सु' विभक्तिसे सकारका लोप हो गया है। २६. 'सस् एषस् याति', 'क ईश्वरः'—इस अवस्थामें 'सस्'के सकारका लोप श्लोककी पादपूर्तिके लिये हुआ है, 'एषस्'—के सकारका लोप पूर्ववत् हुआ है। २७. 'ज्योतिर् + रूपम्'—यहाँ रलोप और दीर्घ हुआ है। २८. 'तव + छत्रम्'। यहाँ 'छे च।'—इस (पा० सू० ६। १। ७३) सूत्रसे तुगागम हुआ है, फिर 'त' का श्चुत्वेन 'च' हो गया है। (यह व्यञ्जनसंधिका उदाहरण है।) २९-३०. यहाँ भी 'दीर्घात्', 'पदान्ताद्वा' (पा० सू० ६। १। ७५-७६) से तुगागम हुआ है। शेष पूर्ववत् (यहाँ भी व्यञ्जन-संधि ही है)।

१. अकारान्तसे लेकर औकारान्ततक जितने शब्द हैं, सब 'अजन्त' हैं। ऐसे शब्द असंख्य हैं, उन सबका उल्लेख असम्भव है। अतः कुछ शब्द यहाँ नमूनेके तौरपर दिये गये हैं, उन्हींके समान अन्य शब्दोंके रूप भी होंगे। इन नमूनेके तौरपर दिये गये शब्दोंको ही यहाँ 'नायक' कहा गया है।

६—सर्वस्य सर्वयोः सर्वेषाम् । ७—सर्वस्मिन्, सर्वयोः सर्वेषु । सम्बोधनमें—हे सर्व हे सर्वौ हे सर्वे ।* यहाँ रेखाङ्कित रूपोंपर दृष्टिपात कीजिये । साधारण अकारान्त शब्दोंकी अपेक्षा सर्वनाम शब्दोंके रूपोंमें भिन्नताके पाँच ही स्थल हैं । इसके बाद 'पूर्व' शब्द आता है । यह सर्वनाम होनेपर भी अन्य सर्वनामोंसे कुछ विलक्षण रूप रखता है । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—ये व्यवस्था और असंज्ञामें सर्वनाम हैं । 'स्व' तथा 'अन्तर' शब्द भी अर्थ-विशेषमें ही सर्वनाम हैं । अतः उससे भिन्न अर्थमें वे असर्वनामवत् रूप धारण करते हैं । प्रथमाके बहुवचनमें तथा पञ्चमी-सप्तमीके एकवचनमें पूर्वादि शब्दोंके रूप सर्वनामवत् होते हैं, किंतु विकल्पसे । अतः पक्षान्तरमें उनके असर्वनामवत् रूप भी होते ही हैं—जैसे पूर्वे पूर्वाः, परे पराः इत्यादि । पूर्वस्मात् पूर्वात् । पूर्वस्मिन् पूर्वे इत्यादि । प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय—ये शब्द सर्वनाम नहीं हैं, तथापि 'प्रथम' शब्दके प्रथमा-बहुवचनमें—प्रथमे प्रथमाः—यह रूप होता है । 'चरम' आदि शब्दोंके लिये भी यही बात है । 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' शब्द चतुर्थी, पञ्चमी तथा सप्तमीके एकवचनमें विकल्पसे सर्वनामवत् रूप धारण करते हैं । यथा—द्वितीयस्मै द्वितीयाय । तृतीयस्मै तृतीयाय—इत्यादि शेष रूप वृक्षवत् होते हैं ।

अब आकारान्त शब्दका एक रूप उपस्थित करते हैं—खड्गपाः—खड्गं पातीति खड्गपाः अर्थात् 'खड्ग-रक्षक' । इसका रूप यों समझना चाहिये—१—खड्गपाः, खड्गपौ, खड्गपाः । २—खड्गपाम्, खड्गपौ, खड्गपः । ३—खड्गपा, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभिः । ४—खड्गपे, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभ्यः । ५—खड्गपः, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभ्यः । ६—खड्गपः, खड्गपोः, खड्गपाम् । ७—खड्गपि, खड्गपोः, खड्गपासु । सम्बो०—हे खड्गपाः, हे खड्गपौ, हे खड्गपाः । इसी तरह विश्वपा (विश्वपालक), गोपा (गोरक्षक), कीलालपा (जल पीनेवाला), शङ्खध्मा (शङ्ख बजानेवाला) आदि शब्दोंके रूप होंगे । [अब ह्रस्व इकारान्त 'वह्नि' शब्दका रूप प्रस्तुत करते हैं—] १—वह्निः, वह्नी, वह्नयः । २—वह्निम्, वह्नी, वह्नीन् । ३—वह्निना, वह्निभ्याम्, वह्निभिः । ४—वह्नये, वह्निभ्याम्, वह्निभ्यः । ५—वह्नेः, वह्निभ्याम्, वह्निभ्यः । ६—वह्नेः, वह्न्योः, वह्नीनाम् । ७—वह्नौ, वह्न्योः, वह्निषु । सम्बो०—हे वह्ने, हे वह्नी, हे वह्नयः । 'वह्नि'का अर्थ है अग्नि । इसी तरह अग्नि, रवि, कवि, गिरि, पवि इत्यादि शब्दोंके रूप होंगे । इकारान्त शब्दोंमें 'सखि' और 'पति' शब्दोंके रूप कुछ भिन्नता रखते हैं । जैसे—१—सखा, सखायौ, सखायः । २—सखायम्, सखायौ, सखीन् । तृतीयाके एकवचनमें—सख्या, चतुर्थीके एकवचनमें सख्ये, पञ्चमी और षष्ठीके एकवचनमें सख्युः तथा सप्तमीके एकवचनमें सख्यौ रूप होते हैं । शेष सभी रूप 'वह्नि' शब्दके समान हैं । 'पति' शब्दके प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें वह्निवत् रूप होते हैं, शेष विभक्तियोंमें वह 'सखि' शब्दके समान रूप रखता है । 'अहर्पतिः' का अर्थ है सूर्य । यहाँ 'पति' शब्द समासमें आबद्ध है । समासमें उसका रूप वह्नितुल्य ही होता है ।

[अब उकारान्त शब्दका रूप प्रस्तुत करते हैं] पहले पुँल्लिङ्ग 'पटु' शब्दके रूप दिये जाते हैं । पटुका अर्थ है—कुशल—निपुण १—पटुः, पटू, पटवः । २—पटुम्, पटू, पटून् । ३—पटुना, पटुभ्याम्, पटुभिः । ४—पटवे, पटुभ्याम्, पटुभ्यः । ५—पटोः, पटुभ्याम्, पटुभ्यः । ६—पटोः, पट्वोः, पटूनाम् । ७—पटौ, पट्वोः, पटुषु । सम्बो०—हे पटो, हे पटू, हे पटवः । इसी तरह भानु, शम्भु, विष्णु आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । दीर्घ ईकारान्त 'ग्रामणी' शब्द है । इसका अर्थ है—गाँवका मुखिया । इसका रूप इस प्रकार है—१—ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः । २—ग्रामणीम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः । ३—ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः । ४—ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम् २, ग्रामणीभ्यः २ । ५—ग्रामण्यः २ । ६—ग्रामण्योः २ । बहुवचन—ग्रामण्याम् । ७—ग्रामण्याम्, ग्रामणीषु । इसी तरह 'प्रधी' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । दीर्घ ऊकारान्त 'दृन्भू' शब्द है । इसका अर्थ है—राजा, वज्र, सूर्य, सर्प और चक्र । इसका रूप—दृन्भूः, दृन्भ्वौ, दृन्भ्वः इत्यादि । 'खलपूः'—खलिहान या भूमिको शुद्ध—स्वच्छ करनेवाला । इसके रूप खलपूः, खलप्वौ, खलप्वः इत्यादि । 'मित्रभूः'—मित्रसे उत्पन्न ।

* यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि किसीका नाम 'सर्व' रख दिया जाय तो उस 'सर्व'का रूप वृक्षकी तरह ही होगा । 'सब' इस अर्थमें प्रयुक्त 'सर्व' शब्दका ही रूप ऊपर बताये अनुसार होगा । यही बात अन्य सर्वनामोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । संज्ञा एवं उपसर्जनीभूत 'सर्व' आदि शब्दोंकी सर्वनामोंमें गणना नहीं होती । 'अतिसर्व' आदि शब्दोंमें जो 'सर्व' शब्द है; वह उपसर्जन है ।

इसका रूप है—मित्रभूः, मित्रभुवौ, मित्रभुवः इत्यादि। 'स्वभू' का अर्थ है—स्वयम्भूः—स्वतः प्रकट होनेवाला। इसके रूप—स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः इत्यादि हैं ॥४—६॥

'सुश्रीः' का अर्थ है—सुन्दर शोभासे सम्पन्न। इसके रूप हैं—सुश्रीः, सुश्रियौ, सुश्रियः इत्यादि। 'सुधीः' का अर्थ है—उत्तम बुद्धिसे युक्त विद्वान्। इसके रूप हैं—सुधीः, सुधियौ, सुधियः इत्यादि। [अब ऋकारान्त पुँल्लिङ्ग 'पितृ' तथा 'भ्रातृ' शब्दोंके रूप दिये जाते हैं— 'पिता' का अर्थ है—बाप और 'भ्राता' का अर्थ है—भाई। 'पितृ' शब्दके सब रूप इस प्रकार हैं—१-पिता, पितरौ, पितरः। २-पितरम्, पितरौ, पितॄन्। ३-पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः। ४-पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ५-पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ६-पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्। ७-पितरि, पित्रोः, पितृषु। सम्बो०—हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः। इसी तरह 'भ्रातृ' और 'जामातृ' शब्दोंके भी रूप होते हैं। 'नृ' शब्द नरका वाचक है। इसके रूप ना, नरौ, नरः इत्यादि 'पितृ' शब्दवत् होते हैं। केवल षष्ठीके बहुवचनमें दो रूप होते हैं—नृणाम् नॄणाम्। 'कर्तृ' शब्दका अर्थ है—करनेवाला। यह 'तृजन्त' शब्द है। इसके दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार हैं—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तॄन्। शेष 'पितृ' शब्दकी भाँति। 'क्रोष्टु' शब्द सियारका वाचक है। क्रोष्टु विकल्पसे 'क्रोष्टृ' शब्दके रूपमें प्रयुक्त होता है। उस दशामें इसका रूप 'कर्तृ' शब्दकी भाँति होता है। 'क्रोष्टु' के रूपमें ही यदि इसके रूप लिये जायँ तो 'पटु' शब्दकी तरह लेने चाहिये। 'नप्तृ' शब्द नातीका वाचक है। इसके रूप 'कर्तृ' शब्दकी भाँति होते हैं। 'सुरै' शब्दका अर्थ उत्तम धनवान् है। 'रै' शब्दका अर्थ है—धन। ये ऐकारान्त पुँल्लिङ्ग हैं। इन दोनोंके रूप एक-से होते हैं—१-सुराः, सुरायौ, सुरायः। २-सुरायम्, सुरायौ, सुरायः। ३-सुराया, सुराभ्याम्, सुराभिः इत्यादि। 'रै'—राः, रायौ, रायः इत्यादि। हलादि विभक्तियोंमें 'रै' की जगह 'रा' हो जाता है। ओकारान्त 'गो' शब्दपर विचार कीजिये। 'गो' का अर्थ है—बैल। इसके रूप—गौः, गावौ, गावः। गाम्, गावौ, गाः इत्यादि हैं। औकारान्त पुँल्लिङ्ग—'द्यौ' का अर्थ है—आकाश और 'ग्लौ' का अर्थ है—चन्द्रमा। इनके रूप—द्यौः द्यावौ, द्यावः, इत्यादि। ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः इत्यादि हैं। ये पुँल्लिङ्गमें 'स्वरान्त नायक' शब्द बताये गये ॥ ७ ॥

[अब हलन्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंका परिचय कराया जाता है—]

सुवाक् (श्रेष्ठ वक्ता), सुत्वक् (सुन्दर त्वचावाला), पृषत् (जलबिन्दु), सम्राट् (चक्रवर्ती नरेश), जन्मभाक् (जन्म ग्रहण करनेवाला), सुराट् (श्रेष्ठ राजा), अयम्—(यह), मरुत् (वायु), भवन् (होता हुआ), दीव्यन् (क्रीडा करता हुआ), भवान् (आप), मघवान् (इन्द्र), पिबन् (पीता हुआ), भगवान् (समग्र ऐश्वर्यसे सम्पन्न), अघवान् (पापयुक्त), अर्वा (अश्व), वह्निमान् (अग्नियुक्त), सर्ववित् (सर्वज्ञ), सुभृत् (भलीभाँति पालन करनेवाला), सुसीमा (उत्तम सीमावाला), कुण्डी (कुण्डधारी शिव), राजा, श्वा (कुत्ता), युवा (तरुण), मघवा (इन्द्र), पूषा (सूर्य), सुकर्मा (उत्तम कर्म करनेवाला), यज्वा (यज्ञकर्ता), सुवर्मा (उत्तम कवचधारी), सुधर्मा (उत्तम धर्मवाला), अर्यमा (सूर्य), वृत्रहा (इन्द्र), पन्थाः (मार्ग), सुककुप् (स्वच्छ दिशावाला समय), अष्ट (आठ), पञ्च (पाँच), प्रशान् (पूर्णतः शान्त), सुत्वा, 'प्राङ् प्राञ्चौ प्राञ्चः' तथा प्रत्यङ् इत्यादि। सुद्यौः (शोभन आकाशवाला काल), सुभ्राट् (विशेष शोभाशाली), सुपूः (सुन्दर नगरीवाला देश), चन्द्रमा, सुवचाः, श्रेयान्, विद्वान्, उशना (शुक्राचार्य), पेचिवान् (पूर्वकालमें जिसने पाचन किया हो), अनड्वान्—गाड़ी खींचनेवाला बैल, गोधुक् (गायको दुहनेवाला), मित्रध्रुक् (मित्रद्रोही), मुक् (विवेकशून्य) तथा लिट् (चाटनेवाला)—ये सभी हलन्त पुँल्लिङ्गके 'नायक' (आदर्श या प्रमुख शब्द) हैं * ॥ ८—११½ ॥

* 'सुवाक्' यह 'सुवाच्' शब्दका प्रथम विभक्तिमें एकवचनान्तरूप है। जिज्ञासुओंकी सुविधाके लिये इन शब्दोंके कतिपय रूप यहाँ उदाहरणके तौरपर दिये जाते हैं—१. 'सुवाक् सुवाग्, सुवाचौ, सुवाचः।' २. सुवाचम्, सुवाचौ, सुवाचः। ३. सुवाचा, सुवाग्भ्याम्, सुवाग्भिः। इत्यादि। सप्तमीके बहुवचनमें 'सुवाक्षु' यह रूप होता है। इसी तरह 'त्वच्' शब्दके—त्वक्, त्वचौ, त्वचः इत्यादि, 'पृषत्' शब्दके—पृषत्, पृषतौ, पृषतः इत्यादि, 'सम्राज्' शब्दके—सम्राट् सम्राड्, सम्राजौ, सम्राजः इत्यादि, 'जन्मभाज्' शब्दके—जन्मभाक् जन्मभाग्, जन्मभाजौ, जन्मभाजः, इत्यादि तथा 'सुराज्' शब्दके—सुराट् सुराड्, सुराजौ, सुराजः इत्यादि रूप होते हैं। 'अयम्'—यह 'इदम्' शब्दका प्रथमविभक्तीय एकवचनान्त रूप है। व्यवहारमें इसके रूपोंकी

अब स्त्रीलिङ्गमें नायकस्वरूप शब्दोंको उपस्थित किया जा रहा है—जाया (स्त्री) जरा, (वृद्धावस्था), बाला (नूतन अवस्थाकी स्त्री), एडका (भेड़), वृद्धा (बूढ़ी), क्षत्रिया (क्षत्रिय जातिकी स्त्री), बहुराजा (जहाँ बहुतसे राजा निवास करते हों, वह नगरी), बहुदा (अधिक देनेवाली), मा (लक्ष्मी), अथवा बहुदामा (अधिक दाम—रज्जु या दीप्तिवाली), बालिका (लड़की), माया (भगवान्‌की शक्ति या प्रकृति), कौमुदगन्धा (कुमुदकी-सी सुगन्धवाली), सर्वा (सब), पूर्वा (पूर्व दिशा या पहली), अन्या (दूसरी), द्वितीया (दूसरी), तृतीया (तीसरी), बुद्धिः (मति), स्त्री (औरत), श्री (लक्ष्मी), नदी, सुधी (उत्तम बुद्धिवाली), भवन्ती (होती हुई), दीव्यन्ती (क्रीड़ा करती हुई), भाती, भान्ती (शोभमाना), यान्ती (जाती हुई), शृण्वती (सुनती हुई), तुदती, तुदन्ती, (व्यथित करती हुई), कर्त्री (करनेवाली), कुर्वती (करती हुई), मही (पृथ्वी), रुन्धती (अवरोध करती हुई), क्रीडन्ती (खेलती हुई), दान्ती, (दाँतकी बनी हुई वस्तु), पालयन्ती (पालती हुई), सुवाणी (उत्तम वाणी), गौरी (पार्वती), पुत्रवती (पुत्रवाली), नौः (नाव), वधूः (स्त्री), देवता, भूः (पृथ्वी), तिस्रः (तीन), द्वे (दो), कति, वर्षाभूः (वर्षाकालमें उत्पन्न होनेवाली मेढकी), स्वसा (बहिन), माता (माँ), अवरा (लघु), गौः (गाय), द्यौः (स्वर्ग),

---

अधिक आवश्यकता रहती है । इसलिये इनके पूरे रूप यहाँ दिये जाते हैं—

१. अयम्, इमौ, इमे । २. इमम्, इमौ, इमान् । (अन्वादेशमें) एनम्, एनौ, एनान् । ३. अनेन (अन्वादेशमें) एनेन, आभ्याम्, एभिः । ४. अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः । ५. अस्मात् अस्माद्, आभ्याम्, एभ्यः । ६. अस्य, अनयोः (अन्वादेशमें) एनयोः, एषाम् । ७. अस्मिन्, अनयोः (एनयोः), एषु । त्यदादि गणके शब्दोंमें सम्बोधन नहीं होता ।

'मरुत्' आदि शब्दोंके प्रथमान्त रूप क्रमसे इस प्रकार जानने चाहिये—मरुत् मरुद्, मरुतौ, मरुतः । भवन्, भवन्तौ, भवन्तः । दीव्यन्, दीव्यन्तौ, दीव्यन्तः । भवान्, भवन्तौ भवन्तः । मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः । पिबन्, पिबन्तौ, पिबन्तः । भगवान्, भगवन्तौ, भगवन्तः । अघवान्, अघवन्तौ, अघवन्तः । अर्वा, अर्वन्तौ, अर्वन्तः । वह्निमान्, वह्निमन्तौ, वह्निमन्तः । सर्ववित् सर्वविद्, सर्वविदौ, सर्वविदः । सुपृत् सुपृद्, सुपृतौ, सुपृतः । सुसीमा, सुसीमानौ, सुसीमानः । कुण्डी, कुण्डिनौ, कुण्डिनः । 'राजन्' आदि शब्दोंके तीन विभक्तियोंके रूप दिये जाते हैं । शेष रूप तदनुसार ही समझ लेने चाहिये । १. राजा, राजानौ, राजानः । २. राजानम्, राजानौ, राज्ञः । ३. राज्ञा, राजभ्याम्, राजभिः इत्यादि । सप्तमीके एकवचनमें—राज्ञि, राजनि । १. श्वा, श्वानौ, श्वानः । २. श्वानम्, श्वानौ, शुनः । ३. शुना, श्वभ्याम्, श्वभिः । १. युवा, युवानौ, युवानः । २. युवानम्, युवानौ, यूनः । ३. यूना, युवभ्याम्, युवभिः । १. मघवा, मघवानौ, मघवानः । २. मघवानम्, मघवानौ, मघोनः । ३. मघोना, मघवभ्याम्, मघवभिः । १. पूषा, पूषणौ, पूषणः । २. पूषणम्, पूषणौ, पूष्णः । ३. पूष्णा, पूषभ्याम्, पूषभिः । सप्तमीके एकवचनमें पूष्णि, पूषणि । १. सुकर्मा, सुकर्माणौ, सुकर्माणः । २. सुकर्माणम्, सुकर्माणौ, सुकर्मणः । ३. सुकर्मणा, सुकर्मभ्याम्, सुकर्मभिः । १. यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः । २. यज्वानम्, यज्वानौ, यज्वनः । ३. यज्वना, यज्वभ्याम्, यज्वभिः । १.सुवर्मा, सुवर्माणौ, सुवर्माणः, इत्यादि । शेषरूप 'यज्वन् शब्दके समान हैं ।' सुधर्मा, सुधर्माणौ, सुधर्माणः इत्यादि । १. अर्यमा, अर्यमणौ, अर्यमणः । २. अर्यमणम्, अर्यमणौ, अर्यम्णः । ३. अर्यम्णा, अर्यमभ्याम्, अर्यमभिः, इत्यादि । सप्तमीके एकवचनमें—अर्यम्णि, अर्यमणि । १. वृत्रहा, वृत्रहणौ, वृत्रहणः । २. वृत्रहणम्, वृत्रहणौ, वृत्रघ्नः । ३. वृत्रघ्ना, वृत्रहभ्याम, वृत्रहभिः, इत्यादि । १. पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः । २. पन्थानम्, पन्थानौ, पथः । ३. पथा, पथिभ्याम्, पथिभिः । १. सुककुप् सुककुब्, सुककुभौ, सुककुभः, इत्यादि । १-२ अष्ट, अष्टौ, ३. 'अष्टभिः, अष्टाभिः' इत्यादि । १-२ पञ्च, पञ्च । ३. 'पञ्चभिः' इत्यादि । 'अष्टन्', 'पञ्चन्' आदि शब्द नित्य बहुवचनान्त हैं । प्रशान्, प्रशामौ, प्रशामः । प्रशान्भ्याम् इत्यादि । सुत्वा, सुत्वानौ, सुत्वानः, इत्यादि । प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, इत्यादि । सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः, इत्यादि । सुभ्राट् सुभ्राड्, सुभ्राजौ, सुभ्राजः, इत्यादि । सुपूः, सुपुरौ, सुपुरः, इत्यादि । चन्द्रमाः, चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः, इत्यादि । सुवचाः, सुवचसौ, सुवचसः, इत्यादि । १. श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः । २.श्रेयांसम्, श्रेयांसौ,श्रेयसः । ३. श्रेयसा, श्रेयोभ्याम्, इत्यादि । १.विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः । २.विद्वांसम्, विद्वांसौ, विदुषः । ३. विदुषा, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः, इत्यादि । पेचिवान्, पेचिवांसौ, पेचिवांसः, इत्यादि । अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः । २. अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः । अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः इत्यादि । गोधुक् गोधुग्, गोदुहौ, गोदुहः, इत्यादि । मित्रध्रुक् मित्रध्रुग्, मित्रध्रुट् मित्रध्रुड् । मित्रध्रुग्भ्याम् मित्रध्रुड्भ्याम् इत्यादि । मुक् मुग्, मुट् मुड्, मुहौ, मुहः, इत्यादि । लिट् लिड्, लिहौ, लिहः, इत्यादि ।

वाक् (वाणी), स्रक् (माला), प्राची (पूर्व दिशा), अवाची (दक्षिण दिशा), तिरश्ची (टेढ़ी या माला पशु-पक्षी), उदीची (उत्तर दिशा), शरद् (ऋतुविशेष), विद्युत् (बिजली), सरित् (नदी), योषित् (स्त्री), अग्निवित् (अग्निको जाननेवाली), सरघा (अन्न देनेवाली) अथवा सम्पद् (सम्पत्ति), दृषत् (शिला), या (जो), एषा (यह), सा (वह), वेदवित् (वेदज्ञा), संविद् (ज्ञानशक्ति), बह्वी (बहुत), राज्ञी (रानी), त्वया, मया (युष्मद्-अस्मद् शब्दोंके तीनों लिङ्गोंमें समान रूप होते हैं; ये तृतीयाके एक वचनके रूप हैं)। सीमा (अवधि), पञ्च आदि (संख्यावाचक नान्त शब्द), राका (पूर्णिमा), धूः (बोझ), पूः (नगरी), दिशा (दिक्), गिरा (गीः) चतस्रः (चार), विदुषी (पण्डिता), का (कौन), इयम् (यह), दिक् (दिशा), दृक् (नेत्र), तादृक् (तादृशी) तथा 'असौ'—ये स्त्रीलिङ्गके नायक शब्द हैं * । अब नपुंसक लिङ्गके नायक शब्द बताये जा रहे हैं ॥ १२–१९ ॥

* स्त्रीलिङ्गमें नामतः निर्दिष्ट 'नायक' शब्दोंके रूपोंका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है। 'जाया' शब्दका पूरा रूप इस प्रकार है—१. जाया जाये जायाः। २. जायाम् जाये जायाः। ३. जायया जायाभ्याम् जायाभिः। ४. जायायै जायाभ्याम् जायाभ्यः। ५. जायायाः जायाभ्याम् जायाभ्यः। ६. जायायाः जाययोः जायानाम्। ७. जायायाम् जाययोः जायासु। सम्बोधनमें—हे जाये हे जाये हे जायाः। 'जरा' शब्दका, स्वादि विभक्तियाँ परे हों तो 'जरस्' आदेश होता है। यह आदेश वैकल्पिक है। अतः 'जरा' का एक रूप तो 'जाया' की तरह ही होगा। औ, जस्, अम्, शस्, टा, ङे आदि विभक्तियोंमें क्रमशः—जरसौ, जरसः, जरसम्, जरसः, जरसा, जरसे इत्यादि वैकल्पिक रूप भी होंगे। माला, एडका, वृद्धा आदिसे लेकर कौमुदगन्धातकके सभी शब्दोंका रूप जायावत् होगा। 'सर्वा' शब्दका रूप—सर्वा सर्वे सर्वाः। सर्वाम् सर्वे सर्वाः। सर्वया सर्वाभ्याम् सर्वाभिः। ङित्-विभक्तियोंमें सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम्, रूप होंगे। 'आम्' विभक्तिमें सर्वासाम्। शेष सब जगह जायावत् रूप चलेंगे। 'पूर्वा' और 'अन्या' शब्दोंके रूप 'सर्वा' की तरह होंगे। द्वितीया-तृतीया शब्द ङित्-विभक्तियोंमें विकल्पसे सर्वनामवत् रूप धारण करते हैं। जैसे 'ङे'विभक्तिमें 'द्वितीयायै', 'द्वितीयस्यै'। इसी प्रकार अन्य पञ्चमी आदिके एकवचनमें भी। 'बुद्धि' शब्दके रूप—बुद्धिः, बुद्धी, बुद्धयः। बुद्धिम्, बुद्धी, बुद्धीः। बुद्ध्या, बुद्धिभ्याम्, बुद्धिभिः। बुद्ध्यै इत्यादि। 'ङि'विभक्तिमें बुद्ध्याम्, बुद्धौ। इसी तरह 'मति' शब्दके भी रूप हैं। 'स्त्री' शब्दकी 'ई'को अजादि विभक्तियोंमें 'इयङ्' आदेश होता है। यथा स्त्रियौ, स्त्रियः इत्यादि। अम्-शस्में विकल्प है—स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः स्त्रीः। 'सु' विभक्तिमें 'स्त्री' रूप होता है। 'सु'का लोप हो जाता है। 'श्री' शब्दका रूप—श्रीः श्रियौ श्रियः इत्यादि। 'नदी' शब्दका रूप—नदी नद्यौ नद्यः। नदीम्, नद्यौ नदीः। नद्या नदीभ्याम् नदीभिः। नद्यै नदीभ्यां नदीभ्यः। नद्याः, नदीभ्याम्, नदीभ्यः। नद्याः नद्योः नदीनाम्। नद्याम्, नद्योः नदीषु। हे नदि हे नद्यौ हे नद्यः। 'सुधी'का रूप सुधीः सुधियौ सुधियः इत्यादि। 'भवन्ती' का रूप नदीवत्। यहाँसे लेकर 'पुत्रवती' शब्दतकके रूप नदीवत् ही होंगे। 'नौ' शब्दका रूप—नौः नावौ नावः इत्यादि। वधू—वधूः वध्वौ वध्वः इत्यादि। 'दैवता' का रूप जायावत्। 'भू'—भूः भुवौ भुवः इत्यादि। तिसृ—१. तिस्रः। २. तिस्रः। ३. तिसृभिः। ४-५. तिसृभ्यः। ६. तिसृणाम्। ७. तिसृषु। इसी प्रकार 'चतसृ' के रूप जानने चाहिये। 'द्वि' शब्दके स्त्रीलिङ्गमें—द्वे, द्वे, द्वाभ्याम्३, द्वयोः२ रूप होते हैं। 'कति'—कति, कति, कतिभिः इत्यादि। 'वर्षाभू'—वर्षाभूः, वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः इत्यादि। स्वसा स्वसारौ स्वसारः इत्यादि। माता मातरौ मातरः। मातरम्, मातॄः इत्यादि। 'अवरा' का रूप पूर्ववत्। 'गो'—गौः गावौ गावः। गाम् गावौ गाः। गवा गोभ्याम् गोभिः। इत्यादि। द्यौः द्यावौ द्यावः इत्यादि। वाक् वाग्, वाचौ वाचः इत्यादि। स्रक्—'वाक्' के समान। 'प्राची'से लेकर 'उदीची' तकके रूप—नदीवत्। शरत्—शरत् शरद् शरदौ शरदः इत्यादि। विद्युत्—विद्युत् विद्युद् विद्युतौ विद्युतः इत्यादि। सरित् सरिद् सरितौ सरितः इत्यादि। 'अग्निवित्' शरत्के समान। 'सरघा' जायावत्। 'सम्पत्' शरत्के समान। 'दृषत्' शरत्के समान। या ये याः, याम् ये याः। यया याभ्याम् इत्यादि। यस्याः यासाम्, यस्याम् इत्यादि। एषा एते एताः इत्यादि। सा ते ताः इत्यादि। 'वेदविद्' शरत्के समान। 'संवित्' भी शरत्के समान। 'बह्वी', 'राज्ञी'—नदीके समान। त्वम् युवाम् यूयम्। त्वां युवाम् युष्मान्। त्वया युवाभ्याम् युष्माभिः। तुभ्यम् युवाभ्याम् युष्मभ्यम्। त्वत् युवाभ्याम् युष्मत्। तव युवयोः युष्माकम्। त्वयि युवयोः युष्मासु। इसी तरह 'अस्मद्' शब्दके अहं आवाम् वयम्। माम् आवाम् अस्मान्। मया आवाभ्याम् अस्माभिः। मह्यम्, मत्, मम, अस्माकम् मयि इत्यादि रूप हैं। 'सीमा' टाबन्त हो तो सीमा सीमे सीमाः। नान्त हो तो सीमा सीमानौ सीमानः इत्यादि। 'पञ्चन्' शब्द—पञ्च पञ्च पञ्चभिः इत्यादि। 'राका' जायावत्। धूः धुरौ धुरः इत्यादि। पूः पुरौ पुरः इत्यादि। 'दिशा' जायावत्। 'दिश्' शब्दके दिक्-दिग् दिशौ दिशः। इत्यादि

(सर्वप्रथम स्वरान्त नपुंसक-लिङ्ग शब्दोंके प्रारम्भिक सिद्ध रूप दिये जाते हैं—) 'कुण्डम्'—यह अकारान्त नपुंसक-लिङ्ग 'कुण्ड' शब्दका प्रथमान्त एकवचनरूप है। इसके प्रथम दो विभक्तियोंमें क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन-के रूप इस प्रकार जानने चाहिये—कुण्डम्, कुण्डे, कुण्डानि। तृतीया आदि शेष विभक्तियोंके रूप पुँल्लिङ्गवत् जानने चाहिये। यथा—कुण्डेन कुण्डाभ्याम् कुण्डैः इत्यादि। सम्बोधनमें—हे कुण्ड हे कुण्डे हे कुण्डानि। 'कुण्डम्' का अर्थ है—पानीसे भरा हुआ गहरा गड्ढा। यह नदी और तालाब आदिमें होता है। मिट्टीके बड़े और गहरे पात्रविशेषको भी 'कुण्ड' कहते हैं। इसीको ध्यानमें रखकर कुण्डभर दूध देनेवाली गायको 'कुण्डोध्नी' कहते हैं। 'सर्वम्'—यह 'सर्व' शब्दका एकवचनान्त रूप है, इसका अर्थ है सम्पूर्ण या सब। इसके प्रथमा और द्वितीया विभक्ति-योंमें नपुंसकलिङ्ग-सम्बन्धी रूप इस प्रकार होते हैं—सर्वम् सर्वे सर्वाणि। शेष पुँल्लिङ्गवत्। 'सोमपम्'—सोम पान करने-वाला कुल (ब्राह्मणकुल या देवकुल)। इसके भी प्रथम दो विभक्तियोंमें सोमपम् सोमपे सोमपानि इत्यादि रूप होंगे। शेष पुँल्लिङ्ग रामवत्। 'दधि' और 'वारि' शब्द क्रमशः दही और जलके वाचक हैं। ये नित्य नपुंसक-लिङ्ग हैं। अतः इनके सम्पूर्ण रूप यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। प्र० द्वि० विभक्तियोंमें—दधि दधिनी दधीनि। तृ०—दध्ना, दधिभ्याम्, दधिभिः। च०—दध्ने दधिभ्याम् दधिभ्यः। पं०—दध्नः दधिभ्याम् दधिभ्यः। ष०—दध्नः, दध्नोः, दध्नाम्। स०—दध्नि-दधनि, दध्नोः, दधिषु। 'वारि' शब्दके सातों विभक्तियोंके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—१, २—वारि वारिणी वारीणि। ३—वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः। ४—वारिणे वारिभ्याम् वारिभ्यः। ५—वारिणः वारिभ्याम् वारिभ्यः। ६—वारिणः वारिणोः वारीणाम्। ७—वारिणि, वारिणोः, वारिषु। 'खलपु' का अर्थ है—खलिहानको स्वच्छ करनेवाला साधन, 'खुरपा' आदि। इसके रूप विशेष्यके अनुसार स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्गमें भी होते हैं। यहाँ नपुंसकलिङ्गमें इसके रूप उद्धृत किये जाते हैं। १, २—खलपु खलपुनी खलपूनि। ३—खलप्वा, खलपुना खलपूभ्याम् खलपूभिः। ४—खलप्वे-खलपुने खलपूभ्याम् खलपूभ्यः इत्यादि। 'मधु' शब्द शहद और मदिराका वाचक है। इसके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—१-२, मधु मधुनी मधूनि। ३-मधुना मधुभ्याम् मधुभिः। ४-मधुने मधुभ्याम् मधुभ्यः। ५-मधुनः मधुभ्याम् मधुभ्यः। ६—मधुनः मधुनोः मधूनाम्। ७—मधुनि मधुनोः मधुषु। सं० हे मधो, हे मधु हे मधुनी हे मधूनि!। 'त्रपु' शब्द राँगाका वाचक है। इसके प्रथम दो विभक्तियोंके रूप इस प्रकार हैं—त्रपु, त्रपुणी, त्रपूणि। शेष मधुवत्। 'कर्तृ' (करनेवाला), 'भर्तृ' (भरण-पोषण करनेवाला), 'अतिभर्तृ' (भर्ताको भी अतिक्रमण करनेवाला कुल)—इन तीनों शब्दोंके प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें रूप क्रमशः इस प्रकार हैं—कर्तृ कर्तृणी कर्तॄणि। भर्तृ भर्तृणी भर्तॄणि। अति भर्तृ अतिभर्तृणी अतिभर्तॄणि। तृतीया आदि विभक्तियोंमें जो अजादि प्रत्यय हैं, उनमें दो-दो रूप होंगे। यथा—कर्त्रा, कर्तृणा। भर्त्रा, भर्तृणा। अतिभर्त्रा, अतिभर्तृणा इत्यादि। 'पयस्' शब्द जलका वाचक है। इसके रूप इस प्रकार हैं—१, २—पयः पयसी पयांसि। तृतीया आदिमें पयसा पयोभ्याम् पयोभिः इत्यादि। 'पुरस्' शब्द सकारान्त अव्यय है। इसका अर्थ है—पहले या आगे। अव्यय शब्दोंका कोई रूप नहीं चलता; क्योंकि 'अव्यय'का यह लक्षण है—॥२०॥

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

प्राक् (पूर्व), प्रत्यक् (अंदर या पश्चिम), तिर्यक् (तिरछी दिशाओंमें और चलनेवाले पशु-पक्षी आदि), उदक् (उत्तर)—इन शब्दोंके प्रथम दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार जानने चाहिये। प्राक् प्राची प्राञ्चि। प्रत्यक् प्रतीची प्रत्यञ्चि। तिर्यक् तिरश्ची तिर्यञ्चि। उदक् उदीची उदञ्चि इत्यादि। ये गत्यर्थक 'अञ्च्'के रूप हैं, पूजा-अर्थमें प्रयुक्त 'अञ्च्'के—प्राक् प्राञ्ची प्राञ्चि। प्रत्यक् प्रत्यञ्ची प्रत्यञ्चि। उदक् उदञ्ची उदञ्चि। तिर्यक् तिर्यञ्ची तिर्यञ्चि। इत्यादि रूप होते हैं। 'जगत्' शब्द संसारका वाचक है। इसके रूप हैं—जगत् जगती जगन्ति इत्यादि। 'जाग्रत्' शब्दका अर्थ है—सजग रहनेवाला। इसके रूप हैं—जाग्रत् जाग्रती जाग्रन्ति, जाग्रति इत्यादि। 'शकृत्' शब्द मल या विष्ठाका वाचक है। इसके रूप शकृत्, शकृती, शकृन्ति, शकानि इत्यादि। तृतीया आदिमें

रूप हैं। गीः गिरौ गिरः इत्यादि। 'त्रिद्रुपी'—अलीलद्। 'किम्' शब्दके—कः के काः इत्यादि रूप हैं। 'इदम्'—अयम् इमौ इमाः इत्यादि। 'दृक्' शब्द 'दिक्'के समान। तादृक्, तादृग्, तादृशौ तादृशः इत्यादि। 'अदस्' असौ अमू अमी। अमुम् अमू अमून्। अमुना इत्यादि।

शक्ना, शकृता इत्यादि। जिस कुलमें बहुत अच्छी सम्पत्ति है, उसको 'सुसम्पत्' कहते हैं। सुसम्पत्के प्रथम दो विभक्तियोंमें इस प्रकार रूप होते हैं—सुसम्पत्, सुसम्पदू, सुसम्पदी, सुसम्पन्ति, इत्यादि। सुन्दर दण्डियोंसे युक्त मन्दिर या आयतनको 'सुदण्डि' कहते हैं। 'सुदण्डिन्' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—सुदण्डि सुदण्डिनी सुदण्डीनि। शेष रूप पुँल्लिङ्गवत् होते हैं। 'इह' शब्द अव्यय है। 'अहन्' शब्द दिनका वाचक है। इसके प्रथम दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार जानने चाहिये—अहः अहनी, अह्नी, अहानि। 'किम्' प्रश्नवाचक सर्वनाम है। इसके रूप तीनों लिङ्गोंमें होते हैं। नपुंसक लिङ्गमें प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें 'किम् के कानि—ये रूप होते हैं। शेष रूप पुँल्लिङ्ग 'सर्व' शब्दके समान हैं। 'इदम्' का अर्थ है—यह। इसके नपुंसक लिङ्गमें—इदम् इमे इमानि—ये रूप होते हैं। तृतीया आदि विभक्तियोंमें पुँल्लिङ्गवत् रूप जानने चाहिये॥ २१॥

'षष्' शब्द संख्या छःका वाचक और बहुवचनान्त है। इसके तीनों लिङ्गोंमें समान रूप होते हैं। १-२—षट्। ३—षड्भिः। ४-५—षड्भ्यः। ६—षण्णाम्। ७—षट्सु। 'सर्पिष्' शब्द घीका वाचक है। इसके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—सर्पिः सर्पिषी सर्पींषि। सर्पिषा सर्पिर्भ्याम् सर्पिर्भिः इत्यादि। 'श्रेयस्' शब्द कल्याणका वाचक है। उसके रूप—श्रेयः श्रेयसी श्रेयांसि इत्यादि हैं। तृतीया आदिमें 'पयस्' शब्दके समान इसके रूप जानने चाहिये। संख्या चारका वाचक 'चतुर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। नपुंसक लिङ्गमें इसके रूप इस प्रकार हैं—१, २—चत्वारि। ३—चतुर्भिः। ४, ५—चतुर्भ्यः। ६—चतुर्णाम्। ७—चतुर्षु। 'अदस्' शब्द 'यह', 'वह'का वाचक सर्वनाम है। नपुंसकमें प्रथम दो विभक्तियोंमें इसके रूप—'अदः अमू अमूनि' होते हैं। शेष रूप पुँल्लिङ्गवत् जानने चाहिये। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे शब्द हैं, उनके रूप भी इन पूर्वकथित शब्दोंके ही समान हैं। इन शब्दोंकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा कही गयी है। प्रातिपदिकसे परे प्रथमा आदि विभक्तियाँ होती हैं। जो धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्तसे रहित अर्थवान् शब्द है, उसीको 'प्रातिपदिक' कहते हैं। प्रातिपदिकसे प्रातिपदिकार्थ, लिङ्गमात्राधिक्य और वचनमात्रका बोध करानेके लिये प्रथमा विभक्ति होती है॥ २२-२३॥

सम्बोधनमें तथा उक्त कर्म और कर्तामें भी प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है। जो किया जाता है, उसकी 'कर्म' संज्ञा है। कर्ममें द्वितीया[3] विभक्ति होती है। जिसकी सहायतासे कर्म किया जाता है, उसको 'करण' कहते हैं तथा जो कार्य करता है, उसे 'कर्ता' कहते हैं। तिङ्, कृत्, तद्धित प्रत्ययों और समाससे अनुक्त कर्तामें और करणमें भी तृतीया विभक्ति होती है। किसी भी कारकके रहते हुए कर्तामें भी तृतीया होती है। यथा—'व्रजं नेतव्या गावः कृष्णेन।' [यहाँ 'कृत्यानां कर्तरि वा।'—इस सूत्र (२। ३। ७१)के अभिप्रायका उपजीव्यभाव लक्षित होता है।] सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जिसको कुछ देनेकी इच्छा हो, उसे 'सम्प्रदान' कहा गया है। जिससे कोई पृथक् होता हो, जिससे कुछ लेता या ग्रहण करता हो तथा जिससे भयकी प्राप्ति होती हो, उसकी 'अपादान' संज्ञा होती है। अपादानमें पञ्चमी[6] विभक्ति होती है। जहाँ स्व-स्वामिभाव या जन्य-जनकभाव आदि सम्बन्धका बोध होता हो, वहाँ षष्ठी विभक्तिका प्रयोग होता है। जो आधार हो, उसकी 'अधिकरण' संज्ञा होती है। 'अधिकरण'में सप्तमी विभक्तिका प्रयोग होता है। जहाँ एकार्थ विवक्षित हो, वहाँ एकवचन और जहाँ द्वित्व विवक्षित हो, वहाँ द्विवचनका प्रयोग करना चाहिये। बहुत्वकी विवक्षा होनेपर बहुवचनका प्रयोग होता है। अब शब्दोंके सिद्ध रूप बताता हूँ—वृक्षः,

---

१. जो लिङ्गरहित (अव्यय) और नियत लिङ्गवाले शब्द हैं, वे 'प्रातिपदिकार्थमात्र'के उदाहरण हैं। यथा—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् इत्यादि। जो अनियत लिङ्गवाले शब्द हैं, वे 'लिङ्गमात्राधिक्य'के उदाहरण हैं। यथा—तटः, तटी, तटम् इत्यादि। 'वचन' कहते हैं—संख्याको। उसके उदाहरण—एकः, द्वौ, बहवः इत्यादि हैं। २. सम्बोधनमें प्रथमाका उदाहरण—'हे राम! हे रामौ!' इत्यादि। ३. द्वितीयाका उदाहरण—हरिं भजति। ४. उदा०—रामेण बाणेन हतो वाली। यहाँ 'राम' शब्द 'तिङ्' प्रत्ययद्वारा अनुक्त कर्ता है। अतः उसमें तृतीया हुई है। 'बाण' करण है, इससे उसमें तृतीया हुई है। ५. उदा०—ब्राह्मणाय गां ददाति। ६. उदा०—ग्रामाद् अपैति, आयाति वा। शिष्यो गुरोर्विद्यामादत्ते गृह्णाति वा। चोराद् बिभेति। जो भयका हेतु हो, उसीमें पञ्चमी होती है। अतः 'अरण्ये बिभेति' इसमें पञ्चमी नहीं हुई; क्योंकि भयका हेतु 'अरण्य' नहीं, व्याघ्र आदि हैं। ७. उदा०—राज्ञः पुरुषः, देवदत्तस्य पुत्रः इत्यादि। ८. उदा०—'कटे आस्ते' इत्यादि।

सूर्यः, अम्बुवाहः, अर्कः, हे रवे! हे द्विजातयः! *॥२०-२१॥

विप्रौ (विप्र + प्र० द्वि०), गजान् (गज + द्वि० बहु०), महेन्द्रेण (महेन्द्र + तृ० एक०), यमाभ्याम् (यम + तृ० द्वि०), अनिलैः (अनिल + तृ० बहु०), कृतम् (कृत नपुंसक-लिङ्ग प्रथमा-एकवचन), रामाय (राम + च० एक०), मुनिवर्याभ्याम् (मुनिवर्य + च० द्वि०); केभ्यः (किम् + च० बहु०), धर्मात् (धर्म + पं० एक०), हरौ (हरि + सप्त० एक०), रतिः (रति + प्र० एक०), शराभ्याम् (शर + पञ्च० द्वि०), पुस्तकेभ्यः (पुस्तक + पञ्च० बहु०), अर्थस्य (अर्थ + षष्ठी एक०), ईश्वरयोः (ईश्वर + षष्ठी द्वि०), गतिः (गति + प्र० एक०), बालानाम् (बाल + षष्ठी बहु०); सज्जने (सज्जन + सप्त० एक०), प्रीतिः (प्रीति० + प्र० एक०), हंसयोः (हंस + सप्त० द्वि०); कमलेषु (कमल + सप्त० बहु०), बालकोंकी सज्जनमें प्रीति होती है और हंसके जोड़ेकी कमलोंमें—यह इकतीसवें श्लोकके उत्तरार्धका वाक्यार्थ है†॥ ३०-३१॥

* एकार्थमें एकवचन 'रामः' इत्यादि। द्वित्वविवक्षामें 'रामौ' इत्यादि। बहुत्व-विवक्षामें बहुवचन 'रामाः' इत्यादि। 'वृक्ष' शब्दका प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें 'वृक्षः'—यह रूप सिद्ध होता है। इसके शेष रूप 'राम' शब्दकी तरह जानने चाहिये। इसी तरह सूर्यः, अम्बुवाहः और अर्कः—इनको क्रमशः सूर्य, अम्बुवाह और अर्क शब्दका प्रथमान्त एकवचन रूप समझना चाहिये। 'वृक्ष' और 'सूर्य' शब्दका अर्थ सर्वविदित है। 'अम्बुवाह' और 'अर्क' शब्द—ये क्रमशः मेघ और सूर्यके वाचक हैं। हे रवे!—यह 'रवि' शब्दका सम्बोधनमें प्रथमान्त एकवचन रूप है। हे द्विजातयः!—यह 'द्विजाति' शब्दका सम्बोधनमें प्रथमान्त बहुवचन-रूप है। 'रवि' शब्द सूर्यका एवं 'द्विजाति' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंका वाचक है।

† इन दो श्लोकोंमें जो शब्द आये हैं, उनका पृथक्-पृथक् अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये। विप्रौ=दो ब्राह्मण। गजान्=हाथियोंको। महेन्द्रेण=महेन्द्रसे। यमाभ्याम्=दो यमोंसे। अनिलैः=हवाओंसे। कृतम्=किया गया। रामाय=रामके लिये। मुनिवर्याभ्याम्=दो मुनिवरोंके लिये। केभ्यः=किनके लिये। धर्मात्=धर्मसे। हरौ=हरिमें। रतिः=अनुराग। शराभ्याम्=दो बाणोंसे। पुस्तकेभ्यः=पुस्तकोंसे। अर्थस्य=अर्थका। ईश्वरयोः=दो ईश्वरोंकी। गतिः=प्राप्ति। बालानाम्=बालकोंकी। सज्जने=सत्पुरुषमें। प्रीतिः=प्रेम। हंसयोः=दो हंसोंकी। कमलेषु=कमलोंमें।

इसी प्रकार 'काम', 'महेश' आदि शब्द 'वृक्ष' शब्दके समान जानने चाहिये। 'सर्वे', 'विश्वे'—इन दोनोंका अर्थ है—सब। ये प्रथमा विभक्तिके बहुवचनान्तरूप हैं। सर्वस्मै, सर्वस्मात्—ये 'सर्व' शब्दके क्रमशः चतुर्थी और पञ्चमी विभक्तिके एकवचनान्त रूप हैं। कतरो मतः=दोमेंसे कौन अभिमत है? यहाँ 'कतर' शब्दका प्रथमामें एकवचनान्त सिद्ध रूप दिया गया है। 'कतर' शब्द सर्वनाम है और 'सर्व' शब्दकी भाँति उसका रूप चलता है। सर्वेषाम् (सर्व+षष्ठी० बहु०), स्वं च ('स्व' शब्द भी सर्वनाम है। अतः इसका रूप भी सर्ववत् समझना चाहिये।) विश्वस्मिन् (विश्व+सप्त० एक०)—इन शब्दोंके शेष रूप 'सर्व' शब्दके समान हैं। इसी प्रकार उभय, कतर, कतम और अन्यतर आदि शब्दोंके रूप होते हैं। पूर्वे, पूर्वाः—ये 'पूर्व' शब्दके प्रथमान्त बहुवचन रूप हैं। प्रथमान्त बहुवचनमें पूर्वादि शब्दोंको विकल्पसे सर्वनाम माना जाता है। सर्वनाम-पक्षमें 'पूर्वे' और सर्वनामाभाव-पक्षमें 'पूर्वाः' रूपकी सिद्धि होती है। पूर्वस्मै (पूर्व+च० एक०); 'पूर्वस्मात् सुसमागतः—पूर्वसे आया'। यहाँ 'पूर्व' शब्दका पञ्चमी विभक्तिमें एकवचनान्त रूप प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्वे बुद्धिश्च पूर्वस्मिन्—पूर्वमें बुद्धि।' यहाँ 'पूर्व' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें रूपद्वय प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्व' आदि नौ शब्दोंसे पञ्चमी और सप्तमीके एकवचनमें 'ङसि और ङि' के स्थानोंमें 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश विकल्पसे होते हैं। उनके होनेपर पूर्वस्मात् और पूर्वस्मिन् रूप बनते हैं और न होनेपर 'राम' शब्दकी भाँति 'पूर्वात्' और 'पूर्वे' रूप होते हैं। शेष रूप सर्ववत् जानने चाहिये। इसी प्रकार पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अन्तर, अपर, अधर और नेम शब्दोंके भी रूप जानने चाहिये। प्रथमे, प्रथमाः—ये 'प्रथम' शब्दके बहुवचनान्त रूप हैं। इनके शेष रूप 'अर्क' शब्दके समान जानने चाहिये। इसी तरह 'चरम' शब्द, 'तयप्' प्रत्ययान्त शब्द तथा 'अल्प', 'अर्ध' और 'नेम' आदि शब्दोंके भी रूप होते हैं। यहाँ अन्तर इतना ही है कि 'चरम' और 'कतिपय' आदि शब्दोंके शेष रूप 'प्रथम' शब्दके समान होंगे और 'नेम' आदि शब्दोंके शेष रूप सर्ववत् होंगे। जिसके अन्तमें 'तीय' लगा है, उन 'द्वितीय' और 'तृतीय' शब्दोंके चतुर्थी, पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियोंमें एकवचनान्त रूप विकल्पसे सर्ववत् होते हैं। जैसे—(चतुर्थी) द्वितीयस्मै, द्वितीयाय। (पञ्चमी) द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्। (सप्तमी) द्वितीयस्मिन्, द्वितीये।

इसी प्रकार 'तृतीय' शब्दके भी रूप होंगे। इन दोनों शब्दोंके शेष रूप 'अर्क' शब्दके समान होते हैं ॥३२–३६½॥

अब 'सोमपा' शब्दके सिद्ध रूप क्रमशः दिये जाते हैं—

१–सोमपाः, सोमपौ, सोमपाः । २–सोमपाम्, सोमपौ, सोमपः । ३–सोमपा, सोमपाभ्याम्, सोमपाभिः । ४–सोमपे, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः । ५–सोमपः, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः । ६–सोमपः, सोमपोः, सोमपाम् । ७–सोमपि, सोमपोः, सोमपासु । (यहाँ श्रेयौ, व्रज, कुल और कुलम्—ये पद पादपूर्तिमात्रके लिये दिये गये हैं। यहाँ प्रकृतमें इनका कोई उपयोग नहीं है ।) 'सोमपा' शब्दके समान ही 'कीलालपा' आदि शब्दोंके रूप होंगे । अब कवि, अग्नि, अरि, हरि, सात्यकि, रवि, वह्नि—इन शब्दोंके कतिपय सिद्ध रूप उद्धृत किये जाते हैं । कविः (कवि+प्र० एक०), अग्निः (अग्नि+प्र० एक०), अरयः (अरि+प्र० बहु०), हे कवे ! (कवि+सम्बोधन० एक०), कविम् (कवि+द्वि० एक०), अग्नी (अग्नि+द्वि० द्वि०), हरीन् (हरि+द्वि० बहु०), सात्यकिना (सात्यकि+तृ० एक०), रविभ्याम् (रवि+तृ० द्वि०), रविभिः (रवि+तृ० बहु०) 'देहि वह्नये यः समागतः—जो आया है उसे वह्नि (अग्नि) को समर्पित कर दो ।' वह्नये (वह्नि+च० एक०), अग्नेः (अग्नि+षष्ठी एक०), अग्न्योः (अग्नि+षष्ठी द्वि०), अग्नीनाम् (अग्नि+षष्ठी बहु०), कवौ (कवि+सप्त० एक०) कव्योः (कवि+सप्त० द्वि०), कविषु (कवि+सप्त० बहु०) ॥ ३७–४० ॥

इसी प्रकार सुस्मृति, अभ्रान्ति, सुकीर्ति और सुधृति आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । यहाँ इन सबका प्रथमाका एकवचनान्त रूप दिया गया है । यथा—सुस्मृतिः, अभ्रान्तिः, सुकीर्तिः, सुधृतिः । अब 'सखि' शब्दके रूप दिये जाते हैं—१–सखा, सखायौ, सखायः । हे सखे ! सत्पतिं व्रज । (हे मित्र ! तुम अच्छे स्वामीके पास जाओ ।) 'हे सखे' यह सखि शब्दका सम्बोधनमें एकवचनान्त रूप है । २–सखायम्, सखायौ, सखीन् । ३–सख्या आगतः (मित्रके साथ आया) । ४–सख्ये वद (मित्रको दो) । ५–सख्युः । ६–सख्युः, सख्योः, सखीनाम् । ७–सख्यौ, सख्योः, सखिषु । शेष रूप 'कवि' शब्दके समान जानने चाहिये । पत्या (पति+तृ० एक०), पत्ये (पति+च० एक०), पत्युः (पति+पञ्च० एक०), पत्युः (पति+षष्ठी एक०), पत्योः (पति+षष्ठी द्वि०), पत्यौ (पति+सप्त० एक०) । 'पति' शब्दके शेष रूप 'अग्नि' शब्दके समान जानने चाहिये । (यदि 'पति' शब्द समासमें आबद्ध हो तो उसके सम्पूर्ण रूप 'कवि' शब्दके समान ही होंगे ।) अब 'द्वि' शब्दके पुँल्लिङ्ग रूप दिये जाते हैं, यह नित्य द्विवचनान्त है । १, २–द्वौ । ३, ४, ५–द्वाभ्याम् । ६, ७–द्वयोः । यह दो संख्याका वाचक है ॥ ४१–४२ ॥

अब संख्या तीनके वाचक नित्य बहुवचनान्त पुँल्लिङ्ग 'त्रि' शब्दके रूप दिये जाते हैं—१–त्रयः । २–त्रीन् । ३–त्रिभिः । ४, ५–त्रिभ्यः । ६–त्रयाणाम् । ७–त्रिषु ।—ये क्रमशः सात विभक्तियोंके रूप हैं । अब 'कति' शब्दके रूप दिये जाते हैं—१–कति । २–कति । शेष रूप 'कवि' शब्दके समान होते हैं । यह नित्य बहुवचनान्त शब्द है । अब 'नेता'के अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले 'नी' शब्दके रूप उद्धृत किये जाते हैं—१–नीः, नियौ, नियः । सम्बोधन—हे नीः, हे नियौ, हे नियः । २–नियम्, नियौ, नियः । ३–निया, नीभ्याम्, नीभिः । ४–निये, नीभ्याम्, नीभ्यः । ५–नियः, नीभ्याम्, नीभ्यः । ६–नियः, नियोः, नियाम् । ७–निथि[1], नियोः, नीषु । सुश्रीः (सुश्री+प्र० एक०) । इसी तरह 'सुधीः' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । 'ग्रामणीः पूजयेद्धरिम्' गाँवका मुखिया श्रीहरिका पूजन करे । 'ग्रामणी' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१–ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः । २–ग्रामण्यम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः । ३–ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः । ४–ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः । ५–ग्रामण्यः, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः । ६–ग्रामण्यः, ग्रामण्योः, ग्रामण्याम् । ७–ग्रामण्याम्, ग्रामण्योः, ग्रामणीषु । इसी तरह 'सेनानी' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । 'सुभ्रू' शब्दके रूप—सुभ्रूः, सुभ्रुवौ इत्यादि हैं । 'स्वयम्भू' शब्दके रूप—१–स्वयम्भूः, स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः । २–स्वयम्भुवम्, स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः । ३–स्वयम्भुवा । सप्तमीके एकवचनमें 'स्वयम्भुवि' । शेष 'सुभ्रू' शब्दके समान । इसी तरह 'प्रतिभू' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । 'खलपू' शब्दके रूप—खलपूः, खलप्वौ, खलप्वः । खलप्वम् इत्यादि हैं । सप्तमीके एकवचनमें 'खलप्वि'—यह रूप होता है । इसी प्रकार 'शरपू' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये । 'क्रोष्टु' शब्दके क्रमशः पाँच रूप इस प्रकार होते हैं—क्रोष्टा,

[1] १. पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'नी' शब्दका सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें 'नियाम्'—यह रूप होता है । कौमार-व्याकरणमें 'निथि'—यह रूप उपलब्ध होता है । अतः इस अंशमें इन दोनों व्याकरणोंका अन्तर अस्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ। द्वितीयाके बहुवचनमें 'क्रोष्टून्'—यह रूप बनता है। तृतीया आदिके स्वरादि प्रत्ययोंमें दो-दो रूप चलते हैं। एक 'क्रोष्टु' शब्दके, दूसरे 'क्रोष्टृ' शब्दके। यथा—क्रोष्टुना क्रोष्ट्रा, क्रोष्टवे क्रोष्ट्रे, क्रोष्टोः क्रोष्टुः इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें 'क्रोष्टूनाम्'—यह एक ही रूप होता है। सप्तमीके एकवचनमें क्रोष्टौ, क्रोष्टरि—ये रूप होते हैं। हलादि विभक्तियोंमें इसके रूप 'शम्भु' आदि शब्दोंके समान होते हैं। 'पितृ' शब्दके रूप—१–पिता, पितरौ, पितरः। सम्बोधनमें—हे पितः! हे पितरौ! हे पितरः!। २–पितरम्, पितरौ, पितॄन्। ३–पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः। ४–पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ५–पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ६–पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्। ७–पितरि, पित्रोः, पितृषु॥ ४१–५०॥

इसी प्रकार 'भ्रातृ' और 'जामातृ' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये—१–भ्राता, भ्रातरौ, भ्रातरः। जामाता, जामातरौ, जामातरः इत्यादि। 'नृ' शब्दके रूप 'पितृ' शब्दके समान होते हैं। केवल षष्ठीके बहुवचनमें उसके नृणाम्, नॄणाम्—ये दो रूप होते हैं। 'कर्तृ' शब्दके प्रारम्भिक पाँच रूप इस प्रकार होते हैं—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। कर्तारम्, कर्तारौ। द्वितीयाके बहुवचनमें कर्तॄन्, षष्ठीके बहुवचनमें कर्तॄणाम् और सप्तमीके एकवचनमें कर्तरि रूप होते हैं। शेष रूप 'पितृ' शब्दके समान जानने चाहिये। इसी तरह उद्गातृ, स्वसृ और नप्तृ आदि शब्दोंके रूप होते हैं। उद्गाता[1] उद्गातारौ उद्गातारः। स्वसा[2], स्वसारौ, स्वसारः। नप्ता[3], नप्तारौ, नप्तारः इत्यादि। शेष रूप 'कर्तृ' शब्दके समान होते हैं। 'स्वसृ' शब्दका द्वितीयाके बहुवचनमें 'स्वसॄः' रूप होता है। 'सुरै[4]' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—सुराः, सुरायौ, सुरायः इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें सुरायाम् और सप्तमीके एकवचनमें सुरायि रूप होते हैं। 'गो' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं। १–गौः[5], गावौ, गावः। २–गाम्, गावौ, गाः। ३–गवा, गोभ्याम्, गोभिः इत्यादि। षष्ठी—गोः, गवोः, गवाम्। सप्तमी—गवि, गवोः, गोषु। इसी प्रकार 'द्यो' तथा 'ग्लौ' शब्दोंके रूप जानने चाहिये। ये स्वरान्त शब्द पुँल्लिङ्गमें नायक (प्रधान) हैं॥ ५१–५३॥

अब हलन्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप बताये जाते हैं। 'सुवाच्' शब्दके रूप यों जानने चाहिये—१–सुवाक्[6], सुवाग्, सुवाचौ, सुवाचः। २–सुवाचम्, सुवाचौ, सुवाचः। ३–सुवाचा, सुवाग्भ्याम्, सुवाग्भिः। इत्यादि। (सप्त० बहुवचनमें—) सुवाक्षु। इसी तरह 'दिश्' आदि शब्दोंके रूप होते हैं। प्राञ्च् शब्दके रूप—१–प्राङ्[7], प्राञ्चौ, प्राञ्चः। २–भोः प्राञ्चं व्रज (हे भाई! तुम प्राचीन महापुरुषोंके पथपर चलो)। यहाँ 'प्राञ्चम्' यह द्वितीया विभक्तिका एकवचनान्त रूप है। ३–प्राचा, प्राग्भ्याम्, प्राग्भिः। षष्ठीके बहुवचनमें 'प्राचाम्' रूप होता है। सप्तमीके एकवचनमें 'प्राचि', द्विवचनमें 'प्राचोः' और बहुवचनमें 'प्राक्षु'। पूजार्थक 'प्राञ्च्' शब्दके सप्तमीके बहुवचनमें 'प्राङ्क्षु', 'प्राङ्षु'। इसी प्रकार उदञ्च्, सम्यञ्च् और प्रत्यञ्च् शब्दोंके भी रूप होते हैं। यथा—उदङ्[8] उदञ्चौ उदञ्चः इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें उदीची[9]। सम्यङ्[10] सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः। स्त्रीलिङ्गमें समीची[11]। प्रत्यङ्[12] प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः। स्त्रीलिङ्गमें प्रतीची[13]। इन सभी शब्दोंके 'शस्' आदि विभक्तियोंमें इस तरह रूप जानने चाहिये—उदीचः उदीचा। समीचः, समीचा। प्रतीचः, प्रतीचा इत्यादि। तिर्यङ्[14] तिर्यञ्चः। सध्र्यङ्[15], सध्रीचः। विष्वद्र्यङ्, विष्वद्रीचः इत्यादि रूप भी पूर्ववत् बनते हैं। 'अमुम् अञ्चति'—इस विग्रहमें अमुमुयङ्[16], अदमुयङ्, अमुद्र्यङ्—ये तीन रूप प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें होते हैं। प्रथमाके बहुवचनमें 'अमुम्यञ्चः' रूप होता है। और द्वितीयाके बहुवचनमें अमुमुईचः तथा अमुद्रीचः—ये रूप होते हैं। 'भ्याम्' विभक्तिमें पूर्ववत् 'अदद्र्यग्भ्याम्' रूपकी सिद्धि होती है। 'तत्त्वतृष्' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—१–तत्त्वतृट्[17] तत्त्वतृड्, तत्त्वतृषौ, तत्त्वतृषः इत्यादि। तृतीया आदिके द्विवचनमें तत्त्वतृड्भ्याम्। 'तत्त्वतृड्भ्यां समागतः'—'वह तत्त्वज्ञानकी पिपासावाले दो व्यक्तियोंके साथ आया।' सप्तमीके एकवचनमें तत्त्वतृषि और बहुवचनमें तत्त्वतृट्सु—ये रूप होते हैं। इसी तरह 'काष्ठतक्ष्' आदि रूप होते हैं। यथा—काष्ठतट्,

1. यज्ञमें 'उद्गाता' नामक ऋत्विज्, जो साम-मन्त्रोंका उच्चस्वरसे गान करता है। 2. बहिन। 3. नाती। 4. उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न। 5. गाय-बैल।

6. उत्तम वक्ता। 7. पूर्ववर्ती विद्वान् या महात्मा। 8. ऊपर उठनेवाला। 9. उत्तर दिशा। 10. उत्तम आचरणवाला। 11. साध्वी। 12. अन्तर्मुख। 13. पश्चिम दिशा। 14. तिर्यग्दिशाकी ओर जानेवाले पशु-पक्षी आदि। 15. सन्मार्गगामी। 16. उसकी ओर जानेवाला। 17. तत्त्वज्ञानके लिये प्यासा रहनेवाला। 18. काठ काटनेवाला।

काष्ठतड्, काष्ठतक्षौ, काष्ठतक्षः इत्यादि। 'भिषज्' शब्दके रूप—[19]भिषक्, भिषग्-भिषजौ, भिषजः इत्यादि होते हैं। तृतीयाके द्विवचनमें 'भिषग्भ्याम्' और सप्तमीके एकवचनमें 'भिषजि' रूप होते हैं। इसी प्रकार 'जन्मभाक्' आदि भी जानने चाहिये। यथा—[20]जन्मभाक्, जन्मभाग्, जन्मभाजौ, जन्मभाजः इत्यादि। 'मरुत्' शब्दके रूप इस प्रकार जाने—[21]मरुत्, मरुद् मरुतौ मरुतः। मरुद्भ्याम् मरुति इत्यादि। इसी प्रकार '[22]शत्रुजित्' आदि शब्दोंके भी रूप होते हैं। पूजनीय व्यक्तिके लिये प्रयुक्त होनेवाले 'भवत्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—[23]भवान्, भवन्तौ, भवन्तः इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें 'भवताम्'—यह रूप होता है। 'भू' धातुसे बननेवाले 'शतृ' प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—[24]भवन् भवन्तौ भवन्तः इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें '[25]भवन्ती' रूप होता है।

'महत्' शब्दके रूप—[26]महान्, महान्तौ, महान्तः। महती, इत्यादि। 'भगवत्' आदि शब्दोंके रूप 'भवत्' शब्दकी तरह—[27]भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः इत्यादि होते हैं। इसी प्रकार 'मघवत्' शब्दके रूप जानने चाहिये। यथा—[28]मघवान् मघवन्तौ मघवन्तः इत्यादि। 'अग्निचित्' शब्दके रूप—[29]अग्निचित्-द्, अग्निचितौ अग्निचितः इत्यादि होते हैं। सप्तमीके एकवचनमें 'अग्निचिति' और बहुवचनमें 'अग्निचित्सु'—ये रूप होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य '[30]तत्त्ववित्', '[31]वेदवित्' तथा '[32]सर्ववित्' शब्दोंके रूप होते हैं॥ ५४—६१॥

'राजन्' शब्दके सिद्ध रूप इस प्रकार जानने चाहिये। यथा—१—राजा, राजानौ, राजानः। २—राजानम्, राजानौ राज्ञः। ३—राज्ञा राजभ्याम् राजभिः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'राज्ञि' और 'राजनि'—ये दो रूप होते हैं। सम्बोधनमें—हे राजन्! इत्यादि। 'यज्वन्' शब्दके—[33]यज्वा यज्वानौ यज्वानः इत्यादि रूप होते हैं। 'करिन्' और 'दण्डिन्' इत्यादि इन्नन्त शब्दोंके रूप इस प्रकार होते हैं—[34]करी करिणौ करिणः। [35]दण्डी दण्डिनौ दण्डिनः इत्यादि।

'पथिन्' शब्दके सिद्ध रूप यों हैं—१—[36]पन्थाः पन्थानौ पन्थानः। २—पन्थानम्, पन्थानौ पथः। ३—पथा पथिभ्याम् पथिभिः—इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'पथि' रूप होता है। इसी प्रकार 'मथिन्' शब्दका भी रूप जानना चाहिये। यथा—[37]मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, इत्यादि। [38]ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः—इत्यादि। पथ्यादिमें पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षन्—ये तीन शब्द आते हैं। पाँच संख्याका वाचक 'पञ्चन्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। उसके रूप इस प्रकार होते हैं—१-२—[39]पञ्च, ३—पञ्चभिः, ४-५—पञ्चभ्यः, ६—पञ्चानाम्, ७—पञ्चसु। '[40]प्रतान्' शब्दके रूप—प्रतान्, प्रतानौ, प्रतानः, इत्यादि हैं। तृतीया आदिके द्विवचनमें 'प्रतान्भ्यां' रूप होता है। सम्बोधनमें 'हे प्रतान्!'। 'सुशर्मन्' शब्दके रूप—[41]सुशर्मा, सुशर्माणौ, सुशर्माणः—इत्यादि हैं। शस्, ङसि, ङस्—इन विभक्तियोंमें 'सुशर्मणः' रूप होता है। अप् शब्द नित्यबहुवचनान्त और स्त्रीलिङ्ग है। इसके रूप यों जानने चाहिये—१—[42]आपः। २—अपः,। ३—अद्भिः। ४-५—अद्भ्यः। ६—अपाम्। ७—अप्सु। 'प्रशाम्' शब्दके रूप [43]प्रशान्, प्रशामौ, प्रशामः इत्यादि हैं। सप्तमीके एकवचनमें 'प्रशामि' रूप होता है। 'किम्' शब्दके रूप—१—[44]कः, कौ, के। २—कम्, कौ, कान्। ३—केन, काभ्याम्, कैः—इत्यादि। सप्तमी बहुवचनमें—केषु। शेष रूप सर्ववत् होते हैं। 'इदम्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१—[45]अयम्, इमौ, इमे। २—इमम्, इमौ, इमान्। 'इमान्नय' (अर्थात् इन्हें ले जाओ) ३—अनेन, आभ्याम्, एभिः। ४—अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। ५—अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। ६—अस्य, अनयोः, एषाम्। ७—अस्मिन्, अनयोः, एषु। 'चतुर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। पुँल्लिङ्गमें इसके रूप यों होते हैं—१—[46]चत्वारः। २—चतुरः। ३—चतुर्भिः। ४-५—चतुर्भ्यः। ६—चतुर्णाम्। ७—चतुर्षु। जिसकी वाणी अच्छी हो, वह पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है। उसे 'सुगीः' कहते हैं। यह प्रथमाका एकवचन है। 'सुगिर्' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें 'सुगिरि' रूप होता है। 'सुदिव्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१—[47]सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः इत्यादि। तृतीया आदिके द्विवचनमें 'सुद्युभ्याम्' रूप होता है। 'विश्' शब्दके रूप—[48]विट् विड्, विशौ, विशः। विड्भ्याम् इत्यादि होते हैं। सप्तमीके

१९. वैद्य या चिकित्सक। २०. जन्मधारी। २१. वायु। २२. शत्रुविजयी। २३. आप। २४. होता हुआ। २५. होती हुई। २६. बड़ा, श्रेष्ठ। २७. छः प्रकारके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न परमात्मा। २८. इन्द्र। २९. अग्निका चयन करनेवाला। ३०. तत्त्वज्ञ। ३१. वेदवेत्ता। ३२. सर्वज्ञ। ३३. यजमान। ३४. हाथी। ३५. दण्डधारी संन्यासी।

३६. मार्ग। ३७. मथानी। ३८. इन्द्र। ३९. पाँच। ४०. अधिक विस्तार करनेवाला। ४१. उत्तम कल्याणसे युक्त। ४२. जल। ४३. अत्यन्त शान्त। ४४. कौन। ४५. यह। ४६. चार। ४७. जब आकाश स्वच्छ हो, वह समय। ४८. वैश्य।

बहुवचनमें 'विट्सु' रूप होता है।[49] 'यादृश्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—यादृक्-ग्, यादृशौ, यादृशः। यादृशा, यादृग्भ्याम् इत्यादि। 'षष्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। इसके रूप यों हैं—१-२-षट्[50]-षड्। ३-षड्भिः। ४-५-षड्भ्यः। ६-षण्णाम् ७-षट्सु। 'सुवचस्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१-सुवचाः[51], सुवचसौ, सुवचसः। २-सुवचसम्, सुवचसौ, सुवचसः। ३-सुवचसा, सुवचोभ्याम्, सुवचोभिः—इत्यादि। सम्बोधनमें—हे सुवचः!। 'उशनस्' शब्दके रूप यों हैं—१-उशना[52], उशनसौ, उशनसः। हे उशनः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'उशनसि' रूप होता है। 'पुरुदंशस्' और 'अनेहस्' शब्दोंके रूप भी इसी प्रकार होते हैं। यथा—१-पुरुदंशा[53], पुरुदंशसौ, पुरुदंशसः। अनेहा[54], अनेहसौ, अनेहसः इत्यादि। 'विद्वस्' शब्दके रूप यों जानने चाहिये—विद्वान्[55] विद्वांसौ, विद्वांसः, हे विद्वन् इत्यादि। 'विद्वांस उत्तमाः' (विद्वान् पुरुष उत्तम होते हैं)। चतुर्थी विभक्तिके एकवचनमें 'विदुषे' रूप होता है। 'विदुषे नमः' (विद्वान्‌को नमस्कार है)। द्विवचनमें 'विद्वद्भ्याम्' और सप्तमीके बहुवचनमें 'विद्वत्सु' रूप होते हैं। 'स विद्वत्सु बभूविवान्' (वह विद्वानोंमें प्रकट हुआ।) 'बभूविवस्' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—बभूविवान्[56] बभूविवांसौ, बभूविवांसः—इत्यादि। इसी प्रकार 'पेचिवान्[57], पेचिवांसौ, पेचिवांसः। श्रेयान्[58] श्रेयांसौ, श्रेयांसः—इत्यादि रूप जानने चाहिये। 'श्रेयस्' शब्दके द्वितीयाके बहुवचनमें 'श्रेयसः' रूप होता है। अब 'अदस्' शब्दके पुँल्लिङ्गमें रूप बताते हैं—१-असौ[59], अमू, अमी। २-अमुम्, अमू, अमून्। ३-अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः। ४-अमुष्मै अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ५-अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ६-अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। ७-अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु। 'गोधुग्भिरागतः' (वह गाय दुहनेवालेके साथ आया)। 'गोदुह्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—गोधुक्[60]-ग्, गोदुहौ, गोदुहः। गोधुक्षु इत्यादि। इसी प्रकार 'दुह्' आदि अन्य शब्दोंके रूप जानने चाहिये। 'मित्रद्रुह्[61]' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—मित्रध्रुक्-ग्, मित्रध्रुट्-ड्, मित्रद्रुहौ, मित्रद्रुहः। मित्रद्रुहा, मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुड्भ्याम्, मित्रध्रुग्भिः, मित्रध्रुड्भिः इत्यादि। इसी प्रकार 'चित्रद्रुह्' आदि शब्दोंके भी रूप जानने चाहिये। 'स्वलिह्[62]' शब्दके रूप यों होते हैं—स्वलिट्-स्वलिड्, स्वलिहौ, स्वलिहः। स्वलिहा, स्वलिड्भ्याम् इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'स्वलिढि' रूप होता है। 'अनडुह्' शब्दके रूप यों हैं—१-अनड्वान्[63], अनड्वाहौ, अनड्वाहः। २-अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः, ३-अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः। सप्तमीके बहुवचनमें 'अनडुत्सु' (सम्बोधनमें 'हे अनड्वन्')। अजन्त और हलन्त शब्द पुँल्लिङ्गमें बताये गये। अब स्त्रीलिङ्गमें बताये जाते हैं॥ ६२—७३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सामान्यतः सुब्-विभक्तियोंके सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५१॥

तीन सौ बावनवाँ अध्याय

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप

भगवान् स्कन्द कहते हैं—आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं,—रमा (प्र०—ए०), रमे (प्र०—द्वि०), रमाः (प्र०—ब०)। 'रमाः शुभाः' (रमाएँ शुभस्वरूपा हैं)। रमाम् (द्वि०—ए०) रमे (द्वि०—द्वि०), रमाः (द्वि०—ब०)। रमया (तृ०—ए०), रमाभ्याम् (तृ०—द्वि०), रमाभिः (तृ०—ब०) 'रमाभिः कृतमव्ययम्।'—(रमाओंने अव्यय (अक्षय) पुण्य किया है)। रमायै (च०—ए०), रमाभ्याम् (च०, पं०—द्वि०), रमायाः (प०, ष०—ए०), रमयोः (ष०, स०—द्वि०)। 'रमयोः शुभम्' (दो रमाओंका शुभ)। रमाणाम् (ष०—ब०)। रमायाम् (स०—ए०), रमासु (स०—ब०)। इसी प्रकार 'कला' आदि शब्दोंके रूप होते हैं। आकारान्त 'जरा' शब्दके कुछ रूप भिन्न होते हैं—जरा (प्रथमा विभक्ति एक०) में जरसौ—जरे (प्र०, द्वि०—द्वि०),

४९. जैसा। ५०. छः। ५१. उत्तम वचन बोलनेवाला। ५२. शुक्राचार्य। ५३. अधिक डँसनेवाला। ५४. काल या समय। ५५. पण्डित। ५६. हुआ। ५७. जो भूतकालमें पाचक रहा हो, वह। ५८. श्रेष्ठ। ५९. यह, वह। ६०. गाय दुहनेवाला। ६१. मित्रद्रोही। ६२. अपनेको चाटनेवाला। ६३. गाड़ी खींचनेवाला बैल।

काष्ठतड्, काष्ठतक्षौ, काष्ठतक्षः इत्यादि। 'भिषज्' शब्दके रूप—भिषक्[19], भिषग्-भिषजौ, भिषजः इत्यादि होते हैं। तृतीयाके द्विवचनमें 'भिषग्भ्याम्' और सप्तमीके एकवचनमें 'भिषजि' रूप होते हैं। इसी प्रकार 'जन्मभाक्' आदि भी जानने चाहिये। यथा—जन्मभाक्[20], जन्मभाग्, जन्मभाजौ, जन्मभाजः इत्यादि। 'मरुत्' शब्दके रूप इस प्रकार जाने—मरुत्[21], मरुद् मरुतौ मरुतः। मरुद्भ्याम् मरुति इत्यादि। इसी प्रकार 'शत्रुजित्[22]' आदि शब्दोंके भी रूप होते हैं। पूजनीय व्यक्तिके लिये प्रयुक्त होनेवाले 'भवत्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—भवान्[23], भवन्तौ, भवन्तः इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें 'भवताम्'—यह रूप होता है। 'भू' धातुसे बननेवाले 'शतृ' प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—भवन्[24] भवन्तौ भवन्तः इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें 'भवन्ती[25]' रूप होता है।

'महत्' शब्दके रूप—महान्[26], महान्तौ, महान्तः। महती, इत्यादि। 'भगवत्' आदि शब्दोंके रूप 'भवत्' शब्दकी तरह—भगवान्[27] भगवन्तौ भगवन्तः इत्यादि होते हैं। इसी प्रकार 'मघवत्' शब्दके रूप जानने चाहिये। यथा—मघवान्[28] मघवन्तौ मघवन्तः इत्यादि। 'अग्निचित्' शब्दके रूप—अग्निचित्-द्[29], अग्निचितौ अग्निचितः इत्यादि होते हैं। सप्तमीके एकवचनमें 'अग्निचिति' और बहुवचनमें 'अग्निचित्सु'—ये रूप होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य 'तत्त्ववित्[30]', 'वेदवित्[31]' तथा 'सर्ववित्[32]' शब्दोंके रूप होते हैं॥ ५४—६१॥

'राजन्' शब्दके सिद्ध रूप इस प्रकार जानने चाहिये। यथा—१—राजा, राजानौ, राजानः। २—राजानम्, राजानौ राज्ञः। ३—राज्ञा राजभ्याम् राजभिः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'राज्ञि' और 'राजनि'—ये दो रूप होते हैं। सम्बोधनमें—हे राजन्! इत्यादि। 'यज्वन्' शब्दके—यज्वा[33] यज्वानौ यज्वानः इत्यादि रूप होते हैं। 'करिन्' और 'दण्डिन्' इत्यादि इन्नन्त शब्दोंके रूप इस प्रकार होते हैं—करी[34] करिणौ करिणः। दण्डी[35] दण्डिनौ दण्डिनः इत्यादि।

'पथिन्' शब्दके सिद्ध रूप यों हैं—१—पन्थाः[36] पन्थानौ पन्थानः। २—पन्थानम्, पन्थानौ पथः। ३—पथा पथिभ्याम् पथिभिः—इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'पथि' रूप होता है। इसी प्रकार 'मथिन्' शब्दका भी रूप जानना चाहिये। यथा—मन्थाः[37], मन्थानौ, मन्थानः, इत्यादि। ऋभुक्षाः[38], ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः—इत्यादि। पथ्यादिमें पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षन्—ये तीन शब्द आते हैं। पाँच संख्याका वाचक 'पञ्चन्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। उसके रूप इस प्रकार होते हैं—१-२—पञ्च[39], ३—पञ्चभिः, ४-५—पञ्चभ्यः, ६—पञ्चानाम्, ७—पञ्चसु। 'प्रतान्[40]' शब्दके रूप—प्रतान्, प्रतानौ, प्रतानः, इत्यादि हैं। तृतीया आदिके द्विवचनमें 'प्रतान्भ्यां' रूप होता है। सम्बोधनमें 'हे प्रतान्!'। 'सुशर्मन्' शब्दके रूप—सुशर्मा[41], सुशर्माणौ, सुशर्माणः—इत्यादि हैं। शस्, ङसि, ङस्—इन विभक्तियोंमें 'सुशर्मणः' रूप होता है। अप् शब्द नित्यबहुवचनान्त और स्त्रीलिङ्ग है। इसके रूप यों जानने चाहिये—१—आपः[42]। २—अपः,। ३—अद्भिः। ४-५—अद्भ्यः। ६—अपाम्। ७—अप्सु। 'प्रशाम्' शब्दके रूप प्रशान्[43], प्रशामौ, प्रशामः इत्यादि हैं। सप्तमीके एकवचनमें 'प्रशामि' रूप होता है। 'किम्' शब्दके रूप—१—कः[44], कौ, के। २—कम्, कौ, कान्। ३—केन, काभ्याम्, कैः—इत्यादि। सप्तमी बहुवचनमें—केषु। शेष रूप सर्ववत् होते हैं। 'इदम्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१—अयम्[45], इमौ, इमे। २—इमम्, इमौ, इमान्। 'इमानय' (अर्थात् इन्हें ले जाओ) ३—अनेन, आभ्याम्, एभिः। ४—अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। ५—अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। ६—अस्य, अनयोः, एषाम्। ७—अस्मिन्, अनयोः, एषु। 'चतुर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। पुँल्लिङ्गमें इसके रूप यों होते हैं—१—चत्वारः[46]। २—चतुरः। ३—चतुर्भिः। ४-५—चतुर्भ्यः। ६—चतुर्णाम्। ७—चतुर्षु। जिसकी वाणी अच्छी हो, वह पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है। उसे 'सुगीः' कहते हैं। यह प्रथमाका एकवचन है। 'सुगिर्' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें 'सुगिरि' रूप होता है। 'सुदिव्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१—सुद्यौः[47], सुदिवौ, सुदिवः इत्यादि। तृतीया आदिके द्विवचनमें 'सुद्युभ्याम्' रूप होता है। 'विश्' शब्दके रूप—विट्[48] विड्, विशौ, विशः। विड्भ्याम् इत्यादि होते हैं। सप्तमीके

---

१९. वैद्य या चिकित्सक। २०. जन्मधारी। २१. वायु। २२. शत्रुविजयी। २३. आप। २४. होता हुआ। २५. होती हुई। २६. बड़ा, श्रेष्ठ। २७. छःप्रकारके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न परमात्मा। २८. इन्द्र। २९. अग्निका चयन करनेवाला। ३०. तत्त्वज्ञ। ३१. वेदवेत्ता। ३२. सर्वज्ञ। ३३. यजमान। ३४. हाथी। ३५. दण्डधारी संन्यासी।

३६. मार्ग। ३७. मथानी। ३८. इन्द्र। ३९. पाँच। ४०. अधिक विस्तार करनेवाला। ४१. उत्तम कल्याणसे युक्त। ४२. जल। ४३. अत्यन्त शान्त। ४४. कौन। ४५. यह। ४६. चार। ४७. जब आकाश स्वच्छ हो, वह समय। ४८. वैश्य।

बहुवचनमें 'विट्सु' रूप होता है । 'यादृश्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—याद्दक्-ग्[49], यादृशौ, यादृशः । यादृशा, यादृग्भ्याम् इत्यादि । 'षष्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है । इसके रूप यों हैं—१-२-षट्-षड्[50] । ३–षड्भिः । ४-५–षड्भ्यः । ६–षण्णाम् ७–षट्सु । 'सुवचस्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१–सुवचाः[51], सुवचसौ, सुवचसः । २–सुवचसम्, सुवचसौ, सुवचसः । ३–सुवचसा, सुवचोभ्याम्, सुवचोभिः—इत्यादि । सम्बोधनमें—हे सुवचः ! । 'उशनस्' शब्दके रूप यों हैं—१–उशना[52], उशनसौ, उशनसः । हे उशनः इत्यादि । सप्तमीके एकवचनमें 'उशनसि' रूप होता है । 'पुरुदंशस्' और 'अनेहस्' शब्दोंके रूप भी इसी प्रकार होते हैं । यथा—१–पुरुदंशा[53], पुरुदंशसौ, पुरुदंशसः । अनेहा[54], अनेहसौ, अनेहसः इत्यादि । 'विद्वस्' शब्दके रूप यों जानने चाहिये—विद्वान्[55] विद्वांसौ, विद्वांसः, हे विद्वन् इत्यादि । 'विद्वांस उत्तमाः' (विद्वान् पुरुष उत्तम होते हैं) । चतुर्थी विभक्तिके एकवचनमें 'विदुषे' रूप होता है । 'विदुषे नमः' (विद्वान्‌को नमस्कार है) । द्विवचनमें 'विद्वद्भ्याम्' और सप्तमीके बहुवचनमें 'विद्वत्सु' रूप होते हैं । 'स विद्वत्सु बभूविवान्' (वह विद्वानोंमें प्रकट हुआ ।) 'बभूविवस्' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—बभूविवान्[56] बभूविवांसौ, बभूविवांसः—इत्यादि । इसी प्रकार 'पेचिवान्[57], पेचिवांसौ, पेचिवांसः । श्रेयान्[58] श्रेयांसौ, श्रेयांसः—इत्यादि रूप जानने चाहिये । 'श्रेयस्' शब्दके द्वितीयाके बहुवचनमें 'श्रेयसः' रूप होता है । अब 'अदस्' शब्दके पुँल्लिङ्गमें रूप बताते हैं—१–असौ[59], अमू, अमी । २–अमुम्, अमू, अमून् । ३–अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः । ४–अमुष्मै अमूभ्याम्, अमीभ्यः । ५–अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । ६–अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम् । ७–अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु । 'गोधुग्भिरागतः' (वह गाय दुहनेवालोंके साथ आया) । 'गोदुह्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—गोधुक्-ग्[60], गोदुहौ, गोदुहः । गोधुक्षु इत्यादि । इसी प्रकार 'दुह्' आदि अन्य शब्दोंके रूप जानने चाहिये । 'मित्रद्रुह्[61]' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—मित्रध्रुक्-ग्, मित्रध्रुट्-ड्, मित्रद्रुहौ, मित्रद्रुहः । मित्रद्रुहा, मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुड्भ्याम्, मित्रध्रुग्भिः, मित्रध्रुड्भिः इत्यादि । इसी प्रकार 'चित्रद्रुह्' आदि शब्दोंके भी रूप जानने चाहिये । 'स्वलिह्[62]' शब्दके रूप यों होते हैं—स्वलिट्-स्वलिड्, स्वलिहौ, स्वलिहः । स्वलिहा, स्वलिड्भ्याम् इत्यादि । सप्तमीके एकवचनमें 'स्वलिहि' रूप होता है । 'अनडुह्' शब्दके रूप यों हैं—१–अनड्वान्[63], अनड्वाहौ, अनड्वाहः । २–अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः, ३–अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः । सप्तमीके बहुवचनमें 'अनडुत्सु' (सम्बोधनमें 'हे अनड्वन्') । अजन्त और हलन्त शब्द पुँल्लिङ्गमें बताये गये । अब स्त्रीलिङ्गमें बताये जाते हैं ॥ ६२–७३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सामान्यतः सुब्-विभक्तियोंके सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५१ ॥

तीन सौ बावनवाँ अध्याय

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप

भगवान् स्कन्द कहते हैं—आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं,—रमा (प्र०—ए०), रमे (प्र०—द्वि०); रमाः (प्र०—ब०) । 'रमाः शुभाः' (रमाएँ शुभस्वरूपा हैं) । रमाम् (द्वि०—ए०) रमे (द्वि०—द्वि०); रमाः (द्वि०—ब०) । रमया (तृ०—ए०); रमाभ्याम् (तृ०—द्वि०); रमाभिः (तृ०—ब०) 'रमाभिः कृतमव्ययम् ।'—(रमाओंने अव्यय (अक्षय) पुण्य किया है) । रमायै (च०—ए०), रमाभ्याम् (च०, पं०—द्वि०); रमायाः (पं०, ष०—ए०); रमयोः (ष०, स०—द्वि०) । 'रमयोः शुभम्' (दो रमाओंका शुभ) । रमाणाम् (ष०—ब०) । रमायाम् (स०—ए०); रमासु (स०—ब०) । इसी प्रकार 'कला' आदि शब्दोंके रूप होते हैं । आकारान्त 'जरा' शब्दके कुछ रूप भिन्न होते हैं—जरा (प्रथमा विभक्ति एक०) में जरसौ—जरे (प्र०, द्वि०—द्वि०),

४९. जैसा । ५०. छः । ५१. उत्तम वचन बोलनेवाला । ५२. शुक्राचार्य । ५३. अधिक डँसनेवाला । ५४. काल या समय । ५५. पण्डित । ५६. हुआ । ५७. जो भूतकालमें पाचक रहा हो, वह । ५८. श्रेष्ठ । ५९. यह, वह । ६०. गाय दुहनेवाला । ६१. मित्रद्रोही । ६२. अपनेको चाटनेवाला । ६३. गाड़ी खींचनेवाला बैल ।

काष्ठतड्, काष्ठतक्षौ, काष्ठतक्षः इत्यादि। 'भिषज्' शब्दके रूप—[19]भिषक्, भिषग्-भिषजौ, भिषजः इत्यादि होते हैं। तृतीयाके द्विवचनमें 'भिषग्भ्याम्' और सप्तमीके एकवचनमें 'भिषजि' रूप होते हैं। इसी प्रकार 'जन्मभाक्' आदि भी जानने चाहिये। यथा—[20]जन्मभाक्, जन्मभाग्, जन्मभाजौ, जन्मभाजः इत्यादि। 'मरुत्' शब्दके रूप इस प्रकार जाने—[21]मरुत्, मरुद् मरुतौ मरुतः। मरुद्भ्याम् मरुति इत्यादि। इसी प्रकार '[22]शत्रुजित्' आदि शब्दोंके भी रूप होते हैं। पूजनीय व्यक्तिके लिये प्रयुक्त होनेवाले 'भवत्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—[23]भवान्, भवन्तौ, भवन्तः इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें 'भवताम्'—यह रूप होता है। 'भू' धातुसे बननेवाले 'शतृ' प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—[24]भवन् भवन्तौ भवन्तः इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें '[25]भवन्ती' रूप होता है।

'महत्' शब्दके रूप—[26]महान्, महान्तौ, महान्तः। महती, इत्यादि। 'भगवत्' आदि शब्दोंके रूप 'भवत्' शब्दकी तरह—[27]भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः इत्यादि होते हैं। इसी प्रकार 'मघवत्' शब्दके रूप जानने चाहिये। यथा—[28]मघवान् मघवन्तौ मघवन्तः इत्यादि। 'अग्निचित्' शब्दके रूप—[29]अग्निचित्-द्, अग्निचितौ अग्निचितः इत्यादि होते हैं। सप्तमीके एकवचनमें 'अग्निचिति' और बहुवचनमें 'अग्निचित्सु'—ये रूप होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य '[30]तत्त्ववित्', '[31]वेदवित्' तथा '[32]सर्ववित्' शब्दोंके रूप होते हैं ॥ ५४–६१ ॥

'राजन्' शब्दके सिद्ध रूप इस प्रकार जानने चाहिये। यथा—१–राजा, राजानौ, राजानः। २–राजानम् राजानौ राज्ञः। ३–राज्ञा राजभ्याम् राजभिः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'राज्ञि' और 'राजनि'—ये दो रूप होते हैं। सम्बोधनमें—हे राजन्! इत्यादि। 'यज्वन्' शब्दके—[33]यज्वा यज्वानौ यज्वानः इत्यादि रूप होते हैं। 'करिन्' और 'दण्डिन्' इत्यादि इन्नन्त शब्दोंके रूप इस प्रकार होते हैं—[34]करी करिणौ करिणः। [35]दण्डी दण्डिनौ दण्डिनः इत्यादि।

'पथिन्' शब्दके सिद्ध रूप यों हैं—१–[36]पन्थाः पन्थानौ पन्थानः। २–पन्थानम् पन्थानौ पथः। ३–पथा पथिभ्याम् पथिभिः—इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'पथि' रूप होता है। इसी प्रकार 'मथिन्' शब्दका भी रूप जानना चाहिये। यथा—[37]मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, इत्यादि। [38]ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः—इत्यादि। पथ्यादिमें पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षन्—ये तीन शब्द आते हैं। पाँच संख्याका वाचक 'पञ्चन्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। उसके रूप इस प्रकार होते हैं—१-२–[39]पञ्च, ३–पञ्चभिः, ४-५–पञ्चभ्यः, ६–पञ्चानाम्, ७–पञ्चसु। '[40]प्रतान्' शब्दके रूप—प्रतान्, प्रतानौ, प्रतानः, इत्यादि हैं। तृतीया आदिके द्विवचनमें 'प्रतान्भ्यां' रूप होता है। सम्बोधनमें 'हे प्रतान्!'। 'सुशर्मन्' शब्दके रूप—[41]सुशर्मा, सुशर्माणौ, सुशर्माणः—इत्यादि हैं। शस्, ङसि, ङस्—इन विभक्तियोंमें 'सुशर्मणः' रूप होता है। अप् शब्द नित्यबहुवचनान्त और स्त्रीलिङ्ग है। इसके रूप यों जानने चाहिये—१–[42]आपः। २–अपः,। ३–अद्भिः। ४-५–अद्भ्यः। ६–अपाम्। ७–अप्सु। 'प्रशाम्' शब्दके रूप [43]प्रशान्, प्रशामौ, प्रशामः इत्यादि हैं। सप्तमीके एकवचनमें 'प्रशामि' रूप होता है। 'किम्' शब्दके रूप—१–[44]कः, कौ, के। २–कम्, कौ, कान्। ३–केन, काभ्याम्, कैः—इत्यादि। सप्तमी बहुवचनमें—केषु। शेष रूप सर्ववत् होते हैं। 'इदम्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१–[45]अयम्, इमौ, इमे। २–इमम्, इमौ, इमान्। 'इमान्नय' (अर्थात् इन्हें ले जाओ) ३–अनेन, आभ्याम्, एभिः। ४–अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। ५–अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। ६–अस्य, अनयोः, एषाम्। ७–अस्मिन्, अनयोः, एषु। 'चतुर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। पुँल्लिङ्गमें इसके रूप यों होते हैं–१–[46]चत्वारः। २–चतुरः। ३–चतुर्भिः। ४-५–चतुर्भ्यः। ६–चतुर्णाम्। ७–चतुर्षु। जिसकी वाणी अच्छी हो, वह पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है। उसे 'सुगीः' कहते हैं। यह प्रथमाका एकवचन है। 'सुगिर्' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें 'सुगिरि' रूप होता है। 'सुदिव्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१–[47]सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः इत्यादि। तृतीया आदिके द्विवचनमें 'सुद्युभ्याम्' रूप होता है। 'विश्' शब्दके रूप—[48]विट् विड्, विशौ, विशः। विड्भ्याम् इत्यादि होते हैं। सप्तमीके

१९. वैद्य या चिकित्सक। २०. जन्मधारी। २१. वायु। २२. शत्रुविजयी। २३. आप। २४. होता हुआ। २५. होती हुई। २६. बड़ा, श्रेष्ठ। २७. छः प्रकारके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न परमात्मा। २८. इन्द्र। २९. अग्निका चयन करनेवाला। ३०. तत्त्वज्ञ। ३१. वेदवेत्ता। ३२. सर्वज्ञ। ३३. यजमान। ३४. हाथी। ३५. दण्डधारी संन्यासी।

३६. मार्ग। ३७. मथानी। ३८. इन्द्र। ३९. पाँच। ४०. अधिक विस्तार करनेवाला। ४१. उत्तम कल्याणसे युक्त। ४२. जल। ४३. अत्यन्त शान्त। ४४. कौन। ४५. यह। ४६. चार। ४७. जब आकाश स्वच्छ हो, वह समय। ४८. वैश्य।

बहुवचनमें 'विट्सु' रूप होता है। 'यादृश्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—यादृक्-ग्[४९], यादृशौ, यादृशः। यादृशा, यादृग्भ्याम् इत्यादि। 'षष्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। इसके रूप यों हैं—१-२—षट्-षड्[५०]। ३—षड्भिः। ४-५—षड्भ्यः। ६—षण्णाम्, ७—षट्सु। 'सुवचस्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१—सुवचाः[५१], सुवचसौ, सुवचसः। २—सुवचसम्, सुवचसौ, सुवचसः। ३—सुवचसा, सुवचोभ्याम्, सुवचोभिः—इत्यादि। सम्बोधनमें—हे सुवचः!। 'उशनस्' शब्दके रूप यों हैं—१—उशना[५२], उशनसौ, उशनसः। हे उशनः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'उशनसि' रूप होता है। 'पुरुदंशस्' और 'अनेहस्' शब्दोंके रूप भी इसी प्रकार होते हैं। यथा—१—पुरुदंशा[५३], पुरुदंशसौ, पुरुदंशसः। अनेहा[५४], अनेहसौ, अनेहसः इत्यादि। 'विद्वस्' शब्दके रूप यों जानने चाहिये—विद्वान्[५५] विद्वांसौ, विद्वांसः, हे विद्वन् इत्यादि। 'विद्वांस उत्तमाः' (विद्वान् पुरुष उत्तम होते हैं)। चतुर्थी विभक्तिके एकवचनमें 'विदुषे' रूप होता है। 'विदुषे नमः' (विद्वान्‌को नमस्कार है)। द्विवचनमें 'विद्वद्भ्याम्' और सप्तमीके बहुवचनमें 'विद्वत्सु' रूप होते हैं। 'स विद्वत्सु बभूविवान्' (वह विद्वानोंमें प्रकट हुआ।) 'बभूविवस्' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—बभूविवान्[५६] बभूविवांसौ, बभूविवांसः—इत्यादि। इसी प्रकार 'पेचिवान्[५७], पेचिवांसौ, पेचिवांसः। श्रेयान्[५८] श्रेयांसौ, श्रेयांसः—इत्यादि रूप जानने चाहिये। 'श्रेयस्' शब्दके द्वितीयाके बहुवचनमें 'श्रेयसः' रूप होता है। अब 'अदस्' शब्दके पुँल्लिङ्गमें रूप बताते हैं—१—असौ[५९], अमू, अमी। २—अमुम्, अमू, अमून्। ३—अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः। ४—अमुष्मै अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ५—अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ६—अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। ७—अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु। 'गोधुग्भिरागतः' (वह गाय दुहनेवालोंके साथ आया)। 'गोदुह्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—गोधुक्-ग्[६०], गोदुहौ, गोदुहः। गोधुक्षु इत्यादि। इसी प्रकार 'दुह्' आदि अन्य शब्दोंके रूप जानने चाहिये। 'मित्रद्रुह्[६१]' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—मित्रध्रुक्-ग्, मित्रध्रुट्-ड्, मित्रद्रुहौ, मित्रद्रुहः। मित्रद्रुहा, मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुड्भ्याम्, मित्रध्रुग्भिः, मित्रध्रुड्भिः इत्यादि। इसी प्रकार 'चित्रद्रुह्' आदि शब्दोंके भी रूप जानने चाहिये। 'स्वलिह्[६२]' शब्दके रूप यों होते हैं—स्वलिट्-स्वलिड्, स्वलिहौ, स्वलिहः। स्वलिहा, स्वलिड्भ्याम् इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें 'स्वलिहि' रूप होता है। 'अनडुह्' शब्दके रूप यों हैं—१—अनड्वान्[६३], अनड्वाहौ, अनड्वाहः। २—अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः, ३—अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः। सप्तमीके बहुवचनमें 'अनडुत्सु' (सम्बोधनमें 'हे अनड्वन्')। अजन्त और हलन्त शब्द पुँल्लिङ्गमें बताये गये। अब स्त्रीलिङ्गमें बताये जाते हैं॥ ६२—७३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सामान्यतः सुब्-विभक्तियोंके सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५१॥

तीन सौ बावनवाँ अध्याय

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप

भगवान् स्कन्द कहते हैं—आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं,—रमा (प्र०—ए०), रमे (प्र०—द्वि०), रमाः (प्र०—ब०)। 'रमाः शुभाः' (रमाएँ शुभस्वरूपा हैं)। रमाम् (द्वि०—ए०) रमे (द्वि०—द्वि०), रमाः (द्वि०—ब०)। रमया (तृ०—ए०), रमाभ्याम् (तृ०—द्वि०), रमाभिः (तृ०—ब०) 'रमाभिः कृतमव्ययम्।'—(रमाओंने अव्यय (अक्षय) पुण्य किया है)। रमायै (च०—ए०), रमाभ्याम् (च०, पं०—द्वि०), रमायाः (पं०, ष०—ए०), रमयोः (ष०, स०—द्वि०)। 'रमयोः शुभम्' (दो रमाओंका शुभ)। रमाणाम् (ष०—ब०)। रमायाम् (स०—ए०), रमासु (स०—ब०)। इसी प्रकार 'कला' आदि शब्दोंके रूप होते हैं। आकारान्त 'जरा' शब्दके कुछ रूप भिन्न होते हैं—जरा (प्रथमा विभक्ति एक०) में जरसौ—जरे (प्र०, द्वि०—द्वि०),

४९. जैसा। ५०. छः। ५१. उत्तम वचन बोलनेवाला। ५२. शुक्राचार्य। ५३. अधिक डँसनेवाला। ५४. काल या समय। ५५. पण्डित। ५६. हुआ। ५७. जो भूतकालमें पाचक रहा हो, वह। ५८. श्रेष्ठ। ५९. यह, वह। ६०. गाय दुहनेवाला। ६१. मित्रद्रोही। ६२. अपनेको चाटनेवाला। ६३. गाड़ी खींचनेवाला बैल।

जरस—जराः (प्र०, द्वि०—बहु०); जरसम्—जराम् (द्वि०—ए०); जरासु (स०—ब०) । अब 'सर्वा' शब्दके रूप कहते हैं—१—सर्वा, सर्वे, सर्वाः । २—सर्वाम् सर्वे सर्वाः । सर्वया (तृ०—ए०); सर्वस्यै (च०—ए०) । 'सर्वस्यै देहि' (सबको दो) । सर्वस्याः (प०—ए०); सर्वस्याः (ष०—ए०), सर्वयोः (ष०, स०—द्वि०) । शेष रूप 'रमा' शब्दके समान होते हैं । स्त्रीलिङ्ग नित्य द्विवचनान्त द्वि-शब्दके रूप ये हैं—द्वे (प्र०—द्वि०), द्वे (द्वि०—द्वि०) । 'त्रि' शब्दके रूप ये हैं—१—२—तिस्रः । तिसृणाम् (ष०—ब०) । 'बुद्धि' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—बुद्धिः (प्र०—ए०); बुद्ध्या (तृ०—ए०); बुद्ध्यै-बुद्धये (च०—ए०); बुद्धेः (प०, ष०—ए०) । 'मति' शब्दके सम्बोधनके एकवचनमें 'हे मते'—यह रूप होता है । 'मुनीनाम्' (यह 'मुनि' शब्दके षष्ठी—बहुवचनका रूप है) और शेष रूप 'कवि' शब्दके समान होते हैं । 'नदी' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—नदी (प्र०—ए०), नद्यौ (प्र० द्वि०—द्वि०), नदीम् (द्वि०—ए०), नदीः (द्वि०—ब०); नद्या (तृ०—ए०), नदीभिः (तृ०—ब०), नद्यै (च०—ए०), नद्याम् (स०—ए०), नदीषु (स०—ब०), इसी प्रकार 'कुमारी' और 'जृम्भजी' शब्दके रूप होते हैं । 'श्री' शब्दके रूप भिन्न होते हैं—श्रीः (प्र०—ए०), श्रियौ (प्र०—द्वि०—द्वि०); श्रियः (प्र०, द्वि०—ब०), श्रिया (तृ०—ए०); श्रियै—श्रिये (च०—ए०) । 'स्त्री' शब्दके रूप अधोलिखित हैं—स्त्रीम्-स्त्रियम् (द्वि०—ए०); स्त्रीः—स्त्रियः (द्वि०—ब०); स्त्रिया (तृ०—ए०); स्त्रियै (च०—ए०), स्त्रियाः (प०, ष०—ए०), स्त्रीणाम् (ष० ब०) स्त्रियाम् (स०—ए०) । स्त्रीलिङ्ग 'ग्रामणी' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें 'ग्रामण्याम्' और 'धेनु' शब्दका चतुर्थीके एकवचनमें 'धेन्वै, धेनवे' रूप होते हैं ॥ १—७ ॥

'जम्बू' शब्दके रूप ये हैं—जम्बूः (प्र०—ए०), जम्ब्वौ (प्र०, द्वि०—द्वि०); जम्ब्वः (द्वि०—ब०), जम्बूनाम् (ष०—ब०) । 'जम्बूनां फलं पिब ।' (जामुनके फलोंका रस पीयो) । 'वर्षाभ्वू' आदि शब्दके कतिपय रूप ये हैं—वर्षाभ्वौ (प्र०, द्वि०—द्वि०) । पुनर्भ्वौ (प्र०, द्वि०—द्वि०) । मातॄः (मातृशब्दका द्वि०—ब०) । गौः (गो+प्र०—ए०) । नौः (नौका) (प्र०—ए०) । 'वाच्' शब्दके रूप ये हैं—वाक्—वाग् (प्र०—ए०) (वाणी), वाचा (तृ०—ए०) वाग्भिः (तृ०—ब०), वाक्षु (स०—ब०) । पुरुषवाद वाचक 'ककुभ्' शब्दके रूप ये हैं—ककुभ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०); ककुभि (स०—ए०), ककुभोः (ष० स०—द्वि०) । लतावाचक 'वीरुध्' शब्दके रूप ये हैं—वीरुद्भ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०); वीरुत्सु (स०—ब०) । स्त्रीलिङ्गमें प्रथमाके एकवचनमें उकारानुबन्ध 'भवत्' शब्दका—'भवती' और ऋकारानुबन्ध 'भवत्' शब्दका 'भवन्ती' रूप होता है । स्त्रीलिङ्ग 'दीव्यत्' शब्दका प्रथमाके एकवचनमें 'दीव्यन्ती' रूप होता है । स्त्रीलिङ्गमें 'भात्' शब्दके भी प्रथमाके एकवचनमें भाती—भान्ती—ये दो रूप होते हैं । स्त्रीलिङ्ग 'तुदत्' शब्दके भी प्रथमाके एकवचनमें तुदती—तुदन्ती—ये दो रूप होते हैं* । स्त्रीलिङ्गमें प्रथमाके एकवचनमें 'रुदत्' शब्दका रुदती, 'रुन्धत्' शब्दका रुन्धती, 'पृच्छत्' शब्दका पृच्छती और 'चोरयत्' शब्दका चोरयन्ती रूप होता है । 'दृषद्' शब्दके रूप ये हैं—दृषद् (प्र०—ए०), दृषद्भ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०), दृषदि (स०—ए०) । विशेषविदुषी (प्र० ए०) । प्रथमाके एकवचनमें 'क्रासि'शब्दका 'क्रासिः' रूप होता है । 'समिध्' शब्दके रूप ये हैं—समित्-समिद् (प्र०—ए०), समिद्भ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०); समिधि (स०—ए०) । 'सीमन्' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—सीमा (प्र०—ए०), सीम्नि-सीमनि (स०—ए०) । तृ०, च० एवं पं०के द्विवचनमें 'दामनी' शब्दका दामनीभ्याम्, 'ककुभ्' शब्दका ककुभ्याम् रूप होता है । 'का'—'किम्' शब्द प्र०—ए०, इयम्—(इदम् शब्द प्र०—ए०); आभ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०), 'अप्' शब्दके सप्तमीके बहुवचनमें 'अप्सु' रूप होता है । 'गिर्' शब्दके रूप ये हैं—गीर्भ्याम् (तृ०, च० ए० पं०—द्वि०) गिरा (तृ०—ए०), गीर्षु (स०—ब०) । प्रथमाके एकवचनमें 'सुभूः' और 'सुपूः' रूप सिद्ध होते हैं । 'पुर्' शब्दका तृतीयाके एकवचनमें 'पुरा' और सप्तमीके एकवचनमें 'पुरि' रूप होता है । 'दिव्' शब्दके रूप ये हैं—द्यौः (प्र०—ए०), द्युभ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०), दिवि (स०—ए०),

* 'भात्' और 'तुदत्' दोनोंके आगे स्त्रीत्वविवक्षामें 'ङीप्' प्रत्यय होनेपर उसकी 'नदी' संज्ञा होनेसे 'आच्छीनद्योर्नुम्' (पा० सू० ७ । १ । ८०) से वैकल्पिक 'नुम्' का आगम होता है; अतः 'भाती, भान्ती' तथा 'तुदती, तुदन्ती' दो रूप होते हैं । यह पाणिनि-व्याकरणका नियम है । कुमारने जो दो रूप माने हैं, उसकी पाणिनिके सूत्रद्वारा भी सिद्धि होती है ।

सुषु (स०—ब०) । तादृश्या (तृ०—ए०); तादृशी (प्र०—ए०)—ये 'तादृशी' शब्दके रूप हैं । 'दिश्' शब्दके रूप दिक्-दिग् दिशौ दिशः इत्यादि हैं । यादृश्याम् (स०—ए०); यादृशी (प्र०—ए०)—ये 'यादृशी' शब्दके रूप हैं । सुवचोभ्याम् (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०); सुवचस्सु (स०—ब०)—ये 'सुवचस्' शब्दके रूप हैं । स्त्रीलिङ्गमें 'अदस्' शब्दके कतिपय रूप ये हैं—असौ (प्र०—ए०); अमू (प्र० द्वि०—द्वि०); अमूम् (द्वि०—ए०); अमूः (प्र०, द्वि०—ब०); अमूभिः (तृ०—ब०); अमुया (तृ०—ए०), अमुयोः (ष०, स०—द्वि०)॥८—१३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूपोंका कथन' नामक तीन सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५२ ॥

तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय

नपुंसकलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप

भगवान् स्कन्द कहते हैं—नपुंसकलिङ्गमें 'किम्' शब्दके ये रूप होते हैं—(प्रथमा) किम्, के, कानि । (द्वितीया) किम्, के, कानि । शेष रूप पुंल्लिङ्गवत् हैं । अल्पम् (प्र० ए०); सर्वम् (प्र० ए०) । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व और अन्तर—इन सब शब्दोंके रूप इसी प्रकार होते हैं । सोमपम् (प्र० द्वि० ए०); सोमपानि (प्र०, द्वि० ब०)—ये 'सोमप' शब्दके रूप हैं । 'ग्रामणी' शब्दके नपुंसकलिङ्गमें इस प्रकार रूप होते हैं—ग्रामणि (प्र० द्वि—ए०); ग्रामणिनी (प्र० द्वि०—द्वि०); ग्रामणीनि (प्र०, द्वि०—ब०) । इसी प्रकार 'वारि' शब्दके रूप होते हैं—वारि (प्र० द्वि०—ए०); वारिणी (प्र०, द्वि०—द्वि०); वारीणि (प्र० द्वि०—ब०); वारीणाम् (ष०—ब०); वारिणि (स० ए०) । शुचये-शुचिने (च०—ए०) और मृदुने-मृदवे (च०—ए०) ये क्रमसे 'शुचि' और 'मृदु' शब्दके रूप हैं । त्रपु (प्र०, द्वि०—ए०); त्रपुणी (प्र०, द्वि०—द्वि०); त्रपूणाम् (ष०—ब०)—ये 'त्रपु' शब्दके कतिपय रूप हैं । 'खलपुनि' तथा 'खलप्वि'—ये दोनों नपुंसक 'खलपू' शब्दके सप्तमी, एकवचनके रूप हैं । कर्त्रा—कर्तृणा (तृ०—ए०); कर्तृणे—कर्त्रे (च०—ए०)—ये 'कर्तृ' शब्दके रूप हैं। अतिरि (प्र०, द्वि०—ए०); अतिरिणी (प्र०, द्वि०—द्वि०)—ये 'अतिरि' शब्दके रूप हैं । अभिनि (प्र०, द्वि०—ए०); अभिनिनी (प्र०, द्वि०—द्वि०)—ये 'अभिनि' शब्दके रूप हैं । सुवचांसि (प्र०, द्वि०—ब०); यह 'सुवचस्' शब्दका रूप है । सुवाक्षु (स०—ब०) यह 'सुवाच्' शब्दका रूप है । 'यत्' शब्दके ये दो यत्-यद् (प्र० द्वि०—ए०) हैं । 'तत्' शब्दके तत्-तद् (प्र०, द्वि०—ए०); 'कर्म' शब्दके कर्माणि (प्र० द्वि०—ब०); 'इदम्' शब्दके इदम् (प्र०, द्वि०—ए०); इमे (प्र० द्वि०—द्वि०); इमानि (प्र०, द्वि०—ब०)—ये रूप हैं । ईदृक्-ईदृग् (प्र०, द्वि०—ए०)—यह 'ईदृश्' शब्दका रूप है । अदः (प्र०, द्वि०—ए०); अमुनी (प्र०, द्वि०—द्वि०); अमूनि (प्र०, द्वि०—ब०) । अमुना (तृ०—ए०); अमीषु (स०—ब०)—'अदस्' शब्दके ये रूप भी पूर्ववत् सिद्ध होते हैं । 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—अहम् (प्र०—ए०); आवाम् (प्र०—द्वि०); वयम् (प्र०—ब०) । माम् (द्वि०—ए०); आवाम् (द्वि०—द्वि०); अस्मान् (द्वि०—ब०) । मया (तृ०—ए०); आवाभ्याम् (तृ०, च०—द्वि०); अस्माभिः (तृ०—ब०) । मह्यम् (च०—ए०); अस्मभ्यम् (च०—ब०) । मत् (पं०—ए०); आवाभ्याम् (पं०—द्वि०); अस्मत् (पं०—ब०) । मम (ष०—ए०); आवयोः (ष०, स०—द्वि०); अस्माकम् (ष०—ब०) । अस्मासु (स०—ब०)—ये 'अस्मद्' शब्दके रूप हैं । त्वम् (प्र०—ए०); युवाम् (प्र०—द्वि०) यूयम् (प्र०—ब०) । त्वाम् (द्वि०—ए०); युवाम् (द्वि०—द्वि०); युष्मान् (द्वि०—ब०) । त्वया (तृ०—ए०); युष्माभिः (तृ०—ब०) । तुभ्यम् (च०—ए०); युवाभ्याम् (तृ०, च०—द्वि०); युष्मभ्यम् (च०—ब०) । त्वत् (पं०—ए०); युवाभ्याम् (पं०—द्वि०) युष्मत् (पं०—ब०) । तव (ष०—ए०); युवयोः (ष०, स०—द्वि०); युष्माकम् (ष०—ब०) । त्वयि (स०—ए०); युष्मासु (स०—ब०)—ये 'युष्मद्' शब्दके रूप हैं । यहाँ 'अजन्त' और 'हलन्त' शब्दोंका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है ॥ १—९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नपुंसकलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५३ ॥

तीन सौ चौवनवाँ अध्याय

कारकप्रकरण

भगवान् स्कन्द कहते हैं—अब मैं विभक्त्यर्थोंसे युक्त 'कारक'का वर्णन करूँगा*। 'ग्रामोऽस्ति' (ग्राम है)—यहाँ प्रातिपदिकार्थमात्रमें प्रथमा विभक्ति हुई है। विभक्त्यर्थमें प्रथमा होनेका विधान पहले कहा जा चुका है। 'हे महार्क'—इस वाक्यमें जो 'महार्क' शब्द है, उसमें सम्बोधनमें प्रथमा विभक्ति हुई है। सम्बोधनमें प्रथमाका विधान पहले आ चुका है। '**इह नौमि विष्णुं श्रिया सह**।' (मैं यहाँ लक्ष्मी-सहित भगवान् विष्णुका स्तवन करता हूँ।)—इस वाक्यमें 'विष्णु' शब्दकी कर्म-संज्ञा हुई है। और '**द्वितीया कर्मणि स्मृता**'—इस पूर्वकथित नियमके अनुसार कर्ममें द्वितीया हुई है। '**श्रिया सह**'—यहाँ 'श्री' शब्दमें 'सह'का योग होनेसे तृतीया हुई है। सहार्थक और सदृशार्थक शब्दोंका योग होनेपर तृतीया विभक्ति होती है, यह सर्वसम्मत मत है। क्रियामें जिसकी स्वतन्त्रता विवक्षित हो, वह 'कर्ता' या 'स्वतन्त्र कर्ता' कहलाता है। जो उसका प्रयोजक हो, वह 'प्रयोजक कर्ता' और 'हेतुकर्ता' भी कहलाता है। जहाँ कर्म ही कर्ताके रूपमें विवक्षित हो, वह 'कर्मकर्ता' कहलाता है। इनके सिवा '**अभिहित**' और '**अनभिहित**'—ये दो कर्ता और होते हैं। 'अभिहित' उत्तम और 'अनभिहित' अधम माना गया है। स्वतन्त्रकर्ताका उदाहरण—'**कृतिनः तां विद्यां समुपासते**।' (विद्वान् पुरुष उस विद्याकी उपासना करते हैं) यहाँ विद्याकी उपासनामें विद्वानोंकी स्वतन्त्रता विवक्षित है, इसलिये वे 'स्वतन्त्रकर्ता' हैं। हेतुकर्ताका उदाहरण—'**चैत्रो मैत्रं हितं लम्भयते**।' (चैत्र मैत्रको हितकी प्राप्ति कराता है।) '**मैत्रो हितं लभते तं चैत्रः प्रेरयति इति चैत्रो मैत्रं हितं लम्भयते**।' (मैत्र हितको प्राप्त करता है और चैत्र उसे प्रेरणा देता है। अतः यह कहा जाता है कि 'चैत्र मैत्रको हितकी प्राप्ति कराता है'—यहाँ '**चैत्र**' प्रयोजक-कर्ता या हेतुकर्ता है। कर्मकर्ताका उदाहरण—'**प्राकृतधीः स्वयं भिद्यते**।' (गँवार बुद्धिवाला मनुष्य स्वयं ही फूट जाता है), '**तरुः स्वयं छिद्यते**।' (वृक्ष स्वयं कट जाता है)। यहाँ फोड़नेवाले और काटनेवाले कर्ताओंके व्यापारको विवक्षाका विषय नहीं बनाया गया। जहाँ कार्यके अतिशय सौकर्यको प्रकट करनेके लिये कर्तृव्यापार अविवक्षित हो, वहाँ कर्म आदि अन्य कारक भी कर्ता-जैसे हो जाते हैं और तदनुसार ही क्रिया होती है। इस दृष्टिसे यहाँ '**प्राकृतधीः**' और '**तरुः**' पद कर्मकर्ताके रूपमें प्रयुक्त हैं। अभिहित कर्ताका उदाहरण—'**रामो गच्छति**।' (राम जाता है।) यहाँ 'कर्ता' अर्थमें तिङन्तका प्रयोग है, इसलिये कर्ता उक्त हुआ। जहाँ कर्ममें प्रत्यय हो, वहाँ 'कर्म' उक्त और 'कर्ता' अनुक्त या अनभिहित हो जाता है। अनभिहित कर्ताका उदाहरण—'**गुरुणा शिष्ये धर्मः व्याख्यायते**।' (गुरुद्वारा शिष्यके निमित्त धर्मकी व्याख्या की जाती है।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय होनेसे '**धर्म**' की जगह '**धर्मः**' हो गया; क्योंकि उक्त कर्ममें प्रथमा विभक्ति होनेका नियम है। अनभिहित कर्तामें पहले कथित नियमके अनुसार तृतीया विभक्ति होती है, इसीलिये 'गुरुणा' पदमें तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। इस तरह पाँच प्रकारके 'कर्ता' बताये गये। अब सात प्रकारके कर्मका वर्णन सुनो ॥ १–४ ॥

१–ईप्सितकर्म, २–अनीप्सितकर्म, ३–ईप्सितानीप्सित-कर्म, ४–अकथितकर्म, ५–कर्तृकर्म, ६–अभिहितकर्म तथा ७–अनभिहितकर्म। ईप्सितकर्मका उदाहरण—'**यतिः हरिं श्रद्दधाति**।' (विरक्त साधु या संन्यासी हरिमें श्रद्धा रखता है।) यहाँ कर्ता यतिको हरि अभीष्ट हैं, इसलिये वे 'ईप्सित कर्म' हैं। अतएव हरिमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है। अनीप्सितकर्मका उदाहरण—'**अहिं लङ्घयते भृशम्**।' (उससे सर्पको बहुधा लँघवाता है।) यहाँ 'अहिं' यह 'अनीप्सित-कर्म' है। लाँघनेवाला सर्पको लाँघना नहीं चाहता। वह किसीके हठ या प्रेरणासे सर्पलङ्घनमें प्रवृत्त होता है। ईप्सितानीप्सितकर्मका उदाहरण—'**दुग्धं संभक्षयन्रजः भक्षयेत्**।' (मनुष्य दूध पीता हुआ धूल भी पी जाता है।) यहाँ दुग्ध 'ईप्सित कर्म' है और धूल 'अनीप्सित कर्म'। अकथितकर्म—जहाँ अपादान आदि विशेष नामोंसे कारकको व्यक्त करना अभीष्ट न हो, वहाँ वह कारक 'कर्मसंज्ञक' हो जाता है। यथा—'**गोपालः गां पयः दोग्धि**।' (ग्वाला

* अध्याय तीन सौ इक्यावनमें श्लोक बाईससे अट्ठाईसतक विभक्त्यर्थोंके प्रयोगका नियम बताया गया है। वे सब श्लोक यहीं होने चाहिये थे; क्योंकि वहाँ जो नियम या विधान दिये गये हैं, उनके उदाहरण यहाँ मिलते हैं।

गायसे दूध दुहता है।) यहाँ 'गाय' अपादान है, तथापि अपादानके रूपमें कथित न होनेसे अकथित हो गया और उसमें पञ्चमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति हुई। कर्तृकर्म—जहाँ प्रयोजक कर्ताका प्रयोग होता है, वहाँ प्रयोज्य कर्ता कर्मके रूपमें परिणत हो जाता है। यथा—'**गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्** ।' (गुरु शिष्यको गाँव भेजें।) '**शिष्यो ग्रामं गच्छेत् तं गुरुः प्रेरयेत् इति गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्** ।' (शिष्य गाँवको जाय, इसके लिये गुरु उसे प्रेरित करे, इस अर्थमें गुरु शिष्यको गाँव भेजें, यह वाक्य है।) यहाँ गुरु 'प्रयोजक कर्ता' है, और शिष्य प्रयोज्य कर्ता या 'कर्मभूत कर्ता' है। अभिहित कर्म—'**श्रियै हरेः पूजा क्रियते** ।' (लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये श्रीहरिकी पूजा की जाती है।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय होनेसे पूजा 'उक्त कर्म' है, इसीको 'अभिहित कर्म' कहते हैं, अतएव इसमें प्रथमा विभक्ति हुई। अनभिहितकर्म—जहाँ कर्तामें प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म अनभिहित हो जाता है, अतएव उसमें द्वितीया विभक्ति होती है। उदाहरणके लिये यह वाक्य है—'**हरेः सर्वदं स्तोत्रं कुर्यात्**' (श्रीहरिकी सर्वमनोरथदायिनी स्तुति करे।) करण दो प्रकारका बताया गया है—'बाह्य' और 'आभ्यन्तर'। '**तृतीया करणे भवेत्** ।'—इस पूर्वोक्त नियमके अनुसार करणमें तृतीया होती है। आभ्यन्तर करणका उदाहरण देते हैं—'**चक्षुषा रूपं गृह्णाति** ।' (नेत्रसे रूपको ग्रहण करता है।) यहाँ नेत्र 'आभ्यन्तर करण' है, अतः इसमें तृतीया विभक्ति हुई। 'बाह्य करण'का उदाहरण है—'**दात्रेण तल्लुनेत्** ।' (हँसुआसे उसको काटे।) यहाँ दात्र 'बाह्य करण' है। अतः उसमें तृतीया हुई है। सम्प्रदान तीन प्रकारका बताया गया है—प्रेरक, अनुमन्तृक और अनिराकर्तृक। जो दानके लिये प्रेरित करता हो, वह 'प्रेरक' है। जो प्राप्त हुई किसी वस्तुके लिये अनुमति या अनुमोदनमात्र करता है, वह 'अनुमन्तृक' है। जो न 'प्रेरक' है, न 'अनुमन्तृक' है, अपितु किसीकी दी हुई वस्तुको स्वीकार कर लेता है, उसका निराकरण नहीं करता, वह 'अनिराकर्तृक सम्प्रदान' है। '**सम्प्रदाने चतुर्थी** ।'—इस पूर्वोक्त नियमके अनुसार सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है। तीनों सम्प्रदानोंके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—१—'**नरो ब्राह्मणाय गां ददाति** ।' (मनुष्य ब्राह्मणको गाय देता है।) यहाँ ब्राह्मण 'प्रेरक सम्प्रदान' होनेके कारण उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है। ब्राह्मणलोग प्रायः यजमानको गोदानके लिये प्रेरित करते रहते हैं, अतः उन्हें 'प्रेरक सम्प्रदान' की संज्ञा दी गयी है। २—'**नरो नृपतये दासं ददाति** ।' (मनुष्य राजाको दास अर्पित करता है।) यहाँ राजाने दास अर्पणके लिये कोई प्रेरणा नहीं दी है। केवल प्राप्त हुए दासको ग्रहण करके उसका अनुमोदनमात्र किया है, इसलिये वह 'अनुमन्तृक सम्प्रदान' है; अतएव 'नृपतये' में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। ३—'**सज्जनः भर्त्रे पुष्पाणि दद्यात्** ।' (सज्जन पुरुष स्वामीको पुष्प दे)—यहाँ स्वामीने पुष्पदानकी मनाही न करके उसको अङ्गीकार-मात्र कर लिया है, इसलिये 'भर्तृ' शब्द 'अनिराकर्तृक सम्प्रदान' है। सम्प्रदान होनेके कारण ही उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है। अपादान दो प्रकारका होता है—'चल' और 'अचल'। कोई भी अपादान क्यों न हो, '**अपादाने पञ्चमी स्यात्** ।'—इस पूर्वकथित नियमके अनुसार उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है। '**धावतः अश्वात् पतितः** ।' (दौड़ते हुए घोड़ेसे गिरा)—यहाँ दौड़ता हुआ घोड़ा 'चल अपादान' है। अतः 'धावतः अश्वात्' में पञ्चमी विभक्ति हुई है। '**स वैष्णवः ग्रामादायाति** ।' (वह वैष्णव गाँवसे आता है)—यहाँ ग्राम शब्द 'अचल अपादान' है, अतः उसमें पञ्चमी विभक्ति हुई है॥ ५—११॥

अधिकरण चार प्रकारके होते हैं—अभिव्यापक, औपश्लेषिक, वैषयिक और सामीप्यक। जो तत्त्व किसी वस्तुमें व्यापक हो, वह आधारभूत वस्तु अभिव्यापक 'अधिकरण' है। यथा—'**दध्नि घृतम्** ।' (दहीमें घी है)। '**तिलेषु तैलं देवार्थम्** ।' (तिलमें तेल है, जो देवताके उपयोगमें आता है।) यहाँ घी दहीमें और तैल तिलमें व्याप्त है। अतः इनके आधारभूत दही और तिल अभिव्यापक अधिकरण हैं। '**आधारो योऽधिकरणं विभक्तिस्तत्र सप्तमी** ।'—इस पूर्वोक्त नियमके अनुसार अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है। प्रस्तुत उदाहरणमें 'दध्नि' और 'तिलेषु'—इन पदोंमें इसी नियमसे सप्तमी विभक्ति हुई है। अब 'औपश्लेषिक अधिकरण' बताया जाता है—'**कपिर्गृहे तिष्ठेद् वृक्षे च तिष्ठेत्** ।' (बंदर घरके ऊपर स्थित होता है और वृक्षपर भी स्थित होता है।) कपिके आधारभूत जो गृह और वृक्ष हैं, उनपर वह सटकर बैठता है। इसीलिये वह 'औपश्लेषिक अधिकरण' माना गया है। अधिकरण होनेसे ही 'गृहे' और 'वृक्षे'—इन पदोंमें सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अब 'वैषयिक अधिकरण' बताते हैं—विषयभूत

अधिकरणको 'वैषयिक' कहते हैं। यथा—'जले मत्स्यः।', 'वने सिंहः।' (जलमें मछली, वनमें सिंह।) यहाँ जल और वन 'विषय' हैं और मत्स्य तथा सिंह 'विषयी'। अतः विषयभूत अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति हुई। अब 'सामीप्यक अधिकरण' बताते हैं—'गङ्गायां घोषो वसति।' (गङ्गामें गोशाला बसती है।) यहाँ 'गङ्गा' का अर्थ है—गङ्गाके समीप। अतः 'सामीप्यक अधिकरण' होनेके कारण गङ्गामें सप्तमी विभक्ति हुई। ऐसे वाक्य 'औपचारिक' माने जाते हैं। जहाँ मुख्यार्थ बाधित होनेसे उसके सम्बन्धसे युक्त अर्थान्तरकी प्रतीति होती है, वहाँ 'लक्षणा' होती है। 'गौर्वाहिकः' इत्यादि स्थलोंमें 'गो' शब्दका मुख्यार्थ बाधित होता है, अतः वह स्वसदृशको लक्षित कराता है। इस तरहके वाक्यप्रयोगको 'औपचारिक' कहते हैं। 'अनभिहित कर्ता' में तृतीया अथवा षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—'विष्णुः सम्पूज्यते लोकैः।' (लोगोंद्वारा विष्णु पूजे जाते हैं।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय हुआ है। अतः कर्म उक्त है और कर्ता अनुक्त। इसलिये अनुक्त कर्ता 'लोक' शब्दमें तृतीया विभक्ति हुई है। 'तेन गन्तव्यम्, तस्य गन्तव्यम्' (उसको जाना चाहिये) यहाँ उपर्युक्त नियमके अनुसार तृतीया और षष्ठी—दोनोंका प्रयोग हुआ है। षष्ठीका प्रयोग कृदन्तके योगमें ही होता है। अभिहित कर्ता और कर्ममें प्रथमा विभक्ति होती है। इसीलिये 'विष्णुः' में प्रथमा विभक्ति हुई है। 'भक्तः हरिं प्रणमेत्।' (भक्त भगवान्‌को प्रणाम करे।) यहाँ अभिहित कर्ता 'भक्त'में प्रथमा विभक्ति हुई है और अनुक्त कर्म 'हरि' में द्वितीया विभक्ति। 'हेतु'में तृतीया विभक्ति होती है। यथा—'अन्नेन वसेत्।' (अन्नके हेतु कहीं भी निवास करे।) यहाँ हेतुभूत अन्नमें तृतीया विभक्ति हुई है। 'तादर्थ्य'में चतुर्थी विभक्ति कही गयी है। यथा—'वृक्षाय जलम्' 'वृक्षके लिये पानी।' यहाँ 'वृक्ष' शब्दमें 'तादर्थ्यप्रयुक्त' चतुर्थी विभक्ति हुई है। परि, उप, आङ् आदिके योगमें पञ्चमी विभक्ति होती है। यथा—'परि ग्रामात् पुरा बलवत् वृष्टोऽयं देवः।' (गाँवसे कुछ दूर हटकर देवने पूर्वकालमें बड़े जोरकी वर्षा की थी।)—इस वाक्यमें 'परि' के साथ योग होनेके कारण 'ग्राम' शब्दमें पञ्चमी विभक्ति हुई है। दिग्वाचक शब्द, अन्यार्थक शब्द तथा 'ऋते' आदि शब्दोंके योगमें भी पञ्चमी विभक्ति होती है। यथा—'पूर्वो ग्रामात्। ऋते विष्णोः। न मुक्तिः इतरा हरेः।'

'पृथक्' और 'विना' आदिके योगमें तृतीया एवं पञ्चमी विभक्ति होती है—जैसे 'पृथग् ग्रामात्।' यहाँ 'पृथक्' शब्दके योगमें 'ग्राम' शब्दसे पञ्चमी और 'पृथग् विहारेण'—यहाँ 'पृथक्' शब्दके योगमें 'विहार' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। इसी प्रकार 'विना' शब्दके योगमें भी जानना चाहिये। 'विना श्रियम्'—यहाँ 'विना' के योगमें 'श्री'शब्दसे द्वितीया, 'विना श्रिया'—यहाँ 'विना' के योगमें 'श्री'शब्दसे तृतीया और 'विना श्रियः'—यहाँ 'विना'के योगमें 'श्री'शब्दसे पञ्चमी विभक्ति हुई है। कर्मप्रवचनीय-संज्ञक शब्दोंके योगमें द्वितीया विभक्ति होती है—जैसे 'अन्वर्जुनं योद्धारः—योद्धा अर्जुनके संनिकट प्रवेशमें हैं।'—यहाँ 'अनु' कर्मप्रवचनीय-संज्ञक है—इसके योगमें 'अर्जुन' शब्दमें द्वितीया विभक्ति हुई। इसी प्रकार अभितः, परितः आदिके योगमें भी द्वितीया होती है। यथा 'अभितो ग्राममीरितम्।—गाँवके सब तरफ कह दिया है।' यहाँ 'अभितः' शब्दके योगमें 'ग्राम' शब्दमें द्वितीया विभक्ति हुई है। नमः, स्वाहा, स्वधा, स्वस्ति एवं वषट् आदि शब्दोंके योगमें चतुर्थी विभक्ति होती है—जैसे 'नमो देवाय—(देवको नमस्कार है)—यहाँ 'नमः' के योगमें 'देव' शब्दमें चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार 'ते स्वस्ति'—तुम्हारा कल्याण हो'—यहाँ 'स्वस्ति' के योगमें 'युष्मद्' शब्दसे चतुर्थी विभक्ति हुई ('युष्मद्' शब्दको चतुर्थीके एकवचनमें वैकल्पिक 'ते' आदेश हुआ है)। तुमुन्प्रत्ययार्थक भाववाची शब्दसे चतुर्थी विभक्ति होती है—जैसे 'पाकाय याति' और 'पक्तये याति—पकानेके लिये जाता है।' यहाँ 'पाक' और 'पक्ति' शब्द 'तुमर्थक भाववाची' हैं। इन दोनोंमें चतुर्थी विभक्ति हुई। 'सहार्थ' शब्दके योगमें हेतु-अर्थ और कुत्सित अङ्गवाचकमें तृतीया विभक्ति होती है। सहार्थयोगमें तृतीया विशेषणवाचकसे होती है। जैसे 'पिताऽगात् सह पुत्रेण' —पिता पुत्रके साथ चले गये।' यहाँ 'सह' शब्दके योगमें विशेषणवाचक 'पुत्र' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। इसी प्रकार 'गदया हरिः' (भगवान् हरि गदाके सहित रहते हैं)—यहाँ 'सहार्थक' शब्दके न रहनेपर भी सहार्थ है, इसलिये विशेषणवाचक 'गदा' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। 'अक्ष्णा काणः—आँखसे काना है।'—यहाँ कुत्सितअङ्गवाचक 'अक्षि' शब्द है। उससे तृतीया विभक्ति हुई। 'अर्थेन निवसेद् भृत्यः।'—'भृत्य धनके कारणसे रहता है।'—यहाँ हेतु-अर्थ है 'धन'। तद्वाचक 'अर्थ' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। कालवाचक और भाव अर्थमें सप्तमी विभक्ति होती है।

अर्थात् जिसकी क्रियासे अन्य क्रिया लक्षित होती है, तद्वाचक शब्दसे सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—'**विष्णौ नते भवेन्मुक्तिः**—भगवान् विष्णुको नमस्कार करनेपर मुक्ति मिलती है।'—यहाँ श्रीविष्णुकी नमस्कार-क्रियासे मुक्ति-भवनरूपा क्रिया लक्षित होती है, अतः 'विष्णु' शब्दसे सप्तमी विभक्ति हुई। इसी प्रकार '**वसन्ते स गतो हरिम्**—वह वसन्त ऋतुमें हरिके पास गया।'—यहाँ 'वसन्त' कालवाचक है, उससे सप्तमी हुई। (स्वामी, ईश, पति, साक्षी, सूत और दायाद आदि शब्दोंके योगमें षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं—) जैसे '**नृणां स्वामी, नृषु स्वामी**'—मनुष्योंका स्वामी,—यहाँ 'स्वामी' शब्दके योगमें 'नृ' शब्दसे षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। इसी प्रकार '**नृणामीशः**—नरोंके ईश'—यहाँ 'ईश' शब्दके योगमें 'नृ' शब्दसे, तथा '**सतां पतिः**—सज्जनोंका पति—यहाँ 'सत्' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। ऐसे ही '**नृणां साक्षी, नृषु साक्षी**—मनुष्योंका साक्षी'—यहाँ 'नृ' शब्दसे षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। '**गोषु नाथो गवां पतिः**—गौओंका स्वामी है' यहाँ 'नाथ' और 'पति' शब्दोंके योगमें 'गो' शब्दसे षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। '**गोषु सूतो गवां सूतः**—गौओंमें उत्पन्न है'—यहाँ 'सूत' शब्दके योगमें 'गो' शब्दसे षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति हुई। '**इह राज्ञां दायादकोऽस्तु**।—यहाँ राजाओंका दायाद हो।' यहाँ 'दायाद' शब्दके योगमें 'राजन्' शब्दमें षष्ठी विभक्ति हुई है। हेतुवाचकसे 'हेतु' शब्दके प्रयोग होनेपर षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे '**अन्नस्य हेतोर्वसति**—अन्नके कारण वास करता है।'—यहाँ 'वास'में अन्न 'हेतु' है, तद्वाचक 'हेतु' शब्दका भी प्रयोग हुआ है, अतः 'अन्न' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। स्मरणार्थक धातुके प्रयोगमें उसके कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—'**मातुः स्मरति**।—माताको स्मरण करता है।' यहाँ 'स्मरति'के योगमें 'मातृ' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। कृत्प्रत्ययके योगमें कर्ता एवं कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—'**अपां भेत्ता**—जलको भेदन करनेवाला।' यहाँ—'भेत्तृ' शब्द 'कृत्' प्रत्ययान्त' है। उसके योगमें—कर्मभूत 'अप्'शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। इसी प्रकार '**तव कृतिः**—तुम्हारी कृति है'—यहाँ 'कृति' शब्द 'कृत्प्रत्ययान्त' है। उसके योगमें कर्तृभूत 'युष्मद्' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई (**युष्मद्—ङस्=तव**)—निष्ठा आदि अर्थात् **क्त—क्तवतु, शतृ-शानच्, उ, उक, क्त, तुमुन्, खलर्थक, तृन्, शानच्, चानश्** आदि के योगमें षष्ठी विभक्ति नहीं होती (यथा '**ग्रामं गतः**' इत्यादि)॥ १२–२६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कारक-निरूपण' नामक तीन सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५४॥

तीन सौ पचपनवाँ अध्याय

समास-निरूपण

भगवान् कार्त्तिकेय कहते हैं—कात्यायन! मैं छः प्रकारके 'समास' बताऊँगा। फिर अवान्तर-भेदोंसे 'समास'के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। समास 'नित्य' और 'अनित्य'के भेदसे दो प्रकारका है तथा 'लुक्' और 'अलुक्'के भेदसे भी

१. जहाँ अनेक पदोंका परस्पर एकार्थीभावरूप सामर्थ्य लक्षित हो, उनमें 'समास' होता है। कृत्, तद्धित, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु—ये पाँच वृत्तियाँ मानी गयी हैं। परार्थका अभिधान (कथन) 'वृत्ति' है। वृत्त्यर्थके अवबोधक वाक्यको 'विग्रह' कहते हैं। 'विग्रह' दो प्रकारका होता है—'लौकिक' और 'अलौकिक'। परिनिष्ठित (प्रयोगार्ह) होनेके कारण जो साधु-वाक्य है, वह 'लौकिक विग्रह' कहलाता है। जो प्रयोगयोग्य न होनेसे असाधु है, वह 'अलौकिक विग्रह' है। 'राज्ञः पुरुषः'—यह 'लौकिक विग्रह' है 'राजन्+ङस्, पुरुष+सु' यह अलौकिक विग्रह है। समास 'नित्य' और 'अनित्य'के भेदसे दो प्रकारका है। जो अविग्रह (लौकिक विग्रहसे रहित) या अस्वपद-विग्रह (समस्यमान 'यावत्' पदसे अघटित) हो, वह 'नित्य-समास' है; इसके विपरीत 'अनित्य-समास' है। प्राचीन विद्वानोंने समासके छः प्रकार बताये हैं। यथा—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥

(१) उदाहरणके लिये सुबन्तका सुबन्तके साथ समास—राजपुरुषः। यहाँ ('राज्ञः पुरुषः' इस विग्रहके अनुसार) पूर्व और उत्तर दोनों पद 'सुबन्त' हैं। (२)सुबन्तका तिङ्के साथ समास—यथा—'पर्यभूषत्'। (३) 'सुबन्त'को नामके साथ—कुम्भकारः। हेमकारः इत्यादि। (४)' सुबन्त,का धातुके साथ समास। यथा—'कटप्रूः', अजस्रम् इत्यादि। (५) तिङन्तका तिङन्तके साथ समास, यथा—पिबतखादता। खादतमोदता इत्यादि। (६)तिङन्तका सुबन्तके साथ समास, यथा—कृन्तविचक्षणा। इसका मयूरव्यंसकादिगणमें पाठ है।

उसके दो प्रकार और हो जाते हैं। कुम्भकार और हेमकार 'नित्य समास' हैं। (क्योंकि विग्रह-वाक्यद्वारा ये शब्द जातिविशेषका बोध नहीं करा सकते।) **'राज्ञः+पुमान्=राजपुमान्'**—यह षष्ठी-तत्पुरुष समास स्वपदविग्रह होनेके कारण 'अनित्य' है। **कष्टश्रितः (कष्टं+श्रितः)**—इसमें 'लुक्'समास है;क्योंकि 'कष्ट' पदके अन्तमें स्थित द्वितीया विभक्तिका 'लुक्' (लोप) हो जाता है। **'कण्ठेकालः'** आदि 'अलुक्' समास हैं; क्योंकि इसमें कण्ठशब्दोत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्तिका 'लुक्' नहीं होता। तत्पुरुष-समास आठ प्रकारका होता है। प्रथमान्त आदि शब्द सुबन्तके साथ समस्त होते हैं। **'पूर्वकायः'** इस तत्पुरुषसमासमें जब **'पूर्वं कायस्य'**—ऐसा विग्रह किया जाता है, तब यह 'प्रथमा-तत्पुरुष' समास कहा जाता है। इसी प्रकार **'अपरकायः'—कायस्य अपरम्**, इस विग्रहमें, **'अधरकायः'—कायस्य अधरम्**—इस विग्रहमें और **'उत्तरकायः'—कायस्योत्तरम्**—इस विग्रहमें भी प्रथमा-तत्पुरुष समास कहा जाता है। ऐसे ही **'अर्द्धकणा'** इसमें **अर्द्धम् कणायाः**—ऐसा विग्रह होनेसे प्रथमा-तत्पुरुष समास होता है एवं **'भिक्षातुर्यम्'**—इसमें **तुर्यं भिक्षायाः**—ऐसा विग्रह होनेसे तुर्यभिक्षा और पक्षान्तरमें **'भिक्षातुर्यम्'**—ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष होता है। ऐसे ही **'आपन्नजीविकः'** यह द्वितीया तत्पुरुष समास है। इसका विग्रह इस प्रकार होता है—**'आपन्नो जीविकाम्।'** पक्षान्तरमें **'जीविकापन्नः'** ऐसा रूप होता है। इसी प्रकार **'माधवाश्रितः'**—यह द्वितीया-समास है; इसका विग्रह **'माधवम् आश्रितः'**—इस प्रकार है। **'वर्षभोग्यः'**—यह द्वितीया-तत्पुरुष समास है—इसका विग्रह है **'वर्षं भोग्यः।'** **'धान्यार्थः'** यह तृतीया-समास है। इसका विग्रह **'धान्येन अर्थः'** इस प्रकार है। **'विष्णुबलिः'** यहाँ **'विष्णवे बलिः'**—इस विग्रहमें चतुर्थी-तत्पुरुष समास होता है। **'वृकभीतिः'** यह पञ्चमी-तत्पुरुष है। इसका विग्रह **'वृकाद् भीतिः'**—इस प्रकार है। **'राजपुमान्'**—यहाँ **'राज्ञः पुमान्'**—इस विग्रहमें षष्ठी-तत्पुरुष समास होता है। इसी प्रकार **'वृक्षस्य फलम्—वृक्षफलम्'**—यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास है। **'अक्षशौण्डः'** (द्यूतक्रीडामें निपुण) इसमें सप्तमी-तत्पुरुष समास है। **अहितः**—जो हितकारी न हो, वह—इसमें 'नञ्समास' है ॥ १—७ ॥

'नीलोत्पल' आदि जिसके उदाहरण हैं, वह 'कर्मधारय' समास सात प्रकारका होता है **१—विशेषणपूर्वपद** (जिसमें विशेषण पूर्वपद हो और विशेष्य उत्तरपद अथवा)। इसका उदाहरण है—**'नीलोत्पल'** (नीला कमल)। **२—विशेष्योत्तरविशेषणपद**—इसका उदाहरण है—**'वैयाकरणखसूचिः'** (कुछ पूछनेपर आकाशकी ओर देखनेवाला वैयाकरण)। **३—विशेषणोभयपद** (अथवा विशेषणद्विपद) जिसमें दोनों पद विशेषणरूप ही हों। जैसे—शीतोष्ण (ठंडा-गरम)। **४—उपमानपूर्वपद**। इसका उदाहरण है—**शङ्खपाण्डुरः** (शङ्खके समान सफेद)। **५—उपमानोत्तरपद**—इसका उदाहरण है—**'पुरुषव्याघ्रः'** (पुरुषो व्याघ्र इव)। **६—सम्भावनापूर्वपद**—(जिसमें पूर्वपद सम्भावनात्मक हो) उदाहरण—**गुणवृद्धिः** (गुण इति वृद्धिः स्यात्। अर्थात् 'गुण' शब्द बोलनेसे वृद्धिकी सम्भावना होती है)। तात्पर्य यह है कि 'वृद्धि हो'—यह कहनेकी आवश्यकता हो तो 'गुण' शब्दका ही उच्चारण करना चाहिये। **७—अवधारणपूर्वपद**—[जहाँ पूर्वपदमें 'अवधारण' (निश्चय) सूचक शब्दका प्रयोग हो, वह]। जैसे—**'सुहृदेव सुबन्धुकः'** (सुहृद् ही सुबन्धु है)। बहुव्रीहिसमास भी सात प्रकारका ही होता है ॥ ८—११ ॥

१—द्विपद, २—बहुपद, ३—संख्योत्तरपद, ४—संख्योभयपद, ५—सहपूर्वपद, ६—व्यतिहारलक्षणार्थ तथा ७—दिग्लक्षणार्थ। 'द्विपद बहुव्रीहि'में दो ही पदोंका समास होता है। यथा—**'आरूढभवनो नरः'**। (**आरूढं भवनं येन सः**—इस विग्रहके अनुसार जो भवनपर आरूढ हो गया हो, उस मनुष्यका बोध कराता है।) 'बहुपद बहुव्रीहि'में दोसे अधिक पद समासमें आबद्ध होते हैं। इसका उदाहरण है—**'अयम् अर्चिताशेषपूर्वः।'** (**अर्चिता अशेषाः पूर्वा यस्य सोऽयम् अर्चिताशेषपूर्वः।**) अर्थात् जिसके सारे पूर्वज पूजित हुए हों, वह 'अर्चिताशेषपूर्व' है। इसमें 'अर्चित' 'अशेष' तथा 'पूर्व'—ये तीनों पद समासमें आबद्ध हैं। ऐसा समास 'बहुपद' कहा गया है। **'संख्योत्तरपद'**का उदाहरण है—**'एते विप्रा उपदशाः'**—ये ब्राह्मण लगभग दस हैं'। इसमें 'दस' संख्या उत्तरपदके रूपमें प्रयुक्त है। **'द्वित्राः द्व्येकत्रयः'** इत्यादि **संख्योभयपद**के उदाहरण हैं। **'सहपूर्वपद'**का उदाहरण—**'समूलोद्धृतकः तरुः'**। (**सह मूलेन उद्धृतं कं शिखा यस्य सः।** अर्थात् जडसहित उखड़ गयी है शिखा जिसकी, वह वृक्ष)—यहाँ पूर्वपदके स्थानमें 'सह' (स) का प्रयोग हुआ है। **व्यतिहारलक्षण**का उदाहरण है—**केशाकेशि, नखानखि युद्धम्** (आपसमें झोंटा-झुटौअल, परस्पर नखोंसे बकोटा-बकोटीपूर्वक कलह) ॥ १२—१४ ॥

दिग्लक्षणार्थका उदाहरण—**उत्तरपूर्वा** (उत्तर और पूर्वके अन्तरालकी दिशा)। 'द्विगु' समास दो प्रकारका बताया गया है। 'एकवद्भाव' तथा 'अनेकधा' स्थितिको लेकर ये भेद किये गये हैं। संख्या पूर्वपदवाला समास 'द्विगु' है। इसे कर्मधारयका ही एक भेदविशेष स्वीकार किया गया है। 'एकवद्भाव'का उदाहरण है—**द्विशृङ्गम्** (दो सींगोंका समाहार)। '**पञ्चमूली**' भी इसीका उदाहरण है। '**अनेकधा**' या '**अनेकवद्भाव**'का उदाहरण है—**सप्तर्षयः** इत्यादि। 'पञ्च ब्राह्मणाः' में समास नहीं होगा; क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है ॥ १५ ॥

'द्वन्द्व' समास भी दो ही प्रकारका होता है—१–'इतरेतर-योगी' तथा २–'समाहारवान्'। प्रथमका उदाहरण है—'**रुद्रविष्णू** (रुद्रश्च विष्णुश्च—रुद्र तथा विष्णु)। यहाँ इतरेतर-योग है। **समाहारका** उदाहरण है—**भेरीपटहम्** (भेरी च पटहश्च, अनयोः समाहारः—अर्थात् भेरी और पटहका समाहार)। यहाँ 'तूर्याङ्ग' होनेसे इनका एकवद्भाव होता है। **अव्ययीभाव** समास भी दो तरहका होता है—१–'नाम-पूर्वपद' और २–('यथा' आदि) अव्यय-पूर्वपद। प्रथमका उदाहरण है—शाकस्य मात्रा—**शाकप्रति**। यहाँ 'शाक' पूर्वपद है और मात्रार्थक 'प्रति' अव्यय उत्तरपद। दूसरेका उदाहरण—'**उपकुमारम्**–**उपरथ्यम्**' इत्यादि हैं। समासको प्रायः चार प्रकारोंमें विभक्त किया जाता है—१–उत्तरपदार्थकी प्रधानतासे युक्त (तत्पुरुष), २–उभयपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व-समास, ३–पूर्वपदार्थ-प्रधान 'अव्ययीभाव' तथा ४–अन्य अथवा बाह्यपदार्थ-प्रधान 'बहुव्रीहि' ॥ १६—१९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समासविभागका वर्णन' नामक तीन सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५५ ॥

तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय

त्रिविध तद्धित-प्रत्यय

कुमार स्कन्द कहते हैं—कात्यायन! अब त्रिविध '**तद्धित**'का वर्णन करूँगा। तद्धितके तीन भेद हैं—**सामान्यावृत्ति तद्धित, अव्यय तद्धित तथा भाववाचक तद्धित**। '**सामान्यावृत्ति तद्धित**' इस प्रकार है—'अंस' शब्दसे 'लच्' प्रत्यय होनेपर '**अंसलः**' बनता है; इसका अर्थ है—बलवान्। 'वत्स' शब्दसे 'लच्' प्रत्यय होनेपर 'वत्सलः' रूप होता है, इसका अर्थ स्नेहवान् है[1]। 'फेन' शब्दसे 'इलच्' प्रत्यय होनेपर '**फेनिलम्**'[2] रूप होता है, इसका अर्थ है—फेनयुक्त जल। लोमादिगणसे 'श' प्रत्यय होता है, (विकल्पसे '**मतुप्**' भी होता है)—इस नियमके अनुसार 'श' प्रत्यय होनेपर '**लोमशः**' प्रयोग बनता है। ('मतुप्' होनेपर '**लोमवान्**' होता है। इसी तरह '**रोमशः, रोमवान्**'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।) पामादि शब्दोंसे 'न' होता है—इस नियमके अनुसार 'पाम' शब्दसे 'न' होनेपर '**पामनः**' '**अङ्गात् कल्याणे**।'—इस वार्तिकके अनुसार 'कल्याण' अर्थमें 'अङ्ग' शब्दसे 'न' होनेपर '**लक्ष्मणः**' (उत्तम लक्षणोंसे युक्त) ये रूप बनते हैं। वैकल्पिक '**मतुप्**' होनेपर तो '**पामवान्**' आदि रूप होंगे। जिसे खुजली हुई हो, वह '**पामन**' या '**पामवान्**' है। इसी तरह पिच्छादि शब्दोंसे '**इलच्**' होता है—इस नियमके अनुसार '**इलच्**'

१. पाणिनि-व्याकरणके अनुसार 'वत्सांसाभ्यां कामबले।' (५। २। ९८)—इस सूत्रसे क्रमशः 'कामवान्' और 'बलवान्'के अर्थमें 'वत्स' और 'अंस' शब्दोंसे 'लच्' प्रत्यय होता है। सूत्रमें 'काम' तथा 'बल' शब्द अर्श आद्यजन्त माने गये हैं। 'काम' शब्द यहाँ 'स्नेह'का वाचक है। यद्यपि लोकमें 'वत्स'का अर्थ बछड़ा और 'अंस'का अर्थ कंधा समझा जाता है, तथापि तद्धित वृत्तिमें 'वत्स' और 'अंस' शब्द क्रमशः 'स्नेह' तथा 'बल'के अर्थमें ही लिये गये हैं (तत्त्वबोधिनी)। इन अर्थोंमें 'मतुप्' प्रत्ययका समुच्चय नहीं होता; क्योंकि 'मतुप्' प्रत्यय करनेपर उक्त अर्थोंकी प्रतीति न होकर अर्थान्तरकी ही प्रतीति होती है। यथा 'वत्सवती गौः।' 'अंसवान् दुर्बलः।' इत्यादि।

२. पाणिनिके अनुसार 'फेनादिलच् च' (५। २। ९९)—इस सूत्रसे 'इलच्' प्रत्यय होता है। यहाँ चकारसे 'लच्' प्रत्ययका भी विकल्पसे विधान सूचित होता है। 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्।' (५। २। ९६)—इस सूत्रसे 'अन्यतरस्याम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे यहाँ 'मतुप्'का भी समुच्चय होता है। इस प्रकार 'फेन' शब्दसे तीन रूप होते हैं—'**फेनिलः**', **फेनलः**' तथा '**फेनवान्**' सागरः।

होनेपर 'पिच्छिलः', 'पिच्छवान्'; 'उरसिलः', 'उरस्वान्' इत्यादि रूप होते हैं। 'पिच्छिलः' का अर्थ 'पंखवान्' होता है। मार्गका विशेषण होनेपर वह फिसलनयुक्तका बोधक होता है—यथा 'पिच्छिलः पन्थाः।' 'उरस्वान्'का अर्थ 'मनस्वी' समझना चाहिये[3]। ['प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः।' (५ । २ । १०१)—इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार] 'ण' प्रत्यय करनेपर 'प्रज्ञा' शब्दसे 'प्राज्ञः' (प्रज्ञावान्), 'श्रद्धा' शब्दसे 'श्राद्धः' (श्रद्धावान्) और 'अर्चा' शब्दसे 'आर्चः' (अर्चावान्) रूप बनते हैं। वाक्यमें प्रयोग—'प्राज्ञो व्याकरणे।' स्त्रीलिङ्गमें 'प्राज्ञा' (प्रज्ञावती) रूप होगा। 'ण' प्रत्यय होनेसे अणन्तत्वप्रयुक्त 'ङीप्' प्रत्यय यहाँ नहीं होगा। यद्यपि 'प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः स एव प्रज्ञावान्।' प्रज्ञ एव प्राज्ञः।' (स्वार्थे अण् प्रत्ययः)—इस प्रकार भी 'प्राज्ञः' की सिद्धि तो होती है, तथापि इससे स्त्रीलिङ्गमें 'प्राज्ञी' रूप बनेगा, 'प्राज्ञा' नहीं। 'वृत्ति' शब्दसे भी 'ण' प्रत्यय होता है—'वार्तः' (वृत्तिमान्)। 'वार्ता' विद्या इत्यादि। ऊँचे दाँत हैं इसके—इस अर्थमें 'दन्त' शब्दसे 'उरच्' प्रत्यय होनेपर 'दन्तुरः'—यह रूप होता है। ('दन्त उन्नत उरच्।' (५ । २ । १०६)—इस पाणिनि-सूत्रसे उक्त अर्थमें 'दन्तुरः' इस पदकी सिद्धि होती है। 'मधु' शब्दसे 'र' प्रत्यय होनेपर 'मधुरम्', 'सुषि' शब्दसे 'र' प्रत्यय होनेपर 'सुषिरम्', 'केश' शब्दसे 'व' प्रत्यय होनेपर 'केशवः' 'हिरण्य' तथा 'मणि' शब्दोंसे 'व' प्रत्यय होनेपर 'हिरण्यव' -मणि वः'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'रजस्' शब्दसे 'वलच्' प्रत्यय होनेपर 'रजस्वलम्' पदकी सिद्धि होती है। १—३।

'धन,' 'कर' तथा 'हस्त'—इन शब्दोंसे 'इनि' प्रत्यय होनेपर क्रमशः 'धनी', 'करी' और 'हस्ती'—ये पद सिद्ध होते हैं। 'धन' शब्दसे 'ठन्' प्रत्यय होनेपर 'धनिकं कुलम्' या 'धनिकः पुरुषः'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'पयस्' तथा 'माया' शब्दोंसे 'विनि' प्रत्यय होनेपर 'पयस्वी', 'मायावी'—ये रूप बनते हैं। 'ऊर्णा' शब्दसे मत्वर्थीय 'युस्' प्रत्यय होनेपर 'ऊर्णायुः' पदकी सिद्धि बतायी गयी है[9]। 'वाच्' शब्दसे 'ग्मिनि' प्रत्यय होनेपर 'वाग्मी' तथा 'आलच्' प्रत्यय होनेपर 'वाचालः'—ये रूप बनते हैं। उसीसे 'आटच्' प्रत्यय होनेपर 'वाचाटः' रूप बनता है। 'फल' तथा 'बर्ह' शब्दोंसे 'इनच्' प्रत्यय होनेपर क्रमशः 'फलिनः', 'बर्हिणः'—ये रूप बनते हैं। 'वृन्द' शब्दसे 'आरकन्' प्रत्यय होनेपर 'वृन्दारकः'—इस पदकी सिद्धि होती है[10]॥४-५॥

---

३. 'लोमशः' 'पामनः' और 'पिच्छिलः' आदि पदोंके साधनके लिये पाणिनिने एक ही सूत्रका उल्लेख किया है—'लोमादिपामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः।' (५ । २ । १००)

४. 'ऊषसुषिमुष्कमधो रः।'(पा० सू० ५ । २ । १०७)—इस सूत्रसे 'र' प्रत्यय होनेपर 'ऊष' आदि शब्दोंसे 'ऊषरः', 'सुषिरम्', 'मुष्करः', 'मधुरम्'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। ये क्रमशः ऊसर भूमि, छिद्र, अण्डकोशवान् तथा माधुर्ययुक्तके बोधक हैं।

५. 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्।' (५ । २ । १०९)—इस सूत्रसे 'केश' शब्दसे 'व' प्रत्यय होनेपर 'केशवः' रूप बनता है। 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति प्रकरणतः प्राप्त होनेसे 'मतुप्' सिद्ध था; पुनः उक्त सूत्रमें जो उसका ग्रहण किया गया, इससे 'इन्' और 'ठन्' का भी समावेश होता है, अतः केशवान्, केशी और केशिकः—ये तीन रूप और बनते हैं। ये सभी प्रयोग मत्वर्थीयप्रत्ययान्त हैं, तथापि व्यवहारमें अन्तर है। 'केशवः' का अर्थ है—घुँघराले केशवाले भगवान् श्रीकृष्ण। अन्य किसीके लिये इस शब्दका प्रयोग नहीं देखा जाता। 'केशी' और 'केशिक' उस दैत्यका वाचक है, जो अश्वरूपधारी था और उसकी गर्दनपर बड़े-बड़े बाल (अयाल) थे। 'केशवान्' पद सामान्यतः सभी केशधारियोंके लिये प्रयुक्त होता है।

६—७. 'हिरण्यवः'का अर्थ 'हिरण्यवान्' (सुवर्ण—सम्पत्तिसे युक्त) तथा 'मणिवः' शब्द 'मणिधारी' (मनियारा) सर्प या नागके लिये प्रयुक्त होता है।

८. 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (५ । २ । ११२)—इस सूत्रसे 'वलच्' प्रत्यय होनेपर क्रमशः 'रजस्वल', 'कृषीवल', 'आसुतीवल' तथा 'परिषद्वल' शब्द सिद्ध होते हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—धूलसे भरा, किसान, जुआरी तथा परिषत्—सभा या समूहसे युक्त।

९. 'अत इनिठनौ' (५ । २ । ११५)—इस सूत्रसे 'इनि' प्रत्यय होनेपर 'धनी' तथा 'ठन्' प्रत्यय होनेपर 'धनिकः' रूप बनते हैं। इसी प्रकार करी, करिकः, हस्ती, हस्तिकः—ये रूप बनते हैं। 'धनी'का अर्थ है—धनवान् तथा 'करी' और 'हस्ती' का अर्थ है—हाथी। 'पयस्वी'का अर्थ है—दूधवाला तथा 'मायावी'का अर्थ है—माया फैलानेवाला। 'विनि' प्रत्ययका विधायक सूत्र है—'अस्मायामेधास्रजो विनिः।' (५ । २ । १२१)। 'ऊर्णाया युस्।' (५ । २ । १२३)—इस सूत्रसे 'युस्' प्रत्ययका विधान हुआ। 'ऊर्णायुः' माने ऊनी।

१०. 'वाचो ग्मिनिः।'(५ । २ । १२४)—इस सूत्रसे 'ग्मिनि' प्रत्यय होता है। 'आलजाटचौ बहुभाषिणि।' 'कुत्सित इति

'शीतं न सहते', 'हिमं न सहते'—इस विग्रहमें 'शीत' तथा 'हिम' शब्दोंसे 'आलुच्' प्रत्यय करनेपर 'शीतालुः' तथा 'हिमालुः' रूप बनते हैं। 'वात' शब्दसे 'उलच्' प्रत्यय होनेपर 'वातुलः' रूप बनता है। 'अपत्य' अर्थमें 'अण्' प्रत्यय होता है। **'वसिष्ठस्यापत्यं पुमान् वासिष्ठः।', 'कुरोरपत्यं पुमान् कौरवः।'** (वसिष्ठकी संतान 'वासिष्ठ' कहलाती है तथा कुरुकी संतति 'कौरव')—'वहाँ उसका निवास है'—इस अर्थमें सप्तम्यन्त 'समर्थ' शब्दसे 'अण्' प्रत्यय होता है। यथा **'मथुरायां वासोऽस्येति माथुरः।'** (मथुरामें निवास है इसका, इसलिये यह 'माथुर' है।) **'सोऽस्य वासः।'**—वह इसका वासस्थान है', इस अर्थमें भी प्रथमान्त 'समर्थ'से 'अण्' प्रत्यय होता है। 'उसको जानता और उसे पढ़ता है'—इस अर्थमें द्वितीयान्त 'समर्थ' पदसे 'अण्' प्रत्यय होता है। **'चान्द्रं व्याकरणमधीते तद् वेद वा इति चान्द्रः।'** (**चान्द्र एव चान्द्रकः स्वार्थे कप्रत्ययः**)। 'क्रमादि' शब्दोंसे 'वुन्' प्रत्यय होता है ('वु'के स्थानमें 'अक' आदेश होता है।) **'क्रमं वेत्ति इति क्रमकः**—जो क्रमपाठको जानता है, वह **'क्रमक'** है।' इसी तरह 'पदकः', 'शिक्षकः', 'मीमांसकः' इत्यादि पद बनते हैं। **'कोशम् अधीते वेद वा।**—जो कोशको जानता या पढ़ता है, वह **'कौशक'** है ॥ ६–८ ॥

'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्।' (पा० सू० ५। २। १) —इस सूत्रके अनुसार धान्योंकी उत्पत्तिके आधारभूत क्षेत्रके अर्थमें षष्ठ्यन्त समर्थ धान्य-वाचक शब्दसे 'खञ्' प्रत्यय होता है। (स्कन्दने कात्यायनको जिसका उपदेश किया, उस कौमार-व्याकरणमें भी यह नियम देखा जाता है।) इसके अनुसार **प्रियंगोर्भवनं क्षेत्रं प्रैयंगवीनम्—प्रियंगु (कँगनी)**की उत्पत्तिके आधारभूत क्षेत्रका बोध करानेके लिये 'खञ्' प्रत्यय होनेपर ('ख' के स्थानपर 'ईन्' आदेश हो जानेपर) **'प्रैयंगवीनम्'**—यह पद बनता है। इसका अर्थ है—'प्रियंगु (कँगनी) की उपज देनेवाला खेत'। इसी तरह मूँग, कोदो आदिकी उत्पत्तिके उपयुक्त खेतको **'मौद्गीन'** तथा **'कौद्रवीण'** कहते हैं। यहाँ **'मुद्ग'** शब्दसे **'खञ्'** होनेपर **'मौद्गीन'** शब्द और **'कोद्रव'** शब्दसे **'खञ्'** होनेपर **'कौद्रवीण'** शब्दकी सिद्धि होती है। **'विदेहस्यापत्यम्'** (विदेहका पुत्र)—इस अर्थमें **'विदेह'** शब्दसे 'अण्' प्रत्यय होनेपर **'वैदेहः'** पदकी सिद्धि होती है। (इन सबमें आदि स्वरकी वृद्धि होती है।) अकारान्त शब्दसे **'अपत्य'** अर्थमें 'अण्'का बाधक **'इ'** प्रत्यय होता है। आदि स्वरकी वृद्धि तथा अन्तिम स्वरका लोप। **'दक्षस्यापत्यं—दाक्षिः, दशरथस्यापत्यं दाशरथिः।'** इत्यादि पद बनते हैं। **'नडादिभ्यः फक्।'** (४। १। ९९) —इस सूत्रके नियमानुसार 'नड'–आदि शब्दोंसे **'फक्'** प्रत्यय होता है। 'फ' के स्थानमें 'आयन' होता है। अतएव **'नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः, चरस्य गोत्रापत्यं चारायणः।'** इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। ('कित्' होनेके कारण आदि वृद्धि हो जाती है।) इसी तरह **'अश्वस्य गोत्रापत्यम् आश्वायनः'** होता है। इसमें **'अश्वादिभ्यः फञ्।'** (४। १। ११०)—इस सूत्रके अनुसार 'फञ्' प्रत्यय होता है। (**'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः फञ्।'** (४। १। ९८) यह भी **फञ्**-विधायक सूत्र है। ब्रध्न, शङ्ख, शकट आदि शब्द कुञ्जादिके अन्तर्गत हैं, अतएव **'शाङ्खायनः', 'शाकटायनः'** आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।) **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४। १। १०५)—इस सूत्रके अनुसार गर्ग, वत्स आदि शब्दोंसे गोत्रापत्यार्थक **'यञ्'** प्रत्यय होनेपर **'गार्ग्यः', 'वात्स्यः'** इत्यादि रूप बनते हैं। **'स्त्रीभ्यो ढक्।'** (४। १। १२०) के नियमानुसार स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दोंसे **'अपत्य'** अर्थमें **'ढक्'** प्रत्यय होता है। फिर उसके स्थानमें **'एय'** होता है। जैसे **'विनतायाः पुत्रः'** (विनताका पुत्र) **'वैनतेय'** कहलाता है। **'सुमित्रा'** आदि शब्द बाह्वादिगणमें पठित हैं, अतः उनसे अपत्यार्थमें **'इञ्'** प्रत्यय होता है। अतएव **'सौमित्रेयः'** न होकर **'सौमित्रिः'** रूप बनता है। **'चटका'** शब्दसे **'चटकाया ऐरक्।'** (४। १। १२८)—इस सूत्रके विधानानुसार **'ऐरक्'** प्रत्यय होनेपर **'चटकाया अपत्यं पुमान्'** (चटकाका नर पुत्र) **'चाटकैर'** कहलाता है। **'गोधा'** शब्दसे **'ढ्रक्'** का विधान है। **'गोधाया ढ्रक्।'** (४। १। १२९) अतः गोधाका अपत्य **'गौधेर'** कहलाता है। **'आरगुदीचाम्।'** (४। १। १३०) के नियमानुसार **'आरक्'** प्रत्यय होनेपर **'गौधारः'** रूप बनता है। ऐसा वैयाकरणोंने बताया है ॥ ९–११ ॥

वक्तव्यम्'—इन वार्तिकोंद्वारा 'आलच्' और 'आटच्' प्रत्यय होते हैं। अच्छी बातको बहुत बोलनेवाला 'वाग्मी' कहलाता है और कुत्सित बातको अधिक बोलनेवाला 'वाचाल' और 'वाचाट' कहलाता है। 'फलबर्हाभ्यामिनच्।' इस वार्तिकसे 'इनच्' और 'शृङ्गवृन्दाभ्याम् आरकन्।' इस वार्तिकसे 'आरकन्' प्रत्यय होनेपर 'फलिनः' (फलवान्), 'बर्हिणः' (मोर) तथा 'वृन्दारकः' (देवता)—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'क्षत्र' शब्दसे 'घ' प्रत्यय होनेपर 'घ' के स्थानमें 'इय' होनेके कारण 'क्षत्रिय' शब्द सिद्ध होता है। 'क्षत्राद् घः ।' (४ । १ । १३८)—'जाति'बोधक 'घ'प्रत्यय होनेपर ही 'क्षत्रियः' रूप बनता है। अपत्यार्थमें तो 'इञ्' होकर 'क्षत्रस्यापत्यं पुमान् क्षात्रिः'—यही रूप बनेगा। 'कुलात् खः ।' (४ । १ । १३९) के अनुसार 'कुल' शब्दसे 'ख' प्रत्यय और 'ख' के स्थानमें 'ईन' आदेश होनेपर 'कुलीनः'—इस पदकी सिद्धि होती है। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः ।' (४ । १ । १५१) के अनुसार अपत्यार्थमें 'कुरु' शब्दसे 'ण्य' प्रत्यय होनेपर आदिवृद्धिपूर्वक गुण-वान्तादेश होकर 'कौरव्यः' इत्यादि प्रयोग बनते हैं। 'शरीरावयवाद् यत् ।' (५ । १ । ६) के नियमानुसार शरीरावयववाचक शब्दोंसे 'यत्' प्रत्यय होनेपर 'मूर्धन्य' तथा 'मुख्य' आदि शब्द सिद्ध होते हैं। 'सुगन्धिः'—'शोभनो गन्धो यस्य सः'—इस लौकिक विग्रहमें बहुव्रीहि समास करनेके पश्चात् 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ।' (५ । ४ । १३५)—इस सूत्रके अनुसार अन्तमें 'इ' हो जानेसे 'सुगन्धिः'—इस शब्दरूपकी सिद्धि होती है ॥ १२ ॥

'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ।' (५ । २ । ३६)—तारकादिगणसे 'इतच्' प्रत्यय होता है, इस नियमके अनुसार 'तारकाः संजाता अस्य' (तारे उग आये हैं, इसके) इस अर्थमें 'तारका' शब्दसे 'इतच्' प्रत्यय होनेपर 'तारकितं नभः' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'कुण्डमिव ऊधो यस्याः सा' (कुण्डाके समान है थन जिसका, वह)—इस लौकिक विग्रहमें बहुव्रीहि समास होनेपर 'ऊधसोऽनङ् ।' (५ । ४ । १३१)—इस सूत्रके अनुसार ऊधोऽन्त बहुव्रीहिसे स्त्रीलिङ्गमें 'अनङ्' होता है। इस प्रकार 'अनङ्' होनेपर 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ।' (४ । १ । २५)—इस सूत्रसे 'ङीष्' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् अन्यान्य प्रक्रियात्मक कार्य होनेके बाद 'कुण्डोध्नी' पदकी सिद्धि होती है। 'पुष्पं धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा' (कामदेवः), 'सुष्ठु धनुर्यस्य स सुधन्वा' (श्रेष्ठ धनुष धारण करनेवाला योद्धा)—इन दोनों बहुव्रीहि-पदोंमें 'धनुषश्च ।' (५ । ४ । १३२)—इस सूत्रसे 'अनङ्' होता है। तत्पश्चात् सुबादि कार्य होनेपर 'पुष्पधन्वा' तथा 'सुधन्वा'—ये दोनों पद सिद्ध होते हैं ॥ १३ ॥

'वित्तेन वित्तः इति वित्तचुञ्चुः ।'—जो धन-वैभवके द्वारा प्रसिद्ध हो, वह 'वित्तचुञ्चुः' है। शब्दशास्त्रमें जिसकी प्रसिद्धि है, वह 'शब्दचुञ्चु' कहलाता है। ये दोनों शब्द 'चुञ्चुप्' प्रत्यय होनेपर निष्पन्न होते हैं। इसी अर्थमें 'चणप्' प्रत्यय भी होता है। यथा—'केशचणः'। जो अपने केशोंसे विदित है, वह 'केशचणः' कहा गया है। (इन प्रत्ययोंका विधान 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ।' (५ । २ । २६)—इस सूत्रके अनुसार होता है। 'पटु' शब्दसे 'प्रशस्त' अर्थमें 'रूप' प्रत्यय होनेपर 'पटुरूपः' पद बनता है। 'प्रशस्तः पटुः—पटुरूपः ।' जो प्रशस्त पटु है, वह 'पटुरूप' कहा जाता है। यह 'रूप' प्रत्यय 'सुबन्त' और 'तिङन्त'—दोनों प्रकारके शब्दोंसे होता है। 'तिङन्त' शब्दसे इस प्रकार होता है—प्रशस्तं पचति इति 'पचतिरूपम् ।' 'पचतिरूपम्' का अर्थ है—अच्छी तरह पकाता है। अतिशयार्थ-द्योतनके लिये 'तमप्', 'इष्ठन्', 'तरप्' और 'ईयसुन्'—ये प्रत्यय होते हैं। इनमेंसे 'तरप्' और 'ईयसुन्'—ये दोनों दोमेंसे एककी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं और 'तमप्' तथा 'इष्ठन्'—ये दोनों बहुतोंमेंसे एककी श्रेष्ठता बताते हैं।—पाणिनिने इसके लिये दो सूत्रोंका उल्लेख किया है—'अतिशायने तमबिष्ठनौ ।' (५ । ३ । ५५) तथा 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ।' (५ । ३ । ५७)। इसके सिवा, यदि किसी द्रव्यका प्रकर्ष न बताना हो तो 'तरप्' 'तमप्' प्रत्ययोंसे परे 'आम्' हो जाता है। यह 'आम्' 'किम्' शब्द, 'एदन्त' शब्द, तिङन्त पद तथा अव्यय-पदसे भी होते हैं। इन सब नियमोंके अनुसार 'अयम् अनयोरतिशयेन पटुः ।' (यह इन दोनोंमें अधिक पटु है)—इस अर्थको बतानेके लिये 'पटु' शब्दसे 'ईयसुन्' प्रत्यय करनेपर विभक्तिकार्यपूर्वक 'पटीयान्' रूप होता है। 'अक्ष' शब्दसे 'तरप्' प्रत्यय होनेपर 'अक्षतर' और 'पटु' आदि शब्दोंसे उक्त प्रत्यय होनेपर 'पटुतरः' आदि रूप बनते हैं। तिङन्तसे 'तरप्' प्रत्यय करके अन्तमें 'आम्' करनेपर 'पचतितराम्' रूप बनता है। 'तमप्' और 'आम्' प्रत्यय होनेपर 'अटतितमाम्' इत्यादि उदाहरण उपलब्ध होते हैं ॥ १४-१५ ॥

किंचित् न्यूनता तथा असमाप्तिका भाव प्रकट करनेके लिये 'सुबन्त' और 'तिङन्त' शब्दोंसे 'कल्पप्', 'देश्य' तथा 'देशीयर्' प्रत्यय होते हैं। 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ।' (५ । ३ । ६७)—इस सूत्रके अनुसार 'मृदु' शब्दसे 'कल्पप्' प्रत्यय होनेपर 'मृदुकल्पः' प्रयोग बनता है। इसका अर्थ हुआ—'कुछ कम मृदु या कोमल'। 'ईषदूनः इन्द्रः—इन्द्रकल्पः । ईषदूनः अर्कः—अर्ककल्पः ।' इत्यादि उदाहरण इसी तरह जाननेयोग्य हैं। 'ईषदूनः

राजा'—इस अर्थमें 'राजन्' शब्दसे 'देशीयर्' प्रत्यय करनेपर 'राजदेशीयः' तथा 'देश्य' प्रत्यय करनेपर 'राजदेश्यः'—ये रूप बनते हैं। इसी तरह 'पटु' शब्दसे 'जातीय' प्रत्यय करनेपर 'पटुजातीयः' पद बनता है। इसका अर्थ है—पटुप्रकार—पटुके प्रकारका। 'थल्' प्रत्यय प्रकार-मात्रका बोधक है, किंतु 'जातीयर्' प्रत्यय 'प्रकारवान्' का बोध कराता है। [इसका विधायक पा० सू० है—'प्रकार-वचने जातीयर्।' ५। ३। ६९] 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्-मात्रचः।' (५। २। ३७)—इस सूत्रके अनुसार 'जल' आदिका प्रमाण बतानेके लिये 'सुबन्त' शब्दोंसे 'द्वयसच्' 'दघ्नच्' तथा 'मात्रच्' प्रत्यय होते हैं। इस नियमसे 'मात्रच्' प्रत्यय होनेपर 'जानुमात्रम्' पद बनता है। इसका अर्थ है—घुटनेतक (पानी है)। 'ऊरु' शब्दसे 'द्वयसच्' प्रत्यय करने-पर 'ऊरुद्वयसम्' तथा 'दघ्नच्' प्रत्यय करनेपर 'ऊरुदघ्नम्'—ये प्रयोग बनते हैं॥ १६-१७॥

'संख्याया अवयवे तयप्।' (पा० सू० ५। २। ४२) —इस सूत्रके अनुसार 'पञ्चावयवा यस्य तत्' (पाँच अवयव हैं, जिसके वह) इस अर्थमें 'पञ्चन्' शब्दसे 'तयप्' प्रत्यय करनेपर 'पञ्चतयम्'—यह रूप बनता है। 'द्वारं रक्षति, द्वारे नियुक्तो वा दौवारिकः'—जो द्वारकी रक्षा करता है, अथवा द्वारपर रक्षाके लिये नियुक्त है, वह 'दौवारिक' है। 'रक्षति।' (पा० सू० ४। ४। ३३) अथवा 'तत्र नियुक्तः।' (पा० सू० ४। ४। ६९) सूत्रसे यहाँ 'ठक्' प्रत्यय हुआ है। 'ठ' के स्थानमें 'इक' आदेश हो जाता है तथा 'द्वारादीनां च।' (७। ३। ४)—इस सूत्रसे 'ऐच्' का आगम होता है। फिर विभक्तिकार्य होनेपर 'दौवारिकः' इस पदकी सिद्धि होती है। इस प्रकार 'ठक्' प्रत्यय होनेपर 'दौवारिक' शब्दकी सिद्धि बतायी गयी है। यहाँतक 'तद्धितकी सामान्यवृत्ति' कही गयी। अब 'अव्यय-संज्ञक तद्धित'का निरूपण किया जाता है॥ १८॥

'यस्मादिति यतः', 'तस्मादिति ततः'—यहाँ 'पञ्चम्या-स्तसिल्।' (५। ३। ७) सूत्रके अनुसार 'तसिल्' प्रत्यय होता है। इकार और लकारकी इत्संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है। 'तसिल्' प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक होनेके कारण 'त्यदादीनामः।' (७। २। १०२) के नियमानुसार अकारान्तादेश हो जाता है। अतः 'यत्' की जगह 'य' और 'तत्' की जगह 'त' होनेसे 'यतः', 'ततः'—ये रूप बनते हैं। 'तसिलादयः प्राक् पाशपः।' ('तसिल्' आदिसे लेकर 'पाशप्' प्रत्ययके पूर्वतक जितने प्रत्यय विहित या अभिहित हुए हैं, उन सबकी 'अव्ययसंज्ञा' होती है)—इस परिगणनाके अनुसार 'यतः', 'ततः' आदि शब्द 'अव्यय' माने गये हैं। 'तसिल्' आदिमें 'त्रल्' प्रत्यय भी आता है। इसका विधायक पाणिनिसूत्र है—'सप्तम्यास्त्रल्।' (५। ३। १०)। 'यस्मिन्निति यत्र', 'तस्मिन्निति तत्र'—इस लौकिक विग्रहमें 'त्रल्' प्रत्यय होनेपर 'यस्मिन् त्र', 'तस्मिन् त्र।' इस अवस्थामें 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१। २। ४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।' (२। ४। ७१) सूत्रसे विभक्तिका लोप और 'त्यदादीनामः।' (७। २। १०२) सूत्रसे अकारान्तादेश होनेपर 'यत्र, तत्र'—इन पदोंकी सिद्धि बतायी गयी है। 'अस्मिन् काले'—इस लौकिक विग्रहमें 'अधुना।' (५। ३। १७) सूत्रसे 'अधुना' प्रत्यय होने 'अस्मिन् अधुना' इस अवस्थामें विभक्तिलोप, 'इदम्' के स्थानमें 'इश्' अनुबन्धलोप तथा 'यस्येति च।' (६। ४। १४८) से इकारलोप होनेपर 'अधुना' की सिद्धि हुई। इसी अर्थमें 'दानीम्' प्रत्यय होनेपर 'इदम्' के स्थानमें 'इ' होकर 'इदानीम्' रूप बनता है। 'सर्वस्मिन् काले'—इस विग्रहमें 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा' (५। ३। १५)—इस सूत्रसे 'दा' प्रत्यय होनेपर 'सर्वदा' रूप बनता है। 'तस्मिन् काले—तर्हि', 'कस्मिन् काले—कर्हि' यहाँ 'तत्' और 'किम्' शब्दोंसे 'काल' अर्थमें 'अनद्यतने र्हि-लन्यतरस्याम्।' (५। ३। २१)—इस सूत्रसे 'र्हिल्' प्रत्यय हुआ। फिर पूर्ववत् प्रातिपदिकावयव विभक्तिका लोप होकर 'त्यदादीनामः।' (७। २। १०२)—इस सूत्रसे 'तत्' के स्थानपर 'त' और 'किमः कः।' (७। २। १०३) सूत्रसे 'किम्' के स्थानमें 'क' होनेपर 'तर्हि' और 'कर्हि'—इन पदोंकी सिद्धि कही गयी है। 'अस्मिन्'—इस विग्रहमें 'त्रल्' प्रत्ययकी प्राप्ति हुई, किंतु उसे बाधित करके 'इदमो हः।' (५। ३। ११)—इस सूत्रसे 'हः' यय हो गया। फिर 'इदम्' के स्थानमें इकार होनेपर 'इह रूपकी सिद्धि हुई॥ १९—२०॥

'येन प्रकारेण यथा, केन प्रकारेण कथम्'—इन स्थलोंपर 'प्रकारवचने थाल्।' (५। ३। २३) के अनुसार 'थाल्' प्रत्यय होनेपर 'यथा', 'तथा' आदि रूप होते हैं। 'किम्' शब्दसे 'किमश्च।' (५। ३। २५) के अनुसार 'थम्' प्रत्यय होता है। अतः 'कथम्' इस रूपकी सिद्धि होती है। जो शब्द दिशाके अर्थमें रूढ़ होते हैं, ऐसे 'दिशा', 'देश' और 'काल' अर्थमें प्रयुक्त शब्दोंसे स्वार्थमें 'अस्ताति' प्रत्यय होता

है। श्लोकमें 'पूर्वस्याम्' यह सप्तमी विभक्तिका, 'पूर्वस्याः' यह पञ्चमी विभक्तिका तथा 'पूर्वा' यह प्रथमा विभक्तिका प्रतिरूप है। अर्थात् उक्त शब्द यदि सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त हों, तभी उनसे 'अस्ताति' प्रत्यय होता है। 'पूर्व', 'अधर' और 'अवर' शब्दोंके स्थानमें क्रमशः 'पुर' 'अध' और 'अव' आदेश होते हैं। 'अस्ताति'के स्थानमें 'असि' प्रत्ययका भी विधान होता है। इन निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार 'पूर्वस्यां दिशि', 'पूर्वस्याः दिशः' 'पूर्वा वा दिक्'—इन लौकिक विग्रहोंमें 'पुरः', 'पुरस्तात्'—ये रूप होते हैं। उसी प्रकार 'अधः, अधस्तात्'—'अवः, अवस्तात्'—इत्यादि रूप जानने चाहिये। इनके वाक्यप्रयोग 'पुरस्तात् संचरेद्', 'पुरस्ताद् गच्छेत्' इत्यादि रूपमें होते हैं। 'समाने अहनि'—इस अर्थमें 'सद्यः'—इस शब्दका प्रयोग होता है। 'समान'का 'स' और 'अहनि' के स्थानमें 'द्यस्' निपातित होकर 'सद्यः'—इस पदकी सिद्धि होती है। 'पूर्वस्मिन् वर्षे परुत्'—'पूर्वतरवर्षे परारि' इति (पूर्व वर्षमें—इस अर्थको बतानेके लिये 'परुत्' शब्दका प्रयोग होता है तथा पूर्वसे पूर्व वर्षमें—इस अर्थका बोध करानेके लिये 'परारि' शब्दका प्रयोग होता है।) पहलेमें 'पूर्व' शब्दके स्थानमें 'पर' आदेश होता है और उससे 'उत्' प्रत्यय किया जाता है। दूसरेमें 'आरि' प्रत्यय होता है और 'पूर्व' के स्थानमें 'पर' आदेश। 'अस्मिन् संवत्सरे' (इस वर्षमें) इस अर्थका बोध करानेके लिये 'ऐषमः' पदका प्रयोग होता है। इसमें 'इदम्' शब्दके स्थानमें 'इकार' आदेश और उससे परे 'समसण्' प्रत्ययका निपातन होता है। अकार-णकारकी इत्संज्ञा हो जानेपर 'इ+समः'—इस अवस्थामें आदिवृद्धि और सकारके स्थानमें मूर्धन्यादेश होनेपर 'ऐषमः' रूपकी सिद्धि होती है। 'परस्मिन्नहनि' (दूसरे दिन) के अर्थमें 'पर' शब्दसे 'एद्यवि' प्रत्यय करनेपर 'परेद्यवि'—यह रूप होता है। 'अस्मिन्नहनि' (आजके दिन) इस अर्थमें 'इदम्' शब्दसे 'द्य' प्रत्यय होता है और 'इदम्' के स्थानमें 'अ' हो जाता है। इस प्रकार 'अद्य'—यह रूप बनता है। 'पूर्वस्मिन् दिने' (पहले दिन)—इस अर्थमें 'पूर्व' शब्दसे 'एद्युस्' प्रत्यय होता है तो 'पूर्वेद्युः' यह रूप बनता है। इसी प्रकार 'परस्मिन् दिने'—'परेद्युः', 'अन्यस्मिन् दिने'—'अन्येद्युः' इत्यादि प्रयोग जानने चाहिये। 'दक्षिणस्यां दिशि वसेत्' (दक्षिण दिशामें निवास करे।)—इस अर्थमें 'दक्षिणा' और 'दक्षिणाहि'—ये रूप बनते हैं। पहलेमें 'दक्षिणादाच्' (५। ३। ३६)—इस सूत्रसे 'आच्' प्रत्यय होता है और दूसरेमें 'आहि च दूरे।' (५। ३। ३७)—इस सूत्रसे 'आहि' प्रत्यय किया गया है। 'दक्षिणाहि वसेत्' का अर्थ हुआ—'दक्षिण दिशामें दूर निवास करे।' 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्।' (५। ३। २८) तथा 'उत्तराधरदक्षिणादातिः।' (५। ३। ३४)—इन सूत्रोंके अनुसार 'दक्षिणतः', 'दक्षिणात्', 'उत्तरतः', 'उत्तरात्'—ये दो रूप भी बनते हैं। 'उत्तरस्यां दिशि वसेत्' (उत्तर दिशामें निवास करे)—इस अर्थमें 'उत्तराच्च।' (५। ३। ३८)—इस सूत्रके अनुसार 'आच्' और 'आहि' प्रत्यय होनेपर 'उत्तरा' तथा 'उत्तराहि'—ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं। 'अस्ताति' प्रत्ययके विषयभूत 'ऊर्ध्व' शब्दसे 'रिल्' और 'रिष्टातिल्' प्रत्यय होते हैं तथा 'ऊर्ध्व' के स्थानमें 'उप' आदेश हो जाता है। इस प्रकार 'उपरि वसेत्', 'उपरिष्टाद् भवेत्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'उत्तर' शब्दसे 'एनप्' प्रत्यय होनेपर 'उत्तरेण' होता है। पूर्वोक्त 'दक्षिणा' शब्दकी सिद्धि 'आच्' प्रत्यय होनेसे होती है—इसका निर्देश पहले किया जा चुका है। 'आहि' प्रत्यय होनेपर 'दक्षिणाहि' पद बनता है—यह भी कहा जा चुका है। 'दक्षिणाहि वसेत्' इसका अर्थ भी दिया जा चुका है। 'संख्याया विधार्थे धा।' (५। ३। ४२)—इस सूत्रके अनुसार संख्यावाची शब्दोंसे 'धा' प्रत्यय करनेपर द्विधा, त्रिधा, चतुर्धा, पञ्चधा इत्यादि रूप होते हैं। 'द्विधा' का अर्थ है—दो प्रकारका। 'एक' शब्दसे प्रकार अर्थमें पूर्वोक्त नियमानुसार जो 'धा' प्रत्यय होता है, उसके स्थानमें 'ध्यमुञ्' हो जाता है। 'उञ्' की इत्संज्ञा हो जाती है। 'ध्यम्' शेष रह जाता है। यथा—'ऐकध्यम्', 'एकधा' (द्रष्टव्य पा० सू० ५। ३। ४४)। 'ऐकध्यं कुरु त्वम्' इस वाक्यका अर्थ है—'तुम एक ही प्रकारसे कर्म करो'। इसी प्रकार 'द्वि' और 'त्रि' शब्दसे 'धा' के स्थानमें 'धमुञ्' होता है। विकल्पसे (द्रष्टव्य—पा० सू० ५। ३। ४५)। 'धमु' होनेपर 'द्वैधम्, त्रैधम्' रूप होते हैं और 'धमुञ्' न होनेपर 'द्विधा', 'त्रिधा'। 'द्वि', 'त्रि' शब्दोंसे सम्बद्ध 'धा' के स्थानमें 'एधाच्' भी होता है। यथा—द्वेधा, त्रेधा। ये सभी प्रयोग सुष्ठुतर हैं॥ २१—२७॥

यहाँतक 'निपातसंज्ञक तद्धित' (अथवा अव्यय-तद्धित) प्रत्यय बताये गये। अब 'भाववाचक तद्धितका' वर्णन किया जाता है।—'तस्य भावस्त्वतलौ।' (५। ११। ११९)—इस सूत्रके अनुसार भावबोधक

प्रत्यय दो हैं—'त्व' और 'तल्'। प्रकृतिजन्य बोधमें जो प्रकार होता है, उसे 'भाव' कहते हैं। 'पटु' शब्दसे 'पटोर्भावः'—इस अर्थमें 'त्व' प्रत्यय होनेपर 'पटुत्वम्' रूप होता है और 'तल्' प्रत्यय होनेपर 'पटुता'। 'पृथोर्भावः' (पृथुका भाव)—इस अर्थमें 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा।' (५ । १ । १२२)—इस सूत्रसे वैकल्पिक 'इमनिच्' प्रत्यय होनेपर 'प्रथिमा'—यह रूप बनता है। 'प्रथिमा' का अर्थ है—मोटापन। 'सुखस्य भावः कर्म वा' (सुखका भाव या कर्म)—इस अर्थमें 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च।' (५ । १ । १२४)—इस सूत्रके अनुसार 'ष्यञ्' प्रत्यय होनेपर 'सौख्यम्'—इस पदकी सिद्धि कही गयी है। 'स्तेनस्य भावः कर्म वा' (स्तेन—चोरका भाव या कर्म)—इस अर्थमें 'स्तेन' शब्दसे 'यत्' प्रत्यय और 'न'—इस समुदायका लोप हो जाता है। (द्रष्टव्य—पा० सू० ५ । १ । १२५)। इस प्रकार 'स्तेय' शब्दकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार 'सख्युर्भावः कर्म वा' (सखाका भाव या कर्म)—इस अर्थमें 'य' प्रत्यय होनेपर 'सख्यम्' इस पदकी सिद्धि कही गयी है। वहाँ 'सख्युर्यः।' (५ । १ । १२६)—इस सूत्रसे 'य' प्रत्यय होता है। 'कपेर्भावः कर्म वा'—इस अर्थमें 'कपिज्ञात्योर्ढक्।' (५ । १ । १२७)—इस सूत्रसे 'ढक्' प्रत्यय होनेपर 'कापेयम्' पदकी सिद्धि होती है। 'सेना एव सैन्यम्'—यहाँ 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्'—इस वार्तिकके अनुसार स्वार्थमें 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है। 'शास्त्रीयात् पथः अनपेतम्' (शास्त्रीय पथसे जो भ्रष्ट नहीं हुआ है, वह)—इस अर्थमें 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते।' (४ । ४ । ९२)—इस सूत्रके अनुसार 'पथिन्' शब्दसे 'यत्' प्रत्यय होनेपर 'पथ्यम्'—यह रूप होता है। 'अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम्'—यहाँ 'अश्व' शब्दसे 'अञ्' हुआ है। ('उष्ट्रस्य भावः कर्म वा औष्ट्रम्'—यहाँ भी 'अञ्' प्रत्यय हुआ है)। 'कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम्'—इसमें भी 'कुमार' शब्दसे 'अञ्' प्रत्यय हुआ। 'यूनोर्भावः कर्म वा यौवनम्'—यहाँ भी पूर्ववत् 'युवन्' शब्दसे 'अञ्' प्रत्यय हुआ है। इन सबमें 'अञ्' प्रत्यय-विधायक सूत्र है—'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' (५ । १ । १२९)। 'आचार्य' शब्दसे 'कन्' प्रत्यय होनेपर 'आचार्यकम्'—यह रूप बनता है। इसी तरह अन्य भी बहुत-से तद्धित प्रत्यय होते हैं, (उन्हें अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये) ॥ २८—३० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेयमहापुराणमें 'तद्धितान्त शब्दोंके रूपका कथन' नामक तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५६ ॥

तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय

उणादिसिद्ध शब्दरूपोंका दिग्दर्शन

कुमार स्कन्द कहते हैं—कात्यायन ! अब 'उणादि' प्रत्यय बताये जाते हैं, जो धातुसे परे होते हैं। 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्।' (१)—इस सूत्रके अनुसार 'कृ' आदि धातुओंसे 'उण्' प्रत्यय होता है। 'करोतीति कारुः।' (जो शिल्पकर्म करता है, वह 'कारु' कहलाता है। लोकभाषामें उसे 'शिल्पी' या 'कारीगर' कहते हैं)। 'कृ' धातुसे 'उण्' प्रत्यय होनेपर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा विभक्तिकार्य किये जाते हैं। इससे 'कारुः'—इस पदकी सिद्धि होती है। 'जि' धातुसे 'उण्' होनेपर 'जायुः' रूप बनता है। 'जायुः' का अर्थ है—औषध। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—'जयति रोगान् इति जायुः'। 'मि' धातुसे वही (उण्) प्रत्यय करनेपर 'मायुः'—यह पद सिद्ध होता है। 'मायुः' का अर्थ है—'पित्त'। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'मिनोति—प्रक्षिपति देहे ऊष्माणम् इति मायुः।' इसी प्रकार 'स्वदते—रोचते इति स्वादुः।', 'साध्नोति परकार्यमिति साधुः।' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। गोमायुः, आयुः—इत्यादि प्रयोग भी इसी तरह सिद्ध होते हैं। 'गोमायु' का अर्थ है—गीदड़ तथा 'आयुः' शब्द आयुर्वेदके लिये भी प्रयुक्त होता है। 'उणादयो बहुलम्।'—(३ । ३ । १) इस सूत्रके अनुसार 'उण्' आदि बाहुल्येन होते हैं। कहीं होते हैं, कहीं नहीं होते। 'आयुः', 'स्वादुः' तथा 'हेतु' आदि शब्द भी उणादिसिद्ध हैं। 'किंशारु' नाम है—धान्यके शूकका। 'किं शृणातीति किंशारुः'। यहाँ 'किं' पूर्वक 'शॄ' धातुसे 'ञुण्' होता है। 'ञ्' तथा 'ण्' अनुबन्ध हैं। किंशॄ+उ। वृद्धि होकर 'किंशारुः' बनता है। 'कृकवाकुः' का अर्थ है—मुर्गा या मोर। 'कृकेन गलेन वक्तीति कृकवाकुः।' 'कृके वचः कश्च'—इस उणादिसूत्रसे 'ञुण्' प्रत्यय होनेपर कृक+वच्+ञुण्—इस अवस्थामें अनुबन्ध-लोप, चकारको ककार और 'अत उपधायाः।' (पा० सू० ७ । २ । ११६) से वृद्धि होती है। 'भरति बिभर्ति वा भद्रः।' 'भृ'

धातु से 'उ' प्रत्यय, गुण, विभक्तिकार्य—भरुः। इसका अर्थ है—भर्ता (स्वामी)। मरुः—जलहीन देश। मृ+उ गुणादेश, विभक्तिकार्य=मरुः। शी+उ=शयुः। इसका अर्थ है—सोया पड़ा रहनेवाला अजगर। त्सर+उ=त्सरुः—अर्थात् खड्गकी मूठ। 'स्वर्यन्ते प्राणा अनेन' इस लौकिक विग्रहमें 'उ' प्रत्यय होता है। फिर गुण होकर 'स्वरुः' पद बनता है। 'स्वरु'का अर्थ है—वज्र। त्रप्+उ=त्रपु। 'त्रपु' नाम है शीशेका। फल्+उ=फल्गुः—सारहीन। अभिकाङ्क्षार्थक 'गृध्' धातुसे 'सुसुधागृधिभ्यः क्रन्', (१९२)—इस सूत्रके अनुसार 'क्रन्' प्रत्यय होनेपर गृध्+क्रन्, ककार-नकारकी इत्संज्ञा गृध्रः अर्थात् गीध पक्षी। मदि+किरच्=मन्दिरम्। तिमि+किरच्=तिमिरम्। 'मन्दिर' का अर्थ गृह तथा 'तिमिर'का अर्थ अन्धकार है। 'सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच्।' (५७)—इस उणादि सूत्रके अनुसार गत्यर्थक 'षल्' धातुसे 'इलच्' प्रत्यय करनेपर 'सलिलम्' यह रूप बनता है। 'सलति गच्छति निम्नमिति सलिलम्'—यह इसकी व्युत्पत्ति है। 'सलिल' शब्द वारि—जलका वाचक है। (इसी प्रकार उक्त सूत्रमें ही कलिलम्, अनिलः; महिला—पृषोदरादित्वात् महेला—इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं।) भण्डि+इलच्=भण्डिलम्। इसका अर्थ है—कल्याण। 'भण्डिल' शब्द दूतके अर्थमें भी आता है। ज्ञानार्थक 'विद्' धातुसे औणादिक 'क्वसु' प्रत्यय होनेपर विद्+क्वसु—इस अवस्थामें 'लशक्वतद्धिते।'(१।३।८)से ककारकी इत्संज्ञा तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्।' (१।३।२)से उकारकी इत्संज्ञा होती है; तत्पश्चात् विभक्ति-कार्य करनेपर 'विद्वान्'—यह रूप बनता है। 'विद्वान्'का अर्थ है—बुध या पण्डित। 'शेरतेऽस्मिन् राजबलानि इति शिबिरम्।'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'शीङ्' धातुसे 'किरच्' प्रत्यय, 'शीङ्'से 'बुक्' का आगम तथा 'शी' के दीर्घ ईकारके स्थानमें ह्रस्व आदेश होनेपर 'शिबिर' शब्दकी सिद्धि होती है। 'शिबिर' कहते हैं—सेनाकी छावनीको। अग्निपुराणके अनुसार गुप्त निवासस्थानको 'शिबिर' कहते हैं॥ १—५॥

'अव्' धातुसे 'सितनिगमिमसि।' (७२) इत्यादि सूत्रके अनुसार 'तुन्' प्रत्यय होनेपर वकारके स्थानमें 'ऊठ्' होकर गुण होनेसे 'ओतु' शब्दकी सिद्धि होती है। 'ओतु' कहते हैं—बिलावको। अभिधानमात्रसे उणादि प्रत्यय होते हैं। 'कृ' धातुसे 'न' प्रत्यय करनेपर गुण होता है और नकारका णकारादेश हो जानेपर 'कर्ण' शब्दकी सिद्धि होती है। 'कर्ण'का अर्थ है—कान अथवा कन्यावस्थामें कुन्तीसे उत्पन्न सूर्यपुत्र कर्ण। 'वस्' धातुसे 'तुन्' प्रत्यय, अगार अर्थमें उसका 'णित्' होकर वृद्धि होनेसे 'वास्तु' शब्द बनता है। 'वास्तु' का अर्थ है—गृहभूमि। 'जीव' शब्दसे 'आतृकन्' प्रत्यय और वृद्धि होकर 'जैवातृक' शब्दकी सिद्धि होती है। 'जैवातृक' का अर्थ है—चन्द्रमा। 'अनः शकटं वहति।'—इस लौकिक विग्रहमें 'वह' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय, 'अनस्'के सकारका डकार आदेश तथा 'वह' के वकारका सम्प्रसारण होनेपर 'अनडुह्' शब्द बनता है, उसके सुबन्तमें अनड्वान्, अनड्वाहौ इत्यादि रूप होते हैं। 'जीव्' धातुसे 'जीवेरातुः।' (८२)—इस सूत्रके अनुसार 'आतु' प्रत्यय करनेपर 'जीवातु' शब्दकी सिद्धि होती है। 'जीवातु' नाम है—संजीवन औषधका। प्रापणार्थक 'वह्' धातुसे—'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।' (५०१)—इस सूत्रके अनुसार 'नित्' प्रत्यय करनेपर विभक्ति-कार्यके पश्चात् 'वह्निः'—इस रूपकी सिद्धि होती है। (इसी प्रकार श्रेणिः, श्रोणिः, योनिः, द्रोणिः, ग्लानिः, हानिः, तूर्णिः बाहुलकात् म्लानिः—इत्यादि पदोंकी सिद्धि होती है।) 'हृ' धातुसे 'इनच्' प्रत्यय होनेपर और अनुबन्धभूत चकारका लोप कर देनेपर 'हृ+इन', गुण तथा विभक्ति-कार्य=हरिणः—इस रूपकी सिद्धि होती है। 'श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्।' (२१३)—इस औणादिक सूत्रसे यहाँ 'इनच्' प्रत्यय हुआ है। 'हरिण' कहते हैं—मृगको। यह शब्द कामी तथा पात्रविशेषके लिये भी प्रयुक्त होता है। 'अण्डन् कृसृभृवृञः।' (१३४)—इस सूत्रके अनुसार 'कृ' आदि धातुओंसे 'अण्डन्' प्रत्यय करनेपर क्रमशः—करण्डः, सरण्डः, भरण्डः, वरण्डः—ये रूप सिद्ध होते हैं। 'करण्ड' शब्द भाजन और भाण्डका वाचक है। मेदिनीकोशके अनुसार यह शब्दके छत्तेके लिये भी प्रयुक्त होता है। 'सरण्ड' शब्द चौपायेका वाचक है। कुछ विद्वान् 'सरण्ड' का अर्थ पक्षी मानते हैं। 'बाहुलकात् तृ प्लवनतरणयोः।

१. गृध्+उ='गृधुः' रूप होता है। 'गृधुः' का अर्थ है—कामदेव।

२. 'विद्' धातुसे 'शतृ' प्रत्यय करनेपर 'विदेः शतुर्वसुः।' (७।१।३६)—इस सूत्रके अनुसार 'विद्' धातुसे परे विद्यमान 'शतृ' के स्थानमें 'वसु' आदेश हो जाता है। यह आदेश वैकल्पिक होता है। अतः 'विदन्' और 'विद्वान्'—ये दोनों रूप विशुद्ध कृदन्त हैं। औणादिक 'विद्वान्' का अर्थ बुध है और कृदन्त 'विद्वान्' का अर्थ जानता हुआ है।

इस धातुसे भी 'अण्डन्' प्रत्यय होकर 'तरण्ड' पदकी सिद्धि होती है। 'तरण्ड' शब्द काठके बेड़ेके लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोग मछली फँसानेके लिये बनायी गयी बंसीके डोरेको भी 'तरण्ड' कहते हैं। 'वरण्ड' शब्द सामवेदके लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोग 'साम' और 'यजुष्'—दो वेदोंके लिये इसका प्रयोग मानते हैं। कुछ लोगोंके मतमें 'वरण्ड' शब्द मुखसम्बन्धी रोगका वाचक है। 'स्फायितञ्चिवञ्चि० (१७८)।' इत्यादि सूत्रसे वृद्ध्यर्थक 'स्फायि' धातुसे 'रक्' प्रत्यय होनेपर 'स्फार' पदकी सिद्धि होती है। 'स्फार' शब्दका अर्थ होता है—प्रभूत अर्थात् अधिक। 'मेदिनीकोश' के अनुसार 'स्फार' शब्द विकट अर्थमें आता है और करका या करवा आदि पात्रके भरते समय पानीमें जो बुलबुले उठते हैं, उनका वाचक भी 'स्फार' शब्द है। 'शुसिचिमीनां दीर्घश्च (१९३)।' इस सूत्रसे 'क्रन्' प्रत्यय और पूर्व ह्रस्वस्वरके स्थानमें दीर्घ कर देनेपर क्रमशः शूरः, सीरं, चीरं, मीरः—ये प्रयोग बनते हैं। 'चीर' शब्द गायके थन, वस्त्रविशेष तथा वल्कलके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'भी' धातुसे 'भियः क्रुक्रन्'—(१९९) इस सूत्रसे 'क्रुक्रन्' प्रत्यय करनेपर 'भीरुकः'—इस पदकी सिद्धि होती है। इसके पर्यायवाची शब्द हैं—'भीरु' और 'कातर'। 'उच समवाये'—इस धातुसे 'रन्' प्रत्यय करनेपर 'उग्रः' पदकी सिद्धि होती है। 'उग्रः' का अर्थ है—प्रचण्ड। 'वहियुभ्यां णित् ।'—इस सूत्रके अनुसार 'णित् असच्' प्रत्यय करनेपर 'वाहसः', 'यावसः'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं। 'वाहसः' का अर्थ है—अजगर और 'यावसः' का अर्थ है—तृणसमूह। 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च ।'—इस सूत्रके अनुसार 'गम्' धातुसे 'अत्' प्रत्ययका निपातन हुआ। 'गम्' के स्थानमें 'जग्' आदेश हुआ। इस प्रकार 'जगत्' शब्दकी सिद्धि हुई। 'जगत्' का अर्थ है—भूलोक। 'कृतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पि०' इत्यादि (४५०) सूत्रके अनुसार 'कृश' धातुसे 'आनुक्' प्रत्यय करनेपर 'कृशानुः'—इस पदकी सिद्धि होती है। 'कृशानुः' का अर्थ है—अग्नि। 'द्योतते इति ज्योतिः।' 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः।' (२७५)—इस सूत्रके अनुसार 'द्युत्' धातुसे 'इसिन्' प्रत्यय, दकारका जकारादेश तथा गुण होनेपर 'ज्योतिः' इस पदकी सिद्धि होती है। 'ज्योतिः' का अर्थ है—अग्नि और सूर्य। 'अर्च' धातुसे 'कृदाधारार्चिकलिभ्यः ।' (३२७)—इस सूत्रके अनुसार 'क' प्रत्यय होनेपर 'अर्कः' पदकी सिद्धि होती है। 'अर्क' एव अर्ककः'। स्वार्थे कः। 'अर्कः' पद सूर्यका वाचक है।

'कॄगॄशॄवॄञ्चतिभ्यः ष्वरच् ।' (२८६)—इस सूत्रके अनुसार वरणार्थक 'वृ' धातुसे तथा याचनार्थक 'चते' धातुसे 'ष्वरच्' प्रत्यय करनेपर क्रमशः 'वर्वरः', 'चत्वरम्'—इन दो पदोंकी सिद्धि होती है। 'वर्वर' का अर्थ है—प्राकृत जन अथवा कुटिल मनुष्य। 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् ।' (२७३)—इस सूत्रके अनुसार हिंसार्थक 'धूर्वि' धातुसे 'तन्' प्रत्यय करनेपर 'धूर्त्तः'—इस पदकी सिद्धि होती है। 'धूर्त्त' शब्दका अर्थ है—शठ। 'चत्वरम्' का अर्थ है—चौराहा। 'छित्वरछत्वरधीवर०' इत्यादि औणादिक सूत्रसे 'चीवरम्' इस पदका निपातन हुआ है। 'चीवरम्' का अर्थ है—चिथड़ा अथवा भिक्षुकका वस्त्र। स्नेहनार्थक 'ञिमिदा' अथवा 'मिद्' धातुसे 'अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः ।' (६१३)—इस सूत्रके अनुसार 'क्त्र' प्रत्यय हुआ। ककारका इत्संज्ञालोप हुआ—मिद्+त्र=मित्र। विभक्ति-कार्य करनेपर 'मित्रः'—इस पदकी सिद्धि हुई। 'मित्र'का अर्थ है—सूर्य। नपुंसकलिङ्गमें इसका अर्थ—सुहृद् होता है। 'पुवो ह्रस्वश्च ।' इस सूत्रके अनुसार 'पुनातीति' इस लौकिक विग्रहमें 'पू' धातुसे 'क्त्र' प्रत्यय और दीर्घके स्थानमें ह्रस्व होनेपर 'पुत्र' शब्दकी सिद्धि होती है। 'पुत्र'का अर्थ है—बेटा। 'सुवः कित् ।' (३२८)—इस सूत्रके अनुसार प्राणिप्रसवार्थक 'षूङ्' धातुसे 'नु' प्रत्यय होता है और वह 'कित्' माना जाता है। धातुके आदि षकारको सकारादेश हो जाता है। इस प्रकार 'सूनु' शब्दकी सिद्धि होती है। विभक्तिकार्य होनेपर 'सूनुः' पद बनता है। 'विश्वकोश'के अनुसार इसका अर्थ पुत्र और सूर्य है। 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०' (२६०) इत्यादि सूत्रके अनुसार 'पितृ' शब्द निपातित होता है। 'पातीति पिता'। 'पा' धातुसे 'तृच्' होकर आकारके स्थानमें इकार हो जाता है। पिता, पितरौ, पितरः इत्यादि इसके रूप हैं। जन्मदाता या बापको 'पिता' कहते हैं। विस्तारार्थक 'तन्' धातुसे 'वुतनिभ्यां दीर्घश्च ।'—इस सूत्रके अनुसार 'तन्' प्रत्यय तथा ह्रस्वके स्थानमें दीर्घ होनेपर 'तात' शब्दकी सिद्धि होती है। यहाँ अनुनासिक लोप हुआ है। 'तात' शब्द कृपापात्र तथा पिताके लिये प्रयुक्त होता है। कुत्सितशब्दार्थक 'पर्द' धातुसे 'काकु' प्रत्यय होता है और वह 'नित्' माना जाता है। धातुके रेफका सम्प्रसारण और अकारका लोप हो जाता है। जैसा कि सूत्र है—'पर्देर्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च ।' (३६७) 'काकु' प्रत्ययके आदि ककारका

'लशक्वतद्धिते ।' (१ । ३ । ८)—इस सूत्रसे लोप हो जाता है । इस प्रक्रियासे 'पृदाकु' शब्दकी सिद्धि होती है । पर्दते—कुत्सितं शब्दं करोति इति पृदाकुः । इसका अर्थ है—सर्प, बिच्छू या व्याघ्र । 'हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् ।' (३७३) इस सूत्रके द्वारा 'गृ' धातुसे 'तन्' प्रत्यय और गुणादेश करनेपर 'गर्त्त' शब्दकी सिद्धि होती है । यह 'अवट' अर्थात् गड्ढेका वाचक है । 'भृमृशितृ०' इत्यादि (७) सूत्रके अनुसार 'भृ' धातुसे 'अतच्' प्रत्यय तथा गुणादेश करनेपर 'भरत' शब्द निष्पन्न होता है । जो भरण-पोषण करे, वह 'भरत' है । 'नमतीति नटः'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'जनिदाच्युसृवृमदि०' इत्यादि (५५४) सूत्रके द्वारा 'नम' धातुसे 'डट्' प्रत्यय करनेपर 'टि' लोप होनेके पश्चात् 'नट' शब्द बनता है । इसका अर्थ है—वेषधारी अभिनेता । ये थोड़े-से उणादि प्रत्यय यहाँ प्रदर्शित किये गये । इनके अतिरिक्त भी बहुत-से उणादि प्रत्यय होते हैं ॥ ६—१२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'उणादिसिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५७ ॥

तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय

तिङ्विभक्त्यन्त सिद्धरूपोंका वर्णन

कुमार कार्त्तिकेय कहते हैं—कात्यायन ! अब मैं 'तिङ्-विभक्ति' तथा 'आदेश'का संक्षेपसे वर्णन करूँगा । तिङ्-प्रत्यय भाव, कर्म और कर्ता—तीनोंमें होते हैं । सकर्मक तथा अकर्मक धातुसे कर्तामें आत्मनेपद तथा परस्मैपद—दोनों पदोंके 'तिङ्प्रत्यय' होते हैं । (सकर्मकसे कर्ता और कर्ममें तथा अकर्मकसे भाव और कर्तामें वे 'तिङ्' प्रत्यय हुआ करते हैं—यह विवेक कर्तव्य है) 'तिङादेश' सकर्मक धातुसे कर्म तथा कर्तामें बताये गये हैं । वर्तमानकालकी क्रियाके बोधके लिये धातुसे 'लट्' लकारका विधान कहा गया है । विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट (सत्कार-पूर्वक व्यापार), सम्प्रश्न तथा प्रार्थना आदि अर्थका प्रतिपादन अभीष्ट हो तो धातुसे 'लिङ्' लकार होता है । 'विधि' आदि अर्थोंमें तथा आशीर्वादमें भी 'लोट्' लकारका प्रयोग होता है । अनद्यतन भूतकालका बोध करानेके लिये 'लङ्' लकार प्रयुक्त होता है । सामान्य भूतकालमें 'लुङ्', परोक्षभूतमें 'लिट्', अनद्यतन भविष्यमें 'लुट्', आशीर्वादमें 'लिङ्', शेष अर्थमें अर्थात् सामान्य भविष्यत् अर्थके बोधके लिये धातुसे 'लृट्' लकार होता है—क्रियार्था क्रिया हो तो भी, न हो तो भी । हेतुहेतुमद्भाव आदि 'लिङ्'का निमित्त होता है; उसके होनेपर भविष्यत् अर्थका बोध करानेके लिये धातुसे 'लृङ्' लकार होता है—क्रियाकी अतिपत्ति (असिद्धि) गम्यमान हो, तब । 'तङ्' प्रत्यय तथा 'शानच्', 'कानच्'—इनकी आत्मनेपद संज्ञा होती है । 'तिङ्' विभक्तियाँ अठारह हैं । इनमें पूर्वकी नौ विभक्तियाँ 'परस्मैपद' कही जाती हैं । वे प्रथमपुरुष आदिके भेदसे तीन भागोंमें बँटी हैं । 'तिप् तस् अन्ति'—ये तीन प्रथमपुरुष हैं । 'सिप्, थस्, थ'—ये तीन मध्यमपुरुष हैं । तथा 'मिप्, वस्, मस्'—ये उत्तमपुरुष कहे गये हैं ॥ १—५½ ॥

'त, आताम्, झ'—ये आत्मनेपदके प्रथमपुरुषसम्बन्धी प्रत्यय हैं । 'थास्, आथाम्, ध्वम्'—ये मध्यमपुरुष हैं । 'इ, वहि, महिङ्'—ये उत्तमपुरुष हैं । आत्मनेपदके नौ प्रत्यय 'तङ्' कहलाते हैं और दोनों पदोंके प्रत्यय 'तिङ्' शब्दसे समझे जाते हैं । क्रियावाची 'भू', वा आदि धातु कहे गये हैं । भू, एध्, पच्, नन्द्, ध्वंस्, स्रंस्, पद्, अद्, शीङ्, क्रीड, हु, हा, धा, दिव्, स्वप्, नह्, शून्, तुद्, सृज्, मुच, रुध, भुज, त्यज, तन, मन और कृ—ये सब धातु शप् आदि विकरण होनेपर क्रियार्थबोधक होते हैं । 'क्रीड, वृक्ष, ग्रह, चुर, पा, नी तथा अधि'—ये तथा उपर्युक्त धातु 'नायक' (प्रधान) हैं । इन्हींके समान अन्य धातुओंके भी रूप होते हैं । 'भू' धातुसे क्रमशः 'तिङ्' प्रत्यय होनेपर 'भवति, भवतः, भवन्ति'—इत्यादि रूप होते हैं । इनका वाक्यमें प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये—'स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां भवावः । वयं भवामः ।' ये 'भू' धातुके 'लट्' लकारमें परस्मैपदी रूप हैं । 'भू' धातुका अर्थ है—'होना' । 'एध्' धातु 'वृद्धि' अर्थमें प्रयुक्त होता है । यह आत्मनेपदी धातु है । इसका 'लट्' लकारमें प्रथमपुरुषके एकवचनमें 'एधते' रूप बनता है । वाक्यमें प्रयोग—'एधते कुलम् ।' (कुलकी वृद्धि होती है)—इस प्रकार होता है । 'लट्'लकारमें 'एध्' धातुके शेष रूप इस प्रकार होते हैं—'द्वे एधेते' । (दो बढ़ते हैं) । यह द्विवचनका रूप है ।

बहुवचनमें 'एधन्ते' रूप होता है। इस प्रकार प्रथमपुरुषके एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त रूप बताये गये। अब मध्यम और उत्तम पुरुषोंके रूप प्रस्तुत किये जाते हैं — 'एधसे' यह मध्यमपुरुषका एकवचनान्त रूप है। वाक्यमें इसका प्रयोग इस प्रकार हो सकता है—'त्वं हि मेधया एधसे।' (निश्चय ही तुम बुद्धिसे बढ़ते हो।) 'एधेथे, एधध्वे' ये दोनों मध्यमपुरुषके क्रमशः द्विवचनान्त और बहुवचनान्त रूप हैं। 'एधे, एधावहे, एधामहे'—ये उत्तमपुरुषमें क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त रूप हैं। वाक्यमें प्रयोग—'अहं धिया एधे।' (मैं बुद्धिसे बढ़ता हूँ।) 'आवां मेधया एधावहे।' (हम दोनों मेधासे बढ़ते हैं।) 'वयं हरेर्भक्त्या एधामहे।' (हम श्रीहरिकी भक्तिसे बढ़ते हैं।) 'पाक' अर्थमें 'पच्' धातुका प्रयोग होता है। उसके 'पचति' इत्यादि रूप पूर्ववत् ('भू' धातुके समान) होते हैं। 'भू' धातुसे भावमें और 'अनु + भू' धातुसे कर्ममें 'यक्' प्रत्यय होनेपर क्रमशः 'भूयते' और 'अनुभूयते' रूप होते हैं। भावमें प्रत्यय होनेपर क्रिया केवल एकवचनान्त ही होती है और सभी पुरुषोंमें कर्ता तृतीयान्त होनेके कारण एक ही क्रिया सबके लिये प्रयुक्त होती है। यथा—'त्वया मया अन्यैश्च भूयते।' जहाँ कर्ममें प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म उक्त होनेके कारण उसमें प्रथमा विभक्ति होती है और तदनुसार सभी पुरुषों तथा सभी वचनोंमें क्रियाके रूप प्रयोगमें लाये जाते हैं। यथा—'असौ अनुभूयते। तौ अनुभूयेते। ते अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। युवाम् अनुभूयेथे। यूयम् अनुभूयध्वे। अहम् अनुभूये। आवाम् अनुभूयावहे। वयम् अनुभूयामहे'॥ ६—१३॥

अर्थविशेषको लेकर धातुसे 'णिच्', 'सन्', 'यङ्' तथा 'यङ्लुक्' होते हैं। इन्हें क्रमसे 'ण्यन्त', 'सन्नन्त', 'यङन्त' और 'यङ्लुगन्त' कहते हैं। जहाँ किसी क्रियाके कर्ताका कोई प्रेरक या प्रयोजक कर्ता होता है, वहाँ प्रयोजक कर्ताकी 'हेतु'संज्ञा होती है और प्रयोज्य कर्ता 'कर्म' बन जाता है। प्रयोजकके व्यापार प्रेषण आदि वाच्य हों तो धातुसे 'णिच्' प्रत्यय होता है। उसके होनेपर 'भू' धातुके 'लट्' लकारमें 'भावयति' इत्यादि रूप होते हैं। उदाहरणके लिये— 'ईश्वरो भवति, तं यज्ञदत्तो ध्यानादिना प्रेरयति इत्यस्मिन्नर्थे यज्ञदत्त ईश्वरं भावयति इति प्रयोगो भवति' (ईश्वर होता है और यज्ञदत्त उसको ध्यानादिके द्वारा प्रेरित करता है— इस अर्थको व्यक्त करनेके लिये 'यज्ञदत्त ईश्वरं भावयति' यह प्रयोग बनता है)।' जहाँ कोई धातु इच्छाक्रियाका कर्म बनता है तथा इच्छाक्रियाका कर्ता ही उस धातुका भी कर्ता होता है, वहाँ उस धातुसे इच्छाकी अभिव्यक्तिके लिये 'सन्' प्रत्यय होता है। 'भू' धातुके सन्नन्तमें 'बुभूषति' इत्यादि रूप होते हैं। यथा—'भवितुम् इच्छति बुभूषति।' (होना चाहता है।) वक्ता चाहे तो 'बुभूषति' कहे अथवा 'भवितुम् इच्छति'—इस वाक्यका प्रयोग करे। यह स्मरणीय है कि 'सन्' और 'यङ्' प्रत्यय परे रहनेपर धातुका द्वित्व हो जाता है। शेष कार्य व्याकरणकी प्रक्रियाके अनुसार होते हैं। जहाँ क्रियाका समभिहार हो, अर्थात् पुनः-पुनः या अतिशयरूपसे क्रियाका होना बताया जाय, वहाँ उक्त अभिप्रायका द्योतन या प्रकाशन करनेके लिये धातुसे 'यङ्' प्रत्यय होता है। 'यङ्' और 'यङ्लुगन्त' में धातुका द्वित्व होनेपर पूर्वभागके, जिसे 'अभ्यास' कहते हैं, 'इक्' का 'गुण' हो जाता है। 'भू' धातुके 'यङन्त' में 'बोभूयते' इत्यादि रूप होते हैं। 'पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति'—इस अर्थमें 'बोभूयते' क्रियाका प्रयोग होता है। यथा—'वाद्यं बोभूयते।' (वाद्यवादन बार-बार या अधिक मात्रामें होता है)। 'यङ्लुगन्त' में 'भू' धातुके 'बोभोति' इत्यादि रूप होते हैं। अर्थ वही है, जो 'यङन्त' क्रियाका होता है। 'यङन्त' में आत्मनेपदीय प्रत्यय होते हैं और 'यङ्लुगन्त' में परस्मैपदीय॥ १४॥

कहीं-कहीं 'नाम' या 'सुबन्त' शब्दसे 'क्यच्' आदि प्रत्यय होनेपर उस शब्दकी 'धातु'संज्ञा होती है और उसके धातुके ही समान रूप चलते हैं। ऐसे प्रकरणको 'नामधातु' कहते हैं। जो इच्छाका कर्म हो और इच्छा करनेवालेका सम्बन्धी हो, ऐसे 'सुबन्त'से इच्छा-अर्थमें विकल्पसे 'क्यच्' प्रत्यय होता है। 'आत्मनः पुत्रम् इच्छति।' (अपने लिये पुत्र चाहता है)— इस अर्थमें 'पुत्रम्' इस 'सुबन्त' पदसे 'क्यच्' प्रत्यय हुआ। अनुबन्धलोप होनेपर 'पुत्र अम् य' हुआ। 'सनाद्यन्ता धातवः।' (३। १। ३२) से धातुसंज्ञा होकर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।' (२। ४। ७०) से 'अम्' का लोप हो गया। पुत्र+य—इस स्थितिमें 'क्यचि च।' (७। ४। ३३)—इस सूत्रके अनुसार 'अकार' के स्थानमें 'ईकार' हो गया। इस प्रकार 'पुत्रीय' से 'तिप्' 'शप्' आदि कार्य होनेपर 'पुत्रीयति' इत्यादि रूप होते हैं। इसी अर्थमें 'काम्यच्' प्रत्यय भी होता है और 'पुत्र' शब्दसे 'काम्यच्' प्रत्यय होनेपर 'पुत्रकाम्यति' इत्यादि रूप होते हैं। 'पटत्

भवति इति पटपटायते ।' यहाँ 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ।' (५ । ४ । ५७)—इस सूत्रके अनुसार 'भू' के योगमें 'डाच्' प्रत्यय होनेपर 'पटत् डा' इस स्थितिमें 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् ।' इस वार्तिकसे द्वित्व होकर 'नित्यमाम्रेडितं डाचि ।' इस वार्तिकसे पररूप हुआ तो टि-लोपके अनन्तर 'पटपटा+भू'—यह अवस्था प्राप्त हुई । इसके बाद 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ।' (३ । १ । १३)—इस सूत्रसे 'भवति' इस अर्थमें 'क्यष्' प्रत्यय हुआ तो 'पटपटा+क्यष्' बना । फिर अनुबन्धलोप, धातु-संज्ञा तथा धातुसम्बन्धी कार्य होनेसे 'पटपटायते'—यह रूप सिद्ध हुआ । इसका अर्थ है कि 'पटपट' की आवाज होती है । 'घटं करोति ।'—इस अर्थमें 'तत्करोति तदाचष्टे' के अनुसार 'घटयति' रूप बनता है । 'सन्नन्त' से 'णिच्' प्रत्यय किया जाय तो 'भू' धातुके सन्नन्त रूप 'बुभूषति' की जगह 'बुभूषयति' रूप बनेगा । प्रयोग—'गुरुः शिष्यं बुभूषयति' ॥ १५ ॥

'भू' धातुके 'विधिलिङ्' लकारमें क्रमशः ये रूप होते हैं—'भवेत्, भवेताम्, भवेयुः । भवेः, भवेतम्, भवेत । भवेयम्, भवेव, भवेम' । 'एध' धातुके 'विधिलिङ्' में इस प्रकार रूप बनते हैं—एधेत, एधेयाताम्, एधेरन् । एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम् । एधेय, एधेवहि, एधेमहि ।' वाक्य-प्रयोग—'ते मनसा एधेरन्' (वे मनसे बढ़ें—उन्नति करें)। 'त्वं श्रिया एधेथाः ।' (तुम लक्ष्मीके द्वारा बढ़ो इत्यादि)। 'भू' धातुके 'लोट्' लकारमें ये रूप होते हैं—'भवतु, भवतात्, भवताम्, भवन्तु । भव-भवतात्, भवतम्, भवत । भवानि, भवाव, भवाम ।' 'एध्' धातुके 'लोट्' लकारमें ये रूप जानने चाहिये—'एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम् । एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् । एधै, एधावहै, एधामहै ।' 'पच्' धातुके भी आत्मनेपदमें ऐसे ही रूप होते हैं । यथा उत्तमपुरुषमें—'पचै, पचावहै, पचामहै ।' 'अभि' पूर्वक 'नदि' धातुका 'लङ्' लकारमें प्रथमपुरुषके एकवचनमें 'अभ्यनन्दत्'—यह रूप होता है । 'पच्' धातुके 'लङ्' लकारमें—'अपचत्, अपचताम्, अपचन्' इत्यादि रूप होते हैं । 'भू' धातुके 'लङ्' लकारमें 'अभवत्, अभवताम्, अभवन्' इत्यादि रूप होते हैं । 'पच्' धातुके 'लङ्' लकारके उत्तमपुरुषमें—'अपचम्, अपचाव, अपचाम'—ये रूप होते हैं । 'एध्' धातुके 'लङ्' लकारमें—ऐधत, ऐधेताम् ऐधन्त । ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम् । ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि'—ये रूप होते हैं । 'भू' धातुके 'लुङ्' लकारमें अभूत्, अभूताम्, अभूवन् । अभूः, अभूतम्, अभूत । अभूवम्, अभूव, अभूम'—ये रूप होते हैं । 'एध्' धातुके 'लुङ्' लकारमें ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत । ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम् । ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि'—ये रूप जानने चाहिये । वाक्यप्रयोग—'नरौ ऐधिषाताम्' (दो मनुष्य बढ़ें)। 'भू' धातुके 'परोक्षलिट्' में 'बभूव, बभूवतुः, बभूवुः । बभूविथ, बभूवथुः, बभूव । बभूव, बभूविव, बभूविम ।'—ये रूप होते हैं । 'पच्' धातुके आत्मनेपदकी 'लिट्' लकारमें प्रथमपुरुषके रूप इस प्रकार हैं—'पेचे, पेचाते, पेचिरे ।' 'एध्' धातुके 'लिट्' लकारमें इस प्रकार रूप समझने चाहिये—'एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे, एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे ।' 'पच्' धातुके 'परोक्ष-लिट्' में प्रथमपुरुषके रूप बताये गये हैं । मध्यम और उत्तम पुरुषके रूप इस प्रकार होते हैं—'पेचिषे, पेचाथे, पेचिध्वे । पेचे, पेचिवहे, पेचिमहे ।' 'भू' धातुके 'अनद्यतन भविष्य लुट्' लकारमें इस प्रकार रूप जानने चाहिये—'भविता, भवितारौ, भवितारः । भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ । भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः ।' वाक्यप्रयोग—'हरादयो भवितारः ।' (हर आदि होंगे ।) 'वयं भवितास्मः ।' (हम होंगे ।) 'पच्' धातुके 'लुट्' लकारमें 'परस्मैपदीय' रूप इस प्रकार हैं—'पक्ता, पक्तारौ, पक्तारः, पक्तासि । (शेष भूधातुकी तरह) । वाक्यप्रयोग—'त्वं शुभौदनं पक्तासि ।' (तुम अच्छा भात राँधोगे ।) 'पच्' धातुके 'लुट्' लकारमें 'आत्मनेपदीय' रूप इस प्रकार हैं—प्रथमपुरुषमें तो 'परस्मैपदीय' रूपके समान ही होते हैं, मध्यम और उत्तम-पुरुषमें—'पक्तासे, पक्तासाथे, पक्ताध्वे । पक्ताहे, पक्तास्वहे, पक्तास्महे ।' वाक्यप्रयोग—'अहं पक्ताहे ।' (मैं पकाऊँगा ।) 'वयं हरेश्चरुं पक्तास्महे ।' (हम श्रीहरिके लिये चरु पकावेंगे या तैयार करेंगे ।) 'आशीर्लिङ्' में 'भू' धातुके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—'भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः । भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त । भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म ।' वाक्यप्रयोग—'सुखं भूयात् ।' (सुख हो ।) 'हरिशङ्करौ भूयास्ताम् ।' (विष्णु और शिव हों ।) 'ते भूयासुः ।' (वे हों ।) 'त्वं भूयाः ।' (तुम होओ ।) 'युवाम् ईश्वरौ भूयास्तम् ।' (तुम दोनों ईश्वर—ऐश्वर्यशाली होओ ।) 'यूयं भूयास्त ।' (तुम सब होओ ।) 'अहं भूयासम् ।'

(मैं होऊँ ।) 'वयं सर्वदा भूयास्म ।' 'यक्ष्' धातुके आत्मनेपदीय 'आशिष्-लिङ्' में इस प्रकार रूप होते हैं— 'यक्षीष्ट, यक्षीयास्ताम्, यक्षीरन् । यक्षीष्ठाः, यक्षीयास्थाम्, यक्षीध्वम् । यक्षीय, यक्षीवहि, यक्षीमहि ।' इसी प्रकार 'एध्' धातुके 'आशीर्लिङ्' में ये रूप जानने चाहिये— 'एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम् । एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि ।' 'यक्ष्' धातुके 'लृङ्' लकारमें ये रूप होते हैं— 'अयक्ष्यत, अयक्ष्येताम्, अयक्ष्यन्त । अयक्ष्यथाः, अयक्ष्येथाम्, अयक्ष्यध्वम् । अयक्ष्ये, अयक्ष्यावहि, अयक्ष्यामहि ।' 'एध्' धातुके 'लृङ्' लकारके रूप इस प्रकार हैं—'ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि ।' वाक्यप्रयोग—काचिद् बाधा नाभविष्यच्चेद् वयम् अरेः ऐधिष्यामहि । (यदि कोई बाधा न पड़े तो हम अवश्य शत्रुसे बढ़ जायँ ।) 'भू' धातुके 'लृट्' लकारमें 'भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति'—इत्यादि रूप होते हैं । 'एध्' धातुके 'लृट्' लकारमें— 'एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते । एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे । एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे ।' ये रूप होते हैं ॥ १६—२९ ॥

इसी प्रकार 'णिजन्त' वि-पूर्वक 'भू' धातुके 'लृट्' लकारमें—'विभावयिष्यति, विभावयिष्यतः, विभावयिष्यन्ति' इत्यादि रूप होते हैं । 'यङ्लुगन्त' 'भू' धातुके 'लृट्' लकारमें 'बोभविष्यति' इत्यादि रूप होते हैं । 'नामधातु'में 'घटं करोति, पटं करोति' इत्यादि अर्थमें जिनके 'घटयति, पटयति' इत्यादि रूप कह आये हैं, उन्हींके 'विधिलिङ्' में 'घटयेत्, पटयेत्' इत्यादि रूप होते हैं । इसी तरह 'पुत्रीयति' और 'पुत्रकाम्यति' इत्यादि नामधातु-सम्बन्धिनी क्रियाओंके रूपोंकी ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ ३० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'तिङ्-विभक्त्यन्त सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५८ ॥

तीन सौ उनसठवाँ अध्याय

कृदन्त शब्दोंके सिद्ध रूप

कुमार कार्तिकेय कहते हैं—कात्यायन ! यह जानना चाहिये कि 'कृत्' प्रत्यय भाव, कर्म तथा कर्ता—तीनोंमें होते हैं । वे इस प्रकार हैं—'अच्', 'अप्', 'ल्युट्', 'क्तिन्', भावार्थक 'घञ्', करणार्थक 'घञ्', 'युच्', 'अ' तथा 'तव्य' आदि । 'अच्' प्रत्यय होनेपर 'विनी+अच् (गुण, अयादेश और विभक्तिकार्य)=विनयः । (ऋदोरप्) उत्कृ+अप्=उत्करः । प्रकृ+अप्=प्रकरः । दिव+अच्=देवः । भद्र+अच्=भद्रः । श्रीकृ+अप्=श्रीकरः ।' इत्यादि रूप होते हैं । 'ल्युट्' प्रत्यय होनेपर शुभ+ल्युट् (लकार, टकारकी इत्संज्ञा, लघूपध गुण 'युवोरनाकौ ।' (७ । १ । १) से अनादेश='शोभनम्'—इस रूपकी सिद्धि होती है । 'वृध्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'वृध्+क्ति' (ककारकी इत्संज्ञा, तकारका धकारादेश, पूर्व धकारका जश्त्वेन दकार और विभक्तिकार्य)='वृद्धिः' । स्तु+क्तिन्='स्तुतिः' । मन्+क्तिन्='मतिः'—ये पद सिद्ध होते हैं । 'भू' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होनेपर भू+घञ्='भावः'—यह पद बनता है । णिजन्त 'कृ' धातुसे 'ण्यासश्रन्थो युच् ।' (३ । ३ । १०७)—इस सूत्रके अनुसार 'युच्' प्रत्यय करनेपर कारि+यु (णिलोप, अनादेश)='कारणा' । 'भावि+युच्'='भावना' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं । प्रत्ययान्त धातुसे स्त्रीलिङ्गमें 'अ' प्रत्यय होता है । उसके होनेपर 'चिकित्स+अ, चिकीर्ष+अ=चिकित्सा, चिकीर्षा' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं । धातुसे 'तव्य' और 'अनीय' प्रत्यय भी होते हैं । कृ+तव्य=कर्तव्यम् । कृ+अनीय=करणीयम्—इत्यादि पदोंकी सिद्धि होती है । 'अचो यत् ।' (३ । १ । ९७) सूत्रके अनुसार 'अजन्त' धातुसे 'यत्' प्रत्यय होता है । उसके होनेपर दा+यत् ('ईद्यति ।' सूत्रसे 'आ'के स्थानमें 'ईकारादेश', गुण और विभक्तिकार्य)=देयम् । ध्यै+यत् ('आदेच उपदेशेऽशिति ।' से 'ऐ' के स्थानमें आ, 'ईद्यति' से 'आ'के स्थानमें 'ई' विभक्तिकार्य)=ध्येयम्—ये पद सिद्ध होते हैं । 'ऋहलोर्ण्यत्' (३ । १ । १२४)—इस सूत्रके अनुसार ण्यत् प्रत्यय होनेपर कृ+ण्यत् ('चुटू' (१ । ३ । ७१) सूत्रसे णकारकी तथा 'हलन्त्यम् ।' (१ । ३ । ३) सूत्रसे तकारकी इत्संज्ञा । 'अचो ञ्णिति ।' (७ । २ । ११५) से 'वृद्धि' तथा विभक्ति-कार्य)='कार्यम्'—यह पद सिद्ध होता है । यहाँतक 'कृत्यसंज्ञक' प्रत्यय कहे गये हैं ॥ १—४ ॥

'क्त' आदि प्रत्यय कर्तामें होते हैं—यह जाननेयोग्य बात है। वे कहीं-कहीं भाव और कर्ममें भी होते हैं। कर्तामें 'गम्' धातुसे 'क्त' प्रत्यय होनेपर 'गतः'—यह रूप बनता है। प्रयोगमें ('स ग्रामं गतः, स ग्रामे गतः।' इत्यादि वाक्य होते हैं। इस वाक्यका अर्थ है—वह गाँवको गया)। कर्ममें 'क्त' प्रत्ययका उदाहरण है—'त्वया गुरुः आश्लिष्टः।' (तुमने गुरुका आलिङ्गन किया।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय होनेसे कर्मभूत 'गुरु' उक्त हो गया। अतः उसमें प्रथमा विभक्ति हुई। 'त्वम्' यह कर्ता अनुक्त हो गया। अतः उसमें तृतीया विभक्ति हुई। 'आश्लिष्+क्त' (ककारकी इत्संज्ञा, 'त' के स्थानमें 'ष्टुत्व'के नियमसे 'टकार' हुआ। तदनन्तर विभक्तिकार्य करनेपर)='आश्लिष्टः' पद सिद्ध हुआ। वर्तमानार्थबोधक 'लट्' लकारमें धातुसे 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय भी होते हैं। परस्मैपदमें 'शतृ' और आत्मनेपदमें 'शानच्' होता है। 'भू' धातुसे 'शतृ' प्रत्यय करनेपर 'भवन्' और 'एध्' धातुसे 'शानच्' प्रत्यय करनेपर 'एधमानः'—ये पद सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण धातुओंसे 'ण्वुल्' और 'तृच्' प्रत्यय होते हैं। 'भू' धातुसे कर्ता अर्थमें 'ण्वुल्' करनेपर 'भावकः' और 'तृच्' प्रत्यय करनेपर 'भविता'—ये पद सिद्ध होते हैं। 'भू' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय भी हुआ करता है। 'स्वयम्+भू+क्विप्=स्वयम्भूः'—इस पदकी सिद्धि होती है। भूतार्थ-बोधके लिये 'लिट्' लकारमें धातुसे 'क्वसु' और 'कानच्' प्रत्यय होते हैं। परस्मैपदमें 'क्वसु' और आत्मनेपदमें 'कानच्' होता है। 'भू' धातुसे 'क्वसु' करनेपर 'बभूविवान्' और 'पच्' धातुसे 'क्वसु' प्रत्यय करनेपर 'पेचिवान्'—ये पद सिद्ध होते हैं। इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'स बभूव इति बभूविवान्।' (वह हुआ था।) 'स पपाच इति पेचिवान्।' (उसने पकाया था।) 'आत्मनेपदीय पच्' धातुसे 'कानच्' प्रत्यय करनेपर 'पेचानः' पद बनता है। 'श्रद्+धा'—इस धातुसे 'लिट्' लकारमें 'कानच्' प्रत्यय करनेपर 'श्रद्दधानः'—यह पद सिद्ध होता है। 'स पेचे इति पेचानः। स श्रद्दधे इति श्रद्दधानः'। 'कर्मण्यण्' से 'अण्' प्रत्यय करनेपर 'कुम्भकारः' आदि पद सिद्ध होते हैं। भूत और वर्तमान अर्थमें भी 'उणादि' प्रत्यय होते हैं। 'वचौ वाति इति वा वायुः।' वा+उण् (युगागम एवं विभक्तिकार्य)=वायुः। 'पा+उण्= पायुः। 'कृ+उण्=कारुः।' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। 'बहुलं छन्दसि' इस नियमके अनुसार सभी 'कृत्' प्रत्यय वेदमें बाहुल्येन उपलब्ध होते हैं। वहाँ कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कहीं वैकल्पिक विधान और कहीं कुछ और ही विधि दृष्टिगोचर होती है॥ ५—८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कृदन्त शब्दोंके सिद्ध रूपोंका संक्षिप्त वर्णन' नामक तीन सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५९॥

तीन सौ साठवाँ अध्याय

स्वर्ग-पाताल आदि वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—कात्यायन! स्वर्ग आदिके नाम और लिङ्ग जिनके स्वरूप हैं, उन शुद्ध स्वरूप श्रीहरिका मैं वर्णन करता हूँ—स्वः [अव्यय], स्वर्ग, नाक, त्रिदिव [पुँल्लिङ्ग], द्यो, दिव्—ये दो स्त्रीलिङ्ग और त्रिविष्टप [नपुंसक]—ये सब 'स्वर्गलोक'के नाम हैं। देव, वृन्दारक और लेख—ये [पुँल्लिङ्ग शब्द] देवताओंके नाम हैं। 'रुद्र' आदि शब्द गणदेवताके वाचक हैं। विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किंनर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत—ये सब 'देवयोनि'के अन्तर्गत हैं। देवद्विट्, असुर और दैत्य—ये असुरोंके तथा सुगत और तथागत—ये बुद्धके नाम हैं। ब्रह्मा, आत्मभू और सुरज्येष्ठ—ये ब्रह्माजीके; विष्णु, नारायण और हरि—ये भगवान् विष्णुके; रेवतीश, हली और राम—ये बलभद्रजीके तथा काम, स्मर और पञ्चशर—ये कामदेवके नाम हैं। लक्ष्मी, पद्मालया और पद्मा—ये लक्ष्मीजीके तथा शर्व, सर्वेश्वर और शिव—ये भगवान् शंकरके नाम हैं। उनकी बँधी हुई जटाके दो नाम हैं—कपर्द और जटाजूट। उनके धनुषके भी दो नाम हैं—पिनाक और अजगव। शिवजीके पार्षद प्रमथ कहलाते हैं। मृडानी, चण्डिका और अम्बिका—ये पार्वतीजीके; द्वैमातुर और गजास्य (गजानन)—ये गणेशजीके तथा सेनानी, अग्निभू और गुह—ये स्वामी कार्तिकेयजीके नाम हैं। आखण्डल, शुनासीर, सुत्रामा और दिवस्पति—ये इन्द्रके तथा पुलोमजा,

१. आदि शब्दसे वसु और आदित्य आदि नामोंको ग्रहण करना चाहिये। रुद्र ११, वसु ८ और आदित्य १२ हैं।

शची और इन्द्राणी—ये उनकी प्रियतमा शची देवीके नाम हैं। इन्द्रके महलका नाम वैजयन्त, पुत्रका नाम जयन्त और पाकशासनि तथा हाथीके नाम ऐरावत, अभ्रमातङ्ग, ऐरावण और अभ्रमुवल्लभ हैं। ह्लादिनी [स्त्रीलिङ्ग], पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त होनेवाला वज्र, कुलिश [नपुंसक], भिदुर [नपुंसक] और पवि [पुँल्लिङ्ग]—ये सब इन्द्रके वज्रके नाम हैं। व्योम-यान [नपुं०] तथा विमान [पुँल्लि० नपु०]—ये आकाशमें विचरनेवाले देववाहनोंके नाम हैं। पीयूष, अमृत और सुधा—ये अमृतके नाम हैं। [इनमें सुधा तो स्त्रीलिङ्ग और शेष दोनों नाम नपुंसकलिङ्ग हैं।] देवताओंकी सभा 'सुधर्मा' कहलाती है। देवताओंकी नदी गङ्गाका नाम स्वर्गङ्गा और सुरदीर्घिका है। उर्वशी आदि अप्सराओंको अप्सरा और स्वर्वेश्या कहते हैं। इनमें अप्सरस्-शब्द स्त्रीलिङ्ग एवं बहुवचनमें प्रयुक्त होता है। हाहा, हूहू आदि गन्धर्वोंके नाम हैं। अग्नि, वह्नि, धनंजय, जातवेदा, कृष्णवर्त्मा, आश्रयाश, पावक, हिरण्यरेताः, सप्तार्चि, शुक्र, आशुशुक्षणि, शुचि और अप्पित्त—ये अग्निके नाम हैं तथा और्व, वाडव और वडवानल—ये समुद्रके भीतर जलनेवाली आगके नाम हैं। आगकी ज्वालाके पाँच नाम हैं—ज्वाल, कील, अर्चिष्, हेति और शिखा। इनमें पहले दो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होते हैं। अर्चिष् नपुंसकलिङ्ग है तथा हेति और शिखा स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। आगकी चिनगारीके दो नाम हैं—स्फुलिङ्ग और अग्निकण। इनमें पहला तीनों लिङ्गोंमें और दूसरा केवल पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त होता है। धर्मराज, परेतराट्, काल, अन्तक, दण्डधर और श्राद्धदेव—ये यमराजके नाम हैं। राक्षस, कौणप, अस्रप, क्रव्याद, यातुधान और नैर्ऋति—ये राक्षसोंके नाम हैं। प्रचेता, वरुण और पाशी—ये वरुणके तथा श्वसन, स्पर्शन, अनिल, सदागति, मातरिश्वा, प्राण, मरुत् और समीरण—ये वायुके नाम हैं। जव, रंहस् और तरस्—ये वेगके वाचक हैं। [इनमें पहला पुँल्लिङ्ग और शेष दोनों शब्द नपुंसकलिङ्ग हैं।] लघु, क्षिप्र, अर, द्रुत, सत्वर, चपल, तूर्ण, अविलम्बित और आशु—ये शीघ्रताके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। [क्रियाविशेषण होनेपर इन सबका नपुंसकलिङ्ग एवं एकवचनमें प्रयोग होता है।] सतत, अनारत, अश्रान्त, संतत, अविरत, अनिश, नित्य, अनवरत और अजस्र—ये निरन्तरके वाचक हैं। [ये भी प्रायः क्रियाविशेषणमें ही प्रयुक्त होते हैं, केवल 'नित्य' शब्दका ही अन्य विशेषणोंमें भी प्रयोग होता है।] अतिशय, भर, अतिवेल, भृश, अत्यर्थ, अतिमात्र, उद्गाढ, निर्भर, तीव्र, एकान्त, नितान्त, गाढ, बाढ और दृढ—ये अतिशय (अधिकमात्रा) के वाचक हैं। गुह्यकेश, यक्षराज, राजराज और धनाधिप—ये कुबेरके नाम हैं। किंनर, किम्पुरुष, तुरंगवदन और मयु—ये किंनरोंके वाचक शब्द हैं। निधि और शेवधि—ये दोनों पुँल्लिङ्ग शब्द निधिके वाचक हैं। व्योम, अभ्र, पुष्कर, अम्बर, द्यो, दिव्, अन्तरिक्ष और ख—ये आकाशके पर्याय हैं। [इनमें द्यो और दिव् शब्द स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं और शेष सब नपुंसकलिङ्गमें।] काष्ठा, आशा, ककुभ् और दिश्—ये दिशा-अर्थके बोधक हैं। अभ्यन्तर और अन्तराल शब्द मध्यके तथा चक्रवाल और मण्डल शब्द गोलाकार मण्डल एवं समुदायके वाचक हैं। तडित्वान्, वारिद, मेघ, स्तनयित्नु और बलाहक—ये मेघके पर्याय हैं॥ १—२१॥

बादलोंकी घटाका नाम है कादम्बिनी और मेघमाला तथा स्तनित और गर्जित—ये [नपुंसकलिङ्ग] शब्द मेघगर्जनाके वाचक हैं। शम्पा, शतह्रदा, ह्रादिनी, ऐरावती, क्षणप्रभा, तडित्, सौदामिनी (सौदामनी), विद्युत्, चञ्चला और चपला—ये बिजलीके पर्याय हैं। स्फूर्जथु और वज्र-निर्घोष—ये दो बिजलीकी गड़गड़ाहटके नाम हैं। वर्षाकी रुकावटको वृष्टिघात और अवग्रह कहते हैं। धारा-सम्पात और आसार—ये दो मुसलाधार वृष्टिके नाम हैं। जलके छींटों या फुहारोंको शीकर कहते हैं। वर्षाके साथ गिरनेवाले ओलोंका नाम करका है। जब मेघोंकी घटासे दिन छिप जाय तो उसे दुर्दिन कहते हैं। अन्तर्धा, व्यवधा, पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त होनेवाला अन्तर्धि तथा [नपुंसकलिङ्ग] अपवारण, अपिधान, तिरोधान, पिधान और आच्छादन—ये आठ अन्तर्धान (अदृश्य होने) के नाम हैं। अब्ज, जैवातृक, सोम, ग्लौः, मृगाङ्क, कलानिधि, विधु तथा कुमुद-बन्धु—ये चन्द्रमाके पर्याय हैं। चन्द्रमा और सूर्यके मण्डलका नाम है—बिम्ब और मण्डल। इनमें बिम्ब शब्दका पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें तथा मण्डल-शब्दका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। चन्द्रमाके सोलहवें भागको कला कहते हैं। भित्त, शकल और खण्ड—ये टुकड़ेके वाचक हैं। चाँदनीको चन्द्रिका, कौमुदी और ज्योत्स्ना कहते हैं। प्रसाद और प्रसन्नता—ये निर्मलता और हर्षके बोधक हैं। लक्षण, लक्ष्म और चिह्न—ये चिह्नके तथा शोभा, कान्ति, द्युति और छवि—ये शोभाके नाम हैं। उत्तम शोभाको सुषमा कहते हैं। तुषार, तुहिन, हिम, अवश्याय,

नीहार, प्रालेय, शिशिर और हिम—ये पालेके वाचक हैं। नक्षत्र, ऋक्ष, भ, तारा, तारका और उडु—ये नक्षत्रके पर्याय हैं। इनमें उडु शब्द विकल्पसे स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक होता है। गुरु, जीव और आङ्गिरस—ये बृहस्पतिके; उशना, भार्गव और कवि—ये शुक्राचार्यके तथा विधुंतुद, तम और राहु—ये तीन राहुके नाम हैं। राशियोंके उदयको लग्न कहते हैं। मरीचि और अत्रि आदि[1] सप्तर्षि 'चित्रशिखण्डी' के नामसे प्रसिद्ध हैं। हरिदश्व, ब्रध्न, पूषा, द्युमणि, मिहिर और रवि—ये सूर्यके नाम हैं। परिवेष, परिधि, उपसूर्यक और मण्डल—ये उत्पात आदिके समय दिखायी देनेवाले सूर्यमण्डलके घेरेका बोध करानेवाले हैं। किरण, उस्र, मयूख, अंशु, गभस्ति, घृणि, धृष्णि, भानु, कर, मरीचि और दीधिति—ये ग्यारह सूर्यकी किरणोंके नाम हैं। इनमें मरीचि शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है तथा दीधिति शब्दका प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्गमें होता है। प्रभा, रुक्, रुचि, त्विट्, भा, आभा, छवि, द्युति, दीप्ति, रोचिष् और शोचिष्—ये प्रभाके नाम हैं। इनमें रोचिष् और शोचिष्—ये दो शब्द केवल नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं [शेष सभी स्त्रीलिङ्ग हैं]। प्रकाश, द्योत, और आतप—ये तीन धूप या घामके नाम हैं। कोष्ण, कवोष्ण, मन्दोष्ण और कदुष्ण—ये थोड़ी गरमीका बोध करानेवाले हैं। यद्यपि स्वरूपसे ये नपुंसकलिङ्ग हैं, तथापि जब थोड़ी गरमी रखनेवाली किसी वस्तुके विशेषण होते हैं तो विशेष्यके अनुसार इनका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। तिग्म, तीक्ष्ण और खर—ये अधिक गर्मीके वाचक हैं। ये भी पूर्ववत् गुणबोधक होनेपर नपुंसकमें और गुणवान्‌के विशेषण होनेपर विशेष्यके अनुसार तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। दिष्ट, अनेहा और काल—ये समयके पर्याय हैं। घस्र, दिन और अहन्—ये दिनके, सायं शब्द सायंकालका और संध्या तथा पितृप्रसू—ये दो संध्याके नाम हैं। प्रत्यूष, अहर्मुख, कल्य, उषस् और प्रत्यूषस्—ये प्रभातकालके वाचक हैं। दिनके प्रथम भागको प्राह्ण, अन्तिम भागको अपराह्ण और मध्यभागको मध्याह्न कहते हैं—इन तीनोंका समुदाय त्रिसंध्य कहलाता है। शर्वरी, यामी (यामिनी) और तमी—ये रात्रिके वाचक हैं। अँधेरी रातको तमिस्रा और चाँदनी रात्रिको ज्यौत्स्नी कहते हैं। आगामी और वर्तमान—इन दो दिनोंसहित बीचकी रात्रिका बोध करानेके लिये पक्षिणी शब्दका प्रयोग किया जाता है। आधी रातके दो नाम हैं—अर्धरात्र और निशीथ। रात्रिके प्रारम्भको प्रदोष और रजनीमुख कहते हैं। प्रतिपदा और पूर्णिमा या अमावास्याके बीचमें जो संधिका समय है उसे पर्वसंधि कहते हैं। दोनों पञ्चदशियों अर्थात् पूर्णिमा और अमावास्याको पक्षान्त कहा जाता है। पूर्णिमाके दो नाम हैं—पौर्णमासी तथा पूर्णिमा। यदि पूर्णिमाको चन्द्रोदयके समय प्रतिपद्‌का योग लग जानेसे एक कलासे हीन चन्द्रमाका उदय हो तो उस पूर्णिमाकी 'अनुमति' संज्ञा है तथा पूर्ण चन्द्रमाके उदय लेनेपर उसे 'राका' कहते हैं। अमावस्या, अमावास्या, दर्श और सूर्येन्दुसंगम—ये चार अमावास्याके नाम हैं। यदि सबेरे चतुर्दशीका योग होनेसे अमावास्याके प्रातःकाल चन्द्रमाका दर्शन हो जाय तो उस अमावास्याको 'सिनीवाली' कहते हैं। किंतु चन्द्रोदयकालमें अमावस्याका योग हो जानेसे यदि चन्द्रमाकी कला बिल्कुल न दिखायी दे तो वह अमा 'कुहू' कहलाती है ॥ २२—४० ॥

संवर्त, प्रलय, कल्प, क्षय और कल्पान्त—ये पाँच प्रलयके नाम हैं। कलुष, वृजिन, एनस्, अघ, अंहस्, दुरित और दुष्कृत शब्द पापके वाचक हैं। धर्म शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसक दोनोंमें होता है। इसके पर्याय हैं—पुण्य, श्रेयस्, सुकृत और वृष। [इनमें आरम्भके तीन नपुंसक और वृष शब्द-पुँल्लिङ्ग है।] मुत्, प्रीति, प्रमद, हर्ष, प्रमोद, आमोद, सम्मद, आनन्दथु, आनन्द, शर्म्म, शात और सुख—ये सुख एवं हर्षके नाम हैं। स्वःश्रेयस, शिव, भद्र, कल्याण, मङ्गल, शुभ, भावुक, भविक, भव्य, कुशल और क्षेम—ये कल्याण-अर्थका बोध करानेवाले हैं। ये सभी शब्द केवल स्त्रीलिङ्गमें नहीं प्रयुक्त होते। दैव, दिष्ट, भागधेय, भाग्य, नियति और विधि—ये भाग्यके नाम हैं। इनमें नियति-शब्द स्त्रीलिङ्ग है [और विधि पुल्लिङ्ग तथा आरम्भके चार शब्द नपुंसक लिङ्ग हैं]। क्षेत्रज्ञ, आत्मा और पुरुष—ये आत्माके पर्याय हैं। प्रकृति या मायाके दो नाम हैं—प्रधान और प्रकृति। इनमें प्रकृति स्त्रीलिङ्ग है और प्रधान नपुंसक लिङ्ग। हेतु, कारण और बीज—ये कारणके वाचक हैं। इनमें पहला पुँल्लिङ्ग और शेष दो शब्द नपुंसक-लिङ्ग हैं। कार्यकी उत्पत्तिमें प्रधान हेतुके दो नाम हैं—निदान और आदिकारण। चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मनस्—ये चित्तके पर्याय हैं। बुद्धि, मनीषा, धिषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चित्, संवित्, प्रतिपत्, ज्ञप्ति और चेतना—ये बुद्धिके वाचक शब्द

[1] १. आदि पदसे अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठका ग्रहण होता है।

हैं। धारणाशक्तिसे युक्त बुद्धिको 'मेधा' कहते हैं और मानसिक व्यापारका नाम संकल्प है। संख्या, विचारणा और चर्चा—ये विचारके, विचिकित्सा और संशय संदेहके तथा अध्याहार, तर्क और ऊह—ये तर्क-वितर्कके नाम हैं। निश्चित विचारको निर्णय और निश्चय कहते हैं। 'ईश्वर और परलोक नहीं हैं'—ऐसे विचारको मिथ्या-दृष्टि और नास्तिकता कहते हैं। भ्रान्ति, मिथ्यामति और भ्रम—ये तीन भ्रमात्मक ज्ञानके वाचक हैं। अङ्गीकार, अभ्युपगम, प्रतिश्रव और समाधि—ये स्वीकार अर्थका बोध करानेवाले हैं। मोक्षविषयक बुद्धिको ज्ञान और शिल्प एवं शास्त्रके बोधको विज्ञान कहते हैं। मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, निःश्रेयस, अमृत, मोक्ष और अपवर्ग—ये मोक्षके वाचक शब्द हैं। अज्ञान, अविद्या और अहम्मति—ये तीन अज्ञानके पर्याय हैं। इनमें पहला नपुंसक और शेष दो शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। एक दूसरेकी रगड़से प्रकट हुई मनोहारिणी गन्धके अर्थमें 'परिमल' शब्दका प्रयोग होता है। वही गन्ध जब अत्यन्त मनोहर हो तो उसे 'आमोद' कहते हैं। घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेवाली उत्तम गन्धका नाम 'सुरभि' है। शुभ्र, शुक्ल, शुचि, श्वेत, विशद, श्येत, पाण्डर, अवदात, सित, गौर, वलक्ष, धवल और अर्जुन—ये श्वेत वर्णके वाचक हैं। कुछ पीलापन लिये हुए सफेदीको हरिण, पाण्डुर और पाण्डु कहते हैं। यह रंग भी बहुत हल्का हो तो उसे धूसर कहते हैं। नील, असित, श्याम, काल, श्यामल और मेचक—ये कृष्णवर्ण (काले रंग) के बोधक हैं। पीत, गौर तथा हरिद्राभ—ये पीले रंगके और पालाश, हरित तथा हरित्—ये हरे रंगके वाचक हैं। रोहित, लोहित और रक्त—ये लाल रंगका बोध करानेवाले हैं। रक्त कमलके समान जिसकी शोभा हो, उसे 'शोण' कहते हैं। जिसकी लालिमा जान न पड़ती हो, उस हल्की लालीका नाम 'अरुण' है। सफेदी लिये हुए लाली अर्थात् गुलाबी रंगको 'पाटल' कहते हैं। जिसमें काले और पीले—दोनों रंग मिले हों वह 'श्याव' और 'कपिश' कहलाता है। जहाँ कालेके साथ लाल रंगका मेल हो, उसे धूम्र तथा धूमल कहते हैं। कडार, कपिल, पिङ्ग, पिशङ्ग, कद्रु तथा पिङ्गल—ये भूरे रंगके वाचक हैं। चित्र, किर्मीर, कल्माष, शबल, एत और कर्बुर—ये चितकबरे रंगका बोध करानेवाले हैं॥ ४१—५६½॥

व्याहार, उक्ति तथा लपित—ये वचनके समानार्थक शब्द हैं। व्याकरणके नियमोंसे च्युत—अशुद्ध शब्दको 'अपभ्रंश' तथा 'अपशब्द' कहते हैं। सुबन्त पदोंका समुदाय ['चैत्रेण शयितव्यम्' इत्यादि], तिङन्त पदोंका समूह ['पश्य पश्य गच्छति' इत्यादि], सुबन्त और तिङन्त—दोनों पदोंका समुदाय ['चैत्रः पचति' इत्यादि] अथवा कारकसे अन्वित क्रियाका बोध करानेवाला पद-समूह ['घटमानय'] इत्यादि—ये सभी 'वाक्य' कहलाते हैं। पूर्वकालमें बीती हुई सच्ची घटनाओंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थको 'इतिहास' तथा 'पुरावृत्त' कहते हैं। [सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—इन] पाँच लक्षणोंसे युक्त व्यासादि मुनियोंके ग्रन्थका नाम 'पुराण' है। सच्ची घटनाको लेकर लिखी हुई पुस्तक 'आख्यायिका' कहलाती है। कल्पित प्रबन्धको 'कथा' कहते हैं। संग्रहके वाचक दो शब्द हैं—समाहार तथा संग्रह। अबूझ पहेलीको 'प्रवह्लिका' और 'प्रहेलिका' कहते हैं। पूर्ण करनेके लिये दी हुई संक्षिप्त पदावलीका नाम 'समस्या' और 'समासार्था' है। वेदार्थके स्मरणपूर्वक लिखे हुए धर्मशास्त्रको 'स्मृति' और 'धर्मसंहिता' कहते हैं। आख्या, आह्वा और अभिधान—ये नामके वाचक हैं। 'वार्ता' और 'वृत्तान्त'—दोनों समानार्थक शब्द हैं। हूति, आकारणा और आह्वान—ये पुकारनेके अर्थमें आते हैं। वाणीके आरम्भको 'उपन्यास' और 'वाङ्मुख' कहते हैं। विवाद और व्यवहार मुकदमेबाजीका नाम है। प्रतिवाक्य और उत्तर—ये दोनों समानार्थक शब्द हैं। उपोद्घात और उदाहार—ये भूमिकाके नाम हैं। झूठा कलङ्क लगानेको मिथ्याभिशंसन और अभिशाप कहते हैं। यश और कीर्ति—ये सुयशके नाम हैं। प्रश्न, पृच्छा और अनुयोग—इनका पूछनेके अर्थमें प्रयोग होता है। एक ही शब्दके दो-तीन बार उच्चारण करनेको 'आम्रेडित' कहते हैं। परायी निन्दाके अर्थमें कुत्सा, निन्दा और गर्हण शब्दका प्रयोग होता है। साधारण बातचीतको आभाषण और आलाप कहते हैं। पागलोंकी तरह कहे हुए असम्बद्ध या निरर्थक वचनका नाम प्रलाप है। बारंबार किये जानेवाले वार्तालापको अनुलाप कहते हैं। शोकयुक्त उद्गारका नाम विलाप और परिदेवन है। परस्पर विरुद्ध बातचीतको विप्रलाप और विरोधोक्ति कहते हैं। दो व्यक्तियोंके पारस्परिक वार्तालापका नाम संलाप है। सुप्रलाप और सुवचन—ये उत्तम वाणीके

वाचक हैं। सत्यको छिपानेके लिये जिस वाणीका प्रयोग किया जाता है, उसे अपलाप तथा निह्नव कहते हैं। अमङ्गलमयी वाणीका नाम उशती है। हृदयमें बैठनेवाली युक्तियुक्त बातको संगत और हृदयंगम कहते हैं। अत्यन्त मधुर वाणीसे जो सान्त्वना दी जाती है, उसे सान्त्व कहते हैं। जिन बातोंका परस्पर कोई सम्बन्ध न हो, वे अबद्ध और निरर्थक कहलाती हैं। निष्ठुर और परुष शब्द कठोर वाणीके तथा अश्लील और ग्राम्य शब्द गंदी बातोंके बोधक हैं। प्रिय लगनेवाली वाणीको सूनृत कहते हैं। सत्य, तथ्य, ऋत और सम्यक्—ये यथार्थ वचनका बोध करानेवाले हैं। नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव और विराव—ये अव्यक्त शब्दके वाचक हैं। कपड़ों और पत्तोंसे जो आवाज होती है, उसे मर्मर कहते हैं। आभूषणोंकी ध्वनिका नाम शिञ्जित है। वीणाके स्वरको निक्वण और क्वाण कहते हैं तथा पक्षियोंके कलरवका नाम वाशित है। एक समूहकी आवाजको कोलाहल और कलकल कहते हैं। गीत और गान—ये दोनों समान अर्थके बोधक हैं। प्रतिश्रुत् और प्रतिध्वान—ये प्रतिध्वनिके वाचक हैं। इनमें पहला स्त्रीलिङ्ग [और दूसरा नपुंसकलिङ्ग] है। वीणाके कण्ठसे निषाद आदि स्वर प्रकट होते हैं॥ ५७—६९॥

मधुर एवं अस्फुट ध्वनिको 'कल' कहते हैं और सूक्ष्म कलका नाम काकली है। गम्भीर स्वरको 'मन्द्र' तथा बहुत ऊँची आवाजको 'तार' कहते हैं। कल, मन्द्र और तार—इन तीनों शब्दोंका तीनों ही लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। गाने और बजानेकी मिली हुई लयको एकताल कहते हैं। वीणाके तीन नाम हैं—वीणा, वल्लकी और विपञ्ची। सात तारोंसे बजनेवाली वीणाका [जिसे हिंदीमें सतार या सितार कहते हैं] परिवादिनी नाम है। [बाजोंके चार भेद हैं—तत, आनद्ध, सुषिर और घन। इनमें] वीणा आदि बाजेको तत, ढोल और मृदङ्ग आदिको आनद्ध, बाँसुरी आदिको सुषिर और काँसकी झाँझ आदिको घन कहते हैं। इन चारों प्रकारके बाजोंका नाम वाद्य, वादित्र और आतोद्य है। ढोलके दो नाम हैं—मृदङ्ग और मुरज। उसके तीन भेद हैं—अङ्क्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्व। सुयशका ढिंढोरा पीटनेके लिये जो डंका होता है, उसे यशःपटह और ढक्का कहते हैं। भेरीके अर्थमें आनक और दुन्दुभि शब्दोंका प्रयोग होता है। आनक और पटह—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। झर्झरी (झाँझ) और डिण्डिम (ढिंढोरा) आदि बाजोंके भेद हैं। मर्दल और पणव—ये दोनों समानार्थक हैं [इन्हें भी एक प्रकारका बाजा ही समझना चाहिये]। जिससे गाने-बजानेकी क्रिया और कालका विवेक हो, उस गतिका नाम 'ताल' है। गीत और वाद्य आदिका समान अवस्थामें होना 'लय' कहलाता है। ताण्डव, नाट्य, लास्य और नर्तन—ये सब 'नृत्य'के वाचक हैं। नृत्य, गान और वाद्य—इन तीनोंको 'तौर्यत्रिक' एवं 'नाट्य' कहते हैं। नाटकमें राजाको भट्टारक और देव कहा जाता है तथा उनके साथ जिसका अभिषेक हुआ हो, उस महारानीको देवी कहते हैं। शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र—ये आठ रस हैं। इनमें शृङ्गार-रसके तीन नाम हैं—शृङ्गार, शुचि और उज्ज्वल। वीर-रसके दो नाम हैं—उत्साहवर्धन और वीर। करुणका बोध करानेवाले सात शब्द हैं—कारुण्य, करुणा, घृणा, कृपा, दया, अनुकम्पा तथा अनुक्रोश। हस, हास और हास्य—ये हास्यरसके तथा बीभत्स और विकृत शब्द बीभत्स-रसके वाचक हैं। ये दोनों शब्द तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। अद्भुतका बोध करानेवाले चार शब्द हैं—विस्मय, अद्भुत, आश्चर्य और चित्र। भैरव, दारुण, भीष्म, घोर, भीम, भयानक, भयंकर और प्रतिभय—ये भयानक अर्थका बोध करानेवाले हैं। रौद्रका पर्याय है—उग्र। ये अद्भुत आदि चौदह शब्द तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। दर, त्रास, भीति, भी, साध्वस और भय—ये भयके वाचक हैं। रति आदि मानसिक विकारोंको भाव कहते हैं। भावको व्यक्त करनेवाले रोमाञ्च आदि कार्योंका नाम अनुभाव है। गर्व, अभिमान और अहंकार—ये घमंडके नाम हैं। 'मेरे समान दूसरा कोई नहीं है' ऐसी भावनाको मान और चित्तसमुन्नति कहते हैं। अनादर, परिभव, परिभाव और तिरस्क्रिया—ये अपमानके वाचक हैं। व्रीडा, लज्जा, त्रपा और ह्री—ये लाजका बोध करानेवाले हैं। दूसरेके धनको लेनेकी इच्छाका नाम अभिध्यान है। कौतूहल, कौतुक, कुतुक और कुतूहल—ये चार कौतुकके पर्याय हैं। विलास, विब्बोक, विभ्रम, ललित, हेला और लीला—ये शृङ्गार और भावसे प्रकट होनेवाली स्त्रियोंकी चेष्टाएँ 'हाव' कहलाती हैं। द्रव, केलि, परिहास, क्रीडा, लीला तथा कूर्दन—ये खेल-कूद और हँसी-परिहासके वाचक हैं। दूसरोंपर आक्षेप करते हुए जो उनकी हँसी उड़ायी जाती है, उसका नाम 'आच्छुरितक' है। मन्द मुस्कानको 'स्मित' कहते हैं॥ ७०—८५॥

नीचेके लोकका नाम अधोभुवन और पाताल है। छिद्र, श्वभ्र, वपा और सुषि—ये छिद्रके वाचक हैं। पृथ्वीके भीतर जो छेद (खंदक आदि) होता है, उसे गर्त और अवट कहते हैं। तमिस्र, तिमिर और तम—ये अन्धकारके वाचक हैं। सर्प, पृदाकु, भुजग, दन्दशूक और बिलेशय—ये साँपोंके नाम हैं। विष, क्ष्वेड और गरल—ये जहरका बोध करानेवाले हैं। निरय और दुर्गति—ये नरकके नाम हैं। इनमें दुर्गति शब्द स्त्रीलिङ्ग है। पयस्, कीलाल, अमृत, उदक, भुवन और वन—ये जलके पर्याय हैं। भङ्ग, तरंग, ऊर्मि, कल्लोल और उल्लोल—ये लहरके नाम हैं। पृषत्, बिन्दु और पृषत—ये जलकी बूँदोंके नाम हैं। कूल, रोध और तीर—ये तटके वाचक हैं। जलसे तुरंतके बाहर हुए किनारेको 'पुलिन' कहते हैं। जम्बाल, पङ्क और कर्दम—ये कीचड़के नाम हैं। तालाब या नदी आदिके भर जानेपर जो अधिक जल बहने लगता है, उसे 'जलोच्छ्वास' और 'परीवाह' कहते हैं। सूखी हुई नदी आदिके भीतर जो गहरे गड्ढेमें बचा हुआ जल रहता है, उसका नाम 'कूपक' और 'विदारक' है। नदी पार करनेके लिये जो उतराई या खेवा दिया जाता है, उसे आतर एवं तरपण्य कहते हैं। काठकी बनी हुई बाल्टी या जल रखनेके पात्रका नाम द्रोणी है [इससे नावका पानी बाहर निकालते हैं]। मैले जलको 'कलुष' और 'आविल', साफ पानीको 'अच्छ' और 'प्रसन्न' तथा गहरे जलको 'गम्भीर' और 'अगाध' कहते हैं। दाश और कैवर्त—ये मल्लाहके नाम हैं। शम्बूक और जलशुक्ति—ये सीपके वाचक हैं। सौगन्धिक और कह्लार—ये श्वेत कमलके वाचक हैं। नील कमलको इन्दीवर कहते हैं। उत्पल और कुवलय—ये कमल और कुमुद आदिके साधारण नाम हैं। श्वेत उत्पलको कुमुद और कैरव कहते हैं। कुमुदकी जड़का नाम शालूक (सेरुकी) है। पद्म, तामरस और कञ्ज—ये कमलके पर्याय हैं। नील उत्पलका नाम कुवलय और रक्त उत्पलका नाम कोकनद बताया गया है। पद्मकंद अर्थात् कमलकी जड़का नाम करहाट और शिफाकंद है। कमलके केसरको किञ्जल्क और केसर कहते हैं। ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। स्त्रीलिङ्ग खनिशब्द और आकर—ये खानके वाचक हैं। बड़े-बड़े पर्वतोंके आसपास जो छोटे-छोटे पर्वत होते हैं, उन्हें पाद और प्रत्यन्तपर्वत कहते हैं। पर्वतके निकटकी नीची भूमि (तराई) को उपत्यका तथा पहाड़के ऊपरकी जमीनको अधित्यका कहते हैं। इस प्रकार मैंने स्वर्ग और पाताल आदि वर्गोंका वर्णन किया। अब अनेक अर्थवाले शब्दोंको श्रवण कीजिये ॥ ८६—९५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें कोशविषयक 'स्वर्ग-पाताल आदि वर्गोंका वर्णन' नामक तीन सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६० ॥

तीन सौ एकसठवाँ अध्याय

अव्यय-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! 'आङ्' अव्यय ईषत् (स्वल्प), अभिव्याप्ति तथा मर्यादा (सीमा) अर्थमें प्रयुक्त होता है। साथ ही धातुसे उसका संयोग होनेपर जो विभिन्न अर्थ प्रकाशित होते हैं, उन सभी अर्थोंमें उसका प्रयोग समझना चाहिये। 'आ' प्रगृह्यसंज्ञक अव्यय है। इसका वाक्य और स्मरण अर्थमें प्रयोग होता है। 'आः' अव्यय कोप और पीड़ाका भाव द्योतित करनेके लिये प्रयुक्त होता है। 'कु' पाप, कुत्सा (घृणा) और ईषत् अर्थमें तथा 'धिक्' फटकार और निन्दाके अर्थमें आता है। 'च' अव्ययका प्रयोग समुच्चय, समाहार अर्थमें होता है। अन्वाचय, इतरेतरयोग और

१. आपसमें अनपेक्षित अनेक शब्दोंका एक क्रियामें अन्वय होना 'समुच्चय' कहलाता है। जैसे 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व।' (ईश्वर और गुरुको भजो) यहाँ 'ईश्वरम्' और 'गुरुम्'—इन दो पदोंका एक ही भजन-क्रियामें अन्वय है। २. एक प्रधान कार्यके साथ-साथ दूसरे अप्रधान कार्यका भी साधन करना 'अन्वाचय' है। जैसे किसीसे कहा जाय—'भिक्षामट गां चानय' (भिक्षा माँगने जाओ, गाय भी लेते आना। यहाँ मुख्य कार्य है—भिक्षा माँगना; उसके साथ गाय लानेका कार्य गौण है। ३. परस्पर अपेक्षा रखनेवाले अनेक पदोंका एक क्रियामें अन्वय 'इतरेतर-योग' कहलाता है। जैसे—'धवखदिरौ छिन्धि' (धव और खदिरको काटो)। यहाँ धव और खदिर—दोनोंका साहचर्य अपेक्षित है। ४. समूहको 'समाहार' कहते हैं। जैसे 'संज्ञापरिभाषम्' (संज्ञा और परिभाषाओंका समूह)।

'स्वस्ति' आशीर्वाद, क्षेम और पुण्य आदिके अर्थमें तथा 'अति' अधिकता एवं उल्लङ्घनके अर्थमें आता है। 'स्वित्' प्रश्न और वितर्कका भाव व्यक्त करनेमें तथा 'तु' भेद और निश्चयके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'सकृत्'-का एक ही साथ और एक बारके अर्थमें तथा 'आरात्'का दूर और समीपके अर्थमें प्रयोग होता है। 'पश्चात्' अव्यय पश्चिम दिशा और पीछेके अर्थमें तथा 'उत' शब्द 'अपि'के अर्थ (समुच्चय और प्रश्न) में एवं विकल्प अर्थमें आता है। 'शश्वत्' पुनः और सदाके अर्थमें तथा 'साक्षात्' प्रत्यक्ष एवं तुल्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'बत' अव्ययका प्रयोग खेद, दया, संतोष, विस्मय और सम्बोधनका भाव व्यक्त करनेमें होता है। 'हन्त' पद हर्ष, अनुकम्पा, वाक्यके आरम्भ और विषादके अर्थमें आता है। 'प्रति'का प्रतिनिधि, वीप्सा एवं लक्षण आदिके अर्थमें प्रयोग किया जाता है। 'इति' शब्द हेतु, प्रकरण, प्रकाश आदि और समाप्तिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'पुरस्तात्' पद पूर्व दिशा, प्रथम और पुरा (पूर्वकाल)के अर्थमें आता है। 'अग्रतः' (आगे) के अर्थमें भी इसका प्रयोग होता है। 'यावत्' और 'तावत्' पद समग्र, अवधि (सीमा), माप और अवधारणके अर्थमें आते हैं। 'अथो' एवं 'अथ' शब्दका प्रयोग मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और समग्रताके अर्थमें होता है। 'वृथा' शब्द निरर्थक और अविधि अर्थका द्योतक है। 'नाना' शब्द अनेक और उभय अर्थमें आता है। 'नु' प्रश्न और विकल्पमें तथा 'अनु' पश्चात् एवं सादृश्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ननु' शब्द प्रश्न, निश्चय, अनुज्ञा, अनुनय और सम्बोधनमें तथा 'अपि' शब्द निन्दा, समुच्चय, प्रश्न, शङ्का तथा सम्भावनामें प्रयुक्त होता है। 'वा' शब्द उपमा और विकल्पमें तथा 'सामि' पद आधे एवं निन्दाके अर्थमें आता है। 'अमा' शब्द साथ एवं समीपका तथा 'कम्' जल और मस्तकका बोध करानेवाला है। 'एवम्' पद इव और इत्थंके अर्थमें तथा 'नूनम्' तर्क तथा वस्तुके निश्चय करनेमें प्रयुक्त होता है। 'जोषम्'का अर्थ है मौन और सुख। 'किम्' अव्यय प्रश्न और निन्दाके अर्थमें आता है। 'नाम' पद प्राकाश्य (प्रकाशित होने), सम्भावना, क्रोध, स्वीकार तथा निन्दा अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'अलम्'शब्द भूषण, पर्याप्ति, सामर्थ्य तथा निवारणका वाचक है। 'हुम्' वितर्क और प्रश्न अर्थमें तथा 'समया' निकट और मध्यके अर्थमें आता है। 'पुनर्' अव्यय प्रथमको छोड़कर द्वितीय, तृतीय आदि जितनी बार कोई कार्य हो, उन सबके लिये प्रयुक्त होता है। साथ ही भेद-अर्थमें भी इसका प्रयोग देखा जाता है। 'निर्' निश्चय और निषेधके अर्थमें आता है। 'पुरा' शब्द बहुत पहलेकी बीती हुई तथा निकट भविष्यमें आनेवाली बातको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त होता है। 'उररी', 'ऊरी', 'ऊररी'—ये तीन अव्यय विस्तार और अङ्गीकारके अर्थमें आते हैं। 'स्वर्' अव्यय स्वर्ग और परलोकका वाचक है। 'किल'का प्रयोग वार्ता और सम्भावनाके अर्थमें आता है। मना करने, वाक्यको सजाने तथा जिज्ञासाके अवसरपर 'खलु'का प्रयोग होता है। 'अभितस्' अव्यय समीप, दोनों ओर, शीघ्र, सम्पूर्ण तथा सम्मुख अर्थका बोध कराता है। 'प्रादुस्' शब्द नाम अव्ययके अर्थमें तथा व्यक्त या प्रकट होनेमें प्रयुक्त होता है। 'मिथस्' शब्द परस्पर तथा एकान्तका वाचक है। 'तिरस्' शब्द अन्तर्धान होने तथा तिरछे चलनेके अर्थमें आता है। 'हा' पद विषाद, शोक और पीडाको व्यक्त करनेवाला है। 'अहह' अथवा 'अहहा' अद्भुत एवं खेदके अर्थमें तथा हेतु और निश्चय अर्थमें प्रयुक्त होता है ॥ १—१८ ॥

चिराय, चिररात्राय और चिरस्य इत्यादि[1] अव्यय चिरकालके बोधक हैं। मुहुः, पुनः-पुनः, शश्वत्, अभीक्ष्ण और असकृत्—ये सभी अव्यय समान अर्थके वाचक हैं—इन सबका बारंबारके अर्थमें प्रयोग होता है। स्राक्, झटिति, अञ्जसा, अह्नाय, सपदि, द्राक् और मङ्क्षु—ये शीघ्रताके अर्थमें आते हैं। बलवत् और सुष्ठु—ये दोनों शब्द अतिशय तथा शोभन अर्थके वाचक हैं। किमुत, किम् और किम्भूत—ये विकल्पका बोध करानेवाले हैं। तु, हि, च, स्म, ह, वै—ये पादपूर्तिके लिये प्रयुक्त होते हैं। अतिका प्रयोग पूजनके अर्थमें भी आता है। दिवा-शब्द दिनका वाचक है तथा दोषा और नक्तम् शब्द रात्रिके अर्थ-में आते हैं। साचि और तिरस् पद तिर्यक् (तिरछे) अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। प्याट्, पाट्, अङ्ग, हे, है, भोः—ये सभी शब्द सम्बोधनके अर्थमें आते हैं। समया, निकषा और हिरुक्—ये तीनों अव्यय समीप अर्थके वाचक हैं। सहसा अतर्कित अर्थमें आता है। [अर्थात् जिसके बारेमें कोई सम्भावना न हो, ऐसी वस्तु जब एकाएक सामने उपस्थित होती है तो उसे सहसा उपस्थित हुई कहते हैं।

१. आदि शब्दसे 'चिरम्,' 'चिरेण', 'चिरात्' तथा 'चिरे'—इन पदोंका ग्रहण होता है।

ऐसे ही स्थलोंमें सहसाका प्रयोग होता है।] पुरः, पुरतः और अग्रतः—ये सामनेके अर्थमें आते हैं। स्वाहा पद देवताओंको हविष्य अर्पण करनेके अर्थमें आता है। 'श्रौषट्' और 'वौषट्'का भी यही अर्थ है। 'वषट्' शब्द इन्द्रका और स्वधा शब्द पितरोंका भाग अर्पण करनेके लिये प्रयुक्त होता है। किंचित्, ईषत् और मनाक्—ये अल्प अर्थके वाचक हैं। प्रेत्य और अमुत्र—ये दोनों जन्मान्तरके अर्थमें आते हैं। यथा और तथा समताके एवं अहो और हो—ये आश्चर्यके बोधक हैं। तूष्णीम् और तूष्णीकम् पद मौन अर्थमें, सद्यः और सपदि शब्द तत्काल अर्थमें, दिष्ट्या और समुपजोषम्—ये आनन्द अर्थमें तथा अन्तरा शब्द भीतर-के अर्थमें आता है। अन्तरेण पद भी मध्य अर्थका वाचक है। प्रसह्य शब्द हठका बोध करानेवाला है। साम्प्रतम् और स्थाने शब्द उचितके अर्थमें तथा 'अभीक्ष्णम्' और शश्वत् पद सर्वदा—निरन्तरके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। नहि, अ, नो और न—ये अभाव अर्थके बोधक हैं। मास्म, मा और अलम्—इनका निषेधके अर्थमें प्रयोग होता है। चेत् और यदि पद दूसरा पद उपस्थित करनेके लिये प्रयुक्त होते हैं तथा अद्धा और अञ्जसा—ये दोनों पद वास्तवके अर्थमें आते हैं। प्रादुस् और आविर्—इनका अर्थ है प्रकट होना। ओम्, एवम् और परमम्—ये शब्द स्वीकृति या अनुमति देनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। समन्ततः, परितः, सर्वतः और विष्वक्—इनका अर्थ है चारों ओर। 'कामम्' शब्द अकाम अनुमतिके अर्थमें आता है। 'अस्तु' पद असूया (दोषदृष्टि) तथा स्वीकृतिका भाव सूचित करनेवाला है। किसी बातके विरोधमें कुछ कहना हो तो वहाँ 'ननु'का प्रयोग होता है। 'कच्चित्' शब्द किसीकी अभीष्ट वस्तुकी जिज्ञासाके लिये प्रश्न करनेके अवसरपर प्रयुक्त होता है। निःषमम् और दुःषमम्—ये दोनों पद निन्दा अर्थका बोध कराते हैं। यथास्वम् और यथायथम् पद यथायोग्य अर्थके वाचक हैं। मृषा एवं मिथ्या शब्द असत्यके और यथातथम् पद सत्यके अर्थमें आता है। एवम्, तु, पुनः, वै और वा—ये निश्चय अर्थके वाचक हैं। 'प्राक्' शब्द बीती बातका बोध करानेवाला है। नूनम् और अवश्यम्—ये दो अव्यय निश्चयके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। 'संवत्' शब्द वर्षका, 'अर्वाक्' शब्द पश्चात् कालका, आम् और एवम् शब्द हामी भरनेका तथा स्वयम् पद अपनेसे—इस अर्थका बोध करानेवाला है। 'नीचैस्' अल्प अर्थमें, 'उच्चैस्' महान् अर्थमें, 'प्रायस्' बाहुल्य अर्थमें तथा 'शनैस्' मन्द अर्थमें आता है। 'सना' शब्द नित्यका, 'बहिस्' शब्द बाह्यका, 'स्म' शब्द भूतकालका, 'अस्तम्' शब्द अदृश्य होनेका, 'अस्ति' शब्द सत्ताका, 'ऊ' क्रोधभरी उक्तिका तथा 'अपि' शब्द प्रश्न तथा अनुनयका बोधक है। 'उम्' तर्कका, 'उषा' रात्रिके अन्तका, 'नमस्' प्रणामका, 'अङ्ग' पुन-अर्थका, 'दुष्ठु' निन्दाका तथा 'सुष्ठु' शब्द प्रशंसाका वाचक है। 'सायम्' शब्द संध्याकालका, 'प्रगे' और 'प्रातर्' शब्द प्रभातकालका, 'निकषा' पद समीपका, 'ऐषमः' शब्द वर्तमान वर्षका, 'परुत्' शब्द गतवर्षका और 'परारि' शब्द उसके भी पहलेके गतवर्षका बोध करानेवाला है। 'आजके दिन' इस अर्थमें 'अद्य'का प्रयोग देखा जाता है। पूर्व, उत्तर, अपर, अधर, अन्य, अन्यतर और इतर शब्दसे 'पूर्वेऽह्नि' (पहले दिन) आदिके[1] अर्थमें 'पूर्वेद्युः' आदि[2] अव्ययपद निष्पन्न होते हैं। 'उभयद्युः' और 'उभयेद्युः'—ये 'दोनों दिन'के अर्थमें आते हैं। 'परस्मिन्नहनि' (दूसरे दिन) के अर्थमें 'परेद्यवि' का प्रयोग होता है। 'ह्यस्' बीते हुए दिनके अर्थमें, 'श्वस्' आगामी दिनके अर्थमें तथा 'परश्वस्' शब्द उसके बाद आनेवाले दिनके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'तदा' 'तदानीम्' शब्द 'तस्मिन् काले' (उस समय) के अर्थमें आते हैं। 'युगपत्' और 'एकदा'का अर्थ है—एक ही समयमें। 'सर्वदा' और 'सदा'—ये हमेशाके अर्थमें आते हैं। एतर्हि, सम्प्रति, इदानीम्, अधुना तथा साम्प्रतम्—इन पदोंका प्रयोग 'इस समय'के अर्थमें होता है॥ १९—३८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें कोशविषयक 'अव्ययवर्गका वर्णन' नामक तीन सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६१॥

---

१. यहाँ 'आदि' शब्दसे उत्तर आदि शब्दोंका ग्रहण होता है—जैसे उत्तरस्मिन्नह्नि, अपरस्मिन्नह्नि, अन्यस्मिन्नहनि, अन्यतरस्मिन्नहनि तथा इतरस्मिन्नहनि।

२. 'आदि' शब्दसे 'उत्तरेद्युः', 'अपरेद्युः', 'अधरेद्युः', 'अन्येद्युः', 'अन्यतरेद्युः' तथा 'इतरेद्युः'—इन अव्यय-पदोंका ग्रहण करना चाहिये।

तीन सौ बासठवाँ अध्याय

नानार्थ-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—'नाक'शब्द आकाश और स्वर्गके अर्थमें तथा 'लोक' शब्द संसार, जन-समुदायके अर्थमें आता है। 'श्लोक' शब्द अनुष्टुप् छन्द और सुयश अर्थमें तथा 'सायक' शब्द बाण और तलवारके अर्थमें प्रयुक्त होता है। आनक, पटह और भेरी—ये एक दूसरेके पर्याय हैं। 'कलङ्क' शब्द चिह्न तथा अपवादका वाचक है। 'क' शब्द यदि पुँल्लिङ्गमें हो तो वायु, ब्रह्मा और सूर्यका तथा नपुंसकमें हो तो मस्तक और जलका बोधक होता है। 'पुलाक' शब्द कदन्न, संक्षेप तथा भातके पिण्ड अर्थमें आता है। 'कौशिक' शब्द इन्द्र, गुग्गुल, उल्लू तथा साँप पकड़नेवाले पुरुषोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है। बंदरों और कुत्तोंको 'शालावृक' कहते हैं। मापके साधनका नाम 'मान' है। 'सर्ग' शब्द स्वभाव, त्याग, निश्चय, अध्ययन और सृष्टिके अर्थमें उपलब्ध होता है। 'योग' शब्द कवचधारण, साम आदि उपायोंके प्रयोग, ध्यान, संगति (संयोग) और युक्ति अर्थका बोधक होता है। 'भोग' शब्द सुख और स्त्री (वेश्या या दासी) आदिको उपभोगके बदले दिये जानेवाले धनका वाचक है। 'अब्ज' शब्द शङ्ख और चन्द्रमाके अर्थमें भी आता है। 'करट' शब्द हाथीके कपोल और कौवेका वाचक है। 'शिपिविष्ट' शब्द बुरे चमड़ेवाले (कोढ़ी) मनुष्यका बोध करानेवाला है। 'रिष्ट' शब्द क्षेम, अशुभ तथा अभावके अर्थमें आता है। 'अरिष्ट' शब्द शुभ और अशुभ दोनों अर्थोंका वाचक है। 'व्युष्टि' शब्द प्रभातकाल और समृद्धिके अर्थमें तथा 'दृष्टि' शब्द ज्ञान, नेत्र और दर्शनके अर्थमें आता है। 'निष्ठा'का अर्थ है—निष्पत्ति (सिद्धि), नाश और अन्त तथा 'काष्ठा'का उत्कर्ष, स्थिति तथा दिशा अर्थमें प्रयोग होता है। 'इडा' और 'इला' शब्द गौ तथा पृथ्वीके वाचक हैं। 'प्रगाढ' शब्द अत्यन्त एवं कठिनाईका बोध करानेवाला है। 'बाढम्' पद अत्यन्त और प्रतिज्ञाके अर्थमें आता है। 'दृढ' शब्द समर्थ एवं स्थूलका वाचक है तथा इसका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। 'व्यूढ' का अर्थ है—विन्यस्त (सिलसिलेवार रक्खा हुआ या व्यूहके आकारमें खड़ा किया हुआ) तथा संहत (संगठित)। 'कृष्ण' शब्द व्यास, अर्जुन तथा भगवान् विष्णुके अर्थमें आता है। 'पण' शब्द जुआ आदिमें दाँवपर लगाये हुए द्रव्य, कीमत और वनके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। 'गुण' शब्द धनुषकी प्रत्यञ्चाका, द्रव्योंका आश्रय लेकर रहनेवाले रूप-रस आदि गुणोंका, सत्त्व, रज और तमका, शुक्ल, नील आदि वर्णोंका तथा संधि-विग्रह आदि छः प्रकारकी नीतियोंका बोध करानेवाला है। 'ग्रामणी' शब्द श्रेष्ठ (मुखिया) तथा गाँवके स्वामीका वाचक है। 'घृणा' शब्द जुगुप्सा और दया—दोनों अर्थोंमें आता है। 'तृष्णा'का अर्थ है—इच्छा और प्यास। 'विपणि' शब्द बाजार या बनियेके दूकानके अर्थमें आता है। 'तीक्ष्ण' शब्द नपुंसक-लिङ्गमें प्रयुक्त होनेपर विष, युद्ध तथा लोहेका वाचक होता है और प्रखर या प्रचण्डके अर्थमें उसका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। 'प्रमाण' शब्द कारण, सीमा, शास्त्र, इयत्ता (निश्चित माप) तथा प्रामाणिक पुरुषके अर्थमें आता है। 'करुण' शब्द क्षेत्र और गात्रका तथा 'ईरिण' शब्द शून्य (निर्जन) एवं ऊसरभूमिका वाचक है॥१—१२॥

'यन्ता' पद हाथीवान और सारथिका वाचक है। 'हेति' शब्दका प्रयोग आगकी ज्वालाके अर्थमें होता है। 'श्रुत' शब्द शास्त्र एवं अवधारण (निश्चय) का तथा 'कृत' शब्द सत्ययुग और पर्याप्त अर्थका बोधक है। 'प्रतीत' शब्द विख्यात तथा हृष्टके अर्थमें और 'अभिजात' शब्द कुलीन एवं विद्वान्‌के अर्थमें आता है। 'विविक्त' शब्द पवित्र और एकान्तका तथा 'मूर्च्छित' शब्द मूढ़ (संज्ञाशून्य) और फैले हुए या उन्नतिको प्राप्त हुएका बोध करानेवाला है। 'अर्थ' शब्द अभिधेय (शब्दसे निकलनेवाले तात्पर्य), धन, वस्तु, प्रयोजन और निवृत्तिका वाचक है। 'तीर्थ' शब्द निदान (उपाय), आगम (शास्त्र) महर्षियोंद्वारा सेवित जल तथा गुरुके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ककुद्' शब्द स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। यह प्रधानता, राजचिह्न तथा बैलके अङ्गविशेषका बोध करानेवाला है। 'संविद्' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसका ज्ञान, सम्भाषण, क्रियाके नियम, युद्ध और नाम अर्थमें प्रयोग होता है। 'उपनिषद्' शब्द धर्म और रहस्यके अर्थमें तथा 'शरद्' शब्द ऋतु और वर्षके अर्थमें आता है। 'पद' शब्द व्यवसाय (निश्चय), रक्षा, स्थान, चिह्न, चरण और वस्तुका वाचक है। 'स्वादु' शब्द प्रिय एवं मधुर अर्थका तथा 'मृदु' शब्द तीखेपनसे रहित एवं कोमल अर्थका बोध करानेवाला है। स्वादु और

'मृदु'—दोनों शब्द तीनों ही लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। 'सत्' शब्द सत्य, साधु, विद्यमान, प्रशस्त तथा पूज्य अर्थमें उपलब्ध होता है। 'विधि' शब्द विधान और दैवका वाचक है। 'प्रणिधि' शब्द याचना और चर (दूत) के अर्थमें आता है। 'वधू' शब्द जाया, पतोहू तथा स्त्रीका बोधक है। 'सुधा' शब्द अमृत, चूना तथा शहदके अर्थमें आता है। 'श्रद्धा' शब्द आदर, विश्वास एवं आकाङ्क्षाके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'समुन्नद्ध' शब्द अपनेको पण्डित माननेवाले और घमंडीके अर्थमें आता है। 'ब्रह्मबन्धु' शब्दका प्रयोग ब्राह्मणकी अवज्ञामें प्रयुक्त होता है। 'भानु' शब्द किरण और सूर्य—दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। 'ग्रावन्' शब्दका अभिप्राय पहाड़ और पत्थर—दोनोंसे है। 'पृथग्जन' शब्द मूर्ख और नीचके अर्थमें आता है। 'शिखरिन्' शब्दका अर्थ वृक्ष और पर्वत तथा 'तनु' शब्दका अर्थ शरीर और त्वचा (छाल) है। 'आत्मन्' शब्द यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म और शरीरके अर्थमें भी आता है। 'उत्थान' शब्द पुरुषार्थ और तन्त्रके तथा 'व्युत्थान' शब्द विरोधमें खड़े होनेके अर्थका बोधक है। 'निर्यातन' शब्द वैरका बदला लेने, दान देने तथा धरोहर लौटानेके अर्थमें भी आता है। 'व्यसन' शब्द विपत्ति, अधःपतन तथा काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका बोध करानेवाला है। शिकार, जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रियोंमें आसक्त होना, मदिरा पीना, नाचना, गाना, बाजा बजाना तथा व्यर्थ घूमना—यह कामसे उत्पन्न होनेवाले दस दोषोंका समुदाय है। चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता तथा दण्डकी कठोरता—यह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोषोंका समूह है। 'कौपीन' शब्द नहीं करनेयोग्य खोटे कर्म तथा गुह्यस्थानका वाचक है। 'मैथुन' शब्द संगति तथा रतिके अर्थमें आता है। 'प्रधान' कहते हैं—परमार्थबुद्धिको तथा 'प्रज्ञान' शब्द बुद्धि एवं चिह्न (पहचान) का वाचक है। 'क्रन्दन' शब्द रोने और पुकारनेके अर्थमें आता है। 'वर्ष्मन्' शब्द देह और परिमाणका बोधक है। 'आराधन' शब्द साधन, प्राप्ति तथा संतुष्ट करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'रत्न' शब्दका स्वजातिमें श्रेष्ठ पुरुषके लिये भी प्रयोग होता है और 'लक्ष्मन्' शब्द चिह्न एवं प्रधानका बोध करानेवाला है। 'कलाप' शब्द आभूषण, मोरपंख, तरकस और संगठितके अर्थमें भी उपलब्ध होता है। 'तल्प' शब्द शय्या, अट्टालिका तथा स्त्रीरूप अर्थका बोधक है। 'डिम्भ' शब्द शिशु और मूर्खके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'स्तम्भ' शब्द खंभे तथा जडवत् निश्चेष्ट होनेके अर्थमें आता है। 'सभा' शब्द समिति तथा सदस्योंका भी वाचक है॥ १३-२९ ॥

'रश्मि' शब्द किरण तथा रस्सीका वाचक है। 'धर्म' शब्दका प्रयोग पुण्य और यमराज आदिके लिये होता है। 'ललाम' शब्द पूँछ, पुण्ड्र (तिलक), घोड़ा, आभूषण, श्रेष्ठता तथा ध्वजा इत्यादि अर्थोंमें आता है। 'प्रत्यय' शब्द अधीन, शपथ, ज्ञान, विश्वास तथा हेतुके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'समय' शब्दका अर्थ है—शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त और संविद् (करार)। 'अत्यय' अतिक्रमण (उल्लङ्घन) और कठिनाई अर्थमें तथा 'सत्य' शब्द शपथ और सत्यभाषणके अर्थमें आता है। 'वीर्य' शब्द बल और प्रभावका तथा 'रूप्य' शब्द परमसुन्दर रूपका वाचक है। 'दुरोदर' शब्द पुँल्लिङ्ग होनेपर जुआ खेलनेवाले पुरुष और जुएमें लगाये जानेवाले दाँवका बोध करानेवाला होता है तथा नपुंसकलिङ्ग होनेपर जुएके अर्थमें आता है। 'कान्तार' शब्द बहुत बड़े जंगल और दुर्गम मार्गका वाचक है तथा पुँल्लिङ्ग और नपुंसक—दोनों लिङ्गोंमें उसका प्रयोग होता है। 'हरि' शब्द यम, वायु, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु और सिंह आदि अनेकों अर्थोंका वाचक है। 'दर' शब्द स्त्रीलिङ्गको छोड़कर अन्य दो लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है—भय और खंदक। 'जठर' शब्द उदर एवं कठिन अर्थका बोधक है। 'उदार' शब्द दाता और महान् पुरुषके अर्थमें आता है। 'इतर' शब्द अन्य और नीचका वाचक है। 'मौलि' शब्दके तीन अर्थ हैं—चूडा, किरीट और बँधे हुए केश। 'बलि' शब्द कर (टैक्स या लगान) तथा उपहार (भेंट आदि) के अर्थमें प्रयोग आता है। 'बल' शब्द सेना और स्थिरता आदिका बोधक है। 'नीवी' शब्द स्त्रीके कटिवस्त्रके बन्धनरूप अर्थमें तथा परिपण (पूँजी, मूलधन अथवा बंधक रखने) के अर्थमें आता है। 'वृष' शब्द शुक्ल (अधिक वीर्यवान्), चूहा, श्रेष्ठ पुरुष, पुण्य (धर्म) तथा बैलके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'आकर्ष' शब्द पासा तथा चौसरकी बिछौनेके अर्थमें आता है। 'अक्ष' शब्द नपुंसकलिङ्ग होनेपर इन्द्रियके अर्थमें आता है तथा पुँल्लिङ्ग होनेपर पासा, कर्ष (सोलह मासेका एक माप), गाड़ीके पहिये, व्यवहार (आय-व्ययकी चिन्ता) और बहेड़ेके वृक्षके अर्थमें उपलब्ध होता है। 'उष्णीष' शब्द किरीट आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिङ्ग

'कर्षू' शब्द कुल्या अर्थात् छोटी नदीका वाचक है। 'अध्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष [द्रष्टा] और अधिकारीके अर्थमें आता है। 'विभावसु' शब्द सूर्य और अग्निका वाचक है। 'रस' शब्द विष, वीर्य, गुण, राग, द्रव तथा शृङ्गार आदि रसोंका बोध करानेवाला है। 'वर्चस्' शब्द तेज और पुरीष (मल) का तथा 'आगस्' शब्द पाप और अपराधका वाचक है। 'छन्दस्' शब्द पद्य और इच्छाके तथा 'साधीयस्' शब्द साधु (उत्तम) और बाढ (निश्चय या हामी भरने) के अर्थमें आता है। 'व्यूह' शब्द समूहका वाचक है। 'अहि' शब्द वृत्रासुरके अर्थमें भी आता है तथा 'तमोपह' शब्द अग्नि, चन्द्रमा एवं सूर्यका बोध करानेवाला है ॥ ३०—४१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशविषयक नानार्थ-वर्गका वर्णन' नामक तीन सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६२ ॥

तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय

भूमि, वनौषधि आदि वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं भूमि, पुर, पर्वत, वनौषधि तथा सिंह आदि वर्गोंका वर्णन करूँगा। भू, अनन्ता, क्षमा, धात्री, क्ष्मा, कु तथा धरित्री—ये भूमिके नाम हैं। मृत् और मृत्तिका—ये मिट्टीका बोध करानेवाले हैं। अच्छी मिट्टीको मृत्स्ना और मृत्सा कहते हैं। जगत्, त्रिविष्टप, लोक, भुवन और जगती—ये सब समानार्थक हैं। [अर्थात् ये सभी संसारके पर्यायवाची शब्द हैं।] अयन, वर्त्म (वर्त्मन्), मार्ग, अध्व (अध्वन्), पन्था (पथिन्), पदवी, सृति, सरणि, पद्धति, पद्या, वर्तनी और एकपदी—ये मार्गके वाचक हैं [इनमेंसे पद्या और एकपदी शब्द पगडंडीके अर्थमें आते हैं।] पूः (स्त्रीलिङ्ग 'पुर्' शब्द) पुरी, नगरी, पत्तन, पुटभेदन, स्थानीय और निगम—ये सात नगरके नाम हैं। मूल नगर (राजधानी) से भिन्न जो पुर होता है, उसे शाखानगर कहते हैं। वेश्याओंके निवास स्थानका नाम वेश और वेश्याजनसमाश्रय है। आपण, शब्द निषद्या (बाजार, हाट, दूकान) के अर्थमें आता है। विपणि और पण्यवीथिका—ये दो बाजारकी गलीके नाम हैं। रथ्या, प्रतोली और विशिखा—ये शब्द गली तथा नगरके मुख्यमार्गोंका बोध करानेवाले हैं। खाईंसे निकालकर जमा किये हुए मिट्टीके ढेरको चय और वप्र कहते हैं। वप्र-शब्दका केवल स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग नहीं होता। प्राकार, वरण, शाल और प्राचीर—ये नगरके चारों ओर बने हुए घेरे (चहारदिवारी) के नाम हैं। भित्ति और कुड्य—ये दीवारके वाचक हैं। इनमें 'भित्ति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। एडूक ऐसी दीवारको कहते हैं, जिसके भीतर हड्डी लगायी गयी हो। वास और कुटी पर्यायवाचक हैं। इनमें कुटी शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथा कुट शब्दके रूपमें इसका पुँल्लिङ्गमें भी प्रयोग है। इसी प्रकार शाला और सभा पर्यायवाचक हैं। चार शालाओंसे युक्त गृहको संजवन कहते हैं। मुनियोंकी कुटीका नाम पर्णशाला और उटज है। उटज शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग—दोनोंमें होता है। चैत्य और आयतन—ये दोनों शब्द समान अर्थ और समान लिङ्गवाले हैं। [ये यज्ञस्थान, वृक्ष तथा मन्दिरके अर्थमें आते हैं।] वाजिशाला और मन्दुरा—ये घोड़ोंके रहनेकी जगहके नाम हैं। साधारण धनियोंके महलके नाम हर्म्य आदि हैं तथा देवताओं और राजाओंके महलको प्रासाद (मन्दिर) कहते हैं। द्वार्, द्वार और प्रतीहार—ये दरवाजेके नाम हैं। आँगन आदिमें बैठनेके लिये बने हुए चबूतरेको वितर्दि एवं वेदिका कहते हैं। कबूतरों [तथा अन्य पक्षियों] के रहनेके लिये बने हुए स्थानको कपोतपालिका और विटङ्क कहते हैं। 'विटङ्क' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। कपाट और अवर—ये दोनों समान लिङ्ग और समान अर्थमें आते हैं। इनका अर्थ है—किंवाड़। निःश्रेणि और अधिरोहणी—ये सीढ़ीके नाम हैं। सम्मार्जनी और शोधनी—ये दोनों शब्द झाड़ूके अर्थमें आते हैं। संकर तथा अवकर झाड़ूसे फेंकी जानेवाली धूलके नाम हैं। अद्रि, गोत्र, गिरि और ग्रावा—ये पर्वतके तथा गहन, कानन और वन—ये जंगलके बोधक हैं। कृत्रिम (लगाये हुए) वन अर्थात् वृक्ष-समूहको आराम तथा उपवन कहते हैं। यही कृत्रिम वन, जो केवल राजासहित अन्तःपुरकी रानियोंके उपभोगमें आता है, 'प्रमदवन' कहलाता है। वीथी, आलि, आवलि, पङ्क्ति, श्रेणी, लेखा और राजि—ये सभी शब्द पङ्क्ति (कतार) के अर्थमें आते हैं। जिसमें फूल लगकर फल लगते हों, उस वृक्षका नाम 'वानस्पत्य' होता है तथा जिसमें बिना फूलके ही फल लगते हैं, उस गूलर (आदि) वृक्षको 'वनस्पति' कहते हैं ॥ १—१३ ॥

फलोंके पकनेपर जिनके पेड़ सूख जाते हैं, उन धान-जौ आदि अनाजोंको 'ओषधि' कहा जाता है। पलाशी, द्रु, द्रुम और अगम—ये सभी शब्द वृक्षके अर्थमें आते हैं। स्थाणु, ध्रुव तथा शङ्कु—ये तीन ठूँठ वृक्षके नाम हैं। इनमें स्थाणु शब्द वैकल्पिक पुँल्लिङ्ग है। अर्थात् उसका प्रयोग पुँल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग-दोनोंमें होता है। प्रफुल्ल, उत्फुल्ल और संस्फुट—ये फूलसे भरे हुए वृक्षके लिये प्रयुक्त होते हैं। पलाश, छदन और पर्ण—ये पत्तेके नाम हैं। इध्म, एधस् और समिध्—ये समिधा (यज्ञकाष्ठ) के वाचक हैं। इनमें समिध् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। बोधिद्रुम और चलदल—ये पीपलके नाम हैं। दधित्थ, ग्राही, मन्मथ, दधिफल, पुष्पफल और दन्तशठ—ये कपित्थ (कैथ) नामक वृक्षका बोध करानेवाले हैं। हेमदुग्ध-शब्द उदुम्बर (गूलर) के और द्विपत्रक शब्द कोविदार (कचनार) के अर्थमें आता है। सप्तपर्ण और विशालत्वक्—ये छितवनके नाम हैं। कृतमाल, सुवर्णक, आरेवत, व्याधिघात, सम्पाक और चतुरङ्गुल—ये सभी शब्द सोनालु अथवा धनबहेड़ाके वाचक हैं। दन्तशठ-शब्द जम्बीर (जमीरी नीबू) के अर्थमें आता है। तिक्तशाक-शब्द वरुण [या वरण] का वाचक है। पुंनाग, पुरुष, तुङ्ग, केसर तथा देववल्लभ—ये नागकेसरके नाम हैं। पारिभद्र, निम्बतरु, मन्दार और पारिजात—ये बकायनके नाम हैं। वञ्जुल और चित्रकृत—ये तिनिश-नामक वृक्षके वाचक हैं। पीतन और कपीतन—ये आम्रातक (अमड़ा) के अर्थमें आते हैं। गुडपुष्प और मधुद्रुम—ये मधूक (महुआ) के नाम हैं। पीलु अर्थात् देशी अखरोटको गुडफल और स्रंसी कहते हैं। नादेयी और अम्बुवेतस्—ये पानीमें पैदा हुए बेंतके नाम हैं। शिग्रु, तीक्ष्णगन्धक, काक्षीर और मोचक—ये शोभाञ्जन अर्थात् सहिजनके नाम हैं। लाल फूलवाले सहिजनको मधुशिग्रु कहते हैं। अरिष्ट और फेनिल—ये दोनों समान लिङ्गवाले शब्द रीठेके अर्थमें आते हैं। गालव, शाबर, लोध्र, तिरीट, तिल्व और मार्जन—ये लोधके वाचक हैं। शेलु, श्लेष्मातक, शीत, उद्दाल और बहुवारक—ये लसोड़ेके नाम हैं। वैकङ्कत, श्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल और व्याघ्रपाल—ये वृक्षविशेषके वाचक हैं। [यह वृक्ष विभिन्न स्थानोंपर टैंटी, कटेर और कंटाई आदि नामोंसे प्रसिद्ध है।] तिन्दुक, स्फूर्जक और काल [या कालस्कन्ध]—ये तेंदू वृक्षके वाचक हैं। नादेयी और भूमिजम्बुक—ये नागरङ्ग अर्थात् नारंगीके नाम हैं। पीलुक शब्द काकतिन्दुक अर्थात् कुचिलाके अर्थमें भी आता है। पाटलि, मोक्ष और मुष्कक—ये मोरवा या पाडलके नाम हैं। क्रमुक और पट्टिका—ये पठानी लोधके वाचक हैं। कुम्भी, कैडर्य और कट्फल—ये कायफलका बोध करानेवाले हैं। वीरवृक्ष, अरुष्कर, अग्निमुखी और भल्लातकी—ये शब्द भिलावा नामक वृक्षके वाचक हैं। सर्जक, असन, जीव और पीतसाल—ये विजयसारके नाम हैं। सर्ज और अश्वकर्ण—ये साल वृक्षके वाचक हैं। वीरद्रु (वीर-तरु), इन्द्रद्रु, ककुभ और अर्जुन—ये अर्जुन नामक वृक्षके पर्याय हैं। इङ्गुदी तपस्वियोंका वृक्ष है; इसीलिये इसे तापस-तरु भी कहते हैं। [कहीं-कहीं यह 'इंगुवा' तथा गोंदी वृक्षके नामसे भी प्रसिद्ध है।] मोचा और शाल्मलि—ये सेमलके नाम हैं। चिरबिल्व, नक्तमाल, करज और करञ्जक—ये 'कंजा' नामक वृक्षके अर्थमें आते हैं। ['करञ्जक' शब्द भृङ्गराज या भंगरइयाका भी वाचक है।] प्रकीर्य और पूतिकरज—ये कँटीले करञ्जके वाचक हैं। मर्कटी तथा अङ्गार-वल्लरी—ये करञ्जके ही भेद हैं। रोही, रोहितक, प्लीहशत्रु और दाडिम-पुष्पक—ये रोहेड़ाके नाम हैं। गायत्री, बालतनय, खदिर और दन्तधावन—ये खैरा नामक वृक्षके वाचक हैं। अरिमेद और विट्खदिर—ये दुर्गन्धित खैराके तथा कदर—यह श्वेत खैराका नाम है। पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, चञ्चु और गन्धर्वहस्तक—ये एरण्ड (रेड़) के अर्थमें आते हैं। पिण्डीतक और मरुवक—ये मदन (मैनफल) नामक वृक्षके बोधक हैं। पीतदारु, दारु, देवदारु और पूतिकाष्ठ—ये देवदारुके नाम हैं। श्यामा, महिलाह्वया, लता, गोवन्दिनी, गुन्द्रा, प्रियङ्गु, फलिनी और फली—ये प्रियंगु (कँगनी या टाँगुन) के वाचक हैं। मण्डूकपर्ण, पत्रोर्ण, नट, कट्वङ्ग, टुण्टुक, श्योनाक, शुकनास, ऋक्ष, दीर्घवृन्त और कुटन्नट—ये शोणक (सोनापाठा) का बोध करानेवाले हैं। पीतद्रु और सरल—ये सरल वृक्षके नाम हैं। निचुल, अम्बुज और इज्जल [या हिजल]—ये स्थलवेतस् अथवा समुद्र-फलके वाचक हैं। काकोदुम्बरिका और फल्गु—ये कठुम्बरी या कठूमरेके बोधक हैं। अरिष्ट, पिचुमर्दक और सर्वतोभद्र—ये निम्ब-वृक्षके वाचक हैं। शिरीष और कपीतन—ये सिरस वृक्षके अर्थमें आते हैं। बकुल और वञ्जुल—ये मौलिश्रीके नाम हैं। [वञ्जुल शब्द अशोक आदिके अर्थमें भी आता है।] पिच्छिला, अगरु और शिंशपा—ये शीशमके अर्थमें आते हैं। जया, जयन्ती और तर्कारी—ये

जैत वृक्षके नाम हैं। कणिका, गणिकारिका, श्रीपर्ण और अग्निमन्थ—ये अरणिके वाचक हैं। [किसीके मतमें जयासे लेकर अग्निमन्थतक सभी शब्द अरणिके ही पर्याय हैं।] वत्सक और गिरिमल्लिका—ये कुटज वृक्षके अर्थमें आते हैं। कालस्कन्ध, तमाल और तापिच्छ—ये तमालके नाम हैं। तण्डुलीय और अल्पमारिष—ये चौंराईके बोधक हैं। सिन्धुवार और निर्गुण्डी—ये सेंदुवारिके नाम हैं। वही सेंदुवारि यदि जंगलमें पैदा हुई हो तो उसे आस्फीता [आस्फोटा या आस्फोता] कहते हैं। [किसी-किसीके मतमें वनमल्लिका (वन-बेला) का नाम आस्फोटा या आस्फीता है।] गणिका, यूथिका और अम्बष्ठा—ये जूहीके अर्थमें आते हैं। सप्तला और नवमालिका—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अतिमुक्त और पुण्ड्रक—ये माधवी लताके नाम हैं। कुमारी, तरणि और सहा—ये घीकुँआरिके वाचक हैं। लाल घीकुँआरिको कुरबक और पीली घीकुँआरिको कुरण्टक कहते हैं। नील-झिण्टी और बाणा—ये दोनों शब्द नीली कटसरैयाके वाचक हैं। इनका पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग—दोनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। झिण्टी और सैरीयक—ये सामान्य कटसरैयाके वाचक हैं। वही लाल हो तो कुरबक और पीली हो तो सहचरी कहलाती है। यह शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग—दोनोंमें प्रयुक्त होता है। धूस्तूर [या धत्तूर], कितव और धूर्त—ये धतूरके नाम हैं। रुचक और मातुलुङ्ग—ये बीजपूर या बिजौरा नीबूके वाचक हैं। समीरण, मरुवक, प्रस्थपुष्प और फणिज्जक—ये मरुआ वृक्षके नाम हैं। कुठेरक और पर्णास—ये तुलसी वृक्षके पर्याय हैं। आस्फीत, वसुक और अर्क—ये आक (मदार) के नाम हैं। शिवमल्ली और पाशुपती—ये अगस्त्य वृक्ष अथवा बृहत् मौलसिरीके वाचक हैं। वृन्दा [वन्दा], वृक्षादनी—जीवन्तिका और वृक्षरुहा—ये पेड़पर पैदा हुई लताके नाम हैं। गुडूची, तन्त्रिका, अमृता, सोमवल्ली और मधुपर्णी—ये गुरुचिके वाचक हैं। मूर्वा, मोरटी, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी तथा पीलुपर्णी—ये मूर्वा नामवाली लताके नाम हैं। पाठा, अम्बष्ठा, विद्धकर्णी, प्राचीना और वनतिक्तिका—ये पाठा नामसे प्रसिद्ध लताके वाचक हैं। कटु, कटम्भरा, चक्राङ्गी और शकुलादनी—ये कुटकीके नाम हैं। आत्मगुप्ता, प्रावृषायी, कपिकच्छु और मर्कटी—ये केवाँछुके वाचक हैं। अपामार्ग, शैखरिक, प्रत्यक्पर्णी तथा मयूरक—ये अपामार्ग (चिचिड़ा) का बोध करानेवाले हैं। फञ्जिका [या हञ्जिका], ब्राह्मणी और भार्गी—ये ब्रह्मनेटिके वाचक हैं। द्रवन्ती, शम्बरी तथा वृषा—ये आखुपर्णी या मूसाकानीके बोधक हैं। मण्डूकपर्णी, भण्डीरी, समङ्गा और कालमेषिका—ये मजीठके नाम हैं। रोदनी, कच्छुरा, अनन्ता, समुद्रान्ता और दुरालभा—ये यवासा एवं कचूरके वाचक हैं। पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, कलशि, धावनि और गुहा—ये पिठवनके नाम हैं। निदिग्धिका, स्पृशी, व्याघ्री, क्षुद्रा और दुःस्पर्शा—ये भटकटैया [या भजकटया] के अर्थमें आते हैं। अवल्गुज, सोमराजी, सुवल्लि, सोमवल्लिका, कालमेषी, कृष्णफला, वाकुची और पूतिफली—ये वकुचीके वाचक हैं। कणा, उष्णा और उपकुल्या—ये पिप्पलीके बोधक हैं। श्रेयसी और गजपिप्पली—ये गजपिप्पलीके वाचक हैं। चव्य और चविका—ये चव्य अथवा चवाके नाम हैं। काकचिञ्ची, गुञ्जा और कृष्णला—ये तीन गुञ्जा (घुँघुची) के अर्थमें आते हैं। विश्वा, विषा और प्रतिविषा—ये 'अतीस'के बोधक हैं। वनशृङ्गाट और गोक्षुर—ये गोखुरूके वाचक हैं। नारायणी और शतमूली—ये शतावरीका बोध करानेवाले हैं। कालेयक, हरिद्रव, दार्वी, पचम्पचा और दारु—ये दारुहल्दीके नाम हैं। जिसकी जड़ सफेद हो, ऐसी वचा (बच) का नाम हैमवती है। वचा, उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी और शतपर्विका—ये बचके अर्थमें आते हैं। आस्फोता और गिरिकर्णी—ये दो शब्द विष्णुक्रान्ता या अपराजिताके नाम हैं। सिंहास्य, वासक और वृष—ये अडूसेके अर्थमें आते हैं। मिशी, मधुरिका और छत्रा—ये वनसौंफके वाचक हैं। कोकिलाक्ष, इक्षुर और क्षुर—ये तालमखानाके नाम हैं। विडंग और कृमिघ्न—ये वायविडंगके वाचक हैं। वज्रद्रु, स्नुक्, स्नुही और सुधा—ये सेहुँड़के अर्थमें आते हैं। मृद्वीका, गोस्तनी और द्राक्षा—ये दाख या मुनक्काके नाम हैं। बला तथा वाट्यालक—ये बरियारके वाचक हैं। काला और मसूरविदला—ये श्याम-लता या श्यामनिशोथके अर्थमें आते हैं। त्रिपुटा, त्रिवृत्ता और त्रिवृत्त—ये शुक्ल निशोथके वाचक हैं। मधुक, क्लीतक, यष्टिमधुका और मधुयष्टिका—ये जेठी मधुके नाम हैं। विदारी, क्षीरशुक्ला, इक्षुगन्धा, क्रोष्ट्री और यासिता—ये भूमि-कूष्माण्डके बोधक हैं। गोपी, श्यामा, शारिवा, अनन्ता तथा उत्पल शारिवा—ये श्यामालता अथवा गौरीसरके वाचक हैं। मोचा, रम्भा और कदली—ये केलेके नाम हैं। भण्टाकी और दुष्प्रधर्षिणी—ये भाँटेके अर्थमें आते हैं। स्थिरा, ध्रुवा और सालपर्णी—ये सरिवनके नाम हैं। शृङ्गी, ऋषभ और

वृष—ये काकड़ासिंगीके वाचक हैं। [यह अष्टवर्गकी प्रसिद्ध ओषधि है।] गाङ्गेरुकी और नागबला—ये बलाके भेद हैं। इन्हें हिंदीमें गुलसकरी और गंगेरन भी कहते हैं। मुषली और तालमूलिका—ये मूसलीके नाम हैं। ज्योत्स्नी, पटोलिका और जाली—ये तरोईके अर्थमें आते हैं। अजशृङ्गी और विषाणी—ये 'मेडासिंगी' के वाचक हैं। लाङ्गलिकी और अग्निशिखा—ये करियारीका बोध करानेवाले हैं। ताम्बूली तथा नागवल्ली—ये ताम्बूल या पानके नाम हैं। हरेणु, रेणिका और कौन्ती—ये रेणुका नामक गन्धद्रव्यके वाचक हैं। ह्रीबेरी और दिव्यनागर—ये नेत्रबाला और सुगन्धबालाके नाम हैं। कालानुसार्य, वृद्ध, अश्मपुष्प, शीतशिव और शैलेय—ये शिलाजीतके वाचक हैं। तालपर्णी, दैत्या, गन्ध, कुटी और मुरा—ये मुरा नामक सुगन्धित द्रव्यका बोध करानेवाले हैं। ग्रन्थिपर्ण, शुक और बर्हि [या बर्ह]—ये गठिवनके अर्थमें आते हैं। बला, त्रिपुटा और त्रुटि—ये छोटी इलायचीके वाचक हैं। शिवा और तामलकी—ये भुईं आमलाके अर्थमें आते हैं। हनु और हट्टविलासिनी—ये नखी नामक गन्धद्रव्यके बोधक हैं। कुटन्नट, दाशपुर, वानेय और परिपेलव—ये मोथाके नाम हैं। तपस्विनी तथा जटामांसी—ये जटामाँसीके अर्थमें आते हैं। पृक्का [या स्पृक्का], देवी, लता और लघु या [लघू]—ये 'असबरग' के वाचक हैं। कर्चूरक और द्राविड़क—ये कर्चूरके नाम हैं। गन्धमूली और शठी शब्द भी कचूरके ही अर्थमें आते हैं। ऋक्षगन्धा, छगलान्त्रा, आवेगी तथा वृद्धदारक—ये विधाराके नाम हैं। तुण्डिकेरी, रक्तफला, बिम्बिका और पीलुपर्णी—ये कन्दूरीके वाचक हैं। चाङ्गेरी, चुक्रिका और अम्बष्ठा—ये अम्ललोड़िका (अम्लिलोना)के बोधक हैं। स्वर्णक्षीरी और हिमावती—ये मकोयके नाम हैं। सहस्रवेधी, चुक्र, अम्लवेतस और शतवेधी—ये अम्लबेंतके अर्थमें आते हैं। जीवन्ती, जीवनी और जीवा—ये जीवन्तीके नाम हैं। भूमिनिम्ब और किरातक—ये चिरात्तिक्त या चिरायताके वाचक हैं। कूर्चशीर्ष और मधुरक—ये अष्टवर्गान्तक 'जीवक' नामक ओषधिके बोधक हैं। चन्द्र और कपिवृक—ये समानार्थक शब्द हैं। [चन्द्र-शब्द कर्पूर और काम्पिल्य आदि अर्थोंमें आता है।] दद्रुघ्न और एडगज—ये चकवड़ नामक वृक्षके वाचक हैं। वर्षाभू और शोथहारिणी—ये गदहपुर्नाके अर्थमें आते हैं। कुनन्दती, निकुम्भस्त्रा, यमानी और वार्षिका—ये लताविशेषके वाचक हैं। लशुन, गृञ्जन, अरिष्ट, महाकंद और रसोन—ये लहसुनके नाम हैं। वाराही, वरदा [या वदरा] तथा गृष्टि—ये बराहीकंदके वाचक हैं। काकमाची और वायसी—ये समानार्थ शब्द हैं। शतपुष्पा, सितच्छत्रा, अतिच्छत्रा, मधुरामिसि, अवाक्पुष्पी और कारवी—ये सौंफके नाम हैं। सरणा, प्रसारिणी, कटम्भरा और भद्रबला—ये कुब्जप्रसारिणी नामक ओषधिके वाचक हैं। कर्बूर और शटी—ये भी कचूरके अर्थमें आते हैं। पटोल, कुलक, तिक्तक और पटु—ये परवलके नाम हैं। कारवेल्ल और कटिल्लक—ये करैलाके अर्थमें आते हैं। कूष्माण्डक और कर्कारु—ये कोंहड़ाके वाचक हैं। उर्वारु और कर्कटी—ये दोनों स्त्रीलिङ्ग शब्द ककड़ीके वाचक हैं। इक्ष्वाकु तथा कटुतुम्बी—ये कड़वी लौकीके बोधक हैं। विशाला और इन्द्रवारुणी—ये इन्द्रायन (तूँबी) नामक लताके नाम हैं। अर्शोघ्न, सूरण और कंद—ये सूरन या ओलके वाचक हैं। मुस्तक और कुरुविन्द—ये दोनों शब्द भी मोथाके अर्थमें आते हैं। त्वक्सार, कर्मार, वेणु, मस्कर और तेजन—ये वंश (बाँस)के वाचक हैं। छत्रा, अतिच्छत्र और पालघ्न—ये पानीमें पैदा होनेवाले तृणविशेषके बोधक हैं। मालातृणक और भूस्तृण—ये भी तृणविशेषके ही नाम हैं। ताड़के वृक्षका नाम ताल और तृणराज है। घोण्टा, क्रमुक तथा पूग—ये सुपारीके अर्थमें आते हैं॥ १—७०½॥

शार्दूल और द्वीपी—ये व्याघ्र (बाघ)के वाचक हैं। हर्यक्ष, केशरी (केसरी) तथा हरि—ये सिंहके नाम हैं। कोल, पोत्री और वराह—ये सूअरके तथा कोक, ईहामृग और वृक भेड़ियेके अर्थमें आते हैं। लूता, ऊर्णनाभि, तन्तुवाय और मर्कट—ये मकड़ीके नाम हैं। वृश्चिक और शूककीट बिच्छूके वाचक हैं। ['शूककीट' शब्द ऊन आदि चाटनेवाले कीड़ेके अर्थमें भी आता है।] सारङ्ग और स्तोक—ये समान लिङ्गमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द पपीहा के वाचक हैं। कृकवाकु तथा ताम्रचूड—ये कुक्कुट (मुर्गे)के नाम हैं। पिक और कोकिल—ये कोयलके बोधक हैं। करट और अरिष्ट—काक (कौए)के अर्थमें आते हैं। बक और कह्व—बगुलेके नाम हैं। कोक, चक्र और चक्रवाक—ये चकवाके तथा कादम्ब और कलहंस—ये मधुरभाषी हंस या बत्तकके वाचक हैं। पतङ्गिका और पुत्तिका—ये मधुका छाता लगानेवाली छोटी मक्खियोंके नाम हैं और सरघा तथा मधुमक्षिका—ये बड़ी मधुमक्खीके अर्थमें आते हैं। [इसीको सरँगवा माछी भी कहते हैं।] द्विरेफ, पुष्पलिह्, भृङ्ग, षट्पद, भ्रमर और अलि—ये भ्रमर (भौंरे)के नाम हैं। केकी तथा शिखी—

मोरके नाम हैं। मोरकी वाणीको 'केका' कहते हैं। शकुन्ति, शकुनि और द्विज—ये पक्षीके पर्याय हैं। स्त्रीलिङ्ग पक्षति-शब्द और पक्षमूल—ये पंखके वाचक हैं। चञ्चु और तोटि—ये चोंचके अर्थमें आते हैं। इन दोनोंका स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग होता है। उड्डीन और संडीन—ये पक्षियोंके उड़नेके विभिन्न प्रकारोंके नाम हैं। कुलाय और नीड शब्द घोंसलेके अर्थमें आते हैं। पेषी [या पेशी], कोष और अण्ड—ये अण्डेके नाम हैं। इनमें प्रथम दो शब्द केवल पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं। पृथुक, शावक, शिशु, पोत, पाक, अर्भक और डिम्भ—ये शिशुमात्रके बोधक हैं। संदोह, व्यूहक और गण, स्तोम, ओघ, निकर, व्रात, निकुरम्ब, कदम्बक, संघात, संचय, वृन्द, पुञ्ज, राशि और कूट—ये सभी शब्द 'समूह' अर्थके वाचक हैं॥ ७१—७८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोषविषयक भूमि, वनौषधि आदि वर्गोंका वर्णन' नामक तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६३॥

तीन सौ चौसठवाँ अध्याय

मनुष्य-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं नाम-निर्देशपूर्वक मनुष्य-वर्ग, ब्राह्मण-वर्ग, क्षत्रिय-वर्ग, वैश्य-वर्ग और शूद्रवर्गका क्रमशः वर्णन करूँगा। ना, नर, पञ्चजन और मर्त्य—ये मनुष्य एवं पुरुष-के वाचक हैं। स्त्रीको योषित्, योषा, अबला और वधू कहते हैं। जो अपने अभीष्ट कामी पुरुषके साथ समागमकी इच्छासे किसी नियत संकेत-स्थानपर जाती है, उसे अभिसारिका कहते हैं। कुलटा, पुंश्चली और असती—ये व्यभिचारिणी स्त्रीके नाम हैं। नग्निका और कोटवी शब्द नंगी स्त्रीका बोध कराने-वाले हैं। [रजोधर्म होनेके पूर्व अवस्थावाली कन्याको भी 'नग्निका' कहते हैं।] अर्धवृद्धा (अधवुढ़) स्त्रीको [जो गेरुआँ वस्त्र धारण करनेवाली और पति-विहीना हो] कात्यायनी कहते हैं। दूसरेके घरमें रहकर [स्वाधीन वृत्तिसे केश-प्रसाधन आदि कलाके द्वारा] जीवन-निर्वाह करनेवाली स्त्रीका नाम सैरन्ध्री है। अन्तःपुरकी वह दासी, जो अभी बूढ़ी न हुई हो—जिसके सिरके बाल सफेद न हुए हों, असिक्नी कहलाती है। रजस्वला स्त्रीको मलिनी कहते हैं। वारस्त्री, गणिका और वेश्या—ये रंडियोंके नाम हैं। भाइयोंकी स्त्रियाँ परस्पर याता कहलाती हैं। पतिकी बहनको ननान्दा कहते हैं। सात पीढ़ीके अंदरके मनुष्य सपिण्ड और सनाभि कहे जाते हैं। समानोदर्य, सोदर्य, सगर्भ और सहज—ये समानार्थक शब्द सगे भाईका बोध करानेवाले हैं। सगोत्र, बान्धव, ज्ञाति, बन्धु, स्व तथा स्वजन—ये भी समान अर्थके बोधक हैं। दम्पती, जम्पती, भार्यापती, जायापती—ये पति-पत्नीके वाचक हैं। गर्भाशय, जरायु, उल्ब और कलल—ये चार शब्द गर्भको लपेटनेवाली झिल्लीके नाम हैं। कलल-शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग—दोनोंमें आता है। [यह शुक्र और शोणितके संयोगसे बने हुए गर्भाशयके मांस-पिण्डका भी वाचक है।] गर्भ और भ्रूण—ये दोनों शब्द गर्भस्थ बालकके लिये प्रयुक्त होते हैं। क्लीब, शण्ड (षण्ढ) और नपुंसक—ये पर्यायवाची शब्द हैं। डिम्भ-शब्द उत्तान सोनेवाले नवजात शिशुओंके अर्थमें आता है। बालकको माणवक कहते हैं। लंबे पेटवाले पुरुषके अर्थमें पिचण्डिल और बृहत्कुक्षि शब्दोंका प्रयोग होता है। जिसकी नाक कुछ झुकी हुई हो, उसको अवभ्रट कहते हैं। जिसका कोई अङ्ग कम या विकृत हो वह विकलाङ्ग और पोगण्ड कहलाता है। आरोग्य और अनामय—ये नीरोगताके वाचक हैं। बहरेको एड और बधिर तथा कुबड़ेको कुब्ज और गडुल कहते हैं। रोग आदिके कारण जिसका हाथ खराब हो जाय, उसको तथा लूले मनुष्यको कुनि [या कुणि] कहा जाता है। क्षय, शोष और यक्ष्मा—ये राजयक्ष्मा (थाइ-सिस, टीबी या तपेदिक) के नाम हैं। प्रतिश्याय और पीनस—ये जुकामके अर्थमें आते हैं। स्त्रीलिङ्ग-क्षुत्, पुँल्लिङ्ग-क्षव और नपुंसक-क्षुत शब्द छींकके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। कास और क्षवथु—ये खाँसीके नाम हैं। इनका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें होता है। शोथ, श्वयथु और शोफ—ये सूजनके अर्थमें आते हैं। पादस्फोट और विपादिका—ये बिवाईके नाम हैं। किलास और सिध्म—सेहुएँको कहते हैं। कच्छू, पाम, पामा और विचर्चिका—ये खुजलीके वाचक हैं। कोठ और मण्डलक उस कोढ़को कहते हैं, जिसमें गोलाकार चकत्ते पड़ जाते हैं। सफेद कोढ़को कुष्ठ और श्वित्र कहते हैं। दुर्नामक और अर्शस्—ये बवासीरके नाम

हैं। मल-मूत्रके निरोधको अनाह और विबन्ध कहते हैं। ग्रहणी और प्रवाहिका—ये संग्रहणी रोगके नाम हैं। बीज, वीर्य, इन्द्रिय और शुक्र—ये वीर्यके पर्याय हैं। पलल, क्रव्य और आमिष—ये मांसके अर्थमें आते हैं। बुक्का और अग्र-मांस—ये छातीके मांस (हृत्पिण्ड) का बोध करानेवाले हैं। ['बुक्का' शब्द केवल हृदयका भी वाचक है।] हृदय और हृत्—ये मनके पर्याय हैं। मेदस्, वपा और वसा—ये मेदाके नाम हैं। गलेके पीछेकी नाड़ीको मन्या कहते हैं। नाडी, धमनि और शिरा—ये नाड़ीके वाचक हैं। तिलक और क्लोम—ये शरीरमें रहनेवाले काले तिलके अर्थमें आते हैं। मस्तिष्क दिमागको और दूषिका आँखोंकी कीचड़को कहते हैं। अन्त्र और पुरीतत्—ये आँतके अर्थमें आते हैं। गुल्म और प्लीहा—बरवट (तिल्ली)को कहते हैं। प्लीहा 'प्लीहन्' शब्दका पुँल्लिङ्गरूप है। अङ्ग-प्रत्यङ्गकी संधियोंके बन्धनको स्नायु और वस्नसा कहते हैं। कालखण्ड और यकृत्—जिगर या कलेजेके नाम हैं। कर्पर और कपाल शब्द ललाटके वाचक हैं। 'कपाल' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें आता है। कीकस, कुल्य और अस्थि—ये हड्डीके नाम हैं। रक्त-मांससे रहित शरीरकी हड्डीको कङ्काल कहते हैं। पीठकी हड्डी (मेरुदण्ड)का नाम करोरुका है। 'करोटि' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और यह मस्तककी हड्डी (खोपड़ी) के अर्थमें आता है। पँसलीकी हड्डीको पर्शुका कहते हैं। अङ्ग, प्रतीक, अवयव, शरीर, वर्ष्म तथा विग्रह—ये शरीरके पर्याय हैं। कट और श्रोणिफलक—ये चूतड़के अर्थमें आते हैं। 'कट' शब्द पुँल्लिङ्ग है। कटि, श्रोणि और ककुद्मती—ये कमरका बोध करानेवाले हैं। [किन्हीं-किन्हींके मतमें उपर्युक्त पाँचों ही शब्द पर्यायवाची हैं।] स्त्रीकी कमरके पिछले भागको नितम्ब और अगले भागको जघन कहते हैं। 'जघन' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। नितम्बके ऊपर जो दो गड्ढे-से होते हैं, उन्हें कूपक एवं ककुन्दर कहते हैं। 'ककुन्दर' शब्द केवल नपुंसकलिङ्ग है। कटिके मांस-पिण्डका नाम स्फिच् और कटिप्रोथ है। 'स्फिच्' शब्दका प्रयोग स्त्रीलिङ्गमें होता है। नीचे बताये जानेवाले भग और लिङ्ग—दोनोंको उपस्थ कहा जाता है। भग और योनि—ये स्त्री-चिह्नके बोधक पर्यायवाची शब्द हैं। शिश्न, मेढ्र, मेहन और शेफस्—ये पुरुषचिह्न (लिङ्ग)के वाचक हैं। पिचण्ड, कुक्षि, जठर, उदर और तुन्द—ये पेटके अर्थमें आते हैं। कुच और स्तन पर्यायवाची शब्द हैं। कुचोंके अग्रभागका नाम चूचुक है। नपुंसकलिङ्ग क्रोड तथा भुजान्तर शब्द गोदीके वाचक हैं। स्कन्ध, भुजशिरस् और अंस—ये कंधेके अर्थमें आते हैं। 'अंस' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग है। कंधेकी संधियों अर्थात् हँसलीकी हड्डीको जत्रु कहते हैं। पुनर्भव, कररुह, नख और नखर—ये नखोंके नाम हैं। इनमें 'नखर' और 'नख' शब्द स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य दो लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। अँगूठेसे लेकर तर्जनीतक फैलाये हुए हाथको प्रादेश, अँगूठेसे मध्यमा तकको ताल और अनामिकातक फैलाये हुए हाथको गोकर्ण कहते हैं। इसी प्रकार अँगूठेसे कनिष्ठिका अँगुलीतक फैले हुए हाथका नाम वितस्ति (बालिश्त या बित्ता) है। इसकी लंबाई बारह अंगुलकी होती है। जब हाथकी सभी अँगुलियाँ फैली हों, तब उसे चपेट, तल और प्रहस्त कहते हैं। मुट्ठी बँधे हुए हाथका नाम रत्नि है। [कोहनीसे लेकर मुट्ठी बँधे हुए हाथतकके मापको भी 'रत्नि' कहते हैं।] कोहनीसे कनिष्ठा अँगुलीतककी लंबाईका नाम अरत्नि है। शङ्खके समान आकारवाली ग्रीवाका नाम कम्बुग्रीवा और त्रिरेखा है। गलेकी घाँटीको अवटु, घाटा और कृकाटिका कहते हैं। ओठसे नीचेके हिस्सेका नाम चिबुक है। गण्ड और गल्ल गालके वाचक हैं। गालोंके निचले भागको हनु कहते हैं। नेत्रोंके दोनों प्रान्तोंको अपाङ्ग कहा जाता है। उन्हें दिखानेकी चेष्टाको कटाक्ष कहा जाता है। चिकुर, कुन्तल और वाल—ये केशके वाचक हैं। प्रतिकर्म और प्रसाधन शब्द सँवारने और शृङ्गार करनेके अर्थमें आते हैं। आकल्प, वेश और नेपथ्य—ये शब्द प्रत्यक्ष नाटक आदिके खेलमें भिन्न-भिन्न वेष धारण करनेके अर्थमें आते हैं। मस्तकपर धारण किये जानेवाले रत्नका नाम चूडामणि और शिरोरत्न है। हारके बीच-बीचमें पिरोये हुए रत्नको तरल कहते हैं। कर्णिका और तालपत्र—ये कानके आभूषणके नाम हैं। लम्बन और ललन्तिका गलेमें नीचेतक लटकनेवाले हारको कहते हैं। मञ्जीर और नूपुर—ये पैरके आभूषण हैं। किङ्किणी और क्षुद्रघण्टिका घुँघुरूके नाम हैं। दैर्घ्य, आयाम और आनाह—ये वस्त्र आदिकी लंबाईके बोधक हैं। परिणाह और विशालता—ये चौड़ाई (पनहा या अर्ज) के अर्थमें आते हैं। पुराने वस्त्रको पटच्चर कहते हैं। संख्यान और उत्तरीय—ये चादर या दुपट्टेके अर्थमें आते हैं। फूल आदिसे बालोंका शृङ्गार करने

या कपोल आदिपर पत्रभङ्ग आदि बनानेकी रचना और परिस्पन्द कहते हैं। प्रत्येक उपचारकी पूर्णताका नाम आभोग है। ढक्कनदार पेटीको समुद्गक और सम्पुटक कहते हैं। प्रतिग्राह और पतद्ग्रह—ये पीकदानके नाम हैं ॥ १—२९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत मनुष्य-वर्गका वर्णन' नामक तीन सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६४ ॥

तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय

ब्रह्म-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—वंश, अन्ववाय, गोत्र, कुल, अभिजन और अन्वय—ये वंशके नाम हैं। मन्त्रकी व्याख्या करनेवाले ब्राह्मणको आचार्य कहते हैं। जिसने यज्ञमें व्रतकी दीक्षा ग्रहण की हो, वह आदेष्टा, यष्टा और यजमान कहलाता है। समझ-बूझकर आरम्भ करनेका नाम उपक्रम है। एक गुरुके यहाँ साथ-साथ विद्या पढ़नेवाले छात्र परस्पर सतीर्थ्य और एकगुरु कहलाते हैं। सभ्य, सामाजिक, सभासद और सभास्तार—ये यज्ञके सदस्योंके नाम हैं। ऋत्विक् और याजक—ये यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंके वाचक हैं। यजुर्वेदके ज्ञाता ऋत्विज्को अध्वर्यु, सामवेदके जाननेवालेको उद्गाता और ऋग्वेदके ज्ञाताको होता कहते हैं। चषाल और यूपकटक—ये यज्ञीय स्तम्भपर लगाये जानेवाले काठके छल्लेके नाम हैं। स्थण्डिल और चत्वर—ये दोनों शब्द समान लिङ्ग और समान अर्थके बोधक हैं। खौलाये हुए दूधमें दही मिला देनेसे जो हवनके योग्य वस्तु तैयार होती है, उसे आमिक्षा कहते हैं। दही मिलाये हुए घीका नाम पृषदाज्य है। परमान्न और पायस—ये खीरके वाचक हैं। जो पशु यज्ञमें अभिमन्त्रित करके मारा गया हो, उसको उपाकृत कहते हैं। परम्पराक, शमन और प्रोक्षण—ये शब्द यज्ञीय पशुका वध करनेके अर्थमें आते हैं। पूजा, नमस्या, अपचिति, सपर्या, अर्चा और अर्हणा—ये समानार्थक शब्द हैं। वरिवस्या, शुश्रूषा, परिचर्या और उपासना—ये सेवाके नाम हैं। नियम और व्रत—ये एक-दूसरेके पर्यायवाची शब्द हैं। इनमें 'व्रत' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें प्रयुक्त होता है। उपवास आदिके रूपमें किये जानेवाले व्रतका नाम पुण्यक है। जिसका प्रथम या प्रधानरूपसे विधान किया गया हो, उसे 'मुख्यकल्प' कहते हैं और उसकी अपेक्षा अधम या अप्रधानरूपसे जिसकी विधि हो, उसका नाम अनुकल्प है। कल्पके अर्थमें विधि और क्रम—इन शब्दोंका प्रयोग समझना चाहिये। वस्तुका पृथक्-पृथक् ज्ञान [अथवा जड-चेतन या द्रष्टा-दृश्यके पार्थक्यका निश्चय] विवेक कहलाता है। [श्रावणीपूर्णिमा आदिके दिन] संस्कारपूर्वक वेदका स्वाध्याय आरम्भ करना उपकरण या उपाकर्म कहलाता है। भिक्षु, परिव्राट्, कर्मन्दी, पाराशरी तथा मस्करी—संन्यासीके पर्यायवाची शब्द हैं। जिनकी वाणी सदा सत्य होती है, वे ऋषि और सत्यवचा कहलाते हैं। जिसने वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्यके व्रतको विधिवत् समाप्त कर लिया है, किंतु अभी दूसरे आश्रमको स्वीकार नहीं किया है, उसको स्नातक कहते हैं। जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, वे 'यती' और 'यति' कहलाते हैं। शरीर-साध्य नित्यकर्मका नाम यम है तथा जो कर्म अनित्य एवं कभी-कभी आवश्यकतानुसार किये जानेयोग्य होता है, वह (जप, उपवास आदि) नियम कहलाता है। ब्रह्मभूय, ब्रह्मत्व और ब्रह्मसायुज्य—ये ब्रह्मभावकी प्राप्तिके नाम हैं ॥ १—११ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत ब्रह्मवर्गका वर्णन' नामक तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६५ ॥

तीन सौ छाछठवाँ अध्याय

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—मूर्धाभिषिक्त, राजन्य, बाहुज, क्षत्रिय और विराट्—ये क्षत्रियके वाचक हैं। जिस राजाके सामने सभी सामन्त-नरेश मस्तक झुकाते हैं, उसे अधीश्वर कहते हैं। जिसका समुद्रपर्यन्त समूची भूमिपर अधिकार हो, उस सम्राट्का नाम चक्रवर्ती और सार्वभौम है तथा दूसरे राजाओंको [जो छोटे-छोटे मण्डलोंके शासक हैं, उन्हें]

मण्डलेश्वर कहते हैं। मन्त्रीके तीन नाम हैं—मन्त्री, धीसचिव और अमात्य। महामात्र और प्रधान—ये सामान्य मन्त्रियोंके वाचक हैं। व्यवहारके द्रष्टा अर्थात् मामले-मुकदमेमें फैसला देनेवालेको प्राड्विवाक और अक्षदर्शक कहते हैं। सुवर्णकी रक्षा जिसके अधिकारमें हो वह भौरिक और कनकाध्यक्ष कहलाता है। अध्यक्ष और अधिकृत—ये अधिकारीके वाचक हैं। इन दोनोंका समान लिङ्ग है। जिसे अन्तःपुरकी रक्षाका अधिकार सौंपा गया हो, उसका नाम अन्तर्वंशिक[1] है। सौविदल्ल, कञ्चुकी, स्थापत्य और सौविद—ये रनिवासकी रक्षामें नियुक्त सिपाहियोंके नाम हैं। अन्तःपुरमें रहनेवाले नपुंसकोंको षण्ढ और वर्षवर कहते हैं। सेवक, अर्थी और अनुजीवी—ये सेवा करनेवालेके अर्थमें आते हैं। अपने राज्यकी सीमापर रहनेवाला राजा शत्रु होता है और शत्रुकी राज्य-सीमापर रहनेवाला नरेश अपना मित्र होता है। शत्रु और मित्र दोनोंकी राज्य-सीमाओंके बाद जिसका राज्य हो, वह [न शत्रु, न मित्र] उदासीन[2] होता है। विजिगीषु राजाके पृष्ठभागमें रहनेवाले राजाको पार्ष्णिग्राह कहते हैं। चर, स्पश और प्रणिधि—ये गुप्तचरके नाम हैं। भविष्यकालको आयति कहते हैं। तत्काल और तदात्व—ये वर्तमान कालके वाचक हैं। भावी कर्मफलको उदर्क कहते हैं। आग लगने या पानीकी बाढ़ आदिके कारण होनेवाले भयको अदृष्टभय कहते हैं। अपने या शत्रुके राज्यमें रहनेवाले सैनिकों या चोरों आदिके कारण जो संकट उपस्थित होता है, उसका नाम दृष्टभय है। भरे हुए घड़ेको भद्रकुम्भ और पूर्णकुम्भ कहते हैं। सोनेके गड़ुए या झारीका नाम भृङ्गार और कनकालुका है। मतवाले हाथीको प्रभिन्न, गर्जित और मत्त कहते हैं। हाथीकी सूँड़से निकलनेवाले जलकणको वमथु और करशीकर कहते हैं। सृणि और अङ्कुश—ये दो हाथीको हाँकनेके काममें लाये जानेवाले लोहेके काँटेका बोध कराते हैं। इनमें सृणि तो स्त्रीलिङ्ग और अङ्कुश पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग है। परिस्तोम और कुथ हाथीकी गद्दी और झूलके वाचक हैं। स्त्रियोंके बैठनेयोग्य पर्देवाली गाड़ीको कर्णीरथ और प्रवहण कहते हैं। दोला और प्रेङ्खा—ये झूला अथवा डोलीके नाम हैं। इनका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग होता है। आधोरण, हस्तिपक, हस्त्यारोह और निषादी—ये हाथीवानके अर्थमें आते हैं। लड़नेवाले सिपाहियोंको भट और योद्धा कहते हैं। कञ्चुक और वारण—ये कवच (बख्तर) के नाम हैं। इनका प्रयोग स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य लिङ्गोंमें होता है। शीर्षण्य और शिरस्त्र—ये सिरपर रक्खे जानेवाले टोपके नाम हैं। तनुत्र, वर्म और दंशन—ये भी कवचके अर्थमें आते हैं। आमुक्त, प्रतिमुक्त, पिनद्ध और अपिनद्ध—ये पहने हुए कवचके वाचक हैं। सेनाकी मोर्चाबंदीका नाम व्यूह और बल-विन्यास है। चक्र और अनीक—ये नपुंसकलिङ्ग शब्द सेनाके वाचक हैं। जिस सेनामें एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े और पाँच पैदल हों, उसे पत्ति कहते हैं। पत्तिके समस्त अङ्गोंको लगातार सात बार तीन गुना करते जायँ तो उत्तरोत्तर उसके ये नाम होंगे—सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनीकिनी। हाथी आदि सभी अङ्गोंसे युक्त दस अनीकिनी सेनाको अक्षौहिणी* कहते हैं। धनुष, कोदण्ड और इष्वास—ये धनुषके नाम हैं। धनुषके दोनों कोणोंको कोटि और अटनी कहते हैं। उसके मध्य भागका नाम लस्तक [या लस्तक] है। प्रत्यञ्चाको मौर्वी, ज्या, शिञ्जिनी और गुण कहते हैं। पृषत्क, बाण, विशिख, अजिह्मग, खग और आशुग—ये वाचक पर्याय शब्द हैं ॥ १—१६ ॥

१. 'अन्तर्वंशिक'के स्थानमें 'अन्तर्वेश्मिक' नाम भी प्रयुक्त होता है।

२. रामोक्त नीतिके उपदेशानुसार विजिगीषुके सम्मुखवर्ती पाँच राज्य क्रमशः शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र होते हैं; आगे भी ऐसा ही क्रम है। दोनों पार्श्वगत राज्योंमें क्रमशः मध्यम तथा उदासीन होते हैं।

* सेनामुख आदि विभागोंमें हाथी, रथ आदिकी संख्या जाननेके लिये यह नकशा दिया जा रहा है—

सेना	पत्ति	सेनामुख	गुल्म	गण	वाहिनी	पृतना	चमू	अनीकिनी	अक्षौहिणी
हाथी और रथ	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
घोड़े	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७		
पैदल	५	१५	४५	१३५	४०५	१२१५	३६४५		१०९३५०

तूण, उपासङ्ग, तूणीर, निषङ्ग और इषुधि—ये तरकस-के नाम हैं। इनमें इषुधि शब्द पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों लिङ्गोंमें आता है। असि, ऋष्टि, निस्त्रिंश, करवाल और कृपाण—ये तलवारके वाचक हैं। तलवारकी मुष्टिको त्सरु कहते हैं। ईली और करपालिका [करवालिका]—ये गुप्तीके नाम हैं। कुठार और सुधिति [या स्वधिति] ये कुल्हाड़ी-के अर्थमें आते हैं। इनमें कुठार शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें होता है। छुरीको क्षुरिका और असिपुत्रिका कहते हैं। प्रास और कुन्त भालेके नाम हैं। सर्वला और तोमर गँड़ासेके अर्थमें आते हैं। तोमर शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें प्रयुक्त होता है [यह बाण-विशेषका भी बोधक है]। जो प्रातःकाल मङ्गल-गान करके राजाको जगाते हैं, उन्हें वैतालिक और बोधकर कहते हैं। स्तुति करनेवालोंका नाम मागध और वन्दी है। जो शपथ लेकर संग्रामसे पीछे पैर नहीं हटाते, उन योद्धाओंको संशप्तक कहते हैं। पताका और वैजयन्ती—ये पताकाके नाम हैं। केतन और ध्वज—ये ध्वजाके वाचक हैं और इनका प्रयोग नपुंसकलिङ्ग तथा पुँल्लिङ्गमें भी होता है। 'मैं पहले' 'मैं पहले' ऐसा कहते हुए जो योद्धाओंकी युद्ध आदिमें प्रवृत्ति होती है, उसे अहम्पूर्विका कहते हैं। इसका प्रयोग स्त्रीलिङ्गमें होता है। 'मैं समर्थ हूँ' ऐसा कहकर जो परस्पर अहंकार प्रकट किया जाता है, उसका नाम अहमहमिका है। शक्ति, पराक्रम, प्राण, शौर्य, स्थान (स्थामन्) सहस् और बल—ये सभी शब्द बलके वाचक हैं। मूर्च्छाके तीन नाम हैं—मूर्च्छा, कश्मल और मोह। विपक्षीको अच्छी तरह रगड़ने या कष्ट पहुँचानेको अवमर्द तथा पीडन कहते हैं। शत्रुको धर दबानेका नाम अभ्यवस्कन्दन तथा अभ्यासादन है। जीतको विजय और जय कहते हैं। निर्वासन, संज्ञपन, मारण और प्रतिघातन—ये मारनेके नाम हैं। पञ्चता और कालधर्म—ये मृत्युके अर्थमें आते हैं। दिष्टान्त, प्रलय और अत्यय—इनका भी वही अर्थ है॥ १७—२२½॥

विश्, भूमिस्पृश् और वैश्य—ये शब्द वैश्यजातिका बोध करानेवाले हैं। वृत्ति, वर्तन और जीवन—ये जीविका-के वाचक हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—ये वैश्यकी जीविका-वृत्तियाँ हैं। ब्याज (सूद) से चलायी जानेवाली जीविकाका नाम कुसीद-वृत्ति है। ब्याजके लिये धन देनेको उद्धार और अर्थप्रयोग कहते हैं। अनाजकी बालका नाम 'कणिश' है। जौ आदिके तीखे अग्रभागको किशारु तथा सस्यशूक कहते हैं। तृण आदिके गुच्छका नाम स्तम्ब है। धान्य, व्रीहि और स्तम्बकरि—ये अनाजके वाचक हैं। अनाजके डंठलोंसे होनेवाले भूसेको कडंगर और बुष कहते हैं। शमीधान्य अर्थात् फली या छीमीसे निकलनेवाले अनाज-के अंदर उड़द, चना और मटर आदिकी गणना है तथा शूकधान्यमें जौ आदिकी गिनती है। तृणधान्य अर्थात् तीना-को नीवार कहते हैं। सूपका नाम है—शूर्प और प्रस्फोटन। सन या वस्त्रके बने हुए झोले अथवा थैलेको स्यूत और प्रसेव कहते हैं। कण्डोल और पिट टोकरीके तथा कट और किलिञ्जक चटाईके नाम हैं। इन दोनोंका एक ही लिङ्ग है। रसवती, पाकस्थान और महानस—ये रसोईघरके अर्थमें आते हैं। रसोईके अध्यक्षका नाम पौरोगव है। रसोई बनानेवालेको सूपकार, वल्लव, आरालिक, आन्धसिक, सूद, औदनिक तथा गुण कहते हैं। नपुंसकलिङ्ग अम्बरीष तथा पुँल्लिङ्ग भ्राष्ट्रशब्द भाड़के वाचक हैं। कर्करी, आलु तथा गलन्तिका—ये कठौतेके नाम हैं। बड़े घड़े या माटको आलिञ्जर एवं मणिक कहते हैं। काले जीरेका नाम सुषवी है। आरनाल और कुल्माष—ये काँजीके नाम हैं। वाह्लीक, हिङ्गु तथा रामठ—ये हींगके अर्थमें आते हैं। निशा, हरिद्रा और पीता—ये हल्दीके वाचक हैं। खाँड़को मत्स्यण्डि तथा फाणित कहते हैं। दूधके विकार अर्थात् खोवा या मावाका नाम कूर्चिका और क्षीरविकृति है। स्निग्ध, मसृण और चिक्कण—ये तीनों शब्द चिकनेके अर्थमें आते हैं। पृथुक और चिपिटक—ये चिउड़ाके वाचक हैं। भूने हुए जौको धाना कहते हैं। यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। जेमन, लेह (लेप) और आहार—ये भोजनका बोध करानेवाले हैं। माहेयी, सौरभी और गौ—ये गायके पर्याय हैं। कंधेपर जुआ ढोने-वाले बैलको युग्य और प्रासङ्ग्य तथा गाड़ी खींचनेवालेको शाकट कहते हैं। बहुत दिनोंकी ब्यायी हुई गायका नाम वष्कयणी (बकेना) तथा थोड़े दिनोंकी ब्यायी हुईका नाम धेनु है। साँड़से लगी हुई गौको संधिनी कहते हैं। गर्भ गिरानेवाली गायकी 'वेहद्' संज्ञा है॥ २३—३३॥

पण्याजीव तथा आपणिक व्यापारीके अर्थमें आते हैं। न्यास और उपनिधि—ये धरोहरके वाचक हैं। ये दोनों शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। बेचनेका नाम है विपण और विक्रय। संख्यावाचक शब्द एकसे लेकर 'दश' शब्दके श्रवण होनेतक [अर्थात् एकसे अष्टादशतक] केवल संख्येय द्रव्यका बोध करानेके लिये प्रयुक्त होते हैं, अतः उनका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। जैसे—एकः पटः, एका स्त्री, एकं पुष्पम् इत्यादि

परंतु 'पञ्चन्'से 'दशन्' शब्दतकके रूप तीनों लिङ्गोंमें समान होते हैं। यथा–दश स्त्रियः, दश पुरुषाः, दश पुष्पाणि इत्यादि। इसी प्रकार अष्टादशतक समझना चाहिये। संख्यामात्रका बोध करानेके लिये इन शब्दोंका प्रयोग नहीं होता; अतएव 'विप्राणां शतम्' इत्यादिके समान 'विप्राणां दश' यह प्रयोग नहीं हो सकता। विंशति आदि सभी संख्यावाची शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थोंमें आते हैं तथा वे नित्य एक वचनान्त माने जाते हैं। [यथा संख्येयमें—विंशतिः पटाः। संख्यामात्रमें—विंशतिः पटानाम् इत्यादि। परंतु इनकी एकवचनान्तता केवल संख्येय अर्थमें ही मानी गयी है।] संख्यामात्रमें ये द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं [यथा दो बीस, तीन बीस आदिके अर्थमें—द्वे विंशती, त्रयो विंशतयः–इत्यादि]। ऊनविंशतिसे लेकर नवनवति तक सभी संख्याशब्द स्त्रीलिङ्ग हैं [अतएव 'विंशत्या पुरुषैः' इत्यादि प्रयोग होते हैं]। 'पङ्क्ति' से लेकर शत, सहस्र आदि शब्द क्रमशः दसगुने अधिक हैं [यथा पङ्क्तिः (१०), शतम् (१००), सहस्रम् (१०००), अयुतम् (१००००) इत्यादि]। मान तीन प्रकारके होते हैं—तुलामान, अङ्गुलिमान और प्रस्थमान। पाँच गुंजे (रत्ती) का एक माषक (माशा) होता है ॥३४-३६॥

सोलह माषकका एक अक्ष होता है, इसीको कर्ष भी कहते हैं। कर्ष पुँल्लिङ्ग भी है और नपुंसकलिङ्ग भी। चार कर्षका एक पल होता है। एक अक्ष सोनेको 'सुवर्ण' और बिस्त कहते हैं तथा एक पल सुवर्णका नाम 'कुरुबिस्त' है। सौ पलकी एक 'तुला' होती है, यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। बीस तुलाको 'भार' कहते हैं। चाँदीके रुपयेका नाम कार्षापण और कार्षिक है। ताँबेके पैसेको 'पण' कहते हैं। द्रव्य, वित्त, स्वापतेय, रिक्थ, ऋक्थ, धन और वसु—ये धनके वाचक हैं। स्त्रीलिङ्ग रीति शब्द और पुँल्लिङ्ग आरकूट—ये पीतलके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। ताँबाका नाम—ताम्रक, शुल्ब तथा आदुम्बर है। तीक्ष्ण, कालायस और आयस—ये लोहेके अर्थमें आते हैं। क्षार और काँच—ये काँचके नाम हैं। चपल, रस, सूत और पारद—ये पाराके वाचक हैं। भैंसेके सींगका नाम गरल [या गवल] है। त्रपु, सीसक और पिच्चट—ये सीसाके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।* हिण्डीर, अब्धिकफ तथा फेन—ये समुद्र-फेनके वाचक हैं। मधूच्छिष्ट और सिक्थक—ये मोमके नाम हैं। रंग और वंग–राँगाके, पिचु और तूल—रुईके तथा कूलटी (कुनटी) और मनःशिला—मैनसिलके नाम हैं। यवक्षार और पाक्य—पर्यायवाची शब्द हैं। त्वक्षीरा और वंशलोचना—वंशलोचनके वाचक हैं ॥ ३७—४२ ॥

वृषल, जघन्यज और शूद्र—ये शूद्रजातिके नाम हैं। चाण्डाल एवं अन्त्यज जातियाँ वर्णसंकर कहलाती हैं। शिल्प-कर्मके ज्ञाताको कारु और शिल्पी कहते हैं [इनमें बढ़ई, थवई आदि सभी आ जाते हैं।] समान जातिके शिल्पियोंके एकत्रित हुए समुदायको श्रेणि कहते हैं। यह स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है। चित्र बनानेवालेको रङ्गाजीव और चित्रकार कहते हैं। त्वष्टा, तक्षा और वर्धकि—ये बढ़ईके नाम हैं। नाडिन्धम और स्वर्णकार—ये सुनारके वाचक हैं। नाई (हजाम) का नाम है नापित तथा अन्तावसायी। बकरी बेंचनेवाले गडरियेका नाम जाबाल और अजाजीव है। देवाजीव और देवल—ये देवपूजासे जीविका चलानेवालेके अर्थमें आते हैं। अपनी स्त्रियोंके साथ नाटक दिखाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले नटको जायाजीव और शैलूष कहते हैं। रोजाना मजदूरी लेकर गुजर करने-वाले मजूरेका नाम भृतक और भृतिभुक् है। विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत, पृथग्जन, विहीन, अपसद और जाल्म—ये नीचके वाचक हैं। दासको भृत्य, दासेर और चेटक भी कहते हैं। पटु, पेशल और दक्ष—ये चतुरके अर्थमें आते हैं। मृगयु और लुब्धक—ये व्याधके नाम हैं। चाण्डालको चाण्डाल और दिवाकीर्ति कहते हैं। पुताई आदिके काममें पुस्त शब्दका प्रयोग होता है। पञ्चालिका और पुत्रिका—ये पुतली या गुडियाके नाम हैं। वर्कर शब्द जवान पशुमात्रके अर्थमें आता है [साथ ही वह बकरेका भी वाचक है]। गहना रखनेके डब्बेको या कपड़े रखनेकी पेटीको मञ्जूषा, पेटक तथा पेडा कहते हैं। तुल्य और साधारण—ये समान अर्थके वाचक हैं। इनका सामान्यतः तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। प्रतिमा और प्रतिकृति—ये पत्थर आदिकी मूर्तिके वाचक हैं। इस प्रकार ब्राह्मण आदि वर्गोंका वर्णन किया गया ॥ ४३—४९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोषगत क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्गका वर्णन' नामक तीन सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६६ ॥

---

* अमरकोषमें इस श्लोकके 'त्रपु' और 'पिच्चट' शब्दको राँगेके अर्थमें लिया गया है तथा सीसकके नाग, योगेष्ट और वप्र—ये तीन पर्याय अन्य दिये गये हैं।

तीन सौ सड़सठवाँ अध्याय

सामान्य नाम-लिङ्ग

अग्निदेव कहते हैं—मुनिवर ! अब मैं सामान्यतः नामलिङ्गोंका वर्णन करूँगा [इस प्रकरणमें आये हुए शब्द प्रायः ऐसे होंगे, जो अपने विशेष्यके अनुसार तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त हो सकते हैं], आप उन्हें ध्यान देकर सुनें । सुकृति, पुण्यवान् और धन्य—ये शब्द पुण्यात्मा और सौभाग्यशाली पुरुषके लिये आते हैं। जिनकी अभिलाषा, आशय या अभिप्राय महान् हो, उन्हें महेच्छ और महाशय कहते हैं । [जिनके हृदय शुद्ध, सरल, कोमल, दयालु एवं भावुक हो, वे हृदयालु, सहृदय और सुहृदय कहलाते हैं ।] प्रवीण, निपुण, अभिज्ञ, विज्ञ, निष्णात और शिक्षित—सुयोग्य एवं कुशलके अर्थमें आते हैं । वदान्य, स्थूललक्ष, दानशौण्ड और बहुप्रद—ये अधिक दान करनेवालेके वाचक हैं । कृती, कृतज्ञ और कुशल—ये भी प्रवीण, चतुर एवं दक्षके ही अर्थमें आते हैं। आसक्त, उद्युक्त और उत्सुक—ये उद्योगी एवं कार्यपरायण पुरुषके लिये प्रयुक्त होते हैं । अधिक धनवान्‌को इभ्य और आढ्य कहते हैं। परिवृढ, अधिभू, नायक और अधिप—ये स्वामीके वाचक हैं । लक्ष्मीवान्, लक्ष्मण तथा श्रील—ये शोभा और श्रीसे सम्पन्न पुरुषके अर्थमें आते हैं। स्वतन्त्र, स्वैरी और अपावृत शब्द स्वाधीन अर्थके बोधक हैं। खलपू और बहुकर—खलिहान या मैदान साफ करनेवाले पुरुषके अर्थमें आते हैं। दीर्घसूत्र और चिरक्रिय—ये आलसी तथा बहुत विलम्बसे काम पूरा करनेवाले पुरुषके बोधक हैं । बिना विचारे काम करनेवालेको जाल्म और असमीक्ष्यकारी कहते हैं । जो कार्य करनेमें ढीला हो, वह कुण्ठ कहलाता है । कर्मशूर और कर्मठ—ये उत्साहपूर्वक कर्म करनेवालेके वाचक हैं । खानेवालेको भक्षक, घस्मर और अद्मर कहते हैं । लोलुप, गधन और गृध्नु—ये लोभीके पर्याय हैं । विनीत और प्रश्रित—ये विनययुक्त पुरुषका बोध करानेवाले हैं। धृष्णु और वियात—ये धृष्टके लिये प्रयुक्त होते हैं । प्रतिभाशाली पुरुषके अर्थमें निभृत और प्रगल्भ शब्दका प्रयोग होता है। भीरुक और भीरु—डरपोकके, बन्दारु और अभिवादक प्रणाम करनेवालेके, भूष्णु, भविष्णु और भविता होनेवालेके तथा ज्ञाता, विदुर और विन्दुक—ये जानकारके वाचक हैं । मत्त, शौण्ड, उत्कट और क्षीब—ये मतवालेके अर्थमें आते हैं [क्षीब शब्द नान्त भी होता है, इसके क्षीबा, क्षीबाणौ, क्षीबाणः इत्यादि रूप होते हैं] । चण्ड और अत्यन्त कोपन—ये अधिक क्रोध करनेवाले पुरुषके बोधक हैं । देवताओंका अनुसरण करनेवालेको देवद्र्यङ् और सब ओर जानेवालेको विष्वग्द्र्यङ् कहते हैं । इसी प्रकार साथ चलनेवाला सध्र्यङ् और तिरछा चलनेवाला तिर्यङ् कहलाता है। वाचोयुक्ति पटु, वाग्मी और वावदूक—ये कुशल वक्ताके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । बहुत अनाप-शनाप बकनेवालेको जल्पाक, वाचाल, वाचाट और बहुगर्ह्यवाक् कहते हैं । अपध्वस्त और धिक्कृत—ये धिक्कार हुए पुरुषके वाचक हैं। कीलित और संयत शब्द बद्ध (बँधे हुए) का बोध करानेवाले हैं ॥१—१०॥

स्वण और शब्दन—ये आवाज करनेवालेके अर्थमें आते हैं । [नाटक आदिके आरम्भमें जो मङ्गलके लिये आशीर्वाद-युक्त स्तुतिका पाठ किया जाता है, उसका नाम नान्दी है ।] नान्दीपाठ करनेवालेको नान्दीवादी और नान्दीकर कहते हैं । व्यसनार्त और उपरक्त—ये पीड़ितके अर्थमें आते हैं । विहस्त और व्याकुल—ये शोकाकुल पुरुषका बोध करानेवाले हैं । नृशंस, क्रूर, घातक और पाप—ये दूसरोंसे द्रोह करनेवाले निर्दय मनुष्यके वाचक हैं । ठगको धूर्त और वञ्चक कहते हैं । वैदेह (वैधेय) और बालिश—ये मूर्खके वाचक हैं । कृपण और क्षुद्र—ये कदर्य (कंजूस) के अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । मागण, याचक और अर्थी—ये याचना करनेवालेके अर्थमें आते हैं । अहंकारीको अहंकारवान् और अहंयु तथा शुभके भागीको शुभान्वित और शुभंयु कहते हैं । कान्त, मनोरम और रुच्य—ये सुन्दर अर्थके वाचक हैं । हृद्य, अभीष्ट और अभीप्सित—ये प्रियके समानार्थक शब्द हैं । असार, फल्गु तथा शून्य—ये निस्सार अर्थका बोध करानेवाले हैं । मुख्य, वर्य, वरेण्यक, श्रेयान्, श्रेष्ठ और पुष्कल—ये श्रेष्ठके वाचक हैं। प्राग्र्य, अग्र्य, अग्रीय तथा अग्रिय शब्द भी इसी अर्थमें आते हैं। वड्र, उरु और विपुल—ये विशाल अर्थके बोधक हैं। पीन, पीवन्, स्थूल और पीवर—ये स्थूल या मोटे अर्थका बोध करानेवाले हैं । स्तोक, अल्प, क्षुल्लक, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, दभ्र, कृश, तनु, मात्रा, त्रुटि, लव और कण—ये स्वल्प या सूक्ष्म अर्थके वाचक हैं। भूयिष्ठ, पुरुह और पुरु—

ये अधिक अर्थके बोधक हैं। अखण्ड, पूर्ण और सकल—ये समग्रके वाचक हैं। उपकण्ठ, अन्तिक, अभितः, संनिधि और अभ्याश—ये समीपके अर्थमें आते हैं। अत्यन्त निकटको नेदिष्ठ कहते हैं। बहुत दूरके अर्थमें दविष्ठ शब्दका प्रयोग होता है। वृत्त, निस्तल और वर्तुल—ये गोलाकारके वाचक हैं। उच्च, प्रांशु, उन्नत और उदग्र—ये ऊँचाके अर्थमें आते हैं। ध्रुव, नित्य और सनातन—ये नित्य अर्थके बोधक हैं। आविद्ध, कुटिल, भुग्न, वेल्लित और वक्र—ये टेढ़ेका बोध करानेवाले हैं। चञ्चल और तरल—ये चपलके अर्थमें आते हैं। कठोर, जरठ और दृढ़—ये समानार्थक शब्द हैं। प्रत्यग्र, अभिनव, नव्य, नवीन, नूतन और नव—ये नयेके अर्थमें आते हैं। एकतान और अनन्यवृत्ति—ये एकाग्रचित्तवाले पुरुषके बोधक हैं। उच्चण्ड और अविलम्बित—ये फुर्तीके वाचक हैं। उच्चावच और नैकभेद—ये अनेक प्रकारके अर्थमें आते हैं। सम्बाध और कलित—ये संकीर्ण एवं गहनके बोधक हैं। तिमित, स्तिमित और क्लिन्न—ये आर्द्र या भीगे हुएके अर्थमें आते हैं। अभियोग और अभिग्रह—ये दूसरेपर किये हुए दोषारोपणके नाम हैं। स्फाति शब्द वृद्धिके और प्रथा शब्द ख्यातिके अर्थमें आता है। समाहार और समुच्चय—ये समूहके वाचक हैं। अपहार और अपचय—ये ह्रासका बोध करानेवाले हैं। विहार और परिक्रम—ये घूमनेके अर्थमें आते हैं। प्रत्याहार और उपादान—ये इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। निर्हार तथा अभ्यवकर्षण—ये शरीरमें धँसे हुए शस्त्रादिको युक्तिपूर्वक निकालनेके अर्थमें आते हैं। विघ्न, अन्तराय और प्रत्यूह—ये विघ्नका बोध करानेवाले हैं। आस्या, आसना और स्थिति—ये बैठनेकी क्रियाके बोधक हैं। संनिधि और संनिकर्ष—ये समीप रहनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। किलेमें प्रवेश करनेकी क्रियाको संक्रम और दुर्गसंचर कहते हैं। उपलम्भ और अनुभव—ये अनुभूतिके नाम हैं। प्रत्यादेश और निराकृति—ये दूसरेके मतका खण्डन करनेके अर्थमें आते हैं। परिरम्भ, परिष्वङ्ग, संश्लेष और उपगूहन—ये आलिङ्गनके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। पक्ष[1] और हेतु आदिके द्वारा निश्चित होनेवाले ज्ञानका नाम अनुमा या अनुमान है। बिना हथियारकी लड़ाई तथा भयभीत होनेपर किये हुए शब्दका नाम डिम्ब, भ्रमर [या डमर] तथा विप्लव है। शब्दके द्वारा जो परोक्ष अर्थका ज्ञान होता है, उसे शाब्दज्ञान कहते हैं। समानता देखकर जो उसके तुल्यवस्तुका बोध होता है, उसका नाम उपमान है। जहाँ कोई कार्य देखकर कारणका निश्चय किया जाय, अर्थात् अमुक कारणके बिना यह कार्य नहीं हो सकता—इस प्रकार विचार करके जो दूसरी वस्तु अर्थात् कारणका ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। प्रतियोगीका ग्रहण न होनेपर जो ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु पृथ्वीपर नहीं है', उसका नाम अभाव है। इस प्रकार मनुष्योंका ज्ञान बढ़ानेके लिये मैंने नाम और लिङ्गस्वरूप श्रीहरिका वर्णन किया है॥ ११—२८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत सामान्य नामलिङ्गोंका कथन' नामक तीन सौ सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६७॥

तीन सौ अड़सठवाँ अध्याय

नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत प्रलयका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुनिवर! 'प्रलय' चार प्रकारका होता है—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक। जगत्में उत्पन्न हुए प्राणियोंकी जो सदा ही मृत्यु होती रहती है, उसका नाम 'नित्य प्रलय' है। एक हजार चतुर्युग बीतनेपर जब ब्रह्माजीका दिन समाप्त होता है, उस समय जो सृष्टिका लय होता है, वह 'ब्राह्म लय'के नामसे प्रसिद्ध है। इसीको 'नैमित्तिक प्रलय' भी कहते हैं। पाँचों भूतोंका प्रकृतिमें लीन होना 'प्राकृत प्रलय' कहलाता है तथा ज्ञान हो जानेपर जब आत्मा परमात्माके स्वरूपमें स्थित होता है, उस अवस्थाका नाम 'आत्यन्तिक प्रलय' है। कल्पके अन्तमें जो नैमित्तिक

१. जहाँ साध्यका संदेह हो अर्थात् जहाँ किसी वस्तुको सिद्ध करनेकी चेष्टा की जा रही हो—उसको 'पक्ष' कहते हैं तथा साध्यको सिद्ध करनेके लिये जो युक्ति दी जाती है, उसे 'हेतु' कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' (पर्वतपर आग है; क्योंकि वहाँ धुँआ उठता है)। यहाँ वह्नि साध्य, पर्वत पक्ष और धूम हेतु है।

प्रलय होता है, इसके स्वरूपका मैं आपसे वर्णन करता हूँ। जब चारों युग एक हजार बार व्यतीत हो जाते हैं, उस समय यह भूमण्डल प्रायः क्षीण हो जाता है, तब सौ वर्षोंतक यहाँ बड़ी भयंकर अनावृष्टि होती है। उससे भूतलके सम्पूर्ण जीव-जन्तुओंका विनाश हो जाता है। तदनन्तर जगत्के स्वामी भगवान् विष्णु सूर्यकी सात किरणोंमें स्थित होकर पृथ्वी, पाताल और समुद्र आदिका सारा जल पी जाते हैं। इससे सर्वत्र जल सूख जाता है। तत्पश्चात् भगवान्की इच्छासे जलका आहार करके पुष्ट हुई वे ही सातों किरणें सात सूर्यके रूपमें प्रकट होते हैं। वे सातों सूर्य पातालसहित समस्त त्रिलोकीको जलाने लगते हैं।' उस समय यह पृथ्वी कछुएकी पीठके समान दिखायी देती है। फिर भगवान् शेषके श्वासोंसे 'कालाग्नि रुद्र'का प्रादुर्भाव होता है और वे नीचेके समस्त पातालोंको भस्म कर डालते हैं। पातालके पश्चात् भगवान् विष्णु भूलोकको, फिर भुवर्लोकको तथा सबके अन्तमें स्वर्गलोकको भी दग्ध कर देते हैं। उस समय समस्त त्रिभुवन जलते हुए भाड़-सा प्रतीत होता है। तदनन्तर भुवर्लोक और स्वर्ग—इन दो लोकोंके निवासी अधिक तापसे संतप्त होकर 'महर्लोक'में चले जाते हैं तथा महर्लोकसे जनलोकमें जाकर स्थित होते हैं। शेषरूपी भगवान् विष्णुके मुखोच्छ्वाससे प्रकट हुए कालाग्निरुद्र जब सम्पूर्ण जगत्को जला डालते हैं, तब आकाशमें नाना प्रकारके रूपवाले बादल उमड़ आते हैं, उनके साथ बिजलीकी गड़गड़ाहट भी होती है। वे बादल लगातार सौ वर्षोंतक वर्षा करके बढ़ी हुई आगको शान्त कर देते हैं। जब सप्तर्षियोंके स्थानतक पानी पहुँच जाता है, तब विष्णुके मुखसे निकली हुई साँससे सौ वर्षोंतक प्रचण्ड वायु चलती रहती है, जो उन बादलोंको नष्ट कर डालती है। फिर ब्रह्मरूपधारी भगवान् उस वायुको पीकर एकार्णवके जलमें शयन करते हैं। उस समय सिद्ध और महर्षिगण जलमें स्थित होकर भगवान्की स्तुति करते हैं और भगवान् मधुसूदन अपने 'वासुदेव' संज्ञक आत्माका चिन्तन करते हुए, अपनी ही दिव्य मायामयी योगनिद्राका आश्रय ले एक कल्पतक सोते रहते हैं। तदनन्तर जागनेपर वे ब्रह्माके रूपमें स्थित होकर पुनः जगत्की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार जब ब्रह्माजीके दो परार्द्धकी आयु समाप्त हो जाती है, तब यह सारा स्थूल प्रपञ्च प्रकृतिमें लीन हो जाता है॥ १—१५॥

इकाई-दहाईके क्रमसे एकके बाद दसगुने स्थान नियत करके यदि गुणा करते चले जायँ तो अठारहवें स्थानतक पहुँचनेपर जो संख्या बनती है, उसे 'परार्द्ध' कहते हैं[1]। परार्द्धका दूना समय व्यतीत हो जानेपर 'प्राकृत प्रलय' होता है। उस समय वर्षाके एकदम बंद हो जाने और सब ओर प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होनेके कारण सब कुछ भस्म हो जाता है। महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी विकारों (कार्यों) का नाश हो जाता है। भगवान्के संकल्पसे होनेवाले उस प्राकृत प्रलयके प्राप्त होनेपर जल पहले पृथ्वीके गन्ध आदि गुणको ग्रस लेता है—अपनेमें लीन कर लेता है। तब गन्धहीन पृथ्वीका प्रलय हो जाता है—उस समय जलमें घुल-मिलकर वह जलरूप हो जाती है। उसके बाद रसमय जलकी स्थिति रहती है। फिर तेजस्तत्त्व जलके गुण रसको पी जाता है। इससे जलका लय हो जाता है। जलके लीन हो जानेपर अग्नितत्त्व प्रज्वलित होता रहता है। तत्पश्चात् तेजके प्रकाशमय गुण रूपको वायुतत्त्व ग्रस लेता है। इस प्रकार तेजके शान्त हो जानेपर अत्यन्त प्रबल एवं प्रचण्ड वायु बड़े वेगसे चलने लगती है। फिर वायुके गुण स्पर्शको आकाश अपनेमें लीन कर लेता है। गुणके साथ ही वायुका नाश होनेपर केवल नीरव आकाशमात्र रह जाता है। तदनन्तर भूतादि (तामस अहंकार) आकाशके गुण शब्दको ग्रस लेता है तथा तैजस अहंकार इन्द्रियोंको अपनेमें लीन कर लेता है। इसके बाद महत्तत्त्व अभिमानस्वरूप भूतादि एवं तैजस अहंकारको ग्रस लेता है। इस तरह पृथ्वी जलमें लीन होती है, जल तेजमें समा जाता है, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें और आकाशका अहंकारमें लय होता है। फिर अहंकार महत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाता है। ब्रह्मन्! उस महत्तत्त्वको भी प्रकृति ग्रस लेती है। प्रकृतिके दो स्वरूप हैं—'व्यक्त' और 'अव्यक्त'। इनमें व्यक्त प्रकृतिका अव्यक्त प्रकृतिमें लय होता है। एक, अविनाशी और शुद्धस्वरूप जो पुरुष है, वह भी परमात्माका ही अंश है, अतः अन्तमें प्रकृति और पुरुष

१. इन अठारह संख्याओंमें यदि एकको भी गिन लें, अर्थात् एकके बाद सत्रह शून्य लगावें तो वर्तमान गणनाके अनुसार यह संख्या एक शंखके बराबर होती है और यदि एकके बाद अठारह शून्य लगाये जायँ तो वह संख्या महाशंखके बराबर होती है वह शंख और महाशंख ही 'परार्द्ध' है।

—ये दोनों परमात्मामें लीन हो जाते हैं। परमात्मा सत्स्वरूप ज्ञेय और ज्ञानमय है। वह आत्मा (बुद्धि आदि) से सर्वथा परे है। वही सबका ईश्वर—'सर्वेश्वर' कहलाता है। उसमें नाम और जाति आदिकी कल्पनाएँ नहीं हैं॥१६—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत प्रलयका वर्णन' नामक तीन सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६८॥

तीन सौ उनहत्तरवाँ अध्याय

आत्यन्तिक प्रलय एवं गर्भकी उत्पत्तिका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! अब मैं 'आत्यन्तिक प्रलय'का वर्णन करूँगा। जब जगत्‌के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापोंको जानकर मनुष्यको अपनेसे भी वैराग्य हो जाता है, उस समय उसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे इस सृष्टिका आत्यन्तिक प्रलय होता है [यही जीवात्माका मोक्ष है]। आध्यात्मिक संताप 'शारीरिक' और 'मानसिक' भेदसे दो प्रकारका होता है। ब्रह्मन्! शारीरिक तापके भी अनेकों भेद हैं, उन्हें श्रवण कीजिये। जीव भोग-देहका परित्याग करके अपने कर्मोंके अनुसार पुनः गर्भमें आता है। वसिष्ठजी! एक 'आतिवाहिक' संज्ञक शरीर होता है, वह केवल मनुष्योंको मृत्युकाल उपस्थित होनेपर प्राप्त होता है। विप्रवर! यमराजके दूत मनुष्यके उस आतिवाहिक शरीरको यमलोकके मार्गसे ले जाते हैं। मुने! दूसरे प्राणियोंको न तो आतिवाहिक शरीर मिलता है और न वे यमलोकके मार्गसे ही ले जाये जाते हैं। तदनन्तर यमलोकमें गया हुआ जीव कभी स्वर्गमें और कभी नरकमें जाता है। जैसे रहट नामक यन्त्रमें लगे हुए घड़े कभी पानीमें डूबते हैं और कभी ऊपर आते हैं, उसी तरह जीवको कभी स्वर्ग और कभी नरकमें चक्कर लगाना पड़ता है। ब्रह्मन्! यह लोक कर्मभूमि है और परलोक फलभूमि। यमराज जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों तथा नरकोंमें डाला करते हैं। यमराज ही जीवोंद्वारा नरकोंको परिपूर्ण बनाये रखते हैं। यमराजको ही इनका नियामक समझना चाहिये। जीव वायुरूप होकर गर्भमें प्रवेश करते हैं। यमदूत जब मनुष्यको यमराजके पास ले जाते हैं, तब वे उसकी ओर देखते हैं। [उसके कर्मोंपर विचार करते हैं—] यदि कोई धर्मात्मा होता है तो उसकी पूजा करते हैं और यदि पापी होता है तो अपने घरपर उसे दण्ड देते हैं। चित्रगुप्त उसके शुभ और अशुभ कर्मोंका विवेचन करते हैं। धर्मके ज्ञाता वसिष्ठजी! जबतक बन्धु-बान्धवोंका अशौच निवृत्त नहीं होता, तबतक जीव आतिवाहिक शरीरमें ही रहकर दिये हुए पिण्डोंको भोजनके रूपमें अपने साथ ले जाता है। तत्पश्चात् प्रेतलोकमें पहुँचकर प्रेतदेह (आतिवाहिक शरीर) का त्याग करता है और दूसरा शरीर (भोगदेह) पाकर वहाँ भूख-प्याससे युक्त हो निवास करता है। उस समय उसे वही भोजनके लिये मिलता है, जो श्राद्धके रूपमें उसके निमित्त कच्चा अन्न दिया गया होता है। प्रेतके निमित्त पिण्डदान किये बिना उसको आतिवाहिक शरीरसे छुटकारा नहीं मिलता, वह उसी शरीरमें रहकर केवल पिण्डोंका भोजन करता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध करनेपर एक वर्षके पश्चात् वह प्रेतदेहको छोड़कर भोगदेहको प्राप्त होता है। 'भोगदेह' दो प्रकारके बताये गये हैं—शुभ और अशुभ। भोगदेहके द्वारा कर्मजनित बन्धनोंको भोगनेके पश्चात् जीव मर्त्यलोकमें गिरा दिया जाता है। उस समय उसके त्यागे हुए भोगदेहको निशाचर खा जाते हैं। ब्रह्मन्! यदि जीव भोगदेहके द्वारा पहले पुण्यके फलस्वरूप स्वर्गका सुख भोग लेता है और पाप भोगना शेष रह जाता है तो वह पापियोंके अनुरूप दूसरा भोगशरीर धारण करता है। परंतु जो पहले पापका फल भोगकर पीछे स्वर्गका सुख भोगता है, वह भोग समाप्त होनेपर स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पवित्र आचार-विचारवाले धनवानोंके घरमें जन्म लेता है। वसिष्ठजी! यदि जीव पुण्यके रहते हुए पहले पाप भोगता है तो उसका भोग समाप्त होनेपर वह पुण्यभोगके लिये उत्तम (देवोचित) शरीर धारण करता है। जब कर्मका भोग थोड़ा-सा ही शेष रह जाता है तो जीवको नरकसे भी छुटकारा मिल जाता है। नरकसे निकला हुआ जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनिमें ही जन्म लेता है; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ १—१८॥

(मानवयोनिके) गर्भमें प्रविष्ट हुआ जीव पहले महीनेमें कलल (रज-वीर्यके मिश्रित बिन्दु) के रूपमें रहता है, दूसरे महीनेमें वह घनीभूत होता है (कठोर मांसपिण्डका रूप

धारण करता है और) तीसरे महीने शरीरके अवयव प्रकट हो जाते हैं। चौथे महीनेमें हड्डी, मांस और त्वचाका प्राकट्य होता है। पाँचवेंमें रोएँ निकल आते हैं। छठे महीनेमें उसके भीतर चेतना आती है और सातवेंसे वह दुःखका अनुभव करने लगता है। उसका सारा शरीर झिल्लियोंमें लिपटा होता है और मस्तकके पास उसके जुड़े हुए हाथ बँधे रहते हैं। यदि गर्भका बालक नपुंसक हो तो वह उदरके मध्यभागमें रहता है, कन्या हो तो वामभागमें और पुत्र हो तो दायें भागमें रहा करता है। पेटके विभिन्न भागोंमें रहकर वह पीठकी ओर मुँह किये रहता है। जिस योनिमें वह रहता है, उसका उसे अच्छी तरह ज्ञान होता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इतना ही नहीं, वह मनुष्यजन्मसे लेकर वर्तमान जन्मतकके अपने सभी वृत्तान्तोंका स्मरण करता है। गर्भके उस अन्धकारमें जीवको बड़े कष्टका अनुभव होता है। सातवें महीनेमें वह माताके खाये-पीये हुए पदार्थोंका रस पीने लगता है। आठवें और नवें महीनेमें उसको गर्भके भीतर बड़ा उद्वेग होता है। मैथुन होनेपर तो उसे और भी वेदना होती है। माताके अधिक परिश्रम करनेपर भी गर्भके बालकको कष्ट होता है। यदि माँ रोगिणी हो जाय तो बालकको भी रोगका कष्ट भोगना पड़ता है। उसके लिये एक मुहूर्त (दो घड़ी) भी सौ वर्षोंके समान हो जाता है ॥ १९—२५ ॥

जीव अपने कर्मोंके अनुसार गर्भमें संतप्त होता है। फिर वह ऐसे मनोरथ करने लगता है, मानो गर्भसे निकलते ही मोक्षके साधनभूत ज्ञानके प्रयत्नमें लग जायगा। प्रसूति वायुकी प्रेरणासे उसका सिर नीचेकी ओर हो जाता है और वह योनियन्त्रसे पीड़ित होता हुआ गर्भ बाहर निकल आता है। बाहर आनेपर एक महीनेतक उसकी ऐसी स्थिति रहती है कि कोई हाथसे छूता है तो भी उसे कष्ट होता है। 'ख' शब्दवाच्य आकाशसे शरीरके भीतर छोटे-छोटे छेद, कान तथा शून्यता (अवकाश आदि) उत्पन्न होते हैं। श्वासोच्छ्वास, गति और अङ्गोंको टेढ़ा-मेढ़ा करके किसीका स्पर्श करना—ये सब वायुके कार्य हैं। रूप, नेत्र, गर्मी, पाचन-क्रिया, पित्त, मेधा, वर्ण, बल, छाया, तेज और शौर्य—ये शरीरमें अग्नितत्त्वसे प्रकट होते हैं। पसीना, रसना (स्वादका अनुभव करनेवाली जिह्वा), क्लेद (गलना), वसा (चर्बी), रस (रस-ग्रहणकी शक्ति), शुक्र (वीर्य), मूत्र और कफ आदिका जो देहमें प्रादुर्भाव होता है, वह जलका कार्य है। घ्राणेन्द्रिय, केश, नख और शिराएँ (नाड़ियाँ) भूमितत्त्वसे प्रकट होती हैं। शरीरमें जो कोमल पदार्थ—त्वचा, मांस, हृदय, नाभि, मज्जा, मल, मेदा, क्लेदन और आमाशय आदि हैं, वे माताके रजसे उत्पन्न होते हैं। शिरा, स्नायु और शुक्रका प्रादुर्भाव पितासे होता है तथा काम, क्रोध, भय, हर्ष, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति, आकृति, स्वर, वर्ण और मेहन (मूत्रादिकी क्रिया) आदि जीवके शरीरमें स्वतः प्रकट होते हैं [ये दोष और गुण उसके अपने हैं]। अज्ञान, प्रमाद, आलस्य क्षुधा, तृषा, मोह, मात्सर्य, वैगुण्य, शोक, आभास और भय आदि भाव तमोगुणसे होते हैं। महामुने! काम, क्रोध, शौर्य, यशकी अभिलाषा, बहुत बोलनेकी आदत, अहंकार तथा दूसरोंका अनादर करना—ये रजोगुणके कार्य हैं। धर्मकी अभिलाषा, मोक्षकी आकाङ्क्षा, भगवान् विष्णुमें पराभक्तिका होना, उदारता और उद्योगशीलता—इन्हें सत्त्वगुणसे उत्पन्न समझना चाहिये ॥ २६—३६ ॥

चञ्चल, क्रोधी, डरपोक, अधिक बातूनी, कलहमें रुचि रखनेवाला तथा स्वप्नमें आकाश-मार्गसे उड़नेवाला मनुष्य अधिक वातवाला होता है—उसमें वातकी प्रधानता होती है। जिसके असमयमें ही बाल सफेद हो जायँ, जो क्रोधी, महाबुद्धिमान् और युद्धको पसंद करनेवाला हो, जिसे सपनेमें प्रकाशमान वस्तुएँ अधिक दिखायी देती हों, उसे पित्तप्रधान प्रकृतिका मनुष्य समझना चाहिये। जिसकी मैत्री, उत्साह और अङ्ग सभी स्थिर हों, जो धन आदिसे सम्पन्न हो तथा जिसे स्वप्नमें जल एवं श्वेत पदार्थोंका अधिक दर्शन होता हो, उस मनुष्यमें कफकी प्रधानता है। प्राणियोंके शरीरमें रस जीवन देनेवाला होता है, रक्त लेपनका कार्य करता है तथा मांस मेहन एवं स्नेहन क्रियाका प्रयोजक है। हड्डी और मज्जाका काम है शरीरको धारण करना। वीर्यकी वृद्धि शरीरको पूर्ण बनानेवाली होती है। ओज शुक्र एवं वीर्यका उत्पादक है; वही जीवकी स्थिति और प्राणकी रक्षा करनेवाला है। ओज शुक्रकी अपेक्षा भी अधिक सार वस्तु है। वह हृदयके समीप रहता है और उसका रंग कुछ-कुछ पीला होता है। दोनों जंघे (ये समस्त पैरके उपलक्षण हैं), दोनों भुजाएँ, उदर और मस्तक—ये छः अङ्ग बताये गये हैं। त्वचाके छः स्तर हैं एक तो वही है, जो बाहर दिखायी देती है। दूसरी वह है, जो रक्त धारण करती है। तीसरी किलास (धातुविशेष) और चौथी कुण्ड (धातुविशेष) को धारण करनेवाली है। पाँचवीं त्वचा इन्द्रियोंका स्थान है और छठी प्राणोंको धारण करनेवाली मानी गयी है। कला भी

सात प्रकारकी है—पहली मांस धारण करनेवाली, दूसरी रक्तधारिणी, तीसरी जिगर एवं प्लीहाको आश्रय देनेवाली, चौथी मेदा और अस्थि धारण करनेवाली, पाँचवीं मज्जा, श्लेष्मा और पुरीषको धारण करनेवाली, जो पक्वाशयमें स्थित रहती है, छठी पित्त धारण करनेवाली और सातवीं शुक्र धारण करनेवाली है। यह शुक्राशयमें स्थित रहती है ॥३७—४५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'आत्यन्तिक प्रलय तथा गर्भकी उत्पत्तिका वर्णन' नामक तीन सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६९ ॥

तीन सौ सत्तरवाँ अध्याय

शरीरके अवयव

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश सभी भूतोंमें व्यापक है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः आकाश आदि पाँच भूतोंके गुण हैं। गुदा, उपस्थ (लिङ्ग या योनि), हाथ, पैर और वाणी—ये 'कर्मेन्द्रिय' कहे गये हैं। मलत्याग, विषयजनित आनन्दका अनुभव, ग्रहण, चलन तथा वार्तालाप—ये क्रमशः उपर्युक्त इन्द्रियोंके कार्य हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच इन्द्रियोंके विषय, पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, आत्मा (महत्तत्त्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति)—ये चौबीस तत्त्व हैं। इन सबसे परे है—पुरुष। वह इनसे संयुक्त भी रहता है और पृथक् भी; जैसे मछली और जल—ये दोनों एक साथ संयुक्त भी रहते हैं और पृथक् भी। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—ये अव्यक्तके आश्रित हैं। अन्तःकरणकी उपाधिसे युक्त पुरुष 'जीव' कहलाता है, वही निरुपाधिक स्वरूपसे 'परब्रह्म' कहा गया है, जो सबका कारण है। जो मनुष्य इस परम पुरुषको जान लेता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। इस शरीरके भीतर सात 'आशय' माने गये हैं—पहला रुधिराशय, दूसरा श्लेष्माशय, तीसरा आमाशय, चौथा पित्ताशय, पाँचवाँ पक्वाशय, छठा वाताशय और सातवाँ मूत्राशय। स्त्रियोंके इन सातके अतिरिक्त एक आठवाँ आशय भी होता है, जिसे 'गर्भाशय' कहते हैं। अग्निसे पित्त और पित्तसे पक्वाशय होता है। ऋतुकालमें स्त्रीकी योनि कुछ फैल जाती है। उसमें स्थापित किया हुआ वीर्य गर्भाशयतक पहुँच जाता है। गर्भाशय कमलके आकारका होता है। वही अपनेमें रज और वीर्यको धारण करता है। वीर्यसे शरीर और समयानुसार उसमें केश प्रकट होते हैं। ऋतुकालमें भी यदि योनि वात, पित्त और कफसे आवृत हो तो उसमें विकास (फैलाव) नहीं आता। [ऐसी दशामें वह गर्भ-धारणके योग्य नहीं रहती।] महाभाग! बुक्कसे पुक्कस, प्लीहा, यकृत्, कोष्ठाङ्ग, हृदय, व्रण तथा तण्डक होते हैं। ये सभी आशयमें निबद्ध हैं। प्राणियोंके पकाये जानेवाले रसके सारसे प्लीहा और यकृत् होते हैं। धर्मके ज्ञाता वसिष्ठजी! रक्तके फेनसे पुक्कसकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार रक्त, पित्त तथा तण्डक भी उत्पन्न होते हैं। मेदा और रक्तके प्रसारसे बुक्काकी उत्पत्ति होती है। रक्त और मांसके प्रसारसे देहधारियोंकी आँतें बनती हैं। पुरुषकी आँतोंका परिमाण साढ़े तीन व्याम बताया जाता है और वेदवेत्ता पुरुष स्त्रियोंकी आँतें तीन व्याम लंबी बतलाते हैं। रक्त और वायुके संयोगसे कामका उदय होता है। कफके प्रसारसे हृदय प्रकट होता है। उसका आकार कमलके समान है। उसका मुख नीचेकी ओर होता है तथा उसके मध्यका जो आकाश है, उसमें जीव स्थित रहता है। चेतनतासे सम्बन्ध रखनेवाले सभी भावोंकी स्थिति वहीं है। हृदयके वामभागमें प्लीहा और दक्षिणभागमें यकृत् है तथा इसी प्रकार हृदय-कमलके दक्षिणभागमें क्लोम (फुफ्फुस) की भी स्थिति बतायी गयी है। इस शरीरमें कफ और रक्तको प्रवाहित करनेवाले जो-जो स्रोत हैं, उनके भूतानुमानसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। नेत्रमण्डलका जो श्वेतभाग है, वह कफसे उत्पन्न होता है। उसका प्राकट्य पिताके वीर्यसे माना गया है तथा नेत्रोंका जो कृष्ण-भाग है, वह माताके रज एवं वातके अंशसे प्रकट होता है। त्वचामण्डलकी उत्पत्ति पित्तसे होती है। इसे माता और पिता—दोनोंके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये। मांस, रक्त और कफसे जिह्वाका निर्माण होता है। मेदा, रक्त, कफ और मांससे अण्डकोषकी उत्पत्ति होती है। प्राणके दस आश्रय जानने चाहिये—मूर्द्धा, हृदय, नाभि, कण्ठ, जिह्वा, शुक्र, रक्त, गुद, वस्ति (मूत्राशय) और गुल्फ [पाँवकी गाँठ या घुट्ठी] तथा 'कण्डरा'

(नसें) सोलह बतायी गयी हैं। दो हाथमें, दो पैरमें, चार पीठमें, चार गलेमें तथा चार पैरसे लेकर सिरतक समूचे शरीरमें हैं। इसी प्रकार 'जाल' भी सोलह बताये गये हैं। मांसजाल, स्नायुजाल, शिराजाल और अस्थिजाल—ये चारों पृथक्-पृथक् दोनों कलाइयों और पैरकी दोनों गाँठोंमें परस्पर आबद्ध हैं। इस शरीरमें छः कूर्च माने गये हैं। मनीषी पुरुषोंने दोनों हाथ, दोनों पैर, गला और लिङ्ग—इन्हींमें उनका स्थान बताया है। पृष्ठके मध्यभागमें जो मेरुदण्ड है, उसके निकट चार मांसमयी डोरियाँ हैं तथा उतनी ही पेशियाँ भी हैं, जो उन्हें बाँधे रखती हैं। सात सीरणियाँ हैं। इनमेंसे पाँच तो मस्तकके आश्रित हैं और एक-एक मेढ् (लिङ्ग) तथा जिह्वामें है। हड्डियाँ अठारह हजार हैं। सूक्ष्म और स्थूल—दोनों मिलाकर चौसठ दाँत हैं। बीस नख हैं। इनके अतिरिक्त हाथ और पैरोंकी शलाकाएँ हैं, जिनके चार स्थान हैं। अँगुलियोंमें साठ, एड़ियोंमें दो, गुल्फोंमें चार, अरत्नियोंमें चार और जंघोंमें भी चार ही हड्डियाँ हैं। घुटनोंमें दो, गालोंमें दो, ऊरुओंमें दो तथा फलकोंके मूलभागमें भी दो ही हड्डियाँ हैं। इन्द्रियोंके स्थानों तथा श्रोणिफलकमें भी इसी प्रकार दो-दो हड्डियाँ बतायी गयी हैं। भगमें भी थोड़ी-सी हड्डियाँ हैं। पीठमें पैंतालीस और गलेमें भी पैंतालीस हैं। गलेकी हसली, ठोड़ी तथा उसकी जड़में दो-दो अस्थियाँ हैं। ललाट, नेत्र, कपोल, नासिका, चरण, पसली, तालु तथा अर्बुद—इन सबमें सूक्ष्मरूपसे बहत्तर हड्डियाँ हैं। मस्तकमें दो शङ्ख और चार कपाल हैं तथा छातीमें सत्रह हड्डियाँ हैं। संधियाँ दो सौ दस बतायी गयी हैं। इनमेंसे शाखाओंमें अड़सठ तथा उनसठ हैं और अन्तरामें तिरासी संधियाँ बतायी गयी हैं। स्नायुकी संख्या नौ सौ है, जिनमेंसे अन्तराधिमें दो सौ तीस हैं, सत्तर ऊर्ध्वगामी हैं और शाखाओंमें छः सौ स्नायु हैं। पेशियाँ पाँच सौ बतलायी गयी हैं। इनमें चालीस तो ऊर्ध्वगामिनी हैं, चार सौ शाखाओंमें हैं और साठ अन्तराधिमें हैं। स्त्रियोंकी मांसपेशियाँ पुरुषोंकी अपेक्षा सत्ताईस अधिक हैं। इनमें दस दोनों स्तनोंमें, तेरह योनिमें तथा चार गर्भाशयमें स्थित हैं। देहधारियोंके शरीरमें तीस हजार नौ तथा छप्पन हजार नाड़ियाँ हैं। जैसे छोटी-छोटी नालियाँ क्यारियोंमें पानी बहाकर ले जाती हैं, उसी प्रकार वे नाड़ियाँ सम्पूर्ण शरीरमें रसको प्रवाहित करती हैं। क्लेद और लेप आदि उन्हींके कार्य हैं। महामुने! इस देहमें बहत्तर करोड़ छिद्र या रोमकूप हैं तथा मज्जा, मेदा, वसा, मूत्र, पित्त, श्लेष्मा, मल, रक्त और रस—इनकी क्रमशः 'अञ्जलियाँ' मानी गयी हैं। इनमेंसे पूर्व-पूर्व अञ्जलीकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सभी अञ्जलियाँ मात्रामें डेढ़-गुनी अधिक हैं। एक अञ्जलिमें आधी वीर्यकी और आधी ओजकी है। विद्वानोंने स्त्रियोंके रजकी चार अञ्जलियाँ बतायी हैं। यह शरीर मल और दोष आदिका पिण्ड है, ऐसा समझकर अपने अन्तःकरणमें इसके प्रति होनेवाली आसक्तिका त्याग करना चाहिये॥ १—४३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शरीरावयवविभागका वर्णन' नामक तीन सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७०॥

तीन सौ इकहत्तरवाँ अध्याय

प्राणियोंकी मृत्यु, नरक तथा पापमूलक जन्मका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! मैं यमराजके मार्गकी पहले चर्चा कर चुका हूँ, इस समय मनुष्योंकी मृत्युके विषयमें कुछ निवेदन करूँगा। शरीरमें जब वातका वेग बढ़ जाता है तो उसकी प्रेरणासे ऊष्मा अर्थात् पित्तका भी प्रकोप हो जाता है। वह पित्त सारे शरीरको रोककर सम्पूर्ण दोषोंको आवृत कर लेता है तथा प्राणोंके स्थान और मर्मोंका उच्छेद कर डालता है। फिर शीतसे वायुका प्रकोप होता है और वायु अपने निकलनेके लिये छिद्र ढूँढ़ने लगती है। दो नेत्र, दो कान, दो नासिका और एक ऊपरका ब्रह्मरन्ध्र—ये सात छिद्र हैं तथा आठवाँ छिद्र मुख है। शुभ कार्य करनेवाले मनुष्योंके प्राण प्रायः इन्हीं सात मार्गोंसे निकलते हैं। नीचे भी दो छिद्र हैं—गुदा और उपस्थ। पापियोंके प्राण इन्हीं छिद्रोंसे बाहर होते हैं, परंतु योगीके प्राण मस्तकका भेदन करके निकलते हैं और वह जीव इच्छानुसार लोकोंमें जाता है। अन्तकाल आनेपर प्राण अपानमें स्थित होता है। तमके द्वारा ज्ञान आवृत हो जाता है, मर्मस्थान आच्छादित हो जाते हैं। उस समय जीव वायुके द्वारा बाधित हो नाभिस्थानसे विचलित कर दिया जाता है; अतः वह आठ अङ्गोंवाली प्राणोंकी

वृत्तियोंको लेकर शरीरसे बाहर हो जाता है। देहसे निकलते, अन्यत्र जन्म लेते अथवा नाना प्रकारकी योनियोंमें प्रवेश करते समय जीवको सिद्ध पुरुष और देवता ही अपनी दिव्यदृष्टिसे देखते हैं। मृत्युके बाद जीव तुरंत ही आतिवाहिक शरीर धारण करता है। उसके त्यागे हुए शरीरसे आकाश, वायु और तेज—ये ऊपरके तीन तत्त्वोंमें मिल जाते हैं तथा जल और पृथ्वीके अंश नीचेके तत्त्वोंसे एकीभूत हो जाते हैं। यही पुरुषका 'पञ्चत्वको प्राप्त होना' माना गया है। मरे हुए जीवको यमदूत शीघ्र ही आतिवाहिक शरीरमें पहुँचाते हैं। यमलोकका मार्ग अत्यन्त भयंकर और छियासी हजार योजन लंबा है। उसपर ले जाया जानेवाला जीव अपने बन्धु-बान्धवोंके दिये हुए अन्न-जलका उपभोग करता है। यमराजसे मिलनेके पश्चात् उनके आदेशसे चित्रगुप्त जिन भयंकर नरकोंको बतलाते हैं, उन्हींको वह जीव प्राप्त होता है। यदि वह धर्मात्मा होता है, तो उत्तम मार्गोंसे स्वर्गलोकको जाता है॥ १—१२॥

अब पापी जीव जिन नरकों और उनकी यातनाओंका उपभोग करते हैं, उनका वर्णन करता हूँ। इस पृथ्वीके नीचे नरककी अट्ठाईस ही श्रेणियाँ हैं। सातवें तलके अन्तमें घोर अन्धकारके भीतर उनकी स्थिति है। नरककी पहली कोटि 'घोरा'के नामसे प्रसिद्ध है। उसके नीचे 'सुघोरा'की स्थिति है। तीसरी 'अतिघोरा', चौथी 'महाघोरा' और पाँचवीं 'घोररूपा' नामकी कोटि है। छठीका नाम 'तरलतारा' और सातवींका 'भयानका' है। आठवीं 'भयोत्कटा', नवीं 'कालरात्रि', दसवीं 'महाचण्डा', ग्यारहवीं 'चण्डा', बारहवीं 'कोलाहला', तेरहवीं 'प्रचण्डा', चौदहवीं 'पद्मा' और पंद्रहवीं 'नरकनायिका' है। सोलहवीं 'पद्मावती', सत्रहवीं 'भीषणा', अठारहवीं 'भीमा', उन्नीसवीं 'करालिका', बीसवीं 'विकराला', इक्कीसवीं 'महावज्रा', बाईसवीं 'त्रिकोणा' और तेईसवीं 'पञ्चकोणिका' है। चौबीसवीं 'सुदीर्घा', पचीसवीं 'वर्तुला', छब्बीसवीं 'सप्तभूमा', सत्ताईसवीं 'सुभूमिका' और अट्ठाईसवीं 'दीप्तमाया' है। इस प्रकार ये अट्ठाईस कोटियाँ पापियोंको दुःख देनेवाली हैं॥ १३—१८॥

नरकोंकी अट्ठाईस कोटियोंके पाँच-पाँच नायक हैं [तथा पाँच उनके भी नायक हैं]। वे 'रौरव' आदिके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन सबकी संख्या एक सौ पैंतालीस है—तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, असिपत्रवन, लोहभार, कालसूत्र-नरक, महानरक, संजीवन, महावीचि, तपन, सम्प्रतापन, संघात, काकोल, कुड्मल, पूतमृत्युक, लोहशङ्कु, ऋजीष, प्रधान, शाल्मली वृक्ष और वैतरणी नदी आदि सभी नरकोंको 'कोटि-नायक' समझना चाहिये। ये बड़े भयंकर दिखायी देते हैं। पापी पुरुष इनमेंसे एक-एकमें तथा अनेकमें भी डाले जाते हैं। यातना देनेवाले यमदूतोंमें किसीका मुख बिलावके समान होता है तो किसीका उल्लूके समान, कोई गीदड़के समान मुखवाले हैं तो कोई गृध्र आदिके समान। वे मनुष्यको तेलके कड़ाहेमें डालकर उसके नीचे आग जला देते हैं। किन्हींको भाड़में, किन्हींको ताँबे या तपाये हुए लोहेके बर्तनोंमें तथा बहुतोंको आगकी चिनगारियोंमें डाल देते हैं। कितनोंको वे शूलीपर चढ़ा देते हैं। बहुत-से पापियोंको नरकमें डालकर उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं। कितने ही कोड़ोंसे पीटे जाते हैं और कितनोंको तपाये हुए लोहेके गोले खिलाये जाते हैं। बहुत-से यमदूत उनको धूलि, विष्ठा, रक्त और कफ आदि भोजन कराते तथा तपायी हुई मदिरा पिलाते हैं। बहुत-से जीवोंको वे आरेसे चीर डालते हैं। कुछ लोगोंको कोल्हूमें पेरते हैं। कितनोंको कौवे आदि नोच-नोचकर खाते हैं। किन्हीं-किन्हींके ऊपर गरम तेल छिड़का जाता है तथा कितने ही जीवोंके मस्तकके अनेकों टुकड़े किये जाते हैं। उस समय पापी जीव 'अरे बाप रे' कहकर चिल्लाते हैं और हाहाकार मचाते हुए अपने पापकर्मोंकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार बड़े-बड़े पातकोंके फलस्वरूप भयंकर एवं निन्दित नरकोंका कष्ट भोगकर कर्म क्षीण होनेके पश्चात् वे महापापी जीव पुनः इस मर्त्यलोकमें जन्म लेते हैं॥ १९—२१½॥

ब्रह्महत्यारा पुरुष मृग, कुत्ते, सूअर और ऊँटोंकी योनिमें जाता है। मदिरा पीनेवाला गदहे, चाण्डाल तथा म्लेच्छोंमें जन्म पाता है। सोना चुरानेवाले कीड़े-मकोड़े और पतिंगे होते हैं तथा गुरुपत्नीसे गमन करनेवाला मनुष्य तृण एवं लताओंमें जन्म ग्रहण करता है। ब्रह्महत्यारा राजयक्ष्माका रोगी होता है, शराबीके दाँत काले हो जाते हैं, सोना चुरानेवालेका नख खराब होता है तथा गुरुपत्नीगामीके चमड़े दूषित होते हैं [अर्थात् वह कोढ़ी हो जाता है]। जो जिस पापसे सम्पर्क रखता है, वह उसीका कोई चिह्न लेकर जन्म ग्रहण करता है। अन्न चुरानेवाला मायावी होता है। वाणी (कविता आदि)की चोरी करनेवाला गूँगा होता है। धान्यका अपहरण करनेवाला जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसका कोई अङ्ग

अधिक होता है, चुगुलखोरकी नासिकासे बदबू आती है, तेल चुरानेवाला पुरुष तेल पीनेवाला कीड़ा होता है तथा जो इधरकी बातें उधर लगाया करता है, उसके मुँहसे दुर्गन्ध आती है। दूसरोंकी स्त्री तथा ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेवाला पुरुष निर्जन वनमें ब्रह्मराक्षस होता है। रत्न चुरानेवाला नीच जातिमें जन्म लेता है। उत्तम गन्धकी चोरी करनेवाला छछूंदर होता है। शाक-पात चुरानेवाला मुर्गा तथा अनाजकी चोरी करनेवाला चूहा होता है। पशुका अपहरण करनेवाला बकरा, दूध चुरानेवाला कौवा, सवारीकी चोरी करनेवाला ऊँट तथा फल चुराकर खानेवाला बन्दर होता है। शहदकी चोरी करनेवाला डाँस, फल चुरानेवाला गृध्र तथा घरका सामान हड़प लेनेवाला गृहकाक होता है। वस्त्र हड़पनेवाला कोढ़ी, चोरी-चोरी रसका स्वाद लेनेवाला कुत्ता और नमक चुरानेवाला झींगुर होता है ॥ ३०—३७½ ॥

यह 'आधिदैविक ताप'का वर्णन किया गया है। शस्त्र आदिसे कष्टकी प्राप्ति होना 'आधिभौतिक ताप' है तथा ग्रह, अग्नि और देवता आदिसे जो कष्ट होता है, वह 'आधिदैविक ताप' बतलाया गया है। इस प्रकार यह संसार तीन प्रकारके दुःखोंसे भरा हुआ है। मनुष्यको चाहिये कि ज्ञानयोगसे, कठोर व्रतोंसे, दान आदि पुण्योंसे तथा विष्णुकी पूजा आदिसे इस दुःखमय संसारका निवारण करे ॥ ३८—४० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नरकादि-निरूपण' नामक तीन सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७१ ॥

तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय

यम और नियमोंकी व्याख्या; प्रणवकी महिमा तथा भगवत्पूजनका माहात्म्य

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब मैं 'अष्टाङ्गयोग'का वर्णन करूँगा, जो जगत्के त्रिविध तापसे छुटकारा दिलानेका साधन है। ब्रह्मको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान भी 'योग'से ही सुलभ होता है। एकचित्त होना—चित्तको एक जगह स्थापित करना 'योग' है। चित्तवृत्तियोंके निरोधको भी 'योग' कहते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मामें ही अन्तःकरणकी वृत्तियोंको स्थापित करना उत्तम 'योग' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। ब्रह्मन्! 'नियम' भी पाँच ही हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। उनके नाम ये हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराराधन (ईश्वरप्रणिधान)। किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। 'अहिंसा' सबसे उत्तम धर्म है। जैसे राह चलनेवाले अन्य सभी प्राणियोंके पदचिह्न हाथीके चरणचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार धर्मके सभी साधन 'अहिंसा'में गतार्थ माने जाते हैं। 'अहिंसा'के दस भेद हैं—किसीको उद्वेगमें डालना, संताप देना, रोगी बनाना, शरीरसे रक्त निकालना, चुगली खाना, किसीके हितमें अत्यन्त बाधा पहुँचाना, उसके छिपे हुए रहस्यका उद्घाटन करना, दूसरेको सुखसे वञ्चित करना, अकारण कैद करना और प्राणदण्ड देना। जो बात दूसरे प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर हो, वह 'सत्य' है। 'सत्य'का यही लक्षण है—सत्य बोले, किंतु प्रिय बोले; अप्रिय सत्य कभी न बोले। इसी प्रकार प्रिय असत्य भी मुँहसे न निकाले; यह सनातन धर्म है। 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं—'मैथुनके त्यागको'। 'मैथुन' आठ प्रकारका होता है—स्त्रीका स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीड़ा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिपकर बातें करना, उसे पानेका संकल्प, उसके लिये उद्योग तथा क्रियानिर्वृत्ति (साक्षात् समागम)—ये मैथुनके आठ अङ्ग हैं—ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। 'ब्रह्मचर्य' ही सम्पूर्ण शुभ कर्मोंकी सिद्धिका मूल है; उसके बिना सारी क्रिया निष्फल हो जाती है। वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवताओंके आचार्य बृहस्पति तथा पितामह ब्रह्माजी—ये तपोवृद्ध और वयोवृद्ध होते हुए भी स्त्रियोंके मोहमें फँस गये। गौड़ी, पैष्टी और माध्वी—ये तीन प्रकारकी सुरा जाननी चाहिये। इनके बाद चौथी सुरा 'स्त्री' है, जिसने सारे जगत्को मोहित कर रखा है। मदिराको तो पीनेपर ही मनुष्य मतवाला होता है, परंतु युवती स्त्रीको देखते ही उन्मत्त हो उठता है। नारी देखनेमात्रसे ही मनमें उन्माद करती है, इसलिये उसके ऊपर दृष्टि न डाले। मन, वाणी और शरीरद्वारा चोरीसे सर्वथा बचे रहना 'अस्तेय' कहलाता है। यदि मनुष्य बलपूर्वक दूसरेकी किसी भी वस्तुका अपहरण करता है, तो उसे अवश्य तिर्यग्योनिमें जन्म लेना पड़ता है। यही दशा उसकी भी होती है, जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्व-

देवके द्वारा देवता आदिका भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्यपदार्थ) का भोजन कर लेता है । कौपीन, अपने शरीरको ढकनेवाला वस्त्र, शीतका कष्ट-निवारण करनेवाली कन्था (गुदड़ी) और खड़ाऊँ—इतनी ही वस्तुएँ साथ रक्खे । इनके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे—[यही अपरिग्रह है] । शरीरकी रक्षाके साधनभूत वस्त्र आदिका संग्रह किया जा सकता है । धर्मके अनुष्ठानमें लगे हुए शरीरकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥१—१६½॥

'शौच' दो प्रकारका बताया गया है—'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' । मिट्टी और जलसे 'बाह्यशुद्धि' होती है और भावकी शुद्धिको 'आभ्यन्तर शुद्धि' कहते हैं । दोनों ही प्रकारसे जो शुद्ध है, वही शुद्ध है, दूसरा नहीं । प्रारब्धके अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें हर्ष मानना 'संतोष' कहलाता है । मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको 'तप' कहते हैं । मन और इन्द्रियोंपर विजय पाना सब धर्मोंसे श्रेष्ठ धर्म कहलाता है । 'तप' तीन प्रकारका होता है—वाचिक, मानसिक और शारीरिक । मन्त्रजप आदि 'वाचिक', आसक्तिका त्याग 'मानसिक' और देवपूजन आदि 'शारीरिक' तप हैं । यह तीनों प्रकारका तप सब कुछ देनेवाला है । वेद प्रणवसे ही आरम्भ होते हैं, अतः प्रणवमें सम्पूर्ण वेदोंकी स्थिति है । वाणीका जितना भी विषय है, सब प्रणव है; इसलिये प्रणवका अभ्यास करना चाहिये [यह स्वाध्यायके अन्तर्गत है] । 'प्रणव' अर्थात् 'ओंकार'में अकार, उकार तथा अर्द्धमात्रा-विशिष्ट मकार है । तीन मात्राएँ तीनों वेद, भूः आदि तीन लोक, तीन गुण, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीनों देवता प्रणवरूप हैं । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, स्कन्द, देवी और महेश्वर तथा प्रद्युम्न, श्री और वासुदेव—ये सब क्रमशः ॐकारके ही स्वरूप हैं । ॐकार मात्रासे रहित अथवा अनन्त मात्राओंसे युक्त है । वह द्वैतकी निवृत्ति करनेवाला तथा शिवस्वरूप है । ऐसे ॐकारको जिसने जान लिया, वही मुनि है, दूसरा नहीं । प्रणवकी चतुर्थीमात्रा [जो अर्ध-मात्राके नामसे प्रसिद्ध है] 'गान्धारी' कहलाती है । वह प्रयुक्त होनेपर मूर्द्धामें लक्षित होती है । वही 'तुरीय' नामसे प्रसिद्ध परब्रह्म है । वह ज्योतिर्मय है । जैसे घड़ेके भीतर रक्खा हुआ दीपक वहाँ प्रकाश करता है, वैसे ही मूर्द्धामें स्थित परब्रह्म भी भीतर अपनी ज्ञानमयी ज्योति छिटकाये रहता है । मनुष्यको चाहिये कि मनसे हृदयकमलमें स्थित आत्मा या ब्रह्मका ध्यान करे और जिह्वासे सदा प्रणवका जप करता रहे । [यही 'ईश्वरप्रणिधान' है ।) 'प्रणव' धनुष है, 'जीवात्मा' बाण है तथा 'ब्रह्म' उसका लक्ष्य कहा जाता है । सावधान होकर उस लक्ष्यका भेदन करना चाहिये और बाणके समान उसमें तन्मय हो जाना चाहिये । यह एकाक्षर (प्रणव) ही ब्रह्म है, यह एकाक्षर ही परम तत्त्व है, इस एकाक्षर ब्रह्मको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसको उसीकी प्राप्ति हो जाती है । इस प्रणवका देवी गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि हैं, परमात्मा देवता हैं तथा भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग किया जाता है । इसके अङ्ग-न्यासकी विधि इस प्रकार है—'ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः ।'—इस मन्त्रसे हृदयका स्पर्श करे । 'ॐ भुवः प्राजापत्यात्मने शिरसे स्वाहा ।' ऐसा कहकर मस्तकका स्पर्श करे । 'ॐ स्वः सर्वात्मने शिखायै वषट् ।'—इस मन्त्रसे शिखाका स्पर्श करे । अब कवच बताया जाता है—'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुम् ।' इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी अँगुलियोंद्वारा बायीं भुजाके मूलभागका और बायें हाथकी अँगुलियोंसे दाहिनी बाँहके मूलभागका एक ही साथ स्पर्श करे । तत्पश्चात् पुनः 'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट् ।' कहकर चुटकी बजाये । इस प्रकार अङ्गन्यास करके भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये भगवान् विष्णुका पूजन, उनके नामोंका जप तथा उनके उद्देश्यसे तिल और घी आदिका हवन करे; इससे मनुष्यकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं । [यही ईश्वरपूजन है; इसका निष्कामभावसे ही अनुष्ठान करना उत्तम है ।] जो मनुष्य प्रतिदिन बारह हजार प्रणवका जप करता है, उसको बारह महीनेमें परब्रह्मका ज्ञान हो जाता है । एक करोड़ जप करनेसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, एक लाखके जपसे सरस्वती आदिकी कृपा होती है । विष्णुका यजन तीन प्रकारका होता है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र । तीनोंमेंसे जो अभीष्ट हो, उसी एक विधिका आश्रय लेकर श्रीहरिकी पूजा करनी चाहिये । जो मनुष्य दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़कर भगवान्-को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है, उसे जिस उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है, वह सैकड़ों यज्ञोंके द्वारा दुर्लभ है । जिसकी आराध्यदेवमें पराभक्ति है और जैसी देवतामें है, वैसी ही गुरुके प्रति भी है, उसी महात्माको इन कहे हुए विषयोंका यथार्थ ज्ञान होता है ॥ १७—२६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यम-नियम-निरूपण' नामक तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७२ ॥

तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने ! पद्मासन आदि नाना प्रकारके 'आसन' बताये गये हैं। उनमेंसे कोई भी आसन बाँधकर परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। पहले किसी पवित्र स्थानमें अपने बैठनेके लिये स्थिर आसन बिछावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा। सबसे नीचे कुशका आसन हो, उसके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो। उस आसनपर बैठकर मन और इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको रोकते हुए चित्तको एकाग्र करे तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगाभ्यासमें संलग्न हो जाय। उस समय शरीर, मस्तक और गलेको अविचलभावसे एक सीधमें रखते हुए स्थिर बैठे। केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे; अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टिपात न करे। दोनों पैरोंकी एड़ियोंसे अण्डकोष और लिङ्गकी रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाँघों)के ऊपर भुजाओंको यत्नपूर्वक तिरछी करके रक्खे तथा बायें हाथकी हथेलीपर दाहिने हाथके पृष्ठभागको स्थापित करे और मुँहको कुछ ऊँचा करके सामनेकी ओर स्थिर रक्खे। इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करना चाहिये ॥ १-५½ ॥

अपने शरीरके भीतर रहनेवाली वायुको 'प्राण' कहते हैं। उसे रोकनेका नाम है—'आयाम'। अतः 'प्राणायाम'का अर्थ हुआ—'प्राणवायुको रोकना'। उसकी विधि इस प्रकार है—अपनी अँगुलीसे नासिकाके एक छिद्रको दबाकर दूसरे छिद्रसे उदरस्थित वायुको बाहर निकाले। 'रेचन' अर्थात् बाहर निकालनेके कारण इस क्रियाको 'रेचक' कहते हैं। तत्पश्चात् चमड़ेकी धौंकनीके समान शरीरको बाहरी वायुसे भरे। भर जानेपर कुछ कालतक स्थिरभावसे बैठा रहे। बाहर वायुकी पूर्ति करनेके कारण इस क्रियाका नाम 'पूरक' है। वायु भर जानेके पश्चात् जब साधक न तो भीतरी वायुको छोड़ता है और न बाहरी वायुको ग्रहण ही करता है, अपितु भरे हुए घड़ेकी भाँति अविचलभावसे स्थिर रहता है, उस समय कुम्भवत् स्थिर होनेके कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है। बारह मात्रा (पल) का एक 'उद्धात' होता है। इतनी देरतक वायुको रोकना कनिष्ठ श्रेणीका प्राणायाम है। दो उद्धात अर्थात् चौबीस मात्रातक किया जानेवाला कुम्भक मध्यम श्रेणीका माना गया है तथा तीन उद्धात यानी छत्तीस मात्रातकका कुम्भक उत्तम श्रेणीका प्राणायाम है। जिससे शरीरसे पसीने निकलने लगें, कँपकँपी छा जाय तथा अभिघात लगने लगे, वह प्राणायाम अत्यन्त उत्तम है। प्राणायामकी भूमिकाओंमेंसे जिसपर भलीभाँति अधिकार न हो जाय, उनपर सहसा आरोहण न करे, अर्थात् क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें आरूढ़ होनेका यत्न करे। प्राणको जीत लेनेपर हिचकी और साँस आदिके रोग दूर हो जाते हैं तथा मल-मूत्रादिके दोष भी धीरे-धीरे कम हो जाते हैं। नीरोग होना, तेज चलना, मनमें उत्साह होना, स्वरमें माधुर्य आना, बल बढ़ना, शरीरवर्णमें स्वच्छताका आना तथा सब प्रकारके दोषोंका नाश हो जाना—ये प्राणायामसे होनेवाले लाभ हैं। प्राणायाम दो तरहके होते हैं—'अगर्भ' और 'सगर्भ'। जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम 'अगर्भ' है तथा जप और ध्यानके साथ किये जानेवाले प्राणायामको 'सगर्भ' कहते हैं। इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम होता है; उसीका अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान और वैराग्यसे युक्त होकर प्राणायामके अभ्याससे इन्द्रियोंको जीत लेनेपर सबपर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसे 'स्वर्ग' और 'नरक' कहते हैं, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं। वे ही वशमें होनेपर स्वर्गमें पहुँचाती हैं और स्वतन्त्र छोड़ देनेपर नरकमें ले जाती हैं। शरीरको 'रथ' कहते हैं, इन्द्रियाँ ही उसके 'घोड़े' हैं, मनको 'सारथि' कहा गया है और प्राणायामको 'चाबुक' माना गया है। ज्ञान और वैराग्यकी बागडोरमें बँधे हुए मनरूपी घोड़ेको प्राणायामसे आबद्ध करके जब अच्छी तरह काबूमें कर लिया जाता है तो वह धीरे-धीरे स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य सौ वर्षोंसे कुछ अधिक कालतक प्रतिमास कुशके अग्रभागसे जलकी एक बूँद लेकर उसे पीकर रह जाता है, उसकी वह तपस्या और प्राणायाम—दोनों बराबर हैं। विषयोंके समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ फँसी हुई इन्द्रियोंको जो आहृत करके, अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है, उसके इस प्रयत्नको 'प्रत्याहार' कहते हैं। जैसे जलमें डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलनेका प्रयत्न करता है, उसी प्रकार संसार-

समुद्रमें डूबे हुए अपने-आपको स्वयं ही निकालनेका प्रयत्न करे। भोगरूपी नदीका वेग अत्यन्त बढ़ जानेपर उससे बचनेके लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानरूपी वृक्षका आश्रय लेना चाहिये ॥ ६—२१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारका वर्णन' नामक तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७३ ॥

तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय

ध्यान

अग्निदेव कहते हैं—मुने! **'ध्यै—चिन्तायाम्'**—यह धातु है। अर्थात् 'ध्यै' धातुका प्रयोग चिन्तनके अर्थमें होता है। ['ध्यै' से ही 'ध्यान' शब्दकी सिद्धि होती है] अतः स्थिरचित्तसे भगवान् विष्णुका बारंबार चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। समस्त उपाधियोंसे मुक्त मनसहित आत्माका ब्रह्मविचारमें परायण होना भी 'ध्यान' ही है। ध्येयरूप आधारमें स्थित एवं सजातीय प्रतीतियोंसे युक्त चित्तको जो विजातीय प्रतीतियोंसे रहित प्रतीति होती है, उसको भी 'ध्यान' कहते हैं। जिस किसी प्रदेशमें भी ध्येय वस्तुके चिन्तनमें एकाग्र हुए चित्तको प्रतीतिके साथ जो अभेद-भावना होती है, उसका नाम भी 'ध्यान' है। इस प्रकार ध्यानपरायण होकर जो अपने शरीरका परित्याग करता है, वह अपने कुल, स्वजन और मित्रोंका उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है। इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्ततक भी श्रद्धापूर्वक श्रीहरिका ध्यान करता है, वह भी जिस गतिको प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण महायज्ञोंके द्वारा भी कोई नहीं पा सकता ॥ १—६ ॥

तत्त्ववेत्ता योगीको चाहिये कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यानका प्रयोजन—इन चार वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करके योगका अभ्यास करे। योगाभ्याससे मोक्ष तथा आठ प्रकारके महान् ऐश्वर्यों (अणिमा आदि सिद्धियों)की प्राप्ति होती है। जो ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त तथा ध्यानमें सदा उत्साह रखनेवाला हो, ऐसा पुरुष ही 'ध्याता' माना गया है। 'व्यक्त और अव्यक्त, जो कुछ प्रतीत होता है, सब परम ब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है'—इस प्रकार विष्णुका चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरिको सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त तथा निष्कल जानना चाहिये। अणिमादि ऐश्वर्योंकी प्राप्ति तथा मोक्ष—ये ध्यानके प्रयोजन हैं। भगवान् विष्णु ही कर्मोंके फलकी प्राप्ति करानेवाले हैं, अतः उन परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये। वे ही ध्येय हैं। चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और आँख मींचते समय भी, शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें भी निरन्तर परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये ॥ ७—११½ ॥

अपने देहरूपी मन्दिरके भीतर मनमें स्थित हृदयकमलरूपी पीठके मध्यभागमें भगवान् केशवकी स्थापना करके ध्यानयोगके द्वारा उनका पूजन करे। ध्यानयज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध और सब दोषोंसे रहित है। उसके द्वारा भगवान्‌का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्यशुद्धिसे युक्त यज्ञोंद्वारा भी इस फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा आदि दोषोंसे मुक्त होनेके कारण ध्यान अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रमुख साधन और चित्तको वशमें करनेवाला है। इसलिये ध्यानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ और मोक्षरूपी फल प्रदान करनेवाला है; अतः अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन यज्ञ आदि कर्मोंका त्याग करके योगका ही विशेषरूपसे अभ्यास करे। पहले विकारयुक्त, अव्यक्त तथा भोग्य-भोगसे युक्त तीनों गुणोंका क्रमशः अपने हृदयमें ध्यान करे। तमोगुणको रजोगुणसे आच्छादित करके रजोगुणको सत्त्वगुणसे आच्छादित करे। इसके बाद पहले कृष्ण, फिर रक्त, तत्पश्चात् श्वेतवर्णवाले तीनों मण्डलोंका क्रमशः ध्यान करे। इस प्रकार जो गुणोंका ध्यान बताया गया, वह 'अशुद्ध ध्येय' है। उसका त्याग करके 'शुद्ध ध्येय'का चिन्तन करे। पुरुष (आत्मा) सत्त्वोपाधिक गुणोंसे अतीत चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ तत्त्व है, यह 'शुद्ध ध्येय' है। पुरुषके ऊपर उन्हींकी नाभिसे प्रकट हुआ एक दिव्य कमल स्थित है, जो प्रभुका ऐश्वर्य ही जान पड़ता है। उसका विस्तार बारह अंगुल है। वह शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्णका है। उसका मृणाल आठ अंगुलका है। उस कमलके आठ पत्तोंको अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य जानना चाहिये। उसकी कर्णिकाका केसर 'ज्ञान' तथा नाल 'उत्तम वैराग्य' है। 'विष्णु-धर्म' ही उसकी

जड़ है । इस प्रकार कमलका चिन्तन करे । धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं कल्याणमय ऐश्वर्य-स्वरूप उस श्रेष्ठ कमलको, जो भगवान्‌का आसन है, जानकर मनुष्य अपने सब दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है । उस कमलकर्णिकाके मध्यभागमें ओङ्कारमय ईश्वरका ध्यान करे । उनकी आकृति शुद्ध दीपशिखाके समान देदीप्यमान एवं अँगूठेके बराबर है । वे अत्यन्त निर्मल हैं । कदम्बपुष्पके समान उनका गोलाकार स्वरूप ताराकी भाँति स्थित है । अथवा कमलके ऊपर प्रकृति और पुरुषसे भी अतीत परमेश्वर विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करे तथा परम अक्षर ओंकारका निरन्तर जप करता रहे । साधकको अपने मनको स्थिर करनेके लिये पहले स्थूलका ध्यान करना चाहिये । फिर क्रमशः मनके स्थिर हो जानेपर उसे सूक्ष्म तत्त्वके चिन्तनमें लगाना चाहिये ॥ १२—२६१/२ ॥

[अब कमल आदिका ध्यान दूसरे प्रकारसे बतलाया जाता है—] नाभि-मूलमें स्थित जो कमलकी नाल है, उसका विस्तार दस अंगुल है । नालके ऊपर अष्टदल कमल है, जो बारह अंगुल विस्तृत है । उसकी कर्णिकाके केसरमें सूर्य, सोम तथा अग्नि—तीन देवताओंका मण्डल है । अग्नि-मण्डलके भीतर शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करनेवाले चतुर्भुज विष्णु अथवा आठ भुजाओंसे युक्त भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं । अष्टभुज भगवान्‌के हाथोंमें शङ्ख-चक्रादिके अतिरिक्त शार्ङ्गधनुष, अक्षमाला, पाश तथा अङ्कुश शोभा पाते हैं । उनके श्रीविग्रहका वर्ण श्वेत एवं सुवर्णके समान उद्दीप्त है । वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और कौस्तुभमणि शोभा पा रहे हैं । गलेमें वनमाला और सोनेका हार है । कानोंमें मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं । मस्तकपर रत्नमय उज्ज्वल किरीट सुशोभित है । श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पाता है । वे सब प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत हैं । उनका आकार बहुत बड़ा अथवा एक बित्तेका है । जैसी इच्छा हो, वैसी ही छोटी या बड़ी आकृतिका ध्यान करना चाहिये । ध्यानके समय ऐसी भावना करे कि 'मैं ज्योतिर्मय ब्रह्म हूँ—मैं ही नित्यमुक्त प्रणवरूप वासुदेव-संज्ञक परमात्मा हूँ ।' ध्यानसे थक जानेपर मन्त्रका जप करे और जपसे थकनेपर ध्यान करे । इस प्रकार जो जप और ध्यान आदिमें लगा रहता है, उसके ऊपर भगवान् विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं । दूसरे-दूसरे यज्ञ जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते । जप करनेवाले पुरुषके पास आधि, व्याधि और ग्रह नहीं फटकने पाते । जप करनेसे भोग, मोक्ष तथा मृत्यु-विजयरूप फलकी प्राप्ति होती है ॥ २७—३५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ध्याननिरूपण' नामक तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७४ ॥

तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय

धारणा

अग्निदेव कहते हैं—मुने ! ध्येय वस्तुमें जो मनकी स्थिति होती है, उसे 'धारणा' कहते हैं । ध्यानकी ही भाँति उसके भी दो भेद हैं—'साकार' और 'निराकार' । भगवान्‌के ध्यानमें जो मनको लगाया जाता है, उसे क्रमशः 'मूर्त' और 'अमूर्त' धारणा कहते हैं । इस धारणासे भगवान्‌की प्राप्ति होती है । जो बाहरका लक्ष्य है, उससे मन जबतक विचलित नहीं होता, तबतक किसी भी प्रदेशमें मनकी स्थितिको 'धारणा' कहते हैं । देहके भीतर नियत समयतक जो मनको रोक रक्खा जाता है और वह अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होता, यही अवस्था 'धारणा' कहलाती है । बारह आयामकी 'धारणा' होती है, बारह 'धारणा'का 'ध्यान' होता है तथा बारह ध्यानपर्यन्त जो मनकी एकाग्रता है, उसे 'समाधि' कहते हैं । जिसका मन धारणाके अभ्यासमें लगा हुआ है, उसी अवस्थामें यदि उसके प्राणोंका परित्याग हो जाय तो वह पुरुष अपने इक्कीस पीढ़ीका उद्धार करके अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्गपदको प्राप्त होता है । योगियोंके जिस-जिस अङ्गमें व्याधिकी सम्भावना हो, उस-उस अङ्गको बुद्धिसे व्याप्त करके तत्त्वोंकी धारणा करनी चाहिये । द्विजोत्तम ! आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृतात्मिका—ये विष्णुकी चार प्रकारकी धारणा करनी चाहिये । उस समय अग्नियुक्त शिखामन्त्रका, जिसके अन्तमें 'फट्' शब्दका प्रयोग होता है, जप करना उचित है । नाड़ियोंके द्वारा विकट, दिव्य एवं शुभ शूलाग्रका वेधन करे । पैरके अँगूठेसे लेकर कपोलतक किरणोंका समूह व्याप्त है और वह बड़ी तेजीके

साथ ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर फैल रहा है, ऐसी भावना करे। महामुने! श्रेष्ठ साधकको तबतक रश्मिमण्डलका चिन्तन करते रहना चाहिये, जबतक कि वह अपने सम्पूर्ण शरीरको उसके भीतर भस्म होता न देखे। तदनन्तर उस धारणाका उपसंहार करे। इसके द्वारा द्विजगण शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापोंका विनाश करते हैं (यह 'आग्नेयी धारणा' है)॥ १-१०॥

तत्पश्चात् धीरभावसे विचार करते हुए मस्तक और कण्ठके अधोमुख होनेका चिन्तन करे। उस समय साधकका चित्त नष्ट नहीं होता। वह पुनः अपने अन्तःकरणद्वारा ध्यानमें लग जाय और ऐसी धारणा करे कि जलके अनन्त कण प्रकट होकर एक-दूसरेसे मिलकर हिमराशिको उत्पन्न करते हैं और उससे इस पृथ्वीपर जलकी धाराएँ प्रवाहित होकर सम्पूर्ण विश्वको आप्लावित कर रही हैं। इस प्रकार उस हिमस्पर्शसे शीतल अमृतस्वरूप जलके द्वारा क्षोभवश ब्रह्मरन्ध्रसे लेकर मूलाधारपर्यन्त सम्पूर्ण चक्र-मण्डलको आप्लावित करके सुषुम्णा नाड़ीके भीतर होकर पूर्ण चन्द्रमण्डलका चिन्तन करे। भूख-प्यास आदिके क्रमसे प्राप्त होनेवाले क्लेशोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर अपनी तुष्टिके लिये इस 'वारुणी धारणा'का चिन्तन करना चाहिये तथा उस समय आलस्य छोड़कर विष्णु-मन्त्रका जप करना भी उचित है। यह 'वारुणी धारणा' बतलायी गयी, अब 'ऐशानी धारणा'का वर्णन सुनिये॥११-१५॥

प्राण और अपानका क्षय होनेपर हृदयाकाशमें ब्रह्ममय कमलके ऊपर विराजमान भगवान् विष्णुके प्रसाद (अनुग्रह) का तबतक चिन्तन करता रहे, जबतक कि सारी चिन्ताका नाश न हो जाय। तत्पश्चात् व्यापक ईश्वररूपसे स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभावका जप और चिन्तन करे। जबतक गुरुके मुखसे जीवात्माको ब्रह्मका ही अंश [या साक्षात् ब्रह्मरूप] नहीं जान लिया जाता, तबतक यह सम्पूर्ण चराचर जगत् असत्य होनेपर भी सत्यवत् प्रतीत होता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर यह सारा चराचर जगत्, प्रमाता, मान और मेय (ध्याता, ध्यान और ध्येय)—सब कुछ ध्यानगत हृदयकमलमें लीन हो जाता है। जप, होम और पूजन आदिको माताकी दी हुई मिठाईकी भाँति मधुर एवं लाभकर जानकर विष्णुमन्त्रके द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे। अब मैं 'अमृतमयी धारणा' बतला रहा हूँ—मस्तककी नाड़ीके केन्द्रस्थानमें पूर्ण चन्द्रमाके समान आकारवाले कमलका ध्यान करे तथा प्रयत्नपूर्वक यह भावना करे कि 'आकाशमें दस हजार चन्द्रमाके समान प्रकाशमान एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलोंसे परिपूर्ण है।' ऐसा ही ध्यान अपने हृदय-कमलमें भी करे और उसके मध्यभागमें अपने शरीरको स्थित देखे। धारणा आदिके द्वारा साधकके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं॥ १६-२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धारणानिरूपण' नामक तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७५॥

तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय

समाधि

अग्निदेव कहते हैं—जो चैतन्यस्वरूपसे युक्त और प्रशान्त समुद्रकी भाँति स्थिर हो, जिसमें आत्माके सिवा अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति न होती हो, उस ध्यानको 'समाधि' कहते हैं। जो ध्यानके समय अपने चित्तको ध्येयमें लगाकर वायुहीन प्रदेशमें जलती हुई अग्निशिखाकी भाँति अविचल एवं स्थिरभावसे बैठा रहता है, वह योगी 'समाधिस्थ' कहा गया है। जो न सुनता है न सूँघता है, न देखता है न रसास्वादन करता है, न स्पर्शका अनुभव करता है न मनमें संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धिसे दूसरी किसी वस्तुको जानता ही है, केवल काष्ठकी भाँति अविचलभावसे ध्यानमें स्थित रहता है, ऐसे ईश्वरचिन्तनपरायण पुरुषको 'समाधिस्थ' कहते हैं। जैसे वायुरहित स्थानमें रक्खा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, यही उस समाधिस्थ योगीके लिये उपमा मानी गयी है। जो अपने आत्मस्वरूप श्रीविष्णुके ध्यानमें संलग्न रहता है, उसके सामने अनेक दिव्य विघ्न उपस्थित होते हैं। वे सिद्धिकी सूचना देनेवाले हैं। साधक ऊपरसे नीचे गिराया जाता है, उसके कानमें पीड़ा होती है, अनेक प्रकारके धातुओंके दर्शन होते हैं तथा उसे अपने शरीरमें बड़ी वेदनाका अनुभव होता है। देवतालोग उस योगीके पास आकर उससे दिव्य भोग स्वीकार करनेकी

प्रार्थना करते हैं, राजा पृथ्वीका राज्य देनेकी बात कहते और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धनका लोभ दिखाते हैं। वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धिमें स्फुरित हो जाते हैं। उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषयसे युक्त उत्तम काव्यकी रचना होने लगती है। दिव्य रसायन, दिव्य ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, देवेश्वरोंकी कन्याएँ और प्रतिभा आदि सद्गुण भी उसके पास बिना बुलाये जाते हैं; किंतु जो इन सबको तिनकेके समान निस्सार मानकर त्याग देता है, उसीपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ॥ १—१० ॥

अणिमा आदि गुणमयी विभूतियोंसे युक्त योगी पुरुषको उचित है कि वह शिष्यको ज्ञान दे। इच्छानुसार भोगोंका उपभोग करके लययोगकी रीतिसे शरीरका परित्याग करे और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवं ईश्वररूप अपने आत्मामें स्थित हो जाय। जैसे मलिन दर्पण शरीरका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेके कारण शरीरका ज्ञान करानेकी क्षमता नहीं रखता, उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासना-शून्य) नहीं है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है। देह सब प्रकारके रोगों और दुःखोंका आश्रय है; इसलिये देहाभिमानी जीव अपने शरीरमें वेदनाका अनुभव करता है। परंतु जो पुरुष योगयुक्त है, उसे योगके ही प्रभावसे किसी भी क्लेशका अनुभव नहीं होता। जैसे एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें पृथक्-पृथक्-सा प्रतीत होता है और एक ही सूर्य अनेक जलपात्रोंमें अनेक-सा जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा एक होता हुआ भी अनेक शरीरोंमें स्थित होनेके कारण अनेकवत् प्रतीत होता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत ब्रह्मके ही स्वरूप हैं। ये सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है; आत्मासे ही चराचर जगत्‌की अभिव्यक्ति होती है। जैसे कुम्हार मिट्टी, डंडा और चाकके संयोगसे घड़ा बनाता है, अथवा जिस प्रकार घर बनानेवाला मनुष्य तृण, मिट्टी और काठसे घर तैयार करता है, उसी प्रकार जीवात्मा इन्द्रियोंको साथ ले, कार्य-करण-संघातको एकचित्त करके भिन्न-भिन्न योनियोंमें अपनेको उत्पन्न करता है। कर्मसे, दोष और मोहसे तथा स्वेच्छासे ही जीव बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे ही उसकी मुक्ति होती है। योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करनेसे कभी रोगका भागी नहीं होता। जैसे बत्ती, तैलपात्र और तैल—इन तीनोंके संयोगसे ही दीपककी स्थिति है—इनमेंसे एकके अभावमें भी दीपक रह नहीं सकता, उसी प्रकार योग और धर्मके बिना विकार (रोग) की प्राप्ति देखी जाती है और इस प्रकार अकालमें ही प्राणोंका क्षय हो जाता है ॥ ११—१९½ ॥

हमारे हृदयके भीतर जो दीपककी भाँति प्रकाशमान आत्मा है, उसकी अनन्त किरणें फैली हुई हैं, जो श्वेत, कृष्ण, पिङ्गल, नील, कपिल, पीत और रक्त वर्णकी हैं। उनमेंसे एक किरण ऐसी है, जो सूर्यमण्डलको भेदकर सीधे ऊपरको चली गयी है और ब्रह्मलोकको भी लाँघ गयी है; उसीके मार्गसे योगी पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है। उसके सिवा और भी सैकड़ों किरणें ऊपरकी ओर स्थित हैं। उनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओंके निवासभूत लोकोंमें जाता है। जो एक ही रंगकी बहुत-सी किरणें नीचेकी ओर स्थित हैं, उनकी कान्ति बड़ी कोमल है। उन्हींके द्वारा जीव इस लोकमें कर्मभोगके लिये आता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पाँच भूत तथा अव्यक्त प्रकृति—ये 'क्षेत्र' कहलाते हैं और आत्मा ही इस क्षेत्रका ज्ञान रखनेवाला 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। वही सम्पूर्ण भूतोंका ईश्वर है। सत्, असत् तथा सदसत्—सब उसीके स्वरूप हैं। व्यक्त प्रकृतिसे समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व)-की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारसे आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, जो उत्तरोत्तर एकाधिक गुणोंवाले हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उन पाँचों भूतोंके गुण हैं। इनमेंसे जो भूत जिसके आश्रयमें है, वह उसीमें लीन होता है। सत्त्व, रज और तम—ये अव्यक्त प्रकृतिके ही गुण हैं। जीव रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हो चक्रकी भाँति घूमता रहता है। जो सबका 'आदि' होता हुआ स्वयं 'अनादि' है, वही परमपुरुष परमात्मा है। मन और इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, वह 'विकार' (विकृत होनेवाला प्राकृत तत्त्व) कहलाता है। जिससे वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य वाङ्मयकी अभिव्यक्ति हुई है, वही 'परमात्मा' है। पितृयानमार्गकी उपवीथीसे लेकर अगस्त्य ताराके बीचका जो मार्ग है, उससे संतानकी कामनावाले अग्निहोत्री लोग स्वर्गमें जाते हैं। जो भलीभाँति दानमें तत्पर तथा आठ गुणोंसे युक्त होते हैं, वे भी उसी भाँति यात्रा करते हैं। अठासी हजार गृहस्थ मुनि हैं, जो सब धर्मोंके प्रवर्तक हैं; वे ही पुनरावृत्तिके बीज (कारण) माने गये हैं। वे सप्तर्षियों

तथा नागवीथीके बीचके मार्गसे देवलोकमें गये हैं। उतने ही [अर्थात् अठासी हजार] मुनि और भी हैं, जो सब प्रकारके आरामोंसे रहित हैं। वे तपस्या, ब्रह्मचर्य, आसक्ति, त्याग तथा मेधाशक्तिके प्रभावसे कल्पपर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्यलोकोंमें निवास करते हैं ॥ २०-३५ ॥

वेदोंका निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्य-भाषण—ये आत्म-ज्ञानके हेतु हैं। समस्त द्विजातियोंको उचित है कि वे सत्त्वगुणका आश्रय लेकर आत्मतत्त्वका श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करें। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, जो वानप्रस्थ आश्रमका आश्रय ले चुके हैं और परम श्रद्धासे युक्त हो सत्यकी उपासना करते हैं, वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा विद्युत्के अभिमानी देवताओंके लोकोंमें जाते हैं। तदनन्तर मानस पुरुष वहाँ आकर उन्हें साथ ले जा, ब्रह्मलोकका निवासी बना देता है; उनकी इस लोकमें पुनरावृत्ति नहीं होती। जो लोग यज्ञ, तप और दानसे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त करते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमाके अभिमानी देवताओंके लोकोंमें जाते हैं और फिर आकाश, वायु एवं जलके मार्गसे होते हुए इस पृथ्वीपर लौट आते हैं। इस प्रकार वे इस लोकमें जन्म लेते और मृत्युके बाद पुनः उसी मार्गसे यात्रा करते हैं। जो जीवात्माके इन दोनों मार्गोंको नहीं जानता, वह साँप, पतंग अथवा कीड़ा-मकोड़ा होता है। हृदयाकाशमें दीपककी भाँति प्रकाशमान ब्रह्मका ध्यान करनेसे जीव अमृतस्वरूप हो जाता है। जो न्यायसे धनका उपार्जन करनेवाला, तत्त्वज्ञानमें स्थित, अतिथि-प्रेमी, श्राद्धकर्ता तथा सत्यवादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है ॥ ३६-४४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समाधिनिरूपण' नामक तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७६ ॥

तीन सौ सतहत्तरवाँ अध्याय

श्रवण एवं मननरूप ज्ञान

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं संसाररूप अज्ञानजनित बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये 'ब्रह्मज्ञान'का वर्णन करता हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ।' ऐसा निश्चय हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। घट आदि वस्तुओंकी भाँति यह देह दृश्य होनेके कारण आत्मा नहीं है; क्योंकि सो जानेपर अथवा मृत्यु हो जानेपर यह बात निश्चितरूपसे समझमें आ जाती है कि 'देहसे आत्मा भिन्न है'। यदि देह ही आत्मा होता तो सोने या मरनेके बाद भी पूर्ववत् व्यवहार करता; (आत्माके) 'अविकारी' आदि विशेषणोंके समान विशेषणसे युक्त निर्विकाररूपमें प्रतीत होता। नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे 'करण' हैं। यही हाल मन और बुद्धिका भी है। वे भी दीपककी भाँति प्रकाशके 'करण' हैं, अतः आत्मा नहीं हो सकते। 'प्राण' भी आत्मा नहीं है; क्योंकि सुषुप्तावस्थामें उसपर जडताका प्रभाव रहता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें प्राणके साथ चैतन्य मिला-सा रहता है, इस-लिये उसका पृथक् बोध नहीं होता; परंतु सुषुप्तावस्थामें प्राण विज्ञानरहित है—यह बात स्पष्टरूपसे जानी जाती है। अतएव आत्मा इन्द्रिय आदि रूप नहीं है। इन्द्रिय आदि आत्माके करणमात्र हैं। अहंकार भी आत्मा नहीं है; क्योंकि देहकी भाँति वह भी आत्मासे पृथक् उपलब्ध होता है। पूर्वोक्त देह आदिसे भिन्न यह आत्मा सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित है। यह रातमें जलते हुए दीपककी भाँति सबका द्रष्टा और भोक्ता है ॥ १—७ ॥

समाधिके आरम्भकालमें मुनिको इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये—'ब्रह्मसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी तथा पृथ्वीसे सूक्ष्म शरीर प्रकट हुआ है।' अपञ्चीकृत भूतोंसे पञ्चीकृत भूतोंकी उत्पत्ति हुई है। फिर स्थूल शरीरका ध्यान करके ब्रह्ममें उसके लय होनेकी भावना करे। पञ्चीकृत भूत तथा उनके कार्योंको 'विराट्' कहते हैं। आत्माका वह स्थूल शरीर अज्ञानसे कल्पित है। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे धीर पुरुष 'जाग्रत्-अवस्था' मानते हैं। जाग्रत्के अभिमानी आत्माका नाम 'विश्व' है। ये (इन्द्रिय-विज्ञान, जाग्रत्-अवस्था और उसके अभिमानी देवता) तीनों प्रणवकी प्रथम मात्रा 'अकारस्वरूप' हैं। अपञ्ची-कृत भूत और उनके कार्यको 'लिङ्ग' कहा गया है। सत्रह तत्त्वों (दस इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि)से

युक्त जो आत्माका सूक्ष्म शरीर है, जिसे 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है, उसीको 'लिङ्ग' कहते हैं। जाग्रत्-अवस्थाके संस्कारसे उत्पन्न विषयोंकी प्रतीतिको 'स्वप्न' कहा गया है। उसका अभिमानी आत्मा 'तैजस' नामसे प्रसिद्ध है। वह जाग्रत्के प्रपञ्चसे पृथक् तथा प्रणवकी दूसरी मात्रा 'उकाररूप' है। स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरोंका एक ही कारण है—'आत्मा'। आभासयुक्त ज्ञानको 'अध्याहृत ज्ञान' कहते हैं। इन अवस्थाओंका साक्षी 'ब्रह्म' न सत् है, न असत् और न सदसत्-रूप ही है। वह न तो अवयवयुक्त है और न अवयवसे रहित; न भिन्न है न अभिन्न; भिन्नाभिन्नरूप भी नहीं है। वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। इस बन्धनभूत संसारकी सृष्टि करनेवाला भी वही है। ब्रह्म एक है और केवल ज्ञानसे प्राप्त होता है; कर्मोंद्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती ॥ ८—१७ ॥

जब बाह्यज्ञानके साधनभूत इन्द्रियोंका सर्वथा लय हो जाता है, केवल बुद्धिकी ही स्थिति रहती है, उस अवस्थाको 'सुषुप्ति' कहते हैं। 'बुद्धि' और 'सुषुप्ति' दोनोंके अभिमानी आत्माका नाम 'प्राज्ञ' है। ये तीनों 'मकार' एवं प्रणवरूप माने गये हैं। यह प्राज्ञ ही अकार, उकार और मकारस्वरूप है। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थभूत चित्स्वरूप आत्मा इन जाग्रत् और स्वप्न आदि अवस्थाओंका साक्षी है। उसमें अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारादिक बन्धन नहीं हैं। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द एवं अद्वैतस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। सर्वथा मुक्त प्रणव (ॐ) वाच्य परमेश्वर हूँ। मैं ही ज्ञान एवं समाधिरूप ब्रह्म हूँ। बन्धनका नाश करनेवाला भी मैं ही हूँ। चिरन्तन, आनन्दमय, सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि नामोंसे लक्षित परब्रह्म मैं ही हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है, वह ब्रह्म तुम हो'—इस प्रकार गुरुद्वारा बोध कराये जानेपर जीव यह अनुभव करता है कि मैं इस देहसे विलक्षण परब्रह्म हूँ। वह जो सूर्यमण्डलमें प्रकाशमय पुरुष है, वह मैं ही हूँ। मैं ही ॐकार तथा अखण्ड परमेश्वर हूँ। इस प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष इस असार संसारसे मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ १८—२४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ब्रह्मज्ञाननिरूपण' नामक तीन सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७७ ॥

तीन सौ अठहत्तरवाँ अध्याय

निदिध्यासनरूप ज्ञान

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन् ! मैं पृथ्वी, जल और अग्निसे रहित स्वप्रकाशमय परब्रह्म हूँ। मैं वायु और आकाशसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कारण और कार्यसे भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं विराट्स्वरूप (स्थूल ब्रह्माण्ड) से पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जाग्रत्-अवस्थासे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं 'विश्व' रूपसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं आकार अक्षरसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं वाक्, पाणि और चरणसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग या योनि) से रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कान, त्वचा और नेत्रसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं रस और रूपसे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सब प्रकारकी गन्धोंसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जिह्वा और नासिकासे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं स्पर्श और शब्दसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मन और बुद्धिसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं चित्त और अहंकारसे वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं प्राण और अपानसे पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं व्यान और उदानसे विलग ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं समान नामक वायुसे भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जरा और मृत्युसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शोक और मोहकी पहुँचसे दूर ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं क्षुधा और पिपासासे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शब्दोत्पत्ति आदिसे वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं हिरण्यगर्भसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं स्वप्नावस्थासे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं तैजस आदिसे पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं अपकार आदिसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं समाज्ञानसे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं अध्याहारसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सत्त्वादि गुणोंसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सदसद्भावसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सब अवयवोंसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं भेदाभेदसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सुषुप्तावस्थासे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं प्राज्ञ-भावसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मकारादिसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मान

और मेयसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ । मैं मिति (माप) और माता (माप करनेवाले) से भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ । मैं साक्षित्व आदिसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ । मैं कार्य-कारणसे भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ । मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहंकाररहित तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदिसे मुक्त तुरीय ब्रह्म हूँ । मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द और अद्वैतरूप ब्रह्म हूँ । मैं विज्ञानयुक्त ब्रह्म हूँ । मैं सर्वथा मुक्त और प्रणवरूप हूँ । मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ और मोक्ष देनेवाला समाधिरूप परमात्मा भी मैं ही हूँ ॥ १—२३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ब्रह्मज्ञाननिरूपण' नामक तीन सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७८ ॥

तीन सौ उन्यासीवाँ अध्याय

भगवत्स्वरूपका वर्णन तथा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका उपाय

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी ! धर्मात्मा पुरुष यज्ञके द्वारा देवताओंको, तपस्याद्वारा विराट्के पदको, कर्मके संन्यासद्वारा ब्रह्मपदको, वैराग्यसे प्रकृतिमें लयको और ज्ञानसे कैवल्यपद (मोक्ष) को प्राप्त होता है—इस प्रकार ये पाँच गतियाँ मानी गयी हैं । प्रसन्नता, संताप और विषाद आदिसे निवृत्त होना 'वैराग्य' है । जो कर्म किये जा चुके हैं तथा जो अभी नहीं किये गये हैं, उन सब [की आसक्ति, फलेच्छा और संकल्प] का परित्याग 'संन्यास' कहलाता है । ऐसा हो जानेपर अव्यक्तसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी पदार्थोंके प्रति अपने मनमें कोई विकार नहीं रह जाता । जड और चेतनकी भिन्नताका ज्ञान (विवेक) होनेसे ही 'परमार्थज्ञान'की प्राप्ति बतलायी जाती है । परमात्मा सबके आधार हैं; वे ही परमेश्वर हैं । वेदों और वेदान्तों (उपनिषदों) में 'विष्णु' नामसे उनका यशोगान किया जाता है । वे यज्ञोंके स्वामी हैं । प्रवृत्तिमार्गसे चलनेवाले लोग यज्ञपुरुषके रूपमें उनका यजन करते हैं तथा निवृत्तिमार्गके पथिक ज्ञानयोगके द्वारा उन ज्ञानस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करते हैं । ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि वचन उन पुरुषोत्तमके ही स्वरूप हैं ॥ १—६ ॥

महामुने ! उनकी प्राप्तिके दो हेतु बताये गये हैं—'ज्ञान' और 'कर्म' । 'ज्ञान' दो प्रकारका है—'आगमजन्य' और 'विवेकजन्य' । शब्दब्रह्म (वेदादि शास्त्र और प्रणव) का बोध 'आगमजन्य' है तथा परब्रह्मका ज्ञान 'विवेकजन्य' ज्ञान है । 'ब्रह्म' दो प्रकारसे जाननेयोग्य है—'शब्दब्रह्म' और 'परब्रह्म' । वेदादि विद्याको 'शब्दब्रह्म' या 'अपरब्रह्म' कहते हैं और सत्स्वरूप अक्षरतत्त्व 'परब्रह्म' कहलाता है । यह परब्रह्म ही 'भगवत्' शब्दका मुख्य वाच्यार्थ है । पूजा (सम्मान) आदि अन्य अर्थोंमें जो उसका प्रयोग होता है, वह औपचारिक (गौण) है । महामुने ! 'भगवत्' शब्दमें जो 'भकार' है, उसके दो अर्थ हैं—पोषण करनेवाला और सबका आधार तथा 'गकार'का अर्थ है—नेता (कर्म-फलकी प्राप्ति करानेवाला), गमयिता (प्रेरक) और स्रष्टा (सृष्टि करनेवाला) । सम्पूर्ण ऐश्वर्य, पराक्रम (अथवा धर्म), यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छःका नाम 'भग' है । विष्णुमें सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं । वे भगवान् सबके धारक तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन रूपोंमें विराजमान हैं । अतः श्रीहरिमें ही 'भगवान्' पद मुख्यवृत्तिसे विद्यमान है, अन्य किसीके लिये तो उसका उपचार (गौण-वृत्ति) से ही प्रयोग होता है । जो सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पत्ति-विनाश, आवागमन तथा विद्या-अविद्याको जानता है, वही 'भगवान्' कहलानेयोग्य है । त्याग करनेयोग्य दुर्गुण आदिको छोड़कर सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, परम ऐश्वर्य, वीर्य तथा समग्र तेज—ये 'भगवत्' शब्दके वाच्यार्थ हैं ॥ ७—१४ ॥

पूर्वकालमें राजा केशिध्वजने खाण्डिक्य जनकसे इस प्रकार उपदेश दिया था—"अनात्मामें जो आत्मबुद्धि होती है, अपने स्वरूपकी भावना होती है, वही अविद्याजनित संसारबन्धनका कारण है । इस अज्ञानकी 'अहंता' और 'ममता'—दो रूपोंमें स्थिति है । देहाभिमानी जीव मोहान्धकारसे आच्छादित हो, कुत्सित बुद्धिके कारण इस पाञ्चभौतिक शरीरमें यह दृढ़ भावना कर लेता है कि 'मैं ही यह देह हूँ ।' इसी प्रकार इस शरीरसे उत्पन्न किये हुए पुत्र-पौत्र आदिमें 'ये मेरे हैं'—ऐसी निश्चित धारणा बना लेता है । विद्वान् पुरुष अनात्मभूत शरीरमें समभाव रखता है—उसके प्रति वह राग-द्वेषके वशीभूत नहीं होता । मनुष्य अपने शरीरकी भलाईके लिये ही सारे कार्य करता है; किंतु जब पुरुषसे

शरीर भिन्न है, तो वह सारा कर्म केवल बन्धनका ही कारण होता है। वास्तवमें तो आत्मा निर्वाणमय (शान्त), ज्ञानमय तथा निर्मल है। दुःखानुभवरूप जो धर्म है, वह प्रकृतिका है, आत्माका नहीं; जैसे जल स्वयं तो अग्निसे असङ्ग है, किंतु आगपर रक्खी हुई बटलोईके संसर्गसे उसमें तापजनित खलखलाहट आदिके शब्द होते हैं। महामुने! इसी प्रकार आत्मा भी प्रकृतिके सङ्गसे अहंता-ममता आदि दोष स्वीकार करके प्राकृत धर्मोंको ग्रहण करता है; वास्तवमें तो वह उनसे सर्वथा भिन्न और अविनाशी है। विषयोंमें आसक्त हुआ मन बन्धनका कारण होता है और वही जब विषयोंसे निवृत्त हो जाता है तो ज्ञान-प्राप्तिमें सहायक होता है। अतः मनको विषयोंसे हटाकर ब्रह्मस्वरूप श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये। मुने! जैसे चुम्बक पत्थर लोहेको अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार जो ब्रह्मका ध्यान करता है, उसे वह ब्रह्म अपनी ही शक्तिसे अपने स्वरूपमें मिला लेता है। अपने प्रयत्नकी अपेक्षासे जो मनकी विशिष्ट गति होती है, उसका ब्रह्मसे संयोग होना ही 'योग' कहलाता है। जो पुरुष स्थिरभावसे समाधिमें स्थित होता है, वह परब्रह्मको प्राप्त होता है॥ १५—२५॥

"अतः यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणजय, प्राणायाम, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाने तथा उन्हें अपने वशमें करने आदि उपायोंके द्वारा चित्तको किसी शुभ आश्रयमें स्थापित करे। 'ब्रह्म' ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह 'मूर्त' और 'अमूर्त'रूपसे दो प्रकारका है। सनक-सनन्दन आदि मुनि ब्रह्मभावनासे युक्त हैं तथा देवताओंसे लेकर स्थावर-जङ्गम-पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी कर्म-भावनासे युक्त हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदिमें ब्रह्मभावना और कर्मभावना दोनों ही हैं। इस तरह यह तीन प्रकारकी भावना बतायी गयी है। 'सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है'—इस भावसे ब्रह्मकी उपासना की जाती है। जहाँ सब भेद शान्त हो जाते हैं, जो सत्तामात्र और वाणीका अगोचर है तथा जिसे स्वसंवेद्य (स्वयं ही अनुभव करनेयोग्य) माना गया है, वही 'ब्रह्मज्ञान' है। वही रूपहीन विष्णुका उत्कृष्ट स्वरूप है, जो अजन्मा और अविनाशी है। अमूर्तरूपका ध्यान पहले कठिन होता है, अतः मूर्त आदिका ही चिन्तन करे। ऐसा करनेवाला मनुष्य भगवद्भावको प्राप्त हो परमात्माके साथ एकीभूत—अभिन्न हो जाता है। भेदकी प्रतीति तो अज्ञानसे ही होती है"॥ २६—३२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ब्रह्मज्ञाननिरूपण' नामक तीन सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७९॥

तीन सौ अस्सीवाँ अध्याय

जडभरत और सौवीर-नरेशका संवाद—अद्वैत ब्रह्मविज्ञानका वर्णन

अब मैं उस 'अद्वैत ब्रह्मविज्ञान'का वर्णन करूँगा, जिसे भरतने (सौवीरराजको) बतलाया था। प्राचीनकालकी बात है, राजा भरत शालग्रामक्षेत्रमें रहकर भगवान् वासुदेवकी पूजा आदि करते हुए तपस्या कर रहे थे। उनकी एक मृगके प्रति आसक्ति हो गयी थी, इसलिये अन्तकालमें उसीका स्मरण करते हुए प्राण त्यागनेके कारण उन्हें मृग होना पड़ा। मृगयोनिमें भी वे 'जातिस्मर' हुए—उन्हें पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण रहा। अतः उस मृगशरीरका परित्याग करके वे स्वयं ही योगबलसे एक ब्राह्मणके रूपमें प्रकट हुए। उन्हें अद्वैत ब्रह्मका पूर्ण बोध था। वे साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, तो भी लोकमें जडवत् (ज्ञानशून्य मूककी भाँति) व्यवहार करते थे। उन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर सौवीर-नरेशके सेवकने बेगारमें लगानेके योग्य समझा [और राजाकी पालकी ढोनेमें नियुक्त कर दिया]। सेवकके कहनेसे वे सौवीरराजकी पालकी ढोने लगे। यद्यपि वे ज्ञानी थे, तथापि बेगारमें पकड़ जानेपर अपने प्रारब्धभोगका क्षय करनेके लिये राजाका भार वहन करने लगे; परंतु उनकी गति मन्द थी। वे पालकीमें पीछेकी ओर लगे थे तथा उनके सिवा दूसरे जितने कहार थे, वे सब-के-सब तेज चल रहे थे। राजाने देखा, 'अन्य कहार शीघ्रगामी हैं तथा तीव्रगतिसे चल रहे हैं। यह जो नया आया है, इसकी गति बहुत मन्द है।' तब वे बोले॥ १—५॥

राजाने कहा—अरे! क्या तू थक गया? अभी तो तूने थोड़ी ही दूरतक मेरी पालकी ढोयी है। क्या परिश्रम नहीं सहा जाता? क्या तू मोटा-ताजा नहीं है? देखनेमें तो खूब मुस्टंड जान पड़ता है॥ ६॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! न मैं मोटा हूँ, न मैंने तुम्हारी पालकी ढोयी है, न मुझे थकावट आयी है, न परिश्रम करना पड़ा है और न मुझपर तुम्हारा कुछ भार

ही है। पृथ्वीपर दोनों पैर हैं, पैरोंपर जङ्घाएँ हैं, जङ्घाओंके ऊपर ऊरु और ऊरुओंके ऊपर उदर (पेट) है। उदरके ऊपर वक्षःस्थल, भुजाएँ और कंधे हैं तथा कंधोंके ऊपर यह पालकी रक्खी गयी है। फिर मेरे ऊपर यहाँ कौन-सा भार है? इस पालकीपर तुम्हारा कहा जानेवाला यह शरीर रक्खा हुआ है। वास्तवमें तुम वहाँ (पालकीमें) हो और मैं यहाँ (पृथ्वी) पर हूँ—ऐसा जो कहा जाता है, वह सब मिथ्या है। सौवीरनरेश! मैं, तुम तथा अन्य जितने भी जीव हैं, सबका भार पञ्चभूतोंके द्वारा ही ढोया जा रहा है। ये पञ्चभूत भी गुणोंके प्रवाहमें पड़कर चल रहे हैं। पृथ्वीनाथ! सत्त्व आदि गुण कर्मोंके अधीन हैं तथा कर्म अविद्याके द्वारा संचित हैं, जो सम्पूर्ण जीवोंमें वर्तमान हैं। आत्मा तो शुद्ध, अक्षर (अविनाशी), शान्त, निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही आत्मा है। उसकी न तो कभी वृद्धि होती है और न ह्रास ही होता है। राजन्! जब उसकी वृद्धि नहीं होती और ह्रास भी नहीं होता तो तुमने किस युक्तिसे व्यङ्ग्यपूर्वक यह प्रश्न किया है कि 'क्या तू मोटा-ताजा नहीं है?' यदि पृथ्वी, पैर, जङ्घा, ऊरु, कटि और उदर आदि आधारों एवं कंधोंपर रक्खी हुई यह पालकी मेरे लिये भारस्वरूप हो सकती है तो यह आपत्ति तुम्हारे लिये भी समान ही है, अर्थात् तुम्हारे लिये भी यह भाररूप कही जा सकती है तथा इस युक्तिसे अन्य सभी जन्तुओंने भी केवल पालकी ही नहीं उठा रक्खी है, पर्वत, पेड़, घर और पृथ्वी आदिका भार भी अपने ऊपर ले रक्खा है। नरेश! सोचो तो सही, जब प्रकृतिजन्य साधनोंसे पुरुष सर्वथा भिन्न है तो कौन-सा महान् भार मुझे सहन करना पड़ता है? जिस द्रव्यसे यह पालकी बनी है, उसीसे मेरे, तुम्हारे तथा इन सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंका निर्माण हुआ है; इन सबकी समान द्रव्योंसे पुष्टि हुई है॥ ७—१८॥

—यह सुनकर राजा पालकीसे उतर पड़े और ब्राह्मणके चरण पकड़कर क्षमा माँगते हुए बोले—'भगवन्! अब पालकी छोड़कर मुझपर कृपा कीजिये। मैं आपके मुखसे कुछ सुनना चाहता हूँ; मुझे उपदेश दीजिये। साथ ही यह भी बताइये कि आप कौन हैं? और किस निमित्त अथवा किस कारणसे यहाँ आपका आगमन हुआ है?'॥ १९॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! सुनो—'मैं अमुक हूँ'—यह बात नहीं कही जा सकती। [तथा तुमने जो आनेका कारण पूछा है, उसके सम्बन्धमें मुझे इतना ही कहना है कि] कहीं भी आने-जानेकी क्रिया कर्मफलका उपयोग करनेके लिये ही होती है। सुख-दुःखके उपभोग ही भिन्न-भिन्न देश [अथवा शरीर] आदिकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा धर्माधर्मजनित सुख-दुःखोंको भोगनेके लिये ही जीव नाना प्रकारके देश (अथवा शरीर) आदिको प्राप्त होता है॥ २०-२१॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! 'जो है' [अर्थात् जो आत्मा सत्स्वरूपसे विराजमान है तथा कर्ता-भोक्तारूपमें प्रतीत हो रहा है] उसे 'मैं हूँ'—यों कहकर क्यों नहीं बताया जा सकता? द्विजवर! आत्माके लिये 'अहम्' शब्दका प्रयोग तो दोषावह नहीं जान पड़ता॥ २२॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! आत्माके लिये 'अहम्' शब्दका प्रयोग दोषावह नहीं है, तुम्हारा यह कथन बिल्कुल ठीक है; परंतु अनात्मामें आत्मत्वका बोध करानेवाला 'अहम्' शब्द तो दोषावह है ही। अथवा जहाँ कोई भी शब्द भ्रमपूर्ण अर्थको लक्षित कराता हो, वहाँ उसका प्रयोग दोषयुक्त ही है। जब सम्पूर्ण शरीरमें एक ही आत्माकी स्थिति है, तो 'कौन तुम और कौन मैं हूँ' ये सब बातें व्यर्थ हैं। राजन्! 'तुम राजा हो, यह पालकी है, हमलोग इसे ढोनेवाले कहार हैं, ये आगे चलनेवाले सिपाही हैं तथा यह लोक तुम्हारे अधिकारमें है'—यह जो कहा जाता है, वह सत्य नहीं है। वृक्षसे लकड़ी होती है और लकड़ीसे यह पालकी बनी है, जिसके ऊपर तुम बैठे हुए हो। सौवीरनरेश! बोलो तो, इसका 'वृक्ष' और 'लकड़ी' नाम क्या हो गया? कोई भी चेतन मनुष्य यह नहीं कहता कि 'महाराज वृक्ष अथवा लकड़ीपर चढ़े हुए हैं।' सब तुम्हें पालकीपर ही सवार बतलाते हैं। [किंतु पालकी क्या है?] नृपश्रेष्ठ! रचनाकलाके द्वारा एक विशेष आकारमें परिणत हुई लकड़ियोंका समूह ही तो पालकी है। यदि तुम इसे कोई भिन्न वस्तु मानते हो तो इसमेंसे लकड़ियोंको अलग करके 'पालकी' नामकी कोई चीज ढूँढ़ो तो सही। 'यह पुरुष, यह स्त्री, यह गौ, यह घोड़ा, यह हाथी, यह पक्षी और यह वृक्ष है'—इस प्रकार कर्मजनित भिन्न-भिन्न शरीरोंमें लोगोंने नाना प्रकारके नामोंका आरोप कर लिया है। इन संज्ञाओंको लोककल्पित ही समझना चाहिये। जिह्वा 'अहम्' (मैं) का उच्चारण करती है, दाँत, होठ, तालु और कण्ठ आदि भी उसका उच्चारण करते हैं,

किंतु ये 'अहम्' (मैं) पदके वाच्यार्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब-के-सब शब्दोच्चारणके साधनमात्र हैं। किन कारणों या उक्तियोंसे जिह्वा कहती है कि "वाणी ही 'अहम्' (मैं) हूँ।" यद्यपि जिह्वा यह कहती है, तथापि 'यदि मैं वाणी नहीं हूँ' ऐसा कहा जाय तो यह कदापि मिथ्या नहीं है। राजन्! मस्तक और गुदा आदिके रूपमें जो शरीर है, वह पुरुष (आत्मा) से सर्वथा भिन्न है, ऐसी दशामें मैं किस अवयवके लिये 'अहम्' संज्ञाका प्रयोग करूँ? भूपालशिरोमणे! यदि मुझ (आत्मा) से भिन्न कोई भी अपनी पृथक् सत्ता रखता हो तो 'यह मैं हूँ', 'यह दूसरा है'— ऐसी बात भी कही जा सकती है। वास्तवमें पर्वत, पशु तथा वृक्ष आदिका भेद सत्य नहीं है। शरीरदृष्टिसे ये जितने भी भेद प्रतीत हो रहे हैं, सब-के-सब कर्मजन्य हैं। संसारमें जिसे 'राजा' या 'राजसेवक' कहते हैं, वह तथा और भी इस तरहकी जितनी संज्ञाएँ हैं, वे कोई भी निर्विकार सत्य नहीं हैं। भूपाल! तुम सम्पूर्ण लोकके राजा हो, अपने पिताके पुत्र हो, शत्रुके लिये शत्रु हो, धर्मपत्नीके पति हो और पुत्रके पिता हो—इतने नामोंके होते हुए मैं तुम्हें क्या कहकर पुकारूँ? पृथ्वीनाथ! क्या यह मस्तक तुम हो? किंतु जैसे मस्तक तुम्हारा है, वैसे ही उदर भी तो है? [फिर उदर क्यों नहीं हो?] तो क्या इन पैर आदि अङ्गोंमेंसे तुम कोई हो? नहीं, तो ये सब तुम्हारे क्या हैं? महाराज! इन समस्त अवयवोंसे तुम पृथक् हो, अतः इनसे अलग होकर ही अच्छी तरह विचार करो कि 'वास्तवमें मैं कौन हूँ'॥ २३—३७½॥

यह सुनकर राजाने उन भगवत्स्वरूप अवधूत ब्राह्मणसे कहा॥ ३८॥

राजा बोले—ब्रह्मन्! मैं आत्मकल्याणके लिये उद्यत होकर महर्षि कपिलके पास कुछ पूछनेके लिये जा रहा था। आप भी मेरे लिये इस पृथ्वीपर महर्षि कपिलके ही अंश हैं, अतः आप ही मुझे ज्ञान दें। जिससे ज्ञानरूपी महासागरकी प्राप्ति होकर परम कल्याणकी सिद्धि हो, वह उपाय मुझे बताइये॥ ३९-४०॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! तुम फिर कल्याणका ही उपाय पूछने लगे। 'परमार्थ क्या है?' यह नहीं पूछते। 'परमार्थ' ही सब प्रकारके कल्याणोंका स्वरूप है। मनुष्य देवताओंकी आराधना करके धन-सम्पत्तिकी इच्छा करता है, पुत्र और राज्य पाना चाहता है; किंतु सौवीरनरेश! तुम्हीं बताओ, क्या यही उसका श्रेय है? (इसीसे उसका कल्याण होगा?) विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें तो परमात्माकी प्राप्ति ही श्रेय है; यज्ञादिकी क्रिया तथा द्रव्यकी सिद्धिको वह श्रेय नहीं मानता। परमात्मा और आत्माका संयोग—उनके एकत्वका बोध ही 'परमार्थ' माना गया है। परमात्मा एक अर्थात् अद्वितीय है। वह सर्वत्र समानरूपसे व्यापक, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, जन्म-वृद्धि आदिसे रहित, सर्वगत, अविनाशी, उत्कृष्ट, ज्ञानस्वरूप, गुण-जाति आदिके संसर्गसे रहित एवं विभु है। अब मैं तुम्हें निदाघ और ऋतु (ऋभु)का संवाद सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो—ऋतु ब्रह्माजीके पुत्र और ज्ञानी थे। पुलस्त्यनन्दन निदाघने उनकी शिष्यता ग्रहण की। ऋतुसे विद्या पढ़ लेनेके पश्चात् निदाघ देविका नदीके तटपर एक नगरमें जाकर रहने लगे। ऋतुने अपने शिष्यके निवासस्थानका पता लगा लिया था। हजार दिव्य वर्ष बीतनेके पश्चात् एक दिन ऋतु निदाघको देखनेके लिये गये। उस समय निदाघ बलिवैश्वदेवके अनन्तर अन्न-भोजन करके अपने शिष्यसे कह रहे थे—'भोजनके बाद मुझे तृप्ति हुई है; क्योंकि भोजन ही अक्षय-तृप्ति प्रदान करनेवाला है।' [यह कहकर वे तत्काल आये हुए अतिथिसे भी तृप्तिके विषयमें पूछने लगे]॥ ४१-४८॥

तब ऋतुने कहा—ब्राह्मण! जिसको भूख लगी होती है, उसीको भोजनके पश्चात् तृप्ति होती है। मुझे तो कभी भूख ही नहीं लगी, फिर मेरी तृप्तिके विषयमें क्यों पूछते हो? भूख और प्यास देहके धर्म हैं। मुझ आत्माका ये कभी स्पर्श नहीं करते। तुमने पूछा है, इसलिये कहता हूँ। मुझे सदा ही तृप्ति बनी रहती है। पुरुष (आत्मा) आकाशकी भाँति सर्वत्र व्याप्त है और मैं वह प्रत्यगात्मा ही हूँ; अतः तुमने जो मुझसे यह पूछा कि 'आप कहाँसे आते हैं?' यह प्रश्न कैसे सार्थक हो सकता है? मैं न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ और न किसी एक स्थानमें रहता हूँ। न तुम मुझसे भिन्न हो, न मैं तुमसे अलग हूँ। जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे लीपनेपर सुदृढ़ होता है, उसी प्रकार यह पार्थिव देह ही पार्थिव अन्नके परमाणुओंसे पुष्ट होता है। ब्रह्मन्! मैं तुम्हारा आचार्य ऋतु हूँ और तुम्हें ज्ञान देनेके लिये यहाँ आया हूँ; अब जाऊँगा। तुम्हें परमार्थतत्त्वका उपदेश कर दिया। इस प्रकार तुम इस सम्पूर्ण जगत्को एकमात्र वासुदेवसंज्ञक परमात्माका ही स्वरूप समझो; इसमें भेदका सर्वथा अभाव है॥ ४९—५५॥

तत्पश्चात् एक हजार वर्ष व्यतीत होनेपर ऋतु पुनः

उस नगरमें गये । वहाँ जाकर उन्होंने देखा—'निदाघ नगरके पास एकान्त-स्थानमें खड़े हैं ।' तब वे उनसे बोले—'भैया ! इस एकान्त स्थानमें क्यों खड़े हो ?' ॥ ५६ ॥

निदाघने कहा—ब्रह्मन् ! मार्गमें मनुष्योंकी बहुत बड़ी भीड़ खड़ी है; क्योंकि ये नरेश इस समय इस रमणीय नगरमें प्रवेश करना चाहते हैं, इसीलिये मैं यहाँ ठहर गया हूँ ॥ ५७ ॥

ऋतुने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! तुम यहाँकी सब बातें जानते हो; बताओ । इनमें कौन नरेश हैं और कौन दूसरे लोग हैं ? ॥ ५८ ॥

निदाघने कहा—ब्रह्मन् ! जो इस पर्वतशिखरके समान खड़े हुए मतवाले गजराजपर चढ़े हैं, वही ये नरेश हैं तथा जो उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हैं, वे ही दूसरे लोग हैं । यह नीचेवाला जीव हाथी है और ऊपर बैठे हुए सज्जन महाराज हैं ॥ ५९½ ॥

ऋतुने कहा—'मुझे समझाकर बताओ, इनमें कौन राजा है और कौन हाथी ?' निदाघ बोले—'अच्छा, बतलाता हूँ ।' यह कहकर निदाघ ऋतुके ऊपर चढ़ गये और बोले—'अब दृष्टान्त देखकर तुम वाहनको समझ लो । मैं तुम्हारे ऊपर राजाके समान बैठा हूँ और तुम मेरे नीचे हाथीके समान खड़े हो ।' तब ऋतुने निदाघसे कहा—'मैं कौन हूँ और तुम्हें क्या कहूँ ?' इतना सुनते ही निदाघ उतरकर उनके चरणोंमें पड़ गये और बोले—'निश्चय ही आप मेरे गुरुजी महाराज हैं; क्योंकि दूसरे किसीका हृदय ऐसा नहीं है, जो निरन्तर अद्वैत-संस्कारसे सुसंस्कृत रहता हो ।' ऋतुने निदाघसे कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मका बोध करानेके लिये आया था और परमार्थ-सारभूत अद्वैततत्त्वका दर्शन तुम्हें करा दिया' ॥ ६०—६४ ॥

ब्राह्मण (जडभरत) कहते हैं—राजन् ! निदाघ उस उपदेशके प्रभावसे अद्वैतपरायण हो गये । अब वे सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनेसे अभिन्न देखने लगे । उन्होंने ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त किया था, उसी प्रकार तुम भी प्राप्त करोगे । तुम, मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत्—सब एकमात्र व्यापक विष्णुका ही स्वरूप है । जैसे एक ही आकाश नीले-पीले आदि भेदोंसे अनेक-सा दिखायी देता है, उसी प्रकार भ्रान्तदृष्टिवाले पुरुषोंको एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखायी देता है ॥ ६५—६७ ॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी ! इस सारभूत ज्ञानके प्रभावसे सौवीरनरेश भव-बन्धनसे मुक्त हो गये । ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस अज्ञानमय संसारवृक्षका शत्रु है, इसका निरन्तर चिन्तन करते रहिये ॥ ६८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अद्वैत ब्रह्मका निरूपण' नामक तीन सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८० ॥

तीन सौ इक्यासीवाँ अध्याय

गीता-सार

अब मैं गीताका सार बतलाऊँगा, जो समस्त गीताका उत्तम-से-उत्तम अंश है । पूर्वकालमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उसका उपदेश दिया था । वह भोग तथा मोक्ष—दोनोंको देनेवाला है ॥ १ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन ! जिसका प्राण चला गया है अथवा जिसका प्राण अभी नहीं गया है, ऐसे मरे हुए अथवा जीवित किसी भी देहधारीके लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा अजन्मा, अजर, अमर तथा अभेद्य है, इसलिये शोक आदिको छोड़ देना चाहिये । विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति हो जाती है; आसक्तिसे काम, कामसे क्रोध और क्रोधसे अत्यन्त मोह (विवेकका अभाव) होता है । मोहसे स्मरणशक्तिका ह्रास और उससे बुद्धिका नाश हो जाता है । बुद्धिके नाशसे उसका सर्वनाश हो जाता है । सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे बुरे सङ्ग छूट जाते हैं—(आसक्तियाँ दूर हो जाती हैं) । फिर मनुष्य अन्य सब कामनाओंका त्याग करके केवल मोक्षकी कामना रखता है । कामनाओंके त्यागसे मनुष्यकी आत्मा अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिति होती है, उस समय वह 'स्थिरप्रज्ञ' कहलाता है । सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रि है, अर्थात् समस्त जीव जिसकी ओरसे बेखबर होकर सो रहे हैं, उस परमात्माके स्वरूपमें भगवत्प्राप्त संयमी (योगी) पुरुष जागता रहता है तथा जिस क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखमें

सब भूत-प्राणी जागते हैं, अर्थात् जो विषय-भोग उनके सामने दिनके समान प्रकट हैं, वह ज्ञानी मुनिके लिये रात्रिके ही समान है। जो अपने-आपमें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है। इस संसारमें उस आत्माराम पुरुषको न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न न करनेसे ही। महाबाहो! जो गुण-विभाग और कर्म-विभागके तत्त्वको जानता है, वह यह समझकर कि सम्पूर्ण गुण गुणोंमें ही बरत रहे हैं, कहीं आसक्त नहीं होता। अर्जुन! तुम ज्ञानरूपी नौकाका सहारा लेनेसे निश्चय ही सम्पूर्ण पापोंको तर जाओगे। ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको जलाकर भस्म कर डालती है। जो सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता—ठीक उसी तरह जैसे कमलका पत्ता पानीसे लिप्त नहीं होता। जिसका अन्तःकरण योगयुक्त है—परमानन्दमय परमात्मामें स्थित है तथा जो सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला है, वह योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें तथा सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध आचार-विचारवाले श्रीमानों (धनवानों) के घरमें जन्म लेता है। तात! कल्याणमय शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता॥ २—११½ ॥

"मेरी यह त्रिगुणमयी माया अलौकिक है; इसका पार पाना बहुत कठिन है। जो केवल मेरी शरण लेते हैं, वे ही इस मायाको लाँघ पाते हैं। भरतश्रेष्ठ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरा भजन करते हैं। इनमेंसे ज्ञानी तो मुझसे एकीभूत होकर स्थित रहता है। अविनाशी परम-तत्त्व (सच्चिदानन्दमय परमात्मा) 'ब्रह्म' है, स्वभाव अर्थात् जीवात्माको 'अध्यात्म' कहते हैं, भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले विसर्गका (यज्ञ-दान आदिके निमित्त किये जानेवाले द्रव्यादिके त्यागका) नाम 'कर्म' है, विनाशशील पदार्थ 'अधिभूत' है तथा पुरुष (हिरण्यगर्भ) 'अधिदैवत' है। देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस देहके भीतर मैं वासुदेव ही 'अधियज्ञ' हूँ। अन्तकालमें मेरा स्मरण करनेवाला पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए अपने देहका परित्याग करता है, उसीको वह प्राप्त होता है। मृत्युके समय जो प्राणोंको भौंहोंके मध्यमें स्थापित करके 'ओम्'—इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करते हुए देहत्याग करता है, वह मुझ परमेश्वरको ही प्राप्त करता है। ब्रह्माजीसे लेकर तुच्छ कीटतक जो कुछ दिखायी देता है, सब मेरी ही विभूतियाँ हैं। जितने भी श्रीसम्पन्न और शक्तिशाली प्राणी हैं, सब मेरे अंश हैं। 'मैं अकेला ही सम्पूर्ण विश्वके रूपमें स्थित हूँ'—ऐसा जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है॥ १२—१९ ॥

"यह शरीर 'क्षेत्र' है; जो इसे जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'को जो यथार्थरूपसे जानना है, वही मेरे मतमें 'ज्ञान' है। पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (मूलप्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना और धृति—यह विकारोंसहित 'क्षेत्र' है, जिसे यहाँ संक्षेपसे बतलाया गया है। अभिमानशून्यता, दम्भका अभाव, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन, इन्द्रिय एवं शरीरका निग्रह, विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका न होना, जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग आदिमें दुःखरूप दोषका बारंबार विचार करना, पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें आसक्ति और ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही समानचित्त रहना (हर्ष-शोकके वशीभूत न होना), मुझ परमेश्वरमें अनन्य-भावसे अविचल भक्तिका होना, पवित्र एवं एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव, विषयी मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका अभाव, अध्यात्म-ज्ञानमें स्थिति तथा तत्त्व-ज्ञानस्वरूप परमेश्वरका निरन्तर दर्शन—यह सब 'ज्ञान' कहा गया है और जो इसके विपरीत है, वह 'अज्ञान' है॥ २०—२७ ॥

"अब जो 'ज्ञेय' अर्थात् जाननेके योग्य है, उसका वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमृत-स्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। 'ज्ञेय तत्त्व' अनादि है और 'परब्रह्म'के नामसे प्रसिद्ध है। उसे न 'सत्' कहा जा सकता है, न 'असत्'। (वह इन दोनोंसे विलक्षण है।) उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है। सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। सबका धारण-पोषण करनेवाला होकर भी आसक्तिरहित है तथा गुणोंका भोक्ता होकर भी 'निर्गुण' है। वह परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर विद्यमान है। 'चर' और 'अचर' सब उसीके स्वरूप हैं। सूक्ष्म होनेके कारण वह 'अविज्ञेय' है। वही निकट है और वही दूर। यद्यपि वह विभागरहित है (आकाशकी भाँति अखण्डरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण

है), तथापि सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त (पृथक्-पृथक् स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है । उसे विष्णुरूपसे सब प्राणियोंका पोषक, रुद्ररूपसे सबका संहारक और ब्रह्माके रूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला जानना चाहिये । वह सूर्य आदि ज्योतियोंकी भी ज्योति (प्रकाशक) है । उसकी स्थिति अज्ञानमय अन्धकारसे परे बतलायी जाती है । वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य, तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है ॥ २८—३३ ॥

"उस परमात्माको कितने ही मनुष्य सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा अपने अन्तःकरणमें देखते हैं । दूसरे लोग सांख्ययोगके द्वारा तथा कुछ अन्य मनुष्य कर्मयोगके द्वारा देखते हैं । इनके अतिरिक्त जो मन्द बुद्धिवाले साधारण मनुष्य हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए भी दूसरे ज्ञानी पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं । वे सुनकर उपासनामें लगनेवाले पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरसे निश्चय ही पार हो जाते हैं । सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है, अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, जो मान-अपमानमें तथा मित्र और शत्रुपक्षमें भी समानभाव रखता है, जिसने कर्तृत्वके अभिमानको त्याग दिया है, वह 'निर्गुण' (गुणातीत) कहलाता है । जिसकी जड़ ऊपरकी ओर [अर्थात् परमात्मा है] और 'शाखा' नीचेकी ओर [यानी ब्रह्माजी आदि] हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षको अनादि प्रवाहरूपसे 'अविनाशी' कहते हैं । वेद उसके पत्ते हैं । जो उस वृक्षको मूलसहित यथार्थरूपसे जानता है, वही वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है । इस संसारमें प्राणियोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है—एक 'दैवी'—देवताओंके-से स्वभाववाली और दूसरी 'आसुरी'—असुरोंके-से स्वभाववाली । अतः मनुष्योंके अहिंसा आदि सद्गुण और क्षमा 'दैवी सम्पत्ति' है । 'आसुरी सम्पत्ति'से जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसमें न शौच होता है, न सदाचार । क्रोध, लोभ और काम—ये नरक देनेवाले हैं, अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये । सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे यज्ञ, तप और दान तीन प्रकारके माने गये हैं [सात्त्विक, राजस और तामस] । 'सात्त्विक' अन्न आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और सुखकी वृद्धि करनेवाला है । तीखा और रूखा अन्न 'राजस' है । वह दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाला है । अपवित्र, जूठा, दुर्गन्धयुक्त और नीरस आदि अन्न 'तामस' माना गया है । 'यज्ञ करना कर्तव्य है'—यह समझकर निष्कामभावसे विधिपूर्वक किया जानेवाला यज्ञ 'सात्त्विक' है । फलकी इच्छासे किया हुआ यज्ञ 'राजस' और दम्भके लिये किया जानेवाला यज्ञ 'तामस' है । श्रद्धा और मन्त्र आदिसे युक्त एवं विधि-प्रतिपादित जो देवता आदिकी पूजा तथा अहिंसा आदि तप हैं, उन्हें 'शारीरिक तप' कहते हैं । अब वाणीसे किये जानेवाले तपको बताया जाता है । जिससे किसीको उद्वेग न हो—ऐसा सत्य वचन, स्वाध्याय और जप—यह 'वाङ्मय तप' है । चित्तशुद्धि, मौन और मनोनिग्रह—ये 'मानस तप' हैं । कामनारहित तप 'सात्त्विक' फल आदिके लिये किया जानेवाला तप 'राजस' तथा दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये किया हुआ तप 'तामस' कहलाता है । उत्तम देश, काल और पात्रमें दिया हुआ दान 'सात्त्विक' है, प्रत्युपकारके लिये दिया जानेवाला दान 'राजस' है तथा अयोग्य देश, काल आदिमें अनादरपूर्वक दिया हुआ दान 'तामस' कहा गया है । 'ॐ', 'तत्,' और 'सत्'—ये परब्रह्म परमात्माके तीन प्रकारके नाम बताये गये हैं । यज्ञ-दान आदि कर्म मनुष्योंको भोग एवं मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं । जिन्होंने कामनाओंका त्याग नहीं किया है, उन सकामी पुरुषोंके कर्मका बुरा, भला और मिला हुआ—तीन प्रकारका फल होता है । यह फल मृत्युके पश्चात् प्राप्त होता है । संन्यासी (त्यागी पुरुषों) के कर्मोंका कभी कोई फल नहीं होता । मोहवश जो कर्मोंका त्याग किया जाता है, वह 'तामस' है, शरीरको कष्ट पहुँचनेके भयसे किया हुआ त्याग 'राजस' है तथा कामनाके त्यागसे सम्पन्न होनेवाला त्याग 'सात्त्विक' कहलाता है । अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न करण, नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा दैव—ये पाँच ही कर्मके कारण हैं । सब भूतोंमें एक परमात्माका ज्ञान 'सात्त्विक', भेद-ज्ञान 'राजस' और अतात्त्विक ज्ञान 'तामस' है । निष्काम भावसे किया हुआ कर्म 'सात्त्विक', कामनाके लिये किया जानेवाला 'राजस' तथा मोहवश किया हुआ कर्म 'तामस' है । कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें सम (निर्विकार) रहनेवाला कर्ता 'सात्त्विक', हर्ष और शोक करनेवाला 'राजस' तथा शठ और आलसी कर्ता 'तामस' कहलाता है । कार्य-अकार्यके तत्त्वको समझनेवाली बुद्धि 'सात्त्विकी', उसे ठीक-ठीक न जाननेवाली बुद्धि 'राजसी' तथा विपरीत धारणा रखनेवाली बुद्धि 'तामसी' मानी गयी है । मनको धारण करनेवाली धृति 'सात्त्विकी', प्रीतिकी कामनावाली धृति 'राजसी' तथा शोक आदिको धारण करनेवाली धृति

'तामसी' है। जिसका परिणाम सुखद हो, वह सत्त्वसे उत्पन्न होनेवाला 'सात्त्विक सुख' है। जो आरम्भमें सुखद प्रतीत होनेपर भी परिणाममें दुःखद हो वह 'राजस सुख' है तथा जो आदि और अन्तमें भी दुःख-ही-दुःख है, वह आपाततः प्रतीत होनेवाला सुख 'तामस' कहा गया है। जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस विष्णुको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। जो सब अवस्थाओंमें और सर्वदा मन, वाणी एवं कर्मके द्वारा ब्रह्मासे लेकर तुच्छ कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्को भगवान् विष्णुका स्वरूप समझता है, वह भगवान्में भक्ति रखनेवाला भागवत पुरुष सिद्धिको प्राप्त होता है'' ॥ ३४—५८ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गीता-सार-निरूपण' नामक तीन सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८१ ॥

तीन सौ बयासीवाँ अध्याय

यमगीता

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! अब मैं 'यमगीता'का वर्णन करूँगा, जो यमराजके द्वारा नचिकेताके प्रति कही गयी थी। यह पढ़ने और सुननेवालोंको भोग प्रदान करती है तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले सत्पुरुषोंको मोक्ष देनेवाली है ॥ १ ॥

यमराजने कहा—अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अत्यन्त मोहके कारण स्वयं अस्थिरचित्त होकर आसन, शय्या, वाहन, परिधान (पहननेके वस्त्र आदि) तथा गृह आदि भोगोंको सुस्थिर मानकर प्राप्त करना चाहता है। कपिलजीने कहा है—'भोगोंमें आसक्तिका अभाव तथा सदा ही आत्मतत्त्वका चिन्तन—यह मनुष्योंके परमकल्याणका उपाय है।' 'सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टि तथा ममता और आसक्तिका न होना—यह मनुष्योंके परमकल्याणका साधन है'—यह आचार्य पञ्चशिखका उद्गार है। गर्भसे लेकर जन्म और बाल्य आदि वय तथा अवस्थाओंके स्वरूपको ठीक-ठीक समझना ही मनुष्योंके परमकल्याणका हेतु है'—यह गङ्गा-विष्णुका गान है। 'आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख आदि-अन्तवाले हैं, अर्थात् ये उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, अतः इन्हें क्षणिक समझकर धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, विचलित नहीं होना चाहिये—इस प्रकार उन दुःखोंका प्रतिकार ही मनुष्योंके लिये परमकल्याण-का साधन है'—यह महाराज जनकका मत है। 'जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः अभिन्न (एक) हैं; इनमें जो भेदकी प्रतीति होती है, उसका निवारण करना ही परमकल्याणका हेतु है'—यह ब्रह्माजीका सिद्धान्त है। जैगीषव्यका कहना है कि 'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदमें प्रतिपादित जो कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य समझकर अनासक्तभावसे करना श्रेयका साधन है।' 'सब प्रकारकी विवित्सा (कर्मारम्भकी आकाङ्क्षा) का परित्याग आत्माके सुखका साधन है; यही मनुष्योंके लिये परम श्रेय है'—यह देवलका मत बताया गया है। 'कामनाओंके त्यागसे विज्ञान, सुख, ब्रह्म एवं परमपदकी प्राप्ति होती है। कामना रखनेवालोंको ज्ञान नहीं होता'—यह सनकादिकोंका सिद्धान्त है ॥ २—१० ॥

''दूसरे लोग कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों प्रकार-के कर्म करने चाहिये। परंतु वास्तवमें नैष्कर्म्य ही ब्रह्म है; वही भगवान् विष्णुका स्वरूप है—यही श्रेयका भी श्रेय है। जिस पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वह संतोंमें श्रेष्ठ है; वह अविनाशी परब्रह्म विष्णुसे कभी भेदको नहीं प्राप्त होता। ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता, सौभाग्य तथा उत्तम रूप तपस्यासे उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने मनसे जो-जो वस्तु पाना चाहता है, वह सब तपस्यासे प्राप्त हो जाती है। विष्णुके समान कोई ध्येय नहीं है, निराहार रहनेसे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है, आरोग्यके समान कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं है और गङ्गाजीके तुल्य दूसरी कोई नदी नहीं है। जगद्गुरु भगवान् विष्णुको छोड़कर दूसरा कोई बान्धव नहीं है।* 'नीचे-ऊपर, आगे, देह, इन्द्रिय, मन तथा मुख—सबमें और सर्वत्र भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं।' इस प्रकार भगवान्का चिन्तन करते हुए जो प्राणोंका परित्याग करता है, वह

* नास्ति विष्णुसमं ध्येयं तपो नानशनात् परम् ।
नास्त्यारोग्यसमं धन्यं नास्ति गङ्गासमा सरित् ।
न सोऽस्ति बान्धवः कश्चिद् विष्णुं मुक्त्वा जगद्गुरुम् ॥
(३८२ । १४-१५)

साक्षात् श्रीहरिके स्वरूपमें मिल जाता है। वह जो सर्वत्र व्यापक ब्रह्म है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो सर्वस्वरूप है तथा यह सब कुछ जिसका संस्थान (आकार-विशेष) है, जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है, जिसका किसी नाम आदिके द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, जो सुप्रतिष्ठित एवं सबसे परे है, उस परापर ब्रह्मके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु ही सबके हृदयमें विराजमान हैं। वे यज्ञके स्वामी तथा यज्ञस्वरूप हैं; उन्हें कोई तो परब्रह्मरूपसे प्राप्त करना चाहते हैं, कोई विष्णुरूपसे, कोई शिवरूपसे, कोई ब्रह्मा और ईश्वररूपसे, कोई इन्द्रादि नामोंसे तथा कोई सूर्य, चन्द्रमा और कालरूपसे उन्हें पाना चाहते हैं। ब्रह्मासे लेकर कीटतक सारे जगत्‌को विष्णुका ही स्वरूप कहते हैं। वे भगवान् विष्णु परब्रह्म परमात्मा हैं, जिनके पास पहुँच जानेपर (जिन्हें जान लेने या पा लेनेपर) फिर वहाँसे इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता। सुवर्ण-दान आदि बड़े-बड़े दान तथा पुण्य-तीर्थोंमें स्नान करनेसे, ध्यान लगानेसे, व्रत करनेसे, पूजासे और धर्मकी बातें सुनने (एवं उनका पालन करने) से उनकी प्राप्ति होती है॥ ११—२०½॥

"आत्माको 'रथी' समझो और शरीरको 'रथ'। बुद्धिको 'सारथि' जानो और मनको 'लगाम'। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको 'घोड़े' कहते हैं और विषयोंको उनके 'मार्ग' तथा शरीर, इन्द्रिय और मनसहित आत्माको 'भोक्ता' कहते हैं। जो बुद्धिरूप सारथि अविवेकी होता है, जो अपने मनरूपी लगामको कसकर नहीं रखता, वह उत्तम पदको (परमात्माको) नहीं प्राप्त होता; संसाररूपी गर्तमें गिरता है। परंतु जो विवेकी होता है और मनको काबूमें रखता है, वह उस परमपदको प्राप्त होता है, जिससे वह फिर जन्म नहीं लेता। जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न और मनरूपी लगामको काबूमें रखनेवाला होता है, वही संसाररूपी मार्गको पार करता है, जहाँ विष्णुका परमपद है। इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) है, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूलप्रकृति) है और अव्यक्तसे परे पुरुष (परमात्मा) है। पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है, वही सीमा है, वही परमगति है। सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमें नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धिसे ही उसे देख पाते हैं। विद्वान् पुरुष वाणीको मनमें और मनको विज्ञानमयी बुद्धिमें लीन करे। इसी प्रकार बुद्धिको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें लीन करे॥ २१—२९½॥

"यम-नियमादि साधनोंसे ब्रह्म और आत्माकी एकताको जानकर मनुष्य सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न करना)—ये पाँच 'यम' कहलाते हैं। 'नियम' भी पाँच ही हैं—शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), संतोष, उत्तम तप, स्वाध्याय और ईश्वरपूजा। 'आसन' बैठनेकी प्रक्रियाका नाम है; उसके 'पद्मासन' आदि कई भेद हैं। प्राणवायुको जीतना 'प्राणायाम' है। इन्द्रियोंका निग्रह 'प्रत्याहार' कहलाता है। ब्रह्मन्! एक शुभ विषयमें जो चित्तको स्थिरतापूर्वक स्थापित करना होता है, उसे बुद्धिमान् पुरुष 'धारणा' कहते हैं। एक ही विषयमें बारंबार धारणा करनेका नाम 'ध्यान' है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकारके अनुभवमें स्थिति होनेको 'समाधि' कहते हैं। जैसे घड़ा फूट जानेपर घटाकाश महाकाशसे अभिन्न (एक) हो जाता है, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त होता है—वह सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। ज्ञानसे ही जीव अपनेको ब्रह्म मानता है, अन्यथा नहीं। अज्ञान और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर जीव अजर-अमर हो जाता है"॥ ३०—३६॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यह मैंने 'यमगीता'* बतलायी है। इसे पढ़नेवालोंको यह भोग और मोक्ष प्रदान करती है। वेदान्तके अनुसार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिका होना 'आत्यन्तिक लय' कहलाता है॥ ३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यमगीताका कथन' नामक तीन सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३८२॥

---

* इस 'यमगीता'का आधार 'कठोपनिषद्'का 'यम-नचिकेता-संवाद' है।

तीन सौ तिरासीवाँ अध्याय

अग्निपुराणका माहात्म्य

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन् ! 'अग्निपुराण' ब्रह्मस्वरूप है, मैंने तुमसे इसका वर्णन किया। इसमें कहीं संक्षेपसे और कहीं विस्तारके साथ 'परा' और 'अपरा'—इन दो विद्याओंका प्रतिपादन किया गया है। यह महापुराण है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-नामक वेदविद्या, विष्णु-महिमा, संसार-सृष्टि, छन्द, शिक्षा, व्याकरण, निघण्टु (कोष), ज्यौतिष, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि, मीमांसा, विस्तृत न्यायशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण-विद्या, धनुर्वेद, गन्धर्व-वेद, अर्थशास्त्र, वेदान्त और महान् (परमेश्वर) श्रीहरि—यह सब 'अपरा विद्या' है तथा परम अक्षर तत्त्व 'परा विद्या' है। [इस पुराणमें इन दोनों विद्याओंका विषय वर्णित है।] 'यह सब कुछ विष्णु ही है'—ऐसा जिसका भाव हो, उसे कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता। बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान और पितरोंका श्राद्ध न करके भी यदि मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णका पूजन करे तो वह पापका भागी नहीं होता। विष्णु सबके कारण हैं। उनका निरन्तर ध्यान करनेवाला पुरुष कभी कष्टमें नहीं पड़ता। यदि परतन्त्रता आदि दोषोंसे प्रभावित होकर तथा विषयोंके प्रति चित्त आकृष्ट हो जानेके कारण मनुष्य पाप-कर्म कर बैठे तो भी गोविन्दका ध्यान करके वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। दूसरी-दूसरी बहुत-सी बातें बनानेसे क्या लाभ ? 'ध्यान' वही है, जिसमें गोविन्दका चिन्तन होता हो, 'कथा' वही है, जिसमें केशवका कीर्तन हो रहा हो और 'कर्म' वही है, जो श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किया जाय।* वसिष्ठजी ! जिस परमोत्कृष्ट परमार्थ-तत्त्वका उपदेश न तो पिता पुत्रको और न गुरु शिष्यको कर सकता है, वही इस अग्निपुराणके रूपमें मैंने आपके प्रति किया है। द्विजवर ! संसारमें भटकनेवाले पुरुषको स्त्री, पुत्र और धन-वैभव मिल सकते हैं तथा अन्य अनेकों सुहृदोंकी भी प्राप्ति हो सकती है, परंतु ऐसा उपदेश नहीं मिल सकता। स्त्री, पुत्र, मित्र, खेती-बारी और बन्धु-बान्धवोंसे क्या लेना है ? यह उपदेश ही सबसे बड़ा बन्धु है; क्योंकि यह संसारसे मुक्ति दिलानेवाला है ॥१–११॥

प्राणियोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है—'दैवी' और 'आसुरी'। जो भगवान् विष्णुकी भक्तिमें लगा हुआ है, वह 'दैवी सृष्टि'के अन्तर्गत है तथा जो भगवान्से विमुख है, वह 'आसुरी सृष्टि'का मनुष्य है—असुर है। यह अग्निपुराण, जिसका मैंने तुम्हें उपदेश किया है, परम पवित्र, आरोग्य एवं धनका साधक, दुःस्वप्नका नाश करनेवाला, मनुष्योंको सुख और आनन्द देनेवाला तथा भव-बन्धनसे मोक्ष दिलानेवाला है। जिनके घरोंमें हस्तलिखित अग्निपुराणकी पोथी मौजूद होगी, वहाँ उपद्रवोंका जोर नहीं चल सकता। जो मनुष्य प्रतिदिन अग्निपुराण-श्रवण करते हैं, उन्हें तीर्थ-सेवन, गोदान, यज्ञ तथा उपवास आदिकी क्या आवश्यकता है ? जो प्रतिदिन एक प्रस्थ तिल और एक माशा सुवर्ण दान करता है तथा जो अग्निपुराणका एक ही श्लोक सुनता है, उन दोनोंका फल समान है। श्लोक सुनानेवाला पुरुष तिल और सुवर्ण-दानका फल पा जाता है। इसके एक अध्यायका पाठ गोदानसे बढ़कर है। इस पुराणको सुननेकी इच्छामात्र करनेसे दिन-रातका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। वृद्धपुष्कर-तीर्थमें सौ कपिला गौओंका दान करनेसे जो फल मिलता है, वही अग्निपुराणका पाठ करनेसे मिल जाता है। 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति'रूप धर्म तथा 'परा' और 'अपरा' नामवाली दोनों विद्याएँ इस 'अग्निपुराण' नामक शास्त्रकी समानता नहीं कर सकतीं। वसिष्ठजी ! प्रतिदिन अग्निपुराणका पाठ अथवा श्रवण करनेवाला भक्त-मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है। जिस घरमें अग्निपुराणकी पुस्तक रहेगी, वहाँ विघ्न-बाधाओं, अनर्थों तथा चोरों आदिका भय नहीं होगा। जहाँ अग्निपुराण रहेगा, उस घरमें गर्भपातका भय न होगा, बालकोंको ग्रह नहीं सतायेंगे तथा पिशाच आदिका भय भी निवृत्त हो जायगा। इस पुराणका श्रवण करनेवाला ब्राह्मण वेदवेत्ता होता है, क्षत्रिय पृथ्वीका राजा होता है, वैश्य धन पाता है, शूद्र नीरोग रहता है। जो भगवान् विष्णुमें मन लगाकर सर्वत्र

---

* तद् ध्यानं यत्र गोविन्दः सा कथा यत्र केशवः ।
तत्कर्म यत्तदर्थीयं किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥
(३८३ । ८)

समानदृष्टि रखते हुए ब्रह्मस्वरूप अग्निपुराणका प्रतिदिन पाठ या श्रवण करता है, उसके दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम आदि सारे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस पुस्तकके पढ़ने-सुनने और पूजन करनेवाले पुरुषके और भी जो कुछ पाप होते हैं, उन सबको भगवान् केशव नष्ट कर देते हैं। जो मनुष्य हेमन्त-ऋतुमें गन्ध और पुष्प आदिसे पूजा करके श्रीअग्निपुराणका श्रवण करता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। शिशिर-ऋतुमें इसके श्रवणसे पुण्डरीकका तथा वसन्त-ऋतुमें अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। गर्मीमें वाजपेयका, वर्षामें राजसूयका तथा शरद्-ऋतुमें इस पुराणका पाठ और श्रवण करनेसे एक हजार गोदान करनेका फल प्राप्त होता है। वसिष्ठजी! जो भगवान् विष्णुके सम्मुख बैठकर भक्तिपूर्वक अग्निपुराणका पाठ करता है, वह मानो ज्ञानयज्ञके द्वारा श्रीकेशवका पूजन करता है। जिसके घरमें हस्तलिखित अग्निपुराणकी पुस्तक पूजित होती है, उसे सदा ही विजय प्राप्त होती है तथा भोग और मोक्ष—दोनों ही उसके हाथमें रहते हैं—यह बात पूर्वकालमें कालाग्निस्वरूप श्रीहरिने स्वयं ही मुझसे बतायी थी। आग्नेय पुराण ब्रह्मविद्या एवं अद्वैतज्ञान रूप है॥ १२—३१॥

वसिष्ठजी कहते हैं—व्यास! यह अग्निपुराण 'परा-अपरा'—दोनों विद्याओंका स्वरूप है। इसे विष्णुने ब्रह्मासे तथा अग्निदेवने समस्त देवताओं और मुनियोंके साथ बैठे हुए मुझसे जिस रूपमें सुनाया, उसी रूपमें मैंने तुम्हारे सामने इसका वर्णन किया है। अग्निदेवके द्वारा वर्णित यह 'आग्नेय पुराण' वेदके तुल्य माननीय है तथा यह सभी विषयोंका ज्ञान करानेवाला है। व्यास! जो इसका पाठ या श्रवण करेगा, जो इसे स्वयं लिखेगा या दूसरोंसे लिखायेगा, शिष्योंको पढ़ायेगा या सुनायेगा, अथवा इस पुस्तकका पूजन या धारण करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त एवं पूर्णमनोरथ होकर स्वर्गलोकमें जायगा। जो इस उत्तम पुराणको लिखाकर ब्राह्मणोंको दान देता है, वह ब्रह्मलोकमें जाता है तथा अपने कुलकी सौ पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। जो एक श्लोकका भी पाठ करता है, उसका पाप-पङ्कसे छुटकारा हो जाता है। इसलिये व्यास! इस सर्वदर्शनसंग्रहरूप पुराणको तुम्हें श्रवणकी इच्छा रखनेवाले शुकादि मुनियोंके साथ अपने शिष्योंको सदा सुनाते रहना चाहिये। अग्निपुराणका पठन और चिन्तन अत्यन्त शुभ तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। जिन्होंने इस पुराणका गान किया है, उन अग्निदेवको नमस्कार है॥ ३२—३८॥

व्यासजी कहते हैं—सूत! पूर्वकालमें वसिष्ठजीके मुखसे सुना हुआ यह अग्निपुराण मैंने तुम्हें सुनाया है। 'परा' और 'अपरा' विद्या इसका स्वरूप है। यह परम पद प्रदान करनेवाला है। आग्नेय पुराण परम दुर्लभ है, भाग्यवान् पुरुषोंको ही यह प्राप्त होता है। 'ब्रह्म' या 'वेद'स्वरूप इस अग्निपुराणका चिन्तन करनेवाले पुरुष श्रीहरिको प्राप्त होते हैं। इसके चिन्तनसे विद्यार्थियोंको विद्या और राज्यकी इच्छा रखनेवालोंको राज्यकी प्राप्ति होती है। जिन्हें पुत्र नहीं है, उन्हें पुत्र मिलता है तथा जो लोग निराश्रय हैं, उन्हें आश्रय प्राप्त होता है। सौभाग्य चाहनेवाले सौभाग्यको तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य मोक्षको पाते हैं। इसे लिखने और लिखानेवाले लोग पापरहित होकर लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं। सूत! तुम शुक और पैल आदिके साथ अग्निपुराणका चिन्तन करो, इससे तुम्हें भोग और मोक्ष—दोनोंकी प्राप्ति होगी—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तुम भी अपने शिष्यों और भक्तोंको यह पुराण सुनाओ॥ ३९—४४॥

सूतजी कहते हैं—शौनक आदि मुनिवरो! मैंने श्रीव्यासजीकी कृपासे श्रद्धापूर्वक अग्निपुराणका श्रवण किया है। यह अग्निपुराण ब्रह्मस्वरूप है। आप सब लोग श्रद्धायुक्त होकर इस नैमिषारण्यमें भगवान् श्रीहरिका यजन करते हुए निवास करते हैं, अतः [आपको सर्वोत्तम अधिकारी समझकर] मैंने आपसे इस पुराणका वर्णन किया है। 'अग्निदेव' इस पुराणके वक्ता हैं, अतएव यह 'आग्नेय पुराण' कहलाता है। इसे वेदोंके तुल्य माना गया है। यह 'ब्रह्म' और 'विद्या'—दोनोंसे युक्त है। भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला श्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर सर्वोत्तम सार, इससे उत्तम सुहृद्, इससे श्रेष्ठ ग्रन्थ तथा इससे उत्कृष्ट कोई गति नहीं है। इस पुराणसे बढ़कर शास्त्र नहीं है, इससे उत्तम श्रुति नहीं है, इससे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है तथा इससे उत्कृष्ट कोई स्मृति नहीं है। इससे श्रेष्ठ आगम, इससे श्रेष्ठ विद्या, इससे श्रेष्ठ सिद्धान्त और इससे श्रेष्ठ मङ्गल नहीं है। इससे बढ़कर वेदान्त भी नहीं है। यह पुराण सर्वोत्कृष्ट है। इस पृथ्वीपर अग्निपुराणसे बढ़कर श्रेष्ठ और दुर्लभ वस्तु कोई नहीं है॥ ४५—५१॥

इस अग्निपुराणमें सब विद्याओंका प्रदर्शन (परिचय) कराया गया है । भगवान्के मत्स्य आदि सम्पूर्ण अवतार, गीता और रामायणका भी इसमें वर्णन है । 'हरिवंश' और 'महाभारत'का भी परिचय है । नौ प्रकारकी सृष्टिका भी दिग्दर्शन कराया गया है । वैष्णव-आगमका भी गान किया गया है । देवताओंकी स्थापनाके साथ ही दीक्षा तथा पूजाका भी उल्लेख हुआ है । पवित्रारोहण आदिकी विधि, प्रतिमाके लक्षण आदि तथा मन्दिरके लक्षण आदिका वर्णन है । साथ ही भोग और मोक्ष देनेवाले मन्त्रोंका भी उल्लेख है । शैव-आगम और उसके प्रयोजन, शाक्त-आगम, सूर्यसम्बन्धी आगम, मण्डल, वास्तु और भाँति-भाँतिके मन्त्रोंका वर्णन है । प्रतिसर्गका भी परिचय कराया गया है । ब्रह्माण्ड-मण्डल तथा भुवनकोषका भी वर्णन है । द्वीप, वर्ष आदि और नदियोंका भी उल्लेख है । गङ्गा तथा प्रयाग आदि तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया गया है । ज्योतिश्चक्र (नक्षत्र-मण्डल), ज्यौतिष आदि विद्या तथा युद्धजयार्णवका भी निरूपण है । मन्वन्तर आदिका वर्णन तथा वर्ण और आश्रम आदिके धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है । साथ ही अशौच, द्रव्यशुद्धि तथा प्रायश्चित्तका भी ज्ञान कराया गया है । राजधर्म, दानधर्म, भाँति-भाँतिके व्रत, व्यवहार, शान्ति तथा ऋग्वेद आदिके विधानका भी वर्णन है । सूर्यवंश, सोमवंश, धनुर्वेद, वैद्यक, गान्धर्व वेद, अर्थशास्त्र, मीमांसा, न्यायविस्तार, पुराण-संख्या, पुराण-माहात्म्य, छन्द, व्याकरण, अलंकार, निघण्टु, शिक्षा और कल्प आदिका भी इसमें निरूपण किया गया है ॥ ५२—६१ ॥

नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक लयका वर्णन है । वेदान्त, ब्रह्मज्ञान और अष्टाङ्गयोगका निरूपण है । स्तोत्र, पुराण-महिमा और अष्टादश विद्याओंका प्रतिपादन है । ऋग्वेद आदि अपरा विद्या, परा विद्या तथा परम अक्षरतत्त्वका भी निरूपण है । इतना ही नहीं, इसमें ब्रह्मके सप्रपञ्च (सविशेष) और निष्प्रपञ्च (निर्विशेष) रूपका वर्णन किया गया है । यह पुराण पंद्रह हजार श्लोकोंका है । देवलोकमें इसका विस्तार एक अरब श्लोकोंमें है । देवता सदा इस पुराणका पाठ करते हैं । सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये अग्निदेवने इसका संक्षेपसे वर्णन किया है । शौनकादि मुनियो ! आप इस सम्पूर्ण पुराणको ब्रह्ममय ही समझें । जो इसे सुनता या सुनाता, पढ़ता या पढ़ाता, लिखता या लिखवाता तथा इसका पूजन और कीर्तन करता है, वह परम शुद्ध हो सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त करके कुलसहित स्वर्गको जाता है ॥ ६२—६६½ ॥

राजाको चाहिये कि संयमशील होकर पुराणके वक्ताका पूजन करे । गौ, भूमि तथा सुवर्ण आदिका दान दे, वस्त्र और आभूषण आदिसे तृप्त करते हुए वक्ताका पूजन करके मनुष्य पुराण-श्रवणका पूरा-पूरा फल पाता है । पुराण-श्रवणके पश्चात् निश्चय ही ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये । जो इस पुस्तकके लिये शरयन्त्र (पेटी), सूत, पत्र (पन्ने), काठकी पट्टी, उसे बाँधनेकी रस्सी तथा वेष्टन-वस्त्र आदि दान करता है, वह स्वर्गलोकको जाता है । जो अग्निपुराणकी पुस्तकका दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें जाता है । जिसके घरमें यह पुस्तक रहती है, उसके यहाँ उत्पातका भय नहीं रहता । वह भोग और मोक्षको प्राप्त होता है । मुनियो ! आपलोग इस अग्निपुराणको ईश्वररूप मानकर सदा इसका स्मरण रक्खें ॥ ६७—७१½ ॥

व्यासजी कहते हैं—तत्पश्चात् सूतजी मुनियोंसे पूजित हो वहाँसे चले गये और शौनक आदि महात्मा भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हुए ॥ ७२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अग्निपुराणमें वर्णित संक्षिप्त विषय तथा इस पुराणके माहात्म्यका वर्णन' नामक तीन सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८३ ॥

अग्निपुराण सम्पूर्ण

श्रीहरिः

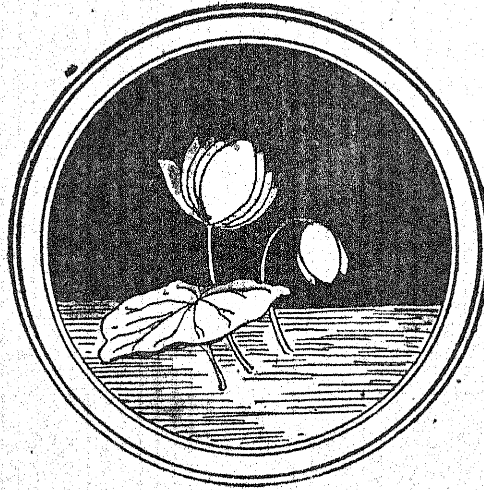
श्रीगर्ग-संहिता

(अश्वमेधखण्ड)

गर्गसंहिता-माहात्म्य

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र





वृन्दावनमें सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान् श्रीकृष्ण [गर्ग०, अश्वमेध०, अ० ४०

श्रीहरिः

ॐ दामोदर हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते

श्रीगर्ग-संहिता

(अश्वमेधखण्ड)

पहला अध्याय

अश्वमेध-कथाका उपक्रम; गर्ग-वज्रनाभ-संवाद

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय नमः संकर्षणाय च ।
नमः प्रद्युम्नदेवायानिरुद्धाय नमो नमः ॥ २ ॥

सर्वव्यापी भगवान् नारायण, नरश्रेष्ठ नर, उनकी लीला-कथाको भाषामें अभिव्यक्त करनेवाली वाग्देवता सरस्वती तथा भगवदीय लीलाओंका विस्तारसे वर्णन करनेवाले मुनिवर वेद-व्यासको प्रणाम करके जय (इतिहास-पुराण आदि) का उच्चारण करे । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको नमस्कार, संकर्षणको भी नमस्कार, प्रद्युम्नदेवको नमस्कार तथा अनिरुद्धको भी नमस्कार है ॥ १-२ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—एक समयकी बात है, ऋषियोंकी सभामें रोमहर्षण सूतके पुत्र उग्रश्रवाजी पधारे । उन्हें आया हुआ देख शौनकजीने उन्हें प्रणाम किया और (कुशल-प्रश्नके अनन्तर) अभिवादनपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

शौनक बोले—महामते ! आपके मुखसे मैंने सम्पूर्ण शास्त्र, पुराण तथा श्रीहरिके नाना प्रकारके निर्मल लीलाचरित्र सुने । पूर्वकालमें गर्गाचार्यजीने मेरे सामने गर्गसंहिता सुनायी थी, जिसमें श्रीराधा और माधवकी महिमाका अनेक प्रकारसे और अधिकाधिक वर्णन हुआ है । सूतनन्दन ! आज मैं पुनः आपसे सब दुःखोंको हर लेनेवाली श्रीकृष्णकी कथा सुनना चाहता हूँ । आप सोच-विचारकर वह कथा मुझसे कहिये ॥ २–४ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—शौनकजीके साथ अठासी हजार ऋषियोंने भी जब यही जिज्ञासा व्यक्त की, तब रोमहर्षणकुमार सूतने भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका स्मरण करके इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

सौति बोले—अहो शौनकजी ! आप धन्य हैं, जिनकी बुद्धि इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके युगल-चरणारविन्दोंका मकरन्द-पान करनेके लिये लालायित है । वैष्णवजनोंका समागम प्राप्त हो, इसे देवतालोग श्रेष्ठ बताते हैं; क्योंकि वैष्णवोंके सङ्गसे भगवान् श्रीकृष्णकी वह कथा सुननेको मिलती है, जो समस्त पापोंका विनाश करनेवाली है । श्रीकृष्णचन्द्रका चरित्र समस्त कल्मषोंका निवारण करनेवाला है । उसको थोड़ा-थोड़ा ब्रह्माजी जानते हैं और थोड़ा-ही-थोड़ा भगवान् उमावल्लभ शिव । मेरे-जैसा कोई मच्छर उसे क्या जान सकेगा ? भगवान् वासुदेवकी लीला-कथा एक समुद्र है, जिसमें डूबकर मोहित ब्रह्मा आदि देवता भी कुछ कह नहीं सकेंगे । (फिर मुझ-जैसा मनुष्य क्या कह सकता है ?) यादवराज भूपालशिरोमणि उग्रसेनके यज्ञप्रवर अश्वमेधका अनुष्ठान देखकर लौटे हुए गर्गाचार्यने एक दिन अपने मनका उद्गार इस प्रकार प्रकट किया—'यादवेश्वर ! राजा उग्रसेन धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे द्वारकापुरीमें क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधका सम्पादन किया । उस यज्ञको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है । मैंने अपनी संहितामें परिपूर्णतम भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्यक्ष देखी-सुनी लीला-कथाओंका ठीक वैसा ही वर्णन किया है । उस संहितामें मैंने अश्वमेध यज्ञकी कथाका उल्लेख नहीं किया है, अतः अब पुनः उस अश्वमेधकी ही कथा कहूँगा । कलियुगमें उस कथाके श्रवणमात्रसे भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्योंको शीघ्र ही भोग तथा मोक्ष प्रदान करते हैं' ॥ ६–१४ ॥

शौनक ! ऐसा कहकर श्रीगर्गमुनिने श्रीकृष्णभक्तिसे प्रेरित हो उग्रसेनके अश्वमेध यज्ञकी कथा कही । 'अश्वमेधचरित्र' का उन्होंने एक सुन्दर नाम रख दिया—'सुमेरु !' मुने ! ऐसा करके भगवान् गर्गाचार्य कृतकृत्य हो गये । यादव-कुलके परम गुरु तथा बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीगर्गमुनिने आठ दिनोंतक

अश्वमेध यज्ञकी कथा कही; फिर वे नरेश्वर वज्रसे मिलनेके लिये श्रीहरिकी मथुरापुरीमें आये। ज्ञानिशिरोमणि गर्गमुनिको वहाँ आकाशसे उतरा देख वज्रनाभने द्विजोंके साथ उठकर उन्हें नमस्कार किया। बैठनेके लिये सोनेका सिंहासन देकर उन्होंने गुरुजीके दोनों चरण-कमल पखारे और फूल-मालाओंसे मुनिका पूजन करके उन्हें मिष्ठान्न निवेदन किया। सोलह वर्षकी अवस्था और सुपुष्ट शरीरवाले विशालबाहु श्यामसुन्दर कमलनयन वज्रनाभने गुरुके चरणोदकको लेकर सिरपर रक्खा और दोनों हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा। वज्रनाभ सौ सिंहोंके समान उद्भट शक्तिशाली थे ॥ १९—२१ ॥

वज्रनाभने कहा—ब्रह्मन्! आपको नमस्कार है। आपका स्वागत है। हम आपकी क्या सेवा करें? मैं आपको भगवत्स्वरूप मानता हूँ। आप ब्रह्मर्षियोंमें परम श्रेष्ठ हैं। गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु रुद्र हैं, गुरु ही बृहस्पति हैं तथा गुरुदेव साक्षात् नारायण हैं; उन श्रीगुरुको नमस्कार है। मुनिश्रेष्ठ! मनुष्योंके लिये आपका दर्शन दुर्लभ है। देव! विशेषतः हम-जैसे विषयासक्त चित्तवाले लोगोंके लिये तो वह अत्यन्त दुर्लभ है। गर्गाचार्य! मेरे कुलके आचार्य! तेजस्विन्! योग-भास्कर! आपके दर्शनमात्रसे हम कुटुम्बसहित पवित्र हो गये ॥ २२—२५ ॥

यदुकुलतिलक राजा वज्रनाभका यह वचन सुनकर मुनीन्द्रवर्य महान् महात्माने श्रीहरिके चरणारविन्दका चिन्तन करते हुए तत्काल नृपेश्वर वज्रनाभसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'युवराज! महाराज! यदु शशिरोमणे! तुमने सब सत्कर्म ही किया है; पृथ्वीपर रहनेवाले सब लोगोंका पालन किया है। वत्स! तुमने भूतलपर धर्मको स्थापित किया है। विष्णुरात (दिल्लीपति परीक्षित्) तुम्हारे मित्र होंगे तथा अन्य नरेश भी तुम्हारे वशमें रहेंगे। नृपश्रेष्ठ! तुम धन्य हो, तुम्हारी मथुरापुरी धन्य है, तुम्हारी सारी प्रजाएँ धन्य हैं तथा तुम्हारी व्रजभूमि भी धन्य है। तुम श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धका भजन करते हुए उत्तम भोग भोगो। नरेश्वर! निश्शङ्क होकर राज्य करो' ॥ २६—३० ॥

उग्रश्रवा सूत कहते हैं—गर्गजीकी यह बात सुनकर नृपश्रेष्ठ राजा वज्रनाभ श्रीकृष्ण, संकर्षण, पितामह प्रद्युम्न तथा पिता अनिरुद्धका विरहावस्थामें स्मरण करके गद्गदकण्ठ हो गये। उनका मुख आँसुओंकी धारासे परिपूर्ण हो गया। गर्गने देखा, राजा वज्रनाभ दुखी हो नीचेकी ओर मुख किये भूमिपर खड़े हैं। यह देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे उनका दुःख शान्त करते हुए-से बोले ॥ ३१-३२½ ॥

गर्गने पूछा—राजेन्द्र! क्यों रो रहे हो? मेरे रहते तुम्हें क्या भय है? तुम अपने दुःखका समस्त कारण मेरे सामने कहो ॥ ३३½ ॥

उनकी यह बात सुनकर भी राजा दुःखमग्न होनेके कारण कुछ बोल न सके। जब गुरुने पुनः पूछा तो वे गद्गदवाणीमें इस प्रकार बोले ॥ ३४½ ॥

राजाने कहा—देव! श्रीकृष्ण-संकर्षण आदि समस्त यादव मुझे यहाँ छोड़ परलोकमें चले गये, यह सोचकर ही मैं दुखी हो गया। ब्रह्मन्! स्वामी, अमात्य, मित्र, राष्ट्र (जनपद), कोष, दुर्ग और सेना—राजाके ये सातों अङ्ग मुझ एकाकीके लिये प्रीतिकारक नहीं होते हैं। मैंने भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र न तो देखा है और न किसीसे सुना ही है; आप वह चरित्र मुझसे कहिये। मैंने अपनी आँखोंसे तो केवल यादवोंका संहार ही देखा है, अतः मेरा दुःख दूर नहीं हो रहा है। चतुर्व्यूह-रूपधारी श्रीहरिने पहले जिस पुरीको सुशोभित किया था, वह भी समुद्रमें डूब गयी और भगवान् श्रीकृष्ण भी भक्तिके परम-धाम गोलोकको चले गये। शिष्यवत्सल गुरुदेव! आप ही बताइये, अब मैं किसके लिये जीवित रहूँ? आज ही वनको जाता हूँ। मेरे मनमें राज्य करनेकी इच्छा नहीं है ॥ ३५—३९ ॥

सूतजी कहते हैं—यदुकुलशिरोमणि वज्रनाभकी यह बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ महात्मा गर्गने उनकी प्रशंसा की और उनका दुःख शान्त करते हुए-से वे संतुष्ट गर्गमुनि राजा वज्रनाभसे बोले ॥ ४० ॥

गर्गने कहा—वृष्णिवंशतिलक! मेरी बात सुनो; यह शोकका विनाश करनेवाली है। समस्त पापोंको हरनेवाली, पवित्र तथा शुभ है। तुम सावधानीके साथ इसे श्रवण करो। पूर्वकालमें जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कुशस्थली (द्वारका) पुरीमें विराजते थे, वे सदा और सर्वत्र विराजमान हैं। भूपते! अब तुम भक्तिभावसे उनको देखो। आज मैं तुम्हें भगवान्‌की वह कथा सुनाऊँगा, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है। वसुधानाथ! श्रीकृष्ण तथा बलरामजीकी वह उत्तम कथा तुम सुनो ॥ ४१—४३ ॥

सूतजी कहते हैं—विप्रवर शौनक! ऐसा कहकर भगवान् गर्गने वज्रनाभको नौ दिनोंतक अपनी पवित्र संहिता सुनायी ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्गर्गसंहितामें अश्वमेध-चरित्र-सुमेरु-प्रसङ्गमें 'गर्ग-वज्रनाभ-संवाद' नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

श्रीकृष्णावतारकी पूर्वार्द्धगत लीलाओंका संक्षेपसे वर्णन

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार गर्गमुनिके मुखसे श्रीगर्गसंहिताकी कथा सुनकर राजा वज्रनाभ मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने गुरु गर्गाचार्यके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! मुनिश्रेष्ठ! आज मैंने आपके मुखारविन्दसे जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका चारु चरित्र सुना है, उससे मेरे सारे दुःख दूर हो गये। कृपानाथ! मैं इस कथाश्रवणसे अतृप्त रह गया हूँ; अतः मेरा मन पुनः श्रीहरिके यशको सुननेके लिये उत्सुक है। आप कृपापूर्वक श्रीकृष्णके परम उत्तम चरित्रका वर्णन कीजिये। मुने! द्वारकामें महाराज उग्रसेनने पहले अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया था, उसके विषयमें कुछ बातें मैंने पूर्वकालमें सुनी थीं। आप उस अश्वमेध यज्ञका ही सम्पूर्ण चरित्र या वृत्तान्त मुझसे कहिये। मुनीश्वर! करुणामय गुरुजन अपने सेवापरायण शिष्यों तथा पुत्रोंसे उनके पूछे बिना भी गूढ़ रहस्यकी बातें बता दिया करते हैं'॥ १–५॥

सूतजी कहते हैं—यदुकुलगुरु गर्गमुनि वज्रनाभका ऐसा वचन सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और श्रीहरिके युगल-चरणारविन्दोंका स्मरण करते हुए उन राजाधिराजसे इस प्रकार बोले॥ ६॥

गर्गजीने कहा—यादवश्रेष्ठ! तुम धन्य हो; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें तुम्हारी ऐसी अविचल भक्ति हुई है, जो दूसरे मनुष्योंके लिये दुर्लभ है। वह भक्ति तुम्हें सहज सुलभ है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। राजन्! इस विषयमें मैं तुमसे प्राचीन इतिहास बता रहा हूँ, उसे सुनो! उसका श्रवण कर लेनेमात्रसे मनुष्य समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है। राजन्! द्वापरमें पापियोंके भारसे पीड़ित हुई वसुन्धराने ब्रह्माजीके सामने-अपना दुःख प्रकट किया। उसे सुनकर ब्रह्माजी श्रीहरिकी शरणमें गये और वहाँ उन्होंने पृथ्वीका सारा कष्ट कह सुनाया। वह सब सुनकर श्रीराधिकावल्लभ श्रीकृष्णने वसुधाको आश्वासन दिया और देवताओंके सहयोगसे उसका भार उतारनेका निश्चय किया॥ ७–१०॥

तदनन्तर मथुरामें वसुदेवका देवकीके साथ विवाह हुआ; फिर कंसको सावधान करनेवाली आकाशवाणी हुई। देवकीके पुत्रसे अपने वधकी बात जानकर कंसने क्रमशः उसके छः पुत्र मार डाले। नरेश्वर! कंसको भय होने लगा और उस भयके आवेशमें उसे सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण दीखने लगे। इसके बाद भगवान्ने योगमायाको आज्ञा दी, जिसके अनुसार उसने देवकीके गर्भका संकर्षण करके रोहिणीके गर्भमें उसे स्थापित कर दिया और स्वयं वह यशोदाके गर्भसे कन्याके रूपमें प्रकट हुई। इधर भगवान् देवकीके गर्भमें आविष्ट हुए और ब्रह्मा आदि देवताओंने आकर उनकी स्तुति की। फिर श्रीकृष्णका प्राकट्य हुआ। भगवान्के बालकृष्ण-रूपकी दिव्य झाँकीका वर्णन ऋषि वेदव्यासद्वारा किया गया है। वसुदेवने भगवान्के उस दिव्य रूपका स्तवन किया। जगदीश्वर श्रीकृष्णने देवकी और वसुदेवके पूर्वजन्म-सम्बन्धी पुण्यकर्मोंका वर्णन किया। तदनन्तर भगवदीय आज्ञाके अनुसार वसुदेवजी बालकृष्णको गोकुल पहुँचा आये और वहाँसे यशोदाकी कन्या उठा लाये। कंसने उस कन्याको पत्थरपर दे मारा; परंतु वह आकाशमें उड़ गयी और कंसको यह बताती गयी कि 'तेरा काल कहीं प्रकट हो चुका है।' कंसका निकट जाकर वसुदेव-देवकीको सान्त्वना देना और पत्नीसहित वसुदेवको बन्धनमुक्त कर देना आदि बातें घटित हुईं। कंसने दैत्योंकी सभामें दुष्टतापूर्ण मन्त्रणा की और साधुपुरुषों तथा बालकोंके प्रति उपद्रव प्रारम्भ करवाया॥ ११–१४॥

व्रजमें श्रीकृष्णका प्राकट्य होनेपर व्रजराज नन्दके भवनमें महान् उत्सव मनाया गया। नन्दरायजी राजा कंसको भेंट देनेके लिये मथुरा गये और वहाँ वसुदेवजीके साथ उनकी भेंट हुई। उधर गोकुलमें विषमिश्रित स्तनपान करानेके लिये आयी हुई पूतनाके प्राणोंको भगवान् उसके दूधके साथ ही पी गये। उसके मरे हुए विकराल शरीरको देखकर मथुरासे लौटे हुए नन्दादि गोपोंको बड़ा विस्मय हुआ। उसके बाद एक दिन श्रीकृष्णके पैरोंका हल्का-सा आघात पाकर दूध-दहीके मटकोंसे भरा हुआ छकड़ा उलट गया। बवंडर-रूपधारी 'तृणावर्त' नामक दैत्यका शिशु श्रीकृष्णके हाथों वध हुआ। एक दिन मैया यशोदा बाल-कृष्णको लाड़-प्यार कर रही थीं। इतनेमें ही उन्हें जँभाई

आयी और उनके मुखमें माताको सम्पूर्ण विश्वका दर्शन हुआ। तदनन्तर बलराम और श्रीकृष्णके नामकरण-संस्कार हुए। फिर व्रजभूमिमें इन दोनों भाइयोंकी बालक्रीड़ा होने लगी। गोपाङ्गनाओंके घरोंमें घुसकर धूर्ततापूर्ण व्यवहार—दही-माखन चुरानेके खेल चलने लगे। प्रसङ्गवश किसी दिन मिट्टी खा ली और माताको मुखमें सम्पूर्ण विश्वका दर्शन कराया। नन्द और यशोदाको श्रीकृष्णके लालन-पालनका सुख कैसे सुलभ हुआ, इस प्रसङ्गमें उन दोनोंके पूर्वजन्म-सम्बन्धी सौभाग्यवर्धक सत्कर्मकी चर्चा हुई। माखनकी चोरी, रस्सीसे कमरमें बलपूर्वक बाँधा जाना, 'यमलार्जुन' नामक वृक्षोंका भङ्ग होना, उनके शापकी निवृत्ति, उन दोनोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति, बालक्रीड़ा, उपनन्द आदिकी मन्त्रणा, वहाँसे वृन्दावन-गमन, वहाँ समवयस्क ग्वालबालोंके साथ बछड़े चराना, उसी प्रसङ्गमें वत्सासुर, बकासुर और अघासुरका वध, सखाओंके साथ श्रीहरिका यमुनातटपर प्रशंसापूर्वक भोजन, ब्रह्माजीके द्वारा बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण, श्रीकृष्णका स्वयं ग्वाल-बाल और बछड़े बन जाना, ब्रह्माका जाना और फिर मोह निवृत्त होनेपर लौटकर भगवान्‌की स्तुति करना, श्रीकृष्णका गोपबालकोंके साथ विहार तथा व्रजमें गमन, गोचारणके प्रसङ्गमें बड़ी-बड़ी क्रीडाएँ, धेनुकासुर आदिका वध, संध्याके समय व्रजमें आगमन तथा श्रीकृष्णका गोपीजनोंके नेत्रोंमें महान् उत्सव प्रदान करना आदि वृत्तान्त घटित हुए॥ १५–२३॥

कालियनागके विषसे दूषित जलको पीनेसे मरे हुए गोपोंको श्रीहरिने जिलाया; कालियनागका दमन किया। उस समय नागपत्नियोंने भगवान्‌की स्तुति की और उनके साथ वार्तालाप किया। फिर इस बातका वर्णन किया कि यमुनाके ह्रदमें कालियनागका सम्बन्ध कैसे हुआ? तदनन्तर मुञ्जाटवीमें फैली हुई दावाग्निको पीकर भगवान्‌ने किस प्रकार गोप-गोपियोंके जीवनकी रक्षा की, इस बातका प्रतिपादन हुआ है। खेल-खेलमें ही प्रलम्बासुरका वध, दावानलसे गौओंकी रक्षा, वर्षा-वर्णन, शरद्-वर्णन, गोपीगीत, गोकुलकी गोपकिशोरियोंद्वारा कात्यायनीव्रतका अनुष्ठान, उनके वस्त्रोंका अपहरण, वृन्दावनके सौभाग्यका वर्णन, ग्वाल-बालोंका भगवान्‌से भोजन माँगना और भगवान्‌का उन्हें ब्राह्मणोंके यज्ञमें भेजना, ब्राह्मणपत्नियोंपर भगवान्‌का कृपा-प्रसाद, ब्राह्मणोंका अपनी मूढ़ताके लिये पश्चात्ताप, इन्द्रके यज्ञकी प्रथा मिटाकर गोवर्धनपूजनका क्रम चलाना, दूषित हुए इन्द्रद्वारा की गयी घोर वृष्टिसे व्रजवासियोंकी रक्षाके लिये भगवान्‌का गोवर्द्धन पर्वतको छत्रकी भाँति धारण करना, देवराज इन्द्रके गर्वको चूर्ण करना, महर्षि गर्गके द्वारा नन्दरायके यहाँ उत्पन्न श्रीकृष्ण-बलरामके भावी जातकोक्त फलका वर्णन, गोपोंकी शङ्का, भगवान्‌के द्वारा उसका निवारण, इन्द्रधेनु सुरभिके द्वारा भगवान्‌का गोविन्द-पदपर अभिषेक और स्तवन, नन्दजीको वरुणलोकसे छुड़ाकर लाना, गोपोंको वैकुण्ठलोकमें ले जाकर उसका दर्शन कराना, पाँच अध्यायोंमें रातमें होनेवाली रासक्रीड़ाका वर्णन, नन्दका अजगरके मुखसे उद्धार, शङ्खचूडका वध, गोपियोंके युगलगीत, अरिष्टासुरका वध, कंस और नारदका संवाद, कंस और अक्रूरकी बातचीत, श्रीकृष्णके द्वारा केशीका वध, नारदऋषिका श्रीकृष्णसे वार्तालाप, व्योमासुरका वध, अक्रूरका गोकुलमें आगमन, व्रजके दर्शनजनित आनन्दसे उनके शरीरका पुलकित होना, अन्तःकरणका हर्षसे खिल उठना, रोमाञ्च होना, गद्गदवाणीमें बोलना, बलराम और श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, उनके द्वारा कंसकी चेष्टाओंका वर्णन, बलराम और श्रीकृष्णका मथुराको प्रस्थान, गोपीजनोंका विलाप, मथुरागमन, मार्गमें ही यमुनाके ह्रदमें प्रविष्ट हुए अक्रूरको भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन, उनके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति, फिर उन सबका मथुरापुरीमें आगमन, नगरका दर्शन, नगरकी सम्पत्तिका वर्णन, रजकका शिरश्छेदन, दर्जीको वरदान, सुदामा मालीको वरदान, कुब्जाको श्रीकृष्णका दर्शन, कंसके धनुषका भञ्जन, उसके सैनिकोंका वध, कंसको दुर्निमित्तोंका दिखायी देना, कंसका रंगोत्सव, कुवलयापीड़ नामक हाथीका युद्धमें मारा जाना, पुरवासियोंको बलराम और श्रीकृष्णको दर्शन, उनके प्रति नागरिकोंके मनमें प्रेमकी वृद्धि, रंगशालामें मल्लोंका मारा जाना, बन्धुओंसहित कंसका वध, श्रीकृष्ण-बलरामद्वारा माता-पिताको आश्वासन तथा समस्त सुहृदोंको तोषदान, उग्रसेनका राजाके पदपर अभिषेक, नन्द आदि गोपोंको व्रजभूमिकी ओर लौटाना, श्रीकृष्ण-बलरामका किंचित् द्विजाति-संस्कार, गुरुके घर जाकर विद्याध्ययन, उनके मरे हुए पुत्रको यमलोकसे लाकर लौटाना, इसी प्रसङ्गमें 'पञ्चजन' नामक दैत्यका वध, पुनः श्रीकृष्णका मथुरा-आगमन, मधुपुरीमें महान् उत्सव, उद्धवको व्रजमें भेजना, गोपियोंका विलाप, उद्धवद्वारा उन्हें सान्त्वना-प्रदान, व्रजवासियोंसे मिलनेके लिये श्रीकृष्णका नन्दके गोकुलमें आना,

फिर कोल-दैत्यका वध, कुब्जा-मिलन, अक्रूरको हस्तिनापुर भेजना तथा पाण्डवोंके प्रति विषमतापूर्ण बर्ताव रोकनेके लिये धृतराष्ट्रको समझाना इत्यादि प्रसङ्गोंका वर्णन किया गया है ॥ २४–४२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहितामें अश्वमेध-चरित्र-सुमेरुमें 'श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन' नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

जरासंधके आक्रमणसे लेकर पारिजात-हरणतककी श्रीकृष्णलीलाओंका संक्षिप्त वर्णन

गर्गजी कहते हैं—राजन् ! अपने दामाद कंसके वधका समाचार सुनकर राजा जरासंध संतप्त हो उठा। उसने कई अक्षौहिणी सेनाएँ लेकर मथुरापुरीपर अनेक बार आक्रमण किया और उसकी समस्त सेनाओंका श्रीकृष्ण और बलरामने संहार कर डाला। उभय पक्षकी सेनाओंमें बारंबार युद्धका अवसर आनेपर श्रीकृष्णने विश्वकर्माद्वारा समुद्रमें 'द्वारका' नामक दुर्गकी रचना करवायी। इसी बीचमें कालयवनका भी आक्रमण हुआ और मुचुकुन्दद्वारा उसका वध करवाकर भगवान्‌ने उनके मुखसे अपना स्तवन सुना; फिर उन्हें वर देकर बदरिकाश्रम भेज दिया और वहाँसे लौटकर म्लेच्छ सैनिकोंका वध करके उन सबका धन द्वारकापुरीमें पहुँचानेकी व्यवस्था की। इतनेमें ही घमंडी राजा जरासंध आ पहुँचा। भगवान् किसी विशेष अभिप्रायसे अबकी बार युद्ध छोड़कर उसके सामनेसे पलायन कर गये। 'रैवत' नामवाले राजाने द्वारकापुरीमें आकर अपनी कन्या रेवती बलदेवजीके हाथमें समर्पित कर दी। एक समय राजकुमारी रुक्मिणीका प्रेम-संदेश सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कुण्डिनपुरमें गये और वहाँ अम्बिकादेवीके मन्दिरसे अपनी प्रेयसी रुक्मिणीका अपहरण करके, वहाँके समस्त राजाओंको जीतकर द्वारकापुरीको निकल गये। तब राजाओंने चेदिराज शिशुपालको सान्त्वना दी और उसे चुपचाप घर लौट जानेको कहा। तत्पश्चात् एक विशेष प्रतिज्ञाके साथ रुक्मी युद्धके मैदानमें उतरा। श्रीकृष्णने पहले तो उसके साथ युद्ध किया; फिर उसे रथमें बाँधकर उसका मुण्डन कर दिया। इससे रुक्मिणीको बड़ा दुःख हुआ। बलरामजीने समझा-बुझाकर उन्हें शान्त किया और बलरामजीके ही कहनेसे रुक्मीको बन्धनसे छुटकारा मिला। इसके बाद द्वारकापुरीमें पहुँचकर श्रीकृष्णका रुक्मिणीके साथ बड़े आनन्दसे विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ ॥ १–६ ॥

तत्पश्चात् प्रद्युम्नकी उत्पत्ति कही गयी। उनका सूतिकागारसे अपहरण हुआ। मायावतीके कथनसे अपने पूर्व-वृत्तान्तको जानकर प्रद्युम्नने शम्बरासुरका वध किया, फिर वे अपने घर लौट आये। इससे द्वारकावासियोंको बड़ा संतोष हुआ। सत्राजित् नामक यादवने भगवान् सूर्यकी कृपासे स्यमन्तकमणि प्राप्त की। उसे एक दिन श्रीहरिने माँगा। उसी मणिको अपने गलेमें बाँधकर सत्राजित्‌के छोटे भाई प्रसेनजित् शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ एक सिंहने उनको मार डाला। इससे श्रीहरिपर कलङ्क आया। उसका मार्जन करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण वनमें ऋक्षराजकी गुफामें गये। वहाँ उन दोनोंमें घोर युद्ध हुआ। जाम्बवान्‌ने यह जानकर कि 'ये कोई साधारण मनुष्य नहीं, साक्षात् भगवान् हैं' इन्हें अपनी कन्या जाम्बवती समर्पित कर दी। भगवान्‌को जाम्बवान्‌की गुफासे जो मणि प्राप्त हुई थी, उसे उन्होंने सत्राजित्‌के यहाँ पहुँचा दिया। सत्राजित्‌ने अपनी बेटी सत्यभामाका विवाह श्रीकृष्णके साथ कर दिया और दहेजमें वह मणि उन्हें दे दी ॥ ७–१०½ ॥

तदनन्तर एक दिन बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने हस्तिनापुरकी यात्रा की। इसी बीचमें अक्रूर और कृतवर्माकी प्रेरणासे शतधन्वाने सत्राजित्‌को मार डाला। यह समाचार पाते ही श्रीकृष्णने तत्काल शतधन्वाको भी मौतके घाट उतार दिया। बलरामजी मिथिलामें रहकर दुर्योधनको गदायुद्धकी शिक्षा देने लगे। इधर भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरको मणि देकर स्वयं इन्द्रप्रस्थ चले गये। वहाँ उन्हें कालिन्दीकी प्राप्ति हुई। उसके साथ श्रीहरिने अपनी द्वारकापुरीमें विवाह किया। इसी प्रकार मित्रविन्दा और सत्याके साथ भी उनका विवाह हुआ। तदनन्तर भद्रा और लक्ष्मणाका भी श्रीहरिके साथ विवाह हुआ। एक समय श्रीकृष्णने देवराज इन्द्रको जीतकर उनके पारिजातको ले लिया और उसे द्वारकापुरीमें लाकर अपनी प्रिया सत्यभामाको दे दिया ॥ ११–१५ ॥

वज्रनाभने पूछा—मुने ! भगवान् श्रीकृष्णने देवराज इन्द्रको जीतकर उनके कल्पवृक्ष या पारिजातको लाकर जो अपनी प्रिया सत्यभामाको दिया, उसका क्या कारण है ? यह सारी कथा मुझे विस्तारपूर्वक सुनाइये ॥ १६ ॥

श्रीगर्गजीने कहा—किसी समय देवर्षि नारद स्वर्गसे पारिजातका एक फूल लेकर द्वारकापुरीमें आये। वह फूल लेकर श्रीकृष्णने अपनी पटरानी श्रीरुक्मिणीजीके हाथमें दे दिया। इससे सत्यभामाको बड़ा दुःख हुआ। वे कोपभवनमें चली गयीं। श्रीकृष्ण वहाँ जाकर कुपित हुई सत्यभामासे मिले और बोले—'तुम दुःख न मानो, मैं तुम्हें पारिजातका वृक्ष ही लाकर दे दूँगा।' उसी समय इन्द्रने आकर श्रीकृष्णके समक्ष भौमासुरकी सारी चेष्टाएँ बतायीं। यह सुनकर भगवान्ने हाथ जोड़ इन्द्रकी ओर देखते हुए कहा ॥ १७—१९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—'वृत्रसूदन ! देखिये, मेरी प्रिया सत्यभामा दुखी होकर रो रही है। इसका यह रोदन पारिजात वृक्षके लिये ही है। बताइये, मैं क्या करूँ ? हरे ! यदि आप सत्यभामाके लिये पारिजात वृक्ष दे देंगे तो मैं सेनासहित भौमासुरका संहार कर डालूँगा, इसमें संशय नहीं है।' श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर देवराज इन्द्र जोर-जोरसे हँसते हुए बोले ॥ २०-२१ ॥

इन्द्रने कहा—श्रीकृष्ण ! तुम नरकासुरका वध करके नन्दनवनमें जो-जो पारिजातके वृक्ष हैं, उन सबको स्वतः ले लेना ॥ २२ ॥

'एवमस्तु' कहकर भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामाके साथ गरुडके कंधेपर आरूढ़ हो प्राग्ज्योतिषपुरकी ओर चल दिये। जब इन्द्र स्वर्गको लौट गये, तब सत्यभामाने स्वयं श्रीहरिसे कहा ॥ २३½ ॥

सत्यभामा बोली—'जगत्पते ! आप पहले इन्द्रसे वृक्षराज पारिजातको ले लें। हरे ! अपना काम निकल जानेपर इन्द्र आपका प्रिय कार्य नहीं करेंगे।' प्रियाकी यह बात सुनकर प्रियतमने उससे कहा ॥ २४-२५ ॥

श्रीकृष्ण बोले—यदि मेरे माँगनेपर अमरेश्वर इन्द्र पारिजात नहीं देंगे तो मैं पुरन्दरकी छातीपर, जहाँ शचीदेवी चन्दनका अनुलेप लगाती हैं, गदासे चोट करूँगा ॥२६॥

—ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण भौमासुरके नगरमें गये। वह नगर नाना प्रकारके सात दुर्गों और बड़े-बड़े असुरोंसे आवेष्टित था। श्रीकृष्णने गदा, चक्र और बाण आदिसे उन सातों दुर्गोंका भेदन कर दिया। मुरु दैत्य और उसके पुत्र अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरकी रक्षामें नियुक्त थे। श्रीकृष्णने उन सबको कालके गालमें डाल दिया। तदनन्तर सेना-सहित नरक अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करता हुआ सामने आया। श्रीहरिने चक्र चलाकर नरकासुरके दो टुकड़े कर डाले तथा गरुडके द्वारा उसकी सारी सेनाका संहार कर डाला। भौमासुरको मारकर यदुकुलतिलक जगन्नाथने उसके सारे उत्तम रत्न ग्रहण कर लिये ॥ २७—२९½ ॥

वहाँ उन्होंने कुमारी कन्याओंका एक विशाल समुदाय देखा। उनकी संख्या सोलह हजार एक सौ थी। वे दैत्यों, सिद्धों तथा नरेशोंकी कुमारियाँ थीं। श्रीहरिने उन सबको अपनी द्वारकापुरीमें भेज दिया। फिर वे इन्द्रकी मणि और छत्र लेकर तथा देवमाता अदितिके दोनों कुण्डल प्राप्त करके पारिजात वृक्ष लानेके लिये इन्द्रपुरीकी ओर चले ॥ ३०—३२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधचरित्र-सुमेरुमें 'श्रीकृष्णकी कथाका वर्णन' नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

पारिजातहरण

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! स्वर्गमें जाकर इन्द्रको उनका छत्र और मणि देकर श्रीकृष्णने माता अदितिको उनके दोनों कुण्डल अर्पित कर दिये। उसके बाद अपना अभिप्राय व्यक्त किया। श्रीहरिके अभिप्रायको जानकर भी जब इन्द्रने पारिजात वृक्ष नहीं दिया, तब माधवने देवताओंको पराजित करके पारिजातको बलपूर्वक अपने अधिकारमें ले लिया ॥ १-२ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनक ! यह कथा सुनकर यादव-नरेश वज्रको बड़ा विस्मय हुआ। श्रीहरिके गुणोंमें श्रद्धा रखते हुए उन्होंने पुनः अपने गुरुसे पूछा—'ब्रह्मन् ! इन्द्र तो

देवताओंके राजा हैं। वे यह जानते हैं कि श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर श्रीहरि हैं, तथापि उन्होंने भगवान्‌के प्रति अपराध कैसे किया ? यह ठीक-ठीक बताइये। इन्द्रकी चेष्टाको सत्यभामाने पहले ही भाँप लिया था और श्रीकृष्णके सामने सुस्पष्ट बता भी दिया था। अतः इस प्रसङ्गको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है। आप इन्द्र और माधवके इस युद्धका मेरे समक्ष विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ ३—५ ॥

श्रीगर्गजी बोले—राजन् ! अदितिने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति और इन्द्रने भी पारिजात ले जानेके लिये स्वीकृति दे दी, तब भगवान् श्रीकृष्ण नन्दनवनमें गये और वहाँ बहुत-से पारिजात वृक्षोंका अवलोकन करने लगे। उन सबके बीचमें एक महान् वृक्ष था, जो बहुत-सी मञ्जरियोंके पुञ्जको धारण किये अनुपम शोभा पा रहा था। कहते हैं, वह वृक्ष क्षीरसागरके मन्थनसे प्रकट हुआ था। उससे कमलकी-सी सुगन्ध निकल रही थी। वह देवताओंके लिये सुखद वृक्ष ताँबेके समान रंगवाले नूतन पल्लवोंसे परिवेष्टित था। वह सुन्दर दिव्य वृक्ष उस वनका विभूषण था और उसकी छाल सुनहले रंगकी थी ॥ ६—८ ॥

उस पारिजात वृक्षको देखकर मानिनी सत्यभामाने माधवसे कहा—'श्रीकृष्ण ! इस सम्पूर्ण वनमें यही वृक्ष सबसे श्रेष्ठ है। अतः मैं इसीको पसंद करती हूँ।' प्रियाके इस प्रकार कहनेपर जगदीश्वर श्रीकृष्णने हँसते हुए पारिजात वृक्षको उखाड़कर लीलापूर्वक गरुडकी पीठपर रख लिया। उसी समय क्रोधसे भरे हुए समस्त वनपाल धनुष-बाण धारण किये उठे और फड़कते हुए ओठोंसे श्रीकृष्णको सम्बोधित करके इस प्रकार कहने लगे—'ओ मनुष्य ! यह इन्द्रवल्लभा महारानी शचीका वृक्ष है। तुमने क्यों इसका अपहरण किया है ? अपनी इच्छासे अकस्मात् हम सबको तिनकेके समान समझकर—हमारा अपकार करके तुम कहाँ जाओगे ? पूर्वकालमें समुद्र-मन्थनके समय देवताओंने इन्द्राणीकी प्रसन्नताके लिये इस वृक्षको उत्पन्न किया है। इसे लेकर तुम सकुशल नहीं रह सकोगे। जिन्होंने पहले समस्त पर्वतोंके पंख काट गिराये थे, उन वृत्रासुरनिषूदन वीर महेन्द्रको जीतकर ही तुम इस वृक्षको ले जा सकोगे। अतः महावीर ! पारिजातको यहीं छोड़कर चले जाओ ! हम देवराज इन्द्रके अनुचर हैं, इसलिये यह वृक्ष तुम्हें नहीं ले जाने देंगे। जब साक्षात् पुरन्दर यह पारिजात वृक्ष तुम्हें दे देंगे, तब हम नहीं रोकेंगे। उस दशामें हम केवल वनके रक्षक होंगे। इस वृक्षके नहीं' ॥ ९—१६ ॥

वनरक्षकोंका यह भाषण सुनकर सत्यभामा रोषसे तमतमा उठीं। नरेश्वर ! श्रीहरि तो चुप रह गये, किंतु सत्यभामा निर्भय होकर उन रक्षकोंसे बोलीं ॥ १७ ॥

सत्याने कहा—यदि यह पारिजात अमृत-मन्थनके समय समुद्रसे प्रकट हुआ है, तब तो यह सामान्यतः सम्पूर्ण लोकोंकी सम्पत्ति है। तुम्हारी शची अथवा देवराज इन्द्र इस पारिजातके कौन होते हैं ? उन्हें अकेले इसपर अपना स्वत्व जतानेका क्या अधिकार है ? समुद्रसे प्रकट हुई वस्तुको अकेले देवराज इन्द्र कैसे ले सकते हैं ? वनरक्षको ! जैसे अमृत, जैसे चन्द्रमा और जैसे लक्ष्मी समस्त संसारकी साधारण सम्पत्ति हैं, उसी प्रकार यह पारिजात वृक्ष भी। यदि अपने पतिके बाहुबलका भारी घमंड लेकर शची झूठे ही इसे अपने वशमें रोक रखना चाहती हैं तो जाओ, कह दो, क्षमा करनेकी आवश्यकता नहीं है; उनसे जो कुछ करते बने, कर लें। सत्यभामा पारिजात वृक्षका अपहरण करवा रही है। तुम शीघ्र जाकर उस पुलोम दानवकी पुत्रीको मेरी यह बात कह सुनाओ। जिसका एक-एक अक्षर अत्यन्त गर्व और उद्दण्डतासे भरा हुआ है, वह यह वचन सत्यभामा कहती है। यदि तुम पतिकी प्राणवल्लभा हो और यदि पतिदेव तुम्हारे वशमें हैं तो पारिजातका अपहरण करनेवाले मेरे पतिके हाथसे इस वृक्षको रोक लो। मैं तुम्हारे पति इन्द्रको भी जानती हूँ। तुम सब देवता क्या हो ? यह सब मैं अच्छी तरह समझती हूँ; तथापि मैं मानुषी होकर भी तुम्हारे इस पारिजातका अपहरण करवा रही हूँ। (तुम रोक सको तो रोको) ॥ १८—२३½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—श्रीकृष्णवल्लभाकी यह बात सुनकर बेचारे वनरक्षक सब हो गये। उन्होंने इन्द्राणीके निकट जाकर उनकी कही हुई सारी बातें ज्यों-की-त्यों सुना दीं। रक्षकोंकी बात सुनकर शचीको बड़ा रोष हुआ। देवराज इन्द्र श्रीकृष्णको रोकनेके लिये नहीं जा रहे थे; अतः वे खीझकर बोलीं ॥ २४-२५½ ॥

शचीने कहा—देवराज ! तुम वज्रधारी हो। पाकशासन और वृत्रासुरके विनाशक हो। तुम्हें तिनकेके समान समझकर अत्यन्त बलशाली माधवने अपनी प्रियतमा सत्यभामाके लिये मेरा पारिजात ले लिया है; अतः तुम उस

वृक्षराजको उनके हाथसे छुड़ाओ—छीन लो । श्रीकृष्ण सत्यभामाके वशमें रहनेवाले हैं—वे नारीके हाथके खिलौने हैं । तुम महासमरमें उन्हें पराजित करके पारिजातको अपने अधिकारमें कर लो । तुमने पूर्वकालमें वज्रसे पर्वतोंके पंख काट डाले हैं, अतः भय छोड़कर देवताओंकी सेना साथ ले युद्धके लिये जाओ ॥ २६–२८½ ॥

शचीकी यह बात सुनकर नमुचिसूदन इन्द्रने भयभीत होनेके कारण जब युद्धके लिये मन नहीं उठाया, तब कोपभरी पत्नीने उन्हें बारंबार प्रेरित किया, तब इन्द्र मदमत्त हो क्रोधपूर्वक श्रीकृष्णकी निन्दा करते हुए बोले ॥ २९-३०½ ॥

इन्द्रने कहा—सुमुखि ! जिसने तुम्हारा पारिजात लिया है, उसे युद्धभूमिमें सौ पर्ववाले वज्रसे मैं निश्चय ही मार गिराऊँगा ॥ ३१½ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए । उस हाथीके तीन शुण्डा-दण्ड थे । उसकी पीठपर लाल रंगका कम्बल या कालीन शोभा पाता था । चार दाँत उस गजराजकी शोभा बढ़ाते थे । वह सुन्दर हाथी अपनी श्वेत प्रभाके कारण हिमालय पर्वतके समान प्रतीत होता था । सोनेकी साँकलसे उसके पाँवकी बड़ी शोभा होती थी । वह महान् गजराज देवताओंसे घिरा हुआ था । उस समय यम, अग्नि और वरुण आदि समस्त मरुद्गण देवराजके साथ हो गये । ग्यारह रुद्र, बारह सूर्य, आठ वसु, कुबेर आदि लोकपाल, विद्याधर, गन्धर्व, साध्यगण तथा पितृगण आदि तैंतीस करोड़ देवता इन्द्रका अनुसरण करनेके लिये आये । ये सब-के-सब कुपित हो श्रीकृष्णके सम्मुख युद्ध करनेके लिये पधारे थे । इनमेंसे कुछ देवताओंको तो देवराज इन्द्रने अपनी सहायताके लिये बुलवाया था और कुछको देवर्षि नारदजीने स्वयं प्रेरणा देकर भेजा था । इन्द्र हाथमें वज्र लेकर खड़े हुए । साथ ही दूसरे-दूसरे देवता परिघ, खड्ग, गदा, शूल और फरसे लेकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ३२–३८ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेध-चरित्र-सुमेरुमें 'पारिजात-हरण' नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

देवराज और उनकी देवसेनाके साथ श्रीकृष्णका युद्ध तथा विजयलाभ; पारिजातका द्वारकापुरीमें आरोपण

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रने जब देखा कि देवराज इन्द्र गजराज ऐरावतपर विराजमान हो देवताओंसे घिरकर युद्धके लिये उपस्थित हैं, तब उन्होंने स्वयं शङ्ख बजाया और उसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको भर दिया । साथ ही वज्रोपम बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी । उस समय दिशाओं और आकाशको बहुसंख्यक बाणोंसे व्याप्त देख समस्त देवता चक्रधारी श्रीकृष्णचन्द्रके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे । नरेश्वर ! भगवान् श्रीकृष्णने देवताओंके छोड़े हुए एक-एक अस्त्र-शस्त्रके अपने बाणोंद्वारा लीलापूर्वक सहस्र-सहस्र टुकड़े कर डाले । पाशधारी वरुणके नागपाशको सर्पभोजी गरुड काट डालते थे । यमराजके चलाये हुए लोकभयंकर दण्डको भगवान् श्रीकृष्णने गदाके आघातसे अनायास ही भूमिपर गिरा दिया । फिर चक्रका प्रहार करके कुबेरकी शिबिकाको तिल-तिल करके काट डाला । सूर्यदेवको क्रोधपूर्ण दृष्टिसे देखकर श्रीकृष्णने हतप्रतिभ कर दिया । महान् अग्निदेवको सामने आया देख श्रीहरिने मुखसे पी लिया । तदनन्तर रुद्रगणोंके द्वारा छोड़े गये त्रिशूलोंको श्रीहरिने रोषपूर्वक चक्रसे छिन्न-भिन्न कर डाला और भुजाओंसे मार-मारकर रुद्रोंको धराशायी कर दिया । भूपते ! तदनन्तर मरुद्गण, साध्यदेव और विद्याधरोंने माधवके ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ की । बाणोंकी वर्षा करती हुई समस्त देवसेनाको सामने आयी देख सत्यभामाको युद्ध-स्थलमें बड़ा भारी भय हो गया । उन्हें डरी हुई देख गोविन्दने कहा—'सत्ये ! भय न करो । मैं यहाँ आयी हुई सारी देवसेनाका संहार कर डालूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ १–११ ॥

—ऐसा कहकर कुपित हुए भगवान् श्रीकृष्णने शार्ङ्ग-धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा देवताओंको उसी प्रकार मार भगाया, जैसे सिंह अपने पञ्जोंकी मारसे सियारोंको खदेड़ देता है । तदनन्तर कंसनिषूदन श्रीकृष्णने कुपित होकर गरुडसे कहा—'विनतानन्दन ! तुमने इस रणमण्डलमें युद्ध नहीं किया ।' यह सुनकर विष्णुरथ गरुडने कुपित हो पत्नीसहित

श्रीकृष्णको कंधेपर धारण किये हुए ही पञ्जों और पंखोंसे तत्काल युद्ध आरम्भ कर दिया । वे अपनी चोंचसे देवताओं-को चबाते और घायल करते हुए युद्धभूमिमें विचरने लगे । गरुडकी मार खाकर देवतालोग इधर-उधर भागने लगे । राजन् ! इन्द्र और उपेन्द्र दोनों महाबली वीर एक-दूसरेपर बाणोंकी वर्षा करते हुए जलकी धारा बरसानेवाले दो मेघोंके समान शोभा पाते थे । राजेन्द्र ! उस समय गरुड ऐरावत हाथीके साथ युद्ध करने लगे । हाथीने अपने दाँतोंके आघातसे गरुडको चोट पहुँचायी और गरुडने भी अपनी चोंच और पंखोंकी मारसे ऐरावतको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ १२—१७½ ॥

यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण अकेले ही समस्त देवताओं तथा वज्रधारी इन्द्रके साथ जूझ रहे थे । भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रपर और इन्द्र मधुसूदन श्रीकृष्णपर क्रोधपूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे । वे दोनों एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा लिये जूझ रहे थे । जब सारे अस्त्र-शस्त्र और बाण कट गये, तब इन्द्रने तत्काल ही वज्र उठा लिया और भगवान् श्रीकृष्णने चक्र हाथमें ले लिया । देवेश्वरको वज्र और नरेश्वर श्रीकृष्णको चक्र हाथमें लिये देख उस समय चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें हाहाकार मच गया । वज्रधारी इन्द्रके चलाये हुए वज्रको भगवान् श्रीकृष्णने बायें हाथसे पकड़ लिया, परंतु अपना चक्र उनपर नहीं छोड़ा । केवल इतना ही कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह ।' इन्द्रके हाथमें वज्र नहीं था । गरुडने उनके वाहनको क्षत-विक्षत कर दिया था । वे लज्जित और भयभीत होकर भागने लगे । उन्हें इस दशामें देखकर सत्यभामा हँसने लगीं ॥ १८—२३ ॥

राजन् ! उधर शचीने जब देखा कि इन्द्र युद्धमें पीठ दिखाकर चले आये, तो वे रोषसे आगबबूला हो गयीं और फटकारकर बोलीं—'देवेश्वर ! आप देवताओंकी विशाल सेनाके साथ रहकर माधवके साथ युद्ध कर रहे थे, तथापि उन्होंने अकेले ही रणक्षेत्रमें आपको पराजित कर दिया । अतः आपके बल-पराक्रमको धिक्कार है । देवाधम ! तुम चुपचाप तमाशा देखो । मैं स्वयं युद्धस्थलमें जाकर श्रीकृष्णको परास्त करूँगी और पारिजातको छुड़ा लाऊँगी, इसमें संदेह नहीं' ॥ २४-२५½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर क्रोधसे भरी हुई शची शीघ्र ही विमानपर आरूढ हो युद्धके लिये प्रस्थित हुईं । फिर समस्त देवता उनके साथ युद्धके मैदानमें गये । शचीको आयी देख श्रीकृष्णके मनमें युद्धके लिये उत्साह नहीं हुआ । तब सत्यभामाके अधर रोषसे फड़कने लगे । वे श्रीहरिसे बोलीं—'प्रभो ! अब मैं शचीके साथ युद्ध करूँगी ।' उनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने हँसते हुए सुदर्शन चक्र उनके हाथमें दे दिया और स्वयं पारिजातको गरुडपर रखकर उसे पकड़ लिया । जब श्रीहरिप्रिया सत्यभामा क्रोधपूर्वक युद्ध करनेपर उतर आयीं, तब ब्रह्माण्डमें सर्वत्र महान् कोलाहल मच गया । नरेश्वर ! ब्रह्मा और इन्द्र आदि सब देवता भयभीत हो गये । राजन् ! उसी समय इन्द्रकी प्रेरणासे देवगुरु बृहस्पतिजी वहाँ आये । आकर उन्होंने युद्धकी इच्छा रखनेवाली सुलोचना शचीको रोका ॥ २६—३१½ ॥

श्रीबृहस्पति बोले—शची ! मेरी बात सुनो ! यह अनेक प्रकारकी बुद्धि और विचार देनेवाली है । श्रीकृष्ण तो साक्षात् भगवान् हैं और बुद्धिमती सत्यभामा साक्षात् लक्ष्मी । देवेन्द्रवल्लभे ! तुम उनके साथ कैसे युद्ध करोगी ? अतः इन्द्रके प्रति अवहेलना छोड़कर घरको लौट चलो । सत्यभामा-को पारिजात देकर समस्त देवताओंकी भयसे रक्षा करो । जिनके भयसे हवा चलती है, जिनके डरसे आग जलती और जलाती है, जिनके भयसे मृत्यु सर्वत्र विचरती है, जिनके डरसे सूर्यदेव तपते हैं तथा ब्रह्मा, शिव एवं इन्द्र जिनसे सदा भयभीत रहते हैं, उन श्रीकृष्णको, जो भौमासुरका वध करके यहाँ आये हैं, तुम अच्छी तरह नहीं जानतीं ॥ ३२—३६ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—देवगुरुकी यह बात सुनकर शची लज्जित हो सत्यभामा और श्रीकृष्णको नमस्कार करके अपने-आपको धिक्कारती हुई घरको लौट गयीं । तत्पश्चात् लज्जित हुए इन्द्रको नमस्कार करते देख श्रीकृष्णप्रिया सत्यभामाने कहा—'देवेन्द्र ! अपने हाथसे वज्रके निकल जानेसे लज्जाका अनुभव न करो । इन्द्र-युद्धमें दोनोंमेंसे एककी पराजय अवश्यम्भावी है ।' उनका यह कथन सुनकर पाक-शासन बोले ॥ ३७—३९ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! जिन आदि और मध्यसे रहित परमात्मामें यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, जिनसे इसकी उत्पत्ति हुई है तथा जिन सर्वभूतमय परमेश्वरमें ही इसका संहार होनेवाला है, उन सृष्टि पालन और संहारके कारणभूत परमेश्वरसे पराजित हुए पुरुषको लज्जा कैसे हो सकती है ? जो समस्त भुवनोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं, जिनकी अत्यन्त सूक्ष्म

मूर्ति—जिनका निर्गुण-निराकार शरीर कुछ और ही है, अर्थात् अनिर्वचनीय होनेके कारण जिसका शब्दोंद्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता, जो समस्त ज्ञातव्य तत्त्वोंके जानकार हैं, ऐसे सर्वज्ञ महात्मा ही जिनके उस स्वरूपको जान पाते हैं, दूसरे लोग उसे कदापि नहीं जानते हैं, उन्हीं अजन्मा, नित्य, सनातन परमेश्वरको, जो स्वेच्छासे ही जगत्‌के उपकारके लिये मानव-शरीर धारण करके विराज रहे हैं, कौन जीत सकता है ! ॥ ४०-४१ ॥

सत्यभामासे ऐसा कहकर इन्द्र चुप हो गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण हँसकर गम्भीर वाणीमें बोले—"शक्र ! आप देवताओंके राजा हैं और हमलोग भूतलवासी मनुष्य । मैंने यहाँ आकर जो अपराध किया है, उसे क्षमा कर दें । देवराज ! यह रहा आपका पारिजात, इसे इसके योग्य स्थानपर ले जाइये । मैंने तो सत्यभामाके कहनेसे इसको ले लिया था । आपने मुझपर जिसका प्रहार किया था, वह वज्र यह रहा; इसे ग्रहण कीजिये । शुनासीर ! यह आपका ही अस्त्र है और आपके वैरियोंपर प्रयुक्त होकर यह उनका निवारण कर सकता है ॥ ४२—४५ ॥

इन्द्रने कहा—श्रीकृष्ण ! 'अपने विषयमें 'मैं मनुष्य हूँ'—ऐसा कहकर आप क्यों मुझे मोहमें डाल रहे हैं ? हम जानते हैं, आप जगदीश्वर हैं । हम आपके स्वरूपको नहीं जानते । नाथ ! आप जो हैं, सो हैं; जगत्‌के उद्धारकार्यमें आप लगे हुए हैं । जगन्नाथ ! आप जगत्‌के कष्टोंका मोचन करते हैं । श्रीकृष्ण ! इस पारिजातको आप द्वारकापुरीमें ले जाइये । जब आप मनुष्यलोकको त्याग देंगे, तब यह भूतलपर नहीं रहेगा । गोविन्द ! उस समय यह स्वयं ही स्वर्गलोकमें आ जायगा ॥ ४६—४८½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! यह निवेदन करके वज्रधारीको उनका वज्र लौटाकर, देवताओंसे अपनी स्तुति सुनते हुए भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें लौट आये । वहाँके आकाशमें स्थित होकर उन्होंने शङ्ख बजाया । नरेश्वर ! उस शङ्खध्वनिसे उन्होंने द्वारकावासियोंके हृदयमें आनन्द उत्पन्न किया और नगरमें उतरकर सत्यभामाके साथ महलमें आये । उन्होंने सत्यभामाके गृहोद्यानमें पारिजातको आरोपित कर दिया । उसपर स्वर्गीय पक्षी निवास करते थे और वहाँके भ्रमर उसके सुगन्धित मकरन्दका पान करते थे । भगवान्‌ने प्राग्ज्योतिषपुरमें एक ही मुहूर्तमें अनेक रूपोंमें उन सब राजकन्याओंके साथ विवाह किया । फिर वे प्राग्ज्योतिषपुरसे द्वारकामें आये थे । उनकी रानियोंकी संख्या सोलह हजार एक सौ आठ थी । परिपूर्णतम श्रीहरिने उतने ही रूप बनाकर उनके साथ विवाह किया । उन रुक्मिणी आदि पटरानियोंसे जितनी सन्तानें चाहीं, श्रीकृष्णने प्रत्येकसे उन्होंने दस-दस पुत्र उत्पन्न किये ॥ ४९—५५ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'पारिजातका आनयन' नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

श्रीकृष्णके अनेक चरित्रोंका संक्षेपसे वर्णन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! अब मैं पुनः तुम्हारे समक्ष श्रीहरिके यशका संक्षेपसे वर्णन करूँगा । एक समय भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीके साथ अद्भुत हास्य-विनोद किया था । अनिरुद्धके विवाहमें उन्होंने अपने भाई बलरामजीके द्वारा रुक्मिणीके भाई रुक्मीका वध करा दिया । बाणासुरकी पुत्री ऊषाने एक स्वप्न देखा और उसकी चर्चा अपनी सखी चित्रलेखासे की । चित्रलेखाने श्रीहरिके पौत्र अनिरुद्धका अपहरण कर लिया । कन्याके अन्तःपुरमें पाये जानेके कारण बाणासुरने उन्हें कारागारमें डाल दिया । फिर तो बाणासुरके साथ यादवोंका घोर युद्ध हुआ । साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तथा शंकरजीमें युद्ध छिड़ गया । उस समय शार्ङ्गधनुष-रूप छिन्न-भिन्न हो गये और बाणासुरके हाथ कट गये । पराजित हुए शंकरजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की ॥ १—६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा जब बाणासुरकी भुजाओंका छेदन होने लगा, तब उस असुरकी जीवन-रक्षाके लिये शंकरजीने भगवान्‌का स्तवन किया । अनिरुद्धको ऊषाकी प्राप्ति हुई । द्वारकापुरीको जाकर भगवान्‌ने राजा नृगकी कथा कही और उनका उद्धार किया । बलरामजीने एक समय व्रजकी यात्रा की, उस समय दो मासतक रहकर उन्हें देखकर गोपियोंने विलाप किया । गोपियोंद्वारा उनका स्वागत भी किया गया । बलरामजीने यमुनाकर्षणके लिये उद्यत

जीकी धाराको हलके अग्रभागसे खींच लिया। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा काशिराज पौण्ड्रकका वध किया गया। काशिराजके पुत्रोंने पुरश्चरण करके कृत्या उत्पन्न की, जिसने द्वारकापर आक्रमण किया। फिर सुदर्शनचक्रने कृत्याको जलाकर काशीपुरीको भी दग्ध कर दिया। रैवतक पर्वतपर बलरामने 'द्विविद'नामक वानरका वध किया। दुर्योधन आदिने जब साम्बको हस्तिनापुरके बन्धनागारमें बंद कर दिया, तब वहाँ बलरामजीका पराक्रम प्रकट हुआ। उग्रसेनके राजसूय यज्ञमें श्रीहरिने शकुनिका वध किया। देवर्षि नारदने द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी गृहस्थजनोचित लीलाओंका दर्शन किया॥ ४—७॥

भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्या, बंदी राजाओंके द्वारा भेजे गये दूतके मुखसे श्रीहरिकी स्तुति, भगवान्‌का नारदजी तथा उद्धवके साथ इन्द्रप्रस्थगमन, दिग्विजयमें भीमसेनके द्वारा जरासंधका वध, जरासंधपुत्र सहदेवका राज्याभिषेक, बन्धनमुक्त हुए राजाओंद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति, राजसूय यज्ञमें श्रीहरिकी अग्रपूजा, शिशुपालका वध, दुर्योधनके अभिमानका खण्डन, प्रद्युम्न और शाल्वका सत्ताईस दिनोंतक युद्ध, श्रीकृष्णका द्वारकामें आगमन, शाल्व, दन्तवक्त्र और उनके भाई विदूरथका श्रीकृष्णके हाथसे लीलापूर्वक वध आदि वृत्तान्त वर्णित हुए॥ ८—११॥

राजन्! तदनन्तर कौरवोंने हस्तिनापुरमें कपटद्यूतका आयोजन करके उसमें भाइयों और भार्यासहित युधिष्ठिरको हराया तथा वे अपनी माता कुन्तीको विदुरके घरमें रखकर वनको चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने बहुत दिनोंतक विभिन्न वन्यप्रदेशोंमें निवास किया। तत्पश्चात् दुर्योधन राजा बन बैठा और बड़ी प्रसन्नताके साथ पृथ्वीका पालन करने लगा; परंतु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके चले जानेपर प्रजाजनोंने उसका अभिनन्दन नहीं किया। वनमें रहकर कष्ट उठानेवाले पाण्डवोंसे एक दिन बलराम और श्रीकृष्ण मिले और दोनोंने उन्हें धीरज बँधाया। पाण्डवोंसे मिलकर श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये। उन्होंने उग्रसेनकी सुधर्मा-सभामें कौरवोंकी सारी कुचेष्टाएँ कह सुनायीं। वह सब सुनकर समस्त यादव विस्मित होकर बोले॥ १२—१६½॥

यादवोंने कहा—अहो! राजा धृतराष्ट्रने यह क्या किया? उन्होंने दीन-दयनीय भतीजोंको कपटद्यूतमें जीतकर अधर्मपूर्वक घरसे निकाल दिया। राज्यलोलुप कौरव अपने अधर्मसे नष्ट हो जायँगे और भगवान् पाण्डवोंको राज्य-सम्पत्ति प्रदान करेंगे॥ १७-१८½॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—नृपेश्वर! यादवोंकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण सायंकाल अपने घरमें आये और माताको प्रणाम किया। पुत्रको आया और प्रणाम करता देख देवकीने प्रसन्नतापूर्वक शुभ आशीर्वाद दिया और उस सती-साध्वी देवीने बड़े प्यारसे उनको भोजन कराया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके महलमें आये और प्रियाजनोंसे पूजित हो वहीं शयन किया॥ १९—२२॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहितामें अश्वमेधखण्डके अन्तर्गत 'श्रीकृष्णचरित्र-वर्णन' नामक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सातवाँ अध्याय

देवर्षि नारदका ब्रह्मलोकसे आगमन; राजा उग्रसेनद्वारा उनका सत्कार; देवर्षिद्वारा अश्वमेध यज्ञकी महत्ताका वर्णन; श्रीकृष्णकी अनुमति एवं नारदजीद्वारा अश्वमेध यज्ञकी विधिका वर्णन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! एक समय देवर्षि नारद बलराम और श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये अपनी वीणा बजाते और श्रीकृष्णलीलाओंका गान करते हुए ब्रह्मलोकसे चलकर समस्त लोकोंको देखते हुए द्वारका आये। वे सूर्यदेवके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। उनके साथ तुम्बुरु भी थे। पिङ्गलवर्णकी जटाओंका भार उनके मस्तककी शोभा बढ़ा रहा था। उनकी अङ्गकान्ति कुछ-कुछ श्याम थी, नेत्र कमलोंके समान विशाल थे, ललाटमें केसरके तिलक शोभा दे रहे थे। वे पीले रंगके धौतवस्त्र तथा रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे। रंगवल्लीकी माला और गोपीचन्दनसे मण्डित देवर्षि पंद्रह वर्षकी-सी अवस्थासे अत्यन्त सुशोभित होते थे॥ १—४॥

राजा उग्रसेन सुधर्मा-सभामें देवराजके दिये सिंहासनपर विराजमान थे। देवर्षिको आया देख वे उठकर खड़े हो गये और चरणोंमें प्रणाम करके उन्हें बैठनेके लिये सिंहासन दिया। फिर उनके चरण पखारकर उत्तम विधिसे पूजन

किया और चरणोदक मस्तकपर रखकर राजा उग्रसेन नारदजीसे बोले ॥ ५-६ ॥

श्रीउग्रसेनने कहा—देवर्षे ! आपके दर्शनसे आज मेरा जन्म सफल हो गया, मेरा सदन सार्थक हो गया और मेरा तन-मन एवं जीवन कृतार्थ हो गया ! जो काम तथा क्रोधसे रहित हैं, उन देवर्षिशिरोमणि महात्मा भगवान् नारदको नमस्कार है । प्रभो ! आज्ञा कीजिये, आप किस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं ? ॥ ७-८½ ॥

देवताओंके समान देदीप्यमान दिखायी देनेवाले देवर्षि नारद राजाका यह विनययुक्त वचन सुनकर मन-ही-मन श्रीहरिसे प्रेरित हो उन नृपश्रेष्ठसे बोले ॥ ९½ ॥

नारदने कहा—यादवराज ! महाराज ! पृथ्वीनाथ ! तुम धन्य हो; तुम्हारे भक्तिभावके कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ इस भूतलपर निवास करते हैं ! तुमने पूर्वकालमें मेरे ही कहनेसे क्रतुश्रेष्ठ राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था, जो भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे द्वारकापुरीमें सुख-पूर्वक सम्पादित हुआ था । उस यज्ञके अनुष्ठानसे तीनों लोकोंमें तुम्हारी कीर्ति फैल गयी थी । राजसूय तथा अश्वमेध—इन दो यज्ञोंका सम्पादन चक्रवर्ती नरेशोंके लिये अत्यन्त कठिन होता है ! परंतु राजेन्द्र ! तुम हरिभक्तिप्रसाद् हो; अतः तुम्हारे लिये दोनों सुलभ हैं । नरेश्वर ! दोनों यज्ञोंमेंसे एक—राजसूय यज्ञको तो तुमने और राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे पूर्ण कर लिया है । युधिष्ठिरके बाद द्वापरके अन्तमें यज्ञप्रवर अश्वमेधका अनुष्ठान भारतवर्षमें दूसरे किसी भी राजाने नहीं किया है । वह यज्ञ समस्त पापोंका नाश करनेवाला तथा मोक्षदायक है ! द्विजघाती, विश्वहन्ता तथा गोहत्यारे भी अश्वमेध यज्ञसे शुद्ध हो जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण यज्ञोंमें अश्वमेधको सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है । नृपश्रेष्ठ ! जो निष्कामभावसे अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह भगवान् गरुडध्वजके उस परमधाममें जाता है, जो सिद्धोंके लिये भी दुर्लभ है ॥ १०—१७ ॥

नरेश्वर ! देवर्षिका यह वचन सुनकर राजा उग्रसेनने यज्ञप्रवर अश्वमेधके अनुष्ठानका विचार किया । उसी समय बलरामसहित श्रीकृष्णको अपने निकट आया देख राजा उग्रसेनने उनका पूजन करके उन्हें आसनपर बिठाया और देवर्षिके साथ इस प्रकार कहा ॥ १८-१९ ॥

उग्रसेन बोले—देवदेव ! जगन्नाथ ! जगदीश्वर ! जगन्मय ! वासुदेव ! त्रिलोकीनाथ ! मेरी बात सुनिये ! हरे ! मेरे बेटे कंसने बड़े-बड़े असुरोंके साथ मिलकर बिना अपराधके सहस्रों बालक मार डाले हैं । गोविन्द ! उस पापीकी मुक्ति कैसे होगी ? बालघाती कंस किस लोकमें गया है, यह मुझे बताइये ! जगदीश्वर ! उसके पापसे मैं भी डर गया हूँ ! पुत्रके पापसे पिता निश्चय ही नरकमें पड़ता है । इसी प्रकार पिताके पापसे पुत्रको नरकमें गिरना पड़ता है । अतः माधव ! कृपापूर्वक बताइये, मैं कंसके उद्धारके लिये किस उपायका अवलम्बन करूँ ? जगत्पते ! आज नारदजीने जो बात बतायी है, उसे सुनिये—'ब्रह्महत्यारा, विश्वघाती तथा गोघातक भी अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानसे शुद्ध हो जाता है ।' उस यज्ञमें मेरा मन लग गया है । यदि आप आज्ञा दें तो मैं उसका अनुष्ठान करूँ ॥ २०—२५½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—उग्रसेनकी यह बात सुनकर मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और पृथ्वीको भारसे पीड़ित देख इस प्रकार विचार करने लगे—"अहो ! मैंने अनेक बार पृथ्वीका भार उतारा है, तथापि वह भार भूमण्डलमें अबतक है ही । उसका निवारण अश्वमेध यज्ञसे ही होगा । विदूरथके वधके अवसरपर मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'अब मैं युद्धके मैदानमें शत्रुओंको अपने हाथसे नहीं मारूँगा' । इस कारण स्वयं तो युद्धके लिये नहीं जाऊँगा; परंतु अपने पुत्रों तथा अन्य यदुवंशियोंको अवश्य युद्धके लिये भेजूँगा । अश्वमेध तो एक बहाना होगा । मैं उसीकी आड़में सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतनेका प्रयास करूँगा ।" राजन् ! मन-ही-मन ऐसा सोचकर भगवान् श्रीकृष्ण सुधर्मा सभामें हँसते हुए उग्रसेनसे बोले ॥ २६—३०½ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाराज ! कंस मेरे हाथसे मारा गया है, अतः निश्चय ही वैकुण्ठधामको गया है और वहाँ मेरे-जैसा स्वरूप धारण करके नित्य निवास करता है । राजेन्द्र ! प्रतिदिन मेरा दर्शन करनेके कारण तुम भी पापरहित हो, तथापि तुम अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान अवश्य करो । पापनाश या कंसके उद्धारके लिये नहीं, अपने यशके विस्तारके लिये करो । भूपाल ! इस यज्ञसे भूतलपर तुम्हारी विशाल कीर्ति फैलेगी ॥ ३१—३३ ॥

राजन् ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर उस समय राजा उग्रसेन बड़े प्रसन्न हुए और यह उत्तम वचन बोले ॥ ३४ ॥



पारिजात-हरण—इन्द्र-पराजय [गर्ग० अ० अ० ५

बृहस्पतिका शचीको समझाना [गर्ग० अ० अ० ५

राजाने कहा—गोविन्ददेव ! अब मैं यज्ञोंमें श्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान अवश्य करूँगा और वह आपकी कृपासे शीघ्र पूर्ण हो जायगा । अब आप अश्वमेधका सारा विधि-विधान मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ३५ ॥

राजाका यह वचन सुनकर विस्तृत यशवाले भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'यदुकुलतिलक महाराज ! अश्वमेध यज्ञकी विधि आप देवर्षि नारदजीसे पूछिये । ये सब कुछ जानते हैं, अतः आपके सामने उसका वर्णन करेंगे ।' राजन् ! श्रीहरिका यह वचन सुनकर यदुराज उग्रसेन आनन्दमग्न हो गये । नरेश्वर ! उन्होंने सभामें बैठे हुए देवर्षिसे इस प्रकार पूछा—'देवर्षे ! अश्वमेध यज्ञमें घोड़ा कैसा होना चाहिये ? उसमें भाग लेनेवाले श्रेष्ठ द्विजोंकी संख्या कितनी होनी चाहिये ? ब्रह्मन् ! उसमें दक्षिणा कैसी हो तथा मुझ यजमानको किस तरहके व्रतका पालन करना चाहिये, यह मुझे बताइये' ॥३६—३९॥

उग्रसेनकी यह बात सुनकर देवताओंके समान दर्शनीय देवर्षि नारद श्रीकृष्णके ऊपर प्रेमपूर्ण दृष्टि डालकर मुसकराते हुए-से बोले ॥ ४० ॥

श्रीनारदजीने कहा—महाराज ! विज्ञ पुरुषोंका कथन है कि इस यज्ञमें चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णवाले अश्वका उपयोग होना चाहिये । उसका मुख लाल हो, पूँछ पीले रंगकी हो तथा वह देखनेमें मनोहर, सर्वाङ्गसुन्दर एवं दिव्य हो । उसके कान श्यामवर्णके तथा नेत्र सुन्दर होने चाहिये । नरेश्वर ! चैत्र मासकी पूर्णिमा तिथिको वह अश्व स्वच्छन्द विचरनेके लिये छोड़ा जाना चाहिये । बड़े-बड़े वीर योद्धा एक वर्षतक साथ रहकर उस उत्तम अश्वकी रक्षा करें । जबतक वह अपने नगरमें न लौट आवे, तबतक उसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा की जानी चाहिये । यजमान उतने कालतक बैठे रहे और प्रयत्नपूर्वक अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करे । वह अश्व जहाँ-जहाँ मूत्र और पुरीष करे, वहाँ-वहाँ ब्राह्मणोंद्वारा हवन कराना तथा एक सहस्र गौओंका दान करना चाहिये । सोनेके पत्रपर अपने नाम और बल-पराक्रमका सूचक वाक्य लिखकर उस अश्वके भालमें बाँध देना चाहिये तथा जगह-जगह यह घोषणा करानी चाहिये—'समस्त राजालोग सुनें, मैंने यह अश्व छोड़ा है । यदि कोई राजा मेरे श्यामकर्ण अश्वको अभिमानवश बलपूर्वक पकड़ लेगा, उसे बलात् परास्त किया जायगा ।' नरेश्वर ! इस यज्ञके आरम्भमें बीस हजार ऐसे ब्राह्मणोंके वरण करनेका विधान है, जो वेदोंके विद्वान्, सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, कुलीन और तपस्वी हों ॥ ४१—४८ ॥

अब मैं इस यज्ञमें दी जानेवाली दक्षिणाके विषयमें बताता हूँ । तुम समर्थ हो, अतः सुनो । महाराज ! अश्वमेध यज्ञमें ब्राह्मणोंकी दीर्घ दक्षिणा इस प्रकार है—प्रत्येक द्विजको एक हजार घोड़े, सौ हाथी, दो सौ रथ, एक-एक सहस्र गौ तथा बीस-बीस भार सुवर्ण देने चाहिये । यह यज्ञके आरम्भकी दक्षिणा है । यज्ञ समाप्त होनेपर भी इतनी ही दक्षिणा देनी चाहिये । असिपत्र-व्रतका नियम लेकर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक रात्रिमें पत्नीके साथ भूतलपर एक साथ शयन करना चाहिये । महाराज ! एक वर्षतक ऐसे व्रतका पालन आवश्यक है । दीनजनोंको अन्न एवं बहुत धन देना चाहिये । राजेन्द्र ! इस विधिसे यह यज्ञ पूर्ण होगा । असिपत्र-व्रतसे युक्त होनेपर यह यज्ञ बहुसंख्यक पुत्ररूपी फल प्रदान करनेवाला है । भीष्मके बिना दूसरा कौन ऐसा मनुष्य है, जो कामदेवको जीत सके । इसलिये भीरु हृदयके लोग इस कठिन एवं अद्भुत व्रतका पालन नहीं करते हैं । नृपश्रेष्ठ ! यदि आपमें कामदेवको जीतनेकी शक्ति हो तो आप गर्गाचार्यको बुलाकर यज्ञका आरम्भ कर दीजिये ॥ ४९—५६ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यज्ञ-सम्बन्धी उद्योगका वर्णन' नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय

यज्ञके योग्य श्यामकर्ण अश्वका अवलोकन

श्रीगर्गजी कहते हैं—देवर्षि नारदजीका सुस्पष्ट अक्षरोंसे युक्त यह वचन सुनकर राजर्षि उग्रसेन चकित हो गये । उन्होंने हँसते हुए-से उनसे कहा ॥ १ ॥

राजा बोले—मुने ! मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा । आप इस यज्ञके योग्य अश्वको मेरी अश्वशालामें जाकर देखिये । बहुत-से अश्वोंके बीचमेंसे उसको छाँट लीजिये ॥२॥

राजाकी यह बात सुनकर 'बहुत अच्छा' कहकर देवर्षि नारद यज्ञके योग्य अश्व देखनेके लिये भगवान्

श्रीकृष्णके साथ अश्वशालामें गये । वहाँ जाकर उन्होंने धूम्रवर्ण, श्यामवर्ण, कृष्णवर्ण और पद्मवर्णके बहुत-से मनोहर अश्व देखे । फिर वहाँसे दूसरी अश्वशालामें गये । वहाँ दूध, जल, हल्दी, कैरव तथा पलाशके फूलकी-सी कान्तिवाले बहुत-से अश्व दृष्टिगोचर हुए । कई घोड़े चितकबरे रंगके थे । कितनोंके अङ्ग स्फटिक शिलाके समान स्वच्छ थे । वे सभी मनके समान वेगशाली थे । कितने ही अश्व हरे और ताँबेके समान वर्णवाले थे । कुछ घोड़ोंके रंग कुसुम्भ-जैसे और कुछके तोतेके पाँख-जैसे थे । कोई इन्द्रगोपके समान लाल थे, कोई गौरवर्णके थे तथा कितने ही पूर्ण चन्द्रमाके समान धवल कान्तिवाले और दिव्य थे । बहुत-से अश्व सिन्दूरी रंगके थे । कितनोंकी कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती थी । कितने ही अश्व प्रातःकालिक सूर्यके समान अरुणवर्णके थे । नरेश्वर ! ऐसे घोड़ोंको देखकर नारदजीको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे श्रीकृष्णसहित राजा उग्रसेनसे हँसते हुए-से बोले ॥ ३—८ ॥

नारदजीने कहा—महाराज ! आपके सभी घोड़े बड़े सुन्दर हैं । ऐसे अश्व पृथ्वीपर अन्यत्र नहीं हैं । स्वर्गलोक और रसातलमें भी ऐसे घोड़े नहीं दिखायी देते । यह श्रीकृष्णकी कृपा है, जिससे आपकी अश्वशालामें ऐसे-ऐसे अश्व शोभा पाते हैं । परंतु इन सबमें एक भी ऐसा अश्व नहीं दिखायी देता, जो श्यामकर्ण हो ॥ ९-१० ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—देवर्षिका यह वचन सुनकर राजा उग्रसेन दुखी हो गये । वे मन-ही-मन सोचने लगे कि 'अब मेरा यज्ञ कैसे होगा' राजाको उदास देख भगवान् मधुसूदन हँसते हुए शीघ्र ही मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले ॥ ११-१२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मेरी बात सुनिये और सारी चिन्ता छोड़कर मेरी अश्वशालामें चलकर श्यामकर्ण घोड़ोंको देखिये ॥ १३ ॥

—यह सुनकर नृपश्रेष्ठ उग्रसेन श्रीकृष्ण और देवर्षि नारदके साथ उनकी अश्वशालामें गये । वहाँ जाकर उन्होंने यज्ञके योग्य सहस्रों श्यामकर्ण घोड़े देखे, जिनकी पूँछ पीली, अङ्गकान्ति चन्द्रमाके समान उज्ज्वल तथा गति मनके समान तीव्र थी । उन सबके मुख तपाये हुए सुवर्णके समान जान पड़ते थे । ऐसे शुभ-लक्षणसम्पन्न सर्वाङ्गसुन्दर और दिव्य अश्व देखकर राजाको बड़ा विस्मय हुआ । वे महान् हर्षसे उल्लसित हो श्रीकृष्णको मस्तक झुकाकर बोले ॥ १४—१६½ ॥

राजाने कहा—जगन्नाथ ! आज मैंने यहाँ बहुत-से श्यामकर्ण घोड़े देखे । भला, आपके भक्तोंके लिये इस भूतलपर कौन-सी वस्तु दुर्लभ होगी । श्रीकृष्ण ! जैसे पूर्वकालमें प्रह्लाद और ध्रुवका मनोरथ पूर्ण हुआ था, उसी प्रकार आपकी कृपासे मेरा भी मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा ॥ १७-१८½ ॥

राजन् ! ऐसा सुनकर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीहरि राजासे इस प्रकार बोले ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णने कहा—नृपश्रेष्ठ ! आप मेरी आज्ञासे इन चन्द्रके समान कान्तिमान् श्यामकर्ण अश्वोंमेंसे एकको लेकर यज्ञ आरम्भ कीजिये ॥ २० ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—श्रीहरिका यह आदेश सुनकर राजा उनसे बोले—'प्रभो ! अब मैं क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान करूँगा ।' ऐसा कहकर वे श्रीकृष्ण और नारदजीके साथ राजसभामें गये । वहाँ तुम्बुरुसहित नारदजी श्रीकृष्णसे विदा ले राजाको आशीर्वाद देकर ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २१-२२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'श्यामकर्ण अश्वका अवलोकन' नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥



नवाँ अध्याय

गर्गाचार्यका द्वारकापुरीमें आगमन तथा अनिरुद्धका अश्वमेधीय अश्वकी रक्षाके लिये कृतप्रतिज्ञ होना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर द्वारकापुरीमें देवर्षिप्रवर नारदजीके चले जानेपर राजाधिराज उग्रसेनने मुझे बुलानेके लिये अपने दूतोंको भेजा । उग्रसेनके वे दूत मेरे सामने आकर इस प्रकार बोले ॥ १½ ॥

दूतोंने कहा—देवदेव ! ब्रह्मन् ! भूदेवशिरोमणे ! मुने ! कृपया हमारी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनिये—'मुनीश्वर ! द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे आपके बुद्धिमान् शिष्य महाराज उग्रसेनने क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधके अनुष्ठान-

का निश्चय किया है। मुने! उस यज्ञ-महोत्सवमें आप शीघ्र पधारें' ॥ २—४ ॥

उन दूतोंका यह कथन सुनकर मैं गर्गाचलसे द्वारकापुरीकी ओर चला। नृपश्रेष्ठ! उस यज्ञको देखनेके लिये मेरे मनमें भी बड़ा कौतूहल था। तदनन्तर आनर्तदेशमें दूरसे ही मुझे द्वारकापुरी दिखायी दी, जो नाना प्रकारके वृक्षों तथा अनेकानेक उपवनोंसे सुशोभित थी। बहुत-से सरोवर, बावलियाँ तथा नाना प्रकारके पक्षी उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहे थे। नृपेश्वर! वहाँके सरोवरोंमें नीलकमल, रक्तकमल, श्वेतकमल और पीतकमल खिले हुए थे। कुमुद और शुक पुष्प भी उनकी शोभा बढ़ाते थे। बिल्व, कदम्ब, बरगद, जामुन, ताड़, तमाल, बकुल (मौलसिरी), नागकेसर, पुन्नाग, कोविदार, पीपल, जम्बीर (नीबू), हरसिंगार, आम, आमड़ा, केवड़ा, गोस्तनी, कदली, जामुन, श्रीफल, पिण्डखजूर, खदिर, पलाशिन्दु, अगर-तगर, चन्दन, रक्तचन्दन, पलाश, कपित्थ, पाकर, बेंत, बाँस, मल्लिका, जूही, मोतियी (बेला), मदनबाण, सूर्यमुखी, शिरीषिका, गुल्मलता, खिले हुए कर्णिकार (कनेर), सहस्र कन्दुक, अगस्त्य पुष्प, सुदर्शन, चम्पक, कुन्द, कर्णपुष्प, दाडिम (अनार), अनुबीर (अञ्जीर), नागरङ्ग (नारंगी), बाकुची, सीताफल, पूगीफल, बादाम, तूत, राजादन, पलाश, बेलती, देवदारु तथा दूसरी तरहके अन्यान्य छोटे और बड़े वृक्षोंसे श्रीहरिकी नगरी द्वारका शोभा पा रही थी। राजेन्द्र! वहाँ मोर, सारस और शुक कलरव करते थे। हंस, परेवा, कबूतर, कोयल, मैना, चकवा, खञ्जरीट तथा चटक (गौरैया) आदि समस्त सुन्दर पक्षियोंके समुदाय वहाँ वैकुण्ठसे आये थे, जो मधुर वाणीमें 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' गा रहे थे ॥ ५—१७ ॥

राजन्! इस तरह चलते-चलते मैंने द्वारकापुरी देखी, जो ताँबे, चाँदी और सुवर्णके बने हुए तीन दुर्गों (परकोटों) से घिरी हुई थी। दिव्य वृक्षोंसे परिपूर्ण रैवतक पर्वत (गिरनार), समुद्र तथा खाईका काम देनेवाली गोमती—इन सबसे घिरी हुई श्रीकृष्णनगरी द्वारकापुरी अत्यन्त रमणीय दिखायी देती थी। उस पुरीमें मङ्गलमय उत्सवकी सूचक वन्दनवारें लगी थीं। वहाँ लोगोंके महल शोभा पाते थे और सदा हृष्ट-पुष्ट रहनेवाले लोगोंसे वह पुरी भरी हुई थी। लोगोंके हाट-बाजारों तथा सुन्दर ध्वजा-पताकाओंसे द्वारकापुरीकी अनुपम शोभा हो रही थी। वहाँ बहुत-से ऊँचे-ऊँचे विष्णु-मन्दिर तथा शिव-मन्दिर दृष्टिगोचर होते थे। बड़े-बड़े शौर्यसम्पन्न यादव-वीर उस पुरीकी शोभा थे। सहस्रों विमान, सैकड़ों चौराहे तथा चित्रकारी कलश उस पुरीकी शोभामें चार चाँद लगा रहे थे। सड़कों, अश्वशालाओं, गजशालाओं, गोशालाओं तथा अन्यान्य शालाओंसे सुशोभित द्वारकापुरीकी सड़कोंपर सुन्दर चाँदीके पत्र जड़े गये थे। उस पुरीमें नौ लाख सुन्दर महल थे। परमात्मा श्रीकृष्णके सोलह हजार एक सौ आठ भव्य भवनोंसे द्वारकापुरी वेष्टित-सी दिखायी देती थी। राजन्! उस नगरीके द्वार-द्वारपर नियुक्त करोड़ों शूरवीर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये दिन-रात रक्षा करते थे। वहाँके सब लोग घर-घरमें भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके यश गाते और नाम तथा लीलाओंका कीर्तन सुनते थे। इस प्रकार सब कुछ देखता हुआ मैं सुधर्मा-सभामें गया। मेरे हाथमें कमण्डलु था और तुलसीकी मालासे 'कृष्ण' नामका जप कर रहा था। राजर्षि उग्रसेन मुझे आया देख बड़े प्रसन्न हुए और इन्द्रके सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये। भूपाल! उनके साथ छप्पन करोड़ अन्य यादव भी थे। उन्होंने नमस्कार करके मुझे सिंहासनपर बिठाया और मेरी पूजा की। समस्त यादवोंके समीप मेरे दोनों चरण धोकर राजाधिराज उग्रसेनने चरणोदकको सिरपर चढ़ाया और कहा ॥ १८—२० ॥

उग्रसेन बोले—विप्रेन्द्र! मैं देवर्षि नारदके मुखसे जिसके महान् फलका वर्णन सुन चुका हूँ, उस 'अश्वमेध' नामक यज्ञका आपकी आज्ञासे अनुष्ठान करूँगा। जिनके चरणोंकी सेवा करके पूर्ववर्ती भूपालोंने जगत्‌को तिनकेके समान मानकर अपने मनोरथके महासागरको पार कर लिया था, वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ साक्षात् विद्यमान हैं ॥ २१-२२ ॥

श्रीगर्गजी (मैं) ने कहा—महाराज! यादवनरेश! आपने बहुत उत्तम निश्चय किया है। अश्वमेध यज्ञ करनेसे आपकी कीर्ति तीनों लोकोंमें फैल जायगी। नरेश्वर! अश्वकी रक्षाके लिये कौन जायगा, इस बातका निश्चय कर लीजिये; क्योंकि भूमण्डलमें आपके शत्रु बहुत अधिक हैं। पूरे एक वर्षतक आपको असिपत्र-व्रतका पालन करना होगा; तभी यह श्रेष्ठ यज्ञ सकुशल सम्पन्न हो सकेगा। पूर्वकालमें राजसूय यज्ञके अवसरपर प्रद्युम्नने समस्त भूमण्डलपर विजय पायी थी। इस बार अश्वकी रक्षाके लिये क्या आप पुनः उन्हींको नियुक्त करेंगे?' ॥ २३—२९ ॥

मेरी बात सुनकर राजा चिन्तामें पड़ गये और वहाँ बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णकी ओर, जो मनुष्योंके समस्त दुःख दूर करनेवाले हैं, देखने लगे। राजाको चिन्तामग्न देख, भगवान्‌ने तत्काल पानका बीड़ा लेकर हँसते हुए कहा ॥ ३७-३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हे बलवान् ! युद्धकुशल समग्र यादववीरो ! महाराज उग्रसेनके सामने मेरी बात सुनो—'जो मनस्वी एवं महारथी वीर भूमण्डलके समस्त राजाओंसे अश्वमेध यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको छुड़ा लेनेमें समर्थ हो, वह इस पानके बीड़ेको ग्रहण करे' ॥ ३९-४० ॥

श्रीहरिका यह वचन सुनकर युद्धकुशल यादव-वीर अभिमानशून्य हो बार-बार एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर हाथमें वह पानका बीड़ा एक घड़ीतक रक्खा रह गया; ऐसा लगता था मानो कमलके फूल-पर तोता बैठा हो। जब सब लोग चुप रह गये, तब धनुष धारण किये प्रद्युम्नपुत्र महात्मा अनिरुद्धने महाराज उग्रसेनको नमस्कार करके वह पानका बीड़ा ले लिया और श्रीकृष्णके चरणोंमें मस्तक झुकाकर तत्काल इस प्रकार कहा ॥ ४१—४३ ॥

श्रीअनिरुद्ध बोले—जगदीश्वर ! मैं समस्त राजाओंसे श्यामकर्णकी रक्षा करूँगा। आप मुझे इस कार्यमें नियुक्त कीजिये। दीनवत्सल गोविन्द ! यदि मैं घोड़ेका पालन नहीं कर सकूँ तो उस दशामें मुझ दीनकी यह प्रतिज्ञा सुनिये—'क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी ब्राह्मणीके साथ व्यभिचार करनेसे जिस दुःखदायिनी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं, निश्चय वही गति मुझे भी मिले। देव ! जो ब्राह्मणको गुरु बनाकर पीछे उसकी सेवा नहीं करता है, वह जिस गतिको प्राप्त होता है, अवश्य वही गति मैं भी पाऊँ' ॥ ४४—४७ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! अनिरुद्धका वह ओजस्वी वचन सुनकर समस्त यादव आश्चर्यचकित हो गये। भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल अपने पौत्रके सिरपर हाथ रक्खा। अनिरुद्ध सुधर्मा-सभामें हाथ जोड़कर खड़े थे। उस समय श्रीहरिने मेघके समान गम्भीर वाणीमें उनसे कहा ॥ ४८-४९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—अनिरुद्ध ! तुम एक वर्षतक यज्ञ-सम्बन्धी अश्वकी समस्त राजाओंसे रक्षा करते हुए फिर यहाँ लौट आओ ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधचरित्रविषयक [illegible] 'अनिरुद्धका आश्वासन' नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दसवाँ अध्याय

उग्रसेनकी सभामें देवताओंका शुभागमन; अनिरुद्धके शरीरमें चन्द्रमा और ब्रह्माका विलय तथा राजा और रानीकी बातचीत

श्रीगर्गजी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि हंसपर बैठे हुए भगवान् ब्रह्मा महादेवजीके साथ द्वारकापुरीमें आ पहुँचे। राजन् ! तदनन्तर इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, वायु, अग्नि, निर्ऋति और चन्द्रमा—ये लोकपाल श्रीकृष्ण-दर्शनकी इच्छासे वहाँ आये। फिर वारह आदित्य, वेताल, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्यगण, गन्धर्व, किंनर, विद्याधर तथा बहुत-से ऋषि-मुनि भी श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये आये। राजा उग्रसेनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण-ने वहाँ पधारे हुए देवताओंसे विधिपूर्वक मिलकर उन सबका समादर किया। जब सब देवता अपने-अपने आसनपर विराजमान हो गये, तब लीलाके लिये नरदेह धारण करने-वाले भगवान् श्रीहरिने उन सबकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीहरिके पार्श्वभागमें बैठे हुए ब्रह्माजी इन्द्रसे प्रेरित हो बलरामसहित जगदीश्वर श्रीकृष्णसे बोले ॥ १—७ ॥

ब्रह्माजीने कहा—श्रीकृष्ण ! आपका पौत्र अनिरुद्ध अभी बालक है। भूमण्डलके राजाओंसे श्यामकर्ण अश्वकी रक्षाका कार्य बहुत कठिन है। हरे ! यह इस दुष्कर कार्य-को कैसे कर सकेगा ? अतः आप इसे अश्वकी रक्षाके लिये न भेजिये; क्योंकि इस कार्यमें विघ्न बहुत हैं। गोविन्द ! आप चाहे प्रद्युम्नको भेजिये, चाहे बलरामजीको भेजिये अथवा स्वयं जाकर अश्वकी रक्षा कीजिये। ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर श्रीहरि हँसते हुए-से बोले ॥ ८—१० ॥

श्रीभगवान् बोले—अनिरुद्ध हठपूर्वक जा रहा है।

इस विषयमें वह मेरा निवेदन नहीं मानता है; अतः आप स्वयं उसके पास जाकर यत्नपूर्वक उसे मना कीजिये ॥११॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर ब्रह्माजी चन्द्रमाको साथ लेकर प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्धको रोकनेके लिये गये। ब्रह्मा और चन्द्रमा ज्यों-ही अनिरुद्धजीके समीप गये। त्यों-ही अनिरुद्धके श्रीविग्रहमें वे तत्काल विलीन हो गये, यह देख शिव और इन्द्र आदि सब देवता विस्मयमें पड़ गये। समस्त यादवों, मुनियों और उग्रसेन आदि नरेशोंको भी महान् आश्चर्य हुआ। वज्रनाभ! सब लोग तुम्हारे पिताकी स्तुति करने लगे। इसीलिये मनीषी मुनि तुम्हारे पिता अनिरुद्धको पूर्णतम परमात्मा बताते हैं॥१२—१५॥

राजन्! तदनन्तर राजा उग्रसेन सभासे उठकर मन-ही-मन श्रीकृष्णको प्रणाम करके यज्ञ-सम्बन्धी कौतुकसे युक्त हो सुन्दर रत्नोंसे जटित अपने अन्तःपुरमें गये। वह अन्तःपुर अपने वैभवसे देवराज इन्द्रके भवनको भी लज्जित कर रहा था। वहाँ जाकर नृपश्रेष्ठ उग्रसेनने वस्त्राभूषणोंसे विभूषित, दासियोंसे सेवित तथा श्वेत चामरोंसे वीजित शचीके समान मनोहर मुखवाली रानी रुचिमतीको देखा, जो पर्यङ्कपर विराजमान थीं। नरेश्वर! अपने पति यादवराज उग्रसेनको वहाँ आया देख रानी सहसा उठकर खड़ी हो गयीं। उन्होंने यथोचित रीतिसे महाराजका समादर किया, तब पर्यङ्कपर बैठकर वृष्णिवंशियोंके स्वामी राजा उग्रसेन हँसते हुए सेवकके समान गम्भीर वाणीमें अपनी परमप्रिया रुचिमतीसे बोले—'प्रिये! मैं भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे आज अश्वमेध यज्ञका आरम्भ करूँगा, जिसके प्रतापसे मनुष्य मनोवाञ्छित फल पा लेता है' ॥ १६—२१ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजाकी यह बात सुनकर पुत्रशोकसे संतप्त हुई दीन-दुखी रानीने अपने पुत्रोंका स्मरण करते हुए राजाधिराज उग्रसेनसे कहा ॥ २२ ॥

रानी बोली—महाराज! मैं पुत्रोंके दर्शनसे वञ्चित हूँ; अतः मुझे ये सारी सम्पत्तियाँ, जो देवताओंके लिये भी प्रार्थनीय हैं, नहीं रुचती हैं। आप सुखपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान कीजिये (मुझे इससे कोई मतलब नहीं है)। नृपेश्वर! जब इस यज्ञके प्रतापसे सुन्दर पुत्र प्राप्त होता हो, तब तो मैं प्रसन्न-चित्त होकर इसके अनुष्ठानमें आपके साथ रहूँगी ॥२३-२४॥

रानीकी यह बात सुनकर राजाका मन उदास हो गया। जैसे श्राद्धदेव मनु अपनी पत्नी श्रद्धासे वार्तालाप करते हैं, उसी प्रकार वे पुनः अपनी प्रियासे बोले ॥ २५ ॥

राजाने कहा—भद्रे! मैं जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। पुत्रोंकी कामना बहुत दुःखदायिनी होती है। अतः उसे छोड़कर तुम साक्षात् मुक्तिदाता परात्पर परमात्मा श्रीकृष्णका भजन करो। मैं बूढ़ा हो गया और तुम भी बूढ़ी हुई। फिर पुत्र कैसे होगा? इसलिये बन्धनके कारणभूत अज्ञानजनित शोकको त्याग दो ॥ २६-२७ ॥

राजन्! यादवराज उग्रसेनका यह विज्ञानप्रद उत्तम वचन सुनकर रानी रुचिमती अपने यदुकुलतिलक पतिसे बोली ॥ २८ ॥

रुचिमतीने कहा—राजन्! यदि इस यज्ञके प्रतापसे मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है तो मेरी भी एक मनोवाञ्छा है। मैं चाहती हूँ कि मेरे मारे गये पुत्र यहाँ आवें और मैं उन्हें देखूँ। यदि आप मेरे सामने ऐसी बात कहें कि 'मरे हुए लोगोंका दर्शन कैसे हो सकता है?' तो इसका उत्तर भी मेरे ही मुँहसे सुन लें। राजेन्द्र! भगवान् श्रीकृष्ण-ने अपने गुरुको गुरुदक्षिणाके रूपमें उनके मरे हुए पुत्रको लाकर दे दिया था, उसी प्रकार मैं भी अपने पुत्रोंको सामने आया देखना चाहती हूँ ॥ २९—३१ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—रानीकी यह बात सुनकर महायशस्वी महाराज उग्रसेनने मुझको और श्रीकृष्णको अन्तः-पुरमें बुलवाया। हम दोनोंके जानेपर उन्होंने बड़ा भारी स्वागत-सत्कार किया। हम दोनोंका पूजन करके राजाने हमसे अपना सारा अभिप्राय निवेदन किया। उग्रसेनकी कही हुई बात सुनकर मैंने श्रीहरिको कुछ कहनेके लिये प्रेरणा दी। नृपेश्वर! जैसे उपेन्द्र इन्द्रसे बोलते हैं, उसी प्रकार उस समय उन्होंने राजासे कहा ॥ ३२-३३½ ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन्! सुनिये; पूर्वकालमें आपके जो-जो पुत्र संग्राममें मारे गये हैं, वे सब-के-सब दिव्य देह धारण करके स्वर्गलोकमें देवताके समान विद्यमान हैं। अतः नृपश्रेष्ठ! आप पुत्रशोक छोड़कर धैर्यपूर्वक क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान कीजिये। यज्ञके अन्तमें मैं आपको आपके सभी पुत्रोंके दर्शन कराऊँगा ॥ ३४—३६ ॥

श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर पृथ्वीपति उग्रसेन बड़े प्रसन्न हुए और अपनी प्रियाको सुन्दर वचनोंद्वारा आश्वासन दे, श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ सुधर्मा-सभामें गये। श्रीकृष्णसहित राजा उग्रसेनको आया देख दिक्पालों तथा बलराम और शिव आदि देवताओंने प्रणाम किया। वज्रनाभ! राजा उग्रसेनके

उत्तम तपका मैं क्या वर्णन करूँ ! इन्हें श्रीकृष्ण आदि सब लोग प्रणाम करते रहे हैं। यादवराज भी समस्त देवताओंको नमस्कार करके लज्जित हो कुछ सोचकर इन्द्रके दिये हुए दिव्य सिंहासनपर नहीं बैठे। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसी क्षण हाथ पकड़कर अपने भक्त नरेशको उस इन्द्रके सिंहासन पर बिठाया ॥ ३७-४१ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'राजा-रानीका संवाद' विषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

ऋत्विजोंका वरण-पूजन; श्यामकर्ण अश्वका आनयन और अर्चन; ब्राह्मणोंको दक्षिणा-दान; अश्वके भालदेशमें बँधे हुए स्वर्णपत्रपर गर्गजीके द्वारा उग्रसेनके बल-पराक्रमका उल्लेख तथा अनिरुद्धको अश्वकी रक्षाके लिये आदेश

श्रीगर्गजी कहते हैं—तदनन्तर सुधर्मा-सभामें वासुदेवसे प्रेरित हो राजा उग्रसेनने वहाँ पधारे हुए ऋत्विजोंको मस्तक झुकाकर प्रणाम करके प्रसन्न किया और विधिवत् उन सबका वरण किया। पराशर, व्यास, देवल, च्यवन, असित, शतानन्द, गालव, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, अगस्त्य, वामदेव, मैत्रेय, लोमश, कवि (शुक्राचार्य), मैं (गर्ग), क्रतु, जैमिनि, वैशम्पायन, पैल, सुमन्तु, कण्व, भृगु, परशुराम, अकृतव्रण, मधुच्छन्दा, वीतिहोत्र, कवष, धौम्य, आसुरि, जाबालि, वीरसेन, पुलस्त्य, पुलह, दुर्वासा, मरीचि, एकत, द्वित, त्रित, अङ्गिरा, नारद, पर्वत, कपिलमुनि, जातूकर्ण्य, उतथ्य, संवर्त, ऋष्यशृङ्ग, शाण्डिल्य, प्राड्विपाक, कहोड, सुरत, मनु, कच, स्थूलशिरा, स्थूलाक्ष, प्रतिमर्दन, बकदाल्भ्य, कौण्डिन्य, रैभ्य, द्रोण, कृप, प्रकटाक्ष, यवक्रीत, वसुबभ्रु, मित्रभू, अपान्तरतमा, दत्तात्रेय, महामुनि मार्कण्डेय, जमदग्नि, कश्यप, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, मुनि वसिष्ठ, विश्वामित्र, पतञ्जलि, कात्यायन, पाणिनि और वाल्मीकि आदि ऋत्विजोंका यादवराज उग्रसेनने पूजन किया। नरेश्वर ! वे सभी निमन्त्रित ऋत्विज बड़े प्रसन्न होकर राजासे बोले ॥ १-११ ॥

मुनियोंने कहा—देव-दानव-वन्दित महाराज उग्रसेन ! तुम यज्ञ आरम्भ करो। श्रीकृष्णकी कृपासे वह अवश्य पूर्ण होगा ॥ १२ ॥

उन महर्षियोंका यह वचन सुनकर अन्धक-कुलके स्वामी राजा उग्रसेनकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ संतुष्ट हो गयीं। उन्होंने यज्ञकी सारी सामग्री एकत्र की। तदनन्तर ब्राह्मणोंने सोनेके हलोंसे यज्ञकी भूमि जोती तथा पिण्डारक तीर्थके समीप विधिपूर्वक राजाको यज्ञकी दीक्षा दी। चार योजनतककी विशाल भूमिको जोतकर राजाने वहाँ यज्ञके लिये मण्डप बनवाये। योनि और मेखलासे युक्त मध्यकुण्डका निर्माण करके उसमें विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना की। वज्रनाभ ! मेरे कहनेसे राजा उग्रसेनने अनेक रत्नोंसे विभूषित और ध्वजा-पताकाओंसे मण्डित सभा-मण्डप बनवाया। उस सभाभवनको देखकर श्रीकृष्णने अपने पुत्रसे कहा ॥ १३-१७½ ॥

श्रीकृष्ण बोले—प्रद्युम्न ! मेरी बात सुनो और सुनकर तत्काल उसका पालन करो। जाओ, शस्त्रधारी शूरवीरोंके साथ यत्नपूर्वक अश्वमेधीय अश्वको यहाँ ले आओ ॥ १८½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—श्रीहरिका यह आदेश सुनकर धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न 'बहुत अच्छा' कहकर घोड़ा लानेके लिये घुड़सालमें गये। नरेश्वर ! तदनन्तर श्रीकृष्णने उस अश्वकी रक्षाके लिये अपने पुत्र भानु और साम्ब आदिको अश्वशालामें भेजा। अश्वशालामें जाकर बलवान् रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नने सोनेकी साँकलोंमें बँधे हुए सहस्रों श्यामकर्ण अश्व देखकर उनमेंसे एक यज्ञके योग्य अश्वको अपने हाथसे हँसते हुए अनायास ही बन्धनमुक्त कर दिया। बन्धनसे छूटने पर वह अश्व धीरे-धीरे अश्वशालासे बाहर निकला। उसका मुख लाल, पूँछ पीली और कान श्यामवर्णके थे। मुक्ताफलोंकी मालाओंसे सुशोभित वह दिव्य अश्व अत्यन्त मनोहर दिखायी देता था। वह श्वेत छत्रसे युक्त और चामरोंसे अलंकृत था। उसके आगे, पीछे और बीचमें उपस्थित श्रीहरिके पुत्र उस अश्वराजकी उसी प्रकार सेवा करते थे, जैसे समस्त देवता श्रीहरिकी। अन्यान्य मण्डलेश्वरोंसे भी सुरक्षित हुआ वह अश्व भूतलको अपनी टापोंसे खोदता हुआ सभामण्डपके पास आया। राजन् ! श्यामकर्ण अश्वको वहाँ आया देख राजा उग्रसेनने प्रसन्न होकर मुझे आवश्यक विधिका सम्पादन करनेके लिये भेजा। तब मैंने रानी रुक्मिमतीसहित महाराज उग्रसेनको

योग्य आसनपर बिठाकर पिण्डारक तीर्थमें धर्मके अनुसार समस्त प्रयोग करवाया। राजा उग्रसेन चैत्रमासकी पूर्णिमाको मृगचर्म धारण किये यज्ञके लिये दीक्षित हुए। राजन्! उन्होंने मेरी आज्ञासे 'असिपत्र-व्रत'का नियम लिया। नरेश्वर! मैं यादवेन्द्रकुलका पूर्वपुरुष होनेके कारण उस यज्ञमें समस्त ब्राह्मणोंका आचार्य बनाया गया॥ १९—२०½॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे समस्त ब्राह्मण वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए अपने-अपने आसनपर बैठे। उन सबने गणेश आदि देवताओंका पृथक्-पृथक् पूजन किया। राजन्! फिर सब मुनियोंने अश्वकी स्थापना करके उसपर केसर, चन्दन, फूल-माला और चावल चढ़ाये, धूप निवेदित किये। सुधाकुण्डलिका आदिका नैवेद्य लगाया और आरती आदिके द्वारा उस अश्वकी विधिपूर्वक पूजा करके राजाको दानके लिये प्रेरित किया। उनका यह आदेश सुनकर उग्रसेनने शीघ्रतापूर्वक पहले मुझे धनका दान किया। एक लाख घोड़े, एक हजार हाथी, दो हजार रथ, एक लाख दुधारू गाय और सौ भार सुवर्ण—इतनी दक्षिणा राजाने मुझको दी। राजन्! तदनन्तर निमन्त्रित ब्राह्मणोंको महाराज उग्रसेनने जो शास्त्रोक्त दक्षिणा दी, उसका वर्णन सुनो। प्रत्येकको एक हजार घोड़े, दो सौ हाथी, दो सौ रथ और बीस भार सुवर्ण—इतनी दक्षिणा दी गयी। तत्पश्चात् जो अनिमन्त्रित ब्राह्मण आये थे, उनको नमस्कार करके राजाने विधिपूर्वक एक हाथी, एक रथ, एक गौ, एक भार सुवर्ण और एक घोड़ा—इतनी दक्षिणा प्रत्येक ब्राह्मणके लिये दी॥ २१—३९॥

इस प्रकार दान करके घोड़ेके ललाटपर, जो कुङ्कुम आदिके कारण अत्यन्त कमनीय दिखायी देता था, राजाने सोनेका पत्र बाँधा। उस पत्रपर मैंने सभामण्डपमें समस्त यादवोंके समक्ष महाराज उग्रसेनके बढ़े-चढ़े बल-पराक्रम तथा प्रतापका इस प्रकार उल्लेख किया॥ ४०—४१॥

"चन्द्रवंशके अन्तर्गत यदुकुलमें राजा उग्रसेन विराजमान हैं, जिनके आदेशका इन्द्र आदि देवता भी अनुसरण करते हैं। भक्तपालक भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सहायक हैं और उन्हींकी भक्तिसे बँधकर वे श्रीहरि सदा द्वारकापुरीमें निवास करते हैं। उन्हींकी आज्ञासे चक्रवर्ती राजाधिराज उग्रसेन अपने यशका विस्तार करनेके लिये हठात् अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। उन्होंने ही यह अश्वोंमें श्रेष्ठ शुभलक्षणसम्पन्न श्यामकर्ण घोड़ा छोड़ा है। इस अश्वके रक्षक हैं, श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्ध, जिन्होंने 'वृक' दैत्यका वध किया था। वे हाथी, घोड़े, रथ और पैदल-वीरोंकी चतुरङ्गिणी सेनाओंके साथ हैं। इस भूतलपर जो-जो राजा राज्य करते हैं और अपनेको शूरवीर मानते हैं, वे इस स्वर्णपत्रशोभित अश्वमेधीय अश्वको अपने बलसे रोकें। धर्मात्मा अनिरुद्ध अपने बाहुबल और पराक्रमसे हठपूर्वक अनायास ही राजाओंद्वारा पकड़े गये इस अश्वको छुड़ा लेंगे। जो धनुर्धर नरेश इस अश्वको नहीं पकड़ सकें, वे अनिरुद्धजीके चरणोंमें प्रणाम करके सकुशल लौट जायँ"॥ ४२—४८॥

जब इस प्रकार स्वर्णपत्रपर लिख दिया गया, तब श्रेष्ठ यदुवंशी वीरोंने शङ्ख बजाये। झाँझ, मृदङ्ग, नगाड़े और गोमुख आदि बाजे बज उठे। गन्धर्वगण श्रीकृष्ण और बलदेवके मङ्गलमय चरित्रोंका गान करने लगे और अप्सराएँ भी वहाँ आनन्दविभोर होकर नृत्य करने लगीं। तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर यादवराज उग्रसेनके सामने ही वहाँ खड़े हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको उस यज्ञ-सम्बन्धी अश्वके सर्वथा संरक्षणका आदेश दिया॥ ४९—५१॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधचरित्र-सुमेरुमें 'अश्वका पूजन' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

बारहवाँ अध्याय

अश्वमोचन तथा उसकी रक्षाके लिये सेनापति अनिरुद्धका विजयाभिषेक

श्रीगर्गजी कहते हैं—तदनन्तर राजा उग्रसेनने द्वारकापुरीमें, जिसके ऊपर विधिपूर्वक चामर बँधे हुए थे, उस अश्वका पूजन करके वेदमन्त्रोंके उद्घोषके साथ उसे छोड़ा। वह अश्वराज भी सुधाकुण्डलिका (इमरती या जलेबी आदि) खाकर, सोनेकी मालाओं तथा कुङ्कुमसे सुशोभित हो उस स्थानसे निकला। उस अश्वकी रक्षाके लिये उद्यत हुए वृकहन्ता अनिरुद्धसे राजाधिराज उग्रसेनने अश्वरक्षाके विषयमें आदरपूर्वक कहा॥ १—२॥

१. मिष्टान्न (इमरती या जलेबी आदि) एक मधुर खाद्यपदार्थका नाम।

श्रीउग्रसेन बोले—श्रीकृष्णपौत्र प्रद्युम्नकुमार ! तुमने अश्वकी रक्षाके लिये स्वेच्छासे जो बात कही थी, उसे शीघ्र पूर्ण करो । पहले मेरे राजसूय यज्ञके समय तुम्हारे पिता प्रद्युम्नने पृथ्वीपर विजय पायी थी । तुम उन्हींके महान् बलवान् एवं शूरवीर पुत्र हो । तुमने शकुनिके भाई महादैत्य वृकका वध किया था । समस्त राजाओंको जीता था और भीष्मको भी युद्धमें संतुष्ट कर दिया था । अहो ! चन्द्रमा और ब्रह्माजी जिनके भीतर विलीन हो गये, उनकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय । इसीलिये समस्त ऋषि-मुनि तुम्हें 'परिपूर्ण' कहते हैं । अतः तुम वीर-सेनासे घिरे हुए आगे बढ़ो और समस्त राजाओंसे अश्वमेधीय अश्वकी रक्षा करो । जो बालक, रथहीन, भयभीत, शरणागत, दीनचित्त, सुप्त, प्रमत्त और उन्मत्त हो, उन्हें युद्धमें न मारना । प्रद्युम्ननन्दन ! श्रीकृष्णके प्रतापसे तुम्हारा मार्ग निर्विघ्न हो और तुम घोड़े तथा सेनाके साथ पुनः यहाँ सकुशल लौट आओ ॥ ४–१० ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं–राजाकी यह उत्तम बात सुनकर अनिरुद्ध बोले—'बहुत अच्छा' । फिर उन्होंने अश्वकी रक्षाके लिये चित्तको एकाग्र किया । तदनन्तर उन ब्राह्मण ऋत्विजोंने श्रीकृष्णचन्द्रकी आज्ञासे तत्काल अनिरुद्धको मन्त्रपाठपूर्वक स्नान करवाया और प्रसन्नतापूर्वक उनकी अर्चना की । अनिरुद्धका तिलक करके राजाने उन्हें विधिपूर्वक भेंट दी और युद्धके लिये एक खड्ग हाथमें दिया । शूरसेनने उन्हें रत्नोंकी माला दी । वसुदेवजीने दो कुण्डल प्रदान किये । बलरामने कवच और श्रीहरिने चक्र दिये । प्रद्युम्नने अनिरुद्धको श्रीकृष्णका दिया हुआ धनुष प्रदान किया । राजेन्द्र ! इतना ही नहीं, उन्होंने अपने दोनों तरकस भी दे दिये, जिनमें कभी बाण समाप्त नहीं होते थे । भगवान् शंकरने अपने त्रिशूलसे एक दूसरा त्रिशूल उत्पन्न करके दे दिया । उद्धवने किरीट और देवकने पीताम्बर दिया । वरुणने नागपाश तथा शक्तिधारी स्कन्दने शक्ति दी । वायुदेवने दो दिव्य व्यजन भेंट किये । यमराजने अपना दण्ड दे दिया । कुबेरने हीरेका हार और अर्जुनने परिघ अर्पित किया । भद्रकालीने एक भारी गदा दी । सूर्यदेवने एक माला भेंट की । पृथ्वीदेवीने दो योगमयी पादुकाएँ दीं । गणेशजीने दिव्य कमल प्रदान किया । अक्रूरने विजयदायक दक्षिणावर्त शङ्ख दिया । द्वारकामें देवराज इन्द्रने अनिरुद्धको एक विजयशील महादिव्य रत्नमय रथ प्रदान किया, जो मनके समान वेगशाली था । उस रथका निर्माण साक्षात् विश्वकर्माने किया था । उसमें एक हजार घोड़े जुते हुए थे । एक हजार पहिये लगे थे । वह सुवर्णसे सम्पन्न था । ब्रह्माण्डके बाहर और भीतर सर्वत्र उसकी गति थी । वह छत्रसे सुशोभित था । उसमें स्वर्णनिर्मित सैकड़ों ध्वजा-पताकाएँ शोभा दे रही थीं । उससे मेघकी गर्जनाके समान उद्घोष होता था । उस रथमें घंटों और मंजीरोंकी ध्वनि व्याप्त थी । उस समय शङ्ख और दुन्दुभियाँ बज उठीं । झाँझ और वीणा आदि भी बजने लगे । मृदङ्गोंके शब्द और वंशीके मधुर रागोंके साथ जय-जयकारकी ध्वनि सब ओर छा गयी । वेद-मन्त्रोंका घोष होने लगा । लावा, फूल और मोतियोंकी वर्षा होने लगी । देवतालोग अनिरुद्धके ऊपर दिव्य पुष्प बरसाने लगे ॥ ११–२४ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अनिरुद्धका विजयाभिषेक' नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

तेरहवाँ अध्याय

अनिरुद्धका अन्तःपुरसे आज्ञा लेकर अश्वकी रक्षाके लिये प्रस्थान; उनकी सहायताके लिये साम्बका कृतप्रतिज्ञ होना; लक्ष्मणाका उन्हें सम्मुख युद्धके लिये प्रोत्साहन देना; श्रीकृष्णके भाइयों और पुत्रोंका भी श्रीकृष्णकी आज्ञासे प्रस्थान करना तथा यादवोंकी चतुरङ्गिणी सेनाका विस्तृत वर्णन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर गुरुजनोंको नमस्कार करके अनिरुद्ध देवकी, रोहिणी, रुक्मिणी, सत्यभामा तथा अन्य सम्पूर्ण श्रीहरिवल्लभाओंसे आज्ञा लेनेके लिये अन्तःपुरमें गये । वहाँ उन सबकी आज्ञा ले, अपनी माता रति तथा रुक्मवतीको प्रणाम करके उनसे बोले—'मैं अश्वकी रक्षा करनेके लिये जाता हूँ । इसके लिये महाराजने मुझे आज्ञा दी है । मेरे साथ अन्य बहुत-से यदुवंशी वीर जा रहे हैं' ॥ १-२ ॥

राजन् ! अनिरुद्धका यह कथन सुनकर माताओंने उन्हें हृदयसे लगा लिया और गद्गदकण्ठसे उन प्रणत प्रद्युम्न-कुमारको जानेकी आज्ञा देते हुए आशीर्वाद प्रदान किया। माताओंको नमस्कार करके वे अपनी पत्नियोंके महलोंमें गये। अपने पतिको आया देखकर ऊषा आदि तीनों पत्नियोंने उनका समादर किया। परंतु विरहकी सम्भावनासे उन सबका मन उदास हो गया। अनिरुद्ध उन प्यारी पत्नियोंको आश्वासन दे राजसभामें लौट आये ॥ ३—५ ॥

राजेन्द्र ! उसके बाद यज्ञ-सम्बन्धी अश्वकी रक्षाके लिये यात्राके निमित्त ऋषि-मुनियोंने अनिरुद्धके उद्देश्यसे मङ्गल-पाठ किया। फिर वे समस्त महर्षियों, गुरुजनों, महाराज उग्रसेन, शूरसेन, वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण, अपने पिता प्रद्युम्न तथा अन्यान्य पूजनीय यादवोंको प्रणाम करके समस्त नागरिकोंद्वारा पूजित हुए। नरेश्वर ! उन्होंने हाथोंमें धनुष-बाण लिये, अँगुलियोंमें गोधाके चर्मसे बने हुए दस्ताने पहन लिये, कवच-कुण्डल धारण किये और पैरोंमें जूते पहनकर सिंहके समान पराक्रमी महावीर अनिरुद्धने ढाल, तलवार, किरीट एवं शक्ति ले, सोनेके बने हुए आभूषण धारण किये। फिर वे इन्द्रके दिये हुए दिव्य रथके द्वारा अपनी पुरीसे बाहर निकले। उस समय गाजे-बाजेकी आवाज और वेद-मन्त्रोंके घोषके साथ यात्रा करते हुए अनिरुद्धपर चारों ओरसे चँवर डुलाये जा रहे थे। समस्त पुरवासी उनकी इस यात्राको देख रहे थे ॥ ६—११ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने उनके साथ जानेके लिये उद्धव आदि मन्त्री तथा भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन और दशार्णकुलमें उत्पन्न वीर योद्धा भेजे। तदनन्तर राजा उग्रसेनने यदुवंशी वीरोंको सम्बोधित करके पूछा—'यादवो ! बताओ, युद्धमें अनिरुद्धकी सहायता करनेके लिये कौन जायगा ?' उग्रसेनकी यह बात सुनकर जाम्बवतीकुमार साम्बने सबके देखते-देखते राजाको नमस्कार करके यह बात कही ॥ १२—१४ ॥

साम्ब बोले—राजेन्द्र ! मैं महासमरमें सदा संनद्ध रहकर शत्रुओंसे अनिरुद्धकी रक्षा एवं सहायता करूँगा। यदि समराङ्गणमें मैं इनकी रक्षा न करूँ तो महाराज ! उस दशामें मुझ सत्यवादीकी यह प्रतिज्ञा सुन लीजिये—'मनुष्य त्याग देनेयोग्य दशमीविद्धा एकादशीका व्रत करके जिस गतिको प्राप्त होता है, मुझे भी निश्चय वही गति मिले। गोहत्यारों और ब्रह्महत्यारोंकी जो गति होती है, वही गति यदि मैं यह रक्षणकार्य न कर सकूँ, तो मेरी भी हो' ॥ १५—१८ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—ऐसी बात कहकर साम्ब वहाँसे अन्तःपुरमें गये। वहाँ माता जाम्बवतीको प्रणाम करके उन्होंने सारा अभिप्राय निवेदन किया। उनकी बात सुनकर माताने विरहकी अनुभूति करके बेटेको हृदयसे लगा लिया और आशीर्वाद दिया। तदनन्तर समस्त माताओंको नमस्कार करके वे पत्नीके घरमें गये। उन्हें आते देख शुभलक्षणा लक्ष्मणा बैठनेके लिये आसन दे आँसुओंसे कण्ठ अवरुद्ध हो जानेके कारण कुछ भी नहीं बोलीं। साम्बने उसे आश्वासन दे अपना अभिप्राय कह सुनाया। सुनकर विरहकी सम्भावनासे खिन्नचित्त हो वह पतिसे बोली ॥ १९—२२ ॥

लक्ष्मणाने कहा—पतिदेव ! आपको अनिरुद्धके अश्वकी सदा रक्षा करनी चाहिये। आप युद्धका अवसर आये तो सम्मुख होकर युद्ध करें। रणभूमिसे कभी विमुख न हों। आपके सहस्रों भाई हैं और उन सबकी सहस्रों मानवती स्त्रियाँ हैं। नाथ ! यदि युद्धमें आपकी पराजय सुनकर वे आपकी प्रियतमा होनेके कारण मेरी ओर देखकर मुस्करा देंगी तो उस समय दुःखके कारण मेरी मृत्यु हो जायगी ॥ २३—२५ ॥

लक्ष्मणाकी यह बात सुनकर साम्ब हँसते हुए अपनी प्राणवल्लभासे बोले ॥ २५½ ॥

साम्बने कहा—भद्रे ! युद्धभूमिमें मेरा सामना करनेके लिये यदि सारी त्रिलोकी उमड़ आये तो भी तुम सुनोगी कि मैंने उन सबका विदलन (संहार) कर दिया है। शुभे ! यदि शूरवीर साम्ब रणभूमिसे विमुख हो जाय तो वह अपने पापसे वेद और ब्राह्मणोंका निन्दक माना जाय। उस दशामें मैं फिर तुम्हारे इस चन्द्रोपम मुखका दर्शन नहीं करूँगा ॥ २६—२८ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—इस प्रकार अपनी पहली प्रियाको आश्वासन दे साम्बने दूसरी प्रियाको भी धीरज बँधाया। फिर वे अभिमन्यु और सुभद्रासे मिलकर घरसे निकले। धनुष और तलवार ले यात्राके लिये सुसज्जित साम्ब रथपर बैठे और यादवोंसे घिरे हुए उस उपवनमें गये, जहाँ अनिरुद्ध विद्यमान थे। तदनन्तर श्रीकृष्णने अपने गद आदि समस्त भाइयोंको और भानु तथा दीप्तिमान् आदि सभी पुत्रोंको भेजा। वे सब-के-सब शौर्यसम्पन्न और

युद्धकुशल थे। उन्होंने धनुष धारण करके कवच बाँध लिया और चतुरङ्गिणी सेनाके साथ करोड़ोंकी संख्यामें वे नगरसे बाहर निकले। उनके दिव्य रथ लाल, हंस, मीन, मयूर और सिंहके चिह्नवाले ध्वजोंसे सुशोभित थे। उन रथोंका अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुवर्णमण्डित था। प्रत्येक रथमें चार-चार घोड़े जुते थे। वे सभी रथ बहुत ऊँचे और देवताओंके विमानोंके समान सुशोभित थे। उनमें छत्र और चँवर लगे हुए थे। उन रथोंके ऊपर सोनेके कलश थे, जो सूर्यके समान चमक रहे थे। उनमें जालीदार वन्दनवारें लगायी गयी थीं। ऐसे रथोंद्वारा श्रीकृष्णके सभी पुत्र कुशस्थलीसे बाहर निकले ॥ २९–३४½ ॥

राजन्! तदनन्तर सोनेके हौदोंसे सुशोभित हाथी निकले, जिनके मुखपर गोमूत्र, सिन्दूर और कस्तूरीसे पत्ररचना की गयी थी। वे हाथी अञ्जन, कोयले और सजल जलधरोंके समान काले थे। उनके गण्डस्थलसे मद झर रहे थे। उनके श्वेत दाँत कमलकी नालके समान जान पड़ते थे। मृगद्वीप-जातिके हाथी अत्यन्त ऊँचे होनेके कारण पर्वताकार दिखायी देते थे। उनके घंटे बज रहे थे और वे अत्यन्त उत्कट जान पड़ते थे। ऐरावतकुलमें उत्पन्न हाथी श्वेत वर्णके थे। उनके तीन-तीन शुण्डदण्ड और चार-चार दाँत थे। उन सबको भगवान् श्रीकृष्ण भौमासुरकी राजधानीसे लाये थे। वे सब-के-सब पुरीसे बाहर निकले। एक लाख हाथी ऐसे थे, जिनकी पीठपर ध्वज फहरा रहे थे और उनके ऊपर एक लाख दुन्दुभियाँ रक्खी गयी थीं। लाख हाथी ऐसे थे, जिनपर कोई महावत नहीं बैठे थे। वे भी सुनहली झूलोंसे अलंकृत थे। तदनन्तर एक करोड़ गजराज ऐसे निकले, जिनके ऊपर शूरवीर योद्धा सवार थे। जैसे समुद्रमें मगर विचरते हैं, उसी प्रकार उस सेनामें वे गजराज इधर-उधर घूमते विराज रहे थे। वे अपने शुण्डदण्डोंसे वृक्षोंको उखाड़कर आकाशमें फेंकते थे और मदकी धारासे पृथ्वीको भिगोते हुए पैरोंके आघातसे उसे कम्पित-सी कर रहे थे। अपने मस्तकोंकी टक्करसे महलों, दुर्गों और पर्वतशिखरोंको भी वे धराशायी करनेमें समर्थ थे। वे बलशाली गजराज शत्रुओंकी सारी सेनाको कुचल देनेवाले थे। उनपर पड़ी हुई झूलें नीली, पीली, काली, सफेद और लाल थीं। वे सोनेकी साँकलोंसे युक्त थे और बड़ी शोभा पाते थे ॥ ३५–४३ ॥

राजन्! तत्पश्चात् जिन्हें नारदजीने अश्वशालामें देखा था, वे सभी अश्व सोनेके हारोंसे अलंकृत हो नगरसे बाहर निकले। कोई घोड़े बड़े चञ्चल थे, जिन्होंका वर्ण धुएँके रंगका था और वे देखनेमें बड़े मनोहर थे। किन्हींके रंग काले और किन्हींके श्याम थे। कोई-कोई कमलके समान कान्तिवाले थे। उन सबके कंधे बड़े सुन्दर थे। कुछ घोड़े दूधके समान सफेद थे। कितने ही पानीके समान प्रतीत होते थे। किन्हींकी कान्ति हल्दीके समान पीली थी। कोई केसरिया रंगके थे और कुछ घोड़े पलाशके फूलके समान लाल थे। किन्हींके अङ्ग चितकबरे थे और किन्हींके स्फटिकमणिके समान स्वच्छ। वे सभी मनके समान वेगशाली थे। कोई हरे, कोई ताँबेके समान रंगवाले, कोई कुसुम्भकी-सी कान्तिवाले और कोई तोतेकी पाँखके समान प्रभावाले थे। कोई बीरबहूटीके समान लाल, कोई गौर और कोई पूर्ण चन्द्रमाके समान उज्ज्वल थे। वे सभी अश्व दिव्य थे। किन्हींके अङ्ग सिन्दूरके समान रंगवाले थे। कोई प्रज्वलित अग्नि और कोई बाल सूर्यके समान कान्तिमान् थे। राजन्! ये घोड़े सभी देशोंसे द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णके प्रतापसे आये थे। वे सभी उस दिन यात्राके लिये निकले ॥ ४४–४९ ॥

श्रीकृष्णकी अश्वशालामें जो घोड़े विद्यमान थे, वे वैकुण्ठ-वासी तथा श्वेतद्वीपनिवासी थे। उनमेंसे कोई मयूरके समान कान्तिवाले थे और कोई नीलकण्ठके समान। किन्हींके वर्ण बिजलीके समान दीप्तिमान् थे और किन्हींके गरुडके समान। वे सभी अश्व दिव्य पंखोंसे अलंकृत थे। उनकी शिखाओंमें मणि प्रकाशित होती थी। वे श्वेत चामरोंसे अलंकृत थे। मुक्ताफलोंकी मालाओं तथा लाल रंगके वस्त्रोंसे विभूषित थे। उन सबका सुवर्णसे शृङ्गार किया गया था। उनकी पूँछ और मुखपट्टसे दिव्य प्रभा फैल रही थी। वे सर्वाङ्गसुन्दर दिव्य अश्व सहस्रोंकी संख्यामें बाहर निकले ॥ ५०–५३ ॥

नरेश्वर! श्रीकृष्णके ये अश्व अपने पैरोंसे भूमिका स्पर्श नहीं करते थे। वे वायु और मनके समान वेगशाली, चञ्चल और मनोहर थे। राजन्! वे पानीके बबूलोंपर चल सकते थे, कच्चे सूतोंपर दौड़ सकते थे। कितने ही ऐसे थे, जो मकड़ी-के जालों और पारदपर भी चलनेमें समर्थ थे। नृपेश्वर! वे समुद्रोंके जलपर भी निराधार चलते देखे जाते थे। राजन्! कुछ म्लेच्छ देशोंमें उत्पन्न अश्व भी वहाँ मौजूद थे, जो उस यात्रामें पुरीसे बाहर निकले। राजन्! उनमें कोटि-कोटि अश्व ऐसे थे, जो प्रतिदिन सौ योजन अविराम गतिसे दौड़ सकते थे। नरेश्वर! भगवान् श्रीकृष्णके घोड़े

गढ़े, दुर्गम भूमि, नदी, ऊँचे-ऊँचे महल तथा पर्वत आदिको भी लाँघ जाते थे। उन सभी घोड़ोंपर वीर योद्धा सवार थे ॥ ५४–५७ ॥

इसके बाद द्वारकापुरीसे समस्त पैदल-सैनिक बाहर निकले। वे धनुष और कवचसे सुसज्जित शूरवीर तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे। उनके कद ऊँचे थे। ढाल और तलवार धारण किये वे योद्धा लोहेके कवचसे आच्छादित थे। हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले थे और युद्धमें बहुत-से शत्रुओंपर विजय पानेकी शक्ति रखते थे, इस प्रकार पुरीसे बाहर निकली हुई यादवोंकी उस विशाल सेनाको देखकर देवता, दैत्य और मनुष्य सबको महान् विस्मय हुआ ॥ ५८–६० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यादव-सेनाका निर्गमन' नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चौदहवाँ अध्याय

अनिरुद्धका सेनासहित अश्वकी रक्षाके लिये प्रयाण; माहिष्मतीपुरीके राजकुमारका अश्वको बाँधना तथा अनिरुद्धका राजा इन्द्रनीलसे युद्धके लिये उद्यत होना

श्रीगर्गजी कहते हैं—नरेश्वर! तदनन्तर राजा उग्रसेनकी आज्ञासे अनिरुद्धसे मिलनेके लिये वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न तथा अन्य सब यादव रथोंद्वारा नगरसे बाहर निकले। वहाँ जाकर उन्होंने सेनासे घिरे हुए अनिरुद्धको देखा। भगवान् श्रीकृष्णने पहले राजसूय यज्ञके अवसरपर प्रद्युम्नको जिस नीतिका उपदेश दिया था, वही सारी नीति उस समय अनिरुद्धसे कह सुनायी ॥ १–३ ॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णका वह उपदेश सुनकर अनिरुद्ध आदि समस्त यादवोंने प्रसन्नतापूर्वक उसे शिरोधार्य किया। तत्पश्चात् मुनिवर गर्ग, अन्यान्य मुनिवृन्द, वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्णचन्द्र तथा प्रद्युम्नको अनिरुद्धने प्रणाम किया। वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण और प्रद्युम्न आदि यादव अनिरुद्धको शुभाशीर्वाद देकर रथोंद्वारा पुरीमें लौट आये। नरेश्वर! अनिरुद्धका अश्व देश-देशमें गया; किंतु श्रीकृष्णके भयसे कोई भूपाल उसे पकड़नेका साहस न कर सके। जहाँ-जहाँ वह घोड़ा गया, वहाँ-वहाँ सैनिकोंसहित अनिरुद्ध उसके पीछे शत्रुओंको जीतनेके लिये गये ॥ ४–८ ॥

इस प्रकार विभिन्न राज्योंका अवलोकन करता हुआ अनिरुद्धका वह अश्व नर्मदाके तटपर विराजमान माहिष्मती-पुरीको गया। उस पुरीमें चारों वर्णोंके लोग भरे थे और वह प्रस्तरनिर्मित दुर्गसे मण्डित थी। भगवान् शंकरके गगनचुम्बी मन्दिर उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे। पाँच योजन विस्तृत माहिष्मतीपुरी राजा इन्द्रनीलसे परिपालित थी। शाल, ताल, तमाल, वट, बिल्व और पीपल आदि वृक्ष उसकी श्रीवृद्धि कर रहे थे। बहुत-से पोखरे और बावड़ियाँ वहाँ शोभा पाती थीं, जिनमें पक्षी कलरव करते थे। ऐसी नगरीके वहाँके उपवनमें पहुँचकर अश्वने देखा। राजा इन्द्रनीलके बलवान् पुत्रका नाम नीलध्वज था। वह सहस्रों वीरोंके साथ शिकार खेलनेके लिये पुरीसे बाहर निकला ॥ ९–१३ ॥

उस राजकुमारने भालमें बँधे हुए पत्रके साथ श्यामकर्ण घोड़ेको देखा, जो फूलोंसे भरे उपवनमें कदम्बके नीचे खड़ा था। उसकी अङ्ग-कान्ति गायके दूधकी भाँति श्वेत थी। अनेक चामरोंसे अलंकृत वह अश्व वहाँ घूमता हुआ आ गया था। उसके शरीरपर स्त्रियोंके कुङ्कुमलिप्त हाथोंके छाप शोभा दे रहे थे तथा वह मोतीकी मालाओंसे मण्डित था। उस घोड़ेको देख राजकुमार नीलध्वजने अपने वाहनसे उतर-कर बड़े हर्षके साथ खेल-खेलमें ही उसके सिरका बाल पकड़ लिया। उसके भालमें यादवराज उग्रसेनने जो पत्र लगा दिया था, उसको राजकुमार पढ़ने लगा। उसमें लिखा था—'द्वारकाके अधिपति, राजा उग्रसेन समस्त शूरवीरोंके शिरोमणि हैं। उनके समान महायशस्वी और चक्रवर्ती राजा दूसरा कोई नहीं है। उन्होंने पत्रसहित इस अश्वराजको स्वतन्त्र विचरनेके लिये छोड़ा है। अनिरुद्ध इसका पालन करते हैं। जो राजा अपनेको सबल समझते हों, वे इसे पकड़ें; अन्यथा अनिरुद्धके चरणोंमें प्रणाम करके लौट जायँ।' यह अभिप्राय देखकर राजकुमार क्रोधसे बोल उठा—'क्या अनिरुद्ध ही धनुर्धर हैं? हमलोग धनुर्धर नहीं हैं? मेरे पिताजीके रहते हुए कौन इस प्रकार वीरताका गर्व कर सकता है?' ॥ १४–२०½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर राजकुमार घोड़ेको लेकर राजाके पास गया और अपने पिताके आगे

उस घोड़ेका वृत्तान्त कह सुनाया । पुत्रका वचन सुनकर महाबली महामानी शिवभक्त राजा नीलने अपने पुत्रसे इस प्रकार कहा ॥ २१-२२½ ॥

इन्द्रनील बोले—बेटा ! पहले क्रतुश्रेष्ठ राजसूयके अवसरपर समर्थ होते हुए मैंने अपने कुबुद्धि मन्त्रीके कहनेसे प्रद्युम्नको कुछ भेंट दे दी थी । अब पुनः घोड़ेकी रक्षा करता हुआ अनिरुद्ध आ धमका है । अहो ! दैवबल कैसा अद्भुत है ! उससे कौन-सा उलट-फेर नहीं हो सकता है ? अभी थोड़े ही दिन हुए द्वारिकामें वृष्णिवंशी बढ़ गये । अतः आज मैं अनिरुद्ध आदि समस्त यादवोंको परास्त करूँगा । उस मानीको श्यामकर्ण अश्व कदापि नहीं लौटाऊँगा । मैंने भक्तिभावसे भगवान् शंकरको संतुष्ट किया है । वे युद्धमें मेरी रक्षा करेंगे ॥ २३—२६½ ॥

ऐसा कहकर माहिष्मतीपुरीके वीरनरेशने सोनेकी रस्सी-से घोड़ेको बाँध लिया और सेनासहित जाकर युद्ध करनेका निश्चय किया । नरेश्वर ! इतनेमें ही घोड़ेको देखते हुए सौ अक्षौहिणी सेनाके साथ अनिरुद्ध नर्मदाके तटपर आ पहुँचे । राजन् ! साम्ब, मधु, बृहद्बाहु, चित्रभानु, वृक, अरुण, संग्रामजित्, सुमित्र, दीप्तिमान्, भानु, वेदबाहु, पुष्कर, श्रुतदेव, सुनन्दन, विरूप, चित्रबाहु, न्यग्रोध तथा कवि—ये अनिरुद्धके सहायक भी वहाँ आ गये । गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, उद्धव और युयुधान नामवाले सात्यकि—ये सब वृष्णिवंशी शूरवीर भी अनिरुद्धकी सहायता करनेके लिये आ पहुँचे । वे भोज, वृष्णि तथा अन्धक आदि यादव नर्मदाके तटपर खड़े हो श्यामकर्ण अश्वको न देखनेके कारण बड़े आश्चर्यमें पड़े और आपसमें इस प्रकार कहने लगे—'मित्रो ! महाराज उग्रसेनके पत्रसहित अश्वको कौन ले गया, जिससे वह श्यामकर्ण अश्व यहाँ हमें दिखायी नहीं देता है ? पहले राजसूय यज्ञके अवसरपर मानव, दैत्य और देवताओंने तथा नौ खण्डोंके अधिपतियोंने भी परास्त होकर जिनके लिये भेंट दी थी, उन्हींके प्रचण्ड शासनका तिरस्कार करके जिस कुबुद्धि नरेशने अभिमानवश अश्वका अपहरण किया है, वह चोर है । उसे चोरीका दण्ड मिलना चाहिये ।' सबके मुँहसे यही बात सुनकर और सामने पुरीकी ओर देखकर रुक्मवतीनन्दन अनिरुद्ध मन्त्रिप्रवर उद्धवसे बोले ॥ २७—३७½ ॥

अनिरुद्धने कहा—नर्मदा नदीके तटपर यह किस राजाकी नगरी शोभा पाती है ? मालूम होता है कि हमारा अश्व अवश्य इसी नगरीमें गया है ॥ ३८½ ॥

अनिरुद्धका यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण-सखा उद्धव अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले ॥ ३९ ॥

उद्धवने कहा—यह राजा इन्द्रनीलकी नगरी है और इसका शुभ नाम 'माहिष्मतीपुरी' है । इसमें रहनेवाले सभी वर्णोंके लोग भगवान् महेश्वरके पूजनमें रत रहते हैं । वृष्णि-कुलवल्लभ ! इस राजाने पूर्वकालमें नर्मदाके तटपर बारह वर्षोंतक नर्मदेश्वरकी पूजा की थी । उनके षोडशोपचार पूजनसे भगवान् शिव प्रसन्न हो गये और उन्हें दर्शन देकर वर माँगनेके लिये प्रेरित करने लगे । भगवान् शिवका वचन सुनकर माहिष्मतीपुरीके पालक नरेशने हाथ जोड़ गद्गद वाणीमें उन रुद्रदेवसे कहा—'ईशान ! आप सम्पूर्ण जगत्के गुरु तथा नर्मदेश्वर हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप सकाम पुरुषोंके कामनापूरक कल्पवृक्ष हैं । महेश्वर ! आप दाता हैं । मैं आपसे यह वर चाहता हूँ कि आप सदा देवता, दैत्य और मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाले भयसे मेरी रक्षा करें ।' राजाकी यह बात सुनकर भगवान् शंकरने प्रसन्न हो 'तथास्तु' कह दिया । राजेन्द्र ! ऐसा कहकर वे वहाँसे अन्तर्धान हो गये । कन्दर्पनन्दन ! इस कारण भगवान् रुद्रके वरसे प्रभावित वह शूरवीर नरेश युद्ध किये बिना तुम्हें अश्व नहीं लौटायेगा ॥ ४०—४७½ ॥

उद्धवजीका यह कथन सुनकर बलवान् अनिरुद्धने समस्त यादवोंके समक्ष धैर्यपूर्वक कहा ॥ ४८ ॥

अनिरुद्ध बोले—मन्त्रिप्रवर ! सुनिये, आपने यह बताया है कि इस राजाके सहायक साक्षात् भगवान् शिव हैं । परंतु जैसे इनपर शिवकी कृपा है, उसी प्रकार मेरे ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण कृपा रखते हैं ॥ ४९ ॥

—ऐसा कहकर यादवोंसहित वीर रुक्मवतीकुमारने अश्वको बन्धनसे मुक्त करनेके लिये राजा इन्द्रनीलको जीतनेका विचार किया । जब प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध कवच बाँधकर खड़े हुए, तब समस्त यादव-योद्धा परिघ, खड्ग, गदा, धनुष और फरसे लेकर युद्धके लिये संनद्ध हो गये ॥ ५०-५१ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अनिरुद्धका प्रयाण' नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

अनिरुद्ध और साम्बका शौर्य; माहिष्मती-नरेशपर इनकी विजय

श्रीगर्गजी कहते हैं—तदनन्तर इन्द्रनीलका पुत्र महाबली नीलध्वज तीन अक्षौहिणी सेना साथ लेकर यादवोंको जीतनेके लिये अपने नगरसे बाहर निकला। वह अपने पिताजीकी बात सुनकर यदुवंशियोंके प्रति अत्यन्त रोषसे भरा था। उस राजकुमारको आया देख श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध धनुष हाथमें लेकर अकेले ही उसके साथ युद्ध करनेके लिये गये, मानो इन्द्र वृत्रासुरपर विजय पानेके लिये प्रस्थित हुए हों। संग्राम-भूमिमें जाकर अनिरुद्ध शत्रुओंके ऊपर तत्काल बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे। इससे उन सबके हृदयमें त्रास छा गया। फिर तो नीलध्वजके समस्त सैनिक भयभीत हो रणभूमिसे भागने लगे और प्रद्युम्नकुमारने विजयसूचक अपना शङ्ख बजाया॥ १—४॥

अपनी सेनाको भागती देख बलवान् नीलध्वज धनुष टंकारता हुआ शीघ्र ही संग्राममण्डलमें आया। उसने धनुषकी प्रत्यञ्चासे अपनी सेनाको पुनः युद्धमें लौटनेके लिये प्रेरित किया। अनिरुद्धको शत्रुओंके बीचमें घिरा हुआ देख साम्बके रोषकी सीमा न रही। वे एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे रोषपूर्वक धनुष टंकारते हुए वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने बीस बाणोंसे नीलध्वजको और पाँच-पाँच बाणोंसे रथों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंको घायल कर दिया। साम्बके बाणोंकी चोट खाकर वे सब-के-सब धराशायी हो गये। हाथीके ऊपर हाथी, रथोंके ऊपर रथ, घोड़ोंपर घोड़े और पैदल मनुष्योंपर मनुष्य गिरने लगे। क्षणभरमें वहाँकी भूमिपर रक्तकी धारा बह चली। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल छिन्न-भिन्न होकर वहाँ पड़े थे॥ ५—१०॥

राजन्! फिर अपनी सेनामें भगदड़ मची हुई देख नीलध्वज, जिसके मनमें यादवोंको जीतनेकी बड़ी इच्छा थी, धनुष लेकर बाणोंकी वर्षा करता हुआ शत्रु-सेनाके सम्मुख आया। राजन्! युद्धस्थलमें पहुँचकर रोषसे भरे हुए उस राजकुमारने दस बाणोंसे साम्बके धनुषको उसी तरह काट दिया, जैसे कोई दुर्वचन द्वारा प्रेम-सम्बन्धको छिन्न-भिन्न कर दे। बलवान् इन्द्रनीलकुमारने चार बाणोंसे साम्बके चारों घोड़े मार दिये, दो बाणोंसे उनके रथकी ध्वजा काट गिरायी, सौ बाणोंसे रथकी धज्जियाँ उड़ा दीं और एक बाणसे सारथिको कालके गालमें भेज दिया॥ ११—१३॥

इस प्रकार साम्बको रथहीन करके राजकुमार नीलध्वजने पुनः सामने आयी हुई साम्बकी सेनाको बाणोंसे घायल करना आरम्भ किया। इतनेमें ही नीलध्वजकी सारी सेना भी लौट आयी और युद्धस्थलमें यादवोंकी विशाल वाहिनीको तीखे बाणोंसे घायल कर दिया। फिर तो रणक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीच घमासान युद्ध होने लगा। खड्ग, परिघ, बाण, गदा और तीखी शक्तियोंद्वारा उभयपक्षके सैनिक परस्पर प्रहार करने लगे। साम्ब दूसरे रथपर आरूढ़ हो, सुदृढ़ धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर रणक्षेत्रमें आये। वे बड़े बलवान् थे। उन्होंने सौ बाण मारकर नीलध्वजके रथको चूर-चूर कर दिया। मानद नरेश! उसका धनुष भी कट गया, तब उस रथहीन राजकुमारने गदा उठाकर क्रुद्ध हो युद्धस्थलमें बड़े वेगसे साम्बपर धावा किया। उसी समय साम्ब भी सहसा रथसे उतरकर गदा लिये नीलध्वजका सामना करनेके लिये रोषपूर्वक आगे बढ़े। साम्बको आया देख राजकुमारने उनपर गदासे चोट की। परंतु फूलकी मालासे चोट करनेपर जैसे हाथी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार साम्ब उस प्रहारसे विचलित न हो सके। तदनन्तर साम्बने अपनी गदासे राजकुमारपर आघात किया। उनके उस प्रहारसे राजकुमार रणभूमिमें गिर पड़ा और मूर्च्छित हो गया। फिर तो उसके सैनिक हाहाकार करते हुए भाग चले॥ १४—२१½॥

तब अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए राजा इन्द्रनील स्वयं युद्धके लिये आये। उनके साथ दो अक्षौहिणी सेना थी और वे अपने धनुषसे बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। उन्हें आया देख बलवान् धनुर्धर वीर श्रीकृष्णकुमार मधुने अपने बाणोंकी मारसे इन्द्रनीलको रथहीन कर दिया। साथ ही अर्जुनके प्रिय शिष्य युयुधान (सात्यकि) ने समराङ्गणमें आयी हुई इन्द्रनीलकी सेनाको अपने बाणोंद्वारा उसी प्रकार क्षत-विक्षत कर दिया, जैसे किसीने कटुवचनोंसे मित्रताको छिन्न-भिन्न कर दिया हो। तदनन्तर यादवोंके छोड़ देनेपर राजा इन्द्रनील माहिष्मतीपुरीको लौट गये। वे दुःखसे व्याकुल हो रहे थे। उन्होंने पुरीमें पहुँचकर अपने स्वामी भगवान् शिवका स्मरण किया। तब भगवान् शिवने उन्हें परम उत्तम साक्षात् दर्शन देकर उनसे सारा वृत्तान्त पूछा।

शिवजीकी बात सुनकर राजाने उनके समक्ष सारा वृत्तान्त निवेदन किया । इस प्रकार इन्द्रनीलका कथन सुनकर प्रमथोंके स्वामी भगवान् शिव बोले ॥ २२—२७ ॥

शिवने कहा—राजेन्द्र ! तुम शोक न करो । मेरा वरदान भी मिथ्या नहीं होगा । देवता, दैत्य और मनुष्य सब मिलकर भी तुम्हें जीतनेमें समर्थ नहीं हैं । महाराज ! ये जो श्रीकृष्णके पुत्र हैं, ये उन्हींके अंशसे उत्पन्न हुए हैं । ये न तो देवता हैं, न दैत्य हैं और न मनुष्य ही हैं । नरेश्वर ! इनसे पराजित होनेके कारण तुम मनमें दुखी न होओ । भूपाल ! तुम्हें श्रीकृष्णका अपराध नहीं करना चाहिये । राजन् ! इसलिये तुम शीघ्र ही विधि-पूर्वक इन समागत यादव-वीरोंको अश्वमेधका घोड़ा लौटा दो; इससे तुम्हारा भला होगा ॥ २८—३१ ॥

—ऐसा कहकर भगवान् रुद्र अदृश्य हो गये । उनके मुखसे जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णका माहात्म्य जानकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे यज्ञका घोड़ा, बहुतसे रत्न, सौ भार सुवर्ण, एक हजार मतवाले हाथी, एक लाख घोड़े और दस हजार रथ लेकर नीलध्वजके साथ जहाँ अनिरुद्ध थे, वहाँ उन्हें नमस्कार करनेके लिये गये । राजाके साथ और भी बहुतसे लोग थे । अनिरुद्धके निकट जाकर राजाने विधिपूर्वक सारी वस्तुएँ निवेदित कीं और प्रणाम करके इस प्रकार कहा ॥ ३२—३५ ॥

इन्द्रनील बोले—श्रीकृष्ण, बलराम और महात्मा प्रद्युम्नको नमस्कार है । यदुकुलतिलक अनिरुद्धको बारंबार नमस्कार है । दैत्यसूदन ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ ३६½ ॥

तब अनिरुद्धने उनसे कहा—नृपश्रेष्ठ ! आप मेरे साथ रहकर मेरे इस अश्वको एक मित्रका अश्व मानकर शत्रुओंके हाथसे इसकी रक्षा कीजिये ॥ ३७½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—नरेश्वर ! अनिरुद्धकी यह बात सुनकर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली और नीलध्वजको राज्य देकर स्वयं यादव-सेनाके साथ जानेका निश्चय किया ॥ ३८-३९ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अनिरुद्धकी विजयका वर्णन' नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

चम्पावतीपुरीके राजाद्वारा अश्वका पकड़ा जाना; यादवोंके साथ हेमाङ्गदके सैनिकोंका घोर युद्ध; अनिरुद्ध और श्रीकृष्णपुत्रोंके शौर्यसे पराजित राजाका उनकी शरणमें आना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! वहाँसे छूटनेपर वह अश्व सब देशोंका अवलोकन करता हुआ उशीनर-जनपदके अन्तर्गत चम्पावतीपुरीमें जा पहुँचा । राजा हेमाङ्गदसे परिपालित वह पुरी विशाल दुर्गसे मण्डित थी । उसके भीतर चारों वर्णोंके लोग निवास करते थे । वह पुरी गगनचुम्बी प्रासादोंसे परिवेष्टित थी । वहाँ पुण्यात्मा राजा हेमाङ्गद महान् शूरवीरोंसे घिरे रहकर अपने पुत्र हंसकेतुके साथ राज्य करते थे । नरेश्वर ! उन्होंने यादवोंकी अवहेलना करके महात्मा अनिरुद्धके उस अश्वको अनायास ही पकड़ लिया । मानद ! राजा हेमाङ्गदने सोनेकी जंजीरसे घोड़ेको बाँधकर नगरके सभी दरवाजोंमें कपाट और अर्गला आदि दे दिये तथा यादवोंके विनाशके लिये दुर्गकी दीवारोंपर दो लाख शतघ्नियाँ (तोपें) लगवा दीं और युद्धका ही निश्चय किया । तत्पश्चात् सेना-सहित अनिरुद्ध घोड़ेकी राह देखते हुए वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने चम्पावतीके उपवनमें डेरा डाल दिया । वहाँ घोड़ेको न देखकर प्रद्युम्नकुमारने श्रीकृष्णचन्द्रके सखा उद्धवसे इस प्रकार पूछा ॥ १—८ ॥

अनिरुद्ध बोले—मन्त्रिप्रवर ! यह किसकी नगरी है ? कौन मेरा घोड़ा ले गया है ? महामते ! आप जानते होंगे; सोच-विचारकर बताइये ॥ ९ ॥

उनका यह प्रश्न सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ उद्धवने शत्रुओंके वृत्तान्तको समझकर यह बात कही ॥ १० ॥

उद्धव बोले—द्वारकानाथ ! इस नगरीका नाम 'चम्पावती' है । यहाँ अपने पुत्र हंसध्वजके साथ राजा हेमाङ्गद राज्य करते हैं । उन्होंने ही तुम्हारा घोड़ा पकड़ा है । यह राजा बड़ा शूरवीर है । युद्ध किये बिना यज्ञका घोड़ा नहीं देगा । यह नगरमें ही रहकर भुशुण्डियोंद्वारा दीर्घकालतक

युद्ध करेगा। वह नरेश युद्धके लिये नगरसे बाहर नहीं निकलेगा। अतः नरेश्वर! तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो॥ ११—१३½॥

उद्धवजीकी यह बात सुनकर अनिरुद्ध रोषपूर्वक बोले॥ १४॥

अनिरुद्धने कहा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ उद्धवजी! दुर्गमें रहकर युद्धमें लगे हुए इन बहुसंख्यक शत्रुओंको लोहेकी बनी हुई शक्तिके समान बाणोंद्वारा मैं आधे पलमें मार गिराऊँगा॥ १५॥

उद्धवजीकी पूर्वोक्त बात सुनकर इस प्रकार रोषमें भरे हुए यदुकुलतिलक अनिरुद्ध उस पुरीका विध्वंस करनेके लिये शीघ्र ही गये और कोटि-कोटि बाणोंकी वर्षा करने लगे। अन्धकवंशी वीरोंके बाणसमूहोंसे उस पुरीमें कोलाहल मच गया। वीर हंसध्वज आदि समस्त शत्रु शङ्कित हो गये। तदनन्तर राजाके कहनेसे उन वीरोंने साहसपूर्वक दुर्गकी दीवारोंपर चढ़कर बाहर जमे हुए यादव-सैनिकोंको देखा। यदुकुलके श्रेष्ठ वीरोंको कवच आदिसे सुसज्जित देख वे सब-के-सब भयभीत हो उठे। यादव-योद्धा अस्त्र-शस्त्रोंसे परिमण्डित हो शस्त्रोंकी वृष्टि कर रहे थे। हेमाङ्गदके सैनिकोंने उनपर चारों ओरसे शतघ्नियोंद्वारा आग बरसाना आरम्भ किया। वे इस निश्चयपर पहुँच गये कि हम सभी शत्रुओंको मौतके घाट उतार देंगे, घोड़ेको कदापि नहीं लौटायेंगे॥ १६—२०॥

उस समय अनिरुद्धकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया। शतघ्नियोंसे ताड़ित हो समस्त वृष्णिवंशी वीर विह्वल हो गये। उनके सारे अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये। कितने ही योद्धा युद्धसे भाग चले। राजन्! कुछ सैनिक मूर्च्छित हो गये और कितने ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे। कोई युद्धमें जल गये और कोई भस्मीभूत हो गये। कितने ही लोगोंके हाथ-पैर और भुजाएँ कट गयीं। कुछ लोग शस्त्रहीन होकर गिर पड़े। कितनोंके कवच जल गये। कितने ही हाय-हाय करने लगे और कितने ही योद्धा बलराम तथा श्रीकृष्णके नाम ले-लेकर पुकारने लगे। उस युद्धक्षेत्रमें शतघ्नियोंकी मार खाकर सारे अङ्ग जर्जर हो जानेके कारण कितने ही हाथी भागते हुए गिर पड़े और मूर्च्छित होकर मर गये। संग्राममें उछलते-भागते हुए घोड़े शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण मौतके मुखमें चले गये। कितने ही रथ चूर-चूर होकर धराशायी हो गये। सारी यादव-सेना आगकी लपेटमें आकर भयानक दिखायी देने लगी॥ २१—२६½॥

यह सब देखकर अनिरुद्ध संग्राम-भूमिमें श्रीहरिका स्मरण करते हुए कुछ सोचने लगे। तब श्रीकृष्णकृपासे ऊषावल्लभ अनिरुद्धको कर्तव्यबुद्धि सूझ गयी। उन्होंने शार्ङ्गधनुष लेकर तरकससे बाण निकाला और उसे धनुषपर रखकर उसमें पर्जन्यास्त्रका संधान किया। उस बाणके छूटते ही यादवसेनाके ऊपर मेघ छा गये। नरेश्वर! उन मेघोंने यादव-सैनिकोंकी रक्षा करते हुए भूरि-भूरि जलकी वर्षा की और चारों ओर फैली हुई आगको बुझा दिया। तब वृष्णिवंशी सैनिकोंके अङ्ग-अङ्ग शीतल हो गये। वे आगके भयसे छूट गये और अनिरुद्धकी प्रशंसा करते हुए पुनः युद्धके लिये उठ खड़े हुए। उन सबको सम्बोधित करके अनिरुद्धने कहा—'मैं पंखवाले घोड़ेपर चढ़कर अकेला ही शत्रुओंके राजाको जीतनेके लिये चम्पावतीपुरीमें प्रवेश करूँगा' ॥ २७—३२॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! अनिरुद्धकी यह बात सुनकर समस्त कृष्णकुमार साम्ब आदि अठारह महारथी उनसे बोल उठे॥ ३३॥

हरिपुत्रोंने कहा—राजन्! तुम शत्रुओंकी नगरीमें न जाओ। हम सब लोग उस आततायी नरेशको जीतनेके लिये वहाँ जायँगे॥ ३४॥

—ऐसा कहकर रोषसे भरे हुए वे सब वीर हरिपुत्र सहसा पाँखवाले घोड़ोंपर चढ़कर दुर्गके परकोटेको लाँघते हुए चम्पावती-पुरीमें जा पहुँचे। वे सभी धनुर्धर, कवचधारी और युद्ध-कुशल थे। उन्होंने जाते ही सर्पाकार बाणोंसे शत्रुओंको मारना आरम्भ किया॥ ३५-३६॥

नरेश्वर! वे शत्रु भी राजाकी आज्ञासे सहसा युद्धके लिये धनुष धारण किये क्रोधपूर्वक आ पहुँचे। उनकी संख्या एक करोड़ थी। रोषसे भरे और अस्त्र-शस्त्र उठाये उन बहुसंख्यक वीरोंको वहाँ आया देख साम्ब, मधु, बृहद्बाहु, चित्रभानु, वृक, अरुण, संग्रामजित्, सुमित्र, दीप्तिमान्, भानु, वेदबाहु, पुष्कर, श्रुतदेव, सुनन्दन, विरूप, चित्रबाहु, न्यग्रोध और कवि—इन समस्त श्रीकृष्णपुत्रोंने बाणोंद्वारा मारना आरम्भ किया। राजेन्द्र! फिर तो उस नगरीमें वीरोंके रक्तसे भयंकर नदी प्रकट हो गयी, जो नगरद्वारसे बाहर निकली। राजन्! उस घोर नदीको बहकर आती देख अनिरुद्ध शङ्कित हो गये। उनका मुँह सूख गया और वे रोषपूर्वक बोले—'अहो! क्या मेरे पिताके सभी भाई मारे गये, जिसके कारण यह घोर नदी प्रकट हो हम सबको बहा ले जानेके लिये इधर ही

आ रही है ? मैं इस नदीको अपने अग्निमय बाणोंद्वारा सोख लूँगा, इसमें संशय नहीं है। अपने पर्वतोपम गजराजोंद्वारा इस नगरीको ढहवा दूँगा' ॥ ३७—४४ ॥

तदनन्तर अनिरुद्धके आदेशसे महावतोंसे प्रेरित हो बड़े-बड़े ऊँचे मदोन्मत्त और कज्जलगिरिके समान काले लाखों हाथी अपनी सूँड़ोंसे छोटे-छोटे वृक्षों एवं गुल्मोंको उखाड़-उखाड़कर उस नगरमें फेंकने लगे। वे अपने पैरोंके आघातसे पृथ्वीको कम्पित करते हुए नगरके ऊपर जा चढ़े। नरेश्वर! वहाँ पहुँचकर उन समस्त गजराजोंने अपने कुम्भस्थलोंसे रोषपूर्वक सब ओरसे शीघ्र ही उस पुरीको ढाह दिया। सारे कपाट टूट-टूटकर गिर गये। द्वारोंकी सुदृढ़ शृङ्खलाएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं। पुरीके दुर्गकी पथरीली दीवारें उन हाथियोंने तोड़ गिरायीं। नृपश्रेष्ठ! श्रीहरिके गजराजोंने किवाड़ों, अर्गलाओं और दुर्गको धराशायी करके पुरीमें पहुँचकर शत्रुओंके घरोंको गिराना आरम्भ किया। उस समय चम्पावतीमें महान् हाहाकार मच गया। राजा आदि सब लोग भयभीत हो बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। तब पराजित हुए राजा हेमाङ्गद फूलोंके हारसे अपने दोनों हाथ बाँधकर 'पाहि माम्' कहते हुए हरिपुत्रोंके सम्मुख आये। उन नरेशको आया हुआ देख रणभूमिमें धर्मवेत्ता साम्बने भाइयोंको तथा दीनजनोंकी हत्या करनेवाले महावतोंको भी रोका। सबको रोककर वे राजासे इस प्रकार बोले ॥ ४५—५२½ ॥

साम्बने कहा—राजन्! आओ, तुम्हारा भला हो। मेरा घोड़ा लेकर अनिरुद्धके समीप चलो, तब तुम्हारे लिये श्रेष्ठ परिणाम निकलेगा ॥ ५३½ ॥

साम्बकी यह बात सुनकर राजा यज्ञका घोड़ा लिये हरिपुत्रोंके साथ पुरीसे बाहर निकले। राजन्! पुत्रके साथ अनिरुद्धके निकट जाकर राजाने घोड़ा और उसके साथ एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ भी अर्पित कीं। राजेन्द्र! तदनन्तर नीतिवेत्ता दीनवत्सल अनिरुद्धने पुष्पमालासे बँधे हुए उनके दोनों हाथ खोलकर इस प्रकार कहा—'नृपश्रेष्ठ! मेरे साथ चलकर श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये शत्रु-राजाओंसे इस घोड़ेकी रक्षा करो' ॥ ५४—५७ ॥

अनिरुद्धकी बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा हेमाङ्गदने अपने पुत्रको राज्य देकर प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ जानेका विचार किया ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'चम्पावती-विजय-वर्णन' नामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

स्त्री-राज्यपर विजय और वहाँकी कुमारी रानी सुरूपाका अनिरुद्धकी प्रिया होनेके लिये द्वारकाको जाना

श्रीगर्गजी कहते हैं—तदनन्तर वहाँसे छूटनेपर परम उज्ज्वल अङ्गोंवाला अनिरुद्धका अश्व यदुकुलके प्रमुख वीरोंके साथ उशीनर-जनपदसे बड़े-बड़े वीरोंको देखता हुआ धीरे-धीरे बाहर निकला। राजन्! इस प्रकार विचरता हुआ वह श्रेष्ठ अश्व प्रत्येक राज्यमें गया और बहुत-से नरेशोंने उसको पकड़ा तथा छोड़ा। राजा इन्द्रनील और हेमाङ्गदको पराजित हुआ सुनकर अन्य मण्डलेश्वर नरेश अपने यहाँ आनेपर भी उस घोड़ेको पकड़नेका साहस न कर सके ॥ १—३ ॥

नृपश्रेष्ठ! बहुत-से वीरविहीन देशोंका अवलोकन करके वह श्रेष्ठ घोड़ा स्वेच्छासे घूमता हुआ स्त्रीराज्यमें जा पहुँचा। वहाँ कोई 'सुरूपा' नामवाली सुन्दरी राजकन्या राज्य करती थी। कहते हैं, वहाँ कोई पुरुष राजा जीवित नहीं रहता। वज्रनाभ! उस देशमें किसी स्त्रीको पाकर जो कामभावसे उसका सेवन करता है, वह एक वर्षके बाद कदापि जीवित नहीं रहता ॥ ४—६ ॥

स्त्रीराज्यके नगरमें फूलोंसे भरा हुआ एक सुन्दर उद्यान था, जहाँ लवङ्ग-लताएँ फैली थीं और इलायची की सुगन्ध भीनी रहती थी। पक्षियों और भ्रमरोंकी मीठी बोली वहाँ गूँज रही थी। उस नगरमें पहुँचकर घोड़ा उस उद्यानमें एक इमली वृक्षके नीचे खड़ा हो गया। वहाँकी सब स्त्रियोंने देखा, बड़ा मनोहर-श्यामकर्ण घोड़ा खड़ा है। वहाँके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी उसे देखनेके लिये गये। नरेश्वर! उस घोड़ेको देखकर स्त्रियोंने अपनी स्वामिनीसे उसकी चर्चा की। वह चर्चा सुनकर रानी छत्र और चँवरसे वीजित हो रथपर बैठीं और करोड़ों स्त्रियोंके साथ उस घोड़ेको देखनेके



उग्रसेनद्वारा नारद-तुम्बुरुका स्वागत [अध्याय ७]

उग्रसेनद्वारा श्रीकृष्ण-बलरामका स्तवन [अध्याय ७]

लिये गयीं। घोड़ेको देखकर और उसके भालमें बँधे हुए पत्रको पढ़कर रानीको बड़ा रोष हुआ। उन्होंने नगरमें घोड़ेको बाँधकर उसके प्रतिपालकोंके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया। कोई स्त्रियाँ हाथीपर, कोई रथपर और कोई घोड़ेपर आरूढ़ हो कवच बाँधकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये आयीं। वे सब स्त्रियाँ कुपित हो अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करती हुई आयीं। उन्हें देखकर अनिरुद्धने हेमाङ्गदसे पूछा ॥ ७–१३ ॥

अनिरुद्ध बोले—राजन्! ये कौन-सी स्त्रियाँ हैं, जो युद्ध करनेके लिये आयी हैं। जिस उपायसे यहाँ मेरा कल्याण हो, वह विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १४ ॥

हेमाङ्गदने कहा—नृपेश्वर! इस देशमें रानी राज्य करती है; क्योंकि राजा यहाँ जीवित नहीं रहता है। इसीलिये वह स्त्रियोंसे घिरी हुई आयी है। आपके घोड़ेको पकड़कर वह संग्राम करनेके लिये उपस्थित है ॥ १५ ॥

यह सुनकर अनिरुद्ध राजासे इस प्रकार बोले ॥ १५½ ॥

अनिरुद्धने कहा—राजन्! यहाँपर स्त्री राज्य क्यों करती है तथा राजा क्यों जीवित नहीं रहता है? यह बात विस्तारपूर्वक बतलाइये; क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं ॥ १६–१७ ॥

अनिरुद्धकी यह बात सुनकर राजा हेमाङ्गदने अपने गुरु याज्ञवल्क्यजीके चरणारविन्दोंका चिन्तन करते हुए कहा—'यादवेन्द्र! इस विषयका प्राचीन इतिहास मैंने चम्पापुरीमें पहले गुरुवर याज्ञवल्क्यजीके मुखसे सुना था, वही तुमसे कहूँगा; ध्यान देकर सुनो ॥ १८-१९ ॥

राजन्! प्राचीन सत्ययुगकी बात है, इस देशमें 'नारीपाल' नामसे विख्यात एक मण्डलेश्वर राजा हुए थे। उनके मोहिनी नामवाली पत्नी थी, जिसका जन्म सिंहलद्वीपमें हुआ था। वह पद्मिनी नायिका थी। उसकी चाल हंसके समान थी और मुख पूर्णचन्द्रके समान मनोहर था। राजा उसके सौन्दर्यके महासागरमें डूबकर यह भी नहीं जान पाते थे कि कब दिन बीता और कब रात समाप्त हुई? वे सैकड़ों वर्षोंतक उसके साथ रमण करते रहे। काममोहित होनेके कारण वे प्रजाजनोंका न्याय भी नहीं करते थे। राजन्! उस समय सारी प्रजा दुःखसे पीड़ित हो रही थी। यादवेश्वर! प्रजाजनोंका पारस्परिक कलहसे विनाश होता देख राजवल्लभा मोहिनी अपनी शक्तिके अनुसार सारी प्रजाका न्यायकार्य स्वयं ही सँभालने लगी। एक दिन उस नरेशसे मिलनेके लिये महामुनि अष्टावक्र उनके अन्तःपुरमें आये। राजाका मन स्त्रीमें ही आसक्त रहता था। वे मुनिको आया देख जोर-जोरसे हँसने लगे और बोले—'यह कुरूप यहाँ कैसे आ गया?' ॥ २०–२६ ॥

तब मुनि रुष्ट होकर बोले—'अरे! ओ मूर्ख नपुंसक! मेरी बात सुन ले, तू स्त्रियोंके हाथका खिलौना होकर मुनियोंका अपमान क्यों कर रहा है? तुम्हारे देशमें सदा स्त्रियाँ राज्य करेंगी। इस राज्यमें पुरुष-राजा जीवित नहीं रहेगा। अतः तू अभी इस राजभवनसे निकल जा। इस देशमें स्त्रीको पाकर जो प्रतिदिन उसका सेवन करेगा, वह एक वर्ष बीतनेके बाद निस्संदेह जीवित नहीं रहेगा' ॥ २७–२९ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ अष्टावक्र अपने आश्रमको चले गये। मुनिके चले जानेपर राजा उनके शापसे नपुंसक हो गये। 'यह सब दुर्दशा मुनिने ही की है'—ऐसा जानकर राजा अत्यन्त दीन एवं दुःखसे व्याकुल हो गये और स्वयं ही अपनी निन्दा करने लगे ॥ ३०-३१ ॥

नारीपाल बोले—अहो! स्त्रीके वशीभूत रहनेवाले मुझ मन्दभाग्यने यह क्या किया? मुनियोंकी पूजा छोड़कर नरककी राह पकड़ ली। आज मुझ दुष्ट पापात्मापर यमदूतोंकी दृष्टि पड़ी है। अब मैं वैतरणीमें गिराये जानेयोग्य हो गया हूँ। इस दशामें देखकर मुझे कौन अपने तेजसे इस कष्टसे छुड़ायेगा? ॥ ३२-३३ ॥

ऐसा उद्गार प्रकट करके राजा घर छोड़कर वन-वनमें विचरने लगे। वे मुक्तिदाता भगवान् विष्णुके भजनमें लग गये और अन्तमें उन्होंने श्रीहरिका पद प्राप्त कर लिया। उस शापके भयसे राजालोग इस देशमें राज्य नहीं करेंगे; केवल नारियाँ ही यहाँ शासन करेंगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ३४–३५ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—अनिरुद्ध और हेमाङ्गद इस प्रकार बातचीत कर ही रहे थे कि रोषसे भरी हुई वहाँकी पुंश्चली नारियाँ इनके पास आ गयीं और क्रोधपूर्वक अपने धनुषोंसे बाणोंकी वर्षा करने लगीं। उन स्त्रियोंको देखकर अनिरुद्ध विस्मित हो गये और 'मैं स्त्रियोंके साथ युद्ध कैसे करूँगा'—ऐसा कहते हुए वे भयभीत-से हो गये। उसी समय

मण्डलेश्वरी सुरूपा स्त्रियोंके साथ उनके निकट आ गयी और अनिरुद्धको देखकर बोली ॥ ३६—३८ ॥

रानीने कहा—वीर ! रणभूमिमें खड़े हो जाओ, खड़े हो जाओ। मेरे साथ युद्ध करो। तुम तो बहुत बड़ी सेनाके साथ हो। फिर युद्धस्थलमें व्यर्थ सोचमें क्यों पड़ गये हो ? तुम बड़े मानी हो। मैं इस समराङ्गणमें वृष्णिवंशी योद्धाओंसहित तुमको पराजित करके अपना क्रीड़ामृग बनाऊँगी; क्योंकि तुम्हें देखकर मैं मदन-ज्वरसे पीड़ित हो गयी हूँ ॥ ३९-४० ॥

उसकी यह बात सुनकर अनिरुद्ध भयसे विह्वल हो गये। वे सब कुछ जान गये और दीन वाणीमें उस मण्डलेश्वरीसे बोले—'रानी ! तुम सर्वदेवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अश्वको यज्ञके लिये अपनी ही इच्छासे मुझे लौटा दो। सुमुखि ! मैं तुम्हारे साथ युद्ध नहीं करूँगा; अतः तुम श्रीहरिके दर्शनके लिये द्वारका जाओ। भद्रे ! जिनके नामका स्मरण करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, साक्षात् उन्हींके दर्शनका कैसा महान् फल है ! यह तुम्हें क्या बताऊँ !' वार्तालापमें चतुर अनिरुद्धके इस प्रकार समझानेपर उसे पूर्वजन्मकी वार्ताका स्मरण हो आया और वह अनिरुद्धसे उसी प्रकार बोली—जैसे ब्रह्माजीसे मोहिनी बोली थी ॥ ४१—४५ ॥

सुरूपाने कहा—देव ! मैं पूर्वजन्ममें स्वर्गकी एक प्रसिद्ध अप्सरा थी। मेरा नाम 'मोहिनी' था। मेरे अङ्ग कमलके समान प्रफुल्ल एवं सुगन्धित थे। मेरे नेत्र भी कमलदलके समान विकसित एवं विशाल थे। एक दिनकी बात है—पद्मयोनि ब्रह्माजी हंसपर आरूढ़ हो कहीं जा रहे थे। उन्हें देखकर मैं उनके निकट गयी और बोली—'आप मुझे अङ्गीकार करें।' जब ब्रह्माजीने मुझे ग्रहण नहीं किया, तब मैं शाप देकर 'ककुद्मती' नदीके तटपर गयी और वहाँ दुष्कर तपस्या करने लगी। मेरी तपस्यासे ब्रह्माजी संतुष्ट हो गये। वे तपस्याके अन्तमें मेरे पास आये और प्रसन्नचित्त हो मुझ तपस्विनीसे बोले—'वर माँगो।' उनका यह कथन सुनकर मैं (मोहिनी) बोली—'देवदेव ! आपको नमस्कार है। लोकेश ! मैं यही वर माँगती हूँ कि आप मुझ दीन तपस्विनीका वरण करें। मैं दुःखित होकर आपकी शरणमें आयी हूँ। यदि आप मुझे ग्रहण नहीं करेंगे तो मैं तपस्यासे क्षीण हुए इस शरीरको रोषपूर्वक त्याग दूँगी।' मेरी यह बात सुनकर ब्रह्माजीने कहा—"भामिनि ! शोक न करो। भद्रे ! दूसरे जन्ममें तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। मैं द्वारकामें श्रीहरिका सुन्दर पौत्र होऊँगा। उस समय मेरा नाम 'अनिरुद्ध' होगा और तुम स्त्रीराज्यकी रानी होओगी। भद्रे ! उस समय मैं तुम्हें ग्रहण करूँगा। मेरी यह बात झूठी नहीं है।" यह सुनकर मैं इस भूतलपर उत्पन्न हुई। यादवश्रेष्ठ ! आप साक्षात् ब्रह्माजी हैं और मेरे लिये ही यहाँ पधारे हैं ॥ ४६—५४½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—सुरूपाका यह कथन सुनकर समस्त यादव आश्चर्यचकित हो गये। तब धर्मात्मा अनिरुद्धने उससे यह निर्मल वचन कहा ॥ ५५½ ॥

अनिरुद्ध बोले—भद्रे ! तुम श्रीद्वारकाको जाओ। मैं वहाँ अपनी प्रियाके रूपमें तुम्हें ग्रहण करूँगा। इस समय तो मैं राजाओंसे अश्वकी रक्षा करते हुए उसीके साथ जाऊँगा ॥ ५६ ॥

तदनन्तर सुरूपा अनिरुद्धकी आज्ञासे अपनी श्रेष्ठ मन्त्रिणी प्रमिलाको राज्यपर स्थापित करके घोड़ा लौटाकर स्वयं द्वारकाको चली गयी ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'स्त्रीराज्यपर विजय' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय

राक्षस भीषणद्वारा यज्ञीय अश्वका अपहरण तथा विमानद्वारा यादव-वीरोंकी उपलङ्कापर चढ़ाई

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अनिरुद्धके प्रयाससे छूटा हुआ वह दुग्धके समान उज्ज्वल यज्ञ-सम्बन्धी अश्व स्वेच्छासे सिंहलद्वीपके निकट विचरने लगा। वह प्याससे पीड़ित था। घोड़ेने देखा, सामने ही बहुतसे वृक्षोंद्वारा आवृत और जलसे भरी हुई एक बावड़ी है। उसे देख, वह स्वयं जाकर उसका पानी पीने लगा। बावड़ीमें अश्वको देखकर एक 'भीषण' नामवाले राक्षसने उसके भालमें लगे हुए पत्रको पढ़ा और बड़ी प्रसन्नतासे

उस घोड़ेको पकड़ लिया। उसी समय सब यादव, जिनकी दृष्टि घोड़ेपर ही लगी हुई थी, वहाँ आ पहुँचे। आकर उन्होंने देखा—'यज्ञके अश्वको एक राक्षसने पकड़ रक्खा है।' तब वे युद्धशाली यादव उस राक्षससे बोले ॥ १—४½ ॥

यादवोंने कहा—अरे ! तू कौन है? जैसे सिंहकी वस्तुको सियार ले जाय, उसी तरह यादवेन्द्र महाराज उग्रसेनके घोड़ेको लेकर तू कहाँ जायगा? धूर्त ! खड़ा रह, खड़ा रह। हमारे साथ धैर्यपूर्वक युद्ध कर ! हम घोड़ेको तेरे हाथसे छुड़ा लेंगे तथा रणभूमिमें तेरा वध कर डालेंगे। भाइयोंसहित शकुनि, नरकासुर, बाणासुर और कलङ्क—ये समस्त राक्षसराज हमारे हाथसे मारे जा चुके हैं। तू तो उनके सामने तिनकेके तुल्य है। अतः हम युद्धमें तुझे कुछ भी नहीं गिनेंगे। तू घोड़ा देकर चला जा, चला जा, नहीं तो हम तुझे मार डालेंगे ॥ ५—८½ ॥

उनका यह भाषण सुनकर देवताओंको भी भयभीत करनेवाले भीषणने शूल, गदा और खड्ग लेकर बड़े रोषके साथ उन सबसे कहा ॥ ९½ ॥

भीषण बोला—अरे ! तुमलोग क्या मेरा सामना कर सकते हो ! मनुष्य तो हमारे भोजन हैं। वे राक्षसोंके सामने कौन-सा पुरुषार्थ प्रकट करेंगे? पहले जब यादवराजने 'विश्वजित् यज्ञ' किया था, तब मैं राक्षसोंको लानेके लिये लङ्का चला गया था। उन्हें लेकर जब मैं अपनी पुरीमें लौटा तो नारदजीके मुखसे सुना कि वह यज्ञ पूरा हो गया। अब तुमलोगोंने पुनः अश्वमेध यज्ञ करनेका प्रयास व्यर्थ ही किया है। तुमलोगोंमें कौन ऐसे वीर हैं, जो मेरे पकड़े हुए घोड़ेको छुड़ा सकें ! अतः घोड़ेकी आशा छोड़कर तुमलोग जाओ, चले जाओ। नहीं तो मेरे चार लाख अनुयायी राक्षस तुम सबको खा जायँगे। इस स्थानसे बारह योजन दूर समुद्रमें मेरी बनायी हुई पुरी है, जिसका नाम 'उपलङ्का' है। जैसे भोगवतीपुरी सर्पोंसे भरी रहती है, उसी प्रकार उपलङ्का निशाचरगणोंसे परिपूर्ण है ॥ १०—१६ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर घोड़ा लिये आकाशमार्गसे वह सहसा अपनी पुरीको चला गया और समस्त यादव शोक करने लगे। तब अनिरुद्ध कहने लगे—'भोजराजके इस अश्वको जिसे निशाचर ले गया है, हम कैसे छुड़ायेंगे' ॥ १७-१८ ॥

उनका यह वचन सुनकर नीतिकुशल साम्ब आदि उनसे बोले—राजन् ! चिन्ता छोड़ो। हमारे रहते तुम्हें क्या भय है? तुम्हारी सेनामें पंखदार घोड़े हैं, विमान हैं और बाण हैं। दोनों लोकोंपर विजय पानेवाले शौर्यसम्पन्न महान् वीर विद्यमान हैं। राजन् ! हमलोग घोड़ोंसे यात्रा करेंगे अथवा बाणोंसे पुल बाँधकर जायँगे; या भगवान् विष्णुके दिये हुए विमानसे शत्रुओंकी नगरीपर आक्रमण करेंगे। सबकी बात सुनकर धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्धने मन्त्रिप्रवर उद्धवको बुलाकर इस प्रकार पूछा ॥ १९—२२ ॥

अनिरुद्ध बोले—मन्त्रिवर ! श्यामकर्ण हमारे हाथसे चला गया। अब हम क्या करें? भगवान्‌ने आपके आदेशानुसार ही कार्य करनेकी आज्ञा दी थी; अतः आप कोई उपाय बताइये। मेरे सब चाचा लोग जो उपाय बता रहे हैं, वह आपने भी सुना है। यदि आपकी भी आज्ञा हो जाय तो मैं वह सब करूँ ॥ २३-२४ ॥

अनिरुद्धकी यह बात सुनकर उद्धवजी लज्जित होकर बोले—भैया ! मैं तो श्रीकृष्णका और विशेषतः उनके पुत्रों तथा पौत्रोंका भी सदा दास हूँ। निरन्तर आज्ञामें रहनेवाला सेवक हूँ। मैं क्या बताऊँगा। जो तुम्हारी और इन सबकी इच्छा हो, वह करो। निश्चय ही वह सफल होगी ॥ २५-२६ ॥

तब अनिरुद्धने कहा—यादवो ! मैं भगवान् विष्णुके दिये हुए विमानद्वारा दस अक्षौहिणी सेनाके साथ दैत्यनगरी (उपलङ्का) में जाऊँगा। सारण, कृतवर्मा तथा सत्यकपुत्र युयुधान—ये लोग अक्रूरके साथ यहीं रहकर शेष सेनाकी रक्षा करें ॥ २७-२८ ॥

ऐसा कहकर अनिरुद्ध श्रीहरिके अठारह पुत्रों, उद्धव, गद और विशाल सेनाके साथ भगवान् विष्णुके दिये हुए विमानपर आरूढ़ हुए। श्रीकृष्णके पौत्र तथा यादव-वीरोंसे युक्त वह सूर्यबिम्बके समान तेजस्वी विमान अपनी शक्तिसे चालित होकर उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे पूर्वकालमें कुबेरका विमान पुष्पक श्रीराम और कपिराजोंसे युक्त होकर सुशोभित होता था ॥ २९-३० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'विमानपर आरोहण' नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥



उन्नीसवाँ अध्याय

यादवों और निशाचरोंका घोर युद्ध; अनिरुद्ध और भीषणकी मूर्च्छा तथा चेतना एवं रणभूमिमें बकका आगमन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर रुक्मवती-कुमार अनिरुद्ध कुबेरके समान विमानद्वारा विशाल सेनाके साथ उपलङ्कामें गये । नरेश्वर ! वहाँ जाकर यादवोंसहित अनिरुद्धने विषधर सर्पके समान विषाक्त बाणोंद्वारा उस नगरीका और वहाँके वन-उपवनोंका विध्वंस आरम्भ कर दिया । वहाँके क्रीडास्थानों, द्वारों, भवनों, अट्टालिकाओं, छज्जों तथा गोपुरोंपर उस विमानके अग्रभागसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी । मुसल, शक्ति, परिघ, बाण और शिलाएँ भी निरन्तर पड़ने लगीं । राजन् ! वहाँ प्रचण्ड वायु चलने लगी और सम्पूर्ण दिशाएँ धूलसे आच्छादित हो गयीं । इस प्रकार यादवोंद्वारा की गयी अस्त्र-वर्षासे अत्यन्त पीड़ित हुई भीषणकी वह नगरी कहीं भी कल्याण (परित्राण) नहीं पा रही थी । उसकी वही दशा हो गयी थी, जैसे पूर्वकालमें शाल्वदेशीय योद्धाओंके आक्रमणसे द्वारकापुरीकी हुई थी ॥ १—५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस समय उस नगरीमें हाहाकार मच गया । भीषण आदि असुर भयसे विह्वल हो गये । सारी नगरीको पीड़ित देख राक्षसराज भीषण 'डरो मत'—इस प्रकार अभयदान दे राक्षसोंके साथ बाहर निकला । फिर तो उसकी पुरीमें निशाचरोंके साथ यादवोंका घोर युद्ध होने लगा । ठीक उसी तरह, जैसे पहले लंकामें वानरों और राक्षसोंमें युद्ध हुआ था । वृष्णिवंशी योद्धाओंके बाणसमूहोंसे कंधे कट जानेके कारण राक्षस आँधीके उखाड़े हुए वृक्षोंकी भाँति समुद्रमें गिरने लगे । कुछ निशाचर औंधे मुँह उस पुरीमें ही धराशायी हो गये । राजन् ! कोई उतान होकर गिरे और कोई तत्काल पञ्चत्वको प्राप्त हो गये । वहाँ उन राक्षसोंके रक्तसे एक भयंकर दूषित नदी प्रकट हो गयी, जो महावैतरणीकी भाँति दुष्पार थी । वहाँ यादवोंका बल देखकर भीषणको बड़ा विस्मय हुआ । उसने टेढ़ी आँखोंसे यादवोंकी ओर देखकर कहा—'तुमलोगोंने निर्बलोंकी भाँति आकाशमें खड़े होकर युद्ध किया है । तुमलोग जो व्यर्थ वीरताका अभिमान करते हो, वह प्रशंसाके योग्य नहीं है । तुमलोगोंके शरीरोंमें यदि शक्ति हो तो सुनो—पृथ्वीपर उतर आओ और मेरे साथ युद्ध करो ।' उसकी यह बात सुनकर करुणामय प्रद्युम्नकुमार भूतलपर विमान उतारकर उस महान् असुरसे बोले ॥ ६—१५ ॥

अनिरुद्धने कहा—महान् असुर ! बहुत विचार करनेसे क्या होगा ? तुम महासमरमें भय छोड़कर शीघ्र मेरे साथ युद्ध करो ॥ १६ ॥

उनकी यह बात सुनकर भयंकर पराक्रमी भीषणने अपने धनुषसे पाँच नाराच बाण अनिरुद्धके ऊपर चलाये । अनिरुद्धने उन्हें देखकर अपने बाणोंद्वारा उन नाराचोंके दो-दो टुकड़े कर दिये और खेल-खेलमें ही एक बाणसे उसके धनुषको काट दिया । भीषणने भी दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और सर्पाकार सौ बाणोंद्वारा प्रद्युम्नकुमारको घायल कर दिया । उनका रथ खण्डित हो गया, सारथि मारा गया, सब घोड़े भी कालके गालमें चले गये और अनिरुद्ध मूर्च्छित हो गये । उस समय अपने सेनानायकको घिरा हुआ देख समस्त वृष्णिवंशी यादवोंके अधर-पल्लव रोषसे फड़क उठे और वे बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ आ पहुँचे । उन बहुसंख्यक वीरोंको आया देख उस असुरने रोषपूर्वक धनुषको रखकर गदासे ही उन सबको मार गिराया, जैसे सिंह अपनी दाढ़ोंसे ही मृगोंको कुचल देता है । गदाकी मारसे पीड़ित हो यादव-सैनिक भूतलपर गिर पड़े । उनके सारे अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे । कितने ही योद्धा रणक्षेत्रमें धराशायी हो गये ॥ १७—२३ ॥

तब बलरामजीके छोटे भाई गदने अपनी गदा लेकर समरभूमिमें राक्षस भीषणके मस्तकपर प्रहार किया । राजन् ! गदाके उस प्रहारसे व्यथित हो वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति वह असुर वसुधाको कम्पित करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा । भीषणका सिर फट गया था । उसे मूर्च्छित होकर पड़ा देख वे असुर शस्त्र धारण किये गदको मारनेके लिये आ पहुँचे । परंतु नरेश्वर ! नृसिंहने जैसे अपनी दाढ़से हाथियोंको मार गिराया था, उसी प्रकार बलरामके छोटे भाई गदने अपनी वज्र-सरीखी गदासे उन सब असुरोंको धराशायी कर दिया ॥ २४—२७ ॥

इसके बाद अनिरुद्ध होशमें आकर खड़े हो गये और

क्षणभरमें धनुष लेकर बोल उठे—'मेरा शत्रु दुष्ट भीषण कहाँ गया, कहाँ गया ?' श्रीहरिके पौत्रको खड़ा हुआ देख यादवपुंगव जय-जयकार करने लगे और समस्त देवताओंको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ २८-२९ ॥

तदनन्तर नारदजीसे सूचना पाकर भीषणका पिता निशाचर 'बक' जंगलसे कुपित होकर वहाँ आया। महाराज ! वह कज्जलगिरिके समान काला और ताड़के बराबर ऊँचा था। उसकी जीभ लपलपा रही थी, नेत्र भयंकर हो गये थे तथा वह त्रिशूल और गदा लिये हुए था। एक हाथीको बायें हाथसे पकड़कर मुँहसे चबाता हुआ वह राक्षस रक्तसे नहा गया था और बड़े भारी पिशाचके समान दिखायी देता था। उसके दोनों पैर ताड़के बराबर बड़े थे। वह उनकी धमकसे भूतलको कम्पित कर रहा था। देवताओंके हृदयमें भय उत्पन्न करनेवाला वह निशाचर जनताके लिये काल-सा दिखायी देता था। उसको आते देख वहाँ सब यादव आतङ्कित हो गये और श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंका स्मरण करते हुए वे सब आपसमें इस प्रकार कहने लगे ॥ ३०—३४ ॥

यादव बोले—मित्रो ! बताओ, यह कौन हमारे निकट आ पहुँचा है ? इसका रूप बड़ा ही बीभत्स है और यह कालके समान निर्भय प्रतीत होता है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जब सब लोग बोलने लगे तो वहाँ महान् कोलाहल छा गया। बकको देखकर वे सब निशाचर प्रसन्न हो गये। राजन् ! भीषणको मूर्च्छित देख राक्षसराज बक संग्राममें बारंबार 'हा दैव ! हा दैव !' कहता हुआ शोक-मग्न हो गया ॥ ३६-३७ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् दो घड़ीमें मूर्च्छा त्यागकर भीषण उठा और कहने लगा—'मेरे भयसे गद कहाँ भाग गया ?' अपने पुत्रको उठा देख उस नरभक्षी राक्षसको बड़ा हर्ष हुआ। वह बोलनेमें बहुत कुशल था। उसने बेटेको हृदयसे लगाकर उत्तम वचनोंद्वारा उसे आश्वासन दिया। महाराज ! पिताको सहायताके लिये आया देख भीषणने प्रसन्नचित्त होकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ३८—४० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'बकका आगमन' नामक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥



बीसवाँ अध्याय

बक और भीषणकी पराजय तथा यादवोंका घोड़ा लेकर आकाशमार्गसे लौटना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर असुरोंके बीचमें खड़े होकर राक्षस बकने भीषणसे युद्धका अभिप्राय (कारण) पूछा—'बेटा ! इन तिनकोंके समान यादवोंके साथ किस-लिये युद्ध हुआ था, जिससे तुम मूर्च्छित हो गये और बहुत-से राक्षस मारे गये ! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ॥ १-२ ॥

राजन् ! बकके इस प्रकार पूछनेपर भीषणने मुँह नीचे करके अश्वमेधके घोड़ेको पकड़ लानेके सम्बन्धमें सारी बात बतायी। पुत्रकी बात सुनकर बकने अपनी गदा ले ली और यादव-सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे जंगलमें दावानल प्रकट हो जाता है। जैसे सिंह सोये हुए मृगोंको रौंद डालता है, उसी प्रकार सामने आये हुए यादवोंको बकने दोनों पैरोंसे, हाथोंसे, भुजाओंसे और गदाके आघातसे कुचल डाला। वह घोड़ोंको पकड़कर आकाशमें फेंक देता था, हाथियों तथा रथोंकी भी यही दशा करता था। बलवान् बक युद्धमें मनुष्योंको अपना भक्ष्य बनाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। यदुकुलतिलक वज्रनाभ ! उस राक्षसकी गर्जनासे लोकोंसहित सम्पूर्ण विश्व गूँज उठा। भूमण्डलकी जनमण्डली बहरी हो गयी। उसके इस विपरीत युद्धसे समस्त यादव हाहाकार करने लगे और मनमें अत्यन्त खिन्न हो गये। उस दुरात्मा राक्षससे अपनी सेनाको अत्यन्त पीड़ित होती देख प्रचण्ड पराक्रमी जाम्बवतीनन्दन साम्बने पाँच नाराच ले अपने धनुषपर रखकर तत्काल ही बकको लक्ष्य करके छोड़े। मानद नरेश ! वे बाण उसके शरीरको विदीर्ण करते हुए तत्काल भूतलमें घुस गये और भोगवती गङ्गाका जल पीने लगे ॥ ३—११ ॥

राजन् ! उन बाणोंके आघातसे बक पृथ्वीको कम्पित करता हुआ गिर पड़ा, किंतु पुनः उठकर मेघगर्जनाके समान सिंहनाद करने लगा। तब पुनः जाम्बवतीकुमारने उसे पाँच बाण मारे। उन बाणोंके आघातसे चक्कर काटता हुआ बक लङ्कामें जा गिरा। नरेश्वर ! वहाँसे आकर उस राक्षसने अग्निके समान प्रज्वलित तीन शिखाओंवाले त्रिशूलको लेकर साम्बपर दे मारा, जैसे किसीने फूलसे हाथीपर आघात

किया हो। त्रिशूलको आते देख साम्बने शीघ्र बाण मारकर अनायास ही युद्धस्थलमें उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, जैसे गरुडने किसी नागको छिन्न-भिन्न कर डाला हो। महाराज! तब रणदुर्मद बकने भारी गदा लेकर साम्बके घोड़ों और सारथिको मार डाला। फिर रथ और पताकाको भी चूर-चूर करके वह साम्बसे बोला—'तुम दूसरे रथपर बैठकर मेरे साथ युद्ध करो। इस समय तुम रथहीन हो, इसलिये रणभूमिमें मैं अधर्म या अन्यायसे तुम्हें नहीं मारूँगा' ॥ १२—१७½ ॥

उस दैत्यके ऐसा कहनेपर हँसते हुए साम्बने किंचित् कुपित होकर बककी कपाट-जैसी छातीपर शीघ्र ही गदासे आघात किया। युद्धस्थलमें उस गदासे आहत हुआ बक मन-ही-मन कुछ व्याकुल हो उठा। फिर वह साम्बकी कोई परवा न करके यादव-सेनामें जा घुसा। वहाँ पहुँचकर उस निशाचरने गदाके आघातसे बहुत-से हाथियों, घोड़ों, रथों और मनुष्योंको उसी तरह मार गिराया, जैसे मृगराज सिंह मृगोंके समुदायको धराशायी कर देता है। नृपेश्वर! उस समय यादव-सेनामें हाहाकार मच गया। राजन्! यह देख रुक्मवतीनन्दन अनिरुद्ध रोषपूर्वक एक अक्षौहिणी सेनाके साथ वहाँ आये और सबको अभय देते हुए बोले ॥१८—२२॥

अनिरुद्धने कहा—रे मूढ़! तू वीरपुरुषका सामना छोड़कर क्या युद्ध करेगा? निशाचर! भयभीतोंको मारनेसे तेरी प्रशंसा नहीं होगी। यदि तेरे शरीरमें शक्ति है तो मेरी बात सुन। मेरे सामने आकर यत्नपूर्वक युद्ध कर ॥२३-२४॥

राजन्! इस प्रकार अनिरुद्धकी बात सुनकर बकासुर रोषसे सर्पकी भाँति फुफकारता हुआ उनके सामने शीघ्र युद्धके लिये आया। युद्धस्थलमें उसे आया देख धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्धने रोषपूर्वक उसे दस नाराच मारे। वे बाण शीघ्र ही उसके शरीरको छेदकर बाहर निकले और फिर भीषणको भी विदीर्ण करते हुए भूतलमें समा गये। तब भीषणसहित बक मूर्च्छित हो वज्रसे आहत हुए पर्वतके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय यादव-सेनामें जय-जयकार होने लगा। दुन्दुभियाँ बज उठीं, नगाड़े पीटे जाने लगे और शङ्खों तथा गोमुखोंकी ध्वनि होने लगी। अपने दोनों स्वामियोंको गिरा हुआ देख समस्त राक्षसोंका हृदय क्रोधसे भर गया। वे यादवोंको मारनेके लिये एक साथ ही उनपर टूट पड़े। फिर तो समराङ्गणमें दोनों सेनाओंके बीच घोर युद्ध होने लगा। बाण, खड्ग, गदा, शक्ति और भिन्दिपालोंद्वारा परस्पर आघात-प्रत्याघात होने लगे। राजन्! राक्षसोंके तीव्र बलको देखकर श्रीहरिके साम्ब आदि अठारह पुत्र तीखे बाणोंद्वारा उनपर प्रहार करने लगे। वहाँ उन सबके बाणसमूहोंसे घायल हो बहुत-से राक्षस युद्धस्थलमें सदाके लिये सो गये। कुछ तो मौतके मुखमें पड़ गये और कुछ जीवित रहनेकी इच्छासे मैदान छोड़कर भाग गये ॥ २५—३३ ॥

राजन्! तदनन्तर दो घड़ीके बाद उठकर भयंकर असुर बक तत्काल ही अपने शत्रु अनिरुद्धके सम्मुख गया। वहाँ जाकर बकने अपने हाथमें एक भारी गदा लेकर उसे अनिरुद्धके सिरपर फेंका और कहा—'लो अब तुम मारे गये।' महाराज! उस गदाको अपने ऊपर आती देख अनिरुद्धने यमदण्डसे उसे उसी तरह चूर-चूर कर दिया, जैसे कटुवचनसे मित्रता नष्ट कर दी जाती है। तब क्रोधसे भरा हुआ बक अपना मुखमण्डल फैलाकर अनिरुद्धको खा जानेके लिये उनकी ओर दौड़ा, मानो राहुने कहीं चन्द्रमापर ग्रहण लगानेके लिये आक्रमण किया हो। उसे निकट आया देख धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्धने फिर यमदण्ड उठाकर उससे उसके ऊपर आघात किया। राजन्! उस आघातसे बकका मस्तक फट गया और वह मुखसे रक्त वमन करता तथा पृथ्वीको कँपाता हुआ मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ ३४—३९ ॥

वज्रनाभ! पिताको मूर्च्छित हुए देख भीषणने रणक्षेत्रमें परिघ लेकर यादवोंका संहार आरम्भ किया। तब बलवान् अनिरुद्धने रोषपूर्वक नागपाशसे भीषणको बाँधकर उसी प्रकार खींचा, जैसे गरुड सर्पको खींचते हैं। वरुणके पाशसे बँधकर उसने हतोत्साह होकर अपना मुँह नीचे कर लिया। उसे पराजित और बलहीन देख साम्ब बोले—"असुरेन्द्र! तुम्हारा भला हो। तुम अपनी पुरीमें जाकर शीघ्र विधिपूर्वक अनिरुद्धके यज्ञ-सम्बन्धी घोड़ेको लौटा दो। अनिरुद्ध महात्मा श्रीकृष्ण हरिके पौत्र हैं। ये घोड़ेकी रक्षाके बहाने मनुष्योंको अपने स्वरूपका दर्शन करानेके लिये विचर रहे हैं। देवता, दैत्य और मनुष्य सभी आकर इनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। ये मनुष्योंके समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं। तुम इन्हें श्रीकृष्णके समान ही समझो। राक्षस! 'तुम युद्धमें श्रीकृष्णसे पराजित हुए हो'—ऐसा समझकर दुःख और चिन्ता त्याग दो और हमलोगोंके साथ श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये चलो" ॥ ४०—४६ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! साम्बके इस प्रकार समझाने और वरुणपाशसे मुक्त कर दिये जानेपर भीषणने पुरीमें जाकर वहाँसे द्रव्यादिके साथ घोड़ा लाकर

अनिरुद्धको लौटा दिया। तब अनिरुद्धने उससे भी अश्वकी रक्षाके लिये चलनेका अनुरोध किया। नरेश्वर! उनके इस प्रकार अनुरोध करनेपर भीषणने कुछ सोच-विचारकर उत्तर दिया॥ ४७-४८॥

भीषणने कहा—'मेरे असुरपालक पिता जब सचेत हो जायँगे, तब मैं उनकी आज्ञा लेकर आऊँगा, इसमें संशय नहीं है।' भीषणके ऐसा कहनेपर प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्धने यादवसेनाके साथ यज्ञके घोड़ेको विमानपर चढ़ा लिया और स्वयं भी उसपर आरूढ़ हो, वे आकाशमार्गसे चल दिये॥ ४९-५०॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'उपलङ्कापर विजय' नामक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २०॥

इक्कीसवाँ अध्याय

भद्रावतीपुरी तथा राजा यौवनाश्वपर अनिरुद्धकी विजय

श्रीगर्गजी कहते हैं—तदनन्तर विमानपर बैठे हुए ऊषावल्लभ अनिरुद्ध अपनी विजय-दुन्दुभि बजवाते हुए आकाशमार्गसे शीघ्र ही अपनी सेनाके पास आ गये। उन सबको आया देख अक्रूर आदि यादवोंने मिलकर सारा कुशल-समाचार पूछा और उन लोगोंने सब कुछ बता दिया॥ १-२॥

तत्पश्चात् मूर्च्छा त्यागकर बक सहसा उठ खड़ा हुआ। वहाँ यादवोंको न देखकर उसने पुत्रसे रोषपूर्वक उनके चले जानेका कारण पूछा। तब भीषणने पितासे समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। उसकी बात सुनकर रोषसे बकके ओठ फड़कने लगे और वह कुपित होकर बोला—'मैं जानता हूँ, जैसे सिंहके डरसे हरिण भागते हैं, उसी प्रकार यादव मेरे भयसे विमान-द्वारा भागकर कुशस्थलीको चले गये हैं। इसलिये मैं पृथ्वीको यादवोंसे सूनी कर दूँगा, इसमें संशय नहीं है। अब मैं कृष्णकी द्वारकामें जाकर समस्त यादवोंका संहार करूँगा'॥ ३—६॥

भीषणने कहा—महाराज! क्रोधको रोकिये, यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। जब दैव प्रसन्न होगा, तब हम यादवोंको जीतेंगे॥ ७॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! पुत्रके इस प्रकार समझानेपर बकासुर चुप हो गया और वन-जन्तुओंको खाता हुआ वनमें विचरने लगा॥ ८॥

नृपेन्द्र! तदनन्तर अश्वका विधिपूर्वक अभिषेक करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान दे, विजयी प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्धने पुनः विजययात्राके लिये उसको छोड़ा। प्रद्युम्नकुमारके छोड़नेपर वह अश्व धैवत स्वरसे हिनहिनाता और बहुतसे वीरयुक्त देशोंका दर्शन करता हुआ भद्रावतीपुरीमें जा पहुँचा॥ ९-१०॥

राजेन्द्र! भद्रावतीपुरी अनेक उपवनोंसे सुशोभित थी। पर्वत, दुर्गसे घिरी हुई थी तथा रजतमय मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते थे। बड़े-बड़े वीर पुरुष उसमें निवास करते थे। राजा यौवनाश्व उस पुरीके रक्षक थे। लोहेके बने हुए कपाटोंसे वह पुरी अत्यन्त दृढ़ थी। उसमें जाकर वह अश्व राजाके सम्मुख खड़ा हो गया। राजाने उसे पकड़ा और सब बात जानकर वे क्रोधपूर्वक युद्ध करनेके लिये सेनासहित पुरीसे बाहर निकले। महाबली यौवनाश्वको सेनासहित सामने आया देख प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धने श्रीकृष्णभक्त मन्त्री उद्धवको बुलाकर पूछा॥ ११—१४॥

अनिरुद्धने कहा—मन्त्रीजी! यह सेनाके साथ कौन हमारे सम्मुख आया है? इसने अश्वका अपहरण किया है और यह हमारे शत्रुओंमें मुख्य है; अतः इसके विषयमें आप सारी बातें बताइये॥ १५॥

उद्धव बोले—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्ध! इस राजाका नाम 'यौवनाश्व' है। यह मरुधन्व देशके स्वामीका पुत्र है और अपने पिताके दिवंगत होनेपर यहाँ राज्य करता है। महाराज! अभी यह सोलह वर्षकी अवस्थाका है। अपने दुष्ट मन्त्रीके कहनेसे यह युद्ध अवश्य करेगा; परंतु आप इसका वध कदापि न करें॥ १६-१७॥

यह सुनकर 'बहुत अच्छा' कहकर अनिरुद्ध युद्धस्थलमें यौवनाश्वके साथ उसी प्रकार युद्ध करने लगे, जैसे सिंह हाथीसे लड़ रहा हो। ऊषापति अनिरुद्धने यौवनाश्वकी तीन अक्षौहिणी सेनाका संहार करके उसे रथहीन कर दिया और राजकुमारसे यह उत्तम बात कही॥ १८-१९॥

अनिरुद्ध बोले—राजन्! मुझे घोड़ा लौटा दो, अन्यथा मेरे साथ युद्ध करो॥ १९½॥

उनकी यह बात सुनकर और उन्हें श्रीकृष्णका पौत्र जान राजाको बड़ा भय हुआ। उसने अनिरुद्धको विधिपूर्वक यज्ञका

घोड़ा समर्पित कर दिया और उनसे निमन्त्रित हो उस राजाने हाथ जोड़कर कहा ॥ २०-२१ ॥

यौवनाश्व बोला—नृपेश्वर ! जब द्वारकामें यज्ञ होगा, उस समय मैं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंका दर्शन करनेके लिये आऊँगा ॥ २२ ॥

तदनन्तर अनिरुद्धने उसे उसके राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया। यौवनाश्वने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और विजयी अनिरुद्धने उस श्रेष्ठ घोड़ेको पुनः विजयके लिये छोड़ा ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'भद्रावतीपर विजय' नामक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥



बाईसवाँ अध्याय

यज्ञके घोड़ेका अवन्तीपुरीमें जाना और वहाँ अवन्तीनरेशकी ओरसे सेनासहित यादवोंका पूर्ण सत्कार होना

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज ! यदुकुलतिलक वीरवर अनिरुद्धका वह घोड़ा अनेक जनपदोंका अवलोकन करता हुआ 'राजपुर' जनपदमें जा पहुँचा। मार्गमें सफरा (शिप्रा) नदीका दर्शन करके वह अवन्तिका (उज्जयिनी) के उपवनमें जा खड़ा हुआ। उसी समय श्रीकृष्णके गुरु महात्मा विप्रवर सान्दीपनि स्नान करनेके लिये घरसे चलकर वहाँ आये। उन्होंने तुलसीकी माला पहन रक्खी थी। कंधेपर धौत वस्त्र रख छोड़ा था और मुखसे वे श्रीकृष्ण-नामका जप कर रहे थे। उन्होंने वहाँ पानी पीते हुए श्वेत एवं श्यामकर्ण घोड़ेको, जिसके भालदेशमें पत्र बँधा हुआ था, देखा। देखकर पूछा—'किस नृपेश्वरने इस यज्ञके घोड़ेको छोड़ा है ?' ॥१—३॥

नरेश्वर ! वहाँ राजकुमार बिन्दुको स्नान करते देख उन्हें घोड़ेके विषयमें जानकारी प्राप्त करनेके लिये जाकर प्रेरित किया। महाराज ! तब राजाधिदेवीके वीरपुत्र बिन्दुने अन्य बहुतसे वीरोंके साथ जाकर सहसा उस घोड़ेको पकड़ा और उसका भलीभाँति निरीक्षण करके लौटकर गुरु सान्दीपनिको प्रणाम कर उसके विषयमें बताया। तत्पश्चात् गुरुके आदेशसे प्रसन्न हो राजकुमार घोड़ा लेकर आये और हर्षपूर्वक गुरुजीको दिखलाने लगे। सान्दीपनिने भालपत्र पढ़कर प्रसन्नतापूर्वक राजाको बताया ॥ ४—६ ॥

सान्दीपनि बोले—राजन् ! इसे राजा उग्रसेनका घोड़ा समझो। प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध इसकी रक्षामें आये हैं। यह अश्व अपने इच्छानुसार घूमता हुआ यहाँतक आ गया है। अब अनिरुद्ध भी यहाँ आयेंगे। उनके साथ और भी बहुत-से युद्धशाली यादव-वीर पधारेंगे। घोड़ेका निरीक्षण करते हुए तुम्हारी बहिन मित्रविन्दाके पुत्र भी आयेंगे। तुम्हें यहाँ श्रीकृष्णचन्द्रके सभी पुत्रोंका आदर-सत्कार करना चाहिये। मेरे कहनेसे तुम युद्धका विचार छोड़कर घोड़ा उन्हें लौटा देना ॥ ७—९ ॥

गुरुका यह कथन सुनकर धनुर्धर शूरवीर राजकुमार वहाँ चुप रह गया। उसका मन घोड़ेको पकड़ ले जानेका था। उसी समय यादव-सेनाका कोलाहल सुनायी पड़ा, जो समस्त लोकोंके मानका मर्दन करनेवाला था। दुन्दुभियोंका महानाद, धनुषोंकी टंकार, हाथियोंका चीत्कार, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथोंका झणत्कार, वीरोंकी गर्जना तथा शतघ्नियोंका महानाद—इन सबका तुमुल शब्द समस्त लोकोंके लिये भयदायक था। उसे सुनकर राजकुमार बिन्दुको बड़ा विस्मय हुआ। इतनेमें ही रथियों, हाथियों और घोड़ोंके साथ भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन तथा दशार्हवंशके समस्त यादव वहाँ आ पहुँचे। वे सेनाकी धूलिसे आकाशको व्याप्त तथा पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कम्पित करते हुए आये और सब-के-सब पूछने लगे—'यज्ञका घोड़ा कौन ले गया, कहाँ गया ?' ॥१०—१५॥

उस समय समस्त अन्वेषकोंने पुष्पवाले वृक्षोंसे व्याप्त अत्यन्त अद्भुत उपवनमें चामर बँधे हुए घोड़ेको देखा, जिसे राजकुमार बिन्दुने अनायास ही पकड़ लिया था। देखकर सबने अनिरुद्धके निकट जाकर इसकी सूचना दी। सूचना पाकर धर्मज्ञ अनिरुद्ध विस्मित हुए। उन्होंने हँसते हुए बिन्दुके पास उद्धवजीको भेजा। महाराज ! उस समय अवन्तीपुरीमें महान् कोलाहल छा गया। वहाँ एकत्र हुई भयंकर सेनाको देखकर सब लोग भयभीत हो उठे थे। इसी समय अपने भाईकी खोज-खबर लेनेके लिये भयभीत अनुबिन्दु एक करोड़ वीरोंके साथ अपनी पुरीसे बाहर निकला। वह

यादवसेनाका विमानद्वारा उपलङ्कामें पहुँचना

अनिरुद्धद्वारा भीषणपर प्रहार



हाथीको चबाता हुआ वक

भीषणके द्वारा अश्व-समर्पण

दुग्धराशिके समान धवल एवं भालपत्रसे यु[illegible] यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको वहाँ अपने भाईके द्वारा पकड़ा गया देख उसे मना करता हुआ बोला ॥ १६—२१ ॥

अनुबिन्दुने कहा—भैया ! भगवान् श्रीकृष्ण जिनके देवता हैं, उन यादवोंका यह घोड़ा है । आप उनके साथ जो हमारा सम्बन्ध है, उसके बहाने या अपने कुलकी कुशलताके लिये इस घोड़ेको छोड़ दीजिये । यादवोंकी यह सेना तो [illegible]िये । भैया ! पहले जो राजसूय यज्ञ हुआ था, उसमें इन [illegible]दवोंने देवता, दैत्य, मनुष्य और असुर—सबपर विजय पायी थी ॥ २२-२३ ॥

अनुबिन्दुकी यह बात सुनकर बड़ा भाई बिन्दु हार मान गया । उसने घोड़ेपर चढ़कर आये हुए उद्धवजीसे कहा ॥२४॥

बिन्दु बोला—मन्त्रिप्रवर ! मैंने मित्रोंके साथ मिलनके लिये घोड़ेको पकड़ रक्खा है । अतः आप सब लोगोंको निमन्त्रित किया जाता है । आज आपलोग यहीं ठहरें ॥ २५ ॥

राजन् ! यह सुनकर उद्धव बिन्दुकी सराहना करके बड़े प्रसन्न हुए और अनिरुद्धके निकट जाकर उन्होंने सब समाचार बताया । नरेश्वर ! उद्धवजीका कथन सुनकर अनिरुद्धका मन प्रसन्न हो गया । उन्होंने सेनासहित अवन्ती-पुरीमें शिप्रा नदीके तटपर पड़ाव डाल दिया । महाराज ! वहाँ दस योजन दूरतकके भूभागमें रंग-बिरंगे अनेक शिबिर पड़ गये । सभी सुवर्णकलशोंसे युक्त थे । वे सुन्दर शिबिर वहाँ अद्भुत शोभा पा रहे थे । राजकुमार बिन्दुने वहाँ आये हुए सब लोगोंका भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चारों प्रकारके भोजनोंद्वारा आतिथ्य-सत्कार किया । इसी तरह अवन्तीनरेशने सेनावर्ती पशुओंको भी घास-पात और अन्न आदि प्रदान किये । उन्होंने वृष्णिवंशी वीरोंका इस प्रकार स्वागत-सत्कार किया । राजाधिदेवी, उनके पति तथा दोनों राजकुमार—सब-के-सब श्रीहरिके समस्त पुत्रोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६—३१ ॥

तदनन्तर रातमें प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्धने अपने बाबाके गुरु सान्दीपनि मुनिको बुलाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया । उन्हें आसन देकर बैठाया और उत्तम रीतिसे उनका पूजन करके कहा—'भगवन् ! द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे चक्रवर्ती यदुकुलतिलक महाराज उग्रसेन अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं । ब्रह्मन् ! मुनिश्रेष्ठ ! आप मुझपर कृपा करके उस श्रेष्ठ यज्ञमें अपने पुत्रसहित अवश्य पधारें ।' अनिरुद्धका यह वचन सुनकर श्रीकृष्णदर्शनके अभिलाषी सान्दीपनि मुनिने वहाँ चलनेका निश्चय किया ॥ ३२—३५ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अवन्तिकागमन' नामक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

तेईसवाँ अध्याय

अनिरुद्धके पूछनेपर सान्दीपनिद्वारा श्रीकृष्ण-तत्त्वका निरूपण; श्रीकृष्णकी परब्रह्मता एवं भजनीयताका प्रतिपादन करके जगत्से वैराग्य और भगवान्के भजनका उपदेश

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् वहाँ श्रीकृष्णपौत्र अनिरुद्धने मनमें कुछ संदेह लेकर सान्दीपनि मुनिसे उसी प्रकार प्रश्न किया, जैसे देवराज इन्द्र देवगुरु बृहस्पतिसे अपने मनका संदेह पूछा करते हैं ॥ १ ॥

अनिरुद्ध बोले—'भगवन् ! मुने ! मुझे उस सारतत्त्वका उपदेश दीजिये, जिससे मैं जगत्के स्वप्नतुल्य सुखोंको त्यागकर नित्यानन्द-स्वरूपमें रमण करूँ ।' राजन् ! अनिरुद्धके इस प्रकार पूछनेपर सान्दीपनि मुनि हँसते हुए उसी प्रकार उन्हें उपदेश देने लगे, जैसे पूर्वकालमें राजा पृथुके पूछनेपर सनत्कुमारने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक उपदेश दिया था ॥ २-३ ॥

सान्दीपनि बोले—लोकेश ! तुम्हीं श्रीहरिके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए आदिदेव हो; अतः तुम्हारे सामने मैं सारतत्त्वकी बात क्या कह सकूँगा । राजन् ! तथापि तुम्हारे वचनका गौरव मानकर समस्त दीनचेता मनुष्योंके कल्याणके लिये कुछ कहूँगा । नरेश्वर ! तुमने जो कुछ पूछा है, वह सब मेरे मुखसे सुनो । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंका सेवन ही सारतत्त्व है, जिन चरणोंके पूजनमात्रसे ध्रुवजीने ध्रुवपद प्राप्त कर लिया । प्रह्लाद, अम्बरीष, गय और यदुने भी अक्षयपद प्राप्त किया । राजेन्द्र ! इसलिये तुम भी मनसे यत्नपूर्वक श्रीकृष्णकी सेवा करो; क्योंकि यही सब साधनोंका सारभूत है । तुम सब लोग इस जगत्में बड़े सौभाग्यशाली हो; क्योंकि श्रीकृष्ण-

के वंशमें उत्पन्न हुए हो, उनके कुटुम्बी और सम्बन्धी हो। श्रीहरिके प्रिय होनेके कारण तुम सब-के-सब जीवन्मुक्त हो। तुम यादवोंमेंसे कोई तो श्रीकृष्णको अपना बेटा समझते हैं, कोई भाई मानते हैं और कोई उन्हें पिता एवं मित्रके रूपमें जानते हैं। यदि उनका यह भाव सुदृढ़ रहा तो उनके लिये इससे बढ़कर उत्तम कर्तव्य और क्या होगा ॥ ४—१० ॥

अनिरुद्धने पूछा—मुने! इस जगत्‌का आदिभूत सनातन कर्ता कौन है, जिससे पूर्वकालमें इसका प्राकट्य हुआ था, इस बातका मुझसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। महर्षे! भगवान् जगदीश्वर प्रत्येक युगमें किस-किस रूपसे धर्मका अनुष्ठान करते हैं, यह हम सब लोगोंको बताइये ॥ ११-१२ ॥

सान्दीपनि बोले—यदुकुलतिलक अनिरुद्ध! जिनसे जगत्‌की उत्पत्ति और संहार होते रहते हैं, वह ईश्वर, परब्रह्म एवं भगवान् एक ही है। नृपश्रेष्ठ! युग-युगमें (प्रत्येक कल्पमें) ये दक्ष आदि प्रजापति उन्हींसे प्रकट होते हैं और फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं। विद्वान् पुरुष इस विषयमें कभी मोहित नहीं होता। राजन्! श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। जिनसे यह सारा जगत् प्रकट हुआ है, जो स्वयं ही जगत्स्वरूप हैं तथा जिनमें ही इस जगत्‌का लय होगा। वह ब्रह्म परमधाम है। वही सत्-असत्से परे परमपद है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उससे भिन्न नहीं है। वही मूल प्रकृति है और वही व्यक्तरूपवाला संसार है। उसीमें सबका लय होता है और उसीमें सबकी स्थिति है। जिनसे प्रकृति और पुरुष प्रकट होते हैं, जिनसे चराचर जगत्‌का प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो इस सकल दृश्य-प्रपञ्चके कारण हैं, वे परमात्मा श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों। राजेन्द्र! चारों युगोंमें वे ही श्रीविष्णुरूपसे पालनरूप व्यापारका संचालन करते हैं। वे जिस प्रकार युगव्यवस्था करते हैं, वह सुनो। सत्ययुगमें समस्त भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले वे सर्वभूतात्मा श्रीहरि कपिल आदिका स्वरूप धारण करके उत्तम ज्ञान प्रदान करते हैं। त्रेतामें चक्रवर्ती सम्राट्के रूपमें प्रकट हो वे ही प्रभु दुष्टोंका निग्रह करते हुए तीनों लोकोंका परिपालन करते हैं। द्वापरमें वेदव्यासका स्वरूप धारण करके वे विभु एक वेदके चार भेद करके फिर शाखा-प्रशाखारूपसे उसके सैकड़ों भेद करते हैं। फिर उसका बहुत विस्तार कर देते हैं। इस प्रकार वेदोंका व्यास (विस्तार) करके कलियुगके अन्तमें वे श्रीहरि पुनः कल्किरूपसे प्रकट होते हैं और वे प्रभु दुष्टोंको सन्मार्गमें स्थापित करते हैं। इस प्रकार अनन्तात्मा श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि, पालन और अन्तमें संहार करते हैं। उनसे भिन्न दूसरे किसीसे ये सृष्टि आदि कार्य नहीं सम्पादित होते हैं। उन सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है, जिनसे यह प्राकृत या जड जगत् भिन्न है। समस्त लोकोंके आदिकारण वे श्रीकृष्ण ही सबके ध्येय हैं। वे अविनाशी परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों।

तस्मान्नृपेन्द्र हरिपौत्र मनोमयं च
सर्वं विहाय जगतश्च सुखं च दुःखम्।
मोक्षप्रदं सुरवरं किल सर्वदं त्वं
द्वारावतीनरपतिं भज कृष्णचन्द्रम् ॥२६॥

इसलिये नृपेन्द्र! हरिपौत्र! जगत्‌के सम्पूर्ण मनोमय सुख-दुःखको छोड़कर तुम मोक्षदाता देवेश्वर एवं सब कुछ देनेवाले द्वारावतीनरेश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका भजन करो। इस प्रकार जो भक्तियुक्त पुरुष भगवान् श्रीकृष्णके इस वृत्तसारका वर्णन करता और सुनता है, उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। उसे कभी आत्माके विषयमें मोह नहीं होता। वह भगवत्स्मरणमें संलग्न रहकर अविचल भक्तिकी योग्यता प्राप्त कर लेता है ॥ १३—२७ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'वैराग्य-कथन' नामक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ अध्याय

अनुशाल्व और यादव-वीरोंमें घोर युद्ध

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! सान्दीपनि मुनिका यह वचन सुनकर अनिरुद्धको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें अपना मन लगाकर उन मुनीश्वरसे कहा—'प्रभो! आपके उपदेशरूपी खड्गसे मेरा मोहरूपी शत्रु नष्ट हो गया। अब आप आज ही अपने पुत्रके साथ श्रीकृष्णपुरी द्वारकाको पधारिये' ॥ १-२ ॥

उनकी यह बात सुनकर सान्दीपनि मुनि प्रसन्नतापूर्वक श्रीकृष्णके दिये हुए पुत्रके साथ रथपर बैठकर द्वारकापुरीको गये। द्वारकापुरीमें बलराम और श्रीकृष्णने बड़े आदरके साथ उन्हें ठहराया। समस्त यादवों तथा भोजराज उग्रसेनने विधिपूर्वक उनका पूजन किया ॥ ३-४ ॥

इधर प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धने सोनेकी साँकलमें बँधे हुए अत्यन्त उज्ज्वल श्यामकर्ण अश्वको विजय-यात्राके लिये खोल दिया। वह घोड़ा राजाधिराज उग्रसेनदेवका वैभव सूचित करता हुआ वेगपूर्वक आगे बढ़ा और उस 'राजपुर'में चला गया, जहाँ शाल्वका भाई राजा अनुशाल्व नित्य राज्य करता था। स्वेच्छानुसार वहाँ पहुँचे हुए उस अश्वको अनुशाल्वने पकड़ लिया और उसके भालमें बँधे हुए पत्रको बाँचा। बाँचकर उसे बड़ा हर्ष हुआ। सारा अभिप्राय समझकर रोषसे उसके ओठ फड़कने लगे। वह टेढ़ी आँखोंसे देखता हुआ अपने सैनिकोंसे बोला—'बड़े सौभाग्यकी बात है कि मेरे सारे शत्रु स्वयं यहाँ आ गये। मैं उन सबको मार डालूँगा, जिन्होंने मेरे भाईका वध किया है' ॥ ५-९ ॥

—ऐसा कहकर और यादवोंको तिनकेके समान मानकर दस अक्षौहिणी सेनाके साथ वह नगरसे बाहर निकला। उसी समय समस्त वृष्णिवंशियोंने देखा, सामने विशाल सेना आयी है और बाणवर्षा कर रही है, तब उन्होंने भी बाण बरसाना आरम्भ किया। उस रणक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीच खड्ग, बाण, शक्ति और भिन्दिपालोंद्वारा घोर युद्ध होने लगा। अनुशाल्वकी सेना भाग चली। यह देख महाबली अनुशाल्वने उसे रोका और सिंहनाद करते हुए रथके द्वारा वह स्वयं युद्धके मैदानमें आया। उसे आया देख श्रीकृष्णनन्दन दीप्तिमान् उसके साथ युद्ध करनेके लिये तत्काल सामने जा पहुँचे। दीप्तिमान्‌को युद्धभूमिमें देखकर अनुशाल्व अमर्षसे भर गया और अपने धनुषसे चलाये गये दस बाणोंद्वारा उनपर आघात किया, मानो किसी बाघने हाथीपर पंजे मार दिये हों। उन बाणसमूहोंसे ताड़ित होनेपर दीप्तिमान्‌की भुजा क्षत-विक्षत हो खूनसे लथपथ हो गयी। उन्होंने तत्काल धनुष उठाकर रोषपूर्वक दस बाण हाथमें लिये। उन बाणोंको कोदण्डपर रखकर दीप्तिमान्‌ने छोड़ा। राजन्! वे बाण अनुशाल्वके शरीरको विदीर्ण करके बाहर निकल गये, जैसे अनेक गरुड घोंसले छोड़कर सहसा बाहर चले गये हों। उन बाणोंसे घायल हुआ अनुशाल्व रणभूमिमें मूर्च्छित हो गया। तब उसके समस्त सैनिकोंके ओठ रोषसे फड़कने लगे और वे चित्र-विचित्र शस्त्रों और बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें दीप्तिमान्‌पर चोट करने लगे। उस समय श्रीहरि पुत्र भानुने आकर जैसे भानु (सूर्य) कुहासेके बादलोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार अपने बाणोंद्वारा समस्त शत्रुओंको छिन्न-भिन्न कर दिया। फिर तो अनुशाल्वके सारे सैनिक भाग चले। नरेश्वर! उसी समय अनुशाल्वके 'प्रचण्ड' नामक मन्त्रीने कुपित हो समराङ्गणमें सत्यभामाकुमार भानुपर शक्तिसे प्रहार किया। वह शक्ति भानुकी छाती छेदकर धरतीमें समा गयी और वे भी रणक्षेत्रमें मूर्च्छित होकर रथसे नीचे गिर पड़े ॥ १०-२२½ ॥

ऐसा कौतुक देख साम्ब वहाँ रोषसे जल उठे। वे शीघ्र ही हाथमें कोदण्ड लिये रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचे। साम्बने सौ बाण मारकर प्रचण्डके ध्वज, सारथि और घोड़ोंसहित सम्पूर्ण रथको चूर्ण-चूर्ण कर डाला। रथ नष्ट हो जानेपर रणदुर्मद प्रचण्ड गदा लेकर अपने शत्रु साम्बको मारनेके लिये उसी प्रकार आया, जैसे पतंग अग्निपर टूट पड़ा हो। उसे आया देख साम्बने चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी एक ही बाणसे समरभूमिमें उसका मस्तक काट दिया। नृपेश्वर! उस समय उसकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ २३-२७ ॥

तदनन्तर अनुशाल्व दो घड़ीमें मूर्च्छा त्यागकर उठ खड़ा हुआ। उसने देखा मेरा मन्त्री साम्बके हाथसे युद्धमें मारा गया। यह देख उस राजाने रथपर आरूढ़ हो कवच बाँधकर धनुष और खड्ग लेकर धावा किया तथा समरमें चार बाणोंद्वारा साम्बके चार घोड़ों, दो बाणोंसे उसके ध्वज, तीन बाणोंसे सारथि, पाँच बाणोंसे धनुष तथा तीस बाणोंसे रथकी धज्जियाँ उड़ा दीं। धनुष कट गया, रथ नष्ट हो गया और घोड़े तथा सारथि मारे गये, तब जाम्बवती-कुमार साम्ब दूसरे रथपर आरूढ़ हो शोभा पाने लगे। तदनन्तर उन्होंने कुपित हो धनुष लेकर युद्धस्थलमें सौ बाणोंद्वारा अपने शत्रुपर प्रहार किया, मानो गरुडने अपने पंखोंकी मारसे सर्पको चोट पहुँचायी हो। उस प्रहारसे अनुशाल्वका भी रथ टूट गया, घोड़े कालके गालमें चले गये, सारथि दिवंगत हो गया और स्वयं अनुशाल्व रणभूमिमें मूर्च्छित हो गया। तब उसके समस्त सैनिक गीधकी पाँखोंसे युक्त और विषधर सर्पोंके समान तीखे चमकीले बाणोंद्वारा रोषपूर्वक साम्बपर प्रहार करने लगे ॥ २८-३४ ॥

युद्धस्थलमें साम्बको अकेला देख कृष्णपुत्र मधु रोषसे भर गया और वह कबूतरके समान रंगवाले घोड़ेपर चढ़कर युद्धस्थलमें आ पहुँचा। राजेन्द्र ! साम्बके साथ मिलकर मधु सारे दुष्ट शत्रुओंको तलवारकी चोटसे मौतके घाट उतारता हुआ आधे पहरतक समराङ्गणमें विचरता रहा। तत्पश्चात् अनुशाल्वने मूर्च्छासे उठकर अपनी पराजय देख, जलसे आचमनकर शुद्ध हो, समस्त शत्रुओंको मार डालनेका निश्चय किया। उसने मयासुरसे ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा पायी थी, किंतु उसका निवारण करना वह नहीं जानता था। तथापि प्राणसङ्कट प्राप्त होनेपर उसने रोषपूर्वक ब्रह्मास्त्रका संधान किया। उस अस्त्रका दारुण और महान् तेज तीनों लोकोंको दग्ध करता हुआ-सा बारह सूर्योंके समान अन्तरिक्षमें फैलने लगा। उसके दुस्सह तेजसे जलते हुए समस्त यादव प्रद्युम्न-कुमार अनिरुद्धके पास गये और कहने लगे—'नरहरे ! महात्मन् ! इस दुःखसे हमारी रक्षा कीजिये।' राजन् ! तब रुक्मवतीकुमार वीर अनिरुद्धने उन सबको अभय दे, समराङ्गणमें रोषपूर्वक ब्रह्मास्त्र चलाकर उस ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया॥ ३५-४१॥

तब अनुशाल्वने आग्नेयास्त्र चलाया। उस अस्त्रके प्रभावसे आकाशमण्डल अग्निसे व्याप्त हो गया। सारी भूमि आगसे जलने लगी, मानो खाण्डववन आगकी लपटोंमें आ गया हो। यह देख बलवान् अनिरुद्धने फिर वारुणास्त्रका प्रयोग किया। उससे प्रचण्ड मेघ उत्पन्न हो गये और उनकी बरसायी हुई जलधाराओंसे वह आग बुझ गयी। उस समय महामेघोंद्वारा वर्षा ऋतुका आगमन जानकर मेंढक, कोकिल, मोर और सारस आदि बार-बार बोलकर अपनी आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करने लगे। तब मायावी अनुशाल्वने वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। यह देख अनिरुद्ध सब ओर पर्वतास्त्रद्वारा युद्ध करने लगे॥ ४२-४५॥

इसके बाद अनुशाल्वने हजार भारसे युक्त भारी गदा हाथमें लेकर युद्धस्थलमें शूरवीरोंके मुकुटमणि अनिरुद्धसे क्रुद्ध होकर कहा—'राजेन्द्र ! तुम्हारी सेनामें कोई ऐसा वीर नहीं है, जो गदायुद्धमें कुशल हो। यदि कोई है तो उसे शीघ्र मेरे सामने लाओ'॥ ४६-४७॥

उसका यह वचन सुनकर महान् गदाधारी गद अनिरुद्ध-के देखते-देखते आगे होकर बोले—'दैत्यराज ! इस सेनामें बहुत-से ऐसे वीर हैं, जिन्हें सम्पूर्ण शस्त्रोंमें निपुणता प्राप्त है। घमंड न करो; क्योंकि तुम रणक्षेत्रमें अकेले हो। असुर ! यदि तुम मेरी बात नहीं मानते हो तो पहले मेरे साथ गदायुद्ध कर लो, फिर दूसरोंको देखना'॥ ४८-५०॥

नरेश्वर ! ऐसा कहकर गदने लाख भारकी सुदृढ़ गदा हाथमें ली और उसके द्वारा अनुशाल्वके मस्तकपर तथा छातीमें चोट की। अनुशाल्वने भी समराङ्गणमें गदपर गदासे आघात किया। फिर तो वे दोनों क्रोधसे मूर्च्छित हो एक-दूसरेपर अपनी-अपनी गदासे चोट करने लगे। इतनेमें ही गदने अनुशाल्वको उठा लिया और उसे सौ बार घुमाकर आकाशमें फेंक दिया। अनुशाल्व पृथ्वीपर गिर पड़ा। राजेन्द्र ! तदनन्तर उसने भी रोहिणीकुमार गदको पकड़कर धरतीपर खूब रगड़ा। वह एक अद्भुत-सा दृश्य था। तत्पश्चात् गदने एक हाथीको पकड़कर अनुशाल्वके ऊपर फेंका। अनुशाल्वने अपने ऊपर आते हुए हाथीको हाथमें ले लिया और पुनः उसे गदपर ही दे मारा। वे दोनों परस्पर घुटनों और मुक्कोंके घोर प्रहारोंद्वारा चोट पहुँचाने लगे। दोनों दोनोंके द्वारा धरतीपर रौंदे गये। फिर दोनों ही गिरकर मूर्च्छित हो गये॥ ५१-५६॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'राजपुर विजय' नामक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४॥

पचीसवाँ अध्याय

अनुशाल्वद्वारा प्रद्युम्नको उपहारसहित अश्वका अर्पण तथा बल्वल दैत्यके द्वारा उस अश्वका अपहरण

श्रीगर्गजी कहते हैं—उन दोनोंका युद्ध देखकर यादव परस्पर कहने लगे—'अनुशाल्व धन्य है।' शत्रुसैनिक आपसमें चर्चा करने लगे कि 'गद महान् वीर हैं।' वे सब इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि गद वहीं सचेत होकर उठे और बोल पड़े—'मेरा शत्रु मुझपर प्रहार करके रणक्षेत्रसे कहाँ गया ? कहाँ गया ?'॥ १-२॥

—ऐसा कहकर उन्होंने अनुशाल्वको हाथसे पकड़कर रोष-पूर्वक खींचा और अनिरुद्धके निकट बड़े वेगसे दे मारा।

अनुशाल्व औंधे मुँह गिरा और मूर्च्छित हो गया। यह देख अनिरुद्धने स्वयं पानी छिड़ककर और व्यजन डुलवाकर उसे होश कराया। उसी समय असुरेश्वर अनुशाल्व मूर्च्छासे जाग उठा और अपने सामने मेघके समान श्यामवर्णवाले परमसुन्दर श्रीकृष्णपौत्रको देखकर उन्हें प्रणाम करके बोला—'श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध! आपने मेरे प्राणोंकी रक्षा की है, अतः मैंने जो अपराध किया है, उसे क्षमा कर दें। सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है। संकर्षणको प्रणाम है। प्रद्युम्नको नमस्कार है और आप अनिरुद्धको भी प्रणाम है*। आप अपना घोड़ा लीजिये और मैं भी इसकी रक्षाके लिये आपके साथ चलूँगा' ॥ ३-७½ ॥

ऐसा कह उसने नगरमें जाकर अनिरुद्धको घोड़ा लौटा दिया। साथ ही दस हजार हाथी, एक लाख घोड़े, पचास हजार रथ तथा एक सहस्र शिबिकाएँ उन्हें भेंट कीं। नृपश्रेष्ठ! इनके अतिरिक्त राजा अनुशाल्वने एक हजार ऊँट, एक सहस्र गवय (वनगाय अथवा घड़रोज), पिंजड़ेमें बंद दो हजार सिंह, एक हजार शिकारी कुत्ते, एक सहस्र शिविर (तम्बू-कनात), एक लाख रुनझुन शब्द करती हुई धनुषकी प्रत्यञ्चाएँ, दस हजार परदे, एक लाख दुधारू गौएँ, सहस्र भार सुवर्ण, चार सहस्र भार चाँदी और एक भार मोती अनिरुद्धको अर्पित किये। तब अनिरुद्धने अत्यन्त प्रसन्न हो उसे मणिमय हार भेंट किया ॥ ८-१३ ॥

अनुशाल्व अपने राज्यपर श्रेष्ठ सचिवको स्थापित कर यादवोंके साथ स्वयं भी अन्यान्य देशोंको गया। भूपते! तत्पश्चात् छूटा हुआ मणिमय और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित वह अश्व वीरोंसे भरे दूसरे-दूसरे देशोंका दर्शन करता हुआ भ्रमण करने लगा। 'अनुशाल्व हार गया, यौवनाश्व तथा भीषण भी परास्त हो गये'—यह सुनकर अन्यान्य मण्डलेश्वर-नरेशोंने अपने यहाँ आनेपर भी उस घोड़ेको नहीं पकड़ा। महाराज! इस तरह घूमते हुए उस घोड़ेके छः मास बीत गये और उतने ही शेष रह गये ॥ १४-१७ ॥

नरेश्वर! मणिपुरके राजा तथा रत्नपुरके भूपालने घोड़ेको पकड़ा; किंतु अनिरुद्धके भयसे उसको छोड़ दिया। राजन्! वह श्रेष्ठ अश्व शूरवीरोंसे रहित समस्त राष्ट्रोंको छोड़कर प्राची दिशामें गया, जहाँ दैत्यराज बल्वल निवास करता था। यह दैत्य नारदजीके मुखसे यज्ञ-सम्बन्धी घोड़ेका समाचार सुनकर नैमिषारण्यमें होनेवाले यज्ञका विनाश करके वहाँसे शीघ्र ही अपने नगरको लौटा। रास्तेमें उसने देखा, वह यज्ञ-सम्बन्धी घोड़ा प्रयागतीर्थमें त्रिवेणीका जल पी रहा है। राजन्! उसे देखते ही बल्वलने भगवान् श्रीकृष्णकी कोई परवा न करके उसे शीघ्र ही जा पकड़ा। उसी समय समस्त वृष्णिवंशी योद्धा दण्डकारण्यका दर्शन करते हुए चर्मण्वती नदी पार करके चित्रकूटमें आ पहुँचे। वहाँ श्रीरामक्षेत्रमें दान करके अश्वको देखते हुए उसके पीछे लगे वे सब लोग तीर्थराज प्रयागमें आ गये ॥ १८-२३ ॥

राजन्! वहाँ पहुँचकर उन श्रेष्ठतम यादव-वीरोंने देखा कि 'पत्रसहित अश्वको दुरात्मा असुर बल्वलने बलपूर्वक पकड़ रक्खा है।' बल्वल नील अञ्जनके ढेरकी भाँति दिखायी पड़ता था। उसके शरीरकी ऊँचाई दो योजनकी थी। उस उग्र दैत्यके नेत्र अङ्गारके समान जान पड़ते थे। उसकी दाढ़ी-मूँछ तपायी हुई ताम्रशिखाके समान दिखायी देती थी। बड़ी-बड़ी दाढ़ और उग्र भ्रुकुटिके कारण उसका मुख भयंकर प्रतीत होता था। वह ब्राह्मणद्रोही असुर अपनी जीभ लपलपा रहा था और उसमें दस हजार हाथियोंके समान बल था। उसे देखते ही यादवोंके अधर-पल्लव रोषसे फड़क उठे और वे बोले—'अरे! तू कौन है? हमारा यह यज्ञपशु लेकर तू कहाँ जायगा? अतः इसे शीघ्र छोड़ दे, नहीं तो हमलोग युद्धमें तुझे मार डालेंगे।' यह सुनकर उस असुरने कहा—'मनुष्यो! मेरी बात सुनो' ॥ २४-२८ ॥

बल्वलने कहा—मैं देवताओंको दुःख देनेवाला दैत्य बल्वल हूँ, जिसके सामने सारे मनुष्य भयसे व्याकुल हो जाते हैं ॥ २९ ॥

यह सुनकर यादवोंने बल्वलको बाणोंसे मारना आरम्भ किया। नरेश्वर! उनके बाणोंकी चोट खाकर बल्वल घोड़े-सहित सहसा अन्तर्धान हो गया ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'बल्वलके द्वारा अश्वका अपहरण' नामक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

---

* ॐ नमो वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च। प्रद्युम्नाय नमस्तुभ्यमनिरुद्धाय ते नमः॥ (२५।७)

छब्बीसवाँ अध्याय

नारदजीके मुखसे बल्वलके निवासस्थानका पता पाकर यादवोंका अनेक तीर्थोंमें स्नान-दान करते हुए कपिलाश्रमतक जाना और वहाँ कपिल मुनिको प्रणाम करके सागरके तटपर सेनाका पड़ाव डालना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! यज्ञपशुके अपहृत हो जानेपर समस्त यादवगण शोक करने लगे कि 'हम कहाँ जायँ और इस पृथ्वीपर क्या करें?' अनिरुद्ध आदि सब लोगोंको उस समय कोई उपाय नहीं सूझा। नरेश्वर! तब श्रीनारदरूपधारी भगवान् वहाँ आ पहुँचे। देवर्षि नारदको आया देख यादवोंसहित अनिरुद्धने आसनपर बैठाकर उनका पूजन किया और बड़े प्रसन्न होकर वे उन मुनीश्वरसे बोले॥ १—३॥

अनिरुद्धने कहा—भगवन्! वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुने! दुरात्मा दैत्य बल्वल हमारा घोड़ा लेकर कहाँ चला गया है? यह सब मुझे बताइये। आपका दर्शन दिव्य है। आप सूर्यदेवकी भाँति तीनों लोकोंमें विचरते रहते हैं। त्रिभुवनके भीतर वायुके समान विचरण करनेवाले आप सर्वज्ञ तथा आत्मसाक्षी हैं। इसलिये सब बात मुझसे कहिये। अनिरुद्धका यह प्रश्न सुनकर नारदजी माधव प्रद्युम्नकुमारसे बोले॥ ४-५॥

नारदजीने कहा—नृपेश्वर! बल्वलने तुम्हारे घोड़ेको समुद्रके बीचमें बसे हुए 'पाञ्चजन्य' नामक उपद्वीपमें ले जाकर रख दिया है। उसका मित्र या बन्धु शकुनि यादवोंके हाथसे मारा गया था, अतः यादवोंका वध करनेके लिये उसने यह कार्य किया है। वह महान् असुर सुतललोकसे दैत्यसमूहोंको बुलाकर वहाँ राज्य करता है। भगवान् शिवका वरदान पाकर वह घमंडसे भरा रहता है॥ ६—८॥

यह सुनकर अनिरुद्धने शङ्कित होकर पूछा॥ ८½॥

अनिरुद्ध बोले—देवर्षे! चन्द्रमौलि-भगवान् शिवने उस दैत्यको कौन-सा श्रेष्ठ वर प्रदान किया है? उसके किस कार्यसे शिवजी संतुष्ट हो गये थे?॥ ९½॥

राजन्! तब मुनिवर नारदने कहा—प्रद्युम्नकुमार! मेरी बात सुनो। एक समय उस दैत्यने कैलास पर्वतपर एक पैरसे खड़े रहकर बारह वर्षोंतक अत्यन्त कठोर तप किया। उस तपस्यासे संतुष्ट होकर महादेवजीने कहा—'वर माँगो'। उनकी बात सुनकर वह बोला—'सदाशिव! आपको नमस्कार है। कृपानिधान! देव! महासमरमें आप मेरी रक्षा करें।' नरेश्वर! तब 'तथास्तु' कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। फिर वह दैत्य पाञ्चजन्य उपद्वीपमें बलपूर्वक राज्य करने लगा। वह युद्धके बिना स्वतः तुम्हें घोड़ा नहीं देगा॥ १०—१४॥

तब अनिरुद्ध कहने लगे—मुनिश्रेष्ठ! मैं सेनासहित दुष्ट बल्वलको मारकर घोड़ा छुड़ा लूँगा। यदि वह भगवान् शिवके वरदानसे युद्ध करेगा तो मुझे विश्वास है कि शिवजी युद्धमें उस श्रीकृष्णद्रोही दुष्टकी रक्षा नहीं करेंगे॥ १५-१६॥

—ऐसा कहकर अनिरुद्धने विजययात्राके लिये सहसा समस्त यादवोंको आज्ञा दी। नृपेश्वर! नारदजीके हृदयमें युद्ध देखनेका कौतूहल था। वे अनिरुद्धसे विदा ले आकाशमार्गसे उस स्थानपर गये। समस्त यादव तत्काल तीर्थराजमें विधिवत् स्नान-दान करके रोषपूर्वक युद्धयात्राके लिये सुसज्जित हो गये॥ १७—१९॥

राजन्! वे हाथियों, घोड़ों तथा रथोंके द्वारा उस उपद्वीपमें गये। प्रतिदिन दो लाख सिपाही उनके जानेके लिये मार्ग तैयार करते थे। वे भिन्दिपालोंकी सहायतासे सर्वत्र सेनाके लिये पहले ही मार्ग तैयार कर देते थे, जिसपर रथ, हाथी और घोड़े सुखसे यात्रा करते थे। राजेन्द्र! उस निष्कण्टक मार्गमें पैदल सिपाही भी तीव्रगतिसे चलते थे। यादव-सेनाके भारसे पीड़ित हो शेषनाग मन-ही-मन कहते थे—'न जाने भूतलपर क्या हो गया है?'॥ २०-२२½॥

नरेश्वर! अनिरुद्ध सेनाके आगे होकर अलक्षित भावसे चलते थे। वे अश्वकी रक्षाके बहाने पापियोंका विनाश-सा करते थे। राजन्! प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध अश्वकी रक्षाके लिये जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ वे श्रीकृष्णके समग्र यशका गान सुनते थे। जो लोग श्रीकृष्ण और बलरामकी प्रशंसा करते थे, उनको वे रत्न, वस्त्र और आभूषण बाँटते थे। उनकी सेनाओंमें जो कुछ भी उत्तम धन था, वह सब श्रीकृष्ण-कथासे आकृष्टचित्त हो वे प्रसन्नतापूर्वक दे डालते थे॥ २३—२६½॥

राजन् ! इस प्रकार श्रीहरिका यशोगान सुनते और काशी तथा गया आदि तीर्थोंको देखते हुए वहाँ अनेक प्रकारके दान दे, वे पूर्वदिशाकी ओर चले गये । यादवोंकी ऐसी भयंकर सेना देखकर गिरिव्रजपुरके स्वामी जरासंधपुत्र सहदेव शङ्कित हो गये । वे नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट ले, भयसे विह्वल हो, दोनों हाथ जोड़कर अनिरुद्धके चरणोंमें गिर पड़े । शरणागतवत्सल अनिरुद्धने सहदेवको प्रसन्नतापूर्वक रत्नमयी माला भेंट की और उन्हें उनके राज्यपर स्थापित करके शीघ्र ही श्रेष्ठ वृष्णिवंशी वीरोंके साथ वे कपिलाश्रमको गये । उन श्रेष्ठ यादव-वीरने वहाँ गङ्गा-सागर-सङ्गममें स्नान किया और सिद्ध मुनीन्द्र कपिलका दर्शन करके सेना-सहित उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया । राजन् ! उस स्थानसे दक्षिण दिशामें समुद्रके तटपर महलोंके समान ऊँचे-ऊँचे शिविर लग गये । राजेन्द्र ! उन शिविरोंमें अनुयायियोंसहित अनिरुद्ध आदि शूरवीर और विजयाभिलाषी समस्त यादवों-ने निवास किया ॥ २७—३४ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अश्वके लिये उपद्वीपमें गमन' नामक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय

यादवोंद्वारा समुद्रपर बाणमय सेतुका निर्माण

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज ! तत्पश्चात् यादवराज अनिरुद्धने उद्धवजीको बुलाकर गम्भीर वाणीमें पूछा—'साधुशिरोमणे ! पाञ्चजन्य द्वीप कितनी दूर है, जिसमें उस दैत्यने मेरा घोड़ा ले जाकर रक्खा है ?' ॥ १-२ ॥

उनका यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्णके मन्त्री, सुहृद् और सखा उद्धव मन-ही-मन श्रीकृष्णचरणारविन्दोंका चिन्तन करके यदुकुलनन्दन अनिरुद्धसे बोले—"भगवन् ! सर्वज्ञ ! प्रभो ! लोकेश ! मैं आपकी बातका गौरव रखनेके लिये मार्गमें जैसा सुना है, वैसा बता रहा हूँ । नृपेश्वर ! तीस योजन विस्तृत सागरके उस पार दक्षिण दिशामें 'पाञ्चजन्य' नामक उपद्वीप है" ॥ ३—५ ॥

उद्धवकी बात सुनकर बलवान्, धैर्यशाली तथा धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्ध रोष और उत्साहसे भरकर श्रेष्ठ यादव-वीरोंसे बोले ॥ ६ ॥

अनिरुद्धने कहा—श्रेष्ठतम वीर यादवो ! मैं समुद्रके पार जाऊँगा । इसलिये तुमलोग शीघ्र ही बाणोंद्वारा समुद्रके ऊपर सेतुका निर्माण करो ॥ ७ ॥

उनकी यह बात सुनकर युद्धकुशल यादव परस्पर हँसते हुए समुद्रके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । तब समस्त जलचर जन्तु तीखे बाणोंसे घायल हो चीत्कार करते हुए चारों दिशाओंमें भाग चले । देवर्षि नारद आकाशमें खड़े होकर यह सब कौतुक देख रहे थे । वे बड़े जोरसे बोले—'तुमलोगोंमेंसे किसीके बाण अभी समुद्रके पारतक नहीं पहुँचे हैं' ॥ ८-९½ ॥

नरेश्वर ! उस समय नारदजीकी बात सुनकर अक्रूर, हृदीक, युयुधान सात्यकि, उद्धव, बलवान् कृतवर्मा और सारण आदि वीरों तथा हेमाङ्गद, इन्द्रनील और अनुशाल्व आदि भूपालोंका घमण्ड चूर-चूर हो गया । तब बलवान् अनिरुद्धने श्रीकृष्णचरणारविन्दोंका चिन्तन करके शार्ङ्ग-धनुषके तुल्य कोदण्ड लेकर उसके द्वारा दिव्य बाण छोड़े । उन बाणोंको देखकर देवर्षि बोले—'अनिरुद्धके बाण समुद्र-के पार जाकर उसकी तटवर्ती भूमिमें प्रविष्ट हो गये हैं' ॥ १०—१४ ॥

राजन् ! देवर्षिका यह वचन सुनकर साम्ब और दीप्तिमान् आदि यादवोंने भी बाण छोड़े । उनके भी वे बाण समुद्रके उस पार पहुँच गये । महाराज ! यों करोड़ों बाण घुसते चले गये । यह देख समस्त धनुर्धर आश्चर्यचकित हो गये । इस प्रकार सब यादवोंने जलके ऊपर आकाशमें तीस योजन लंबा और एक योजन चौड़ा पुल तैयार कर दिया । चार पहरमें इतना बड़ा पुल बाँधकर अनिरुद्ध आदि यादव रात्रिके समय अपने शिविरोंमें सोये । अतः परमात्मा श्रीकृष्ण-के शूरवीर पुत्र-पौत्रोंके, जो श्रीकृष्णके ही प्रतिबिम्ब हैं, बलका मैं क्या वर्णन करूँ ? ॥ १५—१९ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'सेतु-बन्धन' नामक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय

यादवोंका पाञ्चजन्य उपद्वीपमें जाना; दैत्योंकी परस्पर मन्त्रणा; मयासुरका बल्वलको घोड़ा लौटा देनेके लिये सलाह देना; परंतु बल्वलका युद्धके निश्चयपर ही अडिग रहना

श्रीगर्गजी कहते हैं—नृपेन्द्र ! प्रातःकाल शौचादि कर्म करके यदुनन्दन अनिरुद्ध यादवोंके साथ उसी प्रकार सागरके उस पार गये, जैसे पूर्वकालमें कपियोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी गये थे। वहाँ जाकर उन अनिरुद्ध आदि यादवोंने पाञ्चजन्य उपद्वीप देखा, जिसका विस्तार सौ योजन था। राजेन्द्र ! उस उपद्वीपमें आसुरी पुरी शोभा पाती थी, जो बीस योजनतक फैली हुई थी। उसमें दैत्योंके समुदाय निवास करते थे। पुंनाग, नागकेसर, चम्पा, तिलक, देवदारु, अशोक, पाटल, आम, मन्दार, कोविदार, निम्ब, जम्बू, कदम्ब, प्रियाल, पनस (कटहल), साल, ताल, तमाल, मल्लिका, जाति (चमेली), जूही, नीप, कदम्ब, मौलश्री, चम्पक तथा मदन नामवाले वृक्ष एवं पुष्प उस रमणीय नगरीकी शोभा बढ़ाते थे। उसमें रत्नोंके महल बने हुए थे ॥ १-६ ॥

यादवोंका आगमन सुनकर दुष्ट बल्वलने महात्मा यादवोंकी सेनाकी गणना करनेके लिये मायावी मयको भेजा। उसने तोतेका रूप धारण करके वहाँ जाकर सब यादवोंको देखा और लौटकर अत्यन्त विस्मित हो पुरीके भीतर बल्वलसे कहा ॥ ७-८ ॥

मय बोला—दैत्यराज ! बलवान् वृष्णिवंशी योद्धाओंकी गणना कौन कर सकता है ? जहाँ वे प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध लाख-लाख करोड़ सैनिकोंके साथ सुशोभित हैं। समस्त यादव समुद्रके ऊपर बाणोंसे सेतुका निर्माण करके तुम्हारे ऊपर चढ़ आये हैं। राजन् ! देखो, उनकी सेना देवताओंको भी विस्मयमें डालनेवाली है। दैत्यराज ! मैं बूढ़ा हो गया, परंतु आजतक सागरके ऊपर बाणोंका बना हुआ पुल न तो देखा था और न सुना ही था। आज तुम्हारे सामने ही यह देखनेको मिला है। रघुकुलशिरोमणि श्रीरामने पूर्वकालमें लङ्काके निकट जो सेतु-निर्माण किया था, वह पत्थरों और वृक्षोंसे बनाया गया था और उनके नामके प्रतापसे पानीके ऊपर प्रस्तर ठहर सके थे। वह सारा सेतु मैंने प्रत्यक्ष देखा था; परंतु आज जो देखा है, वह तो बहुत ही अद्भुत है। राजन् ! पूर्वकालमें श्रीकृष्णने कंस आदि तथा शकुनि आदि दैत्योंको युद्धमें मारा था और समस्त राजाओंको परास्त कर दिया था। श्रीकृष्ण तो साक्षात् भगवान् हैं। पूर्वकालमें ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर वे अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये गोलोकसे भूमिपर पधारे हैं। वे दुष्ट पापियोंका विनाश करनेके लिये कुशस्थलीमें विराजमान हैं। इसीलिये अनिरुद्ध आदि महाबली समस्त श्रेष्ठ यादव भीषण, बक तथा अन्य नरेशोंको परास्त करके यहाँ आये हैं। श्रीकृष्णके पुत्र, पौत्र तथा जाति-भाई श्रेष्ठ यादव आकाशको भी जीतनेका हौसला रखते हैं, फिर भूतलपर विजय पानेकी तो बात ही क्या ! अतः बल्वल ! तुम मरनेसे बचे हुए दैत्योंकी भलाई और अपने कुलकी कुशलताके लिये अनिरुद्धको घोड़ा लौटा दो। देवद्रोही दैत्योंको सुख मिले, इस उद्देश्यसे अनिरुद्धको घोड़ा देकर श्रीकृष्णचन्द्रका भजन करते हुए तपस्यासे प्राप्त हुए अपने राज्यको भोगो ॥ ९-१९ ॥

इस प्रकार शुभ वचनोंसे समझाये जानेपर भी बल्वल श्रीकृष्णसे विमुख हो लंबी साँस खींचकर मयसे रोषपूर्वक बोला ॥ २० ॥

बल्वलने कहा—दैत्य ! तुम बिना युद्धके ही कैसे भयभीत हो रहे हो, और मेरे सामने ऐसी बात बोल रहे हो, जो शूरवीरोंके लिये हास्यजनक है। तुम बुढ़ापेके कारण बुद्धि और बल दोनोंसे हीन हो गये हो; इसलिये इस समय मैं तुम्हारी बात नहीं मान सकता। यद्यपि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और ये यादव श्रीकृष्णके ही वंशज हैं, तथापि मैं शिवजीका भक्त हूँ। मेरे सामने ये क्या पुरुषार्थ करेंगे ? इसलिये तुम भय न करो। तुम्हारी मायाएँ कहाँ चली गयीं ? मैं तो तुम्हारे सहारे ही युद्ध करने जा रहा हूँ। अनिरुद्ध बड़े शूरवीर हैं तो क्या हमलोग शौर्यसे सम्पन्न नहीं हैं ? मेरे रहते इस भूमण्डलमें यादवोंका यह बड़ा भारी गर्व क्या है ? मेरे धनुषसे छूटे हुए सायकोंद्वारा अनिरुद्ध अपनी वीरताके गर्वका फल प्राप्त करें। दैत्यप्रवर ! आज रणभूमिमें मेरे तीखे बाण मानो अनिरुद्धको उसके कवच छिन्न-भिन्न करके रक्तसे लथपथ कर देंगे। आज योगिनियोंके झुंड मनुष्योंकी खोपड़ियोंमें जी भरकर रक्तपान करें। वैरियोंके

कच्चे मांसको चबाकर आज महाकाली संतुष्ट हो जाय। अपने महान् कोदण्डसे करोड़ों भल्लोंकी वर्षा करते हुए मुझ वीरके बाहुबलको समस्त सुभट प्रत्यक्ष देखें ॥ २१—३० ॥

बल्वलकी यह बात सुनकर महाबुद्धिमान् मायावी मय श्रीकृष्णके माहात्म्यको जाननेके कारण उस मदान्ध दैत्यसे इस प्रकार बोला ॥ ३१ ॥

मयने कहा—जब तुम रणक्षेत्रमें श्रीकृष्णके पुत्रों एवं यादवोंको जीत लोगे, तब तुम्हें परास्त करनेके लिये श्रीकृष्ण अथवा बलराम यहाँ पदार्पण करेंगे ॥ ३२ ॥

मयकी बात सच्ची और हितकारक थी तो भी कालपाशसे बँधे हुए उस महादैत्यने उसे सुनकर भी नहीं स्वीकार किया; उल्टे वह रोषसे जल उठा ॥ ३३ ॥

बल्वलने कहा—बलराम और श्रीकृष्ण मेरे शत्रु हैं। समस्त वृष्णिवंशी यादव मेरे वैरी हैं। जिन्होंने मेरे मित्रोंको मारा है, मैं उन सबको मौतके घाट उतार दूँगा। यहाँ यादवोंका वध करके पीछे मैं भी यज्ञ करूँगा और उस यज्ञके दिग्विजय-प्रसङ्गमें मैं द्वारकापुरीपर विजय पाऊँगा ॥ ३४-३५ ॥

मय बोला—दैत्यराज ! घमंड न करो। यह कालरूपी घोड़ा तुम्हारे नगरमें आया है। अबतक मरनेसे जो बच गये हैं, उन महान् असुरोंको मरवा डालनेके लिये ही इसका यहाँ पदार्पण हुआ है। असुरेश्वर ! अनिरुद्धके समस्त बाण इसी क्षण तुम्हारी पुरीको छिन्न-भिन्न तथा शूरवीरोंसे हीन कर डालेंगे, इसमें संशय नहीं है। जिन्होंने हिरण्याक्ष आदि दैत्यों तथा रावण आदि निशाचरोंको कालके गालमें भेजा था, वे ही श्रीकृष्ण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं, ऐसा मैंने सुना है। बल्वल ! इस छोटेसे राज्यके अभिमानमें आकर तुम उन्हें नहीं जानते हो। मेरे कहनेसे घोड़ा अनिरुद्धको दे दो। यह हमारे लिये युद्धका समय नहीं है ॥ ३६—३९ ॥

बल्वल बोला—मैं तुम्हारी बात समझता हूँ। तुम यादवोंके साथ युद्ध नहीं करोगे। इसलिये पूर्वकालमें जैसे रावणका भाई विभीषण श्रीरामके पास चला गया था, उसी प्रकार तुम भी अनिरुद्धके पास चले जाओ ॥ ४० ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! बल्वलकी यह बात सुनकर मायावियोंमें श्रेष्ठ मयने वहाँ अपने मानसिक दुःखको दूर करनेके लिये इस प्रकार विचार किया—'पूर्वकालमें वैरभावसे भगवच्चिन्तन करनेके कारण बहुत-से निशाचर और दैत्य वैकुण्ठधामको जा पहुँचे। अतः जो भी उस भावको अपने हृदयमें स्थान देता है, उसकी अवश्य उत्तम गति होती है।' ऐसा विचार करके मयासुरने सहसा उस महान् असुरसे कहा ॥४१-४२½॥

मयासुर बोला—बल्वल ! तुम महान् वीर हो। अब मैं तुम्हें युद्धसे नहीं रोकूँगा। तुम रणभूमिमें जाकर युद्ध करो और अपने सायकोंसे यादवोंको मार डालो। अब मैं भी तुम्हारे कहनेसे संग्रामभूमिमें जाकर युद्ध ही करूँगा ॥ ४३½ ॥

—ऐसा कहकर बल्वलको हर्ष प्रदान करता हुआ मयासुर मौन हो गया। राजन् ! तब ऊर्ध्वकेश, नद, सिंह और कुशाम्ब आदि चार मन्त्रियोंने अत्यन्त कुपित होकर बल्वलसे कहा ॥ ४४-४५ ॥

मन्त्री बोले—दैत्यराज ! पहले हमलोग समस्त श्रेष्ठ यादवोंका वध करनेके लिये युद्धके मुहानेपर जायँगे; क्योंकि हमें बहुत दिनोंसे संग्राम करनेका अवसर नहीं मिला है। राजेन्द्र ! चिन्ता मत करो। हमलोग मयदैत्यके साथ रहकर कोटि-कोटि मनुष्योंको क्षणभरमें मार गिरायेंगे ॥४६-४७॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! उन मन्त्रियोंका भाषण सुनकर बल्वलको बड़ी प्रसन्नता हुई। उस रणकोविद दैत्यने उन्हें युद्ध करनेके लिये आज्ञा दे दी ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'दैत्योंकी मन्त्रणाका वर्णन' नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८॥

उन्तीसवाँ अध्याय

यादवों और असुरोंका घोर संग्राम तथा ऊर्ध्वकेश एवं अनिरुद्धका द्वन्द्व युद्ध

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर ऊर्ध्वकेश आदि चार मन्त्री कवच बाँधकर करोड़ों दैत्योंकी सेनाके साथ युद्धके लिये नगरसे बाहर निकले। नरेश्वर ! वे सब-के-सब धनुर्धर तथा विद्याधरोंके समान शौर्यसम्पन्न थे। लोहेका कवच बाँधकर खड्ग, शूल, गदा, परिघ, मुद्गर, एकघ्नी, दशघ्नी, शतघ्नी, भुशुण्डी, भाले, भिन्दिपाल, चक्र, सायक,

शक्ति आदि सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थे। हाथी, घोड़े, रथ, नीलगाय, गाय, भैंस, मृग, ऊँट, गधे, सूअर, भेड़िये, सिंह, सियार, बड़े-बड़े गीध, शङ्ख, चील, मगर और तिमिङ्गल—इन वाहनोंपर चढ़कर वे रणकर्कश दैत्य युद्धके मैदानमें उतरे। उस समय शङ्ख और दुन्दुभियोंके नादसे, वीरोंकी सिंहगर्जनासे और शतघ्नियों (तोपों) की आवाजसे धरती बार-बार हिलने लगी॥ १—६½॥

असुरोंकी ऐसी भयंकर सेना देखकर महेन्द्र, कुबेर आदि सब देवता भयभीत हो गये। जिन्होंने अनेक बार भूतलपर विजय पायी थी, वे बलवान् यादव भी दैत्योंकी सेना देखकर मन-ही-मन विषादका अनुभव करने लगे। पहले प्रद्युम्नने राजसूय यज्ञके अवसरपर चन्द्रावती नगरीमें जो यादवोंके प्रति नीति और धैर्य बढ़ानेवाली बात कही थी, वह सब प्रद्युम्नकुमारने पुनः उनके समक्ष दुहरायी॥ ७—१०॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर यादवोंने तुरंत अस्त्र-शस्त्र उठा लिये। उन्होंने जीते जाने और माँगनेकी अपेक्षा मौतको श्रेष्ठ माना। फिर तो दैत्योंका यादवोंके साथ उस 'पाञ्चजन्य' नामक उपद्वीपमें घोर युद्ध होने लगा। ठीक उसी तरह, जैसे पहले लङ्कामें निशाचरोंका वानरोंके साथ युद्ध हुआ था॥ ११-१२॥

वहाँ युद्धमें रथियोंके साथ रथी, पैदलोंके साथ पैदल, घोड़ोंके साथ घोड़े और हाथियोंके साथ हाथी—सभी आपसमें जूझने लगे। राजन्! उस महासमरमें कितने ही मतवाले हाथियोंने अपने शुण्डदण्डसे रथोंको चकनाचूर कर दिया तथा घोड़ों और पैदल-वीरोंको मार गिराया। घोड़ों और सारथियों सहित रथोंको सूँड़में लपेटकर वे धरतीपर गिरा देते और फिर बलपूर्वक उठाकर आकाशमें फेंक देते थे। राजन्! कितने ही क्षत-विक्षत गजराज समराङ्गणसे बाहर भाग रहे थे। उन्होंने कितनोंको अपनी सुदृढ़ सूँड़ोंसे विदीर्ण करके दो पैरोंसे मसल डाला। नृपेश्वर! वीर सवारोंसहित घोड़े वहाँ दौड़ते हुए रथोंको लाँघ जाते और उछलकर हाथियोंपर चढ़ जाते थे। वे सिंहकी भाँति युद्धमें महावत और हाथीसवारको रौंदते जाते थे। महाबली अश्व उछलते हुए हाथियोंकी सेनामें घुस जाते और उनके सवार खड्गप्रहार करके बहुतसे शत्रुओंको विदीर्ण कर डालते थे। नटोंकी भाँति कभी तो घोड़ोंकी पीठपर नहीं दिखायी देते और कभी दिखायी देते थे। कितने ही वीर खड्गोंसे घोड़ोंके दो टुकड़े कर डालते और कितने ही हाथियोंके दाँत पकड़कर उनके कुम्भस्थलों पर चढ़ जाते थे। कितने ही घुड़सवार योद्धा भी तलवारोंको बड़े वेगसे चलाकर शत्रुसेनाको विदीर्ण करते हुए बाहर निकल जाते थे, जैसे हवा कमलोंके वनमें समाकर अनायास ही निकल जाती है॥ १३—२१॥

उन दोनों सेनाओंमें बाणों, गदाओं, परिघों, खड्गों, शूलों और शक्तियोंद्वारा अद्भुत तथा रोमाञ्चकारी तुमुल युद्ध होने लगा। उस युद्धके मैदानमें हाथी चिग्घाड़ते और घोड़े जोर-जोरसे हिनहिनाते थे। बहुतसे पैदल वीर हाय-हाय करते और रथोंकी नेमियाँ (पहियोंके ऊपरी भाग) घरघराहट पैदा करती थीं। सेनाके पैरोंकी धूलराशिसे आकाश अन्धा-सा हो गया था। वहाँ समराङ्गणमें कोई अपना-पराया नहीं सूझता था। परस्पर बाणसमूहोंकी वर्षासे कितने ही वीरोंके दो-दो टुकड़े हो गये थे। युद्धस्थलमें टेढ़े हुए रथ वृक्षोंकी भाँति गिर पड़ते थे। वीरोंके ऊपर वीर और घोड़ोंके ऊपर घोड़े गिरे थे। उस युद्धके मैदानमें शूरवीरोंके भयंकर कबन्ध उछल रहे थे। वे उस महासमरमें खड्गहस्त हो घोड़ों और वीरोंको धराशायी कर रहे थे। वहाँ शस्त्रोंके प्रहारसे घना अन्धकार छा गया था। हाथियोंके कुम्भस्थल फट जानेसे उनके भीतरी छिद्रसे गोल-गोल मोती गिर रहे थे, मानो रातमें आकाशसे तारागण बिखर रहे हों॥ २२—२७॥

तदनन्तर दोनों सेनाओंमें रक्तकी नदी बह चली और वेतालगण भगवान् शिवकी माला बनानेके लिये कटे हुए मुण्डोंका संग्रह करने लगे। सिंहवाहिनी महाकाली डाकिनियोंके साथ युद्धस्थलमें आकर खप्परसे रक्तपान करती हुई दिखायी देती थीं। डाकिनियाँ भी वहाँ अपने बच्चोंको गरम-गरम रक्त पिलातीं और 'मत रोओ, चुप रहो'—ऐसा कहती हुई उनके नेत्र पोंछती थीं। विद्याधरियाँ, गन्धर्वियाँ और अप्सराएँ आकाशमें खड़ी हो, क्षत्रियधर्ममें स्थित रहकर वीरगतिको पानेवाले देवरूपधारी शूरवीरोंका वरण करती थीं; उनमें परस्पर पतिके लिये झगड़ा हो जाता था। वे आकाशमें विह्वलचित्त होकर एक-दूसरीसे कहतीं—'यह वीर तो मेरे ही योग्य है, तुम्हारे योग्य नहीं'॥ २८—३२॥

राजन्! कितने ही धर्मपरायण शूरवीर युद्धभूमिसे विचलित नहीं हुए और वीरगतिको प्राप्त हो सूर्यमण्डलका भेदन करके विष्णुधाममें चले गये। नरेश्वर! कितने ही वीर उस महायुद्धको देखकर रणभूमिसे भागते हुए मारे

गये। वे यमलोकके तलवारके पत्तोंवाले मार्गसे नरकमें गये। इस प्रकार समस्त यदुकुलशिरोमणि वीरोंने महान् दैत्यवीरोंका संहार कर डाला। इसी तरह उस महायुद्धमें दानवोंने भी नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा यादव-सैनिकोंको भी कालके गालमें भेज दिया ॥ ३३–३५ ॥

राजन्! करोड़ोंकी संख्यामें युद्धके लिये आये हुए समस्त दैत्य उस समराङ्गणमें मृत्युके ग्रास बन गये तथा सहस्रों यादव भी रणभूमिमें मारे गये। जब वहाँ बाण-वर्षासे अन्धकार छा गया, तब धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्ध ऊर्ध्वकेशके साथ उसी प्रकार युद्ध करने लगे, जैसे वृत्रासुरके साथ इन्द्रने किया था। नृपेश्वर! नदके साथ गद, सिंहके साथ वृक और कुशाम्बके साथ साम्ब उस समराङ्गणमें लोहा लेने लगे। इस प्रकार उनमें परस्पर बड़ा भारी तुमुल युद्ध छिड़ गया ॥ ३६–३८½ ॥

महाराज! उस समय बारंबार धनुष टंकारते हुए ऊर्ध्वकेशने युद्धस्थलमें प्रद्युम्नकुमारको दस नाराच मारे। परंतु श्रेष्ठ धनुर्धर रुक्मवतीनन्दन भगवान् अनिरुद्धने उन सबको काट गिराया। तब ऊर्ध्वकेशने पुनः उनके कवचपर दस बाण मारे। वे सभी सोनेके पंखोंसे विभूषित थे और अनिरुद्धका कवच काटकर उनके शरीरमें घुस गये थे। फिर उसने चार बाणोंसे उनके चार घोड़ोंको मार गिराया। बीस बाणोंद्वारा प्रत्यञ्चासहित उनके धनुषको खण्डित कर दिया। राजेन्द्र! बलवान्‌के उस बलवान् सेवकने जब अनिरुद्धके रथको बेकार कर दिया, तब वे उस रथको छोड़कर दूसरे रथपर आरूढ़ हो गये। नृपश्रेष्ठ! वह रथ इन्द्रका दिया हुआ था। उसपर चढ़कर महान् वीर अनिरुद्धने 'प्रतिशार्ङ्ग' नामक धनुष हाथमें लिया। श्रीकृष्णके दिये हुए उस कोदण्डपर एक बाण रखकर रोषसे भरे हुए प्रद्युम्नकुमारने हाथकी फुर्ती दिखाकर ऊर्ध्वकेशके रथपर चलाया। उस सायकने ऊर्ध्वकेशके रथको ऊपर ले जाकर दो घड़ीतक घुमाया। फिर जैसे कोई बालक शीशेका बर्तन पटक देता है, उसी प्रकार उसे आकाशसे पृथ्वीपर गिरा दिया। ऊर्ध्वकेशका रथ अङ्गारकी तरह बिखर गया। नृपश्रेष्ठ! सारथिसहित उसके घोड़े भी उसके सामने ही पञ्चत्वको प्राप्त हो गये। ऊर्ध्वकेश आकाशसे गिरनेके कारण समराङ्गणमें मूर्च्छित हो गया ॥ ३९–४७ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यादवों तथा असुरोंके संग्रामका वर्णन' नामक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

तीसवाँ अध्याय

ऊर्ध्वकेश और अनिरुद्धका तथा नद और गदका घोर युद्ध; ऊर्ध्वकेश और नदका वध

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज! तब ऊर्ध्वकेश मूर्च्छासे उठकर, दूसरे रथपर आरूढ़ हो ज्यों-ही अनिरुद्धके सामने संग्रामके लिये आया, त्यों-ही उन्होंने अपने तीखे नाराचोंसे उसके रथके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। नरेश्वर! रथको टूटा देख उसने पुनः दूसरे रथका आश्रय लिया। परंतु प्रद्युम्नकुमारने रणभूमिमें तत्काल ही बाण मारकर उसके उस रथको भी खण्डित कर दिया। इस प्रकार समराङ्गणमें ऊर्ध्वकेशके नौ रथ अनिरुद्धके द्वारा तोड़े गये ॥ १–३ ॥

तब उस दैत्यने कुपित होकर रणक्षेत्रमें अनिरुद्धपर तीव्रगतिसे शक्तिका प्रहार किया। उस शक्तिको अपने ऊपर आती देख वीर अनिरुद्धने अनेक नाराचोंसे उसके दस टुकड़े कर डाले। तब युद्धस्थलमें सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो ऊर्ध्वकेश अनिरुद्धका सामना करनेके लिये बड़े वेगसे आया। आते ही हर्षोत्साहसे भरकर उसने अनिरुद्धको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया। उन बाणोंके आघातसे अनिरुद्धको बड़ी वेदना हुई। तब कुपित हुए अनिरुद्धने धनुष उठाकर सहसा हाथकी फुर्ती दिखाते हुए ऊर्ध्वकेशकी छातीमें विचित्र पाँखवाले दस बाण मारे। उन अत्यन्त दारुण बाणोंने उसका रक्त पी लिया और पीकर उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़े, जैसे झूठी गवाही देनेवालोंके पूर्वज नरकमें गिरते हैं ॥ ४–८ ॥

तदनन्तर पुनः कुपित हुए ऊर्ध्वकेशने 'खड़ा रह, खड़ा रह'—ऐसा कहते हुए दस बाणोंद्वारा अनिरुद्धके मस्तकपर प्रहार किया। राजेन्द्र! वे दसों बाण अनिरुद्धकी पगड़ीमें गड़ गये और वृक्षकी दस शाखाओंके समान शोभा पाने लगे। नृपश्रेष्ठ! जैसे फूलोंद्वारा प्रहार करनेपर हाथीको कोई पीड़ा नहीं होती, उसी प्रकार युद्धस्थलमें उन बाणोंके आघातसे रुक्मवतीकुमार अनिरुद्धको व्यथा नहीं हुई। माधव अनिरुद्धने अत्यन्त रोषसे भरकर विचित्र पाँखवाले तथा

सुवर्णमय पंखवाले सौ बाण अपने धनुषपर रखकर प्रत्यञ्चा खींचकर छोड़े। राजन्! वे बाण ऊर्ध्वकेशके सारे अङ्गोंका भेदन करके रक्तरञ्जित हो शीघ्र ही नीचे गिर गये; ठीक उसी तरह, जैसे श्रीकृष्ण-भक्तिसे विमुख मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं। उन बाणसमूहोंसे आहत होनेपर युद्धस्थलमें ऊर्ध्वकेशके प्राणपखेरू उड़ गये। नृपश्रेष्ठ! उस समय दैत्यसेनामें हाहाकार मच गया। यादवोंकी सेनामें 'जय हो, जय हो' की ध्वनि गूँज उठी और देवतालोग अनिरुद्धके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे। यादवराज! ऊर्ध्वकेश उस युद्धस्थलसे दिव्य देह धारण करके विमानपर आरूढ़ हो पुण्यात्माओंके निवासस्थान स्वर्गलोकमें चला गया॥ ९—१६॥

भाईको मारा गया देख नद शोकसे भर गया। हाथीपर बैठे हुए उस दैत्यने गजराजपर विराजमान गदको लक्ष्य करके अनेक बाण छोड़े। उन बाणोंको अपने ऊपर आया देख महान् धनुर्धर गदने अनिरुद्धके देखते-देखते एक ही बाणसे उन सबको काट दिया। भाईके शोकमें डूबे हुए नदने अत्यन्त कुपित होकर संग्राममें अपने बाणोंके प्रहारसे रोहिणी-नन्दन गदको गजहीन कर दिया—उनके हाथीको मार गिराया। सैकड़ों बाणोंके आघातसे उस हाथीके अङ्ग-अङ्ग विदीर्ण हो गये थे, इसलिये वह पञ्चत्वको प्राप्त हो गया और गद उसके साथ ही भूमिपर गिर पड़े। यह अद्भुत-सी घटना घटित हुई। तब गद क्रोधसे जल उठे और रणभूमिमें गदा लेकर शत्रुको मारनेके लिये उसी तरह आगे बढ़े, जैसे वनमें एक सिंह दूसरे सिंहपर आक्रमण करता है॥ १७—२१॥

राजन्! आते ही नदके हाथीने गदको अपनी सूँड़से लपेटकर आकाशमें सौ योजन ऊपर फेंक दिया। आकाशसे गिरनेपर गदने उठकर हाथीके शुण्डदण्डको पकड़ लिया और उसे घुमाकर पृथ्वीपर दे मारा। उस हाथीकी युद्धस्थलमें तत्काल मृत्यु हो गयी। यह देखकर महान् असुर नदको आश्चर्य हुआ। उसने गदकी प्रशंसा करके एक भारी गदा हाथमें ली और शीघ्र ही गदाधारी वीर गदको युद्धके लिये ललकारा। प्रजानाथ! इसी प्रकार गदने भी दैत्य नदका अपने साथ संग्रामके लिये आह्वान किया। नदने गदको उत्तर दिया—'यादव! तू मनुष्य है। अतः तेरे साथ युद्ध करनेमें मुझे लज्जाका अनुभव हो रहा है। भला तू कैसे मेरे साथ युद्ध करेगा? पहले तू मुझपर प्रहार कर। पीछे मेरे प्रहारसे तू जीवित नहीं रह सकेगा'॥ २२—२६½॥

यह सुनकर गदने उससे उसी प्रकार बात की, जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरसे वार्तालाप किया था॥ २७॥

गद बोले—दैत्य! जो रँहसे बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, वे कुछ कर नहीं पाते। जो शूरवीर हैं, वे रणभूमिमें डींग नहीं हाँकते हैं; अपना पराक्रम दिखाते हैं॥ २८॥

राजेन्द्र! यह सुनकर नद कुपित हो उठा। उसने गर्जना करते हुए अपनी भारी और विशाल गदा गदकी छातीपर दे मारी। गदाकी चोट खाकर भी वीरवर गद युद्धभूमिमें उसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जैसे मदोन्मत्त हाथी किसी बालकद्वारा फूलसे मारे जानेपर उसकी कोई परवाह नहीं करता। दानव लज्जित हो गया था। उसकी ओर देखकर वीरशिरोमणि गदने कहा—'परंतप! यदि तुम वीर हो तो मेरा भी एक प्रहार सहन कर लो'॥ २९—३१॥

—ऐसा कहकर गदने गदासे उसके ललाटपर भारी चोट पहुँचायी। धर्मज्ञ नदने भी कुपित होकर गदके कंधेपर गदा मारी। वे दोनों वीर गदायुद्धमें कुशल थे और इस प्रकार भारी आघात करते हुए एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे गदायुद्धमें लगे रहे। दोनों परस्परके आघातसे खिन्न हो क्रोधसे भरकर विजयके प्रयत्नमें तत्पर रहे। परंतु वहाँ उनमेंसे कोई भी न तो हारता था और न उत्साहहीन ही होता था। भालपर, कंधेपर, मस्तकपर, वक्षःस्थलमें तथा सम्पूर्ण अङ्गोंमें आघात लगनेसे वे लहूलुहान हो रक्तसे भीग गये थे और दो खिले हुए पलाश वृक्षोंके समान दिखायी पड़ते थे। समराङ्गणमें गदाओंद्वारा उन दोनोंका महान् युद्ध चल रहा था। उनकी दोनों गदाएँ आगकी चिनगारियाँ छोड़ती हुई परस्पर चूर-चूर हो गयीं। तब उन दोनों—गद यादव और नद दैत्यमें घोर बाहुयुद्ध होने लगा। उस समय रोषसे भरे हुए बलरामके छोटे भाई गदने नदको अपनी बाँहोंसे पकड़कर उसी तरह पृथ्वीपर दे मारा, जैसे सिंहराज किसी भैंसेको पटक देता है। तब दैत्यने गदकी छातीमें मुक्केसे प्रहार किया। लगे हाथ गदने भी उसके मस्तकपर एक बँधा हुआ मुक्का जड़ दिया। मुक्कों, घुटनों, पैरों, तमाचों और भुजाओंसे वे दोनों एक-दूसरेपर प्रहार कर रहे थे और दोनों ही रोषसे अपने अधरपल्लव दबाये हुए थे। तब समरभूमिमें दैत्यने कुपित हो बलपूर्वक गदका एक पैर पकड़ लिया और घुमाकर उन्हें धरतीपर दे मारा। उसी समय रोषसे जलते हुए गदने भी उठकर शत्रुका एक पैर पकड़कर उसे घुमाते हुए हाथीके पृष्ठभागपर पटक दिया॥ ३२—४१½॥

राजन् ! दैत्यने फिर उठकर रोहिणीकुमारको जा पकड़ा और बलपूर्वक आकाशमें उन्हें सौ योजन ऊपर फेंक दिया। वहाँसे गिरनेपर भी वज्रके समान अङ्गवाले गदको कोई चोट नहीं पहुँची; किंचिन्मात्र मनमें व्याकुलता हुई। फिर उन्होंने उस दैत्यको भी एक सहस्र योजन ऊपर उछाल दिया। उतनी ऊँचाईसे गिरनेपर भी वह दैत्य फिर उठकर युद्ध करने लगा। गद नदको और नद गदको पारस्परिक आघातोंद्वारा चोट पहुँचाते रहे। नृपेश्वर ! भयंकर घूँसोंकी मारसे उन दोनोंमें महान् युद्ध छिड़ा हुआ था। दोनोंमें लाठा-लाठी, मुक्का-मुक्की, केशा-केशि (झोंटा-झोंटी), नखा-नखि (बकोटा-बकोटी) और दाँता-दाँती होने लगी। इस प्रकार घोर युद्ध छिड़ा हुआ था। इस तरह जूझते हुए वे दोनों योद्धा बारंबार मारा-मारी कर रहे थे। एक-दूसरेके वधकी इच्छासे दोनों आपसमें इस प्रकार गुँथ गये कि पैरपर पैर, छातीपर छाती, हाथपर हाथ और मुँहपर मुँह सट गया था। बलपूर्वक आक्रमणके शिकार होकर वे दोनों गिरे और मूर्च्छित हो गये। नरेश्वर ! उन दोनोंका ऐसा युद्ध देखकर दानव और यादव बोलने लगे—'गद धन्य है, नद धन्य है' ॥ ४२—४९ ॥

गदको गिरा देख अनिरुद्ध शोकमें डूब गये। उन्होंने जल छिड़ककर और व्यजन डुलाकर गदको होशमें लानेकी चेष्टा की। राजेन्द्र ! वे तत्काल क्षणभरमें उठकर खड़े हो गये और बोल उठे—'कहाँ नद है, कहाँ नद है ? वह मेरे भयसे युद्ध छोड़कर भाग तो नहीं गया ?' लोगोंने देखा वह दानव वहाँ मूर्च्छित होकर प्राणशून्य हो गया था। फिर तो यादव और देवतालोग जय-जयकार करने लगे ॥ ५०—५२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'ऊर्ध्व-केश और नदका वध' नामक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ अध्याय

वृकद्वारा सिंहका और साम्बद्वारा कुशाम्बका वध

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! अपनी सेनाकी पराजय होती देख गदहेपर चढ़ा हुआ 'सिंह' नामक दैत्य रोषसे आगबबूला हो उठा और रथपर बैठे हुए वृकपर बाणोंद्वारा प्रहार करने लगा। नरेश्वर ! उन बाणोंको अपने ऊपर आया देख युद्धस्थलमें श्रीकृष्णनन्दन वृकने खेल-खेलमें ही बाण मारकर उन्हें काट गिराया। सिंहने फिर बाण मारे और श्रीकृष्णकुमारने फिर उन्हें काट डाला ॥ १-२½ ॥

राजन् ! फिर तो रणक्षेत्रमें असुरराज सिंहके क्रोधकी सीमा न रही। उसने धनुषपर आठ बाण रक्खे। उनमेंसे चार बाणोंद्वारा उस वीरने वृकके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया, एक बाणसे हँसते हुए उसने वेगपूर्वक उनके रथकी बहुत ही ऊँची और भयंकर ध्वजा काट डाली और एक बाणसे सारथिका सिर धड़से अलग करके पृथ्वीपर गिरा दिया। फिर एक बाणसे रोषपूर्वक रणभूमिमें उनके प्रत्यञ्चासहित धनुषको काट दिया और एक बाणसे उस वेगशाली दैत्यने वृककी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३—६ ॥

उसके उस अद्भुत कर्मको देखकर सब वीरोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी समय वृकने सहसा उस दैत्यपर शक्तिसे आघात किया। वह शक्ति उसके शरीरको छेदकर और गदहेको भी विदीर्ण करके बाहर निकल गयी। राजन् ! जैसे साँप बिलमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह शक्ति सिंहको घायल करके धरतीमें समा गयी। गदहा तो वहीं मर गया और दैत्य भी तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा। परंतु पुनः उठकर दैत्य सिंहके समान जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। उसने वृकके ऊपर एक शिलारहित शूल लेकर चलाया। अपने ऊपर आते हुए उस शूलको वृकने समराङ्गणमें अपने हाथसे पकड़ लिया। राजन् ! फिर उसी शूलसे अत्यन्त कुपित हुए कृष्णकुमारने शत्रुपर आघात किया। सिंहका शरीर विदीर्ण हो गया। वह हाय-हाय करता हुआ पृथ्वीपर गिरा और मर गया। उसी समय समराङ्गणमें दानवोंका महान् हाहाकार प्रकट हुआ। देवताओंने फूलोंकी वर्षा और श्रेष्ठ यादव-वीर 'जय-जयकार' करने लगे ॥ ७—१२ ॥

तब क्रोधसे भरे हुए कुशाम्बने युद्धके मैदानमें रथपर आरूढ़ हो शीघ्र आकर साम्ब आदि समस्त यादवोंको अपने सायकोंद्वारा बींधना आरम्भ किया। उसके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर बहुत-से विशाल गजराज धराशायी हो गये, रथ उलट गये और युद्धमें बहुत-से घोड़ोंकी गर्दनें कट

गयीं तथा बहुत-से पैदल योद्धा बिना सिर और भुजाओंके हो गये। राजन्! इस प्रकार कुशाम्ब अनेक वीरोंको मारता काटता हुआ युद्धभूमिमें विचरने लगा। उसका ऐसा पराक्रम देखकर युद्धकुशल जाम्बवतीनन्दन साम्बने युद्धके लिये कुशाम्बको ललकारा॥ १३—१६॥

साम्ब बोले—वीर! आओ और सहसा मेरे साथ युद्ध करो। दूसरे करोड़ों दीन मनुष्योंको डरानेसे क्या लाभ होगा?॥ १७॥

—ऐसा कहते हुए साम्बकी ओर देखकर बलवान् कुशाम्ब हँसने लगा। उसने साम्बकी छातीमें आठ बाण मारे। श्रीहरिके पुत्र साम्ब उसकी इस धृष्टताको सहन न कर सके। उन्होंने अपने कोदण्डपर सात बाणोंका संधान करके उनके द्वारा उस शत्रुभूत दानवकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। दोनों ही युद्धके लिये रोषावेशसे भरे थे और दोनों ही अपनी-अपनी जीत चाहते थे। संग्रामभूमिमें वे दोनों योद्धा स्कन्द तथा तारकासुरके समान शोभा पाते थे। युद्धस्थलमें साम्बने कुशाम्बपर और कुशाम्बने साम्बपर आपसमें सर्पसदृश बाणोंकी वर्षा आरम्भ की। कुशाम्बने अपने धनुषपर सौ चमकीले बाणोंका संधान करके उनके द्वारा साम्बको रथहीन कर दिया और उनके धनुषको भी काट डाला। जब धनुष कट गया, रथ टूट गया तथा घोड़े और सारथि मारे गये, तब साम्ब दूसरे रथपर आरूढ़ हुए तथा कुपित हो धनुष हाथमें लेकर बोले॥ १८—२३॥

साम्बने कहा—दैत्य! ऐसा विशाल पराक्रम प्रकट करके अब तुम कहाँ जाओगे? क्षणभर संग्राम-भूमिमें ठहरकर मेरा उत्तम पराक्रम देख लो॥ २४॥

—ऐसा कहकर साम्बने अपने कोदण्डपर एक उग्र सायकका संधान किया और उसे दिव्य-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके कुशाम्बके रथपर छोड़ दिया। उस बाणसे आहत हो कुशाम्बका रथ घोड़े और सारथिसहित अलातचक्रकी भाँति भूतलपर चक्कर काटने लगा। चक्कर काटते-काटते वह शीघ्र ही एक योजनतक चला गया। रथसहित दैत्यको घूमते देख जाम्बवतीनन्दन साम्बके मुखपर हास्यकी छटा छा गयी और वे धनुषपर एक बाण रखकर बोले॥ २५—२७॥

साम्बने कहा—असुरेश्वर! तुम्हारे-जैसे महान् वीर, जो देवेन्द्रके तुल्य पराक्रमी हैं, स्वर्गलोकमें रहनेके योग्य हैं। इस धरतीपर उनकी शोभा नहीं होती है। अतः मेरे इस दूसरे बाणसे रथसहित तुम सदेह स्वर्गमें चले जाओ। यह तुम्हारे ऊपर मेरी बड़ी कृपा होगी॥ २८-२९॥

—ऐसा कहकर साम्बने आकाशमें पहुँचानेवाला दिव्यास्त्र छोड़ा। नरेश्वर! उस बाणसे रथसहित कुशाम्ब चक्कर काटता हुआ धरतीसे ऊपरको उठा और बहुत-से लोकोंको लाँघकर सूर्यमण्डलसे जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर घोड़े और सारथिसहित उसका रथ सूर्यकी ज्वालामें जल गया तथा उस दैत्यका शरीर भी तत्काल दग्ध होकर पृथ्वीपर आसुरी पुरीमें बल्वलके समीप गिर पड़ा। उस पापी दानवके गिरने और मर जानेपर समस्त दैत्य भयभीत हो हाहाकार करने लगे। उस समय यादवोंकी सेनामें बार-बार दुन्दुभियाँ बजने लगीं। देवता साम्बके रथपर सानन्द पुष्पवर्षा करने लगे॥ ३०—३४॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'सिंह और कुशाम्बका वध' नामक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१॥

बत्तीसवाँ अध्याय

मयको बल्वलका समझाना; बल्वलकी युद्धघोषणा; समस्त दैत्योंका युद्धके लिये निर्गमन; विलम्बके कारण सैन्यपालके पुत्रका वध तथा दुखी सैन्यपालका मन्त्रि-पुत्रोंका विवेकपूर्वक धैर्य बँधाना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सोनेके सिंहासनपर बैठे और शोकमें डूबे हुए दैत्य बल्वलसे मय उसी प्रकार बोला, जैसे कुम्भभुति अपने ज्येष्ठ बन्धुसे बात कर रहा हो॥ १॥

नरेश्वर! आज तुमने यादवोंका बल देख लिया। दैत्यसमूहोंसहित तुम्हारे चार मन्त्री मारे गये। अब तुम्हारे नगरमें प्रमुख लोगोंमेंसे तुम बचे हो और मैं। दैत्यराज! अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो॥ २-३॥

बल्वल बोला—अब मैं यादवोंका शीघ्र विनाश करनेके लिये रणभूमिमें जाऊँगा। तुम मेरे महलमें छिपे रहो। हरि श्रीकृष्ण तो पहले 'नन्दका पुत्र' कहा जाता था। अब यह निर्लज्ज वसुदेव उसे अपना पुत्र मानता है। वह गोपियोंके घरसे माखन, दूध, घी, दही और तक्र आदि चुराया करता था। रासमण्डलमें रसिया बनकर नाचता था। अब जरासंधके भयसे उसने समुद्रकी शरण ली है। जिसने अपने मामाको मारा है, वह क्या पुरुषार्थ करेगा? ॥ ४—७ ॥

बल्वलकी यह बात सुनकर मयको बड़ा क्रोध हुआ। वह बोला ॥ ७½ ॥

मयने कहा—ओ निन्दक! जिससे ब्रह्मा, शिव, माया (दुर्गा) और इन्द्र भी डरते हैं, ऐसे सबको भय देनेवाले नित्य निर्भय श्रीकृष्णकी तू निन्दा कर रहा है! जो मूर्ख अज्ञानवश और कुसङ्गके कारण श्रीकृष्णकी निन्दा करता है, वह तबतक कुम्भीपाकमें पड़ा रहता है, जबतक ब्रह्माजीकी आयु पूरी नहीं हो जाती*। जिन्होंने चण्डपाल और शिशुपालकी मण्डलीका खण्डन किया है, जो दानवोंके दलका दमन करनेवाले हैं, उन परमात्मा मदनमोहन माधवका तू अपने कुलकी कुशलताके लिये भजन कर ॥ ८—११ ॥

मयका यह वचन सुनकर बल्वल परम ज्ञानको प्राप्त हो गया। राजेन्द्र! उसने क्षणभर विचार करके हँसते हुए-से कहा ॥ १२ ॥

बल्वल बोला—मैं जानता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण विश्वके पालक हैं, बलरामजी साक्षात् भगवान् शेषनाग हैं, प्रद्युम्न कामदेवके अवतार हैं और यहाँ आये हुए अनिरुद्ध साक्षात् ब्रह्माजी हैं। इन्हींके हाथसे हमारा वध होनेवाला है, यह सोचकर ही मैंने इस अश्वका अपहरण किया है। उनके बाणोंसे मारा जाकर यदि मैं मृत्युको प्राप्त होऊँगा, तो शीघ्र ही सुखपूर्वक भगवान् विष्णुके परमपदको चला जाऊँगा। पहले भी बहुत-से दानव तथा राक्षस वैरभावसे भगवान्‌का भजन करके वैकुण्ठधाममें जा चुके हैं। अतः मैं भी उसी वैरभावका आश्रय ले रहा हूँ ॥ १३—१५ ॥

—ऐसा कह कवच धारण करके दानवशिरोमणि बल्वलने तुरंत ही अपने सेनापतिको बुलाया और इस प्रकार कहा—"सेनापते! तुम प्रयत्नपूर्वक ढिंढोरा पिटवाकर इस पुरीमें मेरा यह आदेश प्रसारित कर दो कि 'वीरोंमेंसे जो लोग भी बच गये हैं, वे अनिरुद्धके साथ युद्धके लिये चलें।' जो मेरी आज्ञा नहीं मानेंगे, वे बेटे अथवा भाई ही क्यों न हों, युद्ध किये बिना वधके योग्य समझे जायँगे" ॥ १६—१८ ॥

बल्वलका ऐसा आदेश सुनकर सेनापतिने गली-गली और घर-घरमें डंका बजाकर बड़े वेगसे उसकी आज्ञा घोषित कर दी। ढिंढोरेके साथ की गयी इस घोषणाको सुनकर समस्त दैत्य भयसे आतुर हो गये और शीघ्र ही सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर वे बल्वलके सभाभवनमें आ गये। तब सबसे पहले सैन्यपाल लाख दैत्योंसे घिरकर, कवच और धनुषसे सुसज्जित हो, रथके द्वारा नगरसे बाहर निकला। दुर्नेत्र, दुर्मुख, दुःस्वभाव और दुर्मद—ये मन्त्रियोंके चार पुत्र भी युद्धके लिये निकले ॥ १९—२२ ॥

बल्वलके साथ महाबली गजराज, चपल अङ्गवाले तुरङ्ग तथा देवविमानोंके समान आकारवाले रथ थे। विद्याधरोंके समान पैदल योद्धा भी साथ चल रहे थे। इस चतुरङ्गिणी सेनाके साथ तत्काल मयके दिये हुए एवं इच्छानुसार चलनेवाले यानपर बैठकर बल्वल स्वयं युद्धके लिये प्रस्थित हुआ। उसके साथ चार लाख बड़े-बड़े असुर थे। सैन्यपालका पुत्र भूखा था और घरपर भोजन कर रहा था, इसलिये युद्धके निमित्त शीघ्र नहीं निकल सका। सेनामें उसे नहीं आया देख बल्वलके सैनिकोंने डरते-डरते दैत्यराजसे उसके अनुपस्थित होनेकी बात बतायी। तब बल्वलके आदेशसे कई वीर गये और उसे रोषपूर्वक रस्सियोंसे बाँधकर राजाके सामने ले आये। इस सफलतासे उनके मुख और नेत्र खिल उठे थे ॥ २३—२७ ॥

सैन्यपालके पुत्रको देखकर प्रचण्ड शासक बल्वलने बहुत फटकारा और वेगपूर्वक उसके मुखपर भुशुण्डी मार दी। सैन्यपालके पुत्रका वध हुआ देख सब दैत्य भयभीत हो उठे। सैन्यपाल संग्राममें अपने पुत्रको मार दिया गया सुनकर पुत्रके शोकसे आतुर हो हाथोंसे छाती पीटता हुआ

---

* कृष्णं निन्दति यो मूढो ह्यज्ञानाच्च कुसङ्गतः।
कुम्भीपाके स पतति यावद् ब्रह्मा [illegible] ॥

रथसे गिर पड़ा। वह पुत्रके दुःखसे दुखी हो अत्यन्त विलाप करने लगा—'हा पुत्र! हा वीर! मुझ बूढ़े पिताको छोड़कर रणक्षेत्रमें शतघ्नीके मार्गसे तुम स्वर्गको चले गये। मेरा दर्शनतक नहीं किया। बेटा! तुम राजाके शासनसे युद्ध किये बिना ही कहाँ चले गये?' इस तरह विलाप करता हुआ सैन्यपाल समराङ्गणमें रो रहा था। तब मन्त्रियोंके पुत्रोंने शोकमग्न सैन्यपालके सामने आकर कहा॥ २८—३२½॥

मन्त्रिपुत्र बोले—सेनापते! तुम तो शूरवीर हो, रणभूमिमें आकर रोदन न करो। शोक करनेपर भी जो मर गया, वह तुम्हारे पास लौटकर नहीं आयेगा। मृत्यु जीवधारियोंके पीछे जन्मकालसे ही लगी रहती है। वही इस समय प्राप्त हुई है। धीर पुरुष मृत्युके लिये शोक नहीं करते हैं। मूर्खलोग ही मृत पुरुषके लिये सदा शोकमें डूबे रहते हैं। कोई गर्भमें मर जाते हैं, किसीकी जन्म लेते ही मृत्यु हो जाती है, कोई बचपनमें और कोई जवानीमें ही काल-कवलित हो जाते हैं, कोई-कोई ही बुढ़ापेमें मरते हैं। कोई शस्त्रसे, कोई अस्त्रसे, कोई दुःखसे और कोई ऊँचे स्थानसे गिरनेके कारण मृत्युके वशीभूत होते हैं। दैववश कर्मके अधीन हुए सभी जीव एक दिन मृत्युको प्राप्त होंगे। कौन किसका पिता और पुत्र है? अथवा कौन किसकी माता या प्रियतमा पत्नी है। विधाता कर्मके अनुसार प्राणियोंमें संयोग और वियोग कराया करता है। संयोगमें बड़ा आनन्द मिलता है और वियोगमें प्राण-संकटकी घड़ी आ जाती है। ऐसी अवस्था सदा मूर्खोंकी ही हुआ करती है। आत्माराम पुरुष निश्चय ही हर्ष-शोकके वशीभूत नहीं होते हैं। तुम दुखी होकर जब अपने प्राणोंका त्याग कर रहे हो तो आत्मघाती बनोगे। इसका परिणाम यह होगा कि नरकमें पड़ोगे और फिर जन्म लोगे, इसमें संशय नहीं है। इसलिये इस महासमरमें तुम श्रेष्ठ यादव-वीरोंके साथ युद्ध करो। क्षत्रियवृत्तिवाले लोगोंके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर परम कल्याणका साधन दूसरा कोई नहीं है। जो समराङ्गणमें धर्मयुद्ध करते हुए शत्रुके सामने वीरगतिको प्राप्त होते हैं, वे समस्त लोकोंको लाँघकर भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते हैं॥ ३३—४१½॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! उन दैत्योंके इस प्रकार समझानेपर सैन्यपालने सब शोक त्याग दिया तथा रोषसे भरकर वहाँ आये हुए समस्त वीरोंका निरीक्षण किया। संग्रामभूमिमें सबपर दृष्टिपात करके रोषसे जलते हुए सैन्यपालने शीघ्र ही यह बात कही॥ ४२-४३॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'सैन्यपालके पुत्रका वध' नामक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२॥

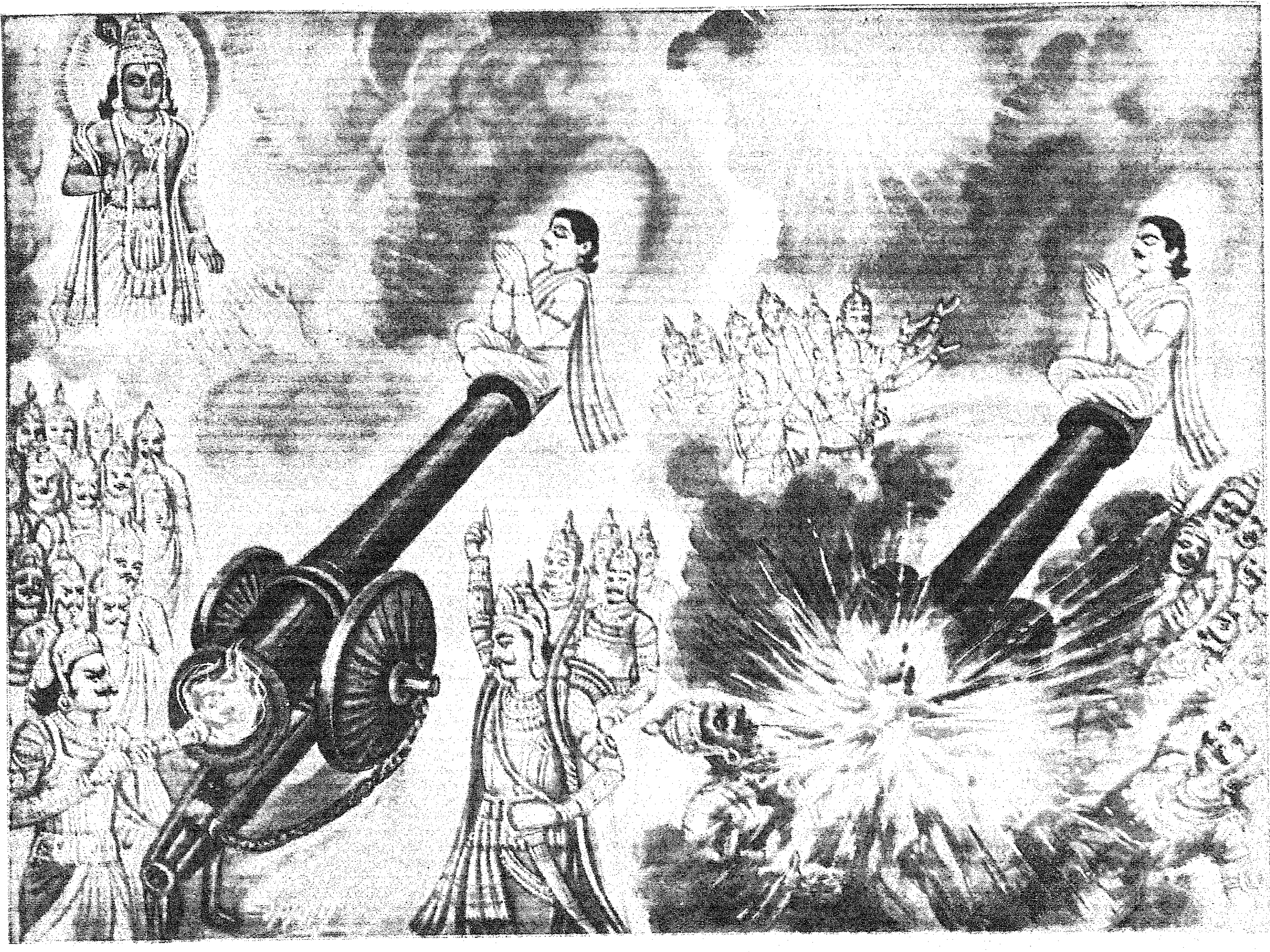
तैंतीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णकी कृपासे दैत्यराजकुमार कुनन्दनके जीवनकी रक्षा

सैन्यपालने कहा—यहाँ सभी रणदुर्मद धनुर्धर वीर तो आ गये हैं, केवल राजाके पुत्र युवराज इस रणभूमिमें नहीं दिखायी देते हैं। वे मेरे बेटेको मरवाकर घरमें बैठे क्या कर रहे हैं? क्या वे भुशुण्डीके मुँहमें पड़कर मेरे पुत्रके ही रास्तेपर नहीं जायँगे?॥ १-२॥

ऐसा कहकर रोषसे लाल आँखें किये सैन्यपाल बड़े हर्षके साथ राजकुमारको पकड़नेके लिये शीघ्र ही पुरीमें जा पहुँचा। उस राजकुमारने रातमें भोजनके बीचमें ही मदिरा पीकर शयन किया था; अतः मदमत्त होनेके कारण वह राजाकी आज्ञाको भूल गया था। ढिंढोरेपर की गयी घोषणा सुनकर उसकी पत्नी भयसे विह्वल हो रो पड़ी और अपने पति राजकुमारको जगाने लगी—"हे वीर! उठो! उठो! प्रातःकाल हो गया। नगाड़ेकी आवाजके साथ तुम्हारे पिताका यह शासन पुरीमें सुनायी देता है—'जो युद्धके लिये नहीं जायँगे, वे पुत्र आदि ही क्यों न हों, वधके योग्य होंगे'। इसलिये शीघ्र जाओ और पिताका दर्शन करो"॥ ३—७॥

अपनी प्यारी पत्नीके जगानेपर उसको कुछ होश हुआ। जब बल्वलकी सेना चली गयी, तब उसकी पत्नीने उसे पुनः जगाया। तब निद्रा त्यागकर राजकुमार उठा और तुरंत धनुष-बाण लेकर मन-ही-मन भगवान् शिव तथा गणेशजीका स्मरण करता हुआ रथके द्वारा युद्धके लिये चला। राजकुमारको आया देख सैन्यपालने रोषपूर्वक पूछा—"तुमने दैत्यराजके शासनका किस बलसे और क्यों उल्लङ्घन किया है? यह मुझे बताओ। मेरा बेटा भी तुम्हारे ही समान



विलम्ब करके शीघ्र रणभूमिमें नहीं पहुँचा था, इसलिये बल्वलने उसे शतघ्नीके मुँहपर खड़ा करके मार डाला; अतः पिताके पास चलो। तुम्हारे पिता बड़े सत्यवादी हैं। उन्होंने तुम्हें पकड़ लानेके लिये मुझे भेजा है; अतः वे शीघ्र ही तुम्हें मार डालेंगे' ॥ ८—१२ ॥

सैन्यपालकी तीखी बात सुनकर भयके कारण राजकुमारका मुँह सूख गया। वह दुखी सुधन्वाकी भाँति पिताके पास गया। दैत्य-समुदायसे घिरे हुए उसके पिता अनिरुद्धको जीतनेके लिये उत्सुक हो रोषपूर्वक रथपर बैठे थे। उनके पास जाकर राजकुमारने पिताका दर्शन किया। पिताको देखकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर राजकुमार लज्जित तथा भयसे विह्वल हो गया। दानवेन्द्रके सामने वह पृथ्वीपर नीचे मुँह किये खड़ा था। बल्वल कुपित हो दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ बोला—'अरे! अपने विनाशके लिये तूने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन क्यों किया! तेरे इस अपराधके कारण मैं तुझे दण्ड दूँगा। निश्चय ही तू डरकर रणक्षेत्रसे प्राण बचानेके लिये घरमें जा घुसा था। कुनन्दन! तू पुत्र नहीं, कुपुत्र है, शत्रुके समान है और अत्यन्त मलिन है। मैं तुझे त्यागकर शतघ्नीके मुखसे अभी मार डालूँगा' ॥ १३—१७ ॥

अपने बेटेसे ऐसा कहकर वीर बल्वल दुःखसे आँसू बहाने लगा और मन-ही-मन खिन्न होकर बोला—'हाय! मैंने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की! अहो! सैन्यपालके बेटेको मैंने बिना अपराधके ही मार डाला; उसी पापसे मेरा पुत्र भी मरेगा, इसमें संशय नहीं है। यदि अपने वीर पुत्रको मैं बलपूर्वक मृत्युके मुखसे छुड़ा लूँगा तो मेरे समस्त सैनिक मुझे गाली देंगे और मुझपर हँसेंगे।' दैत्यराजको इस प्रकार शोकमग्न, दुखी अपने पुत्रके लिये खिन्नचित्त देखकर रोष और अमर्षसे भरा हुआ सैन्यपाल हँसता हुआ बोला ॥ १८—२१ ॥

सैन्यपालने कहा—राजन्! पहले अपने इस पुत्र कुनन्दनको शीघ्र मार डालो। इसके बाद यादवोंका दानवोंके साथ संग्राम होगा। दैत्येन्द्र! तुम सत्यवादी हो और वह कर्म अत्यन्त दारुण है। यदि पुत्रके कारण तुम इसे नहीं करोगे तो तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। भूपाल! कोसलपति राजा दशरथने सत्यकी रक्षाके लिये श्रीराम-जैसे बेटेको त्याग दिया। सत्यके बन्धनमें बँधे हुए हरिश्चन्द्रने अपनी प्यारी पत्नीको, पुत्रको और अपने-आपको भी बेच दिया था। बलिने सत्यके कारण सारी पृथ्वी दे डाली। विरोचनने अपना जीवन दे दिया। राजा शिविने अपकीर्तिका तथा दधीचिने अपने शरीरका त्याग कर दिया था। जैसे गुरु वसिष्ठने पुत्रप्रेमको तथा राजा रन्तिदेवने भोजनको त्याग दिया था, उसी प्रकार दैत्यराज! तुम भी आज्ञाभङ्ग करनेवाले इस पुत्रका मोह छोड़कर इसे मार डालो। तुमने पहले जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले बेटे और भाईको भी तत्काल मार डालूँगा, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है?' उस देशमें निवास करना चाहिये, जहाँ राजा सत्यवादी हो। उस देशमें कदापि नहीं रहना चाहिये, जहाँका राजा मिथ्यावादी हो ॥ २२—२८ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—सैन्यपालकी बात सुनकर बल्वलने खिन्नचित्त हो अपने उस पुत्रका भी वध करनेके लिये उसीको आज्ञा दे दी। तदनन्तर बल्वल दुखी हो यादवोंके सामने गया। इधर सैन्यपालने राजकुमारके आगे उसके पिताकी दी हुई आज्ञा सुना दी। यह सुनकर कुनन्दनने उसे शीघ्र ही इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २९-३०½ ॥

राजपुत्र बोला—सेनापते! तुम पराधीन हो; इसलिये तुम्हें राजाकी आज्ञाका अवश्य पालन करना चाहिये। परशुरामजीने अपने पिताकी आज्ञासे माताका मस्तक काट लिया था। सैन्यपाल! मैं निश्चिन्त हूँ। मैंने धर्मकार्यका पालन कर लिया है। अब मुझे मृत्युसे कोई भय नहीं है। तुम मुझे शतघ्नीमें झोंक दो ॥ ३१-३२½ ॥

—ऐसा कहकर राजकुमारने अपना किरीट, भुजबंद, मोतियोंका हार, सुवर्णमयी माला तथा कुण्डल और कड़े आदि सब आभूषण ब्राह्मणोंको दान कर दिये। उन ब्राह्मणोंने बड़े दुःखसे उस राजकुमारको आशीर्वाद दिया ॥ ३३-३४ ॥

तदनन्तर स्नान करके, अपने शरीरमें तीर्थकी मिट्टी पोतकर, मुखमें तुलसीदल और कण्ठमें तुलसीकी माला पहनकर राजकुमार 'श्रीकृष्ण! हे राम!'—इस प्रकार कहता हुआ भगवान्‌का स्मरण करने लगा। राजेन्द्र! सैन्यपालने बलपूर्वक उसकी दोनों भुजाएँ पकड़ लीं और रोषपूर्वक उसे शतघ्नीके मुखमें डाल दिया। उसी समय हाहाकार मच गया। समस्त सैनिक फूट-फूटकर रोने लगे। बल्वल भी रो उठा और वहाँ खड़े हुए ब्राह्मण भी रोदन करने लगे। शतघ्नीमें बारूद भरकर उसमें ताँबेके गोले डाल दिये गये और वह अग्नियुक्त होकर चल गयी। उस दशामें उस

भयंकर शतघ्नीको देखकर राजकुमार कुनन्दन सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णको याद करके आँसू बहाता हुआ यह निर्मल वचन बोला ॥ ३९—४० ॥

'जिनके नेत्र प्रफुल्लित कमलदलके समान विशाल हैं, दाँतोंकी पङ्क्ति शङ्ख और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल है, जो नरेन्द्रके वेषमें रहते हैं तथा जिनके चरणारविन्दोंकी इन्द्रादि देववृन्द भी वन्दना करते हैं, उन श्रीकृष्ण मुकुन्द हरिका आज मैं प्राणान्तकालमें चिन्तन करता हूँ। हे श्रीकृष्ण ! हे गोविन्द ! हे हरे ! हे मुरारे ! हे द्वारकानाथ श्रीकृष्ण गोविन्द ! हे व्रजेश्वर श्रीकृष्ण गोविन्द ! तथा हे पृथ्वीपालक श्रीकृष्ण गोविन्द ! आप भयसे मेरी रक्षा कीजिये । गोविन्द ! आपके स्मरणसे हाथी ग्राहके संकटसे छूट गया था । स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, अम्बरीष, ध्रुव, आनर्तराज कक्षीवान् भी भयसे मुक्त हुए थे । बहुला सिंहके चंगुलसे छूटी थी । रैवत और चन्द्रहासकी भी आपकी शरणमें जानेसे रक्षा हुई थी, इसी प्रकार मैं भी आपकी शरणमें आया हूँ । * अहो ! यदि युद्ध किये बिना पहले ही मेरी मृत्यु हो जाती है तो यह उचित नहीं है । अभी मैंने युद्धस्थलमें अपने बाणोंद्वारा अनिरुद्धको संतुष्ट नहीं किया । यादवोंको संतोष नहीं दिलाया । श्रीकृष्णके पुत्रोंके दर्शन नहीं किये । शार्ङ्गधनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा अपने इस शरीरके टुकड़े-टुकड़े नहीं करवाये । ऐसी दशामें शूरवीर कुनन्दनकी यह चोरके समान गति हो गयी ! भगवन् ! मैं आपका भक्त हूँ । मेरी दुर्गति देखकर समस्त पापिष्ठ पुरुष हँसते हैं । जिसे धूमिल देखकर यमराजके भी पलायन कर जाते हैं, विघ्न डालनेवाले विनायकगण भर जाते हैं, उस पूजनीय एवं निरङ्कुश कृष्णभक्त मुझ कुनन्दनको शतघ्नी कैसे मार डालेगी?' ॥ ४१—४८ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! वह शूरवीर कुनन्दन जब ऐसी बात कह रहा था, उसी समय सैन्यपालकी आज्ञासे किसीने शतघ्नीको छोड़ा । छोड़नेके साथ ही हाहाकार मच गया । नरेश्वर ! उस समय श्रीकृष्णचन्द्रके स्मरणसे एक विचित्र बात हो गयी । शतघ्नी शीतल हो चुकी थी और आगकी ज्वाला बुझ गयी थी । राजसिंह ! यह आश्चर्य देखकर वहाँ खड़े हुए राजा आदि सब लोग बड़े विस्मित हुए । तब सैन्यपाल बोला—'शतघ्नीकी बारूद सूखी पड़ी है और उसमें गोले भी ज्यों-के-त्यों हैं, किंतु राजकुमार वहाँ नहीं है । इससे सिद्ध है कि वह रणक्षेत्रमें मारा नहीं गया है' ॥ ४९—५२ ॥

उसकी बात सुनकर वीरगण रुष्ट होकर बोले—'यह परम बुद्धिमान् पापशून्य शूरवीर राजकुमार भगवान् श्रीकृष्णका भक्त है । इसलिये भगवान्‌ने ही उसे दुःखसे बचाया है । अब फिर तुम्हें इसका वध नहीं करना चाहिये' ॥ ५३ ॥

उन वीरोंकी बात सुनकर सैन्यपालको बड़ा रोष हुआ । उसने जब पुनः दृष्टिपात किया तो राजकुमार शतघ्नीके मुखमें बैठा दिखायी दिया । उसके अश्रुभरे नेत्र बंद थे और वह 'कृष्ण, कृष्ण' जप रहा था । उसे देखकर उस दुष्ट सैन्यपालने फिर उसे मारनेके लिये शतघ्नी दाग दी । किंतु उस समय शतघ्नी फट गयी और उससे वज्रपातके समान शब्द हुआ । शतघ्नीके गोलेसे सैन्यपालकी मृत्यु हो गयी और उसकी ज्वालासे उसका अनुसरण करनेवाले सैनिक जल गये । कोई 'हाय-हाय' करते हुए भागे, कोई धड़ाकेकी आवाजसे बहरे हो गये और कितने ही मुँहके बल गिरे । नृपेश्वर ! उस समय सबने राजकुमारको निर्भय देखा । देखकर बालक आदि सभी वीर जय-जयकार करने लगे ॥ ५४—६१ ॥

दैत्य बोले—जिसकी रक्षा श्रीकृष्ण करते हैं, उसे कौन

* कृष्णं मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं
शङ्खेन्दुकुन्ददशनं नरनाथवेषम् ।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपद्मं
प्राणप्रयाणसमये न हरिं स्मरामि ॥
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
श्रीकृष्ण गोविन्द कुशस्थलीश ।
श्रीकृष्ण गोविन्द व्रजेश भूप
श्रीकृष्ण गोविन्द भयात् प्रपाहि ॥
स्मरणात्तव गोविन्द ग्राहान्मुक्तो मतङ्गजः ।
स्वायम्भुवश्च प्रह्लादो ह्यम्बरीषो ध्रुवस्तथा ॥
आनर्तश्चैव कक्षीवान् मृगेन्द्राद्बहुला तथा ।
रैवतश्चन्द्रहासश्च तथाहं शरणं गतः ॥
(अ० ३३ । [illegible])

मनुष्य मार सकता है ? जो भक्तका वध करनेके लिये आता है, वह दैवयोगसे आप ही नष्ट हो जाता है । जिन्होंने भयसे इस राजकुमारकी रक्षा की है, उन भक्तवत्सल श्रीकृष्णको हम सब लोग नमस्कार करते हैं* ॥ ६०-६१ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'राजकुमारके जीवनकी रक्षा' नामक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चौंतीसवाँ अध्याय

दैत्यों और यादवोंका घोर युद्ध; बल्वल, कुनन्दन तथा अनिरुद्धके अद्भुत पराक्रम

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् बल्वलने बड़ी प्रसन्नताके साथ पुत्रको रथपर चढ़ाया और उसके साथ ही अपनी सेना लेकर बड़ी उतावलीके साथ वह युद्धके लिये चला । उसके समस्त सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र लिये हुए थे । वे अनेक प्रकारके वाहनोंपर बैठे थे तथा भाँति-भाँतिके कवचोंसे सुसज्जित हो नाना प्रकारके रूपोंमें बड़े भयंकर दिखायी देते थे । वे गजराजके समान हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले और सिंहके समान पराक्रमी थे । वे पृथ्वीको कम्पित करते हुए वृष्णिवंशी यादवोंके सम्मुख गये । उन बहुत-से दैत्योंको आया हुआ देख अनिरुद्ध शङ्कित हो गये और उन्होंने समस्त यादवोंकी रक्षाके लिये चक्रव्यूहकी रचना की । चारों ओरसे शूरवीर यादव सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा खड़े होकर बड़ी शोभा पाने लगे । राजन् ! उनके मध्यभागमें इन्द्रनील आदि राजा खड़े हुए । उनके बीचमें अक्रूर और कृतवर्मा आदि बड़े-बड़े वीर स्थित हुए । राजेन्द्र ! उनके बीचमें गद आदि श्रीकृष्णके भाई विराजित हुए । उनके मध्यभागमें साम्ब और श्रीदीप्तिमान् आदि महान् वीर खड़े हुए ॥ १–७ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार चक्रव्यूह बनाकर उसके बीचो-बीच प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध कवच धारण करके खड़े हुए । नरेश्वर ! वहाँ सागरके तटपर यादवोंके साथ दानवोंका बड़ा घोर युद्ध हुआ, मानो अनेक समुद्रोंके साथ बहुत-से दूसरे समुद्र जूझ रहे हों । उस संग्रामस्थलमें रथी रथियोंके साथ, हाथी-सवार हाथी-सवारोंके साथ, अश्वारोही अश्वारोहियोंके साथ और पैदल-वीर पैदल-वीरोंके साथ परस्पर युद्ध करने लगे । राजन् ! तीखे बाणों, ढाल-तलवारों, गदाओं, ऋष्टियों, पाशों, फरसों, शतघ्नियों और भुशुण्डियोंद्वारा यादव-वीर बल्वलके सैनिकोंका वध करने लगे । उनकी मार खाकर भयभीत हो वे सब-के-सब अपना-अपना रणस्थल छोड़कर भाग चले । सैनिकोंके पैरोंसे उड़ी हुई बहुत-सी धूलराशिने आकाश और सूर्यको ढक दिया । सब ओर अन्धकार फैल गया और उस अँधेरेमें समस्त महादैत्य युद्धसे पीठ दिखाकर पलायन करने लगे । यादवोंके सायकोंसे घायल होकर उन असुरोंमेंसे कितने ही कुएँमें गिर गये, कई औंधे मुँह होकर गड्ढेमें गिर पड़े और कितने ही पोखरे तथा बावलीमें डूब गये । अपनी सेनामें भगदड़ मची देख बल्वल रोषसे भर गया और चारों मन्त्रिकुमारों तथा अपने पुत्रके साथ यादवोंका सामना करनेके लिये आया । उस महासमरमें बल्वलके साथ अनिरुद्ध, दुर्नेत्रके साथ बृहद्बाहु, दुर्मुखके साथ बलवान् अरुण, दुःस्वभावके साथ न्यग्रोध, दुर्मदके साथ कवि तथा कुनन्दनके साथ श्रीकृष्णपुत्र सुनन्दन युद्ध करने लगे ॥ ८–१७ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार वहाँ देवताओंको भी विस्मयमें डाल देनेवाला संग्राम छिड़ गया । कार्तिक मासके सम्पूर्ण दिन वहाँ युद्धमें ही व्यतीत हो गये । राजन् ! बारंबार अपना धनुष टंकारते हुए बल्वलने कुपित हो रणभूमिमें इन्द्रनीलको तीन और हेमाङ्गदको छः बाण मारे । भानुभानुको दस, अक्रूरको दस, गदको बारह, युयुधानको पाँच, कृतवर्माको बीस, उद्धवको दस और प्रद्युम्नकी सौ बाणोंद्वारा समराङ्गणमें उस असुरने घायल कर दिया । उसके बाणोंके आघातसे रथोंसहित वे सभी वीर दो घड़ीतक चक्कर काटते रहे । रणभूमिमें उनके घोड़े मर गये तथा रथ चूर-चूर हो गये । मानद नरेश्वर ! उसके हाथकी फुर्ती देखकर अनिरुद्ध आदि समस्त यादव चकित हो गये । फिर वे सब-के-सब दूसरे रथोंपर आरूढ़ हुए ॥ १८–२३ ॥

---

* यं यं रक्षति श्रीकृष्णस्तं को जघ्नाति मानवः । हन्तुं कर्तुमागतो यः स विनश्यति दैवतः ॥
यस्मात् कृष्णतनो नाशित पैत्रावं रक्षितो भयात् । सर्वे वयं नमस्यामस्तं कृष्णं भक्तवत्सलम् ॥
(अ० ३३ । ६०-६१)

राजन् ! उधर बल्वल भी दूसरे-दूसरे वीरोंको देखनेके लिये चला । तब क्रोधसे लाल आँखें किये अनिरुद्धने कहा—'ओ दैत्य ! मेरे सामने खड़ा रह, खड़ा रह । पराक्रम दिखाकर तू कहाँ जायगा ? मेरे तीखे बाणोंको भी देख ले ।' अनिरुद्धकी यह बात सुनकर दैत्य युवराज कुनन्दन बल्वलके देखते-देखते शीघ्र ही बोल उठा ॥ २४—२६ ॥

राजपुत्रने कहा—प्रद्युम्ननन्दन ! रणभूमिमें दैत्यराजको देखनेकी योग्यता तुममें नहीं है । इसलिये पहले इस युद्धस्थलमें तुम मेरा बल देख लो ॥ २७ ॥

अनिरुद्ध बोले—दैत्यकुमार ! तू अभी बालक है । युद्ध करनेकी योग्यता नहीं रखता है । अतः अपने घर जाकर कृत्रिम खिलौनोंसे खेल ॥ २८ ॥

राजकुमारने कहा—आज तुम यहाँ बड़े-बड़े वीरोंके साथ मुझ बालकका खेल देखो । यदि घर जाकर खेलूँगा तो वहाँ कोई नहीं देखेगा ॥ २९ ॥

—ऐसा कहकर कुनन्दनने अपने प्रचण्ड कोदण्डपर सौ सायक रखे और उनके द्वारा अपना बल दिखाते हुए उसने रथपर बैठे हुए अनिरुद्धको घायल कर दिया । उन बाणोंके आघातसे सारथि, घोड़े तथा रथके साथ वे स्वयं भी आकाशमार्गसे चक्कर काटते हुए कपिलाश्रममें जा गिरे । अनिरुद्धके चले जानेपर तत्काल हाहाकार मच गया ॥ ३०-३१½ ॥

तब रणस्थलमें कुपित हुए साम्ब आदि यादव उस दैत्यकुमारको मारनेके लिये आये । उन बहुसंख्यक योद्धाओंको आया देख युवराजको बड़ा हर्ष हुआ । उस बलवान् वीरने युद्धस्थलमें साम्बको दस, मधुको पाँच, बृहद्बाहुको तीन, चित्रभानुको पाँच, वृकको दस, अरुणको सात, संग्रामजित्को पाँच, सुमित्रको तीन, दीप्तिमान्‌को तीन, भानुको पाँच, वेदबाहुको पाँच, पुष्करको सात, श्रुतदेवको आठ, सामने खड़े हुए सुनन्दनको बीस, विरूपको दस, चित्रबाहुको नौ, न्यग्रोधको दस तथा कविको नौ तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया । साथ ही उस मानी कुनन्दनने बड़ी प्रसन्नताके साथ विजयसूचक शङ्खध्वनि की । उसके बाणोंसे रथ और घोड़ोंसहित चक्कर काटते हुए कोई एक योजनपर गिरे, कोई पाँच कोसपर और कोई दो योजनपर ॥ ३२—३९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस समय यादव-सेनामें हाहाकार होने लगा । सब यादव बलराम और श्रीकृष्णका नाम ले-लेकर रोने लगे । उस समय गद आदि सब योद्धा तथा इन्द्रनील आदि राजा क्रोधसे भरे हुए आये और तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे । उन सभी वीरोंको आया देख महाबली राजकुमारने सायकोंसे उन्हें बींध डाला । वे सब-के-सब रणभूमिमें मूर्च्छित हो गये । राजन् ! तत्पश्चात् बल्वलकुमारने अपने बाणसमूहोंद्वारा यादव-वीरोंको मारना आरम्भ किया । उसके आघातसे बहुसंख्यक योद्धा पञ्चत्वको प्राप्त हो गये । संग्रामभूमिमें उसके बाणसमूहोंद्वारा रक्तकी नदी प्रकट हो गयी, जिसमें जीवित हाथी डूबकर मर जाते थे । उस समय यादव-सेना तथा आकाशमें 'हाय-हाय'की आवाज गूँजने लगी । इन्द्र और वरुण आदि देवता भी आश्चर्यचकित हो भयभीत हो गये । अपनी विजय देखकर समस्त असुरोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी ॥ ४०—४५½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—उधर कपिलमुनिने देखा कि अनिरुद्ध मूर्च्छित पड़े हैं । इनका रथ नष्ट हो गया है तथा बाणोंसे इनका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया है, तब उन कृपालु मुनिने अपने तपोबलसे हाथद्वारा स्पर्श करके अनिरुद्धको चैतन्ययुक्त कर दिया । तदनन्तर यदुकुलतिलक अनिरुद्धने उठकर उन सिद्ध महर्षिको नमस्कार किया और समस्त यादवोंको हर्षप्रदान करते हुए वे वेगपूर्वक रणक्षेत्रमें आ गये ॥ ४६—४८ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् दूसरे रथपर आरूढ़ हो बलवान् अनिरुद्धने 'प्रतिशार्ङ्ग' नामक धनुष उठाया और रोषपूर्वक दैत्य-राजकुमारके रथपर एक बाण मारा । उस बाणने सारथि और घोड़ोंसहित उसके रथको लेकर आकाशमें चार मुहूर्त (आठ घड़ी) तक चक्कर कटाया । उस समय समस्त दानवों और वृष्णिवंशी वीरोंने यह प्रत्यक्ष देखा कि रथसहित कुनन्दन आकाशमें चक्कर काट रहा है । उसके बाद साम्ब आदि वीर दूसरे रथोंपर आरूढ़ हो वेगपूर्वक आये । साथ ही अनुशाल्व आदि समस्त धनुर्धर भी तत्काल आ पहुँचे ॥ ४९—५२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'दैत्यों और यादवोंके युद्धका वर्णन' नामक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पैंतीसवाँ अध्याय

बल्वलके चारों मन्त्रिकुमारोंका वध; बल्वलद्वारा मायामय युद्ध तथा अनिरुद्धके द्वारा उसकी पराजय

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर उस संग्राममें अनुशाल्व दुर्मुखसे, इन्द्रनील दुरात्मा दुर्नेत्रसे, हेमाङ्गद दुर्मदसे और सारण दुःस्वभावसे युद्ध करने लगे। इस प्रकार रणक्षेत्रमें परस्पर द्वन्द्व युद्ध होने लगा। सारणने बड़े वेगसे अपनी गदाद्वारा दैत्य दुःस्वभावको मार डाला। हेमाङ्गदने युद्धस्थलमें दुर्मदको तीन बाणोंसे पीट दिया। दुर्मदने भी रणक्षेत्रमें हेमाङ्गदको अपने बाणोंसे घायल किया। फिर हेमाङ्गदने शक्तिद्वारा उस दैत्यका वध कर डाला। इन्द्रनीलने खेल-खेलमें ही दुर्नेत्रको अपने बाणोंसे कालके गालमें भेज दिया। अनुशाल्वने बाण मारकर दुर्मुखके रथको चौपट कर डाला। फिर दुर्मुखने भी दूसरे रथपर आरूढ़ हो बाणोंद्वारा अनुशाल्वको रथहीन कर दिया। तब अनुशाल्वने एक परिघ लेकर युद्धस्थलमें दुर्मुखको मार डाला। इस प्रकार दुर्नेत्र, दुःस्वभाव, दुर्मुख और दुर्मदके मारे जानेपर शेष दैत्य प्राण बचानेके लिये भाग चले ॥ १–६½ ॥

राजन् ! इसी समय राजकुमार कुनन्दन आकाशसे चक्कर काटता हुआ गिरा और मुँहसे रक्त वमन करता हुआ रणक्षेत्रमें मूर्च्छित हो गया। उसका रथ अङ्गारकी भाँति बिखर गया और घोड़े तत्काल मर गये। पुत्रको मूर्च्छित हुआ देख बल्वल कुपित हो उठा। उसने अनिरुद्धपर बड़े वेगसे धनुषद्वारा दस बाण चलाये। उन दसों बाणोंको आया देख रुक्मवतीकुमार अनिरुद्धने अपने तेज धारवाले सुवर्ण-भूषित सायकोंद्वारा काट डाला। तब रोषसे भरे हुए दैत्य बल्वलने पुनः धनुषपर बाणका संधान करके अनिरुद्धसे इसी प्रकार कहा, जैसे पहले युद्धमें प्रद्युम्नसे शकुनिने कहा था ॥ ७–११ ॥

बल्वल बोला—'यदुकुलके प्रमुख वीर ! तुम युद्धके अभिमानी और धनुर्धर हो। आज इस बाणसे समरभूमिमें तुम्हें मार डालूँगा। मैं झूठ नहीं बोलता। यदि जीवित रहनेकी इच्छा हो तो अपने प्राणोंकी रक्षा करो।' उसकी बात सुनकर अनिरुद्धने भी अपने कोदण्डपर एक बाण रक्खा और जैसे प्रद्युम्नने शकुनिको उत्तर दिया था, उसी प्रकार बल्वलसे हँसते हुए कहा ॥ १२-१३ ॥

अनिरुद्ध बोले—कौन प्राणी किसके द्वारा मारा जाता है और कौन किससे रक्षित होता है ? सदा काल ही सबको मारता है और वही संकटसे सबकी रक्षा करता है। 'मैं करूँगा, मैं कर्ता हूँ, संहर्ता हूँ और पालक भी मैं ही हूँ'—जो ऐसी बात कहता है, वह कालसे ही विनाशको प्राप्त होता है*। मैं तुमको नहीं जीत सकूँगा और तुम भी मुझे नहीं जीत सकोगे। विश्वात्मा कालरूपी जगदीश्वर ही तुमको और मुझको जीतेंगे। दानव ! न जाने वे कालपुरुष किसको जय अथवा पराजय देते हैं। मैं तो अपनी विजयके लिये उन कालदेवताकी ही मनसे वन्दना करता हूँ। अतः तुम भी अपने मनसे कालको ही बलवानोंमें श्रेष्ठ समझो और मेरी बात मानकर अपने बड़े भारी अज्ञानको त्यागकर युद्ध करो ॥ १४–१८ ॥

अनिरुद्धकी यह बात सुनकर बल्वलको आश्चर्य हुआ। उनके वचनोंसे संतोष प्राप्त करके उसने प्रसन्नतापूर्वक उनसे कहा—ठीक उसी तरह, जैसे वृत्रासुरने देवराज इन्द्रसे वार्तालाप किया था ॥ १९ ॥

बल्वल बोला—यदुकुलतिलक ! इस भूतलपर 'कर्म' ही प्रधान है। कर्म ही गुण और ईश्वर है। कर्मसे ही लोगोंको ऊँची और नीची स्थिति प्राप्त होती है। जैसे बछड़ा हजारों गायोंके बीचमें अपनी माताको ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार जिसने शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वह 'कर्म' विद्यमान रहकर फल-प्रदानके समय उसको खोज लेता है। अतः मैं अपने सुदृढ़ कर्मके द्वारा संग्रामभूमिमें तुमपर विजय पाऊँगा। मैंने तो प्रतिज्ञा कर ली। अब तुम तुरंत उसका प्रतीकार करो ॥ २०–२२ ॥

अनिरुद्धने कहा—दैत्य ! तुम 'कर्म'को प्रधान मानते हो, परंतु कालके बिना उसका कोई फल नहीं मिलता; जैसे भोजन बना लेनेपर भी कभी-कभी उसकी प्राप्तिमें विघ्न पड़ जाता है। पाकके विभिन्न प्रकार हैं। उनकी सिद्धिके

---

* कः केन हन्यते जन्तुस्तथा कः केन रक्ष्यते।
हनिष्यति सदा कालस्तथा रक्षति दुःखतः॥
अहं करोमि कर्ताहं हर्ताहं पालकोऽप्यहम्।
यो वदेच्चेदृशं वाक्यं स विनश्यति कालतः॥
(अ० ३५। १४-१५)

लिये जो पाकका निर्माण किया जाता है, वह बिना कर्ताके सम्भव नहीं होता। अतः बहुत-से विद्वान् 'कर्म' और 'काल'की अपेक्षा 'कर्ता'को ही श्रेष्ठ बताते हैं। वह 'कर्ता' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं, जो गोलोकधामके स्वामी तथा परात्पर परमेश्वर हैं। उन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि समस्त देवताओंकी सृष्टि की है* ॥ २३—२५ ॥

बल्वल बोला—श्रीकृष्णपौत्र ! तुम धन्य हो और अपने वचनोंद्वारा ऋषियोंका अनुकरण करते हो। तुम तीनों गुणोंसे अतीत हो, तथापि प्राणियोंके लिये अपने स्वभावका परित्याग दुष्कर होता है। यादवश्रेष्ठ ! अब सावधान होकर अपने ऊपर प्राप्त होनेवाले मेरे इस प्राणसंहारी बाणको देखो और अपना मन युद्धमें ही लगाये रक्खो ॥ २६-२७ ॥

—ऐसा कहकर बल्वलने अपने बाणद्वारा मयासुरकी माया प्रकट की। उस समय घोर अन्धकार छा गया। कोई भी दिखायी नहीं देता था। बहुत-से लोगोंको यह भी पता नहीं चलता था कि 'कौन अपना है और कौन पराया'। योद्धाओंके ऊपर ऊँचे पर्वतोंके समान शिलाएँ गिर रही थीं। बरसती हुई जलधाराओंके कारण चारों ओरसे सब लोग व्याकुल हो गये थे। बिजलियाँ चमकतीं और बादल जोर-जोरसे गर्जना करते थे। वे बादल गरम-गरम रक्तकी और मलमिश्रित जलकी वर्षा करते थे। आकाशसे रुण्ड और मुण्ड गिर रहे थे। उस समय समस्त श्रेष्ठ-यादव संग्राममें परस्पर व्याकुल और भयातुर हो वहाँसे पलायन करने लगे। तब अनिरुद्धने उस संग्रामभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णके युगल-चरणारविन्दोंका चिन्तन करके लीलापूर्वक मोहनास्त्रद्वारा उस मायाको नष्ट कर दिया। उस समय सारी दिशाएँ प्रकाशित हो गयीं। सूर्यमण्डलका घेरा समाप्त हो गया। बादल जैसे आये थे, वैसे ही विलीन हो गये और चपलाएँ शान्त हो गयीं ॥ २८—३४ ॥

राजन् ! माया दूर हो जानेपर वह प्रचण्ड पराक्रमी मायावी दैत्य दानवोंके साथ सामने दिखायी दिया। उसने नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र ले रक्खे थे। बल्वलने कुपित होकर यादवोंके वधके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, परंतु अनिरुद्धने पुनः ब्रह्मास्त्र चलाकर उस ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया। इससे बल्वलका क्रोध उद्दीप्त हो उठा। उसने युद्धमें विजय पानेके लिये अत्यन्त मोहमें डालनेवाली 'गान्धर्वी माया' प्रकट की। नृपश्रेष्ठ ! अब वहाँ गन्धर्वनगर दिखायी देने लगा। संग्रामका कोई चिह्न नहीं दीखता था। करोड़ों सुवर्णमय महल दृष्टिगोचर होने लगे। उस नगरमें बहुत-सी गन्धर्व-सुन्दरियाँ वीणा, ताल और मृदङ्गकी ध्वनिके साथ नृत्य करती हुई मधुर कण्ठसे गीत गाने लगीं। कन्दुककी क्रीडाओं, हाव-भाव और कटाक्षों तथा कटि और वेणीके प्रदर्शनोंद्वारा वे कमलनयनी सुन्दरियाँ सब लोगोंका मनोरञ्जन करने लगीं। उनका सौन्दर्य देखकर यादव-वीर कामवेदनासे विह्वल हो गये और अस्त्र-शस्त्रोंको भूमिपर डालकर आपसमें कहने लगे—'हम सब लोग कहाँ आ गये ? दैवयोगसे स्वर्गलोकमें तो नहीं पहुँच गये, जहाँ मनको मोह लेनेवाली अति सुन्दरी कलकण्ठी सुराङ्गनाएँ नृत्य करती हैं ? इनके लावण्य-जलधिमें मग्न होकर हम कामवेदनासे व्याकुल हो रहे हैं। हमारी विजय कैसे होगी ? यहाँ रणक्षेत्र तो दिखायी ही नहीं देता है' ॥ ३५—४३ ॥

जब सब लोग इस प्रकार बातें कर रहे थे, उसी समय क्रोधसे भरा हुआ बल्वल तलवार हाथमें लेकर समस्त यादवोंको शीघ्र मार डालनेके लिये आया। आकर उसने उस तलवारसे सहस्रों मोहित यादव-वीरोंको युद्धस्थलमें मार डाला और वे पृथ्वीपर गिर पड़े। यह देखकर अनिरुद्धने रोषपूर्वक उससे कहा—'अरे ! क्या तुम संग्रामभूमिमें अधर्म-युद्ध करोगे, जिसकी सभी श्रेष्ठ पुरुषोंने निन्दा की है ? मोहितोंको मारनेसे तुम्हारी प्रशंसा नहीं होगी। यदि तुम्हारे शरीरमें शक्ति है तो आओ मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ४४—४६½ ॥

अनिरुद्धकी यह बात सुनकर बलके घमंडसे भरा हुआ बल्वल पैदल ही ढाल और तलवार लिये गर्जना करता हुआ अनिरुद्धपर चढ़ आया। उसे आते देख प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध रोषपूर्वक रथसे कूद पड़े और जैसे देवराज इन्द्र अपने वज्रसे पर्वतको विदीर्ण करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने कालदण्डसे उस दैत्यपर प्रहार किया। उस आघातसे दैत्यकी छाती फट गयी और वह पृथ्वीको कम्पित करता हुआ गिर पड़ा तथा चार दिनोंतक संग्रामभूमिमें मूर्च्छित पड़ा रहा। उस समय उस दैत्यके गिरते ही सारी माया स्वतः शान्त हो गयी। युद्धस्थल दिखायी देने लगा और वहाँ लड़े हुए यादव आश्चर्यसे चकित हो गये ॥ ४७—५० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अनिरुद्धकी विजय' नामक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

---

* स कर्ता कृष्णचन्द्रस्तु गोलोकेशः परात्परः। येन वै निर्मिताः सर्वे ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥ (अ० ३५ । २५)

छत्तीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णपुत्र सुनन्दनद्वारा दैत्यपुत्र कुनन्दनका वध

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! इसी समय कुनन्दन भी मूर्च्छा त्यागकर रथारूढ़ हो क्रोधपूर्वक धनुषसे बाणोंकी वर्षा करता हुआ युद्धस्थलमें आया। शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वीर अनिरुद्ध उसको आया देख रोषसे आग-बबूला हो उठे तथा अपने सेवकोंसे उसकी बात पूछने लगे। सेवकोंने कहा—'महाराज! यह बल्वलनन्दन कुनन्दन है और आपके साथ युद्ध करनेके लिये आया है।' यह सुनकर अनिरुद्ध बोले—'मैं कुनन्दनको मार डालूँगा।' उसी समय श्रीकृष्णपुत्र सुनन्दनने उनसे कहा ॥ १-४ ॥

सुनन्दन बोले—राजन्! यह दैत्यपुत्र क्या है? तथा इसकी यह थोड़ी-सी सेना क्या बिसात रखती है? प्रभो! मैं आपके प्रतापसे इसको जीत लूँगा। अतः मैं ही युद्धके लिये जाता हूँ। राजन्! मेरी प्रतिज्ञा सुनिये। यह आपके लिये आनन्ददायिनी होगी—'यदि मैं अधिक संग्रामकुशल कुनन्दनको न जीत लूँ तो श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंके मकरन्दका आस्वादन करनेसे विरत रहनेवाले मनुष्योंको जो पाप लगता है, वही मुझे भी लगे। यदि मैं इस दानवको परास्त न कर दूँ तो भवबन्धन हर लेनेवाले गुरु और पिताकी सेवासे विमुख पुरुषको जो पाप लगता है, वही मुझे भी लगे' ॥ ५-८ ॥

पृथ्वीनाथ! सुनन्दनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर अनिरुद्ध मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उस वीरको युद्धके लिये आदेश दे दिया। इस प्रकार अनिरुद्धकी आज्ञा पाकर श्रीकृष्णनन्दन सुनन्दन कवच धारण कर अकेले ही उस स्थानपर गये, जहाँ बल्वलनन्दन कुनन्दन विद्यमान था। कुनन्दन सुनन्दनको युद्धके लिये आया देख रोषपूर्वक उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ा; क्योंकि वह वीरोंमें श्रेष्ठ, रथी एवं शूरशिरोमणि था। राजसिंह! रथपर बैठे और धनुष धारण किये वे दोनों वीर एक-दूसरेसे मिलकर दमन और पुष्कलके समान शोभा पाने लगे। दोनोंके अङ्ग सायकोंसे विदीर्ण हो रहे थे। दोनों ही खूनसे लथपथ दिखायी देते थे तथा दोनों ही बड़े वेगसे करोड़ों बाणोंका संधान करते और छोड़ते थे। पृथ्वीनाथ! वे कब बाण लेते हैं, धनुषपर रखते हैं और कब छोड़ते हैं, यह किसीको ज्ञात नहीं होता था। वे दोनों महान् शूरवीर धनुषको खींचकर कुण्डलाकार किये दिखायी देते थे। दैत्य राजकुमारने शोभाशाली भ्रामकास्त्रके द्वारा सुनन्दनके रथको भूतलपर कुम्हारके चाककी भाँति घुमाया। उनका रथ दो घड़ीतक चक्कर काटनेके बाद घोड़ोंसहित सुस्थिर हो गया। तब श्रीकृष्णकुमारने कुनन्दनके रथपर बाण मारा। उस बाणसे आहत हो वह रथ घोड़ोंसहित आकाशमें जाकर मतवाले हाथीकी भाँति चक्कर काटने लगा और पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरते ही शीशेके बर्तनकी भाँति चूर-चूर हो गया। रथ, घोड़े और सारथिके नष्ट हो जानेपर कुनन्दन उठा और दूसरे रथपर आरूढ़ हो ज्यों-ही सामने आया, त्यों-ही कृष्णनन्दन सुनन्दनने बहुत-से बाण मारकर उसके रथकी धज्जियाँ उड़ा दीं। इस तरह उस रणभूमिमें दैत्यकुमारके सात रथ नष्ट हो गये ॥ ९-१९ ॥

नरेश्वर! तब कुनन्दन एक विचित्र यानमें बैठकर युद्धस्थलमें श्रीकृष्णपुत्रका सामना करनेके लिये वेगपूर्वक आया। आते ही कुनन्दनने सुनन्दनको युद्धस्थलमें दस बाण मारे। उन बाणोंसे घायल होनेपर उन्हें बड़ी वेदना हुई। तब कुपित हुए बलवान् कृष्णकुमारने धनुष उठाकर दस सायक हाथमें ले उन्हें कुनन्दनकी छातीको लक्ष्य करके छोड़ा। राजन्! वे बाण उस दैत्यका रक्त पीकर उसी तरह पृथ्वीपर गिर पड़े, जैसे झूठी गवाही देनेवालेके पितर नरकमें गिरते हैं। कुनन्दन सुनन्दनको और सुनन्दन कुनन्दनको उस महासमरमें विशाल बाणोंद्वारा परस्पर घायल करने लगे ॥ २०-२४ ॥

इस प्रकार उन दोनोंके शरीर बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो गये थे। दोनों रक्तसे नहा गये थे और दोनों ही धनुष लिये रोषपूर्वक एक-दूसरेको बाण मारते हुए घोर युद्ध कर रहे थे। उस समराङ्गणमें कुनन्दन और सुनन्दन कुशाम्ब और साम्बके समान शोभा पाते थे। तदनन्तर कृष्णकुमार वीर सुनन्दनने सुवर्णनिर्मित कोदण्डपर अर्धचन्द्राकार बाण रखकर शीघ्र ही कुनन्दनसे कहा ॥ २५-२६ ॥

सुनन्दन बोले—वीर! मेरी बात सुनो। मैं इस बाणके द्वारा इसी क्षण तुम्हारा मस्तक काट लूँगा। यदि बलवान् हो तो अपने सिरकी रक्षा करो। यदि

इस रणक्षेत्रमें तुम मेरी कही बातको सत्य नहीं मानते तो तुम्हारी मृत्युकी सूचना देनेवाली मेरी इस प्रतिज्ञाको सुन लो—'जो सती-साध्वी, पतिव्रता तथा गुरुपत्नीको कामभावसे दूषित करता है, वह यमराजके समीप जिस यातनामें डाला जाता है, वही यातना मुझे भी मिले; यदि मेरी प्रतिज्ञा सत्य न हो। जो सामर्थ्य रहते हुए गुरु और पिताका पालन नहीं करता, उसका पाप मुझे ही लगे, यदि रणभूमिमें मैं तुझे मार न डालूँ'॥ २७-३०½ ॥

सुनन्दनकी यह बात सुनकर दैत्य रोषसे जल उठा और बोला ॥ ३१ ॥

दैत्य राजकुमारने कहा—मैं शत्रुके सम्मुख संग्राममें मरनेसे नहीं डरता। मृत्यु तो सभी प्राणियोंकी होती ही है; परंतु तुम इस समय संग्राममें मेरे वधके लिये जो भी महान् बाण छोड़ोगे, उसे मैं अपने बाणसे उसी क्षण शीघ्र काट दूँगा, इसमें संशय नहीं है। जो लोग अभिमानवश इस पृथ्वीपर एकादशीको अन्न खाते हैं तथा माता, भौजाई, बहिन और बेटीके साथ पाप करते हैं, उन सबका पाप मुझे ही लगे, यदि मैं तुम्हारे बाणको न काट डालूँ ॥ ३२-३४॥

यह सुस्पष्ट बात सुनकर सुनन्दनके मनमें शङ्का हो गयी। अतः वे भी श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए फिर बोले ॥ ३५ ॥

सुनन्दनने कहा—यदि मैंने छल-कपट छोड़कर सच्चे मनसे श्रीकृष्णके युगल-चरणारविन्दोंका सेवन किया हो तो मेरी बात सत्य हो। वीर! यदि मैं अपनी पत्नीको छोड़कर दूसरी किसी स्त्रीको कामभावसे न देखता होऊँ तो इस सत्यके प्रभावसे संग्रामभूमिमें मेरा यह कथन अवश्य सत्य हो ॥ ३६-३७ ॥

—ऐसा कहकर सुनन्दनने महाकाल और अग्निके समान एक तीखे सायकको मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके छोड़ा। उस बाणको छूटा हुआ देख दैत्य राजकुमारने अपने बाणसे तत्काल काट दिया; ठीक उसी तरह, जैसे पक्षिराज गरुड अपने पंखसे सर्पके दो टुकड़े कर डालते हैं। राजन्! उस बाणके कटते ही तुरंत हाहाकार मच गया। लोकोंसहित पृथ्वी डोलने लगी और वे देवता भी विस्मयमें पड़ गये। बाणका नीचेवाला आधा भाग तो कटकर गिर पड़ा, किंतु फलयुक्त पूर्वार्ध भागने उस दैत्यके मस्तकको उसी तरह काट गिराया, जैसे हाथी किसी वृक्षके स्कन्ध (मोटी डाली) को तोड़ डालता है ॥ ३८-४१ ॥

उसके किरीट और कुण्डलोंसे युक्त मस्तकको कटकर गिरा देख समस्त दैत्य दुःखी होकर हाय-हाय करने लगे। कुनन्दनके धड़ने युद्धस्थलमें शीघ्र उठकर खड्गसे, घूँसोंसे और लातोंकी मारसे बहुतसे शत्रुओंको मौतके घाट उतार दिया। तत्पश्चात् यादव-सेनामें बार-बार दुन्दुभि बजने लगी और सुनन्दनके ऊपर देवताओंने फूलोंकी वर्षा की ॥ ४२-४४॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'दैत्यपुत्रके वधका वर्णन' नामक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय

भगवान् शिवका अपने गणोंके साथ बल्वलकी ओरसे युद्धस्थलमें आना और शिवगणों तथा यादवोंका घोर युद्ध; दीप्तिमान्का शिवगणोंको मार भगाना और अनिरुद्धका भैरवको जृम्भणास्त्रसे मोहित करना

वज्रनाभने पूछा—ब्रह्मन्! कुनन्दनके मारे जाने और बल्वलके रणभूमिमें मूर्च्छित हो जानेपर करुणामय भगवान् शिवने उसकी सहायता क्यों नहीं की? भगवान् शिव वहाँ आये क्यों नहीं? दैत्योंने घोड़ेको कैसे छोड़ा? और यज्ञ किस तरह पूर्ण हुआ?—ये सब बातें विस्तारपूर्वक मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १-२ ॥

सौति कहते हैं—ब्रह्मन्! वज्रनाभका यह प्रश्न सुनकर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ गर्गजी सम्पूर्ण कथाका स्मरण करके उन यादवशिरोमणिसे बोले ॥ ३ ॥

श्रीगर्गजीने कहा—राजन्! जब बल्वल मूर्च्छित हो गया और शूरवीर कुनन्दन मारा गया, तब देवर्षि नारदकी प्रेरणासे भगवान् शिवने बड़ा कोप किया। नरेश्वर! भक्तोंकी रक्षा करनेवाले शिव क्रोधपूर्वक नन्दीपर आरूढ़ हो, मस्तकपर जटाजूटके भीतर चन्द्रलेखा धारण किये, सर्पोंके हार और

मुण्डमालासे अलंकृत हो, सारे अङ्गमें भस्म रमाये भयंकररूपसे आये। दस बाँह, पाँच मुख और पंद्रह नेत्रोंसे युक्त रुद्रदेव सिंहके चर्मका वस्त्र धारण किये मदमस्त एवं भयकारक प्रतीत होते थे। उनके हाथोंमें त्रिशूल, पट्टिश, धनुष, बाण, कुठार, पाश, परिघ और भिन्दिपाल शोभा दे रहे थे। वे सहस्रों सूर्योंके तुल्य तेजस्वी और समस्त भूतगणोंसे आवृत थे। अनिरुद्ध आदि समस्त श्रेष्ठ वृष्णिवंशी वीरोंका युद्धस्थलमें वध करनेके लिये वे बड़ी उतावलीके साथ कैलाससे पृथ्वीतलको कम्पित करते हुए आये॥ ४—९॥

नरेश्वर! उस समय आकाश और भूतलपर बड़ा हंगामा मचा। देवता, दैत्य और मनुष्य सभी विस्मित और भयभीत हो उठे। समस्त गणों और परिवारके साथ प्रलयंकर शंकरको रोषपूर्वक आया देख यादवोंको बड़ा भय हो गया। अनिरुद्धका मुँह भयके कारण निस्तेज हो गया। समराङ्गणमें वे दुखी हो गये और उनका हृदय काँपने लगा। उस समय क्रोधसे भरे हुए गिरीशने हाथमें त्रिशूल लेकर समस्त यादवोंसे यह निष्ठुर बात कही॥ १०—१३॥

शंकर बोले—कहाँ गये अनिरुद्ध और कहाँ गये सुनन्दन? मेरे भक्त कुनन्दनका वध करके साम्ब आदि यादव कहाँ चले गये? मेरे भक्त दैत्यशिरोमणि बल्वलको मूर्च्छित करके और उसके सेवकोंको युद्धमें मारकर वृष्णिवंशी जायँगे कहाँ? मैं युद्धस्थलमें अपने भक्तोंके इन सभी शत्रुओंको मार डालूँगा। मैं, विष्णु और ब्रह्मा—ये सभी संकटसे भक्तजनोंकी रक्षा करते हैं॥ १४—१६॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर रुद्रदेवने अनिरुद्धके पास भैरवको भेजा और कहा—'शूर! तुम समराङ्गणमें विजयी प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धसे युद्ध करनेके लिये जाओ।' फिर उन्होंने सुनन्दनसे युद्ध करनेके लिये नन्दीको रोषपूर्वक भेजा, गदसे लोहा लेनेके लिये वीरभद्रको और साम्बसे लड़नेके लिये मयूरवाहन कार्तिकेयको प्रेरित किया। उन विरूपाक्ष शिवने भानुके साथ युद्ध करनेके लिये भृङ्गीको आदेश दिया और अन्य यादव-सैनिकोंसे जूझनेके लिये भूतों और प्रेतोंको प्रेषित किया। भगवान् रुद्रकी आज्ञा पाकर वे भूत, प्रेत, विनायक, भैरव, प्रमथ, वेताल, ब्रह्मराक्षस, उन्माद और कूष्माण्ड करोड़ोंकी संख्यामें युद्धमें आये। भूत यादवोंको अंगारोंसे मारने लगे। विनायक पट्टिशोंसे, भैरव शूलोंसे और प्रमथ खट्वाङ्गोंसे प्रहार करने लगे। ब्रह्मराक्षस मनुष्यों और घोड़ोंको पकड़कर खा जाते थे। यातुधान समराङ्गणमें मनुष्योंके मुण्ड चबाते और वेताल खप्परोंमें रक्त ले-लेकर पीते थे। पिशाच वहाँ नाचते और प्रेत गीत गाते थे। वे बारंबार योद्धाओंके मस्तकोंको गेंदकी भाँति इधर-उधर फेंकते थे। अट्टहास करते हुए चारों ओर दौड़ते और हाथियों तथा रथारोहियोंको रणमण्डलमें चबाते हुए दिखायी देते थे। पिशाचिनी और डाकिनियाँ युद्धस्थलमें अपने बालकोंको रक्त पिलाती और 'रोओ मत'—ऐसा कहती हुई उनकी आँखें पोंछती थीं। उन्माद और कूष्माण्ड स्वर्गगामी शूरवीरोंके मुण्डोंकी मालाएँ तैयार करके भगवान् शंकरको भेंट करते थे॥ १७—२७॥

नृपेश्वर! उस समय यादव-सेनामें हाहाकार मच गया। भयसे भागते हुए घोड़े, हाथी और पैदल-वीर सहस्रोंकी संख्यामें युद्धक्षेत्रमें गिरकर मृत्युको प्राप्त हो गये। शिव गणोंका ऐसा बल देखकर श्रीकृष्णकुमार दीप्तिमान्ने अपने धनुषपर अत्यन्त अद्भुत बाणोंका संधान करके छोड़ना आरम्भ किया। राजन्! वे तीखे बाण कोटि-कोटि भूतों, प्रेतों और विनायकोंके शरीरमें उसी तरह घुसने लगे, जैसे वनमें मोर प्रवेश करते हैं। बाणोंसे विदीर्ण होकर समस्त भूतगण भागने लगे। कोई युद्धस्थलमें गिर गये और कोई मर गये। कितने ही बाणोंका आघात लगनेसे पहले ही धराशायी हो गये॥ २८—३२॥

प्रेतगणोंके पलायन कर जानेपर भैरव क्रोधसे भर गये। वे कुत्तेपर सवार हो, त्रिशूल हाथमें लिये कालकी भाँति आ पहुँचे। नरेश्वर! उन कालभयंकर भैरवको देखकर कोई भी उनके साथ जूझनेके लिये तैयार नहीं हुआ। केवल अनिरुद्ध उनके साथ युद्ध करने लगे। अनिरुद्धने युद्धस्थलमें भैरवको पाँच बाण मारे। भैरवने भी परिघके प्रहारसे उनके उत्तम रथको चूर-चूर कर दिया। फिर अनिरुद्धने भी दूसरे रथपर आरूढ़ हो अपने सुदृढ़ धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर मायावी भैरवको रणभूमिमें दस बाणोंद्वारा घायल कर दिया। उन बाणोंसे आहत हो भैरवको कुछ मूर्च्छा-सी आ गयी। फिर उन्होंने अग्निके समान प्रज्वलित तीन शिखाओंवाला त्रिशूल अनिरुद्धपर फेंका। शूलको आया देख प्रद्युम्नकुमारने अपने बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। अपने त्रिशूलको छिन्न-भिन्न हुआ देख बलवान् रुद्रकुमार भैरवने मायाद्वारा अपने मुखसे अग्निकी सृष्टि की। उस अग्निसे भूमि, वृक्ष और दसों दिशाएँ जलने लगीं। पैदल-वीरों, रथारोहियों, घोड़ों तथा हाथियोंके शरीर सुन्दर फूलवाले सेमरकी रूईके समान जलने लगे। कितने ही वीर आगकी ज्वालाकी लपटमें आ गये और

कितने ही भस्म हो गये। सारी सेना अग्निज्वालासे व्याप्त हो गयी। कितने ही योद्धा भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करने लगे॥ ३३–४१॥

अपनी सेनाको भयसे व्याकुल देख और भैरवकी रची हुई मायाको जानकर धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अनिरुद्धने अपने धनुषपर एक बाण रक्खा। उस सायकको पर्जन्यास्त्रसे अभिमन्त्रित करके श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका चिन्तन करते हुए शीघ्र ही आकाशमें छोड़ दिया॥ ४२-४३॥

राजन्! उस बाणके छूटते ही मेघ प्रकट होकर पानी बरसाने लगे। आग बुझ गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वर्षाकाल आ गया हो। मोर, कोयल, चातक, सारस और मेढक आदि बोलने लगे। यत्र-तत्र इन्द्रगोप (बीरबहूटी नामक कीड़े) शोभा पाने लगे। आकाश इन्द्रधनुष और बिजलीकी चमकसे दीप्तिमान् हो उठा। अपना प्रयास निष्फल हुआ देख भैरवने अपने मुखसे भैरव-गर्जना की, जिससे सबका मन संत्रस्त हो उठा। उस भैरवनादसे समस्त लोकों और पातालोंसहित सारा ब्रह्माण्ड गूँज उठा। दिग्गज विचलित हो उठे, तारे टूटने लगे और उनसे भूखण्डमण्डल चमक उठा। उसी समय समस्त मनुष्य बहरे हो गये और गिर गये॥ ४४–४८॥

फिर सर्पोंसे विभूषित भैरवने क्रुद्ध हो हाथसे हाथको दबाते, दाँतोंसे ओठको चबाते, जीभ लपलपाते और लाल-लाल नेत्रोंसे देखते हुए यदुकुल-तिलक अनिरुद्धको तिनकेके समान समझकर एक तीखा फरसा हाथमें लिया। उसी समय रणनीतिमें कुशल अनिरुद्धने जृम्भणास्त्रका प्रयोग करके भैरवको उसी प्रकार मोहाच्छन्न कर दिया, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने बाणासुर-विजयके अवसरपर भगवान् शंकरको मोहित कर दिया था। राजन्! उस अस्त्रके प्रभावसे अनिरुद्धके देखते-देखते भैरव रणभूमिमें गिर पड़े और जँभाई लेते हुए निद्रा-सुखका आस्वादन करने लगे॥ ४९–५२॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'भैरव-मोहन' नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७॥

अड़तीसवाँ अध्याय

नन्दिकेश्वरद्वारा सुनन्दनका वध; भगवान् शिवके त्रिशूलसे आहत हुए अनिरुद्धकी मूर्च्छा; साम्बद्वारा शिवकी भर्त्सना; साम्ब और शिवका युद्ध तथा रणक्षेत्रमें भगवान् श्रीकृष्णका शुभागमन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! भैरवको निद्रित देख मृत्युंजय शिव कुपित हो उठे। उन्होंने वीरमानी अभिमन्युपर आक्रमण करनेके लिये अपने वृषभ नन्दिकेश्वरको प्रेरित किया। वृषभ उसी समय क्रोधसे भरकर दोनों सींगों, दाँतों और पिछले पैरोंसे यादवोंपर प्रहार करता हुआ सेनामें विचरने लगा। उसने सामने खड़े हुए सुनन्दनपर अपने एक सींगसे शीघ्र ही आघात किया। उस सींगके आघातसे सुनन्दनका वक्ष विदीर्ण हो गया और वे पञ्चत्वको प्राप्त हो गये॥ १–३॥

तब हाथीपर बैठे हुए अनिरुद्ध धनुष लिये, कवच बाँधकर 'मत डरो, मत डरो'—ऐसा कहते हुए अत्यन्त क्रोधपूर्वक वहाँ आये। श्रीकृष्णपुत्र वीर सुनन्दनको वहाँ मारा गया देख अनिरुद्धको बड़ा दुःख हुआ। वे शोकमें डूबकर काँपने लगे। उस महावीरके मारे जानेपर शोकमें पड़े हुए अनिरुद्धसे शिवजीने कहा—'महाबली अनिरुद्ध! तुम रणक्षेत्रमें शोक न करो। युद्धमें मारा जाना शूरवीरोंके लिये कीर्तिकारक माना गया है। इसलिये तुम भी संग्रामस्थलमें मेरे साथ यत्नपूर्वक युद्ध करो। मेरे सामने युद्धकी अभिलाषासे आये हुए तुम्हारे भी प्राण जानेवाले ही हैं। तुम उनकी रक्षा करो'॥ ४–७½॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! भगवान् शिवकी यह बात सुनकर यदुकुलतिलक अनिरुद्धने शोक त्याग दिया और शिवजीके मस्तकपर पाँच बाण मारे। वे पाँचों बाण महेश्वरके जटाजूटमें उलझ गये और गीधके पंखोंसे युक्त वनस्पतिकी शाखाके समान दिखायी देने लगे। तब रुद्रदेवने अपने कोदण्डपर एक बाण रक्खा और उसके द्वारा सहसा अनिरुद्धके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट दी। अनिरुद्धने फिर शीघ्र ही अपने सुदृढ़ धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ा ली और एक सायकद्वारा शंकरजीके धनुषकी प्रत्यञ्चाको भी खण्डित कर दिया। तब उन दोनोंमें अद्भुत एवं रोमाञ्चकारी युद्धका समाचार सुनकर विमानपर बैठे हुए इन्द्र आदि देवता कौतूहलवश वहाँ आ गये और आकाशमें स्थित

हो वह युद्ध देखकर भयसे विह्वल हो परस्पर कहने लगे ॥ ८–१३ ॥

देवता बोले—ये दोनों त्रिभुवनकी सृष्टि और संहार करनेवाले हैं। इसलिये रणमण्डलमें इन दोनोंका युद्ध निष्फल है। कौन इस युद्धको जीतेगा और किसकी पराजय होगी ? (यह कैसे कहा जा सकता है) ॥ १४½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर तीन दिनों तक उन दोनोंमें बड़ा भारी युद्ध हुआ। फिर रुद्रदेवने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर रोषपूर्वक ब्रह्मास्त्रका संधान किया, जो वहाँ तीनों लोकोंका प्रलय करनेमें समर्थ था। परंतु अनिरुद्धने ब्रह्मास्त्रसे ब्रह्मास्त्रका, वज्रास्त्रसे पर्वतास्त्रका और पर्जन्यास्त्रसे आग्नेयास्त्रका निवारण कर दिया। तब पिनाकधारी शिव अत्यन्त क्रोधके कारण प्रज्वलित-से हो उठे। उन्होंने तीन शिखाओंवाले त्रिशूलसे प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्धपर आघात किया। वह त्रिशूल अनिरुद्धको विदीर्ण करके हाथीको भी चीरता हुआ निकल गया और उन दोनोंके बीचमें ऊपरको पुङ्खभाग तथा नीचेको मुख किये स्थित हो गया। हाथीकी तत्काल मृत्यु हो गयी और युद्धस्थलमें अनिरुद्ध भी मूर्च्छित हो गये। वे दोनों रणभूमिमें वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण एक-दूसरेसे लगे हुए ही गिर पड़े। उस समय हाहाकार मच गया। सब यादव रोने लगे। जैसे यमराजके आगे पापी डर जाते हैं, उसी प्रकार रुद्रदेवके आगे सब यादव भयभीत हो गये। अनिरुद्ध मृतकके समान मूर्च्छित होकर गिर पड़े हैं, यह समाचार सुनकर साम्ब शङ्कित हो स्कन्दको छोड़कर वहाँ गये। यादव-वीरको मूर्च्छित हुआ देख साम्बके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली और वे धनुष हाथमें लेकर क्रोधपूर्वक शिवसे बोले—"रुद्र! संग्राममें अनिरुद्ध तथा वीर सुनन्दनको मारकर तुम दानवोंका पालन कैसे करोगे ? मैंने पहले वेदमें और भागवत-शास्त्रमें ब्राह्मणोंके मुँहसे सुन रक्खा था कि शिव वैष्णव हैं और वे सदा 'श्रीकृष्ण' संज्ञक परब्रह्मका भजन-सेवन करते हैं। आज प्रद्युम्नकुमारके धराशायी होनेपर वह सब कुछ व्यर्थ हो गया। सुनन्दन श्रीकृष्णके पुत्र हैं, किंतु उन्हें भी तुमने युद्धमें मार डाला। महेश्वर ! शिव ! तुम व्यर्थ युद्ध करते हो। तुम्हें धिक्कार है। तुम श्रीकृष्णसे विमुख हो; अतः मैं रणभूमिमें क्षुरप्रों तथा सायकोंद्वारा तुम्हें शीघ्र ही मार गिराऊँगा। तुम खड़े रहो, खड़े रहो" ॥ १५—२७½ ॥

साम्बकी यह बात सुनकर भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले ॥ २८ ॥

शिवने कहा—यादवश्रेष्ठ ! तुम धन्य हो। तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, वह सब सत्य है। देव-दानव-वन्दित ये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मेरे स्वामी हैं। किंतु वीर ! जब कुनन्दन मारा गया तथा रणक्षेत्रमें बल्वल मूर्च्छित हो गया, तब मैं उसकी सहायताके लिये, अथवा यों कहो कि भक्तकी रक्षाके लिये यहाँ आ गया। मैं अपने दिये हुए वचनको सत्य करनेके लिये आया हूँ और भक्तका प्रिय करनेकी इच्छासे समराङ्गणमें किंचित् कुपित होकर युद्ध करता हूँ ॥ २९–३१ ॥

भगवान् भूतनाथ शिव जब इस प्रकार कह रहे थे, तभी रोषसे भरे हुए साम्बने बड़ी शीघ्रताके साथ अपने धनुषसे छूटे हुए क्षुरप्रों एवं सायकोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया। उन बाणोंसे आहत होनेपर भी रुद्रदेवको थोड़ी-सी भी वेदना नहीं हुई, जैसे फूलोंसे मारनेपर गजराजको कुछ पता नहीं चलता है। अब शिवने अपना धनुष उठाया और युद्धमें जाम्बवतीकुमारको अनेक तीखे बाण मारे। साम्ब शिवको और शिव साम्बको परस्पर घायल करने लगे। उन दोनोंका युद्ध देखकर देवता ऐसा मानने लगे कि अब समस्त लोकोंका संहार होनेवाला है। राजन् ! पृथ्वीपर और आकाशमें महान् कोलाहल मच गया। समस्त वृष्णिवंशी भयभीत हो अपने रक्षक भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करने लगे ॥ ३२–३६ ॥

तब यादवोंपर महान् विपत्ति आयी हुई जानकर श्रीयदुकुलपालक शत्रुसूदन घोड़े और सारथिसे युक्त रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचे। उनकी अङ्गकान्ति श्याम थी। मस्तकपर किरीट शोभा पा रहा था। नेत्र नूतन नील कमलकी शोभा छीने लेते थे। करोड़ों नवीन सूर्यकी कान्ति धारण किये भगवान् श्यामसुन्दर हाथोंमें कौमोदकी गदा, शङ्ख, चक्र, पद्म, धनुष, बाण और खड्ग लिये हुए थे। श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभमणि, पीताम्बर तथा वनमालासे अलंकृत श्रीहरि नीली अलकों तथा कुण्डल, कङ्कण आदि आभूषणोंसे विभूषित हो, करोड़ों कामदेवोंके समान शोभा पा रहे थे। जैसे राजहंस मुखसे मुक्ताफल गिरा रहे हों, उसी प्रकार श्वेत फेनकणोंको उगलनेवाले सुग्रीव आदि अत्यन्त वेगशाली तथा सुन्दर सामगान

करनेवाले घोड़ोंसे उनका रथ जुता हुआ था* । जैसे सर्दीसे डरे हुए लोग सूर्यका उदय देखकर सुखी हो जाते हैं, उसी प्रकार यादव अपने स्वामी श्रीकृष्णका शुभागमन देखकर हर्षसे विह्वल हो गये । उस समय यादव-सेनामें जय-जयकार होने लगा । आकाशमें स्थित हुए देवता फूलोंकी वृष्टि करने लगे । भगवान् श्रीकृष्णको अपनी सहायताके लिये आया जान साम्ब हर्षसे उत्फुल्ल हो उठे और धनुष त्यागकर उनके चरणोंमें गिर पड़े ॥ ३७—४२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अनिरुद्ध आदिकी सहायताके लिये श्रीकृष्णका आगमन' नामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

उन्तालीसवाँ अध्याय

भगवान् शंकरद्वारा श्रीकृष्णका स्तवन; शिव और श्रीकृष्णकी एकता; श्रीकृष्णद्वारा सुनन्दन, अनिरुद्ध एवं अन्य सब यादवोंको जीवनदान देना तथा बल्वलद्वारा यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका लौटाया जाना

श्रीगर्गजी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्णको वहाँ उपस्थित देख महादेवजी भयभीत एवं शङ्कितचित्त हो गये और धनुष तथा त्रिशूल आदि त्यागकर उन श्रीपतिसे भक्तिपूर्वक बोले ॥ १ ॥

शंकरने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वत्र व्यापक विष्णुदेव ! मेरे अविनयको दूर कीजिये। मनको दबाइये और विषयोंकी मृगतृष्णा शान्त कीजिये । प्राणियोंके प्रति मेरे हृदयमें दयाका विस्तार कीजिये और मुझे संसार-सागरसे उबारिये । देवनदी गङ्गा जिनकी मकरन्दराशि है, जिनका मनोहर सौरभसमूह सच्चिदानन्दमय है तथा जो भवबन्धनके भय एवं खेदका छेदन करनेवाले हैं, श्रीपतिके उन चरणारविन्दोंकी मैं वन्दना करता हूँ । प्रभो ! परमार्थदृष्टिसे आपमें और मुझमें कोई भेद न होनेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं; क्योंकि समुद्रकी ही तरङ्गें हुआ करती हैं, तरङ्गोंका समुद्र कहीं नहीं होता । हे गोवर्धनपर्वत धारण करनेवाले ! हे पर्वत-भेदी इन्द्रके अनुज ! हे दानवकुलके शत्रु ! तथा हे सूर्य और चन्द्रमाको नेत्रोंके रूपमें धारण करनेवाले परमेश्वर ! आप प्रभुका दर्शन हो जानेपर क्या इस संसारका तिरस्कार नहीं हो जाता है ? परमेश्वर ! मैं भवतापसे भीत हूँ और आप मत्स्य आदि अवतारोंद्वारा अवतारी होकर वसुधाका पालन करते हैं, अतः मेरा भी पालन कीजिये । दामोदर ! गुणोंके मन्दिर ! सुन्दर वदनारविन्द ! गोविन्द ! भवसागरको मथ डालनेके लिये मन्दराचलरूप श्रीकृष्ण ! आप मेरे बड़े भारी भयको भगाइये । नारायण ! करुणामय ! मैं आपके युगलचरणोंकी शरण लूँ । यह छः पदोंवाली स्तुतिरूपिणी षट्पदी (भ्रमरी) मेरे मुखरूपी कमलमें सदा निवास करे† ॥ २—८ ॥

* श्यामः किरीटी नवकञ्जनेत्रो नवार्ककोटिद्युतिमादधानः ।
कौमोदकीशङ्खरथाङ्गपद्मकोदण्डबाणैर्नियुतोऽसिधारी ॥
श्रीवत्सचिह्नेन तु कौस्तुभेन पीताम्बरेणापि च माल्याढ्यः ।
नीलालकैः कुण्डलकङ्कणाद्यैर्विभूषितः कोटिमनोजतुल्यः ॥
समुद्गलद्भिः सितफेनशीकरान् मुक्ताफलानीव च राजहंसकैः ।
सुग्रीवमुख्यैरतिवेगवत्तरैर्हयैर्युतः सुन्दरसामगायनैः ॥ (अध्याय ३८ । ३८—४०)

† ॐ अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् । भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे । श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् । सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥
उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे । दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावता सदा वसुधाम् । परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द । भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे ॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ । इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥
(अ० ३९ । २—८)

भगवान् शंकरके इस प्रकार स्तुति करनेपर बलरामके छोटे भाई श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अपने चरणोंमें झुके हुए चन्द्रशेखर शिवसे सारा अभिप्राय पूछा ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—शिव ! मेरे कुबुद्धि पुत्रने तुम्हारा क्या अपराध किया था, जिससे तुमने युद्धमें उसे मार डाला और अनिरुद्धको मूर्च्छित कर दिया ? किसलिये यदुकुलका विनाश किया ? तुम युद्धस्थलमें आये ही क्यों ? और आये भी तो युद्ध क्यों करने लगे ? यह सब बात विस्तारपूर्वक मुझे बताओ ॥ १०-११ ॥

श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर प्रमथनाथ शिव लज्जित हो गये और कुछ सोच-विचारकर उन मधुसूदनसे बोले ॥१२॥

शंकरजीने कहा—देवदेव ! जगन्नाथ ! राधिका-वल्लभ ! जगन्मय ! करुणाकर ! मैं निर्लज्ज हूँ, अपराधी हूँ ! आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ! देव ! क्या आप नहीं जानते, मैं आपके सामने क्या कहूँगा ? प्रभो ! आपकी मायासे मोहित होकर मैं भक्तकी रक्षा करनेके लिये यहाँ आया था; आप मेरे इस सारे अपराधको क्षमा कर दीजिये ! हरे ! 'मैं ही सम्पूर्ण जगत्का शासक हूँ' इस अभिमानसे मैंने युद्धस्थलमें, जिनके श्रीकृष्ण ही देवता हैं, उन शूरवीर वृष्णिवंशियोंको मारा है ! श्रीकृष्ण ! यही कारण है कि संत पुरुष परमवाञ्छित महान् ऐश्वर्यको स्वयं छोड़कर आपके निर्भय चरणकमलका सदा चिन्तन करते हैं ! मनुष्योंको सुख और दुःख तभीतक प्राप्त होते हैं, जबतक उनका मन श्रीकृष्णमें नहीं लगता है ! श्रीकृष्णमें मन लग जानेपर वह दुर्जय भक्तियोगरूपी खड्ग प्राप्त होता है, जो मनुष्योंके कर्मरूपी वृक्षोंका मूलोच्छेद कर डालता है ! जो लोग मेरी भक्तिके बलसे घमंडमें आकर आप मेरे स्वामी यदुकुल-तिलकका अपमान करते हैं, वे सब निश्चय ही नरकमें जायँगे* ॥ १३–१९ ॥

—ऐसा कहकर भगवान् शंकर चुप हो नेत्रोंमें आँसू भरकर भक्तिभावसे श्रीकृष्णके युगलचरणारविन्दोंमें दण्डकी भाँति प्रणत हो गये ! भगवान् श्रीकृष्णने रुद्रदेवको उठाकर अपने पास खड़ा किया और उन्हें आश्वासन देकर, मिलकर उनकी ओर सुधाभरी दृष्टिसे देखा ॥ २०-२१ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण बोले—शिव ! सभी देवता अपने भक्तका पालन करते हैं ! तुमने भी यदि भक्तका पालन किया तो इसमें कौन-सा निन्दित कर्म कर डाला ? तुम मेरे हृदयमें हो और मैं तुम्हारे हृदयमें ! हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है ! खोटी बुद्धिवाले मूढ़ पुरुष ही हम दोनोंमें अन्तर या भेद देखते हैं ! सदाशिव ! मेरे भक्त तुमको नमस्कार करते हैं और तुम्हारे भक्त मुझको ! जो मेरी इस बातको नहीं मानते हैं, वे नरकमें पड़ेंगे† ॥ २२–२४ ॥

—ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें मारे गये अपने पुत्र सुनन्दनको अमृतवर्षिणी दृष्टिसे देखकर जीवित कर दिया ! तत्पश्चात् अनिरुद्धके हृदयसे शूलको धीरे-धीरे खींचा और उन्हें भी जीवनदान दिया ! इसके बाद सर्व-समर्थ परमेश्वर श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें मारे गये समस्त यादवोंको सुधावर्षिणी दृष्टिसे देखकर जीवित कर दिया ! इतनेमें ही दुन्दुभिनादके साथ देवता उत्साहसूचक पुष्पवर्षा करने लगे ! ऐसा करके उन्होंने भगवान् गरुडध्वजको प्रसन्न किया ! सम्पूर्ण त्रिलोकीके नेता भगवान् श्रीकृष्णको आया देख वे श्रेष्ठ यादव वेगपूर्वक उठकर खड़े हो गये और प्रसन्नताके साथ जय-जयकार करने लगे ॥ २५–२९ ॥

---

* देवदेव जगन्नाथ राधिकेश जगन्मय ।
पाहि पाहि कृपाकारिन्निस्त्रपं मां कृतागसम् ॥
त्वं न जानासि किं देव कथयिष्यामि किं त्वहम् ।
भक्तस्य पालनं कर्तुं मायया तव मोहितः ॥
अहमागतवान् देव त्वं सर्वं क्षन्तुमर्हसि ।
शास्ताहं सर्वलोकस्य मानादिति मया हरे ॥
मारिताः संगरे शूरा वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
तस्मात् संतः स्वयं त्यक्त्वा परमैश्वर्यमीप्सितम् ॥
ध्यायन्ते सततं कृष्ण पादाब्जं ते निरापदम् ।
सुखं दुःखं नृणां तावद् यावत्कृष्णे न मानसम् ॥
कृष्णे मनसि संजातो भक्तिखड्गो दुरत्ययः ।
नराणां कर्मवृक्षाणां मूलच्छेदं करोति यः ॥
मद्भक्तिबलदर्पिष्ठ मत्प्रभुं त्वां यदूत्तमम् ।
न मन्यन्ते च ते सर्वे यास्यन्ति निरयं ध्रुवम् ॥
(अ० ३९ । १३–१९)

† ममासि हृदये त्वं तु भवतो हृदये ह्यहम् ।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः ॥
त्वां नमन्ति च मद्भक्तास्त्वद्भक्ता मां सदाशिव ।
ये न मन्यन्ति मद्वाक्यं यास्यन्ति नरकं च ते ॥
(अ० ३९ । २२-२४)

तदनन्तर महादेवजीसे सुरक्षित हो बल्वल उठा और रोषपूर्वक कहने लगा—'अनिरुद्ध कहाँ गया ?' तब शंकरजीने अपने शुभ वचनोंद्वारा उस दैत्यको समझाया और श्रीकृष्णकी महिमाको जानकर वह महामनस्वी दैत्य आनन्दित हो गया। राजन्! तदनन्तर गोविन्दको प्रणाम और उनकी स्तुति करके दैत्य बल्वलने बहुत-सी द्रव्यराशिके साथ घोड़ा लौटा दिया॥ ३०—३२॥

इसके बाद यज्ञके घोड़ेको साथ लेकर भगवान् श्रीकृष्ण पुत्र-पौत्रोंके साथ सेतुमार्गसे समुद्रके तटपर आये। वहाँसे वे पश्चिम दिशाकी ओर चले गये। भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर रुद्रदेव बल्वलको उसके राज्यपर स्थापित करके अपने गणों और भैरवके साथ कैलासको चले गये। जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके इस चरित्रको अपने घरपर सुनते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण उनकी सदा सहायता करेंगे॥ ३३—३५॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अनिरुद्ध-विजय-वर्णन' नामक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३९॥

चालीसवाँ अध्याय

यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका व्रजमण्डलमें वृन्दावनके भीतर प्रवेश; श्रीदामाका उसे बाँधकर नन्दजी-के पास ले जाना; नन्दजीका समस्त यादवों और श्रीकृष्णसे सानन्द मिलना; यादव-सेनाका वृन्दावनमें और श्रीकृष्णका नन्दपत्तनमें निवास

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णके द्वारा मुक्त हुआ पत्र और चामरोंसे विभूषित वह अश्व सम्पूर्ण देशोंका नेत्रोंसे अवलोकन करता हुआ आगे बढ़ा। नरेश्वर बल्वलको पराजित हुआ सुनकर अनेक देशोंके नरेश भगवान् श्रीकृष्णके भयसे अपने यहाँ आये हुए अश्वको पकड़ न सके। राजेन्द्र! इस प्रकार आगे-आगे जाता हुआ यदुवीर उग्रसेनका अश्व एक महीनेमें भारतवर्षके अन्तर्गत व्रजमण्डलमें जा पहुँचा। राजन्! वहाँसे यमुनाको पारकर वृन्दावनका दर्शन करते हुए वह श्रेष्ठ अश्व एक तमाल वृक्षके नीचे खड़ा हो गया। वहाँ दूब चरते हुए घोड़ेको देखकर बहुत-से ग्वाल-बाल गौएँ चराना छोड़कर कौतूहलवश उसके पास आ गये और ताली पीटने लगे। राजन्! इस प्रकार जब सब ग्वाल-बाल घोड़ेको देख रहे थे, उसी समय गोपनायक श्रीदामा वहाँ आये और उन्होंने वहाँ विचरते हुए उस चञ्चल अश्वको अनायास ही पकड़ लिया। गाय बाँधनेवाली रस्सीको घोड़ेके गलेमें बाँधकर वे अन्य गोपोंके साथ 'किसने इसको छोड़ा है'—यह बातचीत करते हुए नन्दरायके निकट गये। उस घोड़ेको आया देख नन्दरायजीको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसके भालमें बँधे हुए पत्रको बाँचकर गद्गदवाणीमें सब लोगोंसे कहा—'यह उग्रसेनका घोड़ा है, जो मेरे गाँवमें आ गया है। मेरे प्रपौत्र अनिरुद्ध सब ओरसे इसका पालन करते हैं। मैं मित्रोंसे मिलनेके लिये इस यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको ग्रहण करता हूँ। इसके बाद श्रीकृष्णकी-सी आकृतिवाले प्रियकारी प्रपौत्र अनिरुद्धको देखूँगा।' ऐसा कहकर और यशोदाके सामने सारा अभिप्राय बताकर नन्दरायजी अनिरुद्धको देखनेके लिये अन्यान्य गोपोंके साथ नन्दगाँवसे बाहर निकले॥ १—११॥

नृपेश्वर! उसी समय भोज, वृष्णि तथा अन्धक आदि कुलोंके समस्त यादव घोड़ेके पीछे लगे वहाँ आ पहुँचे। नृपेन्द्र! गङ्गासागरसे लौटते समय मार्गमें नैपाल तीर्थ, मिथिला, अयोध्या, बर्हिष्मती, कान्यकुब्ज (कन्नौज), बलभद्रजीके स्थान (दाऊजी), गोकुल (महावन), सूर्यकन्या यमुना तथा जहाँ भगवान् केशवदेव विराजते हैं, उस मथुरापुरीका भी दर्शन करते हुए श्रीकृष्णसहित सब लोग वृन्दावन होते हुए नन्दगाँवमें आये। नन्दग्रामको दूरसे देखकर रथारूढ़ नन्दनन्दन श्रीकृष्ण सबसे आगे होकर यादवोंके साथ वहाँ आये। निकट पहुँचकर श्रीहरिने सामने देखा—पिता नन्दरायजी एक सुसज्जित गजराजको आगे रखकर गोपोंके साथ खड़े हैं। नृपेश्वर! तरह-तरहके बाजे बजवाते, शङ्खनाद कराते, जय-जयकारकी ध्वनि फैलाते नन्दरायजी फूलोंके हार, मङ्गल कलश तथा बाजा आदिसे विभूषित थे। राजन्! उस समय नन्दजीका दर्शन करके उद्धव आदि समस्त यादवोंने उनको नमस्कार किया। सबके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक आये थे॥ १२—१८॥

उसी समय नन्दरायका दाहिना अङ्ग फड़क उठा। नरेश्वर! वह उत्तम शकुन देखकर वे मन-ही-मन कहने लगे—'क्या मैं आज अपने नेत्रोंसे प्रियवादी श्रीकृष्णको देखूँगा? क्योंकि प्रियकी सूचना देनेवाला मेरा दाहिना नेत्र

फड़क रहा है। यदि श्रीकृष्ण मेरे नेत्रोंके समक्ष आ जायँ तो आज मैं ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत एक लाख गौएँ दान दूँगा' ॥ १९—२१ ॥

नरेश्वर! ऐसा संकल्प करके जब नन्दजी चुप हुए, तभी व्रजवासियोंके मुखसे उन्होंने अपने पुत्रके शुभागमनका समाचार सुना। श्रीकृष्णका आगमन सुनकर विरहमें डूबे हुए नन्दराय उन श्रीहरिको देखनेके लिये रोते हुए-से सबके आगे चलने लगे। वे गद्गद वाणीसे बार-बार कह रहे थे—'हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे कृष्णचन्द्र! तुम कहाँ चले गये थे? क्या मुझ दुखियाको नहीं देखते हो' ॥ २२—२४ ॥

पिताको देखकर पितृवत्सल श्रीकृष्ण रथसे कूदकर तत्काल उनके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीनन्दरायने सुदीर्घकालके बाद आये हुए अपने पुत्रको उठाया और उन्हें छातीसे लगाकर वे नेत्रोंके जलसे नहलाने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र भी करुणासे आकुल हो नेत्रोंसे अश्रुधारा बहाने लगे। तत्पश्चात् प्रेममें डूबे हुए श्रीदामा आदि मित्रोंको देखकर प्रेमपरिप्लुत श्रीकृष्णने उन सबको बारी-बारीसे अपने हृदयसे लगाया। अहो! इस भूतलपर कौन ऐसा मनुष्य है, जो भक्तोंके माहात्म्यका वर्णन कर सके? एक ओरसे नन्द आदि गोप रो रहे थे और दूसरी ओरसे श्रीकृष्ण आदि यादव। सब लोग विरहसे व्याकुल होनेके कारण परस्पर कुछ बोल नहीं पाते थे। श्रीकृष्णके मुखपर आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी। उन्होंने गद्गद वाणीसे प्रेमानन्दमें डूबे हुए समस्त गोपोंको आश्वासन दिया। उन सबने साक्षात् परिपूर्णतम जगदीश्वर श्रीकृष्णको वैसा ही देखा, जैसा वे मथुरा जाते समय दिखायी दिये थे ॥ २५—३१ ॥

नूतन जलधरके समान उनकी श्याम कान्ति थी। वे किशोर अवस्थाके बालक-से प्रतीत होते थे। उनके नेत्र शरत्कालके प्रभातमें खिले हुए कमलोंकी कान्तिको छीने लेते थे। उनका मुख अपनी छविसे शरत्पूर्णिमाके शोभा-सम्पन्न पूर्ण चन्द्रमण्डलकी छविको आच्छादित किये लेता था। करोड़ों कामदेवोंका लावण्य उनके लावण्यमें विलीन हो गया था। लीलाजनित आनन्दसे वे और भी सुन्दर प्रतीत होते थे। अधरोंपर मुस्कराहट और हाथोंमें मुरली लिये द्विभुज श्रीकृष्ण अत्यन्त मनोहर दिखायी देते थे। विद्युत्‌की-सी पीतकान्तिसे सुशोभित वस्त्र तथा मीनाकार कुण्डल धारण किये भगवान् श्रीहरिका सारा अङ्ग चन्दनसे अनुलिप्त तथा कौस्तुभमणिसे दीप्तिमान् था। घुटनोंतक लटकती हुई मालती-सुमनोंकी माला और वनमालासे वे विभूषित थे। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट तथा उत्तम रत्नोंका बना हुआ किरीट जगमगा रहा था। ओठ परिपक्व बिम्बाफलसे भी अधिक लाल थे तथा ऊँची नासिकासे उनका मुखमण्डल अद्भुत शोभा पा रहा था। राजेन्द्र! श्रीकृष्णके ऐसे रूपामृतका, आनन्दमें डूबे हुए व्रजवासी नेत्रोंसे पान कर रहे थे, मानो साधारण मानव वसुधापर सुलभ हुई सुधाका पान कर रहे हों * ॥ ३२—३७ ॥

राजन्! तत्पश्चात् प्रेमरसमें डूबे हुए नन्दरायजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अनिरुद्धको और साम्ब आदि समस्त यादवोंको शुभाशीर्वाद दिया। इसके बाद समस्त यादवों और पुत्र-पौत्रोंसे घिरे हुए महाबुद्धिमान् नन्दजी अपनी पुरीमें प्रविष्ट हुए। उस समय उनके मनका सम्पूर्ण दुःख दूर हो गया था। द्वारपर पहुँचते ही श्रीकृष्ण रथसे कूद पड़े और साम्ब आदिके साथ माताको आनन्द प्रदान करते हुए तुरंत उनके भवनमें जा पहुँचे। माता यशोदा घरके द्वारतक आ गयी थीं। वे रो रही थीं और उनका गला रुँध गया था। उस दशामें उन्हें देखकर श्रीकृष्ण फूट-फूटकर रोते हुए माताके चरणोंमें पड़ गये। माता यशोदाने अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्रको छातीसे लगाकर उन्हें गद्गद कण्ठसे आशीर्वाद दिया। नन्द, उपनन्द, छहों वृषभानु तथा वृषभानुवर—ये सब लोग श्रीकृष्णको देखनेके लिये आये। यादवोंसहित श्रीकृष्णने वहाँ पधारे हुए गोपोंसे विधिपूर्वक मिलकर उन सबका समादर किया। उन सबने प्रसन्नमुख होकर श्रीकृष्णकी

---

* नवीननीरदश्यामं किशोरवयसं शिशुम्।
शरत्प्रभातकमलकान्तिमोचनलोचनम् ॥
शरत्पूर्णेन्दुशोभाढ्यं शोभास्वाच्छादनाननम्।
कोटिमन्मथलावण्यं लीलानन्दितसुन्दरम् ॥
स्मितं मुरलीहस्तं द्विभुजं अतिसुन्दरम्।
तडिद्वस्त्रधरं देवं मत्स्यकुण्डलिनं हरिम् ॥
चन्दनोक्षितसर्वाङ्गं कौस्तुभेन विराजितम्।
आजानुमालतीमालावनमालाविभूषितम् ॥
मयूरपिच्छचूडं च सद्रत्नमुकुटोज्ज्वलम्।
पक्वबिम्बाधिकोष्ठं च नासिकोन्नतशोभनम् ॥
एवं कृष्णस्य राजेन्द्र रूपं नेत्रैर्व्रजौकसः।
पपुरानन्दसमग्नाः पीयूषं मानवा इव ॥
(अ० ४० । ३२—३७)

कुशल पूछी और भगवान् श्रीकृष्णने भी उन सबका उत्तम कुशल-समाचार पूछा ॥ ३८—४५ ॥

नृपेश्वर ! तत्पश्चात् वृन्दावनमें यमुनाके तटपर महात्मा अनिरुद्धकी सेनाके सारे शिविर लग गये । अनिरुद्ध, साम्ब और उद्धव आदिने तो शिविरोंमें ही निवास किया; किंतु भगवान् श्रीकृष्ण नन्दनगरमें ही ठहरे । राजन् ! श्रीकृष्ण-सहित नन्दरायजीने वहाँ पधारे हुए समस्त यादव-सैनिकोंको भोजन दिया और पशुओंके लिये भी चारे-दाने आदिका प्रबन्ध कर दिया ॥ ४६—४८ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'व्रजमण्डलमें प्रवेश' नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

इकतालीसवाँ अध्याय

श्रीराधा और श्रीकृष्णका मिलन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! संध्याके समय श्रीराधाने नन्दनन्दन श्रीकृष्णको बुलवाया । उनका आमन्त्रण पाकर नित्य एकान्तस्थलमें, जहाँ शीतल कदलीवन था, श्रीकृष्ण वहाँ गये । कदलीवनमें एक मेघ-महल बना था, जिसमें चन्दन-पङ्कका छिड़काव हुआ था । केलेके पत्तोंसे सज्जित होनेके कारण वह भवन बड़ा मनोहर लगता था । अपनी विशालतासे सुशोभित उस मेघभवनमें यमुनाजलका स्पर्श करके बहती हुई वायु पानीके फुहारे बिखेरती रहती थी । श्रीराधिकाका ऐसा सुन्दर सारा मेघमन्दिर उनके विरह-दुःखकी आगसे सदा भस्मीभूत हुआ-सा प्रतीत होता था । नरेश्वर ! गोलोकमें प्राप्त हुए श्रीदामाके शापसे वृषभानुनन्दिनीको श्रीकृष्णविरहका दुःख भोगना पड़ रहा था । उस दशामें भी वे वहाँ अपने शरीरकी रक्षा इसलिये कर रही थीं कि किसी-न-किसी दिन श्रीकृष्ण यहाँ आयेंगे ॥ १—४ ॥

सखीके मुखसे जब यह संवाद मिला कि श्रीकृष्ण अपने विपिनमें पधारे हैं, तब श्रीवृषभानुनन्दिनी उन्हें लानेके लिये अपने श्रेष्ठ आसनसे तत्काल उठकर खड़ी हो गयीं और सहेलियोंके साथ दरवाजेपर आयीं । व्रजेश्वरी श्यामाने व्रजवल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको उनका कुशल-समाचार पूछते हुए आसन दिया और क्रमशः पाद्य, अर्घ्य आदि उपचार अर्पित किये । नरेश्वर ! परिपूर्णतमा श्रीराधाने परिपूर्णतम श्रीकृष्णका दर्शन पाकर विरहजनित दुःखको त्याग दिया और संयोग पाकर वे हर्षोल्लाससे भर गयीं । उन्होंने वस्त्र, आभूषण और चन्दनसे अपना शृङ्गार किया । प्राणनाथ श्रीकृष्णके कुशस्थली चले जानेके बादसे श्रीराधाने कभी शृङ्गार धारण नहीं किया था । इस दिनसे पहले उन्होंने कभी पान नहीं खाया, मिष्टान्न भोजन नहीं किया, शय्यापर नहीं सोयीं और कभी हास-परिहास नहीं किया था । इस समय सिंहासनपर विराजमान मदनमोहनदेवसे श्रीराधाने हर्षके आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे पूछा ॥ ५—१० ॥

श्रीराधा बोलीं—हृषीकेश ! तुम तो साक्षात् गोकुलेश्वर हो; फिर गोकुल और मथुरा छोड़कर कुशस्थली क्यों चले गये ? इसका कारण मुझे बताओ । नाथ ! तुम्हारे वियोगसे मुझे एक-एक क्षण युगके समान जान पड़ता है । एक-एक घड़ी एक-एक मन्वन्तरके तुल्य प्रतीत होती है और एक दिन मेरे लिये दो परार्धके समान व्यतीत होता है । देव ! किस कुसमयमें मुझे दुःखदायी विरह प्राप्त हुआ, जिसके कारण मैं तुम्हारे सुखदायी चरणारविन्दोंका दर्शन नहीं कर पाती हूँ । जैसे सीता श्रीरामको और हंसिनी मानसरोवरको चाहती है, उसी तरह मैं तुम मानदाता रासेश्वरसे नित्यमिलनकी इच्छा रखती हूँ । तुम तो सर्वज्ञ हो, सब कुछ जानते हो । मैं तुमसे अपना दुःख क्या कहूँ ! नाथ ! सौ वर्ष बीत गये, किंतु मेरे वियोगका अन्त नहीं हुआ ॥ ११—१५ ॥

राजन् ! अपने परम प्रियतम स्वामी श्यामसुन्दरसे ऐसा वचन कहकर स्वामिनी श्रीराधा विरहावस्थाके दुःखोंको स्मरण करके अत्यन्त खिन्न हो फूट-फूटकर रोने लगीं । प्रियाको रोते देख प्रियतम श्रीकृष्णने अपने वचनोंद्वारा उनके मानसिक क्लेशको शान्त करते हुए यह प्रिय बात कही ॥ १६-१७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—प्रिये राधे ! यह शोक शरीरको सुखा देनेवाला है; अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये । हम दोनोंका तेज एक है, जो दो रूपोंमें प्रकट हुआ है; इस बातको ऋषि-महर्षि जानते हैं । जहाँ मैं हूँ, वहाँ सदा तुम हो और जहाँ तुम हो, वहाँ सदा मैं हूँ । हम दोनोंमें प्रकृति और पुरुषकी भाँति कभी वियोग नहीं होता । राधे ! जो नराधम हम दोनोंके बीचमें भेद देखते हैं, वे शरीरका अन्त



मय-बल्वलसंवाद [अध्याय ३२



भगवान् शिवका बल्वलको उपदेश [अध्याय ३९

होनेपर अपनी उस दोषदृष्टिके कारण नरकोंमें पड़ते हैं*। श्रीराधिके ! जैसे चकई प्रतिदिन प्रातःकाल अपने प्यारे चक्रवाकको देखती है, उसी तरह आजसे तुम भी मुझे सदा अपने निकट देखोगी। प्राणवल्लभे ! थोड़े ही दिनोंके बाद मैं समस्त गोप-गोपियोंके और तुम्हारे साथ अविनाशी ब्रह्मस्वरूप श्रीगोलोकधाममें चलूँगा ॥ १८-२२ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! माधवकी यह बात सुनकर गोपियोंसहित श्रीराधिकाने प्रसन्न हो प्यारे श्यामसुन्दरका उसी प्रकार पूजन किया, जैसे रमादेवी रमापतिकी पूजा करती हैं। नरेश्वर ! श्रीराधिकाने पुनः श्रीकृष्णसे रासक्रीडाके लिये प्रार्थना की। तब प्रसन्न हुए रासेश्वरने वृन्दावनमें रास करनेका विचार किया ॥ २३-२४ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'श्रीराधा-कृष्णका मिलन' नामक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ अध्याय

रासक्रीडाके प्रसङ्गमें श्रीवृन्दावन, यमुना-पुलिन, वंशीवट, निकुञ्जभवन आदिकी शोभाका वर्णन; गोपसुन्दरियों, श्यामसुन्दर तथा श्रीराधाकी छविका चिन्तन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! हेमन्त ऋतुके प्रथम मासमें पूर्णिमाकी रातको राधिकावल्लभ श्यामसुन्दरने वृन्दावनमें पहलेकी ही भाँति सबको वशमें कर लेनेवाली वंशी बजायी। वह वंशीध्वनि सबके मनको आकृष्ट करती हुई सब ओर फैल गयी। उसे सुनकर गोपसुन्दरियाँ प्रेमवेदनासे पीड़ित एवं त्रस्त हो गयीं। मेघोंकी गतिको रोकती, तुम्बुरुको बार-बार आश्चर्यमें डालती, सनक-सनन्दन आदिके ध्यानमें बाधा पहुँचाती, ब्रह्माजीको विस्मित करती, उत्कण्ठावलियोंसे राजा बलिको भी चपल बनाती, नागराज शेषमें चञ्चलता लाती तथा ब्रह्माण्डकटाहकी भित्तियोंका भेदन करती हुई वह वंशीध्वनि सब ओर फैल गयी† ॥ १-३ ॥

राजेन्द्र ! इतनेमें ही चराचर प्राणियोंके सूर्यकिरणजनित संतापका मार्जन करते हुए चन्द्रमाका उदय हुआ; जैसे परदेशसे आया हुआ प्रियतम अपनी प्रियाके विरह-शोकको दूर कर देता है। दूसरोंको मान देनेवाले नरेश ! उसी समय यमुनाने दिव्य रूप धारण किया। वृन्दावन, गिरिराज और व्रजभूमिका स्वरूप भी दिव्य हो गया। श्यामवर्णा यमुना-नदीका उत्कर्ष बहुत बढ़ गया। वहाँ मणियोंमें श्रेष्ठ रत्न, मोती, माणिक्य, शुभ्ररत्न (हीरा); हरितरत्न (पन्ना) आदिसे निर्मित करतोलिकाओंसे, जो वैदूर्य, नीलम, हरिन्मणि, इन्द्रनील, वज्रमणि और पीतमणियोंसे निर्मित सोपानों एवं रत्नमण्डपोंसे युक्त थीं, यमुनाजीकी अतिशय शोभा हो रही थी। यमुना-नदी वहाँ श्रीकृष्णसदनमें लौटती हुई सब नदियोंसे उत्कृष्ट शोभा पा रही थीं। स्वच्छन्द उछलते हुए मत्स्यगणोंके साथ बहती तथा सुन्दर श्याम अङ्गसे पापराशिका हरण करती हुई वे अपनी ऊँची-ऊँची चञ्चल लहरों तथा प्रफुल्ल कमलोंसे सुशोभित थीं ॥ ४-७ ॥

उस गोवर्धनगिरिका भजन-सेवन करो, जो शत-शत चन्द्रमाओंके प्रकाशसे युक्त है, मन्दार और चन्दन लताओंसे वेष्टित कल्पवृक्ष जहाँ अद्भुत शोभा पाते हैं, जहाँ रासमण्डल तथा मणिमय मण्डप विद्यमान हैं तथा जिसके शिखरपर करोड़ों मञ्जुल निकुञ्ज कुटीर दीप्तिमान् हैं। यमुनाजीके तटप्रदेश, नीरराशि तथा तीरके सम्पर्कमें आकर मन्दगतिसे प्रवाहित होनेवाली अत्यन्त सुगन्धित वायुसे कम्पित वृन्दावनका सारा भाग सुवासित है तथा श्रीखण्ड, कुङ्कुमयुक्त मृत्तिका एवं अगुरुसे चर्चित होकर वह वन परम कल्याणमय जान पड़ता है। वसन्त ऋतुमें सुलभ नूतन पल्लवों और फूलोंके रंगोंसे सेवित वृन्दावन मन्दार, चन्दन, चम्पा, कदम्ब,

* तेजश्चैकं द्विधाभूतमावयोर्ऋषयो विदुः ॥
यत्राहं त्वं सदा तत्र यत्र त्वं ह्यहमेव च । वियोग आवयोर्नास्ति मायापुरुषयोर्यथा ॥
भेदं हि चावयोर्मध्ये ये पश्यन्ति नराधमाः । देहान्ते नरकान् राधे ते प्रयान्ति स्वदोषतः ॥
(अध्याय ४१ । १८—२०)

† कम्पन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम् ।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन् भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥
(अध्याय ४२ । ३)

निम्ब, अमरूद, आम, कटहल, अगुरु, नारंगी, श्रीफल, ताड़, पीपल, बरगद और नवल नारियलसे सुशोभित है। खजूर, श्रीफल (बेल) और लवङ्ग-लताएँ उस वनकी शोभा बढ़ाती थीं। अंजीर, साल, तमाल, कदम्ब, सन्तान (कल्पवृक्ष), कुन्द, बेर, केला और मोतियोंसे वह सम्पन्न था। सेमल, मौलसिरी, केतकी और शिरीष आदि वृक्ष उसके वैभव थे ॥ ८–११ ॥

नृपेन्द्र ! सत्पुरुषोंके मनको मोद प्रदान करनेवाली लता-वल्लरी और कमलोंके समूहसे जिसकी आभा मनोहारिणी प्रतीत होती है, वह तुलसी-लतासे सम्पन्न श्रेष्ठ वृन्दावन श्रीमल्लिका, अमृतलता और मधुमयी माधवी-लताओंसे सुशोभित है। व्रजमण्डलके मध्यभागमें तुम ऐसे वृन्दावनका चिन्तन करो। यमुनाके तटपर मधुर कण्ठवाले विहङ्गमोंसे युक्त वंशीवट शोभा पाता है। उसका पुलिन वालुकाओंसे सम्पन्न है। श्रीपाटल, महुआ, पलाश, प्रियाल, गूलर, सुपारी, दाख और कपित्थ (कैथ) आदि वृक्ष यमुनातटकी शोभा बढ़ाते हैं। कोविदार (कचनार), पिचुमन्द (नीम), लता-जाल, अर्जुन (सरल), देवदारु, जामुन, सुन्दर बेंत, नरकुल, कुब्जक, स्वर्णयूथी, पुन्नाग, नागकेसर, कुटज और कुरबकसे भी वह आवृत है। चक्रवाक, सारस, तोते, श्वेत राजहंस, कारण्डव और जलकुक्कुट यमुनातटपर सदा कल-कूजन किया करते हैं। दात्यूह (पपीहा), कोयल, कबूतर, नीलकण्ठ और नाचते हुए मोरोंके कलरवसे मुखरित यमुना-पुलिनका तुम सदा स्मरण करो ॥ १२–१६ ॥

श्यामा, चकोर, खञ्जरीट, सारिका (मैना), पारावत (परेवा) ; भ्रमर, तीतर, तीतरी, कनकलता, मधुलता, मधुयुक्त जूही—इन सबसे जो आवेष्टित है, हरिण, मर्कट और मर्कटियाँ जहाँ सदा विचरती रहती हैं और पद्मरागमणिके शिखर जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, वह वृन्दावनका निकुञ्ज-भवन, श्रीकौस्तुभमणि और इन्द्रनील मणियोंसे अलंकृत है। वहाँ कोटि-कोटि चन्द्रमण्डलकी शोभासे युक्त सुनहरे चँदोवे लगे हैं, जो रेशमके सूतसे निर्मित हुए हैं। उस निकुञ्ज-भवनका द्वार मणिमय बन्दनवारोंसे विलसित है। मोतियोंकी झालरोंसे युक्त सुवर्णके समान पीली पताकाएँ वहाँ फहराती रहती हैं। कबूतर और हंस आदि पक्षी उसे घेरे रहते हैं। मन्दार, कुन्द, कनेर, जूही और नूतन चम्पाके फूलोंकी विचित्र मालाओंसे उस निकुञ्ज-भवनकी सुन्दर सजावट की गयी है। नागकेसर, कमल और हरिचन्दनके पल्लवोंकी मालाओंसे तथा श्रीमालती, कुरबक तथा काञ्चनयूथिकाके फूलोंके हारोंसे आवृत वह निकुञ्ज-भवन कामदेवके मनको भी मोह लेनेवाला है। वहाँ दीवारोंपर सुन्दर रत्नमय दर्पण लगे हैं और श्वेत चामर उस भवनकी शोभा बढ़ाते हैं। नूतन पल्लवों और पुष्पोंसे अलंकृत सिंहासनों, शय्यासनोंमें सुवर्ण और मूँगेके पाये लगे हैं, जिनसे उस भवनकी अनुपम शोभा होती है। श्रीचन्दन और अगुरुके जल, सुगन्धित पुष्पोंकी मकरन्दराशि तथा कस्तूरीके सौरभसे आमोदित केसरपङ्कसे उस भवनमें सब ओर छिड़काव किया गया है। हिलते हुए वसन्त-वृक्षोंके पल्लवोंसे जिनका अनुमान होता है, ऐसे शीतल तथा गजराजकी-सी गतिवाले मन्द-मन्द समीरणसे उस भवनका सर्वाङ्ग सुगन्धसे भीना हुआ था। वहाँके वृक्षोंकी शाखाएँ अत्यन्त नम्र—झुकी हुई थीं तथा अधिकाधिक पुष्पसमूहोंसे वह अलंकृत था। श्रीहरिके ऐसे निकुञ्ज-भवनका तुम चिन्तन करो ॥ १७–२२ ॥

नरेश्वर ! श्रीहरिके वेणुवादनसे निकला हुआ गीत अत्यन्त प्रेमोन्मादकी वृद्धि करनेवाला था। उसे सुनकर समस्त व्रजसुन्दरियोंका मन प्रियतम श्रीकृष्णके वशमें हो गया। वे घरका सारा काम-काज छोड़कर व्रजमें चली आयीं। राजन् ! जिन्हें पतियोंने रोक लिया, वे भी प्रियतम श्रीकृष्णके द्वारा हृदय हर लिये जानेके कारण स्थूल शरीर छोड़कर तत्काल श्रीकृष्णके पास चली गयीं। जिसपर सुनहरा दुकूल बिछा हुआ था, उस सिंहासनपर, उसके मध्य-भागमें श्याम-सुन्दर नन्दनन्दन श्रीसुन्दरी राधिकाके साथ बैठे थे। उनके गलेमें मकरन्दपूरित मालतीकी माला शोभा पा रही थी। उनकी अङ्गकान्ति श्याम थी। वे प्रातःकालके सूर्यके समान दीप्तिमान् किरीटसे सुशोभित थे। उनकी प्रभा चारों ओर फैल रही थी। अधरसे लगी हुई श्रीमुरलीके कारण उन श्रीहरिकी मनोहरता और भी बढ़ गयी थी। वहाँ आयी हुई व्रजसुन्दरियोंने कोटि-कोटि कामदेवके समूहोंको मोहित करनेवाले पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरको देखा ॥ २३–२६ ॥

राजन् ! मीनाकार कुण्डलधारी प्रिया-प्रियतम श्रीहरिको देखकर गोपियाँ तत्काल मूर्च्छित हो गयीं। उनके अङ्गोंमें किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं दिखायी देती थी। तब श्रीकृष्णने अमृतके समान मधुर वचनोंद्वारा उन सबको सान्त्वना दी—धीरज बँधाया। तब समस्त गोपसुन्दरियाँ उस वनप्रान्तमें चेतनाको प्राप्त हुईं। गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णकी स्तुति करके डरी हुई-सी उन गोपसुन्दरियोंने विरहजनित दुःखका

परित्याग कर प्राणवल्लभ गोविन्दकी ओर बड़े प्यारसे देखा। मालतीवनसे व्याप्त दिव्य वृक्षों एवं दिव्य लताओंके जालसे मण्डित तथा भ्रमरोंकी गुञ्जारोंसे मुखरित शोभाशाली वृन्दावनमें साक्षात् मदनमोहनदेव श्रीहरि गोपाङ्गनाओंके साथ विचरने लगे। अपने हस्तकमलसे श्रीराधिकाके करकमलको पकड़कर हँसते हुए साक्षात् भगवान् नन्दनन्दन यमुनाजीके तटपर आये। यमुनाके किनारे शोभायमान निकुञ्ज-भवनमें श्रीकृष्ण विराजमान हुए। राजन्! मधुपतिके उस भवनमें श्रीकृष्ण-चन्द्रके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें संलग्न हुई गोपाङ्गनाओंके पैरोंमें झनकारते हुए नूपुरोंकी ध्वनिके साथ खनखनाते हुए हाथके कंगनों, पाँवके मञ्जीरों और कटिप्रदेशकी रत्ननिर्मित चञ्चल किंकिणियोंके मधुर रवको तुम मनके कानोंसे सुनो॥ २७—३३॥

मन्द-मन्द मुसकानकी कान्तिसे उन गोपसुन्दरियोंके कोमल कपोल-प्रान्त सुस्पष्ट चमकते या चमत्कारपूर्ण शोभा धारण करते थे। शोभामयी दन्तपङ्क्तिसे विद्युद्विलास-सा प्रकट करनेवाली उन सखियोंके वेष बड़े मनोहर थे। कोटीर रत्नके हार और हरितमणिके बाजूबंदसे विभूषित तथा सूर्यमण्डलके समान दीप्तिमान् कुण्डलोंसे मण्डित हुई उन गोपसुन्दरियोंमें कोई-कोई युवती 'मुग्धा' बतायी गयी है। कोई तरुणी 'मध्या' और कोई सुन्दरी 'प्रगल्भा' नायिका थी। कोई तरुणी 'तरुं नयति—इति तरुणी।'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार तरुको भी विनयकी शिक्षा देती थी। कोई सखी उस सुन्दर वनमें अपने मधुर हासकी छटा बिखेरती थी और कोई मदमत्त होकर चलती थी। कोई उसे भी हाथसे ठोंककर आगे दौड़ जाती थी और कोई उसको भी पकड़कर उस निकुञ्ज-भवनमें कमलके फूलोंसे पीटती थी। कोई किसीके ढीले या टूटते हुए सुवर्णहारको हँसी-हँसीमें खींच लेती और कोई उस वन-विहारमें इस तरह मतवाली होकर दौड़ती कि उसके बँधे हुए केशपाश खुल जाते थे। उस निकुञ्ज-भवनमें श्रीजाह्नवी (गङ्गा), मधुमाधवी, शीला, रमा, शशिमुखी, विरजा, सुशीला, चन्द्रानना, ललिता, अचला, विशाखा और माया आदि असंख्य गोपियाँ थीं। मैंने यहाँ थोड़ी-सी गोपाङ्गनाओंके ही नाम बताये हैं। वहाँकी मणिमयी भूमियोंपर कोई लीलाछत्र लेकर और कोई अतिमौक्तिक लता (मोगरा आदि) के फूलोंकी मालाएँ लेकर चलती थी। कितनी ही सखियाँ चामर, व्यजन, दण्ड और फहराती हुई पीली पताकाएँ लिये चल रही थीं। कुछ गोपाङ्गनाएँ वहाँ श्रीहरि (नटवर नन्दकिशोर) का वेष धारण करके नाचती थीं। कोई हाथमें वीणा लेकर बजाती, कोई हाथसे ताल देती और कोई मृदङ्गवादनकी कला दिखाती थी। कितनी ही सखियाँ वृषभानुनन्दिनीका-सा वेष धारण किये, केयूर और कुण्डलोंसे अलंकृत हो वंशी लेकर बजातीं और कई मणि-मण्डित बेंतकी छड़ी हाथमें लेकर चलती थीं। सुन्दर हाव-भाव, रस और तालसे युक्त मन्द मुसकानके रससे सिक्त तथा झंकारते हुए नूपुरोंके शब्दसे युक्त विशद कटाक्षों, भौंहोंके कुटिल विलासों एवं संगीत-नृत्यकलाके ज्ञानोंद्वारा गोपाङ्गनाएँ वहाँ श्रीराधा तथा माधवको सतत संतुष्ट कर रही थीं। यमुनाके तटपर उस निकुञ्ज-भवनमें वंशीवटके पासकी वनभूमिके निकट नटवरवेषधारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण श्रीराधाके साथ गिरिराजकी घाटीमें विचर रहे हैं। इस झाँकीमें तुम उनका चिन्तन करो॥ ३४—४१॥

श्रीपद्मरागमणिके समान अरुण आभावाले चमकीले नखोंसे जिनके चरणारविन्द उद्दीप्त जान पड़ते हैं, जो अपने पैरोंमें झंकारते हुए नूपुर धारण किये हुए हैं, जिनके सम्पूर्ण अङ्गदेशसे दिव्य दीप्ति झर रही है, जो विचरणकालमें अपने लाल-लाल पादतलोंसे भूप्रदेशको अरुण रंगसे रञ्जित कर रहे हैं, शोभाशाली चरणपरागकी सुन्दर कान्ति बिखेरते हुए इधर-उधर टहल रहे हैं, जिनका युगल जानुदेश लक्ष्मीजीके करकमलोंद्वारा सब ओरसे लालित होता—दुलारा जाता है, जिनके रम्भाके समान जाँघोंपर पीताम्बर शोभा पाता है, जिनका उदरभाग अत्यन्त कृश है, नाभिसरोवर रोमावलिरूपी भ्रमरोंसे सुशोभित है, जो उदरमें त्रिवेणीमयी तीन रेखा धारण करते हैं, जिनका वक्षःस्थल भृगुके चरणचिह्न तथा कौस्तुभमणिसे अलंकृत है, श्रीवत्सचिह्न एवं हारोंसे अत्यन्त रुचिर दिखायी देता है, जिनके श्रीअङ्गों-की कान्ति नूतन मेघमालाके समान नील है, जो रेशमी पीताम्बर धारण करते हैं, जिनके विशाल भुजदण्ड हाथीकी सूँड़के समान प्रतीत होते हैं, जो रत्नमय बाजूबंद और मणिमय कंगन धारण करते हैं, जिनके एक हाथमें दिव्य कमल है तथा दूसरे हाथमें दिव्य शङ्ख कमलपर विराजित राजहंसके समान शोभा पाता है, जो शङ्खाकार ग्रीवासे सुन्दर दिखायी देते हैं, जिनके कपोलोंका मध्यभाग अत्यन्त शोभाशाली है, चिबुक (ठोढ़ी) का भाग गहरा है और दाँत कुन्दके समान चमकीले हैं, पके हुए बिम्बफलको अपनी अरुणिमासे लज्जित करनेवाले अधर मन्द मुसकानकी छटासे छविमान् हैं,

नासिका तोतेकी चोंचके समान नुकीली है और जिनके वचनोंसे मानो अमृत झरता रहता है, कटाक्ष अत्यन्त चञ्चल हैं, नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान मनोहर हैं, जिनकी प्रत्येक लीला उनके प्रति प्रेमकी वृद्धि करनेवाली है और भ्रूमण्डल मानो मन्द-मुसकानरूपी प्रत्यञ्चासे युक्त कामदेवके धनुष हैं, जिनके मस्तकपर धारित रत्नमय किरीट विद्युत्की छटाको विलज्जित कर रहा है तथा जो मार्तण्डमण्डलके समान कान्तिमान् कुण्डलोंसे मण्डित हैं, जिनके अधरपर वंशी विराजमान है, काली-काली घुँघराली अलकें चञ्चल भुजङ्गके समान जान पड़ती हैं, जिनका मुख सजल पद्मपत्रके समान स्वेद बिन्दुओंसे विलसित है, जो करोड़ों कामदेवोंके घनीभूत सौन्दर्याभिमानको हर लेनेवाले हैं, जिनका श्रीविग्रह पतला है तथा जो वृन्दावनमें वंशीवटके समीप विचर रहे हैं, उन राधावल्लभ नटवर नन्दकिशोरका तुम सब प्रकारसे भजन-सेवन करो* ॥ ४२—४७ ॥

जिनके लाल-लाल नखचन्द्रोंसे युक्त चरणारविन्दकी शोभा कुछ-कुछ लाल दिखायी देती है, मञ्जीर और नूपुरोंकी झङ्कारके साथ जिनके कटिप्रदेशकी किंकिणी खनकती रहती है, घुँघुरू और सोनेके कंगनोंके मधुर शब्दसे शोभित होनेवाली तथा तरुपुञ्जोंके निकुञ्जमें विराजमान उन श्रीराधारानीका मैं ध्यान करता हूँ। श्रीराधाके शरीरपर नीले रंगके वस्त्र शोभा पाते हैं, जो सुनहरे किनारोंके कारण सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे हैं। यमुनातटपर प्रवाहित होनेवाली वायुकी गतिसे वे वस्त्र चञ्चल हो गये हैं—उड़ रहे हैं और अत्यन्त सूक्ष्म (महीन) होनेके कारण बहुत ही ललित (सुन्दर) दीख पड़ते हैं। ऐसे वस्त्रोंसे सुशोभित, अतिशय गौरवर्णा एवं मनोहर मन्द हासवाली रासेश्वरी श्रीराधाका भजन करो। जिनके बहुमूल्य मणिमय अङ्गद तथा रत्नमय हार प्रातःकालके सूर्यमण्डलकी भाँति दीप्तिमान् हैं, जो कानोंके ताटङ्क (बाली) और कण्ठमें सुशोभित मणिराज कौस्तुभके कारण अत्यन्त मनोहर छवि धारण करती हैं, जिनके गलेमें रत्नमयी कण्ठमाला तथा फूलोंके चौदह लड़ोंके हार शोभा पाते हैं तथा जो रत्ननिर्मित मुद्रिकासे ललित (अत्यन्त आकर्षक) प्रतीत होती हैं, उन व्रजराज नन्दनन्दनकी पत्नी श्रीराधाका स्मरण करो। जिनके मस्तकपर चूड़ामणिकी कान्तिसे लसित अर्धचन्द्राकार भूषण जगमगा रहा है, कण्ठगत आभूषणों और मुखमण्डलमें की गयी पत्ररचनासे जिनका रूप-सौन्दर्य विचित्र (अद्भुत) जान पड़ता है, जो श्रीपट्टसूत्र और मणिमय पट्टसूत्रोंद्वारा निर्मित दो लड़ोंकी चञ्चल माला धारण करती हैं तथा जिन्होंने अपने एक हाथमें प्रकाशमान सहस्रदल कमलको धारण कर रखा है, उन श्रीराधाका भजन करो। श्रीयुक्त भुजाओंके मणिमय कंगनोंसे कुचमण्डलमें विलसित रत्नमय हारकी दीप्ति द्विगुणित हो उठती है, सुन्दर नासिकाके नकबेसर आदि आभूषण सलूने कपोलमण्डलको उद्भासित करते हैं। उत्तम यौवनावस्थाके अनुरूप उनकी मन्द-मन्द गति है। सिरपर बँधी हुई सुन्दर वेणी नागिनके समान शोभा पाती है। खिली हुई चम्पाके फूलोंकी-सी अङ्गोंकी पीत-गौर आभा है तथा मुखकी शोभा संध्याकालमें उदित करोड़ों चन्द्रमाओंकी कान्तिको तिरस्कृत करती है, ऐसी श्रीराधाका भजन करो। जो सुन्दर हावभावसे सुशोभित, नव विकसित नीलकमलके समान नेत्रवाली, मन्द मुसकानकी कान्तिमती कलाको प्रकाशित करनेवाली तथा चञ्चल कटाक्षोंके कारण कमनीय हैं, जिनकी कुन्तलराशिकी

* श्रीपद्मरागनखदीप्तिपदारविन्दं
झङ्कारनूपुरवरं स्फुरदङ्गदेशम् ।
कुर्वन्तमेव तु पदारुणभूमिदेशं
श्रीमत्परागसुरुचाक्रमितस्तलस्तु ॥
लक्ष्मीकराब्जपरिलालितजानुदेशं
रम्भोरुपीतवसनं तु कृशोदराभम् ।
रोमावलिभ्रमरनाभिसरस्त्रिरेखं
काञ्चीवरं भृगुपदं मणिकौस्तुभाढ्यम् ॥
श्रीवत्सहाररुचिरं नवमेघनीलं
पीताम्बरं करिकरस्फुटबाहुदण्डम् ।
रत्नाङ्गदं च मणिकङ्कणपद्महस्तं
श्रीराजहंसवरकन्धरशोभमानम् ॥
श्रीकम्बुकण्ठकलितं विलसत्कपोलं
मध्यं तु निम्नचिबुकं किल कुन्ददन्तम् ।
बिम्बाधरं स्मितलसच्छुकचञ्चुनासं
पीयूषकल्पवचनं प्रचलत्कटाक्षम् ॥
श्रीपुण्डरीकदलनेत्रमनङ्गलीलं
भ्रूमण्डलस्मितगुणावृतकामचापम् ।
विद्युच्छटोच्छलितरत्नकिरीटकोटिं
मार्तण्डमण्डलविकुण्डलमण्डिताभम् ॥
वंशीधरं त्वहिविलोलगुडालकाढ्यं
राधापतिं सजलपद्ममुखं चलन्तम् ।
कंदर्पकोटिघनमानहरं कृशाङ्गं
वंशीवटे नटवरं भज सर्वथा त्वम् ॥
(अध्याय ४२ । ४२—४७)

श्याम आभा बड़ी मनोहर है तथा जो पारिजातके हारोंके मधुर मकरन्दपर लुभायी हुई भ्रमरीके गुञ्जारवसे सुशोभित हैं, उन श्रीकृष्णवल्लभा राधाका चिन्तन करो। श्रीखण्ड-चन्दन, केसरपङ्क तथा अगुरुमिश्रित जलसे जिनका अभिषेक हुआ है, भालदेशमें जो कुङ्कुमकी वेणी धारण करती हैं तथा जिनके मुखमण्डलमें रुचिर पत्ररचनाके रूपमें विचित्र चित्र चित्रित किया गया है, कल्पवृक्षके पत्रोंके समान जिनकी रुचिर गौर कान्ति है तथा जो नेत्रोंमें पूर्णरूपसे अञ्जनकी शोभा धारण करती हैं, उन गजगामिनी, पद्मिनी नायिका रासेश्वरी श्रीराधाका भजन करो*॥ ४८—५४॥

ऐसी रतिसे भी अधिक सुन्दर श्रीराधाको साथ लेकर श्रीकृष्ण निकुञ्जवनकी शोभा देखनेके लिये जब जा रहे थे, तब वहाँ गोपाङ्गनाएँ मणिमय छत्र धारण किये, मनोहर चँवर लिये तथा फहराती हुई पताकाएँ ग्रहण किये उनके साथ-साथ दौड़ने लगीं। आदिपुरुष नन्दनन्दन उत्तम धैवत और मध्यम आदि स्वरोंसे छः राग तथा उनका अनुगमन करनेवाली छत्तीसों रागिनियोंका ललित वंशीरवके द्वारा गान करते हुए चल रहे थे, ऐसे श्रीकृष्णका ध्यान करो। जो शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसोंसे नित्य युक्त हैं, व्रजवधुओंके मुखारविन्दके भ्रमर हैं और जिनके युगल चरण योगीश्वरोंके हृदयकमलमें सदा प्रकाशित होते हैं, उन भक्तप्रिय भगवान्‌का भजन करो। जो समस्त क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे निवास करते हैं, आदिपुरुष हैं, अधियज्ञस्वरूप हैं, समस्त कारणोंके भी कारणेश्वर हैं, प्रकृति और पुरुषमेंसे पुरुषरूप हैं तथा जिन्होंने अपने तेजसे यहाँ समस्त छल-कपट—काम-कैतवको निरस्त कर दिया है, उन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण हरिका भजन करो। शिव, धर्म, इन्द्र, शेष, ब्रह्मा, सिद्धिदाता गणेश तथा अन्य देवता आदि भी जिनकी ही स्तुति करते हैं; श्रीराधा, लक्ष्मी, दुर्गा, भूदेवी, विरजा, सरस्वती आदि तथा सम्पूर्ण वेद सदा जिनका भजन करते हैं, उन श्रीहरिका मैं भजन करता हूँ॥ ५५—५९॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'रासक्रीडा-विषयक' बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४२॥

तैंतालीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका श्रीराधा और गोपियोंके साथ विहार तथा मानवती गोपियोंके अभिमानपूर्ण वचन सुनकर श्रीराधाके साथ उनका अन्तर्धान होना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! वृक्षों, लताओं और भ्रमरोंसे व्याप्त तथा शीतल-मन्द पवनसे वीजित वृन्दावनमें मुरलीके छिद्रोंको मुखोद्गत समीरसे भरते—वेणु बजाते हुए नन्दनन्दन श्रीहरि बारंबार देवताओंका मन मोहने लगे।

---

* आरक्तरक्तनखचन्द्रपदाब्जशोभां मञ्जीरनूपुररणत्कटिकिङ्किणीकाम्।
श्रीघण्टिकाकनककङ्कणशब्दयुक्तां राधां दधामि तरुपुञ्जनिकुञ्जमध्ये॥
नीलाम्बरैः कनकरश्मितटस्फुरद्भिः श्रीभानुजातटमरुद्गतिचञ्चलाङ्गैः।
सूक्ष्मस्वरूपललितैरतिगौरवर्णां रासेश्वरीं भज मनोहरमन्दहासाम्॥
बालार्कमण्डलमहाङ्गदरत्नहारां ताटङ्कतोरणमणीन्द्रमनोहराभाम्।
श्रीकण्ठभालसुमनोनवचम्पदाम्नीं रत्नाङ्गुलीयललितां व्रजराजपत्नीम्॥
चूडामणिद्युतिलसत्स्फुरदर्धचन्द्रं ग्रैवेयकाल्पनपत्रविचित्ररूपाम्।
श्रीपट्टसूत्रमणिपट्टचलद्द्विदाम्नीं स्फूर्जत्सहस्रदलपद्मवरां भजस्व॥
श्रीबाहुकङ्कणलसत्कुचरत्नदीप्तिं श्रीनासिकाभरणभूषितगण्डदेशाम्।
सद्यौवनालसगतिं कलसर्पवेणीं संध्येन्दुकोटिवदनां स्फुटचम्पकाभाम्॥
सद्भावभावसहितां नवपद्मनेत्रां स्फूर्जत्स्मितद्युतिकलां प्रचलत्कटाक्षाम्।
कृष्णप्रियां ललितकुन्तलपुन्तलाभां मन्दारहारमधुरभ्रमरीरवाढ्याम्॥
श्रीखण्डकुङ्कुममृदागुरुवारिसिक्तां श्रीबिन्दुकीरुचिरपत्रविचित्रचित्राम्।
संतानपत्ररुचिरामलमञ्जनाभां रासेश्वरीं गजगतिं भज पद्मिनीं ताम्॥ (अध्याय ४२। ४८—५४)

तदनन्तर वेणुगीत सुनकर प्रेमविह्वला कीर्तिनन्दिनी श्रीराधाने प्रियतम नन्दनन्दनको दोनों बाँहोंमें भर लिया। गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णने गोकुलकी चकोरी राधाको प्रेमपूर्वक निहारते हुए फूलोंकी सेजपर उनके मनको लुभाते हुए उनके साथ आनन्दमयी दिव्य क्रीडा की। श्रीकृष्णके साथ विहारका सुख पाकर स्वामिनी श्रीराधा ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो गयीं। उन्होंने स्वामीको वशमें कर लिया और वे परमानन्दका अनुभव करने लगीं ॥ १—४ ॥

राजन्! प्रेमानन्द प्रदान करनेवाले रमणीय रमावल्लभ श्रीहरिको गोपरामाओंने रासमण्डलमें सब ओरसे पकड़ लिया। उनमें सौ यूथोंकी युवतियाँ विद्यमान थीं। नरेश्वर! रमणीय नन्दनन्दन श्रीहरिने रासमण्डलमें जितनी व्रजसुन्दरियाँ थीं, उतने ही रूप धारण करके उनके साथ विहार किया। जैसे संत पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार करके परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार वे वृन्दावनविहारिणी समस्त गोपसुन्दरियाँ बाँकेविहारीके साथ विहारका सुख पाकर ब्रह्मानन्दमें डूब गयीं। श्रीवल्लभ श्यामसुन्दरने अपने शोभाशाली युगकर-कमलोंद्वारा उन सम्पूर्ण व्रजवनिताओंको अपने हृदयसे लगाया; क्योंकि उन्होंने अपनी भक्तिसे भगवान्‌को वशमें कर लिया था। उन गोपसुन्दरियोंके मुखोंपर पसीनेकी बूँदें छा रही थीं। व्रजवल्लभ श्रीकृष्णने बड़े प्यारसे अपने पीताम्बरद्वारा उन पसीनोंको पोंछा। उन गोपाङ्गनाओंकी तपस्याके फलका मैं क्या वर्णन कर सकता हूँ? उन्होंने सांख्य, योग, तप, उपदेश-श्रवण, तीर्थसेवन तथा गान आदिके बिना ही केवल प्रेममूलक कामनासे श्रीहरिको प्राप्त कर लिया ॥ ५—१० ॥

तदनन्तर समस्त गोपियाँ अभिमानमें आकर परस्पर ओछी बातें करने लगीं; क्योंकि वे श्रीकृष्णके विहार-सुखसे पूर्णतः परितृप्त थीं। सखियो! वे कहने लगीं—'पहले श्रीकृष्ण हमलोगोंको छोड़कर मथुरापुरी चले गये थे, जानती हो क्यों? क्योंकि वे स्वयं परम सुन्दर हैं; अतः नगरमें परम-सुन्दरी रूपवती स्त्रियोंको देखने गये थे। परंतु वहाँ जानेपर भी उन्हें मनके अनुरूप सुन्दरियाँ नहीं दिखायी दीं। तब वे फिर वहाँसे द्वारका चले गये। जब वहाँ भी सुन्दरियाँ नहीं दृष्टिगोचर हुईं, तब उन्होंने एक सुन्दरी राजकुमारीके साथ विवाह किया। वह थी—भीष्मकराजनन्दिनी रुक्मिणी! किंतु उसे भी रूपवती न मानकर इन्होंने पुनः बहुतसे विवाह किये। सोलह हजार स्त्रियाँ घरमें ला बिठायीं। किंतु सखियो! उन सबको भी मनके अनुकूल रूपवती न पाकर बारंबार शोक करते हुए श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण पुनः हमें देखनेके लिये व्रजमें आये हैं। अरी वीर! सर्वद्रष्टा परमेश्वर हमारे रूप देखकर उसी तरह प्रसन्न हुए हैं, जैसे पहले रासमें हुआ करते थे। इसलिये हमलोग त्रिभुवनकी समस्त सुन्दरियोंमें श्रेष्ठ, सुलोचना, चन्द्रमुखी तथा नित्य सुस्थिरयौवना मानी गयी हैं। हमारे समान रूपवती स्वर्गलोककी देवाङ्गनाएँ भी नहीं हैं; क्योंकि हमने अपने कटाक्षोंद्वारा श्रीकृष्णको शीघ्र ही वशमें कर लिया और कामुक बना दिया। अहो! जिस हंसने पहले मोती चुग लिये हैं, वही दुःखपूर्वक दूसरी वस्तु कैसे खायगा? हर जगह मोती नहीं सुलभ होते। वे तो केवल मानसरोवरमें ही मिलते हैं; उसी प्रकार भूतलपर सर्वत्र सुन्दरी स्त्रियाँ नहीं होतीं। यदि कहीं हैं तो इस व्रजमें ही हैं ॥ ११—२० ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! जगदीश्वर श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। वे उन मानवती गोपसुन्दरियोंका ऐसा कथन सुनकर श्रीराधाके साथ वहीं अन्तर्धान हो गये। नरेश्वर! निर्धन मनुष्य भी धन पाकर अभिमानसे फूल उठता है; फिर जिसको साक्षात् नारायण प्राप्त हो गये, उसके लिये क्या कहना है ॥ २१-२२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'रासक्रीडाविषयक' तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चौवालीसवाँ अध्याय

गोपियोंका श्रीकृष्णको खोजते हुए वंशीवटके निकट आना और श्रीकृष्णका मानवती राधाको त्यागकर अन्तर्धान होना

वज्रनाभ बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे श्रीकृष्णका अद्भुत चरित्र सुना। भगवान्‌के अदृश्य हो जानेपर गोपियोंने क्या किया? उन्होंने गोपाङ्गनाओंको कैसे दर्शन दिया? मुनिश्रेष्ठ! मुझ श्रद्धालु भक्तको वह सारा प्रसङ्ग सुनाइये।

संसारमें वे लोग धन्य हैं, जो सदा अपने कानोंसे श्रीकृष्णकी कथा सुनते हैं, मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रके नाम जपते हैं, हाथोंसे प्रतिदिन श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं, नित्यप्रति उनका ध्यान और दर्शन करते हैं तथा प्रतिदिन उन भगवान्‌का चरणोदक पीते और प्रसाद खाते हैं। मुनिप्रवर! इस भावसे श्रम करके जो लोग जगदीश्वर श्रीकृष्णका भजन करते हैं, वे उनके परमधाममें जाते हैं। मुने! जो शारीरिक सौख्यसे उन्मत्त होकर संसारमें नाना प्रकारके भोग भोगते हैं और श्रवण-मनन आदि साधन नहीं करते, वे शरीरका अन्त होनेपर भयंकर यमदूतोंद्वारा पकड़े जाते हैं और जबतक सूर्य तथा चन्द्रमाकी स्थिति है, तबतकके लिये कालसूत्र नरकमें डाल दिये जाते हैं *॥ १–७॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार प्रश्न करनेवाले राजा वज्रनाभकी प्रशंसा करके मुनीश्वर गर्गजी गद्गदवाणीसे उन्हें श्रीहरिका चरित्र सुनाने लगे॥ ८॥

श्रीगर्गजी बोले—राजन्! श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर समस्त गोपाङ्गनाएँ उन्हें न देखकर उसी तरह संतप्त हो उठीं, जैसे हरिणियाँ यूथपति हरिणको न पाकर दुःखमग्न हो जाती हैं। 'भगवान् श्रीहरि अन्तर्धान हो गये'—यह जानकर समस्त गोपसुन्दरियाँ पूर्ववत् यूथ बनाकर चारों ओर वन-वनमें उनकी खोज करने लगीं। परस्पर मिलकर वे समस्त वृक्षोंसे पूछने लगीं—'वृक्षगण! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हमको अपने कटाक्ष-बाणसे घायल करके कहाँ चले गये? यह बात हमें बता दो; क्योंकि तुम सब लोग इस वनके स्वामी हो। सूर्यनन्दिनि यमुने! तुम्हारे पुलिनके प्राङ्गणमें प्रतिदिन गौएँ चराते हुए जो तरह-तरहकी लीलाएँ किया करते थे, वे गोपाल श्रीकृष्ण कहाँ चले गये? यह हमें बताओ! सैकड़ों शिखरोंसे सुशोभित होनेके कारण 'शतशृङ्ग' नामसे विख्यात गोवर्द्धन! तुम गिरिराज हो। तुम्हें पूर्वकालमें इन्द्रके कोपसे व्रजवासियोंकी रक्षा करनेके लिये श्रीनाथजीने अपने बायें हाथपर धारण किया था। तुम श्रीहरिके औरस पुत्र हो; इसलिये वे कभी तुमको छोड़ते नहीं हैं। अतः तुम्हीं बताओ, वे नन्दनन्दन हमें वनमें छोड़कर कहाँ गये और इस समय कहाँ हैं? हे मयूर! हरिण! गौओ! मृगो! तथा विहङ्गमो! क्या तुमने काली-काली घुँघराली अलकोंसे सुशोभित किरीटधारी श्रीकृष्णको देखा है? बताओ! वे हमारे मनमोहन इस समय कहाँ, किस वनमें हैं?'॥ ९–१६॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! इन वचनोंद्वारा पूछे जानेपर भी वे कठोर तीर्थवासी प्राणी कोई उत्तर नहीं दे रहे थे; क्योंकि वे सभी मोहके वशीभूत थे॥ १७॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका पता पूछती हुई समस्त गोपसुन्दरियाँ 'कृष्ण! कृष्ण!' पुकारते कृष्णमयी हो गयीं। वे कृष्णस्वरूपा गोपाङ्गनाएँ वहाँ श्रीकृष्णके लीला-चरित्रोंका अनुकरण करने लगीं। फिर वे यमुनाकी रेतीमें गयीं और वहाँ उन्हें श्रीहरिके पदचिह्न दिखायी दिये। वज्र, ध्वज और अङ्कुश आदि चिह्नोंसे उपलक्षित महात्मा श्रीकृष्णके चरण देखती और उनका अनुसरण करती हुई व्रजाङ्गनाएँ तीव्र गतिसे आगे बढ़ीं। वे श्रीकृष्णकी चरणरेणु लेकर अपने मस्तकपर रखती जाती थीं। इतनेमें ही अन्य चिह्नोंसे उपलक्षित दूसरे पदचिह्न भी उनके दृष्टिपथमें आये। उन चरणचिह्नोंको देखकर वे आपसमें कहने लगीं—'मालूम होता है, प्रियतम श्यामसुन्दर प्रियाके साथ गये हैं।' इस तरह बात करती और चरणचिह्न देखती हुई वे गोपाङ्गनाएँ तालवनमें जा पहुँचीं। नरेश्वर! व्रजेश्वरी श्रीराधाके साथ व्रजमें आगे-आगे जाते हुए व्रजेन्द्र श्रीकृष्ण पीछे आती हुई गोपियोंका कोलाहल सुनकर स्वामिनी श्रीलाड़िलीजीसे बोले—'करोड़ों चन्द्रमाओंके समान कान्ति धारण करनेवाली प्रियतमे! जल्दी-जल्दी चलो। तुमको और मुझको साथ ले जानेके लिये व्रजसुन्दरियाँ सब ओरसे यहाँ आ पहुँची हैं'॥ १८–२४॥

नरेश्वर! तब प्रियाजीने पहले प्रियतम श्यामसुन्दरका फूलोंसे शृङ्गार किया। शृङ्गार करके वृन्दावनमें उन्हें पूर्ववत् दिव्य सुन्दर बना दिया। इसके बाद नन्दनन्दनने बहुत-से पुष्प लाकर उनके द्वारा प्रियाको भी दिव्य शृङ्गार धारण कराया। जैसे पूर्वकालमें उन्होंने भाण्डीरवनमें प्रियाका शृङ्गार

---

* धन्यास्ते ये हि शृण्वन्ति कर्णैः कृष्णकथां सदा॥
मुखेन कृष्णचन्द्रस्य नामानि प्रजपन्ति हि।
हस्तैः श्रीकृष्णसेवां वै ये प्रकुर्वन्ति नित्यशः॥
नित्यं कुर्वन्ति कृष्णस्य ध्यानं दर्शनमेव च।
पादोदकं प्रसादं च ये प्रभुञ्जन्ति नित्यशः॥
इतीदृशेन भावेन श्रमेण जगदीश्वरम्।
ये भजन्ति मुनिश्रेष्ठ ते प्रयान्ति हरेः पदम्॥
संसारे ये प्रभुञ्जन्ति भोगान्नानाविधान् मुने।
श्रवणादींश्च कुर्वन्ति देहसौख्येन दुर्मदाः॥
ते चान्ते यमदूतैश्च गृहीताश्च भयानकैः।
पतिताः कालसूत्रे वै यावद्रविनिशाकरौ॥
(अध्याय ४४। २—७)

किया था; उसी प्रकार उन्होंने पहले तो उनके केश सँवारे; फिर उनमें फूलोंके गजरे लगा दिये । इसके बाद प्राणवल्लभाके अङ्ग-अङ्गमें अनुरूप अनुलेपन एवं अङ्गराग धारण कराये । फिर पानका बीड़ा खिलाया । श्यामसुन्दरके द्वारा सुन्दर श्रृङ्गार धारण कराये जानेपर गौरसुन्दरी श्रीराधा अत्यन्त सुन्दरी हो गयीं । सुन्दरताकी पराकाष्ठाको पहुँच गयीं ॥ २५–२७ ॥

महाराज ! इसके बाद प्रमोदपूरित रमावल्लभ श्रीकृष्णने एक फूलके वृक्षके नीचे पुष्पमयी शय्या तैयार करके उसके ऊपर प्रियतमाके साथ प्रेममयी दिव्य क्रीडा की । वृन्दावन, गिरिराज गोवर्धन, यमुनापुलिन, नन्दीश्वरगिरि, बृहत्सानुगिरि और रोहितपर्वतपर तथा व्रजमण्डलके बारह वनोंमें सर्वत्र प्राणवल्लभाके साथ विचरण करके प्रियतम श्यामसुन्दर वंशीवटके नीचे आकर खड़े हुए थे । राजेन्द्र ! वहाँ स्वामिनीसहित श्रीगोपीजनवल्लभ माधवने 'कृष्ण, कृष्ण' का कीर्तन करती हुई गोपियोंका महान् कोलाहल सुना । फिर वे प्रियासे प्रेमपूर्वक बोले—'प्रियतमे ! जल्दी-जल्दी चलो !' श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर श्रीराधा मानवती होकर बोलीं ॥ २८–३२ ॥

श्रीराधाने कहा—दीनवत्सल ! अब मैं चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गयी हूँ । आजतक कभी घरसे नहीं निकली थी । मैं दुर्बल हूँ । अतः तुम्हारा जहाँ मन हो, वहाँ स्वयं मुझे ले चलो ॥ ३३ ॥

उनका यह कथन सुनकर रामानुज श्रीकृष्ण रामाशिरोमणि श्रीराधिकाको अपने पीताम्बरसे हवा करने लगे; क्योंकि वे पसीने-पसीने हो गयी थीं । फिर वे उन्हें हाथसे पकड़कर कहने लगे—'मानी ! जिसमें तुम्हें सुख मिले, उसी तरह चलो ।' श्रीहरिके इस प्रकार कहनेपर उन्होंने अपने-आपको सबसे अधिक श्रेष्ठ मानकर मन-ही-मन सोचा—'ये प्रियतम अन्य समस्त सुन्दरियोंको छोड़कर रात्रिमें इस एकान्त स्थलमें मेरी सेवा करते हैं ।' मनमें ऐसा सोचकर वे श्रीहरिसे कुछ नहीं बोलीं । व्रजेश्वरी राधा चुपचाप आँचलसे मुँह ढककर श्यामसुन्दरकी ओर पीठ करके खड़ी हो गयीं । तब श्रीहरिने उनसे फिर कहा—'प्रिये ! मेरे साथ चलो । भद्रे ! तुम शापवश वियोगसे पीड़ित हो; इसलिये मैं तुम्हारा सदा साथ दे रहा हूँ । पीछे लगी हुई समस्त गोपियोंको छोड़कर तुम्हारी सेवा करता हूँ । तुम चाहो तो मेरे कंधेपर बैठकर सुखपूर्वक एकान्त स्थलमें चलो' ॥ ३४–३८½ ॥

राजन् ! मानी श्यामसुन्दरने अपनी मानवती प्रियासे ऐसा कहकर जब देखा कि 'ये कंधेपर चढ़नेको उत्सुक हैं' तब वे आत्माराम पुरुषोत्तम अपनी लीला दिखाते हुए उन्हें छोड़कर अन्तर्धान हो गये । नरेश्वर ! भगवान्के अन्तर्धान हो जानेपर वधू राधिकाका सारा मान जाता रहा । वे शोकसे संतप्त हो उठीं और दुःखसे आतुर होकर रोने लगीं । तब श्रीराधाका रोदन सुनकर समस्त गोपसुन्दरियाँ वंशीवटके तटपर तुरंत आ पहुँचीं । आकर उन्होंने श्रीराधाको बहुत दुखी देखा । वे सब गोपियाँ व्यजन और चँवर लेकर श्रीराधाके अङ्गोंपर हवा करने लगीं । उन्हें प्रेमपूर्वक केसर-मिश्रित जलसे नहलाकर वे फूलोंके मकरन्दों तथा चन्दन-द्रवके फुहारोंसे उनके अङ्गोंपर छींटा देने लगीं । परिचर्या-कर्ममें कुशल गोपकिशोरियोंने मीठे वचनोंद्वारा श्रीराधाको आश्वासन दिया । उनके मुखसे उन्हींके अभिमानके कारण गोविन्दके चले जानेकी बात सुनकर उन सम्पूर्ण मानवती गोपियोंको बड़ा विस्मय हुआ । नरेश्वर ! वे सब-की-सब मान त्यागकर यमुनापुलिनपर आयीं और श्रीकृष्णके लौट आनेके लिये मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगीं ॥ ३९–४५ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'रासक्रीडाविषयक' चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ अध्याय

गोपाङ्गनाओंद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उनका आह्वान और श्रीकृष्णका उनके बीचमें आविर्भाव

गोपियाँ बोलीं—जो अपने अधरबिम्बकी लालिमासे मूँगेको लज्जित करते हैं और मधुर मुरलीनादसे विनोद मानते—आनन्द पाते हैं, जिनका मुखारविन्द नीलकमलके समान कोमल तथा श्याम है, उन गोपकुमार श्यामसुन्दरकी हम उपासना करती हैं । जिनकी अङ्गकान्ति साँवली है, जो वन-विहारके रसिक हैं, जिनका अङ्ग-अङ्ग कोमल है, जिनके नेत्र



रणक्षेत्रमें श्रीकृष्णका शुभागमन [अध्याय ३८]

भगवान् शिवद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका स्तवन [अध्याय ३९]

प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं, जो भक्त-जनोंकी अभीष्ट कामना पूर्ण कर देते हैं, व्रजसुन्दरियोंके नेत्रोंको शीतल करनेवाले हैं, उन मनमोहन श्रीकृष्णका हम भजन करती हैं। जिनके लोचनाञ्चल विशेष चञ्चल हैं और कोमल अधर अर्धविकसित कमलकी शोभा धारण करते हैं, जिनके हाथोंकी अँगुलियाँ और मुख बाँसुरीसे सुशोभित हैं, उन वेणुवादन-रसिक माधवका हम चिन्तन करती हैं। जिसके दाँत किंचित् अङ्कुरित हुई कुन्दकलिकाके समान उज्ज्वल हैं, जो व्रजभूमिका भूषण है, अखिल भुवनके लिये मङ्गलमयी शोभासे सम्पन्न हैं, जो अपने शब्द और सौरभसे मनको हर लेता है, श्रीहरिके उस सुन्दर वेषको ही हम गोपाङ्गनाएँ खोज रही हैं। जिनकी आकृति देवताओंद्वारा पूजित होती है, जिनके चरणारविन्दोंके अमृतका मुनीश्वरगण नित्य-निरन्तर सेवन करते रहते हैं, वे कमलनयन भगवान् श्यामसुन्दर नित्य हम सबका कल्याण करें। जो गोपोंके साथ मल्लयुद्धका आयोजन करते हैं, जिन्होंने युद्धमें बड़े-बड़े चतुर जवानोंको परास्त किया है तथा जो सम्पूर्ण योगियोंके भी आराध्य-देवता हैं, उन श्रीहरिका हम सदैव सेवन करती हैं। उमड़ते हुए नूतन मेघके समान जिनकी आभा है, जिनका लोचनाञ्चल प्रफुल्ल कमलकी शोभाको छीने लेता है, जो गोपाङ्गनाओंके हृदयको देखते-देखते चुरा लेते हैं तथा जिनका अधर नूतन पल्लवोंकी शोभाको तिरस्कृत कर देता है, उन श्यामसुन्दरकी हम उपासना करती हैं। जो अर्जुनके रथकी शोभा है, समस्त संचित पापोंको तत्काल खण्डित कर देनेवाला है और वेदकी वाणीका जीवन है, वह निर्मल श्यामल तेज हमारे मनमें सदा स्फुरित होता रहे। जिनकी दृष्टि-परम्परा गोपिकाओंके वक्षःस्थल और चञ्चल लोचनोंके प्रान्तमें पड़ती रहती है तथा जो बाल-क्रीडाके रसकी लालसासे इधर-उधर घूमते रहते हैं, उन माधवका हम दिन-रात ध्यान करती हैं। जिनके मस्तकपर नीलकण्ठ (मोर) के पंखका मुकुट शोभा पाता है, जिनके अङ्ग-वैभव (कान्ति) को नीलमेघकी उपमा दी जाती है, जिनके नेत्र नील कमलदलके समान शोभा पाते हैं, उन नील केश-पाशधारी श्यामसुन्दरका हम भजन करती हैं। व्रजकी युवतियाँ जिनके लीला-वैभवका सदा गान करती हैं, जो कोमल स्वरमें मुरली बजाया करते हैं तथा जो मनोऽभिराम सम्पदाओंके धाम हैं, उन सब-सारस्वरूप कमलनयन श्रीकृष्णका हम भजन करती हैं। जो मनपर मोहनी डालनेवाले और उत्तम शार्ङ्गधनुषधारी हैं, जो मानवती गोपाङ्गनाओंको छोड़कर निकल गये हैं तथा नारद आदि मुनि जिनका सदा भजन-सेवन करते हैं, उन नन्दगोपनन्दनका हम भजन करती हैं। जो श्रीहरि असंख्य रमणियोंसे घिरे रहकर रासमण्डलमें सत्वर विजय पाते हैं, उन्हीं प्रियतम श्यामसुन्दरको वनमें राधासहित दुःख उठाती हुई हम व्रजवनिताएँ ढूँढ़ रही हैं। देवदेव! व्रजराजनन्दन! हरे! हमें पूर्णरूपसे दर्शन दीजिये, जो सब दुःखोंको हर लेनेवाला है। हम आपकी क्रीत दासियाँ हैं। आप पूर्ववत् हमारी ओर देखकर हमें अपनाइये। जिन्होंने एकार्णवके जलसे इस भूमण्डलका उद्धार करनेके लिये परम उत्तम सम्पूर्ण यज्ञ-वाराहस्वरूप धारण किया था और अपनी तीखी दाढ़से 'हिरण्याक्ष' नामक दैत्यको विदीर्ण कर डाला था, वे भगवान् श्रीहरि ही हम सबका उद्धार करनेमें समर्थ हों। जिन्होंने वेनकी दाहिनी बाँहसे स्वेच्छापूर्वक पृथुरूपमें प्रकट हो देवताओं-सहित मनुकी सम्मतिसे इस पृथ्वीका दोहन किया और मत्स्यरूप धारण करके वेदोंकी रक्षा की, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण इस अशुभ वेलामें हम गोपियोंके लिये शरणदाता हों। अहो! जिन परम प्रभुने समुद्र-मन्थनके समय कच्छपरूप धारण करके बड़े भारी पर्वत मन्दराचलको अपनी पीठपर ढोया था और नृसिंहरूप धारण करके अपने भक्तके प्राण लेनेको उद्यत हुए असुर हिरण्यकशिपुको प्राणदण्डसे दण्डित किया, वे ही श्रीहरि हम सबको परम आश्रय देनेवाले हों। जिन्होंने राजा बलिको छला—तीन पग भूमिके व्याजसे त्रिलोकीका राज्य उनसे छीन लिया तथा देवद्रोहियों-का दलन करके मुनिजनोंपर अनुग्रह करते हुए भूमण्डलपर विचरण किया, जो यदुकुलतिलक बलरामजीके रूपमें प्रकट हुए हैं और जिन्होंने उसी रूपसे कौरवपुरी हस्तिनापुरको हलसे खींचते हुए उसे गङ्गाजीमें डुबा देनेका विचार किया था, वे भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा हमारे रक्षक हों। जिन्होंने गिरिराज गोवर्द्धनको उठाकर व्रजके पशुओंका उद्धार किया तथा व्रजपति नन्दरायकी, अन्यान्य गोपजनोंकी तथा हम गोपाङ्गनाओंकी भी रक्षा की थी, फिर आगे चलकर जिन्होंने कौरवोंद्वारा उत्पन्न किये गये संकटसे द्रुपदराजकुमारी पाञ्चालीके प्राण बचाये—भरी सभामें उसकी लज्जा रक्खी, उन्हींके चरणारविन्दोंमें हमारा सदा अनन्य अनुराग बना रहे। जिन परमपुरुष यदुवंशविभूषणने समस्त पाण्डवोंकी विषसे, लाक्षागृहकी महाभयंकर अग्निसे, बड़े-बड़े अस्त्रोंसे तथा अनेकानेक विपत्तियोंसे पूर्णतः रक्षा की, उन्हींके

चरण हम सबके लिये शरण हों। हम उस बालरूपिणी देवमूर्तिकी वन्दना करती हैं, जो वनमाला, मोरपंख तथा परमसुन्दर केशपाश धारण करती है, वृन्दावनके फूलोंके आभूषण पहनती है, शिलासे उत्पन्न अगुरु एवं कस्तूरी आदिके द्वारा रचित विचित्र तिलकसे अलंकृत होती है, सदा भक्तजनोंके मनको अपनी ओर खींचती रहती है, लीलामृत तथा वेणुनादामृतके वितरणके लिये जो एकमात्र रसिक है, जिसकी आकृति लावण्यलक्ष्मीमयी है तथा अङ्गकान्ति बाल तमालके समान नीली है* ॥ १—२१ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! यों रोती हुई गोपसुन्दरियोंके इस प्रकार भक्तिपूर्वक आह्वान करनेपर रेवतीरमण बलरामके छोटे भाई श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण उनके बीचमें प्रकट हो गये ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'श्रीरासक्रीडाके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णका आगमन' नामक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

---

* गोप्य ऊचुः

अधरबिम्बविडम्बितविद्रुमं मधुरवेणुनिनादविनोदितम्। कमलकोमलनीलमुखाम्बुजं तमपि गोपकुमारमुपास्महे ॥
श्यामलं विपिनकेलिलम्पटं कोमलं कमलपत्रलोचनम्। कामदं व्रजविलासिनीदृशां शीतलं मतिहरं भजामहे ॥
तं विसंचलितलोचनाञ्चलं साभिकुञ्चलितकोमलाधरम्। वंशवल्गितकराङ्गुलीमुखं वेणुनादरसिकं भजामहे ॥
ईषदङ्कुरितदन्तकुड्मलं भूषणं भुवनमङ्गलश्रियम्। घोषसौरभमनोहरं हरेर्वेषमेव मृगयामहे वयम् ॥
अस्तु नित्यमरविन्दलोचनः श्रेयसे हि तु सुरार्चिताकृतिः। यस्य पादसरसीरुहामृतं सेव्यमानमनिशं मुनीश्वरैः ॥
गोपकै रचितमल्लसंगरं संगरे जितविदग्धयौवनम्। चिन्तयामि मनसा सदैव तं दैवतं निखिलयोगिनामपि ॥
उल्लसन्नवपयोदमेव तं फुल्लतामरसलोचनाञ्चलम्। बल्लवीहृदयपश्यतोहरं पल्लवाधरमुपास्महे वयम् ॥
यद्धनंजयरथस्य मण्डनं खण्डनं तदपि संचितैनसाम्। जीवनं श्रुतिगिरां सदामलं श्यामलं मनसि मेऽस्तु तन्महः ॥
गोपिकास्तनविलोललोचनप्रान्तलोचनपरम्परावृतम्। बालकेलिरसलालसम्भ्रमं माधवं तमनिशं विभावये ॥
नीलकण्ठकृतपिच्छशेखरं नीलमेघतुलिताङ्गवैभवम्। नीलपङ्कजपलाशलोचनं नीलकुन्तलधरं भजामहे ॥
घोषयोषिदनुगीतवैभवं कोमलस्वरितवेणुनिस्वनम्। सारभूतमभिरामसम्पदां धाम तामरसलोचनं भजे ॥
मोहनं मनसि शार्ङ्गिणं परं निर्गतं किल विहाय मानिनीः। नारदादिमुनिभिश्च सेवितं नन्दगोपतनयं भजामहे ॥
श्रीहरिस्तु रमणीभिरावृतो यस्तु वै जयति रासमण्डले। राधया सह वने च दुःखितास्तं प्रियं हि मृगयामहे वयम् ॥
देवदेव व्रजराजनन्दन देहि दर्शनमलं च नो हरे। सर्वदुःखहरणं च पूर्ववत् संनिरीक्ष्य तव शुल्कदासिकाः ॥
क्षितितलोद्धरणाय दधार यः सकलयज्ञवराहवपुः परम्। दितिसुतं विददार च दंष्ट्रया स तु सदोद्धरणाय क्षमोऽस्तु नः ॥
मनुमपाद्वुचिजो दिविजैः सह वसु दुदोह धरामपि यः पृथुः। श्रुतिमपाद्धृतमत्स्यवपुः परं स शरणं किल नोऽस्त्वशुभक्षणे ॥
अवहदब्धिमहो गिरिमूर्जितं कमठरूपधरः परमस्तु यः। असुरहं नृहरिः समदण्डयत् स च हरिः परमं शरणं च नः ॥
नृपबलिं छलयन् दलयन्नरीन् मुनिजनाननुगृह्य चचार यः। कुरुपुरं च हलेन विकर्षयन् यदुवरः स गतिर्मम सर्वथा ॥
व्रजपशून् गिरिराजमथोद्धरन् व्रजपगोपजनं च जुगोप यः। द्रुपदराजसुतां कुरुकश्मलाद् भवतु तच्चरणाब्जरतिश्च नः ॥
विषमहाग्निमहास्त्रविपद्गणात् सकलपाण्डुसुताः परिरक्षिताः। यदुवरेण परेण च येन वै भवतु तच्चरणः शरणं च नः ॥
मालां बर्हिमनोज्ञकुन्तलभरां वन्यप्रसूनोषितां शैलेयागुरुक्लृप्तचित्रतिलकां शश्वन्मनोहारिणीम्।
लीलावेणुरवामृतैकरसिकां लावण्यलक्ष्मीमयीं बालां बालतमालनीलवपुषं वन्दामहे देवताम् ॥

(अध्याय ४५। १—२१)

छियालीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णके आगमनसे गोपियोंको उल्लास; श्रीहरिके वेणुगीतकी चर्चासे श्रीराधाकी मूर्च्छाका निवारण; श्रीहरिका श्रीराधा आदि गोपसुन्दरियोंके साथ वनविहार, स्थल-विहार, जल-विहार, पर्वत-विहार और रासक्रीडा

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णको आया देख वे सब गोपसुन्दरियाँ हर्षसे उल्लसित होकर उठीं और दुःख त्यागकर जय-जयकार करने लगीं। श्रीराधा मूर्च्छामें ही पड़ी थीं। उनकी अवस्था देख गोपाङ्गनाओंके प्रार्थना करनेपर श्रीहरि उन्हें होशमें लानेके लिये उस व्रजभूमिमें वंशीनाद करने लगे। तब भी राधिका नहीं उठीं। यह देख श्रीराधावल्लभ हरि उन्हें बार-बार वेणुगीत सुनाने लगे। राजन्! वह गीत सुनकर श्रीराधा उठीं; किंतु वियोगजनित दुःखका स्मरण करके माधवके देखते-देखते फिर मूर्च्छित हो गयीं। तब श्रीकृष्णके वेणुगीतसे प्रसन्न हुई चन्द्रानना नामवाली सखी उनका आदेश पाकर तत्काल चन्द्रावलीके प्रति श्रीराधाको ही सम्बोधित करके बोलीं—॥ १—५॥

चन्द्राननाने कहा—हे राधे! जो श्रीकृष्णचन्द्र पहले तुम्हारे मानसे रूठकर चले गये थे, वे मानो एक युगके बाद फिर आ गये हैं। उन्हीं देवकीनन्दनने तुम्हारे समस्त दुःखोंका नाश करनेके लिये निकट बैठकर वेणु बजाते हुए गीत गाया है। रासके रमणीय प्राङ्गणमें छुंग-छुंग ध्वनिके साथ मधुर स्वरमें मृदङ्ग बजाया जा रहा है और देवाङ्गनाओंसे सेवित देवकीनन्दन माधव नृत्य करते हुए वेणुगीत सुना रहे हैं। वे मनोहर सुवर्णकी-सी कान्तिवाले पीताम्बरसे सुशोभित हैं। उनके वक्षःस्थलमें वैजयन्तीकी मालाएँ शोभा दे रही हैं। उन देवकीनन्दनने नन्दके वृन्दावनमें गोपिकामण्डलीके मध्यमें विराजमान होकर वेणु बजाते हुए गीत गाया है। मनोहर चन्द्रावलीके लोचनोंसे चुम्बित, गोप, गौओं तथा गोपाङ्गनाओंके वल्लभ और कंस-वंशरूपी वनको जलानेके लिये दावानलरूप देवकीनन्दनने वेणु बजाते हुए गीत गाया है। गोपबालिकाएँ ताली बजाकर ताल दे रही हैं और उस ताल-लीलाके लयके साथ-साथ जो अपनी भ्रूलताओंका विभ्रम-विलास प्रदर्शित कर रहे हैं, वे देवकीनन्दन गोपाङ्गनाओंके गीतोंकी ओर ध्यान देकर स्वयं भी वेणु बजाते हुए गा रहे हैं। देवि! जो तुम्हारे प्रेमी हैं, उन परमसुन्दर नन्दराजकुमार देवकीनन्दनने मुकुट, माला, बाजूबंद, करधनी और कुण्डल आदि आभूषणोंसे विभूषित हो तुम्हारी प्रसन्नताके लिये वेणुगीत आरम्भ किया है। जिन श्रीराधावल्लभने सत्यभामाके भयसे स्वर्गीय पारिजात उखाड़कर उनके आँगनमें लगा दिया है, गोपाङ्गनाओं और देवाङ्गनाओंके कामपूरक उन देवकीनन्दनने वेणुद्वारा गीत गाया है, जिन्होंने ऋक्षराजको जीतकर उनके यहाँसे स्यमन्तकमणि ले आकर भयभीतकी भाँति भूमिनाथ उग्रसेनको अर्पित की थी, वे ही रासेश्वर देवकीनन्दन आज रासमण्डलमें पधारकर वेणुके स्वरोंमें गीत गा रहे हैं* ॥ ६—१३॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! वेणु बजानेवाले श्यामसुन्दरकी महिमाका वर्णन सुनकर प्रिया श्रीराधा प्रसन्न होकर उठीं और उन्होंने प्रियतमका गाढ़ आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् वृन्दावनाधीश्वर गोविन्द वृन्दावनमें वृन्दावनवासिनी प्राणवल्लभाके साथ उस वनके वृक्षोंकी शोभा देखते हुए विहार करने लगे। नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर व्रजकी युवतियोंने सब ओरसे श्रीकृष्णको उसी तरह जा पकड़ा, जैसे वर्षाकालमें

---

* कृष्णचन्द्रः पुरा निर्गतो मानतो ह्यागतः सोऽपि राधे युगान्ते पुनः।
नाशयन् सर्वदुःखानि ते संनिधौ संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
छुङ्गछुङ्गेति नादं मृदङ्गे कलं वाद्यमाने सुरस्त्रीजनैः सेवितः।
रासरम्याङ्गणे नृत्यकृन्माधवः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
चारुचामीकराभासिवासा विभुर्वैजयन्तीभराभासितोरःस्थलः।
नन्दवृन्दावने गोपिकामध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
चारुचन्द्रावलीलोचनाचुम्बितो गोपगोवृन्दगोपालिकावल्लभः।
कंसवंशाटवीदाहदावानलः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
बालिकातालिकाताललीलालयासङ्गसंदर्शितभ्रूलताविभ्रमः।
गोपिकागीतदत्तावधानः स्वयं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
मौलिमालाङ्गदैः किङ्किणीकुण्डलैर्भूषितो नन्दनो नन्दराजस्य च।
प्रीतिकृत् सुन्दरो देवि प्रीत्या तव संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
पारिजातं समुद्धृत्य राधावरो रोपयामास भामाभयादङ्गणे।
बल्लवीवृन्दवृन्दारिकाकामुकः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
ऋक्षराजं विनिर्जित्य नीत्वा मणिं संददौ भीतवद् भूमिनाथाय च।
सोऽपि रासे समागत्य रासेश्वरः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
(अध्याय ४६। ६—१३)

चपलाएँ मेघको घेर लेती हैं। राजन्! वहाँ जितनी गोपियाँ विद्यमान थीं, उतने ही रूप धारण करके श्यामसुन्दर उन सबके साथ यमुनापुलिनपर आये। जैसे पूर्वकालमें श्रुतियाँ भगवान्‌से मिलकर प्रसन्न हुई थीं, उसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ श्यामसुन्दरके साथ परम आनन्दका अनुभव करने लगीं। उन्होंने श्रीकृष्ण-चन्द्रको अपने-अपने वस्त्रोंका आसन दिया। राजन्! उस आसनपर श्रीराधारमण नन्दनन्दन राधाके साथ बैठे। अहो! उन गोपसुन्दरियोंने अपनी भक्तिसे भगवान्‌को वशमें कर लिया था। श्रीकृष्णने गोलोकमें जैसा रूप दिखाया था, वैसा ही त्रिभुवनमोहन रूप उन्होंने उस समय राधासहित गोपाङ्गनाओंके समक्ष प्रकट किया। गोकुलचन्द्रका वह परम अद्भुत सुन्दर रूप देखकर गोपसुन्दरियाँ ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो अपने-आपमें भूल गयीं॥ १४—२१॥

उनके साथ स्थलमें विहार करके उनकी भक्तिके वशीभूत हुए श्यामसुन्दरने श्रीराधा और गोपाङ्गनाओंके साथ यमुनाके जलमें प्रवेश किया। भगवान्‌ने वहाँ उन व्रजसुन्दरियोंके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्र अप्सराओंके साथ मन्दाकिनीके जलमें करते हैं। राजन्! माधव माधवीको और माधवी माधवको जलमें परस्पर भिगोने लगे। वे दोनों बड़ी उतावलीके साथ एक-दूसरेपर पानी उछालते थे। नरेश्वर! गोपाङ्गनाओंकी वेणी और केशपाशसे गिरे हुए फूलोंसे यमुना-जीकी वैसी ही विचित्र शोभा हुई, जैसे अनेक रंगोंके छापसे छपी हुई नीली पगड़ी शोभा पाती है। विद्याधरियाँ और देवाङ्गनाएँ फूल बरसाने लगीं। उनकी साड़ियोंकी नीवी ढीली पड़ गयी और वे प्रेमावेशसे व्याकुल हो मोहको प्राप्त हो गयीं॥ २२—२६॥

राजेन्द्र! तदनन्तर जल-विहार समाप्त करके श्यामसुन्दर लीलापूर्वक यमुनाजलसे बाहर निकले और गोवर्द्धन पर्वतपर गये। नृपेश्वर! उनकी सहचरी गोपियाँ भी उनके साथ-साथ गयीं। किन्हींके हाथोंमें व्यजन थे और कितनी ही चँवर डुलाती चल रही थीं। किन्हींके हाथोंमें पानके बीड़े थे। बहुत-सी गोपियाँ दर्पण लिये चलती थीं। कितनोंके हाथोंमें नाना प्रकारके आभूषणोंके पात्र थे और कितनी ही पुष्पभार लिये जा रही थीं। कुछ गोपियोंके हाथोंमें चन्दनके पात्र थे और कुछ विविध प्रकारके बर्तनोंका भार ढो रही थीं। कोई महावर लिये जाती थीं और कोई वस्त्र। किन्हींके हाथोंमें मृदंग थे, तो कोई झाँझ लिये हुए थीं। कोई मुरयष्टिधारिणी थीं तो कोई वीणाधारिणी। कोई करताल लिये चलती थीं और कोई गीत गाती जा रही थीं। छत्तीसों राग-रागिनियाँ व्रजसुन्दरियोंका रूप धारण करके उस यूथमें सम्मिलित हो गयी थीं। जो गोपियाँ पूर्वकालमें श्रीराधाके साथ गोलोकसे भारतवर्षमें आयी थीं, वे श्रीराधावल्लभके समीप गान तथा नृत्य कर रही थीं॥ २७—३३॥

उन सबके बीचमें वेणुसे गीत गाते और त्रिलोकीको मोहित करते हुए मदनमोहन श्रीकृष्ण हरि नृत्य करने लगे। रासमण्डलमें बाजों, करधनियों, कड़ों, कंगनों और नूपुरोंकी झनकारोंसे युक्त गीतमिश्रित शब्दकी तुमुल ध्वनि होने लगी। राजन्! देवता और देवाङ्गनाएँ श्रीहरिका रास देखकर आकाशमें प्रेमवेदनासे पीड़ित हो मूर्च्छित हो गयीं। चन्द्रमाकी चाँदनीमें चतुर चञ्चल श्रीकृष्ण नृत्यकी गतिसे चलते हुए गोपाङ्गनारूपी चन्द्रावलीसे घिरकर उसी तरह शोभा पाते थे, जैसे विद्युन्मालासे आवेष्टित मेघ सुशोभित हो रहा हो। उस पर्वतपर महान् गिरिधर श्यामसुन्दरने फूलोंके हार, महावर, काजल और कमलपत्र आदिके द्वारा श्रीराधाका शृङ्गार किया। श्रीराधिकाने भी कुङ्कुम, अगुरु और चन्दन आदिके द्वारा श्रीकृष्णके मुखमण्डलमें सुन्दर कमलपत्रकी रचना की। तब मुसकराती हुई राधाने मन्दहासकी छटासे युक्त भगवान्‌के मुखकी ओर देखते हुए उन्हें प्रसन्नतापूर्वक पानका बीड़ा दिया। प्रियतमाके दिये हुए उस ताम्बूलको नन्दनन्दन श्रीहरिने बड़े प्रेमसे खाया। फिर श्रीकृष्णद्वारा अर्पित ताम्बूलको श्रीराधिकाने भी प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया। पतिपरायणा सती श्रीराधाने भक्तिभावसे प्रेरित हो श्रीकृष्णके चबाये हुए ताम्बूल-को हठात् लेकर शीघ्र अपने मुँहमें रख लिया। तब भगवान्‌ने भी प्रियाके द्वारा चबाये हुए ताम्बूलको उनसे माँगा; किंतु श्रीराधाने नहीं दिया। वे भयभीत होकर उनके चरणकमलमें गिर पड़ीं॥ ३४—४३॥

पद्मा, पद्मावती, नन्दी, आनन्दी, सुखदायिनी, चन्द्रावली, चन्द्रकला तथा वन्द्या—ये गोपाङ्गनाएँ श्रीहरिकी प्राणवल्लभा हैं। श्रीहरिने वसन्त ऋतुके वैभवसे भरे वृन्दावनमें उन सबके साथ नाना प्रकारका शृङ्गार धारण किया। वे कामदेवसे भी अधिक मनोहर लगते थे। कुछ गोपियाँ श्रीकृष्णका अधरामृत पान करती थीं और कितनी ही उन परमात्मा श्रीकृष्णको अपने बाहुपाशमें बाँध लेती थीं। फिर तो मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओंके वक्षःस्थलमें लगे हुए केसरोंसे लिप्त होकर सुनहरे रंगके हो गये और अनुपम शोभा पाने लगे॥ ४४—४७॥

राजेन्द्र ! फिर सुन्दर कदलीवनमें गोपीजनोंके साथ श्रीगोपीजनवल्लभने रास किया । नरेश्वर ! इस प्रकार रास-मण्डलमें नित्यानन्दमय श्यामसुन्दरके साथ गोपियोंकी वह हेमन्त ऋतुकी रात एक क्षणके समान व्यतीत हो गयी ॥ ४८-४९ ॥

इस प्रकार रास करनेके पश्चात् नन्दनन्दन श्रीहरि नन्दभवन-को चले गये । श्रीराधा वृषभानुपुरमें लौट गयीं तथा अन्यान्य गोपाङ्गनाएँ भी अपने-अपने घरको चली गयीं । नृपेश्वर ! व्रजके गोप श्रीहरिकी इस रासवार्ताको बिल्कुल नहीं जान सके । उन्हें अपनी-अपनी स्त्रियाँ अपने पास ही सोती प्रतीत हुईं । राधा-माधवके इस परम उत्तम श्रृङ्गारचरित्रको जो लोग पढ़ते और सुनते हैं, वे अक्षय धाम गोलोकको प्राप्त होंगे ॥५०—५२॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'रासक्रीडाकी पूर्ति' नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णसहित यादवोंका व्रजवासियोंको आश्वासन देकर वहाँसे प्रस्थान

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजेन्द्र ! श्रीकृष्णका यह चरित्र शास्त्रोंमें गुप्तरूपसे वर्णित है, जिसे मैंने तुम्हारे सामने प्रस्तुत किया है । अब तुम भगवान्‌के अन्य चरित्रोंको विस्तारपूर्वक सुनो । इस प्रकार श्रीकृष्ण नन्दनगरमें आठ दिनोंतक रहकर सब लोगोंको आनन्द प्रदान करते रहे । इसके बाद पुनः उन्होंने वहाँसे जानेका विचार किया ॥ १-२ ॥

श्रीकृष्णकी माता यशोदा अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्रको जानेके लिये उद्यत देख पहलेकी ही भाँति उच्चस्वरसे रोदन करने लगीं । नृपेश्वर ! वहाँ गोपियोंके भी नेत्र आँसुओंसे भर आये और वे घर-घरमें पहलेके दुःखोंको याद करके करुण-भावसे रोदन करने लगीं । सान्त्वना देनेमें कुशल श्रीहरिने जितनी व्रजाङ्गनाएँ थीं, उतने ही रूप धारण करके उन सबको पृथक्-पृथक् आश्वासन दिया तथा श्रीराधाको भी धीरज बँधाया । इसके बाद भगवान् माता यशोदासे बोले—"मैया ! शोक न करो । मैं इस उत्तम अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान पूरा करवाकर शीघ्र ही यहाँ आऊँगा । यदि तुम नहीं विश्वास करती हो तो मेरी यह बात सुन लो—'मैया ! आजसे तुम प्रतिदिन मुझे पुत्ररूपमें अपने पास ही देखोगी ।' मैं भक्तिभावसे स्मरण करनेपर कालके भयका भी नाश करनेवाला हूँ" ॥३—७॥

इस प्रकार यशोदाजीको आश्वासन देकर नेत्रोंमें आँसू भरे श्रीहरि नन्दसदनसे बाहर निकले और गोपोंके साथ अपने पोते अनिरुद्धकी सेनामें गये । नृपश्रेष्ठ ! अनिरुद्धकी सेनामें पहुँचकर साक्षात् नारायण श्रीहरिने यादवोंको घोड़ा छोड़नेके लिये आज्ञा दी । श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रेरित होकर उनके पौत्र अनिरुद्धने यत्नपूर्वक अश्वका पूजन किया और पुनः पूर्ववत् विजययात्राके लिये उसे छोड़ दिया ॥ ८—१० ॥

अनिरुद्ध आदि सब यादव नेत्रोंमें आँसू भरे नन्दको नमस्कार करके बड़े कष्टसे वहाँसे जानेके लिये अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ हुए । श्रीकृष्णके पुत्र और पौत्र सबके आकार उन्हींके समान सुन्दर थे । श्रीकृष्णके साथ उन सब यादवोंको जानेके लिये उद्यत देख, गोविन्दके विरहसे व्याकुल हो, वे गोप-गण वहाँ फूट-फूटकर रोने लगे । पहलेके विरहजनित दुःखोंको याद करके उनके कण्ठ, ओठ और तालु सूख गये थे । नन्द-राजके नेत्रोंमें भी आँसू छलक रहे थे । वे दुःखसे पीड़ित हो सूखे हुए मुँहसे कुछ बोल न सके; केवल रोदन करने लगे । श्रीकृष्ण भी आँसू बहाते हुए 'मैं फिर आऊँगा'—ऐसा कहकर सबसे पृथक्-पृथक् मिले और सबको आश्वासन दिया ॥ ११—१५ ॥

उन्होंने कहा—गोपालगण ! चैत्रमासमें जब द्वारका-पुरीमें यज्ञ आरम्भ होगा, तब मैं तुम सबको बुलवाऊँगा, इसमें संशय नहीं है । मेरे मित्र गोपगण ! तुम सब लोग प्रतिदिन गोकुलमें मुझ गोपालको देखोगे । अतः अभी यहीं व्रजमण्डलमें निवास करो ॥ १६-१७ ॥

इस प्रकार आश्वासन दे, उनके दिये हुए उपहारको लेकर, नन्दजीको प्रणाम करके श्रीहरि वृष्णिवंशियोंके साथ रथपर बैठकर, वहाँसे चल दिये । नन्द आदि दुखी गोप श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलमें लगे हुए मनको पुनः हटानेमें असमर्थ हो केवल शरीरसे गोकुलको लौटे । नरेश्वर ! उस दिनसे प्रेममग्न गोप और गोपीगण योगियोंके लिये भी परम दुर्लभ श्रीकृष्णको अपने समीप देखने लगे ॥ १८—२० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यादवोंका व्रजसे अन्यत्र गमन' नामक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अड़तालीसवाँ अध्याय

अश्वका हस्तिनापुरीमें जाना; उसके भालपत्रको पढ़कर दुर्योधन आदिका रोषपूर्वक अश्वको पकड़ लेना तथा यादव-सैनिकोंका कौरवोंको घायल करना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर यमुना नदीको पार करके वह अश्व आस-पासके देशोंका निरीक्षण करता हुआ कुरुदेशकी राजधानीमें गया, जहाँ बलवान् विचित्रवीर्यकुमार चक्रवर्ती राजा धृतराष्ट्र राज्य करते थे। वहाँ उस अश्वने अनेकानेक उपवनों, तड़ागों और सरोवरोंसे युक्त सुन्दर कौरवनगरको देखा॥ १-२॥

नरेश्वर! वह नगर दुर्गसे तथा गङ्गारूपिणी खाईसे घिरा हुआ था। वहाँ सोने-चाँदीके महल थे और बड़े-बड़े शूरवीर वहाँ निवास करते थे। राजन्! उस कौरवनगरसे वनवासी मृगोंका शिकार करनेके लिये सुयोधन निकला। वह वीरजनोंसे युक्त हो रथपर बैठा था। उसने उस यज्ञ-सम्बन्धी घोड़ेको भालपत्रसहित देखा। महाराज! दुर्योधन बड़ा मानी था। घोड़ेको देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने रथसे उतरकर अनायास ही घोड़ेको पकड़ लिया। कर्ण, भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भूरि और दुःशासन आदिके साथ उसने हर्षित होकर उसका भालपत्र पढ़ा। उसमें लिखा था—'चन्द्रवंशके अन्तर्गत यादवकुलमें राजा उग्रसेन विराजते हैं। इन्द्र आदि देवता भी जिनकी आज्ञाके पालक हैं, भक्तपरिपालक भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं। वे उन्हींकी भक्तिसे आकृष्ट हो द्वारकापुरीमें निवास करते हैं। उन्हींकी आज्ञासे राजाधिराज चक्रवर्ती उग्रसेन हठपूर्वक अपने यशके विस्तारके लिये अश्वमेध यज्ञ करते हैं। उन्होंने यह श्रेष्ठ और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न घोड़ा छोड़ा है। उस घोड़ेके रक्षक हैं श्रीकृष्णपौत्र अनिरुद्ध, जो वृक दैत्यका वध करनेवाले हैं। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल-वीरोंकी अनेक चतुरङ्गिणी सेनाओंके साथ अनिरुद्ध अश्वकी रक्षामें चल रहे हैं। जो राजा इस पृथ्वीपर राज्य करते हैं और अपनेको शूरवीर मानते हैं, वे भालपत्रसे शोभित इस यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको बलपूर्वक ग्रहण करें। धर्मात्मा अनिरुद्ध राजाओंद्वारा पकड़े गये उस अश्वको अपने बाहुबल और पराक्रमसे अनायास ही हठपूर्वक छुड़ा लेंगे। जो घोड़ेको न पकड़ सकें, वे धनुर्धर अनिरुद्धके चरणोंमें नतमस्तक होकर चले जायँ'॥ ३—१३॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—उस पत्रको बाँचकर वे शत्रुभूत कौरव क्रुद्ध हो उठे। उन मानियोंके नेत्र लाल हो गये और वे परस्पर कहने लगे॥ १४॥

कौरव बोले—अहो! इन धृष्ट यादवोंने घोड़ेके भालपत्रमें क्या लिख रक्खा है? क्या यादवोंके सामने कोई राजा ही नहीं है? पूर्वकालमें अपने राजसूय यज्ञमें हमने जिन यादवोंको परास्त किया है, वे ही मूर्ख अब फिर अश्वमेध करने चले हैं। इसलिये हम इन सबको जीतेंगे। घोड़ेको कदापि वापस नहीं देंगे। यादवोंको जीतनेके पश्चात् हमलोग स्वयं अश्वमेध यज्ञ करेंगे। कौन है उग्रसेन? क्या है कृष्ण? और वह घोड़ेकी रक्षा करनेवाला भी कौन है? समस्त यादवोंके साथ आकर ये लोग हमारे सामने क्या पौरुष दिखायेंगे? कृष्ण आदि समस्त यदुवंशी जरासंधके डरसे मथुरापुरी छोड़कर समुद्रकी शरणमें गये हैं। वे हमलोगोंके ही भयसे युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए हैं। पहले हमलोगोंने कृपा करके इन यादवोंको राज्य दे दिया और अब वे कृतघ्न यादव अपनेको चक्रवर्ती मानने लगे हैं। पाण्डवोंका मान रखनेके लिये हमने पहले यादवोंको नहीं मारा था; किंतु वे पाण्डव भी हमारे शत्रु ही हैं। अतः हमने उन्हें देशनिकाला दे दिया है। इन भागे हुए यादवोंको आज युद्धमें पराजित करके हम उग्रसेनको सहसा उनके चक्रवर्तीपनका मजा चखायेंगे॥ १५—२२॥

राजन्! वे समस्त श्रीकृष्णविमुख कौरव लक्ष्मी और राजवैभवके घमंडमें आकर ऐसी बातें कहने लगे। फिर सबने शीघ्र ही नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र ले लिये और उस घोड़ेको नगरमें प्रवेश कराया। इसके बाद वे वहीं ठहर गये। अश्वके दूर चले जानेपर श्रीकृष्णकी प्रेरणासे साम्ब तुरंत ही मार्ग प्रदान करनेवाली गहरी यमुना नदीको पार करके दस अक्षौहिणी सेना पीछे लिये, कवच बाँध, अक्रूर और युयुधान आदिके साथ रोषपूर्वक हस्तिनापुरकी ओर गये। इस प्रकार वे समस्त यादव हस्तिनापुरके निकट आ पहुँचे। उन्होंने देखा—घोड़ा चुरानेवाले कौरव सामने खड़े हैं। श्रीकृष्ण ही जिनके आराध्यदेव हैं तथा जो लोक और परलोक दोनोंपर विजय पानेके इच्छुक हैं, उन बलवान् यादवोंने कौरवोंको

देखकर उन सबको तिनकेके समान समझते हुए कहा—'अहो ! किसने हमारे घोड़ेको बाँधा है ? किसके ऊपर आज यमराज प्रसन्न हुए हैं और कौन युद्धस्थलमें नाराचोंद्वारा बड़ी भारी पीड़ा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक है ? अहो ! जिनके चरणोंमें देवता और दानव भी वन्दना करते हैं, जो पहले राजसूय यज्ञ कर चुके हैं, जिनकी समानता करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है तथा जो नरेशोंके भी ईश्वर हैं, उन वृष्णिकुलतिलक चक्रवर्ती राजाधिराज उग्रसेनको क्या वे राजा नहीं जानते, जो अपने ही विनाशके लिये घोड़ेको पकड़ रहे हैं ? हेमाङ्गद, इन्द्रनील, बक, भीषण और बल्वल—इन समस्त नरेशोंको हमने संग्रामभूमिमें पराजित किया है' ॥ २१–३२ ॥

यादवोंकी यह बात सुनकर कौरवोंके अधर क्रोधसे फड़क उठे। वे यादवोंकी ओर टेढ़ी आँखोंसे देखते हुए उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगे ॥ ३३ ॥

कौरवोंके अनुगामी बोले—हमलोगोंने ही घोड़ेको पकड़ा है। तुमलोग हमारा क्या कर लोगे ? हम अपने सायकोंद्वारा तुम सब यादवोंको यमलोक पहुँचा देंगे। उग्रसेन कितने दिनोंसे श्रीकृष्णके हाथसे राज्य पाकर घमंड करने लगा है ? हम उसे बाँधकर स्वयं राज्य करेंगे। अनिरुद्ध हमारे भयसे कहाँ भाग गया है ? बताओ, हम युद्धमें अपने बाणोंद्वारा उसकी पूजा करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ३४–३६ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! कौरवोंकी यह बात सुनकर यादव क्रोधसे मूर्च्छित हो उठे। उन्होंने कौरव-सैनिकोंके मुखोंपर धनुषसे अनेक बाण फेंके। उन बाणोंसे कितने ही कौरवोंकी जीभें कट गयीं, किन्हींके दाँत टूट गये और किन्हींके मुख छिन्न-भिन्न हो गये। वे अधिक मात्रामें रक्तवमन करते हुए घायल हो अपना क्षत-विक्षत मुँह लिये शीघ्र ही दुर्योधनके पास गये और पूछनेपर बताया कि यादवोंने हमारी यह दुर्दशा की है ॥ ३७–३९ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'कौरवोंद्वारा श्यामकर्ण अश्वका अपहरण' नामक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

उनचासवाँ अध्याय

यादवों और कौरवोंका घोर युद्ध

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! भीष्म, द्रोण और कृप आदिके साथ दुर्योधनने अपने वीरोंके भग्न हुए मुखोंको देखकर क्रोधपूर्वक कहा—'आश्चर्यकी बात है कि नीच यादव स्वयं मौतके मुखमें चले आये। क्या वे मूर्ख महाराज धृतराष्ट्रके महान् बलको नहीं जानते हैं ?' ॥ १-२ ॥

—ऐसा कहकर दुर्योधनने घोड़े, हाथी, रथ और पैदल-वीरोंसे युक्त अपनी चतुरङ्गिणी सेना युद्धमें यादवोंका सामना करनेके लिये भेजी। वह विशाल सेना दस अक्षौहिणियोंके द्वारा भूतलको कम्पित करती और शत्रुओंको डराती हुई बलपूर्वक आगे बढ़ी। उसे आती देख वीरोंसे विभूषित जाम्बवतीनन्दन साम्बने बड़े हर्ष और उत्साहसे अपनी सेनाको युद्धके लिये प्रेरणा दी ॥ ३–५ ॥

तब समस्त कौरव अपनी रक्षाके लिये क्रौञ्चव्यूहका निर्माण करके उसीमें सब-के-सब खड़े हो गये। उसके मुख-भागमें भीष्म खड़े हुए और ग्रीवाभागमें आचार्य द्रोण। दोनों पंखोंकी जगह कर्ण तथा शकुनि स्थित हुए और पुच्छ-भागमें दुर्योधन। उस क्रौञ्चव्यूहके मध्यभागमें चतुरङ्ग-सैनिकोंके साथ कौरवोंकी विशाल वाहिनी खड़ी हुई। यादवोंने जब शत्रुओंके लिये दुर्जय उस क्रौञ्चव्यूहका निर्माण हुआ देखा, तब वे युद्धसे शङ्कित हो उस क्रौञ्चव्यूहपर दृष्टि रखते हुए साम्बसे बोले—'तुम भी यत्नपूर्वक व्यूह बना लो।' साम्ब युद्धकी कलामें बड़े निपुण थे। उन्होंने अपने सैनिकोंकी व्यूह-रचना-विषयक बात सुनकर भी कौरवोंको कुछ न गिनते हुए रणक्षेत्रमें व्यूहका निर्माण नहीं किया ॥ ६–१० ॥

नरेश्वर ! जब दोनों ओरकी सेनाएँ युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ीं, तब दो घड़ीतक सारी पृथ्वी जोर-जोरसे काँपती रही। दोनों सेनाओंमें तत्काल रणभेरियाँ बज उठीं और शङ्खनाद होने लगे। सब ओर जगह-जगह धनुषोंकी टंकारें सुनायी देने लगीं। वहाँ हाथी चिग्घाड़ते और घोड़े हिनहिनाते थे। शूरवीर सिंहनाद करते और रथोंकी नेमियाँ (पहिये) घरघराहट उत्पन्न करती थीं। सैनिकोंकी पदधूलिसे युद्धस्थलमें अन्धकार छा गया। आकाश मलिन हो गया और

वहाँ सूर्यका दीखना बंद हो गया। फिर तो दोनों सेनाओंमें घोर घमासान युद्ध होने लगा। समराङ्गणमें उभय पक्षके सैनिक एक-दूसरेपर बाणों, गदाओं, परिघों, शतघ्नियों, शक्तियों तथा तीखे बाणोंका प्रहार करने लगे। गजारोही गजारोहियोंसे, रथी रथियोंसे, घुड़सवार घुड़सवारोंसे तथा पैदल-योद्धा पैदलोंसे जूझने लगे ॥ ११—१६ ॥

बाणोंसे अन्धकार छा जानेपर धनुर्धर वीर साम्ब बाणवर्षा करते हुए रणक्षेत्रमें भीष्मके साथ और अक्रूर कर्णके साथ युद्ध करने लगे। युयुधान शकुनिके साथ, सारण द्रोणाचार्यके साथ तथा सात्यकि संग्रामभूमिमें दुर्योधनके साथ शीघ्रता-पूर्वक लड़ने लगे। बली दुःशासनके साथ और कृतवर्मा भूरिके साथ भिड़ गये। इस प्रकार उनमें परस्पर भयंकर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। तब साम्बने अत्यन्त कुपित होकर अपने सुदृढ़ धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और शूरवीरोंके हृदयमें कम्प उत्पन्न करते हुए टंकार-ध्वनि की। उन्होंने पहले श्रीकृष्णको नमस्कार करके दस बाण छोड़े। अपने ऊपर आये हुए उन बाणोंको भीष्मने अपने सायकोंसे काट डाला। तब रणक्षेत्रमें साम्बने सिंहनाद करके पुनः दस सुवर्णमय बाण भीष्मके कवचपर मारे। चार सायकोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको यमलोक भेज दिया तथा दस बाणोंसे उनके प्रत्यञ्चासहित कोदण्डको खण्डित कर दिया। धनुष कट जाने तथा घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए भीष्मने सहसा उठकर बड़े रोषसे गदा हाथमें ली। तब साम्बने कहा—'आप पैदल हैं, अतः आपके साथ मैं युद्ध कैसे करूँगा ? मैं युद्धस्थलमें आपको दूसरा रथ दूँगा। कुरुश्रेष्ठ! आप समराङ्गणमें मुझसे सशस्त्र रथ लीजिये और मुझ मूढ़ निर्लज्जपर विजय पाइये। आप वृद्ध होनेके कारण मेरे लिये सदा पूजनीय ही हैं' ॥ १७—२६ ॥

यह सुनकर क्रोधसे भीष्मका अधर फड़कने लगा। वे दाँतोंसे दाँत पीसते और जीभसे ओठ चाटते हुए आँखें लाल करके साम्बसे बोले—'तुम्हारे दिये हुए रथपर बैठकर जब मैं युद्ध करूँगा तो मेरी अपकीर्ति होगी तथा मुझे पाप और नरक ही प्राप्त होगा। प्रतिग्रह तो ब्राह्मण लेते हैं। हमलोग तो दाता माने गये हैं। हमने पहले कृपा करके ही यादवोंको राज्य दिया था।' उनकी बात सुनकर साम्बने रोषपूर्वक उत्तर दिया—'भूतलपर किसी चक्रवर्ती शासकको विद्यमान देख मण्डलेश्वर राजालोग भयके कारण उन्हें अपना राज्य दे डालते हैं। (किंतु ऐसा करके वे दाता नहीं माने जाते।)' ॥ २७—३०½ ॥

नरेश्वर! साम्बका यह वचन सुनकर शूरशिरोमणि भीष्मने अपनी भारी गदासे साम्बके वक्षःस्थलपर प्रहार किया। उस गदाकी चोटसे व्यथित हो साम्ब मूर्च्छित हो गये। सारथिने उन्हें रथपर सँभालके लिटा दिया और उनके जीवनके लिये आशङ्कित हो वह उन्हें रणक्षेत्रसे बाहर हटा ले गया। नृपेश्वर! उसी समय यादव-सेनामें भारी कोलाहल मचा। भीष्म दूसरे रथपर आरूढ़ हो, कवच बाँध, शरासन हाथमें ले, मार्गमें यादवोंको मारते हुए शीघ्र ही दुर्योधनके पास जा पहुँचे। राजेन्द्र! उस संग्राममें सात्यकि-ने गीधकी पाँख लगे हुए चमकीले बाणोंद्वारा दुर्योधनको रथहीन कर दिया। रथहीन होनेपर भी दुर्योधन वेगपूर्वक दूसरे रथपर जा चढ़ा और विषधर सर्पके समान बाणोंद्वारा उसने अपने उस शत्रुको भी रथहीन कर दिया। नरेश्वर! शीघ्र पराक्रम प्रकट करनेवाले सात्यकिने भी दूसरे रथपर आरूढ़ हो एक बाण मारकर दुर्योधनके रथको चार कोस दूर फेंक दिया। आकाशसे उसका रथ भूतलपर गिरा और सारथि तथा घोड़ोंसहित अंगारके समान बिखर गया। उस रथसे गिरनेपर दुर्योधनको तत्काल मूर्च्छा आ गयी। तब अत्यन्त कुपित हुए द्रोणाचार्यने अपने शत्रु सारणको समराङ्गणमें छोड़कर अग्निमय बाणसे सात्यकिपर प्रहार किया। उस बाणसे सात्यकिका रथ घोड़ों और सारथिसहित जलकर भस्म हो गया और सात्यकि भी बाणकी ज्वालासे अङ्ग-अङ्ग झुलस जानेके कारण मूर्च्छित हो गये ॥ ३१—४० ॥

राजन्! तब कुपित हुआ कृतवर्मा समराङ्गणमें भूरिको परास्त करके द्रोणके ऊपर अधिक रुष्ट हो सिंहनाद करता हुआ आया। उस वीरने आते ही युद्धक्षेत्रमें रोषपूर्वक बाणों-की वर्षा करके आचार्य द्रोणको शस्त्रहीन एवं रथहीन कर दिया और उनका कवच भी काट डाला। तब कर्ण अत्यन्त कुपित हो उठा और उसने रणाङ्गणमें अक्रूरको छोड़कर कृतवर्माके ऊपर उसी प्रकार शक्तिसे प्रहार किया, जैसे स्वामी कार्तिकेयने तारकासुरको शक्तिसे चोट पहुँचायी थी। वह शक्ति कृतवर्माके शरीरका भेदन करके धरतीमें घुस गयी। हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण कृतवर्मा भूमिपर गिर पड़ा ॥ ४१—४४ ॥

राजेन्द्र! तब युयुधानने युद्धमें क्रोधपूर्वक शकुनिको परास्त करके रथद्वारा कर्णके ऊपर चढ़ाई की। उन्होंने आते ही अपने शरासनसे दस सायक छोड़े। उन सायकोंको अपने ऊपर आया देख कर्णने उनपर अपने सायकोंद्वारा प्रहार

किया। संग्राममूमिमें उन दोनोंके बाण परस्पर रगड़ उठे और चिनगारियाँ बरसाते हुए अलातचक्रकी भाँति आकाशमें घूमने लगे। पृथ्वीनाथ! तब युयुधानने क्रोध करके कर्णके कवचपर काकपक्षयुक्त तीखे बाण मारे। राजन्! वे बाण कर्णके कवचपर न लगकर उसी तरह पृथ्वीपर गिर गये, जैसे पापी स्वर्गमें न जाकर नरकमें ही गिरते हैं। युयुधान बड़े विस्मयमें पड़ गये और कर्णने हँसकर युद्धस्थलमें नाना प्रकारके शस्त्रोंसे योजित बाणोंद्वारा उन्हें रथहीन कर दिया। यह देख बलीने युद्धस्थलमें दुःशासनको मूर्च्छित करके अग्नितुल्य तेजस्वी रथके द्वारा कर्णपर आक्रमण किया। भास्कर-नन्दन कर्णने बलीको आया देख पवनास्त्रयुक्त बाणसे उन्हें रथसहित दूर फेंक दिया। बली एक योजन दूर जा गिरे। इतनेमें ही साम्ब रोषपूर्वक कौरवोंको मारते और बाणोंद्वारा अन्धकार प्रकट करते हुए फिर वहाँ आ पहुँचे॥ ४५—५३॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यादवों और कौरवोंके संग्रामका वर्णन' नामक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पचासवाँ अध्याय

कौरवोंकी पराजय और उनका भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर भेंटसहित अश्वको लौटा देना

श्रीगर्गजी कहते हैं—नृपेश्वर! उसी समय भोज, वृष्णि और अन्धक आदि समस्त यादव तथा मथुरा और शूरसेन-प्रदेशके महासंग्रामकर्कश एवं बलवान् योद्धा यमुनाजीको पार करके पैरोंकी धूलिसे आकाशको व्याप्त और पृथ्वीको कम्पित करते हुए वहाँ आ पहुँचे। घोड़ेको सब ओर देखते और खोजते हुए महाबलवान् श्रीकृष्ण आदि और अनिरुद्ध आदि महावीर भी आ गये। वृष्णिवंशियोंने दूरसे ही वहाँ युद्धका भयंकर महाघोष, कोदण्डोंकी टंकार, शतघ्नियोंकी गूँजती हुई आवाज, शूरोंकी सिंहगर्जना, शस्त्रोंके परस्पर टकरानेके चट-चट शब्द, कोलाहल और हाहाकार सुना। सुनकर वे बड़े ही विस्मित हुए। जब उन्हें मालूम हुआ कि यादवोंका कौरवोंके साथ घोर युद्ध छिड़ गया है तो अनिष्टकी शङ्का मनमें लिये अनिरुद्ध और श्रीकृष्ण आदि यदुकुलशिरोमणि महापुरुष बड़े वेगसे वहाँ आये। नरेश्वर! 'अनिरुद्ध आदिके साथ हमारी सहायता करनेके लिये सेनासहित श्रीकृष्ण आ पहुँचे हैं', यह देखकर साम्ब आदिने उनको प्रणाम किया। श्रीकृष्णके पधारने-पर रणभेरियाँ बजने लगीं, शङ्ख और गोमुखोंके शब्द गूँज उठे; आकाशमें स्थित देवता फूलोंकी वर्षा तथा भूतलपर विद्यमान यादव जय-जयकार करने लगे। 'समराङ्गणमें सौ अक्षौहिणी सेनाके साथ भूतलको कम्पित करते हुए महाबली अनिरुद्ध आ पहुँचे हैं'—यह देख कौरव-योद्धा भयसे भागने लगे। प्रलयकालके समुद्रकी भाँति उमड़ती हुई अन्धकवंशियोंकी उस विशाल वाहिनीको देखकर वैश्यलोग डरके मारे भाग गये। घर-घरमें अर्गला लग गयी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रीसमुदाय दुर्योधनको कोसते और गाली देते हुए घरसे निकल गये तथा रोदन करने लगे॥ १—११॥

तदनन्तर मूर्च्छा छोड़कर दुःशासनका बड़ा भाई दुर्योधन तत्काल सोकर उठे हुएके समान जाग उठा। उस समय यादव-सेनापर उसकी दृष्टि पड़ी। यादवोंकी वह विशाल सेना देखते ही दुर्योधन आशङ्कित हो गया और डरके मारे पैदल ही अपने नगरमें चला गया। कर्ण, भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भूरि और दुर्योधन आदिने सभाभवनमें जाकर धृतराष्ट्रको नमस्कार करके सारा हाल कह सुनाया। अपने पक्षकी पराजय, यादवोंकी विजय तथा श्रीकृष्णका शुभागमन सुनकर राजाने विदुरसे पूछा॥ १२—१५॥

धृतराष्ट्र बोले—वीर! सौ अक्षौहिणी सेना लेकर क्रोधसे भरे हुए वासुदेव श्रीकृष्ण यहाँ चढ़ आये हैं। ऐसी दशामें हमलोग क्या करें? यह बताओ॥ १६॥

महाराज धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर विदुर ठहाका मार-कर हँस पड़े और बोले॥ १६½॥

विदुरने कहा—महाराज! पहले तो अकेले बलरामजी ही कुपित होकर आये थे, जिन्होंने हस्तिनापुरीको हलसे खींचकर गङ्गाकी ओर झुका दिया, अब उन्हींके भाई आ पहुँचे हैं, जिन्होंने देवकीके हृदय-कमल-कोषसे अवतार ग्रहण किया है। वे श्रीकृष्ण साक्षात् श्रीहरि हैं। राजन्! जिन्होंने युद्धमें कंस और शकुनि आदि बहुत-से दैत्योंको मार गिराया तथा अनेकानेक नरेशों एवं देवताओंको भी परास्त किया है। इसलिये महाराज! देखिये, हमारे लिये यह

युद्धका समय नहीं है। आप कौरवोंद्वारा श्यामकर्ण अश्व श्रीकृष्णको लौटा दीजिये। इससे कौरवों और यादवोंका विनाशकारी युद्ध नहीं होगा ॥ १७–२०½ ॥

अपने भाई विदुरके इस प्रकार समझानेपर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंसे यह देशकालोचित बात कही ॥२१½॥

धृतराष्ट्र बोले—तुमलोग श्रीकृष्णके निकट जाकर घोड़ा लौटा दो। देवाधिदेव श्रीहरिके सामने युद्ध करना तुम्हारे बलबूतेके बाहर है। श्रीहरि यादवोंकी सहायताके लिये कुपित होकर आये हैं। तुम धीरेसे उनके निकट जाकर उन्हें प्रसन्न करो ॥ २२-२३½ ॥

कौरवेन्द्रका ऐसा आदेश सुनकर समस्त कौरव भयभीत हो गये। वे गन्ध, अक्षतसहित दिव्य वस्त्र और नाना प्रकारके रत्न आदि विविध उपचार लेकर बलराम और श्रीकृष्णके पवित्र नामोंका कीर्तन करते हुए सब-के-सब श्रीकृष्णके दर्शनार्थ पैदल ही गये। कौरवोंको आया देख यादव क्रोधसे भर गये और उन्होंने शीघ्र ही युद्धके लिये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र ले लिये। तब समस्त कौरवोंने उनसे कहा—'हमलोग युद्धके लिये नहीं आये हैं। हम भगवान् श्रीकृष्णका शुभ दर्शन करेंगे, जो समस्त दुःखोंका नाश करनेवाला है' ॥ २४–२८ ॥

उनकी यह बात सुनकर यादवोंको आश्चर्य हुआ। उन्होंने कौरवोंकी वह सारी चेष्टा भगवान् श्रीकृष्णको बतायी। नरेश्वर! तब श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर उन श्रेष्ठ यादव-वीरोंने निहत्थे आये हुए कौरवोंको प्रेमपूर्वक बुलाया। श्रीकृष्णके बुलानेपर वे उनके पास गये। उन सबके मुख लज्जासे नीचेको झुके हुए थे। उन्होंने पृथक्-पृथक् प्रणाम करके कहा ॥ २९–३१ ॥

सबसे पहले आचार्य द्रोण बोले—'जगदीश्वर श्रीकृष्ण! भद्र! मेरी रक्षा कीजिये। आपकी मायासे मोहित हुए इन कौरवोंको भी बचाइये'[1] ॥ ३२ ॥

कृपाचार्य बोले—मधुसूदन! कैटभनाशन! लोकनाथ! मेरे जन्मका यही फल है, यही हमारी प्रार्थनीय वस्तु है और यही मुझपर आपका अनुग्रह है कि आप मुझे अपने भृत्यके भृत्यके परिचारकके दासके—दासके दासका—दास मानकर इसी रूपमें याद रक्खें[2] ॥ ३३ ॥

कर्णने कहा—माधव! मेरा धन अपने भक्तके लिये क्षीण हो, अर्थात् उन्हींके काम आवे। मेरा यौवन अपनी ही पत्नीके उपयोगमें आवे तथा मेरे प्राण अपने स्वामीके कार्यमें ही चले जायँ और अन्तमें आप मेरे लिये प्राप्तव्य वस्तुके रूपमें शेष रहें[3] ॥ ३४ ॥

भूरि बोले—वरद! नाथ! हम आपसे कोई ऐसी वस्तु माँग रहे हैं, जो दूसरोंसे नहीं मिल सकती। यदि आपकी मुझपर सुमुखी दिव्य दृष्टि है तो वही दीजिये। देव! हमने आज विवश होकर आपके सामने यह अञ्जलि बाँधी है। जन्मान्तरमें भी मेरी यह अञ्जलि आपके सामने इसी प्रकार बँधी रहे[4] ॥ ३५ ॥

दुर्योधनने कहा—मैं धर्मको जानता हूँ, किंतु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं पापको भी समझता हूँ, किंतु उससे निवृत्त नहीं हो पाता हूँ। कोई देवता मेरे हृदयमें बैठकर मुझे जिस काममें लगाता है, मैं वही काम करता हूँ। मधुसूदन! यन्त्रके गुण-दोषसे प्रभावित न होकर मुझे क्षमा कीजिये। मैं यन्त्र हूँ और आप यन्त्री हैं (गुण-दोषका उत्तरदायी यन्त्री ही होता है, यन्त्र नहीं।), अतः आप मुझे दोष न दीजियेगा[5] ॥ ३६-३७ ॥

भीष्म बोले—योगीन्द्र! जिन्हें गोपियोंने रागान्ध होकर चूमा है, योगीन्द्र और भोगीन्द्र (शेषनाग जिनका मनसे सेवन करते हैं तथा जो कुछ-कुछ लाल कमलके समान कोमल हैं, उन्हीं

---

१. पूर्वं द्रोण उवाचाथ कृष्ण भद्र जगत्पते।
रक्ष मां कौरवान् रक्ष मायया तव मोहितान् ॥३२॥

२. कृपाचार्य उवाच—
मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्यभृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ ॥

३. कर्ण उवाच—
भक्तस्यार्थे धनं क्षीणं स्वदारागतयौवनम्।
स्वामिकार्ये गताः प्राणा अन्ते तिष्ठतु माधवः ॥३४॥

४. भूरिरुवाच—
याचामहे वरद किंचिदनन्यलभ्यं
नाथ प्रसीद सुमुखी यदि दिव्यदृष्टिः।
अस्माभिरञ्जलिरयं विवशैर्निबद्ध
एवैव मे भवतु देव भवान्तरेऽपि ॥३५॥

५. दुर्योधन उवाच—
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानामि पापं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥३६॥
यन्त्रस्य गुणदोषेण क्षम्यतां मधुसूदन।
अहं यन्त्रो भवान् यन्त्री मम दोषो न दीयताम् ॥ ३७ ॥

आपके इन चरणोंके लिये मेरी यह अञ्जलि जुड़ी हुई है[6] ॥ ३८ ॥

विदुरने कहा—जो लोग छोटे बालककी भाँति ब्रह्मका परिपालन करते हैं, अर्थात् जैसे माता-पिता बच्चेकी सदा सँभाल रखते हैं, उसी तरह जो निरन्तर ब्रह्म-चिन्तनमें लगे रहते हैं, उनके शुभाशुभ कर्म वैसे ही हैं, जैसे बेचनेवालोंकी वस्तुएँ। तात्पर्य यह है कि जैसे बिकी हुई वस्तुपर बिक्रेताका स्वत्व नहीं होता, उसी प्रकार अपने द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मपर ब्रह्मनिष्ठ पुरुष अहंता-ममताका भाव नहीं रखते हैं। (अतः उनके वे कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं।) ब्रह्म कैसा है ? इसके उत्तरमें इतना ही कहा जा सकता है कि वह दैत्य, देवता और मुनियोंके लिये मनसे भी अगम्य है। वेद 'नेति-नेति' कहकर उसका वर्णन करता है; किंतु उसको जान नहीं पाता। (प्रभो ! वह ब्रह्म आप ही हैं)[7] ॥ ३९ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! शरणमें आये हुए कौरवोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हो मेघके समान गम्भीर वाणीमें उनसे बोले ॥ ४० ॥

श्रीकृष्णने कहा—आर्यपुरुषो ! मेरी बात सुनिये। मैं नारदजीसे प्रेरित होकर यहाँ युद्ध रोकनेके लिये ही आया हूँ। मेरे पुत्र निरङ्कुश (स्वच्छन्द) हो गये हैं; अतः मेरी आज्ञा नहीं मानते हैं। ये बड़े-बड़े लोगोंका अपराध कर बैठते हैं, जो बड़ा भारी दोष है। आपलोग धन्य और माननीय हैं कि हमसे मिलनेके लिये आये हैं। मेरे पुत्रोंने जो कुछ किया है, वह सब आपलोग क्षमा कर दें। वीरो ! उग्रसेनका घोड़ा आपलोग कृपापूर्वक छोड़ दें और इसकी रक्षा करनेके लिये आपलोग भी चलें, अवश्य चलें। यादव और कौरव तो मित्र हैं। पहलेसे चले आते हुए प्रेम-सम्बन्धको दृष्टिमें रखकर इन्हें आपसमें कलह नहीं करना चाहिये ॥ ४१–४५ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने जब मीठे वचनोंद्वारा संतोष प्रदान किया, तब कौरवोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ बहुमूल्य भेंट-सामग्रीसहित अश्वको लौटा दिया। राजन् ! घोड़ा लौटाकर अन्य सब कौरव तो मन-ही-मन खेदका अनुभव करते हुए अपने नगरमें चले गये, परंतु भीष्मजीने यादव-सेनाके साथ अश्वकी रक्षाके लिये जानेका विचार किया ॥ ४६-४७ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'हस्तिनापुर-विजय' नामक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ अध्याय

यादवोंका द्वैतवनमें राजा युधिष्ठिरसे मिलकर घोड़ेके पीछे-पीछे अन्यान्य देशोंमें जाना तथा अश्वका कौन्तलपुरमें प्रवेश

श्रीगर्गजी कहते हैं—नृपेश्वर ! तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण यादवोंकी रक्षा करके सबसे मिल-जुलकर रथके द्वारा कुशस्थलीपुरीको चल दिये। उनके चले जानेपर अनिरुद्धने अश्वका यत्नपूर्वक पूजन किया और विजययात्राके लिये पुनः उसे बन्धनमुक्त कर दिया। छूटनेपर वह घोड़ा अनेकानेक देशोंको देखता हुआ तीव्र गतिसे आगे बढ़ा। राजेन्द्र ! उसके पीछे वृष्णिवंशी यादव भी वेगपूर्वक चले। दुर्योधनकी पराजय सुनकर दूसरे-दूसरे भूपाल महाबली श्रीकृष्णके भयसे अपने राज्यमें आनेपर भी उस घोड़ेको पकड़ न सके ॥ १–४ ॥

तदनन्तर यज्ञका वह घोड़ा इधर-उधर देखता-सुनता हुआ द्वैतवनमें जा पहुँचा, जहाँ राजा युधिष्ठिर भाइयों और पत्नीके साथ वनवास करते थे। उस द्वैतवनमें भीमसेन प्रतिदिन हाथियोंके समुदायोंके साथ उसी तरह क्रीडा करते थे, जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है। उन्होंने वहाँ उस घोड़ेको देखा। वह वन बड़ा ही विशाल और घना था। बरगद, पीपल, बेल, खजूर, कटहल, मौलसिरी, छितवन, तिन्दुक, तिलक, साल, ताल, तमाल, बेर, लोध, पाटल, बबूल, सेमर, बाँस और पलाश आदि वृक्षोंसे भरा था।

---

६. भीष्म उवाच—

रागान्धगोपीजनचुम्बिताभ्यां योगीन्द्रभोगीन्द्रनिषेविताभ्याम्। आताम्रपङ्केरुहकोमलाभ्यां ताभ्यां पदाभ्याममयमञ्जलिर्मे ॥ ३८ ॥

७. विदुर उवाच—

आस्तेऽतिविक्रयकृतां सुकृतानि तानि ये ब्रह्म बालमिव तत्परिपालयन्ति। यद्दैत्यदेवमुनिभिर्मनसाप्यगम्यं यन्नेति नेति च वदन्नहि वेद वेदः ॥ ३९ ॥

उस दुर्जर-निर्जन वनमें, जहाँ सूअर, हिरण, व्याघ्र, भेड़िये और सर्प रहते थे, जहाँ झींगुरोंकी झीनी झनकार गूँजती रहती थी, जिसमें गीध और चील आदि पक्षी रहा करते थे, बाँबीसे आधा शरीर निकाले हुए अगणित सर्प भरे थे; सियार, वानर, भैंसे, नीलगाय आदि जिस वनकी शोभा बढ़ाते थे तथा राजन् ! गवय, हाथी, भालू, बिलाव और वनमानुष आदिके रहनेसे जो बड़ा भयंकर प्रतीत होता था, उस वनमें उस घोड़ेको आया हुआ देख भयानक पराक्रमी भीमसेनने उसका केश पकड़ लिया । नरेश्वर ! भालपत्रसहित उस अश्वको अनायास ही काबूमें करके 'किसने इसे छोड़ा है'—ऐसी बात कहते हुए वे उसे लेकर धीरे-धीरे आश्रमकी ओर चले ॥ ५–१३½ ॥

राजन् ! उसी समय उस वनमें यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका बड़े कष्टसे अवलोकन करते हुए अनिरुद्ध आदि समस्त यादव वहाँ आ पहुँचे । घोड़ेको पकड़ा गया देख वे आपसमें कहने लगे—'अहो ! यह वनेचर तो भीमसेनके समान दिखायी देता है । बड़ी-बड़ी बाँहें, अत्यन्त पुष्ट शरीर, बहुत ऊँचा कद, लाल आँखें और महान् गौरवर्ण—सब उन्हींके समान हैं । यह कठिनाइयोंको झेलनेमें समर्थ है । इसके सारे अङ्गमें धूल लिपटी हुई है तथा इसने भीमकी ही भाँति गदा भी ले रक्खी है ।' परस्पर ऐसी बातें कहते हुए वे सब लोग फिर उस वनेचरसे बोले ॥ १४–१७ ॥

'अरे भाई ! तुम कौन हो ? राजाधिराजके इस अश्वको लेकर कहाँ जाओगे ? अतः शीघ्र इसे छोड़ दो, नहीं तो हम-लोग तुम्हें बाणोंसे मारेंगे' ॥ १८ ॥

उनकी यह बात सुनकर भीमने घने जंगलमें घोड़ेको बाँध दिया और दस हजार भार लोहेकी बनी हुई अपनी भारी गदा लेकर वे उनके सामने गये । पराक्रमी भीमने संग्राममें यादव-सैनिकोंको गदासे मारना आरम्भ किया । भीमकी चोट जिनपर पड़ गयी, वे सब यादव वहीं ढेर हो गये । उस वनेचरका पराक्रम देख अनिरुद्ध कुपित हो उठे । उन्होंने अपने उस शत्रुके ऊपर एक हजार मतवाले हाथी हाँक दिये । वे हाथी क्या थे, दिग्गज थे और पर्वतके शिखरके समान दिखायी देते थे । उन्होंने भीमसेनको पृथ्वीपर पटक दिया और दाँतोंसे दबाना आरम्भ किया । यह देख भीमसेन सहसा उठकर खड़े हो गये और क्रोधसे उनके ओठ फड़कने लगे । उन्होंने अपनी वज्र-सरीखी गदासे उन मतवाले हाथियोंको पीटना आरम्भ किया । किन्हींको उठाकर आकाशमें फेंक दिया और कितनोंको वहीं पृथ्वीपर दे मारा । कुछ हाथियोंको उन्होंने पैरोंसे मसल दिया और कितनोंको उठाकर दूसरे हाथियोंपर फेंक दिया । फिर तो सारे हाथी भयसे व्याकुल हो भागने लगे ॥ १९–२४½ ॥

तब अत्यन्त कुपित हो गदाधारी गद वहाँ आ पहुँचे । निकट जाकर उन्होंने भीमसेनको पहचान लिया । फिर भी मनमें शङ्का बनी रही । अतः उन्होंने नमस्कार करके पूछा—'हे वीर ! तुम कौन हो ? यह मेरे सामने ठीक-ठीक बताओ' ॥२५-२६॥

वे बोले—'हे गद ! मैं भीमसेन हूँ । हमारे शत्रु दुर्योधनने हमें जुएमें जीतकर नगरसे निकाल दिया । यहाँसे एक योजन-की दूरीपर भाइयोंसहित युधिष्ठिर वनवास करते हैं । देखो न, यह भगवान्‌की कैसी विचित्र माया है । वनमें निवास करते हुए आठ वर्ष बीत गये हैं । अभी चार वर्ष शेष हैं । इसके बाद हमें पुनः एक वर्षतक अज्ञातवास करना होगा । अर्जुन इन्द्रके बुलानेसे स्वर्गलोकमें गये हैं । मैं नहीं जानता कि वे इस भूतलपर कबतक लौटेंगे । गद ! तुम हमें यादवोंका कुशल-समाचार बताओ । यह किस राजाका घोड़ा है ? और तुमलोग किसलिये यहाँ आये हो ?'—ऐसा कहकर भीमसेन दुर्योधनके दिये हुए क्लेशोंको याद करके दुखी हो अश्रुधारा बहाते हुए रोने लगे ॥ २७–३२ ॥

उनकी ये बातें सुनकर गद भी दुखी हो गये और भीमको आश्वासन देकर उन्होंने सारी बातें विस्तारपूर्वक कह सुनायीं । वह सब सुनकर भीमसेनको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे अनिरुद्ध आदि श्रेष्ठ यादव-वीरोंको साथ लेकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरके समीप गये । राजन् ! यादवोंका आगमन सुनकर अजातशत्रु युधिष्ठिरको बड़ा हर्ष हुआ और वे नकुल आदिके साथ उनकी अगवानीके लिये आश्रमसे बाहर निकले । नरेश्वर ! समस्त यादवोंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और युधिष्ठिरने उन्हें उत्तम आशीर्वाद दे बड़ी प्रसन्नताके साथ उन सबको द्वैतवनमें ठहराया । राजा युधिष्ठिरने सूर्यदेवकी दी हुई बटलोईके प्रभावसे वहाँ आये हुए सब अतिथियोंको यथायोग्य उनकी रुचिके अनुरूप भोजन दिया । परंतप ! वहाँ एक रात रहकर प्रातःकाल प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध पाण्डवोंको यज्ञका निमन्त्रण दे, घोड़ेको मुक्त कराकर यादवों-के साथ वहाँसे शीघ्र चल दिये और घोड़ेके पीछे-पीछे सारस्वत-देशोंमें गये ॥ ३३–३९ ॥

राजन् ! बहुत-से वीर-विहीन देशोंको छोड़कर वह अश्वराज इच्छानुसार विचरता हुआ कौन्तलपुरमें गया । महाराज ! उस नगरमें 'चन्द्रहास' नामक वैष्णव राजा राज्य करता था, जो केरल-देशके राजाका पुत्र था और कुलिन्दने उसका पालन किया था । वह भगवान् श्रीकृष्णके प्रसादसे वहाँ राज्य करता था । राजन् ! भक्त चन्द्रहासकी कथा 'जैमिनी महाभारत'में वर्णित है । नारदजीने अर्जुनके सामने चन्द्रहासके जीवनवृत्तका विस्तारपूर्वक वर्णन किया था । उस कौन्तलपुरमें सब लोग श्रीकृष्णके भक्त होकर रहते हैं । वे सब-के-सब ब्राह्मणभक्त, पुण्यपरायण, परस्त्री-पराङ्मुख, अपनी ही पत्नीमें अनुराग रखनेवाले तथा सतत श्रीकृष्णकी समाराधनामें संलग्न रहनेवाले थे । वे गोविन्दकी गाथाएँ और पुराण-कथा सुनते तथा बड़े आनन्दसे श्रीराधा और माधवके नाम जपते थे । वहाँके द्विज दो ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करते, तुलसीकी मालाएँ पहनते और गोपीचन्दन, केसर तथा हरिचन्दनसे चर्चित रहते थे । वे सब ललाटमें श्याम-बिन्दु धारण करते । उनमेंसे कोई-ही-कोई ऐसे थे, जो श्रीतिलक लगाते थे । वहाँके सभी वैष्णव बारह तिलक और आठ मुद्राएँ धारण करते थे । ब्राह्मण आदि वर्णके गृहस्थलोग प्रतिदिन प्रातःकाल गोपीचन्दनसे युक्त शीतल मुद्रा धारण करते थे । कोई-कोई विरक्त और संन्यासी साधु अग्नि-संस्कारके लिये तप्तमुद्रा धारण करते थे । उस नगरमें इधर-उधर देखता हुआ वह घोड़ा राजभवनमें जा पहुँचा, जहाँ राजा चन्द्रहास चन्द्रमाके समान शोभा पाता था ॥ ४०—५० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'अश्वका कौन्तलपुरमें गमन' नामक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

बावनवाँ अध्याय

श्यामकर्ण अश्वका कौन्तलपुरमें जाना और भक्तराज चन्द्रहासका बहुत-सी भेंट-सामग्रीके साथ अश्वको अनिरुद्धकी सेवामें अर्पित करना और वहाँसे उन सबका प्रस्थान

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! वहाँ आये हुए घोड़ेको देखकर यजचन्द्र श्रीकृष्णके दास राजा चन्द्रहासने उसे तत्काल पकड़ लिया और प्रसन्नतापूर्वक उसके भालपत्रको पढ़ा । नरेश्वर ! उस पत्रको पढ़कर उस महाभगवद्भक्त नरेशने कहा—'अहो ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि मैं आज भगवान् श्रीकृष्णके पौत्रको अपने नेत्रोंसे देखूँगा । पता नहीं, पूर्वकालमें मेरेद्वारा कौन-सा ऐसा पुण्य बन गया है, जिससे मुझे श्रीकृष्णतुल्य यदुकुलतिलक अनिरुद्धके दर्शनका अवसर मिल रहा है । मैंने आजतक मायासे मानव-शरीर धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन नहीं किया है । इसलिये मैं प्रद्युम्नकुमारके साथ द्वारका जाऊँगा और वहाँ श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा उन महाराज उग्रसेनका भी दर्शन करूँगा, जो भगवान् श्रीकृष्णसे भी पूजित हैं' ॥ १—४½ ॥

—ऐसा कहकर राजा चन्द्रहास गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि उपचार, दिव्य वस्त्र, दिव्य रत्न और उस घोड़ेको भी साथ लेकर माला-तिलकसे सुशोभित समस्त पुरजनोंसहित अनिरुद्धका दर्शन करनेके लिये नगरसे बाहर निकला । गीत और बाजोंकी मङ्गलमयी ध्वनिके साथ राजा पैदल ही गया ॥ ५—७ ॥

नरेश्वर ! नागरिकोंसहित राजाको आया देख अनिरुद्धको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे मन्त्री उद्धवजीसे पूछने लगे ॥ ८ ॥

अनिरुद्धने कहा—महामन्त्रिन् ! यह कौन राजा है, जो समस्त पुरवासियोंके साथ हमसे मिलनेके लिये आया है ? आप इसका वृत्तान्त हमें बतावें ॥ ९ ॥

उद्धव बोले—प्रद्युम्नकुमार ! यह केरलके राजाका पुत्र 'चन्द्रहास' नामक नरेश है । इसके माता-पिता बचपनमें ही परलोकवासी हो गये; अतः कुलिन्दने इसका पालन किया है । यह बाल्यावस्थासे ही भगवान् श्रीकृष्णका भक्त है और उन्होंने ही इसकी रक्षा की है । दुष्टबुद्धिवाले मन्त्रीकी पुत्रीके साथ इसने विवाह किया है । कुन्तल-देशके राजा इसे अपना राज्य देकर वनमें चले गये थे । उस राजाका वृत्तान्त मैंने द्वारकामें श्रीकृष्णके ही मुखसे सुना था । उसे दर्शन देनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं यहाँ पधारेंगे ॥ १०—१२½ ॥

उद्धवकी यह बात सुनकर यादवप्रवर अनिरुद्ध चकित हो गये । समस्त पुरवासियोंसे घिरे हुए राजा चन्द्रहासने अनिरुद्धके निकट जाकर श्यामकर्ण घोड़ा दिया और प्रसन्नतापूर्वक बहुत धन-राशि भी भेंट की । पचास हजार

हाथी, एक लाख रथ, एक करोड़ घोड़े, एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ, एक हजार गवय, एक हजार शिबिकाएँ, दस लाख धेनु, दस हजार प्रत्यञ्चा, एक करोड़ भर सोना, चार करोड़ भर चाँदी और एक लाख आभूषण—उस राजाने माधव अनिरुद्धको भेंटमें दिये ॥ १२—१७ ॥

चन्द्रहासने कहा—जो समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ, श्रीकृष्णपौत्र, लोकेश्वर, प्रद्युम्नपुत्र, यदुकुलतिलक तथा पूर्ण परमात्मदेव हैं, उन अनिरुद्धको बारंबार मेरा नमस्कार है ॥ १८ ॥

भक्तका यह वचन सुनकर प्रसन्न हुए प्रद्युम्नकुमारने उसकी प्रशंसा करके उसे एक देदीप्यमान रत्नमाला अर्पित की । राजेन्द्र ! चन्द्रहासने अपने राज्यपर मन्त्रीको नियुक्त करके अपने नगरसे यादवोंके साथ जानेका विचार किया । वे समस्त श्रेष्ठ यादव उस नगरमें एक रात रहकर प्रातःकाल चन्द्रहासके साथ वहाँसे प्रस्थित हो गये । भालपत्रसे सुशोभित घोड़ा उनके आगे-आगे चला और सैकड़ों आवर्तों (भँवरों) से व्याप्त 'सतवती'के पास जा पहुँचा । वह नदी अपनी तरङ्गोंसे तटभूमिको तोड़ रही थी । उसका वेग बहुत प्रबल था और उसे पार करना सबके लिये कठिन था । उसके किनारे बहुत-सी नौकाएँ बँधी थीं । उस नदीका दर्शन करके वीर प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्धने सौ अक्षौहिणी सेनाके साथ उसके पार जानेका विचार किया ॥ १९—२३½ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अनिरुद्ध पहले साम्ब आदिसे घिरकर हाथीपर सवार हुए और नाव छोड़कर उन्होंने नदीके जलमें प्रवेश किया । पहले तो उसका जल उस सेनासे मथित होकर गँदला हो गया । फिर वह नदी पङ्किल भूमिमात्र रह गयी । यह विचित्र घटना घटित हुई । समस्त यादव हँसते हुए बड़े विस्मयमें पड़ गये ॥ २४—२६ ॥

तदनन्तर वह घोड़ा धीरे-धीरे आगे बढ़ा और जाते-जाते जहाँ सिन्धु नदी एवं समुद्रके मध्यमें नारायण-सरोवर है, वहाँ पहुँच गया । वह प्याससे व्याकुल हो रहा था । उसने उस तीर्थका जल पिया । इतनेमें ही अनिरुद्ध आदि समस्त यादव वहाँ आ गये । उन्हें मार्गमें धर्मद्वेषी नीच म्लेच्छोंसे लोहा लेना पड़ा और उन्हें परास्त करके वे वहाँ आये थे । वहाँ घोड़ेको देखकर उन सबने नारायण-सरोवरमें स्नान किया ॥ २७—२९ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

तिरपनवाँ अध्याय

उद्धवकी सलाहसे समस्त यादवोंका द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान तथा अनिरुद्धकी प्रेरणासे उद्धवका पहले द्वारकापुरीमें पहुँचकर यात्राका वृत्तान्त सुनाना

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज ! राजा उग्रसेनका घोड़ा बड़े-बड़े वीर नरेशोंका दर्शन करता तथा भारतवर्षमें विचरता हुआ अन्यान्य राज्योंमें गया । प्रजानाथ ! इस तरह भ्रमण करते हुए उस अश्वको बहुत काल व्यतीत हो गया और फाल्गुनका महीना आ पहुँचा, जो सबको घरकी याद दिलानेवाला है । फाल्गुन मास आया हुआ देख अनिरुद्ध शङ्कित हो गये और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मन्त्रिप्रवर उद्धवसे बोले ॥ १—३ ॥

अनिरुद्धने कहा—मन्त्रिप्रवर ! यादवराज उग्रसेन चैत्रमें ही यज्ञ करेंगे । हमलोग क्या करें ? अब अधिक दिन शेष नहीं रह गये हैं । इस भूतलपर अश्वका अपहरण करनेवाले राजा कितने शेष रह गये हैं, मैं सुनना चाहता हूँ । आप शीघ्र उनके नाम बतावें ॥ ४-५ ॥

उद्धव बोले—हरे ! अब भूतलपर या आकाशमें अश्वका अपहरण करनेवाले शूरवीर शेष नहीं रह गये हैं । इसलिये अब तुम सोनेके द्वारोंसे अलंकृत द्वारवाली यादवोंकी द्वारकापुरीको चलो ॥ ६ ॥

उनकी यह बात सुनकर अनिरुद्धको बड़ा हर्ष हुआ । राजन् ! अनिरुद्धने अश्वके आगे भी उद्धवजीकी कही हुई बात दोहरायी । इस प्रकार अनिरुद्धका कथन सुनकर वह सर्वज्ञ अश्व उसी तरह शीघ्रतापूर्वक द्वारकाको चल दिया, जैसे लङ्कासे लौटे हुए हनुमान्‌जी बड़े वेगसे किष्किन्धापुरीमें आये थे । नरेश्वर ! उसके पीछे-पीछे भानु और साम्ब आदि शूरवीर वायु तथा मनके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा दौड़ने लगे । उन सब लोगोंने अश्वके अपहरणकी आशङ्कासे

अश्वको पकड़कर सोनेकी रस्सियोंसे बाँध दिया और उसे सेनाके बीचमें करके अपनी पुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ७—१० ॥

गाजे-बाजेकी आवाजके साथ दुन्दुभियाँ बजवाते, पृथ्वीको कम्पित करते तथा दुष्ट शत्रुओंके मनमें त्रास भरते हुए यादवगण आगे बढ़ रहे थे। यादवोंके साथ जाते हुए उस घोड़ेको देखकर नारदजी नया कलह या विवाद खड़ा करनेके लिये दूतकी भाँति इन्द्रके पास गये। उनके सामने घोड़ेका वृत्तान्त उन्होंने विस्तारपूर्वक कहा। राजेन्द्र ! वह वृत्तान्त सुनकर इन्द्रने उस घोड़ेको चुरा ले जानेका विचार किया। वे शीघ्र ही अदृश्य होकर अश्वको देखनेके लिये भूतलपर आये। अहो ! भगवान् विष्णुकी मायासे सब देवता भी मोहित रहते हैं। कुबेर, ब्रह्मा और इन्द्र आदि भी जब भगवान्‌की मायासे मोहित हो जाते हैं, तब भूतलके साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ! इन्द्रने वहाँ जाकर वृष्णिवंशियोंकी सम्पूर्ण सेनाका निरीक्षण किया। वह सेना प्रलयकालके समुद्रकी भाँति भयंकर तथा करोड़ों शूरवीरोंसे भरी हुई थी। यादवोंकी उस उद्भट एवं विशाल सेनाको देखकर इन्द्र डर गये। राजन् ! श्रीकृष्णके भयसे देवेन्द्र अविलम्ब इन्द्रावतीपुरीको लौट गये। यह भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा थी, जिससे उन्होंने युद्धकी आशा छोड़कर चुपचाप बैठ रहनेकी नीति अपनायी ॥ ११—१७ ॥

अनेक चतुरङ्गिणी टुकड़ियोंसे युक्त हो यात्रा करती हुई महात्मा अनिरुद्धकी वह विशाल सेना हाथियों, रथों, घोड़ों और पैदल वीरोंके द्वारा स्वर्गलोकमें इन्द्रकी सेनाके समान सुशोभित हो रही थी। सम्पूर्ण हाथी अलग हो गये। रथ, घोड़े और पैदल भी अलग-अलग होकर चलने लगे। श्रीकृष्णके पुत्रगण हर्षोल्लाससे भरकर द्वारकाके पथका अनुसरण कर रहे थे। वे जम्बूद्वीपके विजेता थे और लोक-परलोक—दोनोंपर विजय पाना चाहते थे। राजन् ! वे श्रेष्ठ यादव अग्रगामी वाहन—श्यामकर्ण अश्वको आगे करके भाँति-भाँतिके बाजे बजाते तथा नाच-गान आदि मङ्गल करते हुए आ रहे थे ॥ १८—२१ ॥

नरेश्वर ! साम्ब आदि श्रीकृष्णपुत्रों तथा इन्द्रनील एवं चन्द्रहास आदि महान् भूपालोंसे विभूषित हो अनिरुद्धने आनर्तदेशमें प्रवेश करके साम्बकी अनुमतिसे उद्धवजीको द्वारका भेजा। अभी वह पुरी वहाँसे दो योजन दूर थी। उनके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो उद्धवजी उन रुक्मवतीकुमार अनिरुद्धको नमस्कार करके शीघ्र ही एक शिबिकापर आरूढ़ हुए और हर्षपूर्वक पुरीकी ओर चल दिये, जहाँ मुनियोंसे घिरे हुए महाराज उग्रसेन सभामण्डपमें भूषित श्रेष्ठ पिण्डारक क्षेत्रमें निवास करते थे। राजन् ! जहाँ वसुदेव आदि, बलराम और श्रीकृष्ण आदि तथा बलवान् प्रद्युम्न आदि प्रतिदिन यज्ञकी रक्षा करते थे, वहाँ उद्धवजी राजसभामें गये। उन्होंने यादवेन्द्र उग्रसेनको प्रणाम करके वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण तथा प्रद्युम्न आदि समस्त उत्तम यादवोंको यथायोग्य प्रणाम किया और उनके सामने खड़े हो गये। उन्हें देखकर सबका मन प्रसन्न हो गया। फिर उनके पूछनेपर उद्धवने सब वृत्तान्त बताया ॥ २२—२८ ॥

उद्धव बोले—राजेन्द्र ! आपका श्यामकर्ण अश्व निर्विघ्न लौट आया। अनिरुद्ध आदि श्रेष्ठ यादव भी कुशलपूर्वक आ गये हैं। गोविन्दकी कृपासे राजा इन्द्रनील और हेमाङ्गद आये हैं। स्त्रीराज्यकी साम्राज्ञी सुरूपा भी आ पहुँची है। भीषणसहित बक भी युद्धमें परास्त हुआ है। बिन्दु और अनुशाल्व—ये दो वीर अपने-अपने नगरसे पधारे हैं। 'पाञ्चजन्य' नामक उपद्वीपमें असुरोंसहित बल्वलको जीत लिया गया है। उस युद्धमें भगवान् शंकरने रुष्ट होकर अनिरुद्ध और सानन्दनका वध कर दिया था तथा और भी बहुतसे यादव मार डाले थे; किंतु भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ पहुँचकर समस्त यादवोंको जीवनदान दिया। अतः यह ध्यान देनेयोग्य है कि श्रीकृष्णकी कृपासे ही हम सब लोग सकुशल लौटे हैं। समस्त कौरव परास्त हो गये और श्रीकृष्णजी हमारे साथ ही यहाँ पधारे हैं। हमने हस्तिनपुरमें दुःखपीड़ित पाण्डवोंको देखा और व्रजमें श्रीकृष्ण-विरहसे व्याकुल गोपाङ्गनाओंका भी दर्शन किया। जो बाल्यावस्थासे ही भगवान् श्रीकृष्णका भक्त है, वह राजा चन्द्रहास भी हमारे साथ यहाँ आया है। और भी बहुत-से भूपाल आपके भयसे यहाँ आये हैं ॥ २९—३२ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज ! उद्धवजीके मुखसे इस प्रकार श्रीकृष्णके पुत्रोंका गान सुनकर यादवेश्वर उग्रसेन प्रेमसे विह्वल हो कुछ बोल न सके। वे आनन्दके महासागरमें मग्न हो गये। उन्होंने उद्धवको मणिमय हार दिया। रत्न, वस्त्र, शिबिका, हाथी, घोड़े और रथ भी दिये। तब भगवान् श्रीकृष्णने शीघ्र ही उठकर हर्षोल्लाससे पूरित हो

भरी सभामें मित्र उद्धवसे मिलकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। इसके बाद हर्षसे भरे हुए उग्रसेनने गोविन्दसे कहा—'श्रीकृष्ण! तुम यादवोंके साथ अनिरुद्धको ले आनेके लिये जाओ' ॥ ३७–४० ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहितामें अश्वमेधखण्डके अन्तर्गत 'उद्धवका आगमन' नामक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चौवनवाँ अध्याय

वसुदेव आदिके द्वारा अनिरुद्धकी अगवानी; सेना और अश्वसहित यादवोंका द्वारकापुरीमें लौटकर सबसे मिलना तथा श्रीकृष्ण और उग्रसेन आदिके द्वारा समागत नरेशोंका सत्कार

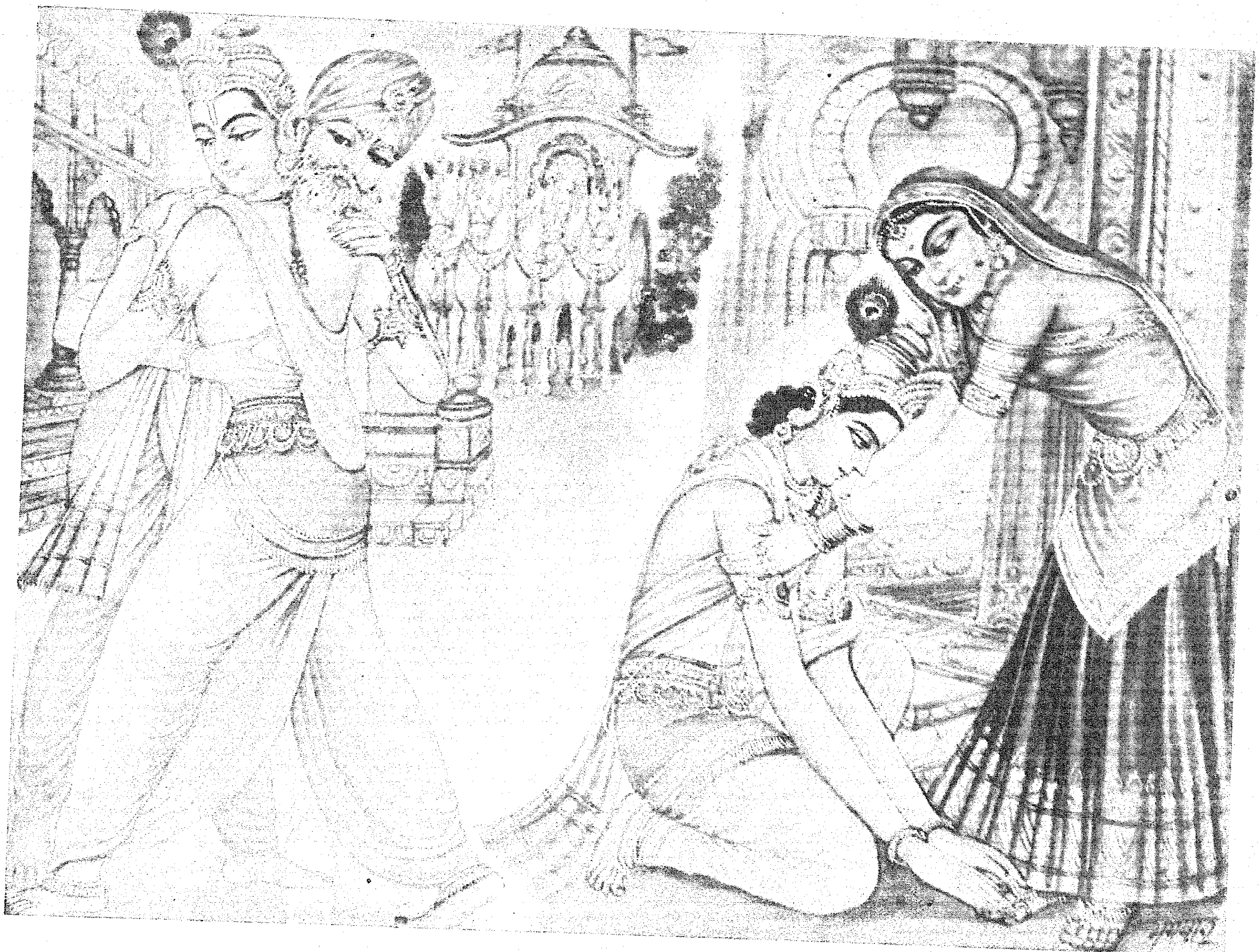
श्रीगर्गजी कहते हैं—नरेश्वर! तदनन्तर उग्रसेनके आदेशसे वसुदेव आदि समस्त श्रेष्ठ यादव विजय-यात्रासे लौटे हुए अनिरुद्धको लानेके लिये द्वारकापुरीसे निकले। वे हाथी, घोड़ों, रथों और शिबिकाओंपर बैठे थे। नृपेश्वर! उनके साथ बलदेव, श्रीकृष्ण आदि, प्रद्युम्न आदि तथा उद्धव आदि हाथीपर आरूढ़ हो श्यामकर्ण अश्वको देखनेके लिये निकले। नृपश्रेष्ठ! श्रीकृष्ण और बलरामकी माताएँ, देवकी आदि नारियाँ विचित्र शिबिकाओंपर बैठकर नगरसे निकलीं। भगवान् श्रीकृष्णकी जो रुक्मिणी और सत्यभामा आदि पटरानियाँ तथा सोलह हजार अन्य रानियाँ थीं, वे सब-की-सब शिबिकाओंपर आरूढ़ हो उन लोगोंके साथ गयीं। नृपेश्वर! बहुत-सी कुमारियाँ भी हाथियोंपर बैठकर लावा, मोती और फूलोंकी वर्षा करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक गयीं। पनिहारिनें (पानी ढोनेवाली स्त्रियाँ) जलसे भरे हुए कलश लेकर निकलीं। सौभाग्यवती ब्राह्मणपत्नियाँ गन्ध, पुष्प, अक्षत और दूर्वाङ्कुर लेकर गयीं। रूपवती वाराङ्गनाएँ सब प्रकारके शृङ्गारोंसे सुशोभित हो श्रीहरिके गुणोंका गान करती हुई नृत्य करनेके लिये निकलीं। समस्त यादव शङ्खनाद, दुन्दुभियोंके शब्द और वेदमन्त्रोंके घोषके साथ एक गजराजको आगे करके गर्गाचार्य आदि मुनियों सहित अपनी पुरीकी शोभा निहारते हुए गये। द्वारकापुरी ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत थी। उसकी सड़कोंपर सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया था। पुरीका प्रत्येक भवन केलेके खम्भों और वन्दनवारोंसे शोभित था। रत्नमय दीपों और भाँति-भाँतिके चँदोवोंसे द्वारकापुरी उद्दीप्त हो रही थी। वहाँकी दिव्य नारियाँ और दिव्य पुरुष सुनहरे रंगके पीताम्बर धारण किये नगरकी शोभा बढ़ाते थे। पक्षियोंके कलरव और अगुरुकी गन्धसे व्याप्त धूम-जालसे श्रीकृष्णकी वह नगरी इन्द्रकी अमरावतीपुरीके समान सुशोभित थी ॥ १—११ ॥

इस तरह नगरीकी शोभा-सजाका अवलोकन करते हुए यादव शीघ्र उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ श्यामकर्ण अश्वसहित अनिरुद्ध सेनासे घिरे हुए विराजमान थे। उन गुरुजनोंको आये देख अनिरुद्ध अपने रथसे उतर गये और यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको आगे करके अन्यान्य नरेशोंके साथ पैदल ही चलने लगे। पहले उन्होंने यदुकुलके आचार्य गर्गमुनिको नमस्कार किया। तत्पश्चात् वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण और अपने पिता प्रद्युम्नको प्रणाम करके वह अश्व उन्हें अर्पित कर दिया। उन सब लोगोंने प्रसन्न होकर प्रेमपूर्ण हृदयसे अनिरुद्धको शुभाशीर्वाद दिया और कहा—'वत्स! तुमने बड़ा अच्छा किया कि समस्त शत्रु-नरेशोंको जीतकर यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको एक वर्षके भीतर ही यहाँ वापस ला दिया' ॥ १२—१५½ ॥

उन सबका यह वचन सुनकर अनिरुद्ध नेत्रोंमें आँसू भरकर देखते हुए बोले—'पितृवर! आपकी कृपासे ही मार्गमें और प्रत्येक युद्धमें बहुत-से शत्रुओंद्वारा पकड़ा जानेपर भी यह अश्व उनसे छुड़ा लिया गया है। गुरुके अनुग्रहसे ही मनुष्य सुखी होता है। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक गुरुदेवका पूजन करना चाहिये' ॥ १६—१८॥

इसके बाद अन्य सब भूपाल बलराम और श्रीकृष्णके समीप आये तथा सब लोगोंने प्रसन्न एवं प्रेममग्न होकर अलग-अलग बारी-बारीसे उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उन समस्त भूपालोंको नतमस्तक देख बलरामसहित श्रीकृष्णने चन्द्रहास, भीष्म, बिन्दु, अनुशाल्व, हेमाङ्गद और इल्वलीक आदि सबको बड़े हर्षके साथ हृदयसे लगाया। अतः श्रीकृष्णभक्तसे बढ़कर दूसरा कोई इस भूतलपर नहीं है ॥ १९—२१ ॥

नृपेश्वर! तदनन्तर उस यात्रासे विजयी होकर लौटे हुए अनिरुद्धको हाथीपर बिठाकर वसुदेवजी



नन्दरायका श्रीकृष्णको हृदयसे लगाना [गर्ग० अ० अ० ४०

माता यशोदाके चरणोंमें आँसू बहाते हुए श्रीकृष्ण [अ० ४०

समस्त यादवों तथा मुदित पुत्र-पौत्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक कुशस्थलीपुरीमें गये । उस समय देवाङ्गनाएँ उन सबके ऊपर फूलों और मकरन्दोंकी वर्षा करने लगीं तथा हाथियोंपर बैठी हुई कुमारियोंने खीलों और मोतियोंकी वृष्टि की । वे सब लोग नृत्य, वाद्य, गीत और वेदमन्त्रोंके घोषसे सुशोभित हो, जिसकी सड़कोंपर छिड़काव किया गया था, उस द्वारकापुरीकी शोभा निहारते हुए पिण्डारकक्षेत्रमें गये । सब राजा यादवोंके उस देवदुर्लभ वैभवको देखकर आश्चर्यचकित हो अपने-अपने वैभवकी निन्दा करने लगे । उन्होंने यज्ञस्थलको भी देखा, जो घीकी सुगन्धसे भरे धूमजाल तथा ब्राह्मणोंके मन्त्रघोषसे व्याप्त था । फिर वहाँ असिपत्र-व्रतधारी यदुकुलतिलक महाराज उग्रसेनको भी उन्होंने देखा, जो देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी, जितेन्द्रिय, हृष्ट-पुष्ट और दीप्तिमान् थे । वे कुशासनपर बैठे बड़े सुन्दर लग रहे थे । उन्होंने नियम-निर्वाहके लिये आभूषण उतार दिये थे । हाथमें मृगका शृंग ले रक्खा था और अपनी रानीके साथ मृगछालापर ही वे विराजमान थे, जो उक्त कुशासनके ऊपर बिछा था । महाराज उग्रसेन घृत, गन्ध और अक्षत आदिसे यज्ञमण्डपमें अग्निकी पूजा कर रहे थे । उनके साथ ऋषि-मुनि बैठे थे और उनके नेत्र धुआँ लगनेके कारण लाल हो गये थे ॥ २२—२९ ॥

अनिरुद्ध आदि यादवोंने वाहनोंसे उतरकर यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको आगे करके बड़ी प्रसन्नताके साथ महाराजको पृथक्-पृथक् प्रणाम किया । इसके बाद यादवराज श्रीउग्रसेनने उन समस्त नरेशों और यादवोंका अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य सम्मान किया । तत्पश्चात् अनिरुद्धने शीघ्रतापूर्वक नमस्कार करके, दोनों हाथ जोड़कर सबके सुनते हुए उन जम्बूद्वीपके स्वामी महाराज उग्रसेनसे कहा ॥ ३०—३२ ॥

अनिरुद्ध बोले—महाराज ! इनकी ओर देखिये । ये नरपतियोंमें श्रेष्ठ राजा इन्द्रनील बड़े प्रेमसे आपके चरणोंमें पड़े हैं; आप देवताकी भाँति इन्हें उठाइये । हेमाङ्गद, अनुशाल्व, किन्तु, श्रीचन्द्रहास तथा ये देवव्रत भीष्मजी भी आपके समीप आये हैं; आप इनपर दृष्टिपात कीजिये । ये मेरे रक्षक जाम्बवतीनन्दन साम्ब पधारे हैं; इनकी ओर देखिये । श्रीरुद्रदेवने इनको और मुझको भी मार डाला था, किंतु परमात्मा श्रीकृष्णने हमें जीवन-दान दिया । इसी तरह रुद्रद्वारा मारे गये और श्रीकृष्ण-कृपासे जीवित हुए, इन सुनन्दनपर भी दृष्टिपात कीजिये और अन्य समस्त यादवोंको भी देखिये, जो श्रीकृष्ण-कृपासे ही यहाँ लौटकर आये हैं । निर्विघ्न लौटे हुए इस यज्ञके घोड़ेको ग्रहण कीजिये तथा आपने युद्धके लिये जो तलवार दी थी, उसको भी ले लीजिये । आपको नमस्कार है ॥ ३३—३७ ॥

अनिरुद्धका यह वचन सुनकर यादवराज उग्रसेन बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उनकी प्रशंसा करके अन्यान्य नरेशोंको भी यथायोग्य आशीर्वाद दिया । फिर समस्त नरेशोंका पूजन करके वे देवव्रत भीष्मसे बोले—'भीष्मजी ! आइये और मेरे साथ हृदय-से-हृदय लगाकर मिलिये ।' यों कहकर यदुकुलतिलक उग्रसेनने उठकर उनका गाढ़ आलिङ्गन किया । इसके बाद दान-मानसे सम्मानित हुए वे राजा तथा यादव बड़ी प्रसन्नताके साथ द्वारकापुरीके विभिन्न गृहोंमें निवास करने लगे ॥ ३८—४०½ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर अनिरुद्धको साम्ब आदिके साथ आया देख देवकी, रोहिणी, रुक्मिणी तथा रुक्मवती आदि पूजनीया स्त्रियोंने उन्हें हृदयसे लगाकर बड़े हर्षका अनुभव किया । राजन् ! सुरूपा, रोचना और ऊषा—इन सबको भी बड़ी प्रसन्नता हुई । साम्बकी प्रशंसा सुनकर दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणा नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाती हुई अत्यन्त हर्षका अनुभव करने लगी । नृपश्रेष्ठ ! सेना-सहित अनिरुद्धके लौट आनेसे द्वारकाके घर-घरमें मङ्गलोत्सव मनाया जाने लगा ॥ ४१—४४ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका द्वारकामें आगमन' नामक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पचपनवाँ अध्याय

व्यासजीका मुनि-दम्पति तथा राज-दम्पतियोंको गोमतीका जल लानेके लिये आदेश देना; नारदजीका मोह और भगवान्‌द्वारा उस मोहका भञ्जन; श्रीकृष्णकी कृपासे रानियोंका कलशमें जल भरकर लाना

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् आठ द्वारोंसे युक्त, फहराती हुई पताकाओंसे सुशोभित, अग्निकुण्डोंसे सम्पन्न और आठ याज्ञिकोंसे युक्त रमणीय यज्ञमण्डपमें, जहाँ पलाश, बेल तथा खदुवारके यूप शोभा दे रहे थे, अनेकानेक वेदिकाओं तथा चषालों (यज्ञस्तम्भोंके ऊपर लगे हुए काष्ठमय छल्लों) से जो विभूषित था तथा जिसमें स्रुवा, मृगचर्म, कुश, मूसल और उलूखल आदि वस्तुएँ संकलित थीं और इनके अतिरिक्त भी जहाँ बहुत-सी सामग्रियों और नाना प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह किया गया था, राजर्षि उग्रसेन वेदोंके पारंगत महर्षियों तथा यादवोंके साथ वैसी ही शोभा पा रहे थे, जैसे अमरावतीपुरीमें देवराज इन्द्र देवताओं-के साथ सुशोभित होते हैं ॥ १-४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके आमन्त्रणपर नन्द आदि गोप, वृषभानुवर आदि श्रेष्ठ पुरुष तथा श्रीदामा आदि ग्वाल-बाल द्वारकापुरीमें आये । यशोदा, राधिका तथा अन्य व्रजाङ्गनाएँ शिविकाओं और रथोंपर आरूढ़ हो प्रसन्नतापूर्वक कुशस्थलीमें आयीं । बुलावा जानेपर अपने पुत्रों और कौरवोंके साथ राजा धृतराष्ट्र भी वहाँ आये । अन्यान्य नरेश भी निमन्त्रण पाकर कुशस्थलीमें पधारे । श्रीकृष्णसे आमन्त्रित हो युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव अपनी पत्नी द्रौपदीके साथ वनसे वहाँ आये । श्रीकृष्णने नारदजीको भेज कर इन्द्र आदि आठ दिक्पालों, आठ वसुओं, बारह आदित्यों, चारों सनत्कुमारों, ग्यारह रुद्रों, मरुद्गणों, वेतालों, गन्धर्वों, किंनरों, विश्वेदेवों, समस्त साध्यगणों, विद्याधरों, देवताओं, देवपत्नियों, गन्धर्वियों और अप्सराओंको बुलवाया ॥ ५-११ ॥

राजन् ! ये सब लोग श्रीकृष्णदर्शनकी अभिलाषासे द्वारकामें पधारे । कैलाससे सर्वमङ्गला पार्वतीके साथ भगवान् शिव भी बुलाये गये । भूतलकोषसे दैत्य-समुदायके साथ प्रह्लाद और बलि आये । विभीषण, भीषण, मय और शल्वका भी वहाँ आगमन हुआ । दंष्ट्राधारी वनजन्तुओंके साथ जाम्बवान्, वानरोंके साथ हनुमान्, पक्षियोंके साथ पक्षिराज गरुड तथा सर्पोंके साथ नागराज वासुकि भी वहाँ पधारे । महाराज ! धेनुओंके साथ धेनुरूपधारिणी धरा देवी भी उपस्थित हुईं । पर्वतोंके साथ मेरु और हिमालय, वृक्षोंके साथ बरगद, रत्नयुक्त रत्नाकर (समुद्र), नदियोंके साथ स्वर्धुनी (गङ्गा), समस्त तीर्थोंके साथ तीर्थराज प्रयाग और पुष्कर—ये सब आमन्त्रित होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उस यज्ञमें आये । फिर श्रीकृष्णके आवाहनपर व्रजभूमि भी वहाँ आ गयी ॥ १२-१७ ॥

श्रीकृष्णका यज्ञोत्सव देखनेके लिये यमराजकी बहिन यमुनाजी भी आयीं ॥ १७½ ॥

उन सबको आया देख राजा उग्रसेनने बड़ी प्रसन्नताके साथ उन्हें यथायोग्य स्थानोंमें ठहराया । किन्हींको शिविरोंमें, किन्हींको मन्दिरोंमें, किन्हींको विमानोंमें और किन्हींको उपवनोंमें आवासस्थान दिया गया । उस यज्ञमें मैंने वेदव्यासजीको आचार्य बनाया और बकदाल्भ्यको ब्रह्मा तथा पहले जिन लोगोंको निमन्त्रित किया गया था, वे दिव्य ऋषि-महर्षि ऋत्विज बनाये गये । नरेश्वर ! इसके बाद यज्ञमें श्रीकृष्णकी इच्छासे अनिरुद्ध ब्रह्माका, चन्द्रमाका और अपना भी पृथक्-पृथक् रूप धारण करके तीन रूपोंमें सुशोभित हुए । प्रद्युम्नकुमारकी यह लीला देखकर देवता, यादव और भूपगण आश्चर्यचकित हो परस्पर एक-दूसरेके कानमें इसी बातकी चर्चा करने लगे ॥ १८-२१½ ॥

व्यासजीने राजासे कहा—यादवश्रेष्ठ ! मेरी बात सुनो । यहाँ जो राजा और ब्राह्मण यथायोग्य स्थानपर अलग-अलग बैठे हैं, इनमेंसे चौंसठ दम्पति गोमतीके तटपर मेरे आदेशके अनुसार यथोचित जल लानेके लिये जायँ । अदितिके साथ कश्यप, अरुन्धतीके साथ वसिष्ठ, कृपीके साथ द्रोणाचार्य, अनसूयाके साथ अत्रि, रुक्मिणीके साथ श्रीकृष्णचन्द्र, रेवतीके साथ बलराम, मायावतीके साथ प्रद्युम्न, ऊषाके साथ अनिरुद्ध, सुभद्राके साथ अर्जुन, लक्ष्मणाके साथ साम्ब और अपनी-अपनी भार्याओंके साथ हेमाङ्गद आदि राजा भी जायँ ॥ २२-२६½ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार व्यासजीके कहनेसे वे सपत्नीक ब्राह्मण और राजा पल्लव बाँधकर गोमतीका जल लानेके लिये गये । देवकी, रोहिणी, कुन्ती, गान्धारी और यशोदाको आगे करके रुक्मिणीसहित श्रीकृष्णने कलश उठाया । इसी प्रकार रेवतीके साथ बलराम तथा जो भी सपत्नीक भूपाल थे—उन सबने फूल और पल्लवोंसहित सोने-चाँदीके कलश लेकर गोमती-तटको प्रस्थान किया । उस भीड़में रुक्मिणीके साथ श्रीकृष्णको जाते देख नारदजी झगड़ा लगानेके लिये सत्यभामाके भवनमें गये । भगवान्‌की उस भार्याको घरमें अकेली देख उसके द्वारा आगमनका कारण पूछे जानेपर वे बोले ॥ २७–३१ ॥

नारदजीने कहा—सत्राजितनन्दिनि ! मैं देखता हूँ, इस घरमें तुम्हारा कोई आदर नहीं है । श्रीकृष्ण रुक्मिणीके साथ गोमतीका जल लानेके लिये गये हैं । बहुत-से लोग तुम्हारे पास याचना करने आते हैं ! तुम स्वर्गसे पारिजात वृक्ष अपने यहाँ लानेमें सफल हुई हो । श्रीकृष्णके संकल्पको सिद्ध करनेवाली, स्यमन्तक मणिसे मण्डित तथा मानिनी हो । ऐसी तुम परमसुन्दरीको, जो गरुडपर यात्रा कर चुकी है, छोड़कर श्रीकृष्ण रुक्मिणीके साथ शोभा देखनेके लिये चले गये । भा सत्यभामिनि ! जिसके पुत्र प्रद्युम्न हैं और जिसके पौत्र अनिरुद्ध हैं, वह रुक्मिणी अपनी मान, मान और गौरवका सर्वोपरि प्रदर्शन करती है ॥ ३२–३५ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—'महाराज ! मेरे प्राणनाथ रुक्मिणीके साथ गये हैं'—यह बात सुनकर सत्यभामाको बड़ा रोष हुआ । वे दुःखी होकर रोने लगीं । इसी समय नारदजीकी चेष्टा जानकर भगवान् श्रीकृष्ण एक रूपसे तत्काल सत्यभामाके भवनमें चले आये । उन सर्वेश परमेश्वरने वहाँ आते ही यह बात कही—'प्रिये ! मैं उस समाज (जुलूस) में रुक्मिणीके साथ नहीं गया । भोजन करनेके लिये आ गया हूँ । केवल भौजीके साथ भैया बलरामजी गये हैं' ॥ ३६–३९ ॥

उनकी यह बात सुनकर सत्यभामा प्रसन्न हो गयी और नारदजी भयभीत होकर उठे तथा दूसरे भवनमें चले गये । जाम्बवतीके घरमें जाकर उसके आगे सारा समाचार कहा । सुनकर वह हँसने लगी और बोली—'मुनिजी महाराज ! झूठ मत बोलिये, श्रीनाथजी तो भोजन करके घरमें सो रहे हैं ।' यह सुनकर डरे हुए नारदजी तुरंत वहाँसे निकलकर मित्रविन्दाके घरमें जा पहुँचे और चारों ओर देखते हुए बोले ॥ ४०–४२ ॥

नारदजीने कहा—देवि ! जहाँ राजा और रानियोंका समाज जुटा है, वहाँ नहीं गयीं क्या ? घरमें क्यों बैठी हो ? वहाँ रमावल्लभ श्रीकृष्ण गोमतीका जल लानेके लिये जा रहे हैं । वे अपने साथ रुक्मिणी, सत्यभामा तथा जाम्बवतीको भी ले जायँगे ॥ ४३-४४ ॥

मित्रविन्दा बोली—देवर्षिजी ! केशवकी तो सभी प्यारी हैं । वे जिसको भी छोड़कर चले जायँगे, वही जीवित नहीं रह सकेगी । उधर घरमें देखिये, श्रीकृष्ण अपने पोतेको लाड़ लड़ा रहे हैं ॥ ४५ ॥

तब मुनि उठकर श्रीकृष्णपत्नियोंके सभी घरोंमें चक्कर लगाते रहे, परंतु उन सबमें उन्हें श्रीकृष्णकी उपस्थिति जान पड़ी । फिर सोच-विचारकर देवर्षि श्रीराधाको यह समाचार देनेके लिये गोपाङ्गनाओंके महलोंमें गये; परंतु वहाँ श्रीराधा तथा गोपियोंके साथ नन्दनन्दन चौपड़ खेलते दिखायी दिये । उन्हें देखकर देवर्षिने ज्यों-ही वहाँसे खिसक जानेका विचार किया, त्यों-ही श्रीकृष्णने तुरंत उन्हें हाथसे पकड़ लिया और वहीं बैठाया । फिर विधिवत् उनकी पूजा करके वे बोले ॥ ४६–४९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—विप्रवर ! तुम यह क्या कर रहे हो? व्यर्थ ही मोहित होकर इधर-उधर घूम रहे हो । मैंने अपनी पत्नियोंके घर-घरमें तुम्हें देखा है । मुनिश्रेष्ठ ! तुम्हारे ही डरसे मैंने अनेक रूप धारण किये हैं । तुम ब्राह्मण हो; इसलिये तुम्हें दण्ड तो नहीं दूँगा, परंतु प्रार्थना अवश्य करूँगा । मैं सबका देवता हूँ और ब्राह्मण मेरे देवता हैं । जो मूढ़ मानव ब्राह्मणोंसे द्रोह करते हैं, वे मेरे शत्रु हैं । जो लोग ब्राह्मणोंको मेरा स्वरूप समझकर उनका पूजन करते हैं, वे इहलोकमें सुख भोगते हैं और अन्तमें मेरे परमधाममें चले जायँगे ।* देवर्षे ! तुम मेरी पुरीमें मेरी ही मायासे मोहित हो गये, यह सोचकर खेद न करना; क्योंकि ब्रह्मा तथा रुद्र आदि सब देवता मेरी मायासे मोहित हो जाते हैं ॥ ५०—५४ ॥

---

* सर्वेषां चैव देवोऽहं मम देवाश्च ब्राह्मणाः ।
ये द्रुह्यन्ति द्विजान् मूढाः सन्ति ते मम शत्रवः ॥
ये पूजयन्ति विप्रांश्च मम भावेन भूजनाः ।
ते भुञ्जन्ति सुखं चात्र अन्ते यास्यन्ति तत्पदम् ॥
(अध्याय ५५ । ५२-५३)

भगवान्‌का यह वचन सुनकर, उनसे प्रशंसित हो वे महामुनि चुपचाप अञ्जलिजोंसे भरे हुए यज्ञमण्डपमें चले आये ॥ ५५ ॥

उधर वे श्रीकृष्ण आदि राजा और रुक्मिणी आदि स्त्रियाँ नाना प्रकारके बाजों-गाजोंके साथ गोमतीके तटपर गयीं । भगवान् गोविन्दके यशका गान करनेवाली झुंड-की-झुंड स्त्रियोंके कड़ों और नूपुरोंका मधुर मनोहर शब्द वहाँ गूँजने लगा । मेरे साथ मुनिवर व्यासने जल-सम्बन्धी देवताओंका पूजन करवाकर जलसे भरा हुआ एक घड़ा अनुसूयाजीके हाथमें दिया । तत्पश्चात् रेवती आदि सभी स्त्रियोंने कलश पकड़े, किंतु उनके कोमल हाथोंसे वे सभी कलश नहीं उठ सके । जो फूलोंके भारसे पीड़ित हो जाती हैं, वे कोमलाङ्गी स्त्रियाँ कलशका बोझ कैसे उठा सकती हैं ! तब वे राजरानियाँ एक-दूसरेकी ओर देखकर हँसने लगीं और बोलीं—'अब हमलोग कलशके बिना यज्ञमण्डपमें कैसे जायँगी ।' उस समय रुक्मिणी आदि सभी स्त्रियोंने मन-ही-मन श्रीकृष्णसे प्रार्थना की—'हे श्रीकृष्ण ! हे जगन्नाथ ! हे भक्तोंके कष्टका निवारण करनेवाले चक्रधारी देव ! आप सर्वशक्तिमान् हैं । इस सङ्कटमें हमारी रक्षा कीजिये ।' इस प्रकार कहती हुई उन स्त्रियोंने जब कलशमें हाथ लगाये, तब वे सभी भारहीन हो गये । उन्होंने रत्नों तथा मोतियोंसे विभूषित अपने-अपने मस्तकपर उन कलशोंको उठाकर रख लिया और अपने पतियोंके साथ वे शीघ्रतापूर्वक यज्ञमण्डपमें चली आयीं, जहाँ भेरी, शङ्ख और पणव आदि बाजे बज रहे थे । गोमतीका जल लाकर उन सबने उस स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ श्यामकर्ण अश्वके साथ यादवराज उग्रसेन विराजमान थे ॥ ५६–६१ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'गोमतीके जलका आनयन' नामक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

छप्पनवाँ अध्याय

राजाद्वारा यज्ञमें विभिन्न बन्धु-बान्धवोंको भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगाना; श्रीकृष्णका ब्राह्मणोंके चरण पखारना; घीकी आहुतिसे अग्निदेवको अजीर्ण होना; यज्ञपशुके तेजका श्रीकृष्णमें प्रवेश;उसके शरीरका कर्पूरके रूपमें परिवर्तन; उसकी आहुति और यज्ञकी समाप्तिपर अवभृथस्नान

श्रीगर्गजी कहते हैं—महाराज ! महात्मा राजा उग्रसेनके यज्ञमें उनकी परिचर्यामें प्रेमके बन्धनसे बँधे हुए समस्त बन्धु-बान्धव लगे रहे । उन यादवराजने विभिन्न कर्मोंमें लगे-सम्बन्धी भाई-बन्धुओंको लगाया । भीमसेन रसोईघरके अध्यक्ष बनाये गये । धर्मराज युधिष्ठिरको धर्मपालन-सम्बन्धी कर्ममें नियुक्त किया गया । राजाने सत्पुरुषोंकी सेवा-शुश्रूषामें अर्जुनको, विभिन्न द्रव्योंको प्रस्तुत करनेमें नकुलको, पूजन-कर्ममें सहदेवको और धनाध्यक्षके स्थानमें दुर्योधनको नियुक्त किया । दानकर्ममें दानी कर्णको, परोसनेके कार्यमें द्रौपदीको तथा रक्षाके कार्यमें श्रीकृष्णके अठारह महारथी पुत्रोंको लगाया ॥ १–४ ॥

तत्पश्चात् भूपालने युयुधान, विकर्ण, हृदीक, विदुर, अक्रूर और उद्धवको भी अनेक कर्मोंमें लगाकर श्रीकृष्णसे पूछा—'देव ! आप कौन-सा कार्य अपने हाथमें लेंगे ?' उनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने कहा—'राजन् ! मैं तो ब्राह्मणोंके चरण पखारनेका कार्य करूँगा । इन्द्रप्रस्थमें भी मैंने यही काम किया था ।' यह सुनकर ब्रह्मा आदि देवता और भूतलके मनुष्य हँसने लगे ॥ ५–७ ॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने तपस्वी ऋषि-मुनियोंके चरण धोकर उन सबको यथायोग्य आसनोंपर बिठाया । नये-नये वस्त्र पहन, बारह तिलक लगा, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो नाना रत्नोंकी मालाएँ—अनेक प्रकारकी कलाओंसे निर्मित पुष्प-हार धारण किये । अनेक आसनोंपर बैठे हुए वे ब्राह्मण पानके बीड़े चबाकर यज्ञमण्डपमें देवताओंके समान शोभा पाने लगे ॥ ८–१० ॥

तदनन्तर विभिन्न वस्तुओंके प्रयोजनवाले अर्थी, भिक्षुक, विरक्त और भूखे—ये सभी दूर देशसे आकर वहाँ याचना करने लगे—'नरेश्वर ! हमें अन्न दो, अन्न दो, अन्न दो ! उपानह, पात्र, वस्त्र तथा कम्बल दो' ॥ ११–१२ ॥

मुनिवृन्दों तथा राजाओंसे भरे हुए उग्रसेनके उस यज्ञमें

उन याचकोंकी वह करुण याचना सुनकर यदुकुलतिलक महाराजने बड़े हर्ष और उत्साहके साथ उन्हें सोना, चाँदी, वस्त्र, बर्तन, हाथी, घोड़े, रथ, गौ, छत्र और शिबिका आदि प्रदान किये। जिनको-जिनको जो-जो वस्तु प्रिय थी, उनको-उनको राजाने वही वस्तु दी॥ १३-१४½॥

यज्ञकर्ममें दीक्षित असिपत्रव्रतधारी राजा उग्रसेन स्नान करके रानी रुचिमतीके साथ बड़ी शोभा पा रहे थे। वेद-शास्त्रोंमें विशारद व्यास और गर्ग आदि बीस हजार ब्राह्मण वह श्रेष्ठ यज्ञ करा रहे थे। नृपश्रेष्ठ! अग्निकुण्डमें हाथीकी सूँड़के समान मोटी घृतकी धारा गिर रही थी और ब्रह्मवादी मुनि उसे गिरवा रहे थे। श्रीकृष्णकी कृपासे उस यज्ञमें अग्निदेवको अजीर्ण हो गया। वे सबके सुनते हुए राजासे बोले—'मैं प्रसन्न हूँ, मैं प्रसन्न हूँ। अब मुझे पशु प्रदान करो!'—यज्ञसभामें अग्निका यह वचन सुनकर मुनियोंसहित यादवेन्द्र उग्रसेनने सोनेकी यूपमें सुवर्णमयी डोरीसे बँधे हुए उस घोड़ेसे बोले॥ १५-२०॥

उग्रसेनने कहा—हे अश्व! तुम अग्निदेवकी बात सुनो। यज्ञमें घीसे तृप्त होनेपर भी अग्निदेव तुझ विशुद्ध यज्ञपशुको अपना आहार बनायेंगे॥ २१॥

राजाकी बात सुनकर श्यामकर्ण अश्वने प्रसन्न हो श्रीकृष्ण-की ओर देखते और अपनी स्वीकृति सूचित करते हुए सिर हिलाया। ××××

तत्पश्चात् घोड़ेके शरीरसे एक ज्योति प्रकट हुई, जो सबके देखते-देखते मधुसूदन श्रीकृष्णमें समा गयी। इसके बाद घोड़ेका शरीर कपूर होकर गिर पड़ा, मानो भगवान् शंकरके शरीरसे विभूति झड़ गयी हो। उस अद्भुत कर्पूरराशिको देखकर और उसकी सुगन्धसे यज्ञशाला तथा द्वारकापुरीको सुवासित हुई जानकर वे व्यास आदि महर्षि अत्यन्त हर्षित हो, यज्ञकर्ममें संलग्न राजासे बोले—'नृपश्रेष्ठ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा यह उत्तम यज्ञ सफल हो गया। अब हम इस कपूरसे ही हवन करेंगे और तुम भी करो'॥ २२-३३॥

—ऐसा कहकर समस्त ऋत्विजोंने उस यज्ञकुण्डमें उसी क्षण पहले यज्ञेश्वरके उद्देश्यसे घनसार (कपूर) की आहुतियाँ दीं। राजा वज्रनाभ! जहाँ चतुर्व्यूहरूपधारी साक्षात् परमेश्वर परमात्मा श्रीकृष्ण अपने पुत्र और पौत्रोंके साथ विराजमान थे, वहाँ कौन-सी वस्तु दुर्लभ थी! उस यज्ञमें मैंने महेन्द्रसे कहा—'भगवन् शक्र! इस यज्ञमें कपूरकी आरती ग्रहण कीजिये। आइये, राजा उग्रसेनकी दी हुई इस आहुतिको स्वीकार कीजिये; अब आगे कलियुगमें यह दुर्लभ हो जायगी'॥ ३४-३६½॥

मेरी बात सुनकर इन्द्रने मुस्कराते हुए कहा—'महर्षियो! जब कौरव-पाण्डव-युद्धमें कौरवकुलका क्षय होगा और धर्मराज युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें उत्तम अश्वमेध यज्ञ करेंगे, उस समय ब्राह्मणोंकी दी हुई ऐसी आहुति मैं पुनः ग्रहण करूँगा। आप इसे दुर्लभ क्यों बता रहे हैं?'॥३७-३८॥

नृपश्रेष्ठ! इन्द्रका यह वचन सुनकर सब मुनीश्वरोंने इसे सच माना और उस यज्ञमें सम्पूर्ण देवताओंके लिये आहुतियाँ दीं। दूसरे लोगोंने यह नहीं समझा कि इन्द्रने क्या कहा है। 'अग्नये स्वाहा'—इस मन्त्रसे सभी देवताओंके लिये ब्राह्मणोंने आहुतियाँ दीं। उस कपूरके होमसे भी समस्त चराचर विश्व प्रसन्न हो गया। राजा उग्रसेन उस महान् यज्ञमें उऋण हो गये॥ ३९-४१॥

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणों, श्रीकृष्ण आदि यादवों तथा अन्य भूपालोंके साथ महाराज उग्रसेनने यज्ञकी समाप्तिपर पिण्डारक तीर्थमें अवभृथस्नान किया। वेदोक्त-विधिसे पत्नीसहित स्नान करके, रेशमी वस्त्र धारणकर राजा उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे दक्षिणाके साथ यज्ञदेवता सुशोभित होते हैं। उस समय देवताओं तथा मनुष्योंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। सब देवता राजा उग्रसेनके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे। इसके बाद खान-पान कराकर और पुरोडासका प्राशन करवाकर व्यासजीने सब लोगोंको क्रमशः यज्ञशेष पुरोडासका प्रसाद बाँटा। गाजे-बाजेके साथ वन्दीजनोंने प्रसन्नतापूर्वक राजा उग्रसेनकी स्तुति की। फिर देवकी आदि स्त्रियोंने उनकी आरती उतारी। आरतीके बाद प्रसन्न हुए महाराजने उन सब स्त्रियोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र और अलंकार दिये॥ ४२-४७॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'यज्ञकी पूर्ति होनेपर राजाका अभिषेक' नामक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५६॥

सत्तावनवाँ अध्याय

ब्राह्मणभोजन, दक्षिणा-दान, पुरस्कार-वितरण, सम्बन्धियोंका सम्मान तथा देवता आदि सबका अपने-अपने निवास-स्थानको प्रस्थान

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर श्रीकृष्ण और भीमसेनके साथ यादवराज उग्रसेनने ब्राह्मणों और राजाओंसे प्रार्थना करके उन्हें भाँति-भाँतिके पदार्थ भोजन कराये। उन्होंने ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उत्तम शष्कुली (पूड़ी), खीर, भात, अच्छी दाल और कढ़ी, हलुआ, मालपूआ तथा सुन्दर फेणिका आदि विशेष अन्न परोसकर भलीभाँति भोजन कराया। शिखरिणी (सिखरन), घृतपूर (घेवर), सुशाक्तिका (अच्छी-अच्छी साग-सब्जी), सुपटिनी (चटनी आदि), दधिकूप (दहीवड़ा) लप्सी तथा गोल, सुन्दर और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल सोहारी आदिको बड़े, लड्डू और पापड़के साथ परोसा। उन ब्राह्मणोंमेंसे कुछ तो फलाहारी थे, कुछ सूखे पत्ते खानेवाले थे, कोई केवल जल पीकर रहनेवाले और कोई दूर्वाके रसका आस्वादन करनेवाले (दुर्वासा) थे। कोई हवा पीकर रहनेवाले जन्मकालसे ही तपस्वी थे। कितने तो भोजनों (भोज्यपदार्थों) के नामतक नहीं जानते थे। जब उनके सामने भाँति-भाँतिके भोजन परोसे गये, तब उन्हें देखकर वे बड़े विस्मित हुए। कोई भातको मालतीके फूल समझने लगे, कई लड्डुओंको गूलरके फल मानने लगे, किन्हींने खीर और फेणिका देखकर उसे चन्द्रमाका बिम्ब समझा, कई ब्राह्मणोंने पापड़ फेणिकाको देखकर उन्हें पलाशके पत्ते समझा और 'मधुशीर्षक' नामक मिष्टान्नको आमका फल मान लिया, चटनी और लप्सी देखकर कितने ही ऋषि उन्हें घिसा हुआ चन्दन समझने लगे, कितने ही मुनिश्रेष्ठ मीठा चूरन या शक्कर देखकर बालू समझने लगे। इस प्रकारकी भावना मनमें लेकर वे सब ब्राह्मण वहाँ भोजन कर रहे थे। कोई दूध पीते और कोई दाखका रस। कोई-कोई ब्राह्मण आमका रस पीते हुए जोर-जोरसे हँसते और लोट जाते थे॥ १—१०॥

तब भीमसेनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण सानन्द हँसते हुए वहाँ बैठे तपस्वी ब्राह्मणोंके साथ परिहास करने लगे— 'मुनियो ! आप जल्दीसे इन भोजनोंके नाम तो बताइये। आप जिनके नाम बतावेंगे, वे ही भोजन भीमसेनके साथ मैं आपके सामने प्रस्तुत करूँगा'॥ ११-१२॥

श्रीकृष्ण और भीमसेनकी बात सुनकर वे मुनिश्रेष्ठ कुछ बोल न सके; केवल आनन्दित होकर परस्पर एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। तैलङ्ग, कर्णाटकी, गुजराती, गौड़ और सनाढ्य आदि अनेक जातिके विभिन्न ब्राह्मणशिरोमणियोंका राजाधिराज उग्रसेनने सुवर्ण, वस्त्र तथा रत्नराशियोंद्वारा पूजन करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया॥ १३-१४॥

नरेश्वर ! यज्ञके अन्तमें राजा उग्रसेनने सबसे पहले मुझे एक लाख घोड़े, एक हजार हाथी, दो हजार रथ, एक लाख धेनु और सौ भार सुवर्ण—इतनी दक्षिणा विधिपूर्वक दी। मुझसे आधी दक्षिणा बकदाल्भ्य और व्यासजीको दी। तत्पश्चात् उग्रसेनने निमन्त्रित ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकको प्रसन्नतापूर्वक एक हजार घोड़े, सौ हाथी, दो सौ रथ, एक हजार धेनु और बीस भार सुवर्ण—इतनी दक्षिणा दी। राजन् ! फिर हर्षसे भरे यादवराजने प्रत्येक ब्राह्मणको एक हाथी, एक रथ, एक गौ, एक घोड़ा, एक भार सुवर्ण और दो भार चाँदी—इतनी-इतनी दक्षिणा दी॥ १५—२०॥

उस महान् यज्ञके अवसरपर श्रीकृष्णपुरी द्वारका भूतलपर उसी तरह सुशोभित हुई, जैसे स्वर्गमें अमरावतीपुरी। उस समय मागध, सूत, बन्दीजन, गायक और वाराङ्गनाएँ राजद्वारपर आयीं। फिर तो मृदङ्ग, वीणा, सुरयष्टि, वेणु, ताल, शङ्ख, आनक और दुन्दुभिकी ध्वनियों तथा संगीत, नृत्य एवं वाद्यगीतोंके शब्दोंसे युक्त महान् उत्सव होने लगा। वाराङ्गनाएँ मधुर कण्ठसे गाने लगीं, सुन्दर तालोंके साथ नृत्य करने लगीं। संगीत और गीतके अक्षरोंके साथ सामवेदके गीत गूँज उठे। नर्तकियाँ अपने कुसुम्भ रंगके वस्त्र हिलाती हुई संगीत और नृत्यके साथ सब ओर प्रकाशित हो उठीं। उस उत्सवमें जो बन्दीजन, मागध और गायक आये थे, उन्हें अपने निकट आनेपर राजाने बहुत-सा सुवर्ण और रत्न दिये तथा जो अप्सराएँ आयी थीं, उनको भी बहुमूल्य पुरस्कार समर्पित किया। सूतों, मागधों और समस्त बंदीजनोंको भी अश्वमेधसे प्रसन्न हुए राजाने बहुत धन दिया। जैसे बादल पानी बरसाता है, उसी तरह महाराज उग्रसेन धनकी वृष्टि कर रहे थे॥ २१—२५॥

तत्पश्चात् यादवराज भूपालशिरोमणि उग्रसेनने अपने यहाँ आये हुए प्रत्येक राजाको एक लाख घोड़े, एक हजार हाथी, सौ-सौ शिबिकाएँ, कुण्डल, कंड़े और तीस भार सुवर्ण सानन्द भेंट किये। इससे दूना उपहार महाराजने गद आदि समस्त यादवों तथा नन्द आदि गोपोंको दिया। यशोदा आदि गोपाङ्गनाओं, देवकी आदि यदुकुलकी स्त्रियों तथा रुक्मिणी और राधिका आदि श्रीहरिकी पटरानियोंको भी राजाने बहुत-से दिव्य वस्त्र और अलंकार देकर सबको संतुष्ट किया। अन्तमें राजाने फिर प्रसन्न होकर गुरु गर्गाचार्यको सौ भार दिये। वह सब मैंने क्रमशः वहाँके ब्राह्मणोंको बाँट दिया। इसके बाद राजाने श्रीकृष्ण और बलभद्रका वस्त्र, आभूषण, तिलक, पुष्पहार और नीराजना आदि उपचारोंसे पूजन किया॥ २६—३१॥

राजन्! तब श्रीकृष्ण हँसते हुए बोले—महाराज! इस महायज्ञमें समर्थ होते हुए भी आपने मुझे कुछ नहीं दिया॥ ३२॥

यह सुनकर राजा बोले—जगदीश्वर! माधव! आप बलरामजीके साथ शीघ्र ही यथोक्त दक्षिणा ग्रहण कीजिये॥ ३३॥

—ऐसा कहकर हर्षसे उल्लसित और प्रेमसे विह्वल हुए राजाने राजसूय तथा अश्वमेध—दोनों यज्ञोंका सारा फल श्रीकृष्णके हाथमें दे दिया। उस समय द्वारकामें जय-जयकार होने लगी। तत्काल संतुष्ट हुए समस्त देवता फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ ३४-३५॥

तदनन्तर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो अपना-अपना भाग लेकर स्वर्गलोकको चले गये। इसी तरह राक्षस, दैत्य, दाढ़वाले पशु, पक्षी, वानर, बिलमें रहनेवाले सर्प आदि जीव, पर्वत, गौ, वृक्ष-समुदाय, नदियाँ, तीर्थ और समुद्र—सभी अपना-अपना भाग ले, संतुष्ट हो, अपने-अपने निवासस्थानको चले गये। जो-जो राजा वहाँ आये थे, वे सब दान-मानसे पूजित हो सेनाओंद्वारा भूतलको कम्पित करते हुए अपनी-अपनी राजधानीको लौट गये। राजन्! नन्द आदि समस्त गोप और यशोदा आदि व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णसे पूजित हो उनके विरहजनित कष्टका अनुभव करती हुई व्रजको चली गयीं। इस प्रकार यादवराज उग्रसेन श्रीहरिकी कृपासे मनोरथके दुस्तर महासागरको पार करके निश्चिन्त हो गये॥ ३६—४०॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'विरद भोजबलिदानका वर्णन' नामक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५७॥

अट्ठावनवाँ अध्याय

श्रीकृष्णद्वारा कंस आदिका आवाहन और उनका श्रीकृष्णको ही परमपिता बताकर इस लोकके माता-पितासे मिले बिना ही वैकुण्ठलोकको प्रस्थान

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! इसके बाद महात्मा श्रीकृष्णके आवाहन करनेपर कंस आदि नौ भाई सब-के-सब वैकुण्ठसे शीघ्र ही वहाँ आ गये। उनको आया देख वहाँ सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। द्वारकामें पहुँचकर उन कंस आदि सब भाइयोंने बारी-बारीसे श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको प्रणाम किया॥ १-२½॥

नरेश्वर! सुधर्मा-सभामें इन्द्रके सिंहासनपर रानी रुचिमतीके साथ बैठे हुए महाराज उग्रसेनने अपने कंस आदि पुत्रोंको श्रीकृष्णस्वरूप एवं चार भुजाधारी देखा। देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे विभूषित थे तथा पीताम्बर धारण किये श्रीकृष्णके पास खड़े थे। राजाने अपने उन पुत्रोंको निकट बुलाया। तब भगवान् श्रीकृष्णने मन्द मुस्कानके साथ कंस आदिसे कहा—'देखो, ये दोनों तुम्हारे माता-पिता हैं और तुम्हें देखनेके लिये उत्सुक हैं। वीरो! तुम उनके निकट जाकर भक्तिभावसे नमन करो'॥ ३—६½॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर उन्हींके किंकर-भावको प्राप्त हुए वे कंस, न्यग्रोध आदि सब भाई बड़े हर्षसे भरकर बोले॥ ७½॥

कंस आदिने कहा—नाथ! आपकी मायासे संसार चक्रमें घूमते हुए हमें ऐसे पिता और ऐसी माताएँ बहुत प्राप्त हो चुकी हैं। 'श्रीहरि ही जीवमात्रके वास्तविक पिता हैं'—ऐसी सनातन श्रुति है। अतः हमलोग आपके निकट रहकर अब दूसरे किसी माता-पिताको नहीं देखेंगे। पूर्वकालमें युद्धके

अवसरपर हमने बलरामसहित आपका दर्शन किया था। उसके बाद द्वारकामें प्रद्युम्न और अनिरुद्धजीका प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें हमलोगोंने नहीं देखा था। अतः चतुर्व्यूहरूपमें आपका दर्शन करनेके लिये हमलोग यहाँ आये हैं। अहो! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हमलोगोंने श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चारों परिपूर्णतम महापुरुषोंका दर्शन किया। हम नहीं जानते कि किस पूर्व-पुण्यके प्रभावसे इन परिपूर्णतम चतुर्व्यूहस्वरूप परमात्माका, जो बड़े-बड़े संतोंके लिये भी दुर्लभ हैं, हमें दर्शन मिला है। हे संकर्षण! हे श्रीकृष्ण! हे प्रद्युम्न! और हे ऊषावल्लभ अनिरुद्ध! हम मूढ़ हैं, कुबुद्धि हैं। आप हमारे अपराधको क्षमा करें। गोविन्द! अब वैकुण्ठमें पधारिये। आपका वह सुन्दर धाम आपके बिना सूना लग रहा है। आपके रहनेसे द्वारकापुरी वैकुण्ठसे भी अधिक वैभवशालिनी और धन्य हो गयी है। ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, शिव, मरुद्गण, यम, कुबेर, चन्द्रमा तथा वरुण आदिने जिनका पूजन किया है, आपके उन्हीं चरणारविन्दोंका हम सदा भजन करते हैं। बड़े-बड़े मुनीश्वर, लक्ष्मी, देवता, भक्तजन तथा सात्वतवंशियोंने गन्ध, चन्दन, धूप, लावा, अक्षत, दूर्वाङ्कुर और सुपारी आदिसे जिनका भलीभाँति पूजन किया है, आपके उन्हीं चरणारविन्दोंका हम सदा भजन करते हैं॥ ८—१७॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—नरेश्वर! ऐसा कहकर वे कंस आदि सब भाई सबके देखते-देखते वैकुण्ठधामको चले गये तथा पत्नीसहित राजा उग्रसेन आश्चर्यसे चकित रह गये॥ १८॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'कंसादिका दर्शन' नामक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५८॥

उनसठवाँ अध्याय

गर्गाचार्यके द्वारा राजा उग्रसेनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके सहस्र नामोंका वर्णन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! तब राजा उग्रसेनने पुत्रकी आशा छोड़कर सम्पूर्ण विश्वको मनका संकल्पमात्र जानकर व्यासजीसे अपना संदेह पूछा—'ब्रह्मन्! किस प्रकारसे लौकिक सुखका परित्याग करके मनुष्य परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णका भजन करे, यह मुझे विश्वासपूर्वक बतानेकी कृपा करें॥ १-२॥

व्यासजी बोले—महाराज उग्रसेन! मैं तुम्हारे सामने सत्य और हितकर बात कह रहा हूँ, इसे एकाग्रचित्त होकर सुनो। राजेन्द्र! तुम श्रीराधा और श्रीकृष्णकी उत्कृष्ट आराधना करो। इन दोनोंके पृथक्-पृथक् सहस्र नाम हैं। उनके द्वारा तुम दोनोंका भक्तिभावसे भजन करो। भूपते! राधाके सहस्रनामको ब्रह्मा, शंकर, नारद और कोई-कोई मेरे-जैसे लोग भी जानते हैं॥ ३—५॥

उग्रसेनने कहा—ब्रह्मन्! मैंने पूर्वकालमें सूर्यग्रहणके अवसरपर कुरुक्षेत्रके एकान्त दिव्य शिविरमें नारदजीके मुखसे 'राधिका-सहस्रनाम'का श्रवण किया था; परंतु अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके सहस्रनामको मैंने नहीं सुना है। अतः कृपा करके मेरे सामने उसीका वर्णन कीजिये, जिससे मैं कल्याणका भागी हो सकूँ॥ ६-७॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—उग्रसेनकी यह बात सुनकर महामुनि वेदव्यासने प्रसन्नचित्त होकर उनकी प्रशंसा की और श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए कहा॥ ८॥

व्यासजी बोले—राजन्! सुनो। मैं तुम्हें श्रीकृष्णका सुन्दर सहस्रनाम-स्तोत्र सुनाऊँगा, जिसे पहले अपने परमधाम गोलोकमें इन भगवान् श्रीकृष्णने श्रीराधाके लिये प्रकट किया था॥ ९॥

श्रीभगवान् बोले—प्रिये! यह सहस्रनाम-स्तोत्र, जो अभी बताया जायगा, गोपनीय रहस्य है। इसे हर एकके सामने प्रकट कर दिया जाय तो सदा हानि ही उठानी पड़ेगी। अधिकारीके सामने प्रकट किया गया यह स्तोत्र सम्पूर्ण सुखोंको देनेवाला, मोक्षदायक, कल्याणस्वरूप, उत्कृष्ट परमार्थरूप और समस्त पुरुषार्थोंको देनेवाला है। श्रीकृष्णसहस्रनाम मेरा रूप है। जो इसका पाठ करेगा, वह मेरा स्वरूप होकर ही प्रसिद्ध होगा। कहीं किसी शठ और दाम्भिकको इसका उपदेश कदापि नहीं देना चाहिये। जो करुणासे भरा हुआ तथा गुरुके चरणोंमें निरन्तर भक्ति रखनेवाला है, उस संतोंके सेवक और मद एवं क्रोधसे रहित मुझ श्रीकृष्णके भक्तको ही इसका उपदेश देना चाहिये॥ १०—१२॥



कदलीवनमें वियोग-व्यथित श्रीराधाका श्रीकृष्णसे मिलन [गर्ग०, अश्वमेध०, अध्याय ४१

विनियोग

ॐ अस्य श्रीकृष्णसहस्रनामस्तोत्रमन्त्रस्य नारायण ऋषिर्भुजङ्गप्रयातं छन्दः श्रीकृष्णचन्द्रो देवता वासुदेवो बीजम् श्रीराधाशक्तिः मन्मथः कीलकम् श्रीपूर्णब्रह्मकृष्णचन्द्रभक्तिजन्यफलप्राप्तये जपे विनियोगः ।

इस 'श्रीकृष्णसहस्रनामस्तोत्रमन्त्र'के नारायण ऋषि हैं, भुजङ्गप्रयात छन्द है, श्रीकृष्णचन्द्र देवता हैं, वासुदेव बीज, श्रीराधा शक्ति और मन्मथ कीलक है । श्रीपूर्णब्रह्म कृष्णचन्द्रकी भक्तिजन्य फलकी प्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है ।

ध्यानम्

शिखिमुकुटविशेषं नीलपद्माङ्गदेशं
विधुमुखकृतकेशं कौस्तुभापीतवेशम् ।
मधुररवकलेशं शं भजे भ्रातृशेषं
व्रजजनवनितेशं माधवं राधिकेशम् ॥

जिनके मस्तकपर मोरपंखका मुकुट विशेष शोभा देता है; जिनका अङ्गदेश (सम्पूर्ण शरीर) नील कमलके समान श्याम है; चन्द्रमाके समान मनोहर मुखपर कुञ्चित केश सुशोभित हैं, कौस्तुभमणिकी सुनहरी आभासे जिनका वेश कुछ पीतवर्णका दिखायी देता है (अथवा जो पीताम्बरधारी हैं), जो मीठी धुनमें मुरली बजा रहे हैं, कल्याणस्वरूप हैं; शेषावतार बलराम जिनके भाई हैं तथा जो व्रजवनिताओंके वल्लभ हैं, उन राधिकाके प्राणेश्वर माधवका मैं भजन (चिन्तन) करता हूँ ॥ १३ ॥

१. **हरिः**=भक्तोंके पाप-तापका हरण करनेवाले, २. **देवकीनन्दनः**=अपने आविर्भावसे माता देवकी एवं यशोदाको आनन्द प्रदान करनेवाले, ३. **कंसहन्ता**=कंसका वध करनेवाले, ४. **परात्मा**=परमात्मा, ५. **पीताम्बरः**=पीतवस्त्रधारी, ६. **पूर्णदेवः**=परिपूर्ण देवता श्रीकृष्ण, ७. **रमेशः**=रमावल्लभ, ८. **कृष्णः**=सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाले, ९. **परेशः**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मा आदि देवताओंके भी नियन्ता, १०. **पुराणः**=पुरातन पुरुष या अनादिसिद्ध, ११. **सुरेशः**=देवताओंपर भी शासन करनेवाले, १२. **अच्युतः**=अपनी महिमा या मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले, १३. **वासुदेवः**=वसुदेवनन्दन अथवा सबके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले देवता, चार व्यूहोंमेंसे प्रथम व्यूहस्वरूप, १४. **देवः**=प्रकाशस्वरूप परम देवता ॥ १४ ॥

१५. **धराभारहर्ता**=पृथ्वीका भार हरण करनेवाले, १६. **कृती**=कृतकृत्य अथवा पुण्यात्मा, १७. **राधिकेशः**=राधाप्राणवल्लभ, १८. **परः**=सर्वोत्कृष्ट, १९. **भूवरः**=पृथ्वीके स्वामी, २०. **दिव्यगोलोकनाथः**=दिव्यधाम गोलोकके स्वामी, २१. **सुदाम्नस्तथा राधिकाशापहेतुः**=सुदामा तथा राधिकाके पारस्परिक शापमें कारण, २२. **घृणी**=दयालु, २३. **मानिनीमानदः**=मानिनीको मान देनेवाले, २४. **दिव्यलोकः**=दिव्यधामस्वरूप ॥ १५ ॥

२५. **लसद्गोपवेशः**=सुन्दर गोपवेषधारी, २६. **अजः**=अजन्मा, २७. **राधिकात्मा**=राधिकाके आत्मा अथवा राधिका हैं आत्मा जिनकी, वे, २८. **चलत्कुण्डलः**=हिलते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित, २९. **कुन्तली**=घुँघराली अलकोंसे शोभायमान, ३०. **कुन्तलस्रक्**=केशराशिमें फूलोंके हार धारण करनेवाले, ३१. **कदाचिद् राधया रथस्थः**=कभी-कभी राधिकाके साथ रथमें विराजमान, ३२. **दिव्यरत्नः**=दिव्यमणि—कौस्तुभ धारण करनेवाले अथवा अखिल जगत्के दिव्यरत्नस्वरूप, ३३. **सुधासौधभूचारणः**=चूनासे लिपे-पुते छतकी महलपर घूमनेवाले, ३४. **दिव्यवासाः**=दिव्य वस्त्रधारी ॥ १६ ॥

३५. **कदा वृन्दकारण्यचारी**=कभी-कभी वृन्दावनमें विचरनेवाले, ३६. **स्वलोके महारत्नसिंहासनस्थः**=अपने धाममें महामूल्यवान् एवं विशाल रत्नमय सिंहासनपर विराजमान, ३७. **प्रशान्तः**=परम शान्त, ३८. **महाहंसभैश्चामरैर्वीज्यमानः**=महान् हंसोंके समान श्वेत चामरोंसे जिनके ऊपर हवा की जाती है, ऐसे भगवान्, ३९. **चलच्छत्रमुक्तावलीशोभमानः**=हिलते हुए श्वेतच्छत्र तथा मुक्ताकी मालाओंसे शोभित होनेवाले ॥ १७ ॥

४०. **सुखी**=आनन्दस्वरूप, ४१. **कोटिकंदर्पलीलाभिरामः**=करोड़ों कामदेवोंके समान ललित लीलाओंके कारण अतिशय मनोहर, ४२. **क्वणन्नूपुरालंकृताङ्घ्रिः**=झंकारते हुए नूपुरोंसे अलंकृत चरणवाले, ४३. **शुभाङ्घ्रिः**=शुभ लक्षणसम्पन्न पैरवाले, ४४. **सुजानुः**=सुन्दर घुटनोंवाले, ४५. **रम्भाशुभोरुः**=केलेके समान परम सुन्दर ऊरुयुगल (जाँघ) वाले, ४६. **कृशाङ्गः**=दुबले-पतले, ४७. **प्रतापी**=तेजस्वी एवं प्रतापशाली, ४८. **इभशुण्डासुदोर्दण्डखण्डः**=हाथीकी सूँड़के समान सुन्दर भुजदण्डखण्डवाले ॥ १८ ॥

४९. जपाकुसुमहस्तः=अड़हुलके फूलके समान

अरुण-लाल हथेलीवाले, ५०. शातोदरश्रीः=पतली कमरकी शोभासे सम्पन्न, ५१. महापद्मवक्षःस्थलः=वक्षःस्थलमें प्रफुल्ल विशाल कमलकी मालासे अलंकृत, अथवा जिनका हृदयकमल विशाल है, ऐसे, ५२. चन्द्रहासः=जिनके हँसते समय चन्द्रमाकी चाँदनी-सी छटा छिटक जाती है, ऐसे, ५३. लसत्कुन्ददन्तः=शोभामयी कुन्दकलिकाके समान उज्ज्वल दाँतवाले, ५४. बिम्बाधरश्रीः=जिनके अधरकी शोभा पक्व बिम्ब-फलसे अधिक अरुण है, ऐसे, ५५. शरत्पद्मनेत्रः=शरत्कालके प्रफुल्ल कमलके सदृश नेत्रवाले, ५६. किरीटोज्ज्वलाभः=कान्तिमान् किरीटकी उज्ज्वल आभा धारण करनेवाले ॥ १९ ॥

५७. सखीकोटिभिर्वर्तमानः=करोड़ों सखियोंके साथ रहकर शोभा पानेवाले, ५८. निकुञ्जे प्रियाराधया रासासक्तः=निकुञ्जमें प्राणवल्लभा श्रीराधाके साथ रास-लीलामें तत्पर, ५९. नवाङ्गः=अपने दिव्य अङ्गोंमें नित्य नूतन रमणीयता धारण करनेवाले, ६०. धराब्रह्मरुद्रादिभिः प्रार्थितः सन् धराभारदूरीक्रियार्थं प्रजातः=पृथ्वी, ब्रह्मा तथा रुद्र आदि देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भूमिका भार दूर करनेके लिये अवतार ग्रहण करनेवाले ॥ २० ॥

६१. यदुः=यादवकुलके प्रवर्तक राजा यदु जिनकी विभूति हैं, वे, ६२. देवकीसौख्यदः=देवकीको सुख देनेवाले, ६३. बन्धनच्छित्=भवबन्धनका उच्छेद करनेवाले अथवा अवतारकालमें माता-पिताके बन्धनको काट देनेवाले, ६४. सशेषः=शेषावतार बलरामजीके साथ विराजमान, ६५. विभुः=व्यापक अथवा सर्वसमर्थ, ६६. योगमायी=योग-मायाके प्रवर्तक तथा स्वामी, ६७. विष्णुः=व्यापक या वैकुण्ठनाथ विष्णुस्वरूप, ६८. व्रजे नन्दपुत्रः=व्रजमण्डलमें नन्दनन्दनके रूपमें लीला करनेवाले, ६९. यशोदा-सुताख्यः=यशोदाजीके पुत्ररूपमें विख्यात, ७०. महा-सौख्यदः=महान् सौख्य प्रदान करनेवाले, ७१. बालरूपः=शिशुरूपधारी, ७२. शुभाङ्गः=सुन्दर एवं शुभ लक्षणसम्पन्न शरीरवाले ॥ २१ ॥

७३. पूतनामोक्षदः=पूतनाको मोक्ष देनेवाले, ७४. श्यामरूपः=श्याम मनोहर रूपवाले, ७५. दयालुः=दयालु, ७६. अनोभञ्जनः=शकट-भञ्ज करनेवाले, ७७. पल्लवाङ्घ्रिः=नूतन पल्लवोंके समान कोमल एवं अरुण चरणवाले, ७८. तृणावर्तसंहारकारी=तृणावर्तका संहार करनेवाले, ७९. गोपः=गोपालरूप, ८०. यशोदायशः=यशोदाके यश-रूप, ८१. विश्वरूपप्रदर्शी=माताको अपने मुखमें (तथा अर्जुन, धृतराष्ट्र और उत्तङ्कको) सम्पूर्ण विश्वरूपका दर्शन करानेवाले ॥ २२ ॥

८२. गर्गदिष्टः=गर्गजीके द्वारा जिनका नामकरण-संस्कार एवं भावी फलादेश किया गया, ऐसे, ८३. भाग्योदयश्रीः=भाग्योदयसूचक शोभासे सम्पन्न, ८४. लसद्बालकेलिः=सुन्दर बालोचित क्रीडा करनेवाले, ८५. सरामः=बलरामजीके साथ विचरनेवाले, ८६. सुवाक्यः=मनोहर बात करनेवाले, ८७. क्वणन्नूपुरैः शब्दयुक्=बजते हुए नूपुरोंसे शब्दयुक्त, ८८. जानुहस्तैर्व्रजाङ्गणे रिङ्गमाणः=घुटनों और हाथोंके बलपर व्रजराज नन्दके आँगनमें रेंगने या चलनेवाले ॥ २३ ॥

८९. दधिस्पृक्=दहीका स्पर्श (दान) करनेवाले, ९०. हैयंगवीदुग्धभोक्ता=ताजा माखन खानेवाले और दूध पीनेवाले, ९१. दधिस्तेयकृत्=व्रजाङ्गनाओंको सुख देनेके लिये दहीकी चोरी-लीला करनेवाले, ९२. दुग्धभुक्=दूधका भोग आरोगनेवाले, ९३. भाण्डभेत्ता=दही-दूध आदिके मटके फोड़नेवाले, ९४. मृदं भुक्तवान्=मिट्टी खानेवाले, ९५. गोपजः=नन्दगोपके पुत्र, ९६. विश्वरूपः=सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, ऐसे, ९७. प्रचण्डांशुचण्डप्रभा-मण्डिताङ्गः=सूर्यकी प्रखर किरणोंसे सुशोभित शरीरवाले ॥ २४ ॥

९८. यशोदाकरैर्बन्धनप्राप्तः=यशोदाके हाथों ओखली-में बाँधे गये, ९९. आद्यः=आदिपुरुष या सबके आदि-कारण, १००. मणिग्रीवमुक्तिप्रदः=कुबेरपुत्र मणिग्रीव और नलकूबरका शापसे उद्धार करनेवाले, १०१. दामबद्धः=यशोदाद्वारा रस्सीसे बाँधे गये, १०२. कदा व्रजे गोपिकाभिः नृत्यमानः=कभी व्रजमें गोपिकाओंके साथ नृत्य करनेवाले, १०३. कदा नन्दसन्नन्दकैर्लाल्यमानः=कभी नन्द और सनन्द आदिके द्वारा लाड़ लड़ाये जानेवाले ॥ २५ ॥

१०४. कदा गोपनन्दाङ्कगः=कभी गोपराज नन्दकी गोदमें समोद विराजमान, १०५. गोपालरूपी=ग्वालरूप-धारी, १०६. कलिन्दाङ्गजाकूलगः=कलिन्दनन्दिनी यमुनाके तटपर विहार करनेवाले, १०७. वर्तमानः=नित्य रहनेवाले, १०८. घनैर्मारुतैश्छन्नभाण्डीरदेशे नन्द-हस्तात् राधया गृहीतो वरः=एक समय प्रचण्ड वायु और घने बादलोंसे आच्छादित भाण्डीरवनके प्रदेशमें नन्दजीके हाथसे श्रीराधाद्वारा गृहीत वरस्वरूप ॥ २६ ॥

१०९. **गोलोकलोकागते महारत्नसमूहैर्युते कदम्बावृते निकुञ्जे राधिकासहविवाहे ब्रह्मणा प्रतिष्ठानगतः**=गोलोक-धामसे आये महान् रत्नसमूहोंसे शोभित तथा कदम्ब-वृक्षोंसे आवृत निकुञ्जमें राधिकाजीके साथ विवाहके अवसरपर ब्रह्माजीके द्वारा सादर स्थापित, ११०. **साममन्त्रैः पूजितः**=सामवेदके मन्त्रोंद्वारा पूजित ॥ २७ ॥

१११. **रसी**=विविध रसोंके अधिष्ठान, परम रसिक, ११२. **मालतीनां वनेऽपि प्रियाराधया सह राधिकार्थं रासयुक्**=मालती-वनमें भी प्रियतमा राधिकाके साथ उन्हींको सुख पहुँचानेके लिये रास-विलासमें संलग्न, ११३. **रमेशः धरानाथः**=लक्ष्मीके पति और पृथ्वीके स्वामी, ११४. **आनन्दद**=आनन्द प्रदान करनेवाले, ११५. **श्रीनिकेतः**=रमानिवास, ११६. **वनेशः**=वृन्दावनके स्वामी, ११७. **धनी**=सीमातीत धन और ऐश्वर्यके स्वामी, ११८. **सुन्दरः**=अप्रतिम सौन्दर्यकी निधि, ११९. **गोपिकेशः**=गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ ॥ २८ ॥

१२०. **कदा राधया नन्दगेहे प्रापितः**=किसी समय राधिकाद्वारा नन्दके घरमें पहुँचाये गये, १२१. **यशोदाकरैर्लालितः**=यशोदाके हाथों दुलारे गये, १२२. **मन्दहासः**=मन्द-मन्द मनोरम हाससे सुशोभित, १२३. **क्वापि भयी**=कहीं-कहीं डरे हुएकी भाँति लीला करनेवाले, १२४. **वृन्दारकारण्यवासी**=वृन्दावनमें निवास करनेवाले, १२५. **महामन्दिरे वासकृत्**=नन्दरायके विशाल भवनमें रहनेवाले, १२६. **देवपूज्यः**=देवताओंके पूजनीय ॥ २९ ॥

१२७. **वने वत्सचारी**=वनमें बछड़े चरानेवाले, १२८. **महावत्सहारी**=महान् बछड़ेका रूप धारण करके आये हुए वत्सासुरके विनाशक, १२९. **बकारिः**=बकासुरके शत्रु, १३०. **सुरैः पूजितः**=देवगणोंद्वारा सम्मानित, १३१. **अघारिनामा**=अघासुरका वध करके 'अघारि' नामसे प्रसिद्ध, १३२. **वने वत्सकृत्**=वनमें नूतन बछड़ोंकी सृष्टि करनेवाले, १३३. **गोपकृत्**=नूतन ग्वाल-बालोंका निर्माण करनेवाले, १३४. **गोपवेशः**=ग्वालवेशधारी, १३५. **कदा ब्रह्मणा संस्तुतः**=किसी समय ब्रह्माजीके मुखसे अपना गुणगान सुननेवाले, १३६. **पद्मनाभः**=एकार्णवके जलमें अपनी नाभिसे कमल प्रकट करनेवाले ॥ ३० ॥

१३७. **विहारी**=वृन्दावनमें विचरण करनेवाले और भक्तोंके साथ नाना प्रकार विहार करनेवाले, १३८. **तालभुक्**=ताड़का फल खानेवाले, १३९. **धेनुकारिः**=धेनुकासुरके शत्रु, १४०. **सदा रक्षकः**=सदा सबके रक्षक, १४१. **गोविषार्तिप्रणाशी**=यमुनाजीका विषाक्त जल पीनेसे गौओंके भीतर व्याप्त विषजनित पीड़ाका नाश करनेवाले, **कलिन्दाङ्गजाकूलगः**=कलिन्द-कन्या यमुनाके तटपर जानेवाले, १४२. **कालियस्य दमी**=कालियनागका दमन करनेवाले, १४३. **फणेषु नृत्यकारी**=कालियनागके फणोंपर नृत्य करनेवाले, १४४. **प्रसिद्धः**=सर्वत्र प्रसिद्धिको प्राप्त ॥ ३१ ॥

१४५. **सलीलः**=लीलापरायण, १४६. **शमी**=स्वभावतः शान्त, १४७. **ज्ञानदः**=ज्ञानदाता, १४८. **कामपूरः**=कामनाओंके पूरक, १४९. **गोपयुक्**=गोपोंके साथ विराजमान, १५०. **गोपः**=गोपस्वरूप या गौओंके पालक, १५१. **आनन्दकारी**=आनन्ददायिनी लीला प्रस्तुत करनेवाले, १५२. **स्थिरः**=स्थैर्ययुक्त, १५३. **अग्निभुक्**=दावानलको पी जानेवाले, १५४. **पालकः**=रक्षक, १५५. **बाललीलः**=बालकों-जैसी क्रीडा करनेवाले, १५६. **सुरागः**=मुरलीके स्वरोंमें सुन्दर राग गानेवाले, १५७. **वंशीधरः**=मुरलीधारी, १५८. **पुष्पशीलः**=स्वभावतः फूलोंका श्रृङ्गार धारण करनेवाले ॥ ३२ ॥

१५९. **प्रलम्बप्रभानाशकः**=बलरामरूपसे प्रलम्बासुरकी प्रभाके नाशक, १६०. **गौरवर्णः**=गोरे वर्णवाले बलराम, १६१. **बलः**=बलस्वरूप या बलभद्र, १६२. **रोहिणीजः**=रोहिणीनन्दन, १६३. **रामः**=बलराम, १६४. **शेषः**=शेषके अवतार, १६५. **बली**=बलवान्, १६६. **पद्मनेत्रः**=कमलनयन, १६७. **कृष्णाग्रजः**=श्रीकृष्णके बड़े भाई, १६८. **धरेशः**=धरणीधर, १६९. **फणीशः**=नागराज, १७०. **नीलाम्बराभः**=नीलवस्त्रकी शोभासे युक्त ॥ ३३ ॥

महासौख्यदः=महान् सौख्य देनेवाले, १७१. **अग्निहारकः**=मुञ्जाटवीमें लगी हुई आगको हर लेनेवाले, १७२. **व्रजेशः**=व्रजके स्वामी, १७३. **शरद्ग्रीष्मवर्षाकरः**=शरद्, ग्रीष्म और वर्षा प्रकट करनेवाले, १७४. **कृष्णवर्णः**=श्यामसुन्दर, १७५. **व्रजे गोपिकापूजितः**=व्रजमण्डलमें गोपसुन्दरियोंद्वारा पूजित, १७६. **चीरहर्ता**=चीरहरणकी लीला करनेवाले, १७७. **कदम्बे स्थितः**=चीर लेकर कदम्बपर जा बैठनेवाले, १७८. **चीरदः**=गोपकिशोरियोंके माँगनेपर उन्हें चीर लौटा देनेवाले, १७९. **सुन्दरीशः**=सुन्दरी गोपकुमारियोंके प्राणेश्वर ॥ ३४ ॥

१८०. **क्षुधानाशकृत्**=ग्वाल-बालोंकी भूख मिटानेवाले, १८१. **यज्ञपत्नीमनःस्पृक्**=यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके मनका स्पर्श करनेवाले—उनके मन-मन्दिरमें बस जानेवाले,

१८२. कृपाकारकः=दया करनेवाले, १८३. केलिकर्ता=क्रीडापरायण, १८४. अवनीशः=भूस्वामी, १८५. व्रजे शक्रयागप्रणाशः=व्रजमण्डलमें इन्द्रयागकी परम्पराको मिटा देनेवाले, १८६. अमिताशी=गोवर्धन-पूजामें समर्पित अपरिमित भोजन-राशिको आरोग लेनेवाले, १८७. शुनासीर-मोहप्रदः=इन्द्रको मोह प्रदान करनेवाले अथवा उनके मोहका खण्डन करनेवाले, १८८. बालरूपी=बालरूपधारी ॥ ३५ ॥

१८९. गिरेः पूजकः=गिरिराज गोवर्धनकी पूजा करनेवाले, १९०. नन्दपुत्रः=नन्दरायजीके बेटे, १९१. अगध्रः=गिरिवरधारी, १९२. कृपाकृत्=कृपा करनेवाले, १९३. गोवर्धनोद्धारिनामा='गोवर्धनोद्धारी' नामवाले, १९४. वातवर्षाहरः=आँधी और वर्षाके कष्टको हर लेनेवाले, १९५. रक्षकः=व्रजवासियोंकी रक्षा करनेवाले, १९६. व्रजाधीशगोपाङ्गनाशङ्कितः=व्रजराज नन्द और गोपाङ्गनाओंसे डरनेवाले, अथवा गोवर्धन उठानेके अलौकिक कर्मको देखकर व्रजराज नन्द तथा गोपियोंको जिनके प्रति यह शङ्का हुई थी कि ये साधारण गोप नहीं, साक्षात् नारायण हो सकते हैं, इस तरहकी शङ्काके पात्र ॥ ३६ ॥

१९७. अगेन्द्रोपरि शक्रपूज्यः=गिरिराज गोवर्धनके ऊपर इन्द्रके द्वारा पूजनीय, १९८. प्राक्स्तुतः=पहले जिनका स्तवन हुआ है, ऐसे, १९९. मृषाशिक्षकः=अपने ऊपर शङ्का करनेवाले नन्दादि गोपोंको व्यर्थकी बातोंसे बहला देनेवाले, २००. देवगोविन्दनामा='गोविन्ददेव' नाम धारण करनेवाले, २०१. व्रजाधीशरक्षाकरः=व्रजराज नन्दकी रक्षा करनेवाले (उन्हें वरुणलोकसे छुड़ाकर लानेवाले), २०२. पाशिपूज्यः=पाशधारी वरुणके द्वारा पूजनीय, २०३. अनुगैर्गोपजैः दिव्यवैकुण्ठदर्शी=अनुगामी ग्वालबालोंके साथ जाकर उन्हें दिव्य वैकुण्ठधामका दर्शन करानेवाले ॥ ३७ ॥

२०४. चलच्चारुवंशीक्वणः=मनोहर वंशीकी ध्वनिको चारों ओर फैलानेवाले, २०५. कामिनीशः=गोपसुन्दरियोंके प्राणेश्वर, २०६. व्रजे कामिनीमोहदः=व्रजकी कामिनियोंको मोह प्रदान करनेवाले, २०७. कामरूपः=कामदेवसे भी सुन्दर रूपवाले, २०८. रसाक्तः=रसमग्न, २०९. रसी रासकृत्=रासक्रीडा करनेवाले रसोंके निधि, २१०. राधिकेशः=राधिकाके स्वामी, २११. महामोहदः=महान् मोह प्रदान करनेवाले, २१२. मानिनीमानहारी=मानिनियोंके मान हर लेनेवाले ॥ ३८ ॥

२१३. विहारी वरः=विहारशील श्रेष्ठ पुरुष, २१४. मानहृत्=मान हर लेनेवाले, २१५. राधिकाङ्गः=श्रीराधिका जिनकी वामाङ्गस्वरूपा हैं, वे, २१६. धराद्वीपगः=भूमण्डलके सभी द्वीपोंमें जानेवाले, २१७. खण्डचारी=विभिन्न वनखण्डोंमें विचरनेवाले, २१८. वनस्थः=वनवासी, २१९. प्रियः=सबके प्रियतम, २२०. अष्टवक्रर्षिदृष्टः=अष्टावक्र ऋषिका दर्शन करनेवाले, २२१. सराधः=राधिकाके साथ विचरनेवाले, २२२. महामोक्षदः=महामोक्ष प्रदान करनेवाले, २२३. प्रियार्थं पद्महारी=प्रियतमाकी प्रसन्नताके लिये कमलका फूल लानेवाले ॥ ३९ ॥

२२४. वटस्थः=वटवृक्ष पर विराजमान, २२५. सुरः=देवता, २२६. चन्दनाक्तः=चन्दनसे चर्चित, २२७. प्रसक्तः=श्रीराधाके प्रति अधिक अनुरक्त, २२८. राधया व्रजं ह्यागतः=श्रीराधाके साथ व्रजमण्डलमें अवतीर्ण, २२९. मोहिनीषु महामोहकृत्=मोहिनियोंमें महामोह उत्पन्न करनेवाले, २३०. गोपिकागीतकीर्तिः=गोपिकाओंद्वारा गायी गयी कीर्तिवाले, २३१. रसस्थः=अपने स्वरूपभूत रसमें स्थित, २३२. पटी=पीताम्बरधारी, २३३. दुःखिताकामिनीशः=दुखिया नारियोंके रक्षक ॥ ४० ॥

२३४. वने गोपिकात्यागकृत्=वनमें गोपियोंका त्याग करनेवाले, २३५. पादचिह्नप्रदर्शी=वनमें ढूँढ़ती हुई गोपिकाओंको अपना चरणचिह्न प्रदर्शित करनेवाले, २३६. कलाकारकः=चौसठ कलाओंके कलाकार, २३७. काममोही=अपने रूप-लावण्यसे कामदेवको भी मोहित करनेवाले, २३८. वशी=मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, २३९. गोपिकामध्यगः=गोपाङ्गनाओंके बीचमें विराजमान, २४०. पेशवाक्=मधुरभाषी, २४१. प्रिया-प्रीतिकृत्=प्रिया श्रीराधासे प्रेम करनेवाले अथवा प्रियाकी प्रसन्नताके लिये कार्य करनेवाले, २४२. रासरक्तः=रासके रंगमें रँगे हुए, २४३. कलेशः=सम्पूर्ण कलाओंके स्वामी ॥ ४१ ॥

२४४. रसारक्तचित्तः=रसमग्न चित्तवाले, २४५. अनन्तस्वरूपः=अनन्त रूपवाले अथवा शेषनाग-स्वरूप, २४६. स्रजासंवृतः=आजानुलम्बिनी वनमाला धारण करनेवाले, २४७. वल्लवीमध्यसंस्थः=गोपाङ्गना-मण्डलके मध्य बैठे हुए, २४८. सुबाहुः=सुन्दर बाँहवाले, २४९. सुपादः=सुन्दर चरणवाले, २५०. सुवेशः=सुन्दर

वेशवाले, २५१. **सुकेशो व्रजेशः**=सुन्दर केशवाले व्रजमण्डलके स्वामी, २५२. **सखा**=सख्य-रतिके आलम्बन, २५३. **वल्लभेशः**=प्राणवल्लभा श्रीराधाके हृदयेश, २५४. **सुदेशः**=सर्वोत्कृष्ट देशस्वरूप ॥ ४२ ॥

२५५. **क्वणत्किङ्किणीजालभृत्**=झनकारती हुई किङ्किणीकी लड़ोंको धारण करनेवाले, २५६. **नूपुराढ्यः**=चरणोंमें नूपुरोंकी शोभासे सम्पन्न, २५७. **लसत्कङ्कणः**=कलाइयोंमें सुन्दर कंगन धारण करनेवाले, २५८. **अङ्गदी**=बाजूबंदधारी, २५९. **हारभारः**=हारोंके भारसे विभूषित, २६०. **किरीटी**=मुकुटधारी, २६१. **चलत्कुण्डलः**=कानोंमें हिलते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित, २६२. **अङ्गुलीयस्फुरत्कौस्तुभः**=हाथोंमें अँगूठीके साथ वक्षःस्थलपर जगमगाती हुई कौस्तुभमणि धारण करनेवाले, २६३. **मालतीमण्डिताङ्गः**=मालतीकी मालासे अलंकृत शरीरवाले ॥ ४३ ॥

२६४. **महान्नृत्यकृत्**=महारास-नृत्य करनेवाले, २६५. **रासरङ्गः**=रासरंगमें तत्पर, २६६. **कलाढ्यः**=समस्त कलाओंसे सम्पन्न, २६७. **चलद्धारभः**=हिलते हुए रत्नहारकी छटा छिटकानेवाले, २६८. **भामिनीनृत्ययुक्तः**=भामिनियोंके साथ नृत्यमें संलग्न, २६९. **कलिन्दाङ्गजाकेलिकृत्**=कलिन्दनन्दिनी यमुनाजीके जलमें क्रीडा करनेवाले, २७०. **कुङ्कुमश्रीः**=केसर-कुङ्कुमकी शोभासे सम्पन्न, २७१. **सुरैर्नायिकानायकैर्गीयमानः**=नायिकाओंके नायक, अर्थात् अपनी प्राणवल्लभाओंके साथ सुशोभित देवताओं-द्वारा जिनके यशका गान किया जाता है, वे ॥ ४४ ॥

२७२. **सुखाढ्यः**=स्वरूपभूत सुखसे सम्पन्न, २७३. **राधापतिः**=राधिकाके प्राणवल्लभ, २७४. **पूर्णबोधः**=पूर्ण ज्ञानस्वरूप, २७५. **कटाक्षस्मिती**=कुटिल कटाक्षके साथ मन्द मुस्कान-शोभा प्रकट करनेवाले, २७६. **वल्गितभ्रूविलासः**=नचायी हुई भौंहोंके विलाससे शोभायमान, २७७. **सुरम्यः**=अत्यन्त रमणीय, २७८. **अलिभिः कुन्तलालोलकेशः**=मँडराते भ्रमरोंसे युक्त कुछ हिलते घुँघराले केशवाले, २७९. **स्फुरद्बर्हकुन्दस्रजाचारुवेशः**=फरफराते हुए मोरपंखके मुकुट और कुन्दकुसुमोंकी मालासे मनोहर वेशवाले ॥ ४५ ॥

२८०. **महासर्पतो नन्दरक्षापराङ्घ्रिः**=जिनके चरण महान् अजगरके भयसे नन्दकी रक्षा करनेवाले हैं, वे, २८१. **सदा मोक्षदः**=सतत मोक्ष प्रदान करनेवाले, २८२. **शङ्खचूडप्रणाशी**='शङ्खचूड' नामक यक्षको मार भगानेवाले, २८३. **प्रजारक्षकः**=प्रजाजनोंके प्रतिपालक, २८४. **गोपिकागीयमानः**=गोपाङ्गनाओंद्वारा जिनके यशका गान किया जाता है, वे, २८५. **ककुद्मिप्रणाशप्रयासः**=अरिष्टासुरके वधके लिये प्रयास करनेवाले, २८६. **सुरेज्यः**=देवताओंके पूजनीय ॥ ४६ ॥

२८७. **कलिः**=कलिस्वरूप, २८८. **क्रोधकृत्**=दुष्टोंपर क्रोध करनेवाले, २८९. **कंसमन्त्रोपदेष्टा**=नारद-रूपसे कंसको मन्त्रोपदेश करनेवाले, २९०. **अक्रूर-मन्त्रोपदेशी**=अक्रूरको अपने नाम-मन्त्रका उपदेश करनेवाले अथवा उनको मन्त्रणा देनेवाले, २९१. **सुरार्थः**=देवताओंका प्रयोजन सिद्ध करनेवाले, २९२. **बली केशिहा**=केशीका नाश करनेवाले महान् बलवान्, २९३. **पुष्प-वर्षामलश्रीः**=देवताओंद्वारा जिनपर पुष्पवर्षा की गयी है, वे भगवान्, २९४. **अमलश्रीः**=उज्ज्वल शोभासे सम्पन्न, २९५. **नारदादेशतो व्योमहन्ता**=नारदजीके कहनेसे व्योमासुरका वध करनेवाले ॥ ४७ ॥

२९६. **अक्रूरसेवापरः**=नन्द-व्रजमें आये हुए अक्रूरकी सेवामें संलग्न, २९७. **सर्वदर्शी**=सबके द्रष्टा, २९८. **व्रजे गोपिकामोहदः**=व्रजमें गोपाङ्गनाओंको मोहित करनेवाले, २९९. **कूलवर्ती**=यमुनाके तटपर विद्यमान, ३००. **सती-राधिकाबोधदः**=मथुरा जाते समय सती राधिकाको बोध (आश्वासन) देनेवाले, ३०१. **स्वप्नकर्ता**=श्रीराधिकाके लिये सुखमय स्वप्नकी सृष्टि करनेवाले, ३०२. **विलासी**=लीला-विलासपरायण, ३०३. **महा-मोहनाशी**=महामोहके नाशक, ३०४. **स्वबोधः**=आत्म-बोधस्वरूप ॥ ४८ ॥

३०५. **व्रजे शापतस्त्यक्तराधासकाशः**=व्रजमें शापवश राधाके समीप निवासका त्याग करनेवाले, ३०६. **महामोहदावाग्निदग्धापतिः**=श्रीकृष्णविषयक महामोहरूप दावानलसे दग्ध होनेवाली श्रीराधाके पालक या प्राणरक्षक, ३०७. **सखीबन्धनान्मोचिताक्रूरः**=सखियोंके बन्धनसे अक्रूरको छुड़ानेवाले, ३०८. **आरात् सखीकङ्कणैस्ता-डिताक्रूररक्षी**=निकट आयी हुई सखियोंके कंगनोंकी मारसे पीड़ित अक्रूरकी रक्षा करनेवाले ॥ ४९ ॥

३०९. **व्रजे राधया रथस्थः**=व्रजमें राधाके साथ रथपर विराजमान, ३१०. **कृष्णचन्द्रः**=श्रीकृष्णचन्द्र, ३११. **गोपकैः सुखात् गमी**=ग्वाल-बालोंके साथ अत्यन्त सुखपूर्वक मथुराकी

यात्रा करनेवाले, ३१२. **चारुलील:**=मनोहर लीलाएँ करनेवाले, ३१३. **जलेऽक्रूरस्वदर्शित:**=यमुनाके जलमें अक्रूरको अपने रूपका दर्शन करानेवाले, ३१४. **दिव्यरूप:**=दिव्यरूपधारी, ३१५. **दिदृक्षु:**=मथुरापुरी देखनेके इच्छुक, ३१६. **पुरीमोहिनीचित्तमोही**=मथुरापुरीकी मोहिनी स्त्रियोंके भी चित्तको मोह लेनेवाले ॥ ५० ॥

३१७. **रङ्गकारप्रणाशी**=कंसके रंगकार या धोबीको नष्ट करनेवाले, ३१८. **सुवस्त्र:**=सुन्दर वस्त्रधारी, ३१९. **स्रग्वी**=माली सुदामाकी दी हुई माला धारण करनेवाले, ३२०. **वायकप्रीतिकृत्**=दर्जीको प्रसन्न करनेवाले, ३२१. **मालिपूज्य:**=मालीके द्वारा पूजित, ३२२. **महाकीर्तिद:**=मालीको महान् सुयश प्रदान करनेवाले, ३२३. **कुब्जाविनोदी**=कुब्जाके साथ हास-विनोद करनेवाले, ३२४. **स्फुरत्कोदण्डरुग्ण:**=कंसके कान्तिमान् कोदण्डका खण्डन (धनुष-भङ्ग) करनेवाले, ३२५. **प्रचण्ड:**=प्रचण्ड (महान् बलवान्) दिखायी देनेवाले ॥ ५१ ॥

३२६. **भटार्तिप्रद:**=कंसके मल्ल योद्धाओंको पीड़ा देनेवाले, ३२७. **कंसदु:स्वप्नकारी**=कंसको बुरे सपने दिखानेवाले, ३२८. **महामल्लवेष:**=महान् मल्लोंके समान वेष धारण करनेवाले, ३२९. **करीन्द्रप्रहारी**=गजराज कुवलयापीड़पर प्रहार करनेवाले, ३३०. **महामात्यहा**=महावतोंको मारनेवाले, ३३१. **रङ्गभूमिप्रवेशी**=कंसकी मल्लशालामें प्रवेश करनेवाले, ३३२. **रसाढ्य:**=नौ रसोंसे सम्पन्न (भिन्न-भिन्न द्रष्टाओंको विभिन्न रसोंके आलम्बनके रूपमें दिखायी देनेवाले), ३३३. **यश:स्पृक्**=यशस्वी, ३३४. **बली-वाक्पटुश्री:**=अनन्त शक्तिसे सम्पन्न और बातचीत करनेमें प्रवीण ऐश्वर्यवान् ॥ ५२ ॥

३३५. **महामल्लहा**=बड़े-बड़े मल्ल चाणूर और मुष्टिक आदिका वध करनेवाले, ३३६. **युद्धकृत्**=युद्ध करनेवाले, ३३७. **स्त्रीवचोऽर्थी**=रंगोत्सव देखनेके लिये आयी हुई स्त्रियोंके वचनोंको सुननेकी इच्छावाले, ३३८. **धरानायक: कंसहन्ता**=कंसका हनन करनेवाले भूतलके स्वामी, ३३९. **प्राग्यदु:**=पूर्ववर्ती राजा यदुस्वरूप, ३४०. **सदापूजित:**=सदा सबसे पूजित, ३४१. **उग्रसेनप्रसिद्ध:**=उग्रसेनकी प्रसिद्धिके कारण, ३४२. **धराराज्यद:**=उग्रसेनको भूमण्डलका राज्य देनेवाले, ३४३. **यादवैर्मण्डिताङ्ग:**=यादवोंसे सुशोभित शरीरवाले ॥ ५३ ॥

३४४. **गुरो: पुत्रद:**=गुरुको पुत्र प्रदान करनेवाले, ३४५. **ब्रह्मविद्**=ब्रह्मवेत्ता, ३४६. **ब्रह्मपाठी**=वेदपाठ करनेवाले, ३४७. **महाशङ्खहा**=महान् राक्षस शङ्खासुरका वध करनेवाले, ३४८. **दण्डधृक्पूज्य:**=दण्डधारी यमराजके लिये पूजनीय, ३४९. **व्रजे उद्धवप्रेषिता**=व्रजमें वहाँका समाचार जाननेके लिये उद्धवको भेजनेवाले, ३५०. **गोपमोही**=अपने रूप, गुण और सद्भावसे गोपगणोंको मोह लेनेवाले, ३५१. **यशोदाघृणी**=मैया यशोदाके प्रति अत्यन्त कृपालु, ३५२. **गोपिकाज्ञानदेशी**=गोपाङ्गनाओंको ज्ञानोपदेश करनेवाले ॥ ५४ ॥

३५३. **सदा स्नेहकृत्**=सदा स्नेह करनेवाले, ३५४. **कुब्जया पूजिताङ्ग:**=कुब्जाके द्वारा पूजित अङ्गवाले, ३५५. **अक्रूरगेहंगमी**=अक्रूरके घर पधारनेवाले, ३५६. **मन्त्रवेत्ता**=मन्त्रणाके मर्मज्ञ, ३५७. **पाण्डवप्रेषिताक्रूर:**=पाण्डवोंका समाचार लानेके लिये अक्रूरको भेजनेवाले, ३५८. **सुखी सर्वदर्शी**=सौख्ययुक्त, सबके साक्षी अथवा सर्वज्ञ, ३५९. **नृपानन्दकारी**=राजा उग्रसेनको आनन्द देनेवाले ॥ ५५ ॥

३६०. **महाक्षौहिणीहा**=जरासंधकी तीस अक्षौहिणी सेनाका विनाश करनेवाले, ३६१. **जरासंधमानोद्धुर:**=जरासंधका मान भङ्ग करनेवाले, ३६२. **द्वारकाकारक:**=द्वारकापुरीका निर्माण करनेवाले, ३६३. **मोक्षकर्ता**=भव-बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाले, ३६४. **रणी**=युद्धके लिये सदा उद्यत, ३६५. **सार्वभौमस्तुत:**=सत्ययुगके चक्रवर्ती राजा मुचुकुन्दने जिनकी स्तुति की, ऐसे, ३६६. **ज्ञानदाता**=मुचुकुन्दको ज्ञान प्रदान करनेवाले, ३६७. **जरासंधसंकल्पकृत्**=एक बार अपनी पराजयका अभिनय करके जरासंधके संकल्पकी पूर्ति करनेवाले, ३६८. **धावदङ्घ्रि:**=पैदल भागनेवाले ॥ ५६ ॥

३६९. **नगादुत्पतद्द्वारकामध्यवर्ती**=प्रवर्षणगिरिसे उछलकर द्वारकापुरीके बीच विराजमान, ३७०. **रेवतीभूषण:**=बलरामरूपसे रेवतीके सौभाग्यभूषण, ३७१. **तालचिह्नो यदु:**=तालके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले यदुवीर, ३७२. **रुक्मिणीहारक:**=रुक्मिणीका अपहरण करनेवाले, ३७३. **चैद्यभेद्य:**=चेदिराज शिशुपाल जिनका वध्य है, वे, ३७४. **रुक्मिरूपप्रणाशी**=रुक्मीकी आधी मूँछ मूँड़कर उसे कुरूप बनानेवाले, ३७५. **सुखाशी**=स्वरूपभूत आनन्दके आस्वादक ॥ ५७ ॥

३७६. **अनन्तः**=शेषनागस्वरूप, ३७७. **मारः**=कामदेवा-वतार, ३७८. **कार्ष्णिः**=कृष्णकुमार प्रद्युम्न, ३७९. **कामः**=कामदेव, ३८०. **मनोजः**=काम, ३८१. **शम्बरारिः**=शम्बरासुरके शत्रु कामदेव, ३८२. **रतीशः**=रतिके स्वामी, ३८३. **रथी**=रथारूढ़, ३८४. **मन्मथः**=मनको मथ देनेवाले, ३८५. **मीनकेतुः**=मत्स्यचिह्न ध्वजासे युक्त, ३८६. **शरी**=बाणधारी, ३८७. **स्मरः**=काम, ३८८. **दर्पकः**=कामदेव, ३८९. **मानहा**=मानमर्दन करनेवाले, ३९०. **पञ्चबाणः**=पञ्च-बाणधारी कामदेव (ये सब नाम प्रद्युम्नस्वरूप श्रीहरिके पर्यायवाची हैं) ॥ ५८ ॥

३९१. **प्रियः सत्यभामापतिः**=सत्यभामाके प्रिय पति, ३९२. **यादवेशः**=यादवोंके स्वामी, ३९३. **सत्राजित्-प्रेमपूरः**=सत्राजित्के प्रेमको पूर्ण करनेवाले, ३९४. **प्रहासः**=उत्कृष्ट हासवाले, ३९५. **महारत्नदः**=महारत्न स्यमन्तकको ढूँढ़कर ला देनेवाले, ३९६. **जाम्बवद्युद्धकारी**=जाम्बवान्से युद्ध करनेवाले, ३९७. **महाचक्रधृक्**=महान् सुदर्शनचक्र धारण करनेवाले, ३९८. **खड्गधृक्**=‘नन्दक’ नामक खड्ग धारण करनेवाले, ३९९. **रामसंधिः**=बलरामजीके साथ संधि करनेवाले ॥ ५९ ॥

४००. **विहारस्थितः**=लीला-विहारपरायण, ४०१. **पाण्डवप्रेमकारी**=पाण्डवोंसे प्रेम करनेवाले, ४०२. **कालिन्द्यङ्गमोहनः**=कालिन्दीके मनको मोह लेनेवाले, ४०३. **खाण्डवार्थी**=खाण्डव-वनको अग्निदेवके लिये अर्पित करनेके इच्छुक, ४०४. **फाल्गुनप्रीतिकृत् सखा**=अर्जुनपर प्रेम रखनेवाले उनके सखा, ४०५. **नग्नकर्ता**=खाण्डव-वनको जलाकर नग्न (शून्य) करनेवाले, ४०६. **मित्रविन्दापतिः**=‘मित्रविन्दा’ नामवाली अवन्तीदेशकी राजकुमारीके पति, ४०७. **क्रीडनार्थी**=क्रीडा या खेलके इच्छुक ॥ ६० ॥

४०८. **नृपप्रेमकृत्**=राजा नग्नजित्से प्रेम करनेवाले, ४०९. **सप्तरूपो गोजयी**=सात रूप धारण करके सात बिगड़ैल बैलोंको एक ही साथ नाथकर काबूमें कर लेनेवाले, ४१०. **सत्यापतिः**=नग्नजित्कुमारी सत्याके पति, ४११. **पारिबर्ही**=राजा नग्नजित्के द्वारा दिये दहेजको ग्रहण करनेवाले, ४१२. **यथेष्टम्**=पूर्ण, ४१३. **नृपैः संकुलः**=सत्याको लेकर लौटते समय मार्गमें युद्धार्थी राजाओंद्वारा घेर लिये जानेवाले, ४१४. **भद्रापतिः**=भद्राके स्वामी, ४१५. **मधोर्विलासी**=मधुमास चैत्रकी पूर्णिमाको रासविलास करनेवाले, ४१६. **मानिनीशः**=मानिनी जनोंके प्राणवल्लभ, ४१७. **अजेशः**=प्रजाजनोंके स्वामी ॥ ६१ ॥

४१८. **शुनासीरमोहावृतः**=इन्द्रके प्रति मोह (स्नेह एवं कृपाभाव) से युक्त, ४१९. **सत्यभार्यः**=सती भार्यासे युक्त, ४२०. **सतार्क्ष्यः**=गरुडपर आरूढ, ४२१. **मुरारिः**=मुर दैत्यका नाश करनेवाले, ४२२. **पुरीसंघभेत्ता**=भौमासुरकी पुरीके दुर्गसमुदायका भेदन करनेवाले, ४२३. **सुवीरः शिरःखण्डनः**=श्रेष्ठवीर असुरोंका मस्तक काटनेवाले, ४२४. **दैत्यनाशी**=दैत्योंका नाश करनेवाले, ४२५. **शरी भौमहा**=सायकधारी होकर भौमासुरका वध करनेवाले, ४२६. **चण्डवेगः**=प्रचण्ड वेगवाले, ४२७. **प्रवीरः**=उत्कृष्ट वीर ॥ ६२ ॥

४२८. **धरासंस्तुतः**=पृथ्वीदेवीके मुखसे अपना गुणगान सुननेवाले, ४२९. **कुण्डलच्छत्रहर्ता**=अदितिके कुण्डल और इन्द्रके छत्रको भौमासुरकी राजधानीसे लेकर उसे स्वर्गलोकतक पहुँचानेवाले, ४३०. **महारत्नयुक्**=महान् मणिरत्नोंसे सम्पन्न, ४३१. **राजकन्याभिरामः**=सोलह हजार राजकुमारियोंके सुन्दर पति, ४३२. **शचीपूजितः**=स्वर्गमें इन्द्रपत्नी शचीके द्वारा सम्मानित, ४३३. **शक्रजित्**=पारिजातके लिये होनेवाले युद्धमें इन्द्रको जीतनेवाले, ४३४. **मानहर्ता**=इन्द्रका अभिमान चूर्ण कर देनेवाले, ४३५. **पारिजातापहारी रमेशः**=पारिजातका अपहरण करनेवाले रमावल्लभ ॥ ६३ ॥

४३६. **गृही चामरैः शोभितः**=गृहस्थरूपमें रहकर श्वेत चँवर डुलाये जानेके कारण अतिशय शोभायमान, ४३७. **भीष्मकन्यापतिः**=राजा भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीके पति, ४३८. **हास्यकृत्**=रुक्मिणीके साथ परिहास करनेवाले, ४३९. **मानिनीमानकारी**=मानिनी रुक्मिणीको मान देनेवाले, ४४०. **रुक्मिणीवाक्यपटुः**=रुक्मिणीको अपनी बातोंसे रिझानेमें कुशल, ४४१. **प्रेमगेहः**=प्रेमके अधिष्ठान, ४४२. **सतीमोहनः**=सतियोंको भी मोह लेनेवाले, ४४३. **कामदेवापरश्रीः**=दूसरे कामदेवके समान मनोरम सुषमासे सम्पन्न ॥ ६४ ॥

४४४. **सुदेष्णः**=‘सुदेष्ण’ नामक श्रीकृष्ण-पुत्र, ४४५. **सुचारुः**=सुचारु, ४४६. **चारुदेष्णः**=चारुदेष्ण, ४४७. **चारुदेहः**=चारुदेह, ४४८. **बली चारुगुप्तः**=बली, चारुगुप्त, ४४९. **सुती भद्रचारुः**=पुत्रवान्, भद्रचारु, ४५०.

चारुचन्द्रः=चारुचन्द्र, ४५१. विचारुः=विचारु, ४५२. चारुः=चारु, ४५३. रथी पुत्ररूपः=रथी पुत्रस्वरूप ॥ ६५ ॥

४५४. सुभानुः=सुभानु, ४५५. प्रभानुः=प्रभानु, ४५६. चन्द्रभानुः=चन्द्रभानु, ४५७. बृहद्भानुः=बृहद्भानु, ४५८. अग्रभानुः=अग्रभानु, ४५९. साम्बः=साम्ब, ४६०. सुमित्रः=सुमित्र, ४६१. क्रतुः=क्रतु, ४६२. चित्रकेतुः=चित्रकेतु, ४६३. वीरः अश्वसेनः=वीर अश्वसेन, ४६४. वृषः=वृष, ४६५. चित्रगुः=चित्रगु, ४६६. चन्द्रबिम्बः=चन्द्रबिम्ब ॥ ६६ ॥

४६७. विशङ्कुः=विशङ्कु, ४६८. वसुः=वसु, ४६९. श्रुतः=श्रुत, ४७०. भद्रः=भद्र, ४७१. सुबाहुः वृषः=उत्तम भुजाओंसे युक्त वृष, ४७२. पूर्णमासः=पूर्णमास, ४७३. सोमः वरः=श्रेष्ठ सोम, ४७४. शान्तिः=शान्ति, ४७५. प्रघोषः=प्रघोष, ४७६. सिंहः=सिंह, ४७७. बलः ऊर्ध्वगः=बल और ऊर्ध्वग, ४७८. वर्धनः=वर्धन, ४७९. उन्नादः=उन्नाद ॥ ६७ ॥

४८०. महाशः=महाश, ४८१. वृकः=वृक, ४८२. पावनः=पावन, ४८३. वह्निमित्रः=वह्निमित्र, ४८४. क्षुधिः=क्षुधि, ४८५. हर्षकः=हर्षक, ४८६. अनिलः=अनिल, ४८७. अमित्रजित्=अमित्रजित्, ४८८. सुभद्रः=सुभद्र, ४८९. जयः=जय, ४९०. सत्यकः=सत्यक, ४९१. वामः=वाम, ४९२. आयुः=आयु, यदुः=यदु, ४९३. कोटिशः पुत्रपौत्रैः प्रसिद्धः=इस प्रकार करोड़ों पुत्र-पौत्रोंसे प्रसिद्ध ॥ ६८ ॥

४९४. हली दण्डधृक्=ईषादण्डधारी हलधर बलराम, ४९५. रुक्मिहा=रुक्मीका वध करनेवाले, ४९६. अनिरुद्धः=किसीके द्वारा रोके न जा सकनेवाले, ४९७. राजभिर्हास्यगः=अनिरुद्धके विवाहमें द्यूतक्रीडाके समय राजाओंने जिनकी हँसी उड़ायी, वे, ४९८. द्यूतकर्ता=विनोदके लिये द्यूत-क्रीड़ामें भाग लेनेवाले बलरामजी, ४९९. मधुः=मधुवंशमें अवतीर्ण, ५००. ब्रह्मसूः=ब्रह्माजीके अवतार अनिरुद्ध, ५०१. बाणपुत्रीपतिः=बाणासुरकी कन्या ऊषाके स्वामी, ५०२. महासुन्दरः=अतिशय सौन्दर्यशाली, ५०३. कामपुत्रः=प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धरूप, ५०४. बलीशः=बलवानोंके ईश्वर ॥ ६९ ॥

५०५. महादैत्यसंग्रामकृद् यादवेशः=बड़े-बड़े दैत्योंके साथ युद्ध करनेवाले यादवोंके स्वामी, ५०६. पुरीभञ्जनः=बाणासुरकी नगरीको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले, ५०७. भूतसंत्रासकारी=भूतगणोंको संत्रस्त कर देनेवाले, ५०८. मृधे रुद्रजित्=युद्धमें रुद्रको जीतनेवाले, ५०९. रुद्रमोही=जृम्भणास्त्रके प्रयोगसे रुद्रदेवको मोहित करनेवाले, ५१०. मृधार्थी=युद्धाभिलाषी, ५११. स्कन्दजित्=कुमार कार्तिकेयको परास्त करनेवाले, ५१२. कूपकर्णप्रहारी='कूपकर्ण' नामक प्रमथगणपर प्रहार करनेवाले ॥ ७० ॥

५१३. धनुर्भञ्जनः=धनुष भङ्ग करनेवाले, ५१४. बाणमानप्रहारी=बाणासुरके अभिमानको चूर्ण कर देनेवाले, ५१५. ज्वरोत्पत्तिकृत्=ज्वरकी उत्पत्ति करनेवाले, ५१६. ज्वरेण संस्तुतः=रुद्रके ज्वरद्वारा जिनकी स्तुति की गयी, वे, ५१७. भुजाच्छेदकृत्=बाणासुरकी बाँहोंको काट देनेवाले, ५१८. बाणसंत्रासकर्ता=बाणासुरके मनमें त्रास उत्पन्न कर देनेवाले, ५१९. मृडप्रस्तुतः=भगवान् शिवके द्वारा स्तुत, ५२०. युद्धकृत्=युद्ध करनेवाले, ५२१. भूमिभर्त्ता=भूमण्डलका भरण-पोषण करनेवाले, अथवा भूदेवीके पति ॥ ७१ ॥

५२२. नृगं मुक्तिदः=राजा नृगका उद्धार करनेवाले, ५२३. यादवानां ज्ञानदः=यादवोंको ज्ञान देनेवाले, ५२४. रथस्थः=दिव्य रथपर आरूढ़, ५२५. व्रजप्रेमपः=व्रज-विषयक प्रेमके पालक अथवा व्रजवासियोंके प्रेमरसका पान करनेवाले, ५२६. गोपमुख्यः=गोपशिरोमणि, ५२७. महासुन्दरीक्रीडितः=अपनी प्रेयसी परम सुन्दरियोंके साथ क्रीडा करनेवाले बलरामजी, ५२८. पुष्पमाली=पुष्पमालाओंसे अलंकृत, ५२९. कलिन्दाङ्गजाभेदनः=कालिन्दीकी धाराको फोड़कर अपनी ओर खींच लानेवाले, ५३०. सीरपाणिः=हाथमें हल धारण करनेवाले ॥ ७२ ॥

५३१. महादम्भिहा=बड़े-बड़े दम्भी-पाखण्डियोंका दमन करनेवाले, ५३२. पौण्ड्रमानप्रहारी=पौण्ड्रकके घमंडको चूर्ण कर देनेवाले, ५३३. शिरश्छेदकः=उसके मस्तकको काट देनेवाले, ५३४. काशिराजप्रणाशी=काशिराजका नाश करनेवाले, ५३५. महाक्षौहिणीध्वंसकृत्=शत्रुओंकी विशाल अक्षौहिणी सेनाका विनाश करनेवाले, ५३६. चक्रहस्तः=चक्रपाणि, ५३७. पुरीदीपकः=काशीपुरीको जलानेवाले, ५३८. राक्षसीनाशकर्ता=राक्षसीके नाशक ॥ ७३ ॥



श्रीकृष्ण-राधाका वृन्दावनमें विचरण [गर्ग० आश्वमे० अध्याय ४२

५३९. **अनन्तः**=शेषनागरूप, ५४०. **महीध्रः**=धरणीको धारण करनेवाले, ५४१. **फणी**=फणधारी, ५४२. **वानरारिः**='द्विविद' नामक वानरके शत्रु, ५४३. **स्फुरद्गौरवर्णः**=प्रकाशमान गौरवर्णवाले, ५४४. **महापद्मनेत्रः**=प्रफुल्ल कमलके समान विशाल नेत्रवाले, ५४५. **कुरुग्रामतिर्यग्गतिः**=कौरवोंके निवासस्थल हस्तिनापुरको गङ्गाकी ओर तिरछी दिशामें खींच लेनेवाले, ५४६. **गौरवार्थं कौरवैः स्तुतः**=जिनका गौरव प्रकट करनेके लिये कौरवोंने स्तुति की, वे बलरामजी, ५४७. **ससाम्बः पारिबर्ही**=साम्बके साथ कौरवोंसे दहेज लेकर लौटनेवाले ॥ ७४ ॥

५४८. **महावैभवी**=महान् वैभवशाली, ५४९. **द्वारकेशः**=द्वारकानाथ, ५५०. **अनेकः**=अनेक रूपधारी, ५५१. **चलन्नारदः**=नारदजीको विचलित कर देनेवाले, ५५२. **श्रीप्रभादर्शकः**=अपनी लक्ष्मी तथा प्रभावको दिखानेवाले, ५५३. **महर्षिस्तुतः**=महर्षियोंसे संस्तुत, ५५४. **ब्रह्मदेवः**=ब्राह्मणोंको देवता माननेवाले अथवा ब्रह्माजीके आराध्यदेव, ५५५. **पुराणः**=पुराणपुरुष, ५५६. **सदा षोडशस्त्रीसहस्थितः**=सर्वदा सोलह हजार पत्नियोंके साथ रहनेवाले ॥ ७५ ॥

५५७. **गृही**=आदर्श गृहस्थ, ५५८. **लोकरक्षापरः**=समस्त लोकोंकी रक्षामें तत्पर, ५५९. **लोकरीतिः**=लौकिक रीतिका अनुसरण करनेवाले, ५६०. **प्रभुः**=अखिल विश्वके स्वामी, ५६१. **उग्रसेनावृतः**=उग्र सेनाओंसे घिरे हुए, ५६२. **दुर्गमुक्तः**=दुर्गसे मुक्त, ५६३. **राजदूतस्तुतः**=जरासंधके बंदी राजाओंद्वारा भेजे गये दूतने जिनकी स्तुति की, वे, ५६४. **बन्धभेत्ता स्थितः**=बन्दी राजाओंके बन्धन काटकर उनके लिये मुक्तिदाताके रूपमें स्थित नित्य विद्यमान, ५६५. **नारदप्रस्तुतः**=नारदजीके द्वारा संस्तुत, ५६६. **पाण्डवार्थी**=पाण्डवोंका अर्थ सिद्ध करनेवाले ॥ ७६ ॥

५६७. **नृपैर्मन्त्रकृत्**=राजाओंके साथ सलाह करनेवाले, ५६८. **उद्धवप्रीतिपूर्णः**=उद्धवकी प्रीतिसे परिपूर्ण, ५६९. **पुत्रपौत्रैर्वृतः**=पुत्र-पौत्रोंसे घिरे हुए, ५७०. **कुरुग्रामगन्ता घृणी**=कुरुग्राम—इन्द्रप्रस्थमें जानेवाले दयालु, ५७१. **धर्मराजस्तुतः**=धर्मराज युधिष्ठिरसे संस्तुत, ५७२. **भीमयुक्तः**=भीमसेनसे सप्रेम मिलनेवाले, ५७३. **परानन्ददः**=परमानन्द प्रदान करनेवाले, ५७४. **धर्मजेन मन्त्रकृत्**=धर्मराज युधिष्ठिरसे सलाह करनेवाले ॥ ७७ ॥

५७५. **दिशाजित बली**=दिग्विजय बलवान्, ५७६. **राजसूयार्थकारी**=युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ-सम्बन्धी कार्यको सिद्ध करनेवाले, ५७७. **जरासंधहा**=जरासंधका वध करानेवाले, ५७८. **भीमसेनस्वरूपः**=भीमसेनस्वरूप, ५७९. **विप्ररूपः**=ब्राह्मणका रूप धारण करके जरासंधके पास जानेवाले, ५८०. **गदायुद्धकर्ता**=भीमरूपसे गदायुद्ध करनेवाले, ५८१. **कृपालुः**=दयालु, ५८२. **महाबन्धनच्छेदकारी**=बड़े-बड़े बन्धनोंको काट देनेवाले अथवा महान् भवबन्धनका उच्छेद करनेवाले ॥ ७८ ॥

५८३. **नृपैः संस्तुतः**=जरासंधके कारागारसे मुक्त राजाओंद्वारा संस्तुत, ५८४. **धर्मगेहमागतः**=धर्मराजके घरमें आये हुए, ५८५. **द्विजैः संवृतः**=ब्राह्मणोंसे घिरे हुए, ५८६. **यज्ञसम्भारकर्ता**=यज्ञके उपकरण जुटानेवाले, ५८७. **जनैः पूजितः**=सब लोगोंसे पूजित, ५८८. **चैद्यदुर्वाक्क्षमः**=चेदिराज शिशुपालके दुर्वचनोंको सह लेनेवाले, ५८९. **महामोक्षदः**=उसे महान् मोक्ष देनेवाले, ५९०. **अरेः शिरश्छेदकारी**=सुदर्शन चक्रसे शत्रु शिशुपालका सिर काट लेनेवाले ॥ ७९ ॥

५९१. **महायज्ञशोभाकरः**=युधिष्ठिरके महान् यज्ञकी शोभा बढ़ानेवाले, ५९२. **चक्रवर्ती नृपानन्दकारी**=राजाओंको आनन्द प्रदान करनेवाले सार्वभौम सम्राट्, ५९३. **सुहारी विहारी**=सुन्दर हारसे सुशोभित विहार-परायण प्रभु, ५९४. **सभासंवृतः**=सभासदोंसे घिरे हुए, ५९५. **कौरवस्य मानहृत्**=कुरुराज दुर्योधनका मान हर लेनेवाले, ५९६. **शाल्वसंहारकः**=राजा शाल्वका संहार करनेवाले, ५९७. **यानहन्ता**=शाल्वके सौभ विमानको तोड़ डालनेवाले ॥ ८० ॥

५९८. **सभोजः**=भोजवंशियोंसहित, ५९९. **वृष्णिः**=वृष्णिवंशी, ६००. **मधुः**=मधुवंशी, ६०१. **शूरसेनः**=शूरवीर सेनासे संयुक्त, अथवा शूरसेनवंशी, ६०२. **दशार्हः**=दशार्हवंशी, ६०३. **यदुः अन्धकः**=यदुवंशी तथा अन्धकवंशी, ६०४. **लोकजित्**=लोकविजयी, ६०५. **द्युमन्मानहारी**=द्युमान्‌का मान हर लेनेवाले, ६०६. **वर्मधृक्**=कवचधारी, ६०७. **दिव्यशस्त्री**=दिव्य आयुधधारी, ६०८. **स्वबोधः**=आत्मबोधस्वरूप, ६०९. **सदा रक्षकः**=साधुपुरुषोंकी सदा रक्षा करनेवाले, ६१०. **दैत्यहन्ता**=दैत्योंका वध करनेवाले ॥ ८१ ॥

६११. **दन्तवक्त्रप्रणाशी**=दन्तवक्त्रका नाश करनेवाले, ६१२. **गदाधृक्**=गदाधारी, ६१३. **जगत्तीर्थयात्राकरः**=

उद्धवः=उद्धव अथवा उत्सवरूप, ७६७. शूरसेनः= शूरसेन, ७६८. शूरः=शूर ॥ ९९ ॥

७६९. हृदीकः=कृतवर्माके पिता हृदीक (समस्त यादव भगवत्स्वरूप या भगवान्की विभूति हैं, इसलिये इन नामोंमें इनकी गणना की गयी है), ७७०. सत्राजितः= सत्राजित्, ७७१. अप्रमेयः=प्रमाणातीत, ७७२. गदः= बलरामजीके छोटे भाई गद, ७७३. सारणः=सारण, ७७४. सात्यकिः=सत्यकपुत्र, ७७५. देवभागः=देवभाग, ७७६. मानसः=मानस, ७७७. संजयः=संजय, ७७८. श्यामकः=श्यामक, ७७९. वृकः=वृक, ७८०. वत्सकः= वत्सक, ७८१. देवकः=देवक, ७८२. भद्रसेनः= भद्रसेन ॥ १०० ॥

७८३. नृप अजातशत्रुः=राजा युधिष्ठिर, ७८४. जयः=जय (अर्जुन), ७८५. माद्रीपुत्रः=नकुल-सहदेव, ७८६. भीष्मः=दुर्योधन आदिके पितामह देवव्रत, ७८७. कृपः=कृपाचार्य, ७८८. बुद्धिचक्षुः=प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र, ७८९. पाण्डुः=पाण्डवोंके पिता राजा पाण्डु, ७९०. शांतनुः=भीष्मके पिता राजा शांतनु, ७९१. देवो बाह्लीकः=देवस्वरूप बाह्लीक, ७९२. भूरिश्रवाः=भूरिश्रवा, ७९३. चित्रवीर्यः=विचित्रवीर्य, ७९४. विचित्रः=विचित्र या चित्राङ्गद ॥ १०१ ॥

७९५. शलः=शल, ७९६. दुर्योधनः=जिसके साथ युद्ध करना कठिन हो, वह राजा दुर्योधन, ७९७. कर्णः= कर्ण, ७९८. सुभद्रासुतः=सुभद्राकुमार अभिमन्यु, ७९९. प्रसिद्धः विष्णुरातः=भगवान् श्रीकृष्णने जिन्हें जीवन-दान दिया था, वे सुप्रसिद्ध राजा परीक्षित्, ८००. जनमेजयः=परीक्षित्के पुत्र राजा जनमेजय, ८०१. पाण्डवः= पाँचों पाण्डव, ८०२. कौरवः=कुरुकुलमें उत्पन्न क्षत्रिय-समुदाय, ८०३. सर्वतेजाः हरिः=सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न एवं भक्तोंके चित्तका हरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण, ८०४. सर्वरूपी=सर्वस्वरूप ॥ १०२ ॥

राधया व्रजं ह्यागतः=श्रीराधाके साथ व्रजमें अवतीर्ण, ८०५. पूर्णदेवः=परिपूर्णतम परमात्मा, ८०६. वरः=सबके वरणीय, ८०७. रासलीलापरः=रासक्रीडा-परायण, ८०८. दिव्यरूपी=दिव्य रूपवाले, ८०९. रथस्थः= रथपर विराजमान, ८१०. नवद्वीपखण्डप्रदर्शी=जम्बू-द्वीपके नौ खण्डोंको देखने-दिखानेवाले, ८११. महामानदः= बहुत सम्मान देनेवाले अथवा महामानका खण्डन करनेवाले, ८१२. गोपजः=गोपनन्दन, ८१३. विश्वरूपः=स्वयं ही विश्वके रूपमें प्रकाशमान ॥ १०३ ॥

८१४. सनन्दः=सनन्द, ८१५. नन्दः=नन्द, ८१६. वृषः=वृषभानु, ८१७. वल्लवेशः=गोपेश्वर, ८१८. सुदामा='श्रीदामा' नामक गोप, ८१९. अर्जुनः=अर्जुन गोप, ८२०. सौबलः=सुबल, ८२१. सकृष्णः स्तोकः= स्तोककृष्ण, ८२२. अंशुकः=अंशुक, ८२३. सद्विशाल-र्षभाख्यः=विशाल और ऋषभ नामक दो सखाओंवाले, ८२४. सुतेजस्विकः=श्रेष्ठ तेजस्वी, ८२५. कृष्णमित्रो वरूथः= श्रीकृष्णके सखा वरूथ ॥ १०४ ॥

८२६. कुशेशः=कुशेश्वर, ८२७. वनेशः=वनेश्वर, ८२८. वृन्दावनेशः=वृन्दावनेश्वर, ८२९. माथुरेशाधिपः= मथुरामण्डलके राजाधिराज, ८३०. गोकुलेशः=गोकुलके स्वामी, ८३१. सदा गोगणः=सदा गौओंके समुदायके साथ रहनेवाले, ८३२. गोपतिः=गोस्वामी, ८३३. गोपिकेशः=गोपाङ्गनावल्लभ, ८३४. गोवर्धनः=गौओंकी वृद्धि करनेवाले; गिरिराज गोवर्धन अथवा गोवर्धन नामधारी गोप, ८३५. गोपतिः=गौओंके पालक, ८३६. कन्यकेशः= गोपकिशोरियोंके प्राणवल्लभ ॥ १०५ ॥

८३७. अनादिः=जिनका कोई आदिकारण नहीं तथा जो सबके आदि हैं, वे, ८३८. आत्मा=अन्तर्यामी परमात्मा, ८३९. हरिः=श्यामवर्ण श्रीकृष्ण, ८४०. परः पूरुषः= परम पुरुष, ८४१. निर्गुणः=प्राकृत गुणोंसे अतीत, ८४२. ज्योतिरूपः=ज्योतिर्मय विग्रहवाले, ८४३. निरीहः=चेष्टा या कामनासे रहित, ८४४. सदा निर्विकारः=सतत विकारशून्य, ८४५. प्रपञ्चात्परः=सकल दृश्य-प्रपञ्चसे परे विराजमान, ८४६. ससत्यः=सत्ययुक्त अथवा सत्या— सत्यभामासे संयुक्त, ८४७. पूर्णः=परिपूर्ण, ८४८. परेशः= परमेश्वर, ८४९. सूक्ष्मः=सूक्ष्मस्वरूप ॥ १०६ ॥

८५०. द्वारकायां नृपेण अश्वमेधस्य कर्ता=द्वारकामें राजा उग्रसेनके द्वारा अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले, ८५१. अपि पौत्रेण भूभारहर्ता=पुत्र एवं पौत्रके सहयोगसे भूमिका भार उतारनेवाले, ८५२. पुनः श्रीव्रजे राधया रासरङ्गस्य कर्ता हरिः=पुनः श्रीव्रजमें श्रीराधिकाके साथ रास-रङ्ग करनेवाले श्रीहरि, ८५३. गोपिकानां च भर्ता= श्रीराधा तथा अन्य गोपकिशोरियोंके पति ॥ १०७ ॥

८५४. **सदैकः**=सदा एकमात्र अद्वितीय, ८५५. **अनेकः**=अनेक रूपोंमें प्रकट, ८५६. **प्रभापूरिताङ्गः**=प्रकाशपूर्ण अङ्गवाले, ८५७. **योगमायाकरः**=योगमायाके उद्भावक, ८५८. **कालजित्**=कालविजयी, ८५९. **सुदृष्टिः**=उत्तम दृष्टिवाले, ८६०. **महत्तत्त्वरूपः**=महत्तत्त्वस्वरूप, ८६१. **प्रजातः**=उत्कृष्ट अवतारधारी, ८६२. **कूटस्थः**=कूटस्थ (निर्विकार), ८६३. **आद्याङ्कुरः**=विश्ववृक्षके प्रथम अङ्कुर, ब्रह्मा, ८६४. **वृक्षरूपः**=विश्ववृक्षरूप ॥ १०८ ॥

८६५. **विकारस्थितः**=विकारों (कार्यों) में भी कारणरूपसे विद्यमान, ८६६. **वैकारिकस्तैजसस्तामसश्च अहंकारः**=वैकारिक, तैजस और तामस (अथवा सात्त्विक, राजस, तामस) त्रिविध अहंकाररूप, ८६७. **नभः**=आकाशस्वरूप, ८६८. **दिक्**=दिशास्वरूप, ८६९. **समीरः**=वायुरूप, ८७०. **सूर्यः**=सूर्यस्वरूप, ८७१. **प्रचेतोऽश्विवह्निः**=वरुण, अश्विनीकुमार एवं अग्निस्वरूप, ८७२. **शक्रः**=इन्द्र, ८७३. **उपेन्द्रः**=भगवान् वामन, ८७४. **मित्रः**=मित्रदेवता ॥ १०९ ॥

८७५. **श्रुतिः**=श्रवणेन्द्रिय ८७६. **त्वक्**=त्वगिन्द्रिय, ८७७. **दृक्**=नेत्रेन्द्रिय, ८७८. **घ्राण**=नासिकेन्द्रिय, ८७९. **जिह्वा**=रसनेन्द्रिय, ८८०. **गिरः**=वागिन्द्रिय, ८८१. **भुजाः**=हस्तस्वरूप, ८८२. **मेढ्रकः**=जननेन्द्रियरूप, ८८३. **पायुः**='पायु' नामक कर्मेन्द्रिय (गुदा-) रूप, ८८४. **अङ्घ्रिः**='चरण' नामक कर्मेन्द्रियरूप, ८८५. **सचेष्टः**=चेष्टाशील, ८८६. **धरा**=पृथ्वी, ८८७. **व्योम**=आकाश, ८८८. **वाः**=जल, ८८९. **मारुतः**=वायु, ८९०. **तेजः**=अग्नि (पञ्चभूतरूप), ८९१. **रूपम्**=रूप, ८९२. **रसः**=रस, ८९३. **गन्धः**=गन्ध, ८९४. **शब्दः**=शब्द, ८९५. **स्पर्शः**=स्पर्श-विषयरूप ॥ ११० ॥

८९६. **सचित्तः**=चित्तयुक्त, ८९७. **बुद्धिः**=बुद्धि, ८९८. **विराट्**=विराट्, ८९९. **कालरूपः**=कालस्वरूप, ९००. **वासुदेवः**=सर्वव्यापी भगवान्, ९०१. **जगत्कृत्**=संसारके स्रष्टा, ९०२. **अण्डे शयानः**=ब्रह्माण्डके गर्भमें शयन करनेवाले ब्रह्माजी, ९०३. **सशेषः**=शेषके साथ रहनेवाले (अर्थात् शेषशय्याशायी), ९०४. **सहस्रस्वरूपः**=सहस्रों स्वरूप धारण करनेवाले, ९०५. **रमानाथः**=लक्ष्मीपति, ९०६. **आद्योऽवतारः**=ब्रह्मारूपमें जिनका प्रथम बार अवतार हुआ, वे श्रीहरि ॥ १११ ॥

९०७. **सदा सर्गकृत्**=विधाताके रूपमें सदा सृष्टि करनेवाले, ९०८. **पद्मजः**=दिव्य कमलसे उत्पन्न ब्रह्मा, ९०९. **कर्मकर्ता**=निरन्तर कर्म करनेवाले, ९१० **नाभिपद्मोद्भवः**=नारायणके नाभिकमलसे प्रकट ब्रह्मा, ९११. **दिव्यवर्णः**=दिव्य कान्तिसे सम्पन्न, ९१२. **कविः**=त्रिकालदर्शी अथवा विश्वरूप काव्यके निर्माता आदिकवि, ९१३. **लोककृत्**=जगत्स्रष्टा, ९१४. **कालकृत्**=कालके निर्माता, ९१५. **सूर्यरूपः**=सूर्यस्वरूप, ९१६. **अनिमेषः**=निमेषरहित, ९१७. **अभवः**=जन्मरहित, ९१८. **वत्सरान्तः**=संवत्सरके लयस्थान, ९१९. **महीयान्**=महान्से भी अत्यन्त महान् ॥ ११२ ॥

९२०. **तिथिः**=तिथिस्वरूप, ९२१. **वारः**=दिन, ९२२. **नक्षत्रम्**=नक्षत्र, ९२३. **योगः**=योग, ९२४. **लग्नः**=लग्नस्वरूप, ९२५. **मासः**=मासस्वरूप, ९२६. **घटी**=अर्धमुहूर्तरूप, ९२७. **क्षणः**=क्षणरूप, ९२८. **काष्ठिका**=काष्ठा, ९२९. **मुहूर्तः**=दो घड़ीका समय, ९३०. **यामः**=प्रहर, ९३१. **ब्रह्मा**=ब्रह्मस्वरूप, ९३२. **यामिनी**=रात्रिरूप, ९३३. **दिनम्**=दिनरूप, ९३४. **ऋक्षमालागतः**=नक्षत्रपङ्क्तियोंमें गमन करनेवाले ग्रहरूप, ९३५. **देवपुत्रः**=वसुदेवनन्दन ॥ ११३ ॥

९३६. **कृतः**=सत्ययुगरूप, ९३७. **त्रेतया**=त्रेता, ९३८. **द्वापरः**=द्वापररूप, ९३९. **असौ कलिः**=यह कलियुग, ९४०. **युगानां सहस्रम्**=सहस्रचतुर्युग (ब्रह्माजीका एक दिन), ९४१. **मन्वन्तरम्**=मन्वन्तरकाल, ९४२. **लयः**=संहाररूप, ९४३. **पालनम्**=पालनकर्मस्वरूप, ९४४. **सत्कृतिः**=उत्तम सृष्टिरूप, ९४५. **परार्द्धम्**=परार्द्धकालरूप, ९४६. **सदोत्पत्तिकृत्**=सदा सृष्टि करनेवाले, ९४७. **द्व्यक्षरः ब्रह्मरूपः**=दो अक्षरवाला 'कृष्ण' नामक ब्रह्मस्वरूप ॥ ११४ ॥

९४८. **रुद्रसर्गः**[१]=रुद्रसर्ग, ९४९. **कौमारसर्गः**[२]=कौमारसर्ग, ९५०. **मुनेः सर्गकृत्**=मुनिसर्गके कर्ता, ९५१. **देवकृत्**=देवसर्गके रचयिता, ९५२. **प्राकृतः**=प्राकृतसर्गरूपी, ९५३. **श्रुतिः**=वेद, ९५४. **स्मृतिः**=धर्मशास्त्र, ९५५. **स्तोत्रम्**=स्तुति, ९५६. **पुराणम्**=पुराण, ९५७. **धनुर्वेदः**=धनुर्वेद, ९५८. **इज्या**=यज्ञ, ९५९. **गान्धर्ववेदः**=गान्धर्ववेद (संगीत-शास्त्र) ॥ ११५ ॥

९६०. **विधाता**=ब्रह्मा, ९६१. **नारायणः**=विष्णु,

१. रुद्रोंकी सृष्टि । २. सनत्कुमार आदिकी सृष्टि ।

उद्धवः=उद्धव अथवा उत्सवरूप, ७६७. शूरसेनः= शूरसेन, ७६८. शूरः=शूर ॥ ९९ ॥

७६९. हृदीकः=कृतवर्माके पिता हृदीक (समस्त यादव भगवत्स्वरूप या भगवान्‌की विभूति हैं, इसलिये इन नामोंमें इनकी गणना की गयी है), ७७०. सत्राजितः= सत्राजित्, ७७१. अप्रमेयः=प्रमाणातीत, ७७२. गदः= बलरामजीके छोटे भाई गद, ७७३. सारणः=सारण, ७७४. सात्यकिः=सत्यकपुत्र, ७७५. देवभागः=देवभाग, ७७६. मानसः=मानस, ७७७. संजयः=संजय, ७७८. श्यामकः=श्यामक, ७७९. वृकः=वृक, ७८०. वत्सकः= वत्सक, ७८१. देवकः=देवक, ७८२. भद्रसेनः= भद्रसेन ॥ १०० ॥

७८३. नृप अजातशत्रुः=राजा युधिष्ठिर, ७८४. जयः=जय (अर्जुन), ७८५. माद्रीपुत्रः=नकुल-सहदेव, ७८६. भीष्मः=दुर्योधन आदिके पितामह देवव्रत, ७८७. कृपः=कृपाचार्य, ७८८. बुद्धिचक्षुः=प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र, ७८९. पाण्डुः=पाण्डवोंके पिता राजा पाण्डु, ७९०. शांतनुः=भीष्मके पिता राजा शांतनु, ७९१. देवो बाह्लीकः=देवस्वरूप बाह्लीक, ७९२. भूरिश्रवाः=भूरिश्रवा, ७९३. चित्रवीर्यः=विचित्रवीर्य, ७९४. विचित्रः=विचित्र या चित्राङ्गद ॥ १०१ ॥

७९५. शलः=शल, ७९६. दुर्योधनः=जिसके साथ युद्ध करना कठिन हो, वह राजा दुर्योधन, ७९७. कर्णः= कर्ण, ७९८. सुभद्रासुतः=सुभद्राकुमार अभिमन्यु, ७९९. प्रसिद्धः विष्णुरातः=भगवान् श्रीकृष्णने जिन्हें जीवन-दान दिया था, वे सुप्रसिद्ध राजा परीक्षित्, ८००. जनमेजयः=परीक्षित्‌के पुत्र राजा जनमेजय, ८०१. पाण्डवः= पाँचों पाण्डव, ८०२. कौरवः=कुरुकुलमें उत्पन्न क्षत्रिय-समुदाय, ८०३. सर्वतेजाः हरिः=सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न एवं भक्तोंके चित्तका हरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण, ८०४. सर्वरूपी=सर्वस्वरूप ॥ १०२ ॥

राधया व्रजं ह्यागतः=श्रीराधाके साथ व्रजमें अवतीर्ण, ८०५. पूर्णदेवः=परिपूर्णतम परमात्मा, ८०६. वरः=सबके वरणीय, ८०७. रासलीलापरः=रासक्रीडा-परायण, ८०८. दिव्यरूपी=दिव्य रूपवाले, ८०९. रथस्थः= रथपर विराजमान, ८१०. नवद्वीपखण्डप्रदर्शी=जम्बू-द्वीपके नौ खण्डोंको देखने-दिखानेवाले, ८११. महामानदः= बहुत सम्मान देनेवाले अथवा महामानका खण्डन करनेवाले, ८१२. गोपजः=गोपनन्दन, ८१३. विश्वरूपः=स्वयं ही विश्वके रूपमें प्रकाशमान ॥ १०३ ॥

८१४. सनन्दः=सनन्द, ८१५. नन्दः=नन्द, ८१६. वृषः=वृषभानु, ८१७. वल्लवेशः=गोपेश्वर, ८१८. सुदामा='श्रीदामा' नामक गोप, ८१९. अर्जुनः=अर्जुन गोप, ८२०. सौबलः=सुबल, ८२१. सकृष्णः स्तोकः= स्तोककृष्ण, ८२२. अंशुकः=अंशुक, ८२३. सद्विशाल-र्षभाख्यः=विशाल और ऋषभ नामक दो सखाओंवाले, ८२४. सुतेजस्विकः=श्रेष्ठ तेजस्वी, ८२५. कृष्णमित्रो वरूथः= श्रीकृष्णके सखा वरूथ ॥ १०४ ॥

८२६. कुशेशः=कुशेश्वर, ८२७. वनेशः=वनेश्वर, ८२८. वृन्दावनेशः=वृन्दावनेश्वर, ८२९. माथुरेशाधिपः= मथुरामण्डलके राजाधिराज, ८३०. गोकुलेशः=गोकुलके स्वामी, ८३१. सदा गोगणः=सदा गौओंके समुदायके साथ रहनेवाले, ८३२. गोपतिः=गोस्वामी, ८३३. गोपिकेशः=गोपाङ्गनावल्लभ, ८३४. गोवर्धनः=गौओंकी वृद्धि करनेवाले; गिरिराज गोवर्धन अथवा गोवर्धन नामधारी गोप, ८३५. गोपतिः=गौओंके पालक, ८३६. कन्यकेशः= गोपकिशोरियोंके प्राणवल्लभ ॥ १०५ ॥

८३७. अनादिः=जिनका कोई आदिकारण नहीं तथा जो सबके आदि हैं, वे, ८३८. आत्मा=अन्तर्यामी परमात्मा, ८३९. हरिः=श्यामवर्ण श्रीकृष्ण, ८४०. परः पूरुषः= परम पुरुष, ८४१. निर्गुणः=प्राकृत गुणोंसे अतीत, ८४२. ज्योतिरूपः=ज्योतिर्मय विग्रहवाले, ८४३. निरीहः=चेष्टा या कामनासे रहित, ८४४. सदा निर्विकारः=सतत विकारशून्य, ८४५. प्रपञ्चात्परः=सकल दृश्य-प्रपञ्चसे परे विराजमान, ८४६. ससत्यः=सत्ययुक्त अथवा सत्या—सत्यभामासे संयुक्त, ८४७. पूर्णः=परिपूर्ण, ८४८. परेशः= परमेश्वर, ८४९. सूक्ष्मः=सूक्ष्मस्वरूप ॥ १०६ ॥

८५०. द्वारकायां नृपेण अश्वमेधस्य कर्ता=द्वारकामें राजा उग्रसेनके द्वारा अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले, ८५१. अपि पौत्रेण भूभारहर्ता=पुत्र एवं पौत्रके सहयोगसे भूमिका भार उतारनेवाले, ८५२. पुनः श्रीव्रजे राधया रासरङ्गस्य कर्ता हरिः=पुनः श्रीव्रजमें श्रीराधिकाके साथ रास-रङ्ग करनेवाले श्रीहरि, ८५३. गोपिकानां च भर्ता= श्रीराधा तथा अन्य गोपकिशोरियोंके पति ॥ १०७ ॥

८५४. सदैकः=सदा एकमात्र अद्वितीय, ८५५. अनेकः=अनेक रूपोंमें प्रकट, ८५६. प्रभापूरिताङ्गः= प्रकाशपूर्ण अङ्गवाले, ८५७. योगमायाकरः=योगमायाके उद्भावक, ८५८. कालजित्=कालविजयी, ८५९. सुदृष्टिः=उत्तम दृष्टिवाले, ८६०. महत्तत्त्वरूपः= महत्तत्त्वस्वरूप, ८६१. प्रजातः=उत्कृष्ट अवतारधारी, ८६२. कूटस्थः=कूटस्थ (निर्विकार), ८६३. आद्याङ्कुरः=विश्ववृक्षके प्रथम अङ्कुर, ब्रह्मा, ८६४. वृक्षरूपः=विश्ववृक्षरूप ॥ १०८ ॥

८६५. विकारस्थितः=विकारों (कार्यों) में भी कारणरूपसे विद्यमान, ८६६. वैकारिकस्तैजसस्तामसश्च अहंकारः=वैकारिक, तैजस और तामस (अथवा सात्त्विक, राजस, तामस) त्रिविध अहंकाररूप, ८६७. नभः=आकाशस्वरूप, ८६८. दिक्=दिशास्वरूप, ८६९. समीरः=वायुरूप, ८७०. सूर्यः=सूर्यस्वरूप, ८७१. प्रचेतोऽश्विवह्निः=वरुण, अश्विनीकुमार एवं अग्निस्वरूप, ८७२. शक्रः=इन्द्र, ८७३. उपेन्द्रः=भगवान् वामन, ८७४. मित्रः=मित्रदेवता ॥ १०९ ॥

८७५. श्रुतिः=श्रवणेन्द्रिय ८७६. त्वक्=त्वगिन्द्रिय, ८७७. दृक्=नेत्रेन्द्रिय, ८७८. घ्राण=नासिकेन्द्रिय, ८७९. जिह्वा=रसनेन्द्रिय, ८८०. गिरः=वागिन्द्रिय, ८८१. भुजा= हस्तस्वरूप, ८८२. मेढ्रकः=जननेन्द्रियरूप, ८८३. पायुः= 'पायु' नामक कर्मेन्द्रिय (गुदा-) रूप, ८८४. अङ्घ्रिः= 'चरण' नामक कर्मेन्द्रियरूप, ८८५. सचेष्टः=चेष्टाशील, ८८६. धरा=पृथ्वी, ८८७. व्योम=आकाश, ८८८. वाः= जल, ८८९. मारुतः=वायु, ८९०. तेजः=अग्नि (पञ्चभूतरूप), ८९१. रूपम्=रूप, ८९२. रसः=रस, ८९३. गन्धः=गन्ध, ८९४. शब्दः=शब्द, ८९५. स्पर्शः= स्पर्श-विषयरूप ॥ ११० ॥

८९६. सचित्तः=चित्तयुक्त, ८९७. बुद्धिः=बुद्धि, ८९८. विराट्=विराट्, ८९९. कालरूपः=कालस्वरूप, ९००. वासुदेवः=सर्वव्यापी भगवान्, ९०१. जगत्कृत्= संसारके स्रष्टा, ९०२. अण्डे शयानः=ब्रह्माण्डके गर्भमें शयन करनेवाले ब्रह्माजी, ९०३. सशेषः=शेषके साथ रहनेवाले (अर्थात् शेषशय्याशायी), ९०४. सहस्रस्वरूपः=सहस्रों स्वरूप धारण करनेवाले, ९०५. रमानाथः=लक्ष्मीपति, ९०६. आद्योऽवतारः=ब्रह्मारूपमें जिनका प्रथम बार अवतार हुआ, वे श्रीहरि ॥ १११ ॥

९०७. सदा सर्गकृत्=विधाताके रूपमें सदा सृष्टि करनेवाले, ९०८. पद्मजः=दिव्य कमलसे उत्पन्न ब्रह्मा, ९०९. कर्मकर्ता=निरन्तर कर्म करनेवाले, ९१० नाभिपद्मोद्भवः=नारायणके नाभिकमलसे प्रकट ब्रह्मा, ९११. दिव्यवर्णः=दिव्य कान्तिसे सम्पन्न, ९१२. कविः=त्रिकालदर्शी अथवा विश्वरूप काव्यके निर्माता आदिकवि, ९१३. लोककृत्=जगत्स्रष्टा, ९१४. कालकृत्=कालके निर्माता, ९१५. सूर्यरूपः=सूर्यस्वरूप, ९१६. अनिमेषः=निमेषरहित, ९१७. अभवः=जन्मरहित, ९१८. वत्सरान्तः=संवत्सरके लयस्थान, ९१९. महीयान्=महान्से भी अत्यन्त महान् ॥ ११२ ॥

९२०. तिथिः=तिथिस्वरूप, ९२१. वारः=दिन, ९२२. नक्षत्रम्=नक्षत्र, ९२३. योगः=योग, ९२४. लग्नः=लग्नस्वरूप, ९२५. मासः=मासस्वरूप, ९२६. घटी=अर्धमुहूर्तरूप, ९२७. क्षणः=क्षणरूप, ९२८. काष्ठिका=काष्ठा, ९२९. मुहूर्तः= दो घड़ीका समय, ९३०. यामः=प्रहर, ९३१. ग्रहाः=ग्रहस्वरूप, ९३२. यामिनी=रात्रिरूप, ९३३. दिनम्=दिनरूप, ९३४. ऋक्षमालागतः=नक्षत्रपङ्क्तियोंमें गमन करनेवाले ग्रहरूप, ९३५. देवपुत्रः=वसुदेवनन्दन ॥ ११३ ॥

९३६. कृतः=सत्ययुगरूप, ९३७. त्रेतया=त्रेता, ९३८. द्वापरः=द्वापररूप, ९३९. असौ कलिः=यह कलियुग, ९४०. युगानां सहस्रम्=सहस्रचतुर्युग (ब्रह्माजीका एक दिन), ९४१. मन्वन्तरम्=मन्वन्तरकाल, ९४२. लयः= संहाररूप, ९४३. पालनम्=पालनकर्मस्वरूप, ९४४. सत्कृतिः=उत्तम सृष्टिरूप, ९४५. परार्द्धम्=परार्द्धकालरूप, ९४६. सदोत्पत्तिकृत्=सदा सृष्टि करनेवाले, ९४७. द्व्यक्षरः ब्रह्मरूपः=दो अक्षरवाला 'कृष्ण' नामक ब्रह्मस्वरूप ॥ ११४ ॥

९४८. रुद्रसर्गः[1]=रुद्रसर्ग, ९४९. कौमारसर्गः[2]= कौमारसर्ग, ९५०. मुनेः सर्गकृत्=मुनिसर्गके कर्ता, ९५१. देवकृत्=देवसर्गके रचयिता, ९५२. प्राकृतः=प्राकृतसर्गरूपी, ९५३. श्रुतिः=वेद, ९५४. स्मृतिः=धर्मशास्त्र, ९५५. स्तोत्रम्=स्तुति, ९५६. पुराणम्=पुराण, ९५७. धनुर्वेदः=धनुर्वेद, ९५८. इज्या=यज्ञ, ९५९. गान्धर्ववेदः=गान्धर्ववेद (संगीत-शास्त्र) ॥ ११५ ॥

९६०. विधाता=ब्रह्मा, ९६१. नारायणः=विष्णु,

१. रुद्रोंकी सृष्टि । २. सनत्कुमार आदिकी सृष्टि ।

९६२. सनत्कुमारः=सनत्कुमार आदि, ९६३. वराहः= वराहावतार, नारदः=देवर्षि नारदरूप, ९६४. धर्मपुत्रः=धर्मके पुत्र नर-नारायण आदि, ९६५. मुनिः कर्दमस्यात्मजः=कर्दमकुमार कपिल मुनि, ९६६. सयज्ञो दत्तः= यज्ञस्वरूप और दत्तात्रेय, ९६७. अमरो नाभिजः=अविनाशी ऋषभदेव, ९६८.श्रीपृथुः=श्रीमान् राजा पृथु ॥ ११६ ॥

९६९. शुमत्स्यः=सुन्दर मत्स्यावतार, ९७०. कूर्मः= कच्छपावतार, ९७१.धन्वन्तरिः=धन्वन्तरि अवतार, ९७२. मोहिनी=मोहिनी नारीका अवतार, ९७३. प्रतापी नारसिंहः=प्रतापी नृसिंहावतार, ९७४.द्विजो वामनः=ब्राह्मणजातीय वामनावतार, ९७५. रेणुकापुत्ररूपः=परशुरामरूप, ९७६. श्रुतिस्तोत्रकर्ता मुनिः व्यासदेवः=वेदोंके विभाजक तथा स्तोत्र आदिके निर्माता मुनिवर व्यासदेव ॥ ११७ ॥

९७७.धनुर्वेदभाग् रामचन्द्रावतारः=धनुर्वेदके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रावतार, ९७८. सीतापतिः=जनकनन्दिनी सीताके पति, ९७९. भारहृत्=भूभार हरण करनेवाले, ९८०. रावणारिः=रावणके शत्रु, ९८१. नृपः सेतुकृत्=समुद्रपर पुल बाँधनेवाले नरेश, ९८२. वानरेन्द्रप्रहारी=वानरराज (वालि)को मारनेवाले, ९८३. महायज्ञकृत्=महान् अश्वमेध यज्ञ करनेवाले श्रीराम, ९८४. प्रचण्डः राघवेन्द्रः= प्रचण्डपराक्रमी रघुनाथजी ॥ ११८ ॥

९८५. बलः कृष्णचन्द्रः=बलरामसहित साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, ९८६. कल्किः='कल्कि' नामक अवतार, कलेशः=कलाओंके स्वामी, ९८७. प्रसिद्धो बुद्धः=प्रसिद्ध बुद्धावतार, ९८८.= हंसः=हंसावतार, ९८९. अश्वः=हयग्रीवावतार, ९९०. ऋषिन्द्रोऽजितः=ऋषिप्रवर पुलहपुत्र अजित, ९९१. देववैकुण्ठनाथः=देवलोक तथा वैकुण्ठलोकके अधिपति, ९९२.अमूर्तिः=निराकार, ९९३. मन्वन्तरस्यावतारः= मन्वन्तरावतार ॥ ११९ ॥

९९४. गजोद्धारणः=गज और ग्राहके युद्धमें हाथीको उबारनेवाले हरि अवतार, ९९५. ब्रह्मपुत्रः श्रीमनुः= ब्रह्माजीके पुत्र श्रीस्वायम्भुव मनु, ९९६. दानशीलः=दानशील, ९९७. दुष्यन्तजो नृपेन्द्रः=दुष्यन्तकुमार महाराज भरत, ९९८. सदृष्टः श्रुतः भूतः भवं भविष्यत् भवत्= दृष्ट, श्रुत, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानस्वरूप, ९९९. स्थावरो जङ्गमः=स्थावर-जङ्गमरूप, १०००. अल्पं तु महत्= अल्प और महान् ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीभुजङ्गप्रयात छन्दमें कहे गये राधिकावल्लभ श्रीकृष्णके सहस्र नामोंका जो द्विज सर्वदा भक्तिभावसे पाठ करता है, वह कृतार्थ एवं श्रीकृष्णस्वरूप हो जाता है। यह श्रवणमात्रसे बहुत बड़ी पापराशिका भेदन कर डालता है। वैष्णवोंके लिये तो यह सदा प्रिय तथा मङ्गलकारी है। आश्विन मासकी रासपूर्णिमाके दिन, श्रीकृष्णकी जन्माष्टमीमें, चैत्रकी रासपूर्णिमाके दिन तथा भाद्रपदमासमें राधाष्टमीके दिन जो भक्तियुक्त पुरुष इस सहस्रनामका पूजन करके पाठ करता है, वह प्रशस्त होकर चारों प्रकारके मोक्षसुखका अनुभव करता है। जो श्रीकृष्णपुरी मथुरामें, वृन्दावनमें, व्रजमें, गोकुलमें, वंशीवटके निकट, अक्षयवटके पास अथवा सूर्यपुत्री यमुनाके तटपर इस सहस्रनामका पाठ करता है, वह भक्त पुरुष गोलोकधाममें जाता है। जो भूमण्डलमें, सर्वत्र, किसी भी स्थानमें, घरमें या वनमें भक्तिभावसे इस स्तोत्रके पाठद्वारा भगवान्‌का भजन करता है, उस भक्तको भगवान् श्रीहरि एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ते। श्रीकृष्णचन्द्र माधव उसके वशीभूत हो जाते हैं। भक्त पुरुषोंके लिये यह सहस्रनाम-स्तोत्र प्रयत्नपूर्वक सदा गोपनीय है, सदा गोपनीय है, सदा गोपनीय है। यह न तो सबके समक्ष प्रकाशनके योग्य है और न कभी किसी लम्पटको इसका उपदेश ही देना चाहिये। इस सहस्रनामकी पुस्तक जिस घरमें भी रहती है, वहाँ राधिकानाथ आदिपुरुष श्रीकृष्ण सदा निवास करते हैं तथा उस घरमें छहों गुण और बारहों सिद्धियाँ तीसों शुभलक्षणात्मक गुणोंके साथ स्वयं पहुँच जाती हैं ॥ १२१–१२७ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'श्रीकृष्ण-सहस्रनामका वर्णन' नामक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

साठवाँ अध्याय

कौरवोंके संहार, पाण्डवोंके स्वर्गगमन तथा यादवोंके संहार आदिका संक्षिप्त वृत्तान्त; श्रीराधा तथा व्रजवासियोंसहित भगवान् श्रीकृष्णका गोलोकधाममें गमन

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन्! व्यासजीके मुखसे इस प्रकार श्रीकृष्ण-सहस्रनामका निरूपण सुनकर यादवेन्द्र उग्रसेनने उनकी पूजा करके भगवान् श्रीकृष्णमें भक्तिपूर्वक मन लगाया ॥ १ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने मिथिलामें जाकर राजा बहुलाश्व तथा श्रुतदेवको दर्शन दिया। इसके बाद वे द्वारकापुरीको लौट आये। तत्पश्चात् समस्त पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदीके साथ द्वारकासे निकलकर वन-वनमें विचरने लगे। नरेश्वर! वनवास और अज्ञातवासका कष्ट भोगकर वे सब सेनासहित विराटनगरमें एकत्र हुए। इधर श्रीकृष्णके प्रार्थना करनेपर भी समस्त कौरवोंने पाण्डवोंको उनके राज्यके आधेके-आधेका आधा भी नहीं दिया। तब पाण्डवों और कौरवोंमें युद्ध होना अनिवार्य हो गया। यह जानकर श्रीकृष्णने हथियार न उठानेकी प्रतिज्ञा कर ली और बलरामजी तीर्थ-यात्राको चले गये। उसी यात्रामें उन्होंने रोमहर्षण सूत और बल्वलको मार डाला। इसके बाद समस्त कौरव और पाण्डव धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें प्रविष्ट हो परस्पर युद्ध करने लगे। श्रीकृष्णकी कृपासे पाण्डवोंकी विजय हुई तथा पापी और अपराधी सब कौरव महाभारत-युद्धमें मारे गये ॥२—८॥

नरेश्वर! तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने नौ वर्षोंतक राज्य किया। इस बीचमें उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ किये, जिससे वे ज्ञाति-बन्धुओंके वधके दोषसे शुद्ध हुए। राजन्! इसके बाद एक दिन द्वारकामें श्रीकृष्णकी इच्छासे ही समस्त यादवोंके लिये ब्रह्मर्षियोंका महान् शाप प्राप्त हुआ। शापके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने शरणागत भक्त उद्धवको अश्वत्थ-वृक्षके नीचे परम उत्तम श्रीमद्भागवतधर्मका उपदेश दिया। कुछ दिनोंके बाद यादवोंमें परस्पर संग्राम छिड़ गया। वे प्रभासक्षेत्रमें नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार करके मारे गये। बलरामजी मानव-शरीरको छोड़कर अपने धामको चले गये। वहाँ देवताओंको आया देख श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। व्रजमें जाकर श्रीहरि नन्द, यशोदा, राधिका तथा गोपियोंसहित गोपोंसे मिले और उन प्रेमी भगवान्‌ने अपने प्रियजनोंसे प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ ९—१४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—नन्द और यशोदे! अब तुम मुझमें पुत्रबुद्धि छोड़कर समस्त गोकुलवासियोंके साथ मेरे परमधाम गोलोकको जाओ। अब आगे सबको दुःख देनेवाला घोर कलियुग आयेगा; जिसमें मनुष्य प्रायः पापी हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है। उस समय परस्पर सम्पर्क स्थापित करनेके लिये स्त्री-पुरुषका तथा वर्णका कोई नियम नहीं रह जायगा। इसलिये जरा और मृत्युको हर लेनेवाले मेरे उत्तम गोलोकमें तुमलोग शीघ्र चले जाओ ॥ १५—१७ ॥

श्रीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि गोलोकसे एक परम अद्भुत रथ उतर आया, जिसे गोपोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ देखा। उसका विस्तार पाँच योजनका था और ऊँचाई भी उतनी ही थी। वह वज्रमणि (हीरे) के समान निर्मल और मुक्ता-रत्नोंसे विभूषित था। उसमें नौ लाख मन्दिर थे और उन घरोंमें मणिमय दीप जल रहे थे। उस रथमें दो हजार पहिये लगे थे और दो ही हजार घोड़े जुते हुए थे। उस रथपर महीन वस्त्रका आच्छादन (परदा) पड़ा था। करोड़ों सखियाँ उसे घेरे हुए थीं ॥ १८—२०½ ॥

राजन्! इसी समय श्रीकृष्णके शरीरसे करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर चार भुजाधारी 'श्रीविष्णु' प्रकट हुए, जिन्होंने शङ्ख और चक्र धारण कर रखे थे। वे जगदीश्वर श्रीमान् विष्णु लक्ष्मीके साथ एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हो शीघ्र ही क्षीरसागरको चल दिये। इसी प्रकार 'नारायण'रूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण हरि महालक्ष्मीके साथ गरुडपर बैठकर वैकुण्ठधामको चले गये। नरेश्वर! इसके बाद श्रीकृष्ण हरि 'नर और नारायण'—दो ऋषियोंके रूपमें अभिव्यक्त हो मानवोंके कल्याणार्थ बदरिकाश्रमको गये ॥ २१—२४½ ॥

तदनन्तर साक्षात् परिपूर्णतम जगत्पति भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधाके साथ गोलोकसे आये हुए रथपर आरूढ़ हुए। नन्द आदि समस्त गोप तथा यशोदा आदि व्रजाङ्गनाएँ सब-के-सब वहाँ भौतिक शरीरोंका त्याग करके दिव्यदेहधारी हो गये। तब गोपाल भगवान् श्रीहरि नन्द आदिको उस दिव्य रथपर बिठाकर गोकुलके साथ शीघ्र ही गोलोकधामको चले गये। ब्रह्माण्डोंसे बाहर जाकर उन सबने विरजा नदीको

दिया। साथ ही दीपनामकी गोदमें महालोक गोलोक दृष्टिगोचर हुआ, जो दुःखोंका नाशक तथा परम सुखदायक है ॥ २६–२८½ ॥

उसे देखकर गोकुलवासियोंसहित श्रीकृष्ण उस रथसे उतर पड़े और श्रीराधाके साथ अक्षयवटका दर्शन करते हुए उस परमधाममें प्रविष्ट हुए। गिरिवर शतशृङ्ग तथा श्रीरासमण्डलको देखते हुए वे कतिपय द्वारोंसे सुशोभित श्रीमद्‌वृन्दावनमें गये, जो बारह वनोंसे संयुक्त तथा कामपूरक वृक्षोंसे भरा हुआ था। यमुना नदी उसे छूकर बह रही थी। वसन्त ऋतु और मलयानिल उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ फूलोंसे भरे कितने ही कुञ्ज और निकुञ्ज थे। वह वन गोपियों और गोपोंसे भरा था। जो पहले सूना-सा लगता था, उस श्रीगोलोकधाममें श्रीकृष्णके पधारनेपर जय-जयकारकी ध्वनि गूँज उठी ॥ २९–३३ ॥

तदनन्तर द्वारकामें यदुकुलकी पत्नियाँ—देवकी आदि सभी स्त्रियाँ दुःखसे व्याकुल हो चितापर चढ़कर पतिलोकको चली गयीं। जिनके गोत्र नष्ट हो गये थे, उन यादव-बन्धुओंका पारलौकिक कृत्य अर्जुनने किया। वे गीताके ज्ञानसे अपने मनको शान्त करके बड़े दुःखसे सबका अन्त्येष्टि-संस्कार कर सके। जब अर्जुनने अपने निवासस्थान हस्तिनापुरमें जाकर राजा युधिष्ठिरको यह सब समाचार बताया तब वे पत्नी और भाइयोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३४–३६ ॥

नृपश्रेष्ठ! इधर समुद्रने रैवतक पर्वतसहित श्रीरुक्मिणी-वल्लभ श्रीकृष्णके निवास-गृहको छोड़ शेष सारी द्वारकापुरीको अपने जलमें डुबाकर आत्मसात् कर लिया। आज भी द्वारकाके समुद्रमें श्रीहरिका यह घोष सुनायी पड़ता है कि 'ब्राह्मण विद्यावान् हो या विद्याहीन, वह मेरा ही शरीर है' (अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः) ॥ ३७-३८ ॥

कलियुगके प्रारम्भिक कालमें ही श्रीहरिके अंशावतार विष्णुस्वामी महासागरमें जाकर श्रीहरिकी प्रतिमाको प्राप्त करेंगे और द्वारकापुरीमें उसकी स्थापना कर देंगे। नृपेश्वर! कलियुगमें उन द्वारकानाथका जो मनुष्य वहाँ जाकर दर्शन करते हैं, वे सब कृतार्थ हो जाते हैं। जो श्रीहरिके गोलोकधाम पधारनेका चरित्र सुनते हैं तथा यादवों और गोपोंकी मुक्तिका वृत्तान्त पढ़ते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३९–४१ ॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'श्रीराधा और श्रीकृष्णका गोलोकारोहण' नामक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

इकसठवाँ अध्याय

भगवान्‌के श्यामवर्ण होनेका रहस्य; कलियुगकी पापमयी प्रवृत्ति; उससे बचनेके लिये श्रीकृष्णकी समाराधना तथा एकादशी-व्रतका माहात्म्य

वज्रनाभने पूछा—ब्रह्मन्! नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण तो प्रकृतिसे परे हैं, फिर उनका रूप श्याम कैसे हुआ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बताइये। विप्रवर! आप-जैसे मुनि श्रीकृष्णदेव श्रीहरिके चरित्रको जैसा जानते हैं, वैसा हम-जैसे लोग कर्मसे मोहित होनेके कारण नहीं जान पाते ॥ १-२ ॥

सूतजी कहते हैं—मुने! वज्रनाभका यह वचन सुनकर उनसे प्रशंसित हो, उन तत्त्वज्ञ तथा कृपालु मुनिने तत्त्वज्ञान करानेके लिये इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

गर्गजी बोले—राजन्! 'शृङ्गाररस'का रूप भरतादि मुनीश्वरोंने 'श्याम' बताया है। उसके देवता श्रीकृष्ण हैं। लावण्यकी राशि तथा उज्ज्वल होनेके कारण श्रीहरिका सुन्दर रूप उस तरह श्याम है, जैसे मेघोंकी घटाका रूप दूरसे श्याम दिखायी देता है, जैसे नदका जल कुण्डविशेषमें श्याम दृष्टिगोचर होता है तथा जैसे महान् आकाशका रूप श्यामल प्रतीत होता है; परंतु जल या आकाश उज्ज्वल ही है, कृष्णवर्ण कदापि नहीं है। इसी प्रकार उज्ज्वल लावण्यसिन्धु श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर दिखायी देते हैं। जैसे उत्कृष्ट श्वेत वस्त्रमें दूसरेको भावनानुसार श्याम आभा दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार करोड़ों कामदेवोंकी लीलाका आधार होनेके कारण संतजन श्रीहरिका श्यामरूप बताते हैं ॥ ४–६ ॥

वज्रनाभने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! आपके इस वचनसे मेरे मनका संदेह दूर हो गया। ब्रह्मन्! अब आगे

बढ़कर भूतलपर घोर कलियुग आनेवाला है। मुने! उसमें मनुष्य कैसे होंगे, यह बताइये। आप भविष्यको भी जानते हैं; अतः मैं आपसे पूछता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ७-८ ॥

श्रीगर्गजीने कहा—राजन्! कलियुगके दस हजार वर्ष बीतनेतक भगवान् जगन्नाथ भूतलपर स्थित रहते हैं। (उसके बाद सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी अविद्यमानकी भाँति उसके ऊपर नियन्त्रण करना छोड़ देते हैं।) उसके आधे समय (पाँच हजार वर्ष) तक गङ्गाजीके जलमें उसकी अधिष्ठात्री देवी गङ्गाका निवास रहेगा। उसके आधे समय (ढाई हजार वर्षों) तक ग्रामदेवता रहेंगे (उसके बाद उनका प्रभाव कम हो जायगा)। तदनन्तर कलिसे मोहित होकर सबलोग पापी हो जायँगे; अतः नरकोंमें गिरेंगे। उनकी आयु बहुत कम हो जायगी। ब्राह्मण ब्राह्मणसे मूल्य लेकर अपनी कन्या देंगे। क्षत्रियलोग अधिक लोभवश होकर अपनी पुत्रीको मार डालेंगे। वैश्य ब्राह्मणके धनका हरण करनेमें तत्पर हो झूठा व्यापार करेंगे। शूद्रलोग म्लेच्छोंके सङ्गसे ब्राह्मणोंको दूषित करेंगे। ब्राह्मण शास्त्रज्ञानसे शून्य, क्षत्रिय राज्याधिकारसे वञ्चित, वैश्य निर्धन तथा शूद्र अपने स्वामीको दुःख देनेवाले होंगे। सबलोग सत्कर्मोंसे दूर रहकर दिनमें ही मैथुन करेंगे। स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी और पुरुष योनिलम्पट होंगे। देवताओं, पितरों तथा ऋत्विजोंका, भगवान् विष्णुका, वैष्णवजनोंका, तुलसीका तथा गौओंका पूजन एवं सेवा-सत्कार कलिमोहित मनुष्य प्रायः नहीं करेंगे। लोग वेश्याओंमें, परस्त्रियोंमें तथा पराये धनमें आसक्त होंगे। प्रायः सब मनुष्य शूद्रके समान एक वर्ण हो जायँगे। निरन्तर ओले और पत्थरोंकी वर्षासे पृथ्वी सस्यहीन होगी। खेती-बारी चौपट हो जायगी। वृक्षोंमें फल नहीं लगेंगे। नदियोंका पानी सूख जायगा। प्रजा राजाको मारेगी और राजा प्रजाको ॥ ९-१८ ॥

राजा वज्रनाभने पूछा—विप्रेन्द्र! आप भूत और भविष्यके ज्ञाताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः मुझे यह बताइये कि 'कलियुगमें जीवोंकी मुक्ति किस उपायसे होगी?' ॥ १९ ॥

गर्गजीने कहा—राजा युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, शालिवाहन, विजयाभिनन्दन, राजा नागार्जुन तथा भगवान् कल्कि—ये संवत्सरके प्रवर्तक होंगे। ये ही भूपाल-पदपर प्रतिष्ठित हो कलिमें धर्मकी स्थापना करेंगे। राजा युधिष्ठिर तो हो चुके। शेष राजा भविष्यकालमें उत्पन्न होंगे। वे चक्रवर्ती होकर म्लेच्छोंका नाश करेंगे। वामन, ब्रह्मा, शेषनाग और सनकादि—ये भगवान् विष्णुके आदेशसे धर्मकी स्थापना एवं रक्षाके लिये कलियुगमें उत्पन्न होंगे। वामनके अंशसे विष्णुस्वामी और ब्रह्माजीके अंशसे मध्वाचार्य होंगे। शेषनागका अंश रामानुजाचार्यके रूपमें प्रकट होगा तथा सनकादिका अंश निम्बार्काचार्यके रूपमें। ये कलियुगमें सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य होंगे। ये चारों विक्रम-संवत्‌के प्रारम्भिक कालमें ही होंगे और इस भूतलको अपने तपसे पावन बनायेंगे। सम्प्रदाय-विहीन मन्त्र निष्फल माने गये हैं; अतः सभी मनुष्योंको सम्प्रदायके मार्गसे ही चलना चाहिये। इन सम्प्रदायोंमें पापोंका नाश करनेवाली श्रीकृष्ण-कथा होती है। ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ नारायणपरायण वैष्णवजन इन कथाओंका प्रवचन एवं प्रचार करते हैं। सत्ययुगमें किसीके किये हुए पापसे सारा देश लिप्त होता है। त्रेतामें गाँव, द्वापरमें कुल और कलियुगमें केवल कर्ता ही उस पापसे लिप्त होता है। सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञोंद्वारा यजन और द्वापरमें भगवान्‌की अर्चना करके मनुष्य जिस पुण्यफलका भागी होता है, उसीको कलियुगमें केवल 'केशव'का नाम-कीर्तन करके मनुष्य पा लेता है। सत्ययुगमें जो सत्कर्म दस वर्षोंमें सफल होता है, वह त्रेतामें एक ही वर्षमें, द्वापरमें एक ही मासमें तथा कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें सफल हो जाता है। सब धर्मोंसे रहित घोर कलियुग प्राप्त होनेपर जो मानव भगवान् वासुदेवकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, वे निस्संदेह कृतार्थ हो जाते हैं। नरेश्वर! मनुष्योंमें वे लोग निश्चय ही सौभाग्यशाली और कृतार्थ हैं, जो कलियुगमें श्रीहरिके नामोंका स्मरण करते और कराते हैं। 'कृष्' शब्द 'सर्व' का वाचक है और 'ण'कार 'आत्मा' का। इसलिये जो सर्वात्मा परब्रह्म है, वही 'कृष्ण' कहा गया है। परब्रह्मस्वरूप, वेदोंका सारतत्त्व तथा परात्पर वस्तु 'कृष्ण'—ये दो अक्षर ही सम्यक्‌रूपसे जपनेके योग्य हैं। इससे बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, नहीं है। कामासक्त मनुष्य तभीतक गर्भवासकी यन्त्रणा झेलता है, तभीतक यमयातना भोगता है तथा गृहस्थ मनुष्य तभीतक भोगार्थी रहता है, जबतक वह श्रीकृष्णकी सेवा नहीं करता है। विषय, भोगोपकरण और बन्धु-बान्धव (—ये सभी इस भूतलपर विनाशशील हैं, यह बात सत्य है,)

तथापि यदि इन्हें स्वयं छोड़ दिया जाय तो ये सुखदायक होते हैं; परंतु यदि दूसरोंने इन्हें छुड़वा दिया तो इनका वियोग दुःख देनेवाला होता है। यदि दैववश महापुरुषोंकी निन्दा सुन लेनेपर विज्ञ पुरुष भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण कर लेता है तो वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है; अन्यथा रौरव-नरकमें पड़ता है। देवता काष्ठ, पत्थर या सोनेकी प्रतिमामें नहीं हुआ करता है; जहाँ भी वस्तुमात्रका भावप्रभाव हो जाय, वहीं श्रीहरि विद्यमान हैं। इसलिये मनुष्य भाव ही करे या करावे। जिसने एक बार भी 'कृष्ण'—इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षतक पहुँचनेके लिये कमर कस ली। रोगी होना, सत्पुरुषोंसे वैर बाँधना, दूसरोंको ताप देना, ब्राह्मण और वेदकी निन्दा करना, अत्यन्त क्रोधी होना और कटुवचन बोलना—ये सब नरकगामी मनुष्यके लक्षण हैं। जो इस जीव-जगत्में स्वर्गलोकसे लौटकर आये हैं, उनमें ये चार चिह्न सदा रहते हैं—१—दानका प्रसङ्ग, २—मधुर वचन, ३—देवपूजा और ४—ब्राह्मणोंका सत्कार * ॥ २०–४१ ॥

राजाने पूछा—ब्रह्मन्! व्रतोंमें कौन-सा व्रत श्रेष्ठ है, उत्तम तीर्थोंमें कौन महान् है और पूजनीय देवताओंमें कौन मुख्य है? यह मुझे बताइये ॥ ४२ ॥

गर्गजीने कहा—यदुनन्दन! व्रतोंमें 'एकादशी' सबसे श्रेष्ठ है। तीर्थोंमें भागीरथी 'गङ्गा', देवभक्तोंमें 'वैष्णव', देवताओंमें 'भगवान् विष्णु' और पूजनीयोंमें 'श्रीगुरु' सबसे महान् हैं। जो इस बातको नहीं मानते हैं, वे 'कुम्भीपाक' नरकमें गिरते हैं ॥ ४३-४४ ॥

राजा बोले—मुने! गुरुदेव! एकादशीका तथा अन्य भागीरथी आदिका माहात्म्य कृपा करके मुझसे कहिये; आपको नमस्कार है ॥ ४५ ॥

गर्गजीने कहा—यदुनन्दन! मैं सब कुछ बताता हूँ, सुनो। एकादशीके दिन अन्न तथा फल कुछ भी नहीं खाना चाहिये। नृपश्रेष्ठ! जो शास्त्रोक्त विधिसे प्रसन्नतापूर्वक एकादशी-व्रतका पालन करता है, उसके लिये वह सदा फल-दायिनी होती है ॥ ४६-४७ ॥

वज्रनाभ बोले—महर्षे! जो मनुष्य एकादशीको फलाहार करते हैं, उनकी क्या गति होती है? यह हमें विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ४८ ॥

गर्गमुनिने कहा—उपवास करनेसे एकादशी-व्रतका शास्त्रोक्त फल पूरा-पूरा मिलता है, फलाहार करनेसे आधा मिलता है और पानी पीकर रहनेसे सम्पूर्णकी अपेक्षा कुछ-कुछ कम फल प्राप्त होता है। नृपेश्वर! गेहूँ आदि सब अन्नोंको त्यागकर एकादशीके दिन मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक फलाहार करे। राजन्! जो नराधम एकादशीको अन्न खाता है, वह इस लोकमें चाण्डालके समान है और मरनेपर उसे दुर्गति

* कृते तु लिप्यते देशो त्रेतायां ग्राम एव च ।
द्वापरे च कुलं प्रोक्तं कलौ कर्तैव लिप्यते ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
कृते यद्वर्षभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन च ।
द्वापरे चैकमासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥
घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मविवर्जिते ।
वासुदेवपरा मर्त्यास्ते कृतार्था न संशयः ॥
ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति स्मारयन्ते ये हरेर्नामानि वै कलौ ॥
कृषिश्च सर्ववचनो णकारश्चात्मवाचकः ।
सर्वात्मा च परं ब्रह्म तेन कृष्णः प्रकीर्तितः ॥
संजप्य ब्रह्म परमं वेदसारं परात्परम् ।
परं नास्तीति नास्तीति 'कृष्ण' इत्यक्षरद्वयम् ॥
तावद्गर्भे वसेत् कामी तावती यमयातना ।
तावद्गृही च भोगार्थी यावत्कृष्णं न सेवते ॥
नश्वरो विषयः सत्यं भोगश्च बन्धवो भुवि ।
स्वयं त्यक्ताः सुखायैव दुःखाय त्याजिताः परैः ॥
श्रुत्वा देवान्महन्निन्दां श्रीकृष्णस्मरणाद् बुधः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो नान्यथा रौरवं व्रजेत् ॥
न काष्ठे विद्यते देवो न शिलायां न काञ्चने ।
यत्र भावस्तत्र हरिस्तस्माद्भावं हि कारयेत् ॥
सकृदुच्चरितं येन 'कृष्ण' इत्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥
सरोगता साधुजनेषु वैरं
परोपतापो द्विजवेदनिन्दा ।
अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
नरस्य चिह्नं नरके गतस्य ॥
स्वर्गागतानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि सदा वसन्ति ।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मणपूजनं च ॥
(अ० ६१ । २८—४१)

प्राप्त होती है। राजेन्द्र ! दही, दूध, मिठाई, कूट, ककड़ी, बथुआ, कमलगट्टा, आम, सीताफल, गङ्गाफल, नीबूका पत्ता, अनार, सिंघाड़ा, नारंगी, सेंधानमक, अमड़ा, अदरख, तूत, बेर, जामुन, आँवला, परवल, त्रिकुरा, रतालू, शकरकन्द, गन्ना और दाख आदि तथा अन्यान्य पवित्र फल एकादशीको एक बार खाने चाहिये। दिनका तीसरा पहर व्यतीत होनेपर एक सेर फलका आधा भाग तो ब्राह्मणको दान कर देना चाहिये और आधा अपने लिये भोजनके काममें लेना चाहिये। एकादशीको एक बार फल खाय और दो बार पानी पीये। भगवान् विष्णुका पूजन करके रातमें जागरण करे। जो मनुष्य एकादशीको दो बार या तीन बार फलाहार करता है, उसको कोई फल नहीं मिलता। पंद्रह दिनोंतक अन्न खानेसे जो पाप लगता है, वह सब-का-सब एकादशीके उपवाससे नष्ट हो जाता है। भोजनका ब्राह्मणको दान करके स्वयं उपवास करे और एकादशीका माहात्म्य सुने। ऐसा करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। एकादशीके व्रतसे धनार्थी धन पाता है, पुत्रार्थीको पुत्र प्राप्त होता है और मोक्षार्थी मोक्ष पा लेता है॥४९–६१॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहिताके अन्तर्गत अश्वमेधखण्डमें 'एकादशीका माहात्म्य' नामक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६१॥

बासठवाँ अध्याय

गुरु और गङ्गाकी महिमा; श्रीवज्रनाभद्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन और गुरुदेवका पूजन तथा श्रीकृष्णके भजन-चिन्तन एवं गर्गसंहिताका माहात्म्य

श्रीगर्गजी कहते हैं—राजन् ! जिसने पूर्वजन्ममें अक्षय तप किया है, इस लोकमें उसीकी गुरुके प्रति भक्ति होती है। जो समर्थ होकर भी गुरुकी सेवा नहीं करता, अपने गुरुको नहीं मानता, वह सदा 'कुम्भीपाक' नरकमें गिरता है। जो गुरुके प्रति भक्ति न रखनेवाले पुरुषको अपने सामने आया हुआ देख लेता है, उसे गोहत्याका पाप लगता है। वह गङ्गा और यमुनामें स्नान करके उस पापसे शुद्ध होता है। शिष्यको जहाँ-जहाँ जितना द्रव्य उपलब्ध होता है, उसका दशांश भाग गुरुका समझना चाहिये। हमारे घरके द्रव्यमें भी इसी तरह दशांश भाग गुरुका है। जो शिष्य बलपूर्वक उसे भोगता है, गुरुको अलगसे निकालकर नहीं देता है, वह 'महारौरव' नरकमें जाता है और सब सुखोंसे वञ्चित हो जाता है॥ १–५॥

राजन् ! जो नित्य श्रीहरिमें नवधाभक्ति करते हैं, वे अनायास ही संसार-सागरको पार कर जाते हैं। ज्ञाति (कुटुम्बीजन), विद्या, महत्त्व, रूप और यौवन—इसका यत्नपूर्वक परित्याग करे; क्योंकि ये पाँच भक्तिमार्गके कण्टक हैं। राजेन्द्र ! जो भक्तिभावसे भगवान् श्रीकृष्णका प्रसाद और चरणोदक लेते हैं, वे इस पृथ्वीको पावन करनेवाले होते हैं, इसमें संशय नहीं है। गङ्गा पापका, चन्द्रमा तापका और कल्पवृक्ष दीनताके अभिशापका अपहरण करता है, परंतु सत्सङ्ग पाप, ताप और दैन्य—तीनोंका तत्काल नाश कर देता है। मनुष्योंके पितृगण पिण्ड पानेकी इच्छासे तभीतक संसारमें चक्कर लगाते हैं, जबतक कि उनके कुलमें कृष्णभक्त पुत्र जन्म नहीं लेता। वह कैसा गुरु, कैसा पिता, कैसा बेटा, कैसा मित्र, कैसा राजा और कैसा बन्धु है, जो श्रीहरिमें मन नहीं लगा देता ? जो विद्या, धन, देह कलाका अभिमान रखनेवाले हैं तथा रूप आदि विषय एवं स्त्री-पुत्रोंमें नित्यबुद्धि रखते हैं और जो फलकी कामनासे अन्य देवताओंकी ओर देखते रहते हैं, भगवान् केशवका भजन नहीं करते हैं, वे जीते-जी मरे हुएके समान हैं*॥ ६–१२॥

---

* भक्त्या कृष्णस्य राजेन्द्र प्रसादं चरणोदकम्।
ये गृह्णन्ति भवेयुर्भूपावना नात्र संशयः॥
गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत्।
पापं तापं तथा दैन्यं सद्यः साधुसमागमः॥
तावद् भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डतत्पराः।
यावद् वंशे सुतः कृष्णभक्तियुक्तो न जायते॥
स किं गुरुः स किं तातः किं पुत्रः स किं सखा।
स किं राजा स किं बन्धुर्न दद्याद् यो हरौ मतिम्॥
विद्याधनागारकुलाभिमानिनो
रूपादिदारासुतनित्यबुद्धयः।
दृष्ट्वान्यदेवान् फलकामिनश्च
जीवन्मृतास्ते न भजन्ति केशवम्॥
(अ० ६२। ८–१२)

नृपश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे सामने श्रीकृष्णचरित्रका 'सुमेरु' कहा है, जो श्रीकृष्णके लीलाचरित्रोंमें व्याप्त है। नृपसिंह ! इसके श्रवणमात्रसे शोक, मोह और भयका निवारण करनेवाली श्रीकृष्णभक्ति मनुष्योंको प्राप्त हो जाती है। मनुष्य केवल इस चरित्रके श्रवण और पठनसे भी मनोवाञ्छित फल—धन-धान्य, पुत्र, भक्ति तथा शत्रुसंहार प्राप्त कर लेता है। राजेन्द्र ! इसलिये तुम शीघ्र ही भक्तिभावसे घर या वनमें रहकर, सारे विश्वको मनके संकल्पका विलासमात्र जानकर शीघ्र ही जगदीश्वर श्रीकृष्णके भजनमें लग जाओ। नरवीर ! तुम्हारी आयु हेमन्त ऋतुकी रात्रिके समान उत्तरोत्तर बढ़ती रहे और हेमन्त ऋतुके सूर्यकी भाँति लोगोंको तुम्हारा दर्शन सदा प्रिय लगे। तुम मनुष्योंके लिये हेमन्त ऋतुके जलकी भाँति सदा अत्यन्त सुखद बने रहो और तुम्हारे शत्रु हेमन्त ऋतुके कमलकी भाँति सदा नष्ट होते रहें ॥१३—१७॥

सूतजी कहते हैं—यह सुनकर राजा वज्रनाभ श्रीकृष्णके माहात्म्यका श्रवण करके हुए हर्षसे उल्लसित तथा प्रेमसे विह्वल हो गये। वे मुनिके चरणोंमें प्रणाम करके बोले ॥ १८ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! आप [illegible] गुरुदेवके मुखसे श्रीकृष्णका माहात्म्य सुनकर मैं धन्य और कृतार्थ हो गया। श्रीकृष्णमें मेरा मन लग गया ॥ १९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऐसा कहकर नृपश्रेष्ठ वज्रनाभने गन्ध, अक्षत, पुष्पहार तथा [illegible] सुवर्णोंकी [illegible] गुरु गर्गाचार्यका पूजन किया। शौनक ! उन्होंने घोड़े, हाथी, रथ, शिबिकाएँ, मणि, वस्त्र, चाँदी, सोनेके भार, रत्न और ग्राम देकर गुरुका पूजन किया और स्वयं हर्षसे भरे हुए उन्होंने उनको प्रणाम और परिक्रमा करके उनकी नीराजना (आरती) आदि की ॥ २०—२२ ॥

तदनन्तर गर्गाचार्यजीने उठकर वज्रनाभको आशीर्वाद दिया और नृपालसे वन्दित हो दक्षिणाके साथ वहाँसे चले गये। यमुनाके तटपर 'विश्रान्तघाट' नामक तीर्थमें पहुँचकर मुनीश्वरने मथुरावासी ब्राह्मणोंको सारा धन बाँट दिया। तदनन्तर गर्गजीके कहनेसे वज्रनाभने मथुरामें उसी प्रकार अश्वमेध यज्ञ किया, जैसे हस्तिनापुरके राजा युधिष्ठिरने किया था। इसके बाद मथुरामें 'दीर्घविष्णु' और 'केशवदेव'के, वृन्दावनमें 'गोविन्ददेव'के, गिरिराज गोवर्धनपर 'हरिदेवजी'के, गोकुलमें 'गोकुलेश्वर'के और गोकुलसे एक योजन दूर 'बलदाऊजी'के अर्चा-विग्रहोंकी उन्होंने स्थापना की। ये श्रीहरिकी छः प्रतिमाएँ राजा वज्रनाभके द्वारा स्थापित की गयी हैं। वज्रने हर्षसे भरकर लोगोंके कल्याणके लिये व्रजमण्डलमें बलदाऊजीकी पाँच अन्य प्रतिमाएँ भी स्थापित कीं ॥२३—२८॥

कलियुगके चार हजार पाँच सौ वर्ष व्यतीत होनेपर गिरिराजके ऊपर श्रीनाथजीका प्रादुर्भाव होगा। उस प्रतिमाका व्रजमें सूर्यके स्वरूपभूत श्रीविष्णुस्वामी पूजन करेंगे। तदनन्तर वल्लभ आदि अन्य गोकुलवासी गोस्वामी उन्हींके शिष्य होकर श्रीनाथजीकी पूजा करेंगे ॥ २९-३० ॥

मुनिगणो ! श्रीमद्भागवतके श्रवणसे राजा परीक्षित्‌की मुक्ति हुई देख वज्रनाभने वैराग्यके कारण अपने राज्यको त्याग देनेका विचार किया। इसके बाद औपगवपुत्र परम-वैष्णव उद्धवजी अपने मस्तकपर श्रीकृष्णकी चरणपादुका धारण किये नर-नारायणके आश्रमसे वहाँ आये। राजाने प्रत्युत्थान और आसन आदि उपचारोंसे उद्धवजीकी पूजा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तत्पश्चात् उद्धवजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ वज्रनाभके सामने श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। उद्धवजीद्वारा भागवत-कथा सुनकर वज्रको बड़ा हर्ष हुआ और वे बोले—'तात ! पहले राजा परीक्षित्‌की सभामें मैंने यह कथा सुनी थी। शुकदेवने व्यासजीकी कृतिविशेषका वहाँ वर्णन किया था। फिर आपने भी वह कथा सुनायी। अब मैं पूर्णतः कृतार्थ हो गया' ॥३१—३५॥

—ऐसा कहकर वज्रनाभ प्रतिबाहुको अपना राज्य दे विमानद्वारा गोलोकधामको चले गये। उनके साथ उद्धवजी भी गये। मथुराके दक्षिण भागमें वज्रनाभपुत्र प्रतिबाहुने धर्मपूर्वक राज्य किया और उत्तरभागमें परीक्षित्‌पुत्र जनमेजयने ॥ ३६-३७ ॥

शौनकजी ! अब आगे बड़ा दारुण कलियुग आयेगा, परंतु एक निर्वाह दिखायी देता है, जिससे सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जायगा। जबतक श्रीमद्भागवतशास्त्र रहेगा, जबतक गोकुलमें गोस्वामीलोग रहेंगे और जबतक गोवर्धन तथा गङ्गा-नदीकी स्थिति रहेगी, तबतक कलियुगका कोई (विशेष) प्रभाव नहीं पड़ेगा। मुने ! जैसे भारतके नौ खण्डोंमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें कमलपुष्पकी भाँति सुवर्णमय यह मेरुगिरि शोभा पाता है, उसी प्रकार महामुनि गर्गकी 'गोलोकखण्डसंहिता'में यह 'अश्वमेध'का चरित्र मध्यभागमें सुमेरुकी भाँति विराजमान है। इसके श्रवणमात्रसे ब्रह्महत्यारा, स्त्रीहन्ता, राजहन्ता,

पितृहन्ता और गोहत्यारा भी समस्त पातकोंसे मुक्त हो जाता है। इसके सुननेमात्रसे ब्राह्मण विद्याको, क्षत्रिय राज्यको, वैश्य धनको और शूद्र धर्मको प्राप्त करता है। जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, देवताओंमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं तथा तीर्थोंमें तीर्थराज प्रयाग उत्तम है, उसी प्रकार समस्त संहिताओंमें यह अश्वमेधखण्डकी संहिता सर्वोत्तम है। इसका श्रवण करनेमात्रसे श्रेष्ठ मनुष्यको बड़ी तृप्ति प्राप्त होती है। मुने! जैसे भागवतके अध्ययनसे दूसरे शास्त्रोंमें आसक्ति नहीं होती, उसी प्रकार इसके स्वाध्यायसे भी कहीं अन्यत्र आसक्ति नहीं रहती है। अतः महर्षियो! भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले परमात्मा श्रीकृष्णके चरणारविन्दका अपने कल्याणके लिये भजन करें॥ ३८—४६॥

श्रीगर्गजी कहते हैं—शौनक आदि मुनियोंने इस प्रकार श्रीहरिके चरित्रको सुनकर प्रसन्नचित्त हो सूतपुत्र उग्रश्रवाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। करुणानिधे! नारायण! मैं संसारसागरमें डूबकर अत्यन्त दयनीय एवं दुखी हो गया हूँ। कालरूपी ग्राहने मेरे अङ्ग-अङ्गको जकड़ लिया है। आप मेरा उद्धार कीजिये; आपको नमस्कार है। साधुशिरोमणे! गुरुदेव! आप अनाथोंके वल्लभ हैं, हमलोगोंपर अनुग्रह कीजिये। जैसे जगदीश्वर तीनों लोकोंको अभय देते हैं, उसी प्रकार आप मुझे भी अनुग्रह प्रदान करें। श्रीगुरुदेवकी कृपा और श्रीमदनमोहनजीकी सेवाके पुण्यसे जैसा मेरी वाणीसे बन सका है, वैसा श्रीहरिका चरित्र मैंने कहा है। वाल्मीकि आदि तथा वेदव्यास आदि महर्षियो! आप मेरी इस तुच्छ कवितापर दृष्टिपात करें और मेरे अपराधको क्षमा कर दें। जो व्रजके पालक, नूतन जलधरके समान श्याम रंगवाले, देवताओंके स्वामी, भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेवाले तथा परमार्थस्वरूप हैं, उन अनन्तदेव श्रीराधावल्लभ माधव श्रीकृष्णको मैं मस्तक झुकाकर मनसे और भक्तिभावसे प्रणाम करता हूँ*। मेरे आत्मा श्रीकृष्णके इस चरित्र-मेरुमें सत्ताईस सौ सतासी श्लोक हैं, जिनमें उनके लीला-चरित्रोंका गान किया गया है॥ ४७—५३॥

इस प्रकार श्रीगर्गसंहितामें अश्वमेधखण्डके अन्तर्गत 'सुमेरु-सम्पूर्ति' नामक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६२॥

यह गर्गसंहिता सम्पूर्ण हुई

शुभं भूयात्



* श्रीमाधवं व्रजपतिं नवमेघगात्रं राधापतिं सुरपतिं मुरलीधरं च। भक्तार्तिहं च परमार्थमनन्तदेवं कृष्णं नमामि मनसा शिरसा च भक्त्या॥

(अ० ६२। ५२)

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

गर्गसंहिता-माहात्म्य

पहला अध्याय

गर्गसंहिताके प्राकट्यका उपक्रम

जो श्रीकृष्णको ही देवता (आराध्य) माननेवाले वृष्णिवंशियोंके आचार्य तथा कवियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन महात्मा श्रीमान् गर्गजीको नित्य बारंबार नमस्कार है ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—ब्रह्मन् ! मैंने आपके मुखसे पुराणोंका उत्तम-से-उत्तम माहात्म्य विस्तारपूर्वक सुना है, वह श्रोत्रेन्द्रियके सुखकी वृद्धि करनेवाला है। अब गर्गमुनिकी संहिताका जो साररूप माहात्म्य है, उसका प्रयत्नपूर्वक विचार करके मुझसे वर्णन कीजिये। अहो ! जिसमें श्रीराधा-माधवकी महिमाका विविध प्रकारसे वर्णन किया गया है, वह गर्गमुनिकी भगवल्लीला-सम्बन्धिनी संहिता धन्य है ॥ २—४ ॥

सूतजी कहते हैं—अहो शौनक ! इस माहात्म्यको मैंने नारदजीसे सुना है। इसे सम्मोहन-तन्त्रमें शिवजीने पार्वतीसे वर्णन किया था। कैलास पर्वतके निर्मल शिखरपर, जहाँ अलकनन्दाके तटपर अक्षयवट विद्यमान है, उसकी छायामें शंकरजी नित्य विराजते हैं। एक समयकी बात है, सम्पूर्ण मङ्गलोंकी अधिष्ठात्री देवी गिरिजाने प्रसन्नतापूर्वक भगवान् शंकरसे अपनी मनभावनी बात पूछी, जिसे वहाँ उपस्थित सिद्धगण भी सुन रहे थे ॥ ५—७ ॥

पार्वतीने पूछा—नाथ ! जिसका आप इस प्रकार ध्यान करते रहते हैं, उसके उत्कृष्ट चरित्र तथा जन्म-कर्मके रहस्यका मेरे समक्ष वर्णन कीजिये। कष्टहारी शंकर ! पूर्वकालमें मैंने साक्षात् आपके मुखसे श्रीमान् गोपालदेवके सहस्रनामको सुना है। अब मुझे उनकी कथा सुनाइये ॥ ८-९ ॥

महादेवजी बोले—सर्वमङ्गले ! राधापति परमात्मा गोपालकृष्णकी कथा गर्ग-संहितामें सुनी जाती है ॥ १० ॥

पार्वतीने पूछा—शंकर ! पुराण और संहिताएँ तो अनेक हैं, परंतु आप उन सबका परित्याग करके गर्ग-संहिताकी ही प्रशंसा करते हैं। उसमें भगवान्की किस लीलाका वर्णन है, उसे विस्तारपूर्वक बतलाइये। पूर्वकालमें किसके द्वारा प्रेरित होकर गर्गमुनिने इस संहिताकी रचना की थी ? देव ! इसके श्रवणसे कौन-सा पुण्य होता है तथा किस फलकी प्राप्ति होती है ? प्राचीनकालमें किन-किन लोगोंने इसका श्रवण किया है ? प्रभो ! यह सब मुझे बताइये ॥ ११—१३ ॥

सूतजी कहते हैं—अपनी प्रिया पार्वतीका ऐसा कथन सुनकर भगवान् महेश्वरका चित्त प्रसन्न हो गया। उस समय वे सभामें विराजमान थे। वहीं उन्होंने गर्गद्वारा रचित कथाका स्मरण करके उत्तर देना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

महादेवजी बोले—देवि ! राधा-माधवका तथा गर्ग-संहिताका भी विस्तृत माहात्म्य प्रयत्नपूर्वक श्रवण करो। यह पापोंका नाश करनेवाला है। जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण भूतलपर अवतीर्ण होनेका विचार कर रहे थे, उसी अवसरपर ब्रह्माके प्रार्थना करनेपर उन्होंने पहले-पहल राधासे अपने चरित्रका वर्णन किया था। तदनन्तर गोलोकमें शेषजीने (कथा-श्रवणके लिये) प्रार्थना की। तब भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक पुनः अपनी सम्पूर्ण कथा उनके सम्मुख कह सुनायी। तत्पश्चात् शेषजीने ब्रह्माको और ब्रह्माने धर्मको यह संहिता प्रदान की। सर्वमङ्गले ! फिर अपने पुत्र नर-नारायणद्वारा आग्रहपूर्ण प्रार्थना किये जानेपर धर्मने एकान्तमें उनको इस अमृतस्वरूपिणी कथाका पान कराया था। पुनः नारायणने धर्मके मुखसे जिस कृष्ण-चरित्रका श्रवण किया था, उसे सेवापरायण नारदसे कहा। तदनन्तर प्रार्थना किये जानेपर नारदने नारायणके मुखसे प्राप्त हुई सारी-की-सारी श्रीकृष्ण-संहिता गर्गाचार्यको कह सुनायी। यों श्रीहरिकी भक्तिसे बराबर परम ज्ञानको सुनकर गर्गजीने महात्मा नारदका पूजन किया। पर्वतनन्दिनि ! तब नारदने भूत-भविष्य-वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञाता गर्गसे यों कहा ॥ १५—२२ ॥

नारदजी बोले—गर्गजी ! मैंने तुम्हें संक्षेपसे श्रीहरिकी यशोगाथा सुनायी है। यह वैष्णवोंके लिये परम प्रिय है। अब तुम इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करो। विभो ! तुम ऐसे परम अद्भुत शास्त्रकी रचना करो, जो सबकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला, निरन्तर कृष्णभक्तिकी वृद्धि करनेवाला तथा मुझे परम प्रिय लगे। विप्रेन्द्र ! मेरी आज्ञा मानकर कृष्णद्वैपायन व्यासने श्रीमद्भागवतकी रचना की, जो समस्त शास्त्रोंमें परम श्रेष्ठ है। ब्रह्मन् ! जिस प्रकार मैं भागवतकी रक्षा करता हूँ, उसी तरह तुम्हारे द्वारा रचित शास्त्रको राजा बहुलाश्वको सुनाऊँगा ॥ २३—२६ ॥

इस प्रकार श्रीसम्मोहन-तन्त्रमें पार्वती-शंकर-संवादमें 'श्रीगर्गसंहिताका माहात्म्य' विषयक प्रथम अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

नारदजीकी प्रेरणासे गर्गद्वारा संहिताकी रचना; संतानके लिये दुखी राजा प्रतिबाहुके पास महर्षि शाण्डिल्यका आगमन

महादेवजीने कहा—देवर्षि नारदका कथन सुनकर महामुनि गर्गाचार्य विनयसे झुककर हँसते हुए यों कहने लगे॥ १॥

गर्गजी बोले—ब्रह्मन्! आपकी कही हुई बात यद्यपि सब तरहसे अत्यन्त कठिन है—यह स्पष्ट है, तथापि यदि आप कृपा करेंगे तो मैं उसका पालन करूँगा॥ २॥

सर्वमङ्गले! यों कहे जानेपर भगवान् नारद हर्षातिरेकसे अपनी वीणा बजाते और गाते हुए ब्रह्मलोकमें चले गये। तदनन्तर गर्गाचलपर जाकर कविश्रेष्ठ गर्गने इस महान् अद्भुत शास्त्रकी रचना की। इसमें देवर्षि नारद और राजा बहुलाश्वके संवादका निरूपण हुआ है। यह श्रीकृष्णके विभिन्न विचित्र चरित्रोंसे परिपूर्ण तथा सुधा-सदृश स्वादिष्ट बारह हजार श्लोकोंसे सुशोभित है। गर्गजीने श्रीकृष्णके जिस महान् चरित्रको गुरुके मुखसे सुना था, अथवा स्वयं अपनी आँखों देखा था, वह सारा-का-सारा चरित्र इस संहितामें सजा दिया है। यह कथा 'श्रीगर्गसंहिता' नामसे प्रचलित हुई। यह कृष्णभक्ति प्रदान करनेवाली है। इसके श्रवणमात्रसे सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं॥ ३—७½॥

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका वर्णन किया जाता है, जिसके सुनते ही सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। बभ्रुके पुत्र राजा प्रतिबाहु हुए, जो प्रजा-पालनमें तत्पर रहते थे। उस राजाकी प्यारी पत्नीका नाम मालिनी देवी था। राजा प्रतिबाहु पत्नीके साथ कृष्णपुरी मथुरामें रहते थे। उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये विधानपूर्वक बहुत-सा यत्न किया। राजाने सुपात्र ब्राह्मणोंको बछड़े-सहित बहुत-सी गायोंका दान दिया तथा प्रयत्नपूर्वक भरपूर दक्षिणाओंसे युक्त अनेकों यज्ञोंका अनुष्ठान किया। भोजन और धनद्वारा गुरुओं, ब्राह्मणों और देवताओंका पूजन किया, तथापि पुत्रकी उत्पत्ति न हुई। तब राजा चिन्तासे व्याकुल हो गये। वे दोनों पति-पत्नी नित्य चिन्ता और शोकमें डूबे रहते थे। इनके पितर (तर्पणमें) दिये हुए जलको कुछ गरम-सा पान करते थे। 'इस राजाके पश्चात् जो हमलोगोंको तर्पणद्वारा तृप्त करेगा—ऐसा कोई दिखायी नहीं पड़ रहा है। इस राजाके भाई-बन्धु, मित्र, अमात्य, सुहृद् तथा हाथी, घोड़े और पैदल-सैनिक—किसीको भी इस बातकी कोई चिन्ता नहीं है।'—इस बातको याद करके राजाके पितृगण अत्यन्त दुखी हो जाते थे। इधर राजा प्रतिबाहुके मनमें निरन्तर निराशा छायी रहती थी॥ ८—१५½॥

(वे सोचते रहते थे कि) 'पुत्रहीन मनुष्यका जन्म निष्फल है। जिसके पुत्र नहीं है, उसका घर सूना-सा लगता है और मन सदा दुःखाभिभूत रहता है। पुत्रके बिना मनुष्य देवता, मनुष्य और पितरोंके ऋणसे उऋण नहीं हो सकता। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह सभी प्रकारके उपायोंका आश्रय लेकर पुत्र उत्पन्न करे। उसीकी भूतलपर कीर्ति होती है और परलोकमें उसे शुभगति प्राप्त होती है। जिन पुण्यशाली पुरुषोंके घरमें पुत्रका जन्म होता है, उनके भवनमें आयु, आरोग्य और सम्पत्ति सदा बनी रहती है।' राजा अपने मनमें यों लगातार सोचा करते थे, जिससे उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। अपने सिरके बालोंको श्वेत हुआ देखकर वे रात-दिन शोकमें निमग्न रहते थे॥ १६—२०॥

एक समय मुनीश्वर शाण्डिल्य स्वेच्छापूर्वक विचरते हुए प्रतिबाहुसे मिलनेके लिये उनकी राजधानी मधुपुरी (मथुरा) में आये। उन्हें देखकर राजा सहसा अपने सिंहासनसे उठ पड़े और उन्हें आसन आदि देकर सम्मानित किया। पुनः मधुपर्क आदि निवेदन करके हर्षपूर्वक उनका पूजन किया। राजाको उदासीन देखकर महर्षिको परम विस्मय हुआ। तत्पश्चात् मुनीश्वरने स्वस्तिवाचनपूर्वक राजाका अभिनन्दन करके उनसे राज्यके सातों अङ्गों[1]के विषयमें कुशल पूछी। तब नृपश्रेष्ठ प्रतिबाहु अपनी कुशल निवेदन करनेके लिये बोले॥ २१—२४॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! पूर्वजन्मार्जित दोषके कारण इस समय मुझे जो दुःख प्राप्त है, आपने उस कष्टके विषयमें मैं क्या कहूँ! भला, आप-जैसे ऋषियोंके लिये क्या अज्ञात है! मुझे अपने राष्ट्र तथा नगरमें कुछ भी सुख दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। मैं क्या करूँ! कहाँ जाऊँ! किस प्रकार मुझे पुत्रकी प्राप्ति हो। 'राजाके बाद जो हमारी रक्षा करे—ऐसा हमलोग किसीको नहीं देख रहे हैं।' इस बातको स्मरण करके मेरी सारी प्रजा दुखी है। ब्रह्मन्! आप तो साक्षात् त्रिकालदर्शी हैं; अतः मुझे ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे वंशप्रवर्तक दीर्घायु पुत्रकी प्राप्ति हो जाय॥ २५—२८॥

महादेवजी बोले—देवि! उस दुखी राजाके इस वचनको सुनकर मुनिवर शाण्डिल्य राजाके दुःखको शान्त करते हुए-से बोले॥ २९॥

इस प्रकार श्रीसम्मोहनतन्त्रमें पार्वती-शंकर-संवादमें 'गर्गसंहिताका माहात्म्य' विषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥ २॥

---

१. राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड या बल और सुहृद्—ये राज्यके सात अङ्ग माने गये हैं।

तीसरा अध्याय

राजा प्रतिबाहुके प्रति महर्षि शाण्डिल्यद्वारा गर्गसंहिताके माहात्म्य और श्रवण-विधिका वर्णन

शाण्डिल्यने कहा—राजन् ! पहले भी तो तुम बहुत-से उपाय कर चुके हो, परंतु उनके परिणामस्वरूप एक भी कुलदीपक पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ । इसलिये अब तुम पत्नीके साथ शुद्ध-हृदय होकर विधिपूर्वक 'गर्गसंहिता'का श्रवण करो । राजन् ! यह संहिता धन, पुत्र और मुक्ति प्रदान करनेवाली है । यद्यपि यह एक छोटा-सा उपाय है, तथापि कलियुगमें जो मनुष्य इस संहिताका श्रवण करते हैं, उन्हें भगवान् विष्णु पुत्र, सुख आदि सब प्रकारकी सुख-सम्पत्ति दे देते हैं ॥ १–३½ ॥

नरेश ! गर्गमुनिकी इस संहिताके नवाह-पारायणरूप यज्ञसे मनुष्य सद्यःपावन हो जाते हैं । उन्हें इस लोकमें परम सुखकी प्राप्ति होती है तथा मृत्युके पश्चात् वे गोलोकपुरीमें चले जाते हैं । इस कथाको सुननेसे रोगग्रस्त मनुष्य रोग-समूहोंसे, भयभीत भयसे और बन्धनग्रस्त बन्धनसे मुक्त हो जाता है । निर्धनको धन-धान्यकी प्राप्ति हो जाती है तथा मूर्ख शीघ्र ही पण्डित हो जाता है । इस कथाके श्रवणसे ब्राह्मण विद्वान्, क्षत्रिय विजयी, वैश्य खजानेका स्वामी तथा शूद्र पापरहित हो जाता है । यद्यपि यह संहिता स्त्री-पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि इसे सुनकर मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है । जो निष्कारण अर्थात् कामनारहित होकर भक्तिपूर्वक मुनिवर गर्गद्वारा रचित इस सम्पूर्ण संहिताको सुनता है, वह सम्पूर्ण विघ्नोंपर विजय पाकर देवताओंको भी पराजित करके श्रेष्ठ गोलोकधामको चला जाता है ॥ ४–७ ॥

राजन् ! गर्गसंहिताकी प्रबन्ध-कल्पना परम दुर्लभ है । वह भूतलपर सहस्रों जन्मोंके पुण्यसे उपलब्ध होती है । श्रीगर्गसंहिताके श्रवणके लिये दिनोंका कोई नियम नहीं है । इसे सर्वदा सुननेका विधान है । इसका श्रवण कलियुगमें भुक्ति और मुक्ति प्रदान करनेवाला है । समय क्षणभङ्गुर है; पता नहीं कल क्या हो जाय; इसलिये संहिता-श्रवणके लिये नौ दिनका नियम बतलाया गया है । भूपाल ! श्रोताको चाहिये कि वह ज्ञानपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए एक बार एक अन्नका या हविष्यान्नका भोजन करे अथवा फलाहार करे । उसे विधानके अनुसार मिष्टान्न, गेहूँ अथवा जौकी पूड़ी, सेंधा नमक, कंद, दही और दूधका भोजन करना चाहिये । नृपश्रेष्ठ ! विष्णुभगवान्के अर्पित किये हुए भोजनको ही प्रसादरूपमें खाना चाहिये । बिना भगवान्का भोग लगाये आहार नहीं ग्रहण करना चाहिये । श्रद्धापूर्वक कथा सुननी चाहिये; क्योंकि यह कथा-श्रवण सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है । बुद्धिमान् श्रोताको चाहिये कि वह पृथ्वीपर शयन करे और क्रोध तथा लोभको छोड़ दे । इस प्रकार गुरुके श्रीमुखसे कथा सुनकर वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है । जो गुरु-भक्तिसे रहित, नास्तिक, पापी, विष्णुभक्तिसे रहित, श्रद्धाशून्य तथा दुष्ट हैं, उन्हें कथाका फल नहीं मिलता ॥ ८–१५ ॥

विद्वान् श्रोताको चाहिये कि वह अपने परिचित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभीको बुलाकर शुभ मुहूर्तमें अपने घरपर कथाको आरम्भ करावे । भक्तिपूर्वक केलाके खंभोंसे मण्डपका निर्माण करे । सबसे पहले पञ्चपल्लवसहित जलसे भरा हुआ कलश स्थापित करे । फिर पहले-पहल गणेशकी पूजा करके तत्पश्चात् नवग्रहोंकी पूजा करे । तदनन्तर पुस्तककी पूजा करके विधिपूर्वक वक्ताकी पूजा करे और उन्हें सुवर्णकी दक्षिणा दे । असमर्थ होनेपर चाँदीकी भी दक्षिणा दी जा सकती है । पुनः कलशपर श्रीफल रखकर निष्काम निवेदन करना चाहिये । तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक तुलसीदलोंद्वारा भली-भाँति पूजन करके आरती उतारनी चाहिये । राजन् ! कथा-समाप्तिके दिन श्रोताको प्रदक्षिणा करनी चाहिये ॥ १६–२० ॥

जो परस्त्रीगामी, धूर्त, बकवादी, शिवकी निन्दा करनेवाला, विष्णु-भक्तिसे रहित और क्रोधी हो, उसे 'वक्ता' नहीं बनाना चाहिये । जो वाद-विवाद करनेवाला, निन्दक, मूर्ख, कथामें विघ्न डालनेवाला और धनको तुच्छ देनेवाला हो, वह 'श्रोता' निन्दनीय कहा गया है । जो गुरु-सेवापरायण, विष्णुभक्त और कथाके अर्थको समझनेवाला है तथा कथा सुननेमें जिसका मन लगता है, वह श्रोता श्रेष्ठ कहा जाता है । जो शुद्ध, आचार्य-कुलमें उत्पन्न, श्रीकृष्णका भक्त, बहुत-से शास्त्रोंका जानकार, सदा सम्पूर्ण मनुष्योंपर दया करनेवाला और शङ्काओंका उचित समाधान करनेवाला हो, वह उत्तम वक्ता कहा गया है ॥ २१–२४ ॥

द्वादशाक्षर मन्त्रके जपद्वारा कथाके विघ्नोंका निवारण करनेके लिये यथाशक्ति अन्यान्य ब्राह्मणोंका भी

वरण कराना चाहिये । विद्वान् वक्ताको तीन प्रहर (९ घंटे) तक उच्च स्वरसे कथा बाँचनी चाहिये । कथाके बीचमें दो बार विश्राम लेना उचित है । उस समय लघुशङ्का आदिसे निवृत्त होकर जलसे हाथ-पैर धोकर पवित्र हो ले । साथ ही कुल्ला करके मुख-शुद्धि भी कर लेनी चाहिये । राजन् ! नवें दिनकी पूजा-विधि विज्ञानखण्डमें बतलायी गयी है । उस दिन उत्तम बुद्धिसम्पन्न श्रोता पुष्प, नैवेद्य और चन्दनसे पुस्तककी पूजा करके पुनः सोना, चाँदी, वाहन, दक्षिणा, वस्त्र, आभूषण और गन्ध आदिसे वक्ताका पूजन करे । नरेश ! तत्पश्चात् यथाशक्ति नौ सहस्र या नौ सौ या निन्यानवे अथवा नौ ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके खीरका भोजन कराये । तब कथाके फलकी प्राप्ति होती है । कथा-विश्रामके समय विष्णु-भक्तिसम्पन्न स्त्री-पुरुषोंके साथ भगवन्नाम-कीर्तन भी करना चाहिये । उस समय झाँझ, शङ्ख, मृदङ्ग आदि बाजोंके साथ-साथ बीच-बीचमें जय-जयकारके शब्द भी बोलने चाहिये । जो श्रोता श्रीगर्ग-संहिताकी पुस्तकको सोनेके सिंहासनपर स्थापित करके उसे वक्ताको दान कर देता है, वह मरनेपर श्रीहरिको प्राप्त करता है । राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें गर्गसंहिताका माहात्म्य बतला दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो ? अरे, इस संहिताके श्रवणसे ही भुक्ति और मुक्तिकी प्राप्ति देखी जाती है ॥ २५–३४ ॥

इस प्रकार श्रीसम्मोहन-तन्त्रमें पार्वती-शंकर-संवादमें 'श्रीगर्गसंहिताके माहात्म्य तथा श्रवणविधिका वर्णन' नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

शाण्डिल्य मुनिका राजा प्रतिबाहुको गर्गसंहिता सुनाना; श्रीकृष्णका प्रकट होकर राजा आदिको वरदान देना; राजाको पुत्रकी प्राप्ति और संहिताका माहात्म्य

महादेवजी बोले—प्रिये ! मुनीश्वर शाण्डिल्यका यह कथन सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने विनयावनत होकर प्रार्थना की—'मुने ! मैं आपके शरणागत हूँ । आप शीघ्र ही मुझे श्रीहरिकी कथा सुनाइये और पुत्रवान् बनाइये' ॥ १ ॥

राजाकी प्रार्थना सुनकर मुनिवर शाण्डिल्यने श्रीयमुनाजीके तटपर मण्डपका निर्माण करके सुखदायक कथा-पारायणका आयोजन किया । उसे सुनकर सभी मथुरावासी वहाँ आये । महान् ऐश्वर्यशाली यादवेन्द्र श्रीप्रतिबाहुने कथारम्भ तथा कथा-समाप्तिके दिन ब्राह्मणोंको उत्तम भोजन कराया तथा बहुत-सा धन दान दिया । तत्पश्चात् राजाने मुनिवर शाण्डिल्यका भलीभाँति पूजन करके उन्हें रथ, अश्व, दुग्ध-राशि, गौ, हाथी और ढेर-के-ढेर रत्न दक्षिणामें दिये । सर्वमङ्गले ! तब शाण्डिल्यने मेरे द्वारा कहे हुए श्रीमान् गोपाल-कृष्णके सहस्रनामका पाठ किया, जो सम्पूर्ण दोषोंको हर लेनेवाला है । कथा समाप्त होनेपर शाण्डिल्यकी प्रेरणासे राजेन्द्र प्रतिबाहुने भक्तिपूर्वक मन्त्रेश्वर श्रीमान् मदनमोहनका ध्यान किया । तब श्रीकृष्ण अपनी प्रेयसी राधा तथा पार्षदोंके साथ वहाँ प्रकट हो गये । उन साँवरे-सलोनेके हाथमें वंशी और बेंत शोभा पा रहे थे । उनकी छटा करोड़ों कामदेवोंको मोहमें डालनेवाली थी[1] । उन्हें सम्मुख उपस्थित देखकर महर्षि शाण्डिल्य राजा तथा समस्त श्रोताओंके साथ तुरंत ही उनके चरणोंमें लुट पड़े और पुनः विधिपूर्वक स्तुति करने लगे ॥ २–७ ॥

शाण्डिल्य बोले—प्रभो ! आप वैकुण्ठपुरीमें सदा लीलामें तत्पर रहनेवाले हैं । आपका स्वरूप परम मनोहर है । देवगण तथा आपको नमस्कार करते हैं । आप परम श्रेष्ठ हैं । गोपालकी लीलामें आपकी विशेष अभिरुचि रहती है—ऐसे आपका मैं भजन करता हूँ । साथ ही आप गोलोकाधिपतिको मैं नमस्कार करता हूँ[2] ॥ ८ ॥

प्रतिबाहु बोले—गोलोकनाथ ! आप गिरिराज गोवर्धनके स्वामी हैं । परमेश्वर ! आप वृन्दावनके अधीश्वर तथा नित्य विहारकी लीलाएँ करनेवाले हैं । राधापते ! व्रजाङ्गनाएँ आपकी कीर्तिका गान करती रहती हैं । गोविन्द ! आप गोकुलके पालक हैं । निश्चय ही आपकी जय हो[3] ॥ ९ ॥

रानी बोलीं—राधेश ! आप वृन्दावनके स्वामी तथा

---

१. वंशीवेत्रधरः श्यामः कोटिकन्दर्पमोहनः ॥
(गर्ग०, माहात्म्य, अध्याय ४ । ६)

२. वैकुण्ठलीलाप्रवरं मनोहरं नमस्कृतं देवगणैः परं वरम् ।
गोपालकलीलाभिरतं भजाम्यहं गोलोकनाथं शिरसा नमाम्यहम् ॥
(गर्ग०, माहात्म्य, अध्याय ४ । ८)

३. गोलोकनाथ गिरिराजपते परेश
वृन्दावनेश कृतनित्यविहारलील ।
राधापते व्रजवधूजनगीतकीर्ते
गोविन्द गोकुलपते किल ते जयोऽस्तु ॥
(गर्ग०, माहात्म्य, अध्याय ४ । ९)

पुरुषोत्तम हैं। माधव! आप भक्तोंको सुख देनेवाले हैं! मैं आपकी शरण ग्रहण करती हूँ[4] ॥ १० ॥

समस्त श्रोताओंने कहा—हे जगन्नाथ! हमलोगोंका अपराध क्षमा कीजिये। श्रीनाथ! राजाको सुपुत्र तथा हमलोगोंको अपने चरणोंकी भक्ति प्रदान कीजिये[5] ॥११॥

महादेवजीने कहा—देवि! भक्तवत्सल भगवान् इस प्रकार अपनी स्तुति सुनकर उन सभी प्रणतजनोंके प्रति मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले ॥ १२ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुनिवर शाण्डिल्य! तुम राजा तथा सभी लोगोंके साथ मेरी बात सुनो—'तुमलोगोंका कथन सफल होगा।' ब्रह्मन्! इस संहिताके रचयिता गर्गमुनि हैं, इसी कारण यह 'गर्गसंहिता' नामसे प्रसिद्ध है। यह सम्पूर्ण दोषोंको हरनेवाली, पुण्यस्वरूपा और चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके फलको देनेवाली है। कलियुगमें जो-जो मनुष्य जिस-जिस मनोरथकी अभिलाषा करते हैं, श्रीगर्गाचार्यकी यह गर्गसंहिता सभीकी उन-उन कामनाओंको पूर्ण करती है' ॥ १३-१५ ॥

शिवजीने कहा—देवि! ऐसा कहकर माधव राधाके साथ अन्तर्धान हो गये। उस समय शाण्डिल्य मुनिको तथा राजा आदि सभी श्रोताओंको परम आनन्द प्राप्त हुआ। प्रिये! तदनन्तर मुनिवर शाण्डिल्यने दक्षिणामें प्राप्त हुए धनको मथुरावासी ब्राह्मणोंमें बाँट दिया। फिर राजाको आश्वासन देकर वे भी अन्तर्हित हो गये ॥१६-१७॥

तत्पश्चात् रानीने राजाके समागमसे सुन्दर गर्भ धारण किया। प्रसवकाल आनेपर पुण्यकर्मके फलस्वरूप गुणवान् पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय राजाको महान् हर्ष प्राप्त हुआ। उन्होंने कुमारके जन्मके उपलक्ष्में ब्राह्मणोंको गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, वस्त्र, हाथी, घोड़े आदि दान दिये और ज्योतिषियोंसे परामर्श करके अपने पुत्रका 'सुबाहु' नाम रक्खा। इस प्रकार नृपश्रेष्ठ प्रतिबाहु सफलमनोरथ हो गये। राजा प्रतिबाहुने श्रीगर्गसंहिताका श्रवण करके इस लोकमें सम्पूर्ण सुखोंका उपभोग किया और अन्तकाल आनेपर वे गोलोकधामको चले गये, जहाँ पहुँचना योगियोंके लिये भी दुर्लभ है। श्रीगर्गसंहिता स्त्री, पुत्र, धन, सवारी, कीर्ति, घर, राज्य, सुख और मोक्ष प्रदान करनेवाली है। मुनीश्वरो! इस प्रकार भगवान् शंकरने पार्वतीदेवीसे सारी कथा कहकर जब विराम लिया, तब पार्वतीने पुनः उनसे कहा ॥ १८-२३ ॥

पार्वतीजी बोलीं—नाथ! जिसमें माधवका अद्भुत चरित्र सुननेको मिलता है, उस श्रीगर्गसंहिताकी कथा मुझे बतलाइये। यह सुनकर भगवान् शंकरने हर्षपूर्वक अपनी प्रिया पार्वतीसे गर्गसंहिताकी सारी कथा कह सुनायी। पुनः साक्षात् शंकरने आगे कहा—'सर्वमङ्गले! तुम मेरी यह बात सुनो—गङ्गातटसे अर्ध योजन (४ मील) की दूरीपर बिल्वकेशवनमें जो सिद्धपीठ है, वहाँ कलियुग आनेपर गोकुलवासी वैष्णवोंके मुखसे श्रीमद्भागवत आदि संहिताओंकी कथा तुम्हें बारंबार सुननेको मिलेगी' ॥ २६-२७ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनक! इस प्रकार महादेवजीके मुखसे इस महान् अद्भुत इतिहासको सुनकर भगवान्‌की वैष्णवी माया पार्वती परम प्रसन्न हुईं। मुने! उन्होंने बारंबार श्रीहरिकी कथा सुननेकी इच्छासे कलियुगके प्रारम्भमें अपनेको बिल्वकेश वनमें प्रकट करनेका निश्चय किया। इसी कारण वे लक्ष्मीका रूप धारण करके 'सर्वमङ्गला' नामसे वहाँ गङ्गाके दक्षिण तटपर प्रकट होंगी। मुने! श्रीगर्गसंहिताका जो माहात्म्य मैंने कहा है, इसे जो सुनता है अथवा पढ़ता है, वह पाप और दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २८—३१ ॥

इस प्रकार श्रीसम्मोहन-तन्त्रमें पार्वती-शंकर-संवादमें 'श्रीगर्गसंहिता-माहात्म्यविषयक' चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

गर्गसंहिता-माहात्म्य सम्पूर्ण

---

४. वृन्दावनेश राधेश पुरुषोत्तम माधव। भक्तानां त्वं तु सुखदस्त्वमहं शरणं गता ॥
(गर्ग०, माहात्म्य, अध्याय ४। १०)

५. श्रीनाथ हे जगन्नाथ अपराधं क्षमस्व नः। सुपुत्रं देहि भूपायास्मभ्यं भक्तिं त्वत्पदयोः ॥
(गर्ग०, माहात्म्य, अध्याय ४। ११)

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीकृष्ण-संवत्के सम्बन्धमें आवश्यक सूचना

'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंको स्मरण होगा कि गत सौर कार्तिक (अक्तूबर) मासके अङ्कमें विज्ञ पाठकोंकी सेवामें यह निवेदन किया गया था कि वे कृपापूर्वक इस विषयमें हमारा पथप्रदर्शन करें कि श्रीकृष्ण-संवत्का व्यवहार किस प्रकार किया जाय और साथ ही मास आदिका व्यवहार भी किस प्रकार हो। हमारी उक्त प्रार्थनाके उत्तरमें अनेक महानुभावोंने अपने-अपने विचार इस विषयमें हमारे पास भेजे, हम इसके लिये उन सबके हृदयसे कृतज्ञ हैं। जिन-जिनके पत्र हमारे पास आये, उनमेंसे अधिकांश लोगोंकी सम्मति यह है कि श्रीकृष्ण-संवत् कलियुगके प्रारम्भसे माना जाय; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमनके साथ ही कलियुगका प्रवेश हुआ—ऐसी मान्यता है। कलियुगका प्रवेश आजसे ५०७१ वर्ष पूर्व हुआ था—ऐसा सभी ज्योतिर्विद् महानुभावोंका मत है। ऐसी स्थितिमें इस समय श्रीकृष्ण-संवत् ५०७१ ही मानना चाहिये। कुछ थोड़े-से सम्मान्य विद्वानोंने हमें यह सुझाव दिया कि श्रीकृष्ण-संवत्की गणना उनके परम-धामगमनसे न मानकर उनके 'प्रादुर्भावसे' माननी चाहिये; क्योंकि उनके प्रादुर्भावसे जगत्का अशेष मङ्गल हुआ और उसीका स्मरण हम सबको करना चाहिये, न कि उनके परमधामगमनका, जो जगत्के लिये अमङ्गलरूप था। श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाममें १२५ वर्ष विराजे। ऐसी दशामें श्रीकृष्ण-संवत्का प्रारम्भ उनके जन्म-संवत्से अर्थात् ५०७१+१२५=५१९६ वर्ष पूर्व मानना चाहिये। अर्थात् इस समय श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६ लिखा जाना चाहिये। हमारी धारणामें भी यही मत ठीक है। अतएव हमने 'कल्याण'के इस नये विशेषाङ्कके मुखपृष्ठपर श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६ का ही उल्लेख किया है। आशा है सभी पाठकोंको इससे प्रसन्नता

होगी और वे लोग अपने दैनिक व्यवहार-पत्र आदिमें भी सहर्ष इसीका प्रयोग चालू कर देंगे । इससे भगवान्के परममङ्गलमय आविर्भावकी उन्हें निरन्तर स्मृति बनी रहेगी और उससे उनका अशेष मङ्गल होगा ।

मास आदिके सम्बन्धमें भी कई प्रकारके सुझाव लोगोंने दिये हैं । कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा है कि श्रीकृष्ण-संवत्का प्रारम्भ उनके जन्म-दिवस अर्थात् भाद्रपद कृष्णा ८ से होना चाहिये तथा कुछ दूसरे लोगोंका ऐसा मत है कि गीता-जयन्ती अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ला ११ से उसका प्रारम्भ मानना चाहिये; क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश जगत्के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी और वही श्रीकृष्णकी जगत्के लिये सबसे बड़ी देन थी । उनका यह भी कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकालमें मार्गशीर्षसे ही संवत्सरका प्रारम्भ माना जाता था । स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने मार्गशीर्षको श्रीमद्भगवद्गीतामें अपना स्वरूप बताया है— 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ।' यद्यपि ये दोनों ही मत ठीक हैं; कुछ महानुभावोंने सौर चैत्रसे ही वर्षका प्रारम्भ माननेकी विचारपूर्ण सम्मति दी है । विचार करनेपर हमें भी यही सबसे अधिक सुगम और समीचीन लगा; क्योंकि सम्पूर्ण भारतवर्षमें प्रायः वर्षका प्रारम्भ चैत्रसे ही माना जाता है और सौर मासमें तिथियोंके घटने-बढ़नेका प्रश्न नहीं रहता, अतः सौर मासका प्रयोग हमें सुगमताकी दृष्टिसे भी सर्वथा समीचीन है । आशा है 'कल्याण'के माननीय पाठक-पाठिकाएँ तथा अन्यान्य विद्वान् तथा भगवान् एवं भारतीय संस्कृतिके प्रेमी इसे स्वीकार करेंगे और ईस्वी सन् एवं अंग्रेजी महीनों एवं तारिकाओंका प्रयोग न करके अपने व्यवहारमें अधिक-से-अधिक प्रयोग श्रीकृष्ण-संवत् तथा भारतीय मासों एवं तिथियोंका ही करेंगे ।

विनीत—

चिम्मनलाल गोस्वामी,

सम्पादक 'कल्याण'



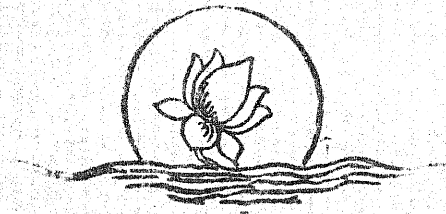
भगवान् नरसिंहकी भक्त प्रह्लादपर कृपा

श्रीहरिः

श्रीनरसिंहपुराणकी विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगा चित्र



ॐ श्रीलक्ष्मीनृसिंहाभ्यां नमः

महर्षिवेदव्यासप्रणीतम्

श्रीनरसिंहपुराणम्

(श्रीभरद्वाजमुनि और लोमहर्षण सूतजीके संवादरूपमें)

मूल संस्कृत हिंदी-अनुवादसहित



संशोधक और अनुवादक

पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, पाण्डेय 'राम'

(वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी)

६३—   न० पु० अं० १—

श्रीनरसिंहपुराणका संक्षिप्त परिचय और निवेदन

अन्यान्य पुराणोंकी भाँति श्रीनरसिंहपुराण भी भगवान् श्रीवेदव्यासरचित ही माना जाता है। इसमें भी पुराणोंके लक्षणके अनुसार ही सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितका सुन्दर वर्णन है। भगवान्के अवतारोंकी लीला-कथा है, उसमें भगवान् श्रीरामका लीलाचरित प्रधानरूपसे वर्णित है।

श्रीमार्कण्डेय मुनिकी मृत्युपर विजय प्राप्त करनेकी सुन्दर कथा है, उसमें 'यमगीता' है। कलियुगके मनुष्योंके लिये बड़ी ही आशाप्रद बातें हैं। इसमें कई ऐसे स्तोत्र-मन्त्रोंका विधान बताया गया है, जिनके अनुष्ठानसे भोग-मोक्षकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। भक्तिके स्वरूप, भक्तोंके लक्षण तथा ध्रुव आदि भक्तोंके सुन्दर चरित्रोंका वर्णन है।

इस छोटे-से पुराणमें बहुत ही उपयोगी तथा जाननेयोग्य सामग्री है। यह पुराण इस समय अप्राप्य है—कहीं मिलता नहीं। इसीलिये इसे मूल संस्कृतसहित इस विशेषाङ्कमें प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, पाठक-पाठिका इसका पठन-मनन करेंगे तथा इसमें उल्लिखित कल्याणकारी विषयोंको यथारुचि यथावश्यक अपने जीवनमें उतारकर लाभ उठावेंगे।

पठतां शृण्वतां नृणां नरसिंहः प्रसीदति।
प्रसन्ने देवदेवेशे सर्वपापक्षयो भवेत्।
प्रक्षीणपापबन्धास्ते मुक्तिं यान्ति नरा इति॥

श्रीनरसिंह-पुराण

पहला अध्याय

प्रयागमें ऋषियोंका समागम; सूतजीके प्रति भरद्वाजजीका प्रश्न; सूतजीद्वारा कथारम्भ और सृष्टिक्रमका वर्णन

श्रीलक्ष्मीनृसिंहाय नमः ॥ श्रीवेदव्यासाय नमः ॥
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी भगवान् नारायण (श्रीकृष्ण) उनके सखा नरश्रेष्ठ नर ! (अर्जुन) तथा इनकी लीला प्रकट करनेवाली सरस्वती देवीको नमस्कार करनेके पश्चात् 'जय' (इतिहास-पुराण) का पाठ करे ॥ १ ॥

तप्तहाटककेशान्तज्वलत्पावकलोचन ।
वज्राधिकनखस्पर्श दिव्यसिंह नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥
पान्तु वो नरसिंहस्य नखलाङ्गूलकोटयः ।
हिरण्यकशिपोर्वक्षःक्षेत्रासृक्कर्दमारुणाः ॥ ३ ॥

दिव्य सिंह ! तपाये हुए सुवर्णके समान पीले केशोंके भीतर प्रज्वलित अग्निकी भाँति आपके नेत्र देदीप्यमान हो रहे हैं तथा आपके नखोंका स्पर्श वज्रसे भी अधिक कठोर है, इस प्रकार अमित प्रभावशाली आप परमेश्वरको मेरा नमस्कार है। भगवान् नृसिंहके नखरूपी हलके अग्रभाग, जो हिरण्यकशिपु नामक दैत्यके वक्षःस्थलरूपी खेतकी रक्तमयी कीचड़के लगनेसे लाल हो गये हैं, आपलोगोंकी रक्षा करें ॥ २-३ ॥

हिमवद्वासिनः सर्वे मुनयो वेदपारगाः ।
त्रिकालज्ञा महात्मानो नैमिषारण्यवासिनः ॥ ४ ॥
येऽर्बुदारण्यनिरताः पुष्करारण्यवासिनः ।
महेन्द्राद्रिरता ये च ये च विन्ध्यनिवासिनः ॥ ५ ॥
धर्मारण्यरता ये च दण्डकारण्यवासिनः ।
श्रीशैलनिरता ये च कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ ६ ॥
कौमारपर्वते ये च ये च पम्पानिवासिनः ।
एते चान्ये च बहवः सशिष्या मुनयोऽमलाः ॥ ७ ॥
माघमासे प्रयागं तु स्नातुं तीर्थं समागताः ।

एक समय हिमालयकी घाटियोंमें रहनेवाले, वेदोंके पारगामी एवं त्रिकालवेत्ता समस्त महात्मा मुनिगण नैमिषारण्य, अर्बुदारण्य और पुष्करारण्यके निवासी मुनि, महेन्द्र पर्वत और विन्ध्यगिरिके निवासी ऋषि, धर्मारण्य, दण्डकारण्य, श्रीशैल और कुरुक्षेत्रमें वास करनेवाले मुनि तथा कुमार पर्वत एवं पम्पासरके निवासी ऋषि—ये तथा अन्य भी बहुत-से शुद्ध हृदयवाले महर्षिगण अपने शिष्योंके साथ माघके महीनेमें स्नान करनेके लिये प्रयाग तीर्थमें आये ॥ ४–७½ ॥

तत्र स्नात्वा यथान्यायं कृत्वा कर्म जपादिकम् ॥ ८ ॥
नत्वा तु माधवं देवं कृत्वा च पितृतर्पणम् ।
दृष्ट्वा तत्र भरद्वाजं पुण्यतीर्थनिवासिनम् ॥ ९ ॥
तं पूजयित्वा विधिवत्तेनैव च सुपूजिताः ।
आसनेषु विचित्रेषु बृष्यादिषु यथाक्रमम् ॥ १० ॥
भरद्वाजेन दत्तेषु आसीनास्ते तपोधनाः ।
कृष्णाश्रिताः कथाः सर्वे परस्परमथाब्रुवन् ॥ ११ ॥
कथान्तेषु ततस्तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
आजगाम महातेजास्तत्र सूतो महामतिः ॥ १२ ॥
व्यासशिष्यः पुराणज्ञो लोमहर्षणसंज्ञकः ।
तान् प्रणम्य यथान्यायं स च तैश्चाभिपूजितः ॥ १३ ॥
उपविष्टो यथायोग्यं भरद्वाजमतेन सः ।
व्यासशिष्यं सुखासीनं ततस्तं लोमहर्षणम् ।
स पप्रच्छ भरद्वाजो मुनीनामग्रतस्तदा ॥ १४ ॥

वहाँपर यथोचित रीतिसे स्नान और जप आदि करके उन्होंने भगवान् वेणीमाधवको नमस्कार किया; फिर पितरोंका तर्पण करके उस पावन तीर्थके निवासी भरद्वाज मुनिका दर्शन किया। वहाँ उन ऋषियोंने भरद्वाजजीका भलीभाँति पूजन किया और स्वयं भी भरद्वाजजीके द्वारा पूजित हुए। तत्पश्चात् वे सभी तपोधन भरद्वाज मुनिके दिये हुए बृषी[1] आदि

---

१. व्रतपरायण पुरुषके लिये कुशाका बना हुआ एक विशेष प्रकारका आसन ।

विचित्र आसनोंपर विराजमान हुए और परस्पर भगवान् श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ कहने लगे। उन शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंकी कथा हो ही रही थी कि व्यासजीके शिष्य लोमहर्षण नामक सूतजी वहाँ आ पहुँचे। वे अत्यन्त तेजस्वी, परम बुद्धिमान् और पुराणोंके विद्वान् थे। सूतजीने वहाँ बैठे हुए सभी ऋषियोंको यथोचित विधिसे प्रणाम किया और स्वयं भी उनके द्वारा सम्मानित हुए। फिर भरद्वाजजीकी अनुमतिसे वे यथायोग्य आसनपर बैठे। इस प्रकार जब वे सुखपूर्वक विराजमान हुए, तब उस समय उन व्यासशिष्य लोमहर्षणजीसे भरद्वाजजीने सभी मुनियोंके समक्ष यह प्रश्न किया॥ ८—१४॥

भरद्वाज उवाच

शौनकस्य महासत्रे वाराहाख्या तु संहिता।
त्वत्तः श्रुता पुरा सूत एतैरस्माभिरेव च॥१५॥
साम्प्रतं नारसिंहाख्यां त्वत्तः पौराणसंहिताम्।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सूत श्रोतुकामा इमे स्थिताः॥१६॥
अतस्त्वां परिपृच्छामि प्रश्नमेतं महामुने।
ऋषीणामग्रतः सूत प्रातर्होषां महात्मनाम्॥१७॥
कुत एतत् समुत्पन्नं केन वा परिपाल्यते।
कस्मिन् वा लयमभ्येति जगदेतच्चराचरम्॥१८॥
किं प्रमाणं च वै भूमेर्नृसिंहः केन तुष्यति।
कर्मणा तु महाभाग तन्मे ब्रूहि महामते॥१९॥
कथं च सृष्टेरादिः स्यादवसानं कथं भवेत्।
कथं युगस्य गणना किं वा स्यात्तु चतुर्युगम्॥२०॥
को वा विशेषस्तेष्वत्र का वावस्था कलौ युगे।
कथमाराध्यते देवो नरसिंहोऽप्यमानुषैः॥२१॥
क्षेत्राणि कानि पुण्यानि के च पुण्याः शिलोच्चयाः।
नद्यश्च काः पराः पुण्या नृणां पापहराः शुभाः॥२२॥
देवादीनां कथं सृष्टिः मनोर्मन्वन्तरस्य तु।
तथा विद्याधरादीनां सृष्टिरादौ कथं भवेत्॥२३॥
यज्वानः के च राजानः के च सिद्धिं परां गताः।
एतत्सर्वं महाभाग कथयस्व यथाक्रमम्॥२४॥

भरद्वाजजी बोले—सूतजी! पूर्वकालमें शौनकजीके महान् यज्ञमें हम सभी लोगोंने आपसे 'वाराह-संहिता' सुनी थी। अब हम 'नरसिंहपुराण'की संहिता सुनना चाहते हैं तथा ये ऋषि लोग भी उसे ही सुननेके लिये यहाँ उपस्थित हैं। अतः महामुने सूतजी! आज प्रातःकाल इन महात्मा मुनियोंके समक्ष हम आपसे ये प्रश्न पूछते हैं—'यह चराचर जगत् कहाँसे उत्पन्न हुआ है? कौन इसकी रक्षा करता है? अथवा किसमें इसका लय होता है? महाभाग! इस भूमिका प्रमाण क्या है तथा महामते! भगवान् नृसिंह किस कर्मसे संतुष्ट होते हैं—यह हमें बताइये। सृष्टिका आरम्भ कैसे हुआ? उसका अवसान (अन्त) किस प्रकार होता है? युगोंकी गणना कैसे होती है? चतुर्युगका स्वरूप क्या है? उन चारों युगोंमें क्या अन्तर होता है? कलियुगमें लोगोंकी क्या अवस्था होती है? तथा देवतालोग भगवान् नरसिंहकी किस प्रकार आराधना करते हैं? पुण्यक्षेत्र कौन-कौन हैं? पावन पर्वत कौन-से हैं? और मनुष्योंके पापोंको हर लेनेवाली परम पावन एवं उत्तम नदियाँ कौन-कौन-सी हैं? देवताओंकी सृष्टि कैसे हुई? मनु, मन्वन्तर एवं विद्याधर आदिकी सृष्टि किस प्रकार होती है? कौन-कौन राजा यज्ञ करनेवाले हुए हैं और किस-किसने परम उत्तम सिद्धि प्राप्त की है?' महाभाग! ये सारी बातें आप क्रमशः बताइये॥ १५—२४॥

सूत उवाच

व्यासप्रसादाज्जानामि पुराणानि तपोधनाः।
तं प्रणम्य प्रवक्ष्यामि पुराणं नारसिंहकम्॥२५॥
पाराशर्यं परमपुरुषं विश्वदेवैकयोनिं
विद्यावन्तं विपुलमतिदं वेदवेदाङ्गवेद्यम्।
शश्वच्छान्तं शमितविषयं शुद्धतेजो विशालं
वेदव्यासं विगतशमलं सर्वदाहं नमामि॥२६॥
नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे।
यस्य प्रसादाद्वक्ष्यामि वासुदेवकथामिमाम्॥२७॥
सुनिर्णीतो महान् प्रश्नस्त्वया यः परिकीर्तितः।
विष्णुप्रसादेन विना वक्तुं केनापि शक्यते॥२८॥
तथापि नरसिंहस्य प्रसादादेव तेऽधुना।
प्रवक्ष्यामि महापुण्यं भारद्वाज शृणुष्व मे॥२९॥
शृण्वन्तु मुनयः सर्वे सशिष्यास्त्वत्र ये स्थिताः।
पुराणं नरसिंहस्य प्रवक्ष्यामि यथातथा॥३०॥

सूतजी बोले—तपोधनो! मैं जिन गुरुदेव व्यासजीके

प्रसादसे पुराणोंका ज्ञान प्राप्त कर सका हूँ, उनकी भक्तिपूर्वक वन्दना करके आपलोगोंसे नरसिंह-पुराणकी कथा कहना आरम्भ करता हूँ। जो समस्त देवताओंके एकमात्र कारण और वेदों तथा उनके छहों अङ्गोंद्वारा जाननेयोग्य परम पुरुष विष्णुके स्वरूप हैं; जो विद्यावान्, विमल बुद्धिदाता, नित्य शान्त, विषयकामनाशून्य और पापरहित हैं, उन विशुद्ध तेजोमय महात्मा पराशरनन्दन वेदव्यासजीको मैं सदा प्रणाम करता हूँ। उन अमित तेजस्वी भगवान् व्यासजीको नमस्कार है, जिनकी कृपासे मैं भगवान् वासुदेवकी इस कथाको कह सकूँगा। मुनिगण! आपलोगोंने भलीभाँति विचार करके मुझसे जो महान् प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर भगवान् विष्णुकी कृपा हुए बिना कौन बतला सकता है? तथापि भरद्वाजजी! भगवान् नरसिंहकी कृपाके बलसे ही आपके प्रश्नोंके उत्तरमें अत्यन्त पवित्र नरसिंहपुराणकी कथा आरम्भ करता हूँ। आप ध्यानसे सुनें। अपने शिष्योंके साथ जो-जो मुनि यहाँ उपस्थित हैं, वे सब लोग भी सावधान होकर सुनें। मैं सभीको यथावत् रूपसे नरसिंहपुराणकी कथा सुनाता हूँ॥ २५—३०॥

नारायणादिदं सर्वं समुत्पन्नं चराचरम्।
तेनैव पाल्यते सर्वं नरसिंहादिमूर्तिभिः॥३१॥
तथैव लीयते चान्ते हरौ ज्योतिःस्वरूपिणि।
यथैव देवः सृजति तथा वक्ष्यामि तच्छृणु॥३२॥
पुराणानां हि सर्वेषामयं साधारणः स्मृतः।
श्लोको यस्तं मुने श्रुत्वा निःशेषं त्वं ततः शृणु॥३३॥
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥३४॥
आदिसर्गोऽनुसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव वक्ष्याम्यनुसमासतः॥३५॥

यह समस्त चराचर जगत् भगवान् नारायणसे ही उत्पन्न हुआ और वे ही नरसिंहादि रूपोंसे सबका पालन करते हैं। इसी प्रकार अन्तमें यह जगत् उन्हीं ज्योतिःस्वरूप भगवान् विष्णुमें लीन हो जाता है। भगवान् जिस प्रकार सृष्टि करते हैं, उसे मैं बतलाता हूँ, आप सुनें। सृष्टिकी कथा पुराणोंमें ही विस्तारके साथ वर्णित है, अतः पुराणोंका लक्षण बतानेके लिये यह एक श्लोक साधारणतया सभी पुराणोंमें कहा गया है। मुने! इस श्लोकको पहले सुनकर फिर सारी बातें सुनियेगा। यह श्लोक इस प्रकार है—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—इन्हीं पाँच लक्षणोंसे युक्त 'पुराण' होता है। आदिसर्ग, अनुसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—इन सबका मैं क्रमशः संक्षिप्तरूपसे वर्णन करता हूँ॥ ३१—३५॥

आदिसर्गो महांस्तावत् कथयिष्यामि वै द्विजाः।
यस्मादारभ्य देवानां राज्ञां चरितमेव च॥३६॥
ज्ञायते सरहस्यं च परमात्मा सनातनः।
प्राक्सृष्टेः प्रलयादूर्ध्वं नासीत् किंचिद् द्विजोत्तम॥३७॥
ब्रह्मसंज्ञमभूदेकं ज्योतिष्मत्सर्वकारणम्।
नित्यं निरञ्जनं शान्तं निर्गुणं नित्यनिर्मलम्॥३८॥
आनन्दसागरं स्वच्छं यं काङ्क्षन्ति मुमुक्षवः।
सर्वज्ञं ज्ञानरूपत्वादनन्तमजमव्ययम्॥३९॥
सर्गकाले तु सम्प्राप्ते ज्ञात्वाऽसौ ज्ञातृनायकः।
अन्तर्लीनं विकारं च तत्स्रष्टुमुपचक्रमे॥४०॥

द्विजगण! आदिसर्ग महान् है, अतः पहले मैं उसीका वर्णन करता हूँ। वहाँसे सृष्टिका वर्णन आरम्भ करनेपर देवताओं और राजाओंके चरित्रोंका तथा सनातन परमात्माके तत्त्वका भी रहस्यसहित ज्ञान हो जाता है। द्विजोत्तम! सृष्टिके पहले महाप्रलय होनेके बाद (परब्रह्मके सिवा) कुछ भी शेष नहीं था। उस समय एकमात्र 'ब्रह्म'नामक तत्त्व ही विद्यमान था, जो परम प्रकाशमय और सबका कारण है। वह नित्य, निरञ्जन, शान्त, निर्गुण एवं सदा ही दोषरहित है। मुमुक्षु पुरुष विशुद्ध आनन्द-महासागर परमेश्वरकी अभिलाषा किया करते हैं। वह ज्ञानस्वरूप होनेके कारण सर्वज्ञ, अनन्त, अजन्मा और अव्यय (अविकारी) है। सृष्टि-रचनाका समय आनेपर उसी ज्ञानीश्वर परब्रह्मने जगत्को अपनेमें लीन जानकर पुनः उसकी सृष्टि आरम्भ की॥ ३६—४०॥

तस्मात् प्रधानमुद्भूतं ततश्चापि महानभूत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्॥४१॥
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत॥४२॥
यथा प्रधानं हि महान् महता स तथाऽऽवृतः।
भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रकं ततः॥४३॥

ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ।
शब्दमात्रं तथाऽऽकाशं भूतादिः स समावृणोत् ॥४४॥
आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ।
बलवानभवद्वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥४५॥
आकाशं शब्दतन्मात्रं स्पर्शमात्रं तथाऽऽवृणोत् ।
ततो वायुर्विकुर्वाणो रूपमात्रं ससर्ज ह ॥४६॥
ज्योतिरुत्पद्यते वायोस्तद्रूपगुणमुच्यते ।
स्पर्शमात्रं तु वै वायू रूपमात्रं समावृणोत् ॥४७॥
ज्योतिश्चापि विकुर्वाणं रसमात्रं ससर्ज ह ।
सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि तु ॥४८॥
रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत् ।
विकुर्वाणानि चाम्भांसि गन्धमात्रं ससर्जिरे ॥४९॥
तस्माज्जाता मही चेयं सर्वभूतगुणाधिका ।
संघातो जायते तस्मात्तस्य गन्धगुणो मतः ॥५०॥
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता ।
तन्मात्राण्यविशेषाणि विशेषाः क्रमशो पराः ॥५१॥
भूततन्मात्रसर्गोऽयमहंकारात्तु तामसात् ।
कीर्तितस्ते समासेन भरद्वाज मया तव ॥५२॥

उस ब्रह्मसे प्रधान (मूलप्रकृति) का आविर्भाव हुआ। प्रधानसे महत्तत्त्व प्रकट हुआ। सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे महत्तत्त्व तीन प्रकारका है। महत्तत्त्वसे वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और भूतादिरूप (तामस)—इन तीन भेदोंसे युक्त अहंकार उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार प्रधानसे महत्तत्त्व आवृत है, उसी प्रकार महत्तत्त्वसे अहंकार भी व्याप्त है। तदनन्तर 'भूतादि' नामक तामस अहंकारने विकृत होकर शब्दतन्मात्राकी सृष्टि की और उससे 'शब्द' गुणवाला आकाश उत्पन्न हुआ। तब उस भूतादिने शब्द गुणवाले आकाशको आवृत किया। आकाशने भी विकृत होकर स्पर्शतन्मात्राकी सृष्टि की। उससे बलवान् वायुकी उत्पत्ति हुई। वायुका गुण स्पर्श माना गया है। फिर शब्द गुणवाले आकाशने 'स्पर्श' गुणवाले वायुको आवृत किया। तत्पश्चात् वायुने विकृत होकर रूपतन्मात्राकी सृष्टि की। उससे ज्योतिर्मय अग्निका प्रादुर्भाव हुआ। ज्योतिका गुण 'रूप' कहा गया है। फिर स्पर्शतन्मात्रारूप वायुने रूप-तन्मात्रावाले तेजको आवृत किया। तब तेजने विकृत होकर रस-तन्मात्राकी सृष्टि की। उससे रस गुणवाला जल प्रकट हुआ। रूप गुणवाले तेजने रस गुणवाले जलको आवृत किया। तब जलने विकारको प्राप्त होकर गन्ध-तन्मात्राकी सृष्टि की। उससे यह पृथिवी उत्पन्न हुई जो आकाशादि सभी भूतोंके गुणोंसे युक्त होनेके कारण उनसे अधिक गुणवाली है। गन्धतन्मात्रारूप पार्थिवतत्त्वसे ही स्थूल पिण्डकी उत्पत्ति होती है। पृथिवीका गुण 'गन्ध' है। उन-उन आकाशादि भूतोंमें तन्मात्राएँ हैं अर्थात् केवल उनके गुण शब्द आदि ही हैं। इसलिये वे तन्मात्रा (गुण) रूप ही कहे गये हैं। तन्मात्राएँ अविशेष कही गयी हैं; क्योंकि उनमें 'अमुक तन्मात्रा आकाशकी है और अमुक वायुकी' इसका ज्ञान करानेवाला कोई विशेष भेद (अन्तर) नहीं होता। किंतु उन तन्मात्राओंसे प्रकट हुए आकाशादि भूत क्रमशः विशेष (भेद-)युक्त होते हैं। इसलिये उनकी 'विशेष' संज्ञा है। भरद्वाजजी ! तामस अहंकारसे होनेवाली यह पञ्चभूतों और तन्मात्राओंकी सृष्टि मैंने आपसे थोड़ेमें कह दी ॥ ४१—५२ ॥

तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश ।
एकादशं मनश्चात्र कीर्तितं तत्त्वचिन्तकैः ॥५३॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चात्र पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
तानि वक्ष्यामि तेषां च कर्माणि कुलपावन ॥५४॥
श्रवणे च दृशौ जिह्वा नासिका त्वक् च पञ्चमी ।
शब्दादिज्ञानसिद्ध्यर्थं बुद्धियुक्तानि पञ्च वै ॥५५॥
पायूपस्थे हस्तपादौ वाग्भरद्वाज पञ्चमी ।
विसर्गानन्दशिल्पी च गत्युक्ती कर्म तत्स्मृतम् ॥५६॥

सृष्टि-तत्त्वपर विचार करनेवाले विद्वानोंने इन्द्रियोंको तैजस अहंकारसे उत्पन्न बतलाया है और उनके अभिमानी दस देवताओं तथा ग्यारहवें मनको वैकारिक अहंकारसे उत्पन्न कहा है। कुलको पवित्र करनेवाले भरद्वाजजी ! इन इन्द्रियोंमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। अब मैं उन सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा उनके कर्मोंका वर्णन कर रहा हूँ। कान, नेत्र, जिह्वा, नाक और पाँचवीं त्वचा—ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' कही गयी हैं, जो शब्द आदि विषयोंका ज्ञान करानेके लिये हैं। तथा पायु (गुदा), उपस्थ (लिङ्ग), हाथ, पाँव और वाक्-इन्द्रिय—ये 'कर्मेन्द्रियाँ' कहलाती हैं। विसर्ग (मल-त्याग), आनन्द (मैथुनजनित सुख),

शिल्प (हाथकी कला), गमन और बोलना—ये ही क्रमशः इन कर्मेन्द्रियोंके पाँच कर्म कहे गये हैं ॥ ५३—५६ ॥

आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा ।
शब्दादिभिर्गुणैर्विप्र संयुक्तान्युत्तरोत्तरैः ॥५७॥
नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन् प्रजां स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥५८॥
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयात् ।
एकसंघातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ॥५९॥
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च ।
महदाद्या विशेषान्तास्त्वण्डमुत्पादयन्ति ते ॥६०॥
तत्क्रमेण विवृद्धं तु जलबुद्बुदवत् स्थितम् ।
भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धे बृहत्तदुदकेशयम् ॥६१॥
प्राकृतं ब्रह्मरूपस्य विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
तत्राव्यक्तस्वरूपोऽसौ विष्णुर्विश्वेश्वरः प्रभुः ॥६२॥
ब्रह्मस्वरूपमास्थाय स्वयमेव व्यवस्थितः ।
मेरुरुल्बमभूत्तस्य जरायुश्च महीधराः ।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्याभूवन् महात्मनः ॥६३॥

विप्र ! आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—ये पाँच भूत क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन गुणोंसे उत्तरोत्तर युक्त हैं, अर्थात् आकाशमें एकमात्र शब्द गुण है, वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं, तेजमें शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण हैं, इसी प्रकार जलमें चार और पृथिवीमें पाँच गुण हैं । ये पञ्चभूत अलग-अलग भिन्न-भिन्न प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त हैं, अतः परस्पर पूर्णतया मिले बिना ये सृष्टि-रचना नहीं कर सके । तब एक ही संघातको उत्पन्न करना जिनका लक्ष्य है, उन महत्तत्त्वसे लेकर पञ्चभूत-पर्यन्त सभी विकारोंने पुरुषसे अधिष्ठित होनेके कारण परस्पर मिलकर एक-दूसरेका आश्रय ले, सर्वथा एकरूपताको प्राप्त हो, प्रधानतत्त्वके अनुग्रहसे एक अण्डकी उत्पत्ति की । वह अण्ड क्रमशः बड़ा होकर जलके ऊपर बुलबुलेके समान स्थित हुआ । महाबुद्धे ! समस्त भूतोंसे प्रकट हो जलपर स्थित हुआ । वह महान् प्राकृत अण्ड ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) रूप भगवान् विष्णुका अत्यन्त उत्तम आधार हुआ । उसमें वे अव्यक्तस्वरूप जगदीश्वर भगवान् विष्णु स्वयं ही हिरण्यगर्भ-रूपसे विराजमान हुए । उस समय सुमेरु पर्वत उन महात्मा भगवान् हिरण्यगर्भका उल्ब (गर्भको ढँकनेवाली झिल्ली) था । अन्यान्य पर्वत जरायुज (गर्भाशय) थे और समुद्र ही गर्भाशयके जल थे ॥ ५७—६३ ॥

अद्रिद्वीपसमुद्राश्च सज्योतिर्लोकसंग्रहः ।
तस्मिन्नण्डेऽभवत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥६४॥
रजोगुणयुतो देवः स्वयमेव हरिः परः ।
ब्रह्मरूपं समास्थाय जगत्सृष्टौ प्रवर्तते ॥६५॥
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना ।
नरसिंहादिरूपेण रुद्ररूपेण संहरेत् ॥६६॥
ब्राह्मेण रूपेण सृजत्यनन्तो
जगत्समस्तं परिपातुमिच्छन् ।
रामादिरूपं स तु गृह्य पाति
भूत्वाथ रुद्रः प्रकरोति नाशम् ॥६७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे 'सर्गनिरूपणं' नाम प्रथमोऽध्यायः ।

पर्वत, द्वीप, समुद्र और ग्रह-ताराओंसहित समस्त लोक तथा देवता, असुर और मनुष्यादि प्राणी सभी उस अण्डसे ही प्रकट हुए हैं । परमेश्वर भगवान् विष्णु स्वयं ही रजोगुणसे युक्त ब्रह्माका स्वरूप धारणकर संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त होते हैं । जबतक कल्पकी सृष्टि रहती है, तबतक वे ही नरसिंहादि-रूपसे प्रत्येक युगमें अपने रचे हुए इस जगत्की रक्षा करते हैं और कल्पान्तमें रुद्ररूपसे इसका संहार कर लेते हैं । भगवान् अनन्त स्वयं ही ब्रह्मारूपसे सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं, फिर इसके पालनकी इच्छासे रामादि अवतार धारणकर इसकी रक्षा करते हैं और अन्तमें रुद्ररूप होकर समस्त जगत्का नाश कर देते हैं ॥ ६४—६७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंह-पुराणमें 'सर्गका निरूपण' विषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

ब्रह्मा आदिकी आयु और कालका स्वरूप

सूत उवाच

ब्रह्मा भूत्वा जगत्सृष्टौ नरसिंहः प्रवर्तते ।
यथा ते कथयिष्यामि भरद्वाज निबोध मे ॥ १ ॥
नारायणाख्यो भगवान् ब्रह्मलोकपितामहः ।
उत्पन्नः प्रोच्यते विद्वन् नित्योऽसावुपचारतः॥ २ ॥
निजेन तस्य मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम् ।
तत्पराख्यं तदर्धं च परार्धमभिधीयते ॥ ३ ॥
कालस्वरूपं विष्णोश्च यन्मयोक्तं तवानघ ।
तेन तस्य निबोध त्वं परिमाणोपपादनम् ॥ ४ ॥
अन्येषां चैव भूतानां चराणामचराश्च ये ।
भूभूभृत्सागरादीनामशेषाणां च सत्तम ॥ ५ ॥
संख्याज्ञानं च ते वच्मि मनुष्याणां निबोध मे ।

सूतजी कहते हैं—भरद्वाज ! भगवान् नरसिंह जिस प्रकार ब्रह्मा होकर जगत्की सृष्टिके कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उसका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, सुनिये । विद्वन् ! 'नारायण' नामसे प्रसिद्ध लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा नित्य—सनातन पुरुष हैं, तथापि वे 'उत्पन्न हुए हैं'—ऐसा उपचारसे कहा जाता है । उनके अपने परिमाणसे उनकी आयु सौ वर्षकी बतायी जाती है । उस सौ वर्षका नाम 'पर' है । उसका आधा 'परार्ध' कहलाता है । निष्पाप महर्षे ! साधुशिरोमणे ! मैंने तुमसे भगवान् विष्णुके जिस कालस्वरूपका वर्णन किया था, उसीके द्वारा उस ब्रह्माकी तथा दूसरे भी जो पृथ्वी, पर्वत और समुद्र आदि पदार्थ एवं चराचर जीव हैं, उनकी आयुका परिमाण नियत किया जाता है । अब मैं आपसे मनुष्योंकी 'काल-गणना'का ज्ञान बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १–५½ ॥

अष्टादश निमेषास्तु काष्ठैका परिकीर्तिता ॥ ६ ॥
काष्ठास्त्रिंशत्कला ज्ञेया कलास्त्रिंशन्मुहूर्तकम् ।
त्रिंशत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम् ॥ ७ ॥
अहोरात्राणि तावन्ति मासपक्षद्वयात्मकः ।
तैः षड्भिरयनं मासैर्द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ॥ ८ ॥
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम् ।
अयनद्वितयं वर्षं मर्त्यानामिह कीर्तितम् ॥ ९ ॥
नृणां मासः पितृणां तु अहोरात्रमुदाहृतम् ।
वस्वादीनामहोरात्रं मानुषो वत्सरः स्मृतः ॥१०॥
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु युगं त्रेतादिसंज्ञितम् ।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥११॥

अठारह निमेषोंकी एक 'काष्ठा' कही गयी है, तीस काष्ठाओंकी एक 'कला' समझनी चाहिये तथा तीस कलाओंका एक 'मुहूर्त' होता है । तीस मुहूर्तोंका एक मानव 'दिन-रात' माना गया है । उतने ही (तीस ही) दिन-रात मिलकर एक 'मास' होता है । इसमें दो पक्ष होते हैं । छः महीनोंका एक 'अयन' होता है । अयन दो हैं—'दक्षिणायन' और 'उत्तरायण' । दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि है और उत्तरायण दिन । दो अयन मिलकर मनुष्योंका एक 'वर्ष' कहा गया है । मनुष्योंका एक मास पितरोंका एक दिन-रात बताया गया है और मनुष्योंका एक वर्ष वसु आदि देवताओंका एक दिन-रात कहा गया है । देवताओंके बारह हजार वर्षोंका त्रेता आदि नामक चतुर्युग होता है । उसका विभाग आपलोग मुझसे समझ लें ॥ ६–११ ॥

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः ॥१२॥
तत्प्रमाणैः शतैः संध्या पूर्वा तत्र विधीयते ।
संध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः ॥१३॥
संध्यासंध्यांशयोर्मध्ये यः कालो वर्तते द्विज ।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः ॥१४॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसं द्विज ॥१५॥
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवस्तु चतुर्दश ।
भवन्ति परिमाणं च तेषां कालकृतं शृणु ॥१६॥
सप्तर्षयस्तु शक्रोऽथ मनुस्तत्सूनवोऽपि ये ।
एककालं हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत् ॥१७॥

चतुर्युगाणां संख्या च साधिका ह्येकसप्ततिः ।
मन्वन्तरं मनोः कालः शक्रादीनामपि द्विज ॥१८॥
अष्टौ शतसहस्राणि दिव्यया संख्यया स्मृतः ।
द्विपञ्चाशत्तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि तु ॥१९॥
त्रिंशत्कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज ।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने ॥२०॥
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना ।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज ॥२१॥

पुराण-तत्त्ववेत्ताओंने कृत आदि युगोंका परिमाण क्रमशः चार, तीन, दो और एक हजार दिव्य वर्ष बतलाया है। ब्रह्मन्! प्रत्येक युगके पूर्व उतने ही सौ वर्षोंकी 'संध्या' कही गयी है और युगके पीछे उतने ही परिमाणवाले 'संध्यांश' होते हैं। विप्र! संध्या और संध्यांशके बीचका जो काल है, उसे सत्ययुग और त्रेता आदि नामोंसे प्रसिद्ध युग समझना चाहिये। 'सत्ययुग', 'त्रेता', 'द्वापर' और 'कलि'—ये चार युग मिलकर 'चतुर्युग' कहलाते हैं। द्विज! एक हजार चतुर्युग मिलकर 'ब्रह्माका एक दिन' होता है। ब्रह्मन्! ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं। उनका कालकृत परिमाण सुनिये। सप्तर्षि, इन्द्र, मनु और मनु-पुत्र—ये पूर्व कल्पानुसार एक ही समय उत्पन्न किये जाते हैं तथा इनका संहार भी एक ही साथ होता है। ब्रह्मन्! इकहत्तर चतुर्युगसे कुछ अधिक काल एक 'मन्वन्तर' कहलाता है। वही मनु तथा इन्द्रादि देवोंका काल है। इस प्रकार दिव्य वर्ष-गणनाके अनुसार यह मन्वन्तर आठ लाख बावन हजार वर्षोंका समय कहा गया है। महामुने! द्विजवर! मानवीय वर्ष-गणनाके अनुसार पूरे तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्षोंका काल एक मन्वन्तरका परिमाण है। इससे अधिक नहीं ॥ १८—२१ ॥

चतुर्दशगुणो ह्येष कालो ब्राह्ममहः स्मृतम् ।
विश्वस्यादौ सुमनसा सृष्ट्वा देवांस्तथा पितॄन् ॥२२॥
गन्धर्वान् राक्षसान् यक्षान् पिशाचान् गुह्यकांस्तथा ।
ऋषीन् विद्याधरांश्चैव मनुष्यांश्च पशूंस्तथा ॥२३॥
पक्षिणः स्थावरांश्चैव पिपीलिकभुजङ्गमान् ।
चातुर्वर्ण्यं तथा सृष्ट्वा नियुज्याध्वरकर्मणि ॥२४॥
पुनर्दिनान्ते त्रैलोक्यमुपसंहृत्य स प्रभुः ।
शेते चानन्तशयने तावन्तीं रात्रिमव्ययः ॥२५॥
रात्र्यन्तेऽभून्महान्कल्पो ब्राह्म इत्यभिविश्रुतः ।
यस्मिन् मत्स्यावतारोऽभून्मथनं च महोदधेः ॥२६॥
तद्वद्वाराहकल्पश्च तृतीयः परिकल्पितः ।
यत्र विष्णुः स्वयं भूत्वा वाराहं वपुराश्रितः ।
उद्धर्तुं वसुधां देवीं स्तूयमानो महर्षिभिः ॥२७॥
सृष्ट्वा जगद्व्योमचराप्रमेयः
प्रजाश्च सृष्ट्वा सकलास्तथैव ।
नैमित्तिकाख्ये प्रलये समस्तं
संहृत्य शेते हरिरादिदेवः ॥२८॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सर्गरचनायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इस कालका चौदह गुना ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माजीने विश्व-सृष्टिके आदिकालमें प्रसन्न मनसे देवताओं तथा पितरोंकी सृष्टि करके गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, पिशाच, गुह्यक, ऋषि, विद्याधर, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि), पिपीलिका (चींटी) और साँपोंकी रचना की है। फिर चारों वर्णोंकी सृष्टि करके वे उन्हें यज्ञकर्ममें नियुक्त करते हैं। तत्पश्चात् दिन बीतनेपर वे अविनाशी प्रभु त्रिभुवन-का उपसंहार करके दिनके ही बराबर परिमाणवाली रात्रिमें शेषनागकी शय्यापर सोते हैं। उस रात्रिके बीतनेपर 'ब्राह्म'-नामक विख्यात महाकल्प हुआ, जिसमें भगवान्‌का मत्स्यावतार और समुद्र-मन्थन हुआ। इस ब्राह्म-कल्पके ही समान तीसरा 'वाराह-कल्प' हुआ, जिसमें कि भगवती वसुधा (पृथ्वी) का उद्धार करनेके लिये साक्षात् भगवान् विष्णुने प्रसन्नतापूर्वक वाराहरूप धारण किया। उस समय महर्षिगण उनकी स्तुति करते थे। जलचर और आकाशचारी जीवोंके द्वारा जिनकी इयत्ताका ज्ञान कैसा नितान्त असम्भव है। वे आदिदेव भगवान् विष्णु समस्त प्रजाओंकी सृष्टि कर नैमित्तिक प्रलयमें सबका संहार करके शयन करते हैं ॥ २२—२८ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'सृष्टिवर्णनविषयक' दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

ब्रह्माजीद्वारा लोकरचना और नौ प्रकारकी सृष्टियोंका निरूपण

सूत उवाच

तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममभून्महत् ।
तस्मिन् पद्मे महाभाग वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १ ॥
ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते ।
एवमुक्त्वा तिरोभावं गतो नारायणः प्रभुः ॥ २ ॥
तथेत्युक्त्वा स तं देवं विष्णुं ब्रह्माथ चिन्तयन् ।
आस्ते किंचिज्जगद्बीजं नाभ्यगच्छत किंचन ॥ ३ ॥
तावत्तस्य महान् रोषो ब्रह्मणोऽभून्महात्मनः ।
ततो बालः समुत्पन्नस्तस्याङ्के रोषसम्भवः ॥ ४ ॥
स रुदन्वारितस्तेन ब्रह्मणा व्यक्तमूर्तिना ।
नाम मे देहि चेत्युक्तस्तस्य रुद्रेत्यसौ ददौ ॥ ५ ॥

सूतजी बोले—महाभाग! नैमित्तिक प्रलयकालमें सोये हुए भगवान् नारायणकी नाभिमें एक महान् कमल उत्पन्न हुआ। उसीसे वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। तब उनसे भगवान् नारायणने कहा—'महामते! तुम प्रजाकी सृष्टि करो' और यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये। उन भगवान् विष्णुसे 'तथास्तु' कहकर ब्रह्माजी सोचने लगे—'क्या जगत्की सृष्टिका कोई बीज है?' परंतु बहुत सोचनेपर भी उन्हें किसी बीजका पता न लगा। तब महात्मा ब्रह्माजीको महान् रोष हुआ। रोष होते ही उनकी गोदमें एक बालक प्रकट हो गया, जो उनके रोषसे ही प्रादुर्भूत हुआ था। उस बालकको रोते देख स्थूल शरीरधारी ब्रह्माजीने उसे रोनेसे मना किया। फिर उसके यह कहनेपर कि 'मेरा नाम रख दीजिये', उन्होंने उसका 'रुद्र' नाम रख दिया ॥ १—५ ॥

तेनासौ विसृजस्वेति प्रोक्तो लोकमिमं पुनः ।
अशक्तस्तत्र सलिले ममज्ज तपसाऽऽदृतः ॥ ६ ॥
तस्मिन् सलिलमग्ने तु पुनरन्यं प्रजापतिः ।
ब्रह्मा ससर्ज भूतेशो दक्षिणाङ्गुष्ठतोऽपरम् ॥ ७ ॥
दक्षं वामे ततोऽङ्गुष्ठे तस्य पत्नी व्यजायत ।
स तस्यां जनयामास मनुं स्वायम्भुवं प्रभुः ॥ ८ ॥
तस्मात् सम्भाविता सृष्टिः प्रजानां ब्रह्मणा तदा ।
इत्येवं कथिता सृष्टिर्मया ते मुनिसत्तम ।
सृजतो जगतीं तस्य किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ९ ॥

इसके बाद ब्रह्माजीने उससे कहा कि 'तुम इस लोककी सृष्टि करो'—यह कहनेपर उस कार्यमें असमर्थ होनेके कारण वह सादर तपस्याके लिये जलमें निमग्न हो गया। उसके जलमें निमग्न हो जानेपर भूतनाथ प्रजापति ब्रह्माजीने फिर अपने दाहिने अँगूठेसे 'दक्ष' नामक एक दूसरे पुत्रको उत्पन्न किया, तत्पश्चात् बायें अँगूठेसे उसकी पत्नी प्रकट हुई। प्रभु दक्षने उस स्त्रीसे स्वायम्भुव मनुको जन्म दिया। तब ब्रह्माजीने उन्हीं मनुसे प्रजाओंकी सृष्टि बढ़ायी। मुनिवर! वसुधाकी सृष्टि करनेवाले उस विधाताकी सृष्टि-रचनाका यह क्रम मैंने आपसे वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ॥ ६—९ ॥

भरद्वाज उवाच

संक्षेपेण तदाऽऽख्यातं त्वया मे लोमहर्षण ।
विस्तरेण पुनर्ब्रूहि आदिसर्गं महामते ॥ १० ॥

भरद्वाजजी बोले—लोमहर्षणजी! आपने यह सब वृत्तान्त मुझसे पहले संक्षेपसे कहा है। महामते! अब आप विस्तारके साथ आदिसर्गका वर्णन कीजिये ॥ १० ॥

सूत उवाच

तथैव कल्पावसाने निशासुप्तोत्थितः प्रभुः ।
सत्त्वोद्रिक्तस्तदा ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत ॥ ११ ॥
नारायणः परोऽचिन्त्यः पूर्वेषामपि पूर्वजः ।
ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसम्भवः ॥ १२ ॥
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ।
ब्रह्मस्वरूपिणं देवं जगतः प्रभवात्मकम् ॥ १३ ॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १४ ॥
सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा ।
अबुद्धिपूर्वकं तस्य प्रादुर्भूतं तमस्तदा ॥ १५ ॥

सूतजी बोले—पिछले कल्पका अन्त होनेपर रात्रिमें

होकर उठनेके बाद सत्त्वगुणके उद्रेकसे युक्त (नारायणस्वरूप) भगवान् ब्रह्माजीने उस समय सम्पूर्ण लोकको शून्यमय देखा । वे अव्यक्तरूपी भगवान् नारायण कहे गये हैं, अचिन्त्य हैं, पूर्वजोंके भी पूर्वज हैं, अनादि हैं और जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं । इस जगत्की उत्पत्तिके कारणभूत उन ब्रह्मस्वरूप नारायणदेवके विषयमें पुराणवेत्ता विद्वान् यह श्लोक कहते हैं—"जल भगवान् नर—पुरुषोत्तमसे उत्पन्न है, इसलिये 'नार' कहलाता है । नार (जल) ही उनका प्रथम अयन (आदि शयन-स्थान) है, इसलिये वे भगवान् 'नारायण' कहे जाते हैं ।" इस प्रकार कल्पके आदिमें पूर्ववत् सृष्टिका चिन्तन करते समय ब्रह्माजीके बिना जाने ही असावधानता हो जानेके कारण तमोगुणी सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ११—१५ ॥

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥१६॥
पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा नगात्मकः ।
मुख्यसर्गः स विज्ञेयः सर्गसिद्धिविचक्षणैः ॥१७॥
पुनर्ध्यायतस्तस्य ब्रह्मणः समपद्यत ।
तिर्यक्स्रोतस्ततस्तस्मात् तिर्यग्योनिस्ततः स्मृतः ॥१८॥
पश्वादयस्ते विख्याता उत्पथग्राहिणश्च ये ।
तमप्यसाधकं मत्वा तिर्यग्योनिं चतुर्मुखः ॥१९॥
ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकः समवर्तत ।
तदा तुष्टोऽन्यसर्गं स चिन्तयामास वै प्रभुः ॥२०॥
ततश्चिन्तयतस्तस्य सर्गवृद्धिं प्रजापतेः ।
अर्वाक्स्रोताः समुत्पन्ना मनुष्याः साधका मताः ॥२१॥
ते च प्रकाशबहुलास्तमोयुक्ता रजोऽधिकाः ।
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयो भूयश्च कारिणः ॥२२॥

उस समय उन महात्मासे तम (अज्ञान), मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) नामक पञ्चपर्वा (पाँच प्रकारकी) अविद्या उत्पन्न हुई । फिर सृष्टिके लिये ध्यान करते हुए ब्रह्माजीसे वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध् एवं तृणरूप पाँच प्रकारका स्थावरात्मक सर्ग हुआ, जो बाहर-भीतरसे प्रकाशरहित, अविद्यासे आवृत एवं ज्ञानशून्य था । सर्गसिद्धिके ज्ञाता विद्वान् इसे 'मुख्य सर्ग' समझें; (क्योंकि अचल वस्तुओंको मुख्य कहा गया है ।) फिर सृष्टिके लिये ध्यान करनेपर उन ब्रह्माजीसे तिर्यक्-स्रोत नामक सृष्टि हुई । तिरछा चलनेके कारण उसकी 'तिर्यक्' संज्ञा है । उससे उत्पन्न हुआ सर्ग 'तिर्यग्योनि' कहा जाता है । वे विख्यात पशु आदि जो कुमार्गसे चलनेवाले हैं, तिर्यग्योनि कहलाते हैं । चतुर्मुख ब्रह्माजीने उस तिर्यक्स्रोता सर्गको पुरुषार्थका असाधक मानकर जब पुनः सृष्टिके लिये चिन्तन किया, तब उनसे तृतीय 'ऊर्ध्वस्रोता' नामक सर्ग हुआ । यह सत्त्वगुणसे युक्त था (यही 'देवसर्ग' है) । तब भगवान्ने प्रसन्न होकर पुनः अन्य सृष्टिके लिये चिन्तन किया । तदनन्तर सर्गकी वृद्धिके विषयमें चिन्तन करते हुए उन प्रजापतिसे 'अर्वाक्स्रोता' नामक सर्गकी उत्पत्ति हुई । इसीके अन्तर्गत मनुष्य हैं, जो पुरुषार्थके साधक माने गये हैं । इनमें प्रकाश (सत्त्वगुण), और रज—इन दो गुणोंकी अधिकता है और तमोगुण भी है । इसलिये ये अधिकतर दुःखी और अत्यधिक क्रियाशील होते हैं ॥ १६—२२ ॥

एते ते कथिताः सर्गा बहवो मुनिसत्तम ।
प्रथमो महतः सर्गस्तन्मात्राणां द्वितीयकः ॥२३॥
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ।
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः ॥२४॥
तिर्यक्स्रोताश्च यः प्रोक्तस्तिर्यग्योनिः स उच्यते ।
ततोर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः ॥२५॥
ततोऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमो मानुषः स्मृतः ।
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विको य उदाहृतः ॥२६॥
नवमो रुद्रसर्गस्तु नव सर्गाः प्रजापतेः ।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्ते त्रयः स्मृताः ।
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः ॥२७॥
प्राकृता वैकृताश्चैव जगतो मूलहेतवः ।
सृजतो ब्रह्मणः सृष्टिमुत्पन्ना ये मयेरिताः ॥२८॥
तं तं विकारं च परं परेशो
साध्याश्रविद्याय शुभस्त्वनन्तः ।
अव्यक्तरूपी परमात्मसंज्ञः
सर्वेश्वराणो निखिलात्मवेद्यः ॥२९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सृष्टिरचनाप्रकारो नाम

तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

मुनिश्रेष्ठ ! इन बहुत-से सर्गोंका मैंने आपसे वर्णन किया है । इनमें 'महत्तत्त्व'को पहला सर्ग कहा गया है । दूसरा सर्ग

तन्मात्राओंका है । तीसरा वैकारिक सर्ग है, जो 'ऐन्द्रियक' (इन्द्रियसम्बन्धी) कहलाता है । चौथा 'मुख्य' सर्ग है । स्थावर (वृक्ष, गुल्म, लता आदि) ही मुख्य कहे गये हैं । तिर्यक्स्रोता नामक जो पाँचवाँ सर्ग कहा गया है, वह 'तिर्यग्योनि' कहलाता है । इसके बाद छठा 'ऊर्ध्वस्रोताओं'का सर्ग है । उसे 'देवसर्ग' कहा जाता है । फिर सातवाँ अर्वाक्स्रोताओंका सर्ग है, उसे 'मानव-सर्ग' कहते हैं । आठवाँ 'अनुग्रह-सर्ग' है, जिसे 'सात्त्विक' कहा गया है । नवाँ 'कौमार-सर्ग' है—ये ही नौ सर्ग प्रजापतिसे उत्पन्न हुए हैं । इनमें पहलेके तीन 'प्राकृत सर्ग' कहे गये हैं । उसके बादवाले पाँच 'वैकृत सर्ग' हैं और नवाँ जो 'कौमार सर्ग' है, वह प्राकृत और वैकृत भी है । इस प्रकार सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त हुए ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए, जो जगत्‌की उत्पत्तिके मूलकारण प्राकृत और वैकृत सर्ग हैं, उनका मैंने वर्णन किया । सबके आश्रयभूत जाननेयोग्य अव्यक्तस्वरूप परमात्मा परमेश्वर भगवान् अनन्त देव अपनी मायाका आश्रय लेकर प्रेरित होते हुए-से उन-उन विकारोंकी सृष्टि करते हैं ॥ २३—२९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'सृष्टि-रचनाका प्रकार' नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

अनुसर्गके स्रष्टा

भरद्वाज उवाच

नवधा सृष्टिरुत्पन्ना ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
कथं सा ववृधे सूत एतत्कथय मेऽद्भुतम् ॥ १ ॥

भरद्वाजजी बोले—सूतजी ! अव्यक्त-जन्मा ब्रह्माजीसे जो नौ प्रकारकी सृष्टि हुई, उसका विस्तार किस प्रकार हुआ ? यही इस समय आप हमें बतलाइये ॥ १ ॥

सूत उवाच

प्रथमं ब्रह्मणा सृष्टा मरीच्यादय एव च ।
मरीचिरत्रिश्च तथा अङ्गिराः पुलहः क्रतुः ॥ २ ॥
पुलस्त्यश्च महातेजाः प्रचेता भृगुरेव च ।
नारदो दशमश्चैव वसिष्ठश्च महामतिः ॥ ३ ॥
सनकाद्या निवृत्ताख्ये ते च धर्मे नियोजिताः ।
प्रवृत्ताख्ये मरीच्याद्या मुक्त्वैकं नारदं मुनिम् ॥ ४ ॥

सूतजी बोले—ब्रह्माजीने पहले जिन मरीचि आदि ऋषियोंको उत्पन्न किया, उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, महातेजस्वी पुलस्त्य, प्रचेता, भृगु, नारद और दसवें महाबुद्धिमान् वसिष्ठ हैं । सनक आदि ऋषि निवृत्तिधर्ममें तत्पर हुए और एकमात्र नारद मुनिको छोड़कर शेष सभी मरीचि आदि मुनि प्रवृत्ति-धर्ममें नियुक्त हुए ॥ २—४ ॥

योऽसौ प्रजापतिस्त्वन्यो दक्षनामाङ्गसम्भवः ।
तस्य दौहित्रवंशेन जगदेतच्चराचरम् ॥ ५ ॥
देवाश्च दानवाश्चैव गन्धर्वोरगपक्षिणः ।
सर्वे दक्षस्य कन्यासु जाताः परमधार्मिकाः ॥ ६ ॥
चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
वृद्धिं गतानि तान्येवमनुसर्गोद्भवानि तु ॥ ७ ॥
अनुसर्गस्य कर्तारो मरीच्याद्या महर्षयः ।
वसिष्ठान्ता महाभाग ब्रह्मणो मानसोद्भवाः ॥ ८ ॥
सर्गे तु भूतानि धियश्च जाति-
ख्यातानि सर्वं सृजते महात्मा ।
स एव पश्चाच्चतुराननाख्यो
मुनिस्वरूपी च सृजत्यनन्तः ॥ ९ ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे उत्पन्न जो 'दक्ष' नामक दूसरे प्रजापति कहे गये हैं, उनके दौहित्रोंके वंशसे यह चराचर जगत् व्याप्त है । देव, दानव, गन्धर्व, उरग (सर्प) और पक्षी—ये सभी, जो सब-के-सब बड़े धर्मात्मा थे, दक्षकी कन्याओंसे उत्पन्न हुए । चार प्रकारके चराचर प्राणी अनुसर्गमें उत्पन्न होकर वृद्धिको प्राप्त हुए । महाभाग ! पूर्वोक्त मरीचिसे लेकर वसिष्ठतक सभी ब्रह्माजीकी मानस संतान हैं । ये सब अनुसर्गके कर्ता हैं । सर्ग अर्थात् आदिसृष्टिमें महात्मा भगवान् नारायण पाँच महाभूत, बुद्धि तथा पूर्वोक्त दक्षादि—इन सबको उत्पन्न करते हैं । इसके पश्चात् (अनुसर्गकालमें) वे अनन्तदेव स्वयं ही चतुर्मुख ब्रह्मा और मरीचि आदि मुनियोंके रूपमें प्रकट हो जगत्‌की सृष्टि करते हैं ॥ ५—९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

रुद्र आदि सर्गों और अनुसर्गोंका वर्णन, दक्ष प्रजापतिकी कन्याओंकी संततिका विस्तार

भरद्वाज उवाच

रुद्रसर्गं तु मे ब्रूहि विस्तरेण महामते ।
पुनः सर्गं मरीच्याद्याः ससृजुस्ते कथं पुनः ॥ १ ॥
मित्रावरुणपुत्रत्वं वसिष्ठस्य कथं भवेत् ।
ब्रह्मणो मनसः पूर्वमुत्पन्नस्य महामते ॥ २ ॥

भरद्वाजजी बोले—महामते ! अब मुझसे रुद्रसर्गका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये तथा यह भी बताइये कि मरीचि आदि ऋषियोंने पहले किस प्रकार सृष्टि की ? महाबुद्धिमान् सूत ! वसिष्ठजी तो पहले ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए थे, फिर वे मित्रावरुणके पुत्र कैसे हो गये ? ॥ १-२ ॥

सूत उवाच

रुद्रसृष्टिं प्रवक्ष्यामि तत्सर्गांश्चैव सत्तम ।
प्रतिसर्गं मुनीनां तु विस्तराद्गदतः शृणु ॥ ३ ॥
कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः ।
प्रादुरासीत् प्रभोरङ्के कुमारो नीललोहितः ॥ ४ ॥
अर्धनारीनरवपुः प्रचण्डोऽतिशरीरवान् ।
तेजसा भासयन् सर्वा दिशश्च प्रदिशश्च सः ॥ ५ ॥
तं दृष्ट्वा तेजसा दीप्तं प्रत्युवाच प्रजापतिः ।
विभजात्मानमद्य त्वं मम वाक्यान्महामते ॥ ६ ॥
इत्युक्तो ब्रह्मणा विप्र रुद्रस्तेन प्रतापवान् ।
स्त्रीभावं पुरुषत्वं च पृथक् पृथगथाकरोत् ॥ ७ ॥
बिभेद पुरुषत्वं च दशधा चैकधा च सः ।
तेषां नामानि वक्ष्यामि शृणु मे द्विजसत्तम ॥ ८ ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यः कपाली रुद्र एव च ।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ॥ ९ ॥
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ।
एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥ १० ॥
स्त्रीत्वं चैव तथा रुद्रो बिभेद दशधैकधा ।
उमैव बहुरूपेण पत्नी तेषां व्यवस्थिता ॥ ११ ॥

सूतजी बोले—साधुशिरोमणे ! आपके प्रश्नानुसार मैं अब रुद्र-सृष्टिका तथा उनसे होनेवाले सर्गोंका वर्णन करूँगा; साथ ही मुनियोंद्वारा सम्पादित प्रतिसर्ग (अनुसर्ग) को भी मैं विस्तारके साथ बताऊँगा; आपलोग ध्यानसे सुनें । कल्पके आदिमें प्रभु ब्रह्माजी अपने ही समान शक्तिशाली पुत्र होनेका चिन्तन कर रहे थे । उस समय उनकी गोदमें एक नील-लोहित वर्णका बालक प्रकट हुआ । उसका आधा शरीर स्त्रीका और आधा पुरुषका था । वह प्रचण्ड एवं विशालकाय था और अपने तेजसे दिशाओं तथा अवान्तर दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था । उसे तेजसे देदीप्यमान देख प्रजापति-ने कहा—'महामते ! इस समय मेरे कहनेसे तुम अपने शरीरके दो भाग कर लो ।' विप्र ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी रुद्रने अपने स्त्रीरूप और पुरुषरूपको अलग-अलग कर लिया । द्विजश्रेष्ठ ! फिर पुरुषरूपको उन्होंने ग्यारह रूपोंमें विभक्त किया; मैं उन सबके नाम बतलाता हूँ, सुनें । अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, कपाली, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी और रैवत—ये 'ग्यारह रुद्र' कहे गये हैं, जो तीनों भुवनोंके स्वामी हैं । पुरुषकी भाँति स्त्रीरूपके भी रुद्रने ग्यारह विभाग किये । भगवती उमा ही अनेक रूप धारणकर इन सबकी पत्नी हैं ॥ ३—११ ॥

तपः कृत्वा जले घोरमुत्तीर्णः स यदा पुरा ।
तदा स सृष्टवान् देवो रुद्रस्तत्र प्रतापवान् ॥ १२ ॥
तपोबलेन विप्रेन्द्र भूतानि विविधानि च ।
पिशाचान् राक्षसांश्चैव सिंहोष्ट्रमकराननान् ॥ १३ ॥
वेतालप्रमुखान् भूतानन्यांश्चैव सहस्रशः ।
विनायकानामुग्राणां त्रिंशत्कोटीश्चैव च ॥ १४ ॥
अन्यकार्यं समुद्दिश्य सृष्टवान् स्कन्दमेव च ।
एवंप्रकारो रुद्रोऽसौ मया ते कीर्तितः प्रभुः ॥ १५ ॥

विप्रेन्द्र ! पूर्वकालमें प्रतापी रुद्रदेव जलमें घोर तपस्या करके जब बाहर निकले, तब अपने तपोबलसे उन्होंने वहाँ नाना प्रकारके भूतोंकी सृष्टि की । सिंह, ऊँट और मगरके समान मुँहवाले पिशाचों, राक्षसों तथा वेताल आदि अन्य सहस्रों भूतोंको उत्पन्न किया । साढ़े तीन करोड़ उग्र

प्रभाववाले विनायकगणोंकी सृष्टि की तथा दूसरे कार्यके उद्देश्यसे कन्याको उत्पन्न किया। इस प्रकार प्राणियोंका जन्म तथा उनके लक्षणोंको मैंने आपसे वर्णन किया ॥ १२—१५ ॥

अनुसर्गं मरीच्यादेः कथयामि निबोध मे ।
देवादिस्थावरान्ताश्च प्रजाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ॥१६॥
यदास्य च प्रजाः सर्वा न व्यवर्धन्त धीमतः ।
तदा मानसपुत्रान् स सदृशानात्मनोऽसृजत् ॥१७॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं चैव महामतिम् ॥१८॥
नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ।
अग्निश्च पितरश्चैव ब्रह्मपुत्रौ तु मानसौ ॥१९॥
सृष्टिकाले महाभागौ ब्रह्मन् स्वायम्भुवोद्भवौ ।
शतरूपां च सृष्ट्वा तु कन्यां स मनवे ददौ ॥२०॥

अब मरीचि आदि ऋषियोंके अनुसर्गका वर्णन करता हूँ, आप सुनें। स्वयम्भू ब्रह्माजीने देवताओंसे लेकर स्थावरों तक सारी प्रजाओंकी सृष्टि की। किंतु इन बुद्धिमान् ब्रह्माजीकी ये सब प्रजाएँ जब वृद्धिको प्राप्त नहीं हुईं, तब इन्होंने अपने ही समान मानस-पुत्रोंकी सृष्टि की। मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ और महाबुद्धिमान् भृगुको उत्पन्न किया। ये लोग पुराणमें नौ ब्रह्मा निश्चित किये गये हैं। ब्रह्मन्! अग्नि और पितर भी ब्रह्माके ही मानस-पुत्र हैं। इन दोनों महाभागोंको सृष्टिकालमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने उत्पन्न किया। फिर उन्होंने 'शतरूपा' नामक कन्याकी सृष्टि करके उसे मनुको दे दिया ॥१६—२०॥

तस्माच्च पुरुषाद्देवी शतरूपा व्यजायत ।
प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रसूतिं चैव कन्यकाम् ॥२१॥
ददौ प्रसूतिं दक्षाय मनुः स्वायम्भुवः सुताम् ।
प्रसूत्यां च तदा दक्षश्चतुर्विंशतिकं तथा ॥२२॥
ससर्ज कन्यकास्तासां शृणु नामानि मेऽधुना ।
श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा तथा क्रिया ॥२३॥
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदशी ।
अपत्यार्थं प्रजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः ॥२४॥
श्रद्धादीनां तु पत्नीनां जाताः कामादयः सुताः ।
धर्मस्य पुत्रपौत्राद्यैर्धर्मवंशो विवर्धितः ॥२५॥

उन स्वायम्भुव मनुसे देवी शतरूपाने 'प्रियव्रत' और 'उत्तानपाद' नामक दो पुत्र उत्पन्न किये और 'प्रसूति' नामवाली एक कन्याको जन्म दिया। स्वायम्भुव मनुने अपनी कन्या प्रसूति दक्षको ब्याह दी। दक्षने प्रसूतिसे चौबीस कन्याएँ उत्पन्न कीं। अब मुझसे उन कन्याओंके नाम सुनें—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा और क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और तेरहवीं कीर्ति थी। भगवान् धर्मने संतानोत्पत्तिके लिये इन तेरह कन्याओंका पाणिग्रहण किया। धर्मकी इन श्रद्धा आदि पत्नियोंके गर्भसे काम आदि पुत्र उत्पन्न हुए। अपने पुत्र और पौत्र आदिसे धर्मका वंश खूब बढ़ा ॥ २१—२५ ॥

ताभ्यः शिष्टा यवीयस्यस्तासां नामानि कीर्तये ।
सम्भूतिश्चानसूया च स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा ॥२६॥
संनतिश्चाथ सत्या च ऊर्जा ख्यातिर्द्विजोत्तम ।
तद्वत्पुत्रौ महाभागौ मातरिश्वाथ सत्यवान् ॥२७॥
स्वाहाथ दशमी प्रोक्ता स्वधा चैकादशी स्मृता ।
एताश्च दत्ता दक्षेण ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥२८॥

द्विजश्रेष्ठ! श्रद्धा आदिसे छोटी अवस्थावाली जो उनकी शेष बहनें थीं, उनके नाम बता रहा हूँ—सम्भूति, अनसूया, स्मृति, प्रीति, क्षमा, संनति, सत्या, ऊर्जा, ख्याति, दसवीं स्वाहा और ग्यारहवीं स्वधा है। इनके 'मातरिश्वा' और 'सत्यवान्' नामक दो महाभाग पुत्र भी हुए। उपर्युक्त ग्यारह कन्याओंको दक्षने पुण्यात्मा ऋषियोंको दिया ॥ २६—२८ ॥

मरीच्यादीनां तु ये पुत्रास्तानहं कथयामि ते ।
पत्नी मरीचेः सम्भूतिर्जज्ञे सा कश्यपं मुनिम् ॥२९॥
स्मृतिश्चाङ्गिरसः पत्नी प्रसूता कन्यकास्तथा ।
सिनीवाली कुहूश्चैव राका चानुमतिस्तथा ॥३०॥
अनसूया तथा चात्रेर्जज्ञे पुत्रानकल्मषान् ।
सोमं दुर्वाससं चैव दत्तात्रेयं च योगिनम् ॥३१॥
योऽसावग्न्यभिमानी तु ब्रह्मणस्तनयोऽग्रजः ।
तस्मात् स्वाहा सुतांल्लेभे त्रीनुदारौजसो द्विज ॥३२॥
पावकं पवमानं च शुचिं चापि जलाशिनम् ।
तेषां तु संततावन्ये चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥३३॥

कथ्यन्ते वह्नयश्चैते पिता पुत्रत्रयं च यत् ।
एवमेकोनपञ्चाशद्वह्नयः परिकीर्तिताः ॥३४॥
पितरो ब्रह्मणा सृष्टा व्याख्याता ये मया तव ।
तेभ्यः स्वधा सुते जज्ञे मेनां वै धारिणीं तथा ॥३५॥

मरीचि आदि मुनियोंके जो पुत्र हुए, उन्हें मैं आपसे बतलाता हूँ । मरीचिकी पत्नी सम्भूति थी । उसने कश्यप मुनिको जन्म दिया । अङ्गिराकी भार्या स्मृति थी । उसने सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति—इन चार कन्याओंको उत्पन्न किया । इसी प्रकार अत्रि मुनिकी पत्नी अनसूयाने सोम, दुर्वासा और योगी दत्तात्रेय—इन तीन पापरहित पुत्रोंको जन्म दिया । द्विज ! ब्रह्माजीका ज्येष्ठ पुत्र, जो अग्निका अभिमानी देवता है, उससे उसकी पत्नी स्वाहाने पावक, पवमान और जलका भक्षण करनेवाले शुचि—इन अत्यन्त तेजस्वी पुत्रोंको उत्पन्न किया । इन तीनोंके (प्रत्येकके पंद्रह-पंद्रहके क्रमसे) अन्य पैंतालीस अग्निस्वरूप संतानें हुईं । पिता अग्नि, उसके तीनों पुत्र तथा उनके भी ये पूर्वोक्त पैंतालीस पुत्र सब मिलकर 'अग्नि' ही कहलाते हैं । इस प्रकार उनचास अग्नि कहे गये हैं । ब्रह्माजीके द्वारा रचे गये जिन पितरोंका मैंने आपके समक्ष वर्णन किया था, उनसे उनकी पत्नी स्वधाने मेना और धारिणी—इन दो कन्याओंको जन्म दिया ॥ २९–३५ ॥

प्रजाः सृजेति व्यादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा ।
यथा ससर्ज भूतानि तथा मे शृणु सत्तम ॥३६॥
मनसैव हि भूतानि पूर्वं दक्षोऽसृजन्मुनिः ।
देवानृषींश्च गन्धर्वानसुरान् पन्नगांस्तथा ॥३७॥
यदास्य मनसा जाता नाभ्यवर्धन्त ते द्विज ।
तदा संचिन्त्य स मुनिः सृष्टिहेतोः प्रजापतिः ॥३८॥
मैथुनेनैव धर्मेण सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
असिक्नीमुद्वहन् कन्यां वीरणस्य प्रजापतेः ॥३९॥
षष्टिं दक्षोऽसृजत्कन्या वीरण्यामिति नः श्रुतम् ।
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ॥४०॥
सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने ।
द्वे चैव बहुपुत्राय द्वे चैवाङ्गिरसे तथा ॥४१॥
द्वे कृशाश्वाय विदुषे तदपत्यानि मे शृणु ।

साधुशिरोमणे ! पूर्वकालमें स्वयम्भू ब्रह्माजीके द्वारा 'तुम प्रजाकी सृष्टि करो' यह आज्ञा पाकर दक्षने जिस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि की थी, उसे सुनिये । विप्रवर ! दक्षमुनिने पहले देवता, ऋषि, गन्धर्व, असुर और सर्प—इन सभी भूतोंको मनसे ही उत्पन्न किया । परंतु जब मनसे उत्पन्न किये हुए ये देवादि सर्ग वृद्धिको प्राप्त नहीं हुए, तब उन दक्ष प्रजापति ऋषिने सृष्टिके लिये पूर्णतः विचार करके मैथुनधर्मके द्वारा ही नाना प्रकारकी सृष्टि रचनेकी इच्छा मनमें लिये वीरण प्रजापतिकी कन्या असिक्नीके साथ विवाह किया । हमने सुना है कि दक्ष प्रजापतिने वीरण-कन्या असिक्नीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं । उनमेंसे दस कन्याएँ उन्होंने धर्मको और तेरह कश्यपमुनिको ब्याह दीं ।* फिर सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको, चार अरिष्टनेमिको, दो बहुपुत्रको, दो अङ्गिराको और दो कन्याएँ विद्वान् कृशाश्वको समर्पित कर दीं । अब इन सबकी संतानोंका वर्णन सुनिये ॥ ३६–४१½ ॥

विश्वेदेवांस्तु विश्वा या साध्या साध्यानसूयत ॥४२॥
मरुत्वत्यां मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवः स्मृताः ।
भानोस्तु भानवो देवा मुहूर्तायां मुहूर्तजाः ॥४३॥

* पाँचवें अध्यायके श्लोक बाईसमें यह चर्चा आयी है कि स्वायम्भुव मनुने प्रजापतिको अपनी पुत्री प्रसूति ब्याह दी थी । उसके गर्भसे दक्षने चौबीस कन्याएँ उत्पन्न कीं, जिनमेंसे तेरह कन्याओंका विवाह उन्होंने धर्मके साथ कर दिया था । फिर इसी अध्यायके उन्तालीस-चालीस श्लोकोंमें यह बात आयी है कि दक्षने वीरण प्रजापतिकी पुत्री असिक्नीके साथ विवाह किया, जिसके गर्भसे उन्होंने साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं, जिनमेंसे दसका विवाह उन्होंने धर्मके साथ किया था । एक ही दक्षके विषयमें ये दो प्रकारकी बातें आपाततः संदेह उत्पन्न करती हैं । विष्णुपुराणमें भी यह प्रसङ्ग आया है । अध्याय सातके उन्नीससे चौबीसवें श्लोकतक तथा अध्याय पंद्रहके उक्त दोनों प्रसङ्गोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है । एक सौ तीनवें श्लोकमें उन प्रसङ्गोंके पर्यालोचनसे यह प्रतीत होता है कि उक्त दोनों दक्ष दो व्यक्ति थे और दोनों दो कालमें उत्पन्न हुए थे पहले दक्ष ब्रह्माजीके मानस-पुत्र थे और दूसरे प्रचेताओंके पुत्र । इतनेपर भी मैत्रेयजीने यह प्रश्न उठाया है कि 'ब्रह्माजीके पुत्र दक्ष प्रचेताओंके पुत्र कैसे हो गये ?' वहाँ पराशरजीने यह समाधान किया है कि 'युगे युगे भवन्त्येते दक्षाद्या मुनिसत्तम ।' इस प्रकार युगभेदसे दोनों प्रसङ्गोंकी सङ्गति बैठायी गयी है । वही समाधान यहाँ भी समझ लेना चाहिये ।

लम्बायाश्चैव घोषाख्यो नागवीथिश्च जामिजा।
पृथिवीविषयं सर्वमरुन्धत्यामजायत ॥४४॥
संकल्पायाश्च संकल्पः पुत्रो जज्ञे महामते।
ये त्वनेकवसुप्राणा देवा ज्योतिःपुरोगमाः ॥४५॥
वसवोऽष्टौ समाख्यातास्तेषां नामानि मे शृणु।
आपो ध्रुवश्च सोमश्च धर्मश्चैवानिलोऽनलः ॥४६॥
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥४७॥

जो विश्वा नामकी कन्या थी, उसने विश्वेदेवोंको और साध्याने साध्योंको जन्म दिया। मरुत्वतीके मरुत्वान् (वायु), वसुके वसुगण, भानुके भानुदेवता और मुहूर्तके मुहूर्ताभिमानी देवगण हुए। लम्बासे घोष नामक पुत्र हुआ, जामिसे नागवीथि नामवाली कन्या हुई और अरुन्धतीसे पृथिवीके समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। महाबुद्धे! संकल्पा नामक कन्यासे संकल्पका जन्म हुआ, अनेक प्रकारके वसु (तेज अथवा धन) ही जिनके प्राण हैं, ऐसे जो आठ ज्योतिर्मय वसु देवता कहे गये हैं, उनके नाम सुनिये—आप, ध्रुव, सोम, धर्म, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये 'आठ वसु' कहलाते हैं। इनके पुत्रों और पौत्रोंकी संख्या सैकड़ों और हजारोंतक पहुँच गयी है ॥ ४२–४७ ॥

साध्याश्च बहवः प्रोक्तास्तत्पुत्राश्च सहस्रशः।
कश्यपस्य तु भार्या यास्तासां नामानि मे शृणु।
अदितिर्दितिर्दनुश्चैव अरिष्टा सुरसा खसा ॥४८॥
सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा।
कद्रूर्मुनिश्च धर्मज्ञ तदपत्यानि मे शृणु ॥४९॥
अदित्यां कश्यपाज्जाताः पुत्रा द्वादश शोभनाः।
तानहं नामतो वक्ष्ये शृणुष्व गदतो मम ॥५०॥
भगोंऽशुश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महामते ॥५१॥
त्वष्टा पूषा तथा चेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
दित्याः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम् ॥५२॥
हिरण्याक्षो महाकायो वाराहेण तु यो हतः।
हिरण्यकशिपुश्चैव नरसिंहेन यो हतः ॥५३॥
अन्ये च बहवो दैत्या दनुपुत्राश्च दानवाः।
अरिष्टायां तु गन्धर्वा जज्ञिरे कश्यपात्तथा ॥५४॥
सुरसायामथोत्पन्ना विद्याधरगणा बहु।
गा वै स जनयामास सुरभ्यां कश्यपो मुनिः ॥५५॥

इसी प्रकार साध्यगणोंकी भी संख्या बहुत है और उनके भी हजारों पुत्र हैं। जो (दक्ष-कन्याएँ) कश्यपमुनिकी पत्नियाँ हुईं, उनके नाम सुनिये—वे अदिति, दिति, दनु, अरिष्टा, सुरसा, खसा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रू और मुनि थीं। धर्मज्ञ! अब आप मुझसे उनकी संतानोंका विवरण सुनिये। महामते! अदितिके कश्यपजीसे बारह सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम बता रहा हूँ; सुनिये—महामते! भग, अंशु, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु कहे जाते हैं। दितिके कश्यपजीसे दो पुत्र हुए थे, ऐसा हमने सुना है। पहला महाकाय हिरण्याक्ष हुआ, जिसे भगवान् वाराहने मारा और दूसरा हिरण्यकशिपु हुआ, जो नृसिंहजीके द्वारा मारा गया। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से दैत्य दितिसे उत्पन्न हुए। दनुके पुत्र दानव हुए और अरिष्टाके कश्यपजीसे गन्धर्वगण उत्पन्न हुए। सुरसासे अनेक विद्याधर-गण हुए और सुरभिसे कश्यप मुनिने गौओंको जन्म दिया ॥ ४८–५५ ॥

विनतायां तु द्वौ पुत्रौ प्रख्यातौ गरुडारुणौ।
गरुडो देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः ॥५६॥
वाहनत्वमियात्प्रीत्या अरुणः सूर्यसारथिः।
ताम्रायां कश्यपाज्जाताः षट्पुत्रास्तान्निबोध मे ॥५७॥
अश्वा उष्ट्रा गर्दभाश्च हस्तिनो गवया मृगाः।
क्रोधायां जज्ञिरे तद्वद् भूम्यां [illegible] ॥५८॥
इरा वृक्षलतावल्लीतृणजातीश्च जज्ञिरे।
खसा तु यक्षरक्षांसि मुनिरप्सरसस्तथा ॥५९॥
कद्रूपुत्रा महानागा दंदशूका विषोल्बणाः।
[illegible]विंशति [illegible] प्रोक्ताः [illegible]पत्न्योऽथ [illegible]ताः ॥६०॥

१. यहाँ 'अरुन्धती' की जगह 'मरुत्वती' पाठ भी मिलता है, परंतु वह असंगत है। 'मरुत्वत्यां मरुत्वन्तः' कहकर मरुत्वतीकी संततिका वर्णन आ चुका है। अतः यहाँ 'अरुन्धती' पाठ ही ठीक है; अन्यथा धर्मकी नवीं पत्नीका नाम नहीं मिलेगा। विष्णुपुराण १।१५।१०९ वें श्लोकमें भी 'अरुन्धत्याम्' ही पाठ है।

तासां पुत्रा महासत्त्वा बुधाद्यास्त्वभवन् द्विज ।
अरिष्टनेमिपत्नीनामपत्यानीह षोडश ॥६१॥

विनताके 'गरुड' और 'अरुण' नामक दो विख्यात पुत्र हुए । गरुडजी प्रेमवश अमित-तेजस्वी देवदेव भगवान् विष्णुके वाहन हो गये और अरुण सूर्यके सारथि बने । ताम्राके कश्यपजीसे छः पुत्र हुए, उन्हें आप मुझसे सुनिये—घोड़ा, ऊँट, गदहा, हाथी, गवय और मृग । पृथ्वीपर जितने दुष्ट जीव हैं, वे क्रोधासे उत्पन्न हुए हैं । इराने वृक्ष, लता, वल्ली और 'सन' जातिके तृणवर्गको जन्म दिया । खसाने यक्ष और राक्षसों तथा मुनिने अप्सराओंको प्रकट किया । कद्रूके पुत्र प्रचण्ड विषवाले 'दंदशूक' नामक महासर्प हुए, विप्रवर ! चन्द्रमाकी सुन्दर व्रतवाली जिन सत्ताईस स्त्रियोंकी चर्चा की गयी है, उनसे बुध आदि महान् पराक्रमी पुत्र हुए । अरिष्टनेमिकी स्त्रियोंके गर्भसे सोलह संतानें हुईं ॥ ५६—६१ ॥

बहुपुत्रस्य विदुषश्चतस्रो विद्युतः स्मृताः ।
प्रत्यङ्गिरस्सुताः श्रेष्ठा ऋषयश्चर्षिसत्कृताः ॥६२॥
कृशाश्वस्य तु देवर्षेर्देवाश्च ऋषयः सुताः ।
एते युगसहस्रान्ते जायन्ते पुनरेव हि ॥६३॥
एते कश्यपदायादाः कीर्तिताः स्थाणुजंगमाः ।
स्थितौ स्थितस्य देवस्य नरसिंहस्य धर्मतः ॥६४॥
एता विभूतयो विप्र मया ते परिकीर्तिताः ।
कथिता दक्षकन्यानां मया तेऽपत्यसंततिः ॥६५॥
श्रद्धावान् संस्मरेदेतां स सुसंतानवान् भवेत् ॥६६॥
सर्गानुसर्गौ कथितौ मया ते
समासतः सृष्टिविवृद्धिहेतोः ।
पठन्ति ये विष्णुपराः सदा नरा
इदं द्विजास्ते विमला भवन्ति ॥६७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सृष्टिकथने पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

विद्वान् बहुपुत्रकी संतानें कपिला, अतिलोहिता, पीता और सिता—इन चार वर्णोंवाली चार बिजलियाँ कही गयी हैं । प्रत्यङ्गिराके पुत्रगण ऋषियोंद्वारा सम्मानित उत्तम ऋषि हुए । देवर्षि कृशाश्वके पुत्र देवर्षि ही हुए । ये एक-एक हजार युग (अर्थात् एक कल्प) के बीतनेपर पुनः-पुनः उत्पन्न होते रहते हैं । इस प्रकार कश्यपके वंशमें उत्पन्न हुए चर-अचर प्राणियोंका वर्णन किया गया । विप्रवर ! धर्मपूर्वक पालनकर्ममें लगे हुए भगवान् नरसिंहकी इन विभूतियोंका यहाँ मैंने आपके समक्ष वर्णन किया है । साथ ही दक्ष-कन्याओंकी वंश-परम्परा भी बतलायी है । जो श्रद्धापूर्वक इन सबका स्मरण करता है, वह सुन्दर संतानसे युक्त होता है । ब्रह्मन् ! सृष्टि-विस्तारके लिये ब्रह्मा तथा अन्य प्रजापतियोंद्वारा जो सर्ग और अनुसर्ग सम्पादित हुए, उन सबको मैंने संक्षेपसे आपको बता दिया । जो द्विजाति मानव भगवान् विष्णुमें मन लगाकर इन प्रसङ्गोंको सदा पढ़ेंगे वे निर्मल हो जायँगे ॥ ६२—६७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणके सृष्टिवर्णनमें पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

अगस्त्य तथा वसिष्ठजीके मित्रावरुणके पुत्ररूपमें उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग

सूत उवाच

सृष्टिस्ते कथिता विष्णोर्मयास्य जगतो द्विज ।
देवदानवयक्षाद्या यथोत्पन्ना महात्मनः ॥ १ ॥
यमुद्दिश्य त्वया पृष्टः पुराहमृषिसंनिधौ ।
मित्रावरुणपुत्रत्वं वसिष्ठस्य कथं त्विति ॥ २ ॥
तदिदं कथयिष्यामि पुण्याख्यानं पुरातनम् ।
शृणुष्वैकाग्रमनसा भरद्वाज विशेषतः ॥ ३ ॥

सूतजी बोले—ब्रह्मन् ! परमात्मा भगवान् विष्णुसे जिस प्रकार देव, दानव और यक्ष आदि उत्पन्न हुए, वह जगत्की सृष्टिका वृत्तान्त मैंने आपसे कह दिया । अब ऋषियोंके निकट जिस उद्देश्यको लेकर पहले आपने मुझसे प्रश्न किया था कि 'वसिष्ठजी मित्रावरुणके पुत्र कैसे हो गये ?' उसी पुरातन पवित्र कथाको कहूँगा । भरद्वाजजी ! आप एकाग्रचित्त हो, विशेष सावधानीके साथ उसे सुनिये ॥१—३॥

सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञः सर्ववेदविदां वरः ।
पारगः सर्वविद्यानां दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ ४ ॥
तेन दत्ताः शुभाः कन्याः सर्वाः कमललोचनाः ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णाः कश्यपाय त्रयोदश ॥ ५ ॥

तासां नामानि वक्ष्यामि निबोधत ममाधुना ।
अदितिर्दितिर्दनुः काला मुहूर्ता सिंहिका मुनिः ॥६॥
इरा क्रोधा च सुरभिर्विनता सुरसा खसा ।
कद्रू सरमा चैव या तु देवशुनी स्मृता ॥ ७ ॥
दक्षस्यैता दुहितरस्ताः प्रादात् कश्यपाय सः ।
तासां ज्येष्ठा वरिष्ठा च अदितिर्नामतो द्विज ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण धर्म और अर्थोंके तत्त्वको जाननेवाले, समस्त वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा समग्र विद्याओंके पारदर्शी 'दक्ष' नामक प्रजापतिने अपनी तेरह सुन्दरी कन्याओंको, जो सभी कमलके समान नेत्रोंवाली और समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थीं, कश्यपमुनिको दिया था। उनके नाम बतलाता हूँ, आप लोग इस समय मुझसे उनके नाम जान लें—अदिति, दिति, दनु, काला, मुहूर्ता, सिंहिका, मुनि, इरा, क्रोधा, सुरभि, विनता, सुरसा, खसा, कद्रू और सरमा, जो देवताओंकी कुतिया कही गयी हैं—ये सभी दक्ष-प्रजापतिकी कन्याएँ हैं*। इनको दक्षने कश्यपजीको समर्पित किया था। विप्रवर! अदिति नामकी जो कन्या थी, वही इन सबमें श्रेष्ठ और बड़ी थी ॥ ४-८ ॥

अदितिः सुषुवे पुत्रान् द्वादशाग्निसमप्रभान् ।
तेषां नामानि वक्ष्यामि शृणुष्व गदतो मम ॥ ९ ॥
यैरिदं वासरं नक्तं वर्तते क्रमशः सदा ।
भर्गोऽंशुस्त्वर्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा ॥१०॥
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महामते ।
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो विष्णुर्द्वादशमः स्मृतः ॥११॥
एते च द्वादशादित्यास्तपन्ते वर्षयन्ति च ।

अदितिने बारह पुत्रोंको उत्पन्न किया†, जो अग्निके समान कान्तिमान् एवं तेजस्वी थे। उन सबके नाम बतला रहा हूँ, आप मुझसे उन्हें सुने। उन्हींके द्वारा सर्वदा क्रमशः दिन और रात होते रहते हैं। भग, अंशु, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु हैं। ये बारह आदित्य तपते और वर्षा करते हैं ॥ ९-११½ ॥

तस्याश्च मध्यमः पुत्रो वरुणो नाम नामतः ॥१२॥
लोकपाल इति ख्यातो वारुण्यां दिशि शब्द्यते ।
पश्चिमस्य समुद्रस्य प्रतीच्यां दिशि राजते ॥१३॥
जातरूपमयः श्रीमानास्ते नाम शिलोच्चयः ।
सर्वरत्नमयैः शृङ्गैर्धातुप्रस्रवणान्वितैः ॥१४॥
संयुक्तो भाति शैलेशो नानारत्नमयः शुभः ।
महादरीगुहाभिश्च सिंहशार्दूलनादितः ॥१५॥
नानाविविक्तभूमीषु सिद्धगन्धर्वसेवितः ।
यस्मिन् गते दिनकरे तमसाऽऽपूर्यते जगत् ॥१६॥
तस्य शृङ्गे महादिव्या जाम्बूनदमयी शुभा ।
रम्या मणिमयैः स्तम्भैर्विहिता विश्वकर्मणा ॥१७॥
पुरी विश्वावती नाम समृद्धा भोगसाधनैः ।
तस्यां वरुण आदित्यो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥१८॥
पाति सर्वानिमाँल्लोकान्नियुक्तो ब्रह्मणा स्वयम् ।
उपास्यमानो गन्धर्वैस्तथैवाप्सरसां गणैः ॥१९॥

अदितिके मध्यम पुत्र वरुण 'लोकपाल' कहे गये हैं; इनकी स्थिति वरुण-दिशा (पश्चिम) में बतलायी जाती है। ये पश्चिम दिशामें पश्चिम समुद्रके तटपर सुशोभित होते हैं। वहाँ एक सुन्दर सुवर्णमय पर्वत है। उसके शिखर सब रत्नमय हैं। उनपर नाना प्रकारकी धातुएँ और झरने हैं। इनसे युक्त और नाना प्रकारके रत्नोंसे परिपूर्ण वह सुन्दर पर्वत बड़ी शोभा पाता है। उसमें बड़े-बड़े दर्रे और गुहाएँ हैं, जहाँ बाघ और सिंह दहाड़ते रहते हैं। वहाँके अनेकानेक एकान्त स्थलोंपर सिद्ध और गन्धर्व

---

* अध्याय पाँचके ४८-४९ श्लोकोंमें कश्यपकी तेरह पत्नियोंके नाम आये हैं। यहाँ पंद्रह नाम आये हैं; इनमें 'मुहूर्ता' और 'सरमा'—ये दो नाम अधिक हैं। 'मुहूर्ता' तो धर्मकी पत्नी थीं। 'सरमा' कश्यपकी पत्नी होनेपर भी दक्षकन्या नहीं थी। इसके अतिरिक्त अरिष्टा एवं ताम्राके स्थानपर यहाँ काला और सिंहिका नाम आये हैं। ये नाम अन्यत्र पुराणोंमें भी आते हैं।

† यद्यपि पाँचवें अध्यायके ५१-५२ श्लोकोंमें अदितिकी सन्तानोंका वर्णन आ गया है; अतः यहाँ इस प्रसङ्गकी पुनरुक्ति जान पड़ती है; तथापि इसका समाधान यह है कि वहाँ सृष्टि-वर्णनके प्रसङ्गमें वह बात कही गयी है और यहाँ 'वसिष्ठ तथा अगस्त्यजीकी मित्रावरुणके पुत्ररूपमें पुनरुत्पत्ति कैसे हुई?' इस प्रश्नके समाधानके प्रसङ्गमें मित्र और वरुण देवताका परिचय देना आवश्यक हुआ। वे दोनों बारह आदित्योंमें परिगणित हैं; अतः अदितिके उन बारहों पुत्रोंका पुनः वर्णन प्रसङ्गवश आ गया है; अतः पुनरुक्ति-दोष नहीं मानना चाहिये।

वास करते हैं। जब सूर्य वहाँ पहुँचते हैं, तब समस्त संसार अन्धकारसे पूर्ण हो जाता है। उसी पर्वतके शिखरपर विश्वकर्माकी बनायी हुई एक 'विश्वावती' नामकी शोभन पुरी है, जो बड़ी, दिव्य तथा सुवर्णसे बनी हुई है और उसमें मणियोंके खंभे लगे हैं। इस प्रकार वह पुरी रमणीय एवं सम्पूर्ण भोग-साधनोंसे सम्पन्न है। उसीमें अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए 'वरुण' नामक आदित्य ब्रह्माजीकी प्रेरणासे इन सम्पूर्ण लोकोंका पालन करते हैं। वहाँ उनकी सेवामें गन्धर्व और अप्सराएँ रहा करती हैं॥ १२—१९॥

दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः।
कदाचिद्वरुणो यातो मित्रेण सहितो वनम्॥२०॥
कुरुक्षेत्रे शुभे रम्ये सदा ब्रह्मर्षिसेविते।
नानापुष्पफलोपेते नानातीर्थसमाकुले॥२१॥
आश्रमा यत्र दृश्यन्ते मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
तस्मिंस्तीर्थे समाश्रित्य बहुपुष्पफलोदके॥२२॥
चीरकृष्णाजिनधरौ चरन्तौ तप उत्तमम्।
तत्रैकस्मिन्वनोद्देशे विमलोदो ह्रदः शुभः॥२३॥
बहुगुल्मलताकीर्णो नानापक्षिनिषेवितः।
नानातरुवनच्छन्नो नलिन्या चोपशोभितः॥२४॥
पौण्डरीक इति ख्यातो मीनकच्छपसेवितः।
ततस्तु मित्रावरुणौ भ्रातरौ वनचारिणौ।
तं तु देशं गतौ देवौ विचरन्तौ यदृच्छया॥२५॥

एक दिन वरुण अपने अङ्गोंमें दिव्य चन्दनका अनुलेप लगाये, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो 'मित्र'के साथ वनको गये। ब्रह्मर्षिगण सदा जिसका सेवन करते हैं, जो नाना प्रकारके फल और फूलोंसे युक्त तथा अनेक तीर्थोंसे व्याप्त है; जहाँ ऊर्ध्वरेता मुनियोंके आश्रम दृष्टिगोचर होते हैं तथा जो प्रचुर फल-फूल और जलसे पूर्ण है, उस सुन्दर सुरम्य कुरुक्षेत्र तीर्थमें पहुँचकर वे दोनों देवता चीर और कृष्ण मृगचर्म धारण करके तपस्या करने लगे। वहाँपर वनके एक भागमें निर्मल जलसे भरा हुआ एक सुन्दर सरोवर है, जो बहुत-सी झाड़ियों और बेलोंसे आवृत है; अनेकानेक पक्षी उसका सेवन करते हैं। वह भाँति-भाँतिके वृक्षसमूहोंसे आच्छन्न और कमलोंसे सुशोभित है। उस सरोवरकी 'पौण्डरीक' नामसे प्रसिद्धि है। उसमें बहुत-सी मछलियाँ और कछुए निवास करते हैं। तप आरम्भ करनेके पश्चात् वे दोनों भाई मित्र और वरुण देवता एक दिन वनमें विचरण करते और स्वेच्छानुसार घूमते हुए उस सरोवरकी ओर गये॥ २०—२५॥

ताभ्यां तत्र तदा दृष्टा उर्वशी तु वराप्सराः।
स्नायन्ती सहितान्याभिः सखीभिः सा वरानना।
गायन्ती च हसन्ती च विश्वस्ता निर्जने वने॥२६॥
गौरी कमलगर्भाभा स्निग्धकृष्णशिरोरुहा।
पद्मपत्रविशालाक्षी रक्तोष्ठी मृदुभाषिणी॥२७॥
शङ्खकुन्देन्दुधवलैर्दन्तैरविरलैः समैः।
सुभ्रूः सुनासा सुमुखी सुललाटा मनस्विनी॥२८॥
सिंहवत्सूक्ष्ममध्याङ्गी पीनोरुजघनस्तनी।
मधुरालापचतुरा सुमध्या चारुहासिनी॥२९॥
रक्तोत्पलकरा तन्वी सुपदी विनयान्विता।
पूर्णचन्द्रनिभा बाला मत्तद्विरदगामिनी॥३०॥
दृष्ट्वा तस्यास्तु तद्रूपं तौ देवौ विस्मयं गतौ।
तस्या हास्येन लास्येन स्मितेन ललितेन च॥३१॥
मृदुना वायुना चैव शीतानिलसुगन्धिना।
मत्तभ्रमरगीतेन पुंस्कोकिलरुतेन च॥३२॥
सुस्वरेण हि गीतेन उर्वश्या मधुरेण च।
ईक्षितौ च कटाक्षेण स्कन्दतुस्तावुभावपि।
निमेः शापादथोत्क्रम्य स्वदेहान्मुनिसत्तम॥३३॥

वहाँ उन दोनोंने उस समय श्रेष्ठ एवं सुन्दरी अप्सरा उर्वशीको देखा, जो अपनी अन्य सहेलियोंके साथ स्नान कर रही थी। वह सुमुखी अप्सरा उस निर्जन वनमें विश्वस्त होकर हँसती और गाती थी। उसका वर्ण गोरा था। कमलके भीतरी भागके समान उसकी कान्ति थी। उसकी अलकें काली-काली और चिकनी थीं, आँखें कमल-दलके समान बड़ी-बड़ी थीं, होठ लाल थे, उसका भाषण बहुत ही मधुर था। उसके दाँत शङ्ख, कुन्द और चन्द्रमाके समान श्वेत, परस्पर मिले हुए और बराबर थे। उस मनस्विनीकी भौंहें, नासिका, मुख और ललाट—सभी सुन्दर थे। कटिभाग सिंहके कटिप्रदेशकी भाँति पतला था। उरोज, ऊरु और जघन—ये मोटे और घने थे। वह मधुर भाषण करनेमें

चतुर थी। उसका मध्यभाग सुन्दर और मुस्कान मनोहर थी। दोनों हाथ लाल कमलके समान सुन्दर एवं कोमल थे। शरीर पतला और पैर सुन्दर थे। वह बाला बड़ी ही विनीता थी। उसका मुख पूर्णचन्द्रके समान आह्लादजनक और गति मत्त गजराजके समान मन्द थी। उर्वशीके उस दिव्य रूपको देखकर वे दोनों देवता विस्मयमें पड़ गये। उसके लास्य (नृत्य), हास्य, ललितभाव-मिश्रित मन्द मुसकान और मधुर सुरीले गानसे तथा शीतल-मन्द-सुगन्धित मलयानिलके स्पर्शसे एवं मतवाले भौंरोंके संगीत और कोकिलोंके कलरवसे उन दोनोंका मन और भी मुग्ध हो गया। साथ ही उर्वशीकी तिरछी चितवनके शिकार होकर वे दोनों ही वहाँ स्खलित हो गये (उनके वीर्यका पतन हो गया) मुनिसत्तम! इसके बाद निमिके शापवश* वसिष्ठजीका जीवात्मा अपने शरीरसे पृथक् होकर मित्रावरुणके वीर्यमें आविष्ट हुआ॥ २६—३३॥

वसिष्ठ मित्रावरुणात्मजोऽसी-
त्यथोचुरागत्य हि विश्वदेवाः।
रेतस्त्रिभागं कमलेऽप्यरत्तद्
वसिष्ठ एवं तु पितामहोक्तेः॥३४॥
त्रिधा समभवद्रेतः कमलेऽथ स्थले जले।
अरविन्दे वसिष्ठस्तु जातः स मुनिसत्तमः।
स्थले त्वगस्त्यः सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः॥३५॥
स तत्र जातो मतिमान् वसिष्ठः
कुम्भे त्वगस्त्यः सलिलेऽथ मत्स्यः।
स्थानत्रये तत्पतितं समानं
मित्रस्य यस्माद्वरुणस्य रेतः॥३६॥
एतस्मिन्नेव काले तु गता सा उर्वशी दिवम्।
उपेत्य तावृषीन् देवौ गतौ भूयः स्वमाश्रमम्।
यस्मावपि तु तप्येते पुनरुग्रं परं तपः॥३७॥

'वसिष्ठ! तुम मित्रावरुणके पुत्र होओगे'— इस प्रकार विश्वेदेवोंने (निमिके शुक्रमें) आकर कहा था तथा ब्रह्माजीका भी यही कथन था; अतएव मित्रावरुणके तीन स्थानोंपर गिरे हुए वीर्यमेंसे जो भाग कमलपर गिरा था, उसीसे वसिष्ठजी हुए। उन दोनों देवताओंका वीर्य तीन भागोंमें विभक्त होकर कमल, जल और स्थलपर (घड़ेमें) गिरा। कमलपर गिरे हुए वीर्यसे मुनिवर वसिष्ठ उत्पन्न हुए, स्थलपर गिरे हुए रेतस्से अगस्त्य और जलमें गिरे हुए शुक्रसे अत्यन्त कान्तिमान् मत्स्यकी उत्पत्ति हुई। इस तरह उस कमलपर बुद्धिमान् वसिष्ठ, कुम्भमें अगस्त्य और जलमें मत्स्यका आविर्भाव हुआ; क्योंकि मित्रावरुणका वीर्य तीनों स्थानोंपर बराबर गिरा था। इसी समय उर्वशी स्वर्गलोकमें चली गयी। वसिष्ठ और अगस्त्य—इन दोनों ऋषियोंको साथ लेकर वे दोनों देवता पुनः अपने आश्रममें लौट आये और पुनः उन दोनोंने अत्यन्त उग्र तप आरम्भ किया॥ ३४—३७॥

तपसा प्राप्तुकामौ तौ परं ज्योतिः सनातनम्।
तपस्यन्तौ सुरश्रेष्ठौ ब्रह्माऽऽगत्येदमब्रवीत्॥३८॥
मित्रावरुणकौ देवौ पुत्रवन्तौ महाद्युती।
सिद्धिर्भविष्यति यथा युवयोर्वैष्णवी पुनः॥३९॥
स्वाधिकारेण स्थीयेतामधुना लोकसाक्षिकौ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे ब्रह्मा तौ स्थितौ स्वाधिकारकौ॥४०॥

तपस्याके द्वारा सनातन परम ज्योति (ब्रह्मधाम) को प्राप्त करनेकी इच्छावाले उन दोनों तपस्वी देवेश्वरोंसे ब्रह्माजीने आकर यह कहा—'महान् कान्तिमान् और पुत्रवान् मित्र तथा वरुण देवताओ! तुम दोनोंको पुनः वैष्णवी सिद्धि प्राप्त होगी। इस समय संसारके साक्षीरूपसे तुम लोग अपने अधिकारपर स्थित हो जाओ।' यों कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये और वे दोनों देवता अपने अधिकृत पदपर स्थित हुए॥ ३८—४०॥

एवं ते कथितं विप्र वसिष्ठस्य महात्मनः।
मित्रावरुणपुत्रत्वमगस्त्यस्य च धीमतः॥४१॥

* एक बार राजा निमिने यज्ञ करनेकी इच्छासे अपने पुरोहित वसिष्ठजीसे परामर्श किया। वसिष्ठजीने कहा—'मैं देवलोकमें एक यज्ञ आरम्भ करा चुका हूँ। उसके समाप्त होनेतक आप अपना यज्ञ रोके रहें। वहाँसे आकर हम आपका यज्ञ आरम्भ करायेंगे।' निमिने उनकी प्रतीक्षा नहीं की। वसिष्ठजीने लौटनेपर यज्ञ होता देख राजाको शाप दिया कि 'तुम विदेह हो जाओ।' तब राजाने भी शाप दिया कि 'आपका भी यह शरीर न रहे।'

इदं पुंसीयमाख्यानं वारुणं पापनाशनम् ।
पुत्रकामास्तु ये केचिच्छृण्वन्तीदं शुचिव्रताः ।
अचिरादेव पुत्रांस्ते लभन्ते नात्र संशयः ॥४२॥
यश्चैतत्पठते नित्यं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
देवाश्च पितरस्तस्य तृप्ता यान्ति परं सुखम् ॥४३॥
यश्चैतच्छृणुयान्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः ।
नन्दते स सुखं भूमौ विष्णुलोकं स गच्छति ॥४४॥
इत्येतदाख्यानमिदं मयेरितं
पुरातनं वेदविदैरुदीरितम् ।
पठिष्यते यस्तु शृणोति सर्वदा
स याति शुद्धो हरिलोकमञ्जसा ॥४५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे पुंसवनाख्यानं नाम षष्ठोऽध्यायः

ब्राह्मण ! इस प्रकार महात्मा वसिष्ठजी और बुद्धिमान् अगस्त्यजी जिस तरह मित्रावरुणके पुत्र हुए थे, वह सब प्रसङ्ग मैंने आपसे कह दिया । यह वरुणदेवता-सम्बन्धी पुंसवनाख्यान पाप नष्ट करनेवाला है । जो लोग पुत्रकी कामनासे शुद्ध व्रतका आचरण करते हुए इसका श्रवण करते हैं, वे शीघ्र ही अनेक पुत्र प्राप्त करते हैं— इसमें संदेह नहीं है । जो उत्तम ब्राह्मण हव्य (देवयाग) और कव्य (पितृयाग) में इसका पाठ करता है, उसके देवता तथा पितर तृप्त होकर अत्यन्त सुख प्राप्त करते हैं । जो मनुष्य नित्य प्रातःकाल उठकर इसका श्रवण करता है, वह पृथ्वीपर सुखपूर्वक प्रसन्नताके साथ रहता है और फिर विष्णुलोकको प्राप्त करता है । वेदवेत्ताओंके द्वारा प्रतिपादित इस पुरातन उपाख्यानको, जिसे मैंने कहा है, जो लोग सादर पढ़ेंगे और सुनेंगे, वे शुद्ध होकर अनायास ही विष्णुलोकको प्राप्त कर लेंगे ॥ ४१—४५ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'पुंसवन' नामक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

मार्कण्डेयजीके द्वारा तपस्यापूर्वक श्रीहरिकी आराधना; 'मृत्युंजय-स्तोत्र'का पाठ और मृत्युपर विजय प्राप्त करना

श्रीभरद्वाज उवाच

मार्कण्डेयेन मुनिना कथं मृत्युः पराजितः ।
एतदाख्याहि मे सूत त्वयैतत् सूचितं पुरा ॥ १ ॥

श्रीभरद्वाजजी बोले—सूतजी ! मार्कण्डेयमुनिने मृत्युको कैसे पराजित किया ? यह मुझे बताइये । आपने पहले यह सूचित किया था कि वे मृत्युपर विजयी हुए थे* ॥ १ ॥

* यद्यपि नरसिंहपुराणके गत अध्यायोंमें मार्कण्डेयजीका नाम कहीं नहीं आया है । अतः 'आपने पहले यह सूचित किया था—(त्वयैतत् सूचितं पुरा)' इत्यादि कथनकी कोई संगति नहीं प्रतीत होती, तथापि प्रथम अध्यायके पंद्रहवें श्लोकसे इस बातकी सूचना मिलती है कि भरद्वाजजीने सूतजीके मुखसे पहले 'वाराहीसंहिता' सुनी थी, उसके बाद उन्होंने 'नरसिंहसंहिता' सुननेकी इच्छा प्रकट की । तब सूतजीने 'नरसिंहसंहिता' सुनाना आरम्भ किया था । अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाराहीसंहिता-श्रवणके प्रसङ्गमें भरद्वाजजीको सूतजीके मुखसे मार्कण्डेयजीके मृत्युपर विजय पानेके इतिहासकी कोई सूचना प्राप्त हुई हो, जिसका स्मरण उन्होंने यहाँ दिलाया है ।

सूत उवाच

इदं तु महदाख्यानं भरद्वाज शृणुष्व मे ।
शृण्वन्तु ऋषयश्चेमे पुरावृत्तं ब्रवीम्यहम् ॥ २ ॥
कुरुक्षेत्रे महापुण्ये व्यासपीठे वराश्रमे ।
समासीनं मुनिवरं कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥ ३ ॥
कृतस्नानं कृतजपं मुनिशिष्यैः समावृतम् ।
वेदवेदार्थतत्त्वज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ४ ॥
प्रणिपत्य यथान्यायं शुकः परमधार्मिकः ।
इममेवार्थमुद्दिश्य तं पप्रच्छ कृताञ्जलिः ॥ ५ ॥
यमुद्दिश्य वयं पृष्टास्त्वयात्र मुनिसंनिधौ ।
नरसिंहस्य भक्तेन कृततीर्थनिवासिना ॥ ६ ॥

सूतजी बोले—भरद्वाजजी ! इस महान् पुरातन इतिहासको आप और ये सभी ऋषि सुनें; मैं कह रहा हूँ । अत्यन्त पवित्र कुरुक्षेत्रमें, व्यासपीठपर, एक

सुन्दर आश्रममें स्नान तथा जप आदि समाप्त करके व्यासासनपर बैठे हुए और शिष्यभूत मुनियोंसे घिरे हुए मुनिवर महर्षि कृष्णद्वैपायनसे, जो वेद और वेदार्थोंके तत्त्ववेत्ता तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ थे, परम धर्मात्मा शुकदेवजीने हाथ जोड़ उन्हें यथोचितरूपसे प्रणाम कर इसी विषयको जाननेके लिये प्रश्न किया था, जिसके लिये कि इन मुनियोंके निकट आप पुण्यतीर्थनिवासी नृसिंहभक्तने मुझसे पूछा है ॥ २-६ ॥

श्रीशुक उवाच

मार्कण्डेयेन मुनिना कथं मृत्युः पराजितः ।
एतदाख्याहि मे तात श्रोतुमिच्छामि तेऽधुना ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी ! मार्कण्डेय मुनिने मृत्युपर कैसे विजय पायी ? यह कथा कहिये । इस समय मैं आपसे यही सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

व्यास उवाच

मार्कण्डेयेन मुनिना यथा मृत्युः पराजितः ।
तथा ते कथयिष्यामि शृणु वत्स महामते ॥ ८ ॥
शृण्वन्तु मुनयश्चेमे कथ्यमानं मयाधुना ।
मच्छिष्याश्चैव शृण्वन्तु महदाख्यानमुत्तमम् ॥ ९ ॥
भृगोः ख्यात्यां समुत्पन्नो मृकण्डुर्नाम वै सुतः ।
सुमित्रा नाम वै पत्नी मृकण्डोस्तु महात्मनः ॥१०॥
धर्मज्ञा धर्मनिरता पतिशुश्रूषणे रता ।
तस्यां तस्य सुतो जातो मार्कण्डेयो महामतिः ॥११॥
भृगुपौत्रो महाभागो बालत्वेऽपि महामतिः ।
ववृधे वल्लभो बालः पित्रा तत्र कृतक्रियः ॥१२॥

व्यासजी बोले—महामते पुत्र ! मार्कण्डेय मुनिने जिस प्रकार मृत्युपर विजय पायी, वह तुमसे कहता हूँ, सुनो । मुझसे कहे जानेवाले इस महान् एवं उत्तम उपाख्यानको ये सभी मुनि और मेरे शिष्यगण भी सुनें । भृगुजीके उनकी पत्नी ख्यातिके गर्भसे 'मृकण्डु' नामक एक पुत्र हुआ । महात्मा मृकण्डुकी पत्नी सुमित्रा हुई । वह धर्मको जाननेवाली, धर्मपरायणा और पतिकी सेवामें लगी रहनेवाली थी । इसीके गर्भसे मृकण्डुके पुत्र मेधावी मार्कण्डेयजी हुए । ये भृगुके पौत्र महाभाग मार्कण्डेय बचपनमें भी बड़े बुद्धिमान् थे । पिताके द्वारा जातकर्म आदि संस्कार कर देनेपर माँ-बापके लाड़ले बालक मार्कण्डेयजी क्रमशः बढ़ने लगे ॥ ८—१२ ॥

तस्मिन् वै जातमात्रे तु आगमी कश्चिदब्रवीत् ।
वर्षे द्वादशमे पूर्णे मृत्युरस्य भविष्यति ॥१३॥
श्रुत्वा तन्मातृपितरौ दुःखितौ तौ बभूवतुः ।
विदूयमानहृदयौ तं निरीक्ष्य महामते ॥१४॥
तथापि तत्पिता तस्य यत्नात् काले क्रियां ततः ।
चकार सर्वां मेधावी उपनीतो गुरोर्गृहे ॥१५॥
वेदानेवाभ्यसन्नास्ते गुरुशुश्रूषणोद्यतः ।
स्वीकृत्य वेदशास्त्राणि स पुनर्गृहमागतः ॥१६॥
मातापितॄन्नमस्कृत्य पादयोर्विनयान्वितः ।
तस्थौ तत्र गृहे धीमान् मार्कण्डेयो महामुनिः ॥१७॥

उनके जन्म लेते ही किसी भविष्यवेत्ता ज्योतिषीने यह कहा था कि 'बारहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही इस बालककी मृत्यु हो जायगी ।' यह सुनकर उनके माता-पिता बहुत ही दुखी हुए । महामते ! उन्हें देख-देखकर उन दोनोंका हृदय व्यथित होता रहता था, तथापि उनके पिताने उनके नामकरण आदि सभी संस्कार किये । तत्पश्चात् मेधावी बालक मार्कण्डेय गुरुके घर ले जाये गये । वहाँ उनका उपनयन-संस्कार हुआ । वहाँ वे गुरुकी सेवामें तत्पर रहकर वेदाभ्यास करते हुए ही रहने लगे । वेद-शास्त्रोंका यथावत् अध्ययन करके वे पुनः अपने घर लौट आये । घर आनेपर बुद्धिमान् महामुनि मार्कण्डेयने विनयपूर्वक माता-पिताके चरणोंमें शीश झुकाया और तबसे वे घरपर ही रहने लगे ॥ १३-१७ ॥

तं निरीक्ष्य महात्मानं सत्प्रज्ञं च विचक्षणम् ।
दुःखितौ तौ भृशं तत्र तन्मातापितरौ शुचा ॥१८॥
तौ दृष्ट्वा दुःखमापन्नौ मार्कण्डेयो महामतिः ।
उवाच वचनं तत्र किमर्थं दुःखमीदृशम् ॥१९॥
सदैतत् कुरुषे मातस्तातेन सह धीमता ।
वक्तुमर्हसि दुःखस्य कारणं मम पृच्छतः ॥२०॥
इत्युक्ता तेन पुत्रेण माता तस्य महात्मनः ।
कथयामास तत्सर्वमागमी यदुवाच ह ॥२१॥

तच्छ्रुत्वासौ मुनिः प्राह मातरं पितरं पुनः ।
पित्रा सार्धं त्वया मातर्न कार्यं दुःखमण्वपि ॥२२॥
अपनेष्यामि भो मृत्युं तपसा नात्र संशयः ।
यथा चाहं चिरायुः स्यां तथा कुर्यामहं तपः ॥२३॥

शुकदेव ! उस समय उन परम बुद्धिमान् महात्मा एवं विद्वान् पुत्रको देखकर माता-पिता शोकसे बहुत ही दुखी हुए। उन्हें दुखी देखकर महामति मार्कण्डेयजीने कहा—'माँ ! तुम बुद्धिमान् पिताजीके साथ क्यों इस प्रकार निरन्तर दुखी रहा करती हो ? मैं पूछता हूँ, मुझसे अपने दुःखका कारण बतलाओ।' अपने पुत्र मार्कण्डेयजीके इस प्रकार पूछनेपर उन महात्माकी माताने, ज्यौतिषी जो कुछ कह गया था, वह सब कह सुनाया। यह सुनकर मार्कण्डेयमुनिने माता-पितासे कहा—'माँ ! तुम और पिताजी तनिक भी दुःख न मानो। मैं तपस्याके द्वारा अपनी मृत्युको दूर हटा दूँगा, इसमें संशय नहीं है। मैं ऐसा तप करूँगा, जिससे चिरजीवी हो सकूँ' ॥ १८—२३ ॥

इत्युक्त्वा तौ समाश्वास्य पितरौ वनमभ्यगात् ।
वल्लीवटं नाम वनं नानाऋषिनिषेवितम् ॥२४॥
तत्रासौ मुनिभिः सार्धमासीनं स्वपितामहम् ।
भृगुं ददर्श धर्मज्ञं मार्कण्डेयो महामतिः ॥२५॥
अभिवाद्य यथान्यायं मुनींश्चैव स धार्मिकः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तस्थौ तत्पुरतो दमी ॥२६॥
गतायुषं ततो दृष्ट्वा पौत्रं बालं महामतिः ।
भृगुराह महाभागं मार्कण्डेयं तदा शिशुम् ॥२७॥
किमागतोऽसि पुत्रात्र पितुस्ते कुशलं पुनः ।
मातुश्च बान्धवानां च किमागमनकारणम् ॥२८॥
इत्येवमुक्तो भृगुणा मार्कण्डेयो महामतिः ।
उवाच सकलं तस्मै आदेशिवचनं तदा ॥२९॥
पौत्रस्य वचनं श्रुत्वा भृगुस्तु पुनरब्रवीत् ।
एवं सति महाबुद्धे किं त्वं कर्म चिकीर्षसि ॥३०॥

इस प्रकार कहकर, माता-पिताको आश्वासन देकर, वे अनेक ऋषियोंसे सुसेवित 'वल्लीवट' नामक वनमें गये। वहाँ पहुँचकर महामति मार्कण्डेयजीने मुनियोंके साथ विराजमान अपने पितामह धर्मात्मा भृगुजीका दर्शन किया। उनके साथ ही अन्य ऋषियोंका भी यथोचित अभिवादन करके धर्मपरायण मार्कण्डेयजी मनोनिग्रहपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर भृगुजीके समक्ष खड़े हो गये। महामति भृगुजीने अपने बालक पौत्र महाभाग मार्कण्डेयको, जिसकी आयु प्रायः बीत चुकी थी, देखकर कहा—'वत्स ! तुम यहाँ कैसे आये ? अपने माता-पिता और बान्धवजनोंका कुशल कहो तथा यह भी बतलाओ कि यहाँ तुम्हारे आनेका क्या कारण है ?' भृगुजीके इस प्रकार पूछनेपर महाप्राज्ञ मार्कण्डेयजीने उनसे उस समय ज्यौतिषीकी कही हुई सारी बात कह सुनायी। पौत्रकी बात सुनकर भृगुजीने पुनः कहा—'महाबुद्धे ! ऐसी स्थितिमें तुम कौन-सा कर्म करना चाहते हो ?' ॥ २४—३० ॥

मार्कण्डेय उवाच

भूतापहारिणं मृत्युं जेतुमिच्छामि साम्प्रतम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि तत्रोपायं वदस्व नः ॥३१॥

मार्कण्डेयजी बोले—भगवन् ! मैं इस समय प्राणियोंका अपहरण करनेवाले मृत्युको जीतना चाहता हूँ, इसीलिये आपकी शरणमें आया हूँ। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये आप मुझे कोई उपाय बतावें ॥ ३१ ॥

भृगुरुवाच

नारायणमनाराध्य तपसा महता सुत ।
को जेतुं शक्नुयान्मृत्युं तस्मात्तं तपसार्चय ॥३२॥
तमनन्तमजं विष्णुमच्युतं पुरुषोत्तमम् ।
भक्तप्रियं सुरश्रेष्ठं भक्त्या त्वं शरणं व्रज ॥३३॥
तमेव शरणं पूर्वं गतवान्नारदो मुनिः ।
तपसा महता वत्स नारायणमनामयम् ॥३४॥
तत्प्रसादान्महाभाग नारदो ब्रह्मणः सुतः ।
जरां मृत्युं विजित्याशु दीर्घायुर्वर्धते सुखम् ॥३५॥
तमृते पुण्डरीकाक्षं नारसिंहं जनार्दनम् ।
कः कुर्यान्मानवो वत्स मृत्युसत्तानिवारणम् ॥३६॥
तमनन्तमजं विष्णुं कृष्णं जिष्णुं श्रियःपतिम् ।
गोविन्दं गोपतिं देवं सततं शरणं व्रज ॥३७॥
नरसिंहं महादेवं यदि पूजयसे सदा ।
वत्स जेतासि मृत्युं त्वं सततं नात्र संशयः ॥३८॥

भृगुजी बोले—पुत्र ! बहुत बड़ी तपस्याके द्वारा भगवान् नारायणकी आराधना किये बिना कौन मृत्युको जीत सकता है ? इसलिये तुम तपस्याद्वारा उन्हींका अर्चन करो। भक्तोंके प्रियतम और देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ उन अनन्त, अजन्मा, अच्युत पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुकी शरणमें जाओ। वत्स ! पूर्वकालमें नारदमुनि भी महान् तपके द्वारा उन्हीं अनामय भगवान् नारायणकी शरणमें गये थे। महाभाग ! ब्रह्मपुत्र नारदजी उन्हींकी कृपासे जरा और मृत्युको शीघ्र ही जीतकर दीर्घायु हो सुखपूर्वक रहते हैं। पुत्र ! उन कमललोचन नृसिंहस्वरूप भगवान् जनार्दनके बिना कौन मनुष्य यहाँ मृत्युकी सत्ताका निवारण कर सकता है ? तुम निरन्तर उन्हीं अनन्त, अजन्मा, विजयी, कृष्णवर्ण, लक्ष्मीपति, गोविन्द, गोपति भगवान् विष्णुकी शरणमें जाओ। वत्स ! यदि तुम सदा उन महान् देवता भगवान् नरसिंहकी पूजा करते रहोगे, तो सदाके लिये मृत्युपर विजय प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ३२–३८ ॥

व्यास उवाच

उक्तः पितामहेनैवं भृगुणा पुनरब्रवीत् ।
मार्कण्डेयो महातेजा विनयात् स्वपितामहम् ॥३९॥

व्यासजी बोले—पितामह भृगुके इस प्रकार कहनेपर महान् तेजस्वी मार्कण्डेयजीने उनसे विनयपूर्वक कहा ॥ ३९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

आराध्यः कथितस्तात विष्णुर्विश्वेश्वरः प्रभुः ।
कथं कुत्र मया कार्यमच्युताराधनं गुरो ।
येनासौ मम तुष्टस्तु मृत्युं सद्योऽपनेष्यति ॥४०॥

मार्कण्डेयजी बोले—तात ! गुरो ! आपने विश्वपति भगवान् विष्णुको आराध्य तो बतलाया, परंतु मैं उन अच्युतकी आराधना कहाँ और किस प्रकार करूँ ? जिससे वे शीघ्र प्रसन्न होकर मेरी मृत्युको दूर कर दें ॥४०॥

भृगुरुवाच

तुङ्गभद्रेति विख्याता या नदी सह्यपर्वते ।
तत्र भद्रवटे वत्स त्वं प्रतिष्ठाप्य केशवम् ॥४१॥
आराधय जगन्नाथं गन्धपुष्पादिभिः क्रमात् ।
हृदि कृत्वेन्द्रियग्रामं मनः संयम्य तत्त्वतः ॥४२॥
हृत्पुण्डरीके देवेशं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
ध्यायन्नेकमना वत्स द्वादशाक्षरमभ्यसन् ॥४३॥
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
इमं मन्त्रं हि जपतो देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥
प्रीतो भवति विश्वात्मा मृत्युं येनापनेष्यति ॥४४॥

भृगुजी बोले—सह्यपर्वतपर जो 'तुङ्गभद्रा' नामसे विख्यात नदी है। वहाँ 'भद्रवट' नामक वृक्षके नीचे जगन्नाथ भगवान् केशवकी स्थापना कर क्रमशः गन्ध और पुष्प आदिसे उनकी पूजा करो। इन्द्रियोंको मनमें नियन्त्रित कर, मनको भी पूर्णतः संयममें रखते हुए एकाग्रचित्त हो, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करो और अपने हृदयकमलमें शङ्ख, चक्र, गदा (एवं पद्म) धारण किये देवेश्वर भगवान् विष्णुका ध्यान किया करो। जो देवाधिदेव शार्ङ्गधन्वा विष्णुके इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करता है, उसके ऊपर वे विश्वात्मा प्रसन्न होते हैं। तुम भी इसका जप करो, जिससे प्रसन्न होकर वे तुम्हारी मृत्यु दूर कर देंगे ॥४१–४४॥

व्यास उवाच

इत्युक्तस्तं प्रणम्याथ स जगाम तपोवनम् ॥४५॥
सह्यपादोद्भवायास्तु भद्रायास्तटमुत्तमम् ।
नानाद्रुमलताकीर्णं नानापुष्पोपशोभितम् ॥४६॥
गुल्मवेणुलताकीर्णं नानामुनिजनाकुलम् ।
तत्र विष्णुं प्रतिष्ठाप्य गन्धधूपादिभिः क्रमात् ॥४७॥
पूजयामास देवेशं मार्कण्डेयो महामुनिः ।
पूजयित्वा हरिं तत्र तपस्तेपे सुदुष्करम् ॥४८॥
निराहारो मुनिस्तत्र वर्षमेकमतन्द्रितः ।
मात्रोक्तकाले त्वासन्ने दिने तत्र महामतिः ॥४९॥
स्नात्वा यथोक्तविधिना कृत्वा विष्णोस्तथार्चनम् ।
हृदि कृत्वेन्द्रियग्रामं विशुद्धेनान्तरात्मना ॥५०॥
आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा कृत्वासौ प्राणसंयमम् ।
ॐकारोच्चारणाद्धीमान् हृत्पद्मं स विकासयन् ॥५१॥
तन्मध्ये रविसोमाग्निमण्डलानि यथाक्रमम् ।
कल्पयित्वा हरेः पीठं तस्मिन् देशे सनातनम् ॥५२॥
पीताम्बरधरं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
भावपुष्पैः समभ्यर्च्य मनस्तस्मिन्निवेश्य च ॥५३॥
ब्रह्मरूपं हरिं ध्यायंस्ततो मन्त्रमुदीरयत् ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥५४॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! भृगुजीके इस प्रकार कहनेपर उन्हें प्रणाम करके मार्कण्डेयजी सह्यपर्वतकी शाखासे निकली हुई तुङ्गभद्राके उत्तम तटपर विविध प्रकारके वृक्ष और लताओंसे भरे हुए नाना भाँतिके पुष्पोंसे सुशोभित, गुल्म, लता और वेणुओंसे व्याप्त तथा अनेकानेक मुनिजनोंसे पूर्ण तपोवनमें गये। वहाँ वे महामुनिने देवेश्वर भगवान् विष्णुकी स्थापना करके क्रमशः गन्ध-धूप आदिसे उनकी पूजा करने लगे। भगवान्‌की पूजा करते हुए वहाँ उन्होंने निरालस्यभावसे निराहार रहकर सालभर अत्यन्त दुष्कर तप किया। माताका बतलाया हुआ समय निकट आनेपर उस दिन महामति मार्कण्डेयजीने वहाँ स्नान करके पूर्वोक्त विधिसे विष्णुकी पूजा की और स्वस्तिकासन बाँध इन्द्रियसमूहको मनमें संयत कर विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त हो प्राणायाम किया। फिर ॐकारके उच्चारणसे हृदयकमलको विकसित करते हुए उसके मध्यभागमें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि-मण्डलकी कल्पना करके भगवान् विष्णुका पीठ निश्चित किया और उस स्थानपर पीताम्बर तथा शङ्ख, चक्र, गदा धारण करनेवाले सनातन भगवान् श्रीकृष्णकी भावमय पुष्पोंसे पूजा करके उनमें अपने चित्तको लगा दिया। फिर उन ब्रह्मस्वरूप श्रीहरिका ध्यान करते हुए वे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'—इस मन्त्रका जप करने लगे॥ ४९—५४॥

व्यास उवाच

इत्येवं ध्यायतस्तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
मनस्तत्रैव संलग्नं देवदेवे जगत्पतौ ॥५५॥
ततो यमाज्ञया तत्र आगता यमकिंकराः।
पाशहस्तास्तु तं नेतुं विष्णुदूतैस्तु ते हताः ॥५६॥
शूलैः प्रहन्यमानास्तु द्विजं मुक्त्वा ययुस्तदा।
वयं निवर्त्य गच्छामो मृत्युरेवागमिष्यति ॥५७॥

व्यासजी कहते हैं—शुकदेव ! इस प्रकार ध्यान करते हुए बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीका मन उन देवाधिदेव जगदीश्वरमें लीन हो गया। तदनन्तर यमराजकी आज्ञासे उन्हें ले जानेके लिये हाथोंमें पाश लिये हुए यमदूत वहाँ आये; परंतु भगवान् विष्णुके दूतोंने उन्हें मार भगाया। शूलोंसे मारे जानेपर वे उस समय विप्रवर मार्कण्डेयको छोड़कर भाग चले और यह कहते गये कि 'हमलोग तो लौटकर चले जा रहे हैं; परंतु अब साक्षात् मृत्युदेव ही यहाँ आयेंगे'॥ ५५—५७॥

विष्णुदूता ऊचुः

यत्र नः स्वामिनो नाम लोकनाथस्य शार्ङ्गिणः।
को यमस्तत्र मृत्युर्वा कालः कलयतां वरः ॥५८॥

विष्णुदूत बोले—जहाँ हमारे स्वामी जगदीश्वर शार्ङ्गधन्वा भगवान् विष्णुका नाम जपा जाता हो, वहाँ उनकी क्या बिसात है ? ग्रसनेवालोंमें श्रेष्ठ काल, मृत्यु अथवा यमराज कौन होते हैं ?॥ ५८॥

व्यास उवाच

आगत्य स्वयमेवाह मृत्युः पार्श्वं महात्मनः।
मार्कण्डेयस्य बभ्राम विष्णुकिंकरशङ्कया ॥५९॥
तेऽप्युद्यम्याशु मुशलानायसान् विष्णुकिंकराः।
विष्ण्वाज्ञया हनिष्यामो मृत्युमद्येति संस्थिताः ॥६०॥
ततो विष्ण्वर्पितमना मार्कण्डेयो महामतिः।
तुष्टाव प्रणतो भूत्वा देवदेवं जनार्दनम् ॥६१॥
विष्णुनैवोदितं यत्तत्स्तोत्रं कर्णे महात्मनः।
सुभाषितेन मनसा तेन तुष्टाव माधवम् ॥६२॥

व्यासजी कहते हैं—यमदूतोंके लौटनेके बाद साक्षात् मृत्युने ही वहाँ आकर उन्हें यमलोक चलनेको कहा, परंतु श्रीविष्णुदूतोंके डरसे वे महात्मा मार्कण्डेयके आसपास ही घूमते रह गये; उन्हें स्पर्श करनेका साहस न कर सके। इधर विष्णुदूत भी शीघ्र ही लोहेके मूसल उठाकर खड़े हो गये। उन्होंने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया था कि 'आज हमलोग विष्णुकी आज्ञासे मृत्युका वध कर डालेंगे।' तत्पश्चात् महामति मार्कण्डेयजी भगवान् विष्णुमें चित्त लगाये उन देवाधिदेव जनार्दनको प्रणाम करते हुए स्तुति करने लगे। भगवान् विष्णुने ही वह स्तोत्र उन महात्माके कानमें कह दिया। उसी सुभाषित स्तोत्रद्वारा उन्होंने मनोयोग-पूर्वक भगवान् लक्ष्मीपतिकी स्तुति की॥ ५९—६२॥

मार्कण्डेय उवाच

नारायणं सहस्राक्षं पद्मनाभं पुरातनम्।
प्रणतोऽस्मि हृषीकेशं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६३॥

गोविन्दं पुण्डरीकाक्षमनन्तमजमव्ययम् ।
केशवं च प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६४॥
वासुदेवं जगद्योनिं भानुवर्णमतीन्द्रियम् ।
दामोदरं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६५॥
शङ्खचक्रधरं देवं छन्नरूपिणमव्ययम् ।
अधोक्षजं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६६॥
वाराहं वामनं विष्णुं नरसिंहं जनार्दनम् ।
माधवं च प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६७॥
पुरुषं पुष्करं पुण्यं क्षेमबीजं जगत्पतिम् ।
लोकनाथं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६८॥
भूतात्मानं महात्मानं जगद्योनिमयोनिजम् ।
विश्वरूपं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥६९॥
सहस्रशिरसं देवं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ।
महायोगं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥७०॥

मार्कण्डेयजी बोले—जो सहस्रों नेत्रोंसे युक्त, इन्द्रियोंके स्वामी, पुरातन पुरुष तथा पद्मनाभ (अपनी नाभिसे ब्रह्माण्डमय कमलको प्रकट करनेवाले) हैं, उन श्रीनारायणदेवको मैं प्रणाम करता हूँ । मृत्यु मेरा क्या कर लेगा ? मैं अनन्त, अजन्मा, अविकारी, गोविन्द, कमलनयन भगवान् केशवकी शरणमें आ गया हूँ; अब मृत्यु मेरा क्या करेगा ? मैं संसारकी उत्पत्तिके स्थान, सूर्यके समान प्रकाशमान, इन्द्रियातीत वासुदेव (सर्वव्यापी देवता) भगवान् दामोदरकी शरणमें आ गया हूँ; मृत्यु मेरा क्या कर सकेगा ? जिनका स्वरूप अव्यक्त है, जो विकारोंसे रहित हैं, उन शङ्ख-चक्रधारी भगवान् अधोक्षजकी मैं शरणमें आ गया; मृत्यु मेरा क्या कर लेगा ? मैं वाराह, वामन, विष्णु, नरसिंह, जनार्दन एवं माधवकी शरणमें हूँ; मृत्यु मेरा क्या कर सकेगा ? मैं पवित्र, पुष्कररूप अथवा पुष्कल (पूर्ण) रूप, कल्याणबीज, जगत्-प्रतिपालक एवं लोकनाथ भगवान् पुरुषोत्तमकी शरणमें आ गया हूँ; अब मृत्यु मेरा क्या करेगा ? जो समस्त भूतोंके आत्मा, महात्मा (परमात्मा) एवं जगत्की योनि (उत्पत्तिके स्थान) होते हुए भी स्वयं अयोनिज हैं, उन भगवान् विश्वरूपकी मैं शरणमें आया हूँ; मृत्यु मेरा क्या कर सकेगा ? जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो व्यक्ताव्यक्त स्वरूप हैं, उन महायोगी सनातन देवकी मैं शरणमें आया हूँ; अब मृत्यु मेरा क्या कर सकेगा ? ॥ ६३—७० ॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य स्तोत्रं तस्य महात्मनः ।
अपयातस्ततो मृत्युर्विष्णुदूतैश्च पीडितः ॥७१॥
इति तेन जितो मृत्युर्मार्कण्डेयेन धीमता ।
प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे नृसिंहे नास्ति दुर्लभम् ॥७२॥
मृत्युंजयमिदं पुण्यं मृत्युप्रशमनं शुभम् ।
मार्कण्डेयहितार्थाय स्वयं विष्णुरुवाच ह ॥७३॥
य इदं पठते भक्त्या त्रिकालं नियतः शुचिः ।
नाकाले तस्य मृत्युः स्यान्नरस्याच्युतचेतसः ॥७४॥
हृत्पद्ममध्ये पुरुषं पुराणं
नारायणं शाश्वतमादिदेवम् ।
संचिन्त्य सूर्यादपि राजमानं
मृत्युं स योगी जितवांस्तदैव ॥७५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे मार्कण्डेयमृत्युंजयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

महात्मा मार्कण्डेयके द्वारा उच्चारित हुए उस स्तोत्रको सुनकर विष्णुदूतोंद्वारा पीडित हुए मृत्युदेव वहाँसे भाग चले । इस प्रकार बुद्धिमान् मार्कण्डेयने मृत्युपर विजय पायी । सच है, कमललोचन भगवान् नृसिंहके प्रसन्न होनेपर कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता । स्वयं भगवान् विष्णुने ही मार्कण्डेयजीके हितके लिये मृत्युको शान्त करनेवाले इस परम पावन मङ्गलमय मृत्युंजय-स्तोत्रका उपदेश दिया था । जो नित्य नियमपूर्वक पवित्रभावसे भक्तियुक्त होकर सायं, प्रातः और मध्याह्न—तीनों समय इस स्तोत्रका पाठ करता है, भगवान् अच्युतमें चित्त लगानेवाले उस पुरुषका अकाल-मरण नहीं होता । योगी मार्कण्डेयने अपने हृदय-कमलमें सूर्यसे भी अधिक प्रकाशमान सनातन पुराण-पुरुष आदिदेव नारायणका चिन्तन करके तत्काल मृत्युपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ७१—७५ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'मार्कण्डेयजीकी मृत्युपर विजय' नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय

मृत्यु और दूतोंको समझाते हुए यमका उन्हें वैष्णवोंके पास जानेसे रोकना; उनके मुँहसे श्रीहरिके नामकी महिमा सुनकर नरकस्थ जीवोंका भगवान्‌को नमस्कार करके श्रीविष्णुके धाममें जाना

श्रीव्यास उवाच

मृत्युश्च किंकराश्चैव विष्णुदूतैः प्रपीडिताः ।
स्वराज्ञस्तेऽनु निर्वेशं गत्वा ते चुक्रुशुर्भृशम् ॥ १ ॥

श्रीव्यासजी बोले—विष्णुदूतोंके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मृत्युदेव और यमदूत अपने राजा यमके भवनमें जाकर बहुत रोने-कलपने लगे ॥ १ ॥

मृत्युर्किंकरा ऊचुः

शृणु राजन् वचोऽस्माकं तवाग्रे यद् ब्रवीमहे ।
त्वदादेशाद्वयं गत्वा मृत्युं संस्थाप्य दूरतः ॥ २ ॥
ब्राह्मणस्य समीपं च भृगोः पौत्रस्य सत्तम ।
तं ध्यायमानं कमपि देवमेकाग्रमानसम् ॥ ३ ॥
गन्तुं न शक्तास्तत्पार्श्वं वयं सर्वे महामते ।
यावत्तावन्महाकायैः पुरुषैर्मुशलैर्हताः ॥ ४ ॥
वयं निवृत्तास्तद्वीक्ष्य मृत्युस्तत्र गतः पुनः ।
अस्मान्निर्भर्त्स्य तत्रायं तैर्नरैर्मुशलैर्हतः ॥ ५ ॥
एवमत्र तमानेतुं ब्राह्मणं तपसि स्थितम् ।
अशक्ता वयमेवात्र मृत्युना सह वै प्रभो ॥ ६ ॥
तद्ब्रूहि महाभाग यद्व्रतं ब्राह्मणस्य तु ।
देवं कं ध्यायते विप्रः के वा ते यैर्हता वयम् ॥ ७ ॥

मृत्यु और यमदूत बोले—राजन्! आपके आगे हम जो कुछ कह रहे हैं, हमारी इन बातोंको आप सुनें। हमलोगोंने आपकी आज्ञाके अनुसार यहाँसे जाकर मृत्युको तो दूर ठहरा दिया और स्वयं भृगुके पौत्र ब्राह्मण मार्कण्डेयके समीप गये। परंतु सत्पुरुषशिरोमणे! वह उस समय एकाग्रचित्त होकर किसी देवताका ध्यान कर रहा था। महामते! हम सभी लोग उसके पासतक पहुँचने भी नहीं पाये थे कि बहुत-से महाकाय पुरुष मूसलसे हमें मारने लगे। तब हमलोग तो लौट पड़े; परंतु यह देखकर मृत्युदेव वहाँ फिर पधारे। तब हमें डाँट-फटकारकर उन लोगोंने इन्हें भी मूसलोंसे मारा। प्रभो! इस प्रकार तपस्यामें स्थित हुए उस ब्राह्मणको यहाँतक लानेमें मृत्युसहित हम सब लोग समर्थ न हो सके। महाभाग! उस ब्राह्मणका जो तप है, उसे आप बतलाइये। वह किस देवताका ध्यान कर रहा था और जिन लोगोंने हमें मारा, वे कौन थे? ॥ २—७ ॥

व्यास उवाच

इत्युक्तः किंकरैः सर्वैर्मृत्युना च महामते ।
ध्यात्वा क्षणं महाबुद्धिः प्राह वैवस्वतो यमः ॥ ८ ॥

व्यासजी कहते हैं—महामते! मृत्यु तथा समस्त दूतोंके इस प्रकार कहनेपर महाबुद्धि सूर्यकुमार यमने क्षणभर ध्यान करके कहा ॥ ८ ॥

यम उवाच

शृण्वन्तु किंकराः सर्वे मृत्युश्चान्ये च मे वचः ।
सत्यमेतत्प्रवक्ष्यामि ज्ञानं यद्योगमार्गतः ॥ ९ ॥
भृगोः पौत्रो महाभागो मार्कण्डेयो महामतिः ।
स ज्ञात्वाद्यात्मनः कालं गतो मृत्युजिगीषया ॥ १० ॥
भृगुणोक्तेन मार्गेण स तेपे परमं तपः ।
हरिमाराध्य मेधावी जपन् वै द्वादशाक्षरम् ॥ ११ ॥
एकाग्रेणैव मनसा ध्यायते हृदि केशवम् ।
सततं योगयुक्तस्तु स मुनिस्तत्र किंकराः ॥ १२ ॥
हरिध्यानमहादीक्षाबलं तस्य महामुनेः ।
नान्यद्वै प्राप्तकालस्य बलं पश्यामि किंकराः ॥ १३ ॥
हृदिस्थे पुण्डरीकाक्षे सततं भक्तवत्सले ।
पश्यन्तं विष्णुभूतं नु को हि स्यात् केशवाश्रयम् ॥ १४ ॥

यम बोले—मृत्यु तथा मेरे अन्य सभी किंकर आज मेरी बात सुनें—योगमार्ग (समाधि) के द्वारा मैंने इस समय जो कुछ जाना है, वही सच-सच बतला रहा हूँ। भृगुके पौत्र महाबुद्धिमान् महाभाग मार्कण्डेयजी आजके दिन अपनी मृत्यु जानकर मृत्युको जीतनेकी इच्छासे तपोवनमें गये थे। वहाँ उन बुद्धिमान्‌ने भृगुजीके बतलाये हुए मार्गके अनुसार भगवान् विष्णुकी आराधना एवं द्वादशाक्षर मन्त्रका

जप करते हुए उत्कृष्ट तपस्या की है। दूतो! वे मुनि निरन्तर योगयुक्त होकर वहाँ एकाग्रचित्तसे अपने हृदयमें केशवका ध्यान कर रहे हैं। किंकरो! उस महामुनिको भगवान् विष्णुके ध्यानकी महादीक्षाका ही बल प्राप्त है; क्योंकि जिसका मरणकाल प्राप्त हो गया है, उसके लिये मैं दूसरा कोई बल नहीं देखता। भक्तवत्सल, कमललोचन भगवान् विष्णुके निरन्तर हृदयस्थ हो जानेपर उस विष्णुस्वरूप भगवच्छरणागत पुरुषकी ओर कौन देख सकता है? ॥ ९—१४ ॥

तेऽपि वै पुरुषा विष्णोर्यैर्यूयं ताडिता भृशम्।
अत ऊर्ध्वं न गन्तव्यं यत्र वै वैष्णवाः स्थिताः ॥१५॥
न चित्रं ताडनं तत्र अहं मन्ये महात्मभिः।
भवतां जीवनं चित्रं यक्षैर्दत्तं कृपालुभिः ॥१६॥
नारायणपरं विप्रं कस्तं वीक्षितुमुत्सहेत्।
युष्माभिश्च महापापैर्मार्कण्डेयं हरिप्रियम्।
समानेतुं कृतो यत्नः समीचीनं न तत्कृतम् ॥१७॥
नरसिंहं महादेवं ये नराः पर्युपासते।
तेषां पार्श्वे न गन्तव्यं युष्माभिर्मम शासनात् ॥१८॥

वे पुरुष भी, जिन्होंने तुम्हें बहुत मारा है, भगवान् विष्णुके ही दूत हैं। आजसे जहाँ वैष्णव हों, वहाँ तुमलोग न जाना। उन महात्माओंके द्वारा तुम्हारा मारा जाना आश्चर्यकी बात नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि उन दयालु महापुरुषोंने तुम्हें जीवित रहने दिया है। भला, नारायणके ध्यानमें तत्पर हुए उस ब्राह्मणको देखनेका भी साहस कौन कर सकता है? तुम महापापियोंने भगवान्‌के प्रिय भक्त मार्कण्डेयजीको जो यहाँ लानेका प्रयत्न किया है, यह अच्छा नहीं किया। आजसे तुमलोग मेरी आज्ञा मानकर उन महात्माओंके पास न जाना, जो महादेव भगवान् नृसिंहकी उपासना करते हों ॥ १५—१८ ॥

श्रीव्यास उवाच

स एवं किंकरानुक्त्वा मृत्युं च पुरतः स्थितम्।
यमो निरीक्ष्य च जनं नरकस्थं प्रपीडितम् ॥१९॥
कृपया परया युक्तो विष्णुभक्त्या विशेषतः।
जनस्यानुग्रहार्थाय तेनोक्ताश्च गिरः शृणु ॥२०॥
नरके पच्यमानस्य यमेन परिभाषितम्।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः ॥२१॥
उदकेनाप्यलाभे तु द्रव्याणां पूजितः प्रभुः।
यो ददाति स्वकं लोकं स त्वया किं न पूजितः ॥२२॥
नरसिंहो हृषीकेशः पुण्डरीकनिभेक्षणः।
स्मरणान्मुक्तिदो नृणां स त्वया किं न पूजितः ॥२३॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—शुकदेव! यमने अपने सामने खड़े हुए मृत्युदेव और दूतोंसे इस प्रकार कहकर नरकमें पड़े हुए पीड़ित मनुष्योंकी ओर देखा तथा अत्यन्त कृपा एवं विशेषतः विष्णुभक्तिसे युक्त होकर नारकीय जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये जो बातें कहीं, उन्हें तुम सुनो। नरकमें यातना सहते हुए जीवोंसे यमने कहा—'पापसे कष्ट पानेवाले जीव! तुमने क्लेशनाशक भगवान् केशवकी पूजा क्यों नहीं की? पूजन-सम्बन्धी द्रव्योंके न मिलनेपर केवल जलमात्रसे भी पूजित होनेपर जो भगवान् पूजकको अपना लोकतक दे डालते हैं, उनकी पूजा तुमने क्यों नहीं की? कमलके समान लोचनोंवाले, नरसिंहरूपधारी जो भगवान् हृषीकेश स्मरणमात्रसे ही मनुष्योंको मुक्ति देनेवाले हैं, उनकी पूजा तुमने क्यों नहीं की?' ॥ १९—२३ ॥

इत्युक्त्वा नारकान् सर्वान् पुनराह स किंकरान्।
वैवस्वतो यमः साक्षाद्विष्णुभक्तिसमन्वितः ॥२४॥
नारदाय स विश्वात्मा प्राहैवं विष्णुरव्ययः।
अन्येभ्यो वैष्णवेभ्यश्च सिद्धेभ्यः सततं श्रुतम् ॥२५॥
तद्वः प्रीत्या प्रवक्ष्यामि हरिवाक्यमनुत्तमम्।
शिक्षार्थं किंकराः सर्वे शृणुत प्रणता हरेः ॥२६॥

नरकमें पड़े हुए जीवोंके प्रति यों कहकर विष्णुभक्तिसे युक्त सूर्यनन्दन यमने अपने किंकरोंसे पुनः कहा—'किंकरो! अविनाशी विश्वात्मा भगवान् विष्णुने नारदजीसे जैसा कहा था और अन्य वैष्णवों तथा सिद्धोंसे जैसा सदा ही सुना गया है, वह अत्यन्त उत्तम भगवद्वाक्य मैं प्रसन्न होकर तुम लोगोंसे शिक्षाके लिये कह रहा हूँ। तुम सभी भगवान्‌के शरणागत होकर सुनो ॥ २४—२६ ॥

हे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥२७॥
पुण्डरीकाक्ष देवेश नरसिंह त्रिविक्रम।
त्वामहं शरणं प्राप्त इति यस्तं समुद्धरे ॥२८॥

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव जनार्दन ।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥२९॥

भगवान् कहते हैं—'हे कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण !' —इस प्रकार जो मेरा नित्य स्मरण करता है, उसको मैं उसी प्रकार नरकसे निकाल लेता हूँ, जैसे जलको भेदकर कमल बाहर निकल आता है। 'पुण्डरीकाक्ष ! देवेश्वर नरसिंह ! त्रिविक्रम ! मैं आपकी शरणमें पड़ा हूँ'—यों जो कहता है, उसका मैं उद्धार कर देता हूँ। 'देवाधिदेव ! जनार्दन ! मैं आपकी शरणमें आ गया हूँ'—इस प्रकार जो मेरा शरणागत होता है, उसे मैं क्लेशसे मुक्त कर देता हूँ ॥ २७–२९ ॥

व्यास उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य हरिवाक्यं यमेन च ।
नारकाः कृष्णकृष्णेति नारसिंहेति चुक्रुशुः ॥३०॥
यथा यथा हरेर्नाम कीर्तयन्त्यत्र नारकाः ।
तथा तथा हरेर्भक्तिमुद्वहन्तोऽब्रुवन्निदम् ॥३१॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! यमराजके कहे हुए इस भगवद्वाक्यको सुनकर नरकमें पड़े हुए जीव 'कृष्ण ! कृष्ण ! नरसिंह !' इत्यादि भगवन्नामोंका जोरसे उच्चारण करने लगे। नारकीय जीव वहाँ ज्यों-ज्यों भगवन्नामका कीर्तन करते थे, त्यों-ही-त्यों भगवद्भक्तिसे युक्त होते जाते थे। इस तरह भक्ति-भावसे पूर्ण हो वे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३०-३१ ॥

नारका ऊचुः

ॐ नमो भगवते तस्मै केशवाय महात्मने ।
यन्नामकीर्तनात्सद्यो नरकाग्निः प्रशाम्यति ॥३२॥
भक्तप्रियाय देवाय रक्षाय हरये नमः ।
लोकनाथाय शान्ताय यज्ञेशायादिमूर्तये ॥३३॥
अनन्तायाप्रमेयाय नरसिंहाय ते नमः ।
नारायणाय गुरवे शङ्खचक्रगदाभृते ॥३४॥
वेदप्रियाय महते विक्रमाय नमो नमः ।
वाराहायाप्रतर्क्याय वेदाङ्गाय महीभृते ॥३५॥
नमो द्युतिमते नित्यं ब्राह्मणाय नमो नमः ।
वामनाय बहुज्ञाय वेदवेदाङ्गधारिणे ॥३६॥
बलिबन्धनदक्षाय वेदपालाय ते नमः ।
विष्णवे सुरनाथाय व्यापिने परमात्मने ॥३७॥
चतुर्भुजाय शुद्धाय शुद्धद्रव्याय ते नमः ।
जामदग्न्याय रामाय दुष्टक्षत्रान्तकारिणे ॥३८॥
रामाय रावणान्ताय नमस्तुभ्यं महात्मने ।
अस्मानुद्धर गोविन्द पूतिगन्धान्नमोऽस्तु ते ॥३९॥

नरकस्थ जीव बोले—'ॐ' जिनका नाम कीर्तन करनेसे नरककी ज्वाला तत्काल शान्त हो जाती है, उन महात्मा भगवान् केशवको नमस्कार है। जो यज्ञोंके ईश्वर, आदिमूर्ति, शान्तस्वरूप और संसारके स्वामी हैं, उन भक्त-प्रिय, विश्वपालक भगवान् विष्णुको नमस्कार है। अनन्त, अप्रमेय नरसिंहस्वरूप, शङ्ख-चक्र-गदा धारण करनेवाले, लोकगुरु आप श्रीनारायणको नमस्कार है। वेदोंके प्रिय, महान् एवं विशिष्ट गतिवाले भगवान्‌को नमस्कार है। तर्कके अविषय, वेदस्वरूप, पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् वाराहको प्रणाम है। ब्राह्मणकुलमें अवतीर्ण, वेद-वेदाङ्गोंके ज्ञाता और अनेक विषयोंका ज्ञान रखनेवाले कान्तिमान् भगवान् वामनको नमस्कार है। बलिको बाँधनेवाले, वेदके पालक, देवताओंके स्वामी, व्यापक, परमात्मा आप वामनरूपधारी विष्णु भगवान्‌को प्रणाम है। शुद्ध द्रव्यमय, शुद्धस्वरूप भगवान् चतुर्भुजको नमस्कार है। दुष्ट क्षत्रियोंका अन्त करनेवाले जमदग्निनन्दन भगवान् परशुरामको प्रणाम है। रावणका वध करनेवाले आप महात्मा श्रीरामको नमस्कार है। गोविन्द ! आपको बारंबार प्रणाम है। आप इस दुर्गन्धपूर्ण नरकसे हमारा उद्धार करें ॥ ३२–३९ ॥

व्यास उवाच

इति संकीर्तिते विष्णौ नारकैर्भक्तिपूर्वकम् ।
तदा सा नारकी पीडा गता तेषां महात्मनाम् ॥४०॥
कृष्णरूपधराः सर्वे दिव्यवस्त्रविभूषिताः ।
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गा दिव्याभरणभूषिताः ॥४१॥
तानारोप्य विमानेषु दिव्येषु हरिपूरुषाः ।
तर्जयित्वा यमभटान् नीतास्ते केशवालयम् ॥४२॥
नारकेषु च सर्वेषु नीतेषु हरिपूरुषैः ।
विष्णुलोकं यमो भूयो नमश्चक्रे तदा हरिम् ॥४३॥
यन्नामकीर्तनाद्याता नारकाः केशवालयम् ।
तं नमामि सदा देवं नरसिंहमहं गुरुम् ॥४४॥

तस्य वै नरसिंहस्य विष्णोरमिततेजसः।
प्रणामं येऽपि कुर्वन्ति तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥४५॥

व्यासजी कहते हैं—शुकदेव! इस प्रकार नरकमें पड़े हुए जीवोंने जब भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुका कीर्तन किया, तब उन महात्माओंकी नरक-पीड़ा तत्काल दूर हो गयी। वे सभी अपने अङ्गोंमें दिव्य गन्धका अनुलेप लगाये, दिव्य वस्त्र और भूषणोंसे विभूषित हो, श्रीकृष्णस्वरूप हो गये। फिर भगवान् विष्णुके किंकर यमदूतोंकी भर्त्सना करके उन्हें दिव्य विमानोंपर बिठाकर विष्णुधामको ले गये। विष्णुदूतोंद्वारा सभी नरकस्थ जीवोंके विष्णुलोकमें ले जाये जानेपर यमराजने पुनः भगवान् विष्णुको प्रणाम किया। 'जिनके नामकीर्तनसे नरकमें पड़े हुए जीव विष्णुधामको चले गये, उन गुरुदेव नरसिंह भगवान्‌को मैं सदा प्रणाम करता हूँ। उन अमित तेजस्वी नरसिंहस्वरूप भगवान् विष्णुको जो प्रणाम करते हैं, उन्हें भी मेरा बार-बार नमस्कार है' ॥ ४०—४५ ॥

दृष्ट्वा प्रशान्तं नरकाग्निमुग्रं
यन्त्रादि सर्वं विपरीतमत्र।
पुनः स शिक्षार्थमथात्मदूतान्
यमो हि वक्तुं कृतवान् मनः स्वयम् ॥४६॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे यमगीता नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

उग्र नरकाग्निको शान्त और सभी यन्त्र आदिको विपरीत दशामें पड़े देखकर यमराजने स्वयं ही पुनः अपने दूतोंको शिक्षा देनेके लिये मनमें विचार किया ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'यमगीता' नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

यमाष्टक—यमराजका अपने दूतके प्रति उपदेश

श्रीव्यास उवाच

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥ १ ॥

अहममरगणार्चितेन धात्रा
यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः।
हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्
हरिचरणप्रणतान्नमस्करोमि ॥ २ ॥

सुगतिमभिलषामि वासुदेवा-
दहमपि भागवते स्थितान्तरात्मा।
मधुवधवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः
प्रभवति संयमने ममापि कृष्णः ॥ ३ ॥

भगवति विमुखस्य नास्ति सिद्धि-
र्विषममृतं भवतीति नेदमस्ति।
वर्षशतमपीह पच्यमानं
व्रजति न काञ्चनतामयः कदाचित् ॥ ४ ॥

नहि शशिकलुषच्छविः कदाचिद्-
विरमति नो रवितामुपैति चन्द्रः।
भगवति च हरावनन्यचेता
भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ॥ ५ ॥

महदपि सुविचार्य लोकतत्त्वं
भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ति।
सुरगुरुसुदृढप्रसाददौ तौ
हरिचरणौ स्मरतापवर्गहेतोः ॥ ६ ॥

शुभमिदमुपलभ्य मानुषत्वं
सुकृतशतेन वृथेन्द्रियार्थहेतोः।
रमयति कुरुते न मोक्षमार्गं
दहयति चन्दनमाशु भस्महेतोः ॥ ७ ॥

मुकुलितकरकुड्मलैः सुरेन्द्रैः
सततनमस्कृतपादपङ्कजो यः।
अविहतगतये सनातनाय
जगति जनिं हरते नमोऽग्रजाय ॥ ८ ॥

श्रीव्यासजी बोले—अपने किंकरको हाथमें पाश लिये

कहीं जानेको उद्यत देखकर यमराज उसके कानमें कहते हैं—"दूत ! तुम भगवान् मधुसूदनकी शरणमें गये हुए प्राणियोंको छोड़ देना; क्योंकि मेरी प्रभुता दूसरे मनुष्योंपर ही चलती है, वैष्णवोंपर मेरा प्रभुत्व नहीं है। देवपूजित ब्रह्माजीने मुझे 'यम' कहकर लोगोंके पुण्य-पापका विचार करनेके लिये नियुक्त किया है। जो विष्णु और गुरुसे विमुख हैं, मैं उन्हीं मनुष्योंका शासन करता हूँ। जो श्रीहरिके चरणोंमें शीश झुकानेवाले हैं, उन्हें तो मैं स्वयं ही प्रणाम करता हूँ। भगवद्भक्तोंके चिन्तन एवं स्मरणमें अपना मन लगाकर मैं भी भगवान् वासुदेवसे अपनी सुगति चाहता हूँ। मैं मधुसूदनके वशमें हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। भगवान् विष्णु मेरा भी नियन्त्रण करनेमें समर्थ हैं। जो भगवान्से विमुख है, उसे कभी सिद्धि (मुक्ति) नहीं प्राप्त हो सकती; विष अमृत हो जाय, ऐसा कभी सम्भव नहीं है; लोहा सैकड़ों वर्षोंतक आगमें तपाया जाय, तो भी कभी सोना नहीं हो सकता; चन्द्रमाकी कलङ्कित कान्ति कभी निष्कलङ्क नहीं हो सकती; वह कभी सूर्यके समान प्रकाशमान नहीं हो सकता; परंतु जो अनन्यचित्त होकर भगवान् विष्णुके चिन्तनमें लगा है, वह मनुष्य अपने शरीरसे अत्यन्त मलिन होनेपर भी बड़ी शोभा पाता है। महान् लोकतत्त्वका अच्छी तरह विचार करनेपर भी यही निश्चित होता है कि भगवान्की उपासनाके बिना सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती; इसलिये देवगुरु बृहस्पतिके ऊपर सुदृढ़ अनुकम्पा करनेवाले भगवच्चरणोंका तुमलोग मोक्षके लिये स्मरण करते रहो। जो लोग सैकड़ों पुण्योंके फलस्वरूप इस सुन्दर मनुष्य-शरीरको पाकर भी व्यर्थ विषयसुखोंमें रमण करते हैं, मोक्षपथका अनुसरण नहीं करते, वे मानो राखके लिये जल्दी-जल्दी चन्दनकी लकड़ीको फूँक रहे हैं। बड़े-बड़े देवेश्वर हाथ जोड़कर मुकुलित कर पङ्कज-कोष-द्वारा जिन भगवान्के चरणारविन्दोंको प्रणाम करते हैं तथा जिनकी गति कभी और कहीं भी प्रतिहत नहीं होती, उन भव-जन्मनाशक एवं सबके अग्रज सनातन पुरुष भगवान् विष्णुको नमस्कार है" ॥ १—८ ॥

यमाष्टकमिदं पुण्यं पठते यः शृणोति वा ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ९ ॥
इतीदमुक्तं यमवाक्यमुत्तमं
मयाधुना ते हरिभक्तिवर्द्धनम् ।
पुनः प्रवक्ष्यामि पुरातनीं कथां
भृगोस्तु पौत्रेण च या पुरा कृता ॥ १० ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—इस पवित्र यमाष्टकको जो पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकको चला जाता है। भगवान् विष्णुकी भक्तिको बढ़ानेवाला यमराजका यह उत्तम वचन मैंने इस समय तुमसे कहा है; अब पुनः उसी पुरानी कथाको अर्थात् भृगुके पौत्र मार्कण्डेय-जीने पूर्वकालमें जो कुछ किया था, उसको कहूँगा ॥ ९-१० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दसवाँ अध्याय

मार्कण्डेयका विवाह कर वेदशिराको उत्पन्न करके प्रयागमें अक्षयवटके नीचे तप एवं भगवान्की स्तुति करना; फिर आकाशवाणीके अनुसार स्तुति करनेपर भगवान्का उन्हें आशीर्वाद एवं वरदान देना तथा मार्कण्डेयजीका क्षीरसागरमें जाकर पुनः उनका दर्शन करना

श्रीव्यास उवाच

जित्वैवमात्मनो मृत्युं तपसा शंसितव्रतः ।
स जगाम पितुर्गेहं मार्कण्डेयो महामतिः ॥ १ ॥
कृत्वा विवाहं धर्मेण भृगोर्वाक्यविशेषतः ।
स वेदशिरसं पुत्रमुत्पाद्य च विधानतः ॥ २ ॥
इष्ट्वा यज्ञैस्तु देवेशं नारायणमनामयम् ।
श्राद्धेन तु पितॄन्निष्ट्वा अन्नदानेन चातिथीन् ॥ ३ ॥
प्रयागमासाद्य पुनः स्नात्वा तीर्थे वरीयसि ।
मार्कण्डेयो महातेजास्तेपे [illegible] तपः ॥ ४ ॥

यस्य प्रसादेन पुरा जितवान् मृत्युमात्मनः ।
तं देवं द्रष्टुमिच्छन् यः स तेपे परमं तपः ॥ ५ ॥
वायुभक्षश्चिरं कालं तपसा शोषयंस्तनुम् ।
एकदा तु महातेजा मार्कण्डेयो महामतिः ॥ ६ ॥
आराध्य माधवं देवं गन्धपुष्पादिभिः शुभैः ।
अग्रे व्यग्रमनाः स्थित्वा हृदये तमनुस्मरन् ।
शङ्खचक्रगदापाणिं तुष्टाव गरुडध्वजम् ॥ ७ ॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—शुकदेव ! इस प्रकार तपस्याद्वारा अपनी मृत्युको जीतकर प्रशंसित व्रतवाले महाबुद्धिमान् मार्कण्डेयजी पिताके घर गये । वहाँ भृगुजीके विशेष आग्रहसे धर्मपूर्वक विवाह करके उन्होंने विधिके अनुसार 'वेदशिरा' नामक एक पुत्र उत्पन्न किया । तत्पश्चात् निरामय (निर्विकार) देवेश्वर भगवान् नारायणका यज्ञोंद्वारा यजन करते हुए उन्होंने श्राद्धसे पितरोंका और अन्नदानसे अतिथियोंका पूजन किया । इसके बाद पुनः प्रयागमें जाकर वहाँके श्रेष्ठतम तीर्थ त्रिवेणीमें स्नान करके महातेजस्वी मार्कण्डेयजी अक्षयवटके नीचे तप करने लगे । जिनके कृपाप्रसादसे उन्होंने पूर्वकालमें मृत्युपर विजय प्राप्त की थी, उन्हीं देवाधिदेवके दर्शनकी इच्छासे उन्होंने उत्कृष्ट तपस्या आरम्भ की । दीर्घकालतक केवल वायु पीकर तपस्याद्वारा अपने शरीरको सुखाते हुए वे महातेजस्वी महाबुद्धिमान् मार्कण्डेयजी एक दिन गन्ध-पुष्प आदि शुभ उपकरणोंसे भगवान् वेणीमाधवकी आराधना करके उनके सम्मुख स्वस्थचित्तसे खड़े हो गये और हृदयमें उन्हीं शङ्ख-चक्र-गदाधारी गरुडध्वज भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ १-७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

नरं नृसिंहं नरनाथमच्युतं
प्रलम्बबाहुं कमलायतेक्षणम् ।
क्षितीश्वरैरर्चितपादपङ्कजं
नमामि विष्णुं पुरुषं पुरातनम् ॥ ८ ॥
जगत्पतिं क्षीरसमुद्रमन्दिरं
तं शार्ङ्गपाणिं मुनिवृन्दवन्दितम् ।
श्रियःपतिं श्रीधरमीशमीश्वरं
नमामि गोविन्दमनन्तवर्चसम् ॥ ९ ॥
अजं वरेण्यं जनदुःखनाशनं
गुरुं पुराणं पुरुषोत्तमं प्रभुम् ।
सहस्रसूर्यद्युतिमन्तमच्युतं
नमामि भक्त्या हरिमाद्यमाधवम् ॥ १० ॥
पुरस्कृतं पुण्यवतां परां गतिं
क्षितीश्वरं लोकपतिं प्रजापतिम् ।
परं पराणामपि कारणं हरिं
नमामि लोकत्रयकर्मसाक्षिणम् ॥ ११ ॥
भोगे त्वनन्तस्य पयोदधौ सुरः
पुरा हि शेते भगवाननादिकृत् ।
क्षीरोदवीचीकणिकाम्बुनोक्षितं
तं श्रीनिवासं प्रणतोऽस्मि केशवम् ॥ १२ ॥
यो नारसिंहं वपुरास्थितो महान्
सुरो मुरारिर्मधुकैटभान्तकृत् ।
समस्तलोकार्तिहरं हिरण्यकं
नमामि विष्णुं सततं नमामि तम् ॥ १३ ॥
अनन्तमव्यक्तमतीन्द्रियं विभुं
स्वे स्वे हि रूपे स्वयमेव संस्थितम् ।
योगेश्वरैरेव सदा नमस्कृतं
नमामि भक्त्या सततं जनार्दनम् ॥ १४ ॥
आनन्दमेकं विरजं चिदात्मकं
वृन्दालयं योगिभिरेव पूजितम् ।
अणोरणीयांसमवृद्धिमक्षयं
नमामि भक्तप्रियमीश्वरं हरिम् ॥ १५ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—जो भगवान् श्रेष्ठ नर, नृसिंह और नरनाथ (मनुष्योंके स्वामी) हैं, जिनकी भुजाएँ लंबी हैं, नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान विशाल हैं तथा चरणारविन्द असंख्य भूपतियोंद्वारा पूजित हैं, उन पुरातन पुरुष भगवान् विष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ । जो संसारके पालक हैं, क्षीरसमुद्र जिनका निवास-स्थान है, जो हाथमें शार्ङ्ग-धनुष धारण किये रहते हैं, मुनिवृन्द जिनकी वन्दना करते हैं, जो लक्ष्मीके पति हैं और लक्ष्मीको निरन्तर अपने हृदयमें धारण करते हैं, उन सर्वसमर्थ, सर्वेश्वर, अनन्त तेजोमय

भगवान् गोविन्दको मैं प्रणाम करता हूँ । जो अजन्मा, सबके वरणीय, जन-समुदायके दुःखोंका नाश करनेवाले, गुरु, पुराण-पुरुषोत्तम एवं सबके स्वामी हैं, सहस्रों सूर्योंके समान जिनकी कान्ति है तथा जो अच्युतस्वरूप हैं, उन आदि-माधव भगवान् विष्णुको मैं भक्तिभावसे प्रणाम करता हूँ । जो पुण्यात्मा भक्तोंके ही समक्ष सगुण-साकार रूपसे प्रकट होते हैं, सबकी परमगति हैं, भूमि, लोक और प्रजाओंके पति हैं, 'पर' अर्थात् कारणोंके भी परम कारण हैं तथा तीनों लोकोंके कर्मोंके साक्षी हैं, उन भगवान् विष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ । जो अनादि विधाता भगवान् पूर्वकालमें क्षीर-समुद्रके भीतर 'अनन्त' नामक शेषनागके शरीररूपी शय्यापर सोये थे, क्षीरसिन्धुकी तरङ्गोंके जलकणोंसे अभिषिक्त होनेवाले उन लक्ष्मीनिवास भगवान् केशवको मैं प्रणाम करता हूँ । जिन्होंने नरसिंहस्वरूप धारण किया है, जो महान् देवता हैं, मुर दैत्यके शत्रु हैं, मधु तथा कैटभ नामक दैत्योंका अन्त करनेवाले हैं और समस्त लोकोंकी पीड़ा दूर करनेवाले एवं हिरण्यगर्भ हैं, उन भगवान् विष्णुको मैं सदा नमस्कार करता हूँ । जो अनन्त, अव्यक्त, इन्द्रियातीत, सर्वव्यापी और अपने विभिन्न रूपोंमें स्वयं ही प्रतिष्ठित हैं तथा योगेश्वरगण जिनके चरणोंमें सदा ही मस्तक झुकाते हैं, उन भगवान् जनार्दनको मैं भक्तिपूर्वक निरन्तर प्रणाम करता हूँ । जो आनन्दमय, एक (अद्वितीय), रजोगुणसे रहित, ज्ञानस्वरूप, वृन्दा (लक्ष्मी) के धाम और योगियोंद्वारा पूजित हैं; जो अणुसे भी अत्यन्त अणु और वृद्धि तथा क्षयसे शून्य हैं, उन भक्तप्रिय भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ८–१५ ॥

श्रीव्यास उवाच

इति स्तोत्रावसाने तं वागुवाचाशरीरिणी ।
मार्कण्डेयं महाभागं तीर्थेऽनु तपसि स्थितम् ॥१६॥
किमर्थं क्लिश्यते ब्रह्मंस्त्वया यो नैव दृश्यते ।
माधवः सर्वतीर्थेषु यावन्न स्नानमाचरेः ॥१७॥
इत्युक्तः सर्वतीर्थेषु स्नात्वोवाच महामतिः ।
कृत्वा कृत्वा सर्वतीर्थे स्नानं चैव कृतं भवेत् ।
तद्वद त्वं मम प्रीत्या योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ।१८।

श्रीव्यासजी कहते हैं—वत्स ! इस प्रकार स्तुति समाप्त होनेपर उस तीर्थमें तपस्या करनेवाले उन महाभाग मार्कण्डेयजीसे आकाशवाणीने कहा—'ब्रह्मन् ! क्यों क्लेश उठा रहे हो, तुम्हें जो भगवान् माधवका दर्शन नहीं हो रहा है, वह तभीतक जबतक तुम समस्त तीर्थोंमें स्नान नहीं कर लेते' उसके यों कहनेपर महामति मार्कण्डेयजीने समस्त तीर्थोंमें स्नान किया (परंतु जब फिर भी दर्शन नहीं हुआ, तब उन्होंने आकाशवाणीको लक्ष्य करके कहा—) 'जो कार्य करनेसे समस्त तीर्थोंमें स्नान करना सफल होता है, अथवा समस्त तीर्थोंमें स्नानका फल मिल जाता है, वह कार्य मुझे प्रसन्न होकर आप बतलाइये । आप जो भी हों, आपको नमस्कार है' ॥ १६–१८ ॥

वागुवाच

स्तोत्रेणानेन विप्रेन्द्र स्तुहि नारायणं प्रभुम् ।
नान्यथा सर्वतीर्थानां फलं प्राप्स्यसि सुव्रत ॥१९॥

आकाशवाणीने कहा—विप्रेन्द्र ! सुव्रत ! इस स्तोत्रसे प्रभुवर नारायणका स्तवन करो; और किसी उपायसे तुम्हें समस्त तीर्थोंका फल नहीं प्राप्त होगा ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तदेवाख्याहि भगवन् स्तोत्रं तीर्थफलप्रदम् ।
येन जप्तेन सकलं तीर्थस्नानफलं लभेत् ॥२०॥

मार्कण्डेयजी बोले—भगवन् ! जिसका जप करनेसे तीर्थस्नानका सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है, वह तीर्थ-फलदायक स्तोत्र कौन-सा है ? उसे ही मुझे बताइये ॥ २० ॥

वागुवाच

जय जय देवदेव जय माधव केशव ।
जय पद्मपलाशाक्ष जय गोविन्द गोपते ॥२१॥
जय जय पद्मनाभ जय वैकुण्ठ वामन ।
जय पद्म हृषीकेश जय दामोदराच्युत ॥२२॥
जय पद्मेश्वरानन्त जय लोकगुरो जय ।
जय शङ्खगदापाणे जय भूधरसूकर ॥२३॥
जय यज्ञेश वाराह जय भूधर भूमिप ।
जय योगेश योगज्ञ जय योगप्रवर्त्तक ॥२४॥
जय योगप्रवर्त्तक जय धर्मप्रवर्त्तक ।
कृतप्रिय जय जय यज्ञेश यज्ञाङ्ग जय ॥२५॥
जय वन्दितसद्द्विज जय नारदसिद्धिद ।
जय पुण्यवतां गेह जय वैदिकभाजन ॥२६॥

जय जय चतुर्भुज(श्री)जयदेव जय दैत्यभयावह।
जय सर्वज्ञ सर्वात्मन् जय शंकर शाश्वत ॥२७॥
जय विष्णो महादेव जय नित्यमधोक्षज।
प्रसादं कुरु देवेश दर्शयाद्य स्वकां तनुम् ॥२८॥

आकाशवाणीने कहा—देवदेव! माधव! केशव! आपकी जय हो, जय हो। आपके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पाते हैं। गोविन्द! गोपते! आपकी जय हो, जय हो। पद्मनाभ! वैकुण्ठ! वामन! आपकी जय हो, जय हो, जय हो। पद्मस्वरूप हृषीकेश आपकी जय हो। दामोदर! अच्युत! आपकी जय हो। लक्ष्मीपते! अनन्त! आपकी जय हो। लोकगुरो! आपकी जय हो, जय हो। शङ्ख और गदा धारण करनेवाले तथा पृथ्वीको उठानेवाले भगवान् वाराह! आपकी जय हो, जय हो। यज्ञेश्वर! पृथ्वीका धारण तथा पोषण करनेवाले वाराह! आपकी जय हो, जय हो। योगके ईश्वर, ज्ञाता और प्रवर्तक! आपकी जय हो, जय हो। योग और धर्मके प्रवर्तक! आपकी जय हो, जय हो। कर्मप्रिय! यज्ञेश्वर! यज्ञाङ्ग! आपकी जय हो, जय हो, जय हो। उत्तम ब्राह्मणोंकी वन्दना करने—उन्हें सम्मान देनेवाले देवता! आपकी जय हो और नारदजीको सिद्धि देनेवाले परमेश्वर! आपकी जय हो। पुण्यवानोंके आश्रय, वैदिक वाणीके चरम तात्पर्यभूत एवं वेदोक्त कर्मोंके परम आश्रय नारायण! आपकी जय हो, जय हो। चतुर्भुज! आपकी जय हो। दैत्योंको भय देनेवाले श्रीजयदेव! आपकी जय हो, जय हो। सर्वज्ञ! सर्वात्मन्! आपकी जय हो। सनातनदेव! कल्याणकारी भगवन्! आपकी जय हो, जय हो। महादेव! विष्णो! अधोक्षज! देवेश्वर! आप मुझपर प्रसन्न होइये और आज मुझे अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराइये॥ २१—२८॥

व्यास उवाच

इत्येवं कीर्तिते तेन मार्कण्डेयेन धीमता।
प्रादुर्बभूव भगवान् पीतवासा जनार्दनः ॥२९॥
शङ्खचक्रगदापाणिः सर्वाभरणभूषितः।
तेजसा द्योतयन् सर्वा दिशो विष्णुः सनातनः ॥३०॥
तं दृष्ट्वा सहसा भूमौ चिरप्रार्थितदर्शनम्।
प्रयातः शिरसा वश्यो भक्त्या स भृगुनन्दनः ॥३१॥
निपत्योत्पत्य च पुनःपुनः साङ्गं महामनाः।
प्रबद्धसम्पुटकरो गोविन्दं पुरतः स्तुवन् ॥३२॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—शुकदेव! आकाशवाणीके कथनानुसार जब बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने इस प्रकार भगवन्नामोंका कीर्तन किया, तब पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन वहाँ प्रकट हो गये। वे सनातन भगवान् विष्णु हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा लिये, समस्त आभूषणोंसे भूषित हो अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। भृगुवंशको आनन्दित करनेवाले मार्कण्डेयजीने भगवान्‌को, जिनका दर्शन चिरकालसे प्रार्थित था, सहसा सामने प्रकट हुआ देख, भक्तिविवश हो, भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। भूमिपर गिर-गिरकर बारंबार साष्टाङ्ग प्रणाम करके, खड़े हो, महामना मार्कण्डेय दोनों हाथ जोड़ सामने उपस्थित हुए भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करने लगे॥ २९—३२॥

मार्कण्डेय उवाच

नमोऽस्तु ते देवदेव महाचित्त महाकाय महाप्राज्ञ महादेव महाकीर्ते ब्रह्मेन्द्रचन्द्ररुद्रार्चितपाद-युगल श्रीपद्महस्त सम्मर्दितदैत्यदेह ॥३३॥ अनन्त-भोगशयनार्पितसर्वाङ्ग सनकसनन्दनसनत्कुमारा-द्यैर्योगिभिर्नासाग्रन्यस्तलोचनैरनवरतमभिचिन्तित-मोक्षतत्त्व। गन्धर्वविद्याधरयक्षकिंनरकिम्पुरुषैरह-रहोगीयमानदिव्ययशः ॥३४॥ नृसिंह नारायण पद्मनाभ गोविन्द गोवर्द्धनगुहानिवास योगीश्वर देवेश्वर जलेश्वर महेश्वर ॥३५॥ योगधर महा-मायाधर विद्याधर यशोधर कीर्तिधर त्रिगुणनिवास त्रितत्त्वधर त्रेताग्निधर ॥३६॥ त्रिवेदभाक् त्रिनिकेत त्रिसुपर्ण त्रिदण्डधर ॥३७॥ स्निग्धमेघाभार्चितद्युति-विराजित पीताम्बरधर किरीटकटककेयूरहारमणिरत्नां-शुदीप्तिविद्योतितसर्वदिश ॥३८॥ कनकमणिकुण्डल-मण्डितगण्डस्थल मधुसूदन विश्वमूर्ते ॥३९॥ लोक-नाथ यज्ञेश्वर यज्ञप्रिय तेजोमय भक्तिप्रिय वासुदेव दुरितापहाराराध्य पुरुषोत्तम नमोऽस्तु ते ॥४०॥

मार्कण्डेयजी बोले—महामना! महाकाय! महामते! महादेव! महायशस्वी! देवाधिदेव! आपको नमस्कार है। ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्रमा तथा रुद्र निरन्तर आपके युगल-चरणारविन्दोंकी अर्चना करते हैं। आपके हाथमें शोभाशाली कमल सुशोभित

होता है; आपने दैत्योंके शरीरोंको मसल डाला है, आपको नमस्कार है। आप 'अनन्त' नामसे विख्यात शेषनागके शरीरकी शय्याको अपने सम्पूर्ण अङ्ग समर्पित कर देते हैं—उसीपर शयन करते हैं। सनक, सनन्दन और सनत्कुमार आदि योगीजन अपने नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर सुस्थिर करके नित्य-निरन्तर जिस मोक्षतत्त्वका चिन्तन करते हैं, वह आप ही हैं। गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किंनर और किम्पुरुष प्रतिदिन आपके ही दिव्य सुयशका गान करते रहते हैं। नृसिंह! नारायण! पद्मनाभ! गोविन्द! गिरिराज गोवर्धनकी कन्दरामें क्रीड़ा-विश्रामादिके लिये निवास करनेवाले! योगीश्वर! देवेश्वर! जलेश्वर और महेश्वर! आपको नमस्कार है। योगधर! महामायाधर! विद्याधर! यशोधर! कीर्तिधर! सत्त्वादि तीनों गुणोंके आश्रय! त्रितत्त्वधारी तथा गार्हपत्यादि तीनों अग्नियोंको धारण करनेवाले देव! आपको प्रणाम है। आप ऋक्, साम और यजुष्—इन तीनों वेदोंके परम प्रतिपाद्य, त्रिनिकेत (तीनों लोकोंके आश्रय), त्रिसुपर्ण, मन्त्ररूप और त्रिदण्डधारी हैं; ऐसे आपको प्रणाम है। स्निग्ध मेघकी आभाके सदृश सुन्दर श्यामकान्तिसे सुशोभित, पीताम्बरधारी, किरीट, वलय, केयूर और हारोंमें जटित मणिरत्नोंकी किरणोंसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले नारायणदेव! आपको नमस्कार है। सुवर्ण और मणियोंसे बने हुए कुण्डलोंद्वारा अलंकृत कपोलोंवाले मधुसूदन! विश्वमूर्ते! आपको प्रणाम है। लोकनाथ! यज्ञेश्वर! यज्ञप्रिय! तेजोमय! भक्तिप्रिय वासुदेव! पापहारिन्! आराध्यदेव पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है॥ ३३-४०॥

व्यास उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य भगवांस्तु जनार्दनः।
देवदेवः प्रसन्नात्मा मार्कण्डेयमुवाच ह ॥४१॥

श्रीव्यासजी बोले—इस प्रकार स्तवन सुनकर देवदेव भगवान् जनार्दनने प्रसन्नचित्त होकर मार्कण्डेयजीसे कहा॥४१॥

श्रीभगवानुवाच

तुष्टोऽस्मि भवतो वत्स तपसा महता पुनः।
स्तोत्रैरपि महाबुद्धे नष्टपापोऽसि साम्प्रतम् ॥४२॥
वरं वरय विप्रेन्द्र वरदोऽहं तवाग्रतः।
नातप्ततपसा ब्रह्मन् द्रष्टुं साध्योऽहमञ्जसा ॥४३॥

श्रीभगवान् बोले—वत्स! मैं तुम्हारे महान् तप और फिर स्तोत्रपाठसे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। महाबुद्धे! इस समय तुम्हारा सारा पाप नष्ट हो चुका है। विप्रेन्द्र! मैं तुम्हारे सम्मुख वर देनेके लिये उपस्थित हूँ; वर माँगो। ब्रह्मन्! जिसने तप नहीं किया है, ऐसा कोई भी मनुष्य अनायास ही मेरा दर्शन नहीं पा सकता॥ ४२-४३॥

मार्कण्डेय उवाच

कृतकृत्योऽस्मि देवेश साम्प्रतं तव दर्शनात्।
त्वद्भक्तिमचलामेकां मम देहि जगत्पते ॥४४॥
यदि प्रसन्नो भगवन् मम माधव श्रीपते।
चिरायुष्यं हृषीकेश येन त्वां चिरमर्चये ॥४५॥

मार्कण्डेयजी बोले—देवेश्वर! इस समय आपके दर्शनसे ही मैं कृतार्थ हो गया। जगत्पते! अब तो मुझे एकमात्र अपनी अविचल भक्ति ही दीजिये। माधव! श्रीपते! हृषीकेश! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे चिरकालिक आयु दीजिये, जिससे मैं चिरकालतक आपकी आराधना कर सकूँ॥ ४४-४५॥

श्रीभगवानुवाच

मृत्युस्ते निर्जितः पूर्वं चिरायुस्त्वं च लब्धवान्।
भक्तिरस्त्वचला ते मे वैष्णवी मुक्तिदायिनी ॥४६॥
इदं तीर्थं महाभाग त्वन्नाम्ना ख्यातिमेष्यति।
पुनस्त्वं द्रक्ष्यसे मां वै क्षीराब्धौ योगशायिनम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—मृत्युको तो तुम पहले ही जीत चुके हो, अब चिरकालिक आयु भी तुम्हें प्राप्त हुई। साथ ही, मेरी मुक्तिदायिनी अविचल वैष्णवी भक्ति भी तुम्हें प्राप्त हो। महाभाग! यह तीर्थ आजसे तुम्हारे ही नामसे विख्यात होगा; अब पुनः तुम क्षीरसमुद्रमें योगनिद्राका आश्रय लेकर सोये हुए मेरा दर्शन पाओगे॥ ४६-४७॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षस्तत्रैवान्तरधीयत।
मार्कण्डेयोऽपि धर्मात्मा चिन्तयन्मधुसूदनम् ॥४८॥
अर्चयन् देवदेवेशं जपन् शुद्धं नमन्नपि।
वेदशास्त्राणि पुण्यानि पुराणान्यखिलानि च ॥४९॥
मुनीनां श्रावयामास गाथाश्चैव तपोधनः।
इतिहासानि पुण्यानि पितृतत्त्वं च सत्तमः ॥५०॥

ततः कदाचित् पुरुषोत्तमोक्तं
वचः स्मरन् शास्त्रविदां वरिष्ठः ।
भ्रमन् समुद्रं स जगाम द्रष्टुं
हरिं सुरेशं मुनिरुग्रतेजाः ॥५१॥
श्रमेण युक्तश्चिरकालसम्भ्रमाद्
भृगोः स पौत्रो हरिभक्तिमुद्वहन् ।
क्षीराब्धिमासाद्य हरिं सुरेशं
नागेन्द्रभोगे कृतनिद्रमैक्षत ॥५२॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे मार्कण्डेयचरित्रे दशमोऽध्यायः ॥

श्रीव्यासजी बोले—यों कहकर कमललोचन भगवान् विष्णु वहीं अदृश्य हो गये। धर्मात्मा, साधुशिरोमणि, तपोधन मार्कण्डेयजी भी शुद्धस्वरूप देवदेवेश्वर मधुसूदनका ध्यान, पूजन, जप और नमस्कार करते हुए वहीं रहकर मुनियोंको पवित्र वेद शास्त्र, अखिल पुराण, विविध प्रकारकी गाथाएँ, पावन इतिहास और पितृतत्त्व भी सुनाने लगे। तदनन्तर किसी समय भगवान् पुरुषोत्तमके कहे हुए वचनको स्मरण कर, वे शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ उग्रतेजस्वी मुनि उन सुरेश्वर भगवान् श्रीहरिका दर्शन करनेके लिये घूमते हुए समुद्रकी ओर चले। हृदयमें भगवान्की भक्ति धारण किये चिरकाल-तक परिश्रमपूर्वक चलते-चलते क्षीरसागरमें पहुँचकर उन भृगुके पौत्रने नागराजके शरीररूपी पर्यङ्कपर निद्रामग्न हुए सुरेश्वर भगवान् विष्णुका दर्शन किया ॥ ४८—५२ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'मार्कण्डेयके चरित्र' वर्णनके प्रसङ्गमें दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

मार्कण्डेयजीद्वारा शेषशायी भगवान्का स्तवन

व्यास उवाच

प्रणिपत्य जगन्नाथं चराचरगुरुं हरिम् ।
मार्कण्डेयोऽभितुष्टाव भोगपर्यङ्कशायिनम् ॥ १ ॥

व्यासजी बोले—शुकदेव ! तदनन्तर मार्कण्डेयजी शेष-शय्यापर सोये हुए उन चराचरगुरु जगदीश्वर भगवान् विष्णुको प्रणाम करके उनका स्तवन करने लगे ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रसीद भगवन् विष्णो प्रसीद पुरुषोत्तम ।
प्रसीद देवदेवेश प्रसीद गरुडध्वज ॥ २ ॥
प्रसीद विष्णो लक्ष्मीश प्रसीद धरणीधर ।
प्रसीद लोकनाथाद्य प्रसीद परमेश्वर ॥ ३ ॥
प्रसीद सर्वदेवेश प्रसीद कमलेक्षण ।
प्रसीद मन्दरधर प्रसीद मधुसूदन ॥ ४ ॥
प्रसीद सुभगाकान्त प्रसीद भुवनाधिप ।
प्रसीदाद्य महादेव प्रसीद मम केशव ॥ ५ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—भगवन् ! विष्णो ! आप प्रसन्न हों। पुरुषोत्तम ! आप प्रसन्न हों। देवदेवेश्वर ! गरुडध्वज ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। लक्ष्मीपते विष्णो ! धरणीधर ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। लोकनाथ ! आदिपरमेश्वर ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। कमलके समान नेत्रोंवाले सर्वदेवेश्वर ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों ! समुद्रमन्थनके समय मन्दर पर्वतको धारण करनेवाले—मधुसूदन ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। लक्ष्मीकान्त ! भुवनपते ! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। आदिपुरुष महादेव ! केशव ! आप मुझपर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों ॥ २—५ ॥

जय कृष्ण जयाचिन्त्य जय विष्णो जयाव्यय ।
जय विश्व जयाव्यक्त जय विष्णो नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥
जय देव जयाजेय जय सत्य जयाक्षर ।
जय काल जयेशान जय सर्व नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥
जय यज्ञपते नाथ जय विश्वपते विभो ।
जय भूतपते नाथ जय सर्वपते विभो ॥ ८ ॥
जय विश्वपते नाथ जय दक्ष नमोऽस्तु ते ।
जय पापहरानन्त जय जन्मजरापह ॥ ९ ॥
जय भद्रातिभद्रेश जय भद्र नमोऽस्तु ते ।
जय कामद काकुत्स्थ जय मानद माधव ॥१०॥

जय शंकर देवेश जय श्रीश नमोऽस्तु ते।
जय कुङ्कुमरक्ताभ जय पङ्कजलोचन ॥११॥
जय चन्दनलिप्ताङ्ग जय राम नमोऽस्तु ते।
जय देव जगन्नाथ जय देवकिनन्दन ॥१२॥
जय सर्वगुरो ज्ञेय जय शम्भो नमोऽस्तु ते।
जय सुन्दर पद्माभ जय सुन्दरिवल्लभ।
जय सुन्दरसर्वाङ्ग जय वन्द्य नमोऽस्तु ते ॥१३॥
जय सर्वद सर्वेश जय शर्मद शाश्वत।
जय कामद भक्तानां प्रभविष्णो नमोऽस्तु ते ॥१४॥

कृष्ण! अचिन्तनीय कृष्ण! अव्यय विष्णो! विश्वके रूपमें रहनेवाले एवं व्यापक व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त! परमेश्वर! आपकी जय हो, आपको मेरा प्रणाम है। अजेय देव! आपकी जय हो, जय हो। अविनाशी सत्य! आपकी जय हो, जय हो। सबका शासन करनेवाले काल! आपकी जय हो, जय हो। सर्वमय! आपकी जय हो, आपको नमस्कार है। यज्ञेश्वर! नाथ! व्यापक विश्वनाथ! आपकी जय हो, जय हो। स्वामिन्! भूतनाथ! सर्वेश्वर! विभो! आपकी जय हो, जय हो। विश्वपते! नाथ! कार्यदक्ष ईश्वर! आपकी जय हो, जय हो; आपको प्रणाम है। पापहारी! अनन्त! जन्म तथा वृद्धावस्थाके भयको नष्ट करनेवाले देव! आपकी जय हो, जय हो। भद्र! अतिभद्र! ईश! कल्याणमय प्रभो! आपकी जय हो, जय हो; आपको नमस्कार है। कामनाओंको पूर्ण करनेवाले ककुत्स्थकुलोत्पन्न श्रीराम! सम्मान देनेवाले माधव! आपकी जय हो, जय हो। देवेश्वर शंकर! लक्ष्मीपते! आपकी जय हो, जय हो; आपको नमस्कार है। कुङ्कुमके समान अरुण कान्तिवाले कमलनयन! आपकी जय हो, जय हो। चन्दनसे अनुलिप्त श्रीअङ्गोंवाले श्रीराम! आपकी जय हो, जय हो; आपको नमस्कार है। देव! जगन्नाथ! देवकीनन्दन! आपकी जय हो, जय हो। सर्वगुरो! जाननेयोग्य शम्भो! आपकी जय हो, जय हो; आपको नमस्कार है। नील कमलकी-सी आभावाले श्यामसुन्दर! सुन्दरी श्रीराधाके प्राणवल्लभ! आपकी जय हो, जय हो। सर्वाङ्गसुन्दर! वन्दनीय प्रभो! आपको नमस्कार है; आपकी जय हो, जय हो। सब कुछ देनेवाले सर्वेश्वर! कल्याणदायी सनातन पुरुष! आपकी जय हो, जय हो। भक्तोंकी कामनाओंको देनेवाले प्रभुवर! आपकी जय हो, आपको नमस्कार है॥ ६—१४॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने।
लोकनाथ नमस्तेऽस्तु वीरभद्र नमोऽस्तु ते ॥१५॥
नमस्त्रैलोक्यनाथाय चतुर्मूर्ते जगत्पते।
नमो देवाधिदेवाय नमो नारायणाय ते ॥१६॥
नमस्ते वासुदेवाय नमस्ते पीतवाससे।
नमस्ते नरसिंहाय नमस्ते शार्ङ्गधारिणे ॥१७॥
नमः कृष्णाय रामाय नमश्चक्रायुधाय च।
नमः शिवाय देवाय नमस्ते भुवनेश्वर ॥१८॥
नमो वेदान्तवेद्याय नमोऽनन्ताय विष्णवे।
नमस्ते सकलाध्यक्ष नमस्ते श्रीधराच्युत ॥१९॥
लोकाध्यक्ष जगत्पूज्य परमात्मन् नमोऽस्तु ते।

जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है तथा जो कमलकी माला पहने हुए हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। लोकनाथ! वीरभद्र! आपको बार-बार नमस्कार है। चतुर्व्यूहस्वरूप जगदीश्वर! आप त्रिभुवननाथ देवाधिदेव नारायणको नमस्कार है। पीताम्बरधारी वासुदेवको प्रणाम है, प्रणाम है। शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले नरसिंहस्वरूप आप भगवान् विष्णुको नमस्कार है, नमस्कार है। भुवनेश्वर! चक्रधारी विष्णु, कृष्ण, राम और भगवान् शिवके रूपमें वर्तमान आपको बार-बार नमस्कार है। सबके स्वामी श्रीधर! अच्युत! वेदान्त शास्त्रके द्वारा जाननेयोग्य आप अन्तरहित भगवान् विष्णुको बारंबार नमस्कार है। लोकाध्यक्ष! जगत्पूज्य परमात्मन्! आपको नमस्कार है॥ १५—१९½॥

त्वं माता सर्वलोकानां त्वमेव जगतः पिता ॥२०॥
त्वमार्तानां सुहृन्मित्रं प्रियस्त्वं प्रपितामहः।
त्वं गुरुस्त्वं गतिः साक्षी त्वं पतिस्त्वं परायणः ॥२१॥
त्वं ध्रुवस्त्वं वषट्कर्ता त्वं हविस्त्वं हुताशनः।
त्वं शिवस्त्वं वसुर्धाता त्वं ब्रह्मा त्वं सुरेश्वरः ॥२२॥
त्वं यमस्त्वं रविर्वायुस्त्वं जलं त्वं धनेश्वरः।
त्वं मनुस्त्वमहोरात्रं त्वं निशा त्वं निशाकरः।
त्वं धृतिस्त्वं श्रियः कान्तिस्त्वं क्षमा त्वं धराधरः ॥२३॥
त्वं कर्ता जगतामीशस्त्वं हन्ता मधुसूदन।
त्वमेव गोप्ता सर्वस्य जगतस्त्वं चराचर ॥२४॥

करणं कारणं कर्ता त्वमेव परमेश्वरः ।
शङ्खचक्रगदापाणे भो समुद्धर माधव ॥२५॥
प्रिय पद्मपलाशाक्ष शेषपर्यङ्कशायिनम् ।
त्वामेव भक्त्या सततं नमामि पुरुषोत्तमम् ॥२६॥
श्रीवत्साङ्कं जगद्बीजं श्यामलं कमलेक्षणम् ।
नमामि ते वपुर्देव कलिकल्मषनाशनम् ॥२७॥

आप ही समस्त संसारकी माता और आप ही सम्पूर्ण जगत्के पिता हैं। आप पीड़ितोंके सुहृद् हैं; आप सबके मित्र, प्रियतम, पिताके भी पितामह, गुरु, गति, साक्षी, पति और परम आश्रय हैं। आप ही ध्रुव, वषट्कर्ता, हवि, हुताशन (अग्नि), शिव, वसु, धाता, ब्रह्मा, सुरराज इन्द्र, यम, सूर्य, वायु, जल, कुबेर, मनु, दिन-रात, रजनी, चन्द्रमा, धृति, श्री, कान्ति, क्षमा और धराधर शेषनाग हैं। चराचर-स्वरूप मधुसूदन! आप ही जगत्के स्रष्टा, शासक और संहारक हैं तथा आप ही समस्त संसारके रक्षक हैं। आप ही करण, कारण, कर्ता और परमेश्वर हैं। हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले माधव! आप मेरा उद्धार करें। कमलदललोचन प्रियतम! शेषशय्यापर शयन करनेवाले पुरुषोत्तम आपको ही मैं सदा भक्तिके साथ प्रणाम करता हूँ। देव! जिसमें श्रीवत्सचिह्न शोभा पाता है, जो जगत्का आदिकारण है, जिसका वर्ण श्यामल और नेत्र कमलके समान हैं तथा जो कलिके दोषोंको नष्ट करनेवाला है, आपके उस श्रीविग्रहको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २०—२७ ॥

लक्ष्मीधरमुदाराङ्गं दिव्यमालाविभूषितम् ।
चारुपृष्ठं महाबाहुं चारुभूषणभूषितम् ॥२८॥
पद्मनाभं विशालाक्षं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
दीर्घतुङ्गमहाघ्राणं नीलजीमूतसंनिभम् ॥२९॥
दीर्घबाहुं सुगुप्ताङ्गं रत्नहारोज्ज्वलोरसम् ।
सुभ्रूललाटमुकुटं स्निग्धदन्तं सुलोचनम् ॥३०॥
चारुबाहुं सुताम्रोष्ठं रत्नोज्ज्वलितकुण्डलम् ।
वृत्तकण्ठं सुपीनांसं सरसं श्रीधरं हरिम् ॥३१॥

जो लक्ष्मीजीको अपने हृदयमें धारण करते हैं, जिनका शरीर सुन्दर है, जो दिव्यमालासे विभूषित हैं, जिनका पृष्ठदेश सुन्दर और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, जो सुन्दर आभूषणोंसे अलंकृत हैं, जिनकी नाभिसे पद्म प्रकट हुआ है, जिनके नेत्र कमल-दलके समान सुन्दर और विशाल हैं, नासिका बड़ी ऊँची और लंबी है, जो नील मेघके समान श्याम हैं, जिनकी भुजाएँ लंबी, शरीर सुरक्षित और वक्षःस्थल रत्नोंके हारसे प्रकाशमान है, जिनकी भौंहें, ललाट और मुकुट—सभी सुन्दर हैं, दाँत चिकने और नेत्र मनोहर हैं, जो सुन्दर भुजाओं और रुचिर अरुण अधरोंसे सुशोभित हैं, जिनके कुण्डल रत्नजटित होनेके कारण जगमगा रहे हैं, कण्ठ वर्तुलाकार है और कंधे मांसल हैं, उन रसिकशेखर श्रीधर हरिको नमस्कार है ॥ २८—३१ ॥

सुकुमारमजं नित्यं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ।
उन्नतांसं महोरस्कं कर्णान्तायतलोचनम् ॥३२॥
हेमारविन्दवदनमिन्दिरायनमीश्वरम् ।
सर्वलोकविधातारं सर्वपापहरं हरिम् ॥३३॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वसत्त्वमनोरमम् ।
विष्णुमच्युतमीशानमनन्तं पुरुषोत्तमम् ॥३४॥
नतोऽस्मि मनसा नित्यं नारायणमनामयम् ।
वरदं कामदं कान्तमनन्तं सूनृतं शिवम् ॥३५॥

जो अजन्मा एवं नित्य होनेपर भी सुकुमारस्वरूप धारण किये हुए हैं, जिनके केश काले-काले और घुँघराले हैं, कंधे ऊँचे और वक्षःस्थल विशाल हैं, आँखें कानोंतक फैली हुई हैं, मुखारविन्द सुवर्णमय कमलके समान परम सुन्दर है, जो लक्ष्मीके निवासस्थान एवं सबके शासक हैं, सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और समस्त पापोंको हर लेनेवाले हैं, समग्र शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और सभी जीवोंके लिये मनोरम हैं तथा जो सर्वव्यापी, अच्युत, ईशान, अनन्त एवं पुरुषोत्तम हैं, वरदाता, कामपूरक, कमनीय, अनन्त, मधुरभाषी एवं कल्याणस्वरूप हैं, उन निरामय भगवान् नारायण श्रीहरिको मैं सदा हृदयसे नमस्कार करता हूँ ॥ ३२—३५ ॥

नमामि शिरसा विष्णो सदा त्वां भक्तवत्सल ।
अस्मिन्नेकार्णवे घोरे वायुस्कम्भितचञ्चले ॥३६॥
अनन्तभोगशयने सहस्रफणशोभिते ।
विचित्रशयने रम्ये सेविते मन्दवायुना ॥३७॥
भुजपञ्जरसंसक्तकमलालयसेवितम् ।
इह त्वां मनसा सर्वमिदानीं दृष्टवानहम् ॥३८॥

भक्तवत्सल विष्णो ! मैं सदा आपको मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ । इस भयंकर एकार्णवमें, जो प्रलयकालिक वायुकी प्रेरणासे विक्षुब्ध एवं चञ्चल हो रहा है, सहस्र फणोंसे सुशोभित 'अनन्त' नामक शेषनागके शरीरकी विचित्र एवं रमणीय शय्यापर, जहाँ मन्द-मन्द वायु चल रही है, आपके भुजपाशमें बँधी हुई श्रीलक्ष्मीजीसे आप सेवित हैं; मैंने इस समय सर्वस्वरूप आपके रूपका यहाँपर जी भरकर दर्शन किया है ॥ ३६—३८ ॥

इदानीं तु सुदुःखार्तो मायया तव मोहितः ।
एकोदके निरालम्बे नष्टस्थावरजंगमे ॥३९॥
शून्ये तमसि दुष्पारे दुःखपङ्के निरामये ।
शीतातपजरारोगशोकतृष्णादिभिः सदा ॥४०॥
पीडितोऽस्मि भृशं तात सुचिरं कालमच्युत ।
शोकमोहग्रहग्रस्तो विचरन् भवसागरे ॥४१॥
इहाद्य विधिना प्राप्तस्तव पादाब्जसंनिधौ ।
एकार्णवे महाघोरे दुस्तरे दुःखपीडितः ॥४२॥
चिरश्रमपरिश्रान्तस्त्वामद्य शरणं गतः ।
प्रसीद सुमहामाय विष्णो राजीवलोचन ॥४३॥

इस समय आपकी मायासे मोहित होकर मैं अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो रहा हूँ । दुःखरूपी पङ्कसे भरे हुए, व्याधि-पूर्ण एवं अवलम्ब-शून्य इस एकार्णवमें समस्त स्थावर-जंगम नष्ट हो चुके हैं । सब ओर शून्यमय अपार अन्धकार छाया हुआ है । मैं इसके भीतर शीत, आतप, जरा, रोग, शोक और तृष्णा आदिके द्वारा सदा चिरकालसे अत्यन्त कष्ट पा रहा हूँ । तात ! अच्युत ! इस भवसागरमें शोक और मोह-रूपी ग्राहसे ग्रस्त होकर भटकता हुआ आज मैं यहाँ दैववश आपके चरणकमलोंके निकट आ पहुँचा हूँ । इस महा-भयानक दुस्तर एकार्णवमें बहुत कालतक भटकते रहनेके कारण दुःखपीड़ित एवं थका हुआ मैं आज आपकी शरणमें आया हूँ । महामायी कमललोचन भगवन् ! विष्णो ! आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३९—४३ ॥

विश्वयोने विशालाक्ष विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
अनन्यशरणं प्राप्तमतोऽत्र कुलनन्दन ॥४४॥
त्राहि मां कृपया कृष्ण शरणागतमातुरम् ।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुराणपुरुषोत्तम ॥४५॥
अञ्जनाभ हृषीकेश मायामय नमोऽस्तु ते ।
मामुद्धर महाबाहो मग्नं संसारसागरे ॥४६॥
गह्वरे दुस्तरे दुःखक्लिष्टे क्लेशमहाग्रहैः ।
अनाथं कृपणं दीनं पतितं भवसागरे ।
मां समुद्धर गोविन्द वरदेश नमोऽस्तु ते ॥४७॥
नमस्त्रैलोक्यनाथाय हरये भूधराय च ।
देवदेव नमस्तेऽस्तु श्रीवल्लभ नमोऽस्तु ते ॥४८॥

कुलनन्दन कृष्ण ! आप विश्वकी उत्पत्तिके स्थान, विशाल-लोचन, विश्वोत्पादक और विश्वात्मा हैं; अतः दूसरेकी शरणमें न जाकर एकमात्र आपकी ही शरणमें आये हुए मुझ आतुरका आप कृपापूर्वक यहाँ उद्धार करें । पुराण-पुरुषोत्तम पुण्डरीकलोचन ! आपको नमस्कार है । कज्जलके समान श्याम कान्तिवाले हृषीकेश ! मायाके आश्रयभूत महेश्वर ! आपको नमस्कार है । महबाहो ! संसार-सागरमें डूबे हुए मुझ शरणागतका उद्धार कर दें । वरदाता ईश्वर ! गोविन्द ! क्लेशरूपी महान् ग्राहोंसे भरे हुए, दुःख और क्लेशोंसे युक्त, दुस्तर एवं गहरे भवसागरमें गिरे हुए मुझ दीन, अनाथ एवं कृपणका उद्धार करें । त्रिभुवननाथ विष्णु और धरणीधर अनन्तको नमस्कार है । देवदेव ! श्रीवल्लभ ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ४४—४८ ॥

कृष्ण कृष्ण कृपालुस्त्वमगतीनां गतिर्भवान् ।
संसारार्णवमग्नानां प्रसीद मधुसूदन ॥४९॥
त्वामेकमाद्यं पुरुषं पुराणं
जगत्पतिं कारणमच्युतं प्रभुम् ।
जनार्दनं जन्मजरार्तिनाशनं
सुरेश्वरं सुन्दरमिन्दिरापतिम् ॥५०॥
बृहद्भुजं श्यामलकोमलं शुभं
वराननं वारिजपत्रनेत्रम् ।
तरंगभङ्गायतकुन्तलं हरिं
सुकान्तमीशं प्रणतोऽस्मि शाश्वतम् ॥५१॥
सा जिह्वा या हरिं स्तौति तच्चित्तं यत्त्वदर्पितम् ।
तावेव केवलौ श्लाघ्यौ यौ त्वत्पूजाकरौ करौ ॥५२॥

जन्मान्तरसहस्रेषु यन्मया पातकं कृतम् ।
तन्मे हर त्वं गोविन्द वासुदेवेति कीर्तनात् ॥५३॥

कृष्ण ! कृष्ण ! आप दयालु और आश्रयहीनके आश्रय हैं । मधुसूदन ! संसार-सागरमें निमग्न हुए प्राणियोंपर आप प्रसन्न हों । आज मैं एक (अद्वितीय), आदि, पुराणपुरुष, जगदीश्वर, जगत्‌के कारण, अच्युतस्वरूप, सबके स्वामी और जन्म-जरा एवं पीड़ाको नष्ट करनेवाले, देवेश्वर, परम सुन्दर लक्ष्मीपति भगवान् जनार्दनको प्रणाम करता हूँ । जिनकी भुजाएँ बड़ी हैं, जो श्यामवर्ण, कोमल, सुशोभन, सुमुख और कमलदललोचन हैं, क्षीरसागरकी तरंगभङ्गीके समान जिनके लंबे-लंबे घुँघराले केश हैं, उन परम कमनीय, सनातन ईश्वर भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ । भगवन् ! वही जिह्वा सफल है, जो आप श्रीहरिका स्तवन करती है; वही चित्त सार्थक है, जो आपके चरणोंमें समर्पित हो चुका है तथा केवल वे ही हाथ श्लाघ्य हैं, जो आपकी पूजा करते हैं । गोविन्द ! हजारों जन्मान्तरोंमें मैंने जो-जो पाप किये हों, उन सबको आप 'वासुदेव' इस नामका कीर्तन करनेमात्रसे हर लीजिये ॥ ४९—५३ ॥

व्यास उवाच

इति स्तुतस्ततो विष्णुर्मार्कण्डेयेन धीमता ।
संतुष्टः प्राह विश्वात्मा तं मुनिं गरुडध्वजः ॥५४॥

व्यासजी बोले—तदनन्तर बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनिके इस प्रकार स्तुति करनेपर गरुडचिह्नित ध्वजावाले विश्वात्मा भगवान् विष्णुने संतुष्ट होकर उनसे कहा ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽस्मि तपसा विप्र स्तुत्या च भृगुनन्दन ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रार्थितं दद्मि ते वरम् ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले—विप्र ! भृगुनन्दन ! मैं तुम्हारी तपस्या और स्तुतिसे प्रसन्न हूँ । तुम्हारा कल्याण हो । तुम मुझसे वर माँगो । मैं तुम्हें मुँहमाँगा वर दूँगा ॥ ५५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

त्वत्पादपद्मे देवेश भक्तिं मे देहि सर्वदा ।
यदि तुष्टो ममाद्य त्वमन्यदेकं वृणोम्यहम् ॥५६॥
स्तोत्रेणानेन देवेश यस्त्वां स्तोष्यति नित्यशः ।
स्वलोकवसतिं तस्य देहि देव जगत्पते ॥५७॥
दीर्घायुष्ट्वं तु यद्दत्तं त्वया मे तप्यतः पुरा ।
तत्सर्वं सफलं जातमिदानीं तव दर्शनात् ॥५८॥
वस्तुमिच्छामि देवेश तव पादाब्जमर्चयन् ।
अत्रैव भगवन्नित्यं जन्ममृत्युविवर्जितः ॥५९॥

मार्कण्डेयजी बोले—देवेश्वर ! यदि आज आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं यही माँगता हूँ कि 'आपके चरण-कमलोंमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ।' इसके सिवा एक दूसरा वर भी मैं माँग रहा हूँ—'देव ! देवेश्वर ! जगत्पते ! जो इस स्तोत्रसे आपकी नित्य स्तुति करे, उसे आप अपने वैकुण्ठधाममें निवास प्रदान करें ।' पूर्वकालमें तपस्या करते हुए मुझको जो आपने दीर्घायु होनेका वरदान दिया था, वह सब आज आपके दर्शनसे सफल हो गया । देवेश ! भगवन् ! अब मैं आपके चरणारविन्दोंका पूजन करता हुआ जन्म और मृत्युसे रहित होकर यहाँ ही नित्य निवास करना चाहता हूँ ॥ ५६—५९ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यस्तु ते भृगुश्रेष्ठ भक्तिरव्यभिचारिणी ।
भक्त्या मुक्तिर्भवत्येव तव कालेन सत्तम ॥६०॥
यस्त्विदं पठते स्तोत्रं सायं प्रातस्त्वयेरितम् ।
मयि भक्तिं दृढां कृत्वा मम लोके स मोदते ॥६१॥
यत्र यत्र भृगुश्रेष्ठ स्थितस्त्वं मां स्मरिष्यसि ।
तत्र तत्र समेष्यामि दान्तो भक्तवशोऽस्मि भोः ॥६२॥

श्रीभगवान् बोले—भृगुश्रेष्ठ ! मुझमें तुम्हारी अनन्य-भक्ति बनी रहे तथा साधुशिरोमणे ! समय आनेपर इस भक्तिसे तुम्हारी मुक्ति भी अवश्य ही हो जायगी । तुम्हारे कहे हुए इस स्तोत्रका जो लोग नित्य प्रातःकाल और संध्याके समय पाठ करेंगे, वे मुझमें सुदृढ़ भक्ति रखते हुए मेरे लोकमें आनन्दपूर्वक रहेंगे । भृगुश्रेष्ठ ! मैं दान्त (स्ववश) होनेपर भी भक्तोंके वशमें रहता हूँ; अतः तुम जहाँ-जहाँ रहकर मेरा स्मरण करोगे, वहाँ-वहाँ मैं पहुँच जाऊँगा ॥६०—६२॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा तं मुनिश्रेष्ठं मार्कण्डेयं स माधवः ।
विरराम स सर्वत्र पश्यन् विष्णुं यतस्ततः ॥६३॥
इति ते कथितं विप्र चरितं तस्य धीमतः ।
मार्कण्डेयस्य च मुनेस्तेनैवोक्तं पुरा मम ॥६४॥

ये विष्णुभक्त्या चरितं पुराणं
भृगोस्तु पौत्रस्य पठन्ति नित्यम् ।
ते मुक्तपापा नरसिंहलोके
वसन्ति भक्तैरभिपूज्यमानाः ॥६५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे मार्कण्डेयचरितं नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

व्यासजी बोले—मुनिवर मार्कण्डेयसे यों कहकर भगवान् लक्ष्मीपति मौन हो गये तथा वे मुनि इधर-उधर विचरते हुए सर्वेश भगवान् विष्णुका साक्षात्कार करने लगे। विप्र ! बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनिके इस चरित्रका, जिसे पूर्वकालमें उन्होंने स्वयं ही मुझसे कहा था, मैंने तुमसे वर्णन किया । जो लोग भृगुके पौत्र मार्कण्डेयजीके इस पुरातन चरित्रका भगवान् विष्णुमें भक्ति रखते हुए नित्य पाठ करते हैं, वे पापोंसे मुक्त हो, भक्तोंसे पूजित होते हुए भगवान् नृसिंहके लोकमें निवास करते हैं ॥ ६३–६५ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'मार्कण्डेय-चरित' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

बारहवाँ अध्याय

यम और यमीका संवाद*

सूत उवाच

श्रुत्वेमाममृतां पुण्यां सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
अवितृप्तः स धर्मात्मा शुको व्यासमभाषत ॥ १ ॥

सूतजी बोले—समस्त पापोंको नष्ट करनेवाली और अमृतके समान मधुर इस पावन कथाको सुनकर धर्मात्मा शुकदेवजी तृप्त न हुए—उनकी श्रवणविषयक इच्छा बढ़ती ही गयी; अतः वे व्यासजीसे बोले ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

अहोऽतीव तपश्चर्या मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
येन दृष्टो हरिः साक्षाद्येन मृत्युः पराजितः ॥ २ ॥

* यह 'यम-यमी-संवाद' ऋग्वेदके एक सूक्तपर आधारित है । वहाँ प्रसङ्ग यह है कि यम और यमी, जो परस्पर भाई और बहन हैं, कुमारावस्थामें बालोचित खेलसे मन बहला रहे थे । उनके सामने एक ऐसा दृश्य आया, जिसमें कोई वर, बाजे-गाजेके साथ विवाहके लिये जा रहा था । यमीने पूछा—'भैया ! यह क्या है ?' यमने उसे बताया कि 'यह बारात है । इसमें वर-वेषधारी पुरुष किसी कुमारी स्त्रीके साथ विवाह करेगा । फिर वे दोनों पति-पत्नी होकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करेंगे ।' यमी बालोचित सरलताके साथ प्रस्ताव कर बैठी—'भैया ! आओ, हम और तुम भी परस्पर विवाह कर लें ।' यमने उसे समझाया कि भाईके साथ बहनका विवाह नहीं होता । तुम्हें, मुझसे भिन्न, किसी दूसरे श्रेष्ठ पुरुषको अपना पति चुनना होगा—'अन्यं वृणुष्व सुभगे पतिं मत् ।''

इसी वैदिक उपाख्यानको यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, मानो यमी कामवेदनासे पीडित हो यमसे यह प्रार्थना कर रही हो कि—वे उसे अपनी पत्नी बनाकर उसकी इच्छा पूर्ण करें । इसमें यमीका विकारोत्पादक चित्र प्रस्तुत किया गया है और 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।' (विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तमें विकार नहीं होता, वे ही पुरुष धीर—ज्ञानी और संयमी हैं—) इस उक्तिके अनुसार यमकी जितेन्द्रियता, उनकी धर्मविषयक अविचल निष्ठा, धैर्य और विवेकको लोकके समक्ष प्रकाशमें लाया गया । जैसे सोना आगमें तपकर खरा उतरता है, उसी प्रकार यम यमी-की अग्नि-परीक्षामें उत्तीर्ण हो सुदृढ़ धर्मात्मा, संयमी और विवेकी सिद्ध हुए हैं । यमके उज्ज्वल चरित्रको और भी चमत्कारी रूपमें सामने लाना इस कथाका उद्देश्य है । इससे प्रत्येक भाई तथा नवयुवकको सदाचारी, संयमी तथा धर्ममें अविचल भावसे स्थित रहनेकी शिक्षा और प्रेरणा मिलती है । यमीके चरित्रसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि प्रत्येक कुमारीका विवाहयोग्य अवस्था होनेपर अविलम्ब किसी योग्य वरके साथ विवाह कर देना चाहिये । वास्तवमें यम और यमी दोनों ही सूर्यदेवकी दिव्य संतानें हैं । उनमें किसी प्रकारके विकारकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है । लोगोंको सदाचार और संयमकी शिक्षा देनेके लिये ही व्यासजीने इस वैदिक उपाख्यानको यहाँ इस प्रकार चित्रित किया है ।

न तृप्तिरस्ति मे तात श्रुत्वेमां वैष्णवीं कथाम् ।
पुण्यां पापहरां तात तस्मादन्यत्तु मे वद ॥ ३ ॥
नराणां दृढचित्तानामकार्यं नेह कुर्वताम् ।
यत्पुण्यमृषिभिः प्रोक्तं तन्मे वद महामते ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी! बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीकी तपस्या बड़ी भारी और अद्भुत है, जिन्होंने साक्षात् भगवान् विष्णुका दर्शन किया और मृत्युपर विजय पायी। तात! पापोंको नष्ट करनेवाली इस विष्णु-सम्बन्धिनी पावन कथाको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है; अतः अब मुझसे कोई दूसरी कथा कहिये। महामते! जिनका मन सुदृढ़ है, जो इस जगत्में कभी निषिद्ध कर्म नहीं करते, उन मनुष्योंको जिस पुण्यकी प्राप्ति ऋषियोंने बतायी है, उसे ही आप कहिये॥ २-४॥

व्यास उवाच

नराणां दृढचित्तानामिह लोके परत्र च ।
पुण्यं यत्स्यान्मुनिश्रेष्ठ तन्मे निगदतः शृणु ॥ ५ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यम्या च सह संवादं यमस्य च महात्मनः ॥ ६ ॥
विवस्वानदितेः पुत्रस्तस्य पुत्रौ सुवर्चसौ ।
जज्ञाते स यमश्चैव यमी चापि यवीयसी ॥ ७ ॥
तौ तत्र संविवर्द्धेते पितुर्भवन उत्तमे ।
क्रीडमानौ स्वभावेन स्वच्छन्दगमनावुभौ ॥ ८ ॥
यमी यमं समासाद्य स्वसा भ्रातरमब्रवीत् ॥ ९ ॥

व्यासजी बोले—मुनिश्रेष्ठ शुकदेव! स्थिर चित्तवाले पुरुषोंको इस लोकमें या परलोकमें जो पुण्य प्राप्त होता है, उसे मैं बतलाता हूँ; तुम सुनो। इसी विषयमें विद्वान् पुरुष यमीके साथ महात्मा यमके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया करते हैं। अदितिके पुत्र जो विवस्वान् (सूर्य) हैं, उनके दो तेजस्वी संतानें हुईं। उनमें प्रथम तो 'यम' नामक पुत्र था और दूसरी उससे छोटी 'यमी' नामकी कन्या थी। वे दोनों अपने पिताके उत्तम भवनमें दिनोंदिन भलीभाँति बढ़ने लगे। वे बाल-स्वभावके अनुसार साथ-साथ खेलते-कूदते और इच्छानुसार घूमते-फिरते थे। एक दिन यमकी बहिन यमीने अपने भाई यमके पास जाकर कहा॥ ५-९॥

न भ्राता भगिनीं योग्यां कामयन्तीं च कामयेत् ।
भ्रातृभूतेन किं तस्य स्वसुर्यो न पतिर्भवेत् ॥ १० ॥
अभूत इव स ज्ञेयो न तु भूतः कथंचन ।
अनाथां नाथमिच्छन्तीं स्वसारं यो न नाथति ॥ ११ ॥
काङ्क्षन्तीं भ्रातरं नाथं भर्तारं यस्तु नेच्छति ।
भ्रातेति नोच्यते लोके स पुमान् मुनिसत्तमः ॥ १२ ॥
स्याद्वान्यतनया तस्य भार्या भवति किं तया ।
ईक्षतस्तु स्वसा भ्रातुः कामेन परिदह्यते ॥ १३ ॥
यत्कार्यमहमिच्छामि त्वमेवेच्छ तदेव हि ।
अन्यथाहं मरिष्यामि त्वामिच्छन्ती विचेतना ॥ १४ ॥
कामदुःखमसह्यं नु भ्रातः किं त्वं न चेच्छसि ।
कामाग्निना भृशं तप्ता प्रलीयाम्यङ्ग मा चिरम् ॥ १५ ॥
कामार्तायाः स्त्रियाः कान्त वशगो भव मा चिरम् ।
स्वेन कायेन मे कायं संयोजयितुमर्हसि ॥ १६ ॥

यमी बोली—जो भाई अपनी योग्य बहिनको उसके चाहनेपर भी न चाहे, जो बहिनका पति न हो सके, उसके भाई होनेसे क्या लाभ? जो स्वामीकी इच्छा रखनेवाली अपनी कुमारी बहिनका स्वामी नहीं बनता, उस भ्राताको ऐसा समझना चाहिये कि वह पैदा ही नहीं हुआ। किसी तरह भी उसका उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता। भैया! यदि बहिन अपने भाईको ही अपना स्वामी—अपना पति बनाना चाहती है, इस दशामें जो बहिनको नहीं चाहता, वह पुरुष मुनिशिरोमणि ही क्यों न हो, इस संसारमें भ्राता नहीं कहा जा सकता। यदि किसी दूसरेकी ही कन्या उसकी पत्नी हो तो भी उससे क्या लाभ, यदि उस भाईकी अपनी बहिन उसके देखते-देखते कामसे दग्ध हो रही है। मेरे होश, इस समय अपने ठिकाने नहीं हैं। मैं इस समय जो काम करना चाहती हूँ, तुम भी उसीकी इच्छा करो; नहीं तो मैं तुम्हारी ही चाह लेकर प्राण त्याग दूँगी, मर जाऊँगी। भाई! कामकी वेदना असह्य होती है। तुम मुझे क्यों नहीं चाहते? प्यारे भैया! कामाग्निसे अत्यन्त संतप्त होकर मैं मरी जा रही हूँ; अब देर न करो। कान्त! मैं कामपीड़िता स्त्री हूँ। तुम शीघ्र ही मेरे अधीन हो जाओ। अपने शरीरसे मेरे शरीरका संयोग होने दो॥ १०-१६॥

यम उवाच

किमिदं लोकविद्विष्टं धर्मं भगिनि भाषसे ।
अकार्यमिह कः कुर्यात् पुमान् भद्रे सुचेतनः ॥१७॥
न ते संयोजयिष्यामि कायं कायेन भामिनि ।
न भ्राता मदनार्तायाः स्वसुः कामं प्रयच्छति ॥१८॥
महापातकमित्याहुः स्वसारं योऽधिगच्छति ।
पशूनामेष धर्मः स्यात्तिर्यग्योनिवतां शुभे ॥१९॥

यम बोले—बहिन ! सारा संसार जिसकी निन्दा करता है, उसी इस पापकर्मको तू धर्म कैसे बता रही है ! भद्रे ! भला कौन सचेत पुरुष यह न करनेयोग्य पापकर्म कर सकता है ! भामिनि ! मैं अपने शरीरसे तुम्हारे शरीरका संयोग न होने दूँगा । कोई भी भाई अपनी कामपीड़िता बहिनकी इच्छा नहीं पूरी कर सकता । जो बहिनके साथ समागम करता है, उसके इस कर्मको महापातक बताया गया है—शुभे ! यह तिर्यग्-योनिमें पड़े हुए पशुओंका धर्म है—देवता या मनुष्यका नहीं ॥ १७–१९ ॥

यम्युवाच

एकस्थाने यथा पूर्वं संयोगो नौ न दुष्यति ।
मातृगर्भे तथैवायं संयोगो नौ न दुष्यति ॥२०॥
किं भ्रातरप्यनाथां त्वं मा नेच्छसि शोभनम् ।
स्वसारं निर्ऋती रक्षः संगच्छति च नित्यशः ॥२१॥

यमी बोली—भैया ! हम दोनों जुड़वी संतानें हैं और माताके गर्भमें एक साथ रहे हैं । पहले माताके गर्भमें एक ही स्थानपर हम दोनोंका जो संयोग हुआ था, वह जैसे दूषित नहीं माना गया, उसी प्रकार यह संयोग भी दूषित नहीं हो सकता । भाई ! अभीतक मुझे पतिकी प्राप्ति नहीं हुई है । तुम मेरा भला करना क्यों नहीं चाहते ! 'निर्ऋति' नामक राक्षस तो अपनी बहिनके साथ नित्य ही समागम करता है ॥ २०-२१ ॥

यम उवाच

स्वयम्भुवापि निन्द्येत लोकवृत्तं जुगुप्सितम् ।
प्रधानपुरुषाचीर्णं लोकोऽयमनुवर्तते ॥२२॥
तस्मादनिन्दितं धर्मं प्रधानपुरुषश्चरेत् ।
निन्दितं वर्जयेद्यत्नादेतद्धर्मस्य लक्षणम् ॥२३॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२४॥
अतिपापमहं मन्ये सुभगे वचनं तव ।
विरुद्धं सर्वधर्मेषु लोकेषु च विशेषतः ॥२५॥
मत्तोऽन्यो यो भवेद्यो वै विशिष्टो रूपशीलतः ।
तेन सार्धं प्रमोदस्व न ते भर्ता भवाम्यहम् ॥२६॥
नाहं स्पृशामि तन्वा ते तनुं भद्रे दृढव्रतः ।
मुनयः पापमाहुस्तं यः स्वसारं निगृह्णति ॥२७॥

यम बोले—बहिन ! कुत्सित लोकव्यवहारकी निन्दा ब्रह्माजीने भी की है । इस संसारके लोग श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित धर्मका ही अनुसरण करते हैं । इसलिये श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि वह उत्तम धर्मका ही आचरण करे और निन्दित कर्मको यत्नपूर्वक त्याग दे—यही धर्मका लक्षण है । श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस कर्मका आचरण करता है, उसीको अन्य लोग भी आचरणमें लाते हैं और वह जिसे प्रमाणित कर देता है, लोग उसीका अनुसरण करते हैं । सुभगे ! मैं तो तुम्हारे इस वचनको अत्यन्त पापपूर्ण समझता हूँ । इतना ही नहीं, मैं इसे सब धर्मों और विशेषतः समस्त लोकोंके विपरीत मानता हूँ । मुझसे अन्य जो कोई भी रूप और शीलमें विशिष्ट हो, उसके साथ तुम आनन्दपूर्वक रहो । मैं तुम्हारा पति नहीं हो सकता । भद्रे ! मैं दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला हूँ, अतः अपने शरीरसे तुम्हारे शरीरका स्पर्श नहीं करूँगा । जो बहिनको ग्रहण करता है, उसे मुनियोंने 'पापी' कहा है ॥ २२—२७ ॥

यम्युवाच

दुर्लभं चैव पश्यामि लोके रूपमिहेदृशम् ।
यत्र रूपं वयश्चैव पृथिव्यां क्व प्रतिष्ठितम् ॥२८॥
न विजानामि ते चित्तं कुत एतत्प्रतिष्ठितम् ।
आत्मरूपगुणोपेतां न कामयसि मोहिताम् ॥२९॥
लतेव पादपे लग्ना कामं त्वच्छरणं गता ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य निवसामि शुचिस्मिता ॥३०॥

यमी बोली—मैं देखती हूँ, इस संसारमें ऐसा (तुम्हारे समान) रूप दुर्लभ है । भला, पृथ्वीपर ऐसा स्थान कहाँ है, जहाँ रूप और समान अवस्था—दोनों एकत्र उपलब्ध हों । मैं नहीं समझती, तुम्हारा यह चित्त इतना स्थिर

कैसे है, जिसके कारण तुम अपने समान रूप और गुणसे युक्त होनेपर भी मुझ मोहिता स्त्रीकी इच्छा नहीं करते हो। तुममें संलग्न हुई लताके समान मैं स्वेच्छानुसार तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। मेरे मुखपर पवित्र मुसकान शोभा पाती है। अब मैं अपनी दोनों भुजाओंसे तुम्हारा आलिङ्गन करके ही रहूँगी ॥ २८—३० ॥

यम उवाच

अन्यं श्रयस्व सुश्रोणि देवं देव्यसितेक्षणे।
यस्तु ते काममोहेन चेतसा विभ्रमं गतः।
तस्य देवस्य देवी त्वं भव्यथा वरवर्णिनि ॥३१॥
ईप्सितां सर्वभूतानां यां शंसन्ति मानवाः।
सुभद्रां चारुसर्वाङ्गीं संस्कृतां परिचक्षते ॥३२॥
तत्कृतेऽपि सुविद्वांसो न करिष्यन्ति दूषणम्।
परितापं महाप्राज्ञे न करिष्ये दृढव्रतः ॥३३॥
चित्तं मे निर्मलं भद्रे विष्णौ रुद्रे च संस्थितम्।
अतः पापं नु नेच्छामि धर्मचित्तो दृढव्रतः ॥३४॥

यम बोले—श्यामलोचने! सुश्रोणि! मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करनेमें असमर्थ हूँ। तुम किसी दूसरे देवताका आश्रय लो। वरवर्णिनि! तुम्हें देखकर काममोहसे जिसका चित्त विभ्रान्त हो उठे, उसी देवताकी तुम देवी हो जाओ। जिसे समस्त प्राणी चाहते हैं, मानवगण जिसे वरणीय बतलाते हैं, कल्याणमयी, सर्वाङ्गसुन्दरी और सुसंस्कृता कहते हैं, उसके लिये भी विद्वान् पुरुष कभी दूषित कर्म नहीं करेंगे। महाप्राज्ञे! मेरा व्रत अटल है। मैं यह पश्चात्ताप-जनक पाप कदापि नहीं करूँगा। भद्रे! मेरा चित्त निर्मल है, भगवान् विष्णु और शिवके चिन्तनमें लगा हुआ है। इसलिये मैं दृढसंकल्प एवं धर्मात्मा होकर निश्चय ही यह पापकर्म नहीं करना चाहता ॥ ३१—३४ ॥

व्यास उवाच

असकृत् प्रोच्यमानोऽपि तया चैवं दृढव्रतः।
कृतवान्न यमः कार्यं तेन देवत्वमाप्तवान् ॥३५॥
नराणां दृढचित्तानामेवं पापमकुर्वताम्।
अनन्तं फलमित्याहुस्तेषां स्वर्गफलं भवेत् ॥३६॥
एतत्तु यम्युपाख्यानं पूर्ववृत्तं सनातनम्।
सर्वपापहरं पुण्यं श्रोतव्यमनसूयया ॥३७॥
यश्चैतत्पठते नित्यं हव्यकव्येषु ब्राह्मणः।
संतृप्ताः पितरस्तस्य न विशन्ति यमालयम् ॥३८॥
यश्चैतत् पठते नित्यं पितृणामनृणो भवेत्।
वैवस्वतीभ्यस्तीव्राभ्यो यातनाभ्यः प्रमुच्यते ॥३९॥
पुत्रैतदाख्यानमनुत्तमं मया
तवोदितं वेदपदार्थनिश्चितम्।
पुरातनं पापहरं सदा नृणां
किमन्यदद्यैव वदामि शंस मे ॥४०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे यमीयमसंवादो नाम
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—शुकदेव! यमीके बारंबार कहनेपर भी दृढतापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले यमने वह पाप-कर्म नहीं किया; इसलिये वे देवत्वको प्राप्त हुए। इस प्रकार स्थिरचित्त होकर पाप न करनेवाले मनुष्योंके लिये अनन्त पुण्यफलकी प्राप्ति बतलायी गयी है। ऐसे लोगोंको स्वर्गरूप फल उपलब्ध होता है। यह यमीका उपाख्यान, जो प्राचीन एवं सनातन इतिहास है, सब पापोंको दूर करनेवाला और पवित्र है। असूया त्यागकर इसका श्रवण करना चाहिये। जो ब्राह्मण देवयाग और पितृयागमें सदा इसका पाठ करता है, उसके पितृगण पूर्णतः तृप्त होते हैं। उन्हें कभी यमराजके भवनमें प्रवेश नहीं करना पड़ता। जो इसका नित्य पाठ करता है, वह पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाता है तथा उसे तीव्र यम-यातनाओंसे छुटकारा मिल जाता है। बेटा शुकदेव! मैंने तुमसे यह सर्वोत्तम एवं पुरातन उपाख्यान कह सुनाया, जो वेदके पदों तथा अर्थोंद्वारा निश्चित है। इसका पाठ करनेपर यह सदा ही मनुष्योंका पाप हर लेता है। मुझे बताओ, अब मैं तुम्हें और क्या सुनाऊँ? ॥ ३५—४० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'यमी-यम-संवाद' नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

तेरहवाँ अध्याय

पतिव्रताकी शक्ति; उसके साथ एक ब्रह्मचारीका संवाद; माताकी रक्षा परम धर्म है, इसका उपदेश

श्रीशुक उवाच

विचित्रेयं कथा तात वैदिकी मे त्वयेरिता ।
अन्याः पुण्याश्च मे ब्रूहि कथाः पापप्रणाशिनीः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—तात ! आपने जो यह वैदिक कथा मुझे सुनायी है, बड़ी विचित्र है । अब दूसरी पापनाशक कथाओंका मेरे सम्मुख वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

अहं ते कथयिष्यामि पुरावृत्तमनुत्तमम् ।
पतिव्रतायाः संवादं कस्यचिद्ब्रह्मचारिणः ॥ २ ॥
कश्यपो नीतिमान्नाम ब्राह्मणो वेदपारगः ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो व्याख्याने परिनिष्ठितः ॥ ३ ॥
स्वधर्मकार्यनिरतः परधर्मपराङ्मुखः ।
ऋतुकालाभिगामी च अग्निहोत्रपरायणः ॥ ४ ॥
सायंप्रातर्महाभाग हुत्वाग्निं तर्पयन् द्विजान् ।
अतिथीनागतान् गेहं नरसिंह च पूजयन् ॥ ५ ॥
तस्य पत्नी महाभागा सावित्री नाम नामतः ।
पतिव्रता महाभागा पत्युः प्रियहिते रता ॥ ६ ॥
भर्तुः शुश्रूषणेनैव दीर्घकालमनिन्दिता ।
परोक्षज्ञानमापन्ना कल्याणी गुणसम्मता ॥ ७ ॥
तया सह स धर्मात्मा मध्यदेशे महामतिः ।
नन्दिग्रामे वसन् धीमान् स्वानुष्ठानपरायणः ॥ ८ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! अब मैं तुमसे उस परम उत्तम प्राचीन इतिहासका वर्णन करूँगा, जो किसी ब्रह्मचारी और एक पतिव्रता स्त्रीका संवादरूप है । (मध्यदेशमें) एक कश्यप नामक ब्राह्मण रहते थे, जो बड़े ही नीतिज्ञ, वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान्, समस्त शास्त्रोंके अर्थ एवं तत्त्वके ज्ञाता, व्याख्यानमें प्रवीण, अपने धर्मके अनुकूल कार्योंमें तत्पर और परधर्मसे विमुख रहनेवाले थे । वे ऋतुकाल आनेपर ही पत्नी-समागम करते और प्रतिदिन अग्निहोत्र किया करते थे । महाभाग ! कश्यपजी नित्य सायं और प्रातःकाल अग्निमें हवन करनेके पश्चात् ब्राह्मणों तथा घरपर आये हुए अतिथियोंको तृप्त करते हुए भगवान् नृसिंहका पूजन किया करते थे । उनकी परम सौभाग्यशालिनी पत्नीका नाम सावित्री था । महाभागा सावित्री पतिव्रता होनेके कारण पतिके ही प्रिय और हित-साधनमें लगी रहती थी । अपने गुणोंके कारण उसका बड़ा सम्मान था । वह कल्याणमयी अनिन्दिता सती-साध्वी दीर्घकालतक पतिकी शुश्रूषामें संलग्न रहनेके कारण परोक्ष-ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी थी—परोक्षमें घटित होनेवाली घटनाओंका भी उसे ज्ञान हो जाता था । मध्यदेशके निवासी वे धर्मात्मा एवं परम बुद्धिमान् कश्यपजी अपनी उसी धर्मपत्नीके साथ नन्दिग्राममें रहते हुए स्वधर्मके अनुष्ठानमें लगे रहते थे ॥ २—८ ॥

अथ कौशलिको विप्रो यज्ञशर्मा महामतिः ।
तस्य भार्याभवत् साध्वी रोहिणी नाम नामतः ॥ ९ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना पतिशुश्रूषणे रता ।
सा प्रसूता सुतं त्वेकं तस्माद्भर्तुरनिन्दिता ॥१०॥
स यायावरवृत्तिस्तु पुत्रे जाते विचक्षणः ।
जातकर्म तदा चक्रे स्नात्वा पुत्रस्य मन्त्रतः ॥११॥
द्वादशेऽहनि तस्यैव देवशर्मेति बुद्धिमान् ।
पुण्याहं वाचयित्वा तु नाम चक्रे यथाविधि ॥१२॥
उपनिष्क्रमणं चैव चतुर्थे मासि यत्नतः ।
तथान्नप्राशनं षष्ठे मासि चक्रे यथाविधि ॥१३॥

उन्हीं दिनों कोशलदेशमें उत्पन्न यज्ञशर्मा नामक एक परम बुद्धिमान् ब्राह्मण थे, जिनकी सती-साध्वी स्त्रीका नाम रोहिणी था । वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थी और पतिकी सेवामें सदा तत्पर रहती थी । उस उत्तम आचार-विचार-वाली स्त्रीने अपने स्वामी यज्ञशर्मासे एक पुत्र उत्पन्न किया । पुत्रके उत्पन्न होनेपर यायावर वृत्तिवाले बुद्धिमान् पण्डित यज्ञशर्माने स्नान करके मन्त्रोंद्वारा उसका जातकर्म-संस्कार किया और जन्मके बारहवें दिन उन्होंने विधिपूर्वक पुण्याह-वाचन कराकर उसका 'देवशर्मा' नाम रक्खा । इसी प्रकार चौथे महीनेमें यत्नपूर्वक उसका उपनिष्क्रमण हुआ अर्थात्

वह घरसे बाहर लाया गया और छठे मासमें उन्होंने उस पुत्रका विधिपूर्वक अन्नप्राशन-संस्कार किया ॥ ९-१३ ॥

संवत्सरे ततः पूर्णे चूडाकर्म च धर्मवित् ।
कृत्वा गर्भाष्टमे वर्षे व्रतबन्धं चकार सः ॥१४॥
सोपनीतो यथान्यायं पित्रा वेदमधीतवान् ।
स्वीकृते त्वेकवेदे तु पिता स्वर्लोकमाश्रितः ॥१५॥
मात्रा सहास दुःखी स पितर्युपरते सुतः ।
धैर्यमास्थाय मेधावी साधुभिः प्रेरितः पुनः ॥१६॥
प्रेतकार्याणि कृत्वा तु देवशर्मा गतः सुतः ।
गङ्गादिषु सुतीर्थेषु स्नानं कृत्वा यथाविधि ॥१७॥
तमेव प्राप्तवान् ग्रामं यत्रास्ते सा पतिव्रता ।
सम्प्राप्य विश्रुतः सोऽथ ब्रह्मचारी महामते ॥१८॥
भिक्षाटनं तु कृत्वासौ जपन् वेदमतन्द्रितः ।
कुर्वन्नेवाग्निकार्यं तु नन्दिग्रामे च तस्थिवान् ॥१९॥
मृते भर्तरि तन्माता पुत्रे प्रव्रजिते तु सा ।
दुःखाद्दुःखमनुप्राप्ता नियतं रक्षकं विना ॥२०॥

तदनन्तर एक वर्ष पूर्ण होनेपर धर्मज्ञ पिताने उसका चूडाकर्म और गर्भसे आठवें वर्षपर उपनयन-संस्कार किया। पिताके द्वारा यथोचितरूपसे उपनयन-संस्कार हो जानेपर उसने वेदाध्ययन किया। उसके द्वारा एक वेदका अध्ययन पूर्ण हो जानेपर उसके पिता स्वर्गगामी हो गये। पिताकी मृत्यु होनेपर वह अपनी माताके साथ बहुत दुःखी हो गया। फिर श्रेष्ठ पुरुषोंकी आज्ञासे उस बुद्धिमान् पुत्रने धैर्य धारण करके पिताका प्रेतकार्य किया। इसके पश्चात् ब्राह्मणकुमार देवशर्मा घरसे निकल गया (विरक्त हो गया)। वह गङ्गा आदि उत्तम तीर्थोंमें विधिपूर्वक स्नान करके घूमता हुआ वहीं जा पहुँचा, जहाँ वह पतिव्रता सावित्री निवास करती थी। महामते! वहाँ जाकर वह 'ब्रह्मचारी'के रूपमें विख्यात हुआ। भिक्षाटन करके जीवन-निर्वाह करता हुआ वह आलस्य-रहित हो वेदके स्वाध्याय तथा अग्निहोत्रमें तत्पर रहकर उसी नन्दिग्राममें रहने लगा। इधर उसकी माता अपने स्वामीके मरने और पुत्रके विरक्त होकर घरसे निकल जानेके बाद किसी नियत रक्षकके न होनेसे दुःख-पर-दुःख भोगने लगी ॥ १४-२० ॥

अथ स्नात्वा तु नद्यां वै ब्रह्मचारी स्वकर्पटम् ।
क्षितौ प्रसार्य शोषार्थं जपन्नासीत वाग्यतः ॥२१॥
काको बलाका तद्वस्त्रं परिगृह्याशु जग्मतुः ।
तौ दृष्ट्वा भर्त्सयामास देवशर्मा ततो द्विजः ॥२२॥
विष्ठामुत्सृज्य वस्त्रे तु जग्मतुस्तस्य भर्त्सनात् ।
रोषेण वीक्षयामास खे यान्तौ पक्षिणौ तु सः ॥२३॥
तद्रोषवह्निना दग्धौ भूम्यां निपतितौ खगौ ।
स दृष्ट्वा तौ क्षितिं यातौ पक्षिणौ विस्मयं गतः ॥२४॥
तपसा न मया कश्चित् सदृशोऽस्ति महीतले ।
इति मत्वा गतो भिक्षामटितुं ग्राममञ्जसा ॥२५॥

तदनन्तर एक दिन ब्रह्मचारीने नदीमें स्नान करके अपना वस्त्र सुखानेके लिये पृथ्वीपर फैला दिया और स्वयं मौन होकर जप करने लगा। इसी समय एक कौआ और बगुला—दोनों वह वस्त्र लेकर शीघ्रतासे उड़ चले। तब उन्हें इस प्रकार करते देख देवशर्मा ब्राह्मणने डाँट बतायी। उसकी डाँट सुनकर वे पक्षी उस वस्त्रपर बीट करके उसे वहीं छोड़कर चले गये। तब ब्राह्मणने आकाशमें जाते हुए उन पक्षियोंकी ओर क्रोधपूर्वक देखा। वे पक्षी उसकी क्रोधाग्निसे भस्म होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। उन्हें पृथ्वीपर गिरा देख ब्रह्मचारी बहुत ही विस्मित हुआ। फिर वह यह समझकर कि इस पृथ्वीपर तपस्यामें मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है, अनायास ही गाँवमें भिक्षा माँगने चला ॥२१-२५॥

अटन् ब्राह्मणगेहेषु ब्रह्मचारी तपःश्लाघी ।
प्रविष्टस्तद्गृहं वत्स गृहे यत्र पतिव्रता ॥२६॥
तं दृष्ट्वा याच्यमानापि तेन भिक्षां पतिव्रता ।
वाग्यता पूर्वं विज्ञाय भर्तुः कृत्वानुशासनम् ॥२७॥
क्षालयामास तत्पादौ भूय उष्णेन वारिणा ।
आश्वास्य स्वपतिं सा तु भिक्षां दातुं प्रचक्रमे ॥२८॥
ततः क्रोधेन रक्ताक्षो ब्रह्मचारी पतिव्रताम् ।
दग्धुकामस्तपोवीर्यात् पुनः पुनरुदैक्षत ।
सावित्री तु निरीक्ष्यैवं हसन्ती सा तमब्रवीत् ॥२९॥
न काको न बलाकाहं त्वत्क्रोधेन तु यौ मृतौ ।
नदीतीरेऽद्य कोपात्मन् भिक्षां मत्तो गृहीच्छसि ॥३०॥

वत्स ! तपस्याका अभिमान रखनेवाला वह ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंके घरोंमें भीख माँगता हुआ उस घरमें गया, जहाँ वह पतिव्रता सावित्री रहती थी। पतिव्रताने उसे देखा, ब्रह्मचारीने भिक्षाके लिये उससे याचना की, तो भी वह मौन ही रही। पहले उसने अपने स्वामीके आदेशकी ओर ध्यान दे उसीका पालन किया; फिर गरम जलसे पतिके चरण धोये—इस प्रकार स्वामीको आराम देकर वह भिक्षा देनेको उद्यत हुई। तब ब्रह्मचारी क्रोधसे लाल आँखें करके अपने तपोबलके द्वारा पतिव्रताको जला देनेकी इच्छासे उसकी ओर बारंबार देखने लगा। सावित्री उसे यों करते देख हँसती हुई बोली—'रे क्रोधी ब्राह्मण! मैं कौआ और बगुला नहीं हूँ, जो आज नदीके तटपर तुम्हारे कोपसे जलकर भस्म हो गये थे। मुझसे यदि भीख चाहते हो, तो चुपचाप ले लो' ॥ २६—३० ॥

तयैवमुक्तः सावित्र्या भिक्षामादाय सोऽग्रतः ।
चिन्तयन् मनसा तस्याः शक्तिं दूरार्थवेदिनीम् ॥३१॥
एत्याश्रमे मठे स्थाप्य भिक्षापात्रं प्रयत्नतः ।
पतिव्रतायां भुक्तायां गृहस्थे निर्गते पतौ ॥३२॥
पुनरागम्य तद्गेहं तामुवाच पतिव्रताम् ।

सावित्रीके यों कहनेपर उससे भिक्षा लेकर वह आगे चला और उसकी दूरवर्ती घटनाको जान लेनेवाली शक्तिका मन-ही-मन चिन्तन करता हुआ अपने आश्रमपर पहुँचा। वहाँ भिक्षापात्रको यत्नपूर्वक मठमें रखकर जब पतिव्रता भोजनसे निवृत्त हो गयी और जब उसका गृहस्थ पति घरसे बाहर चला गया, तब वह पुनः उसके घर आया और उस पतिव्रतासे बोला ॥ ३१-३२½ ॥

ब्रह्मचार्युवाच

प्रब्रूह्येतन्महाभागे पृच्छतो मे यथार्थतः ॥३३॥
विप्रकृष्टार्थविज्ञानं कथमाशु तवाभवत् ।

ब्रह्मचारीने कहा—महाभागे ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, तुम मुझे यथार्थरूपसे बताओ, तुम्हें दूरकी घटनाका ज्ञान इतना शीघ्र कैसे हो गया ? ॥ ३३½ ॥

इत्युक्ता तेन सा साध्वी सावित्री तु पतिव्रता ॥३४॥
तं ब्रह्मचारिणं प्राह पृच्छन्तं गृहमेत्य वै ।
शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥३५॥
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि स्वधर्मपरिबृंहितम् ।
स्त्रीणां तु पतिशुश्रूषा धर्म एष परिस्थितः ॥३६॥
तमेवाहं सदा कुर्यां नान्यमस्मि महामते ।
दिवारात्रमसंदिग्धं श्रद्धया परितोषणम् ॥३७॥
कुर्वन्त्या मम सम्भूतं विप्रकृष्टार्थदर्शनम् ।
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि निबोध त्वं यदीच्छसि ॥३८॥
पिता यायावरः शुद्धस्तस्माद्वेदमधीत्य वै ।
मृते पितरि कृत्वा तु प्रेतकार्यमिहागतः ॥३९॥
उत्सृज्य मातरं द्रष्टुं वृद्धां दीनां तपस्विनीम् ।
अनाथां विधवामत्र नित्यं स्वोदरपोषकः ॥४०॥
यया गर्भे धृतः पूर्वं पालितो लालितस्तथा ।
तां त्यक्त्वा विपिने धर्मं चरन् विप्र न लज्जसे ॥४१॥
यया तव कृतं ब्रह्मन् बाल्ये मलनिकृन्तनम् ।
दुःखितां तां गृहे त्यक्त्वा किं भवेद्विपिनेऽटतः॥४२॥
मातृदुःखेन ते वक्त्रं पूतिगन्धमिदं भवेत् ।
पित्रैव संस्कृतो यस्मात् तस्माच्छक्तिरभूदियम् ॥४३॥
पक्षी दग्धः सुदुर्बुद्धे पापात्मन् साम्प्रतं वृथा ।
वृथा स्नानं वृथा तीर्थं वृथा जप्तं वृथा हुतम् ॥४४॥
स जीवति वृथा ब्रह्मन् यस्य माता सुदुःखिता ।
यो रक्षेत् सततं भक्त्या मातरं मातृवत्सलः ॥४५॥
तस्येहानुष्ठितं सर्वं फलं चामुत्र चेह हि ।
मातुश्च वचनं ब्रह्मन् पालितं यैर्नरोत्तमैः ॥४६॥
ते मान्यास्ते नमस्कार्या इह लोके परत्र च ।
अतस्त्वं तत्र गत्वाद्य यत्र माता व्यवस्थिता ॥४७॥
तां त्वं रक्षय जीवन्तीं तद्रक्षा ते परं तपः ।
क्रोधं परित्यजैनं त्वं दृष्टादृष्टविघातकम् ॥४८॥
तयोः कुरु वधे शुद्धिं पक्षिणोरात्मशुद्धये ।
याथातथ्येन कथितमेतत्सर्वं मया तव ॥४९॥
ब्रह्मचारिन् कुरुष्व त्वं यदीच्छसि सतां गतिम् ।

उसके यों कहनेपर वह साध्वी पतिव्रता सावित्री घर आकर प्रश्न करनेवाले उस ब्रह्मचारीसे यों बोली—'ब्रह्मन्! तुम मुझसे जो कुछ पूछते हो, उसे सावधान होकर सुनो—स्वधर्म पालनसे बढ़े हुए अपने परोक्षज्ञानके विषयमें मैं तुमसे

भलीभाँति बताऊँगी। पतिकी सेवा करना ही स्त्रियोंका सुनिश्चित परम धर्म है। महामते! मैं सदा उसी धर्मका पालन करती हूँ, किसी अन्य धर्मका नहीं। निस्संदेह मैं दिन-रात श्रद्धापूर्वक पतिको संतुष्ट करती रहती हूँ, इसीलिये मुझे दूर होनेवाली घटनाका भी ज्ञान हो जाता है। मैं तुम्हें कुछ और भी बताऊँगी; तुम्हारी इच्छा हो, तो सुनो—'तुम्हारे पिता यज्ञशर्मा यायावर-वृत्तिके शुद्ध ब्राह्मण थे। उनसे ही तुमने वेदाध्ययन किया था। पिताके मर जानेपर उनका प्रेतकार्य करके तुम यहाँ चले आये। दीन अवस्थामें पड़कर कष्ट भोगती हुई उस अनाथ विधवा वृद्धा माताकी देख-भाल करना छोड़कर तुम यहाँ रोज अपना ही पेट भरनेमें लगे हुए हो। ब्राह्मण! जिसने पहले तुम्हें गर्भमें धारण किया और जन्मके बाद तुम्हारा लालन-पालन किया, उसे असहायावस्थामें छोड़कर वनमें धर्माचरण करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? ब्रह्मन्! जिसने बाल्यावस्थामें तुम्हारा मल-मूत्र साफ किया था, उस दुखिया माताको घरमें अकेली छोड़कर वनमें घूमनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? माताके कष्टसे तुम्हारा मुँह दुर्गन्ध-युक्त हो जायगा। तुम्हारे पिताने ही तुम्हारा उत्तम संस्कार कर दिया था, जिससे तुम्हें यह शक्ति प्राप्त हुई है। दुर्बुद्धि पापात्मन्! तुमने व्यर्थ ही पक्षियोंको जलाया। इस समय तुम्हारा किया हुआ स्नान, तीर्थसेवन, जप और होम—सब व्यर्थ है। ब्रह्मन्! जिसकी माता अत्यन्त दुःखमें पड़ी हो, वह व्यर्थ ही जीवन धारण करता है। जो पुत्र मातापर दया करके भक्तिपूर्वक निरन्तर उसकी रक्षा करता है, उसका किया हुआ सब कर्म यहाँ और परलोकमें भी फलप्रद होता है। ब्रह्मन्! जिन उत्तम पुरुषोंने माताके वचनका पालन किया है, वे इस लोक और परलोकमें भी माननीय तथा नमस्कारके योग्य हैं। अतः जहाँ तुम्हारी माता है, वहाँ जाकर उसके जीतेजी उसीकी रक्षा करो। उसकी रक्षा करना ही तुम्हारे लिये परम तपस्या है। इस क्रोधको त्याग दो; क्योंकि यह तुम्हारे दृष्ट और अदृष्ट—सभी कर्मोंको नष्ट करनेवाला है। उन पक्षियोंकी हत्याके पापसे अपनी शुद्धिके लिये तुम प्रायश्चित्त करो। यह सब मैंने तुमसे यथार्थ बातें कही हैं। ब्रह्मचारिन्! यदि तुम सत्पुरुषोंकी गतिको प्राप्त करना चाहते हो तो मेरे कहे अनुसार करो' ॥ ३४—४९½ ॥

इत्युक्त्वा विररामाथ द्विजपुत्रं पतिव्रता ॥५०॥
सोऽपि तामाह भूयोऽपि सावित्रीं तु क्षमापयन्।
अज्ञानात्कृतपापस्य क्षमस्व वरवर्णिनि ॥५१॥
मया तवाहितं यच्च कृतं क्रोधनिरीक्षणम्।
तत् क्षमस्व महाभागे हितमुक्तं पतिव्रते ॥५२॥
तत्र गत्वा मया यानि कर्माणि तु शुभव्रते।
कार्याणि तानि मे ब्रूहि यथा मे सुगतिर्भवेत् ॥५३॥

ब्राह्मणकुमारसे यों कहकर वह पतिव्रता चुप हो गयी। तब ब्रह्मचारी भी पुनः अपने अपराधके लिये क्षमा माँगता हुआ सावित्रीसे बोला—'वरवर्णिनि! अनजानमें किये हुए मेरे इस पापको क्षमा करो। महाभागे! पतिव्रते! तुमने मेरे हितकी ही बात कही है। मैंने जो क्रोधपूर्वक तुम्हारी ओर देखकर तुम्हारा अपराध किया था, उसे क्षमा कर दो। शुभव्रते! अब मुझे माताके पास जाकर जिन कर्तव्योंका पालन करना चाहिये, उन्हें बताओ, जिनके करनेसे मेरी शुभगति हो' ॥ ५०—५३ ॥

तेनैवमुक्ता साप्याह तं पृच्छन्तं पतिव्रता।
यानि कार्याणि वक्ष्यामि त्वया कर्माणि मे शृणु ॥५४॥
पोष्या माता त्वया तत्र निश्चयं भैक्षवृत्तिना।
अत्र वा तत्र वा ब्रह्मन् प्रायश्चित्तं च पक्षिणोः ॥५५॥
यज्ञशर्मसुता कन्या भार्या तव भविष्यति।
तां गृह्णीष्व च धर्मेण गते त्वयि स दास्यति ॥५६॥
पुत्रस्ते भविता तस्यामेकः संततिवर्धनः।
यायावरधनाद्वृत्तिः पितृवत्ते भविष्यति ॥५७॥
पुनर्मृतायां भार्यायां भविता त्वं त्रिदण्डकः।
स यत्याश्रमधर्मेण यथोक्तयानुष्ठितेन च।
नरसिंहप्रसादेन वैष्णवं पदमाप्स्यसि ॥५८॥
भाव्यमेतत्तु कथितं मया तव हि पृच्छतः।
मन्यसे नानृतं त्वेतत् कुरु सर्वं हि मे वचः ॥५९॥

उसके इस प्रकार कहनेपर उस पूछनेवाले ब्राह्मणसे पतिव्रता सावित्री पुनः बोली—"ब्रह्मन्! वहाँ तुमको जो कर्म करने चाहिये, उन्हें बतलाती हूँ; सुनो—'तुम्हें भिक्षावृत्तिसे

जीवननिर्वाह करते हुए वहाँ माताका निश्चय ही पोषण करना चाहिये और पक्षियोंकी हत्याका प्रायश्चित्त यहाँ अथवा वहाँ अवश्य करना चाहिये। यज्ञशर्माकी पुत्री तुम्हारी पत्नी होगी। उसे ही तुम धर्मपूर्वक ग्रहण करो। तुम्हारे जानेपर यज्ञशर्मा अपनी कन्या तुम्हें दे देंगे। उसके गर्भसे तुम्हारी वंश-परम्पराको बढ़ानेवाला एक पुत्र होगा। पिताकी भाँति यायावर-वृत्तिसे प्राप्त हुए धनसे ही तुम अपनी जीविका चलाओगे। फिर तुम अपनी पत्नीकी मृत्युके बाद त्रिदण्डी (संन्यासी) हो जाओगे। वहाँ संन्यासाश्रमके लिये शास्त्रविहित धर्मका यथावत् रूपसे पालन करनेपर भगवान् नरसिंहकी प्रसन्नतासे तुम विष्णुपदको प्राप्त कर लोगे।' तुम्हारे पूछनेपर मैंने ये भविष्यमें होनेवाली बातें तुमसे बतला दी हैं। यदि तुम इन्हें असत्य नहीं मानते, तो मेरे सब वचनोंका पालन करो" ॥५४—५९॥

ब्राह्मण उवाच

गच्छामि मातृरक्षार्थमद्यैवाहं पतिव्रते।
करिष्ये त्वद्वचः सर्वं तत्र गत्वा शुभेक्षणे ॥६०॥

ब्राह्मण बोला—पतिव्रते! मैं माताकी रक्षाके लिये आज ही जाता हूँ। शुभेक्षणे! वहाँ जाकर तुम्हारी सब बातोंका मैं पालन करूँगा ॥ ६० ॥

इत्युक्त्वा गतवान् ब्रह्मन् देवशर्मा ततस्त्वरन्।
संरक्ष्य मातरं यत्नात् क्रोधमोहविवर्जितः ॥६१॥

कृत्वा विवाहमुत्पाद्य पुत्रं वंशकरं शुभम्।
मृतभार्यश्च संन्यस्य समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
नरसिंहप्रसादेन परां सिद्धिमवाप्तवान् ॥६२॥
पतिव्रताशक्तिरियं तवेरिता
धर्मश्च मातुः परिरक्षणं परम्।
संसारवृक्षं च निहत्य बन्धनं
छित्त्वा च विष्णोः पदमेति मानवः ॥६३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे ब्रह्मचारिसंवादो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्! यों कहकर देवशर्मा वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चला गया और क्रोध तथा मोहसे रहित होकर उसने यत्नपूर्वक माताकी रक्षा की। फिर विवाह करके एक सुन्दर वंशवर्धक पुत्र उत्पन्न किया और कुछ कालके बाद पत्नीकी मृत्यु हो जानेपर संन्यासी होकर ढेले और मिट्टीको बराबर समझते हुए उसने भगवान् नृसिंहकी कृपासे परमसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर ली। यह मैंने तुमसे पतिव्रताकी शक्ति बतायी और यह भी बतलाया कि माताकी रक्षा करना परम धर्म है। संसारवृक्षका उच्छेद करके सब बन्धनोंको तोड़ देनेपर मनुष्य विष्णुपदको प्राप्त करता है ॥ ६१—६३ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'पतिव्रता और ब्रह्मचारीका संवाद' विषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चौदहवाँ अध्याय

तीर्थसेवन और आराधनसे भगवान्‌की प्रसन्नता; 'अनाश्रमी' रहनेसे दोष तथा आश्रमधर्मके पालनसे भगवत्प्राप्तिका कथन

व्यास उवाच

शृणु वत्स महाबुद्धे शिष्याश्चैतां परां कथाम्।
मयोच्यमानां शृण्वन्तु सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १ ॥

व्यासजी बोले—महाबुद्धिमान् पुत्र शुकदेव! तुम और मेरे अन्य शिष्यगण भी मेरे द्वारा कही जानेवाली इस पापहारिणी कथाको सुनो ॥ १ ॥

पुरा द्विजवरः कश्चिद्वेदशास्त्रविशारदः।
मृतभार्यो गतस्तीर्थं चक्रे स्नानं यथाविधि ॥ २ ॥

तपः सुतप्तं विजने निःस्पृहो दारकर्मणि।
भिक्षाहारः प्रवसितो जपस्नानपरायणः ॥ ३ ॥

स्नात्वा स गङ्गां यमुनां सरस्वतीं
पुण्यां वितस्तामथ गोमतीं च।
गयां समासाद्य पितॄन् पितामहान्
संतर्पयन् सन् गतवान् महेन्द्रम् ॥ ४ ॥

१. ये यज्ञशर्मा देवशर्माके पितासे भिन्न थे।

तत्रापि कुण्डेषु गिरौ महामतिः
स्नात्वा नु दृष्ट्वा भृगुनन्दनोत्तमम् ।
कृत्वा पितृभ्यस्तु तथैव तृप्तिं
व्रजन् वनं पापहरं प्रविष्टः ॥ ५ ॥

पूर्वकालमें कोई वेदशास्त्रविशारद श्रेष्ठ ब्राह्मण अपनी पत्नीकी मृत्यु हो जानेपर तीर्थमें गया और वहाँ उसने विधिपूर्वक स्नान किया और विजन (एकान्त) में रहकर उत्तम तपस्या की । तत्पश्चात् दारकर्म (विवाह) की इच्छा न रखकर वह परदेशमें रहता हुआ भिक्षा माँगकर जीवननिर्वाह करने और जप, स्नान आदि उत्तम कर्ममें तत्पर रहने लगा । गङ्गा, यमुना, सरस्वती, पावन वितस्ता (झेलम) और गोमती आदिमें स्नान करके वह गयामें पहुँचा और वहाँ अपने पिता-पितामह आदिका तर्पण करके महेन्द्र पर्वतपर गया । वहाँ उस परम बुद्धिमान् द्विजने पर्वतीय कुण्डोंमें स्नान करनेके पश्चात् ऋषिश्रेष्ठ भृगुनन्दन परशुरामजीका दर्शन किया; फिर पूर्ववत् पितरोंके लिये तर्पण करके चलते-चलते एक वनमें प्रवेश किया, जो पापोंका नाश करनेवाला था ॥ २-५ ॥

धारां पतन्तीं महतीं शिलोच्चयात्
संधार्य भक्त्या त्वनु नारसिंहे ।
शिरस्यशेषाघविनाशिनीं तदा
विशुद्धदेहः स बभूव विप्रः ॥ ६ ॥
विन्ध्याचले सक्तमनन्तमच्युतं
भक्तैर्मुनीन्द्रैरपि पूजितं सदा ।
आराध्य पुष्पैर्गिरिसम्भवैः शुभै-
स्तत्रैव सिद्धिं त्वभिकाङ्क्ष्य संस्थितः ॥ ७ ॥

वहाँ एक पर्वतसे बहुत बड़ी धारा गिरती थी, जो निश्शेष पापराशिका विनाश करनेवाली थी । उसके जलको लेकर ब्राह्मणने भक्तिपूर्वक भगवान् नृसिंहके मस्तकपर चढ़ाया । इससे उसी समय उसका शरीर विशुद्ध हो गया । फिर विन्ध्याचल पर्वतपर स्थित होकर भक्तों और मुनीश्वरोंसे सदा पूजित होनेवाले अनन्त अच्युत भगवान् विष्णुकी सुन्दर पर्वतीय पुष्पोंसे पूजा करता हुआ वह ब्राह्मण सिद्धिकी कामनासे वहीं ठहर गया ॥ ६-७ ॥

स नारसिंहो बहुकालपूजया
तुष्टः सुनिद्रागतमाह भक्तम् ।
अनाश्रमित्वं गृहभङ्गकारणं
ह्यतो गृहाणाश्रममुत्तमं द्विज ॥ ८ ॥
अनाश्रमीति द्विजवेदपारगा-
नपि त्वहं नानुगृह्णामि चात्र ।
तथापि निष्ठां तव वीक्ष्य सत्तम
त्वयि प्रसन्नेन मयेत्युदीरितम् ॥ ९ ॥

इस तरह दीर्घकालतक उसने पूजा की । उससे प्रसन्न होकर वे भगवान् नृसिंह गाढ़ निद्रामें सोये हुए अपने उस भक्तसे स्वप्नमें दर्शन देकर बोले—'ब्रह्मन् ! किसी आश्रमधर्मको स्वीकार करके न चलना गृहस्थकी मर्यादाके भङ्गका कारण होता है; अतः यदि तुम्हें गृहस्थ नहीं रहना है तो किसी दूसरे उत्तम आश्रमको ग्रहण करो । ब्रह्मन् ! जो किसी आश्रममें स्थित नहीं है, वह यदि वेदोंका पारगामी विद्वान् हो, तो भी मैं यहाँ उसपर अनुग्रह नहीं करता; परंतु साधुवर ! तुम्हारी निष्ठा देखकर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, इसीसे मैंने तुमसे यह बात कही है' ॥ ८-९ ॥

तेनैवमुक्तः परमेश्वरेण
द्विजोऽपि बुद्ध्या प्रविचिन्त्य वाक्यम् ।
हरेरलङ्घ्यं नरसिंहमूर्ते-
र्बाधं च कृत्वा स यतिर्बभूव ॥ १० ॥

उन परमेश्वरके इस प्रकार कहनेपर उस ब्राह्मणने भी अपनी बुद्धिसे नृसिंहस्वरूप श्रीहरिके उस कथनपर विचार करके उसे अलङ्घनीय माना और सम्पूर्ण जगत्का बाध (त्याग) करके वह संन्यासी हो गया ॥ १० ॥

त्रिदण्डवृक्षाक्षपवित्रपाणि-
राप्लुत्य तोये त्वघहारिणि स्थितः ।
जपन् सदा मन्त्रमपास्तदोषं
सावित्र्यमीशं हृदये स्मरन् हरिम् ॥ ११ ॥
यथाकथंचित् प्रतिलभ्य शाकं
भैक्ष्याभितुष्टो वनवासवासी ।
अभ्यर्च्य विष्णुं नरसिंहमूर्तिं
ध्यात्वा च नित्यं हृदि शुद्धमाद्यम् ॥ १२ ॥

विविक्तदेशे विपुले कुशासने
निवेश्य सर्वं हृदयेऽस्य सम्यम् ।
बाह्यं समस्तं गुणमिन्द्रियाणां
विलीय भेदं भगवत्यनन्ते ॥१३॥
विज्ञेयमानन्दमजं विशालं
सत्यात्मकं क्षेमपदं वरेण्यम् ।
संचिन्त्य तस्मिन् प्रविहाय देहं
बभूव मुक्तः परमात्मरूपी ॥१४॥

फिर प्रतिदिन उस पापहारी जलमें डुबकी लगाकर तथा उसीमें खड़ा रहकर त्रिदण्ड और अक्षमाला धारण करनेसे पवित्र हाथों-वाला वह ब्राह्मण मन-ही-मन भगवान् विष्णुका स्मरण करता हुआ निर्दोष गायत्री-मन्त्रका जप करने लगा। नित्यप्रति शुद्ध आदिदेव भगवान् विष्णुका हृदयमें ध्यान करके उनके नृसिंह-विग्रहका पूजन करता और वनवासी हो किसी प्रकार शाक आदि खाकर भिक्षावृत्तिसे ही संतोषपूर्वक रहता था। विस्तृत एकान्त प्रदेशमें कुशासनपर बैठकर वह इन्द्रियोंके समस्त बाह्य विषयों तथा भेदबुद्धिको हृदयस्थित भगवान् अनन्तमें विलीन करके विज्ञेय, अजन्मा, विराट्, सत्यस्वरूप, श्रेष्ठ, कल्याणधाम आनन्दमय परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ आयु पूरी होनेपर शरीर त्यागकर मुक्त एवं परमात्मस्वरूप हो गया ॥ ११-१४॥

इमां कथां मुक्तिपरां यथोक्तां
पठन्ति ये नारसिंहं स्मरन्तः ।
प्रयागतीर्थप्लवने तु यत्फलं
तत् प्राप्य ते यान्ति हरेः पदं महत् ॥१५॥
इत्येतदुक्तं तव पुत्र पृच्छतः
पुरातनं पुण्यतमं पवित्रकम् ।
संसारवृक्षस्य विनाशनं परं
पुनः कमिच्छस्यभिवाञ्छितं वद ॥१६॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

जो लोग मोक्ष-सम्बन्धिनी अथवा मोक्षको ही उत्कृष्ट बनाने-वाली इस कथाको भगवान् नृसिंहका स्मरण करते हुए पढ़ते हैं, वे प्रयागतीर्थमें स्नान करनेसे जो फल होता है, उसे पाकर अन्तमें भगवान् विष्णुके महान् पदको प्राप्त कर लेते हैं। बेटा! तुम्हारे पूछनेसे मैंने यह उत्तम, पवित्र, पुण्यतम एवं पुरातन उपाख्यान, जो संसारवृक्षका नाश करनेवाला है, तुमसे कहा है; अब और क्या सुनना चाहते हो? अपना मनोरथ प्रकट करो ॥ १५-१६ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

संसारवृक्षका वर्णन तथा इसे नष्ट करनेवाले ज्ञानकी महिमा

श्रीशुक उवाच

श्रोतुमिच्छाम्यहं तात साम्प्रतं मुनिभिः सह ।
संसारवृक्षं सकलं येनेदं परिवर्तते ॥ १ ॥
वक्तुमर्हसि मे तात त्वयैतत् सूचितं पुरा ।
नान्यो वेत्ति महाभाग संसारोच्चारलक्षणम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—तात! मैं इस समय मुनियोंके साथ संसार-वृक्षका वर्णन सुनना चाहता हूँ, जिसके द्वारा यह परिवर्तनका सम्पूर्ण चक्र चलता रहता है। तात! आपने ही पहले इस वृक्षको सूचित किया है; अतः आप ही इसका वर्णन करनेके योग्य हैं। महाभाग! आपके सिवा दूसरा कोई इस संसारवृक्षका लक्षण नहीं जानता ॥ १-२ ॥

सूत उवाच

स पुत्रेणैवमुक्तस्तु शिष्याणां मध्यगेन च ।
कृष्णद्वैपायनः प्राह संसारतरुलक्षणम् ॥ ३ ॥

सूतजी बोले—भरद्वाज! अपने शिष्योंके बीचमें बैठे हुए पुत्र शुकदेवजीके इस प्रकार पूछनेपर श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यासजी) ने उन्हें संसारवृक्षका लक्षण इस प्रकार बताया ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

शृण्वन्तु शिष्याः सकला वत्स त्वं शृणु भावितः ।
संसारवृक्षं वक्ष्यामि येन चेदं समावृतम् ॥ ४ ॥

अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्मादग्रे तथोत्थितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियाङ्करकोटरः ॥ ५ ॥
महाभूतविशाखश्च विशेषैः पत्रशाखवान् ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥ ६ ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्म वृक्षः सनातनः ।
एतद् ब्रह्म परं चैव ब्रह्म वृक्षस्य तस्य तत् ॥ ७ ॥
इत्येवं कथितं वत्स संसारवृक्षलक्षणम् ।
वृक्षमेनं समारूढा मोहमायान्ति देहिनः ॥ ८ ॥
संसरन्तीह सततं सुखदुःखसमन्विताः ।
प्रायेण प्राकृता मर्त्या ब्रह्मज्ञानपराङ्मुखाः ॥ ९ ॥
छित्त्वैनं कृतिनो यान्ति नो यान्ति ब्रह्मज्ञानिनः ।
कर्मक्रिये महाप्राज्ञ नैनं छिन्दन्ति दुष्कृताः ॥१०॥
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततोऽमरत्वं ते यान्ति यस्मान्नावर्तते पुनः ॥११॥
देहदारमयैः पाशैर्दृढं बद्धोऽपि मुच्यते ।
ज्ञानमेव परं पुंसां श्रेयसामभिवाञ्छितम् ।
तोषणं नरसिंहस्य ज्ञानहीनः पशुः पुमान् ॥१२॥
आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिकं हि लोके
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥१३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

श्रीव्यासजी बोले—मेरे सभी शिष्य इस विषयको सुनें; तथा वत्स ! तुम भी सावधान होकर सुनो—मैं संसार-वृक्षका वर्णन करता हूँ, जिसने इस सारे दृश्य-प्रपञ्चको व्याप्त कर रक्खा है। यह संसार-वृक्ष अव्यक्त परमात्मारूपी मूलसे प्रकट हुआ है। उन्हींसे प्रकट होकर हमारे सामने इस रूपमें खड़ा है। बुद्धि (महत्तत्व) उसका तना है, इन्द्रियाँ ही उसके अङ्कुर और कोटर हैं, पञ्चमहाभूत उसकी बड़ी-बड़ी डालियाँ हैं, विशेष पदार्थ ही उसके पत्ते और टहनियाँ हैं, धर्म-अधर्म फूल हैं, उससे 'सुख' और 'दुःख' नामक फल प्रकट होते हैं, प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाला यह संसारवृक्ष ब्रह्मकी भाँति सभी भूतोंका आश्रय है। यह अपर ब्रह्म और परब्रह्म भी इस संसार-वृक्षका कारण है। पुत्र ! इस प्रकार मैंने तुमसे संसारवृक्षका लक्षण बतलाया है। इस वृक्षपर चढ़े हुए देहाभिमानी जीव मोहित हो जाते हैं। प्रायः ब्रह्मज्ञानसे विमुख प्राकृत मनुष्य सदा सुख-दुःखसे युक्त होकर इस संसारमें फँसे रहते हैं, ब्रह्मज्ञानी विद्वान् इस संसारवृक्षको नहीं प्राप्त होते। वे इसका उच्छेद करके मुक्त हो जाते हैं। महाप्राज्ञ शुकदेव ! जो पापी हैं, वे कर्म-क्रियाका उच्छेद नहीं कर पाते। ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी उत्तम खड्गके द्वारा इस वृक्षको छिन्न-भिन्न करके उस अमरपदको प्राप्त करते हैं, जहाँसे जीव पुनः इस संसारमें नहीं आता। शरीर तथा स्त्रीरूपी बन्धनोंसे दृढ़तापूर्वक बँधा हुआ पुरुष भी ज्ञानके द्वारा मुक्त हो जाता है; अतः श्रेष्ठतम पुरुषोंको ज्ञानकी प्राप्ति ही परम अभीष्ट होती है; क्योंकि ज्ञान ही भगवान् नृसिंहको संतोष देता है। ज्ञानहीन पुरुष तो पशु ही है। मनुष्योंके आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि कर्म तो पशुओंके ही समान होते हैं; उनमें केवल ज्ञान ही अधिक होता है। जो ज्ञानहीन हैं, वे पशुओंके ही तुल्य हैं ॥ ४–१३ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

भगवान् विष्णुके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीशुक उवाच

संसारवृक्षमारुह्य द्वन्द्वपाशशतैर्दृढैः ।
बध्यमानः सुतैश्चान्यैः पतितो योनिसागरे ॥ १ ॥
यः कामक्रोधलोभैस्तु विषयैः परिपीडितः ।
बद्धः स्वकर्मभिर्गौणैः पुत्रदारैषणादिभिः ॥ २ ॥
स केन निस्तरत्याशु दुस्तरं भवसागरम् ।
पृच्छामाख्याहि मे तात तस्य मुक्तिः कथं भवेत्॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी ! जो संसार-वृक्षपर आरूढ़ हो, राग-द्वेषादि द्वन्द्वमय सैकड़ों सुदृढ़ पाशों तथा पुत्र और ऐश्वर्य आदिके बन्धनसे बँधकर योनि-समुद्रमें

गिरा हुआ है तथा काम, क्रोध, लोभ और विषयोंसे पीड़ित होकर अपने कर्ममय मुख्य-बन्धनों तथा पुत्रैषणा और दारैषणा आदि गौण-बन्धनोंसे आबद्ध है, वह मनुष्य इस दुस्तर भवसागरको कैसे शीघ्र पार कर सकता है? उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? हमारे इस प्रश्नका समाधान कीजिये ॥ १-३ ॥

श्रीव्यास उवाच

शृणु वत्स महाप्राज्ञ यज्ज्ञात्वा मुक्तिमाप्नुयात् ।
तच्च वक्ष्यामि ते दिव्यं नारदेन श्रुतं पुरा ॥ ४ ॥
नरके रौरवे घोरे धर्मज्ञानविवर्जिताः ।
स्वकर्मभिर्महादुःखं प्राप्ता यत्र यमालये ॥ ५ ॥
महापापकृतं घोरं सम्प्राप्ताः पापकृज्जनाः ।
आलोक्य नारदः शीघ्रं गत्वा यत्र त्रिलोचनः॥ ६ ॥
गङ्गाधरं महादेवं शंकरं शूलपाणिनम् ।
प्रणम्य विधिवद्देवं नारदः परिपृच्छति ॥ ७ ॥

श्रीव्यासजी बोले—महाप्राज्ञ पुत्र! मैंने पूर्वकालमें नारदजीके मुखसे जिसका श्रवण किया था और जिसे जान लेनेपर मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उस दिव्य ज्ञानका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ। यमराजके भवनमें जहाँ घोर रौरव नरकके भीतर धर्म और ज्ञानसे रहित प्राणी अपने पापकर्मोंके कारण महान् कष्ट पाते हैं, वहाँ एक बार नारदजी गये। उन्होंने देखा, पापी जीव अपने महान् पापोंके फलस्वरूप घोर संकटमें पड़े हैं। यह देखकर नारदजी शीघ्र ही उस स्थानपर गये, जहाँ त्रिलोचन महादेवजी थे। वहाँ पहुँचकर सिरपर गङ्गाजीको धारण करनेवाले महान् देवता शूलपाणि भगवान् शंकरको उन्होंने विधिवत् प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा ॥ ४-७ ॥

नारद उवाच

यः संसारे महाद्वन्द्वैः कामभोगैः शुभाशुभैः ।
शब्दादिविषयैर्बद्धः पीड्यमानः षडूर्मिभिः ॥ ८ ॥
कथं नु मुच्यते क्षिप्रं मृत्युसंसारसागरात् ।
भगवन् ब्रूहि मे तत्त्वं श्रोतुमिच्छामि शंकर ॥ ९ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नारदस्य त्रिलोचनः ।
उवाच तमृषिं शम्भुः प्रसन्नवदनो हरः ॥१०॥

नारदजी बोले—'भगवन्! जो संसारमें महान् द्वन्द्वों, शुभाशुभ कामभोगों और शब्दादि विषयोंसे बँधकर छहों ऊर्मियों*द्वारा पीड़ित हो रहा है, वह मृत्युमय संसार-सागरसे किस प्रकार शीघ्र ही मुक्त हो सकता है? कल्याणस्वरूप भगवान् शिव! यह बात मुझे बताइये। मैं यही सुनना चाहता हूँ।' नारदजीका वह वचन सुनकर त्रिनेत्रधारी भगवान् हरका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिल उठा। वे उन महर्षिसे बोले ॥ ८-१० ॥

महेश्वर उवाच

ज्ञानामृतं च गुह्यं च रहस्यमृषिसत्तम ।
वक्ष्यामि शृणु दुःखघ्नं सर्वबन्धभयापहम् ॥११॥
तृणादि चतुरास्यान्तं भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
चराचरं जगत्सर्वं प्रसुप्तं यस्य मायया ॥१२॥
तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रबुध्यते ।
स निस्तरति संसारं देवानामपि दुस्तरम् ॥१३॥
भोगैश्वर्यमदोन्मत्तस्तत्त्वज्ञानपराङ्मुखः ।
संसारसुमहापङ्के जीर्णा गौरिव मज्जति ॥१४॥
यस्त्वात्मानं निबध्नाति कर्मभिः कोशकारवत् ।
तस्य मुक्तिं न पश्यामि जन्मकोटिशतैरपि ॥१५॥
तस्मान्नारद सर्वेशं देवानां देवमव्ययम् ।
आराधयेत्सदा सम्यग् ध्यायेद्विष्णुं समाहितः ॥१६॥

श्रीमहेश्वरने कहा—मुनिश्रेष्ठ! सुनो; मैं सब प्रकारके बन्धनोंका भय और दुःख दूर करनेवाले गोपनीय रहस्यभूत ज्ञानामृतका वर्णन करता हूँ। तृणसे लेकर चतुरानन ब्रह्माजीतक, जो चार प्रकारका प्राणि-समुदाय है, वह अथवा समस्त चराचर जगत् जिनकी मायासे सुप्त हो रहा है, उन भगवान् विष्णुकी कृपासे यदि कोई जाग उठता है—ज्ञानवान् हो जाता है तो वही देवताओंके लिये भी दुस्तर इस संसार-सागरको पार कर जाता है। जो मनुष्य भोग और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त और तत्त्वज्ञानसे विमुख है, वह संसाररूपी महान् पङ्कमें उस तरह डूब जाता है, जैसे कीचड़में फँसी हुई बूढ़ी गाय। जो रेशमके कीड़ेकी भाँति अपनेको कर्मोंके बन्धनसे बाँध लेता है, उसके लिये करोड़ों जन्मोंमें भी मैं मुक्तिकी सम्भावना नहीं देखता। इसलिये नारद! सदा समाहितचित्त

* भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, शोक और मोह—छः दुःख 'ऊर्मि' कहे गये हैं।

होकर सर्वेश्वर अविनाशी देवदेव भगवान् विष्णुका सदा भलीभाँति आराधन और ध्यान करना चाहिये ॥ ११—१६ ॥

यस्तं विश्वमनाद्यन्तमाद्यं स्वात्मनि संस्थितम्।
सर्वज्ञममलं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥१७॥
निर्विकल्पं निराकाशं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
वासुदेवमजं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥१८॥
निरञ्जनं परं शान्तमच्युतं भूतभावनम् ।
देवगर्भं विभुं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥१९॥
सर्वपापविनिर्मुक्तमप्रमेयमलक्षणम् ।
निर्वाणमनघं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२०॥
अमृतं परमानन्दं सर्वपापविवर्जितम् ।
ब्रह्मण्यं शंकरं विष्णुं सदा संकीर्त्य मुच्यते ॥२१॥
योगेश्वरं पुराणाख्यमशरीरं गुहाशयम् ।
अमात्रमव्ययं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२२॥

जो सदा उन विश्वस्वरूप, आदि-अन्तसे रहित, सबके आदिकारण, आत्मनिष्ठ, अमल एवं सर्वज्ञ भगवान् विष्णुका ध्यान करता है, वह मुक्त हो जाता है। जो विकल्पसे रहित, अवकाशशून्य, प्रपञ्चसे परे, रोग-शोकसे हीन एवं अजन्मा हैं, उन वासुदेव (सर्वव्यापी भगवान्) विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जो सब दोषोंसे रहित, परम शान्त, अच्युत, प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले तथा देवताओंके भी उत्पत्तिस्थान हैं, उन भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला पुरुष जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है । जो सम्पूर्ण पापोंसे शून्य, प्रमाणरहित, लक्षणहीन, शान्त तथा निष्पाप हैं, उन भगवान् विष्णुका सदा चिन्तन करनेवाला मनुष्य कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जो अमृतमय, परमानन्दस्वरूप, सब पापोंसे रहित, ब्राह्मणप्रिय तथा सबका कल्याण करनेवाले हैं, उन भगवान् विष्णुका निरन्तर नाम-कीर्तन करनेसे मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जो योगोंके ईश्वर, पुराण, प्राकृत देहहीन, बुद्धिरूप गुहामें शयन करनेवाले, विषयोंके सम्पर्कसे शून्य और अविनाशी हैं, उन भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला पुरुष जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥१७—२२॥

शुभाशुभविनिर्मुक्तमूर्मिषट्कपरं विभुम् ।
अचिन्त्यममलं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२३॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वदुःखविवर्जितम् ।
अप्रतर्क्यमजं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२४॥
अनामगोत्रमद्वैतं चतुर्थं परमं पदम् ।
तं सर्वहृद्गतं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२५॥
अरूपं सत्यसंकल्पं शुद्धमाकाशवत्परम् ।
एकाग्रमनसा विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२६॥
सर्वात्मकं स्वभावस्थमात्मचैतन्यरूपकम् ।
शुभ्रमेकाक्षरं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२७॥
अनिर्वाच्यमविज्ञेयमक्षरादिमसम्भवम् ।
एकं नूत्नं सदा विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२८॥
विश्वाद्यं विश्वगोप्तारं विश्वादं सर्वकामदम् ।
स्थानत्रयातिगं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥२९॥
सर्वदुःखक्षयकरं सर्वशान्तिकरं हरिम् ।
सर्वपापहरं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥३०॥
ब्रह्मादिदेवगन्धर्वैर्मुनिभिः सिद्धचारणैः ।
योगिभिः सेवितं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥३१॥
विष्णौ प्रतिष्ठितं विश्वं विष्णुर्विश्वे प्रतिष्ठितः ।
विश्वेश्वरमजं विष्णुं कीर्तयन्नेव मुच्यते ॥३२॥
संसारबन्धनान्मुक्तिमिच्छन् काममशेषतः ।
भक्त्यैव वरदं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते ॥३३॥

जो शुभ और अशुभके बन्धनसे रहित, छः ऊर्मियोंसे परे, सर्वव्यापी, अचिन्तनीय तथा निर्मल हैं, उन भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला मनुष्य संसारसे मुक्त हो जाता है। जो समस्त द्वन्द्वोंसे मुक्त और सब दुःखोंसे रहित हैं, उन तर्कके अविषय, अजन्मा भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करता हुआ पुरुष मुक्त हो जाता है। जो नाम-गोत्रसे शून्य, अद्वितीय और जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय परमपद हैं, समस्त भूतोंके हृदय-मन्दिरमें विद्यमान उन भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है। जो रूपरहित, सत्यसंकल्प और आकाशके समान परम शुद्ध हैं; उन भगवान् विष्णुका सदा एकाग्रचित्तसे चिन्तन करनेवाला मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो सर्वरूप, स्वभावनिष्ठ और आत्मचैतन्यरूप हैं, उन प्रकाशमान एकाक्षर (प्रणवमय) भगवान् विष्णुका सदा ध्यान

करनेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो अनिर्वचनीय, ज्ञानातीत, प्रणवस्वरूप और जन्म-रहित हैं, उन एकमात्र नित्यनूतन भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो विश्वके आदिकारण, विश्वके रक्षक, विश्वका भक्षण (संहार) करनेवाले तथा सम्पूर्ण काम्य वस्तुओंके दाता हैं, तीनों अवस्थाओंसे अतीत उन भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है। समस्त दुःखोंके नाशक, सबको शान्ति प्रदान करनेवाले और सम्पूर्ण पापोंको हर लेनेवाले भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। ब्रह्मा आदि देवता, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, चारण और योगियोंद्वारा सेवित भगवान् विष्णुका सदा ध्यान करनेवाला पुरुष पाप-तापसे मुक्त हो जाता है। यह विश्व भगवान् विष्णुमें स्थित है और भगवान् विष्णु इस विश्वमें प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण विश्वके स्वामी, अजन्मा भगवान् विष्णुका कीर्तन करनेमात्रसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो संसार-बन्धनसे मुक्ति तथा सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह यदि भक्तिपूर्वक वरदायक भगवान् विष्णुका ध्यान करे तो सफलमनोरथ होकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २३–३३ ॥

व्यास उवाच

नारदेन पुरा पृष्ट एवं स वृषभध्वजः ।
यदुवाच तदा तस्मै तन्मया कथितं तव ॥३४॥
तमेव सततं ध्याहि निर्बीजं ब्रह्म केवलम् ।
अवाप्स्यसि ध्रुवं तात शाश्वतं पदमव्ययम् ॥३५॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—बेटा ! इस प्रकार पूर्वकालमें देवर्षि नारदजीके पूछनेपर उन वृषभचिह्नित ध्वजावाले भगवान् शंकरने उस समय उनके प्रति जो कुछ कहा था, वह सब मैंने तुमसे कह सुनाया। तात ! निर्बीज ब्रह्मरूप उन अद्वितीय विष्णुका ही निरन्तर ध्यान करो; इससे तुम अवश्य ही सनातन अविनाशी पदको प्राप्त करोगे ॥३४-३५॥

श्रुत्वा सुरर्षिर्विष्णोः प्राधान्यमिदमीश्वरात् ।
स विष्णुं सम्यगाराध्य परां सिद्धिमवाप्तवान् ॥३६॥
यश्चैनं पठते चैव नृसिंहकृतमानसः ।
शतजन्मकृतं पापमपि तस्य प्रणश्यति ॥३७॥
विष्णोः स्तवमिदं पुण्यं महादेवेन कीर्तितम् ।
प्रातः स्नात्वा पठेन्नित्यममृतत्वं स गच्छति ॥३८॥
ध्यायन्ति ये नित्यमनन्तमच्युतं
हृत्पद्ममध्येष्वथ कीर्तयन्ति ये ।
उपासकानां प्रभुमीश्वरं परं
ते यान्ति सिद्धिं परमां तु वैष्णवीम् ॥३९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे विष्णोः स्तवराजनिरूपणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

देवर्षि नारदने शंकरजीके मुखसे इस प्रकार भगवान् विष्णुकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन सुनकर उनकी भलीभाँति आराधना करके उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली। जो भगवान् नृसिंहमें चित्त लगाकर इस प्रसङ्गका नित्य पाठ करता है, उसका सौ जन्मोंमें किया हुआ पाप भी नष्ट हो जाता है। महादेवजीके द्वारा कथित भगवान् विष्णुके इस पावन स्तोत्रका जो प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके पाठ करता है, वह अमृतपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। जो लोग अपने हृदय-कमलके मध्यमें विराजमान अनन्त भगवान् अच्युतका सदा ध्यान करते हैं और उपासकोंके प्रभु उन परमेश्वर भगवान् विष्णुका कीर्तन करते हैं, वे परम उत्तम वैष्णवी सिद्धि (विष्णु-सायुज्य) प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३६–३९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'श्रीविष्णुस्तवराजनिरूपण' विषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

अष्टाक्षरमन्त्र और उसका माहात्म्य

श्रीशुक उवाच

किं जपन् मुच्यते तात सततं विष्णुतत्परः ।
संसारदुःखात् सर्वेषां हिताय वद मे पितः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—तात ! पिताजी ! मनुष्य सदा भगवान् विष्णुके भजनमें तत्पर रहकर किस मन्त्रका जप करनेसे सांसारिक कष्टसे मुक्त होता है ? यह मुझे बताइये। इससे सब लोगोंका हित होगा ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अष्टाक्षरं प्रवक्ष्यामि मन्त्राणां मन्त्रमुत्तमम् ।
यं जपन् मुच्यते मर्त्यो जन्मसंसारबन्धनात् ॥ २ ॥

श्रीव्यासजी बोले—बेटा ! मैं तुम्हें सभी मन्त्रोंमें उत्तम अष्टाक्षरमन्त्र बतलाऊँगा, जिसका जप करनेवाला मनुष्य जन्म और मृत्युसे युक्त संसाररूपी बन्धनमें मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
एकाग्रमनसा ध्यात्वा विष्णुं कुर्याज्जपं द्विजः ॥ ३ ॥
एकान्ते निर्जनस्थाने विष्णवग्रे वा जलान्तिके ।
जपेदष्टाक्षरं मन्त्रं चित्ते विष्णुं निधाय वै ॥ ४ ॥
अष्टाक्षरस्य मन्त्रस्य ऋषिर्नारायणः स्वयम् ।
छन्दश्च दैवी गायत्री परमात्मा च देवता ॥ ५ ॥
शुक्लवर्णं च ॐकारं नकारं रक्तमुच्यते ।
मोकारं वर्णतः कृष्णं नाकारं रक्तमुच्यते ॥ ६ ॥
राकारं कुङ्कुमाभं तु यकारं पीतमुच्यते ।
णाकारमञ्जनाभं तु यकारं बहुवर्णकम् ॥ ७ ॥
ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
भक्तानां जपतां तात स्वर्गमोक्षफलप्रदः ।

द्विजको चाहिये कि अपने हृदय-कमलके मध्यभागमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुका एकाग्रचित्तसे ध्यान करते हुए जप करे । एकान्त, जनशून्य, स्थानमें, श्रीविष्णुमूर्तिके सम्मुख अथवा जलाशयके निकट मनमें भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करना चाहिये । साक्षात् भगवान् नारायण ही अष्टाक्षरमन्त्रके ऋषि हैं, दैवी गायत्री छन्द है, परमात्मा देवता है, ॐकार शुक्लवर्ण है, 'न' रक्तवर्ण है, 'मो' कृष्णवर्ण है, 'ना' रक्त है, 'रा' कुङ्कुम-रंगका है, 'य' पीतवर्णका है, 'णा' अञ्जनके समान कृष्णवर्णवाला है और 'य' विविध वर्णोंसे युक्त है । तात ! यह 'ॐनमो नारायणाय ।' मन्त्र समस्त प्रयोजनोंका साधक है और भक्तिपूर्वक जप करने वाले लोगोंको स्वर्ग तथा मोक्षरूप फल देनेवाला है ॥ ३–७½ ॥

वेदानां प्रणवेनैष सिद्धो मन्त्रः सनातनः ॥ ८ ॥
सर्वपापहरः श्रीमान् सर्वमन्त्रेषु चोत्तमः ।
एनमष्टाक्षरं मन्त्रं जपन्नारायणं स्मरेत् ॥ ९ ॥
संध्यावसाने सततं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एष एव परो मन्त्र एष एव परं तपः ॥१०॥
एष एव परो मोक्ष एष स्वर्ग उदाहृतः ।
सर्ववेदरहस्येभ्यः सार एष समुद्धृतः ॥११॥
विष्णुना वैष्णवानां हि हिताय मनुजां पुरा ।
एवं ज्ञात्वा ततो विप्रो ह्यष्टाक्षरमिमं स्मरेत् ॥१२॥

यह सनातन मन्त्र वेदोंके प्रणव (सारभूत अक्षरों-)से सिद्ध होता है । यह सभी मन्त्रोंमें उत्तम, श्रीसम्पन्न और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है । जो सदा संध्याके अन्तमें इस अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करता हुआ भगवान् नारायणका स्मरण करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । यही उत्तम मन्त्र है और यही उत्तम तपस्या है । यही उत्तम मोक्ष तथा यही स्वर्ग कहा गया है । पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने वैष्णवजनोंके हितके लिये सम्पूर्ण वेद-रहस्योंसे यह सारभूत मन्त्र निकाला है । इस प्रकार जानकर ब्राह्मणको चाहिये कि इस अष्टाक्षर-मन्त्रका स्मरण (जप) करे ॥ ८–१२ ॥

स्नात्वा शुचिः शुचौ देशे जपेत् पापविशुद्धये ।
जपे दाने च होमे च गमने ध्यानपर्वसु ॥१३॥
जपेन्नारायणं मन्त्रं कर्मपूर्वे परे तथा ।
जपेत्सहस्रं नियुतं शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥१४॥
मासि मासि तु द्वादश्यां विष्णुभक्तो द्विजोत्तमः।

स्नान करके, पवित्र होकर, शुद्ध स्थानमें बैठकर पाप-शुद्धिके लिये इस मन्त्रका जप करना चाहिये । जप, दान, होम, गमन, ध्यान तथा पर्वके अवसरपर और किसी कर्मके पहले तथा पश्चात् इस नारायण-मन्त्रका जप करना चाहिये । भगवान् विष्णुके भक्तश्रेष्ठ द्विजको चाहिये कि वह प्रत्येक मासकी द्वादशी तिथिको पवित्रभावसे एकाग्र-चित्त होकर सहस्र या लक्ष-मन्त्रका जप करे ॥ १३-१४½ ॥

स्नात्वा शुचिर्जपेद्यस्तु नमो नारायणं शतम् ॥१५॥
स गच्छेत् परमं देवं नारायणमनामयम् ।
गन्धपुष्पादिभिर्विष्णुमनेनाराध्य यो जपेत् ॥१६॥
महापातकयुक्तोऽपि मुच्यते नात्र संशयः ।
हृदि कृत्वा हरिं देवं मन्त्रमेनं तु यो जपेत् ॥१७॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स गच्छेत् परमां गतिम् ।

स्नान करके पवित्रभावसे जो 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्रका सौ (एक सौ आठ) बार जप करता है, वह निरामय परमदेव भगवान् नारायणको प्राप्त करता है। जो इस मन्त्रके द्वारा गन्ध-पुष्प आदिसे भगवान् विष्णुकी आराधना करके इसका जप करता है, वह महापातकसे युक्त होनेपर भी निस्संदेह मुक्त हो जाता है। जो हृदयमें भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करता है, वह समस्त पापोंसे विशुद्धचित्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ १५–१७½ ॥

प्रथमेन तु लक्षेण आत्मशुद्धिर्भविष्यति ॥१८॥
द्वितीयेन तु लक्षेण मनुसिद्धिमवाप्नुयात् ।
तृतीयेन तु लक्षेण स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥१९॥
चतुर्थेन तु लक्षेण हरेः सामीप्यमाप्नुयात् ।
पञ्चमेन तु लक्षेण निर्मलं ज्ञानमाप्नुयात् ॥२०॥
तथा षष्ठेन लक्षेण भवेद्विष्णौ स्थिरा मतिः ।
सप्तमेन तु लक्षेण स्वरूपं प्रतिपद्यते ॥२१॥
अष्टमेन तु लक्षेण निर्वाणमधिगच्छति ।
स्वस्वधर्मसमायुक्तं जपं कुर्याद् द्विजोत्तमः ॥२२॥
एतत् सिद्धिकरं मन्त्रमष्टाक्षरमतन्द्रितः ।
दुःस्वप्नासुरपैशाचा उरगा ब्रह्मराक्षसाः ॥२३॥
जापिनं नोपसर्पन्ति चौरक्षुद्राधयस्तथा ।

एक लक्ष मन्त्रका जप करनेसे चित्तशुद्धि होती है, दो लक्षके जपसे मन्त्रकी सिद्धि होती है, तीन लक्षके जपसे मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर सकता है, चार लक्षसे भगवान् विष्णुकी समीपता प्राप्त होती है और पाँच लक्षसे निर्मल ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार छः लक्षसे भगवान् विष्णुमें चित्त स्थिर होता है, सातसे भगवत्स्वरूपका ज्ञान होता है और आठ लक्षसे पुरुष निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। द्विजमात्रको चाहिये कि अपने-अपने धर्ममें युक्त रहकर इस मन्त्रका जप करे। यह अष्टाक्षरमन्त्र सिद्धिदायक है। आलस्य त्यागकर इसका जप करना चाहिये। इसे जप करनेवाले पुरुषके पास दुःस्वप्न, असुर, पिशाच, सर्प, ब्रह्मराक्षस, चोर और छोटी-मोटी मानसिक व्याधियाँ भी नहीं फटकती हैं ॥ १८—२३½ ॥

एकाग्रमनसाव्यग्रो विष्णुभक्तो दृढव्रतः ॥२४॥
जपेन्नारायणं मन्त्रमेतन्मृत्युभयापहम् ।
मन्त्राणां परमो मन्त्रो देवतानां च दैवतम् ॥२५॥
गुह्यानां परमं गुह्यमोंकाराद्यक्षराष्टकम् ।
आयुष्यं धनपुत्रांश्च पशून् विद्यां महद्यशः ॥२६॥
धर्मार्थकाममोक्षांश्च लभते च जपन्नरः ।
एतत् सत्यं च धर्म्यं च वेदश्रुतिनिदर्शनात् ॥२७॥
एतत् सिद्धिकरं नृणां मन्त्ररूपं न संशयः ।
ऋषयः पितरो देवाः सिद्धास्त्वसुरराक्षसाः ॥२८॥
एतदेव परं जप्त्वा परां सिद्धिमितो गताः ।
ज्ञात्वा यस्त्वात्मनः कालं शास्त्रान्तरविधानतः ।
अन्तकाले जपन्नेति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२९॥

विष्णुभक्तको चाहिये कि वह दृढ़संकल्प एवं स्वस्थ होकर एकाग्रचित्तसे इस नारायण-मन्त्रका जप करे। यह मृत्यु-भयका नाश करनेवाला है। मन्त्रोंमें सबसे उत्कृष्ट मन्त्र और देवताओंका भी देवता (आराध्य) है। यह ॐकारादि अष्टाक्षर मन्त्र गोपनीय वस्तुओंमें परम गोपनीय है। इसका जप करनेवाला मनुष्य आयु, धन, पुत्र, पशु, विद्या, महान् यश एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है। यह वेदों और श्रुतियोंके कथनानुसार धर्मसम्मत तथा सत्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये मन्त्ररूपी नारायण मनुष्योंको सिद्धि देनेवाले हैं। ऋषि, पितृगण, देवता, सिद्ध, असुर और राक्षस इसी परम उत्तम मन्त्रका जप करके परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। जो ज्यौतिष आदि अन्य शास्त्रोंके विधानसे अपना अन्तकाल निकट जानकर इस मन्त्रका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके प्रसिद्ध परमपदको प्राप्त होता है ॥२४—२९ ॥

नारायणाय नम इत्ययमेव सत्यं
संसारघोरविषसंहरणाय मन्त्रः ।
शृण्वन्तु भव्यमतयो मुदितास्त्वरागा
उच्चैस्तरामुपदिशाम्यहमूर्ध्वबाहुः ॥३०॥
भूत्वोर्ध्वबाहुरद्याहं सत्यपूर्वं ब्रवीम्यहम् ।
हे पुत्र शिष्याः शृणुत न मन्त्रोऽष्टाक्षरात्परः ॥३१॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुत्क्षिप्य भुजमुच्यते ।
वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति न देवः केशवात् परः ॥३२॥

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥२३॥
इत्येतत् सकलं प्रोक्तं शिष्याणां तव पुण्यदम् ।
कथाश्च विविधाः प्रोक्ता मया भज जनार्दनम् ॥२४॥
अष्टाक्षरमिमं मन्त्रं सर्वदुःखविनाशनम् ।
जप पुत्र महाबुद्धे यदि सिद्धिमभीप्ससि ॥२५॥
इदं स्तवं व्यासमुखात्तु निःसृतं
संध्यात्रये ये पुरुषाः पठन्ति ।
ते धौतपाण्डुरपटा इव राजहंसाः
संसारसागरमपेतभयास्तरन्ति ॥२६॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे अष्टाक्षरमाहात्म्यं नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

भव्य बुद्धिवाले विरक्त पुरुष प्रसन्नतापूर्वक मेरी बात सुनें—मैं दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर उच्चस्वरसे यह उपदेश देता हूँ कि "संसाररूपी सर्पके भयानक विषका नाश करनेके लिये यह 'ॐ नारायणाय नमः ।' मन्त्र ही सत्य (अमोघ) औषध है" । पुत्र और शिष्यो ! सुनो—आज मैं दोनों बाँहें ऊपर उठाकर सत्य कह रहा हूँ कि 'अष्टाक्षरमन्त्र'से बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र नहीं है । मैं भुजाओंको ऊपर उठाकर सत्य, सत्य और सत्य कह रहा हूँ, 'वेदसे बढ़कर दूसरा शास्त्र और भगवान् विष्णुसे बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं है ।' सम्पूर्ण शास्त्रोंकी आलोचना तथा बार-बार उनका विचार करनेसे एकमात्र यही उत्तम कर्तव्य सिद्ध होता है कि "नित्य-निरन्तर भगवान् नारायणका ध्यान ही करना चाहिये" । बेटा ! तुमसे और शिष्योंसे यह सारा पुण्यदायक प्रसङ्ग मैंने कह सुनाया तथा नाना प्रकारकी कथाएँ भी सुनायीं; अब तुम भगवान् जनार्दनका भजन करो । महाबुद्धिमान् पुत्र ! यदि तुम सिद्धि चाहते हो तो इस सर्वदुःखनाशक अष्टाक्षरमन्त्रका जप करो । जो पुरुष श्रीव्यासजीके मुखसे निकले हुए इस स्तोत्रका त्रिकाल संध्याके समय पाठ करेंगे, वे धुले हुए श्वेत वस्त्र तथा राजहंसोंके समान निर्मल (विशुद्ध) चित्त हो निर्भयता-पूर्वक संसार-सागरसे पार हो जायँगे ॥ २०—२६ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'अष्टाक्षरमन्त्रका माहात्म्य' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय

भगवान् सूर्यद्वारा संज्ञाके गर्भसे मनु, यम और यमीकी, छायाके गर्भसे मनु, शनैश्चर एवं तपतीकी उत्पत्ति तथा अश्वारूपधारिणी संज्ञासे अश्विनीकुमारोंका प्रादुर्भाव

सूत उवाच

इति श्रुत्वा कथाः पुण्याः सर्वपापप्रणाशनीः ।
नानाविधा मुनिश्रेष्ठाः कृष्णद्वैपायनात् पुनः ॥ १ ॥
शुकः पूर्वं महाभागो भरद्वाजो महामते ।
सिद्धैरन्यैश्च सहितो नारायणपरोऽभवत् ॥ २ ॥
एवं ते कथिता विप्र मार्कण्डेयादिकाः कथाः ।
मया विचित्राः पापघ्न्यः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥३॥

सूतजी बोले—मुनिवरो तथा महामते भरद्वाज ! पूर्वकालमें श्रीकृष्णद्वैपायनसे इस प्रकार नाना भाँतिकी पावन पापनाशक कथाएँ सुनकर महाभाग शुक अन्य सिद्ध-गणोंके साथ भगवान् नारायणकी आराधनामें तत्पर हो गये । ब्रह्मन् ! इस प्रकार मैंने आपसे पाप-नाश करनेवाली मार्कण्डेय आदिकी विचित्र कथाएँ कहीं; अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ १—३ ॥

भरद्वाज उवाच

वस्वादीनां तथा प्रोक्ता मम सृष्टिस्त्वया पुरा ।
अश्विनोर्मरुतां चैव नोक्तोत्पत्तिस्तु तां वद ॥ ४ ॥

भरद्वाजजी बोले—सूतजी ! आपने पहले मुझसे वसु आदि देवताओंकी सृष्टिका उस प्रकार वर्णन किया; परंतु अश्विनीकुमारों तथा मरुद्गणोंकी उत्पत्ति नहीं कही; अतः अब उसे ही कहिये ॥ ४ ॥

सूत उवाच

मरुतां विस्तरेणोक्ता वैष्णवाख्ये महामते ।
पुराणे शक्तिपुत्रेण पुरोत्पत्तिश्च वायुना ॥ ५ ॥

अश्विनोर्जन्म यच्चैव सृष्टिरुक्ता पुराविदा ।
संक्षेपाच्च वक्ष्यामि सृष्टिमेतां शृणुष्व मे ॥ ६ ॥

सुमन्तुजी बोले—महाराज ! पूर्वकालमें शक्तिनन्दन श्रीपराशरजीने विष्णुपुराणमें मरुद्गणोंकी उत्पत्तिका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है तथा वायुदेवताने वायुपुराणमें अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्ति भी विस्तारपूर्वक कही है, अतः मैं यहाँ संक्षेपसे ही इस सृष्टिका वर्णन करूँगा, सुनिये ॥ ५-६ ॥

दक्षकन्यादितिः । अदितेरादित्यः पुत्रः । तस्मै त्वष्टा दुहितरं संज्ञां नाम कन्यां दत्तवान् ॥ ७ ॥ सोऽपि त्वाष्ट्रीं रूपवतीं मनोज्ञां प्राप्य तया सह रेमे । सा कतिपयात् कालात् स्वभर्तुरादित्यस्य तापमसहन्ती पितुर्गृहं जगाम ॥ ८ ॥ तामवलोक्य सुतां पितोवाच किं पुत्रि तव भर्ता त्वयि स्नेहात् त्वां रक्षत्युत परुष इति ॥ ९ ॥ एवं पितुर्वचनं श्रुत्वा संज्ञा तं प्रत्युवाच । दग्धाहं भर्तुः प्रचण्डतापादिति ॥ १० ॥ एवं श्रुत्वा तामाह पिता गच्छ पुत्रि भर्तुर्गृहमिति ॥ ११ ॥ युवतीस्त्रीणां भर्तुः शुश्रूषणमेव धर्मः श्रेयान् । अहमपि कतिपयदिवसादागत्यादित्यस्योष्णतां जामातुरुद्धरिष्यामि ॥ १२ ॥

प्रजापति दक्षकी एक कन्या अदिति नामसे प्रसिद्ध है । उनके गर्भसे 'आदित्य' नामक पुत्र हुआ । अदितिकुमार आदित्यको त्वष्टा प्रजापतिने अपनी संज्ञा नामकी कन्या ब्याह दी । आदित्य भी त्वष्टाकी रूपवती एवं मनोरमा कन्या संज्ञाको पाकर उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगे । संज्ञा अपने पतिके तापको न सह सकनेके कारण कुछ कालके बाद अपने पिताके घर चली गयी । उस कन्याको देखकर पिताने कहा—'बेटी ! तुम्हारे स्वामी सूर्यदेव तुम्हारा स्नेहपूर्वक पालन करते हैं या तुम्हारे साथ कठोरतापूर्ण व्यवहार करते हैं ?' पिताकी ऐसी बात सुनकर संज्ञा उनसे बोली—'तात ! मैं स्वामीके प्रचण्ड तापसे जल गयी हूँ ।' यह सुन पिताने उससे कहा—'बेटी ! तुम पतिके घर चली जाओ ! पतिकी सेवा करना ही युवती स्त्रियोंका परम उत्तम धर्म है । मैं भी कुछ दिनोंके बाद आकर जामाता आदित्यदेवकी उष्णताको उनके शरीरसे कुछ कम कर दूँगा' ॥ ७-१२ ॥

इत्युक्ता सा च पुनर्भर्तृगृहं प्राप्य कतिपयदिवसान्तरं यमौ मनुं चापत्यत्रयमादित्याद् प्रसूत । पुनस्तदुष्णतामसहन्ती छायां भर्तुरुप-भोगाय स्वमङ्गादुत्पाद्य तत्र संस्थाप्य स्वयमुत्तर-कुरूनधिष्ठायाश्वी भूत्वा विचचार ॥ १३ ॥

पिताके यों कहनेपर वह पुनः पतिके घर लौट आयी तथा कुछ दिनोंके बाद क्रमशः मनु, यम और यमी (यमुना) —इन तीन संतानोंको जन्म दिया । किंतु पुनः जब सूर्य-का ताप उससे नहीं सहा गया, तब संज्ञाने अपनी युक्तिसे उनके स्वामीके उपभोगके लिये अपनी छाया (प्रतिबिम्ब)-रूपा एक स्त्रीको उत्पन्न किया तथा उसे ही वहाँ रखकर वह उत्तरकुरुदेशमें चली गयी और वहाँ घोड़ीका रूप धारण करके इधर-उधर विचरने लगी ॥ १३ ॥

आदित्योऽपि संज्ञेयमिति मत्वा तस्यां छायायां पुनरपत्यत्रयमुत्पादयामास ॥ १४ ॥ मनुं शनैश्चरं तपतीं च । स्वेष्वपत्येषु पक्षपातेन वर्तती छायां दृष्ट्वा यमः स्वपितरमाह नेयमस्म-न्मातेति ॥ १५ ॥ पितापि तच्छ्रुत्वा भार्यां प्राह । सर्वेष्वपत्येषु सममेव वर्ततामिति ॥ १६ ॥ पुनरपि स्वेष्वपत्येषु स्नेहात्प्रवर्ततीं छायां दृष्ट्वा यमो यमी च तां बहुविधमपीडयताम् । आदित्यसंनिधाना-त्तूष्णीं बभूवतुः ॥ १७ ॥ ततश्छाया तयोः शापं दत्तवती । यम त्वं प्रेतराजो भव यमि त्वं यमुना नाम नदी भवेति ॥ १८ ॥ ततः क्रोधादादित्योऽपि छायापुत्रयोः शापं दत्तवान् हे पुत्र शनैश्चर त्वं ग्रहो भव क्रूरदृष्टिर्मन्दगामी च पापग्रहस्त्वं च ॥ १९ ॥ पुत्रि तपती नाम नदी भवेति । अथादित्यो ध्यान-मास्थाय संज्ञा क्व स्थितेति विचारयामास ॥ २० ॥

अदितिनन्दन सूर्यने भी उसे संज्ञा ही मानकर उस अपनी जाया (भार्या) रूपधारिणी छायाके गर्भसे पुनः मनु, शनैश्चर तथा तपती—इन तीन संतानोंको उत्पन्न किया । छायाको अपनी संतानोंके प्रति पक्षपातपूर्ण बर्ताव करते देखकर यमने अपने पितासे कहा—'तात ! यह हमलोगोंकी माता नहीं है ।' पिताने भी जब यह सुना, तब उस भार्यासे

कहा—"सब संतानोंके प्रति समानरूपसे ही बर्ताव करो।" फिर भी छायाको अपनी ही संतानोंके प्रति अधिक स्नेहपूर्ण बर्ताव करते देख यम और यमीने उसे बहुत कुछ बुरा-भला कहा, किंतु जब सूर्यदेव पास आये, तब वे दोनों चुप हो रहे। यह देख छायाने उन दोनोंको शाप देते हुए कहा—"यम! तुम प्रेतोंके राजा बनो और यमी! तू 'यमुना' नामक नदी हो जा।" छायाका यह क्रूरतापूर्ण बर्ताव देखकर भगवान् सूर्य भी कुपित हो उठे और उसके पुत्रोंको शाप देते हुए बोले—"बेटा शनैश्चर! तू क्रूरतापूर्ण दृष्टिसे देखनेवाला मन्दगामी ग्रह हो जा। तेरी गणना पापग्रहोंमें होगी। बेटी तपती! तू भी 'तपती' नामकी नदी हो जा।" इसके बाद भगवान् सूर्य ध्यानस्थ होकर विचार करने लगे कि 'संज्ञा' कहाँ है॥ १४—२०॥

स दृष्ट्वोत्तरकुरुषु ध्यानचक्षुषाश्वीभूय विचरन्तीम्। स्वयं चाश्वरूपेण तत्र गत्वा तया सह सम्पर्कं कृतवान्॥ २१॥ तस्यामेवादित्यादश्विनावुत्पन्नौ तयोरतिशयवपुषोः साक्षात् प्रजापतिरागत्य देवत्वं यज्ञभागत्वं मुख्यं च देवानां भिषजत्वं दत्त्वा जगाम। आदित्यश्चाश्वरूपं विहाय स्वभार्यां संज्ञां त्वाष्ट्रीं स्वरूपधारिणीं नीत्वा स्वरूपमास्थाय दिवं जगाम॥ २२॥ विश्वकर्मा चागत्य आदित्यं नामभिः स्तुत्वा तदतिशयोष्णतांशतामपशातयामास॥ २३॥

उन्होंने ध्यान-नेत्रसे देखा, संज्ञा उत्तरकुरुमें 'अश्वा'का रूप धारण करके विचर रही है। तब वे स्वयं भी अश्वका रूप धारण करके वहाँ गये। जाकर उन्होंने उसके साथ समागम किया। उस अश्वारूपधारिणी संज्ञाके ही गर्भसे, सूर्यके वीर्यसे दोनों 'अश्विनीकुमार' उत्पन्न हुए। उनके शरीर सब देवताओंसे अधिक सुन्दर थे। साक्षात् ब्रह्माजीने वहाँ पधारकर उन दोनों कुमारोंको देवत्व तथा यज्ञोंमें भाग प्राप्त करनेका अधिकार प्रदान किया। साथ ही उन्हें देवताओंका प्रधान वैद्य बना दिया। इसके बाद ब्रह्माजी चले गये। फिर सूर्यदेवने अश्वका रूप त्यागकर अपना स्वरूप धारण कर लिया। त्वष्टा प्रजापतिकी पुत्री संज्ञा भी अश्वाका रूप छोड़कर अपने साक्षात् स्वरूपमें प्रकट हो गयी। उस अवस्थामें सूर्यदेव त्वष्टाकी पुत्री अपनी पत्नी संज्ञाको आदित्यलोकमें ले गये। तदनन्तर विश्वकर्मा सूर्यके पास आये। उन्होंने विविध नामोंद्वारा उनका स्तवन किया और उनकी अनुमतिसे ही उनके श्रीअङ्गोंकी अतिशय उष्णताके अंशको कुछ शान्त कर दिया॥ २१—२३॥

एवं वः कथिता विप्रा अश्विनोत्पत्तिरुत्तमा।
पुण्या पवित्रा पापघ्नी भरद्वाज महामते॥ २४॥
आदित्यपुत्रौ भिषजौ सुराणां
दिव्येन रूपेण विराजमानौ।
श्रुत्वा तयोर्जन्म नरः पृथिव्यां
भवेत् सुरूपो दिवि मोदते च॥ २५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे अश्विनोरुत्पत्तिर्नाम
अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

महामते भरद्वाज तथा अन्य ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे दोनों अश्विनीकुमारोंके जन्मकी उत्तम, पुण्यमयी, पवित्र एवं पापनाशक कथा कह सुनायी। सूर्यके वे दोनों पुत्र देवताओंके वैद्य हैं। अपने दिव्यरूपसे सदा प्रकाशित होते रहते हैं। उन दोनोंके जन्मकी कथा सुनकर मनुष्य इस भूतलपर सुन्दर रूपसे सुशोभित होता है और अन्तमें स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ आनन्दका अनुभव करता है॥ २४-२५॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'दोनों अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्ति' नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८॥

उन्नीसवाँ अध्याय

विश्वकर्माद्वारा १०८ नामोंसे भगवान् सूर्यका स्तवन

भरद्वाज उवाच

यैः स्तुतो नामभिस्तेन सविता विश्वकर्मणा।
तान्यहं श्रोतुमिच्छामि वद सूत विवस्वतः॥ १॥

भरद्वाज बोले—सूतजी! विश्वकर्माने जिन नामोंके द्वारा भगवान् सूर्यका स्तवन किया था, उन्हें मैं सुनना चाहता हूँ। आप सूर्यदेवके उन नामोंका वर्णन करें॥ १॥

सूत उवाच

यानि वै सूर्य नामानि यैः स्तुतो विश्वकर्मणा।
सविता तानि वक्ष्यामि सर्वपापहराणि ते ॥ २ ॥

सूतजीने कहा—ब्रह्मन्! विश्वकर्माने जिन नामों-द्वारा भगवान् सविताका स्तवन किया था, उन सर्वपापहारी नामोंको तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान् ।
तिमिरोन्मथनः शम्भुस्त्वष्टा मार्तण्ड आशुगः ॥ ३ ॥

१. आदित्यः—अदितिके पुत्र, २. सविता—जगत्के उत्पादक, ३. सूर्यः—सम्पत्ति एवं प्रकाशके स्रष्टा, ४. खगः—आकाशमें विचरनेवाले, ५. पूषा—सबका पोषण करनेवाले, ६. गभस्तिमान्—सहस्रों किरणोंसे युक्त, ७. तिमिरोन्मथनः—अन्धकारनाशक, ८. शम्भुः—कल्याणकारी, ९. त्वष्टा—विश्वकर्मा अथवा शिल्परूपी विश्वके निर्माता, १०. मार्तण्डः—मृत-अण्डसे प्रकट, ११. आशुगः—शीघ्रगामी ॥ ३ ॥

हिरण्यगर्भः कपिलस्तपनो भास्करो रविः ।
अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शम्भुस्तिमिरनाशनः ॥ ४ ॥

१२. हिरण्यगर्भः—ब्रह्मा, १३. कपिलः—कपिलवर्ण-वाले अथवा कपिलमुनिस्वरूप, १४. तपनः—तपने या ताप देनेवाले, १५. भास्करः—प्रकाशक, १६. रविः—रव—वेदमयी ध्वनिसे युक्त अथवा भूतलके रसोंका आदान (आकर्षण) करनेवाले, १७. अग्निगर्भः—अपने भीतर अग्निमय तेजको धारण करनेवाले, १८. अदितेः पुत्रः—अदितिदेवीके पुत्र, शम्भुः—कल्याणके उत्पादक, १९. तिमिरनाशनः—अन्धकारका नाश करनेवाले ॥ ४ ॥

अंशुमानंशुमाली च तमोघ्नस्तेजसां निधिः ।
आतपी मण्डली मृत्युः कपिलः सर्वतापनः ॥ ५ ॥

२०. अंशुमान्—अनन्त किरणोंसे प्रकाशमान, २१. अंशुमाली—किरणमालामण्डित, २२. तमोघ्नः—अन्धकारनाशक, २३. तेजसां निधिः—तेज अथवा प्रकाश-के भण्डार, २४. आतपी—आतप या घाम प्रकट करनेवाले, २५. मण्डली—अपने मण्डल या बिम्बसे युक्त, २६. मृत्युः—मृत्युस्वरूप अथवा मृत्युके अधिष्ठाता यमको जन्म देनेवाले, २७. कपिलः सर्वतापनः—भूरी या सुनहरी किरणोंसे युक्त होकर सबको संताप देनेवाले ॥ ५ ॥

हरिर्विश्वो महातेजाः सर्वरत्नप्रभाकरः ।
अंशुमाली तिमिरहा ऋग्यजुस्सामभावितः ॥ ६ ॥

२८. हरिः—सूर्य अथवा पापहारी, २९. विश्वः—सर्वरूप, ३०. महातेजाः—महातेजस्वी, ३१. सर्वरत्न-प्रभाकरः—सम्पूर्ण रत्नों तथा प्रभापुञ्जको प्रकट करनेवाले, ३२. अंशुमाली तिमिरहा—किरणोंकी माला धारण करके अन्धकारको दूर करनेवाले, ३३. ऋग्यजुस्सामभावितः—ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—इन तीनोंके द्वारा भावित या प्रतिपादित ॥ ६ ॥

प्राणाविष्करणो मित्रः सुप्रदीपो मनोजवः ।
यज्ञेशो गोपतिः श्रीमान् भूतज्ञः क्लेशनाशनः ॥ ७ ॥

३४. प्राणाविष्करणः—प्राणोंके आधारभूत अन्न आदिकी उत्पत्ति और जलकी वृष्टि करनेवाले, ३५. मित्रः—'मित्र' नामक आदित्य अथवा सबके सुहृद्, ३६. सुप्रदीपः—भलीभाँति प्रकाशित होनेवाले अथवा सर्वत्र उत्तम प्रकाश बिखेरनेवाले, ३७. मनोजवः—मनके समान या उससे भी अधिक तीव्र वेगवाले, ३८. यज्ञेशः—यज्ञोंके स्वामी नारायणस्वरूप, ३९. गोपतिः—किरणोंके स्वामी अथवा भूमि एवं गौओंके पालक, ४०. श्रीमान्—कान्तिमान्, ४१. भूतज्ञः—सम्पूर्ण भूतोंके ज्ञाता अथवा भूतकालकी बातोंको भी जाननेवाले, ४२. क्लेशनाशनः—सब प्रकारके क्लेशोंका नाश करनेवाले ॥ ७ ॥

अमित्रहा शिवो हंसो नायकः प्रियदर्शनः ।
शुद्धो विरोचनः केशी सहस्रांशुः प्रतर्दनः ॥ ८ ॥

४३. अमित्रहा—शत्रुनाशक, ४४. शिवः—कल्याण-स्वरूप, ४५. हंसः—आकाशरूपी सरोवरमें विचरनेवाले एकमात्र राजहंस अथवा सबके आत्मा, ४६. नायकः—नेता अथवा नियन्ता, ४७. प्रियदर्शनः—सबका प्रिय देखने या चाहनेवाले अथवा जिनका दर्शन प्राणिमात्रको प्रिय है, ऐसे, ४८. शुद्धः—मलिनतासे रहित, ४९. विरोचनः—अत्यन्त प्रकाशमान, ५०. केशी—किरणरूपी केशोंसे युक्त, ५१. सहस्रांशुः—असंख्य किरणोंके पुञ्ज, ५२. प्रतर्दनः—अन्धकार आदिका विशेषरूपसे संहार करनेवाले ॥ ८ ॥

धर्मरश्मिः पतंगश्च विशालो विश्वसंस्तुतः ।
दुर्विज्ञेयगतिः शूरस्तेजोराशिर्महायशाः ॥ ९ ॥

५३. [illegible]—[illegible] किरणोंसे युक्त अथवा [illegible] प्रकाशक, ५४. [illegible]—किरणरूपी पंखोंसे उड़नेवाले आकाशचारी पक्षिरूप, ५५. विशालः—महान् आकारवाले अथवा विशेषरूपसे शोभायमान, ५६. विश्वसंस्तुतः—अखिल जगत् जिनकी स्तुति—गुणगान करता है, ऐसे, ५७. दुर्विज्ञेयगतिः—जिनके स्वरूपको जानना या समझना अत्यन्त कठिन है, ऐसे, ५८—शूरः—शौर्यशाली, ५९. तेजोराशिः—तेजके समूह, ६० महायशाः—महान् यशसे सम्पन्न ॥ ९ ॥

भ्राजिष्णुर्ज्योतिषामीशो विजिष्णुर्विश्वभावनः ।
प्रभविष्णुः प्रकाशात्मा ज्ञानराशिः प्रभाकरः ॥१०॥

६१. भ्राजिष्णुः—दीप्तिमान्, ६२. ज्योतिषामीशः—तेजोमय ग्रह-नक्षत्रोंके स्वामी, ६३. विजिष्णुः—विजयशील, ६४. विश्वभावनः—जगत्के उत्पादक, ६५. प्रभविष्णुः—प्रभावशाली अथवा जगत्की उत्पत्तिके कारण, ६६. प्रकाशात्मा—प्रकाशस्वरूप, ६७ ज्ञानराशिः—ज्ञाननिधि, ६८. प्रभाकरः—उत्कृष्ट प्रकाश फैलानेवाले ॥ १० ॥

आदित्यो विश्वदृग् यज्ञकर्ता नेता यशस्करः ।
विमलो वीर्यवानीशो योगज्ञो योगभावनः ॥११॥

६९. आदित्यो विश्वदृक्—आदित्यरूपसे जगत्के द्रष्टा या साक्षी अथवा सम्पूर्ण संसारके नेत्ररूप, ७०. यज्ञकर्ता—जगत्को जल एवं जीवन प्रदान करके दानयज्ञ सम्पन्न करनेवाले, ७१. नेता—अन्धकारका नयन—अपसारण कर देनेवाले, ७२. यशस्करः—यशका विस्तार करनेवाले, ७३. विमलः—निर्मलस्वरूप, ७४. वीर्यवान्—शक्तिशाली, ७५. ईशः—ईश्वर, ७६. योगज्ञः—भगवान् श्रीहरिसे कर्मयोगका ज्ञान प्राप्त करके उसका मनुको उपदेश करनेवाले*, ७७. योगभावनः—योगको प्रकट करनेवाले ॥ ११ ॥

अमृतात्मा शिवो नित्यो वरेण्यो वरदः प्रभुः ।
धनदः प्राणदः श्रेष्ठः कामदः कामरूपधृक् ॥१२॥

७८. अमृतात्मा शिवः—अमृतस्वरूप शिव, ७९. नित्यः—सनातन, ८०. वरेण्यः—वरणीय—आश्रय लेनेयोग्य, ८१. वरदः—उपासकको मनोवाञ्छित वर देनेवाले, ८२. प्रभुः—सब कुछ करनेमें समर्थ, ८३. धनदः—धनदान करनेवाले, ८४. प्राणदः—प्राणदाता, ८५. श्रेष्ठः—सबसे उत्कृष्ट, ८६. कामदः—मनोवाञ्छित वस्तु देनेवाले, ८७. कामरूपधृक्—इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले ॥ १२ ॥

तरणिः शाश्वतः शास्ता शास्त्रज्ञस्तपनः शयः ।
वेदगर्भो विभुर्वीरः शान्तः सावित्रिवल्लभः ॥१३॥

८८. तरणिः—संसारसागरसे तारनेवाले, ८९. शाश्वतः—सनातन पुरुष, ९०. शास्ता—शासक या उपदेशक, ९१. शास्त्रज्ञः—समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता, तपनः—तपनेवाले या ताप देनेवाले, ९२. शयः—सबके अधिष्ठान या आश्रय, ९३. वेदगर्भः—शुक्लयजुर्वेदको प्रकट करनेवाले, ९४. विभुः—सर्वत्र व्यापक, ९५. वीरः—शूरवीर, ९६. शान्तः—शमयुक्त, ९७. सावित्रिवल्लभः—गायत्री मन्त्रके अधिदेवता ॥ १३ ॥

ध्येयो विश्वेश्वरो भर्ता लोकनाथो महेश्वरः ।
महेन्द्रो वरुणो धाता विष्णुरग्निर्दिवाकरः ॥१४॥

९८. ध्येयः—ध्यान करनेयोग्य, ९९. विश्वेश्वरः—सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर, १००. भर्ता—सबका भरण-पोषण करनेवाले, १०१. लोकनाथः—संसारके रक्षक, १०२. महेश्वरः—परमेश्वर, १०३. महेन्द्रः—देवराज इन्द्रस्वरूप, १०४. वरुणः—पश्चिम दिशाके अधिपति 'वरुण' नामक आदित्य, १०५. धाता—जगत्का धारण-पोषण करनेवाले अथवा 'धाता' नामक आदित्य, १०६. विष्णुः—व्यापक अथवा 'विष्णु' नामक आदित्य, १०७. अग्निः—अग्निस्वरूप, १०८. दिवाकरः—रात्रिका अंधकार दूर करके प्रकाशपूर्ण दिनको प्रकट करनेवाले ॥ १४ ॥

एतैस्तु नामभिः सूर्यः स्तुतस्तेन महात्मना ।
उवाच विश्वकर्माणं प्रसन्नो भगवान् रविः ॥१५॥

उन महात्मा विश्वकर्माने उपर्युक्त नामोंद्वारा भगवान् सूर्यका स्तवन किया । इससे भगवान् सूर्यको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे उन विश्वकर्मासे बोले ॥ १५ ॥

भ्रमिमारोप्य मामत्र मण्डलं मम शातय ।
त्वद्बुद्धिस्थं मया ज्ञातमेवमौष्ण्यं शमं व्रजेत् ॥१६॥

प्रजापते ! आपकी बुद्धिमें जो बात है—आप जिस

* जैसा कि गीतामें कहा है—'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह ... ... ॥'

उद्देश्यको लेकर आये हैं, वह मुझे ज्ञात है। अतः आप मुझे शाणचक्रपर चढ़ाकर मेरे मण्डलको छाँट दें; इससे मेरी उष्णता कुछ कम हो जायगी ॥ १६ ॥

इत्युक्तो विश्वकर्मा च तथा स कृतवान् द्विज ।
शान्तोष्णः सविता तस्य दुहितुर्विश्वकर्मणः ॥१७॥
संज्ञायाश्चाभवद्विप्र भानुस्त्वष्टारमब्रवीत् ।

ब्रह्मन् ! भगवान् सूर्यके यों कहनेपर विश्वकर्माने वैसा ही किया। विप्रवर ! उस दिनसे प्रकाशस्वरूप सविता विश्वकर्माकी बेटी संज्ञाके लिये शान्त हो गये तथा उनकी उष्णता कम हो गयी। इसके बाद वे त्वष्टासे बोले ॥ १७½ ॥

त्वया यस्मात् स्तुतोऽहं वै नाम्नामष्टशतेन च ॥१८॥
वरं वृणीष्व तस्मात् त्वं वरदोऽहं तवानघ ।

अनघ ! चूँकि आपने एक सौ आठ नामोंके द्वारा मेरी स्तुति की है, इसलिये मैं प्रसन्न होकर आपको वर देनेके लिये उद्यत हूँ। कोई वर माँगिये ॥ १८½ ॥

इत्युक्तो भानुना सोऽथ विश्वकर्माब्रवीदिदम् ॥१९॥

वरदो यदि मे देव वरमेतं प्रयच्छ मे ।
एतैस्तु नामभिर्यस्त्वां नरः स्तोष्यति नित्यशः ॥२०॥
तस्य पापक्षयं देव कुरु भक्तस्य भास्कर ॥२१॥

भगवान् सूर्यके यों कहनेपर विश्वकर्मा बोले— देव ! यदि आप मुझे वर देनेको उद्यत हैं तो यह मुझे वर प्रदान कीजिये—'देव भास्कर ! जो मनुष्य इन नामोंके द्वारा प्रतिदिन आपकी स्तुति करे, उस भक्तपुरुषके सारे पापोंका आप नाश कर दें' ॥ १९-२१ ॥

तेनैवमुक्तो दिनकृत्तथेति
त्वष्टारमुक्त्वा विरराम भास्करः ।
संज्ञां विशङ्कां रविमण्डलस्थितां
कृत्वा जगामाथ रविं प्रसाद्य ॥२२॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विश्वकर्माके यों कहनेपर दिन प्रकट करनेवाले भगवान् भास्कर उनसे 'बहुत अच्छा !' कहकर चुप हो गये, तत्पश्चात् सूर्यमण्डलमें निवास करनेवाली संज्ञाको निर्भय करके, सूर्यदेवको संतुष्टकर विश्वकर्मा अपने स्थानको चले गये ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

बीसवाँ अध्याय

मारुतोंकी उत्पत्ति

साम्प्रतं मारुतोत्पत्तिं वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
पुरा देवासुरे युद्धे देवैरिन्द्रादिभिर्दितेः ॥ १ ॥
पुत्राः पराभूता दितिश्च विनष्टपुत्रा महेन्द्र-
दर्पहरं पुत्रमिच्छन्ती कश्यपमृषिं स्वपतिमाराधया-
मास ॥ २ ॥ स च तपसा संतुष्टो गर्भाधानं
चकार तस्याम् । पुनस्तामेवमुक्तवान् ॥ ३ ॥ यदि
त्वं शुचिः सती शरच्छतमिमं गर्भं धारयिष्यसि
ततश्च महेन्द्रदर्पहन्ता पुत्रो भविष्यति । इत्येवमुक्ता
सा च तं गर्भं धारयामास ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी बोले—द्विजश्रेष्ठ ! अब मैं मारुतोंकी उत्पत्तिका वर्णन करूँगा। पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें इन्द्र आदि देवताओंद्वारा दितिके पुत्र दैत्यगण पराजित हो गये थे। उस समय दिति, जिसके पुत्र नष्ट हो गये थे, महेन्द्रके अभिमानको चूर्ण करनेवाले पुत्रकी इच्छा मनमें लेकर अपने पति कश्यप ऋषिकी आराधना करने लगी। तपस्यासे संतुष्ट होकर ऋषिने दितिके भीतर गर्भका आधान किया। फिर वे उससे इस प्रकार बोले—'यदि तुम पवित्र रहती हुई सौ वर्षोंतक इस गर्भको धारण कर सकोगी तो उसके बाद इन्द्रका दर्प चूर्ण करनेवाला पुत्र तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न होगा।' कश्यपजीके यों कहनेपर दितिने उस गर्भको धारण किया ॥ १-४ ॥

इन्द्रोऽपि तज्ज्ञात्वा वृद्धब्राह्मणरूपेणागत्य दितिपार्श्वं स्थितवान् । किंचिदूनपूर्णे वर्षशते पाद-शौचमकृत्वा दितिः शयनमारुह्य निद्रां गता ॥५॥

सोऽपि लब्धावसरो वज्रपाणिस्तत्कुक्षिं प्रविश्य वज्रेण तं गर्भं सप्तधा चिच्छेद। सोऽपि तेन प्रच्छिद्यमानो रुरोद ॥६॥ मा रोदीरिति वदन्निन्द्रस्तान् सप्तधैकैकं चिच्छेद ॥७॥ सप्तधा ते सर्वे मरुतो यतो जातमात्रान्मा रोदीरित्युक्तवान्। महेन्द्रस्य सहाया अमी मरुतो नाम देवा बभूवुः ॥ ८ ॥

इन्द्रको भी जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तब वे बूढ़े ब्राह्मणके वेषमें दितिके पास आये और रहने लगे। जब सौ वर्ष पूर्ण होनेमें कुछ ही कमी रह गयी, तब एक दिन दिति (भोजनके पश्चात्) पैर धोये बिना ही शय्यापर आरूढ हो, सो गयी। इधर इन्द्रने भी अवसर प्राप्त हो जानेसे वज्र हाथमें ले, दितिके उदरमें प्रविष्ट हो, वज्रसे उस गर्भके सात टुकड़े कर दिये। उनके द्वारा काटे जानेपर वह गर्भ रोने लगा। तब इन्द्रने 'मा रोदीः' (मत रोओ)—यों कहते हुए पुनः एक-एकके सात-सात टुकड़े कर डाले। इस तरह सात-सात टुकड़ोंमें बँटे हुए वे सातों खण्ड 'मारुत' नामसे विख्यात हुए; क्योंकि जन्म होते ही इन्द्रने उन्हें 'मा रोदीः'—इस प्रकार कहा था। ये सभी इन्द्रके सहायक 'मरुत्' नामक देवता हुए ॥५–८॥

एवं मुने सृष्टिरियं तवेरिता
देवासुराणां नरनागरक्षसाम्।
वियन्मुखानामपि यः पठेदिदं
शृण्वंश्च भक्त्या हरिलोकमेति सः ॥ ९ ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

मुने! इस प्रकार मैंने तुमसे देवता, असुर, नर, नाग, राक्षस और आकाश आदि भूतोंकी सृष्टिका वर्णन किया। जो इसका भक्तिपूर्वक पाठ अथवा श्रवण करता है, वह विष्णुलोकको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'मरुतोंकी उत्पत्ति' नामक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ अध्याय

सूर्यवंशका वर्णन

भरद्वाज उवाच

अनुसर्गश्च सर्गश्च त्वया चित्रा कथेरिता।
वंशमन्वन्तरे ब्रूहि वंशानुचरितं च मे ॥ १ ॥

भरद्वाजजी बोले—सूतजी! आपने 'सर्ग' और 'अनुसर्ग'का वर्णन किया, विचित्र कथाएँ सुनायीं; अब मुझसे राजाओंके वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरितका वर्णन करें ॥१॥

सूत उवाच

राज्ञां वंशः पुराणेषु विस्तरेण प्रकीर्तितः।
संक्षेपात्कथयिष्यामि वंशमन्वन्तराणि ते ॥ २ ॥
वंशानुचरितं चैव शृणु विप्र महामते।
शृण्वन्तु मुनयश्चेमे श्रोतुमागत्य ये स्थिताः ॥ ३ ॥

सूतजी बोले—पुराणोंमें राजाओंके वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है; यहाँ मैं राजाओंके वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरितका संक्षेपसे वर्णन करूँगा। महामते विप्रवर! इसे आप तथा अन्य मुनि भी, जो कथाश्रवणके लिये यहाँ आकर ठहरे हुए हैं, सुनें ॥ २-३ ॥

आदौ तावद्ब्रह्मा ब्रह्मणो मरीचिः। मरीचेः कश्यपः कश्यपादादित्यः ॥ ४ ॥ आदित्यान्मनुः। मनोरिक्ष्वाकुः, इक्ष्वाकोर्विकुक्षिः। विकुक्षेर्द्योतः, द्योताद्वेनो वेनात्पृथुः पृथोः पृथाश्वः ॥ ५ ॥ पृथाश्वादसंख्याताश्वः। असंख्याताश्वान्मांधाता ॥ ६ ॥ मांधातुः पुरुकुत्सः पुरुकुत्साद्दृषदो दृषदादभिशम्भुः ॥ ७ ॥ अभिशम्भोर्दारुणो दारुणात्सगरः ॥ ८ ॥ सगराद्धर्यश्वो हर्यश्वाद्धारीतः ॥ ९ ॥ हारीताद्रोहिताश्वो रोहिताश्वादंशुमान्। अंशुमतो भगीरथः ॥ १० ॥ भगीरथात् सौदासः सौदासाच्छत्रुंदमः ॥ ११ ॥ शत्रुंदमादनरण्यः, अनरण्याद्दीर्घबाहुः, दीर्घबाहोरजः ॥१२॥ अजाद्दशरथः। दशरथाद्रामः, रामाल्लवः, लवात् पद्मः ॥१३॥ पद्मादनुपर्णः। अनुपर्णाद्वस्त्रपाणिः

॥ १४ ॥ वज्रपाणेः शुद्धोदनः । शुद्धोदनाद्बुधः । बुधादादित्यवंशो निवर्तते ॥ १५ ॥

सबसे पहले ब्रह्माजी प्रकट हुए; उनसे मरीचि, मरीचिसे कश्यप, कश्यपसे सूर्य, सूर्यसे मनु, मनुसे इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकुसे विकुक्षि, विकुक्षिसे द्योत, द्योतसे वेन, वेनसे पृथु और पृथुसे पृथाश्वकी उत्पत्ति हुई। पृथाश्वसे असंख्याताश्व, असंख्याताश्वसे मांधाता, मांधातासे पुरुकुत्स, पुरुकुत्ससे दृषद, दृषदसे अभिशम्भु, अभिशम्भुसे दारुण, दारुणसे सगर, सगरसे हर्यश्व, हर्यश्वसे हारीत, हारीतसे रोहिताश्व, रोहिताश्वसे अंशुमान् तथा अंशुमान्‌से भगीरथ उत्पन्न हुए। भगीरथसे सौदास, सौदाससे शत्रुंदम, शत्रुंदमसे अनरण्य, अनरण्यसे दीर्घबाहु, दीर्घबाहुसे अज, अजसे दशरथ, दशरथसे श्रीराम, श्रीरामसे लव, लवसे पद्म, पद्मसे अनुपर्ण और अनुपर्णसे वज्रपाणिका जन्म हुआ। वज्रपाणिसे शुद्धोदन और शुद्धोदनसे बुध (बुद्ध) की उत्पत्ति हुई। बुधसे सूर्यवंश समाप्त हो जाता है ॥ ४-१५ ॥

सूर्यवंशभवास्ते तु प्राधान्येन प्रकीर्तिताः ।
यैरियं पृथिवी भुक्ता धर्मतः क्षत्रियैः पुरा ॥१६॥
सूर्यस्य वंशः कथितो मया मुने
समुद्भवा यत्र नरेश्वराः पुरा ।
मयोच्यमानाञ्छशिनः समाहितः
शृणुष्व वंशेऽथ नृपाननुक्रमात् ॥१७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सूर्यवंशकथनं
नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए जो क्षत्रिय हैं, उनमेंसे मुख्य-मुख्य लोगोंका यहाँ वर्णन किया गया है, जिन्होंने पूर्वकालमें इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया है। मुने! यह मैंने सूर्यवंशका वर्णन किया है, जिसमें प्राचीन-कालमें अनेकानेक नरेश हो गये हैं। अब मेरे द्वारा बतलाये जानेवाले चन्द्रवंशीय परम उत्तम राजाओंका वर्णन आपलोग सुनें ॥ १६-१७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'सूर्यवंशका वर्णन' नामक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

बाईसवाँ अध्याय

चन्द्रवंशका वर्णन

सूत उवाच

सोमवंशं शृणुष्वाथ भरद्वाज महामुने ।
पुराणे विस्तरेणोक्तं संक्षेपात् कथयेऽधुना ॥ १ ॥

सूतजी बोले—महामुने भरद्वाज! अब चन्द्रवंशका वर्णन सुनो। (अन्य) पुराणोंमें इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, अतः इस समय मैं यहाँ संक्षेपसे इसका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

आदौ तावद्ब्रह्मा। ब्रह्मणो मानसः पुत्रो मरीचिर्मरीचेर्दाक्षायण्यां कश्यपः ॥ २ ॥ कश्यपाददितेरादित्यः। आदित्यात्सुवर्चलायां मनुः ॥३॥ मनोः सुरूपायां सोमः। सोमाद्रोहिण्यां बुधः। बुधादिलायां पुरूरवाः ॥ ४ ॥ पुरूरवस आयुः। आयो रूपवत्यां नहुषः ॥ ५ ॥ नहुषात् पितृवत्यां ययातिः। ययातेः शर्मिष्ठायां पूरुः ॥ ६ ॥ पूरोर्वंशदायां सम्पातिः। सम्पातेर्भानुदत्तायां सार्वभौमः। सार्वभौमस्य वैदेह्यां भोजः ॥ ७ ॥ भोजस्य लिङ्गायां दुष्यन्तः। दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां भरतः ॥ ८ ॥ भरतस्य नन्दायामजमीढः। अजमीढस्य सुदेव्यां पृश्निः। पृश्नेरुग्रसेनायां प्रसरः। प्रसरस्य बहुरूपायां शंतनुः। शंतनोर्योजनगन्धायां विचित्रवीर्यः। विचित्रवीर्यस्याम्बिकायां पाण्डुः ॥ ९ ॥ पाण्डोः कुन्तिदेव्यामर्जुनः। अर्जुनात् सुभद्रायामभिमन्युः ॥ १० ॥ अभिमन्योरुत्तरायां परीक्षित्। परीक्षितस्य मातृवत्यां जनमेजयः। जनमेजयस्य पुष्पवत्यां शतानीकः ॥ ११ ॥ शतानीकस्य पुष्पवत्यां सहस्रानीकः। सहस्रानीकस्य मृगवत्यामुदयनः। तस्य वासवदत्तायां

नरवाहनः ॥ १२ ॥ नरवाहनस्याश्वमेधायां क्षेमकः । क्षेमकान्ताः पाण्डवाः सोमवंशो निवर्तते ॥ १३ ॥

सर्वप्रथम ब्रह्माजी हुए, उनके मानसपुत्र मरीचि हुए, मरीचिसे दाक्षायणीके गर्भसे कश्यपजी उत्पन्न हुए । कश्यपसे अदितिके गर्भसे सूर्यका जन्म हुआ । सूर्यसे सुवर्चला (संज्ञा) के गर्भसे मनुकी उत्पत्ति हुई । मनुके द्वारा सुरूपाके गर्भसे सोम और सोमके द्वारा रोहिणीके गर्भसे बुधका जन्म हुआ तथा बुधके द्वारा इलाके गर्भसे राजा पुरूरवा उत्पन्न हुए । पुरूरवासे आयुका जन्म हुआ, आयुद्वारा रूपवतीके गर्भसे नहुष हुए । नहुषके द्वारा पितृवतीके गर्भसे ययाति हुए और ययातिसे शर्मिष्ठाके गर्भसे पूरुका जन्म हुआ । पूरुके द्वारा वंशदाके गर्भसे सम्पाति और उससे भानुदत्ताके गर्भसे सार्वभौम हुआ । सार्वभौमसे वैदेहीके गर्भसे भोजका जन्म हुआ । भोजके लिङ्गाके गर्भसे दुष्यन्त और दुष्यन्तके शकुन्तलासे भरत हुआ । भरतके नन्दासे अजमीढ नामक पुत्र हुआ, अजमीढके सुदेवीके गर्भसे पृश्नि हुआ तथा पृश्निके उग्रसेना-के गर्भसे प्रसरका आविर्भाव हुआ । प्रसरके बहुरूपाके गर्भसे शंतनु हुए, शंतनुसे योजनगन्धाने विचित्रवीर्यको जन्म दिया । विचित्रवीर्यके अम्बिकाके गर्भसे पाण्डुका जन्म हुआ । पाण्डुसे कुन्तीदेवीके गर्भसे अर्जुन हुआ, अर्जुनसे सुभद्राने अभिमन्युको उत्पन्न किया । अभिमन्युसे उत्तराके गर्भसे परीक्षित हुआ, परीक्षितके मातृवतीसे जनमेजय उत्पन्न हुआ और जनमेजयके पुण्यवतीके गर्भसे शतानीककी उत्पत्ति हुई । शतानीकके पुष्पवतीसे सहस्रानीक हुआ, सहस्रानीकसे मृगवतीसे उदयन उत्पन्न हुआ और उदयनके वासवदत्ताके गर्भसे नरवाहन हुआ । नरवाहनके अश्वमेधासे क्षेमक हुआ । यह क्षेमक ही पाण्डववंशका अन्तिम राजा है, इसके बाद सोमवंश निवृत्त हो जाता है ॥ २—१३ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं राजवंशमनुत्तमम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ॥१४॥
यश्चेदं पठते नित्यं श्राद्धे वा श्रावयेत्पितॄन् ।
वंशानुकीर्तनं पुण्यं पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥१५॥
राज्ञां हि सोमस्य मया तवेरिता
वंशानुकीर्तिर्द्विज पापनाशनी ।
शृणुष्व विप्रेन्द्र मयोच्यमानं
मन्वन्तरं चापि चतुर्दशाख्यम् ॥१६॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सोमवंशानुकीर्तनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

जो पुरुष इस उत्तम राजवंशका सदा श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त एवं विशुद्धचित्त होकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है । जो इस पवित्र वंश-वर्णनको प्रतिदिन स्वयं पढ़ता अथवा श्राद्धकालमें पितृगणोंको सुनाता, उसके पितरोंको दिया हुआ दान अक्षय हो जाता है । द्विज ! यह मैंने आपसे सोमवंशी राजाओंका पापनाशक वंशानुकीर्तन सुनाया । विप्रवर ! अब मेरे द्वारा बताये जानेवाले चौदह मन्वन्तरोंको सुनिये ॥ १४—१६ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'सोमवंशका वर्णन' नामक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

तेईसवाँ अध्याय

चौदह मन्वन्तरोंका वर्णन

सूत उवाच

प्रथमं तावत्स्वायम्भुवं मन्वन्तरं तत्स्वरूपं कथितम् । सर्गादौ स्वारोचिषो नाम द्वितीयो मनुः ॥ १ ॥ तस्मिन् स्वारोचिषे मन्वन्तरे विपश्चिन्नाम देवेन्द्रः । पारावताः सतुषिता देवाः ॥ २ ॥ ऊर्जस्तम्बः सुप्राणो दन्तो निर्ऋषभो वरीयानीश्वरः सोमः सप्तर्षयश्चैवम् किम्पुरुषाद्याः स्वारोचिषस्य मनोः पुत्रा राजानो भवन्ति ॥ ३ ॥ तृतीय उत्तमो नाम मनुः । सुधामानः सत्याः शिवाः प्रतर्दना वंशवर्तिनश्च देवाः । पञ्चैते द्वादशगणाः ॥ ४ ॥ तेषां सुशान्तिरिन्द्रः ॥ ५ ॥ वन्द्याः सप्तर्षयोऽभवन् । अत्र परशुचित्राद्या मनोः सुताः ॥ ६ ॥

चतुर्थस्तामसो नाम मनुः । तत्र मन्वन्तरे सुराः पराः सत्याः सुधियश्च सप्तविंशतिका गणाः ॥ ७ ॥ तत्र भुशुण्डी नाम देवेन्द्रः । हिरण्यरोमा देवश्रीरूर्ध्वबाहुर्देवबाहुः सुधामा ह पर्जन्यो मुनिरित्येते सप्तर्षयः ॥ ८ ॥ ज्योतिर्धामा पृथुः काश्योऽग्निर्धनक इत्येते तामसस्य मनोः पुत्रा राजानः ॥ ९ ॥ पञ्चमो नाम रैवतो मनुः । तस्यान्तरेऽमिता निरता वैकुण्ठाः सुमेधस इत्येते देवगणाश्चतुर्दशका गणाः । असुरान्तको नाम देवेन्द्रः । सप्तकाद्या मनोः सुता राजानो वै बभूवुः ॥ १० ॥ शान्तः शान्तभयो विद्वांस्तपस्वी मेधावी सुतपाः सप्तर्षयोऽभवन् ॥ ११ ॥ षष्ठश्चाक्षुषो नाम मनुः । पुरुशतद्युम्नप्रमुखास्तस्य सुता राजानः । सुशान्ता आप्याः प्रसूता भव्याः प्रथिताश्च महानुभावा लेखाद्याः पञ्चैते ह्यष्टका गणास्तत्र देवाः ॥ १२ ॥ तेषामिन्द्रो मनोजवः । मेधाः सुमेधा विरजा हविष्मानुत्तमो मतिमान्नाम्ना सहिष्णुश्चैते सप्तर्षयः ॥ १३ ॥ सप्तमो वैवस्वतो मनुः साम्प्रतं वर्तते । तस्य पुत्रा इक्ष्वाकुप्रभृतयः क्षत्रिया भूभुजः ॥ १४ ॥ आदित्यविश्ववसुरुद्राद्या देवाः पुरंदरोऽत्र देवेन्द्रः ॥ १५ ॥ वसिष्ठः कश्यपोऽत्रिर्जमदग्निर्गौतम विश्वामित्रभरद्वाजाः सप्तर्षयो भवन्ति ॥ १६ ॥

सूतजी बोले—प्रथम 'स्वायम्भुव' मन्वन्तर है, उसका स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। सृष्टिके आदिकालमें 'स्वारोचिष' नामक द्वितीय मनु हुए थे। उस स्वारोचिष मन्वन्तरमें 'विपश्चित्' नामक देवराज इन्द्र थे। उस समयके देवता 'पारावत' और 'तुषित' नामसे प्रसिद्ध थे। ऊर्जस्तम्ब, सुप्राण, दन्त, निर्ऋषभ, वरीयान्, ईश्वर और सोम—ये उस मन्वन्तरमें सप्तर्षि थे। इसी प्रकार 'स्वारोचिष' मनुके किम्पुरुष आदि पुत्र उन दिनों भूमण्डलके राजा थे। तृतीय मनु 'उत्तम' नामसे प्रसिद्ध हुए। उनके समयमें सुधामा, सत्य, शिव, प्रतर्दन और वंशवर्ती (अथवा वशवर्ती)—ये पाँच देवगण थे। इनमेंसे प्रत्येक गणमें बारह-बारह व्यक्ति थे। इन देवताओंके इन्द्रका नाम था—'सुशान्ति'। उन दिनों जो सप्तर्षि थे, उनकी 'वन्द्य' संज्ञा थी। इस मन्वन्तरमें 'परशु' और 'चित्र' आदि मनुपुत्र राजा थे। चौथे मनुका नाम था—'तामस'। उनके मन्वन्तरमें देवताओंके पर, सत्य और सुधी नामवाले गण थे। इनमेंसे प्रत्येक गणमें सत्ताईस-सत्ताईस देवता थे। इन देवताओंके राजा इन्द्रका नाम था—'भुशुण्डी'। उस समय हिरण्यरोमा, देवश्री, ऊर्ध्वबाहु, देवबाहु, सुधामा, पर्जन्य और मुनि—ये सप्तर्षि थे। ज्योतिर्धाम, पृथु, काश्य, अग्नि और धनक—ये तामस मनुके पुत्र इस भूमण्डलके राजा थे। पाँचवें मनुका नाम था—'रैवत'। उनके मन्वन्तरमें अमित, निरत, वैकुण्ठ और सुमेधा—ये देवताओंके गण थे। इनमेंसे प्रत्येक गणमें चौदह-चौदह व्यक्ति थे। इन देवताओंके जो इन्द्र थे, उनका नाम था—'असुरान्तक'। उस समय सप्तक आदि मनुपुत्र भूतलके राजा थे। शान्त, शान्तभय, विद्वान्, तपस्वी, मेधावी और सुतपा—ये सप्तर्षि थे। छठे मनुका नाम 'चाक्षुष' था। उनके समयमें पुरु और शतद्युम्न आदि मनुपुत्र राजा थे। उस समय अत्यन्त शान्त रहनेवाले लेख, आप्य, प्रसूत, भव्य और प्रथित—ये पाँच महानुभाव देवगण थे। इन पाँचों गणोंमें आठ-आठ व्यक्ति थे। इनके इन्द्रका नाम 'मनोजव' था। उन दिनों मेधा, सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उत्तम, मतिमान् और सहिष्णु—ये सप्तर्षि थे। सातवें मनुको 'वैवस्वत' कहते हैं, जो इस समय वर्तमान हैं। इनके इक्ष्वाकु आदि क्षत्रियजातीय पुत्र भूपाल हुए। इस मन्वन्तरमें आदित्य, विश्ववसु और रुद्र आदि देवगण हैं और 'पुरंदर' इनके इन्द्र हैं। वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र और भरद्वाज—ये इस मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं ॥ १—१६ ॥

भविष्याणि मन्वन्तराणि कथ्यन्ते । तद्यथा आदित्यात् संज्ञायां जातो यो मनुः पूर्वोक्तश्छायायामुत्पन्नो मनुर्द्वितीयः स तु । पूर्वजस्य सावर्णस्य मन्वन्तरं सावर्णिकमष्टमं शृणु ॥ १७ ॥ मनुः सावर्णोऽष्टमो भविता तत्र सुतपाद्या देवगणास्तेषां बलिरिन्द्रो भविता ॥ १८ ॥ दीप्तिमान् गालवो नामा कृपद्रौणिव्यासश्रृष्यश्रृङ्गाश्च सप्तर्षयो भवितारः । विराजोर्वरीयनिर्मोकाद्याः सावर्णस्य मनोः सुता राजानो भविष्यन्ति ॥ १९ ॥ नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्भविता । धृतिः कीर्तिर्दीप्तिः केतुः पञ्चहस्तो निरामयः पृथुश्रवाद्या,

दक्षसावर्णी राजानोऽस्य मनोः पुत्राः ॥२०॥ मरीचि-
गर्भाः सुधर्माणो हविष्मन्तस्तथ देवताः । तेषा-
मिन्द्रोऽद्भुतः ॥२१॥ सवनः कृतिमान् हव्यो वसुर्मेधा-
तिथिर्ज्योतिष्मानित्येते सप्तर्षयः ॥ २२ ॥ दशमो
ब्रह्म सावर्णिर्मनुर्भविता । विरुद्धादयस्तत्र देवाः ।
तेषां शान्तिरिन्द्रः । हविष्मान् सुकृतिः सत्यस्तपो-
मूर्तिर्नाभागः प्रतिमोकः सप्तकेतुरित्येते
सप्तर्षयः ॥ २३ ॥ सुक्षेत्र उत्तमो भूरिषेणादयो
ब्रह्मसावर्णिपुत्रा राजानो भविष्यन्ति ॥ २४ ॥
एकादशे मन्वन्तरे धर्मसावर्णिको मनुः ॥ २५ ॥
सिंहसवनादयो देवगणाः । तेषां दिवस्पतिरिन्द्रः
॥ २६ ॥ निर्मोहस्तत्त्वदर्शी निष्कम्पो निरुत्साहो
धृतिमान् रुच्य इत्येते सप्तर्षयः । चित्रसेन-
विचित्राद्या धर्मसावर्णिपुत्रा भूभृतो भविष्यन्ति
॥ २७ ॥ रुद्रसावर्णिर्भविता द्वादशो मनुः ॥२८॥
ऋतधामा तत्रेन्द्रो हरिता रोहिताः सुमनसः
सुकर्माणः सुतपाश्च देवाः ॥ २९ ॥ तपस्वी
चारुतपास्तपोमूर्तिस्तपोरतिस्तपोधृतिर्ज्योतिस्तप
इत्येते सप्तर्षयः ॥ ३० ॥ देववान् देवश्रेष्ठा-
द्यास्तस्य मनोः सुता भूपाला भविष्यन्ति ॥ ३१ ॥
त्रयोदशो रुचिर्नाम मनुः । स्रग्वी बाणः सुवर्मा
प्रभृतयो देवगणाः । तेषामिन्द्र ऋषभो नाम
भविता ॥ ३२ ॥ निश्चितोऽग्नितेजा वपुष्मान् धृष्टो
वारुणिर्हविष्मान् नहुषो भव्य इति सप्तर्षयः ।
सुधर्मा देवानीकादयस्तस्य मनोः पुत्राः पृथ्वीश्वरा
भविष्यन्ति ॥ ३३ ॥ भौमश्चतुर्दशो मनुर्भविता ।
सुरुचिस्तत्रेन्द्रः । चक्षुष्मन्तः पवित्राः कनिष्ठाभा
देवगणाः ॥ ३४ ॥ अग्निबाहुशुचिशुक्रमाधवशिवा-
भीमजितश्वासा इत्येते सप्तर्षयः । उरुगम्भीरब्रह्मा-
द्यास्तस्य मनोः सुता राजानः ॥ ३५ ॥

अब भविष्य मन्वन्तरोंका वर्णन किया जाता है—आदित्यसे संज्ञाके गर्भसे उत्पन्न हुए जो 'मनु' हैं, उनकी चर्चा पहले हो चुकी है और छायाके गर्भसे उत्पन्न दूसरे 'मनु' हैं। इनमें प्रथम उत्पन्न हुए जो 'सावर्ण' मनु हैं, उनके ही 'सावर्णिक' नामक आठवें मन्वन्तरका वर्णन सुनिये। 'सावर्ण' ही आठवें मनु होंगे। उस समय सुतप आदि देवगण होंगे और 'बलि' उनके इन्द्र होंगे। दीप्तिमान्, गालव, राम, कृप, अश्वत्थामा, व्यास और ऋष्यशृङ्ग—ये सप्तर्षि होंगे। विरजा, उर्वरीय और निर्मोक आदि सावर्ण मनुके पुत्र राजा होंगे। नवें भावी मनु 'दक्षसावर्णि' हैं। धृति, कीर्ति, दीप्ति, केतु, पञ्चहस्त, निरामय तथा पृथुश्रवा आदि दक्षसावर्णि मनुके पुत्र उस समय राजा होंगे। उस मन्वन्तरमें मरीचि-गर्भ, सुधर्मा और हविष्मान्—ये देवता होंगे और उनके इन्द्र 'अद्भुत' नामसे प्रसिद्ध होंगे। सवन, कृतिमान्, हव्य, वसु, मेधातिथि तथा ज्योतिष्मान् (और सत्य)—ये सप्तर्षि होंगे। दसवें मनु 'ब्रह्मसावर्णि' होंगे। उस समय विरुद्ध आदि देवता और उनके 'शान्ति' नामक इन्द्र होंगे। हविष्मान्, सुकृति, सत्य, तपोमूर्ति, नाभाग, प्रतिमोक और सप्तकेतु—ये सप्तर्षि होंगे। सुक्षेत्र, उत्तम, भूरिषेण आदि 'ब्रह्मसावर्णि'के पुत्र राजा होंगे। ग्यारहवें मन्वन्तरमें 'धर्मसावर्णि' नामक मनु होंगे। उस समय सिंह, सवन आदि देवगण और उनके 'दिवस्पति' नामक इन्द्र होंगे। निर्मोह, तत्त्वदर्शी, निकम्प, निरुत्साह, धृतिमान् और रुच्य—ये सप्तर्षि होंगे। चित्रसेन और विचित्र आदि धर्मसावर्णि मनुके पुत्र राजा होंगे। बारहवें मनु 'रुद्रसावर्णि' होंगे। उस मन्वन्तरमें 'ऋतधामा' नामक इन्द्र और हरित, रोहित, सुमना, सुकर्मा तथा सुतपा नामक देवगण होंगे। तपस्वी, चारुतपा, तपोमूर्ति, तपोरति, तपोधृति, ज्योति और तप—ये सप्तर्षि होंगे। रुद्रसावर्णिके पुत्र देववान् और देवश्रेष्ठ आदि भूमण्डलके राजा होंगे। तेरहवें मनुका नाम 'रुचि' होगा। उस समय स्रग्वी, बाण और सुवर्मा नामक देवगण तथा उनके 'ऋषभ' नामक इन्द्र होंगे। निश्चित, अग्नितेजा, वपुष्मान्, धृष्ट, वारुणि, हविष्मान् और भव्यमूर्ति नहुष—ये सप्तर्षि होंगे। उस मनुके सुधर्मा तथा देवानीक आदि पुत्र भूपाल होंगे। चौदहवें भावी मनुका नाम 'भौम' होगा। उस समय 'सुरुचि' नामक इन्द्र और चक्षुष्मान्, पवित्र तथा कनिष्ठाभ नामक देवगण होंगे। अग्निबाहु, शुचि, शुक्र, माधव, शिव, अभीम और जितश्वास—ये सप्तर्षि होंगे तथा उस भौम मनुके पुत्र उरु, गम्भीर और ब्रह्मा आदि भूतलके राजा होंगे ॥ १७—३५ ॥

एवं ते चतुर्दश मन्वन्तराणि कथितानि ।
राजानश्च यैरियं वसुधा पाल्यते ॥ ३६ ॥

मनुः सप्तर्षयो देवा भूपालाश्च मनोः सुताः ।
मन्वन्तरे भवन्त्येते शक्रश्चैवाधिकारिणः ॥३७॥
चतुर्दशभिरेतैस्तु गतैर्मन्वन्तरैर्द्विज ।
सहस्रयुगपर्यन्तः कालो गच्छति वासरः ॥३८॥
तावत्प्रमाणा च निशा ततो भवति सत्तम ।
ब्रह्मरूपधरः शेते सर्वात्मा नृहरिः स्वयम् ॥३९॥
त्रैलोक्यमखिलं ग्रस्त्वा भगवानादिकृद्विभुः ।
स्वमायामास्थितो विप्र सर्वरूपी जनार्दनः ॥४०॥
अथ प्रबुद्धो भगवान् यथा पूर्वं तथा पुनः ।
युगव्यवस्थां कुरुते सृष्टिं च पुरुषोत्तमः ॥४१॥
एते तवोक्ता मनवोऽमराश्च
पुत्राश्च भूपा मुनयश्च सर्वे ।
विभूतयस्तस्य स्थितौ स्थितस्य
तस्यैव सर्वं त्वमवेहि विप्र ॥४२॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

इस प्रकार मैंने आपसे चौदह मन्वन्तरोंका और उन-उन मनुके पुत्र तत्कालीन राजाओंका वर्णन किया, जिनके द्वारा इस वसुधाका पालन होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें मनु, सप्तर्षि, देवता और भूपाल मनुपुत्र तथा इन्द्र—ये अधिकारी होते हैं। ब्रह्मन्! इन चौदह मन्वन्तरोंके व्यतीत हो जानेपर एक हजार चतुर्युगका समय बीत जाता है। यह (ब्रह्माजीका) एक दिन कहलाता है। साधुशिरोमणे! फिर उतने ही प्रमाणकी उनकी रात्रि होती है। उस समय सब भूतोंके आत्मा साक्षात् भगवान् नृसिंह ब्रह्मरूप धारण करके शयन करते हैं। विप्रवर! सर्वत्र व्यापक एवं आदिविधाता सर्वरूप भगवान् जनार्दन उस समय समस्त त्रिभुवनको अपनेमें लीन करके अपनी योगमायाका आश्रय ले शयन करते हैं। फिर जाग्रत् होनेपर वे भगवान् पुरुषोत्तम पूर्वकल्पके अनुसार पुनः युग-व्यवस्था तथा सृष्टि करते हैं। ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने मनु, देवगण, भूपाल, मनुपुत्र और ऋषि—इन सबका आपसे वर्णन किया। आप इन सबको पालनकर्ता भगवान् विष्णुकी विभूतियाँ ही समझें ॥ ३६–४२ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'चौदह मन्वन्तरोंका वर्णन' नामक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ अध्याय

सूर्यवंश—राजा इक्ष्वाकुका भगवत्प्रेम; उनका भगवद्दर्शनके हेतु तपस्याके लिये प्रस्थान

श्रीसूत उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशानुचरितं शुभम् ।
शृण्वतामपि पापघ्नं सूर्यसोमनृपात्मकम् ॥ १ ॥
सूर्यवंशोद्भवो यो वै मनुपुत्रः पुरोदितः ।
इक्ष्वाकुर्नाम भूपालश्चरितं तस्य मे शृणु ॥ २ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—अब मैं सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओंके 'वंशानुचरित' का वर्णन करूँगा, जो श्रोताओंका भी पाप नष्ट करनेवाला है। मुने! मैंने पहले सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए जिन मनुपुत्र 'इक्ष्वाकु' नामक भूपालकी चर्चा की थी, उनके चरित्रका वर्णन आप मुझसे सुनें ॥ १-२ ॥

आसीद् भूमौ महाभाग पुरी दिव्या सुशोभना ।
सरयूतीरमासाद्य अयोध्या नाम नामतः ॥ ३ ॥
अमरावत्यतिशया त्रिंशद्योजनजालिनी ।
हस्त्यश्वरथपत्त्योघैर्द्रुमैः कल्पद्रुमप्रभैः ॥ ४ ॥
प्राकाराट्टालतोलीभिस्तोरणैः काञ्चनप्रभैः ।
विराजमाना सर्वत्र सुविभक्तचतुष्पथा ॥ ५ ॥
अनेकभूमिप्रासादा बहुभाण्डसुविक्रया ।
पद्मोत्पलसुगन्धाभिर्वापीभिरुपशोभिता ॥ ६ ॥
देवतायतनैर्दिव्यैर्वेदघोषैश्च शोभिता ।
वीणावेणुमृदङ्गैश्च शब्दैरुत्कृष्टकैर्युता ॥ ७ ॥
शालैस्तालैर्नालिकेरैः पनसामलजम्बुकैः ।
तथैवाम्रकपित्थाद्यैरशोकैरुपशोभिता ॥ ८ ॥

महाभाग! इस पृथ्वीपर सरयू नदीके किनारे 'अयोध्या' नामसे प्रसिद्ध एक शोभायमान दिव्य पुरी है। वह अमरावतीसे भी बढ़कर सुन्दर और तीस योजन लंबी-चौड़ी थी। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंके समूह तथा कल्पवृक्षके समान कान्तिमान् वृक्ष उस पुरीकी शोभा बढ़ाते

थे। वहाँ दिवारें, अट्टालिका, प्रतोली (गली या राजमार्ग) और सुवर्णकी-सी कान्तिवाले फाटकोंसे वह बड़ी शोभा पा रही थी। अलग-अलग बने हुए उसके चौराहे बहुत सुन्दर लगते थे। वहाँके महल कई मंजिल ऊँचे थे। नाना प्रकारके भाण्डों (भाँति-भाँतिके सामानों) का सुन्दर ढंगसे क्रय-विक्रय होता था। कमलों और उत्पलोंसे सुशोभित जलसे भरी हुई बावलियाँ उस पुरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। दिव्य देवालय तथा वेदमन्त्रोंके घोष उस नगरीकी श्रीवृद्धि करते थे। वीणा, वेणु और मृदङ्ग आदिके उत्कृष्ट शब्दोंसे वह पुरी गूँजती रहती थी। शाल (साखू), ताल (ताड़), नारियल, कटहल, आँवला, जामुन, आम और कपित्थ (कैथ) आदिके वृक्षों तथा अशोक-पुष्पोंसे अयोध्यापुरीकी बड़ी शोभा होती थी ॥ ३—८ ॥

आरामैर्विविधैर्युक्ता सर्वत्र फलपादपैः ।
मल्लिकामालतीजातिपाटलानागचम्पकैः ॥ ९ ॥
करवीरैः कर्णिकारैः केतकीभिरलंकृता ।
कदलीलवलीजातिमातुलुङ्गमहाफलैः ।
क्वचिच्चन्दनगन्धाढ्यैर्नारङ्गैश्च सुशोभिता ॥१०॥
नित्योत्सवप्रमुदिता गीतवाद्यविचक्षणैः ।
नरनारीभिराढ्याभी रूपद्रविणप्रेक्षणैः ॥११॥

वहाँ सब जगह नाना प्रकारके बगीचे और फलवाले वृक्ष पुरीकी शोभा बढ़ाते थे। मल्लिका (मोतिया या बेला), मालती, चमेली, पाड़र, नागकेसर, चम्पा, कनेर, कनकचम्पा और केतकी (केवड़ा) आदि पुष्पोंसे मानो उस पुरीका शृङ्गार किया गया था। केला, हरफा, रेवड़ी, जायफल और बिजौरा नीबू, चन्दनकी-सी गन्धवाले तथा दूसरे प्रकारके संतरे आदि बड़े-बड़े फल उसकी शोभा बढ़ाते थे। गीत और वाद्यमें कुशल पुरुष उस पुरीमें प्रतिदिन आनन्दोत्सव मचाये रहते थे। वहाँके स्त्री-पुरुष रूप-वैभव तथा सुन्दर नेत्रोंसे सम्पन्न थे ॥ ९—११ ॥

नानाजनपदाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।
देवतुल्यप्रभायुक्तैर्नृपपुत्रैश्च संयुता ॥१२॥
सुरूपाभिर्वरस्त्रीभिर्देवस्त्रीभिरिवावृता ।
विप्रैः सत्कविभिर्युक्ता बृहस्पतिसमप्रभैः ॥१३॥
वणिग्जनैस्तथा पौरैः कल्पवृक्षवरैर्युता ।
अश्वैरुच्चैःश्रवस्तुल्यैर्दन्तिभिर्दिग्गजैरिव ॥१४॥
इति नानाविधैर्भावैरयोध्येन्द्रपुरीसमा ।
तां दृष्ट्वा नारदः श्लोकं सभामध्ये पुरोक्तवान् ॥१५॥
स्वर्गं वै सृजमानस्य व्यर्थं स्यात् पद्मजन्मनः ।
जातायोध्याधिका स्वर्गात् कामभोगसमन्विता ॥१६॥

वह पुरी नाना देशोंके मनुष्योंसे भरी-पूरी, ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित तथा अनेकानेक कान्तिमान् देवोपम राजकुमारोंसे युक्त थी। वहाँ देवाङ्गनाओंके समान श्रेष्ठ एवं रूपवती वनिताएँ निवास करती थीं। बृहस्पतिके समान तेजस्वी सत्कवि ब्राह्मण उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे। कल्पवृक्षसे भी बढ़कर उदार नागरिकों और वैश्यों, उच्चैःश्रवाके समान श्रेष्ठ घोड़ों और दिग्गजोंके समान विशालकाय हाथियोंसे वह पुरी बड़ी शोभा पाती थी। इस प्रकार नाना वस्तुओंसे भरी-पूरी अयोध्यापुरी इन्द्रपुरी अमरावतीकी समता करती थी। पूर्वकालमें नारदजीने उस पुरीको देखकर भरी सभामें यह श्लोक कहा था—'स्वर्गकी सृष्टि करनेवाले विधाताका वह सारा प्रयत्न व्यर्थ हो गया; क्योंकि अयोध्यापुरी उससे भी बढ़कर मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न हो गयी' ॥ १२—१६ ॥

तामावसदयोध्यां तु स्वभिषिक्तो महीपतिः ।
जितवान् सर्वभूपालान् धर्मेण स महाबलः ॥१७॥
माणिक्यमुकुटैर्युक्तैः राजभिर्मण्डलाधिपैः ।
नमद्भिर्भक्तिभीतिभ्यां पादौ तस्य किणीकृतौ॥१८॥

इक्ष्वाकु इसी अयोध्यामें निवास करते थे। वे राजाके पदपर अभिषिक्त थे, पृथ्वीका पालन करने लगे। उन महान् बलशाली नरेशने धर्मयुद्धके द्वारा समस्त भूपालोंको जीत लिया था। मानिकके बने मुकुटोंसे अलंकृत अनेक छोटे-छोटे मण्डलोंके शासक राजाओंके भक्ति तथा भयपूर्वक प्रणाम करनेसे उनके दोनों चरणोंमें मुकुटोंकी रगड़से चिह्न बन गया था ॥ १७-१८ ॥

इक्ष्वाकुरक्षतबलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
तेजसेन्द्रेण सदृशो मनोः सूनुः प्रतापवान् ॥१९॥
धर्मतो न्यायतश्चैव वेदशास्त्रार्थदर्शिभिर्युतः ।
पालयामास धर्मात्मा आसमुद्रां महीमिमाम् ॥२०॥
अस्त्रैर्जिगाय सकलान् संयुगे भूपतीन् बली ।
अवजित्य सुतीक्ष्णैस्तु तन्मण्डलमथाहरत् ॥२१॥

मनुपुत्र प्रतापी राजा इक्ष्वाकु अपने राजोचित तेजसे इन्द्रकी समानता करते थे। वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण थे। उनका बल कभी क्षीण नहीं होता था। वे धर्मात्मा भूपाल वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके साथ धर्म और न्यायपूर्वक इस समुद्र-पर्यन्त पृथिवीका पालन करते थे। उन बलशाली नरेशने संग्राममें अपने तीखे शस्त्रोंसे समस्त भूपोंको जीतकर उनका मण्डल अपने अधिकारमें कर लिया था॥ १९—२१॥

जितवान् परलोकांश्च क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
दानैश्च विविधैर्ब्रह्मन् राजेक्ष्वाकुः प्रतापवान्॥२२॥
बाहुद्वयेन वसुधां जिह्वाग्रेण सरस्वतीम्।
बभार पद्मामुरसा भक्तिं चित्तेन माधवे॥२३॥
संतिष्ठतो हरे रूपमुपविष्टं च माधवम्।
शयानमप्यनन्तं तु कारयित्वा पटेऽमलम्॥२४॥
त्रिकालं श्रयमाराध्य रूपं विष्णोर्महात्मनः।
गन्धपुष्पादिभिर्नित्यं रेमे दृष्ट्वा पटे हरिम्॥२५॥
कृष्णं तं कृष्णमेघाभं भुजगेन्द्रनिवासिनम्।
पद्माक्षं पीतवासं च स्वप्नेष्वपि स दृष्टवान्॥२६॥
चकार मेघे तद्वर्णे बहुमानमतिं नृपः।
पक्षपातं च तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तादृशे॥२७॥

ब्रह्मन्! प्रतापी राजा इक्ष्वाकुने प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ और नाना प्रकारके दान करके परलोकोंपर भी विजय प्राप्त कर ली थी। वे अपनी दोनों भुजाओंद्वारा पृथ्वीका, जिह्वाके अग्रभागसे सरस्वतीका, वक्षःस्थलसे राजलक्ष्मीका और हृदयसे भगवान् लक्ष्मीपतिकी भक्तिका भार वहन करते थे। एक वस्त्रपर खड़े हुए भगवान् हरिका, बैठे हुए लक्ष्मीपतिका और सोये हुए अनन्तदेवका निर्मल चित्र बनवाकर क्रमशः प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और संध्याकालमें तीनों समय वे महात्मा भगवान् विष्णुके उन तीनों रूपोंका गन्ध तथा पुष्प आदिके द्वारा पूजन करते और उस पटपर प्रतिदिन भगवान् विष्णुका दर्शन करके प्रसन्न रहते थे। उन्हें स्वप्नमें भी नागराज अनन्तकी शय्यापर सोये हुए, काले मेघके समान श्यामवर्ण, कमललोचन, पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) का दर्शन हुआ करता था। राजाने भगवान्‌के समान श्यामवर्णवाले मेघमें अत्यन्त सम्मानपूर्ण बुद्धि कर ली थी। भगवान् श्रीकृष्णके नामसे युक्त कृष्णसार मृगमें और कृष्णवर्णवाले कमलमें वे पक्षपात रखते थे॥ २२—२७॥

दिव्याकृतिं हरेः साक्षाद् द्रष्टुं तस्य महीभृतः।
अतीव तृष्णा संजाता अपूर्वैव हि सत्तम॥२८॥
तृष्णायां तु प्रवृद्धायां मनसैव हि पार्थिवः।
चिन्तयामास मतिमान् राज्यभोगमसारवत्॥२९॥
वेश्मदारसुतक्षेत्रं संन्यस्तं येन दुःखदम्।
वैराग्यज्ञानपूर्वेण लोकेऽस्मिन्नास्ति तत्समः॥३०॥
इत्येवं चिन्तयित्वा तु तपस्यासक्तचेतनः।
वसिष्ठं परिपप्रच्छ तत्रोपायं पुरोहितम्॥३१॥
तपोबलेन देवेशं नारायणमजं मुने।
द्रष्टुमिच्छाम्यहं तत्र उपायं तं वदस्व मे॥३२॥

साधुशिरोमणे! उस राजाके मनमें भगवान् विष्णुके दिव्य स्वरूपको प्रत्यक्ष देखनेकी अत्यन्त उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हुई; उनकी वह तृष्णा अपूर्व ही थी। जब उनकी तृष्णा बहुत बढ़ गयी, तब वे बुद्धिमान् भूपाल मन-ही-मन सारे राज्य-भोगको निस्सार-सा समझने लगे। उन्होंने सोचा—'जिस पुरुषने गेह, स्त्री, पुत्र और क्षेत्र आदि दुःखद भोगोंको वैराग्य और ज्ञानपूर्वक त्याग दिया है, उसके समान बड़भागी इस संसारमें कोई नहीं है।' इस प्रकार सोच-विचारकर, तपस्यामें आसक्तचित्त हो उन्होंने उसके लिये अपने पुरोहित वसिष्ठजीसे उपाय पूछा—'मुने! मैं तपस्याके बलसे देवेश्वर, अजन्मा भगवान् नारायणका दर्शन करना चाहता हूँ; इसके लिये आप मुझे कोई उत्तम उपाय बताइये'॥ २८—३२॥

इत्युक्तः प्राह राजानं तपस्यासक्तमानसम्।
वसिष्ठः सर्वधर्मज्ञः सदा तस्य हिते रतः॥३३॥
यदीच्छसि महाराज द्रष्टुं नारायणं परम्।
तपसा सुकृतेनेह आराधय जनार्दनम्॥३४॥
केनाप्यतप्ततपसा देवदेवो जनार्दनः।
द्रष्टुं न शक्यते जातु तस्मात्त्वं तपसार्चय॥३५॥
पूर्वदक्षिणदिग्भागे सरयूतीरगो नृप।
गालवप्रमुखानां च ऋषीणामस्ति चाश्रमः॥३६॥
पञ्चयोजनमध्वानं स्थानमस्मात्तु पावनम्।
नानाद्रुमलताकीर्णं नानापुष्पसमाकुलम्॥३७॥

स्वमन्त्रिणि महाप्राज्ञे नीतिमत्यर्जुने नृप ।
स्वराज्यभारं विन्यस्य कार्यकाण्डमपि द्विज ॥३८॥
स्तुत्वाऽऽराध्य गणाध्यक्षमितो व्रज विनायकम् ।
तपःसिद्ध्यर्थमन्विच्छंस्तत्रासाद्य तपः कुरु ॥३९॥
तापसं वेषमास्थाय शाकमूलफलाशनः ।
ध्यायन्नारायणं देवमिमं मन्त्रं सदा जप ॥४०॥
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
एष सिद्धिकरो मन्त्रो द्वादशाक्षरसंज्ञितः ।
जप्त्वैनं मुनयः सिद्धिं परां प्राप्ताः पुरातनाः ॥४१॥
गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः ।
अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः ॥४२॥
बाह्येन्द्रियं हृदि स्थाप्य मनः सूक्ष्मे परात्मनि ।
नृप संजप तन्मन्त्रं द्रक्ष्यसे मधुसूदनः ॥४३॥
इति ते कथितोपायो हरिप्राप्तेस्तपःकृतौ ।
पृच्छतः साम्प्रतं भूयो यदीच्छसि कुरुष्व तत् ॥४४॥

उनके इस प्रकार कहनेपर राजाके हितमें सदा लगे रहनेवाले सर्वधर्मज्ञ मुनिवर वसिष्ठजीने तपमें आसक्तचित्त उन नरेशसे कहा—'महाराज ! यदि तुम परमात्मा नारायणका साक्षात्कार करना चाहते हो तो तपस्या और शुभकर्मोंके द्वारा उन भगवान् जनार्दनकी आराधना करो । कोई भी पुरुष तपस्या किये बिना देवदेव जनार्दनका दर्शन नहीं पा सकता । इसलिये तुम तपस्याके द्वारा उनका पूजन करो । यहाँसे पाँच योजन दूर सरयूके तटपर पूर्व और दक्षिण भागमें एक पवित्र स्थान है, जहाँ गालव आदि ऋषियोंका आश्रम है । वह स्थान नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त तथा विविध भाँतिके पुष्पोंसे परिपूर्ण है । राजन् ! अपने बुद्धिमान् एवं नीतिज्ञ मन्त्री अर्जुनको राज्यका भार तथा सारा कार्य-कलाप सौंप, तत्पश्चात् गणनायक भगवान् विनायककी स्तुति एवं आराधना करके तपस्याकी सिद्धिरूप प्रयोजनकी इच्छा मनमें लेकर यहाँसे उस आश्रमकी यात्रा करो और वहाँ पहुँचकर तपस्यामें संलग्न हो जाओ । तपस्वीका वेष धारणकर, साग और फल-मूलका आहार करते हुए, भगवान् नारायणके ध्यानमें तत्पर रहकर सदा ही 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।'—इस मन्त्रका जप करो । यह 'द्वादशाक्षर'-संज्ञक मन्त्र अभीष्टको सिद्ध करनेवाला है । प्राचीनकालके ऋषियोंने इस मन्त्रका जप करके परम सिद्धि प्राप्त की है । चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रह जा-जाकर पुनः लौट आते हैं, परंतु द्वादशाक्षर-मन्त्रका चिन्तन करनेवाले पुरुष आजतक नहीं लौटे—भगवान्‌को पाकर आवागमनसे मुक्त हो गये । नरेश्वर ! बाह्य इन्द्रियोंको हृदयमें स्थापितकर तथा मनको सूक्ष्म परात्मतत्त्वमें स्थिर करके इस मन्त्रका जप करो; इससे तुम्हें भगवान् मधुसूदनका दर्शन होगा । इस प्रकार इस समय तुम्हारे पूछनेपर मैंने तपरूप कर्मसे भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय बतलाया; अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो' ॥ ३३—४४ ॥

इत्येवमुक्तो मुनिना स राजा
राज्यं शुभे मन्त्रिवरे समर्प्य ।
स्तुत्वा गणेशं सुमनोभिरर्च्य
गतः पुरात् स्वतपसे धृतात्मा ॥४५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे इक्ष्वाकुचरिते चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

मुनिवर वसिष्ठके इस प्रकार कहनेपर वे राजा इक्ष्वाकु अपने श्रेष्ठ मन्त्रीको भूमण्डलके राज्यका भार सौंपकर, पुष्पों-द्वारा गणेशजीका पूजन तथा स्तवन करके, तपस्या करनेका दृढ़ निश्चय मनमें लेकर, अपने नगरसे चल दिये ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'इक्ष्वाकुका चरित्र' विषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पचीसवाँ अध्याय

इक्ष्वाकुकी तपस्या और ब्रह्माजीद्वारा विष्णुप्रतिमाकी प्राप्ति

भरद्वाज उवाच

कथं स्तुतो गणाध्यक्षस्तेन राज्ञा महात्मना ।
यथा तेन तपस्तप्तं तन्मे वद महामते ॥ १ ॥

भरद्वाजजीने पूछा—महामते ! उन महात्मा राजाने किस प्रकार गणेशजीका स्तवन किया ? तथा उन्होंने जिस प्रकार तपस्या की, उसका आप मुझसे वर्णन करें ॥ १ ॥

सूत उवाच

चतुर्थीदिवसे राजा स्नात्वा त्रिषवणं द्विज ।
रक्ताम्बरधरो भूत्वा रक्तगन्धानुलेपनः ॥ २ ॥
सुरक्तकुसुमैर्हृद्यैर्विनायकमथार्चयत् ।
रक्तचन्दनतोयेन स्नानपूर्वं यथाविधि ॥ ३ ॥
विलिप्य रक्तगन्धेन रक्तपुष्पैः प्रपूजयत् ।
ततोऽसौ दत्तवान् धूपमाज्ययुक्तं सचन्दनम् ।
नैवेद्यं चैव हारिद्रं गुडखण्डघृतप्लुतम् ॥ ४ ॥
एवं सुविधिना पूज्य विनायकमथास्तवीत् ।

सूतजी बोले—द्विज ! गणेश-चतुर्थीके दिन राजाने त्रिकाल स्नान करके रक्तवस्त्र धारण किया और लालचन्दन लगाकर मनोहर लाल फूलों तथा रक्तचन्दनमिश्रित जलसे गणेशजीको स्नान कराके विधिवत् उनका पूजन किया। स्नान करानेके बाद उनके श्रीअङ्गोंमें लाल चन्दन लगाया। फिर रक्तपुष्पोंसे उनकी पूजा की। तदनन्तर उन्हें घृत और चन्दन मिला हुआ धूप निवेदन किया। अन्तमें हल्दी, घी और गुडखण्डके मेलसे तैयार किया हुआ मधुर नैवेद्य अर्पण किया। इस प्रकार सुन्दर विधिपूर्वक भगवान् विनायकका पूजन करके राजाने उनकी स्तुति आरम्भ की ॥ २—४½ ॥

इक्ष्वाकुरुवाच

नमस्कृत्य महादेवं स्तोष्येऽहं तं विनायकम् ॥ ५ ॥
महागणपतिं शूरमजितं ज्ञानवर्धनम् ।
एकदन्तं द्विदन्तं च चतुर्दन्तं चतुर्भुजम् ॥ ६ ॥
त्र्यक्षं त्रिशूलहस्तं च रक्तनेत्रं वरप्रदम् ।
आम्बिकेयं शूर्पकर्णं प्रचण्डं च विनायकम् ॥ ७ ॥
आरक्तं दण्डिनं चैव वह्निवक्त्रं हुतप्रियम् ।
अनर्चितो विघ्नकरः सर्वकार्येषु यो नृणाम् ॥ ८ ॥
तं नमामि गणाध्यक्षं भीममुग्रमुमासुतम् ।
मदमत्तं विरूपाक्षं भक्तविघ्ननिवारकम् ॥ ९ ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ।
बुद्धं सुनिर्मलं शान्तं नमस्यामि विनायकम् ॥१०॥
नमोऽस्तु गजवक्त्राय गणानां पतये नमः ।
मेरुमन्दररूपाय नमः कैलासवासिने ॥११॥
विरूपाय नमस्तेऽस्तु नमस्ते ब्रह्मचारिणे ।
भक्तस्तुताय देवाय नमस्तुभ्यं विनायक ॥१२॥

इक्ष्वाकु बोले—मैं महान् देव गणेशजीको प्रणाम करके उन विघ्नराजका स्तवन करता हूँ, जो महान् देवता एवं गणोंके स्वामी हैं, शूरवीर तथा अपराजित हैं और ज्ञानवृद्धि करानेवाले हैं। जो एक, दो तथा चार दाँतोंवाले हैं, जिनकी चार भुजाएँ हैं, जो तीन नेत्रोंसे युक्त और हाथमें त्रिशूल धारण करते हैं, जिनके नेत्र रक्तवर्ण हैं, जो वर देनेवाले हैं, जो माता पार्वतीके पुत्र हैं, जिनके सूप-जैसे कान हैं, जिनका वर्ण कुछ-कुछ लाल है, जो दण्डधारी तथा अग्निमुख हैं एवं जिन्हें होम प्रिय है तथा जो प्रथम पूजित न होनेपर मनुष्योंके सभी कार्योंमें विघ्नकारी होते हैं, उन भीमकाय और उग्र स्वभाववाले पार्वतीनन्दन गणेशजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो मदसे मत्त रहते हैं, जिनके नेत्र भयंकर हैं और जो भक्तोंके विघ्न दूर करनेवाले हैं, करोड़ों सूर्यके समान जिनकी कान्ति है, खानसे काटकर निकाले हुए कोयलेकी भाँति जिनकी श्याम प्रभा है तथा जो विमल और शान्त हैं, उन भगवान् विनायकको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरुगिरिके समान रूप और हाथीके मुख-सदृश मुखवाले, कैलासवासी गणपतिको नमस्कार है। विनायक देव ! आप विरूपधारी और ब्रह्मचारी हैं, भक्तजन आपकी स्तुति करते हैं, आपको बारंबार नमस्कार है ॥५—१२॥

त्वया पुराण पूर्वेषां देवानां कार्यसिद्धये ।
गजरूपं समास्थाय त्रासिताः सर्वदानवाः ॥१३॥
ऋषीणां देवतानां च नायकत्वं प्रकाशितम् ।
यतस्ततः सुरैरग्रे पूज्यसे त्वं भवात्मज ॥१४॥
त्वामाराध्य गणाध्यक्षं सर्वज्ञं कामरूपिणम् ।
कार्यार्थं रक्तकुसुमै रक्तचन्दनवारिभिः ॥१५॥
रक्ताम्बरधरो भूत्वा चतुर्थ्यामर्चयेज्जपेत् ।
त्रिकालमेककालं वा पूजयेन्नियताशनः ॥१६॥
राजानं राजपुत्रं वा राजमन्त्रिणमेव वा ।
राज्यं च सर्वविघ्नेश वशं कुर्यात् सराष्ट्रकम् ॥१७॥

पुराणपुरुष ! आपने पूर्ववर्ती देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये हाथीका स्वरूप धारण करके समस्त दानवोंको भयभीत किया था। शिवपुत्र ! आपने ऋषि और देवताओंपर अपना स्वामित्व

प्रकट कर दिया है, इसीसे देवगण आपकी प्रथम पूजा करते हैं। सर्वविघ्नेश्वर! यदि मनुष्य रक्तवस्त्र धारणकर नियमित आहार करके अपने कार्यकी सिद्धिके लिये लाल पुष्पों और रक्तचन्दन युक्त जलसे चतुर्थीके दिन तीनों काल या एक कालमें आप कामरूपी सर्वज्ञ गणपतिका पूजन करे तथा आपका नाम जपे तो वह पुरुष राजा, राजकुमार, राजमन्त्रीको राज्य अथवा समस्त राष्ट्रसहित अपने वशमें कर सकता है॥१३-१७॥

अविघ्नं तपसो मह्यं कुरु नौमि विनायक।
मयेत्थं संस्तुतो भक्त्या पूजितश्च विशेषतः॥१८॥
यत्फलं सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु यत्फलम्।
तत्फलं पूर्णमाप्नोति स्तुत्वा देवं विनायकम्॥१९॥
विषमं न भवेत्तस्य न च गच्छेत् पराभवम्।
न च विघ्नो भवेत्तस्य जातो जातिस्मरो भवेत्॥२०॥
य इदं पठते स्तोत्रं षड्भिर्मासैर्वरं लभेत्।
संवत्सरेण सिद्धिं च लभते नात्र संशयः॥२१॥

विनायक! मैं आपकी स्तुति करता हूँ। आप मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक स्तवन एवं विशेषरूपसे पूजन किये जानेपर मेरी तपस्याके विघ्नको दूर कर दें। सम्पूर्ण तीर्थों और समस्त यज्ञोंमें जो फल प्राप्त होता है, उसी फलको मनुष्य भगवान् विनायकका स्तवन करके पूर्णरूपसे प्राप्त कर लेता है। उसपर कभी संकट नहीं आता, उसका कभी तिरस्कार नहीं होता और न उसके कार्यमें विघ्न ही पड़ता है; वह जन्म लेनेके बाद पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेवाला होता है। जो प्रतिदिन इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह छः महीनोंतक निरन्तर पाठ करनेसे गणेशजीसे मनोवाञ्छित वर प्राप्त करता है और एक वर्षमें पूर्णतः सिद्धि प्राप्त कर लेता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥ १८-२१॥

सूत उवाच

एवं स्तुत्वा पुरा राजा गणाध्यक्षं द्विजोत्तम।
तापसं वेषमास्थाय तपश्चर्तुं गतो वनम्॥२२॥
उत्सृज्य वस्त्रं नागत्वक्सदृशं बहुमूल्यकम्।
कठिनां तु त्वचं वार्क्षीं कटयां धत्ते नृपोत्तमः॥२३॥
तथा रत्नानि दिव्यानि वलयानि निरस्य तु।
अक्षसूत्रमलंकारं फलैः पद्मस्य शोभनम्॥२४॥
तथोत्तमाङ्गे मुकुटं रत्नहाटकशोभितम्।
त्यक्त्वा जटाकलापं तु तपोऽर्थे बिभृयान्नृपः॥२५॥

सूतजी बोले—द्विजोत्तमगण! इस प्रकार राजा इक्ष्वाकु पहले गणेशजीका स्तवन करके, फिर तपस्वीका वेष धारणकर तप करनेके लिये वनमें चले गये। साँपकी त्वचाके समान मुलायम एवं बहुमूल्य वस्त्र त्यागकर वे श्रेष्ठ महाराज कमरमें वृक्षोंकी कठोर छाल पहनने लगे। दिव्य रत्नोंके हार और कड़े निकालकर हाथमें अक्षसूत्र तथा गलेमें कमलगट्टोंकी बनी हुई सुन्दर माला धारण करने लगे। इसी प्रकार वे नरेश मस्तकपरसे रत्न तथा सुवर्णसे सुशोभित मुकुट हटाकर वहाँ तपस्याके लिये जटाजूट रखने लगे॥ २२-२५॥

कृत्वेत्थं स तपोवेषं वसिष्ठोक्तं तपोवनम्।
प्रविश्य च तपस्तेपे शाकमूलफलाशनः॥२६॥
ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थोऽतपत्काले महातपाः।
वर्षाकाले निरालम्बो हेमन्ते च सरोजले॥२७॥
इन्द्रियाणि समस्तानि नियम्य हृदये पुनः।
मनो विष्णौ समावेश्य मन्त्रं वै द्वादशाक्षरम्॥२८॥
जपतो वायुभक्षस्य तस्य राज्ञो महात्मनः।
आविर्बभूव भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः॥२९॥
तमागतमथालोक्य पद्मयोनिं चतुर्मुखम्।
प्रणम्य भक्तिभावेन स्तुत्या च पर्यतोषयत्॥३०॥

इस प्रकार वसिष्ठजीके कथनानुसार तापस-वेष धारणकर तपोवनमें प्रविष्ट हो, वे शाक और फल-मूलका आहार करते हुए तपस्यामें प्रवृत्त हो गये। महातपस्वी राजा इक्ष्वाकु ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्निके बीच स्थित होकर तपस्या करते थे, वर्षाके समय खुले मैदानमें रहते और शीतकालमें सरोवरके जलमें खड़े होकर तप करते थे। इस प्रकार समस्त इन्द्रियोंको मनमें निरुद्ध करके, मनको भगवान् विष्णुमें लीन कर द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते और वायु पीकर रहते हुए उन महात्मा राजाके समक्ष लोक-पितामह भगवान् ब्रह्माजी प्रकट हुए। उन चार मुखोंवाले पद्मयोनि ब्रह्माजीको आया देख राजाने उन्हें भक्तिभावसे प्रणाम एवं उनकी स्तुति करके संतुष्ट किया॥ २६-३०॥

नमो हिरण्यगर्भाय जगत्स्रष्ट्रे महात्मने।
वेदशास्त्रार्थविदुषे चतुर्वक्त्राय ते नमः॥३१॥
इति स्तुतो जगत्स्रष्टा ब्रह्मा प्राह नृपोत्तमम्।
तपस्यभिरतं शान्तं त्यक्तराज्यं महासुखम्

(राजा बोले—) 'संसारकी सृष्टि करनेवाले तथा वेद-शास्त्रोंके मर्मज्ञ, चार मुखोंवाले महात्मा हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीको नमस्कार है।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने राज्य त्यागकर तपस्यामें लगे हुए उन शान्त एवं महान् सुखी श्रेष्ठ नरेशसे कहा ॥ ३१½ ॥

ब्रह्मोवाच

लोकप्रकाशको राजन् सूर्यस्तव पितामहः ॥३२॥
मुनीनामपि सर्वेषां सदा मान्यो मनुः पिता ।
कृतवन्तौ तपः पूर्वं तीव्रं पितृपितामहौ ॥३३॥
किमर्थं राज्यभोगं तु त्यक्त्वा सर्वं नृपोत्तम ।
तपः करोषि घोरं त्वं समाचक्ष्व महामते ॥३४॥

ब्रह्माजी बोले—राजन्! समस्त विश्वको प्रकाशित करनेवाले तुम्हारे पितामह सूर्य तथा पिता मनु भी सदा ही सभी मुनियोंके मान्य हैं। तुम्हारे पिता और पितामहने भी पूर्वकालमें तीव्र तपस्या की थी। (उन्हींके समान आज तुम भी तप कर रहे हो।) महामते नृपश्रेष्ठ! सारा राज्य-भोग छोड़कर किसलिये यह घोर तप कर रहे हो? इसका कारण बताओ ॥ ३२—३४ ॥

इत्युक्तो ब्रह्मणा राजा तं प्रणम्याब्रवीद्वचः ।
द्रष्टुमिच्छंस्तपश्चर्याबलेन मधुसूदनम् ॥३५॥
करोम्येवं तपो ब्रह्मन् शङ्खचक्रगदाधरम् ।
इत्युक्तः प्राह राजानं पद्मजन्मा हसन्निव ॥३६॥

ब्रह्माजीके इस प्रकार पूछनेपर राजाने उनको प्रणाम करके कहा—'ब्रह्मन्! मैं तपोबलसे शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् मधुसूदनका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी इच्छा लेकर ही ऐसा तप कर रहा हूँ।' राजाके यों कहनेपर कमलजन्मा ब्रह्माजीने हँसते हुए-से उनसे कहा ॥३५-३६॥

न शक्यस्तपसा द्रष्टुं त्वया नारायणो विभुः ।
मादृशैरपि नो दृश्यः केशवः क्लेशनाशनः ॥३७॥
पुरातनीं पुण्यकथां कथयामि निबोध मे ।
निशान्ते प्रलये लोकान् निनीय कमलेक्षणः ॥३८॥
अनन्तभोगशयने योगनिद्रां गतो हरिः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिः स्तूयमानो महामते ॥३९॥
तस्य सुप्तस्य नाभौ तु महत्पद्ममजायत ।
तस्मिन् पद्मे शुभे राजन् जातोऽहं वेदवित्पुरा ॥४०॥
ततो भूत्वा त्वधोदृष्टिर्दृष्टवान् कमलेक्षणम् ।
अनन्तभोगपर्यङ्के भिन्नाञ्जननिभं हरिम् ॥४१॥
अतसीकुसुमाभासं शयानं पीतवाससम् ।
दिव्यरत्नविचित्राङ्गं मुकुटेन विराजितम् ॥४२॥

"राजन्! सर्वत्र व्यापक भगवान् नारायणका दर्शन तुम केवल तपस्यासे नहीं कर सकोगे। (औरोंकी तो बात ही क्या है,) हमारे-जैसे लोगोंको भी क्लेशनाशन भगवान् केशवका दर्शन नहीं हो पाता। महामते! मैं तुम्हें एक पुरातन पवित्र कथा सुनाता हूँ, सुनो—'प्रलयकी रातमें कमललोचन भगवान् विष्णुने समस्त लोकोंको अपनेमें लीन कर लिया और सनन्दन आदि मुनियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे 'अनन्त' नामक शेषनाग-की शय्यापर योगनिद्राका आश्रय ले सो गये। राजन्! उन सोये हुए भगवान्‌की नाभिसे प्रकाशमान एक बहुत बड़ा कमल उत्पन्न हुआ। पूर्वकालमें उस प्रकाशमान कमलपर सर्वप्रथम मुझ वेदवेत्ता ब्रह्माका ही आविर्भाव हुआ। तत्पश्चात् नीचेकी ओर दृष्टि करके मैंने खानसे काटकर निकाले हुए कोयलेके समान श्यामवर्णवाले भगवान् विष्णुको शेषनागकी शय्यापर सोते देखा। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति अलसीके फूलकी भाँति सुन्दर जान पड़ती थी, दिव्य रत्नोंके आभरणोंसे उनके श्रीविग्रहकी विचित्र शोभा हो रही थी और उनका मस्तक मुकुटसे शोभायमान था ॥ ३७—४२ ॥

कुन्देन्दुसदृशाकारमनन्तं च महामते ।
सहस्रफणमध्यस्थैर्मणिभिर्दीप्तिमत्तरम् ॥४३॥
क्षणमात्रं तु तं दृष्ट्वा पुनस्तत्र न दृष्टवान् ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो बभूवाहं नृपोत्तम ॥४४॥
ततो न्ववातरं तस्मात् पद्मनालं समाश्रितः ।
कौतूहलेन तं द्रष्टुं नारायणमनामयम् ॥४५॥
ततस्त्वन्विष्य राजेन्द्र सलिलान्ते न दृष्टवान् ।
श्रीशं पुनस्तमेवाहं पद्ममाश्रित्य चिन्तयन् ॥४६॥
तद्रूपं वासुदेवस्य द्रष्टुं तेपे महत्तपः ।
ततो मामन्तरिक्षस्था वागुवाचाशरीरिणी ॥४७॥

"महामते! उस समय मैंने उन अनन्तदेव शेषनागका भी दर्शन किया, जिनका आकार कुन्द और चन्द्रमाके समान श्वेत था तथा जो हजारों फणोंकी मणियोंसे अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे। नृपश्रेष्ठ

क्षणभर ही वहाँ उन्हें देखकर मैं फिर उनका दर्शन न पा सका; इससे अत्यन्त दुखी हो गया। तब मैं कौतूहलवश निरामय भगवान् नारायणका दर्शन करनेके लिये कमल-नालका सहारा ले वहाँसे नीचे उतरा; परंतु राजेन्द्र ! उस समय जलके भीतर बहुत खोजनेपर भी मैं उन लक्ष्मीपतिका पुनः दर्शन न पा सका। तब मैं फिर उसी कमलका आश्रय ले वासुदेवके उसी रूपका चिन्तन करता हुआ उनके दर्शनके लिये बड़ी भारी तपस्या करने लगा। तत्पश्चात् अन्तरिक्षके भीतरसे किसी अव्यक्त शरीरवाली वाणीने मुझसे कहा ॥ ४३—४७ ॥

वृथा किं क्लिश्यते ब्रह्मन् साम्प्रतं कुरु मे वचः ।
न दृश्यो भगवान् विष्णुस्तपसा महतापि ते ॥४८॥
सृष्टिं कुरु तदाज्ञप्तो यदि द्रष्टुमिहेच्छसि ।
शुद्धस्फटिकसंकाशनागपर्यङ्कशायिनम् ॥४९॥
यद्दृष्टं शार्ङ्गिणो रूपं भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ।
प्रतिभानियतं रूपं विमानस्थं महामते ॥५०॥
भज नित्यमनालस्यस्ततो द्रक्ष्यसि माधवम् ।

"ब्रह्मन् ! क्यों व्यर्थ क्लेश उठा रहे हो ? इस समय मेरी बात मानो। बहुत बड़ी तपस्यासे भी तुम्हें भगवान् विष्णुका दर्शन नहीं हो सकेगा। यदि यहाँ शुद्ध स्फटिकमणिके समान श्वेत नाग-शय्यापर शयन करनेवाले भगवान् विष्णुका दर्शन करना चाहते हो तो उनके आज्ञा-नुसार सृष्टि करो। महामते ! तुमने 'शार्ङ्ग' धनुष धारण करनेवाले उन भगवान्‌का, जो अञ्जन-पुञ्जके समान श्याम सुषमासे युक्त तथा स्वभावतः प्रतिभाशाली रूप विमान (शेष-शय्या) पर स्थित देखा है, उसीका आलस्यरहित होकर भजन-ध्यान करो, तब उन माधवको देख सकोगे ॥४८—५०½॥

तयेत्थं चोदितो राजंस्त्यक्त्वा तप्तमनुक्षणम् ॥५१॥
सृष्टवान् लोकभूतानां सृष्टिं सृष्ट्वा स्थितस्य च ।
आविर्बभूव मनसि विश्वकर्मा प्रजापतिः ॥५२॥
अनन्तकृष्णयोस्तेन द्वे रूपे निर्मिते शुभे ।
विमानस्थो यथापूर्वं मया दृष्टो जले नृप ॥५३॥
तथैव तं ततो भक्त्या सम्पूज्याहं हरिं स्थितः ।
तत्प्रसादात्तपः श्रेष्ठं मया ज्ञानमनुत्तमम् ॥५४॥
लब्ध्वा मुक्तिं च पश्यामि अविकारक्रियासुखम् ।

"राजन् ! उस आकाशवाणीद्वारा इस प्रकार प्रेरित हो मैंने निरन्तर की जानेवाली तीव्र तपस्याका अनुष्ठान त्यागकर इस जगत्‌के प्राणियोंकी सृष्टि की। सृष्टि करके स्थित होनेपर मेरे हृदयमें प्रजापति विश्वकर्माका प्राकट्य हुआ। उन्होंने 'अनन्त' नामक शेषनाग और भगवान् विष्णुकी दो चमकीली प्रतिमाएँ बनायीं। नरेश्वर ! मैंने पहले जलके भीतर शेष-शय्यापर जिस रूपमें देख चुका था, उसी रूपमें भगवान् श्रीहरिकी वह प्रतिमा बनायी गयी थी। तब मैं उन श्रीहरिके उस श्रीविग्रहकी भक्तिपूर्वक पूजा करके और उन्हींके प्रसादसे श्रेष्ठ तपरूप परम उत्तम ज्ञान प्राप्त करके विकाररहित नित्यानन्दमय मोक्ष-सुखका अनुभव करने लगा ॥५१—५४½॥

तदहं ते प्रवक्ष्यामि हितं नृपवरेश्वर ॥५५॥
विसृज्यैतत्तपो घोरं पुरीं व्रज निजां नृप ।
प्रजानां पालनं धर्मस्तपश्चैव महीभृताम् ॥५६॥
विमानं प्रेषयिष्यामि सिद्धद्विजगणान्वितम् ।
तत्राराधय देवेशं बाह्यार्थैरखिलैः शुभैः ॥५७॥
नारायणमनन्ताख्ये शयानं क्रतुभिर्यजन् ।
निष्कामो नृपशार्दूल प्रजा धर्मेण पालय ॥५८॥
प्रसादाद्वासुदेवस्य मुक्तिस्ते भविता नृप ।
इत्युक्त्वा तं जगामाथ ब्रह्मलोकं पितामहः ॥५९॥

"राजराजेश्वर ! इस समय मैं तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ, सुनो—राजन् ! इस घोर तपस्याको छोड़कर अब अपनी पुरीको लौट जाओ। प्रजाओंका पालन करना ही राजाओंका धर्म तथा तप है। मैं सिद्धों और ब्राह्मणोंसहित उस विमानको, जिसपर भगवान्‌की प्रतिमा है, तुम्हारे पास भेजूँगा। उसीमें तुम सुन्दर बाह्य उपचारोंद्वारा उन देवेश्वरकी आराधना करो। नृपश्रेष्ठ ! तुम यज्ञोंद्वारा 'अनन्त' नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले भगवान् नारायणका निष्कामभावसे यज्ञोंद्वारा आराधन करते हुए धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। नृप ! भगवान् वासुदेवकी कृपासे अवश्य ही तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।" राजासे यों कहकर लोक-पितामह ब्रह्माजी अपने धामको चले गये ॥ ५५—५९ ॥

इक्ष्वाकुश्चिन्तयन्नास्ते पद्मयोनिवचो द्विज ।
आविर्बभूव पुरतो विमानं तन्महीभृतः ॥६०॥
ब्रह्मदत्तं द्विजयुतं माधवानन्तयोः शुभम् ।
तं दृष्ट्वा परया भक्त्या नत्वा च पुरुषोत्तमम् ॥६१॥

ऋषीन् प्रणम्य विप्रांश्च तदादाय ययौ पुरीम्।
पौरैर्जनैश्च नारीभिर्हृष्टैः शोभासमन्वितैः ॥६२॥
लाजा विनिक्षिपद्भिश्च नीतो राजा स्वकं गृहम्।
स्वमन्दिरे विशाले तु विमानं वैष्णवं शुभम् ॥६३॥
संस्थाप्याराधयामास तैर्द्विजैरर्चितं हरिम्।
महिष्यः शोभना यास्तु पिष्ट्वा तु हरिचन्दनम् ॥६४॥
मालां कृत्वा सुगन्धाढ्यां प्रीतिस्तस्य ववर्ध ह।
पौराः कर्पूरश्रीखण्डं कुङ्कुमाद्यगुरुं तथा ॥६५॥
कृतरनं विशेषतो वस्त्रं महिषाख्यं च गुग्गुलम्।
पुष्पाणि विष्णुयोग्यानि ददुरानीय भूपतेः ॥६६॥

द्विज! ब्रह्माजीके चले जानेपर राजा इक्ष्वाकु उनकी बातोंपर विचार ही कर रहे थे, तबतक उनके समक्ष वह विष्णु और अनन्तकी प्रतिमाओंका शुभ विमान, जिसे ब्रह्माजीने दिया था, सिद्ध ब्राह्मणोंसहित प्रकट हो गया। उन भगवान् पुरुषोत्तमका दर्शन करके उन्होंने बड़ी भक्तिके साथ उन्हें प्रणाम किया तथा साथमें आये हुए ऋषियों एवं ब्राह्मणोंको भी नमस्कार करके वे उस विमानको लेकर अपनी पुरीको गये। वहाँ नगरके सभी शोभायमान स्त्री-पुरुषोंने राजाका दर्शन किया और लावा छींटते हुए वे उन्हें राजभवनमें ले गये। राजाने अपने विशाल मन्दिरमें उस सुन्दर वैष्णव-विमानको स्थापित किया और साथ आये हुए उन ब्राह्मणों-द्वारा पूजित भगवान् विष्णुकी वे आराधना करने लगे। उनकी सुन्दरी रानियाँ चन्दन घिसकर और सुगन्धित फूलोंका हार गूँथकर अर्पण करती थीं, इससे राजाको बड़ी प्रसन्नता होती थी। इसी प्रकार नगर-निवासी जन कपूर, श्रीखण्ड, कुङ्कुम, अगुरु आदि सभी उपचार और विशेषतः वस्त्र, गुग्गुल तथा श्रीविष्णुके योग्य पुष्प ला-लाकर राजाको अर्पित करते थे ॥ ६०—६६ ॥

विमानस्थं हरिं पूज्य गन्धपुष्पादिभिः क्रमात्।
त्रिसंध्यं परया भक्त्या जपैः स्तोत्रैश्च वैष्णवैः ॥६७॥
गीतैः कोलाहलैः शब्दैः शङ्खवादित्रनादितैः।
प्रेक्षणैरपि शास्त्रोक्तैः प्रीतैश्च निशि जागरैः ॥६८॥
कारयामास सुचिरमुत्सवं परमं हरेः।
यागैश्च तोषयित्वा तं सर्वदेवमयं हरिम् ॥६९॥
निष्कामो दानधर्मैश्च परं ज्ञानमवाप्तवान्।
यजन् यज्ञं महीं रक्षन् स कुर्वन् केशवार्चनम् ॥७०॥
उत्पाद्य पुत्रान् पित्रर्थं ध्यानात्त्यक्त्वा कलेवरम्।
ध्यायन् वै केवलं ब्रह्म प्राप्तवान् वैष्णवं पदम् ॥७१॥
अजं विशोकं विमलं विशुद्धं
शान्तं सदानन्दचिदात्मकं ततः।
विहाय संसारमनन्तदुःखं
जगाम तद्विष्णुपदं हि राजा ॥७२॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे इक्ष्वाकुचरिते
पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

राजा तीनों संध्याओंमें विमानपर विराजमान भगवान् श्रीहरिकी क्रमशः गन्ध-पुष्प आदि उपचारोंद्वारा बड़ी भक्तिसे पूजा करते थे। श्रीविष्णुके नामोंका जप, उनके स्तोत्रोंका पाठ, उनके गुणोंका गान और शङ्ख आदि वाद्योंका शब्द करते-कराते थे। शास्त्रोक्त विधिसे प्रेमपूर्वक सजायी हुई भगवान्‌की झाँकियों तथा रात्रिमें जागरण आदिके द्वारा वे सदा ही देर-तक भगवत्सम्बन्धी उत्सव कराया करते थे। निष्कामभावसे किये गये यज्ञ, दान तथा धर्माचरणोंद्वारा उन सर्वदेवमय भगवान् विष्णुको संतुष्ट करके राजाने परम उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया। यज्ञोंका अनुष्ठान, पृथ्वीका पालन और भगवान् केशवका पूजन करते हुए राजाने पितृगणोंकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध आदि कर्म करनेके लिये पुत्रोंको उत्पन्न किया और केवल ब्रह्मका चिन्तन करते हुए ध्यानके द्वारा ही शरीरका त्यागकर भगवान् विष्णुके धामको प्राप्त कर लिया। इस प्रकार राजा इक्ष्वाकु अनन्त दुःखोंसे पूर्ण संसारका त्याग करके अज, अशोक, अमल, विशुद्ध, शान्त एवं सच्चिदानन्द-मय विष्णुपदको प्राप्त हो गये ॥ ६७—७२ ॥

इस तरह श्रीनरसिंहपुराणके अन्तर्गत 'इक्ष्वाकुचरित्र' विषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ अध्याय

इक्ष्वाकुकी संततिका वर्णन

श्रीसूत उवाच

इक्ष्वाकोर्विकुक्षिनामपुत्रः । स तु सिद्धे पितरि महर्षिभिरभिषिक्तो धर्मेण पृथिवीं पालयन् विमानस्थमनन्तभोगशायिनमच्युतमाराध्य यागैरपि देवानिष्ट्वा स्वपुत्रं राज्ये सुबाहुमभिषिच्य दिवमारुरोह । सुबाहोश्चोजमानादुद्योतोऽभिगीयते । स तु सप्तद्वीपां पृथ्वीं धर्मेण पालयित्वा भक्तिं परां नारायणे पितामहवत् कृत्वा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैर्यज्ञेश्वरं निष्कामेन मनसेष्ट्वा नित्यं निरञ्जनं निर्विकल्पं परं ज्योतिरमृताक्षरं परमात्मरूपं ध्यात्वा हरिमनन्तं च परमाराध्य स्वर्गलोकं गतः ॥ १ ॥

श्रीसूतजी बोले—इक्ष्वाकुके ज्येष्ठ पुत्रका नाम था विकुक्षि। वह अपने पिताके मुक्त हो जानेपर महर्षियोंद्वारा राजपदपर अभिषिक्त हुआ और धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगा। राजा विकुक्षिने विमानपर विराजमान शेषशायी भगवान् विष्णुकी आराधना करते हुए अनेक यज्ञोंद्वारा देवताओंका भी यजन किया। अन्तमें वे अपने पुत्र सुबाहुको राज्यपर अभिषिक्तकर स्वयं स्वर्गगामी हो गये। अब तेजस्वी राजा सुबाहुके पुत्र उद्योतका यशोगान किया जाता है। उद्योतने सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया। उन्होंने अपने पितामह राजा इक्ष्वाकुकी ही भाँति भगवान् नारायणमें पराभक्ति करके प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा यज्ञपति विष्णुका निष्कामभावसे यजन किया तथा नित्य, निरञ्जन, निर्विकल्प, अमृत, अक्षर, परम, ज्योतिर्मय परमात्मरूपका चिन्तन करते हुए श्रीविष्णु और अनन्तकी आराधना करके वे परमधामको प्राप्त हुए ॥ १ ॥

तस्य युवनाश्वो युवनाश्वस्य च मांधाता पुत्रोऽभवत्। स चाभिषिक्तो महर्षिभिर्निसर्गादेव विष्णुभक्तोऽनन्तशयनमच्युतं भक्त्याऽऽराधयन् यागैश्च विविधैरिष्ट्वा सप्तद्वीपवतीं पृथिवीं परिपाल्य दिवं गतः ॥ २ ॥ यस्यैष श्लोको गीयते।

उनके पुत्र युवनाश्व हुए, युवनाश्वके पुत्र मांधाता। मांधाता स्वभावसे ही भगवान् विष्णुके भक्त थे। महर्षियोंने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया, तब शेषशायी भगवान् विष्णुकी भक्तिपूर्वक आराधना तथा विविध यज्ञोंद्वारा यजन करते हुए उन्होंने सातों द्वीपोंसे युक्त पृथ्वीका पालन किया और अन्तमें उनका वैकुण्ठवास हुआ ॥ २ ॥

मांधाताके ही विषयमें यह श्लोक अबतक गाया जाता है—

यावत्सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मांधातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ३ ॥

'जहाँसे सूर्य उदय होता और जहाँतक जाकर अस्त होता है, वह सब युवनाश्वके पुत्र मांधाताका ही क्षेत्र कहलाता है' ॥ ३ ॥

तस्य पुरुकुत्स्योऽभवद् येन देवा ब्राह्मणाश्च यागदानैः संतुष्टाः ॥ ४ ॥ पुरुकुत्स्याद् दृषदो दृषदादभिशम्भुः । अभिशम्भोर्दारुणो दारुणात्सगरः ॥ ५ ॥ सगराद्धर्यश्वो हर्यश्वाद्धारीतो हारीताद्रोहिताश्वः । रोहिताश्वादंशुमान् ॥ ६ ॥ अंशुमतो भगीरथः । येन महता तपसा पुरा दिवो गङ्गा अशेषकल्मषनाशिनी चतुर्विधपुरुषार्थदायिनी भुवमानीता । अस्थिशर्कराभूताः कपिलमहर्षिनिर्दग्धाश्च गुरवः सगराख्या गङ्गातोयसंस्पृष्टा दिवमारोपिताः । भगीरथात् सौदासः सौदासात् सत्रसवः ॥ ७ ॥ सत्रसवादनरण्योऽनरण्याद्दीर्घबाहुः ॥ ८ ॥ दीर्घबाहोरजोऽजाद्दशरथः । तस्य गृहे रावणविनाशार्थं साक्षान्नारायणोऽवतीर्णो रामः ॥ ९ ॥

मांधाताका पुत्र पुरुकुत्स्य (या पुरुकुत्स) हुआ, जिसने यज्ञ और दानके द्वारा देवताओं तथा ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया था। पुरुकुत्स्यसे दृषद और दृषदसे अभिशम्भु हुआ। अभिशम्भुसे दारुण और दारुणसे सगरका जन्म हुआ। सगरसे हर्यश्व, हर्यश्वसे हारीत, हारीतसे रोहिताश्व,

रोहिताश्वसे अंशुमान् और अंशुमान्से भगीरथ हुए, जो पूर्वकालमें बहुत बड़ी तपस्या करके समस्त पापोंका नाश करनेवाली और चारों पुरुषार्थोंको देनेवाली गङ्गाको आकाशसे पृथ्वीपर ले आये। उन्होंने गङ्गाजलके स्पर्शसे अपने 'सागर' संज्ञक पितरोंको, जो महर्षि कपिलके शापसे दग्ध होकर अस्थि-भस्समात्र शेष रह गये थे, स्वर्गलोकको पहुँचा दिया। भगीरथसे सौदास और सौदाससे सत्रसवका जन्म हुआ। सत्रसवसे अनरण्य और अनरण्यसे दीर्घबाहु हुआ। दीर्घबाहुसे अज तथा अजसे दशरथ हुए। इनके घरमें साक्षात् भगवान् नारायण रावणका नाश करनेके लिये 'राम' रूपमें अवतीर्ण हुए थे॥ ४—९॥

स तु पितृवचनाद् भ्रातृभार्यासहितो दण्डकारण्यं प्राप्य तपश्चचार। वने रावणापहृतभार्यो भ्रात्रा सह दुःखितोऽनेककोटिवानरनायकसुग्रीवसहायो महोदधौ सेतुं निबध्य तैर्गत्वा लङ्कां रावणं देवकण्टकं सबान्धवं हत्वा सीतामादाय पुनरयोध्यां प्राप्य भरताभिषिक्तो विभीषणाय लङ्काराज्यं विमानं वा दत्त्वा तं प्रेषयामास। स तु परमेश्वरो विमानस्थो विभीषणेन नीयमानो लङ्कायामपि राक्षसपुर्यां वस्तुमनिच्छन् पुण्यारण्यं तत्र स्थापितवान्॥ १०॥ तन्निरीक्ष्य तत्रैव महाहिभोगशयने भगवान् शेते। सोऽपि विभीषणस्ततस्तद्विमानं नेतुमसमर्थः, तद्वचनात् स्वां पुरीं जगाम॥ ११॥

राम अपने पिताके कहनेसे छोटे भाई लक्ष्मण तथा पत्नीसहित दण्डकारण्यमें जाकर तपस्या करने लगे। उस वनमें रावणने इनकी पत्नी सीताका अपहरण कर लिया। इससे दुखी होकर वे अपने भाई लक्ष्मणको साथ लेकर अनेक करोड़ वानर-सेनाके अधिपति सुग्रीवको सहायक बनाकर चले और महासागरमें पुल बाँधकर उन सबके साथ लङ्कामें जा पहुँचे। वहाँ देवताओंके मार्गका काँटा बने हुए रावणको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर सीताको साथ ले पुनः अयोध्यामें लौट आये। अयोध्यामें भरतजीने उनका 'राजा'के पदपर अभिषेक किया। श्रीरामने विभीषणको लङ्काका राज्य तथा [विष्णुप्रतिमायुक्त] विमान देकर अयोध्यासे विदा किया। विमानपर विराजमान परमेश्वर विष्णु विभीषणद्वारा ले जाये जानेपर भी राक्षसपुरी लङ्कामें निवास करना नहीं चाहते थे, अतः विभीषणने वहाँ जिस पवित्र वनकी स्थापना की थी, उसको देखकर वे उसीमें स्थित हो गये। वहाँ महान् सर्प-शरीरकी शय्यापर भगवान् शयन करते हैं। विभीषण भी जब वहाँसे उस विमानको ले जानेमें असमर्थ हो गये, तब भगवान्के ही कहनेसे वे उन्हें वहीं छोड़ अपनी पुरी लङ्काको चले गये॥ १०-११॥

नारायणसंनिधानान्महद्वैष्णवं क्षेत्रमभवदद्यापि दृश्यते। रामाल्लवो लवात्पद्मः पद्मादृतुपर्ण ऋतुपर्णादस्त्रपाणिः। अस्त्रपाणेः शुद्धोदनः शुद्धोदनाद्बुधः। बुधाद्वंशो निवर्तते॥ १२॥

भगवान् नारायणकी उपस्थितिसे वह स्थान महान् वैष्णवतीर्थ हो गया, जो आज भी श्रीरङ्गक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध देखा जाता है। रामसे लव, लवसे पद्म, पद्मसे ऋतुपर्ण, ऋतुपर्णसे अस्त्रपाणि, अस्त्रपाणिसे शुद्धोदन और शुद्धोदनसे बुध (बुद्ध) की उत्पत्ति हुई; बुधसे इस वंशकी समाप्ति हो जाती है॥ १२॥

एते महीपा रविवंशजास्तव
प्राधान्यतस्ते कथिता महाबलाः।
पुरातनैर्यैर्वसुधा प्रपालिता
यज्ञक्रियाभिश्च दिवौकसैर्नृपैः॥ १३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सूर्यवंशानुचरितं नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

मैंने यहाँ आपके समक्ष पूर्ववर्ती उन प्रधान-प्रधान महाबली सूर्यवंशी राजाओंका नामोल्लेख किया है, जिन्होंने धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन और यज्ञ-क्रियाओंद्वारा देवताओंका भी पोषण किया था॥ १३॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'सूर्यवंशका अनुचरित' नामक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६॥



सत्ताईसवाँ अध्याय

चन्द्रवंशका वर्णन

सूत उवाच

अथ सोमवंशोद्भवानां भूभुजां संक्षेपेण चरितमुच्यते ॥ १ ॥ आदौ तावत् समस्तं त्रैलोक्यं कुक्षौ कृत्वा एकार्णवे महाम्भसि नागभोगशयने ॥ २ ॥ ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयोऽथर्वमयो भगवान्नारायणो योगनिद्रां समारेभे। तस्य सुप्तस्य नाभौ महापद्ममजायत। तस्मिन् पद्मे चतुर्मुखो ब्रह्माभवत् ॥ ३ ॥ तस्य ब्रह्मणो मानसः पुत्रोऽत्रिरभवत्। अत्रेरनसूयायां सोमः। स तु प्रजापतेर्दक्षस्य त्रयस्त्रिंशत्कन्या रोहिण्याद्या भार्यार्थं गृहीत्वा प्रियायां ज्येष्ठायां विशेषात् प्रसन्नमनाः रोहिण्यां बुधं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ४ ॥ बुधोऽपि सर्वशास्त्रज्ञः प्रतिष्ठाने पुरेऽवसत्। इलायां पुरूरवसं पुत्रमुत्पादयामास। तस्यातिशयरूपान्वितस्य स्वर्गभोगान् विहाय उर्वशी बहुकालं भार्या बभूव ॥ ५ ॥ पुरूरवसः उर्वश्यामायुः पुत्रो जज्ञे। स तु राज्यं धर्मतः कृत्वा दिवमारुरोह ॥ ६ ॥ आयो रूपवत्यां नहुषः पुत्रोऽभवत्। येनेन्द्रत्वं प्राप्तम्। नहुषस्यापि पितृमत्यां ययातिः ॥ ७ ॥ यस्य वंशजा वृष्णयः। ययातेः शर्मिष्ठायां पूरुरभवत् ॥ ८ ॥ पूरोर्वंशदायां संयातिः पुत्रोऽभवत्। यस्य पृथिव्यां सम्पन्नाः सर्वे कामाः ॥ ९ ॥

सूतजी बोले—अब संक्षेपसे चन्द्रवंशी राजाओंके चरित्रका वर्णन किया जाता है। कल्पके आदिकी बात है, ऋक्, यजुष्, साम और अथर्ववेदस्वरूप भगवान् नारायण समस्त त्रिभुवनको अपने उदरमें लीन करके एकार्णवकी अगाध जलराशिमें शेषनागकी शय्यापर योगनिद्राका आश्रय ले सो रहे थे। सोये हुए उन भगवान्‌की नाभिसे एक महान् कमल प्रकट हुआ। उस कमलमें चतुर्मुख ब्रह्माका आविर्भाव हुआ। उन ब्रह्माजीके मानसपुत्र अत्रि हुए। अत्रिसे अनसूयाके गर्भसे चन्द्रमाका जन्म हुआ। उन्होंने दक्ष प्रजापतिकी रोहिणी आदि तैंतीस कन्याओंको पत्नी बनानेके लिये ग्रहण किया और ज्येष्ठ भार्या रोहिणीसे उसके प्रति अधिक प्रसन्न रहनेके कारण, 'बुध' नामक पुत्र उत्पन्न किया। बुध भी समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता होकर प्रतिष्ठानपुरमें निवास करने लगे। उन्होंने इलाके गर्भसे पुरूरवा नामक पुत्रको जन्म दिया। पुरूरवा बहुत ही सुन्दर थे, अतः उर्वशी नामक अप्सरा बहुत कालतक स्वर्गके भोगोंको त्यागकर इनकी भार्या बनी रही। पुरूरवाद्वारा उर्वशीके गर्भसे आयु नामक पुत्रका जन्म हुआ। वह धर्मपूर्वक राज्य करके अन्तमें स्वर्गलोकको चला गया। आयुके रूपवतीसे नहुष नामक पुत्र हुआ, जिसने इन्द्रत्व प्राप्त किया था। नहुषके भी पितृमतीके गर्भसे ययाति हुए, जिनके वंशज वृष्णि कहलाते हैं। ययातिके शर्मिष्ठाके गर्भसे पूरु हुए। पूरुके वंशदासे संयाति नामक पुत्र हुआ, जिसको इस पृथ्वीपर सभी तरहके मनोवाञ्छित भोग प्राप्त थे ॥ १—९ ॥

संयातेर्भानुदत्तायां सार्वभौमः। स तु सर्वां पृथिवीं धर्मेण परिपालयन्नरसिंहं भगवन्तमाराध्य यागदानैः सिद्धिमाप ॥ १० ॥ तस्य सार्वभौमस्य वैदेह्यां भोजः। यस्य वंशे पुरा देवासुरसंग्रामे विष्णुचक्रहतः कालनेमिः कंसो भूत्वा वृष्णिवंशजेन वासुदेवेन घातितो निधनं गतः ॥ ११ ॥

संयातिसे भानुदत्ताके गर्भसे सार्वभौम नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करते हुए यज्ञ-दान आदिके द्वारा भगवान् नृसिंहकी आराधना करके सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त कर ली। उपर्युक्तसार्वभौमसे वैदेहीके गर्भसे भोज उत्पन्न हुआ, जिसके वंशमें कालनेमि नामक राक्षस, जो पहले देवासुर-संग्राममें भगवान् विष्णुके चक्रसे मारा गया था, कंसके रूपमें उत्पन्न हुआ और वृष्णिवंशी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ १०-११ ॥

तस्य भोजस्य कलिङ्गायां दुष्यन्तः। स तु नरसिंहं भगवन्तमाराध्य तत्प्रसादान्निष्कण्टकं राज्यं धर्मेण कृत्वा दिवं प्राप्तवान्। दुष्यन्तस्य

शकुन्तलायां भरतः। स तु धर्मेण राज्यं कुर्वन् क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः सर्वदेवतामयं भगवन्तमाराध्य निवृत्ताधिकारो ब्रह्मध्यानपरो वैष्णवे परे ज्योतिषि लयमवाप ॥ १२ ॥

भोजकी पत्नी कलिङ्गासे दुष्यन्तका जन्म हुआ। वह भगवान् नृसिंहकी आराधना करके उनकी प्रसन्नतासे धर्मपूर्वक निष्कण्टक राज्य भोगकर जीवनके अन्तमें स्वर्गको प्राप्त हुआ। दुष्यन्तको शकुन्तलाके गर्भसे भरत नामक पुत्र प्राप्त हुआ। वह धर्मपूर्वक राज्य करता हुआ प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंसे सर्वदेवमय भगवान् विष्णुकी आराधना करके कर्माधिकारसे निवृत्त एवं ब्रह्मध्यानपरायण हो परम ज्योतिर्मय वैष्णवधाममें लीन हो गया॥ १२ ॥

भरतस्य आनन्दायामजमीढः। स च परमवैष्णवो नरसिंहमाराध्य जातपुत्रो धर्मेण कृतराज्यो विष्णुपुरमारुरोह ॥ १३ ॥ अजमीढस्य सुदेव्यां वृष्णिः पुत्रोऽभवत्। सोऽपि बहुवर्षं धर्मेण राज्यं कुर्वन् दुष्टनिग्रहं शिष्टपरिपालनं सप्तद्वीपां वशे चक्रे। वृष्णेरुग्रसेनायां प्रत्यङ्गः पुत्रो बभूव ॥ १४ ॥ सोऽपि धर्मेण मेदिनीं पालयन् प्रतिसंवत्सरं ज्योतिष्टोमं चकार। निर्वाणमपि लब्धवान्। प्रत्यङ्गस्य बहुरूपायां शांतनुः ॥ १५ ॥ तस्य देवदत्तस्यन्दनारोहणमशक्यं बभूव पुरतः शक्यं च ॥ १६ ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सोमवंशवर्णनं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

भरतके उसकी पत्नी आनन्दाके गर्भसे अजमीढ नामक पुत्र हुआ। वह परम वैष्णव था। राजा अजमीढ भगवान् नृसिंहकी आराधनासे पुत्रवान् होकर धर्मपूर्वक राज्य करनेके पश्चात् श्रीविष्णुधामको प्राप्त हुए। अजमीढके सुदेवीके गर्भसे वृष्णि नामक पुत्र हुआ। वह भी बहुत वर्षोंतक धर्मपूर्वक राज्य करता रहा। दुष्टोंका दमन और सज्जनोंका पालन करते हुए उसने सातों द्वीपोंसे युक्त पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया था। वृष्णिके उग्रसेनाके गर्भसे प्रत्यङ्ग नामक पुत्र हुआ। वह भी धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करता था। उसने प्रतिवर्ष ज्योतिष्टोमयागका अनुष्ठान करते हुए आयुका अन्त होनेपर निर्वाणपद (मोक्ष) प्राप्त कर लिया। प्रत्यङ्गको बहुरूपाके गर्भसे शांतनु नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिनमें देवताओंके दिये हुए रथपर चढ़नेकी पहले शक्ति नहीं थी, परंतु पीछे उसपर चढ़नेकी शक्ति हो गयी॥ १३—१६॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'सोमवंशवर्णन' नामक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय

शांतनुका चरित्र

भरद्वाज उवाच

स्यन्दनारोहणे पूर्वमशक्तिः शांतनोः कथम्।
पश्चाच्छक्तिः कथं चासीत् तस्य वै तद्वदस्व नः॥ १ ॥

भरद्वाजजीने पूछा—शांतनुको पहले देवताओंके रथपर चढ़नेकी शक्ति क्यों नहीं थी ? और फिर उनमें वह शक्ति कैसे आ गयी ? इसे आप हमें बतलायें ॥ १ ॥

सूत उवाच

भरद्वाज शृणुष्वैतत् पुरावृत्तं वदामि ते।
सर्वपापहरं तद्धि चरितं शांतनोर्नृणाम् ॥ २ ॥
बभूव शांतनुर्भक्तो नरसिंहतनौ पुरा।
नारदोक्तविधानेन पूजयामास माधवम् ॥ ३ ॥
नरसिंहस्य देवस्य निर्माल्यं तेन लङ्घितम्।
राज्ञा शांतनुना विप्र तस्मात् स्यन्दनमुत्तमम् ॥ ४ ॥
देवदत्तं तदारोढुमशक्तस्तत्क्षणादभूत्।
किमियं मे गतिर्भग्ना सहसा वै रथात्ततः ॥ ५ ॥
दुःखं चिन्तयतस्तस्य सम्प्राप्तो नारदः किल।
किं विषण्णः स्थितो राजन्निति पृष्टः स शांतनुः ॥

सूतजी बोले—भरद्वाजजी ! यह पुराना इतिहास

है; इसे मैं कहता हूँ, सुनिये । शांतनुका चरित्र मनुष्योंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । शांतनु पूर्वकालमें नृसिंह-रूपधारी भगवान् विष्णुके भक्त थे और नारदजीकी बतायी हुई विधिसे भगवान् लक्ष्मीपतिकी सदा पूजा किया करते थे । विप्रवर ! एक बार राजा शांतनु भूलसे श्रीनृसिंह-देवके निर्माल्यको लाँघ गये, अतः वे उसी क्षण देवताओंके दिये हुए उत्तम रथपर चढ़नेमें असमर्थ हो गये । तब वे सोचने लगे—'यह क्या बात है ? इस रथपर चढ़नेमें हमारी गति सहसा कुण्ठित क्यों हो गयी ?' कहते हैं, इस प्रकार दुखी होकर सोचते हुए उन राजाके पास नारदजी आये और उन्होंने राजा शांतनुसे पूछा—''राजन् ! तुम क्यों विषादमें डूबे हुए हो ?' ॥ २-६ ॥

नारदैतन्न जानामि गतिभङ्गस्य कारणम् ।
इत्युक्तो नारदो ध्यात्वा ज्ञात्वा तत्कारणं ततः॥ ७ ॥
शांतनुं प्राह राजानं विनयेन यतः स्थितः ।
यत्र क्वापि त्वया राजन्नरसिंहस्य वै ध्रुवम् ॥ ८ ॥
निर्माल्यो लङ्घितस्तस्माद्रथारोहणकर्मणि ।
गतिर्भग्ना महाराज श्रूयतामत्र कारणम् ॥ ९ ॥

(राजाने कहा—) 'नारदजी ! मेरी गति कुण्ठित कैसे हुई, इसका कारण मुझे ज्ञात नहीं हो रहा है, इसीसे मैं चिन्तित हूँ ।' उनके यों कहनेपर नारदजीने ध्यान लगाया और उसका कारण जानकर राजा शांतनुसे, जो विनीतभावसे वहाँ खड़े थे, कहा—''राजन् ! अवश्य ही तुमने कहीं-न-कहीं भगवान् नृसिंहके निर्माल्यका लङ्घन किया है । इसीसे रथपर चढ़नेमें तुम्हारी गति अवरुद्ध हो गयी है । महाराज ! इसका कारण सुनो ॥ ७-९ ॥

अन्तर्वेद्यां पुरा राजन्नासीत्कश्चिन्महामतिः ।
मालाकारो रविर्नाम्ना तेन वृन्दावनं कृतम् ॥१०॥
विविधानि च पुष्पार्थं वनानि सुकृतानि वै ।
मल्लिकामालतीजातिबकुलादीनि सर्वशः ॥११॥
प्राकारमुच्छ्रितं तस्य स्वभूमौ चापि विस्तृतम् ।
अलङ्घ्यमप्रवेश्यं च कृत्वा चक्रे स्वकं गृहम् ॥१२॥
गृहं प्रविश्य तद्द्वारं भवेन्नान्यत्र सत्तम ।

''राजन् ! पूर्वकालकी बात है, अन्तर्वेदीमें कोई बड़ा बुद्धिमान् माली रहता था । उसका नाम था रवि । उसने तुलसीका बगीचा लगाया था और उसका नाम 'वृन्दावन' रख दिया था । उसमें फूलोंके लिये सब ओर मल्लिका, मालती, जाती तथा बकुल (मौलसिरी) आदि नाना प्रकारके वृक्षोंके बाग सुंदर ढंगसे लगाये थे । उस वनकी चहारदीवारी बहुत ऊँची और चौड़ी बनवाकर, उसे अलङ्घनीय और दुर्गम करके भीतरकी भूमिपर उसने अपने रहनेके लिये घर बनाया था । साधुशिरोमणे ! उसने ऐसा प्रबन्ध किया था कि घरमें प्रवेश करनेके बाद ही उस वाटिकाका द्वार प्राप्त हो सकता था, दूसरी ओरसे उसका मार्ग नहीं था ॥ १०-१२½ ॥

एवं कृत्वा नु वसतो मालाकारस्य धीमतः ॥१३॥
पुष्पितं तद्वनं त्वासीद् गन्धामोदितदिङ्मुखम् ।
भार्यया सह पुष्पाणि समाहृत्य दिने दिने ॥१४॥
कृत्वा मालां यथान्यायं नरसिंहस्य नित्यशः ।
ददौ काश्चिद् द्विजेभ्यश्च काश्चिद्विक्रीय पोषणम्॥१५॥
चक्रे समात्प्रजीवी च भार्यादेरात्मनस्तथा ।

''ऐसी व्यवस्था करके निवास करते हुए उस मालीका वह वृन्दावन फूलोंसे भरा रहता था और उसकी सुगन्धसे सारी दिशाएँ सुवासित होती रहती थीं । वह प्रतिदिन अपनी पत्नीके साथ फूलोंका संग्रह करके यथोचित मालाएँ तैयार करता था । उनमेंसे कुछ मालाएँ तो वह भगवान् नृसिंहको अर्पण कर देता था, कुछ ब्राह्मणोंको दे डालता था और कुछको बेचकर उससे अपना तथा पत्नी आदिका पालन-पोषण करता था । मालासे जो कुछ प्राप्त होता, उसीके द्वारा वह अपनी जीविका चलाता था ॥ १३-१५½ ॥

अथ स्वर्गादुपागम्य इन्द्रपुत्रो रथेन वै ॥१६॥
अप्सरोगणसंयुक्तो निशि पुष्पाणि संहरेत् ।
तद्गन्धलिप्सुः सर्वाणि विचित्याहृत्य गच्छति॥१७॥
दिने दिने हृते पुष्पे मालाकारोऽप्यचिन्तयत् ।
नान्यद् द्वारं वनस्यास्यालङ्घ्यप्राकारमुन्नतम् ॥१८॥
समस्तपुष्पजातस्य हरणे निशि वै नृणाम् ।
अहं शक्तिं न पश्यामि किमिदं नु परीक्षये ॥१९॥
इति संचिन्त्य मेधावी जाग्रद्रात्रौ वने स्थितः ।
तथैवागत्य पुष्पाणि संगृहीत्वा गतः पुमान्॥२०॥

"कुछ कालके बाद वहाँ इन्द्रका पुत्र जयन्त प्रतिदिन रातमें स्वर्गसे अप्सराओंके साथ रथपर चढ़कर आने और फूलोंकी चोरी करने लगा। उस वनके पुष्पोंकी सुगन्धके लोभसे वह सारे फूल तोड़ लेता और लेकर चल देता था। जब प्रतिदिन फूलोंकी चोरी होने लगी, तब मालीको बड़ी चिन्ता हुई। उसने मन-ही-मन सोचा—'इस वनका कोई दूसरा द्वार तो है नहीं। चहारदीवारी भी इतनी ऊँची है कि वह लाँघी नहीं जा सकती। मनुष्योंकी ऐसी शक्ति मैं नहीं देखता कि इसे लाँघकर वे सारे फूल चुरा ले जानेमें समर्थ हों। फिर इन फूलोंके लुप्त होनेका क्या कारण है, आज अवश्य ही इसका पता लगाऊँगा।' यह सोचकर वह बुद्धिमान् माली उस रातमें जागता हुआ बगीचेमें ही बैठा रहा। अन्य दिनोंकी भाँति उस दिन भी वह पुरुष आया और फूल लेकर चला गया ॥ १६–२० ॥

तं दृष्ट्वा दुःखितोऽतीव माल्यजीवी वनेऽभवत् ।
ततो निद्रां गतः स्वप्ने दृष्टवांस्तं नृकेसरिम् ॥२१॥
तद्वाक्यं श्रुतवांश्चैवं निर्माल्यं मम पुत्रक ।
आनीय क्षिप्यतां क्षिप्रं पुष्पारामसमीपतः ॥२२॥
इन्द्रपुत्रस्य दुष्टस्य नान्यदस्ति निवारणम् ।

"उसे देखकर मालाओंसे ही जीविका चलानेवाला वह माली उस उपवनमें बहुत ही दुखी हुआ। तदनन्तर रातको नींद आनेपर उसने स्वप्नमें साक्षात् भगवान् नृसिंहको देखा तथा उन नृसिंहदेवका यह वचन भी सुना—'पुत्र! तुम शीघ्र ही फूलोंके बगीचेके समीप मेरा निर्माल्य लाकर छींट दो। उस दुष्ट इन्द्रपुत्रको रोकनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है'॥ २१-२२½ ॥

इति श्रुत्वा हरेर्वाक्यं नरसिंहस्य धीमतः ॥२३॥
बुद्ध्वाऽऽनीय तु निर्माल्यं तथा चक्रे यथोदितम् ।
सोऽप्यागत्य यथापूर्वं रथेनालक्षितेन तु ॥२४॥
रथादुत्तीर्य पुष्पाणि विचिन्वंस्तद्भुविस्थितम् ।
निर्माल्यं लङ्घयामास इन्द्रसूनुरनिष्टकृत् ॥२५॥
ततस्तस्य न शक्तिः स्याद्रथारोहणकर्मणि ।
उक्तः सारथिना चैव रथस्यारोहणे तव ॥२६॥
नरसिंहस्य निर्माल्यलङ्घने नास्ति योग्यता ।
गच्छामि दिवमेवाहं त्वं भूम्यां वस माऽऽरुह ॥२७॥

"बुद्धिमान् भगवान् नृसिंहका यह वचन सुनकर माली जाग उठा और उसने निर्माल्य लाकर उनके कथनानुसार वहाँ छींट दिया। जयन्त भी पहलेके ही समान अलक्षित रथसे आया और उससे उतरकर फूल तोड़ने लगा। उसी समय अपना अनिष्ट करनेवाला इन्द्रपुत्र वहाँ भूमिपर पड़े हुए निर्माल्यको लाँघ गया। इससे उसमें रथपर चढ़नेकी शक्ति नहीं रह गयी। तब सारथिने उससे कहा—'नृसिंहका निर्माल्य लाँघ जानेके कारण अब तुममें इस रथपर चढ़नेकी योग्यता नहीं रह गयी है। मैं तो स्वर्गलोकको लौटता हूँ, किंतु तुम यहाँ भूतलपर ही रहो; रथपर न चढ़ो'॥२३–२७॥

तेनैवमुक्तो मतिमांस्तमाह हरिनन्दनः ।
पापस्य नोदनं त्वत्र कर्मणा येन मे भवेत् ॥२८॥
तदुक्त्वा गच्छ नाकं त्वं कर्मास्मान् सारथे द्रुतम् ।

"सारथिके इस प्रकार कहनेपर मतिमान् इन्द्रकुमारने उससे कहा—"सारथे! जिस कर्मसे यहाँ मेरे पापका निवारण हो, उसे बताकर तुम शीघ्र स्वर्गलोकको जाओ' ॥ २८½ ॥

सारथिरुवाच

रामसत्रे कुरुक्षेत्रे द्वादशाब्दे तु नित्यशः ॥२९॥
द्विजोच्छिष्टापनयनं कृत्वा त्वं शुद्धिमेष्यसि ।
इत्युक्त्वासौ गतः स्वर्गं सारथिर्देवसेवितम् ॥३०॥

सारथि बोला—'कुरुक्षेत्रमें परशुरामजीका एक यज्ञ हो रहा है, जो बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाला है। उसमें जाकर तुम प्रतिदिन ब्राह्मणोंका जूठा साफ करो; इससे तुम्हारी शुद्धि होगी।' यों कहकर सारथि देवसेवित स्वर्गलोकको चला गया ॥ २९-३० ॥

इन्द्रसूनुः कुरुक्षेत्रं प्राप्तः सारस्वतं तटम् ।
रामसत्रे तथा कुर्याद्द्विजोच्छिष्टस्य मार्जनम् ॥३१॥
पूर्णे द्वादशमे वर्षे तमूचुः शङ्किता द्विजाः ।
कस्त्वं ब्रूहि महाभाग नित्यमुच्छिष्टमार्जकः ॥३२॥
न भुञ्जसे च नः सत्रे शङ्का नो महती भवेत् ।
इत्युक्तः कथयित्वा तु यथावृत्तमनुक्रमात् ॥३३॥
जगाम त्रिदिवं क्षिप्रं रथेन तनयो हरेः ।

"इधर इन्द्रपुत्र जयन्त कुरुक्षेत्रमें सरस्वतीके तटपर आया

और परशुरामजीके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी जूठन साफ करने लगा। जब बारहवाँ वर्ष पूर्ण हुआ, तब ब्राह्मणोंने शङ्कित होकर उससे पूछा—'महाभाग! तुम कौन हो? जो नित्य जूठन साफ करते हुए भी हमारे यज्ञमें भोजन नहीं करते। इससे हमारे मनमें महान् संदेह हो रहा है।' उनके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रकुमार क्रमशः अपना सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बताकर तुरंत रथसे स्वर्गलोकको चला गया॥ ३१—३३½॥

तस्मात्त्वमपि भूपाल ब्राह्मणोच्छिष्टमादरात्॥३४॥
मार्जनं कुरु रामस्य सत्रे द्वादशवार्षिके।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति सर्वपापहरं परम्॥३५॥
एवं कृते देवदत्तस्यन्दनारोहणे गतिः।
भविष्यति महीपाल प्रायश्चित्ते कृते तव॥३६॥
अत ऊर्ध्वं च निर्माल्यं मा लङ्घय महामते।
नरसिंहस्य देवस्य तथान्येषां दिवौकसाम्॥३७॥

"इसलिये, हे भूपाल! तुम भी परशुरामजीके द्वादशवार्षिक यज्ञमें आदरपूर्वक ब्राह्मणोंकी जूठन साफ करो। ब्राह्मणोंसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो पापोंका अपहरण कर सके। महीपाल! इस प्रकार प्रायश्चित्त कर लेनेपर तुम्हें देवताओंके दिये हुए रथपर चढ़नेकी शक्ति प्राप्त हो जायगी। महामते! आजसे तुम भी श्रीनृसिंहदेवका तथा अन्य देवताओंके भी निर्माल्यका उल्लङ्घन न करना"॥ ३४—३७॥

इत्युक्तः शांतनुस्तेन ब्राह्मणोच्छिष्टमार्जनम्।
कृतवान् द्वादशाब्दं तु आरुरोह रथं च तम्॥३८॥
एवं पूर्वमशक्तिः स्याद् रथारोहे महीक्षितः।
पश्चात्तस्यैव विप्रेन्द्र शक्तिरेवमजायत॥३९॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर शांतनुने बारह वर्षोंतक ब्राह्मणोंकी जूठन साफ की। इसके बाद वे शक्ति पाकर उस रथपर चढ़नेमें समर्थ हुए। विप्रवर! इस प्रकार पूर्वकालमें राजाकी उस रथपर चढ़नेकी शक्ति जाती रही और फिर उक्त उपाय करनेसे उनमें पुनः वह शक्ति आ गयी॥ ३८-३९॥

एवं ते कथितो विप्र दोषो निर्माल्यलङ्घने।
पुण्यं तथा द्विजानां तु प्रोक्तमुच्छिष्टमार्जने॥४०॥
भक्त्या द्विजोच्छिष्टमिहापमार्जये-
च्छुचिर्नरो यः सुसमाहितात्मा।
स पापबन्धं प्रविहाय मुक्तो
गवां प्रदानस्य फलं दिवि स्थितः॥४१॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे शांतनुचरितं नामाष्टविंशोऽध्यायः॥ २८॥

ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने निर्माल्य लाँघनेमें जो दोष है, वह बताया तथा ब्राह्मणोंका जूठा साफ करनेमें जो पुण्य है, उसका भी वर्णन किया। जो मनुष्य इस लोकमें पवित्र होकर, अपने चित्तको एकाग्र करके, भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंका जूठा साफ करता है, वह पापबन्धनसे मुक्त हो स्वर्गमें निवास करता और गौओंके दानका फल भोगता है॥ ४०-४१॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'शांतनुचरित्र' नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८॥

उन्तीसवाँ अध्याय

शांतनुकी संततिका वर्णन

श्रीसूत उवाच

शंतनोर्योजनगन्धायां विचित्रवीर्यः। स तु हस्तिनापुरे स्थित्वा प्रजाः स्वधर्मेण पालयन् देवांश्च यागैः पितॄंश्च श्राद्धैः संतर्प्य संजातपुत्रो दिवमारुरोह॥ १॥ विचित्रवीर्यस्याम्बालिकायां पाण्डुः पुत्रो जज्ञे। सोऽपि राज्यं धर्मतः कृत्वा मुनिशापाच्छरीरं विहाय देवलोकमवाप। तस्य पाण्डोः कुन्तिदेव्यामर्जुनः॥ २॥ स तु महता तपसा शंकरं तोषयित्वा पाशुपतमस्त्रमवाप्य त्रिविष्टपाधिपतेः शत्रून् निवातकवचान् दानवान् हत्वा खाण्डववनमग्नेर्यथारुचि निवेद्य तृप्ताग्नितो दिव्यान् वरानवाप्य सुयोधनेन हृतराज्यो धर्मभीम-

नकुलसहदेवद्रौपदीसहितो विराटनगरेऽज्ञातवासं चरित्वा गोग्रहे च भीष्मद्रोणकृपदुर्योधनकर्णादीन् जित्वा समस्तगोमण्डलं निवर्तयित्वा भ्रातृभिः सह विराटराजकृतपूजो वासुदेवसहितः कुरुक्षेत्रे धार्तराष्ट्रैर्बहुबलैर्युद्धं कुर्वन् भीष्मद्रोणकृपशल्यकर्णादिभिर्भूरिपराक्रमैः क्षत्रियैर्नानादेशागतैरनेकैरपि राजपुत्रैः सह दुर्योधनादीन् धार्तराष्ट्रान् हत्वा स्वराज्यं प्राप्य धर्मेण राज्यं परिपाल्य भ्रातृभिः सह मुदितो दिवमारुरोह ॥ ३ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं--शांतनुके योजनगन्धासे 'विचित्रवीर्य' नामक पुत्र हुआ। राजा विचित्रवीर्य हस्तिनापुरमें रहकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते रहे और यज्ञोंद्वारा देवताओंको तथा श्राद्धके द्वारा पितरोंको तृप्त करके पुत्र पैदा होनेपर स्वर्गलोकको प्राप्त हुए। विचित्रवीर्यके अम्बालिकाके गर्भसे 'पाण्डु' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पाण्डु भी धर्मपूर्वक राज्यपालन करके मुनिके शापसे शरीर त्यागकर देवलोकको चले गये। उन राजा पाण्डुके कुन्तीदेवीके गर्भसे 'अर्जुन' नामक पुत्र हुआ। अर्जुनने बड़ी भारी तपस्या करके शंकरजीको प्रसन्न किया, उनसे 'पाशुपत' नामक अस्त्र प्राप्त किया और स्वर्गलोकके अधिपति इन्द्रके शत्रु 'निवातकवच' नामक दानवोंका वध करके अग्निदेवको उनकी रुचिके अनुसार खाण्डववन समर्पित किया। खाण्डववनको जलाकर तृप्त हुए अग्निदेवसे अनेक दिव्य वर प्राप्त कर, दुर्योधनद्वारा अपना राज्य छिन जानेपर उन्होंने (अपने भाई) धर्म (युधिष्ठिर), भीम, नकुल, सहदेव और (पत्नी) द्रौपदीके साथ विराटनगरमें अज्ञातवास किया। वहाँ जब शत्रुओंने आक्रमण करके विराटकी गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया, तब अर्जुनने भीष्म, द्रोण, कृप, दुर्योधन और कर्ण आदिको हराकर समस्त गौओंको वापस घुमाया। फिर विराटराजके द्वारा भाइयोंसहित सम्मानित होकर कुरुक्षेत्रमें भगवान् वासुदेवको साथ ले अत्यन्त बलशाली धृतराष्ट्र-पुत्रोंके साथ युद्ध किया और भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य, कर्ण आदि महापराक्रमी क्षत्रियों तथा नाना देशोंसे आये हुए अनेकों राजपुत्रोंसहित दुर्योधनादि धृतराष्ट्रपुत्रोंका उन्होंने भीम आदिके सहयोगसे वध करके अपना राज्य प्राप्त कर लिया। फिर भाइयोंसहित वे धर्मके अनुसार (अपने सबसे बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरका राजाके पदपर अभिषेक करके) राज्यका पालन करके अन्तमें सबके साथ प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये॥ १--३ ॥

अर्जुनस्य सुभद्रायामभिमन्युः। येन भारतयुद्धे चक्रव्यूहं प्रविश्यानेकभूभुजो निधनं प्रापिताः ॥ ४ ॥ अभिमन्योरुत्तरायां परीक्षितः। सोऽप्यभिषिक्तो वनं गच्छता धर्मपुत्रेण राज्यं कृत्वा राजपुत्रो नाकं सम्प्राप्य रेमे ॥ ५ ॥ परीक्षितान्मातृवत्यां जनमेजयः। येन ब्रह्महत्यावारणार्थं महाभारतं व्यासशिष्याद्वैशम्पायनात् साद्यन्तं श्रुतम् ॥ ६ ॥ राज्यं च धर्मतः कृत्वा दिवमारुरोह। जनमेजयस्य पुष्पवत्यां शतानीकः ॥ ७ ॥ स तु धर्मेण राज्यं कुर्वन् संसारदुःखाद्विरक्तः शौनकोपदेशेन क्रियायोगेन सकललोकनाथं विष्णुमाराध्य निष्कामो वैष्णवं पदमवाप। तस्य शतानीकस्य फलवत्यां सहस्रानीकः ॥ ८ ॥ स तु बाल एवाभिषिक्तो नरसिंहेऽत्यन्तं भक्तिमानभवत्। तस्य चरितमुपरिष्टाद् भविष्यति ॥ ९ ॥ सहस्रानीकस्य मृगवत्यामुदयनः। सोऽपि राज्यं कृत्वा धर्मतो नारायणमाराध्य तत्पुरमवाप ॥ १० ॥ उदयनस्य वासवदत्तायां नरवाहनः। स तु यथान्यायं राज्यं कृत्वा दिवमवाप। नरवाहनस्याश्वमेधदत्तायां क्षेमकः ॥ ११ ॥ स च राज्यस्थः प्रजाः परिपाल्य म्लेच्छाभिभूते जगति ज्ञानबलात् कलापग्राममाश्रितः ॥ १२ ॥

अर्जुनको सुभद्राके गर्भसे 'अभिमन्यु' नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसने महाभारत-युद्धमें चक्रव्यूहके भीतर प्रवेश करके अनेक राजाओंको मृत्युके घाट उतारा था। अभिमन्युके उत्तराके गर्भसे परीक्षितका जन्म हुआ। धर्मनन्दन युधिष्ठिर जब वानप्रस्थ धर्मके अनुसार वनमें जाने लगे, तब उन्होंने परीक्षितको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। तब वे भी धर्मपूर्वक राज्यका पालन करके अन्तमें वैकुण्ठधाममें जाकर अक्षय सुखके भागी हुए। परीक्षितसे मातृवतीके गर्भसे जनमेजयका जन्म हुआ, जिन्होंने ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होनेके लिये व्यासशिष्य वैशम्पायनके मुखसे सम्पूर्ण महाभारत आदिसे अन्ततक सुना था। वे भी धर्मपूर्वक राज्यका पालन करके अन्तमें स्वर्गवासी हुए। जनमेजयको अपनी पत्नी पुष्पवतीके गर्भसे

'शतानीक' नामक पुत्र प्राप्त हुआ। उन्होंने धर्मपूर्वक राज्यका पालन करते हुए संसार-दुःखसे विरक्त हो, शौनकके उपदेशसे यागादि कर्मोंके द्वारा समस्त लोकोंके अधीश्वर भगवान् विष्णुकी निष्कामभावसे आराधना की और अन्तमें वैष्णवधामको प्राप्त कर लिया। शतानीकके फलवतीके गर्भसे सहस्रानीककी उत्पत्ति हुई। सहस्रानीक बाल्यावस्थामें ही राजाके पदपर अभिषिक्त हो भगवान् नृसिंहके प्रति अत्यन्त भक्ति-भाव रखने लगे। उनके चरित्रका आगे वर्णन किया जायगा। सहस्रानीकके मृगवतीसे उदयन हुए। वे कौशाम्बीमें धर्मपूर्वक राज्यका पालन करके नारायणकी आराधना करते हुए वैकुण्ठधामको प्राप्त हुए। उदयनके वासवदत्ताके गर्भसे नरवाहन नामक पुत्र हुआ। वह भी न्यायतः राज्यका पालन करके स्वर्गको प्राप्त हुआ। नरवाहनके अश्वमेधदत्ताके गर्भसे क्षेमक नामक पुत्रका जन्म हुआ। क्षेमक राजाके पदपर प्रतिष्ठित होनेके पश्चात् प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करने लगे। उन्हीं दिनों म्लेच्छोंका आक्रमण हुआ और सम्पूर्ण जगत् उनके द्वारा पददलित होने लगा। तब वे ज्ञानके बलसे कलापग्राममें चले आये ॥४—१२॥

यः श्रद्धधानः पठते शृणोति वा
हरौ च भक्तिं चरितं महीभृताम्।
स संततिं प्राप्य विशुद्धकर्मकृद्
दिवं समासाद्य वसेच्चिरं सुखी ॥१३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे शंतनुसंततिवर्णनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

जो उपर्युक्त राजाओंकी हरिभक्ति तथा चरित्रका श्रद्धापूर्वक पाठ या श्रवण करता है, वह विशुद्ध कर्म करनेवाला पुरुष संतति प्राप्त करके अन्तमें स्वर्गलोकमें पहुँचकर वहाँ सुदीर्घ कालतक सुखी रहता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'शांतनुकी संततिका वर्णन' नामक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

तीसवाँ अध्याय

भूगोल तथा स्वर्गलोकका वर्णन

श्रीसूत उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूगोलं द्विजसत्तमाः।
संक्षेपात् पर्वताकीर्णं नदीभिश्च समन्ततः ॥ १ ॥

श्रीसूतजी बोले—द्विजवरो! अब मैं सब ओर नदी तथा पर्वतोंसे व्याप्त भूगोल (भूमिमण्डल) का संक्षेपसे वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

जम्बुप्लक्षशाल्मलकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञाः सप्त द्वीपाः। लक्षयोजनप्रमाणाज्जम्बुद्वीपादुत्तरोत्तर-द्विगुणाः ॥ लवणेक्षुरससुरासर्पिर्दधिदुग्धस्वच्छोदक-संज्ञैः परस्परं द्विगुणैः सप्तसमुद्रैर्वलयाकारैस्ते द्वीपाः परिधिष्ठिताः ॥ २ ॥ योऽसौ मनुपुत्रः प्रियव्रतो नाम स सप्तद्वीपाधिपतिर्बभूव। तस्य अग्नीध्रादयो दश पुत्रा बभूवुः ॥ ३ ॥ त्रयः प्रव्रजिताः। शिष्टानां सप्तानां सप्तद्वीपाः पित्रा दत्ताः। तत्र जम्बुद्वीपाधिपतेरग्नीध्रस्य नव पुत्रा जाताः ॥ ४ ॥

नाभिः किम्पुरुषश्चैव हरिवर्ष इलावृतः।
रम्यो हिरण्मयश्चैव कुरुर्भद्रश्च केतुमान् ॥ ५ ॥
नववर्षाः विभज्य पुत्रेभ्यः पित्रा दत्त्वा वनं प्रविशता। अग्नीध्रीयं हिमाह्वयम्। यस्याधिपतिर्नाभिः ऋषभः पुत्रो बभूव ॥ ६ ॥

इस पृथ्वीपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर नामके सात द्वीप हैं। इनमें जम्बूद्वीप तो लाख योजन लंबा-चौड़ा है और प्लक्ष आदि जम्बूद्वीपसे उत्तरोत्तर दुगुने बड़े हैं। ये द्वीप क्रमशः अपनेसे दूने प्रमाण-वाले लवण, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और शुद्धोदक नामसे विख्यात सात वलयाकार समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। मनुके जो 'प्रियव्रत' नामक पुत्र थे, वे ही सात द्वीपोंके अधिपति हुए। उनके अग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। इनमें-से तीन तो सर्वत्यागी संन्यासी हो गये और शेष सातोंको उनके पिताने एक-एक द्वीप बाँट दिया। इनमें जम्बूद्वीपके अधिपति 'अग्नीध्र'के नौ पुत्र हुए। उनके नाम ये हैं—नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्र और केतुमान्। राजा अग्नीध्र जब (घर त्यागकर) वनमें जाने लगे तब उन्होंने जम्बूद्वीपको उसके नौ खण्ड

करके अपने पुत्रोंको बाँट दिया। हिमालय पर्वतसे मिला हुआ वर्ष अग्नीध्र (नाभि) को मिला था। इसके अधिपति राजा नाभिसे 'ऋषभ' नामक पुत्र हुआ॥ २—६॥

ऋषभाद् भरतो भरतेन चिरकालं धर्मेण पालितत्वादिदं भारतं वर्षमभूत्। इलावृतस्य मध्ये मेरुः सुवर्णमयश्चतुरशीतिसहस्राणि योजनानि तस्योच्छ्रायः। षोडशसहस्रमप्यधस्तादवगाढः। तद्‌द्विगुणो मूर्ध्नि विस्तारः॥ ७॥ तन्मध्ये ब्रह्मणः पुरी। ऐन्द्र्यामिन्द्रस्य चामरावती। आग्नेय्यामग्नेस्तेजोवती। याम्यां यमस्य संयमनी। नैर्ऋत्यां निर्ऋतेर्भयंकरी। वारुण्यां वरुणस्य विश्वावती। वायव्यां वायोर्गन्धवती। उदीच्यां सोमस्य विभावरीति। नववर्षान्वितं जम्बूद्वीपं पुण्यपर्वतैः पुण्यनदीभिरन्वितम्॥८॥ किम्पुरुषादीन्यष्टवर्षाणि पुण्यवतां भोगस्थानानि साक्षाद् भारतवर्षमेकं कर्मभूमिश्चातुर्वर्ण्ययुतम्॥ ९॥

तत्रैव कर्मभिः स्वर्गं कृतैः प्राप्स्यन्ति मानवाः।
मुक्तिश्चात्रैव निष्कामैः प्राप्यते ज्ञानकर्मभिः।
अधोगतिमितो विप्र यान्ति वै पापकारिणः॥१०॥

ये पापकारिणस्तान् विद्धि पातालतले नरके कोटिसमन्वितान्॥ ११॥

ऋषभसे भरतका जन्म हुआ, जिनके द्वारा चिरकालतक धर्मपूर्वक पालित होनेके कारण इस देशका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। इलावृत वर्षके बीचमें मेरु नामक सुवर्णमय पर्वत है। उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है। वह सोलह हजार योजनतक नीचे जमीनमें गड़ा है और इसके दूनी (बत्तीस हजार योजन) इसकी चोटीकी चौड़ाई है। इसीके मध्यभागमें ब्रह्माजीकी पुरी है, पूर्वभागमें इन्द्रकी 'अमरावती' है, अग्निकोणमें अग्निकी 'तेजोवती' पुरी है, दक्षिणमें यमराजकी 'संयमनी' है, नैर्ऋत्यकोणमें निर्ऋतिकी 'भयंकरी' नामक पुरी है, पश्चिममें वरुणकी 'विश्वावती' है, वायव्यकोणमें वायुकी 'गन्धवती' नगरी है और उत्तरमें चन्द्रमाकी 'विभावरी' पुरी है। नौ खण्डोंसे युक्त यह जम्बूद्वीप पुण्य पर्वतों तथा पुण्य नदियोंसे युक्त है। किम्पुरुष आदि आठ वर्ष पुण्यवानोंके भोगस्थान हैं; केवल एक भारतवर्ष ही चारों वर्णोंसे युक्त कर्म-क्षेत्र है। भारतवर्षमें ही कर्म करनेसे मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करेंगे और वहाँ ही ज्ञान-साधकको निष्काम कर्मोंसे मुक्ति भी प्राप्त होती है। विप्रवर! पाप करनेवाले पुरुष यहाँसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं। जो पापी हैं, उन करोड़ों मनुष्योंको पातालस्थ नरकमें पड़े हुए समझिये॥७—११॥

अथ सप्त कुलपर्वताः कथ्यन्ते। महेन्द्रो मलयः शुक्तिमान् ऋष्यमूकः सह्यपर्वतो विन्ध्यः पारियात्रः। इत्येते भारते कुलपर्वताः॥ १२॥ नर्मदा सुरसा ऋषिकुल्या भीमरथी कृष्णा वेणी चन्द्रभागा ताम्रपर्णी इत्येताः सप्त नद्यः। गङ्गा यमुना गोदावरी तुङ्गभद्रा कावेरी सरयूरित्येता महानद्यः पापघ्न्यः॥ १३॥

अब सात कुलपर्वतोंका वर्णन किया जाता है—महेन्द्र, मलय, शुक्तिमान्, ऋष्यमूक, सह्य, विन्ध्य और पारियात्र। ये ही भारतवर्षमें कुलपर्वत हैं। नर्मदा, सुरसा, ऋषिकुल्या, भीमरथी, कृष्णावेणी, चन्द्रभागा तथा ताम्रपर्णी—ये सात नदियाँ हैं तथा गङ्गा, यमुना, गोदावरी, तुङ्गभद्रा, कावेरी और सरयू—ये छः महानदियाँ सब पापोंको नष्ट करनेवाली हैं॥ १२-१३॥

जम्बुनाम्ना च विख्यातं जम्बुद्वीपमिदं शुभम्।
लक्षयोजनविस्तीर्णमिदं श्रेष्ठं तु भारतम्॥१४॥

प्लक्षद्वीपादिपुण्या जनपदाः। निष्कामा ये स्वधर्मेण नरसिंहं यजन्ति ते तत्र निवसन्ति। अधिकारक्षयान्मुक्तिं च प्राप्नुवन्ति॥ १५॥ जम्ब्वाद्याः स्वादुदकान्ताः सप्त पयोधयः। ततः परा हिरण्मयी भूमिः। ततो लोकालोकपर्वतः। एष भूर्लोकः॥ १६॥

यह सुन्दर जम्बूद्वीप जम्बू (जामुन) के नामसे विख्यात है। इसका विस्तार एक लाख योजन है। इस द्वीपमें यह भारतवर्ष ही सबसे श्रेष्ठ स्थान है। प्लक्षद्वीप आदि पुण्य देश हैं। जो लोग निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णधर्मका आचरण करते हुए भगवान् नृसिंहका यजन करते हैं, वे ही उन पुण्य देशोंमें निवास करते

हैं तथा कर्माधिकारका क्षय हो जानेपर मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं। जम्बूद्वीपसे लेकर 'शुद्धोदक'संज्ञक समुद्रपर्यन्त सात द्वीप और सात समुद्र हैं। उसके बाद स्वर्णमयी भूमि है। उसके आगे लोकालोक पर्वत है—यह सब 'भूलोकका' वर्णन हुआ ॥ १४—१६ ॥

अस्योपरि अन्तरिक्षलोकः।
खेचराणां रम्यस्तदूर्ध्वं स्वर्गलोकः ॥१७॥
स्वर्गस्थानं महापुण्यं प्रोच्यमानं निबोधत।
भारते कृतपुण्यानां देवानामपि चालयम् ॥१८॥
मध्ये पृथिव्यामद्रीन्द्रो भा[स्व]ान् मेरुर्हिरण्मयः।
योजनानां सहस्राणि चतुराशीतिमुच्छ्रितः ॥१९॥
प्रविष्टः षोडशाधस्ताद्धरण्यां धरणीधरः।
तावत्प्रमाणा पृथिवी पर्वतस्य समन्ततः ॥२०॥

इसके ऊपर अन्तरिक्षलोक है, जो अन्तरिक्षचारी प्राणियोंके लिये परम रमणीय है। इसके ऊपर स्वर्ग-लोक है। अब महापुण्यमय स्वर्गलोकका वर्णन किया जाता है, उसे आपलोग मुझसे सुनें। जिन्होंने भारतवर्षमें रहकर पुण्यकर्म किये हैं, उनका तथा देवताओंका वहाँ निवास है। भूमण्डलके बीचमें पर्वतोंका राजा मेरु है, जो सुवर्णमय होनेके कारण अपनी प्रभासे उद्भासित होता रहता है। वह पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचा है और सोलह हजार योजनतक पृथ्वीमें नीचेकी ओर धँसा हुआ है। साथ ही उसके चारों ओर उतने ही प्रमाणवाली पृथिवी है ॥१७—२०॥

तस्य शृङ्गत्रयं मूर्ध्नि स्वर्गो यत्र प्रतिष्ठितः।
नानाद्रुमलताकीर्णं नानापुष्पोपशोभितम् ॥२१॥
मध्यमं पश्चिमं पूर्वं मेरोः शृङ्गाणि त्रीणि वै।
मध्यमं स्फाटिकं शृङ्गं वैदूर्यमणिकामयम् ॥२२॥
इन्द्रनीलमयं पूर्वं माणिक्यं पश्चिमं स्मृतम्।
योजनानां सहस्राणि नियुतानि चतुर्दश ॥२३॥
उच्छ्रितं मध्यमं शृङ्गं स्वर्गो यत्र त्रिविष्टपः।
अग्रभान्तरितं शृङ्गं मूर्ध्नि छत्राकृति स्थितम् ॥२४॥
पूर्वमुत्तरशृङ्गाणामन्तरं मध्यमस्य च।
त्रिविष्टपे नाकपृष्ठे ह्यप्सराः सन्ति निर्वृताः ॥२५॥

मेरुगिरिके ऊपरी भागमें तीन शिखर हैं, जहाँ स्वर्गलोक बसा हुआ है। मेरुके वे स्वर्गीय शिखर नाना प्रकारके वृक्ष और लताओंसे आवृत तथा भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे सुशोभित हैं। मध्यम, पश्चिम और पूर्व—ये ही तीन मेरुके शिखर हैं। इनमें मध्यम शृङ्ग स्फटिक तथा वैदूर्यमणिमय है, पूर्व शृङ्ग इन्द्रनीलमय और पश्चिम शिखर माणिक्यमय कहा जाता है। इनमेंसे मध्यम शृङ्ग चौदह लाख चौदह हजार योजन ऊँचा है, जहाँ 'त्रिविष्टप' नामका स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। पूर्व शृङ्ग मेरुके ऊपर छत्राकार स्थित है। मध्यम शृङ्ग और उसके बीचका अन्धकारका व्यवधान है। वह मध्यम शृङ्ग और उसके बादवाले पश्चिम शिखरके बीचमें स्थित है। नाकपृष्ठ—त्रिविष्टपमें आनन्दमयी अप्सराएँ निवास करती हैं ॥ २१–२५ ॥

आनन्दोऽथ प्रमोदश्च स्वर्गशृङ्गे तु मध्यमे।
श्वेतश्च पौष्टिकश्चैव उपशोभनमन्मथौ ॥२६॥
आह्लादः स्वर्गराजा वै स्वर्गशृङ्गे तु पश्चिमे।
निर्ममो निरहंकारः सौभाग्यश्चातिनिर्मलः ॥२७॥
स्वर्गाश्चैव द्विजश्रेष्ठ पूर्वशृङ्गे समास्थिताः।
एकविंशतिः स्वर्गा वै निविष्टा मेरुमूर्द्धनि ॥२८॥
अहिंसादानकर्तारो यज्ञानां तपसां तथा।
तत्तेषु निवसन्ति स्म जनाः क्रोधविवर्जिताः ॥२९॥

मेरुके मध्यवर्ती शिखरपर विराजमान स्वर्गमें आनन्द और प्रमोदका वास है। पश्चिम शिखरपर श्वेत, पौष्टिक, उपशोभन और काम एवं स्वर्गके राजा आह्लाद निवास करते हैं। द्विजश्रेष्ठ! पूर्व शिखरपर निर्मम, निरहंकार, सौभाग्य और अतिनिर्मल नामक स्वर्ग सुशोभित होते हैं। मेरु पर्वतकी चोटीपर कुल इक्कीस स्वर्ग बसे हुए हैं। जो अहिंसाधर्मका पालन करनेवाले और दानी हैं तथा जो यज्ञ और तपका अनुष्ठान करनेवाले हैं, वे क्रोधरहित मनुष्य इन स्वर्गोंमें निवास करते हैं ॥ २६—२९ ॥

जलप्रवेशे चानन्दं प्रमोदं वह्निसाहसे।
भृगुप्रपाते सौख्यं च रणं चैवास्य निर्मलम् ॥३०॥
अनाशके तु संन्यासे मृतो गच्छेत्त्रिविष्टपम्।
क्रतुयाजी नाकपृष्ठमग्निहोत्री च निर्वृतिम् ॥३१॥
तडागकूपकर्त्ता च लभते पौष्टिकं द्विज।
सुवर्णदायी सौभाग्यं लभन्स्वर्गं तपःफलम् ॥३२॥

शीतकाले महावह्निं प्रज्वालयति यो नरः ।
सर्वसत्त्वहितार्थाय स्वर्गं सोऽप्सरसं लभेत् ॥३३॥
हिरण्यगोप्रदाने हि निरहंकारमाप्नुयात् ।
भूमिदानेन शुद्धेन लभते शान्तिकं पदम् ॥३४॥
रौप्यदानेन स्वर्गं तु निर्मलं लभते नरः ।
अश्वदानेन पुण्याहं कन्यादानेन मङ्गलम् ॥३५॥
द्विजेभ्यस्तर्पणं कृत्वा दत्त्वा वस्त्राणि भक्तितः ।
श्वेतं तु लभते स्वर्गं यत्र गत्वा न शोचते ॥३६॥

जो धर्मपालनके लिये जलमें प्रविष्ट होकर प्राण त्याग करते हैं, वे 'आनन्द' नामक स्वर्गको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो धर्मरक्षाके ही लिये अग्निमें जलनेका साहस करते हैं, उन्हें 'प्रमोद' नामक स्वर्गकी प्राप्ति होती है और जो धर्मार्थ पर्वतशिखरसे कूदकर प्राण देते हैं, उन्हें 'सौख्य'-संज्ञक स्वर्ग प्राप्त होता है। संग्रामकी मृत्युसे 'निर्मल' (या अतिनिर्मल) नामक स्वर्गकी उपलब्धि होती है। उपवास-व्रत एवं संन्यासावस्थामें मृत्युको प्राप्त होनेवाले लोग 'त्रिविष्टप' नामक स्वर्गमें जाते हैं। श्रौत यज्ञ करनेवाला 'नाकपृष्ठ' में और अग्निहोत्री 'निर्वृति' नामक स्वर्गमें जाते हैं। द्विज ! पोखरा और कुआँ बनवानेवाला मनुष्य 'पौष्टिक' स्वर्गको पाता है, सोना दान करनेवाला पुरुष तपस्याके फलभूत 'सौभाग्य' नामक स्वर्गको जाता है। जो शीतकालमें सब प्राणियोंके हितके लिये लकड़ियोंके ढेरको जलाकर बड़ी भारी अग्निराशि प्रज्वलित करता और उन्हें गरमी पहुँचाता है, वह 'अप्सरा' संज्ञक स्वर्गको उपलब्ध करता है। सुवर्ण और गोदान करनेपर दाता 'निरहंकार' नामवाले स्वर्गको पाता है और शुद्धभावसे भूमिदान करके मनुष्य 'शान्तिक' नामसे प्रसिद्ध स्वर्गधामको उपलब्ध करता है। चाँदी दान करनेसे मनुष्यको 'निर्मल' नामक स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अश्वदानसे दाता 'पुण्याह'का और कन्यादानसे 'मङ्गल'का लाभ करता है। ब्राह्मणोंको तृप्त करके उन्हें भक्तिपूर्वक वस्त्र दान करनेसे मनुष्य 'श्वेत' नामक स्वर्गको पाता है, जहाँ जाकर वह कभी शोकका भागी नहीं होता ॥ ३०–३६ ॥

कपिलागोप्रदानेन परमार्थे महीयते ।
गोवृषस्य प्रदानेन स्वर्गं मन्मथमाप्नुयात् ॥३७॥
माघमासे सरित्स्नायी तिलधेनुप्रदस्तथा ।
छत्रोपानहदाता च स्वर्गं यात्युपशोभनम् ॥३८॥
देवतायतनं कृत्वा द्विजशुश्रूषकस्तथा ।
तीर्थयात्रापरश्चैव स्वर्गराजे महीयते ॥३९॥
एकान्नभोजी यो मर्त्यो नक्तभोजी च नित्यशः ।
उपवासी त्रिरात्राद्यैः शान्तः स्वर्गं शुभं लभेत् ॥४०॥
सरित्स्नायी जितक्रोधो ब्रह्मचारी दृढव्रतः ।
निर्मलं स्वर्गमाप्नोति यथा भूतहिते रतः ।
विद्यादानेन मेधावी निरहंकारमाप्नुयात् ॥४१॥

कपिला गौका दान करनेसे दाता 'परमार्थ' नामक स्वर्गमें पूजित होता है और उत्तम साँड़का दान करनेसे उसे 'मन्मथ' नामक स्वर्गकी प्राप्ति होती है। जो माघके महीनेमें नित्य नदीमें स्नान करता, तिलमयी धेनु देता और छत्र तथा जूतेका दान करता है, वह 'उपशोभन' नामक स्वर्गमें जाता है। जिसने देवमन्दिर बनवाया है, जो द्विजोंकी सेवा करता है तथा सदा तीर्थयात्रा करता रहता है, वह 'स्वर्गराज' (आह्लाद) में प्रतिष्ठित होता है। जो मनुष्य नित्य एक ही अन्न भोजन करता, जो प्रतिदिन केवल रातमें ही खाता तथा त्रिरात्र आदि व्रतोंके द्वारा उपवास किया करता है, वह 'शुभ' नामक स्वर्गको पाता है। नदीमें स्नान करनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला एवं दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी सम्पूर्ण जीवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले पुरुषके समान 'निर्मल' नामक स्वर्गको पाता है। मेधावी पुरुष विद्यादान करके 'निरहंकार' नामक स्वर्गको प्राप्त होता है ॥ ३७–४१ ॥

येन येन हि भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्स्वर्गमवाप्नोति यद्यदिच्छति मानवः ॥४२॥
चत्वारि अतिदानानि कन्या गौर्भूः सरस्वती ।
नरकादुद्धरन्त्येते जयवाहनदोहनात् ॥४३॥
यस्तु सर्वाणि दानानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
सम्प्राप्य न निवर्तेत स्वर्गं शान्तमनामयम् ॥४४॥
शृङ्गे तु पश्चिमे यत्र ब्रह्मा तत्र स्थितः स्वयम् ।
पूर्वशृङ्गे स्वयं विष्णुः मध्ये चैव शिवः स्थितः ॥४५॥

मनुष्य जिस-जिस भावनासे जो-जो दान देता है और उससे जो-जो फल चाहता है, तदनुसार ही विभिन्न स्वर्गलोकोंको पाता है। कन्या, गौ, भूमि तथा विद्या—इन चारोंके दानको 'अतिदान' कहा गया है। ये चार

वस्तुएँ दान की जानेपर दाताका नरकसे उद्धार कर देती हैं। इतना ही नहीं, बैलपर सवारी करने और गायको दुहनेसे जो दोष होता है, उससे भी मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो ब्राह्मणोंको सब प्रकारके दान अर्पित करता है, वह शान्त एवं निरामय स्वर्गलोकको प्राप्त होकर फिर वहाँसे नहीं लौटता है। मेरुगिरिके पश्चिम शिखरपर, जहाँ स्वयं ब्रह्माजी विराजमान हैं, वहीं वह स्वयं भी वास करता है। पूर्वश्रृङ्गपर साक्षात् भगवान् विष्णु और मध्यम श्रृङ्गपर शिवजी विराजमान हैं ॥ ४२—४५ ॥

अतः परं तु विप्रेन्द्र स्वर्गाध्वानमिमं श्रृणु ।
विमलं विपुलं शुद्धमुपर्युपरि संस्थितम् ॥४६॥
प्रथमे तु कुमारस्तु द्वितीये मातरः स्थिताः ।
तृतीये सिद्धगन्धर्वास्तुर्ये विद्याधरा द्विज ॥४७॥
पञ्चमे नागराजा च षष्ठे तु विनतासुतः ।
सप्तमे दिव्यपितरो धर्मराजस्तथाष्टमे ।
नवमे तु तथा दक्ष आदित्यो दशमे पथि ॥४८॥

विप्रेन्द्र! इसके बाद आप स्वर्गके इस 'निर्मल' तथा 'विशाल' मार्गका वर्णन सुनें। स्वर्गलोकके दस मार्ग हैं। ये सभी एकके ऊपर दूसरेके क्रमसे स्थित हैं। प्रथम मार्गपर कुमार कार्तिकेय और दूसरेपर मातृकाएँ रहती हैं। द्विज! तीसरे मार्गपर सिद्ध-गन्धर्व, चौथेपर विद्याधर, पाँचवेंपर नागराज और छठेपर विनतानन्दन गरुड़-जी विराजमान हैं। सातवेंपर दिव्य पितृगण, आठवेंपर धर्मराज, नवेंपर दक्ष और दसवें मार्गपर आदित्यकी स्थिति है ॥४६—४८॥

भूर्लोकाच्छतसाहस्रादूर्ध्वं चरति भास्करः ।
योजनानां सहस्रे द्वे विष्कम्भं समन्ततः ॥४९॥
त्रिगुणं परिणाहेन सूर्यबिम्बं प्रमाणतः ।
सोमपुर्यां विभावर्यां मध्याह्ने चार्यमा यदा ।
महेन्द्रस्यामरावत्यां तदा तिष्ठति भास्करः ॥५०॥
मध्याह्ने त्वमरावत्यां यदा भवति भास्करः ।
तदा संयमने याम्ये तत्रोद्यंस्तु प्रदृश्यते ॥५१॥
मेरुं प्रदक्षिणं कुर्वन् भात्येव सविता सदा ।
ध्रुवाधारस्तथोत्तिष्ठन् वालखिल्यादिभिः स्तुतः ॥५२॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे भूगोलकथने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

भूलोकसे एक लाख दो हजार योजनकी ऊँचाईपर सूर्यदेव विचरते हैं। उस ऊँचाईपर सब ओर उनके रुकनेके लिये आधार हैं तथा उस ऊँचाईसे तीन गुने प्रमाणमें सूर्यमण्डलका दीर्घ विस्तार है। जिस समय सूर्य चन्द्रमाकी विभावरीपुरीमें दोपहरके समय रहते हैं, उस समय इन्द्रकी अमरावतीमें उदय होते-से प्रतीत होते हैं। जिस समय अमरावतीपुरीमें मध्याह्नके समय सूर्य रहते हैं, उस समय यमकी संयमनी पुरीमें उदित होते दीख पड़ते हैं। भगवान् सूर्य सदा मेरुगिरिकी परिक्रमा करते हुए ही सुशोभित होते हैं। वे ध्रुवके आधारपर स्थित हैं। उनके उदय होते समय वालखिल्यादि ऋषि उनकी स्तुति करते हैं ॥ ४९—५२ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'भूगोलवर्णन' विषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ अध्याय

ध्रुव-चरित्र तथा ग्रह, नक्षत्र एवं पातालका संक्षिप्त वर्णन

भरद्वाज उवाच

कोऽसौ ध्रुवः कस्य सुतः सूर्याधारोऽभवत्कथम् ।
विचिन्त्य कथयाशु त्वं सूत जीव समाः शतम् ॥ १ ॥

भरद्वाजजीने पूछा—सूतजी! ध्रुव कौन हैं? किसके पुत्र हैं? तथा वे सूर्यके आधार कैसे हुए? ये सब बातें भलीभाँति सोच-विचारकर बताइये। हमारी यह कामना है कि आप हमें कथा सुनाते हुए सैकड़ों वर्षोंतक जीवित रहें ॥ १ ॥

सूत उवाच

मनोः स्वायम्भुवस्यासीदुत्तानचरणः सुतः ।
तस्य क्षितिपतेर्विप्र द्वौ सुतौ सम्बभूवतुः ॥ २ ॥

सुरुच्यामुत्तमो ज्येष्ठः सुनीत्यां तु ध्रुवोऽपरः ।
मध्येसभं नरपतेरुपविष्टस्य चैकदा ॥ ३ ॥
सुनीत्या राजसेवार्थं नियुक्तोऽलंकृतः सुतः ।
ध्रुवो धात्रेयिकापुत्रैः समं विनयतत्परः ॥ ४ ॥
स गत्वोत्तानचरणं क्षोणीशं प्रणनाम ह ।
दृष्ट्वोत्तमं तदुत्सङ्गे निविष्टं जनकस्य वै ॥ ५ ॥
प्राप्य सिंहासनस्थं च नृपतिं बालचापलात् ।
आरुरुक्षुमवेक्ष्यामुं सुरुचिर्ध्रुवमब्रवीत् ॥ ६ ॥

सूतजी बोले—विप्रवर ! स्वायम्भुव मनुके एक पुत्र थे राजा उत्तानपाद । उन भूपालके दो पुत्र हुए । एक तो सुरुचिके गर्भसे उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम उत्तम था । वह ज्येष्ठ था और दूसरा पुत्र 'ध्रुव' था, जो सुनीतिके गर्भसे उत्पन्न हुआ था । एक दिन जब राजा राजसभामें बैठे हुए थे, सुनीतिने अपने पुत्र ध्रुवको वस्त्राभूषणसे विभूषित-करके राजाकी सेवाके लिये भेजा । विनयशील ध्रुवने धायके पुत्रोंके साथ राजसभामें जाकर राजा उत्तानपादको प्रणाम किया । वहाँ उत्तमको पिताकी गोदमें बैठा देख ध्रुव सिंहासन-पर आसीन राजाके पास जा पहुँचा और बालोचित चपलताके कारण राजाकी गोदमें चढ़नेकी इच्छा करने लगा । यह देख सुरुचिने ध्रुवसे कहा ॥ २–६ ॥

सुरुचिरुवाच

दौर्भाग्येय किमारोढुमिच्छस्यङ्कं महीपतेः ।
बाल बालिशबुद्धित्वादभाग्याजठरोद्भवः ॥ ७ ॥
अस्मिन् सिंहासने स्थातुं सुकृतं किं त्वया कृतम् ॥ ८ ॥
यदि स्यात्सुकृतं तत्किं दुर्भाग्योदरगोऽभवः ।
अनेनैवानुमानेन बुध्यस्व स्वल्पपुण्यताम् ॥ ९ ॥
भूत्वा राजकुमारोऽपि नालंकुर्या ममोदरम् ।
सुकुक्षिजममुं पश्य त्वमुत्तममनुत्तमम् ॥ १० ॥
अधिजानु धराजानेर्मानेन परिबृंहितम् ।

सुरुचि बोली—अभागिनीके बच्चे ! क्या तू भी महाराजकी गोदमें चढ़ना चाहता है ? बालक ! मूर्खतावश ही ऐसी चेष्टा कर रहा है । तू इसके योग्य कदापि नहीं है; क्योंकि तू एक भाग्यहीना स्त्रीके गर्भसे पैदा हुआ है । बता तो सही, तूने इस सिंहासनपर बैठनेके लिये कौन-सा पुण्यकर्म किया है ? यदि पुण्य ही किया होता तो क्या अभागिनीके गर्भसे जन्म लेता ? राजकुमार होनेपर भी तू मेरे उदरकी शोभा नहीं बढ़ा सका है । इसी बातसे जान ले कि तेरा पुण्य बहुत कम है । उत्तम कोखसे पैदा हुआ है—कुमार 'उत्तम' जो सर्वश्रेष्ठ है; देखो, वह कितने सम्मानके साथ पृथ्वीनाथ महाराजके दोनों घुटनोंपर बैठा है ॥ ७–१०½ ॥

सूत उवाच

मध्येराजसभं बालस्तयेति परिभर्त्सितः ॥ ११ ॥
निपतन्नेत्रबाष्पाम्बुर्धैर्यात्किंचिन्न चोक्तवान् ।
उचितं नोचितं किंचिन्नोचिवान् सोऽपि पार्थिवः ॥ १२ ॥
नियन्त्रितो महिष्याश्च तस्याः सौभाग्यगौरवात् ।
विसर्जितसभालोकं शोकं संहृत्य चेष्टितैः ॥ १३ ॥
शैशवैः स शिशुर्नत्वा नृपं स्वसदनं ययौ ।

सूतजी कहते हैं—राजसभाके बीच सुरुचिके द्वारा इस प्रकार झिड़के जानेपर बालक ध्रुवकी आँखोंसे अश्रुबिन्दु झरने लगे; किंतु वह धैर्यपूर्वक कुछ भी न बोला । इधर राजा भी रानीके सौभाग्य-गौरवसे आबद्ध हो, उसका कार्य उचित था या अनुचित, कुछ भी न कह सके । जब सभासद्गण विदा हुए, तब अपनी शैशवोचित चेष्टाओंसे शोकको दबाकर वह बालक राजाको प्रणाम करके अपने घरको गया ॥ ११–१३½ ॥

सुनीतिर्नीतिनिलयमवलोक्याथ बालकम् ॥ १४ ॥
मुखलक्ष्म्यैव चाज्ञासीद् ध्रुवं राज्ञापमानितम् ।
अथ दृष्ट्वा सुनीतिं तु रहोऽन्तःपुरवासिनीम् ॥ १५ ॥
आलिङ्ग्य दीर्घं निःश्वस्य मुक्तकण्ठं रुरोद ह ।
सान्त्वयित्वा सुनीतिस्तं वदनं परिमार्ज्य च ॥ १६ ॥
दुकूलाञ्चलसम्पर्कैर्वीज्य तं मृदुपाणिना ।
पप्रच्छ तनयं माता वद रोदनकारणम् ॥ १७ ॥
विद्यमाने नरपतौ शिशो केनापमानितः ।

सुनीतिने अपने नीतिके खजाने बालकको देखकर उसके मुखकी कान्तिसे ही जान लिया कि ध्रुवका राजाके द्वारा अपमान किया गया है । माता सुनीतिको अन्तःपुरके एकान्त स्थानमें देखकर ध्रुव अपने दुःखके आवेगको न रोक सका । वह माताके गलेसे लगकर लंबी साँस खींचता हुआ फूट-फूटकर रोने

लगा। सुनीतिने उसे सान्त्वना देकर कोमल हाथसे उसका मुख पोंछा और साड़ीके अञ्चलसे हवा करती हुई माता अपने लालसे पूछने लगी—'बेटा! अपने रोनेका कारण बताओ। राजाके रहते हुए किसने तुम्हारा अपमान किया है ?'॥ १४—१७½ ॥

ध्रुव उवाच

सम्पृच्छे जननि त्वाहं सम्यक् शंस ममाग्रतः ॥१८॥
भार्यात्वेऽपि च सामान्ये कथं सा सुरुचिः प्रिया।
कथं न भवती मातः प्रिया क्षितिपतेरसि ॥१९॥
कथमुत्तमतां प्राप्त उत्तमः सुरुचेः सुतः।
कुमारत्वेऽपि सामान्ये कथं चाहमनुत्तमः ॥२०॥
कथं त्वं मन्दभाग्यासि सुकुक्षिः सुरुचिः कथम्।
कथं नृपासनं योग्यमुत्तमस्य कथं न मे ॥२१॥
कथं मे सुकृतं तुच्छमुत्तमस्योत्तमं कथम्।

ध्रुव बोला—माँ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, मेरे आगे तुम ठीक-ठीक बताओ। जैसे सुरुचि राजाकी धर्मपत्नी है, वैसे ही तुम भी हो; फिर उन्हें सुरुचि ही क्यों प्यारी है ? माता तुम उन नरेशको क्यों प्रिय नहीं हो ? सुरुचिका पुत्र उत्तम क्यों श्रेष्ठ है ? राजकुमार होनेमें तो हम दोनों एक समान हैं। फिर क्या कारण है कि मैं उत्तम नहीं हूँ ? तुम क्यों मन्दभागिनी हो और सुरुचि क्यों उत्तम कोखवाली है ? राजसिंहासन क्यों उत्तमके ही योग्य है ? मेरे योग्य क्यों नहीं है ? मेरा पुण्य तुच्छ और उत्तमका पुण्य उत्तम कैसे है ? ॥ १८—२१½ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य सुनीतिर्नीतिमच्छिशोः ॥२२॥
किंचिदुच्छ्वस्य शनकैः शिशुशोकोपशान्तये।
स्वभावमधुरां वाणीं वक्तुं समुपचक्रमे ॥२३॥

सुनीति अपने पुत्रके इस नीतियुक्त वचनको सुनकर धीरेसे थोड़ी लंबी साँस खींच बालकका दुःख शान्त करनेके लिये स्वभावतः मधुर वाणीमें बोलने लगी॥ २२-२३ ॥

सुनीतिरुवाच

अयि तात महाबुद्धे विशुद्धेनान्तरात्मना।
निवेदयामि ते सर्वं मावमाने मतिं कृथाः ॥२४॥
तया यदुक्तं तत्सर्वं तथ्यमेव न चान्यथा।
यदि सा महिषी राज्ञो राज्ञीनामतिवल्लभा ॥२५॥
महासुकृतसम्भारैरुत्तमश्चोत्तमोदरे।
उवास तस्याः पुण्याया नृपसिंहासनोचितः ॥२६॥
आतपत्रं च चन्द्राभं शुभे चापि हि चामरे।
भद्रासनं तथोच्चं च सिन्धुराश्च मदोत्कटाः ॥२७॥
तुरंगमाश्च तुरगा अनाधिव्याधि जीवितम्।
निस्सपत्नं शुभं राज्यं प्राप्यं विष्णुप्रसादतः ॥२८॥

सुनीति बोली—तात! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। तुमने जो कुछ पूछा है, वह सब शुद्ध हृदयसे मैं निवेदन करती हूँ; तुम अपमानकी बात मनमें न लाओ। सुरुचिने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही है, अन्यथा नहीं है। यदि वह पटरानी है तो सभी रानियोंसे बढ़कर राजाकी प्यारी है ही। राजकुमार उत्तमने बहुत बड़े पुण्योंका संग्रह करके उस पुण्यवती रानीके उत्तम गर्भमें निवास किया था, अतः वही राजसिंहासनपर बैठनेके योग्य है। चन्द्रमाके समान निर्मल श्वेत छत्र, सुन्दर युगल चँवर, उच्च सिंहासन, मदमत्त गजराज, शीघ्रगामी तुरंग, आधि-व्याधियोंसे रहित जीवन, शत्रुरहित सुन्दर राज्य—ये वस्तुएँ भगवान् विष्णुकी कृपासे प्राप्त होती हैं॥ २४—२८ ॥

सूत उवाच

इत्याकर्ण्य सुनीत्यास्तन्मातुर्वाक्यमनिन्दितम्।
सौनीतेयो ध्रुवो वाचमाददे वक्तुमुत्तरम् ॥२९॥

सूतजी बोले—माता सुनीतिके इस उत्तम वचनको सुनकर सुनीतिकुमार ध्रुवने उन्हें उत्तर देनेके लिये बोलना आरम्भ किया॥ २९ ॥

ध्रुव उवाच

जनयित्रि सुनीते मे शृणु वाक्यमनाकुलम्।
उत्तानचरणादन्यन्नास्तीति मे मतिः शुभे ॥३०॥
सिद्धार्थोऽस्म्यम्ब यद्यस्ति कश्चिदाश्रितकामधुक्।
अद्यैव सकलाराध्यं तमाराध्य जगत्पतिम् ॥३१॥
तत्तदासादितं विद्धि पदमन्यैर्दुरासदम्।
एकमेव हि साहाय्यं मातर्मे कर्तुमर्हसि ॥३२॥
अनुज्ञां देहि मे विष्णुं यथा चाराधयाम्यहम्।

ध्रुव बोला—जन्मदायिनी माता सुनीते! आज मेरे शान्तिपूर्वक कहे हुए वचन सुनो। शुभे! आजतक मैं यही

समझता था कि पिता उत्तानपादसे बढ़कर और कुछ नहीं है। परंतु अम्ब ! यदि अपने आश्रितजनोंकी कामना पूर्ण करनेवाला कोई और भी है तो यह जानकर आज मैं कृतार्थ हो गया। माँ! तुम ऐसा समझो कि उन सर्वाराध्य जगदीश्वरकी आराधना करके जो-जो स्थान दूसरोंके लिये दुर्लभ है, वह सब मैंने आज ही प्राप्त कर लिया। माता ! तुम्हें मेरी एक ही सहायता करनी चाहिये। केवल आज्ञा दे दो, जिससे मैं भगवान् विष्णुकी आराधना करूँ ॥ ३०—३२½ ॥

सुनीतिरुवाच

अनुज्ञातुं न शक्नोमि त्वामुत्तानशयाङ्गज ॥३३॥
सप्ताष्टवर्षदेशीयः क्रीडायोग्योऽसि पुत्रक।
त्वदेकतनया तात त्वदाधारैकजीविता ॥३४॥
लब्धोऽसि कतिभिः कष्टैरिष्टाः सम्प्रार्थ्य देवताः।
यदा यदा बहिर्यासि रन्तुं त्रिचतुरं पदम्।
तदा तदा मम प्राणस्तात त्वामुपगच्छति ॥३५॥

सुनीति बोली—बेटा ! उत्तानपादनन्दन ! मैं तुम्हें आज्ञा नहीं दे सकती। मेरे बच्चे ! इस समय तुम्हारी सात-आठ वर्षकी अवस्था है। अभी तो तुम खेलने-कूदनेके योग्य हो। तात ! एकमात्र तुम्हीं मेरी संतान हो; मेरा जीवन एक तुम्हारे ही आधारपर टिका हुआ है। कितने ही कष्ट उठाकर, अनेक इष्ट देवी-देवताओंकी प्रार्थना करके मैंने तुम्हें पाया है। तात ! तुम जब-जब खेलनेके लिये भी तीन-चार कदम बाहर जाते हो, तब-तब मेरे प्राण तुम्हारे पीछे-ही-पीछे लगे रहते हैं ॥ ३३—३५ ॥

ध्रुव उवाच

अद्य यावत् पिता माता त्वं चोत्तानपदो विभुः।
अद्य प्रभृति मे माता पिता विष्णुर्न संशयः ॥३६॥

ध्रुव बोला—माँ ! अबतक तो तुम और राजा उत्तानपाद ही मेरे माता-पिता थे; परंतु आजसे मेरे माता और पिता दोनों भगवान् विष्णु ही हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

सुनीतिरुवाच

विष्णोराराधने नाहं वारये त्वां सुपुत्रक।
जिह्वा मे शतधा याति यदि त्वां वारयामि भोः ॥३७॥

सुनीति बोली—मेरे सुयोग्य पुत्र ! मैं भगवान् विष्णुकी आराधना करनेसे तुम्हें रोकती नहीं। यदि रोकूँ तो मेरी जिह्वाके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ ॥ ३७ ॥

इत्यनुज्ञामिव प्राप्य जननीचरणाम्बुजौ।
परिक्रम्य प्रणम्याथ तपसे च ध्रुवो ययौ ॥३८॥
तथापि धैर्यसूत्रेण सुनीत्या परिगुम्फ्य च।
तत्रेन्दीवरजा माला ध्रुवस्योपायनीकृता ॥३९॥
मात्रा तन्मार्गरक्षार्थं तदा तदनुगीकृताः।
परैरवार्यप्रसराः स्वाशीर्वादाः परश्शताः ॥४०॥

इस प्रकार आज्ञा-सी पाकर ध्रुव माताके चरणकमलोंकी परिक्रमा और उन्हें प्रणाम करके तपस्याके लिये प्रस्थित हुआ। सुनीतिने धैर्यपूर्वक सूत्रमें नील कमलकी माला गूँथकर पुत्रको उपहार दिया। मार्गमें पुत्रकी रक्षाके लिये माताने अपने शत-शत आशीर्वाद, जिनका प्रभाव शत्रु भी नहीं रोक सकते थे, उसके पीछे लगा दिये ॥ ३८—४० ॥

सर्वत्रावतु ते पुत्र शङ्खचक्रगदाधरः।
नारायणो जगद्व्यापी प्रभुः कारुण्यवारिधिः ॥४१॥

[**वह बोली**—] 'पुत्र ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले दयासागर जगद्व्यापी भगवान् नारायण सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करें' ॥ ४१ ॥

सूत उवाच

स्वसौधात् स विनिर्गत्य बालो बालपराक्रमः।
अनुकूलेन मरुता दर्शिताध्वाविशद्वनम् ॥४२॥
स मातृदैवतोऽभिज्ञः केवलं राजवर्त्मनि।
न वेद काननाध्वानं क्षणं दध्यौ नृपात्मजः ॥४३॥

सूतजी बोले—बालोचित पराक्रम करनेवाले बालक ध्रुवने अपने महलसे निकलकर अनुकूल वायुके द्वारा दिखायी हुई राह पकड़कर उपवनमें प्रवेश किया। माताको ही देवता माननेवाला और केवल राजमार्गको ही जाननेवाला वह राजकुमार वनके मार्गको नहीं जानता था, अतः एक क्षणतक आँखें बंद करके कुछ सोचने लगा ॥ ४२-४३ ॥

पुरोपवनमासाद्य चिन्तयामास सोऽर्भकः।
किं करोमि क्व गच्छामि को मे साहाय्यदो भवेत् ॥४४॥
एवमुन्मील्य नयने यावत्पश्यति स ध्रुवः।
तावद्ददर्श सप्तर्षीन् अतर्कितगतीन् वने ॥४५॥

अथ दृष्ट्वा स सप्तर्षीन् सप्तसप्तितेजसः।
भाग्यसूत्रैरिवाकृष्टोपनीतान् प्रमुमोद ह ॥४६॥
तिलकाङ्कितलक्षलाटान् कुशोपग्रहिताङ्गुलीन्।
कृष्णाजिनोपविष्टांश्च ब्रह्मसूत्रैरलंकृतान् ॥४७॥
उपगम्य विनम्रांसः प्रबद्धकरसम्पुटः।
ध्रुवो विज्ञापयांचक्रे प्रणम्य ललितं वचः ॥४८॥

नगरके उपवनमें आकर बालक ध्रुव इस प्रकार चिन्ता करने लगा—'क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कौन मुझे सहायता देनेवाला होगा?' ऐसा विचार करते हुए उसने ज्यों-ही आँखें खोलकर देखा, त्यों-ही उस उपवनमें अप्रत्याशित गतिवाले सप्तर्षि उसे दिखायी दिये। उन सूर्यतुल्य तेजस्वी सप्तर्षियोंको, जो मानो भाग्यसूत्रसे ही खिंचकर ले आये गये थे, देखकर ध्रुव बहुत प्रसन्न हुआ। उनके सुन्दर ललाटमें तिलक लगे थे। उन्होंने अँगुलियोंमें कुशकी पवित्री पहन रखी थी तथा यज्ञोपवीतोंसे विभूषित होकर वे काले मृगचर्मपर बैठे हुए थे। उनके पास जाकर ध्रुवने गर्दन झुका दी, दोनों हाथ जोड़ लिये और प्रणाम करके मधुर वाणीमें उन्हें अपना अभिप्राय निवेदित किया ॥ ४६—४८ ॥

ध्रुव उवाच

अवैत मां मुनिवराः सुनीत्युदरसम्भवम्।
उत्तानपादतनयं ध्रुवं निर्विण्णमानसम् ॥४९॥

ध्रुव बोला—मुनिवरो! आप मुझे सुनीतिके गर्भसे उत्पन्न राजा उत्तानपादका पुत्र ध्रुव जानें। इस समय मेरा चित्त जगत्की ओरसे विरक्त है ॥ ४९ ॥

सूत उवाच

तं दृष्ट्वोर्जस्वलं बालं स्वभावमधुराकृतिम्।
अनर्घ्यनयनेपथ्यं मृदुगम्भीरभाषिणम् ॥५०॥
उपोपवेश्य शिशुकं प्रोचुस्ते विस्मिता भृशम्।
तवाद्यापि न जानीमो वत्स निर्वेदकारणम् ॥५१॥
अनवाप्ताभिलाषाणां वैराग्यं जायते नृणाम्।
सप्तद्वीपपते राज्ञः कुमारस्त्वं तथा कथम् ॥५२॥
किमस्माभिरहो कार्यं कस्तवास्ति मनोरथः।

सूतजी कहते हैं—अमूल्य नीति ही जिसका भूषण है—ऐसे मधुर और गम्भीर भाषण करनेवाले एवं स्वभावतः मनोहर आकृतिवाले उस तेजस्वी बालकको देखकर ऋषियोंने अत्यन्त विस्मित हो उसे अपने पास बिठाया और कहा—'वत्स! अभीतक तुम्हारे वैराग्य या निर्वेदका कारण हम नहीं जान सके। वैराग्य तो उन मनुष्योंको होता है, जिनकी मनःकामनाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं। तुम तो सातों द्वीपोंके अधीश्वर सम्राट्के पुत्र हो; तुम अपूर्ण-मनोरथ कैसे हो सकते हो? हमसे तुम्हें क्या काम है? तुम्हारी मनोवाञ्छा क्या है?' ॥ ५०—५२ ॥

ध्रुव उवाच

मुनयो मम यो बन्धुरुत्तमश्चोत्तमोत्तमः ॥५३॥
पित्रा प्रदत्तं तस्यास्तु तद्भद्रासनमुत्तमम्।
भवत्कृतं हि साहाय्यं एतदिच्छामि सुव्रताः ॥५४॥
अनन्यनृपभुक्तं यद् यदन्येभ्यः समुच्छ्रितम्।
इन्द्रादिदुरवापं यत् कथं लभ्येत तत्पदम् ॥५५॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्य मुनयो बालकस्य तु।
यथार्थमेव प्रत्यूचुर्मरीच्याद्यास्तदा ध्रुवम् ॥५६॥

ध्रुव बोला—मुनिगण! मेरे जो उत्तमोत्तम बन्धु उत्तमकुमार हैं—उनके ही लिये पिताका दिया हुआ शुभ सिंहासन रहे। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वरो! मैं आपलोगोंसे इतनी ही सहायता चाहता हूँ कि जिस स्थानका किसी दूसरे राजाने उपभोग न किया हो, जो अन्य सभी स्थानोंसे उत्कृष्ट हो और इन्द्रादि देवताओंके लिये भी दुर्लभ हो, वह स्थान मुझे किस उपायसे प्राप्त हो सकता है, यह बता दें।' उस समय उस बालककी ये बातें सुनकर मरीचि आदि ऋषियोंने उसे यथार्थ ही उत्तर दिया ॥ ५३—५६ ॥

मरीचिरुवाच

अनास्वादितगोविन्दपदाम्बुजरजोरसः।
मनोरथपथातीतं स्फीतं नाकलयेत् फलम् ॥५७॥

मरीचि बोले—जिसने गोविन्द-चरणारविन्दोंके परागके रसका आस्वादन नहीं किया, वह मनोरथ-पथसे अतीत (ध्यानमें भी न आ सकनेवाले) परमोज्ज्वल फलको नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ५७ ॥

अत्रिरुवाच

अनर्चिताच्युतपदः पदमासादयेत् कथम्।
इन्द्रादिदुरवापं यत्प्रधानैः सुदुरासदम् ॥५८॥

अत्रि बोले—जिसने अच्युतके चरणोंकी अर्चना नहीं की है, वह पुरुष उस पदको, जो इन्द्रादि देवताओंके लिये भी दुर्लभ और मनुष्योंके लिये तो अत्यन्त दुष्प्राप्य है, कैसे पा सकता है ? ॥ ५८ ॥

अङ्गिरा उवाच

न हि दूरे पदं तस्य सर्वासां सम्पदामिह ।
कमलाकान्तकान्ताङ्घ्रिकमलं यः सुशीलयेत् ॥५९॥

अङ्गिरा बोले—जो भगवान् कमलाकान्तके कमनीय चरणकमलोंका अनुशीलन (चिन्तन) करता है, उसके लिये त्रिभुवनकी सारी सम्पदाओंका स्थान दूर (दुर्लभ) नहीं है ॥ ५९ ॥

पुलस्त्य उवाच

यस्य स्मरणमात्रेण महापातकसंततिः ।
परमान्तकमाप्नोति स विष्णुः सर्वदो ध्रुव ॥६०॥

पुलस्त्य बोले—ध्रुव ! जिनके स्मरणमात्रसे महापातकों की परम्परा अत्यन्त नाशको प्राप्त हो जाती है, वे भगवान् विष्णु ही सब कुछ देनेवाले हैं ॥ ६० ॥

पुलह उवाच

यदाहुः परमं ब्रह्म प्रधानपुरुषात् परम् ।
यन्मायया कृतं सर्वं स विष्णुः कीर्तितोऽर्थदः ॥६१॥

पुलह बोले—जिन्हें प्रधान (प्रकृति) और पुरुष (जीव) से विलक्षण परमब्रह्म कहते हैं, जिनकी मायासे समस्त प्रपञ्च रचा गया है, उन भगवान् विष्णुका यदि कीर्तन किया जाय तो वे अपने भक्तके अभीष्ट मनोरथको पूर्ण कर देते हैं ॥ ६१ ॥

क्रतुरुवाच

यो यज्ञपुरुषो विष्णुर्वेदवेद्यो जनार्दनः ।
अन्तरात्मास्य जगतः संतुष्टः किं न यच्छति ॥६२॥

क्रतु बोले—जो यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य हैं तथा जो जनार्दन इस समस्त जगत्‌के अन्तरात्मा हैं, वे प्रसन्न हों तो क्या नहीं दे सकते ? ॥ ६२ ॥

वसिष्ठ उवाच

यद्भ्रूनर्तनवर्तिन्यः सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज ।
समाराध्य हृषीकेशं चतुर्वर्गो न दूरतः ॥६३॥

वसिष्ठ बोले—राजकुमार ! जिनकी भौंहोंके नर्तनमात्रमें आठों सिद्धियाँ वर्तमान हैं, उन भगवान् हृषीकेशकी आराधना करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ दूर नहीं रहते ॥ ६३ ॥

ध्रुव उवाच

सत्यमुक्तं द्विजेन्द्रा वो विष्णोराराधनं प्रति ।
कथं स भगवानिज्यः स विधिश्चोपदिश्यताम् ॥६४॥
प्रभूतदो भवेद्यो वै दुराराध्यतमो भवेत् ।
बालोऽहं राजपुत्रोऽहं दुःखं नैव मया क्षमम् ॥६५॥

ध्रुव बोले—द्विजवरो ! भगवान् विष्णुकी आराधनाके सम्बन्धमें आपलोगोंने जो विचार प्रकट किया, वह सत्य है। अब मुझे यह बताइये कि उन भगवान्‌की पूजा कैसे करनी चाहिये ? उसकी विधिका मुझे उपदेश कीजिये। जो बहुत कुछ दे सकते हैं, उनकी आराधना भी कठिन ही होगी। मैं राजकुमार हूँ और बालक हूँ; मुझसे विशेष कष्ट नहीं सहा जा सकता ॥ ६४-६५ ॥

मुनय ऊचुः

तिष्ठता गच्छता वापि स्वपता जाग्रता तथा ।
शयानेनोपविष्टेन वेद्यो नारायणः सदा ॥६६॥
पुत्रान् कलत्रं मित्राणि राज्यं स्वर्गापवर्गकम् ।
वासुदेवं जपन् मर्त्यः सर्वं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥६७॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण वासुदेवात्मकेन च ।
ध्यायंश्चतुर्भुजं विष्णुं जप्त्वा सिद्धिं न को गतः ॥६८॥
पितामहेन चाप्येष महामन्त्र उपासितः ।
मनुना राज्यकामेन वैष्णवेन नृपात्मज ॥६९॥
त्वमप्येतेन मन्त्रेण वासुदेवपरो भव ।
यथाभिलषितामृद्धिं क्षिप्रं प्राप्स्यसि सत्तम ॥७०॥

मुनिगण बोले—खड़े होते-चलते, सोते-जागते, लेटते और बैठते हुए प्रतिक्षण भगवान् नारायणका स्मरण करना चाहिये। भगवान् वासुदेवके नामका जप करनेवाला मनुष्य पुत्र, स्त्री मित्र, राज्य, स्वर्ग तथा मोक्ष—सब कुछ पा लेता है—इसमें संशय नहीं है। वासुदेवस्वरूप द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) के द्वारा चार भुजाधारी भगवान् विष्णुका ध्यान और जप करके किसने सिद्धि नहीं प्राप्त कर ली ? राजकुमार ! पितामह

(ब्रह्माजी) ने भी इस महामन्त्रकी उपासना की थी। विष्णुभक्त मनुने भी राज्यकी कामनासे इस मन्त्रद्वारा भगवान्‌की आराधना की थी। सत्पुरुषशिरोमणे! तुम भी इस मन्त्रद्वारा भगवान् वासुदेवकी आराधनामें लग जाओ। इससे बहुत शीघ्र ही अपनी मनोवाञ्छित समृद्धि प्राप्त कर लोगे ॥ ६६–७० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हिताः सर्वे महात्मानो मुनीश्वराः ।
वासुदेवमना भूत्वा ध्रुवोऽपि तपसे ययौ ॥७१॥
ध्रुवः सर्वार्थदं मन्त्रं जपन् मधुवने तपः ।
स चक्रे यमुनातीरे मुनिदिष्टेन वर्त्मना ॥७२॥
श्रद्धान्वितेन जपता च तपःप्रभावात्
साक्षादिवाब्जनयनं ददृशे हृदीशम् ।
दिव्याकृतिं सपदि तेन ततः स एव
हर्षात् पुनः स प्रजजाप नृपात्मभूतः ॥७३॥
क्षुत्तर्षवर्षघनवातमहोष्णतादि-
शारीरदुःखकुलमस्य न किंचनाभूत् ।
मग्ने मनस्यनुपमेयसुखाम्बुराशौ
राज्ञः शिशुर्न च विवेद शरीरवार्ताम् ॥७४॥
विघ्नाश्च तस्य किल शङ्कितदेवसृष्टा
बालस्य तीव्रतपसो विफला बभूवुः ।
शीतातपादिरिव विष्णुमयं मुनिं हि
प्रादेशिका न खलु धर्षयितुं क्षमन्ते ॥७५॥

सूतजी कहते हैं—यों कहकर वे सभी महात्मा मुनीश्वर वहीं अन्तर्हित हो गये और ध्रुव भी भगवान् वासुदेवमें मन लगाकर तपस्याके लिये चला गया। द्वादशाक्षर मन्त्र सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला है। ध्रुव मधुवनमें यमुनाके तटपर मुनियोंकी बतायी हुई पद्धतिसे उस मन्त्रका जप करने लगा। श्रद्धापूर्वक उस मन्त्रका जप करते हुए राजकुमार ध्रुवने तपके प्रभावसे तत्काल ही हृदयमें भगवान् कमलनयनको प्रकट प्रत्यक्षवत् देखा। उनकी आकृति बड़ी दिव्य थी। भगवान्‌के दर्शनसे उसका हर्ष बढ़ गया। अब तो वह राजपुत्र पुनः बड़े उत्साहसे उस मन्त्रका जप करने लगा। उस समय भूख, प्यास, वर्षा, आँधी और अधिक गर्मी आदि दैहिक दुःखोंमेंसे कोई भी उसे नहीं व्यापा। उस राजकुमारका मन अनुपम आनन्द-महासागरमें गोता लगा रहा था। अतः उस समय उसे अपने शरीरकी भी सुध नहीं रह गयी थी। कहते हैं, उसकी तपस्यासे शङ्कित हुए देवताओंने कितने ही विघ्न खड़े किये; परंतु उस तीव्र तपस्वी बालकके लिये वे सभी निष्फल ही सिद्ध हुए। शीत और धूप आदिकी ही तरह ये एकदेशीय विघ्न भी उस विष्णुस्वरूप मुनिको व्यथित नहीं कर पाते थे ॥ ७१–७५ ॥

अथ भक्तजनप्रियः प्रभुः
शिशुना ध्यानबलेन तोषितः ।
वरदः पतगेन्द्रवाहनो
हरिरागात् स्वजनं तमीक्षितुम् ॥७६॥
मणिपिण्डकमौलिराजितो
विलसद्रत्नमहाघनच्छविः ।
स बभावुदयाद्रिमत्सरा-
द्धृतबालार्क इवासिताचलः ॥७७॥
स राजसूनुं तपसि स्थितं तं
ध्रुवं ध्रुवस्निग्धदृगित्युवाच ।
दन्तांशुसंज्ञैरमितप्रवाहैः
प्रक्षालयन् रेणुमिवास्य गात्रे ॥७८॥

कुछ समयके बाद भक्तजनोंके प्रियतम वरदाता भगवान् विष्णु बालक ध्रुवके ध्यान-बलसे संतुष्ट होकर पक्षिराज गरुडपर सवार हो, अपने उस भक्तको देखनेके लिये आये। मणिसमूहद्वारा निर्मित मुकुटसे मण्डित और शोभाशाली कौस्तुभरत्नसे समलंकृत, महामेघके समान श्यामकान्तिवाले वे भगवान् श्रीहरि ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो उदयाचलके प्रति डाह रखनेके कारण अपने शृङ्गपर बालरविको धारण किये साक्षात् कज्जलगिरि प्रकाशित हो रहा हो। निश्चल और स्नेहपूर्ण दृष्टिवाले वे भगवान् अपने दाँतोंकी किरणरूप जलके अमित प्रवाहद्वारा तपस्यामें लगे हुए राजकुमार ध्रुवके शरीरकी धूलिको धोते हुए-से उससे इस प्रकार बोले ॥ ७६–७८ ॥

वरं वरं वत्स वृणीष्व यस्ते
मनोगतस्त्वत्तपसास्मि तुष्टः ।
ध्यानेन ते चेन्द्रियनिग्रहेण
मनोनिरोधेन च दुष्करेण ॥७९॥

'वत्स ! मैं तुम्हारी तपस्या, ध्यान, इन्द्रिय-निग्रह और दुस्साध्य मनःसंयमसे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट हो, वह उत्तम वर मुझसे माँग लो' ॥ ७९ ॥

शृण्वन् वचस्तत्सकलं गभीर-
मुन्मीलिताक्षः सहसा ददर्श ।
स्वे चिन्त्यमानं त्विदमेव मूर्तं
पुरःस्थितं ब्रह्म चतुर्भुजं सः ॥८०॥

भगवान्‌की वह सम्पूर्ण गम्भीर वाणी सुनते ही ध्रुवने सहसा आँखें खोल दीं। उस समय उन्हीं चतुर्भुज ब्रह्मको, जिनका वह अपने हृदयमें चिन्तन कर रहा था, उसने सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा देखा ॥८०॥

दृष्ट्वा क्षणं राजसुतः सुपूज्यं
पुरस्त्रयीशं किमिह ब्रवीमि ।
किं वा करोमीति ससम्भ्रमः स तु
न चाब्रवीत् किंचन नो चकार ॥८१॥
हर्षाश्रुपूर्णः पुलकाञ्चिताङ्ग-
स्त्रिलोकनाथेति वदन्नथोच्चैः ।
दण्डप्रणामाय पपात भूमौ
प्रवेपमानभ्रु हरेः पुरः स हि ॥८२॥
दण्डवत् प्रणिपत्याथ परितः परिलुण्ठ्य च ।
रुरोद हर्षेण चिरं दृष्ट्वा तं जगतो गुरुम् ॥८३॥
नारदेन सनन्देन सनकेन च संश्रुतम् ।
अन्यैः सनत्कुमाराद्यैर्योगिभिर्योगिनां वरम् ॥८४॥
कारुण्यबाष्पनीरार्द्रं पुण्डरीकविलोचनम् ।
ध्रुवमुत्थापयांचक्रे चक्री धृत्वा करेण तम् ॥८५॥
हरिस्तु परिपस्पर्श तदङ्गं धूलिधूसरम् ।
कराभ्यां कोमलाभ्यां स परिष्वज्याह तं हरिः ॥८६॥

उन परम पूजनीय त्रिभुवनपतिको सहसा सामने देख वह राजकुमार सकपका गया और 'मैं यहाँ इनसे क्या कहूँ ! क्या करूँ !' इत्यादि बातें सोचता हुआ क्षणभर न तो कुछ बोला और न कुछ कर ही सका। उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरे थे, शरीरके रोएँ खड़े हो गये थे। वह भगवान्‌के सामने उच्चस्वरसे 'हे त्रिभुवननाथ !' यों कहता हुआ दण्डवत्-प्रणाम करनेके लिये पृथ्वीपर पड़ गया। उस समय उसकी भौंहें काँप रही थीं। दण्डकी भाँति प्रणाम करके जगद्गुरु भगवान्‌की ओर एकटक दृष्टि लगाये वह आनन्दातिरेकसे चारों ओर लोट-पोट होकर देरतक रोता रहा। नारद, सनन्दन, सनक और सनत्कुमार आदि तथा अन्य योगी जिन योगीश्वरका श्रवण-कीर्तन एवं स्तवन किया करते हैं और जिनके नेत्र करुणाके आँसुओंसे भीगे हुए थे, उन्हीं कमललोचन भगवान्‌को आज ध्रुवने प्रत्यक्ष देखा। उस समय चक्रधर भगवान्‌ने अपने हाथसे पकड़कर ध्रुवको उठा लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने दोनों कोमल हाथोंसे उसके धूलिधूसरित शरीरको सब ओरसे पोंछा और उसे हृदयसे लगाकर कहा ॥ ८१–८६ ॥

वरं वरय भो बाल यत्ते मनसि वर्त्तते ।
तद्ददामि न संदेहो नादेयं विद्यते तव ॥८७॥

'बच्चा ! तुम्हारे मनमें जो भी इच्छा है, उसके अनुसार वर माँग लो। मैं निस्संदेह वह सब तुम्हें दे दूँगा। तुम्हारे लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है' ॥ ८७ ॥

ततो वरं राजशिशुर्ययाचे
विष्णुं वरं ते स्तवशक्तिमेव ।
तं मूर्तविज्ञाननिभेन देवः
पस्पर्श शङ्खेन मुखेऽमलेन ॥८८॥
अथ सुरमुनिदत्तज्ञानचन्द्रेण सम्यग्
विमलितमिव चित्तं पूर्णमेव ध्रुवस्य ।
त्रिभुवनगुरुशङ्खस्पर्शजज्ञानभाना-
नुदयति नितरान्तः साधु तुष्टाव हृष्टः ॥८९॥

तब राजकुमारने भगवान् विष्णुसे यही वर माँगा कि 'मुझे आपकी स्तुति करनेकी शक्ति प्राप्त हो।' यह सुनकर भगवान्‌ने मूर्तिमान् विज्ञानके समान निर्मल शङ्खसे ध्रुवके मुखको छुआ दिया। मरीचि आदि देवर्षियोंके दिये हुए ज्ञानरूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे क्षालित होकर ध्रुवका चित्त पूर्णतया निर्मल हो गया था। फिर त्रिभुवनगुरु भगवान्‌के शङ्ख-स्पर्शसे उसके अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो जानेपर उसमें पूर्ण प्रकाश हो गया। इससे वह आनन्दित होकर भगवान्‌की सुन्दर स्तुति करने लगा ॥ ८८-८९ ॥

ध्रुव उवाच

अखिलमुनिजननिवहनमितचरणः। खरकदन-

(ब्रह्माजी) ने भी इस महामन्त्रकी उपासना की थी। विष्णुभक्त मनुने भी राज्यकी कामनासे इस मन्त्रद्वारा भगवान्‌की आराधना की थी। सत्पुरुषशिरोमणे! तुम भी इस मन्त्रद्वारा भगवान् वासुदेवकी आराधनामें लग जाओ। इससे बहुत शीघ्र ही अपनी मनोवाञ्छित समृद्धि प्राप्त कर लोगे ॥ ६६–७० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हिताः सर्वे महात्मानो मुनीश्वराः।
वासुदेवमना भूत्वा ध्रुवोऽपि तपसे ययौ ॥७१॥
ध्रुवः सर्वार्थदं मन्त्रं जपन् मधुवने तपः।
स चक्रे यमुनातीरे मुनिदिष्टेन वर्त्मना ॥७२॥
श्रद्धान्वितेन जपता च तपःप्रभावात्
साक्षादिवाब्जनयनं ददृशे हृदीशम्।
दिव्याकृतिं सपदि तेन ततः स एव
हर्षात् पुनः स प्रजजाप नृपात्मभूतः ॥७३॥
क्षुत्तर्षवर्षघनवातमहोष्णतादि-
शारीरदुःखकुलमस्य न किंचनाभूत्।
मग्ने मनस्यनुपमेयसुखाम्बुराशौ
राज्ञः शिशुर्न च विवेद शरीरवार्ताम् ॥७४॥
विघ्नाश्च तस्य किल शङ्कितदेवसृष्टा
बालस्य तीव्रतपसो विफला बभूवुः।
शीतातपादिरिव विष्णुमयं मुनिं हि
प्रादेशिका न खलु धर्षयितुं क्षमन्ते ॥७५॥

सूतजी कहते हैं—यों कहकर वे सभी महात्मा मुनीश्वर वहीं अन्तर्हित हो गये और ध्रुव भी भगवान् वासुदेवमें मन लगाकर तपस्याके लिये चला गया। द्वादशाक्षर मन्त्र सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला है। ध्रुव मधुवनमें यमुनाके तटपर मुनियोंकी बतायी हुई पद्धतिसे उस मन्त्रका जप करने लगा। श्रद्धापूर्वक उस मन्त्रका जप करते हुए राजकुमार ध्रुवने तपके प्रभावसे तत्काल ही हृदयमें भगवान् कमलनयनको प्रकट प्रत्यक्षवत् देखा। उनकी आकृति बड़ी दिव्य थी। भगवान्‌के दर्शनसे उसका हर्ष बढ़ गया। अब तो वह राजपुत्र पुनः बड़े उत्साहसे उस मन्त्रका जप करने लगा। उस समय भूख, प्यास, वर्षा, आँधी और अधिक गर्मी आदि दैहिक दुःखोंमेंसे कोई भी उसे नहीं व्यापा। उस राजकुमारका मन अनुपम आनन्द-महासागरमें गोता लगा रहा था। अतः उस समय उसे अपने शरीरकी भी सुध नहीं रह गयी थी। कहते हैं, उसकी तपस्यासे शङ्कित हुए देवताओंने कितने ही विघ्न खड़े किये; परंतु उस तीव्र तपस्वी बालकके लिये वे सभी निष्फल ही सिद्ध हुए। शीत और धूप आदिकी ही तरह ये एकदेशीय विघ्न भी उस विष्णुस्वरूप मुनिको व्यथित नहीं कर पाते थे ॥ ७१–७५ ॥

अथ भक्तजनप्रियः प्रभुः
शिशुना ध्यानबलेन तोषितः।
वरदः पतगेन्द्रवाहनो
हरिरागात् स्वजनं तमीक्षितुम् ॥७६॥
मणिपिण्डकमौलिराजितो
विलसद्रत्नमहाघनच्छविः।
स बभावुदयाद्रिमत्सरा-
द्धृतबालार्क इवासिताचलः ॥७७॥
स राजसूनुं तपसि स्थितं तं
ध्रुवं ध्रुवस्निग्धदृगित्युवाच।
दन्तांशुसंज्ञैरमितप्रवाहैः
प्रक्षालयन् रेणुमिवास्य गात्रे ॥७८॥

कुछ समयके बाद भक्तजनोंके प्रियतम वरदाता भगवान् विष्णु बालक ध्रुवके ध्यान-बलसे संतुष्ट होकर पक्षिराज गरुडपर सवार हो, अपने उस भक्तको देखनेके लिये आये। मणिसमूहद्वारा निर्मित मुकुटसे मण्डित और शोभाशाली कौस्तुभरत्नसे समलंकृत, महामेघके समान श्यामकान्तिवाले वे भगवान् श्रीहरि ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो उदयाचलके प्रति डाह रखनेके कारण अपने शृङ्गपर बालरविको धारण किये साक्षात् कज्जलगिरि प्रकाशित हो रहा हो। निश्चल और स्नेहपूर्ण दृष्टिवाले वे भगवान् अपने दाँतोंकी किरणरूप जलके अमित प्रवाहद्वारा तपस्यामें लगे हुए राजकुमार ध्रुवके शरीरकी धूलिको धोते हुए-से उससे इस प्रकार बोले ॥ ७६–७८ ॥

वरं वरं वत्स वृणीष्व यस्ते
मनोगतस्त्वत्तपसास्मि तुष्टः।
ध्यानेन ते चेन्द्रियनिग्रहेण
मनोनिरोधेन च दुष्करेण ॥७९॥

'वत्स ! मैं तुम्हारी तपस्या, ध्यान, इन्द्रिय-निग्रह और दुस्साध्य मनःसंयमसे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । अतः तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट हो, वह उत्तम वर मुझसे माँग लो' ॥ ७९ ॥

शृण्वन् वचस्तत्सकलं गभीर-
मुन्मीलिताक्षः सहसा ददर्श ।
स्वे चिन्त्यमानं त्विदमेव मूर्तं
पुरःस्थितं ब्रह्म चतुर्भुजं सः ॥८०॥

भगवान्‌की वह सम्पूर्ण गम्भीर वाणी सुनते ही ध्रुवने सहसा आँखें खोल दीं । उस समय उन्हीं चतुर्भुज ब्रह्मको, जिनका वह अपने हृदयमें चिन्तन कर रहा था, उसने सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा देखा ॥८०॥

दृष्ट्वा क्षणं राजसुतः सुपूज्यं
पुरस्त्रयीशं किमिह ब्रवीमि ।
किं वा करोमीति ससम्भ्रमः स तु
न चाब्रवीत् किंचन नो चकार ॥८१॥
हर्षाश्रुपूर्णः पुलकाञ्चिताङ्ग-
स्त्रिलोकनाथेति वदन्नथोच्चैः ।
दण्डप्रणामाय पपात भूमौ
प्रवेपमानश्च हरेः पुरः स हि ॥८२॥
दण्डवत् प्रणिपत्याथ परितः परिलुण्ठ्य च ।
रुरोद हर्षेण चिरं दृष्ट्वा तं जगतो गुरुम् ॥८३॥
नारदेन सनन्देन सनकेन च संश्रुतम् ।
अन्यैः सनत्कुमाराद्यैर्योगिभिर्योगिनां वरम् ॥८४॥
कारुण्यबाष्पनीरार्द्रं पुण्डरीकविलोचनम् ।
ध्रुवमुत्थापयांचक्रे चक्री धृत्वा करेण तम् ॥८५॥
हरिस्तु परिपस्पर्श तदङ्गं धूलिधूसरम् ।
कराभ्यां कोमलाभ्यां स परिष्वज्याह तं हरिः ॥८६॥

उन परम पूजनीय त्रिभुवनपतिको सहसा सामने देख वह राजकुमार सकपका गया और 'मैं यहाँ इनसे क्या कहूँ ? क्या करूँ ?' इत्यादि बातें सोचता हुआ क्षणभर न तो कुछ बोला और न कुछ कर ही सका । उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरे थे, शरीरके रोएँ खड़े हो गये थे । वह भगवान्‌के सामने उच्चस्वरसे 'हे त्रिभुवननाथ !' यों कहता हुआ दण्डवत्-प्रणाम करनेके लिये पृथ्वीपर पड़ गया । उस समय उसकी भौंहें काँप रही थीं । दण्डकी भाँति प्रणाम करके जगद्गुरु भगवान्‌की ओर एकटक दृष्टि लगाये वह आनन्दातिरेकसे चारों ओर लोट-पोट होकर देरतक रोता रहा । नारद, सनन्दन, सनक और सनत्कुमार आदि तथा अन्य योगी जिन योगीश्वरका श्रवण-कीर्तन एवं स्तवन किया करते हैं और जिनके नेत्र करुणाके आँसुओंसे भीगे हुए थे, उन्हीं कमललोचन भगवान्‌को आज ध्रुवने प्रत्यक्ष देखा । उस समय चक्रधर भगवान्‌ने अपने हाथसे पकड़कर ध्रुवको उठा लिया । इतना ही नहीं, उन्होंने अपने दोनों कोमल हाथोंसे उसके धूलिधूसरित शरीरको सब ओरसे पोंछा और उसे हृदयसे लगाकर कहा ॥ ८१-८६ ॥

वरं वरय भो बाल यत्ते मनसि वर्त्तते ।
तद्ददामि न संदेहो नादेयं विद्यते तव ॥८७॥

'बच्चा ! तुम्हारे मनमें जो भी इच्छा है, उसके अनुसार वर माँग लो । मैं निस्संदेह वह सब तुम्हें दे दूँगा । तुम्हारे लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है' ॥ ८७ ॥

ततो वरं राजशिशुर्ययाचे
विष्णुं वरं ते स्तवशक्तिमेव ।
तं मूर्तविज्ञाननिभेन देवः
पस्पर्श शङ्खेन मुखेऽमलेन ॥८८॥
अथ सुरमुनिदत्तज्ञानचन्द्रेण सम्यग्
विमलितमिव चित्तं पूर्णमेव ध्रुवस्य ।
त्रिभुवनगुरुशङ्खस्पर्शजज्ञानभाना-
नुदयति नितरान्तः साधु तुष्टाव हृष्टः ॥८९॥

तब राजकुमारने भगवान् विष्णुसे यही वर माँगा कि 'मुझे आपकी स्तुति करनेकी शक्ति प्राप्त हो ।' यह सुनकर भगवान्‌ने मूर्तिमान् विज्ञानके समान निर्मल शङ्खसे ध्रुवके मुखको छुआ दिया । मरीचि आदि देवर्षियोंके दिये हुए ज्ञानरूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे क्षालित होकर ध्रुवका चित्त पूर्णतया निर्मल हो गया था । फिर त्रिभुवनगुरु भगवान्‌के शङ्ख-स्पर्शसे उसके अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो जानेपर उसमें पूर्ण प्रकाश हो गया । इससे वह आनन्दित होकर भगवान्‌की सुन्दर स्तुति करने लगा ॥ ८८-८९ ॥

ध्रुव उवाच

अखिलमुनिजननिवहनमितचरणः । खरकदन-

करः । चपलचरितः । देवाराधितपादजलः । सजलजलधरश्यामः शमितसौभपतिशाल्वधामा । अभिरामरामातिविनयकृतनवरसरसापहृतेन्द्रियसुररमणीविहितान्तःकरणानन्दः । अनादिनिधनः । अधननिजद्विजमित्रोद्धरणधीरः । अवधीरितसुरनाथनाथितविपक्षपक्षः । ऋक्षराजबिलप्रवेशापहृतस्यमन्तकापमार्जितनिजापवाददुरितहृतत्रैलोक्यभारः। द्वारकावासनिरतः । स्वरितमधुरवेणुवादनश्रवणामृतप्रकटितातीन्द्रियज्ञानः । यमुनातटचरः । द्विजधेनुभृङ्गगणैस्त्यक्तनिजनिजाहारः । संसारदुस्तरपारावारसमुत्तारणाङ्घ्रिपोतः । स्वप्रतापानलहुतकालयवनः । वनमालाधरवरमणिकुण्डलालंकृतश्रवणः । नानाप्रसिद्धाभिधानः । निगमविबुधमुनिजनवचनमनोऽगोचरः । कनकपिशङ्गकौशेयवासोभगवान् भृगुपदकौस्तुभविभूषितोरःस्थलः । स्वदयिताक्रूरनिजजननीगोकुलपालकचतुर्भुजशङ्खचक्रगदापद्मतुलसीनवदलदामहारकेयूरकटकमुकुटालंकृतः । सुनन्दनादिभागवतोपासितविश्वरूपः । पुराणपुरुषोत्तमः । उत्तमश्लोकः । लोकावासो वासुदेवः । श्रीदेवकीजठरसम्भूतः । भूतपतिविरञ्चिनतचरणारविन्दः । वृन्दावनकृतकेलिगोपिकाजनश्रमापहः । सततं सम्पादितसुजनकामः । कुन्दनिभशङ्खधरमिन्दुनिभवक्त्रं सुन्दरसुदर्शनमुदारतरहासं विद्वज्जनवन्दितमिदं ते रूपमतिहृद्यमखिलेश्वरं नतोऽस्मि ।

ध्रुव बोला—समस्त मुनिगण जिनके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं, जो खर राक्षस अथवा गर्दभरूपधारी धेनुकासुरका संहार करनेवाले हैं, जिनकी बाललीलाएँ चपलतासे पूर्ण हैं, देवगण जिनके चरणोदक (गङ्गाजी) की आराधना करते हैं, सजल मेघके समान जिनका श्याम वर्ण है, सौभ विमानके अधिपति शाल्वके धाम (तेज) को जिन्होंने सदाके लिये शान्त कर दिया है, जिन्होंने सुन्दर गोपवनिताओंके अत्यन्त विनयवश नूतन प्रेमरसमय रासलीलाको प्रकट किया और उससे मोहित होनेवाली देववनिताओंके अन्तःकरणमें भी आनन्दका संचार किया, जिनका आदि और अन्त नहीं है, जिन्होंने अपने निर्धन मित्र सुदामा नामक ब्राह्मणका धीरतापूर्वक दैन्यदुःखसे उद्धार किया, देवराज इन्द्रकी प्रार्थनासे जिन्होंने उनके शत्रुपक्षको पराजित किया, ऋक्षराज जाम्बवान्की गुहामें प्रवेश करके खोयी हुई स्यमन्तक मणिको लाकर जिन्होंने अपने ऊपर लगे हुए कलङ्करूप दुरितको दूर करके त्रिभुवनका भार हल्का किया है, जो द्वारकापुरीमें नित्य निवास करते हैं, जो अपनी मधुर मुरली बजाकर श्रुतिमधुर अतीन्द्रिय-ज्ञानको प्रकट करते तथा यमुनातटपर विचरते हैं, जिनके वंशीनादको सुननेके लिये पक्षी, गौ और भृङ्गगण अपना-अपना आहार त्याग देते हैं, जिनके चरणकमल दुस्तर संसार-सागरसे पार करनेके लिये जहाजरूप हैं, जिन्होंने अपनी प्रतापाग्निमें कालयवनको होम दिया है, जो वनमालाधारी हैं, जिनके श्रवण सुन्दर मणिमय कुण्डलोंसे अलंकृत हैं, जिनके अनेक प्रसिद्ध नाम हैं, जो वेदवाणी तथा देवता और मुनियोंके भी मन-वाणीके अगोचर हैं, जो भगवान् सुवर्णके समान पीत रेशमी वस्त्र धारण करते हैं, जिनका वक्षःस्थल भृगुजीके चरण-चिह्न तथा कौस्तुभमणिसे अलंकृत है, जो अपने प्रिय भक्त अक्रूर, माता देवकी और गोकुलके पालक हैं तथा जो अपनी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये नूतन तुलसीदलकी माला, मुक्ताहार, केयूर, कड़ा और मुकुट आदिसे विभूषित हैं, सुनन्दन आदि भगवद्भक्त जिन विश्वरूप हरिकी उपासना करते हैं, जो पुराण-पुरुषोत्तम हैं, पुण्ययशवाले हैं तथा समस्त लोकोंके आवास-स्थान वासुदेव हैं, जो देवकीके उदरसे प्रकट हुए हैं, भूतनाथ शिव तथा ब्रह्माजीने जिनके चरणारविन्दोंपर मस्तक झुकाया है, जो वृन्दावनमें की गयी लीलासे थकी हुई गोपियोंके श्रमको दूर करनेवाले हैं, सज्जनोंके मनोरथोंको जो सर्वदा पूर्ण किया करते हैं, ऐसी महिमावाले हे सर्वेश्वर ! जो कुन्दके समान उज्ज्वल शङ्ख धारण करते हैं, जिसका चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख है, सुन्दर नेत्र हैं तथा अत्यन्त मनोहर मुसकान है, ऐसे अत्यन्त हृदयहारी आपके इस रूपको, जो ज्ञानियोंद्वारा वन्दित है, मैं प्रणाम करता हूँ ।

स्थानाभिकामी तपसि स्थितोऽहं
त्वां दृष्टवान् साधुमुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरान्न याचे ॥९०॥

अपूर्वदृष्टे तव पादपद्मे
दृष्ट्वा दृढं नाथ नहि त्यजामि ।
कामान् न याचे स हि कोऽपि मूढो
यः कल्पवृक्षात् तुषमात्रमिच्छेत् ॥९१॥
त्वां मोक्षबीजं शरणं प्रपन्नः
शक्नोमि भोक्तुं न बहिस्सुखानि ।
रत्नाकरे देव सति स्वनाथे
विभूषणं काचमयं न युक्तम् ॥९२॥
अतो न याचे वरमीश युष्मत्-
पादाब्जभक्तिं सततं ममास्तु ।
इमं वरं देववर प्रयच्छ
पुनः पुनस्त्वामिदमेव याचे ॥९३॥

मैं उत्तम स्थान प्राप्त करनेकी इच्छासे तपस्यामें प्रवृत्त हुआ और बड़े-बड़े मुनीश्वरोंके लिये भी जिनका दर्शन पाना असम्भव है, उन्हीं आप परमेश्वरका दर्शन पा गया—ठीक उसी तरह, जैसे काँचकी खोज करनेवाला कोई मनुष्य भाग्यवश दिव्य रत्न हस्तगत कर ले। स्वामिन्! मैं कृतार्थ हो गया; अब मैं कोई वर नहीं माँगता। हे नाथ! जिनका दर्शन अपूर्व है—पहले कभी उपलब्ध नहीं हुआ है उन आपके चरणकमलोंका दर्शन पाकर अब मैं इन्हें छोड़ नहीं सकता। मैं अब भोगोंकी याचना नहीं करूँगा; ऐसा कोई मूर्ख ही होगा, जो कल्पवृक्षसे केवल भूसी पाना चाहेगा? देव! आज मैं मोक्षके कारणभूत आप परमेश्वरकी शरणमें आ पड़ा हूँ, अब बाह्य विषय-सुखोंको मैं नहीं भोग सकता। जब रत्नोंकी खान समुद्र अपना मालिक हो जाय, तब काँचका भूषण पहनना कभी उचित नहीं हो सकता। अतः देव! अब मैं दूसरा कोई वर नहीं माँगता; आपके चरण-कमलोंमें मेरी सदा भक्ति बनी रहे, देववर! मुझे यही वर दीजिये। मैं बारंबार आपसे यही प्रार्थना करता हूँ ॥ ९०—९३ ॥

श्रीसूत उवाच

इत्यात्मसंदर्शनलब्धदिव्य-
ज्ञानं वदन्तं भगवाञ्जगाद ॥९४॥

श्रीसूतजी कहते हैं—इस प्रकार अपने दर्शनमात्रसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करके स्तुति करते हुए ध्रुवको देखकर भगवान्‌ने उससे कहा ॥ ९४ ॥

श्रीभगवानुवाच

आराध्य विष्णुं किमनेन लब्धं
मा भूज्जनेऽपीत्थमसाधुवादः ।
स्थानं परं प्राप्नुहि यन्मतं ते
कालेन मां प्राप्स्यसि शुद्धभावः ॥९५॥
आधारभूतः सकलग्रहाणां
कल्पद्रुमः सर्वजनैश्च वन्द्यः ।
मम प्रसादात्तव सा च माता
ममान्तिके या च सुनीतिरार्या ॥९६॥

श्रीभगवान् बोले—ध्रुवने विष्णुकी आराधना करके क्या पा लिया?' इस तरहका अपवाद लोगोंमें न फैल जाय। इसके लिये तुम अपने अभीष्ट सर्वोत्तम स्थानको ग्रहण करो, पुनः समय आनेपर शुद्धभाव हो तुम मुझे प्राप्त कर लोगे। मेरे प्रसादसे समस्त ग्रहोंके आधारभूत, कल्पवृक्ष और सब लोगोंके वन्दनीय होकर तुम और तुम्हारी माता आर्या सुनीति मेरे निकट निवास करोगे ॥ ९५-९६ ॥

श्रीसूत उवाच

तं साधयित्वेति वरैर्मुकुन्दः
स्वमालयं हृष्टवपुर्जगाम ।
त्यक्त्वा शनैर्दिव्यवपुः स्वभक्तं
मुहुः परावृत्य समीक्षमाणः ॥९७॥
तावच्च सद्यः सुरसिद्धसंघः
श्रीविष्णुतद्भक्तसमागमं तम् ।
दृष्ट्वाथ वर्षन् सुरपुष्पवृष्टिं
तुष्टाव दृष्टो ध्रुवमच्युतं च ॥९८॥
श्रियाभिमत्या च सुनीतिसूनु-
र्विभाति देवैरपि वन्द्यमानः ।
योऽयं नृणां कीर्तनदर्शनाभ्या-
मायुर्यशो वर्धयति श्रियं च ॥९९॥

श्रीसूतजी कहते हैं—इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रकट हो, उपर्युक्त वरदानोंसे ध्रुवका मनोरथ पूर्ण करके, भगवान् मुकुन्द धीरेसे अपना वह दिव्य रूप छिपा, बारंबार घूमकर उस भक्तको और देखते हुए अपने वैकुण्ठधामको चले गये। इसी बीचमें देवताओंका समुदाय भगवान् विष्णु और उनके भक्तके उस

समागमको देख हर्षके मारे तत्काल दिव्य पुष्प बरसाने और उस अविनाशी ध्रुवका स्तवन भी करने लगा। सुनीतिकुमार ध्रुव आज श्री और सम्मान—दोनोंसे सम्पन्न होकर देवताओंका भी वन्दनीय हो, शोभा पा रहा है। यह अपने दर्शन तथा गुणकीर्तनसे मनुष्योंकी आयु, यश तथा लक्ष्मीकी भी वृद्धि करता रहेगा॥ ९७–९९॥

इत्थं ध्रुवः प्राप पदं दुरापं
हरेः प्रसादान्न च चित्रमेतत्।
तस्मिन् प्रसन्ने द्विजराजपत्रे
न दुर्लभं भक्तजनेषु किंचित्॥१००॥
सूर्यमण्डलमानात्तु द्विगुणं सोममण्डलम्।
पूर्णे शतसहस्रे द्वे तस्मान्नक्षत्रमण्डलम्॥१०१॥
द्वे लक्षेऽपि बुधस्यापि स्थानं नक्षत्रमण्डलात्।
तावत्प्रमाणभागे तु बुधस्याप्युशना स्थितः॥१०२॥
अङ्गारकोऽपि शुक्रस्य तावन्माने व्यवस्थितः।
लक्षद्वयं तु भौमस्य स्थितो देवपुरोहितः॥१०३॥
सौरिर्बृहस्पतेश्चोर्ध्वं द्विलक्षे तु व्यवस्थितः।
तस्माच्छनैश्चरादूर्ध्वं लक्षे सप्तर्षिमण्डलम्॥१०४॥
सप्तर्षिमण्डलादूर्ध्वमेकं लक्षं ध्रुवः स्थितः।
मेढीभूतः समस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्य सत्तम॥१०५॥

इस प्रकार ध्रुव भगवान् विष्णुके प्रसादसे दुर्लभ पद पा गया—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। उन गरुडवाहन भगवान्‌के प्रसन्न हो जानेपर भक्तोंके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। सूर्यमण्डलका जितना मान है, उससे दूना चन्द्रमण्डलका मान है। चन्द्रमण्डलसे पूरे दो लाख योजन दूर ऊपर नक्षत्रमण्डल है, नक्षत्रमण्डलसे भी दो लाख योजन ऊँचे बुधका स्थान है और बुधके भी स्थानसे उतनी ही दूरीपर शुक्रकी स्थिति है। शुक्रसे भी दो लाख योजन दूर मङ्गल है और मङ्गलसे दो लाख योजनपर देवपुरोहित बृहस्पतिका निवास है। बृहस्पतिसे भी दो लाख योजन ऊपर शनैश्चरका स्थान है। उन शनैश्चरसे दो लाख योजन ऊपर सप्तर्षियोंका मण्डल है। सप्तर्षि-मण्डलसे एक लाख योजन ऊपर ध्रुव स्थित है। साधुशिरोमणे! वह समस्त ज्योतिर्मण्डलका केन्द्र है॥ १००–१०५॥

स्वभावात् तपति विप्रेन्द्र अधश्चोर्ध्वं च रश्मिभिः।
कालसंख्यां त्रिलोकस्य स करोति युगे युगे॥१०६॥
जनस्तपस्तथा सत्यमेताँल्लोकान् द्विजोत्तम।
ब्रह्मणा मुनिशार्दूल विष्णुभक्तिविवर्धितः॥१०७॥
ऊर्ध्वगतैर्द्विजश्रेष्ठ रश्मिभिस्तपते रविः।
अधोगतैश्च भूर्लोकं द्योतते दीर्घदीधितिः॥१०८॥

विप्रवर! सूर्यदेव स्वभावतः अपनी किरणोंद्वारा नीचे तथा ऊपरके लोकोंमें ताप पहुँचाते हैं। वे ही प्रत्येक युगमें त्रिभुवनकी कालसंख्या निश्चित करते हैं। द्विजोत्तम! मुनिश्रेष्ठ! ब्रह्माजीके द्वारा विष्णुभक्तिसे अभ्युदयको प्राप्त होकर सूर्य अपनी ऊर्ध्वगत किरणोंसे ऊपरके जन, तप तथा सत्य लोकोंमें गर्मी पहुँचाते हैं और अधोगत किरणोंसे भूलोकको प्रकाशित करते हैं॥ १०६–१०८॥

सर्वपापहरः सूर्यः कर्ता त्रिभुवनस्य च।
छत्रवत् प्रतिपश्येत मण्डलान्मण्डलं परम्॥१०९॥
आदित्यमण्डलाधस्तात् भुवर्लोकं प्रतिष्ठितम्।
त्रैलोक्यस्यैश्वरत्वं च विष्णुदत्तं शतक्रतोः॥११०॥
लोकपालैः स सहितो लोकान् रक्षति धर्मतः।
वसेत् स्वर्गे महाभाग देवेन्द्रः स तु कीर्तिमान्॥१११॥
ततोऽधस्तात्तले चेदं पातालं विद्धि सप्तमम्।
न तत्र तपते सूर्यो न रात्रिर्न निशाकरः॥११२॥
दिव्यरूपमास्थाय तपन्ति सततं जनाः।
पातालस्था द्विजश्रेष्ठ दीप्यमानाः स्वतेजसा॥११३॥
स्वर्लोकात्तु महर्लोकः कोटिमात्रे व्यवस्थितः।
ततो योजनमात्रेण द्विगुणो मण्डलेन तु॥११४॥
जनलोकः स्थितो विप्र पञ्चमो मुनिसेवितः।
तत्रोपरि तपोलोकश्चतुर्भिः कोटिभिः स्थितः॥११५॥
सत्यलोकोऽष्टकोटीभिस्तपोलोकोपरिस्थितः।
सर्वे छत्राकृतिर्ज्ञेया भुवनोपरिसंस्थिताः॥११६॥
ब्रह्मलोकाद्विष्णुलोको द्विगुणश्च व्यवस्थितः।
वाराहे तस्य माहात्म्यं कथितं लोकचिन्तकैः॥११७॥

ततः परं द्विजश्रेष्ठ स्थितः परमपूरुषः ।
ब्रह्माण्डात् परमः साक्षान्निर्लेपः पुरुषःस्थितः ॥११८॥
पशुपाशैर्विमुच्येत तपोज्ञानसमन्वितः ।

समस्त पापोंको हरनेवाले सूर्यदेव त्रिभुवनकी सृष्टि करते हैं। वे छत्रकी भाँति स्थित हो एक मण्डलसे दूसरे मण्डलको दर्शन देते और प्रकाशित करते हैं। सूर्यमण्डलके नीचे भुवर्लोक प्रतिष्ठित है। तीनों भुवनोंका आधिपत्य भगवान् विष्णुने शतक्रतु इन्द्रको दे रक्खा है। वे समस्त लोकपालोंके साथ धर्मपूर्वक लोकोंकी रक्षा करते हैं। महाभाग ! वे यशस्वी देवेन्द्र स्वर्गलोकमें निवास करते हैं। मुने ! इन सात लोकोंसे नीचे वह प्रभापूर्ण पाताल-लोक स्थित है, ऐसा आप जानें। वहाँ न सूर्यका ताप है, न चन्द्रमाका प्रकाश; [न दिन है] न रात। द्विजश्रेष्ठ ! पातालवासी जन दिव्य रूप धारण करके सदा अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए तपते हैं। स्वर्गलोकसे करोड़ योजन ऊपर महर्लोक स्थित है। हे विप्र ! उससे दूने दो करोड़ योजनपर मुनिसेवित जनलोक, जो पाँचवाँ लोक है, स्थित है। उससे चार करोड़ योजन ऊपर तपोलोककी स्थिति है। तपोलोकसे ऊपर आठ करोड़ योजनपर सत्यलोक (ब्रह्मलोक) स्थित है। ये सभी भुवन एक-दूसरेके ऊपर छत्रकी भाँति स्थित हैं। ब्रह्मलोकसे सोलह करोड़ योजनपर विष्णुलोककी स्थिति है। लोकचिन्तकोंने वाराहपुराणमें उसके माहात्म्यका वर्णन किया है। द्विजश्रेष्ठ ! इसके आगे परम पुरुषकी स्थिति है, जो ब्रह्माण्डसे विलक्षण साक्षात् परमात्मा हैं। इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य तप और ज्ञानसे युक्त होकर पशुपाश (अविद्या-बन्धन) से मुक्त हो जाता है ॥ १०९-११८½ ॥

इति ते संस्थितिः प्रोक्ता भूगोलस्य मयानघ ।
यस्तु सम्यगिमां वेत्ति स याति परमां गतिम् ॥११९॥
लोकस्य संस्थानकरोऽप्रमेयो
विष्णुर्नृसिंहो नरदेवपूजितः ।
युगे युगे विष्णुरनादिमूर्तिमा-
नास्थाय विश्वं परिपाति दुष्टहा ॥१२०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

अनघ ! इस प्रकार मैंने तुम्हें भूगोलकी स्थिति बतलायी। जो पुरुष सम्यक् प्रकारसे इसका ज्ञान रखता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। मनुष्यों और देवताओंसे पूजित नृसिंहस्वरूप अप्रमेय भगवान् विष्णु लोककी रक्षा करनेवाले हैं। वे अनादिमूर्तिमान् परमेश्वर प्रत्येक युगमें शरीर धारणकर दुष्टोंका वध करके विश्वका पालन करते हैं ॥ ११९-१२० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ अध्याय

सहस्रानीक-चरित्र; श्रीनृसिंह-पूजनका माहात्म्य

भरद्वाज उवाच

सहस्रानीकस्य हरेरवतारांश्च शार्ङ्गिणः ।
साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि तन्मे वद महामते ॥ १ ॥

भरद्वाजजी बोले—सूतजी ! अब मैं सहस्रानीकका चरित्र और भगवान् विष्णुके अवतारोंकी कथा सुनना चाहता हूँ; महामते ! कृपा करके वह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

सूत उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि चरितं तस्य धीमतः ।
सहस्रानीकस्य हरेरवतारांश्च मे शृणु ॥ २ ॥

सूतजीने कहा—ब्रह्मन् ! बहुत अच्छा; अब मैं बुद्धिमान् सहस्रानीकके चरित्रका और भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन करूँगा; सुनिये ॥ २ ॥

सहस्रानीकोऽभिषिक्तो निजराज्ये द्विजोत्तमैः ।
पालयामास धर्मेण राज्यं स तु नृपात्मजः ॥ ३ ॥
तस्य पालयतो राज्यं राजपुत्रस्य धीमतः ।
भक्तिर्बभूव देवेशे नरसिंहे सुरोत्तमे ॥ ४ ॥
तं द्रष्टुमागतः साक्षाद्विष्णुभक्तो भृगुः पुरा ।
अर्घ्यपाद्यासनै राजा तमभ्यर्च्याब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥
पावितोऽहं मुनिश्रेष्ठ साम्प्रतं तव दर्शनात् ।
त्वद्दर्शनमपुण्यानां कलाविह सुदुर्लभम् ॥ ६ ॥

नरसिंहं प्रतिष्ठाप्य देवदेवं सनातनम् ।
आराधयितुमिच्छामि विधानं तत्र मे वद ॥ ७ ॥
अवतारानशेषांश्च देवदेवस्य चक्रिणः ।
श्रोतुमिच्छामि सकलांस्तान् पुण्यानपि मे वद ॥ ८ ॥

राजकुमार सहस्रानीकको जब उत्तम ब्राह्मणोंने उसके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया; तब वे धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगे । राज्यके पालनमें लगे हुए बुद्धिमान् राजकुमारकी देवेश्वर, देवश्रेष्ठ भगवान् नृसिंहमें भक्ति हो गयी । पूर्वकालमें एक बार उन विष्णुभक्त नरेशका दर्शन करनेके लिये स्वयं भृगुजी आये । राजाने अर्घ्य, पाद्य और आसनादिके द्वारा भृगुजीका सम्मान करके उनसे यह कहा—'मुनिश्रेष्ठ ! इस समय मैं आपके दर्शनसे पवित्र हो गया । जिन्होंने पुण्य नहीं किया है, ऐसे मनुष्योंके लिये इस कलियुगमें आपका दर्शन परम दुर्लभ है । मैं सनातन देवदेव नरसिंहकी स्थापना करके उनकी आराधना करना चाहता हूँ; आप कृपया मुझे इसका विधान बतायें । तथा मैं देवदेव श्रीहरिके सम्पूर्ण अवतारोंको भी सुनना चाहता हूँ; अतः आप उन सभी पुण्यावतारोंकी कथा मुझसे कहिये' ॥ ३-८ ॥

भृगुरुवाच

शृणु भूपालपुत्र त्वं न हि कश्चित् कलौ युगे ।
हरौ भक्तिं करोत्यत्र नृसिंहे चातिभक्तिमान् ॥ ९ ॥
स्वभावाद्यस्य भक्तिः स्यान्नरसिंहे सुरोत्तमे ।
तस्यारयः प्रणश्यन्ति कार्यसिद्धिश्च जायते ॥ १० ॥
त्वमतीव हरेर्भक्तः पाण्डुवंशेऽपि सत्तमः ।
तेन ते निखिलं वक्ष्ये शृणुष्वैकाग्रमानसः ॥ ११ ॥

भृगुजी बोले—राजकुमार ! सुनो; इस कलियुगमें कोई भी भगवान् नृसिंहके प्रति अत्यन्त भक्तिभाव रखकर उनकी आराधना नहीं कर रहा है । देवेश्वर भगवान् नृसिंहमें जिसकी स्वभावतः भक्ति हो जाती है, उसके सारे शत्रु नष्ट हो जाते हैं और उसे प्रत्येक कार्यमें सिद्धि प्राप्त होती है । इस पाण्डुवंशमें तुम ही श्रेष्ठ पुरुष और भगवान्‌के अत्यन्त भक्त हो; अतः तुमसे मैं तुम्हारी पूछी हुई सब बातें बताऊँगा; एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ९-११ ॥

यः कुर्याच्छोभनं वेश्म नरसिंहस्य भक्तिमान् ।
स सर्वपापनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥
प्रतिमां लक्षणोपेतां नरसिंहस्य कारयेत् ।
स सर्वपापनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ १३ ॥
प्रतिष्ठां नरसिंहस्य यः करोति यथाविधि ।
निष्कामो नरशार्दूल देहबाधात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥
नरसिंहं प्रतिष्ठाप्य यः पूजामाचरेन्नरः ।
तस्य कामाः प्रसिध्यन्ति परमं पदमाप्नुयात् ॥ १५ ॥
ब्रह्माद्यः सुराः सर्वे विष्णुमाराध्य ते पुरा ।
स्वं स्वं पदमनुप्राप्ताः केशवस्य प्रसादतः ॥ १६ ॥
ये ये नृपवरा राजन् मांधातृप्रमुखा नृपाः ।
ते ते विष्णुं समाराध्य स्वर्गलोकमितो गताः ॥ १७ ॥
यस्तु पूजयते नित्यं नरसिंहं सुरेश्वरम् ।
स स्वर्गमोक्षभागी स्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥ १८ ॥
तस्मादेकमना भूत्वा यावज्जीवं प्रतिज्ञया ।
अर्चनान्नरसिंहस्य प्राप्स्यसे त्वाभिवाञ्छितम् ॥ १९ ॥
विधिवत्स्थापयेद्यस्तु कारयित्वा जनार्दनम् ।
न तु निर्गमनं तस्य विष्णुलोकाद् भवेन्नृप ॥ २० ॥
नरो नृसिंहं त्वनन्तविक्रमं
सुरासुरैरर्चितपादपङ्कजम् ।
संस्थाप्य भक्त्या विधिवत्तु पूजयेत्
प्रयाति साक्षात् परमेश्वरं हरिम् ॥ २१ ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सहस्रानीकचरिते द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

जो भक्तिपूर्वक नृसिंहदेवका सुन्दर मन्दिर निर्माण कराता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर भगवान् विष्णुके लोकमें स्थान पाता है । जो भगवान् नृसिंहकी सुन्दर लक्षणोंसे युक्त प्रतिमा बनवाता है, वह सब पापोंसे छुटकारा पाकर विष्णुलोकको जाता है । नरश्रेष्ठ ! जो निष्कामभावसे नृसिंहदेवकी विधिवत् प्रतिष्ठा करता है, वह दैहिक दुःखोंसे मुक्त हो जाता है । जो भगवान् नृसिंहकी स्थापना करके सदा उनकी पूजा करता है, उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं तथा वह परम पदको प्राप्त कर लेता है । ब्रह्मादि सभी देवता पूर्वकालमें भगवान् विष्णुकी आराधना करके उनके प्रसादसे अपने-अपने लोकको प्राप्त हुए थे । राजन् ! मांधाता आदि जो-जो प्रधान नरेश हो गये हैं, वे सभी

भगवान् विष्णुकी आराधना करके यहाँसे स्वर्गलोकको चले गये। जो सुरेश्वर नृसिंहका प्रतिदिन पूजन करता है, वह स्वर्ग और मोक्षका भागी होता है—इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये तुम भी प्रतिज्ञापूर्वक एकाचित्त होकर, जीवनपर्यन्त भगवान् नृसिंहकी पूजा करते हुए अपना मनोरथ प्राप्त करोगे। नृप! जो भगवान् जनार्दनकी प्रतिमा बनवाकर विधिवत् उसकी स्थापना करता है, उसका विष्णुलोकसे कभी निष्क्रमण नहीं होता। यदि मनुष्य उन अनन्त विक्रमशाली भगवान् नरसिंहकी, जिनके चरण-कमलोंकी देवता तथा असुर, दोनों ही पूजा करते हैं, विधिवत् स्थापना करके भक्तिपूर्वक पूजा करे तो वह साक्षात् परमेश्वर भगवान् विष्णुको प्राप्त कर लेता है ॥ १२—२१ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें सहस्रानीक-चरित्रके अन्तर्गत बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

तैंतीसवाँ अध्याय

भगवान्‌के मन्दिरमें झाड़ू देने और उसको लीपनेका महान् फल—राजा जयध्वजकी कथा

राजोवाच

हरेरर्चाविधिं पुण्यां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
त्वत्प्रसादाद्विशेषेण भगवन् प्रब्रवीहि मे ॥ १ ॥
सम्मार्जनकरो यश्च नरसिंहस्य मन्दिरे।
यत्पुण्यं लभते तद्वदुपलेपनकृन्नरः ॥ २ ॥
शुद्धोदकेन यत्पुण्यं स्नापिते केशवे भवेत्।
क्षीरस्नानेन यत्पुण्यं दध्ना च मधुना तथा।
घृतस्नानेन यत्पुण्यं पञ्चगव्येन यद् भवेत् ॥ ३ ॥
क्षालिते चोष्णतोयेन प्रतिमायां च भक्तितः।
कर्पूरागुरुतोयेन मिश्रेण स्नापितेन च ॥ ४ ॥
अर्घ्यदानेन यत्पुण्यं पाद्याचमनदानके।
मन्त्रेण स्नापिते यच्च वस्त्रदानेन यद्भवेत् ॥ ५ ॥

राजा बोले—भगवन्! मैं आपके प्रसादसे भगवान्‌के पूजनकी पावन विधिको विशेषरूपसे यथावत् सुनना चाहता हूँ; कृपया आप मुझे विस्तारसे बतायें। भगवान् नृसिंहके मन्दिरमें जो झाड़ू देता है वह, तथा जो उसे लीपता-पोतता है, वह पुरुष किस पुण्यको प्राप्त करता है? केशवको शुद्ध जलसे स्नान करानेपर कौन-सा पुण्य प्राप्त होता है तथा दूध, दही, मधु, घी एवं पञ्चगव्यद्वारा स्नान करानेसे क्या पुण्य होता है? भगवान्‌की प्रतिमाको गर्म जलसे भक्तिपूर्वक स्नान करानेपर तथा कपूर और अगर मिले हुए जलसे स्नान करानेपर कौन-सा पुण्य प्राप्त होता है? भगवान्‌को अर्घ्य देनेसे, पाद्य और आचमन अर्पण करनेसे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक नहलानेसे और वस्त्र-दान करनेसे क्या पुण्य होता है? ॥ १—५ ॥

श्रीखण्डकुङ्कुमाभ्यां तु अर्चिते किं फलं भवेत्।
पुष्पैरभ्यर्चिते यच्च यत्फलं धूपदीपयोः ॥ ६ ॥
नैवेद्यैर्यत्फलं प्रोक्तं प्रदक्षिणकृते तु यत्।
नमस्कारकृते यच्च फलं यत्स्तोत्रगीतयोः ॥ ७ ॥
तालवृन्तप्रदानेन चामरस्य च यद्भवेत्।
ध्वजप्रदाने यद्विष्णोः शङ्खदानेन यद्भवेत् ॥ ८ ॥
एतच्चान्यच्च यत्किंचिदज्ञानान्न प्रचोदितम्।
तत्सर्वं कथय ब्रह्मन् भक्तस्य मम केशवे ॥ ९ ॥

चन्दन और केसरद्वारा पूजा करनेपर तथा फूलोंसे पूजा करनेपर क्या फल होता है? तथा धूप और दीप देनेका क्या फल है? नैवेद्य निवेदन करनेका और प्रदक्षिणा करनेका क्या फल है? इसी प्रकार नमस्कार करनेसे एवं स्तुति और यशोगान करनेसे कौन-सा फल प्राप्त होता है? भगवान् विष्णुके लिये पंखा दान करने, चँवर प्रदान करने, ध्वजाका दान करने और शङ्ख-दान करनेसे क्या फल होता है? ब्रह्मन्! मैंने जो कुछ पूछा है, वह तथा अज्ञानवश मैंने जो नहीं पूछा है, वह सब भी मुझसे कहिये; क्योंकि भगवान् केशवके प्रति मेरी हार्दिक भक्ति है ॥ ६—९ ॥

सूत उवाच

इति सम्प्रेरितो विप्रस्तेन राज्ञा भृगुस्तदा।
मार्कण्डेयं नियुज्याथ कथने स गतो मुनिः ॥ १० ॥
सोऽपि तस्मिन् मुदायुक्तो हरिभक्त्या विशेषतः।
राज्ञे प्रवक्तुमारेभे भृगुणा चोदितो मुनिः ॥ ११ ॥

सूतजी बोले—राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे ब्रह्मर्षि

भृगुमुनि मार्कण्डेयजीको उत्तर देनेके लिये नियुक्त करके स्वयं चले गये। भृगुजीकी प्रेरणासे मुनिवर मार्कण्डेयजीने राजापर उनकी हरिभक्तिसे विशेष प्रसन्न होकर उनके प्रति इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ १०-११ ॥

मार्कण्डेय उवाच

राजपुत्र शृणुष्वेदं हरिपूजाविधिं क्रमात्।
विष्णुभक्तस्य वक्ष्यामि तवाहं पाण्डुवंशज ॥१२॥
नरसिंहस्य नित्यं च यः सम्मार्जनमारभेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके स मोदते ॥१३॥
गोमयेन मृदा तोयैर्यः करोत्युपलेपनम्।
स चाक्षयफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते ॥१४॥
अत्रार्थे यत्पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तिर्भवति सत्तम ॥१५॥

मार्कण्डेयजी बोले—पाण्डुकुलनन्दन राजकुमार! भगवान् विष्णुकी इस पूजा-विधिको क्रमशः सुनो; तुम विष्णुके भक्त हो, अतः मैं तुम्हें यह सब बताऊँगा। जो भगवान् नरसिंहके मन्दिरमें नित्य झाड़ू लगाता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोकमें आनन्दित होता है। जो गोबर, मिट्टी तथा जलसे वहाँकी भूमि लीपता है, वह अक्षय फल प्राप्त करके विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है। सत्तम! इस विषयमें एक प्राचीन सत्य इतिहास है, जिसे सुनकर सब पापोंसे मुक्ति मिल जाती है ॥ १२-१५ ॥

पुरा युधिष्ठिरो राजा पञ्चभिर्भ्रातृभिर्युतः।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र काननं विचचार ह ॥१६॥
शूलकण्टकनिष्क्रान्तास्ततस्ते पञ्च पाण्डवाः।
नारदोऽपि गतो नाकं जुष्ट्वेदं तीर्थमुत्तमम् ॥१७॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्रस्थितस्तीर्थमुत्तमम्।
दर्शनं मुनिमुख्यस्य तीर्थधर्मोपदेशिनः ॥१८॥
चिन्तयति च धर्मात्मा क्रोधपैशुन्यवर्जितः।
दानवो बहुरोमा च तथा स्थूलशिरा नृप ॥१९॥
पाण्डवान् गच्छतो वीक्ष्य दानवो द्रौपदीच्छया।
कृत्वा भूप मुने रूपं बहुरोमाऽऽगतस्तदा ॥२०॥
प्रणिधानं विधायाथ आसीनः कुशविष्टरे।
बिभ्रत् कमण्डलुं पार्श्वे दर्भसूचीं तथा करे ॥२१॥
अक्षमालां जपन्मन्त्रं स्वनासाग्रं निरीक्षयन्।
स दृष्टः पाण्डवैस्तत्र रेवायां वनचारिभिः ॥२२॥

राजेन्द्र! पूर्वकालमें राजा युधिष्ठिर द्रौपदी तथा अपने पाँच भाइयोंके साथ वनमें विचरते थे। घूमते-घूमते वे पाँचों पाण्डव शूल और कण्टकमय मार्गको पार करके एक उत्तम तीर्थकी ओर प्रस्थित हुए। उसके पहले भगवान् नारदजी भी उस उत्तम तीर्थका सेवन करके स्वर्गलोकको लौट गये थे। क्रोध और पिशुनतासे रहित धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर उस उत्तम तीर्थकी ओर प्रस्थान करके तीर्थधर्मका उपदेश करनेवाले किसी मुनिवरके दर्शनकी बात सोच रहे थे, इसी बीचमें बहुरोमा तथा स्थूलशिरा नामक दानव वहाँ आये। भूपाल! पाण्डवोंको जाते देख द्रौपदीका अपहरण करनेकी इच्छासे बहुरोमा नामक दानव मुनिका रूप धारण करके वहाँ आया। वह कुशके आसनपर बैठकर ध्यानमग्न हो गया। उसके पार्श्वमें कमण्डलु था और हाथमें उसने कुशकी पवित्री पहन रक्खी थी। वह नासिकाके अग्रभागका अवलोकन करता हुआ रुद्राक्षकी मालासे मन्त्र-जप कर रहा था। नर्मदा-तटवर्ती वनमें भ्रमण करते हुए पाण्डवोंने वहाँ उसे देखा ॥ १६—२२ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा तं प्रणम्य सहानुजः।
जगाद वचनं दृष्ट्वा भाग्येनासि महामुने ॥२३॥
तीर्थानि रुद्रदेहायाः सुगोप्यानि निवेदय।
मुनीनां दर्शनं नाथ श्रुतं धर्मोपदेशकम् ॥२४॥

तदनन्तर उसे देखकर राजा युधिष्ठिरने भाइयोंसहित प्रणाम करके उससे यह बात कही—'महामुने! भाग्यसे आप यहाँ विद्यमान हैं। इस 'रुद्रदेहा' (रेवा) के समीपवर्ती परम गोपनीय तीर्थोंको हमें बताइये। नाथ! हमने सुना है कि मुनियोंका दर्शन धर्मका उपदेश करनेवाला होता है ॥ २३-२४ ॥

यावन्मुनिमुवाचेदं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
तावत्स्थूलशिराः प्राप्तो मुनिरूपधरोऽपरः ॥२५॥
जल्पन्नित्यातुरं वाक्यं को नामास्त्यत्र रक्षकः।
भयातुरं नरो जीवं यो रक्षेच्छरणागतम् ॥२६॥
तस्यानन्तफलं स्याद्धि किं पुनर्मां द्विजोत्तमम्।
एकतो मेदिनीदानं मेरुभूधरदक्षिणम् ॥२७॥

अन्यतो ह्यार्तजीवानां प्राणसंक्षयवारणम् ।
द्विजं धेनुं स्त्रियं बालं पीड्यमानं च दुर्जनैः ॥२८॥
उपेक्षेत नरो यस्तु स च गच्छति रौरवम् ।
अथ मां हृतसर्वस्वं प्राणत्यागपरायणम् ॥२९॥
को रक्षति नरो वीरः पराभूतं हि दानवैः ।
गृहीत्वा चाक्षमालां मे तथा शुभकमण्डलुम् ॥३०॥
निहतोऽहं कराघातैस्तथा खाटो मनोहरः ।
गृहीतं मम सर्वस्वं दानवेन दुरात्मना ॥३१॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिर जबतक उस मायावी मुनिसे बात कर ही रहे थे, तबतक ही स्थूलशिरा नामक दूसरा दानव मुनिरूप धारण किये वहाँ आ पहुँचा । वह बड़े ही आतुरभावसे इस प्रकार पुकार रहा था—'अहो ! यहाँ कौन हमारी रक्षा करनेवाला है ? जो मनुष्य शरणमें आये हुए किसी भी भय-पीडितकी रक्षा करता है, वह अनन्त पुण्यफलका भागी होता है; फिर जो मुझ उत्तम ब्राह्मणकी रक्षा करेगा, उसके पुण्य-फलका तो कहना ही क्या है । एक ओर मेरुपर्वतकी दक्षिणापूर्वक सम्पूर्ण पृथिवीका दान और दूसरी ओर पीड़ित प्राणियोंके प्राण-संकटका निवारण—दोनों बराबर हैं । जो पुरुष दुष्टोंद्वारा सताये जाते हुए ब्राह्मण, गौ, स्त्री और बालकोंकी उपेक्षा करता है, वह रौरव नरकमें पड़ता है । मेरा सर्वस्व लूट लिया गया है । मैं दानवोंसे अपमानित होकर प्राण त्याग देनेको उद्यत हूँ । इस समय कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो मेरी रक्षा कर सके ? दुष्ट दानवने मेरी स्फटिककी माला, सुन्दर कमण्डलु और मनोहर खाट छीनकर मुझे थप्पड़से मारा है और सर्वस्व लूट लिया है ॥ २५–३१ ॥

इत्याकर्ण्य वचः क्लीबं पाण्डवा जातसम्भ्रमाः ।
यान्ति रोमाञ्चिता भूयो विधायाग्निं च तं मुनिम् ॥३२॥
विमुच्य द्रौपदीं तत्र मुनेः पार्श्वे महात्मनः ।
ततो दूरतरं प्राप्ताः संरम्भात्ते च पाण्डवाः ॥३३॥

इस प्रकारके कातर वचन सुनकर पाण्डव हड़बड़ा गये । वे रोमाञ्चित हो, आग जलाकर उस मुनिके पीछे चले । द्रौपदीको उन लोगोंने पहलेवाले महात्मा मुनिके पास ही छोड़ दिया और स्वयं रोषसे भरकर वहाँसे बहुत दूर निकल गये ॥ ३२-३३ ॥

ततो युधिष्ठिरोऽवोचत् किं च नो नात्र दृश्यते ।
कृष्णासंरक्षणार्थाय व्रज व्यावर्त्य चार्जुन ॥३४॥
ततोऽर्जुनो विनिष्क्रान्तो बन्धुवाक्यप्रणोदितः ।
ततो युधिष्ठिरो राजा सत्यां वाचमकल्पयत् ॥३५॥
निरीक्ष्य मण्डलं भानोस्तदा सुगहने वने ।
मम सत्याच्च सुकृताद् धर्मसम्भाषणात् प्रभो ॥३६॥
तथ्यं शंसन्तु त्रिदशा मम संशयभाजिनः ।

तदनन्तर युधिष्ठिरने कहा—हमें तो यहाँ कुछ भी दिखायी नहीं देता । अर्जुन ! तुम द्रौपदीकी रक्षाके लिये यहाँसे लौट जाओ । तब भाईके वचनसे प्रेरित होकर अर्जुन वहाँसे चल दिये । राजन् ! फिर राजा युधिष्ठिरने उस गहन वनके भीतर सूर्यमण्डलकी ओर देखकर यह सत्य वचन कहा—'मेरी सत्यवादिता, पुण्यकर्म तथा धर्मपूर्वक भाषण करनेसे संतुष्ट होकर देवगण संशयमें पड़े हुए मुझको सत्य बात बतला दें ॥ ३४–३६½ ॥

ततोऽम्बरेऽभवद्वाणी तदा भूपाशरीरिणी ॥३७॥
दानवोऽयं महाराज मुनिः स्थूलशिराः स्थितः ।
नासावुपद्रुतः केन मायैषास्य दुरात्मनः ॥३८॥

राजन् ! युधिष्ठिरके यों कहनेपर आकाशमें इस प्रकारका शब्द हुआ, यद्यपि वहाँ बोलनेवाला कोई व्यक्ति नहीं था—'महाराज ! यह [जो आपके पास खड़ा है, वह मुनि नहीं] दानव है । 'स्थूलशिरा' नामक मुनि तो सुखपूर्वक हैं, उनपर किसीके द्वारा कोई उपद्रव नहीं है । यह तो इस दुष्टकी माया है ॥ ३७-३८ ॥

ततो भीमः कराघातैर्नश्यमानं हि दानवम् ।
संरम्भात्कुपितोऽत्यर्थं मौलिदेशे जघान तम् ॥३९॥
सोऽपि रूपं निजं प्राप्य रौद्रं भीममताडयत् ।
तत्र युद्धं प्रववृते दारुणं भीमदैत्ययोः ॥४०॥
कष्टाद्बभञ्ज भीमोऽपि तस्य स्थूलं शिरो वने ।

तब भीमने अत्यन्त क्रोधसे युक्त हो उस भागते हुए दानवके मस्तकपर बड़े वेगसे मुष्टिप्रहार किया । फिर तो दानवने भी अपना रौद्ररूप धारण किया और भीमको मुक्का मारा । इस प्रकार भीम और दानवमें वहाँ दारुण संग्राम छिड़ गया । भीमने उस वनमें बड़े कष्टसे उसके स्थूल मस्तकका छेदन किया ॥ ३९-४०½ ॥

अर्जुनोऽपि समायातो नैव पश्यति तं मुनिम् ॥४१॥
तथा च द्रौपदीं भूयः साध्वीं कान्तां च वल्लभाम् ।
ततो वृक्षं समारुह्य यावत्पश्यति चार्जुनः ॥४२॥
तावद्विधाय तां स्कन्धे शीघ्रं धावति दानवः ।
संहृता याति दुष्टेन रुदती कुररी यथा ॥४३॥
कुर्वती भीमभीमेति धर्मपुत्रेति वादिनी ।
तां दृष्ट्वा स ययौ वीरः शब्दैः संनादयन् दिशः ॥
पादन्यासोरुवेगेन प्रभग्नाः पादपा भृशम् ।
ततो दैत्योऽपि तां तन्वीं विहायाशु पलायितः॥४५॥
तथापि चार्जुनो तस्य कोपान्मुञ्चति नासुरम् ।
पतितो मेदिनीपृष्ठे तावदेव चतुर्भुजः ॥४६॥
पीते च वाससी बिभ्रत् शङ्खचक्रायुधानि च ।
ततः स विस्मयाक्रान्तो नत्वा पार्थो वचोऽवदत्॥४७॥

इधर, अर्जुन भी जब मुनिके आश्रमपर पहुँचे, तब वहाँ उन्हें न तो वह मुनि दिखायी दिया और न प्राणप्रिया साध्वी भार्या द्रौपदी ही दीख पड़ी। तब अर्जुनने वृक्षपर चढ़कर ज्यों ही इधर-उधर दृष्टि डाली, त्यों-ही देखा कि एक दानव द्रौपदीको अपने कंधेपर बिठाकर बड़ी शीघ्रतासे भागा जा रहा है और उस दुष्टके द्वारा हरी गयी द्रौपदी कुररीकी भाँति 'हा धर्मपुत्र ! हा भीम !' इत्यादि रटती हुई विलाप कर रही है। द्रौपदीको उस अवस्थामें देखकर वीर अर्जुन अपनी आवाजसे दिशाओंको गुँजाते हुए चले। उस समय उनके बड़े वेगसे पैर रखनेके कारण अनेकानेक वृक्ष गिर गये। तब वह दैत्य भी उस तन्वङ्गीको छोड़कर अकेला ही वेगसे भागा; तथापि अर्जुनने क्रोधके कारण उस असुरका पीछा न छोड़ा। भागते-भागते वह दानव एक जगह पृथ्वीपर गिर पड़ा और गिरते-ही चार भुजाओंसे युक्त हो, शङ्ख तथा चक्र आदि धारण किये पीताम्बरधारी विष्णुके रूपमें दीख पड़ा। तब कुन्तीनन्दन अर्जुन बड़े ही विस्मित हुए और प्रणाम करके बोले ॥ ४१—४७ ॥

अर्जुन उवाच

कथं कृतैषा भगवंस्त्वया मायात्र वैष्णवी ।
ममाप्यपकृतं नाथ तत्क्षमस्व नमोऽस्तु ते ॥४८॥
नूनमज्ञानभावेन कर्मैतद्दारुणं मया ।
तत्क्षन्तव्यं जगन्नाथ चैतन्यं मानवे कुतः ॥४९॥

अर्जुनने कहा—भगवन् ! आपने यहाँ वैष्णवी माया क्यों फैला रक्खी थी ? मैंने भी जो आपका अपकार किया है, उसके लिये हे नाथ ! मेरे अपराधको क्षमा करें; आपको नमस्कार है। हे जगन्नाथ ! अज्ञानके कारण ही मैंने यह दारुण कर्म किया है; इसलिये इसे क्षमा कर दें। भला, एक साधारण मनुष्यमें इतनी समझ कहाँ हो सकती है, जिससे आपको अन्य वेषमें भी पहचान ले ॥ ४८-४९ ॥

चतुर्भुज उवाच

नाहं कृष्णो महाबाहो बहुरोमास्मि दानवः ।
उपयातो हरेर्देहं पूर्वकर्मप्रभावतः ॥५०॥

चतुर्भुज बोला—महाबाहो ! मैं विष्णु नहीं, बहुरोमा नामक दानव हूँ। मैंने अपने पूर्वकर्मके प्रभावसे भगवान् विष्णुका सारूप्य प्राप्त किया है ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

बहुरोमन् पूर्वजातिं कर्म मे शंस तत्त्वतः ।
केन कर्मविपाकेन विष्णोः सारूप्यमाप्तवान् ॥५१॥

अर्जुन बोले—बहुरोमन् ! तुम अपने पूर्वजन्म और कर्मका ठीक-ठीक वर्णन करो। तुमने किस कर्मके परिणामसे विष्णुका सारूप्य प्राप्त किया है ? ॥ ५१ ॥

चतुर्भुज उवाच

शृण्वर्जुन महाभाग सहितो भ्रातृभिर्मम ।
चरितं चित्रमत्यर्थं शृण्वतां मुदवर्धनम् ॥५२॥
अहमासं पुरा राजा सोमवंशसमुद्भवः ।
जयध्वज इति ख्यातो नारायणपरायणः ॥५३॥
विष्णोर्देवालये नित्यं सम्मार्जनपरायणः ।
उपलेपरतश्चैव दीपदाने समुद्यतः ॥५४॥
वीतिहोत्र इति ख्यात आसीत् साधुपुरोहितः ।
मम तच्चरितं दृष्ट्वा विप्रो विस्मयमागतः ॥५५॥

चतुर्भुज बोला—महाभाग अर्जुन ! आप अपने भाइयोंके साथ मेरे अत्यन्त विचित्र चरित्रको सुनिये; यह श्रोताओंके आनन्दको बढ़ानेवाला है। मैं पूर्वजन्ममें चन्द्रवंशमें उत्पन्न जयध्वज नामसे विख्यात राजा था। उस समय सदा ही मैं भगवान् नारायणके भजनमें लगा रहता और उनके मन्दिरमें झाड़ू लगाया करता था। प्रतिदिन उस मन्दिरको लीपता और [रात्रिमें] वहाँ दीप जलाया करता था। उन दिनों वीति-

होत्र नामक एक साधु ब्राह्मण मेरे यहाँ पुरोहित थे। प्रभो! वे मेरे इस कार्यको देखकर बहुत विस्मित हुए॥ ५२—५५॥

मार्कण्डेय उवाच

कदाचिदुपविष्टं तं राजानं विष्णुतत्परम्।
अपृच्छद्वीतिहोत्रस्तं वेदवेदाङ्गपारगः॥५६॥
राजन् परमधर्मज्ञ हरिभक्तिपरायण।
विष्णुभक्तिमतां पुंसां श्रेष्ठोऽसि पुरुषर्षभ॥५७॥
सम्मार्जनपरो नित्यं उपलेपरतस्तथा।
तन्मे वद महाभाग त्वया किं विदितं फलम्॥५८॥
कर्माण्यन्यानि सन्त्येव विष्णोः प्रियतराणि वै।
तथापि त्वं महाभाग एतयोः सततोद्यतः॥५९॥
सर्वात्मना महापुण्यं जनेश विदितं तव।
तद्ब्रूहि यद्यगुह्यं च प्रीतिर्मयि तवास्ति चेत्॥६०॥

मार्कण्डेयजी बोले—एक दिन वेद-वेदाङ्गोंके पूर्ण विद्वान् पुरोहित वीतिहोत्रजीने बैठे हुए उन विष्णुभक्त राजासे इस प्रकार प्रश्न किया—'परम धर्मज्ञ भूपाल! हरिभक्तिपरायण नरश्रेष्ठ! आप विष्णुभक्त पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं; क्योंकि आप भगवान‍्के मन्दिरमें प्रतिदिन झाड़ू तथा लेप दिया करते हैं। अतः महाभाग! आप मुझे बताइये कि भगवान‍्के मन्दिरमें झाड़ू देने और वहाँ लीपने-पोतनेका कौन-सा उत्तम फल आप जानते हैं। यद्यपि भगवान‍्को अत्यन्त प्रिय लगनेवाले अन्य कर्म भी हैं ही, तथापि महाभाग! आप इन्हीं दो कर्मोंमें सदा सर्वथा लगे रहते हैं। नरेश! यदि आपको इनसे होनेवाला महान् पुण्यरूप फल ज्ञात हो और वह छिपानेयोग्य न हो तथा यदि आपका मुझपर प्रेम हो तो अवश्य ही उस फलको मुझे बताइये'॥ ५६—६०॥

जयध्वज उवाच

शृणुष्व विप्रशार्दूल ममैव चरितं पुरा॥६१॥
जातिस्मरत्वाज्जानामि श्रोतॄणां विस्मयावहम्।
पूर्वजन्मनि विप्रेन्द्र रैवतो नाम वाडवः॥६२॥
अयाज्ययाजकोऽहं वै सदैव ग्रामयाजकः।
पिशुनो निष्ठुरश्चैव अपण्यानां च विक्रयी॥६३॥
निषिद्धकर्माचरणात् परित्यक्तः स्वबन्धुभिः।
महापापरतो नित्यं ब्रह्मद्वेषरतस्तथा॥६४॥
परदारपरद्रव्यलोलुपो जन्तुहिंसकः।
मद्यपानरतो नित्यं ब्रह्मद्वेषरतस्तथा॥६५॥
एवं पापरतो नित्यं बहुशो मार्गरोधकृत्।

जयध्वज बोले—विप्रवर! इस विषयमें आप मेरा ही पूर्वजन्मका चरित्र सुनें। मुझे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण है, इसीसे मैं सब जानता हूँ। मेरा चरित्र श्रोताओंको आश्चर्यमें डालनेवाला है। विप्रेन्द्र! पूर्वजन्ममें मैं रैवत नामका ब्राह्मण था। जिनको यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है, उनसे भी मैं सदा ही यज्ञ कराता था और अनेकों गाँवोंका पुरोहित था। इतना ही नहीं, मैं दूसरोंकी चुगली खानेवाला, निर्दय और नहीं बेचनेयोग्य वस्तुओंका विक्रय करनेवाला था। निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेके कारण मेरे बान्धवोंने मुझे त्याग दिया था। मैं महान् पापी और सदा ही ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला था। परायी स्त्री और पराये धनका लोभी था, प्राणियोंकी हिंसा किया करता था। सदा ही मद्य पीता और ब्राह्मणोंसे द्वेष रखता था। इस प्रकार मैं प्रतिदिन पापमें लगा रहता और बहुधा लूटपाट भी करता था॥ ६१—६५½॥

कदाचित् कामचारोऽहं गृहीत्वा ब्राह्मणस्त्रियः॥६६॥
शून्यं पूजादिभिर्विष्णोर्मन्दिरं प्राप्तवान्निशि।
स्ववस्त्रप्रान्ततो ब्रह्मन् कियदंशः स मार्जितः॥६७॥
प्रदीपः स्थापितस्तत्र सुरतार्थाद् द्विजोत्तम।
तेनापि मम दुष्कर्म निःशेषं क्षयमागतम्॥६८॥
एवं स्थितं विष्णुगृहे मया भोगेच्छया द्विज।
तदैव दीपकं दृष्ट्वा आगताः पुरपालकाः॥६९॥
चौर्यार्थं परदूतोऽयमित्युक्त्वा मामपातयन्।
खड्गेन तीक्ष्णधारेण शिरश्छित्त्वा च ते गताः॥७०॥
दिव्यं विमानमारुह्य प्रमुदासमन्वितम्।
गन्धर्वैर्गीयमानोऽहं स्वर्गलोकं तदा गतः॥७१॥

एक दिन रातमें स्वेच्छाचारिताके कारण मैं कुछ ब्राह्मण-पत्नियोंको पकड़कर एक सूने ठाकुर-मन्दिरमें ले गया। उस मन्दिरमें कभी पूजा नहीं होती थी। [यों ही खँडहर-सा पड़ा रहता था।] वहाँ स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी इच्छासे मैंने अपने वस्त्रके किनारेसे उस मन्दिरका कुछ भाग बुहारकर साफ किया और हे द्विजोत्तम! [प्रकाशके लिये] दीप जलाकर रख दिया। [यद्यपि मैंने अपनी पाप-वासना पूर्ण करनेके

लिये ही मन्दिरमें झाड़ू लगायी और दीप जलाया था, तथापि] उससे भी मेरा सारा पापकर्म नष्ट हो गया। ब्राह्मण! इस प्रकार जब मैं उस विष्णुमन्दिरमें भोगकी इच्छासे ठहरा हुआ था, उसी समय वहाँ दीपक देखकर नगरके रक्षक आ पहुँचे और यह कहकर कि 'यह किसी शत्रुका दूत है, यहाँ चोरी करने आया है', उन्होंने मुझे पृथ्वीपर गिरा दिया तथा तीखी धारवाली तलवारसे मेरा मस्तक काटकर वे चले गये। तब मैं भगवान्के पार्षदोंसे युक्त दिव्य विमानपर आरूढ हो, गन्धर्वोंद्वारा अपना यशोगान सुनता हुआ स्वर्गलोकको चला गया॥ ६६—७१॥

चतुर्भुज उवाच

तत्र स्थित्वा ब्रह्मकल्पं शतं साग्रं द्विजोत्तमाः।
दिव्यभोगसमायुक्तो दिव्यरूपसमन्वितः॥७२॥
जातोऽहं पुण्ययोगाद्धि सोमवंशसमुद्भवः।
जयध्वज इति ख्यातो राजा राजीवलोचनः॥७३॥
तत्रापि कालवशतो मृतः स्वर्गमवाप्तवान्।
इन्द्रलोकमनुप्राप्य रुद्रलोकं ततो गतः॥७४॥
रुद्रलोकाद्ब्रह्मलोकं गच्छता नारदो मुनिः।
दृष्टश्च नमितो नैव गर्वान्मे हसितश्च सः॥७५॥
कुपितः शप्तवान् मां स राक्षसो भव भूपते।
इति शापं समाकर्ण्य दत्तं तेन द्विजन्मना॥७६॥
प्रसादितो मया भूप प्रसादं कृतवान् मुनिः।
यदा रेवामठे राजन् धर्मपुत्रस्य धीमतः॥७७॥
भार्यापहारं नयतः शापमोक्षो भविष्यति।
सोऽहमर्जुन भूपाल धर्मपुत्र युधिष्ठिर॥७८॥
विष्णोः सारूप्यमगमं यामि वैकुण्ठमद्य वै।

चतुर्भुज पुरुष कहता है—इस प्रकार मैंने दिव्यरूप धारणकर, दिव्य भोगोंसे सम्पन्न होकर स्वर्गलोकमें सौ कल्पोंसे भी अधिक कालतक निवास किया। फिर उसी पुण्यके भोगसे चन्द्रवंशमें उत्पन्न जयध्वज नामसे विख्यात कमलके समान नेत्रोंवाला राजा हुआ। उस जन्ममें भी कालवश मृत्युको प्राप्त होनेपर मैं स्वर्गलोकमें आया। फिर यहाँसे रुद्रलोकको प्राप्त हुआ। एक बार रुद्रलोकसे ब्रह्मलोकको जाते समय मैंने नारदमुनिको देखा, परंतु देखनेपर भी उन्हें प्रणाम नहीं किया और उनकी हँसी उड़ाने लगा। इससे कुपित होकर उन्होंने शाप दिया—'राजन्! तू राक्षस हो जा।' उन ब्राह्मणके दिये हुए इस शापको सुनकर मैंने क्षमा माँगकर [किसी तरह] उन्हें प्रसन्न किया। तब मुनिने मुझपर शापानुग्रहके रूपमें कृपा की। [उन्होंने कहा—] 'राजन्! जिस समय बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी भार्याका हरण करके तुम रेवा-तटवर्ती मठमें चले जाओगे, उस समय तुम्हें शापसे मुक्ति मिल जायगी।' भूपाल! धर्मपुत्र युधिष्ठिर! अर्जुन! मैं वही राजा जयध्वज हूँ। इस समय भगवान् विष्णुके सारूप्यको प्राप्त हुआ हूँ। अब मैं निश्चय ही वैकुण्ठधामको जाऊँगा॥ ७२—७८½॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा गरुडारूढो धर्मपुत्रस्य पश्यतः॥७९॥
गतवान् विष्णुभवनं यत्र विष्णुः श्रिया सह।
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां महिमा तेन वर्णितः॥८०॥
अवशेनापि यत्कर्म कृत्वेमां श्रियमागतः।
भक्तिमद्भिः प्रशान्तैश्च किं पुनः सम्यगर्चनात्॥८१॥

मार्कण्डेयजी बोले—यह कहकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके देखते-ही-देखते वे राजा जयध्वज गरुडपर आरूढ हो विष्णुधामको चले गये, जहाँ लक्ष्मीजीके साथ भगवान् विष्णु सदा विराजमान रहते हैं। इसीसे विष्णुमन्दिरके बुहारने और लीपनेसे बड़ी महत्ता प्राप्त होनेका वर्णन किया गया है। [राजा जयध्वजने पूर्वजन्ममें] कामके वशीभूत होकर भी जिस कर्मको करनेसे ऐसी दिव्य सम्पत्ति प्राप्त कर ली, उसीको यदि भक्तिमान् और शान्त पुरुष करे तथा भलीभाँति भगवान्का पूजन करे तो उनको प्राप्त होनेवाले फलके विषयमें क्या कहना है!॥ ७९—८१॥

सूत उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा पाण्डुवंशसमुद्भवः।
सहस्रानीकभूपालो हरिपूजारतोऽभवत्॥८२॥
तस्माच्छृणुत विप्रेन्द्रा देवो नारायणोऽव्ययः।
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पूजकानां विमुक्तिदः॥८३॥
अर्चयध्वं जगन्नाथं भूयो भूयो वदाम्यहम्।
ततुं यदीच्छथ द्विजा दुस्तरं भवसागरम्॥८४॥
येऽर्चयन्ति हरिं भक्ताः प्रणतार्तिहरं हरिम्।
ते वन्द्यास्ते प्रपूज्याश्च नमस्याश्च विशेषतः॥८५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सहस्रानीकचरिते मार्कण्डेयेनोपदिष्टसम्मार्जनोपफलं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥३३॥

सूतजी बोले—मार्कण्डेयजीके उपर्युक्त वचन सुनकर पाण्डुवंशमें उत्पन्न राजा सहस्रानीक भगवान्के पूजनमें संलग्न हो गये। इसलिये विप्रवृन्द! आपलोग यह सुन लें कि अविनाशी भगवान् नारायण जानकर अथवा अनजानमें भी पूजा करनेवाले अपने भक्तोंको मुक्ति प्रदान करते हैं। द्विजो! मैं यह बारंबार कहता हूँ कि यदि आपलोग दुस्तर भवसागरके पार जाना चाहते हैं तो भगवान् जगन्नाथकी पूजा करें। जो भक्त प्रणतजनोंका कष्ट दूर करनेवाले भगवान् विष्णुका पूजन करते हैं, वे वन्दनीय, पूजनीय और विशेषरूपसे नमस्कार करनेयोग्य हैं॥ ८२—८५॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणके अन्तर्गत सहस्रानीक-चरित्रके प्रसङ्गमें मार्कण्डेयमुनिद्वारा उपदिष्ट 'मन्दिरमें झाड़ू देने और उसके लीपनेकी महिमाका वर्णन' नामक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३॥

चौंतीसवाँ अध्याय

भगवान् विष्णुके पूजनका फल

श्रीसहस्रानीक उवाच

पुनरेव द्विजश्रेष्ठ मार्कण्डेय महामते।
निर्माल्यापनयाद्विष्णोर्यत्पुण्यं तद्वदस्व मे॥ १॥

सहस्रानीकने पूछा—महामते द्विजवर मार्कण्डेयजी! अब पुनः यह बताइये कि भगवान् विष्णुके निर्माल्य (चन्दन-पुष्प आदि) को हटानेसे कौन-सा पुण्य प्राप्त होता है॥ १॥

मार्कण्डेय उवाच

निर्माल्यमपनीयाथ तोयेन स्नाप्य केशवम्।
नरसिंहाकृतिं राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २॥
सर्वतीर्थफलं प्राप्य यानारूढो दिवं व्रजेत्।
श्रीविष्णोः सदनं प्राप्य मोदते कालमक्षयम्॥ ३॥
आगच्छ नरसिंहेति आवाह्याक्षतपुष्पकैः।
एतावतापि राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ४॥
दत्त्वाऽऽसनमथार्घ्यं च पाद्यमाचमनीयकम्।
देवदेवस्य विधिना सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५॥
स्नाप्य तोयेन पयसा नरसिंहं नराधिप।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते॥ ६॥
स्नाप्य दध्ना सकृद्यस्तु निर्मलः प्रियदर्शनः।
विष्णुलोकमवाप्नोति पूज्यमानः सुरोत्तमैः॥ ७॥
यः करोति हरेरर्चां मधुना स्नापयन्नरः।
अग्निलोके स मोदित्वा पुनर्विष्णुपुरे वसेत्॥ ८॥
घृतेन स्नपनं यस्तु स्नानकाले विशेषतः।
नरसिंहाकृतेः कुर्याच्छङ्खभेरीनिनादितम्॥ ९॥
पापकञ्चुकमुन्मुच्य यथा जीर्णामहिस्त्वचम्।
दिव्यं विमानमास्थाय विष्णुलोके महीयते॥ १०॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! नृसिंहस्वरूप भगवान् केशवको निर्माल्य हटाकर जलसे स्नान करानेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण तीर्थोंके सेवनका फल प्राप्तकर, विमानपर आरूढ हो स्वर्गको चला जाता है और वहाँसे श्रीविष्णुधामको प्राप्त होकर अक्षयकालपर्यन्त आनन्दका उपभोग करता है। 'भगवन् नरसिंह! आप यहाँ पधारें'—इस प्रकार अक्षत और पुष्पोंके द्वारा यदि भगवान्का आवाहन करे तो राजेन्द्र! इतनेसे भी वह मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। देवदेव नृसिंहको विधिपूर्वक आसन, पाद्य (पैर धोनेके लिये जल), अर्घ्य (हाथ धोनेके लिये जल) और आचमनीय (कुल्ला करनेके लिये जल) अर्पण करनेसे भी सब पापोंसे छुटकारा मिल जाता है। नराधिप! भगवान् नृसिंहको दूध और जलसे स्नान कराकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो एक बार भी भगवान्को दहीसे स्नान कराता है, वह निर्मल एवं सुन्दर शरीर धारणकर सुरवरोंसे पूजित होता हुआ विष्णुलोकको जाता है। जो मनुष्य मधुसे भगवान्को नहलाता हुआ उनकी पूजा करता है, वह अग्निलोकमें आनन्दोपभोग करके पुनः विष्णुपुर (वैकुण्ठधाम) में निवास करता है। जो स्नानकालमें श्रीनरसिंहके विग्रहको शङ्ख और नगारेका शब्द कराते हुए विशेषरूपसे घीसे स्नान कराता है, वह पुरुष पुरानी केंचुलको छोड़नेवाले साँपकी भाँति पाप-कञ्चुकको त्यागकर, दिव्य विमानपर आरूढ हो, विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ २—१०॥

पञ्चगव्येन देवेशं यः स्नापयति भक्तितः ।
मन्त्रपूर्वं महाराज तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥११॥
यश्च गोधूमकैश्चूर्णैरुद्वर्त्योष्णेन वारिणा ।
प्रक्षाल्य देवदेवेशं वारुणं लोकमाप्नुयात् ॥१२॥
पादपीठं तु यो भक्त्या बिल्वपत्रैर्निघर्षितम् ।
उष्णाम्बुना च प्रक्षाल्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१३॥
कुशपुष्पोदकैः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।
रत्नोदकेन सावित्रं कौबेरं हेमवारिणा ।
नरसिंहं तु संस्नाप्य कर्पूरागुरुवारिणा ॥१४॥
इन्द्रलोके स मोदित्वा पश्चाद्विष्णुपुरे वसेत् ।
पुण्योदकेन गोविन्दं स्नाप्य भक्त्या नरोत्तम ॥१५॥
सावित्रं लोकमासाद्य विष्णुलोके महीयते ।
वस्त्राभ्यामर्चनं भक्त्या परिधाप्य हरिं हरेः ॥१६॥
सोमलोके रमित्वा च विष्णुलोके महीयते ।

महाराज ! जो देवेश्वर भगवान्‌को भक्तिपूर्वक मन्त्रपाठ करते हुए पञ्चगव्यसे स्नान कराता है, उसका पुण्य अक्षय होता है । जो गेहूँके आटेसे देवदेवेश्वर भगवान्‌को उबटन लगाकर गरम जलसे उन्हें नहलाता है, वह वरुणलोकको प्राप्त होता है । जो भगवान्‌के पादपीठ (पैर रखनेके पीढ़े, चौकी या चरणपादुका) को भक्तिपूर्वक बिल्वपत्रसे रगड़कर गरम जलसे धोता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । कुश और पुष्पमिश्रित जलसे भगवान्‌को स्नान कराकर मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, रत्नयुक्त जलसे स्नान करानेपर सूर्यलोकको और सुवर्णयुक्त जलसे नहलानेपर कुबेरलोकको प्राप्त करता है । जो कपूर और अगुरुमिश्रित जलसे भगवान् नृसिंहको नहलाता है, वह पहले इन्द्रलोकमें सुखोपभोग करके फिर विष्णुधाममें निवास करता है । जो पुरुषश्रेष्ठ तीर्थोंके पवित्र जलसे गोविन्दको भक्तिपूर्वक स्नान कराता है, वह आदित्यलोकको प्राप्त करके पुनः विष्णुलोकमें पूजित होता है । जो भक्तिपूर्वक भगवान्‌को युगल वस्त्र पहनाकर उनकी पूजा करता है, वह चन्द्रलोकमें सुखभोग करके पुनः विष्णुधाममें सम्मानित होता है ॥ ११–१६½ ॥

कुङ्कुमागुरुश्रीखण्डकर्दमैरच्युताकृतिम् ॥१७॥
आलिप्य भक्त्या राजेन्द्र कल्पकोटिं वसेद्दिवि ।
मल्लिकामालतीजातिकेतक्यशोकचम्पकैः ॥१८॥
पुंनागनागबकुलैः पद्मैरुत्पलजातिभिः ।
तुलसीकरवीरैश्च पालाशैः सानुकुम्बकैः ॥१९॥
एतैरन्यैश्च कुसुमैः प्रशस्तैरच्युतं नरः ।
अर्चयेद्दशसुवर्णस्य प्रत्येकं फलमाप्नुयात् ॥२०॥
मालां कृत्वा यथालाभमेतेषां विष्णुमर्चयेत् ।
कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च ॥२१॥
दिव्यं विमानमास्थाय विष्णुलोके स मोदते ।
नरसिंहं तु यो भक्त्या बिल्वपत्रैरखण्डितैः ॥२२॥
निश्छिद्रैः पूजयेद्यस्तु तुलसीभिः समन्वितम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वभूषणभूषितः ॥२३॥
काञ्चनेन विमानेन विष्णुलोके महीयते ।

राजेन्द्र ! जो कुङ्कुम (केसर), अगरु और चन्दनके अनुलेपनसे भगवान्‌के विग्रहको भक्तिपूर्वक अनुलिप्त करता है, वह करोड़ों कल्पोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है । जो मनुष्य मल्लिका, मालती, जाती, केतकी, अशोक, चम्पा, पुंनाग, नाग केसर, बकुल (मौलसिरी), उत्पल जातिके कमल, तुलसी, कनेर, पलाश—इनसे तथा अन्य उत्तम पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करता है, वह प्रत्येक पुष्पके बदले दस सुवर्ण मुद्रा दान करनेका फल प्राप्त करता है । जो यथाप्राप्त उपर्युक्त पुष्पोंकी माला बनाकर उससे भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह सैकड़ों और हजारों करोड़ कल्पोंतक दिव्य विमानपर आरूढ हो विष्णुलोकमें आनन्दित होता है । जो छिद्ररहित अखण्डित बिल्वपत्रों और तुलसीदलोंसे भक्तिपूर्वक श्रीनृसिंहका पूजन करता है, वह सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो, सब प्रकारके भूषणोंसे भूषित होकर, सोनेके विमानपर आरूढ हो विष्णुलोकमें सम्मान पाता है ॥ १७–२३½ ॥

माहिषाख्यं गुग्गुलं च आज्ययुक्तं सशर्करम् ॥२४॥
धूपं ददाति राजेन्द्र नरसिंहस्य भक्तिमान् ।
धूपितैः सर्वदिग्भ्यस्तु सर्वपापविवर्जितः ॥२५॥
अप्सरोगणसंकीर्णविमानेन विराजते ।
वायुलोके स मोदित्वा पश्चाद्विष्णुपुरं व्रजेत् ॥२६॥
घृतेन वाथ तैलेन दीपं प्रज्वालयेन्नरः ।
विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥२७॥

विहाय पापकलिलं सहस्रादित्यसप्रभः ।
ज्योतिष्मता विमानेन विष्णुलोकं स गच्छति ॥२८॥
हविः शाल्योदनं विद्वानाज्ययुक्तं सशर्करम् ।
निवेद्य नरसिंहाय यावकं पायसं तथा ॥२९॥
समास्तन्दुलसंख्याया यावतीस्तावतीर्नृप ।
विष्णुलोके महाभोगान् भुञ्जन्नास्ते स वैष्णवः ॥३०॥
बलिना वैष्णवेनाथ तृप्ताः सन्तो दिवौकसः ।
शान्तिं तस्य प्रयच्छन्ति श्रियमारोग्यमेव च ॥३१॥

राजेन्द्र ! जो माहिष गुग्गुल, घी और शक्करसे तैयार की हुई धूपको भगवान् नरसिंहके लिये भक्तिपूर्वक अर्पित करता है, वह सब दिशाओंमें धूप करनेसे सब पापोंसे रहित हो अप्सराओंसे पूर्ण विमानद्वारा वायुलोकमें विराजमान होता है और वहाँ आनन्दोपभोगके पश्चात् पुनः विष्णुधाममें जाता है। जो मनुष्य विधिपूर्वक भक्तिके साथ घी अथवा तेलसे भगवान् विष्णुके लिये दीप प्रज्वलित करता है, उस पुण्यका फल सुनिये। वह पाप-पङ्कसे मुक्त होकर हजारों सूर्यके समान कान्ति धारणकर ज्योतिर्मय विमानसे विष्णुलोकको जाता है। जो विद्वान् हविष्य, घी-शक्करसे युक्त अगहनीका चावल, जौकी लपसी और खीर भगवान् नरसिंहको निवेदन करता है, वह वैष्णव चावलोंकी संख्याके बराबर वर्षोंतक विष्णुलोकमें महान् भोगोंका उपभोग करता है। भगवान् विष्णु-सम्बन्धी बलिसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होकर पूजा करनेवालेको शान्ति, लक्ष्मी तथा आरोग्य प्रदान करते हैं ॥ २४–३१ ॥

प्रदक्षिणेन चैकेन देवदेवस्य भक्तितः ।
कृतेन यत्फलं नृणां तच्छृणुष्व नृपात्मज ॥३२॥
पृथ्वीप्रदक्षिणफलं प्राप्य विष्णुपुरे वसेत् ।
नमस्कारः कृतो येन भक्त्या वै माधवस्य च ॥३३॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं तेनाप्तमञ्जसा ।
स्तोत्रैर्जपैश्च देवाग्रे यः स्तौति मधुसूदनम् ॥३४॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ।
गीतवाद्यादिकं नाट्यं शङ्खतूर्यादिनिःस्वनैः ॥३५॥
यः कारयति वै विष्णोः स याति मन्दिरं नरः ।
पर्वकाले विशेषेण कामगः कामरूपवान् ॥३६॥
सुसंगीतविदैश्चैव सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ।
महार्हमणिचित्रेण विमानेन विराजता ॥३७॥
स्वर्गात् स्वर्गमनुप्राप्य विष्णुलोके महीयते ।
ध्वजं तु विष्णवे यस्तु गरुडेन समन्वितम् ॥३८॥
दद्यात्सोऽपि ध्वजाकीर्णविमानेन विराजता ।
विष्णुलोकमवाप्नोति सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥३९॥

राजकुमार ! भक्तिपूर्वक देवदेव विष्णुकी एक बार प्रदक्षिणा करनेसे मनुष्योंको जो फल मिलता है, उसे सुनिये। वह सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करनेका फल प्राप्त करके वैकुण्ठ-धाममें निवास करता है। जिसने कभी भक्तिभावसे भगवान् लक्ष्मीपतिको नमस्कार किया है, उसने अनायास ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल प्राप्त कर लिया। जो स्तोत्र और जपके द्वारा मधुसूदनकी उनके समक्ष होकर स्तुति करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोकमें पूजित होता है। जो भगवान्‌के मन्दिरमें शङ्ख, तुरही आदि बाजोंके शब्दसे युक्त गाना-बजाना और नाटक कराता है, वह मनुष्य विष्णुधामको प्राप्त होता है। विशेषतः पर्वके समय उक्त उत्सव करनेसे मनुष्य कामरूप होकर सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त होता है और सुन्दर संगीत जाननेवाली अप्सराओंसे शोभायमान बहुमूल्य मणियोंसे जड़े हुए देदीप्यमान विमानके द्वारा एक स्वर्गसे दूसरे स्वर्गको प्राप्त होकर विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो भगवान् विष्णुके लिये गरुडचिह्नसे युक्त ध्वजा अर्पण करता है, वह भी ध्वजामण्डित जगमगाते हुए विमानपर आरूढ़ हो, अप्सराओंसे सेवित होकर, विष्णुलोकको प्राप्त होता है ॥३२–३९ ॥

सुवर्णाभरणैर्दिव्यैर्हारकेयूरकुण्डलैः ।
मुकुटाभरणाद्यैश्च यो विष्णुं पूजयेन्नृप ॥४०॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वभूषणभूषितः ।
इन्द्रलोके वसेद्धीमान् यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥४१॥
यो गां पयस्विनीं विष्णोः कपिलां सम्प्रयच्छति ।
आराध्य तमथाग्रे तु यत्किंचिद्द्रव्यमुत्तमम् ॥४२॥
दत्त्वा नरसिंहाय विष्णुलोके महीयते ।
पितरस्तस्य मोदन्ते श्वेतद्वीपे चिरं नृप ॥४३॥
एवं यः पूजयेद्राजन् नरसिंहं नरोत्तमः ।
तस्य स्वर्गापवर्गौ तु भवतो नात्र संशयः ॥४४॥

नरेश्वर ! जो सुवर्णके बने हुए दिव्य हार, केयूर, कुण्डल और मुकुट आदि आभरणोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह बुद्धिमान् सब पापोंसे मुक्त और सब आभूषणोंसे भूषित होकर जबतक चौदह इन्द्र राज्य करते हैं, तबतक (अर्थात् पूरे एक कल्पतक) इन्द्रलोकमें निवास करता है। जो विष्णुकी आराधना करके उनके लिये दुधार कपिला गौ दान करता है और उन भगवान् नृसिंहके समक्ष उसका उत्तम दूध थोड़ा-सा भी अर्पण करता है, वह विष्णुलोकमें सम्मानित होता है तथा राजन् ! उसके पितर चिरकालतक श्वेतद्वीपमें आनन्द भोगते हैं। भूपाल ! इस प्रकार जो नरश्रेष्ठ नरसिंह-स्वरूप भगवान् विष्णुका पूजन करता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४०—४४ ॥

यत्रैवं पूज्यते विष्णुर्नरसिंहो नरैर्नृप ।
न तत्र व्याधिदुर्भिक्षराजचौरादिकं भयम् ॥ ४५ ॥
नरसिंहं समाराध्य विधिनानेन माधवम् ।
नानास्वर्गसुखं भुक्त्वा न भूयः स्तनपो भवेत् ॥ ४६ ॥
नित्यं सर्पिस्तिलैर्होमो ग्रामे यस्मिन् प्रवर्तते ।
न भवेत्तस्य ग्रामस्य भयं वा तत्र कुत्रचित् ॥ ४७ ॥
अनावृष्टिर्महामारी दोषा नो दाहका नृप ।
नरसिंहं समाराध्य ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥
कारयेल्लक्षहोमं तु ग्रामे यत्र पुराधिपः ।
कृते तस्मिन्मयोक्ते तु आगच्छति न तद्भयम् ॥ ४९ ॥
दृष्टोपसर्गमरणं प्रजानामात्मनश्च हि ।
सम्यगाराधनीयं तु नरसिंहस्य मन्दिरे ॥ ५० ॥

नृप ! जहाँ मनुष्योंद्वारा इस प्रकार भगवान् नरसिंहका पूजन होता है, वहाँ रोग, अकाल और राजा तथा चोर आदिका भय नहीं होता। इस विधिसे लक्ष्मीपति नरसिंहकी आराधना करके मनुष्य नाना प्रकारके स्वर्ग-सुख भोगता है और पुनः उसे [संसारमें जन्म लेकर] माताका दूध नहीं पीना पड़ता [वह मुक्त हो जाता है]। जिस गाँवमें [भगवान्के मन्दिरके निकट] प्रतिदिन घी और तिलसे होम होता है, उस गाँवमें अनावृष्टि, महामारी आदि दोष तथा अग्निदाह आदि किसी प्रकारका भय नहीं होता। जिस गाँवमें गाँवका मालिक वेदवेत्ता ब्राह्मणोंद्वारा नरसिंहकी आराधना कराकर एक लक्ष होम कराता है, वहाँ मेरे कथनानुसार यह कार्य सम्पन्न होनेपर महामारी आदि प्रत्यक्ष उपद्रवसे कर्ताका तथा उस गाँवमें रहनेवाली प्रजाका अकालमरण नहीं होता। इसलिये भगवान् नरसिंहके मन्दिरमें भली प्रकारसे आराधना करनी चाहिये ॥ ४५—५० ॥

शंकरायतने चापि कोटिहोमं नराधिप ।
कारयेत् संयतैर्विप्रैः सभोजनसदक्षिणैः ॥ ५१ ॥
कृते तस्मिन्नृपश्रेष्ठ नरसिंहप्रसादतः ।
उपसर्गादिमरणं प्रजानामुपशाम्यति ॥ ५२ ॥
दुःस्वप्नदर्शने घोरे ग्रहपीडासु चात्मनः ।
होमं च भोजनं चैव तस्य दोषः प्रणश्यति ॥ ५३ ॥
अयने विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ।
नरसिंहं समाराध्य लक्षहोमं तु कारयेत् ॥ ५४ ॥
शान्तिर्भवति राजेन्द्र तस्य तत्स्थानवासिनाम् ।
एवमादिफलोपेतं नरसिंहार्चनं नृप ॥ ५५ ॥
कुरु त्वं भूपतेः पुत्र यदि वाञ्छसि सद्गतिम् ।
अतः परतरं नास्ति स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ॥ ५६ ॥
नरेन्द्रैः सुकरं कर्तुं देवदेवस्य पूजनम् ।
सन्त्यरण्ये ह्यमूल्यानि पत्रपुष्पाणि शाखिनाम् ॥ ५७ ॥
तोयं नदीतडागेषु देवः साधारणः स्थितः ।
मनो नियमयेदेकं त्रिद्यासाधनकर्मणि ॥ ५८ ॥
मनो नियमितं येन मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ॥ ५९ ॥

नरेश ! इसी प्रकार शंकरजीके मन्दिरमें भी संयमशील ब्राह्मणोंके द्वारा उन्हें भोजन और दक्षिणा देकर एक करोड़की संख्यामें हवन कराना चाहिये। नृपश्रेष्ठ ! उसके करनेपर भगवान् नरसिंहके प्रसादसे प्रजावर्गका आकस्मिक उपद्रव तथा मृत्युभय शान्त हो जाता है। घोर दुःस्वप्न देखनेपर और अपने ऊपर ग्रह-जन्य कष्ट आनेपर होम और ब्राह्मण-भोजन करानेसे उसका दोष मिट जाता है। दक्षिणायन या उत्तरायण आरम्भ होनेपर, विषुव[1]-कालमें, अथवा चन्द्रमा तथा सूर्यका ग्रहण होनेपर भगवान् नरसिंहकी आराधना करके लक्षहोम कराना चाहिये। राजेन्द्र ! यों करनेसे उस स्थानके निवासियोंके विघ्नकी शान्ति हो जाती है। नरेश्वर ! भगवान् नरसिंहकी पूजाके ऐसे अनेकों फल हैं। भूपालनन्दन ! यदि तुम सद्गति चाहते हो तो नृसिंहका पूजन करो। इससे बढ़कर कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जो स्वर्ग और मोक्षरूप फल देनेवाला

१. जिस दिन दिन-रात बराबर हों, वह विषुव-काल कहा गया है। ऐसा समय सालमें दो बार आता है।

हो । देवदेव नृसिंहका पूजन राजाओंके लिये तो बहुत ही सुकर है। परंतु जो अरण्यमें रहते हैं, उन्हें भी भगवान्‌की पूजाके लिये वृक्षोंके पत्र-पुष्प विना मूल्य प्राप्त हो सकते हैं। जल नदी और तडाग आदिमें सुलभ है ही और भगवान् नृसिंह भी सबके लिये समान हैं; केवल उन उपासनाके साधनभूत कर्ममें मनकी एकाग्रता चाहिये । जिसने मनका नियमन कर लिया है, मुक्ति उसके हाथमें ही है ॥ ५१—५९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्येवमुक्तं भृगुचोदितेन
मया तवेहार्चनमच्युतस्य ।
दिने दिने त्वं कुरु विष्णुपूजां
वदस्व चान्यत्कथयामि किं ते॥६०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सहस्रानीकचरिते श्रीविष्णोः पूजाविधिर्नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—इस प्रकार भृगुजीकी आज्ञासे मैंने तुमसे यहाँ भगवान् विष्णुके पूजनका वर्णन किया है। तुम प्रतिदिन भगवान् विष्णुका पूजन करो और बोलो, अब मैं तुम्हें और क्या बताऊँ ? ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणके अन्तर्गत सहस्रानीक-चरित्रके प्रसङ्गमें 'श्रीविष्णुके पूजनकी विधि' नामक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ अध्याय

लक्षहोम और कोटिहोमकी विधि तथा फल

राजोवाच

अहो महत्त्वया प्रोक्तं विष्ण्वाराधनजं फलम् ।
सुप्तास्ते मुनिशार्दूल ये विष्णुं नार्चयन्ति वै ॥ १ ॥
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं ह्येतन्नरसिंहार्चनक्रमम् ।
भक्त्या तं पूजयिष्यामि कोटिहोमफलं वद ॥ २ ॥

राजा बोले—अहो ! आपने श्रीविष्णुकी आराधनासे होनेवाले बहुत बड़े फलका वर्णन किया। मुनिश्रेष्ठ! जो भगवान् विष्णुकी पूजा नहीं करते, वे अवश्य ही [मोहनिद्रामें] सोये हुए हैं । मैंने आपकी कृपासे भगवान् नृसिंहके पूजनका यह क्रम सुना; अब मैं भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करूँगा। आप कृपा करके [लक्ष-होम तथा] कोटिहोमका फल बताइये ॥ १-२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इममर्थं पुरा पृष्टः शौनको गुरुणा नृप ।
यत्तस्मै कथयामास शौनकस्तद्वदामि ते ॥ ३ ॥
शौनकं तु सुखासीनं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिः ।

मार्कण्डेयजी बोले—नृप ! पूर्वकालमें इसी विषयको बृहस्पतिजीने शौनक ऋषिसे पूछा था, इसके उत्तरमें उनसे शौनकजीने जो कुछ बताया, वही मैं तुमसे कह रहा हूँ। सुखपूर्वक बैठे हुए शौनकजीसे बृहस्पतिजीने इस प्रकार प्रश्न किया ॥ ३½ ॥

बृहस्पतिरुवाच

लक्षहोमस्य या भूमिः कोटिहोमस्य या शुभा ॥ ४ ॥
तां मे कथय विप्रेन्द्र होमस्य चरिते विधिम् ।

बृहस्पतिजी बोले—विप्रेन्द्र ! लक्षहोम और कोटिहोमके लिये जो भूमि प्रशस्त हो, उसको मुझे बताइये और होम-कर्मकी विधिका भी वर्णन कीजिये ॥ ४½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तो गुरुणा सोऽथ लक्षहोमादिकं विधिम् ॥ ५ ॥
शौनको वक्तुमारेभे यथावन्नृपसत्तम ।

मार्कण्डेयजी बोले—नृपवर ! बृहस्पतिजीके इस प्रकार कहनेपर शौनकजीने लक्षहोम आदिकी विधिका यथावत् वर्णन आरम्भ किया ॥ ५½ ॥

शौनक उवाच

प्रवक्ष्यामि यथावत्ते शृणु देवपुरोहित ॥ ६ ॥
लक्षहोममहाभूमिं तद्विशुद्धिं विशेषतः ।
यज्ञकर्मणि शस्ताया भूमेर्लक्षणमुत्तमम् ॥ ७ ॥

शौनकजी बोले—देवपुरोहित ! मैं लक्षहोमके उपयुक्त विस्तृत भूमि और उसकी शुद्धिका विशेषरूपसे यथावत् वर्णन करूँगा, आप सुनें। यज्ञकर्मके लिये प्रशस्त भूमिका उत्तम लक्षण (संस्कार) इस प्रकार है ॥ ६-७ ॥

सुसंस्कृतां समां स्निग्धां पूर्वपूर्वमथोत्तमाम् ।
ऊरुमात्रं खनित्वा च शोधयेत्तां विशेषतः ॥ ८ ॥
बहिरच्छतया तत्र मृदाच्छाद्य प्रलेपयेत् ।
प्रमाणं बाहुमात्रं तु सर्वतः कुण्डलक्षणम् ॥ ९ ॥
चतुरस्रं चतुष्कोणं तुल्यसूत्रेण कारयेत् ।
उपरि मेखलां कुर्याच्चतुरस्रां सुविस्तराम् ॥१०॥
चतुरङ्गुलमात्रं तु उच्छ्रितां सूत्रसूत्रिताम् ।

जो भूमि अच्छी तरह संस्कार की हुई हो, बराबर हो और चिकनी हो [ये सभी बातें हों तो परम उत्तम भूमि है; सभी बातें न संघटित हों तो] पूर्व-पूर्वकी भूमि उत्तम है। [अर्थात् चिकनीकी अपेक्षा बराबर भूमि अच्छी है और उससे भी सुसंस्कृत भूमि उत्तम है।] ऐसी उत्तम भूमिको ऊरु (कमर) पर्यन्त खोदकर उसका विशेषरूपसे [गङ्गाजल एवं पञ्चगव्यादि छिड़ककर] शोधन करे और कुण्डके बाहर स्वच्छताके लिये मिट्टी [तथा गोबर] डालकर लिपाये। कुण्ड सब ओरसे एक हाथ लंबा और उतना ही चौड़ा होना चाहिये—यही कुण्डका लक्षण है। एक हाथका सूत लेकर उसीसे माप करके चारों ओरसे बराबर और चौकोरा कुण्ड बनाना चाहिये। कुण्डके ऊपर सब ओरसे बराबर और खूब विस्तृत मेखला बनवाये। उसकी ऊँचाई भी चार अंगुलकी ही हो और वह सूतसे परिवेष्टित हो ॥ ८—१०½ ॥

ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् ब्रह्मकर्मसमन्वितान् ॥११॥
आमन्त्रयेद् यथान्यायं यजमानो विशेषतः ।
ब्रह्मचर्यव्रतं कुर्युस्त्रिरात्रं ते द्विजातयः ॥१२॥

इसके बाद यजमानको चाहिये कि वह ब्राह्मणोचित कर्मका पालन करनेवाले वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको शास्त्रोक्त रीतिसे आमन्त्रित करे। यजमान और उन ब्राह्मणोंको तीन रात्रितक विशेषरूपसे ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना चाहिये ॥११-१२॥

अहोरात्रमुपोष्याथ गायत्रीमयुतं जपेत् ।
ते शुक्लवाससः स्नाता गन्धस्रक्पुष्पधारिणः ॥१३॥
शुचयश्च निराहाराः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
कौशमासनमासीना एकाग्रमनसः पुनः ॥१४॥
आरभेयुश्च ते यत्नात्ततो होममतन्द्रिताः ।
भूमिमालिख्य चाभ्युक्ष्य यत्नादग्निं निधापयेत् ॥१५॥
गृह्योक्तेन विधानेन होमं तत्र च होमयेत् ।
आघारावाज्यभागौ च जुहुयात्पूर्वमेव तु ॥१६॥
यवधान्यतिलैर्मिश्रां गायत्र्या प्रथमाहुतिम् ।
जुहुयादेकचित्तेन स्वाहाकारान्वितां बुधः ॥१७॥
गायत्री छन्दसां माता ब्रह्मयोनिः प्रतिष्ठिता ।
सविता देवता तस्या विश्वामित्रस्तथा ऋषिः ॥१८॥

यजमान एक दिन और एक रात्रि उपवास करके दस हजार गायत्रीका जप करे। [हवन आरम्भ होनेके दिन] विप्रगण भी स्नान करके शुद्ध एवं श्वेत वस्त्र धारण करें। फिर गन्ध, पुष्प और माला धारण करके, पवित्र, संतुष्ट और जितेन्द्रिय होकर, भोजन किये बिना ही कुशके बने हुए आसनपर एकाग्र चित्तसे बैठें। तदनन्तर वे यत्नपूर्वक निरालस्यभावसे हवन आरम्भ करें। पहले गृह्यसूत्रोक्त विधिसे भूमिपर [कुशोंसे] रेखा करके उसे सींचे और वहाँ यत्नसे अग्नि-स्थापन करे। फिर उस अग्निमें हवनीय पदार्थोंका होम करे। सर्वप्रथम आघार और आज्यभाग—ये दो होम करने चाहिये। विद्वान् पुरुष जौ, चावल और तिल [एवं घृत आदिसे] मिश्रित प्रथम आहुतिका गायत्री-मन्त्रद्वारा [अन्तमें] स्वाहाके उच्चारणपूर्वक एकाग्रचित्तसे हवन करे। गायत्री छन्दोंकी माता और ब्रह्म(वेद)की योनिरूपसे प्रतिष्ठित है। उसके देवता सविता हैं, और ऋषि विश्वामित्रजी हैं। (इस प्रकार गायत्रीका विनियोग बताया गया।) ॥ १३—१८ ॥

ततो व्याहृतिभिः पश्चाज्जुहुयाच्च तिलान्वितम् ।
यावत्प्रपूर्यते संख्या लक्षं वा कोटिरेव वा ॥१९॥
तावद्धोमं तिलैः कुर्यादच्युतार्चनपूर्वकम् ।
दीनानाथजनेभ्यस्तु यजमानः प्रयत्नतः ॥२०॥
तावच्च भोजनं दद्याद् यावद्धोमं समाचरेत् ।
समाप्ते दक्षिणां दद्याद् ऋत्विग्भ्यः श्रद्धयान्वितः ॥२१॥
यथार्हता न लोभेन ततः शान्त्युदकेन च ।
प्रोक्षयेद् ग्राममध्ये तु व्याधितांस्तु विशेषतः ॥२२॥
एवं कृते तु होमस्य पुरस्य नगरस्य च ।
राष्ट्रस्य च महाभाग राज्ञो जनपदस्य च ।
सर्वबाधाप्रशमनी शान्तिर्भवति सर्वदा ॥२३॥

केवल गायत्रीसे हवन कर लेनेके पश्चात् [भूर्भुवः स्वः—इन] तीन व्याहृतियोंसहित गायत्री-मन्त्रसे

केवल तिलका हवन करे। जबतक हवनकी संख्या एक लाख या एक करोड़ न हो जाय, तबतक भगवान् विष्णुके पूजनपूर्वक तिलद्वारा हवन करते रहना चाहिये और जबतक हवन करे, तबतक यजमानको चाहिये कि वह यत्नपूर्वक दीनों और अनाथोंको भोजन दे। हवन समाप्त होनेपर ऋत्विजोंको श्रद्धापूर्वक लोभ त्यागकर यथोचित दक्षिणा दे। तत्पश्चात् [प्रथम स्थापित किये हुए] शान्ति-कलशके जलसे उस ग्राममें रहनेवाले सभी मनुष्यों—विशेषतः रोगियोंको अभिषेक करे। महाभाग! इस प्रकार विधिवत्‌होमका अनुष्ठान करनेपर पुर (गाँव), नगर, जनपद (प्रान्त) और समस्त राष्ट्रकी सारी बाधाको दूर करनेवाली शान्ति निरन्तर बनी रहती है॥ १९—२३॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्येतच्छौनकप्रोक्तं कथितं नृपनन्दन।
लक्षहोमादिकविधिं कार्यं राष्ट्रे सुशान्तिदम्॥२४॥

ग्रामे गृहे वा पुरबाह्यदेशे
द्विजैरयं यत्नकृतः पुरोविधिः।
तत्रापि शान्तिर्भविता नराणां
गवां च भृत्यैः सह भूपतेश्च॥२५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे लक्षहोमविधिर्नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥ ३५॥

मार्कण्डेयजी बोले—नृपनन्दन! इस प्रकार शौनक मुनिका बताया हुआ लक्षहोम-विधिका अनुष्ठान, जो समस्त राष्ट्रमें शुभ शान्ति प्रदान करनेवाला है, मैंने तुम्हें बताया। यदि ब्राह्मणोंद्वारा यह पूर्वोक्त होम-विधि ग्राममें, घरमें अथवा पुरके बाहर प्रयत्नपूर्वक करायी जाय तो वहाँ भी मनुष्योंको, गौओंको और अनुचरोंसहित राजाको पूर्णतया शान्ति प्राप्त हो सकती है॥ २४-२५॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'लक्षहोमविधिका वर्णन' नामक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५॥

छत्तीसवाँ अध्याय

अवतार-कथाका उपक्रम

मार्कण्डेय उवाच

अवतारानहं वक्ष्ये देवदेवस्य चक्रिणः।
ताञ्शृणुष्व महीपाल पवित्रान् पापनाशनान्॥ १॥

मार्कण्डेयजी बोले—महीपाल! अब मैं देवदेव भगवान् विष्णुके पवित्र एवं पापनाशक अवतारोंका वर्णन करूँगा; उन्हें सुनो॥ १॥

यथा मत्स्येन रूपेण दत्ता वेदाः स्वयम्भुवे।
मधुकैटभौ च निधनं प्रापितौ च महात्मना॥ २॥
तथा कौर्मेण रूपेण विष्णुना मन्दरो धृतः।
यथा पृथ्वी धृता राजन् वाराहेण महात्मना॥ ३॥
तेनैव निधनं प्राप्तो यथा राजन् महाबलः।
हिरण्याक्षो महावीर्यो दितिपुत्रो महातनुः॥ ४॥
यथा हिरण्यकशिपुस्त्रिदशानामरिः पुरा।
नरसिंहेन देवेन प्रापितो निधनं नृप॥ ५॥
यथा बद्धो बलिः पूर्वं वामनेन महात्मना।
इन्द्रस्त्रिभुवनाध्यक्षः कृतस्तेन नृपात्मज॥ ६॥
रामेण भूत्वा च यथा विष्णुना रावणो हतः।
सगणाश्चाद्भुता राजन् राक्षसा देवकण्टकाः॥ ७॥
यथा परशुरामेण क्षत्रमुत्सादितं पुरा।
बलभद्रेण रामेण यथा दैत्यः पुरा हतः॥ ८॥
यथा कृष्णेन कंसाद्या हता दैत्याः सुरद्विषः।
कलौ प्राप्ते यथा बुद्धो भवेन्नारायणः प्रभुः॥ ९॥
कल्किरूपं समास्थाय यथा म्लेच्छा निपातिताः।
समाप्ते तु कलौ भूयस्तथा ते कथयाम्यहम्॥१०॥

महात्मा भगवान् विष्णुने जिस प्रकार मत्स्यरूप धारणकर [प्रलयकालीन समुद्रमें खोये हुए] वेद लाकर ब्रह्माजीको अर्पित किये और मधु तथा कैटभ नामक दैत्योंको मौतके घाट उतारा; फिर उन भगवान् विष्णुने जिस प्रकार कूर्मरूपसे मन्दराचल पर्वत धारण किया और महाकाय वराह-अवतार लेकर [अपनी डाढ़ोंपर] इस पृथ्वीको उठाया तथा राजन्! उन्हींके हाथसे जिस प्रकार महाबली, महा-पराक्रमी और महाकाय दितिकुमार हिरण्याक्ष मारा गया;

राजन्! फिर उन भगवान्‌ने नृसिंहरूप धारणकर पूर्वकालमें जिस प्रकार देवताओंके शत्रु हिरण्यकशिपुका वध किया; और राजकुमार! जिस प्रकार उन महात्माने वामनरूप होकर पूर्वकालमें राजा वलिको बाँधा तथा इन्द्रको (फिरसे) त्रिभुवनका अधीश्वर बना दिया; और राजन्! भगवान् विष्णुने श्रीराम-चन्द्रका अवतार धारणकर जिस प्रकार रावणको मारा एवं देवताओंके लिये कण्टकरूप अद्भुत राक्षसोंका उनके गणों-सहित संहार कर दिया; फिर पूर्वकालमें परशुराम अवतार ले, जिस प्रकार क्षत्रियकुलका उच्छेद किया तथा बलभद्ररूपसे जिस प्रकार प्रलम्बादि दैत्योंका वध किया; कृष्णरूप होकर कंस आदि देवशत्रु दैत्योंका जिस तरह संहार किया; इसी प्रकार कलियुग प्राप्त होनेपर जिस प्रकार भगवान् नारायण बुद्ध-रूप धारण करेंगे; फिर कलियुग समाप्त होनेपर जिस प्रकार वे कल्किरूप धारणकर म्लेच्छोंका नाश करेंगे, वह सब वृत्तान्त उसी प्रकार मैं तुमसे कहूँगा ॥ २—१० ॥

हरेरनन्तस्य पराक्रमं यः
शृणोति भूपाल समाहितात्मा ।
मयोच्यमानं स विमुच्य पापं
प्रयाति विष्णोः पदमत्युदारम् ॥११॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे हरेः प्रादुर्भावानुक्रमणे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

भूपाल! जो एकाग्रचित्त होकर मेरेद्वारा बताये जानेवाले अनन्त भगवान् विष्णुके इन पराक्रमोंका श्रवण करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त होकर भगवान्‌के अत्यन्त उदार परमपदको प्राप्त होगा ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीहरिके अवतारोंकी अनुक्रमणिका (गणना) विषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय

मत्स्यावतार तथा मधु-कैटभ-वध

मार्कण्डेय उवाच

नानात्वादवताराणामच्युतस्य महात्मनः ।
न शक्यं विस्तराद् वक्तुं तान् ब्रवीमि समासतः॥ १ ॥
पुरा किल जगत्स्रष्टा भगवान् पुरुषोत्तमः ।
अनन्तभोगशयने योगनिद्रां समागतः ॥ २ ॥
अथ तस्य प्रसुप्तस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
श्रोत्राभ्यामपतत् तोये स्वेदबिन्दुद्वयं नृप ॥ ३ ॥
मधुकैटभनामानौ तस्माज्जातौ महाबलौ ।
महाकायौ महावीर्यौ महाबलपराक्रमौ ॥ ४ ॥
अच्युतस्य प्रसुप्तस्य महत्पद्ममजायत ।
नाभिमध्ये नृपश्रेष्ठ तस्मिन् ब्रह्माभ्यजायत ॥ ५ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—महात्मा भगवान् अच्युतके बहुत-से अवतार हैं, सुतरां उनका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता; इसलिये मैं उन्हें संक्षेपसे ही कहता हूँ। यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें जगत्‌की सृष्टि करनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम 'अनन्त' नामक शेषनागके शरीरकी शय्यापर योग-निद्राका आश्रय लेकर सोये हुए थे। नृप! कुछ कालके बाद उन गहरी नींदमें सोये हुए देवदेव शार्ङ्गधन्वा विष्णुके कानोंसे पसीनेकी दो बूँदें निकलकर जलमें गिरीं। उन दोनों बूँदोंसे मधु और कैटभ नामके दो दैत्य उत्पन्न हुए, जो महाबली, महान् शक्तिशाली, महापराक्रमी और महाकाय थे। नृपश्रेष्ठ! इसी समय उन सोये हुए भगवान्‌की नाभिके बीचमें महान् कमल प्रकट हुआ और उससे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ १—५ ॥

स चोक्तो विष्णुना राजन् प्रजाः सृज महामते ।
तथेत्युक्त्वा जगन्नाथं ब्रह्मापि कमलोद्भवः ॥ ६ ॥
वेदशास्त्रवशाद्यावत् प्रजाः स्रष्टुं समुद्यतः ।
तावत्तत्र समायातौ तावुभौ मधुकैटभौ ॥ ७ ॥
आगत्य वेदशास्त्रार्थविज्ञानं ब्रह्मणः क्षणात् ।
अपहृत्य गतौ घोरौ दानवौ बलदर्पितौ ॥ ८ ॥
ततः पद्मोद्भवो राजन् ज्ञानहीनोऽभवत् क्षणात् ।
दुःखितश्चिन्तयामास कथं स्रक्ष्यामि वै प्रजाः ॥ ९ ॥
चोदितस्त्वं सृजस्वेति प्रजा देवेन तत्कथम् ।
स्रक्ष्येऽहं ज्ञानहीनस्तु अहो कष्टमुपस्थितम् ॥१०॥

इति संचिन्त्य दुःखार्त्तो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
यत्नतो वेदशास्त्राणि स्मरन्नपि न दृष्टवान् ॥११॥
ततो विषण्णचित्तस्तु तं देवं पुरुषोत्तमम् ।
एकाग्रमनसा सम्यक् शास्त्रेण स्तोतुमारभत् ॥१२॥

राजन् ! भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीसे कहा—'महामते ! तुम प्रजाजनोंकी सृष्टि करो ।' यह सुन उन कमलोद्भव ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर भगवान् जगन्नाथकी आज्ञा स्वीकार कर ली तथा वेदों और शास्त्रोंकी सहायतासे वे ज्यों-ही सृष्टि-रचनाके लिये उद्यत हुए, त्यों ही उनके पास वे दोनों दैत्य—मधु और कैटभ आये । आते ही वे बलाभिमानी घोर दानव क्षणभरमें ब्रह्माजीके वेद और शास्त्र-ज्ञानको लेकर चले गये । राजन् ! तब ब्रह्माजी एक ही क्षणमें ज्ञानशून्य हो दुखी हो गये और सोचने लगे—"हाय ! अब मैं कैसे प्रजाकी सृष्टि करूँगा ? भगवान्ने मुझे आज्ञा दी कि 'तुम प्रजाकी सृष्टि करो ।' परंतु अब तो मैं सृष्टि-विज्ञानसे रहित हो गया, अतः किस प्रकार सृष्टि-रचना करूँगा ? अहो ! मुझपर यह बहुत बड़ा कष्ट आ पहुँचा ।" लोकपितामह ब्रह्माजी इस प्रकार चिन्ता करते-करते शोकसे कातर हो गये । वे प्रयत्न-पूर्वक वेद-शास्त्रोंका स्मरण करने लगे, तथापि उन्हें उनकी स्मृति नहीं हुई । तब वे मन-ही-मन अत्यन्त दुखी हो, एकाग्रचित्तसे भगवान् पुरुषोत्तमकी शास्त्रानुकूल विधिसे स्तुति करने लगे ॥ ६–१२ ॥

ब्रह्मोवाच

ॐ नमो वेदनिधये शास्त्राणां निधये नमः ।
विज्ञाननिधये नित्यं कर्मणां निधये नमः ॥१३॥
विद्याधराय देवाय वागीशाय नमो नमः ।
अचिन्त्याय नमो नित्यं सर्वज्ञाय नमो नमः ॥१४॥
अमूर्त्तिस्त्वं महाबाहो यज्ञमूर्तिरधोक्षज ।
साम्नां मूर्त्तिस्त्वमेवाद्य सर्वदा सर्वरूपवान् ॥१५॥
सर्वज्ञानमयोऽसि त्वं हृदि ज्ञानमयोऽच्युत ।
देहि मे त्वं सर्वज्ञानं देवदेव नमो नमः ॥१६॥

श्रीब्रह्माजी बोले—जो वेद, शास्त्र, विज्ञान और कर्मोंकी निधि हैं, उन ॐकार-प्रतिपाद्य परमेश्वरको मेरा बार-बार नमस्कार है । समस्त विद्याओंको धारण करनेवाले वाणीपति भगवान्को प्रणाम है । अचिन्त्य एवं सर्वज्ञ परमेश्वरको नित्य बारंबार नमस्कार है । महाबाहो ! अधोक्षज ! आप निराकार एवं यज्ञस्वरूप हैं । आप ही साममूर्ति एवं सदा सर्वरूपधारी हैं । अच्युत ! आप सर्वज्ञानमय हैं; आप सबके हृदयमें ज्ञानरूपसे विराजमान हैं । देवदेव ! आप मुझे सब प्रकारका ज्ञान दीजिये; आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १३–१६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्थं स्तुतस्तदा तेन शङ्खचक्रगदाधरः ।
ब्रह्माणमाह देवेशो दास्ये ते ज्ञानमुत्तमम् ॥१७॥
इत्युक्त्वा तु तदा विष्णुश्चिन्तयामास पार्थिव ।
केनास्य नीतं विज्ञानं केन रूपेण चादधे ॥१८॥
मधुकैटभकृतं सर्वमिति ज्ञात्वा जनार्दनः ।
मात्स्यं रूपं समास्थाय बहुयोजनमायतम् ।
बहुयोजनविस्तीर्णं सर्वज्ञानमयं नृप ॥१९॥
स प्रविश्य जलं तूर्णं क्षोभयामास तद्धरिः ।
प्रविश्य च स पातालं दृष्टवान्मधुकैटभौ ॥२०॥
तौ मोहयित्वा तुमुलं तज्ज्ञानं जगृहे हरिः ।
वेदशास्त्राणि मुनिभिः संस्तुतो मधुसूदनः ॥२१॥
आनीय ब्रह्मणे दत्त्वा त्यक्त्वा तन्मात्स्यकं नृप ।
जगद्धिताय स पुनर्योगनिद्रावशं गतः ॥२२॥

मार्कण्डेयजी बोले—ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले देवेश्वर विष्णुने उनसे कहा—'मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्रदान करूँगा ।' राजन् ! भगवान् विष्णु यों कहकर तब सोचने लगे—'कौन इसका विज्ञान हर ले गया और किस रूपसे उसने उसे धारण कर रखा है ?' भूपाल ! अन्तमें यह जानकर कि यह सब मधु और कैटभकी करतूत है, भगवान् जनार्दनने अनेकों योजन लंबा-चौड़ा पूर्णज्ञानमय मत्स्यरूप धारण किया । फिर मत्स्यरूपधारी हरिने तुरंत ही जलमें प्रविष्ट होकर उसे क्षुब्ध कर डाला और भीतर-ही-भीतर पातालकेमें पहुँचकर मधु तथा कैटभको देखा । तब मुनियोंद्वारा स्तवन किये जानेपर भगवान् मधुसूदनने मधु और कैटभ—दोनोंको मोहितकर वह वेदशास्त्रमय ज्ञान ले लिया और उसे ले आकर ब्रह्माजीको दे दिया । राजन् ! तत्पश्चात् वे भगवान् उस मत्स्यरूपको त्यागकर जगत्के हितके लिये पुनः योगनिद्रामें स्थित हो गये ॥ १७–२२ ॥

राजन्! फिर उन भगवान्ने नृसिंहरूप धारणकर पूर्वकालमें जिस प्रकार देवताओंके शत्रु हिरण्यकशिपुका वध किया; और राजकुमार! जिस प्रकार उन महात्माने वामनरूप होकर पूर्वकालमें राजा बलिको बाँधा तथा इन्द्रको (फिरसे) त्रिभुवनका अधीश्वर बना दिया; और राजन्! भगवान् विष्णुने श्रीरामचन्द्रका अवतार धारणकर जिस प्रकार रावणको मारा एवं देवताओंके लिये कण्टकरूप अद्भुत राक्षसोंका उनके गणों-सहित संहार कर दिया; फिर पूर्वकालमें परशुराम अवतार ले, जिस प्रकार क्षत्रियकुलका उच्छेद किया तथा बलभद्ररूपसे जिस प्रकार प्रलम्बादि दैत्योंका वध किया; कृष्णरूप होकर कंस आदि देवशत्रु दैत्योंका जिस तरह संहार किया; इसी प्रकार कलियुग प्राप्त होनेपर जिस प्रकार भगवान् नारायण बुद्धरूप धारण करेंगे; फिर कलियुग समाप्त होनेपर जिस प्रकार वे कल्किरूप धारणकर म्लेच्छोंका नाश करेंगे, वह सब वृत्तान्त उसी प्रकार मैं तुमसे कहूँगा ॥ २—१० ॥

हरेरनन्तस्य पराक्रमं यः
शृणोति भूपाल समाहितात्मा ।
मयोच्यमानं स विमुच्य पापं
प्रयाति विष्णोः पदमत्युदारम् ॥११॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे हरेः प्रादुर्भावानुक्रमणे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

भूपाल! जो एकाग्रचित्त होकर मेरेद्वारा बताये जानेवाले अनन्त भगवान् विष्णुके इन पराक्रमोंका श्रवण करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त होकर भगवान्के अत्यन्त उदार परमपदको प्राप्त होगा ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीहरिके अवतारोंकी अनुक्रमणिका (गणना) विषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय

मत्स्यावतार तथा मधु-कैटभ-वध

मार्कण्डेय उवाच

नानात्वादवताराणामच्युतस्य महात्मनः ।
न शक्यं विस्तराद् वक्तुं तान् ब्रवीमि समासतः ॥ १ ॥
पुरा किल जगत्स्रष्टा भगवान् पुरुषोत्तमः ।
अनन्तभोगशयने योगनिद्रां समागतः ॥ २ ॥
अथ तस्य प्रसुप्तस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
श्रोत्राभ्यामपतत् तोये स्वेदबिन्दुद्वयं नृप ॥ ३ ॥
मधुकैटभनामानौ तस्माज्जातौ महाबलौ ।
महाकायौ महावीर्यौ महाबलपराक्रमौ ॥ ४ ॥
अच्युतस्य प्रसुप्तस्य महत्पद्ममजायत ।
नाभिमध्ये नृपश्रेष्ठ तस्मिन् ब्रह्माभ्यजायत ॥ ५ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—महात्मा भगवान् अच्युतके बहुत-से अवतार हैं, सुतरां उनका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता; इसलिये मैं उन्हें संक्षेपसे ही कहता हूँ। यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें जगत्की सृष्टि करनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम 'अनन्त' नामक शेषनागके शरीरकी शय्यापर योग-निद्राका आश्रय लेकर सोये हुए थे। नृप! कुछ कालके बाद उन गहरी नींदमें सोये हुए देवदेव शार्ङ्गधन्वा विष्णुके कानोंसे पसीनेकी दो बूँदें निकलकर जलमें गिरीं। उन दोनों बूँदोंसे मधु और कैटभ नामके दो दैत्य उत्पन्न हुए, जो महाबली, महान् शक्तिशाली, महापराक्रमी और महाकाय थे। नृपश्रेष्ठ! इसी समय उन सोये हुए भगवान्की नाभिके बीचमें महान् कमल प्रकट हुआ और उससे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ १—५ ॥

स चोक्तो विष्णुना राजन् प्रजाः सृज महामते ।
तथेत्युक्त्वा जगन्नाथं ब्रह्मापि कमलोद्भवः ॥ ६ ॥
वेदशास्त्रवशाद्यावत् प्रजाः स्रष्टुं समुद्यतः ।
तावत्तत्र समायातौ तावुभौ मधुकैटभौ ॥ ७ ॥
आगत्य वेदशास्त्रार्थविज्ञानं ब्रह्मणः क्षणात् ।
अपहृत्य गतौ घोरौ दानवौ बलदर्पितौ ॥ ८ ॥
ततः पद्मोद्भवो राजन् ज्ञानहीनोऽभवत् क्षणात् ।
दुःखितश्चिन्तयामास कथं स्रक्ष्यामि वै प्रजाः ॥ ९ ॥
चोदितस्त्वं सृजस्वेति प्रजा देवेन तत्कथम् ।
स्रक्ष्येऽहं ज्ञानहीनस्तु अहो कष्टमुपस्थितम् ॥१०॥

इति संचिन्त्य दुःखार्त्तो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
यत्नतो वेदशास्त्राणि स्मरन्नपि न दृष्टवान् ॥११॥
ततो विषण्णचित्तस्तु तं देवं पुरुषोत्तमम् ।
एकाग्रमनसा सम्यक् शास्त्रेण स्तोतुमारभत् ॥१२॥

राजन् ! भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीसे कहा—'महामते ! तुम प्रजाजनोंकी सृष्टि करो ।' यह सुन उन कमलोद्भव ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर भगवान् जगन्नाथकी आज्ञा स्वीकार कर ली तथा वेदों और शास्त्रोंकी सहायतासे वे ज्यों-ही सृष्टि-रचनाके लिये उद्यत हुए, त्यों ही उनके पास वे दोनों दैत्य—मधु और कैटभ आये । आते ही वे बलाभिमानी घोर दानव क्षणभरमें ब्रह्माजीके वेद और शास्त्र-ज्ञानको लेकर चले गये । राजन् ! तब ब्रह्माजी एक ही क्षणमें ज्ञानशून्य हो दुखी हो गये और सोचने लगे—"हाय ! अब मैं कैसे प्रजाकी सृष्टि करूँगा ? भगवान्ने मुझे आज्ञा दी कि 'तुम प्रजाकी सृष्टि करो ।' परंतु अब तो मैं सृष्टि-विज्ञानसे रहित हो गया, अतः किस प्रकार सृष्टि-रचना करूँगा ? अहो ! मुझपर यह बहुत बड़ा कष्ट आ पहुँचा ।" लोकपितामह ब्रह्माजी इस प्रकार चिन्ता करते-करते शोकसे कातर हो गये । वे प्रयत्न-पूर्वक वेद-शास्त्रोंका स्मरण करने लगे, तथापि उन्हें उनकी स्मृति नहीं हुई । तब वे मन-ही-मन अत्यन्त दुखी हो, एकाग्रचित्तसे भगवान् पुरुषोत्तमकी शास्त्रानुकूल विधिसे स्तुति करने लगे ॥ ६—१२ ॥

ब्रह्मोवाच

ॐ नमो वेदनिधये शास्त्राणां निधये नमः ।
विज्ञाननिधये नित्यं कर्मणां निधये नमः ॥१३॥
विद्याधराय देवाय वागीशाय नमो नमः ।
अचिन्त्याय नमो नित्यं सर्वज्ञाय नमो नमः ॥१४॥
अमूर्त्तिस्त्वं महाबाहो यज्ञमूर्तिरधोक्षज ।
साम्नां मूर्त्तिस्त्वमेवाद्य सर्वदा सर्वरूपवान् ॥१५॥
सर्वज्ञानमयोऽसि त्वं हृदि ज्ञानमयोऽच्युत ।
देहि मे त्वं सर्वज्ञानं देवदेव नमो नमः ॥१६॥

श्रीब्रह्माजी बोले—जो वेद, शास्त्र, विज्ञान और कर्मोंकी निधि हैं, उन ॐकार-प्रतिपाद्य परमेश्वरको मेरा बार-बार नमस्कार है । समस्त विद्याओंको धारण करनेवाले वाणीपति भगवान्को प्रणाम है । अचिन्त्य एवं सर्वज्ञ परमेश्वरको नित्य बारंबार नमस्कार है। महाबाहो ! अधोक्षज ! आप निराकार एवं यज्ञस्वरूप हैं । आप ही साममूर्ति एवं सदा सर्वरूपधारी हैं । अच्युत ! आप सर्वज्ञानमय हैं; आप सबके हृदयमें ज्ञानरूपसे विराजमान हैं । देवदेव ! आप मुझे सब प्रकारका ज्ञान दीजिये; आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १३—१६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्थं स्तुतस्तदा तेन शङ्खचक्रगदाधरः ।
ब्रह्माणमाह देवेशो दास्ये ते ज्ञानमुत्तमम् ॥१७॥
इत्युक्त्वा तु तदा विष्णुश्चिन्तयामास पार्थिव ।
केनास्य नीतं विज्ञानं केन रूपेण चादधे ॥१८॥
मधुकैटभकृतं सर्वमिति ज्ञात्वा जनार्दनः ।
मात्स्यं रूपं समास्थाय बहुयोजनमायतम् ।
बहुयोजनविस्तीर्णं सर्वज्ञानमयं नृप ॥१९॥
स प्रविश्य जलं तूर्णं क्षोभयामास तद्धरिः ।
प्रविश्य च स पातालं दृष्टवान्मधुकैटभौ ॥२०॥
तौ मोहयित्वा तुमुलं तज्ज्ञानं जगृहे हरिः ।
वेदशास्त्राणि मुनिभिः संस्तुतो मधुसूदनः ॥२१॥
आनीय ब्रह्मणे दत्त्वा त्यक्त्वा तन्मात्स्यकं नृप ।
जगद्धिताय स पुनर्योगनिद्रावशं गतः ॥२२॥

मार्कण्डेयजी बोले—ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले देवेश्वर विष्णुने उनसे कहा—'मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्रदान करूँगा ।' राजन् ! भगवान् विष्णु यों कहकर तब सोचने लगे—'कौन इसका विज्ञान हर ले गया और किस रूपसे उसने उसे धारण कर रखा है ?' भूपाल ! अन्तमें यह जानकर कि यह सब मधु और कैटभकी करतूत है, भगवान् जनार्दनने अनेकों योजन लंबा-चौड़ा पूर्णज्ञानमय मत्स्यरूप धारण किया । फिर मत्स्यरूपधारी हरिने तुरंत ही जलमें प्रविष्ट होकर उसे क्षुब्ध कर डाला और भीतर-ही-भीतर पाताललोकमें पहुँचकर मधु तथा कैटभको देखा । तब मुनियोंद्वारा स्तवन किये जानेपर भगवान् मधुसूदनने मधु और कैटभ—दोनोंको मोहितकर वह वेदशास्त्रमय ज्ञान ले लिया और उसे ले आकर ब्रह्माजीको दे दिया । राजन् ! तत्पश्चात् वे भगवान् उस मत्स्यरूपको त्यागकर जगत्के हितके लिये पुनः योगनिद्रामें स्थित हो गये ॥ १७—२२ ॥

ततः प्रबुद्धौ संक्रुद्धौ तावुभौ मधुकैटभौ ।
आगत्य ददृशाते तु शयानं देवमव्ययम् ॥२३॥
अयं स पुरुषो धूर्त्त आवां सम्मोह्य मायया ।
आनीय वेदशास्त्राणि दत्त्वा शेतेऽत्र साधुवत् ॥२४॥
इत्युक्त्वा तौ महाघोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
बोधयामासतुस्तूर्णं शयानं केशवं नृप ॥२५॥
युद्धार्थमागतावत्र त्वया सह महामते ।
आवयोर्देहि संग्रामं युध्यस्वोत्थाय साम्प्रतम् ॥२६॥

तदनन्तर मोह निवृत्त होनेपर [वेद-शास्त्रको न देख] मधु तथा कैटभ—दोनों ही बहुत कुपित हुए और वहाँसे आकर उन्होंने अविनाशी भगवान् विष्णुको सोते देखा । तब वे परस्पर कहने लगे—'यह वही धूर्त पुरुष है, जिसने हम दोनोंको मायासे मोहित करके वेद-शास्त्रोंको ले आकर ब्रह्माको दे दिया और अब यहाँ साधुकी भाँति सो रहा है ।' राजन् ! यों कहकर उन महाघोर दानव मधु और कैटभने वहाँ सोये हुए भगवान् केशवको तत्काल जगाया और कहा—'महामते ! हम दोनों यहाँ तुम्हारे साथ युद्ध करने आये हैं; तुम हमें संग्रामकी भिक्षा दो और अभी उठकर हमसे युद्ध करो' ॥ २३—२६ ॥

इत्युक्तो भगवांस्ताभ्यां देवदेवो नृपोत्तम ।
तथेति चोक्त्वा तौ देवः शार्ङ्गं सज्यमथाकरोत् ॥२७॥
ज्याघोषतलघोषेण शङ्खशब्देन माधवः ।
खं दिशः प्रदिशश्चैव पूरयामास लीलया ॥२८॥

नृपवर ! उनके इस प्रकार कहनेपर देवदेव भगवान्ने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने शार्ङ्ग धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी । उस समय भगवान् माधवने लीलापूर्वक धनुषकी टंकार और शङ्खनादसे आकाश, दिशाओं और अवान्तर-दिशाओं (कोणों) को भर दिया ॥ २७-२८ ॥

तौ च राजन् महावीर्यौ ज्याघोषं चक्रतुस्तदा ।
युयुधाते महाघोरौ हरिणा मधुकैटभौ ॥२९॥
कृष्णश्च युयुधे ताभ्यां लीलया जगतः पतिः ।
समं युद्धमभूदेवं तेषामस्त्राणि मुञ्चताम् ॥३०॥
केशवः शार्ङ्गनिर्मुक्तैः शरैराशीविषोपमैः ।
तानि शस्त्राणि सर्वाणि चिच्छेद तिलशस्तदा ॥३१॥
तौ युद्ध्वा सुचिरं तेन दानवौ मधुकैटभौ ।
हतौ शार्ङ्गविनिर्मुक्तैः शरैः कृष्णेन दुर्मदौ ॥३२॥
तयोस्तु मेदसा राजन् विष्णुना कल्पिता मही ।
मेदिनीति ततः संज्ञामवापेयं वसुंधरा ॥३३॥

राजन् ! फिर उन महापराक्रमी महाभयानक मधु और कैटभने भी उस समय अपनी प्रत्यञ्चाको टंकार दी और वे भगवान् विष्णुके साथ युद्ध करने लगे । जगत्पति भगवान् विष्णु भी लीलासे ही उनके साथ युद्ध करने लगे । इस प्रकार परस्पर अस्त्र-शस्त्रका प्रहार करते हुए उन दोनों पक्षोंमें समानरूपसे युद्ध हुआ । भगवान् विष्णुने अपने शार्ङ्ग धनुषद्वारा छोड़े हुए सर्पके समान तीखे बाणोंसे उन दैत्योंके समस्त अस्त्र-शस्त्र तिलकी भाँति टुकड़े-टुकड़े कर डाले । वे दोनों उन्मत्त दानव-मधु और कैटभ चिरकालतक भगवान्के साथ लड़कर अन्तमें उनके शार्ङ्ग-धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा मारे गये । राजन् ! तब श्रीविष्णु भगवान्ने उन दोनों दैत्योंके मेदेसे इस पृथ्वीका निर्माण किया । इसीसे इस वसुंधराका नाम 'मेदिनी' हुआ ॥ २९—३३ ॥

एवं कृष्णप्रसादेन वेदाँल्लब्ध्वा प्रजापतिः ।
प्रजाः ससर्ज भूपाल वेददृष्टेन कर्मणा ॥३४॥
य इदं शृणुयान्नित्यं प्रादुर्भावं हरेर्नृप ।
उषित्वा चन्द्रसदने वेदविद्ब्राह्मणो भवेत् ॥३५॥
मात्स्यं वपुस्तन्महदद्रितुल्यं
विद्यामयं लोकहिताय विष्णुः ।
आस्थाय भीमं जनलोकसंस्थैः
स्तुतोऽथ यस्तं स्मर भूमिपाल ॥३६॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे मत्स्यप्रादुर्भावो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

भूपाल ! इस प्रकार भगवान् विष्णुकी कृपासे वेदोंको प्राप्तकर प्रजापति ब्रह्माजीने वेदोक्त विधिसे प्रजाकी सृष्टि की । नृप ! जो भगवान्की इस अवतार-कथाका प्रतिदिन श्रवण करता है, वह [शरीर-त्यागके बाद] चन्द्रलोकमें निवास करके [पुनः इस लोकमें] वेदवेत्ता ब्राह्मण होता है । भूमिपाल ! जो भगवान् विष्णु लोकहितके लिये पर्वतके समान भीमकाय मत्स्यरूप धारणकर जनलोकनिवासियोंद्वारा स्तुत हुए थे, उनका ही तुम सदा स्मरण करो ॥ ३४—३६ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'मत्स्यावतार' नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ अध्याय

कूर्मावतार; समुद्रमन्थन और मोहिनी-अवतार

मार्कण्डेय उवाच

पुरा देवासुरे युद्धे देवा दैत्यैः पराजिताः ।
सर्वे ते शरणं जग्मुः क्षीराब्धितनयापतिम् ॥ १ ॥
स्तोत्रेण तुष्टुवुः सर्वे समाराध्य जगत्पतिम् ।
कृताञ्जलिपुटा राजन् ब्रह्माद्या देवतागणाः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें जब देवगण दैत्योंद्वारा पराजित हो गये, तब वे सभी मिलकर क्षीरसागरनन्दिनी श्रीलक्ष्मीजीके पति भगवान् विष्णुकी शरणमें गये। राजन्! वहाँ ब्रह्मा आदि सभी देवता जगदीश्वरकी आराधना करके हाथ जोड़ निम्नाङ्कित स्तोत्रसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ १-२ ॥

देवा ऊचुः

नमस्ते पद्मनाभाय लोकनाथाय शार्ङ्गिणे ।
नमस्ते पद्मनाभाय सर्वदुःखापहारिणे ॥ ३ ॥
नमस्ते विश्वरूपाय सर्वदेवमयाय च ।
मधुकैटभनाशाय केशवाय नमो नमः ॥ ४ ॥
दैत्यैः पराजिता देव वयं युद्धे बलान्वितैः ।
जयोपायं हि नो ब्रूहि करुणाकर ते नमः ॥ ५ ॥

देवगण बोले—जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, जो समस्त लोकोंके स्वामी हैं, उन शार्ङ्गधनुषधारी आप परमेश्वरको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्व और सारे देवता जिनके स्वरूप हैं, उन मधुकैटभनाशक केशवको बारंबार प्रणाम है। करुणाकर! भगवन्! हम सभी देवता बलवान् दैत्योंद्वारा युद्धमें हरा दिये गये हैं, हमें विजय प्राप्त करनेका कोई उपाय बतलाइये; आपको नमस्कार है॥३–५॥

मार्कण्डेय उवाच

इति स्तुतो तदा देवैर्देवदेवो जनार्दनः ।
तानब्रवीद्धरिर्देवांस्तेषामेवाग्रतः स्थितः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—देवताओंद्वारा इस प्रकार स्तवन किये जानेपर देवदेव भगवान् जनार्दनने उनके समक्ष प्रकट होकर कहा ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

गत्वा तत्र सुराः सर्वे संधिं कुरुत दानवैः ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम् ॥ ७ ॥
सर्वौषधीः समानीय प्रक्षिप्याब्धौ त्वरान्विताः ।
दानवैः सहिता भूत्वा मथ्नध्वं क्षीरसागरम् ॥ ८ ॥
अहं च तत्र साहाय्यं करिष्यामि दिवौकसः ।
भविष्यत्यमृतं तत्र तत्पानाद्बलवत्तराः ॥ ९ ॥
भविष्यन्ति क्षणाद्देवा अमृतस्य प्रभावतः ।
यूयं सर्वे महाभागास्तेजिष्ठा रणविक्रमाः ॥ १० ॥
इन्द्राद्यास्तु महोत्साहास्तल्लब्ध्वामृतमुत्तमम् ।
ततो हि दानवाञ्जेतुं समर्था नात्र संशयः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवगण! तुम सब लोग वहाँ (समुद्र-तटपर) जाकर दानवोंके साथ संधि कर लो और मन्दराचलको मथानी बनाकर वासुकि नागसे रस्सीका काम लो। फिर शीघ्रतापूर्वक समस्त ओषधियोंको लाकर समुद्रमें डालो और दानवोंके साथ मिलकर ही क्षीरसागरका मन्थन करो। देवताओ! इस कार्यमें मैं भी तुमलोगोंकी सहायता करूँगा। समुद्रसे अमृत प्रकट होगा, जिसको पान करके उसके प्रभावसे देवता क्षणभरमें ही अत्यन्त बलशाली हो जायँगे। महाभागो! उस उत्तम अमृतको प्राप्तकर इन्द्रादि तुम सभी देवता अत्यन्त तेजस्वी, रणमें पराक्रम दिखानेवाले और महान् उत्साहसे सम्पन्न हो जाओगे। तदनन्तर तुमलोग दानवोंको जीतनेमें समर्थ हो सकोगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ७–११ ॥

इत्युक्ता देवदेवेन देवाः सर्वे जगत्पतिम् ।
प्रणम्यागत्य निलयं संधिं कृत्वाथ दानवैः ॥ १२ ॥
क्षीराब्धेर्मन्थने सर्वे चक्रुरुद्योगमुत्तमम् ।
बलिना चोद्धृतो राजन् मन्दराख्यो महागिरिः ॥ १३ ॥
क्षीराब्धौ क्षेपितश्चैव तेनैकेन नृपोत्तम ।
सर्वौषधींश्च प्रक्षिप्य देवदैत्यैः पयोनिधौ ॥ १४ ॥
वासुकिश्चागतस्तत्र राजन्नारायणाज्ञया ।
सर्वदेवहितार्थाय विष्णुश्च स्वयमागतः ॥ १५ ॥

देवदेव भगवान्‌के द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर सभी देवता उन जगदीश्वरको प्रणाम करके अपने स्थानपर आये और दानवोंके साथ संधि करके क्षीरसागरके मन्थनके लिये उत्तम उद्योग करने लगे। राजन्! बलिने अकेले ही 'मन्दर' नामक महान् पर्वतको उखाड़कर समुद्रमें डाल दिया तथा नृपोत्तम! देवता और दैत्योंने समस्त ओषधियोंको लाकर समुद्रमें डाला। राजन्! भगवान् नारायणकी आज्ञासे वासुकिनाग वहाँ आये और समस्त देवताओंका हित-साधन करनेके लिये स्वयं भगवान् विष्णु भी वहाँ पधारे॥ १२—१५॥

तत्र विष्णुं समासाद्य ततः सर्वे सुरासुराः।
सर्वे ते मैत्रभावेन क्षीराब्धेस्तटमाश्रिताः॥१६॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वाथ वासुकिम्।
ततो मथितुमारब्धं नृपते तरसामृतम्॥१७॥
विष्णुना मुखभागे तु योजिता दानवास्तदा।
देवताः पुच्छभागे तु मथनाय नियोजिताः॥१८॥
एवं च मथनात्तत्र मन्दरोऽधः प्रविश्य च।
आधारेण विना राजन् तं दृष्ट्वा सहसा हरिः॥१९॥
सर्वलोकहितार्थाय कूर्मरूपमधारयत्।
आत्मानं सम्प्रवेश्याथ मन्दरस्य गिरेरधः॥२०॥
प्रविश्य धृतवान् शैलं मन्दरं मधुसूदनः।
उपर्याक्रान्तवाञ्शैलं पृथग्रूपेण केशवः॥२१॥
चकर्ष नागराजं च देवैः सार्धं जनार्दनः।
ततस्ते त्वरया युक्ता ममन्थुः क्षीरसागरम्॥२२॥
यावच्छक्त्या नृपश्रेष्ठ बलवन्तः सुरासुराः।

तदनन्तर सभी देवता और असुरगण वहाँ भगवान् विष्णुके पास आये और सब लोग मित्रभावसे एकत्र होकर क्षीरसागरके तटपर उपस्थित हुए। नृप! उस समय मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको रस्सी बनाकर अमृत निकालनेके उद्देश्यसे अत्यन्त वेगपूर्वक समुद्रका मन्थन आरम्भ हुआ। भगवान् विष्णुने उस समय समुद्र-मन्थनके लिये दानवोंको वासुकिके मुखकी ओर और देवताओंको पुच्छभागकी ओर नियुक्त किया। राजन्! इस प्रकार मन्थन आरम्भ होनेपर नीचे कोई आधार न होनेके कारण मन्दराचल जलके भीतर प्रविष्ट होकर डूब गया। पर्वतको डूबा देख भगवान् मधुसूदन विष्णुने समस्त लोकोंके हितके लिये सहसा कूर्मरूप धारण किया और उस रूपमें अपनेको मन्दराचलके नीचे प्रविष्ट करके, आधाररूप हो, उस मन्दर पर्वतको धारण किया तथा दूसरे रूपसे वे भगवान् केशव पर्वतको ऊपरसे भी दबाये रहे और एक अन्यरूपसे वे भगवान् जनार्दन देवताओंके साथ रहकर नागराज वासुकिको खींचते भी रहे। तब वे बलवान् देवता तथा असुर पूर्णशक्ति लगाकर बड़े वेगसे क्षीरसागरका मन्थन करने लगे॥ १६—२२½॥

मथ्यमानात्ततस्तस्मात् क्षीराब्धेरभवन्नृप॥२३॥
कालकूटमिति ख्यातं विषमत्यन्तदुस्सहम्।
तं नागा जगृहुः सर्वे तच्छेषं शंकरोऽग्रहीत्॥२४॥
नारायणाज्ञया तेन नीलकण्ठत्वमाप्तवान्।
ऐरावतश्च नागेन्द्रो हरिश्चोच्चैःश्रवाः पुनः॥२५॥
द्वितीयावर्तनाद्राजन्नुत्पन्नाविति नः श्रुतम्।
तृतीयावर्तनाद् राजन्नप्सराश्च सुशोभना॥२६॥
चतुर्थात् पारिजातश्च उत्पन्नः स महाद्रुमः।
पञ्चमाद्धि हिमांशुस्तु प्रोत्थितः क्षीरसागरात्॥२७॥
तं भवः शिरसा धत्ते नारीवत् स्वस्तिकं नृप।
नानाविधानि दिव्यानि रत्नान्याभरणानि च॥२८॥
क्षीरोदधेरुत्थिताश्च गन्धर्वाश्च सहस्रशः।
एतान् दृष्ट्वा तथोत्पन्नानत्याश्चर्यसमन्वितान्॥२९॥
अभवञ्जातहर्षास्ते तत्र सर्वे सुरासुराः।

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर उस मथे जाते हुए क्षीरसागरसे अत्यन्त दुस्सह 'कालकूट' नामक विष प्रकट हुआ। उस विषको सभी सर्पोंने ग्रहण कर लिया। उनसे बचे हुए विषको भगवान् विष्णुकी आज्ञासे शंकरजीने पी लिया। इससे कण्ठमें काला दाग पड़ जानेके कारण उनकी 'नीलकण्ठ' संज्ञा हुई। इसके बाद द्वितीय बारके मन्थनसे ऐरावत गजराज और उच्चैःश्रवा घोड़ा—ये दोनों प्रकट हुए, यह बात हमारे सुननेमें आयी है। तृतीय आवृत्तिसे परम सुन्दरी अप्सरा (उर्वशी)का आविर्भाव हुआ और चौथी बार महान् वृक्ष पारिजात प्रकट हुआ। पाँचवीं आवृत्तिमें क्षीरसागरसे चन्द्रमा प्रकट हुए। नरेश्वर! चन्द्रमाको भगवान् शिव अपने मस्तकपर धारण करते हैं; ठीक उसी तरह जैसे नारी ललाटमें स्वस्तिक (बेंदी या आभूषण) धारण करती है। इसी प्रकार क्षीरसागरसे नाना प्रकारके दिव्य रत्न, आभूषण और हजारों गन्धर्व प्रकट हुए। इन अत्यन्त विस्मयजनक वस्तुओं-

को उस प्रकार उत्पन्न देख सभी देवता और असुर बहुत प्रसन्न हुए ॥ २३-२९½ ॥

देवपक्षे ततो मेघाः स्वल्पं वर्षन्ति संस्थिताः ॥३०॥
कृष्णाज्ञया च वायुश्च सुखं वाति सुरान् प्रति ।
विषनिःश्वासवातेन वासुकेश्चापरे हताः ॥३१॥
निस्तेजसोऽभवन् दैत्या निर्वीर्याश्च महामते ।

तदनन्तर भगवान् विष्णुकी आज्ञासे मेघगण देवताओंके दलमें स्थित हो मन्द-मन्द वर्षा करने लगे और देव-वृन्दको सुख देनेवाली वायु बहने लगी। [इस कारण देवता थके नहीं।] किंतु महामते! वासुकिके विषमिश्रित श्वासकी वायुसे कितने ही दैत्य मर गये और जो बचे, वे भी तेज एवं पराक्रमसे हीन हो गये ॥ ३०-३१½ ॥

ततः श्रीरुत्थिता तस्मात् क्षीरोदाद्धृतपङ्कजा ॥३२॥
विभ्राजमाना राजेन्द्र दिशः सर्वाः स्वतेजसा ।
ततस्तीर्थोदकैः स्नाता दिव्यवस्त्रैरलंकृता ॥३३॥
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गी सुमनोभिः सुभूषणैः ।
देवपक्षं समासाद्य स्थित्वा क्षणमरिंदम ॥३४॥
हरिवक्षःस्थलं प्राप्ता ततः सा कमलालया ।

तत्पश्चात् उस समुद्रसे हाथमें कमल धारण किये हुए श्रीलक्ष्मीजी प्रकट हुईं। राजेन्द्र! वे अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशमान कर रही थीं। शत्रुसूदन! उन्होंने तीर्थके जलसे स्नान किया, शरीरमें दिव्य गन्धका अनुलेप लगाया और वे कमलालया लक्ष्मी दिव्य वस्त्र, पुष्पहार और सुन्दर भूषणोंसे विभूषित हो देवपक्षमें जाकर क्षणभर खड़ी रहीं; फिर भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें विराजमान हुईं ॥ ३२-३४½ ॥

ततोऽमृतघटं पूर्णं दुग्ध्वा तु पयसो निधेः ॥३५॥
धन्वन्तरिः समुत्तस्थौ ततः प्रीताः सुरा नृप ।
दैत्याः श्रिया परित्यक्ता दुःखितास्तेऽभवन्नृप॥३६॥
नीत्वामृतघटं पूर्णं ते च जग्मुर्यथासुखम् ।
ततः स्त्रीरूपमकरोद् विष्णुर्देवहिताय वै ॥३७॥
आत्मानं नृपशार्दूल सर्वलक्षणसंयुतम् ।
ततो जगाम भगवान् स्त्रीरूपेणासुरान् प्रति ॥३८॥

दिव्यरूपां तु तां दृष्ट्वा मोहितास्ते सुरद्विषः ।
सुधापूर्णघटं ते तु मोहैः संस्थाप्य सत्तम ॥३९॥
कामेन पीडिताश्चासन्नसुरास्तत्र तत्क्षणात् ।
मोहयित्वा तु तानेवमसुरानवनीपते ॥४०॥
अमृतं तु समादाय देवेभ्यः प्रददौ हरिः ।
तत्पीत्वा तु ततो देवा देवदेवप्रसादतः ॥४१॥
बलवन्तो महावीर्या रणे जग्मुस्ततोऽसुरान् ।
जित्वा रणेऽसुरान् देवाः स्वानि राज्यानि चक्रिरे॥४२॥
एतत्ते कथितं राजन् प्रादुर्भावो हरेरयम् ।
कूर्माख्यः पुण्यदो नृणां शृण्वतां पठतामपि ॥४३॥

नरेश्वर! इसके बाद क्षीरसागरसे अमृतपूर्ण घटका दोहन करके हाथमें लिये भगवान् धन्वन्तरि प्रकट हुए। उनके प्राकट्यसे देवता बहुत प्रसन्न हुए। किंतु राजन्! लक्ष्मीद्वारा त्याग दिये जानेके कारण असुरगण बहुत दुखी हुए और उस भरे हुए अमृतघटको लेकर इच्छानुसार चल दिये। नृपवर! तब भगवान् विष्णुने देवताओंका हित करनेके लिये अपनेको सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे युक्त स्त्रीरूपमें प्रकट किया। इसके बाद भगवान् उस नारीरूपसे ही असुरोंकी ओर गये। उस दिव्य रूपवाली नारीको देख दैत्यगण मोहित हो गये। साधु-शिरोमणे! वे असुर तत्काल मोहके वशीभूत हो कामपीड़ित हो गये और उन्होंने मोहवश वह अमृतका घड़ा भूमिपर रख दिया। अवनीपते! इस प्रकार असुरोंको मोहित करके भगवान्‌ने वह अमृत ले देवताओंको दे दिया। देवदेव भगवान्‌की कृपासे अमृत पीकर बली और महावीर्यवान् हो देवता संग्राममें आ डटे और असुरोंको युद्धमें जीतकर उन्होंने अपने राज्यपर अधिकार कर लिया। राजन्! भगवान्‌के इस 'कूर्म'नामक अवतारकी कथा मैंने तुमसे कह दी। यह पढ़ने और सुननेवाले मनुष्योंको पुण्य देनेवाली है ॥ ३५-४३ ॥

आविष्कृतं कौर्ममनन्तवर्चसं
नारायणेनाद्भुतकर्मकारिणा ।
दिवौकसानां तु हिताय केवलं
रूपं परं पावनमेव कीर्तितम् ॥४४॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे कूर्मप्रादुर्भावो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् नारायणने केवल देवताओंके हितके लिये अनन्त तेजस्वी परमपावन कूर्मरूप प्रकट किया था, जो इस प्रसङ्गका वर्णन मैंने तुमसे कर दिया ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'कूर्मावतार' नामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

उन्तालीसवाँ अध्याय

वाराह-अवतार; हिरण्याक्षवध

मार्कण्डेय उवाच

अतः परं हरेः पुण्यं प्रादुर्भावं नराधिप ।
वाराहं ते प्रवक्ष्यामि समाहितमनाः शृणु ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—नरेश्वर ! इसके बाद मैं भगवान् विष्णुके 'वराह' नामक पावन अवतारका वर्णन करूँगा—तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ १ ॥

अवान्तरलये प्राप्ते ब्रह्मणस्तु दिनक्षये ।
त्रैलोक्यमखिलं व्याप्य तिष्ठन्त्यम्भांसि सत्तम ॥ २ ॥
त्रैलोक्येऽखिलसत्त्वानि यानि राजेन्द्र तानि वै ।
ग्रस्त्वा विष्णुस्ततः शेते तस्मिन्नेकार्णवे जले ॥ ३ ॥
अनन्तभोगशयने सहस्रफणशोभिते ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां ब्रह्मरूपी जगत्पतिः ॥ ४ ॥
दितेः पुत्रो महानासीत् कश्यपादिति नः श्रुतम् ।
हिरण्याक्ष इति ख्यातो महाबलपराक्रमः ॥ ५ ॥
पाताले निवसन् दैत्यो देवानुपरुरोध सः ।
यज्विनामपकाराय यतते स तु भूतले ॥ ६ ॥

सत्तम ! ब्रह्माजीका दिन बीत जानेपर जब अवान्तर प्रलय होता है, तब सम्पूर्ण त्रिलोकीको व्याप्त करके केवल जल-ही-जल रह जाता है। राजेन्द्र ! उस समय त्रिभुवनमें जो भी प्राणी हैं, उन सबका ग्रास करके ब्रह्मस्वरूप जगदीश्वर भगवान् विष्णु उस एकार्णव जलके भीतर सहस्रों फणोंसे सुशोभित शेषनागकी शय्यापर सहस्र युगोंतक चलनेवाली रात्रिमें शयन करते हैं। पूर्वकालमें कश्यपजीसे दितिके पुत्ररूपमें 'हिरण्याक्ष' नामक महान् दैत्य उत्पन्न हुआ था; ऐसी बात हमने सुनी है। वह महान् बलवान् और पराक्रमी था। वह दैत्य पातालमें निवास करता था और स्वर्गके देवताओंपर आक्रमण करके उनकी पुरीपर घेरा डाल देता था। इतना ही नहीं, वह पृथ्वीपर यज्ञ करनेवाले मनुष्योंका भी अपकार करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था ॥ २—६ ॥

अथ भूम्युपरि स्थित्वा मर्त्या यक्ष्यन्ति देवताः ।
तेन तेषां बलं वीर्यं तेजश्चापि भविष्यति ॥ ७ ॥
इति मत्वा हिरण्याक्षः कृते सर्गे तु ब्रह्मणा ।
भूमेर्या धारणाशक्तिस्तां नीत्वा स महासुरः ॥ ८ ॥
विवेश तोयमध्ये तु रसातलतलं नृप ।
विना शक्त्या च जगती प्रविवेश रसातलम् ॥ ९ ॥

एक बार उसने सोचा—'मर्त्यलोकमें रहनेवाले पुरुष पृथ्वीपर रहकर देवताओंका यजन करेंगे, इससे उनका बल, वीर्य और तेज बढ़ जायगा।' यह सोचकर महान् असुर हिरण्याक्षने ब्रह्माजीद्वारा सृष्टि-रचना की जानेपर उसे धारण करनेके लिये भूमिकी जो धारणा-शक्ति थी, उसे लेकर जलके भीतर-ही-भीतर रसातलमें चला गया। आधारशक्तिसे रहित होकर यह पृथ्वी भी रसातलमें ही चली गयी ॥७—९॥

निद्रावसाने सर्वात्मा क्व स्थिता मेदिनीति वै ।
संचिन्त्य ज्ञात्वा योगेन रसातलतलं गताम् ॥१०॥
अथ वेदमयं रूपं वाराहं वपुरास्थितम् ।
वेदपादं यूपदंष्ट्रं चितिवक्त्रं नराधिप ॥११॥
व्यूढोरस्कं महाबाहुं पृथुवक्त्रं नराधिप ।
अग्निजिह्वं स्रुचं तुण्डं चन्द्रार्कनयनं महत् ॥१२॥
पूर्तेष्टिधर्मश्रवणं दिव्यं तं सामनिःस्वनम् ।
प्राग्वंशकायं हविर्नासं कुशदर्भतनूरुहम् ॥१३॥
सर्वं वेदमयं तच्च पुण्यसूक्तमहासटम् ।
नक्षत्रताराहारं च प्रलयावर्तभूषणम् ॥१४॥

योगनिद्राका अन्त होनेपर जब सर्वात्मा श्रीहरिने विचार किया कि 'पृथ्वी कहाँ है ?', तब उन्होंने योगबलसे यह जान लिया

कि 'वह रसातलको चली गयी है'। नराधिप! तब उन्होंने वेदमय लंबा-चौड़ा दिव्य वराह-शरीर धारण किया, जिसके चारों वेद ही चरण थे, यूप (पशु-बन्धनके लिये बना हुआ काष्ठस्तम्भ) ही दाढ़ था और चिति (श्येनचित् आदि) मुख। मुखमण्डल स्थूल और छाती चौड़ी थी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, अग्नि ही जिह्वा और स्रुक् (स्रुवा) ही थूथुन थी। चन्द्रमा और सूर्य विशाल नेत्र थे, पूर्त (बावली आदि खुदवाना) और इष्ट-धर्म (यज्ञ-यागादि) उनके कान थे, साम ही स्वर था। प्राग्वंश (पत्नीशाला या यजमान-गृह) ही शरीर था, हवि ही नासिका थी, कुश-दर्भ ही रोमावलियाँ थे। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण शरीर वेदमय था, पवित्र वैदिक सूक्त ही उनके बड़े-बड़े अयाल थे। नक्षत्र और तारे उनके हार थे तथा प्रलयकालीन आवर्त (भँवरें) ही उनके लिये भूषणका काम दे रहे थे ॥ १०-१४ ॥

इत्थं कृत्वा तु वाराहं प्रविवेश वृषाकपिः ।
रसातलं नृपश्रेष्ठ सनकाद्यैरभिष्टुतः ॥१५॥
प्रविश्य च हिरण्याक्षं युद्धे जित्वा वृषाकपिः ।
दंष्ट्राग्रेण ततः पृथ्वीं समुद्धृत्य रसातलात् ॥१६॥
स्तूयमानोऽमरगणैः स्थापयामास पूर्ववत् ।
संस्थाप्य पर्वतान् सर्वान् यथास्थानमकल्पयत् ॥१७॥
विहाय रूपं वाराहं तीर्थे कोकेतिविश्रुते ।
वैष्णवानां हितार्थाय क्षेत्रं तद्गुह्यमुत्तमम् ॥१८॥
ब्रह्मरूपं समास्थाय पुनः सृष्टिं चकार सः ।
विष्णुः पाति जगत्सर्वमेवम्भूतो युगे युगे ।
हन्ति चान्ते जगत्सर्वं रुद्ररूपी जनार्दनः ॥१९॥

नृपश्रेष्ठ! भगवान् विष्णुने ऐसे वाराहरूपको धारणकर रसातलमें प्रवेश किया। उस समय सनकादि योगीजन उनकी स्तुति करते थे। वहाँ जाकर भगवान्‌ने युद्धमें हिरण्याक्षको मारकर उसपर विजय पायी और अपनी दाढ़ोंके अग्रभागसे पृथ्वीको उठाकर वे रसातलसे ऊपर ले आये। फिर देवगण उनकी स्तुति करने लगे और उन्होंने पूर्ववत् पृथ्वीको स्थापित किया। पृथ्वीको स्थिर करनेके पश्चात् उसपर यथास्थान पर्वतोंका संनिवेश किया। तदनन्तर वैष्णवोंके हितके लिये कोकामुख तीर्थमें वाराहरूपका त्याग किया। वह वाराह-क्षेत्र उत्तम एवं गुप्त तीर्थ है। फिर ब्रह्माजीका रूप धारणकर उन्होंने सृष्टि-रचना की। इस प्रकार भगवान् विष्णु युग-युगमें अवतार लेकर सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हैं। फिर वे जनार्दन रुद्ररूप धारणकर अन्तकालमें समस्त लोकोंका संहार करते हैं ॥ १५-१९ ॥

वेदान्तवेद्यस्य हरेर्वृषाकपेः
कथामिमां यश्च शृणोति मानवः ।
दृढां मतिं यज्ञतनौ विवेश्य वै
विहाय पापं स नरो हरिं व्रजेत् ॥२०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे वाराहप्रादुर्भावो नाम एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य वेदान्तवेद्य भगवान् विष्णुकी इस कथाको श्रवण करता है, वह भगवान् यज्ञमूर्तिमें अपनी सुदृढ़ बुद्धि लगाकर समस्त पापोंसे मुक्त हो, उन भगवान् हरिको ही प्राप्त करता है ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'वाराहावतार' नामक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चालीसवाँ अध्याय

नृसिंहावतार; हिरण्यकशिपुकी वरदान-प्राप्ति और उससे सताये हुए देवोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति

मार्कण्डेय उवाच

वाराहः कथितो ह्येवं प्रादुर्भावो हरेस्तव ।
साम्प्रतं नारसिंहं तु प्रवक्ष्यामि निबोध मे ॥ १ ॥

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—राजन्! इस प्रकार मैंने तुमसे भगवान् विष्णुके वराह-अवतारका वर्णन किया। अब 'नृसिंहावतार'का वर्णन करूँगा; सुनो ॥ १ ॥

दितेः पुत्रो महानासीद्धिरण्यकशिपुः पुरा ।
तपस्तेपे निराहारो बहुवर्षसहस्रकम् ॥ २ ॥
तपतस्तस्य संतुष्टो ब्रह्मा तं प्राह दानवम् ।
वरं वरय दैत्येन्द्र यस्ते मनसि वर्तते ॥ ३ ॥
इत्युक्तो ब्रह्मणा दैत्यो हिरण्यकशिपुः पुरा ।
उवाच नत्वा देवेशं ब्रह्माणं विनयान्वितः ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें दितिका पुत्र हिरण्यकशिपु महान् प्रतापी हुआ। उसने अनेक सहस्र वर्षोंतक निराहार रहते हुए तपस्या की। उसकी तपस्यासे संतुष्ट हो ब्रह्माजीने उस दानवसे कहा—'दैत्येन्द्र! तुम्हारे मनको जो प्रिय लगे, वही वर माँग लो।' दैत्य हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर उन देवेश्वरसे विनयपूर्वक प्रणाम करके कहा॥ २–४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

यदि त्वं वरदानाय प्रवृत्तो भगवन्मम।
यद्यद्वृणोम्यहं ब्रह्मंस्तत्तन्मे दातुमर्हसि॥ ५॥
न शुष्केण न चार्द्रेण न जलेन न वह्निना।
न काष्ठेन न कीटेन पाषाणेन न वायुना॥ ६॥
नायुधेन न शूलेन न शैलेन न मानुषैः।
न सुरैरसुरैर्वापि न गन्धर्वैर्न राक्षसैः॥ ७॥
न किंनरैर्न यक्षैस्तु विद्याधरभुजंगमैः।
न वानरैर्मृगैर्वापि नैव मातृगणैरपि॥ ८॥
नाभ्यन्तरे न बाह्ये तु नान्यैर्मरणहेतुभिः।
न दिने न च नक्तं मे त्वत्प्रसादाद् भवेन्मृतिः॥ ९॥
इति वै देवदेवेशं वरं त्वत्तो वृणोम्यहम्।

हिरण्यकशिपु बोला—ब्रह्मन्! भगवन्! यदि आप मुझे वर देनेको उद्यत हैं तो मैं जो-जो माँगता हूँ, वह सब देनेकी कृपा करें। मैं न सूखी वस्तुसे मरूँ न गीलीसे; न जलसे न आगसे; न काठसे न कीड़ेसे और न पत्थर या हवासे ही मेरी मृत्यु हो। न शूल अथवा किसी और शस्त्रसे न पर्वतसे; न मनुष्योंसे न देवता, असुर, गन्धर्व अथवा राक्षसोंसे ही मरूँ। न किंनरोंसे न यक्ष, विद्याधर अथवा भुजंगोंसे; न वानर तथा अन्य पशुओंसे और न दुर्गा आदि मातृगणोंसे ही मेरी मृत्यु हो। मैं न घरके भीतर मरूँ न बाहर; न दिनमें मरूँ न रातमें तथा आपकी कृपासे मृत्युके हेतुभूत अन्य कारणोंसे भी मेरी मृत्यु न हो। देवदेवेश्वर! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ॥ ५–९१/२॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तो दैत्यराजेन ब्रह्मा तं प्राह पार्थिव॥ १०॥
तपसा तव तुष्टोऽहं महता तु वरानिमान्।
दुर्लभानपि दैत्येन्द्र ददामि परमाद्भुतान्॥ ११॥
अन्येषां नेदृशं दत्तं न तैरित्थं तपः कृतम्।
त्वत्प्रार्थितं मया दत्तं सर्वं ते चास्तु दैत्यप॥ १२॥
गच्छ भुङ्क्ष्व महाबाहो तपसामूर्जितं फलम्।
इत्येवं दैत्यराजस्य हिरण्यकशिपोः पुरा॥ १३॥
दत्त्वा वरान् ययौ ब्रह्मा ब्रह्मलोकमनुत्तमम्।
सोऽपि लब्धवरो दैत्यो बलवान् बलदर्पितः॥ १४॥
देवान् सिंहान् रणे जित्वा दिवः प्राच्यावयद् भुवि।
दिवि राज्यं स्वयं चक्रे सर्वशक्तिसमन्वितम्॥ १५॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके यों कहनेपर ब्रह्माजीने उससे कहा—'दैत्येन्द्र! तुम्हारे महान् तपसे संतुष्ट होकर मैं इन परम अद्भुत वरोंको दुर्लभ होनेपर भी तुम्हें दे रहा हूँ। दूसरे किसीको मैंने ऐसा वर नहीं दिया है और न दूसरोंने ऐसी तपस्या ही की है। दैत्यपते! तुम्हारे माँगे हुए सभी वर मैंने तुम्हें दे दिये; वे सब तुम्हें प्राप्त हों। महाबाहो! अब जाओ और अपने तपके बढ़े हुए उत्कृष्ट फलको भोगो।' इस प्रकार पूर्वकालमें दैत्यराज हिरण्यकशिपुको अभीष्ट वर देकर ब्रह्माजी अपने परम उत्तम लोकको चले गये। उस बलवान् दैत्यने भी वर पाकर बलसे उन्मत्त हो श्रेष्ठ देवताओंको युद्धमें जीतकर उन्हें स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरा दिया तथा वह स्वयं स्वर्गलोकमें रहकर वहाँका सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य भोगने लगा॥ १०–१५॥

देवा अपि भयात्तस्य रुद्राश्चैवर्षयो नृप।
विचेरुरवनौ सर्वे बिभ्राणा मानुषीं तनुम्॥ १६॥
प्राप्तत्रैलोक्यराज्योऽसौ हिरण्यकशिपुः प्रजाः।
आहूय सर्वा राजेन्द्र वाक्यं चेदमभाषत॥ १७॥
न यष्टव्यं न होतव्यं न दातव्यं सुरान् प्रति।
युष्माभिरहमेवाद्य त्रैलोक्याधिपतिः प्रजाः॥ १८॥
ममैव पूजां कुरुत यज्ञदानादिकर्मणा।
ताश्च सर्वास्तथा चक्रुर्दैत्येन्द्रस्य भयान्नृप॥ १९॥
यत्रैवं क्रियमाणेषु त्रैलोक्यं सचराचरम्।
अधर्मयुक्तं सकलं बभूव नृपसत्तम॥ २०॥
स्वधर्मलोपात् सर्वेषां पापे मतिरजायत।
गते काले तु महति देवाः सेन्द्रा बृहस्पतिम्॥ २१॥

नीतिज्ञं सर्वशास्त्रज्ञं पप्रच्छुर्विनयान्विताः ।
हिरण्यकशिपोरस्य विनाशं मुनिसत्तम ॥२२॥
त्रैलोक्यहारिणः शीघ्रं वधोपायं वदस्व नः ।

नरेश्वर ! इन्द्रादि देवता, रुद्र तथा ऋषिगण भी उसके भयसे मनुष्यरूप धारणकर पृथ्वीपर विचरते थे । राजेन्द्र ! त्रिभुवनका राज्य प्राप्त कर लेनेपर हिरण्यकशिपुने समस्त प्रजाओंको बुलाकर उनसे यह वाक्य कहा—'प्रजागण ! तुमलोग देवताओंके लिये यज्ञ, होम और दान न करो । अब मैं ही त्रिभुवनका अधीश्वर हूँ; अतः यज्ञ और दानादि कर्मोंद्वारा मेरी ही पूजा करो ।' राजन् ! यह सुनकर वे सभी प्रजाएँ उसके भयसे वैसा ही करने लगीं । नृपश्रेष्ठ ! वहाँ ऐसा व्यवहार चालू होनेपर चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिभुवन अधर्मपरायण हो गया । स्वधर्मका लोप हो जानेसे सबकी बुद्धि पापमें प्रवृत्त हो गयी । इस तरह बहुत समय बीतनेपर इन्द्रसहित सब देवताओंने मिलकर समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता तथा नीतिवेत्ता बृहस्पतिजीसे विनयपूर्वक पूछा—'मुनिश्रेष्ठ ! त्रिलोकीका राज्य छीननेवाले इस हिरण्यकशिपुके विनाशका समय और उसका उपाय हमें शीघ्र बताइये' ॥ १६—२२½ ॥

बृहस्पतिरुवाच

शृणुध्वं मम वाक्यानि स्वपदप्राप्तये सुराः ॥२३॥
प्रायो हिरण्यकशिपुः क्षीणभागो महासुरः ।
शोको नाशयति प्रज्ञां शोको नाशयति श्रुतम् ॥२४॥
शोको मतिं नाशयति नास्ति शोकसमो रिपुः ।
सोढुं शक्योऽग्निसम्बन्धः शस्त्रस्पर्शश्च दारुणः ॥२५॥
न तु शोकभवं दुःखं संसोढुं नृप शक्यते ।
कालान्निमित्ताच्च वयं लक्ष्यामस्तत्क्षयं सुराः ॥२६॥
बुधाश्च सर्वे सर्वत्र स्थिता वक्ष्यन्ति नित्यशः ।
अचिरादेव दुष्टोऽसौ नश्यत्येव परस्परम् ॥२७॥
देवानां तु परामृद्धिं स्वपदप्राप्तिलक्षणाम् ।
हिरण्यकशिपोर्नाशं शकुनानि वदन्ति मे ॥२८॥
यत एवमतो देवाः सर्वे गच्छत माचिरम् ।
क्षीरोदस्योत्तरं तीरं प्रसुप्तो यत्र केशवः ॥२९॥
युष्माभिः संस्तुतो देवः प्रसन्नो भवति क्षणात् ।
स हि प्रसन्नो दैत्यस्य वधोपायं वदिष्यति ॥३०॥

बृहस्पतिजी बोले—देवताओ ! तुमलोग अपने स्थानकी प्राप्तिके लिये मेरे ये वाक्य सुनो—'इस महान् असुर हिरण्यकशिपुके पुण्यका अंश प्रायः क्षीण हो चुका है । [इसे अपने भाई हिरण्याक्षकी मृत्युसे बहुत शोक हुआ है ।] यह शोक बुद्धिको नष्ट और शास्त्रज्ञानको चौपट कर देता है, विचारशक्तिको भी क्षीण कर डालता है; अतः शोकके समान कोई शत्रु नहीं है । नरेश्वर ! अपने शरीरपर अग्निका स्पर्श और दारुण शस्त्र-प्रहार भी सहा जा सकता है, परंतु शोकजन्य दुःखका सहन नहीं किया जा सकता । देवताओ ! इस शोकसे और कालरूप निमित्तसे हम हिरण्यकशिपुका नाश निकट देख रहे हैं । इसके अतिरिक्त सभी विद्वान् सर्वत्र परस्पर यही कहा करते हैं कि दुष्ट हिरण्यकशिपु अब शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है । मेरे शकुन भी यही बताते हैं कि देवताओंको अपने पद—स्वर्ग-साम्राज्यकी प्राप्तिरूप महती समृद्धि मिलनेवाली है और हिरण्यकशिपुका नाश होना चाहता है । चूँकि ऐसा ही होनेवाला है, इसलिये तुम सभी देवता क्षीरसागरके उत्तरतटपर, जहाँ भगवान् विष्णु शयन करते हैं, शीघ्र ही जाओ । तुमलोगोंके भलीभाँति स्तवन करनेपर वे भगवान् क्षणभरमें ही प्रसन्न हो जायँगे और प्रसन्न होनेपर वे ही उस दैत्यके वधका उपाय बतायेंगे ॥ २३—३० ॥

इत्युक्तास्तेन देवास्ते साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ।
प्रीत्या च परया युक्ता गन्तुं चक्रुरथोद्यमम् ॥३१॥
पुण्ये तिथौ शुभे लग्ने पुण्यं स्वस्ति च मङ्गलम् ।
कारयित्वा मुनिवरैः प्रस्थितास्ते दिवौकसः ॥३२॥
नाशाय दुष्टदैत्यस्य स्वभूत्यै च नृपोत्तम ।
ते शर्वमग्रतः कृत्वा क्षीराब्धेरुत्तरं तटम् ॥३३॥
तत्र गत्वा सुराः सर्वे विष्णुं जिष्णुं जनार्दनम् ।
अस्तुवन् विविधैः स्तोत्रैः पूजयन्तः प्रतस्थिरे ॥३४॥
भवोऽपि भगवान् भक्त्या भगवन्तं जनार्दनम् ।
अस्तुवन्नामभिः पुण्यैरेकाग्रमनसा हरिम् ॥३५॥

श्रीबृहस्पतिजीके इस प्रकार कहनेपर सभी देवता कहने लगे—'भगवन् ! आपने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कहा ।' और वे अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वहाँ जानेका उद्योग करने लगे । नृपवर ! वे देवगण किसी पुण्यतिथिको शुभ लग्नमें मुनिवरोंद्वारा पुण्याहवाचन, स्वस्तिवाचन और मङ्गलपाठ कराकर दुष्ट दैत्य (हिरण्यकशिपु) के विनाश और अपनी ऐश्वर्य-वृद्धिके

लिये महादेवजीको आगे करके क्षीरसागरके उत्तरतटकी ओर प्रस्थित हुए। वहाँ पहुँचकर सभी देवता विजयशील जनार्दन भगवान् विष्णुका नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा स्तवन-पूजन करते हुए वहाँ खड़े रहे। भगवान् शंकर भी भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्तसे भगवान् जनार्दनके पवित्र नामोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३१—३५ ॥

श्रीमहादेव उवाच

विष्णुर्जिष्णुर्विभुर्देवो यज्ञेशो यज्ञपालकः ।
प्रभविष्णुर्ग्रसिष्णुश्च लोकात्मा लोकपालकः ॥३६॥
केशवः केशिहा कल्पः सर्वकारणकारणम् ।
कर्मकृद् वामनाधीशो वासुदेवः पुरुष्टुतः ॥३७॥
आदिकर्ता वराहश्च माधवो मधुसूदनः ।
नारायणो नरो हंसो विष्णुसेनो हुताशनः ॥३८॥
ज्योतिष्मान् द्युतिमान् श्रीमानायुष्मान् पुरुषोत्तमः ।
वैकुण्ठः पुण्डरीकाक्षः कृष्णः सूर्यः सुरार्चितः ॥३९॥
नरसिंहो महाभीमो वज्रदंष्ट्रो नखायुधः ।
आदिदेवो जगत्कर्ता योगेशो गरुडध्वजः ॥४०॥
गोविन्दो गोपतिर्गोप्ता भूपतिर्भुवनेश्वरः ।
पद्मनाभो हृषीकेशो विभुर्दामोदरो हरिः ॥४१॥
त्रिविक्रमस्त्रिलोकेशो ब्रह्मेशः प्रीतिवर्धनः ।
वामनो दुष्टदमनो गोविन्दो गोपवल्लभः ॥४२॥
भक्तिप्रियोऽच्युतः सत्यः सत्यकीर्तिर्ध्रुवः शुचिः ।
कारुण्यः करुणो व्यासः पापहा शान्तिवर्धनः ॥४३॥
संन्यासी शास्त्रतत्त्वज्ञो मन्दारगिरिकेतनः ।
बदरीनिलयः शान्तस्तपस्वी वैद्युतप्रभः ॥४४॥
भूतावासो गुहावासः श्रीनिवासः श्रियःपतिः ।
तपोवासो दमो वासः सत्यवासः सनातनः ॥४५॥
पुरुषः पुष्कलः पुण्यः पुष्कराक्षो महेश्वरः ।
पूर्णः पूर्तिः पुराणज्ञः पुण्यज्ञः पुण्यवर्द्धनः ॥४६॥
शङ्खी चक्री गदी शार्ङ्गी लाङ्गली मुशली हली ।
किरीटी कुण्डली हारी मेखली कवची ध्वजी ॥४७॥
जिष्णुर्जेता महावीरः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।
शान्तः शान्तिकरः शास्ता शंकरः शंतनुस्तुतः ॥४८॥
सारथिः सात्त्विकः स्वामी सामवेदप्रियः समः ।
सावनः साहसी सत्त्वः सम्पूर्णांशः समृद्धिमान् ॥४९॥
स्वर्गदः कामदः श्रीदः कीर्तिदः कीर्तिनाशनः ।
मोक्षदः पुण्डरीकाक्षः क्षीराब्धिकृतकेतनः ॥५०॥
स्तुतः सुरासुरैरीशः प्रेरकः पापनाशनः ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वमग्नयः ॥५१॥
त्वं स्वाहा त्वं स्वधा देव त्वं सुधा पुरुषोत्तम ।
नमो देवादिदेवाय विष्णवे शाश्वताय च ॥५२॥
अनन्तायाप्रमेयाय नमस्ते गरुडध्वज ।

श्रीमहादेवजी बोले—विष्णु, जिष्णु, विभु, देव, यज्ञेश, यज्ञपालक, प्रभविष्णु, ग्रसिष्णु, लोकात्मा, लोकपालक, केशव, केशिहा, कल्प, सर्वकारणकारण, कर्मकृत्, वामनाधीश, वासुदेव, पुरुष्टुत, आदिकर्ता, वराह, माधव, मधुसूदन, नारायण, नर, हंस, विष्णुसेन, हुताशन, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, श्रीमान्, आयुष्मान्, पुरुषोत्तम, वैकुण्ठ, पुण्डरीकाक्ष, कृष्ण, सूर्य, सुरार्चित, नरसिंह, महाभीम, वज्रदंष्ट्र, नखायुध, आदिदेव, जगत्कर्ता, योगेश, गरुडध्वज, गोविन्द, गोपति, गोप्ता, भूपति, भुवनेश्वर, पद्मनाभ, हृषीकेश, विभु, दामोदर, हरि, त्रिविक्रम, त्रिलोकेश, ब्रह्मेश, प्रीतिवर्धन, वामन, दुष्टदमन, गोविन्द, गोपवल्लभ, भक्तिप्रिय, अच्युत, सत्य, सत्यकीर्ति, ध्रुव, शुचि, कारुण्य, करुण, व्यास, पापहा, शान्तिवर्धन, संन्यासी, शास्त्रतत्त्वज्ञ, मन्दारगिरिकेतन, बदरीनिलय, शान्त, तपस्वी, वैद्युतप्रभ, भूतावास, गुहावास, श्रीनिवास, श्रियःपति, तपोवास, दम, वास, सत्यवास, सनातन पुरुष, पुष्कल, पुण्य, पुष्कराक्ष, महेश्वर, पूर्ण, पूर्ति, पुराणज्ञ, पुण्यज्ञ, पुण्यवर्धन, शङ्खी, चक्री, गदी, शार्ङ्गी, लाङ्गली, मुशली, हली, किरीटी, कुण्डली, हारी, मेखली, कवची, ध्वजी, जिष्णु, जेता, महावीर, शत्रुघ्न, शत्रुतापन, शान्त, शान्तिकर, शास्ता, शंकर, शंतनुस्तुत, सारथि, सात्त्विक, स्वामी, सामवेदप्रिय, सम, सावन, साहसी, सत्त्व, सम्पूर्णांश, समृद्धिमान्, स्वर्गद, कामद, श्रीद, कीर्तिद, कीर्तिनाशन, मोक्षद, पुण्डरीकाक्ष, क्षीराब्धिकृतकेतन, सुरासुरैःस्तुत, प्रेरक और पापनाशन आदि नामोंसे कहे जानेवाले परमेश्वर! आप ही यज्ञ, वषट्कार, ॐकार तथा आहवनीयादि अग्निरूप हैं। पुरुषोत्तम! देव! आप ही स्वाहा, स्वधा और सुधा हैं

आप सनातन देवदेव भगवान् विष्णुको नमस्कार है। गरुडध्वज! आप प्रमाणोंके अविषय तथा अनन्त हैं॥ २६-५२½॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्येतैर्नामभिर्दिव्यैः संस्तुतो मधुसूदनः ॥५३॥
उवाच प्रकटीभूत्वा देवान् सर्वानिदं वचः।

मार्कण्डेयजी बोले—इन दिव्य नामोंद्वारा स्तुति किये जानेपर भगवान् मधुसूदनने प्रत्यक्ष प्रकट होकर सम्पूर्ण देवताओंसे यह वचन कहा॥ ५३½॥

श्रीभगवानुवाच

युष्माभिः संस्तुतो देवा नामभिः केवलैः शुभैः ॥५४॥
अत एव प्रसन्नोऽस्मि किमर्थं करवाणि वः।

श्रीभगवान् बोले—देवगण! तुमलोगोंने केवल कल्याणकारी नामोंद्वारा मेरा स्तवन किया है, अतः मैं तुमपर प्रसन्न हूँ; कहो, तुम्हारा क्या कार्य सिद्ध करूँ?॥ ५४½॥

देवा ऊचुः

देवदेव हृषीकेश पुण्डरीकाक्ष माधव ॥५५॥
त्वमेव जानासि हरे किं तस्मात् परिपृच्छसि।

देवता बोले—हे देवदेव! हे हृषीकेश! हे कमलनयन! हे लक्ष्मीपते! हे हरे! आप तो सब कुछ जानते हैं; फिर हमसे क्यों पूछ रहे हैं?॥ ५५½॥

श्रीभगवानुवाच

युष्मदागमनं सर्वं जानाम्यसुरसूदनाः ॥५६॥
हिरण्यकविनाशार्थं स्तुतोऽहं शंकरेण तु।
पुण्यनामशतेनैव संस्तुतोऽहं भवेन च ॥५७॥
एतेन यस्तु मां नित्यं त्वयोक्तेन महामते।
तेनाहं पूजितो नित्यं भवामीह त्वया यथा ॥५८॥
प्रीतोऽहं गच्छ देव त्वं कैलासशिखरं शुभम्।
त्वया स्तुतो हनिष्यामि हिरण्यकशिपुं भव ॥५९॥
गच्छध्वमधुना देवाः कालं कंचित् प्रतीक्षताम्।
यदास्य तनयो धीमान् प्रह्लादो नाम वैष्णवः ॥६०॥
तस्य द्रोहं यदा दैत्यः करिष्यति सुरांस्तदा।
हनिष्यामि वरैर्गुप्तमजेयं देवदानवैः।
इत्युक्त्वा विष्णुना देवा नत्वा विष्णुं ययुर्नृप ॥६१॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे विष्णोर्नामस्तोत्रं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४०॥

श्रीभगवान् बोले—असुरनाशक देवताओ! तुमलोगोंके आनेका सारा कारण मुझे ज्ञात है। जगत्का कल्याण करनेवाले महादेवजीने तथा तुमने हिरण्यकशिपु दैत्यका नाश करानेके लिये मेरे एक सौ पुण्यनामोंद्वारा मेरा स्तवन किया है। महामते शिव! तुम्हारे कहे हुए इन सौ नामोंसे जो मेरा नित्य स्तवन करेगा, उस पुरुषद्वारा मैं उसी प्रकार प्रतिदिन पूजित होऊँगा, जैसे इस समय तुम्हारेद्वारा हुआ हूँ। देव शम्भो! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, अब तुम अपने शुभ कैलासशिखरको जाओ। तुमने मेरी स्तुति की है, अतः तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैं हिरण्यकशिपुका वध करूँगा। देवताओ! अब तुम भी जाओ और कुछ कालतक प्रतीक्षा करो। जब इस हिरण्यकशिपुके प्रह्लाद नामक बुद्धिमान् विष्णुभक्त पुत्र होगा और जिस समय यह दैत्य प्रह्लादसे द्रोह करेगा, उस समय वरोंसे रक्षित होकर देवताओं और दानवोंसे भी नहीं जीते जा सकनेवाले इस असुरका मैं अवश्य वध कर डालूँगा। राजन्! भगवान् विष्णुके इस प्रकार कहनेपर देवगण उन्हें प्रणाम करके चले गये॥ ५६-६१॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'विष्णुका नाममय स्तोत्र' नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४०॥

इकतालीसवाँ अध्याय

प्रह्लादकी उत्पत्ति और उनकी हरि-भक्तिसे हिरण्यकशिपुकी उद्विग्नता

सहस्रानीक उवाच

मार्कण्डेय महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
प्रादुर्भावं नृसिंहस्य यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥
वद प्रह्लादचरितं विस्तरेण ममानघ।
धन्या वयं महायोगिंस्त्वत्प्रसादान्महामुने ॥ २ ॥
सुधां पिबामो दुर्लभ्यां धन्याः श्रीशकथाभिधाम्।

सहस्रानीकने कहा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता महाप्राज्ञ मार्कण्डेयजी ! आप भगवान् नृसिंहके प्रादुर्भावकी कथा यथोचितरूपसे कहें। अनघ ! भक्तवर प्रह्लादजीका चरित्र मुझे विस्तारपूर्वक सुनायें। महायोगिन् ! महामुने ! हमलोग धन्य हैं; क्योंकि आपकी कृपासे हमें भगवान् विष्णुकी कथारूप दुर्लभ सुधाका पान करनेका अवसर मिला है ॥ १-२½ ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

पुरा हिरण्यकशिपोस्तपोऽर्थं गच्छतो वनम् ॥ ३ ॥
दिग्दाहो भूमिकम्पश्च जातस्तस्य महात्मनः ।
वारितो बन्धुभिर्भृत्यैर्मित्रैश्च हितकारिभिः ॥ ४ ॥
शकुना विगुणा राजञ्जातास्तच्च न शोभनम् ।
त्रैलोक्याधिपतिस्त्वं हि सर्वे देवाः पराजिताः॥ ५ ॥
तवास्ति न भयं सौम्य किमर्थं तप्यते तपः ।
प्रयोजनं न पश्यामो वयं बुद्ध्या समन्विताः ॥ ६ ॥
यो भवेन्न्यूनकामो हि तपश्चर्यां करोति सः ।

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—पूर्वकालमें एक समय वह महाकाय हिरण्यकशिपु जब तपस्या करनेके लिये वनमें जानेको उद्यत हुआ, उस समय समस्त दिशाओंमें दाह और भूकम्प होने लगा। यह देखकर उसके हितकारी बन्धुओं, मित्रों और भृत्योंने उसे मना किया—'राजन् ! इस समय बुरे शकुन हो रहे हैं। इनका फल अच्छा नहीं है। सौम्य ! आप त्रिभुवनके एकच्छत्र स्वामी हैं, समस्त देवताओंपर आपने विजय प्राप्त की है, आपको किसीसे भय भी नहीं है; फिर किसलिये तप करना चाहते हैं ! हम सभी लोग जब अपनी बुद्धिसे विचारते हैं, तब कोई भी प्रयोजन नहीं दिखायी देता [जिसके लिये आपको तप करनेकी आवश्यकता हो]; क्योंकि जिसकी कामना अपूर्ण होती है, वही तपस्या करता है' ॥ ३—६½ ॥

एवं तैर्वार्यमाणोऽपि दुर्मदो मदमोहितः ॥ ७ ॥
यातः कैलासशिखरं द्वित्रैर्मित्रैः परीवृतः ।
तस्य संतप्यमानस्य तपः परमदुष्करम् ॥ ८ ॥
चिन्ता जाता महीपाल विरिञ्चेः पद्मजन्मनः ।
किं करोमि कथं दैत्यस्तपसो विनिवर्तते ॥ ९ ॥
इति चिन्ताकुलस्यैव ब्रह्मणोऽङ्गसमुद्भवः ।
प्रणम्य प्राह भूपाल नारदो मुनिसत्तमः ॥१०॥

अपने बन्धुजनोंके इस प्रकार मना करनेपर भी वह दुर्मद एवं मदमत्त दैत्य अपने दो-तीन मित्रोंको साथ लेकर [तपके लिये] कैलास-शिखरको चला ही गया। महीपाल ! वहाँ जाकर जब वह परम दुष्कर तपस्या करने लगा, तब पद्मयोनि ब्रह्माजीको उसके कारण बड़ी चिन्ता हो गयी। वे सोचने लगे—'अहो ! अब क्या करूँ ? वह दैत्य कैसे तपसे निवृत्त हो ?' भूपाल ! इस चिन्तासे ब्रह्माजी जब व्याकुल हो रहे थे, उसी समय उनके अङ्गसे उत्पन्न मुनिवर नारदजीने उन्हें प्रणाम करके कहा ॥ ७—१० ॥

नारद उवाच

किमर्थं खिद्यते तात नारायणपरायण ।
येषां मनसि गोविन्दस्ते वै नार्हन्ति शोचितुम् ॥११॥
अहं तं वारयिष्यामि तप्यन्तं दितिनन्दनम् ।
नारायणो जगत्स्वामी मतिं मे सम्प्रदास्यति ॥१२॥

नारदजी बोले—पिताजी ! आप तो भगवान् नारायणके आश्रित हैं, फिर आप क्यों खेद कर रहे हैं ? जिनके हृदयमें भगवान् गोविन्द विराजमान हैं, उन्हें इस प्रकार सोच नहीं करना चाहिये। तपस्यामें प्रवृत्त हुए उस दैत्य हिरण्यकशिपुको मैं उससे निवृत्त करूँगा। जगदीश्वर भगवान् नारायण मुझे इसके लिये सुबुद्धि देंगे ॥ ११-१२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वाऽऽनम्य पितरं वासुदेवं हृदि स्मरन् ।
प्रयातः पर्वतेनैव सार्धं स मुनिपुंगवः ॥१३॥
कलविङ्कौ तु तौ भूत्वा कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
यत्रास्ते दितिजश्रेष्ठो द्वित्रैर्मित्रैः परीवृतः ॥१४॥
कृतस्नानो मुनिस्तत्र वृक्षशाखासमाश्रितः ।
शृण्वतस्तस्य दैत्यस्य प्राह गम्भीरया गिरा ॥१५॥
नमो नारायणायेति पुनः पुनरुदारधीः ।
त्रिवारं प्रजपित्वा वै नारदो मौनमाश्रितः ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कलविङ्कस्य सादरम् ।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यः क्रुद्धश्चापं समाददे ॥१७॥
बाणं धनुषि संधाय यावन्मुञ्चति तौ प्रति ।
तावदुड्डीय तौ भूप गतौ नारदपर्वतौ ॥१८॥

सोऽपि क्रोधपरीताङ्गो हिरण्यकशिपुस्तदा ।
त्यक्त्वा तमाश्रमं भूयो नगरं स्वं महीपते ॥१९॥

मार्कण्डेयजी बोले—अपने पितासे इस प्रकार कहकर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उन्हें प्रणाम किया और मन-ही-मन भगवान् वासुदेवका स्मरण करते हुए वे पर्वत मुनिके साथ वहाँसे चल दिये। वे दोनों मुनि कलविङ्क पक्षी-का रूप धारणकर उस उत्तम कैलास पर्वतपर आये, जहाँ दैत्यश्रेष्ठ हिरण्यकशिपु अपने दो-तीन मित्रोंके साथ रहता था। वहाँ स्नान करके नारद मुनि वृक्षकी शाखापर बैठ गये और उस दैत्यके सुनते-सुनते गम्भीर वाणीमें भगवन्नामका उच्चारण करने लगे। उदारबुद्धि नारद लगातार तीन बार 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रका उच्चस्वरसे उच्चारण-कर मौन हो गये। भूपाल! कलविङ्कके द्वारा किये गये उस आदरयुक्त नामकीर्तनको सुनकर हिरण्यकशिपुने कुपित हो धनुष उठाया और उसपर बाणका संधान करके ज्यों ही उन दोनों पक्षियोंके प्रति छोड़ने लगा, त्यों ही नारद और पर्वत मुनि उड़कर अन्यत्र चले गये। महीपते! तब हिरण्यकशिपु भी क्रोधसे भर गया और उसी समय वह उस आश्रमको त्यागकर अपने नगरको चला आया॥ १३—१९॥

तस्यापि भार्या सुश्रोणी कयाधूर्नाम नामतः ।
तदा रजस्वला भूत्वा स्नाताभूद्दैवयोगतः ॥२०॥
रात्रावेकान्तसमये तया पृष्टः स दैत्यराट् ।
स्वामिन् यदा तपश्चर्यां कर्तुं गेहाद्वनं गतः ॥२१॥
तदा त्वयोक्तं वर्षाणामयुतं मे तपस्त्विदम् ।
तत्किमर्थं महाराज साम्प्रतं त्यक्तवान् व्रतम् ॥२२॥
तथ्यं कथय मे नाथ स्नेहात्पृच्छामि दैत्यप ।

वहाँ उसी समय उसकी कयाधू नामकी सुन्दरी पत्नी दैवयोगसे रजस्वला होकर ऋतु-स्नाता हुई थी। रात्रिमें एकान्तवासके समय कयाधूने दैत्यराजसे पूछा—"स्वामिन्! आप जिस समय तप करनेके लिये घरसे वनको गये थे, उस समय तो आपने यह कहा था कि 'मेरी यह तपस्या दस हजार वर्षोंतक चलेगी।' फिर महाराज! आपने अभी क्यों उस व्रतको त्याग दिया? स्वामिन्! दैत्यराज! मैं प्रेमपूर्वक आपसे यह प्रश्न करती हूँ, कृपया मुझे सच-सच बताइये" ॥ २०—२२½॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

शृणु चार्वङ्गि मे तथ्यां वाचं व्रतविनाशिनीम् ॥२३॥
क्रोधसातीव जननीं देवानां मुदवर्द्धनीम् ।
कैलासशिखरे देवि महदानन्दकानने ॥२४॥
व्याहरन्तौ शुभां वाणीं नमो नारायणेति च ।
वारद्वयं त्रयं चेति व्याहृतं वचनं शुभे ॥२५॥
तेन मे मनसि क्रोधो जातोऽतीव वरानने ।
कोदण्डे शरमाधाय यावन्मुञ्चामि भामिनि ॥२६॥
तावत्तौ पक्षिणौ भीतौ गतौ देशान्तरं त्वहम् ।
त्यक्त्वा व्रतं समायातो भाविकार्यबलेन वै ॥२७॥

हिरण्यकशिपु बोला—सुन्दरि! सुनो, मैं वह बात तुम्हें सच-सच सुनाता हूँ, जिसके कारण मेरे व्रतका भङ्ग हुआ है। वह बात मेरे क्रोधको अत्यन्त बढ़ानेवाली और देवताओंको आनन्द देनेवाली थी। देवि! कैलास-शिखरपर जो महान् आनन्द-कानन है, उसमें दो पक्षी 'ॐ नमो नारायणाय' इस शुभवाणीका उच्चारण करते हुए आ गये। शुभे! उन्होंने [मुझे सुना-सुनाकर] दो बार, तीन बार उक्त वचनको दुहराया। वरानने! पक्षियोंके उस शब्दको सुनकर मेरे मनमें बड़ा क्रोध हुआ और भामिनि! उन्हें मारनेके लिये धनुषपर बाण चढ़ाकर ज्यों ही मैंने छोड़ना चाहा, त्यों ही वे दोनों पक्षी भयभीत हो उड़कर अन्यत्र चले गये। तब मैं भी भावीकी प्रबलतासे अपना व्रत त्यागकर यहाँ चला आया॥ २३—२७॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युच्यमाने वचने वीर्यद्रावोऽभवत्तदा ।
ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते जातो गर्भस्तदैव हि ॥२८॥
पुनः प्रवर्धमानस्य गर्भे गर्भस्थ धीमतः ।
नारदस्योपदेशेन वैष्णवः समजायत ॥२९॥
तदग्रे कथयिष्यामि भूप श्रद्धापरो भव ।
तस्य सूनुरभूद्भक्तः प्रह्लादो जन्मवैष्णवः ॥३०॥
सोऽवर्धतासुरकुले निर्मलो मलिनाश्रये ।
यथा कलौ हरेर्भक्तिः पापसंसारमोचनी ॥३१॥
स वर्द्धमानो विरराज बालैः
सह त्रयीनाथपदेषु भक्त्या ।
बालोऽल्पदेहो महतीं महात्मा
विस्तारयन् भाति स विष्णुभक्तिम् ॥३२॥

यथा चतुर्थं युगमाप्तधर्म-
कामार्थमोक्षं किल कीर्तिदं हि ।
स बाललीलासु सहान्यडिम्भैः
प्रहेलिकाक्रीडनकेषु नित्यम् ॥३३॥
कथाप्रसङ्गेषु च कृष्णमेव
प्रोवाच यस्मात् स हि तत्स्वभावः ।
इत्थं शिशुत्वेऽपि विचित्रकारी
व्यवर्द्धतेशस्मरणामृताशः ॥३४॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—[हिरण्यकशिपु अपनी पत्नीके साथ] जब इस प्रकार बातें कर रहा था, उसी समय उसका वीर्य स्खलित हुआ; पत्नीका ऋतुकाल तो प्राप्त था ही, तत्काल गर्भ स्थापित हो गया। माताके उदरमें बढ़ते हुए उस गर्भसे बुद्धिमान् नारदजीके उपदेशके कारण विष्णुभक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। भूप! इस प्रसङ्गको आगे कहूँगा; इस समय जो प्रसङ्ग चल रहा है, उसे श्रद्धापूर्वक सुनो। हिरण्यकशिपुका वह भक्त पुत्र प्रह्लाद जन्मसे ही वैष्णव हुआ। जैसे पापपूर्ण कलियुगमें संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाली भगवान् श्रीहरिकी भक्ति बढ़ती रहती है, उसी प्रकार उस मलिन कर्म करनेवाले असुर-वंशमें भी प्रह्लाद निर्मल भावसे रहकर दिनोंदिन बढ़ने लगा। वह बालक त्रिलोकीनाथ भगवान् विष्णुके चरणोंमें बढ़ती हुई भक्तिके साथ ही स्वयं भी बढ़ता हुआ शोभा पा रहा था। शरीर छोटा होनेपर भी उस बालकका हृदय महान् था; वह विष्णुभक्तिका प्रसार करता हुआ उसी तरह शोभा पाता था, जैसे चौथा युग (कलियुग) [महत्त्वमें सब युगोंसे छोटा होकर भी] भगवद्भजनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको देनेवाला तथा यशका विस्तार करनेवाला होता है। प्रह्लाद अन्य बालकोंके साथ खेलते, पहेली बुझाते और खिलौने आदिसे मनोरञ्जन करते समय तथा बात-चीतके प्रसङ्गमें भी सदा भगवान् विष्णुकी ही चर्चा करता था; क्योंकि उसका स्वभाव भगवन्मय हो गया था। इस प्रकार शैशव-कालमें भी विचित्र कार्य करनेवाला वह प्रह्लाद भगवत्स्मरणरूपी अमृतका पान करता हुआ दिन-दिन बढ़ने लगा ॥ २८—३४॥

तं पद्मवक्त्रं दैत्येन्द्रः कदाचित्स्त्रीवृतः खलः ।
बालं गुरुगृहायातं ददर्श स्वायतेक्षणम् ॥३५॥
गृहीत्वा तु करे पुत्रं पट्टिका या सुशोभना ।
मूर्ध्नि चक्राङ्किता पट्टी कृष्णनामाङ्किताऽऽदरात्॥३६॥
तमाहूय मुदाविष्टो लालयन् प्राह पुत्रकम् ।
पुत्र ते जननी नित्यं सुधीमें त्वा प्रशंसति ॥३७॥
अथ तद्वद यत्किंचिद् गुरुवेश्मनि शिक्षितम् ।
विचार्यानन्दजननं सम्यगायाति तद्वद ॥३८॥

एक दिन बहुत-सी स्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए दुष्ट दैत्यराज हिरण्यकशिपुने गुरुजीके घरसे आये हुए कमल-से मुखवाले अपने बालक पुत्र प्रह्लादको देखा; उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और सुन्दर थीं तथा वह हाथमें पट्टी लिये हुए था। उसकी पट्टी बड़ी सुन्दर थी, उसके सिरेपर चक्रका चिह्न बना हुआ था और पट्टीपर आदरपूर्वक श्रीकृष्णका नाम लिखा गया था। उसे देख हिरण्यकशिपुको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने पुत्रको पास बुलाकर उसे प्यार करते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारी बुद्धिमती माता मुझसे तुम्हारी बड़ी प्रशंसा किया करती है। अतः तुमने गुरुजीके घर जो कुछ सीखा है, वह मुझसे कहो। पहले सोच लो, जो तुम्हें बहुत आनन्ददायी प्रतीत होता हो और भलीभाँति याद हो, वही पाठ सुनाओ' ॥ ३५—३८ ॥

अथाह पितरं हर्षात् प्रह्लादो जन्मवैष्णवः ।
गोविन्दं त्रिजगद्वन्द्यं प्रभुं नत्वा ब्रवीमि ते ॥३९॥
इति शत्रोः स्तवं श्रुत्वा पुत्रोक्तं स्त्रीवृतः खलः ।
क्रुद्धोऽपि तं वञ्चयितुं जहासोच्चैः प्रहृष्टवत् ॥४०॥
आलिङ्ग्य तनयं प्राह शृणु बाल हितं वचः ।
राम गोविन्द कृष्णेति विष्णो माधव श्रीपते ॥४१॥
एवं वदन्ति ये सर्वे ते पुत्र मम वैरिणः ।
शासितास्तु मयेदानीं त्वयेदं क्व श्रुतं वचः ॥४२॥

यह सुनकर जन्मसे ही विष्णुकी भक्ति करनेवाले प्रह्लादने प्रसन्नतापूर्वक पितासे कहा—'त्रिभुवनके वन्दनीय भगवान् गोविन्दको प्रणाम करके मैं अपना पढ़ा हुआ पाठ आपको सुनाता हूँ।' अपने पुत्रके मुखसे इस प्रकार शत्रुकी स्तुति सुनकर स्त्रियोंसे घिरा हुआ वह दुष्ट दैत्य यद्यपि बहुत क्रुद्ध हुआ, तथापि प्रह्लादसे उस क्रोधको छिपानेके लिये वह प्रसन्न पुरुषकी भाँति जोर-जोरसे हँसने लगा। फिर पुत्रको गलेसे लगाकर बोला—"बच्चा! मेरा हितकर वचन

सुनो—बेटा ! जो लोग 'राम, कृष्ण, गोविन्द, विष्णो, माधव, श्रीपते !' इस प्रकार कहा करते हैं, वे सभी मेरे शत्रु हैं; ऐसे लोग मेरे द्वारा शासित—दण्डित हुए हैं। तुमने यह हरिनामकीर्तन इस अवस्थामें कहाँ सुन लिया ?'' ॥ ३९–४२ ॥

पितुर्वचनमाकर्ण्य धीमानभयसंयुतः।
प्रह्लादः प्राह हे आर्य मैवं ब्रूयाः कदाचन ॥४३॥
सर्वैश्वर्यप्रदं मन्त्रं धर्मादिपरिवर्धनम्।
कृष्णेति यो नरो ब्रूयात् सोऽभयं विन्दते पदम् ॥४४॥
कृष्णनिन्दासमुत्थस्य अघस्यान्तो न विद्यते।
राम माधव कृष्णेति स्मर भक्त्याऽऽत्मशुद्धये ॥४५॥
गुरवेऽपि ब्रवीम्येतद्यतो हितकरं परम्।
शरणं व्रज सर्वेशं सर्वपापक्षयंकरम् ॥४६॥

पिताकी बात सुनकर बुद्धिमान् प्रह्लाद निर्भय होकर बोला—आर्य ! आपको कभी ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। जो मनुष्य सम्पूर्ण ऐश्वर्योंको देनेवाले तथा धर्म आदिकी वृद्धि करनेवाले 'कृष्ण' इस मन्त्रका उच्चारण करता है, वह अभय पदको प्राप्त कर लेता है। भगवान् कृष्णकी निन्दासे होनेवाले पापका कहीं अन्त नहीं है; अतः अब आप अपनी शुद्धिके लिये भक्तिपूर्वक 'राम, माधव और कृष्ण' इत्यादि नाम लेते हुए भगवान्का स्मरण करें। जो बात मैं आपसे कह रहा हूँ, वह सबसे बढ़कर हितसाधक है, इसीलिये मेरे गुरुजन होनेपर भी आपसे मैं निवेदन करता हूँ कि आप समस्त पापोंका क्षय करनेवाले सर्वेश्वर भगवान् विष्णुकी शरणमें जावें ॥ ४३–४६ ॥

अथाह प्रकटक्रोधः सुरारिर्भर्त्सयन् सुतम्।
केनायं बालको नीतो दशामेतां सुमध्यमाम् ॥४७॥
धिग् धिग्घाहेति दुष्पुत्र किं मे कृतमघं महत्।
याहि याहि दुराचार पापिष्ठ पुरुषाधम।
उक्त्वेति परितो वीक्ष्य पुनराह शिशोर्गुरुम् ॥४८॥
बद्ध्वा चानीयतां दैत्यैः क्रूरैः क्रूरपराक्रमैः।

प्रह्लादके यों कहनेपर देवशत्रु हिरण्यकशिपु अपने क्रोधको रोक न सका, उसने रोषको प्रकट करके पुत्रको फटकारते हुए कहा—'हाय ! हाय ! किसने इस बालकको अत्यन्त मध्यम कोटिकी अवस्थाको पहुँचा दिया ? रे दुष्ट पुत्र ! तुझे धिक्कार है, धिक्कार है ! तूने क्यों मेरा महान् अपराध किया ? ओ दुराचारी नीच पुरुष ! अरे पापिष्ठ ! तू यहाँसे चला जा, चला जा।' यों कहकर उसने अपने चारों ओर निहारकर फिर कहा—'नृशंस पराक्रमी क्रूर दैत्य जायँ और इसके गुरुको बाँधकर यहाँ ले आवें' ॥४७-४८½॥

इति श्रुत्वा ततो दैत्यास्तमानीय न्यवेदयन्।
धीमानूचे खलं भूपं देवान्तक परीक्षताम् ॥४९॥
लीलयैव जितं देव त्रैलोक्यं निखिलं त्वया।
असकृन्न हि रोषेण किं क्रुद्धस्याल्पके मयि ॥५०॥

यह सुन दैत्योंने प्रह्लादके गुरुको वहाँ लाकर उपस्थित कर दिया। बुद्धिमान् गुरुने उस दुष्ट दैत्यराजसे विनयपूर्वक कहा—देवान्तक ! थोड़ा विचार तो कीजिये। आपने समस्त त्रिभुवनको अनायास ही अनेकों बार पराजित किया है, खेल-खेलमें ही सबको जीता है, रोषसे कभी काम नहीं लिया। फिर मुझ-जैसे तुच्छ प्राणीपर क्रोध करनेसे क्या लाभ होगा ? ॥ ४९-५० ॥

इति सामवचः श्रुत्वा द्विजोक्तं प्राह दैत्यराट्।
विष्णुस्तवं मम सुतं पाप बालमपीपठः ॥५१॥
उक्त्वेति तनयं प्राह राजा साम्नामलं सुतम्।
ममात्मजस्य किं जाड्यं तव चैतद्द्विजैः कृतम् ॥५२॥
विष्णुपक्षैर्ध्रुवं धूर्तैर्मूढ नित्यं परित्यज।
त्यज द्विजप्रसङ्गं हि द्विजसङ्गो ह्यशोभनः ॥५३॥
अस्मत्कुलोचितं तेजो यैर्द्विजैस्तु तिरोहितम्।
यस्य यत्संगतिः पुंसो मणिवत्स्यात्स तद्गुणः ॥५४॥
स्वकुलर्द्ध्यै ततो धीमान् स्वयूथानेव संश्रयेत्।
मत्सुतस्योचितं त्यक्त्वा विष्णुपक्षीयनाशनम् ॥५५॥
स्वयमेव भजन् विष्णुं मन्द किं त्वं न लज्जसे।
विश्वनाथस्य मे सूनुर्भूत्वान्यं नाथमिच्छसि ॥५६॥
शृणु वत्स जगत्तत्त्वं कश्चिन्नास्ति निजः प्रभुः।
यः शूरः स श्रियं भुङ्क्ते स प्रभुः स महेश्वरः ॥५७॥

ब्राह्मणके इस शान्त वचनको सुनकर दैत्यराज बोला—'अरे पापी ! तूने मेरे बालक पुत्रको विष्णुका स्तोत्र पढ़ा दिया है।' गुरुसे यों कहकर राजा हिरण्यकशिपुने अपने निर्दोष पुत्रके प्रति सान्त्वनापूर्वक कहा—''बेटा ! तू मेरा आत्मज है,

तुझमें यह जड-बुद्धि कैसे आ सकती है ? यह तो इन ब्राह्मणों-की ही करतूत है। मूर्ख बालक ! आजसे तू सदा विष्णुके पक्षमें रहनेवाले धूर्त ब्राह्मणोंका साथ छोड़ दे; ब्राह्मणमात्रका सङ्ग त्याग दे; ब्राह्मणोंकी संगति अच्छी नहीं होती; क्योंकि इन ब्राह्मणोंने ही तेरे उस तेजको छिपा दिया, जो हमारे कुलके लिये सर्वथा उचित था। जिस पुरुषको जिसकी संगति मिल जाती है, उसमें उसीके गुण आने लगते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे मणि कीचड़में पड़ी हो तो उसमें उसके दुर्गन्ध आदि दोष आ जाते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वह अपने कुलकी समृद्धिके लिये आत्मीय जनोंका ही आश्रय ले। बुद्धिहीन बालक ! मेरे पुत्रके लिये तो उचित कर्तव्य यह है कि वह विष्णुके पक्षमें रहनेवाले लोगोंका नाश करे; परंतु तू इस उचित कार्यको त्यागकर इसके विपरीत स्वयं ही विष्णुका भजन कर रहा है ! बता तो सही, क्या यों करते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ? अरे ! मुझ सम्पूर्ण जगत्के सम्राट्का पुत्र होकर तू दूसरेको अपना स्वामी बनाना चाहता है ? बेटा ! मैं तुझे संसारका तत्त्व बताता हूँ, सुन; यहाँ कोई भी अपना स्वामी नहीं है। जो शूरवीर है, वही लक्ष्मीका उपभोग करता है तथा वही प्रभु है, वही महेश्वर है ॥ ५१—५७ ॥

स देवः सकलाध्यक्षो यथाहं त्रिजगज्जयी ।
त्यज जाड्यमतः शौर्यं भजस्व स्वकुलोचितम् ॥५८॥
अन्येऽपि त्वां हनिष्यन्ति वदिष्यन्ति जनास्त्विदम् ।
असुरोऽयं सुरान् स्तौति मार्जार इव मूषकान् ॥५९॥
द्वेष्यान् शिखीव फणिनो दुर्निमित्तमिदं ध्रुवम् ।
लब्ध्वापि महदैश्वर्यं लाघवं यान्त्यबुद्धयः ॥६०॥
यथायं मत्सुतः स्तुत्यः स्तावकान् स्तौति नीचवत् ।
रे मूढ दृष्ट्वाप्यैश्वर्यं मम ब्रूषे पुरो हरिम् ॥६१॥
असदृशस्य तु हरेः स्तुतिरेषा विडम्बना ।

“वही सबका अध्यक्ष देवता है, जैसा कि तीनों लोकोंपर विजय पानेवाला मैं हूँ। इसलिये तू अपनी यह जडता त्याग दे और अपने कुलके लिये उचित वीरताका आश्रय ले। तेरी यह कायरता देखकर दूसरे लोग भी तुझे मारेंगे और कहेंगे कि 'अरे ! यह असुर होकर भी देवताओंकी उसी प्रकार स्तुति करता है, जैसे बिल्ली चूहेकी स्तुति करे और मोर अपने द्वेषपात्र सर्पोंकी प्रार्थना करे। ऐसा करना अवश्य ही अनिष्टका सूचक है। मूर्ख प्राणी महान् ऐश्वर्य पाकर भी [अपने खोटे कर्मोंके द्वारा] नीचे गिर जाते हैं, जैसे मेरा पुत्र प्रह्लाद, जो स्वयं स्तुतिके योग्य था, आज नीच जनोंकी भाँति उन लोगोंकी स्तुति कर रहा है, जो स्वयं हमारी स्तुति करनेवाले हैं। रे मूर्ख ! तू मेरा ऐश्वर्य देखकर भी मेरे सामने ही हरिका नाम ले रहा है ? वह हरि इस सम्मानके योग्य नहीं है, उसकी स्तुति विडम्बना मात्र है” ॥ ५८—६१½ ॥

इत्युक्त्वा तनयं भूप जातक्रोधो भयानकः ॥६२॥
जिह्मं निरीक्ष्य च प्राह तद्गुरुं कम्पयन् रुषा ।
याहि याहि द्विजपशो साधु शाधि सुतं मम ॥६३॥

प्रसाद इत्येष वदन् स विप्रो
जगाम गेहं खलराजसेवी ।
विष्णुं विसृज्यान्वसरच्च दैत्यं
किं वा न कुर्युर्भरणाय लुब्धाः ॥६४॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे नृसिंहप्रादुर्भावे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥

भूप ! अपने पुत्रसे इस प्रकार कहकर वह इतना कुपित हुआ कि उसका स्वरूप भयानक हो गया; फिर प्रह्लादके गुरुको टेढ़ी नजरसे देखकर उन्हें अपने रोषसे कँपाता हुआ बोला—'मूर्ख ब्राह्मण ! यहाँसे चला जा, चला जा। अबकी बार मेरे पुत्रको अच्छी शिक्षा देना।' दुष्ट राजाकी सेवा करनेवाला वह ब्राह्मण 'बड़ी कृपा हुई' यों कहता हुआ घर चला गया और विष्णुका भजन त्यागकर दैत्यराज (हिरण्यकशिपु) का अनुसरण करने लगा। सच है, लोभी मनुष्य अपना पेट पालनेके लिये क्या नहीं कर सकते ? ॥ ६२—६४ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'नरसिंहावतार' नामक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ अध्याय

प्रह्लादपर हिरण्यकशिपुका कोप और प्रह्लादका वध करनेके लिये उसके द्वारा किये गये अनेक प्रयत्न

मार्कण्डेय उवाच

सोऽप्याशु नीतो गुरुवेश्म दैत्यै-
र्दैत्येन्द्रसूनुर्हरिभक्तिभूषणः ।
अशेषविद्यानिवहेन साकं
कालेन कौमारमवाप योगी ॥ १ ॥
प्रायेण कौमारमवाप्य लोकः
पुष्णाति नास्तिक्यमसद्गतिं च ।
तस्मिन् वयःस्थस्य बहिर्विरक्ति-
र्भवत्यभूच्चित्रमजे च भक्तिः ॥ २ ॥
अथ सम्पूर्णविद्यं तं कदाचिद्दितिजेश्वरः ।
आनाय्य प्रणतं प्राह प्रह्लादं विदितेश्वरम् ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भगवान् विष्णुकी भक्ति ही जिनका भूषण है, वे दैत्यराजकुमार योगी प्रह्लादजी शीघ्र ही सारथिके साथ गुरुके घर भेजे गये। वहाँ वे कालक्रमसे सम्पूर्ण विद्याओंके ज्ञानके साथ कुमारावस्थाको प्राप्त हुए। संसारके अन्य लोग कौमार अवस्थाको पाकर प्रायः नास्तिक-विचार और बुरे आचार-व्यवहारके पोषक बन जाते हैं, परंतु उसी उम्रमें प्रह्लादको बाह्य विषयोंसे वैराग्य हुआ और भगवान्‌में उनकी भक्ति हो गयी—यह अद्भुत बात है। तदनन्तर जब प्रह्लादने गुरुके यहाँ अपनी पढ़ाई समाप्त कर ली, तब एक दिन दैत्यराजने उन्हें अपने पास बुलवाया और ईश्वर-तत्त्वके ज्ञाता प्रह्लादको अपने सामने प्रणाम करके खड़े देख उनसे कहा ॥ १—३ ॥

साध्वज्ञाननिधेर्बाल्यान्मुक्तोऽसि सुरसूदन ।
इदानीं भाजसे भास्वान् नीहारादिव निर्गतः ॥ ४ ॥
बाल्ये वयं च त्वमिव द्विजैर्जाड्याय मोहिताः ।
वयसा वर्धमानेन पुत्रकैवं सुशिक्षिताः ॥ ५ ॥
तदद्य त्वयि धुर्येऽहं संसकण्टकताधुरम् ।
विन्यस्य त्वां चिरधृतां सुखी पश्यन् श्रियं तव ॥ ६ ॥
यदा यदा हि नैपुण्यं पिता पुत्रस्य पश्यति ।
तदा तदाऽऽधिं त्यक्त्वा नु महत्सौख्यमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥
गुरुश्चातीव नैपुण्यं ममाग्रेऽवर्णयत्तव ।
न चित्रं पुत्र तच्छ्रोतुं किं नु मे वाञ्छतः श्रुती ॥ ८ ॥
नेत्रयोः शत्रुदारिद्र्यं श्रोत्रयोः सुतसूक्तयः ।
युद्धव्रणं च गात्रेषु मायिनां च महोत्सवः ॥ ९ ॥

सुरसूदन! तुम अज्ञानकी निधिरूपा बाल्यावस्थासे मुक्त हो गये—यह बहुत अच्छा हुआ। इस समय तुम कुहिरेसे निकले हुए सूर्यकी भाँति अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे हो। पुत्र! बचपनमें तुम्हारी ही तरह हमें भी जड-बुद्धि सिखानेके लिये ब्राह्मणोंने मोहित कर रखा था; किंतु अवस्था बढ़नेपर जब हम समझदार हुए, तब इस प्रकार अपने कुलके अनुरूप सुन्दर शिक्षा ग्रहण कर सके थे। अतः शत्रुरूपी काँटोंसे युक्त इस राज्य-शासनके भारको, जिसे मैंने बहुत दिनोंसे धारण कर रखा है, अब तुम सामर्थ्यवान् पुत्रपर रखकर मैं तुम्हारी राज्य-लक्ष्मीको देखते हुए सुखी होना चाहता हूँ। पिता जब-जब अपने पुत्रकी निपुणता देखता है, तब-तब अपनी मानसिक चिन्ता त्यागकर महान् सुखका अनुभव करता है। तुम्हारे गुरुने भी मेरे समक्ष तुम्हारी योग्यताका बड़ा बखान किया है। यह तुम्हारे लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज मेरे कान तुम्हारी कुछ बातें सुनना चाहते हैं। नेत्रोंके सामने शत्रुकी दरिद्रता देखना, कानोंसे पुत्रकी सुन्दर वाणीका पड़ना और अङ्गोंमें युद्धके आघातसे घाव होना—यह सब ऐश्वर्यवान् वीरों अथवा मायावी दैत्योंके लिये महान् उत्सवके समान है ॥ ४—९ ॥

श्रुत्वेति निकृतिप्रज्ञं दैत्याधिपवचस्ततः ।
जगाद योगी निःशङ्कं प्रह्लादः प्रणतो गुरुम् ॥ १० ॥

उस समय दैत्यराजके ये शठतापूर्ण वचन सुनकर योगी प्रह्लादने पिताको प्रणाम करके निर्भीकतापूर्वक कहा—॥ १० ॥

सूक्तयः श्रोत्रयोः सत्यं महाराज महोत्सवः ।
किंतु ता वैष्णवीर्वाचो मुक्त्वा नान्या विचारयेत् ॥ ११ ॥

नीतिः सूक्तिः कथाः श्राव्याः श्राव्यंकाव्यं च तद्वचः ।
यत्र संसृतिदुःखौघकक्षाग्निर्गीयते हरिः ॥१२॥
अचिन्त्यः स्तूयते यत्र भक्त्या भक्तेप्सितप्रदः ।
अर्थशास्त्रेण किं तात यत्र संसृतिसंततिः ॥१३॥
शास्त्रश्रमेण किं तात येनात्मैव विहंस्यते ।
वैष्णवं वाङ्मयं तस्माच्छ्राव्यं सेव्यं च सर्वदा ॥१४॥
मुमुक्षुभिर्भवक्लेशान्नो चेन्नैव सुखी भवेत् ।

'महाराज ! आपका यह कथन सत्य है कि अच्छी बातें सुनना कानोंके लिये महान् उत्सवके समान है; किंतु वे बातें भगवान् विष्णुसे सम्बन्ध रखनेवाली हों, तभी ऐसा होता है। उनको छोड़कर दूसरी बातें सुननेका विचार भी नहीं करना चाहिये । जो संसारके दुःखसमुदायरूपी तृणोंको भस्म करनेके लिये अग्निके समान हैं, उन भगवान् विष्णुका जिसमें गुणगान किया जाता हो, वही वचन नीतियुक्त है, वही सूक्ति (सुन्दर वाक्य) है, वही सुनने योग्य कथा और श्रवण करने योग्य काव्य है। जिसमें भक्तोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाले अचिन्त्य परमेश्वरका भक्तिपूर्वक स्तवन किया जाता हो, वही शास्त्र है । तात ! उस अर्थशास्त्रसे क्या लाभ, जिसमें संसार-चक्रमें डालनेवाली ही बातें कही गयी हैं। पिताजी ! उस शास्त्रमें परिश्रम करनेसे क्या सिद्ध होगा, जिससे आत्माका ही हनन होता है; इस लिये मुमुक्षु पुरुषोंको सदा वैष्णव शास्त्रोंका ही श्रवण और सेवन करना चाहिये । अन्यथा सांसारिक कष्टसे छुटकारा नहीं मिलता और न मनुष्य सुखी ही हो पाता है ॥ ११—१४½ ॥

इति तस्य वचः शृण्वन् हिरण्यकशिपुस्तदा ॥१५॥
जज्वाल दैत्यराट् तप्तसर्पिरद्भिरिवाधिकम् ।
प्रह्लादस्य गिरं पुण्यां जनसंसृतिनाशिनीम् ॥१६॥
नामृष्यतासुरः क्षुद्रो घूको भानुप्रभामिव ।
परितो वीक्ष्य सम्प्राह क्रुद्धो दैत्यभटानिदम् ॥१७॥

जिस प्रकार तपाया हुआ घी जलके छींटे पड़नेसे और अधिक प्रज्वलित हो उठता है, वैसे ही दैत्यराज हिरण्यकशिपु प्रह्लादकी उपर्युक्त बातें सुनकर क्रोधसे जल उठा । जैसे उल्लू सूर्यकी प्रभा नहीं देख सकता, उसी प्रकार वह क्षुद्र असुर जीवके संसार-बन्धनको नष्ट करनेवाली प्रह्लादकी पवित्र वाणी न सह सका । उस क्रोधीने चारों ओर देखकर दैत्य वीरोंसे कहा ॥ १५—१७ ॥

हन्यतामेष कुटिलः शस्त्रपातैः सुभीषणैः ।
उत्कृत्योत्कृत्य मर्माणि रक्षितास्तु हरिः स्वयम् ॥१८॥
पश्यत्विदानीमेवैष हरिसंस्तवजं फलम् ।
काकोलकङ्कगृध्रेभ्यो ह्यस्याङ्गं संविभज्यताम् ॥१९॥

'अरे ! इस कुटिलको शस्त्रोंके भयंकर आघातसे मार डालो, इसके मर्मस्थानोंके टुकड़े-टुकड़े कर दो; आज इसका भगवान् स्वयं आकर इसकी रक्षा करे । विष्णुकी स्तुति करनेका फल यह आज इसी समय अपनी आँखोंसे देखे। इसका अङ्ग-अङ्ग काटकर कौओं, काँकों और गिद्धोंको बाँट दो' ॥ १८-१९ ॥

अथोद्धृतास्त्रा दैतेयास्तर्जयन्तः प्रगर्जितैः ।
अच्युतस्य प्रियं भक्तं तं जघ्नुः पतिनोदिताः
प्रह्लादोऽपि प्रभुं नत्वा ध्यानवज्रं समाददे ।
अकृत्रिमरसं भक्तं तमित्थं ध्याननिश्चलम् ॥२१॥
ररक्ष भगवान् विष्णुः प्रह्लादं भक्तदुःखहृत् ।
अथालब्धपदान्यस्य गात्रे शस्त्राणि रक्षसाम् ॥२२॥
नीलाब्जशकलानीव पेतुश्छिन्नान्यनेकधा ।
किं प्राकृतानि शस्त्राणि करिष्यन्ति हरिप्रिये ॥२३॥
तापत्रयमहास्त्रौघः सर्वोऽप्यस्माद् बिभेति वै ।
पीडयन्ति जनांस्तावद् व्याधयो राक्षसा ग्रहाः ॥२४॥
यावद् गुहाशयं विष्णुं सूक्ष्मं चेतो न विन्दति ।
ते तु भग्नास्त्रशकलैः प्रतीपोत्थैरितस्ततः ॥२५॥
हन्यमाना न्यवर्तन्त सद्यः फलदद्रैरिव ।
न चित्रं विबुधानां तदज्ञानां विस्मयावहम् ॥२६॥

तब अपने स्वामी हिरण्यकशिपुद्वारा प्रेरित दैत्यगण अपनी विकट गर्जनासे डराते हुए, हाथमें शस्त्र लेकर भगवान्के प्रिय भक्त उन प्रह्लादजीको मारने लगे। प्रह्लादने भी भगवान्को नमस्कार करके ध्यानरूपी वज्र ग्रहण किया । तब भक्तोंके दुःख दूर करनेवाले भगवान् विष्णु स्वभावतः प्रेम करनेवाले भक्त प्रह्लादको इस प्रकार ध्यानमें स्थिर देख उसकी रक्षा करने लगे । फिर तो राक्षसोंके चलाये हुए अस्त्र-शस्त्र प्रह्लादके शरीरमें स्पर्श किये बिना ही नील-कमलके

टुकड़ोंकी भाँति खण्ड-खण्ड होकर गिर जाने लगे। भला, ये प्राकृत शस्त्र भगवान्‌के प्रिय भक्तका क्या कर सकते हैं। उससे तो सम्पूर्ण त्रितापरूपी महान् अस्त्रसमूह भी भय मानता है। व्याधि, राक्षस और ग्रह—ये तभीतक मनुष्योंको पीडा पहुँचाते हैं, जबतक उनका चित्त हृदय-गुहामें सूक्ष्मरूपसे स्थित भगवान् विष्णुको नहीं प्राप्त कर लेता। भक्तके अपमानका मानो तत्काल फल देनेवाले वे भग्न अस्त्र-खण्ड उलटे चलकर दैत्योंका संहार करने लगे। इनसे पीडित होनेके कारण वे दैत्य इधर-उधर भाग गये। विद्वानोंकी दृष्टिमें ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, अज्ञानी जनोंको ही इस घटनासे विस्मय हो सकता है॥ २०—२६॥

वैष्णवं बलमालोक्य राजा नूनं भयं दधौ।
पुनस्तस्य वधोपायं चिन्तयन् स सुदुर्मतिः॥२७॥
समादिशत् समाहूय दंदशूकान् सुदुर्विषान्।
अशस्त्रवधयोग्योऽयमस्मयो हरितोषकृत्॥२८॥
तस्माद् भवद्भिरचिराद् हन्यतां गरलायुधाः।
हिरण्यकशिपोः श्रुत्वा वचनं ते भुजंगमाः।
तस्याज्ञां जगृहुर्मूर्ध्ना प्रहर्षादेशवर्तिनः॥२९॥

वैष्णवोंका बल देखकर राजा हिरण्यकशिपुको अवश्य ही महान् भय हुआ; किंतु उस दुर्बुद्धिने पुनः प्रह्लादके वधका उपाय सोचते हुए, अत्यन्त भयंकर विषवाले सर्पोंको बुलाकर उन्हें आदेश दिया—'गरलायुधो[1]! विष्णुको संतुष्ट करनेवाला यह निश्शङ्क बालक किसी शस्त्रसे नहीं मारा जा सकता; अतः तुम सभी मिलकर इसे अति शीघ्र मार डालो।' हिरण्यकशिपुकी यह बात सुनकर उसकी आज्ञा माननेवाले सभी सर्पोंने उसके आदेशको हर्षपूर्वक शिरोधार्य किया॥ २७—२९॥

अथ ज्वलद्दशनकरालदंष्ट्रिण
स्फुटस्फुरद्दशनसहस्रभीषणाः।
अकर्षका हरिमहिस्वकर्षका
हरिप्रियं द्रुततरमापतन्रुषा॥३०॥
गरायुधास्त्वचमपि भेत्तुमल्पिकां
वपुष्यजस्मृतिबलदुर्भिदाकृतेः।
अलं न ते हरिवपुषं तु केवलं
विदश्य तं निजदशनैर्विना कृताः॥३१॥

ततः स्रवत्क्षतजविषण्णमूर्तयो
द्विधाकृताद्भुतदशना भुजंगमाः।
समेत्य ते दितिजपतिं व्यजिज्ञपन्
विनिःश्वसत्प्रचलफणा भुजंगमाः॥३२॥

तदनन्तर जिनके दाँत विषसे जल रहे हैं तथा जिनकी दाढ़ें विकराल हैं, जो स्फुट दिखायी देनेवाले हजारों चमकीले दाँतोंके कारण भयानक जान पड़ते हैं, ऐसे सर्पगण क्रोधसे फुफकारते हुए बड़े वेगसे उस हरिभक्तके ऊपर टूट पड़े। भगवान्‌के स्मरणके बलसे जिनका आकार दुर्भेद्य हो गया था, उन प्रह्लादजीके शरीरका थोड़ा-सा चमड़ा भी काटनेमें वे विषधर सर्प समर्थ न हो सके। इतना ही नहीं, जिनका शरीर भगवन्मय हो गया था, उन प्रह्लादजीको केवल डँसने-मात्रसे वे सर्प अपने सारे दाँत खो बैठे। तदनन्तर रक्तकी धारा बहनेसे जिनका आकार विषादग्रस्त हो रहा है, जिनके अद्भुत दाँतोंके दो-दो टुकड़े हो गये हैं तथा बार-बार उच्छ्वास लेनेके कारण जिनके फन चञ्चल हो रहे हैं, उन भुजंगमोंने परस्पर मिलकर दैत्यराज हिरण्यकशिपुको सूचित किया—॥ ३०—३२॥

प्रभो महीध्रानपि भस्मशेषां-
स्तस्मिन्नशक्तास्तु तदैव वध्याः।
महानुभावस्य तवात्मजस्य
वधे नियुक्त्वा दशनैर्विना कृताः॥३३॥
इत्थं द्विजिह्वाः कठिनं निवेद्य
ययुर्विसृष्टाः प्रभुणाकृतार्थाः।
विचिन्तयन्तः पृथुविस्मयेन
प्रह्लादसामर्थ्यनिदानमेव॥३४॥

'प्रभो! हम पर्वतोंको भी भस्म करनेमें समर्थ हैं, यदि उनमें हमारी शक्ति न चले तो आप तत्काल हमारा वध कर सकते हैं। परंतु आपके महानुभाव पुत्रका वध करनेमें लगाये जाकर तो हम अपने दाँतोंसे भी हाथ धो बैठे।' इस प्रकार बड़ी कठिनाईसे निवेदन करके स्वामी हिरण्यकशिपुके आदेश देनेपर भी अपने कार्यमें असफल हुए वे सर्प अत्यन्त आश्चर्यके साथ प्रह्लादके अद्भुत सामर्थ्यका क्या कारण है, इसका विचार करते हुए चले गये॥ ३३-३४॥

१. विष ही जिनका शस्त्र है, उन्हें 'गरलायुध' (सर्प) कहा है।

मार्कण्डेय उवाच

अथासुरेशः सचिवैर्विचार्य
निश्चित्य सूनुं तमदण्डसाध्यम् ।
आहूय साम्ना प्रणतं जगाद
वाक्यं सदा निर्मलपुण्यचित्तम्
प्रह्लाद दुष्टोऽपि निजाङ्गजातो
न वध्य इत्यद्य कृपा ममाभूत् ॥३५॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—इसके बाद असुरराज हिरण्यकशिपुने मन्त्रियोंके साथ विचारकर अपने पुत्रको दण्डसे अजेय मानकर उसे शान्तिपूर्वक अपने पास बुलाया और जब वह आकर प्रणाम करके खड़ा हो गया, तब उस निर्मल एवं पवित्र हृदयवाले अपने पुत्रसे कहा—'प्रह्लाद ! अपने शरीरसे यदि दुष्ट पुत्र भी उत्पन्न हो जाय तो वह वधके योग्य नहीं है, यह सोचकर अब तुझपर मुझे दया आ गयी है' ॥ ३५ ॥

ततस्तूर्णं समागत्य दैत्यराजपुरोहिताः ।
मूढाः प्राञ्जलयः प्राहुर्द्विजाः शास्त्रविशारदाः ॥३६॥
त्रैलोक्यं कम्पते देव भृशं त्वय्यभिकाङ्क्षिणि ।
प्रह्लादस्त्वां न जानाति क्रुद्धं स्वल्पो महाबलम् ॥३७॥
तदलं देव रोषेण दयां कर्तुं त्वमर्हसि ।
पुत्रः कुपुत्रतामेति न मातापितरौ कदा ॥३८॥

तत्पश्चात् तुरंत ही वहाँ दैत्यराजके पुरोहित आये । शास्त्रविशारद होनेपर भी वे मूढ ही रह गये थे । उन ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर कहा—'देव ! तुम्हारी युद्धविषयक इच्छा होते ही सारा त्रिभुवन थरथर काँपने लगता है । यह अल्प बलवाला प्रह्लाद कुपित हुए आप महान् बलशालीको नहीं जानता । अतः देव ! आपको क्रोधका परित्याग करके इसपर दया करनी चाहिये; क्योंकि पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, परंतु माता-पिता कभी कुमाता अथवा कुपिता नहीं होते' ॥ ३६-३८ ॥

उक्त्वेति कुटिलप्रज्ञं दैत्यं दैत्यपुरोहिताः ।
आदाय तदनुज्ञातं प्रह्लादं धीधनं ययुः ॥३९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे नरसिंहप्रादुर्भावे

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

दैत्यराजके पुरोहितोंने उस दुर्बुद्धि दैत्य हिरण्यकशिपुसे यों कहकर उसकी आज्ञासे प्रह्लादको साथ लेकर अपने भवनको चले गये ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'श्रीनरसिंहावतारविषयक' बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

तैंतालीसवाँ अध्याय

प्रह्लादजीका दैत्यपुत्रोंको उपदेश देना; हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे प्रह्लादका समुद्रमें डाला जाना तथा वहीं उन्हें भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन होना

मार्कण्डेय उवाच

अथ स गुरुगृहेऽपि वर्तमानः
सकलविदच्युतसक्तपुण्यचेताः ।
जड इव विचचार बाह्यकृत्ये
सततमनन्तमयं जगत्प्रपश्यन् ॥ १ ॥
सहगुरुकुलवासिनः कदाचि-
च्छ्रुतिविरता ह्यवदन् समेत्य बालाः ।
तव चरितमहो विचित्रमेतत्
क्षितिपतिपुत्र यतोऽस्य भोगलुब्धः ।
हृदि किमपि विचिन्त्य हृष्टरोमा
भवसि सदा च वदाङ्ग यद्यगुह्यम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—तदनन्तर सकल शास्त्रोंके ज्ञाता प्रह्लादजी गुरुके घरमें रहकर भी अपने पवित्र मनको भगवान् विष्णुमें लगाये रहनेके कारण सम्पूर्ण जगत्‌को नारायणका स्वरूप समझकर बाह्य—लौकिक कर्मोंमें जड़की भाँति व्यवहार करते हुए विचरते थे । एक दिन, उनके साथ ही गुरुकुलमें निवास करनेवाले छात्र-बालक पाठ-श्रवण बंद करके, एकत्र हो, प्रह्लादसे कहने लगे—'राजकुमार ! अहो ! आपका चरित्र बड़ा ही विचित्र है; क्योंकि आपने विषय-भोगोंका लोभ त्याग दिया है । प्रिय ! आप अपने हृदयमें किसी अनिर्वचनीय वस्तुका चिन्तन करके सदा पुलकित रहते हैं । यदि वह वस्तु छिपानेयोग्य न हो तो हमें भी बताइये' ॥ १-२ ॥

इति गदितवतः स मन्त्रिपुत्रा-
नवददिदं नृप सर्ववत्सलत्वात् ।
शृणुत सुमनसः सुरारिपुत्रा
यदहमनन्यरतिर्वदामि पृष्टः ॥ ३ ॥
धनजनतरुणीविलासरम्यो
भवविभवः किल भाति यस्तमेनम् ।
विमृशत सुबुधैरुतैष सेव्यो
द्रुतमथ वा परिवर्ज्य एव दूरात् ॥ ४ ॥
प्रथममिह विचार्यतां यदम्बा-
जठरगतैरनुभूयते सुदुःखम् ।
सुकुटिलतनुभिस्तदग्नितप्तै-
र्विविधपुराजननानि संस्मरद्भिः ॥ ५ ॥

नृप ! प्रह्लादजी सबपर स्नेह करनेवाले थे, अतः इस प्रकार पूछते हुए मन्त्रिकुमारोंसे वे यों बोले—'हे दैत्यपुत्रो ! एकमात्र भगवान्‌में अनुराग रखनेवाला मैं तुम्हारे पूछनेपर जो कुछ भी बता रहा हूँ, उसे तुमलोग प्रसन्नचित्त होकर सुनो। यह जो धन, जन और स्त्री-विलास आदिसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होनेवाला सांसारिक वैभव दृष्टिगोचर हो रहा है, इसपर विचार करो। क्या यह लोक-वैभव विद्वानोंके सेवन करनेयोग्य है या जल्दी-जल्दी दूरसे ही त्याग देनेयोग्य ? अहो ! जिनके अङ्ग गर्भाशयमें टेढ़े-मेढ़े पड़े हैं, जो जठरानलकी ज्वालासे संतप्त हो रहे हैं तथा जिन्हें अपने अनेक पूर्वजन्मोंका स्मरण हो रहा है, वे माताके गर्भमें पड़े हुए जीव जिस महान् कष्टका अनुभव करते हैं, पहले उसपर तो विचार करो॥३—५॥

कारागृहे दस्युरिवास्मि बद्धो
जरायुणा विट्क्रिमिमूत्रगेहे ।
पश्यामि गर्भेऽपि सकृन्मुकुन्द-
पादाब्जयोरस्मरणेन कष्टम् ॥ ६ ॥
तस्मात्सुखं गर्भशयस्य नास्ति
बाल्ये तथा यौवनवार्द्धके वा ।
एवं भवो दुःखमयः सदैव
सेव्यः कथं दैत्यसुताः प्रबुद्धैः ।
एवं भवेऽस्मिन् परिमृग्यमाणा
वीक्षामहे नैव सुखांशलेशम् ॥ ७ ॥
यथा यथा साधु विचारयाम-
स्तथा तथा दुःखतरं च विद्मः ।
तस्माद्भवेऽस्मिन् किल चारुरूपे
दुःखाकरे नैव पतन्ति सन्तः ॥ ८ ॥
पतन्त्यथोऽतत्त्वविदः सुमूढा
वह्नौ पतंगा इव दर्शनीये ।
यद्यस्ति नान्यच्छरणं सुखाय
युक्तं तदैतत्पतनं सुखाभे ॥ ९ ॥
अविन्दतामन्नमहो कृशानां
युक्तं हि पिण्याकतुषादिभक्षणम् ।
अस्ति त्वजं श्रीपतिपादपद्म-
द्वन्द्वार्चनप्राप्यमनन्तमाद्यम् ॥१०॥

''गर्भमें पड़ा हुआ दुखी जीव कहता है—'हाय ! कारागारमें बँधे हुए चोरकी भाँति मैं विष्ठा, कृमियों और मूत्रसे भरे हुए इस [देहरूपी] घरमें जरायु (झिल्ली) से बँधा पड़ा हूँ। मैंने जो एक बार भी भगवान् मुकुन्दके चरणारविन्दोंका स्मरण नहीं किया, उसीके कारण होनेवाले कष्टको आज मैं इस गर्भमें भोग रहा हूँ।' अतः गर्भमें सोनेवाले जीवको बचपन, जवानी और बुढ़ापेमें भी सुख नहीं है। दैत्यकुमारो ! जब इस प्रकार यह संसार सदा दुःखमय है, तब विज्ञ पुरुष इसका सेवन कैसे कर सकते हैं ? इस तरह इस संसारमें ढूँढ़नेपर हमें सुखका लेशमात्र भी दिखायी नहीं देता। हम जैसे-जैसे इसपर ठीक विचार करते हैं, वैसे-ही-वैसे इस जगत्‌को अत्यन्त दुःखमय समझते हैं। इसलिये ऊपरसे सुन्दर दिखायी देनेवाले इस दुःखपूर्ण संसारमें साधु पुरुष आसक्त नहीं होते। जो तत्त्वज्ञानसे रहित अत्यन्त मूढ़ लोग हैं, वे ही देखनेमें सुन्दर दीपकपर गिरकर नष्ट होनेवाले पतंगोंकी भाँति सांसारिक भोगोंमें आसक्त होते हैं। यदि सुखके लिये कोई दूसरा सहारा न होता, तब तो सुखमय-से प्रतीत होनेवाले इस जगत्‌में आसक्त होना उचित था—जैसे अन्न न पानेके कारण जो अत्यन्त दुबले हो रहे हैं, उनके लिये खली-भूसी आदि खा लेना ठीक हो सकता है; परंतु भगवान् लक्ष्मीपतिके युगल चरणारविन्दोंकी सेवासे प्राप्त होनेवाला आदि, अविनाशी, अजन्मा एवं नित्य सुख (परमात्मा)

तो है ही, फिर इस क्षणिक संसारका आश्रय क्यों लिया जाय ? ॥ ६–१० ॥

अक्लेशतः प्राप्यमिदं विसृज्य
महासुखं योऽन्यसुखानि वाञ्छेत् ।
राज्यं करस्थं स्वमसौ विसृज्य
भिक्षामटेद्दीनमनाः सुमूढः ॥११॥
तच्चार्च्यते श्रीपतिपादपद्म-
द्वन्द्वं न वस्त्रैर्न धनैः श्रमैर्न ।
अनन्यचित्तेन नरेण किंतु
उच्चार्यते केशव माधवेति ॥१२॥
एवं भवं दुःखमयं विदित्वा
दैत्यात्मजाः साधु हरिं भजध्वम् ।
एवं जनो जन्मफलं लभेत
नो चेद्भवाब्धौ प्रपतेदधोऽधः ॥१३॥
तस्माद्भवेऽस्मिन् हृदि शङ्खचक्र-
गदाधरं देवमनन्तमीड्यम् ।
स्मरन्तु नित्यं वरदं मुकुन्दं
सद्भक्तियोगेन निवृत्तकामाः ॥१४॥
अनास्तिकत्वात् कृपया भवद्भ्यो
वदामि गुह्यं भवसिन्धुसंस्थाः ।
सर्वेषु भूतेषु च मित्रभावं
भजन्त्वयं सर्वगतो हि विष्णुः ॥१५॥

"जो बिना कष्टके ही प्राप्त होनेयोग्य इस महान् सुख (परमेश्वर) को त्यागकर अन्य तुच्छ सुखोंकी इच्छा करता है, वह दीनहृदय मूर्ख पुरुष मानो हाथमें आये हुए अपने राज्यको त्यागकर भीख माँगता है । भगवान् लक्ष्मीपतिके युगल-चरणारविन्दोंका यथार्थ पूजन वस्त्र, धन और परिश्रमसे नहीं होता; किंतु मनुष्य यदि अनन्यचित्त होकर 'केशव' 'माधव' आदि भगवन्नामोंका उच्चारण करे तो वही उनकी वास्तविक पूजा है । दैत्यकुमारो ! इस प्रकार संसारको दुःखमय जानकर भगवान्का ही भलीभाँति भजन करो । इस प्रकार करनेसे ही मनुष्यका जन्म सफल हो सकता है; नहीं तो (भगवद्भजन न करनेके कारण) अज्ञानी पुरुष भवसागरमें ही नीचेसे और नीचे स्तरमें ही गिरता रहता है । इसलिये इस संसारमें समस्त कामनाओंसे रहित हो तुम सभी लोग अपने हृदयके भीतर विराजमान शङ्ख-चक्र-गदाधारी, वरदाता, अविनाशी स्तवनीय भगवान् मुकुन्दका सच्चे भक्तिभावसे सदा चिन्तन करो । भवसागरमें पड़े हुए दैत्यपुत्रो ! तुमलोग नास्तिक नहीं हो, इसलिये दयावश मैं तुमसे यह गोपनीय बात बतलाता हूँ—समस्त प्राणियोंके प्रति मित्रभाव रखो; क्योंकि सबके भीतर भगवान् विष्णु ही विराजमान हैं" ॥ ११–१५ ॥

दैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्लाद त्वं वयं चापि बालभावान्महामते ।
षण्डामर्कात्परं मित्रं गुरुं चान्यं न विद्महे ॥१६॥
त्वयैतच्छिक्षितं कुत्र तथ्यं नो वद निस्तुषम् ।

दैत्यपुत्र बोले—महाबुद्धिमान् प्रह्लादजी ! बचपनसे लेकर आजतक आप और हम भी षण्डामर्कके सिवा दूसरे किसी गुरु तथा मित्रको नहीं जान सके । फिर आपने यह ज्ञान कहाँ सीखा ? हमसे पर्दा न रखकर सच्ची बात बताइये ॥ १६½ ॥

प्रह्लाद उवाच

यदा तातः प्रयातो मे तपोऽर्थं काननं महत् ॥१७॥
तदा चेन्द्रः समागत्य पुरं तस्य रुरोध ह ।
मृतं विज्ञाय दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं तदा ॥१८॥
इन्द्रो मे जननीं गृह्य प्रयातो मन्मथाग्निना ।
दह्यमानो महाभागां मार्गे गच्छति सत्वरम् ॥१९॥
तदा मां गर्भगं ज्ञात्वा नारदो देवदर्शनः ।
आगत्येन्द्रं जगादोच्चैर्मूढ मुञ्च पतिव्रताम् ॥२०॥
अस्या गर्भे स्थितो योऽसौ स वै भागवतोत्तमः ।
तच्छ्रुत्वा नारदवचो मातरं प्रणिपत्य मे ॥२१॥
विष्णुभक्त्या प्रमुच्याथ गतः स्वं भुवनं हरिः ।
नारदस्तां समानीय आश्रमं स्वं शुभव्रतः ॥२२॥
मामुद्दिश्य महाभागामेतद्वै कथितं तदा ।
तथा मे विस्मृतं नैव बालाभ्यासाद्दनोः सुताः ॥२३॥
विष्णोश्चानुग्रहेणैव नारदस्योपदेशतः ।

प्रह्लादजी बोले—कहते हैं, जिस समय मेरे पिताजी तपस्या करनेके लिये महान् वनमें चले गये, उसी समय इन्द्रने वहाँ आकर पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपुको मरा हुआ

समझकर उनके इस नगरको घेर लिया । इन्द्र कामाग्निसे पीडित हो मेरी महाभागा माताजीको पकड़कर यहाँसे चल दिये । वे मार्गमें बड़ी तेजीसे पैर बढ़ाते हुए चले जा रहे थे । इसी समय देवदर्शन नारदजी मुझे माताके गर्भमें स्थित जान सहसा वहाँ पहुँचे और चिल्लाकर इन्द्रसे बोले—'मूर्ख ! इस पतिव्रताको छोड़ दो । इसके गर्भमें जो बालक है, वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।' नारदजीका कथन सुनकर इन्द्रने विष्णुभक्तिके कारण मेरी माताको प्रणाम करके छोड़ दिया और वे अपने लोकको चले गये । फिर शुभ संकल्पवाले नारदजी मेरी माताको अपने आश्रममें ले आये और मेरे उद्देश्यसे मेरी महाभागा माताके प्रति इस पूर्वोक्त ज्ञानका वर्णन किया । दानवो ! बाल्यकालके अभ्यास, भगवान्‌की कृपा तथा नारदजीका उपदेश होनेसे वह ज्ञान मुझे भूला नहीं है ॥ १७–२३½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एकदा गुप्तचर्यायां गतोऽसौ राक्षसाधिपः ॥२४॥
शृणोति रात्रौ नगरे जय रामेति कीर्तनम् ।
अवैत्पुत्रकृतं सर्वं बलवान् दानवेश्वरः ॥२५॥
अथाहूयाह दैत्येन्द्रः क्रोधान्धः स पुरोहितान् ।
रे रे क्षुद्रद्विजा यूयमासन्मुमूर्षुतां गताः ॥२६॥
प्रह्लादोऽयं मृषालापान् वक्त्यन्यान् पाठयत्यपि ।
इति निर्भर्त्स्य तान् विप्रान् श्वसन् राजाविशद् गृहम् ॥
न च पुत्रवधे चिन्तां जहौ स्ववधकारिणीम् ।
आसन्नमरणोऽमर्षात्कृत्यमेकं विमृश्य सः ॥२८॥
अकृत्यमेव दैत्यादीनाहूयोपादिशद्रहः ।
अद्य क्षपायां प्रह्लादं प्रसुप्तं दुष्टमुल्बणैः ॥२९॥
नागपाशैर्दृढं बद्ध्वा मध्ये निक्षिपताम्बुधेः ।

मार्कण्डेयजी बोले—एक दिन राक्षसराज हिरण्यकशिपु रात्रिके समय गुप्तरूपसे नगरमें घूम रहा था । उस समय उसे 'जय राम'का कीर्तन सुनायी देने लगा । तब बलवान् दानवराजने यह सब अपने पुत्रकी ही करतूत समझी । तब उस दैत्यराजने क्रोधान्ध होकर पुरोहितोंको बुलाया और कहा—'नीच ब्राह्मणो ! जान पड़ता है, तुमलोग मरनेके लिये अत्यधिक उत्सुक हो गये हो । तुम्हारे देखते-देखते यह प्रह्लाद स्वयं तो व्यर्थकी बातें बकता ही है, दूसरोंको भी यही सिखाता है ।' इस प्रकार उन ब्राह्मणोंको फटकारकर राजा हिरण्यकशिपु लंबी साँसें खींचता हुआ घरमें आया । उस समय भी वह पुत्रवधके विषयमें होनेवाली चिन्ताको, जो उसका ही नाश करनेवाली थी, नहीं छोड़ सका । उसकी मृत्यु निकट थी; अतः उसने अमर्षवश एक ऐसा काम सोचा, जो वास्तवमें न करने योग्य ही था । हिरण्यकशिपुने दैत्यादिकोंको बुलाया और उनसे एकान्तमें कहा—'देखो, आज रातमें प्रह्लाद जब गाढ़ी नींदमें सो जाय, उस समय उस दुष्टको भयंकर नागपाशोंद्वारा खूब कसकर बाँध दो और बीच समुद्रमें फेंक आओ' ॥ २४–२९½ ॥

तदाज्ञां शिरसाऽऽदाय ददृशुस्तमुपेत्य ते ॥३०॥
रात्रिप्रियं समाधिस्थं प्रबुद्धं सुप्तवत् स्थितम् ।
संछिन्नरागलोभादिमहाबन्धं क्षपाचराः ॥३१॥
बबन्धुस्तं महात्मानं फल्गुभिः सर्परज्जुभिः ।
गरुडध्वजभक्तं तं बद्ध्वाहिभिरबुद्धयः ॥३२॥
जलशायिप्रियं नीत्वा जलराशौ निचिक्षिपुः ।
बलिनस्तेऽचलान् दैत्या तस्योपरि निधाय च ॥३३॥
शशंसुस्तं प्रियं राज्ञे द्रुतं तान् सोऽप्यमानयत् ।

उसकी आज्ञा शिरोधार्य करके उन दैत्योंने प्रह्लादजीके पास जाकर उन्हें देखा । वे रात्रिके ही प्रेमी थे (क्योंकि रातमें ही उन्हें ध्यान लगानेकी सुविधा रहती थी) । प्रह्लादजी समाधिमें स्थित होकर जाग रहे थे, फिर भी खूब सोये हुएके समान स्थित थे । उन्होंने राग और लोभ आदिके महान् बन्धनोंको काट डाला था, तो भी उन महात्मा प्रह्लादको निशाचरोंने तुच्छ नागपाशोंसे बाँध दिया । जिनकी ध्वजामें साक्षात् गरुडजी विराजमान हैं, उन भगवान्‌के भक्त प्रह्लादको उन मूर्खोंने सर्पोंद्वारा बाँधा और जलशायीके प्रियजनको ले जाकर जलराशि समुद्रमें डाला । तदनन्तर उन बली दैत्योंने प्रह्लादके ऊपर पर्वतकी चट्टानें रख दीं और तुरंत ही जाकर राजा हिरण्यकशिपुको यह प्रिय संवाद कह सुनाया । उसे सुनकर उस दैत्यराजने भी उन सबका सम्मान किया ॥ ३०–३३½ ॥

प्रह्लादं चाब्धिमध्यस्थं तमौर्वाग्निमिवापरम् ॥३४॥

ज्वलन्तं तेजसा विष्णोर्ग्राहा भूरिभियात्यजन् ।
स चाभिन्नचिदानन्दसिन्धुमध्ये समाहितः ॥३५॥
न वेद बद्धमात्मानं लवणाम्बुधिमध्यगम् ।
अथ ब्रह्मामृताम्भोधिमये स्वसिन् स्थिते मुनौ ॥३६॥
ययौ क्षोभं द्वितीयाब्धिप्रवेशादिव सागरः ।
क्लेशात् क्लेशानिवोद्धूय प्रह्लादमथ वीचयः ॥३७॥
निन्युस्तीरेऽप्लवाम्भोधेः गुरूक्तय इवाम्बुधेः ।
ध्यानेन विष्णुभूतं तं भगवान् वरुणालयः ॥३८॥
विन्यस्य तीरे रत्नानि गृहीत्वा द्रष्टुमाययौ ।
तावद् भगवताऽऽदिष्टः प्रहृष्टः पन्नगाशनः ॥३९॥
बन्धनाहीन् समभ्येत्य भक्षयित्वा पुनर्ययौ ।

बीच समुद्रमें पड़े हुए प्रह्लादको भगवान्‌के तेजसे दूसरे बडवानलकी भाँति प्रज्वलित देख अत्यन्त भयके कारण ग्राहोंने उन्हें दूरसे ही त्याग दिया । प्रह्लाद भी अपनेसे अभिन्न चिदानन्दमय समुद्र (परमेश्वर) में समाहित होनेके कारण यह न जान सके कि 'मैं बाँधकर खारे पानीके सागरमें डाल दिया गया हूँ ।' मुनि (प्रह्लाद) जब ब्रह्मानन्दामृतके समुद्ररूप अपने आत्मामें स्थित हो गये, उस समय समुद्र इस प्रकार क्षुब्ध हो उठा, मानो उसमें दूसरे महासागरका प्रवेश हो गया हो । फिर समुद्रकी लहरें प्रह्लादको धीरे-धीरे कठिनाईसे ठेलकर उस नौकारहित सागरके तटकी ओर ले गयीं— ठीक उसी प्रकार, जैसे ज्ञानी गुरुके वचन क्लेशोंका उन्मूलन करके शिष्यको भवसागरसे पार पहुँचा देते हैं । ध्यानके द्वारा विष्णुस्वरूप हुए उन प्रह्लादजीको तीरपर पहुँचाकर भगवान् वरुणालय (समुद्र) बहुत-से रत्न ले उनका दर्शन करनेके लिये आये । इतनेमें ही भगवान्‌की आज्ञा पाकर सर्पभक्षी गरुडजी वहाँ आ पहुँचे और बन्धनभूत सर्पोंको अत्यन्त हर्षपूर्वक खाकर चले गये ॥ ३४—३९½ ॥

अथावभाषे प्रह्लादं गम्भीरध्वनिरर्णवः ॥४०॥
प्रणम्य दिव्यरूपः सन् समाधिस्थं हरेः प्रियम् ।
प्रह्लाद भगवद्भक्त पुण्यात्मन्नर्णवोऽस्म्यहम् ॥४१॥
चक्षुर्भ्यामथ मां दृष्ट्वा पावयार्थिनमागतम् ।
इत्यम्बुधिगिरः श्रुत्वा स महात्मा हरेः प्रियः ॥४२॥
उद्वीक्ष्य सहसा देवं तं नत्वाऽऽहासुरात्मजः ।
कदाऽऽगतं भगवता तमथाम्बुधिरब्रवीत् ॥४३॥

तत्पश्चात् गम्भीर घोषवाला दिव्यरूपधारी समुद्र समाधिनिष्ठ भगवद्भक्त प्रह्लादको प्रणाम करके यों बोला— 'भगवद्भक्त प्रह्लाद ! पुण्यात्मन् ! मैं समुद्र हूँ । अपने पास आये हुए मुझ प्रार्थीको अपने नेत्रोंद्वारा देखकर पवित्र कीजिये ।' समुद्रके ये वचन सुनकर भगवान्‌के प्रिय भक्त महात्मा असुर-नन्दन प्रह्लादने सहसा उनकी ओर देखकर प्रणाम किया और कहा—'श्रीमान् कब पधारे ?' तब उनसे समुद्रने कहा ॥ ४०—४३ ॥

योगिन्नज्ञातवृत्तस्त्वमपराद्धं तवासुरैः ।
बद्धस्त्वमहिभिर्दैत्यैर्मयि क्षिप्तोऽद्य वैष्णव ॥४४॥
ततस्तूर्णं मया तीरे न्यस्तस्त्वं फणिनश्च तान् ।
इदानीमेव गरुडो भक्षयित्वा गतो महान् ॥४५॥
महात्मन्ननुगृह्णीष्व त्वं मां सत्संगमार्थिनम् ।
गृहाणेमानि रत्नानि पूज्यस्त्वं मे हरिर्यथा ॥४६॥
यद्यप्येतैर्न ते कृत्यं रत्नैर्दास्याम्यथाप्यहम् ।
दीपान्निवेदयत्येव भास्करस्यापि भक्तिमान् ॥४७॥
त्वमापत्स्वपि घोरासु विष्णुनैव हि रक्षितः ।
त्वादृशा निर्मलात्मानो न सन्ति बहवोऽर्कवत् ॥४८॥
बहुना किं कृतार्थोऽस्मि यत्तिष्ठामि त्वया सह ।
आलपामि क्षणमपि नेक्षे ह्येतत्फलोपमाम् ॥४९॥

'योगिन् ! आपको यह बात ज्ञात नहीं है, असुरोंने आपका बड़ा अपराध किया है । वैष्णव ! आपको साँपोंसे बाँधकर दैत्योंने आज मेरे भीतर फेंक दिया; तब मैंने तुरंत ही आपको किनारे लगाया और उन साँपोंको अभी-अभी महात्मा गरुडजी भक्षण करके गये हैं । महात्मन् ! मैं सत्सङ्गका अभिलाषी हूँ, आप मुझपर अनुग्रह करें और इन रत्नोंको भेंटरूपमें स्वीकार करें । मेरे लिये आप भगवान् विष्णुके समान ही पूज्य हैं । यद्यपि आपको इन रत्नोंकी कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि मैं तो इन्हें आपको दूँगा ही; क्योंकि भगवान् सूर्यका भक्त उन्हें दीप निवेदन करता ही है । घोर आपत्तियोंमें भी भगवान् विष्णुने ही आपकी रक्षा की है । सूर्यकी भाँति आप-जैसे शुद्ध-चित्त महात्मा संसारमें अधिक नहीं हैं । बहुत क्या कहूँ ?

आज मैं कृतार्थ हो गया; क्योंकि आज मुझे आपके साथ स्थित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस समय क्षणभर भी जो आपके साथ बातचीत कर रहा हूँ, इससे प्राप्त होनेवाले फलकी उपमा मैं कहीं नहीं देखता' ॥ ४४–४९ ॥

इत्यब्धिना स्तुतः श्रीशमाहात्म्यवचनैः स्वयम्।
ययौ लज्जां प्रहर्षं च प्रह्लादो भगवत्प्रियः ॥५०॥
प्रतिगृह्य स रत्नानि वत्सलः प्राह वारिधिम्।
महात्मन् सुतरां धन्यः शेते त्वयि हि स प्रभुः ॥५१॥
कल्पान्तेऽपि जगत्कृत्स्नं ग्रसित्वा स जगन्मयः।
त्वय्येवैकार्णवीभूते शेते किल महात्मनि ॥५२॥
लोचनाभ्यां जगन्नाथं द्रष्टुमिच्छामि वारिधे।
त्वं पश्यसि सदा धन्यस्तत्रोपायं प्रयच्छ मे ॥५३॥

इस प्रकार समुद्रने साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपतिके माहात्म्य-सूचक वचनोंद्वारा जब उनकी स्तुति की, तब भगवान्‌के प्रिय भक्त प्रह्लादजीको बड़ी लज्जा हुई और हर्ष भी। स्नेही प्रह्लादने समुद्रके दिये हुए रत्न ग्रहणकर उनसे कहा—'महात्मन्! आप विशेष धन्यवादके पात्र हैं; क्योंकि भगवान् आपके ही भीतर शयन करते हैं। यह प्रसिद्ध है कि जगन्मय प्रभु प्रलय-कालमें भी सम्पूर्ण जगत्‌को अपनेमें लीन करके एकार्णवरूपमें स्थित आप महात्मा महासागरमें ही शयन करते हैं। समुद्र! मैं इन स्थूल नेत्रोंसे भगवान् जगन्नाथका दर्शन करना चाहता हूँ। आप धन्य हैं; क्योंकि सदा भगवान्‌का दर्शन करते रहते हैं। कृपया मुझे भी उनके दर्शनका उपाय बताइये'॥ ५०–५३॥

उक्त्वेति पादावनतं तूर्णमुत्थाप्य सागरः।
प्रह्लादं प्राह योगीन्द्र त्वं पश्यसि सदा हृदि ॥५४॥
द्रष्टुमिच्छस्यथाक्षिभ्यां स्तुहि तं भक्तवत्सलम्।
उक्त्वेति सिन्धुः प्रह्लादमात्मनः स जलेऽविशत् ॥५५॥

यों कहकर प्रह्लादजी समुद्रके चरणोंपर गिर पड़े। तब समुद्रने उनको शीघ्र ही उठाकर कहा—'योगीन्द्र! आप तो सदा ही अपने हृदयमें भगवान्‌का दर्शन करते हैं; तथापि यदि इन नेत्रोंसे भी देखना चाहते हैं तो उन भक्तवत्सल भगवान्‌का स्तवन कीजिये।' यों कहकर समुद्रदेव अपने जलमें प्रविष्ट हो गये ॥ ५४-५५ ॥

गते नदीन्द्रे स्थित्वैको हरिं रात्रौ स दैत्यजः।
भक्त्यास्तौदिति मन्वानस्तद्दर्शनमसम्भवम् ॥५६॥

समुद्रके चले जानेपर दैत्यनन्दन प्रह्लादजी रात्रिमें वहाँ अकेले ही रहकर भगवान्‌के दर्शनको एक असम्भव कार्य मानते हुए भक्तिपूर्वक श्रीहरिकी स्तुति करने लगे ॥ ५६ ॥

प्रह्लाद उवाच

वेदान्तवाक्यशतमारुतसम्प्रवृद्ध-
वैराग्यवह्निशिखया परिताप्य चित्तम्।
संशोधयन्ति यदवेक्षणयोग्यतायै
धीराः सदैव स कथं मम गोचरः स्यात् ॥५७॥
मात्सर्यरोषस्मरलोभमोह-
मदादिभिर्वा सुदृढैः सुषड्भिः।
उपर्युपर्यावरणैः सुबद्ध-
मन्धं मनो मे क्व हरिः क्व चाहम् ॥५८॥
यं धातृमुख्या विबुधा भयेषु
शान्त्यर्थिनः क्षीरनिधेरुपान्तम्।
गत्वोत्तमस्तोत्रकृतः कथंचित्
पश्यन्ति तं द्रष्टुमहो ममाशा ॥५९॥

प्रह्लादजी बोले—धीर पुरुष जिनके दर्शनकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये सदा ही सैकड़ों वेदान्त-वाक्यरूप वायुद्वारा अत्यन्त बढ़ी हुई वैराग्यरूप अग्निकी ज्वालासे अपने चित्तको तपाकर भलीभाँति शुद्ध किया करते हैं, वे भगवान् विष्णु, भला, मेरे दृष्टिपथमें कैसे आ सकते हैं। एकके ऊपर एकके क्रमसे ऊपर-ऊपर जिनका आवरण पड़ा हुआ है—ऐसे मात्सर्य, क्रोध, काम, लोभ, मोह, मद आदि छः सुदृढ़ बन्धनोंसे भलीभाँति बँधा हुआ मेरा मन अंधा (विवेकशून्य) हो रहा है। कहाँ भगवान् श्रीहरि और कहाँ मैं! भय उपस्थित होनेपर उसकी शान्तिके लिये क्षीरसागरके तटपर जाकर ब्रह्मादि देवता उत्तम रीतिसे स्तवन करते हुए किसी प्रकार जिनका दर्शन कर पाते हैं, उन्हीं भगवान्‌के दर्शनकी मुझ-जैसा दैत्य आशा करे—यह कैसा आश्चर्य है! ॥ ५७–५९ ॥

अयोग्यमात्मानमितीशदर्शने
स मन्यमानस्तदनाप्तिकातरः।
उद्वेगदुःखार्णवमग्नमानसः
सुताश्रुधारो नृप मूर्च्छितोऽपतत् ॥६०॥

अथ क्षणात्सर्वगतश्चतुर्भुजः
शुभाकृतिर्भक्तजनैकवल्लभः ।
दुःस्थं तमाश्लिष्य सुधामयैर्भुजै-
स्तत्रैव भूपाविरभूद्दयानिधिः ॥६१॥

राजन्! इस प्रकार अपनेको भगवान्‌का दर्शन पानेके योग्य न मानते हुए प्रह्लादजी उनकी अप्राप्तिके दुःखसे कातर हो उठे। उनका चित्त उद्वेग और अनुतापके समुद्रमें डूब गया। वे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए मूर्च्छित होकर गिर पड़े। भूप! फिर तो क्षणभरमें ही भक्तजनोंके एकमात्र प्रियतम सर्वव्यापी कृपानिधान भगवान् विष्णु सुन्दर चतुर्भुज रूप धारणकर दुखी प्रह्लादको अमृतके समान सुखद स्पर्शवाली अपनी भुजाओंसे उठाकर गोदमें लगाते हुए वहाँ प्रकट हो गये॥ ६०-६१॥

स लब्धसंज्ञोऽथ तदङ्गसङ्गा-
दुन्मीलिताक्षः सहसा ददर्श।
प्रसन्नवक्त्रं कमलायताक्षं
सुदीर्घबाहुं यमुनासवर्णम् ॥६२॥
उदारतेजोमयमप्रमेयं
गदारिशङ्खाम्बुजचारुचिह्नितम् ।
स्थितं समालिङ्ग्य विभुं स दृष्ट्वा
प्रकम्पितो विस्मयभीतिहर्षैः ॥६३॥
तत् स्वप्नमेवाथ स मन्यमानः
स्वप्नेऽपि पश्यामि हरिं कृतार्थम्।
इति प्रहर्षार्णवमग्नचेताः
स्वानन्दमूर्च्छां स पुनश्च भेजे ॥६४॥
ततः क्षिताविव निविश्य नाथः
कृत्वा तमङ्के स्वजनैकबन्धुः।
शनैर्विधुन्वन् करपल्लवेन
स्पृशन् मुहुर्मातृवदालिलिङ्ग ॥६५॥

उनके अङ्गस्पर्शसे होशमें आनेपर प्रह्लादने सहसा नेत्र खोलकर भगवान्‌को देखा। उनका मुख प्रसन्न था। नेत्र कमलके समान सुन्दर और विशाल थे। भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं और शरीर यमुनाजलके समान श्याम था। वे परम तेजस्वी और अपरिमित ऐश्वर्यशाली थे। गदा, शङ्ख, चक्र और पद्म आदि सुन्दर चिह्नोंसे पहचाने जा रहे थे। इस प्रकार अपनेको अङ्कमें लगाये हुए भगवान्‌को खड़ा देख प्रह्लाद भय, विस्मय और हर्षसे काँप उठे। वे इस घटनाको स्वप्न ही समझते हुए सोचने लगे—'अहा! स्वप्नमें भी मुझे पूर्णकाम भगवान्‌का दर्शन तो मिल गया!' यह सोचकर उनका चित्त हर्षके महासागरमें गोता लगाने लगा और वे पुनः स्वरूपानन्दमयी मूर्च्छाको प्राप्त हो गये। तब अपने भक्तोंके एकमात्र बन्धु भगवान् पृथ्वीपर ही बैठ गये और पाणिपल्लवसे धीरे-धीरे उन्हें हिलाने लगे। स्नेहमयी माताकी भाँति प्रह्लादके गात्रका स्पर्श करते हुए उन्हें बार-बार छातीसे लगाने लगे॥ ६२—६५॥

ततश्चिरेण प्रह्लादः सम्मुखोन्मीलितेक्षणः।
आलुलोके जगन्नाथं विस्मयाविष्टचेतसा ॥६६॥
ततश्चिरात्तं सम्भाव्य धीरः श्रीशाङ्कशायिनम्।
आत्मानं सहसोत्तस्थौ सद्यः सभयसम्भ्रमः ॥६७॥
प्रणामायापतद्भूम्यां प्रसीदेति वदन्मुहुः।
सम्भ्रमात् स बहुज्ञोऽपि नान्यां पूजोक्तिमस्मरत्॥६८॥
तमथाभयहस्तेन गदाशङ्खारिशृङ्ग् प्रभुः।
गृहीत्वा स्थापयामास प्रह्लादं स दयानिधिः ॥६९॥
कराब्जस्पर्शनाह्लादगलदश्रुं सवेपथुम्।
भूयोऽप्याह्लादयन् स्वामी तं जगादेति सान्त्वयन्॥७०॥

कुछ देरके बाद प्रह्लादने भगवान्‌के सामने आँखें खोलकर विस्मितचित्तसे उन जगदीश्वरको देखा। फिर बहुत देरके बाद अपनेको भगवान् लक्ष्मीपतिकी गोदमें सोया हुआ अनुभवकर वे भय और आवेगसे युक्त हो सहसा उठ गये तथा 'भगवन्! प्रसन्न होइये' यों बार-बार कहते हुए उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेके लिये पृथ्वीपर गिर पड़े। बहुज्ञ होनेपर भी उन्हें उस समय घबराहटके कारण अन्य स्तुतिवाक्योंका स्मरण न हुआ। तब गदा, शङ्ख और चक्र धारण करनेवाले दयानिधि भगवान्‌ने प्रह्लादको अपने भक्तभयहारी हाथसे पकड़कर खड़ा किया। भगवान्‌के कर-कमलोंका स्पर्श होनेसे अत्यन्त आनन्दके आँसू बहाते और काँपते हुए प्रह्लादको और अधिक आनन्द देनेके लिये प्रभुने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा॥ ६६—७०॥

सभयं सम्भ्रमं वत्स मद्गौरवकृतं त्यज।
नैवं प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव ॥७१॥

नित्यं सम्पूर्णकामस्य जन्मानि विविधानि मे ।
भक्तसर्वेष्टदानाय तस्मात् किं ते प्रियं वद ॥७२॥

'वत्स ! मेरे प्रति गौरव-बुद्धिसे होनेवाले इस भय और घबराहटको त्याग दो । मेरे भक्तोंमें तुम्हारे समान कोई भी मुझे प्रिय नहीं है, तुम स्वाधीनप्रणयी हो जाओ [अर्थात् यह समझो कि तुम्हारा प्रेमी मैं तुम्हारे वशमें हूँ] । मैं नित्य पूर्णकाम हूँ, तथापि भक्तोंकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेके लिये मेरे अनेक अवतार हुआ करते हैं; अतः तुम भी बताओ, तुम्हें कौन-सी वस्तु प्रिय है ?' ॥ ७१-७२ ॥

अथ व्यजिज्ञपद्विष्णुं प्रह्लादः प्राञ्जलिर्नमन् ।
सलौल्यमुत्फुल्लदृशा पश्यन्नेवं च तन्मुखम् ॥७३॥
नाप्ययं वरदानाय कालो नैष प्रसीद मे ।
त्वद्दर्शनामृतास्वादादन्तरात्मा न तृप्यति ॥७४॥
ब्रह्मादिदेवैर्दुर्लक्ष्यं त्वामेव पश्यतः प्रभो ।
तृप्तिं नेष्यति मे चित्तं कल्पायुतशतैरपि ॥७५॥
नैवमेतद्व्यतृप्तस्य त्वां दृष्ट्वान्यद् वृणोति किम् ।

तदनन्तर खिले हुए नेत्रोंसे भगवान्‌के मुखको सतृष्ण-भावसे देखते हुए प्रह्लादने हाथ जोड़ नमस्कारपूर्वक उनसे यों निवेदन किया—'भगवन् ! यह वरदानका समय नहीं है, केवल मुझपर प्रसन्न होइये । इस समय मेरा मन आपके दर्शनरूपी अमृतका आस्वादन करनेसे तृप्त नहीं हो रहा है । प्रभो ! ब्रह्मादि देवताओंके लिये भी जिनका दर्शन पाना कठिन है, ऐसे आपका दर्शन करते हुए मेरा मन दस लाख वर्षोंमें भी तृप्त न होगा । इस प्रकार आपके दर्शनसे अतृप्त रहनेवाले मुझ सेवकका चित्त आपके दर्शनके बाद और क्या माँग सकता है ?' ॥ ७३—७५½ ॥

ततः स्मितसुधापूरैः पूरयन् स प्रियं प्रियात् ॥७६॥
योजयन् मोक्षलक्ष्म्यैव तं जगाद जगत्पतिः ।
सत्यं मद्दर्शनादन्यद् वत्स नैवास्ति ते प्रियम् ॥७७॥
किंचित्ते दातुमिष्टं मे मत्प्रियार्थं वृणीष्व तत् ।

तब मुस्कानमयी सुधाका स्रोत बहाते हुए उन जगदीश्वरने अपने परम प्रिय भक्त प्रह्लादको मोक्ष-लक्ष्मीसे संयुक्त-सा करते हुए उससे कहा—'वत्स ! यह सत्य है कि तुम्हें मेरे दर्शनसे बढ़कर दूसरा कुछ भी प्रिय नहीं है; किंतु मेरी इच्छा तुम्हें कुछ देनेकी है । अतः तुम मेरा प्रिय करनेके लिये ही मुझसे कुछ माँग लो' ॥ ७६-७७½ ॥

प्रह्लादोऽथाब्रवीद्धीमान् देव जन्मान्तरेष्वपि ॥७८॥
दासस्तवाहं भूयासं गरुत्मानिव भक्तिमान् ।
अथाह नाथः प्रह्लादं संकटं खल्विदं कृतम् ॥७९॥
अहं तवात्मदानेच्छुस्त्वं तु भृत्यत्वमिच्छसि ।
वरानन्यांश्च वरय धीमन् दैत्येश्वरात्मज ॥८०॥

तब बुद्धिमान् प्रह्लादने कहा—'देव ! मैं जन्मान्तरोंमें भी गरुडजीकी भाँति आपमें ही भक्ति रखनेवाला आपका दास होऊँ !' यह सुनकर भगवान्‌ने कहा—'यह तो तुमने मेरे लिये कठिन समस्या रख दी—मैं तो तुम्हें स्वयं अपने आपको दे देना चाहता हूँ और तुम मेरी दासता चाहते हो ! बुद्धिमान् दैत्यराजकुमार ! दूसरे-दूसरे वर माँगो' ॥ ७८—८० ॥

प्रह्लादोऽपि पुनः प्राह भक्तकामप्रदं हरिम् ।
प्रसीद सास्तु मे नाथ त्वद्भक्तिः सात्त्विकी स्थिरा॥८१॥
अनयाथ च त्वां नौमि नृत्यामि त्वत्परः सदा ।

तब प्रह्लादने भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले भगवान् विष्णुसे पुनः कहा—'नाथ ! आप प्रसन्न हों; मुझे तो यही चाहिये कि आपमें मेरी सात्त्विक भक्ति सदा स्थिर रहे । यही नहीं, इस भक्तिसे युक्त होकर मैं आपका स्तवन किया करूँ और आपके ही परायण रहकर सदा नाचा करूँ' ॥ ८१½ ॥

अथाभितुष्टो भगवान् प्रियमाह प्रियंवदम् ॥८२॥
वत्स यद्यदभीष्टं ते तत्तदस्तु सुखी भव ।
अन्तर्हिते च मय्यत्र मा खिद त्वं महामते ॥८३॥
त्वच्चित्तान्नापयास्यामि क्षीराब्धेरिव सुप्रियात् ।
पुनर्द्वित्रिदिनैस्त्वं मां द्रष्टा दुष्टवधोद्यतम् ॥८४॥
अपूर्वाविष्कृताकारं नृसिंहं पापभीषणम् ।
उक्त्वेत्यतः प्रणमतः पश्यतश्चातिलालसम् ॥८५॥
अतृप्तस्यैव तस्येशो माययान्तर्दधे हरिः ।

भगवान्‌ने संतुष्ट होकर प्रिय भाषण करनेवाले प्रिय भक्त प्रह्लादसे तब कहा—'वत्स ! तुम्हें जो-जो अभीष्ट हो, वह सब

प्राप्त हो; तुम सुखी रहो। एक बात और है—महामते! यहाँसे मेरे अन्तर्धान हो जानेपर भी तुम खेद न करना। मैं अपने परमप्रिय स्थान क्षीरसागरकी भाँति तुम्हारे शुद्धचित्तसे कभी अलग न होऊँगा। तुम दो-ही-तीन दिनोंके बाद मुझे दुष्ट हिरण्यकशिपुका वध करनेके लिये उद्यत अपूर्व शरीर धारण किये नृसिंहरूपमें, जो पापियोंके लिये भयानक है, पुनः प्रकट देखोगे।' यों कहकर भगवान् हरि, अपनेको प्रणाम करके अत्यन्त ललचायी हुई दृष्टिसे देखते रहनेपर भी तृप्त न होनेवाले उस भक्त प्रह्लादके सामने ही मायासे अन्तर्धान हो गये॥ ८२—८५½॥

ततो हठाददृष्ट्वा तं सर्वतो भक्तवत्सलम्॥८६॥
हाहेत्यश्रुप्लुतः प्रोच्य ववन्दे स चिरादिति।
श्रूयमाणेऽथ परितः प्रतिबुद्धजनस्वने॥८७॥
उत्थायाब्धितटाद्धीमान् प्रह्लादः स्वपुरं ययौ॥८८॥

अथ दितिजसुतश्चिरं प्रहृष्टः
स्मृतिबलतः परितस्तमेव पश्यन्।
हरिमतुजगतिं त्वलं च पश्यन्
गुरुगृहमुत्पुलकः शनैरवाप॥८९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे नरसिंहप्रादुर्भावे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

तत्पश्चात् वे सहसा सब ओर दृष्टि डालनेपर भी जब भक्तवत्सल भगवान्‌को न देख सके, तब आँसू बहाते हुए उच्चस्वरसे हाहाकार करके बड़ी देरतक भगवान्‌की वन्दना करते रहे। फिर जब प्रातःकाल जगे हुए जन्तुओंकी वाणी सब ओर सुनायी देने लगी, तब बुद्धिमान् प्रह्लाद समुद्र-तटसे उठकर अपने नगरको चले गये। इसके बाद दैत्यनन्दन प्रह्लादजी परम प्रसन्न होकर अपने स्मरणबलसे संसारमें सब ओर भगवान्‌का ही दर्शन करते हुए तथा भगवान् एवं मनुष्यकी गतिको भलीभाँति समझते हुए रोमाञ्चित होकर धीरे-धीरे गुरुके घर गये॥ ८६—८९॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें नरसिंहावतारविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४३॥

चौवालीसवाँ अध्याय

नृसिंहका प्रादुर्भाव और हिरण्यकशिपुका वध

मार्कण्डेय उवाच

अथागतं ते प्रह्लादं दृष्ट्वा दैत्याः सुविस्मिताः।
शशंसुर्दैत्यपतये यैः क्षिप्तः स महार्णवे॥ १॥
स्वस्थं तमागतं श्रुत्वा दैत्यराड्विस्मयाकुलः।
आहूयतां च इत्याह क्रोधान्मृत्युवशे स्थितः॥ २॥
तथासुरैर्दुरानीतः समासीनं स दिव्यदृक्।
आसन्नमृत्युं दैत्येन्द्रं ददर्शात्यूर्जितश्रियम्॥ ३॥
नीलांशुमिश्रमाणिक्यद्युतिच्छन्नविभूषणम्।
सधूमाग्निमिव व्याप्तमुच्चासनचितिस्थितम्॥ ४॥
दंष्ट्रोत्कटैर्घोरतरैर्घनच्छविभिरुद्भटैः।
कुमार्गदर्शिभिर्दैत्यैर्यमदूतैरिवावृतम्॥ ५॥

मार्कण्डेयजी बोले—तदनन्तर प्रह्लादको [कुशलपूर्वक समुद्रसे] लौटा देखकर, जिन्होंने उन्हें महासागरमें डाला था, वे दैत्य बड़े विस्मित हुए और उन्होंने तुरंत यह समाचार दैत्यराज हिरण्यकशिपुको दिया। उन्हें स्वस्थ लौटा सुन दैत्यराज विस्मयसे व्याकुल हो उठा और क्रोधवश मृत्युके अधीन होकर बोला—'उसे यहाँ बुला लाओ।' असुरोंके द्वारा बुरी तरहसे पकड़कर लाये जानेपर दिव्यदृष्टिवाले प्रह्लादने सिंहासनपर बैठे हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपुको देखा। उसकी मृत्यु निकट थी, उसका तेज बहुत बढ़ा हुआ था। उसके आभूषण नीलप्रभायुक्त माणिक्योंकी कान्तिसे आच्छन्न थे, अतएव वह धूमयुक्त फैली हुई अग्निके समान शोभित हो रहा था। वह ऊँचे सिंहासन-मञ्चपर विराजमान था और उसे मेघके समान काले, दाढ़ोंके कारण विकराल, अत्यन्त भयानक, कुमार्गदर्शी एवं यमदूतोंके समान क्रूर दैत्य घेरे हुए थे॥ १—५॥

दूरात् प्रणम्य पितरं प्राञ्जलिस्तु व्यवस्थितः।
अथाहाकारणक्रोधः स खलो भर्त्सयन् सुतम्॥ ६॥
भगवत्प्रियमत्युच्चैर्मृत्युमेवाश्रयन्निव।
मूढ रे शृणु मद्वाक्यमेतदेवान्तिमं ध्रुवम्॥ ७॥

इतो न त्वां प्रवक्ष्यामि श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम् ।
उक्त्वेति द्रुतमाकृष्य चन्द्रहासासिमद्भुतम् ॥ ८ ॥
सम्भ्रमाद्वीक्षितः सर्वैश्चालयन्नाह तं पुनः ।
क्व चास्ति मूढ ते विष्णुः स त्वामद्य प्ररक्षतु ॥ ९ ॥
त्वयोक्तं स हि सर्वत्र कस्मात्स्तम्भे न दृश्यते ।
यदि पश्यामि तं विष्णुमधुना स्तम्भमध्यगम् ॥१०॥
तर्हि त्वां न वधिष्यामि भविष्यसि द्विधान्यथा।

प्रह्लादजीने दूरसे ही हाथ जोड़कर पिताको प्रणाम किया और खड़े हो गये । तब मृत्युके निकट पहुँचनेवालेकी भाँति अकारण ही क्रोध करनेवाले उस दुष्टने भगवद्भक्त पुत्रको उच्चस्वरसे डाँटते हुए कहा—'अरे मूर्ख ! तू मेरा यह अन्तिम और अटल वचन सुन; इसके बाद मैं तुझसे कुछ न कहूँगा; इसे सुनकर तेरी जैसी इच्छा हो, वही करना ।' यह कहकर उसने शीघ्र ही चन्द्रहास नामक अपनी अद्भुत तलवार खींच ली । उस समय सब लोग उसकी ओर आश्चर्यपूर्वक देखने लगे । उसने तलवार चलाते हुए पुनः प्रह्लादसे कहा—'रे मूढ़ ! तेरा विष्णु कहाँ है ? आज वह तेरी रक्षा करे ! तूने कहा था कि वह सर्वत्र है । फिर इस खंभेमें क्यों नहीं दिखायी देता ? यदि तेरे विष्णुको इस खंभेके भीतर देख लूँगा, तब तो तुझे नहीं मारूँगा; यदि ऐसा न हुआ तो इस तलवारसे तेरे दो टुकड़े कर दिये जायँगे' ॥ ६–१०½ ॥

प्रह्लादोऽपि तथा दृष्ट्वा दध्यौ तं परमेश्वरम् ॥११॥
पुरोक्तं तद्वचः स्मृत्वा प्रणनाम कृताञ्जलिः ।
तावत्प्रस्फुटितस्तम्भो वीक्षितो दैत्यसूनुना ॥१२॥
आदर्शरूपो दैत्यस्य खड्गतो यः प्रतिष्ठितः ।
तन्मध्ये दृश्यते रूपं बहुयोजनमायतम् ॥१३॥
अतिरौद्रं महाकायं दानवानां भयंकरम् ।
महानेत्रं महावक्त्रं महादंष्ट्रं महाभुजम् ॥१४॥
महानखं महापादं कालाग्निसदृशाननम् ।
कर्णान्तकृतविस्तारवदनं चातिभीषणम् ॥१५॥

प्रह्लादने भी ऐसी बात देखकर उन परमेश्वरका ध्यान किया और पहले कहे हुए उनके वचनको याद करके हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम किया । इतनेमें ही दैत्यनन्दन प्रह्लादने देखा कि वह दर्पणके समान स्वच्छ खंभा, जो अभीतक खड़ा था, दैत्यराजकी तलवारके आघातसे फट पड़ा तथा उसके भीतर अनेक योजन विस्तारवाला, अत्यन्त रौद्र एवं महाकाय नरसिंह-रूप दिखायी दिया, जो दानवोंको भयभीत करनेवाला था । उसके बड़े-बड़े नेत्र, विशाल मुख, बड़ी-बड़ी दाढ़ें और लंबी-लंबी भुजाएँ थीं । उसके नख बहुत बड़े और पैर विशाल थे । उसका मुख कालाग्निके समान देदीप्यमान था, जबड़े कानतक फैले हुए थे और वह बहुत भयानक दिखायी देता था ॥ ११–१५ ॥

कृत्वेत्थं नारसिंहं तु ययौ विष्णुस्त्रिविक्रमः ।
नरसिंहः स्तम्भमध्यान्निर्गत्य प्रणनाद च ॥१६॥
निनादश्रवणाद्दैत्या नरसिंहमवेष्टयन् ।
तान् हत्वा सकलांस्तत्र स्वपौरुषपराक्रमात् ॥१७॥
बभञ्ज च सभां दिव्यां हिरण्यकशिपोर्नृप ।
वारयामासुरभ्येत्य नरसिंहं महाभटाः ॥१८॥
ते तु राजन् क्षणादेव नरसिंहेन वै हताः ।
ततः शस्त्राणि वर्षन्ति नरसिंहे प्रतापिनि ॥१९॥

इस प्रकार नरसिंहरूप धारणकर त्रिविक्रम भगवान् विष्णु खंभेके भीतरसे निकल पड़े और लगे बड़े जोर-जोरसे दहाड़ने । नरेश्वर ! यह गर्जना सुनकर दैत्योंने भगवान् नरसिंहको घेर लिया । तब उन्होंने अपने पौरुष एवं पराक्रमसे उन सबको मौतके घाट उतारकर हिरण्यकशिपुका दिव्य सभाभवन नष्ट कर दिया । राजन् ! उस समय जिन महाभटोंने निकट आकर नृसिंहजीको रोका, उन सबको उन्होंने क्षणभरमें मार डाला । तत्पश्चात् प्रतापी नरसिंह भगवान्‌पर असुर सैनिक अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ १६–१९ ॥

स तु क्षणेन भगवान् हत्वा तद्बलमोजसा ।
ननाद च महानादं दिशः शब्देन पूरयन् ॥२०॥
तान्मृतानपि विज्ञाय पुनरन्यान्महासुरः ।
अष्टाशीतिसहस्राणि हेतिहस्तान् समादिशत् ॥२१॥
तेऽप्यागत्य च तं देवं रुरुधुः सर्वतोदिशम् ।
हत्वा तानखिलान् युद्धे युध्यमानो ननाद सः ॥२२॥
पुनः सभां बभञ्जासौ हिरण्यकशिपोः शुभाम् ।
तान् हतानपि विज्ञाय क्रोधसंरक्तलोचनः ॥२३॥

ततो हिरण्यकशिपुर्निश्चक्राम महाबलः ।
उवाच च महीपाल दानवान् बलदर्पितान् ॥२४॥
हन्यतां हन्यतामेष गृह्यतां गृह्यतामयम् ।
इत्येवं वदतस्तस्य प्रमुखे तु महासुरान् ॥२५॥
युध्यमानान् रणे हत्वा नरसिंहो ननाद च ।
ततोऽतिदुद्रुवुर्दैत्या हतशेषा दिशो दश ॥२६॥

भगवान् नृसिंहने क्षणभरमें ही अपने तेजसे समस्त दैत्य-सेनाका संहार कर दिया और दिशाओंको अपनी गर्जनासे गुँजाते हुए वे भयंकर सिंहनाद करने लगे। उपर्युक्त दैत्योंको मरा जान महासुर हिरण्यकशिपुने पुनः हाथमें शस्त्र लिये हुए अठासी हजार असुर सैनिकोंको नृसिंहदेवसे लड़नेकी आज्ञा दी। उन असुरोंने भी आकर भगवान्‌को सब ओरसे घेर लिया। तब युद्धमें लड़ते हुए भगवान् उन सभीका वध करके पुनः सिंहनाद करने लगे। उन्होंने हिरण्यकशिपुके दूसरे सुन्दर सभाभवनको भी पुनः नष्ट कर दिया। राजन्! अपने भेजे हुए इन असुरोंको भी मारा गया जान क्रोधसे लाल-लाल आँखें करके महाबली हिरण्यकशिपु स्वयं बाहर निकला और बलाभिमानी दानवोंसे बोला—'अरे, इसे पकड़ो-पकड़ो; मार डालो, मार डालो। इस प्रकार कहते हुए हिरण्यकशिपुके सामने ही युद्ध करनेवाले उन सभी महान् असुरोंका रणमें संहार करके भगवान् नृसिंह गर्जने लगे। तब मरनेसे बचे हुए दैत्य दसों दिशाओंमें वेगपूर्वक भाग चले॥ २०–२६॥

तावद्धता युध्यमाना दैत्याः कोटिसहस्रशः ।
नरसिंहेन यावच्च नभोभागं गतो रविः ॥२७॥
शस्त्रास्त्रवर्षचतुरं हिरण्यकशिपुं जवात् ।
प्रगृह्य तु बलाद्राजन् नरसिंहो महाबलः ॥२८॥
संध्याकाले गृहद्वारि स्थित्वोरौ स्थाप्य तं रिपुम् ।
वज्रतुल्यमहोरस्कं हिरण्यकशिपुं रुषा ।
नखैः किसलयमिव दारयत्याह सोऽसुरः ॥२९॥

जबतक सूर्यदेव अस्ताचलको नहीं चले गये, तबतक भगवान् नृसिंह अपने साथ युद्ध करनेवाले हजारों करोड़ दैत्योंका संहार करते रहे। राजन्! किंतु जब सूर्य डूबने लगे, तब महाबली भगवान् नृसिंहने अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करनेमें कुशल हिरण्यकशिपुको बड़े वेगसे बलपूर्वक पकड़ लिया। फिर संध्याके समय घरके दरवाजेपर बैठकर, उस वज्रके समान कठोर विशाल वक्षवाले शत्रु हिरण्यकशिपुको अपनी जाँघोंपर गिराकर जब भगवान् नृसिंह रोषपूर्वक नखोंसे पत्तेकी भाँति उसे विदीर्ण करने लगे, तब उस महान् असुरने जीवनसे निराश होकर कहा॥ २७–२९॥

यत्राखण्डलदन्तिदन्तमुसला-
न्याखण्डितान्याहवे
धारा यत्र पिनाकपाणिपरशो-
राकुण्ठतामागमत् ।
तन्मे तावदुरो नृसिंहकरजै-
र्व्यादीर्यते साम्प्रतं
दैवे दुर्जनतां गते तृणमपि
प्रायोऽप्यवज्ञायते ॥३०॥

'हाय! युद्धके समय देवराज इन्द्रके वाहन गजराज ऐरावतके मूसल-जैसे दाँत जहाँ टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गये थे, जहाँ पिनाकपाणि महादेवके फरसेकी तीखी धार भी कुण्ठित हो गयी थी, वही मेरा वक्षःस्थल इस समय नृसिंह-के नखोंद्वारा फाड़ा जा रहा है। सच है, जब भाग्य खोटा हो जाता है, तब तिनका भी प्रायः अनादर करने लगता है'॥ ३०॥

एवं वदति दैत्येन्द्रे ददार नरकेसरी ।
हृदयं दैत्यराजस्य पद्मपत्रमिव द्विपः ॥३१॥
शकले द्वे तिरोभूते नखरन्ध्रे महात्मनः ।
ततः क्व यातो दुष्टोऽसाविति देवोऽतिविस्मितः ॥३२॥
निरीक्ष्य सर्वतो राजन् वृथैतत्कर्म मेऽभवत् ।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु इस प्रकार कह ही रहा था कि भगवान् नृसिंहने उसका हृदयदेश विदीर्ण कर दिया—ठीक उसी तरह, जैसे हाथी कमलके पत्तेको अनायास ही छिन्न-भिन्न कर देता है। उसके शरीरके दोनों टुकड़े महात्मा नृसिंहके नखोंके छेदमें घुसकर छिप गये। राजन्! तब भगवान् सब ओर देखकर अत्यन्त विस्मित हो सोचने लगे—'अहो! वह दुष्ट कहाँ चला गया? जान पड़ता है, मेरा यह सारा उद्योग ही व्यर्थ हो गया'॥ ३१-३२½॥

इति संचिन्त्य राजेन्द्र नरसिंहो महाबलः ॥३३॥
व्यधूनयत्करावुच्चैस्ततस्ते शकले नृप ।
नखरन्ध्रान्निपतिते भूमौ रेणुसमे हरेः ॥३४॥
दृष्ट्वा व्यतीतसंरोषो जहास परमेश्वरः ।
पुष्पवर्षं च वर्षन्तो नरसिंहस्य मूर्धनि ॥३५॥
देवाः सब्रह्मकाः सर्वे आगताः प्रीतिसंयुताः ।
आगत्य पूजयामासुर्नरसिंहं परं प्रभुम् ॥३६॥

राजेन्द्र ! महाबली नृसिंह इस प्रकार चिन्तामें पड़कर अपने दोनों हाथोंको बड़े जोरसे झाड़ने लगे । राजन् ! फिर तो वे दोनों टुकड़े उन भगवान्‌के नख-छिद्रसे निकलकर भूमिपर गिर पड़े, वे कुचलकर धूलिकणके समान हो गये थे । यह देख रोषहीन हो वे परमेश्वर हँसने लगे । इसी समय ब्रह्मादि सभी देवता अत्यन्त प्रसन्न हो वहाँ आये और भगवान् नरसिंहके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करने लगे । पास आकर उन सबने उन परम प्रभु नरसिंहदेवका पूजन किया ॥ ३३–३६ ॥

ब्रह्मा च दैत्यराजानं प्रह्लादमभिषेचयत् ।
धर्मे रतिः समस्तानां जनानामभवत्तदा ॥३७॥
इन्द्रोऽपि सर्वदेवैस्तु हरिणा स्थापितो दिवि ।
नरसिंहोऽपि भगवान् सर्वलोकहिताय वै ॥३८॥
श्रीशैलशिखरं प्राप्य विश्रुतः सुरपूजितः ।
स्थितो भक्तहितार्थाय अभक्तानां क्षयाय च ॥३९॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने प्रह्लादको दैत्योंके राजाके पदपर अभिषिक्त किया । उस समय समस्त प्राणियोंका धर्ममें अनुराग हो गया । सम्पूर्ण देवताओंसहित भगवान् विष्णुने इन्द्रको स्वर्गके राज्यपर स्थापित किया । भगवान् नृसिंह भी सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये श्रीशैलके शिखरपर जा पहुँचे । वहाँ देवताओंसे पूजित हो वे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए । वे भक्तोंका हित और अभक्तोंका नाश करनेके लिये वहीं रहने लगे ॥ ३७–३९ ॥

इत्येतन्नरसिंहस्य माहात्म्यं यः पठेन्नरः ।
शृणोति वा नृपश्रेष्ठ मुच्यते सर्वपातकैः ॥४०॥
नरो वा यदि वा नारी शृणोत्याख्यानमुत्तमम् ।
वैधव्याद्दुःखशोकाच्च दुष्टसङ्गात्प्रमुच्यते ॥४१॥
दुश्शीलोऽपि दुराचारो दुष्प्रजो दोषकर्मकृत् ।
अधर्मिष्ठोऽनभोगी च शृण्वन् शुद्धो भवेन्नरः ॥४२॥

नृपश्रेष्ठ ! जो मनुष्य भगवान् नरसिंहके इस माहात्म्यको पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । नर हो या नारी—जो भी इस उत्तम आख्यानको सुनता है, वह दुष्टोंका सङ्ग करनेके दोषसे, दुःखसे, शोकसे एवं वैधव्यके कष्टसे छुटकारा पा जाता है । जो दुष्ट स्वभाववाला, दुराचारी, दुष्ट संतानवाला, दूषित कर्मोंका आचरण करनेवाला, अधर्मात्मा और विषयभोगी हो, वह मनुष्य भी इसका श्रवण करनेसे शुद्ध हो जाता है ॥४०–४२॥

हरिः सुरेशो नरलोकपूजितो
हिताय लोकस्य चराचरस्य ।
कृत्वा विरूपं च पुराऽऽत्ममायया
हिरण्यकं दुःखकरं नखैश्छिनत् ॥४३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे नरसिंहप्रादुर्भावो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

मनुष्यलोकपूजित देवेश्वर भगवान् हरिने पूर्वकालमें चराचर जगत्‌के हितके लिये अपनी मायासे भयानक आकारवाला नरसिंह रूप धारण करके दुःखदायी दैत्य हिरण्यकशिपुको नखोंद्वारा नष्ट कर दिया था ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'नरसिंहका प्राद्रुर्भाव' नामक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ अध्याय

वामन-अवतारकी कथा

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् समासेन वामनस्य पराक्रमम् ।
बलियागे हता येन पुरा दैत्याः सहस्रशः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन् ! जिन्होंने पूर्वकालमें राजा बलिके यज्ञमें सहस्रों दैत्योंका संहार किया था, उन भगवान् वामनका चरित्र संक्षेपसे सुनो ॥ १ ॥

विरोचनसुतः पूर्वं महाबलपराक्रमः ।
त्रैलोक्यं बुभुजे जित्वा देवानिन्द्रपुरोगमान् ॥ २ ॥
ततः कृशतरा देवा बभूवुस्तेन खण्डिताः ।
इन्द्रं कृशतरं दृष्ट्वा नष्टराज्यं नृपोत्तम ॥ ३ ॥
अदितिर्देवमाता या सातप्यत्परमं तपः ।
तुष्टाव वाग्भिरिष्टाभिः प्रणिपत्य जनार्दनम् ॥ ४ ॥
ततः स्तुत्याभिसंतुष्टो देवदेवो जनार्दनः ।
स्थित्वा तत्पुरतो वाचमुवाच मधुसूदनः ॥ ५ ॥
तव पुत्रो भविष्यामि सुभगे बलिबन्धनः ।
इत्युक्त्वा तां गतो विष्णुः स्वगृहं सा समाययौ ॥ ६ ॥

पहलेकी बात है, विरोचनका पुत्र बलि महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो, इन्द्र आदि समस्त देवताओंको जीतकर त्रिभुवनका राज्य भोग रहा था। नृपवर! उसके द्वारा खण्डित हुए देवतालोग बहुत दुबले हो गये थे। राज्य नष्ट हो जानेसे इन्द्र और अधिक कृश हो गये थे। उन्हें इस दशामें देखकर देवमाता अदितिने बहुत बड़ी तपस्या की। उन्होंने भगवान् जनार्दनको प्रणाम करके अभीष्ट वाणीद्वारा उनका स्तवन किया। अदितिकी स्तुतिसे प्रसन्न हो देवाधिदेव मधुसूदन जनार्दन उनके सम्मुख उपस्थित हो बोले—'सौभाग्यशालिनि! मैं बलिको बाँधनेके लिये तुम्हारा पुत्र होऊँगा।' उनसे यों कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये और अदिति भी अपने घर चली गयीं ॥ २-६ ॥

ततः कालेन सा गर्भमवाप नृप कश्यपात् ।
अजायत स विश्वेशो भगवान् वामनाकृतिः ॥ ७ ॥
तस्मिञ्जाते समागत्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
जातकर्मादिकाः सर्वाः क्रियास्तत्र चकार वै ॥ ८ ॥
कृतोपनयनो देवो ब्रह्मचारी सनातनः ।
अदितिं चाप्यनुज्ञाप्य यज्ञशालां बलेर्ययौ ॥ ९ ॥
गच्छतः पादविक्षेपाच्चचाल सकला मही ।
यज्ञभागान्न गृह्णन्ति दानवाश्च बलेर्मखात् ॥१०॥
प्रशान्ताश्चाग्नयस्तत्र ऋत्विजो मन्त्रतश्च्युताः ।
विपरीतमिदं दृष्ट्वा शुक्रमाह महाबलः ॥११॥
न गृह्णन्ति मुने कस्माद्धविर्भागं महासुराः ।
कस्माच्च वह्नयः शान्ताः कस्माद्भूश्चलति द्विज ॥१२॥
कस्माच्च मन्त्रतो भ्रष्टा ऋत्विजः सकला अमी ।
इत्युक्तो बलिना शुक्रो दानवेन्द्रं वचोऽब्रवीत् ॥१३॥

राजन्! तदनन्तर समय आनेपर अदितिने कश्यपजीसे गर्भ धारण किया। उस गर्भसे वामनरूपमें साक्षात् भगवान् जगन्नाथ ही प्रकट हुए। वामनजीका अवतार होनेपर लोक-पितामह ब्रह्माजी वहाँ आये। उन्होंने उनके जातकर्मादि सम्पूर्ण समयोचित संस्कार सम्पन्न किये। उपनयन-संस्कारके बाद वे सनातन भगवान् ब्रह्मचारी होकर अदितिकी आज्ञा ले राजा बलिकी यज्ञशालामें गये। चलते समय उनके चरणोंके आघातसे पृथ्वी काँप उठती थी। दानवगण बलिके यज्ञसे हविष्य-ग्रहण करनेमें असमर्थ हो गये। वहाँकी आग बुझ गयी। ऋत्विक्‌गण मन्त्रोच्चारणमें त्रुटि करने लगे। यह विपरीत कार्य देखकर महाबली बलिने शुक्राचार्यसे कहा—'मुने! ये महान् असुरगण यज्ञका भाग क्यों नहीं ग्रहण कर रहे हैं? अग्नि क्यों शान्त हो रही है? विप्रवर! यह पृथ्वी क्यों डगमगा रही है तथा ये सम्पूर्ण ऋत्विज् मन्त्रभ्रष्ट क्यों हो रहे हैं?' बलिके इस प्रकार पूछनेपर शुक्राचार्यने उस दानवराजसे कहा ॥ ७-१३ ॥

शुक्र उवाच

हे बले शृणु मे वाक्यं त्वया देवा निराकृताः ।
तेषां राज्यप्रदानाय अदित्यामच्युतोऽसुर ॥१४॥
देवदेवो जगद्योनिः संजातो वामनाकृतिः ।
स त्वागच्छति ते यज्ञं तत्पादन्यासकम्पिता ॥१५॥
चलतीयं मही सर्वा तेनाद्यासुरभूपते ।
तत्संनिधानादसुरा न गृह्णन्ति हविर्मखे ॥१६॥
तवाग्नयोऽपि वै शान्ता वामनागमनाद्विभोः ।
ऋत्विजश्च न भासन्ते होममन्त्रो बलेऽधुना ॥१७॥
असुराणां श्रियो हन्ति सुराणां भूतिरुत्तमा ।

शुक्र बोले—असुरराज बलि! तुम मेरी बात सुनो। तुमने देवताओंको जीतकर स्वर्गसे निकाल दिया है; उन्हें पुनः उनका राज्य देनेके लिये जगत्‌के उत्पत्तिस्थान देवदेव भगवान् विष्णु अदितिके गर्भसे वामनरूपमें प्रकट हुए हैं।

असुरराज ! वे ही तुम्हारे यज्ञमें आ रहे हैं, अतः उन्हींके पादविन्यास (पाँव रखने) से कम्पित हो यह सारी पृथ्वी आज हिलने लगी है तथा उन्हींके निकट आ जानेके कारण असुरगण आज यज्ञमें हविष्य ग्रहण नहीं कर रहे हैं। बले! वामनके आगमनसे ही तुम्हारे यज्ञकी आग भी बुझ गयी है और ऋत्विज् भी श्रीहीन हो गये हैं । इस समयका होममन्त्र असुरोंकी सम्पत्तिको नष्ट कर रहा है और देवताओंका उत्तम वैभव बढ़ रहा है ॥ १४-१७½ ॥

इत्युक्तः स बलिः प्राह शुक्रं नीतिमतां वरम् ॥१८॥
शृणु ब्रह्मन् वचो मे त्वमागते वामने मखे ।
यन्मया चाद्य कर्तव्यं वामनस्यास्य धीमतः ॥१९॥
तन्मे वद महाभाग त्वं हि नः परमो गुरुः ।

उनके इस प्रकार कहनेपर बलिने नीतिज्ञोंमें श्रेष्ठ शुक्राचार्यजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! महाभाग ! आप मेरी बात सुनें । यज्ञमें वामनजीके पधारनेपर उन बुद्धिमान् वामनजीके लिये मुझे क्या करना चाहिये, वह हमें बताइये; क्योंकि आप मेरे परम गुरु हैं' ॥ १८-१९½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इति संचोदितः शुक्रः स राज्ञा बलिना नृप ॥२०॥
तमुवाच बलिं वाक्यं ममापि शृणु साम्प्रतम् ।
देवानामुपकाराय भवतां संक्षयाय च ॥२१॥
स नूनमायाति बले तव यज्ञे न संशयः ।
आगते वामने देवे त्वया तस्य महात्मनः ॥२२॥
प्रतिज्ञा नैव कर्तव्या ददाम्येतत्तवेति वै ।

मार्कण्डेयजी बोले—नरेश्वर ! राजा बलिके इस प्रकार पूछनेपर शुक्राचार्यजीने उनसे कहा—"राजन् ! अब मेरी भी राय सुनो । बले ! वे देवताओंका हित करने और तुमलोगोंके विनाशके लिये ही तुम्हारे यज्ञमें पधार रहे हैं, इसमें संदेह नहीं है । अतः जब भगवान् वामन यहाँ आ जायँ, तब उन महात्माके लिये 'मैं आपको यह वस्तु देता हूँ' यों कहकर कुछ देनेकी प्रतिज्ञा न करना" ॥ २०-२२½ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य बलिर्बलवतां वरः ॥२३॥
उवाच तां शुभां वाणीं शुक्रमात्मपुरोहितम् ।
आगते वामने शुक्र यज्ञे मे मधुसूदने ॥२४॥
न शक्यते प्रतिख्यातुं दानं प्रति मया गुरो ।
अन्येषामपि जन्तूनामित्युक्तं ते मयाधुना ॥२५॥
किं पुनर्वासुदेवस्य आगतस्य तु शार्ङ्गिणः ।
त्वया विघ्नो न कर्तव्यो वामनेऽत्रागते द्विज ॥२६॥
यद्यद्द्रव्यं प्रार्थयते तत्तद्द्रव्यं ददाम्यहम् ।
कृतार्थोऽहं मुनिश्रेष्ठ यद्यागच्छति वामनः ॥२७॥

उनकी यह बात सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ बलिने अपने पुरोहित शुक्राचार्यजीसे यह सुन्दर बात कही—'गुरुदेव शुक्र ! यज्ञमें मधुसूदन भगवान् वामनके पधारनेपर मैं उन्हें कुछ भी देनेसे इनकार नहीं कर सकता । अभी-अभी मैं आपसे कह चुका हूँ कि दूसरे प्राणी भी यदि मुझसे कुछ याचना करेंगे तो मैं उन्हें वह वस्तु देनेसे इनकार नहीं कर सकता; फिर शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु (वासुदेव) मेरे यज्ञमें पधारें और मैं उनकी मुँहमाँगी वस्तु उन्हें देनेसे इनकार कर दूँ, यह कैसे सम्भव होगा ? ब्राह्मणदेव ! यहाँ भगवान् वामनके पदार्पण करनेपर आप उनके कार्यमें विघ्न न डालियेगा । वे जो-जो द्रव्य माँगेंगे, वही-वही मैं उन्हें दूँगा । मुनिश्रेष्ठ ! यदि सचमुच ही यहाँ भगवान् वामन पधार रहे हैं तो मैं कृतार्थ हो गया' ॥ २३-२७ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य यज्ञशालां स वामनः ।
आगत्य प्रविवेशाथ प्रशशंस बलेर्मखम् ॥२८॥
तं दृष्ट्वा सहसा राजन् राजा दैत्याधिपो बलिः ।
उपचारेण सम्पूज्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥२९॥
यद्यत्प्रार्थयसे मां त्वं देवदेव धनादिकम् ।
तत्सर्वं तव दास्यामि मां याचस्वाद्य वामन ॥३०॥

राजा बलि जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय वामनजीने आकर यज्ञशालामें प्रवेश किया और वे उनके उस यज्ञकी प्रशंसा करने लगे । राजन् ! उन्हें देखते ही दैत्याधिपति राजा बलिने सहसा उठकर पूजन-सामग्रियोंसे उनकी पूजा की, फिर इस प्रकार कहा—'देवदेव ! आप धन आदि जो-जो वस्तु माँगेंगे, वह सब मैं आपको दूँगा; इसलिये वामनजी ! आज आप मुझसे याचना कीजिये' ॥ २८-३० ॥

इत्युक्तो वामनस्तत्र नृपेन्द्र बलिना तदा ।
याचयामास देवेशो भूमेर्देहि पदत्रयम् ॥३१॥

ममाग्निशरणार्थाय न मेऽर्थेऽस्ति प्रयोजनम् ।

नृपेन्द्र ! बलिके यों कहनेपर उस समय देवेश्वर भगवान् वामनने उनसे यही याचना की कि 'मुझे अग्निशालाके लिये केवल तीन पग भूमि दीजिये, मुझे धनकी आवश्यकता नहीं है' ॥ ३१½ ॥

इत्युक्तो वामनेनाथ बलिः प्राह च वामनम् ॥३२॥
पदत्रयेण चेत्तृप्तिर्मया दत्तं पदत्रयम् ।

भगवान् वामनके यों कहनेपर बलिने उनसे कहा—'यदि तीन पग भूमिसे ही आपको संतोष है तो तीन पग भूमि मैंने आपको दे दी' ॥ ३२½ ॥

एवमुक्ते तु बलिना वामनो बलिमब्रवीत् ॥३३॥
दीयतां मे करे तोयं यदि दत्तं पदत्रयम् ।

बलिके द्वारा यों कहे जानेपर भगवान् वामन उनसे बोले—'यदि आपने मुझे तीन पग भूमि दे दी तो मेरे हाथमें संकल्पका जल दीजिये' ॥ ३३½ ॥

इत्युक्तो देवदेवेन तदा तत्र स्वयं बलिः ॥३४॥
सजलं हेमकलशं गृहीत्वोत्थाय भक्तितः ।
यावत्स वामनकरे तोयं दातुमुपस्थितः ॥३५॥
तावच्छुक्रः कलशगो जलधारां रुरोध ह ।
ततश्च वामनः क्रुद्धः पवित्राग्रेण सत्तम ॥३६॥
उदके कलशद्वारि तच्छुक्राक्षिमवेधयत् ।
ततो व्यपगतः शुक्रो विद्धैकाक्षो नरोत्तम ॥३७॥

कहते हैं, उस समय वहाँ देवदेव भगवान् वामनजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर स्वयं राजा बलि जलसे भरे हुए सुवर्ण-कलशको लेकर भक्तिपूर्वक खड़े हो गये और ज्यों ही वामनजीके हाथमें जल देनेको उद्यत हुए, त्यों ही शुक्राचार्यने [योग-बलसे] कलशमें घुसकर गिरती हुई जलधारा रोक दी । सत्तम ! तब वामनजीने क्रुद्ध होकर पवित्र (कुश)के अग्रभागसे कलशके छेदमें जल निकलनेके मार्गपर स्थित हुए शुक्राचार्यकी एक आँख छेद डाली । नरोत्तम ! एक आँख छिद जानेपर शुक्राचार्य उसमेंसे निकल भागे ॥ ३४–३७ ॥

तोयधारा निपतिता वामनस्य करे पुनः ।
करे निपतिते तोये वामनो ववृधे क्षणात् ॥३८॥
पादेनैकेन विक्रान्ता तेनैव सकला मही ।
अन्तरिक्षं द्वितीयेन द्यौस्तृतीयेन सत्तम ॥३९॥
अनेकान् दानवान् हत्वा हृत्वा त्रिभुवनं बलेः ।
पुरंदराय त्रैलोक्यं दत्त्वा बलिमुवाच ह ॥४०॥
यस्मात्ते भक्तितो दत्तं तोयमद्य करे मम ।
तस्मात्ते साम्प्रतं दत्तं पातालतलमुत्तमम् ॥४१॥
तत्र गत्वा महाभाग भुङ्क्ष्व त्वं मत्प्रसादतः ।
वैवस्वतेऽन्तरेऽतीते पुनरिन्द्रो भविष्यसि ॥४२॥

तत्पश्चात् वामनजीके हाथमें जलकी धारा गिरी । हाथपर जल पड़ते ही वामनजी क्षणभरमें ही बहुत बड़े हो गये । सत्तम ! उन्होंने एक पगसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी नाप ली, द्वितीय पगसे अन्तरिक्ष लोक तथा तृतीय पगसे स्वर्गलोकको आक्रान्त कर लिया । फिर अनेक दानवोंका संहार करके बलिसे त्रिभुवनका राज्य छीन लिया और यह त्रिलोकी इन्द्रको अर्पितकर पुनः बलिसे कहा—'तुमने भक्तिपूर्वक आज मेरे हाथमें संकल्पका जल अर्पित किया है, इसलिये इस समय मैंने तुम्हें उत्तम पाताल-लोकका राज्य दिया । महाभाग ! वहाँ जाकर तुम मेरे प्रसादसे राज्य भोगो; वैवस्वत मन्वन्तर व्यतीत हो जानेपर तुम पुनः इन्द्र-पदपर प्रतिष्ठित होओगे' ॥३८–४२ ॥

प्रणम्य च ततो गत्वा तलं भोगमवाप्तवान् ॥४३॥
शुक्रोऽपि स्वर्गमारुह्य प्रसादाद्वामनस्य वै ।
समागतस्त्रिभुवनं राजन् देवसमन्वितः ॥ ४४॥
यः स्मरेत्प्रातरुत्थाय वामनस्य कथामिमाम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥४५॥
इत्थं पुरा वामनरूपमास्थितो
हरिर्बलेर्हृत्य जगत्त्रयं नृप ।
कृत्वा प्रसादं च दिवौकसाम्पते-
र्दत्त्वा त्रिलोकं स ययौ महोदधिम् ॥४६॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे वामनप्रादुर्भावे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

तब बलिने भगवान्को प्रणाम करके पातालतलमें जाकर वहाँ उत्तम भोगोंको प्राप्त किया । राजन् ! शुक्राचार्य भी भगवान् वामनकी कृपासे त्रिभुवनकी राजधानी स्वर्गमें आकर सब देवताओंके साथ सुखपूर्वक रहने लगे । जो मनुष्य

प्रातःकाल उठकर भगवान् वामनकी इस कथाका स्मरण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है। नृप! इस प्रकार पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने वामनरूप धारणकर त्रिभुवनका राज्य बलिसे ले लिया और उसे कृपापूर्वक देवराज इन्द्रको अर्पित कर दिया। तत्पश्चात् वे क्षीरसागरको चले गये ॥ ४३-४६ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'वामनावतार' विषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

छियालीसवाँ अध्याय

परशुरामावतारकी कथा

मार्कण्डेय उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रादुर्भावं हरेः शुभम्।
जामदग्न्यं पुरा येन क्षत्रमुत्सादितं शृणु ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! अब मैं भगवान् विष्णुके जामदग्न्य (परशुराम) नामक शुभ अवतारका वर्णन करता हूँ, जिसने पूर्वकालमें क्षत्रियवंशका उच्छेद किया था; उस प्रसङ्गको सुनो ॥ १ ॥

पुरा देवगणैर्विष्णुः स्तुतः क्षीरोदधौ नृप।
ऋषिभिश्च महाभागैर्जमदग्नेः सुतोऽभवत् ॥ २ ॥
पर्शुराम इति ख्यातः सर्वलोकेषु स प्रभुः।
दुष्टानां निग्रहं कर्तुमवतीर्णो महीतले ॥ ३ ॥
कृतवीर्यसुतः श्रीमान् कार्तवीर्योऽभवत् पुरा।
दत्तात्रेयं समाराध्य चक्रवर्त्तित्वमाप्तवान् ॥ ४ ॥
स कदाचिन्महाभागो जमदग्न्याश्रमं ययौ।
जमदग्निस्तु तं दृष्ट्वा चतुरङ्गबलान्वितम् ॥ ५ ॥
उवाच मधुरं वाक्यं कार्तवीर्यं नृपोत्तमम्।
मुच्यतामत्र ते सेना अतिथिस्त्वं समागतः।
वन्यादिकं मया दत्तं भुक्त्वा गच्छ महामते ॥ ६ ॥

नरेश्वर! पहलेकी बात है, क्षीरसागरके तटपर देवताओं और महाभाग ऋषियोंने भगवान् विष्णुकी स्तुति की; इससे वे जमदग्नि मुनिके पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए। वे भगवान् सम्पूर्ण लोकोंमें 'परशुराम' नामसे विख्यात थे और दुष्ट राजाओंका नाश करनेके लिये ही इस भूतलपर अवतीर्ण हुए थे। उनके अवतारसे पूर्व राजा कृतवीर्यका पुत्र 'कार्तवीर्य' हुआ था, जिसने दत्तात्रेयजीकी आराधना करके सार्वभौम राज्य प्राप्त कर लिया था। एक समय वह महाभाग नरेश जमदग्नि ऋषिके आश्रमपर गया। उसके साथ चतुरङ्गिणी सेना थी। उस राजाको चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आश्रमपर आया देख जमदग्निने नृपवर कार्तवीर्यसे मधुर वाणीमें कहा—'महामते! आप मेरे अतिथि होकर यहाँ पधारे हैं; अतः आज अपनी सेनाका पड़ाव यहीं डालिये और मेरे दिये हुए वन्य फल आदिका भोजन करके कल यहाँसे जाइयेगा' ॥ २-६ ॥

प्रमुच्य सेनां मुनिवाक्यगौरवात्
स्थितो नृपस्तत्र महानुभावः।
आमन्त्र्य राजानमलङ्घ्यकीर्त्ति-
र्मुनिः स धेनुं च दुदोह दोग्ध्रीम् ॥ ७ ॥
हस्त्यश्वशाला विविधा नराणां
गृहाणि चित्राणि च तोरणानि।
सामन्तयोग्यानि शुभानि राजन्
समिच्छतां यानि सुकाननानि ॥ ८ ॥
गृहं वरिष्ठं बहुभूमिकं पुनः
समन्वितं साधुगुणैरुपस्करैः।
दुग्ध्वा प्रकल्पन् मुनिराह पार्थिवं
गृहं कृतं ते प्रविशेह राजन् ॥ ९ ॥
इमे च मन्त्रिप्रवरा जनास्ते
गृहेषु दिव्येषु विशन्तु शीघ्रम्।
हस्त्यश्वजात्यश्च विशन्तु शालां
भृत्याश्च नीचेषु गृहेषु सन्तु ॥ १० ॥

महानुभाव राजा कार्तवीर्य मुनिके वाक्यका गौरव मानकर अपनी सेनाको वहीं ठहरनेका आदेश दे वहाँ रह गया। इधर अलङ्घ्य यशवाले मुनिने राजाको आमन्त्रित करके अपनी कामधेनु गौका दोहन किया। राजन्! उन्होंने

अनेकानेक गजशाला, अश्वशाला, मनुष्योंके रहनेयोग्य विचित्र गृह और तोरण (द्वार) आदिका दोहन किया । सामन्त नरेशोंके रहनेयोग्य सुन्दर भवन, जिनमें बगीचे आदिकी इच्छा रखनेवालोंके लिये सुन्दर उद्यान थे, दोहनद्वारा प्रस्तुत किये। फिर अनेक मंजिलोंका श्रेष्ठ महल, जिसमें सुन्दर एवं उपयोगी सामान संचित थे, गोदोहनके द्वारा उपलब्ध करके मुनिने भूपालसे कहा—'राजन्! आपके लिये महल तैयार है। आप इसमें प्रवेश कीजिये । आपके ये श्रेष्ठ मन्त्री तथा और लोग भी शीघ्र ही इन दिव्य गृहोंमें प्रवेश करें । विभिन्न जातियोंके हाथी और घोड़े आदि भी गजशाला और अश्वशालामें रहें तथा भृत्यगण भी इन छोटे घरोंमें निवास करें' ॥ ७–१० ॥

इत्युक्तमात्रे मुनिना नृपोऽसौ
गृहं वरिष्ठं प्रविवेश राजा ।
अन्येषु चान्येषु गृहेषु सत्सु
मुनिः पुनः पार्थिवमाबभाषे ॥११॥
स्नानप्रदानार्थमिदं मया ते
प्रकल्पितं स्त्रीशतमुत्तमं नृप ।
स्नाहि त्वमद्यात्र यथाप्रकामं
यथा सुरेन्द्रो दिवि नृत्यगीतैः ॥१२॥

मुनिके इस प्रकार कहते ही राजा कार्तवीर्यने उस उत्तम गृहमें प्रवेश किया । फिर दूसरे लोग दूसरे-दूसरे गृहोंमें प्रविष्ट हुए । इस प्रकार सबके यथास्थान स्थित हो जानेपर मुनिने पुनः राजा कार्तवीर्यसे कहा—'नरेश्वर ! आपको स्नान करानेके लिये मैंने इन सौ उत्तम स्त्रियोंको नियत किया है । जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्र अप्सराओंके नृत्य-गीत सुनते हुए स्नान करते हैं, उसी प्रकार आप भी इन स्त्रियोंके नृत्य-गीतसे आनन्दित हो इच्छानुसार स्नान कीजिये' ॥ ११-१२ ॥

स स्नातवांस्तत्र सुरेन्द्रवन्नृपो
गीत्यादिशब्दैर्मधुरैश्च वाद्यैः ।
स्नातस्य तस्याशु शुभे च वस्त्रे
ददौ मुनिर्भूप विभूषिते द्वे ॥१३॥
परिधाय वस्त्रं च कृतोत्तरीयः
कृतक्रियो विष्णुपूजां चकार ।
मुनिश्च दुग्ध्वान्नमयं महागिरिं
नृपाय भृत्याय च दत्तवानसौ ॥१४॥
यावत्स राजा बुभुजे सभृत्य-
स्तावच्च सूर्यो गतवान् नृपास्तम् ।
रात्रौ च गीतादिविनोदयुक्तः
शेते स राजा मुनिनिर्मिते गृहे ॥१५॥

भूप ! (मुनिकी आज्ञासे) वहाँ राजा कार्तवीर्यने इन्द्रकी भाँति मधुर वाद्यों और गीत आदिके शब्दोंसे आनन्दित होते हुए स्नान किया । स्नान कर लेनेपर मुनिने उन्हें दो सुन्दर सुशोभित वस्त्र दिये । धौतवस्त्र पहन और ऊपरसे चादर ओढ़कर राजाने नित्य-नियम करनेके बाद भगवान् विष्णुकी पूजा की । फिर उन मुनिवरने गौसे अन्नमय महान् पर्वतका दोहन करके राजा तथा राजसेवक-वृन्दको अर्पित किया । नृप ! राजा तथा उनके भृत्यगणोंने जबतक भोजनका कार्य सम्पन्न किया, तबतक सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये । तब उन्होंने रातको भी मुनिके बनाये हुए उस भवनमें गीत आदि विनोदोंसे आनन्दित हो शयन किया ॥ १३–१५ ॥

ततः प्रभाते विमले स्वप्नलब्धमिवाभवत् ।
भूमिभागं ततः कंचिद् दृष्ट्वासौ चिन्तयन्नृपः ॥१६॥
किमियं तपसः शक्तिर्मुनेरस्य महात्मनः ।
सुरभ्या वा महाभाग ब्रूहि मे त्वं पुरोहित ॥१७॥
इत्युक्तः कार्तवीर्येण तमुवाच पुरोहितः ।
मुनेःसामर्थ्यमप्यस्ति सिद्धिरुचेयं हि गोर्नृप ॥१८॥
तथापि सा न हर्तव्या त्वया लोभान्नराधिप ।
यस्त्वेतां हर्तुमिच्छेद् वै तस्य नाशो ध्रुवं भवेत् ॥१९॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकाल होते ही स्वप्नमें मिली हुई सम्पत्तिके समान सब कुछ लुप्त हो गया । फिर वहाँ केवल कोई भूभागमात्र ही अवशिष्ट देख राजाने मन-ही-मन विचार किया और अपने पुरोहितसे पूछा—'महाभाग पुरोहितजी ! यह महात्मा जमदग्नि मुनिके तपकी शक्ति थी या कामधेनु गौकी ? इसे आप मुझे बताइये ।' कार्तवीर्यके इस प्रकार पूछनेपर पुरोहितने उससे कहा—'राजन् ! मुनिमें भी सामर्थ्य है, परंतु यह सिद्धि तो गौकी ही थी । तो भी

नरेश्वर ! आप लोभवश उस गौका अपहरण न करें; क्योंकि जो उसे हर लेनेकी इच्छा करता है, उसका निश्चय ही विनाश हो जाता है' ॥ १६–१९ ॥

अथ मन्त्रिवरः प्राह ब्राह्मणो ब्राह्मणप्रियः ।
राजकार्यं न पश्येद्वै स्वपक्षस्यैव पोषणात् ॥२०॥
हे राजंस्त्वयि तिष्ठन्ति गृहाणि विविधानि च ।
तथा सुवर्णपात्राणि शयनादीनि च स्त्रियः ॥२१॥
तां धेनुं प्राप्य राजेन्द्र लीयमानानि तत्क्षणात् ।
अस्माभिस्तत्र दृष्टानि नीयतां धेनुरुत्तमा ॥२२॥
तवेयं योग्या राजेन्द्र यदीच्छसि महामते ।
गत्वाहमानयिष्यामि आज्ञां मे देहि भूभुज ॥२३॥

यह सुनकर राजाके प्रधानमन्त्रीने कहा—'महाराज ! ब्राह्मण ब्राह्मणका ही प्रेमी होता है, वह अपने पक्षका पोषण करनेके कारण राजाके कार्यकी कोई परवा नहीं करता । राजन् ! उस गौको पाकर आपके पास तत्काल गुप्त हो जानेवाले नाना प्रकारके घर, सोनेके पात्र, शय्यादि तथा सुन्दरी स्त्रियाँ—ये सब सामान प्रस्तुत रहेंगे, जिन्हें हमलोगोंने वहाँ प्रत्यक्ष देखा है । इस उत्तम धेनुको आप अवश्य ले चलें । महामते राजेन्द्र ! यह गौ आपके ही योग्य है । भूपाल ! यदि आपकी इच्छा हो तो मैं स्वयं जाकर इसे ले आऊँगा । आप केवल मुझे आज्ञा दीजिये' ॥ २०–२३ ॥

इत्युक्तो मन्त्रिणा राजा तथेत्याह नृपोत्तम ।
सचिवस्तत्र गत्वाथ सुरभिं हर्तुमारभत् ॥२४॥
वारयामास सचिवं जमदग्निः समन्ततः ।
राजयोग्यामिमां ब्रह्मन् देहि राज्ञे महामते ॥२५॥
त्वं तु शाकफलाहारी किं धेन्वा ते प्रयोजनम् ।
इत्युक्त्वा तां बलाद्धृत्वा नेतुं मन्त्री प्रचक्रमे ॥२६॥
पुनः सभार्यः स मुनिर्वारयामास तं नृपम् ।
ततो मन्त्री सुदुष्टात्मा मुनिं हत्वा तु तं नृप ॥२७॥
ब्रह्महा नेतुमारेभे वायुमार्गेण सा गता ।
राजा च क्षुब्धहृदयो ययौ माहिष्मतीं पुरीम् ॥२८॥

नृपवर ! मन्त्रीके इस प्रकार कहनेपर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर अनुमति दे दी । फिर राजमन्त्री आश्रमपर जाकर गौका अपहरण करने लगा । तब जमदग्निमुनिने उसे सब ओरसे मना किया, किंतु उसने उनकी बात न मानते हुए कहा—'महाबुद्धिमान् ब्राह्मण ! यह गौ राजाके योग्य है; अतः इसे राजाको ही दे दीजिये । आप तो साग और फल खानेवाले हैं; आपको इस गायसे क्या काम है ?' यों कहकर मन्त्री उस गौको बलपूर्वक ले जाने लगा । राजन् ! तब उस मुनिने स्त्रीसहित आकर उसे पुनः रोका । इसपर उस दुष्टात्मा और ब्रह्महत्यारे मन्त्रीने उस मुनिका वध करके गौको ज्यों ही ले जाना चाहा, त्यों ही वह दिव्य गौ आकाशमार्गसे चली गयी और राजा मन-ही-मन क्षुब्ध होकर माहिष्मती नगरीको लौट आया ॥ २४–२८ ॥

मुनिपत्नी सुदुःखार्ता रोदयन्ती भृशं तदा ।
त्रिस्सप्तकृत्वः स्वां कुक्षिं ताडयामास पार्थिव ॥२९॥
तच्छ्रुत्वागतो रामो गृहीतपरशुस्तदा ।
पुष्पादीनि गृहीत्वा तु वनान्मातरमब्रवीत् ॥३०॥
अलमम्ब प्रहारेण निमित्ताद् विदितं मया ।
हनिष्यामि दुराचारमर्जुनं दुष्टमन्त्रिणम् ॥३१॥
त्वयैकविंशवारेण यस्मात्कुक्षिश्च ताडिता ।
त्रिस्सप्तकृत्वस्तस्मात्तु हनिष्ये भुवि पार्थिवान् ॥३२॥

राजन् ! उस समय मुनिकी पत्नी दुःखसे पीडित होकर अत्यन्त विलाप करने लगी और प्राणत्याग देनेकी इच्छासे अपनी कुक्षि (उदर) में उसने इक्कीस बार मुक्का मारा । माताका विलाप सुनकर परशुरामजी वनसे फूल आदि लेकर हाथमें कुल्हाड़ी लिये उसी समय आये और मातासे बोले—'मा ! इस प्रकार छाती पीटनेकी आवश्यकता नहीं है । मैं सब कुछ शकुनसे जान गया हूँ । उस दुष्ट मन्त्रीवाले दुराचारी राजा अर्जुनका मैं अवश्य वध करूँगा । मातः ! चूँकि तुमने अपनी कुक्षिमें इक्कीस बार प्रहार किया है, इसलिये मैं इस भूमण्डलके क्षत्रियोंका इक्कीस बार संहार करूँगा' ॥ २९–३२ ॥

इति कृत्वा प्रतिज्ञां स गृहीत्वा परशुं ययौ ।
माहिष्मतीं पुरीं प्राप्य कार्तवीर्यमथाह्वयत् ॥३३॥
युद्धार्थमागतः सोऽथ अनेकाक्षौहिणीयुतः ।
तयोर्युद्धमभूत्तत्र भैरवं लोमहर्षणम् ॥३४॥
पिशिताशिजनानन्दं शस्त्रास्त्रशतसंकुलम् ।

ततः परशुरामोऽभून्महाबलपराक्रमः ॥३५॥
परं ज्योतिरचिन्त्यात्मा विष्णुः कारणमूर्तिमान् ।
कार्तवीर्यबलं सर्वमनेकैः क्षत्रियैः सह ॥३६॥
हत्वा निपात्य भूमौ तु परमाद्भुतविक्रमः ।
कार्तवीर्यस्य बाहूनां वनं चिच्छेद रोषवान् ।
छिन्ने बाहुवने तस्य शिरश्चिच्छेद भार्गवः ॥३७॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके फरसा लेकर वे वहाँसे चल दिये और माहिष्मती पुरीमें जाकर उन्होंने राजा कार्तवीर्य अर्जुनको ललकारा। तब वह अनेक अक्षौहिणी सेनाके साथ युद्धके लिये आया। वहाँ उन दोनोंमें महाभयानक रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ, जो सैकड़ों अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे व्याप्त तथा मांस खानेवाले प्राणियोंको आनन्द देनेवाला था। उस समय परशुरामजी अपनेमें अचिन्त्यस्वरूप, परम ज्योतिर्मय, कारण-मूर्ति भगवान् विष्णुकी भावना करके महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो गये। उन्होंने परम आश्चर्यमय पौरुष प्रकट करते हुए कार्तवीर्यकी असंख्य क्षत्रियोंसे युक्त सम्पूर्ण सेनाको मारकर भूमिपर गिरा दिया और रोषसे भरकर कार्तवीर्यकी समस्त भुजाएँ काट डालीं। उसके बाहुवनका उच्छेद हो जानेपर भृगुनन्दन परशुरामने उसका मस्तक भी धड़से अलग कर दिया॥ ३३—३७॥

विष्णुहस्ताद्वधं प्राप्य चक्रवर्ती स पार्थिवः ।
दिव्यरूपधरः श्रीमान् दिव्यगन्धानुलेपनः ॥३८॥
दिव्यं विमानमारुह्य विष्णुलोकमवाप्तवान् ।
क्रोधात्परशुरामोऽपि महाबलपराक्रमः ॥ ३९॥
त्रिस्सप्तकृत्वो भूम्यां वै पार्थिवान्निजघान सः ।
क्षत्रियाणां वधात्तेन भूमेर्भारोऽवतारितः ॥४०॥
भूमिश्च सकला दत्ता कश्यपाय महात्मने ।

इस प्रकार वह चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य श्रीभगवान् विष्णुके हाथसे वधको प्राप्त होकर दिव्यरूप धारण करके, श्रीसम्पन्न एवं दिव्य चन्दनोंसे अनुलिप्त होकर, दिव्य विमानपर आरूढ़ हो, विष्णुधामको प्राप्त हुआ। फिर महान् बल और पराक्रमवाले परशुरामजीने भी इस पृथ्वीके क्षत्रियोंका इक्कीस बार संहार किया। इस प्रकार क्षत्रियोंका वध करके उन्होंने भूमिका भार उतारा और सम्पूर्ण पृथ्वी महात्मा कश्यपजीको दान कर दी॥ ३८—४०½॥

इत्येष जामदग्न्याख्यः प्रादुर्भावो मयोदितः ॥४१॥
यश्च तच्छृणुयाद्भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४२॥
अवतीर्य भूमौ हरिरेष साक्षात्
त्रिस्सप्तकृत्वः क्षितिपान्निहत्य सः ।
क्षात्रं च तेजो प्रविभज्य राजन्
रामः स्थितोऽद्यापि गिरौ महेन्द्रे ॥४३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे परशुरामप्रादुर्भावो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

इस प्रकार मैंने तुमसे यह 'जामदग्न्य' (परशुराम) नामक अवतारका वर्णन किया। जो भक्तिपूर्वक इसका श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। राजन्! इस तरह पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके बाद ये साक्षात् भगवान् विष्णुस्वरूप परशुरामजी इक्कीस बार क्षत्रियोंको मारकर, क्षत्रियतेजको छिन्न-भिन्न करके आज भी महेन्द्र पर्वतपर विराजमान हैं॥ ४१—४३॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'परशुरामावतार' नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४६॥

सैंतालीसवाँ अध्याय

श्रीरामावतारकी कथा—श्रीरामके जन्मसे लेकर विवाहतकके चरित्र

श्रीमार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि प्रादुर्भावं हरेः शुभम् ।
निहतो रावणो येन सगणो देवकण्टकः ॥ १ ॥

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—राजन्! अब मैं भगवान् विष्णुके उस शुभ अवतारका वर्णन करूँगा, जिसके द्वारा देवताओंके लिये कण्टकस्वरूप रावण अपने गणोंसहित मारा गया। तुम [ध्यान देकर] सुनो॥ १॥

ब्रह्मणो मानसः पुत्रः पुलस्त्योऽभून्महामुनिः ।
तस्य वै विश्रवा नाम पुत्रोऽभूत्तस्य राक्षसः ॥ २ ॥
तस्माज्जातो महावीरो रावणो लोकरावणः ।
तपसा महता युक्तः स तु लोकानुपाद्रवत् ॥ ३ ॥
सेन्द्रा देवा जितास्तेन गन्धर्वाः किंनरास्तथा ।
यक्षाश्च दानवाश्चैव तेन राजन् विनिर्जिताः ॥ ४ ॥
स्त्रियश्चैव सुरूपिण्यो हृतास्तेन दुरात्मना ।
देवादीनां नृपश्रेष्ठ रत्नानि विविधानि च ॥ ५ ॥
रणे कुबेरं निर्जित्य रावणो बलदर्पितः ।
तत्पुरीं जगृहे लङ्कां विमानं चापि पुष्पकम् ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीके मानस पुत्र जो महामुनि पुलस्त्यजी हैं, उनके 'विश्रवा' नामक पुत्र हुआ । विश्रवाका पुत्र राक्षस रावण हुआ। समस्त लोकोंको रुलानेवाला महावीर रावण विश्रवासे ही उत्पन्न हुआ था। वह महान् तपसे युक्त होकर समस्त लोकोंपर धावा करने लगा । राजन् ! उसने इन्द्रसहित समस्त देवताओं, गन्धर्वों और किंनरोंको जीत लिया तथा यक्षों और दानवोंको भी अपने वशीभूत कर लिया। नृपश्रेष्ठ ! उस दुरात्माने देवता आदिकी सुन्दरी स्त्रियाँ और नाना प्रकारके रत्न भी हर लिये। बलाभिमानी रावणने युद्धमें कुबेरको जीतकर उनकी पुरी लङ्का और पुष्पक विमानपर भी अधिकार जमा लिया ॥ २—६ ॥

तस्यां पुर्यां दशग्रीवो रक्षसामधिपोऽभवत् ।
पुत्राश्च बहवस्तस्य बभूवुरमितौजसः ॥ ७ ॥
राक्षसाश्च तमाश्रित्य महाबलपराक्रमाः ।
अनेककोटयो राजन् लङ्कायां निवसन्ति वै ॥ ८ ॥
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च विद्याधरगणानपि ।
यक्षांश्चैव ततः सर्वे घातयन्ति दिवानिशम् ॥ ९ ॥
संत्रस्तं तद्भयादेव जगदासीच्चराचरम् ।
दुःखाभिभूतमत्यर्थं सम्बभूव नराधिप ॥१०॥

उस लङ्कापुरीमें दशमुख रावण राक्षसोंका राजा हुआ । उसके अनेक पुत्र उत्पन्न हुए, जो अपरिमित बलसे सम्पन्न थे। राजन् ! लङ्कामें जो कई करोड़ महाबली और पराक्रमी राक्षस निवास करते थे, वे सभी रावणका सहारा लेकर देवता, पितर, मनुष्य, विद्याधर और यक्षोंका दिन-रात संहार किया करते थे । नराधिप ! समस्त चराचर जगत् उसके भयसे भीत और अत्यन्त दुःखी हो गया था॥ ७—१० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवाः सेन्द्रा महर्षयः ।
सिद्धा विद्याधराश्चैव गन्धर्वाः किंनरास्तथा ॥११॥
गुह्यका भुजगा यक्षा ये चान्ये स्वर्गवासिनः ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा शंकरं च नराधिप ॥१२॥
ते ययुर्हतविक्रान्ताः क्षीराब्धेस्तटमुत्तमम् ।
तत्राराध्य हरिं देवास्तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥१३॥
ब्रह्मा च विष्णुमाराध्य गन्धपुष्पादिभिः शुभैः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा वासुदेवमथास्तुवत् ॥१४॥

नरेश ! इसी समय जिनका पुरुषार्थ प्रतिहत हो गया था, वे इन्द्रसहित समस्त देवता, महर्षि, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व, किंनर, गुह्यक, सर्प, यक्ष तथा जो अन्य स्वर्गवासी थे, वे ब्रह्मा और शंकरजीको आगे करके क्षीरसागरके उत्तम तटपर गये । वहाँ उस समय देवतालोग भगवान्की आराधना करके हाथ जोड़कर खड़े हो गये । फिर ब्रह्माजीने गन्ध-पुष्प आदि सुन्दर उपचारोंद्वारा भगवान् वासुदेव विष्णुकी आराधना की और हाथ जोड़, प्रणाम करके, वे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ११—१४ ॥

ब्रह्मोवाच

नमः क्षीराब्धिवासाय नागपर्यङ्कशायिने ।
नमः श्रीकरसंस्पृष्टदिव्यपादाय विष्णवे ॥१५॥
नमस्ते योगनिद्राय योगान्तर्भाविताय च ।
तार्क्ष्यासनाय देवाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥
नमः क्षीराब्धिकल्लोलस्पृष्टमात्राय शार्ङ्गिणे ।
नमोऽरविन्दपादाय पद्मनाभाय विष्णवे ॥१७॥
भक्तार्चितसुपादाय नमो योगप्रियाय वै ।
शुभाङ्गाय सुनेत्राय माधवाय नमो नमः ॥१८॥
सुकेशाय सुनेत्राय सुललाटाय चक्रिणे ।
सुवक्त्राय सुकर्णाय श्रीधराय नमो नमः ॥१९॥

सुवक्षसे सुनाभाय पद्मनाभाय वै नमः ।
सुभ्रुवे चारुदेहाय चारुदन्ताय शार्ङ्गिणे ॥२०॥
चारुजङ्घाय दिव्याय केशवाय नमो नमः ।
सुनखाय सुशान्ताय सुविद्याय गदाभृते ॥२१॥
धर्मप्रियाय देवाय वामनाय नमो नमः ।
असुरघ्नाय चोग्राय रक्षोघ्नाय नमो नमः ॥२२॥
देवानामार्तिनाशाय भीमकर्मकृते नमः ।
नमस्ते लोकनाथाय रावणान्तकृते नमः ॥२३॥

ब्रह्माजी बोले—जो क्षीरसागरमें निवास करते हैं, सर्पकी शय्यापर सोते हैं, जिनके दिव्य चरण भगवती श्रीलक्ष्मीजीके कर-कमलोंद्वारा सहलाये जाते हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। योग ही जिनकी निद्रा है, योगके द्वारा अन्तःकरणमें जिनका ध्यान किया जाता है और जो गरुडजीके ऊपर आसीन होते हैं, उन आप भगवान् गोविन्दको नमस्कार है। क्षीरसागरकी लहरें जिनके शरीरका स्पर्श करती हैं, जो 'शार्ङ्ग'नामक धनुष धारण करते हैं, जिनके चरण कमलके समान हैं तथा जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। जिनके सुन्दर चरण भक्तोंद्वारा पूजित हैं, जिन्हें योग प्रिय है तथा जिनके अङ्ग और नेत्र सुन्दर हैं, उन भगवान् लक्ष्मीपतिको बारंबार नमस्कार है। जिनके केश, नेत्र, ललाट, मुख और कान बहुत ही सुन्दर हैं, उन चक्रपाणि भगवान् श्रीधरको प्रणाम है। जिनके वक्षःस्थल और नाभि मनोहर हैं, उन भगवान् पद्मनाभको नमस्कार है। जिनकी भौंहें सुन्दर, शरीर मनोहर और दाँत उज्ज्वल हैं, उन भगवान् शार्ङ्गधन्वाको प्रणाम है। रुचिर पिंडलियोंवाले दिव्यरूपधारी भगवान् केशवको नमस्कार है। जो सुन्दर नखोंवाले, परमशान्त और सद्विद्याओंके आश्रय हैं, उन भगवान् गदाधरको नमस्कार है। धर्मप्रिय भगवान् वामनको बारंबार प्रणाम है। असुर और राक्षसोंके हन्ता उग्र (नृसिंह) रूपधारी भगवान्को नमस्कार है। देवताओंकी पीड़ा हरनेके लिये भयंकर कर्म करनेवाले तथा रावणके संहारक आप भगवान् जगन्नाथको प्रणाम है ॥ १५—२३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इति स्तुतो हृषीकेशस्तुतोष परमेष्ठिना ।
स्वरूपं दर्शयित्वा तु पितामहमुवाच ह ॥२४॥
किमर्थं तु सुरैः सार्धमागतस्त्वं पितामह ।
यत्कार्यं ब्रूहि मे ब्रह्मन् यदर्थं संस्तुतस्त्वया ॥२५॥
इत्युक्तो देवदेवेन विष्णुना प्रभविष्णुना ।
सर्वदेवगणैः सार्धं ब्रह्मा प्राह जनार्दनम् ॥२६॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर भगवान् हृषीकेश प्रसन्न हो गये और अपना स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाकर वे भगवान् ब्रह्माजीसे बोले—'पितामह ! तुम देवताओंके साथ किसलिये यहाँ आये हो ? ब्रह्मन् ! जो कार्य आ पड़ा हो और जिसके लिये तुमने मेरी स्तुति की है, वह बताओ।' समस्त लोकोंको उत्पन्न करनेवाले भगवान् विष्णुके द्वारा इस प्रकार प्रश्न किये जानेपर सम्पूर्ण देवगणोंके साथ विराजमान ब्रह्माजीने उन जनार्दनसे कहा ॥ २४—२६ ॥

ब्रह्मोवाच

नाशितं तु जगत्सर्वं रावणेन दुरात्मना ।
सेन्द्राः पराजितास्तेन बहुशो रक्षसा विभो ॥२७॥
राक्षसैर्भक्षिता मर्त्या यज्ञाश्चापि विदूषिताः ।
देवकन्या हृतास्तेन बलाच्छतसहस्रशः ॥२८॥
त्वामृते पुण्डरीकाक्ष रावणस्य वधं प्रति ।
न समर्था यतो देवास्त्वमतस्तद्वधं कुरु ॥२९॥

ब्रह्माजी बोले—विभो ! दुरात्मा रावणने समस्त जगत्में भीषण संहार मचा रखा है। उस राक्षसने इन्द्रसहित देवताओंको कई बार परास्त किया है। रावणके पार्श्ववर्ती राक्षसोंने असंख्य मनुष्योंको खा लिया और उनके यज्ञोंको दूषित कर दिया है। स्वयं रावणने सैकड़ों-हजारों देवकन्याओंका अपहरण किया है। कमलनयन ! चूँकि आपको छोड़कर दूसरे देवता रावणका वध करनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः आप ही उसका वध करें ॥ २७—२९ ॥

इत्युक्तो ब्रह्मणा विष्णुर्ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ।
शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् यद्वदामि हितं वचः ॥३०॥
सूर्यवंशोद्भवः श्रीमान् राजाऽऽसीद्भुवि वीर्यवान् ।
नाम्ना दशरथख्यातस्तस्य पुत्रो भवाम्यहम् ॥३१॥
रावणस्य वधार्थाय चतुर्धांशेन सत्तम ।
स्वांशैर्वानररूपेण सकला देवतागणाः ॥३२॥

वतार्यन्तां विश्वकर्तः स्यादेवं रावणक्षयः ।
इत्युक्तो देवदेवेन ब्रह्मा लोकपितामहः ॥३३॥
देवाश्च ते प्रणम्याथ मेरुपृष्ठं तदा ययुः ।
स्वांशैर्वानररूपेण अवतेरुश्च भूतले ॥३४॥

ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर भगवान् विष्णु उनसे यों बोले—'ब्रह्मन्! मैं तुमलोगोंके हितके लिये जो बात कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। पृथ्वीपर सूर्यवंशमें उत्पन्न श्रीमान् दशरथ नामसे प्रसिद्ध जो पराक्रमी राजा हैं, मैं उन्हींका पुत्र होऊँगा। सत्तम! रावणका वध करनेके लिये मैं अंशतः चार स्वरूपोंमें प्रकट होऊँगा। विश्वस्रष्टा ब्रह्माजी! आप सभी देवताओंको आदेश दें कि वे अपने-अपने अंशसे वानररूपमें अवतीर्ण हों। इस प्रकार करनेसे ही रावणका संहार होगा।' देवदेव भगवान्के यों कहनेपर लोक-पितामह ब्रह्माजी तथा अन्य देवता उनको प्रणाम करके मेरुशिखरपर चले गये और पृथ्वीतलपर अपने-अपने अंशसे वानररूपमें अवतीर्ण हुए॥ ३०—३४॥

अथापुत्रो दशरथो मुनिभिर्वेदपारगैः ।
इष्टिं तु कारयामास पुत्रप्राप्तिकरीं नृपः ॥३५॥
ततः सौवर्णपात्रस्थं हविरादाय पायसम् ।
वह्निः कुण्डात् समुत्तस्थौ नूनं देवेन नोदितः ॥३६॥
आदाय मुनयो मन्त्राच्चक्रुः पिण्डद्वयं शुभम् ।
दत्ते कौशल्यकैकेय्योर्द्वे पिण्डे मन्त्रमन्त्रिते ॥३७॥
ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महामते ।
पिण्डाभ्यामल्पमल्पं तु सुभागिन्याः प्रयच्छतः॥३८॥
ततस्ताः प्राशयामास राजपत्न्यो यथाविधि ।
पिण्डान् देवकृतान् प्राश्य प्रापुर्गर्भाननिन्दितान् ॥

तदनन्तर पुत्रहीन राजा दशरथने वेदके पारगामी मुनियोंद्वारा पुत्रकी प्राप्ति करानेवाले 'पुत्रेष्टि' नामक यज्ञका अनुष्ठान कराया। तब भगवान्की प्रेरणासे अग्निदेव सुवर्ण-पात्रमें रखी हुई होमकी खीर हाथमें लिये कुण्डसे प्रकट हुए। मुनियोंने वह खीर ले ली और मन्त्र पढ़ते हुए उसके दो सुन्दर पिण्ड बनाये। उन्हें मन्त्रसे अभिमन्त्रितकर उन दोनों पिण्डोंको कौसल्या तथा कैकेयीके हाथमें दे दिया। महामते! पिण्ड-भोजनके समय उन दोनों रानियोंने दोनों पिण्डोंमेंसे थोड़ा-थोड़ा निकालकर सौभाग्यवती सुमित्राको दे दिया। फिर उन तीनों रानियोंने विधिपूर्वक उन क्षीरपिण्डोंका भोजन किया। उन देवनिर्मित पिण्डोंका भक्षण करनेके कारण उन सभी रानियोंने उत्तम गर्भ धारण किये॥ ३५—३९॥

एवं विष्णुर्दशरथाज्जातस्तत्पत्निषु त्रिषु ।
स्वांशैर्लोकहितार्थैव चतुर्धा जगतीपते ॥४०॥
रामश्च लक्ष्मणश्चैव भरतः शत्रुघ्न एव च ।
जातकर्मादिकं प्राप्य संस्कारं मुनिसंस्कृतम् ॥४१॥
मन्त्रपिण्डवशाद्योगं प्राप्य चेरुर्यथार्भकाः ।
रामश्च लक्ष्मणश्चैव सह नित्यं विचेरतुः ॥४२॥
जन्मादिकृतसंस्कारौ पितुः प्रीतिकरौ नृप ।
ववृधाते महावीर्यौ श्रुतिशब्दातिलक्षणौ ॥४३॥
भरतः कैकयो राजन् भ्रात्रा सह गृहेऽवसत् ।
वेदशास्त्राणि बुबुधे शस्त्रशास्त्रं नृपोत्तम ॥४४॥

पृथ्वीनाथ! इस प्रकार भगवान् विष्णु लोकहितके लिये ही राजा दशरथसे उनकी तीनों रानियोंके गर्भसे अपने चार अंशोंद्वारा वे राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामक चार रूप धारण करके प्रकट हुए। मुनियोंद्वारा जात-कर्मादि संस्कार हो जानेपर वे मन्त्रयुक्त पिण्डके अनुसार दो-दो एक साथ रहते हुए सामान्य बालकोंकी भाँति विचरने लगे। इनमें राम और लक्ष्मण सदा एक साथ रहते थे। नरपाल! जातकर्मादि संस्कारोंसे सम्पन्न हो, वे दोनों महान् शक्तिशाली भाई पिताकी प्रसन्नता बढ़ाते हुए बढ़ने लगे। उनके शुभ लक्षण अश्रुतपूर्व एवं वर्णनातीत थे। अथवा वे वेद और व्याकरणादि शास्त्रोंमें पारंगत होनेके शुभलक्षणसे सुशोभित थे। राजन्! कैकेयीनन्दन भरत अपने अनुज शत्रुघ्नके साथ प्रायः घर-पर ही रहते थे। नृपोत्तम! उन्होंने वेदशास्त्र और अस्त्र-विद्या भी सीख ली थी॥ ४०—४४॥

एतस्मिन्नेव काले तु विश्वामित्रो महातपाः ।
यागेन यष्टुमारेभे विधिना मधुसूदनम् ॥४५॥
स तु विघ्नेन यागोऽभूद्राक्षसैर्बहुशः पुरा ।
नेतुं स यागरक्षार्थं सम्प्राप्तो रामलक्ष्मणौ ॥४६॥
विश्वामित्रो नृपश्रेष्ठ तत्पितुर्मन्दिरं शुभम् ।
दशरथस्तु तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थाय महामतिः ॥४७॥
अर्घ्यपाद्यादिविधिना विश्वामित्रमपूजयत् ।
स पूजितो मुनिः प्राह राजानं राजसंनिधौ ॥४८॥

शृणु राजन् दशरथ यदर्थमहमागतः ।
तत्कार्यं नृपशार्दूल कथयामि तवाग्रतः ॥४९॥
राक्षसैर्नाशितो यागो बहुशो मे दुरासदैः ।
यज्ञस्य रक्षणार्थं मे देहि त्वं रामलक्ष्मणौ ॥५०॥

इन्हीं दिनों महातपस्वी विश्वामित्रजीने यज्ञविधिसे भगवान् मधुसूदनका यजन आरम्भ किया। परंतु पहले उस यज्ञमें बहुत बार राक्षसोंद्वारा विघ्न डाला गया था; नृपश्रेष्ठ ! इसलिये इस बार विश्वामित्रजी यज्ञकी रक्षाके लिये राम तथा लक्ष्मणको ले जानेके निमित्त उनके पिताके सुन्दर महलमें आये। महाबुद्धिमान् दशरथजी उन्हें देखकर उठ खड़े हुए और अर्घ्य-पाद्यादि उपचारोंद्वारा उन्होंने विधिवत् उनकी पूजा की। इस प्रकार उनके द्वारा सम्मानित हो, मुनिने अन्य राजाओंके निकट विराजमान राजा दशरथसे कहा—'राजसिंह महाराज दशरथ ! सुनो—मैं जिस कार्यके लिये आया हूँ, वह तुम्हारे सामने निवेदन करता हूँ। मेरे यज्ञको दुर्धर्ष राक्षसोंने अनेक बार नष्ट किया है; अतः उसकी रक्षाके लिये तुम राम और लक्ष्मणको मुझे दे दो' ॥ ४५–५० ॥

राजा दशरथः श्रुत्वा विश्वामित्रवचो नृप ।
विषण्णवदनो भूत्वा विश्वामित्रमुवाच ह ॥५१॥
बालाभ्यां मम पुत्राभ्यां किं ते कार्यं भविष्यति ।
अहं त्वया सहागत्य शक्त्या रक्षामि ते मखम् ॥५२॥
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा राजानं मुनिरब्रवीत् ।
रामोऽपि शक्नुते नूनं सर्वान्नाशयितुं नृप ॥५३॥
रामेणैव हि ते शक्या न त्वया राक्षसा नृप ।
अतो मे देहि रामं च न चिन्तां कर्तुमर्हसि ॥५४॥

नरेश्वर ! विश्वामित्रजीकी बात सुननेपर राजा दशरथके मुखपर विषाद छा गया। वे उनसे बोले—'भगवन् ! मेरे ये दोनों पुत्र अभी बालक हैं। इनसे आपका कौन-सा कार्य सिद्ध होगा ? मैं स्वयं आपके साथ चलकर यथाशक्ति यज्ञकी रक्षा करूँगा।' राजाकी बात सुनकर मुनि उनसे बोले—'नरपाल ! राम भी उन सब राक्षसोंका नाश कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है। सच तो यह है कि रामके द्वारा ही वे राक्षस मारे जा सकते हैं; तुम्हारेद्वारा नहीं; अतः राजन् ! तुम्हें रामको ही मुझे दे देना चाहिये और किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये' ॥ ५१–५४ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन विश्वामित्रेण धीमता ।
तूष्णीं स्थित्वा क्षणं राजा मुनिवर्यमुवाच ह ॥५५॥
यद्ब्रवीमि मुनिश्रेष्ठ प्रसन्नस्त्वं निबोध मे ।
राजीवलोचनं राममहं दास्ये सहानुजम् ॥५६॥
किं त्वस्य जननी ब्रह्मन् अदृष्ट्वैनं मरिष्यति ।
अतोऽहं चतुरङ्गेण बलेन सहितो मुने ॥५७॥
आगत्य राक्षसान् हन्मीत्येवं मे मनसि स्थितम् ।

बुद्धिमान् विश्वामित्रमुनिके द्वारा यों कहे जानेपर राजा क्षणभरके लिये चुप हो गये और फिर उन मुनीश्वरसे बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! मैं जो कह रहा हूँ, उसे आप प्रसन्नतापूर्वक सुनें। मैं कमललोचन रामको लक्ष्मणके सहित आपको दे तो दूँगा, परंतु ब्रह्मन् ! इनकी माता इन्हें देखे बिना मर जायगी। इसलिये मुने ! मेरा ऐसा विचार है कि मैं स्वयं ही चतुरङ्गिणी सेनाके साथ चलकर सब राक्षसोंका वध करूँ' ॥ ५५–५७½ ॥

विश्वामित्रः पुनः प्राह राजानममितौजसम् ॥५८॥
नाज्ञो रामो नृपश्रेष्ठ स सर्वज्ञः समः क्षमः ।
शेषनारायणावेतौ तव पुत्रौ न संशयः ॥५९॥
दुष्टानां निग्रहार्थाय शिष्टानां पालनाय च ।
अवतीर्णौ न संदेहो गृहे तव नराधिप ॥६०॥
न माता न त्वया राजन् शोकः कार्योऽत्र चाण्वपि ।
निःक्षेपे च महाराज अर्पयिष्यामि ते सुतौ ॥६१॥

विश्वामित्रजी यह सुनकर उन अमित-तेजस्वी राजासे पुनः बोले—'नृपश्रेष्ठ ! रामचन्द्र अबोध नहीं हैं; वे सर्वज्ञ, समदर्शी और परम समर्थ हैं। इसमें संशय नहीं कि तुम्हारे ये दोनों पुत्र राम और लक्ष्मण साक्षात् नारायण एवं शेषनाग हैं। नराधिप ! दुष्टोंको दण्ड देने और सत्पुरुषोंकी रक्षा करनेके लिये ही ये दोनों आपके घरमें अवतीर्ण हुए हैं, इसमें संदेह नहीं है। राजन् ! इनकी माता तथा आपको इस विषयमें थोड़ी-सी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। महाराज ! ये मेरे पास धरोहरके तौरपर रहेंगे। यज्ञ पूर्ण हो जानेपर मैं इन दोनोंको आपके हाथमें दे दूँगा' ॥ ५८–६१ ॥

इत्युक्तो दशरथस्तेन विश्वामित्रेण धीमता ।
तच्छापभीतो मनसा नीयतामित्यभाषत ॥६२॥

कृच्छ्रात्पित्रा विनिर्मुक्तं राममादाय सानुजम् ।
ततः सिद्धाश्रमं राजन् सम्प्रतस्थे स कौशिकः ॥६३॥
तं प्रस्थितमथालोक्य राजा दशरथस्तदा ।
अनुव्रज्याब्रवीदेतद् वचो दशरथस्तदा ॥६४॥
अपुत्रोऽहं पुरा ब्रह्मन् बहुभिः काम्यकर्मभिः ।
मुनिप्रसादादधुना पुत्रवानस्मि सत्तम ॥६५॥
मनसा तद्वियोगं तु न शक्ष्यामि विशेषतः ।
त्वमेव जानासि मुने नीत्वा शीघ्रं प्रयच्छ मे ॥६६॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रजीके यों कहनेपर दशरथजी मन-ही-मन उनके शापसे डरते हुए बोले—'अच्छा, इन्हें ले जाइये।' राजन्! पिताके द्वारा बड़ी कठिनाईसे छोड़े गये श्रीराम और लक्ष्मणको साथ ले विश्वामित्रमुनि तब अपने सिद्धाश्रमकी ओर प्रस्थित हुए। उन्हें जाते देख उस समय राजा दशरथ कुछ दूर पीछे-पीछे गये और तब मुनिसे इस प्रकार बोले—'साधुश्रेष्ठ! ब्रह्मन्! मैं पहले दीर्घकालतक पुत्रहीन रहा; मुनियोंकी कृपासे अनेक सकाम यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करके अब पुत्रवान् हो सका हूँ। अतः मुने! मैं मनसे भी इन पुत्रोंका अधिक कालतक वियोग नहीं सह सकूँगा, यह बात आप ही जानते हैं; अतः इन्हें ले जाकर फिर यथासम्भव शीघ्र मेरे पास पहुँचा दीजियेगा' ॥ ६२—६६ ॥

इत्येवमुक्तो राजानं विश्वामित्रोऽब्रवीत्पुनः ।
समाप्तयज्ञश्च पुनर्नेष्ये रामं च लक्ष्मणम् ॥६७॥
सत्यपूर्वं तु दास्यामि न चिन्तां कर्तुमर्हसि ।

उनके यों कहनेपर विश्वामित्रजीने पुनः राजासे कहा—'अपना यज्ञ समाप्त हो जानेपर मैं पुनः श्रीराम और लक्ष्मणको यहाँ ले आऊँगा तथा अपने वचनको सत्य करते हुए इन्हें वापस कर दूँगा, आप चिन्ता न करें' ॥६७½॥

इत्युक्तः प्रेषयामास रामं लक्ष्मणसंयुतम् ॥६८॥
अनिच्छन्नपि राजासौ मुनिशापभयान्नृपः ।
विश्वामित्रस्तु तौ गृह्य अयोध्याया ययौ शनैः ॥६९॥

विश्वामित्रजीके इस प्रकार आश्वासन देनेपर राजाने उनके शापकी आशङ्कासे भयभीत हो, इच्छा न रहते हुए भी, श्रीराम और लक्ष्मणको उनके साथ भेज दिया। विश्वामित्रजी उन दोनों भाइयोंको साथ ले धीरे-धीरे अयोध्यासे बाहर निकले ॥ ६८-६९ ॥

सरय्वास्तीरमासाद्य गच्छन्नेव स कौशिकः ।
तयोः प्रीत्या स राजेन्द्र द्वे विद्ये प्रथमं ददौ ॥७०॥
बलामतिबलां चैव समन्त्रे च ससंग्रहे ।
क्षुत्पिपासापनयने पुनश्चैव महामतिः ॥७१॥
अस्त्रग्राममशेषं तु शिक्षयित्वा तु तौ तदा ।
आश्रमाणि च दिव्यानि मुनीनां भावितात्मनाम् ॥७२॥
दर्शयित्वा उषित्वा च पुण्यस्थानेषु सत्तमः ।
गङ्गामुत्तीर्य शोणस्य तीरमासाद्य पश्चिमम् ॥७३॥

राजेन्द्र! सरयूके तटपर पहुँचकर महामति विश्वामित्रजीने चलते-चलते ही श्रीराम और लक्ष्मणको प्रेमवश पहले 'बला' और 'अतिबला' नामकी दो विद्याएँ प्रदान कीं, जो क्षुधा और पिपासाको दूर करनेवाली हैं। मुनिने उन विद्याओंको मन्त्र और संग्रह (उपसंहार) पूर्वक सिखाया। फिर उसी समय उन्हें सम्पूर्ण अस्त्र-समुदायकी शिक्षा देकर वे साधुश्रेष्ठ मुनि श्रीराम और लक्ष्मणको अनेक आत्मज्ञानी मुनीश्वरोंके दिव्य आश्रम दिखाते और पवित्र तीर्थस्थानोंमें निवास करते हुए गङ्गा नदीको पारकर शोणभद्रके पश्चिम तटपर जा पहुँचे ॥ ७०—७३ ॥

मुनिधार्मिकसिद्धांश्च पश्यन्तौ रामलक्ष्मणौ ।
ऋषिभ्यश्च वरान् प्राप्य तेन नीतौ नृपात्मजौ ॥७४॥
ताटकाया वनं घोरं मृत्योर्मुखमिवापरम् ।
गते तत्र नृपश्रेष्ठ विश्वामित्रो महातपाः ॥७५॥
राममक्लिष्टकर्माणमिदं वचनमब्रवीत् ।
राम राम महाबाहो ताटका नाम राक्षसी ॥७६॥
रावणस्य नियोगेन वसत्यस्मिन् महावने ।
तया मनुष्या बहवो मुनिपुत्रा मृगास्तथा ॥७७॥
निहता भक्षिताश्चैव तस्मात्तां वध सत्तम ।

मार्गमें मुनियों, धर्मात्माओं और सिद्धोंका दर्शन करते हुए तथा ऋषियोंसे वर प्राप्तकर, राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण विश्वामित्रजीके द्वारा उस ताड़कावनमें ले जाये गये, जो यमराजके दूसरे मुखके समान भयंकर था। नृपश्रेष्ठ! वहाँ पहुँचकर महातपस्वी विश्वामित्रने अनायास ही महान्

कर्म करनेवाले रामसे कहा—'महाबाहो राम ! इस महान् वनमें रावणकी आज्ञासे 'ताड़का' नामकी एक राक्षसी रहती है। उसने बहुत-से मनुष्यों, मुनिपुत्रों और मृगोंको मारकर अपना आहार बना लिया है; अतः सत्तम ! तुम उसका वध करो' ॥ ७४–७७½ ॥

इत्येवमुक्तो मुनिना रामस्तं मुनिमब्रवीत् ॥७८॥
कथं हि स्त्रीवधं कुर्यामहमद्य महामुने ।
स्त्रीवधे तु महापापं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥७९॥
इति रामवचः श्रुत्वा विश्वामित्र उवाच तम् ।
तस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः ॥८०॥
भवन्ति सततं तस्मात्तस्याः पुण्यप्रदो वधः ।

मुनिवर विश्वामित्रके इस प्रकार कहनेपर रामने उनसे कहा—'महामुने ! आज मैं स्त्रीका वध कैसे करूँ ? क्योंकि बुद्धिमान् लोग स्त्रीवधमें महान् पाप बतलाते हैं।' श्रीरामकी यह बात सुनकर विश्वामित्रने उनसे कहा—'राम ! उस ताड़काको मारनेसे सभी मनुष्य सदाके लिये निर्भय हो जायँगे, इसलिये उसका वध करना तो पुण्यदायक है' ॥ ७८–८०½ ॥

इत्येवं वादिनि मुनौ विश्वामित्रे निशाचरी ॥८१॥
आगता सुमहाघोरा ताटका विवृतानना ।
मुनिना प्रेरितो रामस्तां दृष्ट्वा विवृताननाम् ॥८२॥
उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं
श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां
पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥८३॥
शरं संधाय वेगेन तेन तस्या उरःस्थलम् ।
विपाटितं द्विधा राजन् सा पपात ममार च ॥८४॥

मुनिवर विश्वामित्र इस प्रकार कह ही रहे थे कि वह महाघोर राक्षसी ताड़का मुँह फैलाये वहाँ आ पहुँची। तब मुनिकी प्रेरणासे रामने उसकी ओर देखा। वह मुँह बाये आ रही थी। उसकी छड़ी-सरीखी एक बाँह ऊपरकी ओर उठी थी। कटिप्रदेशमें मेखला (करधनी) की जगह लिपटी हुई मनुष्यकी अँतड़ी लटक रही थी। इस रूपमें आती हुई उस निशाचरीको देखकर श्रीरामने स्त्रीवधके प्रति होनेवाली घृणा और बाणको एक साथ ही छोड़ दिया। राजन् ! उन्होंने धनुषपर बाण रखकर उसे बड़े वेगसे छोड़ा। उस बाणने ताड़काकी छातीके दो टुकड़े कर दिये। फिर तो वह धरतीपर गिरी और मर गयी ॥ ८१–८४ ॥

घातयित्वा तु तामेवं तावानीय मुनिस्तु तौ ।
प्रापयामास तं तत्र नानाऋषिनिषेवितम् ॥८५॥
नानाद्रुमलताकीर्णं नानापुष्पोपशोभितम् ।
नानानिर्झरतोयाढ्यं विन्ध्यशैलान्तरस्थितम् ॥८६॥
शाकमूलफलोपेतं दिव्यं सिद्धाश्रमं स्वकम् ।
रक्षार्थं तावुभौ स्थाप्य शिक्षयित्वा विशेषतः ॥८७॥
ततश्चारब्धवान् यागं विश्वामित्रो महातपाः ।

इस प्रकार ताड़काका वध करवाकर मुनि श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको अपने उस दिव्य सिद्धाश्रमपर ले आये, जो बहुतसे मुनियोंद्वारा सेवित था। वह आश्रम विन्ध्य पर्वतकी मध्यवर्तिनी उपत्यकामें विद्यमान था। वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष और लतासमूह फैले हुए थे और भाँति-भाँतिके पुष्प उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह आश्रम अनेकानेक झरनोंके जलसे सुशोभित तथा शाक एवं मूल-फलादिसे सम्पन्न था। वहाँ उन दोनों राजकुमारोंको विशेषरूपसे शिक्षा देकर मुनिने उनको यज्ञकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया। तदनन्तर महान् तपस्वी विश्वामित्रने यज्ञ आरम्भ किया ॥ ८५–८७½ ॥

दीक्षां प्रविष्टे च मुनौ विश्वामित्रे महात्मनि ॥८८॥
यज्ञे तु वितते तत्र कर्म कुर्वन्ति ऋत्विजः ।
मारीचश्च सुबाहुश्च बहवश्चान्यराक्षसाः ॥८९॥
आगता यागनाशाय रावणेन नियोजिताः ।
तानागतान् स विज्ञाय रामः कमललोचनः ॥९०॥
शरेण पातयामास सुबाहुं धरणीतले ।
असृक्प्रवाहं वर्षन्तं मारीचं भल्लकेन तु ॥९१॥
प्रताड्य नीतवानब्धिं यथा पर्णं तु वायुना ।
शेषांस्तु हतवान् रामो लक्ष्मणश्च निशाचरान् ॥९२॥

महात्मा विश्वामित्र ज्यों-ही यज्ञकी दीक्षामें प्रविष्ट हुए, उस यज्ञका कार्य चालू हो गया। उसमें ऋत्विज्गण अपना-अपना कार्य करने लगे। तब रावणके द्वारा नियुक्त मारीच, सुबाहु तथा अन्य बहुत-से राक्षसगण यज्ञ नष्ट करनेके लिये वहाँ आये। उन सबको वहाँ आया जान कमलनयन श्रीरामने

बाण मारकर 'सुबाहु'नामक राक्षसको तो धराशायी कर दिया। वह अपने शरीरसे रक्तकी वर्षा-सी करने लगा। इसके बाद 'भल्ल'नामक बाणका प्रहार करके श्रीरामने मारीचको उसी तरह समुद्रके तटपर फेंक दिया, जैसे वायु पत्तेको उड़ाकर दूर फेंक दे। तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंने मिलकर शेष सभी राक्षसोंका वध कर डाला ॥ ८८—९२ ॥

रामेण रक्षितमखो विश्वामित्रो महायशाः।
समाप्य यागं विधिवत् पूजयामास ऋत्विजान्॥९३॥
सदस्यानपि सम्पूज्य यथार्हं च ह्यरिंदम।
रामं च लक्ष्मणं चैव पूजयामास भक्तितः॥९४॥
ततो देवगणस्तुष्टो यज्ञभागेन सत्तम।
ववर्ष पुष्पवर्षं तु रामदेवस्य मूर्धनि॥९५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा यज्ञकी रक्षा होती रहनेसे महायशस्वी विश्वामित्रने उस यज्ञको विधिवत् पूर्ण करके ऋत्विजोंका दक्षिणादिसे पूजन किया। शत्रुदमन ! उस यज्ञके सदस्योंका भी यथोचित समादर करके विश्वामित्रजीने श्रीराम और लक्ष्मणकी भी भक्तिपूर्वक पूजा एवं प्रशंसा की। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज ! तदनन्तर उस यज्ञमें मिले हुए भागसे संतुष्ट देवताओंने भगवान् रामके मस्तकपर पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ९३—९५ ॥

निवार्य राक्षसभयं कारयित्वा तु तन्मखम्।
श्रुत्वा नानाकथाः पुण्या रामो भ्रातृसमन्वितः॥९६॥
तेन नीतो विनीतात्मा अहल्या यत्र तिष्ठति।
व्यभिचारान्महेन्द्रेण भर्त्रा शप्ता हि सा पुरा॥९७॥
पाषाणभूता राजेन्द्र तस्य रामस्य दर्शनात्।
अहल्या मुक्तशापा च जगाम गौतमं प्रति॥९८॥

इस प्रकार भाई लक्ष्मणके साथ विनयशील श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंसे प्राप्त भयका निवारण करके, विश्वामित्रका यज्ञ पूर्ण कराकर, नाना प्रकारकी पावन कथाएँ सुनते हुए मुनिके द्वारा उस स्थानपर लाये गये, जहाँ शिला बनी हुई अहल्या थी। राजेन्द्र ! पूर्वकालमें इन्द्रके साथ व्यभिचार करनेसे अपने पति गौतमका शाप प्राप्तकर अहल्या पत्थर हो गयी थी। उस समय रामका दर्शन पाते ही वह शापसे मुक्त हो पुनः अपने पति गौतमके पास चली गयी ॥ ९६—९८ ॥

विश्वामित्रस्ततस्तत्र चिन्तयामास वै क्षणम्।
कृतदारो मया नेयो रामः कमललोचनः॥९९॥
इति संचिन्त्य तौ गृह्य विश्वामित्रो महातपाः।
शिष्यैः परिवृतोऽनेकैर्जगाम मिथिलां प्रति॥१००॥

तदनन्तर विश्वामित्रजीने वहाँ क्षणभर विचार किया कि मुझे कमललोचन रामचन्द्रजीका विवाह करके इन्हें अयोध्या ले चलना चाहिये। यह सोचकर अनेक शिष्योंसे घिरे हुए महातपस्वी विश्वामित्रजी श्रीराम और लक्ष्मणको साथ ले मिथिलाकी ओर चल दिये ॥ ९९-१०० ॥

नानादेशादथायाता जनकस्य निवेशनम्।
राजपुत्रा महावीर्याः पूर्वं सीताभिकाङ्क्षिणः॥१०१॥
तान् दृष्ट्वा पूजयित्वा तु जनकश्च यथार्हतः।
यत्सीतायाः समुत्पन्नं धनुर्माहेश्वरं महत्॥१०२॥
अर्चितं गन्धमालाभी रम्यशोभासमन्विते।
रङ्गे महति विस्तीर्णे स्थापयामास तद्धनुः॥१०३॥

इनके जानेसे पूर्व ही वहाँ सीतासे विवाह करनेकी इच्छावाले अनेक महान् पराक्रमी राजकुमार नाना देशोंसे जनकके यहाँ पधारे थे। उन सबको आया देख राजा जनकने उनका यथोचित सत्कार किया तथा जो सीताके स्वयंवरके लिये ही प्रकट हुआ था, उस महान् माहेश्वर धनुषका चन्दन और पुष्प आदिसे पूजन करके उसे रमणीय शोभासे सम्पन्न सुविस्तृत रङ्गमञ्चपर लाकर रखवाया ॥ १०१—१०३ ॥

उवाच च नृपान् सर्वांस्तदोच्चैर्जनको नृपः।
आकर्षणादिदं येन धनुर्भग्नं नृपात्मजाः॥१०४॥
तस्येयं धर्मतो भार्या सीता सर्वाङ्गशोभना।
इत्येवं श्राविते तेन जनकेन महात्मना॥१०५॥
क्रमादादाय ते तत्तु सज्यीकर्तुमथाभवन्।
धनुषा ताडिताः सर्वे क्रमात्तेन महीपते॥१०६॥
विधूय पतिता राजन् विलज्जास्तत्र पार्थिवाः।
तेषु भग्नेषु जनकस्तद्धनुस्त्र्यम्बकं नृप॥१०७॥
संस्थाप्य स्थितवान् वीरो रामागमनकाङ्क्षया।
विश्वामित्रस्ततः प्राप्तो मिथिलाधिपतेर्गृहम्॥१०८॥

तब राजा जनकने वहाँ पधारे हुए उन समस्त राजाओंके प्रति उच्चस्वरसे कहा—'राजकुमारो !

जिसके खींचनेसे यह धनुष टूट जायगा, यह सर्वाङ्गसुन्दरी सीता उसीकी धर्मपत्नी हो सकती है। महात्मा जनकके द्वारा ऐसी बात सुनायी जानेपर वे नरेशगण क्रमशः उस धनुषको ले-लेकर चढ़ानेका प्रयत्न करने लगे; परंतु बारी-बारीसे उस धनुषद्वारा ही झटके खाकर काँपते हुए वे दूर गिर जाते थे। राजन्! इससे उन सभी भूपालोंको वहाँ बड़ी लज्जा हुई। नरेश्वर! उन सबके निराश हो जानेपर वीर राजा जनक उस शिव-धनुषको यथास्थान रखवाकर श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षामें वहाँ ही ठहरे रहे। इतनेमें विश्वामित्रजी मिथिला-नरेशके राजभवनमें आ पहुँचे ॥ १०४—१०८ ॥

जनकोऽपि च तं दृष्ट्वा विश्वामित्रं गृहागतम्।
रामलक्ष्मणसंयुक्तं शिष्यैश्चाभिगतं तदा ॥१०९॥
तं पूजयित्वा विधिवत्प्राज्ञं विप्रानुयायिनम्।
रामं रघुपतिं चापि लावण्यादिगुणैर्युतम् ॥११०॥
शीलाचारगुणोपेतं लक्ष्मणं च महामतिम्।
पूजयित्वा यथान्यायं जनकः प्रीतमानसः ॥१११॥
हेमपीठे सुखासीनं शिष्यैः पूर्वापरैर्वृतम्।
विश्वामित्रमुवाचाथ किं कर्तव्यं मयेति सः ॥११२॥

जनकने श्रीराम, लक्ष्मण तथा शिष्योंसे युक्त विश्वामित्र-जीको अपने भवनमें आया देख उस समय उनकी विधिवत् पूजा की। फिर ब्राह्मणका अनुसरण करनेवाले तथा लावण्य आदि गुणोंसे लक्षित रघुवंशनाथ बुद्धिमान् श्रीराम एवं शील-सदाचारादि गुणोंसे युक्त महामति लक्ष्मणका भी यथायोग्य पूजन करके जनकजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् सोनेके सिंहासनपर सुखपूर्वक बैठकर छोटे-बड़े शिष्योंसे घिरे हुए मुनिवर विश्वामित्रसे वे बोले—'भगवन्! अब मुझे क्या करना चाहिये' ॥ १०९—११२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य मुनिः प्राह महीपतिम्।
एष रामो महाराज विष्णुः साक्षान्महीपतिः ॥११३॥
रक्षार्थं विष्टपानां तु जातो दशरथात्मजः।
अस्मै सीतां प्रयच्छ त्वं देवकन्यामिव स्थिताम् ॥११४॥
अस्या विवाहे राजेन्द्र धनुर्भङ्गमुदीरितम्।
तदानय भवधनुरर्चयस्व जनाधिप ॥११५॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजा जनककी यह बात सुनकर मुनिने उनसे कहा—'महाराज! ये राजा राम साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। (तीनों) लोकोंकी रक्षाके लिये ये दशरथके पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं; अतः देवकन्याके समान सुशोभित होने-वाली सीताका ब्याह तुम इन्हींके साथ कर दो। परंतु राजेन्द्र! नराधिप! तुमने सीताके विवाहमें धनुष तोड़नेकी शर्त रक्खी है; अतः अब उस शिवधनुषको लाकर यहाँ उसकी अर्चना करो' ॥ ११३—११५ ॥

तथेत्युक्त्वा च राजा हि भवचापं तदद्भुतम्।
अनेकभूभुजां भङ्गि स्थापयामास पूर्ववत् ॥११६॥
ततो दशरथसुतो विश्वामित्रेण चोदितः।
तेषां मध्यात्समुत्थाय रामः कमललोचनः ॥११७॥
प्रणम्य विप्रान् देवांश्च धनुरादाय तत्तदा।
सज्यं कृत्वा महाबाहुर्ज्याघोषमकरोत्तदा ॥११८॥
आकृष्यमाणं तु बलात्तेन भग्नं महद्धनुः।
सीता च मालामादाय शुभां रामस्य मूर्धनि ॥११९॥
क्षिप्त्वा संवरयामास सर्वक्षत्रियसंनिधौ।
ततस्ते क्षत्रियाः क्रुद्धा राममासाद्य सर्वतः ॥१२०॥
मुमुचुः शरजालानि गर्जयन्तो महाबलाः।
तान्निरीक्ष्य ततो रामो धनुरादाय वेगवान् ॥१२१॥
ज्याघोषतलघोषेण कम्पयामास तान्नृपान्।
चिच्छेद शरजालानि तेषां स्वास्त्रै रथांस्ततः ॥१२२॥
धनूंषि च पताकाश्च रामश्चिच्छेद लीलया।
संनह्य स्वबलं सर्वं मिथिलाधिपतिस्ततः ॥१२३॥
जामातरं रणे रक्षन् पार्ष्णिग्राहो बभूव ह।
लक्ष्मणश्च महावीरो विद्राव्य युधि तान्नृपान् ॥१२४॥
हस्त्यश्वान्जगृहे तेषां स्यन्दनानि बहूनि च।
वाहनानि परित्यज्य पलायनपरान्नृपान् ॥१२५॥
तान्निहन्तुं च धावत्स पृष्ठतो लक्ष्मणस्तदा।
मिथिलाधिपतिस्तं च वारयामास कौशिकः ॥१२६॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर राजाने अनेक भूपालोंका मान भङ्ग करनेवाले उस अद्भुत शिवधनुषको पूर्ववत् वहाँ रखवाया। तत्पश्चात् कमललोचन दशरथनन्दन राम विश्वा-

मित्रजीके आज्ञा देनेपर राजाओंके बीचसे उठे और ब्राह्मणों तथा देवताओंको प्रणाम करके उन्होंने वह धनुष उठा लिया। फिर उन महाबाहुने धनुषकी डोरी चढ़ाकर उसकी टंकार की। रामके द्वारा बलपूर्वक खींचे जानेसे वह महान् धनुष सहसा टूट गया। तब सीताजी सुन्दर माला लेकर आयीं और उन सम्पूर्ण क्षत्रियोंके निकट भगवान् रामके गलेमें वह माला डालकर उन्होंने उनका विधिपूर्वक पतिरूपसे वरण किया। इससे वहाँ आये हुए सभी महाबली क्षत्रिय कुपित हो गये और श्रीरामचन्द्रजीपर सब ओरसे आक्रमण एवं गर्जना करते हुए उनपर बाण बरसाने लगे। उन्हें यों करते देख श्रीरामने भी वेगपूर्वक हाथमें धनुष ले प्रत्यञ्चाकी टंकारसे उन सभी नरेशोंको कम्पित कर दिया और अपने अस्त्रोंसे उन सबके बाण तथा रथ काट डाले। इतना ही नहीं, श्रीरामने लीलापूर्वक ही उनके धनुष तथा पताकाएँ भी काट डालीं। तदनन्तर मिथिलानरेश भी अपनी सारी सेना तैयार करके उस संग्राममें जामाता श्रीरामकी रक्षा करते हुए उनके पृष्ठपोषक हो गये। इधर, महावीर लक्ष्मणने भी युद्धमें उन राजाओंको मार भगाया तथा उनके हाथी, घोड़े और बहुत-से रथ अपने अधिकारमें कर लिये। अपने वाहन छोड़कर भागे जाते हुए उन राजाओंको मार डालनेके लिये लक्ष्मण उनके पीछे दौड़े। तब उन्हें मिथिलानरेश जनक और विश्वामित्रने मना कर दिया ॥ ११६—१२६ ॥

जितसेनं महावीरं रामं भ्रात्रा समन्वितम् ।
आदाय प्रविवेशाथ जनकः स्वगृहं शुभम् ॥१२७॥
दूतं च प्रेषयामास तदा दशरथाय सः ।
श्रुत्वा दूतमुखात् सर्वं विदितार्थः स पार्थिवः॥१२८॥
सभार्यः ससुतः श्रीमान् हस्त्यश्वरथवाहनः ।
मिथिलामाजगामाशु स्वबलेन समन्वितः ॥१२९॥
जनकोऽप्यस्य सत्कारं कृत्वा स्वां च सुतां ततः।
विधिवत्कृतशुल्कां तां ददौ रामाय पार्थिव ॥१३०॥
अपराश्च सुतास्तिस्रो रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
त्रिभ्यस्तु लक्ष्मणादिभ्यः स्वकन्या विधिवद्ददौ १३१

राजाओंकी सेनापर विजय पाये हुए महावीर श्रीरामको लक्ष्मणसहित साथ ले राजा जनकने अपने सुन्दर भवनमें प्रवेश किया। उसी समय उन्होंने राजा दशरथके पास एक दूत भेजा। दूतके मुखसे सारी बातें सुनकर राजाको सब वृत्तान्त ज्ञात हुआ। तब श्रीमान् राजा दशरथ अपनी रानियों और पुत्रोंको साथ ले, हाथी, घोड़े और रथ आदि वाहनोंसे सम्पन्न हो, सेनाके साथ तुरंत ही मिथिलामें पधारे। राजन्! जनकने भी राजा दशरथका भलीभाँति सत्कार किया। फिर विधिपूर्वक जिसके पाणिग्रहणकी शर्त पूरी की जा चुकी थी, उस अपनी कन्या सीताको रामके हाथमें दे दिया। तत्पश्चात् अपनी अन्य तीन कन्याओंको भी, जो परमसुन्दरी और आभूषणोंसे अलंकृत थीं, लक्ष्मण आदि तीन भाइयोंके साथ विधिपूर्वक ब्याह दिया ॥ १२७—१३१ ॥

एवं कृतविवाहोऽसौ रामः कमललोचनः ।
भ्रातृभिर्मातृभिः सार्धं पित्रा बलवता सह ॥१३२॥
दिनानि कतिचित्तत्र स्थितो विविधभोजनैः ।
ततोऽयोध्यापुरीं गन्तुमुत्सुकं ससुतं नृपम् ।
दृष्ट्वा दशरथं राजा सीतायाः प्रददौ वसु ॥१३३॥
रत्नानि दिव्यानि बहूनि दत्त्वा
रामाय वस्त्राण्यतिशोभनानि ।
हस्त्यश्वदासानपि कर्मयोग्यान्
दासीजनांश्च प्रवराः स्त्रियश्च ॥१३४॥
सीतां सुशीलां बहुरत्नभूषितां
रथं समारोप्य सुतां सुरूपाम् ।
वेदादिघोषैर्बहुमङ्गलैश्च
सम्प्रेषयामास स पार्थिवो बली ॥१३५॥
प्रेषयित्वा सुतां दिव्यां नत्वा दशरथं नृपम् ।
विश्वामित्रं नमस्कृत्य जनकः संनिवृत्तवान् ॥१३६॥
तस्य पत्न्यो महाभागाः शिक्षयित्वा सुतां तदा।
भर्तृभक्तिं कुरु शुभे श्वश्रूणां श्वशुरस्य च ॥१३७॥
श्वश्रूणामर्पयित्वा तां निवृत्ता विविशुः पुरम् ।

इस प्रकार विवाह कर लेनेके पश्चात् कमललोचन श्रीराम अपने भ्राताओं, माताओं और बलवान् पिताके साथ कुछ दिनोंतक नाना प्रकारके भोजनादिसे सत्कृत हो मिथिलापुरीमें रहे। फिर महाराज दशरथको अपने पुत्रोंके साथ अयोध्या जानेके लिये उत्कण्ठित देख राजा जनकने सीताके लिये बहुत-सा धन और दिव्य रत्न देकर श्रीरामके लिये अत्यन्त

सुन्दर वस्त्र, क्रियाकुशल हाथी, घोड़े और दास दिये एवं दासीके रूपमें बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ भी अर्पित कीं। उन बलवान् भूपालने बहुत-से रत्नमय आभूषणोंद्वारा विभूषित सुन्दरी साध्वी पुत्री सीताको रथपर चढ़ाकर वेदध्वनि तथा अन्य माङ्गलिक शब्दोंके साथ विदा किया। अपनी दिव्य कन्या सीताको विदा कर राजा जनक दशरथजी तथा विश्वामित्र [एवं वसिष्ठ] मुनिको प्रणाम करके लौट आये। तब जनककी अति सौभाग्यशालिनी रानियाँ भी अपनी कन्याओंको यह शिक्षा देकर कि 'शुभे ! तुम पतिकी भक्ति तथा सास-ससुरकी सेवा करना' उन्हें उनकी सासुओंको सौंप, नगरमें लौट आयीं ॥ १३२—१३७½ ॥

ततस्तु रामं गच्छन्तमयोध्यां प्रबलान्वितम् ॥१३८॥
श्रुत्वा परशुरामो वै पन्थानं संरुरोध ह।
तं दृष्ट्वा राजपुरुषाः सर्वे ते दीनमानसाः ॥१३९॥
आसीद्दशरथश्चापि दुःखशोकपरिप्लुतः।
सभार्यः सपरीवारो भार्गवस्य भयान्नृप ॥१४०॥
ततोऽब्रवीज्जनान् सर्वान् राजानं च सुदुःखितम्।
वसिष्ठश्चोर्जिततपा ब्रह्मचारी महामुनिः ॥१४१॥

कहते हैं, तदनन्तर यह सुनकर कि 'राम अपनी प्रबल सेनाके साथ अयोध्यापुरीको लौट रहे हैं', परशुरामने उनका मार्ग रोक लिया। उन्हें देखकर सभी राजपुरुषोंका हृदय कातर हो गया। नरेश्वर ! परशुरामके भयसे राजा दशरथ भी अपनी स्त्री तथा परिवारके साथ दुःखी और शोकमग्न हो गये। तब उत्कृष्ट तपस्वी ब्रह्मचारी महामुनि वसिष्ठजी दुःखी राजा दशरथ तथा अन्य सब लोगोंसे बोले ॥ १३८—१४१ ॥

वसिष्ठ उवाच

युष्माभिरत्र रामार्थं न कार्यं दुःखमण्वपि ॥१४२॥
पित्रा वा मातृभिर्वापि अन्यैर्भृत्यजनैरपि।
अयं हि नृपते रामः साक्षाद्विष्णुस्तु ते गृहे ॥१४३॥
जगतः पालनार्थाय जन्मप्राप्तो न संशयः।
यस्य संकीर्त्य नामापि भवभीतिः प्रणश्यति ॥१४४॥
ब्रह्म मूर्तं स्वयं यत्र भयादेस्तत्र का कथा।
यत्र संकीर्त्यते रामकथामात्रमपि प्रभो ॥१४५॥
नोपसर्गभयं तत्र नाकालमरणं नृणाम्।

वसिष्ठजीने कहा—तुमलोगोंको यहाँ श्रीरामके लिये तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। पिता, माता, भाई अथवा अन्य भृत्यजन थोड़ा-सा भी खेद न करें। नरपाल ! ये श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। समस्त जगत्की रक्षाके लिये ही इन्होंने तुम्हारे घरमें अवतार लिया है, इसमें संदेह नहीं है। जिनके नाममात्रका कीर्तन करनेसे संसाररूपी भय निवृत्त हो जाता है, वे परमेश्वर ही जहाँ साक्षात् मूर्तिमान् होकर विराजमान हैं, वहाँ भय आदिकी चर्चा भी कैसे की जा सकती है। प्रभो ! जहाँ श्रीरामचन्द्रजीकी कथामात्रका भी कीर्तन होता है, वहाँ मनुष्योंके लिये संक्रामक बीमारी और अकालमृत्युका भय नहीं होता ॥ १४२—१४५½ ॥

इत्युक्ते भार्गवो रामो राममाहाग्रतः स्थितम् ॥१४६॥
त्यज त्वं रामसंज्ञां तु मया वा संगरं कुरु।
इत्युक्ते राघवः प्राह भार्गवं तं पथि स्थितम् ॥१४७॥
रामसंज्ञां कुतस्त्यक्ष्ये त्वया योत्स्ये स्थिरो भव।
इत्युक्त्वा तं पृथक् स्थित्वा रामो राजीवलोचनः॥१४८॥
ज्याघोषमकरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा।
ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम् ॥१४९॥
पश्यतां सर्वभूतानां तेजो राममुखेऽविशत्।
दृष्ट्वा तं भार्गवो रामः प्रसन्नवदनोऽब्रवीत् ॥१५०॥
राम राम महाबाहो रामस्त्वं नात्र संशयः।
विष्णुरेव भवाञ्जातो ज्ञातोऽस्यद्य मया विभो॥१५१॥
गच्छ वीर यथाकामं देवकार्यं च वै कुरु।
दुष्टानां निधनं कृत्वा शिष्टांश्च परिपालय ॥१५२॥
याहि त्वं स्वेच्छया राम अहं गच्छे तपोवनम्।

वसिष्ठजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि भृगुवंशी परशुरामजीने सामने खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—"राम ! तुम अपना यह 'राम' नाम त्याग दो, अथवा मेरे साथ युद्ध करो।' उनके यों कहनेपर रघुकुलनन्दन श्रीरामने मार्गमें खड़े हुए उन परशुरामजीसे कहा—"मैं 'राम' नाम कैसे छोड़ सकता हूँ ? तुम्हारे साथ युद्ध ही करूँगा, सँभल जाओ।" उनसे इस प्रकार कहकर कमललोचन श्रीराम अलग खड़े हो गये और उन वीरवरने उस समय वीर परशुरामके सामने ही धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टंकार की। तब परशुरामजीके शरीरसे वैष्णव तेज निकलकर सब प्राणियोंके देखते-देखते श्रीरामके

मुखमें समा गया। उस समय भृगुवंशी परशुरामने श्रीरामकी ओर देख प्रसन्नमुख होकर कहा—"महाबाहु श्रीराम! आप ही 'राम' हैं, अब इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है। प्रभो! आज मैंने आपको पहचाना; आप साक्षात् विष्णु ही इस रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। वीर! अब आप अपने इच्छानुसार जाइये, देवताओंका कार्य सिद्ध कीजिये और दुष्टोंका नाश करके साधु पुरुषोंका पालन कीजिये। श्रीराम! अब आप स्वेच्छानुसार चले जाइये; मैं भी तपोवनको जाता हूँ" ॥ १४६—१५२½ ॥

इत्युक्त्वा पूजितस्तैस्तु मुनिभावेन भार्गवः ॥१५३॥
महेन्द्राद्रिं जगामाथ तपसे धृतमानसः ।
ततस्तु जातहर्षास्ते जना दशरथश्च ह ॥१५४॥
पुरीमयोध्यां सम्प्राप्य रामेण सह पार्थिवः ।
दिव्यशोभां पुरीं कृत्वा सर्वतो भद्रशालिनीम् ॥१५५॥
प्रत्युत्थाय ततः पौराः शङ्खतूर्यादिभिः स्वनैः ।
विशन्तं राममागत्य कृतदारं रणेऽजितम् ॥१५६॥
तं वीक्ष्य हर्षिताः सन्तो विविशुस्तेन वै पुरीम् ।

यों कहकर परशुरामजी उन दशरथ आदिके द्वारा मुनिभावसे पूजित हुए और तपस्याके लिये मनमें निश्चय करके महेन्द्राचलको चले गये। तब समस्त बरातियों तथा महाराज दशरथको महान् हर्ष प्राप्त हुआ और वे (वहाँसे चलकर) श्रीरामचन्द्रजीके साथ अयोध्यापुरीके निकट पहुँचे। उधर सम्पूर्ण पुरवासी मङ्गलमयी अयोध्या नगरीको सब ओरसे दिव्य सजावटसे सुसज्जित करके शङ्ख और दुन्दुभि आदि गाजे-बाजेके साथ उनकी अगवानीके लिये निकले। नगरके बाहर आकर वे रणमें अजेय श्रीरामजीको पत्नीसहित नगरमें प्रवेश करते हुए देखकर आनन्दमग्न हो गये और उन्हींके साथ अयोध्यामें प्रविष्ट हुए ॥ १५३—१५६½ ॥

तौ दृष्ट्वा स मुनिः प्राप्तौ रामं लक्ष्मणमन्तिके ॥१५७॥
दशरथाय तत्पित्रे मातृभ्यश्च विशेषतः ।
तौ समर्प्य मुनिश्रेष्ठस्तेन राज्ञा च पूजितः ।
विश्वामित्रश्च सहसा प्रतिगन्तुं मनो दधे ॥१५८॥
समर्प्य रामं स मुनिः सहानुजं
सभार्यमग्रे पितुरेकवल्लभम् ।
पुनः पुनः श्राव्य हसन्महामति-
र्जगाम सिद्धाश्रममेवमात्मनः ॥१५९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे रामप्रादुर्भावे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् मुनिवर विश्वामित्रने श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाइयोंको अपने निकट आया हुआ देखकर उन्हें उनके पिता दशरथ तथा विशेषरूपसे उनकी माताओंको समर्पित कर दिया। तब राजा दशरथद्वारा पूजित होकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र सहसा लौट जानेके लिये उद्यत हुए। इस प्रकार महामति मुनि विश्वामित्रजीने छोटे भाई लक्ष्मण तथा भार्या सीताके साथ श्रीरामजीको, जो अपने पिताको एकान्त प्रिय थे, समर्पित कर दिया और उनके समक्ष बारंबार उनका गुणगान करके हँसते हुए वे अपने श्रेष्ठ सिद्धाश्रमको चले गये ॥ १५७—१५९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें रामावतारविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अड़तालीसवाँ अध्याय

श्रीराम-वनवास; राजा दशरथका निधन तथा वनमें राम-भरतकी भेंट

मार्कण्डेय उवाच

कृतदारो महातेजा रामः कमललोचनः ।
पित्रे सुमहतीं प्रीतिं जनानामुपपादयन् ॥ १ ॥
अयोध्यायां स्थितो रामः सर्वभोगसमन्वितः ।
प्रीत्या नन्दत्ययोध्यायां रामे रघुपतौ नृप ॥ २ ॥
भ्राता शत्रुघ्नसहितो भरतो मातुलं ययौ ।
ततो दशरथो राजा प्रसमीक्ष्य सुशोभनम् ॥ ३ ॥
युवानं बलिनं योग्यं भूपसिद्ध्यै सुतं कविम् ।
अभिषिच्य राज्यभारं रामे संस्थाप्य वैष्णवम् ॥ ४ ॥
पदं प्राप्तुं महद्यत्नं करिष्यामीत्यचिन्तयत् ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—विवाह करनेके पश्चात् महातेजस्वी कमल-लोचन श्रीराम अयोध्यावासियोंका आनन्द बढ़ाते हुए सब प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न हो, पिताके संतोषके लिये अयोध्यामें ही रहने लगे। नरेश्वर! जब रघुकुलनायक श्रीराम प्रसन्नतापूर्वक अयोध्यामें सानन्द निवास करने लगे, तब उनके भाई भरत शत्रुघ्नको साथ लेकर अपने मामाके यहाँ चले गये। तदनन्तर राजा दशरथने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको अप्रतिम सुन्दर, बलिष्ठ, नवयुवक, विद्वान् और राजा बनाये जानेके योग्य समझकर सोचा कि 'अब श्रीरामको राजपदपर अभिषिक्त करके राज्यका भार इन्हें सौंप दूँ और स्वयं भगवान् विष्णुके धामको प्राप्त करनेके लिये महान् यत्न करूँ' ॥ १-४½ ॥

संचिन्त्य तत्परो राजा सर्वदिक्षु समादिशत् ॥ ५ ॥
प्राज्ञान् भृत्यान् महीपालान्मन्त्रिणश्च त्वरान्वितः ।
रामाभिषेकद्रव्याणि ऋषिप्रोक्तानि यानि वै ॥ ६ ॥
तानि भृत्याः समाहृत्य शीघ्रमागन्तुमर्हथ ।
दूतामात्याः समादेशात्सर्वदिक्षु नराधिपान् ॥ ७ ॥
आहूय तान् समाहृत्य शीघ्रमागन्तुमर्हथ ।
अयोध्यापुरमत्यर्थं सर्वशोभासमन्वितम् ॥ ८ ॥
जनाः कुरुत सर्वत्र नृत्यगीतादिनन्दितम् ।
पुरवासिजनानन्दं देशवासिमनःप्रियम् ॥ ९ ॥
रामाभिषेकं विपुलं श्वो भविष्यति जानथ ।

यह सोचकर राजा इस कार्यमें तत्पर हो गये और समस्त दिशाओंमें रहनेवाले बुद्धिमान् भृत्यों, अधीनस्थ राजाओं तथा मन्त्रियोंको तुरंत आज्ञा दी—'भृत्यगण! श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके लिये जो-जो सामान मुनियोंने बताये हैं, वे सब एकत्र करके शीघ्र ही आओ। दूतो और मन्त्रियो! तुमलोग भी मेरी आज्ञासे सब दिशाओंके राजाओंको बुलाकर, उन्हें साथ ले, शीघ्र यहाँ आ जाओ। पुरवासी जनो! तुम इस अयोध्यानगरीको उत्तम रीतिसे सजाकर सर्वथा शोभा-सम्पन्न बना दो तथा सर्वत्र नृत्य-गीत आदि उत्सवका ऐसा प्रबन्ध करो, जिससे यह नगर समस्त पुरवासियोंको आनन्द देनेवाला हो जाय और सम्पूर्ण देशके निवासियोंको मनोहर प्रतीत होने लगे। तुम सब लोग यह जान लो कि कल बड़े समारोहके साथ श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक होगा' ॥ ५-९½ ॥

श्रुत्वेत्थं मन्त्रिणः प्राहुस्तं नृपं प्रणिपत्य च ॥१०॥
शोभनं ते मतं राजन् यदिदं परिभाषितम् ।
रामाभिषेकमस्माकं सर्वेषां च प्रियंकरम् ॥११॥

यह सुनकर मन्त्रियोंने राजाको प्रणाम करके उनसे कहा—'राजन्! आपने हमारे समक्ष अपना जो यह विचार व्यक्त किया है, बहुत ही उत्तम है। श्रीरामका अभिषेक हम सभीके लिये प्रियकारक है' ॥ १०-११ ॥

इत्युक्तो दशरथस्तैस्तान् सर्वान् पुनरब्रवीत् ।
आनीयन्तां द्रुतं सर्वे सम्भारा मम शासनात् ॥१२॥
सर्वतः सारभूता च पुरी चेयं समन्ततः ।
अद्य शोभान्विता कार्या कर्तव्यं यागमण्डलम् ॥१३॥

उनके यों कहनेपर राजा पुनः उन सब लोगोंसे बोले—'अच्छा, अब मेरी आज्ञासे अभिषेकके सभी सामान शीघ्र लाये जायँ और समस्त वसुधाकी सारभूता इस अयोध्यापुरीको भी आज ही सब ओरसे सुसज्जित कर देना चाहिये। साथ ही एक यज्ञमण्डपकी रचना भी परम आवश्यक है' ॥ १२-१३ ॥

इत्येवमुक्ता राज्ञा ते मन्त्रिणः शीघ्रकारिणः ।
तथैव चक्रुस्ते सर्वे पुनःपुनरुदीरिताः ॥१४॥
प्राप्तहर्षः स राजा च शुभं दिनमुदीक्षयन् ।
कौशल्या लक्ष्मणश्चैव सुमित्रा नागरो जनः ॥१५॥
रामाभिषेकमाकर्ण्य मुदं प्राप्यातिहर्षितः ।
श्वश्रूश्वशुरयोः सम्यक् शुश्रूषणपरा तु सा ॥१६॥
मुदान्विता सिता सीता भर्तुराकर्ण्य शोभनम् ।

राजाके यों कहने और बार-बार प्रेरणा करनेपर उन सब शीघ्रकारी मन्त्रियोंने उनके कथनानुसार सब कार्य पूर्ण कर दिये। राजा इस शुभ दिनकी प्रतीक्षा करते हुए बड़े ही आनन्दित हुए। कौशल्या, सुमित्रा, लक्ष्मण तथा अन्य पुरवासी श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकका शुभ समाचार सुनकर आनन्दके मारे फूले नहीं समाये। सास-ससुरकी सेवामें भलीभाँति लगी रहनेवाली सीता भी अपने पतिके लिये इस शुभ संवादको सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुई ॥ १४-१६½ ॥

श्वोभाविन्यभिषेके तु रामस्य विदितात्मनः ॥१७॥
दासी तु मन्थरानाम्नी कैकय्याः कुब्जरूपिणी ।

स्वां स्वामिनीं तु कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ।।१८।।
शृणु राज्ञि महाभागे वचनं मम शोभनम् ।
त्वत्पतिस्तु महाराजस्तव नाशाय चोद्यतः ।।१९।।
रामोऽसौ कौशलीपुत्रः श्वो भविष्यति भूपतिः ।
वसुवाहनकोशादि राज्यं च सकलं शुभे ।।२०।।
भविष्यत्यद्य रामस्य भरतस्य न किंचन ।
भरतोऽपि गतो दूरं मातुलस्य गृहं प्रति ।।२१।।
हा कष्टं मन्दभाग्यासि सापत्न्याद्दुःखिता भृशम् ।

आत्मतत्त्वके ज्ञाता अथवा सबके मनकी बात जाननेवाले भगवान् श्रीरामका अभिषेक दूसरे ही दिन होनेवाला था। इसी बीचमें कैकेयीकी कुबड़ी दासी मन्थराने अपनी स्वामिनी कैकेयीके पास जाकर यह बात कही—'बड़भागिनी रानी ! मैं एक बहुत अच्छी बात सुनाती हूँ, सुनो । तुम्हारे पति महाराज दशरथ अब तुम्हारा नाश करनेपर तुले हुए हैं । शुभे ! वे जो कौशल्या-पुत्र राम हैं, कल ही राजा होंगे । धन, वाहन और कोष आदिके साथ यह सारा राज्य अब रामका हो जायगा; भरतका कुछ भी नहीं रहेगा । देखो, भाग्यकी बात; इस अवसरपर भरत भी बहुत दूर—अपने मामाके घर चले गये हैं । हाय ! यह सब कितने कष्टकी बात है ! तुम मन्दभागिनी हो । अब तुम्हें सौतकी ओरसे बहुत ही कष्ट उठाना पड़ेगा' ।। १७—२१½ ।।

सैवमाकर्ण्य कैकेयी कुब्जामिदमथाब्रवीत् ।।२२।।
पश्य मे दक्षतां कुब्जे अद्यैव त्वं विचक्षणे ।
यथा तु सकलं राज्यं भरतस्य भविष्यति ।।२३।।
रामस्य वनवासश्च तथा यत्नं करोम्यहम् ।

ऐसी बात सुनकर कैकेयीने कुब्जासे कहा—'बुद्धिमति कुब्जे ! तू मेरी दक्षता तो देख—आज ही मैं ऐसा यत्न करती हूँ, जिससे यह सारा राज्य भरतका हो जाय और रामका वनवास हो' ।। २२—२३½ ।।

इत्युक्त्वा मन्थरां सा तु उन्मुच्य स्वाङ्गभूषणम् ।।२४।।
वस्त्रं पुष्पाणि चोन्मुच्य स्थूलवासोधराभवत् ।
निर्माल्यपुष्पधृक्कष्टा कश्मलाङ्गी विरूपिणी ।।२५।।
भस्मधूल्यादिनिर्दिग्धा भस्मधूल्या तथा श्रिते ।
भूभागे शान्तदीपे सा संध्याकाले सुदुःखिता ।।२६।।
ललाटे श्वेतचैलं तु बद्ध्वा सुष्वाप भामिनी ।

मन्थरासे यों कहकर कैकेयीने अपने अङ्गोंके आभूषण उतार दिये । सुन्दर वस्त्र और फूलोंके हार भी उतार फेंके और मोटा वस्त्र पहन लिया । फिर निर्माल्य (पूजासे उतरे हुए) पुष्पोंको धारण किया, देहमें राख और धूल लपेट ली और कुरूप वेष बनाकर वह शरीरमें कष्ट और मूर्च्छाका अनुभव करने लगी । वह भामिनी ललाटमें श्वेत वस्त्र बाँध, संध्याके समय दीपक बुझा, अँधेरेमें ही राख और धूलसे भरे भूभागमें अत्यन्त दुःखित हो लेट गयी ।। २४—२६½ ।।

मन्त्रिभिः सह कार्याणि सम्मन्त्र्य सकलानि तु ।।२७।।
पुण्याहः स्वस्तिमाङ्गल्यैः स्थाप्य रामं तु मण्डले ।
ऋषिभिस्तु वसिष्ठाद्यैः सार्धं सम्भारमण्डपे ।।२८।।
वृद्धिजागरणीयैश्च सर्वतस्तूर्यनादिते ।
गीतनृत्यसमाकीर्णे शङ्खकाहलनिःस्वनैः ।।२९।।
स्वयं दशरथस्तत्र स्थित्वा प्रत्यागतः पुनः ।
कैकेय्या वेश्मनो द्वारं जरद्भिः परिरक्षितम् ।।३०।।
रामाभिषेकं कैकेयीं वक्तुकामः स पार्थिवः ।
कैकेयीभवनं वीक्ष्य सान्धकारमथाब्रवीत् ।।३१।।

इधर मन्त्रियोंके साथ सारे कार्योंके विषयमें मन्त्रणा करके, वसिष्ठ आदि ऋषियोंद्वारा पुण्याहवाचन, स्वस्तिवाचन और मङ्गलपाठादि करवाकर, श्रीरामको यज्ञ-सामग्रीसे युक्त मण्डपमें बिठाया और वृद्धि (नान्दीश्राद्ध) एवं जागरण-सम्बन्धी कृत्यके लिये उपयुक्त तथा सब ओर शहनाई एवं शङ्ख, काहल आदिके शब्दोंसे निनादित एवं गान और नृत्यके कार्यक्रमोंसे पूर्ण उस मण्डपमें थोड़ी देरतक स्वयं भी ठहरकर राजा दशरथ वहाँसे लौट आये । राजा कैकेयीसे श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकका शुभ समाचार सुनानेकी इच्छासे कैकेयीके भवनके दरवाजेपर पहुँचे, जहाँ बूढ़े सिपाही पहरा देते थे । कैकेयीके घरको अन्धकारयुक्त देख राजाने कहा ।। २७—३१ ।।

अन्धकारमिदं कस्मादद्य ते मन्दिरे प्रिये ।
रामाभिषेकं हर्षाय अन्त्यजा अपि मेनिरे ।।३२।।
गृहालंकरणं कुर्वन्त्यद्य लोका मनोहरम् ।
त्वयाद्य न कृतं कस्मादित्युक्त्वा च महीपतिः ।।३३।।
ज्वालयित्वा गृहे दीपान् प्रविवेश गृहं नृपः ।

अशोभनाङ्गीं कैकेयीं स्वपन्तीं पतितां भुवि ॥३४॥
दृष्ट्वा दशरथः प्राह तस्याः प्रियमिदं त्विति ।
आश्लिष्योत्थाय तां राजा शृणु मे परमं वचः ॥३५॥
स्वमातुरधिकां नित्यं यस्ते भक्तिं करोति वै ।
तस्याभिषेकं रामस्य श्वो भविष्यति शोभने ॥३६॥

'प्रिये ! आज तुम्हारे मन्दिरमें अन्धकार क्यों है ? आज तो इस नगरके चाण्डालोंने भी श्रीरामचन्द्रके अभिषेकको आनन्दजनक माना है। सभी लोग अपने घरको सुन्दर ढंगसे सजा रहे हैं। तुमने अपने भवनको क्यों नहीं सुसज्जित किया ?'—यों कहकर राजाने घरमें दीप प्रज्वलित कराये; फिर उसके भीतर प्रवेश किया। वहाँ कैकेयी धरतीपर पड़ी सो रही थी। उसका प्रत्येक अङ्ग अशोभन जान पड़ता था। उसे इस अवस्थामें देख राजाने उठाकर हृदयसे लगाया और उसको प्रिय लगनेवाले ये वचन कहे—'प्रिये ! मेरी उत्तम बात सुनो। सुन्दरि ! जो तुम्हारे प्रति अपनी मातासे भी अधिक प्रेम रखते हैं, उन्हीं श्रीरामचन्द्रका कल राज्याभिषेक होगा' ॥ ३२–३६ ॥

इत्युक्ता पार्थिवेनापि किंचिन्नोवाच सा शुभा ।
मुञ्चन्ती दीर्घमुष्णं च रोषोच्छ्वासं मुहुर्मुहुः ॥३७॥
तस्यावाश्लिष्य हस्ताभ्यां पार्थिवः प्राह रोषिताम् ।
किं ते कैकेयि दुःखस्य कारणं वद शोभने ॥३८॥
वस्त्राभरणरत्नादि यद्यदिच्छसि शोभने ।
तत्त्वं गृह्णीष्व निश्शङ्कं भाण्डारात् सुखिनी भव ॥३९॥
भाण्डारेण मम शुभे श्वोऽर्थसिद्धिर्भविष्यति ।
यदाभिषेकं सम्प्राप्ते रामे राजीवलोचने ॥४०॥
भाण्डागारस्य मे द्वारं मया मुक्तं निरर्गलम् ।
भविष्यति पुनः पूर्णं रामे राज्यं प्रशासति ॥४१॥
बहु मानय रामस्य अभिषेकं महात्मनः ।

राजाके इस प्रकार कहनेपर वह सुन्दरी कुछ भी न बोली। बारंबार क्रोधपूर्वक केवल लंबी-लंबी गरम साँसें छोड़ती रही। राजा अपनी भुजाओंसे उसका आलिङ्गन करके बैठ गये और उस रूठी हुई कैकेयीसे बोले—'सुन्दरी कैकेयि ! बताओ, तुम्हारे दुःखका क्या कारण है ? शुभे ! वस्त्र, आभूषण और रत्न आदि जिन-जिन वस्तुओंकी तुम्हें इच्छा हो, उन सबको बिना किसी आशङ्काके भण्डार-घरसे ले लो; परंतु प्रसन्न हो जाओ। कल्याणि ! कल जब श्रीरामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो जायगा, उस समय उस भाण्डारसे मेरे मनोरथकी सिद्धि हो जायगी। इस समय तो मैंने भण्डार-घरका द्वार उन्मुक्त कर रक्खा है। श्रीरामके राज्य-शासन करते समय वह फिर पूर्ण हो जायेगा। प्रिये ! महात्मा श्रीरामके राज्याभिषेकको तुम इस समय अधिक महत्त्व और सम्मान दो' ॥ ३७–४१½ ॥

इत्युक्ता राजवर्य्येण कैकेयी पापलक्षणा ॥४२॥
कुमतिर्निर्घृणा दुष्टा कुब्जया शिक्षिताब्रवीत् ।
राजानं स्वपतिं वाक्यं क्रूरमत्यन्तनिष्ठुरम् ॥४३॥
रत्नादि सकलं यत्ते तन्ममैव न संशयः ।
देवासुरमहायुद्धे प्रीत्या यन्मे वरद्वयम् ॥४४॥
पुरा दत्तं त्वया राजंस्तदिदानीं प्रयच्छ मे ।

महाराज दशरथके इस प्रकार कहनेपर कुब्जाके द्वारा पढ़ायी गयी पापिनी, दुर्बुद्धि, दयाहीना और दुष्टा कैकेयीने अपने पति महाराज दशरथसे अत्यन्त क्रूरतापूर्वक निष्ठुर वचन कहा—'महाराज ! इसमें संदेह नहीं कि आपके जो रत्न आदि हैं, वे सब मेरे ही हैं; किंतु पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर आपने प्रसन्न हो मुझे जो दो वर दिये थे, उन्हें ही इस समय दीजिये' ॥ ४२–४४½ ॥

इत्युक्तः पार्थिवः प्राह कैकेयीमशुभां तदा ॥४५॥
अदत्तमप्यहं दास्ये तव नान्यस्य वा शुभे ।
किं मे प्रतिश्रुतं पूर्वं दत्तमेव मया तव ॥४६॥
शुभाङ्गी भव कल्याणि त्यज कोपमनर्थकम् ।
रामाभिषेकजं हर्षं भजोत्तिष्ठ सुखी भव ॥४७॥

यह सुनकर राजाने उस अशुभा कैकेयीसे कहा—'शुभे ! और किसीकी बात तो मैं नहीं कहता, परंतु तुम्हारे लिये तो जिसे नहीं देनेको कहा है, वह वस्तु भी दे दूँगा। फिर जिसको देनेके लिये मैंने पहले प्रतिज्ञा कर ली है, वह वस्तु तो दी हुई ही समझो। कल्याणि ! अब सुन्दर वेष धारण करो और यह व्यर्थका कोप छोड़ दो। उठो, श्रीरामके राज्याभिषेकके आनन्दोत्सवमें भाग लो और सुखी हो जाओ' ॥ ४५–४७ ॥

इत्युक्त्वा राजवर्येण कैकेयी कलहप्रिया ।
उवाच परुषं वाक्यं राज्ञो मरणकारणम् ॥४८॥
वरद्वयं पूर्वदत्तं यदि दास्यसि मे विभो ।
श्वोभूते गच्छतु वनं रामोऽयं कोशलात्मजः ॥४९॥
द्वादशाब्दं निवसतु त्वदाज्ञया दण्डके वने ।
अभिषेकं च राज्यं च भरतस्य भविष्यति ॥५०॥

नृपश्रेष्ठ दशरथके यों कहनेपर कलहप्रिया कैकेयीने ऐसी कठोर बात कही, जो आगे चलकर राजाकी मृत्युका कारण बन गयी। उसने कहा—'प्रभो! यदि आप पहलेके दिये हुए दोनों वर मुझे देना चाहते हों तो (पहला वर मैं यही माँगती हूँ कि) ये कौशल्यानन्दन श्रीराम कल सवेरा होते ही वनको चले जायँ और आपकी आज्ञासे ये बारह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें निवास करें तथा मेरा दूसरा अभीष्ट वर यह है कि अब राज्य और राज्याभिषेक भरतका होगा' ॥ ४८—५० ॥

इत्याकर्ण्य स कैकेय्या वचनं घोरमप्रियम् ।
पपात भुवि निस्संज्ञो राजा सापि विभूषिता ॥५१॥
रात्रिशेषं नयित्वा तु प्रभाते सा मुदावती ।
दूतं सुमन्त्रमाहेदं राम आनीयतामिति ॥५२॥
रामस्तु कृतपुण्याहः कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः ।
यागमण्डपमध्यस्थः शङ्खतूर्यरवान्वितः ॥५३॥

कैकेयीके इस घोर अप्रिय वचनको सुनकर राजा दशरथ मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े और कैकेयीने (प्रसन्नतापूर्वक) अपने आपको सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कर लिया। शेष रात बिताकर प्रातःकाल कैकेयीने आनन्दित हो राजदूत सुमन्त्रसे कहा—'श्रीरामको यहाँ बुलाकर लाया जाय।' उस समय राम ब्राह्मणोंद्वारा पुण्याहवाचन और स्वस्तिवाचन कराकर, शङ्ख और तूर्य आदि बाजोंका शब्द सुनते हुए यज्ञमण्डपमें विराजमान थे ॥ ५१—५३ ॥

तमासाद्य ततो दूतः प्रणिपत्य पुरःस्थितः ।
राम राम महाबाहो आज्ञापयति ते पिता ॥५४॥
द्रुतमुत्तिष्ठ गच्छ त्वं यत्र तिष्ठति ते पिता ।
इत्युक्तस्तेन दूतेन शीघ्रमुत्थाय राघवः ॥५५॥
अनुज्ञाप्य द्विजान् प्राप्तः कैकेय्या भवनं प्रति ।

दूत सुमन्त्र उस समय श्रीरामचन्द्रजीके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके सामने खड़े हो गये और बोले—'राम! महाबाहु श्रीराम! तुम्हारे पिताजीका आदेश है, जल्दी उठो और जहाँ तुम्हारे पिता विद्यमान हैं, वहाँ चलो।' दूतके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही उठे और ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले कैकेयीके भवनमें जा पहुँचे ॥५४-५५½॥

प्रविशन्तं गृहं रामं कैकेयी प्राह निर्घृणा ॥५६॥
पितुस्तव मतं वत्स इदं ते प्रब्रवीम्यहम् ।
वने वस महाबाहो गत्वा त्वं द्वादशाब्दकम् ॥५७॥
अद्यैव गम्यतां वीर तपसे धृतमानसः ।
न चिन्त्यमन्यथा वत्स आदरात् कुरु मे वचः ॥५८॥

श्रीरामको अपने भवनमें प्रवेश करते देख दयाहीना कैकेयीने कहा—'वत्स! तुम्हारे पिताका यह विचार मैं तुम्हें बता रही हूँ। महाबाहो! तुम बारह वर्षोंतक वनमें जाकर रहो। वीर! वहाँ तपस्या करनेका निश्चय मनमें लिये तुम आज ही चले जाओ। बेटा! तुम्हें अपने मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे वचनका आदरपूर्वक पालन करो' ॥ ५६—५८ ॥

एतच्छ्रुत्वा पितुर्वाक्यं रामः कमललोचनः ।
तथेत्याज्ञां गृहीत्वासौ नमस्कृत्य च तावुभौ ॥५९॥
निष्क्रम्य तद्गृहाद्रामो धनुरादाय वेश्मतः ।
कौशल्यां च नमस्कृत्य सुमित्रां गन्तुमुद्यतः ॥६०॥

कैकेयीके मुखसे पिताका यह वचन सुनकर कमललोचन श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और उन दोनों—माता-पिताको प्रणाम करके उनके भवनसे निकलकर उन्होंने अपना धनुष सँभाला। फिर कौशल्या और सुमित्राको प्रणाम करके वे घरसे जानेको तैयार हो गये ॥ ५९-६० ॥

तच्छ्रुत्वा तु ततः पौरा दुःखशोकपरिप्लुताः ।
विव्यथुश्चाथ सौमित्रिः कैकेयीं प्रति रोषितः ॥६१॥
ततस्तं राघवो दृष्ट्वा लक्ष्मणं रक्तलोचनम् ।
वारयामास धर्मज्ञो धर्मवाग्भिर्महामतिः ॥६२॥
ततस्तु तत्र ये वृद्धास्तान् प्रणम्य मुनींश्च सः ।
रामो रथं विनिःसृतं प्रस्थानायारुरोह वै ॥६३॥

आत्मीयं सकलं द्रव्यं ब्राह्मणेभ्यो नृपात्मजः ।
श्रद्धया परया दत्त्वा वस्त्राणि विविधानि च ॥६४॥

यह समाचार सुनते ही समस्त पुरवासी-जन दुःख-शोकमें डूब गये और बड़ी व्यथाका अनुभव करने लगे। इधर सुमित्राकुमार लक्ष्मण कैकेयीके प्रति कुपित हो उठे। परम बुद्धिमान् धर्मज्ञ श्रीरामने लक्ष्मणको क्रोधसे लाल आँखें किये देख धर्मयुक्त वचनोंद्वारा उन्हें शान्त किया। तत्पश्चात् वहाँ जो बड़े-बूढ़े उपस्थित थे, उनको तथा मुनियोंको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी वनकी यात्राके लिये रथपर आरूढ़ हुए। उस रथका सारथि बहुत दुखी था। उस समय राजकुमार श्रीरामने अपने पासके समस्त द्रव्य और नाना प्रकारके वस्त्र अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंको दान कर दिये॥ ६१—६४॥

तिस्रः श्वश्रूः समामन्त्र्य श्वशुरं च विसंज्ञितम्।
मुञ्चन्तमश्रुधाराणि नेत्रयोः शोकजानि च ॥६५॥
पश्यती सर्वतः सीता चारुरोह तथा रथम्।
रथमारुह्य गच्छन्तं सीतया सह राघवम् ॥६६॥
दृष्ट्वा सुमित्रा वचनं लक्ष्मणं चाह दुःखिता।
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ॥६७॥
अयोध्यामटवीं विद्धि व्रज ताभ्यां गुणाकर।

तदनन्तर सीताजी भी अपनी तीनों सासुओंसे तथा नेत्रोंसे शोकाश्रुकी धारा बहाते हुए संज्ञाशून्य श्वशुर महाराज दशरथसे आज्ञा ले सब ओर देखती हुई रथपर आरूढ़ हुईं। सीताके साथ श्रीरामचन्द्रको रथपर चढ़कर वनमें जाते देख सुमित्रा अत्यन्त दुःखित हो लक्ष्मणसे बोलीं—'सद्गुणोंकी खान बेटा लक्ष्मण! तुम आजसे श्रीरामको ही पिता दशरथ समझो, सीताको ही मेरा स्वरूप मानो तथा वनको ही अयोध्या जानो। उन दोनोंके साथ ही सेवाके लिये तुम भी जाओ'॥ ६५—६७½॥

मात्रैवमुक्तो धर्मात्मा स्तनक्षीरार्द्रदेहया ॥६८॥
तां नत्वा चारुयानं तमारुरोह स लक्ष्मणः।
गच्छतो लक्ष्मणो भ्राता सीता चैव पतिव्रता ॥६९॥
रामस्य पृष्ठतो यातौ पुराद्धीरौ महामते।

स्नेहवश जिनके स्तनोंसे दूध बहकर समस्त शरीरको भिगो रहा था, उन माता सुमित्राके इस प्रकार कहनेपर लक्ष्मण उन्हें प्रणाम करके स्वयं भी उस सुन्दर रथपर जा बैठे। महामते! इस प्रकार नगरसे वनमें जाते हुए श्रीरामचन्द्रजीके पीछे धीर-वीर भ्राता लक्ष्मण तथा सुस्थिर-हृदया पतिव्रता सीता—दोनों ही चले॥ ६८-६९½॥

विधिच्छिन्नाभिषेकं तं रामं राजीवलोचनम् ॥७०॥
अयोध्याया विनिष्क्रान्तमनुयाताः पुरोहिताः।
मन्त्रिणः पौरमुख्याश्च दुःखेन महतान्विताः ॥७१॥
तं च प्राप्य हि गच्छन्तं राममूचुरिदं वचः।
राम राम महाबाहो गन्तुं नार्हसि शोभन ॥७२॥
राजन्नत्र निवर्तस्व विहायास्मान् क्व गच्छसि।

दुर्दैवने जिनके राज्याभिषेकको बीचमें ही छिन्न-भिन्न कर दिया था, वे कमलनयन श्रीराम जब अयोध्या-पुरीसे निकले, उस समय पुरोहित, मन्त्री और प्रधान-प्रधान पुरवासी भी बहुत दुखी होकर उनके पीछे-पीछे चले तथा वनकी ओर जाते हुए श्रीरामके निकट पहुँचकर उनसे यों बोले—'राम! राम! महाबाहो! तुम्हें वनमें नहीं जाना चाहिये। शोभाशाली नरेश्वर! नगरको लौट चलो; हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हो?'॥ ७०—७२½॥

इत्युक्तो राघवस्तैस्तु तानुवाच दृढव्रतः ॥७३॥
गच्छध्वं मन्त्रिणः पौरा गच्छध्वं च पुरोधसः।
पित्रादेशं मया कार्यमभियास्यामि वै वनम् ॥७४॥
द्वादशाब्दं व्रतं चैतन्नीत्वाहं दण्डके वने।
आगच्छामि पितुः पादं मातॄणां द्रष्टुमञ्जसा ॥७५॥

उनके यों कहनेपर दृढ़प्रतिज्ञ श्रीराम उनसे बोले—'मन्त्रियो! पुरवासियो! और पुरोहितगण! आपलोग लौट जायँ। मुझे अपने पिताजीकी आज्ञाका पालन करना है, इसलिये मैं वनमें अवश्य जाऊँगा। वहाँ दण्डकारण्यमें बारह वर्षोंतक वनवासके नियमको पूर्ण करनेके पश्चात् मैं पिता और माताओंके चरण-कमलोंका दर्शन करनेके लिये शीघ्र ही यहाँ लौट आऊँगा'॥ ७३—७५॥

इत्युक्त्वा ताञ्जगामाथ रामः सत्यपरायणः।
तं गच्छन्तं पुनर्याताः पृष्ठतो दुःखिता जनाः ॥७६॥

पुनः प्राह स काकुत्स्थो गच्छध्वं नगरीमिमाम् ।
मातृश्च पितरं चैव शत्रुघ्नं नगरीमिमाम् ॥७७॥
प्रजाः समस्तास्तत्रस्था राज्यं भरतमेव च ।
पालयध्वं महाभागास्तपसे याम्यहं वनम् ॥७८॥

नगर-निवासियोंसे यों कहकर सत्यपरायण श्रीराम आगे बढ़ गये । उन्हें जाते देख पुनः सब लोग दुखी हो उनके पीछे-पीछे चलने लगे । तब ककुत्स्थनन्दन श्रीरामने फिर कहा—'महाभागगण ! आपलोग इस अयोध्यापुरीको लौट जाइये और मेरे पिता-माताओंकी, भरत-शत्रुघ्नकी, इस अयोध्यानगरीकी, यहाँके समस्त प्रजाजनोंकी तथा इस राज्यकी भी रक्षा कीजिये। मैं वनमें तपस्याके लिये जाता हूँ' ॥ ७६—७८ ॥

अथ लक्ष्मणमाहेदं वचनं राघवस्तदा ।
सीतामर्पय राजानं जनकं मिथिलेश्वरम् ॥७९॥
पितृमातृवशे तिष्ठ गच्छ लक्ष्मण याम्यहम् ।
इत्युक्तः प्राह धर्मात्मा लक्ष्मणो भ्रातृवत्सलः ॥८०॥
मैवमाज्ञापय विभो मामद्य करुणाकर ।
गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमवश्यं तत्र याम्यहम् ॥८१॥
इत्युक्तो लक्ष्मणेनासौ सीतां तामाह राघवः ।
सीते गच्छ ममादेशात्पितरं प्रति शोभने ॥८२॥
सुमित्राया गृहे चापि कौशल्यायाः सुमध्यमे ।
निवर्तस्व हि तावत्त्वं यावदागमनं मम ॥८३॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उस समय लक्ष्मणसे यह बात कही—'लक्ष्मण ! तुम सीताको ले जाकर मिथिला-पति राजा जनकको सौंप आओ और स्वयं पिता-माताके अधीन रहो । लौट जाओ, लक्ष्मण ! मैं वनको अकेला ही जाऊँगा ।' उनके यों कहनेपर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा लक्ष्मणने कहा—'प्रभो ! करुणानिधान ! आप मुझे ऐसी कठोर आज्ञा न दीजिये । आप जहाँ भी जाना चाहते हैं, वहाँ मैं अवश्य चलूँगा ।' लक्ष्मणके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्र-जीने सीतासे कहा—'शोभने सीते ! तुम मेरी आज्ञासे अपने पिताके यहाँ चली जाओ अथवा माता कौशल्या और सुमित्राके भवनमें जाकर रहो । सुन्दरि ! तुम तबतकके लिये वहाँ लौट जाओ, जबतक कि मैं वनसे फिर यहाँ आ न जाऊँ' ॥ ७९—८३ ॥

इत्युक्ता राघवेनापि सीता प्राह कृताञ्जलिः ।
यत्र गत्वा वने वासं त्वं करोषि महाभुज ॥८४॥
तत्र गत्वा त्वया सार्धं वसाम्यहमरिंदम ।
वियोगं नो सहे राजंस्त्वया सत्यवता क्वचित् ॥८५॥
अतस्त्वां प्रार्थयिष्यामि दयां कुरु मम प्रभो ।
गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमवश्यं तत्र याम्यहम् ॥८६॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर सीता भी हाथ जोड़कर बोली—'महाबाहो ! हे शत्रुदमन ! आप वनमें जहाँ जाकर निवास करेंगे, वहाँ चलकर मैं भी आपके ही साथ रहूँगी । राजन् ! सत्यव्रतका पालन करनेवाले आप पतिदेव-का वियोग मैं क्षणभरके लिये भी नहीं सह सकती; इसलिये प्रभो ! मैं प्रार्थना करती हूँ, मुझपर दया करें । प्राणनाथ ! आप जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ मैं भी अवश्य ही चलूँगी' ॥ ८४—८६ ॥

नानायानैरुपगताञ्जनान् वीक्ष्य स पृष्ठतः ।
योषितां च गणान् रामो वारयामास धर्मवित् ॥८७॥
निवृत्त्य स्थीयतां स्वैरमयोध्यायां जनाः स्त्रियः ।
गत्वाहं दण्डकारण्यं तपसे धृतमानसः ॥८८॥
कतिपयाब्दादायास्ये नान्यथा सत्यमीरितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या च स्वभार्यया ॥८९॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि मेरे पीछे बहुत-से पुरुष नाना प्रकारके वाहनोंपर चढ़कर आ गये हैं तथा झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ भी आ गयी हैं; तब धर्मवेत्ता श्रीरामने उन सबको साथ चलनेसे मना किया और कहा—'पुरुषो ! और स्त्रियो ! आप सब लोग लौटकर अयोध्यामें स्वच्छन्दतापूर्वक रहें । मैं तपस्याके लिये चित्त एकाग्र करके दण्डकारण्यको जा रहा हूँ । वहाँ कुछ ही वर्षोंतक रहनेके बाद मैं अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ यहाँ लौट आऊँगा, यह मैंने सच्ची बात बतायी है । इसे अन्यथा नहीं मानना चाहिये' ॥ ८७—८९ ॥

जनान्निवर्त्य रामोऽसौ जगाम च गुहाश्रमम् ।
गुहस्तु रामभक्तोऽसौ स्वभावादेव वैष्णवः ॥९०॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा किं कर्तव्यमिति स्थितः ।

इस प्रकार अयोध्यावासी लोगोंको लौटाकर श्रीरामने गुहके आश्रमपर पदार्पण किया। गुह स्वभावसे ही वैष्णव तथा श्रीरामचन्द्रजीका परम भक्त था। भगवान् रामको देखते ही वह उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'भगवन्! मैं क्या सेवा करूँ' ॥ ९०½ ॥

महता तपसाऽऽनीता गुरुणा या हि वः पुरा ॥९१॥
भगीरथेन या भूमिं सर्वपापहरा शुभा।
नानामुनिजनैर्जुष्टा कूर्ममत्स्यसमाकुला ॥९२॥
गङ्गा तुङ्गोर्मिमालाढ्या स्फटिकाभजलावहा।
गुहोपनीतनावा तु तां गङ्गां स महाद्युतिः ॥९३॥
उत्तीर्य भगवान् रामो भरद्वाजाश्रमं शुभम्।

[यों कहकर गुहने सीता, और लक्ष्मणसहित श्रीरामका सादर पूजन एवं सत्कार किया। इसके बाद सबेरे सारथि और रथको लौटाकर वे गङ्गाजीके तटपर गये और पुनः कहने लगे—] राजन्! जिन्हें आपके पूर्वज महाराज भगीरथ पूर्वकालमें बड़ी तपस्या करके पृथ्वीपर ले आये थे, जो समस्त-पापहारिणी और कल्याणकारिणी हैं, अनेकानेक मुनिजन जिनका सेवन करते हैं, जिनमें कूर्म और मत्स्य आदि जल-जन्तु भरे रहते हैं, जो ऊँची-ऊँची लहरोंसे सम्पन्न एवं स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जल बहानेवाली हैं, उन पुण्यसलिला गङ्गाजीको गुहके द्वारा लायी हुई नावसे पार करके महान् कान्तिमान् भगवान् श्रीराम भरद्वाज मुनिके शुभ आश्रमपर गये ॥ ९१—९३½ ॥

प्रयागे तु ततस्तस्मिन् स्नात्वा तीर्थे यथाविधि ॥९४॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा राघवः सीतया सह।
भरद्वाजाश्रमे तत्र विश्रान्तस्तेन पूजितः ॥९५॥
ततः प्रभाते विमले तमनुज्ञाप्य राघवः।
भरद्वाजोक्तमार्गेण चित्रकूटं शनैर्ययौ ॥९६॥
नानाद्रुमलताकीर्णं पुण्यतीर्थमनुत्तमम्।
तापसं वेषमास्थाय जह्नुकन्यामतीत्य वै ॥९७॥

वह आश्रम प्रयागमें था। श्रीरामचन्द्रजीने सीता तथा भाई लक्ष्मणके साथ उस प्रयागतीर्थमें विधिवत् स्नान करके, वहीं भरद्वाज ऋषिके आश्रममें उनसे सम्मान प्राप्तकर रात्रिमें विश्राम किया। फिर निर्मल प्रभातकाल होनेपर श्रीराम तपस्वीवेष धारणकर, भरद्वाज मुनिसे आज्ञा ले, उन्हींके बताये हुए मार्गसे गङ्गाके पार हो, धीरे-धीरे नाना प्रकारके वृक्ष और लताओंसे आच्छन्न परम उत्तम पावन तीर्थ चित्रकूटको गये ॥ ९४—९७ ॥

गते रामे सभार्ये तु सह भ्रात्रा ससारथौ।
अयोध्यामवसन् भूप नष्टशोभां सुदुःखिताः ॥९८॥
नष्टसंज्ञो दशरथः श्रुत्वा वचनमप्रियम्।
रामप्रवासजननं कैकेय्या मुखनिस्सृतम् ॥९९॥
लब्धसंज्ञः क्षणाद्राजा रामरामेति चुक्रुशे।
कैकेय्युवाच भूपालं भरतं चाभिषेचय ॥१००॥
सीतालक्ष्मणसंयुक्तो रामचन्द्रो वनं गतः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तो राजा दशरथस्तदा ॥१०१॥
विहाय देहं दुःखेन देवलोकं गतस्तदा।

राजन्! इधर सीता-लक्ष्मण और सारथिके सहित रामचन्द्रजीके चले जानेपर अयोध्यावासी जन बहुत दुखी होकर शोभाशून्य अयोध्यानगरीमें रहने लगे। राजा दशरथ तो कैकेयीके मुखसे निर्गत श्रीरामको वनवास देनेवाले अप्रिय वचनको सुनते ही मूर्च्छित हो गये थे। कुछ देर बाद जब राजाको होश हुआ, तब वे उच्चस्वरसे 'राम! राम!' पुकारने लगे। तब कैकेयीने भूपालसे कहा—'राम तो सीता और लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये; अब आप भरतका राज्याभिषेक कीजिये।' यह सुनते ही राजा दशरथ पुत्रशोकसे संतप्त हो, दुःखके मारे शरीर त्यागकर, देवलोकको चले गये ॥ ९८—१०१½ ॥

ततस्तस्य महापुण्यामयोध्यायामरिंदम ॥१०२॥
रुरुदुर्दुःखशोकार्त्ता जनाः सर्वे च योषितः।
कौशल्या च सुमित्रा च कैकेयी कष्टकारिणी ॥१०३॥
परिवार्य मृतं तत्र रुरुदुस्ताः पतिं ततः।

शत्रुदमन! तब उनकी महानगरी अयोध्यामें रहनेवाले सभी स्त्री-पुरुष दुःख और शोकसे पीड़ित हो विलाप करने लगे। कौशल्या, सुमित्रा तथा कष्टकारिणी कैकेयी भी अपने मृत पतिको चारों ओरसे घेरकर रोने लगीं ॥ १०२-१०३½ ॥

ततः पुरोहितस्तत्र वसिष्ठः सर्वधर्मवित् ॥१०४॥
तैलद्रोण्यां विनिक्षिप्य मृतं राजकलेवरम्।
दूतं वै प्रेषयामास सहमन्त्रिगणैः स्थितः ॥१०५॥

स गत्वा यत्र भरतः शत्रुघ्नेन सह स्थितः ।
तत्र प्राप्य तथा वार्तां संनिवर्त्य नृपात्मजौ ॥१०६॥
तावानीय ततः शीघ्रमयोध्यां पुनरागतः ।
क्रूराणि दृष्ट्वा भरतो निमित्तानि च वै पथि ॥१०७॥
विपरीतं त्वयोध्यायामिति मेने स पार्थिवः ।
निश्शोभां निर्गतश्रीकां दुःखशोकान्वितां पुरीम् ॥
कैकेय्याग्निविनिर्दग्धामयोध्यां प्रविवेश सः ।
दुःखान्विता जनाः सर्वे तौ दृष्ट्वा रुरुदुर्भृशम् ॥१०९॥
हा तात राम हा सीते लक्ष्मणेति पुनः पुनः ।
रुरोद भरतस्तत्र शत्रुघ्नश्च सुदुःखितः ॥११०॥

तब सब धर्मोंको जाननेवाले पुरोहित वसिष्ठजीने वहाँ आकर सबको शान्त किया और राजाके मृत शरीरको तेलसे भरी हुई नौकामें रखवाकर, मन्त्रिगणोंके साथ विचार करके, भरत-शत्रुघ्नको बुलानेके लिये दूत भेजा। वह दूत, जहाँ शत्रुघ्नके साथ भरतजी थे, वहाँ गया और जितना उसे बताया गया था, उतना ही संदेश सुनाकर, उन दोनों राजकुमारोंको वहाँसे लौटाकर, उन्हें साथ ले, शीघ्र ही अयोध्यामें लौट आया। राजा भरत मार्गमें घोर अपशकुन देख मन-ही-मन यह जान गये कि 'अयोध्यामें कोई विपरीत घटना घटित हुई है।' फिर जो कैकेयीरूपी अग्निसे दग्ध होकर शोभाहीन, निस्तेज और दुःख-शोकसे परिपूर्ण हो गयी थी, उस अयोध्यापुरीमें भरतजीने प्रवेश किया। उस समय भरत और शत्रुघ्नको देख सभी लोग दुखी हो 'हा तात! हा राम! हा सीते! हा लक्ष्मण!' इस प्रकार बारंबार पुकारते हुए बहुत विलाप करने लगे। यह देख भरत और शत्रुघ्न भी दुखी होकर रोने लगे ॥१०४—११०॥

कैकेय्यास्तत्क्षणाच्छ्रुत्वा चुक्रोध भरतस्तदा ।
दुष्टा त्वं दुष्टचित्ता च यया रामः प्रवासितः ॥१११॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा राघवः सीतया वनम् ।
साहसं किं कृतं दुष्टे त्वया सद्योऽल्पभाग्यया ॥११२॥
उद्वास्य सीतया रामं लक्ष्मणेन महात्मना ।
ममैव पुत्रं राजानं करोत्विति मतिस्तव ॥११३॥
दुष्टाया नष्टभाग्यायाः पुत्रोऽहं भाग्यवर्जितः ।
भ्रात्रा रामेण रहितो नाहं राज्यं करोमि वै ॥११४॥
यत्र रामो नरव्याघ्रः पद्मपत्रायतेक्षणः ।
धर्मज्ञः सर्वशास्त्रज्ञो मतिमान् बन्धुवत्सलः ॥११५॥
सीता च यत्र वैदेही नियमव्रतचारिणी ।
पतिव्रता महाभागा सर्वलक्षणसंयुता ॥११६॥
लक्ष्मणश्च महावीर्यो गुणवान् भ्रातृवत्सलः ।
तत्र यास्यामि कैकेयि महत्पापं त्वया कृतम् ॥११७॥
राम एव मम भ्राता ज्येष्ठो मतिमतां वरः ।
स एव राजा दुष्टात्मे भृत्योऽहं तस्य वै सदा ॥११८॥

उस समय कैकेयीके मुखसे तत्काल सारा वृत्तान्त सुनकर भरतजी उसके ऊपर बहुत ही कुपित हुए और बोले—'अरी! तू तो बड़ी दुष्टा है। तेरे चित्तमें दुष्टतापूर्ण विचार भरा हुआ है। हाय! जिसने श्रीरामको वनवास दे दिया, जिसके कारण भाई लक्ष्मण और देवी सीताके साथ श्रीरघुनाथजीको वनमें जानेको विवश होना पड़ा, उससे बढ़कर दुष्टा कौन स्त्री होगी? अरी दुष्टे! ओ मन्दभागिनी! तूने तत्काल ऐसा दुस्साहस कैसे किया? तूने सोचा होगा कि महात्मा लक्ष्मण और साध्वी सीताके साथ रामको घरसे निकालकर महाराजा दशरथ मेरे ही पुत्रको राजा बना देंगे। (धिक्कार है तेरी इस कुबुद्धिको!) आह! मैं कितना भाग्यहीन हूँ, जो तुझ-जैसी अभागिनी दुष्टा स्त्रीका पुत्र हुआ। किंतु तू निश्चय जान, मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामसे अलग रहकर राज्य नहीं करूँगा। जहाँ मनुष्योंमें श्रेष्ठ, धर्मज्ञ, सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता, बुद्धिमान् तथा भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले पूज्य भ्राता कमलदललोचन श्रीरामचन्द्रजी गये हैं, जहाँ नियम और व्रतका आचरण करनेवाली, समस्त शुभलक्षणोंसे युक्त, अत्यन्त सौभाग्यशालिनी पतिव्रता विदेह-राजकुमारी सीताजी विद्यमान हैं और जहाँ भाईमें भक्ति रखनेवाले, सद्गुणसम्पन्न, महान् पराक्रमी लक्ष्मणजी गये हैं, वहीं मैं भी जाऊँगा। कैकेयि! तूने रामको बनवास देकर महान् पाप किया है। दुष्टहृदये! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, वे ही राजा होनेके अधिकारी हैं। मैं तो सदा उनका दास हूँ' ॥ १११—११८ ॥

इत्युक्त्वा मातरं तत्र रुरोद भृशदुःखितः ।
हा राजन् पृथिवीपाल मां विहाय सुदुःखितम् ॥११९॥
क्व गतोऽस्यद्य वै तात किं करोमीह तद्वद ।

भ्राता पित्रा समः क्वास्ते ज्येष्ठो मे करुणाकरः ॥१२०
सीता च मातृतुल्या मे क्व गतो लक्ष्मणश्च ह ।

माता से यों कहकर भरतजी अत्यन्त दुःखी हो, वहाँ फूट-फूटकर रोने लगे और विलाप करने लगे—'हा राजन् ! हा वसुधाप्रतिपालक ! हा तात ! मुझ अत्यन्त दुःखी बालकको छोड़कर आप कहाँ चले गये ? बताइये, मैं अब यहाँ क्या करूँ ? पिताके तुल्य दया करनेवाले मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम कहाँ हैं ? माताके समान पूजनीया सीता कहाँ हैं और मेरा प्यारा भाई लक्ष्मण कहाँ चला गया ?' ॥ ११९-१२०½ ॥

इत्येवं विलपन्तं तं भरतं मन्त्रिभिः सह ॥१२१॥
वसिष्ठो भगवानाह कालकर्मविभागवित् ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्स त्वं न शोकं कर्तुमर्हसि ॥१२२॥
कर्मकालवशादेव पिता ते स्वर्गमास्थितः ।
तस्य संस्कारकार्याणि कर्माणि कुरु शोभन ॥१२३॥
रामोऽपि दुष्टनाशाय शिष्टानां पालनाय च ।
अवतीर्णो जगत्स्वामी स्वांशेन भुवि माधवः ॥१२४॥
प्रायस्तत्रास्ति रामेण कर्तव्यं लक्ष्मणेन च ।
यत्रासौ भगवान् वीरः कर्मणा तेन चोदितः ॥१२५॥
तत्कृत्वा पुनरायाति रामः कमललोचनः ।

भरतको इस प्रकार विलाप करते देख काल और कर्मके विभागको जाननेवाले भगवान् वसिष्ठजी मन्त्रियोंके साथ वहाँ आकर बोले—'बेटा ! उठो, उठो; तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये । भद्र ! काल और कर्मके वशीभूत होकर ही तुम्हारे पिता स्वर्गवासी हुए हैं; अब तुम उनके अन्त्येष्टि-संस्कार आदि कर्म करो । भगवान् श्रीराम साक्षात् लक्ष्मीपति नारायण हैं । वे जगदीश्वर दुष्टोंका नाश और साधुपुरुषोंका पालन करनेके लिये ही अपने अंशसे इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं । वनमें श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा बहुत-से कार्य होनेवाले हैं । वहाँ वीरवर कमललोचन श्रीरामचन्द्रजी उन्हीं कर्तव्यकर्मोंसे प्रेरित होकर रहेंगे और उन्हें पूर्ण करके यहाँ लौट आयेंगे' ॥ १२१—१२५½ ॥

इत्युक्तो भरतस्तेन वसिष्ठेन महात्मना ॥१२६॥
संस्कारं लम्भयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ।
अग्निहोत्राग्निना दग्ध्वा पितुर्देहं विधानतः ॥१२७॥
स्नात्वा सरय्वाः सलिले कृत्वा तस्योदकक्रियाम् ।
शत्रुघ्नेन सह श्रीमान्मातृभिर्बान्धवैः सह ॥१२८॥

उन महात्मा वसिष्ठजीके यों कहनेपर भरतजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पिताका और्ध्वदैहिक संस्कार किया । उस समय उन्होंने अग्निहोत्रकी अग्निसे पिताके शवका विधिपूर्वक दाह किया । फिर सरयूके जलमें स्नान करके श्रीमान् भरतने भाई शत्रुघ्न, सब माताओं तथा अन्य बन्धुजनोंके साथ परलोकगत पिताके लिये तिलसहित जलकी अञ्जलि दी ॥ १२६—१२८ ॥

तस्यौर्ध्वदैहिकं कृत्वा मन्त्रिणा मन्त्रिनायकः ।
हस्त्यश्वरथपत्तीभिः सह प्रायान्महामतिः ॥१२९॥
भरतो राममन्वेष्टुं राममार्गेण सत्तमः ।
तमायान्तं महासेनं रामस्यानुविरोधिनम् ॥१३०॥
मत्वा तं भरतं शत्रुं रामभक्तो गुहस्तदा ।
स्वं सैन्यं वर्तुलं कृत्वा संनद्धः कवची रथी ॥१३१॥
महाबलपरीवारो रुरोध भरतं पथि ॥१३२॥
सभ्रातृकं सभार्यं मे रामं स्वामिनमुत्तमम् ।
प्रापयस्त्वं वनं दुष्ट साम्प्रतं हन्तुमिच्छसि ॥१३३॥
गमिष्यसि दुरात्मंस्त्वं सेनया सह दुर्मते ।

इस प्रकार पिताका और्ध्वदैहिक संस्कार करके मन्त्रियोंके अधिपति साधुश्रेष्ठ महाबुद्धिमान् भरतजी अपने मन्त्रियों तथा हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल, सेनाओंके साथ (माताओं तथा बन्धुजनोंको भी साथ ले) श्रीरामचन्द्रजीका अन्वेषण करनेके लिये, जिस मार्गसे वे गये थे, उसी मार्गसे चले । उस समय भरत (और शत्रुघ्न) को इतनी बड़ी सेनाके साथ आते देख, उन्हें श्रीरामचन्द्रजीका विरोधी शत्रु समझकर, रामभक्त गुहने युद्धके लिये सुसज्जित हो, अपनी सेना गोलाकार खड़ी की और कवच धारणकर, रथारूढ हो, उस विशाल सेनासे घिरे हुए उसने मार्गमें भरतको रोक दिया । उसने कहा—'दुष्ट ! दुरात्मन् ! दुर्बुद्धे ! तूने मेरे श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामको भाई और पत्नीसहित वनमें तो भिजवा ही दिया; क्या अब उन्हें मारना भी चाहते हो, जो (इतनी बड़ी) सेनाके साथ वहाँ जा रहे हो ?' ॥ १२९—१३३½ ॥

इत्युक्तो भरतस्तत्र गुहेन नृपनन्दनः ॥१३४॥
तमुवाच विनीतात्मा रामायाथ कृताञ्जलिः ।

यथा त्वं रामभक्तोऽसि तथाहमपि भक्तिमान्॥१३५॥
प्रोषिते मयि कैकेय्या कृतमेतन्महामते।
रामस्यानयनार्थाय व्रजाम्यद्य महामते॥१३६॥
सत्यपूर्वं गमिष्यामि पन्थानं देहि मे गुह।

गुहके यों कहनेपर राजकुमार भरत श्रीरामके उद्देश्यसे हाथ जोड़कर विनययुक्त होकर उससे बोले—'गुह! जैसे तुम श्रीरामचन्द्रजीके भक्त हो, वैसे ही मैं भी उनमें भक्ति रखता हूँ। महामते! मैं नगरसे बाहर (मामाके घर) चला गया था, उस समय कैकेयीने यह अनर्थ कर डाला। महाबुद्धे! आज मैं श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये जा रहा हूँ। तुमसे यह सत्य बात बताकर वहाँ जाना चाहता हूँ। तुम मुझे मार्ग दे दो'॥ १३४—१३६½॥

इति विश्वासमानीय जाह्नवीं तेन तारितः॥१३७॥
नौकावृन्दैरनेकैस्तु स्नात्वासौ जाह्नवीजले।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्तो भरतस्तं महामुनिम्॥१३८॥
प्रणम्य शिरसा तस्मै यथावृत्तमुवाच ह।

इस प्रकार विश्वास दिलानेपर गुह उन्हें गङ्गातटपर ले आया और झुंड-की-झुंड नौकाएँ मँगाकर उनके द्वारा उन सबको पार कर दिया। फिर गङ्गाजीके जलमें स्नान करके भरतजी भरद्वाजमुनिके आश्रमपर पहुँचे और उन महामुनिके चरणोंमें मस्तक झुका, प्रणाम करके, उन्होंने उनसे अपना यथार्थ वृत्तान्त कह सुनाया॥ १३७-१३८½॥

भरद्वाजोऽपि तं प्राह कालेन कृतमीदृशम्॥१३९॥
दुःखं न तावत् कर्तव्यं रामार्थेऽपि त्वयाधुना।
वर्तते चित्रकूटेऽसौ रामः सत्यपराक्रमः॥१४०॥
त्वयि तत्र गते वापि प्रायोऽसौ नागमिष्यति।
तथापि तत्र गच्छ त्वं यदसौ वक्ति तत्कुरु॥१४१॥
रामस्तु सीतया सार्धं वनखण्डे स्थितः शुभे।
लक्ष्मणस्तु महावीर्यो दुष्टालोकनतत्परः॥१४२॥

भरद्वाजजीने भी उनसे कहा—'भरत! कालके ही प्रभावसे ऐसा काण्ड घटित हुआ है। अब तुम्हें श्रीरामके लिये भी खेद नहीं करना चाहिये। सत्यपराक्रमी वे श्रीरामचन्द्रजी इस समय चित्रकूटमें हैं। वहाँ तुम्हारे जानेपर भी वे प्रायः नहीं आ सकेंगे; तथापि तुम वहाँ जाओ और जैसे वे कहें, वैसे ही करो। श्रीरामचन्द्रजी सीताके साथ एक सुन्दर वनखण्डीमें निवास करते हैं और महान् पराक्रमी लक्ष्मण दुष्ट जीवोंपर दृष्टि रखते हैं—उनकी रक्षामें तत्पर रहते हैं'॥ १३९—१४२॥

इत्युक्तो भरतस्तत्र भरद्वाजेन धीमता।
उत्तीर्य यमुनां यातश्चित्रकूटं महानगम्॥१४३॥
स्थितोऽसौ दृष्टवान्दूरात्सधूलीं चोत्तरां दिशम्।
रामाय कथयित्वाऽऽस तदादेशात्तु लक्ष्मणः॥१४४॥
वृक्षमारुह्य मेधावी वीक्षमाणः प्रयत्नतः।
स ततो दृष्टवान् हृष्टामायान्तीं महतीं चमूम्॥१४५॥
हस्त्यश्वरथसंयुक्तां दृष्ट्वा राममथाब्रवीत्।
हे भ्रातस्त्वं महाबाहो सीतापार्श्वे स्थिरो भव॥१४६॥
भूपोऽस्ति बलवान् कश्चिद्धस्त्यश्वरथपत्तिभिः।

बुद्धिमान् भरद्वाजजीके यों कहनेपर भरतजी यमुना पार करके महान् पर्वत चित्रकूटपर गये। वहाँ खड़े हुए लक्ष्मणजीने दूरसे उत्तर दिशामें धूल उड़ती देख श्रीरामचन्द्रजीको सूचित किया। फिर उनकी आज्ञासे वृक्षपर चढ़कर बुद्धिमान् लक्ष्मणजी प्रयत्नपूर्वक उधर देखने लगे। तब उन्हें वहाँ बहुत बड़ी सेना आती दिखायी दी, जो हर्ष एवं उत्साहसे भरी जान पड़ती थी। हाथी, घोड़े और रथोंसे युक्त उस सेनाको देखकर लक्ष्मणजी श्रीरामसे बोले—'भैया! तुम सीताके पास स्थिरतापूर्वक बैठे रहो। महाबाहो! कोई महाबली राजा हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे युक्त चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आ रहा है'॥ १४३—१४६½॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः॥१४७॥
रामस्तमब्रवीद्वीरो वीरं सत्यपराक्रमः।
प्रायेण भरतोऽस्माकं द्रष्टुमायाति लक्ष्मण॥१४८॥
इत्येवं वदतस्तस्य रामस्य विदितात्मनः।
आरात्संस्थाप्य सेनां तां भरतो विनयान्वितः॥१४९॥
ब्राह्मणैर्मन्त्रिभिः सार्धं रुदन्नागत्य पादयोः।
रामस्य निपपाताथ वैदेह्या लक्ष्मणस्य च॥१५०॥
मन्त्रिणो मातृवर्गश्च स्निग्धबन्धुसुहृज्जनाः।
परिवार्य ततो रामं रुरुदुः शोककातराः॥१५१॥

महात्मा लक्ष्मणके ऐसे वचन सुनकर सत्यपराक्रमी वीरवर श्रीराम अपने उस वीर भ्रातासे बोले—'लक्ष्मण ! मुझे तो प्रायः यही जान पड़ता है कि भरत ही हमलोगोंसे मिलनेके लिये आ रहे हैं।' विदितात्मा भगवान् श्रीराम जिस समय यों कह रहे थे, उसी समय विनयशील भरतजी वहाँ पहुँचे और सेनाको कुछ दूरीपर ठहराकर स्वयं ब्राह्मणों और मन्त्रियोंके साथ निकट आ, सीता और लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीरामके चरणोंपर रोते हुए गिर पड़े। फिर मन्त्री, माताएँ, स्नेही बन्धु तथा मित्रगण श्रीरामको चारों ओरसे घेरकर शोकमग्न हो रोने लगे ॥ १४७–१५१ ॥

स्वर्यातं पितरं ज्ञात्वा ततो रामो महामतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्याथ समन्वितः ॥१५२॥
स्नात्वा मलापहे तीर्थे दत्त्वा च सलिलाञ्जलिम् ।
मात्रादीनभिवाद्याथ रामो दुःखसमन्वितः ॥१५३॥
उवाच भरतं राजन् दुःखेन महतान्वितम् ।
अयोध्यां गच्छ भरत इतः शीघ्रं महामते ॥१५४॥
राज्ञा विहीनां नगरीं अनाथां परिपालय ।
इत्युक्तो भरतः प्राह रामं राजीवलोचनम् ॥१५५॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र न यास्येऽहमितो ध्रुवम् ।
यत्र त्वं तत्र यास्यामि वैदेही लक्ष्मणो यथा ॥१५६॥

तदनन्तर महामति श्रीरामने अपने पिताके स्वर्गगामी होनेका समाचार पाकर भ्राता लक्ष्मण और जानकीके साथ वहाँके पापनाशक तीर्थमें स्नान करके जलाञ्जलि दी । राजन् ! फिर माता आदि गुरुजनोंको प्रणाम करके रामचन्द्रजी दुखी हो अत्यन्त खेदमें पड़े हुए भरतसे बोले—'महामते भरत ! तुम अब यहाँसे शीघ्र अयोध्याको चले जाओ और राजासे हीन हुई उस अनाथ नगरीका पालन करो ।' उनके यों कहनेपर भरतने कमललोचन रामसे कहा—'पुरुषश्रेष्ठ ! यह निश्चय है कि मैं आपको साथ लिये बिना यहाँसे नहीं जाऊँगा । जहाँ आप जायँगे, वहीं सीता-लक्ष्मणकी भाँति मैं भी चलूँगा' ॥ १५२–१५६ ॥

इत्याकर्ण्य पुनः प्राह भरतं पुरतः स्थितम् ।
नृणां पितृसमो ज्येष्ठः स्वधर्ममनुवर्तिनाम् ॥१५७॥
यथा न लङ्घ्यं वचनं मया पितृमुखेरितम् ।
तथा त्वया न लङ्घ्यं स्याद्वचनं मम सत्तम ॥१५८॥
मत्समीपादितो गत्वा प्रजास्त्वं परिपालय ।
द्वादशाब्दिकमेतन्मे व्रतं पितृमुखेरितम् ॥१५९॥
तदरण्ये चरित्वा तु आगमिष्यामि तेऽन्तिकम् ।
गच्छ तिष्ठ ममादेशे न दुःखं कर्तुमर्हसि ॥१६०॥

यह सुनकर श्रीरामने अपने सामने खड़े हुए भरतसे पुनः कहा—'साधुश्रेष्ठ भरत ! अपने धर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंके लिये ज्येष्ठ भ्राता पिताके समान पूज्य है । जिस प्रकार मुझे पिताके मुखसे निकले हुए वचनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये, वैसे ही तुम्हें भी मेरे वचनोंका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । अब तुम यहाँ मेरे निकटसे जाकर प्रजाजनका पालन करो । पिताके मुखसे कहा हुआ जो यह बारह वर्षोंके वनवासका व्रत मैंने स्वीकार किया है, उसका वनमें पालन करके मैं पुनः तुम्हारे पास आ जाऊँगा । जाओ, मेरी आज्ञाके पालनमें लग जाओ; तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये' ॥ १५७–१६० ॥

इत्युक्तो भरतः प्राह बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
यथा पिता तथा त्वं मे नात्र कार्या विचारणा ॥१६१॥
तवादेशान्मया कार्यं देहि त्वं पादुके मम ।
नन्दिग्रामे वसिष्येऽहं पादुके द्वादशाब्दिकम् ॥१६२॥
त्वद्वेषमेव मद्वेषं त्वद्व्रतं मे महाव्रतम् ।
त्वं द्वादशाब्दिकादूर्ध्वं यदि नायासि सत्तम ॥१६३॥
ततो हविर्यथा चाग्नौ प्रधक्ष्यामि कलेबरम् ।
इत्येवं शपथं कृत्वा भरतो हि सुदुःखितः ॥१६४॥
बहु प्रदक्षिणं कृत्वा नमस्कृत्य च राघवम् ।
पादुके शिरसा स्थाप्य भरतः प्रस्थितः शनैः ॥१६५॥

उनके यों कहनेपर भरतने आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'भैया ! इसके सम्बन्धमें मुझे कोई विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है कि मेरे लिये जैसे पिताजी थे, वैसे ही आप हैं । अब मैं आपके आदेशके अनुसार ही कार्य करूँगा; किंतु आप अपनी दोनों चरण-पादुकाएँ मुझे दे दें । मैं इन्हीं पादुकाओंका आश्रय ले नन्दिग्राममें निवास करूँगा और आपकी ही भाँति बारह वर्षोंतक व्रतका पालन करूँगा । अब आपके वेषके समान ही मेरा वेष होगा और आपका जो व्रत है, वही मेरा भी महान् व्रत होगा । साधुशिरोमणे ! यदि आप बारह वर्षोंके

व्रतका पालन करनेके बाद तुरंत नहीं पधारेंगे तो मैं अग्निमें हविष्यकी भाँति अपने शरीरको होम दूँगा।' अत्यन्त दुखी भरतजीने इस प्रकार शपथ करके भगवान् रामकी अनेक बार प्रदक्षिणा की, बारंबार उन्हें प्रणाम किया और उनकी चरण-पादुकाएँ अपने सिरपर रखकर वे वहाँसे धीरे-धीरे चल दिये ॥ १६१—१६५ ॥

स कुर्वन् भ्रातुरादेशं नन्दिग्रामे स्थितो वशी।
तपस्वी नियताहारः शाकमूलफलाशनः ॥१६६॥
जटाकलापं शिरसा च बिभ्रत्
त्वचश्च वार्क्षीः किल वन्यभोजी।
रामस्य वाक्यादरतो हृदि स्थितं
बभार भूभारमनिन्दितात्मा ॥१६७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे श्रीरामप्रादुर्भावे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

भरतजी अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके, शाक और मूल-फलादिका नियमित आहार करते हुए, तपोनिष्ठ हो, भ्राताके आदेशका पालन करते हुए नन्दिग्राममें रहने लगे। विशुद्ध हृदयवाले भरतजी अपने सिरपर जटा धारण किये और अङ्गोंमें वल्कल पहने, वन्य फलोंका ही आहार करते थे। वे मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंमें श्रद्धा रखनेके कारण अपने ऊपर पड़े पृथ्वीके शासनका भार ढोने लगे ॥ १६६-१६७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीरामावतारविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

उन्चासवाँ अध्याय

श्रीरामका जयन्तको दण्ड देना; शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्यसे मिलना; शूर्पणखाका अनादर; सीताहरण; जटायुवध और शबरीको दर्शन देना

मार्कण्डेय उवाच

गतेऽथ भरते तस्मिन् रामः कमललोचनः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा भार्यया सीतया सह ॥ १ ॥
शाकमूलफलाहारो विचचार महावने।
कदाचिल्लक्ष्मणमृते रामदेवः प्रतापवान् ॥ २ ॥
चित्रकूटवनोद्देशे वैदेह्युत्सङ्गमाश्रितः।
सुष्वाप स मुहूर्तं तु ततः काको दुरात्मवान् ॥ ३ ॥
सीताभिमुखमभ्येत्य विददार स्तनान्तरम्।
विदार्य वृक्षमारुह्य स्थितोऽसौ वायसाधमः ॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतजीके अयोध्या लौट जानेपर कमललोचन श्रीरामचन्द्रजी अपनी भार्या सीता और भाई लक्ष्मणके साथ शाक और मूल-फल आदिके आहारसे ही जीवन-निर्वाह करते हुए उस महान् वनमें विचरने लगे। एक दिन परम प्रतापी भगवान् राम लक्ष्मणको साथ न ले जाकर चित्रकूट पर्वतके वनमें सीताजीकी गोदमें कुछ देरतक सोये रहे। इतनेमें ही एक दुष्ट कौएने सीताके सम्मुख आ उनके स्तनोंके बीच चोंच मारकर घाव कर दिया। घाव करके वह अधम काक वृक्षपर जा बैठा ॥ १—४ ॥

ततः प्रबुद्धो रामोऽसौ दृष्ट्वा रक्तं स्तनान्तरे।
शोकाविष्टां तु सीतां तामुवाच कमलेक्षणः ॥ ५ ॥
वद स्तनान्तरे भद्रे तव रक्तस्य कारणम्।
इत्युक्ता सा च तं प्राह भर्तारं विनयान्विता ॥ ६ ॥
पश्य राजेन्द्र वृक्षाग्रे वायसं दुष्टचेष्टितम्।
अनेनैव कृतं कर्म सुप्ते त्वयि महामते ॥ ७ ॥

तदनन्तर जब कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीकी नींद खुली, तब उन्होंने देखा, सीताके स्तनोंसे रक्त बह रहा है और वे शोकमें डूबी हुई हैं। यह देख उन्होंने सीतासे पूछा—'कल्याणि! बताओ, तुम्हारे स्तनोंके बीचसे रक्त बहनेका क्या कारण है?' उनके यों कहनेपर सीताने अपने स्वामीसे विनयपूर्वक कहा—'राजेन्द्र! महामते! वृक्षकी शाखापर बैठे हुए इस दुष्ट कौएको देखिये; आपके सो जानेपर इसीने यह दुस्साहसपूर्ण कार्य किया है' ॥ ५—७ ॥

रामोऽपि दृष्टवान् काकं तस्मिन् क्रोधमथाकरोत्।
इषीकास्त्रं समाधाय ब्रह्मास्त्रेणाभिमन्त्रितम् ॥ ८ ॥
काकमुद्दिश्य चिक्षेप सोऽप्यधावद्भयान्वितः।
स त्विन्द्रस्य सुतो राजन्निन्द्रलोकं विवेश ह ॥ ९ ॥
रामास्त्रं प्रज्वलद्दीप्तं तस्यानु प्रविवेश वै।
विदितार्थश्च देवेन्द्रो देवैः सह समन्वितः ॥१०॥
निष्क्रामयच्च तं दुष्टं राघवस्यापकारिणम्।
ततोऽसौ सर्वदेवैस्तु देवलोकाद्बहिः कृतः ॥११॥
पुनः सोऽप्यपतद्रामं राजानं शरणं गतः।
पाहि राम महाबाहो अज्ञानादपकारिणम् ॥१२॥

रामचन्द्रजीने भी उस कौएको देखा और उसपर बहुत ही क्रोध किया। फिर सींकका बाण बनाकर उसे ब्रह्मास्त्र-मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया और उस कौएको लक्ष्य करके चला दिया। यह देख वह भयभीत होकर भागा। राजन्! कहते हैं, वह काक वास्तवमें इन्द्रका पुत्र जयन्त था, अतः भागकर इन्द्रलोकमें घुस गया। उसके साथ ही श्रीरामचन्द्रजीके उस प्रज्वलित एवं देदीप्यमान बाणने भी उसका पीछा करते हुए इन्द्रलोकमें प्रवेश किया। यह सब वृत्तान्त जान, देवराज इन्द्रने देवताओंके साथ मिलकर विचार किया तथा श्रीरामचन्द्रजीका अपराध करनेवाले उस दुष्ट पुत्रको वहाँसे निकाल दिया। जब सब देवताओंने उसे देवलोकसे बाहर कर दिया, तब वह पुनः राजा श्रीरामचन्द्रजीकी ही शरणमें आया और बोला—'महाबाहो श्रीराम! मैंने अज्ञानवश अपराध किया है, मुझे बचाइये' ॥ ८—१२ ॥

इति ब्रुवन्तं तं प्राह रामः कमललोचनः।
अमोघं च ममैवास्त्रमङ्गमेकं प्रयच्छ वै ॥१३॥
ततो जीवसि दुष्ट त्वमपकारो महान् कृतः।
इत्युक्तोऽसौ स्वकं नेत्रमेकमस्त्राय दत्तवान् ॥१४॥
अस्त्रं तन्नेत्रमेकं तु भस्मीकृत्य समाययौ।
ततः प्रभृति काकानां सर्वेषामेकनेत्रता ॥१५॥
चक्षुषैकेन पश्यन्ति हेतुना तेन पार्थिव।

इस प्रकार कहते हुए जयन्तसे कमल-लोचन श्रीरामने कहा—'अरे दुष्ट! मेरा अस्त्र अमोघ है, अतः इसके लिये अपना कोई एक अङ्ग दे दे; तभी तू जीवित रह सकता है; क्योंकि तूने बहुत बड़ा अपराध किया है।' उनके यों कहनेपर उसने श्रीरामके उस बाणके लिये अपना एक नेत्र दे दिया। उसके एक नेत्रको भस्म करके वह अस्त्र लौट आया। उसी समयसे सभी कौए एक नेत्रवाले हो गये। राजन्! इसी कारण वे एक आँखसे ही देखते हैं ॥ १३—१५½ ॥

उषित्वा तत्र सुचिरं चित्रकूटे स राघवः ॥१६॥
जगाम दण्डकारण्यं नानामुनिनिषेवितम्।
सभ्रातृकः सभार्यश्च तापसं वेषमास्थितः ॥१७॥
धनुःपर्वसुपाणिश्च सेषुधिश्च महाबलः।
ततो ददर्श तत्रस्थानम्बुभक्षान्महामुनीन् ॥१८॥
अश्मकुट्टाननेकांश्च दन्तोलूखलिनस्तथा।
पञ्चाग्निमध्यगानन्यानन्यानुग्रतपश्चरान् ॥१९॥
तान् दृष्ट्वा प्रणिपत्योच्चै रामस्तैश्चाभिनन्दितः।

श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई और पत्नीके साथ चिरकालतक चित्रकूटपर निवास करनेके अनन्तर वहाँसे अनेक मुनिजनों-द्वारा सेवित दण्डकारण्यको चल दिये। उस समय वे तपस्वी वेषमें थे, उनके हाथमें धनुष और बाण थे तथा पीठपर तरकस बँधा था। वहाँ जानेपर महाबलवान् श्रीरामने उस वनमें रहनेवाले बड़े-बड़े मुनियोंका दर्शन किया, जिनमेंसे कई लोग केवल जलका आहार करनेवाले थे। कितने ही दन्तहीन होनेसे पत्थरपर कूट-पीसकर आहार ग्रहण करते, इसलिये 'अश्मकुट्ट' कहलाते थे। कुछ तपस्वी दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेनेवाले होनेसे 'दन्तोलूखली' कहे जाते थे। कुछ पाँच अग्नियोंके बीचमें बैठकर तप करते थे और कुछ महात्मा इससे भी उग्र तपस्यामें तत्पर थे। उनका दर्शन करके श्रीरामने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उन्होंने भी उनका अभिनन्दन किया ॥ १६—१९½ ॥

ततोऽखिलं वनं दृष्ट्वा रामः साक्षाज्जनार्दनः ॥२०॥
भ्रातृभार्यासहायश्च सम्प्रतस्थे महामतिः।
दर्शयित्वा तु सीतायै वनं कुसुमितं शुभम् ॥२१॥
नानाश्चर्यसमायुक्तं शनैर्गच्छन् स दृष्टवान्।
कृष्णाङ्गं रक्तनेत्रं तु स्थूलशैलसमानकम् ॥२२॥
शुभ्रदंष्ट्रं महाबाहुं संध्याघनशिरोरुहम्।
मेघस्वनं सापराधं शरं संधाय राघवः ॥२३॥

विव्याध राक्षसं क्रोधाल्लक्ष्मणेन सह प्रभुः ।
अन्यैरवध्यं हत्वा तं गिरिगर्ते महातनुम् ॥२४॥
शिलाभिश्छाद्य गतवाञ्शरभङ्गाश्रमं ततः ।
तं नत्वा तत्र विश्रम्य तत्कथातुष्टमानसः ॥२५॥

तत्पश्चात् साक्षात् विष्णुस्वरूप महामति भगवान् श्रीराम वहाँके समस्त वनका अवलोकन करके अपनी भार्या और भाईके साथ आगे बढ़े । वे सीताजीको फूलोंसे सुशोभित तथा नाना आश्चर्योंसे युक्त सुन्दर वन दिखाते हुए जिस समय धीरे-धीरे जा रहे थे, उसी समय उन्होंने सामने एक राक्षस देखा; जिसका शरीर काला और नेत्र लाल थे । वह पर्वतके समान स्थूल था । उसकी दाढ़ें चमकीली, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और केश संध्याकालिक मेघके समान लाल थे । वह घनघोर गर्जना करता हुआ सदा दूसरोंका अपकार किया करता था । उसे देखते ही लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीने, धनुषपर बाण चढ़ाया तथा उस घोर राक्षसको, जो दूसरोंसे नहीं मारा जा सकता था, बींधकर मार डाला । इस प्रकार उसका वध करके उन्होंने उस महाकाय राक्षसकी लाशको पर्वतके खड्डमें डाल दिया और शिलाओंसे ढँककर वे वहाँसे शरभङ्गमुनिके आश्रमपर गये । वहाँ उन मुनिको प्रणाम करके उनके आश्रमपर कुछ देरतक विश्राम किया और उनके साथ कथा-वार्ता करके वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए ॥ २०—२५ ॥

तीक्ष्णाश्रममुपागम्य दृष्टवांस्तं महामुनिम् ।
तेनादिष्टेन मार्गेण गत्वागस्त्यं ददर्श ह ॥२६॥
खड्गं तु विमलं तस्मादवाप रघुनन्दनः ।
इषुधिं चाक्षयशरं चापं चैव तु वैष्णवम् ॥२७॥
ततोऽगस्त्याश्रमाद्रामो भ्रातृभार्यासमन्वितः ।
गोदावर्याः समीपे तु पञ्चवट्यामुवास सः ॥२८॥
ततो जटायुरभ्येत्य रामं कमललोचनम् ।
नत्वा स्वकुलमाख्याय स्थितवान् गृध्रनायकः ॥२९॥
रामोऽपि तत्र तं दृष्ट्वा आत्मवृत्तं विशेषतः ।
कथयित्वा तु तं प्राह सीतां रक्ष महामते ॥३०॥

वहाँसे सुतीक्ष्णमुनिके आश्रमपर जाकर श्रीरामने उन महर्षिका दर्शन किया और, कहते हैं, उन्हींके बताये हुए मार्गसे जाकर वे अगस्त्यमुनिसे मिले । वहाँ श्रीरघुनाथजीने उनसे एक निर्मल खड्ग तथा वैष्णव धनुष प्राप्त किये और जिसमें रक्खा हुआ बाण कभी समाप्त न हो—ऐसा तरकस भी उपलब्ध किया । तत्पश्चात् सीता और लक्ष्मणके साथ वे अगस्त्य-आश्रमसे आगे जाकर गोदावरीके निकट पञ्चवटीमें रहने लगे । वहाँ जानेपर कमललोचन श्रीरामचन्द्रजीके पास गृध्रराज जटायु आये और उनसे अपने कुलका परिचय देकर खड़े हो गये । उन्हें वहाँ उपस्थित देख श्रीरामने भी अपना सारा वृत्तान्त विशेषरूपसे जनाया और कहा—'महामते ! तुम सीताकी रक्षा करते रहो' ॥ २६—३० ॥

इत्युक्तोऽसौ जटायुस्तु राममालिङ्ग्य सादरम् ।
कार्यार्थं तु गते रामे भ्रात्रा सह वनान्तरम् ॥३१॥
अहं रक्ष्यामि ते भार्यां स्थीयतामत्र शोभन ।
इत्युक्त्वा गतवान्रामं गृध्रराजः स्वमाश्रमम् ॥३२॥
समीपे दक्षिणे भागे नानापक्षिनिषेविते ।

श्रीरामके यों कहनेपर जटायुने आदरपूर्वक उनका आलिङ्गन किया और कहा—'श्रीराम ! जब कभी कार्यवश अपने भाई लक्ष्मणके साथ आप किसी दूसरे वनमें चले जायँ, उस समय मैं ही आपकी भार्याकी रक्षा करूँगा; अतः सुन्दर ! आप निश्चिन्त होकर यहाँ रहिये ।' श्रीरामसे यों कहकर गृध्रराज पास ही दक्षिण भागमें स्थित अपने आश्रमपर चले आये, जो नाना पक्षियोंद्वारा सेवित था ॥ ३१-३२½ ॥

वसन्तं राघवं तत्र सीतया सह सुन्दरम् ॥३३॥
मन्मथाकारसदृशं कथयन्तं महाकथाः ।
कृत्वा मायामयं रूपं लावण्यगुणसंयुतम् ॥३४॥
मदनाक्रान्तहृदया कदाचिद्रावणानुजा ।
गायन्ती सुस्वरं गीतं शनैरागत्य राक्षसी ॥३५॥
ददर्श राममासीनं कानने सीतया सह ।
अथ शूर्पणखा घोरा मायारूपधरा शुभा ॥३६॥
निश्शङ्का दुष्टचित्ता सा राघवं प्रत्यभाषत ।
भज मां कान्त कल्याणीं भजन्तीं कामिनीमिह ॥३७॥
भजमानां त्यजेद्यस्तु तस्य दोषो महान् भवेत् ।

एक बार यह सुनकर कि कामदेवके समान सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी नाना प्रकारकी महत्त्वपूर्ण कथाएँ कहते हुए

अपनी भार्या सीताके साथ पञ्चवटीमें निवास कर रहे हैं, रावणकी छोटी बहिन राक्षसी शूर्पणखा मन-ही-मन कामसे पीड़ित हो गयी और लावण्य आदि गुणोंसे युक्त मायामय सुन्दर रूप बनाकर, मधुर स्वरमें गीत गाती हुई धीरे-धीरे वहाँ आयी। उसने वनमें सीताजीके साथ बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीको देखा। तब मायामय सुन्दर रूप धारण करनेवाली भयंकर राक्षसी दुष्टहृदया शूर्पणखाने निडर होकर श्रीरामसे कहा—'प्रियतम! मैं आपको चाहनेवाली सुन्दरी दासी हूँ। आप मुझ सेविकाको स्वीकार करें। जो पुरुष सेवामें उपस्थित हुई रमणीका त्याग करता है, उसे बड़ा दोष लगता है' ॥ ३३—३७½ ॥

इत्युक्तः शूर्पणखया रामस्तामाह पार्थिवः ॥३८॥
कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।
इति श्रुत्वा ततः प्राह राक्षसी कामरूपिणी ॥३९॥
अतीव निपुणा चाहं रतिकर्मणि राघव ।
त्यक्त्वैनामनभिज्ञां त्वं सीतां मां भज शोभनाम् ॥४०॥

शूर्पणखाके यों कहनेपर पृथ्वीपति श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा—'बाले! मेरे तो स्त्री है। तुम मेरे छोटे भाईके पास जाओ।' उनकी बात सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली उस राक्षसीने कहा—'राघव! मैं रति-कर्ममें बहुत निपुण हूँ और यह सीता अनभिज्ञ है; अतः इसे त्यागकर मुझ सुन्दरीको ही स्वीकार करें' ॥ ३८—४० ॥

इत्याकर्ण्य वचः प्राह रामस्तां धर्मतत्परः ।
परस्त्रियं न गच्छेऽहं त्वमितो गच्छ लक्ष्मणम् ॥४१॥
तस्य नात्र वने भार्या त्वामसौ संग्रहीष्यति ।
इत्युक्ता सा पुनः प्राह रामं राजीवलोचनम् ॥४२॥
यथा स्याल्लक्ष्मणो भर्ता तथा त्वं देहि पत्रकम् ।
तथैवमुक्त्वा मतिमान् रामः कमललोचनः ॥४३॥
छिन्ध्यस्या नासिकामिति मोक्तव्या नात्र संशयः ।
इति रामो महाराजो लिख्य पत्रं प्रदत्तवान् ॥४४॥

उसकी यह बात सुनकर धर्मपरायण श्रीरामने कहा—'मैं परायी स्त्रीके साथ कोई सम्पर्क नहीं रखता। तुम यहाँसे लक्ष्मणके निकट जाओ। यहाँ वनमें उसकी स्त्री नहीं है; अतः शायद वह तुम्हें स्वीकार कर लेगा।' उनके यों कहनेपर शूर्पणखा पुनः कमलनयन श्रीरामसे बोली—'अच्छा, आप एक ऐसा पत्र लिखकर दें, जिससे लक्ष्मण मेरा भर्ता (भरण-पोषणका भार लेनेवाला) हो सके।' तब बुद्धिमान् कमलनयन महाराज श्रीरामने 'बहुत अच्छा' कहकर एक पत्र लिखा और उसे दे दिया। उसमें लिखा था—'लक्ष्मण! तुम इसकी नाक काट लो; निस्संदेह ऐसा ही करना। यों ही न छोड़ना' ॥ ४१—४४ ॥

सा गृहीत्वा तु तत्पत्रं गत्वा तस्मान्मुदान्विता ।
गत्वा दत्तवती तद्वल्लक्ष्मणाय महात्मने ॥४५॥
तां दृष्ट्वा लक्ष्मणः प्राह राक्षसीं कामरूपिणीम् ।
न लङ्घ्यं राघववचो मया तिष्ठात्मकश्मले ॥४६॥
तां प्रगृह्य ततः खड्गमुद्यम्य विमलं सुधीः ।
तेन तत्कर्णनासां तु चिच्छेद तिलकाण्डवत् ॥४७॥

शूर्पणखा वह पत्र लेकर प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे गयी। जाकर उसने महात्मा लक्ष्मणको उसी रूपमें वह पत्र दे दिया। उस कामरूपिणी राक्षसीको देखकर लक्ष्मणने उससे कहा—'कलङ्किनी! ठहर, मैं श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता।' यों कहकर बुद्धिमान् लक्ष्मणने उसे पकड़ लिया और एक चमचमाती हुई तलवार उठाकर तिलवृक्षके काण्ड (पोखो) के समान उसकी नाक और कान काट लिये ॥ ४५—४७ ॥

छिन्ननासा ततः सा तु रुरोद भृशदुःखिता ।
हा दशास्य मम भ्रातः सर्वदेवविमर्दक ॥४८॥
हा कष्टं कुम्भकर्णाद्यायाता मे चापदा परा ।
हा हा कष्टं गुणनिधे विभीषण महामते ॥४९॥

नाक कट जानेपर वह बहुत दुखी हो रोने तथा विलाप करने लगी—'हा! समस्त देवताओंका मान-मर्दन करनेवाले मेरे भाई रावण! आज मुझपर महान् कष्ट आ गया। हा भाई कुम्भकर्ण! मुझपर बड़ी भारी विपत्ति आ पड़ी। हा गुणनिधे महामते विभीषण! मुझे महान् दुःख देखना पड़ा' ॥ ४८-४९ ॥

इत्येवमार्ता रुदती सा गत्वा खरदूषणौ ।
त्रिशिरसं च सा दृष्ट्वा निवेद्यात्मपराभवम् ॥५०॥
राममाह जनस्थाने भ्रात्रा सह महाबलम् ।
ज्ञात्वा ते राघवं क्रुद्धाः प्रेषयामासुरूर्जितान् ॥५१॥

चतुर्दशसहस्राणि राक्षसानां बलीयसाम् ।
अग्रे निजग्मुस्तेनैव रक्षसां नायकास्त्रयः ॥५२॥
रावणेन नियुक्तास्ते पुरैव तु महाबलाः ।
महाबलपरीवारा जनस्थानमुपागताः ॥५३॥
क्रोधेन महताऽऽविष्टा दृष्ट्वा तां छिन्ननासिकाम् ।
रुदतीमश्रुदिग्धाङ्गीं भगिनीं रावणस्य तु ॥५४॥

इस प्रकार आर्तभावसे रोदन करती हुई वह खर-दूषण और त्रिशिराके पास गयी तथा उनसे अपने अपमानकी बात निवेदन करके बोली—'महाबली श्रीराम इस समय जनस्थानमें अपने भाई लक्ष्मणके साथ रहते हैं।' श्रीरामका पता पाकर वे तीनों बहुत ही कुपित हुए और उनके साथ युद्धके लिये उन्होंने चौदह हजार प्रतापी एवं बलवान् राक्षसोंको भेजा तथा वे तीनों निशाचर-नायक स्वयं भी उस सेनाके साथ आगे-आगे चले। उन महाबलवान् राक्षसोंको रावणने वहाँ पहलेसे ही नियुक्त कर रक्खा था। वे बहुत बड़ी सेनाके साथ जनस्थानमें आये। रावणकी बहिन शूर्पणखा नाक कट जानेसे बहुत रो रही थी। उसके सारे अङ्ग आँसुओंसे भीग गये थे। उसकी वह दुर्दशा देख वे खर-दूषण आदि राक्षस अत्यन्त कुपित हो उठे थे ॥ ५०—५४ ॥

रामोऽपि तद्बलं दृष्ट्वा राक्षसानां बलीयसाम् ।
संस्थाप्य लक्ष्मणं तत्र सीताया रक्षणं प्रति ॥५५॥
गत्वा तु प्रहितैस्तत्र राक्षसैर्बलदर्पितैः ।
चतुर्दशसहस्रं तु राक्षसानां महाबलम् ॥५६॥
क्षणेन निहतं तेन शरैरग्निशिखोपमैः ।
खरश्च निहतस्तेन दूषणश्च महाबलः ॥५७॥
त्रिशिराश्च महारोषाद् रणे रामेण पातितः ।
हत्वा तान् राक्षसान्दुष्टान् रामश्चाश्रममाविशत् ॥५८॥

श्रीरामने भी बलवान् राक्षसोंकी उस सेनाको देख लक्ष्मणको सीताकी रक्षामें उसी स्थानमें रोक दिया और अपने साथ युद्धके लिये वहाँ भेजे गये उन बलाभिमानी राक्षसोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया। अग्निकी ज्वालाके समान दीप्तिमान् बाणोंद्वारा उन्होंने चौदह हजार राक्षसोंकी प्रबल सेनाको क्षणभरमें मार गिराया। साथ ही खर और महाबली दूषणका भी वध किया। इसी प्रकार त्रिशिराको भी श्रीरामने अत्यन्त रोषपूर्वक रणक्षेत्रमें मार गिराया। इस तरह उन सभी दुष्ट राक्षसोंका वध करके श्रीरामचन्द्रजी अपने आश्रममें लौट आये ॥ ५५—५८ ॥

शूर्पणखा च रुदती रावणान्तिकमागता ।
छिन्ननासां च तां दृष्ट्वा रावणो भगिनीं तदा ॥५९॥
मारीचं प्राह दुर्बुद्धिः सीताहरणकर्मणि ।
पुष्पकेण विमानेन गत्वाहं त्वं च मातुल ॥६०॥
जनस्थानसमीपे तु स्थित्वा तत्र ममाज्ञया ।
सौवर्णमृगरूपं त्वमास्थाय तु शनैः शनैः ॥६१॥
गच्छ त्वं तत्र कार्यार्थं यत्र सीता व्यवस्थिता ।
दृष्ट्वा सा मृगपोतं त्वां सौवर्णं त्वयि मातुल ॥६२॥
स्पृहां करिष्यते रामं प्रेषयिष्यति बन्धने ।
तद्वाक्यात्तत्र गच्छन्तं धावस्व गहने वने ॥६३॥
लक्ष्मणस्यापकर्षार्थं वक्तव्यं वागुदीरणम् ।
ततः पुष्पकमारुह्य मायारूपेण चाप्यहम् ॥६४॥
तां सीतामहमानेष्ये तस्यामासक्तमानसः ।
त्वमपि स्वेच्छया पश्चादागमिष्यसि शोभन ॥६५॥

तब शूर्पणखा रोती हुई रावणके पास आयी। दुर्बुद्धि रावणने अपनी बहिनकी नाक कटी देख सीताको हर लानेके उद्देश्यसे मारीचसे कहा—'मामा! हम और तुम पुष्पक विमानसे चलकर जनस्थानके पास ठहरें। वहाँसे तुम मेरी आज्ञाके अनुसार सोनेके मृगका वेष धारणकर धीरे-धीरे मेरा कार्य सिद्ध करनेके लिये उस स्थानपर जाना, जहाँ सीता रहती है। मामा! वह जब तुम्हें सुवर्णमय मृगशावकके रूपमें देखेगी, तब तुम्हें लेनेकी इच्छा करेगी और श्रीरामको तुम्हें बाँध लानेके लिये भेजेगी। जब सीताकी बात मानकर वे तुम्हें बाँधने चलें, तब तुम उनके सामनेसे गहन वनमें भाग जाना। फिर लक्ष्मणको भी उधर ही खींचनेके लिये उच्चस्वरसे [हा भाई लक्ष्मण ! इस प्रकार] कातर वचन बोलना। तत्पश्चात् मैं भी मायामय वेष बनाकर, पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो, उस असहाया सीताको हर लाऊँगा; क्योंकि मेरा मन उसमें आसक्त हो गया है। फिर भद्र! तुम भी स्वेच्छानुसार चले आना' ॥ ५९—६५ ॥

इत्युक्ते रावणेनाथ मारीचो वाक्यमब्रवीत् ।
त्वमेव गच्छ पापिष्ठ नाहं गच्छामि तत्र वै ॥६६॥

पुरैवानेन रामेण व्यथितोऽहं मुनेर्मखे ।
इत्युक्तवति मारीचे रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥६७॥
मारीचं हन्तुमारेभे मारीचोऽप्याह रावणम् ।
तव हस्तवधाद्वीर रामेण मरणं वरम् ॥६८॥
अहं गमिष्यामि तत्र यत्र त्वं नेतुमिच्छसि ।

रावणके यों समझानेपर मारीचने कहा—'अरे पापिष्ठ ! तुम्हीं जाओ, मैं वहाँ नहीं जाऊँगा । मैं तो विश्वामित्रमुनिके यज्ञमें पहले ही श्रीरामके हाथों भारी कष्ट उठा चुका हूँ ।' मारीचके यों कहनेपर रावण क्रोधसे मूर्च्छित हो उसे मार डालनेको उद्यत हो गया । तब मारीचने उससे कहा—'वीर ! तुम्हारे हाथसे वध हो, इसकी अपेक्षा तो श्रीरामके हाथसे ही मरना अच्छा है । तुम मुझे जहाँ ले चलना चाहते हो, वहाँ अब मैं अवश्य चलूँगा' ॥६६–६८½॥

अथ पुष्पकमारुह्य जनस्थानमुपागतः ॥६९॥
मारीचस्तत्र सौवर्णं मृगमास्थाय चाग्रतः ।
जगाम यत्र सा सीता वर्तते जनकात्मजा ॥७०॥
सौवर्णं मृगपोतं तु दृष्ट्वा सीता यशस्विनी ।
भाविकर्मवशाद्राममुवाच पतिमात्मनः ॥७१॥
गृहीत्वा देहि सौवर्णं मृगपोतं नृपात्मज ।
अयोध्यायां तु मद्गेहे क्रीडनार्थमिदं मम ॥७२॥

यह सुनकर वह पुष्पक विमानपर आरूढ हो उसके साथ जनस्थानके निकट आया । वहाँ पहुँचकर मारीच सुवर्णमय मृगका रूप धारणकर, जहाँ जनकनन्दिनी सीता विद्यमान थीं, वहाँ उनके सामने गया । उस सुवर्णमय मृगकिशोरको देखकर यशस्विनी सीता भावी कर्मके वशीभूत हो अपने पति भगवान् श्रीरामसे बोलीं—'राजपुत्र ! आप उस सुवर्णमय मृगशावकको पकड़कर मेरे लिये ला दीजिये । यह अयोध्यामें मेरे महलके भीतर क्रीडा-विनोदके लिये रहेगा' ॥ ६९–७२ ॥

तथैवमुक्तो रामस्तु लक्ष्मणं स्थाप्य तत्र वै ।
रक्षणार्थं तु सीताया गतोऽसौ मृगपृष्ठतः ॥७३॥
रामेण चानुयातोऽसौ अभ्यधावद्वने मृगः ।
ततः शरेण विव्याध रामस्तं मृगपोतकम् ॥७४॥
हा लक्ष्मणेति चोक्त्वासौ निपपात महीतले ।
मारीचः पर्वताकारस्तेन नष्टो बभूव सः ॥७५॥

आकर्ण्य रुदतः शब्दं सीता लक्ष्मणमब्रवीत् ।
गच्छ लक्ष्मण पुत्र त्वं यत्रायं शब्द उत्थितः ॥७६॥
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य तत्त्वं वै रुदतः श्रूयते ध्वनिः ।
प्रायो रामस्य संदेहं लक्षयेऽहं महात्मनः ॥७७॥

सीताके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको वहाँ रख दिया और स्वयं उस मृगके पीछे चले । श्रीरामके पीछा करनेपर वह मृग वनकी ओर भागा, तब श्रीरामने उस मृग-शावकको बाणसे बींध डाला । मारीच 'हा ! लक्ष्मण !'—यों कहकर पर्वताकार शरीरसे पृथ्वीपर गिरा और प्राणहीन हो गया । रोते हुए मारीचके उस आर्तनाद-को सुनकर सीताने लक्ष्मणसे कहा—'वत्स लक्ष्मण ! जहाँसे यह आवाज आयी है, वहीं तुम भी जाओ । निश्चय ही तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राताके रोदनका शब्द कानोंमें आ रहा है, मुझे प्रायः महात्मा श्रीरामका जीवन संशयमें पड़ा दिखायी देता है' ॥ ७३–७७ ॥

इत्युक्तः स तथा प्राह लक्ष्मणस्तामनिन्दिताम् ।
न हि रामस्य संदेहो न भयं विद्यते क्वचित् ॥७८॥
इति ब्रुवाणं तं सीता भाविकर्मबलाद्भृतम् ।
लक्ष्मणं प्राह वैदेही विरुद्धवचनं तदा ॥७९॥
मृते रामे तु मामिच्छन्नतस्त्वं न गमिष्यसि ।
इत्युक्तः स विनीतात्मा असहन्नप्रियं वचः ॥८०॥
जगाम राममन्वेष्टुं तदा पार्थिवनन्दनः ।

सीताकी यह बात सुनकर उन अनिन्दिता देवीसे लक्ष्मणने कहा—'देवि ! श्रीरामके लिये कोई संदेहकी बात नहीं है, उन्हें कहीं भी भय नहीं है ।' यों कहते हुए लक्ष्मणसे उस समय विदेहकुमारी सीताने कुछ विरुद्ध वचन कहा, जो भवितव्यताकी प्रेरणासे उनके मुखसे सहसा निकल पड़ा था । वे बोलीं—'मैं जानती हूँ, तुम श्रीरामके मर जानेपर मुझे अपनी बनाना चाहते हो; इसीसे इस समय वहाँ नहीं जा रहे हो ।' सीताके यों कहनेपर विनयशील राजकुमार लक्ष्मण उस अप्रिय वचनको न सह सके और तत्काल ही श्रीरामचन्द्रजीकी खोजमें चल पड़े ॥ ७८–८०½ ॥

संन्यासवेषमास्थाय रावणोऽपि दुरात्मवान् ॥८१॥
स सीतापार्श्वमासाद्य वचनं चेदमुक्तवान् ।
आगतो भरतः श्रीमानयोध्याया महामतिः ॥८२॥

रामेण सह सम्भाष्य स्थितवांस्तत्र कानने ।
मां च प्रेषितवान् रामो विमानमिदमारुह ॥८३॥
अयोध्यां याति रामस्तु भरतेन प्रसादितः ।
मृगबालं तु वैदेहि क्रीडार्थं ते गृहीतवान् ॥८४॥
क्लेशितासि महारण्ये बहुकालं त्वमीदृशम् ।
सम्प्राप्तराज्यस्ते भर्ता रामः स रुचिराननः ॥८५॥
लक्ष्मणश्च विनीतात्मा विमानमिदमारुह ।

इसी समय दुरात्मा रावण भी संन्यासीका वेष बनाकर सीताके पास आया और यों बोला—'देवि ! अयोध्यासे महाबुद्धिमान् भरतजी आये हैं। वे श्रीरामचन्द्रजीके साथ बातचीत करके वहीं काननमें ठहरे हुए हैं । श्रीरामचन्द्रजीने मुझे तुम्हें बुलानेके लिये यहाँ भेजा है। तुम इस विमानपर चढ़ चलो। भरतजीने मनाकर श्रीरामको अयोध्या चलनेके लिये राजी कर लिया है, अतः वे अयोध्या जा रहे हैं। वैदेहि ! तुम्हारी क्रीडा—विनोदके लिये उन्होंने उस मृग-शावकको भी पकड़ लिया है । अहो ! तुमने इस विशाल वनमें बहुत दिनोंतक ऐसा महान् कष्ट उठाया है। अब तुम्हारे स्वामी सुन्दर मुखवाले श्रीरामचन्द्रजी तथा उनके विनयशील भाई लक्ष्मण भी राज्यग्रहण कर चुके हैं । अतः तुम उनके पास चलनेके लिये इस विमानपर चढ़ जाओ' ॥ ८१—८५½ ॥

इत्युक्ता सा तथा गत्वा नीता तेन महात्मना ॥८६॥
आरुरोह विमानं तु छद्मना प्रेरिता सती ।
तज्जगाम ततः शीघ्रं विमानं दक्षिणां दिशम् ॥८७॥
ततः सीता सुदुःखार्ता विललाप सुदुःखिता ।
विमाने खेऽपि रोदन्त्याश्चक्रे स्पर्शं न राक्षसः ॥८८॥
रावणः स्वेन रूपेण बभूवाथ महातनुः ।
दशग्रीवं महाकायं दृष्ट्वा सीता सुदुःखिता ॥८९॥
हा राम वञ्चिताद्याहं केनापिच्छद्मरूपिणा ।
रक्षसा घोररूपेण त्रायस्वेति भयार्दिता ॥९०॥
हे लक्ष्मण महाबाहो मां हि दुष्टेन रक्षसा ।
द्रुतमागत्य रक्षस्व नीयमानामथाकुलाम् ॥९१॥

उसके यों कहनेपर उसकी कपटपूर्ण बातोंसे प्रेरित हो सती सीता वह सब सत्य मानकर उस तथाकथित महात्माके साथ विमानके निकट गयीं और उसपर आरूढ़ हो गयीं । तब वह विमान शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशाकी ओर चल पड़ा। यह देख सीता अत्यन्त शोकसे पीड़ित हो, अत्यन्त दुःखसे विलाप करने लगीं । यद्यपि सीता आकाशमें उसके अपने ही विमानपर बैठी थीं, तथापि रावणने वहाँ रोती हुई सीताका स्पर्श नहीं किया । अब रावण अपने असली रूपमें आ गया । उसका शरीर बहुत बड़ा हो गया । दस मस्तकवाले उस विशालकाय राक्षसपर दृष्टि पड़ते ही सीता अत्यन्त दुःखमें डूब गयीं और विलाप करने लगीं—'हाय राम ! किसी कपटवेषधारी भयानक राक्षसने आज मुझे धोखा दिया है, मैं भयसे पीड़ित हो रही हूँ; मुझे बचाओ। हे महाबाहु लक्ष्मण ! मुझे दुष्ट राक्षस हरकर लिये जा रहा है । मैं भयसे व्याकुल हूँ, तुम जल्दी आकर मुझ असहायाकी रक्षा करो' ॥ ८६—९१ ॥

एवं प्रलपमानायाः सीतायास्तन्महत्स्वनम् ।
आकर्ण्य गृध्रराजस्तु जटायुस्तत्र चागतः ॥९२॥
तिष्ठ रावण दुष्टात्मन्मुञ्च मुञ्चात्र मैथिलीम् ।
इत्युक्त्वा युयुधे तेन जटायुस्तत्र वीर्यवान् ॥९३॥
पक्षाभ्यां ताडयामास जटायुस्तस्य वक्षसि ।
ताडयन्तं तु तं मत्वा बलवानिति रावणः ॥९४॥
तुण्डचञ्चुप्रहारैस्तु भृशं तेन प्रपीडितः ।
तत उत्थाप्य वेगेन चन्द्रहासमसिं महत् ॥९५॥
जघान तेन दुष्टात्मा जटायुं धर्मचारिणम् ।
निपपात महीपृष्ठे जटायुः क्षीणचेतनः ॥९६॥

इस प्रकार उच्चस्वरसे विलाप करती हुई सीताके उस महान् आर्तनादको सुनकर गृध्रराज जटायु वहाँ आ पहुँचे (और बोले—) 'अरे दुष्टात्मा रावण ! ठहर जा; तू सीताको छोड़ दे, छोड़ दे ।' यह कहकर पराक्रमी जटायु उसके साथ युद्ध करने लगे । उन्होंने अपने दोनों पंखोंसे रावणकी छातीमें चोट की। उनको इस प्रकार प्रहार करते देख रावणने समझ लिया कि 'यह पक्षी बड़ा बलवान् है' । जब जटायुके मुख और चोंचकी मारसे वह बहुत पीड़ित हो गया, तब उस दुष्टने बड़े वेगसे 'चन्द्रहास' नामक विशाल खड्ग उठाया और उससे धर्मात्मा जटायुपर घातक प्रहार किया । इससे उनकी चेतना क्षीण हो गयी और वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९२—९६ ॥

उवाच च दशग्रीवं दुष्टात्मन्न त्वया हतः ।
चन्द्रहासस्य वीर्येण हतोऽहं राक्षसाधम ॥९७॥

निरायुधं को हनेन्मूढ सायुधस्त्वामृते जनः ।
सीतापहरणं विद्धि मृत्युस्ते दुष्ट राक्षस ॥९८॥
दुष्ट रावण रामस्त्वां वधिष्यति न संशयः ।

उस समय उन्होंने रावणसे कहा—'अरे दुष्टात्मन्! ओ नीच राक्षस! मुझे तूने नहीं मारा है। मैं तो तेरे 'चन्द्रहास' नामक खड्गके प्रभावसे मारा गया हूँ। अरे मूर्ख! तेरे सिवा दूसरा कौन शस्त्रधारी योद्धा होगा, जो किसी निहत्थेपर हथियार चलायेगा? अरे दुष्ट राक्षस! तू यह जान ले कि सीताका हर ले जाना तेरी मौत है। दुष्टात्मा रावण! निस्संदेह श्रीरामचन्द्रजी तेरा वध कर डालेंगे' ॥ ९७-९८½ ॥

रुदती दुःखशोकार्ता जटायुं प्राह मैथिली ॥९९॥
मत्कृते मरणं यस्मात्त्वया प्राप्तं द्विजोत्तम ।
तस्माद्रामप्रसादेन विष्णुलोकमवाप्स्यसि ॥१००॥
यावद्रामेण सङ्गस्ते भविष्यति महाद्विज ।
तावत्तिष्ठन्तु ते प्राणा इत्युक्त्वा तु खगोत्तमम्॥१०१॥
ततस्तान्यर्पितान्यङ्गाद्भूषणानि विमुच्य सा ।
शीघ्रं निबध्य वस्त्रेण रामहस्तं गमिष्यथ ॥१०२॥
इत्युक्त्वा पातयामास भूमौ सीता सुदुःखिता ।

जटायुके मारे जानेसे अत्यन्त दुःख और शोकसे पीडित हुई मिथिलेशकुमारी सीता उनसे रोकर बोलीं—'हे पक्षिराज! तुमने मेरे लिये मृत्युका वरण किया है, इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे विष्णुलोकको प्राप्त होओगे। खगश्रेष्ठ! जबतक श्रीरामचन्द्रजीसे तुम्हारी भेंट न हो, तबतक तुम्हारे प्राण शरीरमें ही रहें।' उन पक्षिराजसे यों कहकर अत्यन्त दुःखिनी सीताने अपने शरीरसे धारण किये हुए समस्त आभूषणोंको उतारा और शीघ्रतापूर्वक वस्त्रमें बाँधकर कहा—'तुम सब-के-सब श्रीरामके हाथमें पहुँच जाओगे।' और तब उन्हें भूमिपर गिरा दिया ॥ ९९-१०२½ ॥

एवं हत्वा स सीतां तु जटायुं पात्य भूतले ॥१०३॥
पुष्पकेण गतः शीघ्रं लङ्कां दुष्टनिशाचरः ।
अशोकवनिकामध्ये स्थापयित्वा स मैथिलीम् १०४
इमामत्रैव रक्षध्वं राक्षस्यो विकृताननाः ।
इत्यादिश्य गृहं यातो रावणो राक्षसेश्वरः ॥१०५॥
लङ्कानिवासिनश्चोचुरेकान्तं च परस्परम् ।
अस्याः पुर्या विनाशार्थं स्थापितेयं दुरात्मना ॥१०६॥

इस प्रकार सीताको हरकर तथा जटायुको धराशायी करके वह दुष्ट निशाचर पुष्पक विमानद्वारा शीघ्र ही लङ्कामें जा पहुँचा। वहाँ मिथिलेशकुमारी सीताको अशोकवाटिकामें रखकर राक्षसियोंसे बोला—'भयंकर मुखवाली निशाचरियो! तुमलोग यहीं सीताकी रखवाली करो।' यह आदेश दे वह राक्षसराज रावण अपने भवनमें चला गया। उस समय लङ्कानिवासी एकान्तमें परस्पर मिलकर बातें करने लगे—'दुरात्मा रावणने इस नगरीका विनाश करनेके लिये ही सीताको यहाँ ला रक्खा है' ॥ १०३–१०६ ॥

राक्षसीभिर्विरूपाभी रक्ष्यमाणा समन्ततः ।
सीता च दुःखिता तत्र स्मरन्ती राममेव सा ॥१०७॥
उवास सा सुदुःखार्ता दुःखिता रुदती भृशम् ।
यथा ज्ञानखले देवी हंसयाना सरस्वती ॥१०८॥

विकट आकारवाली राक्षसियोंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित हुई सीता वहाँ दुःखमग्न हो केवल श्रीरामचन्द्रजीका ही चिन्तन करती हुई रहने लगीं। वे सदा अत्यन्त शोकार्त्त हो बड़े दुःखके साथ बहुत रोदन किया करती थीं। रावणके वशमें पड़ी हुई सीता ज्ञानको अपनेतक ही सीमित रखनेवाले कृपणके अधीन हुई हंसवाहिनी सरस्वतीके समान वहाँ शोभा नहीं पाती थी ॥ १०७-१०८ ॥

सुग्रीवभृत्या हरयश्चतुरश्च यदृच्छया ।
वस्त्रबद्धं तयोत्सृष्टं गृहीत्वा भूषणं द्रुतम् ॥१०९॥
स्वभर्त्रे विनिवेद्योचुः सुग्रीवाय महात्मने ।
अरण्येऽभून्महायुद्धं जटायो रावणस्य च ॥११०॥
अथ रामश्च तं हत्वा मारीचं माययाऽऽगतम् ।
निवृत्तो लक्ष्मणं दृष्ट्वा तेन गत्वा स्वमाश्रमम् १११
सीतामपश्यन्दुःखार्तः प्ररुरोद स राघवः ।
लक्ष्मणश्च महातेजा रुरोद भृशदुःखितः ॥११२॥
बहुप्रकारमस्वस्थं रुदन्तं राघवं तदा ।
भूतले पतितं धीमानुत्थाप्याश्वास्य लक्ष्मणः॥११३॥

सीताने वस्त्रमें बँधे हुए अपने जिन आभूषणोंको नीचे गिरा दिया था, उन्हें अकस्मात् घूमनेके लिये आये हुए चार

वानरोंने, जो वानरराज सुग्रीवके सेवक थे, पाया और शीघ्रतापूर्वक ले जाकर अपने स्वामी महात्मा सुग्रीवको अर्पित करके यह समाचार भी सुनाया कि 'आज वनके भीतर जटायु और रावणमें बड़ा भारी युद्ध हुआ था।' इधर, जब श्रीरामचन्द्रजी मायामय वेष बनाकर आये हुए उस मारीचको मारकर लौट पड़े, तब मार्गमें लक्ष्मणको देखकर उनके साथ अपने आश्रमपर आये; किंतु वहाँ सीताको न देखकर वे दुःखसे व्यथित हो फूट-फूटकर रोने लगे। महातेजस्वी लक्ष्मण भी अत्यन्त दुखी होकर रोदन करने लगे। उस समय श्रीरामचन्द्रजीको सर्वथा अस्वस्थ होकर रोते और पृथ्वीपर गिरा देख बुद्धिमान् लक्ष्मणने उन्हें उठाकर धीरज बँधाया ॥ १०९—११३ ॥

उवाच वचनं प्राप्तं तदा यत्तच्छृणुष्व मे ।
अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि ॥११४॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शीघ्रं त्वं सीतां मृगयितुं प्रभो ।
इत्येवं वदता तेन लक्ष्मणेन महात्मना ॥११५॥
उत्थापितो नरपतिर्दुःखितो दुःखितेन तु ।
भ्रात्रा सह जगामाथ सीतां मृगयितुं वनम् ॥११६॥

राजन्! उस समय लक्ष्मणने उनसे जो समयोचित बात कही थी, वह तुम मुझसे सुनो। (लक्ष्मण बोले—) 'महाराज! आप अधिक शोक न करें। प्रभो! अब सीताकी खोज करनेके लिये आप शीघ्रतापूर्वक उठिये, उठिये।' इत्यादि बातें कहते हुए दुखी महात्मा लक्ष्मणने अपने शोकग्रस्त भाई राजा रामचन्द्रजीको उठाया और उनके साथ स्वयं सीताकी खोज करनेके लिये वनमें चले॥ ११४—११६॥

वनानि सर्वाणि विशोध्य राघवो
गिरीन् समस्तान् गिरिसानुगोचरान् ।
तथा मुनीनामपि चाश्रमान् बहूं-
स्तृणादिवल्लीगहनेषु भूमिषु ॥११७॥
नदीतटे भूविवरे गुहायां
निरीक्षमाणोऽपि महानुभावः ।
प्रियामपश्यन् भृशदुःखितस्तदा
जटायुषं वीक्ष्य च घातितं नृपः ॥११८॥

अहो भवान् केन हतस्त्वमीदृशीं
दशामवाप्तोऽसि मृतोऽसि जीवसि ।
ममाद्य सर्वं समदुःखितस्य भोः
पत्नीवियोगादिह चागतस्य वै ॥११९॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने सारे वनोंको छान डाला, समस्त पर्वतों तथा उनकी चोटियोंपर जानेवाले मार्गोंका भी निरीक्षण कर लिया। इसी प्रकार उन्होंने मुनियोंके बहुत-से आश्रम भी देखे; तृण एवं लताओंसे आच्छादित वनस्थलियों तथा खुले मैदानोंमें, नदीके किनारे, गड्ढोंमें और कन्दराओंमें देखनेपर भी जब उन महानुभावको अपनी प्रिया सीताका पता नहीं लगा, तब वे बहुत दुखी हुए। उसी समय राजा रामचन्द्रजीने रावणद्वारा मारे गये जटायुको देखा और कहा—'अहो! आपको किसने मारा? आह! आप ऐसी दुर्दशाको पहुँच चुके हैं! पता नहीं, जीवित हैं या मर गये। पत्नीके वियोगवश आपके समान ही दुखी होकर यहाँ आये हुए मुझ रामके लिये आजकल आप ही सब कुछ थे' ॥ ११७—११९ ॥

इत्युक्तमात्रे विहगोऽथ कृच्छ्रा-
दुवाच वाचं मधुरां तदानीम् ।
शृणुष्व राजन् मम वृत्तमत्र
वदामि दृष्टं च कृतं च सद्यः ॥१२०॥
दशाननस्तामपनीय मायया
सीतां समारोप्य विमानमुत्तमम् ।
जगाम खे दक्षिणदिङ्मुखोऽसौ
सीता च माता विललाप दुःखिता ॥१२१॥
आकर्ण्य सीतास्वनमागतोऽहं
सीतां विमोक्तुं स्वबलेन राघव ।
युद्धं च तेनाहमतीव कृत्वा
हतः पुनः खड्गबलेन रक्षसा ॥१२२॥
वैदेहिवाक्यादिह जीवता मया
दृष्टो भवान् स्वर्गमितो गमिष्ये ।
मा राम शोकं कुरु भूमिपाल
जह्यद्य दुष्टं सगणं तु नैर्ऋतम् ॥१२३॥

भगवान् रामके इतना कहते ही वह पक्षी उस समय बड़े कष्टसे मधुर वाणीमें बोला—'राजन्! इस समय मैंने जो कुछ देखा है और तत्काल ही उसके लिये जो कुछ किया है, वह मेरा सारा वृत्तान्त आप सुनें। दशमुख रावणने मायासे सीताका अपहरण करके उसे उत्तम विमानपर चढ़ा लिया और आकाशमार्गसे वह दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया। उस समय माता सीता बड़े दुःखके साथ विलाप कर रही थीं। रघुनन्दन! सीताकी आवाज सुनकर मैंने उन्हें अपने ही बलसे छुड़ानेके लिये रावणके साथ महान् युद्ध छेड़ दिया। फिर उस राक्षसने अपनी तलवारके बलसे मुझे मार डाला। विदेहकुमारी सीताके ही आशीर्वादसे मैं अभीतक जीवित था, अब यहाँसे स्वर्गलोकको जाऊँगा। पृथ्वीपालक राम! आप शोक न कीजिये, अब तो उस दुष्ट राक्षसको उसके गणोंसहित मार ही डालिये' ॥ १२०-१२३ ॥

रामो जटायुषेत्युक्तः पुनस्तं चाह शोकतः।
स्वस्त्यस्तु ते द्विजवर गतिस्तु परमास्तु ते ॥१२४॥
ततो जटायुः स्वं देहं विहाय गतवान्दिवम्।
विमानेन तु रम्येण सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥१२५॥
रामोऽपि दग्ध्वा तद्देहं स्नातो दत्त्वा जलाञ्जलिम्।
भ्रात्रा स गच्छन् दुःखार्तो राक्षसीं पथि दृष्टवान्॥१२६॥
उद्वमन्तीं महोल्काभां विवृतास्यां भयंकरीम्।
क्षयं नयन्तीं जन्तून् वै पातयित्वा गतो रुषा॥१२७॥
गच्छन् वनान्तरं रामः स कबन्धं ददर्श ह।
विरूपं जठरमुखं दीर्घबाहुं घनस्तनम् ॥१२८॥
रुन्धानं राममार्गं तु दृष्ट्वा तं दग्धवाञ्छनैः।
दग्धोऽसौ दिव्यरूपी तु खस्थो राममभाषत ॥१२९॥

जटायुके यों कहनेपर श्रीरामने पुनः शोकपूर्वक उनसे कहा—'पक्षिराज! आपका कल्याण हो और आपको उत्तम गति मिले।' तदनन्तर जटायु अपना शरीर त्यागकर एक सुन्दर विमानपर आरूढ़ हुए और अप्सरागणोंसे सेवित हो स्वर्गलोकको चले गये। श्रीरामचन्द्रजीने भी उनके शरीरका दाह-संस्कार करके स्नानके पश्चात् उनके निमित्त जलाञ्जलि दी। फिर सीताके लिये दुखी हो भाई लक्ष्मणके साथ आगे जाने लगे। इतनेमें ही उन्हें रास्तेपर एक राक्षसी खड़ी दिखायी दी। वह मुँहसे बड़ी भारी उल्काके समान आगकी ज्वाला उगल रही थी। उसका मुँह फैला हुआ था। वह बड़ी डरावनी थी और पास आये हुए अनेकानेक जीवोंका संहार कर रही थी। श्रीरामने उसे रोषपूर्वक मार गिराया। फिर वे आगे बढ़ गये। जब श्रीराम दूसरे वनमें जाने लगे, तब उन्होंने कबन्धको देखा, जो बहुत ही कुरूप था। उसका मुख उसके पेटमें ही था, बाँहें बड़ी-बड़ी थीं और स्तन घने थे। श्रीरामने उसे अपना मार्ग रोकते देख उसे काठ-कबाड़द्वारा धीरे-धीरे जला दिया। जल जानेपर वह दिव्यरूप धारण करके प्रकट हुआ और आकाशमें स्थित होकर श्रीरामसे बोला ॥ १२४-१२९ ॥

राम राम महाबाहो त्वया मम महामते।
विरूपं नाशितं वीर मुनिशापाच्चिरागतम् ॥१३०॥
त्रिदिवं यामि धन्योऽस्मि त्वत्प्रसादान्न संशयः।
त्वं सीताप्राप्तये सख्यं कुरु सूर्यसुतेन भोः ॥१३१॥
वानरेन्द्रेण गत्वा तु सुग्रीवे स्वं निवेद्य वै।
भविष्यति नृपश्रेष्ठ ऋष्यमूकगिरिं व्रज ॥१३२॥

'महाबाहु श्रीराम! महामते वीरवर! एक मुनिके शापवश चिरकालसे प्राप्त हुई मेरी कुरूपताको आपने नष्ट कर दिया; अब मैं स्वर्गलोकको जा रहा हूँ। इसमें संदेह नहीं कि आज मैं आपकी कृपासे धन्य हो गया। रघुनन्दन! आप सीताकी प्राप्तिके लिये सूर्यकुमार वानरराज सुग्रीवके साथ मित्रता कीजिये। उनके यहाँ जाकर सुग्रीवसे सारा वृत्तान्त निवेदन कर देनेपर आपका कार्य सिद्ध हो जायगा। अतः नृपश्रेष्ठ! आप यहाँसे ऋष्यमूक पर्वतपर जाइये' ॥ १३०-१३२ ॥

इत्युक्त्वा तु गते तस्मिन् रामो लक्ष्मणसंयुतः।
सिद्धैस्तु मुनिभिः शून्यमाश्रमं प्रविवेश ह ॥१३३॥
तत्रस्थां तापसीं दृष्ट्वा तया संलाप्य संस्थितः।
शबरीं मुनिमुख्यानां सपर्याहतकल्मषाम् ॥१३४॥
तया सम्पूजितो रामो बदरादिभिरीश्वरः।
साप्येनं पूजयित्वा तु स्वामवस्थां निवेद्य वै ॥१३५॥
सीतां त्वं प्राप्स्यसीत्युक्त्वा प्रविश्याग्निं दिवंगता।
दिवं प्रस्थाप्य तां चापि जगामान्यत्र राघवः ॥१३६॥

यह कहकर कबन्ध स्वर्गको चला गया। कहते हैं, तब लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीने एक ऐसे आश्रममें प्रवेश

किया, जो सिद्धों और मुनियोंसे शून्य था। उसमें उन्होंने एक 'शबरी' नामकी तपस्विनी देखी, जो बड़े-बड़े मुनियोंकी सेवा-पूजा करनेसे निष्पाप हो गयी थी। उसके साथ वार्तालाप करके वे वहाँ ठहर गये। शबरीने बेर आदि फलोंके द्वारा भगवान् रामका भलीभाँति सत्कार किया। आवभगतके पश्चात् उनसे अपनी अवस्था निवेदन की और यह कहकर कि 'आप सीताको प्राप्त कर लेंगे' वह शबरी भी उनके सामने ही अग्निमें प्रवेश करके स्वर्गको चली गयी। उसे भी स्वर्गलोकमें पहुँचाकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अन्यत्र चले गये ॥ १३३-१३६ ॥

ततो विनीतेन गुणान्वितेन
भ्रात्रा समेतो जगदेकनाथः।
प्रियावियोगेन सुदुःखितात्मा
जगाम याम्यां स तु रामदेवः ॥१३७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे रामप्रादुर्भावे एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

तदनन्तर विनयशील और गुणी भाई लक्ष्मणके साथ जगदीश्वर भगवान् राम प्रियाके वियोगसे अत्यन्त दुखी हो वहाँसे दक्षिणकी ओर चल दिये ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीरामावतारविषयक उन्चासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पचासवाँ अध्याय

सुग्रीवसे मैत्री; वालिवध; सुग्रीवका प्रमाद और उसकी भर्त्सना; सीताकी खोज और हनुमान्का लङ्कागमन

मार्कण्डेय उवाच

वालिना कृतवैरोऽथ दुर्गवर्ती हरीश्वरः।
सुग्रीवो दृष्टवान् दूराद्दृष्ट्वाऽऽह पवनात्मजम् ॥१॥
कस्येमौ सुधनुःपाणी चीरवल्कलधारिणौ।
पश्यन्तौ सरसीं दिव्यां पद्मोत्पलसमावृताम् ॥ २ ॥
नानारूपधरावेतौ तापसं वेषमास्थितौ।
वालिदूताविह प्राप्ताविति निश्चित्य सूर्यजः ॥ ३ ॥
उत्पपात भयत्रस्तः ऋष्यमूकाद्वनान्तरम्।
वानरैः सहितः सर्वैरगस्त्याश्रममुत्तमम् ॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—वालीसे वैर हो जानेके कारण उसके लिये दुर्गम स्थानमें रहनेवाले वानरराज सुग्रीवने दूरसे ही श्रीराम और लक्ष्मणको आते देखा और देखकर पवनकुमार हनुमान्जीसे कहा—'ये दोनों किसके पुत्र हैं, जो हाथमें सुन्दर धनुष लिये, चीर एवं वल्कल-वस्त्र धारण किये, कमलों एवं उत्पलोंसे आच्छन्न इस दिव्य सरोवरको देख रहे हैं। जान पड़ता है, ये दोनों वालीके भेजे हुए बहुविधरूपधारी दूत हैं, जो इस समय तपस्वीका वेष धारण किये यहाँ आ पहुँचे हैं।' यह निश्चय करके सूर्यकुमार सुग्रीव भयभीत हो गये और समस्त वानरोंके साथ ऋष्यमूक पर्वतसे कूदकर दूसरे वनमें स्थित अगस्त्यमुनिके उत्तम आश्रमपर चले गये ॥ १-४ ॥

तत्र स्थित्वा स सुग्रीवः प्राह वायुसुतं पुनः।
हनूमन् पृच्छ शीघ्रं त्वं गच्छ तापसवेषधृक् ॥ ५ ॥
कौ हि कस्य सुतौ जातौ किमर्थं तत्र संस्थितौ।
ज्ञात्वा सत्यं मम ब्रूहि वायुपुत्र महामते ॥ ६ ॥

वहाँ स्थित होकर सुग्रीवने पुनः पवनकुमारसे कहा—"हनूमन्! तुम भी तपस्वीका वेष धारण करके शीघ्र जाओ और पूछो कि 'वे कौन हैं? किसके पुत्र हैं? और किस लिये वहाँ ठहरे हुए हैं?' महाबुद्धिमान् वायुनन्दन! ये सब बातें सच-सच जानकर मुझसे बताओ" ॥ ५-६ ॥

इत्युक्तो हनुमान् गत्वा पम्पातटमनुत्तमम्।
भिक्षुरूपी स तं प्राह रामं भ्रात्रा समन्वितम् ॥ ७ ॥
को भवानिह सम्प्राप्तस्तथ्यं ब्रूहि महामते।
अरण्ये निर्जने घोरे कुतस्त्वं किं प्रयोजनम् ॥ ८ ॥

उनके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्जी संन्यासीके रूपमें पम्पासरके उत्तम तटपर गये और भाई लक्ष्मणके साथ विद्यमान श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—'महामते! आप कौन हैं? यहाँ कैसे आये हैं? इस जनशून्य घोर वनमें आप कहाँसे आ गये? यहाँ आनेका क्या प्रयोजन है?—ये सब बातें मेरे समक्ष ठीक-ठीक बताइये' ॥ ७-८ ॥

एवं वदन्तं तं प्राह लक्ष्मणो भ्रातुराज्ञया ।
प्रवक्ष्यामि निबोध त्वं रामवृत्तान्तमादितः ॥ ९ ॥
राजा दशरथो नाम बभूव भुवि विश्रुतः ।
तस्य पुत्रो महाबुद्धे रामो ज्येष्ठो ममाग्रजः ॥१०॥
अस्याभिषेक आरब्धः कैकेय्या तु निवारितः ।
पितुराज्ञामयं कुर्वन् रामो भ्राता ममाग्रजः ॥११॥
मया सह विनिष्क्रम्य सीतया सह भार्यया ।
प्रविष्टो दण्डकारण्यं नानामुनिसमाकुलम् ॥१२॥
जनस्थाने निवसतो रामस्यास्य महात्मनः ।
भार्या सीता तत्र वने केनापि पाप्मना हृता ॥१३॥
सीतामन्वेषयन् वीरो रामः कमललोचनः ।
इहायातस्त्वया दृष्ट इति वृत्तान्तमीरितम् ॥१४॥

इस प्रकार पूछते हुए हनुमान्‌जीसे अपने भाईकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण बोले—'मैं श्रीरामचन्द्रजीका वृत्तान्त आदिसे ही वर्णन करता हूँ, सुनो । इस पृथ्वीपर दशरथ नामके राजा बहुत प्रसिद्ध थे । महाबुद्धे ! ये मेरे बड़े भाई श्रीराम उन्हीं महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं । इनका राज्याभिषेक होने जा रहा था, किंतु (मेरी छोटी सौतेली माता) कैकेयीने उसे रोक दिया । फिर, पिताकी आज्ञाका पालन करते हुए ये मेरे बड़े भ्राता श्रीराम मेरे तथा अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ घरसे निकल आये । वनमें आकर इन्होंने अनेकों मुनियोंसे युक्त दण्डकारण्यमें प्रवेश किया । वहाँ जनस्थानमें निवास करते हुए इन महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी सीताको वनमें किसी पापीने हर लिया । उन सीताजीकी ही खोज करते हुए ये वीरवर कमलनयन श्रीराम यहाँ आये हैं, जिससे तुम्हें यहाँ इनका दर्शन हुआ है । बस, यही हमारा वृत्तान्त है, जो तुमसे बता दिया' ॥ ९—१४ ॥

श्रुत्वा ततो वचस्तस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
अव्याञ्जितात्मा विश्वासाद्धनूमान् मारुतात्मजः ॥१५॥
त्वं मे स्वामी इति वदन् रामं रघुपतिं तदा ।
आश्वास्यानीय सुग्रीवं तयोः सख्यमकारयत् ॥१६॥
शिरस्यारोप्य पादाब्जं रामस्य विदितात्मनः ।
सुग्रीवो वानरेन्द्रस्तु उवाच मधुराक्षरम् ॥१७॥
अद्यप्रभृति राजेन्द्र त्वं मे स्वामी न संशयः ।
अहं तु तव भृत्यश्च वानरैः सहितः प्रभो ॥१८॥
त्वच्छत्रुर्मम शत्रुः स्यादद्यप्रभृति राघव ।
मित्रं ते मम सन्मित्रं त्वद्दुःखं तन्ममापि च ॥१९॥
त्वत्प्रीतिरेव मत्प्रीतिरित्युक्त्वा पुनराह तम् ।

महात्मा लक्ष्मणके वचन सुनकर उनपर विश्वास हो आनेके कारण वायुनन्दन हनूमान्‌ने अपने स्वरूपको प्रकट नहीं किया और रघुकुलनायक रामचन्द्रसे यह कहकर कि 'आप मेरे स्वामी हैं'—उन्हें सान्त्वना देते हुए अपने साथ सुग्रीवके पास लेआकर उन दोनों भाइयोंकी सुग्रीवसे मित्रता करा दी । फिर श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका परिचय प्राप्त हो जानेके कारण उनके चरण-कमलोंको सिरपर धारणकर वानरराज सुग्रीवने मधुर वाणीमें कहा—'राजेन्द्र ! इसमें संदेह नहीं कि आजसे आप हमारे स्वामी हुए और प्रभो ! मैं समस्त वानरोंके साथ आपका सेवक हुआ । रघुनन्दन ! आपका जो शत्रु है, वह आजसे मेरा भी शत्रु है और जो आपका मित्र है, वह मेरा भी श्रेष्ठ मित्र है; इतना ही नहीं, आपका जो दुःख है, वह मेरा भी है तथा आपकी प्रसन्नता ही मेरी भी प्रसन्नता है' यों कहकर सुग्रीवने पुनः श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ १५—१९½ ॥

वाली नाम मम ज्येष्ठो महाबलपराक्रमः ॥२०॥
भार्यापहारी दुष्टात्मा मदनासक्तमानसः ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नास्ति हन्ताद्य वालिनम् ॥२१॥
युगपत्सप्ततालांस्तु तरून् यो वै वधिष्यति ।
स तं वधिष्यतीत्युक्तं पुराणज्ञैर्नृपात्मज ॥२२॥

'प्रभो ! 'वाली' नामक मेरा ज्येष्ठ भाई है, जो महाबलवान् और बड़ा ही पराक्रमी है; किंतु वह हृदयका अत्यन्त दुष्ट है । उसने कामासक्त होकर मेरी भार्याका अपहरण कर लिया है । पुरुष-श्रेष्ठ ! इस समय आपके सिवा दूसरा कोई वालीको मारनेवाला नहीं है । राजकुमार ! पुराणवेत्ताओंने कहा है कि जो ताड़के इन सात वृक्षोंको एक साथ ही काट डालेगा, वही वालीका वध कर सकेगा' ॥ २०—२२ ॥

तत्प्रियार्थं हि रामोऽपि श्रीमांश्छित्त्वा महातरून् ।
अर्धाकृष्टेन बाणेन युगपद्रघुनन्दनः ॥२३॥
विद्ध्वा महातरून् रामः सुग्रीवं प्राह पार्थिवम् ।
वालिना गच्छ युध्यस्व कृतचिह्नो रवेः सुत ॥२४॥

इत्युक्तः कृतचिह्नोऽयं युद्धं चक्रेऽथ वालिना ।
रामोऽपि तत्र गत्वाथ शरेणैकेन वालिनम् ॥२५॥
विव्याध वीर्यवान् वाली पपात च ममार च ।
विग्रस्तं वालिपुत्रं तु अङ्गदं विनयान्वितम् ॥२६॥
रणशौण्डं यौवराज्ये नियुक्त्वा राघवस्तदा ।
तां च तारां तथा दत्त्वा रामश्च रविसूनवे ॥ २७॥
सुग्रीवं प्राह धर्मात्मा रामः कमललोचनः ।
राज्यमन्वेषय स्वं त्वं कपीनां पुनराव्रज ॥२८॥
त्वं सीतान्वेषणे यत्नं कुरु शीघ्रं हरीश्वर ।

[यह सुनकर] श्रीमान् रामचन्द्रजीने भी सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये आधे खींचे हुए बाणसे ही उन सात महावृक्षोंको एक ही साथ काट डाला । उन महावृक्षोंका भेदन करके श्रीरामने राजा सुग्रीवसे कहा—'सूर्यनन्दन सुग्रीव ! मेरे पहचाननेके लिये अपने शरीरमें कोई चिह्न धारण करके तुम जाओ और वालीके साथ युद्ध करो ।' उनके यों कहनेपर सुग्रीवने चिह्न धारणकर वालीके साथ युद्ध किया और श्रीरामने भी वहाँ जाकर एक ही बाणसे वालीको बींध दिया। इससे पराक्रमी वाली पृथ्वीपर गिरा और मर गया । तब श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त डरे हुए वालिकुमार अङ्गदको, जो बहुत ही विनयी और संग्राममें कुशल था, युवराजपदपर अभिषिक्त करके ताराको सुग्रीवकी सेवामें अर्पित कर दिया । तत्पश्चात् कमलनयन धर्मात्मा श्रीराम सुग्रीवसे बोले—'तुम वानरोंके राज्यकी देख-भाल कर लो, फिर मेरे पास आना और कपीश्वर ! सीताकी खोज करानेका शीघ्र ही यत्न करना' ॥ २३–२८½ ॥

इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो रामं लक्ष्मणसंयुतम् ॥२९॥
प्रावृट्कालो महान् प्राप्तः साम्प्रतं रघुनन्दन ।
वानराणां गतिर्नास्ति वने वर्षति वासवे ॥३०॥
गते तस्मिंस्तु राजेन्द्र प्राप्ते शरदि निर्मले ।
चारान् सम्प्रेषयिष्यामि वानरान्दिक्षु राघव ॥३१॥
इत्युक्त्वा रामचन्द्रं स तं प्रणम्य कपीश्वरः ।
पम्पापुरं प्रविश्याथ रेमे तारासमन्वितः ॥३२॥

उनके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर सुग्रीवने लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'रघुनन्दन ! इस समय महान् वर्षाकाल आ पहुँचा है; इन्द्रके वर्षा करते रहनेपर इस वनमें वानरोंका चलना-फिरना न हो सकेगा । राजेन्द्र ! वर्षा बीतने और शरत्काल आ जानेपर मैं समस्त दिशाओंमें अपने वानर-दूतोंको भेजूँगा ।' यह कहकर वानरराज सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया और पम्पापुरमें प्रवेश करके वे ताराके साथ रमण करने लगे ॥ २९–३२ ॥

रामोऽपि विधिवद्भ्रात्रा शैलसानौ महावने ।
निवासं कृतवान् शैले नीलकण्ठे महामतिः ॥३३॥
प्रावृट्काले गते कृच्छ्रात् प्राप्ते शरदि राघवः ।
सीतावियोगाद्व्यथितः सौमित्रिं प्राह लक्ष्मणम् ॥३४॥
उल्लङ्घितस्तु समयः सुग्रीवेण ततो रुषा ।
लक्ष्मणं प्राह काकुत्स्थो भ्रातरं भ्रातृवत्सलः ॥३५॥
गच्छ लक्ष्मण दुष्टोऽसौ नागतः कपिनायकः ।
गते तु वर्षाकालेऽहमागमिष्यामि तेऽन्तिकम् ॥३६॥
अनेकैर्वानरैः सार्धमित्युक्त्वासौ तदा गतः ।
तत्र गच्छ त्वरायुक्तो यत्रास्ते कपिनायकः ॥३७॥
तं दुष्टमग्रतः कृत्वा हरिसेनासमन्वितम् ।
रमन्तं तारया सार्धं शीघ्रमानय मां प्रति ॥३८॥
नात्रागच्छति सुग्रीवो यद्यसौ प्राकृभूतिकः ।
तदा त्वयैवं वक्तव्यः सुग्रीवोऽनृतभाषकः ॥३९॥
वालिहन्ता शरो दुष्ट करे मेऽद्यापि तिष्ठति ।
स्मृत्वैतदाचर कपे रामवाक्यं हितं तव ॥४०॥

इधर महामति श्रीरामचन्द्रजी भी अपने भाई लक्ष्मणके साथ उस महावनमें 'नीलकण्ठ' नामक पर्वतकी चोटीपर विधिपूर्वक रहने लगे । (सीताके वियोगमें) उनका वर्षाकाल बड़ी कठिनाईसे बीता । जब शरत्काल उपस्थित हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने सीताके वियोगसे व्यथित हो सुमित्रानन्दन लक्ष्मणसे इस विषयमें वार्तालाप किया । उस समयतक वहाँ न आकर सुग्रीवने अपनी पूर्व-प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन किया था । इसलिये भ्रातृवत्सल ककुत्स्थनन्दन श्रीरामने लक्ष्मणसे क्रोधपूर्वक कहा—"लक्ष्मण ! तुम पम्पापुरमें जाओ । देखो, क्या कारण है कि वह दुष्ट वानरराज अभीतक नहीं आया । पहले तो वह यही कहकर गया था कि 'वर्षाकाल बीतनेपर मैं अनेक वानरोंके साथ आपके पास आऊँगा ।' अब तुम जहाँ वह वानरराज रहता है, वहाँ शीघ्रतापूर्वक जाओ । ताराके साथ

रमण करनेवाले उस दुष्ट वानरको आगे करके समस्त वानर-सेनाके सहित मेरे पास शीघ्र ले आओ। यदि ऐश्वर्य प्राप्त कर लेनेके कारण मदमें चूर हो सुग्रीव यहाँ न आये तो तुम उस असत्यवादीसे यों कहना—'अरे दुष्ट! श्रीरामने कहा है कि जिससे वालिका वध किया गया था, वह बाण आज भी मेरे हाथमें मौजूद है; अतः वानर! इस बातको याद करके तू श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन कर; इसीमें तेरा भला है'" ॥ ३३-४० ॥

इत्युक्तस्तु तथेत्युक्त्वा रामं नत्वा च लक्ष्मणः।
पम्पापुरं जगामाथ सुग्रीवो यत्र तिष्ठति।
दृष्ट्वा स तत्र सुग्रीवं कपिराजं बभाष वै ॥४१॥
ताराभोगविषक्तस्त्वं रामकार्यपराङ्मुखः।
किं त्वया विस्मृतं सर्वं रामाग्रे समयं कृतम् ॥४२॥
सीतामन्विष्य दास्यामि यत्र क्वापीति दुर्मते।
हत्वा तु वालिनं राज्यं येन दत्तं पुरा तव ॥४३॥
त्वामृते कोऽवमन्येत कपीन्द्र पापचेतस।
प्रतिश्रुत्य च रामस्य भार्याहीनस्य भूपते ॥४४॥
साहाय्यं ते करोमीति देवाग्निजलसंनिधौ।
ये ये च शत्रवो राजंस्ते ते च मम शत्रवः ॥४५॥
मित्राणि यानि ते देव तानि मित्राणि मे सदा।
सीतामन्वेषितुं राजन् वानरैर्बहुभिर्वृतः ॥४६॥
सत्यं यास्यामि ते पार्श्वमित्युक्त्वा कोऽन्यथाकरोत्।
त्वामृते पापिनं दुष्टं रामदेवस्य संनिधौ ॥४७॥
कारयित्वा तु तेनैवं स्वकार्यं दुष्टवानर।
ऋषीणां सत्यवद्वाक्यं त्वयि दृष्टं मयाधुना ॥४८॥
सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥४९॥
जनवृत्तविदां लोके सर्वज्ञानां महात्मनाम्।
न तं पश्यामि लोकेऽस्मिन् कृतं प्रतिकरोति यः ॥५०॥
शास्त्रेषु निष्कृतिर्दृष्टा महापातकिनामपि।
कृतघ्नस्य कपे दुष्ट न दृष्टा निष्कृतिः पुरा ॥५१॥
कृतघ्नता न कार्या ते त्वत्कृतं समयं स्मर।
एह्येह्यागच्छ शरणं काकुत्स्थं हितपालकम् ॥५२॥
यदि नायासि च कपे रामवाक्यमिदं शृणु।
नयिष्ये मृत्युसदनं सुग्रीवं वालिनं यथा ॥५३॥
स शरो विद्यतेऽस्माकं येन वाली हतः कपिः।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसी आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे शिरोधार्य किया और उनको नमस्कार करके वे पम्पापुरमें गये, जहाँ सुग्रीव रहता था। वहाँ उन्होंने वानरराज सुग्रीवको देखकर कहा—"अरे! तू श्रीरामचन्द्रजीके कार्यसे मुँह मोड़कर यहाँ ताराके साथ भोग-विलासमें फँसा हुआ है? रे दुर्बुद्धे! तूने श्रीरामके सामने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'जहाँ-कहीं भी हो, सीताको ढूँढ़कर मैं आपको अर्पित करूँगा' उसे क्या भूल गया? अरे पापात्मा वानरराज! जिन्होंने वालिको मारकर पहले ही तुम्हें राज्य दे दिया, ऐसे परोपकारी मित्रका तेरे सिवा कौन अनादर कर सकता है? तूने देवता, अग्नि और जलके निकट श्रीरामसे यह प्रतिज्ञा की थी कि 'राजन्! मैं पत्नीसे वियुक्त हुए आपकी सहायता करूँगा। राजन्! जो-जो आपके शत्रु हैं, वे-वे मेरे भी शत्रु हैं तथा देव! जो-जो आपके मित्र हैं, वे-वे मेरे भी सदा ही मित्र हैं। राजन्! मैं बहुत-से वानरोंके साथ सीताकी खोज करानेके लिये अवश्य ही आपके पास आऊँगा।' भगवान् श्रीरामके निकट यों कहकर तुझ-जैसे दुष्ट पापीके सिवा दूसरा कौन है, जो इसके विपरीत आचरण करता। अरे दुष्ट वानर! इस प्रकार तूने अपना काम तो उनसे करा लिया और उनका कार्य करना तू भूल गया! इस समय ऋषियोंकी यह यथार्थ बात कि 'अपना काम सिद्ध हो जानेपर सभीकी बुद्धि बदल जाती है, जैसे बछड़ा माताके थनोंमें दूधकी कमी देखकर उसे छोड़ देता है [फिर माताकी परवा नहीं करता]' मुझे तुझमें ही ठीक-ठीक घटती-सी दीख रही है। संसारमें जो मनुष्योचित सद्व्यवहार-का ज्ञान रखनेवाले हैं, उन सर्वज्ञ महात्माओंमेंसे मैं किसीको भी ऐसा नहीं देखता, जो लोकमें दूसरोंके द्वारा किये हुए उपकार-को न मानता हो। शास्त्रोंमें महापातकी पुरुषोंके भी उद्धारका उपाय (प्रायश्चित्त) देखा गया है, किंतु दुष्ट वानर! कृतघ्न पुरुषके उद्धारका उपाय मैंने पहले कभी नहीं देखा है। इसलिये तुझे कभी कृतघ्नता नहीं करनी चाहिये। अपनी की हुई प्रतिज्ञाको याद कर। अब आ, तेरे हितकी रक्षा करनेवाले ककुत्स्थकुलनन्दन भगवान् श्रीरामकी शरणमें चल। वानर! यदि तू नहीं आना चाहता तो यह श्रीरामका वचन सुन। [उन्होंने कहा है—] 'मैं वालिकी ही भाँति सुग्रीवको भी

यमपुर भेज दूँगा। जिससे वानरराज वालि मारा गया है, वह बाण अब भी मेरे पास मौजूद है'"॥ ४१—५३½॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तोऽसौ सुग्रीवः कपिनायकः ॥५४॥
निर्गत्य तु नमश्चक्रे लक्ष्मणं मन्त्रिणोदितः।
उवाच च महात्मानं लक्ष्मणं वानराधिपः ॥५५॥
अज्ञानकृतपापानामस्माकं क्षन्तुमर्हसि।
समयः कृतो मया राज्ञा रामेणामिततेजसा ॥५६॥
यस्तदानीं महाभाग तमद्यापि न लङ्घये।
यास्यामि निखिलैश्च कपिभिर्नृपनन्दन ॥५७॥
त्वया सह महावीर रामपार्श्वं न संशयः।
मां दृष्ट्वा तत्र काकुत्स्थो यद्वक्ष्यति च मां प्रति ॥५८॥
तत्सर्वं शिरसा गृह्य करिष्यामि न संशयः।
सन्ति मे हरयः शूराः सीतान्वेषणकर्मणि ॥५९॥
तान्यहं प्रेषयिष्यामि दिक्षु सर्वासु पार्थिव।

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर कपिराज सुग्रीव मन्त्रीकी प्रेरणासे बाहर निकले। उन्होंने लक्ष्मणको प्रणाम किया और उन महात्मासे कहा—'महाभाग! हमारे अज्ञानवश किये हुए अपराधोंको आप क्षमा करें। मैंने उस समय अमिततेजस्वी राजा रामचन्द्रके साथ जो प्रतिज्ञा की थी, उसका अब भी उल्लङ्घन नहीं करूँगा। महावीर राजकुमार! मैं अब समस्त वानरोंको साथ लेकर आपके साथ श्रीरामके पास चलूँगा। मुझे वहाँ देखकर श्रीरामचन्द्रजी मुझसे जो कुछ भी कहेंगे, उसे मैं शिरोधार्य करके निस्संदेह पूर्ण करूँगा। राजन्! मेरे यहाँ बड़े-बड़े वीर वानर हैं। उन सबको म सीताजीकी खोज करनेके लिये समस्त दिशाओंमें भेजूँगा'॥ ५४—५९½॥

इत्युक्तः कपिराजेन सुग्रीवेण स लक्ष्मणः ॥६०॥
एहि शीघ्रं गमिष्यामो रामपार्श्वमितोऽधुना।
सेना चाहूयतां वीर ऋक्षाणां हरिणामपि ॥६१॥
यां दृष्ट्वा प्रीतिमभ्येति राघवस्ते महामते।
इत्युक्तो लक्ष्मणेनाथ सुग्रीवः स तु वीर्यवान् ॥६२॥
पार्श्वस्थं युवराजानमङ्गदं संज्ञयाब्रवीत्।
सोऽपि निर्गत्य सेनानीमाह सेनापतिं तदा ॥६३॥
तेनाहूताः समागत्य ऋक्षवानरकोटयः।
गुहास्थाश्च गिरिस्थाश्च वृक्षस्थाश्चैव वानराः ॥६४॥
तैः सार्धं पर्वताकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः।
सुग्रीवः शीघ्रमागत्य ववन्दे राघवं तदा ॥६५॥
लक्ष्मणोऽपि नमस्कृत्य रामं भ्रातरमब्रवीत्।
प्रसादं कुरु सुग्रीवे विनीते चाधुना नृप ॥६६॥

वानरराज सुग्रीवके यों कहनेपर लक्ष्मणने कहा—'आओ! अब यहाँसे शीघ्र ही श्रीरामके पास चलें। वीर! महामते! वानरों और भालुओंकी सेना भी बुला लो, जिसे देखकर श्रीरामचन्द्रजी तुमपर प्रसन्न हों।' लक्ष्मणद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर परम पराक्रमी सुग्रीवने पास ही खड़े हुए युवराज अङ्गदसे इशारेमें कुछ कहा। अङ्गदने भी जाकर सेनाका संचालन करनेवाले सेनापतिको प्रेरित किया। सेनापतिके बुलानेसे पर्वत, कन्दरा और वृक्षोंपर रहनेवाले करोड़ों वानर आये। पर्वतोंके समान आकारवाले उन भयंकर पराक्रमी वानरोंके साथ सुग्रीवने उस समय शीघ्रतापूर्वक पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया। साथ ही लक्ष्मणजीने भी अपने भाईको प्रणाम करके कहा—'राजन्! इन विनयशील सुग्रीवपर अब आप कृपा करें'॥ ६०—६६॥

इत्युक्तो राघवस्तेन भ्रात्रा सुग्रीवमब्रवीत्।
आगच्छात्र महावीर सुग्रीव कुशलं तव ॥६७॥
श्रुत्वेत्थं रामवचनं प्रसन्नं च नराधिपम्।
शिरस्यञ्जलिमाधाय सुग्रीवो राममब्रवीत् ॥६८॥
तदा मे कुशलं राजन् सीतादेवी तव प्रभो।
अन्विष्य तु यदा दत्ता मया भवति नान्यथा ॥६९॥

भाई लक्ष्मणके इस प्रकार अनुरोध करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे कहा—'महावीर सुग्रीव! यहाँ आओ। कहो, कुशल तो है न?' श्रीरामचन्द्रजीका ऐसा कथन सुनकर और उन नरेशको प्रसन्न जानकर सुग्रीवने सिरपर अञ्जलि जोड़ उनसे कहा—'राजन्! प्रभो! मेरी कुशल तो तभी होगी, जब मैं सीतादेवीको ढूँढ़कर आपको अर्पित कर दूँ; नहीं तो नहीं'॥ ६७—६९॥

इत्युक्ते वचने तेन हनूमान्मारुतात्मजः।
नत्वा रामं बभाषेनं सुग्रीवं कपिनायकम् ॥७०॥
शृणु सुग्रीव मे वाक्यं राजायं दुःखितो भृशम्।
सीतावियोगेन च सदा नाश्नाति च फलादिकम् ॥७१॥

अस्य दुःखेन सततं लक्ष्मणोऽयं सुदुःखितः।
एतयोरत्र यावस्था तां श्रुत्वा भरतोऽनुजः ॥७२॥
दुःखी भवति तद्दुःखाद्दुःखं प्राप्नोति तज्जनः।
यत एवमतो राजन् सीतान्वेषणमाचर ॥७३॥

सुग्रीवने जब यह बात कही, तब पवनकुमार हनूमान्‌जी श्रीरामको नमस्कार करके कपिराज सुग्रीवसे बोले—'सुग्रीव! आप मेरी बात सुनें। ये राजा श्रीरामचन्द्रजी सीताके वियोगसे सदा ही बहुत दुखी रहते हैं, इसीलिये फल आदिका भी आहार नहीं करते। इन्हींके दुःखसे ये लक्ष्मण भी सदा अत्यन्त दुःखित रहा करते हैं। इन दोनोंकी यहाँ जो अवस्था है, उसे सुनकर इनके छोटे भाई भरत भी दुखी होते हैं और उनके दुःखसे वहाँके सभी लोग दुःखमें पड़े रहते हैं। राजन्! चूँकि ऐसी स्थिति है, अतः आप बहुत शीघ्र सीताकी खोज कराइये' ॥ ७०—७३ ॥

इत्युक्ते वचने तत्र वायुपुत्रेण धीमता।
जाम्बवानतितेजस्वी नत्वा रामं पुरःस्थितः ॥७४॥
स प्राह कपिराजं तं नीतिमान्नीतिमद्वचः।
यदुक्तं वायुपुत्रेण तत्तथेत्यवगच्छ भोः ॥७५॥
यत्र क्वापि स्थिता सीता रामभार्या यशस्विनी।
पतिव्रता महाभागा वैदेही जनकात्मजा ॥७६॥
अद्यापि वृत्तसम्पन्ना इति मे मनसि स्थितम्।
न हि कल्याणचित्तायाः सीतायाः केनचिद्भुवि ७७
पराभवोऽस्ति सुग्रीव प्रेषयाद्यैव वानरान्।

बुद्धिमान् वायुनन्दनके यों कहनेपर अत्यन्त तेजस्वी जाम्बवान् श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके सामने खड़े हो गये। वे नीतिज्ञ थे, अतः कपिराज सुग्रीवसे नीतियुक्त वचन बोले—'सुग्रीव! हनुमान्‌जीने जो कहा है, उसे आप ठीक ही समझें। श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी भार्या विदेहकुलनन्दिनी जनककुमारी महाभागा पतिव्रता सीता जहाँ-कहीं भी होंगी, आज भी सदाचारसे सम्पन्न होंगी—यह विचार मेरे मनमें निश्चितरूपसे जमा हुआ है। सुग्रीव! सदा कल्याणस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीमें ही मन लगाये रहनेवाली सीताजीका इस पृथ्वीपर किसीके द्वारा भी पराभव नहीं हो सकता। इसलिये आप अभी वानरोंको भेजें' ॥ ७४—७७½ ॥

इत्युक्तस्तेन सुग्रीवः प्रीतात्मा कपिनायकः ॥७८॥
पश्चिमायां दिशि तदा प्रेषयामास तान् कपीन्।
अन्वेष्टुं रामभार्यां तां महाबलपराक्रमः ॥७९॥
उत्तरस्यां दिशि तदा नियुतान् वानरानसौ।
प्रेषयामास धर्मात्मा सीतान्वेषणकर्मणि ॥८०॥
पूर्वस्यां दिशि कपींश्च कपिराजः प्रतापवान्।
प्रेषयामास रामस्य सुभार्यान्वेषणाय वै ॥८१॥
इति तान् प्रेषयामास वानरान् वानराधिपः।
सुग्रीवो वालिपुत्रं तमङ्गदं प्राह बुद्धिमान् ॥८२॥
त्वं गच्छ दक्षिणं देशं सीतान्वेषणकर्मणि।
जाम्बवांश्च हनूमांश्च मैन्दो द्विविद एव च ॥८३॥
नीलाद्याश्चैव हरयो महाबलपराक्रमाः।
अनुयास्यन्ति गच्छन्तं त्वामद्य मम शासनात् ॥८४॥
अचिरादेव यूयं तां दृष्ट्वा सीतां यशस्विनीम्।
स्थानतो रूपतश्चैव शीलतश्च विशेषतः ॥८५॥
केन नीता च कुत्रास्ते ज्ञात्वात्रागच्छ पुत्रक।

जाम्बवान्‌के इस प्रकार कहनेपर महान् बल और पराक्रमसे युक्त कपिराज सुग्रीवने प्रसन्न हो सीताकी खोजके लिये बहुत-से वानरोंको पश्चिम दिशामें भेजा तथा उन धर्मात्माने उत्तर दिशामें भी सीताको ढूँढ़नेके निमित्त एक लाख वानरोंको उसी समय भेज दिया। इसी प्रकार प्रतापी वानरराजने पूर्व दिशामें भी रामकी श्रेष्ठ भार्या सीताका अन्वेषण करनेके लिये बहुत-से वानर भेजे। बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवने इस प्रकार वानरोंको भेज लेनेके बाद वालिकुमार अङ्गदसे कहा—'अङ्गद! तुम सीताकी खोज करनेके लिये दक्षिण दिशामें जाओ। मेरी आज्ञासे आज तुम्हारे चलते समय तुम्हारे साथ जाम्बवान्, हनूमान्, मैन्द, द्विविद और नील आदि महाबली एवं महापराक्रमी वानर जायँगे। बेटा! तुम सभी लोग बहुत शीघ्र जाकर यशस्विनी सीताका दर्शन करो और यह भी पता लगाओ, 'वे कैसे स्थानमें हैं किस रूपमें हैं? विशेषतः उनका आचरण कैसा है? कौन उन्हें ले गया है? तथा उसने उन्हें कहाँ रखा है?'—यह सब जानकर शीघ्र लौट आओ'' ॥ ७८—८५½ ॥

इत्युक्तः कपिराजेन पितृव्येण महात्मना ॥८६॥
अङ्गदस्तूर्णमुत्थाय तस्याज्ञां शिरसा दधे।
इत्युक्ते दूरतः स्थाप्य वानरानथ जाम्बवान् ॥८७॥

रामं च लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं मारुतात्मजम् ।
एकतः स्थाप्य तानाह नीतिमान्नीतिमद्वचः ॥८८॥
श्रूयतां वचनं मेऽद्य सीतान्वेषणकर्मणि ।
श्रुत्वा च तद्गृहाण त्वं रोचते यन्नृपात्मज ॥८९॥
रावणेन जनस्थानान्नीयमाना तपस्विनी ।
जटायुषा तु सा दृष्टा शक्त्या युद्धं प्रकुर्वता ॥९०॥
भूषणानि च दृष्टानि तया क्षिप्तानि तेन वै ।
तान्यस्माभिः प्रदृष्टानि सुग्रीवायार्पितानि च ॥९१॥
जटायुवाक्याद्राजेन्द्र सत्यमित्यवधारय ।
एतस्मात्कारणात्सीता नीता तेनैव रक्षसा ॥९२॥
रावणेन महाबाहो लङ्कायां वर्तते तु सा ।
त्वां स्मरन्ती तु तत्रस्था त्वद्दुःखेन सुदुःखिता ॥९३॥
रक्षन्ती यत्नतो वृत्तं तत्रापि जनकात्मजा ।
त्वद्ध्यानेनैव स्वान् प्राणान्धारयन्ती शुभानना ॥९४॥
स्थिता प्रायेण ते देवी सीता दुःखपरायणा ।
हितमेव च ते राजन्नुदधेर्लङ्घने क्षमम् ॥९५॥
वायुपुत्रं हनूमन्तं त्वमत्रादेष्टुमर्हसि ।
त्वं चाप्यर्हसि सुग्रीव प्रेषितुं मारुतात्मजम् ॥९६॥
तमृते सागरं गन्तुं वानराणां न विद्यते ।
बलं कस्यापि वा वीर इति मे मनसि स्थितम् ॥९७॥
क्रियतां मद्वचः क्षिप्रं हितं पथ्यं च नः सदा ।

अपने चाचा महात्मा सुग्रीवके इस प्रकार आदेश देनेपर अङ्गदने तुरंत उठकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। सुग्रीवकी पूर्वोक्त आज्ञा सुनकर नीतिज्ञ जाम्बवान्‌ने सब वानरोंको कुछ दूर खड़ा कर दिया और श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा हनुमान्‌जीको एक जगह करके उनसे यह नीतियुक्त बात कही—'नृपनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ! सीताका अन्वेषण करनेके विषयमें इस समय आप मेरी एक बात सुनें और सुननेके बाद यदि वह अच्छी लगे तो उसे स्वीकार करें। जटायुने तपस्विनी सीताको जनस्थानसे रावणद्वारा ले जायी जाती हुई देखा था तथा उन्होंने उसके साथ यथाशक्ति युद्ध भी किया था। साथ ही, सीताजीने उस समय अपने आभूषण उतार फेंके थे, जिनको जटायुने और हमलोगोंने भी देखा था। उन आभूषणोंको हमने सुग्रीवको अर्पित कर दिया है। इस कारण राजेन्द्र ! जटायुके कथनानुसार आप इस बातको सत्य समझें कि सीताजीको वही दुष्ट राक्षस रावण ले गया है और महाबाहो ! वे इस समय लङ्कामें ही हैं। वहाँ रहकर भी वे आपके ही दुःखसे अत्यन्त दुखी हो निरन्तर आपका ही स्मरण किया करती हैं। जनकनन्दिनी सीता लङ्कामें रहकर भी अपने सदाचारकी यत्नपूर्वक रक्षा कर रही हैं। वे सुमुखी सीतादेवी आपके ही ध्यानसे अपने प्राणोंको धारण करती हुई प्रायः आपके ही वियोग-दुःखमें डूबी रहती हैं। इसलिये राजन् ! इस समय आपके हितकी ही बात बता रहा हूँ; आप इस कार्यके लिये वायुपुत्र हनूमान्‌जीको आज्ञा दें; क्योंकि ये ही समुद्र लाँघनेमें समर्थ हैं और सुग्रीव ! आपको भी चाहिये कि पवनकुमार हनुमान्‌जीको ही वहाँ भेजें; क्योंकि वानरोंमें उनके अतिरिक्त कोई भी ऐसा नहीं है, जो समुद्रके पार जा सके तथा हे वीर ! इनके बराबर किसीका बल भी नहीं है। बस, मेरे मनमें यही विचार है। मेरे कथनका शीघ्र पालन किया जाय; क्योंकि यह हमारे लिये सदा ही हितकर और लाभकारी होगा' ॥ ८६—९७½ ॥

उक्ते जाम्बवतैवं तु नीतिस्वल्पाक्षरान्विते ॥९८॥
वाक्ये वानरराजोऽसौ शीघ्रमुत्थाय चासनात् ।
वायुपुत्रसमीपं तु तं गत्वा वाक्यमब्रवीत् ॥९९॥

जाम्बवान्‌के इस प्रकार थोड़े अक्षरोंमें नीतियुक्त वचन कहनेपर वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही अपने आसनसे उठे और वायुनन्दन हनुमान्‌जीके निकट जाकर उनसे बोले ॥ ९८-९९ ॥

शृणु मद्वचनं वीर हनुमन्मारुतात्मज ।
अयमिक्ष्वाकुतिलको राजा रामः प्रतापवान् ॥१००॥
पितुरादेशमादाय भ्रातृभार्यासमन्वितः ।
प्रविष्टो दण्डकारण्यं साक्षाद्धर्मपरायणः ॥१०१॥
सर्वात्मा सर्वलोकेशो विष्णुर्मानुषरूपवान् ।
अस्य भार्या हृता तेन दुष्टेनापि दुरात्मना ॥१०२॥
तद्वियोगजदुःखार्तो विचिन्वंस्तां वने वने ।
त्वया दृष्टो नृपः पूर्वमयं वीरः प्रतापवान् ॥१०३॥
एतेन सह संगम्य समयं चापि कारितम् ।
अनेन निहतः शत्रुर्मम वाली महाबलः ॥१०४॥

अस्य प्रसादेन कपे राज्यं प्राप्तं मयाधुना ।
मया च तत्प्रतिज्ञातमस्य साहाय्यकर्मणि ॥१०५॥
तत्सत्यं कर्तुमिच्छामि त्वद्बलान्मारुतात्मज ।
उत्तीर्य सागरं वीर दृष्ट्वा सीतामनिन्दिताम् ॥१०६॥
भूयस्तर्तुं बलं नास्ति वानराणां त्वया विना ।
अतस्त्वमेव जानासि स्वामिकार्यं महामते ॥१०७॥
बलवान्नीतिमांश्चैव दक्षस्त्वं दौत्यकर्मणि ।

"पवनकुमार वीर हनुमान्जी ! तुम मेरी बात सुनो ! ये प्रतापी राजा श्रीरामचन्द्रजी इक्ष्वाकु-वंशके भूषण हैं । ये अपने पिताकी आज्ञा मानकर भाई और पत्नीके सहित दण्डकारण्यमें चले आये थे । सदैव धर्ममें तत्पर रहनेवाले ये श्रीराम समस्त लोकोंके ईश्वर और सबके आत्मा साक्षात् भगवान् विष्णु ही हैं । इस समय मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं । इनकी धर्मपत्नी सीताको दुष्ट दुरात्मा रावणने हर लिया है । ये प्रतापी वीर राजा उन्हींके वियोगजन्य दुःखसे पीड़ित हो वन-वनमें उन्हींकी खोज करते हुए आ रहे थे, जब कि तुमने इन्हें पहले-पहल देखा था । इनके साथ मिलकर हमने प्रतिज्ञा भी की थी । इन्होंने मेरे शत्रु महाबली वालिका वध किया तथा कपे ! इन्हींकी कृपासे मैंने इस समय अपना राज्य प्राप्त किया है और मैंने भी इनकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की है । पवननन्दन ! मैं अपनी उस प्रतिज्ञाको तुम्हारे ही बलपर पूर्ण करना चाहता हूँ । वीर ! समुद्रके पार जा पतिव्रता सीताको देखकर पुनः समुद्रके इस पार लौट आनेकी सामर्थ्य तुम्हारे सिवा वानरोंमेंसे किसीमें भी नहीं है । अतः महामते ! तुम्हीं अपने स्वामीके कार्यको ठीक-ठीक जान सकते हो; क्योंकि तुम बलवान्, नीतिज्ञ और दूतकर्ममें दक्ष हो" ॥ १००—१०७½ ॥

तेनैवमुक्तो हनुमान् सुग्रीवेण महात्मना ॥१०८॥
स्वामिनोऽर्थं न किं कुर्यामीदृशं किंनु भाषसे ।
इत्युक्तो वायुपुत्रेण रामस्तं पुरतः स्थितम् ॥१०९॥
प्राह वाक्यं महाबाहुर्बाष्पसम्पूर्णलोचनः ।
सीतां स्मृत्वा सुदुःखार्तः कालयुक्तममित्रजित् ॥११०॥
त्वयि भारं समारोप्य समुद्रतरणादिकम् ।
सुग्रीवः स्थाप्यते ह्यत्र मया सार्धं महामते ॥१११॥
हनूमंस्तत्र गच्छ त्वं मत्प्रीत्यै कृतनिश्चयः ।
ज्ञातीनां च तथा प्रीत्यै सुग्रीवस्य विशेषतः ॥११२॥
प्रायेण रक्षसा नीता भार्या मे जनकात्मजा ।
तत्र गच्छ महावीर यत्र सीता व्यवस्थिता ॥११३॥
यदि पृच्छति सादृश्यं मदाकारमशेषतः ।
अतो निरीक्ष्य मां भूयो लक्ष्मणं च ममानुजम् ॥११४॥
ज्ञात्वा सर्वाङ्गगं लक्ष्म सकलं चावयोरिह ।
नान्यथा विश्वसेत्सीता इति मे मनसि स्थितम् ॥११५॥

महात्मा सुग्रीवके यों कहनेपर हनुमान्जी बोले—"आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ? भला, अपने स्वामी भगवान् श्रीरामका कार्य क्या मैं नहीं करूँगा ?" वायुनन्दनके इस प्रकार उत्तर देनेपर शत्रुविजयी महाबाहु राम सीताकी यादसे अत्यन्त दुःखी हो, आँखोंमें आँसू भरकर, सामने बैठे हुए हनुमान्जीसे समयोचित वचन बोले—"महामते ! मैं समुद्रके पार जाने आदिका भार तुम्हारे ही ऊपर रखकर सुग्रीवको अपने साथ रखता हूँ । हनूमन् ! तुम मेरी, इन वानर-बन्धुओंकी और विशेषतः सुग्रीवकी प्रसन्नताके लिये दृढ निश्चय करके वहाँ (लङ्कामें) जाओ । महावीर ! प्रायः यही जान पड़ता है कि रावण नामक राक्षस ही सीताको ले गया है; अतः जहाँ सीता रक्खी गयी हो, वहाँ जाना । यदि वे पूछें कि 'तुम जिनके पाससे आते हो, उन श्रीराम और लक्ष्मणका स्वरूप कैसा है ?' तो इसका उत्तर देनेके लिये तुम मेरे शरीरको तथा मेरे छोटे भाई लक्ष्मणको भी अच्छी तरह देख लो । हम दोनोंके शरीरका प्रत्येक चिह्न देखकर उनसे बताना । नहीं तो सीता तुमपर विश्वास नहीं कर सकतीं—यह मेरे मनका दृढ विचार है" ॥१०८-११५॥

इत्युक्तो रामदेवेन प्रभञ्जनसुतो बली ।
उत्थाय तत्पुरः स्थित्वा कृताञ्जलिरुवाच तम् ॥११६॥
जानामि लक्षणं सर्वं युवयोस्तु विशेषतः ।
गच्छामि कपिभिः सार्धं त्वं शोकं मा कुरुष्व वै ॥११७॥
अन्यच्च देहविज्ञानं विश्वासो येन मे भवेत् ।
सीतायास्तव देव्यास्तु राजन् राजीवलोचन ॥११८॥

भगवान् श्रीरामके यों कहनेपर महाबली वायुनन्दन हनुमान् उठकर उनके सामने खड़े हो गये और हाथ जोड़कर उनसे बोले—"मैं आप दोनोंके सब लक्षण विशेषरूपसे जानता हूँ; अब मैं वानरोंके साथ जा रहा हूँ, आप खेद न करें । कमललोचन राजन् !

इसके अतिरिक्त आप मुझे कोई पहचानकी वस्तु दीजिये, जिससे आपकी महारानी सीताका मुझपर विश्वास हो ॥ ११६–११८ ॥

इत्युक्तो वायुपुत्रेण रामः कमललोचनः ।
अङ्गुलीयकमुन्मुच्य दत्तवान् रामचिह्नितम् ॥११९॥
तद्गृहीत्वा तदा सोऽपि हनूमान्मारुतात्मजः ।
रामं प्रदक्षिणीकृत्य लक्ष्मणं च कपीश्वरम् ॥१२०॥
नत्वा ततो जगामाशु हनूमानञ्जनीसुतः ।
सुग्रीवोऽपि च तान्श्रुत्वा वानरान् गन्तुमुद्यतान् ॥१२१॥
आज्ञेयानाज्ञापयति वानरान् बलदर्पितान् ।
शृण्वन्तु वानराः सर्वे शासनं मम भाषितम् ॥१२२॥
विलम्बनं न कर्तव्यं युष्माभिः पर्वतादिषु ।
द्रुतं गत्वा तु तां वीक्ष्य आगन्तव्यमनिन्दिताम् ॥१२३॥
रामपत्नीं महाभागां स्थास्येऽहं रामसंनिधौ ।
कर्तनं वा करिष्यामि अन्यथा कर्णनासयोः ॥१२४॥

वायुनन्दन हनुमान्‌के इस प्रकार अनुरोध करनेपर कमलनयन श्रीरामने अपनी अँगूठी निकालकर दे दी, जिसपर 'राम' नाम खुदा हुआ था। उसे लेकर पवनकुमार हनूमान्‌ने भी श्रीराम, लक्ष्मण और वानरराज सुग्रीवकी परिक्रमा की। फिर उन्हें प्रणामकर वे अञ्जनीनन्दन हनूमान् वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चले। तब सुग्रीव भी अपने आज्ञाकारी एवं बलाभिमानी वानरोंके विषयमें यह जानकर कि वे जानेके लिये उद्यत हैं, उन्हें आदेश देते हुए बोले—'सभी वानर इस समय मेरी आज्ञा सुन लें—तुम पर्वतों और वनोंमें विलम्ब मत करना। शीघ्र जाकर महाभागा रामपत्नी पतिव्रता सीताका पता लगाकर लौट आना; मैं श्रीरामचन्द्रजीके पास ठहरता हूँ। यदि तुम मेरी आज्ञाके विपरीत चलोगे तो मैं तुम्हारी नाक और कान काट लूँगा' ॥ ११९–१२४ ॥

एवं तान् प्रेषयित्वा तु आज्ञापूर्वं कपीश्वरः ।
अथ ते वानरा याताः पश्चिमादिषु दिक्षु वै ॥१२५॥
ते सानुषु समस्तेषु गिरीणामपि मूर्धसु ।
नदीतीरेषु सर्वेषु मुनीनामाश्रमेषु च ॥१२६॥
कन्दरेषु च सर्वेषु वनेषूपवनेषु च ।
वृक्षेषु वृक्षगुल्मेषु गुहासु च शिलासु च ॥१२७॥
सह्यपर्वतपार्श्वेषु विन्ध्यसागरपार्श्वयोः ।
हिमवत्यपि शैले च तथा किम्पुरुषादिषु ॥१२८॥
मरुदेशेषु सर्वेषु सप्तपातालकेषु च ।
मध्यदेशेषु सर्वेषु कश्मीरेषु महाबलाः ॥१२९॥
पूर्वदेशेषु सर्वेषु कामरूपेषु कोसले ।
तीर्थस्थानेषु सर्वेषु सप्तकोङ्कणकेषु च ॥१३०॥
यत्र तत्रैव ते सीतामदृष्ट्वा पुनरागताः ।
आगत्य ते नमस्कृत्य रामलक्ष्मणपादयोः ॥१३१॥
सुग्रीवं च विशेषेण नाशाभिः कमलेक्षणा ।
दृष्टा सीता महाभागेत्युक्त्वा तांस्तत्र तस्थिरे ॥१३२॥

कपिराज सुग्रीवने इस प्रकार आज्ञापूर्वक उन्हें भेजा और वे वानर पश्चिम आदि दिशाओंमें चल पड़े। समस्त पर्वतोंके सानुओं (उपत्यकाओं) और शिखरोंपर, सारी नदियोंके तटोंपर, मुनियोंके आश्रमोंमें, सब प्रकारके वनों और उपवनोंमें, वृक्षों और झाड़ियोंमें, कन्दराओं तथा शिलाओंमें, सह्यपर्वतके आस-पास, विन्ध्याचल और समुद्रके निकट, हिमालय पर्वतपर किम्पुरुष आदि देशोंमें, समस्त मानवीय प्रदेशोंमें, सातों पातालोंमें, सम्पूर्ण मध्यप्रदेशोंमें, कश्मीर-में, पूर्वदिशाके सारे देशोंमें, कामरूप (आसाम) और कोशल (अवध) में, सम्पूर्ण तीर्थ-स्थानोंमें तथा सातों कोङ्कण देशोंमें भी जहाँ-तहाँ सर्वत्र सीताकी खोज करते हुए वे महाबली वानर उन्हें न पाकर लौट आये। आकर उन्होंने श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें तथा विशेषतः सुग्रीवको प्रणाम किया और यह कहकर कि 'हमने कमललोचना महाभागा सीताको कहीं नहीं देखा', वहाँ खड़े हो गये ॥ १२५–१३२ ॥

ततस्तं दुःखितं प्राह रामदेवं कपीश्वरः ।
सीता दक्षिणदिग्भागे स्थिता द्रष्टुं वने नृप ॥१३३॥
शक्या वानरसिंहेन वायुपुत्रेण धीमता ।
दृष्ट्वा सीतामिहायाति हनूमान्नात्र संशयः ॥१३४॥
स्थिरो भव महाबाहो राम सत्यमिदं वचः ।
लक्ष्मणोऽप्याह शकुनं तत्र वाक्यमिदं तदा ॥१३५॥
सर्वथा दृष्टसीतस्तु हनुमानागमिष्यति ।
इत्याश्वास्य स्थितौ तत्र रामं सुग्रीवलक्ष्मणौ ॥१३६॥

तब दुःखित हुए भगवान् रामसे कपिराज सुग्रीवने कहा—'राजन्! सीताजी दक्षिण दिशामें ही कहीं स्थित हैं; उन्हें वानरश्रेष्ठ बुद्धिमान् पवनकुमार ही देख सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हनूमान्‌जी सीताको देखकर ही आयेंगे। महाबाहु श्रीराम! आप धैर्य धारण करें, मेरा यह कथन बिल्कुल सत्य है।' तब लक्ष्मणने भी शकुन देखकर यह बात कही—'हनुमान् सर्वथा सीताको देखकर ही आयेंगे।' इस प्रकार सुग्रीव और लक्ष्मण भगवान् श्रीरामको सान्त्वना देते हुए उनके पास रहने लगे॥ १३३—१३६॥

अथाङ्गदं पुरस्कृत्य ये गता वानरोत्तमाः।
यत्नादन्वेषणार्थाय रामपत्नीं यशस्विनीम्॥१३७॥
अदृष्ट्वा श्रममापन्नाः कृच्छ्रभूतास्तदा वने।
भक्षणेन विहीनास्ते क्षुधया च प्रपीडिताः॥१३८॥
भ्रमद्भिर्गहनेऽरण्ये क्वापि दृष्टा च सुप्रभा।
गुहानिवासिनी सिद्धा ऋषिपत्नी ह्यनिन्दिता॥१३९॥
सा च तानागतान्दृष्ट्वा स्वाश्रमं प्रति वानरान्।
आगताः कस्य यूयं तु कुतः किं नु प्रयोजनम्॥१४०॥

इधर जो-जो श्रेष्ठ वानर अङ्गदजीको आगे करके यशस्विनी श्रीसीताजीकी यत्नपूर्वक खोज करनेके लिये गये थे, वे वनमें कहीं भी सीताजीका पता न पाकर बहुत थक गये तथा कष्टमें पड़ गये। यही नहीं, कुछ भोजन न मिलनेके कारण वे भूखसे भी बहुत पीडित हो गये। गहन वनमें घूमते हुए उन्होंने एक परम कान्तिमयी और उत्तम गुणोंवाली ऋषिपत्नी देखी, जो कन्दरामें निवास करनेवाली और सिद्धा थी। उसने उन वानरोंको अपने आश्रमपर आया देख पूछा—'आपलोग किसके दूत हैं? कहाँसे आये हैं? और यहाँ आनेका क्या प्रयोजन है?'॥ १३७—१४०॥

इत्युक्ते जाम्बवानाह तां सिद्धां सुमहामतिः।
सुग्रीवस्य वयं भृत्या आगता ह्यत्र शोभने॥१४१॥
रामभार्यार्थमनघे सीतान्वेषणकर्मणि।
कांदिग्भूता निराहारा अदृष्ट्वा जनकात्मजाम्॥१४२॥

उसकी बात सुनकर महामति जाम्बवान्‌ने उस सिद्धा तपस्विनीसे कहा—'शोभने! पापहीने! हम सुग्रीवके भृत्य हैं श्रीरामचन्द्रजीकी भार्या सीताकी खोज करनेके लिये यहाँ आये हैं। हम किस दिशाको जायँ, इसका ज्ञान हमें नहीं रह गया है। सीताजीका पता न पानेके कारण अभीतक हमने कुछ भोजन भी नहीं किया है'॥ १४१-१४२॥

इत्युक्ते जाम्बवत्यत्र पुनस्तानाह सा शुभा।
जानामि रामं सीतां च लक्ष्मणं च कपीश्वरम्॥१४३॥
भुञ्जीध्वमत्र मे दत्तमाहारं च कपीश्वराः।
रामकार्यागतास्त्वत्र यूयं रामसमा मम॥१४४॥
इत्युक्त्वा चामृतं तेषां योगाद्दत्त्वा तपस्विनी।
भोजयित्वा यथाकामं भूयस्तानाह तापसी॥१४५॥
सीतास्थानं तु जानाति सम्पातिर्नाम पक्षिराट्।
आस्थितो वै वने सोऽपि महेन्द्रे पर्वते द्विजः॥१४६॥
मार्गेणानेन हरयस्तत्र यूयं गमिष्यथ।
स वक्ति सीतां सम्पातिर्दूरदर्शी तु यः खगः॥१४७॥
तेनादिष्टं तु पन्थानं पुनरासाद्य गच्छथ।
अवश्यं जानकीं सीतां द्रक्ष्यते पवनात्मजः॥१४८॥

जाम्बवान्‌के यों कहनेपर उस कल्याणी तपस्विनीने पुनः उन वानरोंसे कहा—'मैं श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और कपिराज सुग्रीवको भी जानती हूँ। वानरेन्द्रगण! आपलोग यहाँ मेरा दिया हुआ आहार ग्रहण करें। आपलोग श्रीरामचन्द्रजीके कार्यसे यहाँ आये हैं, अतः हमारे लिये श्रीरामचन्द्रजीके समान ही आदरणीय हैं।' यों कहकर उस तपस्विनीने अपने योगबलसे उन वानरोंको अमृतमय मधुर पदार्थ अर्पित किया तथा यथेष्ट भोजन कराकर पुनः उनसे कहा—'सीताका स्थान पक्षिराज सम्पातिको ज्ञात है। वे इसी वनमें महेन्द्रपर्वतपर रहते हैं। वानरगण! आपलोग इसी मार्गसे वहाँ पहुँच जायँगे। सम्पाति बहुत दूरतक देखनेवाले हैं, अतः वे सीताका पता बता देंगे। उनके बताये हुए मार्गसे आपलोग पुनः आगे जाइयेगा। जनकनन्दिनी सीताको ये पवनकुमार हनुमान्‌जी अवश्य देख लेंगे'॥ १४३—१४८॥

तथैवमुक्ताः कपयः परां प्रीतिमुपागताः।
हृष्टास्तेजनमापन्नास्तां प्रणम्य प्रतस्थिरे॥१४९॥
महेन्द्राद्रिं गता वीरा वानरास्तद्दिदृक्षया।
तत्र सम्पातिमासीनं दृष्टवन्तः कपीश्वराः॥१५०॥
तानुवाचाथ सम्पातिर्वानरानागतान्द्विजः।
के यूयमिति सम्प्राप्ताः कस्य वा ब्रूत मा चिरम्॥१५१॥

उसके इस प्रकार कहनेपर वानरगण बहुत ही प्रसन्न हुए; उन्हें बड़ा उत्साह मिला। फिर वे उस तपस्विनीको प्रणाम करके वहाँसे प्रस्थित हुए। सम्पातिको देखनेकी इच्छासे वे वीर कपीश्वर महेन्द्रपर्वतपर गये तथा वहाँ बैठे हुए सम्पातिको उन्होंने देखा। तब पक्षिराज सम्पातिने वहाँ आये हुए वानरोंसे कहा—'आपलोग कौन हैं? किसके दूत हैं? कहाँसे आये हैं? शीघ्र बतायें'॥ १४९–१५१ ॥

इत्युक्ते वानरा ऊचुर्यथावृत्तमनुक्रमात् ।
रामदूता वयं सर्वे सीतान्वेषणकर्मणि ॥१५२॥
प्रेषिताः कपिराजेन सुग्रीवेण महात्मना ।
त्वां द्रष्टुमिह सम्प्राप्ताः सिद्धाया वचनाद्द्विज ॥१५३॥
सीतास्थानं महाभाग त्वं नो वद महामते ।
इत्युक्तो वानरैः श्येनो वीक्षांचक्रे सुदक्षिणाम् ॥१५४॥
सीतां दृष्ट्वा स लङ्कायामशोकाख्ये महावने ।
स्थितेति कथितं तेन जटायुस्तु मृतस्तव ॥१५५॥
भ्रातेति प्रोचुः स स्नात्वा दत्त्वा तस्योदकाञ्जलिम् ।
योगमास्थाय स्वं देहं विससर्ज महामतिः ॥१५६॥

सम्पातिके यों पूछनेपर वानरोंने सारा समाचार यथार्थ-रूपसे क्रमशः बताना आरम्भ किया—'पक्षिराज! हम सब श्रीरामचन्द्रजीके दूत हैं। कपिराज महात्मा सुग्रीवने हमें सीताजीकी खोजके लिये भेजा है। पक्षिवर! एक सिद्धाके कहनेसे हम आपका दर्शन करनेके लिये यहाँ आये हैं। महामते! महाभाग! सीताके स्थानका पता आप हमें बता दें।' वानरोंके इस तरह अनुरोध करनेपर गृध्र सम्पातिने अपनी दृष्टि दक्षिण दिशाकी ओर दौड़ायी और पतिव्रता सीताको देखकर बताया—'सीताजी लङ्कामें अशोकवनके भीतर ठहरी हुई हैं।' तब वानरोंने कहा—'आपके भ्राता जटायुने सीताजीकी रक्षाके लिये ही प्राणत्याग किया है।' यह सुनकर महामति सम्पातिने स्नान करके जटायुको जलाञ्जलि दी और योग-धारणाका आश्रय ले अपने शरीरको त्याग दिया॥ १५२–१५६॥

ततस्तं वानरा दग्ध्वा दत्त्वा तस्योदकाञ्जलिम् ।
गत्वा महेन्द्रशृङ्गं ते तमारुह्य क्षणं स्थिताः ॥१५७॥
सागरं वीक्ष्य ते सर्वे परस्परमथाब्रुवन् ।
रावणेनैव भार्या सा नीता रामस्य निश्चितम् ॥१५८॥
सम्पातिवचनादद्य संज्ञातं सकलं हि तत् ।
वानराणां तु कश्चात्र उत्तीर्य लवणोदधिम् ॥१५९॥
लङ्कां प्रविश्य दृष्ट्वा तां रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
पुनश्चोदधितरणे शक्तिं ब्रूत हि शोभनाः ॥१६०॥

तदनन्तर वानरोंने सम्पातिके शवका दाह-संस्कार किया और उन्हें जलाञ्जलि दे, महेन्द्रपर्वतपर जाकर तथा उसके शिखरपर आरूढ हो, क्षणभर खड़े रहे। फिर समुद्रको ओर देखकर वे सभी परस्पर कहने लगे—'रावणने ही भगवान् श्रीरामकी भार्या सीताका अपहरण किया है, यह बात निश्चित हो गयी। सम्पातिके वचनसे आज सब बातें ठीक-ठीक ज्ञात हो गयीं। शोभाशाली वानरो! अब आप सब लोग सोचकर बतायें कि यहाँ वानरोंमें कौन ऐसा वीर है, जो इस क्षार समुद्रके पार जा लङ्कामें घुसे और परम यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीताजीका दर्शन करके पुनः समुद्रके पार लौट आनेमें समर्थ हो सके'॥ १५७—१६० ॥

इत्युक्तो जाम्बवान् प्राह सर्वे शक्तास्तु वानराः ।
सागरोत्तरणे किंतु कार्यमन्यस्य सम्भवेत् ॥१६१॥
तत्र दक्षोऽयमेवात्र हनूमानिति मे मतिः ।
कालक्षेपो न कर्तव्यो मासार्धमधिकं गतम् ॥१६२॥
यद्यदृष्ट्वा तु गच्छामो वैदेहीं वानरर्षभाः ।
कर्णनासादि नः स्वाङ्गं निकृन्तति कपीश्वरः ॥१६३॥
तस्मात् प्रार्थ्यः स चाशाभिर्वायुपुत्रस्तु मे मतिः ।

वानरोंकी यह बात सुनकर जाम्बवान्ने कहा—'समुद्रको पार करनेमें तो सभी वानर समर्थ हैं, परंतु यह कार्य एक अन्यतम वानरसे ही सिद्ध होगा। मेरे विचारमें तो यह आता है कि इस कार्यको सिद्ध करनेमें केवल हनूमान्जी ही समर्थ हैं। अब समय नहीं खोना चाहिये। हमारे लौटनेकी जो नियत अवधि थी, उससे पंद्रह दिन अधिक बीत गये हैं। वानरेन्द्रगण! यदि हमलोग सीताको देखे बिना ही लौट जायँगे तो कपिराज सुग्रीव हमारी नाक और कान काट लेंगे। इसलिये मेरी राय यह है कि हम सब लोग इस कार्यके लिये वायुनन्दन हनुमान्जीसे ही प्रार्थना करें'॥ १६१—१६३½ ॥

इत्युक्तास्ते तथेत्यूचुर्वानरा वृद्धवानरम् ॥१६४॥

ततस्ते प्रार्थयामासुर्वानराः पवनात्मजम् ।
हनूमन्तं महाप्राज्ञं दक्षं कार्येषु चाधिकम् ॥१६५॥
गच्छ त्वं रामभृत्यस्त्वं रावणस्य भयाय च ।
रक्षस्व वानरकुलमस्माकमञ्जनीसुत ।
इत्युक्तस्तांस्तथेत्याह वानरान् पवनात्मजः ॥१६६॥
रामप्रयुक्तश्च पुनः स्वभर्तृणा
पुनर्महेन्द्रे कपिभिश्च नोदितः ।
गन्तुं प्रचक्रे मतिमञ्जनीसुतः
समुद्रमुत्तीर्य निशाचरालयम् ॥१६७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे रामप्रादुर्भावे पञ्चाशोऽध्यायः ॥५०॥

यह सुनकर उन वानरोंने वृद्ध जाम्बवान्‌जीसे कहा, 'अच्छा, ऐसा ही हो ।' तत्पश्चात् वे सभी वानर कार्यसाधनमें विशेष कुशल महाबुद्धिमान् पवननन्दन हनूमान्‌जीसे प्रार्थना करने लगे—'अञ्जनीनन्दन ! आप श्रीरामचन्द्रजीके प्रिय सेवक हैं। आप ही रावणको भय देनेके लिये लङ्कामें जायँ और हमारे वानरवृन्दकी रक्षा करें ।' वानरोंके यों कहनेपर पवनकुमार हनुमान्‌जीने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की । एक तो श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा थी, फिर अपने स्वामी सुग्रीवने भी आदेश दिया था, इसके बाद महेन्द्रपर्वतपर उन वानरोंने भी उन्हें प्रेरित किया, अतः अञ्जनीकुमार हनुमान्‌जीने समुद्र लाँघकर निशाचरपुरी लङ्कामें जानेका निश्चय कर लिया ॥ १६४—१६७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीरामावतारकी कथाविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ अध्याय

हनुमान्‌जीका समुद्र पार करके लङ्कामें आना, सीतासे भेंट और लङ्काका दहन करके श्रीरामको समाचार देना

मार्कण्डेय उवाच

स तु रावणनीतायाः सीतायाः परिमार्गणम् ।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ १ ॥
अञ्जलिं प्राङ्मुखं कृत्वा सगणायात्मयोनये ।
मनसाऽऽवन्द्य रामं च लक्ष्मणं च महारथम् ॥ २ ॥
सागरं सरितश्चैव प्रणम्य शिरसा कपिः ।
ज्ञातींश्चैव परिष्वज्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणाम् ॥ ३ ॥
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुण्यवायुनिषेवितम् ।
पुनरागमनायेति वानरैरभिपूजितः ॥ ४ ॥
अञ्जसा स्वं तथा वीर्यमाविवेशाथ वीर्यवान् ।
मार्गमालोकयन् दूरादूर्ध्वं प्रणिहितेक्षणः ॥ ५ ॥
सम्पूर्णमिव चात्मानं भावयित्वा महाबलः ।
उत्पपात गिरेः शृङ्गान्निष्पीड्य गिरिमम्बरम् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—हनुमान्‌जीने रावणद्वारा हरी गयी सीताकी खोज करने तथा उनके स्थानका पता लगानेके लिये चारणोंके मार्ग (आकाश)से जानेकी इच्छा की । पूर्वाभिमुख हो, हाथ जोड़कर उन्होंने देवगणोंसहित आत्मयोनि ब्रह्माजीको मन-ही-मन प्रणाम किया तथा श्रीराम और महारथी लक्ष्मणको भी मनसे ही प्रणाम करके सागर तथा सरिताओंको मस्तक नवाया । फिर अपने वानर-बन्धुओंको गले लगाकर उन सबकी प्रदक्षिणा की । तब अन्य सब वानरोंने यह आशीर्वाद दिया—'वीर ! तुम (सकुशल) लौट आनेके लिये पवित्र वायुसे सेवित मार्गपर बिना विघ्न-बाधाके जाओ ।' यों कहकर उन्होंने हनुमान्‌जीका सम्मान किया । फिर पराक्रमी पवनकुमार अपनी सहज शक्तिको प्राप्त हुए—उनमें वायुके सदृश बलका आवेश हो गया । दूरतकके मार्गका अवलोकन करते हुए उन्होंने ऊपर दृष्टि डाली । अपने आपमें षड्विध ऐश्वर्यकी पूर्णताका-सा अनुभव करते हुए वे महाबली हनुमान् महेन्द्र पर्वतको पैरोंसे दबाकर उसके शिखरसे आकाशकी ओर उछले ॥ १—६ ॥

पितुर्मार्गेण यातस्य वायुपुत्रस्य धीमतः ।
रामकार्यपरस्यास्य सागरेण प्रचोदितः ॥ ७ ॥
विश्रामार्थं समुत्तस्थौ मैनाको लवणोदधेः ।
तं निरीक्ष्य निपीड्याथ स्यात्सम्भाष्य सादरम् ॥ ८ ॥
उत्पतंश्च वने वीरः सिंहिकास्यं महाकपिः ।
आस्यप्रान्तं प्रविश्याथ वेगेनान्तर्विनिस्सृतः ॥ ९ ॥

निस्सृत्य गतवाञ्शीघ्रं वायुपुत्रः प्रतापवान् ।
लङ्घयित्वा तु तं देशं सागरं पवनात्मजः ॥१०॥
त्रिकूटशिखरे रम्ये वृक्षाग्रे निपपात ह ।
तस्मिन् स पर्वतश्रेष्ठे दिनं नीत्वा दिनक्षये ॥११॥
संध्यामुपास्य हनुमान् रात्रौ लङ्कां शनैर्निशि ।
लङ्काभिधां विनिर्जित्य देवतां प्रविवेश ह ॥१२॥
लङ्कामनेकरत्नाढ्यां बह्वाश्चर्यसमन्विताम् ।

बुद्धिमान् वायुपुत्र हनुमान्जी श्रीरामचन्द्रजीके कार्य-साधनमें तत्पर हो जब अपने पिता वायुके मार्गसे चले जा रहे थे, उस समय उनको थोड़ी देरतक विश्राम देनेके लिये, समुद्रद्वारा प्रेरित हो, मैनाक पर्वत पानीसे बाहर उनकी ओर उठ गया। उसे देख उन्होंने वहाँ थोड़ा-सा रुककर उससे आदरपूर्वक बातचीत की और फिर उसे अपने वेगसे दबाकर उछलते हुए वे दूर चले गये। आगे सिंहिका नामकी राक्षसी थी। उसने जलमें मुँह फैला रक्खा था। महाकपि हनुमान्जी उसके मुँहमें जा पड़े। मुँहमें पड़ते ही वे वेगपूर्वक उसके भीतर घुसकर पुनः बाहर निकल आये। इस प्रकार सिंहिकाके मुखसे निकलकर प्रतापी पवनकुमार उस समुद्र-प्रदेशको लाँघते हुए त्रिकूट पर्वतके सुरम्य शिखरपर एक महान् वृक्षके ऊपर जा उतरे। उसी उत्तम पर्वतपर दिन बिताकर हनुमान्जीने वहीं सायंकालकी संध्योपासना की। फिर रातमें धीरे-धीरे वे लङ्काकी ओर चले। मार्गमें मिली हुई 'लङ्का' नामकी नगर-देवताको जीतकर उन्होंने नाना रत्नोंसे सम्पन्न और अनेक प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त लङ्कापुरीमें प्रवेश किया॥ ७—१३ ॥

राक्षसेषु प्रसुप्तेषु नीतिमान् पवनात्मजः ॥१३॥
रावणस्य ततो वेश्म प्रविवेशाथ ऋद्धिमत् ।
शयानं रावणं दृष्ट्वा तल्पे महति वानरः ॥१४॥
नासापुटैर्घोरकारैर्विशद्भिर्वायुमोचकैः ।
तथैव दशभिर्वक्त्रैर्दंष्ट्रोपेतैस्तु संयुतम् ॥१५॥
स्त्रीसहस्रैस्तु दृष्ट्वा तं नानाभरणभूषितम् ।
तस्मिन् सीतामदृष्ट्वा तु रावणस्य गृहे शुभे ॥१६॥
तथा शयानं स्वगृहे राक्षसानां च नायकम् ।
दुःखितो वायुपुत्रस्तु सम्पातेर्वचनं स्मरन् ॥१७॥
अशोकवनिकां प्राप्तो नानापुष्पसमन्विताम् ।
जुष्टां मलयजातेन चन्दनेन सुगन्धिना ॥१८॥

तदनन्तर जब सब राक्षस गहरी नींदमें सो गये, तब नीतिज्ञ हनुमान्जीने रावणके समृद्धिशाली भवनमें प्रवेश किया। वहाँ रावण एक बहुत बड़े पलंगपर सो रहा था। हनुमान्जीने देखा—साँस छोड़नेवाले भीषण भयंकर नासिका-छिद्रोंसे युक्त उसके दसों मुखोंमें बड़ी भयानक दाढ़ें थीं। नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित रावण हजारों स्त्रियोंके साथ वहाँ सोया था। किंतु रावणके उस सुन्दर भवनमें सीताजी कहीं नहीं दिखायी दीं। वह राक्षसराज अपने घरके भीतर गाढ़ निद्रामें सो रहा था। सीताजीका दर्शन न होनेसे वायुनन्दन हनुमान्जी बहुत दुःखी हुए। फिर सम्पातिके कथनको याद करके वे अशोकवाटिकामें आये, जो विविध प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित और अत्यन्त सुगन्धित मलयज-चन्दनसे व्याप्त थी॥ १३—१८ ॥

प्रविश्य शिंशपावृक्षमाश्रितां जनकात्मजाम् ।
रामपत्नीं समद्राक्षीद् राक्षसीभिः सुरक्षिताम् ॥१९॥
अशोकवृक्षमारुह्य पुष्पितं मधुपल्लवम् ।
आसांचक्रे हरिस्तत्र सेयं सीतेति संस्मरन् ॥२०॥
सीतां निरीक्ष्य वृक्षाग्रे यावदास्तेऽनिलात्मजः ।
स्त्रीभिः परिवृतस्तत्र रावणस्तावदागतः ॥२१॥
आगत्य सीतां प्राहाथ प्रिये मां भज कामुकम् ।
भूषिता भव वैदेहि त्यज रामगतं मनः ॥२२॥
इत्येवं भाषमाणं तमन्तर्धाय तृणं ततः ।
प्राह वाक्यं शनैः सीता कम्पमानाथ रावणम् ॥२३॥
गच्छ रावण दुष्ट त्वं परदारपरायण ।
अचिराद्रामबाणास्ते पिबन्तु रुधिरं रणे ॥२४॥

वाटिकामें प्रवेश करके हनुमान्जीने अशोकवृक्षके नीचे बैठी हुई जनकनन्दिनी श्रीरामपत्नी सीताको देखा, जो राक्षसियोंसे सुरक्षित थीं। वह अशोक वृक्ष सुन्दर मृदुल पल्लवोंसे विलसित और पुष्पोंसे सुशोभित था। कपिवर हनुमान्जी उस वृक्षपर चढ़ गये और 'ये ही सीता हैं'— यह सोचते हुए वहीं बैठ गये। सीताजीका दर्शन करके वे पवनकुमार ज्यों ही वृक्षके शिखरपर बैठे, त्यों ही रावण बहुत-सी स्त्रियोंसे घिरा हुआ वहाँ आया। आकर उसने सीतासे

कहा—'प्रिये ! मैं कामपीड़ित हूँ, मुझे स्वीकार करो । वैदेहि ! अब श्रृङ्गार धारण करो और श्रीरामकी ओरसे मन हटा लो।' इस प्रकार कहते हुए रावणसे भयवश काँपती हुई सीताजी बीचमें तिनकेकी ओट रखकर धीरे-धीरे बोलीं—'परस्त्रीसेवी दुष्ट रावण ! तू चला जा ! मैं शाप देती हूँ—भगवान् श्रीरामके बाण शीघ्र ही रणभूमिमें तुम्हारा रक्त पीयेंगे' ॥ १९—२४ ॥

तथेत्युक्तो भर्त्सितश्च राक्षसीराह राक्षसः ।
द्विमासाभ्यन्तरे चैनां वशीकुरुत मानुषीम् ॥२५॥
यदि नेच्छति मां सीता ततः खादत मानुषीम् ।
इत्युक्त्वा ताभ्यां दुष्टो रावणः स्वं निकेतनम् ॥२६॥
ततो भयेन तां प्राहू राक्षस्यो जनकात्मजाम् ।
रावणं भज कल्याणि सधनं सुखिनी भव ॥२७॥
इत्युक्ता प्राह ताः सीता राघवोऽलघुविक्रमः ।
निहत्य रावणं युद्धे सगणं मां नयिष्यति ॥२८॥
नाहमन्यस्य भार्या स्यामृते रामं रघूत्तमम् ।
स आगत्य दशग्रीवं हत्वा मां पालयिष्यति ॥२९॥

सीताजीका यह उत्तर और फटकार पाकर राक्षसराज रावणने राक्षसियोंसे कहा—'तुमलोग इस मानव-कन्याको दो महीनेके भीतर समझाकर मेरे वशीभूत कर दो । यदि इतने दिनोंतक इसका मन मेरी ओर न झुके तो इस मानुषीको तुम खा डालना।' यों कहकर दुष्ट रावण अपने महलमें चला गया । तब रावणके डरसे डरी हुई राक्षसियोंने जनकनन्दिनी सीतासे कहा—'कल्याणि ! रावण बहुत धनी है, इसे स्वीकार कर लो और सुखसे रहो।' राक्षसियोंके यों कहनेपर सीताने उनसे कहा—'महापराक्रमी भगवान् श्रीराम युद्धमें रावणको उसके सेवकगणोंसहित मारकर मुझे ले जायँगे । मैं रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीके सिवा दूसरेकी भार्या नहीं हो सकती । वे ही आकर रावणको मारकर मेरी रक्षा करेंगे' ॥ २५–२९ ॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्या राक्षस्यो दद्दुर्भयम् ।
हन्यतां हन्यतामेषा भक्ष्यतां भक्ष्यतामियम् ॥३०॥
ततस्तास्त्रिजटा प्राह स्वप्ने दृष्टमनिन्दिता ।
शृणुध्वं दुष्टराक्षस्यो रावणस्य विनाशनः ॥३१॥
रक्षोभिः सह सर्वैस्तु रावणस्य मृतिप्रदः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामस्य विजयप्रदः ॥३२॥
स्वप्नः शुभो मया दृष्टः सीतायाश्च पतिप्रदः ।
त्रिजटावाक्यमाकर्ण्य सीतापार्श्वं विसृज्य ताः ॥३३॥
राक्षस्यस्ता ययुः सर्वाः सीतामाहाञ्जनीसुतः ।
कीर्तयन् रामवृत्तान्तं सकलं पवनात्मजः ॥३४॥
तस्यां विश्वासमानीय दत्त्वा रामाङ्गुलीयकम् ।
सम्भाष्य लक्षणं सर्वं रामलक्ष्मणयोस्ततः ॥३५॥
महत्या सेनया युक्तः सुग्रीवः कपिनायकः ।
तेन सार्धमिहागत्य रामस्तव पतिः प्रभुः ॥३६॥
लक्ष्मणश्च महावीरो देवरस्ते शुभानने ।
रावणं सगणं हत्वा त्वामितोऽऽदाय गच्छति ॥३७॥

सीताकी यह बात सुनकर राक्षसियोंने उन्हें भय दिखाते हुए कहा—'अरी ! इसे मार डालो, मार डालो; खा जाओ, खा जाओ।' उन राक्षसियोंमें एकका नाम त्रिजटा था। वह उत्तम विचार रखनेवाली—साध्वी स्त्री थी । उसने उन सभी राक्षसियोंको स्वप्नमें देखी हुई बात बतायी । वह बोली—'अरी दुष्टा राक्षसियो ! सुनो; मैंने एक शुभ स्वप्न देखा है, जो रावणके लिये विनाशकारी है, समस्त राक्षसोंके साथ रावणको मौतके मुँहमें डालनेवाला है, भ्राता लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीकी विजयका सूचक है और सीताको पतिसे मिलानेवाला है।' त्रिजटाकी बात सुनकर वे सभी राक्षसियाँ सीताके पाससे हटकर दूर चली गयीं। तब अञ्जनीनन्दन हनुमान्‌जीने अपनेको सीताके समक्ष प्रकट किया और 'श्रीराम-नाम'का कीर्तन करते हुए उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण वृत्तान्तका उनके समक्ष वर्णन किया । इस प्रकार सीताके मनमें विश्वास उत्पन्न करके उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी अँगूठी दी । फिर उनसे श्रीराम और लक्ष्मणके शरीरके लक्षण बताये और कहा—'सुमुखि ! वानरोंके राजा सुग्रीव बहुत बड़ी सेनाके स्वामी हैं । उन्हींके साथ आपके पतिदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा आपके देवर महावीर लक्ष्मणजी यहाँ पधारेंगे और रावणको सेनासहित मारकर आपको यहाँसे ले जायँगे' ॥ ३०–३७ ॥

इत्युक्ते सा तु विश्वस्ता वायुपुत्रमथाब्रवीत् ।
कथमत्रागतो वीर त्वमुत्तीर्य महोदधिम् ॥३८॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्याः पुनस्तामाह वानरः ।
गोष्पदवन्मयोत्तीर्णः समुद्रोऽयं वरानने ॥३९॥
जपतो रामरामेति सागरो गोष्पदायते ।
दुःखमग्नासि वैदेहि स्थिरा भव शुभानने ॥४०॥
क्षिप्रं पश्यसि रामं त्वं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
इत्याश्वास्य सतीं सीतां दुःखितां जनकात्मजाम्॥४१॥
ततश्चूडामणिं प्राप्य श्रुत्वा काकपराभवम् ।
नत्वा तां प्रस्थितो वीरो गन्तुं कृतमतिः कपिः॥४२॥

हनुमान्‌जीके यह कहनेपर सीताजीका उनपर विश्वास हो गया। वे बोलीं—'वीर! तुम किस तरह महासागरको पार करके यहाँ चले आये?' उनका वह वचन सुनकर हनुमान्‌जीने पुनः उनसे कहा—"वरानने! मैं इस समुद्रको उसी प्रकार लाँघ गया जैसे कोई गौके खुरसे बने हुए गड्ढेको लाँघ जाय। जो 'राम-राम' का जप करता है, उसके लिये समुद्र गौके खुरके चिह्नके समान हो जाता है। शुभानने वैदेहि! आप दुःखमग्ना दिखायी देती हैं, अब धैर्य धारण कीजिये। मैं आपसे सत्य-सत्य कह रहा हूँ, आप बहुत शीघ्र श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करेंगी।" इस प्रकार दुःखमें डूबी हुई पतिव्रता जनकनन्दिनी सीताको आश्वासन दे, उनसे पहचानके लिये चूडामणि पाकर और श्रीरामके प्रभावसे काकरूपी जयन्तके पराभवकी कथा सुनकर, वहाँसे चल देनेका विचार करके हनुमान्‌जीने सीताको नमस्कार करनेके पश्चात् प्रस्थान किया॥३८—४२॥

ततो विमृश्य तद्भङ्क्त्वा क्रीडावनमशेषतः ।
तोरणस्थो ननादोच्चै रामो जयति वीर्यवान् ॥४३॥
अनेकान् राक्षसान् हत्वा सेनाः सेनापतींश्च सः ।
तदा त्वक्षकुमारं तु हत्वा रावणसैनिकम् ॥४४॥
साश्वं ससारथिं हत्वा इन्द्रजित्तं गृहीतवान् ।
रावणस्य पुरः स्थित्वा रामं संकीर्त्य लक्ष्मणम्॥४५॥
सुग्रीवं च महावीर्यं दग्ध्वा लङ्कामशेषतः ।
निर्भर्त्स्य रावणं दुष्टं पुनः सम्भाष्य जानकीम्॥४६॥
भूयः सागरमुत्तीर्य ज्ञातीनासाद्य वीर्यवान् ।
सीतादर्शनमावेद्य हनूमांश्चैव पूजितः ॥४७॥

तत्पश्चात् कुछ सोचकर पराक्रमी हनुमान्‌जीने रावणके उस सम्पूर्ण क्रीडावन (अशोकवाटिका) को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और वनके द्वारपर स्थित हो, उच्चस्वरसे सिंहनाद करते हुए बोले—'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो!' फिर तो युद्धके लिये सामने आये हुए अनेक राक्षसोंको मारकर सेना और सेनापतियोंका संहार किया। इसके बाद रावणके सेनापति अक्षकुमारको अश्व तथा सारथिसहित यमलोक पहुँचा दिया। इसपर रावणपुत्र इन्द्रजित्‌ने वरके प्रभावसे उन्हें बंदी बना लिया। इसके बाद वे रावणके सम्मुख उपस्थित किये गये। वहाँसे छूटकर उन्होंने श्रीराम, लक्ष्मण और महाबली सुग्रीवके यशका कीर्तन करते हुए सम्पूर्ण लङ्कापुरीको जलाकर भस्म कर दिया। तदनन्तर दुष्टात्मा रावणको डाँट बताकर पुनः सीताजीसे वार्तालाप किया। फिर पराक्रमी हनूमान्‌जी समुद्रके इस पार आकर अपने वानर बन्धुओंसे मिले और सीताजीके दर्शनका समाचार सुनाकर सबसे सम्मानित हुए॥४३—४७॥

वानरैः सार्धमागत्य हनुमान्मधुवनं महत् ।
निहत्य रक्षपालांस्तु पाययित्वा च तन्मधु ॥४८॥
सर्वे दधिमुखं पात्य हर्षितो हरिभिः सह ।
खमुत्पत्य च सम्प्राप्य रामलक्ष्मणपादयोः ॥४९॥
नत्वा तु हनुमांस्तत्र सुग्रीवं च विशेषतः ।
आदितः सर्वमावेद्य समुद्रतरणादिकम् ॥५०॥
कथयामास रामाय सीता दृष्टा मयेति वै ।
अशोकवनिकामध्ये सीता देवी सुदुःखिता ॥५१॥
राक्षसीभिः परिवृता त्वां स्मरन्ती च सर्वदा ।
अश्रुपूर्णमुखी दीना तव पत्नी वरानना ॥५२॥
शीलवृत्तसमायुक्ता तत्रापि जनकात्मजा ।
सर्वत्रान्वेषमाणेन मया दृष्टा पतिव्रता ॥५३॥
मया सम्भाषिता सीता विश्वस्ता रघुनन्दन ।
अलंकारश्च सुमणिस्तया ते प्रेषितः प्रभो ॥५४॥

तत्पश्चात् हनुमान्‌जी सभी वानरोंके साथ मधुवनमें आये। उसके रखवालोंको मारकर उन्होंने वहाँ सब साथियोंको मधु-पान कराया और स्वयं भी पीया। इस कार्यमें बाधा देनेवाले दधिमुख नामके वानरको सबने धरतीपर दे मारा। इसके बाद हनुमान्‌जी सब वानरोंके साथ आनन्दित हो, आकाशमें उछलते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके निकट जा पहुँचे। वहाँ उन दोनोंके चरणोंमें प्रणाम कर, विशेषतः सुग्रीवको मस्तक झुकाकर उन्होंने समुद्र लाँघनेसे

लेकर सारा समाचार आद्योपान्त सुनाया और यह भी कहा कि 'मैंने अशोक-वाटिकाके भीतर सीतादेवीका दर्शन किया। उन्हें राक्षसियाँ घेरे हुए थीं और वे बहुत दुखी होकर निरन्तर आपका ही स्मरण कर रही थीं। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे बड़ी दीन अवस्थामें थीं। रघुनन्दन! आपकी धर्मपत्नी सुमुखी सीता वहाँ भी शील और सदाचार-से सम्पन्न हैं। मैंने सब जगह ढूँढ़ते हुए पतिव्रता जानकीको अशोकवनमें पाया, उनसे वार्तालाप किया और उन्होंने भी मेरा विश्वास किया। प्रभो! उन्होंने आपको देनेके लिये अपना श्रेष्ठ मणिमय अलंकार भेजा है' ॥ ४८—५४ ॥

इत्युक्त्वा दत्तवांस्तस्मै चूडामणिमनुत्तमम्।
इदं च वचनं तुभ्यं पत्न्या सम्प्रेषितं शृणु ॥५५॥
चित्रकूटे मदङ्के तु सुप्ते त्वयि महाव्रत।
वायसाभिभवं राजंस्तत्किल स्मर्तुमर्हसि ॥५६॥
अल्पापराधे राजेन्द्र त्वया बलिभुजि प्रभो।
यत्कृतं ब्रह्म कर्तुं च शक्यं देवासुरैरपि ॥५७॥
ब्रह्मास्त्रं तु तदोत्सृष्टं रावणं किं न जेष्यसि।
इत्येवमादि बहुशः प्रोक्त्वा सीता रुरोद ह।
एवं तु दुःखिता सीता तां मोक्तुं यत्नमाचर ॥५८॥
इत्येवमुक्ते पवनात्मजेन
सीतावचस्तच्छुभभूषणं च।
श्रुत्वा च दृष्ट्वा च रुरोद रामः
कपिं समालिङ्ग्य शनैः प्रतस्थे ॥५९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे रामप्रादुर्भावे एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

यह कहकर हनुमान्‌जीने भगवान् श्रीरामको वह उत्तम चूडामणि दे दी और कहा—"प्रभो! आपकी धर्मपत्नी श्रीसीताजीने यह संदेश भी कहला भेजा है, सुनिये—'महान् व्रतका पालन करनेवाले महाराज! चित्रकूट पर्वतपर जब आप मेरी गोदमें [सिर रखकर] सो गये थे, उस समय काकवेषधारी जयन्तका जो आपने मान-मर्दन किया था, उसे स्मरण करें। राजेन्द्र! प्रभो! उस कौएके थोड़ेसे ही अपराधपर उसे दण्ड देनेके लिये आपने जो अद्भुत कर्म किया था, उसे देवता और असुर भी नहीं कर सकते। उस समय तो आपने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था? क्या इस समय इस रावणको पराजित नहीं करेंगे?' इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर सीताजी रोने लगी थीं। यह है दुःखिनी सीताका वृत्तान्त! आप उन्हें उस दुःखसे मुक्त करनेका प्रयत्न कीजिये।" पवनकुमार हनुमान्‌जीके इस प्रकार कहनेपर, सीताजीका वह संदेश सुन और उनके उस सुन्दर आभूषणको देख, भगवान् श्रीराम उन कपिवर हनुमान्‌जीको गलेसे लगाकर रोने लगे और धीरे-धीरे वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ५५—५९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीरामावतारकी कथाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

बावनवाँ अध्याय

श्रीराम आदिका समुद्रतटपर जाना; विभीषणकी शरणागति और उन्हें लङ्काके राज्यकी प्राप्ति; समुद्रका श्रीरामको मार्ग देना; पुलद्वारा समुद्र पार करके वानरसेनासहित श्रीरामका सुवेल पर्वतपर पड़ाव डालना; अङ्गदका प्रभाव; लक्ष्मणकी प्रेरणासे श्रीरामका अङ्गदकी प्रशंसा करना; अङ्गदके वीरोचित उद्गार और दौत्यकर्म; वानर वीरोंद्वारा राक्षसोंका संहार; रावणका श्रीरामके द्वारा युद्धमें पराजित होना, कुम्भकर्णका वध; अतिकाय आदि राक्षस वीरोंका मारा जाना; मेघनादका पराक्रम और वध; रावणकी शक्तिसे मूर्छित लक्ष्मणका हनुमान्‌जीके द्वारा पुनर्जीवन; राम-रावण-युद्ध; रावण-वध; देवताओंद्वारा श्रीरामकी स्तुति; सीताके साथ अयोध्यामें आनेपर श्रीरामका राज्याभिषेक और अन्तमें पुरवासियोंसहित उनका परमधामगमन

मार्कण्डेय उवाच

इति श्रुत्वा प्रियावार्तां वायुपुत्रेण कीर्तिताम्।
रामो गत्वा समुद्रान्तं वानरैः सह विस्तृतैः ॥ १ ॥
सागरस्य तटे रम्ये तालीवनविराजिते।
सुग्रीवो जाम्बवांश्चाथ वानरैरतिहर्षितैः ॥ २ ॥
संख्यातीतैर्वृतः श्रीमान्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।

अनुजेन च धीरेण वीक्ष्य तस्थौ सरित्पतिम् ॥ ३ ॥
रावणेनाथ लङ्कायां स सूक्तौ भर्त्सितोऽनुजः ।
विभीषणो महाबुद्धिः शास्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिः सह ॥ ४ ॥
नरसिंहे महादेवे श्रीधरे भक्तवत्सले ।
एवं रामेऽचलां भक्तिमागत्य विनयात्तदा ॥ ५ ॥
कृताञ्जलिरुवाचेदं राममक्लिष्टकारिणम् ।
राम राम महाबाहो देवदेव जनार्दन ॥ ६ ॥
विभीषणोऽस्मि मां रक्ष अहं ते शरणं गतः ।
इत्युक्त्वा निपपाताथ प्राञ्जली रामपादयोः ॥ ७ ॥
विदितार्थोऽथ रामस्तु तमुत्थाप्य महामतिम् ।
समुद्रतोयैस्तं वीरमभिषिच्य विभीषणम् ॥ ८ ॥
लङ्काराज्यं तवैवेति प्रोक्तः सम्भाष्य तस्थिवान् ।

मार्कण्डेयजी बोले—वायुनन्दन हनुमान्‌जीके द्वारा कथित प्रिया जानकीका वृत्तान्त सुन लेनेके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी विशाल वानरसेनाके साथ समुद्रके निकट गये । साथ ही सुग्रीव और जाम्बवान् भी तालवनसे सुशोभित सागरके सुरम्य तटपर जा पहुँचे । अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे पूर्ण उन असंख्य वानरोंसे घिरे हुए श्रीमान् भगवान् राम नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे । अपने धीर-वीर अनुज लक्ष्मणजीके साथ समुद्रकी विशालताका अवलोकन करते हुए वे उसके तटपर ठहर गये । इधर लङ्कामें रावणने [राक्षसकुलके हितके लिये] अच्छी बात कहनेपर भी अपने छोटे भाई महाबुद्धिमान् विभीषणको बहुत फटकारा । तब वे अपने शास्त्रज्ञ मन्त्रियोंके साथ महान् देवता भक्तवत्सल लक्ष्मीपतिके अवतार नरश्रेष्ठ श्रीराममें अविचल भक्ति रखते हुए उनके निकट आये और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले उन भगवान् श्रीरामसे हाथ जोड़ विनयपूर्वक यों बोले—'महाबाहो श्रीराम ! देवदेव जनार्दन ! मैं [रावणका भाई] विभीषण हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ; मेरी रक्षा कीजिये'—यों कहकर हाथ जोड़े हुए वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें गिर पड़े । उनका अभिप्राय जानकर भगवान् श्रीरामने उन महाबुद्धिमान् वीर विभीषणको उठाया और समुद्रके जलसे उनका राज्याभिषेक करके कहा—'अब लङ्काका राज्य तुम्हारा ही होगा ।' श्रीरामके यों कहनेपर विभीषण उनके साथ बातचीत करके वहीं खड़े रहे ॥ १—८½ ॥

ततो विभीषणेनोक्तं त्वं विष्णुर्भुवनेश्वरः ॥ ९ ॥
अब्धिर्ददातु मार्गं ते देव तं याचयामहे ।
इत्युक्तो वानरैः सार्धं शिश्ये तत्र स राघवः ॥१०॥
सुप्ते रामे गतं तत्र त्रिरात्रममितद्युतौ ।
ततः क्रुद्धो जगन्नाथो रामो राजीवलोचनः ॥११॥
संशोषणमपां कर्तुमस्त्रमाग्नेयमाददे ।
तदोत्थाय वचः प्राह लक्ष्मणश्च रुषान्वितम् ॥१२॥

तब विभीषणने कहा—'प्रभो ! आप जगत्पति भगवान् विष्णु हैं । देव ! ऐसी चेष्टा करें कि समुद्र ही आपको जानेका मार्ग दे दे । हम सब लोग उससे प्रार्थना करें ।' उनके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी वानरोंके साथ समुद्रके तटपर धरना देते हुए लेट गये । अपार कान्तिमान् भगवान् श्रीरामको वहाँ लेटे-लेटे तीन रातें बीत गयीं; तब कमलनयन जगदीश्वर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने समुद्रके जलको सुखा डालनेके लिये हाथमें अग्निबाण धारण किया । यह देख लक्ष्मणजी तत्काल उठे और क्रुद्ध हुए भगवान् रामसे यों बोले ॥ ९—१२ ॥

क्रोधस्ते लयकर्ता हि एनं जहि महामते ।
भूतानां रक्षणार्थाय अवतारस्त्वया कृतः ॥१३॥
क्षन्तव्यं देवदेवेश इत्युक्त्वा धृतवान् शरम् ।
ततो रात्रित्रये याते क्रुद्धं राममवेक्ष्य सः ॥१४॥
आग्नेयास्त्राच्च संत्रस्तः सागरोऽभ्येत्य मूर्तिमान् ।
आह रामं महादेवं रक्ष मामपकारिणम् ॥१५॥
मार्गो दत्तो मया तेऽद्य कुशलः सेतुकर्मणि ।
नलश्च कथितो वीरस्तेन कारय राघव ॥१६॥
यावदिष्टं तु विस्तीर्णं सेतुबन्धनमुत्तमम् ।

'महामते ! आपका क्रोध तो समस्त ब्रह्माण्डका प्रलय करनेवाला है, इस समय इस कोपको दबा दें; क्योंकि आपने प्राणियोंकी रक्षाके लिये अवतार धारण किया है । देवदेव !

लेकर सारा समाचार आद्योपान्त सुनाया और यह भी कहा कि 'मैंने अशोक-वाटिकाके भीतर सीतादेवीका दर्शन किया। उन्हें राक्षसियाँ घेरे हुए थीं और वे बहुत दुखी होकर निरन्तर आपका ही स्मरण कर रही थीं। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे बड़ी दीन अवस्थामें थीं। रघुनन्दन! आपकी धर्मपत्नी सुमुखी सीता वहाँ भी शील और सदाचार-से सम्पन्न हैं। मैंने सब जगह ढूँढ़ते हुए पतिव्रता जानकीको अशोकवनमें पाया, उनसे वार्तालाप किया और उन्होंने भी मेरा विश्वास किया। प्रभो! उन्होंने आपको देनेके लिये अपना श्रेष्ठ मणिमय अलंकार भेजा है' ॥ ४८—५४ ॥

इत्युक्त्वा दत्तवांस्तस्मै चूडामणिमनुत्तमम्।
इदं च वचनं तुभ्यं पत्न्या सम्प्रेषितं शृणु ॥५५॥
चित्रकूटे मदङ्के तु सुप्ते त्वयि महाव्रत।
वायसाभिभवं राजंस्तत्किल स्मर्तुमर्हसि ॥५६॥
अल्पापराधे राजेन्द्र त्वया बलिभुजि प्रभो।
यत्कृतं बत्र कर्तुं च शक्यं देवासुरैरपि ॥५७॥
ब्रह्मास्त्रं तु तदोत्सृष्टं रावणं किं न जेष्यसि।
इत्येवमादि बहुशः प्रोक्त्वा सीता रुरोद ह।
एवं तु दुःखिता सीता तां मोक्तुं यत्नमाचर ॥५८॥
इत्येवमुक्ते पवनात्मजेन
सीतावचस्तच्छुभभूषणं च।
श्रुत्वा च दृष्ट्वा च रुरोद रामः
कपिं समालिङ्ग्य शनैः प्रतस्थे ॥५९॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे रामप्रादुर्भावे एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

यह कहकर हनुमान्‌जीने भगवान् श्रीरामको वह उत्तम चूडामणि दे दी और कहा—"प्रभो! आपकी धर्मपत्नी श्रीसीताजीने यह संदेश भी कहला भेजा है, सुनिये—'महान् व्रतका पालन करनेवाले महाराज! चित्रकूट पर्वतपर जब आप मेरी गोदमें [सिर रखकर] सो गये थे, उस समय काकवेषधारी जयन्तका जो आपने मान-मर्दन किया था, उसे स्मरण करें। राजेन्द्र! प्रभो! उस कौएके थोड़ेसे ही अपराधपर उसे दण्ड देनेके लिये आपने जो अद्भुत कर्म किया था, उसे देवता और असुर भी नहीं कर सकते। उस समय तो आपने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था? क्या इस समय इस रावणको पराजित नहीं करेंगे?' इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर सीताजी रोने लगी थीं। यह है दुःखिनी सीताका वृत्तान्त! आप उन्हें उस दुःखसे मुक्त करनेका प्रयत्न कीजिये।" पवनकुमार हनुमान्‌जीके इस प्रकार कहनेपर, सीताजीका वह संदेश सुन और उनके उस सुन्दर आभूषणको देख, भगवान् श्रीराम उन कपिवर हनुमान्‌जीको गलेसे लगाकर रोने लगे और धीरे-धीरे वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ५५—५९ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीरामावतारकी कथाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

बावनवाँ अध्याय

श्रीराम आदिका समुद्रतटपर जाना; विभीषणकी शरणागति और उन्हें लङ्काके राज्यकी प्राप्ति; समुद्रका श्रीरामको मार्ग देना; पुलद्वारा समुद्र पार करके वानरसेनासहित श्रीरामका सुवेल पर्वतपर पड़ाव डालना; अङ्गदका प्रभाव; लक्ष्मणकी प्रेरणासे श्रीरामका अङ्गदकी प्रशंसा करना; अङ्गदके वीरोचित उद्गार और दौत्यकर्म; वानर वीरोंद्वारा राक्षसोंका संहार; रावणका श्रीरामके द्वारा युद्धमें पराजित होना, कुम्भकर्णका वध; अतिकाय आदि राक्षस वीरोंका मारा जाना; मेघनादका पराक्रम और वध; रावणकी शक्तिसे मूर्छित लक्ष्मणका हनुमान्‌जीके द्वारा पुनर्जीवन; राम-रावण-युद्ध; रावण-वध; देवताओंद्वारा श्रीरामकी स्तुति; सीताके साथ अयोध्यामें आनेपर श्रीरामका राज्याभिषेक और अन्तमें पुरवासियोंसहित उनका परमधामगमन

मार्कण्डेय उवाच

इति श्रुत्वा प्रियावार्तां वायुपुत्रेण कीर्तिताम्।
रामो गत्वा समुद्रान्तं वानरैः सह विस्तृतैः ॥ १ ॥
सागरस्य तटे रम्ये तालीवनविराजिते।
सुग्रीवो जाम्बवांश्चाथ वानरैरतिहर्षितैः ॥ २ ॥
संख्यातीतैर्वृतः श्रीमान्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।

अनुजेन च धीरेण वीक्ष्य तस्थौ सरित्पतिम् ॥ ३ ॥
रावणेनाथ लङ्कायां स स्वक्तो भर्त्सितोऽनुजः ।
विभीषणो महाबुद्धिः शास्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिः सह ॥ ४ ॥
नरसिंहे महादेवे श्रीधरे भक्तवत्सले ।
एवं रामेऽचलां भक्तिमागत्य विनयात्तदा ॥ ५ ॥
कृताञ्जलिरुवाचेदं राममक्लिष्टकारिणम् ।
राम राम महाबाहो देवदेव जनार्दन ॥ ६ ॥
विभीषणोऽस्मि मां रक्ष अहं ते शरणं गतः ।
इत्युक्त्वा निपपाताथ प्राञ्जली रामपादयोः ॥ ७ ॥
विदितार्थोऽथ रामस्तु तमुत्थाप्य महामतिम् ।
समुद्रतोयैस्तं वीरमभिषिच्य विभीषणम् ॥ ८ ॥
लङ्काराज्यं तवैवेति प्रोक्तः सम्भाष्य तस्थिवान् ।

मार्कण्डेयजी बोले—वायुनन्दन हनुमान्‌जीके द्वारा कथित प्रिया जानकीका वृत्तान्त सुन लेनेके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी विशाल वानरसेनाके साथ समुद्रके निकट गये। साथ ही सुग्रीव और जाम्बवान् भी तालवनसे सुशोभित सागरके सुरम्य तटपर जा पहुँचे। अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे पूर्ण उन असंख्य वानरोंसे घिरे हुए श्रीमान् भगवान् राम नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे। अपने धीर-वीर अनुज लक्ष्मणजीके साथ समुद्रकी विशालताका अवलोकन करते हुए वे उसके तटपर ठहर गये। इधर लङ्कामें रावणने [राक्षसकुलके हितके लिये] अच्छी बात कहनेपर भी अपने छोटे भाई महाबुद्धिमान् विभीषणको बहुत फटकारा। तब वे अपने शास्त्रज्ञ मन्त्रियोंके साथ महान् देवता भक्तवत्सल लक्ष्मीपतिके अवतार नरश्रेष्ठ श्रीराममें अविचल भक्ति रखते हुए उनके निकट आये और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले उन भगवान् श्रीरामसे हाथ जोड़ विनयपूर्वक यों बोले—'महाबाहो श्रीराम! देवदेव जनार्दन! मैं [रावणका भाई] विभीषण हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ; मेरी रक्षा कीजिये'—यों कहकर हाथ जोड़े हुए वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें गिर पड़े। उनका अभिप्राय जानकर भगवान् श्रीरामने उन महाबुद्धिमान् वीर विभीषणको उठाया और समुद्रके जलसे उनका राज्याभिषेक करके कहा—'अब लङ्काका राज्य तुम्हारा ही होगा।' श्रीरामके यों कहनेपर विभीषण उनके साथ बातचीत करके वहीं खड़े रहे॥ १—८½ ॥

ततो विभीषणेनोक्तं त्वं विष्णुर्भुवनेश्वरः ॥ ९ ॥
अब्धिर्ददातु मार्गं ते देव तं याचयामहे ।
इत्युक्तो वानरैः सार्धं शिश्ये तत्र स राघवः ॥ १० ॥
सुप्ते रामे गतं तत्र त्रिरात्रममितद्युतौ ।
ततः क्रुद्धो जगन्नाथो रामो राजीवलोचनः ॥ ११ ॥
संशोषणमपां कर्तुमस्त्रमाग्नेयमाददे ।
तदोत्थाय वचः प्राह लक्ष्मणश्च रुषान्वितम् ॥ १२ ॥

तब विभीषणने कहा—'प्रभो! आप जगत्पति भगवान् विष्णु हैं। देव! ऐसी चेष्टा करें कि समुद्र ही आपको जानेका मार्ग दे दे। हम सब लोग उससे प्रार्थना करें।' उनके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी वानरोंके साथ समुद्रके तटपर धरना देते हुए लेट गये। अपार कान्तिमान् भगवान् श्रीरामको वहाँ लेटे-लेटे तीन रातें बीत गयीं; तब कमलनयन जगदीश्वर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने समुद्रके जलको सुखा डालनेके लिये हाथमें अग्निबाण धारण किया। यह देख लक्ष्मणजी तत्काल उठे और क्रुद्ध हुए भगवान् रामसे यों बोले॥ ९—१२ ॥

क्रोधस्ते लयकर्ता हि एनं जहि महामते ।
भूतानां रक्षणार्थाय अवतारस्त्वया कृतः ॥ १३ ॥
क्षन्तव्यं देवदेवेश इत्युक्त्वा धृतवान् शरम् ।
ततो रात्रित्रये याते क्रुद्धं राममवेक्ष्य सः ॥ १४ ॥
आग्नेयास्त्राच्च संत्रस्तः सागरोऽभ्येत्य मूर्तिमान् ।
आह रामं महादेवं रक्ष मामपकारिणम् ॥ १५ ॥
मार्गो दत्तो मया तेऽद्य कुशलः सेतुकर्मणि ।
नलश्च कथितो वीरस्तेन कारय राघव ॥ १६ ॥
यावदिष्टं तु विस्तीर्णं सेतुबन्धनमुत्तमम् ।

'महामते! आपका क्रोध तो समस्त ब्रह्माण्डका प्रलय करनेवाला है, इस समय इस कोपको दबा दें; क्योंकि आपने प्राणियोंकी रक्षाके लिये अवतार धारण किया है। देवदेव!

आप क्षमा करें,'—यों कहकर उन्होंने श्रीरामके उस बाणको पकड़ लिया। इधर तीन रात बीत जानेपर श्रीरामचन्द्रजीको कुपित देख, उनके अग्निबाणसे भयभीत हो, समुद्र मनुष्यरूप धारणकर उनके निकट आया और महान् देवता भगवान् श्रीरामसे बोला—'भगवन्! मुझ अपराधीकी रक्षा कीजिये। रघुनन्दन! अब मैंने आपको जानेका मार्ग दे दिया। आपकी सेनामें वीरवर नल पुल बनानेमें निपुण कहे गये हैं। उनके द्वारा आपको जितना बड़ा अभीष्ट हो, उतने ही बड़े उत्तम पुलका निर्माण करा लीजिये' ॥ १३–१६½ ॥

ततो नलमुखैरन्यैर्वानरैरमितौजसैः ॥१७॥
बन्धयित्वा महासेतुं तेन गत्वा स राघवः।
सुवेलाख्यं गिरिं प्राप्तः स्थितोऽसौ वानरैर्वृतः ॥१८॥
हर्म्यस्थलस्थितं दुष्टं रावणं वीक्ष्य चाङ्गदः।
रामादेशादथोत्प्लुत्य दूतकर्मसु तत्परः ॥१९॥
प्रादात्पादप्रहारं तु रोषाद्रावणमूर्धनि।
विस्मितं तैः सुरगणैर्वीक्षितः सोऽतिवीर्यवान् ॥२०॥
साधयित्वा प्रतिज्ञां तां सुवेलं पुनरागतः।
ततो वानरसेनाभिः संख्यातीताभिरच्युतः ॥२१॥
रुरोध रावणपुरीं लङ्कां तत्र प्रतापवान्।

तब भगवान् रामने नल आदि अन्य अमित-तेजस्वी वानरोंद्वारा बहुत बड़ा पुल बनवाया और उसीके द्वारा समुद्रके पार जा, सुवेल नामक पर्वतपर पहुँचकर, वहीं वानरोंके साथ डेरा डाल दिया। वहाँसे अङ्गदने देखा—'दुष्ट रावण महलकी अट्टालिकापर बैठा हुआ है।' उसे देखते ही वे भगवान् श्रीरामकी आज्ञा ले, दूत-कार्यमें संलग्न हो, उछलकर रावणके पास जा पहुँचे। जाते ही उन्होंने रोषपूर्वक रावणके मस्तकपर लात मारी। उस समय देवताओंने महान् पराक्रमी अङ्गदजीकी ओर बड़े विस्मयके साथ देखा। इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके वे पुनः सुवेल पर्वतपर चले आये। तदनन्तर प्रतापी भगवान् श्रीरामने असंख्य वानर-सेनाओंके द्वारा रावणकी पुरी लङ्काको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १७–२१½ ॥

रामः समन्तादालोक्य प्राह लक्ष्मणमन्तिके ॥२२॥

तीर्णोऽर्णवः कवलितेव कपीश्वरस्य
सेनाभटैर्झटिति राक्षसराजधानी।
यत्पौरुषोचितमिहाङ्कुरितं मया तद्
दैवस्य वश्यमपरं धनुषोऽथ वास्य ॥२३॥

तब श्रीरामने चारों ओर देख लक्ष्मणको पास बुलाकर कहा—'भाई! हमलोगोंने समुद्र तो पार कर लिया तथा कपिराज सुग्रीवके सैनिकोंने राक्षसोंकी राजधानी लङ्काको आनन-फाननमें अपना ग्रास-सा बना लिया है। पुरुषार्थसे जो कुछ सिद्ध होनेके योग्य था, उसका अङ्कुर तो हमने उत्पन्न कर दिया; अब आगे जो कुछ होना है, वह भाग्य अथवा इस धनुषके अधीन है' ॥ २२-२३ ॥

लक्ष्मणः प्राह—कातरजनमनोऽवलम्बिना किं दैवेन।

यावल्ललाटशिखरं भ्रुकुटिर्न याति
यावन्न कार्मुकशिखामधिरोहति ज्या।
तावन्निशाचरपतेः पटिमानमेतु
त्रैलोक्यमूलविभुजेषु भुजेषु दर्पः ॥२४॥

लक्ष्मण बोले—भाई! कातर पुरुषोंके हृदयको अवलम्बन देनेवाले भाग्य या दैवसे क्या होनेवाला है? जबतक हमारी भ्रुकुटि रोषसे तनकर ललाटके ऊपरतक नहीं जाती और जबतक प्रत्यञ्चा धनुषके अग्रभागपर नहीं चढ़ती, तभीतक निशाचरराज रावणका दर्प त्रिभुवनका मूलोच्छेदन करनेवाली उसकी भुजाओंके भरोसे बढ़ता रहे' ॥ २४ ॥

तदा लक्ष्मणः रामस्य कर्णे लगित्वा पितृवधवैरस्मरणे अथ तद्भक्तिवीर्यपरीक्षणाय लक्षणविज्ञानायादिश्यतामङ्गदाय दूत्यम्। रामः साधु इति भणित्वा अङ्गदं सबहुमानमवलोक्य आदिशति ॥ २५ ॥ अङ्गद!

पिता ते यद्वाली बलिनि दशकण्ठे कलितवा-
न्न शक्तास्तद्वक्तुं वयमपि मुदा तेन पुलकः।
स एव त्वं व्यावर्त्तयसि तनुजत्वेन पितृतां

ततः किं वक्तव्यं तिलकयति सृष्टार्थपदवीम् ॥२६॥

ऐसा विचार प्रकट करके लक्ष्मणने उसी समय भगवान् श्रीरामके कानमें मुँह लगाकर कहा—'अब इस समय इस बातकी परीक्षा तथा जानकारीके लिये कि यह अङ्गद अपने पिता वालीके वैर-जनित वधका स्मरण करके भी आपमें कितनी भक्ति रखता है, इसमें कितना पराक्रम है तथा इसके अन्य कैसे लक्षण (रंग-ढंग) हैं, आप अङ्गदको पुनः दूत-कर्म करनेका आदेश दीजिये ।' श्रीरामचन्द्रजी 'बहुत अच्छा' कहकर अङ्गदकी ओर बड़े आदरसे देखकर उन्हें आदेश देने लगे—'अङ्गद ! तुम्हारे पिता वालीने दशकण्ठ रावणके प्रति जो पुरुषार्थ किया था, उसका हम भी वर्णन नहीं कर सकते । उसकी याद आते ही हर्षके कारण हमारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है । वही वाली आज तुम्हारे रूपमें प्रकट है । तुम पुत्ररूपमें उत्पन्न हो, अपने पुरुषार्थसे पिताको भी पीछे छोड़ रहे हो; अतः तुम्हारे विषयमें क्या कहना है । तुम पुत्र-पदवीको मस्तकका तिलक बना रहे हो' ॥ २५-२६ ॥

अङ्गदो मौलिमण्डलमिलत्करयुगलेन प्रणम्य यदाज्ञापयति देवः । अवधार्यताम् ॥ २७ ॥

किं प्राकारविहारतोरणवतीं लङ्कामिहैवानये
किं वा सैन्यमहं द्रुतं रघुपते तत्रैव सम्पादये ।
अत्यल्पं कुलपर्वतैरविरलैर्बध्नामि वा सागरं
देवादेशय किं करोमि सकलं दोर्दण्डसाध्यं मम ॥२८॥

अङ्गदने अपने मस्तकपर दोनों हाथ जोड़ भगवान्‌को प्रणाम करके कहा—'जैसी आज्ञा; भगवान् इधर ध्यान दें । रघुपते ! क्या मैं चहारदीवारी, विहार-स्थल और नगरद्वार-सहित लङ्कापुरीको यहीं उठा लाऊँ ? या अपनी सारी सेनाको ही उस पुरीमें आक्रमणके लिये पहुँचा दूँ ? अथवा इस अत्यन्त तुच्छ सागरको अविरल कुलाचलोंद्वारा पाट दूँ ? भगवन् ! आज्ञा दीजिये, क्या करूँ ? मेरे भुजदण्डोंद्वारा सब कुछ सिद्ध हो सकता है' ॥ २७-२८ ॥

श्रीरामस्तद्वचनमात्रेणैव तद्भक्तिं सामर्थ्यं चावेक्ष्य वदति ॥ २९ ॥

अज्ञानादथवाधिपत्यरभसा वास्मत्परोक्षे हृता
सीतेयं प्रविमुच्यतामिति वचो गत्वा दशास्यं वद ।
नो चेल्लक्ष्मणमुक्तमार्गणगणच्छेदोच्छलच्छोणित
च्छत्रच्छन्नदिगन्तमन्तकपुरीं पुत्रैर्वृतो यास्यसि ॥

भगवान् रामने अङ्गदके कथनसे ही उनकी भक्ति और शक्तिका अनुमान लगाकर कहा—"वीर ! तुम दशमुख रावणके पास जाकर कहो—'रावण ! तुम अज्ञानसे या प्रभुत्वके अभिमानमें आकर हमलोगोंके पीठ-पीछे चोरकी भाँति जिस सीताको ले गये हो, उसे छोड़ दो; नहीं तो लक्ष्मणके छोड़े हुए बाणोंद्वारा बेधे जाकर छलकते हुए रक्तकी धाराओंसे छत्रकी भाँति दिगन्तको आच्छादित करके तुम अपने पुत्रोंके साथ ही यमपुरीको प्रस्थान करोगे'" ॥ २९-३० ॥

अङ्गदः ॥ ३१ ॥ देव !

संधौ वा विग्रहे वापि मयि दूते दशाननौ ।
अक्षता वाक्षता वापि क्षितिपीठे लुठिष्यति ॥३२॥
तदा श्रीरामचन्द्रेण प्रशस्य प्रहितोऽङ्गदः ।
उक्तिप्रत्युक्तिचातुर्यैः पराजित्यागतो रिपुम् ॥३३॥

अङ्गदने कहा—'देव ! मुझ दूतके रहते हुए रावण संधि करे या विग्रह, दोनों ही अवस्थाओंमें उसके दसों मस्तक पृथ्वीतलपर गिरकर लोटेंगे । हाँ, इतना अन्तर अवश्य होगा कि संधि कर लेनेपर उसके मस्तक बिना कटे ही (आपके सामने प्रणामके लिये) गिरेंगे और विग्रह करनेपर कटकर गिरेंगे ।' तब श्रीरामचन्द्रजीने अङ्गदकी प्रशंसा करके उन्हें भेजा और वे भी वहाँ जा, वाद-प्रतिवादकी चातुरीसे शत्रुको हराकर लौट आये ॥ ३१–३३ ॥

राघवस्य बलं ज्ञात्वा चारैस्तदनुजस्य च ।
वानराणां च भीतोऽपि निर्भीरिव दशाननः ॥३४॥
लङ्कापुरस्य रक्षार्थमादिदेश स राक्षसान् ।
आदिश्य सर्वतो दिक्षु पुत्रानाह दशाननः ॥३५॥
धूम्राक्षं धूम्रपानं च राक्षसा यात मे पुरीम् ।
पाशैर्बध्नीत तौ मर्त्यौ अमित्रान्तकवीर्यवान् ।

कुम्भकर्णोऽपि मद्भ्राता तुर्यनादैः प्रबोधितः ॥३६॥

दशानन रावणने भी अपने गुप्तचरोंद्वारा श्रीरामचन्द्रजीका, उनके भाई लक्ष्मणका और वानरोंका बल जानकर भयभीत होनेपर भी निडरकी भाँति लङ्कापुरीकी रक्षाके लिये राक्षसोंको आज्ञा दी। सम्पूर्ण दिशाओंमें राक्षसोंको जानेकी आज्ञा दे उसने अपने पुत्रोंसे और धूम्राक्ष तथा धूम्रपानसे भी कहा—'राक्षसो! तुमलोग नगरमें जाओ और उन दोनों मनुष्य-कुमारोंको पाशसे बाँध लाओ। शत्रुओंके लिये यमराजके समान पराक्रमी मेरा भाई कुम्भकर्ण भी इस समय वाद्योंके शब्दसे जगा लिया गया है॥ ३४—३६॥

राक्षसाश्चैव संदिष्टा रावणेन महाबलाः।
तस्याज्ञां शिरसाऽऽदाय युयुधुर्वानरैः सह ॥३७॥
युध्यमाना यथाशक्त्या कोटिसंख्यास्तु राक्षसाः।
वानरैर्निधनं प्राप्ताः पुनरन्यान् यथाऽऽदिशत् ॥३८॥
पूर्वद्वारे दशग्रीवो राक्षसानमितौजसः।
ते चापि युध्य हरिभिर्नीलाद्यैर्निधनं गताः ॥३९॥
अथ दक्षिणदिग्भागे रावणेन नियोजिताः।
ते सर्वे वानरवरैर्दारितास्तु यमं गताः ॥४०॥
पश्चिमेऽङ्गदमुख्यैश्च वानरैरतिगर्वितैः।
राक्षसाः पर्वताकाराः प्रापिता यमसादनम् ॥४१॥
तदुत्तरे तु दिग्भागे रावणेन निवेशिताः।
पेतुस्ते राक्षसाः क्रूरा मैन्दाद्यैर्वानरैर्हताः ॥४२॥
ततो वानरसंघास्तु लङ्काप्राकारमुच्छ्रितम्।
उत्प्लुत्याभ्यन्तरस्थांश्च राक्षसान् बलदर्पितान् ॥४३॥
हत्वा शीघ्रं पुनः प्राप्ताः स्वसेनामेव वानराः।

इतना ही नहीं, रावणने बड़े बलवान्-बलवान् राक्षसोंको युद्धके लिये आदेश दिया और वे भी उसकी आज्ञा शिरोधार्यकर वानरोंके साथ जूझने लगे। अपनी शक्तिभर युद्ध करते हुए करोड़ों राक्षस वानरोंके हाथ मारे गये। और तो और, दशमुख रावणने जिन दूसरे-दूसरे अपार-तेजस्वी राक्षसोंको पूर्वद्वारपर युद्धके लिये आदेश किया था, वे सब भी नील आदि वानरोंसे युद्ध करते हुए मृत्युको प्राप्त हुए। इसके बाद रावणने दक्षिण दिशामें लड़नेके लिये जिन राक्षसोंको नियुक्त किया था, वे भी श्रेष्ठ वानरोंद्वारा अपने अङ्गोंके विदीर्ण कर दिये जानेपर यमलोकको चले गये। फिर पश्चिम द्वारपर जो पर्वताकार राक्षस थे, वे भी अत्यन्त गर्वीले अङ्गदादि वानर वीरोंद्वारा यमपुरीको पहुँचा दिये गये। फिर उत्तर द्वारपर रावणके द्वारा ठहराये हुए क्रूर राक्षस मैन्द आदि वानरोंके हाथ मारे जाकर धराशायी हो गये। तदनन्तर वानरगण लङ्काकी ऊँची चहारदीवारी फाँदकर उसके भीतर रहनेवाले बलाभिमानी राक्षसोंको भी संहार करके पुनः शीघ्रतापूर्वक अपनी सेनामें लौट आये॥ ३७—४३½॥

एवं हतेषु सर्वेषु राक्षसेषु दशाननः ॥४४॥
रोदमानासु तत्स्त्रीषु निर्गतः क्रोधमूर्च्छितः।
द्वारे स पश्चिमे वीरो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ॥४५॥
क्वासौ रामेति च वदन् धनुष्पाणिः प्रतापवान्।
रथस्थः शरवर्षं च विसृजन् वानरेषु सः ॥४६॥
ततस्तद्बाणछिन्नाङ्गा वानरा दुद्रुवुस्तदा।
पलायमानांस्तान् दृष्ट्वा वानरान् राघवस्तदा ॥४७॥
कस्मात्तु वानरा भग्नाः किमेषां भयमागतम्।

इस प्रकार सब राक्षसोंके मारे जानेपर उनकी स्त्रियोंको रोदन करते देख दशानन रावण क्रोधसे मूर्च्छित होकर निकला। वह प्रतापी वीर हाथमें धनुष ले बहुसंख्यक राक्षसोंसे घिरा हुआ पश्चिम द्वारपर आया और बोला—'कहाँ है वह राम?' तथा रथपर बैठे-बैठे वानरोंपर बाणोंकी वर्षा करने लगा। उसके बाणोंसे अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण वानर इधर-उधर भागने लगे। उस समय वानरोंको भागते देख श्रीरामने पूछा—'वानरोंमें क्यों भगदड़ पड़ गयी है? इनपर कौन-सा भय आ पहुँचा?'॥ ४४—४७½॥

इति रामवचः श्रुत्वा प्राह वाक्यं विभीषणः ॥४८॥
शृणु राजन्महाबाहो रावणो निर्गतोऽधुना।
तद्बाणछिन्ना हरयः पलायन्ते महामते ॥४९॥

श्रीरामकी बात सुनकर विभीषणने कहा—"राजन् ! महाबाहो ! सुनिये, इस समय रावण युद्धके लिये निकला है। महामते ! उसीके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो वानरगण भाग रहे हैं" ॥ ४८-४९ ॥

इत्युक्तो राघवस्तेन धनुरुद्यम्य रोषितः ।
ज्याघोषतलघोषाभ्यां पूरयामास खं दिशः ॥५०॥
युयुधे रावणेनाथ रामः कमललोचनः ।
सुग्रीवो जाम्बवांश्चैव हनूमानङ्गदस्तथा ॥५१॥
विभीषणो वानराश्च लक्ष्मणश्चापि वीर्यवान् ।
उपेत्य रावणीं सेनां वर्षन्तीं सर्वसायकान् ॥५२॥
हस्त्यश्वरथसंयुक्तां ते निजघ्नुर्महाबलाः ।
रामरावणयोर्युद्धमभूत् तत्रापि भीषणम् ॥५३॥
रावणेन विसृष्टानि शस्त्रास्त्राणि च यानि वै ।
तानि छित्त्वाथ शस्त्रैस्तु राघवश्च महाबलः ॥५४॥
शरेण सारथिं हत्वा दशभिश्च महाहयान् ।
रावणस्य धनुश्छित्त्वा भल्लेनैकेन राघवः ॥५५॥
मुकुटं पञ्चदशभिश्छित्त्वा तन्मस्तकं पुनः ।
सुवर्णपुङ्खैर्दशभिः शरैर्विव्याध वीर्यवान् ॥५६॥
तदा दशास्यो व्यथितो रामबाणैर्भृशं तदा ।
विवेश मन्त्रिभिर्नीतः स्वपुरीं देवमर्दकः ॥५७॥

विभीषणके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कुपित होकर धनुष उठाया और प्रत्यञ्चाकी टंकारसे समस्त दिशाओं तथा आकाशको गुँजा दिया। तत्पश्चात् कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी रावणसे युद्ध करने लगे और सुग्रीव, जाम्बवान्, हनूमान्, अङ्गद, विभीषण, पराक्रमी लक्ष्मण तथा अन्यान्य महाबली वानर पहुँचकर हाथी, घोड़े और रथोंसे युक्त रावणकी चतुरङ्गिणी सेनाको, जो सब प्रकारके बाणोंकी वर्षा कर रही थी, मारने लगे। वहाँ भी श्रीराम और रावणका युद्ध बड़ा ही भयंकर हुआ। रावण जिन-जिन अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करता था, उन सबका बाणोंद्वारा छेदन करके महाबली श्रीरामचन्द्रजीने एक बाणसे सारथिको तथा दस बाणोंसे उसके बड़े-बड़े घोड़ोंको धराशायी करके एक भल्ल नामक बाणद्वारा रावणके धनुषको भी काट डाला। फिर महान् पराक्रमी रामने पंद्रह बाणोंसे उसके मुकुट बेधकर सुवर्णकी पाँखवाले दस बाणोंसे उसके मस्तकोंको भी बेध दिया। उस समय देवताओंका मान-मर्दन करनेवाला रावण श्रीरामके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो गया और मन्त्रियोंद्वारा ले जाया जाकर वह अपनी पुरी लङ्काको लौट गया ॥ ५०—५७ ॥

बोधितस्तूर्यनादैस्तु गजयूथक्रमैः शनैः ।
पुनः प्राकारमुल्लङ्घ्य कुम्भकर्णो विनिर्गतः ॥५८॥
उत्तुङ्गस्थूलदेहोऽसौ भीमदृष्टिर्महाबलः ।
वानरान् भक्षयन् दुष्टो विचचार क्षुधान्वितः ॥५९॥
तं दृष्ट्वोत्पत्य सुग्रीवः शूलेनोरस्यताडयत् ।
कर्णद्वयं कराभ्यां तुच्छित्त्वा वक्त्रेण नासिकाम् ॥६०॥

तदनन्तर वाद्योंके घोषसे जगाया गया कुम्भकर्ण लङ्काके परकोटेको लाँघकर धीरे-धीरे गजसमूहकी-सी मन्द गतिसे बाहर निकला। उसका शरीर बहुत ही ऊँचा और मोटा था, आँखें बड़ी ही भयानक थीं। वह महाबली दुष्ट राक्षस भूखसे व्याकुल हो वानरोंको अपना आहार बनाता हुआ रणभूमिमें विचरने लगा। उसे देख सुग्रीवने उछलकर उसकी छातीमें शूलसे प्रहार किया तथा अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों कानोंको और मुखसे उसकी नासिकाको काट लिया ॥ ५८—६० ॥

सर्वतो युध्यमानांश्च रक्षोनाथान् रणेऽधिकान् ।
राघवो घातयित्वा तु वानरेन्द्रैः समन्ततः ॥६१॥
चकर्त विशिखैस्तीक्ष्णैः कुम्भकर्णस्य कन्धराम् ।
विजित्येन्द्रजितं साक्षाद्गरुडेनागतेन सः ॥६२॥
रामो लक्ष्मणसंयुक्तः शुशुभे वानरैर्वृतः ।
व्यर्थं गते चेन्द्रजिति कुम्भकर्णे निपातिते ॥६३॥
लङ्कानाथस्ततः क्रुद्धः पुत्रं त्रिशिरसं पुनः ।
अतिकायमहाकायौ देवान्तकनरान्तकौ ॥६४॥
यूयं हत्वा तु पुत्राद्या तौ नरौ युधि निघ्नत ।
तान्नियुज्य दशग्रीवः पुत्रानेवं पुनर्ब्रवीत् ॥६५॥

महोदरमहापार्श्वौ सार्धमेतैर्महाबलैः ।
संग्रामेऽस्मिन् रिपून् हन्तुं युवां व्रजतमुद्यतौ ॥६६॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने रणमें सब ओर युद्ध करते हुए बहुसंख्यक राक्षसाधिपतियोंको चारों ओरसे वानरोंद्वारा मरवाकर अपने तीखे बाणोंसे कुम्भकर्णका भी गला काट लिया। फिर वहाँ आये हुए साक्षात् गरुडके द्वारा इन्द्रजित्को भी जीतकर वानरोंसे घिरे हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसहित बड़ी शोभा पाने लगे। इन्द्रजित्का उद्योग व्यर्थ होने और कुम्भकर्णके मारे जानेपर लङ्कापति रावणने क्रुद्ध हो अपने पुत्र त्रिशिरा, अतिकाय, महाकाय, देवान्तक और नरान्तकसे कहा—'पुत्रवरो ! तुम उन दोनों मनुष्यों—राम और लक्ष्मणको युद्धमें मार डालो।' इस प्रकार उन पुत्रोंको ऐसी आज्ञा दे दशकण्ठ रावणने पुनः महोदर और महापार्श्व नामक राक्षसोंसे कहा—'तुम दोनों इस संग्राममें शत्रुओंका वध करनेके लिये उद्यत हो बहुत बड़ी सेनाओंके साथ जाओ' ॥ ६१–६६ ॥

दृष्ट्वा तानागतांश्चैव युध्यमानान् रणे रिपून् ।
अनयल्लक्ष्मणः षड्भिः शरैस्तीक्ष्णैर्यमालयम् ॥६७॥
वानराणां समूहश्च शिष्टांश्च रजनीचरान् ।
सुग्रीवेण हतः कुम्भो राक्षसो बलदर्पितः ॥६८॥
निकुम्भो वायुपुत्रेण निहतो देवकण्टकः ।
विरूपाक्षं युध्यमानं गदया तु विभीषणः ॥६९॥
भीममैन्दौ च श्वपतिं वानरेन्द्रौ निजघ्नतुः ।
अङ्गदो जाम्बवांश्चाथ हरयोऽन्यान्निशाचरान्॥७०॥
युध्यमानस्तु समरे महालक्षं महाचलम् ।
जघान रामोऽथ रणे बाणवृष्टिकरं नृप ॥७१॥

रणभूमिमें उपर्युक्त शत्रुओंको आकर युद्ध करते देख लक्ष्मणने छः तीखे बाणोंसे मारकर उन्हें यमलोक भेज दिया। इसके बाद वानरगणने शेष राक्षसोंको मार डाला। सुग्रीवने बलाभिमानी कुम्भ नामक राक्षसको मारा, हनुमान्जीने देवताओंके लिये कण्टकरूप निकुम्भका वध किया। युद्ध करते हुए विरूपाक्षको विभीषणने गदासे मार डाला। वानरश्रेष्ठ भीम और मैन्दने श्वपतिका संहार किया, अङ्गद और जाम्बवान् तथा अन्य वानरोंने दूसरे निशाचरोंका संहार किया। नरेश्वर ! युद्धमें लगे हुए श्रीरामचन्द्रजीने भी संग्रामभूमिमें बाणोंकी वर्षा करनेवाले महालक्ष और महाचल नामक राक्षसोंको मौतके घाट उतार दिया ॥ ६७–७१ ॥

इन्द्रजिन्मन्त्रलब्धं तु रथमारुह्य वै पुनः ।
वानरेषु च सर्वेषु शरवर्षं ववर्ष सः ॥७२॥
रात्रौ तद्बाणभिन्नं तु बलं सर्वं च राघवम् ।
निश्चेष्टमखिलं दृष्ट्वा जाम्बवत्प्रेरितस्तदा ॥७३॥
वीर्यादौषधमानीय हनूमान् मारुतात्मजः ।
भूम्यां शयानमुत्थाप्य रामं हरिगणांस्तथा ॥७४॥
तैरेव वानरैः सार्धं ज्वलितोल्काकरैर्निशि ।
दाहयामास लङ्कां तां हस्त्यश्वरथरक्षसाम् ॥७५॥
वर्षन्तं शरजालानि सर्वदिक्षु घनो यथा ।
स भ्रात्रा मेघनादं तं घातयामास राघवः ॥७६॥

तत्पश्चात् इन्द्रजित् मन्त्रशक्तिसे प्राप्त हुए रथपर आरूढ़ हो समस्त वानरोंपर बाण-वृष्टि करने लगा। रात्रिके समय समस्त वानर-सेना तथा श्रीरामचन्द्रजीको मेघनादके बाणोंसे विद्ध हो सर्वथा निश्चेष्ट पड़े देख पवनकुमार हनूमान्जी जाम्बवान्के द्वारा प्रेरित हो अपने पराक्रमसे औषध ले आये। उन्होंने उस औषधके प्रभावसे भूमिपर पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी तथा वानरगणोंको उठाया और प्रज्वलित उल्का हाथमें लिये उन्हीं वानरोंके साथ रातमें जाकर हाथी, रथ और घोड़ोंसे युक्त राक्षसोंकी लङ्कामें आग लगा दी। तदनन्तर भगवान् रामने बादलके समान समस्त दिशाओंमें बाणोंकी वर्षा करते हुए मेघनादका अपने भाई लक्ष्मणके द्वारा वध करा दिया ॥ ७२–७६ ॥

घातितेष्वथ रक्षस्सु पुत्रमित्रादिबन्धुषु ।
कारितेष्वथ विघ्नेषु होमजप्यादिकर्मणाम् ॥७७॥
ततः क्रुद्धो दशग्रीवो लङ्काद्वारे विनिर्गतः ।
क्वासौ राम इति ब्रूते मानुषस्तापसाकृतिः ॥७८॥
योद्धा कपिबलीत्युच्चैर्व्याहरद्राक्षसाधिपः ।
वेगवद्भिर्विनीतैश्च अश्वैश्चित्ररथे स्थितः ॥७९॥

अथायान्तं तु तं दृष्ट्वा रामः प्राह दशाननम् ।
रामोऽहमत्र दुष्टात्मन्नेहि रावण मां प्रति ॥८०॥

इस प्रकार जब पुत्र-मित्रादि समस्त राक्षस-बन्धु मारे गये तथा होम-जप आदि अभिचार-कर्मोंमें वानरोंद्वारा विघ्न डाल दिया गया, तब कुपित हो दशशीश रावण वेगशाली सुशिक्षित अश्वोंसे युक्त विचित्र रथमें बैठकर लङ्काके द्वारपर निकल आया और कहने लगा—'तपस्वीका वेष बनाये वह मनुष्य राम कहाँ है, जो वानरोंके बलपर योद्धा बना हुआ है ?' राक्षसराज रावणने यह बात बड़े जोरोंसे कही। यह सुन भगवान् रामने दशानन रावणको आते देख उससे कहा—'दुष्टात्मा रावण ! मैं ही राम हूँ और यहाँ खड़ा हूँ, तू मेरी ओर चला आ' ॥ ७७-८० ॥

इत्युक्ते लक्ष्मणः प्राह रामं राजीवलोचनम् ।
अनेन रक्षसा योत्स्ये त्वं तिष्ठेति महाबल ॥८१॥
ततस्तु लक्ष्मणो गत्वा रुरोध शरवृष्टिभिः ।
विंशद्बाहुविसृष्टैस्तु शस्त्रास्त्रैर्लक्ष्मणं युधि ॥८२॥
रुरोध स दशग्रीवः तयोर्युद्धमभून्महत् ।
देवा व्योम्नि विमानस्था वीक्ष्य तस्थुर्महाहवम् ॥८३॥

उनके यों कहनेपर लक्ष्मणने कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'महाबल ! आप अभी ठहरें, मैं इस राक्षसके साथ युद्ध करूँगा।' तदनन्तर लक्ष्मणने आगे बढ़कर बाणोंकी वृष्टिसे रावणको ढक दिया। फिर दशग्रीव रावणने भी अपनी बीस भुजाओंद्वारा छोड़े हुए शस्त्रास्त्रोंसे लक्ष्मणको संग्राममें आच्छादित कर दिया। इस प्रकार उन दोनोंमें महान् युद्ध हुआ। विमानपर आरूढ़ देवतागण इस महान् संग्रामको देख [कौतूहलवश] आकाशमें स्थित हो गये ॥ ८१-८३ ॥

ततो रावणशस्त्राणिच्छित्त्वा स्वैस्तीक्ष्णसायकैः ।
लक्ष्मणः सारथिं हत्वा तस्याश्वानपि भल्लकैः ॥८४॥
रावणस्य धनुश्छित्त्वा ध्वजं च निशितैः शरैः ।
वक्षःस्थलं महावीर्यो विव्याध परवीरहा ॥८५॥
ततो रथान्निपत्याधः क्षिप्रं राक्षसनायकः ।
शक्तिं जग्राह कुपितो घण्टानादविनादिनीम् ॥८६॥
अग्निज्वालाज्वलज्जिह्वां महोल्कासदृशद्युतिम् ।
दृढमुष्ट्या तु निक्षिप्ता शक्तिः सा लक्ष्मणोरसि ॥८७॥
विदार्यान्तःप्रविष्टाथ देवास्त्रस्तास्ततोऽम्बरे ।
लक्ष्मणं पतितं दृष्ट्वा रुदद्भिर्वानरेश्वरैः ॥८८॥
दुःखितः शीघ्रमागम्य तत्पार्श्वं प्राह राघवः ।
क्व गतो हनुमान् वीरो मित्रो मे पवनात्मजः ॥८९॥
यदि जीवति मे भ्राता कथंचित्पतितो भुवि ।

तत्पश्चात् लक्ष्मणने अपने तीखे बाणोंद्वारा रावणके अस्त्र-शस्त्र काटकर उसके सारथिको मार डाला और भल्लनामक बाणोंसे उसके घोड़ोंको भी नष्ट कर दिया। फिर तीखे बाणोंसे रावणका धनुष और उसकी ध्वजा काटकर शत्रु-वीरोंका नाश करनेवाले महान् पराक्रमी लक्ष्मणजीने उसके वक्षःस्थलको बेध दिया। तब राक्षसराज रावण रथसे नीचे गिर पड़ा। किंतु शीघ्र ही उठकर कुपित हो उसने हाथमें शक्ति उठायी, जो सैकड़ों घड़ियालोंके समान आवाज करनेवाली थी। उसकी धार अग्निकी ज्वालाके समान प्रज्वलित थी तथा उसकी कान्ति महती उल्काके समान प्रतीत होती थी। उसने दृढ़तापूर्वक मुट्ठी बाँधकर उस शक्तिको लक्ष्मणकी छातीपर फेंका। वह शक्ति उनकी छाती छेदकर भीतर घुस गयी। इससे आकाशमें स्थित देवतागण भयभीत हो गये। लक्ष्मणको गिरा देख रोते हुए वानराधिपतियोंके साथ दुखी हो भगवान् श्रीराम शीघ्र ही उनके पास आये और कहने लगे—'मेरे मित्र पवनकुमार हनुमान् कहाँ चले गये ? पृथ्वीपर पड़ा हुआ मेरा भाई लक्ष्मण जिस-किसी प्रकार भी जीवित हो सके, वह उपाय होना चाहिये' ॥ ८४-८९½ ॥

इत्युक्ते हनुमान् राजन् वीरो विख्यातपौरुषः ॥९०॥
बद्ध्वाञ्जलिं बभाषेदं देवानुज्ञां स्थितोऽस्मि भोः ।

'राजन् ! उनके इस प्रकार कहनेपर, विख्यात पराक्रमी वीर हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—'देव ! आज्ञा दें, मैं सेवामें उपस्थित हूँ' ॥ ९०½ ॥

रामः प्राह महावीर विशल्यकरणी मम ॥९१॥
अनुजं विरुजं शीघ्रं कुरु मित्र महाबल ।

श्रीरामने कहा—महावीर ! मुझे 'विशल्यकरणी' ओषधि चाहिये । महाबली ! उसे लाकर मेरे भाईको शीघ्र ही नीरोग करो ॥ ९१½ ॥

ततो वेगात्समुत्पत्य गत्वा द्रोणगिरिं कपिः ॥९२॥
बद्ध्वा च शीघ्रमानीय लक्ष्मणं नीरुजं क्षणात् ।
चकार देवदेवेशां पश्यतां राघवस्य च ॥९३॥

तब हनुमान्‌जी बड़े वेगसे उछले और द्रोणगिरिपर जाकर शीघ्र ही वहाँसे दवा बाँधकर ले आये और उसका प्रयोग करके देवदेवेश्वरों तथा रामचन्द्रजीके देखते-देखते क्षणभरमें लक्ष्मणको नीरोग कर दिया ॥ ९२-९३ ॥

ततः क्रुद्धो जगन्नाथो रामः कमललोचनः ।
रावणस्य बलं शिष्टं हस्त्यश्वरथराक्षसम् ॥९४॥
हत्वा क्षणेन रामस्तु तच्छरीरं तु सायकैः ।
तीक्ष्णैर्जर्जरितं कृत्वा तस्थिवान् वानरैर्वृतः ॥९५॥
अस्तचेष्टो दशग्रीवः संज्ञां प्राप्य शनैः पुनः ।
उत्थाय रावणः क्रुद्धः सिंहनादं ननाद च ॥९६॥
तन्नादश्रवणैर्व्योम्नि वित्रस्तो देवतागणः ।

तदनन्तर जगदीश्वर कमलनयन श्रीराम बहुत ही कुपित हुए और रावणकी बची हुई सेनाको हाथी, घोड़े, रथ तथा राक्षसोंसहित क्षणभरमें मार गिराया । उन्होंने तीखे बाणोंसे रावणका शरीर जर्जर कर दिया और रणभूमिमें वानरोंसे घिरे हुए खड़े रहे । रावण निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा । फिर धीरे-धीरे होशमें आनेपर वह उठकर कुपित हो सिंहनाद करने लगा । उसकी गर्जना सुनकर आकाशवर्ती देवतालोग दहल गये ॥ ९४–९६½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रामं प्राप्य महामुनिः ॥९७॥
रावणे बद्धवैरस्तु अगस्त्यो वै जयप्रदम् ।
आदित्यहृदयं नाम मन्त्रं प्रादाज्जयप्रदम् ॥९८॥
रामोऽपि जप्त्वा तन्मन्त्रमगस्त्योक्तं जयप्रदम् ।
तद्दत्तं वैष्णवं चापमतुलं सद्गुणं दृढम् ॥९९॥
पूजयित्वा तदादाय सज्यं कृत्वा महाबलः ।
सौवर्णपुङ्खैस्तीक्ष्णैस्तु शरैर्मर्मविदारणैः ॥१००॥
युयुधे राक्षसेन्द्रेण रघुनाथः प्रतापवान् ।

इसी समय रावणके प्रति वैर बाँधे महामुनि अगस्त्य श्रीरामचन्द्रजीके पास आये और शत्रुओंपर विजय दिलानेवाले 'आदित्यहृदय' नामक स्तोत्र-मन्त्रका उपदेश किया । महाबली श्रीरामचन्द्रजीने भी अगस्त्यमुनिके बताये हुए उस विजयदायक मन्त्रका जप करके उनके द्वारा अर्पित किये गये उत्तम डोरीवाले, सुदृढ़ एवं अनुपम वैष्णव-धनुषको सादर ग्रहण किया और उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी । फिर प्रतापी रघुनाथजी शत्रुओंका मर्म-भेदन करनेमें समर्थ सोनेकी पाँखवाले तीक्ष्ण बाणोंद्वारा राक्षसराज रावणके साथ युद्ध करने लगे ॥९७–१००½ ॥

तयोस्तु युध्यतोस्तत्र भीमशक्त्योर्महामते ॥१०१॥
परस्परविसृष्टस्तु व्योम्नि संवर्द्धितोऽनलः ।
समुत्थितो नृपश्रेष्ठ रामरावणयोर्युधि ॥१०२॥
संगरे वर्तमाने तु रामो दाशरथिस्तदा ।
पदातिर्युयुधे वीरो रामोऽनुक्तपराक्रमः ॥१०३॥
सहस्राश्वयुतं दिव्यं रथं मातलिमेव च ।
प्रेषयामास देवेन्द्रो महान्तं लोकविश्रुतम् ॥१०४॥
रामस्तं रथमारुह्य पूज्यमानः सुरोत्तमैः ।
मातल्युक्तोपदेशस्तु रामचन्द्रः प्रतापवान् ॥१०५॥
ब्रह्मदत्तवरं दुष्टं ब्रह्मास्त्रेण दशाननम् ।
जघान वैरिणं क्रूरं रामदेवः प्रतापवान् ॥१०६॥

महामते ! नृपश्रेष्ठ ! उन दोनों भयंकर शक्तिवाले श्रीराम और रावणके परस्पर युद्ध करते समय एक-दूसरेपर छोड़ी हुई अग्निकी ज्वाला उठ-उठकर वहाँ आकाशमें फैलने लगी । इस वर्तमान संग्राममें अवर्णनीय पराक्रमवाले वीर दशरथ-नन्दन श्रीराम पैदल ही युद्ध कर रहे थे । यह देख देवराज इन्द्रने अपने सारथि मातलिसहित एक महान् लोकविख्यात दिव्य रथ भेजा, जिसमें एक हजार घोड़े जुते थे । प्रतापी श्रीरामचन्द्रजी श्रेष्ठ देवोंद्वारा प्रशंसित होकर उस रथपर

आरूढ़ हुए और मातलिके उपदेशसे उस दुष्ट दशाननका, जिसे ब्रह्माजीने वरदान दिया था, ब्रह्मास्त्रद्वारा वध किया। इस प्रकार प्रतापी भगवान् श्रीरामने अपने क्रूर वैरी रावणका संहार किया ॥ १०१-१०६ ॥

रामेण निहते तत्र रावणे सगणे रिपौ ।
इन्द्राद्या देवताः सर्वाः परस्परमथाब्रुवन् ॥१०७॥
रामो भूत्वा हरिर्यस्मादस्माकं वैरिणं रणे ।
अन्यैरवध्यमप्येनं जघान युधि रावणम् ॥१०८॥
तस्मात्तं रामनामानमनन्तमपराजितम् ।
पूजयामोऽवतीर्यैनमित्युक्त्वा ते दिवौकसः ॥१०९॥
नानाविमानैः श्रीमद्भिरवतीर्य महीतले ।
रुद्रेन्द्रवसुचन्द्राद्या विधातारं सनातनम् ॥११०॥
विष्णुं जिष्णुं जगन्मूर्तिं सानुजं राममव्ययम् ।
तं पूजयित्वा विधिवत्परिवार्योपतस्थिरे ॥१११॥

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा शत्रु रावणका उसके गणोंसहित वध हो जानेपर इन्द्र आदि सभी देवता परस्पर कहने लगे—"साक्षात् भगवान् विष्णुने ही श्रीरामावतार लेकर हमारे वैरी रावणका, जो दूसरोंके लिये अवध्य था, युद्धमें वध किया है। इसलिये हमलोग आकाशसे उतरकर इन अनन्त पराक्रमी तथा किसीसे भी पराजित न होनेवाले 'श्रीराम' नामक परमेश्वरकी पूजा करें।" ऐसी सम्मति करके वे रुद्र, इन्द्र, वसु और चन्द्र आदि देवतागण अनेक कान्तिमान् विमानोंद्वारा पृथ्वीपर उतरे। वे जगत्के रचयिता, विश्वमूर्ति, सनातन पुरुष, विजयशील भगवान् विष्णुके स्वरूपभूत अविनाशी परमात्मा श्रीरामका लक्ष्मणसहित विधिवत् पूजन करके उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ १०७-१११ ॥

रामोऽयं दृश्यतां देवा लक्ष्मणोऽयं व्यवस्थितः ।
सुग्रीवो रविपुत्रोऽयं वायुपुत्रोऽयमास्थितः ॥११२॥
अङ्गदाद्या इमे सर्वे इत्यूचुस्ते दिवौकसः ।
गन्धामोदितदिक्चक्रा भ्रमरालिपदानुगा ॥११३॥
देवस्त्रीकरनिर्मुक्ता राममूर्धनि शोभिता ।
पपात पुष्पवृष्टिस्तु लक्ष्मणस्य च मूर्धनि ॥११४॥

सब देवता परस्पर कहने लगे—'देवगण! देखो—ये श्रीरामचन्द्रजी हैं, ये लक्ष्मणजी खड़े हैं, ये सूर्यनन्दन सुग्रीव हैं, ये वायुनन्दन हनुमान्जी खड़े हैं और ये अङ्गद आदि सभी वानर वीर विराजमान हैं।' तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणके मस्तकपर देवाङ्गनाओंके हाथसे छोड़े गये फूलोंकी वर्षा हुई। उस समय वहाँकी सब दिशाएँ उन दिव्य पुष्पोंकी सुगन्धसे सुवासित हो रही थीं और उन पुष्पोंपर भ्रमरगण मँड़रा रहे थे ॥ ११२-११४ ॥

ततो ब्रह्मा समागत्य हंसयानेन राघवम् ।
अमोघाख्येन स्तोत्रेण स्तुत्वा राममथोचत ॥११५॥

तदनन्तर ब्रह्माजी हंसकी सवारीसे वहाँ आये और 'अमोघ' नामक स्तोत्रसे भगवान् श्रीरामकी स्तुति करके तब उनसे बोले ॥ ११५ ॥

ब्रह्मोवाच

त्वं विष्णुरादिर्भूतानामनन्तो ज्ञानदृक्प्रभुः ।
त्वमेव शाश्वतं ब्रह्म वेदान्ते विदितं परम् ॥११६॥
त्वया यदद्य निहतो रावणो लोकरावणः ।
तदाशु सर्वलोकानां देवानां कर्म साधितम् ॥११७॥

ब्रह्माजीने कहा—आप समस्त प्राणियोंके आदिकारण, अविनाशी, ज्ञानदृष्टि भगवान् विष्णु हैं; आप ही वेदान्त-विख्यात सनातन परब्रह्म हैं। आपने आज जो सम्पूर्ण लोकोंको रुलानेवाले रावणका वध किया है, इससे समस्त लोकों तथा देवताओंका भी कार्य सद्यःसिद्ध हो गया ॥ ११६-११७ ॥

इत्युक्ते पद्मयोनौ तु शंकरः प्रीतिमास्थितः ।
प्रणम्य रामं तस्मै तं भूयो दशरथं नृपम् ॥११८॥
दर्शयित्वा गतो देवः सीता शुद्धेति कीर्तयन् ।

ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेके पश्चात् भगवान् शंकरने भी पहले श्रीरामचन्द्रजीको प्रेमपूर्वक प्रणाम किया। फिर उन्हें राजा दशरथका दर्शन कराया। उसके बाद यह कहकर

कि 'श्रीसीताजी निष्कलङ्क और शुद्ध चरित्रवाली हैं'— भगवान् शंकर चले गये ॥ ११८½ ॥

ततो बाहुबलप्राप्तं विमानं पुष्पकं शुभम् ॥११९॥
पूतामारोप्य सीतां तामादिष्टः पवनात्मजः ।
ततस्तु जानकीं देवीं विशोकां भूषणान्विताम् ॥१२०॥
वन्दितां वानरेन्द्रैस्तु सार्धं भ्रात्रा महाबलः ।
प्रतिष्ठाप्य महादेवं सेतुमध्ये स राघवः ॥१२१॥
लब्धवान् परमां भक्तिं शिवे शम्भोरनुग्रहात् ।
रामेश्वर इति ख्यातो महादेवः पिनाकधृक् ॥१२२॥
तस्य दर्शनमात्रेण सर्वहत्यां व्यपोहति ।

तदनन्तर पवित्रात्मा सीताजीको अपने बाहुबलसे प्राप्त सुन्दर पुष्पक-विमानपर चढ़ाकर भगवान्ने हनुमान्जीको चलनेका आदेश दिया। तब समस्त वानरेन्द्रोंद्वारा वन्दित शोकरहित जानकीदेवीको आभूषणोंसे विभूषितकर महाबली रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणके साथ चले। लौटती बार श्रीरामचन्द्रजीने समुद्रके पुलपर महादेवजीकी स्थापना की और शंकरजीकी कृपासे उन्होंने उन शिवजीमें परमभक्ति प्राप्त की। वहाँ स्थापित हुए पिनाकधारी महादेवजी 'रामेश्वर' नामसे विख्यात हुए। उनके दर्शनमात्रसे शिवजी सब प्रकारके हत्यादि दोषोंको दूर कर देते हैं ॥११९—१२२½॥

रामस्तीर्णप्रतिज्ञोऽसौ भरतासक्तमानसः ॥१२३॥
ततोऽयोध्यां पुरीं दिव्यां गत्वा तस्यां द्विजोत्तमैः ।
अभिषिक्तो वसिष्ठाद्यैर्भरतेन प्रसादितः ।
अकरोद्धर्मतो राज्यं चिरं रामः प्रतापवान् ॥१२४॥
यज्ञादिकं कर्म निजं च कृत्वा
पौरैस्तु रामो दिवमारुरोह ।
राजन्मया ते कथितं समासतो
रामस्य भूम्यां चरितं महात्मनः ।
इदं सुभक्त्या पठतां च शृण्वतां
ददाति रामः स्वपदं जगत्पतिः ॥१२५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे रामप्रादुर्भावे द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजी अपना चित्त भरतजीकी ओर लगा रहनेके कारण वहाँसे दिव्यपुरी अयोध्याको गये। फिर भरतजीके मनानेपर श्रीरामचन्द्रजीने वसिष्ठ आदि उत्तम ब्राह्मणोंके द्वारा अपना राज्याभिषेक कराया। तत्पश्चात् प्रतापी भगवान् श्रीरामने चिरकालतक धर्मपूर्वक राज्य किया तथा राजोचित यागादि कर्मोंका अनुष्ठान करके वे पुरवासीजनोंके साथ ही स्वर्गलोक (साकेतधाम) को चले गये। राजन् ! पृथ्वीपर महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके किये हुए चरित्रोंका मैंने तुमसे संक्षेपतः वर्णन किया। जो लोग इसको भक्तिपूर्वक पढ़ते और सुनते हैं, उन्हें जगत्पति भगवान् श्रीराम अपना धाम प्रदान करते हैं ॥ १२३—१२५ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीरामावतारकी कथाविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी 'कल्याण'के विशेषाङ्कके प्रकाशनमें अत्यधिक विलम्ब हो गया, जिसके लिये मनमें बड़ी ग्लानि और दुःखका अनुभव हो रहा है। 'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको इस विलम्बके कारण मानसिक क्लेश, क्षोभ, विरक्ति एवं झुँझलाहट होना स्वाभाविक है। 'कल्याण'के प्रेमी पाठक सदा ही हमपर कृपा और छोह रखते आये हैं। उन्हींकी सहज दयालुताके बलपर हम आशा करते हैं कि इस बार भी वे कृपापूर्वक हमें इसके लिये क्षमा करेंगे। साधारण अङ्कोंके प्रकाशनमें भी इस वर्ष बड़ी गड़बड़ी रही। विशेषाङ्कके प्रकाशनमें इसका भी कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। इस असाधारण विलम्बका मुख्य हेतु तो हमारे प्रधान सम्पादक भाई श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारकी अस्वस्थता ही है। गत वर्षसे ही उनका स्वास्थ्य गड़बड़ रहा। पिछले नवंबर माससे वह और अधिक खराब हो गया और इधर एक माससे तो विशेष चिन्तनीय हो गया है। भगवान् सब मङ्गल करेंगे।

इस अङ्कमें अग्निपुराणके शेष एक सौ तिरासी अध्यायों तथा श्रीगर्गसंहिताके अन्तिम अश्वमेधखण्डके बासठ एवं गर्ग-संहितामाहात्म्यके चार अध्यायोंका अनुवाद देनेकी बात थी। सोचा गया था कि इसीमें विशेषाङ्कके ७०० पृष्ठ पूरे हो जायँगे। परंतु हम लोगोंका अनुमान ठीक नहीं निकला। अङ्ककी छपाईके बीचमें पता चला कि उक्त दोनों ग्रन्थोंके अवशिष्ट अंशका अनुवाद लगभग ५०० पृष्ठोंमें ही पूरा हो जायगा, शेष दो सौ पृष्ठोंकी पूर्तिके लिये कुछ और सामग्री देनी आवश्यक होगी। सौभाग्यसे हमारे पास श्रीनरसिंहपुराणका अनुवाद पहलेका किया हुआ तैयार था। नरसिंहपुराणकी गणना कुछ लोगोंके मतसे अठारह पुराणोंमें है और वैष्णव-जगत्‌में उसकी बड़ी मान्यता है। उसमें अन्य पुराणोंकी भाँति सृष्टि, प्रलय, मन्वन्तरोंका वर्णन तथा प्रसिद्ध राजवंशोंके संक्षिप्त वर्णन, वर्णाश्रमधर्मनिरूपण तथा कलियुगका वर्णन आदि-आदि प्रसङ्गोंके साथ-साथ चिरंजीवी मार्कण्डेय मुनिके दिव्य चरित्र तथा भगवान् विष्णुके विभिन्न अवतार-चरित्रोंका बड़ा ही मनोरम वर्णन है, जिसके अनुशीलनसे मनमें पवित्रता आती है और भगवच्चिन्तनमें सहायता मिलती है। परंतु नरसिंहपुराण बहुत छोटा ग्रन्थ है। उसका अविकल अनुवाद देनेपर भी विशेषाङ्ककी सामग्री पूरी नहीं होती। इसलिये उसका मूल भी बड़े टाइपमें देनेकी बात सोची गयी। नरसिंहपुराणका प्रचार बहुत कम होनेसे उसका प्रामाणिक पाठ भी नहीं मिलता। इसलिये भी मूल पाठ साथ देना आवश्यक समझा गया। किंतु पूरा अनुवाद मूलसहित विशेषाङ्कमें देना सम्भव नहीं था। पूरा अनुवाद देनेसे अङ्कका आकार ७०० पृष्ठोंसे अधिक हो जाता, फलतः डाकखर्च अधिक बढ़ जाता। डाक-विभागके नियमानुसार विशेषाङ्कका बोझ एक किलोग्रामसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिक होनेपर डाकखर्च अधिक देना पड़ता है। अतएव नरसिंहपुराणके केवल ५२ अध्यायोंका मूल एवं अनुवाद ही इस अङ्कमें दिया जा रहा है। शेष १६अध्यायोंका मूल एवं अनुवाद फरवरीके अङ्कमें देनेका विचार है, जो इस अङ्कका परिशिष्टाङ्क होगा। किंतु परिशिष्टाङ्कमें तो आठ फर्मोंसे अधिक दिया नहीं जा सकता। इसलिये मैटर पूरा करनेके लिये विशेषाङ्कमें ही पन्ने बढ़ाने पड़े। इधर कागजकी कमीके कारण कागज भी कुछ मोटा देना पड़ा, इसका परिणाम यह हुआ कि विशेषाङ्कका बोझ न चाहनेपर भी एक किलोसे अधिक हो ही गया, जिसके कारण अङ्कके बाहर भेजनेमें डाकखर्च बढ़ जायगा। देर हो जानेके कारण फरवरीका अङ्क भी साथ ही जा रहा है।

अग्निपुराणका जो अंश इस अङ्कमें दिया गया है, उसमें पुराणोंके अन्य विषयोंके साथ-साथ विविध दानोंके स्वरूप तथा महिमा, राजधर्म, शकुन-विचार, राजनीति, रत्नपरीक्षण, धनुर्वेद एवं युद्धविद्या, अर्थशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, देवपूजा, आयुर्वेद एवं पशुचिकित्सा आदि-आदि उपयोगी विषयोंके साथ, जिनका ज्ञान इस युगमें भारतीय संस्कृतिके साथ-साथ लुप्त होता जा रहा है, छन्दःशास्त्र (जिसमें लौकिक छन्दोंके साथ-साथ वैदिक छन्दोंका भी विशद वर्णन है)

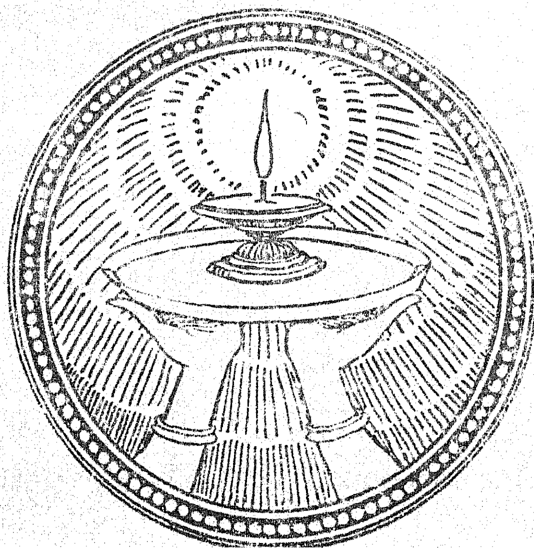
शिक्षा, काव्य-साहित्य-मीमांसा, व्याकरण, योगदर्शन आदि विविध शास्त्रोंका भी संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक वर्णन है, जिसको पढ़कर साधारण पढ़े-लिखे लोगोंको भी इन विषयोंका सामान्य ज्ञान सुलभ हो जाता है । इन अंशोंका अनुवाद करनेमें भी उक्त विषयोंके अन्यान्य ग्रन्थों एवं मनीषियोंकी सहायता ली गयी है, जिसके लिये हम उन विद्वानोंके प्रति आभार-प्रदर्शन करते हैं। नरसिंहपुराणका सम्पादन एवं अनुवाद भी हमारे आत्मीय तथा कल्याण-पाठकोंके सुपरिचित साहित्याचार्य पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) का ही किया हुआ है, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं। पाठसंशोधन एवं अनुवादमें भरसक पूरी सावधानी बरतनेपर भी दृष्टिदोषके कारण त्रुटियोंका रह जाना सम्भव है । उनके लिये हम पाठकोंसे करबद्ध क्षमा-याचना करते हैं ।

'कल्याण'का काम वास्तवमें भगवान्‌का काम है। हम लोग तो निमित्तमात्र हैं । हमें तो इस कार्यके करनेमें अनायास जो थोड़ी-बहुत भगवत्स्मृति हो जाती है, वही हमारे लिये परम लाभ है और इसे हम भगवान्‌की कृपा मानते हैं। त्रुटियोंके लिये दोषी हम हैं और उनके लिये तथा अन्य अपराधोंके लिये हम पाठकोंसे बार-बार क्षमा-प्रार्थना करते हैं ।

संसारके अन्य देशोंकी भाँति भारत भी पाश्चात्त्य सभ्यताकी चकाचौंधमें आकर अपने वास्तविक लक्ष्यको भूलता जा रहा है और क्रमशः भोगप्राप्तिको ही जीवनका ध्येय मानकर तथा अनेक भ्रान्तवादोंका शिकार बनकर विपथगामी हो रहा है। यदि इस विशेषाङ्कके अध्ययनसे हमारे देशवासियोंको मनुष्यजीवनके वास्तविक ध्येयको हृदयंगम करने तथा उसकी ओर बढ़नेमें कुछ भी सहायता मिली तो इसे हम अपना सौभाग्य मानेंगे। भगवान् सबको सुबुद्धि दें ।

निवेदक—

चिम्मनलाल गोस्वामी, सम्पादक



श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

हिंदूवाङ्मयके दिव्यतम रत्न हैं—श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस, जिनमें श्रेय-प्रेयका पूर्ण विवेचन है। ये वास्तवमें सार्वभौम तथा सर्वकल्याणकारी पवित्र ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंका आश्रय लेनेसे लोक, परलोक और परमार्थ—सभी सुधरते हैं। भारत ही नहीं, भारतके बाहर भी इन ग्रन्थोंकी गौरवपूर्ण तथा मङ्गलमयी श्रेष्ठताका समादर है। इन ग्रन्थोंका दिव्यालोक जन-जनतक पहुँच सके तथा उनकी जागतिक या आध्यात्मिक उन्नतिके पथको आलोकित किया जा सके, एतदर्थ गीता और रामायण-परीक्षाकी व्यवस्था की गयी थी। परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र पुरस्कृत भी होते हैं। सैकड़ों स्थानोंपर परीक्षा-केन्द्र हैं। विशेष विवरणकी जानकारी नियमावलीसे हो सकती है। परीक्षा-सम्बन्धी सभी बातोंकी जानकारीके लिये नीचे लिखे पतेपर पत्र-व्यवहार करें—

व्यवस्थापक—गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश होकर) जनपद पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

उसी मानवका जीवन श्रेष्ठ है, जो भगवत्परायणता, दैवीसम्पत्तिके गुण, सदाचार, आस्तिकता और सात्त्विकतासे सम्पन्न है। मानवमात्रका जीवन ऐसे दिव्य भावोंसे परिपूर्ण हो, एतदर्थ 'साधक-संघ' की स्थापना की गयी। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्णका या आश्रमका हो, नारी या पुरुष हो, हिंदू या अहिंदू हो, बिना कोई शुल्क दिये इस संघका सदस्य बन सकता है। इस संघके सदस्यको कुल २८ नियमोंका पालन करना होता है, जिसका स्पष्टीकरण एक प्रपत्रपर छपा है। प्रत्येक सदस्यको ३० पैसे मनीआर्डरसे अथवा डाकटिकटके रूपमें भेजकर 'साधक-दैनंदिनी' मँगवा लेनी चाहिये तथा प्रतिदिन उसमें नियमपालनका विवरण लिख लेना चाहिये। इस संघके सदस्योंका यह एक अनुभूत तथ्य है कि जो श्रद्धा एवं तत्परतापूर्वक नियम-पालनमें संलग्न रहता है, उसके जीवनका स्तर श्रेष्ठसे श्रेष्ठतर होता चला जाता है। इस समय इसके लगभग दस हजार (१०,०००) सदस्य हैं। लोगोंको स्वयं इसका सदस्य बनना तथा अपने सगे-सम्बन्धियों-स्वजनों-सुपरिचितोंको सदस्य बनाना चाहिये। इससे सम्बन्धित किसी भी प्रकारका पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये—संयोजक, साधक-संघ, पत्रालय—गीतावाटिका, जनपद गोरखपुर (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस हिंदूसमाजके ऐसे दिव्य ग्रन्थ-रत्न हैं, जिनके अध्ययनसे तथा प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंके मननसे अन्तरमें अचिन्त्य अलौकिक ज्योति प्रस्फुटित हो उठती है। एक ओर व्यक्तिका व्यक्तिगत जीवन समुन्नत होता है तो दूसरी ओर समाजका सम्पूर्ण वातावरण श्रेष्ठ गुणोंसे सुवासित होता है। आजके तमसाच्छन्न समाजमें तो ऐसे दिव्य ग्रन्थोंके अधिकाधिक पाठ और स्वाध्यायकी आवश्यकता है, जिससे इनके आदर्शोंका अधिकाधिक प्रचार हो तथा उनकी जन-मानसमें प्रतिष्ठा हो। इसी उद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना हुई। इसके सदस्यको नियमितरूपसे गीता और मानसका पाठ-स्वाध्याय करना होता है। गत वर्ष सदस्योंकी संख्या ५५,००० से अधिक थी। इस संस्थाके द्वारा श्रीगीताके ६ प्रकारके और श्रीरामायणके ३ प्रकारके एवं उपासना-विभागमें नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी या मानसिक पूजा करनेवाले सदस्य बनाकर श्रीगीता और श्रीरामायणके अध्ययन एवं उपासनाके लिये प्रेरणा की जाती है। विशेष जानकारीके लिये पत्रव्यवहार करना चाहिये। पता इस प्रकार है—

मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, 'गीताभवन', पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश होकर) जनपद पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

संक्षिप्त महाभारत

[दो खण्डोंमें—केवल हिंदी-अनुवाद]

आकार २०×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १६९४, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य दोनों खण्डोंका एक साथ बीस (२०.००) रुपये, कमीशन १.२५, बाकी १८.७५, डाकखर्च ४.००, कुल २२.७५।

महाभारतका भारतीय वाङ्मयमें बहुत ऊँचा तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे पञ्चम वेद भी कहते हैं। धर्मके तो प्रायः सभी अङ्गोंका इसमें वर्णन है। वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, श्राद्धधर्म, स्त्रीधर्म, मोक्षधर्म आदि विविध धर्मोंका शान्तिपर्व एवं अनुशासनपर्वमें भीष्मजीके द्वारा बहुत विशद वर्णन किया गया है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम ग्रन्थ, जिसे सारा जगत् आदरकी दृष्टिसे देखता है और जिसे हम विश्वसाहित्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी, इसी महाभारतमें है। इस प्रकार जिस ओरसे भी हम महाभारतपर दृष्टिपात करते हैं, उसे हम परमोपयोगी ही पाते हैं।

इसी भावनासे प्रेरित होकर आजसे २८ वर्ष पूर्व 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें तथा आगेके ग्यारह अङ्कोंमें महाभारतका संक्षिप्त अनुवाद छापा गया था। यद्यपि उसके बाद सम्पूर्ण महाभारत मूल तथा हिंदी-अनुवादसहित कई खण्डोंमें निकाला गया, जिसका जनताने भी अत्यन्त समादर किया; तथापि आकार बृहत् और मूल्य अधिक होनेके कारण वह सर्वसाधारणके लिये सुलभ न था। इसलिये इस संक्षिप्त महाभारतके लिये जनताकी माँग बनी रही। भगवत्कृपासे इसे दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया है। इसके प्रथम खण्डमें आदिपर्वसे लेकर द्रोणपर्वतक सात और द्वितीय खण्डमें कर्णपर्वसे लेकर स्वर्गारोहण पर्वतक ग्यारह पर्व हैं। दोनों खण्ड एक साथ तथा पृथक्-पृथक् भी प्राप्त हो सकते हैं। आशा है, जनता इसे पूर्ववत् अपनाकर लाभ उठायेगी।

श्रीशुक-सुधा-सागर

आकार २२×२९=आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १३६०, रंगीन चित्र २०, कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य २५.००, बाद कमीशन १.५५, बाकी २३.४५, डाकखर्च १३.८०, कुल ३७.२५।

श्रीमद्भागवत भारतीय वाङ्मयका मुकुटमणि है। वैष्णवोंका तो यह सर्वस्व ही है। साक्षात् भगवान्के कलावतार श्रीवेदव्यासजी-जैसे अद्वितीय महापुरुषको जिसकी रचनासे शान्ति मिली, उस श्रीमद्भागवतकी महिमा कहाँतक कही जाय। इसमें प्रेम, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य—सभी कूट-कूटकर भरे हैं। इसका एक-एक श्लोक मन्त्रवत् माना जाता है। इसीसे इसका धर्मप्राण जनतामें इतना आदर है।

जो लोग संस्कृतसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, उनकी सुविधाके लिये श्रीमद्भागवतका केवल भाषानुवाद 'श्रीभागवत-सुधा-सागर'के नामसे अलग छापा गया था, जिसे जनताने बहुत पसंद किया। यद्यपि उसका टाइप बहुत छोटा नहीं था, तथापि वयोवृद्ध लोगोंके आग्रहवश इसी भाषानुवादको मोटे टाइपोंमें तथा बृहत् आकारमें 'श्रीशुकसुधासागर'के नामसे प्रकाशित किया गया है, जो पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है। आशा है, इससे धार्मिक जनताकी बहुत बड़ी माँग पूरी हो सकेगी।

श्रीरामचरितमानसका बृहदाकार मूल संस्करण

यह संस्करण हमारे सटीक १८.०० रुपयेवाले संस्करणका ही मूलमात्र निकाला गया है। वही आकार है। २२×२९ इंच, चारपेजी, पृष्ठ-संख्या ५६०, चित्र बहुरंगे ८, सजिल्द, नवाह्नपारायण एवं मासपारायणके विश्राम-स्थलोंसहित है। मूल्य केवल ११.०० रुपये, बाद कमीशन ०.७० पैसे, बाकी १०.३०, डाक-खर्च-पैकिंगचार्ज ३.५०, कुल लागत १३.८० है। लोगोंकी बहुत दिनोंकी माँग इस तरह पूरी की जा रही है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्सङ्गकी सूचना

गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सदाकी भाँति इस वर्ष भी सत्सङ्गका आयोजन होने जा रहा है । आगामी चैत्र शुक्ला पूर्णिमाके आसपास स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके पहुँच जानेकी बात है । दुःखकी बात यह है कि हमारे परम श्रद्धेय भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) इस जगत्में नहीं रहे, गत वर्ष भी वे अस्वस्थ होनेके कारण सत्सङ्गमें सम्मिलित नहीं हो पाये थे । इस वर्ष तो उनका शरीर छूट जानेके कारण (जिसकी सूचना) अलग दी जा रही है—सत्सङ्गी भाई-बहन उनके पावन एवं कल्याणकारी उपदेशोंसे सदाके लिये वञ्चित हो रहे हैं । अन्य साधु-महात्माओंके पधारनेकी सम्भावना तो है ही ।

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रीसेठजीने इस सत्सङ्गका आयोजन इसीलिये किया था कि अध्यात्म-पथके सच्चे पथिक भगवती भागीरथीके पावन तटपर संत-महात्माओंकी पवित्र संनिधिमें रहते हुए अपने जीवनको साधन-निष्ठ बना सकें तथा भगवान्के मार्गपर अग्रसर हो सकें । स्वर्गाश्रमस्थित गीताभवन ऐश-आराम, जलवायु-परिवर्तन या विनोद-विहारकी स्थली नहीं है । अतः इस सत्सङ्गमें भाग लेनेवाले भाई-बहनोंसे यह विनीत प्रार्थना है कि गीताभवनमें रहते समय वे साधक-जीवन व्यतीत करें, व्यवहार तथा दिनचर्यामें संयम-नियमको महत्त्व दें, सत्सङ्गमें उपस्थित होकर लाभ उठायें तथा अपने भजनयुक्त साधकोचित आचारसे गीताभवनके वातावरणकी श्रेष्ठताको बनाये रक्खें ।

स्वर्गाश्रममें नौकर-रसोइया नहीं मिलते, अतः लोगोंको आवश्यकतानुसार नौकर-रसोइया साथ लाने चाहिये । वहाँ यथाशक्ति व्यवस्था रखनेके बाद भी चोरी हो जाती है, अतः गहने आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं लानी चाहिये । स्त्रियोंको पीहर या ससुरालवालोंके अथवा अन्य किन्हीं सम्बन्धीके साथ ही वहाँ जाना चाहिये, अकेली नहीं । भरसक बालकोंको साथ नहीं लाना चाहिये । बालकोंके कारण बड़ी अव्यवस्था होती है तथा सत्सङ्गमें विघ्न होता है । सर्वथा लाचारी हो तो वे ही लोग बच्चोंको साथ ले जायँ, जो अपने डेरेपर उन्हें अलग रखनेकी व्यवस्था कर सकते हों ।

भीड़के बढ़ जानेपर कभी-कभी स्थानकी इतनी तंगी हो जाती है कि एक कमरेमें दो-दो या तीन-तीन परिवार ठहराने पड़ते हैं । सभी भाइयोंसे प्रार्थना है कि ऐसी स्थितिमें सहयोग-सहिष्णुता, सेवा-सद्भावपूर्वक साथ-साथ रहते हुए सत्सङ्गका लाभ उठायें ।

यद्यपि कठिनाई बहुत है, फिर भी सत्सङ्गी भाइयोंके खान-पानके शुद्ध सामानके प्रबन्धकी चेष्टा की जा रही है; परंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत ही कठिन है—यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेम, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल० १७५

कलियुग किसको पीड़ित नहीं करता ?

यस्य भावोऽखिलं विष्णुस्तस्य नो बाधते कलिः ।
अनिष्ट्वा तु महायज्ञानकृत्वापि पितृस्वधाम् ॥
कृष्णमभ्यर्चयन् भक्त्या नैनसो भाजनं भवेत् ।
सर्वकारणमत्यन्तं विष्णुं ध्यायन्न सीदति ॥
अन्यतन्त्रादिदोषोत्थो विषयाकृष्टमानसः ।
कृत्वापि पापं गोविन्दं ध्यायन् पापैः प्रमुच्यते ॥
तद्ध्यानं यत्र गोविन्दः सा कथा यत्र केशवः ।
तत्कर्म यत्तदर्थीयं किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥

(अग्निपुराण ३८३ । ५-८)

'यह सब कुछ विष्णु ही है'—ऐसा जिसका भाव हो, उसे कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता । बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान और पितरोंका श्राद्ध न करके भी यदि मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णका पूजन करे, तो वह पापका भागी नहीं होता । विष्णु सबके कारण हैं । उनका निरन्तर ध्यान करनेवाला पुरुष कभी कष्टमें नहीं पड़ता । यदि परतन्त्रता आदि दोषोंसे प्रभावित होकर तथा विषयोंके प्रति चित्त आकृष्ट हो जानेके कारण मनुष्य पाप-कर्म कर बैठे, तो भी गोविन्दका ध्यान करके वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । दूसरी-दूसरी बहुत-सी बातें बनानेसे क्या लाभ ? 'ध्यान' वही है, जिसमें गोविन्दका चिन्तन होता हो, 'कथा' वही है, जिसमें केशवका कीर्तन हो रहा हो और 'कर्म' वही है, जो श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किया जाय ।

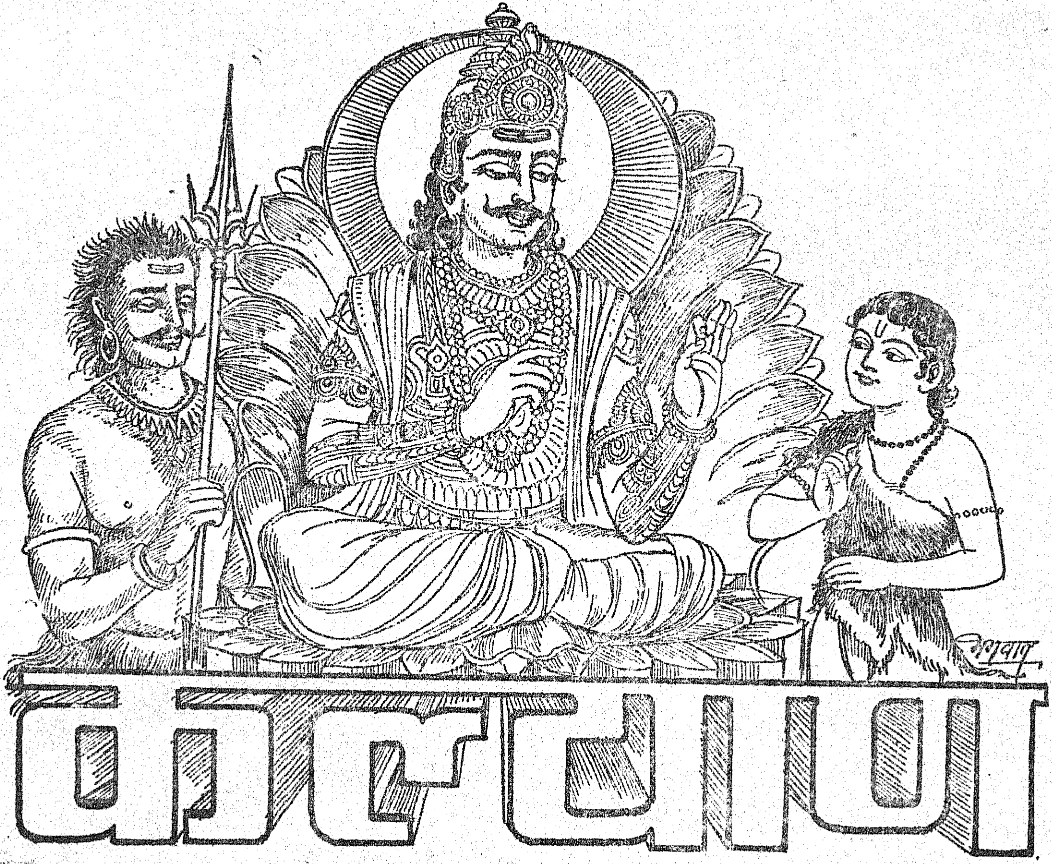


वर्ष ४५] परिशिष्टाङ्क [अङ्क २



समुद्रतटपर भगवान्‌की गोदमें प्रह्लाद [नरसिंहपुराण, अ० ४३

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६, फरवरी १९७१ { संख्या २
पूर्ण संख्या ५३१

भगवान्‌की गोदमें स्थित प्रह्लादकी प्रार्थना

त्वद्दर्शनामृतास्वादादन्तरात्मा न तृप्यति ॥
ब्रह्मादिदेवैर्दुर्लक्ष्यं त्वामेव पश्यतः प्रभो ।
तृप्तिं नैष्यति मे चित्तं कल्पायुतशतैरपि ॥
नैवमेतद्व्यतृप्तस्य त्वां दृष्ट्वान्यद्वृणोति किम् ।

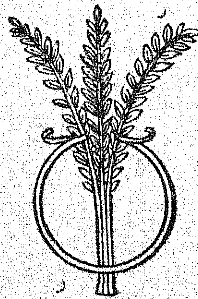
(नरसिंह० ४३ । ७४–७५½)

प्रह्लाद कहते हैं—मेरा मन आपके दर्शनरूपी अमृतका आस्वादन करनेसे तृप्त नहीं हो रहा है । प्रभो ! ब्रह्मादि देवताओंके लिये भी जिनका दर्शन पाना कठिन है, ऐसे आपका दर्शन करते हुए मेरा मन दस लाख वर्षोंमें भी तृप्त न होगा । इस प्रकार आपके दर्शनसे अतृप्त रहनेवाले मुझ सेवकका चित्त दर्शनके सिवा और क्या माँग सकता है ?

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीनरसिंहपुराणकी विषय-सूची

चित्र-सूची



तिरपनवाँ अध्याय

बलराम-श्रीकृष्ण-अवतारके चरित्र

मार्कण्डेय उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रादुर्भावद्वयं शुभम् ।
तृतीयस्य तु रामस्य कृष्णस्य तु समासतः ॥ १ ॥
पुरा ह्यसुरभारार्ता मही प्राह नृपोत्तम ।
आसीनं देवमध्ये तु ब्रह्माणं कमलासनम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—अब मैं तीसरे राम (बलराम) और श्रीकृष्णके युगल अवतारोंका संक्षेपमें वर्णन करूँगा। नृपश्रेष्ठ ! पूर्वकालकी बात है, पृथ्वी दैत्योंके भारसे पीड़ित हो देवताओंके मध्यमें विराजमान कमलासन ब्रह्माजीके पास गयी और इस प्रकार बोली ॥ १-२ ॥

देवासुरे हता ये तु विष्णुना दैत्यदानवाः ।
ते सर्वे क्षत्रिया जाताः कंसाद्याः कमलोद्भव ॥ ३ ॥
तद्भूरिभारसम्प्राप्ता सीदन्ती चतुरानन ।
मम तद्भारहानिः स्याद्यथा देव तथा कुरु ॥ ४ ॥

'कमलोद्भव ! देवासुर-संग्राममें जो-जो दैत्य और दानव भगवान् विष्णुके हाथसे मारे गये थे, वे सभी कंस आदि क्षत्रियोंके रूपमें उत्पन्न हुए हैं। चतुरानन ! उनके भारी बोझसे दबकर मैं बहुत दुखी हो गयी हूँ। देव ! मेरा वह भार जैसे भी दूर हो, वह उपाय आप करें' ॥ ३-४ ॥

तथैवमुक्तो ब्रह्माथ देवैः सह जगाम ह ।
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं विष्णुं भक्तिविबोधितम् ॥ ५ ॥
तत्र गत्वा जगत्स्रष्टा देवैः सार्धं जनार्दनम् ।
नरसिंहं महादेवं गन्धपुष्पादिभिः क्रमात् ॥ ६ ॥
अभ्यर्च्य भक्त्या गोविन्दं वाक्पुष्पेण च केशवम् ।
पूजयामास राजेन्द्र तेन तुष्टो जगत्पतिः ॥ ७ ॥

पृथ्वीके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर, कहते हैं, ब्रह्माजी समस्त देवताओंके साथ क्षीरसागरके उत्तरतटपर भगवान् विष्णुके निकट गये। उन्होंने भगवान्को अपनी भक्तिके प्रभावसे सोतेसे जगाया था। वहाँ पहुँचकर जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजीने समस्त देवताओंके साथ नरसिंहस्वरूप महान् देवता भगवान् जनार्दनकी गन्ध-पुष्पादिके द्वारा क्रमशः भक्तिपूर्वक पूजा की। फिर वाक्पुष्पसे भी उन गोविन्द-केशवका पूजन किया। राजेन्द्र ! इससे वे जगदीश्वर भगवान् विष्णु उनपर बहुत संतुष्ट हुए ॥ ५—७ ॥

राजोवाच

वाक्पुष्पेण कथं ब्रह्मन् ब्रह्माप्यर्चितवान् हरिम् ।
तन्मे कथय विप्रेन्द्र ब्रह्मोक्तं स्तोत्रमुत्तमम् ॥ ८ ॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! ब्रह्माजीने भगवान् विष्णुकी वाक्पुष्पसे किस प्रकार पूजा की ? विप्रेन्द्र ! ब्रह्माजीद्वारा कहे हुए उस उत्तम स्तोत्र (वाक्पुष्प) को आप मुझे सुनाइये ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि स्तोत्रं ब्रह्ममुखेरितम् ।
सर्वपापहरं पुण्यं विष्णुतुष्टिकरं परम् ॥ ९ ॥
तमाराध्य जगन्नाथमूर्ध्वबाहुः पितामहः ।
भूत्वैकाग्रमना राजन्निदं स्तोत्रमुदीरयत् ॥ १० ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन् ! मैं ब्रह्माजीके मुखसे निकले हुए उस उत्तम स्तोत्रको कहता हूँ, सुनो ! वह स्तोत्र समस्त पापोंको हरनेवाला, पवित्र तथा भगवान् विष्णुको अत्यन्त संतुष्ट करनेवाला है। राजन् ! ब्रह्माजीने पूर्वोक्त रूपसे भगवान् जगन्नाथकी पूजा करके एकाग्रचित्त हो इस स्तोत्रका पाठ किया ॥ ९-१० ॥

ब्रह्मोवाच

नमामि देवं नरनाथमच्युतं
नारायणं लोकगुरुं सनातनम् ।
अनादिमव्यक्तमचिन्त्यमव्ययं
वेदान्तवेद्यं पुरुषोत्तमं हरिम् ॥ ११ ॥
आनन्दरूपं परमं परात्परं
चिदात्मकं ज्ञानवतां परां गतिम् ।
सर्वात्मकं सर्वगतैकरूपं
ध्येयस्वरूपं प्रणमामि माधवम् ॥ १२ ॥
भक्तप्रियं कान्तमतीव निर्मलं
सुराधिपं सूरिजनैरभिष्टुतम् ।

चतुर्भुजं नीरजवर्णमीश्वरं
रथाङ्गपाणिं प्रणतोऽस्मि केशवम् ॥१३॥
गदासिशङ्खाब्जकरं श्रियः पतिं
सदाशिवं शार्ङ्गधरं रविप्रभम् ।
पीताम्बरं हारविराजितोदरं
नमामि विष्णुं सततं किरीटिनम् ॥१४॥
गण्डस्थलासक्तसुरक्तकुण्डलं
सुदीपिताशेषदिशं निजत्विषा ।
गन्धर्वसिद्धैरुपगीतमृग्ध्वनिं
जनार्दनं भूतपतिं नमामि तम् ॥१५॥
हत्वासुरान् पाति युगे युगे सुरान्
स्वधर्मसंस्थान् भुवि संस्थितो हरिः ।
करोति सृष्टिं जगतः क्षयं य-
स्तं वासुदेवं प्रणतोऽस्मि केशवम् ॥१६॥

ब्रह्माजी बोले—मैं सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी भगवान् अच्युतको, सनातन लोकगुरु भगवान् नारायणको नमस्कार करता हूँ । जो अनादि, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविनाशी हैं, उन वेदान्तवेद्य पुरुषोत्तम श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ । जो परमानन्दस्वरूप, परात्पर, ज्ञानमय एवं ज्ञानियोंके परम आश्रय हैं तथा जो सर्वमय, सर्वव्यापक, अद्वितीय और सबके ध्येयरूप हैं, उन भगवान् लक्ष्मीपतिको मैं प्रणाम करता हूँ । जो भक्तोंके प्रेमी, अत्यन्त कमनीय और दोषोंसे रहित हैं, जो समस्त देवताओंके स्वामी हैं, विद्वान् पुरुष जिनकी स्तुति करते हैं, जिनके चार भुजाएँ हैं, नीलकमलके समान जिनकी श्यामल कान्ति है, जो हाथमें चक्र धारण किये रहते हैं, उन परमेश्वर केशवको मैं प्रणाम करता हूँ । जिनके हाथोंमें गदा, तलवार, शङ्ख और कमल सुशोभित हैं, जो लक्ष्मीजीके पति हैं, सदा ही कल्याण करनेवाले हैं, जो शार्ङ्ग धनुष धारण किये रहते हैं, जिनकी सूर्यके समान कान्ति है, जो पीत वस्त्र धारण किये रहते हैं, जिनका उदरभाग हारसे विभूषित है तथा जिनके मस्तकपर मुकुट शोभा पा रहा है, उन भगवान् विष्णुको मैं सदा प्रणाम करता हूँ । जिनके कपोलोंपर सुन्दर रक्तवर्ण कुण्डल शोभा पा रहे हैं, जो अपनी कान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे हैं, गन्धर्व और सिद्धगण जिनका सुयश गाते रहते हैं तथा जिनका वैदिक ऋचाओंद्वारा यशोगान किया जाता है, उन भूतनाथ भगवान् जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ । जो भगवान् प्रत्येक युगमें पृथ्वीपर अवतार ले, देवद्रोही दानवोंकी हत्या करके अपने धर्ममें स्थित देवताओंकी रक्षा करते हैं तथा जो इस जगत्‌की सृष्टि एवं संहार करते हैं, उन सर्वान्तर्यामी भगवान् केशवको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ११–१६ ॥

यो मत्स्यरूपेण रसातलस्थितान्
वेदान् समाहृत्य मम प्रदत्तवान् ।
निहत्य युद्धे मधुकैटभावुभौ
तं वेदवेद्यं प्रणतोऽस्म्यहं सदा ॥१७॥
देवासुरैः क्षीरसमुद्रमध्यतो
न्यस्तो गिरिर्येन धृतः पुरा महान् ।
हिताय कौर्मं वपुरास्थितो य-
स्तं विष्णुमाद्यं प्रणतोऽस्मि भास्करम् ॥१८॥
हत्वा हिरण्याक्षमतीव दर्पितं
वराहरूपी भगवान् सनातनः ।
यो भूमिमेतां सकलां समुद्दर-
स्तं वेदमूर्तिं प्रणमामि सूकरम् ॥१९॥
कृत्वा नृसिंहं वपुरात्मनः परं
हिताय लोकस्य सनातनो हरिः ।
जघान यस्तीक्ष्णनखैर्दितेः सुतं
तं नारसिंहं पुरुषं नमामि ॥२०॥
यो वामनोऽसौ भगवाञ्जनार्दनो
बलिं बबन्ध त्रिभिरूर्जितैः पदैः ।
जगत्त्रयं क्रम्य ददौ पुरंदरे
तदेवमाद्यं प्रणतोऽस्मि वामनम् ॥२१॥
यः कार्तवीर्यं निजघान रोषात्
त्रिस्सप्तकृत्वः क्षितिपात्मजानपि ।
तं जामदग्न्यं क्षितिभारनाशकं
नतोऽस्मि विष्णुं पुरुषोत्तमं सदा ॥२२॥
सेतुं महान्तं जलधौ बबन्ध यः
सम्प्राप्य लङ्कां सगणं दशाननम् ।

जघान भृत्यै जगतां सनातनं
तं रामदेवं सततं नतोऽस्मि ॥२३॥
यथा तु वाराहनृसिंहरूपैः
कृतं त्वया देव हितं सुराणाम् ।
तथाद्य भूमेः कुरु भारहानिं
प्रसीद विष्णो भगवन्नमस्ते ॥२४॥

जिन्होंने युद्धमें मधु और कैटभ—इन दोनों दैत्योंको मारा तथा मत्स्यरूप धारण करके रसातलमें पहुँचे हुए वेदोंको लाकर मुझे दिया था, उन वेद-वेद्य परमेश्वरको मैं सदा ही प्रणाम करता हूँ। पूर्वकालमें जिन्होंने देवता और असुरोंद्वारा क्षीरसमुद्रमें डाले हुए महान् मन्दराचलको सबका हित करनेके लिये कूर्म-रूपसे पीठपर धारण किया था, उन प्रकाश देनेवाले आदिदेव भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन सनातन भगवान्ने वराहरूप धारण करके इस सम्पूर्ण वसुंधराका जलसे उद्धार किया और उसी समय अत्यन्त अभिमानी दैत्य हिरण्याक्षको मार गिराया था, उन वेदमूर्ति सूकररूपधारी भगवान्को प्रणाम करता हूँ। जिन सनातन भगवान् श्रीहरिने त्रिलोकीका हित करनेके लिये स्वयं ही श्रेष्ठ नृसिंहरूप धारण करके अपने तीखे नखोंद्वारा दिति-नन्दन हिरण्यकशिपुका वध किया था, उन परम पुरुष भगवान् नरसिंहको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन वामनरूपधारी भगवान् जनार्दनने बलिको बाँधा था और अपने बढ़े हुए तीन पगोंसे त्रिभुवनको नापकर उसे इन्द्रको दे दिया था, उन आदिदेव वामनको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने कोपवश राजा कार्तवीर्यको मार डाला तथा इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया, पृथ्वीका भार दूर करनेवाले परशुरामरूपधारी उन पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। जिन्होंने समुद्रमें बहुत बड़ा पुल बाँधा और लङ्कामें पहुँचकर त्रिलोकीकी रक्षाके लिये रावणको उसके गणोंसहित मार डाला था, उन सनातन पुरुष भगवान् श्रीरामको मैं सदा प्रणाम करता हूँ। भगवन्! विष्णो! जिस प्रकार [पूर्वकालमें] वाराह-नृसिंह आदि रूपोंसे आपने देवताओंका हित किया है, उसी प्रकार आज भी प्रसन्न होकर पृथ्वीका भार दूर करें। देव! आपको सादर नमस्कार है ॥ १७—२४॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

इति स्तुतो जगन्नाथः श्रीधरः पद्मयोनिना ।
आविर्बभूव भगवाञ्शङ्खचक्रगदाधरः ॥२५॥
उवाच च हृषीकेशः पद्मयोनिं सुरानपि ।
स्तुत्यानयाहं संतुष्टः पितामह दिवौकसः ॥२६॥
पठतां पापनाशाय नृणां भक्तिमतामपि ।
यतोऽस्मि प्रकटीभूतो दुर्लभोऽपि हरिः सुराः ॥२७॥
देवैः सेन्द्रैः सरुद्रैस्तु पृथ्व्या च प्रार्थितो ह्यहम् ।
पद्मयोने वदाद्य त्वं श्रुत्वा तत्करवाणि ते ॥२८॥

श्रीमार्कण्डेयजी कहते हैं—ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर जगत्पति भगवान् लक्ष्मीधर हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये वहाँ प्रकट हुए तथा वे भगवान् हृषीकेश ब्रह्माजी और देवताओंसे बोले—'पितामह! देवताओ! मैं तुम्हारी इस स्तुतिसे बहुत ही प्रसन्न हूँ। देवगण! यह स्तोत्र इसका पाठ करनेवालोंके सारे पाप नष्ट करनेमें समर्थ है। यद्यपि मैं श्रीहरिके रूपमें भक्तिमान् पुरुषोंको भी कठिनता-से ही प्राप्त होता हूँ, तथापि इस स्तोत्रके प्रभावसे मैं प्रत्यक्ष प्रकट हो गया हूँ। ब्रह्माजी! आज रुद्र और इन्द्रसहित समस्त देवताओं तथा पृथिवीने मेरी प्रार्थना की है, अतः तुम-लोग अपना मनोरथ कहो; उसे सुनकर पूर्ण करूँगा' ॥ २५—२८॥

इत्युक्ते विष्णुना प्राह ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दैत्यानां गुरुभारेण पीडितेयं मही भृशम् ॥२९॥
लघ्वीमिमां कारयितुं त्वयाहं पुरुषोत्तम ।
तेनागतः सुरैः सार्धं नान्यदस्तीति कारणम् ॥३०॥

भगवान् विष्णुके यों कहनेपर लोकपितामह ब्रह्माजी बोले—'पुरुषोत्तम! यह पृथ्वी दैत्योंके गुरुतर भारसे अत्यन्त पीडित हो रही है। अतः मैं आपके द्वारा इस वसुधाके भारको उतरवानेके लिये यहाँ देवताओंके साथ आया हूँ। मेरे आनेका दूसरा कोई कारण नहीं है' ॥ २९-३०॥

इत्युक्तो भगवान् प्राह गच्छध्वममराः स्वकम् ।
स्थानं निरामयाः सर्वे पद्मयोनिस्तु गच्छतु ॥३१॥
देवक्यां वसुदेवाच्च अवतीर्य महीतले ।
सितकृष्णे च मच्छक्ती कंसादीन् घातयिष्यतः ॥३२॥

यह सुनकर भगवान्ने कहा—'देवगण! तुमलोग निश्चिन्त होकर अपने-अपने स्थानको लौट जाओ। ब्रह्माजी भी चले जायँ। मेरी गौर और कृष्ण—दो शक्तियाँ पृथ्वीपर वसुदेवजीके वीर्य एवं देवकीके गर्भसे अवतार लेकर कंस आदि असुरोंका वध करेंगी' ॥ ३१-३२॥

इत्याकर्ण्य हरेर्वाक्यं हरिं नत्वा ययुः सुराः ।
गतेषु त्रिदिवौकस्सु देवदेवो जनार्दनः ॥३३॥
शिष्टानां पालनार्थाय दुष्टनिग्रहणाय च ।
प्रेषयामास ते शक्ती सितकृष्णे स्वके नृप ॥३४॥
तयोः सिता च रोहिण्यां वसुदेवाद्बभूव ह ।
तद्वत्कृष्णा च देवक्यां वसुदेवाद्बभूव ह ॥३५॥
रौहिणेयोऽथ पुण्यात्मा रामनामाश्रितो महान् ।
देवकीनन्दनः कृष्णस्तयोः कर्म शृणुष्व मे ॥३६॥

भगवान्‌का यह वचन सुनकर सभी देवता उनको प्रणाम करके चले गये। राजन्! देवताओंके चले जानेपर देवदेव जनार्दनने सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका संहार करनेके लिये अपनी वे गौर-कृष्ण—दो शक्तियाँ भेजीं। उनमेंसे गौर शक्ति वसुदेवद्वारा रोहिणीके गर्भसे प्रकट हुई तथा कृष्ण शक्तिने वसुदेवके अंश एवं देवकीके गर्भसे अवतार लिया। पुण्यात्मा महापुरुष रोहिणीनन्दनने 'राम' नाम धारण किया और देवकीनन्दनका 'श्रीकृष्ण' नाम रक्खा गया। नरेश्वर! तुम उन दोनोंके कर्म मुझसे सुनो ॥ ३३—३६ ॥

गोकुले बालकाले तु राक्षसी शकुनी निशि ।
रामेण निहता राजन् तथा कृष्णेन पूतना ॥३७॥
धेनुकः सगणस्तालवने रामेण घातितः ।
शकटश्चार्जुनौ वृक्षौ तद्वत्कृष्णेन घातितौ ॥३८॥
प्रलम्बो निधनं नीतो दैत्यो रामेण मुष्टिना ।
कालियो दमितस्तोये कालिन्द्यां विषपन्नगः ॥३९॥
गोवर्द्धनश्च कृष्णेन धृतो वर्षति वासवे ।
गोकुलं रक्षता तेन अरिष्टश्च निपातितः ॥४०॥
केशी च निधनं नीतो दुष्टवाजी महासुरः ।
अक्रूरेण च तौ नीतौ मथुरायां महात्मना ॥४१॥
ददर्श तु निमग्नश्च रामकृष्णौ महामते ।
स्वं स्वं रूपं जले तस्य अक्रूरस्य विभूतिदम् ॥४२॥
अनयोर्भावमतुलं ज्ञात्वा दृष्ट्वा च यादवाः ।
बभूवुः प्रीतमनसो ह्यक्रूरश्च नृपात्मज ॥४३॥

राजन्! गोकुलमें रामने बाल्यकालमें ही रात्रिके समय एक पक्षीरूपधारिणी राक्षसीको मारा था और श्रीकृष्णने 'पूतना'का संहार किया था। रामने तालवनमें 'धेनुक' नामक राक्षसको उसके गणोंसहित मारा था और श्रीकृष्णने भी शकट उलट दिया तथा 'यमलार्जुन' नामक दो वृक्षोंको उखाड़ दिया था। रामने 'प्रलम्ब' नामक राक्षसको मुक्केसे मारकर मौतके घाट उतारा तथा श्रीकृष्णने यमुनाके जलमें रहनेवाले विषैले सर्प 'कालिय'का दमन किया और इन्द्रके वर्षा करते समय वे सात दिनोंतक हाथपर गोवर्धनपर्वत धारण किये खड़े रहे। इतना ही नहीं, श्रीकृष्णने गोकुलकी रक्षा करते हुए अरिष्टासुरका भी वध किया था। फिर दुष्ट घोड़ेका रूप धारण करनेवाले महान् असुर केशीका उन्होंने संहार किया; इसके बाद महात्मा अक्रूरजी [कंसकी आज्ञासे] आये तथा राम और कृष्ण—दोनों बन्धुओंको मथुरा ले गये। महामते! मार्गमें अक्रूरजीने यमुनामें डुबकी लगाते समय जलके भीतर राम और कृष्ण—दोनोंको देखा। उन दोनों बन्धुओंने अक्रूरजीको अपने-अपने ऐश्वर्यदायक स्वरूपका दर्शन कराया। नृपनन्दन! उन दोनोंके अनुपम स्वरूपको देख और जानकर अक्रूरजीके साथ ही समस्त यादवगण बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ३७—४३ ॥

दुर्वचश्च प्रजल्पन्तं कंसस्य रजकं ततः ।
कृष्णो जघान रामश्च तद्वस्त्रं ब्राह्मणे ददौ ॥४४॥
मालाकारेण भक्त्या तु सुमनोभिः प्रपूजितौ ।
ततस्तस्य वरान्दत्त्वा दुर्लभान् रामकेशवौ ॥४५॥
गच्छन्तौ राजमार्गं तु कुब्जया पूजितौ ततः ।
तत्कौटिल्यमपानीय विरूपं कार्मुकं ततः ॥४६॥
बभञ्ज कृष्णो बलवान् कंसस्याकृष्य तत्क्षणात् ।
रक्षपालान् जघानाथ रामस्तत्र खलान् बहून् ।
हत्वा कुवलयाख्यं च गजं रामजनार्दनौ ॥४७॥

तत्पश्चात् [मथुरामें भ्रमण करते समय] कटुवचन कहनेवाले कंसके एक धोबीको कृष्ण और रामने मार डाला तथा उसके वस्त्र ब्राह्मणोंको बाँट दिये। फिर मार्गमें एक मालीने फूलोंसे भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की। तब राम और श्रीकृष्णने उसे दुर्लभ वर दिये। उसके बाद जब वे सड़कपर घूम रहे थे, उसी समय 'कुब्जा' दासीने आकर उनका आदर-सत्कार किया। तब श्रीकृष्णने उसकी भद्दी लगनेवाली कुब्जता-को दूर कर दिया। तदनन्तर [यज्ञशालामें रक्खे गये] कंसके धनुषको महाबली श्रीकृष्णने [बलपूर्वक] खींचा और तत्काल ही

तोड़ डाला। उस समय वहाँके अनेकों दुष्ट रक्षकोंको बलरामजीने मार डाला। फिर बलराम और श्रीकृष्ण—दोनोंने मिलकर 'कुवलयापीड' नामक हाथीको भी मार गिराया ॥ ४४—४७ ॥

प्रविश्य रङ्गं गजदन्तपाणी
मदानुलिप्तौ वसुदेवपुत्रौ ।
युद्धे तु रामो निजघान मल्लं
शैलोपमं मुष्टिकमव्ययात्मा ॥ ४८ ॥
कृष्णोऽपि चाणूरमतिप्रसिद्धं
बलेन वीर्येण च कंसमल्लकम् ।
युद्ध्वा तु तेनाथ चिरं जघान
तं दैत्यमल्लं जनसंसदीशः ॥ ४९ ॥
मृतस्य मल्लस्य च मुष्टिकस्य
मित्रं पुनः पुष्करकं स रामः ।
युद्धार्थमुत्थाय कृतक्षणं तं
मुष्टिप्रहारेण जघान वीरः ॥ ५० ॥
कृष्णः पुनस्तान् सकलान्निहत्य
निगृह्य कंसं विनिपात्य भूमौ ।
स्वयं च देहे विनिपत्य तस्य
हत्वा तथोर्व्यां निचकर्ष कृष्णः ॥ ५१ ॥
हते तु कंसे हरिणातिक्रुद्धो
भ्रातापि तस्यातिरुषेण चोत्थितः ।
सुनाभसंज्ञो बलवीर्ययुक्तो
रामेण नीतो यमसादनं क्षणात् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर उन दोनों वसुदेवकुमारोंने हाथीके दाँत उखाड़कर हाथमें ले लिये और उसके मदसे सने हुए ही रङ्ग-भूमिमें प्रवेश किया। वहाँ अविनाशी बलरामजीने पर्वताकार 'मुष्टिक' नामक पहलवानको कुश्तीमें मार डाला और श्रीकृष्ण-चन्द्रने भी कंसके 'चाणूर' नामक पहलवानका, जो अपने बल और पराक्रमके कारण बहुत ही प्रसिद्ध था, कचूमर निकाल दिया। भगवान् श्रीकृष्णने उस जन-समाजमें दैत्य मल्ल चाणूरके साथ देरतक युद्ध करनेके बाद उसका वध किया था। फिर वीरवर बलरामजीने युद्धके लिये उत्साहपूर्वक उठे हुए पुष्करको, जो 'मृत मुष्टिक' नामक मल्लका मित्र था, मुक्केसे ही मार डाला। इसके बाद श्रीकृष्णने वहाँ उपस्थित समस्त दैत्योंका संहार करके कंसको पकड़ लिया और उसे मञ्चके नीचे भूमिपर पटककर वे स्वयं भी उसके शरीरपर कूद पड़े। इस प्रकार कंसका वध करके श्रीकृष्णने उसके मृत देहको भूमिपर घसीटा। श्रीकृष्णद्वारा कंसके मारे जानेपर उसका बलवान् एवं पराक्रमी भ्राता सुनाभ अत्यन्त क्रोधपूर्वक युद्धके लिये उठा; किंतु उसे भी बलरामजीने तुरंत ही मारकर यमलोक भेज दिया ॥ ४८—५२ ॥

तौ वन्द्य मातापितरौ सुहृष्टौ
जनैः समस्तैर्यदुभिः सुसंवृतौ ।
कृत्वा नृपं चोग्रसेनं यदूनां
सभां सुधर्मां ददतुर्महेन्द्रीम् ॥ ५३ ॥

तदनन्तर समस्त यदुवंशियोंसे घिरे हुए उन दोनों भाइयोंने अत्यन्त प्रसन्न हुए माता-पिताकी वन्दना करके श्रीउग्रसेनको ही यदुवंशियोंका राजा बनाया और उन्हें इन्द्रकी 'सुधर्मा' नामक दिव्य सभा प्रदान की ॥ ५३ ॥

सर्वज्ञभावावपि रामकृष्णौ
सम्प्राप्य सांदीपनितोऽस्त्रविद्याम् ।
गुरोः कृते पञ्चजनं निहत्य
यमं च जित्वा गुरवे सुतं ददौ ॥ ५४ ॥

यद्यपि बलराम और श्रीकृष्ण सर्वज्ञ थे, तो भी उन्होंने सांदीपनिसे अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पायी। फिर गुरुको दक्षिणा देनेके लिये उद्यत हो, 'पञ्चजन' दैत्यको मारा और यमराजको जीतकर वे दीर्घकालके मरे हुए गुरुपुत्रको वहाँसे ले आये। वही पुत्र उन्होंने गुरुजीको दक्षिणाके रूपमें अर्पित किया ॥ ५४ ॥

निहत्य रामो मगधेश्वरस्य
बलं समस्तं बहुशः समागतम् ।
दिव्याम्रपूरैरमरावतीमापुरीं
शुभां पुरीं चक्रतुः सागरान्ते ॥ ५५ ॥
तस्यां विधायाथ जनस्य वासं
हत्वा शृगालं हरिरव्ययात्मा ।
दग्ध्वा महान्तं यवनं ह्युपाया-
द्द्रव्यं च दत्त्वा नृपतेर्जगाम ॥ ५६ ॥

फिर बलरामजीने अपने ऊपर अनेकों बार चढ़ाई करने

वाले मगधराज जरासंधके समस्त सैनिकोंको दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करके मार डाला। इसके बाद उन दोनों देवेश्वरोंने समुद्रके भीतर एक सुन्दर पुरी द्वारकाका निर्माण कराया। उसमें मथुरावासी कुटुम्बीजनोंको बसाकर अविनाशी भगवान् श्रीकृष्णने राजा शृगालका वध किया। फिर एक उपाय करके महान् योद्धा यवनराजको भस्म कर, राजा मुचुकुन्दको वरदान दे, वे द्वारकामें लौट गये॥ ५५-५६॥

रामोऽथ संशान्तसमस्तविग्रहः
सम्प्राप्य नन्दस्य पुनः स गोकुलम्।
वृन्दावने गोपजनैः सुभाषितः
सीरेण रामो यमुनां चकर्ष॥५७॥
सम्प्राप्य भार्यामथ रेवतीं च
रेमे तया द्वारवतीं स लाङ्गली।
क्षात्रेण सम्प्राप्य तदा स रुक्मिणीं
कृष्णोऽपि रेमे पुरुषः पुराणः॥५८॥
द्यूते कलिङ्गराजस्य दन्तानुत्पाट्य लाङ्गली।
जघानाष्टपदेनैव रुक्मिणं चानृतान्वितम्॥५९॥
कृष्णः प्रा॰ ज्योतिषो दैत्यान् हयग्रीवादिकान् बहून्।
हत्वा तु नरकं चापि जग्राह च महद्धनम्॥६०॥
अदित्यै कुण्डले दत्त्वा जित्वेन्द्रं दैवतैः सह।
गृहीत्वा पारिजातं तु ततो द्वारावतीं पुरीम्॥६१॥

तत्पश्चात् सारा बखेड़ा समाप्त हो जानेपर बलरामजी एक बार फिर नन्दके गोकुल (नन्दगाँव) में गये और वहाँ वृन्दावनमें गोपजनोंसे भलीभाँति प्रेमालाप आदिके द्वारा सम्मानित हुए। वहाँ उन्होंने अपने हलसे यमुनाजीका आकर्षण किया था। तदनन्तर द्वारकामें 'रेवती' नामकी भार्याको पाकर बलरामजी उनके साथ सुखपूर्वक रहने लगे और पुराण-पुरुष श्रीकृष्णचन्द्र भी क्षत्रियधर्मके अनुसार 'रुक्मिणी' नामक भार्याको हस्तगत करके उसके साथ सानन्द विहार करने लगे। तदनन्तर एक बार जूआ खेलते समय हलधरने कलिङ्गराजके दाँतोंको उखाड़ लिया और असत्यका आश्रय लेनेवाले रुक्मीको भी पासेसे ही मार गिराया। इसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रने भी प्राग्ज्योतिषपुरके हयग्रीव आदि बहुत-से दैत्योंको यमलोक पहुँचाया तथा नरकासुरका भी संहार करके वे उसके यहाँसे बहुत धन ले आये। वहाँसे श्रीकृष्ण इन्द्रलोकमें गये। वहाँ उन्होंने अदितिको उनके वे दोनों दिव्य कुण्डल दिये, जो नरकासुरने हड़प लिये थे। फिर देवताओं-सहित इन्द्रको जीतकर पारिजात वृक्ष साथ ले, वे अपनी पुरी द्वारकाको लौट आये॥ ५७-६१॥

कुरुभिश्च धृतं साम्बं राम एको महाबलः।
कुरूणां भयमुत्पाद्य मोचयामास वीर्यवान्॥६२॥
बाणबाहुवनं छिन्नं कृष्णेन युधि धीमता।
रामेण तद्बलं नीतं क्षयं कोटिगुणं क्षणात्॥६३॥
देवापकारी रामेण निहतो वानरो महान्।
ततोऽर्जुनस्य साहाय्यं कुर्वता कंसशत्रुणा॥६४॥
सर्वभूतवधाद्राजन् भुवो भारोऽवरोपितः।
तीर्थयात्रा कृता तद्वद्रामेण जगतः कृते॥६५॥

तदनन्तर महाबली एवं महापराक्रमी बलरामजीने अकेले ही हस्तिनापुरमें जा कौरवोंको भय दिखाया और उनके द्वारा बंदी बनाये गये [श्रीकृष्णपुत्र] साम्बको छुड़ाया। फिर बुद्धिमान् श्रीकृष्णचन्द्रने युद्धमें बाणासुरकी भुजाओंको काट डाला और बलरामजीने उसके करोड़ों सैनिकोंका क्षणभरमें ही संहार कर दिया। इसके बाद बलरामजीने देववैरी 'द्विविद' नामक महान् वानरका वध किया। इसी तरह भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी सहायता करके उनके द्वारा समस्त दुष्ट क्षत्रियोंका वध कराया और पृथ्वीका सारा भार उतार दिया। उन दिनों बलरामजी लोकहितके लिये तीर्थयात्रा कर रहे थे॥ ६२-६५॥

रामेण निहता ये तु तान्न संख्यातुमुत्सहे।
एवं तौ रामकृष्णौ तु कृत्वा दुष्टवधं नृप॥६६॥
अवतार्य भुवो भारं जग्मतुः स्वेच्छया दिवम्।
इत्येतौ कथितौ दिव्यौ प्रादुर्भावौ मया तव।
संक्षेपाद्रामकृष्णस्य काल्क्यं शृणु ममाधुना॥६७॥
इत्थं हि शक्ती सितकृष्णरूपे
हरेरनन्तस्य महाबलाढ्ये।
कृत्वा तु भूमेर्नृप भारहानिं
पुनश्च विष्णुं प्रतिजग्मतुस्ते॥६८॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे कृष्णप्रादुर्भावो नाम त्रिपञ्चाशोऽध्यायः॥५३॥

राजन्! बलराम और श्रीकृष्णचन्द्रने जितने दुष्टोंका वध किया था, उनकी गणना हम नहीं कर सकते। इस प्रकार दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने दुष्टोंका संहार करके भूमिका भार दूर किया। फिर वे स्वेच्छानुसार वैकुण्ठधामको पधार गये। इस तरह राम और श्रीकृष्णके इन दिव्य अवतारोंको मैंने तुम्हें संक्षेपसे कह सुनाया। अब मुझसे 'कल्कि-अवतार' का वर्णन सुनो। नरेश्वर! इस प्रकार अनन्त भगवान् विष्णुकी वे दोनों महाबलवती गौर और कृष्ण शक्तियाँ पृथ्वीका भार उतारकर पुनः अपने विष्णुस्वरूपमें लीन हो गयीं॥ ६६—६८॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव' नामक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५३॥

चौवनवाँ अध्याय

कल्कि-चरित्र और कलि-धर्म

मार्कण्डेय उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणु राजन् समाहितः।
प्रादुर्भावं हरेः पुण्यं कल्क्याख्यं पापनाशनम्॥ १॥
कलिकालेन राजेन्द्र नष्टे धर्मे महीतले।
वृद्धिंगते तथा पापे व्याधिसम्पीडिते जने॥ २॥
देवैः सम्प्रार्थितो विष्णुः क्षीराब्धौ स्तुतिपूर्वकम्।
शाम्भलाख्ये महाग्रामे नानाजनसमाकुले॥ ३॥
नाम्ना विष्णुयशःपुत्रः कल्की राजा भविष्यति।
अश्वमारुह्य खड्गेन म्लेच्छानुत्सादयिष्यति॥ ४॥
म्लेच्छान् समस्तान् क्षितिनाशभूतान्
हत्वा स कल्की पुरुषोत्तमांशः।
कृत्वा च यागं बहुकाञ्चनाख्यं
संस्थाप्य धर्मं दिवमारुरोह॥ ५॥
दशावताराः कथितास्तवैव
हरेर्मया पार्थिव पापहन्तुः।
इमं सदा यस्तु नृसिंहभक्तः
शृणोति नित्यं स तु याति विष्णुम्॥ ६॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! इसके बाद मैं तुमसे भगवान् विष्णुके 'कल्कि' नामक पावन अवतारका वर्णन करता हूँ, जो समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है; तुम सावधान होकर सुनो। राजेन्द्र! जब कलिकालद्वारा पृथ्वीपर धर्मका नाश हो जायगा, पाप बढ़ जायगा और सभी लोग नाना प्रकारके रोगोंसे पीड़ित होने लगेंगे, तब देवतालोग क्षीरसागरके तटपर जाकर वहाँ भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करेंगे। तदनन्तर भगवान् 'शाम्भल' नामक महान् ग्राममें, जो बहुसंख्यक मनुष्योंसे परिपूर्ण होगा, विष्णुयशाके पुत्ररूपसे अवतार ले, 'कल्कि' नामसे विख्यात राजा होंगे। फिर वे घोड़ेपर चढ़कर, हाथमें तलवार ले, म्लेच्छोंका नाश करेंगे। इस प्रकार भगवान् विष्णुके अंशभूत 'कल्कि' भूमण्डलका ध्वंस करनेवाले समस्त म्लेच्छोंका संहार कर, 'बहुकाञ्चन' नामक यज्ञ करके, धर्मकी स्थापना कर स्वर्गारूढ हो जायँगे। राजेन्द्र! पापोंका नाश करनेवाले भगवान् विष्णुके इन दस अवतारोंका मैंने वर्णन किया। जो भगवद्भक्त पुरुष इन अवतार-चरित्रोंका नित्य श्रवण करता है, वह भगवान् विष्णुको प्राप्त कर लेता है॥ १—६॥

राजोवाच

तव प्रसादाद्विप्रेन्द्र प्रादुर्भावाः श्रुता मया।
नारायणस्य देवस्य शृण्वतां कल्मषापहाः॥ ७॥
कलिं विस्तरतो ब्रूहि त्वं हि सर्वविदां वरः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च मुनिसत्तम॥ ८॥
किमाहाराः किमाचारा भविष्यन्ति कलौ युगे।

राजा बोले—विप्रेन्द्र! आपके प्रसादसे मैंने भगवान् नारायणके अवतारोंका, जो श्रोताओंके पापोंका नाश करनेवाले हैं, श्रवण कर लिया। मुनिसत्तम! अब आप कलिका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये; क्योंकि आप सर्वज्ञ महात्माओंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। कृपया बताइये कि कलियुगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कैसे आहार और आचरणवाले होंगे॥ ७-८½॥

सूत उवाच

शृणुध्वमृषयः सर्वे भरद्वाजेन संयुताः॥ ९॥
सर्वे धर्मा विनश्यन्ति कृष्णे कृष्णत्वमागते।
तस्मात्कलिर्महाघोरः सर्वपापस्य साधकः॥ १०॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा धर्मपराङ्मुखाः ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते द्विजदेवपराङ्मुखाः ॥११॥
व्याजधर्मरताः सर्वे दम्भाचारपरायणाः ।
असूयानिरताश्चैव वृथाहंकारदूषिताः ॥१२॥
सर्वैः संक्षिप्यते सत्यं नरैः पण्डितगर्वितैः ।
अहमेवाधिक इति सर्व एव वदन्ति वै ॥१३॥
अधर्मलोलुपाः सर्वे तथान्येषां च निन्दकाः ।
अतः स्वल्पायुषः सर्वे भविष्यन्ति कलौ युगे ॥१४॥
अल्पायुष्ट्वान्मनुष्याणां न विद्याग्रहणं द्विजाः ।
विद्याग्रहणशून्यत्वादधर्मो वर्त्तते पुनः ॥१५॥

सूतजी बोले—भरद्वाजसहित आप सभी ऋषिगण सुनें । राजाके यों प्रेरणा करनेपर मार्कण्डेयजीने कलि-धर्मका इस प्रकार निरूपण किया । भगवान् कृष्णचन्द्रके परमधाम पधार जानेपर उनके अन्तर्धानके फलस्वरूप समस्त पापोंका साधक महा-घोर कलियुग प्रकट होगा; उस समय सभी धर्म नष्ट हो जायँगे । घोर कलियुग प्राप्त होनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी लोग धर्म, ब्राह्मण तथा देवताओंसे विमुख हो जायँगे । सभी किसी-न-किसी व्याजसे (स्वार्थसिद्धिके लिये) ही धर्ममें प्रवृत्त होंगे; दम्भ—ढोंगका आचरण करेंगे । एक दूसरेमें दोष ढूँढ़नेवाले और व्यर्थ अभिमानसे दूषित विचारवाले होंगे । पाण्डित्यका गर्व रखनेवाले सभी मनुष्य सत्यका अपलाप करेंगे और सब लोग यही कहेंगे कि 'मैं ही सबसे बड़ा हूँ' । कलियुगमें सभी अधर्मलोलुप तथा दूसरोंकी निन्दा करनेवाले होंगे; अतः सबकी आयु बहुत थोड़ी होगी । द्विजगण ! मनुष्योंकी आयु अल्प होनेसे ब्राह्मणलोग अधिक विद्याध्ययन नहीं कर सकेंगे । विद्याध्ययनसे शून्य होनेके कारण उनके द्वारा पुनः अधर्मकी ही प्रवृत्ति होगी ॥ ९—१५ ॥

ब्राह्मणाद्यास्तथा वर्णाः संकीर्यन्ते परस्परम् ।
कामक्रोधपरा मूढा वृथा संतापपीडिताः ॥१६॥
बद्धवैरा भविष्यन्ति परस्परवधेप्सवः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सर्वे धर्मपराङ्मुखाः ॥१७॥
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपस्सत्यविवर्जिताः ।
उत्तमा नीचतां यान्ति नीचाश्चोत्तमतां तथा ॥१८॥
राजानो द्रव्यनिरतास्तथा लोभपरायणाः ।
धर्मकञ्चुकसंवीता धर्मविध्वंसकारिणः ॥१९॥
घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वाधर्मसमन्विते ।
यो योऽश्वरथनागाढ्यः स स राजा भविष्यति ॥२०॥
पितॄन् पुत्रा नियोक्ष्यन्ति वध्वः श्वश्रूश्च कर्मसु ।
पतीन् पुत्रान् वञ्चयित्वा गमिष्यन्ति स्त्रियोऽन्यतः॥२१

ब्राह्मण आदि वर्णोंमें परस्पर संकरता आ जायगी । वे कामी, क्रोधी, मूर्ख और व्यर्थ संतापसे पीड़ित होंगे । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आपसमें वैर बाँधकर एक दूसरेका वध कर देनेकी इच्छावाले होंगे । वे सभी अपने-अपने धर्मसे विमुख होंगे । तप एवं सत्यभाषणादिसे रहित होकर शूद्रके समान हो जायँगे । उत्तम वर्णवाले नीचे गिरेंगे और नीच वर्णवाले उत्तम बनेंगे । राजालोग लोभी तथा केवल धनोपार्जनमें ही प्रवृत्त रहेंगे । वे धर्मका चोला पहनकर उसीकी ओटमें धर्मका विध्वंस करनेवाले होंगे । समस्त अधर्मोंसे युक्त घोर कलियुगके आ जानेपर जो-जो घोड़े, रथ और हाथीसे सम्पन्न होंगे, वे-वे ही राजा कहे जायँगे । पुत्र अपने पितासे काम करायेंगे और बहुएँ सासरो काम लेंगी । स्त्रियाँ पति और पुत्रको धोखा देकर अन्य पुरुषोंके पास जाया करेंगी ॥ १६—२१ ॥

पुरुषाल्पं बहुस्त्रीकं श्वबाहुल्यं गवां क्षयः ।
धनानि श्लाघनीयानि सतां वृत्तमपूजितम् ।
खण्डवर्षी च पर्जन्यः पन्थानस्तस्करावृताः ।
सर्वः सर्वं च जानाति वृद्धाननुपसेव्य च ॥२२॥
न कश्चिदकविर्नाम सुरापा ब्रह्मवादिनः ।
किंकराश्च भविष्यन्ति शूद्राणां च द्विजातयः ॥२३॥
द्विषन्ति पितरं पुत्रा गुरुं शिष्या द्विषन्ति च ।
पतिं च वनिता द्वेष्टि कलौ घोरे समागते ॥२४॥
लोभाभिभूतमनसः सर्वे दुष्कर्मशीलिनः ।
परान्नलोलुपा नित्यं भविष्यन्ति द्विजातयः ॥२५॥
परस्त्रीनिरताः सर्वे परद्रव्यपरायणाः ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते नरं धर्मपरायणम् ॥२६॥
असूयानिरताः सर्वे उपहासं प्रकुर्वते ।
न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ॥२७॥
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादैर्विकुत्सिताः ।
द्विजाः कुर्वन्ति दम्भार्थं पितृयज्ञादिकाः क्रियाः॥२८।

न पात्रेष्वेव दानानि कुर्वन्ति च नरास्तथा ।
क्षीरोपाधिनिमित्तेन गोषु प्रीतिं प्रकुर्वते ॥२९॥
बध्नन्ति च द्विजानेव धनार्थं राजकिंकराः ।
दानयज्ञजपादीनां विक्रीणन्ते फलं द्विजाः ॥३०॥
प्रतिग्रहं प्रकुर्वन्ति चण्डालादेरपि द्विजाः ।
कलेः प्रथमपादेऽपि विनिन्दन्ति हरिं नराः ॥३१॥

पुरुषोंकी संख्या कम और स्त्रियोंकी अधिक होगी । कुत्तोंकी अधिकता होगी और गौओंका ह्रास । सबके मनमें धनका ही महत्त्व रहेगा । सत्पुरुषोंके सदाचारका सम्मान नहीं होगा । मेघ कहीं वर्षा करेंगे, कहीं नहीं करेंगे । समस्त मार्ग चोरोंसे घिरे रहेंगे । गुरुजनोंकी सेवामें रहे बिना ही सभी लोग सब कुछ जाननेका अभिमान करेंगे । कोई भी ऐसा न होगा, जो अपनेको कवि न मानता हो । शराब पीनेवाले लोग ब्रह्मज्ञानका उपदेश करेंगे । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शूद्रोंके सेवक होंगे । घोर कलिकाल आनेपर पुत्र पितासे, शिष्य गुरुसे और स्त्रियाँ अपने पतियोंसे द्वेष करेंगी । सबका चित्त लोभसे आक्रान्त होगा, अतएव सभी लोग दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त होंगे । ब्राह्मण सदा दूसरोंके ही अन्नके लोभी होंगे । सभी परस्त्रीसेवी और परधनका अपहरण करनेवाले होंगे । घोर कलियुग आ जानेपर दूसरोंमें दोषदृष्टि रखनेवाले सभी लोग धर्मपरायण पुरुषोंका उपहास करेंगे । ब्राह्मणलोग वेदकी निन्दामें प्रवृत्त होकर व्रतोंका आचरण नहीं करेंगे । तर्कवादसे कुत्सित विचार हो जानेके कारण वे न तो यज्ञ करेंगे और न हवनमें ही प्रवृत्त होंगे । द्विजलोग दम्भके लिये ही पितृयज्ञ आदि क्रियाएँ करेंगे । मनुष्य प्रायः सत्पात्रको दान नहीं देंगे । लोग दूध आदिके लिये ही गौओंसे प्रेम रक्खेंगे । राजाके सिपाही धनके लिये ब्राह्मणोंको ही बाँधेंगे । द्विजलोग दान, यज्ञ और जप आदिका फल प्रायः बेचा करेंगे । ब्राह्मणलोग चण्डाल आदि अस्पृश्य जातियोंसे भी दान लेंगे । कलियुगके प्रथम चरणमें भी लोग भगवान्‌की निन्दा करनेवाले हो जायँगे ॥ २२–३१ ॥

युगान्ते च हरेर्नाम नैव कश्चित् स्मरिष्यति ।
शूद्रस्त्रीसङ्गनिरता विधवासङ्गलोलुपाः ॥३२॥
शूद्रान्नभोगनिरता भविष्यन्ति कलौ द्विजाः ।
न च द्विजातिशुश्रूषां न स्वधर्मप्रवर्त्तनम् ॥३३॥
करिष्यन्ति तदा शूद्राः प्रव्रज्यालिङ्गिनोऽधमाः ।
सुखाय परिवीताश्च जटिला भस्मधूर्धराः ॥३४॥
शूद्रा धर्मान् प्रवक्ष्यन्ति कूटबुद्धिविशारदाः ।
एते चान्ये च बहवः पाषण्डा विप्रसत्तमाः ॥३५॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या भविष्यन्ति कलौ युगे ।
गीतवाद्यरता विप्रा वेदवादपराङ्मुखाः ॥३६॥
भविष्यन्ति कलौ प्राप्ते शूद्रमार्गप्रवर्तिनः ।
अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा वृथाहंकारदूषिताः ॥३७॥
हर्तारो न च दातारो भविष्यन्ति कलौ युगे ।
प्रतिग्रहपरा नित्यं द्विजाः सन्मार्गशीलिनः ॥३८॥
आत्मस्तुतिपराः सर्वे परनिन्दापरास्तथा ।
विश्वासहीनाः पुरुषा देववेदद्विजातिषु ॥३९॥

कलियुगके अन्तिम समयमें तो कोई भगवान्‌के नामका स्मरणतक न करेगा । कलियुगके द्विज शूद्रोंकी स्त्रियोंके साथ सहवास करेंगे और विधवा-संगमके लिये लालायित रहेंगे तथा वे शूद्रोंका भी अन्न भक्षण करनेवाले होंगे । उस समय अधम शूद्र संन्यासका चिह्न धारणकर न तो द्विजातियोंकी सेवा करेंगे और न उनकी स्वधर्ममें ही प्रवृत्ति होगी । वे अपने सुखके लिये जनेऊ पहनेंगे, जटा रखायेंगे और शरीरमें खाक-भभूत लपेटे फिरेंगे । विप्रवरो ! कूटबुद्धिमें निपुण शूद्रगण धर्मका उपदेश करेंगे । ऊपर कहे अनुसार तथा और भी तरहके बहुत-से पाखण्डी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कलियुगमें उत्पन्न होंगे । कलियुग आनेपर विप्रगण वेदके स्वाध्यायसे विमुख हो गाने-बजानेमें मन लगायेंगे और शूद्रोंके मार्गका अनुसरण करेंगे । कलियुगमें लोग थोड़े धनवाले, झूठा वेष धारण करनेवाले और मिथ्याभिमानसे दूषित होंगे । वे दूसरोंका धन हरण कर लेंगे, पर अपना किसीको नहीं देंगे । उस समय अच्छे पथपर चलनेवाले ब्राह्मण सदा दान लेते फिरेंगे । सभी लोग आत्मप्रशंसक और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले होंगे । देवता, वेद और ब्राह्मणोंपरसे सबका विश्वास उठ जायगा ॥ ३२–३९ ॥

असंश्रुतोक्तिवक्तारो द्विजद्वेषरतास्तथा ।
स्वधर्मत्यागिनः सर्वे कृतघ्ना भिन्नवृत्तयः ॥४०॥

याचकाः पिशुनाश्चैव भविष्यन्ति कलौ युगे ।
परापवादनिरता आत्मस्तुतिपरायणाः ॥४१॥
परस्वहरणोपायचिन्तकाः सर्वदा जनाः ।
अत्याह्लादपरास्तत्र भुञ्जानाः परवेश्मनि ॥४२॥
तस्मिन्नेव दिने प्रायो देवतार्चनतत्पराः ।
तत्रैव निन्दानिरता भुक्त्वा चैकत्र संस्थिताः ॥४३॥

सब लोग वेदविरुद्ध वचन बोलनेवाले और ब्राह्मणोंके द्वेषी होंगे । सभी स्वधर्मके त्यागनेवाले, कृतघ्न और अपने वर्णधर्मके विरुद्ध वृत्तिसे आजीविका चलानेवाले होंगे । कलियुगमें लोग भिखमंगे, चुगलखोर, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले और अपनी ही प्रशंसामें तत्पर होंगे । मनुष्य सदा दूसरोंके धनका अपहरण करनेके उपायको ही सोचते रहेंगे । यदि उन्हें दूसरोंके घरमें भोजन करनेका अवसर मिल जाय तो वे बड़े ही आनन्दित होंगे और प्रायः उसी दिन वे दूसरोंको दिखानेके लिये देवताकी पूजामें प्रवृत्त होंगे । दूसरोंकी निन्दामें तत्पर रहनेवाले वे ब्राह्मण वहाँ ही सबके साथ एक आसनपर बैठकर भोजन करेंगे ॥ ४०—४३ ॥

द्विजाश्च क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्ये च जातयः ।
अत्यन्तकामिनश्चैव संकीर्यन्ते परस्परम् ॥४४॥
न शिष्यो न गुरुः कश्चिन्न पुत्रो न पिता तथा ।
न भार्या न पतिश्चैव भविता तत्र संकरे ॥४५॥
शूद्रवृत्त्यैव जीवन्ति द्विजा नरकभोगिनः ।
अनावृष्टिभयप्राया गगनासक्तदृष्टयः ॥४६॥
भविष्यन्ति जनाः सर्वे तदा क्षुद्भयकातराः ।
अन्नोपाधिनिमित्तेन शिष्यान् गृह्णन्ति भिक्षवः ॥४७॥
उभाभ्यामपि पाणिभ्यां शिरःकण्डूयनं स्त्रियः ।
कुर्वन्त्यो गुरुभर्तॄणामाज्ञां भेत्स्यन्ति ता हिताः ॥४८॥
यदा यदा न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति द्विजातयः ।
तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचक्षणैः ॥४९॥
सर्वधर्मेषु नष्टेषु याति निःश्रीकतां जगत् ।

उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी जातियोंके लोग अत्यन्त कामी होंगे और एक-दूसरेसे सम्पर्क स्थापित करके वर्ण-संकर हो जायँगे । वर्ण-संकरताकी दशामें गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र और पति-पत्नीका विचार नहीं रहेगा । नरकभोगी ब्राह्मणादि वर्ण प्रायः शूद्रवृत्तिसे ही जीविका चलायेंगे और नरकभोगी होंगे । लोगोंको प्रायः सदा अनावृष्टिका भय बना रहेगा और वे सदा आकाशकी ओर दृष्टि लगाये वृष्टिकी ही प्रतीक्षा करते रहेंगे । उस समयके सभी लोग सदा भूखकी पीड़ासे कातर रहेंगे । संन्यासी लोग अन्न-प्राप्तिके उद्देश्यसे ही लोगोंको शिष्य बनाते फिरेंगे । स्त्रियाँ दोनों ही हाथोंसे सिर खुजलाती हुई अपने पति तथा गुरुजनोंकी हितभरी आज्ञाओंका तिरस्कार करेंगी । द्विजातिलोग ज्यों-ज्यों यज्ञ और हवन आदि कर्म छोड़ते जायँगे, त्यों-ही-त्यों बुद्धिमानोंको कलियुगकी वृद्धिका अनुमान करना चाहिये । उस समय सम्पूर्ण धर्मोंके नष्ट हो जानेसे यह सारा जगत् श्रीहीन हो जायगा ॥ ४४—४९½ ॥

सूत उवाच

एवं कलेः स्वरूपं तत्कथितं विप्रसत्तमाः ॥५०॥
हरिभक्तिपरानेव न कलिर्बाधते द्विजाः ।
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ध्यानमेव हि ॥५१॥
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ।
यतते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ॥५२॥
द्वापरे तच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ ।
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ॥५३॥
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ।
समस्तजगदाधारं परमार्थस्वरूपिणम् ॥५४॥
घोरे कलियुगे प्राप्ते विष्णुं ध्यायन्न सीदति ।
अहोऽतीव महाभाग्याः सकृद्ये केशवार्चकाः ॥५५॥

सूतजी कहते हैं—विप्रवरो ! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे कलियुगके स्वरूपका वर्णन किया । द्विजगण ! जो लोग भगवान्‌के भजनमें तत्पर रहेंगे, उन्हींको कलियुग बाधा नहीं दे सकता । सत्ययुगमें तपस्या प्रधान है और त्रेतामें ध्यान । द्वापरमें यज्ञको महान् बताया गया है और कलियुगमें एकमात्र दानको । सत्ययुगमें दस वर्षोंतक तप आदिके लिये प्रयत्न करनेसे जो फल मिलता है, वही त्रेतायुगमें एक ही वर्षके प्रयत्नसे सिद्ध होता है, द्वापरमें एक ही मासकी साधनासे सुलभ होता है और कलियुगमें केवल एक दिन-रात यत्न करनेसे प्राप्त हो जाता है । सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञोंद्वारा यजन और द्वापरमें पूजन करनेसे जो फल मिलता

है, उसे ही कलियुगमें केवल भगवान्‌का कीर्तन करनेसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है। घोर कलियुग प्राप्त होनेपर समस्त जगत्‌के आधारभूत परमार्थस्वरूप भगवान् विष्णुका ध्यान करनेवाले मनुष्यको कलिसे बाधा नहीं पहुँचती। अहो! जिन्होंने एक बार भी भगवान् विष्णुका पूजन किया है, वे बड़े सौभाग्यशाली हैं ॥ ५०—५५ ॥

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वकर्मबहिष्कृते।
न्यूनातिरिक्तता न स्यात्कलौ वेदोक्तकर्मणाम् ॥५६॥
हरिस्मरणमेवात्र सम्पूर्णफलदायकम्।
हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय ॥५७॥
जनार्दन जगद्धाम पीताम्बरधराच्युत।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः ॥५८॥
अहो हरिपरा ये तु कलौ सर्वभयंकरे।
ते सभाग्या महात्मानस्तत्संगतिरता अपि ॥५९॥
हरिनामपरा ये च हरिकीर्तनतत्पराः।
हरिपूजारता ये च ते कृतार्था न संशयः ॥६०॥
इत्येतद्वः समाख्यातं सर्वदुःखनिवारणम्।
समस्तपुण्यफलदं कलौ विष्णोः प्रकीर्तनम् ॥६१॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे कलिलक्षणकीर्तनं नाम
चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

सम्पूर्ण कर्मोंका बहिष्कार करनेवाले कलियुगके प्राप्त होनेपर किये जानेवाले वेदोक्त कर्मोंमें न्यूनता या अधिकताका दोष नहीं होता। उसमें भगवान्‌का स्मरण ही पूर्ण फलदायक होता है। जो लोग हरे, केशव, गोविन्द, वासुदेव, जगन्मय, जनार्दन, जगद्धाम, पीताम्बरधर, अच्युत इत्यादि नामोंका उच्चारण करते रहते हैं, उन्हें कलियुग कभी बाधा नहीं पहुँचाता। अहो! सबको भय देनेवाले इस कलिकालमें जो लोग भगवान् विष्णुकी आराधनामें लगे रहते हैं, अथवा जो उनके आराधकोंका सङ्ग ही करते हैं, वे महात्माजन बड़े ही भाग्यशाली हैं। जो हरिनामका जप करते हैं, हरिकीर्तनमें लगे रहते हैं और सदा हरिकी पूजा ही किया करते हैं, वे मनुष्य कृतकृत्य हो गये हैं—इसमें संदेह नहीं है। इस प्रकार यह कलिका वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा। कलियुगमें भगवान् विष्णुका नामकीर्तन समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला और सम्पूर्ण पुण्यफलोंको देनेवाला है ॥५६—६१॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'कलियुगके लक्षणोंका वर्णन' नामक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पचपनवाँ अध्याय

शुक्राचार्यको भगवान्‌की स्तुतिसे पुनः नेत्रकी प्राप्ति

राजोवाच

मार्कण्डेय कथं शुक्रः पुरा बलिमखे गुरुः।
वामनेन स विद्धाक्षः स्तुत्वा तल्लब्धवान् कथम् ॥१॥

राजा बोले—मार्कण्डेयजी! पूर्वकालमें राजा बलिके यज्ञमें भगवान् वामनने जो दैत्यगुरु शुक्राचार्यकी आँख छेद डाली थी, उसे उन्होंने पुनः भगवान्‌की स्तुतिद्वारा किस प्रकार प्राप्त किया? ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

वामनेन स विद्धाक्षो बहुतीर्थेषु भार्गवः।
जाह्नवीसलिले स्थित्वा देवमभ्यर्च्य वामनम् ॥ २ ॥
ऊर्ध्वबाहुः स देवेशं शङ्खचक्रगदाधरम्।
हृदि संचिन्त्य तुष्टाव नरसिंहं सनातनम् ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—वामनजीके द्वारा जब आँख छेद दी गयी, तब भृगुनन्दन शुक्राचार्यजीने बहुत तीर्थोंमें भ्रमण किया। फिर एक जगह गङ्गाजीके जलमें खड़े हो भगवान् वामनकी पूजा की और अपनी बाँहें ऊपर उठाकर शङ्ख-चक्र-गदाधारी सनातन देवेश्वर भगवान् नरसिंहका मन-ही-मन ध्यान करते हुए वे उनकी स्तुति करने लगे ॥ २-३ ॥

शुक्र उवाच

नमामि देवं विश्वेशं वामनं विष्णुरूपिणम्।
बलिदर्पहरं शान्तं शाश्वतं पुरुषोत्तमम् ॥ ४ ॥
धीरं शूरं महादेवं शङ्खचक्रगदाधरम्।
विशुद्धं ज्ञानसम्पन्नं नमामि हरिमच्युतम् ॥ ५ ॥
सर्वशक्तिमयं देवं सर्वगं सर्वभावनम्।
अनादिमजरं नित्यं नमामि गरुडध्वजम् ॥ ६ ॥

सुरासुरैर्भक्तिमद्भिः स्तुतो नारायणः सदा ।
पूजितं च हृषीकेशं तं नमामि जगद्गुरुम् ॥ ७ ॥
हृदि संकल्प्य यद्रूपं ध्यायन्ति यतयः सदा ।
ज्योतीरूपमनौपम्यं नरसिंहं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥
न जानन्ति परं रूपं ब्रह्माद्या देवतागणाः ।
यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति नमामि तम् ॥ ९ ॥
एतत्समस्तं येनादौ सृष्टं दुष्टवधात्पुनः ।
त्रातं यत्र जगल्लीनं तं नमामि जनार्दनम् ॥१०॥
भक्तैरभ्यर्चितो यस्तु नित्यं भक्तप्रियो हि यः ।
तं देवममलं दिव्यं प्रणमामि जगत्पतिम् ॥११॥
दुर्लभं चापि भक्तानां यः प्रयच्छति तोषितः ।
तं सर्वसाक्षिणं विष्णुं प्रणमामि सनातनम् ॥१२॥

शुक्राचार्यजी बोले—मैं सम्पूर्ण विश्वके स्वामी और श्रीविष्णुके अवतार उन देवदेव वामनजीको नमस्कार करता हूँ, जो बलिका अभिमान चूर्ण करनेवाले, परम शान्त, सनातन पुरुषोत्तम हैं। जो धीर हैं, शूर हैं, सबसे बड़े देवता हैं, शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले हैं, उन विशुद्ध एवं ज्ञानसम्पन्न भगवान् अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं, उन जरारहित, अनादिदेव भगवान् गरुडध्वजको मैं प्रणाम करता हूँ। देवता और असुर सदा ही जिन नारायणकी भक्तिपूर्वक स्तुति किया करते हैं, उन सर्वपूजित जगद्गुरु भगवान् हृषीकेशको मैं नमस्कार करता हूँ। यतिजन अपने अन्तःकरणमें भावनाद्वारा स्थापित करके जिनके स्वरूपका सदा ध्यान करते रहते हैं, उन अतुलनीय एवं ज्योतिर्मय भगवान् नृसिंहको मैं प्रणाम करता हूँ। ब्रह्मा आदि देवतागण जिनके परमार्थ स्वरूपको भलीभाँति नहीं जानते, अतः जिनके अवतार-रूपोंका ही वे सदा पूजन किया करते हैं, उन भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ। जिन्होंने प्रथम इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की थी, फिर जिन्होंने दुष्टोंका वध करके इसकी रक्षा की है तथा जिनमें ही यह सारा जगत् लीन हो जाता है, उन भगवान् जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। भक्तजन जिनका सदा अर्चन करते हैं तथा जो भक्तोंके प्रेमी हैं, उन परम निर्मल, दिव्य कान्तिमय जगदीश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ। जो प्रसन्न होनेपर अपने भक्तोंको दुर्लभ वस्तु भी प्रदान करते हैं, उन सर्वसाक्षी सनातन विष्णुभगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ॥४-१२॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

इति स्तुतो जगन्नाथः पुरा शुक्रेण पार्थिव ।
प्रादुर्बभूव तस्याग्रे शङ्खचक्रगदाधरः ॥१३॥
उवाच शुक्रमेकाक्षं देवो नारायणस्तदा ।
किमर्थं जाह्नवीतीरे स्तुतोऽहं तद्ब्रवीहि मे ॥१४॥

श्रीमार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! पूर्वकालमें शुक्राचार्यजीके द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् जगन्नाथ उनके समक्ष प्रकट हो गये। उस समय भगवान् नारायणने एक आँखवाले शुक्राचार्यजीसे कहा—'ब्रह्मन्! तुमने गङ्गातटपर किसलिये मेरा स्तवन किया है? यह मुझसे बताओ' ॥ १३-१४ ॥

शुक्र उवाच

देवदेव मया पूर्वमपराधो महान् कृतः ।
तद्दोषस्यापनुत्त्यर्थं स्तुतवानस्मि साम्प्रतम् ॥१५॥

शुक्राचार्यजी बोले—देवदेव! मैंने पहले (बलिके यज्ञमें) आपका बहुत बड़ा अपराध किया है; उसी दोषको दूर करनेके लिये इस समय आपका स्तवन किया है ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच

ममापराधान्नयनं नष्टमेकं तवाधुना ।
संतुष्टोऽस्मि ततः शुक्र स्तोत्रेणानेन ते मुने ॥१६॥

श्रीभगवान् बोले—मुने! मेरे प्रति किये गये अपराधसे ही तुम्हारा एक नेत्र नष्ट हो गया था। शुक्र! इस समय तुम्हारे इस स्तवनसे मैं तुमपर संतुष्ट हूँ ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तं मुनिं प्रहसन्निव ।
पाञ्चजन्येन तच्चक्षुः पस्पर्श च जनार्दनः ॥१७॥
स्पृष्टमात्रे तु शङ्खेन देवदेवेन शार्ङ्गिणा ।
बभूव निर्मलं चक्षुः पूर्ववन्नृपसत्तम ॥१८॥
एवं दत्त्वा मुनेश्चक्षुः पूजितस्तेन माधवः ।
जगामादर्शनं सद्यः शुक्रोऽपि स्वाश्रमं ययौ ॥१९॥

इत्येतदुक्तं मुनिना महात्मना
प्राप्तं पुरा देववरप्रसादात् ।
शुक्रेण किं ते कथयामि राजन्
पुनश्च मां पृच्छ मनोरथान्तः ॥२०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे शुक्रवरप्रदानो नाम
पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

यह कहकर देवदेवेश्वर जनार्दनने हँसते हुए-से अपने पाञ्चजन्य शङ्खसे शुक्राचार्यके फूटे हुए नेत्रका स्पर्श किया। नृपश्रेष्ठ! शार्ङ्गधन्वा देवदेव विष्णुके द्वारा शङ्खका स्पर्श कराये जाते ही शुक्राचार्यका वह नेत्र पहलेकी भाँति ही निर्मल हो गया। इस प्रकार शुक्राचार्यको नेत्र देकर और उनसे पूजित होकर भगवान् लक्ष्मीपति तुरंत अन्तर्धान हो गये और शुक्राचार्य भी अपने आश्रमको चले गये। राजन्! इस प्रकार पूर्वकालमें मुनिवर महात्मा शुक्राचार्यने देवेश्वर भगवान् विष्णुकी कृपासे अपना नेत्र प्राप्त कर लिया—यह प्रसङ्ग तुम्हारे प्रश्नानुसार मैंने सुना दिया। अब तुम्हें मैं और क्या सुनाऊँ? तुम्हारे मनमें और भी यदि कुछ पूछनेकी इच्छा हो तो मुझसे प्रश्न करो॥ १७—२०॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'शुक्राचार्यको वरप्रदान' नामक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५५॥

छप्पनवाँ अध्याय

विष्णुमूर्तिके स्थापनकी विधि

राजोवाच

साम्प्रतं देवदेवस्य नरसिंहस्य शार्ङ्गिणः।
श्रोतुमिच्छामि सकलं प्रतिष्ठायाः परं विधिम्॥ १॥

राजा बोले—ब्रह्मन्! अब मैं शार्ङ्गधनुषधारी देवदेव नरसिंहके स्थापनकी समस्त उत्तम विधिको सुनना चाहता हूँ॥ १॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

प्रतिष्ठाया विधिं विष्णोर्देवदेवस्य चक्रिणः।
प्रवक्ष्यामि यथाशास्त्रं शृणु भूपाल पुण्यदम्॥ २॥
कर्तुं प्रतिष्ठां यस्त्वत्र विष्णोरिच्छति पार्थिव।
स पूर्वं स्थिरनक्षत्रे भूमिशोधनमारभेत्॥ ३॥
खात्वा पुरुषमात्रं तु बाहुद्वयमथापि वा।
पूरयेच्छुद्धमृद्भिस्तु जलार्द्रैः शर्करान्वितैः॥ ४॥
अधिष्ठानं ततो बुद्ध्वा पाषाणेष्टकमृण्मयम्।
प्रासादं कारयेत्तत्र वास्तुविद्याविदा नृप॥ ५॥
चतुरस्रं समभागं चतुःकोणं समन्ततः।
शिलाभित्तिकमुत्कृष्टं तदलाभेष्टकामयम्॥ ६॥
तदलाभे तु मृत्कुड्यं पूर्वद्वारं सुशोभनम्।
जातिकाष्ठमयैः स्तम्भैस्तल्लग्नैः फलदान्वितैः॥ ७॥
उत्पलैः पद्मपत्रैश्च चित्रितैश्चित्रशिल्पिभिः।

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—भूपाल! देवदेवेश्वर चक्रपाणि भगवान् विष्णुके स्थापनकी पुण्यदायिनी विधि सुनो; मैं शास्त्रके अनुसार उसका वर्णन कर रहा हूँ। पृथिवीपते! जो भी इस लोकमें भगवान् विष्णुकी स्थापना करना चाहे, उसको चाहिये कि वह पहले स्थिर-संज्ञक* नक्षत्रोंमें भूमिशोधनका कार्य प्रारम्भ करे। एक पुरुषके बराबर अर्थात् साढ़े तीन हाथ अथवा दो हाथ नीचेतक नींव खोदकर उसमें जलसे भीगी हुई कंकड़ और बालूसहित शुद्ध मिट्टी भर दे। राजन्! फिर उसे ही आधार समझकर उसके ऊपर अपनी शक्तिके अनुसार पत्थर, ईंट अथवा मिट्टीसे गृहनिर्माण-विद्यामें कुशल कारीगरोंके द्वारा मन्दिर तैयार करावे। वह मन्दिर चारों ओरसे बराबर और चौकोर हो। उसकी दीवार पत्थरकी हो तो बहुत उत्तम; पत्थर न मिलनेपर ईंटोंकी ही दीवार बनवा ले। यदि ईंटें भी न मिल सकें तो मिट्टीकी ही भीत उठा ले। मन्दिर बहुत ही सुन्दर हो और उसका दरवाजा पूर्वकी ओर होना चाहिये। उस मन्दिरमें अच्छी जातिवाले काठके खंभे लगे हों और उनमें चित्रकला जाननेवाले शिल्पियोंके द्वारा फलयुक्त वृक्ष, कुमुद तथा कमलदल चित्रित कराने चाहिये॥ २—७½॥

इत्थं तु कारयित्वा हि हरेर्वेश्म सुशोभनम्॥ ८॥
पूर्वद्वारं नृपश्रेष्ठ सुकपाटं सुचित्रितम्।
अतिवृद्धातिबालैस्तु कारयेन्नाकृतिं हरेः॥ ९॥
कुष्ठाद्युपहतैर्वापि अन्यैर्वा दीर्घरोगिभिः।
विश्वकर्मोक्तमार्गेण पुराणोक्तं नृपोत्तम॥ १०॥
कारयेत्प्रतिमां दिव्यां पुष्टाङ्गेन तु धीमता।
सौम्याननां सुश्रवणां सुनासां च सुलोचनाम्॥ ११॥

* तीनों उत्तरा और रोहिणी—ये 'स्थिर' नक्षत्र कहलाते हैं।

नाधोदृष्टिं नोर्ध्वदृष्टिं तिर्यग्दृष्टिं न कारयेत् ।
कारयेत् समदृष्टिं तु पद्मपत्रायतेक्षणाम् ॥१२॥
सुभ्रुवं सुललाटां च सुकपोलां समां शुभाम् ।
बिम्बोष्ठीं सुष्ठुचिबुकां सुग्रीवां कारयेद्बुधः ॥१३॥
उपबाहुकरे देयं दक्षिणे चक्रमर्कवत् ।
नाभिसंलग्नदिव्यारं परितो नेमिसंयुतम् ॥१४॥
वामपार्श्वेऽप्युपभुजे देयं शङ्खं शशिप्रभम् ।
पाञ्चजन्यमिति ख्यातं दैत्यदर्पहरं शुभम् ॥१५॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार जिसमें सुन्दर किवाड़ लगे हों और जिसका द्वार पूर्व दिशाकी ओर हो—ऐसा बेल-बूटोंसे भलीभाँति चित्रित भगवान्‌का परम सुहावना मन्दिर बनवाकर बुद्धिमान् एवं हृष्टपुष्ट शरीरवाले पुरुषके द्वारा विश्वकर्माकी बतायी हुई पद्धतिके अनुसार पुराणोक्त दिव्य प्रतिमाका निर्माण कराये । जो कारीगर अत्यन्त बूढ़ा या बालक अथवा कोढ़ आदि रोगोंसे दूषित या पुराना रोगी हो, उससे भगवत्प्रतिमाका निर्माण नहीं कराना चाहिये । प्रतिमाका मुख सौम्य (प्रसन्न) तथा कान, नाक और नेत्र आदि अङ्ग सुढार होने चाहिये । उसकी दृष्टि न तो बहुत नीची हो, न बहुत ऊँची हो और न तिरछी ही हो । विद्वान् पुरुष ऐसी प्रतिमा बनवाये, जिसकी दृष्टि सम हो और जिसके नेत्र कमलदलके समान विशाल हों । भौंहें, ललाट और कपोल सुन्दर हों, उसका समस्त विग्रह सुडौल और सौम्य हो । उसके दोनों ओठ लाल हों, ठोढ़ी (अधरके नीचेका भाग) मनोहर तथा कण्ठ सुन्दर हो । प्रतिमाकी भुजाएँ चार होनी चाहिये—दो भुजाएँ और दो उपभुजाएँ । उनमेंसे दाहिनी उपभुजाके हाथमें सूर्यके समान आकारवाला चक्र धारण कराना चाहिये । चक्रकी नाभिके चारों ओर दिव्य अरे हों और उनके भी ऊपर सब ओरसे नेमि (हाल) लगी हो । बायीं उपभुजाके हाथमें चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिमय पाञ्चजन्य नामक शङ्ख देना चाहिये, जो दैत्योंके मदको चूर्ण करनेवाला और कल्याणप्रद है ॥ ८–१५ ॥

हारार्पितवरां दिव्यां कण्ठे त्रिवलिसंयुताम् ।
सुस्तनीं चारुहृदयां सुजठरां समां शुभाम् ॥१६॥
कटिलग्नवामकरां पद्मलग्नां च दक्षिणाम् ।
केयूरबाहुकां दिव्यां सुनाभित्रलिभङ्गिकाम् ॥१७॥
मुकटीं च सुजङ्घोरूं वस्त्रमेखलभूषिताम् ।
एवं तां कारयित्वा तु प्रतिमां राजसत्तम ॥१८॥
सुवर्णवस्त्रदानेन तत्कर्तॄन् पूज्य सत्तम ।
पूर्वपक्षे शुभे काले प्रतिमां स्थापयेद्बुधः ॥१९॥

उस दिव्य भगवत्प्रतिमाके कण्ठमें सुन्दर हार पहनाया गया हो, गलेमें त्रिवली-चिह्न हो, स्तनभाग सुन्दर, वक्षःस्थल रुचिर और उदर मनोहर होना चाहिये । सम्पूर्ण अङ्ग बराबर और सुन्दर हों । वह प्रतिमा अपना बायाँ हाथ कमरपर रक्खे हो और दाहिनेमें कमल धारण किये हो । बाहुओंमें भुजबन्ध पहने हो और सुन्दर नाभि तथा त्रिवलीसे सुशोभित एवं दिव्य जान पड़ती हो । उसका कटिभाग (नितम्ब), जाँघें और पिंडलियाँ मनोहर हों, वह कमरमें मेखला और पीतवस्त्रसे विभूषित हो । नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवत्प्रतिमाका निर्माण कराकर उसके बनानेवाले शिल्पियोंको सुवर्ण-दान एवं वस्त्र-दानके द्वारा सम्मानित करके विद्वान् पुरुष पूर्व पक्षमें शुभ समयपर उस प्रतिमाकी स्थापना करे ॥ १६–१९ ॥

प्रासादस्याग्रतः कृत्वा यागमण्डपमुत्तमम् ।
चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु चतुर्भिस्तोरणैर्युतम् ॥२०॥
सप्तधान्याङ्कुरैर्युक्तं शङ्खभेरीनिनादितम् ।
प्रतिमां क्षाल्य विद्वद्भिः षट्त्रिंशद्भिर्घटोदकैः॥२१॥
प्रविश्य मण्डपे तस्मिन् ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
तत्रापि स्नापयेत्पश्चात् पञ्चगव्यैः पृथक् पृथक्॥२२॥
तथोष्णवारिणा स्नाप्य पुनः शीतोदकेन च ।
हरिद्राकुङ्कुमाद्यैस्तु चन्दनेनोपलेपयेत् ॥२३॥
पुष्पमाल्यैरलंकृत्य वस्त्रैराच्छाद्य तां पुनः ।
पुण्याहं तत्र कृत्वा तु ऋग्भिस्तां प्रोक्ष्य वारिभिः॥२४॥
स्नात्वा तां ब्राह्मणैर्भक्तैः शङ्खभेरीस्वनैर्युतम् ।
वासयेत्सप्तरात्रं तु त्रिरात्रं वा नदीजले ॥२५॥
ह्रदे तु विमले शुद्धे तडागे वापि रक्षयेत् ।
अधिवास्य जले देवमेवं पार्थिवपुंगव ॥२६॥
तत उत्थाप्य विप्रैस्तु स्थाप्यालंकृत्य पूर्ववत् ।
ततो भेरीनिनादैस्तु वेदघोषैश्च केशवम् ॥२७॥
आनीय मण्डपे शुद्धे पद्माकारविनिर्मिते ।
कृत्वा पुनस्ततः स्नाप्य विष्णुभक्तैरलंक्रियात् ॥२८॥

मन्दिरके सामने एक उत्तम यज्ञमण्डप बनवाये । उसमें

चारों ओर एक-एकके क्रमसे चार दरवाजे हों और सारा मण्डप चार तोरणों (बड़े-बड़े फाटकों) से घिरा हो । उसमें सप्तधान्यके अङ्कुर उगे हों तथा शङ्ख और भेरी आदि बाजे बजते हों । विद्वानोंके द्वारा छत्तीस घड़े जलसे उस प्रतिमाका अभिषेक कराकर उसके साथ वेदोंके पारगामी ब्राह्मणोंको साथमें लिये उक्त मण्डपमें प्रवेश करे और फिर पञ्चगव्योंसे पृथक्-पृथक् स्नान कराये। इसी प्रकार गर्म जलसे नहलाकर फिर ठंढे जलसे स्नान कराये। तत्पश्चात्, हल्दी और कुङ्कुम आदि-का तथा चन्दनोंका उसपर लेप करे, फिर फूलोंकी मालाओंसे विभूषितकर उसे वस्त्र धारण करा दे और पुण्याहवाचन करके वैदिक ऋचाओंसे उच्चारणपूर्वक जलसे प्रोक्षितकर भक्त ब्राह्मणों-द्वारा उस भगवद्विग्रहको नहलाये। तत्पश्चात् शङ्ख, भेरी आदि बाजे बजाते हुए उसे नदीके जलमें रखकर सात या तीन दिनोंतक उसे वहाँ रहने दे। अथवा किसी निर्मल जलाशय या शुद्ध सरोवरमें ही रखकर उसकी रक्षा करे। नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान्‌का जलाधिवास कराके ब्राह्मणोंद्वारा उनको उठवाये और पालकी आदिमें चढ़ाकर पूर्ववत् उन्हें माला आदिसे विभूषित करे। तदनन्तर नगारोंकी ध्वनि और वेद-मन्त्रोंके गम्भीर घोषके साथ भगवान्‌को वहाँसे ले आये और कमलाकार बने हुए शुद्ध मण्डपमें रक्खे। वहाँ पुनः स्नान कराके विष्णुभक्तोंद्वारा उनका श्रृङ्गार कराये॥ २०–२८ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु विधिवत् षोडशर्त्विजः ।
चतुर्भिरध्ययनं कार्यं चतुर्भिः पालनं तथा ॥२९॥
चतुर्भिस्तु चतुर्दिक्षु होमः कार्यो विचक्षणैः ।
पुष्पाक्षतान्नमिश्रेण दद्याद्दिक्षु बलीन् नृप ॥३०॥
एकेन दापयेत्तेषामिन्द्राद्याः प्रीयन्तामिति ।
प्रत्येकं सायंसंध्यायां मध्यरात्रे तथोषसि ॥३१॥
उदिते च ततो दद्यान्मातृविप्रगणाय वा ।
जपन् पुरुषसूक्तं तु एकतस्तु पुनः पुनः ॥३२॥
एकतो मनसा राजन् विष्णोर्मन्दिरमध्यगः ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा यजमानो द्विजैः सह ॥३३॥
प्रविश्य प्रतिमाद्वारं शुभलग्ने विचक्षणः ।
देवसूक्तं द्विजैः सार्धमुपस्थाप्य च तां दृढम् ॥३४॥
संस्थाप्य विष्णुसूक्तेन पवमानेन वा पुनः ।
प्रोक्षयेद्देवदेवेशमाचार्यः कुशवारिणा ॥३५॥

इसके बाद सोलह ऋत्विज ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक भोजन कराये। उनमेंसे चार ब्राह्मणोंको तो वहाँ वेद-पुराणादिका स्वाध्याय (पाठ) करना चाहिये, चार विप्रोंको उस भगवद्विग्रहकी रक्षामें संलग्न रहना चाहिये तथा चार विद्वानोंको यज्ञमण्डपके भीतर चारों दिशाओंमें हवन करना चाहिये। राजन् ! फिर एक ब्राह्मणके द्वारा फूल, अक्षत और अन्नसे समस्त दिशाओंमें बलि अर्पित कराये। यह बलि इन्द्रादि देवताओंकी प्रसन्नताके लिये होती है। प्रत्येक दिशाके अधिपतिको 'इन्द्रः प्रीयताम्' इत्यादि रूपसे उसके नामोच्चारणपूर्वक ही बलि दे। सायंकाल, आधी रात, उषःकाल तथा सूर्योदयके समय प्रत्येक दिक्पालको बलि अर्पित करनी चाहिये। इसके बाद मातृकागणोंको बलि और ब्राह्मणोंको उपहार दे। राजन् ! इसके पश्चात् यजमानको चाहिये कि भगवान् विष्णुके मन्दिरमें एक ओर बैठकर एकाग्रचित्तसे बार-बार पुरुषसूक्तका जप करे। फिर पूरे एक दिन-रात उपवास करके शुभ लग्नमें वह बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मणोंको साथ ले मण्डपमें, जहाँ प्रतिमा रक्खी गयी हो, उस द्वारसे मण्डपके भीतर प्रवेश करे और ब्राह्मणोंके साथ देवसूक्तका पाठ करते हुए भगवत्प्रतिमाका उपस्थान करके उसे मन्दिरमें लाये और विष्णुसूक्त अथवा पवमानसूक्तका पाठ करते हुए उसे वहाँ दृढतापूर्वक स्थापित करे। तत्पश्चात् आचार्य कुशायुक्त जलसे उन देवदेवेश्वर भगवान्‌का अभिषेक करे ॥२९–३५॥

तदग्रे चाग्निमाधाय सम्परिस्तीर्य यत्नतः ।
जुहुयाज्जातकर्मादि गायत्र्या वैष्णवेन तु ॥३६॥
चतुर्भिराज्याहुतिभिरेकामेकां क्रियां प्रति ।
आचार्यस्तु स्वयं कुर्यादस्त्रैरन्यं च कारयेत् ॥३७॥
त्रातारमिति चैन्द्र्यां तु कुर्यादाज्यप्रणुन्नकम् ।
परोदिवेति याम्यायां वारुण्यां निपसेति च ॥३८॥
या ते रुद्रेति सौम्यां तु कुर्यादाज्याहुतीर्नृप ।
परोमात्रेति सूक्ताभ्यां सर्वत्राज्याहुतीर्नृप ॥३९॥
हुत्वा जपेच्च विधिवद्यदस्येति च स्विष्टकृत् ।
ततः स दक्षिणां दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः ॥४०॥
वस्त्रे द्वे कुण्डले चैव गुरवे चाङ्गुलीयकम् ।
यजमानस्ततो दद्याद्विभवे सति काञ्चनम् ॥४१॥

फिर भगवान्‌के सम्मुख अग्निस्थापन करे। अग्निके चारों

ओर यत्नपूर्वक कुशास्तरण करके गायत्री और विष्णुमन्त्रोंद्वारा जातकर्मादि संस्कारकी सिद्धिके निमित्त हवन करे। आचार्यको चाहिये कि प्रत्येक क्रियामें चार-चार बार घीकी आहुति दे तथा अस्त्रमन्त्र (अस्त्राय फट्) बोलकर दिग्बन्ध कराये। 'ॐ त्रातारमिन्द्रम्०' इत्यादि मन्त्र (शु० यजु० २० । ५०) से अग्निवेदीपर पूर्वकी ओर घीकी आहुति दे। 'परो दिवा०' इत्यादि मन्त्र (शु० यजु० १७ । २९) से दक्षिण दिशामें और 'निषसाद०' इत्यादि मन्त्र (शु० यजु० १० । २७) से पश्चिममें घृतका हवन करे। हे नृप ! 'या ते रुद्र०' (शु० यजु० १६ । २)—इस मन्त्रसे उत्तर दिशामें और 'परो मात्रया०' (ऋग्वेद ७ । ६ । ९९) इत्यादि दो सूक्तोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंमें घीकी आहुति दे। इस प्रकार विधिवत् हवन करके 'यदस्या०' (शु० यजु० २३ । २८) इस मन्त्रका जप करे और घीसे 'स्विष्टकृत्' संज्ञक होम करे। तदनन्तर ऋत्विजोंको उनके सम्मानके अनुकूल सादर दक्षिणा दे। इसके बाद यजमान आचार्यको दो वस्त्र, दो सुवर्णमय कुण्डल और सोनेकी अँगूठी दे तथा यदि सामर्थ्य हो तो इसके अतिरिक्त भी सुवर्णदान करे॥ ३६—४१॥

कलशाष्टसहस्रेण कलशाष्टशतेन वा।
एकविंशतिना वापि स्नपनं कारयेद् बुधः ॥४२॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्वेदघोषैश्च मङ्गलैः।
यवव्रीहियुतैः पात्रैरुद्धृतैरुच्छ्रिताङ्कुरैः ॥४३॥
दीपयष्टिपताकाभिश्छत्रचामरतोरणैः।
स्नपनं कारयित्वा तु यथाविभवविस्तरम् ॥४४॥
तत्रापि दद्याद्विप्रेभ्यो यथाशक्त्या तु दक्षिणाम्।
एवं यः कुरुते राजन् प्रतिष्ठां देवचक्रिणः ॥४५॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वभूषणभूषितः।
विमानेन विचित्रेण त्रिस्सप्तकुलजैर्वृतः ॥४६॥
पूजां सम्प्राप्य महतीमिन्द्रलोकादिषु क्रमात्।
बान्धवांस्तेषु संस्थाप्य विष्णुलोके महीयते ॥४७॥
तत्रैव ज्ञानमासाद्य वैष्णवं पदमाप्नुयात्।

फिर विद्वान् पुरुष यथासम्भव एक हजार आठ या एक सौ आठ अथवा इक्कीस घड़े जलसे भगवान्को स्नान कराये। उस समय शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे बजते रहें, वेद-मन्त्रोंका घोष और मङ्गलपाठ होता रहे। अपनी शक्तिके अनुसार जिनपर जौ आदिके अङ्कुर निकले हों, ऐसे जौ और व्रीहि (चावल) से भरे पात्रोंद्वारा तथा दीप, यष्टि (छड़ी), पताका, छत्र, चँवर, तोरण आदि सामग्रियोंके साथ स्नान-विधि पूर्ण कराके वहाँ भी ब्राह्मणोंको यथाशक्ति दक्षिणा दे। राजन् ! इस प्रकार जो भगवान् विष्णुकी प्रतिष्ठा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और मृत्युके पश्चात् अपने-सहित इक्कीस पीढ़ीके पितरोंको साथ ले, सब प्रकारके आभूषणोंसे भूषित एवं विचित्र विमानपर आरूढ हो, क्रमशः इन्द्रादि लोकोंमें विशेष सम्मान प्राप्त करता है तथा अपने बन्धुजनोंको उन लोकोंमें रखकर स्वयं विष्णुलोकमें जाकर प्रतिष्ठित होता है। फिर वहाँ ही भगवत्तत्त्वका ज्ञान प्राप्तकर वह विष्णुस्वरूपमें लीन हो जाता है॥ ४२—४७½॥

प्रतिष्ठाविधिरयं विष्णोर्मयैवं ते प्रकीर्तितः ॥४८॥
पठतां शृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनः ॥४९॥
यदा नृसिंहं नरनाथ भूमौ
संस्थाप्य विष्णुं विधिना ह्यनेन।
तदा ह्यसौ याति हरेः पदं तु
यत्र स्थितोऽयं न निवर्तते पुनः ॥५०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे प्रतिष्ठाविधिर्नाम
षट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

राजन् ! इस प्रकार तुमसे मैंने यह प्रतिष्ठा-विधि बतायी। इसका पाठ और श्रवण करनेवाले लोगोंके सब पाप दूर हो जाते हैं। नरनाथ ! जब मनुष्य इस पूर्वोक्त विधिसे पृथ्वीपर भगवान् नृसिंहकी स्थापना कर लेता है, तब मृत्युके बाद वह भगवान् विष्णुके उस नित्यधामको प्राप्त होता है, जहाँ रहकर वह पुनः संसारमें नहीं लौटता॥ ४८—५०॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'प्रतिष्ठाविधि' नामक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५६॥

सत्तावनवाँ अध्याय*

भक्तके लक्षण; हारीत-स्मृतिका आरम्भ; ब्राह्मणधर्मका वर्णन

राजोवाच

भक्तानां लक्षणं ब्रूहि नरसिंहस्य मे द्विज ।
येषां संगतिमात्रेण विष्णुलोको न दूरतः ॥ १ ॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! आप मुझसे भगवान् नृसिंहके भक्तोंका लक्षण बतलाइये, जिनका सङ्ग करनेमात्रसे विष्णुलोक दूर नहीं रह जाता ॥ १ ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

विष्णुभक्ता महोत्साहा विष्ण्वर्चनविधौ सदा ।
संयता धर्मसम्पन्नाः सर्वार्थान् साधयन्ति ते ॥ २ ॥
परोपकारनिरता गुरुशुश्रूषणे रताः ।
वर्णाश्रमाचारयुताः सर्वेषां सुप्रियंवदाः ॥ ३ ॥
वेदवेदार्थतत्त्वज्ञा गतरोषा गतस्पृहाः ।
शान्ताश्च सौम्यवदना नित्यं धर्मपरायणाः ॥ ४ ॥
हितं मितं च वक्तारः काले शक्त्यातिथिप्रियाः ।
दम्भमायाविनिर्मुक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ५ ॥
ईदृग्विधा नरा धीराः क्षमावन्तो बहुश्रुताः ।
विष्णुकीर्तनसंजातहर्षा रोमाञ्चिता जनाः ॥ ६ ॥
विष्ण्वर्चापूजने यत्तास्तत्कथायां कृतादराः ।
ईदृग्विधा महात्मानो विष्णुभक्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥

श्रीमार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! भगवान् विष्णुके भक्त उनकी पूजा-अर्चा करनेमें महान् उत्साह रखते हैं । वे अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए धर्ममें तत्पर रहकर सारे मनोरथोंको सिद्ध कर लेते हैं । भगवद्भक्त जन सदा परोपकार और गुरु-सेवामें लगे रहते हैं, सबसे मीठे वचन बोलते और अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके सदाचारोंका पालन करते हैं । वे वेद और वेदार्थका तत्त्व जाननेवाले होते हैं, उनमें क्रोध और कामनाओंका अभाव होता है । वे सदा शान्त रहते हैं, उनके मुखपर सौम्यभाव लक्षित होता है तथा वे निरन्तर धर्माचरणमें लगे रहते हैं । थोड़ा किंतु हितकारी वचन बोलते हैं, समयपर अपनी शक्तिके अनुसार सदा अतिथिकी सेवा करनेमें उनका प्रेम बना रहता है । वे दम्भ, कपट, काम और क्रोधसे रहित होते हैं । जो मनुष्य इन पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त एवं धीर हैं, बहुश्रुत और क्षमावान् हैं तथा विष्णुभगवान्के नामोंका कीर्तन अथवा श्रवण करते समय हर्षसे रोमाञ्चित हो जाते हैं, इसी तरह जो विष्णुपूजनमें तत्पर और भगवत्कथामें आदर रखनेवाले हैं, ऐसे महात्मा पुरुष भगवान् विष्णुके भक्त कहे गये हैं ॥ २—७ ॥

राजोवाच

ये वर्णाश्रमधर्मस्थास्ते भक्ताः केशवं प्रति ।
इति प्रोक्तं त्वया विद्वन् भृगुवर्य गुरो मम ॥ ८ ॥
वर्णानामाश्रमाणां च धर्मं मे वक्तुमर्हसि ।
यैः कृतैस्तुष्यते देवो नरसिंहः सनातनः ॥ ९ ॥

राजा बोले—विद्वन् ! भृगुवर्य ! मेरे गुरुदेव ! आपने अभी कहा है कि जो अपने वर्ण और आश्रमके धर्ममें लगे रहते हैं, वे भगवान् विष्णुके भक्त हैं; अतः आप कृपा करके वर्णों और आश्रमोंके धर्म बताइये, जिनके पालन करनेसे सनातन भगवान् नृसिंह संतुष्ट होते हैं ॥ ८-९ ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि पुरावृत्तमनुत्तमम् ।
मुनिभिः सह संवादं हारीतस्य महात्मनः ॥ १० ॥

श्रीमार्कण्डेयजीने कहा—इस विषयमें मुनियोंके साथ महात्मा हारीत ऋषिका संवाद हुआ था; उसी प्राचीन एवं उत्तम इतिहासका आज मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करूँगा ॥ १० ॥

हारीतं धर्मतत्त्वज्ञमासीनं बहुपाठकम् ।
प्रणिपत्याब्रुवन् सर्वे मुनयो धर्मकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥
भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वधर्मप्रवर्त्तक ।
वर्णानामाश्रमाणां च धर्मं प्रब्रूहि शाश्वतम् ॥ १२ ॥

एक समयकी बात है, धर्मका तत्त्व जाननेकी इच्छावाले समस्त मुनियोंने एक जगह आसनपर आसीन, धर्म-तत्त्ववेत्ता एवं बहुपाठी महात्मा

* यहाँसे 'हारीत-स्मृति'का प्रारम्भ है । अधुना उपलब्ध 'लघु हारीत स्मृति'के पाठ इसके पाठसे प्रायः मिलते हैं । कुछ-कुछ पाठान्तर भी उपलब्ध होते हैं ।

हारीत ऋषिके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा—'भगवन् ! आप समस्त धर्मोंके ज्ञाता और प्रवर्तक हैं; अतः आप हमलोगोंसे वर्ण और आश्रमोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सनातन धर्मका वर्णन कीजिये' ॥ ११-१२ ॥

हारीत उवाच

नारायणः पुरा देवो जगत्स्रष्टा जलोपरि ।
सुष्वाप भोगिपर्यङ्के शयने तु श्रिया सह ॥१३॥
तस्य सुप्तस्य नाभौ तु दिव्यं पद्ममभूत् किल ।
तन्मध्ये चाभवद्ब्रह्मा वेदवेदाङ्गभूषणः ॥१४॥
स चोक्तस्तेन देवेन ब्राह्मणान्मुखतोऽसृजत् ।
असृजत्क्षत्रियान् बाह्वोर्वैश्यांस्तु ऊरुतोऽसृजत् ॥१५॥
शूद्रास्तु पादतः सृष्टास्तेषां चैवानुपूर्वशः ।
धर्मशास्त्रं च मर्यादां प्रोवाच कमलोद्भवः ॥१६॥
तद्वत्सर्वं प्रवक्ष्यामि शृणुत द्विजसत्तमाः ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ॥१७॥

श्रीहारीतजी बोले—पूर्वकालमें जगत्स्रष्टा भगवान् नारायण जलके ऊपर शेषनागकी शय्यापर श्रीलक्ष्मीजीके साथ शयन करते थे। कहते हैं, शयन-कालमें ही उन भगवान्की नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ और उस कमल-कोषमेंसे वेद-वेदाङ्गोंके ज्ञानसे विभूषित श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए। उन ब्रह्माजीने सृष्टिके लिये भगवान् नारायणकी आज्ञा होनेपर सर्वप्रथम ब्राह्मणोंको अपने मुखसे प्रकट किया। फिर क्षत्रियोंको बाहुओंसे और वैश्योंको जाँघोंसे उत्पन्न किया। अन्तमें उन्होंने चरणोंसे शूद्रोंकी सृष्टि की। फिर कमलोद्भव ब्रह्माजीने क्रमशः उन्हीं ब्राह्मणादि वर्णोंके धर्मका उपदेश करनेवाले शास्त्र और वर्णोंकी मर्यादाका वर्णन किया। द्विजवरो ! ब्रह्माजीने जो कुछ उपदेश किया, वह सब मैं आपलोगोंसे कह रहा हूँ; आप सुनें। यह धर्मशास्त्र धन, यश और आयुको बढ़ानेवाला तथा स्वर्ग और मोक्षरूपी फलको देनेवाला है ॥ १३-१७ ॥

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव चोत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः ।
तस्य धर्मं प्रवक्ष्यामि तद्योग्यं देशमेव च ॥१८॥
कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावात्तु प्रवर्तते ।
तस्मिन् देशे वसेर्धर्मं कुरु ब्राह्मणपुंगव ॥१९॥
षट्कर्माणि च यान्याहुर्ब्राह्मणस्य मनीषिणः ।
तैरेव सततं यस्तु प्रवृत्तः सुखमेधते ॥२०॥
अध्ययनाध्यापनं च यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चेति कर्मषट्कमिहोच्यते ॥२१॥
अध्यापनं च त्रिविधं धर्मस्यार्थस्य कारणम् ।
शुश्रूषाकारणं चैव त्रिविधं परिकीर्तितम् ॥२२॥
योग्यानध्यापयेच्छिष्यान् याज्यानपि च याजयेत् ।
विधिना प्रतिगृह्णंश्च गृहधर्मप्रसिद्धये ॥२३॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं शुभे देशे समाहितः ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं कर्म कुर्यात् प्रयत्नतः ॥२४॥
गुरुशुश्रूषणं चैव यथान्यायमतन्द्रितः ।
सायं प्रातरुपासीत विधिनाग्निं द्विजोत्तमः ॥२५॥

जो ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रीके गर्भ और ब्राह्मणके ही वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, वह 'ब्राह्मण' कहा गया है। अब मैं ब्राह्मणके धर्म और निवास-योग्य देशको बता रहा हूँ। ब्रह्माजीने ब्राह्मणको उत्पन्न करके उनसे कहा—'ब्राह्मणश्रेष्ठ ! जिस देशमें कृष्णसार मृग स्वभावतः निवास करता हो, उसी देशमें रहकर तुम धर्मका पालन करो।' मनीषियोंने जो ब्राह्मणके छः कर्म बतलाये हैं, उन्हींके अनुसार जो सदा व्यवहार करता है, वह सुखपूर्वक अभ्युदयशील होता है। अध्ययन (पढ़ना), अध्यापन (पढ़ाना), यजन (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ कराना), दान करना और दान लेना—ये ही ब्राह्मणके छः कर्म कहे जाते हैं। इनमेंसे अध्ययन तीन प्रकारका बताया जाता है—पहला धर्मके लिये, दूसरा धनके लिये और तीसरा अपनी सेवा करानेके लिये होता है। ब्राह्मणको चाहिये कि योग्य शिष्योंको पढ़ाये, योग्य यजमानोंका यज्ञ कराये और गृहस्थधर्मकी सिद्धि (जीविका चलाने आदि) के लिये विधिपूर्वक दूसरेका दान भी ग्रहण करे। शुभ स्थानपर रहकर, एकाग्रचित्त हो, प्रतिदिन वेदका ही अभ्यास करे तथा यत्नपूर्वक नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंका अनुष्ठान करे। श्रेष्ठ ब्राह्मणको चाहिये कि आलस्य त्यागकर उचितरूपसे गुरुजनोंकी सेवा करे और प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायंकाल विधिपूर्वक अग्निकी सेवा किया करे ॥१८-२५॥

कृतस्नानस्तु कुर्वीत वैश्वदेवं दिने दिने ।
अतिथिं चागतं भक्त्या पूजयेच्छक्तितो गृही ॥२६॥
अन्यानभ्यागतान् दृष्ट्वा पूजयेदविरोधतः ।
स्वदारनिरतो नित्यं परदारविवर्जितः ॥२७॥

सत्यवादी जितक्रोधः स्वधर्मनिरतो भवेत् ।
स्वकर्मणि च सम्प्राप्ते प्रमादं नैव कारयेत् ॥२८॥
प्रियां हितां वदेद्वाचं परलोकाविरोधिनीम् ।
एवं धर्मः समुद्दिष्टो ब्राह्मणस्य समासतः ।
धर्ममेवं तु यः कुर्यात्स याति ब्रह्मणः पदम् ॥२९॥
इत्येष धर्मः कथितो मया वै
विप्रस्य विप्रा अखिलाघहारी।
वदामि राजादिजनस्य धर्मं
पृथक्पृथग्बोधत विप्रवर्याः ॥३०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे ब्राह्मणधर्मकथनं नाम सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण स्नान आदिके बाद प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करे और घरपर आये हुए अतिथिका अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक सम्मान करे । एक अतिथिके आ जानेपर यदि दूसरे भी आ जायँ तो उन्हें भी देखकर विरोध न माने; उनका भी यथाशक्ति सम्मान करे । सदा अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रक्खे, दूसरेकी स्त्रीके सम्पर्कमें सदा दूर रहे । सदा सत्य बोले, क्रोध न करे, अपने धर्मका पालन करता रहे । अपने नैत्यिक आदि कर्मका समय प्राप्त होनेपर प्रमाद न करे । जिससे परलोक न बिगड़े—ऐसी सत्य, प्रिय और हितकारिणी वाणी बोले । इस प्रकार मैंने ब्राह्मण-धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया । जो ब्राह्मण इस प्रकार अपने धर्मका पालन करता है, वह नित्य ब्रह्मधाम (सत्यलोक) को प्राप्त होता है । विप्रगण ! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे यह ब्राह्मण-धर्म कहा है, यह समस्त पापोंको दूर करनेवाला है । विप्रवरो ! अब क्षत्रियादि जातियोंका पृथक्-पृथक् धर्म बताता हूँ, आप लोग सुनें ॥ २६–३० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'ब्राह्मणधर्मका वर्णन' नामक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवाँ अध्याय

क्षत्रियादि वर्णोंके धर्म और ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रमके धर्मोंका वर्णन

हारीत उवाच

क्षत्रादीनां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
येन येन प्रवर्तन्ते विधिना क्षत्त्रियादयः ॥ १ ॥
राज्यस्थः क्षत्त्रियश्चैव प्रजा धर्मेण पालयेत् ।
कुर्यादध्ययनं सम्यग्यजेद्यज्ञान् यथाविधि ॥ २ ॥
दद्याद्दानं द्विजाग्र्येभ्यो धर्मबुद्धिसमन्वितः ।
स्वदारनिरतो नित्यं परदारविवर्जितः ॥ ३ ॥
नीतिशास्त्रार्थकुशलः संधिविग्रहतत्त्ववित् ।
देवब्राह्मणभक्तश्च पितृकार्यपरस्तथा ॥ ४ ॥
धर्मेणैव जयं काङ्क्षेदधर्मं परिवर्जयेत् ।
उत्तमां गतिमाप्नोति क्षत्त्रियोऽप्येवमाचरन् ॥ ५ ॥

श्रीहारीत मुनि बोले—अब मैं क्रमशः क्षत्रियादि वर्णोंके लिये विहित नियमोंका यथावत् वर्णन करूँगा जिनके अनुसार क्षत्रियादिको अपना व्यवहार निभाना चाहिये। राजपदपर स्थित क्षत्रियको उचित है कि वह धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करे। उसे भलीभाँति वेदाध्ययन और विधिपूर्वक यज्ञ भी करने चाहिये । धर्मबुद्धिसे युक्त हो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान दे, सदा अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहकर परस्त्रीका त्याग करे, नीतिशास्त्रका अर्थ समझनेमें निपुण हो; संधि और विग्रहका तत्त्व समझे । देवताओं और ब्राह्मणोंमें भक्ति रक्खे, पितरोंका पूजन—श्राद्धादि कर्म करे । धर्मपूर्वक ही विजयकी इच्छा करे, अधर्मको भलीभाँति त्याग दे । इस प्रकार आचरण करनेवाला क्षत्रिय उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ १–५ ॥

गोरक्षाकृषिवाणिज्यं कुर्याद्वैश्यो यथाविधि ।
दानधर्मं यथाशक्त्या गुरुशुश्रूषणं तथा ॥ ६ ॥
लोभदम्भविनिर्मुक्तः सत्यवागनसूयकः ।
स्वदारनिरतो दान्तः परदारविवर्जितः ॥ ७ ॥
धनैर्विप्रान् समर्चेत यज्ञकाले त्वरान्वितः ।
यज्ञाध्ययनदानानि कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ ८ ॥
पितृकार्यं च तत्काले नरसिंहार्चनं तथा ।
एतद्वैश्यस्य कर्मोक्तं स्वधर्ममनुतिष्ठतः ॥ ९ ॥
एतदासेवमानस्तु स स्वर्गी स्यान्न संशयः ।

वैश्यको चाहिये कि वह विधिपूर्वक गोरक्षा, कृषि और व्यापार करे तथा अपनी शक्तिके अनुसार दानधर्म और गुरुसेवा भी करे। लोभ और दम्भसे सर्वथा दूर रहे, सत्यवादी हो, किसीके दोष न देखे, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर परस्त्रीका त्याग करे और अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहे। यज्ञ-कालमें शीघ्रतापूर्वक ब्राह्मणोंका धनसे सम्मान करे तथा आलस्य छोड़कर प्रतिदिन यज्ञ, अध्ययन और दान करता रहे। श्राद्ध-काल प्राप्त होनेपर पितृ-श्राद्ध अवश्य करे और नित्यप्रति भगवान् श्रीनृसिंहदेवका पूजन करे। अपने धर्मका पालन करनेवाले वैश्यके लिये यही कर्तव्य कर्म बतलाया गया है। पूर्वोक्त कर्मका पालन करनेवाला वैश्य निस्संदेह स्वर्गलोकका अधिकारी होता है ॥ ६—९३ ॥

वर्णत्रयस्य शुश्रूषां कुर्याच्छूद्रः प्रयत्नतः ॥१०॥
दासवद्ब्राह्मणानां च विशेषेण समाचरेत्।
अयाचितं प्रदातव्यं कृषिं वृत्त्यर्थमाचरेत् ॥११॥
ग्रहाणां मासिकं कार्यं पूजनं न्यायधर्मतः।
धारणं जीर्णवस्त्रस्य विप्रस्योच्छिष्टमार्जनम् ॥१२॥
स्वदारेषु रतिं कुर्यात् परदारविवर्जितः।
पुराणश्रवणं विप्रान्नरसिंहस्य पूजनम् ॥१३॥
तथा विप्रनमस्कारं कार्यं श्रद्धासमन्वितम्।
सत्यसम्भाषणं चैव रागद्वेषविवर्जनम् ॥१४॥
इत्थं कुर्वन् सदा शूद्रो मनोवाक्कायकर्मभिः।
स्थानमैन्द्रमवाप्नोति नष्टपापस्तु पुण्यभाक् ॥१५॥

शूद्रको चाहिये कि वह यत्नपूर्वक इन तीनों वर्णोंकी सेवा करे और ब्राह्मणोंकी तो दासकी भाँति विशेषरूपसे शुश्रूषा करे। किसीसे माँगकर नहीं, अपनी ही कमाईका दान करे। जीविकाके लिये कृषि-कर्म करे। प्रत्येक मासमें न्याय और धर्मके अनुसार ग्रहोंका पूजन करे, पुराना वस्त्र धारण करे। ब्राह्मणका जूठा बर्तन माँजे। अपनी स्त्रीमें अनुराग रक्खे। परस्त्रियोंको दूरसे ही त्याग दे। ब्राह्मणके मुखसे पुराण-कथा श्रवण करे, भगवान् नरसिंहका पूजन करे। इसी प्रकार ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक नमस्कार करे। राग-द्वेष त्याग दे और सत्यभाषण करे। इस प्रकार मन, वाणी, शरीर और कर्मसे आचरण करनेवाला शूद्र पापरहित हो पुण्यका भागी होता है और मृत्युके पश्चात् इन्द्रलोकको प्राप्त होता है ॥१०—१५॥

वर्णेषु धर्मा विविधा मयोक्ता
यथाक्रमं ब्राह्मणवर्यसाधिताः।
शृणुध्वमत्राश्रमधर्ममाद्यं
मयोच्यमानं क्रमशो मुनीन्द्राः ॥१६॥

मुनीन्द्रगण! वर्णोंके ये नाना प्रकारके धर्म मैंने आपलोगोंसे क्रमशः कहे हैं। इन्हें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने बतलाया है। अब मैं क्रमसे प्रथम ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्म बता रहा हूँ, आप लोग सुनें ॥ १६ ॥

हारीत उवाच

उपनीतो माणवको वसेद्गुरुकुले सदा।
गुरोः प्रियहितं कार्यं कर्मणा मनसा गिरा ॥१७॥
ब्रह्मचर्यमधश्शय्या तथा वह्नेरुपासनम्।
उदकुम्भं गुरोर्दद्यात्तथा चेन्धनमाहरेत् ॥१८॥
कुर्यादध्ययनं पूर्वं ब्रह्मचारी यथाविधि।
विधिं हित्वा प्रकुर्वाणो न स्वाध्यायफलं लभेत् ॥१९॥
यत्किंचित्कुरुते कर्म विधिं हित्वा निरात्मकः।
न तत्फलमवाप्नोति कुर्वाणो विधिविच्युतः ॥२०॥
तस्मादेवं व्रतानीह चरेत्स्वाध्यायसिद्धये।
शौचाचारमशेषं तु शिक्षयेद्गुरुसंनिधौ ॥२१॥
अजिनं दण्डकाष्ठं च मेखलां चोपवीतकम्।
धारयेदप्रमत्तस्तु ब्रह्मचारी समाहितः ॥२२॥
सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं भोजनं संयतेन्द्रियः।
गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ॥२३॥
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वंपूर्वं च वर्जयेत्।
आचम्य प्रयतो नित्यमश्नीयाद्गुर्वनुज्ञया ॥२४॥
शयनात् पूर्वमुत्थाय दर्भमृद्दन्तशोधनम्।
वस्त्रादिकमथान्यच्च गुरवे प्रतिपादयेत् ॥२५॥
स्नाने कृते गुरौ पश्चात्स्नानं कुर्वीत यत्नवान्।
ब्रह्मचारी व्रती नित्यं न कुर्याद्दन्तशोधनम् ॥२६॥

श्रीहारीत मुनि बोले—उपनयन-संस्कार हो जानेके बाद ब्रह्मचारी बालक सदा गुरुकुलमें निवास करे। उसको चाहिये कि मन, वाणी और कर्मसे गुरुका प्रिय और हित करे। वह ब्रह्मचर्यका पालन, भूमिपर शयन और अग्निकी उपासना

करे। गुरुके लिये जलका घड़ा भरकर लाये और हवनके निमित्त समिधा ले आये। इस प्रकार सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रममें रहकर विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये। जो विधिका त्याग करके अध्ययन करता है, उसे उस अध्ययनका फल नहीं प्राप्त होता (उसकी विद्या सफल नहीं होती)। विधिकी अवहेलना करके वह जो कुछ भी कर्म करता है, विधिभ्रष्ट एवं नास्तिक होनेके कारण उसे उसका फल नहीं मिलता। इसलिये गुरुकुलमें रहकर अपने अध्ययनकी सफलताके लिये उपर्युक्त व्रतोंका आचरण करना चाहिये और गुरुके निकट समस्त शौचाचारोंको सीखना चाहिये। ब्रह्मचारी सावधान और एकाग्रचित्त रहकर मृगचर्म, पलाशदण्ड, मेखला और उपवीत (जनेऊ) धारण करे। अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर सायंकाल और प्रातःकाल भिक्षासे मिला हुआ अन्न भोजन करे। गुरुके कुलमें और उनके कुटुम्बी बन्धु-बान्धवोंके घरमें भिक्षा न माँगे। दूसरेके घर न मिले तो पूर्वोक्त घरोंमेंसे भी भिक्षा ले सकता है; किंतु यथासाध्य पूर्व-पूर्व गृहोंका त्याग करे। अर्थात् पहले कहे हुए गुरुगृह या गुरुकुलका त्यागकर अन्यत्र भिक्षा ले। नित्य आचमन करके शुद्धचित्त होकर गुरुकी आज्ञासे भोजन करे। रात्रि बीतनेपर गुरुसे पहले ही अपने आसनसे उठ जाय और गुरुके लिये कुश, मिट्टी, दाँतुन और वस्त्र आदि अन्य सामान एकत्र करके उनको दे। गुरुजीके स्नान कर लेनेपर स्वयं यत्नपूर्वक स्नान करे। ब्रह्मचारी सदा व्रत रक्खे और काठ आदिसे दन्तधावन न करे ॥ १७—२६ ॥

छत्रोपानहमभ्यङ्गं गन्धमाल्यानि वर्जयेत्।
नृत्यगीतकथालापं मैथुनं च विशेषतः ॥२७॥
वर्जयेन्मधु मांसं च रसास्वादं तथा स्त्रियः।
कामं क्रोधं च लोभं च परिवादं तथा नृणाम् ॥२८॥
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ॥२९॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वाग्निं पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥३०॥
आस्तिकोऽहरहः संध्यां त्रिकालं संयतेन्द्रियः।
उपासीत यथान्यायं ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥३१॥
अभिवाद्य गुरोः पादौ संध्याकर्मावसानतः।
यथायोगं प्रकुर्वीत मातापित्रोस्तु भक्तितः ॥३२॥
एतेषु त्रिषु तुष्टेषु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः।
तदेषां शासने तिष्ठेद्ब्रह्मचारी विमत्सरः ॥३३॥
अधीत्य चतुरो वेदान् वेदौ वेदमथापि वा।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा तदा स्वस्वेच्छया वसेत् ॥३४॥
विरक्तः प्रव्रजेद्विद्वान् संरक्तस्तु गृही भवेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि ध्रुवं द्विजः ॥३५॥
यस्यैतानि सुशुद्धानि जिह्वोपस्थोदरं गिरः।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥३६॥

छाता, जूता, उबटन, गन्धयुक्त इत्र आदि और फूल-माला आदिको त्याग दे। विशेषतः नाच, गान और ग्राम्य कथा-वार्ता एवं मैथुनका सर्वथा त्याग करे। मधु, मांस और रसास्वाद (जिह्वाके स्वाद)को त्याग दे। स्त्रियोंसे अलग रहे। काम, क्रोध, लोभ तथा दूसरे मनुष्योंके अपवाद (निन्दा) का परित्याग करे। स्त्रियोंकी ओर देखने, उनका स्पर्श करने और दूसरे जीवोंकी हिंसा करने आदिसे बचकर रहे। सब जगह अकेले ही शयन करे, कभी कहीं भी वीर्यपात न करे। यदि कामभाव न होनेपर भी स्वप्नमें वीर्य-स्खलन हो जाय तो ब्रह्मचारी द्विज-को चाहिये, वह स्नान करके सूर्य और अग्निकी आराधना करे तथा 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इस ऋचाका जप करे। ईश्वर और परलोकके अस्तित्वमें विश्वास करता हुआ, ब्रह्मचारियों-के लिये उचित व्रतके पालनमें तत्पर रहकर, जितेन्द्रिय हो, प्रतिदिन न्यायतः प्राप्त त्रिकालसंध्याकी उपासना करे। संध्या-कर्म समाप्त होनेपर गुरुके चरणोंमें प्रणाम करे और यदि सुयोग प्राप्त हो तो माता-पिताके चरणोंमें भी भक्ति-पूर्वक प्रणाम करे। इन तीनोंके संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न रहते हैं; इसलिये ब्रह्मचारीको चाहिये कि डाह छोड़कर इन तीनोंके शासनमें रहे। यथासम्भव चार, दो अथवा एक ही वेदका अध्ययन पूर्ण करके गुरुको दक्षिणा दे। फिर अपने इच्छानुसार कहीं भी निवास करे। यदि वह विद्वान् ब्रह्मचारी विरक्त हो, तब तो संन्यासी हो जाय; किंतु यदि उसका विषय-भोगोंके प्रति अनुराग हो तो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। द्विजो! रागी पुरुष यदि संन्यासी हो जाय तो वह निश्चय ही नरकमें जाता है। जिसकी जिह्वा, उपस्थ (जननेन्द्रिय), उदर और वाणी शुद्ध हों, अर्थात् जो स्वाद, काम और बुभुक्षाको जीत चुका हो और सत्यवादी या मौन

रहता हो, वह पुरुष यदि ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण हो तो वह विवाह न करके संन्यास ले सकता है ॥ २७—३६ ॥

एवं यो विधिमास्थाय नयेत्कालमतन्द्रितः ।
तेन भूयः प्रजायेत ब्रह्मचारी दृढव्रतः ॥३७॥
यो ब्रह्मचारी विधिमेतमास्थित-
श्चरेत्पृथिव्यां गुरुसेवने रतः ।
सम्प्राप्य विद्यामपि दुर्लभां तां
फलं हि तस्याः सकलं हि विन्दति ॥३८॥

इस प्रकार जो आलस्य त्यागकर विधिका पालन करते हुए ही समय-यापन करता है, वह ब्रह्मचारी अधिकाधिक दृढ़ व्रतवाला होता है। जो ब्रह्मचारी पूर्वोक्त विधिका सहारा लेकर गुरु-सेवापरायण हो पृथ्वीपर भ्रमण करता है, वह दुर्लभ विद्याको भी सीखकर उसके सम्पूर्ण फलोंको प्राप्त कर लेता है* ॥ ३७-३८ ॥

हारीत उवाच

गृहीतवेदाध्ययनः श्रुतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
गुरोर्दत्तवरः सम्यक् समावर्तनमारभेत् ॥३९॥
असमाननामगोत्रां कन्यां भ्रातृयुतां शुभाम् ।
सर्वावयवसंयुक्तां सद्वृत्तामुद्वहेत्ततः ॥४०॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
वाचालामतिलोमां च न व्यङ्गां भीमदर्शनाम् ॥४१॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्तपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥४२॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तन्वोष्ठकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥४३॥
ब्राह्मेण विधिना कुर्यात्प्रशस्तेन द्विजोत्तमः ।
यथायोगं तथा ह्येवं विवाहं वर्णधर्मतः ॥४४॥

श्रीहारीत मुनि कहते हैं—पूर्वोक्त रीतिसे वेदाध्ययन समाप्तकर श्रुति तथा अन्यान्य शास्त्रोंके अर्थ एवं तत्त्वका ज्ञान रखनेवाला ब्रह्मचारी विद्वान् गुरुसे आशीर्वाद प्राप्तकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार आरम्भ करे। फिर, जिसके नाम और गोत्र अपने-से भिन्न हों, जिसके भाई भी हो, जो सुन्दरी एवं शुभ लक्षणोंवाली हो, जिसके शरीरके सभी अवयव अविकल हों और जिसका आचरण उत्तम हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह करे। जिसके शरीरका रंग कपिल हो, जो अधिकाङ्गी या रोगिणी हो, बहुत बोलनेवाली और अधिक रोमवाली हो, जिसका कोई अङ्ग विकृत या हीन हो और जिसकी सूरत डरावनी हो, ऐसी कन्यासे विवाह न करे। जिसका नाम नक्षत्र, वृक्ष या नदीके नामपर रक्खा गया हो, अथवा जिसके नामके अन्तमें पर्वतवाचक शब्द हो, अथवा जो पक्षी, साँप और दास आदि अर्थवाले नामोंसे युक्त हो, या जिसका भयंकर नाम हो, ऐसी कन्यासे भी विवाह न करे। जिसके शरीरके सभी अवयव सुडौल हों, नाम कोमल और मधुर हो, जो हंस या गजराजके समान मन्द एवं लीलायुक्त गतिसे चलनेवाली हो, जिसके अधर, दाँत और केश पतले हों एवं जिसका शरीर कोमल हो, ऐसी कन्यासे विवाह करे। श्रेष्ठ द्विजातिको चाहिये कि यथासम्भव सर्वोत्तम ब्राह्मविधिसे विवाह करे। इस प्रकार वर्णधर्मके अनुसार विवाह-संस्कार पूर्ण करना चाहिये ॥ ३९—४४ ॥

उषःकाले समुत्थाय कृतशौचो द्विजोत्तमः ।
कुर्यात्स्नानं ततो विद्वान्दन्तधावनपूर्वकम् ॥४५॥
मुखे पर्युषिते नित्यं यतोऽपूतो भवेन्नरः ।
तस्माच्छुष्कमथार्द्रं वा भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥४६॥
खदिरं च कदम्बं च करञ्जं च वटं तथा ।
अपामार्गं च बिल्वं च अर्कश्चोदुम्बरस्तथा ॥४७॥
एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि ।
दन्तधावनकाष्ठं च वक्ष्यामि तत्प्रशस्तताम् ॥४८॥

इसके बाद विद्वान् द्विजको चाहिये कि प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व उठकर शौचादिके अनन्तर दन्तधावन करके तुरंत स्नान कर ले। प्रतिदिन रातमें सोकर उठनेके बाद मुख पर्युषित होनेके कारण मनुष्य अपवित्र रहता है, अतः शुद्धिके लिये सूखा या गीला दन्तधावन अवश्य चबाना चाहिये। दाँतनके लिये खदिर, कदम्ब, करञ्ज, वट, अपामार्ग, बिल्व, मदार और गूलर—ये वृक्ष उत्तम माने गये हैं। दन्तधावनके लिये उपयुक्त काष्ठ और उसकी उत्तमताका लक्षण बता रहा हूँ ॥ ४५—४८ ॥

सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणस्तु यशस्विनः ।
अष्टाङ्गुलेन मानेन तत्प्रमाणमिहोच्यते ॥४९॥

* इससे आगे 'हारीत उवाच' पुनः दिया गया है। इससे जान पड़ता है, यह अध्याय यहाँ पूर्ण हो गया है।

प्रादेशमात्रमथवा तेन दन्तान् विशोधयेत् ।
प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां चैव सत्तमाः ॥५०॥
दन्तानां काष्ठसंयोगाद् दहत्यासप्तमं कुलम् ।
अलाभे दन्तकाष्ठस्य प्रतिषिद्धे च तद्दिने ॥५१॥
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिर्विधीयते ।

जितने काँटेवाले वृक्ष हैं, वे सभी पवित्र हैं। जितने दूधवाले वृक्ष हैं, वे सभी यश देनेवाले हैं। दाँतुनकी लकड़ीकी लंबाई आठ अंगुलकी बतायी जाती है। अथवा बित्तामात्र उसकी लंबाई होनी चाहिये। ऐसी दाँतुनसे दाँतोंको स्वच्छ करना चाहिये। परंतु साधुशिरोमणियो! प्रतिपदा, अमावास्या, षष्ठी और नवमीको काठकी दाँतुन नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उक्त तिथियोंको यदि दाँतसे काठका संयोग हो जाय तो वह सात पीढ़ीतकके कुलको दग्ध कर डालता है। जिस दिन दाँतुन न मिले या जिस दिन दाँतुन करना निषिद्ध है, उस दिन बारह बार जलका कुल्ला करके मुखकी शुद्धि कर लेनेकी विधि है ॥ ४९–५१½ ॥

स्नात्वा मन्त्रवदाचम्य पुनराचमनं चरेत् ॥५२॥
मन्त्रवान् प्रोक्ष्य चात्मानं प्रक्षिपेदुदकाञ्जलिम्।
आदित्येन सह प्रातर्मन्देहा नाम राक्षसाः ॥५३॥
युध्यन्ति वरदानेन ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
उदकाञ्जलिविक्षेपो गायत्र्या चाभिमन्त्रितः ॥५४॥
तान् हन्ति राक्षसान् सर्वान् मन्देहान् रविवैरिणः ।
ततः प्रयाति सविता ब्राह्मणै रक्षितो दिवि ॥५५॥
मरीच्याद्यैर्महाभागैः सनकाद्यैश्च योगिभिः ।
तस्मान्न लङ्घयेत्संध्यां सायं प्रातर्द्विजः सदा ॥५६॥
उल्लङ्घयति यो मोहात्स याति नरकं ध्रुवम् ।
सायं मन्त्रवदाचम्य प्रोक्ष्य सूर्यस्य चाञ्जलिम् ॥५७॥
दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा जलं स्पृष्ट्वा विशुध्यति ।
पूर्वां संध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि ॥५८॥
गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदृक्षाणि पश्यति ।
ततस्त्वावसथं प्राप्य होमं कुर्यात्स्वयं बुधः ॥५९॥
संचिन्त्य भृत्यवर्गस्य भरणार्थं विचक्षणः ।
ततः शिष्यहितार्थाय स्वाध्यायं किंचिदाचरेत्॥६०॥
ईश्वरं चैव रक्षार्थमभिगच्छेद्द्विजोत्तमः ।
कुशपुष्पेन्धनादीनि गत्वा दूरात्समाहरेत् ॥६१॥
माध्याह्निकीं क्रियां कुर्याच्छुचौ देशे समाहितः।

दाँतुनके बाद स्नान करे। फिर मन्त्रपाठपूर्वक आचमन करके पुनः आचमन करना चाहिये। मन्त्रपाठपूर्वक अपने ऊपर भी जल छिड़के और सूर्यके लिये अर्घ्यके तौरपर जलाञ्जलि भरकर उछाले। अव्यक्तजन्मा ब्रह्माजीके वरदानसे प्रबल हुए 'मन्देह' नामक राक्षस प्रतिदिन प्रातःकाल आकर सूर्यके साथ युद्ध करते हैं; किंतु जब गायत्रीसे अभिमन्त्रित जलाञ्जलि सूर्यदेवके सामने उछाली जाती है, तब वह उन समस्त सूर्य-वैरी मन्देह नामके राक्षसोंको मार भगाती है।* तत्पश्चात् महाभाग मरीचि आदि ब्राह्मणों और सनकादिक योगियोंद्वारा रक्षित हो, भगवान् सूर्यदेव आकाशमें आगे बढ़ते हैं। इसलिये द्विजको चाहिये कि सायं और प्रातःकालकी संध्याका कभी उल्लङ्घन न करे। जो मोहवश संध्याका उल्लङ्घन करता है, वह अवश्य ही नरकमें पड़ता है। यदि सायंकालमें मन्त्रपाठपूर्वक आचमन करके अपने ऊपर जल छिड़ककर फिर भगवान् सूर्यको जलाञ्जलि अर्पित की जाय और उनकी परिक्रमा करके पुनः जलका स्पर्श किया जाय तो वह द्विज शुद्ध हो जाता है। प्रातःकालकी संध्या तारोंके रहते-रहते विधिपूर्वक आरम्भ करे और जबतक तारोंका दर्शन हो, तबतक गायत्रीका जप करता रहे। तत्पश्चात् घरमें आकर विद्वान् पुरुषको स्वयं हवन करना चाहिये। फिर जो भृत्य—पालनीय कुटुम्बी जन तथा दास आदि हों, उनके भरण-पोषणके लिये विद्वान् गृहस्थ चिन्ता (आवश्यक प्रबन्ध) करे। उसके बाद शिष्योंके हितके लिये कुछ देरतक स्वाध्याय करे। उत्तम द्विजको चाहिये कि अपनी रक्षाके लिये ईश्वरका सहारा ले। फिर दूर जाकर पूजाके लिये कुश, फूल और हवनके लिये समिधा आदि ले आये और पवित्र स्थानमें एकाग्रचित्तसे बैठकर मध्याह्न-कालिक क्रिया (संध्योपासना आदि) करे ॥ ५२–६१½ ॥

* यहाँ 'मन्देह' राक्षस आलस्यके प्रतीक हैं। जिस देशमें जब रात बीतकर प्रातःकाल होता है, वहाँके लोगोंको उसी समय आलस्य दबाये रहता है। 'सूर्य आत्मा जगतः' के अनुसार सूर्य सबके आत्मा हैं, अतः किसी भी प्राणीपर आलस्यका आक्रमण सूर्यपर मन्देहका आक्रमण है। स्नान और सूर्यार्घ्यसे इस मन्देह या आलस्यका निवारण सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है।

विधिं स्नानस्य वक्ष्यामि समासात्पापनाशनम्॥६२॥
स्नात्वा येन विधानेन मद्यो मुच्येत किल्बिषात्।
सुधीः स्नानार्थमादाय शुक्लां कुशतिलैः सह ॥६३॥
सुमनाश्च ततो गच्छेन्नदीं शुद्धां मनोरमाम्।
नद्यां तु विद्यमानायां न स्नायादल्पवारिषु ॥६४॥
शुचौ देशे समभ्युक्ष्य स्थापयेत्कुशमृत्तिकाम्।
मृत्तोयेन स्वकं देहमभिप्रक्षाल्य यत्नतः ॥६५॥
स्नानाच्छरीरं संशोध्य कुर्यादाचमनं बुधः।
शुभे जले प्रविश्याथ नमेद्वरुणमप्पतिम् ॥६६॥
हरिमेव स्मरंश्चित्ते निमज्जेच्च बहूदके।
ततः स्नानं समासाद्य अप आचम्य मन्त्रतः ॥६७॥
प्रोक्षयेद्वरुणं देवं तैर्मन्त्रैः पावमानिभिः।
कुशाग्रस्थेन तोयेन प्रोक्ष्यात्मानं प्रयत्नतः ॥६८॥
आलभेन्मृत्तिकां गात्रे इदं विष्णुरिति त्रिधा।
ततो नारायणं देवं संस्मरन् प्रविशेज्जलम् ॥६९॥
निमज्ज्यान्तर्जले सम्यक्त्रिः पठेदघमर्षणम्।
स्नात्वा कुशतिलैस्तद्वद्देवर्षीन् पितृभिः सह ॥७०॥
तर्पयित्वा जलात्तस्मान्निष्क्रम्य च समाहितः।
जलतीरं समासाद्य धौते शुक्ले च वाससी ॥७१॥
परिधायोत्तरीयं च न कुर्यात्केशधूननम्।
न रक्तमुल्बणं वासो न नीलं तत्प्रशस्यते ॥७२॥
मलाक्तं तु दशाहीनं वर्जयेदम्बरं बुधः।

अब हम थोड़ेमें स्नानकी विधि बतला रहे हैं, जो समस्त पापोंको नष्ट करनेवाली है। उस विधिसे स्नान करके मनुष्य तत्काल पापोंसे मुक्त हो जाता है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि स्नानके लिये कुश और तिलोंके साथ शुद्ध मिट्टी ले ले तथा प्रसन्नचित्त होकर शुद्ध और मनोहर नदीके तटपर जाय। नदीके होते हुए छोटे जलाशयोंमें स्नान न करे। वहाँ पवित्र स्थानपर उसे छिड़ककर कुश और मृत्तिका आदि रख दे। फिर विद्वान् पुरुष मिट्टी और जलसे अपने शरीरको यत्नपूर्वक लिप्त करके, शुद्ध स्नानके द्वारा उसे धोकर, पुनः आचमन करे। तदनन्तर स्वच्छ जलमें प्रवेश करके जलेश वरुणको नमस्कार करे। फिर मन-ही-मन भगवान् विष्णुका स्मरण करते हुए जहाँ कुछ अधिक जल हो, वहाँ डुबकी लगावे। इसके बाद स्नान समाप्तकर, मन्त्रपाठपूर्वक आचमन करके, वरुण-सम्बन्धी पवमान-मन्त्रोंद्वारा वरुणदेवका अभिषेक करे। फिर कुशके अग्र-भागपर स्थित जलसे अपना यत्नपूर्वक मार्जन करे और 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्रका पाठ करते हुए अपने शरीरके तीन भागोंमें क्रमशः मृत्तिकाका लेप करे। तत्पश्चात् भगवान् नारायणका स्मरण करते हुए जलमें प्रवेश करे। जलके भीतर भली प्रकार डुबकी लगाकर तीन बार अघमर्षण पाठ करे। इस प्रकार स्नान करके कुश और तिलोंद्वारा देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करे। इसके बाद समाहितचित्त हो, जलसे बाहर निकल, तटपर आकर धुले हुए दो श्वेत वस्त्रोंको धारण करे। इस प्रकार धोती और उत्तरीय धारणकर अपने केशोंको न फटकारे। अत्यधिक लाल और नील वस्त्र धारण करना भी उत्तम नहीं माना गया है। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि जिस वस्त्रमें मल या दाग लगा हो, अथवा जिसमें किनारी न हो, उसका भी त्याग करे॥ ६२—७२½॥

ततः प्रक्षालयेत्पादौ मृत्तोयेन विचक्षणः ॥७३॥
त्रिः पिबेद्वीक्षितं तोयमास्यं द्विः परिमार्जयेत्।
पादौ शिरसि चाभ्युक्ष्य त्रिराचम्य तु संस्पृशेत् ॥७४॥
अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या नासिकां समुपस्पृशेत्।
अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां नाभौ हृदि तलेन च ॥७५॥
शिरश्चाङ्गुलिभिः सर्वैर्बाहुं चैव ततः स्पृशेत्।
अनेन विधिनाऽऽचम्य ब्राह्मणः शुद्धमानसः॥७६॥
दर्भे तु दर्भपाणिः स्यात् प्राङ्मुखः सुसमाहितः।
प्राणायामांस्तु कुर्वीत यथाशास्त्रमतन्द्रितः ॥७७॥

इसके पश्चात् विज्ञ पुरुष मिट्टी और जलसे अपने चरणोंको धोये। फिर खूब देख-भालकर शुद्ध जलसे तीन बार आचमन करे। दो बार जल लेकर मुँह धोये। पैर और सिरपर जल छिड़के। फिर तीन बार आचमन करके क्रमशः अङ्गोंका स्पर्श करे। अँगूठे और तर्जनीसे नासिकाका स्पर्श करे। अङ्गुष्ठ और कनिष्ठिकासे नाभिका स्पर्श करे। हृदयका करतलसे स्पर्श करे। तदनन्तर समस्त अँगुलियोंसे पहले सिरका, फिर बाहुओंका स्पर्श करे। इस प्रकार आचमन करके ब्राह्मण शुद्धहृदय हो, हाथमें कुश ले, पूर्वकी ओर मुख करके एकाग्रतापूर्वक कुशासनपर बैठ जाय और आलस्यको त्यागकर शास्त्रोक्त विधिसे तीन बार प्राणायाम करे॥७३—७७॥

जपयज्ञं ततः कुर्याद्गायत्रीं वेदमातरम् ।
त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत ॥७८॥
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः ।
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयः स्यादुत्तरोत्तरम् ॥७९॥
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः ।
शब्दमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञः स वाचिकः ॥८०॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयेत् ।
किंचिन्मन्त्रं स्वयं विन्द्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ॥८१॥
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् ।
शब्दार्थचिन्तनं ध्यानं तदुक्तं मानसं जपः ॥८२॥
जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति ।
प्रसन्ना विपुलान् भोगान्दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीम् ॥८३॥
यक्षरक्षःपिशाचाश्च ग्रहाः सूर्यादिदूषणाः ।
जापिनं नोपसर्पन्ति दूरादेवापयान्ति ते ॥८४॥

तत्पश्चात् वेदमाता गायत्रीका जप करते हुए जप-यज्ञ करे । जपयज्ञ तीन प्रकारका होता है; उसका भेद बताते हैं, आपलोग सुनें । वाचिक, उपांशु और मानस—तीन प्रकारका जप कहा गया है । इन तीनों जप-यज्ञोंमें उत्तरोत्तर जप श्रेष्ठ है, अर्थात् वाचिक जपकी अपेक्षा उपांशु और उसकी अपेक्षा मानस जप श्रेष्ठ है । अब इनके लक्षण बताते हैं । जप करनेवाला पुरुष आवश्यकतानुसार ऊँचे, नीचे और समान स्वरोंमें बोले जानेवाले स्पष्ट शब्दयुक्त अक्षरोंद्वारा जो वाणीसे सुस्पष्ट शब्दोच्चारण करता है, वह 'वाचिक जप' कहलाता है । इसी प्रकार जो तनिक-सा ओठोंको हिलाकर धीरे-धीरे मन्त्रका उच्चारण करता है और मन्त्रको स्वयं ही कुछ-कुछ सुनता या समझता है, उसका वह जप 'उपांशु' कहलाता है । बुद्धिके द्वारा मन्त्राक्षरसमूहके प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक पद और शब्दार्थका जो चिन्तन एवं ध्यान किया जाता है, वह 'मानस जप' कहा गया है । जपके द्वारा प्रतिदिन जिसका स्तवन किया जाता है, वह देवता प्रसन्न होता है और प्रसन्न होनेपर वह विपुल भोग तथा नित्य मोक्ष-सुखको भी देता है । यक्ष-राक्षस-पिशाच आदि और सूर्यादि देवताओंको दूषित करनेवाले अन्य (राहु-केतु आदि) ग्रह भी जप करनेवाले पुरुषके निकट नहीं आते, दूरसे ही भाग जाते हैं ॥ ७८–८४ ॥

ऋक्षादिकं परिज्ञाय जपयज्ञमतन्द्रितः ।
जपेदहरहः स्नात्वा सावित्रीं तन्मना द्विजः ॥८५॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापैर्हि लिप्यते ॥८६॥

द्विजको चाहिये कि वह आलस्यका त्याग करके प्रतिदिन तारोंको देखकर अर्थात् तारोंके रहते-रहते स्नान करके, गायत्रीके अर्थमें मन लगा गायत्री-मन्त्रका जप करे । जो द्विज अधिक-से-अधिक एक हजार, साधारणतया एक सौ अथवा कम-से-कम दस बार प्रतिदिन गायत्रीका जप करता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ८५-८६ ॥

अथ पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा भानवे चोर्ध्वबाहुकः ।
उदुत्यं च जपेन्मन्त्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि ॥८७॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य नमस्कुर्याद्दिवाकरम् ।
स्वेन तीर्थेन देवादीनद्भिः संतर्पयेद्बुधः ॥८८॥
देवान्देवगणांश्चैव ऋषीनृषिगणांस्तथा ।
पितॄन् पितृगणांश्चैव नित्यं संतर्पयेद्बुधः ॥८९॥
स्नानवस्त्रं ततः पीड्य पुनराचमनं चरेत् ।
दर्भेषु दर्भपाणिः स्याद्ब्रह्मयज्ञविधानतः ॥९०॥
प्राङ्मुखो ब्रह्मयज्ञं तु कुर्याद्बुद्धिसमन्वितः ।
ततोऽर्घ्यं भानवे दद्यात्तिलपुष्पजलान्वितम् ॥९१॥
उत्थाय मूर्धपर्यन्तं हंसः शुचिषदित्यृचा ।
जले देवं नमस्कृत्य ततो गृहगतः पुनः ॥९२॥
विधिना पुरुषसूक्तेन तत्र विष्णुं समर्चयेत् ।
वैश्वदेवं ततः कुर्याद्बलिकर्म यथाविधि ॥९३॥

इसके बाद सूर्यदेवको पुष्पाञ्जलि अर्पित करके अपनी भुजाएँ ऊपर उठाकर "ॐ उदुत्यं जातवेदसम्" तथा "ॐ तच्चक्षुर्देवहितम्" इन मन्त्रोंका जप करे । फिर प्रदक्षिणा करके सूर्यदेवको प्रणाम करे । तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष प्रतिदिन देवतीर्थसे (उँगलियोंद्वारा) देवताओंका तर्पण करे । विज्ञ पुरुषको देवताओं और उनके गणोंका, ऋषियों और उनके गणोंका तथा पितरों और पितृगणोंका प्रतिदिन तर्पण करना चाहिये । तदनन्तर स्नानके बाद उतारे हुए वस्त्रको निचोड़कर पुनः आचमन

करे । फिर हाथमें कुश लेकर कुशासनपर बैठ जाय और ब्रह्मयज्ञकी विधिके अनुसार पूर्वाभिमुख हो बुद्धिपूर्वक ब्रह्मयज्ञ (वेदका स्वाध्याय) करे । तदनन्तर खड़ा होकर तिल, फूल और जलसे युक्त अर्घ्यपात्रको अपने मस्तकतक ऊँचे उठा 'हंसः शुचिषत्०' इस ऋचाका पाठ करते हुए सूर्यदेवके लिये अर्घ्य दे । फिर जलमें स्थित वरुणदेवको नमस्कार कर पुनः घरपर आ जाय और वहाँ पुरुषसूक्तसे भगवान् विष्णुका विधिवत् पूजन करे । तदनन्तर विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव कर्म करे ॥ ८७—९३ ॥

गोदोहमात्रमतिथिं प्रतिवीक्षेत वै गृही ।
अदृष्टपूर्वमतिथिमागतं प्राक् समर्चयेत् ॥९४॥
आगत्य च पुनर्द्वारं प्रत्युत्थानेन साधुना ।
स्वागतेनाग्नयस्तुष्टा भवन्ति गृहमेधिनाम् ॥९५॥
आसनेन तु दत्तेन प्रीतो भवति देवराट् ।
पादशौचेन पितरः प्रीतिमायान्ति तस्य च ॥९६॥
अन्नाद्येन च दत्तेन तृप्यतीह प्रजापतिः ।
तस्मादतिथये कार्यं पूजनं गृहमेधिना ॥९७॥

इसके बाद जितनी देरमें गौ दुही जाती है, उतनी देरतक द्वारपर अतिथिके आनेकी प्रतीक्षा करे । यदि कई अतिथि आ जायँ तो उनमेंसे जिसे पहले कभी न देखा हो, उसका सम्मान सबसे पहले करना चाहिये । द्वारपर आकर अतिथिकी खड़े होकर भलीभाँति अगवानी करनेसे गृहस्थके ऊपर दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय—तीनों अग्नि प्रसन्न होते हैं; आसन देनेसे देवराज इन्द्रकी प्रसन्नता होती है, अतिथिके पैर धोनेसे उस गृहस्थके पितृगण तृप्त होते हैं, अन्न आदि भोज्य पदार्थ अर्पण करनेसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं । इसलिये गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वह अतिथिका पूजन करे ॥ ९४—९७ ॥

भक्त्या च भक्तिमान्नित्यं विष्णुमभ्यर्च्य चिन्तयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्यात्परिव्राड्ब्रह्मचारिणे ॥९८॥
आकल्पितान्नादुद्धृत्य सर्वव्यञ्जनसंयुताम् ।
दद्याच्च मनसा नित्यं भिक्षां भिक्षोः प्रयत्नतः ॥९९॥
अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षौ भिक्षार्थमागते ।
अवश्यमेव दातव्यं स्वर्गसोपानकारकम् ॥१००॥
उद्धृत्य वैश्वदेवान्नं भिक्षां दत्त्वा विसर्जयेत् ।
वैश्वदेवाकृतं दोषं शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् ॥१०१॥
सुवासिनीः कुमारीश्च भोजयित्वाऽऽतुरानपि ।
बालवृद्धांस्ततः शेषं स्वयं भुञ्जीत वै गृही ॥१०२॥

इसके पश्चात् भक्तिमान् पुरुष प्रतिदिन भगवान् विष्णुकी भक्तिपूर्वक पूजा करके उनका चिन्तन करे । फिर संन्यासी, विरक्त एवं ब्रह्मचारीको भिक्षा दे । सब प्रकारसे तैयार किये हुए अन्नमेंसे समस्त व्यञ्जनोंसे युक्त कुछ अन्न निकालकर प्रतिदिन यत्नपूर्वक भिक्षु (संन्यासी)को देना चाहिये । बलिवैश्वदेव करनेके पहले भी यदि भिक्षु भिक्षाके लिये आ जाय तो उसे अवश्य भिक्षा देनी चाहिये; क्योंकि यह दान स्वर्गमें जानेके लिये सीढ़ीका काम देता है । विश्वेदेवसम्बन्धी अन्नमेंसे लेकर भिक्षुको भिक्षा देकर उसे विदा करे । वैश्वदेव कर्म न करनेके दोषको वह भिक्षु दूर कर सकता है । फिर सुवासिनी (सुहागिन) और कुमारी कन्याओं तथा रोगी व्यक्तियोंको और बालकों एवं बूढ़ोंको पहले भोजन कराके उनसे बचे हुए अन्नको गृहस्थ पुरुष स्वयं भोजन करे ॥ ९८—१०२ ॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि मौनी च मितभाषणः ।
अन्नं पूर्वं नमस्कृत्य प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥१०३॥
पञ्च प्राणाहुतीः कुर्यात्स मन्त्रेण पृथक् पृथक् ।
ततः स्वादुकरं चान्नं भुञ्जीत सुसमाहितः ॥१०४॥
आचम्य देवतामिष्टां संस्मरेदुदरं स्पृशन् ।
इतिहासपुराणाभ्यां कंचित्कालं नयेद्बुधः ॥१०५॥
ततः संध्यामुपासीत बहिर्गत्वा विधानतः ।
कृतहोमश्च भुञ्जीत रात्रावतिथिमर्चयेत् ॥१०६॥
सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥१०७॥

भोजन करते समय पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके बैठे और मौन रहे अथवा कम बोले । भोजनसे पहले प्रसन्नचित्तसे अन्नको नमस्कार करके पृथक्-पृथक् पाँच प्राणवायुओंके नाम-मन्त्रसे अर्थात् 'ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, 'ॐ समानाय स्वाहा'—इस प्रकार उच्चारण करते हुए पाँच बार प्राणाग्निहोत्र करे । इसके

बाद एकाग्रचित्त होकर उस स्वादिष्ट अन्नको स्वयं भोजन करे। भोजनके बाद मुँह-हाथ धो, आचमन (कुल्ला) करके, अपने उदरका स्पर्श करते हुए इष्टदेवका स्मरण करे। फिर विद्वान् पुरुष इतिहास-पुराणोंके अध्ययनमें कुछ समय व्यतीत करे। तदनन्तर सायंकाल आनेपर बाहर (नदी या जलाशयके तटपर) जाकर विधिपूर्वक संध्योपासन करे। पुनः रात्रिकालमें हवन करके अतिथि-सत्कारके पश्चात् भोजन करे। द्विजातियोंके लिये प्रातः और सायं—दो ही समय भोजन करना वेदविहित है; इसके बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये। जैसे अग्निहोत्र प्रातः और सायंकालमें किया जाता है, वैसे ही दो ही समय भोजनकी भी विधि है ॥ १०३—१०७ ॥

शिष्यानध्यापयेच्चाद्वदनध्यायं विवर्जयेत् ।
स्मृत्युक्तान् सकलान् पूर्वं पुराणोक्तानपि द्विजः ॥१०८॥
महानवम्यां द्वादश्यां भरण्यामपि चैव हि ।
तथाक्षय्यतृतीयायां शिष्यान्नाध्यापयेद्बुधः ॥१०९॥
माघमासे तु सप्तम्यां रथ्यामध्ययनं त्यजेत् ।
अध्यापनमथाभ्यज्य स्नानकाले विवर्जयेत् ॥११०॥

इसके अतिरिक्त विद्वान् द्विजको चाहिये कि वह प्रतिदिन शिष्योंको पढ़ाये, परंतु अध्ययनके लिये वर्जित समयका त्याग करे। स्मृतिमें बताये हुए तथा पहलेके पुराणोंमें वर्णित सम्पूर्ण अनध्याय-कालका त्याग दे। महानवमी (आश्विन शुक्ला नवमी) और द्वादशी तिथि, भरणी नक्षत्र और अक्षयतृतीयामें विद्वान् पुरुष शिष्योंको न पढ़ावे। माघ मासकी सप्तमीको अध्ययन न करे, तथा तेल लगानेके समय और उबटन लगाकर स्नान करते समय भी अध्ययनका त्याग करे ॥ १०८—११० ॥

दानं च विधिना देयं गृहस्थेन हितैषिणा ।
हिरण्यदानं गोदानं भूमिदानं विशेषतः ॥१११॥
एतानि यः प्रयच्छेत श्रोत्रियेभ्यो द्विजोत्तमः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स्वर्गलोके महीयते ॥११२॥
मङ्गलाचारयुक्तश्च शुचिः श्रद्धापरो गृही ।
श्राद्धं च श्रद्धया कुर्यात्स याति ब्रह्मणः पदम् ॥११३॥
जात्युत्कर्षमवाप्नोति नरसिंहप्रसादतः ।
स तस्मान्मुक्तिमाप्नोति ब्रह्मणा सह सत्तमाः ॥११४॥

एवं हि विप्राः कथितो मया वः
समासतः शाश्वतधर्मराशिः ।
सम्यग्गृहस्थस्य सतो हि धर्मं
कुर्वन् प्रयत्नाद्धरिमेति मुक्तः ॥११५॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे गृहस्थधर्मो नामा-
ष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥५८॥

अपना हित चाहनेवाले गृहस्थको चाहिये कि विधिपूर्वक दान करे। विशेषतः सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान करे। जो द्विजश्रेष्ठ सुवर्ण आदि पूर्वोक्त वस्तुएँ श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको दानमें देता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। जो गृहस्थ शुभाचरणोंसे युक्त, पवित्र और श्रद्धालु रहकर श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। वह भगवान् नरसिंहकी कृपासे जातिमें उत्कर्ष प्राप्त करता है और सज्जनो! ब्रह्माजीके साथ ही वह मुक्त हो जाता है। विप्रगण! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे यह सनातन धर्मसमूहका संक्षेपसे वर्णन किया। जो पुरुष सद्गृहस्थके उक्त धर्मका भलीभाँति प्रयत्नपूर्वक पालन करता है, वह मुक्त होकर भगवान् श्रीहरिको प्राप्त करता है ॥ १११—११५ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'गृहस्थधर्म' नामक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

उनसठवाँ अध्याय

वानप्रस्थ-धर्म

हारीत उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि वानप्रस्थस्य लक्षणम् ।
धर्मश्रेष्ठं महाभागाः कथ्यमानं निबोधत ॥ १ ॥

श्रीहारीत मुनि बोले—महाभागगण! इसके बाद मैं वानप्रस्थका लक्षण और श्रेष्ठ धर्म बताऊँगा; आपलोग मेरे द्वारा बताये जानेवाले उस धर्मको सुनें ॥ १ ॥

गृहस्थः पुत्रपौत्रादीन्दृष्ट्वा पलितमात्मनः ।
स्वभार्यां तनये स्थाप्य स्वशिष्यैः प्रविशेद्वनम् ॥ २ ॥
जटाकलापचीराणि नखगात्ररुहाणि वा ।
धारयञ्जुहुयादग्नौ वैतानविधिना स्थितः ॥ ३ ॥
भृतपर्णैर्मृत्सम्भूतैर्नीवाराद्यैरतन्द्रितः ।
कंदमूलफलैर्वापि कुर्यान्नित्यक्रियां बुधः ॥ ४ ॥
त्रिकालं स्नानयुक्तस्तु कुर्यात्तीव्रं तपः सदा ।
पक्षे गते वा अश्नीयान्मासान्ते वा पराककृत् ॥ ५ ॥
चतुःकालेऽपि चाश्नीयात्कालेऽप्युत तथाष्टमे ।
षष्ठाह्नकाले ह्यथवा अथवा वायुभक्षकः ॥ ६ ॥

गृहस्थ पुरुष जब यह देख ले कि मेरे पुत्र-पौत्र हो गये हैं तथा बाल भी पक गये हैं, तब वह अपनी भार्याको पुत्रोंकी देख-रेखमें सौंपकर स्वयं अपने शिष्योंके साथ वनमें प्रवेश करे। जटा, चीर(वल्कल)वस्त्र, नख, लोम आदि धारण किये हुए ही यज्ञोक्त विधिसे अग्निमें हवन करे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि पत्तोंवाले साग आदिसे या धरतीसे स्वयं उत्पन्न हुए नीवार आदिसे अथवा कंद-मूल-फल आदिसे प्रतिदिन आहारक्रियाका निर्वाह करे। प्रातः, मध्याह्न और सायं— तीनों कालोंमें स्नान करके सदा कठोर तपस्या करे। 'पराक' आदि व्रतोंका पालन करता हुआ वानप्रस्थ पुरुष एक पक्ष या एक मासके बाद भोजन करे अथवा दिन-रातके चौथे या आठवें भागमें एक बार भोजन करे। अथवा छठे दिन कुछ भोजन करे या वायु पीकर ही रहे ॥ २—६ ॥

घर्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो धारावर्षासु वै नयेत् ।
हैमन्तिके जले स्थित्वा नयेत्कालं तपश्चरन् ॥ ७ ॥
एवं स्वकर्मभोगेन कृत्वा शुद्धिमथात्मनः ।
अग्निं चात्मनि वै कृत्वा व्रजेद्वाथोत्तरां दिशम् ॥ ८ ॥
आदेहपाताद्वनगो मौनमास्थाय तापसः ।
स्मरन्नतीन्द्रियं ब्रह्म ब्रह्मलोके महीयते ॥ ९ ॥
तपो हि यः सेवति काननस्थो
वसेन्महत्सत्त्वसमाधियुक्तः ।
विमुक्तपापो हि मनःप्रशान्तः
प्रयाति विष्णोः सदनं द्विजेन्द्रः ॥ १० ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे वानप्रस्थधर्मो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

ग्रीष्म-कालमें पञ्चाग्निके मध्य बैठे, वर्षाकालमें धारावृष्टि होनेपर बाहर आकाशके ही नीचे समय व्यतीत करे और हेमन्त ऋतुमें तप करते हुए वह जलमें खड़ा रहकर समय बिताये। इस प्रकार कर्मभोगद्वारा आत्मशुद्धि करके, अग्निको भावनाद्वारा अन्तःकरणमें स्थापितकर उत्तर दिशाको चला जाय। वह तपस्वी देहपात होनेतक वनमें मौन रहकर इन्द्रियातीत ब्रह्मका स्मरण करता हुआ देहत्यागकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। जो द्विजश्रेष्ठ वनवासी (वानप्रस्थ) होकर महान् सत्त्वगुण और समाधिसे युक्त हो तपका अनुष्ठान करता है, वह पाप-रहित और प्रशान्तचित्त होकर विष्णुधामको प्राप्त होता है ॥ ७—१० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'वानप्रस्थधर्म' नामक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

साठवाँ अध्याय

यतिधर्म

हारीत उवाच

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यतिधर्ममनुत्तमम् ।
श्रद्धया यदनुष्ठाय यतिर्मुच्येत बन्धनात् ॥ १ ॥
एवं वनाश्रमे तिष्ठंस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत्संन्यस्य विधिना द्विजः ॥ २ ॥
दिव्यं ऋषिभ्यो देवेभ्यः स्वपितृभ्यश्च यत्नतः ।
दत्त्वा श्राद्धमृषिभ्यश्च मनुजेभ्यस्तथाऽऽत्मने ॥ ३ ॥
इष्टिं वैश्वानरीं कृत्वा प्राजापत्यमथापि वा ।
अग्निं स्वात्मनि संस्थाप्य मन्त्रवत्प्रव्रजेत् पुनः ॥ ४ ॥
ततः प्रभृति पुत्रादौ सुखलोभादि वर्जयेत् ।
दद्याच्च भूमावुदकं सर्वभूताभयंकरम् ॥ ५ ॥
त्रिदण्डं वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।

वेष्टितं कृष्णगोवालरज्ज्वा च चतुरङ्गुलम् ॥ ६ ॥
ग्रन्थिभिर्वा त्रिभिर्युक्तं जलपूतं च धारयेत् ।
गृह्णीयाद्दक्षिणे हस्ते मन्त्रेणैव तु मन्त्रवित् ॥ ७ ॥

श्रीहारीत मुनि कहते हैं—इसके बाद अब मैं संन्यासियोंका सर्वोत्तम धर्म बताऊँगा, जिसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करके संन्यासी भवबन्धनसे मुक्त हो जाता है। द्विजको चाहिये कि पूर्वोक्त रीतिसे वानप्रस्थ आश्रममें रहते हुए तपस्याद्वारा पापोंको भस्म करके, विधिपूर्वक संन्यास ले चौथे आश्रममें प्रवेश करे। पहले यत्नपूर्वक देवताओं, ऋषियों और अपने पितरोंके लिये दिव्य श्राद्ध-सामग्रीका दान करे; इसी प्रकार ऋषियों, मनुष्यों तथा अपने लिये भी श्राद्धीय वस्तुका दान करे। फिर वैश्वानर अथवा प्राजापत्य याग करके, मन्त्र-पाठपूर्वक अपने अन्तःकरणमें अग्निस्थापन करके, संन्यासी हो, वहाँसे चला जाय। उस दिनसे पुत्र आदिके प्रति आसक्तिको और सुख-लोभ आदिको त्याग दे। पृथ्वीपर समस्त प्राणियोंको अभय देनेके निमित्त जलकी अञ्जलि दे। वेणु (बाँस) का बना हुआ त्रिदण्ड धारण करे, जो सुन्दर और त्वचायुक्त हो, उसके पोर बराबर हों, काली गौके बालोंकी रस्सीसे वह चार अंगुलतक लपेटा गया हो। अथवा वह दण्ड तीन गाँठोंसे युक्त हो, उसे जलसे पवित्र करके धारण करे। मन्त्रवेत्ता पुरुषको चाहिये कि वह मन्त्रपाठ-पूर्वक ही उस दण्डको दायें हाथमें ग्रहण करे ॥ १–७ ॥

कौपीनाच्छादनं वासः कुथां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥ ८ ॥
एतानि तस्य लिङ्गानि यतेः प्रोक्तानि धर्मतः ।
संगृह्य कृतसंन्यासो गत्वा तीर्थमनुत्तमम् ॥ ९ ॥
स्नात्वा ह्याचम्य विधिवज्जलयुक्तांशुकेन वै ।
वारिणा तर्पयित्वा तु मन्त्रवद्भास्करं नमेत् ॥ १० ॥
आसीनः प्राङ्मुखो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत् ।
गायत्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा ध्यायेत्परं पदम् ॥ ११ ॥
स्थित्यर्थमात्मनो नित्यं भिक्षाटनमथाचरेत् ।
सायाह्नकाले विप्राणां गृहाणि विचरेद्यतिः ॥ १२ ॥

कौपीन (लँगोटी), चादर, जाड़ा दूर करनेवाली एक गुदड़ी तथा खड़ाऊँ—इन्हीं वस्तुओंको अपने पास रक्खे, अन्य वस्तुओंका संग्रह न करे। संन्यासीके ये ही चिह्न बताये गये हैं। इन वस्तुओंका धर्मतः संग्रह करके संन्यासी पुरुष उत्तम तीर्थमें जा, स्नान करके विधिवत् आचमन करे। स्नानके बाद भीगे वस्त्रके जलसे सूर्यदेवका मन्त्रपाठपूर्वक तर्पण करके उन्हें प्रणाम करे। फिर पूर्वाभिमुख बैठकर, मौन हो, तीन प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक करे तथा यथाशक्ति गायत्रीका जप करके परब्रह्मका ध्यान करे। शरीरकी स्थिति (रक्षा) के लिये प्रतिदिन भिक्षाटन करे। यतिको चाहिये कि संध्याके समय ब्राह्मणोंके घरोंपर भिक्षाके लिये भ्रमण करे ॥ ८–१२ ॥

स्यादर्थी यावतान्नेन तावद्भैक्षं समाचरेत् ।
ततो निवृत्य तत्पात्रमभ्युक्ष्याचम्य संयमी ॥ १३ ॥
सूर्यादिदैवतेभ्यो हि दत्त्वान्नं प्रोक्ष्य वारिणा ।
भुञ्जीत पर्णपुटके पात्रे वा वाग्यतो यतिः ॥ १४ ॥
वटकाश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः ।
कोविदारकरञ्जेषु न भुञ्जीत कदाचन ॥ १५ ॥
भुक्त्वाऽऽचम्य निरुद्धासुरुपतिष्ठेत भास्करम् ।
जपध्यानेतिहासैस्तु दिनशेषं नयेद्यतिः ॥ १६ ॥
पलाशाः सर्व उच्यन्ते यतयः कांस्यभोजिनः ।
कांस्यस्यैव तु यत्पात्रं गृहस्थस्य तथैव च ।
कांस्यभोजी यतिः सर्वं प्राप्नुयात्किल्बिषं पुनः ।
भुक्तपात्रे यतिर्नित्यं भक्षयेन्मन्त्रपूर्वकम् ।
न दुष्येत्तस्य तत्पात्रं यज्ञेषु चमसा इव ।
कृतसंध्यस्ततो रात्रिं नयेद्देवगृहादिषु ।
हृत्पुण्डरीकनिलये ध्यायन्नारायणं हरिम् ।
तत्पदं समवाप्नोति यत्प्राप्य न निवर्तते ॥ १७ ॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे यतिधर्मो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

जितने अन्नकी उसे उस समय आवश्यकता हो, उतनी ही भिक्षा माँगे। फिर लौटकर उस भिक्षापात्रपर जलके छींटे देकर संयमी यति स्वयं भी आचमन करे। इसके बाद उस अन्नपर भी जलके छींटे देकर, उसे सूर्य आदि देवताओंको निवेदन कर, पत्तेके दोने या पत्तलमें रखकर, वह संन्यासी पुरुष मौनभावसे भोजन करे। वट, पीपल, जलकुम्भी और तिन्दुकके पत्तोंपर तथा कोविदार और करंजके पत्तोंपर भी कभी भोजन न करे। भोजन समाप्त करके मुँह-हाथ धो, आचमन करके, प्राणवायुको रोक, सूर्यदेवको प्रणाम करे। नैत्यिक नियमोंके बाद जितना

दिन शेष रहे, उसे संन्यासी पुरुष जप, ध्यान और इतिहास-पाठ आदिके द्वारा व्यतीत करे। काँसेके पात्रमें भोजन करनेवाले सभी यति 'पलाश' कहलाते हैं। यदि संन्यासी काँसेका पात्र रखे तो वह गृहस्थके ही समान है; क्योंकि गृहस्थका भी तो वैसा ही पात्र होता है। काँसेके पात्रमें भोजन करनेवाला यति समस्त पापोंका भागी होता है। यति जिस काष्ठ या मिट्टी आदिके पात्रमें एक बार भोजन कर चुका है, उसे धोकर सुखा लेनेसे अनायासपूर्वक भोजन कर सकता है। उसका वह पात्र यज्ञ-पात्रोंके समान कभी दूषित नहीं होता। इसके बाद यथासमय संध्याकालिक नियमोंका पालन करके देवमन्दिर आदिमें रात्रि व्यतीत करे और अपने हृदय-कमलके आसनपर भगवान् नारायणका ध्यान करे। यों करनेसे वह यति उस परमपदको प्राप्त होता है, जहाँ जाकर पुनः लौटना नहीं पड़ता ॥ १३–१७ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'यतिधर्मका वर्णन' नामक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

इकसठवाँ अध्याय

योगसार

हारीत उवाच

वर्णानामाश्रमाणां च कथितं धर्मलक्षणम् ।
यतः स्वर्गापवर्गौ तु प्राप्नुयुस्ते द्विजादयः ॥ १ ॥
योगशास्त्रस्य वक्ष्यामि संक्षेपात्सारमुत्तमम् ।
यस्याभ्यासबलाद्यान्ति मोक्षं चेह मुमुक्षवः ॥ २ ॥

श्रीहारीत मुनि कहते हैं—मुनियो! मैंने चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके धर्मका स्वरूप बतलाया, जिसके पालनसे उपर्युक्त ब्राह्मणादि वर्णके लोग स्वर्ग और मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। अब मैं संक्षेपमें योगशास्त्रका उत्तम सारांश वर्णन करूँगा, जिसके अभ्याससे मुमुक्षु पुरुष इसी जन्ममें मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १-२ ॥

योगाभ्यासरतस्येह नश्येयुः पातकानि च ।
तस्माद्योगपरो भूत्वा ध्यायेन्नित्यं क्रियान्तरे ॥ ३ ॥
प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
धारणाभिर्वशीकृत्य पुनर्दुर्धर्षणं मनः ॥ ४ ॥
एकं कारणमानन्दबोधं च तमनामयम् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ध्यायेज्जगदाधारमच्युतम् ॥ ५ ॥
आत्मानमरविन्दस्थं तप्तचामीकरप्रभम् ।
रहस्येकान्तमासीन ध्यायेदात्महृदि स्थितम् ॥ ६ ॥
यः सर्वप्राणचित्तज्ञो यः सर्वेषां हृदि स्थितः ।
यश्च सर्वजनैर्ज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिन्तयेत् ॥ ७ ॥
आत्मलाभसुखं यावत्तावद्ध्यानमुदाहृतम् ।
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म तत्तदूर्ध्वं समाचरेत् ॥ ८ ॥

योगाभ्यासपरायण पुरुषके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, अतः कर्तव्य कर्मसे अवकाश मिलनेपर प्रतिदिन योगनिष्ठ होकर ध्यान करना चाहिये। पहले प्राणायामके द्वारा वाणीको, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंको और धारणाके द्वारा दुर्धर्ष मनको वशमें करे। तत्पश्चात् जो सबके एकमात्र कारण, ज्ञानानन्दस्वरूप, अनामय और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन जगदाधार अच्युतका ध्यान करे। एकान्त स्थानमें अकेले बैठकर अपने हृदयमें कमलके आसनपर विराजमान, तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् अपने आत्मस्वरूप भगवान्‌का चिन्तन करे। जो सबके प्राणों और चित्तकी चेष्टाओंको जानता है, सभीके हृदयमें विराजमान है तथा समस्त प्राणियोंद्वारा जाननेयोग्य है—वह परमात्मा मैं ही हूँ, ऐसी भावना करे। जबतक आत्मसाक्षात्कारजन्य सुखकी प्रतीति हो, तभीतक ध्यान करना आवश्यक बताया गया है। उसके उपरान्त श्रौत और स्मार्त कर्मोंका आचरण सुचारुरूपसे करे ॥ ३–८ ॥

यथाश्वा रथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विना यथा ।
एवं तपश्च विद्या च उभावपि तपस्विनः ॥ ९ ॥
यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्ते भेषजं महत् ॥ १० ॥
द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ११ ॥

विद्यातपोभ्यां सम्पन्नो ब्राह्मणो योगतत्परः ।
देहद्वन्द्वं विहायाशु मुक्तो भवति बन्धनात् ॥१२॥
न देवयानमार्गेण यावत्प्राप्तं परं पदम् ।
न तावद्देहलिङ्गस्य विनाशो विद्यते क्वचित् ॥१३॥
मया वः कथितः सर्वो वर्णाश्रमविभागशः ।
संक्षेपेण द्विजश्रेष्ठा धर्मस्तेषां सनातनः ॥१४॥

जैसे रथके बिना घोड़े और घोड़ोंके बिना रथ उपयोगी नहीं हो सकते, उसी प्रकार तपस्वीके तप और विद्याकी सिद्धि भी एक-दूसरेके आश्रित हैं। जिस प्रकार अन्न मधु (चीनी आदि) से युक्त होनेपर मीठा होता है और मधु भी अन्नके साथ ही सुस्वादु प्रतीत होता है, उसी प्रकार तप और विद्या—दोनों साथ रहकर ही भवरोगके महान् औषध होते हैं। जिस प्रकार पक्षी दोनों पंखोंसे ही उड़ सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म—दोनोंसे ही सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है। विद्या और तपसे सम्पन्न योग-तत्पर ब्राह्मण दैहिक द्वन्द्वोंको शीघ्र ही त्यागकर भवबन्धनसे मुक्त हो जाता है। जबतक देवयानमार्गसे जाकर जीवको परमपदकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक लिङ्गशरीरका विनाश कभी हो नहीं सकता। द्विजवरो! इस प्रकार वर्णों और आश्रमोंके विभागपूर्वक मैंने उन आश्रमोंके सम्पूर्ण सनातन धर्मका संक्षेपसे वर्णन कर दिया ॥ ९—१४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वैवमृषयो धर्मं स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ।
प्रणम्य तमृषिं जग्मुर्मुदितास्ते स्वमालयम् ॥१५॥
धर्मशास्त्रमिदं यस्तु हारीतमुखनिस्सृतम् ।
श्रुत्वा च कुरुते धर्मं स याति परमां गतिम् ॥१६॥
मुखजस्य तु यत्कर्म कर्म यद्बाहुजस्य तु ।
ऊरुजस्य तु यत्कर्म पादजस्य तथा नृप ॥१७॥
स्वं स्वं कर्म प्रकुर्वाणा विप्राद्या यान्ति सद्गतिम् ।
अन्यथा वर्तमानो हि सद्यः पतति यात्यधः ॥१८॥
यस्य येऽभिहिता धर्माः स तु तैस्तैः प्रतिष्ठितः ।
तस्मात्स्वधर्मं कुर्वीत नित्यमेवमनापदि ॥१९॥
चतुर्वर्णाश्च राजेन्द्र चत्वारश्चापि चाश्रमाः ।
स्वधर्मं येऽनुतिष्ठन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ॥२०॥
स्वधर्मेण यथा नृणां नरसिंहः प्रतुष्यति ।
वर्णधर्मानुसारेण नरसिंहं तथार्चयेत् ॥२१॥

उत्पन्नवैराग्यबलेन योगाद्
ध्यायेत्परं ब्रह्म सदा क्रियावान् ।
सत्यात्मकं चित्सुखरूपमाद्यं
विहाय देहं पदमेति विष्णोः ॥२२॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे योगाध्यायो नामैक-
षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—इस प्रकार हारीत मुनिके मुखसे स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाले धर्मका वर्णन सुनकर वे ऋषिगण उन मुनीश्वरको प्रणाम कर प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये। जो भी हारीत मुनिके मुखसे निर्गत इस धर्मशास्त्रका श्रवण करके इसके अनुसार आचरण करता है वह परमगतिको प्राप्त होता है। नरेश्वर! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके जो-जो कर्म बताये गये हैं, उन-उन अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण आदि सद्गतिको प्राप्त होते हैं; इसके विपरीत आचरण करनेवाला पुरुष तत्काल नीचे गिर जाता है। जिसके लिये जो धर्म बताये गये हैं, वह पुरुष उन्हीं धर्मोंसे प्रतिष्ठित होता है। इसलिये आपत्तिकालके अतिरिक्त सदा ही अपने धर्मका पालन करना चाहिये। राजेन्द्र! चार ही वर्ण और चार ही आश्रम हैं। जो लोग अपने वर्ण एवं आश्रमके उचित धर्मका पूर्णतया पालन करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं। भगवान् नरसिंह जिस प्रकार स्वधर्मका आचरण करनेसे मनुष्यपर प्रसन्न होते हैं, वैसे दूसरे प्रकारसे नहीं; इसलिये वर्णधर्मके अनुसार भगवान् नरसिंहका पूजन करना चाहिये। जो पुरुष स्वकर्ममें तत्पर रहकर उत्पन्न हुए वैराग्यके बलसे योगाभ्यासपूर्वक सदा सच्चिदानन्दस्वरूप अनादि ब्रह्मका ध्यान करता है, वह देह त्यागकर साक्षात् श्रीविष्णुपदको प्राप्त होता है ॥ १५—२२ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'योगाध्याय' नामक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

बासठवाँ अध्याय

श्रीविष्णुपूजनके वैदिक मन्त्र और स्थान

श्रीमार्कण्डेय उवाच

वर्णानामाश्रमाणां च कथितं लक्षणं तव ।
भूयः कथय राजेन्द्र शुश्रूषा तव का नृप ॥ १ ॥

श्रीमार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! मैंने तुम्हें वर्णों और आश्रमोंका स्वरूप बताया । राजेन्द्र ! अब कहो, तुम्हारे मनमें क्या सुननेकी इच्छा है ॥ १ ॥

सहस्रानीक उवाच

स्नात्वा वेश्मनि देवेशमर्चयेदच्युतं त्विति ।
त्वयोक्तं मम विप्रेन्द्र तत्कथं पूजनं भवेत् ॥ २ ॥
यैर्मन्त्रैरर्च्यते विष्णुर्येषु स्थानेषु वै मुने ।
तानि स्थानानि तान्मन्त्रांस्त्वमाचक्ष्व महामुने ॥ ३ ॥

सहस्रानीक बोले—विप्रेन्द्र ! आपने बताया कि प्रतिदिन स्नान करके अपने घरमें भगवान् अच्युतका पूजन करना चाहिये । अतः वह पूजन किस प्रकार होना चाहिये ? महामुने ! जिन मन्त्रोंद्वारा और जिन आधारोंमें भगवान् विष्णुकी पूजा होती है, वे आधार और वे मन्त्र आप मुझे बताइये ॥ २-३ ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

अर्चनं सम्प्रवक्ष्यामि विष्णोरमिततेजसः ।
यत्कृत्वा मुनयः सर्वे परं निर्वाणमाप्नुयुः ॥ ४ ॥
अग्नौ क्रियावतां देवो हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ॥ ५ ॥
अतोऽग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च ।
एतेषु च हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम् ॥ ६ ॥
तस्य सर्वमयत्वाच्च स्थण्डिले प्रतिमासु च ।

श्रीमार्कण्डेयजीने कहा—अच्छा, मैं अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुके पूजनकी विधि बता रहा हूँ, जिसके अनुसार पूजन करके सभी मुनिगण परम निर्वाण (मोक्ष) पदको प्राप्त हुए हैं । अग्निमें हवन करनेवालेके लिये भगवान्का वास अग्निमें है । ज्ञानियों और योगियोंके लिये अपने-अपने हृदयमें ही भगवान्की स्थिति है तथा जो थोड़ी बुद्धिवाले हैं, उनके लिये प्रतिमामें भगवान्का निवास है । इसलिये अग्नि, सूर्य, हृदय, स्थण्डिल (वेदी) और प्रतिमा—इन सभी आधारोंमें भगवान्का विधिपूर्वक पूजन मुनियोंद्वारा बताया गया है । भगवान् सर्वमय हैं, अतः स्थण्डिल और प्रतिमाओंमें भी भगवत्पूजन उत्तम है ॥ ४-६½ ॥

आनुष्टुभस्य सूक्तस्य विष्णुस्तस्य च देवता ॥ ७ ॥
पुरुषो यो जगद्बीजं ऋषिर्नारायणः स्मृतः ।
दद्यात्पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव च ॥ ८ ॥
अर्चितं स्याज्जगत्सर्वं तेन वै सचराचरम् ।
आद्ययाऽऽवाहयेद्देवमृचा तु पुरुषोत्तमम् ॥ ९ ॥
द्वितीययाऽऽसनं दद्यात्पाद्यं दद्यात्तृतीयया ।
चतुर्थ्यार्घ्यः प्रदातव्यः पञ्चम्याऽऽचमनीयकम् ॥ १० ॥
षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्वीत सप्तम्या वस्त्रमेव च ।
यज्ञोपवीतमष्टम्या नवम्या गन्धमेव च ॥ ११ ॥
दशम्या पुष्पदानं स्यादेकादश्या च धूपकम् ।
द्वादश्या च तथा दीपं त्रयोदश्यार्चनं तथा ॥ १२ ॥
चतुर्दश्या स्तुतिं कृत्वा पञ्चदश्या प्रदक्षिणम् ।
षोडश्योद्वासनं कुर्याच्छेषकर्माणि पूर्ववत् ॥ १३ ॥
स्नानं वस्त्रं च नैवेद्यं दद्यादाचमनीयकम् ।
षण्मासात्सिद्धिमाप्नोति देवदेवं समर्चयन् ॥ १४ ॥
संवत्सरेण तेनैव सायुज्यमधिगच्छति ।

अब पूजनका मन्त्र बताते हैं । शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायीमें जो पुरुषसूक्त है, उसका उच्चारण करते हुए भगवान्का पूजन करना चाहिये । पुरुषसूक्तका अनुष्टुप् छन्द है, जगत्के कारणभूत परम पुरुष भगवान् विष्णु देवता हैं, नारायण ऋषि हैं और भगवत्पूजनमें उसका विनियोग है । जो पुरुषसूक्तसे भगवान्को फूल और जल अर्पण करता है, उसके द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत् पूजित हो जाता है । पुरुषसूक्तकी पहली ऋचासे भगवान् पुरुषोत्तमका आवाहन करना चाहिये । दूसरी ऋचासे आसन और तीसरीसे पाद्य अर्पण करे । चौथी ऋचासे अर्घ्य और पाँचवींसे आचमनीय निवेदित करे । छठी ऋचासे स्नान कराये और सातवींसे वस्त्र अर्पण करे । आठवींसे यज्ञोपवीत और नवमी ऋचासे गन्ध निवेदन करे ।

दसवींसे फूल चढ़ाये और ग्यारहवीं ऋचासे धूप दे। बारहवींसे दीप और तेरहवीं ऋचासे नैवेद्य, फल, दक्षिणा आदि अन्य पूजन-सामग्री निवेदित करे। चौदहवीं ऋचासे स्तुति करके पंद्रहवींसे प्रदक्षिणा करे। अन्तमें सोलहवीं ऋचासे विसर्जन करे। पूजनके बाद शेष कर्म पहले बताये अनुसार ही पूर्ण करे। भगवान्‌के लिये स्नान, वस्त्र, नैवेद्य और आचमनीय आदि निवेदन करे। इस प्रकार देवदेव परमात्माका पूजन करनेवाला पुरुष छः महीनेमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इसी क्रमसे यदि एक वर्षतक पूजन करे तो वह भक्त सायुज्य मोक्षका अधिकारी हो जाता है ॥ ७–१४½ ॥

हविषाग्नौ जले पुष्पैर्ध्यानेन हृदये हरिम् ॥१५॥
अर्चन्ति सूरयो नित्यं जपेन रविमण्डले।
आदित्यमण्डले दिव्यं देवदेवमनामयम्।
शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यात्वा विष्णुमुपासते ॥१६॥
ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥१७॥
एतत्पठन् केवलमेव सूक्तं
दिने दिने भावितविष्णुबुद्धिः।
स सर्वपापं प्रविहाय वैष्णवं
पदं प्रयात्यच्युततुष्टिकृन्नरः ॥१८॥
पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोये-
ष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु।
भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे
मुक्त्यै किमर्थं क्रियते न यत्नः ॥१९॥

विद्वान् पुरुष अग्निमें आहुतिके द्वारा, जलमें पुष्पके द्वारा, हृदयमें ध्यानद्वारा और सूर्यमण्डलमें जपके द्वारा भगवान् विष्णुका पूजन करते हैं। वे भक्तजन सूर्यमण्डलमें दिव्य, अनामय, देवदेव शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए उनकी उपासना करते हैं। जो केयूर, मकराकृति कुण्डल, किरीट, हार आदि आभूषणोंसे भूषित हो, हाथमें शङ्ख-चक्र धारण किये कमलासनपर विराजमान हैं तथा जिनके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान देदीप्यमान है, सूर्यमण्डलके मध्यमें विराजमान उन भगवान् नारायणका सदा ध्यान करे। जो प्रतिदिन बुद्धिमें भगवान् विष्णुकी भावना करके केवल इस 'ध्येयः सदा०' इत्यादि सूक्तका पाठ-मात्र ही कर लेता है, वह भगवान् विष्णुको संतुष्ट करनेवाला पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुधामको पहुँच जाता है। बिना मूल्यके ही मिलनेवाले पूजनोपचार —पत्र, पुष्प, फल और जलके सदा रहते हुए तथा एकमात्र भक्तिसे ही सुलभ होनेवाले भगवान् पुराण-पुरुषके होते हुए मनुष्यद्वारा मुक्तिके लिये प्रयत्न क्यों नहीं किया जाता? अर्थात् उक्त सुलभ उपचारोंसे भगवान्‌का पूजन करके लोग मोक्ष पानेके लिये यत्न क्यों नहीं करते? ॥ १५–१९ ॥

इत्येवमुक्तः पुरुषस्य विष्णो-
रर्चाविधिस्तेऽद्य मया नृपेन्द्र।
अनेन नित्यं कुरु विष्णुपूजां
प्राप्तुं तदिष्टं यदि वैष्णवं पदम् ॥२०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे विष्णोरर्चाविधिर्नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

नृपवर! इस प्रकार यह परमपुरुष भगवान् विष्णुकी पूजा-विधि आज मैंने तुम्हें बतायी है। यदि तुम्हें वैष्णव-पद प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो इस विधिके द्वारा सदा भगवान् विष्णुकी पूजा करो ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'भगवान् विष्णुकी पूजा-विधि' नामक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

तिरसठवाँ अध्याय

अष्टाक्षर मन्त्रके प्रभावसे इन्द्रका स्त्रीयोनिसे उद्धार

सहस्रानीक उवाच

सत्यमुक्तं त्वया ब्रह्मन् वैदिकः परमो विधिः।
विष्णोर्देवातिदेवस्य पूजनं प्रति मेऽधुना ॥ १ ॥
अनेन विधिना ब्रह्मन् पूज्यते मधुसूदनः।
वेदज्ञैरेव नान्यैस्तु तस्मात्सर्वहितं वद ॥ २ ॥

सहस्रानीक बोले—ब्रह्मन्! इस समय आपने

देवदेवेश्वर भगवान् विष्णुके पूजनकी यह उत्तम वैदिक विधि बतायी, वह बिल्कुल ठीक है; परंतु भगवन् ! इस विधिसे तो केवल वेदज्ञ पुरुष ही मधुसूदनकी पूजा कर सकते हैं, दूसरे लोग नहीं; इसलिये आप ऐसी कोई विधि बताइये, जो सबके लिये उपयोगी हो ॥ १-२ ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

अष्टाक्षरेण देवेशं नरसिंहमनामयम् ।
गन्धपुष्पादिभिर्नित्यमर्चयेदच्युतं नरः ॥ ३ ॥
राजन्नष्टाक्षरो मन्त्रः सर्वपापहरः परः ।
समस्तयज्ञफलदः सर्वशान्तिकरः शुभः ॥ ४ ॥
ॐ नमो नारायणाय ।
गन्धपुष्पादिसकलमनेनैव निवेदयेत् ।
अनेनाभ्यर्चितो देवः प्रीतो भवति तत्क्षणात् ॥ ५ ॥
किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्व्रतैः ।
ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ ६ ॥
इमं मन्त्रं जपेद्यस्तु शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—मनुष्यको चाहिये कि वह अष्टाक्षर मन्त्रसे निरामय देवेश्वर भगवान् नरसिंहका गन्ध पुष्प आदि उपचारोंद्वारा प्रतिदिन पूजन करे । राजन् ! यह अष्टाक्षर मन्त्र समस्त पापोंको हर लेनेवाला, समस्त यज्ञोंका फल देनेवाला, सब प्रकारकी शान्ति प्रदान करनेवाला एवं परम शुभ है । मन्त्र यों है—'ॐ नमो नारायणाय ।' इसी मन्त्रसे गन्ध आदि समस्त सामग्रियोंको अर्पित करे । इस मन्त्रसे पूजा करनेपर भगवान् विष्णु तत्काल प्रसन्न होते हैं । मनुष्यके लिये अन्य बहुत-से मन्त्रों और व्रतोंकी क्या आवश्यकता है । केवल 'ॐ नमो नारायणाय'—यह मन्त्र ही समस्त मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है । जो स्नानादिसे पवित्र होकर एकाग्रचित्तसे इस मन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके सायुज्यको प्राप्त होता है ॥ ३-७ ॥

सर्वतीर्थफलं ह्येतत् सर्वतीर्थवरं नृप ।
हरेरर्चनमव्यग्रं सर्वयज्ञफलं नृप ॥ ८ ॥
तस्मात्कुरु नृपश्रेष्ठ प्रतिमादिषु चार्चनम् ।
दानानि विप्रमुख्येभ्यः प्रयच्छ विधिना नृप ।
एवं कृते नृपश्रेष्ठ नरसिंहप्रसादतः ।
प्राप्नोति वैष्णवं तेजो यत्काङ्क्षन्ति मुमुक्षवः ॥ ९ ॥
पुरा पुरंदरो राजन् स्त्रीत्वं प्राप्तोऽपधर्मतः ।
तृणबिन्दुमुनेः शापान्मुक्तो ह्यष्टाक्षरजपात् ॥ १० ॥

नरेश्वर ! शान्तभावसे भगवान् विष्णुका पूजन करना ही सब तीर्थों और यज्ञोंका फल है तथा सम्पूर्ण तीर्थोंसे बढ़कर पवित्र है ! अतः नरेश्वर ! तुम प्रतिमा आदिमें विधिपूर्वक भगवान्‌का पूजन करो और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान दो । नृपश्रेष्ठ ! यों करनेसे भक्त पुरुष उस तेजोमय वैष्णवधामको प्राप्त होते हैं, जिसकी मुमुक्षुलोग सदा अभिलाषा किया करते हैं । राजन् ! पूर्वकालमें इन्द्र धर्मके विपरीत आचरण करके तृणबिन्दुमुनिके शापसे स्त्री-योनिको प्राप्त हो गये थे; परंतु इस अष्टाक्षर मन्त्रका जप करनेसे वे पुनः उस योनिसे मुक्त हो गये ॥ ८-१० ॥

सहस्रानीक उवाच

एतत्कथय भूदेव देवेन्द्रस्याघमोचनम् ।
कोऽपधर्मः कथं स्त्रीत्वं प्राप्तो मे वद कारणम् ॥ ११ ॥

सहस्रानीक बोले—भूमिदेव ! देवराज इन्द्रको जो पाप एवं शापसे छुटकारा मिला, उस प्रसङ्गका वर्णन कीजिये । उन्होंने कौन-सा अधर्म किया था, और किस कारण स्त्री-योनिको प्राप्त हुए—यह सब भी बताइये ॥ ११ ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच

राजेन्द्र महदाख्यानं शृणु कौतूहलान्वितम् ।
विष्णुभक्तिप्रजननं शृण्वतां पठतामिदम् ॥ १२ ॥

श्रीमार्कण्डेयजीने कहा—राजेन्द्र ! सुनो, यह उपाख्यान बहुत बड़ा तथा कौतूहलसे भरा हुआ है । जो लोग इसे सुनते और पढ़ते हैं, उनके हृदयमें यह आख्यान विष्णुभक्ति उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

पुरा पुरंदरस्यैव देवराज्यं प्रकुर्वतः ।
वैराग्यस्यापि जननं सम्भूतं बाह्यवस्तुषु ॥ १३ ॥
इन्द्रस्तदाभूद्विषमस्वभावो
राज्येषु भोगेष्वपि सोऽप्यचिन्तयत् ।
ध्रुवं विरागीकृतमानसानां
स्वर्गस्य राज्यं न च किंचिदेव ॥ १४ ॥
राज्यस्य सारं विषयेषु भोगो
भोगस्य चान्ते न च किंचिदस्ति ।

विमृश्य चैतन्मुनयोऽप्यतस्तं
मोक्षाधिकारं परिचिन्तयन्ति ॥१५॥
सदैव भोगाय तपःप्रवृत्ति-
र्भोगावसाने हि तपो विनष्टम् ।
मैत्र्यादिसंयोगपराङ्मुखानां
विमुक्तिभाजां न तपो न भोगः ॥१६॥
विमृश्य चैतत् स सुराधिनाथो
विमानमारुह्य सकिङ्किणीकम् ।
नूनं हराराधनकारणेन
कैलासमभ्येति विमुक्तिकामः ॥१७॥

पूर्वकालकी बात है, एक समय देवलोकका राज्य भोगते हुए इन्द्रके लिये उनका वह राज्य ही बाह्य वस्तुओंमें वैराग्यका कारण बन गया । उस समय इन्द्रका स्वभाव राज्य-कार्यों और भोगोंके प्रति विषम (वैराग्यपूर्ण) हो गया । वे सोचने लगे—'यह निश्चित है कि विरक्त हृदयवाले पुरुषोंकी दृष्टिमें स्वर्गका राज्य कुछ भी महत्त्व नहीं रखता । राज्यका सार है—विषयोंका भोग तथा भोगके अन्तमें कुछ भी नहीं रह जाता । यही सोचकर मुनिगण सदा ही मोक्षाधिकारके विषयमें ही विचार करते हैं । लोगोंकी सदा भोगके लिये ही तपमें प्रवृत्ति हुआ करती है और भोगके अन्तमें तप नष्ट हो जाता है । परंतु जो लोग मैत्री आदिके द्वारा विषय-सम्पर्कसे विमुख हो गये हैं, उन मोक्षभागी पुरुषोंको न तपकी आवश्यकता होती है न योगकी ।' इन सब बातोंका विचार करके देवराज इन्द्र क्षुद्रघण्टिकाओंकी ध्वनिसे युक्त विमानपर आरूढ़ हो भगवान् शंकरकी आराधनाके लिये कैलासपर्वतपर चले आये । उस समय उनके मनमें एकमात्र मोक्षकी कामना रह गयी थी ॥ १५-१७ ॥

स एकदा मानसमागतः सन्
संवीक्ष्य तां यक्षपतेश्च कान्ताम् ।
समर्चयन्तीं गिरिजाङ्घ्रियुग्मं
स्वजामिवानङ्गमहारथस्य ॥१८॥
प्रधानजाम्बूनदसूक्ष्मवर्णां
कर्णान्तसंलग्नमनोज्ञनेत्राम् ।
सुसूक्ष्मवस्त्रान्तरदृश्यगात्रीं
नीहारमध्यादिव चन्द्रलेखाम् ॥१९॥

तां वीक्ष्य वीक्ष्यगसहस्रभरेण कामं
कामाङ्गमोहितमतिर्न ययौ तदानीम् ।
दूराध्वगं स्वगृहमेत्य सुसंचितार्थ-
स्तस्थौ तदा सुरपतिर्विषयाभिलाषी ॥२०॥
पूर्वं वरं स्यात् सुकुलेऽपि जन्म
ततो हि सर्वाङ्गशरीररूपम् ।
ततो धनं दुर्लभमेव पश्चा-
द्धनाधिपत्यं सुकृतेन लभ्यम् ॥२१॥
स्वर्गाधिपत्यं च मया प्रलब्धं
तथापि भोगाय न चास्ति भाग्यम् ।
यः स्वं परित्यज्य विमुक्तिकाम-
स्तिष्ठामि मे दुर्मतिरस्ति चित्ते ॥२२॥
मोक्षोऽमुना यद्यपि मोहनीयो
मोक्षेऽपि किं कारणमस्ति राज्ये ।
क्षेत्रं सुपक्वं परिहृत्य द्वारे
किं नाम चारण्यकृषिं करोति ॥२३॥
संसारदुःखोपहता नरा ये
कर्तुं समर्था न च किंचिदेव ।
अकर्मिणो भाग्यविवर्जिताश्च
वाञ्छन्ति ते मोक्षपथं विमूढाः ॥२४॥

कैलासपर रहते समय इन्द्र एक दिन घूमते हुए मानस-सरोवरके तटपर आये । वहाँ उन्होंने पार्वतीजीके युगल-चरणारविन्दोंका पूजन करती हुई यक्षराज कुबेरकी प्राणवल्लभा चित्रलेखाको देखा, जो कामदेवके महान् रथकी ध्वजा-सी जान पड़ती थी । उत्तम 'जाम्बूनद' नामक सुवर्णके समान उनके अङ्गोंकी दिव्य कान्ति थी । आँखें बड़ी-बड़ी और मनोहर थीं, जो कानके पासतक पहुँच गयी थीं । महीन साड़ीके भीतरसे उसके मनोहर अङ्ग इस प्रकार झलक रहे थे, मानो कुहासेके भीतरसे चन्द्रलेखा दृष्टिगोचर हो रही हो । अपने हजार नेत्रोंसे उस देवीको इच्छानुसार निहारते ही इन्द्रका हृदय कामसे मोहित हो गया । उस समय वे दूरके रास्तेपर स्थित अपने आश्रमपर नहीं गये और सम्पूर्ण मनोरथोंको मनमें लिये देवराज इन्द्र विषयाभिलाषी हो खड़े हो गये । वे सोचने लगे—'पहले तो उत्तम कुलमें जन्म पा जाना ही दुष्कर नहीं

बात है, उसके बाद सर्वाङ्ग-सौन्दर्य और उसपर भी धन तो सर्वथा ही दुर्लभ है। इन सबके बाद धनाधिप (कुबेर) होना तो पुण्यसे ही सम्भव है। मैंने इन सबसे बड़े स्वर्गके आधिपत्यको प्राप्त किया है, फिर भी मेरे भाग्यमें भोग भोगना नहीं बदा है। मेरे चित्तमें ऐसी दुर्बुद्धि आ गयी है कि मैं स्वर्गका सुखभोग छोड़कर यहाँ मुक्तिकी इच्छासे आ पड़ा हूँ। मोक्ष-सुख तो इस राज्य-भोगद्वारा मोह लिया जा सकता है; परंतु क्या मोक्ष भी राज्य-प्राप्तिका कारण हो सकता है ? भला, अपने द्वारपर पके अन्नसे युक्त खेतको छोड़कर कोई जंगलमें खेती करने क्यों जायगा ? जो सांसारिक दुःखसे मारे-मारे फिरते हैं और कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं रखते, वे ही अकर्मण्य, भाग्यहीन एवं मूढजन मोक्षमार्गकी इच्छा करते हैं' ॥ १८-२४ ॥

एतद्विमृश्य बहुधा मतिमान् प्रवीरो
रूपेण मोहितमना धनदाङ्गनायाः ।
सर्वाधिराकुलमतिः परिमुक्तधैर्यः
सस्मार मारममराधिपचक्रवर्ती ॥२५॥
समागतोऽसौ परिमन्दमन्दं
कामोऽतिकामाकुलचित्तवृत्तिः ।
पुरा महेशेन कृताङ्गनाशो
धैर्यालयं गच्छति को विशङ्कः ॥२६॥
आदिश्यतां नाथ यदस्ति कार्यं
को नाम ते सम्प्रति शत्रुभूतः ।
शीघ्रं समादेशय मा विलम्बं
तस्यापदं सम्प्रति भो दिशामि ॥२७॥

इन सब बातोंपर बारंबार विचार करके देवेश्वरोंके चक्रवर्ती सम्राट् बुद्धिमान् वीरवर इन्द्र कुबेर-पत्नी चित्रसेनाके रूपपर मोहित हो गये। समस्त मानसिक वेदनाओंसे व्याकुल हो, धैर्य खोकर वे कामदेवका स्मरण करने लगे। इन्द्रके स्मरण करनेपर अत्यन्त कामनाओंसे व्याप्त चित्तवृत्तिवाला कामदेव बहुत धीरे-धीरे डरता हुआ वहाँ आया; क्योंकि वहीं पूर्वकालमें शंकरजीने उसके शरीरको जलाकर भस्म कर दिया था। क्यों न हो, प्राणसंकटके स्थानपर धीरतापूर्वक और निर्भय होकर कौन जा सकता है ? कामदेवने आकर कहा—'नाथ ! मुझसे जो कार्य लेना हो, आज्ञा कीजिये; बताइये तो सही, इस समय कौन आपका शत्रु बना हुआ है ? शीघ्र बताइये, विलम्ब न कीजिये; मैं अभी उसे आपत्तिमें डालता हूँ' ॥ २५-२७ ॥

श्रुत्वा तदा तस्य वचोऽभिरामं
मनोगतं तत्परमं तुतोष ।
निष्पन्नमर्थं सहसैव मत्वा
जगाद वाक्यं स विहस्य वीरः ॥२८॥
रुद्रोऽपि येनार्धशरीरमात्र-
श्चक्रेऽप्यनङ्गत्वमुपागतेन ।
सोढुं समर्थोऽथ परोऽपि लोके
को नाम ते मार शराभिघातम् ॥२९॥
एकाग्रचित्ता गिरिजार्चनेऽपि
या मोहयत्येव ममात्र चित्तम् ।
एतामनङ्गायतलोचनाख्यां
मदङ्गसङ्गैकरसां विधेहि ॥३०॥

उस समय कामदेवके उस मनोभिराम वचनको सुनकर मन-ही-मन उसपर विचार करके इन्द्र बहुत संतुष्ट हुए। अपने मनोरथको सहसा सिद्ध होते जान वीरवर इन्द्रने हँसकर कहा—'कामदेव ! अनङ्ग बन जानेपर भी तुमने जब शंकरजीको भी आधे शरीरका बना दिया, तब संसारमें दूसरा कौन तुम्हारे उस शराघातको सह सकता है ? अनङ्ग ! जो गिरिजा-पूजनमें एकाग्रचित्त होनेपर भी मेरे मनको निश्चय ही मोहे लेती है, उस विशाल नयनोंवाली सुन्दरीको तुम एकमात्र मेरे अङ्ग-सङ्गकी सरस भावनासे युक्त कर दो' ॥ २८-३० ॥

स एवमुक्तः सुरवल्लभेन
स्वकार्यभावाधिकगौरवेण ।
संधाय बाणं कुसुमायुधोऽपि
सस्मार मारः परिमोहनं सुधीः ॥३१॥
सम्मोहिता पुष्पशरेण बाला
कामेन कामं मदविह्वलाङ्गी ।
विहाय पूजां हसते सुरेशं
कः कामकोदण्डरवं सहेत ॥३२॥

अपने कार्यको अधिक महत्त्व देनेवाले सुरराज इन्द्रके यों कहनेपर उत्तम बुद्धिवाले कामदेवने भी अपने पुष्पमय धनुषपर बाण रखकर मोहन-मन्त्रका स्मरण किया। तब

कामदेवद्वारा पुष्पबाणसे मोहित की हुई वह बाला अपने सम्पूर्ण अङ्गमें मदके उद्रेकसे विह्वल हो गयी और पूजा छोड़ इन्द्रकी ओर देखकर मुस्काने लगी। भला, कामदेवके धनुषकी टंकार कौन सह सकता है ॥ ३१-३२ ॥

विलोलनेत्रे अयि कासि बाले
सुराधिपो वाक्यमिदं जगाद।
सम्मोहयन्तीव मनांसि पुंसां
कस्येह कान्ता वद पुण्यभाजः ॥३३॥
उक्तापि बाला मदविह्वलाङ्गी
रोमाञ्चसंस्वेदसकम्पगात्रा।
कृताकुला कामशिलीमुखेन
सगद्गदं वाक्यमुवाच मन्दम् ॥३४॥
कान्ता धनेशस्य च यक्षकन्या
प्राप्ता च गौरीचरणार्चनाय।
प्रब्रूहि कार्यं च तवास्ति नाथ
कस्त्वं वदेस्तिष्ठसि कामरूपः ॥३५॥

इन्द्र उसको अपनी ओर निहारते देखकर यह वचन बोले—'चञ्चल नेत्रोंवाली बाले! तुम कौन हो, जो पुरुषोंके मनको इस प्रकार मोहे लेती हो? बताओ तो, तुम किस पुण्यात्माकी पत्नी हो?' इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर उसके अङ्ग मदसे विह्वल हो उठे। शरीरमें रोमाञ्च, स्वेद और कम्प होने लगे। वह कामबाणसे व्याकुल हो गद्गद कण्ठसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोली—'नाथ! मैं धनाधिप कुबेरकी पत्नी एक यक्ष-कन्या हूँ। पार्वतीजीके चरणोंकी पूजा करनेके लिये यहाँ आयी थी। आप अपना कार्य बताइये; आप कौन हैं, जो साक्षात् कामदेवके समान रूप धारण किये यहाँ खड़े हैं?॥ ३३—३५ ॥

इन्द्र उवाच

सा त्वं समागच्छ भजस्व मां चिरा-
न्मदङ्गसङ्गोत्सुकतां व्रजाशु।
त्वया विना जीवितमप्यनल्पं
स्वर्गस्य राज्यं मम निष्फलं स्यात् ॥३६॥

इन्द्र बोले—प्रिये! मैं स्वर्गका राजा इन्द्र हूँ। तुम मेरे पास आओ और मुझे अपनाओ तथा चिरकालतक मेरे अङ्ग-सङ्गके लिये शीघ्र ही उत्सुकता धारण करो। देखो, तुम्हारे बिना मेरा यह जीवन और स्वर्गका विशाल राज्य भी व्यर्थ हो जायगा ॥ ३६ ॥

उक्ता च सैवं मधुरं च तेन
कंदर्पसंतापितचारुदेहा।
विमानमारुह्य चलत्पताकं
सुरेशकण्ठग्रहणं चकार ॥३७॥
जगाम शीघ्रं स हि नाकनाथः
साकं तया मन्दरकन्दरासु।
अदृष्टदेवासुरसंचरासु
विचित्ररत्नाङ्कुरभासुरासु ॥३८॥
रेमे तया साकमुदारवीर्य-
श्चित्रं सुरैश्वर्यगतादरोऽपि।
स्वयं च यस्या लघुपुष्पशय्यां
चकार चातुर्यनिधिः सकामः ॥३९॥
जातः कृतार्थोऽमरवृन्दनाथः
सकामभोगेषु सदा विदग्धः।
मोक्षाधिकं स्नेहरसातिमृष्टं
पराङ्गनालिङ्गनसङ्गसौख्यम् ॥४०॥

इन्द्रने मधुर वाणीमें जब इस प्रकार कहा, तब उसका सुन्दर शरीर कामवेदनासे पीडित होने लगा और वह फहराती हुई पताकाओंसे सुशोभित विमानपर आरूढ हो देवराजके कण्ठसे लग गयी। तब स्वर्गके राजा इन्द्र शीघ्र ही उसके साथ मन्दराचलकी उन कन्दराओंमें चले गये, जहाँका मार्ग देवता और असुर—दोनोंकी ही दृष्टिमें नहीं आया था और जो विचित्र रत्नोंकी प्रभासे प्रकाशित थीं। आश्चर्य है कि देवताओंके राज्यके प्रति आदर न रखते हुए भी वे उदारपराक्रमी इन्द्र उस सुन्दरी यक्ष-बालाके साथ वहाँ रमण करने लगे तथा कामके वशीभूत हो परम चतुर इन्द्रने अपने हाथों चित्रसेनाके लिये शीघ्रतापूर्वक छोटी-सी पुष्पशय्या तैयार की। कामोपभोगमें परम चतुर देवराज इन्द्र चित्रसेनाके समागमसे कृतार्थताका अनुभव करने लगे। स्नेहरससे अत्यन्त मधुर प्रतीत होनेवाला वह परस्त्रीके आलिङ्गन और समागमका सुख उन्हें मोक्षसे भी बढ़कर जान पड़ा ॥ ३७—४० ॥

अथागता यक्षपतेः समीपं
नार्योऽनुवर्ज्यैव च चित्रसेनाम् ।
ससम्भ्रमाः सम्भ्रमखिन्नगात्राः
सगद्गदं प्रोचुरसाहसज्ञाः ॥४१॥
नूनं समाकर्णय यक्षनाथ
विमानमारोप्य जगाम कश्चित् ।
संवीक्षमाणः ककुभोऽपि कान्तां
विगृह्य वेगादिह सोऽपि तस्करः ॥४२॥

इधर, इन्द्र जब चित्रसेनाको लेकर मन्दराचलपर चले आये, तब उसकी सङ्गिनी स्त्रियाँ उसे साथ लिये बिना ही यक्षराज कुबेरके समीप वेगपूर्वक आयीं। वे दुस्साहससे अनभिज्ञ थीं, अतः घबराहटके कारण उनके सारे शरीरमें व्यथा हो रही थी। वे गद्गद कण्ठसे बोलीं—'यक्षपते! निश्चय ही आप हमारी यह बात सुनें—आपकी भार्या चित्रसेनाको किसी अज्ञात पुरुषने पकड़कर विमानपर बिठा लिया और चारों ओर सशङ्कदृष्टिसे देखता हुआ वह चोर बड़े वेगसे कहीं चला गया है' ॥ ४१-४२ ॥

वचो निशम्याथ धनाधिनाथो
विषोपमं जातमषीनिभाननः ।
जगाद भूयो न च किंचिदेव
बभूव वै वृक्ष इवाग्निदग्धः ॥४३॥
विज्ञापितार्थो वरकन्यकाभि-
र्यश्चित्रसेनासहचारिणीभिः ।
मोहापनोदाय मतिं दधानः
स कण्ठकुब्जोऽपि समाजगाम ॥४४॥
श्रुत्वाऽऽगतं वीक्ष्य स राजराज
उन्मीलिताक्षो वचनं जगाद ।
विनिःश्वसन् गाढसकम्पगात्रः
स्वस्थं मनोऽप्याशु विधाय दीनः ॥४५॥

विषके समान दुस्सह प्रतीत होनेवाली इस बातको सुननेसे धनाधिप कुबेरका मुँह काला पड़ गया। वे अग्निसे जले हुए वृक्षके समान हो गये। उस समय उनके मुखसे कोई बात नहीं निकली। इसी समय चित्रसेनाकी सहचरी श्रेष्ठ यक्ष-कन्याओंसे यह समाचार जानकर कुबेरका मन्त्री कण्ठकुब्ज भी अपने स्वामीका मोह दूर करनेके विचारसे वहाँ आया। उसका आगमन सुन राजराज कुबेरने आँखें खोलकर उसकी ओर देखा और लंबी साँस खींचते हुए अपने चित्तको यथासम्भव शीघ्र सँभालकर वे दीनभावसे बोले। उस समय उनका शरीर अत्यन्त कम्पित हो रहा था ॥ ४३—४५ ॥

तद्यौवनं यद्युवतीविनोदो
धनं तु यत्स्वजनोपयोगि ।
तज्जीवितं यत्क्रियते सुधर्म-
स्तदाधिपत्यं यदि नष्टविग्रहम् ॥४६॥
धिङ्मे धनं जीवितमत्यनल्पं
राज्यं बृहत्सम्प्रति गुह्यकानाम् ।
विशामि चाग्निं न च वेद कश्चित्
पराभवोऽस्तीति च को मृतानाम् ॥४७॥
पार्श्वे स्थितस्यापि च जीवतो मे
गता तडागं गिरिजार्चनाय ।
हृता च केनापि वयं न विद्मो
ध्रुवं न तस्यास्ति भयं च मृत्योः ॥४८॥

वे कहने लगे—'वही यौवन सफल है, जिससे युवतीका मनोरञ्जन हो सके; धन भी वही सार्थक है, जो आत्मीय जनोंके उपयोगमें आ सके। जीवन वह सफल है, जिससे सत्कर्म किया जाय और प्रभुत्व वही सार्थक है, जिसमें युद्ध और कलहके मूल नष्ट हो गये हों। इस समय मेरे इस विपुल धनको, गुह्यकोंके इस विशाल राज्यको और मेरे इस जीवनको भी धिक्कार है। अभीतक मेरे इस अपमानको कोई नहीं जानता; अतः इसी समय अग्निमें जल मरूँगा। पीछे यदि इस समाचारको लोग जान भी लें तो क्या! मृत पुरुषोंका क्या अपमान होगा? हा! वह मानससरोवरके तटपर गिरिजा-पूजनके लिये गयी थी। यहाँ निकट ही था और जीवित भी रहा; तो भी किसीने उसे हर लिया। हम नहीं जानते वह कौन है। मैं समझता हूँ, अवश्य ही उस दुष्टको मृत्युका भय नहीं है' ॥ ४६—४८ ॥

जगाद वाक्यं स च कण्ठकुब्जो
मोहापनोदाय विभोः स मन्त्री ।
आकर्ण्यतां नाथ न चास्ति योग्यः
कान्तावियोगे निजदेहघातः ॥४९॥

एका पुरा रामवधूर्हृता च
निशाचरेणापि मृतो न सोऽपि ।
अनेकशः सन्ति तवात्र नार्यः
को नाम चित्ते क्रियते विषादः ॥५०॥
विमुच्य शोकं कुरु विक्रमे मतिं
धैर्यं समालम्बय यक्षराज ।
भृशं न जल्पन्ति रुदन्ति साधवः
पराभवं बाह्यकृतं सहन्ते ॥५१॥
कृतं हि कार्यं गुरु दर्शयन्ति
सहायवान् वित्तप कातरोऽसि किम् ।
सहायकार्यं कुरुते हि सम्प्रति
स्वयं हि यस्यावरजो विभीषणः ॥५२॥

स्वामीकी यह बात सुनकर उनका मोह दूर करनेके लिये कुबेरके उस मन्त्री कण्ठकुब्जने यह वचन कहा—'नाथ ! सुनिये, स्त्रीके वियोगमें शरीर-त्याग करना आपके लिये उचित नहीं है । पूर्वकालमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी एकमात्र पत्नी सीताको भी निशाचर रावणने हर लिया था, परंतु श्रीरामचन्द्रजीने प्राण नहीं त्यागा । आपके यहाँ तो अनेक स्त्रियाँ हैं, फिर आप मनमें यह कैसा विषाद ला रहे हैं ? यक्षराज ! शोक त्यागकर पराक्रममें मन लगाइये; धैर्य धारण कीजिये । साधु पुरुष बहुत बातें नहीं बनाते और न बैठकर रोते ही हैं; वे दूसरोंके द्वारा परोक्षमें किये हुए अपने अपमानको उस समय चुपचाप सह लेते हैं । वित्तपते ! महापुरुष समय आनेपर महान् कार्य कर दिखाते हैं । आपके तो अनेक सहायक हैं, आप क्यों कातर हो रहे हैं ! इस समय तो आपके छोटे भाई विभीषण स्वयं ही आपकी सहायता कर रहे हैं ॥ ४९—५२ ॥

धनद उवाच

विभीषणो मे प्रतिपक्षभूतो
दायादभावं न विमुञ्चतीति ।
ध्रुवं प्रसन्ना न भवन्ति दुर्जनाः
कृतोपकारा हरिवज्रनिष्ठुराः ॥५३॥
न चोपकारैर्न गुणैर्न सौहृदैः
प्रसादमायाति मनो हि गोत्रिणः ।

कुबेर बोले—विभीषण तो मेरे विपक्षी ही बने हुए हैं, वे अब भी मेरे साथ कौटुम्बिक विरोधका त्याग नहीं करते । यह निश्चित बात है कि दुर्जन पुरुष उपकार करनेपर भी प्रसन्न नहीं होते, वे इन्द्रके वज्रके सदृश कठोर होते हैं । सगोत्रका मन उपकारोंसे, गुणोंसे अथवा मैत्रीसे भी प्रायः प्रसन्न नहीं होता ॥ ५३½ ॥

उवाच वाक्यं स च कण्ठकुब्जो
युक्तं त्वयोक्तं च धनाधिनाथ ॥५४॥
परस्परं घ्नन्ति च ते विरुद्धा-
स्तथापि लोके न पराभवोऽस्ति ।
पराभवं नान्यकृतं सहन्ते
नोष्णं जलं ज्वालयते तृणानि ॥५५॥
तस्मात्समागच्छ धनाधिनाथ
पार्श्वं च वेगेन विभीषणस्य ।
स्वबाहुवीर्यार्जितवित्तभोगिनां
स्वबन्धुवर्गेषु हि को विरोधः ॥५६॥

यह सुनकर कण्ठकुब्जने कहा—"धनाधिनाथ ! आपने ठीक कहा है । विरोध होनेपर सगोत्र पुरुष अवश्य ही परस्पर घात-प्रतिघात करते हैं, तथापि लोकमें उनका पराभव नहीं देखा जाता; क्योंकि कुटुम्बीजन दूसरेके द्वारा किये हुए अपने बन्धुजनके अपमानको नहीं सह सकते । जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे तप्त हुआ जल अपने भीतरके तृणोंको नहीं जलाता, उसी प्रकार दूसरोंसे अपमानित कुटुम्बी जन अपने पार्श्ववर्ती बन्धुओंको नहीं सताते । इसलिये धनाधिप ! आप बहुत शीघ्र विभीषणके पास चलिये । जो लोग अपने बाहुबलसे उपार्जित धनका उपभोग करते हैं, उन्हें भाई-बन्धुओंके साथ क्या विरोध हो सकता है' ॥ ५४—५६ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन कण्ठकुब्जेन मन्त्रिणा ।
विभीषणस्य सामीप्यं जगामाशु विचारयन् ॥५७॥
ततो लङ्काधिपः श्रुत्वा बान्धवं पूर्वजं तदा ।
प्राप्तं प्रत्याजगामाशु विनयेन समन्वितः ॥५८॥
ततो विभीषणो दृष्ट्वा तदा दीनं च बान्धवम् ।
संतप्तमानसो भूप जगादेदं वचो महत् ॥५९॥

अपने मन्त्री कण्ठकुब्जके इस प्रकार कहनेपर कुबेर मन-ही-मन उसपर विचार करते हुए शीघ्र ही विभीषणके पास गये। लङ्कापति विभीषणने जब अपने ज्येष्ठ भ्राताका आगमन सुना, तब उन्होंने बड़ी विनयके साथ उनकी अगवानी की। राजन्! फिर विभीषणने अपने भाईको जब दीनदशामें देखा, तब उन्होंने मन-ही-मन दुःखी होकर उनसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही॥ ५७—५९॥

विभीषण उवाच

कथं दीनोऽसि यक्षेश किं कष्टं तव चेतसि।
निवेदयाधुनास्माकं निश्चयान्मार्जयामि तत्॥६०॥
तदैकान्तं समासाद्य कथयामास वेदनाम्।

विभीषण बोले—'यक्षराज! आप दीन क्यों हो रहे हैं? आपके मनमें क्या कष्ट है? इस समय आप उस कष्टको मुझे बताइये। मैं निश्चय ही उसका मार्जन करूँगा' तब कुबेरने एकान्तमें जाकर विभीषणसे अपनी मनोवेदना बतलायी॥ ६०½॥

धनद उवाच

गृहीता किं स्वयं याता निहता केनचिद्द्विषा॥६१॥
भ्रातः कान्तां न पश्यामि चित्रसेनां मनोरमाम्।
एतद्बन्धो महत्कष्टं मम नारीसमुद्भवम्॥६२॥
प्राणान् वै घातयिष्यामि अनासाद्य च वल्लभाम्।

कुबेर बोले—भाई! कुछ दिनोंसे मैं अपनी मनोरमा भार्या चित्रसेनाको नहीं देख रहा हूँ। न जाने उसे किसीने पकड़ लिया या वह स्वयं किसीके साथ चली गयी अथवा किसी शत्रुने उसे मार डाला। बन्धो! मुझे अपनी स्त्रीके वियोगका महान् कष्ट हो रहा है। यदि वह प्राणवल्लभा न मिली तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगा॥ ६१-६२½॥

विभीषण उवाच

आनयिष्यामि ते कान्तां यत्र तत्र स्थितां विभो॥६३॥
कः समर्थोऽधुनास्माकं हर्तुं नाथ तृणस्य च।
ततो विभीषणस्तत्र नाडीजङ्घां निशाचरीम्॥६४॥
भृशं संजल्पयामास नानामायागरीयसीम्।
धनदस्य च या कान्ता चित्रसेनाभिधानतः॥६५॥
सा च केन हृता लोके मानसे सरसि स्थिता।
तां च जानीहि संवीक्ष्य देवराजादिवेश्मसु॥६६॥

विभीषण बोले—'प्रभो! आपकी भार्या जहाँ-कहीं भी होगी, मैं उसे ला दूँगा। नाथ! इस समय संसारमें किसकी सामर्थ्य है, जो हमारा तृण भी चुरा सके।' यह कहकर विभीषणने नाना प्रकारकी मायाके ज्ञानमें बढ़ी-चढ़ी 'नाडीजङ्घा' नामकी निशाचरीसे बहुत कुछ कहा और बताया—"कुबेरकी जो 'चित्रसेना' नामकी पत्नी है, वह एक दिन जब मानससरोवरके तटपर थी, तभी वहाँसे किसीने उसे हर लिया। तुम इन्द्र आदि लोकपालोंके भवनोंमें देखकर उसका पता लगाओ"॥ ६३—६६॥

ततो निशाचरी भूप कृत्वा मायामयं वपुः।
जगाम त्रिदिवं शीघ्रं देवराजादिवेश्मसु॥६७॥
यया दृष्टया क्षणं दृष्टो मोहं यास्यति चोपलः।
यस्याः समं ध्रुवं रूपं विद्यते न चराचरे॥६८॥
एतस्मिन्नेव काले च देवराजोऽपि भूपते।
सम्प्राप्तो मन्दराच्छीघ्रं प्रेरितश्चित्रसेनया॥६९॥
ग्रहीतुं दिव्यपुष्पाणि नन्दनप्रभवाणि च।
तत्र पश्यन् स तां तन्वीं निजस्थाने समागताम्॥७०॥
अतीवरूपसम्पन्नां गीतगानपरायणाम्।
तां वीक्ष्य देवराजोऽपि स कामवशगोऽभवत्॥७१॥
ततः सम्प्रेरयामास देववैद्यौ सुराधिपः।
तस्याः पार्श्वे समानेतुं ध्रुवं चान्तःपुरे तदा॥७२॥
देववैद्यौ तदाऽऽगत्य जल्पतश्चाग्रतः स्थितौ।
आगच्छ भव तन्वङ्गि देवराजसमीपगा॥७३॥
इत्युक्ता सा तदा ताभ्यां जगाद मधुराक्षरम्।

भूप! तब वह निशाचरी मायामय शरीर धारणकर इन्द्रादि देवताओंके भवनोंमें खोज करनेके लिये शीघ्र ही स्वर्गलोकमें गयी। उस निशाचरीने ऐसा सुन्दर रूप बनाया था, जिसकी एक ही दृष्टि पड़नेसे पत्थर भी मोहित हो सकता था। अवश्य ही उस समय वैसा मोहन रूप चराचर जगत्में कहीं नहीं था। भूपते! इसी समय देवराज इन्द्र भी चित्रसेनाके भेजनेसे उतावलीके साथ नन्दनवनके दिव्य पुष्प लेनेके लिये मन्दराचलसे स्वर्गलोकमें आये थे। वहाँ अपने स्थानपर आयी हुई उस अत्यन्त रूपवती रमणीको, जो मधुर गान गा रही थी, देख देवराज भी

कामके वशीभूत हो गये। तब देवेन्द्रने उसे जैसे भी हो, अपने अन्तःपुरमें बुला लानेके लिये देववैद्य अश्विनीकुमारोंको उसके पास भेजा। दोनों अश्विनीकुमार उसके सामने जाकर खड़े हुए और कहने लगे—"कृशाङ्गि! आओ, देवराज इन्द्रके निकट चलो।" उन दोनोंके द्वारा यों कही जानेपर उस सुन्दरीने मधुर वाणीमें उत्तर दिया ॥ ६७-७३½ ॥

नाडीजङ्घोवाच

देवराजः स्वयं यन्मे पार्श्वं चात्रागमिष्यति ॥७४॥
तस्य वाक्यं च कर्तव्यं नान्यथा सर्वथा मया ।

नाडीजङ्घा बोली—यदि देवराज इन्द्र स्वयं ही मेरे पास आयेंगे तो मैं उनकी बात मान सकती हूँ; अन्यथा बिल्कुल नहीं ॥ ७४½ ॥

तौ तदा वासवं गत्वा ऊचतुर्वचनं शुभम् ॥७५॥

तब अश्विनीकुमारोंने इन्द्रके पास जाकर उसका शुभ संदेश कहा ॥ ७५ ॥

वासव उवाच

समादेशय तन्वङ्गि किं कर्तव्यं मयाधुना ।
सर्वदा दासभूतस्ते याचसे तद्ददाम्यहम् ॥७६॥

तब इन्द्र स्वयं आकर बोले—कृशाङ्गि! आज्ञा दो, मैं इस समय तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ? मैं सदाके लिये तुम्हारा दास हो गया हूँ; तुम जो कुछ माँगोगी, वह सब दूँगा ॥ ७६ ॥

तन्वङ्ग्युवाच

याचितं यदि मे नाथ दास्यसीति न संशयः ।
ततोऽहं वशगा देव भविष्यामि न संशयः ॥७७॥
अद्य त्वं दर्शयास्माकं सर्वाः कान्तापरिग्रहः ।
मम रूपसमा रामा कान्ता ते चास्ति वा न वा ॥७८॥

कृशाङ्गीने कहा—नाथ! यदि आप मेरी माँगी हुई वस्तु अवश्य दे देंगे तो निस्संदेह मैं आपकी वशवर्तिनी हो जाऊँगी। आज आप अपनी समस्त भार्याओंको मुझे दिखाइये; देखूँ, आपकी कोई भी स्त्री मेरे रूपके सदृश है या नहीं? ॥ ७७-७८ ॥

तया चोक्ते च वचने स भूयो वासवोऽब्रवीत् ।
दर्शयिष्यामि सर्वं ते देवि कान्तापरिग्रहम् ॥७९॥
स सर्वं दर्शयामास वासवोऽन्तःपुरं तदा ।
ततो जगाद भूयः स किंचिद्गूढं मम स्थितम् ॥८०॥
विमुच्यैकां च युवतीं सर्वं ते दर्शितं मया ।

उसके यों कहनेपर इन्द्रने पुनः कहा—"देवि! चलो, मैं तुम्हें अपनी समस्त भार्याओंको दिखाऊँगा।" यह कहकर इन्द्रने उसी समय उसे अपना सारा अन्तःपुर दिखाया। तब उस सुन्दरीने पुनः कहा—'अभी मुझसे कुछ छिपाया गया है। केवल एक युवतीको छोड़कर और सब कुछ आपने दिखा दिया' ॥ ७९-८०½ ॥

इन्द्र उवाच

सा रामा मन्दरे चास्ति अविज्ञाता सुरासुरैः ॥८१॥
तां च ते दर्शयिष्यामि नाख्येयं कस्यचित्त्वया ।
ततः स देवराजोऽपि तया सार्धं च भूपते ॥८२॥
गच्छन्नेवाम्बरे भूप मन्दरं प्रति भूधरम् ।
तस्य वै गच्छमानस्य विमानेनार्कवर्चसा ॥८३॥
दर्शनं नारदस्यापि तस्य जातं तदाम्बरे ।
तं वीक्ष्य नारदं वीरो लज्जमानोऽपि वासवः ॥८४॥
नमस्कृत्य जगादोच्चैः क्व यास्यसि महामुने ।

इन्द्रने कहा—"वह रमणी मन्दराचलपर है। देवता और असुर—किसीको भी उसका पता नहीं है। मैं उसे भी तुम्हें दिखा दूँगा, परंतु यह रहस्य किसीपर प्रकट न करना।" भूपाल! यह कहकर देवराज इन्द्र उसके साथ आकाशमार्गसे मन्दराचलकी ओर चले। जिस समय वे सूर्यके समान कान्तिमान् विमानसे चले जा रहे थे, उसी समय उन्हें आकाशमें देवर्षि नारदका दर्शन हुआ। नारदजीको देखकर वीरवर इन्द्र यद्यपि लज्जित हुए, तथापि उन्हें नमस्कार करके पूछा—"महामुने! आप कहाँ जायँगे?" ॥ ८१-८४½ ॥

ततः कृताशीः स मुनिरवदत्त्रिदिवेश्वरम् ॥८५॥
गच्छामि मानसे स्नातुं देवराज सुखी भव ।
नाडीजङ्घेऽस्ति कुशलं राक्षसानां महात्मनाम् ॥८६॥
विभीषणोऽपि ते भ्राता सुखी तिष्ठति सर्वदा ।
एवमुक्ता च मुनिना सा कृष्णवदनाभवत् ॥८७॥

विस्मितो देवराजोऽपि छलितो दुष्टयानया ।
नारदोऽपि गतः स्नातुं कैलासे मानसं सरः ॥८८॥
इन्द्रस्तां हन्तुकामोऽपि आगच्छन्मन्दराचलम् ।
यत्राश्रमोऽस्ति वै नूनं तृणबिन्दोर्महात्मनः ॥८९॥
क्षणं विश्रम्य तत्रैव धृत्वा केशेषु राक्षसीम् ।
हन्तुमिच्छति देवेशो नाडीजङ्घां निशाचरीम् ॥९०॥
तावत्तत्र समायातस्तृणबिन्दुर्निजाश्रमात् ।

तब मुनिवर नारदजीने आशीर्वाद देते हुए स्वर्गाधिपति इन्द्रसे कहा—'देवराज ! आप सुखी हों, मैं इस समय मानससरोवरपर स्नान करने जा रहा हूँ ।' [फिर उन्होंने नाडीजङ्घाको पहचानकर कहा—] 'नाडीजङ्घे ! कहो तो, महात्मा राक्षसोंका कुशल तो है न ? तुम्हारे भाई विभीषण तो सुखपूर्वक हैं न ?' नारदजीकी यह बात सुनते ही उसका मुख भयसे काला पड़ गया । देवराज इन्द्र भी बहुत आश्चर्यमें पड़े और मन-ही-मन कहने लगे—'इस दुष्टने मुझे छल लिया ।' नारदजी भी वहाँसे कैलास पर्वतके निकट मानससरोवरमें स्नान करनेके लिये चले गये । तब इन्द्र भी उस राक्षसीका वध करनेके लिये मन्दराचलपर, जहाँ महात्मा तृणबिन्दुका आश्रम था, आये और वहाँ थोड़ी देरतक विश्राम करके वे उस नाडीजङ्घा राक्षसीके केश पकड़कर उसे मारना ही चाहते थे कि इतनेमें महात्मा तृणबिन्दु अपने आश्रमसे निकलकर वहाँ आ गये ॥ ८५–९०½ ॥

धृता क्रन्दति सा राजन्निन्द्रेणापि निशाचरी ॥९१॥
मा मां रक्षति पुण्यात्मा हन्यमानां च साम्प्रतम् ।

राजन् ! इधर इन्द्रके द्वारा पकड़ी जानेपर वह राक्षसी भी करुण विलाप करने लगी—'हा ! मैं मारी जा रही हूँ; इस समय कोई भी पुण्यात्मा पुरुष मुझ दीनाको नहीं बचा रहा है' ॥ ९१½ ॥

तदाऽऽगत्य मुनिश्रेष्ठस्तृणबिन्दुर्महातपाः ॥९२॥
जगाद पुरतः स्थित्वा मुञ्चेमां महिलां वने ।

उसी समय महातपस्वी तृणबिन्दु मुनि वहाँ आ पहुँचे और इन्द्रके सामने खड़े हो बोले—'हमारे तपोवनमें इस महिलाको न मारो, छोड़ दो' ॥ ९२½ ॥

जल्पत्येवं मुनौ तस्मिन् महेन्द्रेण निशाचरी ॥९३॥
वज्रेण निहता भूयः कोपयुक्तेन चेतसा ।
स चुकोप मुनिश्रेष्ठः प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ॥९४॥
यदेषा युवती दुष्ट निहता मे तपोवने ।
ततस्त्वं मम शापेन निश्चयात्स्त्री भविष्यसि ॥९५॥

भूप ! तृणबिन्दु मुनि यों कह ही रहे थे कि महेन्द्रने क्रुद्ध होकर वज्रसे उस राक्षसीको मार ही तो डाला । तब वे मुनिवर इन्द्रकी ओर बार-बार देखते हुए बहुत ही कुपित हुए और बोले—'रे दुष्ट ! तूने मेरे तपोवनमें इस युवतीका वध किया है, इसलिये तू मेरे शापसे निश्चय ही स्त्री हो जायगा' ॥ ९३–९५ ॥

इन्द्र उवाच

एषा नाथ महादुष्टा राक्षसी निहता मया ।
अहं स्वामी सुराणां च शापं मा देहि मेऽधुना ॥९६॥

इन्द्र बोले—नाथ ! मैं देवताओंका स्वामी इन्द्र हूँ और यह स्त्री महादुष्टा राक्षसी थी; इसलिये मैंने इसका वध किया है । आप इस समय मुझे शाप न दें ॥९६॥

मुनिरुवाच

नूनं तपोवनेऽस्माकं दुष्टास्तिष्ठन्ति साधवः ।
ममात्र तपसो भावान्न निघ्नन्ति परस्परम् ॥९७॥

मुनि बोले—अवश्य ही मेरे तपोवनमें भी दुष्ट और साधु पुरुष भी रहते हैं, परंतु वे मेरी तपस्याके प्रभावसे परस्पर किसीका वध नहीं करते । (तूने मेरे तपोवनकी मर्यादा भङ्ग की है, अतः तू शापके ही योग्य है ।) ॥ ९७ ॥

इत्युक्तो हि तदा चेन्द्रः प्राप्तः स्त्रीत्वं न संशयः ।
जगाम त्रिदिवं भूप हतशक्तिपराक्रमः ॥९८॥
नासीनो हि भवत्येव सर्वदा देवसंसदि ।
देवा दुःखं समापन्ना दृष्ट्वा स्त्रीत्वं गतं हरिम् ॥९९॥
ततो देवगणाः सर्वे वासवेन समन्विताः ।
जग्मुश्च ब्रह्मसदनं तथा दीना शची तदा ॥१००॥
ब्रह्मा भग्नसमाधिश्च तावत्तत्रैव संस्थिताः ।
देवा ऊचुश्च ते सर्वे वासवेन समन्विताः ॥१०१॥

भूप ! मुनिके यों कहनेपर इन्द्र निस्संदेह स्त्री-योनिको प्राप्त हो गये और पराक्रम तथा शक्ति खोकर स्वर्गको लौट आये । उन्होंने सदा ही लज्जा और दुःखसे खिन्न

रहनेके कारण देवताओंकी सभामें बैठना ही छोड़ दिया। इधर देवता भी इन्द्रको स्त्रीके रूपमें परिवर्तित हुआ देखकर बहुत दुखी हुए। तत्पश्चात् सभी देवता और दीना शची इन्द्रको साथ लेकर ब्रह्माजीके धामको गये। जबतक ब्रह्माजी समाधिसे विरत हुए, तबतक वे सभी वहीं ठहरे रहे और इन्द्रके साथ ही सब देवता ब्रह्माजीसे बोले ॥ ९८—१०१ ॥

तृणबिन्दोर्मुनेः शापाद्यातः स्त्रीत्वं सुराधिपः।
स मुनिः कोपवान् ब्रह्मन्नैव गच्छत्यनुग्रहम् ॥१०२॥

'ब्रह्मन्! सुरराज इन्द्र तृणबिन्दु मुनिके शापसे स्त्रीयोनिको प्राप्त हो गये हैं; वे मुनि बड़े क्रोधी हैं, किसी प्रकार अनुग्रह नहीं करते' ॥ १०२ ॥

पितामह उवाच

न मुनेरपराधः स्यात्तृणबिन्दोर्महात्मनः।
स्वकर्मणोपयातोऽसौ स्त्रीत्वं स्त्रीवधकारणात् ॥१०३॥
चकार दुर्नयं देवा देवराजोऽपि दुर्मदः।
जहार चित्रसेनां च सुगुप्तां धनदाङ्गनाम् ॥१०४॥
तथा जघान युवतीं तृणबिन्दोस्तपोवने।
तेन कर्मविपाकेन स्त्रीभावं वासवो गतः ॥१०५॥

ब्रह्माजी बोले—इसमें उन महात्मा तृणबिन्दु मुनिका कोई अपराध नहीं है। इन्द्र स्त्रीवधरूपी अपने ही कर्मसे स्त्री-भावको प्राप्त हुए हैं। देवताओ! देवराज इन्द्रने भी मदमत्त होकर बड़ा ही अन्याय किया है, जो, कुबेरकी पत्नी चित्रसेनाका गुप्तरूपसे अपहरण कर लिया। यही नहीं, इन्होंने तृणबिन्दुके तपोवनमें एक युवतीका वध किया है; अतः अपने इस निन्द्य कर्मके परिणामस्वरूप ही ये इन्द्र स्त्रीभावको प्राप्त हुए हैं ॥ १०३—१०५ ॥

देवा ऊचुः

यदसौ कृतवान्ब्रह्मन्दुर्नयं नाथ दुर्मतिः।
तत्सर्वं साधयिष्यामो वयं शच्या समन्विताः ॥१०६॥
कान्ता धनाधिनाथस्य गूढा तिष्ठति या विभो।
तां च तस्मै प्रदास्यामः सर्वे कृत्वा परां मतिम् ॥१०७॥
त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां देवराजः शचीयुतः।
नन्दने चार्चनं कर्ता सर्वदा यक्षरक्षसाम् ॥१०८॥

देवगण बोले—ब्रह्मन्! इन्होंने दुर्बुद्धिसे प्रेरित होकर जो शंकर-प्रिय कुबेरका अपमान किया है, उसके लिये हम सब लोग शचीके साथ कुबेरको प्रसन्न करनेका यत्न करेंगे। विभो! कुबेरकी पत्नी चित्रसेना मन्दराचलपर गुप्तरूपसे रहती है, हम सभी लोग सम्मति करके उसे कुबेरको अर्पित कर देंगे। देवराज इन्द्र भी प्रति त्रयोदशी और चतुर्दशीको नन्दनवनमें शचीको साथ लेकर यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करेंगे ॥ १०६—१०८ ॥

ततः शची तदा गूढं चित्रसेनां विगृह्य च।
मुमोच यक्षभवनं प्रियकण्ठानुवर्त्तिनीम् ॥१०९॥
एतस्मिन्नन्तरे दूतोऽकाले लङ्कां समागतः।
धनेशं कथयामास चित्रसेनासमागमम् ॥११०॥
शच्या सार्कं समायाता तव कान्ता धनाधिप।
सखीं स्वामतुलां प्राप्य चरितार्था बभूव सा ॥१११॥
धनेशोऽपि कृतार्थोऽभूज्जगाम निजवेश्मनि।

तत्पश्चात् शची अपने प्रियतमको कण्ठमें डालनेवाली चित्रसेनाको गुप्तरूपसे ले जाकर यक्षराज कुबेरके भवनमें छोड़ आयीं। इसी समय कुबेरका दूत असमयमें ही लङ्कामें पहुँचा और कुबेरसे चित्रसेनाके लौट आनेका समाचार सुनाया—'हे धनाधिप! आपकी प्रियपत्नी चित्रसेना शचीके साथ घर लौट आयी है। वह शची-जैसी अनुपम सखीको पाकर कृतार्थ हो चुकी है।' तब कुबेर भी कृतकृत्य होकर अपने घरको लौट आये। इसके बाद देवगण पुनः ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीसे प्रार्थना करने लगे ॥ १०९—१११½ ॥

देवा ऊचुः

सर्वमेतत्कृतं ब्रह्मन् प्रसादात्ते न संशयः ॥११२॥
पतिहीना यथा नारी नाथहीनं यथा बलम्।
गोकुलं कृष्णहीनं तु तथेन्द्रेणामरावती ॥११३॥
जपः क्रिया तपो दानं ज्ञानं तीर्थं च वै प्रभो।
वासवस्य समाख्याहि यतः स्त्रीत्वाद्विमुच्यते ॥११४॥

देवगण बोले—ब्रह्मन्! आपकी कृपासे यह सारा काम तो हो गया—इसमें संदेह नहीं। परंतु अब जैसे पतिके बिना नारी, सेनापतिके बिना सेना और श्रीकृष्णके बिना व्रजकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार इन्द्रके बिना अमरावती सुशोभित नहीं होती। प्रभो! अब इन्द्रके लिये कोई जप, क्रिया, तप, दान, ज्ञान और तीर्थ-सेवन आदि

उपाय बताइये, जिससे स्त्रीभावसे इनका उद्धार हो सके ॥ ११२–११४ ॥

ब्रह्मोवाच

निहन्तुं न मुनेः शापं समर्थोऽहं न शंकरः ।
तीर्थं चान्यन्न पश्यामि मुक्त्वैकं विष्णुपूजनम् ॥११५॥
अष्टाक्षरेण मन्त्रेण पूजनं च तथा जपम् ।
करोतु विधिवच्छक्रः स्त्रीत्वाद्येन च मुच्यते ॥११६॥
एकाग्रमनसा शक्र स्नात्वा श्रद्धासमन्वितः ।
ॐ नमो नारायणायेति जप त्वमात्मशुद्धये ॥११७॥
लक्षद्वये कृते जाप्ये स्त्रीभावान्मुच्यसे हरे ।
इति श्रुत्वा तथाकार्षीद्ब्रह्मोक्तं वचनं हरिः ।
स्त्रीभावाच्च विनिर्मुक्तस्तदा विष्णोः प्रसादतः॥११८॥

ब्रह्माजी बोले—उस मुनिके शापको अन्यथा करनेमें न तो मैं समर्थ हूँ और न भगवान् शंकर ही । इसके लिये एकमात्र भगवान् विष्णुके पूजनको छोड़कर दूसरा कोई उपाय भी सफल नहीं दीख पड़ता । बस, इन्द्र अष्टाक्षर मन्त्रके द्वारा भगवान् विष्णुका विधि पूर्वक पूजन करें और उस मन्त्रका जप करते रहें; इससे वे स्त्रीभावसे मुक्त हो सकते हैं । इन्द्र ! स्नान करके, श्रद्धायुक्त हो, आत्मशुद्धिके लिये एकाग्रचित्तसे 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मन्त्रका जप करो । देवेन्द्र ! इस मन्त्रका दो लाख जप हो जानेपर तुम स्त्री-योनिसे मुक्त हो सकते हो । यह सुनकर इन्द्रने ब्रह्माजीकी आज्ञाका यथावत् पालन किया; तब वे भगवान् विष्णुकी कृपासे स्त्रीभावसे छुटकारा पा गये ॥ ११५–११८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इति ते कथितं सर्वं विष्णुमाहात्म्यमुत्तमम् ।
मया भृगुनियुक्तेन कुरु सर्वमतन्द्रितः ॥११९॥
शृण्वन्ति ये विष्णुकथामकल्मषा
वीर्यं हि विष्णोऽखिलकारणस्य ।
ते मुक्तपापाः परदारगामिनो
विशन्ति विष्णोः परमं पदं ध्रुवम् ॥१२०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार मैंने भृगुजीकी आज्ञासे तुम्हारे समक्ष परम उत्तम भगवान् विष्णुके माहात्म्यको पूर्णरूपसे सुना दिया । अब तुम आलस्य त्यागकर भगवान् विष्णुकी आराधना करो । जो लोग अखिल जगत्के कारणभूत भगवान् विष्णुके पराक्रमसे सम्बन्ध रखनेवाली उनकी कथाको सुनते हैं, वे यदि परस्त्रीगामी रहे हों तो भी पापहीन एवं कल्मषरहित होकर निश्चय ही भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त करते हैं ॥ ११९-१२० ॥

सूत उवाच

इति सम्बोधितस्तेन मार्कण्डेयेन पार्थिवः ।
नरसिंहं समाराध्य प्राप्तवान् वैष्णवं पदम् ॥१२१॥
एतत्ते कथितं सर्वं भरद्वाज मुने मया ।
सहस्रानीकचरितं किमन्यत् कथयामि ते ॥१२२॥

सूतजी कहते हैं—मुनिवर मार्कण्डेयजीके द्वारा इस तरह सम्यक् प्रकारसे उपदिष्ट होकर राजा सहस्रानीक भगवान् नृसिंहकी आराधना करके विष्णुके अविनाशी पदको प्राप्त हो गये । भरद्वाज मुने ! इस प्रकार मैंने आपको सम्पूर्ण यह सहस्रानीकचरित्र सुनाया; इसके बाद आपसे और क्या कहूँ ? ॥ १२१-१२२ ॥

कथामिमां यस्तु शृणोति मानवः
पुरातनीं सर्वविमुक्तिदां च ।
सम्प्राप्य स ज्ञानमतीव निर्मलं
तेनैव विष्णुं प्रतिपद्यते जनः ॥१२३॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सहस्रानीकचरितेऽष्टाक्षरमन्त्रकथनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥

जो मानव सब प्रकारसे मोक्ष देनेवाली इस प्राचीन कथाका श्रवण करता है, वह अत्यन्त निर्मल ज्ञान प्राप्त करके उसीके द्वारा भगवान् विष्णुको प्राप्त कर लेता है ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणके अन्तर्गत श्रीसहस्रानीक-चरित्रके अन्तर्गत 'अष्टाक्षर मन्त्रकी महिमाका कथन' नामक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चौसठवाँ अध्याय

भगवद्भजनकी श्रेष्ठता और भक्त पुण्डरीकका उपाख्यान

श्रीभरद्वाज उवाच

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
सांख्यं केचित्प्रशंसन्ति योगमन्ये प्रचक्षते ॥ १ ॥
ज्ञानं केचित्प्रशंसन्ति समलोष्टाश्मकाञ्चनाः ।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव च दयार्जवम् ॥ २ ॥
केचिद्दानं प्रशंसन्ति केचिदाहुः परं शुभम् ।
सम्यग्ज्ञानं परं केचित्केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्निष्टोमादिकर्माणि तथा केचित्परं विदुः ।
आत्मध्यानं परं केचित्सांख्यतत्त्वार्थवेदिनः ॥ ४ ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णामिह केवलम् ।
उपायः पदभेदेन बहुधैवं प्रचक्ष्यते ॥ ५ ॥
एवं चावस्थिते लोके कृत्याकृत्यविधौ नराः ।
व्यामोहमेव गच्छन्ति विमुक्ताः पापकर्मभिः ॥ ६ ॥
यदेतेषु परं कृत्यमनुष्ठेयं महात्मभिः ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ मम सर्वार्थसाधकम् ॥ ७ ॥

श्रीभरद्वाजजी बोले—सूतजी ! कुछ लोग 'सत्य' को ही पुरुषार्थका साधक बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं, दूसरे लोग 'तपस्या' और 'पवित्रता'को उत्तम बताते हैं । कुछ लोग 'सांख्य' और कुछ लोग 'योग' की प्रशंसा करते हैं । ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझनेवाले कुछ अन्य लोग 'ज्ञान' को ही पुरुषार्थ-साधनके लिये उत्तम मानते हैं । कुछ लोग 'क्षमा' की प्रशंसा करते हैं तो कुछ लोग 'दया' और 'सरलता' की । कुछ लोग ऐसे हैं, जो 'दान'को उत्तम बताते हैं, कुछ लोग और ही किसी उपायको शुभ कहते हैं । दूसरे लोग 'सम्यक् ज्ञान'को उत्तम मानते हैं और अन्य जन 'वैराग्य'को श्रेष्ठ बताते हैं । कुछ याज्ञिक लोग 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञोंको ही सबसे बढ़कर मानते हैं । सांख्यतत्त्वका मर्म जाननेवाले कुछ लोग 'आत्माके ध्यान'को श्रेष्ठ मानते हैं । इस प्रकार यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंका उपाय ही नाम-भेदसे नाना प्रकारका बताया जाता है । ऐसी स्थितिमें जगत्‌में पापकर्मसे विमुक्त पुरुष भी कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें कुछ निश्चय न हो सकनेके कारण मोहमें ही पड़े रहते हैं । सर्वज्ञ ! इन उपर्युक्त 'सत्य' आदि उपायोंमें जो सबसे उत्तम उपाय हो और महात्माओंद्वारा अवश्यकर्तव्य हो, सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले उस उपायका आप हमसे वर्णन करें ॥ १–७ ॥

सूत उवाच

श्रूयतामिदमत्यन्तं गूढं संसारमोचनम् ।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ ८ ॥
पुण्डरीकस्य संवादं देवर्षेर्नारदस्य च ।

सूतजी कहते हैं—संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले इस अत्यन्त गूढ उपायको लोग सुनें । इस विषयमें महात्माजन देवर्षि नारद और भक्तवर पुण्डरीकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया करते हैं ॥ ८½ ॥

ब्राह्मणः श्रुतसम्पन्नः पुण्डरीको महामतिः ॥ ९ ॥
आश्रमे प्रथमे तिष्ठन् गुरूणां वशगः सदा ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः संध्योपासनधिष्ठितः ॥१०॥
वेदवेदाङ्गनिपुणः शास्त्रेषु च विचक्षणः ।
समिद्भिः साधुयत्नेन सायं प्रातर्हुताशनम् ॥११॥
ध्यात्वा यज्ञपतिं विष्णुं सम्यगाराधयन् विभुम् ।
तपस्स्वाध्यायनिरतः साक्षाद्ब्रह्मसुतो यथा ॥१२॥
उदकेन्धनपुष्पाद्यैरसकृत्तर्पयन् गुरून् ।
मातापितृभ्यां शुश्रूषुर्भिक्षाहारी जनप्रियः ॥१३॥
ब्रह्मविद्यामधीयानः प्राणायामपरायणः ।
तस्य सर्वार्थभूतस्य संसारेऽत्यन्तनिःस्पृहा ॥१४॥
बुद्धिरासीन्महाराज संसारार्णवतारणी ।

महामति पुण्डरीकजी एक विद्वान् ब्राह्मण थे । वे सदा गुरुजनोंके वशमें रहते हुए ब्रह्मचर्य आश्रमके नियमोंका पालन करते थे । उन्होंने अपनी इन्द्रियों और क्रोधको जीत लिया था तथा वे नियमानुसार संध्योपासन किया करते थे । वेद और वेदाङ्गोंमें वे निष्णात थे तथा अन्य शास्त्रोंके भी पण्डित थे । वे प्रतिदिन समिधा एकत्रकर सायं और प्रातःकाल अत्यन्त यत्नपूर्वक अग्निकी उपासना किया करते

थे। साक्षात् ब्रह्मपुत्र नारदजीके समान वे सर्वव्यापी यज्ञपति भगवान् विष्णुकी विधिपूर्वक आराधना करते हुए उनका ध्यान किया करते थे और सदा तपस्या तथा स्वाध्यायमें ही लगे रहते थे। जल, ईंधन और फूल आदि आवश्यक सामान लाकर वे सदा ही गुरुजनोंको संतुष्ट रखते और उनकी अपने माता-पिताके समान शुश्रूषा किया करते थे। भिक्षा माँगकर भोजन करते थे और अपने सद्व्यवहारोंके कारण लोगोंके परम प्रिय हो गये थे। वे सदा ब्रह्मविद्याका अध्ययन और प्राणायामका अभ्यास करते रहते थे। महाराज! समस्त पदार्थोंको वे अपना स्वरूप ही समझते थे; अतः संसारके विषयोंमें उनकी बुद्धि अत्यन्त निःस्पृह हो भवसागरसे पार उतारनेवाली हो गयी थी ॥ ९—१४½ ॥

पितरं मातरं चैव भ्रातॄनथ पितामहान् ॥१५॥
पितृव्यान्मातुलांश्चैव सखीन् सम्बन्धिबान्धवान्।
परित्यज्य महोदारस्तृणानीव यथासुखम् ॥१६॥
विचचार महीमेतां शाकमूलफलाशनः।
अनित्यं यौवनं रूपमायुष्यं द्रव्यसंचयम् ॥१७॥
इति संचिन्तयानेन त्रैलोक्यं लोष्ठवत्स्मृतम्।
पुराणोदितमार्गेण सर्वतीर्थानि वै मुने ॥१८॥
गमिष्यामि यथाकालमिति निश्चितमानसः।
गङ्गां च यमुनां चैव गोमतीमथ गण्डकीम् ॥१९॥
शतद्रुं च पयोष्णीं च सरयूं च सरस्वतीम्।
प्रयागं नर्मदां चैव महानद्यो नदानपि ॥२०॥
गयां च विन्ध्यतीर्थानि हिमवत्प्रभवाणि च।
अन्यानि च महातेजास्तीर्थानि स महाव्रतः ॥२१॥
संचचार महाबाहुर्यथाकालं यथाविधि।
कदाचित्प्राप्तवान् वीरः शालग्रामं तपोधनः ॥२२॥
पुण्डरीको महाभागः पुण्यकर्मवशानुगः।

भरद्वाजजी! उनका वैराग्य यहाँतक बढ़ गया कि वे महान् उदार पुण्डरीकजी पिता, माता, भाई, पितामह, चाचा, मामा, मित्र, सम्बन्धी तथा बान्धवजनोंको तृणके समान त्यागकर, शाक और मूल-फलादिका आहार करते हुए इस पृथ्वीपर आनन्दपूर्वक विचरने लगे। उन्होंने यौवन, रूप, आयु और धन-संग्रहकी अनित्यताका विचार करके समस्त त्रिभुवनको मट्टीके ढेलेके समान तुच्छ समझ लिया था और अपने मनमें यह निश्चय करके कि 'मैं पुराणोक्त मार्गसे यथासमय सभी तीर्थोंकी यात्रा करूँगा', वे महाबाहु, महातेजस्वी और महाव्रती पुण्डरीकजी गङ्गा, यमुना, गोमती, गण्डकी, शतद्रु, पयोष्णी, सरयू और सरस्वतीके तटपर, प्रयागमें, नर्मदा आदि महानदियों तथा नदोंके तटपर, गयामें तथा विन्ध्याचल और हिमालयके तीर्थोंमें एवं इनके अतिरिक्त अन्यान्य तीर्थोंमें भी यथासमय विधिपूर्वक भ्रमण करते रहे। इसी तरह घूमते हुए, पुण्यकर्मोंके अधीन हो वे तपस्वी वीर महाभाग पुण्डरीक शालग्रामक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ १५—२२½ ॥

आसेव्यमानमृषिभिस्तत्त्वविद्भिस्तपोधनैः ॥२३॥
मुनीनामाश्रमं रम्यं पुराणेषु च विश्रुतम्।
भूषितं चक्रनद्या च चक्राङ्कितशिलातलम् ॥२४॥
रम्यं विविक्तं विस्तीर्णं सदा चित्तप्रसादकम्।
केचिच्चक्राङ्किताास्तस्मिन् प्राणिनः पुण्यदर्शनाः ॥२५॥
विचरन्ति यथाकामं पुण्यतीर्थप्रसङ्गिनः।
तस्मिन् क्षेत्रे महापुण्ये शालग्रामे महामतिः ॥२६॥
पुण्डरीकः प्रसन्नात्मा तीर्थानि समसेवत।
स्नात्वा देवह्रदे तीर्थे सरस्वत्यां च सुव्रतः ॥२७॥
जातिस्मर्यां चक्रकुण्डे चक्रनद्यामृतेष्वपि।
तथान्यान्यपि तीर्थानि तस्मिन्नेव चचार सः ॥२८॥

वह तीर्थ तत्त्वज्ञानी तपस्वी ऋषियोंद्वारा सेवित था। वहाँ मुनियोंके सुरम्य आश्रम थे, जो पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। वह तीर्थ चक्रनदीसे भूषित है और वहाँके शिलाखण्ड भगवान्‌के चक्रसे चिह्नित हैं। वह तीर्थ जितना ही सुरम्य था, उतना ही एकान्त। उसका विस्तार बड़ा था और वहाँ चित्त स्वतः प्रसन्न रहता था। वहाँपर कुछ चक्रसे चिह्नित प्राणी रहते थे, जिनका दर्शन बहुत ही पावन था। वहाँ पुण्यतीर्थके यात्री यथेष्ट विचरते रहते थे। उस महापवित्र शालग्राम-क्षेत्रमें महामति पुण्डरीकजी प्रसन्नचित्त हो तीर्थ-सेवन करने लगे। वे नियमपूर्वक वहाँ देवह्रद तीर्थमें, पूर्वजन्मकी स्मृति दिलानेवाली सरस्वतीके जलमें, चक्र-कुण्डमें और चक्र-नदी (नारायणी) के जलमें भी स्नान करके उसी क्षेत्रके अन्तर्गत अन्यान्य तीर्थोंमें भ्रमण करते रहते थे ॥ २३—२८ ॥

ततः क्षेत्रप्रभावेण तीर्थानां चैव तेजसा।
मनः प्रसादमगमत्तस्य तस्मिन्महात्मनः ॥२९॥

सोऽपि तीर्थे विशुद्धात्मा ध्यानयोगपरायणः ।
तत्रैव सिद्धिमाकाङ्क्षन् समाराध्य जगत्पतिम् ॥३०॥
शास्त्रोक्तेन विधानेन भक्त्या परमया युतः ।
उवास चिरमेकाकी निर्द्वन्द्वः संयतेन्द्रियः ॥३१॥
शाकमूलफलाहारः संतुष्टः समदर्शनः ।
यमैश्च नियमैश्चैव तथा चासनबन्धनैः ॥३२॥
प्राणायामैः सुतीक्ष्णैश्च प्रत्याहारैश्च संततैः ।
धारणाभिस्तथा ध्यानैः समाधिभिरतन्द्रितः ॥३३॥
योगाभ्यासं तदा सम्यक् चक्रे विगतकल्मषः ।
आराध्य देवदेवेशं तद्गतेनान्तरात्मना ॥३४॥
पुण्डरीको महाभागः पुरुषार्थविशारदः ।
प्रसादं परमाकाङ्क्षन् विष्णोस्तद्गतमानसः ॥३५॥

तदनन्तर उस क्षेत्रके प्रभावसे और वहाँके तीर्थोंके तेजसे उन महात्माका चित्त वहाँ बहुत ही शुद्ध एवं प्रसन्न हो गया । इस प्रकार शुद्धचित्त एवं ध्यानयोगमें तत्पर हो, वहाँ ही सिद्धिकी इच्छासे परमभक्तियुक्त हो, वे शास्त्रोक्त विधिसे जगत्पति भगवान् विष्णुकी आराधना करने लगे । अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके निर्द्वन्द्व रहते हुए उन्होंने अकेले ही बहुत दिनोंतक वहाँ निवास किया । वे शाक और मूल-फलादिका आहार करते और सदा संतुष्ट रहते थे। उनकी सर्वत्र समान दृष्टि थी । वे यम, नियम, आसन-बन्ध, तीव्र प्राणायाम, निरन्तर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधिके द्वारा निरालस्यभावसे भलीभाँति योगाभ्यास करते रहे । इस प्रकार समस्त पुरुषार्थोंके ज्ञाता निष्पाप महामना पुण्डरीकजीने देवदेवेश्वर भगवान् विष्णुमें चित्त लगाकर उनकी आराधना की और उन्हींमें मन लगाये हुए वे उनके परम अनुग्रहकी आकाङ्क्षासे भजन करने लगे ॥ २९—३५ ॥

तस्य तस्मिन्निवसतः शालग्रामे महात्मनः ।
पुण्डरीकस्य राजेन्द्र कालोऽगच्छन्महांस्ततः ॥३६॥
मुने कदाचित्तं देशं नारदः परमार्थवित् ।
जगाम सुमहातेजाः साक्षादादित्यसंनिभः ॥३७॥
तं द्रष्टुकामो देवर्षिः पुण्डरीकं तपोनिधिम् ।
विष्णुभक्तिपरीतात्मा वैष्णवानां हिते रतः ॥३८॥
स दृष्ट्वा नारदं प्राप्तं सर्वतेजःप्रभान्वितम् ।
महामतिं महाप्राज्ञं सर्वागमविशारदम् ॥३९॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
अर्घ्यं दत्त्वा यथायोग्यं प्रणाममकरोत्ततः ॥४०॥
कोऽयमत्यद्भुताकारस्तेजस्वी हृद्यवेषधृक् ।
आत्तवीणः सुमुखो जटामण्डलभूषणः ॥४१॥
विवस्वानथ वा वह्निरिन्द्रो वरुण एव वा ।
इति संचिन्तयन् विप्रः पप्रच्छ परमद्युतिः ॥४२॥

राजेन्द्र ! महात्मा पुण्डरीकको उस शालग्रामक्षेत्रमें निवास करते बहुत समय बीत गया । तब एक दिन साक्षात् सूर्यके समान महातेजस्वी, वैष्णवहितकारी, परमार्थवेत्ता एवं विष्णुभक्तिपरायण देवर्षि नारदजी तपोनिधि पुण्डरीकमुनिको देखनेकी इच्छासे उक्त क्षेत्रमें गये । समस्त आगमोंके ज्ञाता, महाबुद्धिमान्, महाप्राज्ञ, पूर्णतेजस्वी एवं प्रभापुञ्जसे उपलक्षित नारदजीको वहाँ आया देख पुण्डरीकके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने विनीतभावसे हाथ जोड़कर उन्हें अर्घ्य निवेदन किया, फिर यथोचित रूपसे उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तत्पश्चात् परम कान्तिमान् विप्रवर पुण्डरीकजी मन-ही-मन यह सोचने लगे कि 'ये अद्भुत दिव्य शरीरवाले, मनोरमवेषधारी, तेजस्वी महापुरुष कौन हैं ? अहो ! इनका मुखमण्डल कितना प्रसन्न है ! इनके मस्तकपर जटा-जूट सुशोभित हो रहा है। इन्होंने हाथमें वीणा ले रखी है। इस रूपमें ये साक्षात् सूर्य ही तो नहीं हैं ? अथवा अग्निदेव, इन्द्र और वरुणमेंसे तो कोई नहीं हैं ?' यों सोचते हुए किसी निश्चयपर न पहुँचनेके कारण उन्होंने पूछा ॥ ३६—४२ ॥

पुण्डरीक उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तः कुतो वा परमद्युते ।
त्वद्दर्शनं ह्यपुण्यानां प्रायेण भुवि दुर्लभम् ॥४३॥

पुण्डरीकजी बोले—परम कान्तिमान् दिव्य पुरुष ! आप कौन हैं और कहाँसे पधारे हैं ? इस पृथ्वीपर जिन्होंने कभी पुण्य नहीं किया है, ऐसे लोगोंके लिये आपका दर्शन प्रायः दुर्लभ ही है ॥ ४३ ॥

नारद उवाच

नारदोऽहमनुप्राप्तस्त्वद्दर्शनकुतूहलात् ।
पुण्डरीक हरेर्भक्तास्त्वादृशः सततं द्विज ॥४४॥
स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम ।

पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥४५॥
दासोऽहं वासुदेवस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।

नारदजी बोले—पुण्डरीक ! मैं नारद हूँ। तुम्हारे दर्शनकी उत्कण्ठासे ही यहाँ आया हूँ। तुम-जैसा निरन्तर भगवद्भक्तिपरायण पुरुष दुर्लभ है। द्विजोत्तम ! भगवद्भक्त पुरुष यदि जातिका चण्डाल हो तो भी वह स्मरणमात्रसे, वार्तालापसे अथवा सम्मानित होकर, अथवा स्वेच्छासे ही लोगोंको पवित्र कर देता है; फिर तुम्हारे-जैसे भक्त ब्राह्मणके सत्सङ्गकी पावनताके विषयमें तो कहना ही क्या है। द्विज ! मैं शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले देवदेव भगवान् वासुदेवका दास हूँ॥ ४४-४५½ ॥

इत्युक्तो नारदेनासौ भक्तिपर्याकुलात्मना ॥४६॥
प्रोवाच मधुरं विप्रस्तद्दर्शनसुविस्मितः ।

नारदजीके इस प्रकार अपना परिचय देनेपर उनके दर्शनसे अत्यन्त विस्मित हुए विप्रवर पुण्डरीकजी प्रेम-भक्तिसे विह्वलचित्त होकर मधुर वाणीमें बोले ॥ ४६½ ॥

पुण्डरीक उवाच

धन्योऽहं देहिनामद्य सुपूज्योऽहं सुरैरपि ॥४७॥
कृतार्थाः पितरो मेऽद्य सम्प्राप्तं जन्मनः फलम्।
अनुगृह्णीष्व देवर्षे त्वद्भक्तस्य विशेषतः ॥४८॥
किं किं करोम्यहं विद्वन् भ्राम्यमाणः स्वकर्मभिः।
कर्तव्यं परमं गुह्यमुपदेष्टुं त्वमर्हसि ॥४९॥
त्वं गतिः सर्वलोकानां वैष्णवानां विशेषतः ।

पुण्डरीकजीने कहा—आज मैं समस्त देहधारियोंमें धन्य हूँ, देवताओंद्वारा भी सम्माननीय हूँ। आज मेरे पितर कृतार्थ हो गये। मेरा जन्म सफल हो गया। देवर्षे ! मैं आपका भक्त हूँ; आप मुझपर अब विशेषरूपसे अनुग्रह करें। विद्वन् ! मैं अपने पूर्वजन्मकृत कर्मोंसे प्रेरित हो संसारमें भटक रहा हूँ। बताइये, इससे छुटकारा पानेके लिये मैं क्या-क्या करूँ ? मेरे लिये जो परम कर्तव्य हो, वह गोपनीय हो तो भी आप मुझे उसका उपदेश कीजिये। मुने ! यों तो आप समस्त लोकोंको ही सहारा देनेवाले हैं, परंतु वैष्णवोंके लिये तो आप विशेषरूपसे शरणदाता हैं॥ ४७-४९½ ॥

नारद उवाच

अनेकानीह शास्त्राणि कर्माणि च तथा द्विज ॥५०॥
धर्ममार्गाश्च बहवस्तथैव प्राणिनः स्मृताः ।
वैलक्षण्यं च जगतस्तस्मादेव द्विजोत्तम ॥५१॥

नारदजी बोले—द्विज ! इस जगत्में अनेक शास्त्र और अनेक प्रकारके कर्म हैं। इसी तरह यहाँ अनेकों प्राणी हैं और उनके लिये धर्मके मार्ग भी बहुत हैं। द्विजोत्तम ! इसीसे इस जगत्में विचित्रता दिखायी देती है॥ ५०-५१ ॥

अव्यक्ताज्जायते सर्वं सर्वात्मकमिदं जगत् ।
इत्येवं प्राहुरपरे तत्रैव लयमेव च ॥५२॥
आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ।
अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठ तत्त्वालोकनतत्परैः ॥५३॥
एवमाद्यनुसंचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ।
वदन्ति ऋषयः सर्वे नानामतविशारदाः ॥५४॥
शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् कथयामि तवानघ ।
परमार्थमिदं गुह्यं घोरसंसारमोचनम् ॥५५॥
अनागतमतीतं च विप्रकृष्टमतीव यत् ।
न गृह्णाति नृणां दृष्टिर्वर्तमानार्थनिश्चिता ॥५६॥
शृणुष्वावहितं तात कथयामि तवानघ ।
यत्प्रोक्तं ब्रह्मणा पूर्वं पृच्छतो मम सुव्रत ॥५७॥
कदाचिद्ब्रह्मलोकस्य पद्मयोनिं पितामहम् ।
प्रणिपत्य यथान्यायं पृष्टवानहमव्ययम् ॥५८॥

कुछ लोगोंका मत है कि यह सम्पूर्ण जगत् सर्वथा अव्यक्तसे उत्पन्न होता है और समय आनेपर उसीमें लीन भी हो जाता है। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! कुछ अन्य तत्त्वदर्शी पुरुष आत्माको अनेक, नित्य एवं सर्वत्र व्यापक मानते हैं। अनघ ! ब्रह्मन् ! इन सब बातोंपर विचार करके नाना मतोंका ज्ञान रखनेवाले समस्त ऋषिगण अपनी बुद्धि और विद्याके अनुसार जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं, उसे सावधान होकर सुनो; वह सब मैं तुमसे बतलाता हूँ। यह बताया जानेवाला गोप्य परमार्थतत्त्व इस घोरतर संसारसे मुक्ति दिलानेवाला है। मनुष्योंकी दृष्टि प्रायः वर्तमान विषयोंको ही निश्चितरूपसे ग्रहण करती है; वह सुदूरवर्ती भूत और भविष्यको नहीं ग्रहण कर सकती। उत्तम व्रतके पालक एवं पापशून्य तात पुण्डरीक ! इस विषयमें श्रीब्रह्माजीने पहले मेरे प्रश्न करनेपर मुझसे जो कुछ कहा था, वह सब मैं तुम्हें

बता रहा हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो। एक समयकी बात है, ब्रह्मलोकमें विराजमान अविनाशी कमलयोनि ब्रह्माजीको प्रणाम करके मैंने उनसे यथोचित रूपसे प्रश्न किया ॥ ५२—५८ ॥

नारद उवाच

किं तज्ज्ञानं परं देव कश्च योगः परस्तथा ।
एतन्मे तत्त्वतः सर्वं त्वमाचक्ष्व पितामह ॥५९॥

नारदजी बोले—देव! लोकपितामह! सबसे उत्तम ज्ञान और सबसे उत्कृष्ट योग कौन-सा है? इस विषयमें सारी बातें आप मुझे ठीक-ठीक बतायें ॥ ५९ ॥

ब्रह्मोवाच

यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः ।
स एव सर्वभूतानां नर इत्यभिधीयते ॥६०॥
नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः ।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥६१॥
नारायणाज्जगत्सर्वं सर्गकाले प्रजायते ।
तस्मिन्नेव पुनस्तच्च प्रलये सम्प्रलीयते ॥६२॥
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम् ।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः ॥६३॥
परादपि परश्चासौ तस्मान्नातिपरं मुने ।
यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥६४॥
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।
एवं विदित्वा तं देवाः साकारं व्याहरन्मुहुः ॥६५॥
नमो नारायणायेति ध्यात्वा चानन्यमानसाः ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।६६।
यो नित्यं ध्यायते देवं नारायणमनन्यधीः ।
एतज्ज्ञानं वरं नातो योगश्चैव परस्तथा ॥६७॥
परस्परविरुद्धार्थैः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
बहवोऽपि यथा मार्गा विशन्त्येकं महत्पुरम् ॥६८॥
तथा ज्ञानानि सर्वाणि प्रविशन्ति तमीश्वरम् ।

ब्रह्माजी बोले—जो तेईस विकारोंके कारणभूत चौबीसवें तत्त्व प्रकृतिसे भिन्न पचीसवाँ तत्त्व है, वही सम्पूर्ण प्राणिशरीरोंमें 'नर' (पुरुष या आत्मा) कहलाता है। सम्पूर्ण तत्त्व नरसे उत्पन्न हैं, इसलिये 'नार' कहलाते हैं। ये नार जिनके अयन (आश्रय) हैं, अर्थात् जो इनमें व्यापक हैं, वे भगवान् 'नारायण' कहे जाते हैं। सृष्टिकालमें सम्पूर्ण जगत् भगवान् नारायणसे ही प्रकट होता है और प्रलयके समय फिर उन्हींमें लीन हो जाता है। नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तत्त्व हैं, नारायण ही परमज्योति और नारायण ही परम आत्मा हैं। मुने! वे भगवान् नारायण परसे भी पर हैं। उनसे बढ़कर या उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस जगत्में जो कुछ देखा या सुना जाता है, सबको बाहर और भीतरसे व्याप्त करके भगवान् नारायण स्थित हैं। इस प्रकार उन्हें साकार वस्तुओंमें व्यापक जानकर ही देवताओंने बार-बार उनको 'साकार' कहा है तथा 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मन्त्रका ध्यान (मानसिक जप) करते हुए अनन्यभावसे उनमें मन लगाया है। जो अनन्यचित्त हो सदा भगवान् नारायणका ध्यान करता है, उसको दान, तीर्थसेवन, तपस्या और यज्ञोंसे क्या काम है? भगवान् नारायणका ध्यान ही सर्वोत्तम ज्ञान है तथा इससे बढ़कर दूसरा कोई योग भी नहीं है। परस्परविरुद्ध अर्थको व्यक्त करनेवाले दूसरे-दूसरे शास्त्रोंके विस्तारसे क्या लाभ? जिस प्रकार एक ही बड़े नगरमें बहुत-से मार्गोंका प्रवेश होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके सम्पूर्ण ज्ञान उन परमेश्वर नारायणमें प्रवेश करते हैं ॥ ६०—६८½ ॥

स हि सर्वगतो देवः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥६९॥
जगदादिरनाद्यन्तः स्वयम्भूर्भूतभावनः ।
विष्णुर्विभुरचिन्त्यात्मा नित्यः सदसदात्मकः ॥७०॥
वासुदेवो जगद्वासः पुराणः कविरव्ययः ।
यस्मात्प्राप्तं स्थितिं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥७१॥
तस्मात्स भगवान्देवो विष्णुरित्यभिधीयते ।
यस्माद्वा सर्वभूतानां तत्त्वाद्यानां युगक्षये ॥७२॥
तस्मिन्निवासः संसर्गे वासुदेवस्ततस्तु सः ।
तमाहुः पुरुषं केचित्केचिदीश्वरमव्ययम् ॥७३॥
विज्ञानमात्रं केचिच्च केचिद्ब्रह्म परं तथा ।
केचित्कालमनाद्यन्तं केचिज्जीवं सनातनम् ॥७४॥
केचिच्च परमात्मानं केचिच्चैवमनामयम् ।
केचित्क्षेत्रज्ञमित्याहुः केचित्षड्विंशकं तथा ॥७५॥
अङ्गुष्ठमात्रं केचिच्च केचित्पद्मरजोपमम् ।
एते चान्ये च मुनिभिः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ॥७६॥

शास्त्रेषु कथिता विष्णोर्लोकव्यामोहकारकाः ।
एकं यदि भवेच्छास्त्रं ज्ञानं निस्संशयं भवेत् ॥७७॥
बहुत्वादिह शास्त्राणां ज्ञानतत्त्वं सुदुर्लभम् ।
आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ॥७८॥
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ।
त्यक्त्वा व्यामोहकान् सर्वान् तस्माच्छास्त्रार्थविस्तरान्॥
अनन्यचेता ध्यायस्व नारायणमतन्द्रितः ।
एवं ज्ञात्वा तु सततं देवदेवं तमव्ययम् ॥८०॥
क्षिप्रं यास्यसि तत्रैव सायुज्यं नात्र संशयः ।

वे भगवान् विष्णु अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं, सूक्ष्म तत्त्व हैं, सदा रहनेवाले सनातन पुरुष हैं, सम्पूर्ण जगत्के आदिकारण हैं; परंतु उनका न तो आदि है न अन्त ही। स्वयं वे किसी दूसरेसे उत्पन्न नहीं हैं, अतएव 'स्वयम्भू' हैं, किंतु इस सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको स्वयं ही प्रकट करते हैं। वे विभु, अचिन्त्य, नित्य और कार्य-कारणस्वरूप हैं। सम्पूर्ण जगत्का उनमें ही निवास है, इसलिये वे 'वासुदेव' कहे गये हैं। वे पुराणपुरुष, त्रिकालदर्शी और अविकारी हैं। यह सम्पूर्ण चराचरमय त्रिभुवन उन्हीं भगवान्के द्वारा व्याप्त होनेसे स्थित है, इसलिये वे 'विष्णु' कहलाते हैं। अथवा युगका क्षय होनेपर महत्तत्त्व आदि समस्त भूतोंका उन्हीं सृष्टिके आश्रयभूत परमात्मामें निवास होता है, इसलिये वे 'वासुदेव' कहे गये हैं। कुछ लोग उनको पुरुष (आत्मा) कहते हैं और कुछ लोग अविनाशी ईश्वर बताते हैं। कुछ अन्य लोग उन्हें केवल 'विज्ञानस्वरूप' मानते हैं, कितने ही उन्हें परब्रह्म कहते हैं। कुछ विचारक उन्हें आदि-अन्तरहित 'काल' कहते हैं और कुछ मनुष्य उनको 'सनातन जीव' मानते हैं। कुछ लोग 'परमात्मा' कहते हैं, कुछ उन्हें एक 'निरामय तत्त्व' मानते हैं, कुछ विद्वान् उन्हें 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं और कुछ उन्हें तेईस विकारोंके कारण चौबीसवें तत्त्व प्रकृति और पचीसवें तत्त्वरूप पुरुषसे भिन्न 'छब्बीसवाँ तत्त्व' (पुरुषोत्तम) मानते हैं। कुछ लोग आत्माको अँगूठेके बराबर बताते हैं और कुछ विद्वान् कमल-पुष्पकी धूलिके एक कणके बराबर 'अणु' मानते हैं। ऊपर भगवान् विष्णुके जिन नामोंका उल्लेख किया गया है, ये तथा अन्य भी बहुत-से भिन्न-भिन्न नाम मुनियोंद्वारा शास्त्रोंमें कहे गये हैं, जो साधारण लोगोंमें भेद-भ्रमका उत्पादन कर उन्हें मोहमें डालनेवाले हैं। यदि एक ही शास्त्र होता तो सबको संदेहरहित निश्चयात्मक ज्ञान होता। किंतु यहाँ तो बहुतेरे शास्त्र हैं और सबका अलग-अलग सिद्धान्त है; अतः ज्ञानका तत्त्व बड़ा ही दुर्ज्ञेय हो गया है। परंतु मैंने सम्पूर्ण शास्त्रोंका मथन करके विचार किया तो एक यही बात सब सिद्धान्तोंके साररूपसे ज्ञात हुई कि सदा 'भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये।' इसलिये मोहमें डालनेवाले सम्पूर्ण शास्त्र-विस्तारोंका त्याग करके एकचित्त होकर उत्साहपूर्वक भगवान् नारायणका ध्यान करो। इस प्रकार सतत चिन्तनके द्वारा उन अविनाशी देवदेव नारायणका तत्त्व जानकर तुम शीघ्र ही उनमें सायुज्य-मुक्ति प्राप्त कर लोगे; इसमें संदेह नहीं है॥ ६१—८०½ ॥

श्रुत्वेदं ब्रह्मणा प्रोक्तं ज्ञानयोगं सुदुर्लभम् ॥८१॥
ततोऽहमासं विप्रेन्द्र नारायणपरायणः ।
नमो नारायणायेति ये विदुर्ब्रह्म शाश्वतम् ॥८२॥
अन्तकाले जपन्तस्ते यान्ति विष्णोः परं पदम्।
तस्मान्नारायणस्तात परमात्मा सनातनः ॥८३॥
अनन्यमनसा नित्यं ध्येयस्तत्त्वविचिन्तकैः ।
नारायणो जगद्व्यापी परमात्मा सनातनः ॥८४॥
जगतां सृष्टिसंहारपरिपालनतत्परः ।
श्रवणात्पठनाच्चैव निदिध्यासनतत्परैः ॥८५॥
आराध्यः सर्वथा ब्रह्मन् पुरुषेण हितैषिणा ।
निःस्पृहा नित्यसंतुष्टा ज्ञानिनः संयतेन्द्रियाः ॥८६॥
निर्ममा निरहंकारा रागद्वेषविवर्जिताः ।
अपक्षपतिताः शान्ताः सर्वसंकल्पवर्जिताः ॥८७॥
ध्यानयोगपरा ब्रह्मन् ते पश्यन्ति जगत्पतिम् ।
त्यक्तत्रया महात्मानो वासुदेवं हरिं गुरुम् ॥८८॥
कीर्तयन्ति जगन्नाथं ते पश्यन्ति जगत्पतिम् ।
तस्मात्त्वमपि विप्रेन्द्र नारायणपरो भव ॥८९॥

विप्रेन्द्र ! इस प्रकार ब्रह्माजीके कहे हुए इस परम दुर्लभ ज्ञानयोगको सुनकर मैं तभीसे भगवान् नारायणकी परिचर्यामें लग गया। जो लोग '**ॐ नमो नारायणाय**'— इस सनातन ब्रह्मस्वरूप मन्त्रको जानते हैं, वे अन्तकालमें इसका जप करते हुए विष्णुके परमधामको प्राप्त कर लेते हैं। अतः तात ! तत्त्व-विचार करनेवाले पुरुषोंको सदा ही सनातन परमात्मा नारायणका अनन्यचित्तसे ध्यान करना चाहिये।

भगवान् नारायण जगद्व्यापी सनातन परमेश्वर हैं । वे भिन्न-भिन्न रूपसे सम्पूर्ण लोकोंके सृष्टि, पालन तथा संहार-कार्यमें लगे रहते हैं । इनके नाम, गुण एवं लीलाओंका श्रवण और कीर्तन करते हुए उनके ध्यानमें संलग्न हो उनकी आराधना करनी चाहिये । ब्रह्मन् ! अपना हित चाहनेवाले पुरुषके लिये सर्वथा भगवान् नारायणकी आराधना ही कर्तव्य है । विप्रवर ! जो लोग निःस्पृह, नित्य-संतुष्ट, ज्ञानी, जितेन्द्रिय और ममता-अहंता, राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित हैं तथा जो पक्षपातशून्य, शान्त एवं सब प्रकारके संकल्पोंसे वर्जित हैं, वे भगवान्‌के ध्यानयोगमें तत्पर हो उन जगदीश्वरका साक्षात्कार कर लेते हैं । जो महात्मा त्रिभुवनसे नाता तोड़कर जगद्गुरु जगन्नाथ भगवान् वासुदेवका कीर्तन करते हैं, वे उन जगत्पतिका दर्शन पा जाते हैं । इसलिये विप्रवर ! तुम भी भगवान् नारायणकी समाराधनामें तत्पर हो जाओ ॥८१—८९॥

तदन्यः को महोदारः प्रार्थितं दातुमीश्वरः ।
हेलया कीर्तितो यो वै स्वं पदं दिशति द्विज ॥९०॥
अपि कार्यस्त्वया चैव जपः स्वाध्याय एव च ।
तमेवोद्दिश्य देवेशं कुरु नित्यमतन्द्रितः ॥९१॥
किं तत्र बहुभिर्मन्त्रैः किं तत्र बहुभिर्व्रतैः ।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥९२॥
चीरवासा जटाधारी त्रिदण्डी मुण्ड एव वा ।
भूषितो वा द्विजश्रेष्ठ न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥९३॥
ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररताः सदा ।
तेऽपि यान्ति परं स्थानं नरा नारायणाश्रयाः ॥९४॥
जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद्बुद्धिरीदृशी ।
दासोऽहं वासुदेवस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥९५॥
प्रयाति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः ।
किं पुनस्तद्गतप्राणः पुरुषः संयतेन्द्रियः ॥९६॥

द्विज ! जो अवहेलनापूर्वक नाम लेनेपर भी भक्तको अपना परमधाम दे देते हैं, उन भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन ऐसा महान् उदार है, जो माँगी हुई वस्तुको देनेमें समर्थ हो ? तुम्हें जप अथवा स्वाध्याय—जो कुछ भी करना हो, उसे उन देवेश्वर भगवान् नारायणके उद्देश्यसे ही सदा आलस्य त्यागकर करते रहो । बहुत-से मन्त्र और व्रतोंसे क्या काम ? 'ॐ नमो नारायणाय'—यह मन्त्र ही सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है । द्विजश्रेष्ठ ! कोई चीर वस्त्र पहननेवाला, जटा धारण करनेवाला, त्रिदण्डी, सदा माथा मुँड़ाये रहनेवाला अथवा तरह-तरहके उपकरणोंसे विभूषित ही क्यों न हो, उसके ये बाह्य चिह्न धर्मके कारण नहीं हो सकते; किंतु जो मनुष्य भगवान् नारायणकी शरणमें जा चुके हैं, वे पहले निर्दयी, दुष्ट और सदा पापरत रहे हों तो भी भगवान्‌के परमधामको पधारते हैं । हजारों जन्मोंमें भी जिसकी ऐसी बुद्धि हो जाय कि 'मैं देवदेव, शार्ङ्गधनुषधारी भगवान् वासुदेवका दास हूँ', वह मनुष्य निस्संदेह भगवान् विष्णुके सालोक्यको प्राप्त होता है; फिर जो पुरुष जितेन्द्रिय होकर सदा भगवान्‌में ही अपने प्राणोंको लगाये रहता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ९०—९६ ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा देवदेवर्षिस्तत्रैवान्तरधीयत ।
परोपकारनिरतस्त्रैलोक्यस्यैकभूषणः ॥९७॥
पुण्डरीकोऽपि धर्मात्मा नारायणपरायणः ।
नमोऽस्तु केशवायेति पुनः पुनरुदीरयन् ॥९८॥
प्रसीदस्व महायोगिन्निदमुच्चार्य सर्वदा ।
हृत्पुण्डरीके गोविन्दं प्रतिष्ठाप्य जनार्दनम् ॥९९॥
तपस्सिद्धिकरेऽरण्ये शालग्रामे तपोधनः ।
उवास चिरमेकाकी पुरुषार्थविचक्षणः ॥१००॥
स्वप्नेऽपि केशवादन्यन्न पश्यति महातपाः ।
निद्रापि तस्य नैवासीत्पुरुषार्थविरोधिनी ॥१०१॥
तपसा ब्रह्मचर्येण शौचेन च विशेषतः ।
जन्मजन्मान्तरारूढसंस्कारेण च स द्विजः ॥१०२॥
प्रसादाद्देवदेवस्य सर्वलोकैकसाक्षिणः ।
अवाप परमां सिद्धिं वैष्णवीं वीतकल्मषः ॥१०३॥
सिंहव्याघ्रास्तथान्येऽपि मृगाः प्राणिविहिंसकाः ।
विरोधं सहजं हित्वा समेतास्तस्य संनिधौ ।
निवसन्ति द्विजश्रेष्ठ प्रशान्तेन्द्रियवृत्तयः ॥१०४॥

सूतजी कहते हैं—सदा दूसरोंके ही उपकारमें लगे रहनेवाले त्रिभुवनभूषण देवर्षि नारदजी उपर्युक्त बातें बताकर वहाँपर अन्तर्धान हो गये । अब धर्मात्मा पुण्डरीक भी एकमात्र भगवान् नारायणके भजनमें तत्पर हो बार-बार इस प्रकार

उच्चारण करने लगे—'भगवान् केशवको नमस्कार है; हे महायोगिन्! आप मुझपर प्रसन्न हों।' निरन्तर यों कहते हुए पुरुषार्थ-साधनमें कुशल वे तपस्वी पुण्डरीकजी अपने हृदय-कमलके आसनपर जनार्दन भगवान् गोविन्दको स्थापित-कर तपस्याकी सिद्धि करनेवाले उस 'शालग्राम' नामक तपोवनमें बहुत कालतक अकेले ही रहे। महातपस्वी पुण्डरीक स्वप्नमें भी भगवान् केशवके सिवा दूसरा कुछ नहीं देखते थे। उनकी नींद भी उन्हें पुरुषार्थ-साधनमें बाधा नहीं देती थी। उन पापरहित द्विजवर पुण्डरीकने तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा विशेषतः शौचाचारके पालनसे और जन्म-जन्मान्तरोंकी साधनासे सुदृढ़ हुए भगवद्भक्तिसाधक संस्कारसे सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र साक्षी देवदेव भगवान् विष्णुकी कृपाद्वारा परम उत्तम वैष्णवी सिद्धि प्राप्त कर ली। उनके निकट सिंह, व्याघ्र तथा दूसरे-दूसरे हिंसक जीव आपसके स्वाभाविक वैर-विरोधको त्याग एक साथ मिलकर रहते थे। द्विजवर भरद्वाजजी! उनके समीप उन हिंसक जन्तुओंकी इन्द्रिय-वृत्तियाँ अत्यन्त शान्त रहती थीं॥ ९७—१०४॥

ततः कदाचिद्भगवान् पुण्डरीकस्य धीमतः।
प्रादुरासीज्जगन्नाथः पुण्डरीकायतेक्षणः॥१०५॥
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासाः स्रगुज्ज्वलः।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः कौस्तुभेन विभूषितः॥१०६॥
आरुह्य गरुडं श्रीमानञ्जनाचलसंनिभः।
मेरुशृङ्गमिवारूढः कालमेघस्तडिद्द्युतिः॥१०७॥
राजतेनातपत्रेण मुक्तादामविलम्बिना।
विराजमानो देवेशश्चामरव्यजनादिभिः॥१०८॥

तत्पश्चात् एक दिन बुद्धिमान् पुण्डरीकजीके समक्ष जगदीश्वर भगवान् नारायण प्रकट हुए। उनके नेत्र कमल-दलके समान विशाल थे। उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित थी। उन्होंने पीताम्बर धारण कर रक्खा था। दिव्य पुष्पोंकी माला उनकी शोभा बढ़ा रही थी। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स-चिह्न और लक्ष्मीका निवास था। वे कौस्तुभमणिसे विभूषित थे। कज्जलगिरिके समान श्यामवर्ण एवं पीताम्बरधारी भगवान् विष्णु सुनहली कान्तिवाले गरुड-पर आरूढ़ हो इस प्रकार सुशोभित होते थे, मानो मेरुगिरिके शिखरपर बिजलीकी कान्तिसे युक्त श्याममेघ शोभा पा रहा हो। भगवान्के ऊपर रजतमय श्वेत छत्र तना था, जिसमें मोतियोंकी झालरें लगी थीं। उस समय उस छत्रसे तथा चँवर-व्यजन आदिसे उन देवेश्वरकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १०५—१०८॥

तं दृष्ट्वा देवदेवेशं पुण्डरीकः कृताञ्जलिः।
पपात शिरसा भूमौ साध्वसावनतो द्विजः॥१०९॥
पिबन्निव हृषीकेशं नयनाभ्यां समाकुलः।
जगाम महतीं तृप्तिं पुण्डरीकस्तदानघः॥११०॥
तमेवालोकयन् वीरश्चिरप्रार्थितदर्शनः।
ततस्तमाह भगवान् पद्मनाभस्त्रिविक्रमः॥१११॥

उन देवदेवेश्वर भगवान् नारायणका प्रत्यक्ष दर्शन पाकर पुण्डरीकने दोनों हाथ जोड़ लिये। आदरमिश्रित भयसे उनका मस्तक झुक गया। उन्होंने धरतीपर माथा टेक दिया—साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे विह्वल होकर उन भगवान् हृषीकेशकी ओर आँखें फाड़-फाड़कर इस प्रकार देखने लगे, मानो उन्हें पी जायँगे। जिनके दर्शनके लिये वे चिरकालसे प्रार्थना कर रहे थे, उन भगवान्को आज सामने पाकर उन्हींकी ओर निर्निमेष नयनोंसे देखते हुए पापरहित धीरचित्त पुण्डरीकजी-को आज बड़ी ही तृप्ति हुई। तब तीन पगोंसे त्रिलोकीको नाप लेनेवाले भगवान् पद्म-नाभने पुण्डरीकसे कहा—॥१०९-१११॥

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पुण्डरीक महामते।
वरं वृणीष्व दास्यामि यत्ते मनसि वर्तते॥११२॥

'वत्स पुण्डरीक! तुम्हारा कल्याण हो। महामते! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसीको वरके रूपमें माँग लो; उसे मैं अवश्य दूँगा'॥ ११२॥

सूत उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं देवदेवेन भाषितम्।
इदं विज्ञापयामास पुण्डरीको महामतिः॥११३॥

सूतजी कहते हैं—देवदेव नारायणके कहे हुए इस वचनको सुनकर महामति पुण्डरीकने उनसे यों निवेदन किया॥ ११३॥

पुण्डरीक उवाच

क्वाहमत्यन्तदुर्बुद्धिः क्व चात्महितवीक्षणम्।
यद्धितं मम देवेश तदाज्ञापय माधव॥११४॥

पुण्डरीक बोले—देवेश्वर ! कहाँ मुझ-जैसा अत्यन्त दुर्बुद्धि पुरुष और कहाँ अपने वास्तविक हितको देखनेका कार्य ? अतः माधव ! मेरे लिये जो हितकर हो, उसके लिये आप ही कृपापूर्वक आज्ञा करें ॥ ११४ ॥

एवमुक्तोऽथ भगवान् सुप्रीतः पुनरब्रवीत् ।
पुण्डरीकं महाभागं कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥११५॥

उनके यों कहनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए और अपने सामने हाथ जोड़े खड़े हुए महाभाग पुण्डरीकसे बोले ॥ ११५ ॥

श्रीभगवानुवाच

आगच्छ कुशलं तेऽस्तु मयैव सह सुव्रत ।
मद्रूपधारी नित्यात्मा ममैव पार्षदो भव ॥११६॥

श्रीभगवान्ने कहा—सुव्रत ! तुम्हारा कल्याण हो; तुम मेरे साथ ही आ जाओ और मेरे ही समान रूप धारण-कर मेरे नित्य-पार्षद हो जाओ ॥ ११६ ॥

सूत उवाच

एवमुक्तवति प्रीत्या श्रीधरे भक्तवत्सले ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात च ॥११७॥
देवाः सेन्द्रास्तथा सिद्धाः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ।
जगुश्च सिद्धगन्धर्वाः किंनराश्च विशेषतः ॥११८॥
अथैनं समुपादाय वासुदेवो जगत्पतिः ।
जगाम गरुडारूढः सर्वदेवनमस्कृतः ॥११९॥
तस्मात्त्वमपि विप्रेन्द्र विष्णुभक्तिसमन्वितः ।
तच्चित्तस्तद्गतप्राणस्तद्भक्तानां हिते रतः ॥१२०॥
अर्चयित्वा यथायोगं भजस्व पुरुषोत्तमम् ।
शृणुष्व तत्कथाः पुण्याः सर्वपापप्रणाशिनीः ॥१२१॥
येनोपायेन विप्रेन्द्र विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः ।
प्रीतो भवति विश्वात्मा तत्कुरुष्व सुविस्तरम् ॥१२२॥
अश्वमेधसहस्रेण वाजपेयशतैरपि ।
नाप्नुवन्ति गतिं पुण्यां नारायणपराङ्मुखाः ॥१२३॥

सूतजी कहते हैं—भक्तवत्सल भगवान् श्रीधरके प्रेम-पूर्वक यों कहनेपर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और वहाँ आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी । उस समय इन्द्र आदि सभी देवता और सिद्धगण 'यह बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ'—इस प्रकार कहकर साधुवाद देने लगे । सिद्ध, गन्धर्व और किंनरगण विशेषरूपसे यशोगान करने लगे । इधर सर्वदेववन्दित जगदीश्वर भगवान् वासुदेव पुण्डरीकको साथ ले, गरुडपर आरूढ़ हो, वैकुण्ठधामको चले गये । इसलिये विप्रवर भरद्वाज ! आप भी विष्णुभक्तिसे युक्त हो, अपने मन और प्राणोंको भगवान्में ही लगाकर उनके भक्तोंके हित-साधनमें तत्पर रहिये और यथाशक्ति भगवान्का पूजन करते हुए उन पुरुषोत्तमका भजन कीजिये । समस्त पापोंको नष्ट करनेवाली भगवान्की कथाएँ सदा सुनते रहिये । विप्रवर ! अधिक क्या कहें, सर्वेश्वरेश्वर विश्वात्मा भगवान् विष्णु जिस उपायसे प्रसन्न हों, उसीको आप विस्तारपूर्वक करें । भगवान् नारायणसे विमुख हुए पुरुष हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय करनेसे भी पावन गतिको नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ११७—१२३ ॥

अजरममरमेकं ध्येयमाद्यन्तशून्यं
सगुणविगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम् ।
निरुपममुपमेयं योगिनां ज्ञानगम्यं
त्रिभुवनगुरुमीशं त्वां प्रपन्नोऽस्मि विष्णो ॥१२४॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे पुण्डरीकनारदसंवादे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

(भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—)'भगवन् विष्णो ! आप अजर, अमर, अद्वितीय, सबके ध्यान करने-योग्य, आदि-अन्तसे रहित, सगुण-निर्गुण, स्थूल-सूक्ष्म और अनुपम होकर भी उपमेय हैं । योगियोंको ज्ञानके द्वारा आपके स्वरूपका अनुभव होता है तथा आप इस त्रिभुवनके गुरु और परमेश्वर हैं; अतः मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'पुण्डरीक-नारद-संवाद' विषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पैंसठवाँ अध्याय

भगवत्सम्बन्धी तीर्थ और उन तीर्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले भगवान्‌के नाम

भरद्वाज उवाच

त्वत्तो हि श्रोतुमिच्छामि गुह्यक्षेत्राणि वै हरेः ।
नामानि च सुगुह्यानि वद पापहराणि च ॥ १ ॥

भरद्वाजजी बोले—सूतजी ! अब मैं आपसे भगवान् विष्णुके गुप्त तीर्थोंका और उन तीर्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले भगवान्‌के गुप्त नामोंका वर्णन सुनना चाहता हूँ; कृपया आप उन पापनाशक नामोंका मेरे समक्ष वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

सूत उवाच

मन्दरस्थं हरिं देवं ब्रह्मा पृच्छति केशवम् ।
भगवन्तं देवदेवं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ २ ॥

सूतजी बोले—एक समय मन्दराचलपर विराजमान शङ्ख-चक्र-गदाधारी देवदेव भगवान् विष्णुसे श्रीब्रह्माजीने पूछा ॥ २ ॥

ब्रह्मोवाच

केषु केषु च क्षेत्रेषु द्रष्टव्योऽसि मया हरे ।
भक्तैरन्यैः सुरश्रेष्ठ मुक्तिकामैर्विशेषतः ॥ ३ ॥
यानि ते गुह्यनामानि क्षेत्राणि च जगत्पते ।
तान्यहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तः पद्मायतेक्षण ॥ ४ ॥
किं जपन् सुगतिं याति नरो नित्यमतन्द्रितः ।
त्वद्भक्तानां हितार्थाय तन्मे वद सुरेश्वर ॥ ५ ॥

ब्रह्माजी बोले—सुरश्रेष्ठ ! हरे ! मुझे तथा मुक्ति चाहनेवाले अन्यान्य भक्तोंको किन-किन क्षेत्रोंमें जाकर आपका विशेषरूपसे दर्शन करना चाहिये । जगत्पते ! कमललोचन ! आपके जो-जो गुप्त तीर्थ और नाम हैं, उन्हें मैं आपके ही मुखसे सुनना चाहता हूँ । सुरेश्वर ! मनुष्य आलस्य त्यागकर प्रतिदिन किसका जप करनेसे सद्गतिको प्राप्त हो सकता है ? अपने भक्तोंका हित-साधन करनेके लिये यह बात आप हमें बताइये ॥ ३—५ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् गुह्यनामानि मेऽधुना ।
क्षेत्राणि चैव गुह्यानि तव वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! तुम सावधान होकर सुनो; मेरे जो गुह्य नाम और क्षेत्र हैं, उन्हें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ ॥ ६ ॥

कोकामुखे तु वाराहं मन्दरे मधुसूदनम् ।
अनन्तं कपिलद्वीपे प्रभासे रविनन्दनम् ॥ ७ ॥
माल्योदपाने वैकुण्ठं महेन्द्रे तु नृपात्मजम् ।
ऋषभे तु महाविष्णुं द्वारकायां तु भूपतिम् ॥ ८ ॥
पाण्डुसह्ये तु देवेशं वसुरूढे जगत्पतिम् ।
वल्लीवटे महायोगं चित्रकूटे नराधिपम् ॥ ९ ॥
निमिषे पीतवासं च गवां निष्क्रमणे हरिम् ।
शालग्रामे तपोवासमचिन्त्यं गन्धमादने ॥ १० ॥
कुब्जागारे हृषीकेशं गन्धद्वारे पयोधरम् ।
गरुडध्वजं तु सकले गोविन्दं नाम सायके ॥ ११ ॥
वृन्दावने तु गोपालं मथुरायां स्वयम्भुवम् ।
केदारे माधवं विन्द्याद्वाराणस्यां तु केशवम् ॥ १२ ॥
पुष्करे पुष्कराक्षं तु धृष्टद्युम्ने जयध्वजम् ।
तृणबिन्दुवने वीरमशोकं सिन्धुसागरे ॥ १३ ॥
कसेरटे महाबाहुममृतं तैजसे वने ।
विश्वासयूपे विश्वेशं नरसिंहं महावने ॥ १४ ॥
हलाङ्गरे रिपुहरं देवशालां त्रिविक्रमम् ।
पुरुषोत्तमं दशपुरे कुब्जके वामनं विदुः ॥ १५ ॥
विद्याधरं वितस्तायां वाराहे धरणीधरम् ।
देवदारुवने गुह्यं कावेर्यां नागशायिनम् ॥ १६ ॥
प्रयागे योगमूर्तिं च पयोष्ण्यां च सुदर्शनम् ।
कुमारतीर्थे कौमारं लोहिते हयशीर्षकम् ॥ १७ ॥
उज्जयिन्यां त्रिविक्रमं लिङ्गकूटे चतुर्भुजम् ।
हरिहरं तु भद्रायां दृष्ट्वा पापात्प्रमुच्यते ॥ १८ ॥

कोकामुख-क्षेत्रमें मेरे वाराहस्वरूपका, मन्दराचलपर मधुसूदनका, कपिलद्वीपमें अनन्तका, प्रभासक्षेत्रमें सूर्यनन्दनका, माल्योदपानतीर्थमें भगवान् वैकुण्ठका, महेन्द्रपर्वतपर

राजकुमारका, ऋषभतीर्थमें महाविष्णुका, द्वारकामें भूपाल श्रीकृष्णका, पाण्डुसह्य पर्वतपर देवेशका, वसुरूढ तीर्थमें जगत्पतिका, वल्लीवटमें महायोगका, चित्रकूटमें राजा रामका, नैमिषारण्यमें पीताम्बरका, गौओंके विचरनेके स्थान व्रजमें हरिका, शालग्राम तीर्थमें तपोवासका, गन्धमादन पर्वतपर अचिन्त्य परमेश्वरका, कुब्जागारमें हृषीकेशका, गन्धद्वारमें पयोधरका, सकलतीर्थमें गरुडध्वजका, सायकमें गोविन्दका, वृन्दावनमें गोपालका, मथुरामें स्वयम्भू भगवान्‌का, केदारतीर्थमें माधवका, वाराणसी (काशी) में केशवका, पुष्कर तीर्थमें पुष्कराक्षका, धृष्टद्युम्न-क्षेत्रमें जयध्वजका, तृणविन्दु वनमें वीरका, सिन्धुसागरमें अशोकका, कसेरटमें महाबाहुका, तैजस वनमें भगवान् अमृतका, विश्वासयूप (या विशाखयूप) क्षेत्रमें विश्वेशका, महावनमें नरसिंहका, हलाङ्गरमें रिपुहरका, देवशालामें भगवान् त्रिविक्रमका, दशपुरमें पुरुषोत्तमका, कुब्जक तीर्थमें वामनका, वितस्तामें विद्याधरका, वाराह तीर्थमें धरणीधरका, देवदारुवनमें गुह्यका, कावेरीतटपर नागशायीका, प्रयागमें योगमूर्तिका, पयोष्णीतटपर सुदर्शनका, कुमारतीर्थमें कौमारका, लोहितमें हयग्रीवका, उज्जयिनीमें त्रिविक्रमका, लिङ्गकूटपर चतुर्भुजका और भद्राके तटपर भगवान् हरिहरका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ७–१८ ॥

विश्वरूपं कुरुक्षेत्रे मणिकुण्डे हलायुधम् ।
लोकनाथमयोध्यायां कुण्डिने कुण्डिनेश्वरम् ॥१९॥
भाण्डारे वासुदेवं तु चक्रतीर्थे सुदर्शनम् ।
आढ्ये विष्णुपदं विद्याच्छूकरे शूकरं विदुः ॥२०॥
ब्रह्मेशं मानसे तीर्थे दण्डके श्यामलं विदुः ।
त्रिकूटे नागमोक्षं च मेरुपृष्ठे च भास्करम् ॥२१॥
विरजं पुष्पभद्रायां बालं केरलके विदुः ।
यशस्करं विपाशायां माहिष्मत्यां हुताशनम् ॥२२॥
क्षीराब्धौ पद्मनाभं तु विमले तु सनातनम् ।
शिवनद्यां शिवकरं गयायां च गदाधरम् ॥२३॥
सर्वत्र परमात्मानं यः पश्यति स मुच्यते ।

इसी प्रकार कुरुक्षेत्रमें विश्वरूपका, मणिकुण्डमें हलायुधका, अयोध्यामें लोकनाथका, कुण्डिनपुरमें कुण्डिनेश्वरका, भाण्डारमें वासुदेवका, चक्रतीर्थमें सुदर्शनका, आढ्यतीर्थमें विष्णुपदका, शूकर-क्षेत्रमें भगवान् शूकरका, मानसतीर्थमें ब्रह्मेशका, दण्डकतीर्थमें श्यामलका, त्रिकूटपर्वतपर नागमोक्षका, मेरुके शिखरपर भास्करका, पुष्पभद्राके तटपर विरजका, केरल-तीर्थमें बालरूप भगवान्‌का, विपाशाके तटपर भगवान् यशस्करका, माहिष्मतीपुरीमें हुताशनका, क्षीरसागरमें भगवान् पद्मनाभका, विमलतीर्थमें सनातनका, शिवनदीके तटपर भगवान् शिवका, गयामें गदाधरका और सर्वत्र ही परमात्माका जो दर्शन करता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १९–२३½ ॥

अष्टषष्टिश्च नामानि कथितानि मया तव ॥२४॥
क्षेत्राणि चैव गुह्यानि कथितानि विशेषतः ।
एतानि मम नामानि रहस्यानि प्रजापते ॥२५॥
यः पठेत् प्रातरुत्थाय शृणुयाद्वापि नित्यशः ।
गवां शतसहस्रस्य दत्तस्य फलमाप्नुयात् ॥२६॥
दिने दिने शुचिर्भूत्वा नामान्येतानि यः पठेत् ।
दुःस्वप्नं न भवेत्तस्य मत्प्रसादान्न संशयः ॥२७॥
अष्टषष्टिस्तु नामानि त्रिकालं यः पठेन्नरः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मम लोके स मोदते ॥२८॥
द्रष्टव्यानि यथाशक्त्या क्षेत्राण्येतानि मानवैः ।
वैष्णवैस्तु विशेषेण तेषां मुक्तिं ददाम्यहम् ॥२९॥

ब्रह्माजी ! ये अड़सठ नाम हमने तुम्हें बताये तथा विशेषतः गुप्त तीर्थोंका भी वर्णन किया । प्रजापते ! जो पुरुष प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मेरे इन गुह्यनामोंका पाठ या श्रवण करेगा, वह नित्य एक लाख गोदानका फल पायेगा । नित्यप्रति पवित्र होकर जो इन नामोंका पाठ करता है, उसको मेरी कृपासे कभी दुःस्वप्नका दर्शन नहीं होता, इसमें संदेह नहीं है । जो पुरुष इन अड़सठ नामोंका प्रतिदिन तीनों काल, अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर मेरे लोकमें आनन्द भोगता है । सभी मनुष्यों और विशेषतः वैष्णवोंको चाहिये कि यथाशक्ति पूर्वोक्त तीर्थोंका दर्शन करें । जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें मैं मुक्ति देता हूँ ॥ २४–२९ ॥

सूत उवाच

हरिं समभ्यर्च्य तदग्रसंस्थितो
हरिं स्मरन् विष्णुदिने विशेषतः ।

इमं स्तवं यः पठते स मानवः
प्राप्नोति विष्णोरमृतात्मकं पदम् ॥३०॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे आद्ये धर्मार्थमोक्षदायिनि विष्णुवल्लभे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

सूतजी कहते हैं—जो पुरुष सदा और विशेषतः हरिवासर (एकादशी या द्वादशीको) भगवान् विष्णुकी पूजा करके उनके सामने खड़ा हो भगवत्स्मरणपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह विष्णुके अमृतपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'आदि धर्मार्थमोक्षदायक विष्णुवल्लभस्तोत्र' विषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

छाछठवाँ अध्याय

अन्यान्य तीर्थों तथा सह्य और आमलक ग्रामके तीर्थोंका माहात्म्य

सूत उवाच

उक्तः पुण्यः स्तवो ब्रह्मन् हरेरेभिश्च नामभिः ।
पुनरन्यानि नामानि यानि तानि निबोध मे ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—भगवान् विष्णु पुनः बोले—ब्रह्मन् ! उपर्युक्त अड़सठ नामोंसे भगवान् विष्णुकी पावन स्तुतिका वर्णन किया गया । अब जो दूसरे-दूसरे पावन तीर्थ और नाम हैं, उनका वर्णन मुझसे सुनिये ॥ १ ॥

गङ्गा तु प्रथमं पुण्या यमुना गोमती पुनः ।
सरयूः सरस्वती च चन्द्रभागा चर्मण्वती ॥ २ ॥
कुरुक्षेत्रं गया चैव पुष्कराणि तथार्बुदम् ।
नर्मदा च महापुण्या तीर्थान्येतानि चोत्तरे ॥ ३ ॥
तापी पयोष्णी पुण्ये द्वे तत्सङ्गात्तीर्थमुत्तमम् ।
तथा ब्रह्मगिरेश्चापि मेखलाभिः समन्विताः ॥ ४ ॥
विरजं च तथा तीर्थं सर्वपापक्षयंकरम् ।
गोदावरी महापुण्या सर्वत्र चतुरानन ॥ ५ ॥
तुङ्गभद्रा महापुण्या यत्राहं कमलोद्भव ।
हरेण सार्धं प्रीत्या तु वसामि मुनिपूजितः ॥ ६ ॥
दक्षिणगङ्गा कृष्णा तु कावेरी च विशेषतः ।
सह्ये त्वामलकग्रामे स्थितोऽहं कमलोद्भव ॥ ७ ॥
देवदेवस्य नाम्ना तु त्वया ब्रह्मन् सदार्चितः ।
तत्र तीर्थान्यनेकानि सर्वपापहराणि वै ॥
येषु स्नात्वा च पीत्वा च पापान्मुच्यति मानवः ॥८॥

सर्वप्रथम गङ्गा पवित्र है; फिर यमुना, गोमती, सरयू, सरस्वती, चन्द्रभागा और चर्मण्वती—ये नदियाँ पावन हैं। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र, गया, तीनों पुष्कर और अर्बुद-क्षेत्र तथा परम पावन नर्मदा नदी—ये उत्तरमें परम पावन तीर्थ हैं। तापी, पयोष्णी—ये दो पावन नदियाँ हैं। इनके संगमसे एक बहुत उत्तम तीर्थ हो गया है तथा ब्रह्मगिरिकी मेखलाओंसे मिले हुए भी बहुत-से उत्तम तीर्थ हैं। विरज-तीर्थ भी समस्त पापोंको क्षीण करनेवाला है तथा चतुरानन ! गोदावरी नदी सर्वत्र परमपावन हैं । कमलोद्भव ! तुङ्गभद्रा नदी भी अत्यन्त पवित्र करनेवाली है, जिसके तटपर मैं मुनियोंद्वारा पूजित हो भगवान् शंकरके साथ स्वयं निवास करता हूँ। दक्षिण गङ्गा, कृष्णा और विशेषतः कावेरी—ये पुण्य नदियाँ हैं। इनके अतिरिक्त, कमलोद्भव ! मैं सह्यपर्वतपर आमलक ग्राममें स्वयं निवास करता हूँ । वहाँ 'देवदेव' नामसे प्रसिद्ध मेरे श्रीविग्रहका तुम स्वयं ही सदा पूजन करते हो। वहाँ समस्त पापोंको हर लेनेवाले अनेक तीर्थ हैं, जिनमें स्नान और आचमन करके मनुष्य पापसे मुक्त हो जाता है ॥२-८॥

सूत उवाच

इत्येवं कथयित्वा तु तीर्थानि मधुसूदनः ।
ब्रह्मणे गतवान् ब्रह्मन् ब्रह्मापि स्वपुरं गतः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—भरद्वाज ! ब्रह्माजीसे इन तीर्थोंका वर्णन करके भगवान् मधुसूदन अपने धामको चले गये और ब्रह्मा भी ब्रह्मलोक सिधारे ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच

तस्मिन्नामलकग्रामे पुण्यतीर्थानि यानि वै ।
तानि मे वद धर्मज्ञ विस्तरेण यथार्थतः ॥१०॥
क्षेत्रोत्पत्तिं च माहात्म्यं यात्रापर्व च यत्र तत् ।
तत्रासौ देवदेवेशः पूज्यते ब्रह्मणा स्वयम् ॥११॥

भरद्वाजजी बोले—धर्मज्ञ ! उस आमलक ग्राममें जो-जो पुण्यतीर्थ हैं, उनका आप विस्तारके साथ यथार्थरूपमें वर्णन करें । जहाँ देवदेवेश्वर भगवान् विष्णु स्वयं ब्रह्माजीके द्वारा पूजित होते हैं, उस क्षेत्रकी उत्पत्ति-कथा, माहात्म्य और यात्रापर्वका विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिये ॥ १०-११ ॥

सूत उवाच

शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुण्यं पापप्रणाशनम् ।
सह्यामलकतीर्थस्य उत्पत्त्यादि महामुने ॥१२॥

सूतजी कहते हैं—विप्र ! महामुने ! सह्यपर्वतपर स्थित 'आमलक'तीर्थके आविर्भाव आदिकी पवित्र एवं पापनाशक कथा मैं आपसे कह रहा हूँ, सुनें ॥ १२ ॥

पुरा सह्यवनोद्देशे तरुरामलको महान् ।
आसीद्ब्रह्मन् महोग्रोऽयं नाम्नायं चोच्यते बुधैः॥१३॥
फलानि तस्य वृक्षस्य महान्ति सुरसानि च ।
दर्शनीयानि दिव्यानि दुर्लभानि महामुने ॥१४॥
परेषां ब्राह्मणानां तु परेण ब्रह्मणा पुरा ।
स दृष्टस्तु महावृक्षो महाफलसमन्वितः ॥१५॥
किमेतदिति विप्रेन्द्र ध्यानदृष्टिपरोऽभवत् ।
ध्यानेन दृष्टवांस्तत्र पुनरामलकं तरुम् ॥१६॥
तस्योपरि तु देवेशं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
उत्थाय च पुनः पश्येत्प्रतिमामेव केवलाम् ॥१७॥
तत्पादं भूतले देवः प्रविवेश महातरुः ।
ततस्त्वाराधयामास देवदेवेशमव्ययम् ॥१८॥
गन्धपुष्पादिभिर्नित्यं ब्रह्मा लोकपितामहः ।
द्वादशभिः सप्तभिस्तु संख्याभिः पूजितो हरिः ॥१९॥

ब्रह्मन् ! पूर्वकालमें सह्य पर्वतके वनमें एक बहुत बड़ा आँवलेका वृक्ष था । उसे बुद्धिमान् लोगोंने 'महोग्र' नाम दे रक्खा था । महामुने ! उस वृक्षके फल बड़े रसीले, दर्शनीय, दिव्य एवं दुर्लभ होते थे । समस्त उत्तम ब्राह्मणोंमें उत्कृष्ट श्रीब्रह्माजीने पूर्वकालमें महान् फलोंसे युक्त उस महावृक्षको देखा था । विप्रेन्द्र ! उसे देखकर, यह क्या है—यह जाननेके लिये ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये । उन्होंने ध्यानमें उस स्थानपर महान् आँवलेके वृक्षको देखा और उसके ऊपर शङ्ख, चक्र एवं गदा धारण करनेवाले देवेश्वर भगवान् विष्णुको विराजमान देखा । फिर उन्होंने जब ध्यानसे निवृत्त हो खड़े होकर दृष्टिपात किया, तब वहाँ वृक्षके स्थानमें केवल भगवान् विष्णुकी एक प्रतिमा दिखायी दी । उसका आधारभूत वह दिव्य महावृक्ष भूतलमें धँस गया ! तब लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजी गन्ध-पुष्प आदिसे नित्य ही उन अविनाशी देवदेवेश्वरकी आराधना करने लगे । उस समय उनके द्वारा बारह और सात बार भगवान्‌की पूजा सम्पन्न हुई ॥ १३—१९ ॥

तस्मिन् क्षेत्रे मुनिश्रेष्ठ माहात्म्यं तस्य को वदेत् ।
श्रीसह्यामलकग्रामे देवदेवेशमव्ययम् ॥२०॥
आराध्य तीर्थे सम्प्राप्ता द्वादश प्रति चतुर्मुखम् ।
तस्य पादतले तीर्थं निस्सृतं पश्चिमामुखम् ॥२१॥
तच्चक्रतीर्थमभवत्पुण्यं पापप्रणाशनम् ।
चक्रतीर्थे नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२२॥
बहुवर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ।
शङ्खतीर्थे नरः स्नात्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥२३॥
पौषे मासे तु पुष्यार्के तद्यात्रादिवसं मुने ।
ब्रह्मणः कुण्डिका पूर्वं गङ्गातोयप्रपूरिता ॥२४॥
तस्याद्रौ पतिता ब्रह्मंस्तत्र तीर्थेऽशुभं हरेत् ।
नाम्ना तत्कुण्डिकातीर्थं शिलागृहसमन्वितम् ॥२५॥
तत्तीर्थे मनुजः स्नात्वा तदानीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा यस्तत्र स्नाति मानवः ॥२६॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ।
कुण्डिकातीर्थादुत्तरे पिण्डस्थानाच्च दक्षिणे ॥२७॥
ऋणमोचनतीर्थं हि तीर्थानां गुह्यमुत्तमम् ।
त्रिरात्रमुषितो यस्तु तत्र स्नानं समाचरेत् ॥२८॥
ऋणैस्त्रिभिरसौ ब्रह्मन् मुच्यते नात्र संशयः ।
श्राद्धं कृत्वा पितृभ्यश्च पिण्डस्थानेषु यो नरः ॥२९॥
पितॄनुद्दिश्य विधिवत्पिण्डान्निर्वापयिष्यति ।
सुतृप्ताः पितरो यान्ति पितृलोकं न संशयः ॥३०॥

मुनिश्रेष्ठ ! उस आमलकक्षेत्रमें विराजमान भगवान्‌के माहात्म्यका कौन वर्णन कर सकता है। श्रीसह्यपर्वतस्थ आमलक ग्राममें इस प्रकार अविनाशी देवेश्वर भगवान्‌की आराधना करनेके पश्चात् ब्रह्माजीको वहाँ बारह तीर्थ और प्राप्त हुए ।

भगवान्‌के चरणके नीचे पश्चिमाभिमुख एक तीर्थ प्रकट हुआ। वह 'चक्रतीर्थ'के नामसे विख्यात हुआ। वह पावन तीर्थ पापोंको नष्ट करनेवाला है। मनुष्य चक्रतीर्थमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और हजारों वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। इसके बाद 'शङ्खतीर्थ' है। उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको वाजपेय यज्ञका फल मिलता है। मुने! पौष मासमें जब सूर्य पुष्य नक्षत्रपर स्थित हों, उसी समय वहाँकी यात्राका पर्व है। पूर्वकालमें एक समय सह्यपर्वतपर गङ्गाजलसे भरा हुआ ब्रह्माजीका कमण्डलु गिर पड़ा था; तबसे वह स्थान 'कुण्डिका' तीर्थके नामसे विख्यात हुआ। वह तीर्थ सारे अशुभोंको हर लेता है। वहाँ एक शिलामय गृह भी है। उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य तत्काल सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य उस तीर्थमें तीन राततक उपवास करके स्नान करता है, वह सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। कुण्डिका-तीर्थसे उत्तर और 'पिण्डस्थान' नामक तीर्थसे दक्षिण 'ऋणमोचन' नामक तीर्थ है, जो सब तीर्थोंमें उत्तम और गुह्य है। ब्रह्मन्! वहाँ तीन राततक निवास करके जो स्नान करता है, वह निस्संदेह तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य पिण्डस्थानमें श्राद्ध करके वहाँ पितरोंके उद्देश्यसे विधिपूर्वक पिण्डदान करेगा, उसके पितर पूर्ण तृप्त होकर अवश्य ही पितृलोकको प्राप्त होंगे॥ २०-३०॥

पञ्चरात्रोषितस्नायी तीर्थे वै पापमोचने।
सर्वपापक्षयं प्राप्य विष्णुलोके स मोदते॥३१॥
तत्रैव महतीं धारां शिरसा यस्तु धारयेत्।
सर्वक्रतुफलं प्राप्य नाकपृष्ठे महीयते॥३२॥

इसके बाद 'पाप-मोचन' तीर्थ है। उस तीर्थमें पाँच राततक निवास करते हुए जो नित्य स्नान करता है, वह अपने सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके विष्णुलोकमें आनन्दका भागी होता है। वहीं एक बहुत बड़ी धारा बहती है। उसके जलको जो अपने सिरपर धारण करता है, वह समस्त यज्ञोंके फलको प्राप्त करके स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ३१-३२॥

धनुःपाते महातीर्थे भक्त्या यः स्नानमाचरेत्।
आयुर्भोगफलं प्राप्य स्वर्गलोके महीयते॥३३॥
शरबिन्दौ नरः स्नात्वा शतक्रतुपुरं व्रजेत्।
वाराहतीर्थे विप्रेन्द्र सह्ये यः स्नानमाचरेत्॥३४॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा विष्णुलोके महीयते।
आकाशगङ्गानाम्ना च सह्याग्रे तीर्थमुत्तमम्॥३५॥
शिलातलात्ततो ब्रह्मन्निर्गता श्वेतमृत्तिका।
तस्यां भक्त्या तु यः स्नाति नरो द्विजवरोत्तम॥३६॥
सर्वक्रतुफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते।

इसके बाद 'धनुःपात' नामक एक महान् तीर्थ है। उसमें जो भक्तिपूर्वक स्नान करता है, वह पूर्ण आयुका भोग करके अन्तमें स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। 'शरबिन्दु' तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य मृत्युके बाद इन्द्रपुरीमें जाता है तथा जो सह्यपर्वतपर 'वाराहतीर्थ'में स्नान करता और वहाँ एक दिन-रात निवास करता है, वह विष्णुलोकमें पूजित होता है। इसके बाद सह्यके शिखरपर 'आकाशगङ्गा' नामक एक उत्तम तीर्थ है। वहाँकी शिलाओंके नीचेसे सफेद मिट्टी निकलती है। विप्रवर! उसमें जो भक्तिपूर्वक स्नान करता है, वह सम्पूर्ण यज्ञोंका फल प्राप्तकर विष्णुलोकमें पूजित होता है॥ ३३-३६½॥

ब्रह्मन्नमलसह्याद्रेर्यद्यत्तोयविनिर्गमः॥३७॥
तत्र तीर्थं विजानीहि स्नात्वा पापात्प्रमुच्यते।
सह्याद्रिं गतवान्नित्यं स्नात्वा पापात्प्रमुच्यते॥३८॥
एतेषु तीर्थेषु नरो द्विजेन्द्र
पुण्येषु सह्याद्रिसमुद्भवेषु।
दत्त्वा सुपुष्पाणि हरिं स भक्त्या
विहाय पापं प्रविशेत्स विष्णुम्॥३९॥
सकृत्तीर्थाद्रितोयेषु गङ्गायां तु पुनः पुनः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो हरिः॥४०॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वधर्मो दयापरः।

ब्रह्मन्! उस निर्मल सह्यगिरिसे जहाँ-जहाँ जलके झरने गिरते हैं, वहाँ-वहाँ सब जगह तीर्थ समझना चाहिये। उसमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो नित्य ही सह्यपर्वतकी यात्रा करके वहाँ स्नान करता है, वह निष्पाप हो जाता है। द्विजेन्द्र! जो मनुष्य सह्यपर्वतके

इन पावन तीर्थोंमें स्नान करके भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुको पुष्प चढ़ाता है, वह पापोंसे रहित हो भगवान् विष्णुमें ही लीन हो जाता है। अन्य सभी तीर्थोंके पर्वतोंसे बहनेवाले जलमें यथासम्भव एक बार स्नान कर लेना चाहिये, परंतु गङ्गामें बार-बार स्नान करे; क्योंकि गङ्गामें सम्पूर्ण तीर्थ हैं, भगवान् विष्णुमें सभी देवता वर्तमान हैं, गीता सर्वशास्त्रमयी है और सभी धर्मोंमें जीवदया श्रेष्ठ है ॥ ३७—४०½ ॥

एवं ते कथितं विप्र क्षेत्रमाहात्म्यमुत्तमम् ॥४१॥
श्रीसह्यामलकग्रामे तीर्थ स्नात्वा फलानि च।
तीर्थानामपि यत्तीर्थं तत्तीर्थं द्विजसत्तम।
देवदेवस्य पादस्य तलाद्भुवि विनिस्सृतम् ॥४२॥
अम्भोयुगं तुरगमेधसहस्रतुल्यं
तच्चक्रतीर्थमिति वेदविदो वदन्ति।
स्नानाच्च तत्र मनुजा न पुनर्भवन्ति
पादौ प्रणम्य शिरसा मधुसूदनस्य॥४३॥
गङ्गाप्रयागगमनैमिषपुष्कराणि
पुण्यायुतानि कुरुजाङ्गलयामुनानि।
कालेन तीर्थसलिलानि पुनन्ति पापात्
पादोदकं भगवतस्तु पुनाति सद्यः ॥४४॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे तीर्थप्रशंसायां षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

विप्र ! इस प्रकार मैंने आपसे इस क्षेत्रके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया। साथ ही, सह्य और आमलक ग्रामके तीर्थोंमें स्नान करनेके फल भी बताये। द्विजश्रेष्ठ ! वही उत्तम तीर्थ है, जो तीर्थोंका भी तीर्थ हो। यह आमलकग्राम तीर्थ देवदेव भगवान् विष्णुके चरण-तलसे प्रकट हुआ है, अतः यह सर्वोत्तम तीर्थ है। यहाँपर जो जल है, उसमें स्नान करना हजार अश्वमेध यज्ञ करनेके बराबर है। उसीको वेदवेत्ता पुरुष 'चक्रतीर्थ' कहते हैं। वहाँ स्नान करके भगवान् मधुसूदनके चरणोंमें मस्तक झुकानेसे मनुष्यका इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता। गङ्गा, प्रयाग, नैमिषारण्य, पुष्कर, कुरुजाङ्गल प्रदेश और यमुना-तटवर्ती तीर्थ—ये सभी पुण्यतीर्थ हैं। इन तीर्थोंके जलमें स्नान करनेपर वे कुछ समयके बाद पवित्र करते हैं; किंतु भगवान् विष्णुका चरणोदकरूप यह 'चक्रतीर्थ' तत्काल पवित्र कर देता है ॥ ४१—४४ ॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें तीर्थप्रशंसाविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सड़सठवाँ अध्याय

मानस-तीर्थ, व्रत तथा इस पुराणका माहात्म्य

सूत उवाच

तीर्थानि कथितान्येवं भौमानि द्विजसत्तम।
मानसानि हि तीर्थानि फलदानि विशेषतः ॥ १ ॥
मनोनिर्मलता तीर्थं रागादिभिरनाकुला।
सत्यं तीर्थं दया तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ॥ २ ॥
गुरुशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणं तथा।
स्वधर्माचरणं तीर्थं तीर्थमग्नेरुपासनम् ॥ ३ ॥
एतानि पुण्यतीर्थानि व्रतानि शृणु मेऽधुना।

सूतजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार अबतक मैंने भूतलके प्रसिद्ध तीर्थोंका वर्णन किया; किंतु इन तीर्थोंकी अपेक्षा मानसतीर्थ विशेष फल देनेवाले हैं। वास्तवमें राग-द्वेषादिसे रहित मनकी स्वच्छता ही उत्तम तीर्थ है। सत्य, दया, इन्द्रियनिग्रह, गुरुसेवा, माता-पिताकी सेवा, स्वधर्मपालन और अग्निकी उपासना—ये परम उत्तम तीर्थ हैं। यह तो पावन तीर्थोंका वर्णन हुआ, अब व्रतोंका वर्णन सुनिये ॥ १—३½ ॥

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासं च वै मुने ॥ ४ ॥

पूर्णमास्याममावास्यामेकभुक्तं समाचरेत् ।
तत्रैकभुक्तं कुर्वाणः पुण्यां गतिमवाप्नुयात् ॥ ५ ॥
चतुर्थ्यां तु चतुर्दश्यां सप्तम्यां नक्तमाचरेत् ।
अष्टम्यां तु त्रयोदश्यां स प्राप्नोत्यभिवाञ्छितम् ॥ ६ ॥

मुने ! दिन-रातमें एक बार भोजन करके रहना और विशेषतः रातमें भोजन न करना—यह व्रत है । पूर्णिमा और अमावास्याको एक ही बार भोजन करके रहना चाहिये । इन तिथियोंमें एक बार भोजन करके रहनेवाला मनुष्य पावन गतिको प्राप्त करता है । जो चतुर्थी, चतुर्दशी, सप्तमी, अष्टमी और त्रयोदशीको रातमें उपवास करता है, उसे मनोवाञ्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है ॥ ४–६ ॥

उपवासो मुनिश्रेष्ठ एकादश्यां विधीयते ।
नरसिंहं समभ्यर्च्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥
हस्तयुक्तेऽर्कदिवसे सौरनक्तं समाचरेत् ।
स्नात्वार्कमध्ये विष्णुं च ध्यात्वा रोगात्प्रमुच्यते ॥८॥
आत्मनो द्विगुणां छायां यदा संतिष्ठते रविः ।
सौरनक्तं विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम् ॥ ९ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! एकादशीको दिन-रात उपवास करनेका विधान है । उस दिन भगवान् विष्णुका पूजन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । यदि हस्त नक्षत्रसे युक्त रविवार हो तो उस दिन रात्रिमें उपवास करके सौरनक्त-व्रतका पालन करना चाहिये । उस दिन स्नानके पश्चात् सूर्यमण्डलमें भगवान् विष्णुका ध्यान करके मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है । जब सूर्य अपनी दुगुनी छायामें स्थित हों, उस दिन सौर नक्तव्रतका समय है । उस समयसे लेकर राततक भोजन न करे ॥ ७–९ ॥

गुरुवारे त्रयोदश्यामपराह्णे जले ततः ।
तर्पयित्वा पितॄन्देवानृषींश्च तिलतन्दुलैः ॥१०॥
नरसिंहं समभ्यर्च्य यः करोत्युपवासकम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥११॥

जो पुरुष बृहस्पतिवारको त्रयोदशी तिथि होनेपर अपराह्णकालमें जलमें स्नान करके तिल और तण्डुलोंद्वारा देवता, ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करता है तथा भगवान् नरसिंहका पूजन करके उपवास करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०-११ ॥

यदागस्त्योदये प्राप्ते तदा सप्तसु रात्रिषु ।
अर्घ्यं दद्यात् समभ्यर्च्य अगस्त्याय महामुने ॥१२॥
शङ्खे तोयं विनिक्षिप्य सितपुष्पाक्षतैर्युतम् ।
मन्त्रेणानेन वै दद्याच्छितपुष्पादिनार्चिते ॥१३॥
काशपुष्पप्रतीकाश अग्निमारुतसम्भव ।
मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते ॥१४॥
आतापी भक्षितो येन वातापी च महासुरः ।
समुद्रः शोषितो येन सोऽगस्त्यः प्रीयतां मम ॥१५॥
एवं तु दद्याद्यो सर्वमगस्त्ये वै दिशं प्रति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तस्तमस्तरति दुस्तरम् ॥१६॥

महामुने ! जब अगस्त्य तारेका उदय हो, उस समयसे लगातार सात रात्रियोंतक अगस्त्यमुनिकी पूजा करके उन्हें अर्घ्य देना चाहिये । शङ्खमें श्वेत पुष्प और अक्षतसहित जल रखकर श्वेत पुष्प आदिसे पूजित हुए अगस्त्यजीके प्रति निम्नाङ्कित मन्त्र-वाक्य पढ़कर अर्घ्य निवेदन करे—'अग्नि और वायु देवतासे प्रकट हुए अगस्त्यजी ! काश पुष्पके समान उज्ज्वल वर्णवाले कुम्भज मुने ! मित्र और वरुणके पुत्र भगवान् कुम्भयोने ! आपको नमस्कार है । जिन्होंने महान् असुर आतापी और वातापीको भक्षण कर लिया और समुद्रको भी सोख डाला, वे अगस्त्यजी मुझपर प्रसन्न हों ।' इस प्रकार कहकर जो पुरुष अगस्त्यकी दिशा (दक्षिण)के प्रति अर्घ्य अर्पण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो, दुस्तर मोहान्धकारसे पार हो जाता है ॥ १२–१६ ॥

एवं ते कथितं सर्वं भरद्वाज महामुने ।
पुराणं नारसिंहं च मुनीनां संनिधौ मया ॥१७॥
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव सर्वमेव प्रकीर्तितम् ॥१८॥
ब्रह्मणैव पुरा प्रोक्तं मरीच्यादिषु वै मुने ।
तेभ्यश्च भृगुणा प्रोक्तं मार्कण्डेयाय वै ततः ॥१९॥

मार्कण्डेयेन वै प्रोक्तं राज्ञो नागकुलस्य ह ।
प्रसादान्नरसिंहस्य प्राप्तं व्यासेन धीमता ॥२०॥
तत्प्रसादान्मया प्राप्तं सर्वपापप्रणाशनम् ।
पुराणं नरसिंहस्य मया च कथितं तव ॥२१॥
मुनीनां संनिधौ पुण्यं स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम्।

महामुने ! भरद्वाजजी ! इस प्रकार मैंने मुनियोंके निकट यह पूरा 'नरसिंहपुराण' आपको सुनाया । इसमें मैंने सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—सभीका वर्णन किया है । मुने ! इस पुराणको सर्वप्रथम ब्रह्माजीने मरीचि आदि मुनियोंके प्रति कहा था । उन मुनियोंमेंसे भृगुजीने मार्कण्डेयजीके प्रति इसे कहा और मार्कण्डेयजीने नागकुलोत्पन्न राजा सहस्रानीकको इसका श्रवण कराया । फिर भगवान् नरसिंहकी कृपासे इस पुराणको बुद्धिमान् श्रीव्यासजीने प्राप्त किया । उनकी अनुकम्पासे मैंने इस सर्वपापनाशक पवित्र पुराणका ज्ञान प्राप्त किया और इस समय मैंने यह नरसिंहपुराण इन मुनियोंके निकट आपसे कहा । अब आपका कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ ॥ १७–२१½ ॥

यः शृणोति शुचिर्भूत्वा पुराणं ह्येतदुत्तमम् ॥२२॥
माघे मासि प्रयागे तु स स्नानफलमाप्नुयात् ।
यो भक्त्या श्रावयेद्भक्तान्नित्यं नरहरेरिदम् ॥२३॥
सर्वतीर्थफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते ।

जो मनुष्य पवित्र होकर इस उत्तम पुराणका श्रवण करता है, वह माघ मासमें प्रयागतीर्थमें स्नान करनेका फल प्राप्त करता है । जो मनुष्य इस नरसिंहपुराणको भगवान्‌के भक्तोंके प्रति नित्य सुनाता है, वह सम्पूर्ण तीर्थोंके सेवनका फल प्राप्त करके विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २२-२३½ ॥

श्रुत्वैवं स्नातकैः सार्धं भरद्वाजो महामतिः ॥२४॥
सूतमभ्यर्च्य तत्रैव स्थितवान् मुनयो गताः ।

इस प्रकार स्नातकोंके साथ इस पुराणको सुन महामति भरद्वाजजीने सूतजीका पूजन-सत्कार किया और स्वयं वहीं रह गये । अन्य सब मुनि अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २४½ ॥

सर्वपापहरं पुण्यं पुराणं नृसिंहात्मकम् ॥२५॥
पठतां शृण्वतां नृणां नरसिंहः प्रसीदति ।
प्रसन्ने देवदेवेशे सर्वपापक्षयो भवेत् ॥२६॥
प्रक्षीणपापबन्धास्ते मुक्तिं यान्ति नरा इति ॥२७॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे मानसतीर्थव्रतं नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

यह नरसिंहपुराण समस्त पापोंको हर लेनेवाला और पुण्यमय है । जो इसको पढ़ते और सुनते हैं, उन मनुष्योंपर भगवान् नरसिंह प्रसन्न होते हैं । देवदेवेश्वर नरसिंहके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है और जिनके पाप-बन्धन सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वे मानव मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २५–२७॥

इस प्रकार श्रीनरसिंहपुराणमें 'मानसतीर्थ-व्रत' नामक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अड़सठवाँ अध्याय

नरसिंहपुराणके पठन और श्रवणका फल

सूत उवाच

इत्येतत् सर्वमाख्यातं पुराणं नारसिंहकम् ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिवारणम् ॥ १ ॥
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ।
ये पठन्त्यपि शृण्वन्ति श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ॥ २ ॥
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ।
विष्ण्वर्पितमिदं पुण्यं पुराणं सर्वकामदम् ॥ ३ ॥
भक्त्या च वदतामेतच्छृण्वतां च फलं शृणु ।

शतजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमोचिताः ॥ ४ ॥
सहस्रकुलसंयुक्ताः प्रयान्ति परमं पदम् ।
किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा तपोभिर्वा किमध्वरैः ॥ ५ ॥
अहन्यहनि गोविन्दं तत्परत्वेन शृण्वताम् ।
यः पठेत्प्रातरुत्थाय यदस्य श्लोकविंशतिम् ॥ ६ ॥
ज्योतिष्टोमफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते ।

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार मैंने यह सम्पूर्ण नरसिंह-पुराण कह सुनाया। यह सब पापोंको हरनेवाला और सम्पूर्ण दुःखोंको दूर करनेवाला है। समस्त पुण्यों तथा सभी यज्ञोंका फल देनेवाला है। जो लोग इसके एक श्लोक या आधे श्लोकका श्रवण अथवा पाठ करते हैं, उन्हें कभी भी पापोंसे बन्धन नहीं प्राप्त होता। भगवान् विष्णुको अर्पण किया हुआ यह पावन पुराण समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला है। भरद्वाजजी! जो लोग भक्तिपूर्वक इस पुराणका पाठ अथवा श्रवण करते हैं, उनको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन सुनिये। वे सौ जन्मोंके पापसे तत्काल ही मुक्त हो जाते हैं तथा अपनी सहस्र पीढ़ियोंके साथ ही परमपदको प्राप्त होते हैं। जो प्रतिदिन एकाग्रचित्तसे गोविन्दगुण-गान सुनते रहते हैं, उनको अनेक बार तीर्थ-सेवन, गोदान, तपस्या और यज्ञानुष्ठान करनेसे क्या लेना है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इस पुराणके बीस श्लोकोंका पाठ करता है, वह ज्योतिष्टोम यज्ञका फल प्राप्तकर विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १–६½ ॥

एतत्पवित्रं पूज्यं च न वाच्यमकृतात्मनाम् ॥ ७ ॥
द्विजानां विष्णुभक्तानां श्राव्यमेतन्न संशयः ।
एतत्पुराणश्रवणमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥ ८ ॥
वदतां शृण्वतां सद्यः सर्वपापप्रणाशनम् ।
बहुनात्र किमुक्तेन भूयो भूयो मुनीश्वराः ॥ ९ ॥
श्रद्धयाश्रद्धया वापि श्रोतव्यमिदमुत्तमम् ।
भारद्वाजमुखाः सर्वे कृतकृत्या द्विजोत्तमाः ॥१०॥
सूतं हृष्टाः प्रपूज्याथ सर्वे स्वस्वाश्रमं ययुः ॥११॥

इति श्रीनरसिंहपुराणे सूतभरद्वाजादिसंवादे सर्वदुःखोपहरं श्रीनरसिंहपुराणस्य माहात्म्यं समाप्तम् ।

शुभम्भवतु

यह पुराण परम पवित्र और आदरणीय है। इसे अजितेन्द्रिय पुरुषोंको तो कभी नहीं सुनाना चाहिये, परंतु विष्णुभक्त द्विजोंको निस्संदेह इसका श्रवण कराना चाहिये। इस पुराणका श्रवण इस लोक और परलोकमें भी सुख देनेवाला है। यह वक्ताओं और श्रोताओंके पापको तत्काल नष्ट कर देता है। मुनीश्वरगण! इस विषयमें बहुत कहनेकी क्या आवश्यकता है। श्रद्धासे हो या अश्रद्धासे, इस उत्तम पुराणका श्रवण करना ही चाहिये। इस पुराणको सुनकर भरद्वाज आदि द्विजश्रेष्ठगण कृतार्थ हो गये। उन्होंने हर्षपूर्वक सूतजीका समादर किया। फिर सब लोग अपने-अपने आश्रमको चले गये ॥ ७–११ ॥

इस प्रकार सूत-भरद्वाजादि-संवादरूप श्रीनरसिंहपुराणमें इसके 'सर्वदुःखहारी माहात्म्यका वर्णन' नामक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥



श्रीहरिः

'कल्याण'के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें १०.०० रुपये और भारतवर्षसे बाहरके लिये रु० १६.०० (१८ शिलिंग) नियत है। सजिल्द विशेषाङ्कका भारतमें रु० ११.५० तथा विदेशके लिये सजिल्दका २० शिलिंग (१७.८० पैसे) है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं; किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास ११ अङ्क मिला करेंगे। सबका मूल्य रु० १०.०० मात्र है। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १०.०० रुपये है।

(८) ६० पैसे एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ६० पैसे बाद दिये जा सकते हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) **ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये।** वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग तथा **कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।** 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १.०० रु०से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) **मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।**

(१६) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण", पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण", पो० गीतावाटिका (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

(१८) 'कल्याण'के आजीवन ग्राहकका चंदा अजिल्द विशेषाङ्कका रु० १२५.०० तथा सजिल्दका रु० १५०.०० है। ग्राहकके दिवंगत होनेपर यदि 'कल्याण'का प्रकाशन जारी रहा तो सूचना मिलनेपर उसके उत्तराधिकारीको अङ्क जाते रहेंगे।